चौखम्बा ओरियन्टालिया
[illegible]
९ यू०बी० जवाहर नगर
दिल्ली-११०००७

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१५०

श्रीमद्वाग्भटविरचितम्

अष्टाङ्गहृदयम्

'विद्योतिनी' भाषाटीका-वक्तव्य-परिशिष्टसहितम्

टीकाकारः—

कविराज श्री अत्रिदेव गुप्त

विद्यालङ्कार, भिषग्रत्न

सम्पादकः—

वैद्य श्री यदुनन्दन उपाध्याय, बी. ए., ए. एम. एस.

प्रोफेसर 'चरक' तथा अध्यक्ष, आयुर्वेद विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता।
पो॰ आ॰ चौखम्भा, पो॰ बा॰ नं॰ १३९
जड़ाव भवन के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी (भारत)

प्रकाशक :—

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता।
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी—२२१००१ (भारत)

पञ्चम संस्करण १९७५

मूल्य : सूत्रस्थान रु० १०—००
सम्पूर्ण रु० ३०-००

एकमात्र वितरक :—

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक तथा विक्रेता
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ३२
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी—२२१००१ (भारत)
टेलीफोन — ५२९३९, ६२६९५, ६३०२२.

मुद्रक :—

विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

TEH
KASHI SANSKRIT SERIES
150

AṢṬĀṄGA HṚDAYA

OF

VĀGBHAṬA

Edited with The
'Vidyotinī' Hindī Commentary

BY
KAVIRĀJA ŚRĪ ATRIDEVA GUPTA,
Vidyālaṅkāra, Bhiṣagratna.

Edited by
VAIDYA ŚRĪ YADUNANDANA UPĀDHYĀYA, B. A., A. M. T.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Book-Sellers
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

Publishers :—
CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Book Sellers
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (INDIA)

© CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Fifth Edition 1975
Price : Sūtrasthāna Rs. ~~10-00~~
Complete Rs. ~~30-00~~

Sole Distributors :—
CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Telephones — 52939, 62695, 63022.

गुजराती मातृभाषा होते हुए भी केवल आयुर्वेद

के

प्रेम और हिन्दी के स्नेह के कारण

किसी लाभ की इच्छा के बिना—केवल आयुर्वेद

की

सेवा के लिए ही सबसे प्रथम मेरी पहली रचना

'न्याय वैद्यक और विषतन्त्र'

को

प्रकाशित करने वाले कराची निवासी,

बन्धु

वैद्य श्री गोपाल जी कुंवर जी ठक्कर

की

स्मृति में

यह तुच्छ श्रम उपस्थित करके आत्मसंतोष अनुभव करता हूँ।

अत्रिदेव गुप्त

द्वितीय संस्करण

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की सारी प्रतियाँ इतनी शीघ्रता से समाप्त हो जायेंगी ऐसी आशा न थी। प्रथम संस्करण स्थालीपुलाक न्याय से अवलोकन करके ही प्रकाशित कर दिया गया था। समयाभाव से प्रूफ-संशोधन कार्य भी मैं पूर्णरूप से न कर सका था अतः प्रथम संस्करण में अनेक त्रुटियाँ रह गयी थीं। सम्पादक होने के नाते उन सभी त्रुटियों के उत्तरदायित्व से मैं मुक्त नहीं हो सकता था अतः उसके प्रायश्चित्त-स्वरूप द्वितीय संस्करण में पुस्तक का पूर्ण संशोधन करना मेरे लिए आवश्यक हुआ।

प्रथम संस्करण की सारी प्रतियाँ इतने अल्प समय में समाप्त हो गयीं यह आयुर्वेद के प्रति विशेषतः आयुर्वेद-ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद के प्रति बढ़ती हुई जनरुचि का द्योतक है। किन्तु प्रामाणिक एवं उपयुक्त अनुवाद को ही प्रकाशित करना प्रकाशकों का कर्त्तव्य है अतः आर्थिक हानि होते हुए भी पुस्तक का पूर्ण संशोधन हुए बिना उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित करना 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' जैसी विश्वमान्य संस्था के लिए संभव न था। इधर त्रिविधताप-संतप्त और अतिव्यस्त होने से मुझे संशोधन कार्य के लिए समय नहीं मिलता था, उधर संशोधित संस्करण की उत्तरोत्तर माँग बढ़ती जा रही थी अतः संशोधन के साथ यत्र-तत्र पादटिप्पणियाँ आदि देकर यह संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जा रहा है। किन्तु कुछ त्रुटियाँ अब भी न रह गयी होंगी ऐसा कहना संभव नहीं है अतः विद्वान् वैद्यवृन्द यदि उनकी ओर इङ्गित करेंगे तो अगले संस्करण में उन्हें भी अवश्य सुधारा जायगा, विशेषतः कुछ अप्रसिद्ध और संदिग्ध औषधियों के प्रचलित नामों की ओर ध्यान देने और अर्वाचीन चिकित्साविज्ञान के साथ तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयास भी किया जायगा।

नागपञ्चमी, २०१६ वि०
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय

तृतीय संस्करण

प्रसन्नता की बात है कि इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण भी अतिशीघ्र समाप्त हो गया। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई माँग देखकर शीघ्रतावश आवश्यक संशोधनादि करके ही तृतीय संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। विशेष ध्यातव्य विषयों का समावेश समयसापेक्ष होने के कारण अगले संस्करण में ही सम्भव हो सकेगा; आशा है पाठकगण क्षमा करेंगे।

जन्माष्टमी, २०१९ वि०
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय

प्रस्तावना

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥ (वाग्भट)

संसार के सभी अभीष्ट कार्यों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की सिद्धि स्वस्थ शरीर और दीर्घ आयु से ही हो सकती है। अतः दीर्घायु और स्वास्थ्य की कामना करने वाले प्रत्येक मानव को आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करना और उसके उपदेशों का पालन करना चाहिए।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन और चेतना धातु आत्मा; इन चारों के संयोग अर्थात् जीवन को ही 'आयु' और इस आयु-सम्बन्धी समस्त ज्ञान को 'आयुर्वेद' कहते हैं। यह आयुर्वेद अनादि है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से ही जीवन और स्वाध्य-रक्षार्थ वायु, जल, अन्न आदि पदार्थों तथा उनके समुचित प्रयोग की आवश्यकता की अनुभूति के साथ ही विविध साधनों एवं उपायों का अन्वेषण और उनका उपयोग भी प्रारम्भ हुआ। यद्यपि परिस्थितिवशात् उनमें अनेक परिवर्तन भी होते आये, किन्तु देश, काल आदि भेद से किञ्चित् न्यूनाधिक होते हुए भी द्रव्यों के गुणों या प्राणियों के स्वभाव में मौलिक अन्तर कदापि न हुए और न हो सकते हैं। इसी प्रकार स्वस्थातुर-परायण आयुर्वेद के सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर तो कदापि नहीं हुए; हाँ, देश-कालादि परिस्थितिवशात् उन सिद्धान्तों के आधार पर प्रयुक्त द्रव्यों एवं साधनों में विविधता और विचित्रता होना स्वाभाविक है। जैसे—महास्रोत में संसक्त किसी निज या आगन्तुक शल्य के निर्हरण रूप सिद्धान्त के उपायों—वमन, विरेचन, वस्ति या शस्त्रकर्म आदि रूपों में अनेकता हो सकती है पर शल्यापहरण सिद्धान्त सर्वमान्य, सार्वभौम और त्रिकालाबाधित होगा; इसमें दो मत हो नहीं सकते।

इससे यह भी सिद्ध है कि आयु-सम्बन्धी समस्त ज्ञान आयुर्वेद का विषय है और आयुर्वेद को किसी एक देश, काल, भाषा या व्यक्ति की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। विचारद्योतन मात्र एक ही उद्देश्य वाली विविध भाषाओं की वर्णमाला और व्याकरण की विविधता की ही भाँति त्रिदोषवाद, जीवाणुवाद या अन्य किसी भी वाद के अनुसार पर वर्णित चिकित्सा और स्वास्थ्य के नियमों का भी एक ही उद्देश्य होता है—

'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनेऽप्रमादः ।'

हाँ, आयु-सम्बन्धी विविध व्यक्तियों और क्षेत्रों में विकीर्ण ज्ञान को संकलित कर ग्रन्थरूप में निबद्ध करने या संहिता का रूप देने का श्रेय किसी भी देश या व्यक्ति को दिया जा सकता है। साथ ही किसी भी एक सिद्धान्त की वैज्ञानिकता का मापन उसके त्रिकालाबाधित सार्वभौम तथ्य और उपयोग द्वारा किया जा सकता है और इस सम्बन्ध में उपलब्ध इतिहास से प्रमाणित है कि हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति प्राचीनतम होने के कारण प्राचीनतम आयुर्वेदसंहिताकार भी इसी देश में हुए और उनकी संहिताओं में वर्णित त्रिदोषादि सिद्धान्त आज भी अखण्डित और ध्रुव सत्य हैं। हाँ, जिन्हें इनको समझने की शक्ति ही न हो या जो आँखें होते हुए भी उन्हें मूँद कर चलते हों; उनके सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि 'नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ?' सर्वप्रथम देवताओं में ब्रह्मा से प्रजापति, उनसे अश्विनीकुमारों और उनसे इन्द्र ने आयुर्वेद का अध्ययन किया तथा उनसे आत्रेय, भारद्वाज और धन्वन्तरि एवं उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने आयुर्वेद का अध्ययन कर मानव-समाज में उसका प्रचार किया। भविष्य में होनेवाली सन्तति में उत्तरोत्तर आयु एवं बुद्धि की अल्पता का ध्यान कर समूचे आयुर्वेद को कायचिकित्सा, शल्यतन्त्र, शालाक्य, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण; इन आठ अङ्गों में विभक्त कर प्रत्येक अङ्ग की अनेक संहिताओं को बनाया। इनमें कायचिकित्सा और शल्यतन्त्र का व्यापक उपयोग होने के कारण इन दो अङ्गों को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ तथा व्यापकता, अर्थगांभीर्य, विशदता, भाषासारस्य, सुबोधता आदि अनेक गुणों के कारण कायचिकित्सा में अग्निवेशसंहिता और शल्यतन्त्र में सुश्रुतसंहिता को सर्वाधिक आदर मिला

इन संहिताओं में भी समय-समय पर चरक एवं दृढबल तथा नागार्जुन प्रभृति प्रतिसंस्कर्ताओं द्वारा अनेक संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन होते आए ।

आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भारतीय आयुर्वेद अत्यन्त विकसित था । महाभारत की युद्धाग्नि में लाखों वीरों के साथ सहस्रों विद्वान् और वैज्ञानिक भी लीन हुए । फिर भी आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व तक आयुर्वेद का रूप विकसित ही था । तब तक अनेक विदेशीय विद्वान् यहाँ आकर आयुर्वेद का अध्ययन करते रहे तथा हमारे देश के अनेक विद्वान् विदेशों में भी सम्मानपूर्वक अध्यापन कार्य में संलग्न रहे । समय-समय पर वे विदेशी विद्वानों के भी उपयोगी अनुभवों का अपने ग्रन्थों में समावेश कर भारतीय आयुर्वेद को सुपुष्ट करने में संकुचित न होते थे । द्वीपान्तर वचा, पारसीक यवानिका, रूमीमस्तगी आदि द्रव्यों का आयुर्वेदीय ग्रन्थों में समावेश इसका दृढ प्रमाण है ।

इस प्रकार ज्ञान का आदान-प्रदान करते हुए हमारे देश के विद्वान् आयुर्वेद शास्त्र के परिबृंहण में सतत प्रयत्नशील रहे । प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक अद्भुत चमत्कारों का उल्लेख मिलता है, जिनकी तथाकथित अत्युन्नत अर्वाचीन पाश्चात्य वैद्यों को कल्पना तक नहीं है । वंशपरम्परागत रोग-विशेषों की चमत्कारिक चिकित्सा-विधि एवं द्रव्यों का ज्ञान कहीं-कहीं अपढ़ ग्रामीण जनों तक में अब भी विद्यमान है; किन्तु खेद है कि उनमें से अनेक प्रयोग हमारी संकुचित मनोवृत्ति के कारण उनके साथ ही लुप्त होते जा रहे हैं ।

पूर्वोक्त विवरणों से यह भी सिद्ध है कि हम देवताओं की—अत्युन्नत, सुविकसित, सुसभ्य एवं विज्ञ पूर्वजों की सन्तान हैं । हमारा दिन-प्रतिदिन ह्रास हो रहा है और हम अवनति की ओर प्रगति कर रहे हैं । अतः हमारा कर्तव्य है कि हम अब भी सावधान हो अर्वाचीन विद्वानों के विविध उपयोगी ज्ञान और आविष्कारों की उपेक्षा न करते हुए प्राचीन ज्ञान का भी मनन, परिशीलन और प्रयोग करने में तत्पर रहें । 'स्थालीपुलाक-न्यायेन' प्राचीन संहिताओं में वर्णित अनेक सिद्धतम विधियों एवं सिद्धान्तों के साथ उन विषयों का भी परिशीलन अधिक परिश्रम और दृढ़ता के साथ करें जो आज हमारी अल्पज्ञतावश अस्पष्ट या असंगत प्रतीत हो रहे हों, एवं इनको कपोलकल्पना आदि समझने का भार उन्हीं पर रहने दें, जिनका आधुनिक विकासवाद में विश्वास है और जो अपने को बन्दरों की औलाद तथा मूर्खों की सन्तान समझने में ही गर्व का अनुभव करते हैं ।

दैवदुर्विपाक से हमारे देश में भी पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेषजनित कलहों और देश पर हुए विदेशियों के आक्रमणों से अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए तथा पूर्वोक्त परस्परानुग्रह और आदान–प्रदानपूर्वक ज्ञान-विज्ञान के उन्नतिपथ में अवरोध ही नहीं, अपितु उनका ह्रास होना प्रारम्भ हुआ । नवीन अनुसन्धानों का होना तो दूर रहा, प्राचीन ज्ञान का भी गोपन होने लगा । अनेक ग्रन्थरत्न चोरी गए और लूटे गए । इतना ही नहीं, कुछ मदान्ध विजेताओं ने अग्निकुण्ड में हमारी ग्रन्थराशियों की आहुति देने की अदूरदर्शिता का भी परिचय दिया । इस प्रकार विविध विषयों के साथ आयुर्वेद के भी अनेक ग्रन्थरत्न लुप्त हो गए । आज से सहस्र वर्ष पूर्व तक के टीकाकारों द्वारा उल्लिखित अनेक ग्रन्थ भी नाममात्र को शेष रह गये हैं । बचा-खुचा ज्ञान भी विभिन्न विशेषज्ञों में बिखरा रह गया । इसका परिणाम यह हुआ कि एक विषय का विशेषज्ञ भी अवान्तर विषय से सर्वथा अनभिज्ञ रहने लगा; जब कि आवश्यकता इस बात की होती है कि एक विषय के विशेषज्ञ को दूसरे विषयों के मौलिक सिद्धान्तों से भी परिचित होना चाहिए और उसमें इतनी समझ होनी चाहिए कि अमुक रोग या उसकी अमुक अवस्था में मेरी चिकित्सा फलवती न हुई तो भी अमुक विधिविशेषज्ञ द्वारा वह साध्य हो सकता है । यहाँ पर कुछ उदाहरण देना अप्रासङ्गिक न होगा ।

(१) अग्नि, क्षार और शस्त्रद्वारा चिकित्सित अर्श रोग में पीड़ा, गुदपाक एवं भगन्दर आदि उपद्रवों के साथ पुनरुत्पत्ति की भी आशंका रहती है । अतः जब तक आत्ययिक न हो औषधचिकित्सा से ही लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

(२) वातगुल्म सदृश लक्षणयुक्त तुण्डिका या नाभिगत आन्त्रवृद्धि में औषधचिकित्सा से लाभ न होने पर भी शस्त्रचिकित्सा द्वारा वह सुखसाध्य होती है ।

(३) 'यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः' आदि असाध्य लक्षण से युक्त विषूचिका रोगी भी लवणाम्बु-सिरावस्ति द्वारा अनेक बार स्वस्थ होते देखे गए हैं ।

इन उदाहरणों से सिद्ध है कि एक कायचिकित्सक को शल्यतन्त्र के और शल्यविद् को कायचिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तों से भी परिचित होना चाहिए । इन्हीं बातों का अनुभव करते हुए श्रीमद्वाग्भटाचार्य ने चिकित्साशास्त्र के विभिन्न अङ्गों के विकीर्ण ज्ञान को संगृहीत कर पूर्वोक्त विपन्नावस्था एवं राजाश्रयाभाव के कारण नवीन अनुसन्धानादि कार्य में असमर्थ वैद्यसमाज को रहे-सहे प्राचीन ज्ञान के संग्रह, संरक्षण और उसके सदुपयोग करने के पथप्रदर्शन में अग्रणी होकर अमर कीर्ति प्राप्त कर ली ।

ग्रन्थकार का परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद्वाग्भटाचार्य हैं यह सर्व-सम्मत है, किन्तु अष्टांगसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय नाम के दोनों ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट एक ही हैं या भिन्न-भिन्न, इस विषय में मतभेद है । मेरा स्वयं मत है कि दोनों ग्रन्थ एक ही विद्वान् के लिखे हैं क्योंकि दोनों ही में भाषा, भाव आदि के साथ ही पितृनाम में भी साम्य है । 'संग्रह' गद्य-पद्यमय विस्तृत ग्रन्थ है किन्तु 'हृदय' केवल पद्यमय और संक्षिप्त है । प्राचीन टीकाकारों ने, विशेषतः इन्दु ने, जो कि वाग्भट के शिष्य थे, अष्टांगसंग्रह की टीका में कई स्थलों पर 'हृदय' का भी उल्लेख किया है और दोनों का रचयिता एक ही आचार्य को माना है ।[1]

स्वयं ग्रन्थकर्ता ने स्पष्ट शब्दों में अपने ग्रन्थ के अन्त में भी निर्देश किया है कि 'अष्टाङ्ग वैद्यक रूपी समुद्रमन्थन से प्राप्त 'अष्टासंग्रह' नामक अमृत का फल अल्प श्रम से ही लोगों को प्राप्त हो एतदर्थ यह पृथक् ग्रन्थ बनाया गया ।' तथा 'इस ग्रन्थ के अध्ययन से 'संग्रह' को समझने की शक्ति से सम्पन्न अभ्यस्तकर्मा वैद्य कहीं पर घबरा नहीं सकता' ।[2]

वाग्भट के ही शिष्य तथा अष्टांगसंग्रह और हृदय के टीकाकार इन्दु का वचन इस बात का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है कि संग्रह और हृदय दोनों ही ग्रन्थ समकालीन हैं और दोनों एक ही आचार्य द्वारा लिखित हैं । एक ही काल में एक ही नाम वाले दो आचार्य रहे हों, विशेषतः दोनों के पिता का नाम भी एक हो, ऐसी कल्पना करने और इन्दु के वचन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता है । अतः संग्रह और हृदय दोनों के रचयिता वाग्भट एक ही हैं इसमें सन्देह नहीं । एक विस्तृत ग्रन्थ की रचना के बाद उसीका संक्षिप्त रूप दूसरा ग्रन्थ लिखने के प्राचीन और अर्वाचीन अनेक उदाहरण भी मेरे मत का समर्थन करते हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याथ के अन्त में आचार्य ने अपना और अपने पिता का नाम भी लिखा है,[3] पर अष्टांगसंग्रह में अपने पितामह का भी नाम वाग्भट, पिता का नाम सिंहगुप्त और अपना जन्मस्थान सिन्धु[4] देश भी बताया है । साथ ही अपने गुरु का नाम अवलोकित भी बताया है । किन्तु आपके समय का निर्णय करने के लिए

---

१. (क) तथा चाचार्येणैव युक्त्या सम्पन्ने हृदये कथितम् (अ. सं. कल्प अ. ८)
तथा चाचार्य एव हृदये केवलं महत्या प्रतिषेधं करोति (सं. शा. अ. ३) इन्दुः
(ख) तथा ह्ययमेव तन्त्रकारः संग्रहे मधुनो भेदानाख्यत् (हृ. सू. अ. ५।५१) तथा च अत एवायमेव तन्त्रकारोऽन्यथा संग्रहे जगाद 'षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिवर्षः पुत्रार्थं प्रयतेत' (हृ. शा. अ. १) अरुणदत्तः
(ग) 'एतदुक्तमनेनैव संग्रहे स्वयमेव; न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागमवर्जितम्' इति भट्टनरहरिः

२. 'अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थने योऽष्टाङ्गसंग्रहमहामृतराशिराप्तः । तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्' तथा च 'एतत्पठन् संग्रहबोधशक्तः स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः ।' (अ. हृ. उत्तरतन्त्र अ. ४०)

३. इति वैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुवाग्भटेत्यादि॰ हृदस्याध्यायानामन्ते ।

४. भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य । सुतोऽभवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा ॥
समधिगम्य गुरोरवलोकिताद् गुरुतराच्च पितुः प्रतिभां मया । सुबहुभेषजशास्त्रविलोकनात् सुविहितोऽङ्गविभागविनिश्चयः॥
(उ. तं. अ. ५०)

आपक ग्रन्थों में आये हुए नामों और आपके वचनों का उद्धरण देने वाले अन्य ग्रन्थकारों के समयनिर्णय की अपेक्षा होती है।

अष्टांगसंग्रह में पलाण्डु का गुण वर्णन करते हुए आचार्य शकराज और शकाङ्गनाओं[1] का उल्लेख करते हैं अतः आप भारत में शकों के राज्य के समकालीन प्रतीत होते हैं। भारत में शकों का राज्य दूसरी से चौथी ईसवीय शताब्दी तक इतिहासवेत्ताओं ने माना है। इन तीन शतकों में से अन्तिम शतक में आप ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि वाग्भट के शिष्य इन्दु और जेज्जट ने चरक की टीका में भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है। इससे यह सिद्ध है कि भट्टार हरिचन्द्र ने चरक की टीका इन्दु और जेज्जट के पूर्व की, अतः वे इन दोनों के समकालीन या पूर्वकालीन थे। साथ ही स्वयं वाग्भट द्वारा हरिचन्द्र का उल्लेख कहीं न होने से यह वाग्भट के पूर्वकालीन भी नहीं प्रतीत होते। भट्टार हरिचन्द्र राजा साहसाङ्क के राजवैद्य थे[2] और साहसाङ्क ही चन्द्रगुप्त द्वितीय, विक्रमादित्य थे, इसे अनेक प्रमाणों द्वारा पुरातत्त्ववेत्ताओं ने स्वीकृत किया है इन्हीं महाराज विक्रमादित्य ने अपने राज्यकाल (३७५ से ४१३ ई०) में निरन्तर युद्ध कर ३९५ ई० में शकों को पराजित कर देश से निर्वासित किया था। इससे भट्टार हरिचन्द्र का भी काल यही सिद्ध होता है। तथा वाग्भट हरिचन्द्र के समकालीन या ईषत्पूर्ववर्ती थे यह पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है। शक-ललनाओं के पलाण्डुसेवन और तज्जनित लावण्यातिशय का वाग्भट्ट द्वारा वर्णन सुना हुआ नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष देखा हुआ प्रतीत होता है, और यह शकों के निर्वासन के बाद सम्भव नहीं। इससे प्रमाणित होता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य वाग्भट ईसवीय चौथी शताब्दी के मध्य या अन्त में वर्तमान थे।

देश में विशेषतः दक्षिण में यह प्रसिद्धि है कि अमरकोशकार अमरसिंह का ही दूसरा नाम वाग्भट था। वे जाति के ब्राह्मण थे, बाद में उन्होंने बौद्धधर्म को स्वीकार कर लिया था। कुछ लोगों का कथन है कि बौद्धधर्म का खण्डन बिना उसके पूर्ण अध्ययन के सम्भव न देख कर उन्होंने बौद्धभिक्षु अवलोकित का शिष्यत्व स्वीकार किया। बौद्धधर्म की बहुत-सी बातें उन्हें जँचीं, जिससे वे वैदिकधर्म के नियमादिकों के साथ बौद्धधर्म के भी उपयोगी आचारादि का सेवन करने लगे। इस पर तत्कालीन समाज ने उन्हें बौद्ध ही कहना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार आचार्य वाग्भट के सम्बन्ध में बहुत ही मतभेद है तथा अनेक आधुनिक विद्वानों ने उन्हें वैदिक, जैन या बौद्ध प्रमाणित करने का प्रयास करते हुए अपने-अपने मतों के समर्थन में अनेक प्रमाण भी उपस्थित किए हैं, किन्तु प्रत्येक के विरुद्ध भी प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं।

इस सम्बन्ध में स्वयं मेरा मत द्वितीय लोकप्रसिद्धि के पक्ष में है अर्थात् आचार्य वाग्भट वस्तुतः वैदिक ब्राह्मण थे, किन्तु रूढिवादी नहीं थे। युगानुरूप सुधार आपको प्रिय था[3]। अपने समाज की प्रचलित कुरीतियों का त्याग तथा अन्य समाज के सद्विचारों को ग्रहण करना उन्हें इष्ट था। अन्य समाज के महात्माओं का भी वे आदर करते थे। बुद्ध में भी वे श्रद्धा रखते थे। आखिर बुद्धावतार भी तो वैदिकमतसम्मत है[4]। या यों कहिए कि बौद्धमत भी वैदिकधर्म का एकांगीयांश है। उसका विरोध इस वास्ते होता है कि वैदिकधर्मोक्त एकांशमात्र को सत्य मान शेषांश की बौद्धधर्म में उपेक्षा की गई है। इसका अनुमान आज के सुधारवादियों पर दृष्टिपात करने से सहज में ही हो जाता है। औरों की तो बात जाने दीजिए। लोकभाषा में रामचरितमानस की रचना और उसके प्रचारमात्र के लिए परम भागवत भक्तशिरोमणि महात्मा तुलसीदासजी का या समाज की कतिपय कुरीतियों के विरुद्ध मतप्रदर्शन करने

---

१. रसोनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम्। साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम्॥ यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम्। कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव॥ (अ. सं. उ. तं अ. ४९)

२. श्रीसाहसाङ्कनृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातरङ्गपदमद्वयमेव बिभ्रत्।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलंचकार॥

३. अस्थानविस्तराक्षेपे पुनरुक्तादिवर्जितः।·········युगानुरूपसन्दर्भो विभागेन करिष्यते॥ (अ. सं. सू. अ. १)

४. ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्। बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥ (भागवत. स्क. १ अ. ३)

के कारण परम वैदिक, आदर्श ब्राह्मण एवं तपस्वी स्वर्गीय महामना मालवीयजी का भी विरोध क्या कुछ लोगों ने नहीं किया? या जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य जी को कुछ लोगों ने प्रच्छन्न बौद्ध नहीं कहा? किन्तु इन विरोधियों के कारण स्वर्गीय गोस्वामीजी या महामना जी विधर्मी तो नहीं हो गए। तथा उनके समान देश, धर्म और जाति के हितैषी तथा लोकश्रद्धाभाजन उनके विरोधियों में कौन हुआ? जगद्गुरु भगवान् शंकराचार्यजी तो शंकर के अवतार ही माने जाते हैं। मेरे मत के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण पर्याप्त हैं।

प्राचीन शिष्टाचार के अनुकूल किन्तु बौद्धमत के प्रतिकूल आचार्य वाग्भट ने प्रस्तुत ग्रन्थ तथा अष्टाङ्गसंग्रहादि ग्रन्थों का भी आरम्भ मङ्गलाचरणपूर्वक किया है[1], यद्यपि इस ग्रन्थ में इष्टदेवता का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है। जैसे 'अपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै', किन्तु संग्रह में 'बुद्धाय तस्मै नमः'[2] स्पष्ट है। कुछ लोग यहां 'बुद्ध' शब्द का 'ज्ञानी' अर्थ करते हैं, पर मेरा मत है कि आचार्य ने स्पष्ट बुद्ध (गौतम बुद्ध) को ही प्रणाम किया है और वे बुद्ध के प्रति श्रद्धा रखते थे, क्योंकि वे उस युग के महापुरुष थे इसमें सन्देह नहीं। अथवा वैदिक और बौद्ध दोनों ही समाज के प्रीत्यर्थ श्लिष्ट शब्द का प्रयोग भी सम्भव है। किन्तु ग्रन्थ का आरम्भ 'धर्मं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' या 'ॐ नमः सिद्धम्' (इसीका अपभ्रष्ट रूप आज भी महाजनी के अक्षरारम्भ में 'ओनामासीढम्' है) आदि से नहीं किया है। इसके अतिरिक्त संग्रह में ही बुद्ध के साथ ही ब्रह्मादि वैदिक देवों का भी अभिवादन किया है[3]। ग्रन्थ के भीतर ब्रह्मा, शिव, भास्कर आदि वैदिक देवताओं की आराधना के विधान के साथ उस समय लोक में प्रचलित और पूजित अवलोकित, अपराजिता, तारा आदि बौद्ध देवताओं की पूजा को भी उपदंश कुष्ठादि रोगों के शान्त्यर्थ किया है[4] तथा बुद्ध, जिन और तारा आदि देवता वैदिक-मत-सम्मत भी हैं। श्रीवाराहमिहिराचार्य ने इनकी मूर्तियों का भी वर्णन किया है। बौद्धधर्म के विपरीत श्रीवाग्भटाचार्य ने अनेक स्थलों पर मांसभक्षण का उपदेश किया है। चैत्य (बौद्धमन्दिर) गमन का निषेध सदाचार प्रकरण में सुस्पष्ट शब्दों में किया है[5]। शस्त्रकर्म बौद्धमत विरुद्ध है। स्वयं बुद्ध ने शस्त्रकर्म करने वाले को थुल्लात्यय दण्ड देने का आदेश दिया है पर वाग्भट ने शस्त्रकर्म का सविधान और सविस्तर वर्णन किया है[6]।

वाग्भटाचार्य के शिष्य-प्रशिष्य और पुत्र-पौत्र भी वैदिकमतावलम्बी ही थे। इनके द्वारा की गई टीकाओं और इनके लिखे ग्रन्थों में शुद्ध वैदिक देवताओं और आचार्यों को अभिवादन किया गया है। सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि चतुर्वर्गचिन्तामणिकार परमवैदिक एवं धर्मशास्त्र के अधिकारी विद्वान् यादववंशीय मालवेश महाराज महादेव तथा उनके बाद महाराज रामदेव के प्रधानामात्य एवं धर्माधिकरण आचार्य हेमाद्रि[7] ने अष्टाङ्गहृदय की आयुर्वेदरसायन टीका की है और उसमें बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ आचार्य वाग्भट का नामोल्लेख किया है। यदि वाग्भट बौद्ध होते तो हेमाद्रि द्वारा उनके लिए इतना आदर प्रकट करना सम्भव न होता।

---

१. रागादिरोगान् सततानुसक्तानशेषकामप्रसृतानशेषान्। औत्सुक्यमोहारतिदाञ् जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै॥

२. तृष्णादीर्घमरुद्विकल्पशिरसं……बुद्धाय तस्मै नमः।

३. तमेकवैद्यं शिरसा नमामि वैद्यागमज्ञांश्च पितामहादीन्।

४. (क) शिवशिवसुतताराभास्कराराधनानि प्रकटितमलपापं कुष्ठमुन्मूलयन्ति। 'जिनजिनसुते'ति इन्दुसम्मतः पाठः, जिनो बुद्धः, जिनसुता अवलोकितेशादयः। (सं. चि. १९।९८)

(ख) अर्चयेदेवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन्। अथर्वविहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम्। मातरं पितरं देवान् वैद्यान् विप्रान् हरं हरिम्।

५. न चैत्यं गच्छेत्।

६. महावग्ग में देखिए।

७. हेमाद्रिणा चतुर्वर्गचिन्तामणिविधायिना। तदुक्तव्रतदानादिसिद्ध्यङ्गारोग्यसिद्धये॥
क्रियतेऽष्टाङ्गहृदयस्यायुर्वेदस्य सुग्रहा। टीका चरकहारीतसुश्रुतादिमतानुगा॥
हेमाद्रिर्नाम रामस्य राज्ञः श्रीकरणेष्वधि।

श्रीमद्वाग्भटाचार्य की निम्नलिखित वन्दना तो उनके विषय में धर्म से सम्बन्धित समस्त शंकाओं को पूर्णतया निर्मूल कर देती है।

'लम्बश्मश्रुकलापमम्बुजनिभच्छायाद्युतिं वैद्यकानन्तेवासिन इन्दुजेज्जटमुखानध्यापयन्तं सदा।
आगुल्फामलकञ्चुकाञ्चितदरालदयोपवीतोज्वलत्कण्ठस्थागरुसारमण्डितदृशं ध्याये दृढं वाग्भटम्॥'

इसमें आगुल्फकञ्चुकी से भले ही बौद्ध की कल्पना करें, पर. लम्बी दाढ़ी, यज्ञोपवीत, चन्दन की माला और नेत्र में अञ्जन आदि बौद्धधर्म से विपरीत तथा एक विचित्र और स्वतन्त्र वेशभूषादिरुचि एवं निजमार्ग में दृढ वाग्भट का स्वरूप सामने उपस्थित करते हैं।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि श्रीमद्वाग्भटाचार्य वैदिक धर्मावलम्बी थे, किन्तु, दूसरे मतों का भी आदर करते थे जो उनके जैसे स्वतन्त्रवृत्ति विद्वान् के अनुरूप ही था। साथ ही यह भी निश्चित प्रतीत होता है कि रूढिप्रिय लोग अवश्य ही कुछ काल तक उनका विरोध और उनसे द्वेष करते थे, जिसका निर्देश सुस्पष्ट शब्दों में उनके प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलता है।

अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढमूढकः॥
तथा—अभिधातृवशात् किं वा द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते।
अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थ्यमवलम्ब्यताम्॥ हृ. उ. तं. अ. ४०

रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ का कितना विरोध हुआ, पर बाद की पीढ़ी ने उनका कितना सम्मान किया यह सर्वविदित है। इसी प्रकार आचार्य वाग्भट के समय अवश्य ही कुछ दम्भियों ने उनका अनादर किया होगा पर उनकी तथ्योक्ति तथा पाण्डित्य के प्रभाव से उनके ग्रन्थ का प्रचार आसेतुहिमालय भारत में ही नहीं, अपितु सिंहलद्वीप और तिब्बत तक में हुआ। उनके स्वतन्त्र व्यवहार और तत्कालीन विरोध ने इस प्रचार में और भी सहायता पहुँचायी। यह 'ईत्सिङ्ग' नामक चीनी यात्री के वर्णन तथा तिब्बत में प्राप्त 'तान्जूर' नामक ग्रन्थ से प्रमाणित है। आज जिसका थोड़ा-सा भी आयुर्वेद से सम्बन्ध है, उसकी जिह्वा पर वाग्भट का नाम है।

आपके इस ग्रन्थरत्न में चरक और सुश्रुतादि में वर्णित विषयों से अधिक सामग्री प्राप्त होती है। बौद्धों या अन्य किसी भी विद्वान् से प्राप्त उपयोगी ज्ञान, द्रव्य विधि या मन्त्रोपचार आदि का भी संग्रह आपने किया है और इस प्रकार आज उपलब्ध आयुर्वेद साहित्य में इस ग्रन्थ को अत्युच्च स्थान प्राप्त है। इसमें आचार्य के आयुर्वेद ही नहीं; अपितु व्याकरण, साहित्य आदि अन्य शास्त्रों के परिपुष्ट ज्ञान के निदर्शक उदाहरण मिलते हैं। अर्थगाम्भीर्य, भाषासौष्ठव, पर्यायप्राचुर्य, पदलालित्य, यमक, श्लेष, अनुप्रासादि अलङ्कार आदि काव्य के विविध गुणों के उदाहरण से ग्रन्थ परिपूर्ण है और कहीं भी एक भी वाक्य शास्त्रविरुद्ध या कल्पित नहीं है। स्वयं आचार्य की प्रतिज्ञा है 'मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम्'।

आपके शिष्यों में इन्दु और जेज्जट प्रधान थे। इन्दु ने अष्टाङ्गसंग्रह और हृदय की शशिलेखा नामिका विवेचना और पाण्डित्यपूर्ण टीका की है। जेज्जट ने तो चरक और सुश्रुतसंहिताओं की भी व्याख्या की है। दोनों ही अत्यन्त विद्वान् आयुर्वेदपारङ्गत एवं वैदिकमातावलम्बी थे।

भाण्डारकर प्राच्यसंशोधन मन्दिर में प्राप्त हस्तलिखित पुस्तक के अन्त में 'इति वाग्भटसूनुना तीसटदेवेन रचितं चिकित्साप्रशास्त्रम्' यह लेख मिलता है। किन्तु तीसटरचित चिकित्साकलिका ग्रन्थ में मङ्गलाचरण श्लोक में सूर्य, अश्विनीकुमार, धन्वन्तरि, सुश्रुत आदि के साथ पिताश्री के चरणों की भी वन्दना की गई है; किन्तु पिता के नाम का उल्लेख नहीं है तथा इसी ग्रन्थ के टीकाकार और तीसटदेव के ही पुत्र श्री चन्द्रट ने भी स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है। पर तीसट के पिता और चन्द्रट के पितामह आयुर्वेद के धुरीण विद्वान् थे यह 'पितुश्च पादान्' की व्याख्या करते हुए 'तदनु आयुर्वेदाब्धिप्रतरणपोतपात्राणां पितुः पादानां नमस्कृतिः' इस वाक्य से प्रमाणित है। साथ ही ये दोनों ही वैदिकमतावलम्बी थे, यह इनके मङ्गलाचरण से ही स्पष्ट है।

श्रीमद्वाग्भटाचार्य द्वारा लिखित अष्टाङ्ग निघण्टु एवं आष्टाङ्गावतार नामक दो अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी प्रमाण मिलते हैं। इनके अतिरिक्त और अन्य ग्रन्थ वाग्भट-लिखित मिलते हैं। पर वे सभी वाग्भट, प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता आचार्य वाग्भट से भिन्न हैं यह सर्व सम्मत है। केवल 'रसरत्नसमुच्चय' कर्ता वाग्भट के सम्बन्ध में मतभेद है। इस पुस्तक के भी लेखक का नाम वाग्भट और पिता का नाम सिंहगुप्त मिलता है।[1] किन्तु मेरा मत है कि किसी प्रतिलिपिकर्ता ने भ्रमवश पिता का नाम सिंहगुप्त भी सम्मिलित कर लिया है; क्योंकि—

(१) अष्टाङ्गसंग्रह या हृदय में प्राप्त भाषा, व्याकरण और साहित्य आदि प्रखर पाण्डित्यदर्शक गुणों की दृष्टि से यह ग्रन्थ हीन है। इसमें अनेक व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ मिलती हैं।

(२) संग्रह या हृदय के रोगानुक्रम और रसरत्नसमुच्चय के रोगानुक्रम में अन्तर है।

(३) समुच्चय में अर्वाचीन—रक्तवात, शीतवात, सोम आदि रोगों का वर्णन तथा अपतानक आदि कतिपय प्राचीन रोगों का अभाव है।

(४) रसचिकित्सा का प्रचार भारत में छठी शताब्दी ईसवीय के पूर्व नहीं हुआ था, अन्यथा भगवान् शंकराचार्य द्वारा रसेश्वरदर्शन का भी उल्लेख अवश्य हुआ होता।

(५) अष्टाङ्गसंग्रह या हृदय में मल्ल या अहिफेन का तथा अन्य रसों का उल्लेख नहीं मिलता। यदि हृदयकर्ता वाग्भट के समय में रसचिकित्सा प्रचलित होती तो उसका उल्लेख संग्रह या हृदय में अवश्य होता।

(६) समुच्चय में कतिपत अर्वाचीन (७वीं ८वीं शताब्दी) के ग्रन्थों का अवतरण मिला है।

कतिपय हस्तलिखित प्रतियों में 'सूनुना संघगुप्तस्य' पाठ मिलता है। स्वर्गीय आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय आदि विद्वानों के मतानुसार समुच्चयकार वाग्भट का समय १३ वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

अतः अष्टाङ्गहृदयकार से भिन्न और अति अर्वाचीन वाग्भटद्वारा रसरत्नसमुच्चय की रचना प्रमाणित होती है।

सम्भवतः धन्वन्तरि के समान विशिष्ट वैद्यों के लिए 'वाग्भट' उपाधि का प्रयोग करने की प्रथा थी। स्वयं हृदयकार का वास्तविक नाम 'अमरसिंह' था, ऐसी किंवदन्ती पहिले ही बताई गई है।

आत्रेयसंहिता में आचार्य वाग्भट के सम्बन्ध में २ श्लोक[2] हैं, जो आपकी प्रामाणिकता और आप्तता के प्रखर प्रमाण हैं। दूसरी भी एक जनश्रुति वाग्भट के सम्बन्ध में अतिमहत्त्व की है कि 'एक बार भगवान् धन्वन्तरि ने कलिकाल के वैद्यों की परीक्षा के लिए पक्षी के रूप में प्रसिद्ध वैद्यों के समीप जाकर 'कोऽरुक्, कोऽरुक्, कोऽरुक्, प्रश्न करते हुए सिंधुदेश में वाग्भट के प्राङ्गण में पहुँचे और वहाँ भी यही प्रश्न किया। भाग्भट ने बड़े आदर के साथ फल आदि उपायन से स्वागत करते हुए प्रश्नों का उत्तर दिया—'हितभुक, मितभुक, अशाकभुक'। इस उत्तर को सुनकर परम प्रसन्न हो भगवान् धन्वन्तरि प्रकट रूप में अनेक आशीर्वाद और 'संग्रह' ग्रन्थ के निर्माण का आदेश देकर अन्तर्हित हो गये।

आपके इस ग्रन्थ का अत्यन्त आदर हुआ। देश-विदेश में प्रचार और पठन-पाठन में प्रयोग हुआ। विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हुए और टीकाएँ बनीं। इन्दुकृत शशिलेखा, हेमाद्रिकृत आयुर्वेदरसायन, अरुणदत्तकृत सर्वाङ्गसुन्दरा के अतिरिक्त २० के लगभग संस्कृत तथा उतनी ही विभिन्न भाषाओं में टीकाएँ ज्ञात हैं।

आपका यह संग्रह ग्रन्थ 'अष्टाङ्गहृदय' वस्तुतः आयुर्वेद के अष्टाङ्ग के सारसंग्रह के कारण प्रत्येक अंग को बल और जीवन देने वाले 'हृदय' के सदृश ही है। इस ग्रन्थ में कायचिकित्सा के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ चरकसंहिता और शल्यतन्त्र के श्रेष्ठतम ग्रन्थ सुश्रुतसंहिता या विविध विषयों की अन्य संहिताओं से ही नहीं, अपितु अपने समय में प्रयुक्त और उपयोगी नवीनतम आविष्कारों का संग्रह बड़ी ही चतुरता के साथ स्वल्प और ललित शब्दों में किया गया है। एक मात्र इसी ग्रन्थ के अध्ययन से आयुर्वेद के सभी अङ्गों और उपाङ्गों से अनायास ही परिचित हुआ जा सकता है।

---

[1] रसानामामयघ्नानां चिकित्सार्थोपयोगिना। सूनुना सिंहगुप्तस्य रसरत्नसमुच्चयः।
तथा—इति वैद्यपतिसिंहगुप्तसूनोर्वाग्भटस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चयः सम्पूर्णः।

[2] अत्रिः कृतयुगे वैद्यो द्वापरे सुश्रुतो मतः। कलौ वाग्भटनामा च………।
निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थाने तु वाग्भटः। शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तश्चरकस्तु चिकित्सिते। (आत्रेयसंहिता)

मेरे जैसे अल्पज्ञ का इस ग्रन्थरत्न के सम्बन्ध में कुछ कहना उपहासास्पद ही होगा अतः इसकी विशेषता के सम्बन्ध में मूल ग्रन्थकर्ता के ही निम्नलिखित श्लोकों का उद्धरण देना मात्र पर्याप्त समझता हूँ।

हृदयमिव हृदयमेतत् सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः। कृत्वा यच्छुभमाप्तं शुभमस्तु परं ततो जगतः॥
यदि चरकमधीते तद्ध्रुवं सुश्रुतादि-प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः किमिह खलु करोतु व्याधितानां वराक.॥
ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ। भेडाद्याः किन्न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥
इदमागमसिद्धत्वात्प्रत्यक्षफलदर्शनात्। मन्त्रवत् सम्प्रयोक्तव्यं मीमांस्यं न कथञ्चन॥
दीर्घजीवितमारोग्यं धर्ममर्थं सुखं यशः। पाठावबोधानुष्ठानैरधिगच्छत्यतो ध्रुवम्॥ १ हृ. उ. तं. अ. ४०

किन्तु आधुनिक आयुर्वेद-विद्यालयों में प्रवेश पाने वाले छात्रों का संस्कृत भाषा-ज्ञान अपर्याप्त होता है। विशेषतः यह ग्रन्थ तो संक्षिप्त और सूत्रमय शब्दों में होने के कारण उनके लिए और भी दुरूह है। साथ ही आयुर्वेद के प्रचार की दृष्टि से वैद्येतर जन के पठनार्थ इसका राष्ट्रभाषा-हिन्दी में अनुवाद चिर अपेक्षित था। अनुवाद की भी विशेषता यह होती है कि वह मूल की आत्मा का हनन न कर उसे और भी विकसित करे। यह तभी सम्भव होता है जब वह किसी तज्ज्ञ विद्वान् द्वारा किया गया हो।

भूतभावन भगवान् विश्वनाथ की अनुकम्पा से प्राचीन और अर्वाचीन आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान् अनेक ग्रंथों के सिद्धहस्त लेखक और अनुवादक एवं स्वतन्त्र विचारक श्री अत्रिदेव गुप्त वैद्य विद्यालङ्कार जी के हृदय में इस ग्रन्थ का अनुवाद करने की प्रेरणा हुई। आपने मूल ग्रंथ के अविकल अनुवाद के साथ ही क्लिष्ट एवं उपयोगी स्थलों पर वक्तव्य रूप में विविध आचार्यों तथा टीकाकारों के मतों के साथ अपना स्वतन्त्र अभिप्राय भी प्रकट कर ग्रन्थ को और भी उपयोगी बना दिया है। एतदर्थ आप धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तावना लिखने तथा मूलग्रन्थकार श्रीमद्वाग्भटाचार्य के परिचय से सम्बन्धित सामग्री के संकलन में मुझे स्व० डा० हार्नले, स्व० पं० हरिप्रपन्न जी, स्व० गुरुवर महामहोपाध्याय कविराज गणनाथसेन सरस्वती, गुरुवर आचार्य श्री यादवजी महाराज, नेपाल राजगुरु पं० हेमराज जी, कैलासवासी डा० अण्णा मोरेश्वर कुण्टे, स्व० आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय, श्रीयुत पी० के० गोडे, श्रीयुत वैद्य हरिशास्त्री पराडकर, श्रीयुत डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य आदि महानुभावों के लेखों और निबन्धों से अत्यधिक सहायता मिली है। अतः मैं इन सभी विद्वानों एवं गुरुजनों का अत्यन्त उपकृत हूँ।

सुरभारती एवं आयुर्वेद के परम प्रेमी व दृढभक्त काशी के प्रतिष्ठित श्रेष्ठी श्रीयुत बा० जयकृष्णदास जी गुप्त (अध्यक्ष चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी) ने कृपाकर इस पुस्तक का प्रकाशन कर वैद्यसमाज तथा छात्रों का बड़ा ही उपकार किया है। अतएव आपको भी धन्यवाद देना मैं परम कर्तव्य समझता हूँ।

श्रीयुत बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त का मुझसे बार-बार अनुरोध रहा है कि मैं भी कुछ लिखूँ। किन्तु विद्यालय एवं आतुरालय के कार्यों के अतिरिक्त स्वतन्त्र व्यवसाय और पारिवारिक झंझटों के कारण मेरे लिये यह सम्भव न हो सका। इस बार इस ग्रन्थ के सम्पादन करने के आपके अनुरोध को मैं टाल भी न सका पर समयाभाव से मैं अपने कर्त्तव्य में शिथिल ही रहा। अतः इस ग्रन्थ का सारा श्रेय विद्वान् एवं यशस्वी अनुवादक तथा उदारचेता प्रकाशक को ही है। सम्पादक होने के नाते त्रुटियों का उत्तरदायित्व तो अवश्य मुझ पर ही है। आशा है कि उदारचेता पाठकगण मेरी विवशताओं का ध्यान कर मुझे क्षमा कर उचित परामर्श देंगे तो अगले संस्करण में त्रुटियों के परिमार्जन की यथासाध्य चेष्टा की जायगी।

हंसः स्यात् सारमादत्ते यः श्रोता विविधाच्छ्रुतात्।
दुग्धेनैक्यं गतात्तोयाद्यथा हंसोऽमलं पयः॥

श्री रथयात्रा, सं० २००७ वै०
काशी हिन्दूविश्वविद्यालय

—वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय

सूत्रस्थान-विषयसूची

विषय पृष्ठ
मङ्गलाचरण १

आयुष्कामीय अध्याय ॥ १ ॥

आयुर्वेदोत्पत्ति १
आयुर्वेद की प्रामाणिकता २
अष्टांगहृदय के बनाने कारण ३
आयुर्वेद के आठ अंग ”
तीन दोषों का वर्णन ४
दोषों का काल ”
जठराग्नि का स्वरूप ५
कोष्ठ का भेद ”
प्रकृतिस्वरूप का वर्णन ६
वायु के गुण ”
पित्त के ” ७
कफ के ” ”
संसर्ग और सन्निपात के गुण ”
धातुओं का वर्णन ८
मलों की संज्ञा ”
वृद्धि और ह्रास ”
रसों का वर्णन ”
रसों के गुण ”
द्रव्य के भेद ९
द्रव्य के उष्ण और शीतवीर्य ”
द्रव्य का विपाक ”
द्रव्य के गुण ”
रोग का कारण १०
रोगारोग्य का लक्षण और भेद ”
रोगों का अधिष्ठान ”
मन को दूषित करने वाले दोष ”
रोगज्ञान के उपाय ”
रोगविशेष को जानने के उपाय ११
देशभेद ”
औषध के भेद ”
औषध का विषय १२
चिकित्सा के पादभेद ”
वैद्य के गुण ”
औषध के चार गुण ”
परिचारक के ” १३
परिचारिका के ” ”
रोगी के ” ”
चार प्रकार के रोग ”
कृच्छ्रसाध्य रोग १४
याप्य रोग ”

विषय पृष्ठ
असाध्य रोग १५
त्याज्य रोगी के लक्षण ”
सूत्रस्थान के अध्यायों के नाम १६
शारीरस्थान ” ” ”
निदानस्थान ” ” ”
चिकित्सितस्थान ” ” ”
कल्पस्थान ” ” ”
उत्तरस्थान ” ” ”

दिनचर्या अध्याय ॥ २ ॥

प्रातः उठने का समय १७
उठने के पश्चात् कर्तव्य ”
दन्तधावन का प्रतिषेध १८
सौवीरांजन (सुर्मा) के गुण ”
रसांजन की विधि ”
नस्यादि सेवनविधि १९
रोग विशेष में ताम्बूल का निषेध ”
तैलाभ्यंग के गुण २०
” का निषेध ”
व्यायाम से लाभ ”
” के अयोग्य मनुष्य ”
” की योग्यता और समय २१
” के पश्चात् कर्तव्य ”
अतिव्यायाम तथा जागरणादि से हानि ”
उबटन से लाभ ”
स्नान के गुण ”
उष्ण जल से स्नान की विधि-निषेध २२
स्नान के अयोग्य मनुष्य ”
भोजन तथा मल-मूत्रोत्सर्ग की व्यवस्था ”
सुखसाधन धर्म की प्रशंसा ”
मित्र और शत्रु के प्रति आचरण ”
दशविध पापों की समीक्षा ”
मनुष्य का कर्तव्य २३
लोकप्रिय होने का निर्देश ”
इन्द्रियों का निग्रह ”
कार्यारंभ विधान २४
स्वस्थवृत्त ”
त्याज्य कर्म २५
लोकाचार का पालन ”
सद्व्रत के लक्षण ”
दिन-रात का विवेचन २६
आचार-पालन का परिणाम ”

विषय पृष्ठ

ऋतुचर्या अध्याय ॥ ३ ॥

षड्ऋतु वर्णन २६
बल का उपचयापचय काल २७
हेमन्तऋतु में जठराग्नि का प्राबल्य २८
” में ऋतुचर्या ”
” में स्नान-भोजनादि व्यवस्था ”
” में संभोग्य स्त्री २९
” में प्रशस्त गृह ”
शिशिर ऋतुचर्या ”
वसन्त ऋतुचर्या ”
” के मध्याह्न में सेवनीय स्थान ३०
” में वर्ज्य पदार्थ ”
ग्रीष्म ऋतुचर्या ”
” में भोजनादि व्यवस्था ”
” में रात्रि-भोजन व्यवस्था ३१
” के मध्याह्न में सेवनीय स्थान ”
” की रात्रि में ” ” ३२
वर्षा ऋतुचर्या ”
” में भोजनादि व्यवस्था ”
” में विशेष नियम ३३
शरद् ऋतुचर्या ”
” में भोजनादि व्यवस्था ”
” में हंसोदक का प्राशस्त्य ”
” में संध्या सेवन विधि ”
” में वर्ज्यवस्तु ”
षड्ऋतुचर्या ”
ऋतुसन्धि ३४

रोगानुत्पादनीय अध्याय ॥ ४ ॥

वेगावरोधन निषेध ३४
अधोवायु के अवरोध से रोग ”
मलवेग रोकने से रोग ३५
मूत्रवेग ” ” ”
मलवेग रोकने से उत्पन्न रोगका उपाय ”
मूत्रवेग ” ” ”
डकार ” ” ”
छींक ” ” ”
प्यास रोकने से उत्पन्न रोग का उपाय ३६
भूख ” ” ”
निद्रा ” ” ”
खाँसी ” ” ”
श्वास ” ” ”
जंभाई ” ” ”

विषय-सूची

विषय पृष्ठ
मङ्गलाचरण १

आयुष्कामीय अध्याय ॥ १ ॥

आयुर्वेदोत्पत्ति ४
आयुर्वेद की प्रामाणिकता "
अष्टाङ्गहृदय के बनाने के कारण "
आयुर्वेद के आठ अङ्ग ५
तीन दोषों का वर्णन ६
दोषों का काल ७
जठराग्नि का स्वरूप "
कोष्ठ का भेद ८
प्रकृतिस्वरूप का वर्णन ९
वायु के गुण १०
पित्त के " "
कफ के " "
संसर्ग और सन्निपात के गुण "
धातुओं का वर्णन ११
मलों की संज्ञा "
वृद्धि और ह्रास "
रसों का वर्णन १२
रसों के गुण "
द्रव्य के भेद १३
द्रव्य के उष्ण और शीतवीर्य "
द्रव्य का विपाक "
द्रव्य के गुण १४
रोग का कारण "
रोगारोग्य का लक्षण और भेद १५
रोगों का अधिष्ठान "
मन को दूषित करने वाले दोष "
रोगज्ञान के उपाय १६
रोगविशेष को जानने के उपाय "
देशभेद "
औषध के भेद १७
औषध का विषय १८
चिकित्सा के पादभेद "
वैद्य के गुण "
औषध के चार गुण १९
परिचारक के " "

विषय पृष्ठ
परिचारिका के " १९
रोगी के " "
चार प्रकार के रोग २०
कृच्छ्रसाध्य रोग २१
याप्य रोग २२
असाध्य रोग २२
त्याज्य रोगी के लक्षण "
सूत्रस्थान के अध्यायों के नाम २३
शारीरस्थान " " "
निदानस्थान " " २४
चिकित्सितस्थान " " "
कल्पस्थान " " "
उत्तरस्थान " " "

दिनचर्या अध्याय ॥ २ ॥

प्रातः उठने का समय २५
उठने के पश्चात् कर्तव्य २६
दन्तधावन का प्रतिषेध २७
सौवीराञ्जन (सुर्मा) के गुण "
रसाञ्जन की विधि "
नस्यादि सेवनविधि २८
रोग विशेष में ताम्बूल का निषेध "
तैलाभ्यङ्ग के गुण "
" का निषेध २९
व्यायाम से लाभ "
" के अयोग्य मनुष्य "
" की योग्यता और समय "
" के पश्चात् कर्तव्य ३०
अतिव्यायाम तथा जागरणादि से हानि "
उबटन से लाभ "
स्नान के गुण ३१
उष्ण जल से स्नान की विधि-निषेध "
स्नान के अयोग्य मनुष्य "
भोजन तथा मल-मूत्रोत्सर्ग की व्यवस्था "
सुखसाधन धर्म की प्रशंसा ३२
मित्र और शत्रु के प्रति आचरण "
दशविध पापों की समीक्षा "

विषय पृष्ठ
मनुष्य का कर्तव्य ३२
लोकप्रिय होने का निर्देश ३४
इन्द्रियों का निग्रह "
कार्यारंभ विधान "
स्वस्थवृत्त "
त्याज्य कर्म ३६
लोकाचार का पालन ३७
सद्व्रत के लक्षण "
दिन रात का विवेचन "
आचार-पालन का परिणाम "

ऋतुचर्या अध्याय ॥ ३ ॥

षड्ऋतु वर्णन ३८
बल का उपचयापचय काल ३९
हेमन्तऋतु में जठराग्नि का प्राबल्य ४०
" में ऋतुचर्या ४१
" में स्नान भोजनादि व्यवस्था "
" में संभोग्य स्त्री ४२
" में प्रशस्त गृह "
शिशिर ऋतुचर्या ४३
वसन्त ऋतुचर्या "
" के मध्याह्न में सेवनीय स्थान ४४
" में वर्ज्य पदार्थ ४५
ग्रीष्म ऋतुचर्या "
" में भोजनादि व्यवस्था "
" में रात्रि-भोजन व्यवस्था ४६
" के मध्याह्न में सेवनीय स्थान "
" की रात्रि में " " ४७
वर्षा ऋतुचर्या ४८
" में भोजनादि व्यवस्था "
,, में विशेष नियम ४९
शरद् ऋतुचर्या "
" में भोजनादि व्यवस्था "
" में हंसोदक का प्राशस्त्य ५०
" में संध्या सेवन विधि "
" में वर्ज्यवस्तु "
षड्ऋतुचर्या ५१
ऋतुसन्धि "

विषय पृष्ठ

रोगानुत्पादनीय अध्याय ॥ ४ ॥

वेगावरोधन निषेध ५२
अधोवायु के अवरोध से रोग ”
मलवेग रोकने से रोग ”
मूत्रवेग ” ” ५३
मलवेग रोकने से उत्पन्न रोग का उपाय ”
मूत्रवेग ” ” ”
डकार ” ” ”
छींक ” ” ५४
प्यास रोकने से रोग ”
भूख ” ” ”
निद्रा ” ” ५५
खाँसी ” ” ”
श्वास ” ” ”
जंभाई ” ” ”
आँसू रोकने से रोग ५५
वमन ” ” ”
शुक्र के स्खलन वेग रोकने से रोग ”
असाध्य रोग ५६
वेगरोधजन्य रोगों में कर्तव्य ”
रोकने योग्य वेग ५७
वातादि मलों का यथाकाल शोधन ”
लोभादि का वेग रोकना आवश्यक ”
शोधन के पश्चात् रसायन प्रयोग ५८
पथ्यादि विधि ”
पूर्वोक्त क्रम का सुपरिणाम ”
आगन्तु रोग ५९
” ” का प्रतीकार ”
रोगों से बचने का उपाय ”

द्रवद्रव्यविज्ञानीय अध्याय ॥ ५ ॥

गाङ्गोदक के गुण ६०
” का लक्षण ६१
सामुद्र जल ” ६२
गाङ्गोदक के अभाव में पेय जल ”
अपेय जल ”
नदियों का पथ्यापथ्य जल ६३
कूपादि का जल ”
जल पीने के अयोग्य रोगी ६४
भोजन के समय जलपान से गुणावगुण ”
शीतल (ठण्डा) जल के गुण ६५
गरम ”
क्वथित शीतल ६६
नारिकेल ”

विषय पृष्ठ
अन्तरिक्ष ६६
दूध के भेद ६७
दूध के साधारण लक्षण ”
गोदुग्ध के गुण ”
भैंस के दुग्ध के गुण ”
बकरी ” ६८
ऊँटनी ” ”
स्त्री ” ”
भेड़ी ” ”
हथिनी ” ”
घोड़ी ” ६९
कच्चे दूध के गुण ”
पके और धारोष्ण दूध के गुण ”
दही के गुण ”
तक्र ” ७०
दही के तोड़ ” ७१
नवनीत ” ”
दूध के मक्खन ” ”
घृत ” ”
पुराने घृत के गुण ७२
किलाट ” ”
गौ के दूध तथा घृत की श्रेष्ठता ”
गन्ने के रस का गुण ”
फाणित (राब) गुण ७३
गुड़ ”
शक्कर, मिश्री आदि के गुण ७४
यवासे की शक्कर ” ”
अन्य शर्करा ” ”
शर्करा और फाणित का अन्तर ”
मधु के गुण ७४
उष्ण मधु के गुण ७५
तैल के सामान्य गुण ”
एरण्ड तैल के ” ७६
रक्त एरण्ड के तैल ” ७७
सरसों के तेल का ” ”
बहेड़े के तेल का ” ”
नीम के तेल का ” ”
अलसी और कुसुम्भ तेल के गुण ”
वसादि के गुण ”
मद्य के सामान्य गुण ”
नये और पुराने मद्य के गुण ७८
मद्यपान का निषेध ”
सुरा के गुण ”
वारुणी ” ”

विषय पृष्ठ
बहेड़े के मद्य के गुण ७९
यव सुरा ” ”
अरिष्ट ” ”
द्राक्षामद्य ” ”
खजूर ” ” ”
शर्करा ” ” ”
गुड ” ” ”
सीधु ” ”
मधु (महुवा) के गुण ८०
शुक्त के गुण ”
शुक्तों के भेद तथा गुण ”
आसुत के लक्षण तथा गुण ”
शाण्डाकी का गुण ”
कांजी के ” ”
गौ आदि के मूत्र के गुण ८१
पाँचवे अध्याय का उपसंहार ”

अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय ॥ ॥

चावलों के भेद ८२
लाल चावल के गुण ”
श्रेष्ठ ” ” ”
यवकादि ” ” ”
साठी ” ” ८३
विभिन्न चावलों के गुण ”
पाटल आदि के गुण ”
तृणधान्य ” ”
कोदो ” ”
जौ ” ”
बाँसके जौ ” ८४
गेहूँ ”
गेहूँ के भेद ”
शिम्बीधान्य के सामान्य गुण ८४
मूँग के गुण ”
कुलथी का गुण ८५
निष्पाव (सेम) के गुण ”
उड़द के गुण ”
कौंच के गुण ”
तिल के गुण ”
अलसी और कुसुम के बीज के गुण ”
नवीन और पुराण धान्य ८६
चावल के मण्ड का गुण ”
पेया के ” ८७
विलेपी के ” ”
भात के ” ”

विषय पृष्ठ
मांसरस का गुण ८८
मूँग के यूष का ” ”
कुलथी के यूष का ” ”
रसाला (श्रीखण्ड) ” ८९
पानक (पन्ना) ” ”
धान के लावा ” ”
पृथुक (चिउड़ा) ” ”
दाना (भुने) जौ आदि” ”
सत्तू ” ९०
पिण्याक (तिलकल्क) ” ”
वेसवार ” ”
पाक भेद से अन्नों के गुण ”
मृगों के नाम ९१
विष्किर पक्षियों के नाम ”
प्रतुद पक्षियों के नाम ”
विलेशय ” ”
प्रसह पशुओं ” ”
महामृगों ” ”
जलचरों ” ९२
जङ्गली जीवों के मांस का गुण ”
खरगोश के ” ” ”
बटेर आदि के ” ” ”
मोर मुर्गादि के ” ” ९३
विलेशयादि के ” ” ”
महामृगादि के ” “ ”
बकरे के ” ” ”
भेड़ों के ” ” ९४
गोमांस (गाय के मांस) के गुण ”
भैंसा के ” ”
सूअर के ” ”
मछली के ” ”
सर्वोत्तम मांस ”
भक्ष्य (खाने योग्य) मांस ”
त्याज्य मांस ”
नर-मादा का मांस ९५
शाकों का गुण ”
मकोय शाक ” ”
चाङ्गेरी शाक ” ”
पटोलादि शाक ” ९६
परवल का विशेष ” ”
दोनों कटेरी ” ”
अड़ूसा ” ”
करेले ” ”
बैंगन ” ”
विषय पृष्ठ
करील गुण ९६
तोरई ” ९७
बबाची ” ”
चौलाई ” ”
मुञ्जात ” ”
पालक ” ”
पोई ” ”
चञ्चु ” ”
विदारीकन्द ” ”
जीवन्ती ” ”
कूष्माण्डादि के सामान्य गुण ”
खीरा के गुण ”
तुम्बी आदि के गुण ९८
ककड़ी के ” ”
मृणाल का ” ”
कदम्ब-पुष्पादि ” ”
सामान्य शाक ” ”
चिल्लीशाक ” ”
तर्कारी और वरुण ”
पुनर्नवा और कालशाक ९९
पूतिकरञ्ज के अङ्कुर के गुण ”
शतावरी के अङ्कुर ” ”
वंशाङ्कुर के गुण ”
पत्तूर के ” ”
कसौंदी ” ”
कुसुम का शाक ”
सरसों ” ”
मूली (कच्ची) के गुण ”
वाराहीकन्द ” १००
कुठेरक शोभाञ्जन आदि के गुण ”
तुलसी के गुण ”
हरी धनिया ” ”
लशुन ” १०१
प्याज ” ”
गन्दन (लशुन भेद) के गुण ”
जमीकंद (सूरण) के गुण ”
पत्रादि के गुण ”
शाकों में बराबरत्व ”
दाख के गुण ”
अनार ” १०२
केला, खजूर आदि फलों के गुण ”
तालफलादि के गुण ”
बेल ” ”
कपित्थफल ” १०३
विषय पृष्ठ
जामुन के गुण १०३
आम ” ”
वृक्षाम्ल ” ”
शमी फल ” ”
पीलु फल ” ”
बिजौरे ” ”
भिलावे ” १०४
पालेवतादि ” ”
आलुबुखारा ” ”
हरे दाख, फालसे और करमर्द के गुण ”
कोलादि के गुण ”
इमली और बेर के गुण ”
लकुच (बड़हल) की हीनता ”
त्यागने योग्य धान्य शाक फलादि १०५
नमक ”
सेन्धा नमक ”
सौंचर नमक ”
बिड नमक ”
सामुद्र नामक १०६
उद्भिद ” ”
काला ” ”
रोमक और पांशुक नमक ”
नमक का प्रयोग ”
जवाखार के गुण ”
क्षार-सामान्य ” ”
हींग ” ”
हरड़ ” १०७
आँवला ” ”
बहेड़ा ” ”
त्रिफला ” ”
त्रिजात और चातुर्जात १०८
कालीमिर्च के गुण ”
पिप्पली ” ”
सोंठ ” ”
अदरख ” ”
चव्य तथा पिप्पलीमूल ”
चित्रक (चीता) के गुण १०९
पञ्चकोल ” ”
बृहत्पञ्चमूल ” ”
लघुपञ्चमूल के गुण १०९
मध्यम (तृतीय) पञ्चमूल ”
जीवन (चतुर्थ) पञ्चमूल ”
तृण (पञ्चम) पञ्चमूल ११०
षष्ठाध्याय का उपसंहार ”

विषय पृष्ठ

अन्नरक्षा अध्याय ॥ ७ ॥

वैद्य का स्थान १११
विष से राजा के अन्नपानादि की रक्षा ”
विषाक्त ओदन ”
” व्यञ्जन ११२
” मांसरस, दूध, दही आदि ”
विष देने वाले के लक्षण ”
अग्नि में विषाक्त अन्न की परीक्षा ११३
विषाक्त अन्न की पशुपक्षियों द्वारा परीक्षा ”
विषाक्त अन्नस्पर्श से हानि ”
मुखस्थित विष का लक्षण ११४
आमाशयस्थ ” ” ”
विषभोक्ता को बचाने का उपाय ”
सुवर्ण का (विषोपभुक्त) प्रभाव ”
विरुद्ध भोजन की विषतुल्यता ”
विरुद्ध आनूप मांस ११५
दूध के विरुद्ध फल और धान्य ”
दुग्ध विरुद्ध शाक ”
विरुद्ध मांसादि ११६
विरुद्ध स्नेहादि पदार्थ ”
दूध के विरुद्ध ”
शहद (मधु) के विरुद्ध ”
असमान शहद, घी ११७
तिलकल्क और पाईशाक ”
बगुला के मांस और मद्य ”
तीतर आदि के मांस ”
हरियल पक्षी ” ”
विरुद्ध अन्न, पानादि का लक्षण एवं शमन ”
विरुद्धाहार का उपचार ”
विरुद्ध भोजन के योग्य व्यक्ति ११८
पथ्यापथ्य के सेवन और त्याग विधि ”
सहसा पथ्यापथ्य के त्याग का फल ”
अहिताहार-सेवन का परित्याग ११९
दीर्घायु का विधान ”
अहार योजना ”
निद्रा की आवश्यकता ”
अकाल निद्रा का कुपरिणाम ”
रात्रि जागरण और दिवा शयन का प्रभाव १२०
ग्रीष्मऋतु में दिवाशयन का विधान ”
ग्रीष्मऋतु में भी दिवाशयन का निषेध ”
विषय पृष्ठ
असमय में निद्रा का निषेध १२०
अतिनिद्रा की चिकित्सा १२१
निद्रानाशक के परिणाम ”
निद्रा का समय ”
निद्राकर उपाय ”
ब्रह्मचर्य १२२
असम्भोग्य स्त्री ”
स्त्रीप्रसङ्ग का समय ”
अनियमित स्त्रीप्रसङ्ग से हानि ”
नियमित स्त्रीप्रसङ्ग से लाभ १२३
मैथुन के बाद सेवनीय पदार्थ ”
चिकित्सक को शरीर का स्वामित्व ”

मात्राऽशितीय अध्याय ॥ ८ ॥

परिमित अहार का विधान १२३
गुरु-लघु द्रव्यों की मात्रा १२४
अत्यल्प भोजन से हानि ”
अति भोजन से हानि ”
अजीर्ण भोजन का परिणाम ”
अलसक का लक्षण ”
विसूचिका के ” ”
विसूचिका में उपद्रव १२५
अलसक ”
दण्डालसक ”
आम विष का लक्षण ”
अलसक में चिकित्सा १२६
प्रबल विसूचिका में उपाय ”
अजीर्ण में उपाय ”
अजीर्ण में औषध सेवन का काल ”
औषध का निर्णय १२७
औषध की यथा योग्यता ”
रोगान्तर में चिकित्साक्रम ”
अजीर्ण के प्रकार और लक्षण ”
त्रिविध अजीर्ण की चिकित्सा १२८
विलम्बिका रोग की उत्पत्ति ”
रसशेषाजीर्ण के लक्षण ”
अजीर्ण के सामान्य लक्षण ”
अजीर्ण के अन्य कारण १२९
समशन, अध्यशन, विषमाशन ”
भोजन की व्यवस्था १३०
त्याज्य भोजन ”
किलाटादि भोजन का निषेध ”
भोज्य पदार्थ ”
नेत्रहितकर पदार्थ ”
भोजन का क्रम १३१
विषय पृष्ठ
भोजन का प्रमाण १३१
भोजन के पश्चात् अनुपान ”
अनुपान की व्यवस्था ”
अनुपान से लाभ १३२
अनुपान के अयोग्य रोग ”
अनुपान के अयोग्य रोगी ”
भोजन का समय ”

द्रव्यादिविज्ञानीय अध्याय ॥ ९ ॥

द्रव्यों की प्रधानता १३३
द्रव्यों का अनेकरसत्व १३५
रसों में गुर्वादि गुण ”
पार्थिव द्रव्यों के स्वरूप और गुण ”
जलीय ” ” १३६
आग्नेय ” ” ”
वायव्य ” के लक्षण और गुण ”
आकाशात्मक द्रव्यों के लक्षण और गुण ”
द्रव्यों का अधोगत्व ऊर्ध्वगामित्व ”
अष्टविध वीर्यवाद ”
वीर्यके सम्बन्ध में चरकाचार्यका मत १३७
अन्याचार्य का मत ”
रसादि में अवीर्यत्व ”
शीत, उष्ण भेद से द्विविध वीर्य ”
दोनों वीर्यों के गुण १३८
विपाक का लक्षण ”
रसों का विपाक ”
विभिन्न विपाकों के कर्म ”
रसादि में उत्कर्षता १३९
प्रभाव (रसप्रभाव) का लक्षण ”
प्रभाव का निदर्शन १४०
ग्रन्थकार की उक्ति ”

रसभेदीय अध्याय ॥ १० ॥

मधुरादि रसों की उत्पत्ति १४२
रसों के लक्षण ”
मधुर रस के कर्म १४३
अम्ल रस ” ”
लवण रस ” ”
तिक्त रस ” ”
कटु रस ” १४४
कषाय रस ” ”
मधुर वर्ग के द्रव्यों के नाम ”
अम्लवर्ग ” ” ”
लवणवर्ग ” ” ”

विषय पृष्ठ
तिक्तवर्ग के द्रव्यों के नाम १४५
कटुवर्ग „ „ „
कषायवर्ग „ „ „
रसों का भेद १४६
रस-संयोग के भेद १४७
रस भेदों का विवरण १४८
रसों की सूक्ष्म कल्पना „

दोषादिविज्ञानीय अध्याय ॥ ११ ॥

दोषधातु-मल १४८
धातुओं का कर्म १४९
मलों „ „
वृद्ध वायु „ „
वृद्ध पित्त का कर्म „
वृद्ध कफ „ १५०
वृद्ध रस „ „
वृद्ध मांस „ „
वृद्ध मेद „ „
वृद्ध अस्थि „ „
वृद्ध मज्जा „ „
वृद्ध शुक्र „ „
वृद्ध पुरीष „ „
वृद्ध मूत्र „ „
वृद्ध स्वेद „ „
वृद्धनेत्रादि के मल कर्म १५१
क्षीण वातादि के लक्षण „
रसादि की क्षीणता „
पुरीष की „ „
घ्राणादिमल की क्षीणता १५२
दोषादि की साधारण क्षयवृद्धि „
मलों की क्षीणता का उपद्रव „
दोषों का आश्रय १५३
धातु-मलों के वृद्धि क्षय की चिकित्सा „
धातुक्षय-वृद्धि का कारण १५४
दोषों से रोगों की उत्पत्ति का क्रम-सम्प्राप्ति „
ओज का लक्षण „
ओज का क्षय „
ओज की वृद्धि १५५
वृद्धिक्षय की चिकित्सा „
वृद्धिक्षय और समता के लक्षण „
समान दोष का परिणाम १५६

दोषभेदीय अध्याय ॥ १२ ॥

वायु के स्थान „
विषय पृष्ठ
पित्त के स्थान १५६
कफ „ „
वायु के पाँच भेद „
प्राण वायु „
उदान „ „
व्यान „ १५७
समान „ „
अपान „ „
पित्त के पाँच भेद „
पाचक पित्त „
रञ्जक „ „
साधक „ „
आलोचक पित्त १५८
भ्राजक „ „
श्लेष्मा के पाँच भेद „
अवलम्बक श्लेष्मा „
क्लेदक श्लेष्मा १५८
बोधक „ „
तर्पक „ „
श्लेषक „ „
उपसंहार „
वायु का सञ्चय, कोप तथा शमन १५९
पित्त का „ „ „ „ „
कफ का „ „ „ „ „
क्षय का लक्षण „
कोप तथा शम के लक्षण „
वातादि दोषों का क्षयादि काल १६०
दोष-क्षय का कारण „
दोष-क्षयादि के अन्य कारण „
दोष की व्याप्ति तथा निवृत्ति „
दोष-कोप के अनेक कारण १६१
दोष ही रोगों के मुख्य „ „
दोष प्रकोप के संक्षिप्त „ „
हीन, मिथ्या आदि योगों के लक्षण १६२
काल की त्रैविध्य तथा हीनादि योग „
कर्म का त्रैविध्य तथा हीनादि योग „
दोषों के निदान १६३
बाह्य मार्ग के रोग „
कोष्ठस्थ मार्ग „ „
मध्यम रोग मार्ग „
वायु के कर्म „
पित्त „ १६४
कफ „ „
रोगी का बार-बार निरीक्षण १६५
विषय पृष्ठ
रोगी के बार २ निरीक्षण का कारण १६५
व्याधि के तीनभेद और उत्पत्ति के „ „
इन व्याधियों के लक्षण „
त्रिविध व्याधि की चिकित्सा „
प्रकारान्तर से व्याधि के दो भेद „
स्वतन्त्र और परतन्त्र व्याधि लक्षण १६६
प्रत्येक विकार में वैद्य का कर्तव्य „
परतन्त्र व्याधियों की शान्ति का उपाय „
नाम-हीन रोग में वैद्य का कर्तव्य „
रोग की दशविध परीक्षा १६७
गुरु तथा लघु रोग की परीक्षा „
कुवैद्य की भूल „
गुरुलघु रोग में विपरीत मात्रा से हानि १६८
रोग-मात्रा-निर्णय में सावधानी की आवश्यकता „
दोष के भेद „
प्रत्येक के पृथक्-पृथक् भेद „
संसर्ग के नव भेदों का स्फुटीकरण „
त्रिदोष भेद १६९
वृद्ध और क्षीण दोष के गुण १७०
क्षय, वृद्धि और समता के भेद „
दोष-भेदों की अनन्तता „

दोषोपक्रमणीय अध्याय ॥ १३ ॥

वायु का उपचार १७१
पित्त „ १७२
कफ „ „
मिलित दोषों „ „
अन्य „ „
उपचार का समय १७३
विरुद्ध उपचार नहीं करने का हेतु „
कोष्ठ से शाखादि में दोषों का जाना „
शाखादि से कोष्ठ में दोषों का जाना „
कोष्ठस्थित दोषों का कार्य व कुपित होने के कारण १७४
अन्यस्थानगत दोषों की चिकित्सा „
त्रिर्यक्स्थानगत दोषों में कर्तव्य „
साम तथा निराम मल के लक्षण १७५
आम का लक्षण „
मतान्तर „
साम शब्द का अर्थ „
बाहर नहीं निकालने योग्य सामदोष „
उक्त दोषों में कर्तव्य १७६

विषय पृष्ठ
दोषों के समीपस्थ मार्ग १७६
नहीं रोकने योग्य दोष "
उक्त दोषों में कर्तव्य "
वायु आदि दोषों का शोधन काल "
ग्रीष्मादि में दोष शोधन का निषेध "
दोष शोधन योग्य अन्य काल १७७
अति शीतोष्ण काल में कर्तव्य "
औषध सेवन के काल "
रोगानुसार औषध काल १७८

द्विविधोपक्रमणीय अध्याय ॥ १४ ॥

उपचार के दो भेद १७८
स्नेहादि कर्म का पूर्वोक्त दो में अन्तर्भाव १७९
अपतर्पण के दो भेद "
शोधन के लक्षण और भेद "
शमन " "
वायु आदि का शमन "
बृहण के योग्य मनुष्य १८०
बृंहण औषध "
लङ्घन के योग्य मनुष्य "
शोधन का नियम "
बृंहणीय तथा लङ्घनीय में उपचार "
बृंहित के लक्षण "
लङ्घित " १८१
अनपेक्षित मात्रा लेने का परिणाम "
अतिलङ्घित अतिबृंहित के लक्षण "
अतिस्थौल्यादि का वर्णन "
अतिबृंहण में उपचार "
अन्य औषध १८२
अतिलङ्घन से होने वाले रोग "
कृशता की श्रेष्ठता तथा उसके कारण "
कृशता का उपचार १८३
मांसभक्षण श्रेष्ठ उपबृंहण है "
स्थूल-कृश की सामान्य चिकित्सा "
चिकित्सा के दो भेद १८४

शोधनादिगणसंग्रह अध्याय ॥१५॥

वमन कारक औषध १८५
विरेचन कारक " "
निरूहण " "
शिरोविरेचन " "
वायुनाशक " "
पित्तनाशक " "
कफनाशक " १८६
विषय पृष्ठ
जीवनीय गण १८६
विदार्यादिगण "
सारिवादि गण "
पद्मकादि गण (दुग्धवर्धक) औषध "
पुरुषकादि गण (तृष्णादि नाशक) " "
अंजनादि गण १८७
पटोलादि गण और उसका गुण "
गुडूच्यादि " " "
आरग्वधादि " " "
असनादि " " "
वरुणादि " " १८८
ऊषकादि " " "
वीरतरादि " " "
रोध्रादि " " "
अर्कादि " " १८९
सुरसादि " " "
मुष्ककादि " " "
वत्सकादि " " "
वचाहरिद्रादि " " "
प्रियंग्वम्बष्ठादि " " १९०
मुस्तादि " " "
न्यग्रोधादि " " "
एलादि " " "
श्यामादि " " १९१
उक्त तैंतीस गणों के अभाव में प्रतिनिधि द्रव्य "
इनके कल्क-पानादि विधि से रोग नाशकता "

स्नेहविधि अध्याय ॥ १६ ॥

स्नेहन और विरूक्षण द्रव्य १९२
स्नेहन द्रव्यों में घृत की श्रेष्ठता "
घृतादि की पित्तनाशकता "
घृत से तैलादि की गुरुता "
यमक स्नेहादि का कथन "
स्नेहनीय मनुष्य १९३
अस्नेहनीय " "
चतुर्विध स्नेहद्रव्यों की उपकारिता "
तैलादि स्नेह द्रव्यों का काल १९४
दिन में स्नेह की श्रेष्ठता "
विशेषावस्था में रात्रि में भी स्नेहन "
स्नेहोपयोग की विधि "
स्नेह की चौसठ विचारणा १९५
अच्छपेय स्नेह "
विषय पृष्ठ
स्नेह की त्रिविध मात्रा का लक्षण १९५
बुभुक्षित के लिए स्नेहोपयोग १९६
रसादि के साथ " "
उक्त स्नेहोपयोग का फल "
गर्मजल पीने की विधि "
स्नेह पीनेवाले के लिये भोजनविधि १९७
स्नेह पीनेवाले का कर्तव्य "
स्नेहपान की अवधि "
सम्यक् स्निग्ध आदि के लक्षण "
मात्राविरुद्ध स्नेहपान का फल १९८
स्नेहव्यापद् का उपचार "
विरूक्षण के कृताकृत लक्षण "
स्निग्धादि के पश्चात्कर्तव्य "
स्थूल स्नेहनीयों के नियम १९९
बालकवृद्धादि का शीघ्र स्नेहकरण "
अनुद्वेगकर सात स्नेहन योग "
कुष्ठादि में गुडादि की त्याज्यता "
कुष्ठादि में स्नेहन विधि "
स्नेहोपसेवन का सुपरिणाम २००

स्वेदविधि अध्याय ॥ १७ ॥

स्वेद के चार प्रकार २००
तापस्वेद का लक्षण "
उपनाहस्वेद का " "
बन्धनार्थ चर्मपट्टादि २०१
ऊष्मस्वेद "
द्रवस्वेद २०२
अवगाहस्वेद "
स्वेदविधि "
स्थानभेद से स्वेदविधि २०३
अवयव भेद से " "
स्वेदित पुरुष का लक्षण और कर्तव्य "
अतिस्वेद से उपद्रव तथा उसमें कर्तव्य "
स्वेदन तथा स्तम्भन औषधियाँ "
स्तम्भित के लक्षण "
अतिस्तम्भित " "
अस्वेद्य रोगी २०४
स्वेद के साध्यरोग "
अग्निरहितस्वेद "
स्वेदन का प्रधान कार्य "

वमनविरेचनविधि अध्याय ॥१८॥

वमन विरेचन काल तथा वमनीय रोगी २०५

विषय पृष्ठ
वमन के अयोग्य रोगी २०५
वमनादि के " " ,,
विरेचक से साध्य रोग २०६
विरेचन के अयोग्य रोगी ,,
वमन की विधि २०७
दोषानुसार वमन के द्रव्य ,,
वेगहीन वमन में कर्तव्य ,,
अयोग का लक्षण २०८
सम्यग् योग " ,,
अतियोग का लक्षण ,,
सम्यग् वमन के बाद कर्तव्य ,,
वमन किये व्यक्ति के पथ्य ,,
पेयादि का क्रम ,,
पेयादि-क्रम का फल २०९
वमनादि के वेग का नियम ,,
वमनादि का अन्त ,,
वमनादि का परिणाम ,,
वामित को विरेचन २१०
मृदुकोष्ठ को विरेचन ,,
क्रूरकोष्ठ " ,,
पित्तादि दोषों में विरेचक द्रव्य ,,
विरेचन की अप्रवृत्ति में कर्तव्य ,,
अयोगादि के लक्षण ,,
विरेचन के बाद कर्तव्य २११
औषध सेवन के बाद उपवास ,,
उक्तोपवास से लाभ ,,
संशोधनादि के बाद पेयादि ,,
पेयादि के अयोग्य रोगी ,,
वामक औषध का पाक अनावश्यक ,,
स्वतः विरेचनीय का उपचार ,,
दुर्बल का उपचार तथा उसके बिना हानि २१२
मन्दाग्नि तथा क्रूरकोष्ठ का शोधन ,,
रूक्षादि का विरेचन ,,
विषादि से पीड़ित का विरेचन ,,
स्नेहादि का बार-बार प्रयोग ,,
उक्तविधि से मल निकालने में दृष्टान्त २१३
स्नेह-स्वेदन के बिना मलशोधन से हानि ,,
सम्यक् शोधन का फल ,,

वस्तिविधि अध्याय ॥ १९ ॥

वस्ति के भेद २१३
वस्ति के योग्य रोगी ,,
विषय पृष्ठ
निरुहवस्ति के अयोग्य व्यक्ति २१३
अनुवासन के योग्य रोगी ,,
अनुवासन के अयोग्य रोगी ,,
निरूह तथा अनुवासन यन्त्र के लक्षण ,,
उक्त यन्त्र की लम्बाई आदि २१५
उक्त यन्त्र में कर्णिकादि का जोड़ना २१६
वस्ति के अभाव में कर्तव्य ,,
निरूह-वस्ति की मात्रा ,,
अनुवासन वस्ति की मात्रा ,,
अनुवासन की विधि २१७
वस्तिप्रयोग विधि ,,
वस्ति देने के बाद कर्तव्य और स्नेह निवृत्ति ,,
स्नेह-निवृत्ति के बाद कर्तव्य २१८
स्नेह-निवृत्ति का समय ,,
स्नेह-निवृत्ति के अभाव में कर्तव्य ,,
अनुवासन का समय ,,
निरूह " ,,
निरूहण वस्ति की विधि २१९
निरूह-कल्पना, दोषानुसार स्नेह-प्रमाण ,,
अन्यमत २२०
निरूहण के पश्चात कर्तव्य ,,
निरूहण की अवधि ,,
स्वयं निरूहण होने पर कर्तव्य ,,
सम्यक् निरूढ के लक्षण तथा पथ्यादि ,,
पथ्य देने से लाभ २२१
अनुवासन देने का समय ,,
अनुवासित के लक्षण ,,
अनुवासन के सम्यक् योग का लक्षण ,,
अनुवासन की दोषानुसार संख्या ,,
अनुवासित का भोजन ,,
वातरोग में वस्ति ,,
पित्त " " २२२
कफ " " ,,
सन्निपात " " ,,
चौथी वस्ति का निषेध ,,
अन्य हेतु ,,
दोनों पक्षों की प्रमाणिकता ,,
उक्त विषय में स्वमत ,,
कर्मादि वस्तियों की संख्या ,,
एक वस्ति के अतिशीलन का निषेध २२३
उपसंहार ,,
मात्रा वस्ति के लक्षणादि ,,
विषय पृष्ठ
उत्तरवस्ति का विधान २२३
उत्तरवस्ति के यन्त्र का प्रमाण ,,
उत्तर वस्ति की मात्रा २२४
उत्तरवस्ति की प्रयोगविधि ,,
उत्तरवस्ति की संख्या ,,
स्त्रियों की उत्तर वस्ति ,,
स्त्रियों के उत्तरवस्ति यन्त्र का प्रमाण २२५
" " की विधि ,,
वस्ति देने का नियम ,,
वस्ति की आवश्यकता में दृष्टान्त ,,
वायु की प्रधानता तथा वस्ति की वायुशामकता २२६

नस्यविधि अध्याय ॥ २० ॥

नस्य साध्य विकार २२७
नस्य के भेद ,,
शिरःशूलादि में विरेचन नस्य ,,
वातज शूल में बृंहण नस्य ,,
नीलिकादि में शमन नस्य ,,
विरेचन नस्य की औषधें २२८
बृंहण और शमन नस्य की औषधें ,,
अन्य नस्य प्रकार ,,
नस्य की प्रयोगविधि और फल ,,
मर्शस्नेह का परिणाम ,,
नस्य के अयोग्य व्यक्ति २२९
नस्य के योग्यकाल तथा दोष ,,
नस्य की विधि २३०
नस्य से मूर्च्छा आने पर कर्तव्य ,,
विरेचन नस्य के पश्चात् कर्तव्य ,,
नस्य के सम्यक् योग्य आदि का लक्षण २३१
सुविरिक्त और दुर्विरिक्त ,,
प्रतिमर्श का विषय ,,
दुष्ट पीनस में उसका निषेध ,,
प्रतिमर्श का काल तथा मात्रा ,,
प्रतिमर्श का फल ,,
अवस्थानुसार नस्यादि का विधान २३२
प्रतिमर्श का सर्वदा प्रयोग ,,
नस्य में तैल की श्रेष्ठता ,,
मर्श तथा प्रतिमर्श के भेद ,,
अणुतैल २३३
नस्य के गुण ,,

धूमपानविधि अध्याय ॥ २१ ॥

धूमपान की आवश्यकता २३३

विषय पृष्ठ
धूमपान के भेद तथा दोषानुसार प्रयोग २३३
धूमपान के अयोग्य रोगी ”
धूमपान के उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा २३४
त्रिविध धूमपान के पृथक् २ काल ”
धूमपान-नलिका का स्वरूप ”
धूमपान-नलिका की लम्बाई ”
धूमपान विधि तथा क्रम ”
दिन में धूमपान की संख्या २३५
मृदु धूम के द्रव्य ”
शमन धूम के ” ”
तीक्ष्ण धूम के ” ”
धूमवर्ति का विधान २३६
धूमपान का दूसरा प्रकार ”
धूमपान का फल ”

गण्डूषादिविधि अध्याय ॥ २२ ॥

गण्डूष के भेद एवं विधि २३६
दन्तहर्षादि में गण्डूष २३७
सामान्य गण्डूष ”
ऊषदाहादि में गण्डूष ”
मधुगण्डूष से लाभ ”
धान्याम्लादि के गण्डूष का फल ”
गण्डूष धारण विधि तथा समय ”
गण्डूष और कवल के भेद २३८
मन्यादि रोग में कवल धारण ”
प्रतिसारण का भेद तथा प्रयोग ”
मुखलेप के भेद ” ” ”
मुखलेप में निषिद्ध कार्य तथा व्यक्ति ”
मुख-लेप से लाभ ”
ऋतु के अनुसार मुख-लेप २३९
नित्य मुख-लेप से सौन्दर्यादि ”
मस्तक में तेल मालिश के भेद ”
दोषानुसार अभ्यंगादि का प्रयोग ”
शिरोवस्ति की विधि ”
कान में तैलधारण विधि तथा उसकी मात्रा २४०
मस्तक तैल का गुण ”

आश्चोतनाञ्जनविधि अध्याय ॥ २३ ॥

नेत्ररोगों में आश्चोतन २४१
आश्चोतन की विधि ”
अत्युष्ण तीक्ष्ण आश्चोतन से रोगोत्पत्ति ”
विषय पृष्ठ
नेत्र में प्रयुक्त औषध से लाभ २४१
अञ्जन प्रयोग ”
अञ्जन के भेद और लेखनादि अञ्जन के द्रव्य २४२
अञ्जन की शलाका ”
अञ्जन की त्रिविध कल्पना ”
तीक्ष्णादि चूर्ण का प्रमाण ”
रात्रि आदि में अञ्जन करने का निषेध २४३
अन्याचार्यों के मत ”
अन्यमत का अपवाद ”
उक्त विषय में दृष्टान्त ”
रात को भी अतिशीत में तीक्ष्णाञ्जन-निषेध ”
अञ्जन के अयोग्य व्यक्ति २४४
प्रयोग के अयोग्य अञ्जन ”
अञ्जन के पश्चात् कर्तव्य ”
नेत्र धोने की विधि ”
नेत्रशोधन नहीं करने से हानि ”
कण्डू आदि रोगों में तीक्ष्णाञ्जन प्रयोग ”

तर्पणपुटपाकविधि अध्याय ॥ २४ ॥

तर्पण का विषय, देश तथा काल २४५
तर्पण की विधि ”
रोगानुसार औषधधारण का समय ”
अपाङ्ग देश में द्वारविधानादि ”
वायु आदि में तर्पण प्रयोगकाल ”
तृप्ति और अतृप्ति का लक्षण ”
पुटपाक विधान ”
वातादि में स्नेहादि पुटपाक ”
स्नेहन पुटपाक की कल्पना २४७
लेखन पुटपाक ” ”
प्रसादन पुटपाक ” ”
पुटपाक ” ”
स्नेहन-लेखन पुटपाक के बाद कर्तव्यादि २४८
नेत्रबल के लिये नस्यादि की आवश्यकता ”

यन्त्रविधि अध्याय ॥ २५ ॥

यन्त्रों का स्पष्टीकरण २४८
रूप एवं कार्य के अनुसार यन्त्रों की अनेकता २४९
स्वस्तिक यन्त्रों के स्वरूप तथा कार्य ”
संदंशयन्त्रों ” ” ”
विषय पृष्ठ
मुचुण्डी यन्त्र का स्वरूप तथा कार्य २४९
तालयन्त्रों के ” ” ”
नाड़ीयन्त्रों के ” ” २५०
नाड़ीयन्त्रों के अन्य ” ” ”
शल्य देखने के लिये अन्य नाड़ी ”
शल्यनिर्घातिनी नाडी का स्वरूप ”
अर्शो यन्त्र ”
शमी ” २५१
भगन्दर ” ”
नासा ” ”
अङ्गुलित्राण ” ”
योनिव्रणेक्षण यन्त्र ”
षडङ्गुल दो यन्त्र ”
नलिका और पिच्छनलिका यन्त्र ”
धूमादि यन्त्र २५२
शृङ्ग ” ”
अलाबू (तुम्बी) यन्त्र ”
घटी ” ”
अनेकविध शलाका ” ”
षड्विध शङ्कु यन्त्र ”
गर्भशङ्कु ” २५३
सर्पफणा ” ”
शरपुङ्खमुख ” ”
षड्विध शलाकायें ”
नासिका कर्ण शोधन यन्त्र ”
क्षाराग्नि कर्मयोग्य शलाकाएँ ”
अन्त्रवर्त्मोपयोगी शलाका ”
नासार्श आदि के उपयोगी शलाका ”
क्षारौषधोपयोगी ” ”
मेढ़ शोधनाञ्जनोपयोगी ” २५४
उन्नीस प्रकार के अनुयन्त्र ”
अनुयन्त्रों के कार्य ”
कङ्कमुखयन्त्र की श्रेष्ठता ”

शस्त्रविधि अध्याय ॥ २६ ॥

छब्बीस प्रकार के शस्त्र २५५
मण्डलाग्र ” ”
वृद्धिपत्र ” ”
उत्पल और अध्यर्धधार शस्त्र ”
सर्पास्य ” ”
एषणी ” ”
द्वितीय एषणी ” २५६
वेतसशस्त्र तथा शरार्यास्य ” ”
कुशपत्र तथा आटीमुख ” ”

विषय पृष्ठ
अन्तर्मुख शस्त्र २५६
व्रीहिवक्त्र " ,,
कुठारी " ,,
ताम्रमयी द्विमुखी शलाका " ,,
अङ्गुलि शस्त्र " ,,
बडिश " २५७
करपत्र " ,,
कर्तरी " ,,
नख " ,,
दन्तलेखन " ,,
सूची " ,,
स्थानविशेष से इनकी विशेषता ,,
कूर्चशस्त्र ,,
खज शस्त्र २५८
यूथिका " ,,
आरा " ,,
कर्णवेधनी सूची ,, ,,
जलौका आदि अनुशस्त्र ,,
उक्त शस्त्रों के कार्य ,,
शस्त्रों के दोष ,,
शस्त्रों के पकड़ने की विधि २५९
शस्त्रकोश ,,
जोंक का प्रयोग ,,
सविष जोंक के लक्षण तथा उनका निषेध २५९
सविष जोंक के प्रयोग से हानि तथा चिकित्सा ,,
निर्विष जोंकों के लक्षण ,,
निर्विषों में भी त्याज्य जोंक २६०
जोंक लगाने की विधि ,,
जोंक द्वारा दूषित रक्त का पहले ग्रहण ,,
जोंक का छुड़ाना और वमन कराना ,,
रक्तपान के बाद पुनः रक्तपान का निषेध ,,
जोंक को सम्यग्वमन कराने से लाभ ,,
अतिवमनादि से जोंक के क्षति २६१
जोंकों का अलग-अलग पालन का विधान ,,
अशुद्ध रक्त निकलने पर कर्तव्य ,,
दुष्ट रक्त निकलने से लाभ ,,
शेष अशुद्ध रक्त को पुनः निकालना आवश्यक ,,

विषय पृष्ठ
दूषित रक्त में अलाबु घटी शस्त्र का निषेध तथा प्रयोग २६१
दूषित रक्त में शृङ्ग शस्त्र का निषेध तथा प्रयोग ,,
प्रच्छान विधि ,,
प्रच्छान आदि के अन्य प्रयोग २६२
उष्णघृत का सेचन ,,

सिराव्यधविधि अध्याय ॥ २७ ॥

शुद्ध रक्त का लक्षण २६२
पित्तादि से रक्त का दूषित होना २६३
दूषित रक्त से हानि ,,
विसर्पादि में सिराव्यध ,,
शिरावेध के अयोग्य रोगी ,,
रोगानुसार सिरावेध के स्थान ,,
सिरादर्शन के अभाव में मर्महीन सिरा का वेधन २६४
सिरावेध के प्रथम कर्तव्य २६५
सिरा की उत्पादन विधि ,,
उपनासिका का सिरावेधन ,,
जिह्वास्थ सिरावेधन ,,
ग्रीवास्थ ,, २६६
ग्रीवा " ,,
हस्त ,, ,,
पार्श्व ,, ,,
मेढ़ू तथा जङ्घास्थ,, ,,
पाद ,, ,,
अनुक्तस्थानों में स्वबुद्धि से कल्पना ,,
मांसल आदि स्थानों में व्रीहि मुखादि से वेधन ,,
सम्यग्विद्ध अल्पविद्धादि सिरा का लक्षण २६७
रक्तस्राव न होने के कारण २६७
असम्यक् और सम्यक् स्राव में कर्तव्य ,,
दूषित रक्त का प्रथम स्राव ,,
शुद्ध रक्तस्राव का निषेध ,,
मूर्च्छा में कर्तव्य ,,
वातादि दूषित रक्तों के लक्षण ,,
अशुद्ध रक्तस्राव का प्रमाण २६८
अधिक रक्तस्राव में कर्तव्य ,,
रक्तस्राव के पश्चात् कर्तव्य ,,
अशुद्ध रक्त का पुनः स्रावण ,,
अधिक रक्तस्राव का निषेध ,,

विषय पृष्ठ
शेष दूषित रक्त में कर्तव्य २६८
रक्तस्राव नहीं रुकने पर स्तम्भनी क्रिया का विधान ,,
रक्तस्राव के पश्चात् कर्तव्य २६९
अग्निरक्षा की आवश्यकता ,,
विशुद्ध रक्त वाले पुरुष के लक्षण ,,

शल्याहरणविधि अध्याय ॥ २८ ॥

शल्यों की पाँच गतियाँ २७०
अन्तःशल्यज्ञान विधि ,,
त्वगत तथा मांसगत शल्य का लक्षण ,,
पेशी-स्नायु-सिरागत ,, ,,
स्रोतोगत ,, ,,
धमनीगत ,, ,,
अस्थि-सन्धिगत ,, ,,
सन्धिगत ,, २७१
कोष्ठगत ,, ,,
मर्मगत ,, ,,
त्वगादिस्थ शल्यज्ञान के अन्य उपाय,,
शल्य का रोहणादि ,,
रूढ अन्तःशल्य से भी पुनः पीड़ा ,,
त्वङ्नष्ट शल्य का ज्ञान ,,
मांस में नष्ट शल्य का ज्ञान २७२
पेश्यादि में नष्ट शल्य का ज्ञान ,,
अस्थियों में नष्ट शल्य ,, ,,
सन्धियों में नष्ट शल्य ,, ,,
स्नायु-सिरादि में नष्ट शल्य,, ,,
मर्मों में नष्ट शल्य के पृथगनुक्ति का हेतु ,,
नष्ट शल्य का सामान्य ज्ञान ,,
व्रणाकृति से शल्याकृति का ज्ञान ,,
शल्यकर्षण के उपाय २७३
अनिर्घातनीय शल्य ,,
निकालने के अयोग्य शल्य ,,
हस्तप्राप्यादि दृश्यशल्यों का निकलना ,,
अदृश्य शल्यों का निकालना ,,
त्वगादि में स्थित शल्यों का निकलना,,
शस्त्र द्वारा छेदन ,,
सिरा स्नायुगत शल्य का निकालना २७४
हृदयगत ,, ,,
अस्थ्यादि गत ,, ,,
धनुष की डोरी में बाँधकर ,, ,,
फूले हुए शल्यों का ,, २७५

विषय पृष्ठ
अन्य प्रकार २७५
पक्वाशयगत शल्य का निकलना ,,
कण्ठादिगत ,, ,,
लाक्षामयादि ,, ,,
कण्ठगत मत्स्यकण्टकादि ,, ,,
मुख नासागत ,, २७६
कण्ठगत ग्रास ,, ,,
नेत्र-व्रणादिगत सूक्ष्म ,, ,,
नद्यादि में डूबने से उदर०,, ,,
कर्णगत जलरूप ,, ,,
कान से कीड़ा निकालना ,,
जातुषादि शल्य का शरीर की गर्मी से नाश ,,
मिट्टी, बाँस आदि शल्य का निकलना ,,
मांस में छिपे शल्य का निकलना २७७
शल्य निकालने में ज्ञान ,,

शस्त्रकर्मविधि अध्याय ॥ २९ ॥

सूजन की चिकित्सा २७७
आम शोफ का लक्षण २७८
पच्यमान ,, ,,
पके हुए ,, ,,
वायु के बिना शूलादि का कारण ,,
अत्यन्त पाक में छिद्रादि होना ,,
रक्तपाक का लक्षण २७९
निर्बलादि के पाक का दारणादि ,,
अपक्व शोफ के छेदन से उपद्रव ,,
भीतर बचे हुए पीब से हानि ,,
शस्त्रप्रयोग के पहले कर्तव्य ,,
मूढगर्भादि में उक्त कर्म का निषेध २७९
शस्त्रकर्म की विधि २८०
शस्त्रकर्म में वैद्य के शौर्यादि की प्रशंसा ,,
छेदन की दिशा ,,
अन्यत्र तिर्यक् छेदन से हानि २८१
विषय पृष्ठ
शस्त्रकर्म में रोगी को आश्वासनादि २८१
पट्टी आदि का वर्णन ,,
शस्त्रकर्म के बाद व्रणरक्षार्थ कार्य ,,
शस्त्रकर्म के बाद त्याज्य कर्म २८२
भोजन द्रव्य ,,
पथ्यभोजन से लाभ, अजीर्ण से हानि ,,
व्रण में नये धान्यादि का त्याग ,,
व्रण युक्त की शुश्रूषा २८३
व्रण धोने का विधान ,,
व्रण में अतिस्निग्ध वर्तियों का निषेध ,,
अतिस्नेह से हानि ,,
व्रण में वर्तिप्रदेश का कारण ,,
कच्चे व्रण में शस्त्रच्छेदन करने पर कर्तव्य ,,
सीने योग्य व्रण २८४
सीने के अयोग्य व्रण ,,
वर्णों को सीने के पूर्व और बाद कर्तव्य ,,
रक्तहीन व्रण को सीने की विधि ,,
व्रण को बाँधने के पदार्थ २८५
व्रण को बाँधने के प्रकार ,,
व्रणों को ढीला या कसकर बाँधना २८६
व्रण को नहीं बाँधने से हानि ,,
व्रण को बाँधने से लाभ ,,
स्थिरादि व्रणौषधों पर पत्राच्छादन २८७
नहीं बाँधने योग्य व्रण ,,
अरक्षा से कृमियुक्त वर्णों की चिकित्सा ,,
दूषित व्रणों में रोहण निषेध ,,
रोपित व्रणों में त्याज्य कर्म २८८
शेष अवस्थाओं में वैद्य का कर्तव्य ,,

क्षाराग्निकर्मविधि अध्याय ॥ ३० ॥

क्षारकर्म की श्रेष्ठता २८८
विषय पृष्ठ
अर्श आदि में क्षारपान २८८
मस्से आदि में क्षार का लेप करना २८९
द्विविध क्षारप्रयोग का निषेध ,,
क्षार कल्पना ,,
मृदु और तीक्ष्ण क्षार २९०
त्रिविध क्षार का रोगानुसार प्रयोग २९१
क्षार के गुण ,,
क्षारप्रयोग विधि ,,
क्षारप्रयोग के बाद कर्तव्य २९२
क्षारदग्ध स्थान पर लेप ,,
सम्यक् दग्ध का लक्षण ,,
दुर्दग्ध का लक्षण तथा उसमें कर्तव्य ,,
अतिदग्ध का लक्षण ,,
गुदादि के अति दग्ध का लक्षण २९३
अतिदग्ध में कर्तव्य ,,
क्षार से अग्निकर्म की श्रेष्ठता ,,
त्वचादि में अग्निदाह ,,
मषादि रोग में वति आदि से त्वग्दाह ,,
अर्श आदि में मधु आदि से मांसदाह २९४
श्लिष्टादि रोगों में मध्वादि से सिरादाह ,,
अग्निदाह के अयोग्य ,,
सम्यग्दग्ध में कर्तव्य ,,
सम्यग्दग्ध के लक्षण ,,
दुर्दग्ध तथा अतिदग्ध के लक्षण-भेदादि ,,
तुच्छदग्ध की चिकित्सा २९५
दुर्दग्ध की चिकित्सा ,,
सम्यग्दग्ध चिकित्सा ,,
अतिदग्ध ,, ,,
स्नेहदग्ध ,, ,,
सूत्रस्थान की समाप्ति ,,

* * *

शारीरस्थान-विषयसूची

विषय पृष्ठ

गर्भावक्रान्ति अध्याय ॥ १ ॥

गर्भस्थिति का परिचय १६९
गर्भ की वृद्धि ,,
गर्भस्थ अदृश्य जीव का निदान ,,
गर्भस्थ में ही जात्याश्रयता ,,
गर्भ में स्त्री पुंसादि का निदान ,,
एक काल में अनेक गर्भ का निदान १७०
विकृत गर्भ का कारण ,,
मासिकधर्म का प्रारम्भ और अवसान ,,
मेधावी सन्तानोत्पत्ति का कारण ,,
अस्थिर अल्पायु गर्भ का कारण ,,
गर्भ न होने का कारण ,,
वातादि दोषज शुक्र का लक्षण ,,
शुक्रार्तव की साध्यासाध्यता ,,
दूषित शुक्रार्तव की चिकित्सा १७१
शुद्ध शुक्रार्तव के लक्षण ,,
गर्भधारण के पूर्व कर्तव्य ,,
पुरुष तथा स्त्री का उपक्रम ,,
ऋतुमती स्त्री का लक्षण १७२
ऋतुकाल के अतिक्रमण का लक्षण ,,
रजःस्राव का हेतु ,,
रजस्वला का कर्तव्य ,,
ऋतुकाल का निर्णय ,,
पुत्रेष्टि यज्ञ ,,
पूर्वोक्त विधि के लाभ १७३
इच्छानुरूप पुत्रोत्पत्ति ,,
पुत्रेष्टि यज्ञ के उपरान्त कर्म ,,
मन्त्रपाठ ,,
मन्त्रपाठानन्तर कर्म ,,
तत्काल गर्भ धारण का लक्षण ,,
पुंसवन करने का समय ,,
पुंसवन प्रयोग ,,
पुत्रोत्पादन में विशेष प्रयोग १७४
गर्भिणी का उपचार ,,
गर्भिणी का वर्ज्य कर्म ,,
गर्भिणी का औषध सेवन ,,
दो महीने के गर्भ का लक्षण ,,
व्यक्त गर्भ के लक्षण ,,
गर्भिणी का हिताहित पथ्य ,,
तृतीय मास में गर्भ का लक्षण १७५
गर्भ को पुष्ट करने का प्रकार ,,
चतुर्थ से सप्तममास तक गर्भावस्था ,,
गर्भिणी का प्राकृतिक रोग ,,
गर्भिणी रोग का उपचार ,,
अष्टम मास में तेज का संचार ,,

विषय पृष्ठ

अष्टम मास में गर्भिणी का उपचार १७५
प्रसव का समय १७६
नवम मास में उपचार ,,
गर्भ में पुत्र या कन्या होने का लक्षण ,,
नपुंसक तथा यमल सन्तान होने का लक्षण ,,
सूतिका गृह ,,
आसन्नप्रसवा के लक्षण ,,
उपस्थित गर्भोत्पत्ति के समय कर्तव्य १७७
भूमिस्थित गर्भवती का अभ्यंगादि ,,
प्रसवोपचार से लाभ ,,
प्रसव काल का उपचार ,,
गर्भवेदना में उपचार ,,
प्रसूति का उपचार १७८
प्रसूति की शुश्रूषा ,,

गर्भव्यापद् अध्याय ॥ २ ॥

गर्भावस्था में रजःस्राव होने पर कर्तव्य १७९
तृतीय मास के पहले रक्तस्राव होने पर उपचार ,,
अकस्मात् गर्भपात होने पर उपचार ,,
उपविष्टक गर्भ के लक्षण १८०
नागोदर गर्भ के लक्षण ,,
उक्त गर्भों में उपचार ,,
लीन गर्भ की चिकित्सा ,,
विपरीत आचरण का कुपरिणाम ,,
उदावर्त का उपाय १८१
मृतगर्भ का लक्षण ,,
मृतगर्भ की चिकित्सा ,,
मूढगर्भ का शस्त्रोपचार ,,
गर्भच्छेदन विधि ,,
मूढगर्भ की सामान्य चिकित्सा १८२
असाध्य (उपेक्षायोग्य) मूढगर्भा ,,
अपरा के नहीं निकलने पर उपचार ,,
स्नानोत्तर चूर्णादि का प्रयोग ,,
मूढगर्भ का कर्तव्य ,,
बला तैल निरूपण ,,
मृत गर्भिणी के उदर से जीवित संतान का निकालना १८३
प्रथम सात मास में गर्भस्राव में सात योग ,,
आठवें, नौवें या दसवें मास में रक्तस्राव होने पर उपचार ,,

विषय पृष्ठ

अङ्गविभागाध्याय ॥ ३ ॥

अङ्ग विभाग १८४
पञ्चमहाभूतों के गुण ,,
पञ्चमहाभूतों से देहोत्पत्ति ,,
शरीर में मातृज तथा पितृज भाग ,,
सात्म्यज तथा रसजभाग ,,
सात्विकादि वर्णन ,,
रक्त से त्वचा की उत्पत्ति ,,
सात कलाओं का वर्णन १८५
सात आधारों का वर्णन ,,
जीवन के दश स्थान ,,
शरीरस्थ जालादि की संख्या ,,
धन्वन्तरि का मत ,,
आत्रेय का मत ,,
पुरुषों तथा स्त्रियों की पेशियों की संख्या ,,
शिराओं की संख्या १८६
शिराओं के संस्थान ,,
अवेध्य शिरायें ,,
अवेध्य शिराओं का संक्षिप्त वर्णन १८७
शिराओं से रक्तप्रवाह ,,
वातादि रक्तवाहिनी शिरायें ,,
शुद्ध रक्तवाहिनी शिरायें ,,
नाभि-सम्बद्ध शिराओं का वर्णन ,,
दृश्य तथा अदृश्य स्रोत ,, ,,
दूषित तथा शुद्ध स्रोतों से दुःख-सुखोत्पत्ति ,,
स्रोतों की आकृति १८८
स्रोतों के दूषित होने के कारण ,,
दूषित स्रोतों का लक्षण ,,
स्रोतों के द्वार ,,
स्रोतों के वेध से हानि ,,
अन्न की पाचकता में मतद्वय ,,
ग्रहणी का वर्णन ,,
पचे हुए अन्न के गुण १८९
ग्रहणी और अग्नि का परस्पर संबंध ,,
अन्नपाक में अग्नि की हेतुता ,,
भुक्तान्न के पाक का प्रकार ,,
अग्निके समीपस्थ भुक्तान्नकी अवस्था ,,
दूसरी अग्नियों के कार्य ,,
पञ्चमहाभूत गुणों का पोषण ,,
पक्वान्न के दो भेद ,,
अन्न-किट्ट के दो भेद ,,
अन्नसारका सप्ताग्नियों द्वारा पुनःपाक ,,
रसादि का उत्पत्ति क्रम १९०
रसादि धातुओं के मल ,,

विषय पृष्ठ
रसादि धातुओं का द्वैविध्य १९०
आहार के परिणाम का काल १९१
भोज्य धातुओं की परिवृत्ति ,,
वृष्यादि से तत्काल शुक्रोत्पति ,,
दिन-रात में अन्य भेषजों की कार्यकारिता ,,
जठराग्नि द्वारा आहार रस की प्रेरणा ,,
एक देश में दोषादि का भी प्रकोपन ,,
जठराग्नि की श्रेष्ठता तथा पालनादि ,,
जाठराग्नि के चार भेद ,,
पूर्वोक्त चतुर्विध जाठराग्नि के लक्षण ,,
देहबल के तीन भेद और लक्षण १९२
देश के तीन भेद ,,
देह में मज्जादि का परिमाण ,,
प्रकृति के सात प्रकार ,,
वात की प्रधानता ,,
वात प्रकृति के लक्षण ,,
पित्त ,, ,, १९३
कफ ,, ,, ,,
द्वन्द्व ,, ,, १९४
सत्वादि प्रकृति का निरूपण ,,
वय के अनुसार वीर्य की वृद्धयादि ,,
शरीरका प्रमाण तथा सुखादि पात्रता ,,
शुभकेशादि के लक्षण १९५
सर्व गुण युक्त शरीर में शतायु आदि का होना ,,
बल के प्रमाण का ज्ञान ,,
सत्त्वादिप्रकृति को सुखानुभव ,,
शरीर का सुख फलदायक उपाय १९६

मर्मविभागशरीराध्याय ।। ४ ।।

मर्मोंकी संख्या तथा विभागशःवर्णन १९६
पादादिस्थ मर्म ,,
बाहुस्थ ,, ,,
स्थूलान्त्रबद्ध ,, ,,
बस्ति ,, १९७
नाभि ,, ,,
हृदय ,, ,,
स्तनरोहित ,, ,,
अपस्तम्भ ,, ,,
अपालाप ,, ,,
पृष्ठगत चार ,, ,,
कुकुन्दर ,, ,,
नितम्ब ,, ,,
पार्श्व सन्धि ,, ,,
बृहती ,, ,,
अंसफलक ,, १९८
अंस ,, ,,
नीला और मान्या मर्म ,,
विषय पृष्ठ
मातृका मर्म १९८
कृकाटिका ,, ,,
विधुर ,, ,,
फण ,, ,,
अपाङ्ग ,, ,,
शङ्ख ,, ,,
उत्क्षेप तथा स्थपनी मर्म ,,
श्रृङ्गाटक मर्म ,,
सीमन्त ,, ,,
अधिप ,, ,,
मर्म का सामान्य लक्षण ,,
मांस आदि मर्म के ६ भेद ,,
मर्मोंके षड्विधत्व तथा एकविधत्व १९९
मांसगत मर्मों की संख्या ,,
अस्थिगत मर्म ,,
स्नायुगत ,, ,,
धमनीगत ,, ,,
सिरागत ,, ,,
सन्धिगत ,, ,,
दूसरे आचार्यों का मत ,,
मांसादि मर्मों का व्यध लक्षण ,,
शङ्खादि अस्थिमर्मके विद्ध होनेका लक्षण ,,
आण्यादि स्नायुमर्म के विद्ध ,, ,,
धमनीमर्म के विद्ध ,, २००
सिरामर्म के विद्ध ,, ,,
सन्धिमर्म के विद्ध ,, ,,
नाभ्यादि मर्मों के विद्ध होने पर जीवितकालप्रमाण ,,
अपस्तम्भादि मर्मों के विद्ध होने पर जीवित काल प्रमाण ,,
विशल्यघ्न मर्म ,,
अङ्गविकलतादिकर मर्म ,,
कूर्चादि मर्मों के विद्ध होने पर कष्ट ,,
मर्मों के प्रमाण ,,
मर्मोंके विद्ध होनेपर मरणका प्रकार २०१
मर्मों के विद्ध होने पर चिकित्सा ,,
मर्मभिन्न स्थान विद्ध होनेपर जीवन ,,
मर्माहत होने पर सावधानी ,,

विकृतिविज्ञानीयध्याय ।। ५ ।।

रिष्ट के लक्षण और उसके ज्ञान का प्रयोजन २०१
रिष्ट तथा अरिष्ट का ज्ञान २०२
कृष्णात्रेय के मतसे रिष्ट का द्वैविध्य ,,
अस्थायी रिष्ट से मरणाभाव ,,
रिष्ट का लक्षण ,,
केशों तथा रोमों में रिष्टचिह्न ,,
विषय पृष्ठ
नेत्रों में रिष्टचिह्न २०२
नासिका में ,, ,,
ओष्ठ में ,, ,,
दाँतों में ,, ,,
जीभ में ,, ,,
ग्रीवा में ,, ,,
अङ्गोंका अकारण भारीपन रिष्टचिह्न ,,
छिद्रों से रक्तनिर्गमन ,, ,,
शिश्न तथा अण्डकोशों में ,, २०३
ललाटादि में रिष्टचिह्न ,,
शरीर में ,, ,,
सिराओं तथा रोमकूपों में रिष्टचिह्न ,,
सिर तथा मुख में रिष्टचिह्न ,,
सिर तथाभूद्वय में ,, ,,
जिह्वादि में ,, ,,
वक्षःस्थल में ,, ,,
आकस्मिक ,, ,,
अङ्गुलि आदि में ,, ,,
शरीर में गन्ध होना,, ,,
मक्खी आदि ,, ,,
शारीरिक शैत्य आदि,, ,,
पिटिकादि ,, २०४
हृदयादि में दाहादि ,, ,,
प्रतिकूल ज्ञान ,, ,,
अरुन्धती आदि को न देखना रिष्टचिह्न ,,
कान में विकार आदि ,, ,,
स्वर में विकारादि रिष्टचिन्ह ,,
छाया-विपर्यय ,, ,,
छाया की द्विविधता ,,
प्रतिच्छायाविकार रिष्ट का चिन्ह २०५
महाभूतोंकी छायाका पृथक्२स्वरूप ,,
महाभूतोंकी छाया के पृथक्२ गुण ,,
प्रभाके सात प्रकार तथा शुभाशुभत्व,,
छाया तथा प्रभा के भेद तथा लक्षण ,,
उनकी व्यापकता तथा शुभाशुभत्व ,,
रिष्ट के अन्य चिन्ह ,,
शीतल गर्दन में स्वेदादि रिष्टचिह्न २०६
दृष्टिमन्दता आदि ,, ,,
प्रकृतिविपर्यय ,, ,,
भक्ति आदि का अभाव ,, ,,
मत्त के समान गति आदि ,, ,,
केशलुञ्चन का अज्ञानादि ,, ,,
बाष्पद्वारका बंद होना आदि ,, ,,
रुचिपरिवर्त्तन ,, ,,
सहसा विकारोत्पत्ति ,, ,,
तीव्र ज्वरादि ,, ,,
रक्तपित्त का विकार ,, २०७
ज्वरार्त आदि में कासादि ,, ,,

विषय पृष्ठ
राजयक्ष्मा रिष्टचिह्न २०७
मूत्रादितुल्य वमन ,, ,,
रोगान्तर पीडित की तृष्णा तथा
मदात्यय रिष्ट का चिह्न ,,
अर्श में पाणि शोफादि रिष्टचिह्न ,,
अतीसार-विकार ,, ,,
अश्मरी में सूजनादि ,, ,,
प्रमेह में प्यास आदि ,, ,,
गुल्म में स्थूल परिणाहादि ,, २०८
उदररोग में मलादि अवरोध ,, ,,
पाण्डुरोग में शोथ ,, ,,
शोफ में तन्द्रादि ,, ,,
शोफान्त में ज्वरादि ,, ,,
पैर आदि में शोथादि ,, ,,
कासादियुक्त विसर्प ,, ,,
कुष्ठ में अङ्गविशीर्ण होना ,, ,,
वातरोग में त्वक्शून्यता ,, ,,
सब रोगों में स्वरक्षयादि ,, ,,
वातरोगादि में क्षीणता ,, ,,
बलमांसादि का क्षय ,, ,,
वाताष्ठीला की अतिवृद्धि ,, २०९
वायु से पिंडली शैथिल्यादि ,, ,,
नाभ्यादिगत वायु ,, ,,
पर्शुकाग्रप्रविष्ट वायु ,, ,,
सहसा ज्वरादि होना रिष्टचिह्न ,,
कफज्वरी को प्रातः स्वेद आना ,, ,,
मसूरिकाकी शोथोत्पत्त्यादि ,, ,,
मसूरविदलादितुल्य विस्फोट ,, ,,
नेत्रगत कामलादि ,, ,,
अकारण घृष्टव्रणवृद्धि ,, ,,

विषय पृष्ठ
वातजादि व्रणमें वेदनाद्यभाव रिष्टचिह्न २०९
मलमूत्रादिवहनेवाला भगन्दर ,, ,,
घुटने से घुटनारगड़करगमनादि ,, ,,
दाँतों से नखादिच्छेदनादि ,, २१०
मुखमें सहसा तिल की उत्पत्ति ,, ,,
ऊर्ध्वश्वासादि ,, ,,
सहसा विकारवृद्धि आदि ,, ,,
औषध तैयार न कर सकना ,, ,,
औषध से रोग कम न होना ,, ,,
रोगी के औषधादि परिवर्तन ,, ,,
रोगी के घर में अग्नि का न
जलना आदि ,, ,,
आत्रेय के मत से ,, ,,
रोगी के बन्धवादि से रिष्ट का
कथननिषेध ,,
रिष्टयुक्तरोगी की चिकित्सा का निषेध ,,
रिष्ट के आदर का कारण ,,
पुण्यादिक्षय मृत्यु का कारण ,,

दूतादिविज्ञानीयाध्याय ॥ ६ ॥

पाखण्डादि दूतों का शुभाशुभलक्षण २११
अशुभ दूतों का लक्षण ,,
वैद्य के लक्षणों से अशुभ सूचना ,,
देश-कालानुसार दूतविचार ,,
दूत की अशुभ चेष्टा ,,
दूतागमन के अशुभ समय २१२
दूत के आने पर अशुभ लक्षण ,,
अन्यान्य अशुभ लक्षण ,,
नर-मादा पक्षियों से शुभाशुभ ज्ञान ,,
अशुभ पक्षी आदि ,,

विषय पृष्ठ
सूअर आदि का बोलना शुभ २१२
इन्द्रधनुष आदि से शुभाशुभज्ञान ,,
वैद्य को रोगी के घर पहुँचने पर
शुभाशुभ निमित्त २१३
वैद्य को उपदेश ,,
रोगी के नीरोग होने के लक्षण ,,
ज्वर से मृत्यु होने के स्वप्न ,,
रक्तपित्त से ,, ,, ,,
यक्ष्मा से ,, ,, ,,
गुल्म से मृत्यु होने के स्वप्न ,,
कुष्ठ से ,, ,, २१४
प्रमेह से ,, ,, ,,
उन्माद से ,, ,, ,,
अपस्मार से ,, ,, ,,
मृत्युसूचक अन्य स्वप्न ,,
नेत्र रोग तथा अन्धतासूचक स्वप्न ,,
अन्यान्य अशुभ स्वप्न ,,
स्वप्न में कालरात्रिरूप स्त्री ,,
स्वप्न में कारण तथा उससे मृत्यु ,,
स्वप्न के सात प्रकार २१५
स्वप्नों का फलाफलदायकत्व ,,
पूर्वरात्रि के स्वप्न का देर से फल ,,
प्रातःकाल के स्वप्न का फल ,,
अशुभ स्वप्न में दानादि ,,
दुःस्वप्न के बाद सुस्वप्न का फल ,,
शुभसूचक स्वप्न ,,
निरोग होने का लक्षण ,,
शरीरस्थान की निरुक्ति ,,

निदानस्थान-विषय-सूची

सर्वरोगनिदानाध्याय ॥ १ ॥

रोग के पर्याय २१६
रोगविज्ञान के पांच प्रकार ,,
निदान के पर्याय ,,
प्राग्रूप का लक्षण ,,
रूप के लक्षण और पर्याय ,,
उपशय का लक्षण ,,
अनुपशय का लक्षण २१७
संप्राप्ति ,, ,,
संप्राप्ति के भेद आदि ,,
सर्वरोगोत्पत्ति का कारण ,,
त्रिविध अहित-सेवन ,,
वातप्रकोप के कारण २१८
पित्तप्रकोप ,, ,,
कफप्रकोप ,, ,,
सन्निपात ,, ,,
दोषों की विकारकारिता ,,

ज्वरनिदानाध्याय ॥ २ ॥

ज्वर का विवरण २१९
ज्वर के भेद ,,
ज्वर की सम्प्राप्ति ,,
स्वेद के अभाव का कारण ,,
ज्वर के पूर्वरूप तथा रूप ,,
वातज्वर के लक्षण ,,
पित्तज्वर के लक्षण २२०
कफज्वर ,, ,,
ज्वरों की कालसंप्राप्ति ,,
अन्य दो भेद ,,
संसर्गज ज्वर का लक्षण ,,
वात-पित्त ,, ,,
कफवातज ,, ,,
कफ-पित्तज ,, २२१
सन्निपातज ,, ,,
सन्निपातज ज्वर के दो और नाम ,,
असाध्य तथा साध्य ज्वर का लक्षण ,,
सन्निपात ज्वर के अन्य लक्षण ,,

विषय पृष्ठ
शीतादि ज्वर २२२
दाहादि ज्वर ,,
आगन्तुज ज्वर के चार भेद ,,
अभिघातज ज्वर का लक्षण ,,
अभिषङ्गज आदि ज्वर का लक्षण ,,
ग्रहादि ज्वर में सन्निपातादिका कोप ,,
शापज तथा अभिचारज ज्वरों की असह्यता ,,
अभिचारमन्त्रज ज्वर का लक्षण ,,
संक्षेप से ज्वर के दो भेद ,,
शारीरिक मानसिक ज्वर लक्षण २२३
सौम्य तथा तीक्ष्ण ,, ,,
अन्तराश्रित तथा बहिराश्रित लक्षण ,,
प्राकृत तथा वैकृत ,, ,,
वर्षादि ऋतुओं में प्राकृत ,, ,,
साध्य ,, ,,
असाध्य ,, ,,
साम ,, २२४
पच्यमान ,, ,,
निराम ,, ,,
ज्वर के पांच भेद ,,
संतत ज्वर की संप्राप्ति का लक्षण ,,
संतत ज्वर की स्थिति तथा अवधि ,,
विषमज्वर का सामान्य लक्षण २२५
दोष की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ,,
ज्वर का रसादि में लीन होना ,,
ज्वर के रसादि में लीन होने की युक्ति ,,
सतत ज्वर का लक्षण ,,
अन्येद्युष्क ,, ,,
तृतीयक ,, ,,
चतुर्थक ,, ,,
चतुर्थक विपर्यय के तीन प्रकार ,,
अनुक्त ज्वरों के भेद का संग्रह ,,
ज्वरमोक्षकाल के लक्षण ,,
विगत ज्वर के ,, २२६

रक्तपित्तकासनिदानाध्याय ॥ ३ ॥

रक्तपित्त के दूषित होने में हेतु २२७
रक्त की विकृति २२८
अधिक रक्त का कारण ,,
रक्तपित्त के पूर्वरूप ,,
ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त ,,
ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त का कार्य ,,
अधोगामी रक्तपित्त का याप्यत्व ,,
उभयगामी रक्तपित्त की असाध्यता २२९
दोषानुबन्धिज्ञानोपाय तथा कास की शीघ्रकारिता ,,
कास के पांच भेद ,,
कास के पूर्वरूप ,,
सर्वविध कास की सम्प्राप्ति ,,
कास में शब्दभेद ,,
विषय पृष्ठ
वातकास का निदान २२९
पित्तकास ,, २३०
कफकास ,, ,,
क्षतकास ,, ,,
क्षयकास का लक्षण ,,
क्षयज कास का देहनाशकत्वादि २३१
शेष कासों की साध्यता आदि ,,
कास में शीघ्र चिकित्सा ,,

श्वासहिध्मानिदानाध्याय ॥ ४ ॥

श्वास के निदान २३१
श्वास के पाँच भेद ,,
पञ्चविध श्वास की सम्प्राप्ति ,,
पञ्चविध श्वास के पूर्वरूप ,,
क्षुद्र श्वास का लक्षण २३२
तमक ,, ,,
प्रतमक ,, ,,
छिन्न ,, ,,
महान् ,, ,,
ऊर्ध्व ,, ,,
श्वास की साध्यासाध्यता २३३
हिध्मा का निदान ,,
हिध्मा के पांच भेद ,,
भक्तोद्भवा हिध्मा का लक्षण ,,
क्षुद्रा हिध्मा का लक्षण ,,
यमला ,, ,,
महती ,, ,,
गम्भीरा ,, ,,
हिध्माओं की साध्यासाध्यता २३४
हिध्मा और श्वास में शीघ्रचिकित्सा ,,

राजयक्ष्मादि निदानाध्याय ॥ ५ ॥

राजयक्ष्मा के चार पर्याय २३४
चार पर्यायों की व्युत्पत्ति ,,
राजयक्ष्मा के चार हेतु ,,
पूर्वोक्त हेतुओं में वायु की मुख्यता ,,
राजयक्ष्मा के पूर्वरूप २३५
राजयक्ष्मा के ११ रूप ,,
पीनसादि रूपों के सात उपद्रव ,,
वातज राजयक्ष्मा का स्वरूप ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
धतुक्षीणता में युक्ति २३६
राजयक्ष्मा की साध्यासाध्यता ,,
स्वरभेद के छः भेद ,,
वातज स्वरभेद का लक्षण ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
त्रिदोषज ,, ,, ,,
क्षयज ,, ,, ,,
मेदोज ,, ,, २३७
विषय पृष्ठ
अन्तिम स्वरभेद की असाध्यता २३७
अरोचक के पाँच भेद ,,
वातजादि अरोचक के लक्षण ,,
वमन के पांच भेद ,,
वमन का निदान और पूर्वरूप ,,
वातज वमन का लक्षण ,,
पित्तज ,, ,,
कफज ,, ,,
सन्निपातज ,, ,,
द्विष्टार्थज ,, २३८
कृत्यादिजन्य वमन ,,
हृद्रोग के पाँच भेद ,,
वातज हृद्रोग का लक्षण ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
त्रिदोषज ,, ,, ,,
कृमिज ,, ,, ,,
तृष्णा के ६ भेद ,,
वात·पित्त तृष्णा के कारण ,,
सम्प्राप्ति २३९
तृष्णा की उत्पत्ति ,,
तृष्णा का सामान्य लक्षण ,,
वातज तृष्णा का लक्षण ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
त्रिदोष ,, ,, ,,
वातपित्तज ,, ,, ,,
क्षयज ,, ,, ,,
उपसर्गज ,, ,, २४०

मदात्ययादिनिदानाध्याय ॥ ६ ॥

मद तथा ओज का निरूपण २४०
मद्य के गुण तथा विष से भिन्नता ,,
मद्य से चित्तविकार ,,
मद्य की निन्दनीयता ,,
मदावस्था में दुर्गति ,,
तृतीयमदावस्थामें मुर्देके समानस्थिति ,,
मदावस्था में धर्माधर्मादि का अज्ञान ,,
अधिक मद्यपान से मोहादि ,,
युक्तिहीनसेवितमद्य से त्रिवर्ग का नाश २४१
बली आदि पुरुषों का मद का अभाव ,,
पूर्वोक्त से भिन्नावस्था में फल ,,
मदात्यय के चार प्रकार ,,
मदात्यय के सामान्य लक्षण ,,
वातिक मदात्यय का लक्षण ,,
पैत्तिक ,, ,, ,,
श्लैष्मिक ,, ,, ,,
त्रिदोषज ,, ,, ,,

विषय	पृष्ठ
ध्वंसक तथा विक्षय रोगोंकी उत्पत्ति	२४१
ध्वंसक का लक्षण	,,
विक्षय का ,,	,,
मद्यपानत्याग का फल	२४२
मद आदि से त्रिविध रोगोत्पत्ति	,,
मद रोग के सात भेद	,,
सप्तविध मदों का क्रमशः लक्षण	,,
वातज मूर्च्छा का लक्षण	,,
पित्तज ,, ,,	,,
कफज ,, ,,	,,
त्रिदोषज ,, ,,	,,
संन्यास का लक्षण	२४३
संन्यास की सम्प्राप्ति	,,
संन्यासरोगचिकित्सामें शीघ्रता	,,
मद्य से मद्य का उपसंहार	,,
उक्त विषय में युक्ति	,,

अर्शोनिदानाध्याय ॥ ७ ॥

विषय	पृष्ठ
अर्श (बवासीर) का लक्षण	२४३
अर्श के दो भेद	,,
गुदा–वलियों का वर्णन	२४४
उक्त विषय में युक्ति प्रदर्शन	,,
सहज अर्श में रूक्षादि गुण	,,
बाद में उत्पन्न अर्श के ६ भेद	,,
शुष्क (बादी) तथा आर्द्र (खूनी) अर्श	,,
अर्शों की उत्पत्ति	,,
अर्श का पूर्वरूप	,,
अर्श से ग्रहणी आदि की वृद्धि	,,
अर्श के सामान्य लक्षण	२४५
वातज अर्श का लक्षण	,,
पित्तज ,, ,,	,,
कफज ,, ,,	२४६
संसर्गज ,, ,,	,,
त्रिदोषज ,, ,,	,,
रक्तज ,, ,,	,,
मूंग आदि के सेवन से वातविकार तथा उदावर्त्त	,,
अर्श की साध्यासाध्यता	२४७
कष्टसाध्य अर्श	,,
सुखसाध्य ,,	,,
मेढ्रादिजन्य अर्श का लक्षण	,,
नाभिजन्य ,, ,,	,,
चर्मकील ,, ,,	,,
वातादिजन्य चर्मकील ,,	,,
अर्श की चिकित्सा में शीघ्रता	,,

अतीसारग्रहणीदोषनिदानाध्याय ॥ ८ ॥

विषय	पृष्ठ
अतीसार के ६ भेद	२४७
अतीसार का हेतु	,,
भावी अतीसार के लक्षण	२४७
वातज ,, ,,	२४८
पित्तज ,, ,,	,,
कफज ,, ,,	,,
त्रिदोषज ,, ,,	,,
भयज ,, ,,	,,
शोकज ,, ,,	,,
संक्षेप में अतीसार के दो भेद	,,
साम तथा निराम अतीसारोंके लक्षण	,,
ग्रहणी रोग का लक्षण	,,
अतीसार तथा ग्रहणी में भेद	,,
ग्रहणी का स्वरूप	,,
ग्रहणी के चार भेद	२४९
ग्रहणी के पूर्वरूप	,,
ग्रहणी का सामान्य लक्षण	,,
वातज ग्रहणी का ,,	,,
पित्तज ,, ,,	,,
कफज ,, ,,	,,
त्रिदोषज ,, ,,	,,
ग्रहणी में अग्नि की कारणता	,,
ग्रहणी आदि महारोग	,,

मूत्राघातनिदानाध्याय ॥ ९ ॥

विषय	पृष्ठ
बस्ति आदि की एकाश्रयता	२५०
मूत्राघातादि की उत्पत्ति	,,
वातज आदि मूत्रकृच्छ्र के लक्षण	,,
अश्मरी का लक्षण	,,
अश्मरी का पूर्वरूप	,,
अश्मरी का सामान्य लक्षण	,,
वातज अश्मरी के ,,	,,
पित्तज ,, ,,	२५१
कफज ,, ,,	,,
अश्मरियों की बालकों में उत्पत्ति	,,
शुक्राश्मरी की उत्पत्ति	,,
अश्मरी से शर्करा होना	,,
वातबस्ति का लक्षण	,,
वाताष्ठीला ,,	२५२
वातकुण्डलिका ,,	,,
मूत्रातीत ,,	,,
मूत्रजठर ,,	,,
मूत्रोत्सङ्ग ,,	,,
मूत्र ग्रन्थि ,,	,,
मूत्रशुक्र ,,	,,
विड्विघात ,,	,,
उष्णवात ,,	,,
मूत्रक्षय ,,	,,
मूत्रसाद ,,	२५३
अध्याय का उपसंहार	,,

प्रमेहनिदानाध्याय ॥ १० ॥

विषय	पृष्ठ
प्रमेह के बीस भेद	२५३
प्रमेह की उत्पत्ति में हेतु	२५३
कफ से प्रमेह की उत्पत्ति	,,
पित्तवात से ,, ,,	,,
प्रमेह की साध्यासाध्यता	२५४
प्रमेहों का सामान्य लक्षण	,,
प्रमेह-भेद-कल्पना	,,
जलमेह के लक्षण	,,
इक्षुमेह ,,	,,
सान्द्रमेह ,,	,,
सुरामेह ,,	,,
पिष्टमेह ,,	,,
शुक्रमेह ,,	,,
सिकतामेह ,,	,,
शीतमेह ,,	,,
शनैर्मेह ,,	,,
लालामेह ,,	,,
क्षारमेह ,,	,,
नीलमेह ,,	,,
कालमेह ,,	,,
हरिद्रामेह ,,	,,
माञ्जिष्ठमेह ,,	,,
रक्तमेह ,,	२५५
वसामेह ,,	,,
मज्जमेह ,,	,,
गजमेह ,,	,,
मधुमेह ,,	,,
मधुमेह का कष्टसाध्यत्व	,,
प्रमेह और मधुमेह	,,
कफज मेह के उपद्रव	,,
पित्तज मेह के लक्षण	,,
वातज मेह के उपद्रव	,,
प्रमेहपिटिकाओं की संज्ञा	,,
शराविका के लक्षण	,,
कच्छपिका ,,	,,
जालिनी ,,	,,
विनता ,,	२५६
अलजी ,,	,,
मसूरिका ,,	,,
सर्षपिका ,,	,,
पुत्रिणी ,,	,,
विदारिका ,,	,,
विद्रधि ,,	,,
पिटिकाओं की साध्यासाध्यता	,,
प्रमेह से पिटिकाओं में दोष	,,
विना प्रमेहके पिटिकाओं की उत्पत्ति	,,
रक्तपित्त और प्रमेह की परीक्षा	,,
प्रमेह का पूर्वरूप	,,
प्रमेह में द्वैविध्य	,,
प्रमेहों का साध्यत्व	२५७

विषय पृष्ठ

विद्रधिवृद्धिगुल्मनिदानाध्याय ॥ ११ ॥

विद्रधि के ६ प्रभेद २५७
उक्त ६ विद्रधि के दो भेद ,,
विद्रधि के स्थान ,,
वातज विद्रधि २५८
पित्तज ,, ,,
कफज ,, ,,
त्रिदोषज ,, ,,
रक्तज ,, ,,
क्षतज ,, ,,
विद्रधियों में उपद्रव ,,
विद्रधि और शोफ में तुल्यता ,,
उत्पत्तिस्थान भेद से विद्रधि ,,
क्लेदभेद से विद्रधि के वातादि दोष २५९
विद्रधि की साध्यासाध्यता ,,
स्त्रियों की स्तनविद्रधि ,,
वृद्धिरोगनिदान ,,
वृद्धि संख्या ,,
वातज वृद्धि ,,
पित्तज ,, ,,
कफज ,, ,,
रक्तज ,, ,,
मेदोज ,, ,,
मूत्रज वृद्धि ,,
अन्त्रज ,, ,,
गुल्म के लक्षण और भेद ,,
गुल्म के निदान ,,
वातगुल्म ,,
वातगुल्म के उपद्रव २६१
पित्तज गुल्म ,,
कफज ,, ,,
रुक्करत्व ,, ,,
द्वन्द्वज ,, ,,
त्रिदोषज ,, ,,
रक्तज ,, ,,
रक्तजगुल्म के उपद्रव ,,
गर्भ से रक्तगुल्म की विशेषता २६२
गुल्म और विद्रधि का भेद ,,
गुल्म का बाह्याभ्यन्तर लक्षण ,,
अनाह के लक्षण ,,
अष्ठीला तथा प्रत्यष्ठीला लक्षण ,,
तूनी तथा प्रतूनी के लक्षण ,,
गुल्म के प्राग्रूप २६३

उदरनिदानाध्याय ॥ १२ ॥

उदररोग की उत्पत्ति २६३
उदररोग की संप्राप्ति ,,
उदररोग के आठ भेद ,,
विषय पृष्ठ
उदर रोगार्त्त के लक्षण २६३
उदररोग के प्राग्रूप ,,
जलोदर भिन्न उदररोग के लक्षण ,,
वातोदर के लक्षण २६४
पित्तोदर ,, ,,
श्लेष्मोदर ,, ,,
त्रिदोषजोदर ,, ,,
प्लीहोदर ,, ,,
वातादिक प्लीहोदर का लक्षण २६५
यकृत का लक्षण ,,
बद्धोदर ,, ,,
छिद्रोदर ,, ,,
जलोदर ,, ,,
उदररोग में जलोत्पत्ति ,,
उदररोग का साध्यासाध्यत्व २६६
सब जातसलिल मारक ,,
उदररोग की जन्म से ही कष्टसाध्यता ,,

पाण्डुरोगशोफविसर्पनिदानाध्याय

पाण्डुरोग के लक्षण २६६
पाण्डुरोगजन्य दोष ,,
पाण्डुरोग के पाँच भेद २६७
पाण्डुरोग का पूर्वरूप ,,
वातज पाण्डुरोग ,,
पित्तज पाण्डुरोग ,,
कफज तथा सन्निपातज पाण्डुरोग ,,
पाण्डुरोग के कारण ,,
कामलारोग की उत्पत्ति ,,
पाण्डु के बिना कामला की उत्पत्ति ,,
उपेक्षा से कुम्भकामला होना ,,
हलीमक के लक्षण २६८
पाण्डु में शोफप्रधान उपद्रव ,,
शोफरोग का निदान ,,
शोफ के नव प्रकार ,,
शोफ का द्वैविध्यादि ,,
शोफ के सामान्य हेतु ,,
शोफ का पूर्वरूप ,,
वातज सोफ ,,
पित्तज ,, ,,
कफज ,, २६९
द्वन्द्वज ,, ,,
सन्निपातज ,, ,,
अभिघातज ,, ,,
विषज ,, ,,
शोफ की साध्यासाध्यता ,,
विसर्प का निदान ,,
विसर्प के अधिष्ठान ,,
विसर्प में दोषों का फैलना ,,
अन्तराश्रित विसर्प ,,
विषय पृष्ठ
वातज विसर्प २७०
पित्तज ,, ,,
कपज ,, ,,
उपेक्षित विसर्प से व्रणोत्पत्ति ,,
द्वन्द्वज विसर्प ,,
ग्रन्थि ,, ,,
कर्दम ,, ,,
सन्निपातज ,, २७१
विसर्प के हेतु ,,
विसर्प की साध्यसाध्यता ,,

कुष्ठश्वित्रकृमिनिदानाध्याय ॥ १४ ॥

कुष्ठोत्पत्ति के हेतु २७१
कुष्ठ नाम में हेतु ,,
कुष्ठ के सात भेद और दोषानुसार व्यपदेश ,,
वातादि से कापालादि कुष्ठों की उत्पत्ति २७२
महाकुष्ठ के सात भेद ,,
कुष्ठ का पूर्वरूप ,,
कापाक कुष्ठ ,,
उदुम्बर ,, ,,
मण्डल ,, ,,
विचर्चिका ,, ,,
ऋष्याख्य ,, ,,
चर्मकुष्ठ तथा एक कुष्ठ ,,
किटिभ कुष्ठ ,,
सिध्म ,, २७३
अलसक तथा विपादिका कुष्ठ ,,
दद्रू कुष्ठ ,,
शतारु ,, ,,
पुण्डरीक ,, ,,
विस्फोट तथा पामा कुष्ठ ,,
चर्मदल तथा काकण ,, ,,
कुष्ठों में दोषों का बाहुल्य ,,
चिकित्सा के अयोग्य कुष्ठ ,,
कुष्ठ की कृच्छ्राकृच्छ्र साध्यता आदि ,,
त्वचा आदि में स्थित कुष्ठ ,,
श्वित्र का निदान २७४
वातादि से उत्पन्न श्वित्र ,,
वर्णानुसार श्वित्र की कष्टसाध्यतादि ,,
श्वित्र की साध्यासाध्यता ,,
रोगों की संचरणशीलता ,,
कृमियों के दो भेद ,,
जन्म तथा नाम से कृमियों के भेद ,,
बाह्य तथा आभ्यन्तर कृमि ,,
कफज कृमि २७५
पुरीषज ,, ,,
कफज कृमियों का वर्णन ,,

विषय पृष्ठ
रक्तज कृमि २७५
पुरीषज कृमियों के भेद तथा कार्य ,,

वातव्याधिनिदानाध्याय ॥ १५ ॥

सब शुभाशुभ में वायु हेतु २७५
वायु के सर्वकारण में हेतु २७६
वायु के कार्य ,,
वायु का प्रकोप ,,
पक्वाशय में कुपित वायु ,,
आमाशय में ,, ,, ,,
श्रोत्रादि में ,, ,, ,,
रक्त में ,, ,, ,,
मांस-मेदोगत ,, ,, ,,
अस्थिगत ,, ,, ,,
मज्जगत ,, ,, २७७
शुक्रगत ,, ,, ,,
सिरागत कुपित वायु ,,
स्नायुगत ,, ,, ,,
संधिगत ,, ,, ,,
सर्वांगगत ,, ,, ,,
धमनीगत ,, ,, ,,
अपतन्त्रक वायु के लक्षण ,,
अपतानक रोग की उत्पत्ति ,,
अन्तरायाम के लक्षण ,,
बहिरायाम ,, ,,
व्रणायाम ,, २७८
गतवेग होने पर स्वस्थता ,,
हनुस्तंभ के लक्षण ,,
जिह्वास्तम्भ ,, ,,
अर्दित (लकवा) ,, ,,
असाध्य सिराग्रह ,, ,,
एकांग (पक्षाघात) ,, ,,
सर्वांग रोग ,, ,,
विषय पृष्ठ
असाध्य पक्षाघात के लक्षण २७९
दण्डक ,, ,,
अवबाहुक ,, ,,
विश्वाची ,, ,,
खञ्ज और पंगु ,, ,,
कलायखञ्ज ,, ,,
ऊरुस्तम्भ ,, ,,
क्रोष्टुकशीर्ष रोग ,,
वातकंटक ,, ,,
गृध्रसी ,, ,,
खल्लीवात रोग २८०
पादहर्ष ,, ,,
पाददाह ,, ,,

वातशोणितनिदानाध्याय ॥ १६ ॥

वातरक्त रोग का निदान २८०
वातरक्त रोग के पूर्वरूप ,,
वातरक्तका शरीर में व्याप्त होना ,,
वातरक्त के दो भेद ,,
उत्तान वातरक्त ,,
गम्भारी ,, २८१
वाताधिक ,, ,,
रक्ताधिक ,, ,,
पित्तानुविद्ध ,, ,,
कफानुविद्ध ,, ,,
द्वन्द्वज ,, ,,
वातरक्त की साध्यासाध्यता ,,
घातक वातरक्त ,,
प्राण वायु के कार्य ,,
उदान ,, ,, ,,
व्यान ,, ,, ,,
समान ,, ,, २८२
अपान ,, ,, ,,
विषय पृष्ठ
साम और निराम वायु के लक्षण २८२
वायु के आवरण और भेद ,,
पित्तावरण वायु के लक्षण ,,
कफावृत ,, ,, ,,
रक्तावृत ,, ,, ,,
मांसावृत ,, ,, ,,
मेदसावृत ,, ,, ,,
अस्थ्यावृत ,, ,, ,,
मज्जावृत ,, ,, ,,
शुक्रावृत ,, ,, ,,
अन्नावृत ,, ,, २८३
मूत्रावृत ,, ,, ,,
पुरीषावृत ,, ,, ,,
सर्वधात्वावृत ,, ,, ,,
पित्तावृत प्राण ,, ,, ,,
पित्तावृत उदान ,, ,, ,,
पित्तावृत व्यान ,, ,, ,,
पित्तावृत समान ,, ,, ,,
पित्तावृत अपान ,, ,, ,,
कफावृत प्राण ,, ,, ,,
कफावृत उदान ,, ,, ,,
कफावृत व्यान ,, ,, ,,
कफावृत समान तथा अपानवायु ,, ,,
प्राणादिका आवरणसे २० भेद २८४
आवरण के लक्षण ,,
आवरण का ज्ञान ,,
आवरणों का असंख्येयत्व ,,
प्राण और उदान वायु की विशेषता ,,
आवरणों का असाध्यत्व ,,
आवरणों से विद्रध्यादि की उत्पत्ति ,,

* * *

चिकित्सितस्थान-विषयसूची

विषय पृष्ठ

ज्वरचिकित्सिताध्याय ॥ १ ॥

ज्वर में लंघन की आवश्यता २८५
लंघन के गुण ,,
सामज्वर में वमन ,,
लक्षणवैपरीत्य में वमन से हानि ,,
वमनकारक द्रव्य ,,
वमन में लंघन की आवश्यकता २८६
लंघन की अवधि ,,
वातकफज्वर में गर्मजल का विधान ,,
पित्तज्वर में गर्म जल का निषेध ,,
पित्ताधिक्य ज्वर में क्वथित जल पान ,,
ज्वर में पित्तविरुद्ध आहारादि त्याग ,,
ज्वर में स्नान का निषेध ,,
सामज्वर में शूलघ्न औषध ,,
उदर्दादिज्वर में स्वेद कर्म २८७
स्वेदन के पश्चात् स्नेहविधि ,,
अपक्व दोष का परिपाक ,,
ज्वरविशेष में लंघन का निषेध ,,
उक्त ज्वरों में अकर्शन शमनक्रिया ,,
अलंघित और लंघित रोगीकी पहिचान ,,
ज्वरी का मंड-पेया द्वारा उपचार ,,
ज्वरी के लिये हितकर पेया ,,
विविध रोगों में पेया ,,
बस्तिशूल में ,, ,,
ज्वरातिसार में पेया २८८
हिचकी, श्वास आदि में पेया ,,
विबद्ध कोष्ठ में ,, ,,
परिकर्ती कोष्ठ में ,, ,,
रोगविशेष में पेया का निषेध ,,
मद्योद्भवादि ज्वर में कर्त्तव्य ,,
तर्पण के जीर्ण होने पर ,, ,,
ज्वरी के छः दिन की विधि ,,
छः दिन के पश्चात् कषाय का प्रयोग ,,
पित्त ज्वर में तिक्त क्वाथ ,,
तरुणज्वर में क्वाथ का निषेध ,,
औषध के प्रयोग में दिन का मतभेद २८९
आमाधिक्य ज्वर में ओषधिविधान ,,
ज्वर में ओषधिप्रयोग का काल ,,
ज्वर में क्वाथ का विधान ,,
क्वाथ का प्रयोग ,,
सन्ततादि ज्वर की चिकित्सा ,,
वातज ,, ,, ,,
पित्तज ज्वर में कषाय ,,
कफज्वर में औषध ,,
वातकफज्वर में औषध ,,

विषय पृष्ठ

वातपित्तजज्वरमें औषध २८९
ज्वरदाह में ,, २९०
कफवातज्वर में ,, ,,
द्वितीय ,, ,,
तृतीय ,, ,,
कफपित्तज्वर में ,, ,,
सन्निपातज्वर में ,, ,,
वातकफबहुलज्वर ,, ,,
सर्वज्वरों में कषाय ,,
औषध के जीर्ण होने पर पेया ,,
कफरोगी के लिये पेया का निषेध ,,
तन्त्रकार का मत ,,
ज्वरादि में लालचावल आदि पथ्य २९१
उक्त पथ्य की पाचनविधि ,,
ज्वरघ्न यूषद्रव्य ,,
ज्वर में हितकर रस ,,
रुचिकारक व्यञ्जन ,,
ज्वर में अनुपान ,,
ज्वररोगी का भोजनकाल ,,
घृत पीने का काल ,,
जीर्णज्वर की चिकित्सा ,,
जीर्णज्वर में घृतपान ,,
वातपित्तबहुल जीर्णज्वर में घृतपान २९२
ज्वरोष्मा में घृत ,,
मलानुसार सघृत कषायप्रयोग ,,
अन्य क्वाथ ,,
पिप्पल्यादि घृत ,,
वातपित्तज ज्वर में घृत ,,
कफज्वर में ,, ,,
जीर्णज्वरनाशक पाँच ,, ,,
जीर्णघृत में रस का भोजन ,,
कफपित्तनाशक रस ,,
ज्वर के शमनाभाव में वमन ,,
त्रिफलादि से विरेचन २९३
विरिक्तादि को संसर्गी करना ,,
ज्वर से उत्क्लिष्ट मल की उपेक्षा ,,
अतिप्रवृत्त मलका पाचन तथा अवरोध ,,
आमज्वर में आमहरण का निषेध ,,
ज्वरक्षीण को वमनादि का निषेध ,,
ज्वरक्षीण को दुग्धादि से दोषशमन ,,
दुग्धयोग्य रोगी को दुग्ध ,,
दुग्ध की श्रेष्ठता ,,
संस्कृतादि दुग्ध का पान ,,
दुग्ध-संस्कार के विभिन्न प्रकार ,,
पक्वादि दोष में निरूह आदि २९४
क्षीणकफादि में अनुवासन ,,
ज्वरनाशक वस्ति ,,

विषय पृष्ठ

ज्वर में अन्य वस्ति २९४
ज्वरनाशक अनुवासन ,,
ज्वरनाशक अन्य वस्तियाँ ,,
जीर्णज्वर में नस्य ,,
दोषानुसर धूमादिप्रयोग ,,
अरुचिनाशक औषध ,,
त्वग्गत जीर्णज्वरादिनाशक अभ्यङ्ग २९५
दाहज्वरनाशक पक्वतैलाभ्यङ्गादि ,,
,, घृताभ्यङ्गादि ,,
दाहनाशक कपित्थादि का लेप ,,
दाहज्वरनाशक अन्य औषध ,,
शीतज्वरनाशक औषध ,,
सन्निपातचिकित्सा २९६
सन्निपात ज्वर के बाद कर्णमूल ,,
कर्णमूलनाशक औषध ,,
कर्णमूल में सिरामोक्षण ,,
विषमज्वरनाशक क्वाथ ,,
अन्य औषध ,,
विषमज्वरनाशक अन्य औषध २९७
विषमज्वरनाशक त्रिफलादि घृत ,,
विषमज्वर में सुरापानादि ,,
ज्वर के दिन नीलिन्यादि क्वाथपान ,,
उक्तज्वर में नेत्राञ्जन ,,
उक्तज्वर में नस्य ,,
सब ज्वरों में धूप ,,
सब ज्वरों में जप, हवनादि ,,
विषम ज्वर सिरावेधन ,,
वातादि ज्वर में घृतपान ,,
ग्रहजन्य ज्वर में बलिमन्त्रादि ,,
पित्तज तथा विषज ज्वर का औषध ,,
क्रोधादिजन्य ज्वरों के उपाय २९८
शापादिजन्य ज्वरों के उपाय ,,
ज्वरसमय को भुलाना ,,
शुद्ध मन की सर्वज्वरनाशकता ,,
व्यायामादि का त्याग ,,
ज्वरमुक्त को सर्वान्नसेवन का निषेध ,,
ज्वर का समयोचित औषध ,,
औषध को ज्वरनाश की क्षमता ,,

रक्तपित्तचिकित्सिताध्याय ॥ २ ॥

ऊर्ध्वगामी रक्त-पित्त का उपचार २९९
ऊर्ध्वगामी, अधोगामी रक्तपित्त चिकित्साविचार ,,
रक्तपित्तज विरेचनादि ,,
ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त की चिकित्सा ३००
अधोगामी रक्तपित की ,, ,,
उभय रक्तपित्त में पथ्य ,,

विषय पृष्ठ
अशुद्ध रक्तधारण में निषेध ३००
रक्तपित्त में विरेचक अवलेह ,,
रक्तपित्त में अन्य औषध ,,
अधोगामी रक्तपित्त की चिकित्सा ,,
शुद्ध होने के बाद कर्तव्य ,,
मन्थनिर्माण विधि ,,
पेया बनाने की ,, ,,
मांस बनाने की ,, ३०१
शूकशिम्बी धान्यादि ,,
जल के अनेक प्रकार ,,
रक्तपित्त आदि में देने योग्य मांस ,,
रक्तपित्त में त्याज्य पदार्थ ,,
रक्तपित्त के अन्य औषध ,,
रक्तपित्त में तीन क्वाथ ,,
अन्य क्वाथादि ,,
रक्त के अधिक स्राव में औषध ३०२
रक्तपित्त में कषाय ,,
अतिप्रवृत्त रक्त की औषध ,,
रक्तपित्त में गन्ने का रस ,,
अन्य उपाय ,,
रक्तपित्त में बकरी आदि का दूध ,,
मूत्रमार्गगामी रक्त का उपाय ,,
विटमार्गगामी रक्त का ,, ,,
कषाय पीने के बाद भोजनादि ,,
रक्तपित्तादिनाशक अन्य घृत ,,
सपिच्छ रक्त का उपाय ३०३
गुदास्रावी रक्त में वस्ति ,,
नासास्रावी रक्त में नस्य ,,
अन्य प्रयोग ,,
अन्य सामान्य उपाय ,,

कासचिकित्सिताध्याय ॥ ३ ॥

कास में स्नेहादि प्रयोग ३०४
स्नेहों के वर्णन ,,
कासनाशक विदार्यादि घृत ,,
कासनाशक अवलेह ,,
कफादिजन्य कासनाशक चूर्ण ,,
वातजन्य कासनाशक लेह ,,
कास रोगनाशक चूर्ण ३०५
कास रोगनाशक पांच योग ,,
कासपीनसनाशक धूमपान ,,
कास में आहार ,,
वातजन्य कास में पेया ,,
उक्त रोगनाशक अन्य पेयाद्वय ,,
मांसयुक्त पेया ,,
वातजन्य कास में वास्तुकादि ,,
पित्तकास में वमन ,,
पित्तकास में निसोथ ,,
दोषहरण के बाद पेयाविक्रम ३०६

विषय पृष्ठ
पित्तकासनाशक अवलेह ३०६
पित्तकास में हितकारक मांसरसादि ,,
पित्तकासनाशक काकोल्यादि ,,
अन्य उपाय ,,
शट्यादि रस ,,
पित्तकास में अवलेह ,,
कफकास की चिकित्सा ,,
बलवान् रोगी को विरेचन ,,
संसर्जन की विधि ३०७
अन्य उपाय ,,
कासनाशक तीन लेह ,,
आठ लेह ,,
देवदार्वादि अवलेहत्रय ,,
पीनसादिनाशक दाडिमादिचूर्ण ,,
गुडादि चूर्ण ,,
पथ्यादि पाचन ,,
कफकासनाशक क्वाथ ,,
अन्य प्रयोग ,,
विडङ्गादिघृत ३०८
पुनर्नवादि घृत ,,
कण्टकारी घृत ,,
दुर्नामादिजित् अवलेह ,,
कफकास में धूमपान ,,
धूमपानविधि ,,
पित्तानुबन्धी तमक की चिकित्सा ,,
कफानुबन्धी वातकास की ,, ,,
उरःक्षत की ,, ३०९
पार्श्वादिवेदना में कर्तव्य ,,
उरःक्षत में दुग्धविशेष ,,
ज्वरदाह में पान ,,
कासरोग में घृतपान ,,
पर्वास्थिशूल युक्त कास में औषध ,,
बलकारक गुटिका ,,
रक्त थूकने की औषध ,,
मुखादि से स्रुत रक्त ,,
मूढवात में कर्तव्य ,,
क्षामादि में चिकित्सा ,,
मांस-रक्तवर्धक औषध ३१०
क्षतोरस्कादि में घृत विशेष ,,
अभ्यङ्गादि ,,
जीवनीय घृत ,,
वातरोगनाशक उपाय ,,
क्षत में घृत विशेष ,,
अमृतप्राश अवलेह ,,
श्वदंष्ट्रादि घृत ,,
रक्तगुल्म पर समसक्तु घृत ३११
यक्ष्मादिनाशक ,, ,,
पित्ताधिकता में ,, ,,

विषय पृष्ठ
वीर्याभिवर्द्धक चूर्ण ३११
कूष्माण्डक रसायन ,,
नागबलादिकल्प ३१२
नागबलादि घृत ,,
अग्निक्षीणादि में कर्तव्य ,,
अगस्त्यहरीतकी ,,
वसिष्ठहरीतकी ,,
सैंधवादि चूर्ण ३१३
खाण्डव ,,
क्षत में अन्य कर्तव्य ,,
धूमपान का विधान ,,
धूमवर्ती ,,
धूमपान की अन्य विधियाँ ,,
क्षयजन्य कास में कर्तव्य ,,
वृद्धिगत दोष में विरेचन ३१४
विरेचन की विधि ,,
धातुक्षीणता में घृत ,,
मूत्रविवर्णता में औषध ,,
मूत्र की विवर्णता में औषध ,,
कासरोग में मांसादि सेवन ,,
कासनाशक चविकादि घृत ,,
कासमर्दादि ,, ,,
रसकल्कादि ,, ,,
दाडिमादिघृतपान ,,
क्षयजकास में चव्यादिघृत ,,
श्वासकासनाशक हरीतकी लेह ३१५
अन्य प्रयोग ,,
सर्वकासों में मूंग का यूष ,,
अनुपान के साथ धूमादि ,,
सन्निपातज क्षयकासचिकित्सा ,,

श्वासहिध्माचिकित्सिताध्याय ॥ ४ ॥

श्वास तथा हिध्मा की समानता ३१६
श्वास और हिध्मा में स्वेदन ,,
उक्त स्वेदन से लाभ ,,
स्वेदन के बाद भोजनादि ,,
कफनिर्गमन से सुख ,,
आनाह आदि के अन्य उपाय ,,
उक्त उपायों से लाभ ,,
रोगशमन न होने पर धूमपान ,,
धूमपान विधि ,,
स्वेदनार्हरोगी को स्वेदन ३१७
अतियोग से उद्धतवायु में कर्तव्य ,,
वमनादि के अयोग्य रोगी में कर्तव्य ,,
क्षीणाद्यनुबन्धी हिध्मा में मधुरादि द्रव्य ,,
उक्त रोगों में मांसरस तथा यूष ,,
उक्त रोगों में यूष ,,

विषय पृष्ठ
कासादिनाशक पेया ३१७
कषाय तथा पेया ,,
अन्य औषध ,,
सक्तु विशेष ,,
भोजन ,,
तक्र ३१८
पीने योग्य अन्य औषध ,,
कफाधिक्यादि में औषध ,,
जीवन्त्यादि चूर्ण ,,
शट्यादि चूर्ण ,,
अन्य चूर्ण तथा नस्य ३१९
लशुनादि नस्य ,,
दुष्ट कफादिनाशक अन्य उपाय ,,
अन्यान्य घृतपान ३१९
शीतल जल से परिषेकादि ,,
हिक्का तथा श्वास की सामान्य चिकित्सा ,,
उक्त रोगों के शमन में कारण ,,
कसादि पांच रोगों की चिकित्सा ३२०

राज्ययक्ष्मादिचिकित्सिताध्याय ॥ ५ ॥

यक्ष्मारोगी में शोधन कर्म ३२०
वमन की विधि ,,
विरेचन की विधि ,,
शुद्ध कोष्ठ रोगी को बृंहणादि द्रव्य ,,
अन्न और दुग्धादि आहार ,,
काकादि का मांस निकृष्ट पथ्य ,,
पित्तकफादि में मृगादि मांस पथ्य ,,
पीनसादि में सिद्ध मांस पथ्य ३२१
स्रोतःशोधनार्थ जीर्णमद्यपानादि ,,
राजयक्ष्मा में सिद्ध घृत का पान ,,
राजयक्ष्मा में जीवन्त्यादि घृत ,,
स्रोतःशोधक गुल्मादिहरषट्पलघृत ,,
रास्नादि घृत ३२२
अश्वगन्धादि घृत ,,
कासादिहर मांससिद्ध घृत ,,
एलादि घृत ,,
अन्य प्रयोग ,,
त्वगेलादि चूर्ण ,,
स्वरक्षीणता में नस्यादि ,,
वातज स्वरक्षीणता की चिकित्सा ,,
बदरीपत्रकल्क प्रयोग ,,
नस्य की विधि ,,
अनुपान ३२३
पित्तजस्वरक्षीणता में घृतादि पान ,,
बलादिसिद्ध घृत ,,
पौण्डरीकादिसिद्ध घृत का नस्य ,,
मधुकर चूर्ण ,,
कफज स्वरक्षय में कटुरस पानादि ,,

विषय पृष्ठ
उच्च भाषणजन्य स्वरभेद चिकित्सा ३२३
अरुचि की सामान्य ,, ,,
वातज अरोचक की ,, ,,
पित्तज अरोचक की ,, ,,
कफज अरोचक की ,, ,,
प्रसेकादिनाशक एलादि चूर्ण ३२४
विबन्धादिनाशक यवान्यादि चूर्ण ,,
कासादिनाशक तालीसपत्रादि ,, ,,
प्रसेक में भक्षणादि ,,
कफप्रसेक का लक्षण तथा चिकित्सा ,,
पीनस तथा वमन में भी उक्त ,, ,,
पीनस की विशेष ,, ,,
शिर आदि के शूल में कर्तव्य ,,
दोषसंसर्ग में लेपत्रय ३२५
नस्य तथा धूमपानादि का प्रयोग ,,
रक्तमोक्षणादि कार्य ,,
अतिसारादि में उक्त औषध हितकर ,,
यक्ष्मारोगी के मल की रक्षा ,,
,, को अवकाश का अभावादि ,,
स्नानादि का नियम ,,
पुष्टिकारक उबटन ,,
स्नानयोग्य ओषधिजल ,,
गन्धमाल्यादि का धारण हितकर ,,
मित्रदर्शन आदि भी हितकर ३२६

छर्दिहृद्रोगतृष्णाचिकित्सिताध्याय ६

वमन में प्रायः लंघन ३२६
वमन के बाद विरेचन ,,
वमन में पथ्य ,,
वातज वमन की चिकित्सा ,,
पित्तज वमन की ,, ३२७
कफज वमन की ,, ,,
द्विष्टार्थजन्य वमन की,, ,,
कृमिज वमनादि की शान्ति ,,
वमन में स्तम्भन बृंहण उपाय ३२८
वातज हृद्रोग में तैलपान ,,
पञ्चलवणयुक्त तैल ,,
नस्यादि के योग्य अन्य तैल ,,
शुण्ठ्यादिपक्व घृत ,,
सौवर्चलादि घृत ,,
दाडिमादि चूर्ण ,,
पुष्करादि घृत ,,
क्वाथ ,,
पञ्चकोलादि क्वाथ ,,
वातज हृद्रोग में स्वेदादि ,,
पञ्चमूलादि साधित जल का गुण ,,
वातज हृद्रोग चिकित्सा ,,
हृद्रोग में तैल और घृत का विचार ३२९
महास्नेह घृतपाक विधि ,,

विषय पृ
जठराग्निप्रदीप्त हृद्रोगचिकित्सा ३२
हृद्रोग में त्याज्य वस्तु ,,
कफानुबन्धी हृद्रोग चिकित्सा ,,
पैत्तिक हृद्रोग ,, ,,
कफज हृद्रोग ,, ,,
शूलयुक्त हृद्रोग ,, ३३
कृमिज हृद्रोग चिकित्सा ,,
तृष्णा रोग ,, ,,
वातज तृष्णा ,, ३३
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
आमज तथा सन्निपातज तृष्णाचिकित्सा,,
अन्नात्मज ,, ,,
श्रमज ,, ,,
आतपज ,, ,,
शीतस्नानज ,, ,,
मद्यज ,, ,,
तीक्ष्णाग्नितृष्णा में ठंडा जल ,,
अजीर्णज तृषा में गरम जल ३३
स्निग्धान्नभोजनजन्य तृष्णा में शर्बत ,,
गुरु-अन्नभोजनजन्य तृषा में वमन ,,
क्षयज तृष्णाचिकित्सा ,,
कृशादि व्यक्तिकी ,, ,, ,,
ऊर्ध्व वातजनित ,, ,, ,,
उपसर्गज ,, ,, ,,
तीक्ष्ण ,, ,, ,,

मदात्ययादिचिकित्सिताध्याय ॥७॥

मदात्यय चिकित्सा ३३
मद्य से मद्यपान की चिकित्सा ३३
पानात्यय औषधकाल की अवधि ,,
वातज मदात्यय की चिकित्सा ,,
पित्तज मदात्यय ,, ३३
वातज मदात्यय में भोजन ,,
वातज मदात्यय में वमनादि ,,
कासयुक्त वातज मदात्ययचिकित्सा ,,
अधिक तृष्णादि ,, ,,
उक्त रोग में स्वल्प मद्यपान ,,
जलीय धातु की क्षीणता में कर्त्तव्य ,,
मुख पर आलेप ,,
अन्य उपाय ३३
कफाधिक्य में कर्तव्य ,,
उक्त रोग में भोजनादि ,,
अग्नि के अनुसार पथ्य ,,
अष्टाङ्ग लवण ,,
जागरणादि ,,
सन्निपातज मदात्यय की चिकित्सा ,,
सर्वविध मदात्यय में पानक ,,
हर्षिणी क्रिया ,,

विषय पृष्ठ
दुग्ध पथ्य ३३६
दुग्धपथ्य में हेतु ,,
दुग्धपथ्य के बाद स्वल्प मद्यपान ,,
पुरीषक्षयजन्य उपद्रवमें घृतादिपान ,,
मद्य प्रयोग में हेतु ,,
सुरा के गुण ,,
सविधि मद्यपान के गुण ३३७
'निगद' मद्यपान की विधि ,,
मांसपाचन मद्यपान ,,
मद्यपान बिना लशुनगुणोंका ह्रास ,,
शल्याहरणादि में मद्यपान ,,
मद्य में अग्निदीपनादि गुण ,,
जीवरक्षार्थमद्यपान ,,
मद्यपान की विधि ,,
मद्यपान के बाद कर्तव्य ३३८
मद्यपान से स्त्री का अनुरञ्जन ,,
मद्यपान के बाद शयन ३३९
उचित मद्यपानसे धर्मादिकी अहानि ,,
व्यवस्था के साथ मद्यपान ,,
धनिकों के लिये ,, ,,
मद्यपान का परिणाम ,,
वाताधिक्य में मद्यपान विधि ,,
पित्ताधिक्य में ,, ,,
कफाधिक्य में ,, ,,
दोषानुसार हितकर मद्य ,,
दोषानुसार मद्यपान-काल ,,
मदादि में वातपित्तहर चिकित्सा ,,
उक्त रोग में उपचार ,,
निरन्तर मदवेग में कर्तव्य ३४०
दोष-बलानुसार क्रिया ,,
संन्यासोक्त क्रिया ,,
संन्यास चिकित्सा ,,
मदादि के अन्य उपाय ,,
मदात्यय ३४१

अर्शश्चिकित्साध्याय ॥ ८ ॥

अर्श में यन्त्रप्रयोग ३४१
बहुत अर्शों में कर्तव्य ,,
सुदग्ध अर्श का लक्षण ,,
वस्तिशूल में कर्तव्य ,,
विण्मूत्रप्रतिघात में चिकित्सा ,,
दाहायोग्यादि गुदकीलों में कर्तव्य ३४२
अर्शों में धूपन ,,
अर्शों में वर्तिद्वय ,,
अर्श पर लेप ,,
उक्त द्रव्यलेपों से अभ्यञ्जनादि ,,
धूपन से रक्तस्राव ३४३
जलौकादि द्वारा रक्त निकालना ,,
रक्त निकालने का कारण ,,
विषय पृष्ठ
अर्श में गोरसपानादि ३४३
अर्श में तक्रपान ,,
अर्श में अन्यान्य पान ,,
अर्श में सक्तुकादि पान ,,
तक्रपान की अवधि ,,
विविध तक्र का प्रयोग ,,
तक्र प्रयोग का गुण ,,
तक्रप्रयोग के बाद आहार सेवन ३४४
विशेष विधि ,,
तक्रारिष्ट का पान ,,
अर्शोनाशक अन्यविध तक्र का पान ,,
अग्निदीपक स्नेहादि ,,
गाढ़ा मल वालों के लिये प्रयोग ,,
अर्श में करञ्जपत्र का भक्षण ,,
गुडसहित शुण्ठ्यादिपान ,,
हरीतकी सेवन ,,
अन्यान्य प्रयोग ३४५
बलवर्द्धक पान ,,
पाठा के साथ दुरालभादि सेवन ,,
अभयाद्यरिष्ट ,,
दन्त्याद्यरिष्ट ,,
दुरालभाद्यरिष्ट ,,
भोजन केपहले सिद्ध घृत का सेवन ३४६
पलाशादि घृत ,,
पञ्चकोलादि घृत ,,
चाङ्गेर्यादि घृत ,,
मांसरस का सेवन ,,
वास्तूकादि शाकका सेवन ,,
मदिरादि पानविधि ,,
अर्शों में अनुलोमन ३४७
उदावर्त्तपीडितअर्शोरोगीमें अनुवासन ,,
अनुवासन की विधि ,,
निरूह का प्रयोग ,,
रक्तार्शमें वातादिके अनुसार चिकित्सा ,,
वात-कफानुबन्ध के लक्षण ,,
रक्त के दोष में शोधनादि ,,
दोषकलुषता में रक्तस्राव ,,
रक्तस्राव के बाद तिक्तोपचार ,,
अदुष्टरक्तस्रावकी स्नेहादि चिकित्सा ,,
पित्ताधिक रक्त का स्तम्भन ३४८
कफाधिक रक्तस्राव में क्वाथादि ,,
रक्तातिसारादि रोग में लेह ,,
सब अर्श आदि रोग में लेह ,,
अन्यान्य प्रयोग ,,
अर्शःशूलादि में यवान्यादि चूर्ण ,,
रक्तार्श में सिद्ध घृत ३४९
रक्तार्श के अन्य औषध ,,
पेया वा प्याज का सेवन ,,
विषय पृष्ठ
वातप्रबल अर्श में प्रयत्न ३४९
रक्त-पित्त की प्रबलता में शीतोपचार ,,
पिच्छाबस्ति ,,
अनुवासनविधि ,,
त्रिदोषघ्न मधुकादि घृत ,,
व्यत्यास में मधुराम्ल प्रयोग ,,
उदावर्त में स्वेदादि ३५०
गुदा में उक्त द्रव्यों का चूर्ण फूंकना ,,
स्निग्ध वस्ति का प्रयोग ,,
कल्याणक क्षार ,,
अन्य उपाय ,,
अर्श पर चुक्र प्रयोग ,,
अर्शादि की अन्यान्य ओषधियां ,,
त्रिकुटाद्यगुटिका ३५१
सूरणभक्षण ,,
गुडादि गुटिका ,,
प्रकारान्तर से सूरण का प्रयोग ,,
बडवानल चूर्ण ३५२
कलिङ्गादि चूर्ण ,,
तक्रपान ,,
द्विविध अर्श में ओषधियां ,,
औषधसेवन का विचार ,,
अग्नि रक्षा की आवश्यकता ,,

अतीसारचिकित्सिताध्याय ॥ ९ ॥

अतीसार में लङ्घन ३५२
शूलादि से युक्त अतिसार में वमन ,,
दोषविशेष में पथ्याहार ,,
आमातिसार में संग्रहण का निषेध ,,
विबद्धातिसारमें हरीतकी की श्रेष्ठता ,,
मध्यदोषातिसार में चार क्वाथ ३५३
अल्प दोषातिसार में उपवास ,,
अतिसार की प्यास में पेय जल ,,
क्षुधा से क्षीण अतिसार में पथ्य ,,
अतिसार में पान ,,
अतिसार में भोजन ,,
कफ-पित्तप्रबल अतिसार में पेया ,,
बहुदोषातिसार चिकित्सा ,,
आमातिसार ,, ,,
पक्वातिसार ,, ३५४
प्रवाहिका ,, ,,
अपराजिताखण्ड ,,
बालबिल्वादिलेह ३५५
प्रयोगान्तर ,,
वेदनायुक्त आम की ओषधि ,,
प्रवाहिकाघ्न चूर्ण, घृत, तैल ,,
घृत का प्रयोग ,,
गुदभ्रंशादि में स्नेहवस्त्यादि ३५६
प्रवाहणादि में अनुवासन बस्ति ,,

विषय पृष्ठ
गुदभ्रंशादि में तैलप्रयोग ३५६
पित्तज गुदभ्रंश-चिकित्सा ,,
पित्तातिसार ,, ,,
पक्वातिसार ,, ३५७
निरामातिसार ,, ,,
शूल में अनुवासन विधि ,,
अनुवासन घृत ,,
पिच्छावस्ति का प्रयोग ,,
पिच्छावस्ति ,,
सर्वातिसार पर प्रयोग ,,
अतिसार में पुटपाक प्रयोग ,,
प्रयोगान्तर ३५८
पित्तातिसार में प्रयोगान्तर ,,
अन्य रसादि ,,
रक्तातिसार में पेया ,,
अधिक रक्तस्राव में उपाय ,,
त्रिदोषज अतिसार-चिकित्सा ,,
रक्तातिसार ,, ,,
गुददाहादि ,, ३५९
रक्तातिसार में पिच्छावस्ति ,,
रक्तातिसार में अनुवासन-वस्ति ,,
रक्तातिसार में अवलेह ,,
रक्तातिसार में उपायान्तर ,,
कफातिसार चिकित्सा ,,
कपित्थाष्टक चूर्ण ,,
दाडिमाष्टक चूर्ण ३६०
कफातिसारघ्न खल ,,
उपायान्तर ,,
वातकफविबन्ध में पिच्छा वस्ति ,,
कफवातार्त में अनुवासन ,,
क्षीणकफादि में कर्तव्य ,,
वातनाशकक्रिया वर्णन ,,
शान्तोदर के लक्षण ,,

ग्रहणीदोषचिकित्सिताध्याय ॥१०॥

ग्रहणी में अजीर्णोपचार ३६१
ग्रहणी में पेया आदि का प्रयोग ,,
आम में पेयादि ,,
ग्रहणी में तक्र ,,
ग्रहणी में चूर्ण ,,
आमनाशक पानादि ,,
प्रवाहिका-चिकित्सा ३६२
छर्द्यादि ,, ,,
अग्निवर्धक पिप्पल्यादि चूर्ण ,,
पाचन गुटिका ,,
तालीसपत्रादि चूर्ण ,,
वातग्रहणी-चिकित्सा ,,
अनुवासन विधि ,,
पञ्चकोलादि घृत, तैल, चूर्ण ३६३
विषय पृष्ठ
पित्तज ग्रहणी-चिकित्सा ३६३
पित्तज ग्रहणीनाशक चूर्ण ,,
अन्य चूर्ण ,,
नागरादि चूर्ण ,,
चन्दनादि घृत ३६४
कफज ग्रहणी-चिकित्सा ,,
कफजग्रहणी में पंचकोलादि पेया ,,
कफज ग्रहणी में आसव ,,
ग्रहणी में क्षार का प्रयोग ,,
ग्रहणी में क्षार-वटिका ३६५
ग्रहणी में मातुलुङ्गादि चूर्ण ,,
कफज ग्रहणी में घृत ,,
सन्निपातज ग्रहणी में प्रयोग ,,
प्रतिदोषानुसार चिकित्सा ,,
स्नेह की उत्कृष्टता ,,
मन्दाग्नि में घृत का प्रयोग ,,
मलावरोध में घृत ,,
रौक्ष्य में स्नेहपानविधि ३६६
स्नेहपानसे उत्पन्न मन्दाग्नि में उपाय ,,
उदावर्त में उपाय ,,
दोषाधिक्यजन्य मन्दाग्नि में उपाय ,,
व्याधिमुक्त मन्दाग्नि में उपचार ,,
मार्गभ्रमणादिजन्य मन्दाग्नि ,,
दीर्घकालीन मन्दाग्नि में प्रयोग ,,
बलवर्द्धक स्नेहादि ,,
कोष्ठाग्निवर्धन में दृष्टान्त ,,
अभोजनातिभोजन से नष्टाग्नि ,,
अग्निवर्धक प्रकार ,,
भस्मकाख्य अग्नि का शमनोपाय ,,
अजीर्ण में भोज्यादि ,,
अत्यग्नि में भोज्य द्रव्य ३६७
अत्यग्नि में भेड़े का मांस ,,
अत्यग्नि में दूध का विधान ,,
अत्यग्नि में हित ,,
अत्यग्नि से हानि ,,
विरुद्ध अन्नपानादि ,,

मूत्राघातचिकित्सिताध्याय ॥ ११ ॥

मूत्रकृच्छ्र में स्वेदादि ३६७
शूलनाशक तैल ३६८
अन्य प्रयोग ,,
मूत्रकृच्छ्र में मद्यपान ,,
पित्तज मूत्रकृच्छ्र में सेकादि ,,
अन्यान्य प्रयोग ,,
सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में चिकित्सा ,,
अश्मरी कर्तव्य ,,
अश्मरी के पूर्वरूप में कर्तव्य ३६९
अश्मरी में स्नेहविधि ,,
वाताश्मरीभेदक पान ,,
विषय पृष्ठ
पित्ताश्मरीभेदक घृत ३६९
कफज अश्मरीभेदक घृत ,,
यथायोग्य क्षारादि विधि ,,
शर्कराभेदक गुडपान ,,
अन्य पान ,,
अश्मरीनाशक चूर्ण ,,
अश्मरीनाशक क्वाथ ,,
अश्मरीनाशक क्षार ,,
अश्मरीनाशक ब्राह्मीमूलादि पान ,,
मूत्राघात की चिकित्सा ३७०
सर्वमूत्रविकार-नाशक प्रयोग ,,
मूत्राघात में देवदार्वादि पान ,,
मूत्राघातनाशक उपायान्तर ,,
शुक्राश्मरी चिकित्सा ,,
शस्त्रकर्म में राजाज्ञा ,,
शस्त्रकर्म में कर्तव्य ,,
शस्त्रकर्मोत्तर मूत्रसंशोधन विधि ३७१
व्रणप्रक्षालन विधि ,,
व्रणस्वेदन विधि ,,
उपायान्तर ,,
अश्मरी के शस्त्रकर्म में वर्जित अङ्ग ,,

प्रमेहचिकित्सिताध्याय ॥ १२ ॥

प्रमेह चिकित्सा ३७२
अपतर्पण में कर्तव्य ,,
शमन योग ,,
कफज तथा पित्तज प्रमेहचिकित्सा ,,
वातप्रमेह चिकित्सा ,,
प्रमेह में पथ्य ,,
कफपित्त-प्रमेह-चिकित्सा ३७३
प्रमेहनाशक तैलादि ,,
प्रमेहनाशक घृत ,,
प्रमेहादिनाशक रोध्रासव ,,
प्रमेहादिनाशक अयस्कृति ,,
प्रमेह में उद्वर्त्तनादि ३७४
प्रमेह में रसायन ,,
निर्धन प्रमेही की ओषधि ,,
दुर्बल प्रमेही की ओषधि ,,
प्रमेह-पिडिका-चिकित्सा ,,
उपायान्तर ,,
मधुमेह पर शिलाजीत का प्रयोग ,,

विद्रधिवृद्धिचिकित्सिताध्याय ॥१३॥

विद्रधि चिकित्सा ३७५
वातज विद्रधि ,, ,,
पैत्तिक विद्रधि ,, ,,
कफज विद्रधि ,, ,,
रक्तज ,, ,, ,,
आगन्तुज ,, ,, ,,
अन्तर्विद्रधि चिकित्सा ,,

विषय	पृष्ठ
विद्रध्यादिनाशक क्राथ	३७५
विद्रधि में रक्तमोक्षण विधि	३७६
विद्रधि में उपनाह विधि	,,
विद्रधिभेदन ,,	,,
अन्तर्विद्रधि के लक्षण	,,
दुष्टविद्रधि का शमनोपाय	,,
विद्रधि में यूष	,,
दस दिन पश्चात् शोधनादि	,,
विद्रधि में गुल्मवत् चिकित्सा	,,
सर्वविध विद्रधि में गुग्गुलु योग	,,
विद्रधि-पाक-निवारण विधि	,,
स्तनविद्रधिचिकित्सा	,,
वातज वृद्धि ,,	३७७
पित्तज ,, ,,	,,
कफज ,, ,,	,,
मेदोज ,, ,,	,,
मूत्रज ,, ,,	,,
अंत्रज ,, ,,	,,
वर्ध्म,वृद्ध्यादि नासक सुकुमार तैल	,,
वर्ध्मरोग में वस्ति विधि	३७८
वृद्धि रोग में अग्नि कर्म	,,

गुल्मचिकित्सिताध्याय ॥ १४ ॥

विषय	पृष्ठ
वातज गुल्म चिकित्सा	३७८
स्नेहपान विधि	,,
वातिक गुल्ममें बृंहण तथा निरूहण	३७९
गुल्म में वस्तिकर्म	,,
वातगुल्मनाशक नाना घृत	,,
दाधिक घृत	,,
त्र्यूषणादिघृत	,,
लशुनादिघृत	३८०
वातगुल्म में वमन	,,
गुल्मशूलनाशक क्राथ तथा चूर्ण	,,
हिंग्वादि चूर्ण	,,
लवणादि ,,	,,
हिंग्वष्टक ,,	,,
शार्दूल ,,	३८१
सिन्धूत्थ ,,	,,
गुल्मनाशक अन्यान्य चूर्ण	,,
गुल्मनाशक अन्य प्रयोग	,,
शुंठ्यादि चूर्ण	,,
वातगुल्मनाशक अन्य प्रयोग	,,
वातगुल्म में विरेचनादि	,,
गुल्मनाशक तैल	,,
शूलादिनाशक चित्रकादि क्राथ	,,
वातगुल्म में शिलाजीत का प्रयोग	,,
उदावर्त तथा मल-मूत्र विबन्ध में	३८२
गुल्मनाशक घृत	,,
नीलिनी घृत	,,
वातगुल्म में पथ्य	३८२
पैत्तिक गुल्म में विरेचन	,,
पैत्तिक गुल्म में संशमन	,,
आत्ययिक गुल्म में विरेचन	,,
पित्तज गुल्मनाशक घृत	,,
पित्तज गुल्मनाशक द्राक्षादिपान	३८३
पत्तिक गुल्मनाशक अन्य प्रयोग	,,
पैत्तिक गुल्म में अभ्यङ्गादि	,,
विदाहादि गुल्म में रक्तमोक्षणविधि	,,
रक्तमोक्षण में हेतु	,,
दोष रहित होने पर घृतपान	,,
पित्तज गुल्म में उपचार	,,
कफज गुल्म में ,,	,,
कफज गुल्म में घृतपान	,,
भल्लातक घृत	,,
स्वेदन विधि	३८४
शोधन की श्रेष्ठता	,,
गुल्म के शिथिल होने पर चिकित्सा	,,
कफ गुल्म में कर्तव्य	,,
कफ गुल्म में संशोधन	,,
मिश्रित स्नेह	,,
नीलिका घृत	,,
दन्त्यादि चूर्ण	,,
विरेचन चूर्ण	३८५
गुल्मनाशक निरूह वस्ति	,,
गुल्मनाशक क्षार	,,
गुल्मनाशक आसवादि	,,
गुल्मरोग में पथ्य	,,
गुल्मनाशक अन्य प्रयोग	,,
कफज गुल्म में दग्ध विधि	३८६
गुल्म के साथ आम का सम्बन्ध होने पर	,,
आसन्नप्रसवा की रक्तगुल्म चिकित्सा	,,
तिल का काढ़ा	,,
अन्य प्रयोग	,,
योनिविरेचन विधि	,,
रक्तस्राव न होने पर कर्तव्य	,,
प्रवृत्तरक्त में कर्तव्य	,,
अतिप्रवृत्त रक्त में कतव्य	,,

उदरचिकित्सिताध्याय ॥ १५ ॥

विषय	पृष्ठ
उदर रोग में विरेचन	३८७
स्निग्ध ,,	,,
उदर रोग नाशक नाना घृत	,,
घृतपान के पश्चात् विरेचन	,,
उदर रोग नाशक चूर्ण	,,
गवाद्यादि ,,	,,
नारायण ,,	३८८
हपुषादि ,,	,,
नीलिन्यादि ,,	,,
उदर रोग नाशक दुग्ध	३८८
उदर रोग नाशक अन्य चूर्ण	,,
स्नुही घृत	,,
अन्य घृत	३८९
घृतपान के पश्चात् पेया	,,
पेया तथा घृत का पुनः प्रयोग	,,
घृत प्रयोग विधान	,,
आनाह पर घृत	,,
पथ्य	,,
उदर रोग में हरीतकी	,,
अन्य प्रयोग	,,
प्रवृद्ध उदरचिकित्सा	,,
उदर रोगी का भोजन	,,
पार्श्वशूलादिचिकित्सा	,,
एरण्डतैल का प्रयोग	३९०
उदर पर प्रलेप	,,
परिषेक	,,
उदर वेष्टन	,,
आध्मान में निरूहण	,,
आध्मान में वस्तिप्रयोग	,,
उदरचिकित्सा की समाप्ति	,,
वातोदर-चिकित्सा	,,
संसर्जन के पश्चात् दुग्धपान	,,
उदर रोग में वस्तिप्रयोग	,,
अनुवासन	,,
पित्तज उदररोग चिकित्सा	,,
दुर्बल रोगी को अनुवासनवस्ति	३९१
दुग्ध तथा वस्ति का पुनः २ प्रयोग	,,
कफोदर चिकित्सा	,,
निरूहणादि विधि	,,
अरिष्ट सेवन	,,
उदर रोग पर क्षार	,,
अरिष्टपान	,,
उपनाह	,,
सन्निपातोदर चिकित्सा	,,
त्रिदोषज जठर ,,	,,
स्थावर विष का प्रयोग	,,
हृतदोष में कर्तव्य	३९२
ऊंटनी के दुग्ध का पान	,,
प्लीहोदरचिकित्सा	,,
क्षार, चूर्ण	,,
विडङ्गादि सेवन	,,
कामला प्लीहादि चिकित्सा	,,
प्लीहानाशक तेल	३९३
अग्निकर्म	,,
पैत्तिक प्लीहा चिकित्सा	,,
यकृत् ,,	,,
बद्धोदर ,,	,,
छिद्ररोग ,,	,,

विषय	पृष्ठ
जलोदर चिकित्सा	३९३
अन्य ,,	,,
जलोदर में शस्त्र का प्रयोग	३९४
अन्य प्रयोग विधि	,,
जलोदर में अन्य उपाय	,,
जलोदर में वर्ज्य आहार	,,
सर्वोदर-चिकित्सा	,,
पथ्य	,,
उदर रोग में यवाग्वादि	,,
उदर रोग में वर्ज्य	,,
उदर रोग में तक्र	३९५
घातकफादि में तक्र	,,
उदररोग में दूध तथा तक्र का अनुपान	,,

पाण्डुरोगचिकित्सिताध्याय ॥१६॥

विषय	पृष्ठ
पाण्डुरोग में कल्याणघृत	३९५
अन्य घृत	,,
पांडु रोग में वमनादि	,,
अन्य प्रयोग	३९६
नवायस लौह	,,
पांडु रोग में वटिका	,,
मण्डूर वटक	,,
ताप्यादि चूर्ण	,,
कौटजादि गुटिका	३९७
द्राक्षादि अवलेह	,,
अन्य प्रयोग	,,
पाण्डुरोग की सामान्य चिकित्सा	,,
पाण्डुरोग की दोषानुसार ,,	,,
अन्य प्रयोग	,,
पांडुमें मृत्तिकाजन्य दोषकी शांति	,,
केसरादि घृत	३९८
उपायान्तर	,,
दोषानुसार औषध प्रयोग	,,
कामला में पित्तनाशक औषध	,,
कामला में घृत	,,
अन्य ओषधि	,,
चूर्ण	,,
अन्य प्रयोग	,,
अन्य चिकित्सा	,,
कुम्भकामला ,,	३९९
हलीमक ,,	,,
पाण्डुरोग में सूजन की चिकित्सा	,,

श्वयथुचिकित्सिताध्याय ॥ १७ ॥

विषय	पृष्ठ
वातादिदोषज सूजनचिकित्सा	३९९
मन्दाग्नियुक्त शोथचिकित्सा	,,
शोफ पर घृत	४००
अन्य प्रयोग	,,
सूजन में पथ्य	४०१
सूजन पर पेया	,,
अभ्यंजनादि	४०१
एकांग शोफ पर लेप	,,
वातज सूजन की चिकित्सा	,,
पित्तज सूजन ,,	,,
क्वाथादि	,,
कफज सूजन पर तैल	,,
अन्य उपाय	,,
सूजन पर स्नान	४०२
एकांग शोफ में लेप	,,
दोषानुसार शुद्धि	,,
त्रिदोषज शोफचिकित्सा	,,
क्षतोत्थ शोफचिकित्सा	,,
शोफ में वर्जित मांसादि	,,

विसर्पचिकित्सिताध्याय ॥ १८ ॥

विषय	पृष्ठ
विसर्प रोग में लंघनादि	४०३
वमनादि	,,
विरेचनादि	,,
अल्पदोष में शमन विधि	,,
विसर्प में दुरालभादि	,,
विसर्प में रक्तमोक्षण विधि	,,
विसर्प में घृत	,,
विसर्प पर लेपादि	,,
वातविसर्पचिकित्सा	,,
पैत्तिक विसर्पचिकित्सा	,,
पित्तज विसर्प पर लेप	,,
कफज विसर्प पर लेप	,,
कफज तथा पित्तज विसर्प पर सेकादि	४०४
साम वायु में लेप	,,
संसृष्ट दोष में कर्तव्य	,,
अग्निविसर्प चिकित्सा	,,
ग्रन्थिविसर्प ,,	,,
ग्रंथिविसर्प में परिषेक	,,
ग्रन्थिविसर्प में लेपादि	,,
ग्रन्थि-भेदन	,,
ग्रन्थिभेदन का उपाय	,,
ग्रन्थि शान्त न होने पर दाह	४०५
ग्रन्थि में रक्तमोक्षण विधि	,,
व्रण की सामान्य चिकित्सा	,,
रक्तहरण में कारण	,,
विसर्प में घृत निषेध	,,

कुष्ठचिकित्सिताध्याय ॥ १९ ॥

विषय	पृष्ठ
कुष्ठ में स्नेहपान	४०५
वातप्रधान कुष्ठ में तैलादि	,,
पितज कुष्ठ चिकित्सा	,,
पित्तज कुष्ठ में महातिक्तक घृत	४०६
कफप्रधान कुष्ठचिकित्सा	,,
सर्व कुष्ठ ,,	,,
अन्य ,,	,,
कुष्ठ में अभ्यंजन	४०६
कुष्ठ में संशोधनादि	,,
कुष्ठ में शिरावेधन	,,
कुष्ठ में आप्यायन	,,
कुष्ठादि रोग में वज्रक घृत	,,
महावज्रक घृत	,,
वैरेचनिक ,,	४०७
अन्य औषध	,,
कुष्ठ रोग में पथ्य	,,
अन्य उपाय	,,
त्वचा रोग पर काढ़ा	४०८
कुष्ठ रोग में रसायन	,,
पथ्यादि गुटिका	४०९
विडंगादि का प्रयोग	,,
सितादि अवलेह	,,
कुष्ठनाशक चूर्ण	,,
,, अन्य रसायन	,,
,, लेप	,,
,, स्वेदन	,,
,, क्षार	,,
कुष्ठ में विषलेप	४१०
प्रयोगान्तर	,,
कुष्ठनाशक मुस्तादि क्वाथ	,,
,, लेप	,,
,, उद्वर्तन	,,
दद्रुनाशक चूर्ण	,,
सिध्म और श्वित्र पर लेप	४११
अन्य प्रयोग	,,
त्रिपादिका आदि पर लेप	,,
वज्रक तैल	,,
महावज्रक तैल	,,
कच्छू तथा विचर्चिकानाशक तैल	४१२
दद्रु पर लाक्षादि लेप	,,
चित्रकादि छः लेप	,,
पित्तज कुष्ठ पर लेप	,,
कुष्ठों में दोषानुसार विशेष चिकित्सा	,,
कुष्ठ की साध्यता	,,
कुष्ठ में संशोधन	,,
कुष्ठरोगी का वमनादि काल	,,
कुष्ठदोष-हरण	४१३
कुष्ठ में व्रतादि	,,

श्वित्रकृमिचिकित्सिताध्याय ॥ २० ॥

विषय	पृष्ठ
श्वित्र रोग का भयानकत्व	४१३
श्वित्र रोग में शोधनादि	,,
श्वित्र व्रण का भेदन	,,
श्वित्रनाशक कल्क	,,
श्वित्र में गोमूत्र-पान	४१४
श्वित्रनाशक अन्य प्रयोग	,,

विषय पृष्ठ
श्वित्रनाशक लेप ४१४
श्वित्रनाशक भल्लातकादि तैल ,,
कृमिरोग चिकित्सक ४१५
मूर्धगत कृमिचिकित्सा ,,
कृमिनाशक पेया ,,
कृमिनाशकशिरीषादि घृत ,,
कृमिनाशक अवलेह ,,
कृमि रोग में नस्यार्थ चूर्ण ,,
अन्य प्रयोग ,,
कृमिनाशक तैल ,,
पुरीषज कृमिरोग चिकित्सा ४१६
कफज कृमिरोग चिकित्सा ,,
रक्तज कृमिरोग चिकित्सा ,,
कृमि में वर्जनीय ,,

वातव्याधिचिकित्सिताध्याय ॥२१॥

वातव्याधि चिकित्सा ४१६
स्नेहन स्वेदन से लाभ ,,
विरेचन ४१७
वातानुलोमन ,,
दीपन-पाचन-निरूहण ,,
आमाशयगत वायु ,,
अधोनाभिगत ,, ,,
कोष्ठगत ,, ,,
हृदयादिगत ,, ,,
त्वग्गत ,, ,,
रक्तगत ,, ,,
मांस-मेदोगत ,, ,,
अस्थिमज्जागत ,, ,,
शुक्रगत ,, ४१८
गर्भगत ,, ,,
स्नायुगत ,, ,,
वायु से संकुचित शरीर ,,
रक्तस्राव से प्रकुपित वायु ,,
अपतानक-चिकित्सा ,,
अपतानक रोग में नस्यादि ,,
वातनाशक स्नेहन-स्वेदन ,,
शिरोविरेचन विधि ,,
वाताधिक्य में घृत ,,
वातनाशक ,, ,,
विषय पृष्ठ
अन्य विधि ४१९
शुद्ध अपतानक-चिकित्सा ,,
कफयुक्त अपतानक ,, ,,
आयाम-चिकित्सा ,,
असाध्य लक्षण ,,
मन्दवेग-चिकित्सा ,,
हनुस्रंस ,, ,,
जिह्वास्तम्भ चिकित्सा ,,
अर्दितरोग ,, ,,
पक्षाघात और अवबाहुकचिकित्सा ,,
ऊरुस्तम्भ में स्नेहादि का निषेध ४२०
,, ,, लेहादि ,,
अन्य प्रयोग ,,
वाय-शमन-प्रयोग ,,
अन्य प्रयोग ,,
रास्नादि घृत ,,
शिरोगत वायु में नस्य ४२१
अन्य प्रयोग ,,
कफसंयुक्त वातनाशक तैल ,,
प्रसारिणी ,, ,,
सहचरादि ,, ,,
द्वितीय सहचरादि ,, ,,
सर्ववातनाशक बला ,, ४२२
वस्ति प्रयोग ,,

वातशोणितचिकित्सिताध्याय ॥२२॥

वातरक्त चिकित्सा ४२२
वातरक्तमें रुधिर निकालनेकी विधि ४२३
रक्त निकालने का निषेध ,,
वातरक्त में विरेचन ,,
अन्यान्य प्रयोग ,,
पित्तज वातरक्त चिकित्सा ,,
विरेचन ,,
वातरक्त में क्षीरवस्ति ,,
कफोल्वण वातरक्त चिकित्सा ,,
शूलयुक्त वातरक्त ,, ,,
कोकिलाक्ष क्वाथ ४२४
खुडवात चिकित्सा ,,
बाह्य चिकित्सा-कथन ,,
विषय पृष्ठ
ज्वरदाह में प्रयोग ४२४
पिण्डतैल ,,
दशमूलक क्षीर और घृत ,,
महास्नेह ,,
दाहनाशक उपाय ,,
रक्तमोक्षण और लेप ,,
वातरक्तनाशक उपनाहन ,,
अन्यान्य लेप ४२५
कफोत्तर वातरक्तचिकित्सा ,,
वात-कफोत्तर ,, ,,
उत्तान ,, ,,
गम्भीर ,, ,,
दोषानुसार उष्ण या शीत लेप ४२५
मधुयष्ट्यादि तैल ,,
शतपाक-सहस्रपाक-बलातैल ४२६
वातरक्त में स्नेहनादि ,,
प्राणादि-चिकित्सा ,,
सामवात ,, ,,
अङ्गशोषादि ,, ,,
पित्तावृत वायुचिकित्सा ,,
कफावृत ,, ,,
संसृष्ट वायुचिकित्सा ४२७
रक्तसंसृष्ट ,, ,,
मांसावृत ,, ,,
आढ्यवात ,, ,,
अस्थि-मज्जा-शुक्रावृत वायुचिकित्सा ,,
अन्नावृत ,, ,,
मूत्रावृत ,, ,,
वर्चसावृत ,, ,,
सर्वधातुगत ,, ,,
अपानावृत वायुचिकित्सा ,,
सामान्य कर्तव्य ,,
विमार्गगामी वायु का स्वमार्गानयन ,,
लशुन प्रयोग ४२८
पित्तावृत वायुचिकित्सा ,,
रक्तावृत ,, ,,
चिकित्सा का वर्णन ,,
औषध-पर्याय ,,

कल्पसिद्धिस्थान-विषयसूची

विषय पृष्ठ

वमनकल्पाध्याय ॥ १ ॥

वमन-विरेचन की प्रधान ओषधि ४२९
वमन में मैनफल का प्रयोग ,,
मैनफल-सेवन-विधि ,,
अन्य प्रयोग ४३०
वमन में लेहविशेष ,,
अन्य कषाय ,,
मैनफल का फूल सूँघने से वमन ,,
जीमूत का प्रयोग ,,
अन्य प्रयोग ,,
तुम्बी आदि में कल्पना ,,
इक्ष्वाकु (कड़वी तरोई) का प्रयोग ४३१
अन्यान्य प्रयोग ,,
खाँसी तथा हृद्दाह में अवलेह ,,
उन्मादादिनाशक प्रयोग ४३२
क्ष्वेड का प्रयोग ,,
आनूप मांस का प्रयोग ,,
कुटज का प्रयोग ,,
वमन में अन्यान्य ओषधि ,,

विरेचनकल्पाध्याय ॥ २ ॥

निशोथ का स्वरूप ४३२
निशोथ का सर्वव्याधिनाशकत्व ४३३
,, की जड़ के दो भेद ,,
श्यामा त्रिवृत् के लक्षण ,,
असली निशोथ की पहिचान ,,
वातज रोग में निशोथ का प्रयोग ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
सुखविरेचनार्थ निशोथादि चूर्ण ,,
गुल्मादिनाशक निशोथादि अवलेह ,,
कल्याणक गुड ४३४
अविपत्तिकर योग ,,
वर्षाकाल में त्रिवृत्प्रयोग ,,
शरदृतु में विरेचन ,,
हेमन्त में ,, ,,
ग्रीष्म में ,, ,,
सर्वऋतुओं के लिये विरेचन ,,
रूक्ष ,, ,, ,, ,,
राजवृक्ष कल्प ४३५
अमलतास की शोधनविधि ,,
अमलतास की प्रयोगविधि ,,
अन्य प्रयोग ,,
लोध का अवलेह ,,
थूहर के दूध का निषेध और प्रयोग ,,
घी के साथ निशोथादि का पान ४३६
कफरोग चिकित्सा ,,

विषय पृष्ठ

दन्ती तथा द्रवन्ती का गुण और प्रयोग ४३६
त्रिवृतादि की श्रेष्ठता ,,
हरीतकी ,,
हरीतकी मोदक ,,
विरेचक ओषधि का प्रयोग ४३७

वमन-विरेचन-व्यापत्सिद्ध्यध्याय ३

अधोगत वमन में विचार ४३७
ऊर्ध्व विरेचन में उपचार ,,
अयोग्य व्यापत् ,,
अयोग में उपचार ४३८
आध्मान-चिकित्सा ,,
प्रवाहिकादि चिकित्सा ,,
हृद्ग्रह और उसकी चिकित्सा ,,
अतिवमित में हृद्ग्रह का उपाय ,,
सर्वाङ्गग्रह और उसकी चिकित्सा ,,
विरेचनातियोग ,,
वमनातियोग-चिकित्सा ४३९
वाग्ग्रह एवं वातरोग चिकित्सा ,,
जीवादान की परीक्षा ,,
तृष्णादि में प्राणरक्षिणी क्रिया ,,
गुदभ्रंश-चिकित्सा ,,
संज्ञानाश ,, ,,

वस्तिकल्पाध्याय ॥ ४ ॥

सर्वरोगनाशक वस्ति ४४०
निरूहण वस्ति ,,
बलाकि निरूहण ,,
वातकफघ्न वस्तिप्रयोग ,,
पित्तरोगनाशक वस्ति ४४१
कफज रोग में निरूहण ,,
सुकुमारों को निरूहण ,,
वातघ्न मृदु निरूहण ,,
पित्तघ्न ,, ४४२
कफघ्न ,, ,,
शुक्रकारक वस्ति ,,
सिद्धवस्ति वर्णन ,,
माधुतैलिक वस्ति ,,
नेत्रहितकर ,, ,,
यापन ,, ,,
द्वितीय यापन ,, ,,
युक्तरथनामक ,, ,,
दोषनाशक ,, ,,
सिद्ध ,, ,,
कफादिनाशक वस्ति ,,
वातरक्तादिनाशक यापना वस्ति ४४३
शुक्रवर्धक ,, ,,
बलवीर्यवर्धक ,, ,,

विषय पृष्ठ

तीतर आदि के मांस की वस्ति ४४३
गोधादि ,, ,, ,,
स्नेह ,, ,, ,,
आनूप जीवों की चर्बी की ,, ४४४
तैल ,, ,,
घृत ,, ,,
कफघ्न तैल ,, ,,
तीक्ष्णादि ,, ,,
सिद्धवस्ति का फल ,, ४४५
वस्ति-योजना का प्रकार ,,
बृंहण तथा शोधन के योग्यायोग्य ,,

वस्तिव्यापत्सिद्ध्यध्याय ॥ ५ ॥

विबन्ध और गौरवव्यापत् ४४५
वस्ति में आध्मान ,, ,,
ऊर्ध्ववात ,, ४४६
वस्ति का अतियोग ,,
परिस्रव व्यापत् ,,
वाताद्यावृत के कारण ४४७
वातावृत स्नेहवस्ति ,,
पित्तावृत ,, ,,
कफावृत ,, ,,
अत्यशनावृत ,, ,,
पुरीषावृत ,, ,,
अभुक्त एवं गुदशोथ में स्नेहवस्ति ,,
आमदत्त स्नेह ४४८
प्रणयनदोष वायुयुक्त वस्ति ,,
अतिशीघ्र और उत्क्षिप्त ,, ,,
पीड्यमान वस्ति का खुलना ,,
अति प्रपीडित वस्ति ,,
वमनादिसे शोधनके बाद सावधानी ,,

द्रव्यकल्पाध्याय ॥ ६ ॥

उत्तम भेषज के लक्षण ४४९
ओषधि लाने की प्रक्रिया ,,
कषाय-योनि प्रक्रिया ,,
स्वरस आदि के लक्षण ,,
उक्त स्वरसादि की योजना ,,
स्वरस और कल्कादिका मध्यप्रमाण ४५०
क्वाथ, शीतकषाय, फाण्ट तथा स्नेहपाक का प्रमाण ,,
उपर्युक्त में शौनक का मत ,,
स्नेहपाक के तीन भेद ,,
स्नेह तथा लेहपाक के लक्षण ,,
मानसंज्ञा ,,
कच्चे सूखे द्रव्यों का मान ,,
अनुक्त द्रव में जल ,,
अनुक्त परिमाण में समभागत्व ४५१
वटकादि की संज्ञा ,,
पर्वतभेद से द्रव्यगुण ,,

उत्तरस्थान-विषयसूची

विषय पृष्ठ

बालोपचरणीयाध्याय ॥ १ ॥

सद्यःप्रसूत शिशु का शोधन ४५२
शिशु के कान में पढ़ने का मंत्र ,,
सद्यःप्रसूत शिशु का नालच्छेदन ,,
तात्ववगुण्ठन विधि ,,
सुवर्णादिप्रासन विधि ,,
गर्भजलनिस्सारण विधि ४५३
जातकर्म ,,
स्तन्यप्रवर्तन में हेतु ,,
शिशु को प्रथम-द्वितीय दिन में मधु-घृत-प्राशन ,,
उत्तम स्तन्य ,,
स्तन्य के न्यूनाधिक होने में कारण ,,
रोगोत्पादक दूध ,,
छठी रात का विधान ,,
दसवें दिन नामकरण ४५४
आयु की परीक्षा ,,
शिशु द्वारा धारणीय द्रव्य ,,
भूम्युपवेशन और अन्नप्राशन का समय ,,
कर्णवेध का समय ,,
कर्णवेध की रीति तथा पश्चात्कर्त्तव्य ,,
स्तन्य छुड़ाने का क्रम ४५५
शिशु का पथ्य मोदक ,,
शिशु-चिकित्सा ,,
शिशु को त्रासन निषेध ,,
वस्त्रादि द्वारा शिशुरक्षण ,,
शिशुकल्याणक घृत ,,
अष्टाङ्ग ,, ,,
सारस्वत ,, ,,
वचादि ,, ,,
सुवर्णयुक्त चार योग ४५६
वचादि चूर्ण ,,

बालामयप्रतिषेधाध्याय ॥ २ ॥

तीन प्रकार के शिशु ४५६
शुद्ध स्तन्य की परीक्षा ,,
वातादि से दूषित दुग्ध का लक्षण ,,
दो या तीन दोषों से दूषित दुग्ध का लक्षण ,,
वातादि दूषित दुग्धपान से रोग ,,
शिशुरुदन से पीड़ा का ज्ञान ,,
बालक की चेष्टा से पीड्यमान स्थान का ज्ञान
शिशुरोग चिकित्सा ४५७
पित्तदूषित स्तन्य की चिकित्सा ,,
कफ ,, ,, ,,
क्षीरालसक के लक्षण ,,
,, की चिकित्सा ,,
दन्तोद्भेदज रोग ४५८
बालरोग-चिकित्सा ,,
शिशुदन्त-निस्सारण विधि ,,
दन्तोद्भेदक घृत ,,
रजन्यादिचूर्ण ,,
काश्यप घृत ,,
दन्तोद्भवरोग में पथ्यादि का अनियम ४५९
बालशोष ,,
,, की चिकित्सा ,,
शिशुशोषनाशक घृत ,,
शोषनाशक तैल ,,
लाक्षादि ,, ,,
खांसी-ज्वरादि का नाशक अतिविषादि चूर्ण ४६०
शिशु के वमन में चिकित्सा ,,
सदन्तजात तथा दुष्टदन्त शिशु की शान्ति ,,
तालुकण्टक के लक्षण और चिकित्सा ,,
अहिपूतन ,, ,, ,,
मिट्टी खाने से उत्पन्न शिशुरोग की चिकित्सा ४६१
अन्य रोगों में औषधप्रयोग विधि ,,

बालग्रहप्रतिषेधाध्याय ॥ ३ ॥

बालग्रहोत्पत्ति ४६१
ग्रहों की संज्ञा ,,
ग्रहजुष्ट के पूर्वरूप तथा सामान्य लक्षण ,,
स्कन्दग्रहजुष्ट के लक्षण ४६२
स्कन्दापस्मार (विशाख) के लक्षण ४६२
नैगमेषग्रहजुष्ट ,, ,,
श्वग्रहजुष्ट ,, ,,
पित्तग्रहजुष्ट ,, ,,
शकुनिग्रहजुष्ट ,, ,,
पूतनाग्रहजुष्ट ,, ,,
शीतपूतनाग्रस्त ,, ,,
अन्धपूतनाग्रस्त ,, ४६३
मुखमण्डितापीडित ,, ,,
रेवतीग्रहपीडित ,, ,,
शुष्करेवतीग्रहपीडित ,, ,,
असाध्य लक्षण ,,
ग्रहों के आक्रमण के कारण ,,
हिंसात्मक ग्रह के लक्षण ,,
रतिकामग्रहपीडित ,, ,,
पूजकामी ग्रह के लक्षण तथा चिकित्सा ,,
परिषेक और धूपन-विधि ४६४
अन्यप्रयोग ,,
बालहितकारी घृत ,,
बालग्रहनाशक घृत ४६४
,, ,, धूप ,,
भूतविद्या के द्रव्य ४६५
स्नानार्थ जल ,,
अन्य उपचार ,,

भूतविज्ञानीयाध्याय ॥ ४ ॥

भूतग्रह के लक्षण ४६५
भूतों के अठारह भेद ,,
भूतानुषङ्ग में कारण ,,
ग्रहों से गृहीत होने के अवसर ,,
भूतग्रहण का समय ४६६
देवों से गृहीत होने के लक्षण ,,
दैत्यग्रह ,, ,,
गन्धर्व ,, ,,
सर्पग्रह ,, ,,
यक्षग्रह ,, ,,
ब्रह्मराक्षस ,, ४६७
राक्षस ,, ,,
पिशाच ,, ,,
प्रेत ,, ,,
कूष्माण्ड ,, ,,
निषाद ,, ,,
औकिरण ,, ,,
वेताल ,, ,,
पितृग्रह ,, ,,
सामान्य लक्षण ४६८
ग्रहगृहीत का असाध्य लक्षण ,,

भूतप्रतिषेधाध्याय ॥ ५ ॥

भूतग्रह चिकित्सा ४६८
ग्रहभूतनाशक हिंग्वादियोग ,,
भूतग्रहनाशक नस्य ,,
सिद्धार्थक घृत ,,
सिद्धार्थकादि अगद ४६९
कार्पासबीजादि धूप ,,
भूतराव घृत ,,
महाभूतरावघृत ,,
ग्रहबलिकर्म का दिग् ४७०
ग्रहों के बल्यर्थ द्रव्य ,,
ग्रहों को बलि देने योग्य स्थान ,,
देव-ग्रहों के बल्यर्थ द्रव्य ,,
देवग्रहनाशक हिंग्वादिघृत ,,
,, नस्य तथा अंजन ,,
दैत्यों को बलि देने योग्य द्रव्य ,,
नागग्रहों के बल्यर्थ द्रव्य तथा नस्यांजन ,,
यक्षग्रहों की बलि तथा नस्यांजन ,,
ब्रह्मराक्षसों की बलि ४७१

विषय पृष्ठ
ब्रह्मराक्षस भयनाशक घृत ४७१
राक्षसग्रहों की बलि ,,
करञ्जादि अगद ,,
पिशाचग्रहों की बलि ,,
देवर्ष्यादि ग्रहों में तीक्षण नस्यादि वर्ज्य ,,
ग्रहशमन की सामान्य विधि ,,

उन्मादप्रतिषेधाध्याय ॥ ६ ॥

उन्माद के भेद और निरुक्त ४७२
उन्माद की सम्प्राप्ति ,,
वातोन्माद के लक्षण ,,
पित्तोन्माद के ,, ,,
कफोन्माद ,, ,,
त्रिदोषजोन्माद ,, ४७३
शोकादिजोन्माद ,, ,,
विषोन्माद ,, ,,
वातोन्माद-चिकित्सा ,,
उन्मादादिनाशक हिंग्वादिघृत ,,
ब्राह्मीघृत ,,
कल्याणघृत ,,
महाकल्याणघृत ४७४
महापैशाचिकघृत ,,
उन्मादनाशक वर्ति ,,
उन्मादनाशक धूपन ,,
पैत्तिक उन्माद की चिकित्सा ,,
उन्मादों में त्रासनादि ४७५
शोकादिजनित उन्माद की चिकित्सा ,,
भूतोन्माद की चिकित्सा ,,
भूतोन्माद में बलि ,,

अपस्मारप्रतिषेधाध्याय ॥ ७ ॥

अपस्मार की निरुक्ति, सम्प्राप्ति और भेद ४७६
अपस्मार के पूर्वरूप ,,
वातज अपस्मार ४७७
पित्तज ,, ,,
कफज ,, ,,
सन्निपातज ,, ,,
अपस्मार चिकित्सा ,,
वातजादि अपस्मार शोधन चिकित्सा ,,
अपस्मार शमन-चिकित्सा ,,
अपस्मारादिनाशक पञ्चगव्य घृत ,,
महापञ्चगव्य घृत ,,
ब्राह्मीघृत ४७८
यमकस्नेह ,,
वात-पित्तज अपस्मारनाशक घृत ,,
अपस्मारनाशक सामान्य चिकित्सा ,,

वर्त्मरोगविज्ञानीयाध्याय ॥ ८ ॥

नेत्ररोग की सम्प्राप्ति ४७९
कृच्छ्रोन्मीलन के लक्षण ,,
निमेषरोग ,, ,,
वातहत-वर्त्म ,, ,,
विषय पृष्ठ
कुम्भीपिटिका के लक्षण ४७९
पित्तोत्क्लिष्टवर्त्म ,, ,,
पक्ष्मशात ,, ,,
पोथकी ,, ,,
कफोत्क्लिष्ट रोग ,, ,,
लक्षणरोग ,, ,,
उत्संग ,, ,,
उत्क्लिष्ट ,, ,,
वर्त्मार्श ,, ४८०
अञ्जननामिका ,, ,,
बिस वर्त्म ,, ,,
उत्क्लिष्ट ,, ,, ,,
श्याव ,, ,, ,,
श्लिष्ट ,, ,, ,,
सिकता ,, ,, ,,
कर्दम तथा बहल रोग के लक्षण ,,
कुकूणक के लक्षण ,,
पक्ष्मोपरोध ,, ,,
अलजी नामक ग्रन्थि ,,
अर्बुद के लक्षण ,,
वर्त्मरोगों का साध्यासाध्यत्व ,,

वर्त्मरोगप्रतिषेधाध्याय ॥ ६ ॥

कृच्छ्रोन्मीलन चिकित्सा ४८१
कुम्भीकावर्त्म ,, ,,
वर्त्मलेखन रीति ,,
सम्यक् लिखित वर्त्म के लक्षण ,,
अतिलेखन के दोष ,,
,, की चिकित्सा ,,
कठोर-पिटिका ,, ४८२
पित्तरक्तोत्क्लिष्ट ,, ,,
पक्ष्मशात ,, ,,
पोथकी ,, ,,
कफोत्क्लिष्ट ,, ,,
लगण ,, ,,
कुकूणक ,, ,,
पक्ष्मरोध ,, ४८३

सन्धिसितासितरोगविज्ञानीयाध्याय॥

सन्धिगत रोग ४८३
जलास्रव के लक्षण ४८४
कफास्रव ,, ,,
उपनाह ,, ,,
रक्तास्रव ,, ,,
पर्वणी ,, ,,
पूयास्रव ,, ,,
पूयालसक ,, ,,
अलजी ,, ,,
कृमिग्रंथि ,, ,,
सन्धिगत रोगों की साध्यासाध्यता ,,
श्वेतमण्डल के रोग ,,
शुक्तिका के लक्षण ,,
शुक्रार्म ,, ,,
विषय पृष्ठ
बलासक ग्रथित के लक्षण ४८५
पिष्टक ,, ,,
सिरोत्पात ,, ,,
सिराहर्ष ,, ,,
सिराजाल ,, ,,
शोणितार्म ,, ,,
अर्जुन रोग ,, ,,
प्रस्तार्यर्म ,, ,,
अस्थिमांसार्म के लक्षण ,,
सिरासंज्ञक रोग ,, ,,
श्वेतमण्डल के रोगों की साध्यासाध्यता ,,
कृष्णमण्डल के रोग ,,
शुक्र के लक्षण ,,
विशुद्ध (अव्रण) शुक्र के लक्षण ,,
अजका ४८६
सिराशुक्र ,, ,,
असाध्य शुक्र ,, ,,
अन्य असाध्य ,, ,,

सन्धिसितासितरोगप्रतिषेधांध्याय ११

उपनाह-चिकित्सा ४८६
पर्वणीरोग ,, ,,
पूयालस ,, ,,
कृमिग्रन्थि ,, ४८७
शुक्तिका ,, ,,
पिष्टिका ,, ,,
नेत्र की सूजन तथा खुजली में ,,
रक्तोत्पातादि रोगों की चिकित्सा ,,
अर्मरोग चिकित्सा ,,
अर्मरोग में छेदन-विधि ,,
छेदन के पश्चात् औषध-प्रयोग ,,
अञ्जन ४८८
लेखन-अञ्जन ,,
सिराजाल-चिकित्सा ,,
शुक्र चिकित्सा ,,
क्षतशुक्र चिकित्सा ,,
निम्न तथा शुद्ध शुक्र-चिकित्सा ,,
महानीलागुटिका ४८९
शल्ययुत शुक्र की चिकित्सा ,,
सिराशुक्र की चिकित्सा ,,
अजका ,,

दृष्टिरोगविज्ञानीयाध्याय ॥ १२ ॥

प्रथमपटलगत दोष ४९०
द्वितीय ,, ,, ,,
तृतीय ,, ,, ,,
चतुर्थ ,, ,, ४९१
वात, तिमिर और लिङ्गनाश के लक्षण ,,
गम्भीरा दृष्टि ,, ,,
पैत्तिक तिमिर, लिङ्गनाश और विदग्ध दृष्टि ,, ,,
कफज तिमिर और लिङ्गनाश ,, ,,

विषय पृष्ठ
संसर्गज तथा सन्निपातज लिङ्गनाश ४९१
नकुलान्ध के लक्षण ४९२
दोषान्ध ,, ,,
उष्णविदग्धा दृष्टि ,, ,,
अम्ल ,, ,, ,,
धूमर रोग ,, ,,
औपसर्गिक लिङ्गनाश ,, ,,
लिङ्गनाश रोग की साध्यासाध्यता ,,

तिमिरप्रतिषेधाध्याय ॥ १३ ॥

तिमिर रोग की चिकित्सा ४९२
जीवन्त्यादि घृत ४९३
द्राक्षादि ,, ,,
पटोलादि ,, ,,
त्रिफलादि ,, ,,
महात्रिफलादि ,, ,,
तिमिरनाशक योग ,,
,, चूर्णाञ्जन ४९४
तिमिरादिनाशक विविध अञ्जन ,,
भास्कराञ्जय ,,
तुत्थाञ्जन ४९५
अञ्जन लगाने की शलाका ,,
नयनामृताञ्जन ,,
गृध्रशिरोञ्जन ,,
कृष्णसर्पमुखदग्धाञ्जन ,,
कुक्कुटविडञ्जन ,,
सर्पवसाद्यञ्जन ,,
अप्रतिसाराञ्जन ,,
बिभीतकाञ्जन ,,
षण्मासिक योग ,,
दृष्टिवर्धक नस्य ४९६
तिमिर की सामान्य चिकित्सा ,,
वातजतिमिरनाशक घृत ,,
जीवन्त्यादि तैल ,,
तिमिरनाशक प्रत्यञ्जन ,,
नेत्रतर्पण योग ,,
पित्तजतिमिरचिकित्सा ४९७
पित्तजतिमिरनाशक अञ्जन ,,
कफजतिमिरनाशक विरेचन ,,
कफजतिमिरनाशक नस्य ,,
विमलावर्ति और कोकिलावर्ति ,,
दन्तवर्ति ,,
द्राक्षादिवर्ति ,,
त्रिदोषजतिमिरनाशक योग ४९८
काच रोग में सिरावेधन का निषेध ,,
काचरोग यापन अञ्जन ,,
नकुलान्धचिकित्सा ,,
रात्र्यन्ध (रतौंधी) की चिकित्सा ,,
धूमादि रोग चिकित्सा ४९९

लिङ्गनाशप्रतिषेधाध्याय ॥ १४ ॥

कफज लिङ्गनाश में कर्तव्य ४९९
अपक्व लिङ्गनाश ५००
विषय पृष्ठ
आवर्तकी, शर्करा आदि लिङ्गनाश के उपद्रव ५००
लिङ्गनाश के विद्ध करने की रीति ,,
लिङ्गनाश वेधन के पश्चात् वर्ज्यकर्म ५०१
बाद के नियम ,,
उपद्रवानुसार चिकित्सा ,,
पिण्डाञ्जन ,,

सर्वाक्षिरोगविज्ञानीयाध्याय ॥ १५ ॥

वातज नेत्राभिष्यन्द के लक्षण ५०२
वाताधिमंथ ,, ,,
हताधिमंथ ,, ,,
अन्यतोवात ,, ,,
वातपर्यय ,, ,,
पित्ताभिष्यन्द ,, ,,
पित्ताधिमंथ ,, ,,
कफज नेत्राभिष्यन्द ,, ,,
कफाधिमंथ ,, ५०३
रक्तज नेत्राभिष्यन्द ,, ,,
रक्ताधिमंथ ,, ,,
शुष्काक्षिपाक ,, ,,
सशोफ अक्षिपाक ,, ,,
अक्षिपाकात्यय ,, ,,
अम्लोषित रोग ,, ,,
साध्यासध्यता ,, ,,

सर्वाक्षिरोगप्रतिषेधाध्याय ॥ १६ ॥

नेत्राभिष्यन्द के पूर्वरूप में कर्तव्याकर्तव्य ५०४
नेत्राभिष्यन्द की सामान्य चिकित्सा ,,
वातज अभिष्यन्द की चिकित्सा ,,
नेत्ररागनाशक पोटली ,,
नेत्राभिष्यन्दनाशक कुलथी का अञ्जन ,,
नेत्रपीडानाशक विविध ओषधि ,,
अभिष्यन्द पर सेचन ५०५
रक्तपित्तज अभिष्यन्द पर पोटली ,,
कफज अभिष्यन्द चिकित्सा ,,
नेत्रशूलनाशक प्रयोग ,,
नेत्राधिमंथ की विशेष चिकित्सा ,,
पाशुपत योग ५०६
शुष्काक्षिपाकरोग चिकित्सा ,,
सशोथ और अल्पशोथ नेत्रपाक की चिकित्सा ,,
संधाव नामक औषध के विविध योग ,,
अम्लोषित चिकित्सा ५०७
पिल्ल रोग के लक्षण ,,
पिल्लरोगि चिकित्सा ,,
स्वस्थ नेत्र में पथ्य ५०८

कर्णरोगविज्ञानीयाध्याय ॥ १७ ॥

वातज कर्णशूल का लक्षण ५०९
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
विषय पृष्ठ
रक्तज कर्णशूल का लक्षण ५०९
सन्निपातज ,, ,, ,,
कर्णनादरोग के ,, ,,
वधिरत्व की सम्प्राप्ति ,,
प्रतिनाह के लक्षण ,,
कण्डू तथा शोफ के लक्षण ,,
पूतिकर्णक के ,, ,,
कृमिकर्णक के ,, ,,
कर्णविद्रधि के ,, ,,
कर्णार्श तथा कर्णार्बुद के ,, ५१०
कुचकर्णक के ,, ,,
कर्णपिप्पली के ,, ,,
विदारिका के ,, ,,
पालीशोष के ,, ,,
तन्त्रिका के ,, ,,
परिपोट के ,, ,,
उत्पात के ,, ,,
उन्मन्थ या गल्लिर ,, ,,
दुःखवर्धन के ,, ,,
लेह्या के ,, ,,
साध्यासाध्यता ,,

कर्णरोगप्रतिषेधाध्याय ॥ १८ ॥

वातज कर्णशूलचिकित्सा ५११
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
रक्तज ,, ,, ५१२
पक्व कर्ण की चिकित्सा ,,
कर्णस्रावनाशक प्रयोग ,,
कर्णनाद और बाधिर्य रोग की चिकित्सा ,,
क्षार तैल ,,
असाध्य बाधिर्य ५१३
कर्णप्रतिनाह चिकित्सा ,,
कर्णमलादि चिकित्सा ,,
पूतिकर्णादि ,, ,,
कर्णविद्रधि ,, ,,
कर्णविदारिका ,, ,,
पालीशोषादि ,, ,,
उत्पात ,, ,,
उन्मन्थ ,, ५१४
दुर्विद्ध ,, ,,
परिलेहिका ,, ,,
छिन्नकर्णपाली ,, ,,
कर्णसन्धानविधि ,,
कर्णवर्धक स्नेह ,,
नासासन्धान विधि ५१५
सद्यश्छिन्न नासिका और ओष्ठ का सन्धान ,,

नासारोगविज्ञानीयाध्याय ॥ १९ ॥

प्रतिश्याय के हेतु ५१५

विषय पृष्ठ
वातज प्रतिश्याय के लक्षण ५१५
पित्तज ,, ,, ५१६
कफज ,, ,, ,,
त्रिदोषज ,, ,, ,,
रक्तज ,, ,, ,,
दुष्ट ,, ,, ,,
पक्व ,, ,, ,,
भृशक्षव रोग के लक्षण ,,
नासिकाशोष ,, ,,
नासानाह ,, ,,
नासिकापाक ,, ,,
नासास्राव ,, ,,
अपीनस ,, ५१७
नासादीप्ति ,, ,,
पूतिनास ,, ,,
पूयरक्तरोग ,, ,,
पुटरोग ,, ,,
नासार्बुदादि ,, ,,

नासारोगप्रतिषेधाध्याय ॥ २० ॥

नासारोग की सामान्य चिकित्सा ५१७
पीनसादिरोगनाशक व्योषादि वटी ५१८
प्रतिश्यायनाशक धूम्रपान ,,
वातज प्रतिश्याय चिकित्सा ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
सन्निपातज ,, ,, ,,
दुष्ट ,, ,, ,,
पीनसरोगनाशक धूम्रपान ,,
क्षवथु और पुटक की चिकित्सा ,,
नासाशोष तथा नासानाह
की चिकित्सा ५१९
नासापाकादि की चिकित्सा ,,
पूयरक्त ,, ,,

मुखरोगविज्ञानीयाध्याय ॥ २१ ॥

मुखरोग के कारण ५१९
खडौष्ठ रोग के लक्षण ,,
वातज ओष्ठरोग के लक्षण ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ५२०
सन्निपातज ओष्ठरोग के लक्षण ,,
रक्तज ,, ,, ,,
मांसज ,, ,, ,,
मेदोज ,, ,, ,,
क्षतज ,, ,, ,,
जलार्बुद ,, ,,
गण्डालजी ,, ,,
शीतदन्त या दालान ,, ,,
दन्तहर्ष ,, ,,
दन्तभेद और दन्तचाल के लक्षण ,,
करालदन्त के लक्षण ,,
अधिदन्त ,,
विषय पृष्ठ
दन्तशर्करा के लक्षण ५२०
कपालिका ,, ५२१
श्यावदन्त ,, ,,
कृमिदन्त ,, ,,
शीताद ,, ,,
उपकुश ,, ,,
दन्तपुप्पुट ,, ,,
दन्तविद्रधि ,, ,,
सुषिर तथा महासुषिर के लक्षण ,,
अधिमांस के लक्षण ,,
विदर्भ ,, ,,
दन्तनाडी ,, ,,
जिह्वारोग ,, ५२२
जिह्वालसरोग ,, ,,
अधिजिह्वा ,, ,,
उपजिह्वा ,, ,,
तालुपिटिका ,, ,,
गलशुण्डिका ,, ,,
तालुसंहति ,, ,,
तात्वर्बुद ,, ,,
तालुकच्छप ,, ,,
पुप्पुट के लक्षण ,,
तालुपाक तथा तालुशोष के लक्षण ,,
रोहिणी के लक्षण ,,
वातज रोहिणी ,, ५२३
पित्तज रोहिणी ,, ,,
कफ रक्त तथा सन्निपात
जन्य रोहिणी ,, ,,
कण्ठशालूक के लक्षण ,,
वृन्द ,, ,,
तुण्डकेरिका ,, ,,
गलौघ ,, ,,
वलय ,, ,,
गिलायुक ,, ,,
शतघ्नी ,, ,,
गलविद्रधि ,, ,,
गलार्बुद ,, ,,
गलगण्ड ,, ,,
वाजत गलगण्ड ,, ५२४
कफज गलगण्ड ,, ,,
मेदोज गलगण्ड ,, ,,
स्वरघ्न रोग ,, ,,
मुखपाक ,, ,,
उर्ध्वगुद ,, ,,
पित्तज मुखपाक ,, ,,
कफज-त्रिदोषज मुखपाक के लक्षण ,,
पूतिवक्त्रता के लक्षण ,,
असाध्य मुखरोग ,, ,,

मुखरोगप्रतिषेधाध्याय ॥ २२ ॥

खण्डौष्ठ चिकित्सा ५२५
वातज ओष्ठरोग ,,
विषय पृष्ठ
पित्तज तथा रक्तज ओष्ठरोग की
चिकित्सा ५२५
कफज ओष्ठरोग की चिकित्सा ,,
मेदोज ,, ,, ,,
जलार्बुद ,, ,,
गण्डस्थ अलजी की ,, ,,
शीतदन्त की ,, ,,
दन्तहर्ष और दन्तभेद की चिकित्सा ५२६
दाँतों के हिलने पर उपाय ,,
अधिदन्त चिकित्सा ,,
दन्तशर्करा ,, ,,
दन्तकपालिका ,, ,,
कृमिदन्त ,, ,,
दन्तशूल ,, ,,
दाँत निकालने के अयोग्य मनुष्य ,,
शीतादरोग चिकित्सा ५२७
उपकुशरोग ,, ,,
पुप्पुट रोग ,, ,,
दन्तविद्रधि ,, ,,
दन्तसुषिर ,, ,,
अधिमांस ,, ,,
विदर्भ ,, ,,
दन्तानाडी ,, ,,
वातज जिह्वाकण्टक चिकित्सा ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ५२८
नूतनजिह्वालस ,, ,,
अधिजिह्वा ,, ,,
उपजिह्वा ,, ,,
गलशुण्डिका ,, ,,
गलशुण्डिका छेदन के बाद कर्तव्य ,,
तालुपाक रोग चिकित्सा ,,
तालुशोष ,, ,,
कण्ठरोग की सामान्य-चिकित्सा ,,
वातरोहिणी ,, ,,
पित्तज, रक्तज रोहिणी ,, ,,
कफजरोहिणी ,, ,,
वृन्दादिरोग ,, ,,
विद्रधि ,, ,,
वातजगलगण्ड ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
मेदोज ,, ,, ५३०
मुखपाक ,, ,,
वातज मुखपाक ,, ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
सन्निपातज ,, ,, ,,
अर्बुद ,, ,,
पूतिमुख ,, ,,
मुखरोग की सामान्य ,,

विषय पृष्ठ
मुखरोगनाशक खदिरादि गुटिका ५३१
मुखरोगनाशक अरिमेदादि तैल ,,
मुखरोगनाशक कालक चूर्ण ५३२
मुखरोनाशक पीतक चूर्ण ,,
गलरोगनाशक गुटिका ,,
हरीतकी सेवन ,,
मुखरोगनाशक कषाय ,,
मुखपाकनाशक प्रयोग ,,
दन्तदृढीकारक गण्डूष ,,
मुख रोग में रक्तस्राव ,,
संशोधन ,,
पथ्य ,,
गलरोगों के उपाय में शीघ्रता ,,

शिरोरोगविज्ञानीयाध्याय ॥ २३ ॥

शिरोरोग के कारण ५३३
वातज शिरोरोग के लक्षण ,,
अर्धावभेदक शिरोरोग के लक्षण ,,
पित्तज शिरोभिताप ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
रक्तज ,, ,, ,,
सन्निपातज ,, ,, ,,
कृमिजन्य ,, ,, ,,
शिरःकम्प ,, ५३४
पित्तप्रधान दोषों ,, ,,
सूर्यावर्त ,, ,,
उपशीर्षक ,, ,,
कपालपिटिकादि ,, ,,
अरुंषिका ,, ,,
दारुणक ,, ,,
इन्द्रलुप्त ,, ,,
खलति ,, ,,
वातज खलति ,, ५३५
पलित का कारण ,,
पलित के दोषानुसार लक्षण ,,
शिरोरोगज पलित के ,, ,,
साध्यासाध्यता ,,

शिरोरोगप्रतिषेधाध्याय ॥ २४ ॥

वातजशिरोभिताप चिकित्सा ५३५
शिरोरोगनाशक नस्यादि ,,
रक्तपित्तज शिरोरोग ५३६
अर्धावभेदक का यत्न ,,
सूर्यावर्त की चिकित्सा ,,
पित्तज शिरोभिताप की चिकित्सा ,,
रक्तज ,, ,, ,,
कफज तथा सन्निपातज शिरोभिताप चिकित्सा ,,
कृमिजन्य शिरोभिताप चिकित्सा ,,
कृमिनाशक नस्य ,,
शिरःकम्प चिकित्सा ,,
उपशीर्षक ,, ,,

विषय पृष्ठ
विद्रध्यादि चिकित्सा ५३६
अरुंषिका ,, ,,
दारुणक ,, ५३७
इन्द्रलुप्त ,, ,,
खलत्यादिरोग चिकित्सा ,,
पलितरोगनाशक नील्यादि तैल ,,
पलितरोगनाशक नस्य ,,
अन्यान्य औषध ५३८
मायूर घृत ,,
महामायूर घृत ,,
अन्य प्रयोग ५३९
रोगसंख्या ,,
उक्त चिकित्सा में शीघ्रता ,,
उपदेश ,,

व्रणविज्ञानप्रतिषेधाध्याय ॥ २५ ॥

दो प्रकार के व्रण ५३९
दुष्टव्रण के लक्षण ,,
वातव्रण के ,, ,,
पित्तव्रण ,, ५४०
कफव्रण ,, ,,
रक्तव्रण ,, ,,
संसर्गजादिव्रण ,, ,,
शुद्धव्रण ,, ,,
दुःसाध्यव्रण ,, ,,
सुखसाध्यव्रण ,, ,,
कष्टसाध्यव्रण ,, ,,
असाध्यव्रण ,, ,,
साध्य व्रण की असाध्यता ,,
व्रण भरने के लक्षण ५४१
व्रणशोफ चिकित्सा ,,
रक्त निकालने की आवश्यकता ,,
रक्तस्राव के पश्चात् लेपादि ,,
उपनाह स्वेद ,,
मन्दवेदना से स्वेदादि ,,
सूजन पर उपनाहादि ,,
उपनाह में सत्तू का गोला ५४२
मत्पीडन और दारण ,,
दारणलेप ,,
दुष्टव्रणों में प्रयोग ,,
व्रणशोधनकारक योग ,,
वातज व्रणों में धूपन ,,
पित्तज व्रणों में लेप ,,
शुष्क व्रणों पर उत्सादन ,,
अवसादन ,,
क्षारकर्म ५४३
अग्निकर्म ,,
रोपण योग ,,
त्वचाशुद्धकारक लेप ,,
रोमोद्भव लेप ,,
व्रणरोगियों का पथ्यापथ्य ५४४
वाताधिक्य में वातनाशक योग ,,

विषय पृष्ठ
जात्यादि घृत ५४४

सद्योव्रणप्रतिषेधाध्याय ॥ २६ ॥

सद्योव्रण के आठ भेद और उनके लक्षण ५४४
सद्योव्रणचिकित्सा ,,
घृष्टादि व्रणों की विशेष चिकित्सा ५४५
नेत्र के सद्योव्रण की चिकित्सा ,,
नेत्र के अन्य अभिधान ,,
कान में सद्योव्रण की चिकित्सा ,,
कटी ग्रीवा का यत्न ,,
हस्तादि के सद्योव्रण की चिकित्सा ,,
अण्डकोश के सद्योव्रण की चिकित्सा ५४६
छिन्नाङ्ग की चिकित्सा ,,
विद्ध और विदलित में क्रिया ,,
गहरे घावों की चिकित्सा ,,
भिन्नकोष्ठ के लक्षण ,,
आमाशयगत रक्त के लक्षण ,,
पक्वाशयगत रक्त के लक्षण ,,
शिराओं द्वारा आमाशयगत रक्त के लक्षण ,,
असाध्य लक्षण ,,
आमाशयस्थ रक्तचिकित्सा ५४७
निकली हुई आँतों को बैठाना ,,
मेदोवर्ति के निकलने पर कर्तव्य ,,
तालीसादि तैल ५४८
गूढाभिघात चिकित्सा ,,

भङ्गप्रतिषेधाध्याय ॥ २७ ॥

अस्थिभङ्ग के दो भेद और लक्षण ५४८
दुःसाध्य अस्थिभङ्ग ,,
असाध्य अस्थिभङ्ग ,,
अस्थिभग्न की चिकित्सा ५४९
शिथिल तथा गाढ़ संधिबन्ध ,,
गृष्टिक्षीरपान ,,
व्रणयुक्त अस्थिभग्न चिकित्सा ,,
संधि की स्थिरता का काल ५५०
कटी आदि के भग्न होने पर उपचार ,,
पट्टी खोलने की विधि ,,
असंधिभङ्ग (कांडभग्न) में विशेष कर्तव्य ,,
भग्न में स्नेह का प्रयोग ,,
अस्थिभग्न में निषिद्ध द्रव्य ,,

भगन्दरप्रतिषेधाध्याय ॥ २८ ॥

भगन्दर के लक्षण ५५१
भगन्दर के आठ भेद ,,
भगन्दरपिटिका के लक्षण ,,
वाजत भगन्दर पिटिका ,,
पित्तज भगन्दर पिटिका ,,
कफज तथा संसर्गजादि भगन्दर पिटिका ५५२
भगन्दर की सम्प्राप्ति ,,
शतपोनक के लक्षण ,,

विषय पृष्ठ
उष्ट्रग्रीव परिस्रावी भगन्दर के लक्षण ५५२
परिक्षेपी भगन्दर के लक्षण ,,
ऋजु ,, ,, ,,
अर्श ,, ,, ,,
शम्बुकावर्त भगन्दर ,, ,,
उन्मार्गी या क्षतज भगन्दर ,,
भगन्दर में वेदनादि ,,
साध्यासाध्यता ,,
पिटिका के न पकने का प्रयत्न ५५३
अन्तर्मुख, बहिर्मुख भगन्दर की चि० ,,
शतपोनक भगन्दर का यत्न ,,
परिक्षेपी ,, ,, ,,
अर्श तथा भगन्दर की चिकित्सा ,,
भगन्दरों में छेदनभेद उनके लक्षण ,,
भगन्दर में अग्निदाह विधि ,,
सामान्य चिकित्सा ,,
भगन्दरनाशक तैल ,,
भगन्दरनाशक मधुयष्ट्यादि तैल ,,
भगन्दरनाशक विडंगादि लेह ५५४
गुडुच्यादि लेह ,,
गुग्गुलादि लेह ,,
शूंठी योग ,,
त्रिफलादि योग ,,
भगन्दर में उपदेश ,,

ग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदापचीनाडीविज्ञानीयाध्याय ॥ २९ ॥

ग्रन्थि की उत्पत्ति ५५५
ग्रन्थि के नव भेद ,,
वातज ग्रन्थि ,,
पित्तज ,, ,,
कफज ,, ,,
रक्तज ,, ,,
मांसज ,, ,,
मेदोज ,, ,,
अस्थि ,, ,,
सिरा ,, ,,
व्रण ,, ,,
साध्यासाध्यता ५५६
अर्बुद के भेद ,,
शोणितार्बुद ,,
अर्बुद की साध्यासाध्यता ,,
श्लीपद के लक्षण ,,
वातज, पित्तज और कफज श्लीपद ,,
असाध्य श्लीपद ,,
अन्य स्थान के श्लीपद ,,
गण्डमाला तथा अपची ,,
असाध्य गण्डमाला ५५७
नाडीव्रण के लक्षण ,,
नाडीव्रण के पांच भेद ,,
वातज पित्तज नाडीव्रण ,,
विषय पृष्ठ
कफजत्रिदोषज,सन्निपातज,नाडीव्रण ५५७
शल्यज नाडीव्रण ,,

ग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदापचीनाडीप्रतिषेधाध्याय ॥ ३० ॥

अपक्वग्रन्थि चिकित्सा ५५७
वातजादिग्रंथि ,, ,,
अपक्व ग्रन्थि में छेदनादि ,,
सिराग्रन्थि चिकित्सा ५५८
अर्बुद ,, ,,
वातजश्लीपद ,, ,,
पित्तज, कफज ,, ,,
अपक्वग्रन्थि ,, ,,
पाकोन्मुखग्रन्थि ,, ५५९
ग्रन्थिमालानाशक तैल ,,
अपचीनाशक लाङ्गली तैल ,,
चन्दनादि तैल ,,
वचादि तैल ,,
शरपुङ्खा योग ,,
ज्योतिष्मती तैल ,,
अपचीनाशक लेप ,,
विशेष चिकित्सा ,,
निमि के मत से ग्रन्थिचिकित्सा ५६०
सुश्रुत के मत से चिकित्सा ,,
उक्त विधि में मतान्तर ,,
वातजनाडीव्रणचिकित्सा ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
शल्यज ,, ,, ,,
क्षार का प्रयोग ,,
वर्ति का प्रयोग ५६०
लेप का प्रयोग ,,
नाडीव्रणनाशकवर्ति ,,

क्षुद्ररोगविज्ञानीयाध्याय ॥ ३१ ॥

अजगल्लिका के लक्षण ५६१
यवप्रख्या ,, ,,
कच्छपिका ,, ,,
पनसिका ,, ,,
पाषाणगर्दभ ,, ,,
मुखदूषिका ,, ,,
पद्मकंटक ,, ,,
विवृता ,, ,,
मसूरिका ,, ,,
विस्फोटक ,, ५६२
विद्धा ,, ,,
गर्दभी ,, ,,
कक्षा ,, ,,
गंधपिटिका ,, ,,
राजिका ,, ,,
जालगर्दभ ,, ,,
अग्निरोहिणी ,, ,,
इरवेल्लिका ,, ,,
विषय पृष्ठ
विदारिका के लक्षण ५६२
शर्करार्बुद ,, ,,
वल्मीक ,, ५६३
कदर ,, ,,
रुद्धगुद ,, ,,
चिप्य ,, ,,
कुनख ,, ,,
अलस ,, ,,
तिलकालक ,, ,,
मषक तथा चर्मकील के लक्षण ,,
जतुमणि तथा लांछन ,, ,,
व्यङ्ग और नीलिका ,, ,,
प्रसुप्ति के लक्षण ,,
उत्कोठ के लक्षण ,,
कोठ ,, ५६४

क्षुद्ररोगप्रतिषेधाध्याय ॥ ३२ ॥

अजगल्लिका चिकित्सा ५६४
यवप्रख्या की चिकित्सा ,,
पाषाणगर्दभ ,, ,,
मुखदूषिका ,, ,,
पद्मकंटक ,, ,,
विवृतादि ,, ,,
जालगर्दभ चिकित्सा ,,
विदारिका ,, ,,
शर्करार्बुद ,, ,,
वल्मीक ,, ,,
कदर ,, ,,
रुद्धगुद, चिप्य, कुनख चिकित्सा ५६५
अलस की चिकित्सा ,,
तिलकालक तथा मस्से की चिकित्सा ,,
चर्मकील तथा जतुमणि ,, ,,
लाञ्छन की चिकित्सा ,,
व्यङ्ग ,, ,,
मुखव्यङ्गादिनाशक उबटन ,,
मुखसौन्दर्यकारक कुङ्कुमादि तैल ५६६
मञ्जिष्ठादि तैल ,,
प्रसुप्तिरोग की चिकित्सा ,,
उत्कोठ तथा कुष्ठ की चिकित्सा ,,

गुह्यरोगविज्ञानीयाध्याय ॥ ३३ ॥

उपदंशादि गुह्यरोग के कारण ५६६
उपदंश के पाँच भेद ५६७
वातज उपदंश के लक्षण ,,
पित्तज ,, ,, ,,
कफज ,, ,, ,,
रक्तज ,, ,, ,,
त्रिदोषज ,, ,, ,,
इनमें याप्य तथा साध्य ,,
मांसकीलक (अर्श) का वर्णन ,,
सर्षपिका के लक्षण ,,
अवमन्थ ,, ,,
कुम्भीका ,, ,,

विषय पृष्ठ
अलजी के लक्षण ५६७
उत्तमा ,, ,,
पुष्करिका ,, ,,
संव्यूढ पिटिका ,, ,,
मृदित पिटिका ,, ,,
अष्ठीलिका ,, ५६८
विवृत्त ,, ,,
अवपाटिका ,, ,,
निरुद्धमणि ,, ,,
ग्रथित ,, ,,
स्पर्शहानि ,, ,,
शतपोनक ,, ,,
त्वक्पाक ,, ,,
मांसपाक ,, ,,
असृगर्बुद ,, ,,
मांसार्बुद तथा विद्रधि के लक्षण ,,
तिलकालक के लक्षण ,,
गुह्यरोगों का साध्यासाध्यत्व ,,
योनिव्यापद के भेद ,,
वातिकी योनिव्यापद के लक्षण ,,
अतिचरणा के लक्षण ५६९
प्राक्चरणा ,, ,,
उदावृत्ता ,, ,,
जातघ्नी ,, ,,
अन्तर्मुखी ,, ,,
सूचीमुखी ,, ,,
शुष्का ,, ,,
वामिनी ,, ,,
षंढा स्त्री ,, ,,
महायोनि ,, ,,
पैत्तिकयोनिव्यापद के लक्षण ,,
रक्तयोनि ,, ,,
श्लैष्मिक योनिव्यापद के लक्षण ,,
लोहितक्षया ,, ५७०
परिप्लुता ,,
उपप्लुता तथा विप्लुता के लक्षण ,,
कर्णिका के लक्षण ,,
सान्निपातिकी ,, ,,
गर्भ के न ग्रहण करने का कारण ,,

गुह्यरोगप्रतिषेधाध्याय ।। ३४ ।।

उपदंश की सामान्य चिकित्सा ५७०
लिंगार्श की चिकित्सा ५७१
सर्पपिका और अवमंथ की चिकित्सा,,
कुम्भीका की चिकित्सा ,,
अलजी ,, ,,
उत्तमा पिटिका की चिकित्सा ,,
पुष्कर तथा संव्यूढ चिकित्सा ,,
त्वक्पाक और मृदित ,, ,,
अष्ठीला चिकित्सा ,,
निवृत्त रोग ,, ,,
अवपाटिका ,, ,,
निरुद्धमणि ,, ,,
विषय पृष्ठ
ग्रथित चिकित्सा ५७२
शतपोनक ,, ,,
रक्तार्बुद ,, ,,
लिंगरोग की सामान्य चिकित्सा ,,
सामान्य योनिरोग की ,, ,,
योनिव्यापद की ,, ,,
काश्यमर्यादि घृत ,,
योनिशूल की चिकित्सा ,,
पित्तज योनिरोग की चिकित्सा ५७३
शतावर्यादि घृत ,,
बला स्नेह ,,
पुष्यानुग चूर्ण ,,
कफदूषित योनि का उपाय ,,
धातक्यादि तैल ,,
स्तम्भन चूर्ण ५७४
स्तब्ध योनि का उपाय ,,
दुर्गन्धित योनि की चिकित्सा ,,
दोषभेद से योनि ,, ,,
योनिदोष पर फल घृत ,,

विषप्रतिषेधाध्याय ।। ३५ ।।

विष की उत्पत्ति ५७५
स्थावर विष का लक्षण ,,
जंगम ,, ,, ,,
प्राकृत ,, ,, ,,
गर ,, ,, ,,
विष के गुण ,,
विष के यथाक्रम सात वेगों के लक्षण ,,
क्रम से प्रथम वेगादि की चिकित्सा ५७६
सर्वविषनाशक यवागू ,,
पेया का प्रयोग ,,
चंद्रोदय अगद निर्माणकी समंत्रविधि ,,
दूषीविष के लक्षण तथा विकार ५७७
दूषीविष का प्रकोप काल ,,
दूषीविष की चिकित्सा ,,
दूषीविषनाशक औषध ,,
विषाक्त शस्त्र से विद्ध के लक्षण ,,
विषाक्त शस्त्र से विद्ध की चिकित्सा ५७८
गरविष के लक्षण ,,
गरविष के विकार ,,
गरविष की चिकित्सा ,,
गरविष के उपद्रवों की चिकित्सा ,,
विषसंकट के लक्षण ५७९
विषवृद्धि में कारण ,,
विषशमन का काल ,,
विषचिकित्सक को उपदेश ,,
कफप्रधान विष की चिकित्सा ,,
पित्तप्रधान ,, ,, ,,
वातप्रधान ,, ,, ,,
विष में घृत का प्रयोग ,,
विष की साध्यासाध्यता ,,
विषय पृष्ठ

सर्पविषप्रतिषेधाध्याय ।। ३६ ।।

सर्प के सामान्य तीन भेद ५८०
दर्वीकरादि सर्पोंके विष का स्वभाव ,,
विषोल्बणता का काल ,,
दर्वीकर सर्प के लक्षण ,,
मण्डली ,, ,, ,,
राजिमान् ,, ,, ,,
गोधा ,, ,, ,,
व्यन्तर ,, ,, ,,
सर्प के काटने का कारण ,,
कारणानुसार चिकित्सा ,,
व्यन्तर सर्प की दुष्टता ५८१
दष्ट की साध्यासाध्यता ,,
विष का प्रवेश ,,
सर्पाङ्गाभिहत के लक्षण ,,
शङ्का विष ,, ,,
सविषदंश ,, ,,
दर्वीकर विष ,, ,,
मंडली सर्पदष्ट ,, ,,
राजिमान् ,, ,, ,,
सर्पदष्ट में शेष लक्षण तथा असाध्यत्व ५८२
सर्पविष में न्यूनता के कारण ,,
सर्पदंश की असाध्यता ,,
विष से मरणासन्न के लक्षण ,,
विष से मृत ,, ,,
सर्पदंश चिकित्सा ,,
शीघ्रदंश चिकित्सा करने का उपदेश ,,
दंशाबंधन के बाद कर्तव्य ५८३
दंश-दहन ,,
आचूषण ,,
सिरावेधन ,,
विषाक्त रक्त का लक्षण ,,
श्रृङ्गादि से रक्तहरण ,,
रक्तनिकलनेके बाद शेषविषका शमन ,,
संशमन विधि ,,
विषार्त के हृदय की रक्षा ,,
वमनकर विधि ५८४
शमन का प्रयोग ,,
कृष्णसर्पदंश चिकित्सा ,,
मेघनाद अगद ,,
नाकुल्यादि ,, ,,
हिमवान् ,, ,,
मंडली सर्पदंश की चिकित्सा ,,
गोनश सर्पविषनाशक अगद ,,
शमन योग ,,
काण्डचित्रासर्पिणीदंशचिकित्सा ,,
व्यन्तरससर्पदंशचिकित्सा ५८५
शिरीषभावित मिर्च योग ,,
तगरादि योग ,,
दर्वीकरसर्पविष चिकित्सा ,,
मण्डलि ,, ,, ,,

विषय पृष्ठ
राजिल सर्पविष चिकित्सा ५८५
सामान्य ,, ,, ,,
बिल्वाद्यगद ,, ,,
दंश स्थान का विषहरण ५८६
विषशमनानन्तर प्रयोग ,,
शंकाविषचिकित्सा ,,
सर्पभयनाशक मणि ,,
सर्पभयनाशक उपाय ,,

कीटलूतादिविषप्रतिषेधाध्याय ॥३७॥

चार प्रकार के विषकीट ५८६
वातपित्तादिज कीटदंश के लक्षण ,,
कीटदष्ट के वेगों का लक्षण ,,
कीटविशेष के सामान्य ,, ,,
वृश्चिक (बिच्छू) विष के ,, ५८७
बिच्छू के भेद ,,
मन्दविष बिच्छू के लक्षण ,,
मध्यविष ,, ,, ,,
महाविष ,, ,, ,,
महाविष बिच्छू से दष्ट के लक्षण ,,
उच्चिटिंग बिच्छू के दंश ,, ,,
कीटादिकों में दोषभेद ,,
वात-पित्त-कफप्रधान विष के लक्षण ,,
वातपित्तकफप्रधान कीटविष की चिकित्सा ,,
विषसामान्य चिकित्सा ५८८
विषजन्य दहादिनाशक मुक्तालेप ,,
कीटादि विषनाशक दशांग अगद ,,
बिच्छूके तत्कालिक दंश की चिकित्सा,,
सामान्य बिच्छूदंश की चिकित्सा ५८९
बिच्छूदंश का नाशक अगद ,,
रात्रिकबिच्छूकी विषनाशक चिकित्सा,,
लूता (मकड़ी) का भेद ,,
मकड़ी में दोष भेद ,,
पित्तकफ वातप्रधान मकड़ीदंश लक्षण,,
असाध्य मकड़ीविष के लक्षण ,,
असाध्य मकड़ीविष के तीन भेद ५९०
मकड़ी दंश के सामान्य लक्षण ,,
मकड़ीदंशविष का वृद्धिक्रम ,,
मकड़ीदंशविष की चिकित्सा ,,
छेदन-दहन के आयोग्य मकड़ीदंश ,,
दहन के अनन्तर कर्म ,,
मकड़ीदंश में रक्तमोक्षण ५९१
मकड़ीदंशविषनाशक पद्मक अगद ,,
चंपक अगद ,,
मंदर तथा गंधमादन अगद ,,
मकड़ीविष में वमन-विरेचन ,,
कर्णिकापातन विधि ,,
विषरोग में घृत का प्रयोग ,,
पित्तादिप्रधान मकड़ीविषनाशक अगद ,,

मूषिकालर्कविषप्रतिषेधाध्याय ॥३८॥

मूषिकाओं (चूहों) के १८ भेद ५९२
विषय पृष्ठ
मूषिकाविष का लक्षण ५९२
असाध्य मूषिकविष के लक्षण ,,
पागल कुत्ते के लक्षण ,,
पागल कुत्ते के काटे हुए मनुष्य का लक्षण ,,
पागल कुत्ते, गीदड़, आदि के काटे हुए का सामान्य लक्षण ५९३
असाध्य लक्षण ,,
जलसंत्रास के लक्षण ,,
मूषिकादंशचिकित्सा ,,
मूषिकविष में वामक योग ,,
मूषिकदंशविषनाशक घृत ,,
,, सामान्य चिकित्सा ,,
कुक्कुरदंशचिकित्सा ५९४
अन्य जन्तुओं के विष के लक्षण और चिकित्सा ,,

रसायनविधि अध्याय ॥ ३९ ॥

रसायनसेवन के गुण ५९५
रसायन का प्रयोग ,,
अशुद्ध शरीर में रसायन का निष्फल प्रयोग ,,
रसायनसेवन के दो भेद ,,
रसायनसेवन का स्थान ,,
रसायनसेवन विधि ,,
रसायनसेवन से पूर्व विरेचनविधि ,,
घृतयुक्त यावक का प्रयोग ,,
रसायन का प्रयोग ५९६
ब्राह्म रसायन ,,
हरीतक्यादि रसायन ,,
आमलकी ,, ,,
च्यवनप्राश ५९७
त्रिफला ,, ,,
मेधावृद्धिकर ,, ,,
अन्य प्रयोग ५९८
पद्मारविन्द रसायन ,,
अन्य प्रयोग ,,
ब्राह्मी आदि रसायन का योग ,,
नागबला रसायन ,,
वाराहीकंद रसायन ५९९
विदारीकंदादि रसायन योग ,,
चित्रक रसायन ,,
भल्लातक रसायन का प्रयोग ,,
भल्लातकस्वरस का प्रयोग ,,
अमृतभल्लातक पाक ६००
कुष्ठनाशक भल्लातक तैल ,,
भल्लातक के अन्य योग ,,
भल्लातकसेवन में त्याज्य द्रव्य ,,
सर्वकुष्ठनाशक तुवरक रसायन ,,
पिप्पलीरसायन ६०१
वर्धमान पिप्पली योग ,,
उक्त प्रयोग से कासादि का नाश ,,
विषय पृष्ठ
अन्य पिप्पली योग ६०२
शुण्ठ्यादि प्रयोग ,,
लहसुन का प्रयोग ,,
लहसुन की श्रेष्ठता ,,
शिलाजीत का लक्षण ६०३
लौह शिलाजीत की श्रेष्ठता ६०४
उत्तम शिलाजीत के लक्षण ,,
शिलाजीत के प्रयोग की विधि ,,
शिलाजीत के सेवन का प्रकार ,,
शिलाजीत सेवन के गुण और पथ्य ,,
शिलाजीत की श्रेष्ठता ,,
कुटीप्रवेश की योग्यता ,,
वातातप रसायन ६०५
शीतोदकसेवन ,,
हरीतकीसेवन ,,
जरानाशक विविध लेहादि का प्रयोग ,,
पाँच सौ वर्ष जिलानेवाला प्रयोग ६०६
सर्वरोगभयनाशक नरसिंह घृत ६०७
अन्य प्रयोग ,,
नारसिंह तैल ,,
साध्यासाध्य रसायन ,,
रसायन से अहित होने पर कर्तव्य ,,
सत्यादि की रसायनस्वरूपता ,,

बाजीकरणविधि अध्याय ॥ ४० ॥

बाजीकरण औषध का गुण ६०८
बाजीकरण और ब्रह्मचर्य ,,
बाजीकरण औषध की प्रयोगविधि ६०९
सन्तानहीन की निन्दा ,,
सन्तानलाभ का महत्त्व ,,
बाजीकरण के योग्य शरीर ,,
नाना वृष्ययोग का प्रयोग ,,
विदार्याद्यवलेह ,,
बाजीकर अन्यान्य योग ,,
कामवर्धक गोक्षुरादि चूर्ण ६१०
वृष्य पदार्थ ,,
स्त्री की प्रशंसा ,,
सम्भोग करने योग्य स्त्री का लक्षण ,,
कामवर्धक बाजीकरण प्रयोग ६११
कामोत्पादक प्रयोग ,,
सब रोगों पर एक एक प्रयोग ,,
अग्निवेश का प्रश्न ६१२
आत्रेय का उत्तर ,,
चिकित्सा की उपयोगिता ,,
चिकित्सा की महिमा ६१३
कुपात्र की चिकित्सा का निषेध ,,
सुचिकित्सक का भद्राशंसन ,,
अष्टांगहृदय की महिमा का वर्णन ,,
ग्रन्थाध्ययन का फल ६१४
सुभाषित ग्रन्थ की प्रशंसा ,,
जगत के मंगल की कामना ,,

भूमिका

प्राचीन काल से आयुर्वेद की आत्रेय-सम्प्रदाय तथा धान्वन्तर सम्प्रदाय ये दो परम्परायें चली आ रही हैं। इन सम्प्रदायों में क्रमशः चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता प्रमुख उपजीव्य ग्रन्थ रहे हैं यद्यपि इनके अतिरिक्त अन्य अनेक संहितायें भी थीं। वाग्भट ने अनुभव किया कि यदि चरकसंहिता का अध्ययन किया जाय तो शल्यशालाक्य से कोई संपर्क नहीं रहता और यदि चरकसंहिता को छोड़ कर अन्य संहितायें पढ़ी जाँय तो कायचिकित्सा में कुशलता नहीं आ सकती जब कि एक व्यावहारिक सामान्य लोक-चिकित्सक के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। वस्तुतः ऐसे चिकित्सक के लिए आयुर्वेद के आठो अंगों का सामान्य ज्ञान अपेक्षित है। इसी उद्देश्य से आयुर्वेदीय अष्टाङ्ग के हृदयवत् सारग्राही ग्रन्थ की रचना वाग्भट ने 'अष्टाङ्गहृदय' नाम से की। युगानुरूप होने के कारण स्वल्प काल में ही यह ग्रन्थ लोकप्रिय हो गया। यहाँ तक कि बृहत्त्रयी में चरक और सुश्रुत के समकक्ष इसे स्थान प्राप्त हुआ। यही एक तथ्य इस ग्रन्थ की महत्ता एवं उपादेयता का सर्वोत्तम प्रमाण है।

वाग्भट

वाग्भटनामधारी अनेक आचार्य हुये हैं। आयुर्वेद के क्षेत्र में अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टाङ्गहृदय ये दोनों ग्रन्थ वाग्भट द्वारा रचित हैं। रसरत्नसमुच्चय का कर्त्ता भी वाग्भट कहा जाता है। एक मध्यवाग्भट के भी उद्धरण यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह में ग्रन्थकार ने जो परिचय दिया है उसके अनुसार वह सिन्धुनिवासी, सिंहगुप्त का पुत्र तथा अवलोकितेश्वर का शिष्य था। अष्टाङ्गहृदय में ऐसा कोई परिचय नहीं मिलता। भारतीय परम्परा में कुछ विद्वान अष्टाङ्गसंग्रह को मूल ग्रन्थ तथा अष्टाङ्गहृदय को उसी का संक्षिप्त संस्करण मूल लेखक द्वारा ही किया मानते हैं जब कि दूसरे विद्वान् दोनों ग्रन्थों के रचयिताओं को भिन्न मान कर दो पृथक् वाग्भटों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह का रचयिता वृद्धवाग्भट या वाग्भट प्रथम तथा अष्टाङ्गहृदय का रचयिता वाग्भट या वाग्भट द्वितीय कहलाता है। रसरत्नसमुच्चयकर्त्ता वाग्भट कोई भिन्न ही परवर्त्ती वाग्भट होगा किन्तु अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भट से एकता की भ्रान्ति के कारण उसे भी सिंहगुप्तसूनु लिख दिया गया। या ऐसा कदाचित्क संयोग हो कि उसका और उसके पिता का नाम अष्टाङ्गहृदयकार के ही समान हो। यद्यपि वाग्भट के उद्धरण सीमित व्याख्याओं में ही मिलते हैं अतः कहना कठिन है कि इस ग्रन्थ का क्या स्वरूप रहा होगा और इसके लेखक कौन होंगे।

वाग्भट का काल

चीनी यात्री इत्सिग (६७५ ई०) ने अपने भारत-यात्रा-विवरण में लिखा है कि भारत में चिकित्सा के आठ अंग पृथक्-पृथक् थे जिन्हें हाल ही में किसी ने एक ग्रन्थ में निबद्ध कर दिया है। यह संकेत स्पष्टतः वाग्भट के लिए है जिसने आठों अङ्गों को समाहित कर अष्टाङ्गहृदय की रचना की। जेज्जट (७वीं शती) ने अपनी

चरक-व्याख्या में वाग्भट को उद्धृत किया है तथा माधवनिदान (७वीं शती) ने अष्टाङ्गहृदय के पद्यों को ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। इस प्रकार अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भट का काल ७वीं शती से पूर्व (६ठीं शती) ठहरता है। (विशेष विवेचन के लिए देखें—मेरा 'वाग्भट-विवेचन')।

अष्टाङ्गहृदय की विशेषतायें

वाग्भट ने चरक एवं सुश्रुत की संहिताओं का संकलन मात्र नहीं किया अपितु उस युग का पूरा प्रतिनिधित्व करते हुए आवश्यक नवीन तथ्यों का भी समावेश किया।

१. **पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।**
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

का जो उद्घोष महाकवि कालिदास ने किया, वह वस्तुतः गुप्तकालीन बौद्धिक जागरण का शंखनाद है। प्राचीन एवं नवीन का संतुलन इस युग की विशेषता रही। प्राचीनता के प्रति मोह एवं आग्रह का परित्याग कर मध्यम मार्ग का अवलंबन श्रेयस्कर है **(अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थ्यमवलम्ब्यताम्)**। **'मध्यमा प्रतिपद्'** वाग्भट की मौलिक विशेषता है **(अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्)**।

२. सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह रही कि गुप्तकाल ने मानव, जो पुराणों की तुलना में हीनता की भावना से ग्रस्त था, को महत्त्व देकर उसे उचित धरातल पर स्थापित किया जिससे एक सामान्य मनुष्य में भी तथ्यों का वैज्ञानिक रीति से परीक्षण कर अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने का साहस एवं आत्मविश्वास जाग्रत हुआ। ब्रह्मा के मुख से जो निकले वही सत्य है और मनुष्य के मुख से जो निकले वह विश्वसनीय नहीं है यह परम्परागत धारणा निरस्त कर दी गई। हरीतकी रेचन है, यह चाहे ब्रह्मा कहें या एक सामान्य जन, उसकी शक्ति में कोई अन्तर नहीं आता—**'एतद् ब्रह्मा भाषते ब्रह्मजो वा का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोक्तिशक्तिः।'**

३. प्राचीन संहिताओं में विस्तार से प्रतिपादित सिद्धान्तों को साररूप में संक्षेप में प्रस्तुत करना वाग्भट की अन्यतम विशेषता है। उदाहरणार्थ, चरक ने महाचतुष्पाद अध्याय (च० सू० १०) में भेषज की कारणता का जो विवेचन किया है उसका निष्कर्ष वाग्भट ने एक ही पंक्ति में दिया है :—**आतङ्कपङ्कमग्नानां हस्तालम्बो भिषग्जितम्'** अर्थात् कीचड़ में फँसे व्यक्ति को हाथ का सहारा देने से जैसे वह शीघ्र और सरलता से बाहर निकल आता है वैसे ही औषधि रोगियों को रोगमुक्त होने में सहारा मात्र देती है।

४. मौलिक सिद्धान्तों पर विवेचन कर उनके लक्षण निर्धारित किये गये। यथा, विपाक का लक्षण चरक और सुश्रुत में नहीं किया गया जिसे सर्वप्रथम वाग्भट ने निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया :—

जाठरेणाग्निना योगाद् यद्युदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥

इसी प्रकार, त्रिदोष के क्षेत्र में चरक ने पाँच प्रकार के वात का, सुश्रुत ने पाँच प्रकार के पित्त का नामतः निर्धारण किया तो वाग्भट ने पाँच प्रकार के कफ का नामतः निर्धारण किया।

५. वाग्भट ने सर्वप्रथम औषध-द्रव्यों के गुणकर्म-वर्णन की व्यवस्थित पद्धति प्रचलित की। इसके पूर्व ऐसा क्रम नहीं मिलता। अष्टाङ्गहृदय के सूत्रस्थान पंचम तथा षष्ठ अध्याय में क्रमशः द्रवद्रव्यों तथा अन्नद्रव्यों का वर्णन किया गया है। षष्ठ अध्याय में ही शूकधान्य, शमीधान्य, कृतान्न, मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग के बाद औषधवर्ग का प्रकरण है जिसमें औषधद्रव्यों के गुणकर्म का वर्णन किया गया है। यहाँ संक्षेप में लवण, त्रिफला, त्रिकटु, पंचकोल तथा सप्त पंचमूलों का वर्णन है। इसका विस्तार अष्टाङ्गसंग्रह में मिलता है। इस पद्धति को परवर्ती निघण्टुकारों ने अपना कर विस्तार से वर्गीकृत एवं व्यवस्थित रूप में द्रव्यों का वर्णन किया।

६. द्रव्यों का वर्गीकरण शोधनादिगणसंग्रह अध्याय (सू० १५) में किया गया है। इसमें सुश्रुत का ही आधार लिया गया है, केवल एक (जीवनीय) गण चरक का है। सुश्रुत से निम्नांकित अन्तर दृष्टिगत होता है :—

(१) कुछ गणों का नामकरण परिवर्तित किया गया है यथा विदारिगन्धादि का विदार्यादि, काकोल्यादि का पद्मकादि और सालसारादि का असनादि।

(२) वत्सकादिगण नया जोड़ा गया है।

(३) सुश्रुतोक्त पिप्पल्यादि, बृहत्यादि, उत्पलादि, लाक्षादि और त्रप्वादिगण छोड़ दिये गये हैं।

कुल गणों की संख्या ३३ हैं :—

शोधन—४
शमन—३
द्रव्यगण—२६
३३

७. अग्र्यप्रकरण के द्रव्यों का उल्लेख ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय (उ० ४०) में किया गया है। इनमें निम्नांकित विशेष रूप से अवलोकनीय है :—

मुस्ता एवं पर्पटक–ज्वर
लाजा–छर्दि
शिलाजतु–बस्तिविकार
आमलकी एवं हरिद्रा–प्रमेह
लौह-पाण्डु
पिप्पली-प्लीहारोग
लाक्षा-सन्धान
गुग्गुलु–मेदोवातरोग
भल्लातक–अर्श
स्वर्ण–विष
रसांजन–स्थौल्य

त्रिफला-नेत्ररोग
गुडूची–वातरक्त
तक्र–ग्रहणी
पुराणघृत–उन्माद
ब्राह्मी–अपस्मार
लशुन–वातविकार
नवनीत–अर्दित
उष्ट्र का मूत्र और दुग्ध–उदररोग
सशुक्त आर्द्रक–अग्निमांद्य
कण्टकारी–कास
त्रिफलागुग्गुलु–व्रण

८. रसायन-प्रकरण में गोक्षुर, वाराहीकन्द, चित्रक, सोमराजी, रसोन, बीजक, पुनर्नवा, अश्वगंधा, कृष्णतिल, भृङ्गराज का विशेष विधान है।

इसी प्रकार अन्य अंगों में भी वाग्भट की विशेषतायें हैं जिनका अवलोकन तद्विद सुधीजन समीक्षात्मक अध्ययन द्वारा कर सकते हैं।

अरुणदत्त

अष्टाङ्गहृदय की सर्वप्रसिद्ध व्याख्या सर्वाङ्ग-सुन्दरा का रचयिता अरुणदत्त मृगांकदत्त का पुत्र था जैसा कि उसने स्वयं प्रारम्भिक पद्य तथा अध्यायान्त पुष्पिकाओं में लिखा है। अरुणदत्त का उल्लेख चक्रपाणि (११वीं शती) और डल्हण (१२वीं शती) ने नहीं किया है, विजयरक्षित (१३वीं शती का पूर्वार्द्ध) और हेमाद्रि (१३वीं शती का उत्तरार्द्ध) ने किया है। अरुणदत्त ने स्वयं चन्द्रनन्दन (१०वीं शती) को उद्धृत किया है। अतः अरुणदत्त का काल १२०० ई० के लगभग (११७५–१२२५ ई०) रखा जा सकता है। सर्वाङ्ग-सुन्दरा के अतिरिक्त सुश्रुतसंहिता पर भी इसकी व्याख्या का उल्लेख मिलता है। आयुर्वेद में एक अन्य अरुणदत्त निघण्टुकार हुआ है। (देखें—मेरा 'आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास')।

अत्रिदेव विद्यालंकार

अत्रिदेव विद्यालंकार ने जितना लिखा उतना आयुर्वेद में शायद ही किसी और ने लिखा हो। अष्टाङ्गहृदय पर सर्वप्रथम हिन्दी टीका विद्योतिनी की रचना उन्होंने की जिसके बाद अन्य अनेक टीकायें इस पर लिखी गईं। अभी भी संपूर्ण ग्रन्थ पर यही एक टीका उपलब्ध है।

प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत संस्करण इसी कारण इन दोनों महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व्याख्याओं के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। हिन्दी व्याख्या का युगानुरूप किञ्चित् परिमार्जन यत्र-तत्र कर दिया गया है।

आयुर्वेद के संहिताग्रन्थ प्राचीन टीकाओं के साथ-साथ हिन्दी टीका से भी समृद्ध होकर प्रकाशित किये जाँय ऐसी इच्छा मेरी ही नहीं समस्त विद्वमण्डली की रही है क्योंकि इससे प्राचीन व्याख्याओं का पुनरुज्जीवन होने के साथ हिन्दी प्रेमी पाठकों का भी मनस्तोष होगा। इस योजना में चौखम्भा संस्कृत संस्थान परिवार ने चरकसंहिता का प्रकाशन चक्रपाणिव्याख्या तथा हिन्दी टीका के साथ पहले ही कर दिया है। अब उसी क्रम में अष्टाङ्गहृदय का यह द्वितीय पुष्प पाठकों को समर्पित है। आशा है, निकट भविष्य में सुश्रुतसंहिता का भी प्रकाशन इस शैली पर होगा। इस प्रशंसनीय समारम्भ के लिए चौखम्भा ओरियन्टालिया परिवार धन्यवाद का पात्र है। श्री कपिलदेव गिरि ने बड़े परिश्रम तथा सावधानी से ग्रन्थ का संयोजन किया है, उसके लिए मेरा हार्दिक शुभाशीर्वाद है।

श्रीवल्लभाचार्य पञ्चशती जयन्ती
वैशाख कृष्ण ११, संवत् २०३५
दिनांक ३–५–७८

प्रियव्रत शर्मा
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीमद्वाग्भटविरचितम्

अष्टाङ्गहृदयम्

'सर्वाङ्गसुन्दरा'-'निर्मलतरा' हिन्दीटीकासहितम्

अथ सूत्रस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

सर्वाङ्गसुन्दरा

दीप्त्या यस्येन्द्रनीलोत्पलशकलरजोनीलया नीलिताभां। लक्ष्मीमुत्तप्तभास्वत्कनकरुचिमपि स्पर्शरोमाञ्चिताङ्गीम् ॥
कालीत्याशङ्कमानः स्फुरदधरपुटश्चक्रपाणिः किलाभूद्भर्ता लोकस्य शश्वत्स भवतु भवतां भूतये पद्मनाभः ॥ १ ॥
को मत्सरिणि लोकेऽस्मिन्विद्वान्किंचिच्चिकीर्षति। किंतु कश्चिद्भवेत्साधुस्ततोऽयं मत्परिश्रमः ॥ २ ॥
श्रीमन्मृगाङ्कतनयष्टीकामष्टाङ्गहृदयस्य। श्रीमानरुणः कुरुते सम्यग्द्रष्टुः पदार्थबोधाय ॥ ३ ॥

इह हि शास्त्रारम्भे शास्त्रपरिसमाप्तये सर्व एव सभाभूषणभूता निखिलजनजनितप्रमोदसंदोहा रुचिररुचिरचितवचनचर्चितप्रबन्धाः प्रबन्धविरचनप्रवरा इष्टदेवतानमस्कारं तन्त्रकारा विदधुः। तदयमपि तन्त्रकारोऽभीष्टदेवतानमस्कारपुरःसरं तन्त्रमारिरिप्सुरिदमाह—

रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान्।
औत्सुक्यमोहारतिदाञ्जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥

स०—राग आदिर्येषां ते रागादयः। आदिशब्देन द्वेषलोभादिपरिग्रहः। रुजन्तीति रोगा देहमनसी संतापयन्तीत्यर्थः ननु मनःस्थितत्वान्मन एव ते रुजन्तीति वक्तुं युक्तम्। मैवम्। देहमनोलक्षणयोर्वस्तुनोराधाराधेयभावेन स्थितत्वाद्द्वयोरपि संतापो युक्तः। यथाधेयेनायोगोलकेन संतप्तेन तदाधारस्य कटाहादेः संतापः। आधारेण च कटाहादिना संतप्तेनाधेयस्य घृतादेः संतापः। तदेवं रागादयो द्वयं रुजन्तीति न्याय्यमेतत्। तथा सततानुषक्ताः सर्वकालं प्रसृताः सहजा इत्यर्थः। अशेषकायप्रसृताः। अशेषश्चासौ कायश्चाशेषकायः तत्र प्रसृता अनुगताः। यद्वा—अशेषाश्च ते कायाश्चाशेषकायाः। सर्वाणि शरीराणि गजतुरगोरगादिसम्बन्धीनि तानि प्रकर्षेण सृता गताः। तथा न विद्यते शेषो येषां तेऽशेषाः सर्वे समूलाः। सबीजा इत्यर्थः। तथौत्सुक्यमोहारतिदाः। औत्सुक्यं विषयोत्कण्ठा ततोऽभिलाषः। मोहः कार्याकार्यानभिज्ञत्वम्। अरतिरनवस्थितिः स्थानासनादिषु। औत्सुक्यं च मोहश्चारतिश्च ता ददति ये रागाद्यस्त एवम्। तानेवंविधान् यो भगवान् जघान तस्मै तथाभूतायापूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तं पूजयामीत्यर्थः। अत एवासावपूर्व आश्चर्यभूतो वैद्योऽन्यो हि यो वैद्यः स ज्वरादीनप्यचिरोत्थितान् रोगानेतद्विशेषणैरपरामृष्टान्न तथा हर्तुं समर्थः। किमुत रागादीनसाध्यलक्षणलक्षितान्। तथा चासाध्यलक्षणम्—"अनुपक्रम एव स्यात् स्थितोऽत्यन्तविपर्यये। औत्सुक्यमोहारतिकृत्" इति। यदि वा न विद्यते पूर्वो यस्मादसावपूर्वः। पूर्वेभ्यः प्रथम इत्यर्थः। अपूर्वश्चासौ वैद्योऽपूर्ववैद्य इत्यर्थः। एवंविधं चाभिमतनमस्कारश्लोकं विरचयन् ग्रन्थकृद् ग्रन्थस्य रोगोपशान्तिः प्रयोजनमिति प्रतिपादयति। तथा चाह चरकमुनिः—"धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।" इति। एवं च धातुसाम्येन प्रयोजनेन प्रयोजनवदिदं तन्त्रम्। तथा तत्पाठात्तदर्थावबोधात्तद्विध्यनुष्ठानाच्चा-

रोग्याख्यस्योपेयस्य तथाभिमतस्यायुषः परस्य पुरुषार्थस्य मोक्षाख्यस्य च परमार्थत इदमेव तन्त्रमुपायः। अस्माच्चोपायोपेयलक्षणसम्बन्धाच्च हेतुलिङ्गौषध्याख्यस्कन्धत्रयमस्याभिधेयं तेनाभिधेयेनाभिधेयवत्तन्त्रम्। एवं च ग्रन्थकृतात्र प्रयोजनसम्बन्धाभिधेया युक्त्यैवोक्ताः। इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्राविरचितत्वादुपजातिवृत्तम् "अनन्तरापाचितलक्ष्मशोभौ पादौ भवेतां विविधैर्विकल्पैः। यासामिमावन्ययतिप्रपञ्चौ स्मृताः स्मृतिज्ञैरुपजातयस्याः॥" सर्वत्रैव चात्र तन्त्रेऽनुष्टुभा समानीप्रमाणीवितानादिभेदभिन्नतया विरचनं यत्पुनरवसरान्तरे वृत्तान्तरविरचनमिह तत्सलक्षणं व्यञ्जयिष्यामः 'विद्योतिनी'।

विद्योतिनी—समस्त शरीर में फैले हुये, निरन्तर संलग्न तथा उत्सुकता (विषयों के प्रति तृष्णा), मोह (अज्ञान) तथा अरति (विकलता) को देनेवाले राग, द्वेष आदि समस्त विकारों को नष्ट करने वाले अपूर्व (अद्भुत) वैद्य (महाभिषक् भगवान् बुद्ध या आदिभिषक् ब्रह्मा) को नमस्कार है।[1]

इदानीमिष्टदेवतां नमस्कृत्य शास्त्रकारस्तन्त्रमारिरिप्सुरिदमाह।

अथात आयुष्कामीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

स०—अथेति। अथशब्दोऽस्मिन्मङ्गलाधिकारानन्तर्येषु द्रष्टव्यः। मङ्गलादीनां हि शास्त्राणां तदध्येतॄणां निष्प्रतिबन्धा प्रवृत्तिरभिप्रेतार्थसाधनाय जायते। अथशब्दश्चायं मङ्गलार्थः। तथा चोक्तम् "ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेनेमौ मङ्गलौ स्मतौ॥" इति। अतोऽधिकारे। आयुष्कामीयं शास्त्रमधिक्रियते यावदत ऊर्ध्वं प्रतन्यते आतन्त्रपरिसमाप्तेस्तत्सर्वमायुष्कामीयं वेदितव्यम्। अत आनन्तर्ये च। नमस्कारादनन्तरमायुष्कामहितं व्याख्यास्याम इति। कथं पुनरेकस्यैव तन्त्रकारस्य व्याख्यास्याम इति बहुवचनं युज्यते। ब्रूमः। "अस्मदो द्वयोश्च" इत्येकत्वेऽपि बहुवचनविधानादभिलषन्ति युक्तमेवात्रैकस्मिन्नपि बहुवचनम्। तथा च मुनिः। आयुः। "शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगाधारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैराशुरुच्यते॥" एतीत्यायुः। सततं यातीत्यर्थः। एवंविधं गत्वरस्वभावमपि हिताहारविहारसेवादिभिरहितवर्जनेन च कथमेतत् स्थिरीभवेदित्येवं कामयन्ते ये ते आयुष्कामाः। तेभ्यो हित आयुष्कामीयः। स पुनरायुर्वेदागमादिप्रकरणसमुदाय आयुष्कामयमानेनेत्यादिकः। आयुष्कामीय इति "इसुसोः सामर्थ्ये" इति षादेशः। "तस्मै हितम्" इति छः आयुष्कामीयशब्दोऽध्यायविशेषणार्थो नीलोत्पलदलवत्। बहुष्वध्यायेषु सत्सु कतममध्यायं व्याख्यास्याम आयुष्कामीयमिति। अधिकृतोऽध्ययनायेत्यध्यायस्तं व्याख्यास्यामः। विविधप्रकारेण विशेषेण वा कथयिष्यामः। आयुष्कामैः पूर्वं दृष्टत्वादस्याध्यास्यायुष्काम इति संज्ञा। अर्थगतिमधिकृतोऽध्याय इति नाम। तथा चोक्तम्—"अधिकृत्येयमध्यायनामसंज्ञा प्रतिष्ठिता" इति। तत्र पदसमुदायो वाक्यं, वाक्यसमुदायः प्रकरणं, प्रकरणसमुदायो यः सोऽध्यायोऽध्यायसमुदायः स्थानं, स्थानसमुदायस्तन्त्रमिति। विशब्दो नानार्थः। आङभिविधौ। उत्तराख्यश्चायमलंकारः तस्य हि लक्षणम्—"उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्। क्रियते तदुत्तरं स्यात्" इत्यादि। ततोऽनेन वाक्येन शिष्यवचनमीदृशमुन्नीयते। संसारेऽस्मिन्नमी प्राणिनो नानारोगानीकाभिभूतास्त्रातारमलभमानास्त्रिवर्गाद् भ्रश्यन्ते। तत्को नु भगवन्नत्रोपायः स्यादिति कृतप्रश्नो गुरुः प्रतिजज्ञे। अथ शिष्यवचनानन्तरमतो हेतोर्यस्मादयं शिष्यः श्रुतकुलशीलादिसंपन्नो धीमेधागुणभूषणभूतो त्रिविधै प्रकारैराशिष्यबोधोत्पत्तेरायुष्कामीयमध्यायं व्याख्यास्यामो वर्णयिष्यामः। ननु कीदृशं तद्विविधप्रकारमाख्यानम्। ब्रूमः। पदतस्तदर्थतः प्रयोजनतश्चोद्यतः परिहारतः संबन्धाभिधेयतश्च। पदतो यथायुरितीदं पदम्। तदर्थतो यथैतीत्यायुः प्रयोजनतो यथाऽत्रैव धर्मार्थसुखसाधनम्। चोद्यतो यथा ननु कथमेतत्केवलं धर्मार्थसुखसाधनमिति वक्तुं पार्यते। यतोऽस्यायुषः कर्मैव केवलं धर्मसाधनमिति वक्तुं नो पार्यते। यतोऽस्यायुषः परिपालनार्थं विशस्ताः काकगृध्रभासादयो राजयक्ष्मचिकित्सते भोज्या इत्युक्तम्। अभक्ष्याश्चैते। श्रुतिस्मृत्योरभक्ष्यत्वेनोक्तत्वात्। एवमभक्ष्यभक्षणाद्धिंसया च पापयोगस्तद्योगाच्चाधर्मसाधनं न धर्मसाधनमिति। परिहारतो यथैवं परिहारो यज्ञाधिकारिशरीरनिमित्तं काकादीनां विशंसनं भक्षणं विधीयमानं नाधर्माय। इतरथा क्रीडार्थं क्रियमाणमधर्मायैव। तथा च काकादयोऽपि तत्साधनोपयोगाद्धर्मेण तत्फलेन संबध्यन्ते यज्ञिया इव पशवस्तदेवमायुषो धर्मसाधनत्वं स्थितम्। संबन्धाभिधेयौ तूक्तावेव। ननु सन्त्येवान्यान्यपि महर्षिप्रणीतान्यायुर्वेदतन्त्राणि किमनेन तन्त्रेण कृतेनेति। अत्र ब्रूमः। अवरतन्त्राणां सावद्यत्वादिदमुच्यते। अन्यानि हि तन्त्राणि सदोषाणि। तथा हि। यदेतत्तावद्भगवता चरकमुनिना प्रणीतं

---

[1] परम्परागत शिष्टाचार के अनुसार इस श्लोक में आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक एवं वस्तुनिर्देशात्मक तीनों ही मङ्गलाचरण समाविष्ट हैं। नमस्कार तो स्पष्ट ही है। केवल अपने रागादि रोगों का ही अन्त नहीं, समस्त प्राणिमात्र के (अशेषकाय प्रसृत) रागादि के समूल (अशेष) नाश की कामना में आशीर्वादात्मक एवं रोगनाश तथा उसके कर्ता अपूर्व वैद्य के उल्लेख द्वारा रोगनाशनोपाय का इस ग्रन्थ में वर्णन है ऐसा वस्तुनिर्देश भी हैं। इतना ही नहीं, रोगनाशन के उपायरूप 'अभिधेय' उसके साथ ग्रन्थ की उपेयोपाय या वाच्यवाचकसम्बन्ध, रोगनाशन एवं दीर्घायुरूप प्रयोजन तथा सुख एवं आत्यन्तिक सुख (मोक्ष) रूप फल का भी निर्देश कर ग्रन्थ के पठन में प्रवृत्ति के लिए आवश्यक अनुबन्धचतुष्टय का भी वर्णन किया गया है।

तन्त्रं रत्नाकर इव गाम्भीर्यातिशययोगाद्दुर्बोधं तस्यापि सदोषतां प्रकटयन्ति वाचाटाः। तथा ह्यादौ तत्सूत्रम्। अथातो दीर्घजीवितीयमध्यायं व्याख्यास्याम इति। अत्र दीर्घजीवितीय इति शास्त्रादावयुक्तम्। यतो दीर्घजीवितमन्विच्छन्नित्यस्यानुकरणं दीर्घजीवितमिति। सोऽस्मिन्नध्यायेऽस्तीति छः तस्याध्यायानुवाकयोर्लुकि सति दीर्घजीवितमिति प्राप्नोति। तदिदमविदितपरमार्थशब्दस्वरूपाणां वचनम्। तथाहि। अध्यायानुवाकयोरित्यादौ सूत्रे विकल्पेन चायं लुगिष्यत इति जगाद जयादित्यः। तेन लुकः पाक्षिकत्वादत्र लुक् न भवतीत्येवं युक्तमुक्तमिदम्। दीर्घशब्देन गुणोऽभिधीयते जीवितशब्देनाऽपि गुण एव। तस्माद्द्वयोरपि गुणत्वादाधाराधेयभावो न युक्तो यतो गुणाश्रयो गुणो नोक्त इति। तथा च वैशेषिकाः। निर्गुणा गुणा इति। अथ कालशब्दं लुप्तस्वरूपं निर्दिश्य दीर्घजीवितीयशब्दो निर्दिश्यते तदा युक्तमेवैतत्। इन्द्रियोपक्रमणीयेऽध्याये छप्रत्ययोत्पत्तिः कथमेवं विधीयतां यतोऽस्मिन्नध्याय इन्द्रियोपक्रमणशब्दो नास्त्येव। एवमपामार्गतण्डुलीयेऽपामार्गतण्डुलशब्दस्याभावाच्छप्रत्ययोत्पत्तिर्दुर्लभा। तथा दिव्याम्भसो गाङ्गसमुद्रभेदः परीक्षा च नोक्ता। प्रत्युत तत्र पठ्यते। "जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात्। तसं तत्पतितं चैव देशकालावपेक्षते॥" इति। तथा नालिकेरोदकस्य गुणा नोक्ताः। तथाऽपक्वक्वथितक्षीरस्य स्वरूपविशेषो नोक्तः। तथा कषाये कियदौषधं किमवशेषं क्वथनीयमित्यादि च नोक्तम्। मिश्रके स्नेह एवमभ्यधादसौ। "त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं दशमूलं पलोन्मितम्। चतुर्गुणं जलं दत्त्वा" इत्यादि। तदेषामौषधानां कियन्मानमपि सलिलेनैतावता कीदृशं किमुत क्वाथनिर्यासाविति। तथा क्वथितशीततोयमपि कियता पाकेन पथ्यं भवतीति नोक्तम्। मुद्गो ग्राहीति च नोक्तम्। तथा च तत्पाठः। "कषायमधुरो रूक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः। विशदः श्लेष्मपित्तघ्नो मुद्गस्तूक्तोत्तमोत्तमः॥" इति। तथा वास्तुकादीनां लघुत्वं नोक्तम्। तथाच तत्पाठः। "पाठासुषासठीशाकं वास्तुकं सुनिषण्णकम्। विद्याद् ग्राहि त्रिदोषघ्नं भिन्नवर्चस्तु वास्तुकम्॥" इति। तथा इक्षुवर्गे—"शत्यात्प्रसादान्माधुर्यात्पौण्ड्रकाद्वांशिको वरः" इत्यसावभ्यधात्। पौण्ड्रकश्च वांशिकाद्वर इति सुप्रसिद्धमेतत्। अत्र मतिवैभवाद्भट्टारकहरिश्चन्द्रौ व्याख्याविशेषमवोचताम्। यथा पौण्ड्रकाद्वांशिकोऽवर इति। एवं चैतदुपपन्नमेव। तदेवमात्रेयस्यापि तन्त्रे यतो बहवो दोषा उद्भाव्यन्ते तत का गणना तन्त्रान्तराणाम्। तथा वेदोत्पत्तिरिति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्सदोषत्वान्न कृता। तथा हि। आयुषो वेद आयुर्वेदस्तस्योत्पत्तिरायुर्वेदोत्पत्तिरिति भवितव्यम्। अत्र केचिदाहुः—आयुः शब्दलोपं कृत्वेह निर्देशः कृतः। एवमपि सति लोपस्तावदमङ्गलः। सोऽप्यायुषः स च शास्त्रादावित्यन्याय्यैवैषा संज्ञा। किंच वेदोत्पत्तिरित्येतदपि तावद्वक्तुं न युज्यते। नित्यत्वादस्य वेदस्य। नित्यो ह्ययमायुर्वेदः। संतानादिनित्यत्वात्। तथा ह्यायुः संतानः सर्वप्राणिसंवेद्यशरीरापरशरीरगो मनःप्रबन्धनित्यतया नित्यः। अस्य नित्यत्वादायुर्वेदोऽपि नित्यः। नित्यत्वाच्चास्योत्पत्तिमत्त्वं वक्तुमयुक्तम्। नन्ववबोधोपदेशाभ्यामुत्पत्तिरस्योपलभ्यते। अतः प्रागुपदेशान्नासावुपलभ्यते। अत उपदेशानन्तरमुपदेशद्वारेणोपलभ्यते। तस्मादवबोधोपदेशावस्योत्पत्तिकारणत्वेन कल्पयित्वोत्पत्तिमत्त्वमस्योच्यत इति कैश्चिदूचे। नैतद्युक्तम्। यतः सतो बोधोपदेशौ स्तो नासतः। तथा चाचष्टे लोकः। अमुना गुरुणा छात्रायोपदिष्टं शास्त्रमिदमिति। सत एवोपदेशावबोधौ स्तः। तस्मान्नावबोधोपदेशावस्योत्पत्तिकारणमित्यतोऽपि हेतोर्वेदोत्पत्तिसंज्ञेत्ययुक्ता। इति संज्ञानां सावद्यत्वं निरूप्य निरवद्यायुष्कामीयसंज्ञेह तन्त्रे कृता। ययोच्चारितमात्रयैवाऽशेषस्तन्त्रार्थः प्रकाश्यते। प्रतिस्थानं च योऽध्यायः प्रथमस्तत्संज्ञया स्थानार्थः। अन्ये च येऽध्यायास्तन्त्रेऽस्मिंस्तत्संज्ञाभिर्यथास्वतन्त्रमर्थजातं प्रकाशयन्त इति।

इदमिदानीं पृच्छ्यते तन्त्रकारः। यदस्मिंस्तन्त्रे किंचिदुच्यते स्म भवद्भिस्तत्स्वबुद्धिपरिकल्पितमुत नेत्याह—

इतिशब्द एवमर्थे। यथा इति ह स्म तानाह। हशब्दोऽनुकम्पायाम्। ब्रूधातोः स्म उपपदे भूतानद्यतनपरोक्षे 'लट् स्मे' इति लट आहादेशः। अत्रेरपत्यमात्रेयः। 'इतश्चानिञः' इति ढक्। आत्रेय आदिर्येषां धन्वन्तरिप्रभृतीनां त एव महांतश्च ते ऋषयश्च महर्षयः। महत्त्वं तज्ज्ञानातिशययोगात्। तेनायमर्थोऽनेन कारणेनानुकम्पया न तु फलकांक्षया। भगवन्त आत्रेयादयो महर्षयोऽब्रुवन् नास्माभिः स्वंमतिपरिकल्पितं किंचिदप्यत्रोक्तम्। केवलं दूतसंदेशवचनन्यायेन युगानुरूपः क्रममात्रोऽन्यथा कृत इत्यर्थः। तथा चास्यैव संग्रहे—"न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागमवर्जितम्। तेऽर्थाः स ग्रंथसंदर्भः संक्षेपाय क्रमोऽन्यथा" इति। तदेवमागमप्रामाण्यमस्य तन्त्रस्येत्युक्तं भवति।

वि०—अब इसके आगे 'आयुष्कामीय' अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।[२]

वक्तव्य—आयुर्वेद शास्त्र के उद्देश्य दो हैं। पहला स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा (Preventive) और दूसरा रोगी के विकार का शमन (Curative)। इन दोनों का भी लक्ष्य दीर्घजीवन की प्राप्ति (Promotive) है जिससे निर्विघ्न रूप से पुरुषार्थचतुष्टय की साधना हो सके।

इस दीर्घायु की कामना के लिये प्रथम अध्याय का अवतरण किया जाता है।

इस तन्त्र में जो कुछ भी कहा जायगा--वह पूर्व आचार्यों की परंपरा के अनुसार ही है।

---

[२] अथ शब्द माङ्गलिक है। इसका दूसरा अर्थ अनन्तर (बाद में) होता है अतः 'इस (मङ्गलाचरण) के बाद आयुष्कामीय अध्याय का वर्णन करूँगा' यह स्पष्ट अर्थ होता है। 'आयुष्कामीय' शब्द से ग्रन्थ के अभिधेय का भी स्पष्ट बोध होता है।

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥ २ ॥

स०—आयुर्वेदयति ज्ञापयति प्रकृतिज्ञानरसायनदूतारिष्टाद्युपदेशादित्यायुर्वेदः । तस्योपदेशा आयुर्वेदोपदेशाः । उपदिश्यन्त आयुर्वेदार्था उपपत्तिभिरित्युपदेशा आयुर्वेदतंत्राणि । तेषु परमादरः पाठावबोधानुष्ठानरूप उत्कृष्टो यत्नः कार्यः । आयुर्वेदोपदेशेष्विति बहुवचननिर्देशादयमर्थो बोध्यते । बहुष्वायुर्वेदतंत्रेषु यत्नः कार्योऽनेकायुर्वेदावलोकनाच्चिकित्सायां वैद्यस्य न मनागपि संदेहो जायते । किं कुर्वता पुरुषेण—आयुः कामयमानेन जीवितमभिलषता । किंभूतमायुः धर्मार्थेत्यादि । ध्रियते लोकोऽनेनेति धर्मः । अर्थ्यते याच्यत इत्यर्थः । सुखं द्विविधम् । तादात्विक मात्यंन्तिकं च । तादात्विकं कियत्कालांतरास्थायित्वात्सुखावभासं न परमार्थतः सुखम् । तथा चोक्तम्—'तादात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते ।' इति । तदेतत्संज्ञामात्रेण सुखं न त्वत्यंतमिति प्रदर्शयितुं सुखसंज्ञेष्विति मुनिनोक्तम् । आत्यंतिकं सुखं मोक्षाख्यं यत्र न दुःखानां श्लेषः । तेषां साधनमुपायो धर्मार्थसुखसाधनम् ॥ २ ॥

वि०—धर्म, अर्थ और सुख का साधन आयु है; इस आयु की जिस पुरुष को कामना हो; उसे चाहिये कि वह आयुर्वेद के उपदेशों में अतिशय आदर करे ॥ २ ॥

वक्तव्य—जिससे लोक का धारण होता है, वह धर्म है; 'धारणाद्धर्म इत्याहुः', 'धर्मो धारयति प्रजाः' अर्थात् धर्म ही प्रजा को धारण करता है; धर्म से ही अर्थ और काम होते हैं; जिन लोगों का धर्म नष्ट हो जाता है; उनका नरक में वास होता है । इसलिये धर्म की रक्षा, उसका पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है । इस धर्म का साधन यह शरीर है ।

'अर्थ'—जिसके पास धन होता है, उससे दूसरे मांगते हैं और जिसके पास नहीं होता, वे दूसरों से मांगते हैं; जिसकी याचना होती है उसी (धन) का नाम अर्थ है ।

सुख—संसार में कई प्रकार का है; किसी के लिये पुत्रपौत्रादि सुख है; किसी के लिये धन-दौलत सुख है; किसी के लिये स्त्री सुख है ।

सुख दो प्रकार का है—क्षणिक या तात्कालिक और आत्यन्तिक दोनों सुख आयु अर्थात् जीवन के साथ जुड़े हुए हैं । क्योंकि धर्म से पारलौकिक सुख है; अर्थ और काम से ऐहलौकिक सुख है, परन्तु आयुर्वेद से ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार का सुख है:—

> 'तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः ।
> 'वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ॥'

मोक्ष आत्यन्तिक सुख है ।

अथास्यायुर्वेदस्य गौरवोत्पादनायागमशुद्धिं दर्शयति—

ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत् ।
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन् ॥३॥
तेऽग्निवेशादिकांस्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे ।

स०—ब्रह्मेत्यादि । ब्रह्माऽऽयुषो वेदं स्मृत्वा प्रजापतिं दक्षमजिग्रहद् अवबोधयत् । स्मृत्वेत्यनेनैतद्गमयति ब्रह्मणः स्मर्तृत्वमेवात्र न कर्तृत्वम् । नित्यत्वादायुर्वेदस्य नित्यत्वं चास्य प्राक् प्रत्यपादि । ग्रहेर्ण्यन्तस्यात्र बुद्ध्यर्थत्वात् प्रजापतिशब्दस्य गतिबुद्धीत्यादिना कर्मसंज्ञा । स प्रजापतिरश्विनावजिग्रहत् । तौ सहस्राक्षमिंद्रमजिग्रहतामिति वचनविपरिणामेन संबन्धः । शक्रोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन् बोधयामास । अत्रिपुत्र आत्रेय आदिर्येषां धन्वंतरिनिमिकाश्यपादीनां त एवं ते चात्रेयादयोऽग्निवेशादिकानजिग्रहन् । ते त्वग्निवेशादयः षट् पृथक् प्रत्येकं तन्त्राणि शास्त्राण्यग्निवेशभेडजातूकर्णपराशरहारीतक्षीरपाणिनामाभिधेयानि तंत्राणि तेनिरे विस्तारितवंतश्चक्रुः । तन्त्र्यन्ते धार्यन्त आयुर्वेदार्था एभिरिति तन्त्राणि ।

वि०—आयुर्वेद की परंपरा—ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण करके प्रजापति को दिया—सिखाया । प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को; उन्होंने इन्द्र को और इन्द्र ने आत्रेय आदि मुनियों को दिया । इन मुनियों में अग्निवेश आदि ने पृथक्-पृथक् तन्त्र बनाये ।

वक्तव्य—आयुर्वेद की परंपरा अनादि काल से चली आ रही हैं अतः इसे शाश्वत कहते हैं । इसलिये ब्रह्मा ने आयुर्वेद को उत्पन्न नहीं किया अपितु उसका स्मरण किया ।

ननु यदि तैस्तन्त्राणि पुनर्युगानुरूपसंदर्भैः संगृहीतानि तत्किमिदानीमनेन शास्त्रेण कृतेनेत्याह—

तेभ्योऽतिविप्रकीर्णेभ्यः प्रायः सारतरोच्चयः ॥ ४ ॥
क्रियतेऽष्टाङ्गहृदयं नातिसंक्षेपविस्तरम् ।

स०—तेभ्य इति । तेभ्यो ग्रंथेभ्योऽतिविप्रकीर्णेभ्यो विक्षिप्तेभ्य उच्चावचोक्तार्थतयैवेतश्चेतश्च गतेभ्योऽत एव कश्चिदेवार्थः कस्मादेव तन्त्रान्तराज्ज्ञायते । यथा शल्यचिकित्सा सुश्रुतप्रणीतात्तंत्रादेवावगम्यते न तथाग्निवेशादिकात् । ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा च जनकप्रणीतात्तंत्राद्यथावगम्यते न तथा सुश्रुतप्रणीतात् । अतः प्रायो बाहुल्येन सारतरोच्चयः क्रियते । उच्चीयंते संगृह्यंते विक्षिप्ताः पदार्था अनेनेत्युच्चयः । यथा वा यवादीनां बहुक्षेत्रजातानामेकस्मिन् स्थाने उच्चयो विधीयते राशीकृत्य स्थापनं तथेह सारतराणामुच्चयः । सारतरग्रहणेनैतद् द्योतयति संग्रहेणैव साराणामुच्चयः कृतः । अनेन तथा सारतराणां प्रदेशानामुच्चयः क्रियत इति । किं नाम । अष्टाङ्गहृदयमेतच्च सान्वयार्थमस्य नाम । यथा शरीरस्य सर्वावयवेभ्यः प्रधानदेशो हि हृदयं तथेदमष्टाङ्गायुर्वेदस्य प्रधानभूतत्वाद्धृदयमिव हृदयम् । तथा च तन्त्रांते वक्ष्यति । हृदयमिव हृदयमेतदित्यादि । अष्टौ च तान्यंगान्यष्टांगानि तेषां प्रत्येकं हृदयं सारतरसंग्रहणात् । कीदृशमष्टांगहृदयम् । नातिसंक्षेपविस्तरम् । संक्षेपश्च विस्तरश्च संक्षेपविस्तरौ अतिशयेन संक्षेपविस्तरौ

यत्र न तन्नातिसंक्षेपविस्तरम् । अतिशब्दस्यात्र प्रत्येकं संबंधः। अतिसंक्षेपं किंचित्तन्त्रं यथा सिद्धसारादि किंचिच्चातिविस्तरं यथा संग्रहादि। इदं तु तंत्रं नातिसंक्षेपविस्तरम् । अतिसंक्षेपोक्तं स्वल्पधियां नोपकृतये। तेषां हि यथोक्तागममात्रं श्रेयो न तु वाक्यार्थपर्यालोचनादधिकः परामर्शः। अतिविस्तीर्णं तु पाठावबोधानुष्ठानैस्तेषां दुःशक्यं स्यात् । तस्मादल्पमध्योत्कृष्टबुद्धिशिष्यहितार्थं तंत्रमेतदुद्दिष्टम् ।

वि०—अष्टांगहृदय की रचना का स्वरूप—अग्निवेश आदि के बनाये शास्त्र अतिशय विस्तृत एवं विषय बिखरे होनेके कारण उन तन्त्रों में से उत्तम सार भाग एकत्रित कर न अधिक विस्तृत, न अधिक संक्षिप्त अष्टाङ्गहृदय नामक ग्रन्थ की रचना की गई है।

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में सब विषयों का एक साथ उचित रूप से व्याख्यान किया गया है। इसी से यह ग्रन्थ अष्टांग आयुर्वेद का हृदय कहा गया है, 'हृदयमिव हृदयमेतत् सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः॥'

कानि पुनस्तान्यष्टांगानीत्याह—

कायबालग्रहोर्ध्वांगशल्यदंष्ट्राजरावृषान् ।
अष्टावङ्गानि[१] तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता ॥ ५ ॥

स०—कायेति। कायश्च बालश्च ग्रहश्चोर्ध्वाङ्गं च शल्यं च दंष्ट्रा च जरा च वृषश्चेतीतरेतरद्वन्द्वः। न सर्वस्याश्चिकित्सायाः कायाश्रितत्वात् कायशब्दोऽर्थादाक्षिप्त एव तत्किमर्थं कायशब्द उपादियते। ब्रूमः। प्रकर्षो यथाभिरूपाय कन्या देयेत्यत्राभिरूपग्रहणादभिरूपतमायेति प्रतिपाद्यते तथेहाऽपि प्रकृष्टो यः कायः सम्पूर्णधातुः प्रकृष्टा च यावस्था तया युक्तस्तत्संग्रहार्थः कायशब्द उपात्तः। तथा 'चिञ् चयने' इत्यस्माद्धातोर्व्युत्पादितः कायशब्दः। चीयते प्रशस्तदोषधातुमलैरिति कायः। तदेवं सर्वशरीरोपतापकानामामपक्वाशयस्थानोद्भावानां ज्वररक्तपित्तातिसारादीनां रोगाणां यत्रोपशमयोगो निगद्यते तत्कायचिकित्सानामांगम्। बालस्य त्वसंपूर्णधातुत्वाद् यौवनावस्थकायस्य प्रथमनिर्देशः। बालदेहेऽसंपूर्णबलधातुत्वादप्रकृष्टवयोऽवस्थाप्रभावात् तच्चिकित्सांगं पृथङ्निर्दिष्टम्। तथा बालौपयिकभेषजं धात्रीदुग्धलक्षणं दुग्धोद्भवव्याधिप्रशमादिनिर्देशाच्च। नन्वेवं वृद्धस्य प्रकृष्टवयोऽवस्थाया अभावात्तद्देहे कायचिकित्सेति कथं व्यपदेशः स्यात्। अत्र ब्रूमः। भूतपूर्वगत्या वृद्धदेहेन हि प्रकृष्टतयावस्था पूर्वमनुभूता। अतो भूतपूर्वगत्या तत्र कायचिकित्सोपदेशो युक्तः। एवं ग्रहचिकित्सा नाम—यत्र देवादिग्रहगृहीतानां प्राणिनां शांतिकर्म विधीयते। यत्रोर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां नेत्रकर्णघ्राणादिसंश्रितानामाश्चोतनशलाकादिनोपशमो वर्ण्यते तदूर्ध्वांगचिकित्सानामांगम्। अत्र च जन्मनः प्रभृति विचारोपदेशाद्बालचिकित्सैव प्राग्वक्तुं युक्ता। किंतु कायचिकित्सा प्राधान्यात्प्रागुपन्यस्ता। ततोऽनंतरं बालचिकित्सा। बालस्य च ग्रहसंबन्धाद् ग्रहचिकित्सा। ततः शरीरस्य मूलरक्षार्थमूर्ध्वांगचिकित्सा शालाक्यं नाम। ततः शस्त्रसाधनसामान्येन शल्यचिकित्सा। पीडाकरणसमानत्वात् दंष्ट्राचिकित्सा। दंष्ट्राविषात्मिका। विषेणाशु च मरणे संभाव्यमाने रसायनोपयोगो युक्त इति रसायनचिकित्सा। अथवा विषयस्य रसायनजेयत्वाद्रसायनकथनप्रस्तावः। ततोऽनंतरं वाजीकरणस्य भरणेन प्रस्तावः। तथा चाधीते ग्रंथकृत्। "वाजीकरणमन्विच्छेत्सततं विषयी पुमान्" इति। रसायनस्य पश्चादित्यर्थः। यत्राल्पदुष्टरेतसां तदाप्यायनप्रसादोपजननरूपा चिकित्सा क्रियते तद्वाजीकरणम्। एवमेतानि कायादीनि तस्यायुर्वेदस्याष्टावंगान्याहुर्वदंति। ब्रह्माऽऽत्रेयादय इति शेषः। येषु कायादिषु चिकित्सा संश्रिता व्यवस्थिता। चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते। प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेयभिधीयते। इति मुनिप्रोक्तलक्षणं नेह तंत्रकृद्व्यधत्त। चिकित्साशब्दादेवार्थस्य लब्धत्वात्। तथा च निर्देष्टुमाह। निंदाक्षमाव्याधिप्रतीकारविचारणासु सा निष्पद्यत इति। कितेर्धातोर्व्याधिप्रतीकार एवास्य व्युत्पादितत्वात् ॥ ५ ॥

वि०—आयुर्वेद के आठ अङ्ग—कायचिकित्सा, बाल (कौमारभृत्य), ग्रह (भूतविद्या), ऊर्ध्वाङ्ग (शालाक्य), शल्य, दंष्ट्रा (अगदतन्त्र), जरा (रसायन); वृष (वाजीकरण); आयुर्वेद के ये आठ अङ्ग हैं; इन आठ अङ्गों में सम्पूर्ण चिकित्सा का समावेश होता है ॥ ५ ॥

वक्तव्य-कायचिकित्सा—काय से अभिप्राय सम्पूर्ण शरीर का है; इसकी चिकित्सा कायचिकित्सा है। प्रायः रसादि संपूर्ण शरीर में फैले हैं; इनके दोष से ही ज्वर, रक्तपित्त

---

१. शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्रमिति।

(१) तत्र शल्यं नाम—विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्ठास्थिबालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च।

(२) शालाक्यं नाम—ऊर्ध्वं जत्रुगतानां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम्।

(३) कायचिकित्सा नाम—सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम्।

(४) भूतविद्या नाम—देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म बलिहरणादि-ग्रहोपशमनार्थम्।

(५) कौमारभृत्यं नाम—कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं, दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्।

(६) अगदतन्त्रं नाम—सर्पकीटलूतामूषिकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं, विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च।

(७) रसायनतन्त्रं माम—वयः स्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसामर्थ्यं च।

(८) वाजीकरणतन्त्रं नाम—अल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च ॥ ६ ॥

(—सुश्रुत, सू० १।४-१२)

आदि सब विकार होते हैं। अथवा काय शब्द का अर्थ अग्नि है—इसकी जिसमें चिकित्सा है, वह कायचिकित्सा है। कौमारभृत्य—बालकों का धारण-पोषण जिस शास्त्र में हो। भूतविद्या—जिसमें दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का वर्णन है; शालाक्य—इस चिकित्सा में मुख्यतः चिकित्सा शलाका से की जाती है; अथवा गले से ऊपर के सब अवयवों में आँख मुख्य है—आँख के नष्ट होने से मनुष्य के लिये दिन और रात में कोई अन्तर नहीं रहता उसके लिये सब अन्धेरा होता है, और आँख के रोग सबसे अधिक हैं, उन रोगों में शलाका का उपयोग होता है—इसीलिये कहा है 'शलाका पटलवेधनी, तस्याः कर्म शालाक्यम्'। शल्यचिकित्सा—का अर्थ शल्य से सम्बन्धित चिकित्सा से है; शल का अर्थ हिंसा करना है; उससे सम्बन्धित शास्त्र शल्यशास्त्र है। दंष्ट्राचिकित्सा—से अभिप्राय विषचिकित्सा से है। जराचिकित्सा—से अभिप्राय रसायन से है; रसायन का अपना लाभ-'लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्।'-अर्थात् प्रशस्त रस आदि धातुओं के लाभ का उपाय ही रसायन है; शरीर के रस आदि धातु उत्तम रहे तो जरा बुढ़ापा नहीं आती। वृषचिकित्सा—से अभिप्राय वाजीकरण से है। वाज का अर्थ शुक्र है, वह जिसमें रहता है, वह वाजी है; और जिस चिकित्सा से अवाजी (शुक्ररहित) को वाजी (शुक्रवाला) किया जाता है; वह वाजीकरण है।

कायस्य दोषधातुमलसमुदायत्वात्तानेव दोषादीन् निर्दिदिक्षुराह—

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ॥ ६ ॥

स०—वायुरिति। चः समुच्चये। कफो दोषमध्ये समुच्चीयते। इत्यनेन प्रकारेण समासतः संक्षेपात् त्रयो दोषाः। ननु प्रस्तुतत्वादिह धातुसंज्ञया वातादयो निर्देष्टुं न्याय्या न दोषसंज्ञया। अस्त्येवैतत् किंतु रसादिदूषणपूर्वकमेषां विकारकरणे सामर्थ्यमिति प्रदर्शनार्थं दोषसंज्ञया ते निर्दिष्टा न धातुसंज्ञया। नह्येते धातुरूपा जातु विरुद्धत्वं कुर्वते देहधारणवर्धकत्वात्। एते मुनिनापि चरकेण पूर्वं दोषसंज्ञयैव निर्दिष्टाः। तथा च यद्ग्रंथः। वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शरीरे दोषसंग्रह इति। वातपित्तकफा दोषास्त्रय एव समासत इत्येवं निर्देशे कर्तव्ये यदेषां पृथग्विभक्त्या निर्देशः कृतः स प्रधानत्वख्यापनार्थः। बहुवचनादेव त्रित्वे लब्धे त्रिग्रहणं नियमार्थम्। त्रय एव दोषा न चतुर्थोऽस्तीति। तंत्रांतरीया हि चतुर्थं दोषमीहंते। तेषां ह्ययमभिप्रायः। यथा दोषाणां स्थानलक्षणकार्यविकारचिकित्साद्युपदेशस्तथा रक्तस्यापि। तत्र स्थानं सर्वदेहव्यापित्वेऽपि प्लीहयकृती। लक्षणं च पद्मेंद्रगोपहेमादीत्यादि। कार्यं देहस्योत्पत्तिस्थिती। विकारो विसर्पप्लीहादि। चिकित्सा सिराव्यधादिकं कर्मेति। तदेतदसारम्। वातादयो ह्यस्य सतः कथं दोषत्वं कर्तुं पारयंति। यतः प्राधान्यादन्वर्थनामत्वाच्च वातादीनामेव दोषत्वं न रसादीनाम्। वातादयो हि स्वातंत्र्यात्प्रधानाः। दूषयंतीति दोषा इति तेषामेव चानुगतार्था संज्ञा प्रवृत्ता। रसाद्यास्तु पारतंत्र्यादप्रधानाः। ते च वातादिभिर्दूष्यंत इति दूष्याः। तस्माद्रक्तस्य दूष्यत्वं न दोषत्वम्। यद्येवं वातादीनामन्योन्यदूषणाद्दूष्यत्वं स्यात्। पित्तेन हि श्लेष्मा दूष्यत इति दृश्यते। यथा पांडुरोगनिदाने। पित्तप्रधाना इत्यारभ्य यावत् श्लेष्मत्वग्रक्तमांसानि प्रदूष्येत्यादि। तदत्र श्लेष्मा पित्तेन दूष्यते तथा श्लेष्मवद्रक्तस्याऽपि दोषत्वप्रसंग इति यो मन्येत तं प्रति ब्रूमः। विषम उपन्यासः। वातादयो हि सर्वदैव रसादीन् दूषयंति नतु रसादयः कदाचिदपि वातादीन् दूषयंति। वातादीनां तु मध्याद्यदि कश्चिद्दूष्यति स तेषामन्यतमेन। तथा च प्रकृतिलक्षणे वातप्रकृतेः पित्तप्रकृतेश्च यथा लक्षणं दृश्यते नैवं रक्तप्रकृतेः। तथा च तंत्रकारेण ज्वरादयो वातादिविशेषणविशिष्टा एवोक्ताः। यथा वातज्वरोऽयं पित्तज्वरोऽयं श्लेष्मज्वरोऽयम्। न तु रक्तज्वरोऽयमिति निर्दिष्टः। येऽपि रक्तजा विकारा विसर्पादयस्तेष्वपि घृतदग्धन्यायेन व्यपदेशो बोध्यः। यथा घृतस्यांतर्हितेनाग्निना दग्धो घृतदग्ध इत्युच्यते तद्वद्रक्तस्थैर्वातादिभिर्दोषैर्जातो रक्तजोऽयमित्युच्यते। यत्र क्वचिद्रक्तस्य दोषसंज्ञाकुष्ठचिकित्सितादौ दृश्यते सा संज्ञामात्रेणैव नासावनुगतार्था। तस्य दूष्यत्वेनैव प्रवृत्तिः। तथा चैवं पुरीषादीनामपि संज्ञामात्रेण व्यवहारो दृश्यते। यथा न घृतं बहुदोषाय देयं यन्न विरेचनं तेन दोषायेत्यादि। अत्र पुरीषस्य दोषत्वमुक्तम्। तथोदरचिकित्सिते चरकस्य ज्वरचिकित्सिते वा अस्य। दोषेण भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्नं न विपच्यते। तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानुपवासयेदिति। तदेवं वातादयस्त्रय एव दोषा न रक्तमिति स्थिरमेतत्समासतो विस्तरतस्तु संसर्गसन्निपातक्षयसमतादिभेदभिन्नास्तारतम्यपरिकल्पनया च कल्प्यमाना आनंत्यं यांति ॥ ६ ॥

वि०—संक्षेप में तीन दोष हैं-वायु, पित्त और कफ ॥६॥

वक्तव्य—ये वायु-पित्त-कफ शरीर को दूषित करते हैं इसीलिये दोष कहलाते हैं। रोगों के कारण दो प्रकार के हैं—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। इनमें अन्तरङ्ग कारण दोष और दूष्य के भेद से अर्थात् दूषित करने वाला और दूषित होने वाला-इस भेद से फिर दो प्रकार का है। इसमें दूषित करने वाला कारण-अर्थात् दोष संक्षिप्त रूप में वायु-पित्त-कफ भेद से तीन प्रकार का है। विस्तार रूप में वायु-प्राणादि भेद से; पित्त-भ्राजक आदि भेद से; कफ-आश्लेषक आदि भेद से अनेक प्रकार का है।

वायु—'वा' गतिगन्धनयोः-इस धातु से बनता है; शरीर में जिससे गति मिलती है, उसका नाम वायु है। पित्त शब्द-'तप' सन्तापे' धातु से बने है; शरीर में जिससे उष्णता होती है, वह पित्त है। कफ शब्द का पर्याय श्लेष्मा है—जो 'श्लिष'-आलिङ्गने' धातु से बनता है; अर्थात् जो एक परमाणु को दूसरे परमाणु से शरीर में चिपटाये रखता है।

विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्त्तयन्ति च।
ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ॥ ७ ॥

स०—विकृताः स्वभावप्रच्युता देहं घ्नंति। देहपदमत्र जीवितोपलक्षणार्थम्। जीवितेन विना कुर्वंतीत्यर्थः। अविकृता पुनर्देहं वर्तयंति प्रापयंति। विकृतानां दोषाणां प्रागुपन्यासस्तेषां प्रागुपन्यासस्तेषां प्रकृत्यवस्थाने नित्यं भिषजा यत्नवता भाव्यमिति सूचनार्थम्। अन्यथा महान्प्रत्यवायः स्यात्।

इदानीमेषां व्यापिनामपि विशिष्टस्थानं विवक्षुराह—

अधश्च मध्यश्चोर्ध्वं चाधोमध्योर्ध्वानि तानि संश्रय आश्रयो येषां तेऽधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः। हृच्च नाभिश्च हृन्नाभी तयोर्हृन्नाभ्योस्ते वातादयो व्यापिनोऽपि सर्वशरीरचरा अपि हृन्नान्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः। विशेषेणेति,वाक्यशेषः। किमिदं वाक्यशेषत्वं नाम। उच्यते। यस्मिन् खलुपदेऽनुच्चार्यमाणेऽर्थगतिं पश्यंत्याचार्यास्तच्छेषमित्युच्चारणकाले तेन विनाऽभिधेयसिद्धेर्व्याख्याकाले तु मंदबुद्धिव्युत्पत्तये व्याचक्षते। तत्र नाभेरधो वायोः स्थानम्। हृन्नाभ्योर्मध्ये पित्तस्य। हृदयादूर्ध्वं कफस्य। ननु हृन्नाभ्योरिति कथं निर्देशो यावता प्राण्यंगत्वादेकवद्भावे सनपुंसकमिति नपुंसकत्वे हृन्नाभि इति प्राप्नोति। अत्र ब्रूमः। प्राण्यंगानां समाहार एव द्वंद्व इत्यस्य प्रायिकत्वान्नैकवद्भावस्तदभावाच्च तदाश्रयं नपुंसकत्वं न भवति। तथा चोक्तम्। सर्वत्र द्वंद्वो विभाषयैकवद्भवतीति। दृश्यते चाऽन्यत्रापि। यथा चरुद्रभट्टः। कौटिल्यं कचनिचये कर-चरणाधरदलेषु रागस्ते इत्यादि। तथाऽस्यैव ग्रंथकृतः शिरःपृष्ठोरसां भूमिरिति। तथा जानुजंघोरुकट्यंसहस्तपादांगसंधिषु। तथा वायुसंध्यस्थिमज्जस्वित्यादि। तस्माद्धृन्नाभ्योरिति प्रयोगो न्याय्य एव ॥ ७ ॥

वि०—ये वात-पित्त-कफ यदि विकृत हो जायें तो शरीर का नाश करते हैं, और यदि ये अविकृत रहें हो शरीर को टिकाये रखते हैं। ये तीनों यद्यपि सारे शरीर में व्याप्त हैं, तथापि मुख्यतः हृदय एवं नाभि के निचले भाग में वायु का, हृदय और नाभि के मध्य भाग में पित्त का और हृदय एवं नाभि के ऊपर के भाग में कफ का स्थान है ॥ ७ ॥

वक्तव्य—वात-पित्त कफ-सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं; यथा-'न हि वातं शिराः काश्चिद्, न पित्तं केवलं तथा। श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः॥' (सु. शा. अ. ७।१६) इसी प्रकार चरक में 'सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिञ्छरीरे कुपिताऽकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति'। सारे शरीर में व्याप्त होने पर भी इनका स्थान-विभाग शरीर में है-यथा-'तेषां त्रयाणामपि दोषाणां शरीरे स्थानविभागा उपदेक्ष्यन्ते, तद्यथा-बस्तिः, पुरीषाधानं, कटिः, सक्थिनी, पादावस्थीनि, पक्काशयश्च वातस्थानानि, तत्रापि पक्काशयो विशेषेण वातस्थानम्। स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि; तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्। उरः शिरो ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मस्थानानि; तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम् ॥' (चरक० सू० अ० २०।८।)

इन वायु-पित्त-कफ की उपमा वायु, सूर्य और चन्द्र से दी गयी है; जिस प्रकार वायु, सूर्य और चन्द्र इस संसार को धारण कर रहे हैं, उसी प्रकार ये वातादि शरीर को धारण करते हैं; और जिस प्रकार वायु सूर्य एवं चन्द्र की विषम गति से अशुभ होता है; वैसे ही इन वातादि के विकृत होने से शरीर में विकार होता है; इसी से कहा है—'विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥' सुश्रुत में कहा है—'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः॥' (सु. सू. अ. २१।३।)

अप्येषां सकलकालव्यापिनामपि नियतकालत्वं दर्शयन्नाह—

वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्।

स०—वयश्चाऽहश्च रात्रिश्च भुक्तं च वयोऽहोरात्रिभुक्तानि तेषां क्रमाद्यथासंख्यं ते वातादयोऽन्तमध्यादिगा भवंति। अंतश्च मध्यश्चादिश्चांतमध्यादयस्तेषु गच्छंतीत्यंतमध्यादिगाः। अन्यत्रापि दृश्यत इति डः। तेनायमर्थो वयसः मनुष्यायुषोऽन्तः पश्चिमो भागो वायोः कोपकालः। मध्यो भागः पित्तस्य। आद्यो भागः कफस्यैवमह्नो रात्रेश्च योज्यम्। भुक्तमाहारस्तस्यांते जठराग्निसंयोगवशाद्रसानां जीर्णप्रायावस्था वायोः कोपकालः। मध्यो विदाहावस्था पित्तस्य। आद्यावस्था तु यस्यां मधुरीभाव आहारस्य तत्र कफस्य कोपकालः। यद्यपि चाहारस्य जठराग्निसंयोगवशाद्बह्व्योऽपि सूक्ष्मा अवस्थाः संभाव्यंते तथाप्येतासामेव सुतरामुपयोगित्वादिह निर्देशः। तथा हि। एता एव तिस्रोऽवस्थाः स्वकर्म दर्शयंति। वक्ष्यति हि। आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत्। फेनीभूतं कफं यातं विदाहादम्लतां ततः। पित्तमामाशयात्कुर्याच्च्यवमानं च्युतं पुनः। अग्निना शोषितं पक्कं पिंडितं कटुमारुतमिति।

वि०—आयु, दिन, रात और भोजन इनके अन्त में वायु और मध्य में पित्त तथा आदि में कफ होता है।

वक्तव्य—वय का अर्थ आयु है; आयु की वृद्धावस्था में वायु की अधिकता रहती है; युवावस्था में पित्त की और बाल्यावस्था में कफ की अधिकता रहती है; इसी प्रकार दिन के अन्त भाग में (सायंकाल) वायु की, मध्याह्न में पित्त की और प्रातःकाल में कफ की प्रधानता है। रात्रि के पश्चिम काल में वायु की, मध्य रात्रि में पित्त की और प्रारम्भ काल में कफ की प्रचुरता रहती है। भोजन के जीर्ण हो जाने पर वायु की; भोजन की पच्यमानावस्था में पित्त की और भोजन के पश्चात् तुरन्त कफ की अधिता रहती है।

अधुनाऽग्निस्वरूपं प्रस्तौति—

तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समै समः ॥ ८ ॥

स०—तैश्च वातादिभिः पुंसो यथाक्रमेणाग्निर्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्च भवेत्। वातादयश्च समुदिता एव शरीरजनने समर्था इत्यवश्यं सर्वैरेव भवितव्यम्। इह तु य एकस्य व्यपदेश-

स्तत्रोत्कर्षो द्रष्टव्यः। वातोत्कर्षेण विषमः पित्तोत्कर्षेण तीक्ष्णः कफोत्कर्षेण मंद इति। समैर्हान्युत्कर्षवर्जितैः समः। लक्षणमेषामंगविभागे शारीरे वक्ष्यति। यः पचेत्सम्यगेवान्नमित्यारभ्य यावच्चिरात्पचेदिति। यत्र तु द्वयोर्दोषयोरुत्कर्षत्वं तत्र सद्वैद्येन स्वधिया कल्प्यम्। यथा वातपित्तयोरुत्कर्षे वायोर्योगवाहित्वात्तीक्ष्णः। एवं वातकफयोरुत्कर्षे मंदः। कफपित्तयोस्तूत्कर्ष आहारविशेषवशात्कदाचित्तीक्ष्णः कदाचिन्मंद इति ॥ ८ ॥

वि०—दोषों का अग्नि से सम्बन्ध—वात के कारण अग्नि विषम, पित्त के कारण तीक्ष्ण और कफ के कारण मन्द होती है। वात-पित्त-कफ के सम होने से अग्नि भी सम होती है ॥८॥

वक्तव्य—अग्नि का रूप सुश्रुत में कहा है—'जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥' उसी से गीता में कहा है—'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥' इस अग्नि को प्रदीप्त करने वाला और बुझाने वाला वायु ही है। वायु के अपने स्वभाव एवं क्रिया के चंचल, अस्थिर और विषम होने से अग्नि भी चंचल, अस्थिर और विषम रहती है; अर्थात् कभी तो अन्न भली प्रकार पचता है, और कभी नहीं पचता; कभी भूख खूब लगती है, और कभी नहीं लगती। इसीसे कहा है—'यः कदाचित् सम्यक् पचति; कादिदाध्मानशूलोदावर्त्तातिसारजठरगौरवान्त्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा पचति-सविषमः।' (सु. सू. अ. ३५।२४) यह विषम अग्नि वायु से होती है—'यथा-वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नयः ॥' चरकः वि. अ. ६।१२। इस विषम अग्नि से रोग भी वातजन्य ही होते हैं और इस की चिकित्सा भी वातनाशक उपायों से होती है; यथा—विषमें स्निग्धाम्ललवणैः क्रियाविशेषैः प्रतिकुर्वीत।' जिस प्रकार चूल्हे में जलती अग्नि को यदि वायु लग रही हो तो कभी तो अग्नि चूल्हे में जलती है और कभी बाहर जलती है, इससे कभी तो पाक होता है और कभी नहीं होता।

तीक्ष्णाग्नि—पित्त के कारण होती है; क्योंकि पित्त स्वयं अग्नि है; जैसा कि—'न खलु पित्तव्यतिरिक्तोऽग्निरुपलभ्यते; आग्नेयत्वात्, पित्तेदहनपचनादिष्वभिप्रवर्त्तमानेऽग्निवदुपाचारः क्रियते; अन्तरग्निरिति। क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगात्।' (सु. सू. अ. २१।९)। पित्तलानां तु पित्ताभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः। चरकः (वि० अ० ६।१२।) जिनमें अग्नि कम होती है; उनमें अग्नि वर्धक औषध देकर अग्नि-पित्त को बढ़ाते हैं; और जिनमें पित्त की अधिकता होती है; उनमें अग्नि को कम करने वाले साधनों से पित्त को कम किया जाता है; उदाहरणार्थ-जैसे चूल्हे में यदि आग तेज हो गई हो तो अग्नि को बाहर खींचकर या वहीं पर ठण्ढा पानी डालकर उसको कम किया जाता है: इसी प्रकार पित्त को कम करने के लिये विरेचन या शीत उपचार करते हैं। इसी से सुश्रुत में कहा है—'तीक्ष्णे मधुरस्निग्धशीतैर्विरेकैश्च (प्रतिकुर्वीत); एवमेवात्यग्नौ ॥' (सु. सू. अ. ३३।२६)

मन्दाग्नि—कफ के कारण होती है; क्योंकि कफ स्वयं मन्द तथा अग्नि के विपरीत है; इसी से कहा है—'श्लेष्मा मधुरशीतलः' (सु. सू. अ. २१।१३।) इस के कारण थोड़ा भोजन भी देर में पचता है; यथा—यस्स्वल्पमप्युपयुक्तमुदर-शिरोगौरवं कासश्वासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्दः ॥' इसीसे चरक में कहा है = 'श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः (चरक. वि. अ. ६।१२।) जिस प्रकार राख या भस्म से ढँपी अग्नि अन्न का जल्दी परिपाक नहीं करती, उसी प्रकार कफ से आवृत्त अग्नि भोजन को नहीं पचाती। जिस प्रकार राख को हटाने के लिये वायु की जरूरत होती है; उसी प्रकार अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये वायुवर्धक कटु तिक्त-कषाय रसों का उपयोग अग्नि को बढ़ाने के लिये किया जाता है; इसी से कहा है—'मन्दे कटु-तिक्त-कषायैर्वमनैश्च प्रतिकुर्वीत ॥'

समाग्नि—वात, पित्त और कफ के समान होने से अग्नि भी समान होती है; यथा—'तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः' ॥ चरक। अर्थात् यदि चूल्हे में जलती हुई आग पर वायु का असर ठीक हो रहा हो और उसके ऊपर राख आदि नहीं पड़ी हो और आग तेज भी नहीं हो; तो भोजन ठीक समय पर भलीभाँति पक जायेगा और जलेगा भी नहीं। इसी प्रकार शरीर में यदि वात-पित्त-कफ समान हैं, तो अग्नि भी समान रहती है। इसी से संग्रह में कहा है 'यामैश्चतुर्भिर्द्वाभ्यां च भोज्यभैषज्ययोः समे। पाकोऽग्नौ, युक्तयोर्द्राक्च तीक्ष्णे मन्दे पुनश्चिरात् ॥" अर्थात् समाग्नि भोजन और औषध का परिपाक क्रमशः चार और दो याम में करती है; तीक्ष्ण अग्नि उससे भी जल्दी और मन्दाग्नि और भी देर में पाक करती है, विषय अग्नि कभी करती है और कभी पाक नहीं करती। इसी से सुश्रुत ने कहा है—'यो यथा-कालमुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स समः समैर्दोषैः ॥' (सु. सू. अ. ३५।२१४।)

अग्निचातुर्विध्यमुक्त्वा तदाश्रयस्य कोष्ठस्य चातुर्विध्यं विवक्षुराह—

कोष्ठः क्रूरो मृदुमध्यो मध्यः स्यात्तैः समैरपि।

स०—तैर्वातादिभिर्यथाक्रमं क्रूरमृदुमध्यलक्षणः कोष्ठो भवति। वातोत्कर्षेण क्रूरः। पित्तोत्कर्षेण मृदुः। कफोत्कर्षेण मध्यः। समैः पुनरेतैर्हान्युत्कर्षवर्जितैर्मध्य एव कोष्ठः। क्रूरादीनां तु लक्षणं वमनविरेचनविधौ वक्ष्यति। ननु समैर्वातादिभिः कथं मध्यकोष्ठता स्यादिति। ब्रूमः। समानां वातादीनां मध्ये द्वयोर्वातपित्तयोः स्वं स्वं क्रूरकोष्ठत्वमृदुकोष्ठत्वलक्षणाख्यं च विरुद्धं कर्म युगपत्कर्तुं न घटते। तृतीयस्तु सम एव कफः सोऽनयोर्मध्ये मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य स्थितो नैकेनापि सह विरुध्यते। अतएव तत्कार्यं मध्यकोष्ठतालक्षणं ते वातपित्ते

निषेद्धुं नैव घटेते। एवं च तेनावश्यमात्मीयं मध्यकोष्ठतालक्षणं कर्म कर्तव्यं यतो वातकर्मणः क्रूरकोष्ठतालक्षणस्य पित्तकर्मणो मृदुकोष्ठतालक्षणस्य च विरुद्धत्वात्। अतो मध्यकोष्ठतैव समैर्वातादिभिर्न्याय्या। इयांस्तु विशेषः। पूर्वो यो मध्यकोष्ठः सोऽवश्यं प्रमाणाधिकेन कफेन जन्यते। मध्यः स्यात्तैः समैरपीति समग्रहणलिंगात्। इतरस्तु मध्यकोष्ठः समदोषमध्यस्थितेन समेनैव स्वप्रमाणस्थितेन श्लेष्मणा भवतीत्यनया रीत्या हेतुभेदादन्यत्वम्। तथा मध्यकोष्ठयोर्लक्षणभेदोऽपि दृश्यते। यथा। श्लेष्माधिकश्छर्द्यते हि दुःखं विरिच्यते मंदकफस्तु सम्यगिति। तदयमत्रार्थः। श्लेष्माधिके मध्यकोष्ठे न सम्यग् विरेचित्वं समकफे तु मध्यकोष्ठे सुविरेचित्वमिति।

वि०—कोष्ठ—वायु के कारण मनुष्य का कोष्ठ क्रूर होता है; पित्त के कारण मृदु और कफ के कारण मध्यम होता है। वात—पित्त–कफ की समानता से भी मध्यम कोष्ठ होता है।

वक्तव्य—सुश्रुत में मृदु, मध्यम और क्रूर तीन कोष्ठ बताये हैं, यथा—'तत्र मृदुः, क्रूरो मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। तत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरेच्यते, बहुवातश्लेष्मा क्रूरः स दुर्विरेच्यः; समदोषो मध्यमः, स साधारणः।' इसमें कफ को योगवाही माना है, यथा–'वातोल्वणा स्याद् ग्रहणी, क्रूरकोष्ठस्य देहिनः। पित्तला मृदुकोष्ठस्य योगवाही तयोः कफः॥ वात-कफ से क्रूर; वात-पित्त या कफ-पित्त अथवा वात-पित्त-कफ से मृदु कोष्ठ होता है। सुश्रुत ने वात-कफ की अधिकता से जो क्रूरकोष्ठ कहा है वह संसर्गपरक है; ऐसा हेमाद्रि का मत है।

इदानीं प्रकृतिस्वरूपं प्रस्तौति—

शुक्रार्त्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेव विषक्रिमेः ॥ ९ ॥
तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्।
समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा, निन्द्या द्विदोषजाः ॥ १० ॥

स०—तैश्च वातादिभिस्तिस्रः प्रकृतयः पृथग्भवेयुर्हीनमध्योत्तमाः। प्रकृतिः शरीरस्वरूपम् शुक्रार्तवस्थैरिति शुक्रं पितुर्द्वित्रिबिन्दुकावस्थं रेतः। ऋतौ भवमार्तवं मातुर्द्वित्रिबिंदुकावस्थं शोणितम्। शुक्रं चार्तवं च तत्र तिष्ठन्तीति शुक्रार्तवस्थास्तैस्तथाविधैर्जन्मादौ गर्भाधानकाले जन्मप्रारंभे गर्भादावित्यर्थः। ननु च यदा वातादयोऽधिकाः शुक्रार्तवे तिष्ठंति तदा कुतः शरीरस्य निष्पत्तिर्भवतीति। ततश्च यो दोषाणामधिको भावः सैव विकृतिः। तत्कथं दोषा आधिक्यं प्राप्ताः प्रकृतेः कारणतामुत्संहते। विकृतत्वान्न हि विकृतिः कदाचित्प्रकृतेः कारणमिति वक्तुं युज्यते। कारणसदृशेन च कार्येण भवितव्यमित्याशंक्य सपरिहारं दृष्टान्तमाह। विषेणेव विषक्रिमेरिति। यथा विषेण जीवितनाशहेतुनास्य विषक्रिमेर्जन्म प्रकृतिसंभवो दृश्यते। तथा एतैर्दूषणस्वभावैरपि हि प्रमाणाधिकैर्दोषैः शुक्रार्तवस्थैरेव जन्मादौ शरीरस्य निष्पत्तिर्भवतीति। वातोत्कर्षेण हीना। पित्तोत्कर्षेण मध्यमा। कफोत्कर्षेणोत्तमा। सर्वासु प्रकृतिषु मध्ये या समधातुः प्रकृतिः सा समा श्रेष्ठोत्तमा चतुर्थी। समा धातवो यस्याः। धातुशब्दो दोषपर्यायः। धारणाद्धातव इति वचनात्। या मिश्रदोषजास्तिस्रः प्रकृतयस्ता निंद्या गर्हणीयाः अनारोग्यास्पदत्वात्। वातपित्तजा वातश्लेष्मजा पित्तश्लेष्मजा इति ॥ ९–१० ॥

वि०—प्रकृति का वर्णन—जिस प्रकार विष से विषकृमि उत्पन्न हो जाता है; उसी प्रकार जन्म के समय में शुक्र और आर्त्तव में स्थित-वात-पित्त-कफ से मनुष्यों की तीन प्रकृतियाँ बन जाती हैं। ये प्रकृतियाँ वायु के कारण हीन, पित्त के कारण मध्यम और कफ के कारण से उत्तम होती हैं। और जब वात-पित्त-कफ ये तीनों धातु समान होते हैं; तो सम प्रकृति होती है, यह इन-सब में श्रेष्ठ है। दो दोषों के संसर्ग से बनी अर्थात् वात-कफ, वात-पित्त; और पित्त-कफ-जन्य प्रकृतियाँ निन्दित होती हैं ॥ ९–१० ॥

वक्तव्य—जिस प्रकार विष के मारक होने पर उससे भी कृमि उत्पन्न हो सकता है; इसी प्रकार दूषित वातादि रोगोत्पत्ति करते हुए भी प्रकृति को बना सकते हैं। यह प्रकृति पिता के शुक्र तथा माता के आर्त्तव (बीज) के कारण बनती है। जैसा कि कहा है—'शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन॥' (सु. शा. अ. ४।६३)। इनमें कफ के सात्त्विक होने से उत्तम वायु के कारण हीन और पित्त से मध्यम प्रकृति होती है। इनमें समधातु समप्रकृति श्रेष्ठ है, जैसा कि चरक में कहा है—'समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः। यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः सा चेष्टरूपा, तस्मात् सन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः॥' (चरक वि. अ. ६।१३)।

प्रकृति शब्द यहाँ पर जन्मजात स्वभाव को बताने के लिये हैं; वास्तव में यह प्रकृति शब्द वाञ्छित स्वभाव के अर्थ में नहीं है, इससे चरक में कहा है 'न खलु सन्ति वातप्रकृतयः, पित्तप्रकृतयः, श्लेष्मप्रकृतयो वा। तस्य तस्य किल दोषस्याधिक्यात् सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां, न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थमुत्पद्यते तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति; सन्ति तु खलु वातलाःपित्तलाःश्लेष्मलाश्च; अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः॥' (चरक वि. अ. ६।१३)

इनमें भी जो मिश्रप्रकृतियाँ हैं, वे अनारोग्य होने से गर्हित हैं। प्रकृतियाँ मनुष्यों को हानि तो नहीं पहुँचाती, परन्तु वातप्रकृति को वातजन्य, पित्तप्रकृति को पित्तजन्य, और कफप्रकृति को कफजन्य रोग विशेषरूप में और प्रायः होते हैं। इसी से चरक में कहा है–'वातलाद्याः सदाऽऽतुराः।' मानस प्रकृतियों को सात्त्विक या महाप्रकृति कहते हैं।

कई आचार्य प्रकृति को पाञ्चभौतिक अर्थात् पञ्चभूतों से बनी मानते हैं। उनकी दृष्टि से प्रकृति—पार्थिव, आप्य, तैजस,

वायव्य और आकाशीय इस प्रकार से है। जैसा कि सुश्रुत में कहा है–'प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः; पवन-दहन तोयैः कीर्त्तितास्तास्तु तिस्रः। स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्। शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैः महद्भिः॥' (सु. शा. अ. ४।८०)

सब मिलकर सात दोषज प्रकृतियाँ होती हैं—यथा-'सप्त प्रकृतयो भवन्ति दोषैः पृथग्, द्विशः, समस्तैश्च।' इन प्रकृतियों में केवल शुक्र और शोणित के अतिरिक्त गर्भ को बनाने वाले दूसरे भाव भी कारण हैं; यथा–'शुक्रासृग्गर्भिणी-भोज्यचेष्टागर्भाशयर्त्तुषु। यः स्याद्दोषोऽधिकस्तेन प्रकृतिः सप्तधोदिता॥' इसी प्रकार चरक में 'मातृतः पितृत आत्मतः सात्म्यतो रसतः सत्त्वत इत्येतेभ्यो भावेभ्यः, समुदितेभ्यो गर्भः सम्भवति।' (चरक शा. अ. ४।४)

तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।

स०—तत्रेति निर्धारणे। तत्र तेषु दोषेषु मध्येऽनिलो वायू रूक्षो लघुः शीतः खरो मृदुः सूक्ष्मः स्रोतः प्रचारित्वात्। चलो गमनशीलो नैकत्र तिष्ठतीति। नन्वनुष्णाशीतो वायुः काणादैः पठितः। इह योगवाहानुज्ञानादनुष्णाशीत एवेष्यत इति। योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयादिति। तथा। पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मयुते भवेत्। दाहः पित्तयुत इति। उच्यते। सत्यमेतदनुष्णाशीत एव वायुः। तस्य योगवाहित्वेऽपि तावन्मात्राद्दाहोदयाच्छैत्यं स्वाभाविकं न विनश्यति। शीत-गुणव्यावर्णने चेदं प्रयोजनमुष्णेनायमुपशाम्यतीति प्रति-पत्त्यर्थम्।

वि०—वायु के गुण—वायु—रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म और चञ्चल है।

वक्तव्य—रूक्ष-स्नेह के विपरीत, लघु-गुरु के विपरीत, शीत-उष्ण के विपरीत, खर-कर्कश, सूक्ष्म होने से सूक्ष्म-स्रोतों में जानेवाला, चंचल-अस्थिर। सुश्रुत में कहा है—'अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः। तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च॥ अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट्। आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः॥' चरक में–'वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः।' (च. वि. अ ८।९८)। इन गुणों से युक्त वायु शरीर में भी इन्हीं गुणों को करती है।

इसके अतिरिक्त वायु का स्पर्श वैशेषिकदर्शन में अनुष्णाशीत मानते हैं। आयुर्वेद में इसके लिये योगवाही गुण वायु में माना है; जैसा कि—'योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः, शीतकृत्सोम-संश्रयात्॥' (चरक चि. अ. ३।३८)। 'पवने योगवाहित्वा-च्छीतं श्लेष्मयुते भवेत्। दाहः पित्तयुते॥' अ. हृ. नि. अ. २।४८॥ शीत गुण कहने से यही अभिप्राय है कि उष्ण से वायु का शमन होता है।

पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्॥ ११॥

स०—सस्नेहमीषत्स्निग्धम्। स शब्द ईषदर्थे। यथा। सतिक्ता यासशर्करा। एवमीषत्स्नेहो यस्य तत्सस्नेहम्। तीक्ष्णं शीघ्रकारि मंदविपरीतं सूचीव भिनत्ति। उष्णं लघु। विस्रं दुर्गन्धि मत्स्यामगंधि। सरं व्याप्तिशीलं सरणशील-मूर्ध्वाधः प्रवर्तते न स्थिरमास्ते शकृद्विस्रंसि। द्रवं च॥ ११॥

वि०—पित्त के गुण—पित्त-ईषत् स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, विस्र, सर और द्रव है॥ ११॥

वक्तव्य—तीक्ष्ण-शीघ्रकारी, मन्द के विपरीत; विस्र–दुर्गन्धि, मछली के समान कच्ची गन्ध वाला, सर—बहने वाला। चरक में—'पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवमम्लं कटुकं च॥' पित्त विदग्धावस्था में अम्ल है; वैसे कटु है; जैसा कि सुश्रुत में—'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च। उष्णं कटु सरं चैव विदग्धं चाम्लमेव च॥'

स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः।

स०—स्निग्धगुणयोगात्स्निग्धः शीतोऽनुष्णो गुरुर्लघुर्न भवति। मंदश्चिरकारी तीक्ष्णविपरीतः। श्लक्ष्णोऽपरुषः। मृत्स्नो मृद्यमानोऽङ्गुलिग्राही पिच्छिलगुणयुक्तः चकचकाय-मानः। स्थिरो व्याप्तिशीलः। एवं तद्गुणयोगात् गुणगुणिनो-रभेदोपचाराद्वातादयो गुणतो निर्दिष्टाः।

वि०—कफ के गुण—कफ-स्निग्ध, शीतल, गुरु, मन्द, श्लक्ष्ण, मृदु और स्थिर है।

वक्तव्य—स्निग्ध—स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकर-स्तथा।' शीतल-'ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाह-जित्।' गुरु-'सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः। मन्द–देर में काम करने वाला। श्लक्ष्ण-चिकना, मृत्स्न-मृदु। स्थिर–न फैलने वाला। चरक में—श्लेष्मा हि स्निग्ध-श्लक्ष्ण-मृदु-मधुर-सार-सान्द्र-मन्द-स्तिमित-गुरु-शीत-पिच्छिलाच्छः॥' सुश्रुत में—'श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च। मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः॥ (सु. सू. अ. २१।१५)।

एषां च मिश्रीभूतानां तन्त्रव्यवहारार्थं संज्ञाद्वयमाह—

संसर्गः सन्निपातश्च तद्द्वित्रिक्षयकोपतः॥१२॥

स०—एतदुक्तं भवति। द्वयोः स्वप्रमाणाधिकयोः क्षीण-संयोगः संसर्गः। त्रयाणां दोषाणां वृद्धानां योर्वा क्षीणानां वा संयोगः सन्निपातः॥ १२॥

वि०—क्षीण हुए या कुपित हुए-दो दोषों का मिलना संसर्ग है, और क्षीण हुए या कुपित हुए तीन दोषों का मिलना सन्निपात है॥ १२॥

वक्तव्य—संसर्ग का अभिप्राय दो दोषों का मिलना और सन्निपात का अर्थ-तीन दोषों का मिलना है। इन अवस्थाओं में, क्षीणावस्था में, कुपितावस्था में मिश्रण होना ही आचार्य

को यहाँ अपेक्षित है। एक दोष बढ़ा हो, दूसरा क्षीण हो या एक साम्यावस्था में हो और दूसरा असाम्यावस्था में हो—इसकी विवेचना दोषभेदीय अध्याय में की जायेगी।

दोषानुक्त्वा धातव उच्यन्ते—

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।

सप्त दूष्याः—

स०—रसादयः सप्त धातुसंज्ञाः शरीरधारणाद्धातवस्ते च दूष्याः। वातादिभिर्दूष्यंत इति दूष्याः। यस्माद्वातादीनां दूषणस्वभावत्वाद्या दोषसंज्ञा सान्वर्थसंज्ञा। दूषयन्तीति दोषाः। अतोऽवश्यं ते दूष्यमपेक्षन्ते। कर्म विना कर्तुः क्रियाया असंभवात्। कर्तारं विना कर्मणो न कर्मत्वम्। एवं दोषैर्विना रसादीनां दूष्यनाम न पतति। तैर्विनाऽपि वातादीनां दोषनाम न। तस्मात्परस्परापेक्षत्वादनयोर्दूष्य-दोषयोर्दूष्यत्वेन च संज्ञालाभः।

वि०—दोषों को कह कर दूष्यों को कहते हैं—रस, रक्त, मांस, मेद अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातुयें हैं, इनको दूष्य कहते हैं।

वक्तव्य—धातु-शरीर का धारण करने से इनको धातु कहते हैं; और वात आदि दोषों से दूषित होने के कारण इन को दूष्य कहते हैं।

ओज सभी धातुओं का सार है और उसके द्वारा भी शरीर-धारण किया जाता है; यथा-‘तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खलु ओजः, तदेव बलमित्युच्यते-स्वशास्त्रसिद्धान्तात्।’ (सु. सू. अ. १५।१९)। शरीर का धारक होने पर भी उसको जो धातु नहीं कहा उसका मुख्य कारण यही है कि अन्य धातु शरीर का धारण और पोषण दोनों करते हैं जबकि ओज केवल धारण करता है, पोषण नहीं।

मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च ॥ १३ ॥

स०—मूत्रशकृदादयो मला उच्यन्ते। अपिचेतिशब्दाद् दूष्याश्चेति। न केवलं रसादय एव दूष्या यावन्मलास्तेऽपि धात्वादिभिर्दूष्यन्त इति। एवं च रसादीनां दूष्यसंज्ञा धातु-संज्ञा च। तथा विण्मूत्रादीनां मलसंज्ञा दूष्यसंज्ञा चेति दोषधातुमलनिर्देशेन देहो व्याख्यातः। तथा चोत्तरग्रंथे दोषधातुमला मूलं सदा देहस्येति ॥ १३ ॥

वि०—मूत्र, शकृत् (पुरीष), स्वेद आदि मल हैं॥१३॥

वक्तव्य—ये शरीर को मलिन करते हैं, इसी से इन को मल कहते हैं। खाये हुए अन्न से जहां शरीर का पोषक रस उत्पन्न होता है, वहाँ इसके किट्ट भाग से मल बनता है। यथा—‘तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टञ्च मलाख्यमभिनिर्वर्त्तते। किट्टात् स्वेद-मूत्र-पुरीष-वात-पित्त-श्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकाऽऽस्यलोमकूपप्रजननमलाः केश-श्मश्रु-लोम-नखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति।’ (चरक. सू. अ. २८)। इनके निकलने के मार्ग-‘द्वे अधः सप्त शिरसि खानि स्वेदमुखानि च। मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः ॥ मलवृद्धिं गुरुतया लाघवान्मलसंक्षयम्। मलायनानां बुध्येत सङ्गोत्सर्गादतीव च ॥’ (च. सू. अ. ७।४२ ४३)। इन मलों में मूत्र और शकृत्-अन्न के मल हैं। कफ-रस का, पित्त रक्त का, नासिका आदि छिद्रों का मल मांस का; रोमकूपों से निकलने वाला स्वेद-मेद का मल; नख-रोम अस्थि के मल; नेत्र और त्वचा का स्नेह मज्जा का मल है, शुक्र निर्मल है।

तस्य च देहस्य यथा सन्ततं केनचिदुपायेन परिपालनं निष्पद्यते तमुपायं दर्शयितुमाह—

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः।

स०—सर्वेषां दोषधातुमलादीनां शरीराश्रितानां समानैस्तुल्यसद्भावैर्वृद्धिः स्वप्रमाणाधिक्यम्। विपरीतैर्विशिष्टतयाऽव्यवस्थितैर्विपर्ययः क्षयः। अयनमयोगतिर्विपरीता गतिविपर्ययोऽपचयः। सामान्यविशेषैर्द्रव्यगुणकर्मभेदेन त्रिप्रकारोऽधिगच्छति। तथा चाहुः। सर्वेषां सर्वदा वृद्धिस्तुल्यद्रव्यगुणक्रियैः। भावैर्भवति भावानां विपरीतैर्विपर्ययः। द्रव्यतो यथोक्तं रक्तमापद्यते रक्तेन मांसं मांसेन पार्थिवम्। तथा सलिलात्मकं पयस्तदात्मकमेव श्लेष्ममाणमभिवर्धयति। तद्वत्क्षीरजातं घृतं शुक्रं तथा जीवंतीकाकोल्यादयः सोमात्मानो द्रव्यविशेषाः सौम्यधात्वेककारणानि स्नेहबलपुंस्त्वौजांसि मरीचपंचकोलभल्लातकादयो बुद्धिमेधान्यादीन् संवर्धयंति। गुणतश्चोचमोचखर्जूराणि पार्थिवानि द्रव्यतो निर्दिष्टान्यपि श्लेष्माणमुदकात्मकमभिवर्धयंति। स्निग्धगुरुशीतादिगुणसामान्यात्। कर्मापि त्रिविधं कायवाङ्मनोव्यापारात्मकम्। तत्र कायिकानि धावनलंघनप्लवनादीनि चलत्वसामान्याद्वायोर्वृद्धये। वाचिकानि भाषाध्ययनगेयादीनि। मानसं मनोव्यापारश्चिताकामशोकभयानि। तान्यपि मनसः क्षोभणहेतुत्वाद्वायोर्वृद्धिकराणि। तथा संतापक्रूरत्वसामान्यात्क्रोधेर्ष्यादि पित्तस्य। स्वप्नालस्यशय्यासुखादीनि स्थैर्यसामान्यात्कफस्येति। विपर्ययस्तु क्षयाय। यथाह। द्रव्यतो गवेधुकान्नं कर्शनीयानां तत्र वातात्मिकया गवेधुकया पार्थिवानां मांसादीनां कृशिमा क्रियते। तथा तैजसेन क्षारेण श्लेष्मणः। गुणतो यथा। आरनालमौदकं श्लेष्माणं तद्विपरीतैर्लघुरूक्षोष्णतीक्ष्णविशदगुणैः क्षपयति। कर्मतो निद्रालस्यसौमनस्यानि सपरिस्पंदं वातमपरिस्पंदस्वभावतयाऽपचिन्वंति। तथा परिस्पंदरूपाश्रिताव्यवायव्यायामा मंदपरिस्पंदवैपरीत्यात्कफमिति।

वि०—इन सब दोष, दूष्य और मलों की समान कारणों से वृद्धि होती है, और विपरीत कारणों से ह्रास होता है।

वक्तव्य—इनमें जो जिसके समान होता है, वह उसको बढ़ाता है; यथा-रक्त से रक्त बढ़ता है; मांस से मांस बढ़ता है और विपरीत से ह्रास होता है; इसीसे कहा है—‘सर्वेषां

सर्वदा वृद्धिस्तुल्यद्रव्यगुणक्रियैः । भावैर्भवति भावानां विपरीतैर्विपर्ययः ॥' इसी प्रकार चरक में-'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।' सुश्रुत में-'तत्रापि (रसादिक्षयेऽपि) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतीकारः) ।' द्रव्य से वृद्धि-रक्त-रक्त से बढ़ता, मांस-मांस से बढ़ता है; कर्म से वृद्धि-दौड़ने कूदने आदि से वायु बढ़ती है; बोलने गाने से वायु बढ़ती है; गुण से वृद्धि–केला-खर्जूर आदि द्रव्य अपने गुण से कफ को बढ़ाते हैं—क्योंकि ये स्निग्ध, गुरु, शीत हैं। द्रव्यों से क्षय-गवेधुक (थई-गुजराती) पार्थिव होने पर भी रूक्ष होने से शरीर को कृश करता है। इसी से कहा है—'गवेधुकान्नं कर्शनीयानां श्रेष्ठतमः'। कर्म से निद्रा, आलस्य, मन की प्रसन्नता, ये अगतिशील होने से गतिमान वायु को शान्त कर देते हैं। गुण से-काञ्जी-अपने उष्ण और रूक्ष गुण से जलीय श्लेष्मा को कम करती है।

वर्णितमेव वृद्धिः समानैः क्षयो विपरीतैरिति। तौ तु वृद्धिक्षयौ यतो वाय्वादीनां भवतस्तत्प्रत्यायनार्थमाह—

रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः ॥१४॥
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते तु यथापूर्वं बलावहाः।

स०—स्वाद्वादयः षड्रसा रसनेंद्रियग्राह्यत्वाद्रसास्ते च रसा द्रव्यं पंचभूतात्मकमाश्रिता यथापूर्वं च बलावहाः। यो यः पूर्वो यथापूर्वं बलावहा बलप्रापकाः। बलमावहंति प्रापयंतीति यावत्। तस्मात्सर्वेभ्यो मधुरो रसः प्रकर्षेण देहिनां बलकरः कषायस्तु सर्वेभ्यो जघन्यबलावहः। तत्र स्वादुर्मधुरो घृतगुडादिः। अम्लोऽम्लिकामातुलुंगादिः। लवणः सैंधवादिः। तिक्तो भूनिम्बादिः। ऊषणः कटुको मरीचादिः। कषायो हरीतक्यादिः। स्वादुर्मधुरपर्यायः। ऊषणः कटुकपर्यायः यथा त्र्यूषणं त्रिकटुकमुच्यते। कषाय एव कषायको यथा कटुरेव कटुकः। षडिति षडेव न न्यूना अधिका वा। यद्यपि ते रसा गुणाः स्वाद्वादिभेदतस्तथा संसर्गतस्तथाऽनुरसतस्तारतम्यपरिकल्पनावशतोऽपि भिद्यमानरूपा अपि षट्त्वं नातिवर्तंते ॥ १४ ॥

वि०—रस—छ रस हैं; यथा—स्वादु (मधुर); अम्ल, लवण, तिक्त, ऊषण (कटु) और कषाय। ये छ रस द्रव्य में आश्रित हैं, और ये रस पूर्व क्रम से अधिक बल देने वाले हैं ॥ १४ ॥

वक्तव्य—साधर्म्य और वैधर्म्य या वृद्धि और क्षय को बताने के लिये द्रव्य के धर्मों को कहते हैं-ये धर्म-रस, प्रभाव वीर्य, विपाक और गुण के भेद से पाँच प्रकार के हैं। इनमें—-रस'-रसना-इन्द्रिय के ग्राह्य होने से रस कहा जाता है; जैसा कहा है—'रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः ॥' अर्थात् रस रसना का विषय है; इसका आरम्भक द्रव्य जल और पृथ्वी हैं और इसके बनने तथा विशिष्टता में पञ्च महाभूत कारण हैं। इन छः रसों में पूर्व क्रम से बलाधिक्य है; अर्थात् सब रसों में अधिक बल देने वाला मधुर रस है; उससे उतर कर अम्ल, फिर लवण, फिर तिक्त, फिर कटु और सबसे कम बल देने वाला कषाय रस है। इनमें घी-गुड़ आदि मधुर रस, इमली, काञ्जी आदि अम्ल; सैन्धव आदि लवण; चिरायता, नीम आदि तिक्त; मिर्च, कालीमिर्च, सोंठ, पीपल ऊषण (कटुरस); आम की गुठली-जामुन आदि कषाय रस हैं।

तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम् ॥१५॥
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते।

स०—तत्र तेषु रसेषु मध्य आद्यास्त्रयः स्वाद्वम्ललवणा मारुतं घ्नन्ति शमयंति अन्ये तु तिक्तोषणकषायास्तमेव चानिलं कुर्वते कोपयन्ति। तिक्तादयस्त्रयस्तिक्तोषणकषायाः कफं घ्नन्ति प्रशमयन्ति। अन्ये मधुराम्ललवणास्तमेव कफं कुर्वते। कषायतिक्तमधुराः पित्तं घ्नंति। अन्ये स्वम्ललवणकटुकास्तदेव पित्तं कुर्वते। तेनेदमुक्तं भवति। मधुरो वातपित्तघ्नः श्लेष्मकरः। अम्लो वातं हंति कफपित्ते जनयति। लवणो मारुतं हंति कफपित्ते तु कुरुते। तिक्तः कफपित्ते नाशयति वातं तु जनयति। ऊषणः कफं नाशयति वातपित्ते तु जनयति। कषायः कफपित्ते हंति वातं तुं करोतीति ॥ १५ ॥

वि०—रसकर्म—इनमें पहले तीन रस अर्थात् मधुर, अम्ल और लवण–ये रस वायु का शमन करते हैं; और, तिक्त, कटु और कषाय–ये तीन रस कफ का शमन करते हैं। कषाय, तिक्त, मधुर- ये तीन रस-पित्त का शमन करते हैं। इनसे बाकी रहे रस वात, पित्त, कफ को बढ़ाते हैं; अर्थात्–तिक्त, कटु, कषाय वायु को बढ़ाते हैं; मधुर, अम्ल और लवण कफ को; अम्ल, लवण और कटु–ये रस पित्त को बढ़ाते हैं ॥ १२ ॥

वक्तव्य—मधुर-रस वात-पित्तनाशक, कफकारक है। इसी प्रकार अम्ल रस-वातनाशक, कफ पित्तकारक। लवण रस-वातनाशक, कफ-पित्तकारक। तिक्तरस-कफ-पित्तनाशक, वातकारक। कटु-कफनाशक, वात-पित्तकारक। कषाय-कफ-पित्तनाशक और वायुकारक है। इसी से चरक में कहा है—'तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति; त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा—कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति; मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति; कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति; मधुरतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति। मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति; कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति ॥'

ये रस किस प्रकार से दोषों को बढ़ाते एवं शमन करते हैं-इसके लिये चरक में बताया है कि-'रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति, ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमाना इति। एतद्व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम् ॥' (चरक वि. अ. १७) ॥

एषां च रसानामाश्रयो द्रव्यं तच्च त्रिप्रकारमित्याह—

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा ॥ १६ ॥

स०—इत्यनेन प्रकारेण शमनादिभेदेन त्रिधा त्रिप्रकारं द्रव्यम्। अन्येन प्रकारेण द्विधाऽथवाऽनेकधा। इतिशब्दः प्रकारार्थेऽभिहितः। यत्तु वातादीन् दोषान् शमयति तच्छमनम्। यथा तैलं घृतं माक्षिकम्। तत्र तैलं स्नेहोष्ण्यगौरवयोगाद्वातं तद्विपरीतगुणं शमयति। सर्पिर्माधुर्यशैत्यमांद्यगुणयोगात्तद्विपरीतगुणं पित्तम्। मधु च रौक्ष्यतैक्ष्ण्यकषाययोगात्तद्विपरीतगुणं कफम्। यद्वातादीन् दोषान् रसादीन्धातून् मूत्रादीन्मलांश्च कोपयति तत्कोपनम्। यथा यवकपटलमाषमत्स्यासमूलकसर्षपमंडकदधिकिलाटविरुद्धमत्स्यपयः प्रभृति। दोषादीनां मलपर्यन्तानां स्वप्रमाणस्थितानां साम्यानुवृत्तिहेतुर्यद्द्रव्यं तत्स्वस्थेभ्यो हितम्। यच्च स्वास्थानुवृत्तिं करोति। ऋतुचर्याध्याये सेव्यत्वेनोक्तम्। तथा मात्राशितीयाध्याये रक्तशालिषष्टिकयवगोधूमजांगलमांसजीवंतीशाकदिव्योदकक्षीरादि। तथा यदूर्जस्करं रसायनवाजीकरणं सर्वदा शीलनीयत्वेन निर्दिष्टम् ॥ १६ ॥

वि०—द्रव्य के भेद—द्रव्य; शमन करने वाला: कुपित करने वाला और स्वस्थ के लिये हितकारी—इस प्रकार से तीन प्रकार का है ॥ १६ ॥

वक्तव्य—यहां पर यद्यपि द्रव्य तीन प्रकार का कहा गया है; परन्तु वास्तव में ये तीन भेद द्रव्य के प्रभाव के हैं—किसी द्रव्य का प्रभाव शमन करने वाला होता है; किसी का कुपित करने वाला और किसी का स्वास्थ्य के लिये हितकारी होता है। इनमें शमन द्रव्य—कुपित वातादि का शमन करता है; जैसे तेल स्नेहन, उष्ण और गुरु होने से अपने से विपरीत गुण वाली वायु का शमन करता है। घी-मधुर, शीत और मन्द गुण होने से अपने से विपरीत गुण वाले पित्त का शमन करता है; मधु रूक्ष, तीक्ष्ण, कषाय होने से अपने से विपरीत गुण कफ का शमन करता है। जो द्रव्य वातादि दोष, रसादि धातुओं तथा मूत्रादि-मलों को कुपित करता है; वह कोपन द्रव्य है यथा-यवक, माष, मछली, मूली, सरसों आदि। दोषों से लेकर मलपर्यन्त सब धातुओं को उनके अपने प्रमाण में जो स्थित रहने देता है—वह स्वास्थ्य के लिये हितकारी है; यथा—लाल चावल, साठी, जौ आदि।

हेमाद्रि की मान्यता है कि यह द्रव्यों के प्रभाव का वर्णन है। जो द्रव्य प्रभाव से वातादि का शमन करता है, वह शमन द्रव्य है; यथा—मधुर एवं शीतल होने पर भी जीवन्ती कफ का शमन करती है। रस एवं विपाक दोनों में कटु, गुरु एवं स्निग्ध होने पर भी लहसुन कफ और वात का शमन करता है। कोपन द्रव्य—गुरु, उष्ण, स्निग्ध एवं मधुर भी फाणित (राब) वायु को कुपित करता है; इन्हीं गुणों वाला उड़द पित्त और कफ को कुपित करता है। स्वस्थहित द्रव्य—गुरु, मधुर, रूक्ष और शीत गुण वाला जौ स्वस्थ पुरुष में पित्त का नाश नहीं करता। गुरु, मधुर, स्निग्ध और शीत दुग्ध भी स्वस्थ पुरुष में कफ को नहीं बढ़ाता। आगे कहेंगे-'रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम् ॥'

तस्य वीर्यमाह—

उष्णशीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम्।

स०—तत्र तस्मिन् द्रव्ये वीर्यं द्विविधम्। विंशतेर्गुणानां मध्याद्द्वावुष्णशीतौ तदुत्कर्षाद्वीर्यमिति सर्वायुर्वेदप्रसिद्धौ द्वावेव गुणौ शीतोष्णौ वीर्यकरणहेतू। वीर्यं शक्तिः। उष्णगुणोत्कर्ष उष्णगुणातिशय एव कश्चिदुष्णवीर्याख्यां लभते। तथा शीतगुणोत्कर्षः शीतगुणातिशय एव शीतवीर्याख्याम्। यद्यपि नानागुणकमपि द्रव्यं तथाप्यग्नीषोमात्मकत्वाज्जगतो द्विधैव वीर्यम्।

वि०—वीर्य—उष्ण और शीत इन दो गुणों की उत्कर्षता से वीर्य दो प्रकार का है।

वक्तव्य—यद्यपि कुछ लोग शीत, उष्ण, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, और मृदु, तीक्ष्ण ये आठ वीर्य मानते हैं; 'तीक्ष्णं रूक्षं मृदु स्निग्धं लघूष्णं गुरु शीतलम्। वीर्यमष्टविधं केचित् केचिद् द्विविधमाश्रिताः ॥' (च. सू. अ. २६) तथापि शक्ति की उत्कर्षता से वीर्य दो प्रकार का ही है शीत और उष्ण, क्योंकि संसार आग्नेय और सौम्य है 'अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः। शक्ति के उत्कर्ष का नाम ही वीर्य है; शक्ति का उत्कर्ष होने से कार्य हो सकता है; इसी से चरक में कहा है-'वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किंचित्, सर्वा वीर्यकृताः क्रियाः ॥' बिना वीर्य के या शक्ति के कोई काम नहीं कर सकता।

द्रव्यविपाकमाह—

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः ॥ १७ ॥

स०—विपाकस्त्रिविधः सर्वद्रव्याणां परिणामकालाभावी कार्यानुमेयो जाठराग्निसंबंधाद्रसस्य स्वरूपांतरप्रादुर्भावः। स त्रिधैव। रसषट्त्वेऽपि न षोढा। तेन किंचित्स्वादुपाकं किंचिदम्लविपाकं किंचित्कटुविपाकं द्रव्यम्। तत्र मधुरलवणयोर्मधुरो विपाकः। अम्लस्याम्लः। तिक्तकटुकषायाणां कटुकः। स च कार्यानुमेयः। तथा च वक्ष्यति—'जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसांतरम्। रसानां परिणामांते स विपाक इति स्मृतः ॥' अतएव सोपसर्गः पाकशब्द उपात्तः। विशिष्टः पाको विपाको न पाकमात्रस्वरूपः। तथा च भट्टारकचरकमुनी—'रसो विपाके द्रव्याणां विपाकः कर्मनिष्ठया। वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते।' एवं कर्मनिष्ठानुमत एकरूपावस्थो जाठराग्निसंयोगाद्यो रसानां रसांतरोद्भवः स एव विपाको न यो जाठराग्निसंयोगमात्राद्रसानामनेकावस्थः

प्राङ्मधुरोऽनंतरं स एव पच्यमानोऽम्लस्ततो विपच्यमानः स एव कटुविपाकः ॥ १७ ॥

वि०—विपाक—तीन प्रकार का है; स्वादु, अम्ल और कटु ॥१७॥

वक्तव्य—विपाक का अर्थ परिपाक के बाद उत्पन्न दूसरा रस है—यह जठराग्नि की सहायता से होता है; जैसा कि कहा है—'जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥' विपाक का अर्थ विशिष्ट पाक है अर्थात् इस पाक के उपरान्त फिर कोई पाक नहीं होता। इसीलिये चरक मुनि ने कहा है—'रसो निपाते द्रव्याणां विपाकः कर्मनिष्ठया। वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते ॥' कर्म की निष्ठा से विपाक का ज्ञान होता है।

कोई आचार्य प्रत्येक रस का विपाक मानते हैं; और सुश्रुत ने मधुर और कटु दो ही प्रकार का विपाक माना है—यथा-'द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः। निर्वतन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥ तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु। निवर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥' (सु. सू. अ. ४०)। अम्लपाक को स्वीकार न करने में युक्ति दी है कि-'पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैति।' (सु. सू. अ. ४०)।

कटु-तिक्त-कषाय रस का कटु विपाक, अम्लरस का अम्ल; और मधुर तथा लवण रस का मधुर विपाक होता है।

द्रव्यस्य गुणानाह—

गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः।
गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥ १८ ॥

स०—तत्र द्रव्ये गुर्वादयो दश गुणाः सविपर्यया विंशतिर्ज्ञेयाः। एषां क्रमाद्विपरीता लघुतीक्ष्णोष्णरूक्षखरद्रवकठिनसरस्थूलपिच्छिलाः। गुरुस्तद्विपर्ययो लघुः। मंदस्तद्विपर्ययस्तीक्ष्णः। हिमस्तद्विपर्ययस्तीक्ष्णः। हिमस्तद्विपर्यय उष्णः। स्निग्धस्तद्विपर्ययो रूक्षः। श्लक्ष्णस्तद्विपर्ययः खरः। सांद्रस्तद्विपर्ययो द्रवः। मृदुस्तद्विपर्ययः कठिनः। स्थिरस्तद्विपर्ययः सरः। सूक्ष्मस्तद्विपर्ययः स्थूलः। विशदस्तद्विपर्ययः पिच्छिलः ॥ १८ ॥

वि०—गुण-गुरु, मन्द, हिम, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, सान्द्र, मृदु, स्थिर, सूक्ष्म और विशद; ये दस तथा इनके विपरीत दूसरे दस—अर्थात् कुल बीस गुण हैं ॥ १८ ॥

वक्तव्य—विपरीतगुण-लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, खर, द्रव, कठिन, सर, स्थूल और पिच्छिल ये दस गुण हैं। इनमें-द्रव्य की बृंहण कर्म में जो शक्ति है, उसका नाम गुरु; लंघन में लघु; शमन में मन्द; शोधन में तीक्ष्ण, स्तम्भन में हिम; स्वेदन में उष्ण; क्लेदन में स्निग्ध; शोषण में रूक्ष; रोपण में श्लक्ष्ण; लेखन में खर; प्रसादन में सान्द्र; विलोडन में द्रव; श्लथन में मृदु; दृढ़ करने में कठिन; धारण में स्थिर; प्रेरण में चल; विवरण में सूक्ष्म; संवरण में स्थूल; क्षालन में विशद और लेपन में पिच्छिल।

इन गुणों के अतिरिक्त व्यवायी, विकासि, आशुकारी आदि कुछ दूसरे गुण भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं; यथा—तीक्ष्णोष्ण-रूक्षसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुकरं लघु। विकासि विशदं मद्यमोजसोऽस्माद् विपर्ययः ॥' (चरक सू, अ. २७।२१३) इसी प्रकार-कषायं कफपित्तघ्नं किञ्चित्तिक्तं रुचिप्रदम्। हृद्यं सुगन्धि विशदं लवलीफलमुच्यते ॥' इन अतिरिक्त गुणों का इन्हीं बीस गुणों में अन्तर्भाव होता है। यथा—व्यवायी का द्रव में; विकासी का खर में; आशुकारी का चल में; प्रसन्न का स्थूल में अन्तर्भाव होता है। स्वादु, शीत, मन्द, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु-ये अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, विशद, लघु—इनके विपरीत गुण हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध तो मन्द और तीक्ष्ण हैं। जैसा कि सुश्रुत में—'सुगन्धो रोचनो मन्दः।' दुर्गन्धो विपरीतोऽस्मात्।' शुचि और विमल-विशद के भेद हैं। अदृष्ट मलों के प्रक्षालन में जो शक्ति है, वह शुचित्व है। दृष्ट मलों के प्रक्षालन में जो शक्ति है, उसका नाम विमल है। शिव-परिणाम में हितकारी। मृष्ट-जिह्वा के लिये प्रिय। वस्तुतः ये गुण नहीं गुण के कार्य हैं। संग्रह में—'इन्द्रियार्था व्यवायी च विकासी चापरे गुणाः। सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः ॥'

रोगकारणमाह—

कालार्थकर्मणां योगा हीनमिथ्यातिमात्रकाः।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥१९॥

स०—कालः शीतोष्णवर्षलक्षणस्त्रिविधः। अर्थाः शब्दस्पर्शरसरूपगंधा महाभूतगुणाः। तथाचागमः। अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः। कर्म क्रिया कायवाङ्मनश्चेष्टा। कालश्चार्थश्च कर्म च तानि कालार्थकर्माणि तेषां योगाः संबंधाः। कालार्थकर्मणां योगाः। किंभूताः हीनमिथ्यातिमात्रकास्तथा सम्यग्योगश्चेति। ये कालादीनां योगा हीनमिथ्यातिमात्रकास्ते रोगैककारणम्। तेषामेव यः सम्यग्योगः स आरोग्यैककारणं प्रधानकारणमिति। एकशब्दः प्रधानवचनो यथैकः पार्थो धनुर्धरः। कालस्य हीनयोगः स्वरूपहानिः। अतियोगः स्वरूपातिशयः। मिथ्यायोगः स्वरूपाद्वैपरीत्यम्। यथा हीनशीतता हीनोष्णता हीनवर्षता हीनयोगे। यथाऽतिशैत्यमत्यौष्ण्यमतिवर्षणमतियोगे। यथा शीतकालावसरेऽत्यौष्ण्यमुष्णकालावसरे शीतं वर्षाकालेऽवृष्टिर्मिथ्यायोगे। एतद्योगत्रयं रोगकारणम्। सम्यग्योगो यथास्वरूपस्थितिरारोग्यकारणम्। अर्थानां पुनः स्वेन स्वेनार्थेनेंद्रियस्य हीनः संयोगो हीनयोगः। अत्यंतसंयोगोऽतियोगः। पुरुषानभिमतादिनार्थजातेनेंद्रियस्य योगो मिथ्यायोगः। एते त्रयो रोगकारणम्। यथास्वं सम्यग्योग आरोग्यकारणम्। कायादिकर्मणो हीनप्रवृत्तिर्हीनयोगः। अतिप्रवृत्ति-

रतियोगः। वेगोदीरणादिकं सामिभुक्तभाषणादिकं रागद्वेषादिकं यथास्वमुत्तरत्र वक्ष्यमाणं मिथ्यायोगः। सर्वेषां समा प्रवृत्तिः समयोगः। तेन हीनादयो योगास्त्रयो रोगकरणम्। सम्यग्योगस्त्वारोग्यकारणम् ॥ १९ ॥

वि०—रोग और आरोग्य का कारण—काल, अर्थ और कर्म-इनका हीनयोग, मिथ्यायोग और अतियोग-रोग का कारण है तथा इनका सम्यग् योग आरोग्य का कारण है ॥ १९ ॥

वक्तव्य—काल का अर्थ परिणाम है—काल हर समय बदलता रहता है; इसीलिये सुश्रुत में कहा है—'सूक्ष्मां कलामपि न लीयते।' यही काल-शीत, उष्ण और वर्षा भेद से तीन प्रकार का है। इनमें काल का अपने स्वभाव से कम होना हीनयोग है; काल का स्वभाव से विपरीत होना मिथ्यायोग; काल का स्वभाव से अधिक होना अतियोग है। अर्थ—का अभिप्राय शब्दादि पाँच विषयों से है; यथा 'अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।'—इनमें इन्द्रियों का अपने विषय के साथ थोड़ा सम्बन्ध होना—हीनयोग, अनुचित संयोग होना-मिथ्यायोग और अधिक संयोग होना-अतियोग है। चेष्टा का अभिप्राय कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म से है यथा—कर्मों का कम करना हीनयोग, अनुचित रूप में ·करना-मिथ्यायोग, अधिक करना-अतियोग है। ये तीनों रोग के कारण हैं।

चरक ने एक 'प्रज्ञाऽपराध कारण माना है—जिसके कारण से ही मनुष्य हीनयोग, मिथ्यायोग या अतियोग करता है। यथा—'बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्त्तनम्। प्रज्ञाऽपराधं जानीयाद् मनसो गोचरं हि तत् ॥' (च० शा० १)

काल, अर्थ और कर्म इनका सम्यग्योग आरोग्य का कारण है—'सुखहेतुः समस्त्वेकः समयोगस्तु दुर्लभः'।

रोगारोग्ये कैरुच्येते इत्याह—

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।

स०—दोषाणां वातादीनां स्वप्रमाणादेकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा वृद्धिः क्षयो वा रुजाकरत्वाद्रोग एव वैषम्यं विषमता स्वरूपाच्च्यावः ततः कार्यकारणयोरभेदेन पठितो रोग इति। दोषाणां साम्यं स्वरूपादप्रच्युतिः समभागोऽरोगताऽऽरोग्यं स्वास्थ्यमिति यावत्।

वि०—रोग और आरोग्य का लक्षण—दोषों की विषमता का नाम रोग है; दोषों की समता का नाम अरोगता (आरोग्य) है।

वक्तव्य—रोग-शब्द का अर्थ-पीडा करना है; विषमता का अर्थ-वास्तविक स्वरूप का नष्ट होना है; यह क्षय और वृद्धि भेद से दो प्रकार का है। इसीसे चरक में कहा है—'विकारो-धातुवैषम्यम्; साम्यं प्रकृतिरुच्यते। सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥'

निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः ॥ २० ॥

स०—तत्र तयो रोगारोग्ययो रोगा द्विधा निजागंतुभेदेन। निजा वातादिदोषजन्मानः। आगंतवो बाह्यहेतवः। तथा चाचार्यवचनम्। निजास्त्रिदोषोत्था बाह्यहेतुजास्त्वागंतवः। अनयोरियान्विशेषः। निजे रोगे वातादयः पूर्वं वैषम्यं गत्वा पश्चाद् व्यथामभिनिर्वर्तयंति। आगंतवः पुनः पूर्वमेवोत्पद्यंते अनंतरं तत्र वातादयः कुप्यंतीति। अनेनोभयस्य निजागंतुभेदभिन्नस्य व्याधेश्चेतः संतापकत्वं बोद्धव्यम् ॥ २० ॥

वि०—रोग दो प्रकार के हैं—एक निज-जो शरीर के भीतर वातादि-वैषम्य से उत्पन्न होते हैं; और दूसरे-आगन्तुज-जो अभिघात आदि बाहरी कारणों से अकस्मात् उत्पन्न होते हैं ॥ २० ॥

वक्तव्य—निज और आगन्तु-ये दो प्रकार की रोग की प्रकृति है, जैसा कि चरक में कहा है—'द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषाम्-आगन्तुनिजविभागात्।' इन दोनों में भेद—'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति; निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्त्तयन्ति ॥'

यत एवं देहमनसी रोगाधिष्ठानत्वेन स्थिते न केवलो देहो नापि केवलं मनस्तस्मादतोऽनन्तरमिदमाह—

तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा।

स०—तेषां निजागंतुकानां विकाराणां रोगाणां कायमनोभेदेन द्विविधमधिष्ठानं स्थानम्। ज्वरास्रपित्तकासादीनां कायो मदमूर्छासंन्यासग्रहभूतोन्मादापस्माररागद्वेषादीनां मनः। अधितिष्ठंत्यस्मिन्नित्यधिष्ठानम्। कायः शरीरम्। मनश्चेतः।

वि०—रोगों का अधिष्ठान—इन रोगों के अधिष्ठान (आश्रयस्थान) दो हैं—शरीर और मन।

वक्तव्य—जैसा चरक में भी कहा है—'द्विविधं चैषामधिष्ठानं मनः शरीरविशेषात्।' इनमें शारीरिक रोग-वात, पित्त और कफ-इन दोषों से उत्पन्न होते हैं।

ननु कायिकानां रोगाणामुत्पत्तौ हेतवो वातादयो दोषाः प्रकुपिता उक्ताः मानसानां च रोगाणां को हेतुस्तदर्थमाह—

रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ ॥ २१ ॥

स०—मनश्चेतस्तस्य रजस्तमसी दोषावुपप्लवावविद्यासंभवौ। अत्र च प्राधान्यादादौ रजो निक्षिप्तम्। चशब्दः पवनादीनामप्युपसंग्रहार्थः। यस्मात्तेऽपि मनः संश्रित्य विकुर्वंते। समये हि षडुन्मादा भवंति वातपित्तकफसन्निपातादिद्विविधनिमित्ता उदाहृता इत्युदाहरणमात्रमुद्देशमात्रं वचनमात्रमत्रायुर्वेदशास्त्रे। रजस्तमसोर्न साकल्येन व्याकरणमनिलादीनामिव। ते खल्वत्र स्वभावस्थानादिभिः प्रकारैरशेषमुक्ता न तु रजस्तमसी ॥ २१ ॥

वि०—मन के दोष—रज और तम ये दो मन के दोष कहे गये हैं ॥ २१ ॥

वक्तव्य—रज और तम मन को दूषित करते हैं। कहा भी है—सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥' (सांख्यकारिका)

रोगोपहतशरीरज्ञानोपायमाह—

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम् ।

स०—रोगोऽस्यास्तीति रोगी व्याधितः तं दर्शनादिभिः परीक्षेत। दर्शनेन दृष्ट्या कासमेहाद्यार्तेषु पीतशुक्लवर्णसंस्थानप्रमाणोपचयच्छायाविण्मूत्रच्छर्दितादिकम्। स्पर्शनेन हस्तकायस्पर्शेन ज्वरगुल्मविद्रध्याद्यार्तम्। तथा शीतोष्णस्तब्धस्पंदे श्लक्ष्णखरस्पर्शादिकं च। प्रश्नेन पृच्छया शूलारोचकच्छर्दिप्रदर्दत्वं सुच्छंददुश्छंदत्वं मृदुक्रूरकोष्ठतां स्वप्नदर्शनमभिप्रायं जन्मामयप्रवृत्तिनक्षत्रद्विष्टेष्टसुखदुःखानि चेत्यातुरमुखात्परीक्षेत।

वि०—रोगिपरीक्षा के उपाय—रोगी की परीक्षा—दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न से होती है।

वक्तव्य—दर्शन—दृष्टि से देखकर; स्पर्शन—हाथ द्वारा शरीर का स्पर्श करके; प्रश्न—रोगी से पूछ कर रोग का परिज्ञान होता है।

सुश्रुत ने दर्शन, स्पर्श और प्रश्न इनको एकीय मत बता कर इनका खण्डन किया है। वह षड्विध उपाय मानते हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय और प्रश्न। त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके; तत्तु न सम्यक्, षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति ॥' (सु. सू. अ. १०।४)।

रोगविशेषाधिगमोपायमाह—

रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः ।। २२ ।।

स०—रोगं निदानादिभिः पञ्चभिः परीक्षेत। निदानं कारणं हेतुरित्यनर्थान्तरम्। तच्चासन्नविप्रकृष्टभेदेन द्विधा। आसन्नमपि द्विविधम्। आसन्नात्यासन्नभेदेन। आसन्नं रूक्षलघुशीतादिद्रव्योपयोगः। अत्यासन्नं तु यतः समनंतरमेव रोगोत्पत्तिः। यथा वातादयो दोषाः क्रुद्धाः। विप्रकृष्टं यद्वादिक्काले ज्वरादीनां तथा हविःप्राशादि मेहकुष्ठादीनाम्। तेनैवंविधमर्थजातमेवंविधस्य रोगस्य हेतुत्वेनोपदिष्टमेवं विधश्चोत्पन्नोऽतो निदानाज्ज्ञायते रोगः। प्राग्रूपं पूर्वरूपं भविष्यतो व्याधेरप्रकाशितदोषविशेषाधिष्ठितस्य लक्षणमुद्बुभूषुर्ज्वरादिरामयो वातादिदोषविशेषेणालिङ्गितरूपाभासो येनावभास्यते यथायथमल्पत्वाद्यदव्यक्तव्यक्तमस्फुटं लिङ्गं तत्प्राग्रूपम्। लक्षणं पुनस्तदेव प्राग्रूपाद्धिलक्षणम्। येन सकलदोषविशेषालिङ्गितः स्फुटलिङ्गो व्याधिर्लक्ष्यते लक्ष्यते। उपशयः सुखानुबन्ध्याहाराद्युपयोगः। एवंविधेनाहारादिकेन हि तस्य पीडा नाभूदेवंविधेन चाभूदत उपशयाज्ज्ञायतेऽयं रोग इति। स व्याधिसात्म्यः स्वास्थ्यहेतुः सुखावहः। आप्तिर्निर्वृतिः सम्प्राप्तिरागतिर्जातिरित्यनर्थान्तरम्। एवं दुष्टेनैवं स्थानस्थितेनैवमनुगतेनानया कल्पनयैवंमार्गेण दोषेणेति परिकल्पनमत आप्त्याज्ज्ञायतेऽयं रोग इति ॥ २२ ॥

वि०—रोगपरीक्षा के उपाय—निदान, प्राग्रूप, रूप, लक्षण, उपशय और आप्ति (सम्प्राप्ति) से रोग को जानना चाहिये ॥ २२ ॥

वक्तव्य—निदान—रोगोत्पादक हेतु; यह दो प्रकार का है; एक सन्निकृष्ट अर्थात् समीपवर्त्ती और दूसरा विप्रकृष्ट अर्थात् दूरवर्ती। वह उपशय तथा इनमें सन्निकृष्ट कारण-रूक्ष-लघु, शीतादि द्रव्य का उपयोग। विप्रकृष्ट यथा—प्रमेह रोग को उत्पन्न करने वाले आहार-बिहार का चिरकाल से अभ्यास।

प्राग्रूप—रोग की उत्पत्ति से पहले के लक्षण—रोग एक राजा है; जिस प्रकार राजा की सवारी में कुछ लोग राजा के आगे चलते हैं; कुछ साथ में चलते हैं, और कुछ पीछे चलते हैं, उसी प्रकार रोग में भी जो लक्षण रोग के आगे चलते हैं; वे प्राग्रूप या पूर्वरूप; जो लक्षण रोग के साथ चलते हैं, वे रूप और जो लक्षण रोग के पीछे चलते हैं, वे उपद्रव होते हैं। यह प्राग्रूप दो प्रकार का है—सामान्य और विशेष; जैसा आगे कहेंगे-'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वम्।' इत्यादि। ये ज्वर के सामान्य पूर्वरूप हैं; और जम्भाई का अधिक आना, यह वातज्वर का विशेष पूर्वरूप है।

उपशय—सुखानुबन्धी-आहार-औषध आदि का उपयोग। इस रोग में इस आहार से या इस औषध से आराम होता है वह उपशय तथा इस औषध या इस आहार से नहीं होता, वह अनुपशय कहलाता है। यथा-तेल मलने से सन्धिवात शान्त होता है किन्तु आमवात बढ़ता है। इस साधन का उपयोग गूढ-लक्षणों वाले रोग की परीक्षा में क्रियावाला है, 'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत।'

आप्ति—इसके पर्य्याय-सम्प्राप्ति, आगति और जाति हैं; रोग किस प्रकार उत्पन्न हुआ; किस प्रकार आगे चला और किस प्रकार से सम्पूर्ण रूप में दिखाई दिया। यह विकार सम्प्राप्ति है।

उपशयादिप्रसङ्गे च देशकालावप्युपयुज्येते। अतस्तावपि पठति—

भूमिदेहप्रभेदेन देशमाहुरिह द्विधा ।

स०—इहास्मिन्नायुर्वेदशास्त्र आचार्या द्विविधं द्विप्रकारं देशमाहुः कथयन्ति—भूमिभेदेन देहभेदेन च।

वि०—देश—आयुर्वेद में देश दो प्रकार का है—भूमि और देह।

चरक में भी कहा है—'देशस्तु भूमिरातुरश्च। आतुरस्तु खलु कार्यदेशः।'

भूमिदेश उच्यते—

जाङ्गलं वातभूयिष्ठमानूपं तु कफोल्बणम् ॥ २३ ॥
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत् ।

स०—भूदेशं पुनस्त्रिधा त्रिप्रकारमादिशेत्। तत्र जाङ्गलो देशोऽल्पोदकतरुपर्वतत्वेन वक्ष्यमाणलक्षणो वातभूयिष्ठो वातप्रचुरः। तत्र जातौषधिखगपुरुषमृगादयो वातप्रधाना भवन्ति, प्रचुरोदकवृक्षो यो निर्वातो दुर्लभातपः सोऽनूप इति। स च कफप्रधानः। तज्जाश्चौषध्यादयः स्निग्धा भवन्ति। साधारणः पुनरुभयलक्षणो मध्यपतितो व्यामिश्ररूपः। स च सममलो वातादिसमदोषः। अत्र दोषा एव मलशब्देनोक्ताः। वक्ष्यति हि। देहस्य मलिनीकरणादाहारमलत्वाच्च मलाः ॥ २३ ॥

वि०—भूमिदेश—तीन प्रकार का है; यथा-जांगल इसमें वायु की प्रधानता रहती है; दूसरा आनूपदेश-इसमें कफ की प्रधानता रहती है; और तीसरा साधारण देश-इसमें वातादि समान रूप में रहते हैं ॥ २३ ॥

वक्तव्य—यहाँ पर शरीर को मलिन बनाने से वातादि दोषों को मल शब्द से कहा है। यथा—'देहस्य मलिनीकरणादाहारमलत्वाच्च-मलाः ॥' (संग्रह. सु. अ. २०) देह-देश प्रकृति भेद से अनेक प्रकार का होता है। भूमि-देश के लिये चरक में—'त्रिविधः खलु देशः—जाङ्गलः, आनूपः साधारणश्चेति। तत्र जाङ्गलः पर्याकाशभूयिष्ठः······वातपित्तबहुलः। अथानूपः·········पवनकफप्रायो ज्ञेयः। अनयोरेव द्वयोर्देशयोः·········साधारणगुणयुक्तः साधारणो ज्ञेयः ॥' (चरक क. अ. १।८) साधारण भूमि के लिये सुश्रुत में 'सर्वलक्षणसम्पन्ना भूमिः साधारणी स्मृता।' (सु. सू. अ. ३६।१४)

भेषजस्य सम्यग्योगहेतुं कालमाह—

क्षणादिर्व्याध्यवस्था च कालो भेषजयोगकृत् ॥ २४ ॥

स०—कालो द्विविधः क्षणादिलक्षणो व्याध्यवस्थालक्षणश्च। भेषजस्यौषधस्य योगं करोति। तदर्थसम्पादनसामर्थ्यं करोतीत्यर्थः। भेषजस्य योगो भेषजयोगः तं करोति। क्षणादिः प्रसिद्धः। आदिग्रहणाल्लवत्रुटिमुहूर्तयामाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सराणां परिग्रहः। क्षणादिकालस्योदाहरणम्। यथा—"पूर्वाह्णे वमनं देयं मध्याह्ने तु विरेचनम्। मध्याह्ने किंचिदावृत्ते वस्तिं दद्याद्विचक्षणः ॥" व्याध्यवस्था सामनिराममृदुमध्यतीक्ष्णत्वात्तत्तद्योग्यौषधविसृष्टिः। यथा—"लङ्घनं स्वेदनं कालो यवागूस्तिक्तको रसः। मलानां पाचनानि स्युर्यथावस्थं क्रमेण वा ॥" यथा—"ज्वरे पेयाः कषायाश्च सर्पिः क्षीरं विरेचनम्। ष्यहं वा षडहं युंज्याद्वीक्ष्यदोषबलाबलम् ॥" यथा—"मृदुर्ज्वरो लघुर्देहश्चलिताश्च मला यदा। अचिरज्वरितस्यापि भेषजं योजयेत्तदा ॥" अस्यामवस्थायां दत्तमौषधमारोग्याय भवति ॥ २४ ॥

वि०—काल—काल दो प्रकार का है; एक क्षणादि और दूसरा व्याधि की अवस्था, इनका उपयोग औषध के प्रयोग में किया जाता है ॥ २४ ॥

वक्तव्य—काल का अर्थ समय है; औषध के देने में समय का विचार किया जाता है; यह काल संवत्सर और रोगी की अवस्थाभेद से दो प्रकार का है, इसी को नित्यग अर्थात् सांवत्सरिक और आवस्थिक या अवस्थाजन्य कहा जाता है। सांवत्सरिक काल-अयन भेद से दो प्रकार का है तथा शीत-उष्ण और वर्षा के भेद से तीन प्रकार का है; ऋतु भेद से छः प्रकार का है; मास भेद से बारह प्रकार का है; पक्ष भेद से चौबीस प्रकार का है; प्रहर आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। इसी सांवत्सरिक काल को क्षणिक भी कहते हैं। इसके काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्ष भेद हैं। औषध में इसका विचार—'पूर्वाह्णे वमनं देयं मध्याह्ने तु विरेचनम्। मध्याह्ने किंचिदावृत्ते बस्तिं दद्याद् विचक्षणः ॥' इसके अतिरिक्त प्राग्भक्त, अभक्त आदि का भी विचार है।

रोगी की अवस्था—'आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा; तद्यथा-अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः; कालः पुनरन्यस्येति।' जैसे—नवज्वर में कषाय नहीं देना चाहिये; छः दिन के पीछे ज्वर में कषाय-कल्पना देनी चाहिये। यथा—'ज्वरे पेयाः कषायाश्च सर्पिः क्षीरं विरेचनम्। ष्यहं वा षडहं युञ्ज्याद्वीक्ष्य दोषबलाबलम् ॥' इसी से भट्टारक चरक मुनि ने कहा है—'नह्यतिपतितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति; कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्वर्त्तयति ॥' (चरक वि. अ. ८।१२७)

तच्चौषधं द्विप्रकारमाह—

शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा।

स०—यत्किञ्चिज्जगत्यौषधं सम्भवति तदनेकप्रकारं सम्भवदपि द्वैरूप्यानतिक्रमाच्छोधनशमनलक्षणात् समासात्संक्षेपतो द्विधेत्युक्तम्। एकं शोधनरूपमपरं शमनरूपमिति। शोधनं यत् कुपितान् दोषान् बहिर्निःसार्य रोगोपशमनं करोति। शमनं यत्स्वस्थानस्थितानामेव साम्यहेतुः।

वि०—औषध के दो भेद—संक्षेप से औषध दो प्रकार का है—शोधन और शमन।

वक्तव्य—जो औषध दोषों को शरीर से बाहर करता है, वह शोधन औषध है; और जो औषध दोषों को शरीर से बाहर नहीं करता, अपितु शरीर में ही शान्त कर देता है; वह शमन औषध है। वस्तुतः शोधन और शमन दोनों लंघन हैं किन्तु यहाँ बृंहण औषध का भी शमन-औषध में ही अन्तर्भाव होता है। इनमें से दोष की अत्यन्त अधिकता में शोधन औषध देना चाहिए, दोष के अल्प, अधिक या क्षीण होने पर शमन-औषध देनी चाहिये।

औषधमुक्तं तस्य विषयमाह—

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम् ॥ २५ ॥
बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु ।

स०- शरीरजानां वातादीनां क्रमेण यथासंख्येन परिपाड्योद्देशनिर्देशेन परमौषधं प्रधानौषधं वस्त्यादिवमनांतं शोधनरूपं तैलादिमध्वंतं शमनरूपम् । तेन वातस्य वस्तिर्गुदप्रणिधेयस्नेहक्काथादि परमौषधम् । पित्तस्य विरेको मुखपीतं गुदमार्गेणांतःस्थितस्य निःसारणं परमौषधम् । कफस्य वमनं मुखेन पीतं तेनैव दोषस्य निःसारणं परमौषधमिति शोधनरूपेण दोषाणामौषधम् । तैलादि तु शमनस्वरूपेणौषधम् । तथेति क्रमेणैव वातस्य तैलं पित्तस्य घृतं कफस्य माक्षिकं परमौषधम् । प्रधानमौषधमिति यावत् ॥ २५ ॥

वि०—परमौषध—वातादि शारीर दोषों के लिए प्रधान शोधन औषध-क्रम से—वात के लिये बस्ति; पित्त के लिये विरेचन और कफ के लिये वमन है। इसी प्रकार वात के लिए प्रधान शमन औषध तैल, पित्त के लिए प्रधान शमन औषध घृत; और कफ के लिए प्रधान शमन औषध मधु है ॥ २५ ॥

कायादिदेशमाश्रित्य सर्वत्र सममेव शरीरजातानां दोषाणां क्रमेण परमौषधमुक्तम् । अथ मानसयोर्दोषयोः किंतत्परमौषधं स्यादिति तदर्थमाह—

धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम् ॥ २६ ॥

स०—मनोदोषयो रजस्तमसोः रोगविघ्नकारि धैर्यादिकं परमौषधम् । धीश्च धैर्यं चात्मादिविज्ञानं च तत्तथाविधम् । तत्र धीर्बुद्धिर्बाह्याध्यात्मिकानां भावानां हिताहितपरिच्छेदविभागकारिणी । धैर्यं धृतिश्चेतसः स्थिरत्वमचापलम् । येन प्रतिषिद्धेषु न प्रवर्तते अहितेषु च न सीदति । आत्मविज्ञानं योगाभ्याससमाधिना परमात्मस्वरूपविज्ञानम् । आदिग्रहणाज्ज्ञानविज्ञानस्मृतिदेशकालादीनां परिग्रहः । मनोदोषसमुत्थकामादिजरोगार्थः परशब्दो विशेषणत्वेन निर्दिष्टः ॥ २६ ॥

वि०—मानसिक दोषों के लिए उत्कृष्ट औषध—धी, धृति और आत्मा आदि का ज्ञान करना है ॥ २६ ॥

वक्तव्य—धी अर्थात् बुद्धि—जिसके द्वारा मनुष्य सबको यथार्थ देखता है। धृति-धैर्य-जो-नियमन-नियन्त्रण करती है—'धृतिस्तु नियमात्मिका।' चरक में कहा है—'मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम् । तद् विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः ॥' (च. सू. अ. ११।४७)

एवं तावदनेन सकलचिकित्सितमुक्तं, तच्च पादचतुष्टययुक्तं कार्यकरं तदर्थमाह—

भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् ।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं, प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम् ॥ २७ ॥

स०—चिकित्सितस्य रोगोपशमलक्षणस्य । पादचतुष्टयमंगचतुष्टयमुक्तं प्रत्येकं तच्चतुर्गुणमेवं षोडशगुणं चिकित्सितं भेषजं भिषजो भाषन्ते । भिषग्वैद्यः । तस्य प्राधान्यादग्रे निर्देशः । तथा चागमः—"योक्ता प्रयोक्ता शास्ता च प्रधानो भिषगत्र तु ॥" तथा संग्रहेऽपि—"यद्वैद्ये विगुणे पादा गुणवंतोऽप्यनर्थकाः । सपादहीनानप्यार्तान् गुणवान्यश्च यापयेत् ॥ चिकित्सायास्तमेवातः प्रधानं कारणं विदुः ।" द्रव्याण्यौषधानि । उपस्थाता परिचारकः । रोगी आतुरः । एतत्पादचतुष्टयं निर्दिष्टमाचार्येण ॥ २७ ॥

वि०—चिकित्सा पाद—चिकित्सा के चार पाद हैं; वैद्य; औषध; परिचारक और रोगी । इन चारों में प्रत्येक के चार गुण हैं ॥ २७ ॥

वक्तव्य—पाद अर्थात् पैर; चार पैर होने से इसके गिरने का भय नहीं; चिकित्सा में पूर्ण सफलता की आशा इन चार पादों से रहती है। इन चारों पादों के फिर चार पाद (गुण) हैं इस प्रकार से चिकित्सा सोलह गुण वाली है; इसी से कहा है—'चतुष्पादं षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते।' कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम् । विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु ॥' (चरक)। इन चारों में मुख्य वैद्य ही है, क्योंकि उसके बिना ये तीनों पाद निरर्थक हैं, और वैद्य योग्य हो तो इन निरर्थक पादों से भी काम निकाल लेता है। इसी से संग्रह में कहा है—'यद् वैद्ये विगुणे पादा गुणवन्तोऽप्यनर्थकाः । स पादहीनानप्यार्त्तान् गुणवान् यश्च यापयेत् । चिकित्सायास्तमेवातः प्रधानं कारणं विदुः ॥'

तेषां गुणानाह—

दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक् ।

स०—दक्षः कर्मणि चतुरः । तीर्थादुपाध्यायाद्विहितागमादात्तो गृहीतः शास्त्रार्थो येन स तीर्थात्तशास्त्रार्थः । आगमप्राप्तशास्त्रस्वरूपः । बहुशो दृष्टं कर्म येन चिकित्सालक्षणं स दृष्टकर्माऽभ्यस्तकर्मा शतशश्चिकित्सितरोगः । शुचिः कायवाङ्मनोव्यापारैर्मलीमसैरपरामृष्टोऽलिप्सावानर्थोपजीविकाहेतोर्न करोति परं धर्मोपार्जनेनेति शुचिः ।

वि०—वैद्य के गुण—वैद्य को दक्ष, तीर्थात्तशास्त्रार्थ, दृष्टकर्मा और शुचि होना चाहिये ।

वक्तव्य—दक्ष-चतुर; तीर्थात्तशास्त्रार्थ-उपाध्याय से शास्त्र के अर्थ को पूर्ण रूप से ग्रहण किया हुआ; दृष्टकर्मा-बहुत बार जिसने कर्म को-चिकित्सा कर्म को देखा हो; शुचि-कायिक, मानसिक और वाणी के दोषों से रहित, अर्थात् अन्दर और बाहर से पवित्र; इस प्रकार का वैद्य होना चाहिये। दक्ष—वैद्य को लोकव्यवहार में निष्णात होने के साथ-साथ अपने कार्य में भी चतुर होना जरूरी है; अर्थात् उत्तम सूझ—बूझवाला हो। तीर्थात्तशास्त्रार्थ—भली प्रकार पढ़े

आचार्य से शास्त्र के अर्थ को उत्तमता से समझे। चरक में कहा है—'पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमुपस्कृतविद्यमनहङ्कृतमनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकज्ञानसमर्थं चेति। एवं गुणो ह्याचार्यः सुक्षेत्रमार्त्तवो मेघ इव सस्यगुणैः सुशिष्यमाशु वैद्यगुणैः सम्पादयति॥' (च. वि. अ. ८।४) दृष्टकर्मा—कर्म-चिकित्सा कर्म को भली प्रकार देखा हुआ होना चाहिये। जो मनुष्य इस ज्ञान से रहित होते हैं, वे पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए कहा है—'यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः। स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्॥ यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्टर्याच्छास्त्रबहिष्कृतः। स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः॥ उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि। अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविवद्विजौ॥' (सु. सू. अ. ३।४८-५०) शुचि—वैद्य को अन्तः और बाह्य से सदा पवित्र होना चाहिये। पवित्रता के लिए 'नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन'''अनुद्धतवेशेन सुमनसा कल्याणाभिव्याहारेणाकुहकेन बन्धुभूतेन भूतानां वैद्येन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या॥' रोगी अपने सगे-सम्बन्धी सबसे शङ्कित रहता है; परन्तु वैद्य के ऊपर विश्वास रखकर अपना जीवन उसको सौंप देता है; इसलिए वैद्य को अपने गुणों को बढ़ाने में एवं रोगी के कष्टों को दूर करने में सदा तत्पर रहना चाहिये।

औषधमपि चतुर्विधम्—

बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम् ॥ २८ ॥

स०—बहवः कल्पा यस्मिन् भवन्ति स्वरसक्काथचूर्णाद्यास्तद्बहुकल्पं व्याधीनां निवारणक्षमं न तु लवणवदेककल्पम्। तद्धि सुखमुपयुज्यते। नानाशक्तयो हि सत्वाः। बहवो गुणा यस्य गुरुमन्दादयस्तद्बहुगुणम्। अथवा यदनेकरोगविनाशनसमर्थम्। सम्पन्नं संपत्तियुक्तं न विपन्नम्। प्रशस्तभूमिदेशजातम्। तथा च ग्रंथः—"धन्वसाधारणे देशे समे सन्मृत्तिके शुचौ। श्मशानचैत्यायतनश्वभ्रवल्मीकवर्जिते। इति।" प्रशस्तभूमिदेशजातादिगुणयुक्तम्। अथवा पाकसंस्कारादियुक्तम्। योग्यं दातुं यद्यत्राहंति तच्च योग्यम्। व्याधिदेशकालदोषदूष्यदेहवयोबलादीन् ज्ञात्वा युज्यते दीयत इति तद्योग्यं रोगस्य रोगिणश्च॥ २८॥

वि०—औषध के गुण—अनेक कल्पना के योग्य; अनेक गुण वाली; सम्पन्न और योग्य औषध उत्तम है॥ २८॥

वक्तव्य—बहुकल्पम्-जिस औषध की स्वरस, क्काथ, चूर्ण आदि बहुत-सी कल्पनायें बनाई जा सकें। बहुगुण-जिस औषध में गुरु, मन्द आदि बहुत-से गुण हों; बहुत स्थानों पर काम में आ सके। सम्पन्न—सम्पत्तियुक्त-दूषित न हो; अर्थात् कृमि, पानी, अग्नि आदि से दूषित न हो। योग्यता—जिस रोग के लिए उपयोग में औषध आ रही है; उस रोग को दूर करने की उसमें योग्यता होनी चाहिये। इसी से कहा है—'बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना। सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते॥' सुश्रुत में—'प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम्। युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम्॥ दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये। समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते॥' यदि औषध उत्तम-उपर्युक्त गुणवाला होगा तो अवश्य रोगी के रोग को नष्ट कर सकेगा।

उपस्थातापि चतुर्विधः—

अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः।

स०—अनुरक्तो दृढभक्त आतुरस्य। शुचिः कायवाङ्मनोव्यापारैर्दुष्टैरपरामृष्टः। दक्षः सर्वचेष्टासु चतुरः। बुद्धिमान् विशिष्टया बुद्ध्या युक्तः। प्रवीण इति यावत्।

वि०—परिचारक के गुण—रोगी में स्नेह रखने वाला, पवित्र, चतुर, और समझदार परिचारक होना चाहिए।

वक्तव्य—सेवा करने वाले को स्वामी में स्नेह-ममता होनी चाहिए, तभी वह मन लगाकर सेवा कर सकता है। उसको अन्दर और बाहर से पवित्र-ईमानदार होना चाहिए, साथ ही अपने कार्य में दक्ष-प्रवीण होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त समझदार हो, बुद्धि का उपयोग करनेवाला हो। इसीलिए चरक में कहा है 'उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्त्तरि। शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणाः परिचरे जने॥' (च. सू. अ. ९।८) सुश्रुत में—स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे। वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः॥'

रोग्यपि चतुर्विधः—

आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्त्ववानपि ॥२६॥

स०—आढ्यो धनवान्। भिषग्वश्यो वैद्यायत्तस्तदुक्तकारी। ज्ञापको निदानादीनामावेदको वैद्यं रोगाहारविहारादीनामन्वयव्यतिरेकं बोधयितुं समर्थः। सत्त्ववान् धैर्ययुतो मोहवर्जितः। धैर्येण प्रायश्चित्तवच्चिकित्सां करोति। अपिः संभावनार्थे॥ २९॥

वि०—रोगी के गुण—रोगी-वैद्य के उपदेशों को भी ध्यान में रक्खे। वैद्य के अधीन रहने वाला; रोग को बता सकने वाला, तथा—धैर्यशाली होना चाहिए॥ २९॥

वक्तव्य—रोगी को ऐसा होना आवश्यक है कि वह चिकित्सा के लिए सब साधन जुटा सके। इसी से कहा है—'अनेन विधिना राजा राजमात्रोऽथवा पुनः। यस्य वा विपुलं द्रव्यं स संशोधनमर्हति॥' (चरक सू. अ. १५।१८) वातव्याधि के लिए तो स्पष्ट कहा है—'कालेन महताऽऽढ्यानां यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा'॥ इसलिए सुश्रुत में—'आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि। आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते॥' भिषग्वश्य-रोगी को वैद्य के वश में रहने वाला होना चाहिए; अर्थात् वैद्य जैसा बताये वैसा करे-मनमानी न करे। ज्ञापक-रोग का सम्पूर्ण विवरण-

अपनी शिकायतें वैद्य को बता सके; वैद्य के प्रश्नों का उत्तर दे सके। सत्त्ववान् का अर्थ धैर्यशाली हो; अर्थात् क्लेश को सहन कर सके; रोग या औषध से उत्पन्न कष्ट को सहन कर सके। ऐसा न होने पर औषध बरतना मुश्किल होता है।

इसके अतिरिक्त, चरक ने 'स्मृति' एक और गुण रोगी का कहा है। यथा—'स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च। ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः॥' रोगी की स्मृति ठीक होनी चाहिए। वह भूल न जाये, पिछला इतिहास रोग का बता सके। साधनसंपन्न, (चि. अ. ३) रोगी को डरपोक नहीं होना चाहिए; क्योंकि विषाद से रोग बढ़ता है; इसीसे सुश्रुत में कहा है-'सुहृदो विक्षिपन्त्याशु कथाभिर्व्रणवेदनाः। आश्वासयन्तो बहुशः स्वनुकूलाः प्रियंवदाः'॥ (सु. सू. अ. १९।८)

सुखसाध्यादिकस्य व्याधिचतुष्टयस्य लक्षणमुच्यते—

(साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा, तौ तु पुनर्द्विधा।
सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्च, याप्यो यश्चानुपक्रमः॥)
सर्वौषधक्षमे देहे यूनः पुंसो जितात्मनः।
अमर्मगोऽल्पहेत्वग्ररूपरूपोऽनुपद्रवः॥ ३०॥
अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिः पादसम्पदि।
ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः सुखः॥ ३१॥

स०—सर्वौषधक्षमे देह उत्पन्नो व्याधिः सुखसाध्यः सुखोपायः। तथा च ग्रंथः—'सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते।' सर्वाण्यौषधानि यः क्षमते सहते तीक्ष्णमध्यमृदुरूपाणि नानादेशजानि शमनानि तथा शोधनरूपाणि तथा विषक्षारादीनि। यूनः वयस्यस्य तरुणस्येत्यर्थः। पुंसो न स्त्रियाः। पुंग्रहणं स्त्रीनिवृत्त्यर्थम्। यतस्तस्याः सर्वदा भीरुत्वमबुद्धिमत्त्वं चातो यथोक्तानुरूपगुणाभावः। सा तु यस्मात्तीक्ष्णोष्णौषधानि न सहते सौकुमार्यादियोगात्। जितात्मनोऽलोलुपस्य। जित आत्मा येन। विषयाभिलाषं परिहरतः। अमर्मगोऽमर्मस्थः मर्माणि शिरोहृदयबस्तिप्रभृतीनि तेषु गच्छतीति मर्मगः न मर्मगोऽमर्मगो हृत्कंठादिपीडाकरणासमर्थः। अल्पहेत्वग्ररूप इति। हेतुश्चाग्ररूपं च रूपं तानि हेत्वग्ररूपरूपाण्यल्पानि हेत्वग्ररूपरूपाणि यस्य स तथाविधः। हेतुर्निदानम्। अग्ररूपं पूर्वरूपम्। रूपं लक्षणम्।, एतान्यल्पानि यस्य। अनुपद्रव इति। न विद्यते उपद्रवो यस्योत्पन्नस्य व्याधेरनन्तरं जायते योऽन्यो व्याधिर्न तल्लक्षणभूतोऽप्रधानो न यथास्वलक्षणस्तदुपक्रमनिरोधकः स उपद्रवः। तथा चागमः—"व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः। उपक्रमविघाती च स ह्युपद्रव उच्यते॥" अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिरिति। दूष्यश्च देशश्च ऋतुश्च प्रकृतिश्च ता दूष्यदेशर्तुप्रकृतयः। अतुल्या दूष्यदेशर्तुप्रकृतयो यस्य। अतुल्या न सदृशाः। यथा दूष्ये मेदोमज्जादावनूपदेशे शीतर्तावातुरो वातप्रकृतिस्तस्य कुपितं पित्तं सुखसाध्यमिति। अतुल्यदूष्यो यथा श्लेष्मणा शीतेन रक्तमूष्णं दूषितम्। अतुल्यदेशो व्याधिर्यथा—अनूपदेशे पित्तसंभूतः। अतुल्यर्तुर्यथा—शरदि कफोद्भवः। अतुल्यप्रकृतिर्यथा—पित्तप्रकृतेः श्लेष्मोद्भवो व्याधिः नन्वतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतित्वादसौ कृच्छ्रसाध्यो यथा वा याप्यो न सुखसाध्योऽनेकसुखोपक्रमसाध्यत्वात्। यतो दूष्यादीनामतुल्यत्वात्परस्परमन्य एवोपक्रमः। एकसुखोपक्रमः सुखसाध्यो व्याधिः। अत एव साध्ययाप्यपरित्याज्या मेहाः श्लेष्मपित्तवातोत्थाः समासमक्रियतया महात्ययतयापि चेत्येवं निर्दिशति। अत्रोच्यते। तथा प्रभावत्वात्प्रमेहाख्यस्य व्याधेर्यदुत श्लेष्मप्रमेहः समक्रियत्वात्साध्यः। पित्तप्रमेहो विषमक्रियत्वाद्याप्यः। महात्ययत्वाच्च वातप्रमेहः प्रत्याख्येयः। किंचातुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतित्वान्महारंभो निष्प्रत्यनीको व्याधिर्जायतेऽतोऽसौ न सुखसाध्यः। कुत्रचिद्व्याधौ तुल्यदूष्यादिरपि सुखसाध्यत्वेन ज्यायान्। तथा च ग्रन्थः—"ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य हेतवः॥" पादसंपदि भिषगादीनां चतुर्णां पादानां संपत्समृद्धिस्तस्यां सत्यामंगचतुष्टये परिपूर्णे सति। ग्रहेष्वनुगुणेष्विति। ग्रहाः सूर्यादयस्तेष्वनुगुणेष्वनुकूलराशिस्थितेषु शोभनस्थानगतेषु सत्सु। एकदोषमार्ग इति। दोषश्च मार्गश्च दोषमार्गम्। एकं दोषमार्गं यस्य स तथोक्तः। दोषो वातादिः। मार्गस्त्रिविधः शाखादिर्वक्ष्यमाणो बाह्याभ्यंतरमध्यभेदेन। तेनैकेन वातादीनामन्यतमेन दोषेण यो जातो न द्वाभ्यां त्रिभिर्वा तथैकेनापि मार्गेण बाह्येन मध्येनाभ्यंतरेण वा जातो नवो न जरठः। अचिरोत्पन्न इत्यर्थः। यस्माद्वत्सरातीता व्याधयोऽसाध्याः। स तथाविधो व्याधिः सुखेन साध्यते। तथा च ग्रंथः-'सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते'॥ ३०-३१॥

वि०—चार प्रकार के रोग—साध्य और असाध्य भेद से रोग दो प्रकार के हैं। ये दोनों रोग फिर दो-दो प्रकार के हैं; यथा—साध्य रोग-सुखसाध्य और कृच्छ्रसाध्य भेद से दो प्रकार का है। और असाध्य भी याप्य और अनुपक्रम (प्रत्याख्येय) दो प्रकार का होता है। इनमें सुखसाध्य रोग-रोगी का शरीर सब प्रकार की ओषधियों को सहन कर सके; रोगी युवा हो; पुरुष हो; संयमी हो; रोग मर्म स्थान में न गया हो; थोड़े कारणों से पैदा हुआ हो; रोग के पूर्व रूप और लक्षण कम हों, रोग में किसी प्रकार का उपद्रव न हो; दूष्य, देश, ऋतु और प्रकृति-ये चारों पृथक्-पृथक् रूप से असमान हों; चिकित्सा के चारों पाद गुणशाली हों; सूर्य आदि ग्रह अनुकूल हों—रोग एक दोषवाला और एक मार्गवाला हो; रोग नया हो; तो रोग सुखसाध्य होता है॥ ३०-३१॥

वक्तव्य—चिकित्सा का उद्देश्य रोगी को स्वस्थ करने का होता है। इसमें चिकित्सा में प्रवृत्त होने से पूर्व वैद्य को देखना पड़ता है कि यह रोग साध्य है या असाध्य क्योंकि असाध्य रोग की चिकित्सा करने में—उसे 'अर्थविद्यायशो'

हानिमुपक्रोशमसंग्रहम् । प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥' (चरक सू. अ. १०।८) ये हानियाँ होती हैं। इसलिए कहा है—'साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः । काले चारभते कर्म, यत्तत् साधयति ध्रुवम् ॥' इसलिए चिकित्सा में प्रवृत्त होने से पूर्व चिकित्सक को रोग की साध्यता एवं असाध्यता का निश्चय करना जरूरी है।

यह साध्यासाध्य दो प्रकार का है; यथा—'सुखसाध्यं' मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च । द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्याप्यं यच्चानुपक्रमम् । साध्यानां त्रिविधश्चाल्प-मध्यमोत्कृष्टतां प्रति । विकल्पो; न त्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना॥' (च. सू. अ. १०।९-१०) इनमें—

सुखसाध्य रोग—(१) रोगी का शरीर सब प्रकार के औषध को सहन करनेवाला हो; इसी से कहा है—'तत्र वयःस्थानां दृढानां प्राणवतां सत्त्ववतां च सुचिकित्स्या व्रणा एकस्मिन् वा पुरुषे यत्रैतद् गुणचतुष्टयं तस्य सुखसाधनीयतमाः ।' (सु.सू. अ. २३।३) (२) रोगी को युवा होना चाहिए—इसीसे कहा है-'तत्र वयःस्थानां प्रत्यग्रधातुत्वादाशु व्रणा रोहन्ति ।'—इसके विपरीत गर्भिणी, बालक और वृद्ध में रोग कष्टसाध्य होते हैं। (३) रोगी को पुरुष-लिङ्ग होना चाहिए—स्त्री में या नपुंसक में भीरुता होने से रोग असाध्य या कष्टसाध्य होते हैं, यथा—'तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकित्स्यतमा भवन्ति । तद्यथा-श्रोत्रिय-नृपति-स्त्री-बाल-वृद्ध-भीरु''' इत्यादि। इनमें स्त्रियों के रोग विशेष कर भीरुता तथा लज्जा के कारण असाध्य होते हैं। जैसे—'पारतन्त्र्यादवैशारद्यात् सततमुपचारानुरोधाद् वा वेगानुदीर्णानुपहन्धत्याः ।' (४) रोगी को संयमी होना चाहिए—असंयमी मनुष्य पथ्य का पालन नहीं कर सकता; इसीलिए आतुर पाद में 'भिषग् वश्यः' शब्द दिया है। (५) रोग मर्म स्थान में न पहुँचा हो। यथा 'दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः। शङ्खौ, मर्मत्रयं, कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥' इनमें मर्मत्रय हृदय, बस्ति, शिर हैं, इन मर्मों में रोग न पहुँचा हो। (६) थोड़े कारणों से उत्पन्न हो। (७) थोड़े पूर्वरूप वाला हो। (८) थोड़े लक्षणों वाला हो-(९) रोग में उपद्रव न हो-अर्थात् रोग के उत्तरकालजन्य दूसरी व्याधि नहीं हो। (१०) दूष्य-रक्तादि, देश-आनूप आदि, ऋतु वसन्त आदि, प्रकृति-वातादि, ये रोग के समान न हों, अर्थात् दूष्य-मेद, मज्जा आदि में, आनूप देश में, शीतऋतु में, वातप्रकृति रोगी में कुपित पित्त सुखसाध्य है। अतुल्य दूष्य यथा—शीत कफ से उष्ण प्रकृति रक्त दूषित हो; अतुल्य देश में यथा—आनूप देश में पित्तजन्य रोग; अतुल्य ऋतु यथा—शरद में कफजन्य रोग सुखसाध्य है। (११) चिकित्सा के चारों पाद सम्पूर्ण होने पर रोग सुखसाध्य होता है। इसीसे कहा है—'कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम् ।' 'चतुष्पादं षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते' ॥ (चरक सू. अ. ९।३) 'एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः ॥' (सु. सू. अ. ३४।१६) (१२) ग्रहों के अनुकूल होने पर रोग साध्य होता है; सूर्यादि ग्रह जब अनुकूल हों तब रोग सुखसाध्य है;। (१३) दोष एकमार्गगामी हो तो सुखसाध्य है-दोष-वातादि; मार्ग-तीन प्रकार का है—शाखा; मर्मास्थिसन्धियाँ और कोष्ठ; इनमें शाखा का मार्ग रोग का बाह्य मार्ग है; बस्ति, हृदय आदि मर्म तथा अस्थिसंधियाँ मध्यम मार्ग हैं, और महास्रोत, आभ्यन्तर रोगमार्ग है। इनमें एकमार्ग का रोग सुखसाध्य है। (१४) रोग नूतन उत्पन्न हुआ हो, पुराना न हुआ हो, तो वह साध्य है; एक साल पुराना होने पर रोग असाध्य या कष्टसाध्य हो जाता है। इन सब लक्षणों से सम्पूर्ण रोग सुखसाध्य है: अर्थात् थोड़े ही उपाय से और जल्दी ही शान्त होता है। यथा—'सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते ॥'

चरक में—'हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च । न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥' न च कालगुणैस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः। गतिरेका नवत्वं च रोगस्योपद्रवो-न च ॥ दोषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः । चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥' (च. सू. अ. ११।११-१३)

कृच्छ्रसाध्यं व्याधिमाह—

शस्त्रादिसाधनः कृच्छ्रः सङ्करे च ततो गदः ।

स०—यो गदो रोगः शस्त्रादिसाधनः शस्त्रादिभिः साध्यते स कृच्छ्रसाध्यः कृच्छ्रप्रतीकारो महद्भिरुपायैः साध्यतेः तथा चिरेण। तथा च ग्रंथः—"कृच्छ्रैरुपायैः कृच्छ्रैस्तु महद्भिश्च चिरेण च ।" आदिग्रहणेन क्षाराग्निकर्मविषलेपादयो गृह्यन्ते। तथा संकरे च ततः पूर्वोक्तात्साध्यलिंगात्संकीर्णत्वे सति यो गद उत्पन्नः सोऽपि कृच्छ्रसाध्यः। चशब्दः समुच्चये। ततस्तस्मादुक्तसाध्यलक्षणाद्यः संकरे द्वित्रिविपर्यये सति स्थितः। तथा च युवा आतुरः किंतु न विजितात्मा विजितात्मा वा किंतु रोगो मर्मस्थानगः। सर्वौषधक्षमे देहे न जातः किंतु वृद्धः। कदाचिद्युवा न सर्वौषधक्षमो देहः। एवमनया दिशा सर्वमप्यूह्यम्।

वि०—कृच्छ्रसाध्य रोग—जो रोग शस्त्र-क्षार-अग्नि से साध्य होते हैं; तथा जिन रोगों में मिश्रित दोष होते हैं, वे कष्टसाध्य हैं।

वक्तव्य—जो रोग कठिनाई से; बहुत उपायों से और देर में अच्छा होता है; वह कष्टसाध्य है, यथा-'कृच्छ्रैरुपायैः कृच्छ्रस्तु महद्भिश्च चिरेण च ॥' (संग्रह. सू. अ. २)। चरक में 'निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले। कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च ॥ गर्भिणीवृद्धबालानां नात्युपद्रवपीडितम् । शस्त्रक्षाराग्निकृत्यानामनवं कृच्छ्रदेशजम् ॥ विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णचतुष्पदम्। द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषजम् ॥'

हेमाद्रि की मान्यता है कि—संकर तीन प्रकार का है; अल्प, मध्यम और बहुविपर्यय। इसमें अल्पविपर्यय में रोग

कष्टसाध्य, मध्यमविपर्यय में कृच्छ्रतर और बहुविपर्यय में अतिशय कष्टसाध्य होता है।

याप्योऽत उच्यते—

शेषत्वादायुषो याप्यः पथ्याभ्यासाद्विपर्यये ॥ ३२ ॥

स०—बाहुल्येन विपर्यये साध्यलक्षणविपरीतत्वे सत्यायुषो जीवितस्य शेषत्वादक्षीणत्वान्मारयितुमसमर्थपथ्यैराहारविहारैर्याप्यो यापनीयो नासौ प्रत्याख्येयः। एतावानेवास्य प्रत्याख्येयाद्व्याधेर्विशेषो यदायुःशेषत्वं याप्यस्य व्याधेरायुःशेषमात्रं वर्जयित्वा यदन्यत्तत्सर्वं समानं प्रायेणास्य च प्रत्याख्येयस्य व्याधेः। कस्य विपर्यये सति प्रकृतत्वात्सुखसाध्यस्य। पथ्यैराहारविहारैरभ्यसनमभ्यासः पुनःपुनः करणं तस्माद्धिताहारविहारसेवनाद्याप्यः। स च चिकित्सायामल्पं सुखं दत्वा पुनः सोऽल्पेनैव हेतुना प्रतीयते। तथा च ग्रन्थः—"दत्त्वाल्पं सुखमल्पेन हेतुना स प्रजायते। याति नाशेषतां रोगः कर्मजो नियतायुषः। प्रपतन्निव विष्कंभैर्धार्यस्तत्रातुरो हितैः" ॥ ३२ ॥

वि०—याप्यरोग—सुखसाध्य लक्षणों के विपरीत होने पर—पथ्य-आहार-विहार के अभ्यास से अर्थात् बार-बार बरतने से आयु के शेष होने पर रोग याप्य होता है।

वक्तव्य—याप्य के लिये—सुश्रुत में 'यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम्। क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति॥ प्राप्तक्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम्। प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधु योजितः॥' (सु.सू.अ. २३।१०-११) अर्थात् गिरते हुए मकान को टेका देकर जैसे रोक दिया जाता है; उसी प्रकार क्रिया-चिकित्सा से जो रोग शान्त रहता है; वह याप्य है। इसी से चरक में कहा है—'शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया। लब्धवाल्पसुखमल्पेन हेतुनाऽऽशुप्रवर्त्तकम्॥' इस प्रकार के रोग प्रायः निम्न लक्षणों से युक्त होते हैं। 'गम्भीरं बहुधातुस्थं मर्मसन्धिसमाश्रितम्। नित्यानुशायिनं रोगं दीर्घकालमवस्थितम्॥ विद्याद् द्विदोषजम्॥'

प्रत्याख्येय उच्यते—

अनुपक्रम एव स्यात्स्थितोऽत्यन्तविपर्यये।
औत्सुक्यमोहारतिकृद् दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः॥ ३३ ॥

स०—न विद्यत उपक्रमः प्रतीकारो यस्य सोऽनुपक्रमोऽचिकित्स्यः। प्रत्याख्येय इति यावत्। कोऽसावनुपक्रमो योऽत्यंतविपर्यये स्थितः योऽर्थाद्याप्यलक्षणादवशिष्टायुःशेषरूपादत्यंतविपर्यये स्थितः सर्वक्रियापथातिक्रांतो मज्जाशुक्रादिगंभीरधातुगतो मर्मसंधिसमाश्रितः सोऽनुपक्रम एवाचिकित्स्यः। साधयितुमशक्यत्वाद्। तथौत्सुक्यादिकृदपि। औत्सुक्यं च मोहश्चारतिश्च ताः करोतीत्यौत्सुक्यमोहारतिकृत्। औत्सुक्यं गर्वादिविषयोत्कंठा। मोहो वैचित्यं चित्तनाशोऽज्ञानम्। अरतिरसुखं न कुत्रचिदवस्थितिः स्थानासनादिष्वनिर्वृतिश्चेतसः। एतावतो यः करोति सोऽनुपक्रमः। तथा दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः दृष्टं रिष्टं मरणख्यापकं चिह्नं यस्मिन् स दृष्टरिष्टः तथाऽक्षनाशन इति। अक्षाणींद्रियाण्युच्यन्ते। चक्षुरादीन्यपि नाशयति सोऽक्षनाशनः इन्द्रियोपरोधी रोगोऽनुपक्रमो यः शीघ्रमिंद्रियविघातकृत्। एवं पुरा परीक्ष्य व्याधिचिकित्सामारभेत। अन्यथाऽवश्यं स्वार्थादिहानिमवाप्नुयाद्वैद्यः। तथा च ग्रन्थः—"व्याधिं पुरा परीक्ष्यैवमारभेत ततः क्रियाम्। स्वार्थविद्यायशोहानिमन्यथा ध्रुवमाप्नुयात्" ॥ ३३ ॥

वि०—असाध्य—जो रोग सुखसाध्य के लक्षणों के अतिशय विपरीत लक्षणों से युक्त हो; जिसमें उत्सुकता-विषयोत्कण्ठा; मोहचित्तनाश, और अरति-बेचैनी हो; मृत्युसूचक चिह्न जिस रोग में स्पष्ट हो; चक्षु आदि इन्द्रियाँ जिसमें नष्ट हो जायें—वह असाध्य है।॥ ३३ ॥

वक्तव्य—असाध्य के लिये चरक में—'तद्वत्, प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम्। क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम्॥ औत्सुक्यारतिसंमोहकरमिन्द्रियनाशनम्॥ दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च॥' (चरक सू. ११।२०)।

साध्यलक्षणयुक्तोऽप्यातुरो नोपक्रमणीय इति दर्शयति—

त्यजेदार्तं भिषग्भूपैर्द्विष्टं तेषां द्विषम् द्विषम्।
हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुषम्॥ ३४ ॥
चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम्।

स०—एवंविधमार्तमातुरमुपक्रम्यमपि त्यजेत्परिहरेत्। भिषग्भूपैर्द्विष्टं भिषग्भिस्तथा भूपै राजभिर्द्विष्टम्। वैद्या राजानश्च यं द्विषंति। तथा तेषां द्विषं शत्रुं भिषग्भूपान्यो द्वेष्टि तमपि त्यजेत्। द्विषं शत्रुं चात्मनः। हीनोपकरणमिति। उपकरणविकलं हीनचिकित्सांगम्। व्यग्रं कार्यबहुलमन्यकार्यापेक्षिणं कार्यांतरासक्तचेतसम्। अविधेयं भिषजः तदाज्ञां यो न करोति तमपि त्यजेत्। गतायुषं परिक्षीणजीवितम्। चंडं सहसापकारकरणबुद्धिं क्रूरकर्माणम्। शोकातुरं स्त्र्यादिविरहोत्थेन शोकेन शुचार्तम्। भीरुं सभयम्। कृतघ्नं यः कृतोपकारोऽप्यपकारं करोति। वैद्यमानिनम् अवैद्योऽपि यो वैद्यमिवात्मानं मन्यते नैवौषधं करोति मूढस्तमपि त्यजेत् ॥३४॥

वि०—चिकित्सा के अयोग्य रोगी—वैद्य] और राजाओं से जो द्वेष करता है, अथवा वैद्य या राजा जिससे द्वेष करते हैं; जो द्वेषी है, जिसके पास चिकित्सा के साधन नहीं; जो काम में फँसा है-जिसे अवकाश नहीं; वैद्य की आज्ञा को जो नहीं मानता-मनमानी करता है; जिसकी आयु समाप्त हो गई हो; क्रोधी, शोक में डूबे; डरपोक; किये हुये को न मानने वाले; जो वैद्य न होते हुए भी अपने को वैद्य मानता हो; इस प्रकार के रोगियों की चिकित्सा वैद्य न करे ॥ ३४ ॥

वक्तव्य—चरक में (१) 'दोषावसेचनमन्यद्वा भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैवंविधस्य कुर्यात्। तद्यथा-अनपवादप्रतीकारस्याधनस्यापरिचारकस्य वैद्यमानिनश्चण्डस्यासूयक

स्य तीव्राधर्मरुचेरति क्षीणबलमांसशोणितस्यासाध्यरोगोपहतस्य मुमूर्षुलिङ्गान्वितस्य चेति ॥ एवंविधं ह्यातुरमुपचरन् भिषक् पापीयसाऽयशसा योगमृच्छति ॥' (चरक वि. अ. ३।४५) (२) 'चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नो व्यग्र एव च। सद्राजभिषजां द्विष्टस्तद्द्विष्टः शोकपीडितः ॥ यादृच्छिको मुमूर्षुश्च विहीनः करणैश्च यः। वैरी वैद्यविदग्धश्च श्रद्धाहीनः सुशङ्कितः ॥ भिषजामविधेयाश्च नोपक्रम्या भिषग्विदा। एतानुपचरन् वैद्यो बहून् दोषानवाप्नुयात्।' (चरक सुश्रुत में- कितव, दुर्बल; व्याधिगोपक, कृपण, इनकी भी चिकित्सा का निषेध किया गया है। उपर्युक्त मनुष्यों की चिकित्सा करने में धर्म, अर्थ, काम और यश-इनकी हानि होती है; इसलिये इनकी चिकित्सा का निषेध है।

एवं च प्रथमेऽध्याये सकलतंत्रार्णवस्य तात्पर्यं व्याख्यातमनन्तरं सुखस्मरणार्थमध्यायनामसंग्रह उच्यते—

तन्त्रस्यास्य परं चातो वक्ष्यतेऽध्यायसंग्रहः ॥ ३५ ॥

स०—तन्त्र्यन्ते धार्यन्तेऽनेनायुर्वेदार्था इति तन्त्रम्। अध्यायानां संग्रहः संक्षेप एकत्र राशीकरणमतोऽनन्तरं सुखस्मरणाय मया वक्ष्यते ॥ ३५ ॥

वि०—इसके आगे इस तन्त्र के अध्याय-संग्रह की व्याख्या करेंगे।

वक्तव्य—प्राचीन शास्त्रों में यह परिपाटी है कि वे प्रथम अध्याय में या प्रकरण के अन्त में अथवा ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थ के अध्यायों का नामकीर्त्तन, अपना परिचय आदि बातों को लिख देते हैं। इससे यह लाभ है कि ग्रन्थ की नियमवस्तु का परिचय प्रारम्भ में हो जाता है। यथा—'स्वे स्वे स्थाने यथास्वं च स्थानार्थं उपदेक्ष्यते। सविंशमध्यायशतं श्रृणु नाम क्रमागतम् ॥' (चरक) (२) 'बीजं चिकित्सितस्यैतत् समासेन प्रकीर्तितम्। सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥' (सुश्रुत)

आयुष्कामदिनर्त्वीहारोगानुत्पादनद्रवाः।
अन्नज्ञानान्नसंरक्षामात्राद्रव्यरसाश्रयाः ॥ ३६ ॥
दोषादिज्ञानतद्भेदतच्चिकित्साद्व्युपक्रमाः।
शुद्ध्यादिस्नेहनस्वेदरेकास्थापननावनम् ॥ ३७ ॥
धूमगण्डूषदृक्सेकतृप्तियन्त्रकशास्त्रकम्।
शिराविधिः शल्यविधिः शस्त्रक्षाराग्निकर्मिकौ ॥ ३८ ॥
सूत्रस्थानमिमेऽध्यायास्त्रिंशत्—

स०—इमे पूर्वोक्तास्त्रिंशदध्यायाःसूत्रस्थानमुक्तम्। आयुष्कामश्च दिनर्त्वीहे च रोगानुत्पादनं च द्रवश्चेति द्वंद्वः। ईहा चर्या चेष्टेत्येकोऽर्थः। तेन आयुष्कामीयो दिनचर्या ऋतुचर्या रोगानुत्पादनीयो द्रवद्रव्यविज्ञानीयोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयोऽन्नसंरक्षा मात्राशितीयो द्रव्यादिविज्ञानीयो रसभेदीयो दोषादिविज्ञानीयो दोषभेदीयो दोषोपक्रमणीयो द्विविधोपक्रमणीयः शोधनादिगणसंग्रहः स्नेहविधिः स्वेदविधिर्वमनविरेचनविधिर्बस्तिविधिर्नस्यविधिर्धूमविधिर्गंडूषविधिराश्चोतनांजनविधिस्तर्पणपुटपाकविधिर्यन्त्रविधिः शस्त्रविधिः सिराव्यधविधिः शल्याहरणविधिः शस्त्रकर्मविधिः क्षाराग्निकर्मविधिः। सूचनात्सूत्रम् सूच्यतेऽनेन सकलस्तंत्रार्थं इति सूत्रस्थानं सकलस्य तंत्रस्य शिरःस्थानीयम् ॥ ३६–३८ ॥

वि०—इस ग्रन्थ में छः स्थान है' इनमें प्रथम सूत्रस्थान-तीस अध्यायों का है—यथा-आयुष्कामीय, दिनचर्या, ऋतुचर्या, रोगानुत्पादनीय, द्रवद्रव्य विज्ञानीय, अन्नस्वरूपविज्ञानीय; अन्नरक्षा, मात्राशितीय, द्रव्यादि-विज्ञानीय, रसभेदीय, दोषादि-विज्ञानीय, दोषभेदीय, दोषोपक्रमणीय, द्विविधोपक्रमणीय, शोधनादि-संग्रह, स्नेहविधि, स्वेदविधि, वमन-विरेचन-विधि, नस्यविधि, धूमपान-विधि, गण्डूषादि, विधि, आश्च्योतनाञ्जन-विधि, तर्पण-पुटपाक-विधि, यन्त्रविधि, शस्त्रविधि, शल्याहरण-विधि, सिराव्यधविधि, शस्त्रकर्म-विधि, क्षाराग्निकर्मविधि ॥ ३६-३८ ॥

वक्तव्य—सूत्र स्थान के नामकरण के विषय में कहा है—'यथा सुमनसां सूत्रं संग्रहार्थं विधीयते। संग्रहार्थं तथाऽर्थानामृषिणा संग्रहः कृतः ॥' (चरक सू. अ. ३०।८९) अथवा सूचना के कारण इस स्थान को सूत्र स्थान कहते हैं—यथा 'सूचनात्सूत्रम्-सूच्यतेऽनेन सकलतन्त्रार्थं इति सूत्रस्थानम्'-यहां पर ग्रन्थ के सब विषय पिरोये जाते हैं, अर्थात् जो आगे कहना है उन सब विषयों को यहां पर संक्षेप में संब रूप में कह दिया जाता है। यह स्थान इस तन्त्र का शिर है, यथा—'श्लोकस्थानं समुद्दिष्टं तन्त्रस्यास्य शिरः शुभम्। श्लोकार्थः संग्रहार्थश्च श्लोकस्थानमतः स्मृतम्। चतुष्कानां महार्थानां स्थानेऽस्मिन् संग्रहः कृतः ॥'

अधुना शारीरमुच्यते। शारीरं शारीरस्थानमुच्यते। किंस्थानमध्यायसंग्रहः—

—शारीरमुच्यते।
गर्भावक्रान्तितद्व्यापदङ्गमर्मविभागिकम् ॥ ३९ ॥
विकृतिर्दूतजं षष्ठम्—

स०—तत्र गर्भावक्रांतिशारीरम्। तस्य व्यापत् तस्येति-गर्भपरामर्शः गर्भव्यापच्छारीरम् अंगविभागं शारीरम्। मर्मविभागं शारीरम्। विकृतिविज्ञानं शारीरम्। दूतविज्ञानीयं शारीरम्। एवमेते षडध्यायाः शारीरस्थानम् ॥ ३९ ॥

वि०—शारीर स्थान—गर्भावक्रान्ति, गर्भव्यापद्-विधि, अङ्गविभाग, मर्मविभाग, विकृतिविज्ञानीय और दूतादि-विज्ञानीय ये छ अध्याय शारीर स्थान में हैं ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—शरीर से सम्बन्धित स्थान-शारीर स्थान हैं; इस स्थान की मुख्यता के लिये चरक में 'शारीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्। आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेदलोकसुखप्रदम् ॥' (चरक शा. अ. ६)

निदानमुच्यते—

—निदानं सार्वरोगिकम् ।
ज्वरासृक्श्वासयक्ष्मादिमदाद्यर्शोऽतिसारिणाम् ।।४०।।
मूत्राघातप्रमेहाणां विद्रध्याद्युदरस्य च ।
पाण्डुकुष्ठानिलार्तानां वातास्रस्य च षोडश ।।४१।।

स०—सर्वरोगनिदानम् । ज्वरनिदानम् । रक्तपित्तकासनिदानम् । श्वासहिक्कानिदानम् । राजयक्ष्मादिनिदानम् । मदात्ययादिनिदानम् । अर्शोनिदानम् अतिसारग्रहणीदोषनिदानम् । मूत्राघातनिदानम् । प्रमेहनिदानम् । विद्रधिवृद्धिगुल्मनिदानम् । उदरनिदानम् । पाण्डुशोफविसर्पनिदानम् । कुष्ठश्वित्रकृमिनिदानम् । वातव्याधिनिदानम् । वातशोणितनिदानम् । इत्येवं षोडशाध्याया निदानस्थानम् ॥ ४०-४१ ॥

वि०—निदानस्थान—सब रोगों से सम्बन्धित है यथा—ज्वर निदान, रक्तपित्त-कास निदान, श्वास-हिक्का निदान, राज-यक्ष्मा निदान, मदात्यय निदान, अर्शोनिदान, अतिसार-ग्रहणीदोषनिदान, मूत्राघात निदान, प्रमेहनिदान, विद्रधि-वृद्धि-गुल्मनिदान, उदरनिदान, पाण्डु-शोफ-विसर्प निदान, कुष्ठ-श्वित्र-कृमि निदान, वातव्याधिनिदान, वातशोणित निदान-ये सोलह अध्याय निदान में हैं ॥ ४१ ॥

चिकित्सितमुच्यते—

चिकित्सितं ज्वरे रक्ते कासे श्वासे च यक्ष्मणि ।
वमौ मदात्ययेऽर्शःसु, विशि द्वौ, द्वौ च मूत्रिते ।।४२।।
विद्रधौ गुल्मजठरपाण्डुशोफविसर्पिषु ।
कुष्ठश्वित्रानिलव्याधिवातास्रेषु चिकित्सितम् ।।४३।।

द्वाविंशतिरिमेऽध्यायाः—

स०—चिकित्सितस्थानं द्वाविंशतिरध्यायाः । ज्वरचिकित्सितम् । रक्तपित्तचिकित्सितम् । कासचिकित्सितम् । श्वासहिक्काचिकित्सितम् । राजयक्ष्मचिकित्सितम् । छर्दिहृद्रोगतृष्णाचिकित्सितम् । मदात्ययचिकित्सितम् । अर्शश्चिकित्सितम् । अतीसारचिकित्सितम् । ग्रहणीचिकित्सितम् । मूत्राघातचिकित्सितम् । प्रमेहचिकित्सितम् । विद्रधिवृद्धिचिकित्सितम् । गुल्मचिकित्सितम् । उदरचिकित्सितम् । पांडुरोगचिकित्सितम् । श्वयथुचिकित्सितम् । विसर्पचिकित्सितम् । कुष्ठचिकित्सितम् । श्वित्रकृमिचिकित्सितम् । वातव्याधिचिकित्सितम् । वातशोणितचिकित्सितम् । इमे द्वाविंशतिरध्यायाश्चिकित्सितस्थानम् अत ऊर्ध्वं कल्पस्थानम् ॥ ४२-४३ ॥

वि०—चिकित्सास्थान ज्वरचिकित्सा, रक्तपित्तचिकित्सा, कासचिकित्सा, श्वास-हिक्काचिकित्सा, राजयक्ष्मचिकित्सा, छर्दि-हृद्रोग-तृष्णाचिकित्सा, मदात्ययचिकित्सा, अर्शश्चिकित्सा, अतीसारचिकित्सा, ग्रहणीदोषचिकित्सा, मूत्राघातचिकित्सा, प्रमेहचिकित्सा, विद्रधि-वृद्धिचिकित्सा, गुल्मचिकित्सा, उदर-चिकित्सा, पाण्डुरोग-चिकित्सा, श्वयथुचिकित्सा, विसर्प-चिकित्सा, कुष्ठचिकित्सा, श्वित्र-कृमि-चिकित्सा, वातव्याधि चिकित्सा, वातशोणित चिकित्सा, ये बाइस अध्याय चिकित्सास्थान में हैं ॥ ४२-४३ ॥

—कल्पसिद्धिरतः परम् ।
कल्पो वमेर्विरेकस्य तत्सिद्धिर्बस्तिकल्पना ।।४४।।
सिद्धिर्बस्त्यापदां षष्ठो द्रव्यकल्पः—

स०—अत्र कल्पे वमनकल्पः विरेचनकल्पः वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिः । बस्तिकल्पः । बस्तिव्यापत्सिद्धिः । षष्ठो भेषजकल्पः । इत्येवं षडध्यायाः कल्पसिद्धिस्थानम् ॥ ४४ ॥

वि०—कल्पसिद्धि स्थान—इसके आगे कल्प-सिद्धि स्थान है, इसमें वमनकल्प, विरेचन कल्प, वमन-विरेचन व्यापत् सिद्धि, वस्तिकल्प, वस्ति-व्यापत्-सिद्धि और भेषज कल्प-ये छः अध्याय हैं ॥ ४४ ॥

अत उत्तरं अतोऽस्मात्कल्पसिद्धिस्थानादूर्ध्वमुत्तरतंत्रम् ।

—अत उत्तरम् ।
बालोपचारे तद्व्याधौ तद्ग्रहे, द्वौ च भूतगे ।।४५।।
उन्मादेऽथ स्मृतिभ्रंशे, द्वौ द्वौ वर्त्मसु सन्धिषु ।
दृक्तमोलिङ्गनाशेषु त्रयो, द्वौ द्वौ च सर्वगे ।।४६।।
कर्णनासामुखशिरोव्रणे, भङ्गे भगन्दरे ।
ग्रन्थ्यादौ क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे पृथग्द्वयम् ।।४७।।
विषे भुजङ्गे कीटेषु मूषकेषु रसायने ।
चत्वारिंशोऽनपत्यानामध्यायो बीजपोषणः ।।४८।।

स०—बालोपचरणीयः । बालामयप्रतिषेधः । बालग्रहप्रतिषेधः । भूतविज्ञानीयः । भूतप्रतिषेधः । उन्मादप्रतिषेधः । अपस्मारप्रतिषेधः । वर्त्मरोगविज्ञानीयः । वर्त्मरोगप्रतिषेधः । संधिसितासितरोगविज्ञानीयः । संधिसितासितप्रतिषेधः । दृष्टिरोगविज्ञानीयः । तिमिरप्रतिषेधः । लिङ्गनाशनप्रतिषेधः । सर्वाक्षिरोगविज्ञानीयः । सर्वाक्षिरोगप्रतिषेधः । कर्णरोगविज्ञानीयः । कर्णरोगप्रतिषेधः । नासारोगवि० । नसारोगप्र० । मुखरोगवि० । मुखरोगप्र० । शिरोरोगविज्ञा० । शिरोरोगप्र० । व्रणविज्ञानीयप्रति० । सद्योव्रणप्रति० । भगप्रति० । भगंदरप्रति० । ग्रंथ्यर्बुदश्लीपदादिवि० । ग्रंथ्यर्बुदादिप्रति० । क्षुद्ररोगवि० । क्षुद्ररोगप्र० । गुह्यरोगवि० । गुह्यरोगप्रति० । विषप्रति० । सर्पविषप्र० । कीटलूतादिविषप्र० । मूषिकालर्कविष० । रसायनाध्यायः । वाजीकरणाध्यायः । इति । एवमेते चत्वारिंशदध्याया उत्तरतंत्रम् । तदिति । बालस्य परामर्शः । द्वौ द्वाविति । वर्त्मनि द्वौ संधौ द्वौ यथासंख्येन । त्रय इति दृक्तमोलिंगनाशेषु प्रत्येकमेकैकः । ग्रंथ्यादिक्षुद्ररोगगुह्यरोगेषु पृथग्द्वयं प्रत्येकं द्वौ द्वौ । अनपत्यानामप्रजानां पुंसां चत्वारिंशोऽध्यायो बीजपोषणः शुक्रवृद्धिहेतुरिति ॥ ४५-४८ ॥

इत्यध्यायशतं विंशं षडभिः स्थानैरुदीरितम् ॥ ४८३ ॥

स०—इत्येवमनेन प्रकारेण सविंशमध्यायशतं षड्भिः स्थानैः सूत्रशारीरनिदानचिकित्साकल्पसिद्ध्युत्तरतन्त्रैरुदीरितमिति भवेत् ॥ ४८ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांग-
हृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां सूत्रस्थान
आयुष्कामीयोऽध्यायः प्रथमः ॥ १ ॥

वि०—इसके आगे उत्तर स्थान है। इसमें-बालोपचरणीय, बालामय-प्रतिषेध, बालग्रह-प्रतिषेध, भूतविज्ञानीय, भूत-प्रतिषेध, उन्माद प्रतिषेध, अपस्मार प्रतिषेध, वर्त्मरोग विज्ञानीय, वर्त्मरोग प्रतिषेध, सन्धिसितासितरोग विज्ञानीय, सन्धिसितासितरोग प्रतिषेध, दृष्टिरोग विज्ञानीय, तिमिर प्रतिषेध, लिङ्गनाश प्रतिषेध, सर्वाक्षिरोग विज्ञानीय, सर्वाक्षिरोग प्रतिषेध; कर्णरोगविज्ञानीय, कर्णरोग प्रतिषेध, नासारोग विज्ञानीय, नासारोग प्रतिषेध, मुखरोग विज्ञानीय, मुखरोग प्रतिषेध, शिरोरोग विज्ञानीय, शिरोरोग प्रतिषेध, व्रण प्रतिषेध, सद्योव्रण प्रतिषेध, भङ्ग प्रतिषेध, भगन्दर प्रतिषेध, ग्रन्थि-अर्बुद-श्लीपदादि विज्ञानीय; ग्रन्थि-अर्बुद-श्लीपदादि प्रतिषेध, क्षुद्ररोग विज्ञानीय, क्षुद्ररोग प्रतिषेध, गुह्यरोग विज्ञानीय, गुह्यरोग प्रतिषेध, विषप्रतिषेध, कीटलूतादिविषप्रतिषेध, मूषिकालर्कविषप्रतिषेध, रसायनाध्याय और बाजीकरण अध्याय—इस प्रकार चालीस अध्यायों का उत्तरस्थान है।

वक्तव्य—उत्तर का अर्थ-पिछला-अवशिष्ट भाग है; इसी को काश्यपसंहिता में 'खिलस्थान' शब्द से कहा है। सुश्रुत के उत्तर तन्त्र में शल्य से बचे शालाक्य, कायाचकित्सा आदि के रोगों का वर्णन है; और चरक संहिना में-उत्तर तन्त्र का नाम मिलता है; यथा-'तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः'। परन्तु वह मिलता नहीं। इस ग्रन्थ के उत्तर तन्त्र में प्रथम पांच अध्यायों में कौमारभृत्य और भूतविद्या का तथा अन्तिम छः अध्यायों में विषतन्त्र, रसायन और बाजीकरण का समावेश कर दिया है—जिससे कि यह सम्पूर्ण आठ अङ्गों का प्रतिपादक हो गया है।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुवाग्भटविरचितायाम-
ष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने आयुष्का-
मीयो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो दिनचर्याऽध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

स०—अथेति सर्वेष्वध्यायेषु मंगलार्थः। मांगलिको ह्याचार्यः। प्रत्यध्यायारंभे मंगलार्थमथशब्दं प्रयुंक्ते। दिने दिने चर्या दिनचर्या। दिनस्य वा चर्या दिनचर्या। चरणं चर्या। उभयलोकहितमाहारचेष्टितं प्रतिदने यत्कर्तव्यं तमध्यायं व्याख्यास्यामः। प्रस्तुतादायुष्कामीयादध्यायादनंतरं कोऽस्य संबंधः। उच्यते। यस्मादायुष्कामेण पुरुषेण यत्प्रधानमायुष्यं तदासेव्यं प्रथमतस्तदन्वन्यानि यान्यायुष्याणि। अतः प्रथमं तावदाचारप्रधानेन भवितव्यम्। यत आचारादायुर्लभ्यत इत्याचार्याः। यद्यप्यत्र रात्रिचर्याऽपि विहिता तथाऽपि प्राधान्याद्दिनचर्याऽस्मिन्नध्याये निर्दिष्टा। अतो दिनचर्याध्यायोऽयमुच्यते।

वि०—अब इसके आगे 'दिनचर्या' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वक्तव्य—आयुष्कामीय अध्याय के उपरान्त आचार का वर्णन आवश्यक है; क्योंकि आयु के लिये आचार अत्यावश्यक है; यथा–'आचाराल्लभते ह्यायुः' इसलिये आचार को बताने के लिये दिनचर्या अध्याय का व्याख्यान आयुष्कामीय के उपरान्त किया है। 'आचार' शब्द से आहार और विहार भी ग्रहण होता है। इनमें विहार दो प्रकार का है; नियत काल और अनियत काल। नियत काल विहार दो प्रकार का है; दैनन्दिन अर्थात् प्रतिदिन करने योग्य और आर्त्तव अर्थात् प्रत्येक ऋतु से सम्बन्धित। इस अध्याय में दिन सम्बन्धी विहार का वर्णन है; दिन व रात को भी दिन कहते है, अतः रात्रिचर्या का भी व्याख्यान इसी में है। चरण अर्थात् कर्त्तव्य को ही 'चर्या' कहते हैं।

अस्मिंस्तंन्त्रे आयुःपालनं प्रकृतम्। तद्द्विविधम्। स्वस्थवृत्तमातुरवृत्तं च। तत्र संगत्यत्वात् स्वल्पवक्तव्यत्वादातुरोपयोगित्वाच्च स्वस्थवृत्तमेवादावुच्यते।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः ।

स०—रात्रेश्चतुर्दशो मुहूर्तो ब्राह्मो मुहूर्तो विषुवति समरात्रिंदिने काले द्विघटिकालक्षणः। मुहूर्तस्य चेह द्विघटिकोपलक्षणार्थत्वात्सर्वस्मिन् काले रात्रेश्चतुर्घटिकावशेषे समुत्थानं कार्यमिति स्थितम्। स्वस्थो नीरोगः कल्पः स आयुषो यथोपचरितस्य जीवितस्य रक्षार्थं ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेदभ्युत्थानं कुर्यात्। मुहूर्तो नाडिकाद्वयम्। ब्रह्म ज्ञानं तदर्थमध्ययनाद्यपि ब्रह्म तस्य योग्यो मुहूर्तो ब्राह्मः पश्चिमयामस्य नाडिकाद्वयं तस्मिन् ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेत्। किंभूतः। स्वस्थोऽनातुरः। 'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेंद्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।' इति स्वस्थलक्षणम्। किमर्थमुत्तिष्ठेत्। रक्षार्थमायुषो जीवितस्य। तदा ह्युत्तिष्ठतो व्याध्यलक्ष्याद्यभाव एवायुषो रक्षा भवति। आतुरेण धातुसाम्यार्थं स्वप्तव्यमेव।

वि०—स्वस्थ पुरुष आयु की रक्षा के लिये ब्राह्म मुहूर्त्त में उठे।

वक्तव्य—इस आयुर्वेद तन्त्र में आयु की रक्षा मुख्य उद्देश्य है। यह स्वस्थ और रोगी दोनों के लिए पालनीय है। मङ्गल की दृष्टि से तथा इसमें वर्णित बहुत सा विषय रोगी के लिये भी उपयोगी होने से प्रथम स्वस्थ पुरुष के लिये आचार कहते हैं। इसमें प्रातः उठने का समय ब्राह्म मुहूर्त्त है—यह समय रात्रि का पश्चिम भाग है। इस समय में नीरोग पुरुष उठे। रोगी के लिए यह नियम नहीं; इसी से संग्रह में कहा है 'ब्राह्मे मुहूर्त्त उत्तिष्ठेज्जीर्णाजीर्ण निरूपयन्'—अर्थात् भोजन के जीर्ण होने पर उठे और अजीर्ण होने पर न उठे क्योंकि अजीर्ण रोगी के लिये बिना भोजन किये दिन में सोना उत्तम है; यथा—'रसशेषे शयीत च'—सुश्रुत। 'दिवास्वप्नं प्रकुर्वीत सर्वाजीर्णप्रशान्तये'। इसलिये नीरोग पुरुष उठे। ब्राह्म अर्थात् ब्रह्म सम्बन्धी, ब्रह्म अर्थात् ज्ञान इससे सम्बन्धित मुहूर्त्त—प्रभातकाल। चूँकि शरीर-बुद्धि-मन सब ताजे होते हैं, थकान मिटी होती है, अतः भोर में जो याद किया जाता है वह स्मरण रहता है। इसी से चरक में कहा है-'कल्यः कृतक्षणः प्रातरुत्थायोपव्यूषं कृत्वाऽऽवश्यकमुपस्पृश्योदक……नमस्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनःपुरःसराभिर्वाग्भिः सूत्रमनुक्रामन् पुनः पुनरावर्त्तयेद् बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वम्' (चरक वि. अ. ८)। इसलिये इस ब्राह्म मुहूर्त्त में आयु की रक्षा के लिये मनुष्य को उठना चाहिये। चूँकि इस समय उठने से नित्यकर्म करने का समय मिलने पर रोग नहीं होता जिससे आयु की रक्षा होती है।

शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः॥ १॥
अर्कन्यग्रोधखदिरकरञ्जककुभादिजम्।
प्रातर्भुक्त्वा च मृद्वग्रं कषायकटुतिक्तकम्॥ २॥
कनीन्यग्रसमस्थौल्यं प्रगुणं द्वादशाङ्गुलम्।
भक्षयेद् दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन्॥ ३॥

स०—शरीरस्य चिंता शरीरचिंता जीर्णाजीर्णनिरूपणादिका तां निर्वर्त्य ततो मूत्रपुरीषादेः कृतशौचविधानस्ततोऽनन्तरं दन्तधावनमर्कादिकं भक्षयेत्। संग्रहेऽप्युक्तम्—'ब्राह्मे मुहूर्तं उत्तिष्ठेज्जीर्णाजीर्णं निरूपयन्।' इत्यादि। अर्कः सूर्याह्वः। न्यग्रोधो यक्षावासः। खदिरो गायत्री। करंजश्चिरिबिल्वः। ककुभोऽर्जुनः। आदिग्रहणेन मालतीकरवीरादिग्रहः। कथं भक्षयेत्। दंतानां मांसान्यबाधयन्नपीडयन्। प्रातः प्रत्युषसि भुक्त्वा दंतधावनकाष्ठरसं भक्षयित्वा। मृद्वग्रं कूर्चिताग्रम्। तथा कषायकटुतिक्तकम्। रसत्रयेण ह्यनेन मुखवैशद्यारोचकश्लेष्मापनयाः सम्यक् संपद्यंते। अर्काद्युपादानादेव कषादित्वे लब्धे कषायादिग्रहणं संग्रहादिगृहीतस्य संग्रहार्थं स्पष्टार्थं च। अर्कादिग्रहणमुदाहरणार्थं ज्ञेयम्। संक्षेपविवक्षया न दंतधावनस्य गणसंग्रहः। द्वादशाधंगुलप्रमाणत्वं श्लेष्मातकाद्यनिष्टदन्तधावननिषेधश्च तंत्रांतरोक्तमपि नेहोक्तम्। सुश्रुतेनोक्तम्—"अजग्धमनुपक्लिष्टं षडष्टद्वादशांगुलम्। प्रदेशनीमुखसमं मृदु स्याद्दंतधावनम्" ॥ १-३ ॥

वि०—शरीर की चिन्ता (जीर्णाजीर्णता आदि) का पूरा विचार करके मलोत्सर्ग करे। उसके उपरान्त आक, वट, खैर; करञ्ज और अर्जुन आदि वृक्षों की कषाय, कटु-तिक्त रस वाली दातुन—जिसका अग्रभाग कोमल हो; उस दातुन को प्रातः और भोजन के बाद भी चबाये। यह दातुन कनिष्ठिका अङ्गुलि के समान मोटी, सीधी तथा लम्बाई में बारह अङ्गुल होनी चाहिये। दातुन करते समय मसूड़ों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचानी चाहिये॥ १-३॥

वक्तव्य—शरीर का विचार कर प्रातःकाल उठे अर्थात् स्वस्थ होने पर प्रातः उठकर अपना हित सोचे कि मुझे क्या करना है। जैसा कहा है-'ब्राह्मे मुहूर्त्त उत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम्। नक्तं दिनानि मे यान्ति कथम्भूतस्य सम्प्रति। दुःखभाग् न भवत्येवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः॥' इसके बाद मूत्र-मल त्याग करे। मूत्र-मल के त्याग से शुद्ध होकर दातुन करे। यह दातुन आक आदि वृक्षों की हो। इसमें मुख्य गुण ये होने चाहिये। (१) दातुन का रस कषाय, कटु, तिक्त अर्थात् कफनाशक होना चाहिये; अर्थात् मधुर, अम्ल और लवण रस नहीं होना चाहिये-जैसा कहा है-'स्वाद्वम्ललवणं शुष्कं सुषिरं पूति पिच्छिलम्। पालाशमासनं दन्तधावनं पादुके त्यजेत्॥' (२) दातुन का अग्रभाग कोमल होना चाहिये, सूखा या कड़ा नहीं होना चाहिये। (३) कनीष्ठिका अङ्गुली के समान मोटी होनी चाहिये, बहुत मोटी या पतली दातुन की कूँची ठीक नहीं बनेगी। मोटी दातुन से मसूड़े छिलने का भय है। (४) दातुन सीधी-सरल होनी चाहिये, टेढ़ी-मेढ़ी नहीं। (५) दातुन की लम्बाई बारह अङ्गुल होनी चाहिये जिससे पकड़ने में सुगमता रहे और पीछे से इसको चीर कर जिह्वा भी साफ की जा सके।

दातुन करने की विधि—दातुन करते समय मसूड़ों को किसी प्रकार की हानि नहीं होनी चाहिये; इसलिये एक एक दाँत को सीधा-खड़े रूप में रगड़ना चाहिये, आड़ा नहीं। इसमें ऊपर के दाँत नीचे को; और नीचे के दाँत ऊपर को रगड़ने चाहिये। इसीसे सुश्रुत में कहा है, एकैकं घर्षयेद् दन्तं मृदुना कूर्चकेन च। दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन्॥' दातुन के साथ मञ्जन-चूर्ण बरतने का भी सुश्रुत ने विधान किया है; साथ ही दातुन का चुनाव दोष और ऋतु के अनुसार करना चाहिये अर्थात् मुख का जो स्वाद हो उससे विपरीत रस वाली दातुन चुननी चाहिये। वायु के कारण मुख का स्वाद कषाय; पित्त के कारण कटु और कफ के कारण मधुर रहता है; इसलिये इसके विरुद्ध रस वाली दातुन चुननी चाहिये। इसी प्रकार वर्षा में वायु, शरद में पित्त और हेमन्त में कफ की अधिकता होती है; इसलिये

इसका विरोधी रस लेना चाहिये। इसी से सुश्रुत में कहा है—'अवेक्ष्यतुं च दोषं च रसं वीर्यं च योजयेत्। कषायं मधुरं तिक्तं कटुकं प्रातरुत्थितः ॥ निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा। मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा ॥'

दातुन के साथ चूर्ण या मञ्जन भी करने का विधान है; यह विधान सुश्रुत और अष्टाङ्गसंग्रह में है। इसके लिये त्रिकटु या तेजोवती (तेजबल) का चूर्ण वरतना चाहिये। इसके अतिरिक्त सैन्धव नमक और सरसों का तेल भी उत्तम है। इसके उपयोग से 'तद्दौर्गन्ध्योपदेहौ तु श्लेष्माणं चापकर्षति। वैशद्यमन्नाभिरुचिं सौमनस्यं करोति च ॥' मुख की शुद्धता होती है।

इसके उपरान्त जीभ को साफ करना चाहिये। जीभ को साफ करने के लिये दातुन को चीर कर जीभ का मैल बाहर निकाल देना चाहिये। सुश्रुत में इसके लिये लकड़ी या सुवर्ण-चाँदी आदि की जीभी बनाने का उपदेश किया है; ये जीभी कोमल और चिकनी होनी चाहिये; इससे जीभ का मल दूर करे यथा—'जिह्वानिर्लेखनं रौप्यं सौवर्णं वार्क्षमेव च। तन्मलापहरं शस्तं मृदु श्लक्ष्णं दशाङ्गुलम् ।'

दन्तधावन का निषेध—

नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरार्दिती ।
तृष्णाऽऽस्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत् ॥ ४ ॥

स०—अजीर्णादीनां द्वंद्वः। एतानि विद्यन्ते यस्येति 'अत इनिठनौ'इति इनिः। एवं तृष्णास्येत्यादौ द्वंद्वादिनिश्च। तद्दंतधावनमजीर्णी न भक्षयेत्। एवं वमथ्वादीनां मत्वर्थीयांतानां सम्बन्धो योज्यः ॥ ४ ॥

वि०—दातुन का निषेध—अजीर्ण, वमन, श्वास-कास, ज्वर और अर्दित रोगी, दातुन न करे। तृष्णा, मुखपाक, हृदय, नेत्र, शिर और कर्ण रोगी भी दातुन न करे ॥ ४ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में भी इन्हीं अवस्थाओं में निषेध किया है; यथा—'न खादेद्गलताल्वोष्ठजिह्वारोगसमुद्भवे। अथास्यपाके श्वासे च कासहिक्कावमीषु च ॥' इन अवस्थाओं में दातुन करने से रोग के बढ़ने की सम्भावना रहती है। इसके सिवाय 'दुर्बलोऽजीर्णभक्तश्च मूर्च्छार्त्तो मदपीडितः। शिरोरुजाऽऽर्त्तस्तृषितः श्रान्तः पानक्लमान्वितः। अर्दिती कर्णशूली च दन्तरोगी च मानवः ॥' भी दातुन न करे।

सौवीराञ्जन (सुर्मा) के गुण—

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत् ।

स०—ततो, दन्तधावनभक्षणानंतरं सौवीराख्यमंजनं भजेत्। कस्मात् यतो हितमक्षणोः।

वि०—अञ्जन कर्म—नित्य प्रति आँखों में सौवीराञ्जन लगाना हितकारी है, अतः इसे लगाये।

वक्तव्य—सुश्रुत में सौवीराञ्जन के स्थान पर स्रोतोऽञ्जन बताया है; यथा—'मतं स्रोतोऽञ्जनं श्रेष्ठं विशुद्धं सिन्धुसम्भवम्। दाहकण्डूमलघ्नं च दृष्टिक्लेदरुजाऽपहम् ॥' अर्थात् स्रोतोऽञ्जन सिन्धु नदी से उत्पन्न हुआ है। सौवीराञ्जन के लिये भी चक्रपाणि ने कहा है कि 'सुवीरानदीभवं सौवीरम्' अर्थात् सुवीरा नदी से उत्पन्न अञ्जन सौवीर है। वास्तव में ये दोनों एक ही हैं; अर्थात् सौवीराञ्जन भी सिन्धु नदी से उत्पन्न होता है। इस देश में आज तक आँख में अञ्जन का रिवाज है। मुसलमान प्रायः नित्य अञ्जन करते हैं; इस देश के लोग अच्छे वीर होते हैं; इसलिये इस देश को 'सुवीर' और नदी को 'सुवीरा' कहा है। इस अञ्जन को नित्य प्रति करे। इस अञ्जन के करने से-आँखों में जलन एवं पलकों में मैल नहीं होती, जैसा कि संग्रह में कहा है—लोचने तेन भवतो मनोज्ञे सूक्ष्मदर्शने। व्यक्तत्रिवर्णे विमले सुस्निग्धघनपक्ष्मणी ॥' अञ्जन करने से आँख के रोग नहीं होते।

रसाञ्जन की विधि—

चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम् ॥५॥
योजयेत्सप्तरात्रेऽस्मात्स्रावणार्थं रसाञ्जनम् ।

स०—अस्मात्कारणात्स्रावणार्थं सप्तरात्रे सति रसांजनं दार्वीक्वाथसमुद्भवाख्यं योजयेत्। यस्माच्चक्षुस्तेजोमयमाग्नेयम्। यद्यपि पंचमहाभूतात्मकं सर्वमपि तथापि बाहुल्येन व्यपदेशात्तेजोमयमुच्यते। अत एव तद्रूपाण्यालोचयति। तथा च लोके कश्चिदाह—नरपतिरेतीति। न चासौ नराणामेव पतिः किंतर्हि नारीणामपीति। तस्य चक्षुषो वातपित्ताभ्यामपि भयमस्ति विशेषेण तु कफाद्भयं ततो रसांजनं योजयेत् ॥ ५ ॥

वि०—आँख तेजोमय है; इसलिये उसे विशेषकर कफ से भय है; अतः कफ को बहाने के लिये सात रात पीछे (एक बार) आँखों में रसांजन का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५ ॥

वक्तव्य—शरीर में सब देवताओं का वास है; इसमें आँख सूर्य का प्रतिनिधि है; जिस प्रकार सूर्य सबको देखता है; या सूर्य के प्रकाश से सब दीखता है; उसी प्रकार आँख से मनुष्य देखता या आँख सब देखती है; इसी से कहा है—'सूर्यश्चक्षुषा'-सुश्रुत; इसलिये चक्षु को तेजोमय माना है; और उसको कफ से भय है; क्योंकि ये दोनों विरोधी हैं। कफ का अर्थ जल है; शिरोभाग में कफ की अधिकता है।

रसाञ्जन—इसका प्रयोग सप्ताह में एक बार करना चाहिये। रसांजन—'दार्वीक्वाथमजाक्षीरपादं पक्त्वा यदा घनम्। तदा रसाञ्जनाख्यं तन्नेत्रयोश्च प्रयोजयेत्' ॥ अर्थात् दारुहल्दी के क्वाथ में चतुर्थांश बकरी का दूध मिलाकर पकाकर उसे रसक्रिया से घन बना लेना चाहिये। यह आँखों के लिये उत्तम है; जैसा कि कहा है 'रसाञ्जन कटुश्लेष्मविषनेत्रविकारनुत्' ॥ आजकल भी दुखती आँख में रसौत का

लेप करते हैं और रसौत को मधु में या पानी में मिलाकर आँख में बूँद भी डालते हैं।

अंजन का लाभ—'यथा हि कनकादीनां मणीनां विविधात्मनाम्। धौतानां निर्मला शुद्धिस्तैलचेलकचादिभिः॥ एवं नेत्रेषु मर्त्यानामञ्जनाश्च्योतनादिभिः। दृष्टिनिराकुला भाति निर्मले नभसीन्दुवत्'॥ अर्थात् जिस प्रकार मलिन स्वर्ण आदि की तेल, कपड़ा और बालों से शुद्धि;की जाती है; उसी प्रकार आँखों को निर्मल बनाया जाता है। यह निर्मलता अंजन, आश्च्योतन आदि से की जाती है। आश्च्योतन के लिये आँवले का पानी उत्तम है।

नस्यादि सेवन विधि—

ततो नावनगण्डूषधूमताम्बूलभाग्भवेत्॥ ६॥

स०—नावनादीनां नस्यादिविधिषु गुणा वक्ष्यमाणा विधानं च। तांबूलस्य तु वैशद्यारुचिहरत्वसौगंध्यादिगुणा प्रसिद्धा एव। नावनादीनां तांबूलांतानां द्वंद्वः। ततोऽञ्जनादनंतरं नावनगण्डूषधूमतांबूलानि भजते यः स एवंविधो भवेत्। 'भजो ण्विः' इति ण्विः॥ ६॥

वि०—अञ्जन के उपरान्त नावन (नस्य), गण्डूष, धूमपान और ताम्बूलचर्वण क्रमशः करे॥ ६॥

वक्तव्य—अञ्जन के पीछे नावन अर्थात् नस्य लेवे। नस्य के लिये अणुतैल का विधान है, अणुतैल-शिर के प्रत्येक अणु में नासा के द्वारा पहुँच जाता है: क्योंकि नासा शिर का द्वार है—'द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद् व्याप्यहन्ति तान्'॥ (चरक. सि. अ. ९।८८)। नस्य की विधि आगे सूत्रस्थान में आयेगी—वहीं पर अणुतैल का विधान है। गण्डूष से अभिप्राय मुख में असञ्चारी द्रव की मात्रा से है; द्रव की जो मात्रा मुख में दायें-बायें फेरी जाये वह कवल है। इसके लिये तैल विशेषतः तिल या सरसों का उत्तम है। इसीसे चरक में कहा है—'न शूल्यन्ते न चाम्लेन हृष्यन्ते भक्षयन्ति च। परानपि खरान् भक्ष्यांस्तैलगण्डूषधारणाद्'॥

ताम्बूल—पान का रिवाज प्राचीन काल से है। इससे मुख की विशदता होती है। इसी से कहा है 'पथ्यं सुप्तोत्थिते भुक्ते स्नाते वान्ते च मानवे। द्विपत्रमेकं पूगं च सचूर्णखदिरं च तत्'॥ प्राचीनकाल से पान के बीड़े की प्रथा सत्कार रूप में प्रचलित है; घर से निकलते समय पान खाकर जाते हैं; अतिथि के सत्कार में पान दिया जाता है।

रोगविशेष में ताम्बूल का निषेध—

ताम्बूलं क्षतपित्तास्ररूक्षोत्कुपितचक्षुषाम्।
विषमूर्च्छामदार्तानामपथ्यं शोषिणामपि॥ ७॥

स०—क्षतं विद्यते येषां ते क्षताः। अर्शआदित्वादच्। एवं पित्तास्राः। उत्कुपितमभिष्यन्नं चक्षुरेकं द्वे वा येषां ते। ये च क्षताश्च पित्तास्राश्च रूक्षाश्चोत्कुपितचक्षुषश्च तेषामपथ्यमहितम्। तथा विषार्तानां मूर्छार्तानां मदार्तानां शोषिणां चेत्यपिशब्दस्यार्थः। शोषिणो राजयक्ष्मिणः॥ ७॥

वि०—जिन मनुष्यों को क्षत (उरःक्षत, क्षतकास) हो, रक्तपित्त रोगी, रूक्ष प्रकृति; जिनकी आँखें दुःखती हों (अभिष्यन्द हो); जो विष-मद-मूर्च्छा से पीड़ित हों, या जिनको शोष रोग हो—उनके लिये ताम्बूल भक्षण अपथ्य है।

वक्तव्य—सुश्रुत में कहा है—'रक्तपित्तक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छापरीतिनाम्। रूक्षदुर्बलमत्तानां न हित मुखशोषिणाम्॥' इसलिये शोष शब्द से मुखशोष तथा राजयक्ष्मा दोनों ग्रहण करना चाहिये। क्षत से अभिप्राय उरःक्षत से है। ताम्बूल-कटु, उष्ण और तिक्त है; जैसाकि कहा है 'ताम्बूलं कटुतिक्तमुष्णमधुरं क्षारं कषायान्वितं, वातघ्नं कृमिनाशनं कफहरं दुर्गन्धिनिर्णाशनम्। वक्त्रस्याभरणं विशुद्धिकरणं कामाग्निसन्दीपनं, ताम्बूलस्य सखे त्रयोदश गुणाः स्वर्गेऽपि ते दुर्लभाः॥' इसलिये पित्त-वृद्धि की अवस्थाओं में इसको नहीं खाना चाहिये।

तदेतत्सर्वं विधाय भोजनासन्ने कालेऽभ्यंग आचरणीय इत्याह—

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं, स जराश्रमवातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्॥ ८॥

स०—अभ्यंगं नित्यं सततमाचरेत्। नित्यग्रहणं चोपलक्षणार्थम्। एकद्वित्रिदिनांतरमपि यथोचितमाचरतोऽपि न दोषः। सोऽभ्यंग आचर्यमाणो जरां च श्रमश्च वातश्च तान् हंतीति क्विप्। तथा दृष्टीत्यादि। दृष्टेः प्रसादो वैमल्यं दृष्टिप्रसादः। शोभना चासौ त्वक् तस्या भावः सुत्वक्त्वम्। दृढस्य भावो दार्ढ्यम्। दृढादिभ्यः ष्यञ्। दृष्टिप्रसादादीनां द्वंद्वः। तानि करोति योऽभ्यंगः स एवम्॥ ८॥

वि०—अभ्यंग—प्रतिदिन शरीर पर अभ्यङ्ग (तैलमर्दन) करे; इससे बुढ़ापा, थकान और वायु नष्ट होती है। दृष्टि निर्मल होती है; शरीर पुष्ट होता है; आयु बढ़ती है; नींद भली प्रकार आती है; त्वचा निर्मल तथा झुर्रियों रहित एवं शरीर दृढ़ होता है॥ ८॥

वक्तव्य—चरक में अभ्यङ्ग के लिये कहा है—'स्नेहाभ्यङ्गाद् यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात्। भवत्युपाङ्गदक्षश्च दृढः क्लेशसहो यथा॥ तथा शरीरमभ्यङ्गाद् दृढं सुत्वक् च जायते। प्रशान्तमारुताबाधं क्लेशव्यायामसंसहम्॥ स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम्। त्वच्यश्च परमोऽभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः॥ (चरक सू. अ. ५)। यह तैल ऋतु के अनुसार होना चाहिये; यथा-'अथ जातान्नपानेच्छो मारुतघ्नैः सुगन्धिभिः। यथर्तुसंस्पर्शसुखैस्तैलैरभ्यङ्गमाचरेत्॥' अभ्यङ्ग लोम के अनुकूल करना चाहिये; इसमें अधिक जोर की जरूरत नहीं। धूप में या मालिश करने से तैल शरीर में जल्दी लीन होता है।

तैलाभ्यङ्ग के गुण—

शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ।

स०—तमभ्यंगं शिरः श्रवणपादेषु विशेषेणातिशयेन शीलयेदभ्यसेदिति वचनाच्चावश्यं न तथा सर्वशरीरेऽभ्यंगः कार्यो यथैतेषु शिरःश्रवणपादेषु । अत्र च पूर्ववदेकत्वाभावः ।

वि०—अभ्यङ्ग को शिर, कान और पैरों में विशेष करके बरते ।

वक्तव्य—अभ्यङ्ग कान, शिर और पैरों पर विशेष रूप से करना चाहिये । इसी से चरक में कहा है 'नित्यं स्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते । न खालित्य न पालित्य न केशाः प्रपतन्ति च ॥ बलं शिरःकपालानां विशेषेणाभिवर्धते । दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवन्ति च ॥' कर्ण में तेल डालने के लिये-'नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात् । न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसंग्रहः ॥' पैर के अभ्यङ्ग के लिये-'खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्य श्रमः सुप्तिश्च पादयोः । सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्गनिषेवणात् ॥ न सिरास्नायुसंकोचः पादाभ्यङ्गेन पादयोः ॥ पैर पर तेल लगाने से खरता (ओटन), शुष्कता नहींआती-इसलिये इस पर नित्यप्रति बरते । शिर और कान के रोगों से रक्षा के लिये शिर और कानों में तैल डालना प्रतिदिन आवश्यक है ।

तैलाभ्यङ्ग का निषेध—

वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृतसंशुद्ध्यजीर्णिभिः ॥ ९ ॥

अथैतदपवादमाह—

स०—अभ्यंगो वर्ज्यो वर्जनीयः । कफग्रस्तेन कृतसंशुद्धिनाऽजीर्णिना च ॥ ९ ॥

वि०—अभ्यङ्ग का निषेध—कफ से पीड़ित; वमन-विरेचन से जिसने शरीर का शोधन किया हो और अजीर्ण रोगी को (उस दिन) अभ्यङ्ग नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने तरुणज्वर में भी अभ्यङ्ग का निषेध किया है; यथा 'तरुणज्वर्यजीर्णी च नाभ्यक्तव्यः कथञ्चन । तथा वान्तो विरिक्तश्च निरूढो यश्च मानवः ॥ पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा । शेषाणां तदहः प्रोक्ता अग्निसादादयो गदाः ॥' ज्वर में चन्दनादि तैल, अष्टकट्वर तैल, लाक्षादि तैल आदि मलते हैं; वे सब जीर्णज्वर में ही उपयोगी हैं । इसी से चरक में कहा है-'स्नेहाभ्यङ्गान् प्रदेहांश्च सस्नेहान् सावगाहनान् । विभज्य शीतोष्णकृतान् दद्याज्जीर्णज्वरे भिषक् । तेनाशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः । लभन्ते सुखमङ्गानि बलं वर्णश्च जायते ।' इस प्रकार करने से वायु और पित्त की शान्ति जीर्णज्वर में होती है । कफ से पीड़ित व्यक्ति में तैल के अभ्यङ्ग के कारण पुष्टि होने से और भी कफवृद्धि होती है ।

व्यायाम से लाभ—

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः ।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ॥ १० ॥

स०—शरीरायासजननं कर्म व्यायामः । तस्मात्पंच गुणाः लाघवादयो निष्पद्यन्ते । विभक्तानि विभागेन स्थितानि घनानि गात्राणि यस्य स विभक्तघनगात्रस्तस्य भावस्तत्त्वमिति ॥ १० ॥

वि०—व्यायाम के लाभ—व्यायाम से शरीर में हल्कापन; कार्यों में शक्ति; अग्नि में तीक्ष्णता और मेद का नाश होता है । व्यायाम से शरीर के अङ्ग विभक्त, पृथक्-पृथक् उपचित एवं दृढ़ हो जाते हैं ॥ १० ॥

वक्तव्य—व्यायाम का लक्षण—'शरीरायासजनकं कर्म व्यायामसंज्ञितम्' । जिस कार्य से शरीर में थकान का अनुभव हो उसका नाम व्यायाम है । व्यायाम को अपनी आधी शक्ति से करना चाहिये, अर्थात् माथे पर या कक्षा में जब पसीना अनुभव हो उस समय व्यायाम करना छोड़ देना चाहिये । इस व्यायाम से मांसपेशियाँ अलग-अलग दृढ़ बनती हैं । पेट और छाती अलग दीखते हैं—चर्बी घट जाती है । व्यायाम अभ्यङ्ग करके करना चाहिये इससे तैल भली प्रकार शरीर में प्रविष्ट हो जाता है—'न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम् । न च व्यायामिन मर्त्यमर्दयन्त्यरयो बलात् ॥ न चैन सहसाऽक्रम्य जरा समधिरोहति । व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम् ॥ विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते' । साथ ही शक्ति से अधिक करने पर लाभ के बदले हानि हो जाती है । इसलिये शक्ति से कम ही व्यायाम करना चाहिये ।

इदानीं येनासौ न कार्यस्तं दर्शयति—

वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च तं त्यजेत् ।

स०—वातपित्तामयी बाल आषोडशाद्वर्षाद् वृद्धः सप्ततेरूर्ध्वमजीर्णी च तं जह्यात् ।

व्यायाम के अयोग्य मनुष्य—

वि०—व्यायाम का निषेध—वात-पित्तरोगी; बालक (१६ वर्ष तक), वृद्ध (७० वर्ष के उपरान्त), और अजीर्णरोगी को व्यायाम नहीं करना चाहिये ।

वक्तव्य—व्यायाम से वायु और पित्त की वृद्धि होती है; वृद्धावस्था में भी वायु बढ़ी होती है; और अजीर्ण रोगी के लिये दिन में सोना उत्तम है; 'दिवास्वप्नं प्रकुर्वीत सर्वाजीर्णप्रशान्तये'—इसलिये इनमें व्यायाम का निषेध है । बालक अपना स्वाभाविक व्यायाम दौड़धूप करता है उसके लिये कुश्ती आदि अधिक जोर का व्यायाम का ही निषेध है ।

व्यायाम की योग्यता और उसका समय—

अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः ॥
शीतकाले वसन्ते च मन्दमेव ततोऽन्यदा ।

स०—तुरवधारणे । बलवद्भिः पुरुषैः स्निग्धभोजिभिरर्धशक्त्यैव निषेव्यो व्यायामः । प्राक् श्रमाद्व्यायामवर्जनं कार्यमित्यर्थः । कदासौ विधातव्य इत्याह—हेमन्ते शिशिरे वसंते

च सेव्यः। शीतवसंताभ्यामन्यदा मंदमेव सेव्यः। मंदमिति क्रियाविशेषणम्। क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकलिंगता च वक्तव्येति ॥ ११ ॥

वि०—व्यायाम का सेवन बलवान् एवं स्निग्ध भोजन करने वाले पुरुषों को शीतकाल और वसन्त में आधी शक्ति से करना चाहिये और ग्रीष्म, वर्षा, शरद् इनमें आधी शक्ति से भी थोड़ा ही करना चाहिये ॥ ११ ॥

वक्तव्य—व्यायाम नित्यप्रति करना चाहिये, सब ऋतुओं में करना चाहिये, शीतकाल अर्थात् हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु में अपनी आधी शक्ति के अनुसार व्यायाम करना चाहिये, शेष तीन ऋतुओं में ग्रीष्म-वर्षा और शरद् में थोड़ा करना चाहिये। आधी शक्ति का लक्षण-'हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते। व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद् बलार्धस्य लक्षणम् ॥'—सुश्रुत। इसी से कहा है कि 'प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जो स्यात् ॥' अर्थात् थकान होने से पहले ही व्यायाम को छोड़ देवे। ग्रीष्म, वर्षा में वायु का सञ्चय एवं प्रकोप का काल होने के कारण इसमें व्यायाम कम करने का विधान है, हेमन्त और वसन्त में कफ के सञ्चय एवं प्रकोप काल होने से व्यायाम करने के लिए उत्तम है।

व्यायाम के पश्चात् कर्तव्य—

तं कृत्वाऽनुसुखं देहं मर्दयेच्च समन्ततः ॥ १२ ॥

स०—तं व्यायामं कृत्वा अनुसुखं यथा शरीरे बाधा न स्यात्तथा देहं मर्दयेत्। समंततः परितः ॥ १२ ॥

वि०—व्यायाम करने के उपरान्त सम्पूर्ण शरीर का सुखपूर्वक मर्दन करे ॥ १२ ॥

वक्तव्य—सुखपूर्वक मलने से शरीर की थकान मिटती है; जिस प्रकार घोड़े की मलाई होने पर वह श्रम को भूल जाता है; उसी प्रकार शरीर मलने से थकान दूर हो जाती है। मालिश से शरीर की थकान जो व्यायाम से हुई होती है; वह मिटती है। यह मालिश धीमे-धीमे इस प्रकार होनी चाहिये जिससे शरीर को कष्ट न पहुँचे। इसी से सुश्रुत में कहा है 'व्यायामस्विन्नगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्त्तितस्य च। व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव'॥ सु. चि. अ. ४२।४३ ॥

अतिव्यायाम तथा जागरण आदि से हानि—

तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ॥ १३ ॥

स०—अतिव्यायामतस्तृष्णादयो भवन्ति। तृष्णेति पृथक् पदम्। तेन तृष्णादीनां पदानामकृतसमासानां निर्देशो दोषदेशाद्यनुरोधेनैकस्य द्वयोस्त्रिचतुराणां बहुतराणां सर्वेषां चातिव्यायामव्यापत्त्वद्योतनार्थः ॥ १३ ॥

वि०—अति व्यायाम से हानि—अति मात्रा में व्यायाम करने से प्यास, क्षय, प्रतमकश्वास; रक्तपित्त, थकान, क्लम, कास, ज्वर और वमन उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

वक्तव्य—क्षय—राजयक्ष्मा। प्रतमक—तमकश्वास भेद यथा—'ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमकं तु तम्'॥ श्रम-कर्मेन्द्रियों का अपने कार्यों में असामर्थ्य। क्लम—ज्ञानेन्द्रियों का अपने कार्यों में असामर्थ्य।

अतिव्यायामप्रसंगेनातिजागरादीनामपि व्यापदो दर्शयति—

व्यायामजागराध्वस्त्रीहास्यभाष्यादिसाहसम्।
गजं सिंह इवाकर्षन् भजन्नति विनश्यति ॥ १४ ॥

स०—व्यायामादीनां भाष्यांतानां द्वंद्वः। तान्यादीर्यस्य साहसस्य धनुराकर्षणादेस्तदेवम्। अयथाबलमारंभः साहसं तद्भजन्सेवमानो विनश्यति। क इव। सिंह इव गजमतिमहावर्ष्माणमाकर्षन्नाक्रामन्यथा विनश्यति तथाऽयथाबलमारंभेण व्यायामादिना नरो मार्यत इति ॥ १४ ॥

वि०—व्यायाम; रात्रि-जागरण, मुसाफिरी (पैदल चलना), स्त्रीसङ्ग, हास्य, भाष्य (बोलना) आदि साहसिक कार्य (बल से अधिक कार्य)—इनको अत्यधिक मात्रा में-शक्ति से अधिक करने पर मनुष्य नष्ट हो जाता है; जिस प्रकार कि शेर अपने से अधिक बलवान् हाथी को खींचता हुआ नष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—सिंह जैसा बलवान् पशु भी हाथी को खींचते हुए जिस प्रकार नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार मनुष्य अपनी शक्ति से अधिक व्यायाम, रात्रि-जागरण, मुसाफिरी, स्त्रीसङ्ग, हास्य, बोलना आदि साहसिक कार्य करने से नष्ट हो जाता है। इसलिये ये कार्य सदा अपनी शक्ति के अनुसार करने चाहिये।

उबटन से लाभ—

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलायनम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम् ॥ १५ ॥

स०—उद्वर्तनस्य कफहरादयश्चत्वारो गुणाः ॥ १५ ॥

वि०—उद्वर्त्तन—उद्वर्त्तन (उबटन) कफ का नाश करने वाला; मेद को विलीन करने वाला; अङ्गों को स्थिर करने वाला होता है और त्वचा को अतिशय निर्मल बनाता है ॥ १५ ॥

वक्तव्य—उद्वर्तन—कषाय आदि चूर्ण या कल्क से शरीर की मालिश करना। यह उद्वर्त्तन रूक्ष और स्निग्ध भेद से दो प्रकार का है-यथा स्थौल्य-चिकित्सा में चरक—'रूक्षाण्युद्वर्त्तनानि च' और कृशता की चिकित्सा में उसी ग्रन्थ में—'स्निग्धमुद्वर्त्तनं स्नानम्'॥ इसीलिए सुश्रुत में-'उद्वर्त्तनं वातहरं कफमेदो-विलायनम्'। इसके लिए सरसों का चूर्ण

दूध में मिलाकर अथवा चने का बेसन तैल में अथवा दही की मलाई और तैल मिलाकर उबटन करना चाहिये। इस उबटन क्रिया से लोमकूप खुलते हैं-इससे शरीर के अङ्ग स्थिर होते हैं और त्वचा में निर्मलता आती है।

स्नान के गुण—

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम् ।
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित् ॥ १६ ॥

स०—स्नानं दीपनं वृष्यमायुष्यं च भवति । ऊर्जा उत्साहः। बलं प्राणनम्। एते प्रददाति करोति यत्तदेवम्। कंडित्वत्यादि। कंडूवादीनां द्वन्द्वः । एतान् जयति स्नानस्य प्रभावादायुष्यत्ववृष्यत्वदीपनत्वानि बोद्धव्यानि। अथवा स्नानेन प्रहर्षो भवति। हर्षणत्वाच्च वृष्यत्वम्। तथा च वक्ष्यति—"यत्किंचिन्मधुरं स्निग्धं बृंहणं बलवर्धनम्। मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ॥" इति। यथा स्नानं जाठराग्नेर्बहिर्निर्गतानि रोमकूपाश्रितान्यर्चींषि रुद्ध्वाऽन्तर्नयति ततश्चाग्नेः प्रबलत्वं कुर्वद् दीपनं संपद्यते। यथा शीतकाले शीतानिलस्पर्शसंरुद्धस्य जाठराग्नेः प्रबलत्वम्। बालादित्यस्तु व्याचष्टिष्ट। स्नानेन भ्राजकाख्यं त्वगाश्रितं पित्तमतः प्रविशदूष्माणं संवर्धयति तेन तद्दीपनम्। अत एव परिषेके जलमुष्णमिष्यते। यस्माच्छीतं निर्वापयति तेजो न देहस्यांतः प्रवेशयति। शीतकाले यच्छीतानिलस्पर्शसंरुद्धस्याग्नेः प्रबलत्वं तत्काल एव तस्मिन् कालस्वाभाव्यादिति बोद्धव्यम्। तथा चान्यतौ शीते सति मंदाग्नित्वमेव दृश्यते। यथा वर्षास्वग्निमांद्यादेवांतर्बहिर्वह्निसंधुक्षणं भोजनं समुपदिष्टम्। तथा च मुनिः—व्यक्ताम्ललवणस्नेहं वातवर्षाकुलेऽहनि।' विशेषशीत इत्यादि ॥१६॥

वि०—स्नान—स्नानकर्म अग्निदीपक; वृष्य, आयुवर्धक, ऊर्जा (उत्साह) बढ़ाने वाला और बलदायक है। कण्डू (खुजलाहट), मल (त्वचा का मल), थकान, पसीना, तन्द्रा, प्यास, दाह और पाप को दूर करने वाला है ॥१६॥

वक्तव्य—वृष्य-मन की प्रसन्नता करने से वृष्य है 'यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं बृंहणं बलवर्धनम्। मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्मुच्यते' ॥ स्नान करने से रोमकूप की अग्नि अन्दर चली जाती है' यथा—(१) 'बाह्योऽङ्गसेकैः शीताद्यैरूष्माऽन्तर्याति पीडितः। नरस्य स्नातमात्रस्य दीप्यते तेन पावकः ॥' (२) 'स्नानेन भ्राजकाख्यं त्वगाश्रित पित्तमन्तः प्रविश्यदूष्माणं संवर्धयति। तेन तद्दीपनम्।' स्नान—उत्साह एवं बलदायक है। स्नान से कण्डू (खुजलाहट); त्वचा की मलिनता, थकान, पसीना, तन्द्रा, प्यास, दाह एवं पाप नष्ट होता है ॥ १६ ॥

उष्ण जल से स्नान की विधि और निषेध—

उष्णाम्बुनाऽधःकायस्य परिषेको बलावहः ।
तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम् ॥ १७ ॥

स०उष्णांबुनाऽधःकायस्य परिषेको बलावहः प्राणकृत्। तेनैवोष्णोदकेनवोत्तमांगस्य शिरसः परिषेको विधीयमानः केशचक्षुषां बलहृत्। प्राण्यंगानां समाहार एव द्वंद्व इत्यस्य प्रायिकत्वात्केशचक्षुषामित्युपपन्नमेव ॥ १७ ॥

वि०—गरम पानी से शरीर के निचले भाग का परिषेक करना बलदायक है। उसी गरम पानी से उत्तमाङ्ग (शिर) का परिषेक करने से बालों और आँखों का बल नष्ट होता है।

वक्तव्य—नाभि से निचले भाग में गरम पानी से परिषेक करे और शिर पर शीतल जल का परिषेक, कई आचार्य ग्रीवा से नीचे गरम पानी का व्यवहार करने को कहते हैं। हेमाद्रि का कहना है कि एक समय में शीत और उष्ण इन दोनों प्रकार का पानी नहीं बरतना चाहिये क्योंकि इससे क्रिया-संकर होने का भय है। परन्तु गरम पानी से बालों को हानि पहुँचती है, जिस प्रकार कि गरम पानी से पौधों की जड़ को नुकसान होता है; इसलिए गरम पानी बाल-शिर एवं आँखों के लिए उत्तम नहीं है;। संग्रह में जो 'नानाप्लुत्य शिरः स्नायान्न जलेऽल्पे न शीतले' पाठ है, वह अतिशय शीतल जल के निषेध के लिये है। सुश्रुत में—'उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा। शीतेन शिरसा स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत्'।

स्नानं येषामपथ्यं तान् दर्शयितुमाह—

स्नानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु ।
आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् ॥ १८ ॥

स०—नेत्रे चास्यं च कर्णौ च तत्र रोगाः। अर्दितं च नेत्रास्यकर्णरोगाश्चातिसारश्च ते विद्यन्ते येषां त एवम्। तेषु गर्हितमहितम्। एवं शेषेषु योज्यम्। अर्दितादीनां द्वंद्वस्ततो मतुप्। तेनार्दितादिमत्सु गर्हितमिति योज्यम्। एवं शेषेष्वपि ॥ १८ ॥

स्नान के अयोग्य मनुष्य—

वि०—स्नान का निषेध—अर्दित रोगी, नेत्ररोगी, मुखरोगी, कर्णरोगी, अतिसार रोगी, आध्मान, पीनस एवं अजीर्ण में तथा भोजन करके तुरन्त स्नान करना निन्दित है ॥ १८ ॥

वक्तव्य—इन अवस्थाओं में स्नान करने से रोगवृद्धि की आशङ्का रहती है।

भोजन तथा मल-मूत्रोत्सर्ग की व्यवस्था—

जीर्णे हितं मितं चाद्यान्न वेगानीरयेद्बलात् ।
न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम् ॥१९॥

स०—जीर्णे सम्यक्परिणते पूर्वं आहारे अद्याद्भुंजीत। किमद्यात्। हितं पथ्यम्। मितं मात्रया युक्तम्। पथ्यमपि ह्यतिमात्रं वा भुक्तं दोषाय स्यादतो मितम्। न वेगादित्यादि। वातविण्मूत्रादीनां संबंधिनो वेगानुन्मुखीभूतानपि बलान्नेरयेन्न प्रवर्तयेत्। न वेगित इत्यादि। संजातवातविण्मूत्रवेगस्तमकृत्वा नान्यकार्यः स्यात्। नान्यकार्यं कुर्यादित्यर्थः। नाजित्वेत्यादि। साधयितुं शक्यः साध्यस्तं रोगमजित्वा नान्यकार्यः स्यादिति योज्यम्। स ह्युपेक्षितो दुःसाध्यो साध्यो वा स्यात्

साध्यशब्दोपादानादसाध्यामयप्रतिपन्नो न नान्यकार्यश्चिकित्सानैष्फल्यादिति द्योतयति ॥ १९ ॥

वि०—भोजनविधान—पूर्व कृत आहार के जीर्ण (पच जाने पर) हो जाने पर हितकारी भोजन-मात्रा के अनुसार खाये। मल-मूत्रादि के अप्रवृत्त वेगों को बलपूर्वक प्रेरित न करे। मल-मूत्रादि का वेग उपस्थित होने पर उनका त्याग किये बिना दूसरे कार्य न करे। साध्य रोग को शान्त किये बिना दूसरा काम न करे—अर्थात् पहले रोग को शान्त करे ॥ १९ ॥

वक्तव्य—भोजन-पूर्व आहार के जीर्ण होने पर करे, इसी लिये चरक में कहा है, 'जीर्णेऽश्नीयात्'; भोजन मात्रा में करे—'मात्राशी स्यात्'; भोजन हितकारी हो; 'हिताशी-स्यात्'। यहाँ पर भोजन के विषय में संक्षेप में कहा है। इसी प्रकार मल-मूत्रादि के सम्बन्ध में भी संक्षेप में कहा है जैसा कि चरक में कहा है 'न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्'। साध्य रोग की चिकित्सा में उपेक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि रोग पीछे बढ़कर मृत्यु का कारण बनता है; यथा—'अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद् विवर्धते। स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः ॥ तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा। भेषजैः प्रतिकुर्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः' ॥ चरक. सू. अ. ११।

सुखसाधन धर्म की प्रशंसा—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत् ॥ २० ॥

स०—सर्वभूतानामशेषप्राणिनां यस्मात्सुखार्थाः प्रवृत्तयः कर्माणि। मता अभिप्रेताः सुखं च शर्माख्यं धर्माद्विना न भवति तस्मात्कारणाद्धर्मपरो धर्मप्रधानः स्यात्। धर्मादिति पृथग्विनेति पंचमी ॥ २० ॥

वि०—सब प्राणियों की सब प्रवृत्तियां सुख के लिये होती हैं, और सुख बिना धर्म के नहीं मिलता; इसलिये मनुष्य को धर्मपरायण होना चाहिये ॥ २० ॥

वक्तव्य—धर्म से आरोग्य तथा ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त होता है।

मित्र और शत्रु के प्रति आचरण—

भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतरदूरगः।

स०—कल्याणे शुभकर्मणि मित्राणि सहाया उपदेशादिना कल्याणमित्राणि तानि भक्त्या अदंभमतिः सन् भजेत्। इतराणि कल्याणमित्रापेक्षयेतराणि पापमित्राणि तेभ्यो दूरगस्तद्वर्जनपरः। सत्संगो हि दृष्टादृष्टानर्थकरः। दूरग इत्यस्माद् दूर स्थितः ॥ २१ ॥

वि०—कल्याण करने वाले मित्रों पर श्रद्धा रखकर चले और जो कल्याण नहीं करने वाले हैं; उनसे दूर रहे; उनसे बचे।

दशविध पापों की समीक्षा—

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते ॥ २१ ॥
सम्भिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम्।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥ २२ ॥

स०—हिंसा प्राण्युपघातः। स्तेयं चौर्यम्। अन्यथाकामो निषिद्धकामसेवा पशुस्त्रीगमनादि। एतत्त्रिविधं कायिकं पापं कर्म। पैशुन्यं परेषां भेदकृद्वचनम्। परुषमसृदुवचनम्। अनृतमसत्यवचनम्। संभिन्नालापोऽसंबद्धप्रलपनम्। चतुर्विधमेतद्वाचिकम्। व्यापादः प्राण्युपघातचिंता। अभिध्या परगुणाद्यसहिष्णुता। दृग्विपर्ययं शास्त्रदृष्टिवैपरीत्यं नास्तिकत्वादित्रिविधमेतन्मानसम्। तदेतद्धिंसादि दशधा पापं कर्म कायवाङ्मानसैस्त्यजेन्न कुर्यादित्यर्थः ॥ २१-२२ ॥

वि०—दश तरह का पाप कर्म—हिंसा (प्राणियों को मारना); स्तेय (चोरी), अन्यथाकाम (अगम्य-स्त्री-गुरुजन आदि की स्त्री-के साथ मैथुन करना); पैशुन्य (चुगली); परुष (कठोर वचन); अनृत (झूठ बोलना), सम्भिन्न प्रलाप (असम्बद्ध बोलना), व्यापाद (दूसरे को हानि पहुँचाना); अभिध्या (दूसरे के गुण को न सहसकना—ईर्ष्या अथवा दूसरे के धन को लेने की इच्छा); दृग्विपर्यय (नास्तिकता या आप्त वाक्यों में अश्रद्धा करना) ये दश प्रकार के पापकर्म हैं; इन पापकर्मों को शरीर, वाणी, और मन तीनों से छोड़ देना चाहिए ॥ २१-२२ ॥

वक्तव्य—इनमें से प्रथम तीन कायिक, बाद के चार वाचिक और अन्त के तीन मानस पाप हैं।

मनुष्य का कर्त्तव्य—

अवृत्तिव्याधिशोकार्ताननुवर्तेत शक्तितः।

स०—न विद्यते वृत्तिर्येषां तानवृत्तीन्। शक्त्या यथासामर्थ्यमनुकूलं गच्छेत्। तथा व्याधिना शोकेन चार्तांश्च।

वि०—अवृत्ति जीवन के साधन का अभाव वाले), व्याधि (रोग); शोक (इष्ट-वियोग-जन्य दुःख)-इनसे पीडित व्यक्तियों की सहायता में यथाशक्ति प्रयत्न करे।

आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम् ॥ २३ ॥

स०—कीटान् पिपीलिकांश्चात्मवत्पश्येत्। स्वशरीरतुल्यानित्यर्थः। किमु सतोऽसाधून्वा। कीटपिपीलिकमप्यात्मवत्पश्येदित्यपिशब्दस्यार्थः। कीटपिपीलिकामिति क्षुद्रजंतव इत्येकत्वम् ॥ २३ ॥

वि०—कीड़ा-मकोड़ा, चिऊँटा आदि क्षुद्र जन्तु को भी अपनी तरह-निरन्तर देखे; उनको भी किसी प्रकार का कष्ट न देवे ॥ २३ ॥

वक्तव्य—कहा भी है—'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' ॥ इसी प्रकार—'मातृवत्परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्टवत्। आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति' ॥

अर्चयेद् देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् ।

स०—देवादीनां द्वंद्वः। देवादीनर्चयेत्। वृद्धाज्ञानवृद्धाः शीलतपोवृद्धाश्च। नृपो राजा। अतिथिरसमानग्रामी वैश्वदेवांते समुपस्थितः।

वि०—देवता, गाय, ब्राह्मण, वृद्ध (ज्ञान, शील एवं तपसे वृद्ध), वैद्य, राजा और अतिथि की पूजा करे-इनका सम्मान करे।

विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत् ॥ २४ ॥

स०—अर्थिनो याचकान्प्रत्याख्यानेन विमुखान्न कुर्यात्। नावमन्येत नावमानयेन्न च परुषवचनादिना क्षिपेत् परिभवेत् ॥ २४ ॥

वि०—याचकों को खाली न जाने देवे; उनका तिरस्कार न करे; उनसे कठोर वचन न कहे, उनको झिड़के भी नहीं।

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ ।

स०—अरौ शत्रावपकारपरेऽपि सत्युपकारप्रधानः स्यात्। ननु रिपुरपकारक एव तत्किमपकारपर इति विशेषणेन। तथा च माघः। उपकर्त्रारिणा संधिर्न मित्रेणापकारिणा। उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः। नहि सर्वदैवारिरपकारं कर्तुं शक्यः स्यात् किं तर्हि कदाचिदेव। हेत्वधीनत्वादपकारकारित्वस्य। वातादिदोषवत्। यथा वातादयो दोषा दूषणस्वभावा अपिसन्तः कदाचिद्विकारकत्वे समर्था भवन्ति कदाचिन्नैव। दोषत्वं सर्वदैव तेषाम्। तस्मादपकारपर इति युक्तं विशेषणम्। अपकारिण्युपकारकृत्स्यात् किं पुनरुपकारक इत्यपिशब्दार्थः।

वि०—अपकार करनेवाले शत्रु के प्रति भी मुख्य रूप से उपकार करने वाला होना चाहिए।

वक्तव्य—पञ्चतंत्र में कहा है 'उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते' ॥

सम्पद्विपत्स्वेकमना, हेतावीर्ष्येत् फले न तु ॥ २५ ॥

स०—संपत्सु विपत्सु चैकमनाः समचित्तः। संपत्सु विषक्तेन विपत्सु विषादादिना न भाव्यमित्यर्थः। हेतावित्यादि। हेतौ कारणे ईर्ष्येत्। यथा। अयमेवं श्रुतत्यागादिगुणवान् कस्मादहमप्येवं न भवेयम्। फले नतु परकीये शोभने फले वस्त्रालंकारादिके नेर्ष्येत् ॥ २५ ॥

वि०—सम्पत्ति और विपत्ति में एक रहना चाहिए। कारण में इर्ष्या करे, उसके फल में ईर्ष्या न करे ॥ २५ ॥

वक्तव्य—गीता में भगवान् ने कहा है—'सुखदुःखे समे कृत्वा' इसी प्रकार 'सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता। उदेति सविता रक्तो रक्त एवास्तमेति च ॥' सम्पत्ति और विपत्ति में बुद्धिमान् को एक समान रहना चाहिए।

मनुष्य की उन्नति देखकर उससे ईर्ष्या उसकी उन्नति के कारण में करनी चाहिए फल में ईर्ष्या नहीं रखनी चाहिये।

काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम् ।

स०—काले प्रस्तावे। हितं पथ्यम्। मितं न बहु अविसंवादि सत्यम्। पेशलं मनोज्ञं ब्रूयात्।

वि०—मनुष्य समय पर हितकारी, परिमित सत्य और मधुर बोले।

वक्तव्य—'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।' अयोग्य स्थान पर प्रयुक्त औषध भी विष का काम कर देती है; इसलिए हितकारी, परिमित शब्दों में, सत्य वचन, मधुर भाषा में और समय पर कहे।

पूर्वाभिभाषी, सुमुखः, सुशीलः, करुणामृदुः ॥ २६ ॥
नैकः सुखी, न सर्वत्र विश्रब्धो, न च शङ्कितः ।

स०—पूर्वाभिभाषी पूर्वालापी स्यात्। सुमुखो गतभ्रुकुटिः। सुशीलः शोभनस्वभावः। तथा करुणया मृदुरार्द्रसन्तानो मातेव पुत्रे। एकोऽद्वितीयः सन्मुखी न स्यात्। तथा च भगवान् व्यासः। मायाचारे मायया वर्तितव्यमिति। तथा सर्वत्र मित्रस्वजनादिष्वपि शंकितोऽविश्वस्तो न स्यात्तेषां वैमुख्यदोषप्रसंगभयात् ॥ २६ ॥

वि०—मिलने पर स्वयं पहले बोलना-कुशल-मङ्गल पूछना चाहिए। प्रसन्न-मुख, उत्तम स्वभाव का होना चाहिए। करुणा मृदु-माता जिस प्रकार पुत्र पर करुणा भाव रखती है, वैसा होना चाहिये। अर्थात् सामर्थ्य होने पर भी कृपालु होने के कारण दूसरे के अपकार को सहने की क्षमता होनी चाहिये। अकेला ही सुख का अनुभव न करे;-सब में विभक्त करके सुख का अनुभव करे। सब स्थानों पर या सभी व्यक्ति का विश्वास न करे और न सब स्थानों पर या सभी व्यक्ति में शङ्काशील रहे।

वक्तव्य—मित्र के मिलने पर प्रथम कुशल-मङ्गल स्वयं पूछे। गीता में कहा है—भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'। इसलिये सुख का उपभोग बाँट के करना चाहिये, और दुःख का भोग अकेला ही करना चाहिये। मनुष्य को सब स्थानों पर शङ्काशील नहीं होना चाहिये; और न सब स्थानों पर अविश्वासी होना चाहिये।

न कञ्चिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम् ॥२७॥
प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः ।

स०—आत्मनः शत्रुं कंचिदपि न प्रकाशयेत्। तत्प्रकाशनाद्धि भेदः स्यात्। नात्मानं कस्यचिद्रिपुं प्रकाशयेत्। पूर्वोक्तादेव हेतोः। अपमानमसत्कारं कस्यचिन्न प्रकाशयेत्। प्रभोः स्वामिनः संबंधिनीं निःस्नेहतां न प्रकाशयेत्। तत्प्रकाशनादसौ प्रभुर्जातावसरैर्भेदकैः सुतरां निःस्नेहीक्रियते ॥ २७ ॥

वि०—अमुक का मैं शत्रु हूँ; यह किसी को न बताये और मेरा वह शत्रु है, यह भी किसी को न बताये। अपने पर हुए अपमान की बात किसी से न कहे। स्वामी की अकृपा का भी किसी से जिक्र न करे ॥ २७ ॥

वक्तव्य—ऐसा करने से लोगों को हानि पहुँचाने का अवसर मिल जाता है; इससे ऐसा न करे ।

लोकप्रिय होने का निर्देश—

जनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति ॥ २८ ॥
तं तथैवानुवर्तेत पराराधनपण्डितः ।

स०—जनस्याशयमालक्ष्य लोकस्य अभिप्रायं बुद्ध्वा परिच्छिद्य यो जनो यथा परितुष्यति तथा तेनैव प्रकारेण दानप्रियवचनादिना तमनुवर्तेताराधयेत् । कीदृशो भूत्वा । पराराधने पंडितस्तज्ज्ञः ॥ २८ ॥

वि०—दूसरों को प्रसन्न करने में कुशल पुरुष को मनुष्य के अभिप्राय को समझ कर जो मनुष्य जैसे प्रसन्न होता है उसके साथ उसी प्रकार का वर्ताव करना चाहिए ॥ २८ ॥

वक्तव्य—इससे ही सफलता संसार में होती है ।

इन्द्रियों का निग्रह—

न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत् ॥२६॥

स०—इंद्रियाणि रसनादीनि कदन्नाशनादिना न पीडयेन्न निगृह्णीयात् । न चैतानीद्रियाण्यतिलालयेदतिशयेन विलासयेत् ॥ २९ ॥

वि०—इन्द्रियों को न तो बहुत दबाकर रक्खे और न बहुत अधिक विलास में डाले ॥ २९ ॥

वक्तव्य—इन्द्रियों के न तो वश में हो और न इनको बिलकुल दबा ही देवे; न अयोग करे और न अतियोग करे । क्योंकि दोनों अवस्थाओं में विपरीत प्रभाव की आशङ्का है ।

कार्यारम्भ विधान—

त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत्तं चाविरोधयन् ।

स०—त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्त्रिवर्गस्तेन शून्यं रहितमारंभमुद्यमं न भजेन्न कुर्यात् । कथं भजेत् । तं च त्रिवर्गमविरोधयन्परस्परमविरोधयन् ।

वि०—धर्म, अर्थ और काम से रहित कोई कार्य न करे; और धर्म, अर्थ एवं काम का सेवन-परस्पर अविरोधी रूप से करे-इनमें एक दूसरे का विरोध न हो, इस प्रकार-धर्म, अर्थ, काम का सेवन करे ।

अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ॥ ३० ॥

स०—सर्वधर्मेषु मध्यमां प्रतिपदं प्रतिपत्तिमनुयायात् सर्वेष्वाचारेषु मध्यमं मार्गमनुवर्तेत । नैकत्रासक्तिं कुर्यादित्यर्थः ॥ ३० ॥

वि०—सब धर्मों में (सब आचारों में) मध्यम मार्ग (मध्यस्थता) का अनुसरण करे अर्थात् किसी के प्रति आसक्ति न रखे ॥ ३० ॥

नीचरोमनखश्मश्रुनिर्मलाङ्घ्रिमलायनः ।
स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुल्बणोज्ज्वलः ॥ ३१ ॥

स०—नीचान्यदीर्घाणि लोमनखश्मश्रूणि यस्य स एवंभूतो भवेत् । लोमानि बाहूरुप्रभृतिषु रोमाणि केशाश्चोच्यंते । तथा च हृषेर्लोमस्वित्यत्र सूत्रे विवृतम् । लोमानि मूर्धजान्यंगजानि चेह गृह्यन्त इति । नीचलोमादिकफलं च मुनिनोक्तम् । पौष्टिकं धन्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम् । केशलोमनखादीना कृन्तनं संप्रसाधनमिति । तथांघ्री पादौ । मलायनानि घ्राणकर्णादीनि । निर्मलान्यंघ्रिमलायनानि यस्य स एवम् । अस्य च फलम् । मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम् । पादयोर्मलमार्गाणां शौचादानमभीक्ष्णशः । स्नानं शीलयति स्नानशीलो नित्यस्नायी स्यात् । तथा सुसुरभिः सुगंधिः । शोभनो जीर्णमलिनवस्त्रादिविवर्जितो वेषो यस्य स सुवेषः । अनुल्बणोऽनुद्धतः स चासावुज्ज्वलश्चानुल्बणोज्ज्वलः । अनुद्धतवेषः स्यादुज्ज्वलश्चेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

वि०—रोम, नख और दाढ़ी-मूँछ कटवाकर रखना चाहिये । पैर और नाक, कान आदि मल के स्थानों को स्वच्छ रखना चाहिये । नित्य प्रति स्नान करे । सुगन्ध-इत्र आदि का धारण करने वाला होना चाहिये । सुन्दर, उज्ज्वल एवं अनुद्धत वेष वाला होना चाहिये ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—नख और बाल अपवित्र वस्तु हैं । इनमें अनेक प्रकार के मलिन पदार्थों का संचय हो सकता है, अतः इनको यथासम्भव छोटे ही रखना चाहिये; जैसा कि चरक में कहा है 'पौष्टिकं धन्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम् । केशलोमनखादीनां कृन्तनं सम्प्रसाधनम् ॥' इसी प्रकार पैरों के लिये-'मेध्यं पवित्रमायुष्यलक्ष्मीकलिनाशनम् । पादयोर्मलमार्गाणां शौचादानमभीक्ष्णशः ॥' वेष-भूषा भी सभ्यतापूर्ण होनी चाहिए ।

धारयेत्सततं रत्नसिद्धमन्त्रमहौषधीः ।

स०—धारयेदित्यादि । रत्नानि मणयो वज्रपद्मरागादयः । सिद्धमंत्रोपराजितादिः । महौषधिः सहदेवादिका । रत्नादीनां द्वंद्वः । रत्नादि बाहुग्रीवादिषु सततं सदैव धारयेत् ।

वि०—निरन्तर-रत्न (मरकत, वज्र आदि), सिद्ध मन्त्र (अपराजित आदि), और महौषधि (सहदेवी आदि) को धारण करे ।

वक्तव्य—ऐसा करने से विष का भय तथा ग्रह-बाधा नहीं होती है । जैसा चरक में-'धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः ॥' (चरक चि. अ. २३।२५१)

सातपत्रपदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक् ॥ ३२ ॥

स०—युगमात्रदृग्विचरेद्भ्रमेत् । युगं हस्तचतुष्टयं तत्पश्यति यः स एवम् । एवं कुर्वन्संमुखमागच्छद्भिर्गवाश्वादिभिर्नोपद्रूयते । तथा सहातपत्रेण छत्रेण पदत्राणेन पदाधारपर्यायेण यो वर्तते स एवम् । पादत्रच्छत्रयोश्च गुणा उक्ताः । मारुतस्यानुलोम्याय खुडस्तंभश्रमापहम् । अन्वर्थसंज्ञं पादत्रं बलदृक्शुक्ररक्षणम् । वर्ण्यं नेत्रहितं छत्रं वातवर्षातपापहमिति ॥३२॥

वि०—छाता और जूता धारण करके चार हाथ इधर-उधर देख-कर चले ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—'मारुतस्यानुलोम्याय खुडस्तम्भश्रमापहम् । अन्वर्थसंज्ञं पादत्रं बलदृक्शुक्रकारणम् ॥ वर्ण्यं नेत्रहितं छत्रं वातवर्षातपापहम् ॥'

निशि चात्ययिके कार्ये दण्डी मौली सहायवान् ।

स०—रात्रौ चात्ययिके कार्ये दंडी सन् विचरेत् । दंडेन सर्पादीनामुत्त्रासनमपि चोक्तम् । स्खलतः संप्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषेधनम् । अवष्टंभनमायुष्यं भयघ्नं दंडधारणमिति । मौली शिरोवेष्टनयुक्तः । अनेनोपरि पततां पतंगकीटादिमूत्रपुरीषादीनां रक्षा । तथा सहायवान् । अनेनापि चित्तावष्टंभः । दंडशब्दादत इनिठनाविति इनिः । मौलिशब्दाच्च व्रीह्यादित्वात्तस्य ह्याकृतिगणत्वमिति केचित् । आत्ययिक इति । अत्ययः कृच्छ्रं तस्मिन् भवमित्यध्यात्मादित्वाट्ठञ् ।

वि०—(सामान्यतः रात में बाहर नहीं जाना चाहिए) और रात में कोई आवश्यक कार्य आ पड़ने पर यदि जाना पड़े तो दण्ड लेकर, शिर पर पगड़ी बांधकर, सहायक के साथ जाना चाहिये ।

चैत्यपूज्यध्वजाशस्तच्छायाभस्मतुषाशुचीन् ॥३३॥
नाक्रामेच्छर्करालोष्टबलिस्नानभुवो न च ।

स०—चैत्यस्तु विशिष्टदेवताधिष्ठितो लोकप्रसिद्धो वृक्षविशेषः । बुद्धालय इत्यन्ये । पूज्यो गुरुपुत्रादिः । ध्वजश्चिह्नम् । शस्ता ब्राह्मणादयः । एषां छायाः । तथा भस्म भूतिः । तुषो धान्यादित्वक् । अशुचिर्विट् । यद्वा उच्छिष्टं वस्तु । तदेतन्नाक्रामेत् । शर्कराः सूक्ष्मपाषाणाकृतिर्मृत्खंडिका । तथा लोष्टं मृत्पिंडादिखंडः । बलिर्देवताद्यर्चनम् । स्नानं प्रसिद्धम् । बलिश्च स्नानं च बलिस्नाने तयोर्भुवौ बलिस्नानभुवौ । शर्करा लोष्टं च बलिस्नानभुवौ च ता नाक्रामेत् ॥ ३३ ॥

वि०—चैत्य (ग्राम का पूजास्थल), पूज्य (पूजा के योग्य गुरु पिता आदि); ध्वजा, शस्त (ब्राह्मण आदि) इनकी छाया को न लांघे । भस्म (राख का ढेर), तुष (धान्य की भूसी), अशुचि (मल-मूत्र-जूठ आदि), शर्करा (कंकड़), मिट्टी के ढेले, बलिभूमि (जहाँ बलि दी गई हो), स्नान भूमि (जहाँ पर स्नान किया हो) इनको भी नहीं लांघे ॥ ३३ ॥

नदीं तरेन्न बाहुभ्यां, नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत् ॥३४॥
सन्दिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद् दुष्टयानवत् ।

स०—नदीं तरंगिणीं दोर्भ्यां न तरेत् । अग्निस्कंधमभि अग्निराशेरभिमुखं न व्रजेत् । सन्दिग्धा चासौ नौश्च तां नारोहेन्नोच्चलेत् । संदिग्धायाः शिथिलबंधनत्वाज्जर्जरत्वादतिभाराक्रांतत्वात्पारगमनं प्रति संदेहः । चेति समुच्चये । वृक्षं च नारोहेत् । कथम् । दुष्टयानवत् । यथा दुष्टयानारोहणमपि चोक्त्यानया निषिद्धम् ॥ ३४ ॥

वि०—बाहुओं के बल पर ही अर्थात् तैरकर नदी को पार न करे, अग्निस्कन्ध (आग के ढेर) के सामने न जाये; दुष्ट-घोड़े आदि सवारी की भांति डूबने की सम्भावना वाली नाव पर या गिरने वाले वृक्ष पर भी न चढ़े ॥ ३४ ॥

नासंवृतमुखः कुर्यात्क्षुतिहास्यविजृम्भणम् ॥ ३५ ॥

स०—नासंवृतास्यः क्षुत्यादीन्कुर्यात् । हस्तादिना मुखं पिधाय कुर्यादित्यर्थः । क्षुतिश्छिक्का । हास्यं हसनम् । विजृम्भणं जृम्भिका । एषां समाहारद्वन्द्वः ॥ ३५ ॥

वि०—मुख को बिना ढांपे-छींकना, हँसना या जम्भाई लेना उचित नहीं ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—बिना ढँके छींकने आदि से दूसरों पर थूक आदि के छींटे पड़ सकते हैं तथा मुख में मक्खी आदि भी चली जा सकती है ।

नासिकां न विकुष्णीयान्नाकस्माद्विलिखेद् भुवम् ।
नाङ्गैश्चेष्टेत विगुणं नासीतोत्कटकश्चिरम् ॥ ३६ ॥

स०—नासां न विकर्षेत् । मलोत्सारणमात्रं तु कार्यमेवेति विशब्देन द्योतयति । अकस्मात्कारणं विना भुवं पृथ्वीं न विलिखेन्नोत्कर्षेत् । अङ्गैर्हस्तपादादिभिर्विगुणमननुगुणं यथा भवति तथा न चेष्टेत न व्याप्रियेत । उत्कटकं स्थितमवस्थानं यस्य स एवंभूतो नासीत । चिरं न तिष्ठेदित्यर्थः । अर्शोरोगाद्युत्पत्तेः ॥ ३६ ॥

वि०—नाक को न कुरेदे; बिना मतलब के जमीन को न खोदे । अङ्गों से टेढ़े-विकृत रूप (तोड़-मरोड़कर) चेष्टा न करे । उत्कटक (उत्कट-उकरू) आसन से देर तक न बैठा रहे ।

देहवाक्चेतसां चेष्टाः प्राक् श्रमाद्विनिवर्तयेत् ।
नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेन्नक्तं सेवेत न द्रुमम् ॥ ३७ ॥
तथा चत्वरचैत्यान्तश्चतुष्पथसुरालयान् ।
सूनाटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवाऽपि न ॥ ३८ ॥

स०—देहादीनां द्वन्द्वः । एषां सम्बंधिनीश्चेष्टाः क्रियाः श्रमात्खेदात् पूर्वं विनिवर्तयेत् । तावद्धनुराकर्षादिक्रियायावन्नातीव श्रमः स्यादित्यर्थः । तथा ऊर्ध्वे जानुनी यस्य स ऊर्ध्वजानुश्चिरं नासीत । नक्तं रात्रौ द्रुमं तरुं न सेवेत । तदाश्रितकीटमूत्रशकृदादिपातरक्षार्थम् । चत्वरं त्रिपथम् । अन्ये त्वाहुः । यत्र प्रदेशे नगरनिवासिनो ग्राम्याः वा समेत्य नानाविधाः कथाः कुर्वंति स चत्वर उच्यते । चैत्यांतश्चैत्यसमीपः । चतुष्पथं मार्गचतुष्टयसंगमः । सुरालयो देवगृहम् । एतांश्च नक्तं न सेवेत । सूना वध्यस्थानम् । अटवी निर्जनो देशः । शून्यगृहमुज्जटभवनम् । श्मशानं पितृवनम् । तानि दिवाऽपि न सेवेत । अपिशब्देन रात्रौ नितरामसेवनमाह ॥ ३७-३८ ॥

वि०—शरीर में थकान उत्पन्न होने से पहले ही शरीर, वाणी और मन की चेष्टाओं से विरत हो जाये, घुटनों को उठा कर देर तक न बैठे । रात्रि में वृक्ष के नीचे न रहे । इसी प्रकार-चत्वर (चौपाल-जहां गांव के लोग एकत्रित होकर

गप-शप करते हैं); चैत्य के समीप; चतुष्पथ (चौराहा), मन्दिर; सूना (वधस्थान); अटवी (निर्जन देश); शून्यगृह और श्मशान इनका दिन में भी सेवन न करे ॥ ३७-३८ ॥

सर्वथेक्षेत नादित्यं, न भारं शिरसा वहेत् ।
नेक्षेत प्रततं सूक्ष्मं दीप्तामेध्याप्रियाणि च ॥ ३९ ॥

स०—आदित्यं सर्वथोद्यंतमस्तं यान्तं प्रतिमागतं जलादर्शादिषु प्रतिबिंबितमुपरक्तं राहुग्रस्तं वा नेक्षेत । तथा भारं शिरसा न च वहेन्न नयेत् । प्रततमविरतं सूक्ष्मवस्तु नेक्षेत । दीप्तं चामेध्यं चाप्रियं चातिप्रततं नेक्षेत । ननु तर्हि सर्वथा नेक्षेतेत्यनेन कोऽर्थो यतो रविरपि दीप्तो दीप्तग्रहणेनैवास्य दर्शननिषेधः सिद्धः । अस्त्येवैतत् किन्तु सर्वप्रकारमादित्यं नेक्षेत । दीप्तं त्वनवरतं नेक्षेतेति ॥ ३९ ॥

वि०—सूर्य की ओर कभी भी न ताके। भार को शिर पर न उठाये । निरन्तर-सूक्ष्म या चमकदार, अपवित्र तथा अप्रिय वस्तुओं को न देखे ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—संग्रह में सूर्य के दर्शन के लिये 'नोद्यन्तमस्तमायान्तं तपन्तं प्रतिमागतम् । उपरक्तं च भास्वन्तं वाससा वा तिरोहितम् ॥' इस प्रकार सूर्य का दर्शन निषिद्ध है ।

मद्यविक्रयसन्धानदानादानानि नाचरेत् ।

स०—विक्रयो विनिमयः । इयत्प्रमाणमधुनेदं दीयत इति । सन्धीयते येन तत्सन्धानमनेकद्रव्यसम्भारो येन तन्मद्यं यथावत्प्रमाणेन सन्धीयते । दानं यथाशास्त्रं स्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादनम् । आदानं च यथाशास्त्रमेव परस्माद्ग्रहणम् । एतेषां द्वंद्वः । ततो मद्यशब्देन षष्ठीसमासः । मद्यविक्रयादीनि नाचरेत् । द्विजविषयं चैतद्वाक्यमिति बोध्यम् । सर्वस्य तु निषेधात् क्रयादिव्यवहारोच्छेदः स्यात् ।

वि०—मद्य का बेचना; मद्य का सन्धान (बनाना-तैयार करना); मद्य का दान देना या मद्य का लेना न करे ।

त्याज्य कर्म—

पुरोवातातपरजस्तुषारपरुषानिलान् ॥ ४० ॥
अनृजुः क्षवथूद्गारकासस्वप्नान्न मैथुनम् ।
कूलच्छायां नृपद्विष्टं व्यालदंष्ट्रिविषाणिनः ॥ ४१ ॥
हीनानार्यातिनिपुणसेवां विग्रहमुत्तमैः ।
सन्ध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्नाध्ययनचिन्तनम् ॥ ४२ ॥
शत्रुसत्रगणाकीर्णगणिकापणिकाशनम् ।
गात्रवक्त्रनखैर्वाद्यं हस्तकेशावधूननम् ॥ ४३ ॥
तोयाग्निपूज्यमध्येन यानं धूमं शवाश्रयम् ।
मद्यातिसक्तिं विश्रम्भस्वातन्त्र्ये स्त्रीषु च त्यजेत् ॥४४॥

स०—त्यजेदिति क्रिया वक्ष्यमाणा । पुरःशब्दस्य वातातपाभ्यां प्रत्येकं सम्बन्धः । पुरोवातः पूर्वदिगागतो वातः । पुर आतपः पूर्वातपः । पुरोवातादीन्पञ्च त्यजेत् । अनृजुर्विषमस्थितशरीरः । क्षवथ्वादीन् षट् त्यजेत् । अनृजुरिति क्रियाविशेषणमिति केचिद्व्याचक्षते । अन्नमत्र शाल्यादि । कूलं वप्रस्तच्छायां त्यजेत् । तत्र हि तिष्ठतस्तत्पाताद्भयं स्यात् । नृपद्विष्टं राज्ञोऽप्रियं त्यजेत् । व्यालो दुष्टहस्त्यादिः । दंष्ट्रिणः सर्पाद्याः । विषाणिनो गवाद्यास्तांस्त्यजेत् । हीनाः कुलशीलवित्तादिभिर्न्यूनाः । अनार्या असाधवः । अतिनिपुणा अतिगणनापरास्तेषां सेवां त्यजेत् । उत्तमैरिति सहार्थे गम्यमाने तृतीया । उत्तमैः सह विग्रहं त्यजेत् । सन्ध्यास्वभ्यवहारादीन्पञ्च त्यजेत् । शत्रुसत्रेत्यादि । शत्र्वशनं त्यजेत् । सत्रं यज्ञस्तस्याशनं त्यजेत् । ऋत्विगादीन् वर्जयित्वाऽन्यस्य हि तदशनं निषेधति । तथाहि । यज्ञांते तदुद्भूतपापोपशमनाय प्रायश्चित्तं श्रूयते । गणाः कथकचारणादयस्तैराकीर्णं व्याप्तमशनं त्यजेत् । गणिका वेश्या तस्याः संबंध्यशनं त्यजेत् । तदशनाद्धि तत्पापसंक्रमणं स्यात् । पणिकः पणोपजीवी । नौद्व्यचश्च इति ठन् । पणिको हि पापीयान्निंदितपण्यादिविक्रीणानः प्रशंसतीत्यादिहेतोः । गात्रेत्यादि । गात्राण्यंगानि तैस्तथा वक्त्रेण नखैश्च वाद्यं त्यजेत् । हस्तावधूननं केशावधूननं च त्यजेत् । अवधूननं कंपनम् । तोयेत्यादि । मध्यशब्दः प्रत्येकं युज्यते । तोययोर्द्वयोर्मध्येन यानं त्यजेत् । न यायादित्यर्थः । एवमग्न्योर्मध्येन । तथा पूज्ययोर्मध्येन । समासकरणात्तोयाग्न्योस्तोयपूज्ययोरग्निपूज्ययोरपि मध्येन न यायादिति बोद्धव्यम् । तथा धूमं शवाश्रयं शवोद्भूतं त्यजेत् । मद्येत्यादि । मद्येऽतिसक्तिरतिसेवा तां त्यजेत् । स्त्रीषु योषासु विश्रंभं विश्वासं स्वातंत्र्यं च त्यजेत् ॥ ४०-४४ ॥

वि०—सामने या पूर्वदिशा की वायु; सामने की धूप; धूल; ओस और तेज कठोर वायु इनसे अपने को बचाये। शरीर को विषम स्थिति में रखकर छींक, उद्गार, कास, नींद लेना, भोजन और मैथुन न करे। नदी के किनारे के वृक्ष की छाया का आश्रय न लेवे । राजा जिससे द्वेष रखता हो, ऐसे आदमी के साथ मैत्री न करे। हिंसक पशु, दंष्ट्री-साँप आदि और सींगवाले-भैंस आदि से बचे। अपने कुल, शील या वित्त आदि से हीन; अनार्य-असाधु और अति निपुण-जो बहुत बारीकी छानते हों (बहुत ही बारीक हिसाब करते हों) उनकी सेवा न करे । अपने से श्रेष्ठों के साथ लड़ाई न करे। सन्ध्याकाल में भोजन करना, स्त्री-सङ्ग, नींद लेना, पढ़ना और मनन नहीं करना चाहिये। शत्रु का भोजन; यज्ञ का भोजन; गण का भोजन-पञ्चायती भोजन; आकीर्ण-(योग्य-अयोग्य का जहाँ विचार न हो) भोजन, वेश्या का भोजन, पणिक-सूदखोर पुरुषों का भोजन नहीं करना चाहिये। अङ्गों से-मुख से-या नखों से वाद्ययंत्र का काम नहीं लेना चाहिये। हाथ या बालों को हिलाना नहीं चाहिये। पानी, अग्नि और पूज्य-इनके बीच में से सवारी पर न जावे। शव-सम्बन्धी (चिता के) धुएं से बचे। मद्य में बहुत आसक्ति न रक्खे। स्त्रियों में अति विश्वास न करे और स्त्रियों को अधिक स्वच्छन्द न करे ॥ ४०-४४ ॥

वक्तव्य—यज्ञ का अन्न ऋत्विज् आदि को छोड़कर दूसरों के लिये निषिद्ध है। गण का अर्थ भिन्न-भिन्न किया है। यथा—अरुणदत्त ने कथक, चारणादि किया है। इनसे आकीर्ण अन्न न खाये। हेमाद्रि में गण का अर्थ बहुत मिलित मनुष्य (समूह) किया है; और आकीर्ण का अर्थ योग्यायोग्य विचार रहित किया है। साधारणतः सारे गाँव से चन्दा माँगकर जो भोजन किया जाता है; ऐसा अन्न शुद्ध नहीं, उसका त्याग करना चाहिये क्योंकि इसमें हीन कार्य करने वालों का भी अंश होता है। जल-अग्नि और पूज्य इनके बीच से सम्मान एवं सावधानी की दृष्टि से जाना निषिद्ध है-जैसे कि दो व्यक्तियों के बीच से जाना असभ्यता है, साथ ही इसमें खतरा भी रहता है।

लोकाचार का पालन—

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः॥ ४५॥

स०—हि यस्माद्धीमतो बुद्धियुक्तस्य सर्वचेष्टासु निःशेषव्यापारेषु लोक एवाचार्य उपदेष्टाऽतोऽस्माद्धेतोस्तमेव लोकं लौकिकेऽर्थे परीक्षकः पुरुषोऽनुकुर्यात्। यथा लोको व्यवहरति तथा व्यवहियादित्यर्थः॥ ४५॥

वि०—बुद्धिमान मनुष्य के लिये सब क्रियाओं में लोक (समाज) ही आचार्य है; उससे ही सीखे। परीक्षक (विचारक) मनुष्य लौकिक व्यवहार में लोक का ही अनुकरण करे॥ ४५॥

वक्तव्य—तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य विद्यासमाप्ति पर शिष्य को उपदेश करता है 'अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्याद्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ता अयुक्ता, अलूक्षा, धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्त्तेरन् तथा तेषु वर्त्तेथाः॥' तैत्तिरीय ११-लोक से मनुष्य सीखता है; इसी से युधिष्ठिर ने कहा-'श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

सद्वृत के लक्षण—

आर्द्रसन्तानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम्॥४६॥

स०—आर्द्रसन्तानता सर्वसत्त्वेषु कृपालुत्वम्। त्यागो दानम्। कायवाक्चेतसां त्रयाणां दम उपशमः। परार्थेषु परप्रयोजनेषु स्वार्थबुद्धिः। यथा यः परार्थः अयमेव स्वार्थः इत्युभयलोकहितत्वम् इत्येवंप्रकारं सद्व्रतं पर्याप्तम्। समाप्तमित्यर्थः। सत् शोभनं च तद्व्रतं च सद्व्रतम्॥ ४६॥

वि०—संक्षेप में धर्मसार—आर्द्रसन्तानता (अतिशय करुणा या सब प्राणियों में दयाभाव); त्याग, शारीरिक, वाचिक और मानसिक चपलता का निग्रह (शान्ति); दूसरे के कार्यों में स्वार्थबुद्धि (दूसरे के कार्य को अपना ही कार्य समझना) ये चारों सम्पूर्ण सद्व्रत (सज्जनों का धर्म) हैं॥ ४६॥

वक्तव्य—इन चारों धर्मों में सब धर्मों का समावेश हो जाता है।

दिन-रात का विवेचन—

नक्तंदिनानि मे यान्ति कथम्भूतस्य सम्प्रति।
दुःखभाग् न भवत्येव नित्यं सन्निहितस्मृतिः॥४७॥

स० नक्तंदिनानि रात्रिदिनानि संप्रतीदानीं कथंभूतस्य कीदृशस्य सतो मे मम यांति। एवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः सन् पुमान् दुःखभाङ् न भवति॥ ४७॥

वि०—मेरे दिन और रात कैसे बीतते हैं; इसकी सदा स्मृति बनाये रखनेवाले को कभी दुःख नहीं होता॥ ४७॥

वक्तव्य—जो मनुष्य सदा दिन-रात में अपनी दिनचर्या, रात्रिचर्या का प्रतिदिन समीक्षण करता है, उस मनुष्य को कभी दुःख नहीं होता।

आचार-पालन का परिणाम—

इत्याचारः समासेन, यं प्राप्नोति समाचरन्।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं यशो लोकांश्च शाश्वतान्॥४८॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुवाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने दिनचर्या
नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

स०—इति समाप्तौ। समासेन संक्षेपेण तावदयमाचारः पूर्वोक्तो यं समाचरन्ननुतिष्ठन्नायुरादीन् प्राप्नोति। तथा लोकान् भूर्भुवःस्वःप्रभृतीन् शाश्वतान्नित्यान्। ननु शाश्वतशब्दो न युक्तः। यतः शश्वच्छब्दस्य कालवाचित्वात् कालाट्ठञिति ठञ् प्राप्नोति। तथा अव्ययानां च सायंप्रातिकाद्यर्थमुपसंख्यानमिति टिलोपश्च प्राप्नोति। नैतदस्ति। नस्तद्धित इत्यत्र सूत्रे ह्युक्तम्। शाश्वत इत्यादौ तु टिलोपो नेष्यते। कालादिति योगविभागाच्चाणिति। तस्माच्छाश्वतशब्दो न्याय्य एवेति॥४८॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांग-
हृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां सूत्रस्थाने
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥ २॥

वि०—उपसंहार—यह आचार संक्षेप में कह दिया है; इसका पालन करने से निरन्तर आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य (अप्रतिहतशक्ति); यश तथा शाश्वत लोक (स्वर्ग) मिलता है॥ ४८॥

वक्तव्य—शाश्वतलोक के लिये भगवान् ने कहा है 'यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद् धाम परमं मम'-जहाँ जाकर मनुष्य लौटता नहीं अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता वही मेरा उत्तम गृह (स्वर्ग) है। ऐश्वर्य का अर्थ सम्पन्नता है; साथ ही योगियों

का अष्टविध ऐश्वर्य भी है—यथा—'आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥' (चरक शा. अ. १।१३९)॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का
दिनचर्या नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीयोऽध्यायः

दिनचर्याध्यायादनंतरमृतुचर्याया उपोद्घातः। पूर्वाऽध्याये सामान्येन दिनचर्योपदिष्टा। ऋतुविशेषवशाच्चाहारविहारसेवनप्रतिपादनार्थमृतुचार्याया आरम्भ इत्याह—

अथात ऋतुचर्याऽध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ १ ॥

वि०—अब इसके आगे ऋतुचर्या नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि महर्षि आत्रेय आदि ने कहा था।

षड्ऋतु-वर्णन—

मासैर्द्विसंख्यैर्माघाद्यैः क्रमात् षड्तवः स्मृताः।
शिशिरोऽथ वसन्तश्च ग्रीष्मो वर्षाशरद्धिमाः॥ १॥
शिशिराद्यैस्त्रिभिस्तैस्तु विद्यादयनमुत्तरम्।
आदानं च तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम्॥ २॥

स०—मासैरित्यादिना कालोपवर्णनमाह-ननु कालोपवर्णनं दिनचर्यायां कस्मान्न कृतम्। उच्यते। ऋतुगौरवोद्भावनार्थम्। ऋतवो हि विशेषेणोपयोगिनो विप्रतिपत्तेश्च। यथैके चातुर्मासिकमृतुं कृत्वा शीतोष्णवृष्टिलक्षणान् हेमन्तग्रीष्मवर्षाख्यांस्त्रीनृतूनिच्छंति। अपरे तु द्विमासिकान् शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तलक्षणान् षड्तूनिति। द्वे संख्ये येषां ते द्विसंख्यास्तैर्द्विसंख्यैः माघ आद्यो येषां फाल्गुनादीनां त एवम्। तैर्द्विसंख्यैर्माघाद्यैर्मासैः क्रमात्परिपाट्या षड्तवः स्मृताः। के त इत्याह—शिशिराद्याः शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः। उपचारादेव षट्त्वे लब्धे षड्ग्रहणं परमतक्षेपार्थम्। तथा केचित् त्रय एव ऋतव इति मन्यन्ते। तैस्तु ऋतुभिस्त्रिभिः शिशिरादिभिरुत्तरायणं विद्याज्जानीयात्। अयनमुत्तरं सवितुरुत्तरमार्गप्रतिपत्तिरुत्तरायणम् आदानं तज्जानीयात्। आदानमिति चान्वर्थमिति प्रतिपादयति। तदा तस्मिन् काले नृणां प्रतिदिनमन्वहं बलमादत्ते सारं गृह्णाति। कोऽसौ। प्रकृतत्वादादित्यः॥ १-२॥

वि०—माघ से प्रारम्भ करके दो-दो मासों को मिलाने पर क्रमशः-शिशिर, वसन्त; ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त ये छः ऋतुएँ कही जाती हैं। उनमें से शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं को उत्तरायण जानना चाहिये। इसी को आदान कहते हैं। इस काल में (सूर्य) प्रतिदिन मनुष्यों का बल लेता है॥ १-२॥

वक्तव्य—ऋतु का विचार भारत में मास, राशि और ऋतु के अपने स्वरूप के अनुसार किया गया है—यथा—'मास-राशि-स्वरूपाख्यमृतोर्यल्लक्षणत्रयम्। यथोत्तरं भजेच्चर्यां तत्र तस्य बलादिति'। यथा राशि के अनुसार-मीन और मेष-वसन्त; वृष और मिथुन-ग्रीष्म; कर्क एवं सिंह-वर्षा; कन्या और तुला-शरत्, वृश्चिक तथा धनु-हेमन्त; मकर और कुम्भ-शिशिर। मास के अनुसार सुश्रुत मत से भाद्रपद एवं आश्विन-वर्षा; कार्तिक-मार्गशीर्ष-शरत्; पौष और माघ-हेमन्त; फाल्गुन तथा चैत वसन्त, वैशाख तथा ज्येष्ठ-ग्रीष्म; आषाढ़ तथा श्रावण प्रावृट्, अथवा पूर्वोक्त क्रम से माघ एवं फाल्गुन-शिशिर; चैत एवं वैशाख-वसन्त; ज्येष्ठ और आषाढ़-ग्रीष्म, श्रावण-भाद्रपद-वर्षा; आश्विन एवं कार्तिक-शरद्, मार्गशीर्ष तथा पौष-हेमन्त।' इनमें मास-लक्षण से राशि-लक्षण

---

[1] प्राचीन आचार्यों ने माघ से प्रारम्भ कर शिशिर आदि छः ऋतुओं का तथा फाल्गुन से प्रारम्भ कर वसन्त आदि छः ऋतुओं का वर्णन किया है। इस प्रकार एक-एक मास का अन्तर पड़ जाता है। किन्तु प्रथम वर्णन प्राकृतिक आधार पर है और ऋतुचर्या में इसी का महत्त्व है। दूसरा क्रम संशोधनपरक है। दूसरा अन्तर ऋतुओं के नाम के सम्बन्ध में है। यथा-कहीं कहीं प्रावृट् और वर्षा ये दो भेद वर्षा के वर्णित हैं किन्तु शीत ऋतु में केवल एक हेमन्त ऋतु का उल्लेख है। इसके विपरीत कहीं-कहीं शीत ऋतु के दो भेद हेमन्त और शिशिर तथा केवल एक वर्षा ऋतु का वर्णन है। यह भेद भी क्रमशः संशोधन तथा प्रकृति के आधार पर ही है। दूसरे हमारा देश बहुत विस्तीर्ण है। भौगोलिक आधार पर भी ऋतुओं में अन्तर आता है। इसलिये दक्षिण और पूर्वी भाग जहाँ वर्षा अधिक होती है वहाँ प्रावृट् और वर्षा ये दो ऋतुएँ होती हैं। शीत काल में केवल हेमन्त ऋतु होती है तथा उत्तरी और पश्चिमी भाग जहाँ वर्षा कम होती है और ठंढक अधिक होती है वहाँ केवल एक वर्षा ऋतु तथा हेमन्त और शिशिर ये दो शीत-ऋतुएँ होती हैं।

'भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे तटे।
अतः प्रावृट् च वर्षाश्च ऋतू तत्र प्रकल्पितौ॥
तस्या एवोत्तरे देशे हिमवद्विन्ध्यसंकुले।
भूयः शीतमतस्तत्र हेमन्तशिशिरावुभौ॥'

(इति काश्यपः)

चान्द्र मास की अपेक्षा सौर (राशि) मास (जिसका वर्णन ऊपर किया गया है) अधिक स्थिर होता है। और मास के अनुसार ही होने के कारण अंगरेजी मास के आधार पर भी ऋतुओं का विचार अधिक स्थिर होता है। देश के विभिन्न भागों में वर्षा, ठंढक और गर्मी भी भिन्न-भिन्न समय से प्रारम्भ होती है। इसलिये लाक्षणिक ऋतुओं का भी वर्णन मिलता है और वस्तुतः यही सबसे अधिक महत्त्व का होता है।

मासराशिस्वरूपाख्यमृतोर्यल्लक्षणत्रयम्।
यथोत्तरं भजेच्चर्यां तत्र तस्य बलादिति॥

(अ. सं. सू. अ. ४)

बलवान है; और राशि लक्षण से स्वरूप-लक्षण बलवान है। इन्हीं लक्षणों के अनुसार वर्षा के प्रारम्भकाल को प्रावृट्काल माना है। यथा सुश्रुत ने—आषाढ़ श्रावण से प्रावृट् मानी है—काश्यप ने कहा है 'भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे तटे। अतः प्रावृट् च वर्षाश्च ऋतू तत्र प्रकल्पितौ'।

कोई-कोई आचार्य चार-चार मासों से वर्षा, ग्रीष्म और शीत तीन ऋतु मानते हैं। मुख्य ऋतु ये ही हैं। इन ऋतुओं से दो अयन-मार्ग सूर्य के होते हैं। एक उत्तरायण और दूसरा दक्षिणायन। उत्तरायण में सूर्य का बल अधिक होता है; और दक्षिणायन में सूर्य का बल कम होता है; उत्तरायण में सबल होने से मनुष्यों का बल सूर्य ग्रहण करता है; इसलिये मनुष्यों में दुर्बलता आ जाती है और इसे आदान काल कहते हैं और दक्षिणायनकाल में सूर्य का बल घटा होता है, और चन्द्रमा का बल बढ़ा होता है, इसलिये मनुष्यों बल बढ़ जाता है; अतः इसे विसर्ग कहते हैं। यह प्रकृति के अपने स्वभाव से ही होता है।

दोषों के संचय, प्रकोप और प्रशम को लक्ष्य में रखकर ही शिशिर आदि छः ऋतुएँ चरक एवं खरनाद आदि ने कही हैं।

कथा युक्त्या बलमादत्त इत्याह—

तस्मिन् ह्यत्यर्थतीक्ष्णोष्णरूक्षा मार्गस्वभावतः।
आदित्यपवनाः सौम्यान् क्षपयन्ति गुणान् भुवः॥ ३॥
तिक्तः कषायः कटुको बलिनोऽत्र रसाः क्रमात्।
तस्मादादानमाग्नेयम्—

स०—आदित्यश्च पवनाश्चादित्यपवनास्ते तस्मिन् काले यस्मात्सौम्यान् गुणान् भुवः संबंधिनः क्षपयंति विनाशयंति। कीदृशास्ते अत्यर्थमतिशयेन तीक्ष्णाश्चोष्णाश्च रूक्षाश्चात्यर्थ-तीक्ष्णोष्णरूक्षाः। कस्मादेवंविधास्त इत्याह। मार्गस्वभावतो वर्त्मस्वाभाव्यात्। स च स्वभावः पर्यनुयोगमर्हति। मार्गं उष्णांशोरुत्तरदिग्गमनम्। यतश्चादित्यपवना रूक्षास्ततस्ति-क्तादयो रसा बलिनो भवन्ति। क्रमादित्यनेन यथासंख्यमत्र बोधयति। तेन तिक्तः शिशिरे वसन्ते कषायो ग्रीष्मे कटुको व्यवतिष्ठते न सर्वे तिक्तादय एकैकस्मिन्नृताविति। तिक्त इत्याद्यसमासकरणं ज्ञापनार्थम्। तिक्तादिरेकैको बली भवति। द्वौ तु स्वप्रमाणावस्थितौ। नैवर्तौ पृथग्भूय तिक्तादेर्बलवत्त्वमित्यर्थः। यत एवं भूमेः सौम्यगुणहानिर्वर्धनं च रूक्षाणरसानां तस्मात्कारणादादानमाग्नेयम्॥ ३॥

बल का उपचयापचय काल—

वि०—उस समय (आदान काल में) मार्ग के स्वभाव के कारण[1] सूर्य एवं वायु अतिशय तीक्ष्ण, रूक्ष और उष्ण होने के कारण पृथिवी के सौम्य गुण को कम करते हैं। सौम्य गुणों के कम होने से क्रमशः तिक्त, कषाय और कटु रस इस समय बलवान होते हैं; इसलिये आदानकाल आग्नेयकाल है॥ ३॥

—ऋतवो दक्षिणायनम्॥ ४॥
वर्षादयो विसर्गश्च यद्बलं विसृजत्ययम्।

स०—त्रयो वर्षादय ऋतवो दक्षिणायनं भगवतो दिवाकरस्य दक्षिणदिग्गमनम्। स च कालो विसर्गाख्यः। यद्यस्माद्बलमयं कालो विसृजति ददाति दक्षिणायनाख्यस्त-स्माद्विसर्गोऽन्वर्थसंज्ञः कालः॥ ४॥

वि०—वर्षा आदि तीन ऋतुएँ दक्षिणायन हैं; और यह विसर्गकाल कहलाता है क्योंकि इसमें बल का विसर्ग होता है॥ ४॥

वक्तव्य—वर्षा, शरद् और हेमन्त ये तीन ऋतुएँ सूर्य का दक्षिणायन हैं; इसलिये यह विसर्ग-अर्थात् छोड़ने का समय है। इस समय में सूर्य प्रथम आदान काल में ग्रहण किये रस को छोड़ता है।

वस्तुतः ठंढक, गर्मी और वर्षा इन लक्षणों के अनुसार शीत उष्ण और वर्षा ये तीन ही ऋतुएँ होती हैं किन्तु इन तीनों में दो-दो के बीच के काल में जब कि पूर्व ऋतु के लक्षण कम होने लगते हैं और आने वाली ऋतु के कुछ लक्षण आरम्भ हो जाते हैं—तीन और ऋतुओं (प्रावृट्, शरद् और बसन्त) की कल्पना की जाती है। यथा—हेमन्तो, ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवो भवन्ति। तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रयः प्रावृट्-शरद्वसन्ताः। (च. वि. अ. ८)

[1] मार्गस्वभाव—पृथिवी स्वभावतः वर्ष में छः मास तक अपनी धुरी के साथ दक्षिण की ओर, शेष छः मास उत्तर की ओर झुकती है। जब सूर्य मकर राशि में आता है तब से सूर्य के मिथुन राशि में रहने तक पृथ्वी क्रमशः दक्षिण की ओर झुकती रहती है तथा उत्तरी भू-भाग क्रमशः सूर्य के समीप आता जाता है जिससे सूर्य की उष्ण किरणों का प्रभाव भी उसी क्रम से उन पर बराबर बढ़ता जाता है और शीत कम होता जाता है। सूर्य की ऊष्मा से जलीयांश का शोषण होने से पृथ्वी और वायु में नमी की कमी होती है और उष्णता तथा रूक्षता बढ़ती जाती है। इस समय सूर्य के उत्तरी भू-भाग के समीप जाने से उत्तरायण और इस काल में सौम्यांश का शोषण होने से यह आदान काल कहलाता है।

इसके विपरीत कर्क राशि में सूर्य के पहुँचने के साथ पृथ्वी उत्तर की ओर झुकने लगती है; सूर्य उत्तरी भू-भाग से दूर और दक्षिण भू-भाग के समीप जाने लगता है अतः क्रमशः उष्णता की कमी और शीत की उत्तरोत्तर वृद्धि होने से तथा वायुमण्डल में स्थित जलीयांश के संगठित होने से वर्षा होती है। पृथ्वी में सौम्यांश की पुनः वृद्धि होती है; वनस्पतियों एवं प्राणियों की पुष्टि होती है। इस काल में विसर्ग अर्थात् त्याग होता है अतः इसे विसर्गकाल तथा सूर्य के दक्षिणी भू-भाग के समीप होने से दक्षिणायन कहते हैं।

यह परिवर्तन काल प्रभाव से स्वभावतः होता है; इसीलिये चरक ने कहा है—'कालस्वभावमार्गपरिगृहीता।' (च. सू. अ.)

सौम्यत्वादत्र सोमो हि बलवान् हीयते रविः ॥ ५ ॥
मेघवृष्ट्यनिलैः शीतैः शान्ततापे महीतले ।
स्निग्धाश्चेहाम्ललवणमधुरा बलिनो रसाः ॥ ६ ॥

स०—हि यस्मादत्र विसर्गाख्ये काले सौम्यत्वात् सोमभूयिष्ठत्वात् सोमो बलवान् । तदाश्रितरात्रिवृद्धिदर्शनात् । हीयते रविस्तदाश्रितदिनहान्युपलब्धेर्हीनशक्तिः संपद्यते । कदा । महीतले भूपृष्ठे शांततापे सति । कैर्मेघवृष्ट्यनिलैः । शीतरित्युपलक्षणार्थम् । विसर्गकालत्वान्मृदुभिः स्निग्धैरपीति । अत एव स्निग्धा रसा अम्ललवणमधुरा बलिनो भवन्ति । अत्रापि क्रमादित्यनुवर्तते । पूर्ववच्च व्याख्येयम् ॥ ५-६ ॥

वि०—इस समय सोम (चन्द्रमा) बलवान होता है; और सूर्य का तेज कम होता रहता है । बादल, वृष्टि और शीतवायु से भूमि का ताप शान्त हो जाता है, इसलिये इस काल में अम्ल, लवण और मधुर ये स्निग्ध रस बलवान होते हैं ॥ ५–६ ॥

वक्तव्य—काल और कर्क आदि राशि मार्ग के कारण सूर्य का तेज इस विसर्ग काल में प्रतिदिन कम होता जाता है । तेज के कम होने से चन्द्रमा का बल बढ़ता जाता है; जिससे वर्षा में अम्ल रस, शरद् में लवण रस और हेमन्त में मधुर रस क्रमशः बढ़ता जाता है; जिससे मनुष्यों का बल भी बढ़ता है । (श्लोक ३ की टिप्पणी देखें)

शीतेऽग्र्यं वृष्टिघर्मेऽल्पं बलं मध्यं तु शेषयोः ।

स०—शीतस्वभावकाले हेमन्तशिशिराख्ये नृणामग्र्यं बलं भवति । वृष्टिश्च घर्मश्च तस्मिन्वृष्टिघर्मे वर्षाग्रीष्माख्ये कालेऽल्पम् । तुरवधारणे । शेषयोः शरद्वसंतऋत्वोर्मध्यमेव बलम् । ननु वसंत आदानकालत्वादत्यर्थतीक्ष्णोष्णरूक्षैरादित्यपवनैः शोष्यमाणेषु बलवृद्धिहेतुषु भवः सौम्येषु गुणेषु कथं मध्यबलत्वमिति । ब्रूमः । वर्षादिष्वृतुषु बलमुपचितं क्रमेणैवापचीयते । यथा कृष्णपक्षे चन्द्रः । तस्माद्दीर्घकालानुवृत्तं बलं वसन्ते क्रमेणैवापचीयते इति मध्यबलत्वं युक्तम् । अनेनैव हेतुना शिशिरेऽग्र्यबलत्वम् । यतः सकलेन विसर्गेण कालेन यदुपचितमतिशयेन बलं तत् शिशिरे क्रमाच्चात्रादानकालेऽपचीयमानमपि बलं न हीनं लक्ष्यते । यथा कृष्णपक्षादौ चन्द्रः क्षीयमाण इति युक्तमुक्तं शीतेऽग्र्यं बलमिति । वसन्ते च मध्यं बलमित्यवददिह शास्त्रकृत्

वि०—शीत ऋतु (हेमन्त और शिशिर) में मनुष्य का बल श्रेष्ठ होता है; बरसात और ग्रीष्म में न्यून बल होता है; और शेष (शरद् एवं वसन्त) ऋतुओं में मध्यम बल होता है ।

वक्तव्य—यदि बल का तीन भाग माना जाय तो हेमन्त-शिशिर में तीनों भाग से बल पूर्ण होता है; प्रावृट् और ग्रीष्म में दो भाग से कम अर्थात् केवल एक भाग (हीन) बल होता है; और शरद् एवं वसन्त में एक भाग से कम (मध्य) बल होता है अर्थात् दो भाग रहता है केवल एक भाग कम होता है ।

हेमन्त ऋतु में जठराग्नि का प्राबल्य—

बलिनः शीतसंरोधाद्धेमन्ते प्रबलोऽनलः ॥ ७ ॥
भवत्यल्पेन्धनो धातून् स पचेद्वायुनेरितः ।
अतो हिमेऽस्मिन्सेवेत स्वाद्वम्ललवणान् रसान् ॥८॥

स०—किल विसर्गाभिनवबलत्वात्पुमान् बली भवति । तस्य बलिनः पुंसो हेमंते काले शीतसंरोधाद्धेतोरनलोऽग्निर्बली भवति । यतः सर्वतः स्रोतोरोधाज्जाठरोऽग्निरांतरैरेव स्वैरर्चिभिरभिवर्धते । वर्धितश्चासौ भुक्तमाहारं सम्यक्पचति । पक्वाच्चाहाराद्बलमभ्यधिकं जायते । हेमंते हेमंतर्तौ । द्योतयति अस्मिन्नेव काले शीतसंरोधात् । तथा ह्यन्यर्तुजेन शीतेनाग्निसादो भवति । यथा वर्षासु । तत्र हि वृष्टिवाताभ्यां भवति शीतं न चाग्निदीप्तिः । तथा चाष्टांगसंग्रहे । वृष्टिवाताकुलेष्वह्नि भोजनं क्लेदवातजित् । परिशुष्कं लघु स्निग्धमुष्णाम्ललवणं भजेदिति । इह पुनरनेकरूपगौरवयुक्तं भोजनं शस्यते । वक्ष्यति हि । अतो हिमेऽस्मिन्नित्यारभ्य यावद्रसान् स्निग्धान्पलं पुष्टमित्यादि । तथोक्तम् । ऊष्मा बहिः प्रतिहतो हिमशीतवातैरंतःशरीरविवरं प्रतिपद्यमानः । स्वस्थानपिंडितवपुर्भवति प्रचंडः शीतेऽनिलानलहरो विधिरिष्यतेऽत इति । तथा यद्यपि तत्र सत्त्वशरीरेत्यारभ्य यावत्तथोर्जस्करयोगजमित्यादिना ग्रंथेनाहारो युक्तिजस्यैकस्यैव बलस्य हेतुरित्युक्तो ग्रंथकृता । तथाऽपि युक्त्या निरूप्यमाणः सहजकालजयोरपि बलयोराहार एव हेतुत्वात्तथा ह्याहारं विना शरीरमेव न स्यात् । तदनया युक्त्या त्रिविधमपि बलमाहारजमपि बोद्धव्यम् । ननु यदि प्रबलोऽनलो भवति ततः किमित्याह । अल्पेंधन इत्यादि । अल्पमिंधनमाहाराख्यं यस्य सोऽल्पेंधनः सन् सोऽनलो धातून्रसादीन्पचेत् । कीदृशः वायुनेरितः वातोद्दीपितः । अस्मादनंतरोक्ताद्धेतोरल्पेंधनत्वे सति धातुपाकः स्यात् । अतः अस्मिन् हिमे शीते स्वाद्वम्ललवणाख्यान् रसान् सेवेत । नान्यर्तुसंभवे हिम इत्यस्यार्थस्य द्योतनाय हिम इत्युक्तम् ॥ ७-८ ॥

वि०—बलवान पुरुष में शीत के कारण अवरुद्ध होने से ऊष्मा के बाहर न निकलने से जठराग्नि प्रबल हो जाती है। वह जठराग्नि थोड़ी इन्धन वाली होने पर वायु के द्वारा प्रेरित होकर धातुओं का भी परिपाक करती है; इसलिये हेमन्त कालमें मधुर, अम्ल और लवण रसों का सेवन करना चाहिये । ॥ ७–८ ॥

वक्तव्य—हेमन्त काल में मार्गशीर्ष और पौष दो मास होते हैं । इस ग्रन्थ में ऋतु-विभाग मास की दृष्टि से किया गया है; इसलिये ऋतुचर्या का प्रारम्भ हेमन्त को बनाने वाले मास से किया है; तथा सब मासों में मार्गशीर्ष मास उत्तम भी है; 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ।' इस ऋतु में शीत के कारण त्वचा संकुचित होने से शरीर से ऊष्मा बाहर नहीं निकलती;

इसीलिये शरीर के अन्दर ही पिण्डित हो जाती है। पिण्डरूप में होने से प्रबल भी होती है; अग्नि प्रबल होने से परिपाक अच्छा होता है जिससे धातुओं की पुष्टि और बल की वृद्धि होती है। अग्नि को प्रबल करने में वायु भी कारण है; क्योंकि शीत से वायु बढ़ती है; यथा—'वातप्रकोपणानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशद……' (चरक सू. अ. १२।७)। हेमन्त में वायु और कफ बढ़ते हैं; यथा–'पित्तं शाम्यति तच्छैत्याद् वायुः श्लेष्मा च चीयते ॥' इस बढ़ी वायु का बल पाकर अग्नि और भी बढ़ कर जब पूरा इन्धन (आहार) नहीं पाती, तब धातुओं को पचाना आरम्भ करती है। इसीसे कहा है 'ऊष्मा बहिः प्रतिहतो हिमशीतवातैरन्तः शरीरविवरं प्रतिपद्यमानः । स्वस्थानपिण्डितवपुर्भवति प्रचण्डः शीतेऽनिलानलहरो विधिरिष्यतेऽतः ॥' धातुओं का पालन हो और शरीर में वायु न बढ़े इसलिये मधुर, अम्ल, लवण रसों का सेवन करे; क्योंकि जहाँ ये वायुशामक हैं वहाँ पचने में गुरु भी हैं— यथा 'लघूनि ही द्रव्याणि वाय्वग्निगुणबहुलानि भवन्ति; पृथिवी-सोमगुणबहुलानीतराणि, गुरूणि पुनरग्निसन्धुक्षणस्वभावानि ॥' इसलिये गुरु रस खाने चाहिये। सुश्रुत में तिक्त कटु रस के सेवन के लिये जो कहा है, वह कफ को बढ़ने न देने के लिये है–यथा 'हेमन्ते लवणक्षारतिक्ताम्लकटुकोरकटम् । ससर्पिस्तैलमहितमशनं हितमुच्यते।' इससे कफ अधिक बढ़ने नहीं पाता।

हेमन्तऋतुचर्या—

दैर्घ्यान्निशानामेतर्हि प्रातरेव बुभुक्षितः।
अवश्यकार्यं सम्भाव्य यथोक्तं शीलयेदनु ॥ ९ ॥
वातघ्नतैलैरभ्यङ्गं मूर्ध्नि तैलं विमर्दनम्।
नियुद्धं कुशलैः सार्द्धं पादाघातं च युक्तितः ॥ १० ॥

स०—एतर्हि एतस्मिन्काले बुभुक्षितः प्रातरेव प्रत्युषसि नान्यकाले यत्किंचिद्दिनातिक्रांतौ सत्यामवश्यं कार्यं मूत्रोत्सर्गादिकं दिनचर्योक्तं च संभाव्य संपाद्य यथोक्तं यथानिर्दिष्टमनु पश्चाद्वातघ्नतैलाभ्यंगादिकं शीलयेत् । यद्यपि बुभुक्षितोऽवश्यकार्यं संभाव्य यथोक्तं शीलयेदित्युक्तं तथापि बुभुक्षितेन न तथान्यत्कार्यं यथा भोजनम् तथा चोक्तम्—"आहारकाले संप्राप्ते यो न भुङ्क्ते बुभुक्षितः। तस्य सीदति कायाग्निर्निरिंधन इवानलः ॥" इति । तस्मादौचित्याद्बुभुक्षितेनाहारः कार्य इति वेद्यम्। नन्वन्यस्मिन्नपि काले बुभुक्षितस्यैवाहारानुज्ञानाद्बुभुक्षितग्रहणं न कार्यम्। युक्तमाह भगवान्। किंत्वस्मिन्काले जाठराग्निश्छायानुकारी भवति। ततोऽस्य जाठराग्नेरिवोपचारो युक्तः। यथा—"मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत्। निरिंधनोंऽतरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत् ॥" इति अबुभुक्षितस्यैव भोजनाधिकारित्वमिति भ्रांतिनिरासायेह बुभुक्षितग्रहणम्। निशानां दैर्घ्यादिति विशिष्टकालोपलक्षणार्थं कृतम्। यदात्र हेमंते शर्वर्यो दीर्घा जायंते तदैव विधिः सर्वोऽनुष्ठेयो न प्रारब्धमात्र एवास्मिन्निति। नन्वत्र सेवेत शीलयेद्भजेदित्येकार्थाभिधायीनि बहूनि क्रियापदानि किं निर्दिष्टान्येकेनैवार्थाधिगतेः। अत्र ब्रूमः। कार्यान्तरसूचनार्थमेतत्पदत्रयम् । तथाहि। अतो हिमेऽस्मिन्सेवेतेत्यत्र यः सेवेतशब्दः सः इदं द्योतयति । स्वाद्वम्ललवणरसाः पवनविजयार्थमस्मिन् काले नितरामुपयोक्तव्याः। न कादाचित्क एषामस्मिन्नृतावुपयोगो विधेय इति। अत एव वातघ्नतैलाभ्यंगादेः पृथगेषां रसानामुपन्यासः। यथोक्तं शीलयेदित्यत्र यः शीलयेदित्येष शब्दः स वातघ्नतैलादेः सर्वस्व तुल्यकक्षतां द्योतयति। तथा प्रावाराजिनेत्यादौ यो भजेच्छब्दः स सकलस्याहारविहारशीलनस्य शयनविधेश्च तुल्यतां प्रथयति। तथा च वक्ष्यति—"आहारशयनाब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः। शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः ॥" इति। वातघ्नतैलैरभ्यंगं शीलयेत्। तैलस्य सर्वस्यैव वातघ्नत्वाद्वातघ्नेति विशेषणमतिशयप्रतिपादनार्थम्। तेन बलातैलादिभिरिति बोध्यम्। मूर्ध्नि तैलं शिरोऽभ्यंगादि। विमर्दनं शरीरसंवाहनमेतदौचित्यादभ्यक्तः सन् शीलयेत्। कुशलैस्तद्विद्भिः सार्धं नियुद्धं बाहुयुद्धं शीलयेत्। पादाघातं पादेन विमर्दनम्। युक्तित इत्यनेनार्धशक्त्यैव शीलनं द्योतयति। बाहुयुद्धपादाघातयोश्चानभ्यक्तस्यैव शीलनं युक्तम् ॥ ९-१० ॥

वि०—रात्रियों के लम्बी होने से भूखा होते हुए भी प्रातःकाल में ही शौचादि प्रथम कहे आवश्यक कार्य सम्पूर्ण करके वातघ्न तैलों से अभ्यङ्ग, शिर पर तेल लगाना; विमर्दन, मल्लों के साथ बाहुयुद्ध (कुश्ती), और युक्तिपूर्वक पाँव से मर्दन ये पीछे से करे ॥–१० ॥

वक्तव्य—हेमन्त काल में रात्रियाँ लम्बी होती हैं; इसलिये प्रातःकाल भूख लगती है; उस समय तुरन्त भोजन न करे; अपितु प्रातःकाल में शीघ्र ही अपने आवश्यक शौचादि कार्य पूर्ण करे। उसके उपरान्त बलातैल आदि वातनाशक तैलों से सम्पूर्ण शरीर पर अभ्यङ्ग करे, शिर पर तैल लगाये; और फिर विमर्दन-अर्थात् हाथों से दबाना। (शरीर का संवाहन) करे। इसके उपरान्त; होशियार पहलवानों के साथ जोर करे, कुश्ती आदि युक्ति से अर्थात् आधी शक्ति से करे, पादाघात अर्थात् पैरों से शरीर को दबवाये—(जिससे थकान दूर हो जाये।)

हेमन्त ऋतु में स्नान, भोजनादि व्यवस्था—

कषायापहृतस्नेहस्ततः स्नातो यथाविधि।
कुङ्कुमेन सदर्पेण प्रदिग्धोऽगुरुधूपितः ॥ ११ ॥
रसान् स्निग्धान् पलं पुष्टं गौडमच्छसुरां सुराम्।
गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरोत्थविकृतीः शुभाः ॥ १२ ॥
नवमन्नं वसां तैलं, शौचकार्ये सुखोदकम्।
प्रावाराजिनकौशेयप्रवेणीकौचवास्तृतम् ॥ १३ ॥
उष्णस्वभावैर्लघुभिः प्रावृतः शयनं भजेत्।
युक्त्याऽर्ककिरणान् स्वेदं पादत्राणं च सर्वदा ॥ १४ ॥

स०—कषायेण रोध्रादिनाऽपहृतोऽपनीतः स्नेहो यस्य स एवम्। ततोऽनंतरं यथाविधि शास्त्रोदितेन विधानेन

स्नातः। कुंकुमेन काश्मीरेण प्रदिग्धोऽनुलिप्तः। दर्पः कस्तूरिका तेन सह वर्तते यत्कुंकुमं तदेवम्। तथाऽगुरुणा जोंगकेन धूपितः। रसान्मांसरसान् स्निग्धान् भजेत्। मांसरसानां स्निग्धत्वेऽपि स्निग्धानिति विशेषणमतिशयद्योतनार्थम्। पलं मांसं पुष्टं मेदुरं भजेत्। तथा गुडस्येदं गौडं तन्मद्यम्। तथाऽच्छसुरां सुरामंडं मदिरां च भजेत्। अन्नेन कषायद्रव्यश्च या क्रियते सा सुरा भण्यते। ननु द्विधैव सुरा सेव्यत्वेनेहाभीष्टा तत्सुराशब्द एव निर्देष्टुं न्याय्यः। तस्मिन्हि सामान्यपदे निर्दिष्टे द्विधैव सुरा निर्दिष्टा भवति। सत्यमेतत्। किंत्वच्छसुरां नितरां भजेन्न तथा सुरामिति ज्ञापनार्थं द्वयोरुपादानम्। अत एवाच्छसुरामिति पूर्वं निर्दिष्टम्। गोधूमेत्यादि। गोधूमश्च पिष्टं च माषश्च इक्षुश्च क्षीरं च तान्येवम्। गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरेभ्य उत्थानं यासां विकृतीनां ता एवम्। उत्पूर्वात्तिष्ठतेः सुपीति योगविभागाद्भावे कः। उदः स्थास्तंभोः पूर्वस्येति सस्य तकारः। गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरोत्थाश्च ता विकृतयश्च ताः शुभा रम्या भजेत्। तथा नवमपुराणमन्नं तथा वसां भजेत्। शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता। तथा तैलं भजेद्भक्षयेत्। अभ्यंगस्तु प्रागनुज्ञात एव। शौचकार्ये शौचक्रियायां सुखोदकमुष्णोदकं भजेत्। प्रावारः कार्पासो रोमवान् घनः पटस्तूलपटकादिः। अजिनं सुखस्पर्शरोमचर्म। कौशेयं पट्टवसनम्। प्रवेणी सूचीबाणाख्यो वस्तुविशेषः। कौचवं रांकववस्त्रभेदः। तवरक इत्यन्ये। इतैरास्तृतं दत्तप्रतिच्छदपटं शयनं भजेत्। कीदृक् शयनं भजेत्। उष्णस्वभावै रोमशिकारल्लिकाप्रायैः प्रावृतः प्रकर्षेणाच्छादितः। तथा अर्ककिरणान्भजेत्। कथम्। युक्त्या सम्यग्योगलक्षणया। अतिसेविता हि ग्लान्यादीन्कुर्युः। तथा स्वेदं भजेत्। युक्त्यैवेत्यत्रापि योज्यम्। अतिसेवितो हि स्वेदो ग्लान्यादीन् जनयेत्। पादत्राणं च पादुकादिकं सर्वदा भजेत् ॥ ११-१४ ॥

वि०—इसके उपरान्त चूर्ण आदि के उद्वर्तन से स्नेह को दूर करके विधिपूर्वक स्नान करे। फिर कस्तूरी-मिश्रित केशर का शरीर पर लेप करके; अगरु का धूप देवे। फिर स्निग्ध मांसरसों और मेदुर मांस को खाये एवं गुड़ से बने पदार्थ, प्रसन्ना या सुरा को पीये। गेहूँ, पिट्ठी, उरद, गन्ने के रस और दूध से बने सुन्दर पदार्थों को खाये। नूतन अन्न, वसा तथा तल का सेवन करे। शरीर के शोधन में सुहाता गरम (गुनगुना) पानी बरते। प्रावार, अजिन, कौशेय, प्रवेणी, कौचव इनसे ढँके हुए बिस्तर पर गरम एवं लघु (हल्के) वस्त्रों से ढक कर सोये। युक्ति (मात्रा) से सूर्य की किरणों और स्वेद का सेवन करे तथा जूते या खड़ाऊँ आदि का सदा उपयोग करे ॥ ११-१४ ॥

वक्तव्य—कषाय (उबटन) का उपयोग केवल स्नेह ही दूर करने के लिये करे, अधिक नहीं, विधिपूर्वक स्नान—स्नान में गरम पानी बरतना, 'अभ्यङ्गोत्सादने मूर्धतैलं जेन्ताकमातपम्' ॥ यहाँ पर जेन्ताक का अर्थ सर्वाङ्गोष्णोदक स्नान किया है; अर्थात् शीतकाल में सब अङ्गों में गरम पानी से स्नान करे-इसके लिये कहा है 'अतिशीताम्बु शीते च श्लेष्मामारुतकोपनम् ॥' शरीर में वायु का कोप शीत से न हो, इसलिये कस्तूरी-मिश्रित केशर का शरीर पर लेप करे और अगरु का धुआँ देवे। यह तो बाह्य उपचार हुआ। अन्तः उपचार में सर्दी से बचने के लिये स्निग्ध मधुर रसों को तथा अतिशय स्निग्ध मांसरसों को; पुष्ट मेदुर मांस को-बहुत मेदवाले मांस को खाये; सुरा को पिये; और जो यह सेवन न कर सके वह गेहूँ, उड़द, गुड़ आदि से बने घृतबहुल पदार्थ खाये। साथ ही साथ शरीर के शोधन में गुनगुना पानी बरते; परन्तु पीने में ठण्डा पानी ही बरते। नूतन अन्न से अभिप्राय-जिस अन्न को एक साल नहीं हुआ; ऐसा अन्न बरते। प्रावार-रुई का बना रूँएदार घन वस्त्र। अजिन-चर्म-मृगछाला आदि का बना। कौशेय-रेशमी वस्त्र। प्रवेणी-ऊन का सूए से बुना वस्त्र-जैसा भोटिये पहनते हैं। कौचव-इसके स्थान पर 'कुथक' पाठ भी है-जिसका अर्थ कम्बल है। कौचव का अर्थ-राङ्कव वस्त्र भेद भी दिया है। सूर्य की किरणों का युक्ति से सेवन करे-अर्थात्-'सेवेत पृष्ठतस्त्वर्कं जठरेण हुताशनम्।' स्वेदविधि भी युक्तिपूर्वक मात्रा से करे तथा गरमी से बाहर आने पर एकदम शीत से बचाये क्योंकि इससे हानि की सम्भावना है, जैसा कि स्वेद अध्याय में कहा है—'निष्क्रम्य च न सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थं शीतोदकमुपस्पृशेथाः, अपगतसन्तापक्लमस्तु मुहूर्त्तात् सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिषिक्तोऽश्नीथाः' ॥ (चरक सू. १३।४६)

हेमन्त ऋतु में संभोग्य स्त्री—

पीवरोरुस्तनश्रोण्यः समदाः प्रमदाः प्रियाः।
हरन्ति शीतमुष्णाङ्ग्यो धूपकुङ्कुमयौवनैः ॥ १५ ॥

स०—ऊरू च स्तनौ च श्रोणिश्च ऊरुस्तनश्रोणि। पीवरं पीनमूरुस्तनश्रोणि यासां ता एवंभूताः प्रमदा विलासिन्यः शीतं हरंति नुदंति। पीनत्वेनातिकार्श्यमत्र निषिध्यते। तथा चाह। ग्राम्यधर्माधिकारे त्यजेदतिकृशामिति। किंभूताः। सह मदेन यौवनोद्भूतेन सुरादिपानजेन कामोद्रेककारिणा वा वर्तंते समदाः। तथा प्रिया वल्लभाः शीतं हरंति। किंभूताः उष्णांग्यो धूपकुंकुमयौवनैरगुर्वादिधूपेनोष्णांग्यः। तथा कुंकुमानुलेपनेनोष्णांग्यः तथा यौवनोष्मणा सहजेनोष्णांग्य इति योज्यम् ॥ १५ ॥

वि०—पुष्ट ऊरु, स्तन एवं श्रोणी वाली, मद वाली, प्रिय, धूप, केशर एवं यौवन के कारण उष्ण अङ्गों वाली स्त्रियाँ शीत को हरती हैं ॥ १५ ॥

हेमन्त में प्रशस्त गृह—

अङ्गारतापसन्तप्तगर्भभूवेश्मचारिणः ।
शीतपारुष्यजनितो न दोषो जातु जायते ॥ १६ ॥

स०—अंगाराणां तापोऽगारतापस्तेन संतप्तं च तद्गर्भेऽभ्यंतरे भूवेश्म च तत्तस्मिंश्चरंति नित्यं यस्तस्यांगांस्तापसंतप्तगर्भभूवेश्मचारिणः पुंसो यतः शीतपारुष्यजनितो दोषो दुःखं न जातु कदाचिज्जायते ततोऽगारतापसंतप्तगर्भभूवेश्मचारी स्यादिति भावः ॥ १६ ॥

वि०—अङ्गारों की गरमी से गरम किए हुए; तथा भूमि के नीचे के घरों में रहने वाले व्यक्तियों में शीत के पारुष्य (कठोरता) के कारण उत्पन्न दोष कभी भी उत्पन्न नहीं होते। अर्थात् निवात-उष्ण गृह में रहे ॥ १६ ॥

शिशिरऋतुचर्या—

अयमेव विधिः कार्यः शिशिरेऽपि विशेषतः।
तदा हि शीतमधिकं रौक्ष्यं चादानकालजम् ॥ १७ ॥

स०—अयमेव हैमंतो विधिः पूर्वोक्तः शिशिरे च विशेषतोऽतिशयेन कार्यः। कुत इत्याह। यस्मात्तस्मिन् काले शीतमधिकं भवति। कालस्वाभाव्यात्। तथा आदानकालाज्जातमादानकालजं च रौक्ष्यं भवति। ततो हेतुद्वयाद्विशेषेण हैमंतिको विधिः सेव्यः। हेमंते रसान् स्निग्धान् शीलयेदित्युक्तम्। शिशिरे ताननतिशयेन शीलयेत्। एवं सर्वेष्वपि हैमंतिको विधिर्योजनीयः। आदानकालजमित्यनेनैतद्द्योतयति। आदानकाल एव रौक्ष्यस्य कारणं नान्यत्। अत एव हेमंते शीतेऽपि रौक्ष्यं नास्त्येवेति। आदानस्य च प्रारंभमात्रत्वम्। एवं शिशिरस्य संभव इति शिशिरे किंचिदेव रौक्ष्यं वेद्यम्। ननु यथा रौक्ष्यमादानकालजे तथौष्ण्यमपि। तथा चोक्तम्। तस्मिन् ह्यत्यर्थंतीक्ष्णोष्णरूक्षा इति। एवं चौष्ण्यसद्भावाच्छीतस्य हेमंततो हानिः प्राप्ता न त्वाधिक्यम्। कथं तदा हि शीतमधिकमिति। ब्रूमः। रौक्ष्यस्य द्वौ हेतू। एकस्तावद्भगवद्दिवाकरकरैर्जगतः स्नेहादानम्। द्वितीयस्त्वग्नेः कालः। तदेवं रौक्ष्येणोभयहेतुजेन शिशिरे काले वाताः शीतस्वभावा आहिताधिकशक्तयो जायंते हैमंतेभ्यो मारुतेभ्यः। तथाविधाश्चोष्णेनादानकालप्राधान्यादप्राप्तबलेन शिशिरे नाभिभूयंते। अनभिभूताश्च शीतस्वभावत्वाच्च शीतमेव वर्धयंति। अतो युक्तं शीताधिक्यं शिशिर इति ॥ १७ ॥

वि०—शिशिरचर्या—विशेष कर यही विधि शिशिर में भी बरतनी चाहिये क्योंकि शिशिर में शीत अधिक होता है; तथा आदानकालजनित रूक्षता भी होती है ॥ १७ ॥

वक्तव्य—शीत काल होने से तथा आदानकालजन्य रूक्षता होने के कारण इस ऋतु में हेमन्त की विधि विशेष रूप में बरतनी चाहिये। इसी से कहा है 'स्वभावशैत्याद् रौक्ष्याच्च वातकोपाद् बलक्षयात्। विधिर्विशेषात् स्निग्धोष्णः शिशिरे हैमनो मतः।"

संप्रति वसंतचर्यां विवक्षुरिदमाह—

कफश्चितो हि शिशिरे वसन्तेऽर्कांशुतापितः।
हत्वाऽग्निं कुरुते रोगानतस्तं त्वरया जयेत् ॥ १८ ॥
तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनैः।
व्यायामोद्वर्तनाघातैर्जित्वा श्लेष्माणमुल्बणम् ॥ १९ ॥
स्नातोऽनुलिप्तः कर्पूरचन्दनागुरुकुङ्कुमैः।
पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलशूल्यभुक् ॥ २० ॥
सहकाररसोन्मिश्रानास्वाद्य प्रिययाऽर्पितान्।
प्रियाऽऽस्यसङ्गसुरभीन् प्रियानेत्रोत्पलाङ्कितान् ॥
सौमनस्यकृतो हृद्यान्वयस्यैः सहितः पिबेत्।
निगदानासवारिष्टसीधुमार्द्वीकमाधवान् ॥ २२ ॥
शृङ्गबेराम्बु साराम्बु मध्वम्बु जलदाम्बु च।

स०—यस्मात् शिशिरे मधुरस्निग्धादिनाऽऽहारेण कालस्वाभाव्याच्च श्लेष्मा संचितोऽतिशयेन स्त्यानत्वादतिकुपितो वसंते ऋतावर्कांशुतापितः सूर्यप्रभाभिर्विलायितो द्रवस्वरूपत्वाज्जलमिव विपरीतं जाठराग्निं हत्वा हि यस्माद्रोगान्विकारान् कुरुते जनयति। अतोऽस्मात्कारणात्तं कफं त्वरया शीघ्रमेव जयेत्। दोषानिति केचित्पठंति। अर्कतापित इत्यनेनैव सिद्धे अंशुशब्दोऽत्र रश्मीनां पटिमानं सूचयति न तथा शीते। तत्र हि धूमधूम्ररजोमंदा इत्यधिरोगकैर्वर्जयेत्। तीक्ष्णैर्वमननस्य विरेकादिभिरुपक्रमेत्। तथा लघूनि रूक्षाणि च यानि भोजनानि तैश्च। तथा व्यायामश्चोद्वर्तनं च आघातश्च तैश्च कफं जयेदिति। चशब्दो लुप्तनिर्दिष्टः। ततः कफमुल्बणमुद्धतं जित्वाऽनंतरं स्नातोऽनुलिप्तः समालब्धः कर्पूरचंदनागुरुकुंकुमैः। तथा पुराणं च तद्यवगोधूमं च तथा क्षौद्रं माक्षिकं तथा जांगलं च तच्छूल्यं भटित्रं च तत्तानि भुंक्ते पुराणयवगोधूमक्षौद्रजांगलशूल्यभुक्। शूल्य इति शूलात्पाक इति यः। एवंविधः सन् वयस्यैर्मित्रैः सहित आसवादीन् पिबेत्। किंभूतान्। निर्गदान् निर्दोषान्। पिबेदिति वक्ष्यमाणेन संबधोऽत्र दीपकत्वात्। आसवो यो द्रव्याण्यासुत्य क्रियते। उक्तं च—"मद्याकाराधिकद्रव्यमदिराद्यैः कृतस्तु यः। सोऽरिष्टः स्यादासवस्तु द्रव्याण्यासुत्य यः कृतः॥" इति। सीधुरिक्षुरसोद्भवः। मार्द्वीकं मृद्वीकारसोद्भवम्। माधवो मधुना संस्कृतः। किंभूतानासवादीन्। सहकाररसोन्मिश्रान् प्रियया आस्वाद्य किंचित्पीत्वाऽर्पितान् ढौकितान्। तथा प्रियास्यसंगेन सुरभीन् सुगंधीन्। तथा प्रियानेत्राण्येवोत्पलानि तैरंकितान् संजातशोभान्। तथा सौमनस्यकृतश्चित्तप्रसादकृतः। तथा हृद्यान् हृदयाय हितान्। तथा शृङ्गबेराबु शुंठीक्वथितजलं पिबेत्। तथा सारः असनचंदनादिजस्तेन क्वथितमंबु पिबेत्। तथा मधुना युक्तमंबु मध्वंबु। जलदेन मुस्तया च क्वथितमंबु पिबेत्। वेति समुच्चये ॥ १८-२२½ ॥

वसन्तऋतुचर्या—

वि०—वसन्तचर्या—शिशिर में सञ्चित कफ वसन्त में सूर्य की किरणों की गरमी से पिघलकर अग्नि को नष्ट करते हुए रोगों को उत्पन्न करता है; अतः उस कफ को तीक्ष्ण वमन, नस्य आदि लघु एवं रूक्ष भोजन, व्यायाम, उद्वर्तन और

आघात से जल्दी से जीते। इस प्रकुपित कफ को जीत कर, स्नान करके; कपूर, चन्दन, अगरु और केशर का शरीर पर लेप करे और पुरातन जौ, पुरातन गेहूँ, मधु तथा जाँगल मांस, या शूल-संस्कृत मांस, भोजन में लें। प्रिया से अर्पित किये, आम्ररस से सुगन्धित, आस्वादित (जिनको प्रिया स्त्री ने स्वयं चख कर दिये हों; तथा प्रिया के मुख के सङ्ग के कारण सुगन्धित बने;), प्रिया के कमल रूपी नेत्रों से प्रतिबिम्बित (पीते समय प्रिया देख रही हो); मन को प्रसन्न करने वाले; हृदय के लिये उत्तम या सुस्वादु, निर्दोष, आसव, अरिष्ट, सीधु, मार्द्वीक और माधव को वयस्यों के साथ पिये। सोंठ का पकाया जल; साराम्बु (असन आदि का पकाया जल); मधु का शर्बत; नागरमोथे से सिद्ध जल पिये ॥ १८–२२ १/२ ॥

वक्तव्य—वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है; इस ऋतु में प्रायः कफ के रोग होते हैं। इस ऋतु की चर्या दो प्रकार की हैं—एक शोधनी और दूसरी शमनी। इनमें संचयपूर्वक अवस्था में शोधन चिकित्सा; और दूसरे (अचयज) में शमनी चिकित्सा करनी चाहिये। इनमें चयपूर्वक जो है; वह अपथ्यजन्य है क्योंकि पूर्व ऋतु में अपथ्य सेवाजन्य है। इसी से कहा है—'दोषप्रकोपो द्विविधः, पथ्यापथ्यनिमित्तजः। तत्रापथ्यनिमित्तो यः स संशोधनमर्हति। पथ्यजः शमनीयश्च प्राय आगन्तुजश्च यः' ॥ इसलिये प्रथम कफ की शोधन चिकित्सा कही गयी है—इसके लिये तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण नस्य आदि दिये हैं। यह कफ शिशिर में कुपित नहीं होता; क्योंकि इस ऋतु में इतनी गरमी नहीं होती। इसी से कहा है—'हेमन्ते निचितः श्लेष्मा शिशिरेऽपि न कुप्यति। आहारैश्च गुरुस्निग्धैर्भृशमेवोपचीयते ॥' परन्तु वसन्त में सूर्य की प्रबलता से कफ पिघलकर फैलता और प्रकुपित होता है।

इसके उपरान्त शमन चिकित्सा करे–इसके लिये व्यायाम, उद्वर्त्तन (रूक्ष), आघात–पैरों से, मर्दन–दाबना; ये करे। निगदान्—निर्दोष, देश काल आदि से अदूषित। आसव अरिष्ट='मद्याकराधिकद्रव्यमदिराद्यैः कृतस्तु यः। सोऽरिष्टः स्यादासवस्तु द्रव्याण्यासुत्य यः कृतः ॥' सीधु–इक्षुरस से बना। मार्द्वीक–द्राक्षा रस से बनाया। माधव-मधु से बनाया। साराम्बु–असन आदि वृक्षों के सार का पानी–यह कफनाशक है; यथा प्रमेह में—शनैर्मेहिनं खदिरकषायम् नीलमेहिनं शालसारादिकषायम्। मध्वम्बु–मधु योगवाही तथा स्थौल्यनाशक है; तथा–सुश्रुत में—'मधुनो योगवाहित्वाद् मेहहरत्वाच्च। स्थौल्य चिकित्सा में 'प्रयोगो माक्षिकस्य च' (चरक सू. २१।२२)

वसन्तस्य मध्याह्ने सेवनीयं स्थानम्—

दक्षिणानिलशीतेषु परितो जलवाहिषु ॥ २३ ॥
अदृष्टनष्टसूर्येषु मणिकुट्टिमकान्तिषु ।
परपुष्टविघुष्टेषु कामकर्मान्तभूमिषु ॥ २४ ॥
विचित्रपुष्पवृक्षेषु काननेषु सुगन्धिषु ।
गोष्ठीकथाभिश्चित्राभिर्मध्याह्नं गमयेत्सुखी ॥ २५ ॥

स०—काननेषूपवनेषु स्थितो मध्याह्नं गमयेदतिवाहयेत्। अह्नो मध्यो मध्याह्नः। संख्याविसायेत्यादिज्ञापकात्पूर्वापरेत्यादिना एकदेशिसमासः। अह्नोऽह्न एतेभ्य इत्यह्नादेशः। कथम्। गोष्ठ्यां क्रीडायां कथा गोष्ठीकथास्ताभिश्चित्राभिः कमनीयाभिर्व्यवहारसंबंधिनीभिरित्यर्थः। कीदृशः सन्। सुखी रागद्वेषादिरहितः। किंभूतेषु काननेषु दक्षिणदिक्प्रवृत्तैरनिलैः शीतानि तेषु दक्षिणानिलशीतेषु। तथा परितः समंताज्जलं नित्यं वहंति यानि तेषु। आभीक्ष्ण्ये णिनिः। तथा क्वचित्प्रदेशेऽदृष्ट ईषद्दृष्टः क्वचिदतिघनत्वान्नष्टो न दृश्यते सूर्यो येषूपवनेषु तान्येवं तेषु। तथा मणीनां वज्रमरकतादीनां कुट्टिमानि विशिष्टा भुवस्ताभिः कांतिः शोभा येषां तान्येवं तेषु। तथा परपुष्टैः कोकिलैर्विघुष्टेषु कृतशब्देषु तथा कामस्य कर्मान्ताः कामकर्मांता मदनव्यापाराः। अंतशब्दोऽत्र प्रशंसावचने। यथोद्भटस्य वचनम्। वनांतदेवतावेण्य इति। कामकर्मांतनिमित्तभूमयो येषां वनानां तान्येवं तेषु। विचित्राणि नानारूपाणि पुष्पाणि येषां ते तथाविधा वृक्षा येषां तान्येवं तेषु। सुष्ठु गंधो येषां तेषु। गंधस्येदितीत्समासांतः। अस्मिन्काले कफोपचयदोषभयात् ॥ २३–२५ ॥

वसन्त के मध्याह्न में सेवनीय स्थान—

वि०–जो जंगल या बाग दक्षिण दिशा की वायु से शीतल बने हुए हों; जिनके चारों ओर जल बह रहा हो; जिनमें सूर्य कहीं थोड़ा दीख रहा हो, और कहीं बिल्कुल न दीखता हो-छिपा हो; जिनकी भूमि मणियों के फर्श के समान सुन्दर हो; जहाँ पर कोयल की कुहुक सुनाई देती हो; जिनमें मदनव्यापार के योग्य प्रशस्त भूमि हो; नाना प्रकार के पुष्प एवं वृक्षों से सुगन्धित हो, चित्र-विचित्र गप-शप एवं कथाओं के साथ सुखी मनुष्य मध्याह्न काल बिताये ॥२३–२५॥

वक्तव्य—वसन्त में दक्षिण दिशा की कामोद्दीपक वायु बहती है। यथा–'वाति कामिजनानन्दजननोऽनङ्गदीपनः। दम्पत्योर्मानभिदुरो वसन्ते दक्षिणोऽनिलः ॥' 'दक्षिणानिलसंवीताः सुमुखाः पल्लवोज्ज्वलाः' (सु. सू.) अदृष्टनष्टसूर्येषु=जहाँ पर सूर्य कहीं दीखता हो, और कहीं छिप गया हो (धूपछाँह)। कामकर्मान्तभूमिषु–मदनव्यापारः–अन्तन्ति बध्नन्ति-स्वसौन्दर्येणोत्तरोत्तरं वर्द्धयन्ति-अथवा-कामकर्मान्तो मदनव्यापारः। जैसा कि कुमारसम्भव में–'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः। मृगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥' अर्थात्—जहाँ की भूमि मदनव्यापार के लिये उत्तम हो। गोष्ठी–लोकवार्त्ता; कथा–शास्त्रवार्त्ता।

वसन्त में वर्ज्य पदार्थ—

गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत् ।

स०—गुरुशीतादींस्त्यजेत् । ननु लवणमपि श्लेष्माणं करोति तत्कस्मादिह न निषिद्धम् । अतो ब्रूमः । लवणः पूर्वं कफमम्लमधुराविव न करोति किं तर्हि निधने चिरंतनसंचितं स्रुतिरूपं श्लेष्माणं विधत्ते विष्यंदित्वात् । न च लवणस्य मधुरादेरिव बहुतरस्य प्रयोगः प्रसिद्धः किंतह्यल्पस्यैव । तस्माल्लवणस्यात्रानिषेध एव न्याय्यः ।

वि०—(वसन्त ऋतु में) गुरु, शीतल पदार्थ; दिन में सोना; स्निग्ध-अम्ल और मधुर वस्तुओं को छोड़ देना चाहिये ।

वक्तव्य—लवण भी कफवर्धक है; परन्तु अम्ल और मधुर की तरह नहीं है; अतः उसका उल्लेख यहाँ नहीं किया है ।

अधुना ग्रीष्मचर्यामुपदिदिक्षुराह—

तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्णांशुर्ग्रीष्मे संक्षिपतीव यत् ॥ २६ ॥
प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते ।
अतोऽस्मिन्पटुकट्वम्लव्यायामार्ककरांस्त्यजेत् ॥२७॥

स०—यद्यस्मात्तीक्ष्णांशुर्भास्करोऽतितीक्ष्णा अंशवः करा यस्य स एवंभूतः सन् ग्रीष्मे संक्षिपतीव जगत्स्नेहमित्यत्रानुक्तमप्यर्थाल्लभ्यते । केचित्तु स्नेहमर्कोऽतितीक्ष्णांशुरिति पठंति । स्नेहस्तेजोबलं सारमित्येकोऽर्थः । त स्नेहमर्कः संक्षिपतीव यत्संबंधः संहरतीव पिबतीव । इवशब्देनैतत्सूचयति—हेतुप्रत्ययपरतंत्रेषु सर्वभावेषु न कश्चित्कश्चित्तद्बुद्धिपूर्वकं संहरति । परमार्थतो बलहानिकृत्वादेषाम् । अतोऽस्मात्कारणादस्मिन् ग्रीष्मकाले पट्वादींस्त्यजेत् ॥ २६-२७ ॥

ग्रीष्मऋतुचर्या—

वि०—ग्रीष्म ऋतु—ग्रीष्म ऋतु में अति तीक्ष्ण किरणों वाला सूर्य संसार के स्नेह को नष्ट करता है; जिससे प्रतिदिन श्लेष्मा घटती जाती है; और वायु बढ़ती है । इसलिये इस ऋतु में लवण, कटु तथा अम्ल रस, व्यायाम और सूर्य की किरणों का त्याग करना चाहिये ॥ २६-२७ ॥

वक्तव्य—लवण कटु और अम्ल रस आग्नेय हैं अतः इनसे पित्त की वृद्धि और बल की हानि होती है ।

किमत्र सेव्यमित्याह—

भजेन्मधुरमेवान्नं लघु स्निग्धं हिमं द्रवम् ।

स०—मधुरमेवान्नं भजेत् । बाहुल्येन मधुरमन्नं सेव्यं न तथाऽन्यरसजातमित्येवकाराल्लभ्यते । तथा लघु स्निग्धं हिमं द्रवं चेति । चशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः ।

ग्रीष्म ऋतु में भोजनादिव्यवस्था—

वि०—सेवनीय—ग्रीष्म ऋतु में मधुर, लघु, स्निग्ध और शीतल एवं द्रव पदार्थ सेवन करना चाहिये[1] ।

सामान्येन भोजनमुक्त्वा विशेषमाह—

सुशीतलोपसिक्ताङ्गो लिह्यात्सक्तून् सशर्करान् ॥ २८ ॥

स०—सक्तून् सशर्करान् लिह्यात् । सुष्ठु शीतं सुशीतं च तत्तोयं च तेन सिक्तमाप्लुतमंगं कायो यस्य स एवं भूतः सन् ॥ २८ ॥

वि०—अतिशय शीतल जल से स्नान करके शर्करा-मिश्रित सत्तू खाये ॥ २८ ॥

वक्तव्य—स्नान और सत्तू-श्रमहर हैं। सत्तू के लिये—'समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्त्तहराणां (श्रेष्ठतमः) ।' इसी प्रकार 'तर्पयन्ति नरं सद्यः पीता सद्योबलाश्च ते ॥' (चरक सू. अ. २७।२५८) सत्तु को घोलकर लेह्य या पेय बनाकर उपयोग में लाना चाहिये; खाना उचित नहीं जैसा कि चरक ने कहा है 'न छित्वा द्विजैर्भक्षयेत् ।'

मद्यं न पेयं पेयं वा स्वल्पं, सुबहुवारि वा ।

स०—अस्मिन्काले मद्यं न पेयम् । पेयं वा स्वल्पमिति । वातश्लेष्मप्रकृतिना वातक्षयार्थमन्यतुंवद्बहु न पेयं किं तर्हि स्वल्पमेव पातव्यम् । सुबहुवारि वेति पित्तश्लेष्मप्रकृतिना मद्योचितेन श्लेष्मप्रतिक्रियार्थं पित्तप्रतीकारमपीच्छता सुबहुवारि तन्मद्यं पेयमित्यत्रानुक्तोऽप्येवमर्थाद्विषमविभागो बोध्यः । अन्यथा निषेधविध्योर्विरोधः स्यात् ।

वि०—ग्रीष्म ऋतु में मद्य नहीं पीना चाहिये; पीने की आदत हो, या पीना ही हो तो थोड़ा और बहुत पानी मिलाकर पीवे ।

उक्तविध्यतिक्रमे दोषमाह—

अन्यथा [1]शोषशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत् ॥२९॥

स०—तन्मद्यमन्येन प्रकारेण पीतं सत् शोफादीन् करोति । शोफः श्वयथुः । शैथिल्यमंगानामनैष्ठुर्यम् । दाहः सर्वांगीणस्तापः । मोहोऽज्ञानं जंतोः ॥ २९ ॥

वि०—ऐसा न करने से वह मद्य शरीर, में शोष, शिथिलता, दाह और मोह प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

कुन्देन्दुधवलं शालिमश्नीयाज्जाङ्गलैः पलैः ।

स०—कुंदः पुष्पविशेषः । इन्दुश्चंद्रः । तयोर्द्वंद्वः । कुंदेंदुवद्धवलं शुक्लं शालिं जांगलैः पलैर्मांसैः सहाश्नीयाद्खादेत् । 'क्षुपणस्मितः स्मृतः शाली रक्तो व्रीहिरुदाहृतः' ।

---

[1] ग्रीष्म ऋतु में सूर्य पृथ्वी के अधिक समीप होता है और अपनी तीक्ष्ण किरणों से आग बरसाता हुआ संसार की प्रायः सभी वस्तुओं के स्नेह का शोषण करता है जिससे अत्यधिक दुर्बलता और बेचैनी होती है अतः स्निग्ध और मधुर आहार हितकर होता है; किन्तु अग्नि की दुर्बलता होती है अतः लघु और तरल आहार ही अधिक उपयोगी होता है ।

[1] शोष के स्थान पर शोथ भी पाठ हैं; सर्वांगसुन्दराकार ने शोफ माना है । मद्यपान से शोथ, खासकर आंत्र तथा यकृत में, और परम्परया सर्वांगशोथ को भी उत्पन्न करता है ।

वि०—कुन्द पुष्प (मोगरा–गुजराती) तथा चन्द्रमा के समान शुभ्र शालिधान्य को जांगल मांस के साथ खाये।

पिबेद्रसं नातिघनं रसालां रागषाडवौ ॥ ३० ॥
पानकं पञ्चसारं वा नवमृद्भाजने स्थितम् ।
मोचचोचदलैर्युक्तं साम्लं मृन्मयशुक्तिभिः ॥ ३१ ॥
पाटलावासितं चाम्भः सकर्पूरं सुशीतलम् ।

स०—रसं नातिघनं पिबेत्। रसशब्देनादिलोपाख्यया तंत्रयुक्त्या मांसरस उच्यते । तथा रसालां मर्जिकाख्यां पिबेत्। तथा रागखांडवौ पानकं च पंचसाराख्यम्। एतेषां च लक्षणं तंत्रान्तर उक्तम्। यथा–"सितामध्वादिमधुरा रागास्तत्राच्छकांतयः । ते साम्लाः खांडवा लेह्याः पेयाश्चांशुकगालिताः ॥ स्वाद्वम्लपटुकट्वाद्याः प्रलेहास्तत्र खांडवाः । गुडदाडिममांसाद्या रागाश्चांशुकगालिताः ॥ हृद्या वृष्या रुचिकरा ग्राहिणो रागखांडवाः" इति। तथा–"द्राक्षामधूकखर्जूरकाश्मर्यः सपरूषकाः । तुल्यांशैः कल्पितं पूतं शीतं कर्पूरवासितम् ॥ पानकं पंचासाराख्यं दाहतृष्णानिवर्तकम् ।" अन्यत्र चोक्तम् । यथा–"गुडदाडिमादियुक्ता विज्ञेया रागखांडवाः । त्रिजातमरिचाद्यैस्तु संस्कृताः पानकास्तथा ॥" इति। कीदृशं पानकं पिबेदित्याह। नवं च यन्मृद्भाजनं तत्र स्थितम्। तथा मोचं कदलीफलं, चोचं पनसफलं तयोर्दलानि तैर्युक्तम्। तथा साम्लम्। तित्तिडीकादियोगात् खांडवरसानुगतम्। केचित्तु क्षीरं घृतपिप्पलीशशिमाक्षिकशर्करोपेतं पंचसारं पानकमित्याहुः। केन पिबेदित्याह। मृन्मयशुक्तिभिः। पाटलया वासितं सुरभीकृतं तथा सकर्पूरं सुशीतलं चांभः पिबेत्। मृन्मयशुक्तिभिरित्यत्रापि योज्यम्। सुश्रुते चोक्तम्—"परिपेलवया तुल्यास्तथा गुग्गुलुमुस्तकाः। चूर्णिताः शशिनोपेता नवभाजनधूपनम् ॥ कुष्ठमुस्तकसंयुक्तैः पेलवोशीरवालकैः । मृदिता मृत्सु पिष्टैस्तैः खदिरांगारपाचिताः ॥ सहकाररसाभ्यक्ताश्चंपकोत्पलवालकैः । पद्मकुंजककुंदैश्च यथालाभादिवासिताः ॥ श्रेष्ठः सलिलवासोऽयं स्मृतः सर्वर्तुको बुधैः" ॥ ३०–३१ ॥

वि०—ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न मांसरस जो ज्यादा गाढ़ा न हो, पीना चाहिये। रसाला, राग, षाडव, पानक और पंचसार मिट्टी के नये पात्र में रखकर केले और दालचीनी और नारियल के टुकड़े मिला कर, (अनारदाने) से खट्टा करके मिट्टी की बनी सिप्पियों से खाये। पाटला पुष्प से सुवासित कर्पूर–मिश्रित अतिशय शीतल जल पीये ॥३०–३१॥

वक्तव्य—ग्रीष्म ऋतु में द्रव भोजन की दृष्टि से पतला मांसरस पसन्द किया है। रसाला–'अर्धाढकं सुचिरपर्युषितस्य दध्नः, खण्डस्य षोडशपलानि शशिप्रभस्य। सर्पिष्पलं मधु पलं मरिचं द्विकर्षं, शुण्ठ्याः पलार्धमपि चार्धपलं चतुर्णाम् ॥ सूक्ष्मे पटे ललनया मृदुपाणिघृष्टा, कर्पूरधूलिसुरभीकृतपात्रसंस्था। एषा वृकोदरकृता रसना रसाला, याऽस्वादिता भगवता मधुसूदनेन ॥' इस प्रकार बनाई शिखरणी को 'रसाला' कहते हैं। राग=रायता; षाडव का लक्षण—'युतमिक्षुविकारेण क्वथितं चूतजं फलम्। घृतशुण्ठीतिलयुतं विज्ञेयो घनषाडवः॥ स्पष्टाम्लमधुरोऽस्पष्टकषायलवणोषणः । अतिक्तः षाडवः कोलकपित्थाद्युपबृंहितः ॥' इसी प्रकार 'सितामध्वादिमधुरा रागास्तत्राच्छकान्तयः। ते साम्ला षाडवा लेह्या पेयाश्चांशुकगालिताः ॥ स्वाद्वम्लपटुकट्वाद्या रागा अंशुकगालिताः। हृद्या वृष्या रुचिकरा ग्राहिणो रागषाडवाः ॥' पानक—शर्बत; पञ्चसार पानक—मधु आदि पाँच द्रव्यों से बना शर्बत; यथा–'मधुखर्जूरमृद्वीकापरूषकसिताऽम्भसा। मन्थो वा पञ्चसारेण सघृतैर्लाजवस्तुभिः' ॥ अथवा–'द्राक्षामधुकखर्जूरकाश्मर्यैः सपरूषकैः। तुल्यांशैः कल्पितं पूतं शीतं कर्पूरवासितम् ॥ पानकं पञ्चसाराख्यं दाहतृष्णानिवर्त्तकम् ॥' मिट्टी के नये पात्र में रखने से ये अधिक ठण्डे होते हैं। अम्ल अनारदाने से खट्टे बनाये। मिट्टी की बनी सिप्पियों (चम्मच) से पिये; जिससे ठण्डा रहे। पीने के पानी को पाटला से सुवासित करे—दूषित पानी को उत्तम करने के लिये 'नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति।' इससे पानी की विकृत गन्ध मिट जाती है। पात्र के लिये 'सौवर्णे राजते ताम्रे कांस्ये मणिमयेऽपि वा। पुष्पावतंसे भौमे वा सुगन्धि सलिलं पिबेत् ॥' (सु. सू. अ. ४५।१३)।

ग्रीष्म ऋतु में रात्रिभोजन व्यवस्था—

शशाङ्ककिरणान् भक्ष्यान् रजन्यां भक्षयन् पिबेत् ॥
ससितं माहिषं क्षीरं चन्द्रनक्षत्रशीतलम् ॥३२॥

स०—माहिषं क्षीरं ससितं सशर्करं रजन्यां रात्रौ पिबेत् किंभूतम्। चन्द्रेण नक्षत्रैश्च शीतलम्। रजन्यां रात्रावाकाशे शैत्यार्थं स्थापितमित्यर्थः। किं कुर्वन् पिबेत्। भक्षयन् भक्ष्यान् भुंजन्। कीदृशान्। शशांककिरणान् कर्पूरनाडिकाख्यान् ॥३२॥

वि०—रात में शशांककिरण में पक्व भक्ष्य पदार्थों को खाते हुए, चन्द्रमा एवं नक्षत्र से शीतल बने, शर्करा-मिश्रित भैंस का दूध पिये ॥ ३२ ॥

वक्तव्य – भैंस का दूध गाय के दूध से अधिक शीतल है; यथा—'महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः।' साथ में अधिक स्नेह वाला है। शशाङ्ककिरण यथा–'तालीसचूर्णवटकाः, सकर्पूरसितोपलाः। शशाङ्ककिरणाख्यास्तु भक्ष्या रुचिकराः परम् ॥' अधिक ठण्डा करने के लिये रात्रि में खुले में रखना चाहिये।

ग्रीष्म के मध्याह्न में सेवनीय स्थान—

अभ्रङ्कषमहाशालतालरुद्धोष्णरश्मिषु ॥ ३३ ॥
वनेषु माधवीश्लिष्टद्राक्षास्तबकशालिषु ।
सुगन्धिहिमपानीयसिच्यमानपटालिके ॥ ३४ ॥
कायमाने चिते चूतप्रवालफललुम्बिभिः ।
कदलीदलकह्लारमृणालकमलोत्पलैः ॥ ३५ ॥

कोमलैः कल्पिते तल्पे हसत्कुसुमपल्लवे ।
मध्यंदिनेऽर्कतापार्त्तः स्वप्याद्धारागृहेऽथवा ॥ ३६ ॥
पुस्तस्त्रीस्तनहस्तास्यप्रवृत्तोशीरवारिणि ।

स०—अभ्रमाकाशं कषंत्युल्लिखंत्यत्युच्चतयाऽभ्रंकषाः महांतश्च शालाश्च तालाश्च महाशालतालाः । अभ्रंकषाश्च ते महाशालताश्च तै रुद्धः स्थगित उष्णरश्मिर्दिनकरो येषु वनेषु तेषु मध्यंदिने मध्याह्नेऽर्कतापार्तः सन् स्वप्याच्छयीत । वनेष्विति । माधव्यो लताविशेषा अतिमुक्तकाख्यास्तासु श्लिष्टा माधवीश्लिष्टाः द्राक्षायास्तवका गुच्छका द्राक्षास्तवकाः । माधवीश्लिष्टाश्च ते द्राक्षास्तबकाश्च तैः शालितुं श्लाघितुं शीलं येषां बनानां तानि माधवीश्लिष्टद्राक्षास्तवकशालीनि तेषु वनेषु । कायमाने वेण्वादिनिष्पादिते गृहविशेषे । कीदृशे सुगंधि च तद्धिमं च तत्सुगंधिहिमपानीयम् । पटानां वस्त्राणामालिः पंक्तिः । पटालिः । सुगंधिहिमपानीयेन सिच्यमाना पटालिर्यस्मिन्स सौसुगंधिहिमपानीयसिच्यमानपटालिकस्तस्मिंस्तथाविधे कायमाने । तथा प्रवालाः किसलयानि । फलानां लुंबयस्स्तबकाः । प्रवालाश्च फललुंबयश्च: प्रवालफललुंबयः । चूतानां प्रवालफललुंबयस्ताभिश्चिते परितो व्याप्ते । तल्पे शयने कल्पिते । कैः । कदलीदलादिभिः । कदल्या रंभाया दलानि पत्राणि । कह्लारं सौगंधिकम् । मृणालं बिसम् । कमलं पद्मम् । उत्पलं कुमुदम् । एतेषां द्वंद्वः तैः कदलीदलादिभिः कोमलैः सुकुमारस्पर्शैः कल्पिते रचिते । किंभूते । कुसुमानि च पल्लवाश्च कुसुमपल्लवा यत्र तस्मिन् धारागृहेऽथवा स्वप्यादित्यनुवर्तते । धारागृहमविरतममलजलधाराः पतंति यत्र । पुस्तस्त्रीस्तनहस्तास्यैः प्रवृत्तमुशीरवारि यत्र तस्मिन् । पुस्तो दार्वादिमय्याः स्त्र्याद्याकृतेरुपादानकारणं यद्वस्तु तदुच्यते ॥ ३३-३६ ॥

वि०—मध्याह्न में आकाश को छूने वाले अति ऊंचे महाशाल, ताड़ आदि के वृक्षों के कारण जहाँ पर सूर्य की किरणें न पहुँच सकें; माधवी लता से लिपटे द्राक्षा के गुच्छों से शोभित कुञ्जों या लतामण्डपों में अथवा सुगन्धित, शीतल पानी से सिञ्चित परदों वाले, रेवटी (टेण्ट) में. आम के पल्लव एवं फलों के गुच्छों से युक्त, कोमल केले के पत्ते, कल्हार (सौगन्धिक), मृणाल (बिस), कमल और उत्पल इनसे बनाई शय्या पर; फूलों की पंखड़ियाँ जहाँ पर हँस रही हों; ऐसे धारागृहों में—सूर्य की गर्मी से दुखी मनुष्य सोये । इन धारागृहों में—मिट्टी या लकड़ी की बनी पुतलियों के स्तन हाथ, मुख में से खस के पानी की धार निकल रही हो ॥ ३३-३६ ॥

ग्रीष्म की रात्रि में सेवनीय स्थान—

निशाकरकराकीर्णे सौधपृष्ठे निशासु च ॥ ३७ ॥
आसना—

स०—निशासु च रात्रिषु सौधपृष्ठे हर्म्यतले आसना स्थितिः । कार्येत्यध्याहार्यम् । तत्रासीतेत्यर्थः । किंभूते सौधपृष्ठे । निशाकरः शीतांशुस्तस्य करा गभस्तयस्तैराकीर्णे व्याप्ते ॥ ३७ ॥

वि०—रात्रि में चन्द्रमा की चाँदनी से व्याप्त मकान की छत पर सोये—वहीं रात बिताये ॥ ३७ ॥

—स्वस्थचित्तस्य चन्दनार्द्रस्य मालिनः ।
निवृत्तकामतन्त्रस्य सुसूक्ष्मतनुवाससः ॥३८॥
जलार्द्रास्तालवृन्तानि विस्तृताः पद्मिनीपुटाः ।
उत्क्षेपाश्च मृदूत्क्षेपा जलवर्षिहिमानिलाः ॥३९॥
कर्पूरमल्लिकामाला हाराः सहरिचन्दनाः ।
मनोहरकलालापाः शिशवः सारिकाः शुकाः ॥४०॥
मृणालवलयाः कान्ताः प्रोत्फुल्लकमलोज्ज्वलाः ।
जङ्गमा इव पद्मिन्यो हरन्ति दयिताः क्लमम् ॥४१॥

स०—स्वस्थचित्तस्य रागाद्यनुपहतमनसो जलार्द्राः क्लमं हरंति । एवं तालवृंतादयो योज्याः । अंतर्दीपकत्वादस्य । तस्य च कीदृशस्य । चंदनार्द्रस्य चंदनेनानुलिप्तस्य । तथा मालिनः स्रग्विणः । तथा निवृत्तं कामतंत्रं पुष्पधन्वपरिच्छेदो यस्य । तथा सुष्ठु सूक्ष्मे तनुनी स्वच्छे वाससी यस्य स एवम् । जलार्द्राः पानीयकृतार्द्राः शाटिकाः । तालवृंतानि मयूरपिच्छादिकृतानि तालवृंताकृतीनि व्यजनानि । तथा विस्तृता महांतः पद्मिनीपुटा नलिनीपत्राणि बीजनार्थम् । तथोत्क्षेपाः मयूरपिच्छादिकृता व्यजनविशेषाः । ते च किंभूताः । मृदुरुत्क्षेपो येषु ते मृदूत्क्षेपाः । जलवर्षी हिमोऽनिलो येषु मृदूत्क्षेपेषु ते जलवर्षिहिमानिलकाः । शीतजलाभ्युक्षितैरेतैर्वातैः कार्यं इत्यर्थः । कर्पूरेत्यादि । मालाशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते । स्फटिककर्पूरग्रथिता माला मल्लिकालाश्चेत्यर्थः । तथा हारा मुक्तादामानि । किंभूताः—सह हरीचंदनेन सहरिचंदनाः । यच्छेदे लोहितमतिसुगंधं सुष्ठ शीतवीर्यं च तद्धरिचंदनमुच्यते । मनोहरेत्यादि । मनोहरो रम्यः कलो मधुर आलापो येषां ते मनोहरकलालापाः । शिशवो बालकाः । तथा सारिकाः शरारयः । शुकाः कीरः । मृणालेत्यादि । मृणालान्यतिकोमलानि बिसानि वलयाः । कटकानि यासां या दयिता योषितः । किंभूताः । कांता रम्याः । तथा प्रफुल्लैर्विकसितैः कमलैरुज्ज्वलाः शोभिता एवंभूताश्च । उत्प्रेक्ष्यंते । जंगमाः संचारिण्य इव पद्मिन्यः । क्लमं हरंतीति योज्यम् । स्वस्थचित्तस्येति प्राधान्यख्यापनार्थं प्रागुपात्तम् । स्वस्थचित्तस्यैव ते जलार्द्रादयः क्लमं हरंति न तथोपतप्तमनसः । चित्तायत्ता हि सर्वभावनां शुभाशुभवृत्तयः । तथा च स्निग्धमधुरोऽप्याहार उपयुक्तः सुखशय्यादिरपि विहारः सेवितः शोकाविष्टचेतसो न तथा शरीरस्य पुष्टिमादधाति । शत एव शोकः शोषणानामित्यष्टसंग्रहे प्रोक्तम् । तथा रूक्षोऽप्याहारस्तथाविधो विहारश्च सेवितो निर्वृत्तमनसः पुष्टिमेवादधाति न कार्श्यम् । तथाचोक्तम् । निर्वृत्तिः पुष्टिहेतूनामिति । सुश्रुते च क्लमस्य लक्षणमुक्तम् । योऽनायासश्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः । क्लमः स इति विज्ञेयमिंद्रियार्थप्रबाधक इति ॥ ३८-४१ ॥

वि०—स्वस्थ चित्त वाले पुरुष की थकान को मिटाने वाली वस्तुयें—चन्दन का लेप लगाये, माला धारण किये, सम्भोग से निवृत्त; अतिशय महीन वस्त्र को धारण किये; स्वस्थ चित्त वाले पुरुष के थकान को; पंखे; पानी से भीगे कमलिनी के विशाल पत्र, ऊपर को निकलने वाले धीमे-धीमे फव्वारे; सजल शीतल वायु; कपूर और चमेली की बनी माला; हरिचन्दन के साथ बनी मालायें; मनोहर-सुन्दर बोलने वाले बालक, तोता और मैना; अतिशय कोमल कमलनाल के कड़े पहनी हुई, खिले हुए कमल के समान उज्ज्वल (शोभित) चलती-फिरती पद्मिनी के समान-स्त्रियाँ दूर करती हैं ॥ ३८-४१ ॥

इदानीं वर्षाचर्यां निर्दिदिक्षुरिदमाह—

आदानग्लानवपुषामग्निः सन्नोऽपि सीदति ।
वर्षासु दोषैर्दुष्यन्ति तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे ॥ ४२ ॥
सतुषारेण मरुता सहसा शीतलेन च ।
भूबाष्पेणाम्लपाकेन मलिनेन च वारिणा ॥ ४३ ॥
वह्निनैव च मन्देन, तेष्वित्यन्योन्यदूषिषु ।
भजेत्साधारणं सर्वमूष्मणस्तेजनं च यत् ॥ ४४ ॥

स०—आदानमुक्तम् । तेनादानाख्येन कालेन ग्लानं सक्लमं वपुः शरीरं येषां पुरुषाणां त आदानग्लानवपुषस्तेषामपचितधातूनामग्निरप्यपचितः सन्नो मंदः सन् पुनर्वर्षासु सीदति हानिं याति । अपिशब्दः पुनरर्थे । अनेकार्थत्वान्निपातानाम् । वर्षास्विति नित्यबहुत्वाद्बहुवचनम् । केन सीदतीत्याह । कालस्वभावाद्दोषैर्वातपित्तश्लेष्मभिर्दुष्टैरित्यनुक्तमप्यर्थाद्गम्यते । यतोऽग्निसादहेतुत्वमदुष्टानां तेषां न संभवति । तस्माद्दुष्टैर्दोषैरग्निः सीदतीत्यर्थाल्लभ्यते । ते दोषा दुष्यंति । कदा अंबरे वियत्यंबुलंबांबुदेऽबुना लंबा अतिनिर्भरत्वादंबुलंबा ईदृशा अंबुदा मेघा यस्मिन्नेवंविधे । अनेन च विशेषणेनास्य कालस्य स्वरूपमुपलक्षयंत्याचार्याः यदैवंविधो वर्षाकालः संपद्यते तदैवैते दोषा दुष्यंति स्वकर्मण्ययोग्याः संपद्यंते न वर्षाकालमात्रेऽनासादितस्वरूपे । तथा सतुषारेण सजलकणेन मरुता पवनेन सहसा ग्रीष्मतापसंतापानंतरमेव शीतले नाभ्यंतरो वायुर्दुष्यति । तथा भुवो बाष्प ऊष्मा भूबाष्पस्तेन । तथा कालस्वाभाव्यादम्लपाकेन वारिणा पित्तं दुष्यति । तथा मलिनेन वारिणा लूतादितन्तुविण्मूत्रेत्यादिकलुषेण वर्षाजलेन कालस्वाभाव्याच्चातिशयेन मंदत्वं गतेनाग्निना श्लेष्मा दुष्यति । तदैतदेवमस्मिन्काले वातपित्तश्लेष्माणो युगपत्कालस्वाभाव्याद्दुष्यंति । नन्विह त्रयाणामपि दोषाणां कोपोऽनुज्ञायते । वक्ष्यति तु । चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिष्विति । तदिमे वचसी परस्परं व्याघ्नाते । अत्रोच्यते । नानयोर्वाक्ययोर्मिथो विरोधः संभाव्यते । यस्मादिह दुष्यंतीत्युक्त्या स्वस्था एव दुष्टिं प्राप्ता विषादिस्पृष्टद्रव्यवत्कार्यंकरणेऽसमर्था जायंते इत्युक्तम् । चयप्रकोपप्रशमा इत्यत्र च प्रकर्षेण कोपः स्थानांतरगतिलक्षणो गदितः । तदेवमस्मिन् काले वायोः कदाचिद् दुष्टत्वं स्यात् कदाचित्कोपश्चेति वचनाभ्यामेताभ्यां प्रत्यपादि । पित्तश्लेष्मणोस्तु दुष्टत्वमात्रमेवेति न किंचिदत्रासमंजसम् । इति प्रकारे । अन्योन्यं दूषयितुं शीलं येषां वातादीनां त एवं तेष्वनेन प्रकारेण परस्परं दूषणस्वभावेषु सत्सु भजेत् । साधारणं सर्वं यत्किंचिद्वातादीनां युगपत् प्रशमनं तत्सर्वं सेवेत । यच्चोष्मणो जाठराग्नेस्तेजनमुद्दीपनं तद्भजेत् । उष्मणस्तेजनस्यात्र च शब्दयुक्तस्योपादानं प्राधान्यख्यापनार्थम् । अग्निर्हि सर्वभावानां प्रधानम् । तथा च वक्ष्यति । शांतेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः । रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यत इति । तस्मादग्न्युत्तेजनार्थं यत्नः कार्यं इति भावः भजेदिति क्रियापदं दीपकत्वाद्भोजनं त्वतिदुर्दिन इति यावत्सर्वेषु योज्यम् ॥ ४२-४४ ॥

वर्षाऋतुचर्या—

वि०—वर्षाचर्या—आदान काल होने से अपचित धातुवाले शरीरों में पहले से ही मन्द अग्नि दूषित वातादि दोषों से और भी मन्द हो जाती है, क्योंकि वर्षाकाल में जब आकाश पानी में भरे बादलों से घिरा होता है, तब तुषारमिश्रित शीतल वायु के एकदम से चलने के कारण, पृथ्वी के बाष्प से, अम्लपाक वाले और मलिन पानी से, तथा काल स्वभाव के कारण मन्दवह्नि से, कफ के दूषित होने से; वातादि दोष एक दूसरे को दूषित करने लगते हैं; उस समय साधारण विधि अर्थात् मध्य रूप में तथा जो वस्तु अग्नि को प्रदीप्त करने वाली हो उसका सेवन करे ॥ ४२-४४ ॥

वक्तव्य—चरक में कहा है—'भूबाष्पान्मेघनिष्यन्दात् पाकादम्लाज्जलस्य च । वर्षास्वग्निबले हीने कुप्यन्ति पवनादयः ॥' अग्नि के मन्द होने से तीनों दोष कुपित होते हैं; इसी से कहा है—'शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरञ्जीवत्यनामयः । रोगी स्याद विकृते; मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥' इस ऋतु में तुषारमिश्रित शीतल वायु से वायु; पृथ्वी के बाष्प तथा पानी के अम्लपाक से पित्त और वह्नि के मन्द होने से कफ दूषित होते हैं; इसलिये साधारण विधि बरते—जो सर्वथा अनुकूल हो ।

किं तत्साधारणमिति तदुदाहरणार्थमाह—

आस्थापनं शुद्धतनुर्जीर्णं धान्यं रसान् कृतान् ।
जाङ्गलं पिशितं यूषान् मध्वरिष्टं चिरन्तनम् ॥ ४५ ॥
मस्तु सौवर्चलाढ्यं वा पञ्चकोलावचूर्णितम् ।
दिव्यं कौपं शृतं चाम्भो भोजनं त्वतिदुर्दिने ॥ ४६ ॥
व्यक्ताम्ललवणस्नेहं संशुष्कं क्षौद्रवल्लघु ।

स०—शुद्धा तनुर्यस्य स एवं भूतः कृतविरेकादिः सन्नास्थापनं निरूहं भजेत् । तथा जीर्णं धान्यं पुराणयवगोधूमादिकम् । तथा रसान् मांसरसान् । किंभूतान् । कृतान् स्नेहशुंठ्यादियुतान् । तथा जांगलं पिशितं हरिणैणादिकं मांसम्।

तथा यूषान् मुद्गदाडिमादिकृतान्। तथा मधु मार्द्वीकमरिष्टं द्वयमप्येतच्चिरंतनं पुराणं नतु नवमग्निमांद्यभयात्। मस्तु सौवर्चलाढ्यमच्छलवणसंयुक्तम् । वेति समुच्चये । किंभूतं मस्तु । 'पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागराः' पंचकोलं तेनावचूर्णितम् । तथा दिव्यमाकाशजं तथा कौपं तथा श्रृतं क्वथितं चांभः पिबेत्। चः समुच्चये । दिवि भवं दिव्यम्। दिगादित्वाद्यत् । कूपे भवं कौपम् । प्राग्दीव्यतोऽण्। अतिदुर्दिने वातवर्षाकुलेऽहनि व्यक्ताः प्रधाना अम्ललवणस्नेहा यत्र तद्भोजनं भजेत्। तथा संशुष्कं शुष्कप्रायम्। तथा क्षौद्रवत्समाक्षिकम्। तथा लघु। ननु वातलं मध्विति। वक्ष्यति। पवनश्चात्र कुप्यतीत्युक्तम्। अतो माक्षिकस्यात्रोपयोगो न युक्तः। अत्रोच्यते। देहधातवोऽस्मिन् काले क्लेदमुपयांति। ततश्च क्लेदसंरक्षण एवोपक्षीणप्रभावत्वान्मधु मरुत्कोपं विधातुमसमर्थम्। तस्मान्मधूपयोगो न्याय्य एव ॥ ४५-४६ ॥

वर्षा ऋतु की भोजनादि व्यवस्था—

वि०—साधारण उपचार—वमन, विरेचन आदि से शरीर का शोधन करके आस्थापन वस्ति लेवे। पुरातन धान्य (जौ, गेहूँ आदि), स्नेह, शुण्ठी आदि से संस्कृत मांसरसों को; जांगल पशुओं का मांस; मूंग आदि के यूष, मधु, पुरातन अरिष्ट; एवं प्रचुर सौवर्चल नमक मिश्रित अथवा पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल; चव्य, चित्रक और सोंठ) से मिश्रित मस्तु (दही का पानी) पिये। आकाश-वर्षा का पानी, या कुएँ का पकाया जल पिये। (वायु और वर्षा वाले) अति दुर्दिन में स्पष्ट अम्ल, लवण एवं स्नेहयुक्त, शुष्कप्राय भोजन में मधु मिला कर खाये तथा लघु भोजन करे ॥ ४५-४६ ॥

वक्तव्य—वर्षा ऋतु में योगवाही होने से, मधु उत्तम है; यथा—'वातलं वातकोपेऽपि वर्षासु मधु शस्यते ॥'

अथाऽत्र काले यादृशः पुरुषः स्यात्तं दर्शयति—

अपादचारी सुरभिः सततं धूपिताम्बरः ॥ ४७ ॥
हर्म्यपृष्ठे वसेद्बाष्पशीतशीकरवर्जिते ।

स०—पादाभ्यां चरति नित्यं पादचारी नैव यः सोऽपादचारी यानयायी स्यात्। तथा सुरभिः शोभनगंधयोगात्। स्नानशीलः ससुरभिरित्यनेनैवास्योक्तत्वात्सुरभिग्रहणमतिशयार्थम्। तथा सततमविरतं धूपितेऽम्बरे यस्य स एवम्। तथा हर्म्यपृष्ठे धवलगृहतले वसेत् तिष्ठेत्। कीदृशे। बाष्पश्च शीतं च शीकरश्च तैर्वर्जिते ॥ ४७ ॥

वर्षा ऋतु में विशेष नियम—

वि०—वर्षा ऋतु में मनुष्य पैदल न चले, अपितु घोड़े आदि सवारी से यात्रा करे; सुरभि गन्ध धारण करे और नित्यप्रति वस्त्रों को धूप देवे। मकान के उपरी तल्ले पर जहाँ बाष्प, शीत और शीकर (जलकण) न पहुँच सकें; वहाँ रहे ॥ ४७ ॥

नदीजलोदमन्थाहःस्वप्नायासातपांस्त्यजेत् ॥ ४८ ॥

स०—तथा नदीजलादीन्पंच त्यजेत्। उदकालोडिता सक्तवः ससर्पिष्का उदमंथवाच्या जलावचारीसंज्ञाः। तदत्र काले सात्म्यत्वात्सक्तवस्तक्रादिसंयोगाच्चात्यंतमनिष्टाः। पानीयसंयोगात्तु वातला प्रकृष्टवातले काले नाभीष्टा एव। मुनिना त्वेवमुक्तम्। उदमंथं दिवास्वप्नमवश्यायं नदीजलम्। व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेदिति ॥ ४८ ॥

वि०—अपथ्य—नदी का जल; उदमन्थ (पानी में घोले सत्तू); दिन में सोना; परिश्रम और धूप से बचे ॥ ४८ ॥

वक्तव्य—चरक में भी कहा है—'उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्यायं नदीजलम्। व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत्'।

अधुना शरच्चर्यां विवक्षुराह—

वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः ।
तप्तानां सञ्चितं वृष्टौ पित्तं शरदि कुप्यति ॥ ४९ ॥
तज्जयाय घृतं तिक्तं विरेको रक्तमोक्षणम् ।

स०—वर्षासु शीतं वर्षाशीतं वर्षाशीतमुचितं सात्म्यं यस्य तदेवंविधमंगं वपुर्येषां ते वर्षाशीतोचितांगा नरास्तेषा सहसैव झटित्येव शरदि जातायामर्करश्मिभिर्भानुभाभिस्तप्तानां सतां पित्तं कुप्यति। किंभूतम्। वृष्टौ संचितं वर्षासु वृद्धिं गतम्। यतश्चैवं ततश्च तज्जयाय तिक्तं घृतं कुष्ठचिकित्सितोक्तं योज्यमिति वाक्यशेषः। यदि वा तिक्तैर्द्रव्यैः साधितम्। तथा विरेको योज्यः' तथा रक्तमोक्षणं च सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते विरेकस्य ज्यायस्त्वादिह पूर्वमुपन्यासः। तथा ह्याह। विरेचनं पित्तहराणामिति । ततो रक्तमोक्षणं पित्ताधारत्वाद्रक्तस्य। विरेचनांगत्वाच्च तज्जयाय घृतं तिक्तमिति घृतस्य पूर्वमुपन्यासः न ह्यस्निग्धस्य विरेचनप्राप्तिरस्ति। तथा च वक्ष्यति। स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्स्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः। दारु शुष्कमिवानामे शरीरं तस्य दीर्यंत इति। तथा विरिक्तस्य स्रुतरक्तस्य च पवनप्रकोपभयम्। कालस्वाभाव्याच्च पित्तकोपभयम्। तदेतत्परिहर्तुं। तथा पुष्ट्यर्थमग्निसंधुक्षणार्थं च तिक्तघृतोपयोगः कार्यः। इत्यनेन कार्यकारणत्वेन प्राधान्याच्च तिक्तघृतस्य पूर्वमुपन्यासः। असमासकरणं च ज्ञापनार्थम्। नैतानि सर्वाण्यवश्यं तिक्तघृतादीनि तदा कार्याणि। किं तर्हि देशाद्यनुरोधात्कदाचित्पित्तविजयाय तिक्तं घृतं कदाचिद्विरेकः कदाचिद्रक्तमोक्षः कदाचिद् द्वयं कदाचित्सकलान्येवेति। विरेकस्तु पित्तविजयार्थमवश्यं शरदि कार्यः। तथा वसंते श्लेष्मविजयाय वमनम्। वर्षासु च पवनविजयाय वस्तिः। अत एव प्राङ्निर्दिष्टं वसंते च वमनं वर्षासु चास्थापनं शरदि विरेक इति ॥ ४९ ॥

शरद् ऋतुचर्या—

वि०—शरद्चर्या—वर्षाकालीन शीत जिनके अङ्गों को सात्म्य बन गया है; ऐसे पुरुषों में-सूर्य की किरणों से सहसा ही गरम होने पर वर्षा में सञ्चित पित्त शरद् ऋतु में कुपित हो जाता है। इस पित्त को शान्त करने के लिये, तिक्त घृत; विरेचन और रक्तमोक्षण करना चाहिये ॥ ४९ ॥

शरद् में भोजनादि व्यवस्था—

तिक्तं स्वादु कषायं च क्षुधितोऽन्नं भजेल्लघु ॥ ५० ॥
शालिमुद्गसिताधात्रीपटोलमधुजाङ्गलम् ।

स०—क्षुधितोऽन्नं भोजनं तिक्तादिगुणयुक्तं भजेत्। क्षुधितग्रहणमतिबुभुक्षितप्रतिपादनार्थम् । अक्षुधितस्य भोजनाधिकाराभावात् । किं तत्तिक्तादिगुणयुक्तमित्याह । शालीत्यादि । शाल्यादीन् सप्त भजेत् ॥ ५० ॥

वि०—भूख लगने पर तिक्त, मधुर, कषाय रस वाले, (पित्त-शामक), शालि, मूंग, चीनी, आँवला, परवल, मधु और जांगल मांस आदि लघु अन्न का भोजन करे ॥ ५० ॥

शरद् में हंसोदक का प्राशस्त्य—

तप्तं तप्तांशुकिरणैः शीतं शीतांशुरश्मिभिः ॥ ५१ ॥
समन्तादप्यहोरात्रमगस्त्योदयनिर्विषम् ।
शुचि हंसोदकं नाम निर्मलं मलजिज्जलम् ॥ ५२ ॥
नाभिष्यन्दि न वा रूक्षं पानादिष्वमृतोपमम् ।

स०—समंतात्सर्वतः सूर्यप्रभाभिरहनि तप्तं क्वथितं च चंद्रकिरणैर्निशि शीतीकृतम् । तथा अगस्त्योदयेन निर्विषीकृतम् । तथा शुचि पवित्रम् । वर्षासु ह्यशुचीत्युक्तम् । तच्च हंसोपभोग्यतया हंसवदतिनैर्मल्याद्धंसोदकं नाम तंत्रकारैरायुर्वेदशास्त्रे संज्ञितम् । तथा निर्मलमकलुषम् । तथाऽमलत्वात् पित्तश्लेष्माणौ जयतीति मलजित् । अगस्त्योदयनिर्विषशब्देन विशेषणेनैतत्प्रतिपादयति । तथा यदंतरिक्षप्रभवं सरस्तडागादिस्थं जलं तदेव प्रायेण शरद्येवंगुणं वेद्यं न कूपादिप्रभवम् । तस्य सदा निर्विषत्वात् । तथा चांतरिक्षप्रभवमेव पठ्यते । लूतादितन्तुविण्मूत्रविषं संश्लेषदूषितमिति । तच्च नाभिष्यंदि न स्रुतिरूपश्लेष्मकारि नवा रूक्षं न वातप्रकोपकारि । वाशब्दश्चशब्दस्यार्थेऽत्र । यतस्तप्तांशुकिरणैस्तप्तम् । यतश्च शीतांशुतारकाकरैः शीतं प्रह्लादितमित्थं स्नेहरौक्ष्ययोरंतरे । वर्तमानं पानादिष्वमृतोपमम् । आदिशब्देन स्नानावगाहयोर्ग्रहः । कुपितदोषशमनादकुपितदोषसाम्यानुवृत्तिहेतुत्वाच्चामृततुल्यमेतज्जलं भजेदित्यर्थः । अत्रोष्णांशुग्रहणमग्नितापनिवृत्त्यै । किरणग्रहणं साक्षात्तत्स्पर्शसंभावनार्थम् । दवपलाशादिभिरास्तृतमपि रविस्तापयति न तु तत्तथा गुणवत् । अतः किरणग्रहणेन तद्व्यवधानव्युदासं करोति । न च सर्वं दिनं सूर्यकिरणैस्तापः संभवति । चंद्रकरैस्तु सर्वां रात्रिं कथमिव स्यात् । यतः सकलचंद्रमसः पौर्णमास्यामेव सर्वस्यां रात्र्यां संभवो नान्यत्र । तस्माच्छीतं चंद्रकिरणै रात्र्यामिति नैतद्युक्तम् । अत्रोच्यते । विमले व्योमनि यथैव रविचंद्रौ यथाकालमव्याहतस्वरूपप्राप्तौ पथ्यतां जलस्यापादयतस्तद्वन्नक्षत्राण्यपि । तस्मान्नक्षत्रैरपि शीतं चंद्रेणेव श्रेष्ठमेव भवत्युदकम् । एवं च तदेवमवगच्छ । अन्यथैतद्वाक्यमयुक्तमिव स्यात् । चरकमुनिनाप्यनेनैवाऽभिप्रायेण नक्षत्रग्रहणं नाकारि । यथा 'दिवा सूर्यांशुसंतप्तं निशि चंद्रांशुशीतलम् ।' इति । अष्टांगसंग्रहेऽप्युक्तम् । दिवा दिवाकरकरैर्निशाकरकरैर्निशीति । अत्र सकलस्याहोरात्रस्य रविशशियोगाय दिवानिशाग्रहणमन्यथैतदनर्थकं स्याद्व्यभिचाराभावात् ॥ ५१-५२ ॥

वि०—सम्पूर्ण रूप से दिन में सूर्य की किरणों से गरम और रात में चन्द्रमा की किरणों से शीतल हुआ, अगस्त्य के उदय से निर्विष बना; पवित्रजल हंसोदक है । यह मलरहित; वातादि मल को जीतने वाला होता है; (यह जल हंस के समान श्वेत-निर्मल होता है) । यह हंसोदक न तो अभिष्यन्द करता है, और न रूक्ष है; पीने आदि कार्यों में अमृत के समान है ।

वक्तव्य—शीतांशु शब्द रात्रि की ज्योत्स्ना का उपलक्षण मात्र है; इससे अमावास्या में भी हंसोदक रहेगा, क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा के समान दूसरे नक्षत्रों का भी प्रभाव पड़ता है।

चन्दनोशीरकर्पूरमुक्तास्रग्वसनोज्ज्वलः ॥ ५३ ॥
सौधेषु सौधधवलां चन्द्रिकां रजनीमुखे ।

स०—चंदनं चोशीरं च कर्पूरश्च मुक्ताश्च स्रजश्च वसनानि च तैरुज्ज्वलः शोभनः सन् सौधेषु धवलगृहपृष्ठेषु चंद्रिकां ज्योत्स्नां भजेत् । कदा । रजनीमुखे प्रदोषे । परतस्तु निदाघ इव न सेव्या अवश्यायभयात् । अवश्यायो ह्यत्र परिहार्यः ॥ ५३ ॥

शारदीय सन्ध्या सेवन विधि—

वि०—रात्रि के प्रथम प्रहर में ही चन्दन, खस, कर्पूर, मोती की माला तथा श्वेत वस्त्रों से उज्ज्वल बनकर प्रासाद की छत पर श्वेत चन्द्रिका का सेवन करे ॥ ५३ ॥

वक्तव्य—रात्रि के प्रथम भाग में ही चन्द्रिका का उपयोग करे; ग्रीष्म की भाँति सारी रात न बैठे, ओस के भय से।

व्यासेन ऋतुचर्यामुक्त्वा समासेनाह—

तुषारक्षारसौहित्यदधितैलवसाऽऽतपान् ॥ ५४ ॥
तीक्ष्णमद्यदिवास्वप्नपुरोवातान् परित्यजेत् ।

तथा चाह—

स०—तुषारादीन् दश परित्यजेत् । तुषारोऽवश्यायः । क्षारो यवक्षारादिः । सौहित्यं तृप्तिः । तीक्ष्णं च तन्मद्यं च तीक्ष्णमद्यम् । पुरोवातः पूर्वदिग्गतो वातः ॥ ५४ ॥

शरद् में वर्ज्य वस्तु—

वि० अपथ्य—ओस, यवक्षार आदि क्षार, पेट भर कर खाना, दही, तैल, वसा, धूप, तीक्ष्ण, मद्य, दिन में सोना और पूर्व दिशा की वायु इन से बचे ॥ ५४ ॥

शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् वसन्तेऽन्त्यान् रसान्भजेत् ॥५५
स्वादुं निदाघे, शरदि स्वादुतिक्तकषायकान् ।
शरद्वसन्तयो रूक्षं शीतं घर्मघनान्तयोः ॥ ५६ ॥
अन्नपानं समासेन विपरीतमतोऽन्यदा ।

स०—शीते हेमन्तशिशिरयोर्वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् स्वाद्वम्ललवणाख्यान् रसान् भजेत् । वसन्ते चांत्यांस्त्रीन् तिक्तकटुकषायान्भजेत् । स्वादुं निदाघे, ग्रीष्मे मधुरं भजेत् । शरदि स्वादुतिक्तकषायान्भजेत् । शरद्वसंतयो रूक्षमन्नपा समासेन भजेत् । अतो विपरीतं स्निग्धमन्यदा हेमन्तशिशिरग्रीष्मवर्षासु । शीतमन्नपानं घर्मघनांतयोर्भजेत् । अतो विप

शीतमुष्णमन्नपानमन्यदा हेमन्तशिशिरवर्षावसंताख्ये काले भजेत् ॥ ५५-५६ ॥

संक्षिप्त षट् ऋतुचर्या—

वि०—शीत ऋतु (हेमन्त और शिशिर) और वर्षा में-मधुर-अम्ल-लवण-इन तीन रसों का सेवन करे। वसन्त में पिछले तीन अर्थात् तिक्त-कटु-कषाय रसों का सेवन करे। ग्रीष्म ऋतु में मधुर रस का तथा शरद् ऋतु में-मधुर, तिक्त और कषाय रस का सेवन करे। शरद एवं वसन्त में रूक्ष खान-पान का सेवन करे, और शेष-ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर और हेमन्त में स्निग्ध भोजन का सेवन करे। ग्रीष्म और शरद ऋतु में शीतल खान-पान लेना चाहिये; और वर्षा, वसन्त, हेमन्त, शिशिर में उष्ण खान-पान बरतना चाहिये। यह संक्षेप से विभिन्न ऋतुओं में अन्नपान का विधान है ॥ ५५-५६ ॥

संप्रति सेव्यत्वेनोपदिष्टस्याहारस्यापवादमाह—

नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ ॥ ५७ ॥

स०—नित्यं सर्वदा सर्वेषां षण्णामपि रसानामभ्यासः शीलनं कार्यमिति वाक्यशेषः। सर्वरसाभ्यासो बलकारणमिति वचनात्। नन्वेवं सति यथर्तुसेव्यत्वेन रसनियमो यः पूर्वं कृतः स विरुद्धो नेत्याह—स्वस्वेत्यादि। ऋतावृताविति वीप्सायां द्वित्वम्। स्वं च स्वं च स्वस्वं तस्याधिक्यं भूयस्त्वं कार्यमिति शेषः। यथा शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीनित्युक्तम्। तदेतेषु ऋतुष्वेते रसा भूयसोपयोक्तव्याः। नत्वेत एवेत्यर्थः। तथा समधातुं प्रति समे देशे वैषम्यनियमो वेद्यः। अन्यत्र तु जांगलेऽनूपे देशे विषमधातोश्च धातुसाम्योत्पादनार्थं देशदेहानुगुणमन्यर्तुविधानमन्यस्मिन्नप्यृतावनुष्ठेयमेव ॥ ५७ ॥

वि०—सब ऋतुओं में सब रसों का अभ्यास (सेवन) करना चाहिये; परन्तु प्रत्येक ऋतु में उस ऋतु के अपने-अपने रस को अधिक मात्रा में सेवन करना चाहिये ॥ ५७ ॥

वक्तव्य—इसी से चरक में कहा है—'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम् ।' इसलिये सब ऋतुओं में सब रसों का अभ्यास करना चाहिये।

किमन्यस्मिन्नृतौ प्राप्ते पूर्वर्तुचर्या सहसैव त्याज्याऽन्या च सेव्या नेत्याह—

ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात् ॥५८॥
असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात्।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने ऋतुचर्या
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

स०—ऋत्वोः शिशिरवसंतयोर्ग्रीष्मप्रावृषोरित्यादिकयोरंत्यश्चादिश्च यौ सप्ताहौ तावृतुसन्धिरिति स्मृत उच्यते। तत्र सप्ताहद्वयलक्षणे ऋतुसन्धौ पूर्वः पूर्वर्तुसम्बन्धी विधिस्त्याज्यः। अपर एष्यदृतुसम्बन्धी सेवनीयः। कथम्। क्रमात्क्रमेण पादेनापथ्यमभ्यस्तमित्यादिना। सप्तानामह्नां समाहारः सप्ताहः। सप्ताहश्च सप्ताहश्च सप्ताहौ। "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति टच् समासांतः। "न संख्यादेः समाहारे" इत्यह्नादेशनिषेधः। यत्सहसा त्यागशीलनादसात्म्यादनुचिताज्जाता असात्म्यजा रोगाः स्युः। ततः सहसा त्यागशीलनं न कार्यमिति शेषः ॥ ५८$\frac{1}{2}$ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां
तृतीयोऽध्यायः संपूर्णः ॥ ३ ॥

ऋतु-संधि—

वि०—ऋतुसन्धि—वर्त्तमान ऋतु का अन्तिम सप्ताह और अग्रिम ऋतु का प्रथम सप्ताह—ये चौदह दिन ऋतुसन्धि कहे जाते हैं। इनमें पूर्व ऋतु की विधि क्रमशः छोड़नी चाहिये, और आने वाली ऋतु की विधि क्रमशः ग्रहण करनी चाहिये। सहसा विधि को छोड़ने से असात्म्यजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ५८$\frac{1}{2}$ ॥

वक्तव्य—क्रम अर्थात्-'प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत्।' अर्थात्-ऋतुसन्धि से प्रथम दिन पूर्व आहार के तीन पाद और उत्तरीय आहार का एक पाद। दूसरे दिन पहला ही आहार करे। तीसरे दिन पहले दिन की भांति। चौथे दिन पूर्व आहार के दो पाद और उत्तरीय आहार के दो पाद। पांचवें, छठे दिन भी प्रथम दिन की भांति। सातवें दिन चौथे दिन की तरह। आठवें दिन पूर्व आहार का एक भाग और उत्तरीय आहार के तीन भाग। नवम-दशम-एकादश दिन में चौथे दिन की भांति। बारहवें दिन-आठवें दिन की भांति। तेरहवें दिन अग्रिम ऋतु का सम्पूर्ण आहार। चौदहवें दिन आठवें दिन का आहार-उसके आगे अग्रिम ऋतु का ही आहार करे। इसका लाभ-'क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः। सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च ॥'

सुश्रुत में दिन-रात में भी ऋतु के लक्षण माने हैं। यथा-'तत्र पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गम्, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकम्, शारदमर्धरात्रे, 'प्रत्यूषसि हेमन्तमुपलक्षयेत्।' वस्तुतः यह वर्णन औपचारिक एवं स्वल्पकालिक है अतः पूर्वोक्तऋतुओं में वर्णित दोषसंचय आदि से विरोध नहीं समझना चाहिए। इसका उल्लेख इस ग्रन्थ में भी संक्षेप में किया जा चुका है। (पृ. ४ श्लो. ८)

असात्म्यज—जो अभ्यास के विपरीत सेवन से उत्पन्न होते हैं; जिसे पानी लगना या ऋतु-परिवर्त्तनजन्य कहते हैं यथा ग्रीष्म ऋतु का अतिसार।[1]

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का ऋतुचर्या
नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

---

[1] सात्म्य का अर्थ है जो अपने अनुकूल हो—'सात्म्यं नाम तद्यदात्मन्युपशेते' तथा जो प्रतिकूल होता है उसे 'असात्म्य

चतुर्थोऽध्यायः

स्वस्थवृत्तिप्रवृत्तस्य वेगाधारणशीलस्य च स्वास्थ्यसंभवः। अतो वेगधारणप्रतिषेधेन या रोगानुत्पत्तिस्तामधिकृत्याध्याय आरभ्यते—

अथातो रोगानुत्पादनीयाध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—व्याख्याऽत्र प्रथमाध्यायवद्बोद्धव्या। रोगाणामनुत्पादोऽनुत्पादनं तस्मै हितो रोगानुत्पादनीयः। उपदर्शनमिदं निदर्शनाख्यम्। तंत्रयुक्त्या चोत्पन्नरोगोपशमप्रदर्शनाद्रोगोपशमनीयोऽपि वातादिरोधोत्थानां रोगाणामुपशमस्याप्युपदेशात्। तथा च वक्ष्यति—"अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेष प्रदर्शितः। निजागंतुविकाराणामुत्पन्नानां च शांतये ॥" इति ॥

अब इसके आगे रोगानुत्पादनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।[1]

वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम्।
निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाऽश्रुच्छर्दिरेतसाम् ॥ १ ॥

स०—वातादीनां वेगान्न धारयेत्। सर्वत्र द्वंद्वसमासः। क्षवश्छिक्का। श्रमेण श्वासः श्रमश्वासः ॥ १ ॥

वेगावरोधन निषेध—

वि०—मनुष्य-वात (ऊर्ध्ववात एवं अधोवात), पुरीष, मूत्र, छींक, प्यास; भूख, निद्रा, कास, श्रमजनित श्वास, जम्भाई, अश्रु, वमन और शुक्र-इन तेरह वस्तुओं के उपस्थित (बहिर्गमनोन्मुख) वेगों को न रोके ॥ १ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में 'अधश्चोर्ध्वं च भावानां प्रवृत्तानां स्वभावतः न वेगान् धारयेत् प्राज्ञो वातादीनां जिजीविषुः ॥ वातविण्मूत्रजृम्भाऽश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः। व्याहन्यमानैरुदितैरुदावर्त्तो निरुच्यते ॥' अश्रु—चाहे आनन्द के हों और चाहे शोकजन्य हों।

वातस्य प्राधान्यात्तद्रोधजान्रोगान् पूर्वं निदर्शयन्नाह—

अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्तरुक्क्लमाः।
वातमूत्रशकृत्सङ्गदृष्ट्यग्निवधहृद्गदाः ॥ २ ॥

स०—अधोवातस्य रोधेन गुल्मादयो जायंते। ऊर्ध्ववातस्योद्गाररूपस्य रोधात् सुखसाध्या अरुच्यादयः। अत एवाधोवातरोधाद्ये रोगा अतिप्रत्यपायरूपा गुल्मादयोऽत्र ते पूर्वं निर्दिष्टाः। उदावर्तोऽर्शोनिदाने वक्ष्यते। रुक् पीडा। क्लमो ग्लानिः। वातमूत्रशकृत्सङ्गो वातादीनामप्रवृत्तिः। दृष्टेरग्नेश्च वधो नाशः। हृद्गदो हृद्रोगः ॥ २ ॥

अधोवायु के अवरोध से रोग—

वि०—अधोवायु के रोकने से गुल्म, उदावर्त्त, कोष्ठशूल, क्लम (ग्लानि), वात (अपान वायु), मूत्र और मल का अवरोध, दृष्टिवध (दृष्टि-दौर्बल्य), अग्निनाश और हृदय के रोग होते हैं ॥ २ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में—शिरोरुजा, श्वास, हिक्का, कास, प्रतिश्याय, गलग्रह; कफ-पित्त का प्रसार तथा मुख से मल का आना-ये लक्षण अधिक दिये हैं।

[स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च।
पानानि वस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम्][1] ॥

स०—तत्र वातोत्थे विकारे स्नेहः कर्तव्यः, स्वेदः कर्तव्यः। फलवर्तयः कार्याः। वातहराणि भोजनानि कार्याणि। पानानि सुखोष्णोदकपानानि कार्याणि। वस्तयश्च कार्याः। यत्किंचिद्वातानुलोमनं तच्छस्तम्।

वि०—[वातजन्य विकार होने पर स्नेहन तथा स्वेदन विधि करना चाहिये एवम् फलवर्त्ति; वातनाशक भोजन, किञ्चित् गर्म जल का पान, वस्ति-कर्म तथा जो भी वात का अनुलोमन करने में योग्य हों उन सबों का प्रयोग करना उचित है।]

शकृतः पिण्डिकोद्वेष्टप्रतिश्यायशिरोरुजः।
ऊर्ध्ववायुः परीकर्तो हृदयस्योपरोधनम् ॥ ३ ॥
मुखेन विट्प्रवृत्तिश्च पूर्वोक्ताश्चामयाः स्मृताः।

स०—शकृतो रोधेन पिंडिकोद्वेष्टादयो जायन्ते। उद्वेष्टनमिवोद्वेष्टः। पिंडिकयोरुद्वेष्टः पिंडिकोद्वेष्टः। पिंडिका जंघाकाण्डस्य पश्चिमे भागे पिंडाकृति कठिनं मांसम्। तत्रोद्वेष्टनेनेव रुग्भवतीत्यर्थः। प्रतिश्यायः पीनसः। चः समुच्चये। न केवलमेत एव यावत्पूर्वोक्ता गुल्मादयश्च स्मृताः ॥ ३ ॥

पुरीष वेग को रोकने से रोग—

वि०—पुरीष के वेग को रोकने से-पिण्डलियों में ऐंठन, प्रतिश्याय, शिरदर्द, वायु का ऊपर को जाना, परिकर्त्तिका

कहते हैं। चरक आदि आचार्यों ने ऋतुसात्म्य, देशसात्म्य, व्याधिसात्म्य, जातिसात्म्य, प्रकृतिसात्म्य और अभ्याससात्म्य तथा उनके विपरीत उतने ही असात्म्यों का भी वर्णन किया है। यहाँ प्रसंगात अभ्यासासात्म्य ही अपेक्षित है।

[1] वस्तुतः यह भी स्वस्थवृत्ताध्याय ही है। दूसरे और तीसरे अध्याय में नियतकालीन विहार से सम्बन्ध रखने वाले स्वस्थवृत्त का वर्णन कर अब इस अध्याय में अनियतकालिक विहार का वर्णन करेंगे। यह अनियतकालिक विहार पाँच प्रकार का होता है :—(१) वेगधारण, (२) वेगोदीरण, (३) शोधन, (४) बृंहण, (५) भूतादि का स्पर्श न करना। इन पाँचों के उचित त्याग और उपयोग से रोगों की उत्पत्ति नहीं होती एवं अनुचित रूप में सेवन करने से हानि या रोग की उत्पत्ति होती है। अतः स्वस्थ व्यक्तियों को इनका उपयोग या त्याग कब उचित या अनुचित है इसी का वर्णन इस अध्याय में होने से इसे रोगानुत्पादनीय अध्याय संज्ञा दी गयी है।

[1] अयं चरकोद्धृत (सू० अ० १३) पाठः क्वचिन्नोपलभ्यते।

(कर्त्तनवत् पीड़ा), हृदय का अवरोध: मुख से पुरीष का आना और पूर्वोक्त-वातरोधजन्य-गुल्म, उदावर्त्त आदि रोग होते हैं ॥ ३ ॥

अङ्गभङ्गाश्मरीवस्तिमेढ्रवङ्क्षणवेदनाः ॥ ४ ॥
मूत्रस्य रोधात्पूर्वे च प्रायो रोगाः—

स०—मूत्रस्य रोधादंगभंगादयो जायन्ते। अंगानां भंगः स्फोटनमिवांगभंगः। बस्त्यादीनां वेदनया सम्बन्धः। मेढ्ं शिश्नम्। पूर्वे च प्रायो रोगा अधोवातशकृद्रोधजास्तेऽपि मूत्रस्य रोधाज्जायन्ते, प्रायोग्रहणाद्वातादिरोधजाः केचिदेवोत्पद्यंते केचिन्नेति बोधयति ॥ ४ ॥

मूत्रवेग रोकने से रोग—

वि०—मूत्र के उपस्थित रोग को रोकने से-अंगों का टूटना, पथरी, बस्ति. मेहन (शिश्न) और वंक्षण में वेदना होती है। वात और मलरोधजन्य रोग भी प्रायः होते हैं ॥४॥

वक्तव्य—सुश्रुत में मूत्र कठिनाई से आना, मूत्र का थोड़ा आना, मुष्क में वेदना, नाभि प्रदेश तथा शिर में दर्द होना, वस्ति में आध्मान (फुलाव), तीव्र शूल जो कि शूल के चुभने के समान होता है; ये लक्षण अधिक हैं। वंक्षण से अभिप्राय मूत्राशय के पार्श्वों का प्रदेश है।

—तदौषधम्।
वर्त्यभ्यङ्गावगाहाश्च स्वेदनं वस्तिकर्म च ॥ ५ ॥

स० तदौषधं तेषां वातादिरोधजानां रोगाणामौषधं चिकित्सितं भवति। किं तदित्याह-वर्तिर्मदनफलादिकृता गलवर्तिसंज्ञा। अभ्यंगोऽभ्यंजनम्। अवगाहो वातहरद्रव्यसाधिते द्रवे द्रोण्यां निहिते पायुदेशस्यावस्थापनम्। स्वेदनं स्वेदः। वस्तिकर्म मलप्रवृत्तये वस्तिविधौ वक्ष्यमाणम् ॥ ५ ॥

वि०—इनकी चिकित्सा—वात, पुरीष और मूत्र के वेगावरोध से उत्पन्न दोषों की चिकित्सा फलवर्त्ति, अभ्यङ्ग, अवगाहन, स्वेदन और वस्ति कर्म है ॥ ५ ॥

वक्तव्य—वर्ति-फलवर्त्ति, यथा—'श्यामाफलादिभिः कुष्ठकृष्णालवणसर्षपैः। धूममाषवचाकिण्वक्षारचूर्णगुडैः कृताम् ॥ कराङ्गुष्ठनिभां वर्तिं यवमध्यां निधापयेत्। अभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे ॥' (चरक सि. अ. ७) अभ्यङ्ग—वातहर तैलों से यथा-प्रसारणी तैल या नारायण तैल; अवगाहन—तैल या गरम पानी में गोता लगाना या बैठना; स्वेदन-वातहर द्रव्यों से और वस्ति कर्म-मलप्रवृत्ति के लिये करे।

पुरीषरोधोत्थेष्वन्यमप्यसाधारणमुपक्रममाह—
अन्नपानं च विड्भेदि विड्रोधोत्थेषु यक्ष्मसु।

स०—पुरीषवेगधारणजेषु यक्ष्मसु रोगेषु विशः पुरीषस्य भेदि भेदकमन्नपानं यावकमस्तुवास्तुकादिकमौषधम्। चशब्दात्पूर्वोक्तं वर्त्यादि च।

मलवेग रोकने से उत्पन्न रोग का उपाय—

वि०—(विशेषतः) पुरीष रोधजन्य रोगों में पुरीष भेदी अन्न-पान देना चाहिये।

वक्तव्य—यव के बने पदार्थ, उड़द, बथुआ, कांजी आदि पुरीषभेदक कहे गए हैं।

मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्तं शस्यते घृतम् ॥ ६ ॥
जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम्।
अवपीडकमेतच्च संज्ञितम्—

स०—मूत्ररोधजेषु पुनः प्राग्भक्तं भक्तभोजनात्पूर्वं घृतं पाने शस्यते। जीर्णांतिकंघृतं च शस्यते। कथम्। उत्तमया मात्रयाऽहोरात्रजरणलक्षणया। योजनाद्वयमेतच्चावपीडकमुच्यते। योजनयोर्द्वयं योजनाद्वयं प्राग्भक्तस्नेहयोजना जीर्णांतिकस्नेहयोजना च। तत्र प्राग्भक्तं यत्र घृतपानसमनंतरं भक्तं भुज्यते। जीर्णांतिकं यत् ह्यस्तनेऽन्ये जीर्णे घृतं प्रयुज्यते। प्रदेशांतरेष्वपीडकशब्देन योजनाद्वयमेतदस्मिंस्तंत्रे वेद्यम्। तथा च वक्ष्यति। रसैः कोष्णैश्च सर्पिर्भिरवपीडकयोजितैः। तथाऽष्टांगावतारे मूत्रोदावर्तचिकित्सायाम्। अवपीडकसर्पिश्च विशेषान्मूत्रजे गद इति। ननु वेगधारणेन बाहुल्येन मरुत एव कोपः। तथा च वक्ष्यति। ततश्च नैकधा प्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति। पवनविजये च तैलं यथा वरं न तथा घृतमतस्तैलस्यैवावपीडकयोजनमत्रोचितं न सर्पिषः। अत्रोच्यते। तैलस्य वातजितोऽपि बद्धविट्काल्पमूत्रस्वभावत्वादत्रायोग्यं पानम्। तथा च। तैलं स्वयोनिवदित्यारभ्य यावद्बद्धविट्कमिति। स्वयोनिवदित्युक्तेश्चाल्पमूत्रत्वम्। तथा च वक्ष्यति। उष्णस्त्वच्यो हिमस्पर्शः केश्यो बल्यस्तिलो गुरुः। अल्पमूत्र इति। तदेवं तैलस्य बद्धविट्काल्पमूत्रस्वभावतया तदीयोऽवपीडको मूत्ररोधोत्थेषु रोगेष्वौषधत्वेन युक्तोऽपि न सर्पिष इव युक्तः ॥ ६ ॥

मूत्रवेग रोकने से उत्पन्न रोग का उपाय—

वि०—मूत्ररोध-जन्य रोगों में भोजन से पूर्व घृतपान करना प्रशस्त है, और रात्रि के भोजन के जीर्ण होने पर उत्तम मात्रा में घृत पान करायें; इन दोनों योजनाओं की अवपीडक संज्ञा है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—उत्तम मात्रा-स्नेह की जो मात्रा दिन-रात में जीर्ण होती है, वह उत्तम मात्रा है; घृत की इन दो योजनाओं का नाम अवपीडन है। भोजन से पूर्व अल्प मात्रा में देना यह एक योजना, और भोजन के जीर्ण होने पर उत्तम मात्रा में देना यह दूसरी योजना। इसीलिये आगे कहेंगे 'अवपीडकसर्पिश्च विशेषान्मूत्रजे गदे'। तैल वातशामक होने पर भी मल को बांधने वाला तथा मूत्र को कम करने वाला होने से इन रोगों में प्रशस्त नहीं है क्योंकि उसका गुण वही होता है जो उष्ण पदार्थ का जिससे तेल निकला हो 'तैलं स्वयोनिवत्' जैसा कि आगे कहेंगे—'उष्णस्त्वच्यो हिमः स्पर्शे केश्यो बल्यस्तिलो गुरुः। अल्पमूत्रः।' इसलिये घृतपान बताया है।

—धारणात्पुनः ॥ ७ ॥
उद्गारस्यारुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः।
आध्मानकासहिध्माश्च हिध्मावत्तत्र भेषजम् ॥ ८ ॥

स०—पुनरपि व्यतिरेके। उद्गारस्य धारणादरुच्यादयो भवन्ति। उरो वक्षस्तस्याधो हृदयं तयोर्विबंधो हृदयं तयोर्विबंधोऽतस्तंभ इव। तत्र तेषु रोगेषु हिध्मावद्भेषजम्। श्वासहिध्माचिकित्सिते हिध्मायाश्चिकित्सितं वक्ष्यति ॥७-८॥

डकार रोकने से रोग—

वि०—उद्गार (ऊर्ध्ववात) के रोकने से-अरुचि, कम्प, हृदय और छाती में रुकावट; आध्मान; कास और हिक्का होता है; इसमें हिक्का की तरह चिकित्सा करे ॥ ७-८ ॥

वक्तव्य—हिक्का की चिकित्सा-'यत्किंचित् कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्। भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने ॥' (च. चि अ. १८।१४७)

शिरोऽर्तीन्द्रियदौर्बल्यमन्यास्तम्भार्दितं क्षुतेः।
तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राणनावनार्कविलोकनैः ॥ ९ ॥
प्रवर्तयेत्क्षुतिं सक्तां स्नेहस्वेदौ च शीलयेत्।

स०—क्षुतेः क्षवथोर्धारणाच्छिरोऽर्त्यादयः स्युः। दुर्बलस्य भावो दौर्बल्यम्। गुणवचनेत्यादिना ष्यञ्। इन्द्रियाणां दर्शनादीनां दौर्बल्यं विषयग्रहणाशक्तित्वमिन्द्रियदौर्बल्यम्। ननु च पूरणगुणेत्यादिना समासप्रतिषेधेन भवितव्यम्। अत्रोच्यते। य एव गुणशब्दा गुणिनावच्छिन्ना गुणमात्रे वर्तते कदाचिद् गुणिन्यपि त एव प्रतिषेधस्य विषयाः। यथा पटस्य शुक्लो गुडस्य मधुर इत्यादयः। ते तु गुणमात्र एव वर्तंते न गुणिनि ते समासस्य। यथा पटहशब्दः पुत्रस्पर्शः कन्यारूपं द्राक्षारसश्चन्दनगन्ध इत्यादयः। तथेंद्रियदौर्बल्यमित्यादावपि भावप्रत्ययांतस्य व्यतिरेककारणत्वाद् गुणाभिधायित्वमेव। तस्मादेवमादौ तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी समस्यत इति समासः। तस्यायमर्थः। तेषु गुणेष्वेव तिष्ठन्तीति तत्स्थाः। एतदुक्तं भवति। गुणा एव ये गुणा वर्तंते न द्रव्यात्मनि तैः सह षष्ठी समस्यते। शुक्लादिशब्दानां तु कदाचिद्द्रव्यवृत्तित्वात्सामानाधिकरण्येनापि वृत्तिर्दृष्टा। यथा शुक्लः पट इति। गुणवृत्तित्वात् वैयधिकरण्येनापि। यथा पटस्य शुक्ल इति। तदेषां प्रतिषेधविषयत्वम्। पटहशब्दादीनां तु तत्स्थत्वात्समासविषयत्वमिति स्थितम्। नन्वेवं सति बलाकायाः शौक्ल्यमित्यत्रापि पूर्वोक्तान्न्यायात्समासः प्राप्नुयात्। अत्रोच्यते भाष्यकारवचनान्न भविष्यति। स हि गुणवचनग्रहणमेव कस्मान्न क्रियत इत्युक्त्वाऽभ्यधात्। बलाकायाः शौक्ल्यमित्यत्रापि यथा स्यादिति। समासस्यात्राभावः। गदितं वातव्याधिनिदाने। क्षुतिं सक्तामप्रवर्तमानां तीक्ष्णधूमादिभिः प्रवर्तयेत्। तीक्ष्णधूमो धूमपानविधौ वक्ष्यते। तीक्ष्णं चांजनमक्षिरोगेषु। तीक्ष्णाघ्राणं यन्नासया मरीचादिग्रहणम्। तीक्ष्णं नावनं तस्य विधौ वक्ष्यति। स्नेहश्च स्वेदश्च तौ च शीलयेदभ्यसेत्। क्षुतिः क्षुतम्। सुश्रुते चोक्तम्। प्राणापानौ समौ स्यातां मूर्ध्नि स्रोतःपथे स्थितौ। नस्तः प्रवर्तते शब्दः क्षुतं तच्च विनिर्दिशेत् ॥ ९ ॥

छींक रोकने से रोग—

वि०—छींक के उपस्थित वेग को रोकने से-शिर में दर्द, आँख आदि इन्द्रियों में दुर्बलता; मन्यास्तम्भ और अर्दित रोग होता है।

चिकित्सा—रुकी हुई छींक को प्रवृत्त करने के लिये-तीक्ष्ण धूम, तीक्ष्ण अञ्जन; तीक्ष्ण घ्राण (गंध सूँघना), नावन (नस्य) सूर्य की ओर देखना यह सब करे; स्नेहन और स्वेदन भी करे ॥ ९ ॥

वक्तव्य—छींक का लक्षण—प्राणोदानौ समौ स्यातां मूर्ध्नि स्रोतःपथे स्थितौ। नस्तः प्रवर्त्तते शब्दं क्षुतं तच्च विनिर्दिशेत्॥' (सु. शा. अ ४)। इसमें घृत भोजन के उपरान्त देना चाहिये। यथा—'योऽयं वातघ्नमन्नं च घृतं चोत्तरभक्तिकम्'॥

शोषाङ्गसादबाधिर्यसम्मोहभ्रमहृद्गदाः ॥ १० ॥
तृष्णाया निग्रहात्तत्र शीतः सर्वो विधिर्हितः।

स०—तृष्णाया निग्रहान्निरोधाच्छोषादयो भवन्ति। तत्र तृष्णाया रोधजेषु विकारेषु सर्वः शीतो विधिः स्नानान्नपानादिको हितः ॥ १० ॥

प्यास रोकने से रोग—

वि०—प्यास के रोकने से मुखशोष, अङ्गों में शिथिलता, बहरापन, मूर्च्छा, चक्कर आना और हृदय के रोग होते हैं; इसमें सम्पूर्ण शीतल विधि बरतनी चाहिये ॥ १० ॥

वक्तव्य—चरक में-'शीततर्पणमिष्यते' चिकित्सा कही है; अर्थात्—सत्तू का मन्थ अथवा द्राक्षा; खर्जूर इनको पानी में घोल कर मन्थ बना कर देवे।

अङ्गभङ्गारुचिग्लानिकार्श्यशूलभ्रमाः क्षुधः ॥ ११ ॥
तत्र योज्यं लघु स्निग्धमुष्णमल्पं च भोजनम्।

स०—क्षुध इति। निग्रहादित्यनुवृत्तिः। निग्रहापेक्षया षष्ठी। एवं निद्राया इत्यत्रापि योज्यम्। क्षुधो बुभुक्षाया निग्रहादंगभंगादयः षड् भवन्ति। सामान्येनापि शूलशब्दनिर्देशे पक्वाशयगतः शूलो गृह्यते। क्षुद्वेगनिग्रहेणानिवारणः प्रभंजनः कुप्यति। तस्यावस्थानं पक्वाशये। वक्ष्यति हि। पक्वाशयकटीत्यारभ्य यावत्पक्वाधानं विशेषत इति। तत्र क्षुधो निग्रहे भोजनं लघु स्निग्धमुष्णमल्पं च योज्यम् ॥ ११ ॥

भूख रोकने से रोग—

वि०—भूख के रोकने से—अङ्गों का टूटना, अरुचि, ग्लानि, कृशता, शूल और चक्कर आना होता है। इसमें लघु, स्निग्ध, उष्ण अल्प और मात्रा में भोजन देना चाहिये ॥११॥

निद्राया मोहमूर्धाक्षिगौरवालस्यजृम्भिकाः ॥ १२ ॥
अङ्गमर्दश्च, तत्रेष्टः स्वप्नः संवाहनानि च।

स०—निद्राया निग्रहान्मोहादयो भवन्ति। तत्र निद्रावेगरोधोत्थे विकारे स्वप्न इष्टः। संवाहनानि स्वल्पानि मर्दनानि च ॥ १२ ॥

निद्रा रोकने से रोग—

वि०—निद्रा के उपस्थित वेग को रोकने से-मूर्च्छा शिर में भारीपन, आँखों पर आलस्य, जम्भाई का आना; और अङ्गों का टूटना होता है। इसमें नींद लेना और संवाहन (चापी) उत्तम है ॥ १२ ॥

कासस्य रोधात्तद्वृद्धिः श्वासारुचिहृदामयाः ॥ १३ ॥
शोषो हिध्मा च, कार्योऽत्र कासहा सुतरां विधिः ।

स०—कासस्य कासवेगस्य रोधात्तद्वृद्धिः तस्य कासस्य वृद्धिराधिक्यं स्यात्। तथा श्वासादयः। तत्र कासचिकित्सितोक्तः सुतरामतिशयेन विधिः कार्यः ॥ १३ ॥

खाँसी रोकने से रोग—

वि०—कासवेग के रोकने से-कास की अधिकता होती है; अरुचि और हृदय के रोग होते हैं; एवं श्वास और हिक्का होती है; इसमें कासनाशक विधि सम्पूर्ण रूप से बरतनी चाहिये ॥ १३ ॥

वक्तव्य—चरक में कासवेग का अवरोध नहीं पढ़ा; सुश्रुत में भी कासवेग को नहीं गिना। तेरह उदावर्त्तों में उद्गार को चरक, सुश्रुत में गिना है; परन्तु यहाँ उद्गार को ऊर्ध्ववात में लेकर कास को अलग गिना है।

गुल्महृद्रोगसम्मोहाः श्रमश्वासाद्विधारितात् ॥ १४ ॥
हितं विश्रमणं तत्र वातघ्नश्च क्रियाक्रमः ।

स०—श्रमेणाध्वव्यायामादिना साहसेन सद्यो जातः श्वासः श्रमश्वासः। तस्माद्विधारिताद्वेगरोधाद्गुल्मादयः स्युः। तत्र विश्रमणं हितम्। वातघ्नश्च क्रियाक्रमो हितः ॥ १४ ॥

श्वास रोकने से रोग—

वि०—श्रमजनित श्वास को रोकने से—गुल्म, हृदय के रोग और मूर्च्छा होती है। इस अवस्था में आराम लेना और वातनाशक उपचार करना चाहिये ॥ १४ ॥

जृम्भायाः क्षववद्रोगाः सर्वश्चानिलजिद्विधिः ॥ १५ ॥

स०—जृंभाया रोधात् क्षुतिवद्रोगाः। तत्र सर्वा च वातघ्नक्रिया हितेति शेषः। जृंभा मुखविकासो गात्रविनामः ॥ १५ ॥

जँभाई रोकने से रोग—

वि०—जृम्भा के रोकने से छींक के रोकने के समान रोग होते हैं; इसमें वातनाशक विधि पूर्णतः करनी चाहिये[1] ॥१५॥

पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ्मन्यास्तम्भारुचिभ्रमाः ।
सगुल्मा बाष्पतस्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः ॥१६॥

स०—बाष्पतोऽश्रुणो विधारितात् पीनसादयो भवन्ति। पीनसो नासास्रावः। अक्षिशिरोहृदां रुजा सम्बन्धः। सशब्दश्चार्थे। गुल्माश्चेत्यर्थः। तत्र स्वप्नादिका चिकित्सा ॥ १६ ॥

आँसू रोकने से रोग—

वि०—बाष्प (अश्रु) के वेग को रोकने से-पीनस, अक्षिरोग, शिरोरोग, मन्यास्तम्भ, अरुचि, भ्रम और गुल्म रोग होते हैं; इसमें नींद लेना, मद्य तथा प्रसन्नता पैदा करने वाली मनोहर कथाओं को सुनना लाभप्रद होता है ॥१६॥

विसर्पकोठकुष्ठाक्षिकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः ।
सकासश्वासहृल्लासव्यङ्गश्वयथवो वमेः ॥१७॥

स०—वमेश्छर्दिषो विधारिताया विसर्पादयः स्युः। कोठो लोहितं कठिनं च मंडलम्। अक्षिकंड्वादीनामामयेन सम्बन्धः ॥ १७ ॥

वमन रोकने से रोग—

वि०—वमन के उपस्थित वेग को रोकने से—विसर्प, कोठ, कुष्ठ, आँख के रोग, कण्डू, पाण्डु, ज्वर, कास, श्वास, जी मचलाना, व्यङ्ग और श्वयथु होते हैं ॥ १७ ॥

व्यङ्ग—मुख पर काली झांई या चकत्ते पड़ना।

गण्डूषधूमानाहारा रूक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः ।
व्यायामः स्रुतिरस्रस्य शस्तं तात्र विरेचनम् ॥ १८ ॥
सक्षारलवणं तैलमभ्यङ्गार्थं च शस्यते ।

स०—तत्र गंडूषादयः शस्ताः। अनाहारोऽभोजनम्। एतेषां द्वन्द्वः। तथा रूक्षं भुक्त्वा तस्य रूक्षस्योद्वमश्छर्दनम्। एवं प्राणो वायुः स्वमार्गं प्रत्येति ततो व्यायामाद्यत्र शस्तम्। तथा क्षारलवणाभ्यां युक्तं तैलमभ्यंगार्थे शस्यते हितं भवति ॥ १८ ॥

वि०—चिकित्सा—गण्डूष, धूमपान; उपवास करना, रूक्ष अन्न खाकर उसी अन्न का वमन करना, व्यायाम, रक्तमोक्षण और विरेचन इसमें प्रशस्त है। मालिश के लिये यवक्षार और लवण से मिला तैल उत्तम है ॥ १८ ॥

वक्तव्य—गण्डूष के लिये गरम पानी या आर्द्रक का रस और मधु या नमक मिलाकर प्रयुक्त करे। रूक्ष अन्न, यथा—चना आदि जो भाड़ में भूना हो।

शुक्रात्तत्स्रवणं गुह्यवेदनाश्वयथुज्वराः ॥ १९ ॥
हृद्व्यथामूत्रसङ्गाङ्गभङ्गवृद्ध्यश्मषण्ढताः ।

स०—शुक्राद्विधारितात्तस्य शुक्रस्य स्रवणम्। तथा गुह्यवेदना पायुवेदना वृषणशूलम्। तथा श्वयथुः प्रकृतत्वाद् गुह्य एवेति योज्यम्। वृद्धवर्ध्मं। अश्मशब्देनाश्मरी कथ्यते। षंढता स्त्रीगमनाशक्तित्वम् ॥ १९ ॥

शुक्रस्खलन के वेग रोकने से रोग—

वि०—शुक्र के उपस्थित वेग को रोकने से शुक्र का स्रवण; गुह्य वेदना (मेहन तथा वृषणों में दर्द), शोथ, ज्वर,

---

[1] जृम्भा का लक्षण—

'पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृताननः।
यन्मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इति संज्ञितः॥'

आलस्य का लक्षण—

'सुखस्पर्शप्रसंगित्वं दुखद्वेषणलोलता।
शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते॥' सुश्रुत।

हृदय में पीड़ा, मूत्र का अवरोध, अङ्गों का टूटन; वृद्धि, पथरी और नपुंसकता होती है ॥ १९ ॥

वक्तव्य—चरक में कहा है—'शुक्रवेगनिरोधः षाण्ढ्यकराणाम् (श्रेष्ठतमः)'—उपस्थित शुक्र का रोकना अतिशय हानिकारक है।

ताम्रचूडसुराशालिवस्त्यभ्यङ्गावगाहनम् ॥ २० ॥
बस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं भजेत्क्षीरं प्रियाः स्त्रियः।

स०—तत्र ताम्रचूडादिकं भजेत्। तथा बस्तिशुद्धिकरैः कूष्मांडादिभिः सिद्धं क्षीरं भजेत्। प्रियाश्च कांताः प्रियत्वेन हिता इति शेषः। निरनुबन्धेन रभसेन प्रवर्तते शुक्रम् ॥ २० ॥

वि०—चिकित्सा—मुर्गा, सुरा, शालि, बस्ति, अभ्यङ्ग और अवगाहन इनका सेवन करे। बस्ति का शोधन करने वाले (कूष्मांड, यवक्षार आदि) द्रव्यों से सिद्ध दूध का पान करे तथा प्रिय स्त्रियों का सेवन करे ॥ २० ॥

वक्तव्य—पञ्चतृण मूल से सिद्ध दूध पीने को देना चाहिये। प्रेयसी होने से शुक्र स्वयं जल्दी प्रवृत्त होता है। यथा—'प्रवर्त्तनी स्त्री शुक्रस्य रेचनं बृहतीफलम्'—स्त्री शुक्र को प्रवृत्त कराने वाली है।

वेगरोधिनो ये न चिकित्स्यास्तान्दर्शयन्नाह—

तृट्शूलार्तं त्यजेत् क्षीणं विड्वमं वेगरोधिनम् ॥ २१ ॥

स०—तृट् च शूलं च ताभ्यामार्तमतिपीडितं तथा क्षीणं क्षीणदेहं वेगरोधिनं च त्यजेन्न चिकित्सेत्। तथा विशं यो वमति तं च वेगरोधिनं त्यजेत् ॥ २१ ॥

असाध्य रोग—

वि०—वेगरोधजन्य रोगों की असाध्यता-जो वेगरोधी रोगी प्यास एव शूल से पीड़ित हो; जिसके धातु क्षीण हो गये हों; और जो पुरीष का वमन करता हो; उसकी चिकित्सा न करे ॥ २१ ॥

अथ किमेते रोगा वेगोदीरणधारणाद्भवन्ति नेत्याह—

रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः।

स०—सर्वेऽपि रोगा जायन्ते न केवलं पूर्वोक्ता एव। वेगानां पुरीषादिसम्बन्धिनां यान्युदीरणान्यनागतानां प्रवर्तनानि तैः। तथा तेषामेवागतानां यानि विधारणान्यनुत्सर्गलक्षणानि तैः। अत्रेयं युक्तिः। वेगोदीरणधारणं नाम वायोः कर्म तस्य क्रियावत्वात्। तेन च वेगोदीरणधारणलक्षणेन स्वकर्मणा स एव वायुः कोप्यते। स कुपितः सर्वानेव विकारान् जनयति। तथा चोक्तम्। शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवांगजाश्च। ये संति तेषां नतु कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति। विट्श्लेष्मपित्तादिमलायनानां विक्षेपसंहारकरः स यस्मादिति।

वेगरोधजन्य सर्व रोग—

वि०—अनुपस्थित वेगों को प्रवृत्त करने और उपस्थित वेगों को रोकने से ही सब रोग उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—उदीरणम्—अनुपस्थित वेगों को बलपूर्वक उन्मुख करना—प्रवृत्त करना, उदीरण है। और जो प्रवृत्त हो रहे हैं, उनका रोकना—ये दोनों ही सब रोगों के कारण हैं; क्योंकि इनसे वायु का प्रकोप होता है; और वायु ही सब रोगों का कारण है; यथा—'शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च। ये सन्ति तेषां न तु कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति॥ इसीलिए सुश्रुत में कहा है कि—'सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्त्तेषु कृत्स्नशः वायोः क्रिया विधातव्याः स्वमार्गप्रतिपत्तये॥' (सु. उ. अ. ५५)।

निर्दिष्टं साधनं तत्र भूयिष्ठं ये तु तान् प्रति ॥ २२ ॥

ततश्चानेकधा प्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति।
अन्नपानौषधं तस्य युञ्जीतातोऽनुलोमनम् ॥ २३ ॥

स०—तत्र तेषु वेगोदीरणधारणोत्थेषु सर्वेषु मध्याद्ये तु भूयिष्ठं बाहुल्येन भवन्ति गुल्मोदावर्तादयस्तान् प्रति वर्त्यभ्यंगेत्यादिना साधनं निर्दिष्टं चिकित्सोक्ता। ततश्च वेगोदीरणधारणादनेकधा वायुर्यस्मात्कुप्यति। अतोऽस्माद्धेतोस्तस्यानुलोमनं मार्गयोजकमन्नपानौषधं युंजीत। यद्यपि वेगोदीरणधारणात्सर्वे रोगा जायंत इत्युक्तम्। तथापि यथा वेगधारणाच्चिरकालभाविनः सप्रत्यया रोगा भवन्ति न तथोदीरणात्। अत एव तन्त्रकारोऽधोवातस्य रोधेनापि रोगा भवन्ति। शकृतो रोधादमी भवन्तीत्युवाच। नतु तदुदीरणादमी रोगा भवन्तीति। प्रायोग्रहणं क्वचित् कफादेरपि प्रकोप इति समापादयति। तथा च वमिनिग्रह उक्तम्। विसर्पकोठकुष्ठाक्षीत्यादि। तत्र गंडूषधूमानाहार इत्यादिचिकित्सा। न चैवंरूपो विधिर्वाय्वावुपदिश्यते तस्मात्प्रायोग्रहणम् ॥२२-२३॥

वि०—वेग धारण से जो रोग प्रायः होते हैं; उनके लिये चिकित्सा कह दी है, विशिष्ट वेगों को रोकने से वायु अनेक प्रकार से प्रायः कुपित होता है (और अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न कर सकता है)। इसलिये वेगरोधजनित विकारों में वायु का अनुलोमन करने वाला खानपान एवं औषध बरतना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

वक्तव्य—सब उदावर्तों में मुख्यतः वायु की ही चिकित्सा करनी चाहिये। अनुलोमन—वायु को अपने मार्ग में प्रवृत्त करना।

यदि वेगरोधाद्रोगा जायन्ते तर्हि लोभादीनामपि नरकादिहेतूनां वेगा न धार्या इति प्राप्ते सतीदमाह—

धारयेत्तु सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च।
लोभेर्ष्याद्वेषमात्सर्यरागादीनां जितेन्द्रियः ॥ २४ ॥

स०—तुशब्दोऽवधारणे। सदा सर्वकालं लोभेर्ष्यादीनां वेगान् धारयेदेवं हितैषी यः पुरुषः स्वहितमिच्छन्। क्व। प्रेत्य चेह च परलोके तथेहलोके च। किंभूतः सन्। जितानि दांतानींद्रियाणि मनःषष्ठानि चक्षुरादीनि विषयाणामनभिलाषुकतया येन स जितेन्द्रियः। जितेंद्रियशब्देन लोभादि

वेगविधारण उपायं दर्शयति। जितेन्द्रिय एवैतान् धारयितुं शक्तो नान्य इत्यर्थः। द्वेषो वैरम्। मात्सर्यं परगुणासहिष्णुत्वम्। रागः प्रीतिः। आदिशब्देनाभिध्यादिपरिग्रहः। प्रेत्येह चेति कर्तव्ये द्विश्चकारकरणं रागादीनां वेगविधारणेन प्रेत्येह वाऽस्मिन् लोके तुल्यकष्टत्वज्ञापनार्थम्। अन्यथा प्रेत्येत्यस्य पूर्वनिर्देशाद्भूयस्तेषां रागादीनां विधारणं प्रेत्य न तथेह लोके। पश्चान्निर्दिष्टत्वात् ॥ २४ ॥

रोकने योग्य वेग—

वि०—धारणीय वेग—इस लोक और परलोक में हित चाहने वाला मनुष्य जितेन्द्रिय बनकर सदा लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य, राग आदि वेगों को रोके ॥ २४ ॥

वक्तव्य—चरक में भी कहा है—'इमांस्तु धारयेद् वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च। साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥ लोभशोकभयक्रोधमनोवेगान् विधारयेत्। नैर्लज्ज्येर्ष्याऽतिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥'

ईर्ष्या—दूसरे के उत्कर्ष को न सहना। राग—विषयासक्ति। मात्सर्य—दूसरे के शुभ के साथ द्वेष।

अन्यच्च हितैषी किं कुर्यादित्याह—

यतेत च यथाकालं मलानां शोधनं प्रति।
अत्यर्थसञ्चितास्ते हि क्रुद्धाः स्युर्जीवितच्छिदः ॥२५॥

स०—मलानां वातपित्तश्लेश्मपुरीषादीनां यथाकालं शोधनं प्रति यतेत यत्नं कुर्यात्। यो यस्य मलस्य शोधनकालः स तस्मिन्काले शोधनीय इत्यर्थः। किमर्थं मलानां शोधनं कार्यमित्याह। अत्यर्थेत्यादि। यस्मात्ते मला अत्यर्थसंचिता अतिशयेन स्वस्थाने वृद्धिं गताः कुतोऽप्याहारविहाररूपात् कोपहेतोः क्रुद्धाः कुपिताः सन्तः कदाचिज्जीवितच्छिदः स्युर्भवेयुः। तस्मात्ते शोधनीयाः। अत्यर्थसंचितग्रहणेनैतद्द्योतयति। यदि ते मला अत्यर्थसंचिताः स्युस्तदैव तेषामन्योपक्रमेभ्यः शोधनाख्य उपक्रमो ज्यायान्। लंघनपाचने तूपक्रममात्रे ॥ २५ ॥

वातादि मलों का यथाकाल शोधन—

वि०—मलों के शोधन के लिये यथासमय प्रयत्न करता रहे। क्योंकि ये मल अतिशय संचित होने पर क्रुद्ध होकर जीवन को नाश करने वाले हो सकते हैं ॥ २५ ॥

वक्तव्य—मल-वात, पित्त, कफ, मल आदि; इनके शोधन का यत्न करना चाहिये। क्योंकि समय पर शोधन न करने से ये अतिशय संचित हो जाते हैं—बढ़ जाते हैं; और बढ़ने से क्रुद्ध होते हैं; और कुपित होने पर मारक भी बन जाते हैं; इसलिये इनका समय पर शोधन करना चाहिये। शोधन का समय पैंतीसवें श्लोक में कहा है।

तदेवैतच्चेतसि कृत्वा दोषा इत्यादिग्रंथं ग्रंथकृदुवाच—

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥ २६ ॥

स०—दोषा वातादयो लंघनपाचनैर्जिताः सन्त प्रकृतिं प्रापिताः कदाचित्कस्मिन्नपि काले कुप्यन्ति। ये पुनः संशोधनैः शुद्धास्तेषां न पुनरुद्भव उत्थानं भवति ॥ २६ ॥

संशोधन का महत्त्व

वि०—वातादि दोष-लंघन, पाचन आदि से प्रकृति में लाने पर शायद कभी कुपित हो सकते हैं; परन्तु जो दोष संशोधन द्वारा शुद्ध कर दिये गये (बाहर निकाल दिये गये); फिर उनकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ २६ ॥

वक्तव्य—लंघन-'यत् किंचिल्लाघवकरं देहे तल्लंघनं स्मृतम्'। पाचन—'पचत्यामं न वह्निञ्च कुर्याद् यत् तद्धि पाचनम्'। 'लंघन और पाचन का उपयोग मध्यम दोष वाले के लिये है; यथा-'लंघनपाचने तु मध्यबलदोषाणां, लंघनपाचनाभ्यां हि सूर्यसंतापमारुताभ्यां पांशुभस्मावकिरणैरिव चानतिबहूदकं मध्यबलो दोषः प्रशोषमापद्यते। बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यं, न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलाप्रसेकोऽस्ति-तद्वद्दोषावसेचनम्।' चरक। जो वस्तु शरीर से बाहर कर दी गई है; वह फिर वापिस नहीं आती; और जो शरीर में ही रह गई है; वह कभी भी कुपित होकर विकार कर सकती है[1]।

यथाक्रमं यथायोगमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत्।
रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित् ॥ २७ ॥

स०—कालविद्यो वैद्यः सोऽतः संशोधनपूर्वं रसायनानि प्रयोजयेत्। कालशब्दो देशबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतीनामुपलक्षणार्थः। नहि कालमात्रविद्रसायनप्रयोगं सम्यग्विधापयितुं शक्तः। किंभूतानि रसायनानि। सिद्धानि बहुशो दृष्टप्रत्ययानि ब्राह्मवासिष्ठादीनि। कथं योजयेदित्याह। यथाक्रमं यथायोगमित्यनेन रसायनं वाजीकरणोक्तं स्मारयति। तत्रैष रसायनक्रमः। हरीतकीमामलकं सैंधवं नागरं वचामित्यारभ्य यावदित्थं संस्नुतकोष्ठस्य रसायनमुपाचरेत्। एतदुक्तं भवति। यद्यप्येवं वमनविरेचनास्थापनानुवासननावनैः पंचभिरपि कर्मभिः संस्नुतोर्ध्वाधःसकलकायस्तथाप्येष रसायनीयो भूयः शरीरसंस्कारः करणीयस्तत्पूर्वकत्वात् तस्य। अत एव संशुद्धदेहोऽयमिति कृत्वा त्रिवृद्वंत्यादीन्विरेचनात्मकानुपदिशति। तथा वाजीकरणेऽप्याह। अथ स्निग्धविशुद्धानां निरूहान्सानुवासनान्। घृततैलरसक्षीरशर्कराक्षौद्रसंयुतान्। योगविद्योजयेत्पूर्वं क्षीरमांसरसाशिनम्। ततो पाजीकरान् योगानिति। तथा यथायोगं यो यस्य युज्यते दातुमित्यर्थः। तथेदं रसायनं वातप्रकृतेर्योग्यमिदं पित्तप्रकृतेरिदं श्लेष्मप्रकृतेरित्यादि। तथाऽमुष्मिन् देशेऽमुष्मिन् काले वाऽमुष्मिन्वयस्यमुष्मिन् देहे रसायनं योग्यमिदमिति यथायोगार्थः। एवं वृष्ययोगेऽपि योज्यम्। अत्र

---

[1] 'दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति।
रोगाणां प्रसवानां च गतानामागतिर्ध्रुवा॥' (च. सू. अ. १९।२१)

च रसायनानि । वातातपिकानि योजयेन्न कुटीप्रावेशकानि । स्वस्थवृत्ताधिकारत्वात्तद्विधानस्य ॥ २७ ॥

शोधन के पश्चात् रसायन प्रयोग—

वि०—संशोधन के उपरान्त काल को समझने वाला वैद्य क्रम के अनुसार तथा योग के अनुसार सिद्ध रसायनों तथा वृष्य योगों का प्रयोग करे ॥ २७ ॥

वक्तव्य—काल को पहचानने वाला; काल दो प्रकार का है—नित्यग और आवस्थिक; अर्थात् ऋतु की दृष्टि से और रोगी एवं रोग की अवस्था की दृष्टि से विचार कर देवे। यथाक्रम—जैसा कि रसायन योगों का क्रम है; यथा—'हरीतकीमामलकं सैन्धवं नागरं वचाम् ।'—यहां से लेकर–'इत्थं संस्कृतकोष्ठस्य रसायनमुपाहरेत् ॥' यथायोग[1]—जैसा जिस योग में विधान हो; यथा–'जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः ।' (सु. चि. अ. २७।११) सिद्धानि–जिनका फल देखा हुआ है। वृष्ययोग–वाजीकरणोक्त योग ।

भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैर्बृंहणं क्रमात् ।
शालिषष्टिकगोधूममुद्गमांसघृतादिभिः ॥ २८ ॥
हृद्यदीपनभैषज्यसंयोगाद्रुचिपक्तिदैः ।
साभ्यङ्गोद्वर्तनस्नाननिरूहस्नेहवस्तिभिः ॥ २९ ॥

स०—भेषजेन क्षपिते नरे शोधनकर्षिते सत्याहारैर्भोज्यैर्बृंहणं हितं क्रमान्न सहसैव। कैराहारैरित्याह—शाल्यादिभिः। किंभूतैः। हृद्यानि च तानि दीपनानि भैषज्यान्यौषधानि च शुंठीपिप्पल्यार्द्रकत्वगेलादीनि तैः संयोगो मिश्रितस्तस्माद् हृद्यदीपनभैषज्यसंयोगाद्रुचिपक्तीर्दक्ष्यभिलाषपाकानुत्पादयंति ये शाल्यादयस्तै रुचिपक्तिदैराहारैर्बृंहणं भेषजक्षपिते पथ्यम्। किंभूतैराहारैः साभ्यंगेत्यादि। सहाभ्यंगादिभिर्वर्तंत इति साभ्यंगादिभिश्चेत्यर्थः। स्नेहबस्तिरनुवासनम् ॥ २८–२९ ॥

पथ्यादि विधि—

वि०—जो मनुष्य औषध के कारण क्षीण हुआ हो उसका क्रमशः शाली, सांठी, गेहूँ, मूंग, मांस, घृत आदि जो हृदय के लिये प्रिय और अग्निदीपक, ओषधियों के संयोग से रुचिकर और अग्निवर्धक हों—उनके आहार से तथा अभ्यङ्ग; उवटन, स्नान, निरूह एवं स्नेहवस्तियों के प्रयोग से बृंहण करना उत्तम है ॥ २८–२९ ॥

वक्तव्य—मनुष्य दो प्रकार से क्षीण होता है; एक–सद्यःक्षीण और दूसरा–चिरक्षीण[2]। इनमें सद्यःक्षीण मनुष्य तुरन्त पुष्ट होता है; और चिरक्षीण देर में पुष्ट होता है। इनमें सद्यःक्षीण के अन्दर ही औषधक्षीण का अन्तर्भाव होगा।

एवं कृते पुरुषः किं प्राप्नोतीत्याह—

तथा स लभते शर्म सर्वपावकपाटवम् ।
धीवर्णेन्द्रियवैमल्यं वृषतां दैर्घ्यमायुषः ॥ ३० ॥

स०—तथा तेन प्रकारेण पूर्वं शोधनं ततो बृंहणं ततो रसायनप्रयोग इत्येवंरूपेण संशोधनादिसेवी पुरुष शर्म स्वास्थ्यं लभते। तथा सर्वेत्यादि। सर्वे च ते पावकाश्च सर्वपावकास्तेषां पाटवं शक्तिं लभते। तत्र भौमाप्याग्नेयवायव्याः पंचोष्माणः सनाभसाः पंचमहाभूताग्नयो धात्वग्नयः सप्त त्रयोदशो जाठराग्निरिति। धीवर्णेत्यादि। धीवर्णयोश्चक्षुरादींद्रियाणां च वैमल्यं लभते। तथा वृषतां स्त्रीगमनसामर्थ्यं लभते। तथा दैर्घ्यमायुषो जीवितस्याधिक्यं लभते ॥ ३० ॥

पूर्वोक्त क्रम का सुपरिणाम—

वि०—इस प्रकार करने से सुख मिलता है, सब अग्नियां प्रदीप्त होती हैं; बुद्धि, वर्ण, इन्द्रियों में निर्मलता आती है; वृषता तथा दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ ३० ॥

वक्तव्य—तेरह अग्नियां–यथा पांच 'भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ॥' धात्वग्नि सात हैं; और तेरहवीं जाठराग्नि। वृषता–सम्भोग शक्ति।

अधुनाऽऽगंतुरोगान्सोपक्रमान्निर्दिशति—

ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादिसम्भवाः ।
रागद्वेषभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः ॥ ३१ ॥

स०—भूतानि च विषं च वायुश्चाग्निश्च क्षतं च भंगाश्चेति द्वन्द्वः। त आदिर्येषामांगतुकरोगहेतूनां त एवं तेभ्यः संभवो येषामागन्तुकगदानां ज्वरादीनां ते भूतादिसम्भवा आगन्तवो रोगाः स्युः। आगंतुहेतुप्रभवत्वादागंतवो गदा उच्यंत

---

[1] यथायोग—रसायन के अनेक योग हैं उनमें से देश, काल, शरीर, प्रकृति, आयु एवं लक्षण आदि की दृष्टि से जिस व्यक्ति के लिए जो उपयोगी हो उसका प्रयोग करें।

[2] प्राणियों में क्षीणता कारणानुसार अकस्मात् या धीरे-धीरे होती है। अकस्मात् क्षीण व्यक्ति को सद्यःक्षीण और धीरे-धीरे क्षीण को चिरक्षीण कहते हैं। इन दोनों की क्षीणता दूर करने के लिए क्रमशः सद्यःतर्पण और तर्पणाभ्यास द्वारा बृंहण कराना उचित और आवश्यक भी होता है जैसा कि चरक ने लिखा है—

'तेषां संतर्पणं तज्ज्ञैः पुनराख्यातमौषधम् ।
यत्तदात्वे समर्थं स्यादभ्यासे वा यदिष्यते ॥
सद्यःक्षीणो हि सद्यो वै तर्पणेनोपचीयते ।
नर्ते संतर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुष्यति ॥'
(च. सू, २३)

वमन, विरेचनादि औषधों से संशोधन द्वारा दोषों के साथ कुछ धातुओं का भी क्षय होता और उस क्षीणता को दूर करने के लिए संतर्पण या बृंहण आवश्यक होता है। यतः इसमें अकस्मात् क्षीणता होती है अतः उसके लिए सद्यःतर्पण का प्रयोग आवश्यक प्रतीत होता है किन्तु संशोधन के कारण कोष्ठ क्षुब्ध और अग्नि अस्थिर होने से केवल आहार से संतर्पण करना चाहिए न कि रसायनादि औषधों से और आहार भी क्रमशः (संसर्जन क्रम से) देना चाहिए। यथा—

'पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं द्विस्त्रिरथैकशश्च ।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ॥' (च. सि. १)

इत्यर्थः । न केवलमेत एव गदा रागद्वेषभयाद्याश्चागंतवो गदाः स्युः ॥ ३१ ॥

आगन्तु रोग—

वि०—आगन्तु रोग—जो रोग भूत, विष, वायु और अग्नि के कारण या क्षत के लगने से, टूटने आदि से उत्पन्न होते हैं तथा राग, द्वेष या भय आदि से जो रोग उत्पन्न होते हैं वे आगन्तु रोग हैं ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—भूत—ग्रहादि। वायु—झंझावातादि । आदि शब्द से श्रम या शोकादि; ये आगन्तुज रोग पीछे वातादि से सम्बन्धित हो जाते हैं; यथा—'आगन्तुरन्वेति निजं विकारम्।' (च. सू. २०)

अधुना एषां चिकित्सां निर्दिशति—

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ॥ ३२ ॥
अथर्वविहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम्।
भूताद्यस्पर्शनोपायो निर्दिष्टश्च पृथक् पृथक् ॥ ३३ ॥
अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेष प्रदर्शितः।
निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये ॥ ३४ ॥

स०—प्रज्ञाया अपराधा असाध्वाचरणानि तेषां त्यागः। तथेंद्रियाणां चक्षुरादीनामुपशमो रूपादिविषयेऽतिप्रवृत्तानां संशमनमशुभरूपे वा विषये प्रवृत्तानां संयमनमलोलुपतेत्यर्थः। तथा स्मृतिरतीतार्थानुस्मरणम् । तथा देशेत्यादि। देशादीनां विज्ञानम् । देशो जांगलादिः। कालः शीतादिः। आत्मा च वातप्रकृत्यादिः। एषां विज्ञानमवबोधः तथा च सतां वृत्तं चरितं सद्वृत्तं तस्यानुवर्तनमनुष्ठानम्। निजानामागंतूनां च विकाराणामनुत्पत्त्यै योगाणामनुत्पादनाय समासेन संक्षेपेण विधिरेष त्यागः प्रज्ञापराधानामित्यादि सद्वृत्तस्यानुवर्तनमित्येवं प्रदर्शितः सम्यगुक्तः। उत्पन्नानामित्यादि। चः समुच्चये। न केवलं निजागन्तूनां रोगाणामनुत्पत्त्यै विधिरेष प्रोक्तः। यावदुत्पन्नानां जातानां च शांतये विधिः प्रोक्तः ॥ ३२-३४ ॥

आगन्तु रोगों का प्रतिकार—

वि०—रोगों की चिकित्सा—प्रज्ञापराध का परित्याग, इन्द्रियों की शान्ति; स्मृति; देश-काल और आत्मा का ज्ञान; सद्वृत्त का पालन; अथर्ववेद में कहा शान्ति, प्रतिकूल ग्रह का पूजन; भूतादि स्पर्श से बचने की पृथक्-पृथक् कही विधि, निज एवं आगन्तुक रोगों को न उत्पन्न होने देने के लिये तथा उत्पन्न रोगों की शान्ति के लिये यह विधि संक्षेप में कही गई है ॥ ३२-३४ ॥

वक्तव्य—प्रज्ञापराध—प्रज्ञा = बुद्धि, उसका दोष; यथा—'धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञाऽपराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्' ॥ इन्द्रियों की शान्ति—अतियोग, मिथ्यायोग और अयोग से बचना, यथा—'नेन्द्रियाण्यतिपीडयेत्; न चैतानतिलालयेत्।' स्मृति—याददाश्त—'स्मर्त्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम्'—अर्थात् ऐसा करने से पहले मुझे ऐसा हुआ था अब वैसा न करूं। देश—जांगलादि। आत्मविज्ञान-अपनी प्रकृति का ज्ञान। सद्वृत्त—सज्जनों का आचरण।

अथ मलानां शोधनकालानाह—

शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते
विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्
प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ॥ ३५ ॥

स०—शीतशब्देन हेमन्तशिशिराख्यावृतू द्वावपि गृह्येते। तत्रोद्भवो जन्म यस्य दोषचयस्यासौ शीतोद्भवो दोषचयः। तं वसन्ते विशोधयन्निर्हरन् ग्रीष्मजमभ्रकाले वर्षाकाले दोषचयं विशोधयंस्तथा वार्षिकं घनात्यये शरदि चाशु यथोक्तं कालमनुल्लंघयन् सम्यग्यथावत्त्रिविधमपि दोषचयं विशोधयन्नृतुजान् रोगान् न जातु कदाचित्प्राप्नोत्यासादयति। वसन्ते विशोधयन्नित्यत्र वसन्तप्रारंभ एव चैत्रे मासि विशोधयन्निति बोध्यम्। प्रत्यवायभयात्। तथाहि। ऋतुद्वयसंचितस्य दोषचयस्य विशोधनमक्रियमाणं रोगानीकं कुर्यात्। घनात्यये वार्षिकमित्यत्रात्यंतघनविनाशे शरत्पश्चिमे भागे विशोधयेदिति बोध्यम्। वार्षिको हि दोषचय एकर्तुज एव। तस्माद्विश्रब्धं कृत्वा साधारणे कार्तिके मासि स विशोधयितुं युक्तः। अपि चोग्रहेमन्तशिशिरकालजो दोषचयो वसन्ते शोधयितव्यः। तस्मादाश्वयुजे मासि वार्षिको दोषचयो यदि विशोध्येत तदानीमतितरां बहुरग्रे दोषचयः स्यात्कालस्य बहुत्वात्। ग्रीष्मजमभ्रकाल इत्यत्र कालग्रहणेन वर्षाप्रारंभमात्र एवेति बोध्यम्। तथा च शास्त्रकारो वक्ष्यति। श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्। ग्रीष्मवर्षाहिमचितान्वाय्वादीनाशु निर्हरेत् ॥ ३५ ॥

रोगों से बचने का उपाय—

वि०—मलों का शोधनकाल—शीतकाल में उत्पन्न दोषसमूह का वसन्त में शोधन करे; ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न दोषसमूह का वर्षा काल में शोधन करे। वर्षा में उत्पन्न दोषसमूह का शरद् ऋतु में भली प्रकार शोधन करे। इस प्रकार करने से ऋतुजन्य रोग कभी भी नहीं होते ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—अरुणदत्त टीकाकार की मान्यता है कि वसन्त में शोधन चैत्र मास में और शरद् ऋतु में शोधन शरद् ऋतु के पिछले भाग में करना चाहिये। क्योंकि शीत ऋतु में दोषसंचय हेमन्त और शिशिर दो ऋतुओं का है, और वर्षा में एक ही ऋतु का है। इसलिये विश्वास के साथ कार्तिक मास में शोधन करे। परन्तु इसमें इतनी ही आपत्ति है कि जो दोषसमूह पहले मास में विकार नहीं कर सका, वह दूसरे में क्या करेगा और फिर उसके पीछे तो हेमन्त में पित्त की शान्ति ही है। परन्तु आगे जो पाठ दिया है यथा—'श्रावणे कार्त्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्। ग्रीष्मवर्षाहिमचिता-

न्वाय्वादीनाशु निर्हरेत्' ॥ इस पाठ से अरुणदत्त का अर्थ मिलता है।

नित्यं हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावा-
नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ ३६ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने रोगानुत्पादनीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

स॰—नित्यं सदैव हिताहारविहारौ सेवते तच्छीलो यः स एवंभूतो नरः। तथा समीक्ष्यकारी विमृश्यविधायी। इदं कृत्वेदं सम्पद्यते इदं च कृत्वैतत्संपद्यते एवं बुद्ध्वा शुभं करोत्यशुभं वर्जयति। तथा विषयेषु शब्दादिष्वसक्तोऽलोलुपः। तथा दाता त्यागी त्यागवान्। तथा समः सर्वेषु भूतेषु समचित्तः। तथा सत्यपरोऽवितथवाक्। तथा क्षमावान्। यः शक्तोऽपि कृतापराधं दंडेनानुरूपेण नी योजयति। तथाऽऽप्तानुपसेवते तच्छीलो यः स आप्तोपसेव चारोगो भवति। न केवलं प्राक्तनविध्यनुष्ठानेनारोगः संपद्यते यावदाप्तोपसेवी चेति चशब्दार्थः। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा। आप्ताः शिष्टाश्च विबुधास्तेषां वाक्यमसंशयमित्याप्तलक्षणमिति। उपजातिवृत्तम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्यायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

वि॰—सारांश—सदैव हित आहार, हितविहार का सेवन करने वाला; सोच-विचार कर कर्तव्य करने वाला; विषयों में न फंसा; दान करने वाला, सब प्राणियों में तथा सब अवस्थाओं में समबुद्धि; सत्य निष्ठा वाला; क्षमाशील तथा आप्त पुरुषों का सेवन करने वाला मनुष्य निरोगी होता है ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—आप्त-'येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा। आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ॥' संग्रह में इतना अधिक है—

अर्थेष्वलभ्येष्वकृतप्रयत्नं कृतादरं नित्यमुपायवत्सु।
जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम् ॥
कालोऽनुकूलो विषया मनोज्ञा धर्म्या क्रिया कर्म सुखानुबन्धि।
सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिर्भवन्ति धीरस्य सदा सुखाय ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में रोगानुत्पादनीय
नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

पञ्चमोऽध्यायः

अथ द्रवद्रव्यविज्ञानीयस्तस्यायं संबंधः। नित्यं हिताहारविहारसेवीत्युक्तम्। तौ चाहारविहारौ दिनचर्यर्तुचर्ययोर्यद्यपि नियमितौ तथापि न भवत्यलं हिताहितस्वरूपविज्ञानम्। एवं हि तत्रावादीत्। गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत्। तथा। व्यक्ताम्ललवणस्नेहं संशुष्कं क्षौद्रवल्लघुः। तथाऽनंतरातीतेऽप्यध्याये जगाद। अन्नपानं च विड्भेदीति। तदियता वाक्येन न तज्ज्ञायते किं पुनस्तद्गुरु शीतं किं लघु किं स्निग्धोष्णं किं शकृद्भेदनमिति। तस्मादाहारद्रव्यस्वरूपमतः परं प्रतन्यते। तत्रापि पंचवर्गस्वभावत्वेनाल्पवक्तव्यत्वात्प्राग्द्रवद्रव्यविज्ञानीयस्वरूपं निर्देष्टुं युक्तमन्नस्य द्रवस्वभावत्वेन भूयस्त्वादित्याह—

अथातो द्रवद्रव्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स॰—अपामेवायं स्वाभाविको गुणो यत् द्रवत्वम्। अतो यानि कानिचिद् द्रवरूपाणि द्रव्याणि तानि सर्वाण्यम्मयान्येव क्षीरदध्यादीनि तदर्थं द्रवद्रव्यशब्दः सामान्येन सर्वद्रवव्यक्तिपरिग्रहार्थः शास्त्रकृता प्रयुक्तः। द्रवाणि च तानि द्रव्याणि च द्रवद्रव्याणि तेषां विज्ञानमवबोधस्तस्मै हितो द्रवद्रव्यविज्ञानीयोऽध्यायस्तं व्याख्यास्यामः प्रथयिष्यामः।

वि॰—अब इसके आगे द्रवद्रव्यविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

अथ तोयवर्गः।

प्राधान्याच्च पानीयस्य प्रागुपदेशः। तथा चाष्टांगसंग्रहेऽन्नपानप्रकरणेऽध्यगीष्ट। अन्नपाने तु सलिलमेव श्रेष्ठम्। सर्वरसयोनित्वात्सर्वभूतसात्म्याज्जीवनादिगुणयोगाच्च। तथात्रैवाध्यैष्ट। पानीयं प्राणिनां प्राणा विश्वमेव च तन्मयमित्यादि। तथा चात्रैवाख्यसंग्रहेऽपि तदेव प्रागुपनीतं श्रेष्ठमुदकमासां श्वासतस्तंभनक्लेदनानामिति बहुगुणत्वाच्चांतरिक्षस्थजलस्य प्रागुपन्यासो युक्त इत्याह—

जीवनं तर्पणं हृद्यं ह्लादि बुद्धिप्रबोधनम्।
तन्वव्यक्तरसं मृष्टं शीतं लघ्वमृतोपमम् ॥ १ ॥
गङ्गाम्बु नभसो भ्रष्टं स्पृष्टं त्वर्केन्दुमारुतैः।
हिताहितत्वे तद्भूयो देशकालावपेक्षते ॥ २ ॥

स॰—जीवनमोजोविवृद्धिकरणम् सौम्यधातुवर्धनमित्यन्ये। तर्पणं क्लमहृत्। हृद्यं हृदयाय हितं न तु हृदयस्य प्रियं हृद्यमिति व्याख्येयम्। एवं हि व्याख्यायमानेऽम्ले हृद्यानामित्यग्र्याणां मध्ये तत्पाठं मुनिर्नैवाकरिष्यत्। यस्मात्किंचिद् द्रव्यं कस्यचित्प्रियं भवति न सर्वं सर्वस्य। तस्माद्धृदयाय हितं हृद्यमिति बोध्यम्। तथा ह्लादि आह्लादकरम्। तथा बुद्धेः प्रबोधनम्। यावन्मात्रा यस्य शेमुषी सा तस्य स्फुटप्रतिभासा तद्योगाद्भवतीत्यर्थः। तनु स्वच्छम्। अव्यक्त-

रसमनभिव्यक्तषड्रसमित्यर्थः। मृष्टमित्यास्वादसुखम्। संति हि भूरिरसशर्कराकाथचूर्णवटकादीन्यव्यक्तरसानि न तु कात्स्न्येंन तानींदियप्रसादप्रीतिकराणि। तथा। अनुरसबाहुल्यात्पृथगपि द्रव्याण्यभयामलकादीन्यव्यक्तरसानि न तु पुनस्तानि तथा मनः प्रीणयंति। पानीयस्य चाव्यक्तरसस्याप्याश्रयवशात्कषायत्वस्वादुत्वादि भवत्येव। तथा चाष्टांगसंग्रहेऽपठत्। श्वेते कषायं तत्स्वादु कृष्णे तिक्तं च पांडुर इत्यादि। मृष्टं शुद्धमिति न व्याख्येयम्। तथा च मुनिः। शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्। प्रकृत्या दिव्यमुदकमिति। अत्र हि मृष्टविमलयोर्द्वयोरुपादाने पौनरुक्त्यं स्यात्। तस्मान्मृष्टशब्दोऽत्र मनःप्रीणनार्थः। तथा शीतं वीर्येण स्पर्शेन च। तथा लघु गुणयुक्तम्। तथा। अमृतोपमम्। यथा किलामृतं त्रिदोषघ्नत्वधातुसाम्यकृत्वविषार्तिजित्वादिगुणैरशेषैर्युक्तं तथैतज्जलमपीत्यर्थः। तथा चोक्तं संग्रहे। सूर्योद्वृत्तप्रयुक्तत्वाल्लघु वातकफापहम्। शैत्यजीवनसौम्यत्वैः पित्तरक्तविषादिजिदिति। तथा नभसो भ्रष्टमंतरिक्षात्पतितमात्रं वस्त्रातिगृहीतं गागं जलमीदृग्गुणं भवति। तु पुनरर्थे। रविचन्द्रानिलैः स्पृष्टं संबंद्धं सत्पुनः पथ्यापथ्यत्वे देशकालावपेक्षते। देशो विषयः, पात्रमाश्रय इति पर्यायाः। तत्र किमनूपदेशे जांगले वा तत्पतितं तथा किमसितश्वेताद्यन्यतमे वेति देशानुवर्तनम्। तथा शीते किं वोष्णेऽथवा वर्षाख्ये पतितमिति कालानुवर्तनम्। रविचंद्रानिलैरिति समस्तनिर्देशो यदा समस्तैरेतैः स्पृष्टं न तु व्यस्तैस्तदा हिताहितत्वे देशाद्यपेक्षत इति द्योतयति। सद्योवस्त्रादिगृहीतस्य जलस्य तु न सर्वैरेतैर्योगः सभवतीति तत्प्रायेण हितमेव ॥ १–२ ॥

गाङ्गोदक के गुण—

वि०—गाङ्ग जल—जीवन (ओजोवर्धक), तृप्तिकारक, हृदय के लिये उपयोगी, आह्लादकारक, बुद्धि को विकसित करने वाला, स्वच्छ, अव्यक्तरस, मृष्ट (स्वादु), शीतल, लघु और अमृत के समान है। आकाश से गिरने पर यही जल जब सूर्य, चन्द्र और वायु के संसर्ग में आ जाता है, तब पथ्य एवं अपथ्य के विचार में देश और काल की अपेक्षा करता है[1] ॥ १–२ ॥

वक्तव्य—आहार दो प्रकार का है, द्रव और अद्रव(ठोस)। इनमें द्रववर्ग पाँच प्रकार का है, यथा—'तोयक्षीरेक्षुतैलानां वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात्'। इनमें भी जल का अधिक उपयोग है, यथा—'अनुपाने तु सलिलमेव श्रेष्ठम्, सर्वरसयोनित्वात्, सर्वभूतसात्म्यात्, जीवनादिगुणयोगाच्च'। इसी प्रकार 'पानीयं प्राणिनां प्राणा विश्वमेव च तन्मयम् ॥' 'श्रेष्ठमुदकमाश्वासनस्तम्भनक्लेदनानाम् ॥'

यह जल दो प्रकार का है, दिव्य और भौम। इनमें दिव्य जल चार प्रकार का है—धार, कार, हैम और तौषार। इनमें धार दो प्रकार का है—गाङ्ग अर्थात् गङ्गासम्बन्धी और दूसरा सामुद्र–समुद्रसम्बन्धी। इनमें पहले गङ्गा जल के गुण कहे हैं। पीछे भौम जल के गुण हैं। भूमिजल के गुणों में देश एवं काल का प्रश्न रहता है, यथा–श्वेते कषायं, तत्स्वादु कृष्णे, तिक्तं च पाण्डुरे।' देश शब्द से पात्र का भी ग्रहण हो जाता है। काल की अपेक्षा, यथा—'तत्र वर्षासु आन्तरिक्षमौद्भिदं वा सेवेत, महागुणत्वात्। शरदि सर्वप्रसन्नत्वात। हेमन्ते सारसं ताडागं वा। वसन्ते कौपं प्रास्रवणं वा। ग्रीष्मेऽप्येवम् प्रावृषि चौण्ड्यमनभिवृष्टं सर्वं चेति ॥' देह की अपेक्षा भी किसी को हित और किसी को अहित तथा प्रायः दिन में हितकारी, रात्रि में अहितकारी; भोजन के मध्य में हितकारी, भोजन के आदि और अन्त में हितकारी हैं।

नन्वाकाशात्पततस्तल्लक्षणमंतरेण गांगमिदमिति न ज्ञायत इत्याह—

येनाभिवृष्टममलं शाल्यन्नं राजते स्थितम्।
अक्लिन्नमविवर्णं च तत्पेयं गाङ्गम्—

स०—येनांबुनाऽभिवृष्टमाभिमुख्यतः सिक्तं शाल्यन्नं राजतस्थितमक्लिन्नमक्लेदयुतमविवर्णं च भवति तद्गांगं जलं पेयमित्युपलक्षणार्थम्। स्नानावगाहयोरपि तत्पथ्यमेव। रजतस्य रूप्यस्य विकारो राजतम्। प्राणिरजतादिभ्योऽञ्।

गाङ्गोदक का लक्षण—

वि०—गाङ्ग जल की परीक्षा—बरसात के जिस बरसे जल से चाँदी के पात्र में रखा निर्मल शालि अन्न (भात,), क्लेद रहित और विवर्णता रहित होता है, यह गाङ्ग जल है और पेय है।

वक्तव्य—यह परीक्षा मुहूर्त्त मात्र ही करनी चाहिये यथा–'शाल्योदनपिण्डमकुथितमविदग्धं रजतभाजनोपहितं वर्षति देवे बहिः कुर्वीत। स यदि मुहूर्त्तं स्थितस्तादृश एव भवति, तदा गाङ्गं पतति अवगन्तव्यम् ॥' (सु.सू.अ. ४५७)

---

[1] जैसा कि 'मार्गस्वभावतः' की टिप्पणी (पृ० २७) में निर्दिष्ट है—सूर्य की ऊष्मा से पृथ्वी का जलीयांश वाष्परूप में उड़कर वायुमंडल में व्याप्त हो जाता है। जब वायुमण्डल वाष्प से संतृप्त हो जाता है और शीत के सम्पर्क से वाष्प संगठित होकर जलकण या बिन्दु रूप में परिणत होकर गुरुता को प्राप्त होता है तब वह वर्षा रूप में पृथ्वी पर गिरता है। वाष्परूप में ऊपर उठने से जल में घुले अन्य सेन्द्रिय या निरिन्द्रिय पदार्थ नीचे ही रह जाते हैं और जब वह वाष्प पुनः जलरूप में नीचे आता है तो अतिस्वच्छ रहता है। किन्तु नीचे गिरते समय यदि मार्ग में वायुमण्डल में धूल आदि निरिन्द्रिय या जीवाणु आदि सेन्द्रिय पदार्थों के सम्पर्क में आता है तब वह पुनः दूषित हो जाता है। ध्यान रहे कि गर्मी के दिनों में वायुमण्डल में धूल आदि अधिक रहते हैं अतएव वर्षा ऋतु के आरम्भ में जल में इनके मिलने की अधिक सम्भावना रहती है। इसी से कहा है 'आर्तवं प्रथमं च यत्।' पृथ्वी पर गिरने पर पुनः जैसी भूमि में जल गिरता या रहता है वहाँ के खनिजलवण तथा अन्य सेन्द्रिय या निरिन्द्रिय द्रव्य उसमें घुल या मिल जाते हैं। इसी से उसके गुणों में विभिन्नता तथा सदोषता भी आती है।

अन्यथा ॥ ३ ॥
सामुद्रं, तन्न पातव्यं मासादाश्वयुजाद्विना ।

स०—अन्यथा सामुद्रमिति । एतल्लक्षणविपर्ययेण येनांऽबुना सिक्तं शाल्यन्नं विवर्णं मलिनं क्लिन्नं भवेत्तत्सामुद्रम् । तच्च न पातव्यम् । अत्रापि पाननिषेध उपलक्षणार्थः । स्नानावगाहावपि ह्यनेन न कार्यौ । समुद्रस्य क्षारान्वयत्वात्क्लेदनादियोगः । ननु सामुद्रमित्युक्तम् । यतः समुद्रशब्दस्य धूमादिपाठाद्धूमादिभ्यश्चेति वुञ् भवितव्यमिति केचित् । नैवम् । धूमादिभ्यश्चेत्यत्रैव गणे पठ्यते समुद्रान्नावि मनुष्ये च वुञ् । सामुद्रिकी नौः सामुद्रिको मनुष्यः । अन्यत्र त्वणेव । सामुद्रं जलमिति । तस्मान्न्याय्यमेवैतत् । एवं सामुद्रो मणिरित्यादयो वेद्याः । अथ किं सदैव तन्न पातव्यं नेत्याह मासादित्यादि । आश्वयुजमंतरेणैतन्न पातव्यम् । आश्वयुजे तु मासि कालस्वाभाव्यात्तत्पथ्यमेवेति भावः । सुश्रुतस्त्वधीते—गांगमाश्वयुजे मासि प्रायो वर्षति तोयदः । तदुपाददीतेत्यादि ॥ ३ ॥

सामुद्र जल का लक्षण—

वि०—अन्यथा वह सामुद्र पानी है, इस पानी को आश्विन मास के बिना नहीं पीना चाहिये ॥ ३ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में कहा भी है—'सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं गाङ्गवद् भवति' ॥

ऐन्द्रमम्बु सुपात्रस्थमविपन्नं सदा पिबेत् ॥ ४ ॥
तदभावे च भूयिष्ठमान्तरिक्षानुकारि यत् ।
शुचिपृथ्वसितश्वेते देशेऽर्कपवनाहतम् ॥ ५ ॥

स०—ऐंद्रमांतरिक्षं जलं गांगं सुपात्रस्थं शोभने भाजने राजतादौ स्थितमविपन्नमदूषितमनिष्टं पिबेत् । न मलिनाशुचि जुगुप्सितपात्रस्थम् । तदभावे तस्यैंद्रस्याभावे भूयिष्ठं बाहुल्येनांतरिक्षमैंद्रं जलं यदनुकरोति स्वच्छादिगुणैः सदृशं तत्पिबेत् । तदेवाह । शुचीश्चासौ पृथ्वसितश्वेतश्च तस्मिन् देशे यज्जलं स्थितम् । तथा अर्कपवनाभ्यामाहतमासमंतात् क्रांतमीदृशमांतरिक्षानुकारि स्यादिति भावः ॥ ४-५ ॥

गाङ्गोदक के अभाव में पेय जल—

वि०—अन्तरिक्ष का जो जल अच्छे पात्र में रखा हो, और जो दूषित न हुआ हो, उस जल को सदा पिये। आन्तरिक्ष जल के अभाव में-जो जल गुणों में अधिकतः आन्तरिक्ष जल के समान हो; पवित्र, विस्तीर्ण, काली या श्वेत पृथ्वी वाले स्थान का हो तथा जिस स्थान पर सूर्यरश्मि और वायु पूर्ण रूप से पहुँचती हो, उस जल को सब ऋतुओं में पिये ॥ ४-५ ॥

वक्तव्य—संग्रह में—'खातधौतशिलापृष्ठवस्त्रादिभ्यः स्रुतं जलम् । हेममृन्मयपात्रस्थमविषं तत् सदा पिबेत् ॥'

इदानीं तादृशं जलं न पेयं तद्दर्शयति—

न पिबेत्पङ्कशैवालतृणपर्णाविलास्तृतम् ।
सूर्येन्दुपवनादृष्टमभिवृष्टं घनं गुरु ॥ ६ ॥

अधुना आंतरिक्षं यन्न पेयं तदाह—

फेनिलं जन्तुमत्तप्तं दन्तग्राह्यतिशैत्यतः ।
अनार्तवं च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत् ॥ ७ ॥
लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम् ।

स०—पंकः कर्दमः । शैवालः शैवालम् । तृणं खटः । पर्णं पत्रम् । आविलं चास्तृतं चाविलास्तृतं पंकादिभिराविलास्तृतं पंकाद्याविलास्तृतम् । यथासंभवमत्र सम्बन्धः । तेन पंकेनाविलं कलुषं शैवालादिभिरास्तृतं संछादितमिति बोध्यम् । तथा सूर्येन्दुपवनैरदृष्टमनासेवितं न पिबेत् । तथा । अभिवृष्टं तत्कालपतितान्यवर्षमिश्रीभूतं कालांतराविश्रांतम् । खरनादे चैवमुक्तम् । वार्षिकं तदहर्वृष्टं भूमिस्थमहितं जलम् । व्युष्टं त्रिरात्रं तच्चैव प्रसन्नममृतोपममिति । तथा घनमस्वच्छम् । तथा गुरु । तथा फेनिलं फेनवत् । तथा जन्तुमत्कीटयुक्तम् । तथा तप्तमुष्णम् । तथा अतिशैत्यतोऽतिजाड्याद्दन्तग्राहि दन्तान् गृह्णाति कार्याक्षमान् करोति तच्छीलं न पिबेदिति प्रतिपदं योज्यम् । इत्ययं प्रायो भूमिष्ठतोयस्य निषेधः । यद्दिव्यं जलमार्तवं न भवति तच्च न पिबेत् । ननु सर्वमेव दिव्यं जलमार्तवम् । कालस्य ऋतुरूपत्वात् । ऋतौ च भवमार्तवम् । एवं च न किंचिदनार्तवं सम्भवति । उच्यते । अनार्तवं न पिबेत् । अर्थादार्तवं पिबेदित्युक्तं भवति तदत्र सामान्योक्तावपि विशिष्टो दिव्यस्य ऋतुर्बोध्यो वर्षाख्यो यस्मिन् काले दिव्यं जलं पेयत्वेनाभ्यनुज्ञायते । यथा वर्षासु दिव्यनादेयेत्यादि । अन्यर्तुभवं त्वनार्तवत्वान्न पेयम् । अत्र च वर्षारूप ऋतुश्चातुर्मासिकोऽभिप्रेतः । अत एवाश्वयुजे मासि दिव्यं जलं पेयत्वेनानुजज्ञे । अन्यथा ह्यनार्तवत्वात्तदपेयमेव स्यात् । आर्तवं प्रथमं च यत् । न केवलमनार्तवं न पिबेत् । यावदार्तवमपि प्रथमं न पिबेत् । कुतो हेतोरित्याह—लूतादीत्यादि । लूता आदिर्येषां ते लूतादयः क्षुद्रजंतवः प्राणिविशेषास्तेषां तन्तुविण्मूत्रविषाणि तन्तुः सूत्राकारविशेषो लालेत्यन्ये । तेषां लूतादितन्तुविण्मूत्रविषाणां संश्लेषः संपर्कस्तेन दूषितं यतस्ततस्तदार्तवमपि न पेयम् । केचित्त्वेवं व्याख्यानयन्ति । आर्तवं प्रथमं च यत्तन्न पेयं लूतादिजंत्वादि च न पेयमिति । संग्रहे चाध्यगीष्ट । घनवस्त्रपरिस्रावैः क्षुद्रजंत्वभिरक्षणम् । व्यापन्नस्यास्य तपनमग्न्यर्कायसपिंडकैः ॥ पर्णीमूलबिसग्रन्थिमुक्ताकतकशैवलैः । वस्त्रगोमेदकाभ्यां वा कारयेत्तत्प्रसादनम् ॥ पाटलाकरवीरादिकुसुमैर्गंधनाशनमिति ॥ ६-७ ॥

अपेय जल—

वि०—अपेय जल—कीचड़, सेवाल, तिनके, पत्ते, इनसे मलिन या आच्छादित, सूर्य, चन्द्रमा और वायु की पहुँच से रहित, नूतन बरसा हुआ, घन (घट्ट या मलिन), भारी, झागदार, कीड़ों वाला, धूप से गरम, बहुत ठण्डा होने से दाँतों को जड़ बना देने वाला तथा ऋतु के बिना बरसा हुआ एवं ऋतु में भी जो पहले पहल बरसा हो, मकड़ी आदि

तथा वस्त्र आदि के तन्तु, मल, मूत्र, विष संपर्क से जो जल दूषित हुआ हो, वह जल पीने के अयोग्य है ॥ ६-७ ॥

वक्तव्य—'वार्षिकं तदहर्वृष्टं भूमिष्ठमहितं जलम्। व्युष्टं द्विरात्रं तच्चैव प्रसन्नममृतोपमम् ॥' इसलिये दूसरे दिन बरसात का जल पीना चाहिये। पानी के दोष को अगस्त्य नक्षत्र प्रायः दूर करता है। इसी से ज्योतिःशास्त्र में—'सलिलममरपाङ्गयोज्झितं यद् घनपरिवेष्टितमूर्तिभिर्भुजङ्गैः। फणजनितविषाग्निसम्प्रदुष्टं भवति, शिवं तदगस्त्यदर्शनेन ॥' (बृ. सं. अ. १२।१२) इसीलिये हंसोदक पानी में कहा है कि 'अगस्त्येनाविषीकृतम्' (च. सू. अ. ६।४६)। तन्तु का अर्थ—कपड़े के या वृक्ष के तन्तु के सिवाय मकड़ी के तन्तु, विन्मूत्र आदि भी टीकाकारों ने दिया है।

इदानीं नदीर्निरूपयन्नाह—

पश्चिमोदधिगाः शीघ्रवहा याश्चामलोदकाः ॥ ८ ॥
पथ्याः समासात्ता नद्यो विपरीतास्त्वतोऽन्यथा।

स०—नद्यः समासात्संक्षेपतः पथ्या हिताः। का इत्याह। या पश्चिमंमुदधिं समुद्रं गच्छंतीति पश्चिमोदधिगाः। अन्यत्रापि दृश्यत इति डः। तथा शीघ्रवहा वेगवत्यः। तथाऽमलोदका निर्मलसलिलाः। एवं त्रिविशेषण विशिष्टाः पथ्याः। अतोऽन्यथा पुनरन्यथा विपरीतलक्षणास्ता विपरीता अपथ्याः ॥ ८ ॥

नदियों का पथ्यापथ्य जल—

वि०—नदी-जल—नदियाँ जो पश्चिम समुद्र में गिरती हैं, तेज बहती हैं और जिनका पानी निर्मल है; इन तीन गुणों वाली नदियाँ सामान्य रूप से पथ्य हैं, और इन गुणों से विपरीत-गुणों वाली नदियाँ अपथ्य हैं ॥ ८ ॥

वक्तव्य—बरसात के पानी के अभाव में पेय पानी आठ स्थानों से मिलता है; यथा 'कौपसारसताडागचौण्ढ्यप्रास्रवणौद्भिदम्। वापीनदीतोयमिति तत्पुनः स्मृतमष्टधा ॥' नदी के जल में उपर्युक्त तीनों गुण होने पर ही वह पथ्य होता है।

उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः ॥ ९ ॥
हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्यास्ता एव च स्थिराः।
कृमिश्लीपदहृत्कण्ठशिरोरोगान् प्रकुर्वते ॥१०॥

स०—हिमवांश्च मलयश्च हिमवन्मलयौ ताभ्यामुद्भूताः। संजाताः पथ्याः किं सर्वा एव नेत्याह। उपलेत्यादि। उपला नामास्फालनमुपलास्फालनं तेनाक्षेपः क्षोभस्तेन विच्छेदा विश्लेषा उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदास्तैः खेदितं जातक्षोभमुदकं यासां ताः खेदितोदका या हिमवन्मलयोद्भूतास्ता एव पथ्याः। यास्त्वेवंभूता न भवन्ति ता अपथ्याः। स्थिरा इति। ता एवाऽवहन्त्यः सत्यः कृम्यादीन् कुर्वंते। हृच्च कण्ठश्च शिरश्च तेषां रोगाः कृमयश्च श्लीपदं च हृत्कण्ठशिरोरोगाश्चेति द्वन्द्वः। मुनिरपि हिमवत्प्रभवानां पथ्यत्वमाह। कृष्णात्रेयसुश्रुतौ त्वपथ्यत्वमाहतुः। अत एवायं ग्रन्थकारो युक्त्या मतद्वयमपि संगिरमाणो विशेषणमुपन्यस्तवानुपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदका इति। तेन या एवंविधा भवन्ति ता न पथ्या इति ॥ ९-१० ॥

वि०—हिमालय और मलयाचल से उत्पन्न होने वाली जिन नदियों का पानी पत्थरों से टकराने के कारण विक्षोभित होकर जाता है, ऐसे पानी वाली नदियाँ पथ्य हैं; और इन्हीं नदियों का पानी जब स्थिर बन जाये, तब वह कृमि, श्लीपद, हृदयरोग, कण्ठरोग और शिरोरोगों को उत्पन्न करता है ॥ ९-१० ॥

वक्तव्य—पत्थरों से टकराने के कारण पानी लघु हो जाता है। यही नदियाँ जब स्थिर रहती हैं—तब रोगोत्पादक हैं। चरक में हिमालय से उत्पन्न नदियों को जो पथ्य कहा है, उसका कारण पानी का पत्थरों से टकराना है; और सुश्रुत ने जो इन नदियों को रोगोत्पादक कहा है, वह इन नदियों के पानी को स्थिर मान कर कहा है।

प्राच्यावन्त्यपरान्तोत्था दुर्नामानि, महेन्द्रजाः।
उदरश्लीपदातङ्कान्, सह्यविन्ध्योद्भवाः पुनः ॥ ११ ॥
कुष्ठपाण्डुशिरोरोगान्, दोषघ्न्यः पारियात्रजाः।
बलपौरुषकारिण्यः, सागराम्भस्त्रिदोषकृत् ॥ १२ ॥

स०—प्राच्यादिजा नद्यो दुर्नामान्यर्शांसि कुर्वंते। प्राच्या गौडाः। आवन्तयो मालवाः। अपरान्ताः कौंकणाः। महेंद्रजा नद्य उदरादीन् कुर्वंते। सह्यविंध्यपर्वतोत्थाश्च पुनः कुष्ठादीन् कुर्वंते। पारियात्रे जाता दोषघ्न्यो भवन्ति ॥ ११-१२ ॥

वि०—पूर्व अवन्ती तथा पश्चिम देश से उत्पन्न होने वाली नदियाँ अर्श रोग को उत्पन्न करती हैं। महेन्द्र पर्वत से उत्पन्न होने वाली नदियाँ उदर रोग और श्लीपद रोग को उत्पन्न करती हैं। सह्याद्रि और विन्ध्याचल से उत्पन्न नदियाँ कुष्ठरोग, पाण्डुरोग और शिरोरोग को उत्पन्न करती हैं। पारियात्र पर्वत से उत्पन्न नदियां दोषनाशक, बल एवं पौरुष देनेवाली हैं। समुद्र का जल त्रिदोषकारक है ॥ ११-१२ ॥

वक्तव्य—प्राच्य का अर्थ गौड़, अवन्ती—उज्जैन, चरक में पारियात्र पर्वत से उत्पन्न नदियों को अपथ्य कहा है; उसमें हेमाद्रि की मान्यता है कि 'दरीजा' (पर्वत की गुहा में से उत्पन्न) नदियां अपथ्य हैं; तडागजन्य पथ्य हैं। इसमें प्रमाण उन्होंने दिया है कि 'तडागजं दरीजं च तडागाद्यत्सरिज्जलम्। बलारोग्यकरं तत्स्याद्दरीजं दोषलं मतम् ॥' यही कारण चक्रपाणि ने भी सुश्रुत-चरक के विरोध को मिटाने में माना है।

विद्यात्कूपतडागादीन् जाङ्गलानूपशैलतः।

स०—आदिशब्देन संग्रहोक्ता गृह्यन्ते। यथा। कौपसारसताडागचौंढ्यप्रास्रवणौद्भिदम्। वापीनदीतोयमिति

तत्पुनः स्मृतमष्टधा। कौपं स्वादु त्रिदोषघ्नं लघु पथ्यं च सर्वदा। क्षारं तु कफवातघ्नं दीपनं पित्तकृत्परम्। कषायबहुलं श्लेष्मपित्तघ्नं वातकृच्च तत्। तृष्णाघ्नं सारसं वल्यं कषायमधुरं लघु। औद्भिदं स्वादु पित्तघ्नं दीपनं गुरु किंचन। सारं च कटु वाप्यंबु पित्तघ्नं कफवातजित्। लध्वल्पदोषं सुस्वादु नववापीष्ववार्षिकम्। अनभिष्यंदि नादेयं कटुकं कफपित्तजित्। विशदं वातलं रूक्षमनवस्थितलाघवम्। सुश्रुते चैषां लक्षणमुक्तम्। तथा। भूम्युत्खातसमुद्भूतमिंद्रनीलसमप्रभम्। विमलं मधुरास्वादं कौपं जलमुदाहृतम्। नद्याः शैलवराद्वापि सृतमेकांतसंस्थितम्। कुमुदांभोजसंछन्नं वारि सारसमुच्यते। प्रशस्तभूमिभागस्थे नैकसंवत्सरोषितम्। कषायमधुरास्वादं ताडागं सलिलं स्मृतम्। स्वयंशीर्णशिलाश्वभ्रे नीलोत्पलनिभं जलम्। लतावितानसंछन्नं बुधैश्चौंडेयमुच्यते। शैलसानुसमुद्भूतं स्पष्टं वातहिमातपैः। लघु शीतामलं स्वादु स्मृतं प्रास्रवणं जलम्। विदार्य भूमिमुद्भूतं महत्या धारया स्रवत्। यज्जलं वेदितव्यं तदौद्भिदं स्वादु शीतलम्। पाषाणैरिष्टकाभिर्वा बद्धा स्याद्या तु कूपवत्। वापी सा खलु विज्ञेया कृतसोपानपंक्तिका। नद्यां शैलप्रसूतायां गोमेदकमणिप्रभम्। प्रशस्तभूमिभागस्थं जलं नादेयमुच्यत इति। पौषादिद्वितयेष्वष्टं विशेषेण क्रमाज्जलम्। सरस्तडागयोः कूपांचड्योः प्रस्रवणौद्भिदोः। कूपेंद्रयोः कूपचुंडयोः सर्वपथ्यं ततः परम्। तदेतान् कूपादीन् जांगलानूपशैलान् समाश्रित्य जातान् विद्यात्। जांगलादिदेशजान् यथायोगं लघून् गुरूंश्च जानीयादित्यर्थः। तत्र जांगलदेशे कूपादीनां सप्तानां बहूदकसम्बन्धाभावाल्लघुत्वं वेद्यम्। आनूपे तु बहूदकसम्बन्धाद्गुरुत्व वेद्यम्। शैले तूदकाल्पतया लघुतरत्वं वेद्यम्। तथा च संग्रहे धन्वानूपमहीध्राणां सामीप्याद्गुरुलाघवमिति।

कूपादि का जल

वि०—कूपादि का जल— कूएँ, तड़ाग आदि के जल का गुण-दोष जाङ्गल, आनूप या पर्वत के अनुसार समझना चाहिये। अर्थात् जांगल, आनूप या पर्वत में जैसा गुण-दोष होगा, वैसा ही वहाँ के पानी में होगा।

वक्तव्य—इसी से संग्रह में कहा है—'धन्वानूपमहीध्राणां सामीप्याद् गुरु लाघवम्। नदीकूपतडागोद्भिद्-वाप्यादिषु विशिष्यते। आनूपे गौरवादम्बु शैले धन्वनि लाघवात्॥' जांगल देश का पानी लघु, आनूप देश का पानी; भारी, पर्वतीय पानी लघु है।

इदानीं केषांचिज्जलपाननिषेधमाह—

नाम्बु पेयमशक्त्या वा स्वल्पमल्पाग्निगुल्मिभिः ॥१३॥
पाण्डूदरातिसारार्शोग्रहणीशोषशोथिभिः।
ऋते शरन्निदाघाभ्यां पिबेत्स्वस्थोऽपि चाल्पशः ॥१४॥

स०—अल्पाऽग्न्यादिभिरंबु न पेयम्। सर्वथैषां जलपाननिषेधप्रत्यवायमाशंकमान इदमाह। अशक्त्या वा पिपासासहिष्णुभिरत्यल्पं स्वल्पं पेयम्। यावन्मात्रेण प्रत्यवायो न भवति तावदेव पेयमित्यर्थः। अल्पाग्नयश्च गुल्मिनश्चेति द्वन्द्वः। पांड्वादीनां सप्तानां द्वन्द्वः। ततो मत्वर्थीय इनिः। शरन्निदाघाभ्यामन्तरेण स्वस्थोऽप्यल्पशः पिबेत् किं पुनरातुरः। संग्रहे त्वेवमुवाच। काममल्पमशक्तौ तु पेयमौषधसंस्कृतम्। पाषाणरूप्यमृद्धेमजाततापार्कतापितम्। पानीयमुष्णं शीतं वा त्रिदोषघ्नं तृडर्तिजिदिति ॥ १३-१४ ॥

जल पीने के अयोग्य रोगी—

वि०—जिनकी अग्नि मन्द हो; गुल्म रोगी, पाण्डुरोगी, उदर रोगी, अतिसार, अर्श-ग्रहणी-शोष एवं शोथ रोगी को पानी नहीं पीना चाहिये। परन्तु यदि प्यास रोकी ही न जा सके, अतिशय अशक्ति हो, तब थोड़ा पानी पीना चाहिये। शरद् और ग्रीष्म ऋतु को छोड़ कर स्वस्थ मनुष्य को भी थोड़ा-थोड़ा ही पानी पीना चाहिये ॥ १३-१४ ॥

वक्तव्य—संग्रह में कहा है 'काममल्पमशक्तौ तु पेयमौषधसंस्कृतम्। पाषाणरूप्यमृद्धेमजतुतापार्कतापितम्। पानीयमुष्णं शीतं वा त्रिदोषघ्नं तृडर्त्तिजित्॥' पानी को पकाकर पीना उत्तम है। विशेष अवस्थाओं में औषध के साथ षडङ्ग पानीय विधि से पकाना चाहिये, अर्थात् एक तोला औषध लेकर चौसठ तोला पानी में पकाये, जब आधा रह जाय तब पीने को देना चाहिये।

समस्थूलकृशा भुक्तमध्यान्तप्रथमाम्बुपाः।

स०—समाश्च स्थूलाश्च कृशाश्च समस्थूलकृशाः। मध्यं च अंतश्च प्रथमश्च मध्यान्तप्रथमाः। भक्तस्य मध्यान्तप्रथमाः भक्तमध्यान्तप्रथमाः। तेषु कालेषु येंऽबु पिबन्ति ते भक्तमध्यांतप्रथमांबुपाः, यथाक्रमं समाः स्थूलाः कृशाश्च भवन्तीत्यर्थः। भक्तमध्येंऽबु पीतं धातुसाम्यं समानतां करोति। भक्तांते तु पीतमामाशये कफवृद्धिं विदधत्स्थौल्यमाधत्ते। भक्तादौ च पीतं निरिंधनमग्निं तेजःप्रतिपन्नतयाऽवश्यमवसादयति। मन्दोऽग्निश्च सम्यगाहारं पक्तुमशक्तो भवति। आहारस्य च सम्यगपाकान्न तथा पुष्टिरिति कृशत्वे युक्तिः। तथा च संग्रहे। भक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशांगताम्। अन्ते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वमामाशयात्कफम्। मध्ये मध्यं गतं साम्यं धातूनां जरणं सुखम्।

भोजन के समय जलपान से गुणावगुण—

वि०—भोजन के मध्य में पानी पीने से शरीर समान रहता है, भोजन के अन्त में पानी पीने से शरीर में स्थूलता आती है, भोजन के प्रारम्भ में पानी पीने से शरीर में कृशता आती है।

वक्तव्य—संग्रह में कहा है-'भुक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशाङ्गताम्। अन्ते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वं चामाशयात्कफम्। मध्ये मध्याङ्गतां साम्य धातूनां जरणं सुखम्॥'

शीतं मदात्ययग्लानिमूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान् ॥ १५ ॥
तृष्णोष्णदाहपित्तास्रविषान्यम्बु नियच्छति।

स०—शीतमम्बु मदात्ययादीन्नियच्छति पराकरोति। मदात्ययो मद्योत्थो रोगः। ग्लानिः क्लांतिः। मूर्छा मोहः। छर्दिर्वमिः। श्रमः खेदः। भ्रमोऽनवस्थितिः। तथा तृष्णादीनि नियच्छति। एवं गुणमप्यामं क्वचिन्नेष्यते। तथा चोक्तं संग्रहे। अनवस्थितदोषाग्नेर्व्याधिक्षीणबलस्य च। नाल्पमप्याम मुदकं हितं तद्धि त्रिदोषकृत् ॥ १५ ॥

शीतल जल के गुण—

वि०—शीतल जल मदात्यय, ग्लानि, मूर्च्छा, वमन, थकान, चक्कर आना, प्यास, गरमी, जलन, पित्तरक्त और विष इनको नष्ट करता है ॥ १५ ॥

वक्तव्य—शीतल जल में इतने गुण होने पर भी कुछ अवस्थाओं में यह निषिद्ध है; यथा—'अनवस्थितदोषाग्नेर्व्याधिक्षीणबलस्य च। नाल्पमप्याममुदकं हितं, तद्धि त्रिदोषकृत् ॥' (संग्रह सू. अ. ६)

अधुनोष्णांबुगुणानाह—

दीपनं पाचनं कण्ठ्यं लघूष्णं वस्तिशोधनम् ॥ १६ ॥
हिध्माध्मानानिलश्लेष्मसद्यःशुद्धिनवज्वरे ।
कासामपीनसश्वासपार्श्वरुक्षु च शस्यते ॥ १७ ॥

स०—दीपनादिगुणयुक्तमुष्णमंबु भवति। बस्तिशब्देन तात्स्थ्यान्मूत्रं गृह्यते तेन मूत्रशोधनमित्यात्रार्थो बोध्यः। हिध्माऽध्मानादिषु च शस्यते। कासश्च आमश्च पीनसश्च श्वासश्च पार्श्वरुक् च तासु च शस्यते। आमोऽपक्व आहार इत्यर्थः। केचित्त्वामपीनस इति पीनसविशेषणमामशब्दमाहुः। तैरजीर्ण उष्णाम्बु नोक्तं स्यात्। अजीर्णे चालसकादिरूपे जलमुष्णमिष्यत एव ॥ १६-१७ ॥

गरम जल के गुण—

वि०—उष्णोदक-गरम पानी-अग्निदीपक, पाचन करने वाला, कण्ठ के लिये हितकारी, लघु तथा मूत्राशयशोधक है; हिक्का, आध्मान, वात, कफ, सद्यःशुद्धि (जिस दिन वमनादि शोधन कर्म किया हो) के बाद, नव ज्वर, कास, आम, पीनस, श्वास और पार्श्वशूल में प्रशस्त है ॥१६-१७॥

वक्तव्य—गरम पानी के प्रकार और गुण—'क्षीणपादत्रिभागार्धदेशर्तुगुरुलाघवात्। क्वथितं फेनरहितमवेगममलं हितम् ॥' चरक में ज्वर में गरम पानी के लिये कहा है—'ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः, प्रायो भेषजानि चामाशयसमुत्थानां विकाराणां पाचनवमनापतर्पणसमर्थानि भवन्ति; पाचनार्थं च पानीयमुष्णं तद्धि तेषां पीतं वातमनुलोमयति; अग्निं चोदर्यमुदीरयति; क्षिप्रं जरां गच्छति; श्लेष्माणं परिशोषयति; स्वल्पमपि च पीतं तृष्णाप्रशमनायोपकल्पते।' (च. वि. अ. १।४०) जिस पानी का एक भाग कम हो, वह पित्त में; आधा भाग कम हुआ हो, वह वायु में, और तीन भाग कम हुए हों वह कफ में देना चाहिए। गरम करने से पानी हल्का हो जाता है।

अधुना क्वथितशीतलं निर्दिदिक्षुराह—

अनभिष्यन्दि लघु च तोयं क्वथितशीतलम् ।
पित्तयुक्ते हितं दोषे, व्युषितं तत्त्रिदोषकृत् ॥ १८ ॥

स०—अनभिष्यंदि न श्लेष्मकारि। लघुगुणयोगोऽम्भसोऽस्त्येव। पुनर्लघुत्वकथनमग्निसंस्कारवशाल्लघुतरत्वप्रतिपत्त्यर्थम्। अथवा। आधारवशादक्वथितमंभो लघ्वपि यद्गुरु सम्पन्नं तदपि क्वथितशीतलं लघु भवति। शीतलत्वादभिष्यंदित्वं यत्तोयस्य प्राप्तं तत्क्वथितशीतलत्वे चाऽस्य निषिद्धम्। मदात्ययादिहंतृत्वं तु यच्छीतलत्वसामान्यात्तदस्यास्त्येव। न केनचिन्निषेद्धुं संभाव्यते। पित्तयुक्त इत्येकवचनमविवक्षितम्। तेन वातपित्ते पित्तश्लेष्मणि सन्निपाते च यत्र पित्तयोगः पित्ताधिकत्वं दृश्यते तत्रैव क्वथितशीतलं हितम्। संग्रहोक्तं च क्वथनलक्षणं संक्षेपाभिप्रायेणेह नोक्तम्। यथा। क्षीणपादत्रिभागार्धं देशर्तुगुरुलाघवात्। क्वथितं 'फेनरहितमवेगमलं हितमिति। अस्यार्थः शिष्यव्युत्पत्त्यै दर्श्यते। धन्वसाधारणानूपेषु देशेषु क्रमशः क्षपितचतुर्भागत्रिभागार्धसलिलमधिश्रपयेत्। जांगलो हि देशोऽनिलानलाभ्यां भूयिष्ठमधिष्ठितस्तेनात्र तोयं लाघवादाशु विशुद्धिं प्राप्नोति। आनूपस्तु भूमिसोमगुणबहुलस्तत्र गुरुत्वादिगुणयोगाच्चिरेण विशुद्धिमश्नुते। एवं साधारणो देशश्चिंत्यः। तथा। ऋतुष्वपि यथायोगमयमेव क्रमो बोध्यः। सुश्रुतेनोक्तम्। यत्क्वथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु। चतुर्भागावशिष्टं तु तत्तोयं कफरोगनुत्। तत्पादहीनं पित्तघ्नं हीनमर्धेन वातनुदिति। संग्रहोक्तमेव ग्रन्थमिमं केचिदत्राऽपि पठन्ति। तथा। पानीयं नतु पानीयं पानीयेऽन्यप्रदेशजे। अजीर्णे क्वथितं चामे पक्वे जीर्णेऽपि नेतरत्। शीते विधिरयं तप्ते त्वजीर्णे शिशिरं त्यजेत्। अतियोगेन सलिलं तृष्यतोऽपि प्रयोजितम्। प्रयाति श्लेष्मपित्तत्वं ज्वरितस्य विशेषत इति। अन्यप्रदेशजे पानीयेऽजीर्णे पानीयं जलं न पेयम्। एतदुक्तं भवति। पानीये पीते तज्जरणांतं यावद्विजातीयं जलं न पेयमिति। अन्यप्रदेशज इति। कोऽर्थः। कौपे पीते ताडागं न पेयम्। ताडागे पीते कौपं न पेयम्। एवं सर्वत्र चिंत्यम्। तथा आमेऽपक्वे जलेऽजीर्णे क्वथितं च जलं न पेयम्। क्वथिते पीते जीर्णेऽपि नेतरच्चामं जलं यावन्न भुंक्ते तावत्सजातीयमपि न पेयमित्यर्थः। शीते विधिरयम् क्वथितशीत एतद्विधानमित्यर्थः। तुरवधारणे। तप्तेऽजीर्ण एव शिशिरं त्यजेत्। जीर्णे तु शीतं पिबेदित्यर्थः। अतियोगेनातिबाहुल्येन तृष्यतस्तृष्णावतोऽपि प्रयोजितमुपयुक्तं सर्वस्यापि नरस्य श्लेष्मपित्ततां याति। ज्वरितस्य विशेषतो यत आमे नाग्नौ बहिष्कृते ज्वरस्योत्पत्तिः। आमस्य च पानीयं वर्धकमिति। संक्षेपतयाल्पोपयोगित्वाच्चाऽवश्यायादिगुणा ग्रन्थकृता नोक्ताः। तांश्चाऽत्र शिष्यहिताय ब्रूमः। रूक्षस्तनुरवश्यायः शीतो वातास्रकोपनः। पानतृड्दाहपितास्रकुष्ठोरुस्तम्भमेहजित्। ग्रीष्मे तु सर्वजन्तूनां स्पर्शनादिषु शस्यते। पद्मिन्यंबु च पित्तघ्नं कफकृद्विरसं गुरु। हिमं तु शीतलं रूक्षं दारुणं

सूक्ष्ममेव च ॥ कफं न संदूषयति न पित्तं न च मारुतम् । तथाऽश्मवर्षप्रलये हिमाद्रूपांतरं गुणैः ॥ चराचराणामहितं तुषारं त्वग्निनाशनम् । वैकारं लघु सक्षारं श्लेष्मघ्नं वह्निदीपनम् ॥ केदारं मधुरं प्रोक्तं विपाके गुरु दोषलम् । तद्वत्पाल्वलमुद्दिष्टं विपाके दोषलं तु तत् ॥ अनेकदोषमानूपं वार्यभिष्यंदि गर्हितम् । एभिर्दोषैरसंयुक्तं निरवद्यं तु जांगलम् ॥ पाके विदाहि तृष्णाघ्नं प्रशस्तं प्रीतिवर्धनम् । दीपनं स्वादु शीतं च तोयं साधारणं लघु ॥ चन्द्रकान्तभवं रक्षोविषपित्तज्वरापहम् । रत्नाकरसमुत्थं च सर्वदोषकरं मतमिति ॥ १८ ॥

क्वथित शीतल जल के गुण—

वि०—गरम करके ठण्डा किया पानी—अनभिष्यन्दी तथा लघु होता है एवं पित्त युक्त विकारों में हितकारी है । उबाल कर ठण्डा किया पानी बासी होने या अधिक देर तक रखने पर त्रिदोषकारक[1] हो जाता ॥ १८ ॥

वक्तव्य—पित्तयुक्त वात, पित्त और कफ और सन्निपात में जहां पित्त की अधिकता हो वहां इस पानी को देना चाहिये। पानी को उबालने के लिये सुश्रुत में 'यत्क्वाथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु । चतुर्भागावशिष्टं तु तत्तोयं कफरोगनुत् । तत्पादहीनं पित्तघ्नं हीनमर्धेन वातनुत् ॥'

संग्रह में कुछ श्लोक दिये हैं; 'पानीयं न तु पानीयं पानीयेऽन्यप्रदेशजे । अजीर्णे क्वथितं चामे पक्वे जीर्णेऽपि नेतरत् ॥ शीते विधिरयं तप्ते त्वजीर्णे शिशिरं त्यजेत् । अतियोगेन सलिलं तृष्यतोऽपि प्रयोजयेत् । प्रयाति श्लेष्मपित्तत्वं ज्वरितस्य विशेषतः ।' अर्थात् एक स्थान (नदी, कुआँ आदि) का जल पीने के बाद जब तक पहले पिये हुए जल का पाचन न हो जाय दूसरे स्थान का जल नहीं पीना चाहिए; इसी प्रकार ठंडा जल के बाद पाचन के पूर्व गरम जल नहीं पीना चाहिए। किन्तु गर्म जल के बाद उसका पाचन हो जाने पर भी बिना कुछ खाये दूसरा जल नहीं पीना चाहिए। तथा शीत (शृतशीत) जल में भी पाचन हो जाने के बाद ही शीत (बिना पकाया) जल पिये। प्यास तीव्र होने पर भी विशेषतः ज्वर में अत्यधिक मात्रा में जल पीने से श्लेष्मपित्त विकार उत्पन्न हो जाता है।

नारिकेलोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु ।
तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥ १९ ॥

स०—नालिकेरांतःस्थितमुदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं च भवति। एवंभूतमपि प्रभावाल्लघु भवति। तथा तृष्णादिहरं दीपनं मूत्रशोधनं च भवति ॥ १९ ॥

नारिकेल जल के गुण—

वि०—नारियल के जल का गुण—नारियल का पानी स्निग्ध, स्वादु, वृष्य, शीतल, लघु, तृष्णा, पित्त और वायुनाशक, अग्नि-दीपक और मूत्राशय-शोधक है ॥ १९ ॥

इदानीं युक्त्याऽप्यसंग्रहं निर्दिशति—

वर्षासु दिव्यनादेये परं तोये वरावरे ।

स०—प्रावृष्यांतरिक्षं जलं परमत्यंतं पथ्यम् । नदीसंभवं त्वपथ्यमिति तोयवर्गः ।

आन्तरिक्ष जल के गुण—

वि०—वर्षा ऋतु में आन्तरिक्ष जल श्रेष्ठ है, और नदी का जल निकृष्ट है।

वक्तव्य—चरक में 'आन्तरिक्षमुदकानाम्'—यह कहकर सबसे श्रेष्ठ बताया है।

अथ दुग्धादिवर्गः ।

परिशेषेभ्यो वर्गेभ्यः प्राग्बहुजनोपयोगितयोपकारित्वेनाजन्मसात्म्येन प्राधान्यात्पयःसंज्ञासामान्यात्पयस इव जीवनादिगुणयोगाच्च तोयवर्गादनु क्षीरसर्गः प्रक्रम्यते । तत्रादीनां मूलकारणत्वात्क्षीरस्य प्रागुपादानम् । तथा । जीवनीयानां रसायनानां चाग्रेसरत्वात् । तथा चाष्टांगसंग्रहे । क्षीरं जीवनीयानां क्षीरघृताभ्यासो रसायनानामित्यादि ।

[गव्यं माहिषमाजं च कारभं स्त्रैणमाविकम् ।
ऐभमैकशफं चेति क्षीरमष्टविधं मतम् ॥]
स्वादुपाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्धनम् ॥ २० ॥
वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम् ।
प्रायः पयः—

स०—पयः क्षीरं प्रायः स्वादुपाकरसादियुक्तं भवति। पाकश्च रसश्च पाकरसौ। स्वादू पाकरसौ यस्य तदेवम्। ओजसे हितमोजस्यम् । धातून् वर्धयति धातुवर्धनम् । वृष्यं शुक्रकरमतिशयेनेति बोध्यम् । धातुवर्धनत्वादेव शुक्रकरत्वमात्रस्य सिद्धेः प्रायोग्रहणात्कदाचित्क्षीरं नैवं भवति । तथा चोष्ट्रीक्षीरमीषद्रूक्षोष्णलवणं पठ्यते। अजाक्षीरं च लघु। आविकमुष्णमैकशफमुष्णं साम्ललवणं चेति । तस्मात्प्रायोग्रहणं कृतम् । स्वादुपाकरसत्वादेव क्षीरस्य स्निग्धवृष्यादयो गुणा लब्धा एव किं पुनरेतैरुद्दिष्टैरिति केचित् तान् ब्रूमहे। मधुररसादिकेभ्योऽपरे स्निग्धवृष्यादयो गुणा बहुतराः क्षीरस्य विद्यंत इति ज्ञापनायैते स्निग्धादयो गुणाः पुनरुद्दिष्टाः । महाभूतानां हि संयोगादिविशेषात्कदाचिद्रससहचरिता एव गुणा द्रव्यमभिनिविशंते ये रसे समाधाय वर्ण्यंते। यथा मधुर आयुष्यादिगुणाः। अम्लेऽग्निदीप्तिकृदादयः। केचिच्च रसमनपेक्ष्यैव द्रव्ये निविशंते । यथा मधुररसद्रव्ये मकुष्टतंडुलीयादौ रूक्षादयो गुणाः । तथाहि स्निग्धादीनां तत्रोपलंभः प्राप्तो मधुररसाश्लिष्टत्वात् । तस्मान्मकुष्टादिद्रव्यं मधुररससहचरोक्तेन गुणौघेन संयुक्तं वक्तुं युक्तम् । अन्यथा तु कृतं षड्रसगुणस्वरूपवर्णनमनर्थमेव स्यात् । तस्मादयमत्र विषयविभागो ज्ञेयः । केचिद्गुणा रससहचरिता द्रव्ये निवसन्ति । यद्वशात्तद्द्रव्यं रसगुणाननुवर्तते । ईदृशं च

---

[1] त्रिदोषकृत्-तीनों दोषों को करता है; यथा-'कालस्वभावात्; वह्निगुणभ्रंशात्, अम्लविपाकाच्च ॥' चक्रपाणि ने—'शृतं तोयं दिवा रात्रौ गुरु रात्रिशृतं दिवा ॥' ऐसा कहा है।

विशेषमुद्दिश्य तन्त्रकृद्भिर्मधुरादिरसानां स्निग्धादिगुणा वर्णिता वेद्याः। केचित्तु रसनिरपेक्षा एव द्रव्ये निवसन्ति। अत एव तद्द्रव्यं रसगुणान्नानुवर्तते। अस्मिंस्तु विषये रसगुणवर्णनं नोक्तमेव वेद्यम्। तस्मात्क्षीरस्य स्निग्धादियोगात्स्वादुपाकरसत्वे सत्यपि स्निग्धादिगुणवर्णनम्। एवं चोभयथा क्षीरस्य स्निग्धादिगुणयोगादधिकाः स्निग्धादयो ये गुणास्तेऽस्य संतीत्यवगच्छ। अयमेव च व्यवहारोऽन्यत्राऽप्येवंविधे शाल्यादौ द्रव्ये विशेषः। ननु स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रस इति वक्ष्यते। ततश्च स्वादुरसत्वादेव स्वादुपाकत्वं लब्धं तत्किं पाकग्रहणेन। भणामः। शालिपिष्टमयं सर्वं गुरुभावाद्विदह्यत इत्युक्तं तदेवं क्षीरं गुरुगुणयुक्तमपि विदाहावस्थायां चिरं न तिष्ठति। प्रागेव स्वादुपाकतां यातीतीममर्थं ज्ञापयितुं पाकग्रहणम्। स्त्रीणां चाहाररस एवापत्यस्नेहात्क्षीराय संपद्यते। तथा च दारुवाहिः। स्त्रीणामपत्यजाद्धर्षाद्रसः स्नेहाय कल्पते। स्नेहाद्रसः क्षरत्येवं हृदयात्क्षीरमेत्यत इति। गव्यस्य च पूर्वतरमुपादानं सर्वक्षीरेभ्यो ज्यायस्त्वात्तथा माहिषमपि तक्रादि गोरसशब्देन प्रथितमिति ॥ २० ॥

दूध के भेद—

वि०—[दूध—दूध आठ प्रकार का होता है। जैसे–गाय, भैंस, बकरी; ऊंटनी, स्त्री (मनुष्य), भेड़, हथिनी और एक खुरवाली घोड़ी या गधी का।]

दूध के साधारण लक्षण—

वि०—प्रायः सभी दूध मधुर विपाक, मधुर रस, स्निग्ध; ओज के लिये हितकारी; धातुवर्धक; वात-पित्तशामक; वृष्य; कफकारक, गुरु एवं शीतल है ॥ २० ॥

वक्तव्य—दूध आठ प्रकार का है यह पहले कहा जा चुका है। उनमें चूंकि ऊंट का दूध नमकीन होता है; इसलिये आचार्य ने प्रायः शब्द दिया है। स्त्रियों में दूध बच्चे के स्नेह के कारण बनता है; यथा–'स्त्रीणामपत्यजाद्धर्षाद् रसः क्षीराय कल्पते। स्नेहाद्रसः क्षरत्येवं हृदयात्क्षीरमेत्यतः ॥'

अत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् ॥ २१ ॥
क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं सरम्।
श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः ॥ २२ ॥
जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत्।

स०—एषु क्षीरेषु मध्ये गव्यं पुनः क्षीरं जीवनीयमतिशयेनेति बोद्धव्यम्। जीवनीयमात्रस्यौजस्यामित्यनेनैव क्षीरसामान्यलक्षणेनोक्तत्वात्। ओजस्यं हि जीवनीयमुच्यते। तथा। ह्योजःक्षये जीवनीयानामौषधानामुपयोगो निर्दिष्टः। यथा। ओजः क्षीतकोपादिभिरित्युक्त्वानन्तरमुवाच जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजमिति। अत्र च क्षीरं जीवनीयत्वेन गृहीतमपि पुनरुक्तं प्राधान्यख्यापनार्थम्। तथा च मुनिः। प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनमिति। रसवीर्यविपाकानां श्रेष्ठानां लाभोपायो रसायनम्। तथा चोक्तम्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनमिति। तथा क्षतक्षीणहितम्। क्षीणाय हितम्। क्षीणः क्षीणधातुः। तथा मेधा धारणाशक्तिस्तस्यै हितं मेध्यम्। उगवादिभ्यो यदिति यत्। एवं बल्यम्। तथा स्तन्यकरम्। कृञो हेतुताच्छील्येति हेतौ टः। स्त्रीणां स्तन्यकरणे हेतुरित्यर्थः। तथा सरम्। श्रमादींश्चैकादश नाशयेत् ॥ २१-२२ ॥

गोदुग्ध के गुण—

वि०—गाय का दूध—गाय का दूध जीवनीय (जीवन के लिये उपयोगी); रसायन (प्रशस्त धातुओं को उत्पन्न करने वाला); क्षतक्षीण रोगी के लिये हितकारी, मेधावर्धक, बलवर्धक, दूध को बढ़ाने वाला एवं मृदु रेचक है। थकान, चक्कर आना, मद, अलक्ष्मी, श्वास, कास, अतिप्यास, भूख, जीर्णज्वर, मूत्रकृच्छ्र और रक्तपित्त इन रोगों को नष्ट करता है ॥ २१-२२ ॥

वक्तव्य—गाय के दूध और ओज के गुण समान होने से गाय का दूध जीवनीय है; इसी से चरक में कहा है—'तदेवं गुणमेवौजःसामान्यादभिवर्धयेत्। प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम् ॥' इसमें भी गाय के रंग के भेद से, उसके प्रसव की संख्या के भेद से दूध में अन्तर आ जाता है। यथा 'तरुणीनां गवां दुग्धं मधुरं च रसायनम्। त्रिदोषनाशनं चैव वृद्धाया दुर्बलं मतम् ॥ सगर्भायाः समुद्दिष्टं त्रिमासोर्ध्वं च पित्तलम्। क्षारं च मधुरं चैव मतं वै शोषकारकम् ॥ भावप्रकाश में—'कृष्णाया गोर्भवेद् दुग्धं वातहारि गुणाधिकम्। पीताया हरते पित्तं तथा वातहरं भवेत्। वष्कयिण्यास्त्रिदोषघ्नं तर्पणं बलकृत्पयः ॥

हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिषं हिमम् ॥ २३ ॥

स०—महिष्या इदं माहिषं क्षीरमत्यग्निभ्योऽनिद्रेभ्यश्च हितम्। तथा गरीयो गुरुतरम्। तथा हिमं शीतवीर्यम्। मुनिरप्याह। महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः। स्नेहादूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तदिति। खरनादे चोक्तम्। गव्यं स्नेहोत्तमं क्षीरं गव्याच्च पयसः पयः। यथोत्तरं स्नेहहीनमौरभ्रच्छागमाहिषम्। जांगलानूपशैलेषु चरन्तीनां यथोत्तरम्। पयो गुरुतरं वत्सो यथा तासां प्रवर्तनमिति। गुरु शीततरं गव्यान्माहिषं स्वप्नलं पयः। चतुर्थभागस्नेहोनं पित्तघ्नं च विशेषत इति। यच्च रविगुप्तः सिद्धसारे व्यध्यगीष्ट। गव्यात् स्निग्धं गुरुतरं माहिषं स्वप्नकृत्पय इति। तद् बुधैश्चिन्त्यम्। सर्वमतविरुद्धत्वात् ॥ २३ ॥

भैंस के दूध के गुण

वि०—भैंस का दूध—भैंस का दूध गाय के दूध से गुरु तथा शीतल है और तीक्ष्णाग्नि एवं अनिद्रा वाले पुरुषों के लिये हितकारी है ॥ २३ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में—'महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम्। निद्राकरं शीततरं गव्यास्स्निग्धतरं गुरु ॥' (सु.सू. अ. ४।५५) इसी प्रकार खरनाद ने कहा है—'गव्यं स्नेहोत्तमं क्षीरं गव्याच्च पयसः पयः। यथोत्तरं स्नेहहीनमौरभ्रच्छागमाहिषम् ॥ जाङ्गलानूपशैलेषु चरन्तीनां यथोत्तरम्। पयो गुरु-

तरं वत्सो यथा तासां विवर्धते ॥ गुरु शीततरं गव्यान्माहिषं स्वप्नलं पयः। चतुर्थभागस्नेहोनं पित्तघ्नं च विशेषतः ॥ गाय का दूध स्नेह (प्रभाव) की दृष्टि से उत्तम है; परन्तु मात्रा की दृष्टि से भैंस के दूध में घी अधिक है। भैंस के स्नेह से बकरी के दूध में स्नेह का भाग ¼ कम है; बकरी से भेड़ के दूध में ¼ स्नेह प्रभाव की दृष्टि से कम है।

अल्पाम्बुपानव्यायामकटुतिक्ताशनैर्लघु ।
आजं शोषज्वरश्वासरक्तपित्तातिसारजित् ॥ २४ ॥

स०—आजं छागलं क्षीरं लघु भवत्यल्पांबुपानादिभिर्हेतुभूतैः। स्वल्पांबुपानादित्वं चाजानां स्वभावोऽन्यासां तु देशसात्म्यापेक्षया। यद्येवं स्वभावादेवाल्पांबुपानादेर्गम्यमानत्वादेतदुपन्यासो व्यर्थ एव। अत्रोच्यते। ज्ञापनार्थमिदम्। ज्ञापयति। यदा अजा अप्यव्यायामा गुर्वशनादि कुर्युस्तदा तासामप्यन्यथा क्षीरं भवेत्। एवं च गवादीनामप्याहारादिवशाद्गुरुलघुत्वं चित्यमिति। तेन प्रदोषेऽपराह्णे यद्गृहीतं पयस्तदपेक्षयौषसम् प्रभाते यद्गृहीतं तद्गुरु। चेष्टारहितत्वात्। रात्रौ हि प्राणिनां न कदाचिच्चेष्टा भवति। अत औषसं गुरु। दिवा च धावनप्लवनादिकया चेष्टया प्रादोषं लघु। अनया च दिशा सर्वमपि चिन्त्यम्। अत एव संग्रहे यदुक्तम्। पिण्याकाम्लाशिनीनां तु गुर्वभिष्यंदि तद्भृशमिति। तदेतेनैवोक्तप्रायत्वान्नेहोक्तम्। शोषेत्यादि। शोषादीनां द्वन्द्वः। तान् जयतीत किम्। शोषजित् एवं ज्वरजिदित्यादि ॥ २४ ॥

बकरी के दूध के गुण

वि०—बकरी का दूध—थोड़ा पानी पीने से, व्यायाम करने से, कटु-तिक्त भोजन करने से, बकरी का दूध लघु है। यह दूध शोष, ज्वर, श्वास, रक्तपित्त और अतिसार नाशक है ॥२४॥

वक्तव्य—रक्तपित्त में चरक—'छागं पयः स्यात् परमं प्रयोगे गव्यं शृते पञ्चगुणे जले वा ॥' (च. चि. अ. ४।८३) अतिसार में–'आजेन पयसा पेयाः सरक्ते मधुसंयुताः।' (सु. चि. अ. ४०।१२४) दूध के गुरु लघु होने में कारण पशु के आहार, व्यायाम आदि भी हैं, इसी से संग्रह में कहा है—'पिण्याकाम्लाशिनीनां तु गुर्वभिष्यन्दि तद् भृशम्। अचेष्टया च प्रादोषाद् गरीयः स्मृतमौषसम्। व्याख्यातोऽनेन लघिमा चेष्टावत्प्रकृतिष्वपि ॥' (सं. सू. अ. ६)।

ईषद्रूक्षोष्णलवणमौष्ट्रकं दीपनं लघु।
शस्तं वातकफानाहकृमिशोफोदरार्शसाम् ॥ २५ ॥

स०—औष्ट्रकमुष्ट्राणां क्षीरं लघु। तथा ईषन्मनाग्रूक्षोष्णं तथा दीपनं भवति। तथा वातादीनां शस्तम्। वातादिषु पथ्यमित्यर्थः। औष्ट्रकमित्युष्ट्राद्वुञिति वुञ्। प्रातिपदिकग्रहणे लिंगविशिष्टस्यापि ग्रहणमित्युष्ट्रीशब्दादपि ॥ २५ ॥

ऊँटनी के दूध के गुण—

वि०—ऊँटनी का दूध—थोड़ा रूक्ष, उष्ण, नमकीन, अग्निदीपक, लघु, वात-कफ जन्य रोगों में, आनाह, कृमि, शोफ, उदर और अर्श रोग में हितकारी है ॥ २५ ॥

मानुषं वातपित्तासृगभिघाताक्षिरोगजित्।
तर्पणाश्च्योतनैर्नस्यैः—

स०—मानुषीणां क्षीरं वातपित्तासृगभिघाताक्षिरोगजिद्भवति वातश्च पित्तं चासृक् चाभिघातश्चेति द्वन्द्वः। तैरक्षिरोगस्तं जयति यत्तदेवम्। नत्वभ्यवहारादिना। तर्पणादीनि स्वे स्वेऽध्याये वक्ष्यमाणानि।

स्त्रीदुग्ध के गुण—

वि०—स्त्री का दूध—वात-पित्त-रक्त, एवं अभिघात से उत्पन्न अक्षि रोगों को तर्पण, आश्च्योतन और नस्य से शान्त करता है।

वक्तव्य—तर्पण–नेत्र का भरना। आश्च्योतन–नेत्र का सेचन। चरक में–'जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः। नावनं रक्तपित्तस्य तर्पणं चाक्षिरोगिणाम् ॥' (च. सू. अ. २७।२२०)

केन प्रयोगेणेत्याह—

—अहृद्यं तूष्णमाविकम् ॥ २६ ॥
वातव्याधिहरं हिध्माश्वासपित्तकफप्रदम्।

स०—आविकं क्षीरमुष्णवीर्यं भवति। तथा अहृद्यं हृदयायाहितं भवति तथा वातव्याधिहरम्। तथा हिक्कादिप्रदम्। आविकमित्यविशब्दात्स्वार्थे कप्रत्ययान्तात्तस्येदमित्यण् ॥ २६ ॥

भेड़ी के दूध के गुण—

वि०—भेड़ी का दूध—अप्रिय, उष्ण, वातव्याधिनाशक, हिक्का, श्वास, पित्त एवं कफ को उत्पन्न करता है ॥ २६ ॥

वक्तव्य—खरनाद ने कहा है–'स्वाद्वम्लपाकं स्निग्धोष्णं गुरु पित्तकफोल्बणम्। आविकं बृंहणं क्षीरं हिक्काश्वासानिलापहम्।' यहाँ पर कफ-पित्तजन्य हिक्का, श्वास को करता है; और वातजन्य हिक्का को नष्ट करता है, यह हेमाद्रि का मत है। इसीसे सुश्रुत में 'पथ्यं केवलवातेषु श्वासे चानिलसम्भवे।'

हस्तिन्याः स्थैर्यकृद्—

स०—हस्तिन्याः क्षीरं स्थैर्यकृद्भवति।

हथिनी के दूध के गुण—

वि०—हथिनी का दूध—शरीर को अतिशय दृढ़ करता है।

—बाढमुष्णं त्वैकशफं लघु ॥ २७ ॥
शाखावातहरं साम्ललवणं जडताकरम्।

स०—एकः शफो नखो यासां वडवादीनां ता एकशफास्तासामिदमैकशफं क्षीरं बाढमतिशयेनोष्णं भवति। तथा शाखासु बाहूरुप्रभृतिषु यो वातस्तं हरतीति। शाखावातहरम्। हरतेरनुद्यमनेऽजित्यच्। तथा साम्ललवणमीषद्

ल्लमीषल्लवणं च। तथा जडताकरसंगजाड्यकरणहेतुः। कृत्नो हेत्वित्यादिना हेतौ टः ॥ २७ ॥

घोड़ी आदि के दूध के गुण—

वि०—एकशफ (घोड़ी, गधी) का दूध—अतिशय उष्ण, लघु, शाखाओं की वायु को नष्ट करने वाला, थोड़ा अम्ल और नमकीन है, एवं अङ्गों में जकड़ाहट उत्पन्न करता है ॥ २७ ॥

वक्तव्य—शाखा-हाथ-पैर अथवा त्वचा से युक्त रक्तादि धातु-बाह्य रोग-मार्ग।

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं, युक्त्या शृतमतोऽन्यथा ॥२८॥

स०—आममक्वथितं पयोऽभिष्यंदि श्लेष्मप्रकोपि तथा गुरु भवति। अत आमादन्यथा विपरीतं युक्त्या शृतं भवति। अनभिष्यंदि लघु च। पूर्वावस्थामपेक्ष्योच्यते। युक्तिर्योग उपायः। खरनादे च क्षीरस्य श्रवणे युक्तिः स्पष्टं कृत्वा निर्दर्शिता। विना तु वनितास्तन्यमाममेव हितं पयः। अर्धोदकं क्षीरशिष्टमामाल्लघुतरं शृतमिति ॥ २८ ॥

कच्चे दूध के गुण—

वि०—कच्चा दूध—अभिष्यन्दी और गुरु है; और युक्तिपूर्वक पकाया दूध अनभिष्यन्दी और लघु है ॥ २८ ॥

वक्तव्य—दूध के पकने में युक्ति-'अर्धोदकं क्षीरशिष्टमामाल्लघुतरं शृतम्। स्यान्निजलं शृतं द्वित्रिचतुरष्टांशशेषितम्। यथा शृततमं सारं गुरु बल्यतमं पयः ॥' स्त्री का दूध कच्चा ही बरता जाता है, यथा- तदेवोक्तं लघुतरमनभिष्यन्दि वै शृतम्। वर्जयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्धितम् ॥' सुश्रुत।

भवेद् गरीयोऽतिशृतं धारोष्णममृतोपमम्।

स०—अतिशयेन क्वथितं कवलभोज्यमिव संजातगरीयो गुरुतरं भवेत्। खरनादे चोक्तम्। स्यान्निजलं शृतं द्वित्रिचतुरष्टांशशेषितम्। तथा शृततमं सारं गुरु बल्यतमं पयः। सुश्रुते चोक्तम्। शृतशीतं तु पित्तघ्नं शृतोष्णं कफवातजित्। त्यजेद्विवर्णं ग्रथितं विरोधं विरसं पटु। रक्तपित्तप्रशमनी वृष्या संतानिका गुरुरिति। खरनादे चोक्तम्। धारोष्णात् सर्वशः क्षीरात् शृतं गुरुतरं भवेदिति। धारोष्णममृतोपमं निर्दोषत्वात्।

पके और धारोष्ण दूध के गुण—

वि०—बहुत गरम किया (औंटाया) दूध अतिशय गुरु होता है, और धारोष्ण दूध अमृत के समान है।

अधुना दधिगुणान्निरूपयति—

अम्लपाकरसं ग्राहि गुरूष्णं दधि वातजित् ॥ २९ ॥
मेदःशुक्रबलश्लेष्मपित्तरक्ताग्निशोफकृत्।
रोचिष्णु शस्तमरुचौ शीतके विषमज्वरे ॥ ३० ॥
पीनसे मूत्रकृच्छ्रे च, रूक्षं तु ग्रहणीगदे।
नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न ॥ ३१ ॥
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं तन्नाघृतसितोपलम्।
न चानामलकं नापि नित्यं नो मन्दमन्यथा ॥ ३२ ॥
ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डुभ्रमप्रदम् ।

स०—अम्लौ पाकरसौ यस्य तदेवंभूतं दधि भवति। तथा ग्राहि स्तंभनम्। तथा चोक्तम्। भेदि यत्पिंडितान् भावान् शकृदादीन् भिनत्ति तत्। विपरीतमतो ग्राहि तच्च स्तंभनमुच्यत इति। तथा गुरूष्णं वातजिच्च। मेदआदीनां द्वंद्वः। तान् करोति यत्तदेवम्। रोचत इति रोचिष्णु। न रोचत एव केवलम्। अरोचकमपि व्यावर्तयतीति शस्तमरुचौ। रोचते हि घृतपूरादि न स्वरुचिं जयति। अरुचिघ्नं पटोलपत्रं तन्न रोचते। तथा ह्यत्रैव पठिष्यति। तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिमित्यादि। रोचिष्णुत्वादेवोच्चावचव्यंजनपरिवृतैर्मांसमंडकादिभिरपि सहितस्यापि दध्न्यभिलाष उत्पद्यत एव। अतएव चैतदाहारांतेऽभ्यवहरंति। शीतक इति विषमज्वरविशेषणम्। शीतकारित्वं तु वाते श्लेष्मणि तत्संसर्गे च यद्यपि त्रितये संभवति तथापि वातजिद्वातज एव विषमज्वरे दधि प्रयोज्यम्। न संसर्गे वा वातोल्वणे। तथा हि शीतज्वर एवोक्तम्। अग्न्यनग्निकृतान्स्वेदान्स्वेदि भेषजभोजनमिति। पीनसे शस्तमिति कथमविशेषेणोक्तम्। यतश्चत्वारः पीनसा वातपित्तकफसन्निपातजा इति। वक्ष्यते। तत्र दध्नो वाताधिक एव युक्तत्वं न शेषेषु। अत्र संचक्ष्महे। परिपाकात्पीनसस्योपशांतिः परिपाककरं च दध्युष्णत्वात्। अथवा पूर्ववत्सामान्योक्तावपि यत्र योग्यताऽस्य वातिके तेनैतदुपकल्प्यताम्। अनुक्तेष्वपि हि सामान्योपक्रमो वस्तुवशाद्विशेषष्वेव विपरिणमति। तथा ह्यत्रैवोपरिष्टाद्दुग्धकर्मसु व्यतीतम्। श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः। जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयत्। तदेतन्न च सर्वेष्वेव कासश्वासकृच्छ्रास्रपित्तेषु पयः कार्मुकमिति। तथा ग्रहणीरोगे तद्रूक्षं शस्तम्। अनेन च हेतुना दध्नः प्रकृतिस्थस्य स्निग्धत्वं युक्त्यैवोक्तम्। यतो ग्रहण्यां रूक्षमुद्धृतसारमुद्दिष्टम्। निशि नैव कदाचिदद्यात्। नैवाद्यान्निशि नैवोष्णमित्येवकाराच्चात्यंतिकनिषेधाद्दिवा भुंजीतेत्यर्थादवगम्यते। नैवोष्णमग्न्यादितापात्तप्तं तथा वसंतग्रीष्मशरत्सु न भोज्यम्। अन्यतमेऽप्यन्यतर्तावपि मुद्गसूपादीनामन्यतमेन रहितं न भोज्यम्। तत्र घृतसितोपलयोः समासेनैतयोरेव योगेन पथ्यत्वमिच्छन्ति। मुद्गसूपादीनां तु मिश्रीभावो दध्ना जन्यमानस्य दोषस्य प्रतिबन्धार्थं कल्प्यते। रक्तपित्तवत्। यथा समीरणोल्बणेऽस्रपित्ते तित्तिर्यादीनामौष्ण्यमुदुंबरादिरसेन प्रतिबध्यन्ते। नित्यमिति। यद्युपशेते शरीरस्थं तथाप्युदर्करोगावहत्वान्न शीलनीयम्। अत एवान्नपानविधावतिदोषशीलत्वादस्य निषेधं करोति। तथा च वक्ष्यति। किलाटदधिकूर्चिकेत्यादि। नामन्दमिति। दुग्धावस्थां व्यतीत्य दध्यवस्थामसंप्राप्तमंतरावर्ति मंदकमित्युच्यते। तस्मिन् सत्यपि स्नेहे परिणतिविशेषेण कालात्मना स्रोतसामत्यंतोपलेपकृतो दोषत्रयकोपोऽपि भवतीत्यतीव वर्जनीयमेव। मंदकनिषेधश्चोपलक्षणार्थः। तेन मद्यादीनप्यप्राप्तरसान्नोपयुंजीतेत्यवगंतव्यम्। अन्यथेत्यादि। प्रशब्द एवं द्योतयति। विधिभ्रष्टं दधि निषेव्यमाणं प्रकर्षेण ज्वरास-

विपत्तादीन् प्रददाति। ननु शुक्रकृत्त्वबलवर्धनत्वाद्दीपनत्वमनुपपन्नम्। शुक्रकृद्बलवर्धनानि हि द्रव्याणि प्रायेण गुरूणि भवन्ति। अतो दध्येवंगुणं सत्कथमग्निकृत्स्यात्। अत्राचक्ष्महे। अम्लत्वादुष्णवीर्यत्वाच्च युक्तमेव। यतो रसविपाकाभ्यामम्लं वीर्येणोष्णं च दध्यतोऽग्निकृत्त्वमस्मिन्नुपपन्नमिति। ननु शुक्रकरत्वं दध्नो न युक्तम्। यतोऽम्लपाकरसं दधीत्यधीतमाचार्येणाम्लश्च शुक्रनाशनस्तस्माच्छुक्रकृत्त्वमयुक्तम्। अत्राचक्ष्महे। स्निग्धत्वबृंहणत्ववातघ्नत्वबल्यत्वैः शुक्रकृत्त्वमुपपन्नमेव। तथा च वक्ष्यति। किंचिद्रसेन कुरुते कर्म पाकेन चापरम्। गुणांतरेण वीर्येण प्रभावेणैव किंचनेति। वातजिदित्यनेन नार्थः। यानि खलु द्रव्याणि बल्यस्निग्धगुरूष्णयुक्तानि तानि वातघ्नान्येव दृष्टानि। तस्माद्वातजिदिति न वाच्यम्। नैवम्। सक्तुमद्यसूर्यतापमंदकादिषु व्यभिचारात्। तथा हि। सक्तवो वातला वृष्या रूक्षा बलकराश्च। मार्द्वीकादिमद्यं हर्षणत्वाद्वृष्यं वातलं च। तथा च वक्ष्यति। मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यत इति। मद्यं च मात्रापीतं हर्षणं भवति। तथा मुनिः। हर्षमूर्जप्रदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं परम्। युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यमिति सूर्यतापश्चोष्णोऽपि सन्मारुतस्य वृद्धये। तथा च मुनिः। कटुतिक्तातिरूक्षशीतलघूनीत्यारभ्य यावद्वातातपौ भयं शोको हेतुर्वातार्शसामिति। मंदकं च स्निग्धाम्लगुरुगुणयुक्तमपि त्रिदोषकरम्। तथा च मुनिः। त्रिदोषं मंदकमिति। त्रिषु च दोषेष्वंतर्भूतः पवन इति चैवं व्यभिचारदर्शनाद्वातजिदित्युक्तम्। क्षीरस्य च दध्यात्मना परिणमतोऽनभिव्यक्ताम्लाभिव्यक्ताम्लात्यम्ललक्षणास्तिस्रोऽवस्थाः संपद्यन्ते। तत्र मन्दजातमनभिव्यक्ताम्लम्। सम्यग्जातमभिव्यक्ताम्लम्। अतिजातमत्यम्लम्। तत्र मन्दजातं त्रिदोषकृत्त्वान्निषिद्धम्। सम्यग्जातस्यैते पूर्वोक्ता गुणाः। किंचिद्धीनाश्चात्यम्लस्य। तथा सुजातेऽत्यम्ले च दध्नि सरमंडौ स्तः। तत्र दध्न उपरिभागः सरः। अधो मंडः। एतद्गुणाश्च लाघविकत्वान्नेहोक्ताः। मुनिना च दर्शिताः। त्रिदोषं मंदकं जातं वातघ्नं दधि शुक्रलम्। सरः श्लेष्मानिलघ्नस्तु मंडः स्रोतोविशोधनः। श्लेष्मपित्तरक्तकृत्त्वं चाम्लपाकरसोष्णवीर्यत्वादेवावगम्यते। यत्तु साक्षादेतेषामुपादानं तत्प्रकर्षार्थम्। अन्येभ्योऽश्लद्रव्येभ्यो दध्येतान्यतिशयेन करोतीति नैवाद्यान्निशीत्यादौ ग्रंथे चैकस्मिन्नकारे कर्तव्ये यदनेकनकारकरणं तच्छास्त्रनिषिद्धदधिभक्षणादतिप्रत्यवायज्ञापनार्थम्। चरकोक्तमंगल्यगुणो नेहोक्तश्चिकित्सायामनुपयोगित्वात्। अत एव सर्पिरादीनां मंगल्यानामपि चरकेऽपि मंगलत्वं नावादीदिति। सुश्रुते तु दध्नो विशेषगुणा उक्ताः। यथा। दध्याजं कफपित्तघ्नं लघुपाके विषापहम्। दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्नेश्च दीपनम्। विपाके मधुरं वृष्यं रक्तपित्तप्रणाशनम्। बलासवर्धनं स्निग्धं विशेषाद्दधि माहिषम्। विपाके कटुकं क्षारमम्लं भेद्यौष्ट्रकं दधि। वातार्शांसि च कुष्ठानि कृमीन् हंत्युदराणि च वातघ्नं कफकृत्स्निग्धं विशेषान्न च पित्तकृत्। कुर्याद्भक्ताभिलाषं च दधिमस्तु परिश्रुतम्। श्रुतक्षीराच्च यज्जातं गुणवद्दधि तत्स्मृतम्। वातापित्तहरं रुच्यं धात्वग्निबलवर्धनम्। दधि त्वसारं रूक्षं तु ग्राहि विष्टंभिवातलम्। दीपनीयं विशेषेण सकषायं रुचिप्रदमिति। केवलमपि स्वल्पं कदाचिद्दधि भुंजीतेत्यर्थादवगम्यते। अन्यथा केवलस्य गुणकथनं निष्फलमेव स्यादिति केचिदाहुः॥ २९-३२॥

दही के गुण—

वि०—दही के गुण—दही विपाक और रस में अम्ल, ग्राही, गुरु, उष्ण एवं वातनाशक है। मेद-शुक्र-बल-कफ-पित्त-रक्त और अग्नि को बढ़ाता और शोफ को उत्पन्न करता है। भोजन में रुचिदायक है अतः अरुचि में उत्तम है, शीतज्वर, विषमज्वर, पीनस और मूत्रकृच्छ्र में उत्तम है। ग्रहणी रोग में रूक्ष दधि (जिसमें से स्नेह भाग निकाल लिया हो) उत्तम है।

दही रात मे नहीं खाना चाहिये; गरम दही नहीं खाना चाहिए तथा वसन्त, ग्रीष्म और शरद में दही नहीं खाना चाहिये। मूंग की दाल के विना, मधु के विना, घी और शर्करा के विना, आँवले के बिना तथा प्रतिदिन दही नहीं खाना चाहिये। एवं मन्द दही (जो पूरी तरह नहीं जमा) नहीं खाना चाहिये। इस विधि के विपरीत दही खाने पर ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डु और भ्रम उत्पन्न होते हैं॥ २९-३२॥

वक्तव्य—दही के सर (मलाई) के गुण—'त्रिदोषं मन्दकं जातं वातघ्नं दधि शुक्रलम्। सरः श्लेष्मानिलघ्नस्तु मण्डः स्रोतोविशोधनः॥' सर-मलाई; मण्ड-नीचे का भाग। भोजन में रुचि करने के लिये षड्यूष में दही को बरतते हैं। दूध के समान गाय, भैंस आदि के दही के गुणों में भी अन्तर दूसरे ग्रन्थों में वर्णित है।

तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजित्॥ ३३॥
शोफोदरार्शोग्रहणीदोषमूत्रग्रहारुचीः।
प्लीहगुल्मघृतव्यापद्गरपाण्ड्वामयाञ्जयेत्॥ ३४॥

स०—तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजिच्च भवति। तथा शोफादीनेकादश जयेत्। घृतस्यापि पानाद्व्यापद्रोगो घृतव्यापत्। गरः कृत्रिमो विषविशेषः। सुश्रुते चोक्तम्। नैव तक्रं क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले। न मूर्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके। शीतकालेऽग्निमांद्ये च कफोत्थेष्वामयेषु च। मार्गे विरोधे दुष्टे च वायौ तक्रं प्रशस्यते। तथोक्तम्। तक्रमामं कफं कोष्ठे हंति कंठे करोति च। पीनसश्वासकासादौ सिद्धमेवोपयोजयेदिति। मंदजातं मरुत्कोपि रूक्षाभिष्यंदि दुर्जरम्। अतिजातं भृशाम्लौष्ण्यतैक्ष्ण्यात्पित्तकरं परम्। दोषघ्नमुद्घृतस्नेहं सस्नेहमपि शोफजित्। वातेऽम्लं सैंधवोपेतं स्वादु पित्ते सशर्करम्। हितं पथ्यं कफे साम्लं व्योषसौवर्चलान्वितम्। तक्राल्लघुतरो मंडो दुर्जरा तक्रकूर्चिकेति॥ ३३-३४॥

तक्र के गुण—

वि०—तक्र (मट्ठा) के गुण—तक्र लघु, कषाय, अम्लरस, अग्निदीपक और कफ तथा वात नाशक है। शोफ, उदर, अर्श, ग्रहणी रोग, मूत्र और अरुचि को नष्ट करता है। प्लीहा, गुल्म, घृतजन्य रोग, गर (कृत्रिम) विष और पाण्डु रोग को शान्त करता है ३३-३४

वक्तव्य—तक्र के भेद-'ससरं निर्जलं घोलं, तक्रं पादजलान्वितम् । अर्धोदकमुदश्वित्स्यान्मथितं सरवर्जितम् ॥ घोलं पित्तानिलहरं, तक्रं दोषत्रयापहम् । उदश्विच्छ्लेष्मलं चैव, मथितं कफपित्तनुत्' ॥ ग्रहणी रोग के लिये तक्र—'तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनं ग्राहि लाघवात् । श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत् ॥ कषायोष्णं विकासित्वाद् रौक्ष्याच्चैव कफे हितम् । वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत्' ॥ तक्र को सैन्धव, हींग के साथ मधुर रूप में लेना चाहिये, खट्टा तक्र हानिकारक है, यथा—'शशिकुन्दसमुज्ज्वलशङ्खनिभं, युवतीकरनिर्मितनिर्मथितम् । घृतसैन्धवहिङ्गुयुतं मधुरं पिब तक्रमहो नृप रोगहरम् ॥'[1]

तद्वन्मस्तु सरं स्रोतःशोधि विष्टम्भजिल्लघु ।

स०—मस्तुं तद्वत्तक्रवद्गुणैर्वेद्यम् । तथा सरं तथा स्रोतःशोधि तथा विष्टंभजित् । सुश्रुते चोक्तम् । तृष्णाक्लमहरं मस्तु लघु स्रोतोविशोधनम् । अम्लं कषायानुरसमवृष्यं कफवातजित् । आह्लादनं प्रीणनं च भिनत्त्याशु मलं च तत् । बलमावहति क्षिप्रं तथा भक्तस्य रोचनम् ।

दही के तोड़ के गुण—

वि०—मस्तु (दही का तोड़ पानी) भी तक्र के समान है, किन्तु मलों का अनुलोमक, स्रोतों का शोधन करने वाला, विष्टम्भजित् (वायु का अनुलोमक) और लघु होता है।

नवनीतं नवं वृष्यं शीतं वर्णबलाग्निकृत् ॥ ३५ ॥
सङ्ग्राहि वातपित्तासृक्क्षयार्शोर्दितकासजित् ।

स०—नवनीतं नवं नवोद्धृतं लघुं वृष्यं च तथा शीतं शीतवीर्यं बलवर्णाग्निकरं तथा संग्राहि वातादिजिच्च । संग्रहे चोक्तम् । शीतं स्वादु कषायाम्लं नवनीतं नवोद्धृतमित्यादि ॥ ३५ ॥

नवनीत के गुण—

वि०—मक्खन—दही से ताजा निकाला मक्खन वृष्य, शीतल, वर्ण, बल और अग्नि को बढ़ाने वाला एवं संग्राही है; वात, पित्त, रक्त, क्षय, अर्श, अर्दित और कासनाशक है ॥३५॥

क्षीरोद्भवं तु संग्राहि रक्तपित्ताक्षिरोगजित् ॥ ३६ ॥

स०- क्षीरोद्भवं तु क्षीरादेव जातं मथित्वा तन्नवनीतं संग्राहि रक्तपित्ताक्षिरोगजिच्च भवति ॥ ३६ ॥

दूध के मक्खन के गुण—

वि०—जो मक्खन दूध में से निकाला गया है, वह संग्राही, रक्तपित्त और नेत्ररोगनाशक है ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—मक्खन दो प्रकार का है, क्षीरोद्भव और दधिमथनोद्भव। प्रथम को लोक में मक्खन और दूसरे को नवनीत या नैनू कहते हैं। इसी प्रकार घी भी दो प्रकार का है।

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुःशुक्रचक्षुषाम् ।
बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम् ॥ ३७ ॥
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम् ।
वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम् ॥ ३८ ॥
स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम् ।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत् ॥ ३९ ॥

स०—घृतं धीप्रभृतीनामग्निग्लपितात्मांतानां शस्तम् । धीर्वस्तुग्रहणशक्तिः । स्मृतिरतीतविचारशक्तिः । प्रजार्थिनां शस्तम् । प्रजाऽपत्यं तदर्थिनाम् । शुक्रस्य सफलताकरमित्यर्थः । तथा वातादिघ्नम् । तथा स्नेहानां तैलादीनामुत्तमं श्रेष्ठम् । तथा शीतम् । वयसः स्थापनं जरया विना वयसः स्थापनमित्यर्थः । सहस्रवीर्यमिति । सहस्रशब्दोऽनेकार्थः । अनेकशक्तीत्यर्थः । कथं विधिभिर्योगसंस्कारादिभिर्घृतमनेकशक्ति संपद्यते । येन द्रव्येण प्रयुज्यते संस्क्रियते वा तच्छक्तिमेवाऽनुरुध्यते । अथवा तत्संयोगाच्छक्त्यंतरमन्यदारोहति । अत एव हेतोः सहस्रशब्दोऽनेकार्थः । अन्यथा द्रव्याणामानंत्यात्कथं दशशतवाची सहस्रशब्द उपपद्यते । अन्ये त्वेवं व्याचक्षते । सहस्रशब्दो दशशतसंख्यावाच्येव । सहस्रवाक्यं हि सर्पिरुक्तं न सहस्रपाक्यात्परेण । तत्र चेदं सहस्रपाक्यत्वे प्रयोजनम् । पाकसहस्रं यावदस्य संस्कारोऽनुवर्तते नातःपरम् । अन्यथा सहस्रपाकात्परेण किमिति पाको नोक्तः । तस्मादासहस्रं पाकानां शक्त्यन्तराण्यारोहन्ति पाका न ततः परेणेति । तथा कर्मसहस्रकृदनेककार्यकृत् ॥ ३७-३९ ॥

घृत के गुण—

वि०—घी के गुण—घी धी, स्मृति, मेधा, अग्नि, बल, आयु, शुक्र, आँख, बालक और वृद्ध इनके लिये उत्तम है। प्रजा (सन्तान), कान्ति, सुकुमारता एवं स्वर की चाह वालों के लिये प्रशस्त है। क्षतक्षीण, विसर्प, शस्त्र, अग्नि (अग्निदग्ध) इनसे दुखी (निराश हुए) व्यक्तियों के लिये उत्तम है। वात, पित्त, विष, उन्माद, शोष; अलक्ष्मी और ज्वरनाशक है। सब स्नेहों में घी श्रेष्ठ है, शीतल है, वय को स्थिर रखने (रसायन) में श्रेष्ठ है। घी अनेक शक्तिवाला है। (योग, संस्कार, पान, अभ्यङ्ग, अनुवासन आदि विधियों से) विधिपूर्वक देने पर हजारों कार्य करता है ॥ ३७-३९ ॥

वक्तव्य—सब स्नेहों में घी को उत्तम माना है, क्योंकि घी संस्कार[1] का अनुवर्तन कर लेता है, दूसरे स्नेह इस

---

[1] वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं स्वादु पित्ते सशर्करम् ।
पिबेत्तक्रं कफे चापि व्योषक्षारसमन्वितम् ॥

[1] नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्तते ।
यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम् ॥ (च. नि. १)

प्रकार उत्तमता से अनुवर्तन नहीं करते, यथा—'सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वे स्नेहोत्तमा मताः । एषु चैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्' ।। च० सू० अ० १३।१३

चरक ने दूध-घी के अभ्यास को रसायनों में श्रेष्ठ माना है—'क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम्' ।

मदापस्मारमूर्च्छायशिरःकर्णाक्षियोनिजान् ।
पुराणं जयति व्याधीन् व्रणशोधनरोपणम् ॥ ४० ॥

स०—पुराणमिति च बहुकालं पंचदशादिवर्षस्थितं घृतं मदादीन् व्याधीन् जयति । व्रणानां शैथिल्यादीन् शोधयति । तथा व्रणान् रोपयति । संग्रहे चैवमध्यैष्ट । व्रणशोधनरोपणम् । पूर्वोक्तांश्चाधिकान्कुर्याद्गुणांस्तदमृतोपमम् । तद्वच्च घृतमंडोऽपि रूक्षतीक्ष्णस्तनुस्तु स इति ॥ ४० ॥

पुराने घृत के गुण—

वि०—पुराण घृत—पुराना घी मद, अपस्मार, मूर्च्छा, शिरो-रोग, कर्णरोग, नेत्ररोग और योनिरोगों को नष्ट करता है यह व्रण का शोधन और रोपण करता है ॥ ४० ॥

वक्तव्य—'उग्रगन्धं पुराणं स्याद्दशवर्षस्थितं घृतम् । लाक्षारसनिभं शीतं प्रपुराणमतः परम्' ॥ घृतमण्डः—विलीनघृतस्योपरितनो घनीभूतभागः ।' संग्रह में—'तद्वच्च घृतमण्डोऽपि रूक्षस्तीक्ष्णस्तनुस्तु सः' ॥

सामायतः दस वर्षों तक रक्खे घी को पुराण घृत कहते हैं, उसके बाद वह प्रपुराण कहलाता है । सुश्रुत ने ग्यारह से सौ वर्षों तक पुराने घी को कुम्भघृत तथा उसके आगे महाघृत कहा है—'एकादशशतञ्चैव वत्सरानुषितं घृतम् । रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिः स्यात् परतस्तु महाघृतम् ॥ सु. सू. ४५

बल्याः किलाटपीयूषकूर्चिकामोरणादयः ।
शुक्रनिद्राकफकरा विष्टम्भिगुरुदोषलाः ॥ ४१ ॥

स०—किलाटादयो बल्यास्तथा शुक्रादिकरास्तथा विष्टंभिनो गुरवो दोषलाश्च स्युः । आदिग्रहणात्तक्रपिंडकक्षीरशाकयोर्ग्रहणम् । वह्निनाशकत्वं चैषां बल्यत्वेन शुक्रकृत्वेन विष्टंभिदोषलत्वेनाऽवगतमेवेति वह्निनाशना इति ग्रन्थकृता नेह कृतम् । संग्रहे तु स्पष्टार्थं कृतमेव । तत्र किलाटोऽल्पक्षीरो बहुना तक्रेण कृतः । पीयूषः सद्यःप्रसूतायाः क्षीरकृतः । कूर्चिका दधितक्रकृता किलाटिका । मोरणः क्षीरसदृशः किलाटिकापीडन उत्तरापथे प्रसिद्धः ॥ ४१ ॥

किलाट के गुण—

वि०—किलाट, पीयूष, कूर्चिका, मोरण (ट) आदि भक्ष्य-बलकारक, शुक्र एवं निद्राकारक, कफकारक, विष्टम्भी, गुरु और दोषों को करने वाले हैं ॥ ४१ ॥

वक्तव्य—किलाट-थोड़े से दूध में बहुत दही या तक्र मिलाकर बनाया जाता है । 'स्वल्पक्षीरो बहुना तक्रेण कृतः' (अरुणदत्त) । पीयूष-तुरन्त प्रसूता गाय का दूध जब तक साफ नहीं होता । कूर्चिका (छेना) दही या तक्र से दूध को फाड़ने पर घन भाग को कूर्चिका कहते हैं । मोरण (ट) फटे दूध का द्रव भाग मोरण (ट) । अथवा प्रसूता गाय का सात दिन के पश्चात् का दूध मोरण है; यथा—'सप्तरात्रात्परं क्षीरमप्रसन्नं च मोरणम् ।' सुश्रुत में तक्रकूर्चिका के भी गुण दिये हैं ।; यथा—'ग्राहिणी वातला रूक्षा दुर्जरा तक्रकूर्चिका ।' दोषलाः का अर्थ आमकारक है, आम का सञ्चय करने वाले हैं ।

गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे निन्दिते चाविसम्भवे ।

स०—गोसंभवे क्षीरघृते श्रेष्ठे । आविके च निंदिते गर्हिते। घृतस्य च क्षीरविकारोपलक्षणार्थत्वाद्दधितक्रमस्त्वादीनामपि गव्यानां श्रेष्ठत्वमेव वेद्यम् । अत एवाविसंभवानां दधितक्रादीनामधमत्वमेव वेद्यं न क्षीरघृतयोरेव । अत एव संग्रहे सुस्पष्टं कृत्वोक्तम् । विद्याद्दधिघृतादीनां गुणदोषान्यथा पयः । अस्य ह्ययमर्थः । घृतादीनां पयोगुणान्विद्यात । यथाशब्दस्य पदार्थानतिवृत्त्यर्थेऽस्याव्ययीभावः । तेनैतदुक्तं भवति । यथा स्वादुपाकरसमित्यादिना सामान्येन क्षीरगुणा उक्तास्तद्वद्दध्यादीनामपि सामान्येनैव गुणा उक्ता । विशेषाभिलाषे तु दध्यादीनां सत्स्वपि सामान्यगुणेषु प्रकृतिभूतं यत्क्षीरं तद्गुणोच्चयोऽपि ग्राह्य इति। खरनादे तूक्तम् । दध्यादीनां तु तज्जानां सामान्ये गुणकर्मणी। तथा स्वात्स्वादपि क्षीराद्दध्यादीनां विशेषणम् । गव्यमिति गोपयसोर्यदिति यत् । बाहुल्येन क्षीरनिर्देशात्क्षीरवर्गोऽयम् । दधिनवनीतादीनां तु तद्विकारभूतत्वादिति क्षीरवर्गः ।

गौ के दूध तथा घृत की श्रेष्ठता—

वि०—दूध और घी गाय के श्रेष्ठ हैं, भेड़ के दूध और घी निन्दित हैं ।

वक्तव्य—दधि, घृत आदि के गुण-दोषों को इनके दूध के अनुसार ही समझना चाहिए । संग्रह में कहा भी है—विद्याद्दधिघृतादीनां गुणदोषान् यथा पयः ॥' चरक में—'गव्यं सर्पिः सर्पिषां, गोक्षीरं क्षीराणां श्रेष्ठतमे । आविकं सर्पिः सर्पिषाम्, अविक्षीरं क्षीराणाम् अपथ्यतमत्वेनाप्रकृष्टतमे भवन्ति ॥'

अथेक्षुवर्गः ।

क्षीरवर्गादनंतरमिक्षुवर्ग आरभ्यते । गुणक्रियातुल्यत्वात् । तथाहीक्षुरपि क्षीरवत्सरगुरुस्निग्धबृंहणादिगुणकर्मा—

इक्षोः सरो गुरुः स्निग्धो बृंहणः कफमूत्रकृत् ॥४२॥
वृष्यः शीतोऽस्रपित्तघ्नः स्वादुपाकरसो रसः ।

स०—इक्षो रसः सरत्वादिगुणयुक्तः । तथा कफमूत्रकृत् । सरः शकृद्भेदी कथ्यते । तथा गुर्वी सरा च पालक्येत्युक्तवानंतरमुक्तवान् । पालंक्यावत्स्मृतश्चंचुः स तु संग्रहणात्मक इति चंचुशाकस्य संग्रहणेन गुणेन सरत्वं बाधितमिति । अत्र स्निग्धबृंहणवृष्यमधुरादिगुणेन युक्तं च द्रव्यं प्रायः पवनहंतृ दृष्टम् । अतोऽस्यापीक्षुरसस्य मारुतजित्वं वेद्यम् । ग्रंथकृता तु स्पष्टं कृत्वा नोक्तम् । भुक्ते हि समीरणकृत्त्वमस्य दृष्टम् । तथा संग्रहे वृष्यः शीतः पवनजिद्भुक्ते वातप्रकोपन इति । खरनादेऽप्युक्तम् । मारुताऽऽध्मानजनश्चक्षुष्यो बृंहणो रस इति ॥ ४२ ॥

गन्ने के रस का गुण—

वि०—गन्ने का रस—मृदुरेचक, गुरु, स्निग्ध, बृंहण, कफकारक एवं मूत्रल, वृष्य, शीतल, रक्त-पित्तनाशक, मधुर-विपाक और मधुररस है ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—मधुर होने पर भी शीतल होने के कारण इक्षुरस वायु का प्रकोप करता है; इसी से खरनाद ने 'मारुताध्मानजननश्चक्षुष्यो बृंहणो रसः ॥' लिखा है। लोक में इसीलिये आर्द्रक मिलवाकर पीते हैं, जिससे वायु का प्रकोप न हो।

सोऽग्रे सलवणो, दन्तपीडितः शर्करासमः ॥ ४३ ॥

स०—स च रसोऽग्र इक्षुप्रांते जातः सलवणः। सुश्रुते चोक्तम्—अतीव मधुरो मूले मध्ये मधुर एव च। अग्रे त्वक्षिषु विज्ञेयं इक्षूणां लवणो रस इति। पाषाणादिसंक्षुण्णस्येक्षोः सद्य एव यो रस उत्पद्यते। तस्यैते यथोक्ता गुणवेद्या नान्यथा पीडितस्येक्षुरसस्य। यंत्रदंतादिपीडितस्याऽन्यथा शास्त्रकृता गुणो निर्दिश्यते। दंतपीडितः शर्करासम इति ॥ ४३ ॥

वि०—इक्षु अग्रिम भाग में ईषल्लवण होता है; दाँतों से चूसकर पीने पर शर्करा के समान गुण करता है ॥ ४३ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में—'अतीव मधुरो मूले मध्ये मधुर एव च। अग्रेऽक्षिषु च विज्ञेय इक्षूणां लवणो रसः ॥' सु. उ. ४५। १५६। 'मध्यकाण्डे सुमाधुर्यमिक्षोर्मूलाग्रपर्वसु। माधुर्यं साम्ल-लवणं विदाही तेन यान्त्रिकः ॥'

यांत्रिकस्त्वन्यगुण एवेत्याह—

मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मलसङ्करात्।
किञ्चित्कालं विधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः ॥४४॥
विदाही गुरुविष्टम्भी तेनासौ—

स०—मूलं चाग्रं च जंतुजग्धादयश्च मूलाग्रजंतुजग्धादयस्तेषां तथाविधानामिक्षूणां पीडनं तस्मान्मूलाग्रजंतुजग्धादिपीडनात्तथा मलसंकरान्मलमिश्रणात्तथा किंचित्कालं विधृत्या च यांत्रिके रसे स्वल्पकालं विधृतिविलंबश्च दृष्टः। तदेतैः कारणैर्यांत्रिको रसो विकृतिं याति स्वाभावान्यथात्वं प्राप्नोति। तथा गुरुरधिकं गुरुः संपद्यते। अविदाही विदाही। अविष्टंभी विष्टंभीत्येवंविधाऽस्य विकृतिः। यांत्रिकस्य च रसस्य बाहुल्येन लोके मूलादिसहितस्य पीडनात्कालविलंबोपलब्धेश्च ग्रंथकृदेवं समवोचत्। अत एव हेतुनिर्देशोऽत्र कृतो हेत्वभावात्कार्याभावप्रतिपत्तिज्ञापनार्थमिति। तेन यदि निपुणधीभिर्मूलादिरहितः पीड्यते तदा विकृतिं न यात्येवेत्यर्थः। विदाहीत्यादि। यतो विकृतिं याति तेन हेतुनाऽसौ यांत्रिको विदाह्यादिगुणः संपद्यते। विदाही जठराग्नि संयोगाद्यः पाकं गच्छन्मध्यमायामेवावस्थायां विदह्यमानः पित्तं कुर्वंश्चिरकालमवतिष्ठते न द्रागेव जरां याति गुरुत्वादथवा वस्तुस्वभावात्स विदाहगुणयुक्तोक्त्या वितन्यते। तस्माद्गुरुत्वाभावाद्विदाही कथितः। तथा चोक्तं धान्वंतरे। शालिपिष्टमयं सर्वं गुरुभावाद्विदह्यत इति ॥ ४४ ॥

वि०—यांत्रिक-रस—मूलभाग, अग्रभाग, कृमि आदि से खाये हुए भाग आदि सब के एक साथ में पिसने से; (यन्त्र में लगे जंग या तैल के मैल आदि) मलों के मिलने से; और कुछ काल तक पड़े रहने के कारण कोल्हू का रस बिगड़ जाता है। इस लिये यह रस विदाह करनेवाला, गुरु और विष्टम्भी होता है ॥ ४४ ॥

—तत्र पौण्ड्रकः।
शैत्यप्रसादमाधुर्यैर्वरस्तमनु वांशिकः ॥ ४५ ॥

स०—तत्र तेषु रसेषु मध्ये पौंड्रको रसो वरः सर्वेक्षुरसेभ्यः श्रेष्ठः। कथं शैत्यादिभिर्हेतुभूतैः। शीतस्य भावः शैत्यम्। गुरुवचनेत्यादिना ष्यञ्। प्रसादः प्रसन्नत्वम्। माधुर्यं स्वादुता। तमनुवांशिकः। हीनार्थेऽनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीययुक्त इति द्वितीया। शैत्यादिभिः पौंड्रकाद्धीनो वांशिक इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

वि०—पौण्डा—शीतल, निर्मलता और मधुरता की दृष्टि से सब में श्रेष्ठ है; बाँस गन्ना पौण्डे से हीन होता है ॥ ४५ ॥

शतपर्वककान्तारनैपालाद्यास्ततः क्रमात्।
सक्षाराः सकषायाश्च सोष्णाः किञ्चिद्विदाहिनः ॥४६॥

स०—शतपर्वकादयस्ततो वांशिकात्क्रमादुत्तरोत्तरं शैत्यादिभिर्हीनाः। ते च शतपर्वकादय ईषत्क्षारत्वेन युक्ता ईषत्कषायरसा ईषदुष्णाः, किंचिद्विदाहिनश्च ॥ ४६ ॥

वि०—बाँस गन्ने के बाद शतपर्वक, कान्तार, नैपाल आदि क्रम से हीन होते हैं; ये ईषत्क्षारयुक्त, ईषत्कषायरस, कुछ उष्ण और थोड़ा विदाह करने वाले होते हैं ॥ ४६ ॥

फाणितं गुर्वभिष्यन्दि चयकृन्मूत्रशोधनम्।

स०—फाणितं क्षुद्रगुडीभूतइक्षुरसो गुरुः। अतिशयेनेत्यर्थाद्बोध्यम्। गुरुत्वमात्रस्येक्षुरसेऽप्युक्तत्वात्। अभिष्यंदि तथा चयकृत् त्रिदोषकरं मूत्रशोधनं मूत्रमतिवाहयति। तंत्रान्तरे चोक्तम्। रूक्षं मधूकपुष्पोत्थं फाणितं वातपित्तकृत्। कफघ्नं मधुरं पाके कषायं बस्तिदूषणम् ॥

फाणित (राब) के गुण—

वि०—फाणित (राब)—गुरु, अभिष्यन्दि, त्रिदोषकारक और मूत्रल है।

वक्तव्य—गन्ने के रस की विकृतियाँ पाँच हैं, यथा—'फाणितगुडमत्स्यण्डीखण्डशर्कराः।' फाणित (राब), गुड़, मत्स्यण्डी (गीली खांड), खण्ड (खांड या मियाना), शर्करा, (शक्कर या चीनी)।

नातिश्लेष्मकरो धौतः सृष्टमूत्रशकृद् गुडः ॥ ४७ ॥
प्रभूतकृमिमज्जासृङ्मेदोमांसकफोऽपरः।

स०—गुडो धौतः संस्कारवशान्निर्मलो नातिश्लेष्मकरः। किंचित्कफकर इत्यर्थः। मूत्रं च शकृच्च मूत्रशकृत। सृष्टं बहिः क्षिप्तं मूत्रशकृद्येन स एव गुडः। अपर इति धौताद्विशुद्धादन्यः। समल इति यावत्। प्रभूताः कृमिमज्जासृङ्मेदोमांस-

कफा यस्य स एवम्। कारणे कार्योपचारद्गुडोऽप्येवमुक्तः। यथाऽनुपोदकं पादरोग इति। प्रभूतकृम्यादीन्करोतीत्यर्थः॥ ४७॥

गुड़ के गुण—

वि०—अच्छी प्रकार निर्मल किया गुड़ कफ को थोड़ा बढ़ाता है; मूत्र और मल को बाहर निकालता है। अशुद्ध गुड़ कृमि, मज्जा, रक्त, मेद; मांस और कफ को प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करता है॥ ४७॥

वक्तव्य—गुड़ चार प्रकार का है—धौत, अधौत, पुरातन और नूतन।

हृद्यः पुराणः पथ्यश्च, नवः श्लेष्माग्निसादकृत्॥४८॥

स०—गुड इत्यनुवर्तते। पुराणो गुडो हृदयाय हितः। तथा पथ्यः। अंतर्मध्यबहिर्मार्गाय हितः। नवो गुडः श्लेष्माणमग्निसादं करोति॥ ४८॥

वि०—पुराना गुड़—हृदय के लिये प्रिय और पथ्य (स्वास्थ्यहित) है। नूतन (जिसे एक साल नहीं हुआ) गुड़ कफ और अग्निमान्द्य उत्पन्न करता है॥ ४८॥

वृष्याः क्षीणक्षतहिता रक्तपित्तानिलापहाः।
मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः॥ ४९॥

स०—मत्स्यंडिकादयस्त्रयो वृष्यास्तथा क्षीणक्षतहिता रक्तपित्तानिलापहाश्च तथा क्रमेण गुणवत्तमाः। धौतगुडादपि मत्स्यंडिका गुणकारी निर्मलतरत्वात्। ततोऽपि खंडो गुणवत्तरः। खंडादपि शर्करा गुणवत्तमा निर्मलतमत्वात्। गुणवत्तमेति गुणवतीशब्दस्य तमप्प्रत्यये पुंवद्भावोऽत्र पक्षे च वक्तव्य इति पुंवद्भावः॥ ४९॥

शक्कर, मिश्री आदि के गुण—

वि०—मत्स्यण्डिका, खण्ड और सिता—ये वृष्य, क्षीणक्षतरोगी के लिये हितकारी, रक्त-पित्त और वायुनाशक हैं तथा उत्तरोत्तर गुणों में श्रेष्ठ हैं॥ ४९॥

वक्तव्य—सुश्रुत में कहा भी है—'यथा यथैषां वैमल्यं मधुरत्वं तथा तथा। स्नेहगौरवशैत्यानि सरत्वं च तथा तथा॥'

तद्गुणा तिक्तमधुरा कषाया यासशर्करा।

स०—तद्गुणेति। शर्करासमा यासशर्करा यवासशर्करेति या लोके प्रसिद्धा तिक्तमधुरकषायरसा च। केचित्त्वाचक्षते। दुरालभारसेन या क्रियते।

जवासे के शक्कर (तुरंजबीन) का गुण—

वि०—याश-शर्करा—शर्करा के समान गुण वाली, तिक्त, मधुर और कषाय रस है।

दाहतृट्छर्दिमूर्च्छासृक्पित्तघ्न्यः सर्वशर्कराः॥५०॥

स०—इत्येताश्चान्याश्च दाहादिनाशनाः। ग्रंथांतरे चोक्तम्। यथा यथाऽऽसां वैमल्यं मधुरत्वं यथा यथा। स्नेहलाघवशैत्यादिसरत्वं च तथा तथेति॥ ५०॥

अन्य शर्करा के गुण—

वि०—सब प्रकार की शर्करायें—प्यास, जलन, वमन, मूर्च्छा एवं रक्त-पित्तनाशक हैं॥ ५०॥

अधुना वरावरत्वं निर्धारयति—

शर्करेक्षुविकाराणां फाणितं च वरावरे।

स०—इक्षुविकाराणां मध्ये शर्करा फाणितं च क्रमेण वरावरे भवतः। शर्करा श्रेष्ठा फाणितमवरम्।

शर्करा और फाणित का अन्तर—

वि०—गन्ने से बनी वस्तुओं में शर्करा सबसे श्रेष्ठ है और राव सबसे निकृष्ट है।

शर्करायोनिप्रसंगेन मधुनोऽपि गुणानाह—

चक्षुष्यं छेदि तृट्श्लेष्मविषहिध्मास्रपित्तनुत्॥ ५१॥
मेहकुष्ठकृमिच्छर्दिश्वासकासातिसारजित्।
व्रणशोधनसन्धानरोपणं वातलं मधु॥ ५२॥
रूक्षं कषायमधुरं, तत्तुल्या मधुशर्करा।

स०—मधु चक्षुषे हितम्। तथा छेदि। उभयथाऽऽश्चोतनव्रणलेपादावुपयुक्तम्। तथाऽभ्यवहारविषयेऽपि। तैक्ष्ण्याद्यो देहे पिंडितान् भावान् छिनत्ति विभजति स छेदीति कथ्यते। तथा तृडादिनुत् मेहादिजिदिति च। प्रायेणाऽभ्यवहारविषय एव। व्रणानां शोधनं संधानं रोपणं च। शोधनं यत्पूयपैच्छिल्यादिप्रेरकम्। संधानं यद् द्वौ व्रणौ चैकीकरोति। रोपणं सुप्रसिद्धम्। एतच्च कार्यं बाह्यविषयमेवाऽस्य वेद्यम्। तथा वातलमेतच्चास्य बाह्योपयोगेनाभ्यंतरोपयोगेन च। अन्ते व्यस्तश्रुतत्वात्। चक्षुष्यं छेदीत्यादिनाऽस्य मधुनः कर्मनिर्देशः। रूक्षं कषायमधुरमित्यनेनास्य स्वरूपनिर्देशः। लाघवाच्चात्र ग्रंथकारेणैतद्भेदादि नोक्तम्। तथा ह्ययमेव तंत्रकारः संग्रहे मधुनो भेदानाख्यत्। तथा। भ्रामरं पैत्तिकं क्षौद्रं माक्षिकं तद्यथोत्तरम्। तत्र स्याद्भ्रामरं शुक्लं घृतवर्णं तु पैत्तिकम्। क्षौद्रं तु कपिलं विद्यात्तैलाभं माक्षिकं मतम्। भ्रामरं तर्पणं स्वादु त्रिदोषं पैत्तिकं विदुः। वरं च गुर्वभिष्यंदि क्षौद्रं रूक्षं मनाग्गुरु। माक्षिकं लघ्वपवनं मधुरं शस्यते व्रणे। गरीयः स्वाद्वभिष्यंदि नवं जीर्णमतोऽन्यथा। मंडः पुराणान्मधुनस्तीक्ष्णो रूक्षो लघुस्तनुरिति। तथा संग्रहे कटुपाकित्वगुरुत्वशैत्यविषान्वयत्वविरुद्धोपक्रमत्वयोगवाहित्वादीन् गुणानवोचत्। योगवाहित्वं च विवदन्ते बहुविदः। तत्र केचिदेवं समगिरंत। यद्द्रव्यं द्रव्यांतरेण संयुज्यात्मीयं स्वभावं हित्वा संयुक्तद्रव्यस्वभावमेवानुवर्तते तद्योगवाहीति। नचैतद्युक्तम्। यतो यद्येवं योगवाहिता निश्चीयते तदानीं योगवाहिद्रव्योपयोगो निरर्थकः स्यात्। तथाहि। योगवाहिद्रव्यमंतरेणापि यत्स्वभावं द्रव्यं प्रागासीत् तत्स्वभावमेव योगवाहिद्रव्ये युक्तमपि। तस्मादसदेतद्योगवाहिलक्षणमिति। केचित्त्वेवं प्रतिजानीते। यद्द्रव्यं द्रव्यांतरेण युक्तमन्यस्य द्रव्यस्य शक्त्युत्कर्षमुत्पादयति तद्योगवाहीति। तदप्यसम्यक्। यस्मादेवमभ्युपगम्यमाने बहूनि द्रव्याणि योगवाहीनि स्युः।

तथा च मध्वादेरपि द्रव्यस्य किंचिद् द्रव्यं समानगुणस्य शक्त्युत्कर्षं कुर्वदेव दृष्टम्। तत्कथं मध्वादेरेव योगवाहित्वमुच्यते नापरस्येति। तदेतदपि लक्षणमसच्छूतत्वादलक्षणम्। अपरे त्वेवमाहुः। यद्द्रव्यं द्रव्यांतरेण तुल्यगुणेनापि युक्तं सत्तद्गुणाननुवर्तते स्वं च कार्यं तदविरुद्धं किंचित्करोति तद्योगवाहि। द्रव्यम्। भृत्यवत्। यथा भृत्यः स्वामिकार्यमत्यजन् स्वकार्यमपि शरीरयात्रादिकं स्वास्थ्यविरुद्धं करोति तथैव मधु मदनफलसंयुक्तं वमनकार्यं करोति नतु वमननिवारणं मधुकार्यम्। एवं मधु हरीतकीसंयोगाद्विरेचनकार्यमेव करोति न मधुकार्यं स्तम्भनरूपमिति। ये तत्रैवं प्रतिपन्ना मदनफलादेः शक्त्युत्कर्षस्तथाविधोऽस्ति येन मधुसंबन्धिकार्यमवधूय स्वं कार्यं करोति ते चैवं चोदयन्तो भवन्तीति वंचनीयाः। यतः स्तम्भनद्रव्येणान्येन येन केनचित्संयुक्तस्य सुधाक्षीरस्यापि शक्तिः किंचिदपहीयमाना दृष्टा मधुनापि स्तम्भनस्वभावेनाप्यस्य नापहीयते मनागपि। अतो मध्वादेरेव योगवाहित्वं नान्यस्य। अपि चान्यदा योगवाहि द्रव्यं त्रिवृतादि मदनफलेन युक्तं सद्विरेचनं वमनं चोभयकार्यं कुर्वद्दृष्टं न केवलं वमनमेव न विरेचनमेव तस्मान्मध्वादेरेव योगवाहित्वमिति स्थितमेतत्। तत्तुल्येति। मधुसमा गुणैर्मधुशर्करा ॥ ५१-५२ ॥

अथ मधुवर्गः।

मधु के गुण—

मधु के गुण—मधु आँखों के लिए उपयोगी, छेदन गुण वाला, प्यास, कफ, विष, हिक्का और रक्तपित्तनाशक, प्रमेह, कुष्ठ, कृमि, वमन, श्वास, कास और अतिसारनाशक, व्रणशोधक, व्रणसन्धायक, व्रण को भरनेवाला, वायुकारक, रूक्ष, कषाय और मधुर है। मधु-शर्करा के गुण मधु के समान हैं ॥ ५१-५२ ॥

वक्तव्य—मधु उत्पादक मक्खियों के भेद से चार या आठ प्रकार का है। यथा—'भ्रामरं पौत्तिकं क्षौद्रं माक्षिकं च यथोत्तरम्। तत्र स्याद् भ्रामरं शुक्लं घृतवर्णं तु पौत्तिकम् ॥ क्षौद्रं तु कपिलं प्रोक्तं तैलाभं माक्षिकं स्मृतम्। भ्रामरं तर्पणं स्वादु त्रिदोषं पौत्तिकं विदुः। वरं च गुर्वभिष्यन्दि क्षौद्रं रूक्षं मनाग्गुरु। माक्षिकं लघ्वपवनं मधुरं शस्यते व्रणे ॥' छेदि—संहत हुए कफादि को टुकड़े-टुकड़े करके निकालने वाला। सन्धान—जोड़ने वाला। वातलम्—शुद्ध मधु हो तो वातकारक है, परन्तु वातनाशक वस्तुओं से मिला मधु हो तो वातशामक है। वायु और मधु दोनों योगवाही हैं, इसी से चरक में 'नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु।' स्थूल और कृश दोनों की चिकित्सा में मधु बरता जाता है। योगवाही द्रव्य भृत्य के समान कार्य करता है, अर्थात् जिस प्रकार भृत्य स्वामी का कार्य करता हुआ अपनी शरीरयात्रा-कार्य को भी साथ-साथ करता रहता है; उसी प्रकार योगवाही द्रव्य जिस द्रव्य के साथ मिलता है उसके कार्य को तथा अपने कार्य को भी करता है।

मधु-शर्करा—मधु को पात्र में रखने से जब उसका द्रव भाग शुष्क हो जाता है; तब जो भाग मधु का बचता है, वह दानेदार मधु-शर्करा है। इसी से हेमाद्रि ने 'वह्निपाकात्कालपाकाद्वा शर्करारूपतां गतं मधु मधुशर्करा।'

उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैर्निहन्ति तत् ॥ ५३ ॥
प्रच्छर्दने निरुहे च मधूष्णं न निवार्यते।
अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्तते ॥ ५४ ॥

स०—तन्मधु उष्णमुपयुक्तं सन्निहंति मारयति तथोष्णार्तं प्रतप्तं पुरुषं निहंति। उष्णे च काले देशे चोपयुक्तमुष्णैराहारादिभिश्च युक्तं सन्निहंति। तच्च मधु प्रच्छर्दने वमने तथा निरुहे च उष्णं न निवार्यते न निषिध्यते। यस्मात्कारणात्तयोर्वमिनिरूहयोरलब्धपाकमपक्वमेवाशु निवर्तते बहिरागच्छति। इतीक्षुवर्गः ॥ ५३-५४ ॥

उष्ण मधु के गुण—

वि०—गरम किया मधु, गरमी-धूप आदि से पीड़ित मनुष्य में दिया मधु, उष्ण समय में दिया मधु, उष्ण आहार के द्रव्यों (उष्ण स्पर्शवाले) के साथ प्रयुक्त मधु मारक (हानिकारक) होता है ॥ ५३-५४ ॥

वक्तव्य—मधु के साथ उष्णता का मेल नहीं है, यथा—'आमे सोष्मा क्रिया कार्या, सा मध्वामे विरुध्यते।' मधु—नाना प्रकार के पुष्पों से सञ्चित होने के कारण विषैले पुष्पों का भी योग सम्भव है तथा उसको बनाने वाली मक्खियाँ स्वयं सविष होती हैं अतः मधु में विष संसर्ग होता है और उष्णिमा से विष बढ़ता है, विष में उष्णिमा का निषेध है।

अपवाद—वमनकार्य में और निरूह वस्ति में उष्ण मधु का निषेध नहीं है, क्योंकि इन दोनों अवस्थाओं में पाक बिना हुए ही वह मधु शीघ्र ही वापिस निकल आता है अर्थात् इन अवस्थाओं में मधु का पाक नहीं होता, इसलिये हानि नहीं है।

सर्पिषोऽनन्तरं स्नेहसामान्यात्तैलवर्गे वक्तव्ये गुडस्य समानरसवीर्यविपाककर्मत्वात् प्रायेण चाहारद्रव्येषु भक्ष्यभोज्येष्वस्यैव तैलेभ्यः सारभोजनादिक्षुवर्गोऽतरानिर्दिष्टः। भूरिभोजनोपयोगितया च मद्यात्प्राक् तैलवर्गो वक्तव्य इत्याह—

तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च।
त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च ॥५५॥
कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय च।
बद्धविट्कं कृमिघ्नं च संस्कारात्सर्वरोगजित् ॥५६॥

स०—सर्वं तैलं स्वकारणसमगुणं भवति। यतो यदभिनिर्वृत्तं तत्स्वरूपमेवेत्यर्थः। तत्र तैलेषु मध्ये मुख्यं तिलोद्भवं यत्तैलं तत्तीक्ष्णं मन्दविपरीतम्। तथा व्यवायि व्याप्तिशीलम्। तथा त्वग्दोषकृतपानाभ्यासेन त्वचं दूषयति। अचक्षुष्यं चक्षुषे हितं न भवति। सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोगामि। उष्णमुष्ण-

वीर्यम् । स्वयोनिवदित्यतिदेशात्कफकृत्त्वं प्राप्तमित्याह । कफकृन्न च कफं न करोति । संग्रहेऽप्युक्तम् । मेध्यस्तिलः स्पर्शशीतो मेध्यं तैलं खलो हिमः । तस्यैव श्लेष्मकर्तृत्वं न तैलस्य खलस्य चेति । पानकस्त्वायुर्वेदावतारेऽभिजगे । विपाके कटुकं तैलं वातघ्नं कफपित्तकृदिति । ननु च तैलमिति कथमस्य मुख्यं नाम । यतो यथा तिलस्य विकारः स्नेहस्तैलमित्युच्यते । तथैरंडादीनामपि यो विकारः स्नेहः सोऽपि तैलमित्युच्यते । मुनिरप्याह । अतैलमपि तैलमेव कृत्वोपदेक्ष्यते तैलप्राधान्यात्स्नेहप्राधान्यादिति यावत् । सामानाधिकरण्यप्रयोग एवोपपन्नः । यथा कौसुम्भं तैलमैरंडं तैलमिति अत्रोच्यते । तिलस्येदं वस्तु तैलमित्यन्वर्थता तिलोद्भवस्यैव तैलस्य संभवति न कौसुम्भादीनाम् । अपि च । कौसुम्भं तैलमित्यादौ तैलशब्दः कांडादिव्यवच्छेदपरः संभाव्यते । यथा कौसुम्भं तैलं न पत्रं कांडं चेति । इदं तैलं तैलमित्यत्र तु सामानाधिकरण्येन यदि तैलशब्दो निर्दिश्यते ततः पूर्वस्मात्तैलशब्दात्स्नेहाभिधायिनोऽधिकमर्थांतरं न वक्ति । नन्वत्राऽपि तैलशब्दः कस्मात्कांडादिव्यवच्छेदपरो न भवतीति चेत् । वयं ब्रूमः । रूढिरूपत्वात्तैलशब्दस्य स्नेहविषय एव तैलशब्दो रूढो न कांडपत्रादिविषये तिलस्य हि कांडं पत्रं वा न तैलमित्युमुच्यते किं तर्हि तिलपत्रं तिलकांडमिति । अत एव तैलशब्दोच्चारणस्य समनन्तरं स्नेहविषयैव धीर्जायते न पत्रकांडादिविषया । तस्मादस्यैवैतन्मुख्यं नाम युक्तम् । संस्कारानुवर्त्तित्वेन सर्वरोगजित्वाच्चास्य मुख्यत्वम् । तथा चोक्तम् । संस्कारात्सर्वरोगजिदिति । कुसुम्भादीनां तिलशब्दस्य च स्नेहनार्थवाच्ये विकारे स्नेहे तैलच्प्रत्यये सति सुकुम्भतैलमेरण्डतैलं तिलतैलमिति रूपं भवति । कृशानां पुसां बृंहणाय बृहत्वायालं पर्याप्तं स्थूलानां च कर्शनायालम् । ननु कथमेकस्माद्वस्तुनो विरुद्धकार्यद्वयं कृशत्वबृंहणत्वरूपं स्यादिति ब्रूमः । कृशानां तावत्स्रोतांसि संकोचमायांति संकुचितस्रोतसां च नराणां तैलमन्तरेणाऽन्यानि द्रव्याणि बृंहणगुणयुक्तान्यपि न तथा प्रवेष्टुं समर्थानि भवन्ति । तैलं पुनः संकुचितानि स्रोतांसि तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्झटित्येवं प्रविश्य शोधयति । स्रोतः शुद्धया च शरीरपुष्टिः । तथा च वक्ष्यति । स्रोतःसु तत्र शुद्धेषु रसो धातूनुपैति यः । तेन तुष्टिर्बलं वर्णः परं पुष्टिश्च जायत इति । तस्मात्कृशानां बृंहणायालमित्युपपन्नम् । तथा स्थूलानां सूक्ष्मस्रोतोगामित्वात्सर्वस्रोतःसु तैलं प्रविश्य तीक्ष्णोष्णादिगुणयोगान्मेदः क्षपयति तत्क्षपणाच्च कर्शनं संपद्यत इति स्थूलनां कर्शनाय चेत्युपपन्नम् । स्नेहादिगुणयोगात्तैलस्य बृंहणत्वक्षामत्वे सिद्धे सति कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय चेत्युक्तं ज्ञापनार्थम् । यदित्थंभूतं तीक्ष्णादिगुणयुक्तमन्यदपि तत्कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय चेति । बद्धेत्यादि बद्धा विट् येन तद्बद्धविट्कम् । कप्समासांतः । ग्रंथितपुरीषमित्यर्थः । तथा कृमिघ्नम् । संस्कारादित्यादि । विशिष्टद्रव्यकृतसंस्कारमाश्रित्याशेषरोगजित् ॥ ५५-५६ ॥

अथ तैलवर्गः ।

तैल के सामान्य गुण

वि०—सब तैल अपने मूल द्रव्य के गुण वाले होते हैं-इनमें तिलतैल मुख्य है। यह तिलतैल तीक्ष्ण, व्यवायी है; (अन्तः प्रयोग के अभ्यास से) त्वग्दोष करने वाला, आँखों के लिये अहितकारक, सूक्ष्म, उष्ण है और कफकारक नहीं है। कृश पुरुषों का बृंहण करने में और स्थूल पुरुषों को कृश करने के लिये भी समर्थ है। मल को बाँधने वाला, कृमिनाशक है। संस्कार से सब रोगों को शान्त करता है ॥ ५५-५६ ॥

वक्तव्य—चरक में-'अतैलमपि तैलमेव कृत्वोपदेक्ष्यते, तैलप्राधान्यात् ।' सुश्रुत में-'निष्पत्तेस्तद्गुणत्वाच्च तैलत्वमितरेष्वपि' अर्थात् तिलों से तैल निकलता है।[1] यह 'तैल' शब्द दूसरे द्रव्यों के स्नेह में भी प्रयुक्त होता है; यथा एरण्ड का तैल, सरसों का तैल। इनमें जिस द्रव्य से तैल निकलता है उस द्रव्य के गुण उस तैल में होते हैं। इन तैलों में तिल का तेल मुख्य है। यह तीक्ष्ण है, व्यवायी है, अर्थात् पहले शरीर में फैलकर पीछे से इसका पाचन होता है। त्वग्दोषकृत्-यह अन्तःपान में त्वचा को दूषित करता है। शिवदास जी ने 'त्वग्दोषहृदचक्षुष्यम्' जो पाठ दिया है, वहाँ अभ्यंग—बाह्योपचार से यह त्वग्दोषनाशक है। सूक्ष्म स्रोतों में जाने वाला है। स्निग्ध होने पर भी कफकारक नहीं है; यथा—'मेध्यस्तिलः स्पर्शशीतो मेध्यं तैलं खलो हिमः। तस्यैव श्लेष्मकर्तृत्वं न तैलस्य खलस्य वा ॥'

कृश पुरुषों को स्थूल करने में कारण—कृश पुरुषों के स्रोत संकुचित होते हैं; इन संकुचित स्रोतों को तैल अपने तीक्ष्ण आदि गुणों से तुरन्त खोल देता है; जिस प्रकार सूखा चमड़ा तैल लगाने से कोमल बन जाता है।

स्थूल पुरुषों को कृश करने में कारण—तैल अपने सूक्ष्म गुण से स्रोतों में पहुँचकर मेद को कम करता है; इससे स्थूलता कम होती है। संस्कार से सब रोगों को शान्त करता है; अर्थात् औषधियों के गुणों को अपने अन्दर ले लेता है। इसी से कहा है—'तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानां श्रेष्ठतमम् ॥'

सतिक्तोषणमैरण्डं तैलं स्वादु सरं गुरु ।
वर्ध्मगुल्मानिलकफानुदरं विषमज्वरम् ॥ ५७ ॥
रुक्शोफौ च कटीगुह्यकोष्ठपृष्ठाश्रयौ जयेत् ।

स०—एरण्डतैलमीषत्तिक्तं कटु भवति तथा स्वादु मधुरं तथा सरं गुरु च । वर्ध्मेत्यादि । वर्ध्मादीन् जयेत् । कटीगुह्यकोष्ठपृष्ठस्थितौ रुक्शोफौ जयेत् ॥ ५७ ॥

---

[1] विषान्वयत्वेन विषपुष्पेभ्योऽपि यतो मधु ।
कुर्वंते ते स्वयं यच्च सविषा भ्रमरादयः ।
गुरुरूक्षकषायत्वाच्छैत्याच्चाल्पं हितं मधु ॥
(संग्रह. सू. अ. ६)

एरण्ड तैल के गुण—

वि०—एरण्ड का तैल—ईषत् तिक्त, ईषत्कटु, मधुर, विरेचक, गुरु, वर्ध्म (मुष्कवृद्धि), गुल्म, वात, कफ, उदररोग और विषमज्वर नाशक है। कटि, गुह्य भाग, कोष्ठ और पीठ के दर्द और शोथ को नष्ट करता है ॥ ५७ ॥

तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं विस्रं रक्तैरण्डोद्भवं त्विति ॥५८॥

स०—तच्च तीक्ष्णोष्णपिच्छिलं विस्रं च भवति। लोहितैरंडतैलं त्वतिशयेन तीक्ष्णादियुक्तम् ॥ ५८ ॥

रक्त एरण्डतैल के गुण

वि०—लाल एरण्ड का तैल—अति तीक्ष्ण, अति उष्ण, अति पिच्छिल और अति विस्र गन्धवाला है ॥ ५८ ॥

कटूष्णं सार्षपं तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहम्।
लघु पित्तास्रकृत् कोठकुष्ठार्शोव्रणजन्तु जित् ॥ ५९ ॥

स०—सर्षपाणामिदं सार्षपं तैलं कटूष्णं च भवति। तथा तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहं च। अपपूर्वाद्धंतेरन्येष्वपि दृश्यत इति डः। तथा च लघु पित्तास्रं च करोति तथा कोठादीन् जयति ॥ ५९ ॥

सरसों के तेल का गुण—

वि०—सरसों का तेल—कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, कफ, शुक्र और वायुनाशक है; लघु, पित्त-रक्तविकार, कोठ, कुष्ठ, अर्श, व्रण और जन्तु (कृमि) नाशक है ॥ ५९ ॥

आक्षं स्वादु हिमं केश्यं गुरु पित्तानिलापहम्।

स०—अक्षाणां बिभीतकानामिदमाक्षं तैलं मधुरादिगुणयुक्तं पित्तानिलहृच्च।

बहेड़े के तेल का गुण—

वि०—बहेड़े का तैल—मधुर, शीतल, बालों के लिये हितकारी, गुरु, पित्त और वायुनाशक है।

नात्युष्णं निम्बजं तिक्तं कृमिकुष्ठकफप्रणुत् ॥ ६० ॥

स०—निंबोद्भवं तैलमतिशयेनोष्णं न भवति तथा तिक्तं तथा कृमिकुष्ठकफनाशनमतिशयेन ॥ ६० ॥

नीम के तेल का गुण—

वि०—नीम की निम्बोली का तेल—थोड़ा गरम, तिक्त, कृमि, कुष्ठ और कफनाशक है ॥ ६० ॥

उमाकुसुम्भजं चोष्णं त्वग्दोषकफपित्तकृत्।

स०—अतसीजं कुंसुभजं च तैलमुष्णवीर्यं भवति तथा त्वग्दोषकफपित्तानि करोति।

अलसी और कुसुम्भ तेल के गुण—

वि०—अलसी और कुसुम्भ के तेल—उष्ण वीर्य, त्वग्दोषकारक, कफ एवं पित्त को बढ़ाते हैं।[1]

स्नेहप्रसंगादिदमप्याह—

वसा मज्जा च वातघ्नौ बलपित्तकफप्रदौ ॥ ६१ ॥
मांसानुगस्वरूपौ च विद्यान्मेदोऽपि ताविव।

स०—वसा तु रूपेण शुद्धमांसस्य स्नेहः। मज्जा धातुः। तौ वातनाशनौ तथा मांसानुगस्वरूपौ यस्य प्राणिनः संबंधि मांसं तत्सदृशरूपौ। मेदोऽपि ताविव वसामज्जासदृशस्वरूपं विद्यात्। संक्षेपतया चायं तैलवर्ग इहोक्तः। तथा च संग्रहेऽधिकमप्युक्तम्। दन्तीमूलकरञ्जोग्रकरञ्जारिष्टशिग्रुजम्। सुवर्चलेंगुदीपीलुशंखिनीनीपसंभवम्। सरलागुरुदेवाह्वशिंशपासारजन्म च। तुवरारुष्करोत्थं च तीक्ष्णं कट्वम्लपित्तकृत्। अर्शःकुष्ठकृमिश्लेष्मशुक्रमेदोऽनिलापहम्। करंजनिंबजे तिक्ते नात्युष्णे तत्र निर्दिशेत्। कषायतिक्तकटुकं सारलं व्रणशोधनम्। भृशोष्णतीक्ष्णकटुके तुवरारुष्करोद्भवे। विशेषात्कृमिकुष्ठघ्ने तथोर्ध्वाधोविरेचने। अक्षातिमुक्तकाक्षोटनालिकेरमधूकजम्। त्रपुसैर्वारुकूष्मांडश्लेष्मातकपियालजम्। वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम्। पित्तश्लेष्मप्रशमनं श्रीपर्णीकिंशुकोद्भवम्। तिलतैलं वरं तेषु कौसुम्भं न वरं परम्। वसा मज्जा च वातघ्नौ बलपित्तकफप्रदौ। मांसानुगस्वरूपौ च विद्यान्मेदोऽपि ताविव। शाल्की शौकरी पाकहंसजा कुक्कुटोद्भवा। वसा श्रेष्ठा स्ववर्गेषु कुंभीरमहिषोद्भवा। काकमद्गुवसा तद्वत्कारंडोत्था च निंदिता। शाखादमेदसां छागं हस्तिनं च वरावरमिति। इति तैलवर्गः ॥ ६१ ॥

वसादि के गुण—

वि०—वसा और मज्जा—ये दोनों वातनाशक, बलदायक, पित्त एवं कफ को उत्पन्न करती हैं। जिस प्राणी की वसा-मज्जा होती हैं उसी प्राणी के मांस के समान इनके गुण होते हैं। मेद के गुण भी वसा और मज्जा के समान ही होते हैं ॥ ६ ॥

तीक्ष्णोष्णसूक्ष्मादिगुणसामान्यात्तैलवर्गादनंतरं मद्यवर्ग आरभ्यते—

दीपनं रोचनं मद्यं तीक्ष्णोष्णं तुष्टिपुष्टिदम् ॥ ६२ ॥
सस्वादुतिक्तकटुकमम्लपाकरसं सरम्।
सकषायं स्वरारोग्यप्रतिभावर्णकृल्लघु ॥ ६३ ॥
नष्टनिद्रातिनिद्रेभ्यो हितं पित्तास्रदूषणम्।
कृशस्थूलहितं रूक्षं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनम् ॥ ६४ ॥
वातश्लेष्महरं युक्त्या पीतं विषवदन्यथा।

स०—सर्वं मद्यं दीपनादिगुणयुक्तम्। तुष्टिश्चित्तपरितोषः पुष्टिः शरीरपोषः ते ददाति जनयति यत्तत्तुष्टिपुष्टिदम्। आतोऽनुपसर्गे कः। तथा ईषन्मधुरतिक्तकटुकम्। तथाऽम्लौ पाकरसौ यस्य तदेवम्। तथा सरम्। तथा सकषायम्। तथा स्वरश्चारोग्यं च प्रतिभा च वर्णश्च तान् करोति। ननु सर्वाण्येव द्रव्याण्यारोग्यार्थमुपदिश्यंते तस्मादारोग्यकृत्त्वं सर्वेषामेव द्रव्याणां प्राप्तमिति सर्वस्यैवाऽरोग्यकृत्त्वम्। उच्यते। युक्तमाह

---

[1] इनके अतिरिक्त अनेक दूसरे तैल भी विशेषतः चिकित्सा में उपयोग में आते हैं और उनका वर्णन भी अष्टाङ्गसंग्रह सूत्र अ. ६ में देखें।

भवान् । किंत्वतिशयख्यापनार्थम् । एतन्मद्यमतिशयेनारोग्यकृदित्यर्थः । तथा लघु । तथा नष्टनिद्रेभ्यो नरेभ्योऽतिनिद्रेभ्यश्च हितम् सर्वमेव मद्यं प्रभावादिति केचित् । अन्ये त्वेवं मन्यंते यथा सुरादि यन्मद्यं श्लेष्मादिवर्धनं तन्नष्टनिद्रेभ्यो हितम्, यच्च माधवादिमद्यं श्लेष्मादिहंतृ तच्चाऽतिनिद्रेभ्यो हितमिति । तथा पित्तास्रदूषणम् । कृशेभ्यः स्थूलेभ्यश्च हितम् । सामान्येनाऽपि निर्देशेऽत्रायं विशेषो बोध्यः । किंचिन्मद्यं कृशाय हितं किंचित्स्थूलायेति । अथवा तैलोक्तन्यायेन कृशस्थूलहितत्वं बोध्यम् । तथा रूक्षसूक्ष्मं स्रोतोगामि तथा स्रोतो विशोधयति । तथा वातश्लेष्महरम् । युक्त्या पीतं सदेवंगुणं मद्यं भवति । युक्तिस्तु मदात्ययनिदाने चिकित्सिते च वक्ष्यमाणा । अन्यथाऽयुक्त्या पीतं सद्विषतुल्यं भवति ॥ ६२–६४ ॥

अथ मद्यवर्गः ।

मद्य के सामान्य गुण—

वि०—युक्ति से पिया हुआ मद्य— अग्निदीपक, रुचिकारक, तीक्ष्ण, उष्ण, तुष्टि (सन्तोष) और पुष्टिदायक है । ईषन्मधुर, ईषत् तिक्त, ईषत्कटुक, अम्लरस, विपाक में अम्ल, सर (मृदु रेचक), ईषत्कषाय रस, स्वर, आरोग्य, प्रतिभा (सूक्ष्म) और वर्ण को करने वाला तथा लघु है । जिनको नींद नहीं आती हो अथवा जिनको बहुत नींद आती हो, उनके लिए हितकारी है; पित्त-रक्त को दूषित करने वाला है । कृश एवं स्थूल दोनों के लिए हितकारी; रूक्ष; सूक्ष्म और स्रोतों का शोधन करता है और वात-कफनाशक हैं । इसके विपरीत अयुक्ति से पिया मद्य विष के समान है ॥ ६२–६४ ॥

वक्तव्य—मद्य सन्धान से बनता है । इसके महत्त्व के उत्पत्ति-स्थान पांच हैं, यथा—'द्राक्षेक्षु माक्षिकं शालिरुत्तमा व्रीहिपञ्चमाः । मद्याकरा यदेभ्योऽन्यत्तन्मद्यप्रतिरूपकम् ॥ द्राक्षेक्षवः सखर्जूराः शालिपिष्टं यवस्य च । पञ्च मद्याकराः श्रेष्ठा द्राक्षा तेषां विशिष्यते ॥' तुष्टि—सन्तोष, पुष्टि—बलवृद्धि, प्रतिभा—प्रज्ञा । नष्टनिद्रा और अतिनिद्रा दोनों के लिए प्रभाव से हितकारी है । नष्ट निद्रा में वातघ्नत्व क्रिया करता है और अतिनिद्रा में कफघ्न प्रभाव करता है; अथवा जो मद्य (यथा-सुरा) कफवर्धक है वह नष्टनिद्रा वालों के लिये और जो मद्य कफनाशक है (यथा माधवादि) वह अतिनिद्रावालों के लिये उत्तम है । इसी प्रकार कोई मद्य कृश पुरुषों के लिये और कोई मद्य स्थूल पुरुषों के लिए उत्तम है । युक्तिपूर्वक—'बल-काल-देश सात्म्य-प्रकृति-सहायामयवयांसि प्रविभज्य तदनुरूपं यदि पिबति ततः पिबत्यमृतम्' (अष्टाङ्ग. नि. अ. ६ । ४१)

गुरु तद्दोषजननं नवं जीर्णमतोऽन्यथा ॥ ६५ ॥

स०—नवं किंचित्कालातिक्रांतं तन्मद्यं गुरु त्रिदोषकरं च भवति । नवमनतीतसंवत्सरमित्येके । जीर्णं पुराणं बहुकालातिक्रांतमतो नवादन्यथा लघु दोषहरं चेत्यर्थः ॥ ६५ ॥

नये और पुराने मद्य के गुण—

वि०—नूतन मद्य—गुरु और दोषजनक है और पुरातन मद्य (जो मद्य एक साल का हो गया है)—लघु और दोषनाशक है ।

वक्तव्य—सुश्रुत में कहा है—'स्फुटस्रोतस्करं जीर्णं लघु वातकफापहम् ॥' (सु. अ. ४५ । १९४)

पेयं नोष्णोपचारेण न विरिक्तक्षुधातुरैः ।
नात्यर्थतीक्ष्णमृद्वल्पसम्भारं कलुषं न च ॥ ६६ ॥

स०—तच्च मद्यमुष्णोपचारेण न पेयम् । उष्णो विहाराहारादिक उपचारो यस्य स एवं तेन । न विरिक्तेत्यादि । कृतविरेचनेन न पेयं दोषासाम्यादिति भावः । क्षुधार्तेन न पेयम् । तथाऽतितीक्ष्णमतिमृदु च मद्यं च पेयम् । अल्पसम्भारमिति । यद्यावता संभारेण लोकप्रसिद्धेन संधीयते सुरादि तत्र तदपेक्षया चाल्पसंभारं न पेयम् । तथा कलुषमस्वच्छं च न पेयम् ॥ ६६ ॥

मद्यपान का निषेध—

वि०—गरम भोजन या सूर्य-सन्ताप आदि को सेवन करके मद्य नहीं पीना चाहिये । विरेचन लेने पर एवं अतिशय भूख लगने पर भी मद्य नहीं पीना चाहिये । अतिशय तीव्र मद, अतिशय मृदु मद्य नहीं पीना चाहिये । थोड़े सम्भार (जो जो सामग्री जिस मद्य को बनाने के लिये उपयुक्त है उसमें कमी कर बनाये हुए) मद्य का पान नहीं करना चाहिये, मलिन (अस्वच्छ) मद्य नहीं पीना चाहिये ॥ ६६ ॥

अधुना मद्यविशेषानाह—

गुल्मोदरार्शोग्रहणीशोषहृत् स्नेहनी गुरुः ।
सुराऽनिलघ्नी मेदोऽसृक्स्तन्यमूत्रकफावहा ॥ ६७ ॥

स०—सुरा गुल्मादिहृद्भवति । तथा स्नेहयतीति स्नेहनी । तथा गुरुर्वातनाशिनी च । तथा मेदश्चासृक् च स्तन्यं च मूत्रं च कफश्च तानावहति ॥ ६७ ॥

सुरा के गुण—

वि०—सुरा—गुल्म, उदर, अर्श, ग्रहणी और शोषनाशक, स्नेहन करने वाली, गुरु और वातनाशक है । वह मेद, रक्त, स्तन्य, मूत्र और कफ को बढ़ाती है ॥ ६७ ॥

तद्गुणा वारुणी हृद्या लघुस्तीक्ष्णा निहन्ति च ।
शूलकासवमिश्वासविबन्धाध्मानपीनसान् ॥ ६८ ॥

स०—एवं वारुणी प्रसन्ना । त एव सुरोक्ता गुणा यस्याः सा तद्गुणा । सुरासमगुणेत्यर्थः । हृदयाय हिता हृद्या । तथा लघुतीक्ष्णा च । शूलादिन्निहंति च । विबंधः स्रोतसामुपलेपेन दोषादीनामवहनम् । जगलमेदकबक्कसानां सुतरामनुपयोगित्वाद्गुणा नेहोक्ताः संग्रहे तूक्ता एव । यथा—जगलः पाचनो ग्राही रूक्षस्तद्वच्च मेदकः । बक्कसो हृतसारत्वाद्विष्टंभी दीपकोपनः । वारुण्या अधोभागो घनो जगलः । जगलस्याधोभागो मेदकः । पानीयेन मद्यकल्कपीडनोत्पन्नो बक्कसः ॥ ६८ ॥

वारुणी के गुण—

वि०—वारुणी—सुरा के समान गुणवाली है; हृदय के लिए हित तथा तीक्ष्ण है। शूल, कास, वमि, श्वास, विबन्ध, आध्मान और पीनस को नष्ट करती है ॥ ६८ ॥

वक्तव्य—'प्रसन्ना वारुणी ज्ञेया परिस्रुन्मदिरा तथा। कादम्बरी घनसुरा, तदधो जगलः स्मृतः ॥ जगलः पाचनो ग्राही, रूक्षस्तद्वच्च मेदकः। वक्कसो हृतसारत्वाद् विष्टम्भी दोषकोपनः' ॥ वारुणी—सुरा के ऊपर का निर्मल भाग-इसी को 'मण्ड', 'प्रसन्ना' कहते हैं। वारुणी का निचला घट्ट भाग 'जगल', जगल का निचला भाग 'मेदक' एवं मद्यकल्क को जल के साथ निचोड़ने से 'बक्कस' बनता है।

हेमाद्रि के मत से—वारुणी-श्वेतसुरा है, जो कि श्वेत पुनर्नवा आदि मूलों के साथ पिसे हुए चावलों से बनाई जाती है, इनके मत से वारुणी अच्छसुरा नहीं है, क्योंकि प्रसन्ना कफनाशक है।

नातितीव्रमदा लघ्वी पथ्या बैभीतकी सुरा।
व्रणे पाण्ड्वामये कुष्ठे न चात्यर्थं विरुध्यते ॥ ६९ ॥

स०—बिभीतकानामियं बैभीतकी। नातितीव्रो मदो यस्याः सैवम्। तीव्रमदं न जनयतीत्यर्थः। लघ्वी तथा पथ्या। व्रणादिषु चात्यर्थमन्यमद्यवन्न विरुध्यते ॥ ६९ ॥

बहेड़े के मद्य का गुण—

वि०—बहेड़े की सुरा—मध्यम मदकारक, लघु और स्वस्थ अवस्था में हितकारी है। व्रण, पाण्डु रोग और कुष्ठ में दूसरे मद्यों के समान विरोधी नहीं, अर्थात् यह मद्य इन अवस्थाओं में थोड़ा दिया जा सकता है ॥ ६९ ॥

विष्टम्भिनी यवसुरा गुर्वी रूक्षा त्रिदोषला।

यवसुरा के गुण—

वि०—जौ की सुरा—विष्टम्भकारक, गुरु, रूक्ष और त्रिदोषकारक है।

यथाद्रव्यगुणोऽरिष्टः सर्वमद्यगुणाधिकः ॥ ७० ॥
ग्रहणीपाण्डुकुष्ठार्शःशोफशोषोदरज्वरान्।
हन्ति गुल्मकृमिप्लीह्नः कषायकटुवातलः ॥ ७१ ॥

स०—अरिष्टोऽपि यैर्द्रव्यैः सिद्धः स तद्गुणाननुगच्छति। सर्वैश्च दीपनत्वादिभिर्मद्यगुणैरधिकः। तंत्रांतरे चोक्तम्—मद्याकराधिकद्रव्यं मदिराद्यात्मकं ततः। यथा—द्रव्यगुणोऽरिष्टः सर्वमद्यगुणाधिकः इति। ग्रहण्यादिकांश्च रोगान् हंति। तथा कषायः कटुश्चासौ वातलश्च स एवम्। लक्षणं चास्य प्रागुक्तम् ॥ ७०-७१ ॥

अरिष्ट के गुण—

वि०—अरिष्ट—अरिष्ट मूल द्रव्य के गुणों के अनुसार गुण वाला होता है, तथा यह सभी मद्यों में अधिक गुणवाला (उत्तम) होता है। यह ग्रहणी, पाण्डु, कुष्ठ, अर्श, शोफ, शोष, उदररोग, ज्वर, गुल्म, कृमि और प्लीहा को नष्ट करता है, कषाय, कटु एवं वातकारक है ॥ ७०-७१ ॥

वक्तव्य—'अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणैः। दीपनः कफवातघ्नः सरः पित्ताविरोधनः ॥' सुश्रुत।

मार्द्वीकं लेखनं हृद्यं नात्युष्णं मधुरं सरम्।
अल्पपित्तानिलं पाण्डुमेहार्शःकृमिनाशनम् ॥ ७२ ॥

स०—मार्द्वीकं द्राक्षारसोद्भवं लेखनत्वादियुक्तम्। तथाऽल्पौ पित्तानिलौ यस्य तदेवम्। अन्यमद्यापेक्षयाऽल्पतरौ करोतीत्यर्थः। तथा पाण्ड्वादिनाशनम्। विलिखत्यतितैक्ष्ण्याद्यद्धांतूस्तल्लेखनं मतम् ॥ ७२ ॥

द्राक्षामद्य (अंगूरी शराब) के गुण—

वि०—मार्द्वीक (द्राक्षा रस से बना) मद्य लेखन (लीन मल को उखाड़ने वाला), हृदय के लिये हितकर, बहुत गरम नहीं, मधुर, सारक, अन्य मद्य की अपेक्षा कम पित्त और कम वायुकारक, पाण्डु, मेह, अर्श और कृमिनाशक है।

वक्तव्य—'शुष्कद्राक्षाम्बुसम्भूतो विशदो रोचनो हिमः। द्राक्षासवो मधुसमो बृंहणो भृशदीपनः ॥'

अस्मादल्पान्तरगुणं खार्जूरं वातलं गुरु।

स०—खार्जूरं मद्यमस्मान्मार्द्वीकादल्पांतरगुणम्। अल्पांतराः किंचिद्विशेषा गुणा यस्य तदेवम्। तथा वातलं गुरु च। द्राक्षा मद्यं चान्यत्रोक्तम्। यथा। शुष्कद्राक्षांबुसंभूतो विशदो रोचनो हिमः। द्राक्षासवो मधुसमो बृंहणो भृशदीपन इति।

खजूर के मद्य का गुण—

वि०—खर्जूर से बना मद्य—मार्द्वीक से थोड़े भिन्न गुणों वाला, वायुकारक और गुरु है।

शार्करः सुरभिः स्वादुर्हृद्यो नातिमदो लघुः ॥ ७३ ॥

स०—शार्करः शर्करासंबंधी मद्यविशेषः सुरभिः सुगंधिर्भवति। तथा स्वादुश्च हृद्यश्च स्वादुहृद्यः। तथा नातिमदो लघुश्च भवति ॥ ७३ ॥

शर्करा के मद्य का गुण—

वि०—शर्करा से बना मद्य—सुगन्धित, मधुर, हृदय के लिये हितकारक, मध्यम मदकारक और लघु है ॥ ७३ ॥

सृष्टमूत्रशकृद्वातो गौडस्तर्पणदीपनः।

स०—गुडसंबंधी गौडः सृष्टमूत्रत्वादिभिर्गुणैर्युक्तः। तथा तर्पणश्चासौ दीपनश्च तर्पणदीपनः।

गुड़ के मद्य का गुण—

वि०—गुड़ से बनाया मद्य—मूत्र, मल और वायु को प्रवृत्त करने वाला, तृप्तिजनक और अग्निदीपक है।

वातपित्तकरः सीधुः स्नेहश्लेष्मविकारहा ॥ ७४ ॥
मेदःशोफोदरार्शोघ्नस्तत्र पक्वरसो वरः।

स०—सीधुः वातपित्तकरस्तथा स्नेहविकारान् तथा श्लेष्मविकारांश्च हंति। ब्रह्मभ्रूणवृत्रेष्विवत्यत्र चतुर्विधस्य नियमस्य प्रायिकत्वात् क्विप्। सीधुरपक्वेक्षुरसकृतः पक्वेक्षुरसकृतश्च। तत्र सीध्वोर्मध्ये पक्वरसो मेदः शोफोदरार्शांसि हंति। मेदः शोफोदरार्शोघ्न इत्यमनुष्यकर्तृके चेति टक् ॥७४॥

सीधु का गुण—

वि०—सीधु-(इक्षुरसकृत मद्य)-वात-पित्त को करने वाला, स्नेहजनित व्यापत् और कफजन्य रोगों को नष्ट करता है, मेद, शोफ, उदर और अर्शनाशक है। इनमें भी गन्ने के रस को पका कर बनाया गया 'पक्करस' सीधु उत्तम है। (अपक्व रस से बनाया 'शीत रस' सीधु कहलाता है।) ॥ ७४ ॥

छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मेहपीनसकासजित् ॥ ७५ ॥

स०—मध्वासवो माक्षिकेण संधीयते माधवाख्यो मद्यविशेषश्छेदी तीक्ष्णो मेहादिनाशनश्च। अष्टांगसंग्रहे तु सुरासवादयो गदिताः। तथा चापठत्। सुरासवस्तीव्रमदः स्वादुतीक्ष्णोऽनिलापहः। मैरेयो मधुरो वृष्यः सरः संतर्पणो गुरुः। तत्र मधुनैव सुरासंधानेन या क्रियते तां सुरासवमाहुः ॥ ७५ ॥

मधु के मद्य का गुण—

वि०—मध्वासव—(मधु से बनाया मद्य)—छेदी (संहत कफ को तोड़ने वाला), तीक्ष्ण, प्रमेह, पीनस और कासनाशक है ॥ ७५ ॥

रक्तपित्तकफोत्क्लेदि शुक्तं वातानुलोमनम् ।
भृशोष्णतीक्ष्णरूक्षाम्लं हृद्यं रुचिकरं सरम् ॥ ७६ ॥
दीपनं शिशिरस्पर्शं पाण्डुदृक्कृमिनाशनम् ।

स०—शुक्तं रक्तपित्तकफान् क्लेदयति। तथा वातानुलोमनं वातमनुलोमयति मार्गांतरेभ्यस्तमानीय स्वमार्गप्रतिपन्नं करोति तद्वातानुलोमनम्। अतिशयेनोष्णरूक्षाम्लं तथा हृद्यं तथाऽतिशयेन रुचिकरं तथा दीपनं तथा शिशिरः स्पर्शो यस्य तदेवं तथा पांड्वादिघ्नम् ॥ ७६ ॥

शुक्त के गुण—

वि०—शुक्त—रक्त, पित्त और कफ को द्रवीभूत करता है, वायु का अनुलोमक है। अतिशय उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, अम्ल, प्रिय, रुचिकारक और अनुलोमन है। अग्निदीपक, शीतलस्पर्श, पाण्डु, दृष्टिशक्ति और कृमिनाशक है ॥ ७६ ॥

वक्तव्य—शुक्त का लक्षण—'कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च। यत्रैकत्राभिपूयन्ते (यत्र द्रवेऽभिपूयन्ते) तच्छुक्तमभिधीयते ॥' यह शुक्त गुडशुक्त, मद्यशुक्त और मधुशुक्त तथा इक्षुरसशुक्त भेद से चार प्रकार का है; यथा—'गुडस्त्विक्षुरसो मद्यं मार्द्वीकं च द्रवं यदा। गुडेक्षुमद्यमार्द्वीकशुक्तानि स्युस्तदा क्रमात् ॥' (शार्ङ्गधर म. अ. १०।७) तथा—गुडाम्बुना सतैलेन सन्धानं काञ्जिकं च यत्। कन्दशाकफलैर्युक्तं गुडशुक्तं तदुच्यते ॥ सर्वं मद्यं पञ्चरसं कालान्तरवशाद्यदा। त्यक्त्वाऽन्यरसमम्लत्वं याति शुक्तं तदुच्यते ॥ जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीमूलसंयुतम्। मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत् ॥ त्र्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम् ॥' शुक्त का ही एक भेद चुक्र है—'यन्मस्त्वादि शुचौ भाण्डे सगुडक्षौद्रकाञ्जिकम्। धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते ॥' शुक्त आँख की शक्ति को कम करता है।

गुडेक्षुमद्यमार्द्वीकशुक्तं लघु यथोत्तरम् ॥ ७७ ॥

स०—गुडादिभवं शुक्तं यथोत्तरं लघु यद्यदुत्तरं तत्तल्लघु। गुडकृताच्छुक्तादिक्षुशुक्तं लघु। इक्षुशुक्तान्मद्यशुक्तं लघु। मद्यशुक्तान्मार्द्वीकं शुक्तं लघु भवति ॥ ७७ ॥

शुक्तों के भेद तथा गुण—

वि०—गुडशुक्त, इक्षुशुक्त, मद्यशुक्त और मार्द्वीकशुक्त ये उत्तरोत्तर लघु हैं ॥ ७७ ॥

कन्दमूलफलाद्यं च तद्वद्विद्यात्तदाऽऽसुतम् ।

स०—कंदादि तदाऽऽसुतं गुडशुक्तादिसुतं तद्वद्विद्यात्। तच्छुक्तसमानगुणं जानीयात्। शुक्तेनात्युत्कृष्टशक्तिना परित्यज्य निजं स्वाभावं वशीकृत्याऽऽत्मरूपतां नीयत इत्यर्थः। आद्यग्रहणात्कांडत्वक्पत्रादिपरिग्रहः। तेन कांडाद्यपि तथैव वेद्यम्।

आसुत के लक्षण और गुण—

वि०—आसुत—किसी शुक्त में कन्द, मूल, फल आदि को डालकर रखने से 'आसुत' बनता है। इसके गुण शुक्त की भाँति हैं।

वक्तव्य—कन्दमूलं फलाद्यं च लवणोदकसंयुतम्। सन्धानाच्चिरकालाऽम्लमासुतं परिकीर्तितम् ॥' कन्द आदि को शुक्त में डालकर रखने या द्रव में शुक्त उत्पन्न होने पर उसी में पड़े रहने से 'आसुत' बनते हैं, इनके गुण शुक्त के समान हैं।

अम्लत्वरोचनादिगुणतुल्यत्वादन्यदपि शांडाक्यादिकमाह—

शाण्डाकी चासुतं चान्यत्कालाम्लं रोचनं लघु ॥ ७८ ॥

स०—मूलकसर्षपशाकानि क्वथितासुतानि कालजीरकराजिकासु भावितान्यम्लतीक्ष्णानि शांडाकीशब्देनोच्यंते। सा दध्वविषये प्रसिद्धा। सा चान्यच्चानुक्तमप्यासुतं कालेनाऽम्लमम्लीभूतं नतु स्वयमाम्लयमापाद्यम्। अनेनैव हेतुना सुतरां तत्संस्कारतामधिकरोतीति। तच्च रोचनं लघु भवति ॥ ७८ ॥

शाण्डाकी का गुण—

वि०—शाण्डाकी (बड़ा आदि)—और दूसरी कोई भी आसुत वस्तु, कुछ काल रखने से खट्टा होने पर रोचक और लघु है ॥ ७८ ॥

वक्तव्य—'शाण्डाकी कन्दमूलादिमुद्गादिवटकैः कृता ॥ मूलकच्छेदसन्धानं शाण्डाकी स्याद् बहुद्रवा ॥'

कालाम्ल—देर तक रखने के कारण जो अम्ल बन गया है।

धान्याम्लं भेदि तीक्ष्णोष्णं पित्तकृत्स्पर्शशीतलम् ।
श्रमक्लमहरं रुच्यं दीपनं वस्तिशूलनुत् ॥ ७९ ॥
शस्तमास्थापने हृद्यं लघु वातकफापहम् ।
एभिरेव गुणैर्युक्ते सौवीरकतुषोदके ॥ ८० ॥
कृमिहृद्रोगगुल्मार्शःपाण्डुरोगनिबर्हणे ।
ते क्रमाद्वितुषैर्विद्यात्सतुषैश्च यवैः कृते ॥ ८१ ॥

स०—धान्याम्लं कांजिकं भेदि तीक्ष्णं तथोष्णवीय तथा पित्तकृत् स्वभावाच्च स्पर्शशीतलम्। व्यायामादिना श्रांतत्वं श्रमः। निर्व्यायामादेवोपश्रांतत्वं क्लमः। तौ हरति। तथा रुच्यं दीपनं च बस्ति शूलं च जयति। तथा आस्थापने निरूहे शस्तम्। तथा लघु बातकफापहं च। हन्तेरन्येष्वपि दृश्यत इति डः। धान्याम्लं तंडुलकंडनादिकृतं सौवीरकतुषोदकैर्वितुषैः सतुषैश्च यवैः क्रमात्कृतं तद्वद्विद्यात् ॥ ७९-८१ ॥

कांजी के गुण—

वि०—काञ्जिक गुण—धान्याम्ल (काञ्जी)—भेदन, तीक्ष्ण, उष्ण, पित्तकारक, स्पर्श में शीतल, श्रम-क्लमनाशक, रुचिकारक, अग्निदीपक, वस्तिशूलनाशक, निरूह कार्य में प्रशस्त, हृदय के लिये प्रिय, वात-कफनाशक है। सौवीरक और तुषोदक कांजी भी इन्हीं गुणों वाली हैं। वे कृमि, हृद्रोग, गुल्म, अर्श और पाण्डु रोग का नाश करती हैं। इनमें सौवीरक कांजी तुषरहित जौ से, और तुषोदक तुष सहित जौ से बनाई जाती है। तुष=छिलका या भूसी ॥ ७९-८१ ॥

वक्तव्य—धान्याम्ल-चावलों की कणकियों से बनाया जाता है। 'प्रस्थं षष्टिकधान्यस्य नीरप्रस्थद्वये क्षिपेत्। आधारभाण्डं संरुध्य, भूमेर्गर्भे निधापयेत्॥ पश्चादथ समुद्धृत्य वस्त्रपूतञ्च कारयेत्। ततो जातरसं योज्यं धान्याम्लं सर्वकर्मसु॥' मद्य के जगल, बक्कस आदि के गुण भी अष्टाङ्गसंग्रह (सू. अ. ६) में दिये हैं।

मद्यवत्तीक्ष्णोष्णादियुक्तत्वाद् गोमूत्रादिगुणानप्याह—

मूत्रं गोऽजाविमहिषीगजाश्वोष्ट्रखरोद्भवम्।
पित्तलं रूक्षतीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं कटु॥ ८२॥
कृमिशोफोदरानाहशूलपाण्डुकफानिलान्।
गुल्माऽरुचिविषश्वित्रकुष्ठार्शांसि जयेल्लघु॥ ८३॥

स०—मूत्रं गोऽजादिभवं पित्तलादिगुणयुक्तं तथा लवणोऽनुरसः स्वल्पो यस्य तदेवम्। तथा कृम्यादीन् जयेत्। लघु च। गोमूत्रस्य च पूर्वमुपन्यासात् प्राधान्यं ज्ञेयम्। संग्रहे तु विशेषांतरमप्युक्तम्। श्वासकासहरं छागं पूरणात्कर्णशूलजित्। दद्यात्त्वये किलासे च गजवाजिसमुद्भवम्। हंत्युन्मादमपस्मारकृमीन्मेहं तु रासभम्। कषायतिक्तमेतेषां हिध्मश्वासहरं शकृत्। पित्तं तिक्तं कृमिहरं रोचना कफवातजित्। तिक्तं पामाहरं मूत्रं मानुषं तु विषापहमिति ॥८२-८३॥

(अथ मूत्रवर्गः)

गौ आदि के मूत्र के गुण—

वि०—मूत्र—गाय, बकरी, भेड़, भैंस, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गदहा, इन आठों का मूत्र बरता जाता है। सब मूत्र पित्तकारक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण अनुरस, कटुरस वाले होते हैं। कृमि, शोफ, उदर, आनाह, शूल, पाण्डु, कफ और वायु को तथा गुल्म, अरुचि, विष, श्वित्र-कुष्ठ और अर्श को नष्ट करते हैं और लघु हैं।

वक्तव्य—'गोजाविमहिषीणां च स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते। खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं मतम्॥' इनमें प्रत्येक के मूत्र के गुण पृथक् पृथक चरक-सुश्रुत में दिये हैं। यहाँ पर सामान्य गुण कहे हैं—ये ही आठ मूत्र मुख्य हैं। देखिये च. सू. अ. १।९२-१०४।

तोयक्षीरेक्षुतैलानां वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात्।
इति द्रवैकदेशोऽयं यथास्थूलमुदाहृतः॥ ८४॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने द्रवद्रव्यविज्ञानीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

स०—इत्यनन्तरोक्तेन प्रकारेण तोयादीनां वर्गैः क्रमानतिक्रमेण द्रवाणामेकदेशो यथास्थूलमयमुदाहृत उक्तः ॥८४॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्यायां पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

पाँचवें अध्याय का उपसंहार—

वि०—उपसंहार—तोयवर्ग, क्षीरवर्ग, इक्षुवर्ग, तैलवर्ग और मद्यवर्ग-इनमें द्रवपदार्थों का एक अंश जो कि बहुत प्रसिद्ध था, वह कह दिया है ॥ ८४ ॥

वक्तव्य—चरक में 'अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः। द्रव्याणि नहि निर्देष्टुं शक्यं कार्त्स्न्येन नामभिः॥' चरक सू. अ. २७।३२९।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का 'द्रवद्रव्यविज्ञानीय' नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठोऽध्यायः

अथातोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अन्नविधौ प्रकृतेऽल्पवक्तव्यत्वात्पूर्वं द्रवद्रव्यमभिधायान्नं वक्ति—

स०—अन्नस्य स्वरूपं स्वभावो रसवीर्यविपाकप्रभावगुणकर्मादि तस्य विज्ञानमवगमस्तस्मै हितोऽध्यायोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयस्तं व्याख्यास्यामः। शेषं पूर्ववद्व्याख्येयम्। द्रव्यशब्दश्चाप्रयुक्तोऽप्यर्थस्य गमक इत्यन्नद्रव्यस्वरूपविज्ञानीय इति द्रष्टव्यम्। तथाहि पूर्वस्मिन्नध्याये मन्दमतिप्रबोधनाय प्रयुक्तो द्रष्टव्यः। आचार्या हि वैचित्र्येण ग्रंथरचनां विदधति। तत्र प्राक् स्वरूपशब्दो न निर्दिष्ट इह च द्रव्यशब्दः। अथ चोभयमप्रयुक्तमपि गम्यते मध्यलोपाख्यया च। अद्यते यत्तदन्नं धान्यमांसादि। धान्यं च द्विधा शूकशिबीभेदेन। तत्र प्राधान्याच्छूकधान्यस्य पूर्वमुपन्यासः। प्राधान्यं

चास्य भूयस्त्वोपयोगित्वात्। शिंबीधान्यस्य तु तद्व्यंजनत्वेन स्वल्पोपयोगित्वात्प्रायेणापथ्यत्वाच्चाऽप्राधान्यम् ॥ १ ॥

वि०—अब इसके आगे 'अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय' का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा था।

रक्तो महान् सकलमस्तूर्णकः शकुनाहृतः।
सारमुखो दीर्घशूको रोध्रशूकः सुगन्धिकः॥ १ ॥
पुण्ड्रः पाण्डुः पुण्डरीकः प्रमोदो गौरसारिवौ।
काञ्चनो महिषः शूको दूषकः कुसुमाण्डकः॥ २ ॥
लाङ्गला लोहवालाख्या कर्दमाः शीतभीरुका।
पतङ्गास्तपनीयाश्च ये चान्ये शालय शुभाः॥ ३ ॥
स्वादुपाकरसाः स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पवर्चसः।
कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमाः॥ ४ ॥

स०—तत्र रक्तशालिमहाशाली सुप्रथितावेव। कलमो मगधादिषु प्रसिद्धः। स एव महातंडुल इति काश्मीरेषु। तूर्णकश्च तत्रैव आजव इति प्रसिद्धः। शकुनाहृतो यो मगधेषु बुद्धोत्पादकाल उत्तरकुरुभ्यो हंसैरानीतो मृगारिमात्रा विशाखाख्यया वापितो विस्तरं गतः। अत एव शकुनाहृत इत्यन्वर्थाऽस्य संज्ञा। सारामुखः कृष्णशूकः। शुक्लाकारो दीर्घशूकः। रोध्रशूको रोध्रपुष्पाकारशूकः। सुगन्धको गन्धशालिसंज्ञया जालंधरमगधादिषु ख्यातो देवशालिरित्यपरनामा। एवं पतंगादयो नानादेशेषु कर्षकादिभ्योऽवधार्याः। शूके जाताः शूकजास्तेषु मध्ये रक्ताद्यास्तपनीयांता अन्ये च ये शालयः शुभा रक्तादिसदृशास्ते सर्वे स्वादुपाकरसत्वादियुक्ताः। बद्धं ग्रन्थितमल्पं च वर्चः पुरीषं कुर्वंतीति बद्धाल्पकर्चसस्त एवम्। कारणे कार्योपचारादुक्ताः। कषायोऽन्नरसो येषां त एवम्। पथ्याः स्वभावेनैव हिताः। तथा लघवो मूत्रकारिणः शीतवीर्याश्च ॥ १-४ ॥

अथ शूकधान्यवर्गः।

चावलों के भेद—

वि०—शालि—लालशालि, महाशालि, कलम, तूर्णक, शकुनाहृत, सारमुख, दीर्घशूक, रोध्रशूक, सुगन्धिक, पुण्ड्र, पाण्डु, पुण्डरीक, प्रमोद, गौर, सारिव, काञ्चन, महिष, शूक, दूषक, कुसुमाण्डक, लाङ्गल, लोहवाल, कर्दम, शीतभीरुक, पतङ्ग, तपनीय तथा जो अन्य उत्तम जाति के शालि हैं, वे सब निर्दोष, विपाक और रस में मधुर, स्निग्ध, वृष्य, मल को बाँधने और कम करनेवाले हैं। इनमें कषाय अनुरस होता है और ये पथ्य, लघु, मूत्र को लानेवाले और शीतल हैं ॥ १-४ ॥

वक्तव्य—पूर्वाध्याय में द्रव आहार कह दिया, अब अन्न का आहार कहते हैं। इनमें मुख्य धान्यवर्ग है। यह वर्ग शूक और शिम्बी भेद से दो प्रकार का है। शूक धान्यवर्ग में—वे धान्य समाविष्ट हैं, जिनमें शूक अर्थात्-काँटा या बाल रहता है; पकते समय जो बाल में लगते हैं। शिम्बी धान्य—फली में से निकलते हैं। शूक धान्यों में चावल उत्तम है-इसलिए प्रथम शालि का वर्णन किया है। जैसा कि आगे कहेंगे-'शूकजेषु वरः॥' ये शालि कई प्रकार के हैं, यथा-लालमती, बासमती, रामजवायन, रामसुनिया, हंसराज, कुसुद आदि। इनमें जो चावल अधिक उत्तम हैं, उनके नाम ऊपर दे दिये हैं।

शूकजेषु वरस्तत्र रक्तस्तृष्णात्रिदोषहा।

स०—तत्र तेषु महाशालिकलमादिषु मध्ये रक्तो रक्तशालिसंज्ञो वरस्तृष्णादींश्च दोषान्निहंति। अस्य च प्रागुपादानेनैव वरत्वे लब्धे वरग्रहणं युक्त्याऽन्यादिसंग्रहार्थम्। तथा च। वर्षासु दिव्यमादेयं परं तोये वरावरे इति। तथा गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे। तथा शर्करेक्षुविकाराणां फाणितं च वरावरे। वरोऽत्र मुद्गोऽल्पचलः। माषोऽत्र सर्वेष्ववरो यवकः शूकजेषु चेत्यादीनि वाक्यानि प्रदेशांतरेष्वयमवोचदाचार्यः।

लाल चावल के गुण—

वि०—इन शालियों में रक्तशालि सब शूकधान्यों में श्रेष्ठ है, तृष्णानाशक और त्रिदोषनाशक है।

महांस्तमनु कलमस्तं चाप्यनु ततः परे॥ ५॥

स०—तस्यानु रक्तशालेः पश्चान्महान् शालिर्वरः। तं च महांतमनु कलमः महत्संज्ञात्कलमः किंचिदून इत्यर्थः। ततोऽनंतरं परेऽन्ये शालयोऽवरा ज्ञेयाः ॥ ५ ॥

श्रेष्ठ चावल—

वि०—रक्तशालि से उतरकर महान् शालि श्रेष्ठ हैं, इससे उतर कर कलम और फिर दूसरे शालि श्रेष्ठ हैं ॥ ५ ॥

वक्तव्य—चावलों की उत्तमता-उनके बीज, बोने की विधि, पानी-बरसात एवं नदी के पानी पर निर्भर करती है। उत्तम चावलों की पौद लगती है। यह पौद एक या दो बार जितनी बार बदली जाती है, और जितना इनको नदी का पानी मिलता रहता है, उतना ही चावल उत्तम होता है। जिन चावलों की पौद नहीं लगती, और जो चावल केवल बरसात के पानी पर ही रहते हैं; जिनको थोड़ा पानी मिलता है, वे चावल मोटे और हीन गुणवाले होते हैं।

यवका हायनाः पांशुवाप्यनैषधकादयः।
स्वादूष्णा गुरवः स्निग्धाः पाकेऽम्लाः श्लेष्मपित्तलाः॥६॥
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च पूर्वं पूर्वं च निन्दिताः।

स०—यवकादयः शालिविशेषाः स्वादवः। तथोष्णादिगुणयुक्ताः। तथा सृष्टे मूत्रपुरीषे यैस्ते सृष्टमूत्रपुरीषाः। पूर्वं पूर्वं च निंदिताः तेन यवकाः सर्वेभ्योऽपि गर्हिताः। तदन्वन्ये किंचित्किञ्चित्क्रमेण गर्हिता इति विज्ञेयम्। नैषधकादय इत्यत्राऽदिशब्देन च यवकपत्रिकादयः शालिविशेषा गृह्यंते ॥ ६ ॥

यवकादि चावलों के गुण—

वि०—यवक, हायन, पांशुवाप्य, नैषधक आदि (मोटे) धान्य मधुर, उष्णवीर्य, गुरु, स्निग्ध, विपाक में अम्ल तथा

कफ और पित्त को बढ़ाते हैं। मूत्र और मल को प्रवृत्त करने वाले, तथा पूर्व-पूर्व निन्दित हैं, अर्थात् नैषध से पांशुवाप्य निन्दित है, पांशु-वाप्य से हायन और हायन से यवक निन्दित हैं ॥ ६ ॥

स्निग्धो ग्राही लघुः स्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरो हिमः ॥
षष्टिको व्रीहिषु श्रेष्ठो गौरश्चासितगौरतः ।

स०—व्रीहिषु मध्ये षष्टिकः श्रेष्ठो रक्तशालिरिव शालिषु । तथा स्निग्धादिगुणयुक्तः स्थिरो हिम इति । शरीरस्थैर्यं करोति । ज्वरश्रमग्लानिहरोऽत एव रसायनप्रयोगे ज्वरादौ च तत्र तत्र क्षामवपुषामुपदिष्टः । यस्त्वतु स्थैर्यकरोऽपि नाम्नातो गुरुवातलत्वादिति । षष्टिकश्च द्विविधो गौरः कृष्णगौरश्च । अत्राऽसितगौरतो गौरः षष्टिकः श्रेष्ठः ॥ ७ ॥

साठी चावल के गुण—

वि०—षष्टिक व्रीहि—साठी धान का चावल-स्निग्ध, ग्राही, लघु, मधुर, त्रिदोषनाशक, स्थिर एवं शीतल है। षष्टिक व्रीहि धान्यों में श्रेष्ठ माना गया है उसमें भी गौर षष्टिक कृष्ण गौर से श्रेष्ठ होता है। गौर और असित भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें असित साठी से गौर साठी उत्तम है ॥ ७ ॥

वक्तव्य—षष्टिक धान्य साठ दिन में पकते हैं। ये व्रीहि धान्यों में श्रेष्ठ हैं। ये तीन प्रकार के हैं-गौर, कृष्ण और कृष्णगौर। इनमें कृष्णगौर से गौर श्रेष्ठ हैं, परिशेष कृष्णव्रीहि हीन हैं।

ततः क्रमान्महाव्रीहिकृष्णव्रीहिजतूमुखाः ॥ ८ ॥
कुक्कुटाण्डकलावाख्यपारावतकशूकराः ।
वरकोद्दालकोज्ज्वालचीनशारददर्दुराः ॥ ९ ॥
गन्धनाः कुरुविन्दाश्च गुणैरल्पान्तराः स्मृताः ।

स० ततः षष्टिकान्महाव्रीह्यादयः क्रमाद्गुणैरल्पांतरा गुणैर्हीना ॥ ८-९ ॥

विभिन्न चावलों के गुण—

वि०—षष्टिक से उतरकर क्रम से महाव्रीहि, कृष्णव्रीहि, जतूमुख, कुक्कुटाण्डक, लावाख्य, पारावतक, शूकर, वरक, उद्दालक, उज्ज्वाल, चीन, शारद, दर्दुर, गन्धन और कुरुविन्द-ये अल्पगुण वाले होते हैं ॥ ८-९ ॥

स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो व्रीहिः पित्तकरो गुरुः ॥१०॥
बहुमूत्रपुरीषोष्मा, त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ।

स०—एभ्यः षष्टिकादिभ्योऽन्योऽनुक्तो व्रीहिः स्वादुर्मधुरसोऽम्लविपाकः । पित्तकरो गुरुर्बहुमूत्रपुरीषोष्मा च । पाटलः पाटलाकुसुमाकरः । त्रिदोष स्त्रिदोषकोपनः । त्रिदोषस्त्वेवेत्यत्रैव शब्दोऽतिशयख्यापनाय । अतिशयेन त्रिदोषल एवेत्यर्थः । अतित्रिदोषलत्वेनास्याऽभ्यवहारनिषेधं करोति । अत एव च रसादिमत्वं न व्यधादस्य शास्त्रकारः ॥ १० ॥

पाटल आदि के गुण—

वि०—इनसे अन्य व्रीहि (धान)-रस में मधुर, विपाक में अम्ल, पित्तकारक और गुरु हैं; मूत्र और मल को बहुत लाने वाले तथा उष्णवीर्य हैं। पाटल—तीनों दोषों को बढ़ाता है ॥ १० ॥

वक्तव्य—अवस्था और संस्कार भेद से गुण में भेद आ जाता है। 'सर्वथा दोषजित्तक्रं ग्रहण्यां दोषकृद् व्रणे। शालिः पिष्टो गरीयस्त्वं गोधूमादपि गच्छति ॥ संग्रह (सू. अ. ७)

कङ्गुकोद्रवनीवारश्यामाकादि हिमं लघु ॥ ११ ॥
तृणधान्यं पवनकृल्लेखनं कफपित्तहृत् ।

स०—कंग्वादि तृणधान्यं हिमं लघु च। तथा मारुतकृल्लेखनं च। लेखनं विकर्षणम् । विलिखत्यतितैक्ष्ण्याद्यत् धातूंस्तल्लेखनं मतमिति । तथा कफपित्तहृत्। कषायमधुरत्वं पित्तश्लेष्महृत्वेनैतेषामवगतं तद्बद्धविण्मूत्रत्वं वातकृत्वात् । तथा चोक्तम् । ततश्चाऽनेकधा प्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति । अन्नपानौषधं तस्य युंजीतातोऽनुलोमनमिति । संग्रहे तु स्पष्टं कृत्वैते गुणा एषामुक्ताः । यथा। कफपित्तहरा रूक्षाः कषाया मधुरा हिमाः वातला बद्धविण्मूत्रा लघवो लेखनात्मका इति । श्यामाकादीत्यत्राऽदिशब्देन तोयश्यामाकशिंबिरप्रशांतिकामधूलिकांगवेधुकांडलोहित्यानां ग्रहणम् ॥ ११ ॥

तृणधान्य के गुण—

वि०—कङ्गु, कोद्रव, नीवार, श्यामाक (साँवा) आदि तृणधान्य शीतल, लघु, वायुकारक, कर्षण करने वाले, कफ-पित्त नाशक हैं ॥ ११ ॥

वक्तव्य—कङ्गुनी, कोदो, साँवा, गवेधुक आदि ये तृण धान्य हैं, इनको मुनि धान्य भी कहते हैं-ये कृश करने वाले हैं-मोटे पुरुषों के लिये उत्तम हैं।

भग्नसन्धानकृत्तत्र प्रियङ्गुर्बृंहणी गुरुः ॥ १२ ॥

स०—तत्र तेषु तृणधान्येषु मध्ये प्रियंगुः कंगुर्भग्नस्यांगस्य संधानं करोति। तथा गुरुः। सुश्रुतेनोक्तम् । रक्ताः पीताश्च कृष्णाश्च श्वेताश्चैव प्रियंगवः। यथोत्तरं प्रधानाः स्यू रूक्षाः कफहराः स्मृताः ॥ १२ ॥

वि०—तृणधान्यों में प्रियङ्गु (कङ्गु) टूटे अस्थि आदि को जोड़ने वाला, बृंहण और गुरु है ॥ १२ ॥

कोरदूषः परं ग्राही स्पर्शे शीतो विषापहः ।

स०—कोरदूषः कोद्रवोऽत्यर्थं संग्राही तथा स्पर्शशीतो विषापहश्च ।

कोदो के गुण—

वि०—कोदो—अतिशय ग्राही, स्पर्श में शीतल और विषनाशक है।

रूक्षः शीतो गुरुः स्वादुः सरो विड्वातकृद्यवः ॥१३॥
वृष्यः स्थैर्यकरो मूत्रमेदःपित्तकफाञ्जयेत् ।
पीनसश्वासकासोरुस्तम्भकण्ठत्वगामयान् ॥१४॥
न्यूनो यवादनुयवः—

स०—यवो रूक्षादिगुणैर्युक्तो विड्वातकरो वृष्यः स्थैर्यकृच्च। तथा मूत्रादीन् जयेत्। अन्ययवो नाम शूकधान्यविशेषो लोकप्रसिद्धः। स यवान्न्यूनः स्वल्पगुणैर्युक्तः ॥१३-१४॥

जौ के गुण—

वि०—जौ—रूक्ष, शीतल; गुरु, मधुर, सर; मल और वायुकारक, वृष्य, स्थिरता करने वाला है एवं मूत्र, मेद, पित्त तथा कफ को नष्टकरता है। पीनस, श्वास, कास, ऊरुस्तम्भ, कण्ठरोग और त्वचा के रोगों को नष्ट करता है। अनुयव जौ से कम गुण वाले हैं ॥ १३-१४ ॥

—रूक्षोष्णो वंशजो यवः।

स०—वंशोद्भवो वेणुयवो रूक्षोष्णो भवति।

बाँस के जौ (बीज) के गुण—

वि०—बाँस के जौ (बाँस के बीज)—रूक्ष और उष्ण हैं।

वृष्यः शीतो गुरुः स्निग्धो जीवनो वातपित्तहा ॥१५॥
सन्धानकारी मधुरो गोधूमः स्थैर्यकृत्सरः।

स०—गोधूमो वृष्यादिगुणयुक्तः। जीवन ओजोऽभिवर्धनः। तथा वातपित्तहरः संधानकारी ऊरुप्रभृतेर्भग्नस्य संधानं करोति। तथा स्थैर्यकृत्सरश्च। चरके त्वन्यथैव गुणयुक्त उक्तः। यथा। स्थैर्यकृत्सकषायश्च बल्यः श्लेष्मविकारहा। संधानकृद्वातहरो गोधूमः स्वादुशीतल इति ॥ १५ ॥

गेहूँ के गुण—

गेहूँ—वृष्य; शीतल, गुरु, स्निग्ध, जीवनदायक, वातपित्तनाशक, भग्न अंगों का सन्धान करने वाला, मधुर, स्थिरताकारक और अनुलोमक है ॥ १५ ॥

पथ्या नन्दीमुखी शीता कषायमधुरा लघुः ॥ १६ ॥

स०—नंदीमुखी पथ्या शरीराय हिता कषायमधुरा लघुश्च। इति शूकधान्यवर्गः ॥ १६ ॥

गेहूँ के भेद—

वि०—नन्दीमुखी—(मड़ुआ) शरीर के लिये हितकर, शीतल, कषाय-मधुर और लघु है ॥ १६ ॥

वक्तव्य—इस प्रकार शूकधान्यों का शालि व्रीहि और तृणधान्य इन तीन वर्गों में विभाजन कर वर्णन किया। शालि और व्रीहि चावल के भेद हैं जो क्रमशः हेमन्त और शरद् में होते हैं। इनके अतिरिक्त, अन्य शूकधान्य तृणधान्य माने गये हैं। इनमें अनेक वन्य रूप में भी होते है जिनका उपयोग वनवासी मुनिजन करते थे।

अथ शिम्बीधान्यवर्गः।

मुद्गाढकीमसूरादि शिम्बीधान्यं विबन्धकृत्।
कषायं स्वादु संग्राहि कटुपाकं हिमं लघु ॥ १७ ॥
मेदःश्लेष्मास्रपित्तेषु हितं लेपोपसेकयोः।

स०—अस्मादनंतरं शिबीधान्यवर्गस्य संबंधप्रयोजनं प्रागुक्तमेव। शिंब्याः कोश्या धान्यं मुद्गादिकं यत् शिंबीधान्यं तद्विबंधकृत्। केषां विबंधं करोति। सामर्थ्यात् स्रोतसां न तु पुरीषादीनाम्। तथा च संग्राहीत्यत्रैव पठति शास्त्रकृत्। संग्राहिलक्षणं च तंत्रांतरे। यथा। भेदि तत्पिंडितान् भावान् शकृदाद्यान्भिनत्ति यत्। विपरीतमतो ग्राहीति। तस्माद्विबंधं स्रोतसामेवेत्याह। तथा कषायं स्वादु कटुपाकं शीतवीर्यं लघु च। मसूरादीत्यत्राऽऽदिशब्देन मकुष्ठचणकादीनां ग्रहणम्। तथा मेदआदिषु हितं प्रकृतत्वादभ्यवहारे तथा लेपोपसेके चेति। चशब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो बोध्यः। लेपः प्रदेहः। उपसेकः परिषेकः। कषायशीतरूक्षत्वेन कटुपाकित्वेन च वातकृत्त्वं शिंबीधान्यस्य शास्त्रकृतोक्तम्। अत एवेदमुपपन्नम्। मुद्गोऽल्पचल इति। यदि हि शिंबीधान्यस्य मारुतकृत्त्वं समेयात् तदैतद्वक्तुं युज्यते। तस्माद्वातकृत्त्वमस्यास्तीति स्थितम्। तस्मिंश्च सत्याध्मानकारित्वमप्युपपन्नमेव। अत एव संग्रहेऽस्याध्मानकारित्वमुक्तम्। मुद्गादीनां च विशेषास्तत्रैवोक्ताः। यथा। हरितास्तेष्वपि वरा मकुष्ठाः कृमिकारिणः। वर्ण्याः परं प्रलेपाद्यैर्मसूरा ग्राहिणो भृशमिति ॥ १७ ॥

शिम्बी धान्य के सामान्य गुण—

वि०—मूँग, अरहर, मसूर आदि—ये शिम्बी धान्य हैं, ये वायु का अवरोध करने वाले, कषाय, मधुर, संग्राही, विपाक में कटु, शीतवीर्य, लघु और मेद, कफ, रक्त और पित्त में पथ्य एवं प्रदेह और परिषेक में उपयोगी हैं ॥ १७ ॥

वक्तव्य—ये धान्य फलियों से निकलते हैं—इनमें आदि शब्द से मोठ, चना, मटर आदि लेने चाहिये। मूँग और उड़द काले और हरे दो भेद वाले होते हैं; जिनमें हरे उत्तम हैं, मसूर भी दो प्रकार का है—काला और पाण्डु वर्ण। मसूर वर्ण्य और अतिशय संग्राही है, यथा—'वर्ण्याः परं प्रलेपाद्यै र्मसूरा ग्राहिणो भृशम् ॥' चरक में 'पित्तश्लेष्मणि शस्यन्ते सूपेष्वालेपनेषु च।' शिम्बी धान्य दाल तथा आलेप कार्य में बरते जाते हैं।

वरोऽत्र मुद्गोऽल्पचलः, कलायस्त्वतिवातलः ॥१८॥
राजमाषोऽनिलकरो रूक्षो बहुशकृद् गुरुः।

स०—अत्र एषु च शिंबीधान्येषु मध्ये मुद्ग उत्तमः। तथा अल्पं चलं पवनं करोतीत्यल्पचलः। तुर्व्यतिरेके। कलायः पुनरतिशयेन वातलो भवति। राजमाषो रूक्षो बहु शकृत्करोतीति बहुशकृत्। तथा गुरुस्तथाऽनिलकरः। ताच्छील्ये टः। अन्यशिंबीधान्याच्चातिवातलोऽयमिति वेद्यमनिलकरग्रहणात्। अन्यथा शिंबीधान्यसामान्यलक्षणेन वातमात्रकरणस्य लब्धत्वादनिलकरग्रहणं न कुर्यात् ॥ १८ ॥

मूँग के गुण—

वि०—शिम्बीधान्य में मूँग श्रेष्ठ है, इससे वायु कम बनती है। मटर अतिशय वायुकारक है। राजमाष साधारणतः वायुकारक, रूक्ष, मल को अधिक मात्रा में लाने वाला और गुरु है ॥ १८ ॥

वक्तव्य—कलाय दो प्रकार का है त्रिपुट (चिपटी) और गोल, त्रिपुट का पाठान्तर त्रिकोण भी है—इसको 'फाफर' 'खेसारी' या 'लतरी' कहते हैं।

उष्णाः कुलत्थाः पाकेऽम्लाः शुक्राश्मश्वासपीनसान् ॥
कासार्शःकफवातांश्च घ्नन्ति पित्तास्रदाः परम्।

स०—कुलत्था उष्णवीर्याः पाकेऽम्लाः। तथा शुक्रादीन् घ्नंति। अश्माऽश्मरी वक्ष्यमाणलक्षणा। तथा पित्तास्रदा परमतिशयेन रक्तपित्तकराः कषायस्वादुसंग्राहित्वं शिंबीधान्यसामान्यलक्षणेनैषां वेद्यम्। दृष्टिनाशनत्वं चोष्णवीर्यत्वेन रक्तपित्तकरत्वेन च। संग्रहे तु स्पष्टं कृत्वोक्तम्। कषायस्वादुरूक्षोष्णाः कुलत्था रक्तपित्तलाः। पीनसश्वासकासार्शोहिक्काऽऽनाहकफानिलान्। घ्नंति शुक्राश्मरीं शुक्रं दृष्टिं शोफं तथोदरम्। ग्राहिणो लघवस्तीक्ष्णा विपाकेऽम्ला विदाहिन इति ॥ १९ ॥

कुलथी का गुण—

वि०—कुलत्थ—उष्ण, विपाक में अम्ल, शुक्र, अश्मरी, श्वास, पीनस, कास, अर्श और कफ एवं वातजन्य रोगों को नष्ट करने वाला तथा अतिशय रक्तपित्तकारक है ॥ १९ ॥

वक्तव्य—कुलत्थ उष्ण और पथरीली भूमि में होने के कारण अश्मरी विशेषतः शुक्राश्मरी को निकालने वाला है। उष्ण होने से शुक्र और दृष्टिनाशक है। यथा—'घ्नन्ति शुक्राश्मरीं शुक्रं दृष्टिं शोफं तथोदरम् ॥' संग्रह।

निष्पावो वातपित्तास्रस्तन्यमूत्रकरो गुरुः ॥ २० ॥
सरो विदाही दृक्शुक्रकफशोफविषापहः।

स०—निष्पावो राजशिंबीसंज्ञो वातादिकरस्तथा गुरुः सरो विदाही च। तथा दृगादीश्च हंति। संग्रहोक्तं चाम्लपाकत्वं कषायमधुरत्वं चेह नोक्तम्। यतोऽम्लविपाकित्वं विदाहित्वादेवास्योक्तम्। कषायस्वादुत्वं च शिंबीधान्यसामान्यगुणकथनेनैव। कृष्णात्रेयस्त्वाह। निष्पावा मधुरा रूक्षाः सकषाया विदाहिनः। उदावर्ते प्रशस्यंते गुरवो वातपित्तला इति॥ २० ॥

निष्पाव (सेम) के गुण—

वि०—निष्पाव (सेम)—वात, पित्त, रक्त, स्तन्य और मूत्र को बढ़ाने वाला; गुरु, मृदुरेचक, विदाही; दृष्टि, शुक्र, कफ, शोफ और विषनाशक है ॥ २० ॥

माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकरः सरः ॥ २१ ॥
गुरूष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत्।

स०—माषः स्निग्धो बलादिकरः। तथा सरो गुरुरुष्णश्च। तथा वातहा स्वादुश्च। तथा शुक्रस्य वृद्धिं शुक्रस्यैव विरेकं बहिःप्रेरणं करोति ॥ २१ ॥

उड़द के गुण—

वि०—माष (उड़द)—स्निग्ध, बल, कफ, मल, और पित्तकारक, मृदुरेचक, गुरु, उष्ण, वातनाशक, मधुर एवं शुक्र की वृद्धि और प्रवृत्ति करने वाला है ॥ २१ ॥

फलानि माषवद्विद्यात्काकाण्डोलात्मगुप्तयोः ॥ २२ ॥

स०—काकांडोला चात्मगुप्ता च तयोः फलानि माषवद्विद्यान्माषसमगुणानि विजानीयात्। काकांडोलाकटभी (कांगोणी) आत्मगुप्ता कपिकच्छुः ॥ २२ ॥

कौंच के गुण—

वि०—काकाण्डोला (बड़ी कौंच) और आत्मगुप्ता (कौंच) इनके फल उड़द के समान गुण वाले हैं ॥ २२ ॥

उष्णस्त्वच्यो हिमः स्पर्शे केश्यो बल्यस्तिलो गुरुः।
अल्पमूत्रः कटुः पाके मेधाग्निकफपित्तकृत् ॥ २३ ॥

स०—तिल उष्णवीर्यः। तथा त्वच्यः। तथा स्पर्शे शीतः। केश्यो बल्यो गुरुश्च। तथाऽल्पमूत्रोऽल्पमूत्रकरः। पाके कटुः। तथा मेधादीन् करोति। त्वच्यकेश्यबल्या हितार्थयत्प्रत्ययांताः। स्निग्धत्वमनिलघ्नत्वं कषायकटुतिक्तरसत्वं नानाजातित्वं चेहास्य ग्रन्थकृता लाघवान्नोक्तम्। संग्रहे तूक्तमेव। यथा। स्निग्धोष्णतिक्तकटुकः कषायमधुरस्तिलः। त्वच्यः केश्यो गुरुर्वृष्यः स्पर्शशीतोऽनिलापहः। अल्पमूत्रः कटुः पाके मेधाऽग्निकफपित्तकृत्। कृष्णः प्रशस्तस्तमनु शुक्लस्तमनु चारुण इति। अन्ये त्वनया मुक्त्या संग्रहोक्तमर्थं संगृह्णते। स्निग्धत्वं तावत्तिलस्य तैलेषु मुख्यस्य स्नेहस्य योनिभूतत्वात्सिद्धम्। कफपित्तकृदिति वचनाच्च सामर्थ्यलब्धं वातघ्नत्वम्। कषायस्वाद्विति शिंबीधान्यसामान्यगुणकथनेन कषायस्वादुत्वं लब्धमिति। एतदेवोररीकृत्य सद्योव्रणप्रतिषेधे वक्ष्यति। कल्कं संरोहणं कुर्यात्तिलानां मधुकान्वितम्। स्निग्धोष्णतिक्तमधुरकषायत्वैः स सर्वजिदिति ॥ २३ ॥

तिल के गुण—

वि०—तिल—उष्णवीर्य, (बहिःप्रयोग में) त्वग्दोषनाशक, स्पर्श में शीतल, बालों के लिये हितकारी, बलकारक, गुरु, मूत्र को कम करने वाला, विपाक में कटु, मेधा, अग्नि, कफ और पित्तकारक है ॥ २३ ॥

वक्तव्य—तिलों में काले तिल उत्तम हैं, फिर श्वेत और फिर लाल तिल हैं। अन्तःप्रयोग में तिल का अधिक सेवन कुष्ठरोग करता है। यथा—'कुष्ठं तत्कार्यपि तिलो हन्ति भल्लातकैः सह ॥'

स्निग्धोमा स्वादुतिक्तोष्णा कफपित्तकरी गुरुः।
दृक्शुक्रहृत्कटुः पाके, तद्वद् बीजं कुसुम्भजम् ॥२४॥

स०—उमाऽतसी स्निग्धा स्वाद्वादिगुणयुक्तोष्णवीर्या च। तथा दृष्टिं शुक्रं च हरति कटुपाका च तयोमया तुल्यं वर्तते तद्वदुमासमानगुणं कुसुंभबीजमित्यर्थः ॥ २४ ॥

अलसी और कुसुम के बीज के गुण—

वि०—उमा (अलसी)—स्निग्ध, मधुर, तिक्त, उष्ण, कफ और पित्त को करने वाली और गुरु तथा दृष्टि एवं शुक्र का नाश करने वाली एवं विपाक में कटु है। कुसुम्भ का बीज भी अलसी के समान गुणोंवाला है ॥ २४ ॥

माषोऽत्र सर्वेष्ववरो यवकः शूकजेषु च ।

स०—अत्र शिंबीधान्येषु माषोऽश्रेष्ठः। शूकजेषु शूकधान्येषु यवकोऽश्रेष्ठः ।

वि०—शिम्बी धान्यों में माष सबसे बुरा है, और शूक धान्यों में यवक सबसे हीन हैं।

वक्तव्य—वाग्भटाचार्य ने माष को किसलिये निकृष्ट बताया है, इसका कोई कारण टीकाकारों ने नहीं बताया। सम्भवतः शुक्रच्युतिकारक होने से इसको हीन कहा होगा। किन्तु गृहस्थ धर्म आवश्यक होने से माष का उपयोग भी जरूरी है। स्त्री के लिये तो आगे स्वयं कहेंगे—'तैलमाषोत्तराहाराम्'—तैल और उड़द खाये। माष पचने में भारी है तथा अतिस्निग्ध पिच्छिल होने से क्रमशः स्रोतोरोध उत्पन्न करता है। इस कारण भी निकृष्ट माना गया हो।[1]

नवं धान्यमभिष्यन्दि, लघु संवत्सरोषितम् ॥ २५ ॥
शीघ्रजन्म तथा सूप्यं निस्तुषं युक्तिभर्जितम् ।

स०—नवं प्रत्यग्रं धान्यमभिष्यंद्याभिमुख्येन स्यंदयति। ताच्छील्ये णिनिः। मालिन्यात्स्रोतसां स्रुतिरूपश्लेष्माणं करोतीत्यर्थः। अर्थात्पुराणमनभिष्यंदि। संवत्सरोषितं वर्षातीतं लघु भवति। नवं चार्थाद्गुर्वित्यनुक्तमप्युक्तं भवति तन्त्रांतरेप्युक्तम्। वर्षातीतं सर्वमन्नं परित्यजति गौरवम्। नतु त्यजति तद्वीर्यं वीर्यं मुंचत्यतः क्रमादिति। शीघ्रेत्यादि। लघ्वित्यनुवर्तते। सूप्यं मुद्गादि यच्छीघ्रजन्म तल्लघु भवति। तथा विगततुषं युक्त्या भर्जितं भृशं लघु भवति। संग्रहे त्वेवमुक्तम्। नवं धान्यमभिष्यंदि सेव्यं केदारजं च यत्। लघु वर्षोषितं दग्धभूमिजं स्थलसंभवमिति। इति शिंबीधान्यवर्गः ॥ २५ ॥

नवीन और पुराण धान्य—

वि०—नूतन धान्य—अभिष्यन्दी (स्रोत को कफ से अवरुद्ध करने वाले) हैं; एक साल पुराना धान्य लघु है। जो जल्दी उग आता है, तुष (छिलका) रहित, युक्तिपूर्वक भूना हुआ, मुद्गादि सूप्य धान्य लघु है ॥ २५ ॥

वक्तव्य—'नवं धान्यमभिष्यन्दि सेव्यं केदारजं च यत्। लघु वर्षोषितं दग्धभूमिजं स्थलसम्भवम्' ॥ बलवान व्यक्ति शिम्बी धान्य को स्नेह की प्रचुर मात्रा से खायें—'स्नेहाढ्या बलिभिर्भोज्या विविधाः शिम्बिजातयः' ॥ संग्रह ।[2]

अथ कृतान्न (पक्वान्न) वर्गः[3]

मण्डपेयाविलेपीनामोदनस्य च लाघवम् ॥ २६ ॥
यथापूर्वं शिवस्तत्र मण्डो वातानुलोमनः ।
तृड्ग्लानिदोषशेषघ्नः पाचनो धातुसाम्यकृत् ॥ २७ ॥
स्रोतोमार्दवकृत्स्वेदी सन्धुक्षयति चानलम् ।

स०—मंडादीनां यथापूर्वं लाघवम्। तेनौदनमपेक्ष्य लघ्वी विलेपी ततोऽपि पेया पेयातो मंडो लघुतर इत्यर्थोऽवतिष्ठते। मंडपेयाविलेप्योदनानां यथापूर्वं लाघवमित्येवं वक्तव्ये यदत्रौदनस्य पृथक्पाठः स इदं ज्ञापयति। मंडादयो लाजोपादाना वेद्या न तु तंडुलोपादानाः। तथा च मुनिः। श्रतः पिप्पलिशुंठीभ्यां युक्तो लाजांबुदाडिमैः। मंडः संदीपयत्यग्निं वातं चाप्यनुलोमयेदिति। तदुक्तम्। द्रव्यस्यार्धपलं दत्वा तोयस्य प्रस्थमावपेत्। अर्धशेषं गृहीत्वा तत्कर्षौ द्वौ दाडिमस्य च। युक्तं सैंधवविश्वाह्वधान्यकैः शाणमात्रकैः। द्विकर्षमात्रैर्लाजैश्च भूयः संकथितं च तत्। पिप्पलीजीरकाभ्यां च शाणैकेनावचूर्णितम्। पेयास्वेष विधिः कल्प्यो दाडिमादिकृतास्वपीति। तथा। सिक्थैर्विरहितो मंडः पेया सिक्थसमन्विता। घनसिक्था विलेपी स्याद्यवागूर्विरलद्रवेति। अन्ये तु मंडलक्षणं पेयालक्षणं चान्यथैवेच्छंति। तथा तल्लक्षणम्। लाजांबुसैंधवकणाधान्यनागरदाडिमैः। युक्तो विमृदितः पूतो मंडः संस्कृत उच्यते। निर्द्रव्या प्राकृता पेया तक्रदाडिमतंडुलैरिति सामान्यपेयायाश्च तक्रदाडिमलाजादिसाधिताया गुणनिर्देशोऽयं न तु विशिष्टाया ज्वरचिकित्सादिविहिताया इति द्रष्टव्यम्। विशेषग्रहणात्कर्मांतरनिर्देशाच्च। तत्र तेषु मंडादिषु मध्ये मंडः शिवः। तथा वातानुलोमनः तथा तृड्ग्लानिदोषशेषं हंतीति तृड्ग्लानिदोषशेषघ्नः। अमनुष्यकर्तृके चेत्यत्र ठक्। विहितवमनस्य विहितविरेचनस्य वा किंचिच्छेषो यो दोषस्तस्य भावो दोषशेषता वचनज्ञापकात् कृतवमनविरेचनस्य दोषशेषकरणं तेन च वमनकर्मणि विरेचनकर्मणि वा कर्तव्येऽतियोगभयात्तद्दोषशेषः कार्य इत्ययमर्थो युक्त्या प्रतिपादितः। तथा मंडः पाचनो धातुसाम्यकरश्च। तथा स्रोतसां मार्दवं करोति तथा स्वेदयतीति स्वेदी। वह्निं च दीपयति ॥ २६-२७ ॥

चावल के मंड का गुण—

वि०—मण्ड पेया विलेपी और ओदन—ये पूर्व क्रम से लघु हैं। इनमें मण्ड कल्याणकारी और वायु का अनुलोमक,

---

[1] १. उड़द—गुरु और कफ-पित्तकारक होने से रूक्ष देशों में विशेषतः उपयोगी होता है किन्तु आनूप देशों में अहित होता है; यह अनुभवसिद्ध है।

[2] २. पुरान अन्न लघु और हित कहा गया है किन्तु एक वर्ष का पुराना ही श्रेष्ठ है। उसके बाद उत्तरोत्तर लघुता के साथ वीर्यहीनता भी आती जाती है। 'वर्षस्थितं सर्वमन्नं परित्यजति गौरवम्। न तु त्यजति तद्वीर्यं, वीर्यं मुञ्चत्यतः क्रमात् ॥' (खरनाद संहिता)

[3] ३. धान्यों का स्वाभाविक गुणधर्म वर्णन करने के बाद अब उनके भोजन आदि के लिए विशेषतः प्रयुक्त संस्कारजन्य गुणों का वर्णन करने के लिए कृतान्न या पक्वान्न वर्ग का वर्णन किया जा रहा है। पाचन आदि संस्कार से द्रव्यों के गुण में अन्तर आ जाता है। एक ही वस्तु में विभिन्न संस्कारों द्वारा विभिन्न गुण उत्पन्न होते हैं। जैसे—चावल से ही भात, माँड़, खिचड़ी, पुलाव आदि बनते हैं और प्रत्येक के गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिये प्रायः जिन रूपों में अन्न का उपयोग होता है उनका गुण आगे लिखेंगे।

प्यास, ग्लानि और बचे हुए दोष को नाश करने वाला पाचक, धातुओं को समान करने वाला, स्रोतों को कोमल करने वाला, पसीना लाने वाला और अग्नि को बढ़ाने वाला है ॥ २६-२७ ॥

वक्तव्य—मण्ड, पेया और विलेपी ये तीनों यवागू कहलाते हैं। 'यवागूस्त्रिविधा प्रोक्ता मण्डः पेया विलेप्यपि। सिक्थकै रहितो मण्डः, पेया सिक्थसमन्विता ॥ यवागूर्बहुसिक्था स्याद् विलेपी विरलद्रवा ॥' असिक्थ द्रव-मण्ड। जैसे—लाजमण्ड, वाट्यमण्ड (वार्ली वाटर)। अल्पसिक्थ वाली पेया और बहुसिक्थवाली विलेपी। द्रवरहित एवं सिक्थ (सीठी, खुद्दी या घनभाग) युक्त-ओदन (भात) है। इनमें ओदन से विलेपी लघु, विलेपी से पेया लघु और पेया से मण्ड लघु है। शिव=आरोग्यप्रद। उष्ण और द्रव होने से समस्त शरीर में शीघ्र व्याप्त होकर वमन, लंघन आदि से शेष दोष को नष्ट करता है; लंघनादि से संकुचित स्रोतों को खोलता है, स्वेदवह स्रोतों को खोलने से स्वेदक है अर्थात् शेष दोषों को स्वेद द्वारा निकालता है।

क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्यकुक्षिरोगज्वरापहा ॥ २८ ॥
मलानुलोमनी पथ्या पेया दीपनपाचनी।

स०—क्षुच्च तृष्णा च ताभ्यां ग्लानिः सा च दौर्बल्यं च कुक्षिरोगश्च ज्वरश्च तानपहंति या सैवंभूता पेया। दौर्बल्यं कार्श्यम्। तथा मलान्वातादीननुलोमयति स्वमार्गस्थान् करोति। पथ्या शरीरस्य हिता। तथा दीपनी पाचनी चेति। पुंवत्कर्मधारयेति पुंवद्भावः ॥ २८ ॥

पेया के गुण—

वि०—पेया—भूख, प्यास, ग्लानि, दुर्बलता, कुक्षिरोग और ज्वरनाशक, मल का अनुलोमन करने वाली, शरीर के लिये हितकारी, दीपन और पाचन गुण वाली है ॥ २८ ॥

वक्तव्य—कुक्षिरोग-अतीसार (हेमाद्रि)। पथ्या-आहार रूप से पथ्य है।

विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता ॥ २९ ॥
व्रणाक्षिरोगसंशुद्धदुर्बलस्नेहपायिनाम् ।

स०—विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता च। व्रणश्चाक्षिरोगश्च संशुद्धिश्च दुर्बलश्च स्नेहपायी च तेषां हिता। व्रणाक्षिरोगशब्दौ मत्वर्थीयाकारांतौ ॥ २९ ॥

विलेपी के गुण—

वि०—विलेपी—ग्राही, हृदय के लिए हितकारी, तृष्णानाशक, अग्निदीपक, व्रणरोगी, अक्षिरोगी, वमनादि से शुद्ध, दुर्बल व्यक्ति तथा नित्य स्नेह पीने वालों के लिये हितकारी है ॥ २९ ॥

सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नोऽत्यक्तोष्मा चौदनो लघुः ॥३०॥
यश्चाग्नेयौषधक्वाथसाधितो भृष्टतण्डुलः।
विपरीतो गुरुः क्षीरमांसाद्यैर्यश्च साधितः ॥ ३१ ॥
इति द्रव्यक्रियायोगमानाद्यैः सर्वमादिशेत्।

स०—ओदनः सुष्ठु धौतस्तथा प्रस्रुतो निश्च्योतितः स्विन्नोऽत्यक्तबाष्पश्च लघुर्भवति। यश्चौदनं आग्नेयौषधानां चित्रकादीनां क्वाथेन साधितः सोऽतिलघुः। तथा भृष्टास्तंडुला यस्मिन्नोदने सोऽतिलघुतमः। यथोक्तलक्षणादोदनाद्विपरीतो योऽसुधौतादिः स गुरुः। क्षीरमांसादिभिर्मधुरैर्यश्च साधितः सोऽतिगुरुः। इत्यनया दिशा सर्वं पेयादिकं पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं च भक्ष्यादिकं द्रव्येण क्रियया संयोगेन मानेन चादिशेत्। तत्र द्रव्यतो यथा। ओदनस्य रक्तशाल्यादिजस्य लाघवम्। यावकादिजस्य तु गौरवम्। क्रियातो यथा। पाकादिसंस्काराच्छूल्यमांसस्य लध्वादिगुणयोगः अपरस्य त्वन्यथात्वं दृश्यते। तथा चोक्तं तंत्रांतरे। वृष्यं वातहरं बल्यं पथ्यं शूल्यामिषं लघु। अपथ्यं गुरु विष्टंभिमांसं यच्च रसोद्धृतमिति। तंत्रांतरे चोक्तम्। स्विन्नं मांसं गुरु स्तंभिशूलपक्वं त्रिदोषजिदिति। क्रिया संस्कार इत्यर्थः। योगः संयोगस्तेन यथा। आग्नेयचित्रकाद्यौषधक्वाथैः साधितस्य लाघवम्। मानतो यथा। बहुभिर्लघुभिरल्पैश्च गुरुभिर्युक्तैर्लघुरेव। विपरीतैस्तु विपरीत एव। आदिग्रहणेन देशादिपरिग्रहः। जांगलदेशप्रभवतंडुलकृतो लघुः। आनूपदेशतंडुलकृतो गुरुरित्यादि बोध्यम् ॥ ३०-३१ ॥

भात के गुण—

वि०—जो चावल भली प्रकार धोया गया; जिसका माँड़ निकाल दिया गया हो; जो भली प्रकार गल गया; और जो गरम है, वह भात लघु होता है। और जो भात पानी के स्थान पर आग्नेय (चित्रक, मरिच आदि) ओषधियों के क्वाथ में पकाया जाता है, वह भी लघु है; इसी प्रकार भूने हुए चावलों का भात भी लघु है। इसके विपरीत जो चावल भली प्रकार धोया नहीं, जिसमें से माँड़ निकाला नहीं, जो ठण्डा हो गया है; वह भात गुरु है; और जो भात दूध या मांसरस से पकाया होता है, वह भी गुरु है।

इस युक्ति से सब पेयादि तथा भक्ष्यादि के गुण को द्रव्य, क्रिया, संयोग, मान आदि के अनुसार समझना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥

वक्तव्य—द्रव्य से; यथा-रक्तशालि का भात लघु और यवक का भात गुरु है। क्रिया से—भूनकर बनाये तण्डुलों (जिसे सेला कहते हैं) का भात हलका है और दूसरे चावलों का भारी है। संयोग से—आग्नेय चित्रकादि के योग से बनाये भक्ष्य लघु तथा क्षीर-मांसरस आदि से बनाये भारी हैं। मान से—बहुत से लघु द्रव्यों से या थोड़े गुरु द्रव्यों से भक्ष्य लघु रहता है; और बहुत से गुरु द्रव्यों से भक्ष्य गुरु हो जाता है। आदि शब्द से-देश और काल को समझना चाहिये; यथा—जांगल देश में उत्पन्न तण्डुल लघु हैं; आनूप देश के तण्डुल भारी हैं; इसी से सुश्रुत में-'दग्धायामवनौ जाताः शालयो लघुपाकिनः।' स्थिति-भेद से यथा—ताम्र में रखा दही अभक्ष्य है। आमादि अवस्थाभेद से—

कच्ची या शुष्क मूली से बनाया यूष पथ्य है। पुरातन और आर्द्र मूली से बनाया यूष अपथ्य है।

बृंहणः प्रीणनो वृष्यश्चक्षुष्यो व्रणहा रसः ॥ ३२ ॥

स०—रस इति मांसरसः। आदिशब्दलोपात्। स बृंहणादिगुणयुक्तः। कृताकृतस्य च रसस्यायं गुणनिर्देशो बोध्यः। रसो हि स्नेहशुंठ्यादियुतः कृत इत्युच्यते विपरीतस्त्वकृतः। तेन कृतस्य तंत्रांतरे विधानमप्युक्तम् गुणाश्च। यथा। छागलं सक्थिजं मांसं निरस्थि तैत्तिरं तथा। चतुष्पलान्वितं सूक्ष्मं कल्पितं क्षालितं जले। पिप्पलीपिप्पलीमूलशुंठीचित्रकधान्यकैः। द्विशाणैः संयुते तोये क्वाथं सार्धाढकोन्मिते। मांसेऽस्मिन् द्विपलं तत्र दाडिमान्कुट्टितान्क्षिपेत्। तं रसं मर्दितं पूतं हिंगुसैंधवजीरकैः। युक्तं प्रधूपितं पथ्यं शुद्धानां शुद्धिकांक्षिणाम्। शुष्यतां व्याधियुक्तानां व्रणिनां वातरोगिणाम्। भग्नविश्लिष्टसंधीनां क्षीणधात्विन्द्रियौजसामिति। तंत्रांतरे चोक्तम्। रसस्तत्र वरोऽनम्लःशाकुनो बृंहणः सरः। तक्रसिद्धस्तु विष्टंभी लघुर्वातकफापहः। फलाम्लगोरसोदारं सविश्वाजाजिधान्यकम् स्निग्धं मांसं हितं बल्यं बृंहणं रोचनं गुरु। कासमर्दकधान्याम्लदाडिमादिरजः कृताः। लेहास्तक्रादिजाश्चान्ये योनिवद्गुरुरोचनाः। मालुधानीयवासादिपुष्पैर्योऽतिगुणः खलः। फलमूलैर्घनादानं व्यंजनं पाकतो घनम्। लेहवत्खल इत्यन्ये दोषलाः स्वस्वयोनिवत्। तद्वच्च तिलकल्काम्लप्रायः कांबलिको मतः। कट्वरः कफजिद्ग्राही पित्तलो रोचको लघुः। मांसादजातिशुठ्यादिगलितः सोदको लघुः ॥ ३२ ॥

मांसरस का गुण—

वि०—मांसरस—बृंहण (पुष्टिकारक), प्रीणन (तृप्तिजनक), वृष्य, आँखों के लिये उत्तम और व्रणनाशक है ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—रस शब्द से मांसरस लेना; यथा—'पिशितेन रसस्तत्र, यूषो धान्यैः खलः फलैः' ॥ यह मांसरस कृत, अकृत तथा मसालों से (घी आदि स्नेह द्रव्य से युक्त या रहित) और दकलावणिक (केवल जल में उबाल कर नमक मिला हुआ) भेद से तीन प्रकार का है; यथा—'ज्ञेयाः कृताकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिताः। अल्पमांसादयः स्वच्छा दकलावणिकाः स्मृताः' ॥ यह मांसरस तनु एवं सान्द्र; मधुर एवं अम्ल भेद से फिर दो दो प्रकार का होता है।

मौद्गस्तु पथ्यः संशुद्धव्रणकण्ठाक्षिरोगिणाम् ।

स०—मौद्गो रसो यूषो व्रणिनां कंठरोगिणां च पथ्यः। अस्य च संस्कृतस्य विधानमुक्तम्। मुद्गानां द्विपलं तोये शृतमर्धाढकोन्मिते। पादस्थं मर्दितं पूतं दाडिमस्य पलेन तु। युक्तं सैंधवविश्वाह्वधान्यकैः पादकार्षिकैः। कणाजीरकयोश्चूर्णाच्छाणैकेनावचूर्णितम्। संस्कृतो मुद्गयूषोऽयं पित्तश्लेष्महरो मतः। तथा। पटोलपत्राच्छाणार्धं मुद्गानां द्विपलं जले। द्रव्याद्द्वात्रिंशद्गुणिते अतश्च दाडिमात्पलम्। कर्षमामलकानां च क्षिप्त्वा पुनरधिश्रयेत्। पूतं तत्सैंधवाद्यैश्च युक्तमाज्येन योजितम्। पटोलपत्रकाख्योऽयं यूषः पित्तोत्थरोगजित्। निंबपत्रैर्निंबयूषमेवमेव प्रकल्पयेत्। मूलकाच्छुंठिका स्विन्ना घृतभृष्टा सधान्यका। हिंगुजीरकसंयुक्ता ततो मथितदाडिमे। ससैंधवे विनिक्षिप्य पुनरग्नावधिश्रयेत्। तावद्यावन्मृदूभूतं ततस्त्र्यूषणसंयुतम्। सुधूपितं हिंगुघृतैश्चातुर्जातावचूर्णितम्। शुण्ठीरसं दीपनीयं वातश्लेष्मामयापहम्। अकृताकृतयूषाच्च रसाच्च जलसाधितात्। स्नेहाम्लपटुयुक्ताच्च पूर्वः पूर्वो लघुर्मतः। विद्याद्यूषे रसे सूपे शाके चैवोत्तरोत्तरम्। गौरवं तनुसांद्राम्लस्वादुष्वेषु पृथक्तया। तथोक्तम्। खलकाम्बलिकौ हृद्यौ साधितौ स्वौषधानुगौ। पिशितेन रसस्तत्र यूषो धान्यैः खलः फलैः। मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः। ज्ञेयाः कृताकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिताः। अल्पमांसादायः स्वच्छा दकलावणिकाः स्मृताः। स्वल्पेन मांसेन शुंठ्यादिभि; स्वल्पैः स्वच्छा ये क्रियन्ते ते दकलावणिका बोध्याः। एवं यूषे यत्र धान्यमल्पं खलादौ वा मूलादीन्यल्पानि तस्याऽपि दकलावणिकत्वं बोध्यम्। तन्त्रांतरे चोक्तम्। अथ गोरसधान्याम्लफलाम्लैरम्लितं च यत्। यथोत्तरं लघु हितं संस्कृतासंस्कृतं तथा। प्रभूतास्तमलो यूषः सूपाल्लघुतरः स्मृतः। सूपस्तु रसयूषाभ्यां स्थैर्याद्गुरुतरो मतः। तं सरोगो चाश्नीयान्न चाल्पाशी कथंचनेति।

मूँग के यूष का गुण—

वि०—मूँग का यूष—वमनादि से शुद्ध हुए व्यक्ति, व्रणरोगी, कण्ठरोगी तथा अक्षिरोगियों के लिए पथ्य है।

वक्तव्य—मुद्गयूष पटोल, निम्बपत्र, मूली तथा हींग आदि मसालों के साथ विभिन्न गुणों वाला होता है। संस्कार भेद से ग्रन्थान्तरों में इसके अनेक भेद वर्णित हैं। यथा—'मुद्गानां द्विपलं तोये शृतमर्धाढकोन्मिते। पादस्थं मर्दितं पूतं दाडिमस्य पलेन तु॥ युक्तं सैन्धवविश्वाह्वधान्यकैः पादकार्षिकैः। कणाजीरकयोश्चूर्णाच्छाणकेनावचूर्णयेत् संस्कृतो मुद्गयूषोऽयं पित्तश्लेष्महरो मतः॥' आदि।

वातानुलोमी कौलत्थो गुल्मतूनीप्रतूनिजित् ॥ ३३ ॥

स०—कौलत्थो यूषो वातमनुलोमयति गुल्मादींश्च जयति। तूनिप्रतूनीरोगौ गुल्मनिदाने वक्ष्यमाणलक्षणौ ॥३३॥

कुलथी के यूष का गुण—

वि०—कुलत्थ का यूष—वायु का अनुलोमक, गुल्म, तूनी एवं प्रतूनी को शान्त करता है ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—तूनी-प्रतूनी रोग गुल्म निदान में कहे जायेंगे (हृ. नि. अ. ११।६१)

तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं विरूढकम् ।
शाण्डाकीवटकं दृग्घ्नं दोषलं ग्लपनं गुरु ॥ ३४ ॥

स०—तिलस्य विकृतिः पिण्याकस्य च। तथा शुष्कशाकादि दृष्टिघ्नं विदोषकरं ग्लानिकरं गुरु च। अंकुरितं सस्यं विरूढकम्। शांडाक्यपि तन्त्रादिका शांडाकीवटकम् ॥ ३४ ॥

तिल के पदार्थ, शुष्क शाक, अंकुरित धान्यादि के गुण—

वि०—तिल की विकृति, पिण्याक (खल) की विकृति, शुष्क शाक, अंकुरित धान्य, शाण्डाकी वटकः; ये दृष्टिनाशक, दोषकारक, ग्लानिकारक और गुरु हैं ॥ ३४ ॥

वक्तव्य—तिल की बनावट–तिलकुट आदि। पिण्याक (खल) इससे बनाई वस्तुएँ; सूखे शाक गोभी, भिण्डी या कचरी जो सुखाकर रख लिये जाते हैं अंकुरित धान्य-मोठ, मूँग आदि को अंकुरित करके खाना, शाण्डाकी वटक-बड़ियाँ बनाने के लिये उड़द की दाल को पीसकर उसमें मसाला मिलाकर जो कुछ दिन इसलिये रक्खा जाता है कि उसमें खटास आ जाये, उसका नाम शाण्डाकी वटक है—'शाण्डाक्या सह संयुतं वटकं शाण्डाकीवटकम्।

रसाला बृंहणी वृष्या स्निग्धा बल्या रुचिप्रदा।

स०—रसाला करमथितेन मरीचशर्करादियुक्तेन दध्ना कृता उल्लेखिकासंज्ञा बृंहणी देहस्य बृहत्त्वकरी वृष्यादिगुणयुक्ता च।

रसाला (श्रीखंड) के गुण—

वि०—रसाला—बृंहण, वृष्य, स्निग्ध, बल्य और रुचि देने वाली है।

वक्तव्य—रसाला-(श्रीखण्ड)-'किञ्चित्कुङ्कुमसम्मिश्रं विमस्तु दधि गालितम्। सशर्करं भवेत्पीता पक्वाम्ररससन्निभा'॥ विस्तार के लिये क्षेमकुतूहल देखिये।

श्रमक्षुत्तृट्क्लमहरं पानकं प्रीणनं गुरु ॥ ३५ ॥
विष्टम्भि मूत्रलं हृद्यं यथाद्रव्यगुणं च तत्।

स०—पानकं श्रमादिहरं प्रीणनादिगुणयुक्तम्। प्रीणनं मनःप्रीतिकरं यथाद्रव्यगुणं च। स्वादुना गुणेन च युक्तम्। पर्पटादीनां लाघवादिह गुणा नोक्ताः। यथा। पर्पटा लघवो रुच्या लघीयान् क्षारपर्पटः। हृद्या वृष्या रुचिकरा गुरवो रागखांडवाः। प्रीणना श्रमतृट्छर्दिमदमूर्छाश्रमच्छिदः ॥ ३५ ॥

पानक (पन्ना) के गुण—

वि०—पानक—श्रम, भूख, प्यास और क्लमनाशक, पुष्टिदायक, गुरु, विष्टम्भि, मूत्रल, हृदय के लिये प्रिय और जिस द्रव्य से बनाया जाता है, उस द्रव्य के समान गुण वाला होता है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—इमली को पानी में भिगोकर और गलने पर हाथ से मथ कर छान ले, इसमें गुड़ या चीनी मिलाकर पीने योग्य पानक बनाते हैं। इसी प्रकार द्राक्षा, खजूर, फालसा आदि से पानक बनाते हैं।

लाजास्तृट्छर्द्यतीसारमेहमेदकफच्छिदः ॥ ३६ ॥
कासपित्तोपशमना दीपना लघवो हिमाः।

स०—लाजास्तृडादींश्छिंदंति। कासपित्ते चोपशमयंति। तथा दीपना लघवः शीतवीर्याश्च ॥ ३६ ॥

धान के लावा के गुण—

लाजा—(खील)-प्यास, वमन, अतिसार, प्रमेह, मेद और कण्डू को नष्ट करने वाली है; कास और पित्त को शान्त करती है; अग्निदीपक, लघु तथा शीत है ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—छर्दि के लिये 'लाजैश्च मन्थं यदि वाऽपि पेयाम्' चरक में दिया है। लाजा-चावलों (धान) से ही बनती है; परन्तु संस्कार के कारण लघु है।

पृथुका गुरवो बल्याः कफविष्टम्भकारिणः ॥ ३७ ॥

स०—हरितधान्यानि निस्तुषभृष्टमुशलहतानि पृथुकाश्चिपिटसंज्ञा गुरुत्वादियुक्ताः ॥ ३७ ॥

पृथुक (चूड़ा) के गुण—

वि०—चूड़ा—भारी, बलकारक, कफकारी और विष्टम्भी होता है।

धाना विष्टम्भिनी रूक्षा तर्पणी लेखनी गुरुः।

स०—धाना भृष्टयवादिर्विष्टंभिनी रूक्षादिगुणयुक्ता च।

दाना (भुने हुए जौ) आदि के गुण—

वि०—धाना—(भूने मक्की-जौ-ज्वार आदि)-विष्टम्भी, रूक्ष, तर्पण और लेखन करनेवाले एवं गुरु हैं।

वक्तव्य—धाना का एक भेद उलुम्ब या उलुम्बिका (गादा) भी है- इसमें गेहूँ की बालों को या ज्वार की बालों को आग पर भून लेते हैं-जैसे प्रायः होले बनते हैं, या मक्की को भूनकर (सेंककर) खाते हैं।

सक्तवो लघवः क्षुत्तृट्श्रमनेत्रामयव्रणान् ॥ ३८ ॥
घ्नन्ति सन्तर्पणाः पानात्सद्य एव बलप्रदाः।
नोदकान्तरितान्न द्विर्न निशायां न केवलान् ॥ ३९ ॥
न भुक्त्वा न द्विजैश्छित्त्वा सक्तूनद्यान्न वा बहून्।

स०—सक्तवो लघवः क्षुधादींश्च घ्नंति। तथोदकमिश्रिताः संतर्पणाः सद्य एव बलं कुर्वंति। तांश्च जलेनांतारिताऽव्यवहितान्नाश्नीयात्। अन्यभोजनेषु ह्यंतरा पानं विहितं न तथा सक्तुषु कार्यमिति बोधयति। तथा न द्विर्दौ वारौ नाद्यात्। न निशायां रात्र्याम्। न केवलानुदकादिरहितान्। न भुक्त्वाऽन्यद्भोजनादि। न द्विजैश्छित्त्वा दंतैः करस्थं पिंडं छित्त्वेत्यर्थः। बहूंश्च सक्तून्नाद्यात्। तंत्रांतरे चोक्तं रूक्षवातलत्वं सक्तूनामिह नोक्तम्। लघुत्वादिनैवावगतत्वात्। ननु रूक्षवातलं चेदभ्युपगम्यते सक्तूनां ततः संतर्पणा इत्यनुपपन्नम्। सद्य एव बलप्रदा इत्येतदप्ययुक्तम्। युक्त्या ह्याहारः परिणमति। स धातुपुष्ट्यै नान्यथा। अत्राचक्ष्महे। प्रभावादुभयमप्येतदुक्तम्। सक्तूनां ह्ययमचिंत्यः प्रत्यक्षवेद्यः प्रभावो यत्पीताः संतः संतर्पयंति। सद्य एव च बलं प्रयच्छंति वाजीकरणं ह्यपरिणतमेव स्वकार्यं जनयति। तथा च मद्यं परिणतमेव मदं जनयति तस्मात्संतर्पणत्वं फलप्रदत्वं चैषामुपपन्नमेव। तंत्रांतरे चोक्तम्। तुल्याज्यः सक्तुप्राशस्तु वृष्यो

भेदी रसायनम्। तृट्छर्दिश्रमनुन्मद्यपीततृष्णानिवर्तकः। प्रमेहक्षयकुष्ठानि न च स्युर्मंथपायिनाम्। निचयात्कठिना गुर्वी पिंडी प्रोक्ता मृदुर्लघुः। सक्तूनां द्रवतायोगाल्लघीयस्यवलेहिका। लाजसक्तुकृताऽपि स्याद्विलेपी तु गरीयसी ॥ ३८-३९ ॥

सत्तू के गुण—

वि०—सत्तू—लघु, भूख, प्यास,श्रम, नेत्ररोग और व्रण नाशक, पानी में घोलकर पीने से तुरन्त सन्तपर्ण करते हैं, और बल-प्रद होते हैं। सत्तू को खाते हुए बीच में पानी नहीं पीना चाहिये। दिन में दो बार सत्तू नहीं खाना चाहिये। रात में सत्तू नहीं खाना चाहिये। अकेला सत्तू नहीं खाना चाहिये (साथ में गुड़, मिर्च, कुछ लेना चाहिये)। भोजन करके सत्तू नहीं खाना चाहिये; सत्तू की पिण्डी को दाँतों से काटकर नहीं खाना चाहिये। मात्रा में बहुत सत्तू नहीं खाना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

वक्तव्य—'समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्त्तहराणाम्' चरक। 'तर्पयन्ति नरं सद्यः पीताः सद्यो बलाश्र्ंते ॥' (चरक सू. अ. २७।२६३) सत्तू तपर्क है। सत्तू-बिना परिणत हुए ही बल-कारक और वृष्य होता है; जिस प्रकार अपरिणत मद्य मद को उत्पन्न करता है; उसी प्रकार सत्तू भी तुरन्त बलप्रद होता है।

पिण्याको ग्लपनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषणः ॥ ४० ॥

स०—पिण्याकाख्यो यस्तिलादीनां निष्पीडितः कल्को ग्लपनो ग्लानिकरः। ग्लपन इति ग्लायतेर्णिजंताद् ग्लास्नावनुवमां चेति मित्वाच्छ्रस्वः बाहुलकात्कर्तरि ल्युट् तथा विष्टंभी दृष्टिविकारकृच्च ॥ ४० ॥

पिण्याक (तिल-कल्क)—

वि०—पिण्याक (खली)—ग्लानिकारक, रूक्ष, विष्टम्भी और दृष्टि को नष्ट करने वाली है ॥ ४० ॥

वेसवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः।

स०—वेसवारो नागरधान्यकाजाजिहिंगुघृतादिसंस्कृतं कुट्टितं मांसम्। गुरुः स्निग्धो बलवर्धनः शरीरोपचयवर्धनश्च।

वेसवार का गुण—

वि०—वेसवार—गुरु, स्निग्ध, वल, और पुष्टि को बढ़ाने वाला है।

वक्तव्य—वेसवार—'निरस्थि पिशितं मांसं स्विन्नं गुडघृतान्वितम्। कृष्णामरिचसंयुक्तं वेसवारं तदुच्यते ॥' अस्थि रहित कुट्टित मांस को स्विन्न करके उसमें हींग, धनिया, गुड़, घी, पिप्पली, मरिच, जीरा मिलाकर जो तैयार किया जाता है; वह वेसवार है।

मुद्गादिजास्तु गुरवो यथाद्रव्यगुणानुगाः ॥ ४१ ॥

स०—मुद्गादिजास्तु वेसवारा ये इंडरिकादिभिर्द्रव्यैः सूक्ष्मच्छिन्नैः क्रियंते लोके पूरणशब्देन प्रसिद्धास्ते गुरवः प्रकृतिद्रव्यगुणाश्च। आदिशब्देन माषादयो गृह्यंते। तंत्रांतरे चोक्तम्। सर्पिस्तैलगुणक्षीरैर्यवगोधूमपैष्टिकाः। पूपा विष्टंभिनः शीताः पौष्टिका वातलाः खराः। वृष्या बल्याः सरा माषैर्जातद्मा मृदुपिच्छिलाः। यथाऽन्नं गुरवो बल्याः स्थूलाश्च कठिनाश्च ये। तैलपक्कास्तु दृष्टिघ्ना गरीयांसो विदाहिनः। कासारसारलघवो लाजैर्लघुतराः स्मृताः। वातपित्तहरो वृष्यो घृतपूरः कफप्रदः। सद्यः प्राणकरो रुच्यो मांसलो रक्तलो गुरुः। लघीयान्मंडककृतो गरीयान्फलपूरितः। मधुरोत्कारिका वृष्या कासारः पिच्छिलो गुरुः। गुडमत्स्यंडिकाखंडक्षीरेक्षुरसमाक्षिकैः पूपाः शुक्रबलश्लेष्मरुचिदास्तर्पणाः क्षणात्। नानाद्रव्यैः समायुक्ताः पक्कामक्लिन्नभर्जिताः। निमर्दको गुरुः स्निग्धो वृष्यो बलवतां हितः। खारिकेंदुरिकापूरवटिकावटकादयः। विशदा रोचना बल्या गुरवः स्युः स्वयोनिवत्। यावकः पिच्छिलः स्निग्धः प्लीहोदावर्तहा गुरुः। भृष्टस्विन्नतया वाद्यो लघुः सेव्योऽतिकासिनाम्। ज्वरोदावर्तमेहानां पथ्यो वातानुलोमनः। ओलकं हरितावस्थं शिंबिजत्वात्खरं गुरु। मंदजर्यो यवादित्वादभ्योषो बृंहणः सरः। सिद्धसारे चोक्तम्। अत्युष्णा मंडकाः पथ्याः शीतला गुरवो मता इति ॥ ४१ ॥

वि०—मूंग आदि से बनाये वेसवार—गुरु तथा द्रव्य के समान गुण वाले होते हैं ॥ ४१ ॥

वक्तव्य—इनमें मांस के स्थान पर मूंग, चने आदि डालकर बनाते हैं। हरे मटर या चनों से इनको प्रायः बनाते हैं।

कुकूलकर्परभ्राष्ट्रकन्द्वङ्गारविपाचितान्।
एकयोनींल्लघून्विद्यादपूपानुत्तरोत्तरम् ॥ ४२ ॥

स०—अपूपान् कुकूलादिसिद्धानेकयोनीनेककारणान्यथोत्तरं लघून्विद्यात्। तेन कुकूलपक्वात् सजातीयादपूपात्कर्परपक्वो लघुः। कर्परपक्काच्च भ्राष्ट्रपक्कः। भ्राष्ट्रपक्वात्कंदुपक्वः। कंदुपक्काच्चांगारपक्वः। कुकूलं गोअरं गोशकृदादिचूर्णसंतापः। कर्परो ज्वालातप्तं कपालम्। भ्राष्ट्रकंदू प्रसिद्धावेव। अंगारा बृहंतः काष्ठसंभूता इति। इति कृतान्नवर्गः ॥ ४२ ॥

पाकभेद से अन्नों के गुण—

वि०—एक ही वस्तु से बने अपूप (खाद्य) यदि कुकूल, कर्पर, भ्राष्ट्र, कन्दु और अंगारे पर सेके जायें तो वे उत्तरोत्तर लघु होते हैं ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—कुकूल-किसी गड्ढे को तुष या घास-फूस से गरम करके उसमें पकाना। कर्पर—मिट्टी का खर्पर या ठीकरा। भ्राष्ट्र—भाड़, जैसा चना भुनने के लिये-भड़भूजों का होता है। कन्दू—तन्दूर। अङ्गार—कोयले। कुकूल का अर्थ-पानी के बाष्प से पकाना-यह भी अरुणदत्त ने दिया है; परन्तु छानों को जला करके जो जमीन गरम होती है; उस पर सेकना-जैसा साधु लोग वाटी बनाते हैं, वह ठीक है। 'कुकूलं शङ्कुभिः कीर्णे श्वभ्रे ना तु तुषानले' इति मेदिनीकोशे।

अथ मांसवर्गः ।

कृतान्नवर्गानन्तरं मांसशाकवर्गयोस्तद्व्यञ्जनभूतयोर्निर्देशः। तत्राऽपि प्राधान्यान्मांसवर्गस्य पूर्वं निर्देशः। प्राधान्यं चाऽस्य भक्तेन सह प्रचुरोपयोगेऽप्यदोषात्। शाकस्य तु बहूपयोगे दोषं वक्ष्यति। शाकावराान्नभूयिष्ठमत्युष्णलवणं त्यजेदित्यनेन—

हरिणैणकुरङ्गर्क्षगोकर्णमृगमातृकाः ।
शशशम्बरचारुष्कशरभाद्या मृगाः स्मृताः ॥ ४३ ॥

स०—हरिणादयो दश मृगाः स्मृताः। आदिशब्देन कालपुच्छकपृषतादयः संग्रहोक्ता गृह्यंते। कालपुच्छकचारुष्कवरपोतशशोरणाः। श्वदंष्ट्रारामशारभकोहकारकशंबराः। करालकृतमालौ च पृषतश्च मृगाः स्मृता इति ॥ ४३ ॥

मृगों के नाम—

वि०—मृग—हरिण, एण, कुरङ्ग, ऋक्ष, गोकर्ण, मृगमातृका, शश, शम्बर, चारुष्क, शरभ आदि मृग कहलाते हैं ॥ ४३ ॥

वक्तव्य—मांस की योनि आठ प्रकार की है। यथा—'मृग-विष्किर-प्रतुद-बिलेशय-प्रसह-महामृग-जलचर-मत्स्य-भेदेन।' इनमें जो चलते रहते हैं—(शिकार के लिए) ढूँढे जाते हैं, वे मृग हैं; यथा हरिण आदि।

लाववर्तीकवर्तीररक्तवर्त्मककुक्कुभाः ।
कपिञ्जलोपचक्राख्यचकोरकुरुबाहवः ॥ ४४ ॥
वर्तको वर्तिका चैव तित्तिरिः क्रकरः शिखी ।
ताम्रचूडाख्यबकरगोनर्दगिरिवर्तिकाः ॥ ४५ ॥
तथा शारपदेन्द्राभवरटाश्चेति विष्किराः ।

स०—तत्र लावादयो वारटांता एकविंशतिः विकीर्य भक्षणाद्विष्किराः। रक्ते वर्त्मनी यस्य स रक्तवर्त्मकः। वर्तको वर्तिकेति जात्यंतरं नतु वर्तकस्य स्त्री वर्तिका। यथा च बलाका सारिकेति। पुंस्यपि स्त्रीलिंगत्वावेशात्। शिखी मयूरः। व्रीह्यादिः ॥ ४४-४५ ॥

विष्किर पक्षियों के नाम—

वि०—विष्किर—लाव, वर्त्तीक, वर्त्तीर, रक्तवर्त्मक, कुक्कुभ, कपिञ्जल, उपचक्र, चकोर, कुरुबाहु, वर्त्तक, वर्तिका, तित्तिर, क्रकर, मोर, मुर्गा, बकर, गोनर्द, गिरिवर्त्तिका, शारपद, इन्द्राभ, वरटा आदि विष्किर हैं क्योंकि ये पैर से वस्तु को बिखेर कर खाते हैं ॥ ४४-४५ ॥

जीवञ्जीवकदात्यूहभृङ्गाह्वशुकसारिकाः ॥ ४६ ॥
लट्वाकोकिलहारीतकपोतचटकादयः ।
प्रतुदाः—

स०—जीवंजीवकादयः प्रतुदा दश स्मृताः। प्रतुद्य तुंडेनाऽहत्य शाल्यादेर्भक्षणात्प्रतुदाः। आदिशब्देन संग्रहोक्ताः खंजरीटकपारावता गृह्यन्ते ॥ ४६ ॥

प्रतुद पक्षियों के नाम—

वि०—प्रतुद—जीवञ्जीवक, दात्यूह, भृंग, शुक, सारिका, लट्वा, कोकिल, हारीत, कपोत, चटक आदि प्रतुद हैं। प्रतुद—चोंच से ठोंग मारने वाले ॥ ४६ ॥

भेकगोधाहिश्वाविदाद्या बिलेशयाः ॥ ४७ ॥

स०—भेकादयश्चत्वारो बिलेशयाः। बिले बाहुल्येन शयनाद्बिलेशयाः। आदिशब्देन श्वेतश्यामशल्यकादयो गृह्यन्ते ॥ ४७ ॥

बिलेशय के नाम—

वि०—बिलेशय—मेढक, गोह, साँप, सेह आदि बिल में रहने से बिलेशय कहलाते हैं ॥ ४७ ॥

गोखराश्वतरोष्ट्राश्वद्वीपिसिंहर्क्षवानराः ।
मार्जारमूषकव्याघ्रवृकबभ्रुतरक्षवः ॥ ४८ ॥
लोपाकजम्बुकश्येनचाषवान्तादवायसाः ।
शशघ्नीभासकुररगृध्रोलूककुलिङ्गकाः ॥ ४९ ॥
धूमिका मधुहा चेति प्रसहा मृगपक्षिणः ।

स०—गवादयः प्रसह्याहृत्य भक्षणात्प्रसहाः। मृगाश्च पक्षिणश्च मृगपक्षिणः। केचिन्मृगाः केचित्पक्षिण इत्यर्थः। अश्वतरो वेंगसरः। अश्वस्तुरगः। बभ्रुर्जाहको नकुल इत्यन्ये। लोपाको लोमशः। जंबुकः शृगालः। श्येनो गरुडाकृतिः। चाषः किकीदिविः। वांतादः श्वा। वायसः काकः। उलूकः काकारिः कुलिंगकः कृष्णचटकः ॥ ४८-४९ ॥

प्रसह पशुओं के नाम—

वि०—प्रसह—गाय, गधा, खच्चर, ऊंट, घोड़ा, चीता, सिंह, रीछ, बन्दर, बिल्ली, चूहा, व्याघ्र, भेड़िया, बभ्रु (नकुल), तरक्षु (लगड़-भगड़), लोमड़ी, गीदड़, श्येन (बाज), चाष, कुत्ता, कौवा, शशघ्नी, भास, कुरर, गीध, उल्लू, कुलिङ्गक (गौरैया), धूमिका, मधुहा—ये पशु-पक्षी प्रसह जाति के हैं—क्योंकि झपट कर खाते हैं ॥ ४८-४९ ॥

वक्तव्य—इनमें श्येन, चाष को छोड़ कर कुत्ते तक पशु हैं, और कौवे से लेकर पक्षी हैं।

वराहमहिषन्यङ्कुरुरुरोहितवारणाः ॥ ५० ॥
सृमरश्चमरः खड्गो गवयश्च महामृगाः ।

स०—वराहादयो दश महामृगसंज्ञाः। वारणो हस्ती ॥ ५० ॥

महामृगों के नाम—

वि०—महामृग—सूअर, भैंस, न्यङ्कु, रुरु, रोहित, हाथी, सृमर (जङ्गली घोड़ा), चमरी गाय, गैंडा और गवय (नील गाय) ये महामृग—अर्थात् बड़े मृग हैं।

हंससारसकादम्बबककारण्डवप्लवाः ॥ ५१ ॥
बलाकोत्क्रोशचक्राह्वमद्गुक्रौञ्चादयोऽप्चराः ।

स०—हंसादयः क्रौंचांता अप्सु चरणादप्चरसंज्ञाः। आदिशब्देन रक्तशीर्षकादयो गृह्यन्ते ॥ ५१ ॥

जलचरों के नाम—

जलचर—हंस, सारस, कादम्ब, बगुला, कारण्डव, प्लव, बलाका, उत्क्रोश, चक्रवाक, मद्गु, क्रौञ्च आदि जलचर हैं—जल में विहार करते हैं ॥ ५१ ॥

मत्स्या रोहितपाठीनकूर्मकुम्भीरकर्कटाः ॥ ५२ ॥
शुक्तिशङ्खोद्रशम्बूकशफरीवर्मिचन्द्रिकाः ।
चुलूकीनक्रमकरशिशुमारतिमिङ्गिलाः ॥ ५३ ॥
राजीचिलिचिमाद्याश्च—

स०—रोहितकादय एकोनविंशतिर्जलोद्भवा मत्स्यसंज्ञाः । चशब्दोऽनुक्तकदलकपर्दकादिसमुच्चयार्थः ॥५२–५३॥

मत्स्यवर्ग—

वि०—मछलियाँ—रोहित, पाठीन, कछुआ, कुम्भीर (घड़ियाल), केकड़ा, शुक्ति, शंख, उद्र (जलविडाल-उदविलाव), शम्बूक (घोंघा), शफरी, वर्मी, चन्द्रिका, चुलूकी, नक्र, मकर, शिशुमार (सुइँस वा सोंस), तिमिङ्गल (ह्वेल आदि), राजी, चिलचिम आदि मछलियाँ हैं ॥ ५२–५३ ॥

—मांसमित्याहुरष्टधा ।
(मृग्यं वैष्किरिकं किञ्च प्रातुदं च बिलेशयम् ।
प्रासहं च महामृग्यमप्चरं मात्स्यमष्टधा ॥ १ ॥)
योनिष्वजावी व्यामिश्रगोचरत्वादनिश्चिते ॥ ५४ ॥
आद्यान्त्यांजाङ्गलानूपा मध्यौ साधारणौ स्मृतौ ।

स०—इत्यष्टभिः प्रकारैः शास्त्रकारा मांसमाहुः । योनिषु पूर्वोक्तास्वष्टासु मध्ये व्यामिश्रगोचरत्वाद्व्यामिश्रविषयत्वादजावी व्यामिश्रेऽजावी छागोरभ्रे ते अनिश्चिते । ते हि जांगलेऽपि देशे वर्तेते अनूपेऽपि अजावी इति स्त्रीलिंगनिर्देशोऽत्र विवक्षित एव । केचित्त्वनिश्चिताविति निजगदुः । तत्र तित्तिरिरपि धन्वानूपचारी प्रथितः । तत्कथमसौ हि जांगलः कीर्तितः । ब्रूमः । तत्स्वभावत्वात् यद्यप्युभयचरोऽयं तथापि जांगलस्वभावत्वाज्जांगलोऽयं भक्षणे । अत्र विष्किरत्वं तित्तिरे निश्चितं निमित्तमस्ति । तस्मादयं जांगल एव युक्तः । हरिणादीनां च किरातकैवर्तादिभ्यो नानादेशप्रसिद्धा संज्ञा वेद्याः । आदौ भवा आद्या मृगविष्किरप्रतुदाख्या जांगलचारित्वाज्जांगलशब्दवाच्या एव । महामृगाऽप्चरमत्स्याख्या आनूपाः । मध्यौ द्वौ विलेशयप्रसहाख्यौ साधारणौ । जांगलानूपचारिणावित्यर्थः । मध्याविति द्विवचननिर्देशसामर्थ्यादाद्यंतानां वर्गाणां प्रत्येकं त्रिधात्वमनुमीयते त्रिग्रहणमंतरेणापि ॥ ५४ ॥

इस प्रकार से शास्त्रकार मांस को आठ प्रकार का कहते हैं—

वि०—(मृग, विष्कर, प्रतुद, बिलेशय, प्रसह, महामृग, जलचर और मछलियाँ ये आठ प्रकार हैं ।)

बकरी और भेड़—ये दोनों अनिश्चित योनिवाले हैं; क्योंकि ये जांगल और आनूप दोनों देशों में रहते हैं ।

इन आठ वर्गों में-पहले के तीन मृग, विष्किर और प्रतुद ये जंगल में रहने से जांगल कहे जाते हैं; और अन्त के तीन-महामृग, जलचर और मछलियाँ ये आनूप हैं । मध्य के दो-बिलेशय और प्रसह साधारण कहलाते हैं ॥ ५४ ॥

तत्र बद्धमलाः शीता लघवो जाङ्गला हिताः ॥५५॥
पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ।

स०—तत्र तेषु जांगलानूपसाधारणेषु मध्ये जांगला बद्धमला ग्रथितं पुरीषं कुर्वंति । शीतवीर्या लघवः । सन्निपाते हिताः । किंभूते । पित्तोत्तरे पित्ताधिके । तथा वातो मध्यो यस्मिंस्तस्मिन्मध्यममरुति । तथा कफानुगे कफोऽनुगोऽबलो हीनो यस्मिंस्तस्मिन् स्वल्पश्लेष्मणि ॥ ५५ ॥

जंगली जीवों के मांस का गुण—

वि०—जांगल मांस—मल को बाँधने वाले, शीतल और लघु हैं तथा पित्तप्रधान, वातमध्य और हीनकफ सन्निपात में प्रशस्त हैं ॥ ५५ ॥

दीपनः कटुकः पाके ग्राही रूक्षो हिमः शशः ॥५६॥

स०—शशोऽग्निदीपनः पाके कटुको ग्राही रूक्षः शीतश्च । ग्राहिशीतत्वं चाऽस्य जांगलत्वादेव लब्धमित्यतिशयार्थं पुनरिहोपात्तम् । स्वादुकषायत्वादिकमेषामिह युक्त्योक्तम् । संग्रहे तु स्पष्टं कृत्वोक्तम् । यथा । तत्र बद्धमला रूच्या मांसानामुत्तमा हिमाः । कषायस्वादुविशदा लघवो जांगला हिताः । ताम्रोऽथ हरिणः कृष्णस्त्वेणो हृद्यस्त्रिदोषजित् । लघीयान् षड्रसश्चासौ ग्राही रूक्षो हिमः शशः । कटुपाकोऽग्निकृत्पथ्यः सन्निपातेऽनिलावर इति ॥ ५६ ॥

खरगोश के मांस का गुण—

वि०—शशक—अग्निदीपक, विपाक में कटु, ग्राही, रूक्ष और शीतल है ॥ ५६ ॥

ईषदुष्णगुरुस्निग्धा बृंहणा वर्तकादयः
तित्तिरिस्तेष्वपि वरो मेधाग्निबलशुक्रकृत् ॥ ५७ ॥
ग्राही वर्ण्योऽनिलोद्रिक्तसन्निपातहरः परम् ।

स०—वर्तकादारभ्य यावज्जांगलसमाप्तिस्तावत्सर्वे औष्ण्यगौरवस्निग्धत्वैरल्पैर्युक्ताः । तेष्वपि मध्ये तित्तिरिः श्रेष्ठो मेधादिकरश्च । तथा संग्रहणो वर्ण्यो वाताधिकसन्निपातहरश्च । स च तित्तिरिर्धन्वन्यानूपे च देशे विचरत्यतः स्निग्ध उष्णो गुरुर्बृंहणश्च । तथा च संग्रहे । धन्वानूपविचारित्वात् स्निग्धोष्णगुरुबृंहण इति ॥ ५७ ॥

बटेर आदि के मांस का गुण—

वि०—वर्त्तक आदि—थोड़े गरम, गुरु, स्निग्ध और पुष्टिदायक है । इनमें तीतर श्रेष्ठ है । यह मेधा, अग्नि, बल और शुक्र को बढ़ाता है; एवं संग्राही, वर्ण को बढ़ानेवाला, और वात-प्रधान सन्निपात को नष्ट करने में उत्तम है ॥ ५७ ॥

वक्तव्य—तीतर-जांगल और आनूप दोनों देशों में विचरने से स्निग्ध, उष्ण, गुरु और बृंहण है । इसी से कहा है 'धन्वानूपविचारित्वात् स्निग्धोष्णगुरुबृंहणः ।'

नातिपथ्यः शिखी पथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदृशाम् ।।५८।।

स०—शिखी बर्ही नातिपथ्यः श्रोत्रादीनां पथ्यो वयसः स्तम्भनकारित्वेन पथ्यः ॥ ५८ ॥

मोर, मुर्गा आदि के मांस के गुण—

वि०—मोर—स्वास्थ्य के लिये बहुत उत्तम नहीं है; परन्तु कान, स्वर, वय (युवावस्था) और दृष्टि के लिये उत्तम है ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—कान, आँख या गले के रोगों में यह उपयोगी है।

तद्वच्च कुक्कुटो वृष्यः ग्राम्यस्तु श्लेष्मलो गुरुः ।

स०—तद्वच्च कुक्कुटो मयूरतुल्यगुणो वृष्यश्च ग्राम्यः पुनः कुक्कुटः श्लेष्मलो गुरुश्च ।

वि०—मुर्गा—मोर के समान गुणवाला है; तथा वृष्य है। इनमें ग्राम का (पालतू) मुर्गा कफकारक और गुरु होता है।

मेधाऽनलकरा हृद्याः क्रकरा सोपचक्रकाः ।।५९।।

स०—क्रकरोपचक्रकाश्च मेधामग्निं च कुर्वंति हृद्याश्च ॥ ५९ ॥

वि० क्रकर और उपचक्रक—बुद्धि और अग्निकारक, हृदय के लिये हितकर हैं ॥ ५९ ॥

गुरुः सलवणः काणकपोतः सर्वदोषकृत् ।

स०—काणः कपोतो गुरुरीषल्लवणस्त्रिदोषकृच्च ।

वि०—काणकपोत (काल-श्वेत कबूतर)—गुरु, थोड़ा नमकीन और तीनों दोषों को उत्पन्न करता है।

चटकाः श्लेष्मलाः स्निग्धा वातघ्नाः शुक्रलाः परम् ।।

स०—चटकाः श्लेष्मलादियुक्ता अतिशयेन शुक्रकृतश्च ॥ ६० ॥

वि०—चटक (गौरैया)—कफकारक, स्निग्ध, वातनाशक और अतिशय शुक्रवर्धक है ॥ ६० ॥

वक्तव्य—अतिशय शुक्रवर्धक होने से चरक में—'तृप्तिं चटकमांसानां गत्वा योऽनुपिबेत्पयः। न तस्य लिङ्गशैथिल्यं स्यान्न शुक्रक्षयो निशि ॥' इसका वृष्य विधान किया गया है।

गुरूष्णस्निग्धमधुरा वर्गाश्चातो यथोत्तरम् ।
मूत्रशुक्रकृतो बल्या वातघ्नाः कफपित्तलाः ।।६१।।

स०—अतोऽनन्तरं बिलेशयाद्या वर्गा यथोत्तरं गुरुत्वेनोष्णत्वेन स्निग्धत्वेन मधुरत्वेन चाधिकाः। यो यस्मादुत्तरो वर्गः स तस्माद्गुरुत्वादिभिरधिक इत्यर्थः। तथा यथोत्तरमेव मूत्रशुक्रकृतो बल्या वातघ्नाः श्लेष्मपित्तलाश्च ॥ ६१ ॥

बिलेशयादि के मांस का गुण—

वि०—इसके आगे के वर्ग उत्तरोत्तर गुरु, उष्ण, स्निग्ध, मधुर हैं। वे मूत्र और मल को उत्पन्न करनेवाले, बलकारक, वातनाशक और पित्त को बढ़ाते हैं ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—जांगल वर्ग से अगले वर्ग-बिलेशय, प्रसह, महामृग, जलधर और मत्स्य-ये उत्तरोत्तर गुरु, उष्ण, स्निग्ध और मधुर हैं।

एवं वर्गपंचकस्य सामान्यगुणानुक्त्वाऽपवादमाह—

शीता महामृगास्तेषु, क्रव्यादप्रसहाः पुनः ।
लवणानुरसा पाके कटुका मांसवर्धनाः ।।६२।।
जीर्णार्शोग्रहणीदोषशोषार्तानां परं हिताः ।

स०—तेषु वर्गेषु मध्ये महामृगाः शीतवीर्याः। क्रव्यमाममांसं भुंजते ये ते क्रव्यादाः। क्रव्यादास्तु ये प्रसहा मार्जारगृध्रोलूकादयस्ते लवणानुरसाः पाके कटुका मांसवर्धनाश्चातितराम्। जीर्णप्रभृत्यामयानामतिशयेन हिताः ॥ ६२ ॥

महामृगादि के मांस का गुण—

वि०—अपवाद—इनमें महामृग शीत हैं, और प्रसहवर्ग में जो मांस खानेवाले जीव हैं, वे लवण अनुरस, विपाक में कटु और मांसवर्धक हैं। पुरातन अर्श, ग्रहणी रोग और राजयक्ष्मा के रोगियों के लिये अतिशय उत्तम हैं ॥ ६२ ॥

नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ।।६३।।
शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम् ।

स०—नातिशब्दोऽत्रेषदर्थे। यदि तु प्रतिषेधनमात्रमभीष्टमभविष्यदाचार्यस्य ततो नञ एव केवलस्योपादानमकरिष्यत्। तस्मादीषदर्थ एव विवक्षितः। अत एवं व्याख्यानयंति। अदोषलमिति। अल्पदोषलम्। यथाऽनतिदग्धो ग्राम इति। शरीरस्य धातुः शरीरधातुः प्रकृतत्वात्पुरुषशरीरस्य मांसाख्यो यो धातुस्तस्य सामान्यात्तुल्यत्वादाजं मांसमनभिष्यन्दि बृंहणं च। गुणकृतं चाऽत्र सामान्यं गृह्यते न द्रव्यकृतम्। द्रव्यकृते हि सामान्ये गृह्यमाणे तुरगोरगादिमांसमपि पुरुषशरीरधातोर्मांसाख्यस्य मांसत्वेन समानं भवतीति तदप्यनभिष्यंदि बृंहणं च स्यान्न केवलमाजं मांसम्। गुणकृते तु सामान्ये गृहीते शरीरधातुसामान्ययादाजमेव मांसमनभिष्यंदि बृंहणं चेति वक्तुं युज्यते। मांसग्रहणं चात्रोपलक्षणार्थम्। न केवलमाजं मांसं पुरुषशरीरधातुना मांसाख्येन तुल्यं यावदन्येऽपि ये छागशरीरगता धातवस्तेऽपि मनुष्यशरीरधातुना तुल्यगुणास्तेऽप्यनभिष्यंदिनो बृंहणाश्च। अनया भंग्या पुरुषमांसस्याऽप्याचार्येणाऽत्र गुणा उक्ताः। ननु बृंहणं यद्द्रव्यं तद्भौमाप्यमभिष्यंदि च। अपामेवाऽसाधारणो धर्मः स्रवणरूपः। तत्कथमनभिष्यंदीत्युक्तम्। ब्रूमः। द्रव्यप्रभावात् ईदृशोऽयं द्रव्यप्रभावो यद्बृंहणमपि द्रव्यमनभिष्यंदीति ॥६३॥

बकरे के मांस का गुण—

वि०—बकरे का मांस—न तो बहुत शीत है, न बहुत गुरु है और न बहुत स्निग्ध है, तथा दोष प्रकोपक भी नहीं है। मनुष्य के शरीर के धातुओं के समान होने से बृंहण है तथा अभिष्यन्दी नहीं है ॥ ६३ ॥

वक्तव्य—जिस प्रकार जमे हुए घृत में जमा घृत मिलाने से घृत बढ़ता तो है, परन्तु बाहर नहीं आता या द्रव नहीं

बनता, परन्तु गरम घृत बढ़ता भी है और द्रव भी हो जाता है; उसी प्रकार यह बकरे का मांस शरीर-धातु के समान होने से (जमे घी की भाँति) बृंहण करता है।

विपरीतमतो ज्ञेयमाविकं बृंहणं तु तत् ॥६४॥

स०—अतोऽजमांसाद्विपरीतमाविकं मांसमत्युष्णं स्निग्धं गुरु सदोषमभिष्यंदि चेति। बृंहणत्वस्याऽपि विपर्यये प्राप्ते तदपवादमाह। बृंहणं तु तदिति। तुशब्दोऽवधारणे। बृंहणमेव तदित्यर्थः ॥ ६४ ॥

भेड़ों के मांस का गुण—

वि०—भेड़ का मांस—बकरी के मांस से विपरीत गुणों वाला अर्थात् अत्यन्त उष्ण, स्निग्ध, गुरु, त्रिदोषकारक और अभिष्यन्दी होता है तथा बृंहण है ॥ ६४ ॥

शुष्ककासश्रमात्यग्निविषमज्वरपीनसान्।
कार्श्यं केवलवातांश्च गोमांसः सन्नियच्छति ॥६५॥

स०—गोमांसं शुष्ककासादीन्नियच्छति ॥ ६५ ॥

गोमांस के गुण—

वि०—गाय का मांस—शुष्ककास, श्रम, अत्यग्नि, विषम ज्वर, पीनस, कार्श्य और शुद्ध वायुजन्य रोगों को नष्ट करता है ॥ ६५ ॥

उष्णो गरीयान्महिषः स्वप्नदार्ढ्यबृहत्त्वकृत्।

स०—महिष उष्णो गुरुतरः स्वप्नादींश्च करोति। गुरुशब्दादीयसुनि प्रियस्थिरेत्यादिना गरादेशः। दार्ढ्यमिति वर्णदृढेत्यादिना ष्यञ्।

भैंसे के मांस का गुण—

वि०—भैंसे का मांस—उष्ण तथा दूसरे मांसों से गुरु है तथा नींद, दृढ़ता और पुष्टि को करता है।

तद्वद्वराहः श्रमहा रुचिशुक्रबलप्रदः ॥६६॥

स०—वराहःसूकरस्तद्वन्महिषगुणो ज्ञेय इत्यर्थः। तथा श्रमहा रुच्यादिप्रदश्च ॥ ६६ ॥

सूअर के मांस के गुण—

वि०—सूअर का मांस—भैंसे के मांस के गुणों के समान है; थकान नाशक; रुचि, शुक्र और बल देने वाला है ॥ ६६ ॥

मत्स्याः परं कफकराश्चिलिचीमस्त्रिदोषकृत्।

स०—गुरूष्णस्निग्धमधुरावर्गाश्चातो यथोत्तरमित्यनेन। लक्षणेनाऽतिगुरूष्णस्निग्धमधुरत्वमतिमूत्रशुक्रकृत्त्वमतिबल्यत्वमतिवातघ्नत्वमतिकफपित्तलत्वं च मत्स्यानामुक्तम्। परं कफकरा इत्यनेनाऽतः कफकृत्तमा मत्स्या इति बोधयति। संग्रहे स्पष्टार्थमेवमुक्तम्। कफपित्तकरा मत्स्याः परं पवननाशना इति। चिलिचीमसंज्ञो मत्स्यस्त्रिदोषकरः।

मछली के गुण—

वि०—मछलियाँ—अतिशय कफ को उत्पन्न करती हैं; (इसलिये वायुनाशक हैं) किन्तु चिलचिम मछली त्रिदोषकारक है।[1]

लावरोहितगोधैणाः स्वे स्वे वर्गे वराः परम् ॥६७॥

स०—लावादयः। स्वस्ववर्गेषु वरतराः। तत्र लावो विष्किरेष्वतिश्रेष्ठः। रोहितो मत्स्येषु। स हि प्रतिस्रोतोविचारी। आकाशप्लवनश्च। तथा चोक्तम्। प्रतिस्रोतोविचारित्वादाकाशप्लवनेन च। रोहितः प्रवरस्तेषामिति। गोधा च विलेशयेषु वरा। एणो मृगेष्विति ॥ ६७ ॥

सर्वोत्तम मांस—

वि०—अपने अपने वर्गों में—विष्किरों में बटेर; मछलियों में रोहित; बिलेशयों में गोह; मृगों में एण अतिशय श्रेष्ठ हैं ॥ ६७ ॥

मांसं सद्योहतं शुद्धं वयःस्थं च भजेत्—

स०—मांसं सद्योहतं भजेत्। सद्योहतस्य मांसं भजेदित्यर्थः। तथा शुद्धं स्नाय्वस्थ्यादिरहितम्। तथा वयसि तिष्ठतीति वयःस्थम्। यद्यपि सर्वं मांसं वयःस्थमेव तथाऽपीह वयःस्थमित्युक्त्या शोभनं तरुणं वय इति गम्यते। तस्माद्यूनः प्राणिनो मांसं भजेन्न बालवृद्धयोरिति।

वि०—भक्ष्य मांस—जो मांस तुरन्त का मारा हुआ, शुद्ध (विषादि से रहित), युवा पशु का हो वह भक्ष्य है।

—त्यजेत्।
मृतं कृशं भृशं मेद्यं व्याधिवारिविषैर्हतम् ॥ ६८ ॥

स०—मृतं स्वयं मृतं न भजेत्। अविज्ञातस्वरूपेण व्याधिना मृतस्य प्राणिनो यन्मांसं तत्त्यजेदित्यर्थः। कृशं दुर्बलं न भजेत्। तथा भृशं मेद्यमतिमेदुरं मांसं त्यजेत्। तथा व्याधिना निर्ज्ञातस्वरूपेण हतस्य वारिणा विषेण च हतस्य निर्जीवीकृतस्य यन्मांसं तत्त्यजेत्। संग्रहे तु हंसादीनां विशेषा उक्ताः। यथा। हंसः स्वरकरः पित्तरक्तजिन्मधुरो हिमः। कुलीरः परमं वृष्यो बृंहणः प्रीणनो गुरुः। गोधा निग्रच्छति विषं मूषिकः शुक्रवर्धनः। गुरूण्यंडानि बालानां कषायमधुरं पलम्। वृद्धानां स्नायुभूयिष्ठमबल्यं गुरु दोषलमिति ॥ ६८ ॥

त्याज्य मांस—

वि०—निन्द्य मांस—स्वयं मरे, कृश, अतिशय मेदवाले, रोग से, पानी में डूबकर या विष से मरे हुए पशु या पक्षी का मांस निन्दित है—इसको नहीं खाना चाहिये ॥ ६८ ॥

पुँस्त्रियोः पूर्वपश्चार्धे गुरुणी, गर्भिणी गुरुः।
लघुर्योषिच्चतुष्पात्सु, विहङ्गेषु पुनः पुमान् ॥६९॥
शिरःस्कन्धोरुपृष्ठस्य कट्याः सक्थ्नोश्च गौरवम्।
तथाऽऽमपक्वाशययोर्यथापूर्वं विनिर्दिशेत् ॥७०॥

---

[1] प्रसह वर्ग में इसका मांस सबसे निन्दित है—'निन्दितो गौः सदर्दुरः' (अ० सं० सू० अ० ७)

शोणितप्रभृतीनां च धातूनामुत्तरोत्तरम् ।
मांसाद्गरीयो वृषणमेढ्रवृक्कयकृद्गुदम् ॥७१॥

स०—पुंस्त्रियोः पूर्वपश्चार्धे यथासंख्यं गुरुणी। पूर्वं च पश्चं च पूर्वपश्चे तयोरर्धे। पुंसः पूर्वार्धं गुरु स्त्रियः पश्चार्धं गुर्वित्यर्थः। गर्भिणी गुरुः गर्भिणीमांसं गुरु। चत्वारः पादा येषां ते चतुष्पादस्तेषु चतुष्पात्सु गवादिषु मध्ये स्त्री लघुः। चतुष्पादितिसंख्यासुपूर्वस्येत्यंतलोपः। विहंगेषु द्विजेषु तु पुमान् लघुः। शिरःप्रभृतीनां मांसानां यथापूर्वं गुरुत्वं निर्दिशेत्। एवं सक्थ्यादिमांसेभ्यः शिरोमांसं गुरुतममित्यवतिष्ठते। आमपक्वाशययोश्च यथापूर्वं गुरुत्वनिर्देशः। तेन पक्वाशयादामाशयो गुरुः। रक्तादीनां धातूनां यथोत्तरं गुरुत्वं निर्दिशेत्। तेन लोहितान्मांसं गुरु मांसान्मेद इत्यादि। मांसाद्गरीयो वृषणमेढ्रवृक्कयकृद्गुदमित्यत्राऽप्युत्तरोत्तरमित्यनुवर्तते। तेन मांसाद्गुरुतरो वृषणस्तस्मान्मेढ्रो यावत्सर्वं गरिष्ठं गुदं निर्दिशेत्। इति मांसवर्गः ॥ ६९-७१ ॥

नर-मादा का मांस—

वि०—गौरव-लाघव—मांसवर्ग में पुमान् (पुँल्लिङ्ग–नर) का पूर्वभाग-नाभि से आगे का भाग-गुरु होता है और स्त्रियों (मादा) का नाभि से पिछला भाग गुरु है। गर्भवती सब अवस्थाओं में गुरु है। चौपायों में स्त्री जाति लघु है; और पक्षियों में पुरुष जाति लघु है। शिर, कन्धे, ऊरु, पीठ, कटि और सक्थि इनमें पहला पिछले से भारी है; अर्थात् सक्थि से कटि भारी है; कटि से पीठ भारी है इसी प्रकार पक्वाशय से आमाशय गुरु है। रक्तादि धातुओं में उत्तरोत्तर गुरु हैं—रक्त से मांस, मांस से मेद गुरु है। मांस से वृषण, वृषण से मेहन, मेहन से वृक्क, वृक्क से यकृत् और यकृत् से गुदा भारी होता है ॥ ६९-७१ ॥

वक्तव्य—मांस के गुरु एवं लघु के विषय में चरक में कहा है-'चरः शरीरावयवः स्वभावो धातवः क्रियाः। लिङ्गं प्रमाणं संस्कारं मात्रा चास्मिन्परीक्ष्यते ॥' मांस के सम्बन्ध में प्राणी के विचरण (आहार और जाङ्गलादि योनि), शरीर के अवयव, स्वभाव, धातु, क्रिया, लिङ्ग, प्रमाण, संस्कार और मात्रा की परीक्षा करनी चाहिये।

अथ शाकवर्गः ।

मांसवर्गादनन्तरं शाकवर्गो निगद्यते—

शाकं पाठाशटीसूषासुनिषण्णसतीनजम् ।
त्रिदोषघ्नं लघु ग्राहि सराजक्षववास्तुकम् ॥७२॥
सुनिषण्णोऽग्निकृद्वृष्यस्तेषु राजक्षवः परम् ।
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नो वर्चोभेदि तु वास्तुकम् ॥७३॥

स०—पाठादिजं शाकं त्रिदोषहरं लघु ग्राहि च तद्वद्राजक्षवकवास्तुकम्। तेषु मध्ये सुनिषण्णः स्वस्तिकाख्यो जलमध्ये भवति। पत्रैश्चांगेरीतुल्योऽग्निकरोऽपि वृष्यः। राजक्षवः क्षुद्बोधनो राजशाकाख्योऽत्यर्थं ग्रहण्यर्शोविकारघ्नः। वास्तुकं तु पुनः टक्कवास्तुकाख्यं वर्चोभेदि पुरीषस्य भेदनम् ॥७२-७३॥

शाकों का गुण—

वि०—शाक—पाठा, शटी (कपूर कचूरी), सूषा (कसौंदी), सुनिषण्णक (चौपतिया), और सतीन (मटर) इनका शाक त्रिदोषनाशक, लघु और ग्राही है। राजक्षव (दुधिया) एवं बथुवे का शाक भी त्रिदोषनाशक, लघु और ग्राही है ॥ ७२-७३ ॥

इन शाकों में सुनिषण्णक अग्नि को बढ़ानेवाला और वृष्य है। अतिशय ग्रहणी और अर्शरोग नाशक है। बथुवा-मल करनेवाला है-मल साफ लाता है।

हन्ति दोषत्रयं कुष्ठं वृष्या सोष्णा रसायनी ।
काकमाची सरा स्वर्या—

स०—काकमाची त्रिदोषघ्नी कुष्ठनाशनी वृष्या किंचिदुष्णा सरा भेदिनी स्वरहिता च स्वर्या। स्वास्थ्यसंवाहकत्वेन च रसायनसादृश्याद्रसायनम्।

मकोय शाक के गुण—

वि०—काकमाची (मकोय)—त्रिदोषनाशक, कुष्ठ को नष्ट करती है, वृष्य, कुछ उष्ण, रसायन, मलभेदक और स्वर के लिये उत्तम है।

—चाङ्गेर्यम्लाऽग्निदीपनी ॥७४॥
ग्रहण्यर्शोऽनिलश्लेष्महितोष्णा ग्राहिणी लघुः ।

स०—चांगेरी क्षुद्राम्लिकाम्ला चाग्निदीपनी ग्रहण्यादिषु हिता। उष्णवीर्या ग्राहिणी लघ्वी च ॥ ७४ ॥

चांगेरी शाक के गुण—

वि०—चांगेरी—(तिपतिया)—खट्टी, अग्निदीपक, ग्रहणी, अर्श, वायु और कफरोगों में हितकारी, उष्ण, ग्राही और लघु है।

पटोलसप्तलारिष्टशार्ङ्गेष्टावल्गुजाऽमृताः ॥७५॥
वेत्राग्रबृहतीवासाकुतिलीतिलपर्णिकाः ।
मण्डूकपर्णीकर्कोटकारवेल्लकपर्पटाः ॥७६॥
नाडीकलायगोजिह्वावार्ताकं वनतिक्तकम् ।
करीरं कुलकं नन्दी कुचैला शकुलादनी ॥७७॥
कठिल्लं केम्बुकं शीतं सकोशातककर्कशम् ।
तिक्तं पाके कटु ग्राहि वातलं कफपित्तजित् ॥७८॥

स०—पटोलादीनि कर्कशांतान्यष्टाविंशतिः शीतवीर्याणि तिक्तानि पाके कटूनि ग्राहीणि वातलानि कफपित्तघ्नानि च। सप्तला सातला। अरिष्टो निंबः। शार्ङ्गेष्टांगारवल्लिका। अवल्गुजा बाकुची। अमृता गुडूची। वेत्रो वंशसदृशस्तस्याग्रम्। वासा वृषः। कुन्तली सूक्ष्मतिलजातिः। तिलपर्णी बदरकः। मंडूकपर्णी (उंदीरकानी प्र०) वा ब्राह्मी। कर्कोटकारवेल्ले पुनः प्रथित एव। पर्पटः शीतप्रियाख्यः। नाडीकलायं सकुलायकः सुवर्चलाभेदः। गोधूमिका तु गोजिह्वा गोजी क्रोष्टुकमूलिका। वनतिक्तकं

वत्सकः। कुलकं काकतिंदुकः। नन्दी जयवृक्षश्च शब्दितः। कुचेला पाठा। शकुलादनी कटुका। कटिल्लं दीर्घपत्रा वर्षाभूः। कोशातको घंटोलिः। कर्कशः कंपिल्लकः ॥ ७५-७८ ॥

पटोलादि शाक के गुण—

वि०—पटोल (परवल), सप्तला (सातला), अरिष्ट (नीम), शार्ङ्गेष्टा, अवल्गुजा (बाकुची), गिलोय, बेंत का अग्रिमभाग; बड़ी कटेरी, वासा, कुतिली; तिलपर्णिका (हुरहुर), मण्डूकपर्णी; कर्कोटक (ककोड़ा); करेला; पर्पट, नाड़ीकलाय; गोजिह्वा (गोजी), बैंगन, वनतिक्तक, करीर, कुलक, नन्दी, कुचैला (पाठा), शकुलादनी (कुटकी), कटिल्ल (पुनर्नवा), केम्बुक, कोशातक (तरोई), और कर्कश (कम्पिल्ल) ये शीतवीर्य, तिक्त, विपाक में कटु; वातकारक तथा कफ-पित्त-नाशक हैं ॥ ७५-७८ ॥

सामान्यगुणानुक्त्वा केषांचिद्गुणकर्मविशेषमाह—

हृद्यं पटोलं कृमिनुत्स्वादुपाकं रुचिप्रदम् ।

स०—मुनिनाऽप्युक्तम् । पटोलपत्रं पित्तघ्नं वल्ली चास्य कफापहा। फलं त्रिदोषशमनं मूलं चास्य विरेचनमिति। बृहतीद्वयं स्थूलबृहती महोटिकाख्या। क्षुद्रबृहती कंटकारिकाख्या।

परवल का विशेष गुण—

वि०—पटोल (परवल)—हृदय के लिये प्रिय, कृमिनाशक, विपाक में मधुर और रुचिप्रद है।[1]

पित्तलं दीपनं भेदि वातघ्नं बृहतीद्वयम् ॥७६॥

स०—तदेतदुभयं पित्तकरमग्निदीपनं शकृदादीनां भेदनं वातघ्नं च ॥ ७९ ॥

दोनों कटेरी के गुण—

वि०—छोटी और बड़ी कटेरी—पित्तकारक, अग्निदीपक, मलभेदी और वातनाशक हैं ॥ ७९ ॥

वृषं तु वमिकासघ्नं रक्तपित्तहरं परम् ।

स०—वृषं छर्दिकासौ हंति। रक्तपित्तं चात्यर्थं जयति।

अडूसा के गुण—

वि०—अडूसा—वमन और कासनाशक तथा रक्तपित्त रोग के लिये श्रेष्ठ है।

कारवेल्लं सकटुकं दीपनं कफजित्परम् ॥ ८० ॥

स०—कारवेल्लमीषद्रसे कटुकमग्निदीप्तिकरमतिश्लेष्मघ्नम् ॥ ८० ॥

करैले का गुण—

वि०—करैला—ईषत्कटु, अग्निदीपक अतिशय कफनाशक है।

वार्ताकं कटुतिक्तोष्णं मधुर कफवातजित् ।
सक्षारमग्निजननं हृद्य रुच्यमपित्तलम् ॥ ८१ ॥

स०—वार्ताकं रसे कटु तिक्तमुष्णवीर्यं मधुरं वातश्लेष्मघ्नम्। सह क्षारेण वर्तते सक्षारं किंचित्क्षारत्वयुक्तमग्निजननम्। हृद्यं हृदयाय हितम्। रुच्यं रुचिकृत्। अपित्तलम्। नञीषदर्थे। किंचित्पित्तकरमित्यर्थः। तत्र सह क्षारेण वर्तते सक्षारमित्येवं कथमुक्तम्। यातना क्षारं द्रव्यम्। तथा च प्रागुक्तं क्षरणादित्यादि। न द्रव्यं द्रव्येण सह वर्तते। तथा च गुणानामेवाऽयं धर्मो यद्द्रव्याश्रितत्वं नाम। तस्मात्क्षारमित्युक्तमिव मन्यामहे। अत्राऽऽचक्ष्महे। क्षारशब्देनाऽत्र क्षारधर्म उपलक्ष्यते। विस्रावणाद्यात्मकस्तद्वत्सक्षारमिति द्रव्यमुपदिश्यते। तस्मात्सक्षारमित्युपपन्नम् ॥ ८१ ॥

बैंगन के गुण—

वि०—बैंगन—कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, मधुर, वात-कफनाशक; थोड़ा क्षारीय; अग्निजनक, हृदय के लिये हितकर; रुचिकारक; थोड़ा पित्तकारक है ॥ ८१ ॥

करीरमाध्मानकरं कषायं स्वादु तिक्तकम् ।

स०—करीरं गूढपत्राख्यमाध्मानकरं रसे कषायमधुरतिक्तकम्।

करील के गुण—

वि०—करीर—आध्मानकारक, कषाय, स्वादु और तिक्त हैं।

कोशातकावल्गुजकौ भेदिनावग्निदीपनौ ॥ ८२ ॥

स०—अनयोश्च पित्तकारित्वं वातकफघ्नत्वं च वेद्यम्। तथाहि। प्रायेण यदुक्तं गुडूच्यादिद्रव्यं तत्पित्तलं वातपित्तकफहरं च दृष्टम्। तथा चाह मुनिः। कफवातनुदवल्गुज इति। तदेवमन्यत्राऽप्यौचित्येन दोषकरत्वादि। संग्रहे चान्येऽप्युक्ताः। यथा—"सतरूठं कंदकं च चक्षुर्ग्राहि हिमं गुरु। कुमारी जीवलोणिका नलिनी गुचुपर्णिका ॥ स्वादु रूक्षं सलवणं वातश्लेष्मकरं गुरु। श्यामा शाल्मलिकाश्मर्यः फंजी कर्णिकयूथिका ॥ वृक्षादनी क्षीरवृक्षा बिंबी तनिकवृत्तिका। रोध्रः शाणः कर्बुदारः सशेलुवृषमूषिका ॥ भल्लातकः कोविदारः कमलोत्पलकिंशुकम्। पटोलादिगुणं स्वादु कषायं पित्तजित्परम् ॥ वातपित्तहरा रूढी पर्विणी दीर्घपुष्पिका। लघुरुष्णतरा तिक्ता सारुबूका च लांगली ॥ वातला कटुतिक्ताम्लभेदिनौ तिलवेतसौ। विश्वं रास्ना बलाशाकं वातघ्नमतिसारनुत् ॥ वातं वत्सादनी हन्यात्कफं कंडीरचित्रका" इति। मुनिना चान्येऽप्युक्ताः। न्यग्रोधोदुंबराऽश्वत्थप्लक्षपद्मादिपल्लवाः। कषायाः स्तम्भनाः शीता[1] हिताः पित्तातिसारिणाम्। तथा सुश्रुते गदितम्। करीरकुसुमं ज्ञेयं कफपित्तहरं लघु। आगस्त्यं नातिशीतोष्णं नक्तांधानां प्रशस्यते। चातुर्थकज्वरहरं नस्ययोगेन शीलितम्। राजवृक्षस्य निंबस्य शिग्रोः सिंहमुखस्य च। कफपित्तहरं पुष्पं कुष्ठघ्नं कुटजस्य च। श्रेयसी विल्वपर्णी च बिल्वपत्रं च वातनुदिति ॥ ८२ ॥

---

[1] पटोलपत्रं पित्तघ्नं वल्ली चास्य कफापहा
फलं त्रिदोषशमनं मूलं चास्य विरेचनम् ॥ इति
—माधवद्रव्यगुणे।

[1] अत्र "हृद्याः शीताः" इति पाठान्तरम्।

तोरई और बावची का गुण—

वि०—कोशातकी और अवल्गुज—मलभेदक और अग्निदीपक हैं ॥ ८२ ॥

तण्डुलीयो हिमो रूक्षः स्वादुपाकरसो लघुः ।
मदपित्तविषास्रघ्नः—

स०—तंडुलीयो गंडीरकाख्यः शीतवीर्यो रूक्षः स्वादुपाकरसो लघुर्मदादिनाशनश्च ।

चौलाई का गुण—

वि०—तण्डुलीय (चौलाई)—शीतल, रूक्ष, विपाक और रस में मधुर एवं लघु है; मद, पित्त, विष और रक्तस्राव को नष्ट करती है ।

मुञ्जातं वातपित्तजित् ॥ ८३ ॥
स्निग्धं शीतं गुरु स्वादु बृंहणं शुक्रकृत्परम् ।

स०—मुंजातं वातपित्तघ्नं स्निग्धादिगुणयुतमतिशुक्रकृच्च ॥ ८३ ॥

मुंजात का गुण—

वि०—मुंजातक (सालम)—वातपित्तनाशक, स्निग्ध, शीतल, गुरु, मधुर, बृंहण और अतिशय शुक्रवर्धक है ॥ ८३ ॥

गुर्वी सरा तु पालङ्क्या—

स०—पालंक्या गुर्वी तथा सरा शकृदादिभेदिनी । तुशब्दः पिच्छिलश्लेष्मलहिमादीनां संग्रहोक्तानां समुच्चयार्थः । तथा चोक्तं संग्रहे—पालक्या पिच्छिला गुर्वी श्लेष्मला भेदिनी हिमेति ।

पालक का गुण—

वि०—पालक—गुरु और मलभेदक है ।

—मदघ्नी चाप्युपोदिका ॥ ८४ ॥

स०—उपोदका मदनाशिनी । अपिशब्दात्तद्वद् गुर्वी सरा च । उपोदका मयाला खंडपालक्येति प्रथिता ॥ ८४ ॥

पोई का गुण—

वि०—उपोदिका (पोई)—मदनाशक एवं गुरु तथा मलभेदक है ॥ ८४ ॥

पालङ्क्यावत्स्मृतश्चञ्चुः स तु संग्रहणात्मकः ।

स०—चंचुः पालंक्यासदृशो गुणैः स्मृतः । स पुनश्चंचुः संग्रहणात्मको न भेदी ।

चंचु के गुण—

वि०—चंचु—के गुण पालक के समान हैं; परन्तु चंचु संग्राहक है, मलभेदक नहीं ।

विदारी वातपित्तघ्नी मूत्रला स्वादुशीतला ॥८५॥
जीवनी बृंहणी कण्ठ्या गुर्वी वृष्या रसायनी ।

स०—विदारी शृगालिका वातपित्तहरा मूत्रलादिगुणयुक्ता रसायनं च । कन्दस्यैवायं गुणनिर्देशो बोध्यः । तथा च मुनिः । जीवनो बृंहणो वृष्यो बल्यः । शस्तो रसायनम् । विदारिकन्दः कंठ्यश्च मूत्रलः स्वादुशीतल इति ॥ ८५ ॥

विदारीकंद के गुण—

वि०—विदारी—वात-पित्तनाशक, मूत्रल, मधुर, शीतल, जीवनदायक, पुष्टिकारक, गले के लिये उत्तम, गुरु, वृष्य और रसायन है ॥ ८५ ॥

चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा ॥८६॥

स०—जीवन्ती चक्षुष्यादिगुणयुक्ता । या मधुरा सा शीतवीर्या । एभिर्गुणैः किंचिदूना । तथा चोक्तं संग्रहे । चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा । शाकानां प्रवरा न्यूना द्वितीया किंचिदेव तु । मुनिना तु जीवन्त्याः शतावर्या वातपित्तहरत्वमगादि । तत्पाठो हि । भंडीशतावरीशाकं बलाजीवंतिजं च यत् । पर्वाण्या पर्वपुष्पा च वातपित्तहरं मतमिति ॥ ८६ ॥

जीवन्ती के गुण—

वि०—जीवन्ती—आँखों के लिये उत्तम, त्रिदोषनाशक, मधुर और शीतल है ॥ ८६ ॥

वक्तव्य—चरक और सुश्रुत ने जीवन्ती शाक को सबसे उत्तम शाक कहा है—'जीवन्तीशाकं शाकानां श्रेष्ठतमम् ।'

कूष्माण्डतुम्बकालिङ्गकर्कार्वेर्वारुतिण्डिशम् ।
तथा त्रपुसचीनाकचिर्भटं कफवातकृत् ॥८७॥
भेदि विष्टम्भ्यभिष्यन्दि स्वादुपाकरसं गुरु ।

स०—कूष्मांडादिकं कफवातकृद्भेदि विष्टंभ्यभिष्यन्दि स्वादुपाकरसं गुरु च ॥ ८७ ॥

कूष्माण्डादि के सामान्य गुण—

वि०—कूष्माण्ड (पेठा), तुम्ब (तुम्बी), कालिङ्ग (तरबूजा), कर्कारु (ककड़ी), एर्वारु (खीरा), तिण्डिश, त्रपुस (खीरा), चीनाक, चिर्भट (फूट)—ये कफ-वात को करते हैं; और मल को भेदन करनेवाले, विष्टम्भी, अभिष्यन्दी, मधुरविपाक, मधुररस और गुरु हैं ॥ ८७ ॥

अत्र विशेषमाह—

वल्लीफलानां प्रवरं कूष्माण्डं वातपित्तजित् ॥८८॥
वस्तिशुद्धिकरं वृष्यं; त्रपुसं त्वतिमूत्रलम् ।

स०—वल्लीफलानां मध्ये कूष्मांडं पुष्पफलसंज्ञं वरं तथा वातपित्तहरं बस्तिशुद्धिकरं वृष्यं च । त्रपुसं पुनरतिशयेन मूत्रलम् ॥ ८८ ॥

वि०—वल्ली फलों (बेल या लता के फलों) में कूष्माण्ड श्रेष्ठ है; यह वातपित्तनाशक, मूत्राशय का शोधन करनेवाला (मूत्र लानेवाला) और वृष्य है ।

त्रपुस—(खीरा) अतिमूत्रल है ॥ ८८ ॥

तुम्बं रूक्षतरं ग्राहि कालिङ्गैर्वारुचिर्भटम् ॥८९॥
बालं पित्तहरं शीतं विद्यात्पक्वमतोऽन्यथा ।

स०—तुंबमलाबुसंज्ञं रूक्षतरम् । एर्वारुकाद्यपि रूक्षं तुंबं त्वतिशयेनेत्यर्थः । तथा ग्राहि । पूर्वाणि तु सामान्यगुणोक्त्या भेदीन्येव । चरकमुनिमतानुसारिणस्त्वेवमाचक्षते । तुंबं

रूक्षतरं कालिंगैर्वारुचिर्भटं ग्राहीति। कालिंगं कर्चरम्। एर्वारुः कर्कटिका। चिर्भटं डंगरं मालवेषु प्रसिद्धमतिप्रसिद्धं जालंधरादिषु। एतच्च बालमसम्पूर्णरसादि पित्तहरं शीतवीर्यं च। अतो बालाद्विपरीतं पक्वं पित्तकरमुष्णवीर्यं चेत्यर्थः। सुश्रुतेनोक्तम्। नीलं यत्त्रपुसं बालं वृष्यं पित्तहरं मतम्। तत्पांडुकफकृज्जीर्णमम्लपित्तकरं स्मृतम् ॥ ८९ ॥

तुम्बी आदि के गुण—

वि०—तुम्ब—(अलावु)-अतिशय रूक्ष, ग्राही है। कालिङ्ग, एर्वारु और चिर्भट—ये भी रूक्ष हैं तथा ये (और कूष्माण्ड आदि भी) कच्चे होने पर पित्तनाशक तथा शीतल हैं और पक जाने पर पित्तकारक और उष्णवीर्य हैं (ये ईषत्-परिपक्व कूष्माण्ड आदि के गुण हैं) ॥ ८९ ॥

शीर्णवृन्तं तु सक्षारं पित्तलं कफवातजित् ॥९०॥
रोचनं दीपनं हृद्यमष्ठीलाऽऽनाहनुल्लघु।

स०—शीर्णवृन्तं कर्चरमीषत्क्षारं पित्तलं कफवातघ्नं च। रुचिकरमग्निदीप्तिकृत्। हृद्यमष्ठीलाऽऽनाहं च हंति लघु च। घनाष्ठीलोपमो ग्रंथिरष्ठीलोर्ध्वं समुन्नत इत्यष्ठीलालक्षणम्। साठोपमत्युग्ररुजमाध्मानमुदरे भृशम्। ऊर्ध्वाधोवातरोधेन तमानाहं प्रचक्षत इति ॥ ९० ॥

शीर्णवृन्त (ककड़ी भेद) के गुण—

वि०—शीर्णवृन्त—(ककड़ी भेद जो पककर टहनी से अलग हो जाये) ईषत्क्षार वाला, पित्तकारक, कफ-वात-नाशक, रुचिकारक, अग्निदीपक, हृदय के लिये उत्तम, अष्ठीला और आनाहनाशक एवं लघु है ॥ ९० ॥

मृणालबिसशालूककुमुदोत्पलकन्दकम् ॥ ९१ ॥
नन्दीमाषककेलूटशृङ्गाटककसेरुकम्।
क्रौञ्चादनं कलोड्यं च रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु ॥ ९२ ॥

स०—मृणालादि रूक्षं संग्रहणं शीतवीर्यं गुरु च। मृणालं द्विविधं सूक्ष्मं स्थूलं च। तत्र सूक्ष्मं मृणालमितरद्बिसम्। शालूकं पद्ममूलम्। कुमुदकंदम्। कुमुदं शशिप्रियम्। उत्पलकंदकं रक्तोत्पलकंदम्। नंदी तुंडेरिका। माषको वास्तुलः। केलूटं हिस्मकसंज्ञमुदुंबरभेदः। शृंगाटकं त्रिकोणाकृति जलोद्भवं कंदम्। कसेरुकं मागधम्। क्रौंचादनं तमेदम्। कलोड्यं पद्मबीजम् ॥ ९१-९२ ॥

मृणाल का गुण

वि०—मृणाल, बिस (भिस), शालूक (कमल की जड़), कुमुद, उत्पलकन्द, नन्दी, माषक, केलूट, सिंहाड़ा, कसेरू, क्रौञ्चादन, कलोड्य[1] (पद्मबीज)—ये रूक्ष, शीतल और गुरु हैं ॥ ९१-९२ ॥

कलम्बनालिकामार्षकुटिञ्जरकुतुम्बकम्।
चिल्लीलट्वाकलोणीकाकुरूटकगवेधुकम् ॥ ९३ ॥
जीवन्तझुञ्झ्वेडगजयवशाकसुवर्चलम्।
आलुकानि च सर्वाणि तथा सूप्यानि लक्ष्मणम् ॥९४॥
स्वादु रूक्षं सलवणं वातश्लेष्मकरं गुरु।
शीतलं सृष्टविण्मूत्रं प्रायो विष्टभ्य जीर्यति ॥ ९५ ॥

स०—कलंबादिकं मधुरं किंचिल्लवणं वातश्लेष्मकरं गुरु च शीतवीर्यं मूत्रं पुरीषं च विसृजति बहिः क्षिपति। विष्टभ्योदरप्रदेशे पिंडीभूय जीर्यति परिणमति। प्रायोग्रहणं किंचिदेषां मध्ये नैवं स्वरूपमिति ज्ञापनार्थम्। कलंबं कदंबः। नालिका दीर्घनालरूपा कलंबुसंज्ञा। मार्षो गंधारिका। कुटिंजरं ताम्रमूलकम्। कुतुंबको द्रोणपुष्पी। चिल्ली पृथुपत्रं यवशकं कुमामसंज्ञम्। लट्वाको गुग्गुलुकः। लोणीका। लोणारः। कुरूटकः स्थितिवारकः। गवेधुकं तृणधान्यविशेषः। जीवंतो बृहद्गांधारम्। झुंझुझुंझुरुकः। एडगजः प्रपुन्नाटः। यवशाकं हृद्यपत्रा चिल्ली। सुवर्चला रविभक्ता। आलुकानि च सर्वाणि नानाविधानि रक्तालुकमधुकालुकादिभेदेन। सूप्यानि मुद्गराजमाषादिपत्राणि। लक्ष्मणं मधुयष्टिका ॥ ९३-९५ ॥

कदम्ब-पुष्पादि के गुण

वि०—कलम्ब और नालिका (दोनों करेमूभेद), मार्ष (मरसा?), कुटिञ्जर, कुतुम्बक (द्रोणपुष्पी), चिल्ली, लट्वाक, लोणिका, कुरूटक, गवेधुक, जीवन्त (बड़ा मरसा), झुञ्झु, एडगज (चकवड़), यवशाक (बथुआ), सुवर्चला और सब आलुक (आलू, रतालू आदि) तथा सब प्रकार के दाल की छीमी और पत्र मूंग, राजमाष आदि), लाक्ष्मणम्—(लक्ष्मणा) -ये मधुर, रूक्ष, ईषत् लवण; वात-कफकारक, गुरु शीतल; मल-मूत्र को प्रवृत्त करने वाले हैं और प्रायः विष्टम्भ (वायु) उत्पन्न करके जीर्ण होते हैं ॥ ९३-९५ ॥

लघुपत्रा तु या चिल्ली सा वास्तुकसमा मता ॥ ९६ ॥

स०—एतच्च सर्वं स्विन्नं निष्पीडितरसमतिबहुस्नेहं च नात्यपथ्यम्। सुश्रुते चोक्तम्। संस्कृतं वेसवारेण सस्नेहं शाकमिष्यते। राजिकासक्तुभक्तादिसंस्कारं चानुवर्तते। लघुपत्रा या चिल्ली यवशाकविशेषः सा तु वास्तुकसमा गुणैर्मता ॥ ९६ ॥

सामान्य शाक—

वि०—जो चिल्ली छोटे पत्तों वाली होती है, उसके गुण बथुवे के समान होते हैं ॥ ९६ ॥

तर्कारीवरुणं स्वादु सतिक्तं कफवातजित्।

स०—तर्कार्यरणीका। वरणो मालः। समाहारेण तयोर्द्वंद्वः। एतत्स्वादु किंचित्तिक्तं कफवातघ्नं च।

तर्कारी और वरुण—

तर्कारी—(अरणिका) और वरुण, मधुर, ईषत् तिक्त और कफ-वातनाशक हैं।

वर्षाभ्वौ कालशाकं च सक्षारं कटुतिक्तकम् ॥९७॥
दीपनं भेदनं हन्ति गरशोफकफानिलान्।

---

[1] कमलनाल पतली और मोटी दो प्रकार की होती है; पतली को मृणाल और मोटी को बिस तथा कमल की जड़ को शालूक और बीज को कलोड्य कहते हैं।

स०—वर्षाभ्वौ पुनर्नवे तथा कालशाकं किंचित्क्षारं रसे च कटुतिक्तं वह्निदीपनं भेदनं गरादींश्च हरति। कठिल्लो वर्षाभूः स च प्रागुक्तगुणः। तथा च निघंटुः। पुनर्नवा विशाखश्च कठिल्लः शासिनाडिका। वृश्चिकः क्षुद्रवर्षाभूः दीर्घपत्रः कठिल्लकः। पुनर्नवा परः क्षुद्रः सह्यो मंडलपत्रकः। श्वेतमूलो वर्षकेतुर्मदा वर्षाभुरुच्यत इति ॥ ९७ ॥

पुनर्नवा और कालशाक—

वि०—श्वेत पुनर्नवा और रक्त पुनर्नवा तथा कालशाक—ईषत्क्षारयुक्त, कटु, तिक्त; अग्निदीपक एवं मलभेदक हैं; गर (संयोगज विष), शोफ, कफ और वायु को नष्ट करते हैं ॥ ९७ ॥

दीपना कफवातघ्नाश्चिरबिल्वाङ्कुराः सराः ॥ ९८ ॥

स०—चिरिबिल्वः पूतिकरंजस्तस्यांऽकुरा वह्निदीपनाः कफवातघ्नाः सराश्च ॥ ९८ ॥

पूतिकरंज के अङ्कुर का गुण—

वि०—चिरबिल्व (पूतिकरंज) के अङ्कुर-अग्निदीपक, कफवातनाशक और मलरेचक हैं ॥ ९८ ॥

शतावर्यङ्कुरास्तिक्ता वृष्या दोषत्रयापहाः।

शतावरी के अङ्कुर—

स०—शतावर्या अंकुराः प्ररोहास्तिक्तरसा वृष्याः शुक्रकृतस्त्रिदोषघ्नाश्च।

वि०—शतावरी के अङ्कुर—तिक्त, वृष्य और त्रिदोषनाशक हैं।

रूक्षो वंशकरीरस्तु विदाही वातपित्तलः ॥ ९९ ॥

स०—वंशकरीरो वंशांकुरो रूक्षो विदाही वातपित्तकृत् ॥ ९९ ॥

वंशांकुर के गुण—

वि०—बाँस के अङ्कुर—रूक्ष, विदाही और पित्तकारक हैं ॥ ९९ ॥

पत्तूरो दीपनस्तिक्तः प्लीहार्शःकफवातजित्।

स०—पत्तूरो दीपनस्तिक्तरसः प्लीहादिजित्। पत्तूरो मत्स्याक्षकः।

पत्तूर के गुण—

वि०—पत्तूर—अग्निदीपक, तिक्त, प्लीहा-अर्शनाशक, कफ और वात को नष्ट करता है।

कृमिकासकफोत्क्लेदान् कासमर्दो जयेत्सरः ॥१००॥

स०—कासमर्दः सरः कृम्यादींश्च नाशयति। उत्क्लेदः स्रोतसां मालिन्येनार्द्रत्वम् ॥ १०० ॥

कसौंदी के गुण—

वि०—कासमर्द (कसौंदी)—कृमि, कास, कफ के उत्क्लेद को नष्ट करती है और अनुलोमन है ॥ १०० ॥

रूक्षोष्णमम्लं कौसुम्भं गुरु पित्तकरं सरम्।

स०—कुसुंभं शाकं रूक्षमुष्णवीर्यमम्लं गुरु पित्तकृत्सरं च।

कुसुम का शाक—

वि०—कुसुम्भ (बरें) का शाक—रूक्ष, उष्ण, अम्ल, गुरु, पित्तकारक और सारक है।

गुरूष्णं सार्षपं बद्धविण्मूत्रं सर्वदोषकृत् ॥१०१॥

स०—सार्षपं शाकं गुरूष्णवीर्यम्। तथा शकृन्मूत्रं च बध्नाति। त्रिदोषकृच्च। संग्रहे तु सक्षारत्वमस्योक्तम्। तत्पाठो हि। सक्षारमधुरं स्निग्धमुष्णं च गुरु सार्षपमिति। सुश्रुतेन चोक्तम्। कफघ्नं सार्षपं शाकमासुरं शाकमेव चेति ॥ १०१ ॥

सरसों का शाक—

वि०—सरसो का शाक—गुरु, उष्ण, मल और मूत्र को बाँधने वाला तथा सब दोषों को कुपित करता है ॥ १०१ ॥

वक्तव्य—सरसों का शाक सब से हीन बताया है। यथा—'शाकानामवरं बद्धविण्मूत्रम्' (संग्रह)। चरक में—'सर्षपशाकं शाकानामवरम्' (सू. अ. २५)।

मूली के गुण—

यद् बालमव्यक्तरसं किञ्चित्क्षारं सतिक्तकम्।
तन्मूलकं दोषहरं लघु सोष्णं नियच्छति ॥१०२॥
गुल्मकासक्षयश्वासव्रणनेत्रगलामयान्।
स्वराग्निसादोदावर्तपीनसांश्च—

स०—यन्मूलकमव्यक्तरसमस्फुटस्वादं तथा किंचित्क्षारमीषत्क्षारगुणयुक्तं कार्यतोऽनुमीयमानं तथा सतिक्तमीषत्तिक्तकं रसनेंद्रियस्य किंचिदुद्वेजकं तन्मूलकं दोषाणां हरं दोषहरं नान्यावस्थम्। बालं मूलकं दोषहरमित्यनेनास्य विशिष्टा बालावस्था दोषहरत्वेन नियम्यते। न सर्वं बालावस्थं दोषहरमपि त्वीदृग्रूपमित्यर्थः। अन्ये तु दोषहरमित्यत्र समासं कृत्वा वातश्लेष्मघ्नत्वमेवास्य प्रतिजानते। यतः किंचिदुष्णवीर्यत्वात्पित्तकरत्वमस्यास्त्येव। किंचित्तिक्तरसोपेतत्वेन पित्तकर्तृत्वमस्य व्याहर्तुं न युक्तम्। वक्ष्यति हि। रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्व्यपोहतीति। एवं चैतन्मूलकं वातश्लेष्मघ्नमेव युक्तं न तु पित्तहृच्चेति तेषामभिप्रायः। एतच्च मूलकं गुल्मादीन्नियच्छति। पीनसांश्चेति चशब्दः समुच्चये। अन्यानप्येवं प्रायशो रोगान्नियच्छतीति। सुश्रुतस्तु। सर्वदोषहरा लघ्वी कंठ्या मूलकपोतिकेति यद्भेदांतरं ब्रूते तदप्यत्रैव बालमूलकलक्षणेऽतर्भूतमिति तंत्रकृतेहं पृथङ् नोक्तम् ॥१०२॥

जो मूली-बाल—(कच्ची, अपक्व, नरम) तथा अव्यक्तरस, थोड़ी क्षारयुक्त, थोड़ी तिक्त होती है, वह दोषनाशक, लघु और ईषदुष्ण होती है। यह मूली गुल्म, कास, क्षय, श्वास, व्रण, नेत्ररोग, गलरोग, स्वररोग, अग्निमान्द्य, उदावर्त्त और पीनस रोग को नष्ट करती है ॥ १०२ ॥

—महत्पुनः ॥१०३॥
रसे पाके च कटुकमुष्णवीर्यं त्रिदोषकृत्।
गुर्वभिष्यन्दि च स्निग्धसिद्धं तदपि वातजित् ॥१०४॥

स०—अव्यक्तरसादिलक्षणावस्थां विहाय यावद्व्यक्तरसाद्यवस्थं तत्संपद्यते ततोऽनंतरं क्रमेण रसविपाकयोः कटुकमुष्णवीर्यं तन्मूलकं महद्वृद्धं त्रिदोषकृद्गुर्वभिष्यंदि च भवति। वृद्धस्य च मूलकस्यानेका अवस्थाः संभवंति। तत्र चास्याद्याऽवस्थायां किंचित्त्रिदोषकृत्त्वमंत्याऽवस्थायामतिशयेन त्रिदोषकृत्त्वं वेद्यम्। संग्रहे त्वस्य स्वादुविपाकित्वमुक्तम्। तत्पाठे। महत्पुनः रूक्षोष्णं कटुकं स्वादु विपाके सर्वदोषकृदिति। तच्चामविषयम्। अपिशब्द एवार्थे। तदेव महन्मूलकं स्निग्धंस्विन्नं वातजित्। स्निग्धं च तत्स्विन्नं च स्निग्धस्विन्नम्। न त्वस्निग्धस्विन्नमात्रमित्यर्थः॥ १०३-१०४॥

वि०—बड़ी (पकी) मूली—रस और विपाक में कटु, उष्णवीर्य, त्रिदोषकारक, गुरु और अभिष्यन्दी है। यदि स्नेह में सिद्ध की जाये तो यह भी वातनाशक होती है॥ १०३-१०४॥

वातश्लेष्महरं शुष्कं सर्वमामं तु दोषलम्।

स०—सर्वं बालं वृद्धं च मूलकं शुष्कं सद्वातश्लेष्महरम्। आमं तु पुनर्मूलकं हरीतकत्वेन यद्भक्ष्यते तद्दोषलम्। सर्वमित्यत्रायत्नकृतेन संबंधेन संबध्यते। तेनादोषलस्य बालस्याऽप्यामस्य दोषलत्वं न तु वृद्धस्यैवेत्यर्थः। मूलकं नीलकंठापरसंज्ञम्।

वि०—सब प्रकार की सूखी मूली—वात-कफनाशक है; और कच्ची मूली दोषकारक है।

कटूष्णो वातकफहा पिण्डालुः पित्तवर्धनः॥ १०५॥

स०—पिंडालुः कटुको रसे वीर्ये चोष्णो वातकफघ्नः पित्तकरश्च॥ १०५॥

वाराहीकन्द के गुण—

वि०—पिण्डालु—कटु, उष्ण, वात-कफनाशक और पित्तवर्धक है॥ १०५॥

वक्तव्य—'वाराहीकन्दः पिण्डालुस्तथा शबरकन्दकः। प्रोक्तो मूलकमूलाभो वातालुस्त्वक्छदस्तथा॥' इसमें हेमाद्रि ने वाराहीकन्द अर्थ किया है; क्योंकि पिण्डालु (मीठे जिमीकन्द) के गुण इससे भिन्न होते हैं। यथा—'पिण्डालुकं कफकरं गुरु विष्टम्भि शीतलम्।' (सु. सू. अ० ४६)

कुठेरशिग्रुसुरससुमुखासुरिभूस्तृणम्॥
फणिज्जार्जकजम्बीरप्रभृति ग्राहि शालनम्॥ १०६॥
विदाहि कटु रूक्षोष्णं हृद्यं दीपनरोचनम्।
दृक्शुक्रकृमिहृत्तीक्ष्णं दोषोत्क्लेशकरं लघु॥ १०७॥

स०—कुठेरादि शालनं ग्राहि विदाहि कटुकं रसपाकयो रूक्षमुष्णवीर्यं हृद्यमग्निदीपनं च। तथा दृगादिहृत्तीक्ष्णम्। तथा दोषान्वातादीनुत्क्लेशयति कोपयति स्थानाच्चालयति दोषोत्क्लेशकरं लघु च। शालनमवदंशो येन सहान्नं भोक्तुं युज्यते। कुठेरो वैकुंठः। शिग्रुः फलपत्रकः। सुरसः कृष्णतुलसी। सुमुखः कटुपत्रकः। आसरी राजिक। भूस्तृणं गुह्यबीजकम्। फणिज्जको मारिचकस्तीक्ष्णगंधः प्रकीर्तितः। आर्जकः खरपत्रकः। जंबीरः करपत्रकः। प्रभृतिशब्देन संग्रहोक्ता गृह्यंते। धान्यतुंबरुसालेययवानीशृंगबेरकाः। पर्णाशो गृंजनोऽजाजी कंडीरं जलपिप्पली। फणिज्जाजंबीरं खराश्वा कालमालिका। दीप्यकः क्षवकृद्दीपिवस्तगंधादिबद्धविडिति। तंत्रांतरे चोक्तम्। कटुतिक्तरसा शीता कफपित्तविनाशिनी। विपाके मधुरा लध्वी तस्करांगुलिका स्मृतेति॥ १०६-१०७॥

कुठेरक, शोभांजन आदि के गुण—

वि०—कुठेरक और शिग्रु (दोनों सहजन भेद), सुरस (तुलसी), सुमुख, आसुरी (राई), भूस्तृण, फणिज्जक, अर्जक, जम्बीर आदि शालन[1] (हरित शाक-जो हरे काम में आते हैं), ग्राही, विदाहकारक, कटु, रूक्ष, उष्ण, दीपक, रुचिकारक; आँख, शुक्र और कृमिनाशक; तीक्ष्ण, दोषों को क्लेशित करने वाले और लघु हैं॥ १०६-१०७॥

हिध्माकासविषश्वासपार्श्वरुक्पूतिगन्धहा।
सुरसः सुमुखो नातिविदाही गरशोफहा॥ १०८॥

स०—सुरसो हिध्मादिघ्नः। पूतिगंधं दौर्गंध्यं सौरभ्योत्पादनाद्धंति। सुमुखः कटुपत्राख्यः किंचिद्विदाही गरशोफौ च हंति॥ १०८॥

तुलसी के गुण—

वि०—सुरस (तुलसी)—हिक्का, कास, विष, श्वास, पार्श्वशूल और दुर्गन्ध को नष्ट करती है। सुमुख—थोड़ा विदाह करनेवाली; कृत्रिम विष और शोफ को नष्ट करती है॥१०८॥

आर्द्रिका तिक्तमधुरा मूत्रला न च पित्तकृत्।

स०—आर्द्रिकाऽऽर्द्रधानिका तिक्तमधुरा मूत्रकरी पित्तं च न करोति।

हरी धनियाँ के गुण—

वि०—आर्द्रिका (हरी धनियाँ)—तिक्त, मधुर, मूत्रल है किन्तु पित्त को नहीं करती।

लशुनो भृशतीक्ष्णोष्णः कटुपाकरसः सरः॥ १०९॥
हृद्यः केश्यो गुरुर्वृष्यः स्निग्धो रोचनदीपनः।
भग्नसन्धानकृद् बल्यो रक्तपित्तप्रदूषणः॥ ११०॥
किलासकुष्ठगुल्मार्शोमेहक्रिमिकफानिलान्।
सहिध्मापीनसश्वासकासान् हन्ति रसायनम्॥ १११॥

स०—लशुनोऽतितीक्ष्णोऽत्युष्णवीर्यः। कटुपाकरसः सरः भेदी हृद्यादिगुणयुक्तश्च किलासादीन् हंति रक्तपित्तं च करोति। किलासं श्वित्रम्। कंदस्यैवायं गुणवीर्यनिर्देशो बोध्यः। पत्रमध्ययोर्मधुरत्वाद्भृशोष्णत्वानुपपत्तिः। तथा चोक्तं संग्रहे।

---

[1] शालन का अर्थ आजकल प्रचलित सलाद के रूप में किया जा सकता है। शालन का शब्द प्रयाग, विन्ध्यप्रदेश आदि में कढ़ी के लिए भी प्रयुक्त होता है किन्तु इस कढ़ी में राई या पत्र आदि डालते हैं और यह सामान्य कढ़ी से भिन्न होती है।

पत्रे सक्षारमधुरो मध्ये मधुरपिच्छिलः । तीक्ष्णोष्णो लशुनः कंद इति ॥ १०९-१११ ॥

लशुन के गुण—

लहसुन—अतिशय तीक्ष्ण एवं उष्ण, विपाक एवं रस में कटु, सर (रेचक), मन के लिये प्रिय, केश्य, गुरु, वृष्य, स्निग्ध, रुचिकारक, अग्निदीपक, टूटे हुए को जोड़नेवाला, बल्य, रक्त-पित्त को दूषित करनेवाला, किलास, कुष्ठ, गुल्म, अर्श, प्रमेह, कृमि, कफ और वायु तथा हिक्का, पीनस, श्वास और कास को नष्ट करता है तथा रसायन है ॥ १०९-१११ ॥

वक्तव्य—ये कन्द के ही गुण हैं।

पलाण्डुस्तद्गुणन्यूनः श्लेष्मलो नातिपित्तलः ।

स०-पलांडुर्धवलात्तकाख्यस्तद्गुणन्यूनस्तस्य रसोनस्य गुणास्तद्गुणास्तैर्हीनः । लशुनात्किंचिद्धीनगुण इत्यर्थं । तथा श्लेष्मलो नातिपित्तं च करोति । नतु लशुनवत्कफघ्नोऽतिपित्तकृच्च ।

प्याज के गुण—

वि०—प्याज—में लहसुन के ही किन्तु कम गुण हैं; यह कफकारक है और थोड़ा पित्त करता है।

कफवातार्शसां पथ्यः स्वेदेऽभ्यवहृतौ तथा ॥ ११२ ॥
तीक्ष्णो गृञ्जनको ग्राही पित्तिनां हितकृन्न सः ।

स०—कफवातार्शसां स्वेदे भक्षणे च प्रभावात्पथ्यः । तंत्रांतरेऽन्योऽप्युक्तो यथा । स्निग्धो रुचिष्यः स्थिरधातुकारी बल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च । स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः सपिच्छिलः क्षीरपलांडुरुक्त इति । गृञ्जनकस्तीक्ष्णो ग्राही पित्तिनामहितश्च ॥ ११२ ॥

गन्दन (लशुनभेद) के गुण—

वि०—गृञ्जनक—(गन्दन)—स्वेदन और भोजन द्वारा लेने से कफ, वायु और अर्श रोगियों के लिये उत्तम है। तीक्ष्ण एवं ग्राही है, पित्तवालों के लिये यह हितकारी नहीं है ॥११२॥

दीपनः सूरणो रुच्यः कफघ्नो विशदो लघुः ॥ ११३ ॥
विशेषादर्शसां पथ्यः—

स०—सूरणो नाम कंदविशेषो दीपनो रुच्यः श्लेष्मघ्नो विशदो लघुरर्शसामतिपथ्यश्च ॥ ११३ ॥

जमीकन्द (सूरण) के गुण—

वि०—सूरण—(जिमीकन्द)—अग्निदीपक, रुचिकारक, कफनाशक, विशद और लघु है; विशेषकर अर्शरोगियों के लिये पथ्य है ॥ ११३ ॥

—भूकन्दस्त्वतिदोषलः ।

स०—भूकंदः स्फोटाख्यः प्रावृड्भवः प्रसिद्ध एव स चात्यर्थं दोषलः ।

वि०—भूकन्द—(भूस्फोट या कुकुरमुत्ता)—बहुत दोषवाला है।

पत्रे पुष्पे फले नाले कन्दे च गुरुता क्रमात् ॥ ११४ ॥

स०—पत्रादीनां यथोत्तरं क्रमाद् गुरुत्वम् । तेन पत्रशाकमपेक्ष्य पुष्पशाकं गुरु ततः फलशाकं ततो नालशाकं ततोऽपि कंदशाकमिति । एवं हारीतकेष्वपि गुरुत्वं वेद्यम् । बाहुल्येन चैतदुक्तम् । मूलके हि वैपरीत्यं दृश्यते । तथा हि । मूलकस्य हि कंदे लघुत्वम् । अत एव मुनिरप्याह । मूलके तु विपर्यय इति । शाकानां हारीतकानां च येषामिह पर्याया नोक्तास्तेषां सद्वैद्येभ्योऽवगंतव्याः ॥ ११४ ॥

पत्रादि के गुण—

सभी शाकों के पत्र, पुष्प, फल, नाल और कन्द में क्रमशः गुरुता-भारीपन होता है ॥ ११४ ॥

वक्तव्य—मूली में अपवाद है—'पुष्पं च पत्रं च फलं तथैव यथोत्तरं ते लघवः प्रदिष्टाः ॥' (सुश्रुत सू. अ. ४६)

अथ वरावरत्वं निर्धारयति—

वरा शाकेषु जीवन्ती सार्षपं त्ववरं परम् ।

स०—शाकेषु मध्ये जीवंती वरा । सर्षपाः पुनरवराः ।

इति शाकवर्गः ।

शाकों में वरावरत्व—

वि०—पत्र शाकों में जीवन्ती सबसे श्रेष्ठ है और सरसों का शाक सबसे निकृष्ट है।

अथ फलवर्गः ।

फलानामाहारकाले शाकेभ्योऽल्पोपयोगित्वाच्छाकवर्गादनन्तरं फलवर्ग उच्यते । खरनादेऽप्युक्तम् भुक्तावसाने फलं भुज्यत इति फलवर्गोऽभिधीयत इत्याह—

द्राक्षा फलोत्तमा वृष्या चक्षुष्या सृष्टमूत्रविट् ॥११५॥
स्वादुपाकरसा स्निग्धा सकषाया हिमा गुरुः ।
निहन्त्यानलपित्तास्रतिक्तास्यत्वमदात्ययान् ॥११६॥
तृष्णाकासश्रमश्वासस्वरभेदक्षतक्षयान् ।

स०—फलेषूत्तमा फलोत्तमा गोस्तनीपर्याया द्राक्षा सा वृष्यादिगुणयुक्ता । सकषाया ईषत्कषाया । अनिलादीन्क्षयांतान् हंति । उदावर्तहरत्वं चरकमुनिनाऽस्या उक्तं तच्च स्निग्धत्ववृष्यत्वसृष्टविण्मूत्रत्वेनेहोक्तप्रायम् । अभ्यासाच्च द्राक्षाणां गुणहीनत्वं देशाद्यनुरोधात्कल्प्यम् ॥ ११५-११६ ॥

दाख के गुण—

वि०—द्राक्षा सब फलों में उत्तम है। यह वृष्य, आँखों के लिये उत्तम, मल-मूत्र को प्रवृत्त करने वाली, विपाक और रस में मधुर, स्निग्ध, ईषत्कषाय रस, शीतल, गुरु, वायु, पित्त और रक्त के दोषों को नष्ट करती है, मुख की तिक्तता और मदात्यय को मिटाती है। तृष्णा, कास, श्रम, श्वास, स्वरभेद, क्षत एवं क्षय को नष्ट करती है ॥ ११५-११६ ॥

वक्तव्य—वायुनाशक, यह कोष्ठ की वायु को छोड़कर अन्यत्र की वायु को नष्ट करती है। कोष्ठ में द्राक्षा वायु करती है, इसीलिये संग्रह में कहा है—'वातहत्वेऽपि मृद्वीका खर्जूरं कोष्ठवातकृत्' ॥

उद्रिक्तपित्ताञ्जयति त्रीन्दोषान्स्वादु दाडिमम् ॥ ११७ ॥
पित्ताविरोधि नात्युष्णमम्लं वातकफापहम् ।
सर्वं हृद्यं लघु स्निग्धं ग्राहि रोचनदीपनम् ॥ ११८ ॥

स०—उद्रिक्तमतिरिक्तं पित्तं येषां तांस्तथाविधान् त्रीन् दोषान् मधुरं दाडिमं जयति। मधुरस्य पूर्वकथनं प्राधान्यख्यापनार्थम्। पित्तेत्यादि। अम्लं दाडिमं पित्ताविरोधि न पित्तं कुरुते न च पित्तं शमयति। अत एवैतद्वातकफापहमुक्तम्। सर्वं मधुरमम्लं च यद्दाडिमं तत् हृद्यादिगुणसंयुक्तम्। मुनिना तूक्तम्। रूक्षाम्लं दाडिमं यत्तु तत्पित्तानिलकोपनमिति ॥ ११७-११८ ॥

अनार के गुण—

मीठा अनार—पित्त प्रधान तीनों दोषों का शमन करता है। खट्टा अनार—न तो पित्त को करता है और न पित्त का शमन करता है, बहुत गरम नहीं है किन्तु वात-कफ नाशक है। दोनों प्रकार के अनार—हृदय के लिये उत्तम, लघु, स्निग्ध, ग्राही, रुचिकारक और अग्निदीपक हैं ॥ ११७-११८ ॥

मोचखर्जूरपनसनारिकेलपरूषकम्
आम्राततालकाश्मर्यराजादनमधूकजम् ॥ ११९ ॥
सौवीरबदराङ्कोल्लफल्गुश्लेष्मातकोद्भवम् ।
वातामाभिषुकाक्षोडमुकूलकनिकोचकम् ॥ १२० ॥
उरुमाणं प्रियालं च बृंहणं गुरु शीतलम् ।
दाहक्षतक्षयहरं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥ १२१ ॥
स्वादुपाकरसं स्निग्धं विष्टम्भि कफशुक्रकृत् ।

स०—मोचादिप्रियालांतं बृंहणत्वादियुक्तम्। मोचं कदलीफलम्। नालिकेरं राजफलाख्यम्। परूषको मृदुफलः। आम्रातः कपिचूडः। तालं तालफलम्। काश्मर्यं काश्मरीफलम्। राजादनं क्षीरशुक्तम्। सौवीरबदरं कर्णिकाबदरम्। अंकोल्ल इति बिल्वः। फल्गुः काकोदुंबरिका। श्लेष्मातकं शेलुः। अभिषुकं स्याराटम्। आक्षोडं स्नेहफलाख्यम्। मुकूलकं दंतीफलम्। निकोचनं सरलफलम्। उरुमाणं स्निग्धफलम्। प्रियालं प्रियालकफलम् ॥ ११९-१२१ ॥

केला, खजूर आदि फलों के गुण—

वि०—मोच (केला), खर्जूर, पनस (कटहल), नारियल, फालसा, आम्रात (आमड़ा), ताल, गम्भारी, राजादन (खिरनी), मधूक (महुआ), सौवीर (बड़ा बेर), बदर (बेर), अङ्कोल (अङ्कोठ) फल्गु (अञ्जीर), लसोड़ा, बादाम, अभिषुक, अखरोट, मुकूलक (पिस्ता), निकोचक (चिलगोजा), उरुमाण (खुबानी) और प्रियाल (चिरौंजी)—ये बृंहण गुरु, शीतल हैं; दाह, क्षत एवं क्षय नाशक हैं, रक्त और पित्त को निर्मल करते हैं, विपाक और रस में मधुर, स्निग्ध, विष्टम्भ करने वाले, कफ और शुक्र को बढ़ाते हैं ॥११९-१२१॥

वक्तव्य—बेर पांच प्रकार के होते हैं 'कर्कन्धु कोलं बदरं सौवीरं सिञ्चतीफलं। यथोत्तरं महत्स्वादु पञ्चधा बदरीफलम् ॥'

फलं तु पित्तलं तालं सरं काश्मर्यजं हिमम् ॥ १२२ ॥
शकृन्मूत्रविबन्धघ्नं केश्यं मेध्यं रसायनम् ।
वातामाद्युष्णवीर्यं तु कफपित्तकरं सरम् ॥ १२३ ॥
परं वातहरं स्निग्धम्—

स०—तालस्येदं तालं फलम् पित्तकारि। काश्मर्यजं फलं सरं शीतवीर्यादिगुणयुक्तम्। मधूकबदरयोरपि विशेषांतरमुक्तं संग्रहे। मधूकजमहृद्यं तु बदरं सरणात्मकमिति। वातामादीनां ग्रहणं गुणविशेषप्रदर्शनार्थम्। निर्धारिते तु विशेषे वातामादिकमुष्णवीर्यं कफपित्तकरं सरमतिशयेन वातघ्नं स्निग्धं च ॥ १२२-१२३ ॥

तालफलादि के गुण—

वि०—ताल का फल—पित्तकारक और काश्मरी का फल शीतल और विरेचक है तथा मल-मूत्र के विबन्ध का नाश करनेवाला, बालों के लिये उत्तम, मेधावर्धक और रसायन है। बदाम आदि उष्णवीर्य, कफ-पित्तकारक, मृदु रेचक, स्निग्ध एवं अतिशय वातनाशक हैं ॥ १२२-१२३ ॥

—अनुष्णं तु प्रियालजम् ।
प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः ॥१२४॥
कोलमज्जा गुणैस्तद्वत्तृट्छर्दिकासजिच्च सः ।

स०—आदिशब्देनाऽभिषुकादीनां ग्रहणम्। प्रियालजातं प्रियालजं फलमनुष्णवीर्यम्। तुर्विशेषे। विशेषस्तु शीतवीर्यत्वमेव। शेषं बृंहणादि सर्वं समानम्। प्रियालमज्जाऽस्थ्यभ्यंतरं मधुरादिगुणयुक्तम् बदरमज्जा गुणैस्तद्वत् प्रियालमज्जावत्तृडादिजिच्च। तंत्रांतरे चोक्तम्। वैभीतको मदकरः कोलानां पित्तनाशनः। तथा तालखर्जूरादीनां मस्तकमज्जानः स्वादुपाका वृष्याः शीतवीर्याश्चेति सुश्रुतोऽपठत् ॥ १२४ ॥

वि०—प्रियाल [पियाल] का फल—ईषद् उष्ण है। प्रियाल की मज्जा—[चिरौंजी] मधुर, वृष्य, पित्त और वायु नाशक है। बेर की मज्जा—गुणों में पियाल की मज्जा के समान है, एवं प्यास, वमन और कास नाशक है ॥ १२४ ॥

पक्वं सुदुर्जरं बिल्वं दोषलं पूतिमारुतम् ॥ १२५ ॥
दीपनं कफवातघ्नं बालं ग्राह्युभयं च यत् ।

स०—बिल्वं पक्वं सुदुर्जरं पूतिमारुतं च दुर्गंध्यपानवातकृद्भवति बालमसम्पूर्णमनुपचितं बिल्वं दीपनं कफवातघ्नम्। उभयमामं पक्वं च ग्राहि मूत्रपूरीषादेः संग्रहणम् ॥ १२५ ॥

बेल के गुण—

वि०—बेल का पका हुआ फल—अतिशय दुर्जर, दोषकारक एवं दुर्गन्धित अपान वायु को उत्पन्न करता है। कच्चा बेल फल अग्निदीपक, कफ-वातनाशक है। कच्चे और पके दोनों प्रकार के फल ग्राही हैं ॥ १२५ ॥

कपित्थमामं कण्ठघ्नं दोषलं, दोषघाति तु ॥ १२६ ॥
पक्वं हिध्मावमथुजित्, सर्वं ग्राहि विषापहम् ।

स०—आमं कपित्थं कंठं हंति। दोषलं त्रिदोषकृत्। पक्वं कपित्थं दोषघ्नं हिक्काच्छर्दिहरम्। सर्वमामं पक्वं च कपित्थं ग्राहि विषापहं च। आमकपित्थस्य कषायत्वं कंठघ्नत्वेनैवोदितम्। अम्लत्वं चाम्लवर्गमध्ये पाठादवगंतव्यम्। पक्वस्य च मधुरत्वं सुप्रसिद्धमितीहैतन्नोक्तम्। तथा आमकपित्थगुणकथनेन तथाविधानि कषायाम्लस्वभावानि विविधानि कपित्थानि सदैवामकपित्थगुणानि वेद्यानि पक्वकपित्थगुणकथनेन च तथाविधानि माधुर्यानुविद्धानि सदा पक्वगुणानि वेद्यानि ॥ १२६ ॥

कपित्थफल के गुण—

वि०—कच्चा कैथ—गले को बिठाने वाला और दोषकारक है। पका कैथ—दोषनाशक, हिक्का और वमन नाशक है। कच्चा और पक्का दोनों प्रकार का कैथ ग्राही और विषनाशक है ॥ १२६ ॥

जाम्बवं गुरु विष्टम्भि शीतलं भृशवातलम् ॥ १२७ ॥
सङ्ग्राहि मूत्रशकृतोरकण्ठ्यं कफपित्तजित्।

स०—जांबवं गुर्वादिगुणयुक्तं मूत्रशकृतोश्च संग्रहणं कंठाय च हितं न। कफपित्तजिच्च। जांबवमिति फलार्थे जंब्वा वेत्यण् ॥ १२७ ॥

जामुन के गुण—

वि०—जामुन का फल—गुरु, विष्टम्भी, शीतल, अतिशय वायुकारक, मूत्र और मल का संग्राही, कण्ठ के लिए अहितकर तथा कफ और पित्त को शान्त करता है ॥ १२७ ॥

वातपित्तास्रकृद् बालं, बद्धास्थि कफपित्तकृत् ॥१२८॥
गुर्वाम्रं वातजित्पक्कं स्वाद्वम्लं कफशुक्रकृत्।

स०—वातेत्यादि। आम्रमिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः आम्रं चूताख्यं बालं सद्वातपित्तास्रकृत्। बद्धास्थि संजातास्थि कफपित्तकृत्। पक्वमाम्रं गुरु वातजित्। मधुराम्लं कफशुक्रकृत्। संग्रहे सहकारस्य गुणा उक्ताः। यथा। सहकाररसो हृद्यः सुरभिः स्निग्धरोचन इति ॥ १२८ ॥

आम के गुण—

वि०—कच्चा आम (बिना गुठली का टिकोरा)—वायु-पित्त और रक्त को दूषित करता है। गुठली पड़ा कच्चा आम—कफ, पित्तकारक, पका हुआ आम—गुरु, वायुनाशक, मधुर, अम्ल होता है और कफ एवं शुक्र को बढ़ाता है ॥ १२८ ॥

वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्महरं लघु ॥ १२९ ॥

स०—वृक्षाम्लं ग्राह्यादिगुणैर्युक्तम्। वातश्लेष्महृल्लघु च। कोशाम्रं च किंचिदेतस्मान्न्यूनगुणं ज्ञेयम्। तथा च संग्रहे। वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं लघु रोचनदीपनम्। वातश्लेष्महरं किंचिदूनं कोशाम्रजं तत इति ॥ १२९ ॥

वृक्षाम्ल के गुण—

वि०—वृक्षाम्ल—ग्राही, रूक्ष, उष्ण, वात कफ नाशक और लघु है ॥ १२९ ॥

शम्या गुरूष्णं केशघ्नं रूक्षम्—

स०—फलापेक्षया षष्ठी। शम्याः फलं गुरु उष्णवीर्यं केशघ्नं रूक्षं च।

शमी फल के गुण—

वि०—शमी का फल—गुरु, उष्ण, केशनाशक और रूक्ष है।

—पीलु तु पित्तलम्।
कफवातहरं भेदि प्लीहार्शःक्रिमिगुल्मनुत् ॥१३०॥
सतिक्तं स्वादु यत्पीलु नात्युष्णं तत्त्रिदोषजित्।

स०—पीलुफलं च पित्तलं यावद्गुल्मनुत्। सतिक्तमीषत्तिक्तं मधुरं च यत्पीलु तन्नात्युष्णं त्रिदोषजिच्च ॥ १३०॥

पीलु फल के गुण—

वि०—पीलु—पित्तकारक, कफ और वात नाशक; मलभेदक; प्लीहा, अर्श, कृमि और गुल्मनाशक है। थोड़ा तिक्त और मीठा पीलु—बहुत गरम नहीं (थोड़ा गरम) और त्रिदोषनाशक है ॥ १३० ॥

मातुलुंगस्य त्वङ्मांसकेसराणां पृथगुपयोगदर्शनात्पृथगेव गुणानाह—

त्वक्तिक्तकटुका स्निग्धा मातुलुङ्गस्य वातजित् ॥ १३१ ॥
बृंहणं मधुरं मांसं वातपित्तहरं गुरु।
लघु तत्केसरं कासश्वासहिध्मामदात्ययान् ॥ १३२ ॥
आस्यशोषानिलश्लेष्मविबन्धच्छर्द्यरोचकान्।
गुल्मोदरार्शःशूलानि मन्दाग्नित्वं च नाशयेत् ॥ १३३ ॥

स०—बीजपूरकस्य त्वक्तिक्ता कटुका रसे स्निग्धा वातघ्नी च। चरकेऽप्युक्तम्। गुर्वी त्वगस्य कटुका मारुतस्य च नाशनीति। खरनादस्त्वाह। त्वङ्मातुलुंगात्कटुका गुर्वी वातप्रकोपनीति। एतन्मतानुसारिणस्त्वत्रैवं पाठं पठंति। त्वक्तिक्तकटुकाऽस्निग्धा मातुलुंगस्य वातकृदित्यकारप्रश्लेषात्। मांसं केसरादर्वाग्बृंहणं मधुरं वातपित्तहृद् गुरु च। तस्य मातुलुंगस्य केसरं तत्केसरं लघु। तथा कासादीन्मंदाग्नित्वांतान्नाशयेत् ॥ १३१-१३३ ॥

बिजौरे के गुण—

वि०—बिजौरे का छिलका—तिक्त, कटु, स्निग्ध और वातनाशक है। बिजौरे का गुद्दा—पुष्टिकारक, मधुर, वातपित्तनाशक और गुरु है। बिजौरे का केशर (दानें)—लघु, कास, श्वास, हिक्का, मदात्यय, मुखशोष, वायु, कफ, विबन्ध, वमन, अरुचि, गुल्म, उदर, अर्श, शूल और मन्दाग्नि का नाशक है ॥ १३१-१३३ ॥

भल्लातकस्य त्वङ्मांसं बृंहणं स्वादु शीतलम्।
तदस्थ्यग्निसमं मेध्यं कफवातहरं परम् ॥१३४॥

स०—त्वक् च मांसं च त्वङ्मांसं भल्लातकसम्बन्धि बृंहणं मधुरं शीतलं च। तस्य भल्लातकस्यास्थि तदस्थि

अग्निसमं तीक्ष्णत्वादग्निवत्स्फोटककर्तृत्वात्। अथवाऽग्निश्चित्रस्तस्य गुणदोषकर्तृतया तुल्यं भल्लातकास्थीति। तथा मेधायै हितमिति। कफवातघ्नम् ॥ १३४ ॥

भिलावे के गुण—

वि०—भिलावे की छाल और गुद्दा—पुष्टिकारक, मधुर और शीतल है। इसकी गुठली—(बीज-काला)-अग्नि के समान (दाह और पाक करनेवाला), मेध्य, अतिशय कफनाशक है ॥ १३४ ॥

स्वाद्वम्लं शीतमुष्णं च द्विधा पालेवतं गुरु।
रुच्यमत्यग्निशमनम्—

स०—पालेवतं रैवतकाख्यं द्विधा। कथं द्विःप्रकारमित्याह। स्वाद्वम्लं च तत्त यथासंख्येन शीतमुष्णं च। तथा द्वयमपि गुरु रुच्यमत्यग्निशमनं च। अथवा यथासम्भवं सम्बन्धो मधुरं गुर्वत्यग्निनाशनं च।

पालेवतादि के गुण—

वि०—पालेवत—यह दो प्रकार का होता है—१. मधुर, २. अम्ल। जो मधुर है वह शीत है और जो अम्ल है वह उष्ण है। और दोनों प्रकार का पारेवत गुरु, रुचिकर तथा अत्यग्निशामक है।

अपक्वस्यैवैते गुणा वेद्याः। यस्मादाह—

—रुच्यं मधुरमारुकम् ॥१३५॥
पक्वमाशु जरां याति नात्युष्णं गुरुदोषलम्।

स०—अम्लं रुच्यमिति। मधुरमारुकं रुच्यं हृद्यं भवति। पक्वं च द्रागेव परिणामं याति। किंचिदुष्णवीर्यं किंचिद् गुरु किंचिद्दोषलमपथ्यम्। निघंटावुक्तम्। आरुष्कं बीरसेनं च वीरावीरारुकं तथा। विद्याज्जातिविशेषेण यच्चतुर्विधमारुकम् ॥ १३५ ॥

आलू बुखारा—

वि०—आरुक—(आलू बुखारा)—मीठा, रुचिकारक है। अच्छी प्रकार पका आरुक-जल्दी पच जाता है, थोड़ा गरम एवं थोड़ा गुरु और दोषकारक है ॥ १३५ ॥

द्राक्षापरूषकं चार्द्रमम्लं पित्तकफप्रदम् ॥ १३६ ॥
गुरूष्णवीर्यं वातघ्नं सरं सकरमर्दकम्।

स०—द्राक्षा परूषकं करमर्दकं चार्द्रमशुष्कमपक्वमम्लं सपित्तश्लेष्मकरं गुरूष्णवीर्यं वातघ्नं सरं चेति। करमर्दकं सुषेणमम्लम् ॥ १३६ ॥

हरे दाख, फालसे और करमर्द के गुण—

वि०—द्राक्षा (अंगूर, फालसे तथा करमर्द (करौंदा)—हरे खट्टे होने पर-पित्त-कफवर्धक, गुरु, उष्णवीर्य, वातनाशक और मृदुरेचक होते हैं ॥ १३६ ॥

तथाऽम्लं कोलकर्कन्धुलकुचाम्रातकारुकम् ॥१३७॥
ऐरावतं दन्तशठं सतूदं मृगलिण्डिकम्।
नातिपित्तकरं पक्वं शुष्कं च करमर्दकम् ॥१३८॥

स०—कोलादिकं मृगलिंडिकांतं तथा तद्वच्चेत्यम्लद्राक्षादिवद् गुणैर्ज्ञेयमित्यर्थः। कर्कंधूर्ह्रस्वबदरी। लकुचं लिकुचम्। आरुकस्याम्लकस्यैवैते गुणा ज्ञेयाः। मधुरस्य हि विशेषेण पूर्वमुक्ता एव गुणाः। तथैरावतादि नात्युष्णं पित्तं करोति। ऐरावतं नागरंगम्। दंतशठं जंबीरम्। तथा सतूदं मृगलिंडिकं च। तथा करमर्दकं पक्वं शुष्कं च नात्यर्थंपित्तकरम् ॥ १३७-१३८ ॥

कोलादि के गुण—

वि०—बेर, झाड़ी के बेर, बड़हल, आम्रातक (आमड़ा), आरुक, ऐरावत (नारङ्गी), जम्बीरी निम्बू, तूद, मृगलिण्डिक ये खट्टे होने पर बहुत अधिक पित्त को नहीं करते, थोड़ा पित्त करते हैं। पका और सूखा करौंदा भी बहुत पित्त नहीं करता ॥ १३७-१३८ ॥

दीपनं भेदनं शुष्कमम्लीकाकोलयोः फलम्।
तृष्णाश्रमक्लमच्छेदि लघ्विष्टं कफवातयोः ॥१३९॥

स०—अम्लीकाफलं कोलफलं च शुष्कं सद्दीपनं भेदनं तृष्णादिनाशनं लघु कफवातयोश्च पथ्यम् ॥ १३९ ॥

इमली और बेर के गुण—

वि०—इमली और बेर (बड़ी और छोटी दोनों) का शुष्क फल—अग्निदीपक, मलभेदक, तृष्णा, श्रम और क्लमनाशक, लघु, कफ और वायु में उत्तम है ॥ १३९ ॥

फलानामवरं तत्र लकुचं सर्वदोषकृत्।

स०—फलानां सर्वेषां मध्ये लकुचमप्रधानं त्रिदोषकरम्। चरकमुनिस्त्वस्य पित्तश्लेष्मकृत्त्वमेवानुजज्ञे। तत्पाठे। लकुचं श्लेष्मपित्तकृत्। वातलं कफपित्तघ्नं विद्यात्कर्पटकीफलम्। मधुराण्यतिपाकानि वातपित्तहराणि च। अश्वत्थोदुंबरप्लक्षन्यग्रोधानां फलानि तु। प्राचीनामलके चैव दोषघ्नं सरुहानि च। इङ्गुदं तिक्तमधुरं स्निग्धोष्णं कफवातजित्। सुश्रुतेनोक्तम्। सुगन्धि मधुरं स्निग्धं लवलीफलमुच्यते। वृक्षाम्लाल्पान्तरगुणं कोशाम्रफलमुच्यत इति।

लकुच (बड़हल) की हीनता—

वि०—सब फलों में बड़हल का फल हीन है, यह तीनों दोषों को करता है।

संप्रति यादृशं फलं शाकं च संपाद्यं तदुपदिशन्नाह—

हिमानलोष्णदुर्वातव्याललालाऽऽदिदूषितम् ॥१४०॥
जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्तवम्।
अन्यधान्ययुतं हीनवीर्यं जीर्णतयाऽति च ॥१४१॥
धान्यं त्यजेत्तथा शाकं रूक्षसिद्धमकोमलम्।
असञ्जातरसं तद्वच्छुष्कं चान्यत्र मूलकात् ॥१४२॥
प्रायेण फलमप्येवं तथाऽऽमं बिल्ववर्जितम्।

स०—दूषितशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। धान्यं केदारस्थं हिमेन दूषितं त्यजेत्। तथाऽनिलेन प्रवृद्धेन दूषितं तथा उष्णेनातपादिना दुर्वातेन पुरोवातादिना तथा व्यालानां

सर्पादीनां लालया दूषितं त्यजेत्। आदिग्रहणेन शवकोथमूत्रपुरीषादीनां ग्रहणम्। तथा जंतुभिः कृम्यादिभिर्जुष्टं सेवितम्। जले मग्नमाशिखं बुडितम्। अभूमौ विपरीतभुवि जातमभूमिजम्। या यस्योचिता भूमिस्ततोऽन्या विपरीता। अनार्तवमप्राप्तसमयम्। यस्मिन्नृतौ यस्योत्पत्तिः प्रसिद्धा ततोऽन्यस्मिन् जातमित्यर्थः। तल्लक्षणं रसादीनामपरिपूर्णत्वेन विज्ञेयम्। अन्येन च विजातीयेन धान्येन संयुतम्। यथा रक्तशालिर्यवकेन सह विरुध्यते। तथा मुद्गो माषेण। एवं शूकधान्यं विजातीयेन शूकधान्येन। तथा शिंबीधान्यं शिंबीधान्येन विजातीयेन सह विरुद्धं त्यजेत्। केचिच्छूकधान्येन सह विरुद्धमिति वर्णयंति। अन्ये तु जीर्णं नवेन मिश्रितमन्यधान्ययुतमिति ब्रुवते। केदारगतं जीर्णतयाऽतिपुराणत्वेन हीनवीर्यं नष्टशक्ति। एवंविधं धान्यं त्यजेत्। तथा शाकमपि त्यजेत्। कीदृशम्। रूक्षसिद्धं निःस्नेहसिद्धमित्यर्थः। अथवा रूक्षेण कांजिकादिना सिद्धं रूक्षसिद्धम् अकोमलं जठरेऽसंजातरसमपरिपूर्णरसस्वरूपमित्यर्थः। तद्वच्छुष्कं तथैव शुष्कशाकमप्यसंजातरसं त्यजेत्। अन्यत्र मूलकात् शुष्कमूलकं भजेदेव। प्रायेण फलमप्येवंविधं त्यजेत्। प्रायोग्रहणं द्राक्षापरूषकादीनां शुष्काणामपि पथ्यत्वादत्याज्यत्वज्ञापनार्थम्। तथा आममसंप्राप्तपाकं फलं त्यजेदिति वर्तते। किं सर्वं नेत्याह। बिल्ववर्जितम्। बिल्वं त्वाममपि पथ्यत्वान्न त्यजेदेवेत्यर्थः। इति फलवर्गः॥ १४०-१४२॥

त्यागने योग्य धान्य, शाक, फलादि—

वि०—हिम (तुहिन); अनल (अग्नि), उष्ण (गरमी), दुर्वात (पुरोवात-आदि), व्याल (सर्प आदि) के लाला आदि (सड़न, मूत्र, पुरीष आदि) से दूषित, कीड़ों से खाया या युक्त, पानी में डूबा, अयोग्य भूमि में उत्पन्न, अपनी ऋतु से भिन्न ऋतु में उत्पन्न हुआ, किसी अन्य धान्य से मिला; हीनवीर्य, और जो बहुत पुराना हो; ऐसा धान्य नहीं खाना चाहिये। इसी प्रकार का शाक, तथा जो शाक रूक्ष सिद्ध हो (स्नेह के विना सिद्ध किया हो), जो शाक कड़ा (रूढ़) हो गया हो; जिनमें रस उत्पन्न नहीं हुआ हो; तथा जो शाक सूख गया हो; वह सब शाक; मूली को छोड़कर त्याज्य है। प्रायः ऐसा फल भी अपथ्य होता है; तथा बेल को छोड़कर सभी कच्चे फल त्याज्य हैं॥ १४०-१४२॥

अथौषधवर्गः।

फलवर्गादनंतरं विविधौषधवर्गारंभः। प्रायेणास्याऽहारोपयोगित्वात्तत्राऽपि लवणानां पूर्वमुपन्यासो युक्तः सुतरामुपयोगित्वादित्याह—

विष्यन्दि लवणं सर्वं सूक्ष्मं सृष्टमलं मृदु॥१४३॥
वातघ्नं पाकि तीक्ष्णोष्णं रोचनं कफपित्तकृत्।

स०—सर्वं लवणं विष्यंद्यादिगुणयुक्तं विदुर्जानंति सद्वैद्या इति शेषः। विष्यंदयति तच्छीलं विष्यंदि। स्त्यानस्य कफादिसंघातस्य विलीनविग्रहतामुत्पादयतीत्यर्थः। सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोगामि। सृष्टं मलं मूत्रपुरीषादि येन तत्सृष्टमलम्। तथा वातापहम्। पाकि अन्नव्रणादीनां पाककारि। तीक्ष्णममृदु मरीचादिवत्। उष्णमुष्णवीर्यम्। रोचनं रुचिकृत्। तथा कफपित्तकृत्॥ १४३॥

नमक—

वि०—सब लवण—विष्यन्दि (द्रवीभूत करने वाले), सूक्ष्म स्रोतों में पहुँचने वाले, मल को प्रवृत्त करने वाले, मृदु, वातनाशक, अन्न तथा व्रण आदि को पकाने वाले, तीक्ष्ण-उष्ण, रुचि करने वाले होते हैं एवं कफ और पित्त को करते हैं॥ १४३॥

इति सामान्यलक्षणमुक्त्वा विशेषमाह—

सैन्धवं तत्र सुस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत्॥१४४॥
लघ्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम्।

स०—तत्र तेषु लवणेषु मध्ये सैंधवं सस्वादु ईषन्मधुरं वृष्यं हृद्यं त्रिदोषघ्नं तथा किंचिदुष्णं दृष्टेः पथ्यं किंचिद्विदाह्यग्निदीपनं च। सामान्यगुणांश्च विष्यंदिसूक्ष्मसृष्टमलत्वरोचनान्यस्य सत्येव॥ १४४॥

सेंधा नमक—

वि०—सैन्धव नमक—थोड़ा मधुर, वृष्य, हृद्य, त्रिदोषनाशक, लघु, थोड़ा उष्ण, आँखों के लिये हितकारी, अविदाही और अग्निदीपक है॥ १४४॥

लघु सौवर्चलं हृद्यं सुगन्ध्युद्गारशोधनम्॥१४५॥
कटुपाकं विबन्धघ्नं दीपनीयं रुचिप्रदम्।

स०—सौवर्चलं लघु हृदयाय हितं सुगंध्युद्गारं शोधयति दुष्टं सच्छुद्धं करोति। कटुपाकं च। तथा विबद्धस्रोतसां हितं विबंधघ्नम्। अग्निदीप्तिरुचिकृत्॥ १४५॥

सोंचर नमक—

वि०—सौवर्चल नमक—लघु, हृदय के लिये हितकारी, सुगन्धि, दूषित उद्गार को शोधन करने वाला, विपाक में कटु, विबन्धनाशक, अग्निदीपक और रुचि देने वाला है॥ १४५॥

ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनं दीपनं बिडम्॥१४६॥
विबन्धानाहविष्टम्भशूलगौरवनाशनम्।

स०—बिडं तदूर्ध्वमधश्च कफवातादीननुलोमयति। तथा दीपनं बिबंधादिघ्नं च॥ १४६॥

बिड नमक—

वि०—बिडनमक—ऊपर और नीचे की वायु (डकार और अपान वायु) और कफ का अनुलोमन करने वाला, तथा अग्निदीपक है। विबन्ध, आनाह, विष्टम्भ, शूल और भारीपन को नष्ट करता है॥ १४६॥

विपाके स्वादु सामुद्रं गुरु श्लेष्मविवर्धनम्॥१४७॥

स०—सामुद्रं विपाके मधुरं गुरु कफवर्धनं च॥ १४७॥

सामुद्र नमक--

वि०—सामुद्र नमक--विपाक में मधुर, गुरु और कफ को बढ़ाता है।

सतिक्तकटुकक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम्।

स०—भूमिमुद्भिद्य यद्भवति तदौद्भिदमीषत्तिक्तं कटुक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि च दोषोत्क्लिष्टकरम्।

उद्भिद् नमक—

वि०—उद्भिद् नमक—ईषत् तिक्त; कटु-क्षार युक्तः तीक्ष्ण, उत्क्लेदन करने वाला है।

कृष्णे सौवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जिताः ॥१४८॥

स०—कृष्णे लवणे सौवर्चलगुणा लघुत्वादयो गन्धेन वर्जिताः सौगंध्यरहितास्ते संति इति शेषः ॥ १४८ ॥

काला नमक—

वि०—काले नमक—में गन्ध को छोड़कर सौवर्चल नमक के सब गुण रहते हैं ॥ १४८ ॥

रोमकं लघु, पांशूत्थं सक्षारं श्लेष्मलं गुरु।

स०—रोमकं लवणं लघु पांशूत्थं शिरालवणमीषत् क्षारं श्लेष्मलं गुरु च।

रोमक और पांशुज नमक—

वि०—रोमक नमक—लघु, पांशु (धूल) से उत्पन्न नमक ईषत्क्षारयुक्त, कफकारक और गुरु है।

लवणानां प्रयोगे तु सैन्धवादि प्रयोजयेत् ॥१४९॥

स०—लवणानां प्रयोगे सैंधवमादि कृत्वा प्रयोजयेत्। अन्यत्र प्रदेशे लवणानि द्वित्राणि त्रिचतुराण्येव यत्र युज्यंते तत्र सैंधवमादि कृत्वा प्रयोज्यानि। यथा हिंग्वादिचूर्णे द्विषट् इत्युक्तम्। तत्र सैंधवसौवर्चले प्रयोज्ये। यत्र त्रयाणां प्रयोगस्तत्र सैंधवसौवर्चलविडानि। एवमौद्भिदादीनां लवणवर्गे पठितानामन्यत्राऽपि वेद्यम्। खरनादे चोक्तम्। सैंधवं सारकं पाक्यं सौवर्चलमथौद्भिदम्। पूर्वं पूर्वं गुणोत्कृष्टमौष्ण्यं चैषां यथोत्तरमिति ॥ १४९ ॥

नमक का प्रयोग—

वि०—लवणों के प्रयोग में सैन्धव को आदि मानकर प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् जहाँ दो नमक लिखे हों वहाँ सैन्धव और सौवर्चल बरतना, जहाँ तीन का प्रयोग हो वहाँ सैन्धव, सौवर्चल और बिड इनको करते हैं ॥ १४९ ॥

वक्तव्य—लवण आठ हैं, यथा-सैन्धव, सौवर्चल, बिड, सामुद्र, औद्भिद, कृष्ण, रोमक और पांशुज। इनमें पाँच नमक मुख्य हैं-यथा·सौवर्चलं सैन्धवं च विडमौद्भिदमेव च। सामुद्रेण सहैतानि पञ्च स्युर्लवणानि च ॥'

गुल्महृद्ग्रहणीपांण्डुप्लीहानाहगलामयान्।
श्वासार्शःकफकासांश्च शमयेद्यवशूकजः ॥१५०॥

स०—यवशूकजो यवक्षारो गुल्मादीन् शमयति ॥१५०॥

जवाखार के गुण—

वि०—यवक्षार—गुल्म, हृद्रोग, ग्रहणी, पाण्डु, प्लीहा, आनाह, गलरोग, श्वास, अर्श और कफ और कास को नष्ट करता है।

वक्तव्य—यवक्षार बनाने की विधि—खेत में दूधिया यव लेकर उसको पंचांग समेत सुखाकर जला देवे। फिर इस भस्म को छैः गुने जल में घोलकर मथकर रात भर पड़ा रहने देवे। दूसरे दिन इस जलको नितार लेवे। फिर इस जल को इक्कीस बार गाढ़े वस्त्र से छान लेवे। इस छने पानी को आग पर गरम करे। जब पानी शुष्क हो जाय तब नीचे बचा यवक्षार लेवे।

संप्रति स्वर्जिकाक्षारादीनामपि गुणानाह—

क्षारः सर्वश्च परमं तीक्ष्णोष्णः कृमिजिल्लघुः।
पित्तासृग्दूषणः पाकी छेद्यहृद्यो विदारणः ॥१५१॥
अपथ्यः कटुलावण्याच्छुक्रौजःकेशचक्षुषाम्।

स०—क्षारः सर्वश्च परममतिशयेन तीक्ष्णोष्णः कृमिजिल्लघुश्च। पित्तासृजी दूषयति। पाकी पाककारी। छेदी मेदःश्लेष्मादिग्रथिच्छिन्नः अहृद्यो हृदयाय न हितः। विदारणः पक्वगंडादीनाम्। कटुलावण्याच्छुक्रादीनामपथ्यः ॥ १५१ ॥

क्षार-सामान्य के गुण—

वि०—सब क्षार—अतिशय तीक्ष्ण, उष्ण, कृमिनाशक, लघु, पित्त और रक्त को दूषित करने वाला, पाक करने वाला, मेद-श्लेष्मा आदि का छेदन करने वाला, पके हुए फोड़े आदि को विदीर्ण करने (फोड़ने) वाला, हृदय के लिये अहितकर, कटु और लवण होने से शुक्र, ओज, केश और आँखों के लिये अपथ्य है।

हिङ्गु वातकफानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम् ॥ १५२ ॥
कटुपाकरसं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु।

स०—हिंगु वातादिघ्नं पित्तकोपनं कट्वादिगुणयुक्तं च ॥ १५२ ॥

हींग के गुण—

वि०—हींग—वायु, कफ, आनाह और शूल नाशक, पित्तप्रकोपक. रस और विपाक में कटु, रुचिकारक, अग्निदीपक, पाचक और लघु है ॥ १५२ ॥

कषाया मधुरा पाके रूक्षा विलवणा लघुः ॥ १५३ ॥
दीपनी पाचनी मेध्या वयसः स्थापनी परम्।
उष्णवीर्या सराऽऽयुष्या बुद्धीन्द्रियबलप्रदा ॥१५४॥
कुष्ठवैवर्ण्यवैस्वर्यपुराणविषमज्वरान्।
शिरोऽक्षिपाण्डुहृद्रोगकामलाग्रहणीगदान् ॥ १५५ ॥
सशोषशोफातीसारमेदोमोहवमिक्रिमीन्।
श्वासकासप्रसेकार्शःप्लीहानाहगरोदरम् ॥ १५६ ॥
विबन्धं स्रोतसां गुल्ममूरुस्तम्भमरोचकम्।
हरीतकी जयेद्व्याधींस्तां स्तांश्च कफवातजान् ॥१५७॥

स०—हरीतकी कषाया कषायरसा। कषायरसत्वात्कटुविपाकित्वं प्राप्तमित्याह। मधुरा पाक इति। तथा रूक्षा। विलवणेति वचनं लवणं वर्जयित्वा शेषाः पंचरसा अस्याः

संतीति वेदयति। नन्वेवं कषायेत्यनर्थकं यतः पंचसु रसेषु लवणहीनेषु मध्ये कषायोऽनुप्रविष्ट एव। अस्त्येवैतत्। कषायेत्येतदतिशयख्यापनाय। कषायो रसोऽस्यां बाहुल्येनाऽस्तीत्यर्थः। तथा च मुनिः। हरीतकी पंचरसामुष्णां विलवणा शिवामिति। तथा लघुः। दीपन्यग्नेः। पाचन्यामादेः। मेध्या मेधायै हिता। वयस इत्यादि। कालकृतां शरीरावस्था यौवनादिर्वयस्तस्य परमतिशयेन स्थापनी स्थिरीकरणी। उष्णेत्येतावतैवोष्णवीर्येत्यस्याऽर्थस्य लब्धत्वाद्वीर्यग्रहणमतिशयोष्णवीर्यत्वख्यापनार्थम्। सरा भेदनी। तथाऽऽयुषे हिता। बुद्धिः वर्तमानार्थग्राहिणी प्रज्ञा। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि तेषां बलं प्रददाति या सैवम्। कुष्ठादीन् रोगान् जयति। स्वरनादे त्वेवमभ्यधायि। स्वाद्वम्लभावात्पवनं कटुतिक्ततया कफम्। कषायमधुरत्वाच्च हंति पित्तं हरीतकी ॥ १५३-१५७ ॥

हरड़ के गुण—

वि०—हरड़—कषाय रस, विपाक में मधुर, रूक्ष, लवण को छोड़ कर शेष पाँचों रस वाली; लघु, अग्निदीपक, पाचन, मेध्य, तथा वय को स्थिर रखने में अतिशय श्रेष्ठ है; उष्णवीर्य, सर, आयुवर्धक, बुद्धि और इन्द्रियों को बल देने वाली, कुष्ठ, विवर्णता, स्वरभेद, पुरातन ज्वर, विषम ज्वर, शिरोरोग, अक्षिरोग, पाण्डु रोग, हृद्रोग, कामला, ग्रहणी रोग, शोष, शोफ, अतीसार, मेद, मोह, वमन, कृमि, श्वास, कास, मुख से लालास्राव, अर्श, प्लीहा, आनाह, कृत्रिमविष, उदर रोग, स्रोतों के विबन्ध, गुल्म, ऊरुस्तम्भ और अरोचक रोगों को तथा कफ-वातजन्य दूसरे रोगों को नष्ट करती है ॥ १५३-१५७ ॥

वक्तव्य—स्वाद्वम्लभावात्पवनं, कटुतिक्ततया कफम्। कषायमधुरत्वाच्च पित्तं हन्ति हरीतकी ॥' इससे पित्तजन्य रोगों का भी शमन करती है, कफ-वातजन्य रोगों को विशेष रूप में नष्ट करती है। जो हरड़ पानी में डालने से डूब जाये वह उत्तम है; यथा—क्षिप्ताऽम्भसि निमज्जेद्या गुणकृत्सा प्रकीर्त्तिता ॥'

तद्वदामलकं शीतमम्लं पित्तकफापहम्।

स०—तया हरीतक्या तुल्यं वर्तत इति तृतीयांताद्वतिः। हरीतकीसमानगुणमामलकमित्यर्थः। विशेषं त्वस्याह। अभयोष्णेदं शीतं शीतवीर्यं तथाऽम्लमम्लरसं पित्तकफघ्नं चेति। कृष्णात्रेयस्त्वामलकं त्रिदोषघ्नं चाख्यत्। यथा। अम्लभावाज्जयेद्वातं पित्तं माधुर्यशैत्यतः। कफं रूक्षकषायत्वादेवमेष त्रिदोषनुत्। सुश्रुतेऽपि त्रिदोषघ्नमुक्तम्। तद्ग्रन्थो हि। चक्षुष्यं सर्वदोषघ्नं वृष्यमामलकीफलम्। हंति वातं तदम्लत्वात्पित्तं माधुर्यशैत्यतः। कफं रूक्षकषायत्वात्फलेभ्योऽभ्यधिकं तु तदिति।

आँवला के गुण—

वि०—आँवला—भी हरड़ के समान है, परन्तु वीर्य में शीत, रस में विशेष अम्ल, पित्त और कफ नाशक है[1]।

वक्तव्य—'तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकीष्वपि। यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः ॥'

कटु पाके हिमं केश्यमक्षमीषच्च तद्गुणम् ॥ १५८ ॥

स०—अक्षं विभीतकं पाके कटुकं शीतवीर्यं केशेभ्यो हितम्। तथेषत्तद्गुणं ताभ्यां हरीतकीधात्रीभ्यां, समाना गुणा यस्य तत्तद्गुणं किंचिदक्षम्। ननु हरीतक्यादीनां स्थूलसूक्ष्मादिभेदेनानियतस्वरूपत्वात्कथमिवोपयोगः क्रियतामिति केचित्। तान् ब्रूमहे। अक्षं तावदत्र कर्षप्रमाणं ग्राह्यम्। तथा च धन्वंतरिराख्यत्। विभीतकः कर्षफल इत्यादि। अन्वर्था हीयं संज्ञा। कर्षः कर्षप्रमाणं फलं यस्य स कर्षफल इति। तदेवं विभीतकस्य फलं यत्कर्षप्रमाणं तद्ग्राह्यमित्यवतिष्ठते। हरीतक्या अपि प्रमाणं नियतमेव। तंत्रांतरेऽप्युक्तम्। नवा स्निग्धा घना वृत्ता गुर्वी क्षिप्ता तथांऽभसि। निमज्जेद्या प्रशस्तत्वाद् गुणकृत्सा प्रकीर्तिता। नवादिगुण, युक्तत्वं तथैकत्र द्विकर्षता। हरीतक्याः फले यत्र तेनैतच्छ्रेष्ठमुच्यत इति। तदेवं द्विकर्षप्रमाणत्वं हरीतक्याः स्थितम्। धात्रीफलस्याऽपि युक्त्वा नियतप्रमाणत्वमेव। तथा चोक्तं तंत्रांतरे। अभयैका प्रदातव्या द्वावेव तु बिभीतकौ। धात्रीफलानि चत्वारि त्रिफलेयं प्रकीर्तितेति। तदेवमामलकानामर्धकर्षप्रमाणत्वमवतिष्ठते। तस्मान्नियतप्रमाणत्वं त्रिफलायाः स्थितम् ॥ १५८ ॥

बहेड़ा के गुण—

वि०—बहेड़ा—विपाक में कटु, शीतवीर्य, बालों के लिये हित, एवं गुणों में हरड़ और आंवले के कुछ समान ही है ॥ १५८ ॥

इयं रसायनवरा त्रिफलाऽक्ष्यामयापहा।
रोपणी त्वग्गदक्लेदमेदोमेहकफास्रजित् ॥ १५९ ॥

स०—इयमीदृशी त्रिफला रसायनवरा। चक्षूरोगघ्नी रोपणी व्रणानाम्। त्वग्गदाः कुष्ठादयः। क्लेदो व्रणादीनां स्रावः। मेदश्चतुर्थो धातुः। मेहः प्रमेहः। कफः श्लेष्मा। अस्रं रक्तम्। तानि जयति या सैवम् ॥ १५९ ॥

त्रिफला के गुण—

वि०—त्रिफला—उत्तम रसायन है; आंख के रोगों को नष्ट करती है; व्रणों का रोपण करने वाली, त्वचा के रोग, क्लेद, मेद, मेह, कफ और रक्तदोष नाशक है। (हरड़-बहेड़ा और आंवले का नाम त्रिफला है।) ॥ १५९ ॥

---

[1] हरीतकी कषायरसप्रधान, उष्णवीर्य और त्रिदोषघ्न होते हुए भी विशेषतः वातकफशामक होती है किन्तु आमलकी अम्लरसप्रधान, शीतवीर्य और त्रिदोषघ्न होते हुए भी मुख्यतः पित्त और कफ को शमन करती है। यथा—'अम्लभावाज्जयेद्वातं, पित्तं माधुर्यशैत्यतः। कफं रूक्षकषायत्वादेवमेतत्त्रिदोषनुत ॥' शेष गुण दोनों में प्रायः समान होते हैं।

वक्तव्य—'अभयैका प्रदातव्या द्वावेव तु बिभीतकौ ।
धात्रीफलानि चत्वारि त्रिफलेयं प्रकीर्त्तिता ॥'[1]

सकेसरं चतुर्जातं त्वक्पत्रैलं त्रिजातकम् ।
पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रोचनदीपनम् ॥ १६० ॥

स०—दीपनरोचनमित्येतत्पर्यंतम् । त्वक् च पत्रं चैला चेति द्वंद्वैकवद्भावः । एतस्य नाम त्रिजातकं त्रिसुगंधमिति । एतत्त्रिजातकं केसरयुक्तं चतुर्जातकमित्युच्यते । तच्च पित्तप्रकोपित्वादिगुणम् । पित्तकोपि तीक्ष्णादिगुणयुक्तम्॥१६०॥

त्रिजात और चातुर्जात—

वि०—त्वक् (दालचीनी), तेजपात और इलायची इन तीनों का मिलित नाम त्रिजातक है। नागकेशर को मिलाने से चतुर्जात हो जाता है। ये दोनों पित्तप्रकोपक, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, रुचिकारक और अग्निदीपक हैं ॥ १६० ॥

वक्तव्य—त्रिजातक को त्रिसुगन्धि भी कहते हैं, यथा—'त्वक्पत्रकैलं त्रिसुगन्धमेतत् प्रकीर्त्तितं वातकफापहारि । वर्ण्यं विषघ्नं च सनागपुष्पं ज्ञेयं चतुर्जातकमेतदेव॥' चिकित्साकलिका।

रसे पाके च कटुकं कफघ्नं मरिचं लघु ।

स०—रसे पाके च कटुकं मरिचं कफघ्नं लघु च। कटुकरसत्वेन लब्धे पाकग्रहणमतिशयार्थम् ।

काली मिर्च के गुण—

वि०—मरिच—रस और पाक में कटु तथा कफनाशक और हलकी होती है।

श्लेष्मला स्वादु शीताऽऽर्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली॥१६१॥
सा शुष्का विपरीताऽतः स्निग्धा वृष्या रसे कटुः ।
स्वादुपाकाऽनिलश्लेष्मश्वासकासापहा सरा ॥१६२॥
न तामत्युपयुञ्जीत रसायनविधिं विना ।

स०—आर्द्राऽशुष्का पिप्पली श्लेष्मला स्वादुरसा। शीतवीर्या गुरुः स्निग्धा चासा शुष्का पिप्पल्यत आर्द्रायाः पिप्पल्याः सकाशाद्विपरीता शीतविपर्ययेणोष्णा। गुरुविपर्ययेण लघुः। स्निग्धविपर्ययस्त्वत्र नास्ति स्निग्धेत्युक्तत्वात्। तथा वृष्यारसे कटुश्च। कटुरसत्वाच्च कटुपाकत्वं प्राप्तमित्याह। स्वादुपाका। तथा अनिलादीन् हंति सरा च एवंविधामपि तां पिप्पलीमत्यर्थं न युंजीत रसायनविधिं विनापिप्पलीं वर्धमानादिरसायनविधान एवातिशयेनोपयुजीत ॥ १६१–१६२ ॥

पिप्पली के गुण—

वि०—आर्द्र (गीली) पिप्पली—कफकारक, मधुर, शीतल, गुरु और स्निग्ध है। सूखी पिप्पली विपरीत गुणों वाली अर्थात् उष्ण, कटु, कफनाशक, लघु किन्तु स्निग्ध और वृष्य है। कटु रस होने पर भी विपाक में मधुर है; वायु, कफ, श्वास और कास नाशक एवं रेचक है। रसायन विधि के बिना पिप्पली का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिये ॥ १६१–१६२ ॥

वक्तव्य—आर्द्र पिप्पली शीतल होने से पित्तशामक है; और शुष्क पिप्पली उष्ण और पित्त प्रकोपक है। पिप्पली का अतिसेवन चरक में भी निषिद्ध है; यथा—'पिप्पल्यो हि कटुकाः सत्यो मधुरविपाका गुर्व्यो नात्यर्थं स्निग्धोष्णाः प्रक्लेदिन्यो भिषजामभिमताश्च सत्यः शुभाशुभकारिण्यो भवन्ति। आपातभद्राः प्रयोगसमसाद्गुण्यात् दोषसञ्चयानुबद्धाः। सततमुपयुज्यमाना हि गुरुप्रक्लेदित्वात् श्लेष्माणमुत्क्लेशयन्ति; औष्ण्यात् पित्तम्। न च वातप्रशमनायोपकल्पन्ते, अल्पस्नेहोष्णभावात्। योगवाहिन्यः खलु ता भवन्ति तस्मात् पिप्पलीर्नात्युपयुञ्जीत ॥'

नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहि हृद्यं विबन्धनुत् ॥ १६३ ॥
रुच्यं लघु स्वादुपाकं स्निग्धोष्णं कफवातजित् ।

स०—नागरं शृङ्गवेरं दीपनादिगुणयुक्तम् । ग्राहि विड्विबंधकृत् तथा हृद्यम् । विबंधनुत् स्रोतःशुद्धिकृत् ॥१६३॥

सोंठ के गुण—

वि०—सोंठ—अग्निदीपक, वृष्य, ग्राही, हृदय के लिये उत्तम, विबन्धनाशक, रुचिकारक, लघु, विपाक में मधुर, स्निग्ध, उष्ण, और कफ तथा वात शामक है ॥१६३ ॥

तद्वदार्द्रकमेतच्च त्रयं त्रिकटुकं जयेत् ॥१६४॥
स्थौल्याग्निसदनश्वासकासश्लीपदपीनसान् ।

स०—आर्द्रकं शुंठीसमानगुणमेव। एतच्च त्रयं मरिचपिप्पलीशुंठ्याख्यं त्रिकटुकसंज्ञं स्थौल्यादीन् जयेत् ॥ १६४ ॥

अदरख के गुण—

वि०—आर्द्रक—भी सोंठ के समान गुण वाला है; इन तीनों अर्थात् सोंठ, मरिच और पिप्पली को त्रिकटु कहते हैं। यह स्थूलता, अग्निमान्द्य, श्वास, कास, श्लीपद और पीनस को नष्ट करता है ॥ १६४ ॥

वक्तव्य—आर्द्रक और सोंठ एक ही हैं केवल आर्द्र और शुष्क का भेद है। यथा—'आर्द्रकाज्जायते शुण्ठी, संस्कारेण लघीयसी ।,

चविका पिप्पलीमूलं मरिचाल्पान्तरं गुणैः ॥ १६५ ॥

स०—चविका पिप्पलीमूलं मरिचात् स्तोकविशेषगुणं गुणैर्भवति। कटुरसविपाकं कफघ्नं लघूष्णवीर्यं चेत्यर्थः। गुणशब्देन रसविपाकादयोऽपि तंत्रांतराद्गृह्यन्ते न तु पारिभाषिका एव गुरुलघ्वादयो व्याप्तिन्यायात् ॥ १६५ ॥

चव्य तथा पिप्पलीमूल—

वि०—चविका (चाब) और पिप्पलीमूल—गुणों में मरिच से थोड़े भिन्न हैं। यथा—रस और विपाक में कटु, कफनाशक, लघु और उष्णवीर्य हैं ॥ १६५ ॥

---

[1] १. उत्तम बहेड़ा तौल में एक कर्ष, हरीतकी दो कर्ष और आँवला आधा कर्ष होता है। अतः गिन कर लेने से एक हरड़, दो बहेड़ा और चार आँवला तथा तौल में प्रत्येक समान लेना चाहिए। 'पथ्याविभीतधात्रीणां फलैः स्यात्त्रिफला समैः ।'

चित्रकोऽग्निसमः पाके शोफार्शःकृमिकुष्ठहा ।

स०—चित्रको दहनसंज्ञकोऽग्निसमः पाकेऽत्यंतोष्ण इत्यर्थः । तथा शोफादीन् हंति ।

चित्रक (चीता) के गुण—

वि०—चित्रक—पाचन कार्य में अग्नि के समान है; शोफ, अर्श, कृमि और कुष्ठ नाशक है ।

पञ्चकोलकमेतच्च मरिचेन विना स्मृतम् ॥ १६६ ॥
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं दीपनं परम् ।

स०—एतच्च पूर्वोक्तं मरिचरहितं पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशुंठ्याख्यं पंचकोलसंज्ञं स्मृतं वैद्यके तंत्रे । तथा गुल्मादिघ्नमतिदीपनं च ॥ १६६ ॥

पञ्चकोल के गुण—

वि०—मरिच को छोड़कर पूर्वोक्त पाँचों अर्थात् पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ इनको पंचकोल कहते हैं; यह पञ्चकोल-गुल्म, प्लीहा, उदर, आनाह और शूल नाशक और अतिशय अग्निदीपक है । (मरिच मिलाने पर 'षडूषण' कहलाता है ।) ॥ १६६ ॥

बिल्वकाश्मर्यतर्कारीपाटलाटिण्टुकैर्महत् ॥ १६७ ॥
जयेत्कषायतिक्तोष्णं पञ्चमूलं कफानिलौ ।

स०—बिल्वादीनामुपलक्षणे तृतीया । बिल्वादिभिरुपलक्षितं महत्पंचमूलं कफानिलौ जयेत् । तच्च कषायतिक्तरसमुष्णवीर्यं च । बिल्वं श्रीफलम् । काश्मर्यो गंभारी । तर्कार्यरणिका । पाटला ताम्रपुष्पा । टुंटुकः स्योनाकः । महद्गुरु बृहदनल्पमिति पर्यायाः ॥ १६७ ॥

बृहत्पंचमूल के गुण—

वि०—बिल्व, गम्भारी, अरणी, पाटला और श्योनाक इन पांच से बृहतपंचमूल कहलाता है; यह महापञ्चमूल—कषाय, तिक्तरस, उष्णवीर्य, कफ और वायु नाशक है ॥ १६७ ॥

ह्रस्वं बृहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम् ॥ १६८ ॥
स्वादुपाकरसं नातिशीतोष्णं सर्वदोषजित् ।

स०—पंचमूलमिति वर्तते । ह्रस्वं कनीयो लघ्वल्पमिति पर्यायाः । बृहतीद्वयं क्षुद्रबृहती महाबृहती च । अंशुमतीद्वयं शालिपर्णी पृश्निपर्णी च । गोक्षुरको भक्षकंटकः । इदं ह्रस्वं पंचमूलं स्वादुपाकरसं नातिशीतं नात्युष्णं सर्वदोषजिच्च ॥ १६८ ॥

लघु पंचमूल के गुण—

वि०—बृहतीद्वय—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, अंशुमतीद्वय—शालपर्णी और पृश्निपर्णी; तथा गोखरू इन पांच से ह्रस्वपञ्चमूल कहलाता है, यह विपाक एवं रस में मधुर, न बहुत शीतल और न बहुत उष्ण (अनुष्णशीत); और सर्व दोषनाशक है ॥ १६८ ॥

बलापुनर्नवैरण्डशूर्पपर्णीद्वयेन तु ॥ १६९ ॥
मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं सरम् ।

स०—एतैः पंचभिर्मध्यमं पंचमूलम् । एतच्च कफवातघ्नं नातिपित्तकरं सरं च ॥ १६९ ॥

मध्यम (तृतीय) पंचमूल—

वि०—मध्यम पञ्चमूल—बला, पुनर्नवा, एरण्ड, दोनों शूर्पपर्णी (माषपर्णी और मुद्गपर्णी)-ये पांच मध्यम पञ्चमूल है । यह कफ-वातनाशक, थोड़ा पित्तकारक और रेचक है ॥ १६९ ॥

अधुना चतुर्थं पंचमूलमाह—

अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम् ॥ १७० ॥
जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ।

स०—अभीरुवीरादिभिः पंचभिर्जीवनाख्यं पंचमूलं चक्षुष्यादिगुणयुक्तम् ॥ १७० ॥

जीवन (चतुर्थ) पंचमूल—

वि०—जीवन पञ्चमूल—अभीरु (शतावरी), काकोली, जीवन्ती, जीवक और ऋषभक इन पांच को जीवन पञ्चमूल कहते हैं; यह चक्षुष्य, वृष्य और पित्त एवं वायुनाशक है ॥ १७० ॥

पंचमं पंचमूलमाह—

तृणाख्यं पित्तजिद्दर्भकाशेक्षुशरशालिभिः ॥ १७१ ॥

स०—तृणसंज्ञं पंचमूलं दर्भकाशेक्षुशरशालिभिः । तच्च पित्तजित् । संग्रहे त्वधिकमुक्तम् । यथा । सुवर्णं बृंहणं स्निग्धं मधुरं रसपाकयोः । विषदोषहरं शीतं सकषायं रसायनम् । रूप्यं स्निग्धं कषायाम्लं विपाके मधुरं सरम् । वयसः स्थापनं शीतं लेखनं वातपित्तजित् । ताम्रं सतिक्तमधुरं कषायं लेखनं लघु । कटुपाकरसं शीतं रोपणं कफपित्तजित् । कांस्यं कषायानुरसं विशदं लेखनं सरम् । दृष्टिप्रसादनं रूक्षं तिक्तं पित्तकफापहम् । सतिक्तलवणं भेदि पांडुत्वकृक्रिमिवातनुत् । लेखनं पित्तलं किंचित् त्रपुसीसं च तद्गुणम् । चक्षुष्यं कृष्णलोहं तु कषायं स्वादु तिक्तकम् । लेखनं वातलं शीतं कृमिकुष्ठकफप्रणुत् । गात्रशैथिल्यपालित्यपांडुघ्नं शोषशोफजित् । तद्वत्तीक्ष्णं विशेषेण तद्विकाशि सुदुर्जरम् । पद्मरागमहानीलपुष्परागविदूरकाः । मुक्ताविद्रुमवज्रेंद्रवैदूर्यस्फटिकादिकम् । मणिरत्नं सरं शीतं कषायं स्वादु लेखनम् । चक्षुष्यं धारयेत्पाणौ पाप्माऽलक्ष्मीविषापहम् । सक्षारं उष्णवीर्यश्च काचो दृष्टिकृदंजनात् । शंखोदधिमलौ शीतौ कषायावतिलेखनौ । तुत्थकं कटुकं क्षारं कषायं विषदं लघु । लेखनं भेदि चक्षुष्यं कण्डूकृमिविषापहम् । विशदो गैरिकः स्निग्धः कषायमधुरो हिमः । कफघ्नी तिक्तकटुका मनोह्वा लेखनी सरा । स्निग्धं कषायं कटुकं हरितालं विषप्रणुत् । कषायमधुरं शीतं लेखनं स्निग्धमंजनम् । रक्तपित्तविषच्छर्दिहिध्माघ्नं दृक्प्रसादनम् । स्रोतोंऽजनं वरं तत्र ततः सौवीरकांजनम् । कफघ्नं तिक्तकटुकं छेदि सोष्णं रसांजनम् । सर्वदोषप्रशमनं कासमोहक्षयापहम् । कफघ्नमुष्णकटुकं शिलाजतु रसायनम् । तिक्तं च छेदनं योगवाहित्वात्सर्वरोगजित् । कषाया मधुरा रूक्षा कफघ्नी वंश-

रोचना। तुगाक्षीरी क्षयश्वासकासघ्नी मधुरा हिमा। कारवी कुंचिकाऽजाजी कबरी धान्यतुंबरु। अन्नगंधहरं रुच्यं दीपनं कफवातजित्। बाष्पिका कटुतीक्ष्णोष्णा कृमिश्लेष्महरा परम्। तद्वच्च राजिका विघ्नसाधनी दीपनी परम्। शूलाटोपहरो रुच्यो दीप्यकः कोष्ठशूलजित्। अहृद्याः सर्षपाः स्निग्धा बाष्पिकावत्प्रकीर्तिताः। शताह्वाकुष्ठतगरसुरदारुहरेणवः। एलैलवालुसरलत्वग्व्याघ्रनखचोरकाः लघूष्णाः कटुकाः पाके कफवातनिबर्हणाः। सैर्यकस्तिक्तमधुरः स्निग्धोष्णः कफवातजित्। बस्तिमूत्रविबंधघ्नो वृष्यो गोक्षुरको हिमः। पाचनं कफपित्तघ्नं तिक्तं शीतं विषाह्वयम्। कफघ्नं तिक्तकटुकं मुस्तं संग्राहि पाचनम्। तिक्ताऽमृता त्रिदोषघ्नी ग्राहिण्युष्णा रसायनी। दीपनी ज्वरहृद्दाहकामलावातरक्तनुत्। तिक्तशीतौ ज्वरहरौ लघू भूनिंबपर्पटौ। निंबस्तिक्तो हिमः कुष्ठकृमिपित्तकफापहः। महानिंबः परं ग्राही कषायो रूक्षशीतलः। गुग्गुलुः पिच्छिलः स्पर्शे विशदोऽभ्यवहारतः। सस्वादुः सकटुस्तिक्तः सकषायो रसायनः। व्रण्यः स्वर्यः कटुः पाके रूक्षः सूक्ष्मोऽग्निदीपनः। क्लेदमेदोऽनिलश्लेष्मगंडमेहापचीकृमीन्। पिटिकाग्रंथिशोफांश्च हंत्युष्णः स्रंसनो लघुः। शंखपुष्पी सरा तिक्ता मेध्या कृमिविषापहा। कटुतिक्तोष्णमधुरा स्निग्धा स्वादुकफापहा। पित्तास्रविषतृड्दाहकृमिघ्नं गुरु रूक्षणम्। सर्वं सतिक्तं मधुरं चंदनं शिशिरं परम्। लघु रक्तं तथोशीरं वातलं पाचनं च तत्। ज्वरातिसारवमथुरक्तपित्तकफापहम्। मधुकं रक्तपित्तघ्नं व्रणशोधनरोपणम्। गुरु स्वादु हिमं वृष्यं चक्षुष्यं स्वरवर्णकृत्। कटुतिक्ते निशे कुष्ठमेहपित्तकफापहे। प्रलेपाज्जयतः कंडूं शोफं दुष्टव्रणं विषम्। प्रपौंडरीकं चक्षुष्यं शिशिरं व्रणरोपणम्। कषायतिक्तमधुरं रक्तपित्तप्रसादनम्। बलात्रयं स्वादु वृष्यं स्निग्धं शीतं बलप्रदम्। तत्र नागबला बल्या क्षतक्षीणहिता गुरुः। तांबूलं कटु सक्षारं रुच्यमुष्णं कफप्रणुत्। भेदि संमोहकृत्पूगं कषायं स्वादु रोचनम्। जातिपत्री कटुफलं कंकोलकलवंगकम्। लघु तृष्णापहं हृद्यं वक्त्रदौर्गंध्यनाशनम्। सस्वादुतिक्तस्तृष्णाघ्नः कर्पूरश्छेदनो हिमः। लताकस्तूरिका तद्वन्मुखशोषहरा परम्। कषायमधुरं शीतं पद्मं पित्तकफास्रजित्। तद्वद्बकुलपुन्नागकुमुदोत्पलपाटलम्। सचंपकं ततो न्यूनं गुणैः कोरंटकिंशुकम्। मालतीमल्लिकापुष्पं तिक्तं जयति मारुतम्। विषपित्तकफान्नागं सिंदुवारं च तद्गुणम्। कफघ्नं कैतकं तिक्तं शैरीषं विषहारि च। वातलं पुष्पमागस्त्यं कषायं कफपित्तजित्। बंधूकं श्लेष्मलं ग्राहि तद्वदेव च यूथिका। कफघ्नमुष्णवीर्यं च कुंकुमं व्रणशोधनम्। अवल्गुजैडगजजं बीजं वातकफप्रणुत्। आस्या वर्णश्लेष्ममेदःसौकुमार्यकृदन्यथा। अतोऽध्वाऽग्निबलायूंषि कुर्याच्चंक्रमणं सुखम्। मारुतस्यानुलोम्यं च खुडस्तंभश्रमापहम्। अन्वर्थसंज्ञं पादत्रं बलकृच्छुक्रलं तथा। वर्ण्यं नेत्रहितं छत्रं वातवर्षातपापहम्। प्रवातो रौक्ष्यवैवर्ण्यस्तंभकृद्दाहतृड्भ्रमान्। श्रमाग्निमूर्छाश्च जयेदप्रवातमतोऽन्यथा। प्राग्वायुरुष्णोऽभिष्यंदी त्वग्दोषाऽर्शोविषक्रिमीन्। सन्निपातज्वरश्वासमामवायुं च कोपयेत्। याम्योऽसृग्वातकफकृच्छीतः स्वादुः कषायकः। कषायः पश्चिमो रूक्षो लघुर्नातिविदह्यते। वातकृत्कफपित्तघ्नो मूर्च्छादाहश्रमापहः। स्निग्धः शीतो लघुः सात्म्य उत्तरः पटुः सोऽनिलः। ऐशानः कटुरूक्षोष्ण आग्नेयश्चैव मारुतः। अम्लो विदाही नैर्ऋत्यो वायव्यस्तिक्त उच्यते। आतपो भ्रमतृट्स्वेददाहमूर्छाविवर्णताः। कुर्यात्पित्तास्रवृद्धींश्च छाया त्वेतान्व्यपोहतीति ॥ १७१ ॥

तृण (पंचम) पञ्चमूल—

वि०—तृण पञ्चमूल—दर्भ, काश, ईख, शर और शालि इनके मूल को तृण पञ्चमूल कहते हैं; यह पित्तनाशक है ॥ १७१ ॥

संप्रति सुखग्रहणधारणार्थं संग्रहश्लोकमाह—

शूकशिम्बीजपक्वान्नमांसशाकफलौषधैः ।
वर्गितैरन्नलेशोऽयमुक्तो नित्योपयोगिकः ॥ १७२ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थानेऽन्नस्वरूपविज्ञानीयो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

स०—शूकधान्यादिभिर्वर्गितैर्वर्गीकृतैरयमन्नस्य लेश एकदेशः स्तोकमात्रो निर्दिष्टः। किंभूतः। नित्योपयोगो विद्यते यस्य स नित्योपयोगिकः। सदोपयोगवानित्यर्थः। मात्रायोगक्रियादेशकालादिविशेषाच्चोक्तानामपि द्रव्याणामन्यथात्वं दृष्टम्। यथा। तिलशो निषेव्यमाणं विषमपि संजायतेऽमृतसमानम्। भल्लातकः सह तिलैस्तत्कार्यपि कुष्ठमुपहंति। संस्कारेण लघुभ्यः सक्तुभ्यः सिद्धपिंडिका गुरवः। मरुवासिष्वतिसात्म्यं दधिपीलुशमीकरीराणाम्। घृतदुग्धं हेमन्ते मंदाग्निकफोत्तरं भवेत्प्रायः। दधिदुग्धं वातघ्नं तदजातं वातकृद्भवति। रेचनमपि च क्षीरं गव्यं संग्राहि कस्यचिद्भवति। तस्मादेवमादि स्वबुद्ध्यैवाऽभ्यूह्यम्। शास्त्रकृता तु ग्रंथगौरवभयात्स्पष्टं कृत्वा तन्नोक्तम्। प्रदेशांतरेषु युक्त्यैव प्रतिपादितमिति ॥ १७२ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्यायामन्नस्वरूपादिविज्ञानीयोऽध्यायः षष्ठः ॥

षष्ठ अध्याय का उपसंहार—

वि०—उपसंहार का श्लोक—सदा उपयोग में आने वाले आहार द्रव्यों का एक भाग शूकवर्ग, शिम्बीवर्ग, पक्वान्नवर्ग, मांस वर्ग, शाकवर्ग और औषधवर्ग-रूप में संक्षेप से कह दिया है ॥[1] १७२ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का अन्नस्वरूप विज्ञानीय नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

---

[1] अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान अध्याय २२ में सुवर्ण आदि धातु उपधातु, रत्नोपरत्न तथा अनेक खनिज, औद्भिज्ज एवं जान्तव द्रव्यों के गुण धर्म का विवेचन किया है; उसे वहीं देखना चाहिए।

सप्तमोऽध्यायः

अन्नपानस्वरूपं शरीरसंधारणार्थं प्रागुक्तम्। पथ्यमपि चान्नपानं विषाद्युपहतं रोगाय मृत्यवे वा संपद्यते। अतस्तद्रक्षणाध्यायोऽयमारभ्यते—

अथातोऽन्नरक्षाऽध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—अन्नस्य रक्षाऽन्नरक्षा सोपदेश्या यत्राध्याये सोऽप्युपचारादन्नरक्षेत्युच्यते। यथा। शिशुपालवधः काव्यमिति। शेषं व्याख्यानमत्र पूर्ववत्कार्यम्।

वि०—अब इसके आगे अन्नरक्षा अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था[1]।

राजा राजगृहासन्ने प्राणाचार्यं निवेशयेत्।
सर्वदा स भवत्येवं सर्वत्र प्रतिजागृतिः॥ १॥

स०—राजा नृपः प्राणाचार्यं वैद्यं राजगृहासन्ने निवेशयेदावासयेत्। एवं सति यो गुणः स्यात्तमाह। सर्वदेत्यादि। सर्वदा सर्वकालं रात्रौ दिवा वा नृपभवनसमीपस्थितः स वैद्यः सर्वत्रान्नपानशयनमाल्यादौ प्रतिजागृविर्दत्तावधानो भवति॥ १॥

वैद्य का स्थान—

वि०—राजा वैद्य को राजगृह के समीप में ही निवास देवे। राजगृह के पास रहने से वैद्य सदा सब अवस्थाओं में जागरूक (सावधान-चौकन्ना) रहता है॥ १॥

ननु किमेवं क्रियत इत्याह—

अन्नपानं विषाद्रक्षेद्विशेषेण महीपतेः।
योगक्षेमौ तदायत्तौ धर्माद्या यन्निबन्धनाः॥ २॥

स०—महीपतेः संबंध्यन्नपानं विषाद्विषसंस्पर्शाद्विशेषेणातिशयेन रक्षेत्। अन्नपानमित्युपलक्षणम्। शयनवस्त्रगंधरत्नमाल्यादीनामपि परिरक्ष्यत्वात्। किमिति नृपान्नपानादि विशेषेण रक्षेदित्याह। योगेत्यादि। योगोऽन्नवस्त्रादिभिः संबंधः। क्षेमस्तेषामन्नादीनां चौराद्युपद्रवरक्षणम्। द्वावप्येतौ तदायत्तौ नृपायत्तौ स्याताम्। क्षेमशब्दोऽर्धर्चादिः। धर्माद्या इति। धर्मार्थकाममोक्षा यन्निबंधना योगक्षेमनिबंधनाः॥ २॥

विष से राजा के अन्न-पानादि की रक्षा—

वि०—विषरक्षा—विशेषतः राजा के खान-पान की विष से रक्षा करनी चाहिये क्योंकि योग और क्षेम राजा के अधीन हैं, तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-ये योग और क्षेम के साथ जुड़े हुये हैं; (इसलिये राजा की विशेष रूप में रक्षा करनी चाहिये।)॥ २॥

वक्तव्य—अलब्ध वस्तु के लाभ का नाम योग और लब्ध वस्तु की रक्षा करना क्षेम है।

संप्रति विषदुष्टस्य भक्तस्य लक्षणमाह—

ओदनो विषवान् सान्द्रो यात्यविस्राव्यतामिय।
चिरेण पच्यते, पक्वो भवेत्पर्युषितोपमः॥ ३॥
मयूरकण्ठतुल्योष्मा मोहमूर्च्छाप्रसेककृत्।
हीयते वर्णगन्धाद्यैः क्लिद्यते चन्द्रिकाचितः॥४॥

स०—विषवानोदनः सांद्रो विलेप्याकारः न च विस्रावयितुं शक्यते यतः पृथक्सिक्थो न भवेत्। तथा चिरेण पच्यते बहुना कालेन पाकं याति। स च पक्वो निष्पन्नपाकः सद्य एव पर्युषितोपमो दिवसांतरितोऽतिक्रांताहोरात्रः। मयूरकंठेन तुल्य ऊष्मा बाष्पराजिर्नीनावर्णः यस्य स तथोक्तः। पर्युषितोपम इति। यथा पर्युषितं भक्तं निरूष्म स्तब्धं च भवति। तथा विषदूषितं सद्योऽवतारितमपि तादृशमेव भवति। स चोपयुक्तो मोहमूर्छाप्रसेकान्करोति। मोहो वैचित्यम्। मूर्छा संज्ञाभ्रंशः। प्रसेकः श्लेष्मनिष्ठीवनम्। हीयते वर्णगंधाद्यैरित्यादिशब्देन रसस्पर्शादिपरिग्रहः। प्रक्लिन्नो भवति। सलिलमध्यक्षिप्ततैलबिंदु सदृशैश्चंद्रकैश्च पूर्णो भवति। इति चक्षुरादिभिः परीक्षा॥ ३-४॥

विषाक्त ओदन—

वि०—विषयुक्त भात—अधिक गाढ़ा (विलेपी सदृश) होता है; द्रव होने पर भी छाना नहीं जा सकता, देर में पकता है; पकने पर बासी भात की तरह हो जाता है। इस भात की भाप मोर के गले के समान नीली होती है। इस अन्न के खाने से मनुष्य को मोह, मूर्च्छा, मुख से लालास्राव होता है; यह भात वर्ण एवं गन्ध आदि में हीन हो जाता है, गल जाता है, इसमें चन्द्रिका (पानी में पड़े तैलबिन्दु के समान कान्ति) दीखती है॥ ३-४॥

व्यंजनानां परीक्षामाह—

व्यञ्जनान्याशु शुष्यन्ति श्यामक्वाथानि तत्र च।
हीनाऽतिरिक्ता विकृता छाया दृश्येत नैव वा॥ ५॥
फेनोर्ध्वराजीसीमन्ततन्तुबुद्बुदसम्भवः।
विच्छिन्नविरसा रागाः खाण्डवाः शाकमामिषम्॥ ६॥

स०—व्यंजनानि सूपादीनि दधितक्रदाडिमादि—संस्कृतान्याशु शीघ्रं शुष्काणि भवंति। क्वाथश्च तेषां श्यामो मलिनो भवति। तत्र चेति। व्यंजनवस्तु क्वाथेषु हीनाधिका शिरोविरहादिलक्षणविकारोपेता चात्मीया छाया प्रतिबिंबं दृश्यते। नैव वा कीदृश्यपि छाया न दृश्यते। न चेदमरिष्टं सनिमित्तत्वात्। फेनादीनां संभवः। तत्रेति प्रकृतम्। व्यंजनोपलक्षितेषु सर्वद्रवेष्वेव। विशेषेण पुनर्लवणोल्बणद्रवे। फेनमाला। ऊर्ध्वराजीसंभवं तु रसकादिषु स्वयं दर्शयिष्यति

---

[1] शरीर के धारण और पोषण के लिए हित अन्न और पान आवश्यक होता है। उसके हिताहित-ज्ञान के लिए द्रव्यों के गुण धर्म पहिले कहे जा चुके हैं। पथ्य या हित आहार भी विषादि अनिष्ट पदार्थों से दूषित होकर रोग या मृत्यु का कारण हो सकता है। अतः अन्न (पान भी अन्न में ही समाविष्ट है) की रक्षा के उपायों का वर्णन इस अध्याय में करेंगे।

विच्छिन्नविरसा रागा इति। विच्छिन्नो रक्तवर्णः क्वचित्क्वचित्प्रदेशे द्राक्षापानादौ रागो भवति। विरसं विगतरसं तद्भवति। यथा राग एवं खांडवोऽपि। शाकमामिषं च छिन्नं स्थाने स्थाने त्रुटद्विरसं च ॥ ५-६ ॥

विषाक्त व्यञ्जन—

वि०—व्यञ्जन परीक्षा—विष वाले व्यञ्जन (शाक-भाजी आदि) शीघ्र सूख जाते हैं, जिसमें पकाया जाता है, वह पानी काला हो जाता है। इस पानी में प्रतिबिम्ब, अधूरा, अधिक या विकृत दिखाई देता है, अथवा बिल्कुल दिखाई नहीं देता। ऐसे शाक आदि में झाग, ऊपर में रेखायें, सीमन्त (विभाग), तन्तु, तथा बलबुले उत्पन्न हो जाते हैं, राग (रायता), खाण्डव, मांस और शाक फट जाते हैं और इनका रस विकृत हो जाता है ॥ ५-६ ॥

यत्र द्रवे यादृशी राजी संभवति तां विशेषतो दर्शयन्नाह—

नीला राजी रसे, ताम्रा क्षीरे, दधनि दृश्यते।
श्यावाऽऽपीताऽसिता तक्रे, घृते पानीयसन्निभा ॥ ७ ॥
मस्तुनि स्यात्कपोताभा, राजी कृष्णा तुषोदके।
काली मद्याम्भसोः, क्षौद्रे हरित्तैलेऽरुणोपमा ॥ ८ ॥
पाकः फलानामामानां पक्वानां परिकोथनम्।
द्रव्याणामार्द्रशुष्काणां स्यातां म्लानिविवर्णते ॥ ९ ॥
मृदूनां कठिनानां च भवेत्स्पर्शविपर्ययः।
माल्यस्य स्फुटिताग्रत्वं म्लानिर्गन्धान्तरोद्भवः ॥१०॥
श्याममण्डलता वस्त्रे, शदनं तन्तुपक्ष्मणाम्।
धातुमौक्तिककाष्ठाश्मरत्नादिषु मलाक्तता ॥११॥
स्नेहस्पर्शप्रभाहानिः, सप्रभत्वं तु मृन्मये।

स०—मांसरसे विषदूषिते नीलानीलवर्तिकाकारा राजी दृश्यत इति प्रकृतेन संबंधः। एवं चाग्रेऽपि राजी दृश्यत इति योज्यम्। क्षीरमध्ये ताम्रा ताम्रवर्णा। दधनि दध्नि श्यावा दृश्यते लक्ष्यते चक्षुषा। राजीति सर्वत्र प्रकृतम्। पीताऽसिता तक्र इत्यादि। तक्रस्य मध्ये पीताऽसिता आनीलपीता राजी दृश्यत इति प्रकृतम्। घृते सलिलनिभा। काली कृष्णा मद्यस्य तोयस्य च विषदूषितस्य। क्षौद्रे हरिदिति। माक्षिकमध्ये हरिता राजी दृश्यते। तैलेऽरुणोपमेषल्लोहिताकारा। उदाहरणमात्रं त्वेतत्। मस्तुनः कपोताभा। धान्याम्लस्य कृष्णा। द्रवौषधस्य कपिला। तथा। आमानां फलानां पाकः। पक्वानां परिकोथनं शाटितत्वं भवति। द्रव्याणामार्द्रशुष्काणां स्यातां म्लानि विवर्णते। यथासंख्यं योज्यम्। आर्द्राणां म्लानिः। शुष्काणां वैवर्ण्यं श्यावत्वादिलक्षणम्। मृदूनां कठिनत्वं कठिनानां मृदुत्वम्। अयं स्पर्शविपर्ययः। माल्यस्य पुष्पादेः स्फुटितं विशीर्णमग्रं प्रान्तो यस्य तत्स्फुटिताग्रं तद्भावस्तत्त्वम्। म्लान्युद्भवो म्लानता। गंधान्तरोद्भवः स्वगंधनाशः अन्यस्य संभवश्च। वसागंधस्य च तैले संभवः। श्याममंडलता वस्त्रे। वस्त्र आस्तरणप्रावरणादिरूपे श्यामानि मलिनानि मंडलानि यस्य वस्त्रस्य तद्भावस्तत्त्वम् शदनं श्यातः पातः। केषाम्। तंतूनां रोम्णां पक्ष्मणां च पार्श्ववर्तिनां वस्त्रसंबंधिनामेव। धातुर्लौहादिः। मौक्तिकं मुक्ता। काष्ठं दारु। अश्मा पाषाणः। रत्नानि वज्रमरकतादीनि। आदिशब्देन शंखशुक्त्यादिपरिग्रहः। तेषु धात्वादिषु मलाक्तता पंकोपदिग्धता। स्नेहहानिस्तेषामेव धात्वादीनां स्निग्धत्वव्यपगम इत्यर्थः। एवं स्पर्शप्रभाहानी। मृन्मये तु भांडे विषदूषिते निष्प्रभे सप्रभत्वम् ॥ ७-११ ॥

विषाक्त मांसरस, दूध, दही आदि—

वि०—मांसरस में—विष के कारण नीली रेखा आती है, दूध में ताम्रवर्ण, दही में श्याव (काले) रङ्ग की, तक्र में पीली-पीली रेखा, घृत में पानी के समान, मस्तु में कबूतर के रङ्ग की, तुषोदक (कांजी), मद्य और जल में काली रेखा, मधु में हरे रङ्ग की और तैल में गुलाबी रङ्ग की रेखा हो जाती है। विष के कारण कच्चे फल पक जाते हैं और पके हुए फल सड़ने लगते हैं। गीले द्रव्य विष के कारण मुरझा जाते हैं और सूखे द्रव्य विवर्ण हो जाते हैं। विष के कारण मृदु द्रव्य कठोर हो जाते हैं और कठोर द्रव्य मृदु बन जाते हैं; माला के फूलों के अग्रभाग फट जाते हैं, माला मुरझा जाती है, और अन्य गन्ध उत्पन्न हो जाती है। वस्त्र में काले धब्बे हो जाते हैं, वस्त्र के रेशे, और बाल गिरने लगते हैं। स्वर्ण आदि धातु तथा मोती, लकड़ी, पत्थर, रत्न आदि विष के कारण मैले हो जाते हैं; इनकी स्निग्धता, शीतादि स्पर्श और तेजस्विता नष्ट हो जाती है, मिट्टी की वस्तु में विष के कारण तेज न होने पर तेज (चमक) आ जाता है ॥ ७-११ ॥

इदानीं यो विषं ददाति तस्य लक्षणमाह—

विषदः श्यावशुष्कास्यो विलक्षो वीक्षते दिशः ॥१२॥
स्वेदवेपथुमांस्त्रस्तो भीतः स्खलति जृम्भते।

स०—विषं ददातीति विषदो नरः श्यावं शुष्कमास्यं मुखं यस्याऽसौ श्यावशुष्कास्यः श्यामशुष्कवदनः। किं करोति। विलक्षो वीक्षते दिशः। दिश इति समंतादित्यर्थः। विलक्ष इति लज्जावान्। वीक्षतेऽवलोकयति। किंच सदोषशंकया स्वेदवान्वेपथुमान्। त्रस्तः शरीरेण जातकंपत्वात्। भीतश्चित्तेन सोद्वेगतयोपलक्ष्यमाणत्वात्। स्तंभकुड्यादिभिरात्मानमंतर्धापयितुमिच्छन्नितस्ततो गच्छंश्च स्खलितगतिर्भवति तत आह। स्खलति। पुनःपुनश्च जृंभां करोति तेनाह। जृंभते। उपलक्षणं चेदं तत्तत्कालभाविनीनां क्रियाणाम्। तद्यथा अस्थानहासी। पृष्टोऽसंबद्धमुत्तरं ददाति नैव वा वदति। विवक्षुर्मुह्यत्यंगुलीः स्फोटयति। शिरः कंडूयते। ओष्ठौ लेढि। भुवं विलिखति। क्रियासु त्वरते। विपरीतमाचरति। स्वभूमौ च नावतिष्ठते ॥ १२ ॥

विष देनेवाले के लक्षण—

वि०—विष देने वाले के लक्षण—विष देने वाले का मुख काला पड़ जाता है, और सूख जाता है। विना उद्देश्य के

इधर-उधर दिशाओं में देखता है, उसको पसीना आता है, कंपकपी छूटती है, डरा हुआ सा, घबराया हुआ होता है, चलते हुए या उत्तर देने में भूल करता है—फिसलता है और जम्भाइयाँ भरता है ॥ १२ ॥

प्राप्यान्नं सविषं त्वग्निरेकावर्तः स्फुटत्यति ॥१३॥
शिखिकण्ठाभधूमार्चिरनर्चिर्वोग्रगन्धवान् ।

स०—सविषमन्नं प्राप्याऽग्निः स्फुटत्यति चटचटायतेऽतिशयेनेत्यर्थः। एकावर्त इति। एक एवावर्तो यस्य। शंहतसर्वज्वालत्वादसावेकावर्तः। शिखिकण्ठाभधूमार्चिः शिखी मयूरस्तस्य कण्ठ इन्द्रायुधवदनेकवर्णस्तस्येवाभा ययोर्धूमार्चिषोस्ते शिखिकण्ठाभे तादृशे धूमार्चिषी यस्याग्नेरसौ शिखिकण्ठाभधूमार्चिरिंद्रायुधवदनेकवर्णधूमज्वाल इति यावत्। अनर्चिर्वाऽज्वाल इति वा। उग्रगन्धवानिति। कुणपगन्धवान्। निदर्शनं चेदम्। धूमोऽप्यस्य प्रसेकरोमहर्षशिरोवेदनापीनसदृष्ट्याकुलता अप्युत्पादयति ॥ १३ ॥

अग्नि में विषाक्त अन्न की परीक्षा—

वि०—विषाक्त अन्न की अग्नि से परीक्षा—विष वाले अन्न से अग्नि एक ही आवर्त (घेरे के रूप में एक ही लौ) में होती है, अतिशय चटचटाती है; धूम और ज्वाला मोर के कण्ठ के समान होती है अथवा इसमें ज्वाला उत्पन्न ही नहीं होती और तेज गन्ध होती है ॥ १३ ॥

वक्तव्य—जिस प्रकार आग में गरम करने से धातुओं की परीक्षा होती है, ताम्र की एक तरह की ज्वाला होती है, स्वर्ण की दूसरी तरह उसी प्रकार विष की भिन्नता से ज्वाला में भी भेद हो जाता है। परन्तु कई बार नमक या स्नेह के कारण भी अग्नि में उपर्युक्त रङ्ग दीखते हैं; इसलिये आगे पक्षि-मृगों से परीक्षा कही है।

स्नेहलवणयोगादप्यग्निरेवं स्यादतः पक्षिमृगैरपि परीक्षाप्रकारांतरं दर्शयन्नाह—

म्रियन्ते मक्षिकाः प्राश्य काकः क्षामस्वरो भवेत् ॥१४॥
उत्क्रोशन्ति च दृष्ट्वैतच्छुकदात्यूहसारिकाः ।
हंसः प्रस्खलति, ग्लानिर्जीवञ्जीवस्य जायते ॥१५॥
चकोरस्याऽक्षिवैराग्यं, क्रौञ्चस्य स्यान्मदोदयः
कपोतपरभृद्दक्षचक्रवाका जहत्यसून् ॥१६॥
उद्वेगं याति मार्जारः, शकृन्मुञ्चति वानरः ।
हृष्येन्मयूरस्तद्दृष्ट्या मन्दतेजो भवेद्विषम् ॥१७॥
इत्यन्नं विषवज्ज्ञात्वा त्यजेदेवं प्रयत्नतः ।
यथा तेन विपद्येरन्नपि न क्षुद्रजन्तवः ॥१८॥

स०—मक्षिकाः सविषेऽन्ने न निलीयंते। निलीनास्तु सद्यो विपद्यंते। विषदुष्टाहारात्तु काकः क्षामस्वरो भवेत्। उत्क्रोशंत्युच्चैर्विक्रोशंति दर्शनादेव शुकदात्यूहसारिकाः। विषदर्शनमात्रादेव च हंसगतिः स्खलति। ग्लानिर्जीवंजीवस्य जायते। उपलक्षणं चेदम्। मरणमपि कस्यचिन्न ग्लानिरेव। जीवंजीवकस्य। चकोरस्याऽक्षिविरक्तता। दृष्ट्वैतदिति सर्वत्र योजनीयम्। क्रौंचस्य स्यान्मदोदयो मदोत्पत्तिः। कपोतपरभृद्दक्षचक्रवाकास्त्यजंत्यसून् प्राणान्विजहति अत्यर्थं मरणदुःखाभ्याहताः। उद्विजतेऽत्यर्थं मार्जारः। वानरस्तु शकृत् पुरीषं मुंचति उपलक्षणं चेदम्। पृष्ठतोमुखो रोदिति च। तथा हृष्येन्मयूरस्तद्दृष्ट्वा। तदिति सविषान्नपरामर्शः। दृष्ट्वेत्यनुवर्तमानेऽपि पुनर्दृष्ट्वेति वचनं सर्वत्र मध्ये संप्रत्ययार्थमाद्यंताभ्यां गृहीतत्वात्। विषं चास्य दर्शनादेव मंदतेजस्कं भवति। एवं पूर्वोक्ताभिः परीक्षाभिरन्नं भक्तादि विषवद्विषसंसृष्टं ज्ञात्वा त्यजेदेतत्। कथम्। प्रयत्नतः प्रयत्नेन। तमेव प्रयत्नं दर्शयन्नाह। यथा येन प्रकारेण त्यज्यमानेन क्षुद्रजंतवो मक्षिकादयोऽपि तेन विषेण न विपद्येरन् न नश्येयुस्तथा त्यजेत्। क्षुद्रजंतवोऽपि किं पुनर्महांत इत्यपिशब्दार्थः ॥ १४-१८ ॥

विषाक्त अन्न की पशु-पक्षियों द्वारा परीक्षा—

वि०—विषैले अन्न को खाकर मक्खियाँ मर जाती हैं; कौवे का स्वर क्षीण हो जाता है, तोता, दात्यूह (जलकाक) और मैना विषैले अन्न को देखकर जोर से बोलती हैं। हंस लड़खड़ाने लगता है; जीवञ्जीव (चकोर भेद) को ग्लानि होती है; चकोर की आँख श्वेत पड़ जाती है; कौंच में मत्तता आ जाती है। कबूतर, कोयल, मुर्गा और चक्रवाक मर जाते हैं। बिल्ली में उद्वेग आता है; बन्दर को मल आता है। मयूर विषैले अन्न को देख कर नाचता है, और मोर की दृष्टि से विष मन्द-तेज हो जाता है। इस प्रकार अन्न को विषयुक्त जानकर सावधानी से इस प्रकार छोड़ (फेंक) देवे जिससे उस विष के कारण छोटे जन्तु कीड़े-पतंगे आदि भी न मरें।

स्पृष्टे तु कण्डूदाहोषाज्वरार्तिस्फोटसुप्तयः ।
नखरोमच्युतिः शोफः, सेकाद्या विषनाशनाः ॥१९॥
शस्तास्तत्र प्रलेपाश्च सेव्यचन्दनपद्मकैः ।
ससोमवल्कतालीसपत्रकुष्ठामृतानतैः ॥२०॥

स०—सविषेऽन्ने मुखहस्तादिभिस्तु स्पृष्टे सति कंड्वादयः शोफांताः स्युः। ऊषा प्रादेशिको दाहः। सर्वदाहस्तु दाहः। अर्तिः शूलम्। सुप्तिरंगस्याऽचैतन्यम्। नखरोमच्युतिर्नखशातो रोमशातः। ननु नखशातः केवलं वातरोगेषु पठितः। विषे च सन्निपातकोप उक्तः। तत्कथमेतदुच्यते। जात्यंतर्भूत एवायं विषनिमित्त इत्यदोषः। तत्र तेषु विषसंस्पर्शजेषु कंड्वादिरोगेषु सेकाद्याः शास्ता यतो विषनाशनाः। प्रलेपाश्च हिताः। कैरित्याह। सेव्यादिभिः ॥ १९-२० ॥

विषाक्त अन्नस्पर्श से हानि—

वि०—विषैले अन्न को छूने से—कण्डू, दाह, ऊषा (क्षार से जलने की भाँति दाह), ज्वर, पीड़ा, छाले और स्पर्शज्ञान का नाश, नख या बालों का गिरना तथा सूजन होती है। इसमें विषनाशक परिषेक, अभ्यङ्ग आदि बरते। उशीर, चन्दन, पद्माख, सफेद खैर, तालीशपत्र, कूठ, गिलोय और तगर इनका लेप करे ॥ १९-२० ॥

लाला जिह्वोष्ठयोर्जाड्यमूष्मा चिमिचिमायनम् ।
दन्तहर्षो रसाज्ञत्वं हनुस्तम्भश्च वक्त्रगे ॥२१॥
सेव्याद्यैस्तत्र गण्डूषाः सर्वं च विषजिद्धितम् ।

स०—वक्त्रगे मुखप्राप्ते लाला भवति। जिह्वौष्ठयोर्जाड्यं भवति। ऊषादयश्च स्युः। रसाज्ञत्वं जिह्वा रसं न चेतयत इत्यर्थः। हनोः स्तंभश्च स्यात्। तत्र सेव्याद्यैः पूर्वोक्तैर्गंडूषा हिताः। सर्वं चान्यदपि यद्विषं जयति तद्धितम् ॥ २१ ॥

मुखस्थित विष का लक्षण—

वि०—विषैले अन्न के मुख में पहुँचने पर—लालास्राव; जिह्वा और ओठ में जड़ता, दाह, चिमचिमाहट, दन्तहर्ष, रस की अप्रतीति और हनुस्तम्भ होता है। इसमें उशीर आदि से गण्डूष और विषनाशक सब चिकित्सा उपयोगी है। (प्रतिसारण-प्रलेप आदि विषनाशक चिकित्सा करे।) ॥ २१ ॥

आमाशयगते स्वेदमूर्च्छाऽध्मानमदभ्रमाः ॥२२॥
रोमहर्षो वमिर्दाहश्चक्षुर्हृदयरोधनम् ।
बिन्दुभिश्चाचयोऽङ्गानां, पक्वाशयगते पुनः ॥२३॥
अनेकवर्णं वमति मूत्रयत्यतिसार्यते ।
तन्द्रा कृशत्वं पाण्डुत्वमुदरं बलसंक्षयः ॥२४॥
तयोर्वान्तविरिक्तस्य हरिद्रे कटभीं गुडम् ।
सिन्दुवारितनिष्पावबाष्पिकाशतपर्विकाः ॥२५॥
तण्डुलीयकमूलानि कुक्कुटाण्डमवल्गुजम् ।
नावनाञ्जनपानेषु योजयेद्विषशान्तये ॥२६॥

स०—विषान्न आमाशयं प्राप्ते स्वेदादयः स्युः। हृदयस्य रोधनं स्तंभः। बिंदुभिर्नानावर्णैरंगानामाचयः समंताच्चयनम्। पक्वाशयगते तु विषेऽनेकवर्णं वमति। मूत्रयत्यतिसार्यते। तंद्रादयश्च भवंति। तयोरामपक्वाशयगतयोर्विषयोर्वर्तमानस्य पुंसो यथायोगं वांतविरिक्तस्य हरिद्रे कटभीत्यादिकमौषधं नावनादिषु योजयेत्। तत्र मदनफलालबुकुंभीकोशातकीफलैर्मधुयुक्तैर्निष्पावांबुयुक्तैर्वमनम्। तस्य स्नेहयित्वा विरेचनम्। पक्वाशयगते वमितस्यैव नीलिनीफलयुक्तेन घृतेन विरेचनमेव ॥ २२-२६ ॥

आमाशयस्थ विष का लक्षण—

वि०—विषैले अन्न के आमाशय में पहुँचने पर—रोगी को पसीना आता है; मूर्च्छा, अध्मान, मद, भ्रम, रोमहर्ष, वमन, दाह, आँख और हृदय की स्तब्धता, शरीर पर जलविन्दु के समान छालों का भर जाना यह सब होता है। पक्वाशय में पहुँचने पर रोगी अनेक रङ्गों का वमन करता है; बार-बार मूत्र त्याग करता है; अतीसार हो जाता है; तन्द्रा, कृशता, पाण्डुता और उदर रोग, बल का ह्रास होता है। चिकित्सा—आमाशयगत विष में वमन और पक्वाशयगत में विरेचन देवे। इसके उपरान्त, हल्दी और दारुहल्दी; कटभी, गुड़, सम्हालू, निष्पाव (बाल-सेम); हिंगुपत्री; शतपर्विका (वच), चौलाई के मूल, मुर्गी के अण्डे, बावची; इनको विष की शान्ति के लिये नस्य, अञ्जन और पिलाने में बरतना चाहिये ॥ २२-२६ ॥

विषभुक्ताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा ।
सूक्ष्मं ताम्ररजः काले सक्षौद्रं हृद्विशोधनम् ॥२७॥
शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् ।

स०—विषभुक्ताय पुंस ऊर्ध्वमधश्च शुद्धाय काले सूक्ष्ममतिश्लक्ष्णं ताम्रचूर्णं समाक्षिकं दद्यात्। किंभूतम्। हृद्विशोधनं हृदयं शोधयेदित्यर्थः। विषभुक्तायेत्याहिताग्न्यादित्वात्परनिपातः। काल इत्युपलक्षणम्। देशसात्म्याग्न्यादीन्व्यपेक्षेतेत्यर्थः। शुद्धे हृदि स्वलिंगे ज्ञाते ततोऽनंतरं हेमचूर्णस्य शाणं कर्षचतुर्थांशं दापयेत् ॥ २७ ॥

विषभोक्ता को बचाने का उपाय—

वि०—विष खाये हुए मनुष्य का वमन और विरेचन से शोधन करके सूक्ष्म ताम्र भस्म मधु के साथ तथा हृदय के शोधन होने पर पीछे से स्वर्णभस्म की एक शाण (कर्ष का चौथाई—१॥ मासा) देवे ॥ २७ ॥

वक्तव्य—स्वर्णभस्म की मात्रा विष वेग में कुछ अधिक ही देनी चाहिये। ताम्रभस्म विषनाशक है।

हेम्नि दत्ते सति यो गुणः स्यात्तमाह—

न सज्जते हेमपाङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम् ॥ २८ ॥
जायते विपुलं चायुर्गरेऽप्येष विधिः स्मृतः ।

स०—हेम पिबतीति हेमपस्तस्यांगे विषं न सज्जते। कथम्। पद्मपत्रे जलमिव। तस्य च हेमपस्य विस्तीर्णमायुर्जायते। एष विधिर्गरेऽपि स्मृतो यो विष उक्तः। सज्जत इत्यत्रात्मनेपदं चिंत्यम् ॥ २८ ॥

सुवर्ण का प्रभाव—

वि०—स्वर्ण देने का गुण—स्वर्ण को पीने वाले मनुष्य के अङ्गों में विष प्रभाव नहीं करता; जिस प्रकार कि कमल के पत्र पर पानी नहीं ठहरता। स्वर्ण सेवन से दीर्घ आयु होती है। कृत्रिम विष में भी यही उपचार करना चाहिये ॥ २८ ॥

तदेव विरुद्धभोजनमाह—

विरुद्धमपि चाहारं विद्याद्विषगरोपमम् ॥२९॥

स०—विरुद्धं चाहारं विषगरोपमं विद्यात्। विषगरवद्विरुद्धाहारा अपि व्याधिमृत्युहेतव इत्यर्थः। तथा चोक्तं संग्रहे। विस्फोटगुल्ममदविद्रधिमेहयक्ष्मतेजोबलस्मृतिमतींद्रियचित्तनाशम्। कुर्याद्विरुद्धमशनं ज्वरमस्रपित्तमष्टौ गदांश्च महतो विषवच्च मृत्युमिति ॥ २९ ॥

विरुद्ध भोजन की विषतुल्यता—

वि०—विरुद्ध आहार को भी विष की तरह तत्काल मारक एवं गर विष की तरह कालान्तर में मारने वाला समझना चाहिये ॥ २९ ॥

वक्तव्य—विरोधी-संयोग, संस्कार, मात्रा, देश, काल, अवस्था, स्वभाव से विरुद्ध होता है। चरक में-'यच्चापि देश-

कालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिः। संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥ परिहारोपचाराभ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च। विरुद्धं तच्च न हितं हृत्संपद्विधिभिश्च यत् ॥' (च. सू. अ. २६)

विरुद्ध भोजन—'यत्किंचिद्दोषमुत्क्लेश्य न निर्हरति कायतः। आहारजातं तत्सर्वमहितायोपपद्यते ॥' (च॰ सू. अ. २६।८५)।

आनूपमामिषं माषक्षौद्रक्षीरविरूढकैः।
विरुध्यते सह बिसैर्मूलकेन गुडेन वा ॥३०॥
विशेषात्पयसा मत्स्या मत्स्येस्वपि चिलीचिमः।

स॰—आमिषं मांसमानूपं महामृगवारिचरवारिशयाख्यं माषादिभिः सप्तभिः सह विरुध्यते। आनूपेष्वपि मध्ये विशेषादतिशयेन पयसा सह मत्स्या विरुध्यंते। यतो मत्स्यक्षीरे स्वादुरसविपाकित्वान्महाभिष्यंदिनी। शीतोष्णयोगाच्च परस्परविरुद्धे। मत्स्येष्वपि चिलीचिमाख्यो मत्स्यः पयसा सहात्यंतविरुद्धः। स पुनः शकलीरो लोहिताक्षः सर्वतो लोहितराजिः प्रायो भूमौ चरति। सोऽत्यभिष्यंदितमत्वात्सुतरां विरुद्धः। एष चाहारोऽनिर्दिष्टविकारकारी यथोक्तान् विस्फोटादीन् करोति। कालांतरेण च चिकित्सां विना प्राणानपि हरति। कश्चिच्च विरुद्धाहारो निर्दिष्टविकारकारी। यथोपोदकाऽतिसारायेति ॥ ३० ॥

विरुद्ध आनूपमांस—

वि॰—आनूपमांस—उड़द, मधु, दूध, अंकुरितधान्य, बिस, मूली और गुड़ इनमें से किसी के साथ विरोधी है। दूध के साथ मछलियाँ विरोधी हैं, इनमें भी चिलचिम मत्स्य दूध के साथ विशेष विरोधी है ॥ ३० ॥

विरुद्धमम्लं पयसा सह सर्वं फलं तथा ॥३१॥
तद्वत्कुलत्थवरककङ्गुवल्लमकुष्ठकाः।

स॰—अम्लं द्रव्यं पयसा सह सर्वं विरुद्धम्। सर्वग्रहणं द्रवाद्रवग्रहणार्थम्। द्रवं कांजिकादि। अद्रवं चुक्रिकादिकमित्यर्थः। अन्यथा पयसो द्रवसमानजातीयत्वात्कांजिकाद्येव द्रवद्रव्यं विरुध्येत न चुक्रिकादिकमपि। ननु तृतीययैव सहार्थो लब्ध एव। यथा। वाराहं श्वाविधा नाद्यादित्यत्र। ततः किं सहशब्देन। सत्यमेतत्। सहग्रहणं तु नियमार्थम्। सहैकध्यमम्लेनोपयुज्यमानं विरुद्धम्। यदा त्वम्लेन गोरसादिना क्षीरशाकसंज्ञव्यंजनकरणार्थं पयः संस्क्रियते तदा तस्य द्रव्यांतरत्वावत्तेर्विरोधो नास्ति। तथा दधिक्षीरादिना घृतं पच्यते तत्राऽप्याविरोध एव। द्रव्यांतरत्वात्। पूर्वस्याऽपि सहशब्दस्यैवंप्राममेव प्रयोजनमभ्यूह्यामिति। अपि च। क्षीरे भुक्त उत्तरे कालेऽप्यम्लं न भोज्यमिति प्रतिपादनार्थं च सहग्रहणम्। तथा चोक्तं संग्रहे। सर्वं चाम्लं पयसा सहैकध्यं तदुत्तरं वा विरुद्धमिति। फलं तथेति। फलमक्षोडादि च पयसा सह विरुद्धम्। सर्वशब्दः सर्वत्र न संबंधनीयो यतो न सर्वं फलं पयसा सहाऽभ्यवहर्तुं विरुद्धम्। अपि तु किंचिदेव। तथा च मुनिः परिसंख्ययैवाऽपठत्। तथा आम्राम्रातकलकुचकरमर्दमोचदंतशठबदरकोशाम्रभव्यजांबवकपित्थतित्तिडीकपालेवताक्षोडपनसनालिकेरदाडिमामलकान्येवंप्रकाराणि चान्यानीति। तस्मान्न सर्वं फलं पयसा सहाभ्यवहर्तुं विरुद्धं किंतु मुन्युक्तमेव। तद्वदिति। फलवत् कुलित्थादयः पयसा सह विरुद्धाः। वरको व्रीहिभेदः। वरकोद्दालकेति प्रागुक्तेः। वल्लमकुष्टकौ शिंबीधान्यविशेषौ। उपलक्षणं चेदम्। माषनिष्पावावपि हि विरुद्धौ पयसा सहेति संग्रहे कथितम् ॥ ३१ ॥

दूध के विरुद्ध फल और धान्य—

वि॰—द्रव या अद्रव सब प्रकार के अम्ल दूध के साथ विरोधी हैं। दूध के साथ सभी फल एवं कुलथी, वरक (एक प्रकार का धान), कंगनी, वल्ल (निष्पाव) और मोठ विरोधी हैं ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अम्ल को दूध के साथ या दूध के पीछे खाना विरुद्ध है; यथा—'सर्व चाम्लं पयसैकध्यं तत उत्तरं वा विरुद्धम्।' (संग्रह सू. अ. ९)

भक्षयित्वा हरितकं मूलकादि पयस्त्यजेत् ॥३२॥

स॰—भक्षयित्वेति। हरितकं मूलकं कुठेरादि भुक्त्वा पयस्त्यजेन्न पुनः शाकम् भुक्त्वा। मूलकादिस्निग्धस्विन्नं शाकसाधनेन साधितं भुक्त्वा क्षीरं न त्यजेत्। एतस्मादेव च ज्ञापकान्मूलकादीनामुभयरूपत्वं वेद्यम्। मूलकादीनां यदि शाकत्वप्रसिद्धिरेवाऽभविष्यत् ततो हरितकं मूलकादि भक्षयित्वेति तंत्रकृन्नावचयत्। तस्मान्मूलकस्य हरितकत्वं च ज्ञेयम्। लशुनेन सह क्षीरस्य प्रयोगो य उक्तः साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुःपलमिति स न विरुद्धः। अग्न्यादिसंपर्काद् द्रव्यांतरत्वोत्पत्तेः ॥ ३२ ॥

दुग्ध-विरुद्ध शाक—

वि॰—मूली आदि हरे (कच्चे) शाख खाकर दूध नहीं पीना चाहिये ॥ ३२ ॥

वाराहं श्वाविधा नाद्याद्दध्ना पृषतकुक्कुटौ।
आममांसानि पित्तेन, माषसूपेन मूलकम् ॥३३॥
अविं कुसुम्भशाकेन, बिसैः सह विरूढकम्।
माषसूपगुडक्षीरदध्याज्यैर्लकुचं फलम् ॥३४॥
फलं कदल्यास्तक्रेण दध्ना तालफलेन वा।
कणोषणाभ्यां मधुना काकमाची गुडेन वा ॥३५॥
सिद्धां वा मत्स्यपचने पचने नागरस्य वा।
सिद्धामन्यत्र वा पात्रे कामातामुषितां निशाम् ॥३६॥

स॰—श्वाविधा सेधामांसेन सह वाराहं मांसं नाद्यात्। अग्रेऽपि नाद्यादिति क्रियायोगो यावत्त्यजेदिति क्रियांतरम्। पृषतकुक्कुटौ दध्ना सह नाद्यात्। आमान्यपक्वानि मांसानि पित्तेन सह। माषसूपेन सह मूलकम्। आविं मेषं कुसुंभशाकेन सह। विरूढकमंकुरितधान्यं बिसैः सह। माषसूपादीनामन्यतमेन सह लकुचफलम्। कदल्याः फलं तक्रेण सह दध्ना वा तालफलेन वा कदलीफलम्। कणोषणाभ्यां सह काक-

माचीम्। केवलेन माक्षिकेण सह काकमाचीं गुडेन वा सह काकमाचीम्। मत्स्याः पच्यंते यस्मिन् भाण्डे तत्र वा सिद्धां काकमाचीं नाद्यात्। नागरस्य वा पचने शुंठीपाचितभांडे सिद्धां काकमाचीम्। तथाऽन्यत्र वा भाजने यथारुचिसिद्धां कामात्तां काकमाचीं रात्रिमुषितां पर्युषितां नाद्यात्॥ ३३-३६॥

विरुद्ध मांसादि—

वि०—सूअर का मांस सेह के मांस के साथ नहीं खाना चाहिये। दही के साथ पृषत और मुर्गे को नहीं खाना चाहिये। पित्त के साथ अपक्व मांस; उड़द की दाल के साथ मूली; भेड़ के मांस को कुसुम्भ के शाक के साथ; अङ्कुरित धान्य को भिस के साथ; बड़हल के फल को उड़द की दाल, गुड़, दूध, दही, घी के साथ; तक्र के साथ केले के फल को; दही के साथ ताड़ के फल को; मकोय को मिलित पिप्पली और मरिच के साथ या गुड़ के साथ अथवा मधु के साथ नहीं खाना चाहिये। जिस पात्र में मछलियाँ पकी हों या जिसमें सोंठ सिद्ध की गयी हो, उस पात्र में अथवा अन्यत्र किसी ऐसे वैसे पात्र में पकाई तथा रातभर की बासी मकोय को भी न खाये॥ ३३-३६॥

मत्स्यनिस्तलनस्नेहे साधिताः पिप्पलीस्त्यजेत्।
कांस्ये दशाहमुषितं सर्पिरुष्णं त्वरुष्करे॥३७॥

स०—मत्स्या निस्तल्यंते भृज्यंते येन स्नेहेन स मत्स्यनिस्तलनस्नेहस्तत्र साधिताः पिप्पलीस्त्यजेत्। विरुद्धत्वात्। नाद्यादिति प्रकृतेऽपि त्यजेदिति वचनं न केवलं नाद्यात्लेपादिकमपि न कुर्यादिति प्रतिपादनार्थम्। उत्तरत्राऽपि त्यजेदित्यस्यानुवृत्तावेतदेव तात्पर्यम्। कांस्यपात्रे दशरात्रमुषितं सर्पिस्त्यजेत्। दशाहादर्वागपि विरुद्धमेव। अरुष्करे भल्लातकाविषय उष्णमन्नपानादिकं त्यजेत्। तथा पेयं नोष्णोपचारेणेत्यर्थेन मद्यस्योष्णं निषिद्धम्। तथोष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैरिति माक्षिकस्य। तथा दध्नो नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसंतोष्णेत्यादिभिः। तस्मान्मधुमद्यदधिष्वप्युष्णं विरुद्धमित्यत्राचार्यो युक्त्या प्रत्यपादयत्। संग्रहे तु स्पष्टं कृत्वोक्तम्। मद्यमधुदधिभल्लातकेषु चोष्णमिति॥ ३७॥

विरुद्ध स्नेहादि पदार्थ—

वि०—जिस स्नेह में मछलियाँ तली गई हों उस तैल में सिद्ध पिप्पली को, काँसे के बर्त्तन में दस दिन तक रक्खे घी को तथा भिलावे के साथ गरम वस्तुओं का त्याग करे॥३७॥

भासो विरुध्यते शूल्यः कम्पिल्लस्तक्रसाधितः।

स०—भासः पक्षिविशेषः शूल्यो विरुध्यते शूले संस्कृतो भासः कृतवस्तैर्विरुध्यत इत्यर्थः। शूल्य इति शूलात्पाक इति यत्। कंपिल्लस्तक्रसाधितो विरुध्यते। संग्रहे चातोऽधिकमप्युक्तम्। यथा। सौवीरेण तिलशष्कुली। क्षीरेण लवणम्। नवनीतेन शाकम्। नवपुराणमाषपक्वं चैकध्यम्। तथा सलिलावगाहः सहसोष्णाभितप्तस्य स्वग्दृष्ट्युपघाताय तृष्णाभिवृद्धये च। तथैव पयःपानं रक्तपित्ताय। शरीरेणायस्तस्य सहसाभ्यवहारश्छर्दिषे गुल्माय वा। वाचा त्वायस्तस्य स्वरसादायेति।

वि०—सींखचों पर भूना भास पक्षी का मांस विरोधी है; तक्र में सिद्ध किया कमीला भी विरोधी है।

ऐकध्यं पायससुराकृशराः परिवर्जयेत्॥३८॥

स०—एकत्र पायससुराकृशरास्त्यजेत्। ऐकध्यमिति एकाद्धोध्यमुञिति ध्यमुञ्॥ ३८॥

दूध के विरुद्ध—

दूध, सुरा और कृशरा इनको एक साथ मिलाकर खाना विरोधी है॥ ३८॥

मधुसर्पिर्वसातैलपानीयादि द्विशस्त्रिशः।
एकत्र वा समांशानि विरुध्यन्ते परस्परम्॥३९॥

स०—मध्वादीनी समांशानि तुल्यप्रमाणानि मिथो विरुध्यंते। कथम्। द्वे वा त्रीणि वैकत्र वा सर्वाणि। यथा। मधुसर्पिषी। मधुवसे। माक्षिकतैले। माक्षिकोदके। त्रीणि त्रीणि यथा। मधुसर्पिर्वसेत्येवमादि। ननु यद्येवंविधो विरोध उच्यते तत्कथमगस्त्य लेहे कुडवं च पृथग्घृतात्। तैलात्सपिप्पलीचूर्णात्सिद्धशीते च माक्षिकादिति तैलघृतमधूनां तुल्यांशानां प्रयोगः। ब्रूमः। केवलानां मध्वादीनां समांशानामुपयोगो विरुद्धो न तु द्रव्यांतरसंयोगेन। तेषां संयोगसंस्कारादिवशाद्विशिष्टगुणांतरोत्पत्तिर्दृष्टा। तस्मादगस्त्यलेहादौ द्रव्यांतरे संयोगादिवशादविरोध एव॥ ३९॥

शहद के विरुद्ध—

वि०—मधु, घी, वसा, तैल और जल इनको दो-दो या तीन-तीन मिलाकर या सबको एक साथ समान मात्रा में लेना परस्पर विरोधी हैं[1]॥ ३९॥

भिन्नांशे अपि मध्वाज्ये दिव्यवार्यनुपानतः।
मधुपुष्करबीजं च, मधुमैरेयशार्करम्॥४०॥
मन्थानुपानः क्षैरेयो; हारिद्रः कटुतैलवान्।

स०—भिन्नांशे अपि मध्वाज्ये दिव्यवार्यनुपानतोऽनुपानेन विरुध्येते। तृतीयार्थे तसिप्रत्ययः। अपिशब्दान्न केवलं समांश इत्यर्थः। मधु माक्षिकं पुष्करबीजं चैकध्यं विरुध्यते। तथा मधु मार्द्वीकं मैरेयं खर्जूरासवं शार्करं शर्करया कृतं मद्यमेकत्रोपयुक्तं विरुध्यते। क्षैरेयः पायसो मंथानुपानो विरुद्धः। मंथोऽनुपानं यस्य स एवम्। क्षैरेय इति क्षीराड्ढञ्। हारिद्रः कुप्रसवः शाकविशेषः सार्पच्छत्रानुकारी पीताभासः कटुतैलवान् सर्षपतैलभृष्टो विरुद्धः॥ ४०॥

---

[1] १. मधु आदि पांचों में दो, तीन, चार या पाँचों के संयोगभेद से विरुद्धता के २६ भेद शास्त्रों में वर्णित हैं। किन्तु समान मात्रा में तथा केवल इन्हीं के सेवन से विरुद्ध होते हैं; इनके साथ दूसरे द्रव्य मिलने पर विरुद्धता नहीं रहती। अत एव आचार्यों ने अनेक औषध योगों से सहपान या अनुपान रूप में सममात्रा में भी घी और मधु के सेवन का आदेश दिया है। यथा— 'कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमांशिकम्।', (च. चि. अ. २)

असमान शहद-घी—

वि०—मधु और घृत भिन्न परिमाण में होने पर भी वर्षा जल के अनुपान से विरोधी हैं। मधु और कमल के बीज; मधु के साथ मैरेय (खजूर का आसव) और शार्कर (शक्कर का आसव); क्षैरेय (पायस-खीर) मन्थ के अनुपान से तथा हारिद्र (छत्रक जाति का एक शाक) सरसों के तेल से विरोधी हैं ॥ ४० ॥

:पोदिकाऽतिसाराय तिलकल्केन साधिता ।।४१।।

स०—उपोदका तिलकल्केन साधिताऽतिसाराय। तादर्थ्ये चतुर्थ्यत्र। अर्थो निमित्तम्। तस्मै इदं तदर्थं तदर्थमेव तादर्थ्यम्। तेनातीसारकरणमित्ययमर्थो जायते ॥ ४१ ॥

तिलकल्क और पोई शाक—

वि०—तिल कल्क में सिद्ध की गई उपोदिका अतीसार उत्पन्न करती है ॥ ४१ ॥

बलाका वारुणीयुक्ता कुल्माषैश्च विरुद्धयते।
भृष्टा वराहवसया सैव सद्यो निहन्त्यसून् ।।४२।।

स०—बलाका पक्षिजातिर्वारुण्या प्रसन्नया युक्ता विरुद्धा। कुल्माषैर्नातिस्विन्नमुद्गादिभिश्च सह विरुध्यते। सैव बलाका वराहवसया भृष्टा सद्यस्तत्क्षणादेव प्राणान् मारयति ॥ ४२ ॥

बगुला के मांस और मद्य—

वि०—बलाका, वारुणी अथवा कुल्माषों (अर्धस्विन्न धान्य) के साथ विरोधी है। यही जब सूअर की वसा में भूनी हो तो तुरन्त मारक होती है ॥ ४२ ॥

तद्वित्तित्तिरिपत्राढ्यगोधालावकपिञ्जलाः ।
ऐरण्डेनाग्निना सिद्धास्तत्तैलेन विमूर्च्छिताः ।।४३।।

स०—तित्तिर्यादय ऐरंडेनाग्निना सिद्धास्तत्तैलेनैरंडतैलेन विमूर्छिता बहुशो भृष्टास्तद्वद्बलाकावत्सद्यो जीवितहराः। पत्राढ्यो मयूरः ॥ ४३ ॥

तीतरादि के मांस—

वि०—इसी प्रकार तीतर, पत्राढ्य (मोर), गोह, बटेर और कपिञ्जल ये एरण्ड की अग्नि से पकाने पर या एरण्ड तैल में भूनने से तुरन्त मारक होते हैं ॥ ४३ ॥

हारीतमांसं हारिद्रशूलकप्रोतपाचितम् ।
हरिद्रावह्निना सद्यो व्यापादयति जीवितम् ।।४४।।
भस्मपांशुपरिध्वस्तं तदेव च समाक्षिकम् ।

स०—हारीतस्य पक्षिविशेषस्य मांसं हारिद्रशूलके प्रोतमासक्तं च तत्पाचितं च हारिद्राग्निना सद्यो जीवितं हंति। तदेव हारीतमांसं भस्मपांशुपरिध्वस्तं समाक्षिकं विरुद्धम्। भस्म च पांशुश्च भस्मपांशू भस्मरेणू ताभ्यां परिध्वस्तं धूसरितम्। सिद्धसारे चोक्तम्। न जातु कटुतैलेन भृष्टामद्यादुपोदकाम्। प्रियंगुकल्कस्निग्धांगः पायसं न समाचरेदिति ॥ ४४ ॥

हरियल पक्षी का मांस—

वि०—हारीत पक्षी के मांस को दारुहल्दी की शलाका में फँसाकर दारुहल्दी की ही अग्नि से पकाने पर तुरन्त मारक होता है।

हारीत मांस राख और धूली में मिला होने पर अथवा मधु के साथ मिलाकर खाने से तुरन्त मारक होता है ॥ ४४ ॥

द्रव्याणामानंत्यात्प्रतिपदोक्त्याऽशेषविरुद्धसंग्रहः
कर्तुमशक्य इति तत्संग्रहार्थं व्यापि लक्षणमाह—:

यत्किञ्चिद्दोषमुत्क्लेश्य न हरेत्तत्समासतः ।।४५।।
विरुद्धं—

स०—यत्किंचिदन्नपानौषधं वा दोषमुत्क्लेश्य स्वस्थानात्संचलय्य न हरेद्बहिर्न निष्कासयेत् तत्समासतः संक्षेपतो विरुद्धम् ॥ ४५ ॥

विरुद्ध अन्नपानादि का लक्षण एवं शमन—

वि०—संक्षेप में जो कोई वस्तु शरीर में दोषों को उत्क्लेशित करके बाहर नहीं निकालती, वह विरुद्ध है ॥४५॥

वक्तव्य—शोधन—दोषों को उत्क्लेशित करके निकाल देती है; शमन-न उत्क्लेशित करती है और न निकालती है।

न च शोधनशमनरूप एवोपक्रमोऽत्रेत्याह—

—शुद्धिरत्रेष्टा शमो वा तद्विरोधिभिः ।
द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसंस्कृतिः ।।४६।।

स०—शुद्धिरत्रेष्टा। अत्र विरुद्धाहारकृते विकारे शुद्धिर्वमनविरेकादिरूपेष्टा श्रेष्ठा। कुपितदोषसमूहस्य वमनादिभिर्निर्हरणात्तन्निर्हारे चारोग्योत्पत्तिः शमो वेति। न केवलं शुद्धिरिष्टा शमश्चेष्टः। कैः। तेषां वैरोधिककोपितदोषाणां तत्कृतानां वा विस्फोटादीनां विकाराणां विरोधिभिः प्रतिपक्षभूतैरौषधैः। तैरेव वैरोधिककुपितदोषप्रतिपक्षभूतैर्द्रव्यैः पूर्वं प्रथमं या शरीरस्याऽभिसंस्कृतिः सा च विरुद्धाहारकृते विकारे प्रशस्तेति। यथा माक्षिकहरीतक्यादिना पित्तश्लेष्महरणौषधेन संततशीलनादभिसंस्कृते देहे पित्तश्लेष्मकरं विरुद्धमुपयुक्तं सद्विकर्तुमशक्तम्। एतदुक्तं भवति। विरुद्धप्रतिपक्षगुणवता द्रव्येण देहस्तथा दार्ढ्यं ग्राहितो यथा विरुद्धमपि द्रव्यं बिकारं कर्तुं नालम् ॥ ४६ ॥

विरुद्धाहार का उपचार

वि०—विरोधी द्रव्यों का वमनादि से शोधन करना चाहिये अथवा प्रतिपक्षी आहार-विहारों से उनका शमन करना चाहिये अथवा वैरोधिक कुपित दोष के प्रतिपक्षी द्रव्यों से शरीर का प्रथम ही अभिसंस्कार करना उत्तम है ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—चरक में—'एषां खल्वपरेषां च वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामिमे भावाः प्रतीकारा भवन्ति। तद्यथा-वमनं विरेचनं च. तद्विरोधिनां च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगः, तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्येति ॥'—अर्थात् तथाविध—उसी प्रकार के द्रव्यों से शरीर का संस्कार करना; जैसा चेचक में चेचक के सीरम का टीका करवाना; अथवा प्लेग में प्लेग के सीरम लगवाना—जिससे प्लेग न हो।

इस दृष्टि से 'तैरेव' का अर्थ—उन्हीं विषैले द्रव्यों से शरीर संस्कार करवाना है।

व्यायामस्निग्धदीप्ताग्निवयःस्थबलशालिनाम् ।
विरोध्यपि न पीडायै सात्म्यमल्पं च भोजनम् ॥४७॥

स०—व्यायामो विद्यते येषामित्यर्शआदित्वादच्। वयःस्थास्तरुणाः। बलेन शालितुं श्लाघितुं शीलं येषां ते बलशालिनः। स्निग्धाः स्निग्धवृष्याहारसात्म्याः। व्यायामिनां विरोध्यपि भोजनं न पीडायै न रोगोत्पत्तये। एवं स्निग्धादीनां प्रत्येकं संबंधः कार्यः। केचिद्व्यायामीति पठंति। तथा विरुद्धमप्यन्नं यदभ्यासात्सात्म्यं सात्मीभूतं तथाऽल्पमल्पमात्रया च यद्भोजनं तच्च विरुद्धमपि न पीडायै इति योज्यम् ॥ ४७ ॥

विरुद्ध भोजन के सहन योग्य व्यक्ति—

वि०—व्यायाम करने वाले, स्निग्धभोजी, दीप्ताग्नि, युवा और बलवान् व्यक्तियों में विरुद्ध वस्तु भी कोई नुकसान नहीं करती अथवा सात्म्य हुआ या अल्प मात्रा में हुआ विरुद्ध भोजन भी कुछ पीड़ा नहीं करता ॥ ४७ ॥

अथ यद्यपथ्यमपि सात्म्यतां प्राप्तं तत्किं त्याज्यं न वा। कथं च त्याज्यं कथं च पथ्यं भोज्यमित्याह—

पादेनापथ्यमभ्यस्तं पादपादेन वा त्यजेत्।
निषेवेत हितं तद्वदेकद्वित्र्यन्तरीकृतम् ॥४८॥

स०—अपथ्यमहितमन्नं पानं वा यल्लंघनप्लवनजागरणस्वप्नादिकं वा चेष्टितमहितमभ्यस्तं तत्पादेन चतुर्थांशेन त्यजेदहितफलत्वात्। तद्धि शरीरोचितमप्यपथ्यत्वादुदर्के दोषाय संपद्यते न गुणाय। यदि तु तदपथ्यमभ्यस्तं तथा सात्मीभूतं यस्मिंश्चतुर्थांशेनाऽपि त्यज्यमाने शरीरबाधा शक्यते वह्निमांद्याद्वा तदा पादपादेन वा षोडशांशेन त्यजेदिति वाशब्दार्थः। तेन तुल्यं वर्तते तद्वत्। तेनैव क्रमेण पादेन पादपादेन वा हितं निषेवेत शीलयेत्। कथमेतद्द्वयमप्यपथ्यरूपं त्याज्यं पथ्यं निषेव्यं चेत्याह। एकेत्यादि। एकश्च द्वौ च त्रयश्च तैरंतरीकृतम्। एकद्वित्रिभिरन्नकालैर्व्यवधानं कृत्वाऽपथ्यं पादेन पादपादेन वा त्यजेत्। एकद्वित्र्यंतरीकृतमिति क्रियाविशेषणत्वादत्र नपुंसकलिंगत्वम्। अधुनैतदेव स्पष्टीकृत्योच्यते। अपथ्यात्पाटलव्रीह्यादेरभ्यस्तात्पादमेकं त्यक्त्वाऽनुचितात्पथ्याद्रक्तशाल्यादेस्तमेव पादं दत्त्वा चतुष्पात्त्वं संपाद्य योज्यम्। एवमन्नकालमेकमतिवाहयेत्। एवं पादेनापथ्यमभ्यस्तं त्यक्तं भवति। पथ्यं चानुचितं निषेवितं भवति। तथा द्वितीयेऽन्नकाले सर्वमपथ्यं योजनीयम्। एवमेकेनान्नकालेनापथ्यपादोऽतरीकृतः। ततस्तृतीयेऽप्युचितादपथ्यात्पादद्वयमपास्यानुचितात्पथ्यात्पादद्वयमुपयुज्य ततश्चतुर्थे सर्वमपथ्यं भोज्यं पंचमे च। एवमन्नकालद्वयेन पथ्यपादद्वयसहितमपथ्यपादद्वयमंतरीकृतम्। ततः षष्ठेऽन्नकाले पादमुचितादपथ्यात्पादत्रयमनुचितात्पथ्याद्भुक्त्वा सप्तमाष्टमनवमान्नकालेषु सर्वमपथ्यं भोज्यम्। एवमन्नकालत्रयेणापथ्यमंतरीकृतम्। ततो दशमेऽन्नकाले सर्वं पथ्यं सेवनीयम्। एवं पादपादेनाप्ययमेव क्रमः। स्पष्टार्थं च दिक्प्रदर्श्यते। तथा यवकादेः षोडशांशं त्यक्त्वाऽनुचिताच्छाल्यादेः पथ्यात्षोडशांशमेव दत्त्वा चतुष्पात्त्वं संपाद्य भोज्यम्। एवमपथ्यमभ्यस्तं पादपादेन त्यक्तं भवति पथ्यं चानुचितं निषेवितं भवति। द्वितीयेऽन्नकाले सर्वमपथ्यं सेव्यम्। एवमेकेनापथ्यषोडशांशोऽतरीकृतः। ततस्तृतीयेऽप्युचितादपथ्यात्पादपादद्वयमपास्याऽनुचितात्पथ्यात्पादपादद्वयं दत्त्वा चतुष्पात्त्वं संपाद्य सेव्यम्। ततश्चतुर्थे पंचमे वाऽन्नकाले सर्वमपथ्यं भोज्यम्। एवं कालद्वयेन पादपादद्वयमपथ्यस्यांतरीकृतम्। ततः षष्ठेऽन्नकालेऽनुचितात्पथ्यात्पादपादत्रयमुचितादपथ्यात्पादपादास्त्रयोदशेति भोज्यम्। ततः सप्ताष्टमनवमान्नकालेषु सर्वमपथ्यं भोज्यम्। एवं कालत्रयेणांतरीकृताः। ततो दशमेऽन्नकाले पथ्यादनुचितात्पादपादाश्चत्वारः। अपथ्यपादपादा द्वादशेति भोज्यम्। तत एकादशे सर्वमपथ्यं भोज्यम्। तत एकेनान्नकालेनांतरीकृतम्। एवमन्नकालद्वयत्रयांतरितं च तावद्भोज्यं यावत्पथ्यस्य षोडशपादाः सेव्यतया संपद्यंते ॥ ४८ ॥

पथ्यापथ्य के सेवन और त्याग विधि—

वि०—अभ्यास से सात्म्य हुए अपथ्य को चतुर्थांश से सोलहवें अंश में छोड़े। इसी तरह पथ्य को चतुर्थांश से या सोलहवें भाग से ग्रहण करना चाहिये। इसको एक, दो और तीन दिन का अन्तर देकर जितने अंश से अपथ्य को छोड़ा हो, उतने अंश से पथ्य का ग्रहण करे ॥ ४८ ॥

वक्तव्य—इसकी व्याख्या तृतीय अध्याय के अन्तिम श्लोक में की गई है, वहाँ देख लेना चाहिये।

सोलहवें अंश के छोड़ने से एक सौ अस्सी दिन में पूरे होंगे। इसमें पाँच दिन तक का अन्तर करना चाहिये।

एवमनेन क्रमेणापथ्यदोषास्त्यक्ताः पीडायै न भवंति पथ्यगुणाश्च संवर्धिताः स्थिरतां प्राप्नुवंतीत्यत आह—

अपथ्यमपि हि त्यक्तं शीलितं पथ्यमेव वा।
सात्म्यासात्म्यविकाराय जायते सहसाऽन्यथा ॥४९॥

स०—हि यस्मात्सहसा क्रममिममनालोच्याऽन्यथैवोक्तविध्यतिक्रमेणाऽपथ्यमपि त्यक्तं सात्म्यविकाराय जायते पथ्यमेव वा सहसा शीलितमसात्म्यविकाराय जायते। सात्म्यासात्म्याभ्यां विकारः सात्म्यासात्म्यः विकारस्तस्मै। क्लृपि संपद्यमाने चतुर्थीति चतुर्थी ॥ ४९ ॥

सहसा पथ्यापथ्य के त्याग का फल—

वि०—पूर्वोक्त क्रम विपरीत एकदम से त्याग किया हुआ अपथ्य और एकदम से सेवन किया पथ्य भी रोग का कारण होता है। क्योंकि अपथ्य ही सात्म्य हुआ, रहता है, और पथ्य असात्म्य होता है। (इसलिये क्रम से छोड़े और ग्रहण करे।) ॥ ४९ ॥

क्रमेण त्वपथ्यत्यागपथ्यशीलने विधीयमाने गुणाय स्यातामिति दर्शयति—

क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः।
सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च ॥५०॥

स०—दोषा अपथ्याभ्यासजाः क्रमेण पूर्वोक्तेनापचिताः क्षयं नीताः गुणाश्च पथ्योपयोगजाः क्रमेण पूर्वोक्तेनैवोपचिताः वृद्धिं नीताः संतः पुरुषाणां यथासंख्यमपुनर्भावं यांति दोषाः गुणाश्चाप्रकंप्याः स्थिरा भवंति ॥ ५० ॥

वि०—जो दोष क्रमशः घटाये गये हैं, और जो गुण क्रमशः बढ़ाये गये हैं, वे दोष फिर उत्पन्न नहीं होते और जो गुण हैं वे स्थिर हो जाते हैं ॥ ५० ॥

सांप्रतमहिताहारसेवनं सदा त्याज्यमितिसद्युक्तिं दर्शयति—

अत्यन्तसन्निधानानां दोषाणां दूषणात्मनाम् ।
अहितैर्दूषणं भूयो न विद्वान् कर्तुमर्हति ॥५१॥

स०—दोषाणामहितैराहारादिभिर्दूषणं कर्तुं विद्वान् पंडितो नार्हति न युज्यते । किं भूतानाम् । अत्यंतमतिशयेन संनिधानं निकटत्वं येषां दोषाणां त एवं तेषां दूषणात्मनां दूषणस्वभावानाम् ॥ ५१ ॥

अहिताहार सेवन का परित्याग--

वि०—विद्वान् मनुष्य को अहित आहारादि के सेवन से (शरीर के दूष्यों के) अति समीप में रहने वाले एवं दूषण स्वभाव वाले दोषों को दूषित करना योग्य नहीं ॥ ५१ ॥

एतत्प्रसंगेन चेदमाह—

आहारशयनाब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः ।
शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः ॥५२॥

स०—शयनं स्वप्नः अब्रह्मचर्यं स्त्रीणां सेवा आहारादीनां द्वंद्वः । एतैर्युक्त्वा प्रयोजितैः शरीरं सततं धार्यते । किमिव कैः । आगारं गृहमिव धारणैः स्तंभैर्यथा ॥ ५२ ॥

दीर्घायु का विधान—

वि०—आहार (अन्न-पान सेवा), शयन (निद्रा) और अब्रह्मचर्य (मैथुन)–इनका युक्तिपूर्वक प्रयोग करने से जिस प्रकार स्तम्भों से मकान धारण किया जाता है उसी प्रकार शरीर धारण किया जाता है ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—चरक में–'त्रय उपस्तम्भाः—आहारः, स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति;' यह कहा है; आगे भी 'ब्रह्मचर्यमायुष्कराणां श्रेष्ठतमम्' आगे स्वयं वाग्भट भी ब्रह्मचर्य के लिये कहेंगे कि 'धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयपरायणम् । अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम् ।' इतना होने पर भी जो अब्रह्मचर्य पाठ दिया है, वह युगधर्म का प्रभाव है। आज की तरह वाग्भट के काल (गुप्तकाल) में भी सेक्स का शिक्षण आवश्यक माना जाता था।

आहारो वर्णितस्तत्र तत्र तत्र च वक्ष्यते ।

स०—तत्र तेषु त्रिषु मध्यादाहारो वर्णित ऋतुचर्यायां द्रवाद्रव्यस्वरूपविज्ञानीययोः । तत्र तत्र च शास्त्रकारो ज्वर-चिकित्सादौ च वक्ष्यति ।

आहार-योजना—

वि०—इन तीनों में आहार का वर्णन ऋतुचर्या तथा द्रवाद्रव्यस्वरूप-विज्ञानीय में कर दिया है; और पुनः वहाँ-वहाँ (प्रसंगानुसार) ज्वर चिकित्सा आदि में एवं मात्राशितीय में कहेंगे ।

शयनाब्रह्मचर्ययोरिव हैव विधिं वक्तुकाम आह—

निद्राऽऽयत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम् ॥५३॥
वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ।

स०—निद्रायत्तं निद्राधीनं सुखमारोग्यं दुखं रोगस्तथा पुष्ट्यादि च । न च जीवितमिति संबंधः । अजीवितेन योगो भवतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

निद्रा की आवश्यकता—

वि०—सुख, दुःख, शरीर की पुष्टि, शरीर की कृशता, शरीर का बल, निर्बलता, वृषता, क्लीबता, ज्ञान, अज्ञान, जीवन और मृत्यु ये निद्रा के अधीन हैं। (नींद आने से शरीर में सुख, पुष्टि, बल, वृषता, ज्ञान, जीवन होता है। नींद न आने से दुःख, कृशता, निर्बलता, क्लीबता, अज्ञान और मृत्यु होती है।) ॥ ५३ ॥

सांप्रतं दुष्टनिद्रां निर्दिशति—

अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता ॥५४॥
सुखायुषी पराकुर्यात् कालरात्रिरिवापरा ।

स०—अकाले निषेविताऽति च निषेविता न च निषेविता निद्रा सुखमारोग्यलक्षणमायुश्च जीवितं ते सुखायुषी पराकुर्यान्नाशयेत् । केव । अपरा कालरात्रिरिव ॥ ५४ ॥

अकाल निद्रा का कुपरिणाम—

वि०—अकाल में निद्रा, अतिनिद्रा और निद्रा न सेवन करना ये आरोग्य और जीवन का नाश करते हैं; ये तीनों दूसरी कालरात्रि के समान हैं ॥ ५४ ॥

अथ निद्रागुणप्रसंगेन तत्प्रतिपक्षभूतस्य जागरणस्याऽपि गुणमाह—

रात्रौ जागरणं रूक्षं, स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा ।
अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥५५॥

स०—अपिशब्दावत्र सामर्थ्यलब्धौ बोद्धव्यौ । तेन रात्रावपि जागरणं रूक्षम् । दिवा त्वाज्ञेयमत्यर्थं रूक्षं कालेनाहितबलत्वात् । तथा प्रस्वपनं दिवाऽपि स्निग्धम् । रात्रौ तु सौम्यकालेऽतिशयेन स्निग्धमित्यवतिष्ठते । अपिशब्दाभ्यामंतरेण तु रात्रावेव जागरणं रूक्षं दिवा तु स्निग्धमित्यर्थो जायते । व्यच्छेद्यफलत्वाद्वाक्यानाम् एवं दिवस एव स्निग्धं प्रस्वपनं रात्रौ तु रूक्षमिति । नचैतद्युज्यते । ततो दिवा जागरणं सदा रूक्षं नाभविष्यत् तत्कथमिदमुपपत्स्यते बहुमेदः कफाः स्वप्युः स्नेहनित्याश्च नाहनि । विषार्तः कंठरोगी च नैव जातु निशास्वपीति । येषां ह्यपतर्पणमेव हितं यच्चापतर्पणं तदवश्यं रूक्षम् । तस्मादपतर्पणस्वभावं जागरणमेव सेव्यम् । तथा । ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यराज्यल्पभावतः । दिवा स्वप्नो हितोऽन्यस्मिन् कफपित्तकरो हि सः । मुक्त्वा तु भाष्ययानाध्वमद्यस्त्रीभारकर्मभिः । क्रोधशोकभयैः क्लातान् श्वासहिध्मातिसारिणः । वृद्धबालाबलक्षीणक्षततृट्शूलपीपितान्

अजीर्णाभिहितोन्मत्तान् दिवा स्वप्नोचितानपि । तदेतेषां संतर्पणार्हत्वात्संतर्पणमेव हितम् । यच्च संतर्पणं तदवश्यं स्निग्धम् । तस्मादेतैः संतर्पणस्वभावमेव सदा प्रस्वपनं सेव्यम । एवं च पूर्वमेव च व्याख्यानं युक्तम् । प्रस्वप्नजागरणक्रिययोरद्रव्ययोरपि रूक्षस्निग्धत्वमुपचारादुपपन्नम् । यथा रूक्षं द्रव्यं गुग्गुलवादि कफमेदः प्रभृतीन् सौम्यान् भावान् क्षपयति । तथैव तदा जागरणमपि तत्क्षपयद्दृष्टं तदा तद्रूक्षकार्यकरणादरूक्षमपि रूक्षमित्युपचर्यते । तथा प्रस्वपनादर्वाक्कफमेदः प्रभृतीनां सौम्यानां भावानां स्वहेतोरुत्पादस्तथा नोपलभ्यते । यथा प्रस्वपनादनंतरं तस्मात्प्रस्वपनमस्निग्धमपि स्निग्धमित्युपचर्यते । प्रचल इवाचारतीति क्यङन्ताण्णिष्ठा । आसीनस्योपविष्टस्य प्रचलायितमासीनप्रचलायितं नतु प्रस्वपनं सर्वसर्विकया । येन स्नेहन हेतुः स्यात् । रूक्षकार्याकरणादरूक्षम् । अनभिष्यंदि तु विशेषेण । आसीनप्रचलायितं पुनरीहप्रपमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

रात्रि-जागरण और दिवा-शयन का प्रभाव—

वि०—रात्रि में जागना रूक्षताकारक है (वातव्याधि जनक है); दिन में सोना स्निग्धता करता है (कफरोगजनक है)। बैठ कर झूमते हुए झपकी लेना (दिन में) न तो रूक्षता करता है और न अभिष्यन्दी है ॥ ५५ ॥

वक्तव्य—'स्वप्नकामो दिवा काममुपविष्टः शयीत वा । प्रस्तीर्णाङ्गस्य जन्तोर्हि श्लेष्मा कोष्ठे प्रवर्त्तते ॥'—भेल । 'आसीनप्रचलः स्वप्नो निरभिष्यन्दिबृंहणः ॥'

यदि स्निग्धत्वादभिष्यंदी दिवास्वप्नस्तत्किं कदाचिदपि नकार्यं इत्याह—

ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावतः ॥५६॥
दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन् कफपित्तकरो हि सः ।
मुक्त्वा तु भाष्ययानाध्वमद्यस्त्रीभारकर्मभिः ॥५७॥
क्रोधशोकभयैः क्लान्तान् श्वासहिध्मातिसारिणः ।
वृद्धबालाबलक्षीणक्षततृट्शूलपीडितान् ॥५८॥
अजीर्ण्यभिहतोन्मत्तान् दिवास्वप्नोचितानपि ।
धातुसाम्यं तथा ह्येषां श्लेष्मा चाङ्गानि पुष्यति ॥५९॥

स०—ग्रीष्मकाले दिवास्वाप्नो हितः। यतस्तस्मिन्काले पवनचयो भवति । आदानस्य च परिपुष्टत्वादतिरौक्ष्यं भवति। रात्रयश्च निद्रासमाप्त्ययोग्या अल्पा भवति । दिवास्वप्नश्च संतर्पकः। ग्रीष्मादपरस्मिन् काले कफपित्तकरः सोऽचिंत्यत्वाद्धेतुप्रभावस्य । भाष्यादिक्लांतादीन् मुक्त्वा वर्जयित्वा तेनैतदुक्तं भवति । ग्रीष्मादपरस्मिन्नपि काले स्वप्न एषां हित एव। यानमश्वादि । क्षतः खड्गादिच्छिन्नः। अभिहतो लगुडादिना। स्वप्नोचिताः शीलितदिवास्वप्नाः । तत्र भाष्यादिक्लांतानां पवनकोपात्स्वप्नोऽनुज्ञातः । श्वासहिध्मादीनां वेगविस्मरणार्थम् । वृद्धादीनां यथायथं संतर्पणार्थं वेगविस्मरणार्थं च। अजीर्णिनां दिवास्वप्नोचितानां च धातुवैषम्यपरिहारार्थं दिवास्वप्नोऽनुमतस्तंत्रकृता । तथा चोक्तम् । उचितो हि दिवास्वप्नो येषां नित्यं शरीरिणाम् । वातादयः प्रकुप्यन्ति तेषामस्वपतां दिवेति । नन्वजीर्णिनां दिवास्वप्नो न युक्तो दिवास्वप्नस्य कफवृद्धिकरत्वात् । कफवृद्ध्या चाग्निमांद्यम् । अग्निमांद्यादजीर्णान्नस्याऽपाक इत्ययुक्तस्तेषां दिवास्वप्नः । अत्रोच्यते । दिवास्वप्नेनाजीर्णिनां धातुसाम्यं भवति धातुसाम्ये च सति स्वस्थानस्थितैर्दोषैरनुपहतो वह्निः पचक्षमो भवति । कफस्तु वृद्धोऽपि नैतेषामग्निमांद्यं विधत्ते । अपित्वंगानां पुष्टिमादधाति । अत एवानंतरमेवोवाच शास्त्रकारः धातुसाम्यं तथा ह्येषां श्लेष्मा चांऽगानि पुष्यतीति ॥५६–५९॥

ग्रीष्म ऋतु में दिवा-शयन का विधान—

वि०—ग्रीष्मकाल में—वायु का सञ्चय होने से, आदान काल होने से, रूक्षता होने से तथा रात्रियों के छोटा होने से दिन में सोना हितकारी है । अन्य ऋतुओं में दिन में सोने से कफ और पित्त दूषित होते हैं । बहुत बोलने, सवारी करने, पैदल चलने, मद्य सेवन, स्त्री-प्रसङ्ग एवं बोझा ढोने आदि कर्म एवं क्रोध, शोक और भय से थके लोगों को दिन में सोना उत्तम है । श्वास, हिक्का, अतीसार से पीड़ित; वृद्ध, बालक, निर्बल, क्षीण, क्षतकासी, प्यास, शूल से पीड़ित; अजीर्ण होने पर, चोट लगने पर एवं पागल तथा जिनको दिन में सोने की आदत है; उनको भी दिन में सोना अच्छा है । दिन में सोने से इनमें धातुओं की समानता होती है; और कफ अङ्गों को पुष्ट करता है ॥ ५६–५९ ॥

वक्तव्य—इन लोगों को भी दिन में थोड़ा ही सोना चाहिये तथा—प्रतिषिद्धेष्वपि……मुहूर्तं दिवास्वप्नमप्रतिषिद्धम् । रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्धमिष्यते दिवास्वप्नम् ।' (सु. शा. अ. ४।३८)

बहुमेदःकफाः स्वप्युः स्नेहनित्याश्च नाहनि ।
बिषार्तः कण्ठरोगी च नैव जातु निशास्वपि ॥६०॥

स०—तथा बहुमेदः श्लेष्माणः स्निग्धाहारादिशीलिनश्च ग्रीष्मेऽप्यहनि न स्वप्युः । विषार्तः कंठरोगी च रात्रिष्वपि कदाचिदपि न स्वप्यात् ॥ ६० ॥

ग्रीष्म ऋतु में भी दिवा शयन का निषेध—

वि०—जिनमें कफ और मेद की अधिकता हो; और जो नित्य स्निग्ध भोजन करते हैं उनको (ग्रीष्म में भी) दिन में नहीं सोना चाहिये । विषरोगी और गले के रोगी को कभी भी रात में भी नहीं सोना चाहिये ॥ ६० ॥

अकालशयनान्मोहज्वरस्तैमित्यपीनसाः ।
शिरोरुक्शोफहृल्लासस्रोतोरोधाग्निमन्दताः ॥६१॥

स०—अकाले शयनं स्वप्नोऽकालशयनं तस्मादकालशयनान्मोहादयः स्युः । स्तैमित्यं गात्राणां निरुत्साहत्वम् ॥६१॥

असमय में निद्रा का निषेध—

वि०—असमय में सोने से—मोह, ज्वर, स्तिमितता (शरीर में निरुत्साह), पीनस, शिरदर्द, शोफ, जी मचलाना, स्रोतों में रुकावट और अग्निमान्द्य होता है ॥ ६१ ॥

अत्र च का चिकित्सेत्याह—

तत्रोपवासवमनस्वेदनावनमौषधम् ।
योजयेदतिनिद्रायां तीक्ष्णं प्रच्छर्दनाञ्जनम् ॥६२॥
नावनं लङ्घनं चिन्तां व्यवायं शोकभीक्रुधः ।
एभिरेव च निद्राया नाशः श्लेष्मातिसङ्क्षयात् ॥६३॥

स०—तेष्वकालस्वप्नजेषु रोगेषूपवासाद्यौषधं योजयेत् । निद्रायाश्च बाहुल्येन रात्रिः कालः । तथा चोक्तम् । लोकादिसर्गप्रभवा तमोमूला तमोमयी । बाहुल्यात्तमसो रात्रौ निद्रा प्रायेण जायत इति । अतिनिद्रायां सत्यां तीक्ष्णानि वमनांजननस्यानि योजयेत् । लंघनानि च । एभिरेव च तीक्ष्णवमनादिभिर्निद्राया नाशो भवति । श्लेष्माख्यस्य धातोरतिशयेनापचयात् ॥ ६२-६३ ॥

अतिनिद्रा की चिकित्सा—

वि०—चिकित्सा—इस अवस्था (अकालशयन-जनित विकारों) में उपवास, वमन, स्वेद, नस्य का प्रयोग करें। निद्रा के अधिक आने पर—तीक्ष्ण अञ्जन, तीक्ष्ण वमन, नस्य, लङ्घन, चिन्ता, सम्भोग, शोक, भय, क्रोध का सेवन करें। इनसे श्लेष्मा का बहुत क्षय होने पर निद्रा का नाश होता है ॥ ६२-६३ ॥

वक्तव्य—मनुष्य को रात में ही नींद क्यों आती है—इसके लिये 'लोकादिसर्गप्रभवा तमोमूला तमोमयी । बाहुल्यात्तमसो रात्रौ निद्रा प्रायेण जायते ॥' (संग्रह सू. अ. ९) 'रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा'—(च. सू. अ. २१।५८) रात में तम की अधिकता होने से निद्रा आती है। इसके अतिरिक्त दिन काम करने के लिए और रात विश्राम के लिए है। दिन भर के श्रम के बाद सब इन्द्रियाँ थक कर विश्राम चाहती हैं तब नींद आती है।[1]

संप्रति निद्रानाशजान्विकारानाचष्टे—

निद्रानाशादङ्गमर्दशिरोगौरवजृम्भिकाः ।
जाड्यग्लानिभ्रमापक्तितन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥६४॥

स०—निद्रानाशादंगमर्दादयो वातोत्थाश्च रोगाः स्युः ॥ ६४ ॥

निद्रानाश के परिणाम—

वि०—निद्रा के नाश (समय पर न सोने से) से-अङ्गों का टूटना, शिर में भारीपन, जम्भाई आना; जड़ता, ग्लानि, चक्कर आना, भोजन का न पचना, तन्द्रा और वातजन्य रोग होते हैं ॥ ६४ ॥

यथाकालमतो निद्रां रात्रौ सेवेत सात्म्यतः ।
असात्म्याज्जागरादर्धं प्रातः स्वप्यादभुक्तवान् ॥६५॥

स०—यतश्च सम्यक् सेवितायां निद्राया असम्यक् सेवितायाश्चाऽनंतरोक्ता गुणा दोषाः । अतोऽस्माद्धेतोः कालानतिक्रमेण सात्म्यतो यामद्वयं त्रयं वा निशि निद्रां भजेत् । असात्म्याज्जागरादर्धेन स्वप्न इष्यते । किं तर्हि यो यावंतं कालमुचितं स्वपिति तस्मात्कालादर्द्धेन प्रातः स्वप्यात् । अभुक्तवानभुक्ते सति । असात्म्यग्रहणेनै तद् द्योतयति । न सर्वस्य रात्रावसुप्तस्य जागरणकालादर्धेन दिवास्वप्न इष्यते किं तर्हि यो यावंतं कालमुचितं स्वपिति तस्मात्कालाद्यावंतं कालं निशि जागृयात्तावतोऽर्धेनासौ प्रातः स्वप्यात् । केचिद्धि स्वल्पनिद्राः स्वभावतो भवंति ॥ ६५ ॥

निद्रा का समय—

वि०—इसलिये अपने सात्म्य की दृष्टि से (६ से ८ घण्टे तक) काल के अनुसार (समय पर) रात्रि में सोये। असात्म्य के कारण रात्रि में जागरण की अवस्था में (कभी आवश्यकतावश जागना ही पड़े तो) जागरण काल के आधे समय तक बिना भोजन किये प्रातः (दिनमें) सोये ॥ ६५ ॥

वक्तव्य—'रात्रौ स्वप्यान्न यामांस्त्रींस्तान्स्वप्याद् द्विर्दिवा नरः । एतदप्याहुरारोग्यं नात्र दोषोऽस्ति कश्चन ॥' (भेड)। तथा—'असुप्तानां तथा रात्रौ तन्मात्रं स्वपनं दिवा' (खरनाद) इस प्रकार रात्रि जागरण होने पर आधा, तिहाई या पूर्णकाल तक भी आवश्यकतानुसार सो सकते हैं; किन्तु बिना भोजन किए।

शीलयेन्मन्दनिद्रस्तु क्षीरमद्यरसान् दधि ।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमूर्धकर्णाक्षितर्पणम् ॥६६॥
कान्ताबाहुलताश्लेषो निर्वृतिः कृतकृत्यता ।
मनोऽनुकूला विषयाः कामं निद्रासुखप्रदाः ॥६७॥

स०—यो यो मंदनिद्रः स क्षीरादीन् शीलयेत् । कांताबाहुलताश्लेषादयो निद्रासुखहेतवः । कांताबाहुलताश्लेषग्रहणमाश्लेषमात्रमेव निद्रासुखहेतुर्नंतु ग्राम्यधर्मसेवेति दर्शनार्थम् ॥ ६६-६७ ॥

निद्राकर उपाय

वि०—जिनको बहुत थोड़ी नींद आती हो-वे दूध, मद्य, मांसरस और दही का सेवन करें। अभ्यङ्ग, उद्वर्त्तन, स्नान, शिर पर तेल लगाना; कान में तेल डालना, आँखों का तर्पण, स्त्री का आलिङ्गन; सुखी जीवन, मनोरथों की सम्पूर्णता और मन के अनुकूल विषय यथेच्छ निद्रा सुख को देने वाले हैं ॥ ६६-६७ ॥

ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्यसुखनिस्पृहचेतसः ।
निद्रा सन्तोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते ॥६८॥

स०—अत एवानंतरमाह । ब्रह्मचर्यरतेर्निद्रा स्वं कालं नातिवर्तत इति । ब्रह्मचर्यरतस्याऽप्यनुगतो मैथुनाभिलाषो निद्रां नाशयेदित्याह । ग्राम्यसुखे निःस्पृहं चेतो यस्य स तस्य । तथा संतोषतृप्तस्य ॥ ६८ ॥

---

[1] यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥
(च. सू. अ. २१)

ब्रह्मचर्य—

वि०—ब्रह्मचर्य में लगे हुए, सम्भोग सुख से विरक्त मन वाले, एवं यथालाभ से सन्तुष्ट व्यक्ति में नींद अपने ठीक समय का उल्लङ्घन नहीं करती, अर्थात् इनको नींद ठीक समय पर स्वयं आ जाती है ॥ ६८ ॥

यदा तु ग्राम्यधर्मेण विना न रतिरपत्यार्थिता वा तदा तदधिकारार्थमुच्यते—

ग्राम्यधर्मे त्यजेन्नारीमनुत्तानां रजस्वलाम् ।
अप्रियामप्रियाचारां दुष्टसङ्कीर्णमेहनाम् ॥६९॥
अतिस्थूलकृशां सूतां गर्भिणीमन्ययोषितम् ।
वर्णिनीमन्ययोनिं च गुरुदेवनृपालयम् ॥७०॥
चैत्यश्मशानाऽऽयतनचत्वराम्बुचतुष्पथम् ।
पर्वाण्यनङ्गं दिवसं शिरोहृदयताडनम् ॥७१॥
अत्याशितोऽधृतिः क्षुद्वान् दुःस्थिताङ्गः पिपासितः ।
बालो वृद्धोऽन्यवेगार्तस्त्यजेद्रोगी च मैथुनम् ॥७२॥

स०—ग्राम्यधर्मे स्त्रीपुंसयोगविषयेऽनुत्तानां स्त्रियं त्यजेदुत्तानां भजेदित्यर्थः। तथा रजस्वलात्वादियुतां त्यजेत्। दुष्टं व्याधिमलादिभिः संकीर्णं संकुचन्मेहनं योनिर्यस्यास्ताम् । तथा वर्णिनीं ब्रह्मचारिणीम् । अन्ययोनिमजामहिष्यादिं च त्यजेत्। गुर्वित्यादि। ग्राम्यधर्मनिर्वर्तने गुरुदेवनृपालयांस्त्यजेत्। तथा चैत्यादींस्त्यजेत्। तेषु स्त्रिय न संगच्छेदित्यर्थः। चैत्यादीनां पर्याया दिनचर्यायामुक्ताः । आयतनं दुष्टानां निग्रहस्थानम्। पर्वाणि रविसंक्रांत्यादींस्त्यजेत्। तेषु कामं न सेवेतेत्यर्थः। तथाऽनंगम् अंगं जघनम् नांगमनंगमंगसदृशं जघनकार्यनिर्वर्तनयोग्यं मुखादिकमुच्यते। दाक्षिणात्या हि मुखेन कुर्वंति तन्निषिध्यते। दिवसं च त्यजेत्। दिने रतं न कुर्वीतेत्यर्थः। मूर्धवक्षोऽभिघातं च त्यजेत्। अत्याशितादयः सुरतं त्यजेयुः। अत्याशितोऽतिभुक्तः । अधृतिर्दुर्मनाः । अन्यवेगार्तः तुरीषादिवेगातुरः। ननु क्षुद्वान् क्षुद्वेगार्त उच्यते। ततोऽन्यवेगार्त इत्यनेनैवाऽस्यार्थस्य लब्धत्वात् किं क्षुद्वानित्यनेन। सत्यमेतत्। अतिशयार्थं त्वेतत्। यथा क्षुद्वेगार्तः स्त्रियं गच्छन्नतिशयेन पीडया बाध्यते न तथाऽन्यवेगार्त इति ॥ ६९–७२ ॥

असंभोग्य स्त्री—

वि०—सम्भोग के समय जो स्त्री उत्तान (चित्त) न हो; रजस्वला हो, अवाञ्छनीय हो; अनिष्ट आचार वाली हो; दूषित योनि (योनि रोग से युक्त हो), सङ्कुचित योनि, अति स्थूल, अति कृश, प्रसूता, गर्भवती, पराई स्त्री, ब्रह्मचारिणी हो उसका तथा विजातीय योनि का त्याग करे। गुरु के समीप, देवता के समीप, राजा के समीप, चैत्य, श्मशान, वधस्थान, चौपाल, पानी, चौराहा, पर्वकाल, अनङ्ग (मैथुनाङ्ग-योनि से भिन्न अंग-मुख आदि) और दिन में सम्भोग न करे। सम्भोग के समय हृदय और शिर पर प्रहार (मुष्टि आदि से) न करे। भोजन करने पर, अधीर होकर, भूखा होने पर, शरीर को विषम स्थिति में रख कर, प्यास लगी होने पर तथा मल, मूत्र आदि किसी के भी उपस्थित वेग से पीड़ित होने पर मैथुन न करे। बालक, वृद्ध और रोगी मनुष्य सम्भोग न करे ॥ ६९–७२ ॥

वक्तव्य—सम्भोग में स्त्री को उत्तान रहना चाहिये, यथा-'तस्मादुत्ताना बीजं गृह्णीयात्—यथा हि, यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः ॥' (चरक शा. अ. ८।६) अन्य योनि-बकरी, घोड़ी आदि की। अनङ्ग-अङ्ग=जघन या योनि; जो अङ्ग नहीं-सम्भोग के लिये अयोग्य अङ्ग, गुदा, मुख आदि। दिन में मैथुन-'प्राणा एव प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुजन्ते ॥' उपनिषद्। बालक और वृद्ध में—'नर्ते वै षोडशाद् वर्षात् सप्तत्याः परतो न च। आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोजयितुमर्हति ॥' (चरक चि. अ. २; ४।४०)

संप्रति ऋतुविशेषे निधुवनं नियमयति—

सेवेत कामतः कामं तृप्तो वाजीकृतां हिमे ।
त्र्यहाद्वसन्तशरदोः पक्षाद्वर्षानिदाघयोः ॥ ७३ ॥

स०—तृप्तो वाजीकरणैः संजातसंतर्पणः सन् कामतो यथेच्छया हिमे हेमंततौ शिशिरे च कामं यथेच्छं सेवेत। वाजीकृतामिति संपदादित्वात्क्विप्। तृप्त इति क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्येत्यादिनाऽधिकरणे क्तः । अधिकरणवाचिनश्चेति षष्ठी। वसंते शरदि च त्र्यहात् त्र्यहमतिक्रम्य मैथुनं निषेवेत। वर्षाग्रीष्मयोः पक्षात् कामं भजेत् ॥ ७३ ॥

स्त्रीप्रसंग का समय—

वि०—शीतकाल में वाजीकरण ओषधियों से तृप्त हुआ मनुष्य इच्छानुसार सम्भोग सुख का अनुभव करे। वसन्त और शरद् ऋतु में तीन दिन छोड़कर तथा वर्षा और ग्रीष्म में पन्द्रह दिन पीछे सम्भोग करे ॥ ७३ ॥

वक्तव्य—'ऋतावृतौ यथाकालं मैथुनं तु समाचरेत्। वर्षासु नवरात्रात्तु दशरात्राच्छरद्यपि ॥ पञ्चाहाच्छीतसमये सप्ताहाच्छिशिरे तथा। वर्षाद् वसन्ते ग्रीष्मे तु मासि मासे समाचरेत् ॥ निदाघे पश्चिमे मासि मैथुनं न समाचरेत् ॥' भेड।

भ्रमक्लमोरुदौर्बल्यबलधात्विन्द्रियक्षयाः ।
अपर्वमरणं च स्यादन्यथा गच्छतः स्त्रियम् ॥ ७४ ॥

स०—अन्यथोक्तविधेरन्येन प्रकारेण स्त्रियं गच्छतो भ्रमादयः स्युः। अपर्वण्यकाले मरणमपर्वमरणम् ॥ ७४ ॥

अनियमित स्त्रीप्रसंग से हानि—

वि०—उपर्युक्त विधि को न पालने से भ्रम, क्लम, जाँघों में निर्बलता, बलक्षय, धातुक्षय, इन्द्रिय का क्षय और अकाल मृत्यु ये सब होते हैं ॥ ७४ ॥

वक्तव्य—दूषित योनि में और विपरीत सम्भोग करने से रोग होते हैं—उसके लिये 'विपरीतरतप्राप्त्या लिङ्गे दाहः प्रजायते। कार्श्यं च सर्वगात्रेषु तत्प्रतीकार उच्यते। प्रत्यग्रवर्तिं निबध्यैव लिङ्गाचूषणमाचरेत्। क्षरणे तस्य संजाते स्नापये-

च्छीतलाम्बुना ॥ कोलनिर्यासमादाय पाययेत्तं सशर्करम् । शाल्मलीदूर्वयोर्मूलरसं पायसमाशयेत् ॥' रसायुर्वेद ।

स्मृतिमेधाऽऽयुरारोग्यपुष्टीन्द्रिययशोबलैः ।
अधिका मन्दजरसो भवन्ति स्त्रीषु संयताः ॥ ७५ ॥

स०—स्त्रीषु संयताः स्त्रीः सम्यक् सेवमानाः स्मृत्यादिभिरधिका अल्पजराश्च भवंति ॥ ७५ ॥

नियमित स्त्रीप्रसंग से लाभ—

वि०—स्त्रियों के विषय में संयमी पुरुष, स्मृति, मेधा, आयु, आरोग्य, पुष्टि, इन्द्रियों की शक्ति, शुक्र, यश और बल में अधिक होते हैं तथा इनको देर में बुढ़ापा आती है ॥७५॥

स्नानानुलेपनहिमानिलखण्डखाद्य-
शीताम्बुदुग्धरसयूषसुराप्रसन्नाः ।
सेवेत चानुशयनं विरतौ रतस्य
तस्यैवमाशु वपुषः पुनरेति धाम ॥ ७६ ॥

स०—रसांते यथौचित्येन स्नानादीन् सेवेत । खण्डखाद्यं खंडकृतं कणिकेत्यादि । रसो मांसरसः । चानुशयनमिति । अनु पश्चाच्च स्वप्नं सेवेत । तस्य स्नानादिसेविनः शरीरस्य एवमस्मिन्कृते धाम तेजो भूय आगच्छति । स्मौ जौ वसंततिलकं गुरुकद्वयं च । स्नानांगरागव्यजनेंदुपादयूषासवक्षीररसान् रसालाम् । भक्ष्यान् सिताढ्यान् सलिलं सुशीतं सेवेत निद्रां च रतांततांत इति ॥ ७६ ॥

मैथुन के बाद सेवनीय पदार्थ—

वि०—सम्भोगके पीछे सेवनीय—सम्भोग के पीछे स्नान, चन्दनादि का लेप; शीतल वायु, शर्करा प्रचुर भक्ष्य (मोदक आदि), मांसरस, मूंग आदि का यूष, सुरा, निर्मल सुरा, निद्रा इनका सेवन करने से शरीर का तेज पुनः शीघ्र आ जाता है ॥ ७६ ॥

वक्तव्य—'भक्ष्याः सशर्कराः क्षीरं ससितं रस एव च । स्नानं सव्यजनं स्वापो व्यवायान्ते हितानि तु ॥' (सुश्रुत)

एतच्च पूर्वोक्तं हिताहितं सर्वं वैद्य एव वेत्ति तस्माद्वैद्ये सर्वथा शरीरं राज्ञां निवेद्यमिति दर्शयन्नाह—

श्रुतचरितसमृद्धे कर्मदक्षे दयालौ
भिषजि निरनुबन्धं देहरक्षां निवेश्य ।
भवति विपुलतेजःस्वास्थ्यकीर्तिप्रभावः
स्वकुशलफलभोगी भूमिपालश्चिरायुः ॥ ७७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थानेऽन्नरक्षा
नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

स०—भिषजि शरीररक्षणं निरनुबंधं निर्विकल्पमाधाय बहुकालमात्मीयश्रेष्ठफलभोगवान् तथा तेजश्च स्वास्थ्यं च कीर्तिश्च प्रभावश्च एवं विपुला विस्तीर्णास्तेजःस्वास्थ्यकीर्तिप्रभावा यस्य स एवंविधः । कीदृशे भिषजि । श्रुतं शास्त्रावबोधः । चरितमाचारः । ताभ्यां समृद्धे संपूर्णे । तथा क्रियाचतुरे । तथा कृपालौ । वसुमुनिविरतिश्चेन्मालिनी नौ मयौ यः ॥ ७७ ॥

इति श्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांग-
सुंदराख्यायामन्नपानरक्षाध्यायः सप्तमः ॥ ७ ॥

चिकित्सक को शरीर का स्वामित्व—

वि०—शास्त्र ज्ञानयुक्त एवं शास्त्रोक्त अनुष्ठान वाले, उपचार कुशल, दयावान, वैद्य में बिना शङ्का के अपने शरीर की रक्षा का भार सौंप कर राजा अतिशय कान्ति वाला, आरोग्य, कीर्त्ति तथा प्रताप से युक्त एवं अपने उपार्जित पुण्य के फल को भोगने वाला तथा दीर्घायु होता है ॥ ७७ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का अन्न-रक्षा
नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

अष्टमोऽध्यायः

अन्नरक्षाध्यायानंतरं मात्राशितीयो युक्तः । यतो विषादिभ्यो रक्षितमन्नपानं हीनमात्राभ्यवहृतं जीवितोपघाताय संपद्यते । मात्राभ्यवहृतं प्राणिनां प्राणाय—

अथातो मात्राऽशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

स०—अथेत्यानंतर्ये यथा । अथाऽतो धर्मजिज्ञासेति वेदाध्ययनादनंतरं धर्मो जिज्ञासितव्य इत्यर्थः । अतः इति प्रस्तुताभिसंबंधे । अशनमशितम् । भावे निष्ठा । मात्रयाऽशितं तस्मै हितो मात्राशितीयः । शेषं पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥१॥

वि०—अब इसके आगे मात्राशितीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

मात्राशी सर्वकालं स्यान्मात्रा ह्यग्नेः प्रवर्त्तिका ।
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते गुरूण्यपि लघून्यपि ॥ १ ॥

स०—सर्वकालं स्वस्थ आतुरो वा मात्राशी स्यात् परिमिताशी भवेत् । कुतो हेतोः हि यस्मान्मात्राऽग्नेः प्रवर्तिका स्वव्यापारे अग्निप्रवृत्तिश्च देहस्थितिहेतुः । तथा चोक्तम् । अग्निमूलं बलं पुंसां बलमूलं हि जीवितमिति । तस्मान्मात्रायाः प्राधान्यम् । यस्माच्च कारणान्मात्रायाः प्राधान्यं ततो मात्रां द्रव्याण्यपेक्षंते गुरूण्यपि लघूनि च । तत्र गुरूणि पिष्टक्षीरद्राक्षाक्षोडेक्षुमाषानूपमांसादीनि । लघूनि दिव्योदकरक्तशालिषष्टिकमुद्गलावकपिंजलैणशशशंबरादीनि ॥ १ ॥

परिमित आहार का विधान—

वि०—सब समयों (रोगी और स्वस्थावस्था) में मनुष्य को मात्रा में खाने वाला होना चाहिये; क्योंकि मात्रा अग्नि को (स्वकर्म=पाचन कार्य में) प्रवृत्त करने वाली है । गुरु द्रव्य और लघु द्रव्य सभी मात्रा की अपेक्षा करते हैं ॥ १ ॥

तत्र गुरूणां का मात्रा का लघूनामित्याह—

गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता ।
मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं यावद्धि जीर्यति ॥ २ ॥

स०—गुरूणां द्रव्याणामर्धसौहित्यमर्धतृप्तिः लघूनां नातितृप्तता नातितृप्तिः किं तर्हि सौहित्यमात्रम् । एतन्मात्राप्रमाणं निर्दिष्टम् । मात्रा ह्रस्वा मध्या बृहती च तस्याः प्रमाणम् । तत्र प्रमाणं 'मानम् । एवं चात्र मात्राशब्दस्यापौनरुक्त्यम् । हि तावत् परिमाणमभ्यवहृतं सुखमविकृतिं कृत्वा परिणमति । एतद्विपर्ययेण हीनमात्रं भोजनं वर्ज्यं दोषदर्शनात् ॥ २ ॥

गुरु लघु द्रव्यों की मात्रा[1]—

वि०—जितनी आहार-राशि से तृप्ति उत्पन्न हो, उससे आधी मात्रा में गुरु द्रव्यों का सेवन करना चाहिये । लघु द्रव्यों को बहुत पेट भर कर नहीं खाना चाहिये । जितना सुखपूर्वक पच जाये वही मात्रा का प्रमाण जानना चाहिये ॥ २ ॥

वक्तव्य—कहा भी है 'यदभ्यवहृतं सम्यग् यथाकालं जरां व्रजेत् । प्रकृत्यविकृतिं कृत्वा तन्मात्रालक्षणं विदुः ॥'

यथा चाह—

भोजनं हीनमात्रं तु न बलोपचयौजसे ।
सर्वेषां वातरोगाणां हेतुतां च प्रपद्यते ॥ ३ ॥

स०—हीनमात्रं पुनरशनं न बलाय नोपचयाय न चौजसे । सर्वेषां वातरोगाणां कारणतां याति ॥ ३ ॥

अत्यल्प भोजन से हानि—

वि०—मात्रा से कम किया भोजन न तो बल के लिये, न पुष्टि के लिये और न कान्ति के लिये होता है । और सब वातरोगों की उत्पत्ति में कारण बनता है ॥ ३ ॥

अतिमात्रं पुनः सर्वानाशु दोषान् प्रकोपयेत् ।

स०—अतिमात्रं त्वशनं त्रीनपि दोषान् शीघ्रमेव प्रकोपयति ।

अति भोजन से हानि—

वि०—मात्रा से अधिक किया भोजन सब दोषों को शीघ्र प्रकुपित कर देता है ।

कुपिताश्च त्रयो दोषा अलसकाख्यं विसूचिकाख्यं वा व्याधिं यथा कुर्वंति तथा दर्शयति—

पीड्यमाना हि वाताद्या युगपत्तेन कोपिताः ॥ ४ ॥
आमेनान्नेन दुष्टेन तदेवाविश्य कुर्वते ।
विष्टम्भयन्तोऽलसकं च्यावयन्तो विसूचिकाम् ॥ ५ ॥
अधरोत्तरमार्गाभ्यां सहसैवाजितात्मनः ।

स०—तेनापक्वेनाहारेण दुष्टेन वाताद्या हि यस्मात्पीड्यमाना विबध्यमाना रुद्धमार्गत्वादत एव युगपदेककालं सर्व एव कोपितास्तदेव दुष्टमन्नमाविश्याऽलसकं कुर्वते । किंकुर्वंतः। विष्टंभयंतस्तदेव दुष्टमन्नं स्रोतःसुरुन्धानाः तथाऽधरोत्तरमार्गाभ्यां सहसैवानुचिते देशे काले च्यावयंत ऊर्ध्वमधश्च निष्कर्षयंतः । अजितात्मनोऽसंयतचेतसः मनुजस्य विषूचिकां कुर्वते ॥ ४-५ ॥

अजीर्ण भोजन का परिणाम—

वि०—क्योंकि मात्रा से अधिक खाने से सभी दोष उसी दुष्ट आम अन्न से दबते हुए पुनः एक साथ कुपित होकर उसी दूषित आम अन्न में प्रविष्ट होकर उसको रोकते हुए अलसक को उत्पन्न करते हैं; अथवा आम अन्न को ऊपर एवं निचले मार्ग से (वमन-विरेचन रूप में) वेगपूर्वक बाहर करते हुए असंयमी पुरुष में विसूचिका उत्पन्न करते हैं ॥ ४-५ ॥

एतदेव सविस्तरमाह—

प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न च पच्यते ॥ ६ ॥
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः ।

स०—ऊर्ध्वं मुखेनाहारो न प्रयाति न चाधस्तद्गुदेन प्रयाति न चाहारः पच्यते आमाशये नाभिस्तनांतरं जंतोरामाशय इति स्मृतस्तस्मिन्नलसीभूत इवालसीभूतः । यथाऽकर्मशीलः पुरुषोऽलस इत्युच्यते तथाऽयमाहारोऽलसीभूतस्तिष्ठति तेन हेतुना स रोगोऽलसकः स्मृतः ॥ ६ ॥

अलसक का लक्षण—

वि०—इससे आहार न तो मुख से (वमन द्वारा) और न गुदा मार्ग से बाहर जाता है, और न पचता है; केवल आमाशय में अकर्मशील-निष्क्रिय पड़ा रहता है, इसलिये उसे अलसक कहते हैं ॥ ६ ॥

विसूचिकायास्तु निर्वचनमाह—

विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपतः ॥ ७ ॥
सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विसूचिका ।

स०—वाय्वादीनां त्रयाणामत्यंतप्रकोपान्नानाप्रकारैर्वेदनोद्भेदैः पीडोत्पादैर्यस्माद्गात्राणि सूचीभिरिव विध्यति तस्माद्विसूचिकेत्युच्यते । विविधानां विकाराणां सूचिका विसूचिका विसूचिकेत्युच्यते ॥ ७ ॥

विसूचिका के लक्षण—

वि०—विसूचिका—अतिशय कुपित वातादि-नाना प्रकार की वेदनाओं को उत्पन्न करके शरीर के अङ्गों में सूई के चुभने के समान पीड़ा देते हैं—इसलिये इस रोग को विसूचिका

---

[1] मात्रा सम्यग्योग की निर्देशिका है । अमात्रा से अयोग या हीनयोग तथा अतियोग और मिथ्यायोगरूप असम्यग्योग का निर्देश होता है । हेमाद्रि ने असम्यग्योग के सात भेद लिखे हैं :— १-सङ्कीर्णभोजन = निषिद्ध लोगों के घर या उनके साथ और निषिद्ध अन्न का भोजन. २-विरुद्धभोजन = संयोगादिविरुद्ध. ३-अजीर्णाशन = उचित मात्रा में भी जिसका पाचन न हो. ४-५-६-समाशन, अध्यशन और विषमाशन (इसका वर्णन आगे किया गया है) तथा ७-अमात्राशन – जिसका वर्णन कर रहे हैं ।

(विविधनां विकाराणां सूचिका अथवा विविधसूचीतुल्यत्वाद् विसूचिका) कहते हैं ॥ ७ ॥

तत्र शूलभ्रमानाहकम्पस्तम्भादयोऽनिलात् ॥ ८ ॥
पित्ताज्ज्वरातिसारान्तर्दाहतृट्प्रलयादयः ।
कफाच्छर्द्यङ्गगुरुतावाक्सङ्गष्ठीवनादयः ॥ ९ ॥

स०—वातादधिकाच्छूलादयो भवंति। आदिशब्देनांगोद्वेष्टनमुखशोषादिपरिग्रहः। पित्तादुवृद्धाज्ज्वराद्याः स्युः। प्रलयो मूर्च्छाप्रायः। आदिशब्देन मदादिपरिग्रहः॥ कफादधिकाच्छर्द्यादयो भवंति। आदिशब्देन क्षवथ्वादीनां ग्रहणम् ॥ ८-९ ॥

विसूचिका में उपद्रव—

वि०—इसमें वायु से शूल, भ्रम, आनाह, कम्प, स्तम्भ आदि होते हैं। पित्त से-ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, प्यास, मूर्च्छा आदि होते हैं। कफ के कारण-वमन, अंगों में भारीपन, वाणी का अवरोध, थूक का आना आदि होता है ॥ ८-९ ॥

विशेषाद् दुर्बलस्याल्पवह्नेर्वेगविधारिणः ।
पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा ॥ १० ॥
अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनेव संस्थितम् ।
शूलादीन् कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान् ॥ ११ ॥
सोऽलसः—

स०—दुर्बलत्वादियुक्तस्य यन्मारुतेन विशेषादन्नं पीडितमंतराऽऽमाशयमध्य एव श्लेष्मणा रुद्धमलसीभूतं तथा दोषैः क्षोभितमाकुलितमत एवाऽतिपीडाकारित्वाच्छल्यरूपत एव स्थितं तीव्रान् दुःसहान् शूलादीन् छर्द्यादिवर्जितान् कुरुते। छर्द्यतीसाराभ्यां विसूचिकोक्ता। सोऽलससंज्ञो रोगः। दुर्बलो ह्यनुपचितधातुः स न कदाचिदाहारं सोढुं शक्तः। अल्पाग्नेश्चाहारं सम्यङ् न जीर्यति। यतो वेगधारणशीलस्य प्रतिहतो वायुर्विमार्गगः पित्तकफावपि विमार्गगौ कुरुत इत्येतद्विशेषेण निर्देशः ॥ १०-११ ॥

अलसक—

वि०—अलसक—विशेष करके दुर्बल, मन्दाग्नि एवं रोगों को रोकने वाले पुरुषों में वायु से पीड़ित अन्न मार्ग में कफ के कारण रुक जाने से निष्क्रिय बनकर वातादि दोषों से सञ्चालित होकर शल्य रूप में (कष्ट देता हुआ) स्थित होकर वमन-अतिसार से रहित उपर्युक्त शूलादि लक्षणों को उत्पन्न करता है तो इसको अलसक कहते हैं ॥ १०-११ ॥

दंडकालसकं लिलक्षयिषुराह—

—अत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टामबद्धखाः ।
यान्तस्तिर्यक्तनुं सर्वां दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत् ॥ १२ ॥
दण्डकालसकं नाम तं त्यजेदाशुकारिणम् ।

स०—अतिशयेन दुष्टा दोषास्तथा दुष्टामेन बद्धानि पूर्णानि खानि स्रोतांसि यैस्ते दुष्टामबद्धखाः। तथा तिर्यगच्छंतः तनुं सर्वां शरीरं सकलं दंडवद्यदि स्तंभयंति प्रसारणाकुंचनरहितं कुर्वंति तदा दंडकालसको नाम रोगो भवति। तं दंडकालसकं त्यजेन्नोपक्रमेत्। यत आशुकारिणमाशु शीघ्रं स्वकर्म मारणं करोतीत्याशुकरी। क्षिप्रं हंतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

दण्डालसक—

वि०—दण्डालसक—अतिशय दूषित एवं दूषित आम से अवरुद्ध स्रोतों वाले दोष जब तिरछे जाते हुए शरीर को दण्डे की भाँति स्तब्ध बना देते हैं-तब इसको 'दण्डालसक' कहते हैं। इस दण्डालसक की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये—क्योंकि यह शीघ्र मारक है ॥ १२ ॥

वक्तव्य—दूषित आम से स्रोतों के बन्द हो जाने से दोष मार्गावरोध के कारण तिरछे जाते हैं।[1]

संप्रत्यामविषं निर्दिशति—

विरुद्धाध्यशनाजीर्णशालिनो विषलक्षणम् ॥ १३ ॥
आमदोषं महाघोरं वर्जयेद्विषसंज्ञकम् ।
विषरूपाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वतः ॥ १४ ॥

स०—विरुद्धं प्रागुक्तं विरुद्धमपीत्यादिना। विषादध्यशनमित्यादिनाऽध्यशनम्। अजीर्णं च त्रिविधं वक्ष्यति। एतानि शीलितुं शीलं यस्य तस्य पुंसो य आमदोषो विषलक्षणलालादिलक्षणयुक्तो महाघोरोऽतिकष्टो विषाख्यो यो भवति तं न चिकित्सेत्। कुतः। विषरूपत्वादाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्च। विषसदृशस्वरूपत्वाद्विषे शीतोपक्रमो युक्त आमे चोष्णोपक्रमो युक्त इति विरुद्धोपक्रमत्वम् ॥ १३-१४ ॥

आम विष का लक्षण—

वि०—विरुद्ध भोजन-अध्यशन और अजीर्ण में भोजन करने के अभ्यस्त पुरुष में उत्पन्न विष के समान लक्षणों वाले; तीव्र पीड़ा कारक, विष संज्ञा वाले आम दोष की चिकित्सा नहीं करे। क्योंकि यह आम दोष-विष के समान-शीघ्र मारक और विरुद्ध चिकित्सावाला होता है ॥ १३-१४ ॥

---

[1] अतिमात्रा में भोजन करने पर आमाशय में अत्यधिक तनाव होता है, वातादि दोषों के सञ्चार के लिए तथा पाचन के लिये आमाशय के संकोच विस्तार के लिए स्थान नहीं रहता जिससे आहार के साथ पाचक रस ठीक से मिल नहीं पाते और वह अन्न अपक्व ही पड़ा रहता है। इससे अत्यधिक क्षोभ होने से वातादि दोष और भी बढ़ते हैं और अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं।

अन्ततः यदि वमन और विरेचन आरम्भ हो जाता है तो उसे विसूचिका कहते हैं। जब वमन विरेचन न होकर अपक्व अन्न आमाशय में ही पड़ा रहकर कष्ट देता है तो उसे अलसक कहते हैं। देर तक पड़ा रहने पर उसमें सड़ान प्रारम्भ होती है और थोड़ा बहुत दूषित रस भी बनता है। यही दूषित रस शरीर में व्याप्त होकर विभिन्न स्रोतों में अवरोध और विकृति के साथ स्तब्धता उत्पन्न कर दण्डालसक उत्पन्न करता हैं और विषाक्तता अधिक होने पर आमविष उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—आम विष 'विरुद्धाध्यशनाजीर्णशालिनः पुनरामदोषमामविषमाचक्षते ॥' (चरक वि० अ २।१५)

विरुद्धोपक्रम—विष में शीत चिकित्सा करनी चाहिये; आम में उष्ण चिकित्सा करनी है, इसीलिये विरोधी है। विष के लक्षण—लाला आदि लक्षण रहते हैं।

अलसकोपक्रमं निर्दिदिक्षुरिदमाह—

अथाऽममलसीभूतं साध्यं त्वरितमुल्लिखेत्।
पीत्वा सोग्रापटुफलं वार्युष्णं योजयेत्ततः ॥ १५ ॥
स्वेदनं फलवर्तिं च मलवातानुलोमनीम्।
नाम्यमानानि चाङ्गानि भृशं स्विन्नानि वेष्टयेत् ॥१६॥

स०—अथेत्यानंतर्ये। पूर्वोक्तं साध्यासाध्यमवगम्याऽनंतरमामं साध्यमदुष्टं संतं त्वरितं द्रागातुर उल्लिखेदुद्वमेदित्यर्थः। किंविधमामम्। अलसीभूतम्। अलसलक्षणतामगतमुल्लिखेदित्याह। पीत्वेत्यादि। वचालवणमदनफलयुक्तं जलमुष्णं पीत्वा वमेदित्यर्थः। ततोऽनंतरं स्वेदनं योजयेत्। तथा। विपाच्य मूत्राम्लमधूनि दंतीपिंडीतकृष्णाविडधूमकुष्ठैः। वर्तिं करांगुष्ठनिभ घृताक्तां गुदे रुजानाहहरीं विदध्यादित्यादि फलवर्तिं च मलवातानुलोमनीं योजयेत्। तत्रामदोषे दोषवशादंगानि च नाम्यमानानि संकोच्यमानानि संत्यत्यर्थं स्विन्नानि वस्त्रादिना वेष्टयेत् ॥ १५-१६ ॥

अलसक में चिकित्सा—

वि०—अलसक की चिकित्सा—साध्य-अलसीभूत (निष्क्रिय बने) आम (अपक्व आहार) को जल्दी से वमन द्वारा बाहर करे। वमन के लिये-वच-नमक और मैनफल मिश्रित गरम पानी पिलावे। वमन के पीछे स्वेदन करे, तथा वायु-एवं मल का अनुलोमन करने वाली फलवर्त्ति बरते। जो अङ्ग बहुत संकुचित हो गये हों उनको अतिशय स्वेदन कर वस्त्रों से लपेट देना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

वक्तव्य—फलवर्त्ति-'विपाच्यमूत्राम्लमधूनि दन्ती-पिण्डीतकृष्णाविडधूमकुष्ठैः। बर्त्तिं कराकुष्ठनिभां घृताक्तां गुदे रुजानाहहरीं विदध्यात् ॥' चिकित्सा अलसक की—'शूले तु स्तिमिते सामे स्वेदः शस्तो मुहुर्मुहुः। रूक्षोष्णैः लट्टकैः पांशु-करीषसिकतादिभिः। पिप्पल्योऽगारधूमश्च मदनं सर्षपास्त्रिवृत् ॥ हेमक्षीरी वचा किण्वं कुष्टं दन्ती यवाग्रजः। समूत्रलवणाभ्यक्ता फलवत्तिरियं हिता ॥ संस्वेद्यालसके शूलं विबन्धानाहनाशिनी ॥' (खरनाद)

विसूच्यामतिवृद्धायां पार्ष्ण्योर्दाहः प्रशस्यते।
तदहश्चोपवास्यैनं विरिक्तवदुपाचरेत् ॥ १७ ॥

स०—विसूच्यां पूर्वोक्तलक्षणायामतिवृद्धायां सत्यां पार्ष्ण्योः खुरिकयोरयःशलाकादिना दाहः प्रशस्यते। तदहर्विसूचिकावंतमुपवास्य लंघयित्वा विरिक्तवत्पेयादिक्रमेणोपाचरेत्। सुश्रुते चोक्तम्। सुच्छर्दितविरिक्तस्य गात्रायामेऽतिदारुणे। भल्लातकमधूच्छिष्टसीसपिण्याकनागरैः। घृततैलं पचेत् साम्लैस्तच्च खल्लीघ्नमुत्तमम्। त्वक्पत्ररास्नागुरुशिग्रुकुष्ठैरम्लप्रपिष्टैः सवचाशताह्वैः। उद्वर्तनं खल्लिविसूचिकाघ्नं तैलं विपक्वं च तदर्थकारि। शिरीषनक्ताह्वफणिज्जबीजत्रायंत्यपामार्गफलानि वर्तिः। बस्तस्य मूत्रेण विसूचिकाघ्नी प्रलेपनस्यांजनधूमयोगैरिति ॥ १७ ॥

प्रबल विसूचिका में उपाय—

वि०—विसूचिका रोग बहुत बढ़ गया हो तो पार्ष्णियों (एड़ी) में दाह करना उत्तम है। और (आम दोष निवृत्त होने पर) उस दिन रोगी को उपवास कराके पीछे विरेचन की भाँति पेयादि क्रम बरते ॥ १७ ॥

वक्तव्य—दाह के लिये पिप्पली का भी उपयोग होता है, यथा-'विसूच्यामतिवृद्धायां पार्ष्णिदेशे च दाहयेत्। पिप्पल्या वाऽप्यरण्या वा शस्त्रेणातापितेन वा ॥'

तीव्रार्तिरपि नाजीर्णी पिबेच्छूलघ्नमौषधम्।
आमसन्नोऽनलो नालं पक्तुं दोषौषधाशनम् ॥ १८ ॥
विहन्यादपि चैतेषां विभ्रमः सहसाऽऽतुरम्।

स०—अजीर्णी तीव्रशूलोऽपि सन् शूलहरमौषधं न पिबेत्। वमनकरमुष्णोदकं च प्रागुपदिष्टमेव पिबेदित्यर्थः। शूलघ्नमित्युपलक्षणार्थम्। छर्द्यतीसारघ्नमपि विसूचिकायां न पिबेत्। यत आमेन सन्नो मंदीभूतोऽग्निर्दोषौषधाशनं पक्तुं न समर्थः। एतेषां च दोषौषधाशनानां त्रयाणां संबंन्धी यो विभ्रमो व्यापत्तिः सहसा कालमनपेक्ष्य चातुरं हन्यात्। न केवलमिदं गुणाय संपद्यते प्रत्युत दोषं करोतीति सूचनार्थमपि चेति कृतम् ॥ १८ ॥

अजीर्ण में उपाय—

वि०—अजीर्ण अवस्था में औषध नहीं देनी—अतिशय पीड़ा होने पर भी अजीर्ण रोगी को शूलनाशक-औषधि नहीं पीनी चाहिये। क्योंकि आम के कारण मन्द हुई अग्नि दोष, औषध और भोजन तीनों को पकाने में समर्थ नहीं हो सकती। और इन सबकी व्यापत्ति रोगी को एकदम मार भी सकती है। (विभ्रमः—संक्षोभ, बेचैनी। अर्थात् उस अवस्था में प्रयुक्त ओषधि न केवल व्यर्थ होगी, किन्तु हानिकारक भी होगी।) ॥ १८ ॥

कदौषधं युंजीतेत्याह—

जीर्णाशने तु भैषज्यं युञ्ज्यात् स्तब्धगुरूदरे ॥ १९ ॥
दोषशेषस्य पाकार्थमग्नेः सन्धुक्षणाय च।

स०—जीर्णमशनं यस्य तस्मिन्नौषधं युंज्याद्वैद्यः। कीदृशि। स्तब्धमचलं गुरूदरं कोष्ठो यस्य तस्मिन्। किमर्थमौषधं युंज्यादित्याह। दोषेत्यादि गतार्थम् ॥ १९ ॥

अजीर्ण में औषध सेवन का काल—

वि०—आहार के जीर्ण हो जाने पर यदि उदर स्तब्ध (निश्चल), और भारी हो तो बचे हुये दोष के पाचन के लिये तथा अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये दीपन-पाचन औषध देनी चाहिये ॥ १९ ॥

कीदृशमौषधं योज्यमित्याह—

शान्तिरामविकाराणां भवति त्वपतर्पणात् ॥ २० ॥
त्रिविधं त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत् ।

स०—तुरवधारणे । यस्मादपतर्पणादेवामजातानां विकाराणामालस्यजाड्याग्निमांद्यादीनां शांतिरुपशमो भवति तस्मादपतर्पणं योजयेत् । वक्ष्यति हि । मेहामदोषातिस्निग्धेत्यारभ्य यावल्लंघयेन्नित्यमिति । तस्मादपतर्पणं समीक्ष्य देशकालाग्न्यादीन् पर्यालोच्य त्रिप्रकारं त्रिप्रकारे दोपे वैद्यः प्रयोजयेत् ॥ २० ॥

औषध का निर्णय—

वि०—आमजन्य रोगों की शान्ति अपतर्पण से होती है। तीन प्रकार (अल्प, मध्य और प्रभूत) के दोषों में (देश, काल, अग्नि का) विचार करके निम्नलिखित तीन प्रकार के अपतर्पण को बरतना चाहिये ॥ २० ॥

संप्रत्येतदेव यथायोगमाह—

तत्राल्पे लङ्घनं पथ्यं, मध्ये लङ्घनपाचनम् ॥ २१ ॥
प्रभूते शोधनं, तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान् ।

स०—तत्र तेषु त्रिषु मध्येऽल्पे दोषे लंघनमुपवासाख्यं पथ्यम् । तेन ह्यनलानिलवृद्धाऽल्पो दोषः शीघ्रं संशोष्य जीयते । मध्ये दोषे लंघनं पाचनं च पथ्यम् । अग्निः पचति तस्य पचतो ये विबंधादयो भवंति तान्निषिध्य पाटवमदधानं पचेति प्रयुंक्त इव तत् पाचयतीति पाचनमुच्यते । हेतुमण्णिजंतात्पचेर्बाहुलकात्कर्तरि ल्युट् । यदुपयुक्तमन्नपानौषधमपक्वानां सामानां धातूनां पाचने समर्थं तत् पाचनमित्यर्थः । प्रभूते शोधनं पथ्यम् । शोधनं तु कायाद्बहिर्दोषानीरयति । वक्ष्यति हि । यदीरयेद्बहिर्दोषान्पंचधा शोधनं तु तदित्यादि । कुतः । प्रभूत आमदोषे शोधनं हितमित्याह । तद्धीत्यादि । हि यस्मात्तच्छोधनं मूलान्मलान्नाशयेत् । संग्रहेऽप्युक्तम् । बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यं नद्याप्लाविते पल्वलोदकौघे शाल्यादिपुष्टिर्भवतीति ॥ २१ ॥

औषध की यथायोग्यता—

वि०—दोष के थोड़ा होने पर लङ्घन पथ्य है; दोष के मध्यम होने पर लंघन और पाचन पथ्य है और दोष के प्रचुर होने पर शोधन (वमन-विरेचनादि) पथ्य है; क्योंकि शोधन मलों को जड़ से उखाड़ देता है ॥ २१ ॥

न च हेतुव्याधिविपर्यययोरेव चिकित्सायामुपयोग इति दर्शयन्नाह—

एवमन्यानपि व्याधीन् स्वनिदानविपर्ययात् ॥ २२ ॥
चिकित्सेदनुबन्धे तु सति हेतुविपर्ययम् ।
त्यक्त्वा यथायथं वैद्यो युञ्ज्याद्व्याधिविपर्ययम् ॥॥२३॥
तदर्थकारि वा, पक्वे दोषे त्विद्धे च पावके ।
हितमभ्यञ्जनस्नेहपानवस्त्यादि युक्तितः ॥ २४ ॥

स०—यथा संतर्पणोत्थ आमदोषो निदानविपर्ययाच्चिकित्स्यत एवमन्यानपि ज्वरादीन् विकारान् स्वनिदानविपर्ययाच्चिकित्सेत् । संतर्पणोत्थोऽपतर्पणेन शीतोत्थ उष्णेनेत्यादि यदि त्वेवमुपक्रम्यमाणो व्याधिरनुबध्यते तेनोपशमं न गच्छेत् ततो हेतुविपर्ययं त्यक्त्वा व्याधिविपर्ययं युंज्यात् । किंभूतम् । यथायथं पन्नस्य ज्वरादिव्याधेर्भैषज्यं वक्ष्यमाणं तत्प्रयुंजीतेत्यर्थः । यथा मुस्तापर्पटकं ज्वरे रजनी प्रमेह इति । तन्निदानव्याधिविपर्ययासाध्यमर्थं रोगोपशमलक्षणं कर्तुं शीलं यस्य तत्तदर्थकारि तद्वा युंज्यात् । यथा मदात्यये मद्यपानमतिसारे विरेचनमिति । वाशब्दः समुच्चयार्थं इति विविधमौषधं निर्दिश्याऽऽमचिकित्सामेवानुसरन्नाह । पक्वे दोषे निरामे दीप्ते पावके च निरामत्वे दीप्ताग्नित्वे च समुचितमेव हितमभ्यंगादिकम् युक्तितो मात्रया यथाऽग्निसादादि न भवतीति ॥२२–२४॥

रोगान्तर में चिकित्सा क्रम—

वि०—इसी सिद्धान्त से वैद्य दूसरे रोगों में भी कारण विपरीत चिकित्सा बरते। यदि इससे पूर्ण शमन न हो तो कारण विपरीत चिकित्सा को छोड़ कर यथोचित रोगविपरीत चिकित्सा बरते।

अथवा निदान और रोग दोनों के विपरीतार्थकारी[1] औषध देवे—यथा मद्यपान-जनित मदात्यय में मद पिलावे, अतिसार में विरेचन देवे। दोष के पक जाने पर (निराम हो जाने पर) और अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर अभ्यङ्ग, स्नेहपान, वस्ति आदि को युक्तिपूर्वक बरते ॥ २२–२४ ॥

अजीर्णं लक्षयितुमाह—

अजीर्णं च कफादामं तत्र शोफोऽक्षिगण्डयोः ।
सद्योभुक्त इवोद्गारः प्रसेकोत्क्लेशगौरवम् ॥ २५ ॥

स०—अग्निप्रतिपक्षत्वेन कफस्याऽजीर्णकरणप्राधान्यादग्रे निर्देशः । कफात्सकाशादजीर्णमामसंज्ञकं भवति । तत्रामाख्येऽजीर्णेऽक्षिकूपयोर्गण्डयोः शोफो भवति । सद्योभुक्तवदप्राप्तविदाहाख्य उद्गारः । प्रसेकः प्रसक्तं निष्ठीवनम् । उत्क्लेशो दोषाणां स्थानाच्चलनम् । गौरवं गात्राणाम् ॥ २५ ॥

अजीर्ण के प्रकार और उनके लक्षण—

वि०—आमाजीर्ण—कफजन्य अजीर्ण को आमाजीर्ण कहते हैं। इसमें आंख और गण्डस्थल पर सूजन; तुरन्त भोजन किये हुए की भांति (अविदग्धावस्था का ही) उद्गार, लालास्राव, जी मचलाना और भारीपन होता है ॥ २५ ॥

विष्टब्धमनिलाच्छूलविबन्धाध्मानसादकृत्
पित्ताद्विदग्धं तृण्मोहभ्रमाम्लोद्गारदाहवत् ॥ २६ ॥

स०—अनिलाद्विष्टब्धं नामाजीर्णं भवति । तच्च शूलादिकृत् । पित्ताद्विदग्धं नामाऽजीर्णमुत्पद्यते । तच्च तृडादियुक्तम् ॥ २६ ॥

---

[1] विपरीतं अर्थं कर्तुं शीलं यस्य तद् विपरीतार्थकारि । अर्थात् जो औषधादि सामान्यतः कारण और व्याधि के समान प्रतीत होते हुए भी उनके विपरीत कार्य करते हैं वे तदर्थकारी कहलाते हैं।

वि०—वायु के कारण विष्टब्धाजीर्ण होता है; इसमें शूल, वातादि का अवरोध, आध्मान और शरीर में शिथिलता होती है ॥ २६ ॥

पित्त के कारण विदग्धाजीर्ण होता है; इसमें प्यास, मोह, भ्रम, खट्टे डकार आना और दाह होता है।

त्रिविधस्यैवास्य चिकित्सामाह—

लङ्घनं कार्यमामे तु विष्टब्धे स्वेदनं भृशम् ।
विदग्धे वमनं यद्वा यथाऽवस्थं हितं भवेत् ॥ २७ ॥

स०—तुरवधारणे। आमाख्येऽजीर्णे लंघनमेव कार्यं न वमनविरेचनादि। विष्टब्धे स्वेदनं भृशं कार्यम्। भृशशब्देनैतद् द्योतयति। पूर्वत्रापि स्वेदनं कार्यमत्र त्वत्यर्थमिति। विदग्धे विदग्धनाम्न्यजीर्णे वमनं कार्यम्। यद्वा लंघनस्वेदनवमनानां यथावस्थं यथादोषोद्रेकं हितं भवेत्तदेव कार्यम्। आमाजीर्णेऽपि स्वेदनवमने विदग्धेऽपि लंघनस्वेदने इति ॥२७॥

त्रिविध अजीर्ण की चिकित्सा—

वि०—आमाजीर्ण में लंघन कराना चाहिये। विष्टब्धाजीर्ण में अतिशय स्वेदन तथा विदग्धाजीर्ण में वमन कराना चाहिये। अथवा जो कार्य जिस अवस्था में योग्य प्रतीत हो, उस कार्य को उस अवस्था में बरते ॥ २७ ॥

गरीयसो भवेल्लीनादामादेव विलम्बिका ।
कफवातानुबद्धाऽऽमलिङ्गा तत्समसाधना ॥ २८ ॥

स०—गरीयसः प्रभूतादजीर्णादेव विलंबिका स्यात्। कीदृशात्। लीनादत्यर्थं स्रोतःसु श्लिष्टत्वात्। लीनादिति लीङ् श्लेषण इत्यस्य क्तप्रत्यये स्वादय ओदित इत्योदितश्चेति निष्ठानत्वम्। सा च श्लेष्मवायुभ्यामनुबद्धा युक्ता भवति। आमं नाम यदजीर्णं तत्सदृशलक्षणा। यथा। शोफोऽविगंडयोः। सद्यो भुक्त इवोद्गारः प्रसेकोत्क्लेशगौरवमिति। तेनामेन समं तुल्यं साधनं चिकित्सा यस्याः सैवम्। लंघनं कार्यमाम इति ॥ २८ ॥

विलंबिका रोग की उत्पत्ति—

वि०—विलम्बिका—अतिशय रूप में लीन (स्रोतों में चिपके) हुए गंभीर आम दोष से ही कफ एवं वायु लक्षणों के साथ आमाजीर्ण के लक्षणों वाली विलम्बिका होती है और इसकी चिकित्सा भी आमाजीर्ण के समान है ॥ २८ ॥

वक्तव्य—विलम्बिका में दोष अतिशय लीन होने से बाहर आने में विलम्ब करते हैं; कभी-कभी कफ और वात के साथ पित्तजन्य विदग्धता भी रहती है। यथा—'यदा भुक्तं विदग्धं च नोर्ध्वं नाधः प्रवर्त्तते। तां विलम्बीं विगर्हन्ति बिषकल्पां विसूचिकाम् ॥'

जीर्णेऽप्याहारे कदाचिदाहारसारो रसोऽजीर्णः स्यात्। तल्लक्षणार्थमाह—

अश्रद्धा हृद्व्यथा शुद्धेऽप्युद्गारे रसशेषतः ।
शयीत किञ्चिदेवात्र सर्वत्रानशितो दिवा ॥ २९ ॥
स्वप्यादजीर्णी, सञ्जातबुभुक्षोऽद्यान्मितं लघु ।

स०—रसशेषेऽश्रद्धाऽश्रद्धाऽन्नानभिलाषः। हृद्व्यथा हृदयशूलं गौरवं च। शुद्धेऽप्युद्गारेऽन्नसंबंधिनि। तेनाजीर्णावस्थांतरभूत एवायं रसशेषः। अतश्च रसस्य रुधिरादिहेतोरसस्यापरिपाक इत्यर्थः। तच्चिकित्सामाह। शयीतेत्यादि। अत्र रसशेषे किंचिदेव स्तोकमात्रमेव स्वप्यात् नाजीर्ण इव प्रभूतम्। सर्वश्चाऽजीर्ण्यनाशितो दिवा शयीत। आलाघवात्। यदा चोत्पन्नक्षुत्स्यात्तदा स्तोकं लघु चाद्यात्। आशः कृतो येनाऽऽशितः। न आशितोऽनाशितः अभुक्तवानित्यर्थः। नन्वजीर्ण्यभिहतोन्मत्तानित्यनेनैव वाक्येनाजीर्णिनां दिवास्वप्नोऽनुज्ञात एव तत्किं पुनरुक्तेन। ब्रूमः। विशेषार्थं वाक्यमिदम्। अभुक्तो दिवा स्वप्यादजीर्णीति। तत्र तु सामान्यम्। अशितानशितचिंता न कृतेति युक्ता पुनरिहोक्तिः ॥ २९ ॥

रसशेषाजीर्ण के लक्षण—

वि०—रसशेषाजीर्ण—रसशेष[1] अजीर्ण से उद्गार के शुद्ध हो जाने पर भी अन्न में अश्रद्धा और हृदय में पीड़ा होती है। इस अवस्था में तथा सभी अजीर्णों में बिना भोजन किए दिन में थोड़ी देर सोना चाहिये और भूख लगने पर थोड़ा और हल्का भोजन करे ॥ २९ ॥

वक्तव्य—आम-'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रससामं प्रचक्षते ॥'

रसशेषाजीर्ण में अजीर्ण की सब अवस्थाओं में बिना भोजन दिन में सोना उत्तम है किन्तु रसशेष में थोड़ा ही सोना चाहिये।

सामान्यमजीर्णलक्षणं सामान्येन ब्रूते—

विबन्धोऽतिप्रवृत्तिर्वा ग्लानिर्मारुतमूढ़ता ॥ ३० ॥
अजीर्णलिङ्गं सामान्यं विष्टम्भो गौरवं भ्रमः ।

स०—विबंधो मूत्रपुरीषयोरप्रवृत्तिलक्षणः। अतिप्रवृत्तिस्तयोरेव। ग्लानिः शरीरस्य ग्लानता। मारुतमूढता वातस्य प्रतिलोमता। विष्टंभः कुक्षेराध्मानम्। गौरवं गुरुगात्रत्वम्। भ्रमो मोहः। एतत्सामान्यमजीर्णलक्षणम्। उक्तं च। 'सीदत्यंगं भ्रमो मोहः कोष्ठे मुह्यति मारुतः। सर्वेषामप्यजीर्णानामविसंवादि लक्षणम् ॥ ३० ॥

वि०—अजीर्ण के सामान्य लक्षण—मूत्र, मल की रुकावट अथवा अतिशय प्रवृत्ति; शरीर में ग्लानि; वायु की प्रतिलोम गति; उदर में आध्मान (तनाव और गड़गड़ाहट), भारीपन चक्कर आना ये अजीर्ण के सामान्य लक्षण हैं ॥ ३० ॥

---

[1] रसशेष शब्द का अर्थ और भाव स्पष्ट करने के लिए इसकी कई व्युत्पत्तियाँ प्राचीन टीकाकारों ने दी हैं। यथा 'रसाय शेषः' अर्थात् रस बनने के लिए शेष अन्न अथवा 'रसस्य शेषः (रसशब्देन रसहेतुभूताहारराशिः)'=अपक्व अन्न का कुछ भाग अथवा 'रसे शेषः' अर्थात् रस में शेष (कुछ आमदोष)। वस्तुतः तीसरा पक्ष ही ठीक है।

सांप्रतमजीर्णस्याऽन्यान्यपि कारणान्याह—

न चातिमात्रमेवान्नमामदोषाय केवलम् ॥ ३१ ॥
द्विष्टविष्टम्भदग्धामगुरुरूक्षहिमाशुचि ।
विदाहि शुष्कमत्यम्बुप्लुतं चान्नं न जीर्यति ॥ ३२ ॥
उपतप्तेन भुक्तं च शोकक्रोधक्षुदादिभिः ।

स०—अतिमात्रमेव भुक्तमन्नं न केवलमामदोषाय किं तर्हि द्विष्टादि चान्नं न जीर्यति । द्विष्टमप्रियम् । विष्टंभि कुक्ष्याध्मानकारि । हिममति शीतम् । अशुच्युच्छिष्टं केशादिदूषितं च । एतच्चाचिंत्यप्रभावत्वादामदोषहेतुः । विदाहि प्रागुक्तम् । शुष्कमद्रवप्रायम् । अत्यंबुप्लुतमतिजलेन प्लावितम् । चः समुच्चये । न केवलं द्विष्टाद्यन्नं भुक्तं न जीर्यति यावता शोकादिभिश्चोपतप्तेन भुक्तं न जीर्यति । शोक इष्टविपत्त्यादिना मनोऽस्वास्थ्यम् । क्रोधो रोषः । क्षुद् बुभुक्षा । तदुपतप्तत्वं कालातिक्रमत्वात् । आदिशब्देन लोभभयादिपरिग्रहः ॥ ३१-३२ ॥

अजीर्ण के अन्य कारण—

वि०—अकेला अति मात्रा में खाया हुआ अन्न ही आम दोष का कारण नहीं होता, अपितु और भी दूसरे कारण हैं; यथा—अप्रिय भोजन, वातावरोधकारी भोजन, दग्ध (जला हुआ); कच्चा, भारी, रूक्ष, ठण्डा, अपवित्र, विदाही (जलन करने वाला), सूखा आहार और बहुत अधिक पानी के पीने से अन्न नहीं पचता तथा शोक, क्रोध, भूख (समय बीत जाने के कारण) से ग्रस्त व्यक्तियों से खाया हुआ अन्न नहीं पचता ॥ ३१-३२ ॥

संप्रत्यपरमप्यन्नसामक्षोभकरमाह—

मिश्रं पथ्यमपथ्यं च भुक्तं समशनं मतम् ॥ ३३ ॥
विद्यादध्यशनं भूयो भुक्तस्योपरि भोजनम् ।
अकाले बहु चाल्पं वा भुक्तं तु विषमाशनम् ॥ ३४ ॥
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन् सृजन्ति वा ।

स०—पथ्यं शाल्यादि । अपथ्यं यवकादि । तन्मिश्रमेकीकृत्य भुक्तं समशनमभिमतमस्मिन्वैद्यकतन्त्रे । विद्यादित्यादि । भुक्तस्याऽभ्यवहृतस्योपरि यद्भोजनं तदध्यशनं जानीयात् । नन्वेवं प्रातराशे कृते यः सायमाशस्तस्याऽध्यशनत्वं प्रसज्यते । अध्यशनं च विवर्ज्यमेव यतोऽनंतरमेव पठिष्यति । त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वेत्यादि । वैद्यकतंत्रेषु च नराणां द्विराहार उपदिष्टः । भगवान् व्यासोऽप्यवोचत् । सायंप्रातर्मनुष्याणां भोजनं विधिनिर्मितमिति । तस्मादध्यशनस्यैवं तदसमीचीनं लक्षणम् । अत्र संचक्ष्महे । प्राग्भुक्तस्योपरि समनंतरमेव वह्नावविभक्ते यदशनं तदेवाध्यशनं नान्यत् । अतएव सुश्रुतो ब्रूते । प्राग्भुक्ते त्वविभक्तेऽग्नौ द्विरन्नं न समाचरेदिति तस्मात् प्रातराशे कृते सत्यग्नौ विभक्ते यः सायमाशः स न परिहार्योऽपि तु कार्य एव । गुणावहत्वात् । एतदेव प्रतिपादयितुं संग्रहेऽप्यगीष्ट । प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति । अजीर्णे सायमाशे तु प्रातराशो हि दुष्यति । दिवा प्रबोध्यतेऽर्केण हृदयं पुंडरीकवत् । तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यांति सर्वशः । व्यायामाच्च विचाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः । न क्लेदमुपगच्छंति दिवा तेनास्य धातवः । अक्लिन्नेष्वन्नमासक्तमन्यक्तेषु न दुष्यति । अविदग्धेष्विव पयः स्वन्यत्संमिश्रितं पयः । रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च । परिक्लेदं यांति कोष्ठे संवृते देहधातवः । क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति । विदग्धेषु पयः स्वन्यत्पयस्तप्तेष्विवार्पितम् । नैशे तस्मादजीर्णेऽन्ने नान्यद्भुञ्जीत भोजनमिति । अधिशब्दोऽत्रोपरिशब्दार्थः । यथा प्रासादमधिरोहति । अकाले बहु चाल्पं वा भुक्तं त्वशनं विषमाशनसंज्ञं विद्यात् । कः पुनः कालो भोजनस्येति चेत् ब्रूमः । प्रसृष्टे विण्मूत्र इत्यादिनाऽऽहारकालं वक्ष्यति तद्वैपरीत्येनाकालो वैद्यः । त्रीण्यप्येतानि समशनाऽध्यशनविषमाशनानि मृत्युं वा सृजंति जनयंति । घोरान् व्याधीन्गुल्मादीन् वा ॥ ३३-३४ ॥

समशन, अध्यशन, विषमाशन—

वि०—पथ्य और अपथ्य को मिलाकर खाना समशन कहा जाता है । खाये हुए अन्न के (बिना पचे) ऊपर फिर खाना अध्यशन कहा जाता है । असमय में, बहुत अथवा थोड़ा खाना विषमाशन है । ये तीनों ही मृत्यु अथवा भयानक रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३३-३४ ॥

वक्तव्य—अजीर्ण में भोजन का विचार—'प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति । अजीर्णे सायमाशे तु प्रातराशो हि दुष्यति ॥ दिवा प्रबोध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् । तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ॥ रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च । परिक्लेदं यान्ति कोष्ठे संवृते देहधातवः ॥ क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति । विदग्धेषु पयःस्वन्यत् पयस्तप्तेष्विवार्पितम् ॥ नैशे तस्मादजीर्णेऽन्ने नान्यद् भुञ्जीत भोजनम् ॥' (संग्रह)

काले सात्म्यं शुचि हितं स्निग्धोष्णं लघु तन्मनाः ॥३५॥
षड्रसं मधुरप्रायं नातिद्रुतविलम्बितम् ।
स्नातः क्षुद्वान् विविक्तस्थो धौतपादकराननः ॥ ३६ ॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानतिथीन् बालकान् गुरून् ।
प्रत्यवेक्ष्य तिरश्चोऽपि प्रतिपन्नपरिग्रहान् ॥ ३७ ॥
समीक्ष्य सम्यगात्मानमनिन्दन्नब्रुवन् द्रवम् ।
इष्टमिष्टैः सहाश्नीयाच्छुचिभक्तजनाहृतम् ॥ ३८ ॥

स०—काले वक्ष्यमाणे । तन्मनाः भोजनगतचित्तः स्नातः । बुभुक्षितः । विविक्तस्थ एकांतस्थितः । तथा प्रक्षालितचरणहस्तमुखः । अनिंदन् भोजनमगर्हमाणः । अब्रुवन्नभाषमाण । इष्टं मनोरुचितं भोजनम् । तथा द्रवं द्रवप्रायम् । इष्टैः प्रियैः सहाश्नीयात् । क्षुद्वान् । अत्र च प्रशंसायां मतुप् । उत्पन्नप्रशस्तबुभुक्षः । तेन किंचिदपि यदा दुष्टबुभुक्षा स्यात्तदा नाद्यादित्यर्थः । दुष्टबुभुक्षाया लक्षणम् । दोषोपनद्धं यदि लीनमामं पित्तोद्धतस्यावृणुयाच्च वह्निम् । जायेत दुष्टा

तु तदा बुभुक्षा सा मंदबुद्धीन् विषवन्निहंतीति। किंभूतं भोजनम्। सात्म्यम्। तच्च सात्म्यं द्विधा। एकं स्वल्पकालाभ्यस्तं सुखावहम्। अन्यच्च जन्मनः प्रभृति सहात्मनाभ्यस्तं सुखावहं च। एतदेवैकं सात्म्यमुच्यते। तथा शुचि अनुच्छिष्टं केशाद्यनुपहतं च हितं पथ्यम्। स्निग्धं च तदुष्णं च स्निग्धोष्णम्। तथा लघु लघुप्रायं न तु लघ्वेव। अत एवेदमुपपन्नम्। षड्रसं मधुरप्रायमिति। मधुररसो हि गुरुः। तथा च वक्ष्यति। कटोः कषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः। तद्यदि लघ्वेव स्यान्मधुरप्रायमिति न घटते। तस्माल्लघुप्रायमिति व्याख्येयम्। कथमद्यात्। आह। नातिद्रुतविलंबितम्। किं कृत्वा। पित्रादींस्तर्पयित्वा। तथा तिरश्चोऽप्यश्वबृषादीन् प्रतिपन्नपरिग्रहान् कृतघासस्वीकारान् प्रत्यवेक्ष्य तदाहारचिंतां कृत्वेत्यर्थः। अथात्मानं समीक्ष्य यथा ममेदं सात्म्यमिति नित्यमप्रमत्तः सन् पर्यालोच्य। खरनादेनोक्तम्। अतिद्रवाशी त्वाहारगुणदोषान्न विंदति। उन्मुह्यत्यल्पमश्नाति च्छर्दयेद्वाऽनवस्थितः। विलंबितं तु भुंजानो न तृप्तिमधिगच्छति। स्वादु बह्वपि शीतत्वाद्याति भक्तमहृद्यताम्। जल्पतो हसतश्चापि भुञ्जानस्याऽन्यचेतसः। त एव दोषा मंतव्या ये विलंबितभोजन इत्यादि ॥ ३५-३८ ॥

भोजन की व्यवस्था—

वि॰—भोजन विधि—समय पर, आत्मा के अनुकूल (अभ्यस्त हितकारी भोजन), पवित्र, हितकारी, स्निग्ध, गरम, लघु, छ रसवाला, मधुर रस बहुल भोजन को मनोयोग करके; न तो बहुत जल्दी और न तो बहुत धीरे, स्नान करके भूख लगने पर, एकान्त स्थान में, पैर-हाथ-मुख धोकर भोजन करे। भोजन करने से पूर्व—पितर, देवता, अतिथि, बालक, गुरुजन इनको भोजन कराकर पशु-पक्षी आदि तथा जिनके पालन का उत्तरदायित्व लिया हुआ है, उनको भी अपने से पहिले भोजन देकर, अपने स्वास्थ्य, प्रकृति आदि का विचार करके भोजन की निन्दा न करते हुए; न बोलते हुए, द्रव-बहुल, प्रिय भोजन को प्रियजनों के साथ; पवित्र एवं अनुरक्त जनों से लाये भोजन को खाये ॥ ३५-३८ ॥

भोजनं तृणकेशादिजुष्टमुष्णीकृतं पुनः।
शाकावरान्नभूयिष्ठमत्युष्णलवणं त्यजेत् ॥ ३६ ॥

स॰—तृणादिजुष्टं भोजनं त्यजेत्। आदिशब्देन मक्षिकादिपरिग्रहः। तथा भूय उष्णीकृतम्। तथाशाकबहुलम्। तथाऽवरान्नं माषादि तद्भूयिष्ठम्। तथाऽत्युष्णमतिलवणं च त्यजेत् ॥ ३९ ॥

त्याज्य भोजन—

वि॰—तिनके, केश आदि से युक्त भोजन को, दुबारा गरम किये भोजन को, शाक बहुल, अवरान्न (कोदो आदि क्षुद्र अन्न) बहुल, अति उष्ण और अति लवणवाला भोजन न करे ॥ ३९ ॥

किलाटदधिकूर्चीकाक्षारशुक्तामसूलकम्।
कृशशुष्कवराहाविगोमत्स्यमहिषामिषम् ॥ ४० ॥
माषनिष्पावशालूकबिसपिष्टविरूढकम्।
शुष्कशाकानि यवकान् फाणितं च न शीलयेत् ॥ ४१ ॥

स॰—तथा किलाटादीन्न शीलयेन्नाभ्यसेत्। न कादाचित्कोऽभ्यवहार एषां निषिध्यते। मुनिना तु नाभ्यसेद्गौरवादिति यथा हेतुरुपन्यस्तस्तथेह नोक्तमयुक्तत्वात्। तथा हि एषामनभ्यवहारे यदि गुरुत्वमेव हेतुः स्यात् ततो यवादीनामपि बहुतराणां द्रव्याणां शीलनमयुक्तं स्यात्। तस्मादेषामशीलनेऽन्यदपि कारणं चिंत्यं न तु गुरुत्वमात्रमेव। यथा किलाटकूचीकयोर्दोषलत्वं दध्नस्तु ज्वरादिकर्तृत्वं तथा स्रोतोलेपः स्रोतोलेपत्वाच्चानेकरोगहेतुत्वम्। क्षारस्य पुंस्त्वहानिकृत्त्वम्। शुक्तस्य दृष्टिहननत्वादि। तस्मादेषामपथ्यत्वाच्छीलननिषेधो बोध्यः ॥ ४०-४१ ॥

किलाटादि भोजन का निषेध—

वि॰—किलाट, दही, कूर्चिका, क्षार, शुक्त, कच्ची मूली, दुबले पशु के और शुष्क मांस वाले सूअर, भेड़, गाय, मछली और भैंस के मांस को; उड़द, सेम, शालूककन्द, बिस, पिट्ठी से बने पदार्थ, अङ्कुरितधान्य; शुष्क शाक, यवक और फाणित इनको प्रतिदिन न खाये। प्रायः न खाये—कभी खा ले ॥ ४०-४१ ॥

शीलयेच्छालिगोधूमयवषष्टिकजाङ्गलम्।
सुनिषण्णकजीवन्तीबालमूलकवास्तुकम् ॥ ४२ ॥
पथ्यामलकमृद्वीकापटोलीमुद्गशर्कराः।
घृतदिव्योदकक्षीरक्षौद्रदाडिमसैन्धवम् ॥ ४३ ॥

स॰—शाल्यादीन् शीलयेत् ॥ ४२-४३ ॥

भोज्य पदार्थ—

वि—शालिधान्य, गेहूँ, जौ, साठी, जाङ्गलमांस, चौपतिया, जीवन्ती, नरम-कच्ची मूली, बथुआ, हरड़, आँवला, द्राक्षा, पटोली (परवल), मूँग, शक्कर, घी, वर्षाजल, दूध, मधु, अनार और सैन्धव इनका अभ्यास डाले—प्रतिदिन खाये ॥ ४२-४३ ॥

त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां निशि नेत्रबलाय च।
स्वास्थ्यानुवृत्तिकृद्यच्च रोगोच्छेदकरं च यत् ॥ ४४ ॥

स॰—मधुसर्पिर्भ्यां सह त्रिफलां च रात्रौ नेत्रबलाय शीलयेत्। न केवलं शाल्यादीनेव शीलयेत्। यच्च द्रव्यं स्वास्थ्यानुवृत्तिं करोत्यृतुचर्याविध्यादिषु युक्तमन्नपानादिकम्। तथा रोगोच्छेदकरं यत्किराततिक्तकादिद्रव्यं तच्च शीलयेत् ॥ ४४ ॥

नेत्र-हितकर पदार्थ—

वि॰—नेत्रों की ज्योति के लिये रात्रि में घी और मधु के साथ (असमान मात्रा में) त्रिफला को खाये। और जो वस्तु

स्वास्थ्य को बनाये रखने वाली तथा रोगनाशक हो (रसायन आदि) उसको भी प्रतिदिन खाये ।। ४४ ।।

वक्तव्य—चरक में कहा भी है—'तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते । अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत् ॥' (च. सू. अ. ५।१०) ।

बिसेक्षुमोचचोचाम्रमोदकोत्कारिकादिकम् ।
अद्याद् द्रव्यं गुरु स्निग्धं स्वादु मन्दं स्थिरं पुरः ।। ४५ ।।
विपरीतमतश्चान्ते मध्येऽम्ललवणोत्कटम् ।

स०—बिसादिद्रव्यं गुर्वादिगुणयुक्तं पुरः पूर्वमद्यात् । मोदको लड्डुकः । उत्कारिका लप्यसिका । अतोऽस्माच्च विपरीतं लघुरूक्षतीक्ष्णकटुरसप्रायमंते भोजनस्य सेवेत । मध्ये चाम्लवणोत्कटम् । खरनादे चोक्तम् । कटुं लवणमम्लं वा पूर्वमाहारमाहरेत् आहारो मधुरो ह्यग्रे गुरु विष्टभ्य जीर्यति । तदेतद्देशसात्म्यादिवशात्प्रमाणयितव्यम् ॥ ४५ ॥

भोजन का क्रम

वि०—भोजन क्रम—बिस, ईख, केला, नारियल, आम, लस्सी आदि जो पदार्थ गुरु, स्निग्ध, स्वादु, मन्द और स्थिर हों उनको भोजन में पहले खाये । इनसे विपरीत, लघु, रूक्ष, कटु, तीक्ष्ण और सर पदार्थों को भोजन के अन्त में खाये । मध्य में शुक्त आदि अम्ल एवं लवण पदार्थों को खाये ॥४५॥

वक्तव्य—भोजन करने के उपरान्त-प्रथम कफ, पीछे पित्त और अन्त में वायु बढ़ती है; उसी क्रम से भोजन का यह नियम है । मन्दाग्नि वाले को प्रथम कटु, लवण, अम्ल भोजन करना चाहिये ; यथा—'कटुं लवणमम्लं वा पूर्वमाहारमाहरेत् । आहारो मधुरोऽग्रे हि गुरु विष्टभ्य जीर्यति ॥'

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत् ।। ४६ ।।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ।

स०—कुक्षेर्जठरस्यान्नेन द्वौ भागौ प्रपूरयेत् । पानेन जलादिना एकमंशं प्रपूरयेत् । चतुर्थमंशं पवनादीनामाश्रयमवशेषयेन्न त्वन्नेन पानेन वा प्रपूरयेत् । अत्र त्वंशकल्पना परिकल्पनेनैव युज्यते नत्वंगुलमानादिना सुश्रुते चाभिहितम् । प्रक्षालयेदद्भिरास्यं भुंजानश्च मुहुर्मुहुः । विशुद्धे रसने तस्मै रोचतेऽन्नमपूर्ववत् । रसना विद्यते यस्य मुखस्य तद्रसनं तस्मिन् रसने विशुद्धे रोचतेऽन्नमपूर्ववत् ।। ४६ ।।

भोजन का प्रमाण—

वि०—उदर के चार भाग (कल्पना) करे—इसमें से दो भाग अन्न से और एक भाग द्रव पदार्थ से भरे । वात आदि के आश्रय के लिये चतुर्थ भाग को छोड़ देवे । पूरा पेट भर करके भोजन न करे, (भोजन की गति के लिये स्थान रहने देना चाहिये) ।। ४६ ।।

अनुपानं हिमं वारि यवगोधूमयोर्हितम् ।। ४७ ।।
दध्नि मद्ये विषे क्षौद्रे, कोष्णं पिष्टमयेषु तु ।
शाकमुद्गादिविकृतौ मस्तुतक्राम्लकाञ्जिकम् ।। ४८ ।।
सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थं, स्थूलानां तु मधूदकम् ।
शोषे मांसरसो, मद्यं मांसे स्वल्पे च पावके ।। ४९ ।।
व्याध्यौषधाध्वभाष्यस्त्रीलङ्घनातपकर्मभिः ।
क्षीणे वृद्धे च बाले च पयः पथ्यं यथाऽमृतम् ।। ५० ।।

स०—यवगोधूमयोर्भुक्तयोरनु पश्चात्पानं शीतं जलं हितम् । तथा दध्नि मद्ये विषे क्षौद्रे च हिमं जलमनुपाने हितम् । पिष्टमयेषु कोष्णं जलं हितम् । शाकमुद्गादिविकृतौ च मस्त्वादिकमनुपानं हितम् । कृशानां पुंसां सुरा पुष्ट्यर्थं हिता । स्थूलानां पुनः कर्शनाय मधूदकं हितम् । शोषे क्षये मांसरसो हितः पुष्टिकारित्वात् । मांसे भुक्ते मद्यमनुपानं हितम् । स्वल्पे च पावके मद्यमेवानुपानम् । व्याध्यादिभिः क्षीणे क्षपिते पयो दुग्धं पथ्यं हितम् । इह प्रकृतेऽपि पथ्यग्रहणं पथ्यतरत्वज्ञापनार्थम् । यथाऽमृतमित्यनेनैतत्प्रतिपादयति । यथाऽमृतं बलवर्णौजः कांत्यायुरादिजनकं तथेदमपीत्यर्थः ॥४७-५०॥

भोजन के पश्चात् अनुपान—

वि०—जौ और गेहूँ के भोजन के पीछे शीतल जल अनुपान (पीछे पीना) उत्तम है । दही, मद्य, विष और मधु में भी शीतल जल अनुपान है । पिठ्ठी से बने भोजनों में गरम जल अनुपान है । शाक, मूँग आदि के बने पदार्थों में मस्तु, तक्र, अम्ल और काँजी अनुपान है । कृश पुरुषों में पुष्टि के लिये सुरा अनुपान है; स्थूल पुरुषों को कृश करने के लिए मधु का शरबत; शोष में मांसरस; मांस भोजन और अग्निमान्द्य में मद्य अनुपान है । रोग, औषध, मुसाफिरी, भाषण, स्त्री सेवन, लङ्घन, धूप तथा श्रम से पीड़ित, क्षीण, बालक और वृद्ध के लिये दूध का अनुपान अमृत के समान है ॥ ४७-५० ॥

वक्तव्य—अनुपान का लाभ—'कामं दोषवदप्यन्नममात्रं वा निषेवितम् । अल्पदोषमदोषं वाऽप्यनुपानेन जीर्यति ॥ अनु पश्चात्पीयते इत्यनुपानम् ॥' (हेमाद्रिः)

विपरीतं यदन्नस्य गुणैः स्यादविरोधि च ।
अनुपानं समासेन, सर्वदा तत्प्रशस्यते ।। ५१ ।।

स०—अन्नस्य भक्तवटकादेर्यद्विपरीतं गुणैस्तदनुपानं सदा प्रशस्यते । यथा स्निग्धस्य रूक्षं रूक्षस्य स्निग्धं शीतस्योष्णमुष्णस्य शीतम् । मधुरस्याम्लमम्लस्य मधुरमित्यादि । नन्वेवमुररीक्रियमाणे क्षीरस्य क्षैरेयादेर्वा चुक्रादीनामम्लानामनुपानं प्राप्तमित्याह । विपरीतगुणमपि यदविरोधि तदेवानुपानं सदा हितम् ।। ५१ ।।

अनुपान की व्यवस्था—

वि०—जो द्रव्य जिस अन्न के गुणों से विपरीत होते हुए भी उस अन्न के साथ विरोधी नहीं होता; संक्षेप से वह उसका अनुपान होता है। ऐसा अनुपान सदा उत्तम है ॥ ५१ ॥

अनुपानस्य किं कर्मेत्याह—

अनुपानं करोत्यूर्जां तृप्तिं व्याप्तिं दृढाङ्गताम् ।

अङ्गसङ्घातशैथिल्यविक्लित्तिजरणानि च ॥ ५२ ॥

स०—अनुपानमूर्जादीन्करोति । ऊर्जा मनः प्रहर्षः । तृप्तिः प्रीणनं शरीरेंद्रियस्य क्षामताविपरीतोऽत्र गुणः । तथा व्याप्तिः द्रवस्य हि गमनं न कठिनस्य । दृढांगता स्थिरशरीरत्वम् । तथाऽन्नसंघातस्य शैथिल्यम् । विक्लित्तिर्विक्लेदनम् । जरणं परिणामः । एतानि च करोति ॥ ५२ ॥

अनुपान से लाभ—

वि०—अनुपान—ऊर्ज (शक्ति), तृप्ति, अन्न का समस्त शरीर में फैलना, अङ्गों की दृढ़ता, अन्न के संघात को ढीला करना, अन्न को गलाना या नरम करना; और पाचन करना ये कार्य अनुपान के हैं ॥ ५२ ॥

एवंगुणमप्यूर्ध्वंजत्र्वादिषु न हितमित्याह—

नोर्ध्वजत्रुगदश्वासकासोरःक्षतपीनसे ।
गीतभाष्यप्रसङ्गे च स्वरभेदे च तद्धितम् ॥ ५३ ॥

स०—ऊर्ध्वं जत्रुण ऊर्ध्वजत्रुस्तस्मिन्ये गदास्तेषु तदनुपानं न हितम् । तथा श्वासादिषु न हितम् । गीतभाष्ययोः प्रकर्षेण संगः सातत्येन सम्बन्धस्तस्मिन् । तथा स्वरभेदे स्वरसादे न तद्धितम् । ऊर्ध्वजत्रुगदादीनां ह्यनुपानं प्रदूष्यामाशयमुरःकण्ठस्थितमाहारजं स्नेहमासाद्याऽभिष्यन्दाऽग्निसादच्छर्द्यादीनामयान्विदध्यात् ॥ ५३ ॥

अनुपान के अयोग्य रोगी—

वि०—जत्रु के ऊपर के रोगों में, श्वास, कास, उरःक्षत, पीनस में तथा लगातार गीत या भाष्य में लगे होने पर और स्वरभेद में अनुपान हितकारी नहीं है ॥ ५३ ॥

संप्रति येषां पानमेव न शस्यते तानाह—

प्रक्लिन्नदेहमेहाक्षिगलरोगव्रणातुराः ।
पानं त्यजेयुः—

स०—प्रक्लिन्नो देहो येषां विसर्पाद्यार्तानां ते पानं त्यजेयुः । मेहादीनां रोगातुरशब्देन प्रत्येकं सम्बन्धः । मेहरोगाद्यातुराः पानं द्रवरूपं त्यजेयुर्न केवलमन्नस्योपरि यदनुपानम् । खरनादे चोक्तम् । मेही प्लीही व्रणी कुष्ठी पांडुर्जठरपीनसी । शोषातिसारी मन्दाग्निः पानीयं मन्दमाचरेत् । नोर्ध्वांगपवनाविष्टे वाग्व्यायामहते न च । क्षतोरसि श्वासकासहिक्कावम्यर्दिते न च । निरन्ने चोर्ध्वरोगे च न पेयं वारि शीतलमिति ।

पान के अयोग्य रोग

वि०—क्लेदबहुल शरीर वाले, मेहरोगी, आँख और गले के रोगी और व्रणरोगी-पान (द्रव) का त्याग कर देवें।

वक्तव्य—पान-जो कि अनियत काल में रुचिवश पिया जाता है। अनुपान-नियत काल में विधिवश होकर पीना पड़ता ही है।

—सर्वश्च भाष्याध्वशयनं त्यजेत् ॥ ५४ ॥
पीत्वा, भुक्त्वाऽऽतपं वह्निं यानं प्लवनवाहनम् ।

स०—चशब्दो लुप्तनिर्दिष्टोऽत्र । सर्वोपि पुरुषः पीत्वा भुक्त्वा च भाष्यादींस्त्यजेत् । तथाऽऽतपादीन् पञ्च त्यजेदित्यत्राऽप्यनुवृत्त्या योज्यम् । यानं रथादि । प्लवनं तरणम् । वाहनमश्वादि ॥ ५४ ॥

वि०—पान या अनुपान पीकर सब (स्वस्थ या रोगी) मनुष्य बोलना, मुसाफिरी, और निद्रा को छोड़ देवे । भोजन करके-धूप या अग्नि का सेवन, पैदल चलना, तैरना या सवारी करना छोड़ देवे ॥ ५४ ॥

वक्तव्य—अरुणदत्त के अनुसार पान तथा भोजन करके दोनों अवस्थाओं में ये सब कार्य त्याज्य हैं। भोजन करके एक सौ कदम टहलना विधेय है। इससे अधिक चलना निषिद्ध है।

काले सात्म्यमित्युक्तम् । भोजनस्य तु कः काल इत्याह—

प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति ।
तथाऽग्नावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं, कालः स हि मतः ॥५५॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाम-
ष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने मात्राशितीयो
नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

स०—आहारं विधिना पूर्वोक्तेन काले सात्म्यं शुचि हितमित्यादिना नियमितं प्रयुञ्जीत अश्नीयादित्यर्थः । कदा । मूत्रपुरीषे प्रकर्षेण सृष्टे सति । न किंचिदेव त्यक्त इति प्रशब्देन द्योतयति । तथा हृदये सुष्टु विमले रसशेषकृतगौरवादिरहिते । तथा दोषे वातादौ स्वपथगे स्वमार्गगे । अजीर्णे ह्याहारेऽन्नशेषेण रुद्धगतयो वातादयः स्वस्थानं न लभेरन् । सुजीर्णे तु स्वस्थानस्था स्युः । उद्गारे विशुद्धे चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । स्रोतोमुखेषु च विशुद्धेष्वित्यर्थः । क्षुदुपगमने उपगतायां क्षुधि । वातेऽनुसरत्यनुलोमं गच्छति । तथाऽग्नौ कायाग्नावुद्रिक्ते पाकक्षमे । तथा देहे पटिंवद्रिये सुष्टु लघौ च । कालः स हि मतः । हिशब्द एवार्थे । स एव कालो भोजनस्य दृष्टो न त्वतोऽप्यूर्ध्वम् । स ह्यतिकालः । तत्र भुक्तमन्नं वातविष्टब्धं कृच्छ्राद्विपच्यते । तथा चोक्तं तन्त्रान्तरे । अतीतकालं भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले । कृच्छ्राद्विपच्यते भुक्तं द्वितीयं न च कांक्षति । कुक्षावाध्मानमाटोपसादांश्च कुरुतेऽधिकमिति । तस्मात्पूर्वोक्तकाले भोजनमद्यादिति । यमौ न्सौ तः सस्थाद्रसरविविरामा धीरललिता ॥५५॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायां-
मष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्यायां
मात्राशितीयोऽध्यायोऽष्टमः ॥ ८ ॥

भोजन का समय—

वि०—भोजन का समय—मल-मूत्र की प्रवृत्ति हो जाने पर; हृदय के अति प्रसन्न होने पर; दोषों के अपने मार्ग में रहने

पर; उद्गार के शुद्ध होने पर, भूख लगने पर; वायु अनुलोम होने पर; अग्नि के अतिशय प्रदीप्त होने पर, इन्द्रियों के निर्मल होने पर और शरीर के हलका होने पर, विधि के अनुसार आहार का सेवन करे क्योंकि भोजन का यही ठीक समय है ॥ ५५ ॥

भोजन विधि—'काले सात्म्यम्' आदि जो विधि पहले बता आए हैं उनके अतिरिक्त प्रकृति आदि आठ विशेषताओं का भी विचार आवश्यक है। 'यथा तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि भवन्ति।' (चरक वि. अ. १।२१)।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का मात्राशितीय नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

पूर्वमन्नपानादिद्रव्यैकदेशः प्रायोपयोगवान्निर्दिष्टस्तस्य चाहारविधेर्मात्रा चोपदिष्टा। संप्रति द्रव्यरसवीर्यविपाकादयो वाच्याः। अन्नपानं हि रसवीर्यविपाकादि परीचय प्रयोक्तव्यं नान्यथा। तस्यान्मात्राशितीयाध्यायादनन्तरं द्रव्यादिविज्ञानीय आरभ्यते—

अथातो द्रव्यादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—द्रव्यमादिर्येषां ते द्रव्यादयः। आदिशब्देन रसवीर्यादिपरिग्रहः। द्रव्यादीनां विज्ञानमवगमस्तस्मै हितः। शेषं पूर्ववत्।

अब इसके आगे द्रव्यादिविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् आत्रेय[1] आदि ने कहा था।

तत्र द्रव्यस्य रसादिभ्यः प्राङ्निर्देशः प्राधान्यात्। प्राधान्यं च स्वयमेव ग्रंथकृत्प्रतिपादयन्नाह—

द्रव्यमेव रसादीनां श्रेष्ठं, ते हि तदाश्रयाः।

स०—रसादीनामिति निर्धारणे षष्ठी। रसवीर्यादीनां मध्ये द्रव्यमेव प्रधानम्। ते रसादयो हि यस्मात्तदाश्रयास्तदेव द्रव्यमाश्रयो येषां त एवम्। अत एव केवला रसादयो नोपलभ्यन्ते। तस्मात् द्रव्यं प्रधानम्।

द्रव्यों की प्रधानता—

वि०—रस, गुण, वीर्य आदि में द्रव्य ही अधिक महत्त्व का है; क्योंकि रस आदि द्रव्य के ही आश्रित होते हैं।

अथ केन महाभूतेन कथं कृत्वाऽऽरब्धं द्रव्यमित्याह—

पञ्चभूतात्मकं तत्तु क्ष्मामधिष्ठाय जायते ॥ १ ॥

स०—तुरवधारणे। यत्तदोश्च नित्यसम्बन्धाद्यदित्येतद्नुक्तमप्यर्थाल्लभ्यते। तेनायमर्थः। यद्रसादीनामाश्रयभूतं कार्यं द्रव्यं हरीतक्यादि स्थावरं छागादि जंगमं तत्पञ्चभूतात्मकम्। तत्र यत्कारणद्रव्यमाकाशादि तस्य हि पंचभूतात्मकत्वे सत्याकाशादीनां पृथक्त्वेनात्मलाभो न स्यात्। ततश्चेदमाकाशं नाम महाभूतमिदं पृथ्वी नाम महाभूतमिति गदितुं न पार्येत। सर्वस्य पंचमहाभूतात्मकत्वात्। न च यत्कारणं तत्कदाचित्कार्यं स्यात्। तस्मात्कार्यद्रव्यस्यैव पंचमहाभूतात्मकत्वं न कारणद्रव्यस्याऽऽकाशादेः। मुनिस्तु। खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रह इति। न च वा द्रव्यमुक्त्वा लक्षणं व्यधीत। यथा। यत्राऽश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्। तद्द्रव्यमिति। अस्यार्थः यत्र कर्म परिस्पंदलक्षणं संयोगवियोगकारणं समवेतश्च गुणः यत्र शब्दादयो गुर्वादयो वा बुद्धिवपुरादयो वा समवेताः। यच्च कारणं समवायि तद्द्रव्यमुच्यते। समवायीति। यत्कारणमपृथग्भवति तत्समवायिकारणं यथा तन्तवः पटस्य। एवमेतानि च कर्मगुणाश्रयित्वसमवायिकारणत्वानि यद्यपि सर्वाणि सर्वास्मिन् द्रव्ये न विद्यंते तथाऽपि यद्यत्र सम्भवति तत्र तेन तस्य द्रव्यस्य द्रव्यत्वं कल्प्यम्। तद्यथा मनसः कर्मगुणाश्रयित्वेन वाय्वादीनां तु कर्मगुणाश्रयित्वेन समवायिकारणत्वेन च। नन्वाकाशादीनि कारणद्रव्याणीति कथमुक्तम्। यावताऽऽकाशस्य द्रव्यत्वमेव नास्तीति केचित्तान्ब्रूमहे। जलधेरिवं प्रत्यक्षेणैवाऽस्य नीलरूपतोपलब्धेरस्तित्वं सिद्धम्। तथा कवयोऽपि नीलत्वमेवाऽस्य वर्णयंति। तथा कर्णाटस्य। विपुलपुलिना हृद्या नद्यो वहंत्यतिनिर्मलाः कमलसुभगो वायुर्घ्राणं विलंबति मांसलः। नवजलधरच्छायावासादिवाचिरनिर्गतो वहति शशभृन्नीलस्निग्धे नभस्यवदातताममति। तथा च बाणस्य धावति शशिनि नभसीति। तदेतद्दूषयति। तथा हि दूरात् भ्रांतिमात्रेणैव नीलरूपत्वमस्योपलभ्यते। यथागिरेर्विविधवर्णस्याऽपि दूरान्नीलत्वप्रतीतिः। यत्कवीनां वर्णनं तस्मादलसेन निष्प्रमाणकमेव संभाव्यते। तथा च ते नभसः शुक्लत्वं वर्णयंति। न च शुक्लत्वमेतस्योपपद्यते निराकारत्वात्। तस्मान्न नीलरूपत्वं नभसः। ननु दर्शनवैचित्र्यादस्य रूपवत्त्वमुपपन्नम्। यथा पुरुषः शरादि ऋजुतां दिदृक्षुरेकं चक्षुर्निमील्याऽपरं चोन्मील्य तामुपलंभते न तु नयनयुगलेन। तद्वत्संनिकृष्टे गगनरूपस्यानादानं विप्रकृष्टे तु स्यादिति। नचैतद्युक्तम्। यतो रूपवत्त्वेऽभ्युपगम्यमाने स्पर्शवत्त्वमस्य प्रसज्ज्येत। रूपस्य स्पर्शेन नित्यसंबंधात्। स्पर्शवत्त्वे सत्याकाशत्वमेव न स्यात्। अतो न रूपवद्व्योम। अन्ये त्वेवं मन्यंते। पवनवदाकाशस्यावस्थाऽस्तु यथा किल पवनः स्पर्शवान्। न च तस्मिन्रूपं संभवति। तथैवाकाशो न रूपवान्न च स्पर्शवानिति। तदिदमनवगतपदार्थस्वरूपाणां बिलपनम्। ततो यत्र रूपं तत्राऽवश्यं स्पर्शो न तु यत्र

---

[1] इसके पूर्व के ४ अध्यायों में अधिकतर प्रयुक्त आहार द्रव्यों का गुण धर्म बतलाया है किन्तु आहार-द्रव्यों की इयत्ता नहीं है और सब द्रव्यों का गुण धर्म अलग-अलग वर्णन करना भी सम्भव नहीं है। अतः नवीन द्रव्यों के गुण-कर्म आदि जानने के उपाय-द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव का वर्णन करेंगे।

स्पर्शस्तत्राऽवश्यं रूपम्। तस्मान्न नभो रूपवन्न च सत्। अत्रोच्यते। परमार्थदर्शिभिर्यदुपादायोत्पत्तिः कथ्यते तदस्ति। यथा पृथिव्यादि। उक्तं च। अक्षरात् खं ततो वायुस्तस्मात्तेजस्ततो जलम्। उदकाच्च पृथिवी जाता भूतानामेष संभव इति। तस्मादाकाशं द्रव्यमस्ति। अपि च। आकाशमुपादाय गतिवृद्धिप्रसवादिविशेषोपलब्धेराकाशस्याऽस्तित्वम्। यथा रूपोपलब्धिविशेषसंभवानुमितं चक्षुः। अपि च। आकाशाभावे ह्येकघनत्वं जगतः स्यात्। तथा शब्दाख्यस्य गुणस्यान्यथाऽनुपपत्त्यास्त्याकाशमिति। ननु वायुर्नास्त्येव। तत्स्वरूपग्राहकप्रमाणाभावात्। स्पर्शोपलब्धेर्वायोरस्तित्वमुच्यत इति चेत् तदपि न युज्यते। अधुनैवोक्तं खाद्वायुरिति। गगनस्य च स्पर्शाभावाद्वायोरस्पर्शवत्त्वं कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यस्य। नैतदस्ति। कार्यस्योभयात्मकत्वदर्शनात्। कारणगुणपूर्वकं कार्यं दृष्टमकारणगुणपूर्वकं च दृष्टम्। तत्र कारणगुणपूर्वकं तावद्यथा तंतुश्वेतत्वपूर्वकं पटे श्वेतत्वम्। अकारणगुणपूर्वकं च दृष्टं यथा। हरिद्राक्षारसंयोगाद्रक्तता। तस्मादस्पर्शादाकाशादुत्पन्नो वायुः स्यादेव स्पर्शवान्। नन्वेवमप्यग्निजलपृथिवीष्वपि स्पर्शविशेषसंभवात्तस्मादग्न्यादिसमवाय एव वायुर्व्यवह्रियते न तद्व्यतिरिक्तो वायुरस्ति। अत्रोच्यते सत्यमनलादीनामपि स्पर्शोऽस्ति किंतु विलक्षण एवासौ। तथा हि। तेजसः स्पर्शो रूपैकार्थसमवायी। अपां स्पर्शो रूपरसाभ्यां समवेतः। पृथिव्या रूपरसगंधसमवेतः। यस्तु वायोः स्पर्शः स पत्रचलनशाखाभंजनादिकर्मसमवायी स नैषामग्न्यादीनां दृष्टानां नाप्यदृष्टानामात्मादिकालादीनाम्। गुणाश्च सर्वे द्रव्याश्रया दृष्टा रूपादय इव पटादिषु। तस्माद्वायोर्विशिष्टस्पर्शवत्त्वादस्तित्वमनुमीयते। तथा पनस्य तत्कर्मोपदेशादस्तित्वम्। यस्य तत्त्वदर्शिभिः कर्मोपदिश्यते तदस्ति यथा कफादिवद्वातस्य च कर्मोपदिष्टम्। यथा स्रंसव्यासव्यधस्वापेत्यादि। तस्मादस्ति वायुर्द्रव्यमिति। अग्निर्द्रव्यं नास्ति इन्धनव्यतिरेकेणानुपलब्धेः। अत्रोच्यते। तत्त्वदर्शिभिरग्नेर्द्रव्योत्पत्तिहेतुत्वेनोपदेशादस्तित्वम्। तथा चेहैव वक्ष्यति। आग्नेयं दाहभावर्णप्रकाशपवनात्मकमिति। ननु युक्तश्चतुर्णां भूतानां सावयवत्वात् द्रव्येषूत्कर्षाऽपकर्षसंनिवेशः। क्वचिद्द्रव्ये कस्यचिद्भूतस्य प्रमाणतः प्रभावतश्चावयवानामुत्कर्षापकर्षसद्भावादाकाशस्य तु निरवयवत्वात्सूक्ष्मत्वादेकत्वाच्चोत्कर्षापकर्षसंनिवेशो न युक्तः। युक्तमाह भवान् किंतु सावयनामेव द्रव्याणां येऽवयवाः क्वचित्पाषाणादौ संहता अवतिष्ठन्ते। येन तत्र द्रव्ये काठिन्यस्य प्रकर्षो भवति तत्र चाऽऽकाशमपकृष्यते। अनिबिडावयवे तु सन्निवेश आकाशः प्रकृष्यते। तदेवमनया युक्त्याऽऽकाशस्याऽपि न्यूनाधिकभाव उपपन्नः। पृथ्वीमाधारीकृत्योत्पद्यते ॥ १ ॥

वि०—द्रव्य पंच भूतों से (पृथ्वी, अप् , तेज वायु और आकाश से) बना हुआ है और पृथ्वी का आश्रय लेकर उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

एवं पृथिव्याख्येन भूतेनाऽऽधारत्वेनोपकृत्य तेन तदारब्धं द्रव्यमित्युच्यते। यथा—

अम्बुयोन्यग्निपवननभसां समवायतः।
तन्निर्वृत्तिविशेषश्च—

स०—अम्बु सलिलं योनिः कारणं यस्य तदंबुयोनि द्रव्यम्। एवं जलं नाम महाभूतं रसवत्त्वाद्योनितयोपकृत्य तेन तदारब्धमित्युच्यते। मुनिनाऽप्युक्तम्। रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः। अमीषां द्रव्यादीनामाश्रयकर्मणोर्भेदश्चित्यः। तथाऽग्निपवननभसां समवायादपृथग्भावात्तस्य द्रव्यस्य निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः। तथा तस्य द्रव्यस्य यो विशेष इदमन्यदिदमन्यद्द्रव्यमित्येवंरूपो नानास्वभावः सोऽप्यग्निपवननभसां समवायात्। एवमग्निपवननभोभिः समवायिकारणत्वेनोपकृत्य तैरेतद्द्रव्यमारब्धमित्युच्यते। एवं च सर्वं पंचमहाभूतात्मकं पंचभिर्महाभूतैरारब्धत्वात्। ननु यदि पंचमहाभूतात्मकं द्रव्यं तत्कथमुच्यते पार्थिवमिदं द्रव्यमिदमाप्यमित्याह।

वि०—जल इसका उत्पत्ति कारण है; अग्नि-वायु और आकाश इनके समवाय से इसमें व्यक्तता एवं भिन्नता आती है।

वक्तव्य—जैसा कि कहा है-'रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः॥'

(चरक सू. अ. २।६३)।

—व्यपदेशस्तु भूयसा ॥ २ ॥

स०—व्यपदेशस्तु भूयसेति। यत्र द्रव्ये यद्भूतं भूयिष्ठमधिकृतं तेन तस्य व्यपदेशः संज्ञा भवति। यथा पृथिव्याधिक्योत्पादितं द्रव्यं पार्थिवम्। एवमाप्यं तैजसं च वेद्यम्। तदेवं सर्वं द्रव्यं पंचभूतात्मकं स्थितम् ॥ २ ॥

वि०—पाञ्चभौतिक होते हुए भी किसी एक भूत की अधिकता से (पार्थिवादि) व्यवहार होता है जैसे—यह द्रव्य पार्थिव है, यह जलीय है, यह वायवीय है; इत्यादि ॥ २ ॥

तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसम्भवात्।
नैकदोषास्ततो रोगास्तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः ॥ ३ ॥
अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते।

स०—तस्माद् भूतसंघातसंभवात् कारणाद्द्रव्यं नैकरसमपि त्वनेकरसम्। एवं द्रव्यवद्रसस्याऽपि भूतसंघातसंभवत्वम्। अत एव प्रतिद्रव्यं मधुरादिरसस्य नानास्वादोपलंभः। तथा च। द्राक्षाऽक्षोडक्षीरेक्षुक्षौद्रगोजाक्षीरशुक्तादौ द्रव्ये सत्यपि माधुर्ये परोऽपर आस्वाद उपलभ्यते। एवमम्लानामपि मातुलुंगधान्याम्लादीनां द्रव्याणां नानास्वादोपलंभः। एवं लवणादीनाम्। अपि चैषां द्राक्षादीनामनेकरसत्वमास्वादविशेषादनुमीयमानं भूयसा रसेनान्यरसाभिभवं कृत्वा व्यपदिश्यते। इदं मधुरमिदमम्लाद्यन्यतमं महाभूतवत्। यथा सर्वं द्रव्यं पंचमहाभूतात्मकं भूयसा महाभूतेनान्यमहाभूताभिभवं कृत्वा तेन व्यपदिश्यते पार्थिवमिदमाप्यमिदमिति। ननु द्रव्यनिर्णये कृते पांचभौतिकं द्रव्यं यदेव प्रतिज्ञातं तदेव

तस्मादित्यादिना निगमग्रंथेनाऽतिवाहयितुं युक्तं न पुनरप्रस्तुतमनेकरसत्वम्। तस्मादत्रैवं ग्रंथः कर्तुं न्याय्यः तस्माच्चैकभूतजं द्रव्यं भूतसंघातसंभवादिति। अत्रोच्यते। षण्णामपि रसानां योनिरुदकं ततश्चैकस्यैव महाभूतस्योदकसंज्ञस्य रसकारणत्वं प्राप्तं नान्येषां नीरसत्वादिति कृत्वा न भूतसंभवत्वं रसस्येत्येवंविधामाशंकामपनिनीषुर्भूतसंघातसंभवत्वं रसस्य चैकेनेव प्रयत्नेन। तस्यानैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसंभवादिति जगाद। मुनिश्चात एव रसस्य भूतसंघातसंभवत्वं स्पष्टं कृत्वोवाच। यथा। रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः। इत्येवं भूतसंघातो रसानां द्रव्याश्रितानामपि संभवकारणम्। एतच्च रसभेदीये सविस्तरं व्याख्यास्यामः। द्रव्यमनेकरसं ततस्तस्मात्कारणादेकदोषा रोगा ज्वरादयो न भवंत्यपि त्वनेकदोषा इत्यर्थः। अत्रापि व्यपदेशस्तु भूयसेत्यध्याहार्यम्। ते त्रिदोषात्मकेऽपि ज्वरे वाताधिके वातज्वर एवं पित्तज्वरः श्लेष्मज्वर इत्येवंरूपो व्यपदेश उपपन्नः। ननु यदि सर्वो ज्वरः संनिपातजस्तत्किमिति वक्ष्यत्ययं संनिपातज्वर इति। ब्रूमहे। समविषमरूपं शक्त्युत्कर्षमाश्रित्य यत्र दोषा वर्तंते स सन्निपातज्वर इति तंत्रकृता पुरस्ताद्विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते। अथ को रसोऽनुरसो वेत्याह। तत्रेत्यादि। तत्र तस्मिन् द्रव्ये यो व्यक्तः स्फुट उपलभ्यते स रसः स्मृतस्तंत्रकृद्भिः। यश्चाव्यक्तोऽस्फुटप्रतिभासो रसनेंद्रियेणोपलभ्यते सोऽनुरसः। हीनार्थोऽत्रानुशब्दोऽल्परस इत्यर्थः। नैतावदेवानुरसलक्षणमित्याह। किंचिदित्यादि। मुखक्षिप्तस्य हरीतक्यादेर्द्रव्यस्य रसनेंद्रियेण किंचिदंते व्यक्तोऽप्युपलभ्यते यः सोऽप्यनुरस इष्यते मुनिभिरिति वाक्यशेषः। अंत इत्यनेनैवं तद्बोधयति अंतेऽवसाने न त्वादौ वा पानमात्रे वा न च मध्ये। तयोर्हि रसस्यैवोपलंभः। अनुशब्दस्यात्र पश्चादर्थत्वम्। पश्चात् स्फुटोऽपि किंचिद्य उपलभ्यते सोऽप्यनुरस इत्यर्थः॥ ३॥

द्रव्यों का अनेकरसत्व—

पंच महाभूतों के समवाय से (मिलने से) द्रव्य बनता है; इसलिये कोई द्रव्य एक रस वाला नहीं है।

(क्योंकि सब द्रव्य अनेक रस वाले हैं) इसलिये एक दोष वाले ज्वरादि रोग भी नहीं होते। (इनमें भी अधिकता से व्यवहार होता है)।

द्रव्यों में जो स्वाद स्पष्ट होता है; उसको 'रस' कहते हैं। और जो अस्पष्ट रहता है; या पीछे से कुछ स्पष्ट होता है; या थोड़ा स्पष्ट दीखता है-ये तीनों अनुरस कहलाते हैं ॥३॥

वक्तव्य—रस-'रसनाऽर्थो रसः' रसनेन्द्रिय से जिस विषय का ग्रहण होता है उसे रस कहते हैं। उसी के रस और अनुरस दो भेद यहाँ बताए गये हैं; विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में है। दोषों का रस के साथ सम्बन्ध होता है क्योंकि दोष भी पंचमहाभूतजन्य हैं—'वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः। आग्नेयं पित्तम्। अम्भःपृथ्वीभ्यां श्लेष्मा।'

(संग्रह; सू. अ. २०)।

ननु मधुरादयो रसा गुर्वादिगुणयुक्ताः कथं वक्तुं पार्यंते। यतो मधुरादयो रसा गुणा गुर्वादयश्च। न च गुणानां मधुरादीनां गुर्वादिगुणाधारत्वमुपपन्नम्। तथा च वैशेषिकाः। निर्गुणा गुणा इति तस्मिन्पर्यनुयोग इदमाह—

गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये ॥ ४ ॥
रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः।

स०—पृथिव्यादौ पृथिव्यादिमहाभूतारब्धे द्रव्ये रसाश्रये गुर्वादयो गुणाः परमार्थत आश्रिता नतु रसेषु मधुरादिषु। यत्तु रसेषु व्यपदिश्यंते तत् साहचर्योपचारतः। सह चरतीति सहचरस्तस्य भावः साहचर्यम्। यस्मिन्नेव गुडादौ द्रव्ये मधुरो रस आश्रितस्तस्मिन्नपि गुरुगुण आश्रित इति मधुररसगुरुगुणयोः सहचरभावः। साहचर्येण तुल्याश्रयत्वेनोपचारः साहचर्योपचारस्तस्मात्साहचर्योपचारतो गुर्वादयो गुणा रसेषु मधुरादिषु व्यपदिश्यंते। यथा गुरुर्मधुरो रसो लघुरम्ल इत्यादि। न पुनः परमार्थतो रसेषु गुर्वादयः संति। अस्ति च साहचर्येण व्यपदेशः। यथा घृतसहचरेण घृतस्थेनाग्निना दग्धो घृतदग्ध इत्युच्यते॥ ४॥

रसों में गुर्वादि गुण—

वि०—गुरु आदि गुण रस के आश्रय पृथ्वी आदि पंचमहाभूतजन्य द्रव्यों में ही रहते हैं; रसों में उनका होना केवल साथ होने से औपचारिक रूप में कहा जाता है[1] ॥ ४ ॥

तत्र द्रव्यं गुरुस्थूलस्थिरगन्धगुणोल्बणम् ॥ ५ ॥
पार्थिवं गौरवस्थैर्यसङ्घातोपचयावहम् ।

स०—तत्र तेषु पार्थिवादिषु पंचसु द्रव्येषु मध्ये पार्थिवं द्रव्यं गुर्वादिगुणोत्कटम्। उल्बणशब्देन तद् द्योतयति पार्थिवे द्रव्येऽन्येऽपि गुणाः संति। सर्वद्रव्याणां पांचभौतिकत्वात् गुर्वादयस्तत्रोत्कटाः। एवमाप्यादिषु सर्वं योज्यम्। तथा गौरवाद्यावहं गुरुत्वादित्यर्थः॥ ५॥

पार्थिव द्रव्यों के स्वरूप और गुण—

वि०—जिस द्रव्य में गुरु, स्थूल, स्थिर और गन्ध गुणों की अधिकता होती है वह पार्थिव होता है। पार्थिव द्रव्य-भारीपन, स्थिरता, काठिन्य और पुष्टि देता है॥ ५॥

द्रवशीतगुरुस्निग्धमन्दसान्द्ररसोल्बणम् ॥ ६ ॥
द्रव्यं स्नेहनविष्यन्दक्लेदप्रह्लादबन्धकृत् ।

स०—आप्यं द्रव्यं द्रवादिगुणोल्बणं स्नेहनादिकृत् ॥६॥

---

[1] रस एक गुण है और गुरु आदि भी गुण हैं, गुण द्रव्यों में ही रहते हैं। 'यत्राश्रिताः कर्मगुणाः' तथा गुण में गुण नहीं रहते 'गुणा गुणाश्रया नोक्ताः' फिर भी रसों में गुणों का होना शास्त्रों में वर्णित है। 'यथा गुरुर्मधुरो रसो लघुरम्ल' इत्यादि। वस्तुतः गुरु आदि गुण उस द्रव्य में ही रहते हैं जिनमें मधुर आदि रस, किन्तु साहचर्य या दोनों के एक साथ और एक ही द्रव्य में आश्रित होने से उपचारतः गुरु आदि गुण मधुर आदि रस के गुण कहे जाते हैं।

जलीय द्रव्य के स्वरूप और गुण—

वि०—द्रव, शीतल, गुरु, स्निग्ध, मन्द, सान्द्र और रस की प्रधानता वाले द्रव्य जलीय होते हैं और स्नेहन, विष्यन्दन, क्लेद, तृप्ति या प्रसन्नता और बन्धन करने वाले होते हैं ॥ ६ ॥

रूक्षतीक्ष्णोष्णविशदसूक्ष्मरूपगुणोल्बणम् ॥ ७ ॥
आग्नेयं दाहभावर्णप्रकाशपचनात्मकम् ।

स०—आग्नेयं द्रव्यं रूक्षादिगुणोत्कटं दाहादिकरम् ॥७॥

आग्नेय द्रव्य के स्वरूप और गुण—

वि०—रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, विशद, सूक्ष्म और रूप गुणों की प्रधानता वाले द्रव्य आग्नेय होते हैं। ये दाह, कान्ति, वर्ण प्रकाश और पाक करते हैं ॥ ७ ॥

वायव्यं रूक्षविशदलघुस्पर्शगुणोल्बणम् ॥ ८ ॥
रौक्ष्यलाघववैशद्यविचारग्लानिकारकम् ।

स०—वायव्यं रौक्ष्यादिगुणं रौक्ष्यलाघवादिकरं च ॥८॥

वायव्य द्रव्य के लक्षण और गुण—

वि०—रूक्ष, विशद, लघु और स्पर्श गुणों की प्रधानता वाले द्रव्य वायव्य होते हैं। इनसे रूक्षता, लघुता, विशदता; विविध प्रकार चेष्टायें और ग्लानि होती है ॥ ८ ॥

नाभसं सूक्ष्मविशदलघुशब्दगुणोल्बणम् ॥ ९ ॥
सौषिर्यलाघवकरम्—

स०—नाभसं द्रव्यं सूक्ष्मादिगुणोल्बणं सौषिर्यादिकरं च ॥ ९ ॥

आकाशात्मक द्रव्य के लक्षण और गुण—

वि०—सूक्ष्म, विशद, लघु और शब्द गुणों की प्रधानता वाले द्रव्य आकाशीय होते हैं। इनसे सुषिरता और लघुता होती है ॥ ९ ॥

—जगत्येवमनौषधम् ।
न किञ्चिद्विद्यते द्रव्यं वशान्नानार्थयोगयोः ॥१०॥

स०—एवमनेन पंचमहाभूतारब्धेन गुर्वादिगुणयोगेन द्रव्याणां जगति भुवनेऽस्मिन्ननौषधभूतं न किंचिद् द्रव्यमस्त्यपि तु सर्वमेव द्रव्यं यत्सिकतापांस्वादिकं तदौषधं चिकित्सितम्। वशान्नानार्थयोगयोः। अर्थश्च योगश्चार्थयोगौ। अर्थः प्रयोजनम्। योगो युक्तिः। यथाऽनया युक्त्यौषधमिदं योजितमस्य रोगस्य विजयाय स्यादनया चास्य रोगस्येति। नानाविधौ तावर्थयोगौ तयोर्वशात्सामर्थ्यात् सर्वमपि द्रव्यमौषधम्। रोगप्रतीकारहेतुत्वात् ॥ १० ॥

वि०—इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रयोजन और योजना की दृष्टि से जगत् में कोई भी द्रव्य अनौषध नहीं है, अर्थात् प्रयोजन और योजना की दृष्टि से संसार का प्रत्येक द्रव्य औषधरूप है ॥ १० ॥

अथ किं द्रव्यं किंभूतोत्कटं भवतीत्याह—

द्रव्यमूर्ध्वगमं तत्र प्रायोऽग्निपवनोत्कटम् ।
अधोगामि च भूयिष्ठं भूमितोयगुणाधिकम् ॥ ११ ॥

स०—ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगमम्। खप्रकरणे गमेरप्युपसंख्यानमिति खः। प्रायो बाहुल्येनोर्ध्वगं द्रव्यमग्निपवनाधिकं भवति। यथा मदनफलादि भूयिष्ठं प्रायेण। तथा चाऽग्निसमीरणोत्कटस्याऽप्यधोगामित्वं दृष्टम्। यथा हरीतक्यादेः। अचिन्त्यप्रभावत्वाद्यथा सर्पे विषमयत्वेऽपि तत्फणामणेर्विषघ्नत्वम्। भूमितोयोल्बणं द्रव्यमधोगामि भवति यथा त्रिवृतादि। यत्तु व्यामिश्रात्मकं तुल्यकालमूर्ध्वाधोदोषहरणं तदिह ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तमपि मिश्राभूतोत्कटं द्रव्यं व्यामिश्रात्मकमिति सामर्थ्यलब्ध एवायमर्थः ॥ ११ ॥

द्रव्यों का अधोगत्व-ऊर्ध्वगामित्व—

वि०—अग्नि और वायु की प्रधानता वाले द्रव्य प्रायः ऊर्ध्वगामी अर्थात् वमन कराने वाले होते हैं तथा जल और पृथ्वी की अधिकता वाले द्रव्य प्रायः अधोगामी अर्थात् विरेचन कराने वाले होते हैं ॥ ११ ॥

वक्तव्य—आकाश की अधिकता वाले द्रव्य शमन करने वाले हैं। यथा—'आकाशगुणभूयिष्ठं शमनम्' प्रायः शब्द का अपवाद भी हैं यथा-चित्रक की भाँति दन्ती में अग्नि और वायु की अधिकता होने पर भी वह विरेचक है। मुलहठी में मृद्वीका की भाँति जल और पृथ्वी की अधिकता होने पर भी वमन की प्रवृत्ति है। मिले हुए भूतों की अधिकता वाले द्रव्य वमन—विरेचन दोनों कार्य करते हैं।

इति द्रव्यं—रसान् भेदैरुत्तरत्रोपदेक्ष्यते ।

स०—इति परिसमाप्तौ। द्रव्यं प्रति यद्वक्तव्यं तन्निष्पन्नमित्यर्थः। एवं द्रव्ये निर्दिष्टे रसा निर्देष्टुं युक्ता इत्याह। रसानित्यादि। बहुवक्तव्यत्वादुत्तरत्रानंतरेऽध्याये रसान् भेदैस्त्रिषष्टिसंख्यावच्छिन्नैरुपदेक्ष्यते तन्त्रकृत्।

वि०—इस प्रकार द्रव्य की विवेचना समाप्त हुई। रसों को उनके भेदों के साथ-इसके अगले अध्याय में कहेंगे (चूँकि रसों के सम्बन्ध में अधिक कहना है; इसलिये अलग अध्याय में कहा गया)।

अथ वीर्यस्य विपाकादिभ्यः प्राधान्यात्तच्चर्चां प्रस्तौति—

वीर्यं पुनर्वदन्त्येके गुरु स्निग्धं हिमं मृदु ॥ १२ ॥
लघु रूक्षोष्णतीक्ष्णं च तदेवं मतमष्टधा ।

स०—द्रव्यमुक्तम्। वीर्यं पुनर्गुर्वादीनष्टौ गुणान् द्रव्याश्रितानिति समाचक्षते। तस्मादेवमनेन प्रकारेण वीर्यमष्टधाऽष्टप्रकारं गुर्वादीनां मतम् ॥ १२ ॥

अष्टविधवीर्यवाद—

वि०—कई आचार्य वीर्य को-गुरु, स्निग्ध, शीत, मृदु, लघु, रूक्ष, उष्ण और तीक्ष्ण आठ प्रकार का मानते हैं। (सुश्रुत में गुरु-लघु के स्थान पर विशद और पिच्छल पाठ है) ॥ १२ ॥

चरकस्त्वाह वीर्यं तत् क्रियते येन या क्रिया ॥ १३ ॥
नावीर्यं कुरुते किञ्चित्सर्वा वीर्यकृता हि सा ।

स०—चरकाचार्यः पुनरेवं वक्ति। येन स्वभावेन या क्रिया क्रियते यत्कर्म निष्पाद्यते तद्वीर्यम् । तदेव यावत् किंचिद्गुणजातं द्रव्ये स्थितं तत्सर्वं वीर्यमेव सर्वं वीर्यं करोति। अत एवाह। नावीर्यमित्यादि । यत्र वीर्यं तत्र किंचित्करोति न कांचिदप्यर्थक्रियां निष्पादयति। प्रतिनियत-शक्तिपरिष्वक्तत्वात्सर्वभावानाम् । अत एवाह। सर्वेत्यादि। हिशब्दो यस्मादर्थे । यस्मात्सर्वा क्रिया वीर्यकृता वीर्येण जनिता ततो यत्र वीर्यं तत्र किंचित्कुरुते ॥ १३ ॥

शक्तिमात्रवीर्यवाद—

वि०—चरक का कहना है कि—जिससे यावत् (समस्त) क्रिया की जाती है, वह वीर्य है। वीर्यरहित द्रव्य कोई कार्य नहीं करता; क्योंकि सब क्रियायें वीर्य (शक्ति) से ही होती हैं ॥ १३ ॥

गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या तेनान्वर्थेति वर्ण्यते ॥ १४ ॥
समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्षविवर्तिषु ।
व्यवहाराय मुख्यत्वाद्बह्वग्रग्रहणादपि ॥ १५ ॥

स०—यतो वीर्यस्यैव करणसामर्थ्यं तेन कारणेन गुर्वादिष्वेवाष्टासु वीर्याख्याऽन्वर्थाऽनुगतार्थेति भण्यते। एवकारोऽवधारणार्थः। गुर्वादिष्वेव वीर्यसंज्ञा न तु रसविपाकप्रभावेषु। किंभूतेषु गुर्वादिषु। समग्रेत्यादि। समग्राश्च ते गुणाश्च तेषु साराश्चिरकालावस्थितयो गुर्वादय एव। तथा च जाठराग्निसंयोगेनाऽपि न मधुरादिरसस्वभावमेते जहति। सर्तेः सुस्थिर इति घञि सारशब्दः। तथाऽन्येभ्यो मंदसांद्रादिभ्यो रसादिभ्यो वा गुणेभ्यो वा गुर्वादयः शक्त्युत्कर्षविवर्तिनः। शक्तेः सामर्थ्यस्योत्कर्ष आधिक्यम्। विशेषेण वर्तो विशेषेण भवनम्। शक्त्युकर्षस्य विवर्तः स विद्यते येषां त एवम्। किंच। गुर्वादीनां गुणानां व्यवहाराय व्यवहारार्थम् मुख्यत्वादन्येभ्यो गुणेभ्यो गुर्वादयः प्रधानभूता इत्यर्थः। तथा च गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रय इत्यक्तं न मधुरादयो गुणा इति। तस्माद् गुर्वादीनां गुणानां व्यवहारमुख्यत्वं रसादिभ्यः। तथा बह्वग्रग्रहणाद्बहुग्रहणादग्रग्रहणाच्च बहवो द्रव्यरसादयो गुर्वादिभिर्गृहीता भवंति। तथा चायुर्वेदशास्त्रेषु रसादिभ्यो गुर्वादीनामग्रे ग्रहणं दृष्टम्। यथा वातादिदोषगुणनिरूपणायां गुर्वादीनामेव पूर्वं ग्रहणं न रसादीनाम्। तथा च तत्र रूक्षो लघुरित्याचार्योऽपठद्वाय्वादिलक्षणे। एवं गुर्वादीनामेवाग्रे ग्रहणाद्गुर्वादिष्वेव वीर्याख्याऽन्वर्थाऽनुगतार्थेति भण्यते ॥ १४–१५ ॥

पारिभाषिकवीर्यवाद—

वि०—गुरु, स्निग्ध, शीत, मृदु, लघु, रूक्ष, उष्ण और तीक्ष्ण इन्हीं आठ गुणों को वीर्य कहना जिस लिए ठीक है उसका वर्णन करते हैं। समस्त गुणों में ये आठ सार या मुख्य हैं (क्योंकि ये स्थिर हैं; विपाक आदि से भी इनमें परिवर्तन नहीं होता) इनमें शक्ति का आधिक्य होता है। व्यवहार में मुख्यतया इन्हीं का प्रयोग होता है और बहुत से गुणों में भी सबसे पूर्व इन्हीं का शास्त्रों में भी उल्लेख होता है ॥१४–१५॥

अतश्च विपरीतत्वात्सम्भवत्यपि नैव सा।
विवक्ष्यते रसाद्येषु वीर्यं गुर्वादयो ह्यतः ॥ १६ ॥

स०—अतोऽस्माच्च कारणकदंबकाद्विपरीतत्वाद्वैपरीत्येन स्थितत्वान्न रसादयो वीर्यम्। तथाहि। रसस्य सारत्वं नास्ति। जाठरानलसंयोगवशेन रसांतरोत्पत्तेः। गुर्वादीनां तु जाठराग्निसंयोगवशेनाऽपि नान्यथाभावः। तथा न रसस्य शक्त्युत्कर्षविवर्तित्वम् । यतो रसस्य गुर्वाद्याहितशक्तेरेव स्वकर्मणि सामर्थ्यम्। व्यवहाराय यथा गुर्वादेर्मुख्यत्वं यथा बह्वग्रग्रहणं तथा प्राग्दर्शितम् । प्रभावः सर्वातिशायी द्रव्यस्वभावस्तस्य च क्रियानिर्वर्तनसामान्ये सत्यपि वीर्यसंज्ञा पूर्वोक्ताद्धेतोर्न वर्तते। एवं विपाककर्मणोरपि चिंत्यम्। तस्माद्रसाद्येषु संभवत्यपि विद्यमानाऽप्यसद्रूपेव सा वीर्यसंज्ञा न विवक्ष्यते नोररीक्रियते। आदौ भव आद्यः। दिगादित्वाद्यत्। रस आद्यो येषां प्रभावादीनां त एवं तेषु। वीर्यमित्यादि। हि शब्दो यस्मादर्थे। यत एवं सा वीर्यसंज्ञा संभवत्यपि रसादिषु वपरीत्यान्न विवक्ष्यतेऽतो गुर्वादय एव वीर्यं न रसादयः ॥ १६ ॥

रसादि में अवीर्यत्व—

वि०—इसीलिये वीर्य का लक्षण रस आदि में घटता हुआ भी पूर्वोक्त कारणों से विपरीत होने से अर्थात् गौण, अस्थिर, अल्पशक्तिता, व्यवहार में अप्रधानता से रसादि के लिए वीर्य शब्द का प्रयोग नहीं होता—अर्थात् रस आदि क्रिया करने में समर्थ होने पर भी वीर्य शब्द से नहीं कहे जा सकते। इसलिये गुरु आदि आठ ही की वीर्य संज्ञा है ॥ १६ ॥

उष्णं शीतं द्विधैवान्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च।

स०—अन्य आचार्या उष्णं शीतमिति द्विप्रकारं वीर्यमाचक्षते। एवकारोऽवधारणार्थः। द्विधैव वयं नाष्टधेति। अपिचेति निपातसमुदायो युक्तिसमुच्चये। तेऽपि सयुक्तिकमेवाहुरित्यर्थः।

द्विविधवीर्यवाद—

वि०—दूसरे आचार्य शीत और उष्ण भेद से वीर्य दो प्रकार का मानते हैं।

तामेव युक्तिं दर्शयन्नाह—

नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ ॥ १७ ॥
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रमति जातुचित्।

स०—नानास्वभावमपि द्रव्यं स्थावरजंगमाद्यचेतनचेतनमग्नीषोमौ महाबलावुत्कृष्टशक्ती न जातु कदाचिदतिक्रामति नोल्लंघ्य वर्तते। अवश्यं हि द्रव्यं किंचिदाग्नेयं किंचित्सौम्यम्। अतः किंचिद्द्रव्यमुष्णवीर्यं किंचिच्छीतवीर्यम्। तथा च मुनिः। न मत्स्याः पयसा सहाभ्यवहार्याः। उभयं ह्येतन्मधुरं मधुरविपाकं शीतोष्णत्वाद्विरुद्धवीर्यं विरुद्धवीर्यत्वाच्छोणितप्रदूषणायेति। अत्र दृष्टांतमाह। व्यक्ता व्यक्तमित्यादि। व्यक्तं चाव्यक्तं च व्यक्ताव्यक्तं नानात्मकमपि

जागत्त्रैलोक्यं कर्तुं यथा व्यक्तं चाव्यक्तं च नातिक्रामति तथा द्रव्यमग्नीषोमावित्यर्थः। व्यक्तं स्थूलं दृश्यमित्यर्थः। सांख्यानां तु महदादि व्यक्तमव्यक्तं प्रधानं पुरुषश्च ॥ १७ ॥

वि०—क्योंकि नाना प्रकार के स्थावर-जङ्गम, चेतन-अचेतनादि द्रव्य व्यक्त और अव्यक्त संसार के समान महाबली अग्नि और सोम इन दो का कभी उलङ्घन नहीं करते अर्थात् कोई द्रव्य आग्नेय और कोई सौम्य होता है और उनसे उत्पन्न गुण या कर्म भी आग्नेय या सौम्य होते हैं अतः उष्ण और शीत के भीतर ही सभी वीर्यों का समावेश हो जाता है ॥ १७ ॥

तत्रोष्णं भ्रमतृड्ग्लानिस्वेददाहाशुपाकिताः ॥ १८ ॥
शमं च वातकफयोः करोति, शिशिरं पुनः।
ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्तपित्तयोः ॥ १९ ॥

स०—तत्र तयोरुष्णशीतयोर्मध्य उष्णमुष्णवीर्यं भ्रमादीन् करोति। आशुपाकितां शीघ्रपाकित्वम्। शिशिरं शीतवीर्यं तु ह्लादनादीन्करोति ॥ १८-१९ ॥

दोनों वीर्यों के गुण—

वि०—इनमें उष्णवीर्य—भ्रम, प्यास, ग्लानि, पसीना, दाह और शीघ्र पाक करता है तथा वात एवं कफ का शमन करता है। शीतवीर्य—प्रसन्नता, जीवन, रुकावट, रक्त और पित्त की निर्मलता करता है ॥ १८-१९ ॥

वीर्यादनंतरं विपाकं लक्षयति—

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥ २० ॥

स०—जाठरेणौदर्येणाऽग्निना योगात् संश्लेषाद्यद्रसानां परिणामांते जरणनिष्ठाकाले रसांतरं रसविशेष उत्पद्यते स विपाक इति स्मृतो मुनिभिः कथितः ॥ २० ॥

विपाक का लक्षण—

वि०—विपाक—जाठराग्नि के संयोग से द्रव्यों की परिणति के अन्त समय में जो अन्य रस उत्पन्न होता है उसको विपाक कहते हैं। [विशेषरूप में पाक होना विपाक है] ॥ २० ॥

स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः।
तिक्तोषणकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः ॥ २१ ॥

स०—स्वादुर्मधुरो गुडादिः पटुर्लवणः सैंधवादिर्मधुरं कृत्वा पच्यते रस इति संबन्धः। मधुरमिति क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकलिंगम्। स्वादुः स्वादुविपाको लवणोऽपि स्वादुविपाक इत्यर्थः। अम्लो रसो दधिकांजिकादिरम्लं पच्यतेऽम्लविपाको भवति तिक्तोषणकषायाणां प्रायशः कटुर्विपाको भवति। प्रायशोग्रहणं सर्वत्राऽपि योजनीयम्। तेन व्रीहिस्थो मधुरो रसोऽम्लं पच्यत इत्युपपन्नम्। तथा चोक्तम्। स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो व्रीहिरिति। तथा हरीतक्या भूयस्त्वेन यः कषायो रसः स मधुरमेव पच्यते। तथा कटुको रसः शुंठ्यार्द्रकपिप्पल्यादिस्थो मधुरं पच्यते। तथा चोक्तम्। कषाया मधुरा पाक इति। तथा। नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहि हृद्यं विबंधनुत्। रुच्यं लघु स्वादुपाकमिति। तद्वदार्द्रकमपीति। तथा। श्लेष्मला स्वादुशीतार्द्रेत्यारभ्य यावत्स्वादुपाकेति। अत्र केचिदाहुः। तिक्तकषाययोरेव कटुविपाकतया पित्तकर्तृत्वमापद्यत इति। तदेतदसत्। शीतवीर्यत्वेनैतयोः पित्तहंतृत्वात्। वीर्यं हि रसविपाकौ विजयते। वक्ष्यति हि। रसं विपाकस्तौ वीर्यमिति ॥ २१ ॥

रसों का विपाक—

वि०—विपाक तीन प्रकार का है—मधुर और लवण का मधुर विपाक; अम्लरस का अम्ल विपाक और तिक्त, उष्ण और कषाय रस का विपाक प्रायः कटु होता है ॥ २१ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में अम्ल विपाक न मानकर मधुर और कटु दो ही प्रकार का विपाक माना है। कुछ आचार्य प्रति रस का विपाक मानते हैं। परन्तु पिप्पली कटु होने पर भी उसका कटु विपाक नहीं, इसी प्रकार खट्टे अनार का अम्ल पाक नहीं होता अतः यह मत अमान्य है।

रसैरसौ तुल्यफलस्तत्र द्रव्यं शुभाशुभम्।

स०—रसैर्जिह्वावैषयिकैर्मधुराम्लकटुकैर्विपाककालोपलभ्यो मधुराम्लकटुकलक्षणो यो रसो भवत्यसौ तुल्यफलः। तुल्यं सदृशं फलं यस्य स तुल्यफलः। एतदुक्तं भवति। अभ्यवहृतस्य मधुररसस्य जाठराग्निसंयोगवशाद्यद्रसांतरं फलतया निष्पन्नं तद्रसैः सदृशम्। फलग्रहणेनैतत्प्रतिपादयति। फलोपममेव वृष्यादिलक्षणकार्यसदृशं न तु कुसुमोपमं देहाह्लादनादिलक्षणकार्यमिति। एवमम्लादीनामपि व्याख्येयम्। तत्रेत्यादि। तेषु रसवीर्यविपाकादिषु मध्ये द्रव्यं किंचिच्छुभाशुभं सदसत्कर्म रसेन कुरुते। यथा। मधु कषायरसत्वेन पित्तं शमयति। किंचिद्विपाकेन। यथा। तदेव मधु कटुविपाकतया कफं हंति।

विभिन्न विपाकों के कर्म—

वि०—यह तीन प्रकार का विपाक मधुर-अम्ल और कटु-इन तीन रसों के समान फल देने वाला है; अर्थात् मधुर विपाक का गुण मधुर रस के समान है। अम्ल का अम्ल के और कटु विपाक का कटु रस के समान है।

किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म पाकेन चापरम् ॥ २२ ॥
गुणान्तरेण वीर्येण प्रभावेणैव किञ्चन।

स०—किंचन द्रव्यं गुणांतरेणाऽन्योन्यगुणविकृतत्वाद्रसविपाकतो यः गुणांतरो गुर्वादिस्तेन। यथा। अम्लं कांजिकं कफं शमयति। शैक्ष्यात्। किंचन वीर्येण। यथा कषायतिक्तं महत्पंचमूलं वातं जयति नतु पित्तमुष्णवीर्यत्वात्। किंचन द्रव्यं प्रभावेणैव शुभाशुभं कर्म कुरुते। यथा। अम्लोष्णा सुरा क्षीरं वर्धयति ॥ २२ ॥

वि०—कुछ द्रव्य शुभ (दोष-शमन कार्य), अशुभ (दोष-कोपन कार्य) कार्य रस से करता है; और दूसरा

द्रव्य वीर्य से करता है; और कोई गुणान्तर से, कोई वीर्य से और कोई प्रभाव से कार्य करता है ॥ २२ ॥

वक्तव्य—रस से कार्य-मधु मधुर-कषाय रस होने से पित्त का शमन करता है। विपाक से-मधु कटु विपाक होने से कफ का नाश करता है। गुणान्तर से-अम्ल काञ्जी कफ का शमन करती है; रूक्ष होने से। कोई वीर्य से-बृहत्पंचमूल कषाय—तिक्त होने पर भी उष्णवीर्य से वायु को शान्त करता है। प्रभाव से-अम्ल और गरम सुरा दूध को बढ़ाती है। शुभ-अशुभ कार्य-मधु कटु विपाक से कफ का शमन करता है; परन्तु कषाय और रूक्ष होने से वायु को उत्पन्न करता है।

ननु गुरूष्णाम्लमधुरादिगुणानां रसादीनां विरोधः। तत्रैषां कार्यनिष्पत्तौ समशक्तित्वं न वेत्याशंकानिवृत्यर्थमाह—

यद्यद्द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते ॥ २३ ॥
अभिभूयेतरांस्तत्तत्कारणत्वं प्रपद्यते।

अत इदमाह—

विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते ॥ २४ ॥

स०—रसादीनां रसवीर्यविपाकप्रभावानां मध्ये यद्रसादिवस्तु रसो वीर्यं वा विपाको वा प्रभावो वा बलवत्त्वेन बलिष्ठतया द्रव्यं वर्ततेऽवतिष्ठते तत्तद्वस्तुजातमितरानबलिष्ठानभिभूय विफलीकृत्य कारणत्वं प्रपद्यते। कर्मकरणे कारणतामासादयतीत्यर्थः। हि यास्मद्विरुद्धगुणसंयोगे संहतीभावे सति यदल्पं वस्तु तद् भूयसा बलवता जीयतेऽभिभूयते। गुणशब्देन चात्र रसादयो गृह्यंते न पारिभाषिका गुर्वादयोऽप्रकृतत्वात्। विरुद्धगुणसंयोग इत्यत्र विरुद्धगुणसमवेतद्रव्यसंयोग इति कल्प्यं न विरुद्धगुणसंयोग इति। नहि गुणानां संयोगो वक्तुं युज्यते किं तर्हि द्रव्याणाम्। तथा च मुनिः। संयोगस्तु द्वयोर्बहूनां वा संहतीभावः। विरोधश्च द्विविधः। स्वरूपतः कार्यतश्च। स्वरूपतो विरोधो गुरुलघ्वोः शीतोष्णयोश्च। कार्यतो यथा। वायौ जेतव्येऽरूक्षोष्णद्रव्यसंयोगोपयोगः। अत्र हि यो गुणानां विरोधः स कार्येण। तत्र यदल्पं वस्तुजातं तद् भूयसा वस्तुजातेनाऽभिभूयते। तत्र यथा क्षीरं शीतवीर्यमपि मधुररसहेतुकस्नेहगौरवादिभिः साहाय्यबाहुल्याद्वातशमनाख्यं कार्यं करोति न पुनः स्वकार्यं वातप्रकोपाख्यम् ॥ २३-२४ ॥

वि०—रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव में से जो द्रव्य में बलिष्ठ रूप से रहता है; वह दूसरे रसादि को दबा करके कर्म करने में कारण बन जाता है; क्योंकि विरोधी गुण से टक्कर होने पर अधिक गुण से थोड़ा गुण पराजित हो जाता है ॥ २३-२४ ॥

यत्र तु द्रव्ये रसादीनामुत्कर्षसंभवः परस्परं साम्यं तत्र कस्य कार्यकारणत्वमित्याह—

रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ॥ २५ ॥

स०—रसं मधुरादिषड्विधं विपाकः कर्ता व्यपोहति कार्यकरणे कुंठयति। कुंठयति। यथा मधुरो मधुनि रसः कटुना विपाकेनाभिभूयते। अत एव पवनशमनाख्यं कार्यं मधुररसहेतुकं न करोत्यपि तु वातप्रकोपनाख्यं कटुविपाकहेतुकमेव करोति। तौ रसविपाकौ वीर्यं कर्तृभूतमपोहति। यथा महिषामिषोत्थितौ मधुररसविपाकावुष्णवीर्याख्यं कर्तृ अभिभवति। अत एव तन्मांसं पित्तादिदूषणम्। अन्यथा स्वादुरसविपाकित्वात्पित्तशामकमेव स्यात्। प्रभावस्तु त्रीनपि रसादीन् विजयते। यथा। अम्लरसविपाकोष्णवीर्या च सुरा क्षीरं जयति। इतीदृशं रसादीनां नैसर्गिकं बलं स्वाभाविकी शक्तिः। एतदुक्तं भवति। रसं समबलमपि विपाको व्यपोहति। रसविपाकौ च समबलावपि वीर्यं स्वभावाद्व्यपोहति। एतानि च समबलान्यपि प्रभावो व्यपोहतीति ॥२५॥

रसादि में उत्कर्षता—

वि०—सामान्यतः बल की समानता होने पर रस-वीर्य आदि का स्वाभाविक बल इस प्रकार रहता है कि रस को विपाक दबा देता है; रस और विपाक को वीर्य पराजित करता है; रस-विपाक और वीर्य को प्रभाव दबा देता है ॥ २५ ॥

बल—स्वाभाविक शक्ति; यह दो प्रकार की है; कृत्रिम और अकृत्रिम। मात्रा की अधिकता या सहायक द्वारा दी हुई शक्ति कृत्रिम। स्वाभाविक—अकृत्रिम शक्ति है।

ननु द्रव्यरसविपाकवीर्याणि कर्मानुमानेन यथा स्वरूपापयेवावगच्छामः। प्रभावस्य तु न ज्ञायते कीदृशं कर्मेत्यत आह—

रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्।

स०—द्वयोर्द्रव्ययो रसादीनां रसवीर्यविपाकानां साम्ये सति यदेकं द्रव्यमन्यत्कर्म कुरुतेऽन्यत्पुनरन्यद्विशिष्टं कर्म तत् प्रभावजं प्रभावाज्जातमिति ज्ञेयम्। अयमस्य द्रव्यस्य प्रभाव इति विशिष्टकर्मकरणान्निश्चीयत इत्यर्थः। ननु प्रभावः क उच्यत इति। ब्रूमः। रसवीर्यविपाकादिगुणातिशायी द्रव्यस्य स्वभावो यः स प्रभावः। उक्तं च रसवीर्यविपाकादिगुणातिशयवानलम्। द्रव्यस्वभावो निर्दिष्टो यः प्रभावः स कीर्त्यत इति।

प्रभाव का लक्षण—

वि०—रस आदि की समानता (दो द्रव्यों में) होने पर भी जो कर्म दीखता है; वह प्रभाव है।

अत्र निदर्शनार्थमाह—

दन्ती रसाद्यैरतुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी ॥ २६ ॥
मधुकस्य च मृद्वीका, घृतं क्षीरस्य दीपनम्।

स०—चित्रकस्य रसवीर्यविपाकैस्तुल्यापि दंती रसादिभ्योऽतिशायिद्रव्यस्वभावयोगाद्विरेचनी न चित्रकश्चित्रकत्वात्। मधुकस्य च मृद्वीका तुल्याऽपि रसादिभ्योऽतिशायिद्रव्यस्वभावयोगान्मृद्वीका विरेचनी न मधुकम्। घृतं

क्षीरस्य रसादिभिस्तुल्याऽपि घृतं दीपनं न पुनः क्षीरम्। अन्ये त्वेवं प्रभावलक्षणं प्रतिपन्नाः प्रतिवस्तु स्वसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तलक्षणो यो धर्मस्त्वतलादिप्रत्ययप्रतीतिसमधिगम्यः स प्रभावः। तंत्रांतरे चोक्तम्। वस्तूनां यः स्वसंज्ञायाः। प्रवृत्तौ करणे स्मृतः। त्वतलादिप्रबोध्यश्च प्रभाव इति कीर्तितः। एवं च दंतीत्वाद्दंत्या विरेचनकारित्वं प्रभावः। चित्रकस्य चित्रकत्वादविरेचनकारित्वं प्रभावः। एवं मृद्वीकात्वान्मृद्वीकाया विरेचनकारित्वं प्रभावः। इत्यादि सकलपदार्थेषु बोध्यम् ॥ २६ ॥

प्रभाव का निदर्शन—

वि०—उदाहरण—दन्ती, रस, वीर्य और विपाक में चित्रक के समान होने पर भी विरेचक होती है। इसी प्रकार मुलेठी और द्राक्षारस; रस वीर्य और विपाक में समान होने पर भी द्राक्षा रेचन होता है। घी और दूध रस, वीर्य, विपाक में समान होते हुए भी घी अग्निदीपक है; दूध अग्निदीपक नहीं ॥ २६ ॥

सामान्यविशेषाभ्यां यतः सकलं व्याप्तमतो ग्रंथकार इदमाह—

इति सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनां, पुनश्च तत् ॥ २७ ॥
विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते।

स०—इति प्रकारे। अनेन प्रकारेण द्रव्यरसवीर्यादीनां सामान्येन कर्म व्याख्यातं न विशेषेण। यैरेव महाभूतै रसवीर्यादयो द्रव्याश्रिता आरब्धास्तैरेव तथाभूतैस्तदाश्रयमपि द्रव्यम्। अतः सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनां युक्तं संप्राप्तं विशिष्टं कर्म प्रतिद्रव्यं वक्तुमिदमाह। पुनश्च तदिति। तत्सामान्योक्तं कर्म द्रव्यरसादीनां संबंधि पुनर्भिद्यते विशिष्यते। केनेत्याह। विचित्रेत्यादि। विचित्राश्च ते प्रत्ययाश्च विचित्रप्रत्ययाः। नानाकारसंनिवेशविशेषयुक्तानि महाभूतानि प्रतिसत्त्वं प्राक्तनशुभाशुभकर्मप्रेरितो विचित्रो महाभूतपरिणाम इत्यर्थः। विचित्रप्रत्ययारब्धं च तद्द्रव्यं च तस्य भेदो विशेषस्तेन विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन तत्सामान्योक्तं कर्म द्रव्यादीनां भिद्यते। द्रव्याश्रितत्वाद्रसादीनामपि यत्कर्म तदपि द्रव्यभेदेन भिद्यते न तु सर्वमपि देशकालादिवशाद्विचित्रप्रत्ययारब्धम्। परस्परवैलक्षण्याद्द्रव्याणाम्। परस्परवैलक्षण्ये चैषां विचित्रप्रत्ययारब्धत्वमेव कारणम्। यद्वशादन्यदिदं द्रव्यमिति रूपरसविपाकादिभिन्नमुत्पद्यते तथा प्रतिभासते च तत्किंनु विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यत इति। अत्राचक्ष्महे। सत्यमेतत् किंतु विशिष्टद्रव्यस्य संग्रहार्थं विचित्रप्रत्ययारब्धमिति विशेषणं शास्त्रकृता कृतम्। यस्य भेदेन द्रव्ये रसवीर्यादीनां यत्सामान्योक्तं कर्म तद्भिद्यते। यस्मिन् द्रव्ये रसादीनामन्यानि महाभूतान्यारम्भकाणि द्रव्यस्य चारंभकाण्यपराणि च तद्द्रव्यं विचित्रप्रत्ययारब्धम् तदेवं द्रव्याणां द्वैविध्यम्। यतः कानिचिद्द्रव्याणि यैरेव महाभूतैर्यथाविधै रसादय आरब्धास्तैरेव तथाविधैर्महाभूतैस्तदाश्रयाण्यपि द्रव्याण्यारब्धानि। तानि रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्युच्यन्ते। तानि च यथायथं तत्कर्म रसाद्यनुगुणं सामान्यात्कुर्वंते। यथा क्षीरेक्षुशर्करादीनि। कानिचित्पुनस्तदाश्रितरसादिसमारम्भकमहाभूतान्यन्यानि तदाश्रयद्रव्यारम्भकाण्यन्यानि च महाभूतानि। तैरारब्धानि तानि विचित्रप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि। एतदुक्तं भवति। रसादीनामारम्भकाण्यन्यथाभूतानि महाभूतानि नोभयत्रैकरूपाणीति। तानि च यथायथं रसाद्यनुगुणं कर्म न कुर्वंति भिन्नत्वाद्धेतुभावस्य। तथाहि। रसादीनामारंभेऽन्यो हेतुरन्यश्च तदाश्रयद्रव्यारम्भ इति यथा मकुष्ठयवमत्स्यसिंहादीनि। एतानि यथारसं वीर्यविपाककर्म न कुर्वंति। विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात्। इत्थं यानि रसादिसमानप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि च बहून्यपि तेषां रसोपदेशेन रसकर्म निर्देष्टुं शक्यते। अत एव हेतोः षण्णां रसानां योऽनुगुणनिर्देशस्तस्य सार्थकत्वम्। रसोपदेशमन्तरेण हि बहुतराणां समानरूपाणां द्रव्याणां क्षीरेक्षुचन्दनादीनां कर्म वक्तुं सुखेन शक्यते। यानि तु विचित्रप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि तेषां प्रतिद्रव्यं कर्मोपदेशं विना यथायथं कर्म वक्तुं न शक्यते ॥ २७ ॥

ग्रन्थकार की उक्ति—

वि०—इस प्रकार द्रव्यों के सामान्य रूप में कर्म कह दिये। परन्तु ये कर्म द्रव्य के आरम्भक कारणों की विचित्रता के भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं ॥ २७ ॥

वक्तव्य—द्रव्य और रस दोनों के आरम्भक महाभुत ही होते हैं। प्रायः दोनों ही के आरम्भक भूत एक समान होते हैं और उनके गुण भी समान होते हैं। ऐसे द्रव्य समानप्रत्ययारब्ध कहलाते हैं किन्तु कभी-कभी द्रव्य के आरम्भक भूतों से भिन्न प्रकार के भूत रसों के आरम्भक होते हैं तो उनके गुणों में कुछ विचित्रता आ जाती है और ऐसे द्रव्य विचित्रप्रत्ययारब्ध कहलाते हैं। इनसे क्रमशः प्रकृतिसमसमवेत (कारण के अनुसार कार्य जैसे श्वेतसूत से श्वेतवस्त्र) तथा विकृतिविषमसमवेत (कारण से भिन्न कार्य जैसे श्वेत चूना और पीली हल्दी के संयोग से लाल रंग की उत्पत्ति होना) ये दो कार्य या गुण उत्पन्न होते हैं।

एतदुदाहरणार्थं ग्रन्थकृदाह—

स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजिद्वातकृद्यवः ॥ २८ ॥
उष्णा मत्स्याः पयः शीतं कटुः सिंहो न शूकरः ॥ २९ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यादिविज्ञानियो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

स०—स्वादुरसोपेतो गुरुगुणयुक्तश्च गोधूमो मधुररसोपदिष्टं यद्वातजित्वं कर्म तत्करोति। समानप्रत्ययारब्धत्वात्। यवस्तु स्वादुरसोपेतो गुरुगुणयुक्तश्च मधुररसोपदिष्टं यद्वातजित्वं कर्म तन्न करोत्यपि तु वातकृत्वमेव करोति। विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात्। मत्स्यः स्वादुरसोपेतो गुरुगुणोपेतश्च न

मधुररसोपदिष्टशीतवीर्यः किं तर्ह्युष्णवीर्यो विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात्। क्षीरं च स्वादुरसोपेतं गुरुगुणयुक्तं च मधुररसोपदिष्टशीतवीर्यं समानप्रत्ययारब्धत्वात्। स्वादुरसयुक्तो गुरुगुणयुक्तश्च सिंहो न यथारसं मधुरविपाकः किं तर्हि कटुको विपाके विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात्। शूकरो मधुररसयुक्तो गुरुगुणोपेतश्च यथारसं मधुरविपाक एव समानप्रत्ययारब्धत्वात्। एवं यानि समानप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि तेषां रसोपदेशेनैव गुणा निर्दिष्टा भवंति। तथा च मुनिः। शीतं वीर्येण यद्द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः। तयोरम्लं यदुष्णं च यच्चोष्णं कटुकं तयोः। रसोपदेशेन तथा निर्देश्यो गुणसंग्रहः। वीर्यतो विपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते। यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ। एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषगिति। बाहुल्येन च रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्येव द्रव्याणीति चेतसि कृत्वा चान्योऽवोचत्। यथा। गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये। रसेषु व्यपदिश्यंते साहचर्योपचारत इति। अत एव च बहुतराणि द्रव्याणि रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्यतो रसोपदेशव्याप्त्या तानि निर्देष्टुं शक्यंते नान्यथा। विचित्रप्रत्ययारब्धानि पुनः कतिपयान्येव द्रव्याणि तानि प्रतिद्रव्यमेवोपदिश्यंते। मुनिनाऽप्ययमर्थो युक्त्यैवोक्तः। यथा। मधुरं किंचिदुष्णं स्यात्कषायं तिक्तमेव च। यथा महत्पंचमूलं तथा चानूपमामिषम्। लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा। अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानां चौष्ण्यमुच्यते। किंचिदम्लरसं ग्राहि किंचिदम्लं भिनत्ति च। यथा कपित्थं संग्राहि भेदि चामलकं यथा। पिप्पली नागरं वृष्यं कटु चावृष्यमुच्यते। कषायः स्तंभनः शीतः सोऽभयास्वन्यथा मतः। तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेदिति। ये च रससंयोगा वक्ष्यमाणास्ते रसादिसमानप्रत्ययारब्धैर्मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायरूपैर्मिथः कल्पनीयाः। न तु विचित्रप्रत्ययारब्धैर्मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायरूपैः। यस्मात्तेषामयथाशास्त्रनिरूपिता रसवीर्यविपाकादयो विद्यंते। विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात्। अयं रससंयोगभेद एवं गुणोऽयमेवं गुणत्वाच्चामुष्मिन्विषये योज्य एतस्मिन्विषये चाऽयमिति निर्देष्टुं न शक्यते। अनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् नहि विचित्रप्रत्ययारब्धैर्ये रससंयोगाः क्रियंते तेषां स्वरूपं कथमवधारयितुं शक्यते। अपिच। समानप्रत्ययारब्धैर्ये संयोगाः कल्प्यंते तेषां संयोगिनां वीर्यतो यो विरोधः शीतोष्णलक्षणः स न दोषाय। ते तु विचित्रप्रत्ययारब्धैः संयोगाः कल्प्यंते तेषां संयोगिनां यः शीतोष्णलक्षणैर्विरोधः स दोषायेति वेद्यम्। अन्यथा रसालापानकादीनामनेकद्रव्यकृतानामनभ्यवहार एव प्राप्नुयात्। तथा त्रयस्त्रिंशद्वर्गा ये वक्ष्यमाणास्तेषु यदयौगिकं तज्जह्यात्। यौगिकं त्वनुक्तमपि युंज्यादिति यद्वक्ष्यते तत्र रसादिसमानप्रत्ययारब्धमेव योज्यं न विचित्रप्रत्ययारब्धम्। तस्य रसवीर्यविपाकानां निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वात्। तस्मादित्यादि। यत एवं विचित्रप्रत्ययारब्धं विचित्ररूपं तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेदपि तु रसादिसमानप्रत्ययारब्धं द्रव्यमेव रसोपदेशेन निर्दिशेदिति ॥ २८–२९ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

वि०—उदाहरण विचित्रप्रत्यारब्ध के—मधुर और गुरु गुण में समान होने पर भी विचित्रप्रत्ययारब्ध होने से (आरम्भक कारण की विचित्रता से) गेहूँ वातशामक, जौ वातकारक है। मछलियाँ उष्णवीर्य होती हैं जब कि दूध शीतवीर्य है, सिंह का मांस कटु विपाक होता है किन्तु सूअर का कटु विपाक नहीं होता है ॥ २८–२९ ॥

वक्तव्य—जौ को स्वादु और गुरु होने से वातशामक होना चाहिये न कि वातकारक। इसी प्रकार मछलियों को मधुर और गुरु होने से शीतवीर्य होना चाहिये परन्तु वे उष्णवीर्य हैं। स्वादु और गुरु होने से सिंह के मांस का विपाक मधुर होना चाहिये, परन्तु वह कटुविपाक है। यह विचित्रता इन द्रव्यों के आरम्भक महाभूतों के संयोग की विचित्रता के कारण ही होती है।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का द्रव्यादिविज्ञानीय नामक नवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

पूर्वस्मिन्नध्याये रसान् भेदैरुत्तरत्रोपदेक्ष्यत इत्युक्तमतस्तान् रसभेदान्वक्तुं रसभेदीयाध्यायं ब्रूते—

अथातो रसभेदीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—रसानां भेदो रसभेदस्तस्मै हितो रसभेदीयस्तमध्यायं व्याख्यास्यामः कथयिष्यामः। रसनार्थो रस इति मुनिः। तथाऽव्योनिरपामेव रसवत्त्वात्। तथा च मुनिः। आपो हि रसवत्य इति। अपां चाव्यक्तरसत्वात्प्रतिव्यक्त्यन्यादृशो रसानां महाभूतवैलक्षण्यज आस्वाद आस्वाद्यते। तथा च मधुररसाधिष्ठितानां क्षीरद्राक्षेक्षुशर्करादीनां प्रतिव्यक्त्यन्यादृशो मधुररसास्वाद उपलभ्यते। न त्वेकरूपः। एवमम्लानामारनालकोलाम्लिकादीमामपि प्रतिद्रव्यमनेकरूप आस्वादविशेष उपलभ्यते न त्वेक एव।

वि०—अब इसके आगे रसभेदीय[1] अध्याय का

---

[1] १. पूर्वाध्याय में 'रसाद् भेदैरुत्तरत्रोपदेक्ष्यते' कहा था अतः अब रस के सम्बन्ध में विवेचन करते हैं। यद्यपि प्रथम अध्याय में छः ही रसों का निर्देश किया है पर इन छः रसों के परस्पर संयोग एवं पृथक्-पृथक् भी उत्कर्ष और न्यूनता आदि की दृष्टि से अनेक भेद होते हैं अतः इनके सम्बन्ध में बहुत वक्तव्य होने से पृथक् अध्याय में इनका विवेचन कर रहे हैं।

व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

पूर्वं च प्रत्यपादि षडेव रसा इति तानेव लक्षयति—

क्ष्माऽम्भोऽग्निक्ष्माऽम्बुतेजःखवाय्वग्न्यनिलगोऽनिलैः ।
द्वयोल्बणैः क्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः ॥ १ ॥

स०—पृथिव्यादिभिर्महाभूतैर्द्वयोल्बणैर्व्यधिकैः क्रमात्परिपाट्या यथासंख्यमित्यर्थः । मधुरादीनां षण्णां रसानामुद्भवोऽभिनिर्वृत्तिर्भवति । द्वयमुल्बणं येषु भूतेषु तानि द्वयोल्बणानि तैः । द्वयोल्बणशब्दोपादानाच्च द्रव्यवद्रसस्याऽपि पांचभौतिकत्वमिति प्रतिपादयति । कतमत्पुनर्भूतद्वयं कतमस्मिन् रसेऽधिकमारंभकं स्यादिति यथासंख्येन दर्शयन्नाह । क्ष्मांभोऽग्निक्ष्मांबुतेजःखवाय्वग्न्यनिलगोऽनिलैः । भूमिजलाभ्यामधिकाभ्यां मधुरः । क्ष्माग्निभ्यामम्लः । अंब्वग्निभ्यां लवणः । खवायुभ्यां तिक्तकः । अग्निवायुभ्यां कटुः । क्ष्मानिलाभ्यां कषायः । ननु भूमितोयाधिक्यान्मधुर एवमंबुवाय्वाधिक्यादन्यो भून्याकाशाधिक्यादन्य इत्येवमादिरसविकल्पैरसंख्येयरसप्रसंगः प्राप्नोति । अत्रोच्यते । स्वभावाददोषः । एषां भूम्याकाशादीनामीदृशः स्वभावो यत्केनचिदेव भूताधिक्येन व्यवस्थितानि भूम्यादीनि रसांतरोत्पादनसमर्थानि भवंति न सर्वेणेति ॥ १ ॥

मधुरादि रसों की उत्पत्ति—

वि०—दो-दो भूतों की अधिकता से क्रमशः मधुर आदि छः रस उत्पन्न होते हैं; यथा—भूमि और जल की अधिकता से मधुर, भूमि और अग्नि की अधिकता से अम्ल, जल और अग्नि की अधिकता से लवण, आकाश और वायु की अधिकता से तिक्त, अग्नि और वायु की अधिकता से कटु, पृथ्वी और वायु की अधिकता से कषाय रस होता है ॥ १ ॥

वक्तव्य—रस में पञ्चमहाभूतों का सम्बन्ध रहता है; परन्तु जिन दो भुतों की प्रधानता रहती है; उनको कारण माना है। इसमें महाभूतों का स्वभाव ही कारण है कि छः ही रस होते हैं; वे जल और वायु आदि अन्य दो-दो भूतों की अधिकता से किसी अन्य रस को उत्पन्न नहीं करते।

ननु स्वलक्षणं बिनाऽनुक्तो रसविशेषः कथं ज्ञायतामिति लक्षणार्थमाह—

तेषां विद्याद्रसं स्वादुं यो वक्त्रमनुलिम्पति ।
आस्वाद्यमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः ॥ २ ॥
प्रियः पिपीलिकादीनाम्—

स०—तेषां रसानां मध्य आस्वाद्यमानो वक्त्रमनुलिंपति मुखोपदेहं जनयति । तथा देहस्याह्लादन आश्वासकः । तथाऽक्षाणामिंद्रियाणां प्रसादनः प्रसन्नत्वकृत् । तथा पिपीलिकादीनां प्रियः । तं मधुरं जानीयात् । पिपीलिकादीनां प्रिय पतेनैतद्दर्शयति । प्रमेहादिषु मूत्रगन्धोदये पिपीलिकोपसर्पणान्माधुर्यानुमानं कृत्वा मधुमेहत्वादि ज्ञायते । आस्वाद्यमान इत्युत्तरत्रापि योज्यम् ॥ २ ॥

रसों के लक्षण—

वि०—इसमें मधुर रस—उसको जानना-जो कि खाने पर मुख में चिपचिपापन उत्पन्न करता है; शरीर को पुष्ट करता है, इन्द्रियों को निर्मल करता है; पिपीलिका चिउँटी आदि को प्रिय होता है ॥ २ ॥

—अम्लः क्षालयते मुखम् ।
हर्षणो रोमदन्तानामक्षिभ्रुवनिकोचनः ॥ ३ ॥

स०—अम्लो रस आस्वाद्यमानो मुखं क्षालयते स्रावयति । तथा रोमदन्तानां हर्षणः । हृषु अलीके । अलीककारी । उद्वेजक इत्यर्थः । तथाऽक्षिभ्रुवनिकोचनः । अक्षिणी च भ्रुवौ चाक्षिभ्रुवम् अचतुरादिसूत्रे निपातितम् ॥ ३ ॥

वि०—अम्ल रस—मुख को धोता है—मुख से स्राव निकालता है, रोमांच तथा दन्तहर्ष करता है; आँख और भ्रुवों को संकुचित करता है ॥ ३ ॥

लवणः स्यन्दयत्यास्यं कपोलगलदाहकृत् ।

स०—लवणो रसो मुखं स्पंदयति । तथा कपोलयोर्गले च दाहं करोति । अन्नस्य रोचन इतीहातिप्रसिद्धत्वान्नोक्तम् । संग्रहे तु । स्पष्टार्थमुक्तम् । यथा । कण्ठकपोलं विदहत्यन्नं प्ररोचयतीति ।

वि०—लवण रस—मुख से लार टपकाता है, कपोल और गले में दाह करता है ।

तिक्तो विशदयत्यास्यं रसनं प्रतिहन्ति च ॥ ४ ॥

स०—तिक्तो मुखं विशदयतीति । तच्च अपैच्छिल्ययुतं करोति । रसनेन्द्रियं च प्रतिहंति । अन्यरसग्रहणशक्तिं नाशयतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

वि०—तिक्त रस—मुख से लिसलिसेपन को हटाता है (स्वच्छ करता है) और अन्य रसों को नष्ट कर देता है ॥ ४ ॥

उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वंश्चिमिचिमां कटुः ।
स्रावयत्यक्षिनासास्यं कपोलौ दहतीव च ॥ ५ ॥

स०—कटुरास्वाद्यमानो जिह्वाग्रमुद्वेजयति सोद्वेगं करोति । चिमिचिमां कुर्वन् दहनज्वालासंस्पर्शादिवाऽक्ष्यादि स्रावयति । गण्डौ च दहतीव ॥ ५ ॥

वि०—कटु रस—मुख में चिमचिमाहट करता हुआ जिह्वा के अग्रभाग को उद्वेजित करता है; आँख, नाक और मुख से स्राव करता है और कपोलों को जलाता-सा है ॥ ५ ॥

कषायो जडयेज्जिह्वां कण्ठस्रोतोविबन्धकृत् ।

स०—कषायो जिह्वां जडयति रसादिक्रियायां मंदीकरोति । तथा कण्ठस्य स्रोतांसि शिराविशेषास्तेषां विबन्धं करोति । श्वासादीनामयथाप्रवृत्तिमिव कुरुत इत्यर्थः ।

वि०—कषाय रस—जिह्वा को जड़ बनाता है (जकड़ देता है) कण्ठ और स्रोतों को बन्द कर देता है ।

अथ को रसः किं कर्म करोतीत्यत आह—

रसानामिति रूपाणि कर्माणि मधुरो रसः ॥ ६ ॥

आजन्मसात्म्यात्कुरुते धातूनां प्रबलं बलम् ।
बालवृद्धक्षतक्षीणवर्णकेशेन्द्रियौजसाम् ॥ ७ ॥
प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यः स्तन्यसाधनकृद्गुरुः ।
आयुष्यो जीवनः स्निग्धः पित्तानिलविषापहः ॥ ८ ॥
कुरुतेऽत्युपयोगेन स मेदः श्लेष्मजान् गदान् ।
स्थौल्याग्निसादसंन्यासमेहगण्डार्बुदादिकान् ॥ ९ ॥

स०—इति परिसमाप्तौ । रसानां मधुरादीनां लक्षणानि समाप्तानि सम्प्रति तेषां कर्म यथास्वं प्रदर्शयन्नाह । कर्माणीति । वक्ष्यमाणानीति वाक्यशेषः । मधुरो रसो धातूनां बलं प्रबलं कुरुते । बलं निजं तत्प्रकृष्टं जनयतीत्यर्थः । कुतः आजन्मसात्म्याज्जन्मप्रभृति देहस्य सात्म्यादित्यर्थः । बालभाव एव हि क्षीरादिना पुरुषस्य वृत्तिः । तथा बालादीनां प्रशस्तो हित ओजसोऽधिकवर्धनत्वात्प्रशस्तः । ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रांतानां परमित्योजोलक्षणं वक्ष्यति । तथा बृंहणः कंठ्यश्च । स्तन्यं क्षीरं संधानं श्लेषस्ते करोतीति स्तन्यसंधानकृत् । तथाऽऽयुष्यादिगुणः । नन्वायुष्यजीवनयोरेकार्थत्वादेकतरोपादानमेव युक्तम् । मैवम् । एतयोर्भिन्नार्थत्वात् । यथाहि । आयुष्यः स उच्यते । योऽपरिमितायुषो हितोऽधिकायुषो हितत्वात् । तथा च मुनिः । तेनाऽऽयुरमितं लेभे इति । यस्त्वायुषो नियतरूपस्य तामेव मर्यादामनुबध्नाति स जीवयतीति जीवन उच्यते । तद्वनयोः स्पष्ट एव भेदः । तथा जीवनमोजस्यमित्यभिन्नार्थौ किन्त्वेतयोर्द्वयोरपीह यदुपादानं तदोजसो द्विविधाया अपि वृद्धेः कारकोऽयमिति प्रतिपादयितुम् । तथा च मधुरो रसो रुधिरादिक्रमेणौजसो वृद्धिकरः सामान्याद्विशेषाच्च । यथा क्षीरं धातुवर्धनमुक्तं वृष्यं च । तत्र धातुवर्धनत्वेनैव वृष्यत्वस्योक्तत्वाद् वृष्यशब्दोपादानं यत्तदन्यानि वृष्यरूपाण्यात्मगुणादीनि तेभ्यः सकाशाद्विशेषेणाप्येष वृद्धिकरमिति द्योतयितुं कृतमिति । कुरुत इत्यादि । मधुरो रसोऽत्युपयोगेनाऽतिसेवया मेदःश्लेष्मोत्थान्रोगान्करोति । कांस्तानित्याह । स्थौल्यादिकान् ॥ ६-९ ॥

मधुर रस के कर्म—

वि०—ये रसों के लक्षण हैं—अब कर्मों को कहते हैं। इनमें—मधुर रस—जन्मकाल से ही सात्म्य होने के कारण धातुओं को अतिशय बलवान् बनाता है। बालक और वृद्ध को, क्षत, क्षीण, वर्ण, केश, इन्द्रियाँ और ओज के लिए उत्तम है, 'बृंहण' करने वाला, गले के लिये उत्तम, दूध को बढ़ानेवाला, सन्धानकारक, गुरु, आयुवर्धक, जीवनदायक, स्निग्ध तथा पित्त, वायु और विषनाशक है। किन्तु मधुर रस अधिक मात्रा में सेवन करने से मेद और कफजन्य स्थूलता, अग्निमान्द्य, संन्यास, प्रमेह, गण्डमाला, अर्बुद आदि रोगों को उत्पन्न करता है ॥ ६-९ ॥

अम्लोऽग्निदीप्तिकृत्स्निग्धो हृद्यः पाचनरोचनः ।
उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनः क्लेदनो लघुः ॥१०॥
करोति कफपित्तास्रं मूढवातानुलोमनः ।
सोऽत्यभ्यस्तस्तनोः कुर्याच्छैथिल्यं तिमिरं भ्रमम् ॥११॥
कण्डूपाण्डुत्ववीसर्पशोफविस्फोटतृड्ज्वरान् ।

स०—अम्लो रसोऽग्निदीप्तिकृत्त्वादियुतः । तथा कफपित्तास्रं करोति । मूढमननुलोमगं वातमनुलोमयतीति मूढवातानुलोमनः । सोऽम्लो रसोऽतिसेवितो देहशैथिल्यं तिमिरादींश्च कुर्यात् ॥ १०-११ ॥

अम्ल रस के कर्म—

वि०—अम्ल रस—अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, स्निग्ध, हृदय के लिये प्रिय, पचाने वाला, रुचिकारक, उष्णवीर्य, स्पर्श में शीतल, तर्पण; क्लिन्नताकारक एवं लघु होता है तथा कफ, पित्त और रक्त को बढ़ाने वाला तथा मूढ वायु का अनुलोमक है। अम्ल रस अधिक सेवन करने पर शरीर में शिथिलता, तिमिर, भ्रम, कण्डू, पाण्डु, विसर्प, शोफ, विस्फोट, प्यास और ज्वर को उत्पन्न करता है ॥ १०-११ ॥

लवणः स्तम्भसङ्घातबन्धविध्मापनोऽग्निकृत् ॥ १२ ॥
स्नेहनः स्वेदनस्तीक्ष्णो रोचनश्छेदभेदकृत् ।
सोऽतियुक्तोऽस्रपवनं खलतिं पलितं वलिम् ॥ १३ ॥
तृट्कुष्ठविषवीसर्पाञ्जनयेत्क्षपयेद्बलम् ।

स०—लवणो रसः स्तंभादिविध्मापनो वह्निकृत्त्वादियुतश्च । सोऽत्यभ्यस्तो वातरक्तादीन् जनयेत् । बलं प्राणं क्षपयेत् ॥ १२-१३ ॥

लवण रस के कर्म—

वि०—लवण रस—स्तम्भ [रुकावट], संघात (काठीन्य), और बन्ध को नष्ट करता है, अग्नि बढ़ाता है, स्नेहन करने वाला, स्वेदन, तीक्ष्ण, रुचि कराने वाला, छेदक और भेदक है। अधिक सेवन करने पर यह वातरक्त, गञ्जापन, बालों का सफेद होना, झुर्रियाँ पड़ना, प्यास, कुष्ठ, विष (के वेग को बढ़ाता है) एवं वीसर्प को उत्पन्न करता है और बल का नाश करता है ॥ ११-१३ ॥

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिं क्रिमितृड्विषम् ॥ १४ ॥
कुष्ठमूर्च्छाज्वरोत्क्लेशदाहपित्तकफान् जयेत् ।
क्लेदमेदोवसामज्जशकृन्मूत्रोपशोषणः ॥ १५ ॥
लघुर्मेध्यो हिमो रूक्षः स्तन्यकण्ठविशोधनः ।
धातुक्षयानिलव्याधीनतियोगात्करोति सः ॥ १६ ॥

स०—तिक्तो रसः स्वयं मुखस्याऽरोचनशीलोऽरुच्यादीन् जयेत् । अरुचिराहारद्रव्यविषयेऽनभिलाषः । क्लेदादीनामुपशोषणः । तथा लघ्वादिगुणयुक्तः । सोऽतिसेवितो धातुक्षयादीन् कुरुते ॥ १४-१६ ॥

तिक्तरस के कर्म—

वि०—तिक्त रस—अपने आप अरुचिकारक (दुःस्वादु) होता हुआ भी अरुचि (भोजन पान में अनिच्छा) को मिटाता है, कृमि, प्यास, विष, कुष्ठ, मूर्च्छा, ज्वर, उत्क्लेश,

दाह, पित्त और कफ को शान्त करता है; क्लेद, मेद, वसा, मज्जा, मल और मूत्र को सुखाता है; लघु, मेधा के लिए उत्तम, शीतवीर्य, रूक्ष एवं दूध और गले का शोधक है। अधिक सेवन करने से यह धातुओं का क्षय और वातरोगों को उत्पन्न करता है ॥ १४-१६ ॥

कटुर्गलामयोदर्दकुष्ठालसकशोफजित् ।
व्रणावसादनः स्नेहमेदःक्लेदोपशोषणः ॥ १७ ॥
दीपनः पाचनो रुच्यः शोधनोऽन्नस्य शोषणः ।
छिनत्ति बन्धान् स्रोतांसि विवृणोति कफापहः ॥ १८ ॥
कुरुते सोऽतियोगेन तृष्णां शुक्रबलक्षयम् ।
मूर्च्छामाकुञ्चनं कम्पं कटिपृष्ठादिषु व्यथाम् ॥ १९ ॥

स०—कटुर्गलामयादीन् जयति। व्रणस्याऽवसादनो रोहणः स्नेहादिविशोषणो दीपनत्वादिगुणयुक्तश्च। अन्नं शोषयति विदहति। अन्नशोषणत्वाच्छिनत्ति बन्धान्। स्रोतांसि विवृणोति प्रसारयति। कफघ्नश्च। सोऽतिनिषेवितस्तृष्णादीन् करोति ॥ १७-१९ ॥

कटु रस के कर्म—

वि०—कटु रस—गले के रोग, उदर्द, कुष्ठ, अलसक और शोफनाशक; व्रणों को दबाने वाला है एवं स्नेह, मेद और क्लेद को सुखाता है; अग्निदीपक; पाचक, रुचिकारक, शोधक, अन्न का शोषक, बन्धनों को काटने वाला; स्रोतों को खोलने वाला और कफ-नाशक है। अधिक सेवन करने से यह प्यास, शुक्रक्षय, बलक्षय, मूर्च्छा, सङ्कोच, कम्पन, कमर और पीठ आदि में पीड़ा उत्पन्न करता है ॥ १७-१९ ॥

कषायः पित्तकफघ्नो गुरुरस्रविशोधनः ।
पीडनो रोपणः शीतः क्लेदमेदोविशोषणः ॥ २० ॥
आमसंस्तम्भनो ग्राही रूक्षोऽति त्वक्प्रसादनः ।
करोति शीलितः सोऽति विष्टम्भाध्मानहृद्रुजः ॥ २१ ॥
तृट्कार्श्यपौरुषभ्रंशस्रोतोरोधमलग्रहान् ।

स०—कषायः पित्तकफघ्नो गुरुत्वादियुतोऽतिशयेन त्वक्प्रसादनश्च। सोऽत्युपयुक्तो विष्टम्भादीन्करोति ॥ २०-२१ ॥

कषाय रस के कर्म—

वि०—कषाय रस—पित्त और कफनाशक, गुरु, रक्तशोधक, पीडक [व्रण या फोड़ों को दबाने वाला], व्रणों का रोपक (भरने वाला); शीतवीर्य, क्लेद और मेद को सुखाता है। आम को रोकने वाला, ग्राही, रूक्ष एवं त्वचा को अतिशय निर्मल करता है। अधिक सेवन करने से यह विष्टम्भ, आध्मान, हृदय में में वेदना, प्यास, कृशता, शुक्रहानि, स्रोतों का अवरोध और मल की रुकावट करता है ॥ २०-२१ ॥

अथ मधुरादिस्कन्धान्निर्दिशति—

घृतहेमगुडाक्षोडमोचचोचपरूषकम् ॥ २२ ॥
अभीरुवीरापनसराजादनबलात्रयम् ।
मेदे चतस्रः पर्णिन्यो जीवन्ती जीवकर्षभौ ॥ २३ ॥
मधूकं मधुकं बिम्बी विदारी श्रावणीयुगम् ।
क्षीरशुक्ला तुगाक्षीरी क्षीरिण्यौ काश्मरी सहे ॥ २४ ॥
क्षीरेक्षुगोक्षुरक्षौद्रद्राक्षाऽऽदिर्मधुरो गणः ।

स०—हेम कांचनम्। राजादनं चाषप्रियम्। बलात्रयं बलाऽतिबलानागबलेति। मेदा महामेदेति मेदाद्वयम्। चतस्र इति। शालिपर्णी पृश्नीपर्णी मुद्गपर्णी माषपर्णी च। मधूकं मधूकपुष्पम्। मधुकं मधुयष्टी। विंबी गोल्हा। श्रावणीयुगं श्रावणी महाश्रावणी च। क्षीरिणी कांचनक्षीरी। काश्मरी गंभारी। सहे महासहा क्षुद्रसहा च। आदिशब्देन तृणपंचमूलं मेदोमज्जतैलं मधुरदाडिमपुष्करबीजशृंगाटकाश्वगन्धाश्वदंष्ट्रामृणालकशेरुकसिंचतिकाखर्जूरीतालमस्तकादीनि गृह्यन्ते ॥ २२-२४ ॥

मधुर वर्ग के द्रव्यों के नाम—

वि०—मधुरगण—घी, सुवर्ण, गुड़, अखरोट, केला, नारियल, फालसा, शतावरी, वीरा, कटहल, खिरनी, बला अतिबला और नागबला; मेदा, महामेदा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, जीवक, ऋषभक, महुआ, मुलहठी, कन्दूरी, विदारी, श्रावणी, महाश्रावणी, क्षीरविदारी, वंशलोचन, क्षीरकाकोली और दूधी, गम्भारी, सहा और महासहा; दूध; ईख, गोखरू, मधु, द्राक्षा आदि यह मधुरगण हैं ॥ २२-२४ ॥

इदानीमम्लस्कन्धमाह—

अम्लो धात्रीफलाम्लीकामातुलुङ्गाम्लवेतसम् ॥ २५ ॥
दाडिमं रजतं तक्रं चुक्रं पालेवतं दधि ।
आम्रमाम्रातकं भव्यं कपित्थं करमर्दकम् ॥ २६ ॥

स०—धात्रीफलमामलकम्। रजतं रौप्यम्। चुक्रं शुक्तम्। उपलक्षणं चेदम्। संग्रहोक्तान्यन्यान्यपि कोशाम्रलकुचकुवलकोलबदरैरावतप्राचीनामलकमस्तुधान्याम्लादीनीहैव बोध्यानि ॥ २५-२६ ॥

अम्लवर्ग के द्रव्यों के नाम—

वि०—अम्ल गण—आँवला, इमली, विजौरा, अम्लवेतस, अनार, चाँदी, तक्र, चुक्र, पालेवत (अम्ल), दही, आम, आम्रातक, कमरख, कैथ, करौंदा यह अम्लगण के द्रव्य हैं ॥ २५-२६ ॥

अथ लवणस्कन्धमाह—

वरं सौवर्चलं कृष्णं विडं सामुद्रमौद्भिदम् ।
रोमकं पांशुजं सीसं क्षारश्च लवणो गणः ॥ २७ ॥

स०—वरं सैंधवं लवणश्रेष्ठत्वात्। क्षारः स्वर्जिकादिः ॥ २७ ॥

लवणवर्ग के द्रव्यों के नाम—

वि०—लवण गण—सैन्धव, सञ्चल, कृष्ण, बिड; सामुद्र, औद्भिद, रोमक, पांशुज, सीसा और क्षार लवणगण के द्रव्य हैं ॥ २७ ॥

तिक्तः पटोली त्रायन्ती बालकोशीरचन्दनम् ।
भूनिम्बनिम्बकटुकातगरागुरुवत्सकम् ॥ २८ ॥
नक्तमालद्विरजनीमुस्तमूर्वाटरूषकम् ।
पाठापामार्गकांस्यायोगुडूचीधन्वयासकम् ॥ २९ ॥
पञ्चमूलं महद्व्याघ्र्यौ विशालाऽतिविषा वचा ।

तिक्तस्कन्धं वक्ति—

स०—नक्तमालः करंजः । कांस्यं लोहभेदः । अयो लोहम् ॥ २८-२९ ॥

तिक्त वर्ग के द्रव्यों के नाम—

वि०—तिक्तगण– पटोली, त्रायन्ती, ह्रीबेर, खस, चन्दन, चिरायता, नीम, कटुकी, तगर, अगरु, इन्द्रजौ, करञ्ज, हल्दी, दारुहल्दी, मुस्ता, मूर्वा, वासा, पाठा, चिरचिटा, कांसा, लोहा, गिलोय, धमासा, महापञ्चमूल, छोटी और बड़ी कटेरी, इन्द्रायण, अतीस और बच ये तिक्तगण हैं ॥ २८-२९ ॥

कटुस्कन्धमाह—

कटुको हिङ्गुमरिचकृमिजित्पञ्चकोलकम् ॥ ३० ॥
कुठेराद्या हरितकाः पित्तं मूत्रमरुष्करम् ।

स०—पित्तं मूत्रं छागादीनाम् । उपलक्षणं चेदम् । अन्यानि संग्रहोक्तानि च मनःशिलासर्षपकुष्ठादीनि बोध्यानि ॥ ३० ॥

कटु वर्ग के द्रव्यों के नाम—

वि०—कटुगण—हींग, मरिच, विडङ्ग, पञ्चकोल, कुठेरादि और हरितक वर्ग, सभी पित्त, मूत्र और भिलावा यह कटुगण हैं ३० ॥

कषायस्कन्धमाह—

वर्गः कषायः पथ्याऽक्षं शिरीषः खदिरो मधु ॥ ३१ ॥
कदम्बोदुम्बरं मुक्ताप्रवालाञ्जनगैरिकम् ।
बालं कपित्थं खर्जूरं बिसपद्मोत्पलादि च ॥ ३२ ॥

स०—आदिशब्देन प्रियंगुरोध्रकट्वंगादीनि गृह्यन्ते ॥ ३१-३२ ॥

कषायवर्ग के द्रव्यों के नाम—

वि०—कषायगण—हरड़, बहेड़ा, शिरीष, खैर, मधु, कदम्ब, गूलर, मुक्ता, प्रवाल, अञ्जन, गेरू, कच्चा कैथ, कच्ची खर्जूर, भिस, पद्म और कमलादि गण कषायगण हैं ॥ ३१-३२ ॥

इदानीमेषां गुणनिरूपणं करोति—

मधुरं श्लेष्मलं प्रायो जीर्णाच्छालियवादृते ।
मुद्गाद् गोधूमतः क्षौद्रात्सिताया जाङ्गलामिषात् ॥३३॥

स०—प्रायेण मधुरं द्रव्यं कफकृद्भवति शाल्यादीन्पुराणान् वर्जयित्वा । प्रायोग्रहणं तैलमकुष्ठादीनां व्यभिचारदर्शनात् । एवमुत्तरत्रापि प्रायोग्रहणस्य प्रयोजनं वेद्यम् ॥३३॥

वि०—मधुर द्रव्यों के गुण—प्रायः सब मधुररस वाले द्रव्य कफवर्धक हैं किन्तु पुरातन शालि, जौ, मूँग, गेहूँ, मधु, सिता और जाङ्गलमांस को छोड़कर ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—प्रायः कहने से-तैल, मोठ आदि इसके अपवाद हैं ।

प्रायोऽम्लं पित्तजननं दाडिमामलकादृते ।

स०—अम्लं द्रव्यं प्रायः पित्तकृद्दाडिमामलके हित्वा ।

वि०—प्रायः सब अम्ल द्रव्य पित्तजनक हैं; दाडिम और आँवले को छोड़ कर ।

अपथ्यं लवणं प्रायश्चक्षुषोऽन्यत्र सैन्धवात् ॥ ३४ ॥

स०—लवणं द्रव्यं प्रायश्चक्षुषोऽपथ्यं सैन्धवं वर्जयित्वा ॥ ३४ ॥

वि०—प्रायः सब लवण आँखों के लिये अपथ्य हैं, सैन्धव को छोड़ कर ॥ ३४ ॥

तिक्तं कटु च भूयिष्ठमवृष्यं वातकोपनम् ।
ऋतेऽमृतापटोलीभ्यां शुण्ठीकृष्णारसोनतः ॥ ३५ ॥

स०—तिक्तं द्रव्यं कटु च प्रायेणावृष्यं वातकृच्च गुडूच्यादीन् हित्वा ॥ ३५ ॥

वि०—प्रायः तिक्त और कटु रस वाले द्रव्य अवृष्य और वातकोपक हैं । इसमें-गिलोय, पटोल, सोंठ, पिप्पली और रसोन अपवाद हैं ॥ ३५ ॥

कषायं प्रायशः शीतं स्तम्भनं चाभयां विना ।

स०—कषायं द्रव्यं प्रायेण शीतवीर्यं स्तम्भनं च भवति हरीतकीं वर्जयित्वा ।

वि०—हरड़ को छोड़ कर प्रायः सब कषायद्रव्य शीतल और स्तम्भन करने वाले हैं ।

रसाः कट्वम्ललवणा वीर्येणोष्णा यथोत्तरम् ॥ ३६ ॥
तिक्तः कषायो मधुरस्तद्वदेव च शीतलाः ।
तिक्तः कटुः कषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा ॥ ३७ ॥
पट्वम्लमधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्रमारुताः ।
पटोः कषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः ॥ ३८ ॥
लघुरम्लः कटुस्तस्मात्तस्मादपि च तिक्तकः ।

स०—कट्वम्ललवणा रसा यथोत्तरमुष्णवीर्याः । कटुरुष्णः । अम्ल उष्णतरः । लवण उष्णतमः । एवमुत्तरत्राऽपि यथोत्तरत्वं योज्यम् । तिक्तादयश्च तद्वदेव यथोत्तरं शीतवीर्याः । तेन तिक्तः शीतवीर्यः । कषायः शीतवीर्यतरः । मधुरः शीतवीर्यतम इति स्थितम् । तिक्तकटुकषाया रूक्षा विष्टंभकृतश्च । तथेति । यथोत्तरमित्यर्थः । पट्वादयः स्निग्धा निःसारितविण्मूत्रवाताश्च । तथेत्यत्राऽपि वर्तते । लवणात्कषायो गुरुतरः । कषायान्मधुरः परमं गुरुः । अतिशयेन गुरुरित्यर्थः । अम्लो लघुस्तस्मादम्लात् कटुर्लघुतरस्तस्माच्च कटोस्तिक्तो लघुतमः ॥ ३६-३८ ॥

वि०—कटु, अम्ल और लवण रस उत्तरोत्तर उष्ण वीर्य वाले हैं । तिक्त, कषाय और मधुर ये उत्तरोत्तर शीतवीर्य हैं । इसी प्रकार तिक्त, कटु और कषाय ये उत्तरोत्तर रूक्ष और मल को बाँधने वाले हैं । लवण, अम्ल और मधुर ये उत्तरोत्तर

स्निग्ध; मल, मूत्र और वायु को प्रवृत्त करने वाले हैं। लवण से कषाय और कषाय से मधुर अतिशय गुरु है। अम्ल रस लघु है; कटु रस इससे भी अधिक लघु और तिक्त रस सबसे लघु है ॥ ३६-३८ ॥

इदानीं रसानामाधारद्वारेण संयोगान् कल्पनां च विभजन्नाह—

संयोगाः सप्तपञ्चाशत्कल्पना तु त्रिषष्टिधा ॥ ३९ ॥
रसानां यौगिकत्वेन यथास्थूलं विभज्यते ।

स०—वक्ष्यमाणया रीत्या रसानां योगाः सप्तपंचाशद्विभज्यंत इति वचनविपरिणामेन संबंधः। कल्पना पुनरेषां त्रिषष्टिधा विभज्यते कथं कृत्वा कल्पना विभज्यते। यथास्थूलं स्थूलानतिक्रमेण व्यक्तरसास्वादानुरूपतया न पुनर्यथासूक्ष्मम्। तथाहि। रसानुरसकल्पनया तरतमयोर्वशाच्च रसानां कल्पना क्रियमाणाऽऽनंत्यमुपैति। तस्माद्यथास्थूलं रसानां कल्पना त्रिषष्टिधा विभज्यते। तथा यौगिकत्वेन शारीरोपयोग्यत्वेन ॥ ३९ ॥

रसों का भेद—

वि०—रसों की संख्या—रसों के संयोग सत्तावन हैं; और इनकी कल्पना तिरसठ है। इन दोनों का स्नेह-विचारणा आदि तथा व्यवहार में उपयोग होने से स्थूल दृष्टि से (रसों की ही दृष्टि से सूक्ष्म तथा अनुरस की दृष्टि से नहीं) विभाग करके कहते हैं ॥ ३९ ॥

इदानीं रससंयोगानां व्याख्यानं विभक्तिकामाह—

एकैकहीनास्तान् पञ्चदश यान्ति रसा द्विके ॥ ४० ॥
त्रिके स्वादुर्दशाम्लः षट् त्रीन् पटुस्तिक्त एककम् ।
चतुष्केषु दश स्वादुश्चतुरोऽम्लः पटुः सकृत् ॥ ४१ ॥
पञ्चकेष्वेकमेवाम्लो मधुरः पञ्च सेवते ।
द्रव्यमेकं षडास्वादमसंयुक्ताश्च षड्रसाः ॥ ४२ ॥

स०—द्विके परिमाणे रसाधरद्रव्यसंबंधिनि संयोगे पंच रसा मधुराम्ललवणतिक्तकटुकास्तान् पंचाम्ललवणतिक्तकटुकषायान् यांति संयुज्यंते। किंभूतानेकैकेन हीना विनाकृता एकैकहीनास्तान्। येनैकेन युक्तांस्तद्वियुक्तानित्यर्थः। अत्र पंचानां रसानां पर्यायेण प्रत्येकमेकैकहीनानां च शक्तिमत्त्वेनककर्तृत्वेन च संबंधो वेद्यः। अत एव चतुर्द्विके पंचदशप्रकाराविति यद्वक्ष्यति तदुपपन्नम्। एवं मधुरोऽम्लादीनम्लो लवणादीन् लवणस्तिक्तादींस्तिक्तः कटुकषायौ कटुकषायं यातीति स्थितम्। द्विक इति द्वौ परिमाणमस्य संयोगस्य। संख्यायाः संज्ञेत्यादिपरिमाणानुवृत्तेः परिमाणार्थे संख्यायाः अतिशदंतायाः कनिति कन्। एवं त्रिकादिषु वक्ष्यमाणेषु लक्षणं योज्यम्। द्विरसद्रव्यसंयोगे पंचदश भेदा भवंति। यथा मधुरोऽम्लं याति १ मधुरो लवणं २ मधुरस्तिक्तं ३ मधुरः कटुकं ४ मधुरः कषायम् ५। अम्लो लवणं याति १ अम्लस्तिक्तम् २ अम्लः कटुकम् ३ अम्लः कषायम् ४। लवणस्तिक्तं १ लवणः कटुकं २ लवणः कषायम् ३। तिक्तः कटुकं १ तिक्तः कषायम् २। कटुः कषायमिति १। अत्र च मधुरस्य गन्तृत्वमेव न गम्यत्वं हीनत्वयोगाऽभावात्। कषायस्य गम्यत्वमेव न गन्तृत्वमन्त्यत्वात्। एवं द्विरससंयोगे पंचदश। त्रिके त्रिरसाधारद्रव्यसम्बन्धिनि संयोगे स्वादुर्मधुरो दश संयोगान् याति। यथा। मधुरोऽम्ललवणं १ मधुरोऽम्लतिक्तकं २ मधुरोऽम्लकटुकं ३ मधुरोऽम्लकषायम् ४। स एव मधुरोऽम्लत्यागेन तत्स्थाने लवणयुक्तस्तिक्तादिभिस्त्रिभिः क्रमेणाऽन्वितस्त्रीन् संयोगान् याति। मधुरलवणतिक्तकः १ मधुरलवणकटुकः २ मधुरलवणकषायः ३। स एव लवणत्यागेन तत्स्थाने तिक्तयुक्तः कटुकषायाभ्यां क्रमेणान्वितो द्वौ संयोगौ याति। मधुरतिक्तकटुकः १ मधुरतिक्तकषायः २। स एव तिक्तत्यागेन तत्स्थाने कटुकान्वित एकं संयोगं याति। मधुरकटुकषायः १। एवं मधुरो दशसंयोगान् याति। अम्ल इत्यादि। त्रिक इति वर्तते। अम्लः षट् संयोगान् याति। यथा। अम्ललवणतिक्तः १ अम्ललवणकटुकः २ अम्ललवणकषायः ३। स एवाऽम्लो लवणत्यागेन तत्स्थाने तिक्तान्वितः कटुकषायाभ्यां क्रमेण युक्तो द्वौ संयोगौ याति। अम्लतिक्तकटुकः १ अम्लतिक्तकषायः २। एवं तिक्तत्यागेनैकं संयोगं याति। अम्लकटुकषायः १। इत्यम्लः षट्। त्रीन् पटुरिति लवणस्तिक्तयुक्तः कटुकषायायाभ्यां क्रमेणाऽन्वितो द्वौ संयोगौ याति। लवणतिक्तकटुकः १ लवणतिक्तकषायः २। स एवं तिक्तत्यागेनैकं याति। लवणकटुकषायः १। एवं लवणस्त्रीन् संयोगान् याति। तिक्त एकमेव संयोगं याति। तिक्तकटुकषायः १। एवं त्रिकसंयोगे विंशतिः। चतुष्केष्वित्यादि। चतुष्करससंयोगेषु स्वादुर्दश संयोगान् याति। तत्र मधुरः साम्लो लवणादिभिः षट् संयोगान् याति। यथा। मधुराम्ललवणतिक्तः। १ मधुराम्ललवणकटुकः २ मधुराम्ललवणकषायः ३ मधुराम्लतिक्तकटुकः ४ मधुराम्लतिक्तकषायः ५ मधुराम्लकटुकषायः ६। स एवं मधुरोऽम्लत्यागेन तत्स्थाने लवणान्वितस्त्रीन् संयोगान् याति। मधुरलवणतिक्तकटुकः १ मधुरलवणतिक्तकषायः। २ मधुरलवणकटुकषायः ३। स एव लवणत्यागेन तत्स्थाने तिक्तान्वित एकं संयोगं याति। मधुरतिक्तकटुकषायः १। एवं चतुष्केषु मधुरो दश संयोगान् याति। चतुरोऽम्ल इत्यादि। चतुष्क इति वर्तते। अम्लः सलवणस्तिक्तादिभिस्त्रीन् संयोगान् याति। अम्ललवणतिक्तकटुकः १ अम्ललवणतिक्तकषायः २ अम्ललवणकटुककषायः ३। स एव लवणत्यागेन तत्स्थाने तिक्तान्वित एकं संयोगं याति। अम्लतिक्तककटुकषायः १। एवं चतुष्केष्वम्लश्चतुरः। पटुः सकृत्। पटुर्लवणः सकृदेकं भेदं याति। लवणतिक्तकटुकषायः १। एवं चतुष्केषु पंचदश संयोगभेदाः। पंचकेष्वेकमेवाम्ल इति। पंचकेष्वम्लो रस एकमेव भेदं याति। अम्ललवणतिक्तकटुकषायः १। मधुरः पंच सेवते। मधुरो रसः पंच संयोगान् सेवते। अम्लत्यागान्मधुरलवणतिक्तकटुकषायः। १ लवणत्यागान्मधुराम्लतिक्तकटुकषायः २ तिक्तत्यागान्मधुराम्ललवणकटुकषायः

३ कटुकस्यागान्मधुराम्ललवणतिक्तकषायः ४ कषायस्यागान्मधुराम्ललवणतिक्तकटुक इति ५। पद्येन च सुखस्मृत्यै रसभेदान् शृणुष्व मे। मधुरोऽम्लेन कटुना तिक्तेन कटुकेन च। १। कषायेण पृथक् सार्धमम्लः सुलवणेन च। तिक्तेन कटुना सार्धं कषायेण पृथक् सह। २। पटुस्तिक्तेन कटुना कषायेण पृथक् सह। तिक्तस्तु कटुना सार्धं कषायेण पृथक् तथा। ३। कटुकस्तु कषायेण द्विसंयोग इति स्मृताः। दश पंच च भेदास्तु संख्याता विंशतिस्त्रिके। ४। मधुराम्लौ तु पटुना तिक्तेन कटुना तथा। कषायेण तथा सार्धं तथा स्वादुपटू पृथक्। ५। तिक्तेन कटुकेनापि कषायेण तथा सह। स्वादुतिक्तौ तु कटुना कषायेण पृथक् सह। ६। स्वादूषणौ कषायेण स्वादोरेवं दश त्रिके। भेदाः स्युरम्ललवणौ तिक्तेन कटुना पृथक्। ७। कषायेण तथा सार्गमम्लतिक्तौ पृथक् सह। कटुकेन कषायेण तथाम्लकटुकौ सह। ८। कषायेणेति षट् प्रोक्ता भेदा अम्लस्य तु त्रिके। पटुतिक्तौ तु कटुना कषायेण पृथक् सह। ९। पटूषणौ कषायेण भेदा इति पटोस्त्रयः। तिक्तोषणौ कषायेण तिक्तस्यैवं सकृत्स्मृतः। १०। त्रिके भेदा इति प्रोक्ताश्चतुष्के दश पंच च। स्वाद्वम्ललवणं सार्धं तिक्तेन कटुकेन च। ११। पृथक्कषायेण तथा मधुराम्लौ सतिक्तकौ। कटुकेन तु संपृक्तौ कषायेण पृथक् तथा। १२। स्वाद्वम्लकटुकाः सार्धं कषायेणेति षट् स्मृताः। सप्तमश्चाऽत्र मधुरो लवणोषणतिक्तकैः। १३। भेदोऽष्टमो मतः स्वादुकटुतिक्तकषायकैः। नवमस्तत्र मधुरः पटूषणकषायकैः। १४। दशमोऽत्र भवेत्स्वादुतिक्तोषणकषायकैः। दश भेदा भवंत्येवं मधुरेण चतुष्कके। १५। कटुतिक्ताम्ललवणैर्भेद एकश्चतुष्कके। द्वितीयस्त्वम्ललवणकषायकटुकैः स्मृतः। १६। तृतीयोऽत्र भवेदम्लपटुतिक्तकषायकैः। चतुर्थोऽत्र भवेदम्लतिक्तोषणकषायकैः। १७। एवमम्लेन भेदाः स्युश्चत्वारोऽत्र चतुष्कके। पटुनैकोऽत्र लवणतिक्तोषणकषायकैः। १८। एवं पंचदश ख्याताश्चतुष्करससंख्यया। षड् भेदान् पंचके प्राहुस्तान्वक्ष्यामि विभागशः। १९। एको भेदोऽम्ललवणतिक्तोषणकषायकैः। द्वितीयः स्वादुलवणतिक्तोषणकषायकैः। २०। तृतीयस्त्वम्लमधुरतिक्तोषणकषायकैः। चतुर्थस्त्वम्लमधुरपटूषणकषायकैः। २१। पंचमस्त्वम्लमधु पटुतिक्तकषायकैः। षष्ठो भेदोऽम्लमधुरलवणोषणतिक्तकः। २२। षड् भेदा इति निर्दिष्टाः पंचके प्रविभागशः। भेदः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकैः। २३। एक एव षड्रसेन पृथक्त्वेन तु षट् स्मृताः। स्वादुरम्लोऽथ लवणस्तिक्तश्च कटुकस्तथा। २४। कषाय इति भेदाः स्युः सर्वतोऽत्र त्रिषष्टिधा। क्षीरं सुरा बिडं निंवश्चव्या पद्मं रसाश्रयम्। २५। द्रव्यं स्वादु रसादीनां षण्णां विद्धि यथाक्रमम्। द्रव्यं द्रव्यांतरेणैव योजयेद्धि रसादिषु। २६। धात्रीफलं शर्करया लवणेनाऽर्द्रकं तथा। एवमादीनि द्रव्याणि योजयेद्भिषगुत्तमः। २७। कानिचिद् द्विरसादीनि द्रव्याणि स्युः स्वभावतः। यथैणः षड्रसः कृष्णो यथा पंचरसाऽभया। २८। मद्यं पंचरसं यद्वत्तिलो यद्वच्चतूरसः। एरंडतैलं त्रिरसं माक्षिकं द्विरसं यथा। २९। घृतमेकं स्वादुरसं मधुरादिविभागतः। दिङ्मात्रादुहितादेवं शेषमूह्यं मनीषिणा ॥ ४०-४२ ॥

रस-संयोग के भेद—

वि०—दो-दो रसों के मेल से मधुरादि संयोग क्रमशः एक-एक कम करने से अर्थात् मधुर से पाँच, अम्ल से चार लवण से तीन, तिक्त से दो और कषाय से एक इस प्रकार पन्द्रह संयोग बनते हैं (यथा मधुर के ५, अम्ल के ४, लवण के ३, कटु के २ और तिक्त का एक—योग १५)। तीन का संयोग करने में मधुर रस के संयोग से दस; अम्ल रस से छः लवण से तीन और तिक्त से एक संयोग बनता है। चार रसों के संयोग में मधुर रस से दस, अम्ल से चार, लवण रस से एक। पाँच रसों के संयोग में—अम्ल से एक संयोग बनता है; मधुर से पाँच संयोग बनते हैं। छः रसों के संयोग में एक ही भेद बनता है और असंयुक्त (पृथक्-पृथक्) छः रस होते हैं। (इस प्रकार ६३ भेद रसों के हो जाते हैं।) ॥४०-४२॥

यथा—मधुर अम्ल, मधुर लवण, मधुर-तिक्त, मधुर-कटु, मधुर-कषाय (५)। अम्ल-लवण, अम्ल-तिक्त, अम्ल-कटु, अम्ल-कषाय (४)। लवण तिक्त, लवण कटु, लवण कषाय (३)। तिक्त कटु, तिक्त कषाय (२)। कटु कषाय (१)। मधुर अम्ल लवण, मधुर अम्ल तिक्त, मधुर अम्ल कटु, मधुर अम्ल कषाय, मधुर लवण तिक्त, मधुर लवण कटु, मधुर लवण कषाय, मधुर तिक्त कटु, मधुर तिक्त कषाय, मधुर कटु, कषाय (१०)। अम्ल लवण तिक्त, अम्ल लवण कटु, अम्ल लवण कषाय, अम्ल तिक्त कटु, अम्ल तिक्त कषाय, अम्ल कटु कषाय (६)। लवण तिक्त कटु, लवण तिक्त कषाय, लवण कटु कषाय (३)। तिक्त कटु कषाय (१)। मधुर अम्ल लवण तिक्त, मधुर अम्ल लवण कटु, मधुर अम्ल लवण कषाय, मधुर अम्ल तिक्त कटु, मधुर अम्ल तिक्त कषाय, मधुर अम्ल कटु कषाय, मधुर-लवण तिक्त कटु, मधुर लवण तिक्त कषाय, मधुर लवण कटु कषाय, मधुर तिक्त कटु कषाय (१०)। अम्ल लवण तिक्त कटु, अम्ल लवण तिक्त कषाय, अम्ल लवण कटु कषाय, अम्ल तिक्त कटु कषाय (४)। लवण तिक्त कटु कषाय (१)। अम्ल लवण तिक्त कटु कषाय (१)। मधुर अम्ल लवण तिक्त कटु, मधुर अम्ल लवण तिक्त कषाय, मधुर अम्ल लवण कटु कषाय, मधुर अम्ल-तिक्त कटु कषाय, मधुर तिक्त लवण कटु कषाय (५)। मधुर लवण अम्ल तिक्त कटु कषाय (६)। इस प्रकार ये सत्तावन संयोग हैं ॥

संप्रति एकैकहीनानित्यादिना ग्रंथेन ये रसानां भेदाः शास्त्रकृतोक्तास्तानेव संक्षेपेण प्रकटयितुमाह—

षट् पञ्चकाः, षट् च पृथग् रसाः स्यु-
श्चतुर्द्विकौ पञ्चदशप्रकारौ।
भेदास्त्रिका विंशतिरेकमेव
द्रव्यं षडास्वादमिति त्रिषष्टिः ॥ ४३ ॥

स०—पंचकरसानां योगाः षट्संख्याः। पंचकेष्वेकमेवाम्लो मधुरः पंच सेवत इति षट् च पृथग्रसा असंयुक्ताश्च षड्रसा इति। चतुरित्यादि। चतुष्कभेदः पंचदशप्रकारः। द्विकभेदश्च पंचदशप्रकारः। चतुष्केषु दश स्वादुश्चतुरोऽम्लः पटुः सकृत्। एवं पंचदश प्रकाराः। एकैकहीनांस्तान् पंच पंच यांति रसा द्विके इति वचनात्। भेदा इत्यादि त्रिकास्त्रिभेदभिन्ना भेदा विंशतिः। त्रिके स्वादुर्दशाम्लः षट् त्रीन् पटुस्तिक्त एककमिति विंशतिः। एकमेव द्रव्यं षडास्वादम्। इतीत्थं रसानां भेदास्त्रिषष्टिः॥ ४३॥

रसभेदों का विवरण—

वि०—पाँच रसों के संयोग भेद छ हैं। अलग-अलग रस छ हैं। चार रसों के संयोग पन्द्रह। दो रसों के संयोग पन्द्रह। तीन रसों के संयोग बीस हैं। और छ रसों वाले द्रव्य का भेद एक ही है। इस प्रकार तिरसठ रस भेद हैं॥ ४३॥

यथास्थूलं चैषा त्रिषष्टिधा कल्पना ख्याता। संप्रति यथासूक्ष्मं प्रदर्शयितुमाह—

ते रसानुरसतो रसभेदा-
स्तारतम्यपरिकल्पनया च।
सम्भवन्ति गणनां समतीता
दोषभेषजवशादुपयोज्याः॥ ४४॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाः-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने रसभेदीयो
नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

स०—ते रसभेदास्त्रिषष्टिरूपा रसतो रसवशेन तथाऽनुरसतोऽनुरसवशेन तथा तारतम्यपरिकल्पनाऽयं मधुरोऽयं मधुरतरोऽयं मधुरतम इत्येवंरूपा या तया च गणनां समतीताः संख्यामतिक्रांताः संभवन्ति। दोषेत्यादि। दोषा वातादयो भेषजानि हरीतक्यादीनि। दोषाश्च भेषजानि च दोषभेषजानि तेषां वशोऽनुरोधः सामर्थ्यं वा तस्माद्धेतुभूताद्रसभेदा उपयोज्या न दोषमनपेक्ष्य भेषजं वाऽनपेक्ष्य। एवमेवोपयोज्या इत्यर्थः। तथा च मुनिः। क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्। दोषौषधादीन् संचिंत्य भिषजा सिद्धिमिच्छतेति। दोषभेषजवशादित्युपलक्षणार्थम्। देशादिवशादपि देशादीन्वीक्ष्य रसभेदा उपयोज्याः। यथा पवने जेतव्ये मधुराम्लौ लवण इति। स्वागता रनभगैर्गुरुकांता इति॥ ४४॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांग-
हृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्याया रसभेदीयाख्यो
नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

रसों की सूक्ष्म कल्पना—

वि०—रसों के ये भेद-रस और अनुरस की कल्पना के तारतम्य की कल्पना करने पर अगण्य बन जाते हैं। दोष तथा औषध की दृष्टि से इनका उपयोग करना चाहिये॥४४॥

वक्तव्य—'क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्। दोषौषधीन् सुसन्चिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता॥' चरक, सू. अ. २६।२३। दोष की दृष्टि से-केवल वायु में अम्ल; पित्तयुक्त वायु में अम्ल तिक्त; कफ युक्त वायु में अम्ल कटु। औषध की दृष्टि से-विरेचन औषध एक रस होने से अप्रिय; दो-तीन रस वाली होने से प्रिय होती है।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का रसभेदीय
नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १०॥

एकादशोऽध्यायः

रसभेदीयादनंतरं दोषादिविज्ञानीयं आरभ्यते। यतो दोषभेषजवशादुपयोज्या इत्युक्तमत ईदृक्स्वरूपास्ते दोषा इति ज्ञापनार्थमध्यायोऽयमुच्यते—

अथातो दोषादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—दोषा आदयो येषां ते दोषादयस्तेषां विज्ञानं प्राकृतेन वैकृतेन च स्वरूपेणोपगमस्तस्मै हितो यस्तमध्यायं व्याख्यास्यामः। आदिशब्देन धातवो मलाश्च संगृह्यंते। तत्स्वरूपोपगमेन च त एव दोषाः सम्यग्ज्ञाता भवंति। धातूनां मलानां च दोषाधारभूतत्वात्।

वि०—अब इसके आगे दोषादिविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य—

स०—दोषा वातादयो धातवो रसादयो मला मूत्रादयस्ते देहस्य मूलमिव मूलम्। यथा वृक्षस्य स्कंधशाखादियुक्तस्य मूलं प्रधानं तदारब्धत्वात्तथा देहस्य दोषधातुमलाः।

दोष धातु-मल—

वि०—दोष-वातादि, धातु-रसादि, मल-पुरीषादि देह का मूल है।

वक्तव्य—जिस प्रकार वृक्ष की शाखा आदि में आदि कारण मूल ही है; उसी प्रकार ये दोषादि शरीर के मूल हैं।

—तं चलः।
उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः॥ १॥
सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च।
अनुगृह्णात्यविकृतः, पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः॥ २॥
क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः।
श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसन्धिबन्धक्षमादिभिः॥ ३॥

स०—तं च देहं चलो वायुरुत्साहादिभिरनुगृह्णात्युपकुरुते। उत्साहः सर्वचेष्टासूद्योगः। उच्छ्वास ऊर्ध्वं श्वसनं श्वासमुक्तिः। निश्वासः श्वासस्य शरीरान्तःप्रवेशनम्। चेष्टनं चेष्टा वाक्कायमनोव्यापारः। वेगानां प्रवर्तनं वातविण्मूत्रादीनां बहिर्निरसनम्। एतैश्च मारुतो देहमनुगृह्णाति। पित्तं पक्त्यादिभिरनुगृह्णाति। पक्तिः पाकः। ऊष्मा औष्ण्यम्। दर्शनं दृष्टिः। मेधा बुद्धिविशेषः। धीः प्रज्ञा। शौर्यं पौरुषम्। तनुमार्दवं शरीरमृदुत्वम्। श्लेष्माः। स्थिरत्वादिभिरनुगृह्णाति। क्षमा क्षांतिः॥ १-३॥

वातादि दोषों के कर्म—

वि०—इनमें चल (वायु) अविकृत (प्राकृत) होने पर उत्साह, श्वास-प्रश्वास, चेष्टा, मल-मूत्रादि वेगों की प्रवृत्ति, धातुओं की उचित गति, इन्द्रियों की विषय ग्रहण करने में निपुणता आदि से शरीर का उपकार करता है। पित्त (प्राकृत)-पाचन, उष्णिमा, दर्शन (दृष्टिशक्ति), भूख, प्यास, रुचि, कान्ति, मेधा, बुद्धि, शौर्य, अस्थूलता और सुकुमारता से शरीर का उपकार करता है। अविकृत कफ-दृढाङ्गता, स्निग्धता, सुश्लिष्टसन्धित्व, क्षमा आदि से शरीर का उपकार करता है॥ १-३॥

इदानीं धातूनां कर्माण्याह—

प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे।
गर्भोत्पादश्च धातूनां श्रेष्ठं कर्म क्रमात्स्मृतम्॥ ४॥

स०—प्रीणनादीनि कर्माणि रसादीनां क्रमात्क्रमेण श्रेष्ठानि स्मृतानि। मुनिभिरिति शेषः। संग्रहोक्तानि मध्यमान्यपराणि कर्माण्येषां संत्येव। यथा रसस्य दृष्टिरक्तपुष्ट्यादिकं कर्म। रक्तस्य च वर्णप्रसादो मांसपोषणम्। मांसस्य बलं मेदः पुष्टी च। मेदसः स्वेददाढ्यास्थिपुष्टयश्च। अस्थ्नो मज्जपोषणम्। मज्ज्ञो बलमस्थिपूरणं शुक्रपुष्टिश्च। शुक्रस्य हर्षो बलं च। एतैर्धातवो देहमनुगृह्णन्तीत्यर्थः। प्रीणनमाप्यायनम्। रसो हि सम्यगभ्यवहरणतः स्रोतांसि संप्रविश्येंद्रियप्रसादमभिनिर्वर्तयन्मनसः प्रीतिमादधाति। जीवनमोजोवृद्धिकरं रक्तकर्म। लेप उपदेहो मांसस्य कर्म। तदुपलिप्तान्यस्थीनि चेष्टां लभंते। स्नेहो नेत्रादिषु स्निग्धता मेदसः कर्म। धारणमूर्ध्वधारणमस्थिकर्म। पूरणं स्नेहेनास्थ्नां मज्ज्ञः कर्म। शुक्रस्य गर्भोत्पत्तिः श्रेष्ठं कर्मेति योज्यम्॥ ४॥

धातुओं का कर्म—

वि०—अविकृत रस का श्रेष्ठ कर्म—प्रीणन-आप्यायन (संतर्पण), रक्त का-जीवन (प्राणधारण), मास का-लेपन (उपदेह-जैसे मकान में मिट्टी का लेप करना), मेद का-स्नेहन (स्निग्धता), अस्थि का-धारण करना (आधार), मज्जा का-अस्थियों का (स्नेह से) पूरण करना, शुक्र का-गर्भोत्पत्ति करना ये उत्तम कर्म हैं॥ ४॥

इदानीं मलानां कर्माण्याह—

अवष्टम्भः पुरीषस्य मूत्रस्य क्लेदवाहनम्।
स्वेदस्य क्लेदविधृतिः—

स०—अवष्टंभो देहधारणशक्तिः श्रेष्टं कर्म पुरीषस्य स्मृतम्। मूत्रस्य क्लेदवाहनं श्रेष्ठं कर्म। मूत्रं क्लेदं निर्वाहयति। स्वेदस्य क्लेदविधारणं श्रेष्ठं कर्म। क्लेदाभावे हि नैव देहस्य मध्यमत्वक्। स्वेदस्य कचरोमधारणमपि।

मलों का कर्म—

वि०—पुरीष का कर्म—अवष्टम्भन (धारण) करना, मूत्र का कार्य-क्लेद का वहन करना, स्वेद का-क्लेद को धारण करना श्रेष्ठ कर्म है।

वक्तव्य—अरुणदत्त ने—'क्लेदविधृति' पाठ माना है; परन्तु हेमाद्रि ने 'केशविधृति' माना है, यह भी ठीक है; किन्तु स्वेद द्वारा त्वचा में आवश्यक क्लेद बनाए रखना भी कम महत्त्व का नहीं है। वस्तुतः त्वचा के स्नेह की रक्षा होने से परम्परया केश आदि का धारण भी होता है। मल का महत्त्व विशेषतः यक्ष्मा रोग में है, यथा-'तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद् राजयक्ष्मिणः। सर्वधातुक्षयार्त्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्॥' (चरक चि. अ. ८।४२)

—[1]वृद्धस्तु कुरुतेऽनिलः॥ ५॥
कार्श्यकार्ष्ण्योष्णकामत्वकम्पानाहशकृद्ग्रहान्।
बलनिद्रेन्द्रियभ्रंशप्रलापभ्रमदीनताः ॥ ६॥

स०—वृद्धः पुनर्वायुः कार्श्यादीन् करोति। बलादीनां भ्रंशेन संबंधः। बलस्य तु प्राणोपघातो भ्रंशः। निद्रायास्तु नाशो भ्रंशः॥ ५-६॥

वृद्ध वायु का कर्म—

वि०—बढ़ी हुई वायु—कृशता, कालापन, उष्णता की चाह, कम्पन, आनाह, मलावरोध, बलभ्रंश, निद्रानाश, इन्द्रियों का विषय को न ग्रहण करना, प्रलाप, चक्कर आना और दीनता उत्पन्न करती है॥ ५-६॥

पीतविण्मूत्रनेत्रत्वक्क्षुत्तृड्दाहाल्पनिद्रताः।
पित्तम्—

स०—पीतस्य विडादिभिस्त्वगंतैः संबंधः। ततः क्षुदादिभिर्द्वंद्वस्ततस्ताप्रत्ययः। पित्तं पीतविण्मूत्रादीन् करोति।

वृद्ध पित्त का कर्म—

वि०—बढ़ा हुआ पित्त—मल, मूत्र, नेत्र और त्वचा में पीलापन, भूख, प्यास, दाह तथा नींद को कम करता है।

—श्लेष्माऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम्॥ ७॥
श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः।

स०—श्लेष्मा वृद्धोऽग्निसादादीन् करोति। श्वैत्यं गात्रशुक्लता। शैत्यमंगानां शिशिरत्वम्॥ ७॥

---

[1] दोषों का वैषम्य या विकृति वृद्धि और क्षय भेद से दो प्रकार की होती है। यथा 'क्षयः स्थानञ्च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः।' (च. सू. अ. १७) और प्रकृति को समता या स्थान भी कहते हैं। प्रस्तुत में पहिले वृद्ध दोषों का वर्णन कर रहे हैं बाद में क्षीण दोषों का भी वर्णन (श्लोक १५ में) करेंगे।

वृद्ध कफ का कर्म—

वि०—बढ़ा हुआ कफ—अग्निमान्द्य, मुख से लालास्राव, आलस्य, भारीपन, अङ्गों में श्वेत वर्ण, शीतलता और शिथिलता, श्वास, कास और निद्राधिक्य करता है ॥ ७ ॥

रसोऽपि श्लेष्मवत्—

स०—रसः श्लेष्मवत्। रसोऽपि वृद्धोऽग्निसादादीन् करोति।

वृद्ध रस का कर्म—

वि०—बढ़ा हुआ रस भी—कफ की भाँति कर्म करता है।

—रक्तं विसर्पप्लीहविद्रधीन् ॥ ८ ॥
कुष्ठवातास्रपित्तास्रगुल्मोपकुशकामलाः ।
व्यङ्गाग्निनाशसम्मोहरक्तत्वङ्नेत्रमूत्रताः ॥ ९ ॥

स०—रक्तं वृद्धं विसर्पादीन् करोति। उपकुशो नाम दंतरुजोत्तरतंत्रे वक्ष्यमाणलक्षणा ॥ ८-९ ॥

वृद्ध रक्त का कर्म—

वि०—बढ़ा हुआ रक्त—विसर्प, प्लीहावृद्धि, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, रक्तपित्त, गुल्म, उपकुश (दन्तरोगविशेष), कामला-व्यङ्ग, अग्निनाश, मूर्च्छा, त्वचा, आँख और मूत्र में ललिमा उत्पन्न करता है ॥ ८-९ ॥

मांसं गण्डार्बुदग्रन्थिगण्डोरूदरवृद्धिताः ।
कण्ठादिष्वधिमांसं च—

स०—मांसं वृद्धं गंडादीन् रोगान् करोति। गंडशब्देन गंडमाला गलगंडश्च गृहीतौ। आद्यंतलोपात्। इतरश्च गंडो गंडमांसम्। गंडौ चार्बुदं च ग्रंथिश्च गंडार्बुदग्रंथयः। गंडौ च ऊरू चोदरं च तेषां वृद्धता। ततो द्वंद्वः। ताः करोति। वृद्धता वृद्धत्वम्। कंठादिष्वधिकं मांसं च कुरुते। आदिशब्देन तालुजिह्वादिपरिग्रहः।

वृद्ध मांस का कर्म—

वि०—बढ़ा हुआ मांस—गलगण्ड और गण्डमाला, अर्बुद, ग्रन्थि, गण्ड (गांठें=गिलटियाँ), ऊरुवृद्धि, उदरवृद्धि, कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि में अधिमांस (मांस के ऊपर मांस) उत्पन्न करता है।

—तद्वन्मेदस्तथा श्रमम् ॥ १० ॥
अल्पेऽपि चेष्टिते श्वासं स्फिक्स्तनोदरलम्बनम् ।

स०—मेदोऽपि वृद्धगंडादीन् कुरुते। तथाऽल्पेऽपि चेष्टिते श्रमं कुरुते श्वासं च। तथा स्फिजोः स्तनयोरुदरस्य च लंबनं कुरुते ॥ १० ॥

वृद्ध मेद का कर्म—

वि०—बढ़ा हुआ मेद भी मांस की भाँति गण्डमाला आदि विकार करता है; तथा थोड़े से परिश्रम से भी थकान एवं श्वास होता है; नितम्ब, स्तन और उदर लटकने लगते हैं ॥ १० ॥

अस्थ्यध्यस्थ्यधिदन्तांश्च—

स० अस्थि वृद्धमध्यस्थ्यधिदंतांश्च कुरुते।

वृद्ध अस्थि का कर्म—

वि०—बढ़ी हुई अस्थि—अधिक अस्थि और अधिक दाँत (अर्बुद रूप में) को करती है।

—मज्जा नेत्राङ्गगौरवम् ॥ ११ ॥
पर्वसु स्थूलमूलानि कुर्यात कृच्छ्राण्यरूंषि च ।

स०—मज्जा वृद्धो नेत्रयोरंगानां च गौरवं कुर्यात्। कुरुत इति प्रकृते कुर्यादित्युक्तं स्पष्टार्थम्। पर्वस्वंगुल्यादिसंधिषु स्थूलानि मूलानि येषां तानि अरूंषि पिटिकाविशेषान् कुर्यात्। कीदृशानि। स्थूलमूलानि कृच्छ्राणि कृच्छ्रसाध्यानि ॥ ११ ॥

वृद्ध मज्जा का कर्म—

वि०—बढ़ी हुई मज्जा—नेत्र और दूसरे अङ्गों में भारीपन, तथा पर्व (सन्धियों) में मूल में स्थूल तथा कष्टसाध्य फुन्सियों को उत्पन्न करती है ॥ ११ ॥

अतिस्त्रीकामतां वृद्धं शुक्रं शुक्राश्मरीमपि ॥ १२ ॥

स०—शुक्रं वृद्धमतिस्त्रीकामतां कुर्यात्। शुक्राश्मरीं च। अपिशब्दाद्वलस्नेहाद्यपि ॥ १२ ॥

वृद्ध शुक्र का कर्म—

वि०—बढ़ा हुआ शुक्र—अतिशय स्त्री-संगेच्छा और शुक्राश्मरी को उत्पन्न करता है ॥ १२ ॥

कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदनां शकृत् ।

स०—शकृत्पुरीषं वृद्धं कुक्षावाध्मानादीन् कुर्यात्। कुर्यादिति संभावनायां लिङ्। आध्मानमानाहः। आटोपोऽन्त्रकूजनम्।

वृद्ध पुरीष का कर्म—

वि० बढ़ा हुआ मल—उदर में आध्मान, गड़गड़ाहट, भारीपन और पीड़ा करता है।

मूत्रं तु बस्तिनिस्तोदं कृतेऽप्यकृतसंज्ञताम् ॥ १३ ॥

स०-मूत्रं वृद्धं बस्तिनिस्तोदं बस्तिव्यथां कुर्यात्। तथा कृतेऽपि मूत्रेऽकृतसंज्ञतामकृताभासत्वमेव कुर्यात् ॥ १३ ॥

वृद्ध मूत्र का कर्म—

वि०—बढ़ा हुआ मूत्र—बस्तिप्रदेश में व्यथा तथा मूत्रत्याग करने पर भी मूत्रत्याग नहीं किया है, ऐसा अनुभव कराता है ॥

स्वेदोऽतिस्वेददौर्गन्ध्यकण्डूः—

स०—स्वेदो वृद्धोऽतिस्वेदादीन् कुर्यात्।

वृद्ध स्वेद का कर्म—

वि०—बढ़ा हुआ स्वेद—अतिस्वेद, दुर्गन्धता एवं कण्डू (खुजली) करता है।

—एवं च लक्षयेत् ।
दूषिकादीनपि मलान् बाहुल्यगुरुतादिभिः ॥ १४ ॥

स०—अनेन प्रकारेण दूषिकादीनपि मलान् लक्षयेदनुमिनुयात्। दूषिकाऽक्षिमलः। आदिशब्दाद् घ्राणकर्णनासाश-

मलादीनां ग्रहणम् । कथं लक्षयेदित्याह । बाहुल्येत्यादि । मलबाहुल्येन तत्स्थानगौरवेण च । आदिग्रहणात्कंडूक्लेदादयो गृह्यंते ॥ १४ ॥

वृद्ध नेत्रादि के मल का कर्म—

वि०—इस प्रकार से दूषिका (नेत्र का मल) आदि मलों को भी मल की बहुलता से तथा स्थान के भारीपन आदि से बढ़ा हुआ जाने ॥ १४ ॥

वृद्धानां वातादीनां लिंगान्यभिधाय क्षीणानां वातादीनां लिंगान्याह—

लिङ्गं क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्पं भाषितेहितम् ।
संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्ध्युक्तामयसम्भवः ॥ १५ ॥

स०—अनिले क्षीणे स्वप्रमाणापचिते । वायोस्तु सर्वक्षये देह एव न स्यात् । कस्य तु लिंगं स्यात् । किं पुनस्तल्लिंगमित्याह । अंगस्येत्यादि । अंगस्य सादः क्रियास्वसामर्थ्यम् । ईहितं चेष्टितं कायिकं कर्म । भाषितं चेहितं च । अल्पवचनताऽल्पचेष्टितत्वं च स्यात् । तथा संज्ञामोहः संविदोऽभावः । तथा श्लेष्मवृद्धौ य उक्ता अग्निसादप्रसेकादयस्तेषामामयानां संभवो भवति ॥ १५ ॥

क्षीण वातादि के लक्षण—

वि०—वायु के क्षीण हो जाने पर—अंगों में शिथिलता, थोड़ा बोलना; थोड़ी चेष्टा करना, बुद्धि का व्यामोह तथा कफवृद्धि में वर्णित रोगों (तथा अग्निमान्द्य आदि) की उत्पत्ति होती है ॥ १५ ॥

पित्ते मन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः--

स०—पित्ते क्षीणे लिंगमेतत् । अग्निर्मंदः शीतं कांतिहानिश्च स्यात् ।

वि०—पित्त के कम होने पर—अग्नि का मन्द होना, शरीर में शीतलता और प्रभा-कान्ति का नाश होता है ।

--कफे भ्रमः ।
श्लेष्माशयानां शून्यत्वं हृद्द्रवः श्लथसन्धिता ॥ १६ ॥

स०—कफे क्षीणे भ्रमो भवति । तथा श्लेष्माशयानां शून्यत्वम् । श्लेष्माशया उरः शिरः संध्याद्याः ॥ १६ ॥

वि०—कफ के क्षीण हो जाने पर—चक्कर आना, छाती, शिर आदि कफाशयों में शून्यता (खालीपन), हृदय की धड़कन और सन्धियों में शिथिलता होती है ॥ १६ ॥

रसे रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता ।

स०—रसे क्षीणे रौक्ष्यादयः स्युः ।

रसादि की क्षीणता—

वि०—रस के क्षीण हो जाने पर—शरीर में रूक्षता, थकान, शोष, ग्लानि और शब्द की असहिष्णुता होती है ।

रक्तेऽम्लशिशिरप्रीतिसिराशैथिल्यरूक्षताः ॥ १७ ॥

स०—रक्ते क्षीणेऽम्लाद्यभिलाषादयः स्युः ॥ १७ ॥

वि०—रक्त के क्षीण हो जाने पर—अम्ल रस तथा ठण्डी वस्तु में रुचि, सिराओं की शिथिलता और रूक्षता रहती है ॥

मांसेऽक्षग्लानिगण्डस्फिक्शुष्कतासन्धिवेदनाः ।

स०—मांसे क्षीणेऽक्षग्लानिः । गल्लयोः स्फिजोश्च शुष्कत्वम् । संधीनां वेदनाः स्युः । स्फुटंतीव संधय इत्यर्थः ।

वि०—मांसक्षय में—इन्द्रियों में दुर्बलता, कपोल और नितम्ब में शुष्कता तथा सन्धियों में वेदना होती है ।

मेदसि स्वपनं कट्याः प्लीह्नो वृद्धिः कृशाङ्गता ॥ १८ ॥

स०—मेदसि क्षीणे कट्याः स्वापः प्लीहवृद्धिः कृशांगत्वं च ॥ १८ ॥

वि०—मेद के क्षीण होने पर—कटि में स्पर्शज्ञान का नाश, प्लीहा की वृद्धि और अङ्गों में कृशता होती है ॥ १८ ॥

अस्थ्न्यस्थितोदः शदनं दन्तकेशनखादिषु ।

स०—अस्थ्नि क्षीणेऽस्थ्नां तोदो भवति । शदनं शातः । पात इत्यर्थः । केषाम् । दंतादीनाम् ।

वि०—अस्थि क्षीण होने पर—अस्थियों में वेदना और दन्त, केश, नख आदि का गिरना होता है ।

अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्यं भ्रमस्तिमिरदर्शनम् ॥ १९ ॥

स०—मज्जनि क्षीणेऽस्थ्नां सौषिर्यं भ्रमादिश्च ॥ १९ ॥

वि०—मज्जा के क्षीण होने पर—अस्थियों में खोखलापन, चक्कर आना और आँखों के सामने अंधेरा होता है ॥ १९ ॥

शुक्रे चिरात् प्रसिच्येत शुक्रं शोणितमेव वा ।
तोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्रं धूमायतीव च ॥ २० ॥

स०—शुक्रे क्षीणे शुक्रं चिरात् प्रसिच्येत रक्तं वा । प्रसिच्यंतेति कर्मकर्तरि । वृषणयोरतिशयेन तोदो व्यथा स्यात् । मेढ्रं शिश्नं धूमायतीव च । लोहितादेराकृतिगणत्वात् क्यिप् । अकृत्सार्वेत्यादिना दीर्घः ॥ २० ॥

वि०—शुक्र के क्षीण होने पर—शुक्र का देर में क्षरण होना अथवा (शुक्र के साथ या उसके स्थान पर) रक्त का आना, वृषणों में अतिशय वेदना और मेहन (शिश्न) में जलन होती है ॥ २० ॥

पुरीषे वायुरन्त्राणि सशब्दो वेष्टयन्निव ।
कुक्षौ भ्रमति यात्यूर्ध्वं हृत्पार्श्वे पीडयन् भृशम् ॥ २१ ॥

स०—पुरीषे क्षीणे वायुः कुक्षौ भ्रमति । अंत्राणि वेष्टयन्निव शब्दं जनयत्यत्यूर्ध्वम् । किं कुर्वन् । हृत्पार्श्वे भृश पीडयन् ॥ २१ ॥

पुरीष की क्षीणता—

वि०—पुरीष के क्षीण होने पर—वायु शब्द के साथ आंतों को ऐंठती हुई सी उदर में घूमती है तथा हृदय और पार्श्व को अतिशय दबायी हुई ऊपर को जाती है ॥ २१ ॥

मूत्रेऽल्पं मूत्रयेत् कृच्छ्राद्विवर्णं सास्रमेव वा ।

स०—मूत्रे क्षीणेऽल्पं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विवर्णं रक्तसहितमेव वा ।

वि०—मूत्र का क्षय होने पर—मूत्र थोड़ा और कठिनाई से आता है। मूत्र का रंग बदला हुआ अथवा मूत्र रक्त से मिला होता है।

स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः ॥ २२ ॥

स०—स्वेदे क्षीणे रोम्णां च्युतिः शादो रोम्णां च स्तब्धत्वम् । त्वचश्चर्मणः स्फुटनं दरणम् ॥ २२ ॥

वि०—पसीने के क्षीण होने से—रोम का गिरना, रोम का कड़ापन एवं त्वचा का फटना होता है ॥ २२ ॥

इदानीं घ्राणादिमलानामपि सामान्येन क्षयलिंगमाह—

मलानामतिसूक्ष्माणां दुर्लक्ष्यं लक्षयेत् क्षयम् ।
स्वमलायनसंशोषतोदशून्यत्वलाघवैः ॥ २३ ॥

स०—सूक्ष्माणां शुष्काल्पानां दूषिकादीनां दुःखेन बोद्धुं शक्यं दुर्लक्ष्यं क्षयं लक्षयेज्जानीयात्। कैः । मलानां स्थानानि मलायनानि स्वानि च तानि मलायनानि च स्व मलायनानि तेषां संशोषतोदशून्यत्वलाघवानि स्वमलायनसंशोषतोदशून्यत्वलाघवानि तैः ॥ २३ ॥

घ्राणादि मल की क्षीणता—

वि०—नेत्रमल आदि जो अतिशय सूक्ष्म होने से कठिनाई से देखे जाने योग्य हैं उनके क्षय को, उनके मलायनों के शुष्क होने को तथा उनमें चुभने का सा दर्द, शून्यता और लघुता को देखकर उनका क्षय जानना चाहिए ॥ २३ ।

एवं व्यासेन दोषधातुमलानां वृद्धिक्षयावभिधाय समासतोऽभिधातुमिदमाह—

दोषादीनां यथास्वं च विद्याद् वृद्धिक्षयौ भिषक् ।
क्षयेण विपरीतानां गुणानां वर्धनेन च ॥ २४ ॥
वृद्धिं मलानां सङ्गाच्च क्षयं चाति विसर्गतः ।

स०—दोषधातुमलानां वृद्धिक्षयौ जानीयात्। कथम् । यथास्वं दोषादीनां गुणेभ्यो विपरीता ये गुणास्तेषां क्षयेण वर्धनेन च देहगतेन दोषादीनां वृद्धिं क्षयं च विद्यात्। यथा वायोर्गुणा रूक्षलघुशीतादयस्तेषां विपरीताः स्निग्धगुरूष्णादयस्तेषां स्निग्धादीनां देहे यदा वृद्धिर्दृश्यते तदा वायोः क्षयो ज्ञेयः। यदा तु तेषां स्निग्धादीनां देहे क्षयो दृश्यते तदा वायोर्वृद्धिं विद्यात्। एवं स्वबुद्ध्या विकल्प्य मलानां धातूनां च वाच्यम। मलानामित्यादि न केवलं मलानां पूर्वोक्तेन प्रकारेण वृद्धिक्षयौ ज्ञेयौ यावदमुनाऽपि वक्ष्यमाणेन लक्षणेन तेषां वृद्धिक्षयौ ज्ञेयौ। एवं स्वबुद्ध्या विकल्प्य मलानां संगाद्बहिर्निःसरणलक्षणाच्च वृद्धिं विद्यात्। तेषामेव मलानामतिविसर्गादतिप्रवर्तनात्क्षयं विद्यात् ॥ २४ ॥

दोषादि की साधारण क्षय-वृद्धि—

वि०—दोष आदि के अपने-अपने गुणों से विपरीत गुणों के बढ़ने और क्षय होने से क्रमशः शरीरगत दोष आदि की क्षय और वृद्धि जाननी चाहिए। [यथा वायु के गुण रूक्ष शीत-लघु हैं। इनसे विपरीत गुण स्निग्ध, गुरु, उष्ण आदि हैं। शरीर में जब स्निग्धादि गुणों का क्षय हो तब वायु की वृद्धि समझे और जब स्निग्ध आदि गुणों की वृद्धि हो तो वायु का क्षय समझना चाहिए] । बाहर न निकलने से मलों की वृद्धि और अत्यधिक निकलने से उनका क्षय समझे ॥ २४ ॥

वक्तव्य—चरक में—'मलवृद्धिं गुरुतया लाघवान्मलसंक्षयम् । मलायनानां बुध्येत संगोत्सर्गादतीव च' ॥ (चरक)

मलोचितत्वाद् देहस्य क्षयो वृद्धेस्तु पीडनः ॥ २५ ॥

स०—द्वावपि मलानां वृद्धिक्षयौ पीडाकरौ देहस्य तत्रापि य एषां क्षयः स वृद्धितोऽप्यतिशयेन पीडाकरः। अनौचित्यात्। देहिनां हि प्रायो मलक्षयोऽनुचितोऽनभ्यस्तो वृद्धिस्तूचितैवेति न तथा पीडां करोति ॥ २५ ॥

मलों की क्षीणता का उपद्रव—

वि०—मल देह का सात्म्य है; इसलिए मल का क्षय-इनकी वृद्धि की अपेक्षा अधिक कष्टदायी होता है ॥ २५ ॥

अथ दोषादीनामाश्रयाश्रयिभावं दर्शयति—

तत्रास्थनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः ।
श्लेष्मा शेषेषु तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः ॥२६॥
यदेकस्य तदन्यस्य वर्धनक्षपणौषधम् ।
अस्थिमारुतयोर्नैवं प्रायो वृद्धिर्हि तर्पणात् ॥२७॥
श्लेष्मणाऽनुगता तस्मात् सङ्क्षयस्तद्विपर्ययात् ।
वायुनाऽनुगतोऽस्माच्च वृद्धिक्षयसमुद्भवान् ॥२८॥
विकारान् साधयेच्छीघ्रं क्रमाल्लङ्घन बृंहणैः ।

स०—तत्र तेषु वातादिषु मध्येऽस्थ्नि वायुः स्थित आश्रितः। पित्तं तु स्वेदरक्तयोः स्थितम् । श्लेष्मा शेषेषु रसमांसमेदोमज्जशुक्रमूत्रपुरीषादिषु स्थितः । यतश्चैवमाश्रयाश्रयिभावो दोषधातूनां तेन हेतुनाऽऽश्रयाश्रयिणां मिथः परस्परं यदेकस्याऽऽश्रयस्य वर्धनं तत्तदाश्रयिणोऽपि वर्धनं यदाश्रयस्य क्षपणं तदाश्रयिणोऽपि क्षपणम् । नन्वेवमेवाऽस्थ्नो वाताश्रयस्य यद्वर्धनं तदप्याश्रयिणोऽपि वर्धनं यदस्थ क्षपणं तदपि वातस्य क्षपणं प्राप्नोतीत्यत आह। अस्थिमारुतयोर्नैवं वर्धनक्षपणौषधम् । संभवतीत्यध्याहार्यम् । हि यस्मात् प्रायो बाहुल्येन या वृद्धिर्वर्धनं दोषधातूनां सा तर्पणाद् बृंहणाद्भवति। प्रायो ग्रहणं वायुपरिहारार्थम् । सा च श्लेष्मणाऽनुगताऽनुबद्धा यत एवं या वृद्धिः संतर्पणात्तस्माद्धेतोर्य एषां दोषादीनां क्षयः स प्रायो भूयिष्ठमपतर्पणात्तल्लंघनरूपाद्भवति । स च संक्षयो वायुनाऽनुगतः। एवं यदस्थ्नो वर्धनमौषधं तत् स्निग्धमधुरादि बृंहणरूपं वातस्य क्षपणम् । यच्च वातस्य वर्धनमौषधं तद्रूक्षतिक्ताद्यपतर्पणं लंघनरूपमस्थ्नः क्षपणम् । तदर्थमेतदुक्तम् । यत एवं वृद्धेः संतर्पणरूपत्वं क्षयस्याऽपतर्पणरूपत्वमतो वृद्धिक्षयसंभवान् विकारान् दोषधातूनां संबंधिनः क्रमाल्लंघनबृंहणैः साधयेदुपक्रमेत्। कथम् । शीघ्रम् । चिरोत्थिता हि ते दुश्चिकित्स्याः स्युः । वृद्ध्युत्थान् विकारान् लंघनैः क्षयोत्थान् बृंहणैरिति क्रमार्थः ॥ २६–२८ ॥

धातु मलों में दोषों का आश्रय—

वि०—धातु-मलों में दोषों की स्थिति—वायु-अस्थियों में रहती है, पित्त स्वेद और रक्त में, कफ-शेष धातु, रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मूत्र, मल आदि में रहता है। इसलिए इनमें परस्पर आधार-आधेय सम्बन्ध होने से जो ओषधि एक (आश्रयभूत धातु) को बढ़ाती है, वह दूसरे (आश्रित दोष) को भी बढाती है; जो एक को घटाती है वह दूसरे को भी घटायेगी। [यथा—दूध शुक्र को बढाता है, वह आश्रयी कफ को भी बढ़ायेगा। जो मेद को घटाता है, वह कफ को भी कम करेगा] परन्तु अस्थि और वायु के सम्बन्ध में अपवाद है। शरीर में जो वृद्धि होती है, उसका कारण प्रायः संतर्पण होता है और यह कफ से सम्बद्ध होती है। इसके विपरीत शरीर का क्षय प्रायः करके संतर्पण के विपरीत (अपतर्पण) से होता है और यह क्षय वायु से सम्बद्ध होता है। इस कारण वृद्धि क्षयजन्य रोगों की क्रमशः लंघन (अपतर्पण) और बृंहण (संतर्पण) से शीघ्र चिकित्सा करे ॥ २६–२८ ॥

नन्वेवं वातवृद्ध्युत्थान् विकारान् लंघनैस्तत्क्षयोत्थान् बृंहणैरिति स्यादत इदमाह—

वायोरन्यत्र तज्जांस्तु तैरेवोत्क्रमयोजितैः ॥ २९ ॥

स०—वायुं हित्वा वृद्ध्युत्थान् विकारान् लंघनैः क्षयोत्थान् बृंहणैः साधयेत्। अथ तज्जान् वायुसंभवान् विकारान् पुनस्तैरेव लंघनबृंहणैरुत्क्रमयोजितैरुपक्रमेत् यथा निर्दिष्टक्रमाद्विपरीतः क्रमः उत्क्रमः। यथा वातवृद्ध्युत्थान् विकरान् बृहणैस्तत्क्षयोत्थांश्च लंघनैरिति ॥ २९ ॥

वि०—वायु को छोड़कर शेष अवस्थाओं में वृद्धिजन्य रोगों की लंघन से, क्षयजन्य रोगों की बृंहण से चिकित्सा करे। वायु के विषय में उत्क्रम-क्रम का उल्लंघन करके चिकित्सा करे अर्थात्—वातवृद्धिन्य रोगों में बृंहण चिकित्सा; क्षयजन्य रोगों में लंघन चिकित्सा करे ॥ २९ ॥

दोषाणां विशेषचिकित्सेह नोक्ता। दोषोपक्रमणीये वक्ष्यमाणत्वात्। रसचिकित्सा च रसोऽपि श्लेष्मवदित्युक्तेनेह पुनर्निर्दिष्टाऽतो रक्तादीनां चिकित्सामाह—

विशेषाद्रक्तवृद्ध्युत्थान् रक्तस्रुतिविरेचनैः।
मांसवृद्धिभवान रोगाञ् शस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः ॥ ३० ॥
स्थौल्यकार्श्योपचारेण मेदोजानस्थिसंक्षयात्।
जातान् क्षीरघृतैस्तिक्तसंयुतैर्वस्तिभिस्तथा ॥ ३१ ॥
विड्वृद्धिजानतीसारक्रियया विट्क्षयोद्भवान्।
मेषाजमध्यकुल्माषयवमाषद्वयादिभिः ॥ ३२
मूत्रवृद्धिक्षयोत्थांश्च मेहकृच्छ्रचिकित्सया।
व्यायामाभ्यञ्जनस्वेदमद्यैः स्वेदक्षयोद्भवान् ॥ ३३ ॥

स०—वृद्धिक्षयोपक्रमे एवं स्थितेऽपि विशेषेण रक्तवृद्ध्युत्थान् रक्तस्रुतिविरेचनैरुपक्रमेत। मासवृद्धिजान् शस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः। स्थौल्यकार्श्योपचारेण मेदोवृद्धिक्षयाभ्यां जातान् मेदोजानिति मध्यमपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। मेदोवृद्धिजान् स्थौल्योपचारेण द्विविधोपक्रमणीयोक्तया स्थौल्यचिकित्सया। मेदःक्षयजान् कार्श्योपचारेणोपाचरेत्। अस्थिक्षयजान् क्षीरघृतैस्तिक्तसंयुक्तैर्वस्तिभिस्तथा तथारूपैस्तिक्तसंयुतैरित्यर्थः। ननु यानि वातकृंति द्रव्याणि तान्यस्थिक्षयोद्भवविकाराणां वृद्धिकरणानीति तद्द्रव्योपयोगोऽत्र न युक्तस्तिक्तस्य वातकृत्वात्। उच्यते। यद्द्रव्यं स्निग्धं शोषणं खरत्वमुत्पादयति तदस्थ्नो वर्धनं युक्तं खरस्वभावादस्थ्नाम्। न चैवंविधमेकं द्रव्यमस्ति यत स्निग्धं शोषणं च। तस्मात् क्षीरघृतैस्तिक्तसंयुतैर्बस्तिभिश्च तिक्तसंयुतैश्चेत्युपदिष्टम्। क्षीरघृतस्य तिक्तयुक्तस्य खरस्वभावत्वात्। विड्वृद्धिजान् पुरिषवृद्धिजानतीसारचिकित्सया साधयेत। विट्क्षयोद्भवान् मेषाजमध्यादिभिः साधयेत्। मेष ऊरभः। अजश्छागः। तयोर्मध्यमंतराधिः। कुल्माषोऽर्धस्विन्नो माषादि हिंगुघृतादिसंयुतः। माषद्वयं माषो राजमाषश्च। आदि शब्देन काकांडोलात्मगुप्तादीनां ग्रहणम्। मूत्रवृद्ध्युत्थान् मेहचिकित्सया मूत्रक्षयोत्थान् मूत्रकृच्छ्रचिकित्सया। स्वेदक्षयजान् व्याधीन् व्यायामादिभिः साधयेत् ॥ ३०–३३ ॥

धातु-मलों के वृद्धि क्षय की चिकित्सा–

वि०—विशेषतः रक्तवृद्धि से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा रक्तस्राव और विरेचन से; मांसवृद्धि से उत्पन्न रोगों की शस्त्र, क्षार और अग्नि कर्म से, मेदवृद्धिजन्य रोगों की स्थूलता की किचित्सा से अर्थात् अपतर्पण से; मेदक्षयजन्य रोगों की कृशता की चिकित्सा से अर्थात् संतर्पण से; अस्थिक्षयजन्य रोगों की तिक्त द्रव्यों से साधित दूध, घी और बस्ति से; पुरीषवृद्धिजन्य रोगों की अतीसार-चिकित्सा से, पुरीष क्षयजनित रोगों में भेड़ और बकरी के मध्यभाग, कुल्माष, जौ, उड़द और राजमाष के प्रयोग से; मूत्रवृद्धि तथा मूत्रक्षयजन्य रोगों में क्रमशः प्रमेह तथा मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा करे तथा स्वेदक्षय से उत्पन्न रोगों में व्यायाम, अभ्यङ्ग, स्वेदन और मद्य देवे। ३०–३३ ॥

वक्तव्य—रसक्षय में रस को बढाने वाले द्रव्य का उपयोग करे। यथा—'तत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतिकारः ॥ शुद्धवृद्धि के लिए— व्यावाय (संभोग), तथा शुक्र को कर्म करने वाले (कटु-तिक्तरस) द्रव्य बरते। शुक्रक्षय में—स्वादुमधुर भोजन बरते। सुश्रुत-में आर्त्तव तथा स्तन्य (दूध) वृद्धि के भी लक्षण दिये हैं। यथा —'आर्त्तवमङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्गन्ध्यं च। स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च। गर्भो जठराभिवृधिं स्वेदं च ॥' (सु. सू. अ. १५।१६)

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ॥ ३४ ॥
पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्।

स०—स्वस्थानं कायाग्नेः पक्वामाशययोर्मध्यम्। यथा वक्ष्यति। पित्तं पंचात्मकं तत्तु पक्वामाशयमध्यगमित्यादि यावत्पाचकं नाम तत् स्मृतमिति। तत्र पक्वामाशयमध्ये

तिष्ठतीति स्वस्थानस्थातस्यैवंविधस्य कायाग्नेर्जाठरानलस्यांऽशा भागा धातुषु रसादिषु संश्रितास्तेषामग्न्यंशानां सादेन मांद्येन धातूनां वृद्धयुद्भवस्तेषामंशानामतिदीप्त्याऽतितैक्ष्ण्याद्धातुक्षयोद्भवः। पूर्वो रसाख्यो धातुर्वृद्धो भूत्वा परं रक्ताख्यं धातुः वृद्धं कुर्या पूर्वश्चेत् क्षीणो धातुः परं धातुं तद्विधं क्षीणमेव कुर्यात् ॥ ३४ ॥

धातुक्षयवृद्धि का कारण—

वि०—स्वस्थान—ग्रहणी में स्थित कायाग्नि के अंश-रक्तादि धातुओं में स्थित हैं। इन धात्वग्नियों के मन्द होने से धातुओं की वृद्धि होती है और उनके अतिदीप्त होने से धातुओं का क्षय होता है। पूर्व धातु बढ़ने पर अगले धातु को भी बढ़ाता है और पहला धातु क्षीण होने पर अगले धातु को भी घटाता है। रक्तवृद्धि से मांसवृद्धि, रक्तक्षय से मांसक्षय आदि ॥ ३४ ॥

दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान् ॥ ३५ ॥
अधो द्वे सप्त शिरसि खानि स्वेदवहानि च।
मला मलायनानि स्युर्यथास्वं तेष्वतो गदाः ॥ ३६ ॥

स०—दोषा दुष्टा रसैर्मधुरादिभिर्मिथ्यायोगातियोगसेवितैः कुपिता धातून् दूषयंति। उभये दोषा धातवश्च मलान् दूषयंति। मला मलायनानि दूषयंतीति संबंधः। तथा च मुनिः। मलायनानि बाध्यंते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैरिति। कानि मलायनानीत्याह। अधो द्वे गुदमेढ्राख्ये। सप्त शिरसि खानि द्वे अक्षिणी द्वौ कर्णौ द्वौ नासापुटावास्यं चेति। तथा स्वेदवहानि रोमकूपाख्यानि छिद्राणि सर्वशरीरगतानि मलायनानि स्युः। अतो दूषणात्कारणात् तेषु मलायनेषु दुष्टेषु यथास्वं गदाः स्युः। यो यस्य स्वो यथास्वम् ॥३५-३६॥

दोषों से रोगों की उत्पत्ति का क्रम-सम्प्राप्ति—

वि०—रस (मधुर आदि) से दूषित हुए दोष धातुओं को दूषित करते हैं। दूषित दोष और धातु मलों को दूषित करते हैं और दूषित मल मलायनों (स्रोतों) को दूषित करते हैं तथा इससे उनके अपने अपने (प्रकुपित दोषादि के अनुसार) रोग होते हैं। दो अधोमार्ग-गुदा और मेहन, शिर में सात-दो स्रोत कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक मुख तथा स्वेदवाही स्रोत मलायन-(मलों के स्थान) हैं ॥

दोषधातुमलानां समविषमाऽवस्था गदिता। ओजो निरूपयन्नाह—

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥ ३७ ॥
स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम्।
यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति ॥ ३८ ॥
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।

स०—रसादीनां धातूनां शुक्रांतानां यत्परं तेजस्तदोजः स्मृतम्। तथा हृदयस्थमपि व्यापि। सकलशरीरव्यापि। यतस्तस्य षड्बिंदुकस्य विशेषेण हृदयं स्थानम्। तथा देहस्य स्थितिर्देहस्थितिस्तस्या निबंधनं जीविताधिष्ठानमित्यर्थः। अन्ये त्वाहुः परशब्देनैतद् द्योतयति। अन्यदप्योजोऽस्ति न तद्धातूनां शुक्रांतानां तेजः श्लेष्माख्यमिति। तथा चोक्तं संग्रहे। मृदु सोमात्मकं शुद्धं रक्तमीषत्सपीतकमित्यादि। यन्नाशे यस्यौजसो नाशेऽभावे नियतं निश्चतं प्राणिनोऽभावः। यस्मिन्नोजसि तिष्ठति विद्यमाने तिष्ठति प्राणिति देहीति शेषः। यतो यस्माच्च भावाः पदार्था निष्पद्यंते जायन्ते विविधा अनेक प्रकाराः। तथा देहः संश्रयो येषां ते देहसंश्रयाः। लक्षणमोजसो मुनिनाऽभ्यधायि। हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं स्निग्धमीषत्सपीतकम्। ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशे ना विनश्यतीत्यादि ॥ ३७-३८ ॥

ओज का लक्षण—

वि०—ओज—रस धातु से शुक्र तक स्वधातुओं का जो उत्कृष्ट तेज है, उसका नाम ओज है। यह ओज हृदय में रहता हुआ भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है और जीवन का आधार है। यह सौम्य, स्निग्ध, शुद्ध-थोड़ा सा लाल पीले वर्ण का है। जिसके नाश होने पर निश्चित नाश-मृत्यु है; जिसके रहने से जीवन रहता है; जिसके कारण शरीर में आश्रित नाना प्रकार के भाव-पदार्थ उत्पन्न होते हैं-वह ओज है।

वक्तव्य—आयुर्वेद में ओज शब्द कई द्रव्यों के लिये प्रयुक्त हुआ है; यथा-धातूनां तेजसि रसे तथा जीवितशोणिते। श्लेष्मणि प्राकृते वैद्यैरोजः शब्दः प्रकीर्त्तितः॥' अत्यन्त शुद्ध होने से ओज में मल का अभाव रहता है, ओज-पर और अपर भेद से दो प्रकार का है। पर ओज के आठ बिन्दु हैं-और यह हृदय में रहता है, इसके नाश से मृत्यु है। अपर ओज की मात्रा आधा अञ्जलि है; यह सारे शरीर में व्याप्त रहता है; इसी ओज का क्षय, विस्रंसन या व्लापन होती है।

ओजो क्षीयेत कोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभिः। ३९ ॥
बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुच्छायो दुर्मना रूक्ष भवेत्क्षामश्च तत्क्षये ॥ ४० ॥
जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम्!

स०—ओजः कोपादिभिः क्षीयेत। तत्क्षये बिभेति दुर्बल इत्यादिलक्षणम्। जीवनीयौषधाद्यास्तत्र भेषजम्। जीवनीयौषधानि जीवंत्यादीनि दश जीवनसंज्ञानि। तथाऽन्यानि यानि मधुराणि द्रव्याणि। क्षीरस्य जीवनीयत्वेनैव ग्रहणे सिद्धे पृथग्भावोऽतिशयार्थोऽतिशयेनात्र क्षीरमौषधमिति। रसो मांसरसः। आदिग्रहणेन काकांडोलाऽत्मगुप्ताघृतादि परिग्रहः ॥ ३९-४० ॥

ओज का क्षय—

वि०—ओज—कोप, भूख, चिन्ता, शोक, श्रम आदि से क्षीण हो जाता है। ओजः क्षय होने पर रोगी डरता है; हीनबल हो जाता है; सदा बिना कारण चिन्ता करता है; इन्द्रियों (हृदय आदि स्थानों) में वेदना होती है, कान्ति मलिन हो

जाती है, चिड़चिड़ा; रूक्ष तथा कृश हो जाता है । इसके लिये जीवन्ती आदि जीवनीय द्रव्य दूध; मांसरस आदि औषध देना चाहिये ।

ओजोवृद्धौ हि देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः ॥ ४१ ॥

स०—ओजोविवृद्धौ सत्यां देहस्य तुष्टिः प्रहर्षः पुष्टिर्वृद्धिर्बलं सामर्थ्यमेषामुदयः सम्यग्वृद्धिर्भवति ॥ ४१ ॥

ओज की वृद्ध—

वि०—ओज की वृद्धि से शरीर की तुष्टि (प्रहर्ष,) पुष्टि तथा शक्ति का उत्कर्ष होता है (अर्थात् इसकी वृद्धि से विकार नहीं होते) ॥ ४१ ॥

इदानीं संक्षेपेण वृद्धिक्षयभेषजं कथयन्नाह—

ननु द्वेष्यान्नत्यागेनेष्टभक्षणेन कुतो हेतोर्दोषाणां वृद्धिक्षयौ जयेदित्याह—

यदन्नं द्वेष्टि यदपि प्रार्थयेताविरोधि तु ।
तत्तत्त्यजन् समश्नंश्च तौ तौ वृद्धिक्षयौ जयेत् ॥ ४२ ॥
कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीतसमानयोः ।
वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधास्तु न ॥ ४३ ॥

स०—यदन्नं पुरुषो द्वेष्टि नाभिनंदति यदप्यन्नं प्रार्थयेत तत्तदन्नं द्विष्टं त्यजन् परिहरन्निष्टमन्नं समश्नन् भक्षयन् दोषाणां संबंधिनौ वृद्धिक्षयौ तौ तौ यौ यस्य दोषस्यात्मीयौ वृद्धिक्षयौ तौ तौ जयेत् । ननु किमविशेषेणैतत्प्रार्थितमश्नन् दोषक्षयं जयेन्नेत्याह । अविरोधि । तुरवधारणे । अविरोध्येव तत्तथाविधमन्नमश्नन् दोषाणां क्षयं जयेन्न तु विरोध्यन्नमश्नन् । यस्माद्दोषा वातादयो विपरीतसमानयोः रुचिं कुर्वंति । किंभूताः संतः । वृद्धाः । क्षीणाश्च यथाक्रमम् । वृद्धाः प्रमाणाधिकाः संतः स्वगुणेभ्यो यद्विपरीतगुणमन्नं तद्विषयां रुचिं प्रीतिमुत्पादयंति भूयिष्ठं बाहुल्येन । क्षीणाः संतो यत्तत्समानगुणमाहारजातं । तेषां वर्धनहेतुस्तद्विषयां प्रीतिमुत्पादयंति । यथा वातो वृद्धः स्निग्धाम्लमधुरमन्नमभिलषति । पित्तं वृद्धं शीतमधुररूक्षतिक्तकषायमन्नमभिलषति । श्लेष्मा वृद्धो रूक्षाम्लकटुतिक्तमन्नमभिलषति । वातः क्षीणो रूक्षकषायाद्यन्नमभिलषति । पित्तं क्षीणमम्ललवणकटुकमन्नमभिलषति । श्लेष्मा क्षीणः स्निग्धमधुराम्ललवणमन्नमभिलषति । भूयिष्ठमित्यनेन प्रायिकत्वमस्या व्यवस्थाया दर्शयति । तेन दोषगतिवैचित्र्यादन्यथाऽपि क्वचिद्भवति । यथा कस्यचिन्नरस्य वातोऽपि क्षीणः स्निग्धमधुराद्यन्नमभिलषति पित्तमपि वृद्धमम्ललवणाद्यन्नमभिलषति श्लेष्माऽपि वृद्धो मधुराम्लाद्यन्नमभिलषतीति व्यभिचारात् । अत एवाऽबुधा न लक्षयंति न विदंति यथा किमयं दोषः क्षीण उत वृद्ध इति ॥ ४२-४३ ॥

वृद्धि-क्षय की चिकित्सा—

वि०—पुरुष जिस अन्न से द्वेष करता है और जिस अन्न की चाह करता है; उस उस द्विष्ट अन्न का त्याग करता हुआ, तथा इच्छित किन्तु अविरोधी अर्थात् जो अपथ्य न हो ऐसे अन्न को खाता हुआ दोष सम्बन्धित वृद्धि एवं क्षय को जीते। क्योंकि वातादि दोष प्रमाण से अधिक बढ़कर अपने गुणों से विपरीत गुण वाले अन्न में तथा कम हुए दोष अपने समान गुण वाले आहार में रुचि को उत्पन्न करते हैं—ऐसा प्रायः करके होता है । मूर्ख इसको नहीं पहचानते ॥ ४२-४३ ॥

नचानेनैव लक्षणेन वृद्धाः क्षीणाश्च दोषा लक्षणीयाः किं तर्ह्यन्यदपि लक्षणमस्तीत्याह—

यथाबलं यथास्वं च दोषा वृद्धा वितन्वते ।
रूपाणि जहति क्षीणाः समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥ ४४ ॥

स०—बलानतिक्रमेण यथास्वं च यद्यदात्मीयं यथास्वं रूपाणि गुणकर्मलक्षणानि दोषा वृद्धा वितन्वते विस्तारयंति । क्षीणाश्च बलातिक्रमेण यथास्वं रूपाणि जहति त्यजंति । यथा वायुर्वृद्धो रूक्षशैत्यपारुष्यस्रंसंव्यासादीनि विस्तारयति । क्षीणस्तु वायुः पूर्वोक्तानि रूक्षादीनि जहात्यत एव न व्यंजयति । अथ समा दोषाः किं विदधतीत्याह । समा इत्यादि । यदा न वृद्धा नच क्षीणाः समा दोषाः स्वप्रमाणस्थास्तदा स्वं कर्मोत्साहोच्छ्वासादिकं यथोक्तं कुर्वते । तल्लक्षणात्ते लक्षणीयाः ॥ ४४ ॥

दोषों की वृद्धि, क्षय और समता के संक्षिप्त लक्षण—

वि०—बढ़े हुए दोष अपने बल के अनुसार अपने-अपने गुणकर्म और लक्षणों का विस्तार करते है । क्षीण हुए दोष अपने गुणकर्म को छोड़ देते हैं अर्थात् वे कम हो जाते हैं । समावस्था में दोष अपना उचित कर्म करते हैं । [इनसे दोषों की वृद्धि, क्षय और समावस्था को जाने ।] ॥ ४४ ॥

तदेवं वृद्धक्षीणसमा दोषा वेद्याः । क्षीणा दोषाः क्षीणत्वादेवाकिंचित्करत्वात्कदाचित्पीडां नोत्पादयंत्येवेति विचिंत्याऽल्पमतयो वैद्याः क्षीणदोषवर्धनार्थं कदाचिदनादरं कुर्युरित्याह—

य एव देहस्य समा विवृद्ध्यै
त एव दोषा विषमा वधाय ।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव
क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः ॥ ४५ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने दोषादिविज्ञानीयो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

* * *

स०—य एव दोषाः समाः संतो देहस्य विवृद्ध्यै वर्धनाय भवंति त एव दोषा विषमाः स्वप्रमाणादधिका हीना वा संतो वधाय देहविनाशाय स्युः । यस्मादेवं ततस्ते दोषा हितचर्ययैव क्षयाद्धीनत्वाद्रक्षणीयाः । कुत इव । विवृद्धेरिव । यथा विवृद्धेर्विशेषेण वर्धनात्ते रक्ष्यंते तथा क्षयादपि रक्षणीया इति । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमृगाकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुंदराख्याया दोषादिविज्ञानीयो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

* * *

उपसंहार—

वि०—जो दोष समानावस्था में शरीर की वृद्धि के कारण होते हैं; वे ही दोष विषमावस्था में शरीर के नाश के हेतु होते हैं। इसलिये इन दोषों की हितचर्या-पथ्य आहार-विहार द्वारा वृद्धि के समान क्षय से भी रक्षा करनी चाहिए क्योंकि न केवल दोषों की वृद्धि अपितु उनका क्षय भी विकारजनक होता है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान में दोषादिविज्ञानीय नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

द्वादशोऽध्यायः

दोषादिविज्ञानीयादनंतरं दोषभेदीयाध्यायारंभो यतो दोषभेदमंतरेण दोषविज्ञानं सम्यङ्नोक्तं स्यात्। पूर्वस्मिंश्चाध्याये बहुवक्तव्यत्वाद्दोषभेदो नोक्त इत्याह—

अथातो दोषभेदीयाध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—दोषाणां भेदो दोषभेदः। स्थाननामविभागादिभिस्तस्मै हितो दोषभेदीयः शेषं पूर्ववत्।

वि०—अब इसके आगे दोषभेदीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

पक्काशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम्।
स्थान वातस्य, तत्रापि पक्काधानं विशेषतः ॥ १ ॥

स०—पक्काशयादि वातस्य स्थानं तत्राऽपि षड्विधस्थाने विशेषेण पक्कमाधीयते स्थाप्यतेऽस्मिन्निति पक्काधानं पक्काशयः। अत एव वाते बस्तेरुपक्रमः प्रधान उक्तः। मूलापकर्षणात्सकलशरीरव्यापित्वेऽपि येषामिदं विशेषेणोक्तम्। तथा च प्रागुक्तम्। ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरिति। विचित्रगतित्वाच्चैषां वक्ष्यमाणप्राणादिभेदेन पृथक् स्थानकर्मनिर्देशः ॥ १ ॥

वायु के स्थान—

वि०—वायु के स्थान—पक्काशय, कटि, पैर, श्रोत्र, अस्थि, त्वचा हैं; इनमें भी पक्काशय मुख्य है ॥ १ ॥

नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य, नाभिरत्र विशेषतः ॥ २ ॥

स०—पित्तस्य नाभ्यादीनि स्थानानि। लसीका जलसदृशी। दृक् चक्षुः। स्पर्शनं त्वक्। ननु स्पर्शनेंद्रियं वायोः स्थानमुद्दिष्टं तदेव कथं पित्तस्याऽपि स्यात्। ब्रूमः। वातसखित्वादग्नेः वातसखो ह्यग्निः। पित्तं च वह्निरिति वचनात्। तस्मादुभयोरप्येतदुक्तं स्थानम्। विशेषत इति अत्रैषु स्थानेषु मध्ये पित्तस्य विशेषेण नाभिः स्थानम् ॥ २ ॥

पित्त के स्थान—

वि०—पित्त के स्थान—नाभि, आमाशय, स्वेद, लसीका, रक्त, रस, आँख और त्वचा हैं, इनमें भी मुख्य स्थान नाभि है ॥ २ ॥

उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः ॥ ३ ॥
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य, सुतरामुरः।

स०—कफस्योरःप्रभृतीनि जिह्वांतानि स्थानानि। सुतरां सुष्ठु स्थानमुरो वक्षः ॥ ३ ॥

कफ के स्थान—

वि०—कफ के स्थान—छाती, कण्ठ, सिर, क्लोम, पर्व (संधियाँ), आमाशय, रस, मेद, घ्राण और जिह्वा—ये कफ के स्थान हैं। इनमें भी छाती मुख्यतः कफ का स्थान है ॥ ३ ॥

अथ प्रत्येकमेतेषां दोषाणां विशिष्टस्थानाश्रयेण क्रियाभेदात्पंच पंच भेदानाह—

प्राणादिभेदात्पञ्चात्मा वायुः—

स०—वायुरेक एव चलनस्वभावः सन् प्राणादिभिः प्राणोदानव्यानसमानापानैर्भेदाद्विशेषात्पंचात्मा पंचस्वभावः। यथैकोऽपि देवदत्तो यां यां क्रियां करोति तदनुरूपमेव संज्ञां लावकपाचकादिकां लभते तद्वद्वातादयः।

वायु के पाँच भेद—

वि०—प्राण आदि (प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान) के भेद से वायु पाँच प्रकार की है।

—प्राणोऽत्र मूर्धगः।
उरःकण्ठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक् ॥ ४ ॥
ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिःश्वासान्नप्रवेशकृत्।

स०—अत्र एषु मध्ये प्राणो वायुर्मूर्धगः शिरसि स्थित उरः कंठं च चरति। तथा बुद्ध्यादीनां धारकस्तथा ष्ठीवनादिक्रियः। ष्ठीवनं मुखास्रवोद्गारः। ष्ठीवनमिति ष्ठिवेर्युटि ष्ठिविसिव्योर्दीर्घश्चेति पृषोदरादिपाठाद्दीर्घः ॥ ४ ॥

प्राण वायु—

वि०—इनमें प्राण वायु शिर में रहती है, छाती और कण्ठ में गति करती है। बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय और मन इनको धारण करती है। थूकना, छींकना, उद्गार, निःश्वास तथा अन्न का प्रवेश कराना इसके कार्य हैं ॥ ४ ॥

उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत् ॥ ५ ॥
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः।

स०—उदानस्य प्रधानमुरः स्थानं नासादींश्च चरति। वाक्प्रवृत्त्यादिक्रियः। प्रयत्नकार्येषु पदार्थग्रहणादिषूद्यमः ॥ ५ ॥

उदान वायु—

वि०—उदान वायु का स्थान—छाती है; यह नासा, नाभी और गले में गति करती है। वाणी की प्रवृत्ति, प्रयत्न, ऊर्ज (शक्ति), बल, वर्ण और स्मृति इसके कार्य हैं ॥ ५ ॥

व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः ॥ ६ ॥
गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः ।
प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ॥७॥

स०—व्यानो हृदये स्थितः प्राधान्येन कृत्स्ने सर्वस्मिन् शरीरे चरति । तथा महाजवः शीघ्रगतिःप्रणाद्यपेक्षया । तथा गत्यादिकाः क्रियाः । प्रायः सर्वदेहिनां तस्मिन्व्याने प्रतिबद्धास्तदायत्ताः । गतिश्चंक्रमणम् । अपक्षेपणमंगस्याऽधोनयनम् । उत्क्षेपोऽगस्योर्ध्वनयनम् । निमेषोऽक्ष्णोर्निमीलनम् । उन्मेषस्तयोर्विकाशः । आदिग्रहणेन जृंभणान्नास्वादनविशोधनादिपरिग्रह ॥ ६-७ ॥

व्यान वायु—

वि०—व्यान वायु—मुख्यतः हृदय में रहती है, सम्पूर्ण शरीर में गति करती है। (प्राणादि की अपेक्षा) शीघ्र गति वाली है। गति—चलना; अङ्ग को नीचे ले जाना; अङ्ग को ऊपर ले जाना, आँख को बन्द करना, आँख को खोलना, आदि मनुष्यों की सब क्रियायें मुख्यतः इसी के अधीन हैं ॥ ६-७ ॥

समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः ।
अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति ॥ ८ ॥

स०—समानो वायुरग्निसमीपस्थ इति सामान्योक्तावपि प्राधान्यात्पाचकोऽग्निर्गृह्यते । अत एवाह । कोष्ठे चरतीति । सर्वत इत्याद्यादित्वात् सर्वस्मिन् कोष्ठे चरति स चान्नं गृह्णात्यपक्वमामाशये धारयतीत्यर्थः । पचत्यग्निसंधुक्षणात्कृत्कार इव । विवेचयति संहतमन्नं पाकाय विभजते । मुंचति शकृन्मूत्रादिरूपमधः ॥ ८ ॥

समान वायु—

वि०—समान वायु मुख्यतः पाचकाग्नि के समीप रहती है और सम्पूर्ण कोष्ठ में फिरती है, अन्न को ग्रहण करती है पचाती है; विवेचन-सार और किट्ट में भेद करती है; किट्ट भाग को (पुरीष मल-मूत्रं के रूप में) नीचे प्रवृत्त करती है ॥ ८ ॥

अपानोऽपानगः श्रोणिवस्तिमेढ्रोरुगोचरः ।
शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः ॥ ६ ॥

स०—अपानो वायुरपानं प्राधान्येनाश्रितः श्रोण्यादिचरः शुक्रादिन्निष्क्रमणक्रियः । इति वातभेदाः पंच ॥ ९ ॥

अपान वायु—

वि०—अपान वायु—मुख्यतः गुदा में रहती है और यह श्रोणि वस्ति; मेहन तथा ऊरु में विचरती है। शुक्र, आर्त्तव, पुरीष, मूत्र एवं गर्भ को बाहर निकालती है ॥ ९ ॥

पंच पित्तभेदानाह ।

पित्तं पञ्चात्मकम्—

पित्त के पाँच भेद—

वि०—पित्त पाँच प्रकार का है।[1]

—तत्र पक्वामाशयमध्यगम् ।
पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात् ॥ १० ॥
त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम् ।
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा ॥ ११ ॥
तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम् ।
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम् ॥ १२ ॥

स०—तत्र तेषु पंचसु मध्ये पक्वामाशययोर्मध्यस्थं तथा पंचभूतात्मकत्वेऽपि सति यत्तैजसगुणोदयादाग्नेयगुणोत्कर्षात्त्वपितसोमगुणत्वेन त्यक्तद्रवत्वं संजातकाठिन्यं तथा सहकारिकारणैः पाचनक्रियां प्रति सव्यापारैर्वाय्वादिभिरनुग्रहादुपकारात्पाकदाहादिक्रिययाऽनलशब्दितमग्निशब्दवाच्यं यत्पित्तं तत्पाचकमुच्यते । तच्चान्नं पचति । सारकिट्टौ पृथग् विभजति विभागीकरोति । किट्टशब्दस्य लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्येति पुंस्त्वम् । तत्रस्थमेव पक्वामाशयमध्यगमेव शेषाणां रंजकादीनां धातुस्थानां चानुग्रहमुपकारं करोति । बलदानेन सामर्थ्याधानेन स्वस्थानस्थमेव तेषूपकुरुत इत्यर्थ ॥ १०-११ ॥

पाचक पित्त—

वि०—इनमें पक्वाशय और आमाशय के मध्य (ग्रहणी) में रहने वाला पित्त-पञ्चभूतात्मक होने पर भी तैजस गुण की अधिकता से द्रवता का त्याग कर पाक आदि अग्नि के कार्य करने से 'अनल'-अर्थात् अग्नि' शब्द से कहा जाता है। यह पित्त अन्न को पचाता है, सार और किट्ट भाग को पृथक् करता है और वहीं रहकर शेष पित्तों को बल पहुँचा कर उनको शक्ति देता है। इस पित्त को 'पाचक' पित्त कहते हैं ॥ १०-१२ ॥

आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात् ।

स०—यच्चाऽऽमाशयस्थं पित्तं तद्रसाख्यधातो रंजनाद्रागनिष्पादनाद्रंजकमुच्यते ।

रञ्जक पित्त—

वि०—रञ्जक पित्त—आमाशय में रहता है; और रस से रञ्जक कहलाता है।

'बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात् ॥ १३ ॥
साधकं हृद्गतं पित्तं—

स०—यत्तु हृद्गतं हृदयस्थं पित्तं तद्बुद्ध्यादिभिः करणभूतैरभिप्रेतस्याऽर्थस्य बाह्यग्रहणस्मरणादिरूपेण साधनात् साधकमुच्यते । वर्तमानकाले या मनोऽर्थसंशयस्य निश्चयं कर्तुं तदर्थाध्यवसायोपारूढा सा बुद्धिः । बुद्धिविशेषो मेधा ॥ १३ ॥

साधक पित्त—

वि०—साधक पित्त—हृदय में रहता है; बुद्धि, मेधा, अभिमान आदि के द्वारा वांछित अर्थ का साधन करने से यह साधक कहलाता है ॥ १३ ॥

रूपालोचनतः स्मृतम् ।
दृक्स्थमालोचकं—

---

[1] पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक और भ्राजक ।

स०—दृष्टिस्थं पित्तं रूपालोचनादंतस्तारकायाः स्थितं तदायत्तरूपग्रहणशक्तित्वादालोचकमुच्यते।

आलोचक पित्त—

वि०—आलोचक पित्त—आँखों में स्थित है; रूप ग्रहण करने से इसे आलोचक कहते हैं।

—त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः॥ १४॥

स०—त्वचो भ्राजनाद्दीपनाद् भ्राजक नाम पित्तम्। एतच्च पित्तमभ्यंगलेपपरिषेकादीन् पाचयति॥ १४॥

भ्राजक पित्त—

वि०—भ्राजक पित्त—त्वचा में स्थित है, यह पित्त त्वचा का प्रकाश करने से भ्राजक कहलाता है। (जिससे त्वचा में चमक और अभ्यङ्ग-लेप आदि द्वारा उपयुक्त द्रव्यों का पाचन और शोषण भी होता है।)॥ १४॥

श्लेष्मा तु पञ्चधा—

स०—श्लेष्मा तु पंचधा, श्लेष्माऽपि पंचप्रकारः।

श्लेष्मा के पाँच भेद—

वि०—कफ पाँच प्रकार का है।[1] इनमें—

तदेव पंचकारत्वमाह—

—उरःस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः।
हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा॥ १५॥
कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम्।
अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा—

स०—स श्लेष्मा उरसि तिष्ठतीत्युरःस्थस्त्रिकस्य पृष्ठाधाराख्यस्य स्वप्रभावाद्यस्मादवलंबनं करोति स्वकर्मणितस्य सामर्थ्यमुत्पादयति। हृदयस्यान्नवीर्यादन्नवीर्येणाभ्यवहृतादन्नाद्रसरूपतापरिणतादवलंबनं बलेन वीर्येण करोति। चशब्दात्स्ववीर्येणाऽपि हृदयस्यावलंबनं करोति। किंत्वन्नवीर्यादतिशयेन यथावलंबनं हृदयस्य करोति। न तथा स्ववीर्यतः यतोऽन्नरसः पूर्वं हृदि स्थितिं कृत्वा ततो व्यानव्युत्क्षिप्तः सर्वं शरीरं याति तस्माद्विशेषेण हृदयस्यान्नऽवीर्यादवलंबनं युक्तम्। आगमोऽपि हृदयं मनसः स्थानभोजसश्चितितस्य च। मांसपेशीचयो रक्तपद्माकारमधोमुखम्। योगिनो यत्र पश्यंति सम्यग् ज्योतिः समाहिताः। रसो यः स्वच्छतां यातः स तत्रैवाऽवतिष्ठते। ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते। तथा तत्स्थ एवोरःस्थ एवैष श्लेष्मा शेषाणां कफस्थानानामंबुकर्मणा क्लेदसंश्लेषादिलक्षणेन जलव्यापारेणाऽवलंबनं करोत्यतोऽस्माद्यथोक्ताद्धेतोरवलंबकः श्लेष्मेत्युच्यते॥ १५॥

अवलम्बक श्लेष्मा—

वि०—अवलम्बक कफ—छाती में रहता हुआ अपनी शक्ति से त्रिक का तथा अपनी और अन्न की शक्ति से हृदय का अवलम्बन करता है। छाती में रहता हुआ ही जलीय कार्यों से (क्लेदन, तर्पण, पूरण आदि) शेष कफ स्थानों का (गले आदि का) अवलम्बन करता है इसलिये इसको 'अवलम्बक श्लेष्मा' कहते हैं॥ १५॥

—यस्त्वामाशयसंस्थितः॥ १६॥
क्लेदकः सोऽन्नसङ्घातक्लेदनात्—

स०—स पुनः श्लेष्मा आमाशये स्थितः स क्लेदक इत्युच्यते। कुतः। अन्नसंघातक्लेदनात्कारणात्॥ १६॥

क्लेदक लेश्ष्मा—

वि०—जो कफ आमाशय में रहता है, वह अन्न-समूह का क्लेदन (गीला और मृदु) करने से 'क्लेदक श्लेष्मा' कहलाता है।

—रसबोधनात्।
बोधको रसनास्थायी—

स०—रसनःस्थायी जिह्वास्थो बोधक इत्युच्यते रसबोधनात् कारणात्।

बोधक श्लेष्मा—

वि०—जो कफ जिह्वा में रहता है, वह रस का ज्ञान कराने से 'बोधक श्लेष्मा' कहा जाता है।

—शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात्॥१७॥
तर्पकः—

स०—शिरःस्थोऽक्षतर्पणात्तर्पकः शिरःस्थस्तर्पक इत्युच्यते। अक्षतर्पणाद्धेतोः॥ १७॥

तर्पक श्लेष्मा—

वि०—जो कफ शिर में रहता हुआ इन्द्रियों का तर्पण करता है वह 'तर्पक श्लेष्मा' है॥ १७॥

—सन्धिसंश्लेषाच्छ्लेषकः सन्धिषु स्थितः।

स०—संधिषु स्थितः श्लेष्मा श्लेषक इत्युच्यते। संधिसंश्लेषात् कारणात्।

श्लेषक श्लेष्मा—

वि०—जो कफ सन्धियों में स्थित रहकर सन्धियों का श्लेषण (स्नेहन और बन्धन) करता है, वह 'श्लेषक श्लेष्मा' है।

एवं दोषाणां स्थानान्युक्त्वोपसंहरन्नाह—

इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम्॥ १८॥
व्यापिनामपि जानीयात्कर्माणि च पृथक् पृथक्।

स०—बाहुल्येन दोषाणामविकृतात्मनामप्रच्युतस्वभावानामित्युक्तप्रकाराणि स्थानानि व्यापिनामपि सकलशरीरचराणामपि ज्ञेयानि। तथा कर्माणि पृथक्पृथक् प्रत्येकं कृत्वा जानीयाद्वैद्यः॥ १८॥

उपसंहार—

वि०—इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में फैले होने पर भी अविकृत दोषों के ये मुख्य स्थान तथा पृथक्-पृथक् कर्म जानने चाहिये॥ १८॥

---

[1] अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक, श्लेषक।

विकृतिरेषां वृद्धिः क्षयश्च। वृद्धिरपि द्विविधा चयप्रकोपभेदेन। दोषादिविज्ञानीये सामान्येन वृद्धिक्षयलक्षणमुक्तम्। संप्रति चयकोपरूपवृद्धिनिदानं संक्षेपेण सूचयन्नाह—

उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति सञ्चयम् ॥१९॥
शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः।

स०—उष्णेन गुणेन विरुद्धेनोपहिता रूक्षादयः प्रथमाध्यायोक्ताः षड्वातगुणा वायोश्चयं कुर्वंति न कोपमुष्णस्य विरुद्धत्वात्। त एव रूक्षादयः शीतगुणोपहितास्तत्सदृशत्वाद्वायोः कोपं कुर्वंति। उष्णेन युक्ता स्निग्धादयो गुणा वायोः शमं कुर्वंति विपरीतत्वात् ॥ १९ ॥

वायु का सञ्चय, कोप तथा शमन—

वि०—चय-प्रकोपरूप वृद्धि—उष्णता से मिश्रित रूक्ष आदि गुण वायु का सञ्चय करते हैं, शीत से प्रकोप होता है और उष्णता से युक्त स्निग्ध आदि गुणों से शान्त होती है। ॥ १९ ॥

वक्तव्य—दोषों की अवस्था दो है; सम और विषम। विषम भी दो प्रकार की—वृद्धि और क्षय। इनमें वृद्धि भी दो प्रकार की सञ्चय और प्रकोप।

शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते ॥ २० ॥
उष्णेन कोपं मन्दाद्याः शमं शीतोपसंहिताः।

स०—एवं पित्तस्य शीतेन गुणेन युक्तास्तीक्ष्णादयो गुणाश्चयं कुर्वंति। एवं तीक्ष्णादयो गुणा उष्णेन सहिताः कोपं कुर्वंति। मंदादयो गुणाः शीतगुणयुक्ता शमं कुर्वंति विपरीतत्वात् ॥ २० ॥

पित्त का सञ्चय, कोप तथा शमन—

वि०—शीत से युक्त तीक्ष्ण आदि गुण पित्त का सञ्चय करते हैं, उष्णता से पित्त कुपित होता है और शीत से मिले मन्द आदि गुण पित्त का शमन करते हैं ॥ २० ॥

शीतेन युक्ताः स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मणश्चयम् ॥२१॥
उष्णेन कोपं तेनैव गुणा रूक्षादयः शमम्।

स०—शीतगुणोपहिताः स्निग्धादयः कफस्य चयं कुर्वंति। उष्णेन युक्तास्त एव स्निग्धादयः कफस्य कोपं कुर्वंति। तेनैवोष्णेन युक्ता रूक्षादयः कफस्य च शमं कुर्वंति। कफस्य हि शीतगुणेन सदृशेनाऽपि स्निग्धादिगुणयुक्तेन स्त्यानत्वाच्चयः स्यात। विपरीतेनोष्णेन विलयनात्कोपः। स एवोष्णो यदा रूक्षादियुक्तो भवति तदा विपरीतत्वाच्छमनो भवति ॥ २१ ॥

कफ का सञ्चय, कोप तथा शमन—

वि०—शीत से युक्त स्निग्ध आदि गुण कफ का सञ्चय करते हैं; उष्णता से कफ कुपित होता है और उष्णता से युक्त रूक्ष आदि गुण कफ का शमन करते हैं ॥ २१ ॥

वक्तव्य—उष्णता से कफ का विलयन होने (पिघलने) के कारण प्रकोप होता है, यही उष्णता, रूक्ष आदि विपरीत गुणों से मिल कर कफ को शान्त करती है ॥

इदानीं चयादीनां लक्षणान्याह—

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु ॥ २२ ॥
विपरीतगुणेच्छा च—

स०—स्वधाम्न्यात्मीये स्थाने दोषस्य या वृद्धिः स चय उच्यते। चितस्य दोषस्य लिंगमाह। यदा हि वातश्चितो भवति तदा रूक्षादिषु तद्गुणसमानेषु प्रद्वेषः स्यात। तद्विपरीतगुणेषु स्निग्धादिष्वभिलाषः स्यात्। एवं कफपित्तयोश्चितयोर्व्याख्या। ननु प्रद्वेषो वृद्धिहेतुष्वित्येकमेव लक्षणं दोषचयसत्तानुमापकं कर्तुं न्याय्यम्। यदि वा विपरीतगुणेच्छा चेत्येतत्। किं द्वयोरुपादानेन। अत्रोच्यते। कदाचिदचितोऽपि दोषो वाताख्यः स्वप्रमाणस्थः क्षीणो वा यस्य स वातवृद्धिहेतून् रूक्षादीन्न द्वेष्ट्यपि तु तानिच्छति। सात्म्यवशात्। यथा गर्भिणी स्त्री दोहदवशात्। तदेवं व्यभिचारदर्शनात प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु विपरीतगुणेच्छा चेति द्वयमपि कर्तव्यम्। तेन यदा तुल्यकालं मनुजस्य वातसमानगुणेषु तद्वृद्धिहेतुषु च प्रद्वेषो जायते वातगुणप्रतिपक्षेषु तत्क्षपणहेतुषु चाभिलाषस्तदा सम्यक् निश्चीयते वातस्योपचितिरिति द्वयमप्येतदुक्तम् ॥ २२ ॥

चय का लक्षण—

वि०—चय के लक्षण—दोष की अपने स्थान में ही जो वृद्धि होती है, उसका नाम 'चय' है। इससे वृद्धि के कारणों में द्वेष होता है और विपरीत गुण की इच्छा होती है ॥ २२ ॥

—कोपस्तून्मार्गगामिता।
लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसम्भवः ॥ २३ ॥
स्वस्थानस्थस्य समता विकारासम्भवः शमः।

स०—उन्मार्गगामिता स्वस्थानं त्यक्त्वा दोषस्य यत्पुनर्मार्गांतरगमनं स कोपः। कोपस्य लिंगमाह। लिंगानां स्वेषां यथायथं दर्शनमुद्भवो वातादीनां कुपितानां यानि लिंगानि दोषादिविज्ञानीयेऽभिहितानि वातव्याधिनिदाने च वक्ष्यंते तेषां दर्शनमुपलब्धिः ॥ २३ ॥

कोप तथा शम के लक्षण—

वि०—दोषों का उन्मार्ग (अपने स्थान से भिन्न अन्य स्थान) में जाना ही कोप है। इसमें दोष अपने-अपने लक्षणों को दिखाते (प्रकट करते) हैं; शरीर में अस्वस्थता होती है और रोग उत्पन्न होता है। दोष का अपने स्थान में अपने प्रमाण में रहना और रोग उत्पन्न न होना 'शम' कहा जाता है ॥ २३ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने विकृत दोषों की छः अवस्थायें कही हैं—'सञ्चयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्। व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक् ॥' (सु. सू. अ. २१।३६) इसका लाभ 'सञ्चयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः। ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः।'[1]

---

[1] १. हेमाद्रि ने प्रकोप के भेदरूप मे सुश्रुतोक्त प्रसर आदि चारों का समन्वय करने का प्रयास किया है। यथा—उन्मार्गगमन = प्रसर;

चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ॥ २४ ॥
वर्षादिषु तु पित्तस्य, श्लेमणः शिशिरादिषु ।

स०—ग्रीष्मादिषु त्रिषु कालेषु ग्रीष्मवर्षाशरत्सु वातस्य चयप्रकोपप्रशमा भवंति । तथा वर्षादिषु त्रिषु वर्षाशरद्धेमंतेषु पित्तस्य चयप्रकोपप्रशमा भवंति । तथा शिशिरादिषु त्रिषु शिशिरवसंतग्रीष्मेषु श्लेष्मण श्चयप्रकोपप्रशमा भवंति॥२४॥

वातादि दोषों का चयादि काल—

वि०—ग्रीष्म, वर्षा और शरद इन तीनों ऋतुओं में वायु का क्रमशः संचय, प्रकोप और शमन होता है । वर्षा, शरद और हेमन्त में पित्त का क्रमशः संचय, प्रकोप और प्रशमन होता है; शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म में कफ का क्रमशः संचय, प्रकोप और प्रशमन होता है ॥ २४ ॥

ननु मरुतो ग्रीष्मे चयो न युक्तो यतस्तस्मिन्काले लघुरूक्षा ओषधयो भवंति । तथा वर्षासु पित्तचयो न युक्तो जलानामौषधीनां चाम्लपाकत्वात् । तथा श्लेष्मणः शिशिरे चयो न युक्तस्तदा ह्याप ओषधयश्च स्निग्धा भवंति कालश्च शीत इति कोप एवोपपन्न इत्यस्मिन् पर्यनुयोग इदमाह—

चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभिः समीरणः ॥ २५ ॥
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति ।
अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम् ॥ २६ ॥
पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः ।
चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः ॥ २७ ॥
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति ।

स०—ग्रीष्मकाले वातो लघुरूक्षाभिरोषधीभिर्देहे चादानकालस्वाभाव्यात्तद्विधे लघुरूक्षः समीरण इति समानगुणत्वात्पवनस्य कोपः प्राप्तः स निषिध्यते कालस्यौष्ण्यादित्यनेन । एवं पित्तस्य वर्षासु कोपः नतु कालस्य शैत्यत इत्यनेन निषिध्यते ॥ २५-२७ ॥

दोष-चय का कारण—

वि०—ग्रीष्म काल में—लघु-रूक्ष गुणवाली औषधियों से (खान-पान से) लघु रूक्ष गुणवाली वायु (कालस्वभाव से) लघु-रूक्ष शरीर में संचित होती है, परन्तु ग्रीष्मकाल के उष्ण होने से कुपित नहीं होती वर्षाऋतु में जल का अम्लपाक होने से और औषधियों का भी अम्लपाक हो जाने से उसी प्रकार का (अम्लपाकी) पित्त संचित होता है, परन्तु वर्षाकाल के शीतल होने से कुपित नहीं होता । शिशिर में स्निग्ध, शीतल आदि जल और औषधियों से कफ संचित होता है । परन्तु काल और शरीर के समान (स्निग्ध और शीत) होने पर भी-जमा हुआ होने के कारण कुपित नहीं होता [जिस प्रकार कि शीत से जमा घी कुपित नहीं होता] ॥[2] २५-२७ ॥

इति कालस्वभावोऽयमाहारादिवशात्पुनः ॥२८॥
चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषः कालेऽपि वा न तु ।

स०—इति पूर्वोक्तोऽयं वाय्वादिचयादिः कालस्य स्वभाव । आहारादिवशादन्नपानसामर्थ्यात्पुनर्दोषाः सद्योऽपि तत्क्षणादेव कालमनपेक्ष्यैव चयादींश्चयप्रकोपप्रशमान् यांति । तस्मादेव चाहारादिवशात् यथास्वं चयादिकालेऽपि वा दोषा न तु चयादीन् यांति । तस्मात्कालादाहारादीनां प्राधान्यमित्यर्थः । आहारादीत्यत्राऽऽदिशब्देन रसायनवाजीकरणवमनविरेचनादयो गृह्यंते ॥ २८ ॥

दोष-चयादि के अन्य कारण—

वि०—इस प्रकार संचय, प्रकोप और शमन काल के स्वभाव के कारण होता है । आहार आदि (विहार-देश) के कारण-दोषों का तुरन्त ही काल न होने पर भी सञ्चय आदि हो जाता है और काल होने पर भी संचय आदि नहीं होता । अर्थात् प्रकोपक आहार आदि के सेवन से अकाल में भी संचय आदि हो जाता है तथा शासक आहार-सेवन से प्रकोप आदि का काल होने पर भी प्रकोप आदि नहीं होता ।

एवं दोषाणां चयादीन् प्रदर्श्य व्याप्तिनिवृत्ति वैचित्र्यं कोपजं दर्शयितुमाह—

व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम् ॥ २९ ॥
निवर्तते तु कुपितो मलोऽल्पाल्पं जलौघवत् ।

स०—मलः कुपितः सहसा शीघ्रमेवापादतलमस्तकं व्याप्नोति । पादतलादारभ्य यावन्मस्तकमित्यर्थः निवर्तते पुनरल्पाल्पं स्तोकं स्तोकमिति । यथा गिरिनद्यादीनां जलपूरः समविषमं सहसैव व्याप्नोति । निवर्तते तु स्तोकं स्तोकमिति ॥ २९ ॥

दोष की व्याप्ति तथा निवृत्ति—

वि०—दोष—कुपित मल (दोष) एकदम शिर से लेकर पैर तक सारे शरीर में फैल जाते हैं; परन्तु पानी के पूर की भाँति थोड़ा-थोड़ा कर लौटते हैं ॥ २९ ॥

वक्तव्य—नदी में पानी का पूर तो वेग से आ जाता है, परन्तु वापिस-थोड़ा-थोड़ा कर जाता है; इसी प्रकार दोष फैल तो तुरन्त जाते हैं, परन्तु लौटते थोड़ा-थोड़ा करते हैं ।

ननु प्रतिरोगं निदानलक्षणचिकित्सितमानंत्याद्वक्तुमशक्यं तच्चाऽविदन्न कश्चिदत्र तथा यत्नं कुर्यादित्याशंक्याह—

नानारूपैरसङ्ख्येयैर्विकारैः कुपिता मलाः ॥ ३० ॥
तापयन्ति तनुं तस्मात्तद्धेत्वाकृतिसाधनम् ।
शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः सामान्यमुच्यते ॥ ३१ ॥

स्वलक्षणों का प्रकट करना = स्थानसंश्रय; अस्वास्थ्य—व्यक्ति और रोगसम्भव = भेद ।

[2] निदान, दूष्य और दोष तीनों समान गुणवाले होने पर प्रकोप होना ही अधिक सम्भावित होता है फिर भी ग्रीष्म में वायु, वर्षा में पित्त और शिशिर में कफ का प्रकोप न होकर सञ्चय मात्र होता है उसका कारण यहाँ बतलाया गया है कि ग्रीष्म में उष्णता, वर्षा में शीतता और शिशिर में कफ की स्कन्नता (जमा होना) प्रकोप में बाधक होती है अतः संचयमात्र होता है ।

स०—यत्तदोर्नित्यसंबंधाद्यस्मादिति लभ्यते। यस्मान्नानारूपैरनेकप्रकारैरसंख्येयैर्गणनां समतीतैर्विकारै उर्वरैर्मला वातपित्तश्लेष्माणः कुपितास्तनुं देहं तापयंति दुःखयंति तस्मात्तद्धेत्वाकृतिसाधनं शक्यं नैकैकशो वक्तुमयमस्य हेतुरियमाकृतिरिदंलक्षणमिदमस्य साधनं चिकित्सितमिति एकैकशः वक्तुं न शक्यमतः सामान्यमुच्यते ॥ ३०-३१ ॥

दोषकोप के अनेक कारण—

वि०—कुपित हुए मल—अनेक प्रकार के एवं अगणित विकारों से शरीर को दुखी करते हैं। इसलिये एक-एक रोग को हेतु, लक्षण और चिकित्सा से यहाँ पर कहना असम्भव है, अतः सामान्य रूप से सबको कहा जाता है ॥ ३०-३१ ॥

अत्रैव हेत्वंतरमाह—

दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्।
यथा पक्षी परिपतन् सर्वतः सर्वमप्यहः ॥ ३२ ॥
छायामत्येति नात्मीयां यथा वा कृत्स्नमप्यदः।
विकारजातं विविधं त्रीन् गुणान्नातिवर्तते ॥ ३३ ॥
तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तमपि सर्वदा।
विकारजातं त्रीन् दोषान्—

स०—सर्वेषां रोगाणां यस्माद्दोषा एवैककारणम्। एकं प्रधानं च तत्कारणं निमित्तमेककारणम्। यदि वा सर्वेषां रोगाण दोषा एकं तुल्यं कारणं समानं कारणमित्यर्थः। एवशब्दोऽवधारणे। दोषा एव कारणं नाऽपरं किंचिद्वस्तुजातम्। अत्र दृष्टांतमाह। पक्षी प्राचिकादिर्यथा सर्वतः समंतात्परिपतन् भ्रमन् सर्वमप्यहः सकलमपि दिवसमात्मीयां छायां नाऽत्येति नाऽतिक्रामति। तया विना क्षणमप्यसौ नोपलभ्यत इत्यर्थः तथाऽन्यदपि निदर्शनमाह। यथा वेत्यादि। तथा वा कृत्स्नं निरवशेषमेतद्विकारजातं स्थावरजंगमादिभेदभिन्नं जरायुजांडजादिभेदभिन्नं वा विविधं नानाप्रकारं त्रीन् गुणान् सत्त्वरजस्तःसंज्ञान्नाऽतिवर्तते नात्येति। त्रिभिरेतैर्विरहितं न जातुचिद्भवतीत्यर्थः। तथा स्वधात्वित्यादि। धातवो दोषधातुमलाः शरीरधारणसामान्यात् तेषां वैषम्यं स्वलक्षणतोऽन्यथात्वंस्वधातुवैषम्यं निमित्तं यस्य तद्विकारजातं त्रीन् दोषान्नाऽतिक्रामति। त्रिदोषरहितं न संभवतीत्यर्थः। धातुवैषम्यं च प्रतिरोगमन्यादृशत्वान्नानाविधम्। यत्तु येन धातुवैषम्येण जन्यते तत्तस्य स्वं स्वीयं भवति। येषां तु रोगाणां देव ग्रहादि निमित्तं न तेषु तथा दोषानुबंधः। आगंतुकत्वात्। आगंतुकनिजयोर्ह्ययमेव भेदः। यदागंतुकेषु प्रथमं रोगोद्भूतिः श्चपाद्दोषानुबंधो निजेषु प्राग्दोषानुबंध इति। ये च व्याचक्षते स्वे च ते धातवश्च तेषां वैषम्यमिति। तेषां नायमर्थः प्रतिपादितः स्यात्। स्वग्रहणं चाऽतिरिच्यते। यतः शरीरांतरावस्थायिनो दोषा वातादयः शरीरांतरे रोगं जनयितुं नालम्। तस्मात्पूर्वमेव व्याख्यानं श्रेयः ॥ ३२-३३ ॥

दोष ही रोगों के मुख्य कारण—

वि०—सब रोगों के एक (समवायी) कारण दोष ही हैं। जिस प्रकार पक्षी सब ओर सारे दिनभर उड़ता हुआ भी अपनी छाया को नहीं छोड़ता अथवा जिस प्रकार सम्पूर्ण स्थावरजंगम रूप से नाना प्रकार के जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज, विकार-समूह—सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से अलग नहीं हो सकते; उसी प्रकार अपने धातुओं की विषमता से उत्पन्न रोगसमूह सदा वात-पित्त-कफ तीन दोषों का अतिक्रमण नहीं कर सकते ॥ ३२-३३ ॥

—तेषां कोपे तु कारणम् ॥ ३४ ॥
अर्थैरसात्म्यैः संयोगः कालः कर्म च दुष्कृतम्।
हीनातिमिथ्यायोगेन भिद्यते तत्पुनस्त्रिधा ॥ ३५ ॥

स०—तेषां वातादीनां कोपे कारणमसात्म्यैरनुचितैरर्थैः शब्दस्पर्शरूपरसगंधाख्यैः श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानामिंद्रियाणां यः संयोगस्तथा कालः शीतोष्णवर्षलक्षणो दुष्टस्तथा कर्म चैहिकमन्यजन्मजं च यद् दुष्कृतमशुभमेतत्त्रयं दोषाणां कोपे हेतुः। तुशब्दः समुच्चये। न कुवलं रुक्षादयो वातादीनां कोपकारणं यावदसात्म्येंद्रियार्थसंयोगादिरपि। एतच्च पूर्वोक्तं दोषकोपकारणमसात्म्येंद्रियार्थसयोगादिभेदेन त्रिधा भिन्नमपि पुनर्भूयस्त्रिधा त्रिप्रकारमपि भिद्यते कथम्। हीनमिथ्यातियोगेन ॥ ३४ ॥

दोष-प्रकोप के संक्षिप्त कारण—

वि०—इन दोषों के कुपित होने के कारण—असात्म्य शब्दादि विषयों के साथ श्रोत्र आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध होना; काल-शीतोष्णवर्षालक्षण; ऐहिक या पूर्वजन्म कृत अशुभ कर्म; ये तीनों के प्रकोप में कारण हैं। इनमें प्रत्येक कारण हीनयोग, अतियोग और मिथ्यायोग भेद से फिर तीन प्रकार का है ॥ ३४-३५ ॥

तानेव हीनमिथ्यातियोगान्दर्शयति।

हीनोऽर्थेनेन्द्रियस्याल्पः संयोगः स्वेन नैव वा।
अतियोगोऽतिसंसर्गः, सूक्ष्मभासुरभैरवम् ॥३६॥
अत्यासन्नातिदूरस्थं विप्रियं विकृतादि च।
यदक्ष्णा वीक्ष्यते रूपं मिथ्यायोगः स दारुणः ॥३७॥
एवमत्युच्चपूत्यादीनिन्द्रियार्थान् यथायथम्।
विद्यात्—

स०—अर्थेन शब्दादिना स्वेनेंद्रियस्य श्रोत्रादि हीनोऽल्पो यः संयोगः स हीनयोगः नैव वेति। अथवा सर्वसर्विकया तेनार्थेन न संयोगः सोऽपि हीनो योगः तस्यैवेंद्रियस्य स्वेनार्थेन योऽतिसंसर्गोऽतिसेवालक्षणः स तस्य स्वेनार्थेनातियोगः। यच्च सूक्ष्मभासुरभैरवमित्यादि यदक्ष्णा वीक्ष्यते नयनेनालोक्यते स तस्य चक्षुरिंद्रियस्य स्वेनार्थेन मिथ्यायोगः। एवमनया दिशा सूक्ष्मभासुरभरवम्। अत्यासन्नातिदूरस्थं विप्रियं विकृतादि च। यदक्ष्णा वीक्ष्यते रूपं मिथ्यायोगः स दारुणः। तिमिरादिहेतुत्वात्। एवमनया चक्षुषो रीत्याऽन्यानपींद्रियार्थान् यथास्वमिंद्रियाणामत्युच्चपूत्यादीन् मिथ्यायोगरूपान्विद्यात्। यदाऽत्युच्चपरुषेष्टविनाशभीषणाद्य-

निष्टशब्दः श्रोत्रेंद्रियेण गृह्यते तदा श्रोत्रेंद्रियस्य स्वेनार्थेन शब्दाख्येन मिथ्यायोगः। यदा पूतिविष्ठाद्यनिष्टो गंधो घ्राणेंद्रियेण गृह्यते तदा घ्राणेंद्रियस्य स्वेनार्थेन गंधाख्येन मिथ्यायोगः। यदा स्नानानुलेपनादीनां शीतोष्णादीनां च स्पृश्यानामक्रमसेवनेन स्पर्शः स्पर्शनेंद्रियेण गृह्यतेतदा स्पर्शनेंद्रियस्य स्वेनार्थेन स्पर्शाख्येन मिथ्यायोगः। तथा रसनेंद्रियेण यो रसोऽपरिपाट्या युज्यते। तथाऽपथ्यद्रव्यनिविष्टो यो रसो रसनेंद्रियेण गृह्यते स तस्य रसनेंद्रियस्य स्वेन रसाख्येनाऽर्थेन मिथ्यायोगः ॥ ३६-३७ ॥

हीन, मिथ्या आदि योगों के लक्षण—

वि०—हीनयोग—इन्द्रिय का अपने विषय के साथ अल्प संयोग या सर्वथा संयोग न होना हीनयोग है। इन्द्रिय का अपने भासुर विषय के साथ अतिशय संयोग अतियोग सूषम,(अतिदीप्त), भैरव (भयंकर); अतिसमीप के, बहुत दूर है। के अप्रिय और विकृत आदि रूपों को आँख से देखना कष्टकर मिथ्यायोग है। आँख की भाँति दूसरी इन्द्रियों के भी विषयों का मिथ्यायोग जानना चाहिये। यथा—कान से अति उच्च शब्द सुनना कान का, नाक से दुर्गन्ध को सूँघना नाक का मिथ्यायोग है ॥ ३६-३७ ॥

—कालस्तु शीतोष्णवर्षाभेदात्त्रिधा मतः ॥३७॥
स हीनो हीनशीतादिरतियोगोऽतिलक्षणः।
मिथ्यायोगस्तु निर्दिष्टो विपरीतस्वलक्षणः ॥३८॥

स०—कालः पुनः शीतोष्णवर्षभेदेन त्रिधा त्रिप्रकारो मतो मुनीनाम्। तत्र हेमंतशिशिरलक्षणः शीतः। उष्णो वसंतग्रीष्मलक्षणः। प्रावृड्लक्षणो वर्षाख्यः स च कालो हीनशीतादिर्हीनयोगलक्षणः। अतियोगोऽतिमात्रयोगलक्षणः। विपरीतं स्वं शीतोष्णवर्षाख्यं लक्षणं यस्य कालस्य स विपरीत स्वलक्षणो मिथ्यायोगः। गुणगुणिनोरभेदोपचारात् काल एवमुच्यते। तत्र यथा हेमंते शीतस्याल्पत्वं हीनो योगस्तस्मिन्नेव हेमंतेऽतिशैत्यमतियोगस्तस्मिन्नेव हेमंत औष्ण्यं मिथ्यायोगः। उपलक्षणं चेदम्। एवं शरद्वसंतयोरपि यन्मंदवर्षोष्णत्वं स्वलक्षणं तद्यदा हीनतरं स्यात् सोऽपि हीनयोगः एवमतियोगायोगयोरपि योज्यम् ॥ ३८-३९ ॥

काल का त्रैविध्य तथा हीनादि योग—

वि०—काल—शीत, उष्ण और वर्षा के भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें अपने लक्षणों से हीन होना हीनयोग है, और अपने लक्षणों से अधिक होना अतियोग है। काल का अपने कहे हुए लक्षणों से विपरीत होना मिथ्यायोग होता है ॥

कायवाक्चित्तभेदेन कर्मापि विभजेत्त्रिधा।
कायादिकर्मणां हीना प्रवृत्तिर्हीनसंज्ञिका ॥४०॥
अतियोगो निवृत्तिस्तु, वेगोदीरणधारणम्।
विषमाङ्गक्रियारम्भपतनस्खलनादिकम् ॥४१॥
भाषणं सामिभुक्तस्य रागद्वेषभयादि च।
कर्म प्राणातिपातादि दशधा यच्च निन्दितम् ॥४२॥
मिथ्यायोगः समस्तोऽसाविह वाऽमुत्र वा कृतम।

स०—यथा कालस्त्रिधा निरूपितस्तथा कर्मापि कायवाक्चित्तभेदेन त्रिप्रकारं विभजेत्। तथा कायकर्मणस्तथा वाक्कर्मणस्तथा चित्तकर्मणो हीना या प्रवृत्तिः स हीनसंज्ञको योगः। अतिप्रवृत्तिस्त्वतियोगः। कायादिकर्मणो मिथ्यायोगमधिकृत्याह। वेगोदीरणधारणमित्यारभ्य यावत्पतनस्खलनादिकं यदेतत् कायिकं कर्म तस्य कर्मण एवंरूपस्य या वृत्तिः स कायकर्मणो मिथ्यायोगः। विषमांगैः क्रिया कर्म विषमारंभ उभयलोकविरुद्धः। विषमपतनं विषमस्खलनम्। आदिशब्देन विषमगमनादीनां ग्रहणम्। सामिभुक्तस्याऽर्धभुक्तस्य यद्भाषणं जल्पनमेवंरूपा या प्रवृत्तिः स वाक्कर्मणो मिथ्यायोगः। रागद्वेषभयादि यदेतन्मानसं कर्म तस्य कर्मण एवंरूपा या प्रवृत्तिः स चित्तकर्मणो मिथ्यायोगः। तथा दिनचर्याध्यायोक्तं यत्प्राणातिपातादि दशधा दशप्रकारं कर्म निंदितमशुभं निर्दिष्टं हिंसास्तेयेत्यादिना ग्रंथेन तच्च यथायथं कायवाक्चित्तकर्मणां मिथ्यायोगः। समस्तोऽसाविह चामुत्र कृतमस्मिन् लोके कृतमन्यत्र वा लोके कृतमाचरितं सर्व एव मिथ्यायोगः ॥ ४०-४२ ॥

कर्म का त्रैविध्य तथा हीनादि योग—

वि०—कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से कर्म तीन प्रकार का होता है। इनमें कायिक आदि कर्मों की हीन प्रवृत्ति-हीनयोग और इनकी अतिप्रवृत्ति अतियोग है। उपस्थित वेगों को रोकना; विषमरूप में स्थित अङ्गों से क्रिया का आरम्भ करना; गिरना; फिसलना आदि, भोजन के बीच में बोलना, राग, भय, द्वेष आदि कर्म तथा दिनचर्या में कहे-प्राणातिपातादि दस निन्दित कर्म-ये सब मिथ्यायोग हैं, तथा इस जन्म में या पूर्वजन्म में किया जो निन्दित कर्म है, वह सब मिथ्यायोग है[१] ॥ ४०-४२ ॥

निदानमेतद्दोषाणां कुपितास्तेन नैकधा ॥ ४३ ॥
कुर्वन्ति विविधान् व्याधीन् शाखाकोष्ठास्थिसन्धिषु।

स०—निदानमेतद्दोषाणां कोपे इति वाक्यशेषः। कुपितास्तेन निदानेन नैकधा अनेकप्रकारेण व्याधीन् विविधान् नानाप्रकारान् कुर्वंति। कुपिता दोषा इति विभक्ति-

---

[१] चरक ने भी संक्षेपतः सभी रोगों के कारण यही तीन बताए हैं किन्तु दुष्कृत कर्म के स्थान पर 'प्रज्ञापराध' (बुद्धिदोष) कहा है। वस्तुतः बुद्धिदोष से ही मनुष्य अशुभ कर्म करता है अतः 'प्रज्ञापराध' कारण को ही मानना युक्तिसंगत है और दुष्कर्म का उसी के भीतर समावेश हो जाता है। पूर्वोक्त अर्थ, काल और कर्म का मिथ्या, हीन और अतियोग रोग का और सम (उचित) योग स्वास्थ्य का कारण होता है। इस प्रकार (३ × ३ = ९) नौ प्रकार के रोगों के कारण होते हैं। पुनः इनके सूक्ष्म भेद करने पर वे अगणित हो जाते हैं।

विपरिणामेन संबंधः। क व्याधीन् कुर्वंतीत्याह। शाखाश्च कोष्ठश्चाऽस्थीनि च संधयश्च तेषु ॥ ४३ ॥

दोषों के निदान—

वि०—दोषों का यह निदान (कारण) है। इस कारण से कुपित हुए दोष शाखा, कोष्ठ एवं अस्थि की सन्धियों में स्थित होकर अनेक-नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ ४३ ॥

शाखेति किमुच्यत इत्याह—

शाखा रक्तादयस्त्वक् च बाह्यरोगायनं हि तत् ॥४४॥
तदाश्रया मषव्यङ्गगण्डालज्यर्बुदादयः।
बहिर्भागाश्च दुर्नामगुल्मशोफादयो गदाः ॥४५॥

स०—शाखा रक्तादयः षड्धातवस्त्वक् चैतद्बाह्यं रोगायनं बाह्यानां रोगाणामयनं स्थानम्। हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्माद्बाह्यानां रोगाणामयनमतस्तदाश्रया मषव्यंगादयो रोगा बहिर्भागा उच्यंते। आदिशब्देन विसर्पविद्रधिप्लीहकुष्ठादयो गृह्यंते। दुर्नामेत्यादि। बहिर्भागाश्चेत्यत्र चशब्दो भिन्नक्रमः शोफादय इत्यस्मादनंतरं द्रष्टव्यः। दुर्नामगुल्मशोफादयश्च बहिर्भागा इत्यर्थः ॥ ४४-४५ ॥

बाह्य मार्ग के रोग—

वि०—बाह्य मार्ग—शाखा शब्द से रक्तादि धातु और त्वचा लेनी चाहिये, ये रोग के बाह्य मार्ग हैं। इनमें होनेवाले रोग मषक, व्यङ्ग, गण्ड, अलजी, अर्बुद आदि हैं तथा बहिर्भाग में होने-वाले अर्श, गुल्म और शोफ आदि रोग भी बहिर्मार्गज कहलाते हैं। [ये अन्तर्मार्ग में भी होते हैं।] ॥ ४४-४५ ॥

अन्तःकोष्ठो महास्रोत आमपक्वाशयाश्रयः।
तत्स्थानाश्छर्द्यतीसारकासश्वासोदरज्वराः ॥४६॥
अन्तर्भागं च शोफार्शोगुल्मवीसर्पविद्रधिः।

स०—कोष्ठः कथ्यते अंतः स महास्रोत आमपक्वाशयाश्रयः। तत्स्थाना अंतर्भागाश्रयाश्छर्द्यादयो रोगाः। न केवलास्त एव छर्द्यादयोऽतर्भागाश्रया यावच्छोफार्शोगुल्मवीसर्पविद्रध्यप्यंतर्भागं च शोफादीनां विद्रध्यंतानां समाहारद्वंद्वनिर्देशः ॥ ४६ ॥

कोष्ठमार्ग के रोग

वि०—कोष्ठ को अन्तर्मार्ग कहते हैं; इसी को महास्रोत कहते हैं, यह आमाशय और पक्वाशय में आश्रित है। इस अन्तर्मार्ग में होने वाले रोग-वमन, अतीसार, कास, श्वास, उदर और ज्वर आदि हैं और अन्तर्भाग में होने वाले शोफ, अर्श, गुल्म, विसर्प विद्रधि आदि भी अन्तर्मार्गज कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

इदानीं मध्यमं रोगमार्गं वक्ति—

सिरोहृदयबस्त्यादिमर्माण्यस्थ्नां च सन्धयः ॥४७॥
तन्निबद्धाः सिरास्नायुकण्डराद्याश्च मध्यमः।
रोगमार्गः स्थितास्तत्र यक्ष्मपक्षवधार्दिताः ॥४८॥
मूर्धादिरोगाः सन्ध्यस्थित्रिकशूलग्रहादयः।

स०—शिरोहृदयादीनि मध्यमो रोगमार्गः। अस्थ्नां च संधय इत्येवं निर्देशेनेदं बोधयति। नाऽत्र द्वयं विवक्षितमस्थीनि च संधयश्चेति किं तर्ह्यस्थ्नां संबंधिनः संधय इति। संधयो ह्यन्येऽपि संति। तथा च वक्ष्यति मांसास्थिस्नायुधमनीसिरासंधिसमागम इति। तन्निबद्धास्तेष्वस्थिषु निबद्धाः संलग्ना इत्यर्थः। सिराः स्नायवः कंडराश्चादयो येषां धमनीकूर्चादीनां ते। च शब्दात्पूर्वोक्ताश्च। तत्र मध्यमे रोगमार्गे यक्ष्मादयो गदास्त्रिकशूलग्रहाद्यंताः। मूर्धादीत्यत्राऽदिशब्देन हृदयबस्त्यादिपरिग्रहः। संध्यस्थित्रिके शूलानि सन्ध्यस्थित्रिके ग्रहा इति योऽयम्। आदिशब्देन पक्षग्रहादयो वातविकारा गृह्यंते। यक्ष्मणोऽत्र मर्मास्थिसन्ध्यधिष्ठानत्वात्पूर्वं निर्देशः। वक्ष्यतिहि। तैरुदीर्णोऽनिलः पित्तं कफं चोदीर्य सर्वतः। शरीरसंधीनाविश्य तान् शिराश्च प्रपीडयन्नित्यादि ॥ ४७-४८ ॥

मध्यम रोग-मार्ग—

वि०—मध्यम रोगामर्ग—शिर, हृदय, बस्ति आदि मर्म और अस्थियों की सन्धियाँ यथा इनसे सम्बन्धित सिरा, स्नायु, कण्डरा आदि मध्यम रोगमार्ग हैं। इनमें होने वाले रोग-यक्ष्मा, पक्षवध, अर्दित, शिर आदि के रोग, सन्धि, अस्थि और त्रिक इनका शूल तथा स्तब्धता आदि होते हैं ॥ ४७-४७ ॥

इदानीं वायोः कर्माण्याह—

स्रंसव्यासव्यधस्वापसादरुक्तोदभेदनम् ॥४९॥
सङ्गाङ्गभङ्गसङ्कोचवर्तहर्षणतर्पणम् ।
कम्पपारुष्यसौषिर्यशोषस्पन्दनवेष्टनम् ॥५०॥
स्तम्भः कषायरसता वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा।
कर्माणि वायोः—

स०—स्रंसो हन्वादिसंधेर्भ्रंशः। व्यसनं व्यासो विक्षेपण मंगप्रत्यंगादेर्यथाऽऽक्षेपकादिषु। व्यधस्ताडनमिव मुद्गरादिना। स्वापः सुप्तिः कर्मण्यचैतन्यम्। सदनं सादोऽगानां क्रियास्वसामर्थ्यम्। रुक् सततं शूलम्। तोदो विच्छिन्नं शूलम्। भेदनं भेदो विदारणमिवांगस्य। संगो मूत्रपुरीषादेः स्वाशयेभ्योऽनिःसारो वाक्संगादिश्च अंगानां जंघोरुप्रभृतीनां भंग इव भंगश्चूर्णनमिवांगभंगः। संकोचनं संकोचः शिरादीनाम्। वर्तनं वर्तः पुरीषादीनां पिंडीकरणम्। हर्षण रोम्णामूर्ध्वीभावः तर्षणं तर्षस्तृट्। तथा कंपोऽतिवेपनम्। पारुष्यम्। परुषत्वम् सौषिर्यमस्थ्नाम्। शोषः शोषणम्। स्पंदनं हि किंचिच्चलनम्। वेष्टनं ग्रथनमिवांगस्य। स्तंभो बाहुजंघादीनामाकुंचनाद्यभावः। कषायरसता कषायास्वादत्वम्। वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा। श्यावारुणौ वर्णावित्यर्थः। एतानि वायोः कर्माणि ॥ ४९-५० ॥

वायु के कर्म—

वि०—वायु के कार्य—स्रंस (सन्धि आदि का खिसकना);

व्यास (फैलना-खुलना); व्यध (चुभने जैसी पीड़ा); स्वाप (संज्ञानाश), साद (शिथिलता), पीड़ा, सुई चुभने की पीड़ा, फटने की पीड़ा; अङ्ग का जुड़ जाना, और टूटना, अङ्ग का सिकुड़ जाना; उलटना या मुड़ जाना; रोमांच, तर्षण (प्यास); कम्पन, कर्कशता, खोखलापन, सूखना, स्पन्दन, (फड़कन), ऐठन; जकड़ाहट, मुख में कसैलापन; श्याव या अरुण वर्ण का होना-ये वायु के कार्य हैं ॥ ४९-५० ॥

अथ पित्तस्याह—

--पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः ॥५१॥
स्वेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः ।
कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः ॥५२॥

स०—दाहादीनि पित्तस्य कर्माणि। सर्वांगीणस्तापो दाहः । रागो लौहित्यम् । ऊष्मा औष्ण्यम् । पाकिता पाककर्तृत्वमजीर्णेष्वन्ने च। स्वेदनं स्वेदः। क्लेदः शोणितादिषु विकारः। स्रुतिः स्रावः। कोथः क्लेदस्यातिशयेऽविच्छिन्नत्वम्। सदनं सादः। मूर्च्छनं भ्रमः। मदो वक्ष्यमाणो रोगविशेषः। रसास्वादौ कटुकाम्लौ। वर्णः पांडुरारुणाभ्यामन्यः। शुक्ल-लोहितवर्णनिषेधेन तच्छेषनानावर्णसंभवः सूच्यते ॥ ५१-५२ ॥

पित्त के कर्म—

वि०—पित्त के कार्य—जलन, रक्तिमा, उष्णता, पकना, पसीना, क्लिन्नता, स्राव का होना, सड़ना; शिथिलता, मूर्च्छा, मद, कटु और अम्ल रस; पाण्डुर या अरुण वर्ण को छोड़कर शेष रंग का (पीला-नीला-लाल-हरा) होना ये पित्त के कार्य हैं।

श्लेष्मकर्माण्याह—

श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगौरवम् ।
बन्धोपलेपस्तैमित्यशोफापक्त्यतिनिद्रताः ॥५३॥
वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता ।

स०—कफस्य स्नेहादीनि कर्माणि । स्नेहः स्नैग्ध्यम्। काठिन्यममृदुत्वम् कंडूः खर्जूः। शीतत्वं शीतसद्भावः। गौरवं गुरुत्वम्। बंधः स्रोतसाम्। अस्थ्यादीनामुपलेपः। स्तैमित्यं गात्राणामपटुत्वम्। काये वर्णः शुक्लः। रसौ च मधुरपटू। चिरकारिता कार्यादौ विश्रब्धत्वम्। ननु वायोरमूर्तत्वाद्वर्ण रसोपलब्धिरनुपपन्ना। अमूर्तस्य हि वर्णरसौ दूरोत्सारितौ। नैतदस्ति। न हि सर्वाणि कार्याणि कारणसदृशान्येव भवंति। यथा चेंद्रियेभ्यो जडेभ्यो बुद्धेरजडाया उत्पत्तिर्दृष्टा। तस्मात्-कारणसदृशानि कार्याणीति प्रायिकमेतत् । अचिंत्यत्वाच्च द्रव्यप्रभावस्य वायोः सकाशात् कषायरसता श्यावारुणवर्णोत्पत्तिश्चाऽन्वयव्यतिरेकसिद्धा कथमिव निवार्यताम् । इत्येवं दोषाणां कर्माण्युपदिष्टानि। तद्विकाराश्च संग्रह उक्ताः। तथा च तद्ग्रंथः। अशीतिर्वातजा रोगाश्चत्वारिंशच्च पित्तजाः। विंशतिः श्लेष्मजाश्चैव स्थूला नानात्वजा मताः। नखभेदः पादशूलं सुप्ति भ्रंशो विपादिका। खुडो गुल्फग्रहो जानविश्लेषोजानुकुंचनम्। पिंडिकोद्वेष्टनं सादश्चोर्वोः स्तंभश्च गृध्रसी। पांगुल्यं भ्रंशशूलं च गुदे स्तंभस्तु मेहने। मुष्काक्षेपः श्रोणिभेदो वंक्षणानाह एव च। उदावर्तोऽथ विड्भेदः पार्श्वपृष्ठत्रिकग्रहः। खंजवामन-कुब्जत्वं हृद्द्रवोदरवेष्टकौ। हृन्मोहोवक्षनिस्तोदः शोषोद्घातौ तथोरसः। बाहुशोषो हनुग्रीवामन्यास्तम्भौष्ठभेदनम्। दंतभेदोऽथ शैथिल्यं कंठध्वंसोऽथ वा ग्रहः। कषायास्यत्वमूकत्वे मुखशोषो रसाज्ञता। घ्राणानाहोऽज्ञता गंधे शब्दोच्चैःश्रवणं तथा। बाधिर्यं कर्णशूलं च वर्त्मस्तंभनकुंचनम्। तिमिरं चाऽक्षिशूलं च भ्रूव्युदासोऽथ नेत्रयोः। ललाटशंखभेदौ च केशभ्रूस्फुटनं तथा। शिरोरुजाऽर्दितं जृंभा प्रलापो वेपथुर्भ्रमः। एकांगव्याधिरायामः पक्षाघातोऽपतंत्रकः। दंडकः स्वप्ननाशश्च ग्लानिः पारुष्यरूक्षता। विषादश्चाऽनवस्थानमरुणश्यामवर्णता। इत्यशीतिः समाख्याता रोगा वातसमुद्भवाः। अंतर्दाहो विदाहश्च प्लोषोऽथ दवथुर्दवः। अत्यूष्मा चांसदाहश्च स्वेदोऽत्यम्लकधूमकौ। रक्तक्लेदोऽगगंधश्च गात्रावयवशातनम्। त्वङ्मांसदरणं मांसक्लेदश्चर्मदलं तथा। रक्तविस्फोटकः कोठः पित्तासृग्रक्तमंडले। नीलिका कामला कक्षा गात्रे हरितपीतता। पूतितिक्तास्यता तृष्णा लोहगंधास्यता तथा। जीवादानमतृप्तिश्च प्रवेशस्तमसस्तथा। गलास्यगुदमेढ्राक्षिपाको हारिद्रपीतता। नखाक्षिमूत्रशकृतां चत्वारिंशत्तु पित्तजाः। स्तैमित्यं गौरवं तृप्तिरालस्यमतिनिद्रता। तन्द्रास्यस्राबमाधुर्ये प्रलेपो हृदयस्य च। सादः कंठप्रलेपश्च श्लेष्मोद्गिरणमेव च। मलाधिक्यमति-स्थौल्यं वमनं प्रतिसंचयम्। उदर्दो गलगंडश्च शैत्यं श्वेतावभासता। विण्मूत्रनखनेत्राणां शुक्लता च कफामयाः। यथास्थूलं विकाराणां प्रसंख्यानमिदं स्मृतमिति। हृदादौ शूलवद्दाहो योऽन्तर्दाहः स कीर्तितः। पाणिपादांसमूलेषु संतापो विविधस्तु यः। अग्न्यर्चिषेव निःस्वेदो विदाहः स निगद्यते। ओषः सर्वांगिकस्तीव्रो दाहः स्वेदारतिप्रदः। दवथुश्चक्षुरादिभ्य-स्तीव्र ऊष्मा प्रवर्तते। मुखौष्ठतालुषु दवश्चाम्लोद्गिरणमम्लकः। धूमायनं शिरोघ्राणकंठतालुषु धूमकः। प्रमीलकस्तु स्तैमित्यं गुरुतांऽगस्य गौरवम्। आहारानभिलाषस्तु तृप्तिः स्याद्विषयाऽग्रहः। निद्रार्तस्येव तंद्रा स्याच्छेषाः प्रथितनामकाः। दोषाणां कर्माण्युपदिश्य निर्देशप्रयोजनमधिकृत्याह ॥ ५३ ॥

कफ के कर्म—

वि०—कफ के कार्य—स्निग्धता, कठिनता, कण्डू, शीतलता, भारीपन, बाँधना, उपलेप (लिसड़ना-लेपना), स्तैमित्य (अद्रिता के समान अनुभव); शोफ, पाक न होना; नींद का अधिक आना; श्वेत वर्ण, मधुर एवं लवण रस तथा देर में काम करना ये कफ के कार्य हैं ॥ ५३ ॥

वक्तव्य—कफ मधुर है; विदग्ध होने पर लवण होता है; पित्त तिक्त है; विदग्ध होने पर कटु बनता है।

इत्यशेषामयव्यापि यदुक्तं दोषलक्षणम् ॥५४॥
दर्शनाद्यैरवहितस्तत्सम्यगुपलक्षयेत् ।
व्याध्यवस्थाविभागज्ञः पश्यन्नार्त्तान् प्रतिक्षणम् ॥५५॥

स०—इति प्रकारे। दोषाणां लक्षणं दोषलक्षणं यथायथं लिंगम्। इति पूर्वोक्तेन प्रकारेण यद्दोषलक्षणमुक्तं तद्दर्शनाद्यैः सम्यगुपलक्षयेत् जानीयात्। वैद्य इति शेषः। दर्शनाद्यैरित्यादिशब्देन स्पर्शनप्रश्नौ गृह्येते। किंभूतं दोषलक्षणम्। अशेषाश्च त आमयाश्चाशेषामया तान् सर्वानामयान् व्याप्नोति तदशेषामयव्यापि। किंभूतो वैद्यः। अवहितो दत्तावधानः। तथा व्याध्यवस्थाविभागज्ञः। व्याधेरवस्थाः कालकृता दशास्तासां विभागः पृथक्त्वं यथैवमन्यस्य व्याधेरवस्थेयमन्यावस्थेत्यवस्थाभेदाच्चोपक्रमभेदः। तथा ह्येकस्यैव ज्वरस्य नवस्याऽन्य उपक्रमो जीर्णस्याऽन्यस्तदेवं विभागं यो जानाति स व्याध्यवस्थाविभागज्ञः। तथाऽऽर्तान् व्याधितान् प्रतिक्षणं मुहूर्ते मुहूर्ते पश्यन्नालोकयन् ॥ ५४-५५ ॥

रोगी का बार बार निरीक्षण—

वि०—इस प्रकार सम्पूर्ण रोगों में लागू होने वाले दोषों के जो लक्षण कहे हैं, उनको दर्शन आदि (स्पर्शन, प्रश्न) से सावधानी के साथ रोग की अवस्था के विभाग को जानने वाला वैद्य प्रतिक्षण रोगियों को देखता हुआ जाने ॥५४-५५॥

किमिति पुनः पुनर्व्याधितदर्शनं क्रियत इत्याह—

अभ्यासात्प्राप्यते दृष्टिः कर्मसिद्धिप्रकाशिनी।
रत्नादिसदसज्ज्ञानं न शास्त्रादेव जायते ॥ ५६ ॥

स०—अभ्यासान्मुहुर्मुहुश्चिकित्सितकर्मणि प्रवर्तनाद्दृष्टिर्दर्शनं चिकित्साविज्ञानं जायते न केवलाच्चिकित्साशास्त्रावगमात्। किंभूता दृष्टिः। कर्मणि सिद्धिस्तां प्रकाशयितुं शीलं यस्याः सा कर्मसिद्धिप्रकाशिनी। अत्र दृष्टांतमाह। रत्नादीत्यादि। आदिशब्देन सुवर्णहिरण्यादीनां ग्रहणम्। तेषां यत्सदसज्ज्ञानमिदं शोभनमिदं न शोभनमित्यवगमस्तन्न शास्त्रादेव जायते किंतर्ह्यभ्यासाच्च। एवकारोऽवधारणार्थः। न शास्त्रावबोधान्न च केवलादभ्यासादित्येवकारेण बोधयति। किल यथा रत्नपरीक्षा तच्छास्त्रावबोधदर्शनाभ्यां सम्यग्जायते तथैव चिकित्साशास्त्रावबोधान्नित्यं नित्यमातुरदर्शनाच्चाऽवगम्यत इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

रोगी के बार बार निरीक्षण का कारण—

वि०—कार्य में सफलता को दिखाने वाली दृष्टि अभ्यास से ही प्राप्त होती है। अच्छे-बुरे रत्नों की पहचान का ज्ञान शास्त्र पढ़ने से ही नहीं होता, अपितु अभ्यास से होता है॥५६॥

दृष्टापचारजः कश्चित्कश्चित्पूर्वापराधजः।
तत्सङ्कराद्भवत्यन्यो व्याधिरेवं त्रिधा स्मृतः ॥ ५७ ॥

स०—दृष्टश्चासावपचारश्च तस्माज्जातो दृष्टापचारजः। अपचारो व्याधिहेतुः। ऐहिकलौकिकाद्व्याधिकारणाज्जातो दृष्टापचारजः। कश्चिदात्मकृतात्पूर्वापराधादशुभकर्माख्याज्जातः पूर्वापराधजः। अपरः कश्चित्तत्संकराद्भवति। तयोः संकरस्तत्संकरो मिश्रत्वं तस्मात्। न केवलात्पूर्वापराधान्न च केवलाद्दृष्टापराधादपि तु द्वयोः संसर्गाज्जात इत्यर्थः। एवमनेन प्रकारेण व्याधिस्त्रिधा त्रिप्रकारः स्मृतः ॥ ५७ ॥

व्याधि के तीन भेद और उत्पत्ति के कारण—

वि०—रोग तीन प्रकार के होते हैं—१-जिसमें रोग का कारण दीखता हो (दृष्टकर्मज), २-पहिले किये अपराधजन्य रोग (अशुभ कर्म-जन्य या अदृष्टकर्मज); ३-इन दोनों के मिश्रित होने से उत्पन्न (दृष्टादृष्टकर्मज) इस प्रकार से रोग तीन प्रकार के हैं ॥ ५७ ॥

अथ त्रिप्रकारव्याधिलक्षणार्थमाह—

यथानिदानं दोषोत्थः कर्मजो हेतुभिर्विना।
महारम्भोऽल्पके हेतावातङ्को दोषकर्मजः ॥ ५८ ॥

स०—यथानिदानं दोषोत्थ इति। यद्यस्य दोषस्य वातादेर्लघुरूक्षादि निदानं तेन कुपिता दोषास्तेभ्य उत्थितो व्याधिः स दोषोत्थो ज्ञेयः। यो दृष्टापचारज इत्युक्त इत्यर्थः। हेतुभिर्वातादिनिदानैर्लघुरूक्षादिभिर्विना यो भवति कर्मजः। यस्त्वल्पे निदाने सेविते महारंभः स्यात् स कर्मदोषजो रोगो ज्ञेयः महानारंभो यस्य सः। पूर्वरूपरूपैर्बलवद्भिर्युक्त इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

इन व्याधियों के लक्षण—

वि०—इनके लक्षण—दोषजन्य (दृष्टकर्मज) रोग-निदान के अनुसार दोषों के लक्षण वाले होते हैं। कर्मजन्य रोग-कारण बिना ही उत्पन्न होते हैं। दोषकर्मज रोग-थोड़े से कारण में ही बहुत बड़े रोग का रूप ले लेते हैं ॥ ५८ ॥

अथ त्रिविधस्याऽपि व्याधेश्चिकित्सामाह—

विपक्षशीलनात्पूर्वः कर्मजः कर्मसङ्क्षयात्।
गच्छत्युभयजन्मा तु दोषकर्मक्षयात्क्षयम् ॥ ५९ ॥

स०—विपक्षशीलनात्पूर्व इति। पूर्वः पूर्वमुक्तो यः केवलं दोषजो व्याधिः स विपक्षशीलनात् यथोक्तविपक्षादिसेवनात्क्षयं याति। कर्मजो रोगः कर्मसंक्षयात्क्षयं याति। उभयजन्मा दोषकर्मोत्थो दोषकर्मणोरुभयोरपि क्षयात्क्षयं याति ॥ ५९ ॥

त्रिविध व्याधि की चिकित्सा—

वि०—चिकित्सा—दोषजन्य रोग-विरोधी वस्तु के सेवन से शान्त हो जाता है। कर्मजन्य रोग-कर्म के क्षय से शान्त होता है। दोष और कर्मजन्य रोग-दोष और कर्म दोनों के क्षय होने से शान्त होता है ॥ ५९ ॥

व्याधीनां त्रैविध्यमाख्याय द्वैविध्यं दर्शयितुमाह—

द्विधा स्वपरतन्त्रत्वाद्व्याधयोऽन्त्याः पुनर्द्विधा।
पूर्वजाः पूर्वरूपाख्या, जाताः पश्चादुपद्रवाः ॥६०॥

स०—स्वतंत्रश्च परतंत्रश्च स्वतंत्रपरतंत्रौ तयोर्भावः स्वतंत्रपरतंत्रत्वं तस्माद्धेतोर्द्विधा व्याधयः। एके स्वतंत्रा अन्ये परतंत्रा इत्यर्थः। अंते भवा अंत्याः परतंत्रास्ते पुनर्भूयो द्विधा। तदेव दर्शयितुमाह—पूर्वं जाताः पूर्वजाः। अन्येष्वपि दृश्यत इति डः। पूर्वजाः पूर्वं रूपसंज्ञा रोगाः। ये च पश्चाज्जाता गदास्ते व्याधीनामुपद्रवा इत्थं ते द्विविधाः ॥ ६० ॥

प्रकारान्तर से व्याधि के दो भेद—

वि०—रोग—स्वतन्त्र और परतन्त्र भेद से दो प्रकार के

होते हैं। इनमें परतन्त्र रोग फिर दो प्रकार के होते हैं। रोग से पूर्व होने वाले रोग-पूर्वरूप कहलाते हैं, रोग से पीछे होने वाले उपद्रव कहलाते हैं ॥ ६० ॥

संप्रति स्वतंत्रं लक्षयति—

यथास्वजन्मोपशयाः स्वतन्त्राः स्पष्टलक्षणाः ।
विपरीतास्ततोऽन्ये तु विद्यादेवं मलानपि ॥ ६१ ॥

स०—जन्म चोपशयश्च जन्मोपशयौ। जन्मोत्पत्तिरुपशयः सुखानुबंधः। यो यः स्वं यथास्वम्। यस्य ज्वरादेर्यावात्मीयौ शास्त्रनिर्दिष्टौ तौ यथास्वशब्देन सूच्येते। यथास्वं जन्मोपशयौ येषां ते यथास्वजन्मोपशया व्याधयः स्वतंत्रा उच्यंते। चिकित्सागुरुलाघवप्रतिपत्त्यर्थं च स्वतंत्रादिसंज्ञाकरणम्। स्वग्रहणाद्येऽन्यजन्मनि जायंतेऽन्यस्य च व्याधेर्यत उपशयः सुखानुबंधस्तत एतत्परिवारस्याऽपि। ते तु न स्वतंत्राः। तथा चोक्तम्। पूर्वरूपरूपादिक्रमेण ज्वरादावुत्पन्ने तत्परिवारा ये श्वासादय उत्पद्यंते तदुपशये चोपशेरते न ते स्वतंत्राः। ज्वरादय एव मूलव्याधिरूपत्वात्स्वतंत्रा इत्युच्यंत इति। स्वतंत्रेभ्यो रोगेभ्यो येऽन्ये परतंत्राः पर्वरूपाख्यास्तथोपद्रवसंज्ञाश्च ते विपरीता विपरीतस्वरूपा न यथास्वजन्मोपशया न च स्पष्टलक्षणाः। एवं व्याधीनां स्वतन्त्रत्वं प्रतिपाद्य दोषाणां प्रतिपादयन्नाह—न केवलं रोगान् स्वतंत्रपरतंत्रभेदैर्विद्याद्वैद्यो यावन्मलान् दोषानपि वातादीनेवं-स्वतंत्रपरतंत्रभेदैर्जानीयात् ॥ ६१ ॥

स्वतन्त्र और परतन्त्र व्याधि का लक्षण—

वि०—जिन रोगों की उत्पत्ति और शान्ति-उनके अपने हेतु और उसके शास्त्रोक्त शमन के द्वारा होती है वे स्वतन्त्र रोग हैं इनमें उस रोग के लक्षण स्पष्ट रहते हैं। इससे विपरीत अर्थात् जिनमें-उत्पत्ति और शान्ति अपने हेतु के अनुसार न हो—तथा लक्षण स्पष्ट नहीं होते-वे परतन्त्र रोग हैं। इस प्रकार-रोग की भाँति-वातादि दोषों को भी स्वतन्त्र या परतन्त्र जानना चाहिये ॥ ६१ ॥

तांल्लक्षयेदवहितो विकुर्वाणान् प्रतिज्वरम् ।

स०—तान् वातपित्तकफान् यथास्वजन्मोपशयलक्षणावच्छिन्नस्वरूपान् प्रतिज्वरं प्रतिविकारं विकुर्वाणान् विकृतिं कोपं गच्छतो जानीयात् वैद्य इति शेषः। कीदृक्। अवहितो दत्तचित्तः।

प्रत्येक विकार में वैद्य का कर्तव्य—

वि०—प्रत्येक रोग में विकार उत्पन्न करने वाले इन वात, पित्त एवं कफ को वैद्य सावधानी ले (स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की दृष्टि से) पहिचाने।

एवं स्वतंत्राणां व्याधीनां यथास्वोपशय एव भेषजमुक्तम्। परतंत्राणां व्याधीनां कः प्रशमोपाय इत्याह—

तेषां प्रधानप्रशमे प्रशमोऽशाम्यतस्तथा ॥ ६२ ॥
पश्चाच्चिकित्सेत्तूर्णं वा बलवन्तमुपद्रवम् ।
व्याधिक्लिष्टशरीरस्य पीडाकरतरो हि सः ॥ ६३ ॥

स०—तेषां परतंत्राणां रोगाणामप्रधानानां प्रधानप्रशमे-स्वतंत्रव्याधिप्रशमे शमो भवति। न तु तेषां पृथगुपक्रमो विधेय इत्यर्थः। अशाम्यतस्तथा शममगच्छतः परतंत्रान् व्याधीन् दोषान् वा तथा तेन प्रकारेण प्रधानचिकित्सालक्षणेन पश्चात् प्रधानचिकित्सात उत्तरकालं चिकित्सेत्। अचिकित्स्यमानो ह्यसाध्यतां यायात्। तूर्णं वेति। उपद्रवश्चेद्बलवान् स्यात्तदा तमेवोपद्रवं तूर्णमेव चिकित्सेन्न पश्चात्। ननु कुतोऽप्रधानं शीघ्रं चिकित्सेदित्याह—हि यस्माद्व्याधिक्लिष्टशरीरस्य पुंसः सोऽतिशयेन पीडाकरः। प्रागुत्पन्नोऽपि रोगः पीडाकरः। उपद्रवश्च पश्चाज्जायमानो व्याधिक्लिष्टशरीरस्योत्पन्नत्वात्पीडाकरतरः। तदयमन्नार्थः। परतंत्रो व्याधिर्हीनबलः प्रधानोपक्रमेणैवोपशाम्यति। यस्तु परतंत्रः पश्चादुत्पद्यमानोऽपि स्वतंत्रव्याध्युपक्रमेण शमं न याति तं पश्चादुपक्रमेत्। यस्तु बलवान् परतंत्रस्तमादावेव चिकित्सेदतिपीडाकरत्वात् ॥ ६२-६३ ॥

परतन्त्र व्याधियों की शान्ति का उपाय—

वि०—इन परतन्त्र रोगों की स्वतन्त्र रोग के शान्त होने पर शान्ति हो जाती है; और यदि वे शान्त न हों तो पीछे से चिकित्सा करनी चाहिये। यदि उपद्रव बलवान् हो तो उसकी शीघ्रता से चिकित्सा करें। क्योंकि वह उपद्रव रोग से पीड़ित शरीर में अतिशय पीड़ा करने वाला होता है ॥ ६२-६३ ॥

ननु येषां विकाराणां नामग्राहं चिकित्सा नोक्ता तेषां नामाकुशलो वैद्यः किं चिकित्सेन्नेत्याशंक्याह—

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन ।
नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ॥६४॥

स०—विकारा रोगास्तेषां नामानि तेष्वकुशलो वैद्यो न जातुचिज्जिह्रीयात् रोगसंज्ञाऽनभिज्ञोऽहमिति लज्जां न कुर्यात्। चिकित्सामेव विदध्यादित्यर्थः। कुतो हेतोरित्याह। नहीत्यादि। यस्मात्सर्वविकाराणां नामतः संज्ञातो ध्रुवा निश्चिता स्थितिः स्थानं नास्ति ॥ ६४ ॥

अनाम रोग में वैद्य का कर्त्तव्य—

वि०—रोग का नाम न ज्ञात होने पर वैद्य कभी भी शर्म का अनुभव न करें; क्योंकि सब रोगों की संज्ञा से निश्चित स्थिति नहीं है। [चिकित्सा में मुख्य कारण बात आदि ही हैं, न कि रोगों के नाम कारण हैं] ॥ ६४ ॥

ननु कुतोऽशेषरोगाणां नामतो नास्ति स्थितिरित्याशंक्याह—

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।
स्थानान्तराणि च प्राप्य विकारान् कुरुते बहून् ॥६५॥
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च ।
बुद्ध्वा हेतुविशेषांश्च शीघ्रं कुर्यादुपक्रमम् ॥ ६६ ॥

स०—यस्मात्स एक एव दोषो वाताद्यन्यतमः समुत्थानविशेषतो हेतुभेदात् तथा स्थानांतराणि स्वस्थानं हित्वा पराणि स्थानानि प्राप्य गत्वा विकारान् बहूननंतान् कुरुते। तथा चोक्तं तंत्रांतरे। योंऽतःशरीरसंधीनाविशति तेन जृम्भा ज्वर-

श्चोपजायते। यस्त्वामाशयमभ्युपैति तेन रोगा भवंस्युरस्यरोचकश्च। यः कंठमभिप्रपद्यते कंठस्ततो भ्रंशते स्वरश्चाऽवसीदति। यः प्राणवहानि स्रोतांस्यन्वेति श्वासः प्रतिश्यायश्च तेनोपजायत इति। विकारस्य ज्वरादेः प्रकृतय उपादानकारणानि वातादिदोषास्ता विकारप्रकृती रोगहेतुविशेषान् बुद्ध्वा ज्ञात्वा तथाऽधिष्ठानांतराणि स्थानविशेषांश्च बुद्ध्वां तथा हेतुविशेषानधिष्ठाननिदानभेदांश्च बुद्ध्वा यथा किमयं कुपितः पवनो रूक्षेण हेतुना लघुना शीतेन चेत्यादि ज्ञात्वा शीघ्रमेवोपक्रमं चिकित्सां कुर्यान्न तु विकारानभिज्ञ इति न चिकित्सेत् ॥ ६५-६६ ॥

यथाविकार चिकित्सा—

वि०—वही दोष कारण की भिन्नता से कुपित होकर तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में पहुँच कर बहुत रोगों को उत्पन्न करता है। इसलिये रोग की प्रकृति (दोष-द्रव्य) अधिष्टान-भेद एवं कारणों (निदान) की विशेषताओं को जानकर (उनके अनुसार) शीघ्र चिकित्सा करे।

ननु बुद्ध्वाऽपि विकारप्रकृत्यादित्रयमुपक्रमं कुर्वतः कदाचित्सिद्धिमाप्नुवंतो दृश्यंते भिषजः कदाचिन्नेति तदत्र संशयस्खलिते कर्मणि कथं नियुज्यते वैद्य इति कथमुक्तं शीघ्रं कुर्यादुपक्रममित्याशंक्याह—

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्त्वं सात्म्यं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः ॥६७॥
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित् ॥६८॥

स०—दोषौषधनिरूपणे सति दूष्यादीन् दश समीक्ष्य सम्यग्विलोक्य यश्चिकित्सायां वर्तते यत्नं करोति स वैद्यो न कदाचित् स्खलति नाऽपराधी स्यात्। दोषो वातादिः। औषधं हरीतक्यादि। तयोर्निरूपणं पर्यालोचनं तस्मिन् दोषौषधनिरूपणे। दूष्यादीनां समस्तानामुपादानं सर्वेषामेवावगमे चिकित्साकरणं प्रति यत्नातिशयद्योतनार्थं न पुनरेषां द्वौ वा त्रीन् वा चतुरः पंच वा समीक्ष्य किंतर्हि सर्वानेतान् सम्यगवबुध्येति। अथ दूष्यादीनेव समीक्ष्य नेत्याह। अवस्थाश्च पृथग्विधाः। एषामेव दूष्यादीनामवस्थाः सूक्ष्मसूक्ष्मा अतिशयेन सूक्ष्मास्ताश्च यथावद् बुद्ध्वेति ॥ ६७-६८ ॥

रोग की दशविध परीक्षा—

वि०—दोष और औषध का निर्णय करने में जो मनुष्य दूष्य (धातु-मल), देश, बल, काल, अग्नि, प्रकृति, वय, सत्व, सात्म्य और आहार तथा रोग की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को अतिसूक्ष्म विवेचना करके चिकित्सा में प्रवृत्त होता है, वह कभी भी असफल नहीं होता ॥ ६७-६८ ॥

न च दूष्याद्येव परीक्ष्यं किंतर्हि व्याधिरपि गुरुलघुत्वेन परीक्ष्य एवेत्याह—

गुर्वल्पव्याधिसंस्थानं सत्त्वदेहबलाबलात्।
दृश्यतेऽप्यन्यथाकारं तस्मिन्नवहितो भवेत् ॥ ६९ ॥

स०—गुरुश्चाऽल्पश्च गुर्वल्पौ गुर्वल्पौ च तौ व्याधी च गुर्वल्पव्यधि तयोः संस्थानमाकृतिः। अपिशब्दो भिन्नक्रमे। तद्गुर्वल्पव्याधिसंस्थानमन्यथाकारमपि दृश्यते विपरीतमपि लक्ष्यते। अपिशब्दात्काचिद्गुर्वल्पव्याधिसंस्थानं यथातत्त्वं दृश्यते क्वचिन्नेति व्याधिलक्षणस्य गमकत्वाभावः प्रसज्येत। ततश्च रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिरिति दूष्येत्तस्मादपिशब्दोऽत्र गुर्वल्पसंस्थानस्य यथातत्त्वदर्शनं क्वचिद्भवत्येवेति सूचनार्थं कृतः। कुतो हेतोरित्याह। सत्त्वेत्यादि। सत्त्वं धैर्यम्। देहो महदल्पस्थूलकृशादिः। सत्त्वं च देहश्च सत्वदेहौ। बलं चावलं च बलाबले। तस्मात्सत्त्वदेहबलाबलाद्धेतोर्गुर्वल्पव्याधसंस्थानेऽवहितो भवेत्। अधिकसत्त्वे तथोत्कृष्टदेहबले च गुरुर्महानपि व्याधिरुत्पन्नोऽल्पसंस्थानो हीनबल इव लक्ष्यते। सत्वदेहबलयोरुत्कृष्टत्वात्। तथा हीनसत्वे हीनदेहवले चोत्पन्नो लघुरपि महानिव लक्ष्यते। हीनसत्वदेहबलात् तस्मादस्मिन्व्याधिसंस्थानेऽर्थे दत्तावधानेन भाव्यम् ॥ ६९ ॥

गुरु तथा लघु रोग की परीक्षा—

वि०—सत्व (मन) और शरीर के बल के कारण गुरु व्याधि भी साधारण रोग के लक्षणों वाली दीखती है और मन एवं शरीर की निर्बलता के कारण अल्पव्याधि भी बड़े रोग के लक्षणों वाली दीखती है, इसलिये इनके विवेचन में सावधान रहना चाहिये ॥ ६९ ॥

वक्तव्य—जिस प्रकार चिउँटी कृश-छोटी होने पर भी अपने से अधिक बोझ को उठा लेती है; इसी प्रकार मन और शरीरबल के कारण बड़े भारी रोग को भी मनुष्य सहन कर लेते हैं। यथा—'गुरुव्याधित एकः सत्वबलशरीरसंपदुपेतत्वाल्लघुव्याधित इव दृश्यते, लघुव्याधितोऽपरः सत्वादीनामल्पत्वाद् गुरुव्याधित इव दृश्यते। तयोरकुशलाः केवलं चक्षुषैव रूपं दृष्ट्वाऽध्यवस्यन्तोव्याधिगुरुलाघवे विप्रतिपद्यन्ते ॥' चरक।

गुरुं लघुमिति व्याधिं कल्पयंस्तु भिषग्ब्रुवः।
अल्पदोषाकलनया पथ्ये विप्रतिपद्यते ॥ ७० ॥

स०—भिषग्ब्रुव इत्यादि। यश्च भिषग्ब्रुवः कुत्सितो वैद्यः स व्याधिसंस्थानमात्रावलोकनाद् गुरुं व्याधिं लघुमिति कल्पयन्निश्चिन्वन्नल्पदोषाकलनया हीनमात्रदोषनिश्चयेन पथ्ये विप्रतिपद्यते। चिकित्सिते मोहं गच्छति। गुरुव्याधावल्पव्याधियोग्यं भेषजं ददाति। एवं लघुव्याधिं गुरुमिति कल्पयन् बहुदोषाकलनया पथ्ये विप्रतिपद्यते भिषग्ब्रुवत्वात्। अन्यत्रापि ब्रुवांतस्य कुत्सितत्वमेव प्रसिद्धम्। यथाह मनुः। जातिमात्रोपजीवी स्यात् कामं वा ब्राह्मणब्रुवः। धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचनेति। केचित् भिषग्ब्रुवमिति पेठुः। भिषग्वंद्यो गुरु लघुमिति व्याधिं कलयन् ध्रुवं निश्चितं पथ्ये विप्रतिपद्यत इति च व्याचक्षते ॥ ७० ॥

कुवैद्य की भूल—

वि०—वैद्य न होते हुए भी अपने को वैद्य कहने वाले

गुरु व्याधि को लघु व्याधि मानकर थोड़ा दोष निश्चय करके पथ्य (औषधादि) के विषय में विपरीत कर बैठते हैं ॥

यस्मादेवम्—

ततोऽल्पमल्पवीर्यं वा गुरुव्याधौ प्रयोजितम् ।
उदीरयेत्तरां रोगान् संशोधनमयोगतः ॥ ७१ ॥
शोधनं त्वतियोगेन विपरीतं विपर्यये ।
क्षिणुयान्न मलानेव केवलं वपुरस्यति ॥ ७२ ॥

स०—ततोऽल्पमल्पमात्रमल्पवीर्यं वाऽनुत्कृष्टशक्तिकं वा भेषजं गुरुव्याधौ प्रयोजितं दत्तं संशोधनं रोगानुदीरयेत्तरामतिशयेनोत्क्लेशयेत्। कुतः अयोगतो हीनयोगात्। अयोगो हि हीनयोग उच्यते। यथा पुत्रकार्याकरणादपुत्र इत्युच्यते। विपर्यये च लघुव्याधौ विपरीतं शोधनं तु प्रयोजितं कस्माद्विपरीतमल्पवीर्यात् संशोधनादतिमात्रमुत्कृष्टवीर्यं च बहुदोषाकलनयाऽतियोगेन प्रयोजितं न केवलं मलान् क्षिणुयात् क्षपयेद्यावद्वपुरस्यति शरीरमपि हिंस्यात्। अत्र च संशोधनं यद् दृष्टांतत्वेनोपन्यस्तं तदयोगातियोगाभ्यां रोगीशरीरक्षपणकृदिति निर्वर्तयतीति। खरनादेनाऽप्युक्तम्। अल्पमुत्क्लेशयेद्दोषं बहु प्राणान्निहंति च। तस्मान्निरूप्य भिषजा देयं युक्तं विरेचनमिति। तथा ज्वरगुल्मादीनां च तत्प्रतीकारार्थं यद्दीयते भेषजं तत्राऽपि महारंभेऽल्पमल्पवीर्यं चौषधं न देयमित्यस्मादेव दृष्टांतीभूतादर्थादवगंतव्यम् ॥ ७१-७२ ॥

गुरु, लघु रोग में विपरीत मात्रा से हानि—

वि०—गुरु व्याधि-में मात्रा में थोड़ा या अल्पवीर्य संशोधन अयोग (हीन योग) के कारण रोगों को और भी अधिक बढ़ा देता है। लघु व्याधि में विपरीत (अधिक मात्रा में या अतिवीर्य) शोधन केवल मलों को ही नष्ट नहीं करता अपि तु शरीर को भी नष्ट कर देता है। (कहा भी है—

'अल्पमुत्क्लेशयेद्दोषं बहु प्राणान्निहन्ति च।
तस्मान्निरूप्य भिषजा देयं युक्तं विरेचनम् ॥')

अतोऽभियुक्तः सततं सर्वमालोच्य सर्वथा ।
तथा युञ्जीत भैषज्यमारोग्याय यथा ध्रुवम् ॥ ७३ ॥

स०—यस्माच्चैवं रोगाणां दुर्विज्ञेया गतिरतोऽस्माद्धेतोः सततमभियुक्तः सदाऽऽयुर्वेदपाठावबोधानुष्ठानपरो वैद्यः सर्वं दूष्यादिवस्तुजातमालोच्य सर्वथा सर्वेण प्रकारेणाऽऽयुर्वेदानुसारिण्या स्वमनीषया तद्विद्यसंभाषातः संभवया च तथा कर्माभ्यासतोऽपि निपुणं निरूप्य तथा तेन प्रकारेण दोषदूष्यदेशाद्यनुगुणेन भैषज्यं युंजीत भेषजं युंज्यात्। यथाऽऽरोग्याय ध्रुवं येन प्रकारेणाऽऽरोग्यार्थमवश्यं स्यात् ॥ ७३ ॥

रोग-मात्रा-निर्णय में सावधानी की आवश्यकता—

वि०—इसलिये आयुर्वेद के पठन-अवबोधन में तत्पर वैद्य सदैव सम्पूर्ण दूष्यादि की सब प्रकार से विवेचना करके इस प्रकार से औषध देवे जिससे कि निश्चित रूप में आरोग्य प्राप्त हो ॥ ७३ ॥

पूर्वमुक्तं दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणमतस्तानेव दोषान् वृद्धिक्षयभेदेनाह—

वक्ष्यन्तेऽतः परं दोषा वृद्धिक्षयविभेदतः ।

स०—वृद्धिश्च क्षयश्च वृद्धिक्षयौ तयोर्विभेदो वृद्धिक्षयविभेदः विविधो भेदो विभेदस्तस्माद्वृद्धिक्षयविभेदतः अतोऽनंतरं दोषा वातादयो वक्ष्यंते भणिष्यंते।

दोष के भेद—

वि०—इसके आगे दोषों को वृद्धि और क्षय के भेद से कहेंगे।

पृथक् त्रीन् विद्धि संसर्गस्त्रिधा, तत्र तु तान्नव ॥

स०—पृथग्व्यस्तान् स्वप्रमाणाधिकान् त्रीन् दोषान् रोगहेतून् विद्ध्यवेहि। वातो वृद्धः पित्तं वृद्धं श्लेष्मा वृद्धः एवं त्रयो दोषाः। संसर्गभेदानधुना वक्ति। संसर्गस्त्रिधा त्रिप्रकारः। तत्र संसर्गे नव दोषभेदान्स्वप्रमाणाधिकान् विद्धीत्येतदनुवृत्तिकृतेन संबंधेन सर्वत्र योज्यम् ॥ ७४ ॥

प्रत्येक के पृथक्-पृथक् भेद—

वि०—पृथक् दोषों को तीन जानो—वातवृद्धि, पित्तवृद्धि और कफवृद्धि। इनका संयोग तीन प्रकार का है; यथा—वात-पित्त, वातकफ; पित्तकफ। पुनः ये संसर्ग (निम्न लिखित विधि से) नौ होते हैं ॥ ७४ ॥

कथं नव भेदा इत्याह—

त्रीनेव समया वृद्ध्या षडेकस्यातिशायने ।

स०—समया वृद्ध्या त्रीनेवाऽन्यूनाधिकान् संसर्गदोषभेदान्। एको वातपित्ताभ्यामधिकाभ्यां द्वितीयो वातकफाभ्यामधिकाभ्यां तृतीयः पित्तश्लेष्मभ्यामधिकाभ्यामिति। संसर्गोत्थयोर्दोषयोरेकस्य दोषस्याऽतिशायनेऽधिकतरया वृद्ध्या षट् संसर्गदोषभेदान् विद्धि। अतिशयोऽतिशायनम्। अतिशायने तमविष्ठानाविति निपातनाद्दीर्घः। दोषद्वयवृद्धेश्चिंत्यमानत्वादपरदोषचिंता नास्त्यत्र। वातो वृद्धः पित्तं वृद्धतरम्। पित्तं वृद्धं वातो वृद्धतरः। कफो वृद्धः पित्तं वृद्धतरम्। पित्तं वृद्धं कफो वृद्धतरः। कफो वृद्धो वातो वृद्धतरः। वातो वृद्धः कफो वृद्धतरः। एवं षट् संसर्गभेदान् विद्धि।

संसर्ग के नव भेदों का स्फुटीकरण—

वि०—नौ संयोग—तीन संयोग तो प्रत्येक दोष की समानता से और एक दोष की अधिकता तथा दूसरे की अल्प वृद्धि से छः संयोग; इस प्रकार से नौ संयोग (इस प्रकार पृथक्-पृथक् वृद्ध दोष तीन, सम प्रमाण में वृद्ध दो-दो दोषों का संसर्ग तीन, और एक अतिवृद्ध तथा दूसरे अल्पवृद्ध दोषों का संसर्ग छः; कुल १२ भेद हुए।)

त्रयोदश समस्तेषु षड्द्व्येकातिशयेन तु ॥ ७५ ॥
एकं तुल्याधिकैः षट् च तारतम्यविकल्पनात् ।

स०—समस्तेषु सन्निपतितेषु त्रिष्वपि दोषेषु वृद्धेषु। त्रयोदश दोषभेदान् विद्धि। कथमित्याह—द्वावेकश्च द्व्येकास्तेषां द्व्येकेषामतिशयोऽधिकत्वं तेन द्व्येकातिशयेन। ततो द्वयातिशयेन त्रयो भेदाः। तथा एकस्याऽतिशयेन यत्र

इति षट् भेदाः। यथा कफो वृद्धो वातपित्तमधिकवृद्धम्। पित्तं वृद्धं वातकफावतिवृद्धौ। वातो वृद्धः पित्तकफावतिवृद्धौ। पित्तकफौ वृद्धौ वातोऽतिवृद्धः। वातकफौ वृद्धौ पित्तमतिवृद्धम्। वातपित्ते वृद्धे कफोऽतिवृद्धः। इति षड्भेदान् द्वयेकातिशयेन सन्निपाते विद्धि। तुल्यं कृत्वा समं कृत्वा वृद्धैर्दोषैरेकं सन्निपातमेकभेदं विद्धि। तरतमयोर्भावस्तारतम्यम्। कस्य तारतम्यम्। प्रकृतत्वात्संनिपातस्थदोषाणाम्। तारतम्यस्य विकल्पनं भेदस्तारतम्यविकल्पनं तस्मात्संनिपातस्थदोषाणां वृद्धिरूपाणां षड्भेदान् विद्धि। यथा वातो वृद्धः पित्तं वृद्धतरं कफो वृद्धतमः। वातो वृद्धः कफो वृद्धतरः पित्तं वृद्धतमम्। पित्तं वृद्धं कफो वृद्धतरो वातो वृद्धतमः। पित्तं वृद्धं वातो वृद्धतरः कफो वृद्धतमः। कफो वृद्धो वातो वृद्धतरः पित्तं वृद्धतमम्। कफो वृद्धः पित्तं वृद्धतरं वातो वृद्धतमः। एतेषां च लक्षणं मुनिरध्यगीष्ट। तथा च ग्रंथः। सन्निपातजज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदशविधस्य हि। प्राक् सूत्रितस्य वक्ष्यामि लक्षणं वै पृथक्पृथक्। भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्। वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिंगं मंदकफे ज्वरे। शैत्यं कासोऽरुचिस्तंद्रा पिपासा दाहरुग्व्यथा। वातश्लेष्मोल्बणे विद्याल्लिंगं पित्तज्वरे विदुः। छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना। मंदवातेऽध्यवस्यंति लिंगं पित्तकफोल्बणे। संध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः। वातोल्बणे स्याद् द्व्यनुगे तृष्णा कंठास्यशुष्कता। रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड्बलसंक्षयः। मूर्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिंगं पित्ते गरीयसि। आलस्याऽरुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः। कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत्। समं दोषैस्त्रिभिर्वृद्धैः सन्निपातस्य लक्षणम्। मुहुर्दाहो मुहुः शीतं कर्णदन्तेहनपार्श्वरुक्। मोहश्छर्दिर्दिवा निद्रा रात्रौ जागरणं तथा। प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तंद्रारुच्यग्निमार्दवम्। हीनवाते पित्तमध्ये चिह्नं श्लेष्माधिके मतम्। हारिद्रमूत्रनेत्रत्वग्दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः। हीनवाते मध्यकफे लिंगं पित्ताधिके मतम्। शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापश्छर्द्यरोचकौ। हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम्। शीतकं गौरवं तंद्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक्। हीनपित्ते वातमध्ये लिंगं श्लेष्माधिके विदुः। वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः। कफहीने वातमध्ये लिंगं पित्ताधिके मतम्। श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक्। कफहीने पित्तमध्ये लिंगं वाताधिके स्मृतमिति ॥ ७५ ॥

त्रिदोष भेद—

वि०—तीनों दोषों के मिलने से तेरह भेद बनते हैं। इनमें से छः भेद तो, दोषों के एक से अधिक होने पर तीन तथा दो से एक दोष के अधिक होने पर तीन—इस प्रकार छः संयोग होते हैं। सम प्रमाण में वृद्ध तीनों दोषों के संयोग से एक तथा तर और तम की भिन्नता से अर्थात् एक वृद्ध दूसरा वृद्धतर और तीसरा वृद्धतम होने से छः संयोग—इस प्रकार ये तेरह संयोग हैं—(पूर्वोक्त १२+१३=२५। इस प्रकार दोषवृद्धि में पच्चीस भेद हैं।) ॥ ७५ ॥

वक्तव्य—यथा-एक दोष पृथक्-पृथक् वृद्ध वात, पित्त और कफ (३) वृद्ध दोषों का संसर्ग यथा—वृद्धवायुपित्त, वातकफ और पित्तकफ (३) एक अति वृद्ध और दूसरे अल्प वृद्ध इस प्रकार दो दोषों के संसर्ग यथा वृद्धत्तर वायु, वृद्धपित्त, वृद्धतर वात वृद्धकफ, वृद्धतर पित्त वृद्धवायु, वृद्धतर पित्त वृद्धकफ, वृद्धतर कफ वृद्धवात, वृद्धतर कफ वृद्धपित्त (६), त्रिदोष—सम प्रमाण में एक साथ बढ़े हुए तीनों दोष (१), दो दोष अधिक वृद्ध और एक वृद्ध यथा वातपित वृद्धतर कफ वृद्ध, वातकफ वृद्धतर पित्तवृद्ध; पित्त कफ वृद्धतर वात वृद्ध (२) एक अधिक बढ़ा और शेष दो केवल बड़े यथा-वृद्धतर वात पित्त-कफ वृद्ध, वृद्धतर पित्त-वात कफ वृद्ध, वृद्धतर कफ वातपित्त वृद्ध (३), अति मध्य और अल्प वृद्ध तीनों दोष यथा—वृद्धतम वात वृद्धतर पित्त वृद्ध कफ, वृद्धतम वात वृद्धतर कफ वृद्धपित्त, वृद्धतम पित्त वृद्धतर वात वृद्धकफ, वृद्धतम पित्त वृद्धतर कफ वृद्धवात, वृद्धतम कफ वृद्धतर वात वृद्धपित्त और वृद्धतम कफ वृद्धतर पित्त वृद्धवात (३) कुल २५ भेद हैं।

पञ्चविंशतिमित्येवं वृद्धैः क्षीणैश्च तावतः ॥ ७६ ॥

स०—एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण पंचविंशतिसंख्यान् दोषभेदान् वृद्धैर्दोषैर्विद्धि। क्षीणैः क्षयावस्थैर्दोषैस्तावतस्तत्परिमाणान्पंचविंशतिसंख्याकान् दोषभेदान् विद्धि। यथा वृद्धैः पृथक् त्रीन् दोषभेदान् तथा क्षीणैः। पृथक् त्रीनित्यादिग्रंथे वृद्धिशब्दस्थाने क्षीणशब्दो निपात्यः। तद्यथा। वातः क्षीणः पित्तं क्षीणं कफः क्षीणः। तदेवं संसर्गे नव दोषभेदान् विद्धि। कथम्। त्रीनेव समक्षीणत्वेन क्षीणवातपित्तसंसर्गः। क्षीणपित्तकफसंसर्गः। क्षीणवातकफसंसर्गः। षडेकस्यातिशायने। अतिशायनेऽन्यदोषापेक्षया क्षीणत्वातिरेके। वातः क्षीणः पित्तं क्षीणतरम्। पित्तं क्षीणं वातः क्षीणतरः। वातः क्षीणः कफः क्षीणतरः। कफः क्षीणो वातः क्षीणतरः। कफः क्षीणः पित्तं क्षीणतरम्। पित्तं क्षीणं कफः क्षीणतरः। एवं षड् दोषभेदान् विद्धि। त्रयोदश समस्तेषु सन्निपतितेषु क्षीणेषु दोषेषु दोषभेदांस्त्रयोदश विद्धि। कथम्। षड् द्वयेकातिशये न तु। दोषद्वयस्याऽतिशयेनाऽतिक्षीणत्वेन तथा दोषैकस्याऽतिक्षीणत्वेन पर्यायतः षट् क्षीणसंनिपातैर्दोषभेदान् विद्धि। यथा वातः क्षीणः पित्तकफावतिक्षीणौ। पित्तं क्षीणं वातकफावतिक्षीणो। कफः क्षीणः पित्तवातावतिक्षीणौ। वातपिते क्षीणे कफोऽतिक्षीणः। पितकफौ क्षीणौ वातोऽतिक्षीणः। वातकफौ क्षीणौ पित्तमतिक्षीणम्। एकं तुल्यक्षीणैर्भेदं विद्धि। षट् तारतम्यविकल्पनात्। कफः क्षीणः पित्तं क्षीणतरं वातः क्षीणतमः। वातः क्षीणः कफः क्षीणतरः पित्तं क्षीणतमम्। पित्तं क्षीणं कफः क्षीणतरो वातः क्षीणतमः। कफः क्षीणो वातः क्षीणतरः पित्तं क्षीणतमम्। वातः क्षीणः पित्तं क्षीणतरं कफः क्षीणतमः। पित्तं क्षीणं वातः क्षीणतरः कफः क्षीणतमः। एवं पंचविंशतिदोषभेदान् क्षीणैर्दोषैर्विद्धि ॥ ७६ ॥

वृद्ध और क्षीण दोष के गुण—

वि०—जिस प्रकार वृद्धि में पच्चीस भेद हैं, इसी प्रकार क्षीण में भी पच्चीस हैं। २५+२५=५० कुल भेद हुए ॥ ७६ ॥

एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ते पुनश्च षट्।
एकक्षयद्वन्द्ववृद्ध्या सविपर्ययाऽपि ते ॥ ७७ ॥

स०—ते सन्निपातस्थदोषास्त्रयः षोढा भवंति। कथमित्याह। वृद्धिश्च समता च क्षयश्च वृद्धिसमताक्षयाः। एकैकस्य वाताद्यन्यतमस्य वृद्धिसमताक्षया एकैकवृद्धिसमताक्षयास्तैरेकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट्। यथा। वातो वृद्धः पित्तं समं कफः क्षीणः। पित्तं वृद्धं वातः समः कफः क्षीणः। कफो वृद्धः पित्तं समं वातः क्षीणः। कफो वृद्धो वातः समः पित्तं क्षीणम्। वातो वृद्धः कफः समः पित्तं क्षीणम्। पित्तं वृद्धं कफः समो वातः क्षीणः। एवमेकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट्। एकस्य क्षय एकक्षयः द्वंद्वस्य वृद्धिर्द्वंद्ववृद्धिः। एकक्षयसहिता द्वंद्ववृद्धिरेकक्षयद्वंद्ववृद्धिस्तया। किंभूतया। सविपर्ययया सहविपर्ययेण वैपरीत्येन वर्तते तया। एकक्षयद्वंद्ववृद्ध्या पुनरेव षट् दोषभेदाः। वातः क्षीणः पित्तकफौ वृद्धौ। पित्तं क्षीणं वातकफौ वृद्धौ। कफः क्षीणो वातपित्ते वृद्धे। एवमेकक्षयद्वंद्ववृद्ध्या त्रयो भेदाः। सविपर्ययया च वृद्ध्या त्रयो दोषभेदाः। द्वंद्वक्षयैकदोषवृद्ध्या द्वंद्वक्षयसहितैकदोषवृद्धिस्तया। यथा। वातपित्ते क्षीणे श्लेष्मा वृद्धः। वातकफौ क्षीणौ पित्तं वृद्धम्। पित्तकफौ क्षीणौ वातो वृद्धः। इति सविपर्ययया वृद्ध्या त्रयो दोषभेदाः। एवं सन्निपातभेदाः। द्विरूपया वृद्ध्या षडेते ॥ ७७ ॥

क्षय, वृद्धि और समता के भेद—

वि०—एक दोष की वृद्धि, एक दोष की समता और एक दोष की क्षीणता से छैः भेद होते हैं। (५०+६=५६) और फिर छै भेद हैं; यथा-एक दोष का क्षय और दो दोषों की वृद्धि-इस प्रकार तीन; तथा इससे विपरीत-एक दोष की वृद्धि और दो दोष का क्षय तीन; इस प्रकार छः। ५६+६=६२ योग ॥ ७७ ॥

भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टाः त्रिषष्टिः स्वास्थ्यकारणम्।

स०—पंचभेदगणनया दोषाणां भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टाः। त्रिषष्टीनां पूरणो यो दोषभेदः स स्वास्थ्यकारणमारोग्यहेतुर्धातुसाम्यात्। अत्र हि स्वप्रमाणस्था वातपित्तकफाः। ये च दोषभेदा द्विषष्टिस्ते च रोगकारणमित्यर्थादुक्तं भवति। अत्र च रोगहेतुत्वे दोषवैषम्यं कारणम्। त्रिषष्ट इति तस्य डडिति डट्।

वि०—इस प्रकार बासठ भेद कह दिये हैं। तिरसठवां भेद स्वास्थ्य का कारण है-अर्थात् वात-पित्त-कफ की समता होना स्वास्थ्य है।

वक्तव्य—यथा-'समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः, यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्' (चरक वि०)

अधुना रसादिभेदादानंत्यं दोषभेदानां दर्शयन्नाह—

संसर्गाद्रसरुधिरादिभिस्तथैषां
दोषांस्तु क्षयसमताविवृद्धिभेदैः।
आनन्त्यं तरतमयोगतश्च यातान्
जानीयादवहितमानसो यथास्वम् ॥७८॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने दोषभेदीयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

स०—न केवलं द्विषष्टिभेदभिन्नान् दोषान् जानीयात्। आनंत्यं च गतान्विद्यात्। कथमानंत्यमित्याह। एषां दोषभेदानां यथास्वं रसादिभिः संयोगात्। तथैषामेव क्षयादिभेदैस्तरतमयोगाच्चाऽऽनंत्यं गतान्विद्यात्। तत्र दिङ्मात्रं शिष्यव्युत्पत्तये प्रदर्श्यते। तत्र रसे वातपित्तकफानां पृथक् त्रयो भेदा भवंति पृथक् त्रीन् विद्धदीत्यनुसारेण। संसर्गास्त्रिधा। तत्र तु तान् रसमेवाऽधिकृत्य नव विद्धि। कथम्। पूर्ववत्। त्रीनेव समया वृद्ध्या षडेकस्याऽतिशायने। एवं पूर्वोक्तेन न्यायेन रसमधिकृत्य संसर्गं योजयित्वा संनिपाते योजनीयाः। यथा त्रयोदश समस्तेषु। कथम्। षड्द्वयेकातिशयेन तु। एकं तुल्याधिकैः षट् च तारतम्यविकल्पनादिति समानं पूर्वेण। रसाख्यं स्थानं केवलमधिकम्। पंचविंशतिमित्येवं वृद्धैः क्षीणैश्च तावतो रसमधिकृत्य भेदान् विद्धि। इत्येवं रुधिरमांसादिभिर्योज्यम्। एकैकापहासेनेत्येवं द्विषष्टिभेदभिन्नानां दोषाणां रसादिभिः सप्तभिः संयोगाच्चत्वारि शतान्येकचत्वारिंशदधिकानि स्युः। शकृदादिसंसर्गात्क्षीणतमादिभेदैश्च चिंत्यमाना दोषा आनंत्यं यांतीति। रसभेदे दोषभेदे चाऽवगते वैद्यस्य हेतुलक्षणोपक्रमेषु मोहो न भवति। तथा च मुनिः। यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित्। न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिंगोपपत्तिष्विति। श्नौज्रौगस्त्रिदशभवा प्रहर्षिणी स्यात् ॥ ७८ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुंदराख्यायां दोषभेदीयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

दोष-भेदों की अनन्तता—

वि०—रस, रक्त आदि संसर्ग से तथा क्षय, समता, वृद्धि के भेदों से, एवं तर-तम के संयोग से अगणित दोषों को इनके अपने-अपने लक्षणों से दत्तचित्त होकर—तन्मय बनकर जानना चाहिये ॥ ७८ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का दोषभेदीय नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

पूर्वेऽध्याये विकृतान् दोषानाश्वेवोपक्रमेदित्युक्तमतस्तमेवोपक्रमं दर्शयितुं दोषोपक्रमणीयमारिरिप्सुरिदमाह—

अथातो दोषोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

स०—दोषाणामुपक्रमणं चिकित्सा दोषोपक्रमणं तस्मै हितो दोषोपक्रमणीयः । शेषं पूर्ववद्योज्यम् ।

वि०—अब इसके आगे दोषोपक्रमणीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

सर्वदोषेभ्यश्च प्रधानो वात इति तदुपक्रमं पूर्वमाह—

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदु ।
स्वाद्वम्ललवणोष्णानि भोज्यान्यभ्यङ्गमर्दनम् ॥ १ ॥
वेष्टनं त्रासनं सेको मद्यं पैष्टिकगौडिकम् ।
स्निग्धोष्णा बस्तयो बस्तिनियमः सुखशीलता ॥२॥
दीपनैः पाचनैः सिद्धाः स्नेहाश्चानेकयोनयः ।
विशेषान्मेद्यपिशितरसतैलानुवासनम् ॥ ३ ॥

स०—वातस्योपक्रमः स्नेहः । श्रेष्ठत्वाच्च प्रागुपादानं स्नेहस्य । ततः स्वेदः । कृतस्नेहस्वेदस्य च संशोधनं तच्च मृदु न तीक्ष्णम् । तीक्ष्णस्य वातकोपहेतुत्वात् । तथा स्वाद्वादीनि भोज्यानि भक्ष्याणि । अभ्यंगश्च मर्दनं चाऽभ्यंगमर्दनं पाण्यादिना । वेष्टनं शाटकादिना । त्रासनं खड्गव्यग्रोग्रहस्तराजपुरुषादिदर्शनादिना । ननु भीशोकादिभिर्मारुतस्य कोप उक्तः वक्ष्यति हि । क्रियाऽतियोगभीशोकेत्यादि । तत् कथं त्रासनं वायोरुपक्रमः । उच्यते । भयं वातप्रकोपहेतुर्न तु त्रासनम् । त्रासनं हि सर्ववातावजयने तस्माद्वातोपशांत्यर्थं त्रासनं युक्तम् । यथोन्मादादिषु । तथा च वक्ष्यति । वातोन्मादे दर्षणाश्वासनत्रासभयताडनेत्यादि । तथा सेकादिरुपक्रमः । सेको दशमूलक्वाथादिना । तथा मद्यं पैष्टिकं गौडिकं वातस्योपक्रमः । तथा स्निग्धोष्णा बस्तयो वातस्योपक्रमः । स्निग्धोष्णा इत्युक्त्या रूक्षशीतं बस्तिमत्र निराकरोति । तथा बस्तिनियमो यथाविधि बस्तिदानं वातस्योपक्रमोऽथवा बस्तिवियमः कर्मकाले योगाख्यस्त्रिपंचाशद्बस्तिसंख्यः प्राक्स्नेह एकः पंचांत इत्येवमादिना ग्रंथेन यो दर्शितः स वातस्योपक्रमः । तथा सुखं शीलयतीति सुखशीलः । शीलिकामिभिक्ष्याचारिभ्यो णः। तस्य भावः सुखशीलता सौख्यवृत्तित्वम् । तिलप्रियालाक्षोडादयोऽनेका योनयो येषां तेऽनेकयोनयः स्नेहास्ते च वातस्योपक्रम इति योज्यम् । किंभूताः दीपनपाचनैर्द्रव्यैः सिद्धाः विशेषेण पुष्टमांसरसस्तैलमनुवासनं च वातस्योपक्रमः ॥ १-३ ॥

वायु का उपचार—

वि०—वायु का उपक्रम (चिकित्सा)—स्नेह, स्वेद, मृदु-संशोधन, स्वादु, अम्ल, लवण, और उष्ण भोजन, अभ्यङ्ग, मर्दन, वेष्टन (लपेटना); डराना, सेक, पिट्ठी तथा गुड़ से बने मद्य, स्निग्ध एवं उष्ण बस्तियाँ, बस्ति का नियमित प्रयोग, आराम से रहना, दीपन-पाचन से सिद्ध (दीपन-चित्रकादि, पाचन मुस्तादि से पकाये तिल-तैल; अतसीतैल, गोघृत, भैंस का घृत आदि) अनेक योनि वाले स्नेह; विशेषकर मेदुर-मांसरस, तैल से अनुवासन (स्नेह बस्ति) वायु के उपक्रम हैं ॥ १-३ ॥

पित्तस्योपक्रमं वक्ति—

पित्तस्य सर्पिषः पानं स्वादुशीतैर्विरेचनम् ।
स्वादुतिक्तकषायाणि भोजनान्यौषधानि च ॥ ४ ॥
सुगन्धिशीतहृद्यानां गन्धानामुपसेवनम् ।
कण्ठे गुणानां हाराणां मणीनामुरसा धृतिः ॥ ५ ॥
कर्पूरचन्दनोशीरैरनुलेपः क्षणे क्षणे ।
प्रदोषश्चन्द्रमाः सौमं हारि गीतं हिमोऽनिलः ॥ ६ ॥
अयन्त्रणसुखं मित्रं पुत्रः सन्दिग्धमुग्धवाक् ।
छन्दानुवर्तिनो दाराः प्रियाः शीलविभूषिताः ॥ ७ ॥
शीताम्बुधारागर्भाणि गृहाण्युद्यानदीर्घिकाः ।
सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते ॥ ८ ॥
साम्भोजजलतीरान्ते कायमाने[1] द्रुमाकुले ।
सौम्या भावाः पयः सर्पिर्विरेकश्च विशेषतः ॥ ९ ॥

स०—उपक्रम इति वर्तते। सर्पिषः पानमित्यादि पित्तस्य प्रकुपितस्योपक्रमः । तथा हाराणां मुक्तादाम्नां कंठे गुणसंज्ञानां वक्षसा धृतिर्धारणम् । मणीनां मरकतचंद्रकांतपद्मरागादीनाम् । तथा कर्पूरादिभिः प्रतिक्षणमनुलेपनम् । तथा प्रदोषादिः पित्तस्योपक्रम इति वर्तते । प्रदोषो रात्रिमुखम् । सुधाया इदं सौधं धवलगृहम् । हारि रम्यं गीतं गानम् । तथा मित्रमयंत्रणसुखं न विद्यते यंत्रणा यस्मिंस्तथाविधं सुखं यस्मिंस्तथाविधं मित्रम् । तथा संदिग्धाऽव्यक्ता मुग्धाऽप्रौढा वाग् गीर्यस्य स एवंविधः पुत्रः । दाराः कलत्राणि वल्लभाः सुशीलाश्च । तथा छंदानुवर्तिनश्चित्तानुगुणकारिणः । शीतांबुधारा गर्भेऽभ्यंतरे येषां तथाविधानि गृहाणि । तथोद्यानमुपवनम् । तथा दीर्घिकाः गृहपुष्करिण्यः । तथा सौम्या भावाः पित्तस्योपक्रमः । क्व स्थितस्य । सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते यः कायमानस्तृणगृहं तस्मिन् । शोभनं तीर्थं यस्य स एवं सुतीर्थश्चासौ विततविमलजलाशयश्च सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयस्तस्य समीपे सैकतं तस्मिन् । सिकता अस्मिन्देशे संतीति सिकताशर्कराभ्यां चेत्यण् । समूहार्थे ठग्दुर्निवारः स्यात् । कीदृशे कायमाने सांभोजं सपद्मं जलं यस्मिंस्तीरांते स एवं सांभोजजलस्तीरांतो यस्मिन् कायमाने तस्मिन् तथा द्रुमैर्वृक्षैराकुले व्याप्ते । विशेषेण तु पयो घृतं विरेकश्चोपक्रमः ॥ ४-९ ॥

---

[1] कायमान का सामान्य अर्थ काय = शरीर के मान = प्रमाण, अर्थात् शरीर की लम्बाई चौड़ाई के अनुसार होता है पर यहाँ वैसे ही तृण-पत्र आदि से बने झोपड़े अर्थ लेना चाहिये ।

पित्त का उपचार—

वि०— पित्त की चिकित्सा—घृत पान; मधुर और शीतल द्रव्यों से विरेचन, मधुर, तिक्त, कषाय रस वाले भोजन और औषध; सुगन्धित, शीतल और मन के प्रिय गन्धों का सेवन; गले में लटकने वाली मुक्तामालाओं के मनकों का छाती पर धारण करना; थोड़ी-थोड़ी देर में कर्पूर, चन्दन, खस का लेप करना; रात्रि का प्रथम भाग, चन्द्रमा, धवलगृह; मनोहर संगीत; शीतल वायु; जिनमें किसी प्रकार का भेद या शर्म नहीं ऐसे हमजोली मित्र; अव्यक्त-कोमल वाणी वाले पुत्र;[२] चित्त के अनुकूल चलने वाली, शील से शोभित प्रिय स्त्रियाँ, शीतल जल की धारायें जिनके अन्दर चल रही हैं ऐसे घर, बाग की बावड़ियाँ; उत्तम घाट वाले विपुल स्वच्छ तालाब के समीप रेतीले स्थान में, सुन्दर कमल वाले तालाब के किनारे, वृक्षों से घिरे झोपड़े, मन को प्रसन्न करने वाले पदार्थ; (तथा आग्नेयगुणरहित) विशेष कर दूध, घी और विरेचन—ये पित्त की शान्ति करते हैं ॥ ४-९ ॥

अधुना श्लेष्मण उपक्रममाह—

श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम् ।
अन्नं रूक्षाल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकषायकम् ॥ १० ॥
दीर्घकालस्थितं मद्यं रतिप्रीतिः प्रजागरः ।
अनेकरूपो व्यायामश्चिन्ता रूक्षं विमर्दनम् ॥ ११ ॥
विशेषाद्वमनं यूषः क्षौद्रं मेदोघ्नमौषधम् ।
धूमोपवासगण्डूषा निःसुखत्वं सुखाय च ॥ १२ ॥

स०—विधिना शास्त्रोक्तेन युक्तं तीक्ष्णं वमनविरेचनं कफस्योपक्रमः । तथाऽन्नं रूक्षादिगुणयुक्तम् । तथा मद्यं पुराणम् । रतिप्रीतिप्रजागरः । रमणं रतिस्तस्याः प्रीतिः सुखम् । तथा प्रजागरोऽतिजागरणं तथाऽनेकरूपो व्यायामो नियुद्धधनुराकर्षणादिकः । विशेषेण तु वमनं यूषो माक्षिकं तथा मेदोघ्नं यदौषधं तच्च धूमादयश्च । तथा निःसुखत्वं सुखाभावो दुःखरूपत्वम् । वाग्देहमनःकर्मणो दुःखदस्याऽनुष्ठानाद्यदसुखमुत्पद्यते तच्च श्लेष्मणो वृद्धस्य विकारकरणहेतोरुपशमात्सुखाय जायते ॥ १०-१२ ॥

कफ का उपचार—

वि०—कफ की चिकित्सा—विधिपूर्वक दिये गये तीक्ष्ण वमन-विरेचन; रूक्ष, अल्प, तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, तिक्त एवं कषाय अन्न; चिरकाल स्थित (पुरान) मद्य; सम्भोग में प्रीति, रात्रि में जागरण; अनेक प्रकार का व्यायाम; चिन्ता (मानसिक श्रम), रूक्ष उपचार और मर्दन करना; विशेषकर—वमन; यूष, मधु, मेद-नाशक औषध; धूमपान; उपवास; गण्डूष; सुख का अभाव (कष्टकर स्थिति) यह सुख के लिये हैं अर्थात् कफनाशक हैं ॥ १०-१२ ॥

इदानीं संसर्गोपक्रमं वक्ति—

उपक्रमः पृथग्दोषान् योऽयमुद्दिश्य कीर्तितः ।
संसर्गसन्निपातेषु तं यथास्वं विकल्पयेत् ॥ १३ ॥

स०—पृथक् प्रत्येकं दोषान्वातादीनुद्दिश्याऽऽश्रित्य य उपक्रमः कीर्तित उक्तः संसर्गसंनिपातेषु च तमुपक्रमं यथास्वं विकल्पयेत । प्रवृद्धदोषानुसारेण निरूप्य प्रयुंजीतेत्यर्थः । यथा वातपित्तसंसर्गे वातपित्तोपक्रमौ मिश्रौ । वातकफसंसर्गे वातकफोपक्रमावित्यादि एवं संनिपातेऽपि निरूप्योपक्रमः प्रयोज्यः ॥ १३ ॥

मिलित दोषों के उपचार—

वि०—पृथग्दोषों को लक्ष्य में रखकर जो यह चिकित्सा कही गयी है इसको दोषों के संसर्ग एवं सन्निपात में दोष के अनुसार बरतना चाहिये ॥ १३ ॥

संसर्गे भूयोऽप्युपक्रममाह—

ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते वासन्तः कफमारुते ।
मरुतो योगवाहित्वात् कफपित्ते तु शारदः ॥ १४ ॥

स०—उपक्रम इति वर्तते । वातपित्तसंसर्गे ग्रीष्मर्तुचर्याविहित उपक्रमः प्रायेण योज्यः । यथाऽतोऽस्मिन् पटुकट्वम्लव्यायामार्ककरांस्त्यजेत् । भजेन्मधुरमेवान्नमित्यादि सर्वं त्याज्यं सेव्यं च । कफमारुतसंसर्गे वसंतर्तुभवस्तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यैरित्यादिरुपक्रमो योज्यः । प्रायेणेत्यत्रापि योज्यम् । ननु ग्रीष्मेऽत्यंतशीतसेवोक्ता वसंते त तीक्ष्णं वमननस्याद्युक्तमेतच्च द्वयमप्येकांतेन पवनहेतुः । तत्कथमुक्तं ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते वासंतः कफमारुत इत्याशंक्याह । मरुतो योगवाहित्वात् । अत्राऽयं भावः । यदा किल वायुः पित्तेन युज्यते तदा दाहादिकृन्न । पित्ते समे सति दाहादिकं कर्तुं महत्सामर्थ्यमपि च ग्रीष्मे शीतमेव सेव्यत इति नायं नियमः । किं तर्हि स्निग्धाद्यपि तस्मान्मरुत्पित्ते ग्रीष्मविधिर्युक्तः । वसंते च कफयोगात् कफविकारकार्यैव भवति योगवाहित्वादतो वासंतस्तीक्ष्णो वमननस्यादिर्न्याय्यः । एवं पित्तेन सह स्थितस्य वायोः पित्तचिकित्सा कफेन सह स्थितस्य वायोः कफचिकित्सा स्वभाववशादिति भावः । कफपित्तसंसर्गे तु शारदः शरदृतुचर्याविहित उपक्रमः । संनिपाते क उपक्रमः श्रमः । वर्षर्तुचर्याविहितः । प्रावृषि हि दोषत्रयकोप उक्तोऽत एवाह । भजेत्साधारणं सर्वमित्यादि ॥ १४ ॥

अन्य उपचार—

वि०—वायु योगवाही होने से वायु और पित्त के संसर्ग में ग्रीष्म ऋतु का उपचार; कफ और वायु में वसन्त ऋतु का तथा कफ और पित्त में शरद ऋतु का उपचार करना चाहिये ॥ १४ ॥

---

[२] कालिदास ने कहा भी है—

'आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासा-
नव्यक्तपेशलवचोरमणीयवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति, ॥'

वक्तव्य— कहा भी है—'योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ॥' इसलिये पित्त युक्त वायु में पित्त की शान्ति से, कफ युक्त वायु में कफ की शान्ति से वायु शान्त हो जाती है। तीनों दोषों का सन्निपात होने पर वर्षा ऋतु का उपचार करना चाहिये; इसी से कहा है—'भजेत्साधारणं सर्वम् ॥'

संप्रत्युपक्रमस्य कालं वक्ति—

चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन् ।
सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाविरोधतः ॥ १५ ॥

स०—चयकाल एव दोषं वातादिं जयेत्। तथा छिन्नमूलत्वान्न विकुर्वीत। न कोपकालं प्रतीक्षेतेति सूचनार्थं एवशब्दः। कथं जयेदित्याह। कुपितं दोषमविरोधयन्। सर्वदोषकोपे केवलं बलवत्तरं दोषं जयेत्। कथम्। शेषदोषाविरोधेन ॥ १५ ॥

उपचार का समय—

वि०—दोष को उसके संचय काल में ही शान्त करना चाहिये। यदि दोष कुपित अवस्था में आ जाये तब (दूसरे दोषों से) विना विरोध के इसको शान्त करे। तीनों दोषों के कुपित होने पर बलवान् दोष को-शेष दोषों का विरोध न करते हुए शान्त करे ॥ १५ ॥

वक्तव्य— इस विषय में कई पक्ष हैं—

(१) वात पित्त-कफ का समान बल होने पर प्रथम वायु को शान्त करे। क्योंकि नेता के नाश से सेना स्वयं भाग जाती है।

(२) स्थान की दृष्टि से पहले कफ को, फिर पित्त को और पीछे वायु को शान्त करना चाहिये। क्योंकि आमाशय जो कफ का स्थान है वह पहले शुद्ध हो तो आहार, औषध आदि का मार्ग शुद्ध होने पर ही आगे कार्य होगा।

(३) सुश्रुत की मान्यता है कि ज्वर और अतिसार में पहले पित्त; फिर कफ एवं अन्त में वायु को शान्त करना चाहिये। क्योंकि इन रोगों में पित्त का विशेष महत्त्व होता है।

(४) जो दोष अपने आशय में सबसे अधिक बढ़ा हो पहले उसे शान्त करना चाहिये।

इन सबका उपयोग चिकित्सा में अवस्था भेद से होता है। विशेष विवेचन संग्रह (सूत्र अ. २१) में देखिये।

कुतो हेतोरित्याह—

प्रयोगः शमयेद्व्याधिमेकं योऽन्यमुदीरयेत् ।
नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥ १६ ॥

स०—प्रयोगो व्याधिं शमयेदन्यमन्यं व्याधिमुदीरयेत्प्रकोपयेन्नाऽसौ विशुद्धो न श्रेष्ठ इत्यर्थः। स तु विशुद्धः प्रयोगो यः शमयेद्व्याधिं न कोपयेत्। तस्मादन्यं व्याधिमविरोधयन् व्याधिं जयेत् ॥ १६ ॥

विरुद्ध उपचार नहीं करने का हेतु—

वि०—जो प्रयोग (उपचार) एक रोग को शान्त करके दूसरे रोग को उत्पन्न करता है, वह श्रेष्ठ प्रयोग नहीं है। शुद्ध (श्रेष्ठ) प्रयोग वह है-जो कि रोग को शान्त करे, परन्तु दूसरे विकार को उत्पन्न न करे ॥ १६ ॥

अथ कथं दोषाः कोष्ठाच्छाखास्थिमर्मसु यांतीत्याह—

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्यादहिताचरणादपि ।
कोष्ठाच्छाखास्थिमर्माणि द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥१७॥
दोषा यान्ति—

स०—कोष्ठादुदराच्छाखास्थिमर्माणि दोषा यांति। कुत इति हेतुचतुष्टयमाह। व्यायामादिभिः शाखास्थिमर्माणि दोषा यांति। तत्र व्यायामोपजातश्रमस्योर्ध्वं प्रपन्नः पवनो व्यायामकृतक्षोभश्रमोष्मादिभिः प्रशिथिलं चलं च दोषं स्वास्पदाच्च्यावयित्वा पर्याकुलं शाखादिषु क्षिपति। तथाऽग्न्यातपादिसंबंधिन ऊष्मणस्तैक्ष्ण्यात्तीक्ष्णेन ह्यूष्मणा विलायिता दोषास्तेनैव चोष्मणा विवृतेषु स्रोतोमुखेषु सत्सु शाखादीन् यांति। अहितेत्यादि। अहितेन सेवितेन दोषाः स्वप्रमाणादतिरिच्यमानाः कोष्ठमापूर्य वार्षिका इव जलौघा निम्नोन्नतानीव शाखास्थिमर्माणि प्रपद्यंते। अपिः समुच्चये। द्रुतत्वादित्यादि। द्रुतत्वाच्छीघ्रवाहित्वान्मारुतस्य कोष्ठाच्छाखास्थिमर्माणि दोषा यांति ॥ १७ ॥

कोष्ठ से शाखादि में दोषों का जाना—

वि०—व्यायाम के कारण, उष्णता से, तीक्ष्णता से; अहित विहार से वायु के द्रुतगामी होने से (उससे प्रेरित होकर) दोष कोष्ठ से शाखा (बहिर्मार्ग) अस्थि और मर्म (मध्य मार्ग) में पहुँच जाते हैं ॥ १७ ॥

शाखादिभ्यः कथं दोषाः कोष्ठं यांतीत्याह—

—तथा तेभ्यः स्रोतोमुखविशोधनात् ।
वृद्ध्याऽभिष्यन्दनात्पाकात्कोष्ठं वायोश्च निग्रहात् ॥१८॥

स०—स्रोतसां मुखानि तेषां विशोधनं विवरणं तस्माद्दोषाः कोष्ठं यांति। तथा वृद्ध्यादिभिः। वृद्धिः स्वप्रमाणातिरेकः। वृद्धा हि दोषाः स्वानि स्रोतांस्यापूर्य कोष्ठं यांति। अभिष्यंदनं च नाग्नितापादितीक्ष्णोष्णादिसंश्लेषादेवाऽपि तु क्षीरा ह्यभिष्यंदिभोजनादपि। एवं पाकात्। पाचनादिभिः पक्वा दोषाः क्वचिदनासज्जंतः कोष्ठं यांति। किंच। वायोश्च निग्रहात्। चशब्दान्न केवलं पूर्वेभ्यो हेतुभ्यो यावद्वायवप्रेरणाच्चेत्यर्थः ॥ १८ ॥

शाखादि से कोष्ठ में दोषों का जाना—

वि०—स्रोतों के मुखों का शोधन होने से (खुलने से); दोषों में वृद्धि, अभिष्यन्दन (विलयन) एवं पाचन होने से, तथा वायु के नियन्त्रित हो जाने के कारण दोष शाखा, अस्थिसन्धि और मर्म में से कोष्ठ में पहुँच जाते हैं ॥ १८ ॥

कोष्ठस्थाः दोषाः किं कुर्युरित्याह—

तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः

ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि ॥१९॥

स०—तत्रस्थाः कोष्ठस्थाश्च दोषा विलंबेरन्न रोगानुत्पादयेयुर्यस्मात्ते भूयो हेतुप्रतीक्षिणः। निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनाद्धेतौ प्रथमा। भूयो हेतुप्रतीक्षित्वादित्यर्थः। वृद्धोऽपि हि दोषः कोष्ठे शाखादौ वा मार्गांतरे गतो हीनशक्तित्वान्न रोगोत्पादनसमर्थो भवति। यद्येव किं कदाचिदप्यन्यस्थानगता दोषा हीनशक्तित्वान् रोगान् कुर्युरित्याह—ते दोषाः कालदेशदूष्यप्रकृत्यपथ्यादेः समानगुणाद्बलं लब्ध्वा कुप्यंति। विकारमुत्पादयंतीत्यर्थः। कुत्र स्थान इत्याह। अन्याश्रयेष्वपि कोष्ठाश्रयाः शाखाद्रिमर्मस्वपि। शाखामर्माश्रिताः कोष्ठेष्वपीत्यर्थः। न केवलं स्वस्थानस्था एव कुप्यंतीति सूचनार्थोऽपिशब्दः ॥ १९ ॥

कोष्ठस्थित दोषों का कार्य व कुपित होने का कारण—

वि०—दोष कोष्ठ में आकर रुक जाते हैं; (रोग उत्पन्न नहीं करते) और अधिक कारण की प्रतीक्षा करते रहते हैं। ये दोष काल-देश आदि का बल मिलने पर कुपित होकर दूसरे स्थानों में भी कुपित होते हैं-रोग को उत्पन्न करते हैं ॥ १९ ॥

इदानीं परस्थानगतानां दोषाणां विकल्पेन चिकित्सामुपदिशन्नाह—

तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु तु।
कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु ॥ २० ॥

स०—तत्र तेषु वातादिष्वन्यस्थानसंस्थेषु। अन्यस्य स्थानमन्यस्थानं तत्र संतिष्ठंतेऽन्यस्थानसंस्थास्तेषु परस्थानगतेषु तदीयां स्थानिदोषसंबंधिनीमेव चिकित्सां कुर्यान्न स्वकीयाम्। तस्य परस्थानदोषस्येयं तदीया ताम्। किंभूतेषु दोषेषु। अबलेषु। तुरवधारणे। अबलेष्वेव न बलवत्सु। बलवत्सु हि स्वामेव चिकित्सां वक्ष्यति। अत एवाह—बलेनात्मीयया शक्त्याऽन्याभिभाविष्वन्यस्थानिदोषमभिभवितुं शीलं येषां तेऽन्याभिभाविनः। स्थानिदोषं पराभूय तत्र ये संतिष्ठंत इत्यर्थः। तेषु स्वामेव चिकित्सां कुर्यादित्यर्थः। किमेष एव नियमो यदन्यस्थानगतेष्वबलेष्वागंतुषु स्थानिदोषसंबंधिनीं चिकित्सां कुर्यात्। बलवत्सु पुनरागंतुसंबंधिनीं चिकित्सां कुर्यात् ॥ २० ॥

अन्यस्थानगत दोषों की चिकित्सा—

वि०—अन्य स्थान में पहुँचे हुए निर्बल दोष की चिकित्सा उस स्थान-सम्बन्धी, अर्थात् वह स्थान जिस दोष विशेष का हो उसके अनुसार, करनी चाहिये। किंतु जिस दोष ने बलवान होने के कारण दूसरे स्थानों पर पहुँच कर स्थानीय दोष अर्थात् जिस दोषविशेष का वह स्थान है—उसे दबा दिया हो वहाँ पर उस बलवान दोष की अपनी चिकित्सा करे ॥ २० ॥

अथ पक्षांतरेऽपि कुत्रचित्क्वचिद्विद्यत इत्यत आह—

आगन्तुं शमयेद् दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा।

स०—स्थानिनं दोषं प्रतिकृत्य यथाऽसौ स्थानिदोष आगंतुदोषचिकित्सानिर्वर्तनान्न विकारं कुर्यात्तथा तस्य पूर्वं प्रतीकारं कृत्वा पश्चात् स्वैरेवोपक्रमैरबलिनमप्यागंतुं दोषं शमयेच्चिकित्सेत्। न केवलमन्यस्थानसंस्थेष्वागंतुष्वबलेषु स्थानिदोषचिकित्सां कुर्याद्यावदागंतुदोषचिकित्सामपि कुर्यादित्यर्थः। अथाऽसौ स्थानिदोष आगंतुदोषेण बलवत्वादभिभूयते ततोऽस्य विकारकरणं प्रत्यसमर्थत्वात्तत्प्रतीकारमकृत्वैव चागंतुं शमयेदिति वाशब्दार्थः। अन्यस्थानसंस्थेष्विति बहुवचननिर्देशः पर्यायेण दोषाणां स्थितत्वादन्यथा द्वयोरेकस्य वाऽन्यस्थानस्थितत्वं संभवति न त्रयाणाम्।

वि०—आगन्तु दोष में—स्थानिक दोष की चिकित्सा करके आगन्तुक दोष (यदि यह अधिक बलवान् नहीं है, तब) की चिकित्सा करे। यदि आगन्तुक दोष बलवान् हो तब आगन्तुक दोष की चिकित्सा करके पीछे से स्थानिक दोष की चिकित्सा करे। (हेमाद्रि का मत है कि स्थानीय और आगन्तु दोनों दोष समबल हों तो पहिले स्थानीय दोष की चिकित्सा कर बाद में आगन्तुक की अथवा पहिले आगन्तुक की, बाद में स्थानीय दोष की चिकित्सा करे।)

तिर्यग्गतेषु दोषेषु यत्कार्यं तदाह—

प्रायस्तिर्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम् ॥२१॥
कुर्यान्न तेषु त्वरया देहाग्निबलवित् क्रियाम्।
शमयेत्तान् प्रयोगेण सुखं वा कोष्ठमानयेत् ॥२२॥
ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांश्च यथासन्नं विनिर्हरेत्।

स०—तिर्यग्गतादोषाः प्रायो बाहुल्येनाऽऽतुरांश्चिरं क्लेशयंति पीडयंति। तेषु तिर्यग्गतेषु दोषेषु त्वरया शीघ्रमेव क्रियां चिकित्सां न कुर्याद्वैद्य इति शेषः। कीदृशो वैद्यो देहाग्निबलाभिज्ञः। कथं तेषामुपक्रमः कार्य इत्याह—तांस्तिर्यग्गतान् दोषान् प्रयोगेण शास्त्रविहितेन शमयेत्। सुखं वेति। यथा वा देहपीडा न भवति तथा क्रमेण कोष्ठमानयेद्वृद्ध्याऽभिष्यंदनादित्यादिना। ज्ञात्वेत्यादि। कोष्ठगतांश्चावगत्य यथाऽऽसन्नं विनिर्हरेत्। यो यस्यासन्नो मार्गो गुदं मुखं घ्राणं वा तेनैव यथाऽऽसन्नं वमनविरेचनादिना निष्कासयेदित्यर्थः ॥ २१-२२ ॥

तिर्यक्स्थानगत दोषों में कर्तव्य—

वि०—तिरछे (शोधन मार्ग के बाहर शाखादि) में गये हुए दोष प्रायः रोगी को देर तक पीड़ित करते हैं। देह, अग्नि और बल को जानने वाला वैद्य इन दोषों में शीघ्रता में चिकित्सा न करे। [अपि तु देह-अग्नि और बल का विचार करके शनैः शनैः चिकित्सा करे]। इन दोषों को शास्त्रविहित प्रयोग से शान्त करे, अथवा सुखपूर्वक [जिससे विशेष कष्ट न हो इस प्रकार] क्रमशः कोष्ठ में ले आये। कोष्ठ में आने पर जो समीप का मार्ग हो उससे बाहर निकाल देवे अर्थात् शिरोविरेचन, वमन, विरेचन आदि द्वारा संशोधन करे ॥ २१-२२ ॥

संप्रति साममललिंगमाह—

स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढताः ॥ २३ ॥
आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलसङ्गारुचिक्लमाः ।
लिङ्गं मलानां सामानां, निरामाणां विपर्ययः ॥ २४ ॥

स०—स्रोतसां रोधः। बलस्य भ्रंशो हानिर्बलभ्रंशः। गौरवं गुरुत्वम्। अनिलस्य वायोर्मूढता सम्यगसंचारः। आलस्यं तंद्रा। अपक्तिराहारस्याऽपाकः। निष्ठीवो मुखस्रावः। मलस्य पुरीषादेः संगोऽप्रवृत्तिः। अरुचिरन्नानभिलाषः। क्लमो ग्लानिः इत्येतत्सामानां मलानां लिंगं लक्षणम्। निरामाणां विपर्ययोऽस्माद्वैपरीत्यम् ॥ २३-२४ ॥

सा‍म तथा निराम दोष के लक्षण—

वि०—साम (आम युक्त) दोषों के लक्षण—स्रोतों का अवरोध; बल की हानि, भारीपन, वायु का अवरोध, आलस्य, आहार का न पकना, मुखस्राव, पुरीषादि की अप्रवृत्ति, अरुचि, ग्लानि, ये साम दोषों के लक्षण हैं। निराम दोषों के लक्षण इनसे विपरीत होते हैं ॥ २३-२४ ॥

संप्रति आमसंभवमाह—

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥२५॥

स०—ऊष्मणोऽग्नेरल्पबलत्वेन दौर्बल्येनाद्यं प्रथमधातुं रसं रसाख्यमपाचितमामं प्रचक्षते वदंत्याचार्या इति शेषः। किंभूतं रसम्। आमाशयगतम्। तथा दुष्टं वाताद्यनुशयितम्। रसग्रहणं पवनस्य निरासार्थम्। अन्यथा आद्यो धातुर्वाताख्य इत्याशंक्येत। वातादीनामपि हि धारणाद्धातुसंज्ञाऽस्त्येव ॥ २५ ॥

आम का लक्षण—

वि०—आम का लक्षण—अग्नि की दुर्बलता से अपक्व एवं दूषित अर्थात् वातादि दोषों से युक्त आमाशयगत आद्य (प्रथम) रसधातु को आम कहते हैं ॥ २५ ॥

अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात् ।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सम्भवम् ॥२६॥

स०—अन्येऽपरे आचार्या दोषेभ्य एव वातादिभ्योऽतिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्छनात्। परस्परमिश्रीभावादामस्य संभवं कथयंति। केभ्यः कस्येव। यथा कोद्रवेभ्यो विषस्य सम्भवं कथयंति तथा दोषेभ्य आमस्य संभवम् ॥ २६ ॥

मतान्तर—

वि०—अन्य आचार्य—अति दूषित हुए दोषों के परस्पर मिलने से ही आम की उत्पत्ति मानते हैं, जैसे कि कोदो से विष उत्पन्न हो जाता है ॥ २६ ॥

आमेन तेन सम्पृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥२७॥

स०—तेन पूर्वोक्तलक्षणेनाऽमेन संपृक्ताः संयुक्ता दोषा दूष्याश्च रसादयः। कीदृशाः। दूषितास्तैरेव वातादिभिः। सहामेन सामा इत्युपदिश्यंते तत्र तत्र प्रदेशे तंत्रे भण्यंते। ये च रोगा ज्वरादयस्तदुद्भवा वातादिदोषसमुत्थास्तेनामेन युक्ताः सामा इत्युच्यंते। यथैहैव। अजीर्ण इव शूलघ्नं सामे तीव्ररुजि ज्वरे इति। आमलक्षणं चैवं पठंति। द्रवं गुर्वनेकवर्णं हेतुः सर्वरोगाणां स्निग्धं पिच्छिलमामं तंतुमदनुबद्धशूलं दुर्गंधीत्यादि। समानां च वातादीनां संग्रहे पृथग्लक्षणमुक्तम्। यथा। वायुरामान्वयः सार्तिराध्मानकृद्संचरः। दुर्गंधमसितं पित्तं कटुकं बहलं गुरु। आविलस्तंतुमान्स्त्यानः प्रलेपी पिच्छिलः कफः। विपर्यये तु पक्वत्वं तथा ताम्रं समेचकम्। पीतं च पित्तमच्छं च श्लेष्माऽच्छः पिंडितोऽथवा। विशदश्च सफेनश्च धवलो मधुरो रस इति ॥ २७ ॥

साम शब्द का अर्थ—

वि०—इस आम से मिले हुए दूषित वातादि दोष और रक्तादि दूष्य साम कहे जाते हैं; और इनसे उत्पन्न रोगों को साम रोग (साम ज्वर, सामातिसार आदि) कहते हैं ॥२७॥

सामा अपि दोषा यादृशा न निर्हार्यास्तादृशान् दर्शयति—

सर्वदेहप्रतिसृतान् सामान् दोषान् न निर्हरेत् ।
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव ॥२८॥
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः ।

स०—सामान् दोषान् वातादीन् सर्वस्मिन्देहे प्रविसृतान् व्याप्ताशेषकायान् धातुषु रसाद्येषु लीनान् श्लिष्टाननुत्क्लिष्टान् स्वस्थानादचलितान् न निर्हरेद्वमनादिभिर्न शोधयेत्। कुतः। दुर्निर्हरत्वाद्दुःखेन निर्हर्तुं शक्यत्वात्। ते हि निर्ह्रियमाणा आश्रयस्य शरीराख्यस्य नाशाय स्युः। यावत्तु सर्वदेहप्रविसृता न भवंति यथा भुक्तानंतरं ज्वरोत्पत्तौ नवातिसारे च तथा वमनेन हरीतक्या च यथायोगं निर्हारोऽनुज्ञात एव ग्रन्थकृता। अत्र दृष्टांतमाह। फलादित्यादि। आमादपक्वात्फलादाम्रादे रसो निर्ह्रियमाणो दुर्ह्रियमाणो दुर्निर्हरत्वादाश्रयस्य फलस्य यथा नाशाय भवत्येवं दोषा अपि ॥ २८ ॥

वि०—सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए एवं रसादि धातुओं में छिपे हुये तथा अपने स्थान से चलायमान न हुये दोषों को वमनादि द्वारा बाहर नहीं करे क्योंकि इनका निकालना अत्यन्त कष्टकर होने से शरीर के ही नाश के लिये होता है—जिस प्रकार कि कच्चे आम आदि फल से रस निकालने के प्रयास में फल का ही नाश हो जाता है। ॥ २८ ॥

तर्हीदृशे दोषे किं कार्यमित्याह—

पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान् ॥२९॥
शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम् ।

स०—तांस्तथाविधान् दोषान् पाचनैर्ज्वराद्यध्यायोक्तैः। दीपनैरिति पाचनानां स्नेहानां च विशेषणं मध्यदीपवत्। अग्निदीप्तिकृद्भिः पाचनैः स्नेहैश्च परिष्कृतान् परिकल्पितान् कृतसंस्कारान् यथासन्नं यथाबलं च कृत्वा यथोक्ते काले शोधनैर्द्रव्यैः शोधयेत्। यथासन्नमिति। यस्य दोषस्यासन्नो

यो मार्गस्तेनैव तं निर्हरेत्। यथाबलमिति। यस्य यावद्बलमातुरस्योत्तमं मध्यममधमं वा तज्ज्ञात्वा मृदुना मध्येन तीक्ष्णेन वा शोधनेन शोधयेदित्यर्थः ॥ २९ ॥

उक्त दोषों में कर्तव्य—

वि०—इस प्रकार के दोषों को पाचनीय, दीपनीय ओषधियों से तथा दीपन और पाचन द्रव्यों से सिद्ध स्नेह और स्वेद से संशोधन योग्य बनाकर समीपस्थ मार्ग से दोष के बलानुसार यथोक्त काल में शोधन द्रव्यों से शोधन करे ॥ २९ ॥

कस्य को मार्ग आसन्न इत्याह—

हन्त्याशु युक्तं वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान् ॥३०॥
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान् पक्वाधानाद् गुदेन च।

स०—द्रव्यं वक्त्रेण युक्तं पीतमामाशयादाशु मलान् हंति। घ्राणेन तु पीतमूर्ध्वजत्रूत्थान्मलानाशु हंति। गुदेन युक्तं पक्वाधानात् पक्वाशयादाशु मलान् हंति ॥ ३० ॥

दोषों के समीपस्थ मार्ग—

वि०—मुख से दिया द्रव्य आमाशय से दोषों को शीघ्र नष्ट करता है। नासिका से दी औषध जत्रु से ऊपर के दोषों को, तथा गुदा मार्ग से दी औषध पक्वाशय के दोषों को शीघ्र नष्ट करती है ॥ ३० ॥

इदानीं यादृशा आमा न धार्यास्तादृशान् दर्शयति—

उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्वं वा न चामान् वहतः स्वयम् ॥३१॥
धारयेदौषधैर्दोषान् विधृतास्ते हि रोगदाः।

स०—अध ऊर्ध्वं वोत्क्लिष्टानामान् स्वयं वहतो यत्नं विनैव प्रवृत्तानौषधैः स्तंभनैर्न धारयेत्। कुत इत्याह। हि यस्मात्ते दोषा विधृता रोगदा ज्वरादिकारिणः ॥ ३१ ॥

नहीं रोकने योग्य दोष—

वि०—ऊपर या नीचे की ओर प्रेरित हुए अथवा स्वयं बाहर निकलते हुए आम दोषों को औषधियों से रोकना नहीं चाहिये। क्योंकि ये रुके हुये दोष रोग को उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अतीसार में या नासारक्तपित्त अथवा रक्तार्श में प्रारम्भ में रक्तावरोध नहीं करना चाहिये। यथा- स्रवणं चाप्युपेक्षेत लङ्घनैर्वा समाचरेत्'।

तेषु तु यत्कार्यं तदाह—

प्रवृत्तान् प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिनः ॥ ३२ ॥
विबद्धान् पाचनैस्तैस्तैः पाचयेन्निर्हरेत वा।

स०—अतोऽस्माद्धेतोः प्रवृत्तान् प्राक् प्रारंभकाले दोषान् हितभोजिन उपेक्षेत संग्रहणेन न धारयेत्। विबद्धानीषत्प्रवृत्तांस्तैस्तैर्यथोक्तैः पाचनैः पाचयेत् पाकं नयेन्निर्हरेद्वा ॥ ३२ ॥

उक्त दोषों में कर्तव्य—

वि०—इसलिये प्रवृत्त हुये दोषों की प्रारम्भ अवस्था में हितकारी भोजन देते हुये उपेक्षा करें। और जो दोष थोड़े प्रवृत्त हो रहे हों (रुके हुये हों), उनको यथोचित पाचन औषधियों से पचावें अथवा शोधन द्रव्यों से बाहर निकाल देवें ॥ ३२ ॥

अथ कः शोधनकाल इत्याह—

श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात् ॥ ३३ ॥
ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत्।

स०—क्रमाद्यथाक्रमं ग्रीष्मचितं वायुं श्रावणे निर्हरेत्। वर्षाचितं पित्तं शरदि निर्हरेत्। हेमंतशिशिरचितं कफं वसन्ते निर्हरेत्। एते हि साधारणाः कालाः। अत एतेषु शोधनं युक्तम् ॥ ३३ ॥

वायु आदि दोषों का शोधन काल—

वि०—शोधन काल—ग्रीष्म में सञ्चित वायु को श्रावण मास में; वर्षा में सञ्चित पित्त को कार्त्तिक में और हेमन्त में सञ्चित कफ को चैत्र में शरीर से बाहर निकाले; ये मास साधारण होने से इनमें शोधन उचित है ॥ ३३ ॥

ननु ग्रीष्मादिष्वेवं कस्माद्वातादयो न शोध्यंत इत्याह—

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः ॥३४॥
सन्धौ साधारणे तेषां दुष्टान् दोषान् विशोधयेत्।

स०—यतो ग्रीष्मादयोऽत्युष्णादियुक्तास्तेषामत्युष्णवर्षशीतानां ग्रीष्मवर्षाहिमागमानां साधारणे संधौ शीतोष्णवर्षसमभावे काले दोषान् वातादीन्दुष्टान्विकृतान्विशोधयेद्विनिर्हरेत्। संधौ हि साम्यमतः शोधनं प्रति न ते कालाः। तथा हि। ग्रीष्मे तावदादानग्लानं खरतररविकिरणतप्तं पिपासाबलमाद्याकुलमतिप्रविलीनदोषमतिशिथिलं शरीरं भवति। औषधं पुनरतिखरदिवाकरकरनिर्भरतापादुष्णतीक्ष्णतां यातमतियोगाय संपद्यते। प्रावृषि घनघनौघसंघट्टसादिते सर्वतो जगत्यवसन्नोऽग्निर्भवति। आदानदुर्बलं च शरीरं भवति। ओषधयश्च जलदजलप्लावितमूला अल्पवीर्याः संपद्यन्ते। भूवाष्पसंयोगाच्चोषधीनां विदग्धत्वम्। अतो मध्यतां गता अयोगायैव। शीतकाले चाऽतिशीतोपहतत्वाच्छरीरमतिवातविष्टब्धमतिस्निग्धगुरुदोषं भवति। शीतोपहतत्वाच्चोष्णस्वभावमप्यौषधं संशोधनायोपयुक्तं मदवीर्यतां प्राप्तमयोगायैव कल्पते। तस्माद्युक्तमुक्तमत्युष्णवर्षशीतत्वाद्ग्रीष्मादिषु स्वस्थस्य शोधनमयुक्तम् ॥ ३४ ॥

ग्रीष्मादि में दोष शोधन का निषेध—

वि०—ग्रीष्म ऋतु अति उष्ण हैं; वर्षा काल में वर्षा अधिक होती है; शीत काल में अति शीत होता है; इसलिये इनके साधारण सन्धि काल में उन दूषित दोषों का शोधन करना चाहिये ॥ ३४ ॥

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि संशोधन के लिए वही काल उपयुक्त होता है जब न अतिशीत न अतिउष्ण हो और अत्यधिक वर्षा, शीत और ग्रीष्म के बीच-बीच में शरद्; वसन्त और प्रावृट् नामक तीन साधारण ऋतुओं में ही

संशोधन करना उचित है । इस प्रसङ्ग में तृतीय अध्याय के प्रथम श्लोक की व्याख्या और टिप्पणी भी देखें।

नन्वातुरस्य संशोधनसाध्यस्याऽयमेव संशोधनकालो नेत्याह—

स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य, व्याधौ व्याधिवशेन तु ॥ ३५ ॥

स०—स्वस्थावस्थमधिकृत्याऽयं संशोधनकाल उक्तः। व्याधौ चात्यधिके व्याध्यनुरोधेन शोधनकालः ॥ ३५ ॥

दोष-सोधन योग्य अन्य काल—

वि०—यह नियम स्वस्थवृत्त-स्वरूप व्यक्ति को लक्ष्य में रखकर कहा है; रोग में (आत्ययिक अवस्था में) तो रोग की दृष्टि से संशोधन काल होता है ॥ ३५ ॥

यदि हेमंतादावतिशीतोष्णादौ काले व्याधिः संशोधनसाध्यः संभवेत्तदा कथं संशोधनं कार्यमित्याह—

कृत्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं यथायथम् ।
प्रयोजयेत्क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥ ३६ ॥

स०—शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं कृत्रिमऋतुगुणं यथायथमुत्पाद्य संशोधनादिलक्षणं क्रियां प्रयोजयेत् । कृत्रिमगुणोपधानं च यथा । हेमंते गर्भगृहादि । ग्रीष्मे धारागृहादीनि । क्रियाकालं न हापयेन्नाऽतिक्रामयेदात्ययिकस्य व्याधेः प्राणहारित्वात् ॥ ३६ ॥

अतिशीतोष्ण काल में कर्तव्य—

वि०—(आत्ययिक रोगों में अतिशीत आदि काल में ही यदि रोग की स्थिति के अनुसार संशोधन आवश्यक हो तो) शीत-उष्ण और वृष्टि इनका ठीक-ठीक प्रतिकार करके उचित संशोधनादि रूप चिकित्सा का प्रयोग करे; चिकित्सा करने में समय नष्ट न करें अर्थात् शीघ्र चिकित्सा प्रारंभ कर दे ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—आत्ययिक अवस्था में कल्पित ऋतु को बनाकर शोधन देना चाहिये—'आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्त्तुगुणविपरीतेन भेषजं प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा प्रयोजयेत् ॥' [हेमन्त में गर्भगृहादि; ग्रीष्म में धारा-गृहादि बनाकर चिकित्सा करे ।] सामान्यतः साधारण ऋतुओं में संशोधन विहित और अन्य ऋतुओं में निषिद्ध है । 'तत्र शाधारणलक्षणेषु ऋतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निवृत्तिरितरेषु ॥' (चरक. वि. अ. ८।१२६)

संप्रत्यौषधकालान् दर्शयन्नाह—

युञ्ज्यादनन्नमन्नादौ मध्येऽन्ते कवलान्तरे ।
ग्रासे ग्रासे मुहुः सान्नं सामुद्गं निशि चौषधम् ॥३७॥

स०—दशैते औषधस्य कालाः। अनन्नमौषधं तदुच्यते यदुपयुज्य तस्मिन्परिणते भुंजीत । अन्नादौ तदुच्यते यदुपयुज्य समनंतरमाहारोपयोगो विधीयते। मध्य इति । अन्नस्याहारस्य मध्ये यदौषधं भुज्यते। अंतेऽवसाने। कवलांतर इति । कवलयोर्ग्रासयोरंतरे मध्ये न तु ग्रासमिश्रितं कृत्वेत्यर्थः। ग्रासे ग्रास इति । यद्ग्राससंपृक्तं भुज्यते। मुहुरिति । पुनः पुनर्भुक्तेऽभुक्ते वा यदौषधं भुज्यते। सान्नमिति । सहान्नेनाहारेण यदौषधं भुज्यते। सामुद्गं तद्भण्यते। यदाहारस्य प्राक् पश्चाच्च प्रयुज्यते। तेन हि समुद्गपुटयुगलोपमेनौषधद्वयेनाहारो मध्ये क्रियते समुद्गः संपुटकः। निशि यच्छयनवेलायां भुज्यते ॥ ३७ ॥

औषधसेवन के काल—

वि०—शमन औषध काल—

(१) अनन्न औषध—केवल औषध जिसमें अन्न का कोई संसर्ग न हो ॥ ३७ ॥

(२) अन्नादौ (प्राग्भक्त) भोजन के पूर्व, अर्थात् औषध खा कर पीछे से अन्न खाया जाये ।

(३) मध्ये—आधा भोजन करके औषध खाना, फिर आधा भोजन करना।

(४) अन्त में-भोजन के उपरान्त तुरन्त औषध खाना।

(५) कवलान्तर—ग्रासों के मध्य में [ग्रास में मिलाकर नहीं] देना।

(६) ग्रासे ग्रासे—प्रत्येक ग्रास में मिलाकर औषध देना।

(७) मुहुः औषध—भोजन करने या न करने पर जो औषध बार-बार दी जाती है ।

(८) सान्नम्—आहार में मिलाई औषध को कहते हैं ।

(९) सामुद्ग (सम्पुट)—पहले औषध, फिर भोजन और फिर औषध लेना सामुद्ग है; इसमें आहार दो औषध के बीच में आने से सम्पुटित हो जाता है ।

(१०) निशा काल—रात्रि में सोते समय जो औषध खाते हैं ।[1]

अधुना विषयविभागेन यस्मिन् व्याधौ यदुपयुज्यते तद्दर्शयति—

कफोद्रेके गदेऽनन्नं बलिनो रोगरोगिणोः ।
अन्नादौ विगुणेऽपाने, समाने मध्य इष्यते ॥ ३८ ॥
व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य सायमाशस्य तूत्तरे ।
ग्रासग्रासान्तयोः प्राणे प्रदुष्टे मातरिश्वनि ॥३९॥
मुहुर्मुहुर्विषच्छर्दिहिध्मातृट्श्वासकासिषु ।
योज्यं सभोज्यं भैषज्यं भोज्यैश्चित्रैररोचके ॥४०॥
कम्पाक्षेपजहिध्मासु सामुद्गं लघुभोजिनाम् ।
ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु स्वप्नकाले प्रशस्यते ॥४१॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने दोषोपक्रमणीयो
नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

स०—कफोद्रेके रोगे निरन्नमौषधं योज्यम् । कयोरित्याह । बलिनोरित्यादि । बलवति रोगे तत्केवलमन्नादिरहित-

---

[1] अनन्न में ही अष्टांगसंग्रहोक्त अन्तरभक्त का अन्तर्भाव है अत एव अष्टांगसंग्रह का ११ औषध काल यहाँ १० ही रह गया ।

मौषधम् । तद्धथनन्नमतिवीर्यं भवति । बलवांश्च यदि रोगी तदोपयुंजीत नतु दुर्वले । दुर्बलस्य त्वन्नसहितं न ग्लानिकरं भवति । अन्नादाविति । अपानाख्ये वायौ विगुणे कुपिते सत्यौषधं भुक्त्वा समनंतरमेवाहार इष्यत इत्यर्थः । समाने वायौ विगुणे मध्ये भक्तस्यौषधमिष्यते । व्यानाख्ये विगुणे प्रातराशस्य पूर्वाह्णभुक्तस्यांतेऽवसाने भेषजमिष्यते । सायमित्यादि । उत्तरे व्यानापेक्षयोदानाख्येन महति विगुणे सायमाशस्याऽपराह्णभुक्तस्य त्वंते भेषजमिष्यते । प्राणाख्ये मातरिश्वनि वाते प्रदुष्टे विकृते ग्रासग्रासांतरयोर्भेषजमिष्यते । ग्रासश्च ग्रासांतश्च तयोस्तेन ग्राससंपृक्तमौषधं ग्रासयोर्मध्ये भेषजमित्यवतिष्ठते । मुहुर्मुहुर्भुक्ते यदभुक्ते वा भेषजं तत्तु विषादिषु योज्यम् । अरोचकेऽरुचौ सह भोज्यैर्भेषज्यं योज्यम् । कीदृशैर्भोज्यैश्चित्रैरनेकविधैः । सामुद्गं नाम यदादावंते चाहारस्य भुज्यते तत्कंपादिषु प्रशस्यत इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । केषाम् लघ्वन्नाशिनाम् । ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु शयनवेलायामौषधं प्रशस्यत इति ॥ ३८-४१ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्यायां दोषोपक्रमणीयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

रोगानुसार औषध काल—

वि०—अन्न काल—कफ की अधिकता में रोग और रोगी दोनों के बलवान होने पर खाली पेट औषध देनी चाहिये। अपान वायु के कुपित होने पर अन्न के प्रारम्भ में; समान वायु के कुपित होने पर अन्न के मध्य में; व्यान वायु के कुपित होने पर प्रातः भोजन के अन्त में; तथा उदान वायु के कुपित होने पर सायंकाल भोजन के पीछे औषध देवे। प्राण वायु के दूषित होने पर ग्रास में मिलाकर या ग्रासों के बीच में औषध देनी चाहिये। विष, वमन, हिक्का, प्यास, श्वास और कास में बार-बार औषध बरतनी चाहिये। अरोचक में अनेक प्रकार के भोजनों के साथ मिलाकर औषध (सान्न औषध) देवे। कम्प, आक्षेपक और हिक्का में स्वल्प भोजन के साथ सामुद्ग (भोजन के पूर्व और पश्चात्) औषध देवे। जत्रु के ऊपर के रोगों में सोते समय औषध देनी चाहिये ॥३८-४१॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का दोषोपक्रमणीय नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

दोषोपक्रमणीयादनंतरं द्विविधोपक्रमणीयारंभेऽयं संबन्धः । पूर्वं सामान्येनोपक्रमो दोषोपक्रमणीयेऽभिहितः । अत्र तूपक्रम्यस्य विशेषेणोपक्रमविशेष उच्यत इत्याह—

अथातो द्विविधोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

स०—द्विविधं द्विप्रकारं च तदुपक्रमणं च द्विविधोपक्रमणं तस्मै हितो द्विविधोपक्रमणीयः । शेषं पूर्ववत् ।

वि०—अब इसके आगे द्विविधोपक्रमणीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रमश्च समासतो द्विविधः । तंत्रांतरपठितानां चतुर्णामुपक्रमाणामत्रैवांतर्भावात् । अतएव सहेतुकमुपदिशन्नाह—

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः ।
एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥ १ ॥
बृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ ।
बृंहणं यद् बृहत्त्वाय लङ्घनं लाघवाय यत् ॥ २ ॥
देहस्य—

स०—हि यस्मादुपक्रम्यस्य चिकित्स्यस्य द्वित्वाद्धेतोरुपक्रमो द्विधैव मत इष्टः । एवशब्दोऽवधारणे परमतं क्षिपति । कथं द्विधेत्याह—तत्र तयोर्द्वयोरुपक्रमयोरेकः संतर्पणरूप उपक्रमो द्वितीयश्चापतर्पणरूप उपक्रमः बृंहणं लंघनं च तयोः संतर्पणाऽपतर्पणयोः पर्यायावुदाहृतौ । देहस्य बृंहणं तदुच्यते यद्देहस्य बृहत्त्वाय भवति । लंघनं तदुच्यते यद्देहस्य लाघवाय लाघवोत्पादनाय भवति ॥ १-२ ॥

उपचार के दो भेद—

वि०—उपक्रम्य (जिसकी चिकित्सा की जाती है-आतुर) दो प्रकार के होते हैं—१ कृश २ स्थूल। अतः उपक्रम (चिकित्सा) भी दो प्रकार का होता है—एक सन्तर्पण और दूसरा अपतर्पण। सन्तर्पण का बृंहण और अपतर्पण का लंघन पर्याय कहा गया है। देह की गुरुता या स्थूलता के लिये जो होता है, वह बृंहण है; और देह की लघुता या कृशता के लिये जो होता है, वह लङ्घन है।

कथं द्विधेत्याह—

—भवतः प्रायो भौमापमितरच्च ते ।

स०—संतर्पणापतर्पणे भौमापमितरच्च भवतः । भूमेरिदं भौमम् । अपामिदमापम् । भौमयुक्तमापं संतर्पणम् । इतरद्भौमापादन्यदग्निवाय्वाकाशात्मकमपतर्पणम् । प्रायोग्रहणात्किंचिद्भौममप्यपतर्पणम् । यथा यवमसूरमकुष्ठतंडुलीयादि । तथाऽग्निपवनोत्कटस्याऽपि शुण्ठीपिप्पल्यादेर्वृंष्यत्वेन संतर्पणकार्यदर्शनाच्च ।

वि०—प्रायः बृंहण द्रव्य पार्थिव और जलीय तथा लङ्घन द्रव्य आग्नेय, वायव्य अथवा आकाशीय होते हैं। (प्रायः कहने से यह प्रतीत होता है कि कभी-कभी पार्थिव और जलीय द्रव्य भी लङ्घन तथा आग्नेयादि भी बृंहण होते हैं। यथा—पिप्पली आग्नेय होते हुए भी बृंहण तथा मसूर-मोठ भौम एवं जलीय होते हुए भी लङ्घन होते हैं।)

अधुना स्नेहनादेश्चतुर्विधस्योपक्रमस्य संतर्पणाऽपतर्पणयोरेवांतर्भावं दर्शयन्नाह—

स्नेहनं रूक्षणं कर्म स्वेदनं स्तम्भनं च यत् ॥ ३ ॥
भूतानां तदपि द्वैध्याद् द्वितयं नातिवर्तते ।

स०—स्नेहनादि यच्चतुर्विधं कर्म तदपि द्वितयं संतर्पणापतर्पणरूपं नाऽतिवर्तते नाऽतिक्रामति। कुतो हेतोरित्याह। भूतानां संतर्पणापतर्पणरूपाद्द्वैध्याद्द्विप्रकारकत्वात् ॥ ३ ॥

स्नेहादि कर्म का पूर्वोक्त दो में अन्तर्भाव—

वि०—भूतों की द्विविधता (गुरु लघु) के कारण (पृथ्वी और जल गुरु और अग्नि, वायु तथा आकाश लघु) स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन और स्तम्भन ये चार प्रकार के जो अन्य कर्म है, वह भी सन्तर्पण और अपतर्पण इन दो से पृथक् नहीं है, इनका भी इन दो में ही समावेश हो जाता है ॥ ३ ॥

इदानीं प्रत्येकं तयोर्भेदानाह—

शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम् ॥ ४ ॥

स०—तत्र च तयोः संतर्पणापतर्पणयोर्बृंहणलंघनापरपर्याययोर्मध्याद्यल्लंघनमतर्पणं तद् द्विधा। कथमित्याह। शोधनं शमनं चेति। इति हेत्वर्थे। यतः शोधनं शमनं च ततो द्विधेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अपतर्पण के दो भेद—

वि०—इनमें लंघन या अपतर्पण भी शोधन और शमन भेद से दो प्रकार का होता है ॥ ४ ॥

इदानीं शोधनस्य लक्षणं प्रभेदं चाऽधिकृत्याह—

यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं च तत्।
निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः ॥ ५ ॥

स०—यदौषधं दोषान् वातादीनंतःस्थितान् बहिरीरयेत् क्षिपेत्तच्छोधनम्। तच्च पंचधा पंचविधम्। तदेवं पंचविधत्वमाह—निरूहो बस्तिस्तथा वमनं तथा कायविरेकः शिरोविरेकश्च तथाऽस्रविस्रुती रक्तस्रावश्चेति पंचधा शोधनम्। सर्वशरीरस्य शिरःप्रभृतेरधो मलनिर्हरणं यत्स कायविरेकशब्देनोच्यते। यत्तु केवलं शिरः संज्ञकस्य शरीरावयवस्य घ्राणेनोर्ध्वमलनिर्हरणं स शिरोविरेकः ॥ ५ ॥

शोधन के लक्षण और भेद—

वि०—शोधन का लक्षण—जो दोषों को शरीर से बाहर निकालता है, वह शोधन है। यह शोधन पांच प्रकार का है—वस्ति, वमन, कायविरेचन, शिरोविरेचन और रक्त मोक्षण ॥ ५ ॥

संप्रति शमनाख्यस्य लक्षणं प्रभेदं चाधिकृत्याह—

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमाञ् शमनं तच्च सप्तधा ॥ ६ ॥
पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः।

स०—यदौषधं दोषान् वातादीन्न शोधयति नांतःस्थितान्बहिर्निष्कासयति तथा समान् स्वप्रमाणस्थान्नोदीरयति नोत्क्लेशयति बिषमांश्च स्वप्रमाणाद्धीनाधिकभावावस्थितान् समीकरोति स्वप्रमाणस्थान् विदधाति तच्छमनमुच्यते। तच्च सप्तधा सप्तप्रकारं पाचनादिभेदेन। पाचयतीति पाचनम्। पचतोऽग्नेः पक्तुं शक्तिमधिकां यदुत्पादयति तद्द्रव्यं क्रिया वा पाचनमुच्यते। यथा लंघनं किराततिक्ताख्यं मुस्तादि वा। दीपनं यथा घृतादि। तंत्रांतरे च दीपनपाचनयोर्लक्षणमुक्तम्। क्षारपाणिनाऽप्युक्तम्। पाचनं पाचयेद्दोषान् साम्यान् शमनमेव तु। दीपनं ह्यग्निकृच्चामं कदाचित्पाचयेन्न वा। यथा। यदग्निकृत्पचेन्नामं दीपनं तद्यथा घृतम्। पाचनं तद्विपर्यस्तं यथा वक्ष्यामि लक्षणमिति। क्षुत्तृट्शब्दाभ्यां क्षुत्तृष्णानिग्रहाविह गृहीतौ ॥ ६ ॥

शमन के लक्षण और भेद—

वि०—शमन चिकित्सा—जो न तो दोषों का शोधन करती है, न सम दोषों का प्रकोप करती है केवल विषम दोषों को समान करती है, उसको शमन कहते हैं। यह शमन सात प्रकार का है—पाचन, दीपन, भूख, प्यास, व्यायाम, धूप और वायु ॥ ६ ॥

पाचनादीनां दोषशमनत्वमुक्तं तच्च वाते वातपित्ते च न सम्भवतीत्याह—

बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च ॥ ७ ॥

स०—तुशब्दो विशेषे। विशेषस्तु लंघनापेक्षया। शोधनं शमनं चेति द्विधा लंघनमुक्तम्। बृंहणमपि शोधनं भवति दुग्धादिद्रव्यं शोधनस्वभावद्रव्यत्वात्। तेन तथाविधेन द्रव्येण केवलस्य वातस्य पित्तयुक्तस्य वा कोप आशंक्यते। यथा लंघनशोधनद्रव्येण हरीतक्यादिना ततो बृंहणस्य विशेषणार्थस्तुशब्दः कृतः। बृंहणं यतः शोधनं मरुतः केवलस्य पित्तसहितस्य वा शमनं नतु लंघनशोधनवत्कोपनम्। एवकारोऽवधारणार्थः। बृंहणं यच्छोधनरूपं शोधनं वातस्य पित्तयुक्तस्य वा शमनमेव न कोपनं जातुचिदित्यर्थः। लंघनं तूभयरूपमपि वातस्य वातपित्तयोर्वा कोपनमेव ॥ ७ ॥

वायु आदि का शमन—

वि०—बृंहण केवल वायु अथवा पित्तयुक्त वायु का शमन करता है ॥ ७ ॥

वक्तव्य—बृंहण द्रव्य सदैव शमन ही होता है, कभी कभी शोधक होते हुए भी (जैसे दूध विरेचक होता है) वायु या वायुपित्त का शमन ही करता है जब कि लंघन द्रव्य शोधन कार्य के द्वारा वायु के प्रकोपक होते हैं, (जैसे-हरीतकी) यही इसकी विशेषता है।

इदानीं ये बृंह्यास्तानाह—

बृंहयेद्व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान्।
भाराध्वोरःक्षतक्षीणरूक्षदुर्बलवातलान् ॥ ८ ॥
गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मेऽपरानपि।

स०—कर्शितशब्दस्य व्याध्यादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धः। व्याधिकर्शितान् बृंहयेदेवं शेषेष्वपि योज्यम्। भारादिभिः क्षीणस्य प्रत्येकं सम्बन्धः। भारक्षीणान् बृंहयेत्। एवं शेषेषु। रूक्षादीन् बृंहयेत्। ग्रीष्मेऽपरानप्यन्याननुक्तानपि बृंहयेत्। इत्थं च ग्रीष्मेऽपि सर्वानपि बृंहयेदिति विशेषेण तु व्याधिकर्शितादीन् ॥ ८ ॥

बृंहण के योग्य मनुष्य—

वि०—बृंहण करने योग्य—रोग, औषध; मद्यसेवन, स्त्रीसेवन तथा शोक से कृश; भार उठाना, मुसाफिरी एवं उरःक्षतरोग से क्षीण; रूक्ष, दुर्बल, वातप्रकृति, गर्भवती, प्रसूता, वृद्ध और बालक तथा ग्रीष्म ऋतु में दूसरे स्वस्थ पुरुषों का भी बृंहण करना चाहिये ॥ ८ ॥

कैर्बृंहयेदित्याह—

मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धबस्तिभिः ॥ ९ ॥
स्वप्नशय्यासुखाभ्यङ्गस्नाननिर्वृतिहर्षणैः ।

स०—मांसादिभिर्बृंहयेत्। मधुरस्निग्धैर्वस्तिभिर्न तु रूक्षतीक्ष्णैस्तेषामपतर्पणस्वभावत्वात्। स्वप्नो निद्रा। शय्यासुखं खट्वाजनितं शर्म। निर्वृतिश्चित्तस्याऽनाकुलत्वम् ॥ ९ ॥

बृंहण औषध—

वि०—बृंहण द्रव्य—मांस, दूध, चीनी, घी, मधुर एवं स्निग्ध बस्तियाँ; नींद, शय्यासुख, अभ्यङ्ग, स्नान, मन की शान्ति; और प्रसन्नता इनसे बृंहण होता है ॥ ९ ॥

मेहामदोषातिस्निग्धज्वरोरुस्तम्भकुष्ठितः ॥ १० ॥
विसर्पविद्रधिप्लीहशिरःकण्ठाक्षिरोगिणः ।
स्थूलांश्च लङ्घयेन्नित्यं शिशिरे त्वपरानपि ॥ ११ ॥

स०—मेहादीनामिनिर्मत्वर्थीयः। मेहिप्रभृतीन् लंघयेत्। शिशिरे पुनरन्यानप्यपरानपीति व्याधितानां ग्रहणम्। स्वस्थानां तु शिशिरे हेमंतविधिर्विशेषेणोक्त एव। शिशिरशब्दः शीतमात्रोपलक्षणार्थः। तेन हेमंतेऽपि लंघयेदित्यर्थ उपलभ्यते ॥ १०–११ ॥

लङ्घन के योग्य मनुष्य—

वि०—लङ्घन के योग्य पुरुष—प्रमेही, आम दोष युक्त, अतिस्निग्ध, ज्वर, ऊरुस्तम्भ, कुष्ठ, विसर्प, विद्रधि, प्लीहा; शिर, कण्ठ और आँख के रोगी; तथा स्थूल पुरुष इनको सब समय में लंघन कराये। शिशिर काल में दूसरे पुरुषों को भी लंघन कराये ॥ १०–११ ॥

पूर्वमुक्तं लंघनं द्विधा। शोधनं शमनं चेति। तत्र शोधनविषयं निरूपयन्नाह—

तत्र संशोधनैः स्थौल्यबलपित्तकफाधिकान् ।
आमदोषज्वरच्छर्घतीसारहृद्यामयैः ॥ १२ ॥
विबन्धगौरवोद्गारहृल्लासादिभिरातुरान् ।
मध्यस्थौल्यादिकान् प्रायः पूर्वं पाचनदीपनैः ॥ १३ ॥
एभिरेवामयैरार्तान् हीनस्थौल्यबलादिकान् ।
क्षुत्तृष्णानिग्रहैर्दोषैस्त्वार्तान् मध्यबलैर्दृढान् ॥ १४ ॥

स०—लंघयेदिति वर्तते। तत्र तेषु लंघनीयेषु मध्ये संशोधनाख्यैर्लंघनैः स्थौल्याद्यधिकान् तथाऽऽमदोषादिभिरार्तान् लंघयेत्। तथा मध्यस्थौल्यबलपित्तकफानेभिरेवाऽऽमदोषज्वरादिभिर्गदैरातुरान् प्रायः पूर्वं पाचनदीपनैर्लंघनभेदैर्लंघयेत्। प्रायोग्रहणं देशकालाद्यपेक्षया नियमस्याऽसर्वविषयत्वज्ञापनार्थम्। हीनस्थौल्यबलादिकांस्तु सतः क्षुत्तृष्णानिग्रहैर्बुभुक्षापिपासावेगविधारणाख्यैर्लंघनविशेषैर्लंघयेत्। दोषैर्वातपित्तकफैर्मध्यबलैरार्तान् तथा दृढान् शक्तान् समीरणादिभिर्लंघयेत्। आयासो व्यायामः। किमुत किंपुनरल्पबलैर्दोषैरार्तान् समीरणादिभिर्लंघयेत्। सुतरां तु हीनबलैरार्तान् समीरणादिभिरेव लंघयेदित्यर्थः ॥ १२–१४ ॥

शोधन का नियम—

वि०—शोधन का विषय—स्थूल, बल, पित्त और कफ की अधिकता वालों का संशोधन से लंघन कराये। आमदोष (अजीर्ण), ज्वर, वमन, अतीसार, हृदयरोग, विबन्ध, भारीपन, उद्गार, जी मिचलाना आदि से पीडित रोगियों को तथा मध्यम रूप में स्थूल या पित्त कफ की मध्यम अधिकता वालों को पाचन और दीपन औषधियों से लंघन कराये। इन्हीं आम दोष आदि के रोगियों तथा हीनस्थूलतता या अल्पवृद्ध पित्त या कफ वालों को भूख और प्यास के रोकने से लंघन कराना चाहिये। मध्यम बल वाले वात-पित्त-कफ दोषों से पिड़ित, एवं दृढ शरीर वालों को वायु, धूप और व्यायाम से लंघन कराये; तथा अल्पबल वाले पुरुषों को भी वायु, धूप और व्यायाम से लंघन कराये ॥ १२–१४ ॥

तर्हि बृंह्यस्य वातलादेर्यदा ज्वरादिव्याधिर्लंघनसाध्यो जायते तदा किं लंघनं कार्यमुत बृंहणमित्यत्र संशय इत्याह—

न बृंहयेल्लङ्घनीयान् बृंह्यांस्तु मृदु लङ्घयेत् ॥ १५ ॥
युक्त्या वा देशकालादिबलतस्तानुपाचरेत् ।

स०—लंघनीयान् लंघनार्हान् मेहामदोषादीन्न बृंहयेत्। ये पुनर्बृंह्यास्तान् लंघनसाध्यामयार्तान् मृदु कृत्वा लंघयेत्। मृदुना लंघनप्रकारेणाऽपतर्पयेदित्यर्थः। युक्त्या वा प्रयोगेण संतर्पणाऽपतर्पणव्यामिश्रलक्षणेन देशकालादीनां बलतोऽनुरोधेन तानुपाचरेदुपक्रमेत्। नैव लंघयेदित्यर्थः। आदिग्रहणेन सत्त्वसात्म्यादिग्रहणम् ॥ १५ ॥

वि०—लङ्घन के योग्य (प्रमेह; आमदोष आदि ग्रस्त) पुरुषों का बृंहण नहीं करना चाहिये। किन्तु बृंहण के योग्य पुरुषों को मृदु लङ्घन करा सकते हैं, अथवा देश, काल आदि के अनुरोध से युक्ति-पूर्वक (बिना लंघन कराये ही आवश्यकतानुसार सन्तर्पण और अपतर्पण का मिश्रित प्रयोग करते हुए) उनकी चिकित्सा करे ॥ १५ ॥

बृंहितलंघितयोः किं लक्षणमित्याह—

बृंहिते स्याद्बलं पुष्टिस्तत्साध्यामयसङ्क्षयः ॥ १६ ॥

स०—बृंहिते सति बलं पुष्टिश्च स्यात्। तथा बृंहणसाध्या य आमयास्तेषां संक्षयो विनाशो भवेत् ॥ १६ ॥

बृंहित के लक्षण—

वि०—बृंहण (सम्यक्) होने पर बल और पुष्टि होती है; तथा बृंहणसाध्य जो रोग होते हैं—उनका विनाश होता है ॥ १६ ॥

संप्रति लंघितलक्षणमाह--

विमलेन्द्रियता सर्गो मलानां लाघवं रुचिः ।
क्षुत्तट्सहोदयः शुद्धहृदयोद्गारकण्ठता ॥ १७ ॥
व्याधिमार्दवमुत्साहस्तन्द्रानाशश्च लङ्घिते ।

स०—विमलेंद्रियतादिस्तंद्रानाशश्चेत्यंतो ग्रंथो लंघितलक्षणम् । विमलेंद्रियता करणपाटवम् । क्षुत्तृषो सहैककालमुदयः । शुद्धहृदयेति । हृदयं चोद्गारश्च कंठश्च हृदयोद्गारकंठं शुद्धं च तद्धृतयोद्गारकंठं च तस्य भावः शुद्धहृदयोद्गारकंठता । विमलेंद्रियतादीनां पदानामकृतसमासानामेव समस्तानां निर्देशो दोषदेशाद्यनुरोधेनैकस्य द्वयोस्त्रिचतुराणां बहुतराणां सर्वेषां च लंघितलक्षणत्वद्योतनार्थः । अन्यथा सर्वेषां लक्षणानामुत्पत्तौ लंघितलक्षणत्वं भवेन्न त्वेकस्य द्वयोर्बहूनां चोत्पत्तौ लंघितलक्षणत्वं स्यात् । सुनिरुप्यनेनैव हेतुनाऽसमासेनैव लक्षणं व्यधत्त । तथा । वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे । हृदयोद्गारकंठस्य शुद्धौ तंद्राक्लमे गते । स्वेदे जाते रुचौ चैव क्षुत्पिपासासहोदये । कृतं लंघनमादेश्यं निर्व्यथे चांतरात्मनीति ॥ १७ ॥

लङ्घित के लक्षण—

वि०—लंघन का फल—इन्द्रियों की निर्मलता; मलों की प्रवृत्ति; लघुता, भोजन में रुचि; भूख और प्यास का एक साथ उत्पन्न होना, हृदय, उद्गार और कण्ठ की शुद्धता; रोग का हलका होना; उत्साह होना और तन्द्रा का नाश-ये सम्यक् लङ्घन करने पर होते हैं ॥ १७ ॥

अनपेक्षितमात्रादिसेविते कुरुतस्तु ते ॥ १८ ॥
अतिस्थौल्यातिकार्श्यादीन्, वक्ष्यन्ते ते च सौषधाः ।

स०—ते बृंहणलंघने अनपेक्षितमात्रादिसेविते अतिस्थौल्याऽतिकार्श्यादीन् कुरुतः । अनपेक्षिताश्च ते मात्रादयश्चाऽनपेक्षितमात्रादयस्तैः सेविते । मात्राद्यनपेक्षया कृते इत्यर्थः । ते चाऽतिस्थौल्याऽतिकार्श्यादयः सौषधाः सभेषजा वक्ष्यंते पुरस्ताद्भणिष्यंते ॥ १८ ॥

अनपेक्षित मात्रा लेने का परिणाम—

वि०—मात्रा आदि का विचार न करके बृंहण और लङ्घन करने से अतिस्थूलता और अतिकृशता आदि उत्पन्न हो जाते हैं, इन अतिस्थूल-अतिकृशादि को औषध के साथ आगे (श्लोक २०–२८) में कहेंगे ॥ १८ ॥

अथाऽतिबृंहितलंघितयोः किं लक्षणमित्याह—

रूपं तैरेव च ज्ञेयमतिबृंहितलङ्घिते ॥ १९ ॥

स०—अतिबृंहितश्चातिलंघितश्चेत्येकवद्भावः । अतिबृंहितेऽतिलंघिते च तैरेवाऽतिस्थौल्यादिभिस्तथाऽतिकार्श्यादिभिश्च रूपं बृंहणलंघनाऽतियोगलक्षणं वेद्यम् । चशब्दः समुच्चये ॥ १९ ॥

अतिलङ्घित अतिबृंहित के लक्षण—

वि०—इन अतिस्थूलता, अतिकृशता आदि से क्रमशः बृंहण और लङ्घन के अतियोग का लक्षण समझना चाहिये अर्थात् अतिस्थूलता आदि अतिबृंहण के और अतिकृशता आदि अतिलंघन के चिह्न हैं ॥ १९ ॥

तानेवाऽतिस्थौल्यादीनाह—

अतिस्थौल्यापचीमेहज्वरोदरभगन्दरान् ।
काससंन्यासकृच्छ्रामकुष्ठादीनतिदारुणान् ॥ २० ॥

स०—अतिस्थौल्यादीनतिबृंहितं कर्तृ कुरुते इत्यनुपात्तेनाऽपि प्रकृतत्वादत्र कर्तृपदेन क्रियापदेन च संबंधः कार्यः । अत एव तदपेक्षयाऽतिस्थौल्यादीनां द्वितीया । अथवा योग्यतयैवाऽनुपात्तेनाऽपि क्रियादीनां संबंधो भवत्येव । सुकविलक्षणस्यैवंस्थितत्वात् । तथा च भगवतो व्यासस्य । यश्च निंबं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा । यश्चैनं गंधमाल्येन सर्वस्य कटुरेव सः । अत्र हि छेदसेकालंकारक्रिया अपेक्ष्य निंबादीनां द्वितीयाऽर्थसंबंधश्च ॥ २० ॥

अतिस्थौल्यादि का वर्णन—

वि०—अतिस्थूलता आदि रोग-अतिस्थूलता, अपची, प्रमेह, ज्वर, उदर, भगन्दर, कास, संन्यास, मूत्रकृच्छ्र, आमरोग (अजीर्ण), कुष्ठ आदि अति भयंकर रोग अतिबृंहण से होते हैं ॥ २० ॥

अथैषां स्थौल्यादीनामुपक्रममाह—

तत्र मेदोनिलश्लेष्मनाशनं सर्वमिष्यते ।
कुलत्थजूर्णश्यामाकयवमुद्गमधूदकम् ॥ २१ ॥
मस्तुदण्डाहतारिष्टचिन्ताशोधनजागरम् ।
मधुना त्रिफलां लिह्याद् गुडूचीमभयां घनम् ॥ २२ ॥
रसाञ्जनस्य महतः पञ्चमूलस्य गुग्गुलोः ।
शिलाजतुप्रयोगश्च साग्निमन्थरसो हितः ॥ २३ ॥
विडङ्गं नागरं क्षारः काललोहरजो मधु ।
यवामलकचूर्णं च योगोऽतिस्थौल्यदोषजित् ॥ २४ ॥

स०—तेष्वतिस्थौल्यादिषु मेदोऽनिलश्लेष्मनाशनं सर्वमन्नपानौषधमिष्यते । किं तदिति ब्रूते—कुलत्थादिकं स्थूलायेष्यते । जूर्णस्तृणधान्यविशेषो दक्षिणापथे जोंधलक इति प्रसिद्धः । दंडाहतं मथितम् । त्रिफलादीनामन्यतमं मधुना लिह्यात् । तथा रसांजनादेश्च प्रयोगोऽग्निमन्थरससहितो हितोऽतिस्थूलायेति प्रकृतेन योज्यम् । विडंगादियोगः सर्वसमभागोऽतिस्थौल्यदोषजित् ॥ २१-२४ ॥

अतिबृंहण में उपचार—

वि०—इन रोगों में मेद, वायु, और कफ का नाश करने वाले अन्नपान और औषध बरतने चाहिये । यथा—कुलथी, जूर्ण (ज्वार), सांवाँ, जौ, मूँग, मधु का शर्बत, मस्तु, तक्र, अरिष्ट, चिन्ता, शोधन, रात्रि में जागना । औषध—मधु के साथ त्रिफला या गिलोय या हरड़ को अथवा मुस्ता को चाटे । रसाञ्जन (रसौत) या बृहत्पञ्चमूल या गुग्गुल अथवा शिलाजतु अग्निमन्थ के रस से पिये । वायविडङ्ग, सोंठ, यवक्षार, लोहचूर्ण (तीक्ष्ण लोह-भस्म) इन्हें समभाग

लेकर जौ एवं आँवले का चूर्ण मिला कर मधु के साथ चाटे, यह योग अतिस्थूलता दोष को नष्ट नरनेवाला है ॥२१-२४॥

व्योषकटूवीवराशिग्रुविडङ्गातिविषास्थिराः ।
हिङ्गुसौवर्चलाजाजीयवानीधान्यचित्रकाः ॥ २५ ॥
निशे बृहत्यौ हपुषा पाठा मूलं च केम्बुकात् ।
एषां चूर्णं मधु घृतं तैलं च सदृशांशकम् ॥ २६ ॥
सक्तुभिः षोडशगुणैर्युक्तं पीतं निहन्ति तत् ।
अतिस्थौल्यादिकान् सर्वान् रोगानन्यांश्च तद्विधान् ॥२७॥
हृद्रोगकामलाश्वित्रश्वासकासगलग्रहान् ।
बुद्धिमेधास्मृतिकरं सन्नस्याग्नेश्च दीपनम् ॥ २८ ॥

स०—व्योषादीनि द्रव्याणि चतुर्विंशतिः । परस्परसमभाषानीत्येको भागः । तत्समो मधुनो द्वितीयो भागो घृतस्य तृतीयस्तैलस्य चतुर्थः । एषां सर्वेषां मिश्रीभूतानां षोडशगुणा यवसक्तवः । तदेतत्पीतमतिस्थौल्यादिकान् पूर्वोक्तान् सर्वान् रोगान्निहंति । अन्यांश्च तथाविधान् रोगान् बृंहणोत्थानित्यर्थः । तथा हृद्रोगादीन् निहंति । तथा बुद्ध्यादिकरम् । सन्नस्य मंदस्याऽग्नेर्दीपनं च ॥ २५-२८ ॥

अन्य औषध—

वि०—त्रिकटु, कुटकी, त्रिफला, सहजन, वायविडङ्ग, अतीस, शालपर्णी, हींग, सौवर्चल, जीरा, अजवायन, धनियाँ चित्रक, हल्दी, दारुहल्दी, कटेरी, बड़ी कटेरी, हाऊबेर, पाठा, केम्बुक-मूल इनको परस्पर समभाग लेकर-इनका एक भाग; मधु एक भाग, घी एक भाग और तैल एक भाग (पूर्वोक्त चूर्ण मधु, घी और तैल प्रत्येक एक-एक भाग) मिलाइये; इन सबसे सोलहगुना सत्तु मिलाकर (ठण्डे जल से घोलकर) पिये । इसके पानी से अतिस्थूलता आदि सब रोग तथा इसी प्रकार के दूसरे रोग-हृद्रोग, कामला, श्वित्र, श्वास, कास, गलग्रह, नष्ट होते हैं। यह योग बुद्धि, मेधा और स्मृति बढ़ाता है और मन्द हुई अग्नि को प्रदीप्त करता है[1] ॥ २५-२८ ॥

सांप्रतमतिलंघनोत्थान् रोगान् सौषधादीनाह—

अतिकार्श्यं भ्रमः कासस्तृष्णाधिक्यमरोचकः ।
स्नेहाग्निनिद्रादृक्श्रोत्रशुक्रौजःक्षुत्स्वरक्षयः ॥ २९ ॥
बस्तिहृत्मूर्धजङ्घोरुत्रिकपार्श्वरुजा ज्वरः ।
प्रलापोर्ध्वानिलग्लानिच्छर्दिपर्वास्थिभेदनम् ॥ ३० ॥
वर्चोमूत्रग्रहाद्याश्च जायन्तेऽतिविलङ्घनात् ।

स०—अतिकार्श्यादयोऽतिविलंघनाज्जायंते । स्नेहादीनां क्षयशब्देन समासः । बस्त्यादीनां च रुजाशब्देन । मूत्रादिग्रहाद्याश्चेत्याद्यशब्देन नानाविधानां वातरोगाणां ग्रहणम् ॥२९-३०॥

अतिलङ्घन से होने वाले रोग—

वि०—अतिकार्श्यादि रोग—अति लङ्घन करने से-अतिकृशता, भ्रम, कास, तृष्णा की अधिकता; अरुचि; स्नेह, अग्नि, निद्रा, दृष्टि और श्रोत्र, शुक्र, ओज, भूख और स्वर का क्षय, बस्ति (पेड़ू-मूत्राशय), हृदय, मूर्धा, जङ्घा, ऊरु, त्रिक और पार्श्व में पीड़ा; ज्वर, प्रलाप, ऊर्ध्व वायु, ग्लानि, वमन, पर्व एवं अस्थियों में टूटने की सी वेदना, पुरीष और मूत्र का अवरोध आदि (नाना प्रकार के वात रोग) होते हैं ॥ २९-३० ॥

यद्यपि कार्श्याख्योऽयं महान्दोषस्तथापि स्थौल्यमपेक्ष्य वर एवेति प्रतिपादयन्नाह—

कार्श्यमेव वरं स्थौल्यान्न हि स्थूलस्य भेषजम् ॥३१॥
बृंहणं लङ्घनं वाऽलमतिमेदोग्निवातजित् ।

स०—अत्र चातिकार्श्यमेव वरमतिस्थौल्यादिति वेद्यम् । न कार्श्यमात्रं स्थौल्यमात्रं वा । यस्मादतिस्थूलातिकृशावेव लंघनबृंहणाभ्यामुपक्रम्यावत्र विवक्षितौ न स्थूलकृशौ सामान्येन । कार्श्यमेव स्थौल्याद्वरं कृत इत्याह—यस्मात् स्थूलस्य भेषजं बृंहणं नालं न समर्थं न च लंघनं समर्थम् । यस्मात्स्थूलस्य भेषजमतिमेदोऽग्निवातजित् । यन्मेदःक्षपणं तदग्निनाशकृद्वातहृच्च न । स्थूलस्य हि बृंहणेन मेदोऽतितरामुपचीयते लंघनेन मेदःक्षपणं भवति किंत्वग्निपवनावस्योपचीयेते । तस्माद् बृंहणं मांसक्षीरादि यच्च लंघनं कोद्रवश्यामाकादि तत्पूर्वस्माद्धेतोस्थूलस्य न भेषजम् ॥ ३१ ॥

स्थूलता की अपेक्षा कृशता की श्रेष्ठता तथा उसके कारण—

वि०—स्थूलता से कृशता उत्तम है; क्योंकि स्थूलता के लिये बृंहण या लङ्घन कोई भी चिकित्सा समर्थ नहीं है। क्योंकि स्थूलता के लिये अतिशय मेद, अग्नि और वायुनाशक चिकित्सा चाहिये । [स्थूल में बृंहण करने से अग्नि और वायु शान्त होते हैं पर मेद बढ़ती है और लङ्घन कराने से मेद तो घटती है पर अग्नि और वायु की वृद्धि होती है ।] ॥ ३१ ॥

मधुरस्निग्धसौहित्यैर्यत्सौख्येन च नश्यति ॥ ३२ ॥
क्रशिमा स्थविमाऽत्यन्तविपरीतनिषेवणैः ।

स०—यतो यस्मात्क्रशिमा मधुरस्निग्धतृप्तिभिः सौख्येनानायासेन नश्यति शाम्यति तस्मात्कार्श्यं स्थौल्याद्वरम् । यतश्च स्थविमा स्थूलत्वमत्यंतविपरीतनिषेवणैः शाम्यति । अत्यंतविपरीतानां निषेवणान्यत्यंतविपरीतनिषेवणानि तैस्तिक्तकटुकषायप्रायैरन्नपानौषधसेवनैः शाम्यतीत्यर्थः । स्थूलकृशयोश्च यदि बृंहणसाध्यस्तुल्यो व्याधिः स्यात्ततः स्थूलस्योपक्रमविरोधात्तथा सुखेन न शाम्यति । यथा कृशस्य लंघनसाध्यो विसूचिकादिर्यदि चैतयोः स्यात् सोऽपि कृशस्य सुखेनोपशाम्यति । स्थूलस्य विरुद्धोपक्रमत्वाद्दुःखेन शाम्यति । यथा ह्यत्र प्रधानोपक्रमः स्वेदः स च तावन्न घटते । न स्वेदयेदतिस्थूलमिति निषेधात् । अथैनं

---

[1] १. यही प्रसङ्ग अष्टाङ्गसंग्रह सूत्र अ. २४, चरकसंहिता सूत्र अ- २१, २२, २३, तथा सुश्रुत सूत्र १५, चि. अ. १ (श्लोक ११-१३) एवं उत्तर तन्त्र अ. ३९ में विस्तार से वर्णित है ।

लंघयति तदा। स्रोतःसु मेदोरुद्धेषु वायुः कोष्ठे विशेषतः। चरन् प्रज्वलयत्यग्निं क्षुत्तृषौ स्तस्ततोऽधिकम्। स्थूलं कोटरवद्वृद्धौ दहतोऽग्न्यनिलौ च तौ। इत्यादिना यावद्वातसखेन वनवह्निना वनस्येवाऽस्य महती व्यापदुत्पद्यते। अथ बृंहणोपक्रमः क्रियते तदाऽऽमदोषो वर्धेत। कृशस्य त्वविरुद्धोपक्रमत्वाद्विसूचिकादिः सुखेनौपक्रम्यस्तस्मात्कार्श्यमेव स्थौल्याद्वरम्। क्रशिमेति कृशशब्दात्पृथ्वादिपाठादिमनिच्। रऋतो हलादेरिति रेफादेशः। स्थविमेति दृढादेराकृतिगणत्वादिमनिजिति केचित्। तस्मिंश्च सति स्थूलदूरेति यणादिपरस्य लोपः। ऋकारस्य च गुणः॥ ३२॥

वि०—कृशता—मधुर-स्निग्ध पदार्थों को तृप्तिपर्यन्त खाते रहने से बिना श्रम के नष्ट हो जाती है और स्थूलता—तिक्त-कटु या कषाय एवं रूक्ष पदार्थों के अभ्यास से नष्ट होती है। [हेमाद्रि के विचार से-सौख्येन-सुखमय जीवन व्यतीत करने से कृशता नष्ट होती है और उसके विपरीत दुःखमय जीवन व्यतीत करने से स्थूलता नष्ट होती है।] ॥ ३२॥

वक्तव्य—स्थूल और कृश में यदि एक ही रोग उत्पन्न हो जाय (चाहे वह लंघनसाध्य हो या बृंहणसाध्य) तो स्थूल में विरुद्ध उपक्रम होने से रोग कष्टसाध्य होता है किन्तु कृश में यह बात न होने से रोग सुखसाध्य होता है।

अथ कृशे कीदृशं भेषजमित्याह—

योजयेद् बृंहणं तत्र सर्वं पानान्नभेषजम्॥ ३३॥
अचिन्तया हर्षणेन ध्रुवं सन्तर्पणेन च।
स्वप्नप्रसङ्गाच्च कृशो वराह इव पुष्यति॥ ३४॥

स०—तत्र कृशे बृंहणं सर्वं पानाद्यौषधं योज्यम्। अचिंतया चेतसः शोककार्याद्यनाकुलत्वेन तथा हर्षणेन चित्तस्य तुष्ट्या तथा संतर्पणेनाहारविशेषादिना बृंहणेन तथा स्वप्नप्रसंगादतिनिद्रासेवनेन कृशः पुष्यति सर्वोपचितधातुः संपद्यते। क इव। वराहः शूकरो यथा। अन्येभ्यश्च पुष्टिहेतुभ्यः कृशविषये स्वप्न एव प्रधान इति च दर्शयितुं वराहो दृष्टांतत्वेनोपन्यस्तो ग्रन्थकृता। तथाहि। वराहस्य स्वप्नमंतरेण न कश्चित्तथाविधोऽभ्यवहारादिरुपलभ्यते। यथाऽसौ पुष्टोऽतिमेदुरो दृश्यते। अतिस्थूलाऽतिकृशयोश्च मुनिना लक्षणमभ्यधायि। मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः। अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते। तथा। शुष्कस्फिगुदरग्रीवो धमनीजालसंततः। त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मत इति॥ ३३-३४॥

कृशता का उपचार—

वि०—कृशता में खान-पान और औषध सब बृंहण गुण वाले बरतने चाहिये।

चिन्ता न करने से; प्रसन्नता से; नित्य संतर्पण करने से और पर्याप्त नींद लेने से-कृश व्यक्ति सूअर की भाँति पुष्ट होता है॥ ३३-३४॥

वक्तव्य—अतिस्थूल का लक्षण—'मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः। अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते॥'

अतिकृश का लक्षण—'शुष्कस्फिगुदरग्रीवो धमनीजालसन्ततः। त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मतः॥' (चरक सू० अ० २१।)

न हि मांससमं किञ्चिदन्यद्देहबृहत्त्वकृत्।
मांसादमांसं मांसेन सम्भृतत्वाद्विशेषतः॥ ३५॥

स०—मांसेन सममपरं देहबृहत्त्वकरं न च विद्यते। सर्वबृंहणत्वकरेभ्यो मांसमतिबृंहणमित्यर्थः। विशेषेण मांसादमांसं देहस्य बृहणत्वकृत्। कुत इत्याह। मांसेन संभृतत्वात्। पुष्टत्वात्॥ ३५॥

मांस-भक्षण श्रेष्ठ बृंहण है—

वि०—शरीर का बृंहण करने में मांस के समान अन्य कोई वस्तु नहीं है। विशेष कर मांस खाने वाले प्राणियों का मांस, मांस से पुष्ट होने के कारण शरीर के बृंहण के लिये श्रेष्ठ है॥ ३५॥

एवं विस्तरेण स्थूलकृशयोरुपक्रममुक्त्वा समासेनाह—

गुरु चातर्पणं स्थूले विपरीतं हितं कृशे।
यवगोधूममुभयोस्तद्योग्याहितकल्पनम्॥ ३६॥

स०—यद्गुरु तथापतर्पणं तत्समासेन स्थूलाय हितं माक्षिकशालूकादि। एतद्धि रौक्ष्यान्मेदः क्षपयति। गौरवाच्च शीघ्रं जरां न गच्छति। यदतो विपरीतं लघु संतर्पणं च तदतिकृशाय हितं शालिषष्टिकैणेयमांसलावकपिंजलाविकम्। अतिकृशस्य ह्यग्निरपि कृशो भवति। तस्माद्यदि तस्य गुर्वन्नपानौषधमुपयुज्यते। ततोऽग्निसादोऽस्य जायते। अथाऽस्य लघु अपतर्पणमुपयुज्यते तद्भूयः कार्श्यमेवाऽस्यापद्यते। तस्माल्लघु संतर्पणं च यत्तत्कृशाय हितम्। गुरु चेत्यत्र चशब्दाल्लघु च यदपतर्पणं श्यामाककोरदूषादिकं तथाऽन्यदपि यन्न गुरु नच लघु मेदोघ्नं जागरव्यवायव्यायामचिंतादिकं तच्च स्थूले हितं गमयति। उभयोः स्थूलकृशयोर्यवगोधूमं हितम्। किंभूतं यवगोधूमित्याह—तद्योग्येत्यादि। तयोः स्थूलकृशयोर्योग्या उचिताऽऽहिता कृता कल्पना संयोगसंस्कारादिनोपयोगोपायो वा यस्मिन् यवे गोधूमे तदेवं यवाः स्थूले हिताः गोधूमा कृशे इत्यर्थः। हितयोगे चतुर्थी वक्तव्येत्यस्य प्रायिकत्वात् स्थूले हितमित्यत्र न चतुर्थी। अन्येऽपि ह्येवं प्रयोगा दृश्यन्ते। यदा रुद्रटस्य। सामाजाधीमतां हितमिति। तथाऽस्यैव। विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता। व्रणाऽक्षिरोगसंशुद्धदुर्बलस्नेहपायिनामिति॥ ३६॥

स्थूल-कृश की सामान्य चिकित्सा—

वि०—स्थूल व्यक्ति में गुरु और अपतर्पण वस्तु (यथा—मधु आदि) उत्तम है; कृश व्यक्ति में लघु और सन्तर्पण वस्तु (शालि, साठी, ऐण मांसादि) श्रेष्ठ है। जौ स्थूल के लिये और गेहूँ कृश के लिये उत्तम है; इनको उचित कल्पना से देना चाहिये अर्थात् स्थूल के लिये-तैल-तक्रादि में

बनवाये भक्ष्य; कृश के लिये घृत-दूध आदि में बनवाये भक्ष्य देने चाहिये[१] ॥ ३६ ॥

ननु चाऽतीसारज्वरगुल्मादीनामनेकरूपत्वादनंता एवोपक्रमाः प्राप्तास्तत्कथमुपक्रमस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मत इत्याह—

दोषगत्याऽतिरिच्यन्ते ग्राहिभेद्यादिभेदतः ।
उपक्रमा न ते द्वित्वाद्भिन्ना अपि गदा इव ॥ ३७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने द्विविधोप-
क्रमणीयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

स०—दोषाणां पृथग्रूपाणां संसर्गसन्निपाततरतमभेदेनाऽऽनंत्यं यातानां या गतिस्तथा तेषामेव स्थानवृद्धिक्षयलक्षणाया गतिस्तिर्यगूर्ध्वाधोलक्षणा या गतिस्तथा शाखाकोष्ठास्थिसंधिलक्षणा च या गतिस्तयाऽतिरिच्यंते बहवो भवंत्युपक्रमाः। कथमित्याह। ग्राहिभेद्यादिभेदतः। ग्राही च भेदी च ग्राहिभेदिनौ तावादी येषां रोगानुरोधान्नानाविधानामुपक्रमाणां ते ग्राहिभेद्यादयस्तेषां भेदो विशेषो ग्राहिभेद्यादिभेदस्तस्मात्। यद्यप्यतिरिच्यंतेऽनंताः संपद्यंते तथाऽपि द्वित्वात्संतर्पणाऽपतर्पणरूपान्न तेऽतिरिच्यंते। संतर्पणरूपत्वमपतर्पणरूपत्वं वा वर्जयित्वा न तेषामुपक्रमाणां रूपांतरं संभवतीत्यर्थः। कथमिव नाऽतिरिच्यंत इत्याह। भिन्ना अपि गदा इव। यथा वातादिदोषवशान्नानाविधा अपि ज्वरादयो बृंहणलंघनसाध्यत्वं सामत्वं निरामत्वं वा नातिवर्तंते तथोपक्रमा अपीति ॥ ३७ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायाम-
ष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुंदराख्यायां द्विविधोप-
क्रमणीयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

चिकित्सा के दो भेद—

वि०—जिस प्रकार दोष अपने गतिभेद से भिन्न होकर अनेक होने पर भी तथा उपक्रम आदि के अनुसार अनेक होने पर भी ग्राही, भेदक ये सब उपक्रम दो (सन्तर्पण और अपतर्पण) से भिन्न नहीं हैं। सबका इन दो में ही समावेश हो जाता है; जिस प्रकार सब भिन्न-भिन्न रोगों का लंघनजन्य और बृंहणजन्य इन दो भेदों में ही समावेश होता है ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—चरक में—'दोषाणां बहुसंसर्गात् सङ्कीर्यन्ते ह्युपक्रमाः। षट्त्वं तु नातिवर्त्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा ॥'

छः उपक्रम—लङ्घन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन और स्तम्भन हैं। यहाँ इन छहों का अपतर्पण तथा सन्तर्पण में ही समावेश किया गया है।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का द्विविधोपक्रमणीय नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

द्विविधोपक्रमणीयाध्यायादनंतरं शोधनादिगणसंग्रहाध्यायारंभः। यतो दोषोपक्रमणीये द्विविधोपक्रमणीये च नानाविधा उपक्रमा अभिहितास्ते च मदनमधुकादिभेषजाश्रया अतस्तानि शोधनान्युपयोगीनि सर्वोपक्रमाधिकाराणि संजिघृक्षुरध्यायमिममारेभे—

अथातः शोधनादिगणसंग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

स०—शोधनं शोधनरूपो द्रव्यगण आदिर्येषां त एवम्। आदिशब्देन वातहरादिगणपरिग्रहः। तेषां संग्रहो यस्मिन्नध्याये स शोधनादिगणसंग्रहस्तं शोधनादिगणसंग्रहसंज्ञमध्यायं व्याख्यास्यामः। गणः समूहः। विक्षिप्तानां पदार्थानामेकत्र राशीकरणं संग्रहः। तत्र शोधनगणस्य सर्वदोषविजयत्वेन प्राधान्यात्पूर्वमुपन्यासः।

वि०—अब इसके आगे शोधनादिगणसंग्रह नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

शोधनं च चतुर्विधम्। वमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनद्रव्यभेदेन। तत्रापि वमनस्यौषधगणं तावत्पूर्वं वक्ति—

मदनमधुकलम्बानिम्बबिम्बीविशाला
त्रपुसकुटजमूर्वा देवदालीकृमिघ्नम् ।
विदुलदहनचित्राः कोशवत्यौ करञ्जः
कणलवणवचैलासर्षपाश्छर्दनानि ॥ १ ॥

स०—मदनं राठः मधुकं मधुयष्टिका। लंबा तुंबी दीर्घतिक्ताऽलाबुसंज्ञा। निंबः पिचुमन्दः बिंबी गोह्वा ओष्ठोपमफलसंज्ञा। विशाला इंद्रवारुणी। त्रपुसं तिक्तत्रपुसं वेद्यम्। तस्य वमने योग्यत्वात्। कुटजं वत्सकम्। मूर्वा पीलुपर्णी। देवदाली घरंघरा। कृमिघ्नं विडंगम्। विदुलो जलवेतसः। दहनश्चित्रकः। चित्रा मूषिकपर्णी। कोशवत्यौ घंटालिकैका धामार्गवो द्वितीया राजकोशातकी। करंजो नक्तमालम्। कणः पिप्पली। लवणं सैंधवम्। वचा गोलोमी। एला त्रुटिः। सर्षपो रक्षोघ्नः। एतानि मदनादीनि छर्दनानि छर्दिकृन्ति छर्दिकाराणि। अत्र मदनविशालात्रपुसकुटजविडंगैलासर्षपाणां फलानि वमनकृंति। मधुकविदुलचित्रकदंतीवचानां तु

---

[१] 'यथावश्यक संस्कार द्वारा गेहुँ और जौ, कृश और स्थूल दोनों के लिये हितकारक होते है' यह अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है।

[१] समस्तं वर्गमर्धं वा यथालाभमथाऽपि वा ।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञो यथोद्दिष्टेषु कर्मसु । (सु. सू. अ. ३७)

मूलानि। रोध्रसुवर्णक्षीरीकंपिल्लानां त्वचो रेचनाः। शेषाणां फलपत्रपुष्पाणीति। वसुमुनिविरतिश्चेन्मालिनी नौ मयौ यः ॥ १ ॥

वमनकारक औषध—

वि०—वमन गण—मैनफल, मुलहठी, कड़ुई तुम्बी, नीम, कन्दूरी, इन्द्रायण; खीरा, कुड़ा; मूर्वा; बन्दाल; वायविडङ्ग; हिज्जल, चित्रक; चिभ्रा (जंगली परवल); मंगरैल, कोशातकी (तरोई)· धामार्गव (नेनुआ), करञ्ज, पिप्पली, सेंधानमक, वच, इलायची और सरसों ये द्रव्य वमन कराने वाले हैं ॥ १ ॥

वक्तव्य—यह केवल निर्देश मात्र है—इस तरह के अन्य द्रव्य भी वामक हैं। इनमें से जो मिल सकें, उनको बरते और जो द्रव्य अयौगिक हो उसे छोड़ देवे।

निकुम्भकुम्भत्रिफलागवाक्षी-
　　स्नुक्शङ्खिनीनीलिनितिल्वकानि।
शम्याककम्पिल्लकहेमदुग्धा
　　दुग्धं च मूत्रं च विरेचनानि ॥ २ ॥

स०—निकुंभो दंती। कुंभस्त्रिवृत्। त्रिफला वरा। गवाक्षी विशाला द्वितीयेंद्रवारुणी। स्नग्गुडा। शंखिनी यवतिक्ता। नीलिनी नीलपुष्पा भारवाहीसंज्ञा। तिल्वको रोध्रः। शम्याकः कर्णिकारः। कंपिल्लको रंजनकः। हेमदुग्धा कनकक्षीरी। दुग्धं क्षीरम्। मूत्रं प्रसिद्धम्। निकुंभादीन्येतानि विरेचनानि। उपजातिर्वृत्तम् ॥ २ ॥

विरेचनकारक औषध—

वि०—विरेचन गण—दन्ती, द्रवन्ती, त्रिफला; इन्द्रायण; थूहर (सेहुँड़); शंखिनी (यवतिक्ता-आँखफुटामणी-गुजराती में); नीलिनी (नील); तिल्वक; अमलतास; कबीला; स्वर्णक्षीरी; दूध और मूत्र-ये विरेचन हैं ॥ २ ॥

मदनकुटजकुष्ठदेवदाली-
　　मधुकवचादशमूलदारुरास्नाः।
यवमिशिकृतवेधनं कुलत्था
　　मधु लवणं त्रिवृता निरूहणानि ॥ ३ ॥

स०—मदनं मदनफलम्। कुटजं वत्सत्वक्। कुष्ठं गदनाम। दारु देवदारुः। रास्ना युक्तरसा। मिसिः शतपुष्पा। कृतवेधनं धामार्गवः। निरूहणानि निरूहणसाधनानि। भवति जगति नौ ततः परौ यौ नजसहितैर्जरगैश्च पुष्पिताग्रा ॥ ३ ॥

निरूहण औषध—

वि०—निरूह गण—मैनफल; कुड़ा, कूठ; बन्दाल, मुलहठी, वच, दशमूल, देवदारु, रास्ना; जौ, सौंफ, कड़ुवी तरोई, कुलथी; मधु, नमक और निशोथ ये निरूहवस्ति के उपयोगी द्रव्य हैं ॥ ३ ॥

वेल्लापामार्गव्योषदार्वीसुराला
　　बीजं शैरीषं बार्हतं शैग्रवं च।
सारो माधूकः सैन्धवं तार्क्ष्यशैलं
　　त्रुट्यौ पृथ्वीका शोधयन्त्युत्तमाङ्गम् ॥ ४ ॥

स०—वेल्लो विडंगः। अपामार्गः प्रत्यक्पुष्पी। व्योषं त्रिकटुकम्। दार्वी पीतद्रुः। सुराला श्रेष्ठसर्जरसः। शिरीषबीजं शैरीषम्। बृहत्या बीजं बार्हतम्। शिग्रोः बीजं शैग्रवम्। सारो माधूको मधुपुष्पसारः। सैंधवं सिंधूत्थम्। तार्क्ष्यशैलं शुष्करसांजनम्। त्रुट्यौ सूक्ष्मैला स्थूलैला च। पृथ्वीका हिंगुपत्री। एतान्युत्तमांगं शोधयंति। मूर्धविरेचनानीत्यर्थः। मौ यौ पंचाश्वैर्वैश्वदेवीति नाम्ना ॥ ४ ॥

शिरोविरेचन औषध—

वि०—नस्य गण—वेल्ल (विडंग); चिरचिटा, त्रिकटु, दारुहल्दी, राल, शिरस, बड़ी कटेरी और सहजने के बीज; महुवे का सार; सैन्धवनमक; रसौत; इलायची, बड़ी इलायची; पृथ्वीका (नाडीहिंगु); ये शिर का शोधन (नस्य द्वारा प्रयुक्त होने पर) करते हैं ॥ ४ ॥

भद्रदारु नतं कुष्ठं दशमूलं बलाद्वयम्।
वायुं वीरतरादिश्च विदार्यादिश्च नाशयेत् ॥ ५ ॥

स०—भद्रदारु द्रुकिलिमम्। नतं तगरम्। कुष्ठं गदः। दशमूलं द्विपंचमूलम्। बलाद्वयं बलाऽतिबला च। एतानि भद्रदार्वादीनि तथा वक्ष्यमाणो वीरतरादिर्विदार्यादिश्च गणो वायुं नाशयति ॥ ५ ॥

वायुनाशक औषध—

वि०—वातघ्न गण—देवदारु, तगर, कूठ, दशमूल, खिरेटी और अतिबला (कंघी); तथा (आगे कहे जाने वाले) वीरतरादिगण और विदार्यादि गण के द्रव्य वायु का नाश करते हैं ॥ ५ ॥

दूर्वाऽनन्ता निम्बवासाऽऽत्मगुप्ता
　　गुन्द्राऽभीरुः शीतपाकी प्रियङ्गुः।
न्यग्रोधादिः पद्मकादिः स्थिरे द्वे
　　पद्मं वन्यं सारिवादिश्च पित्तम् ॥ ६ ॥

स०—दूर्वा शाद्वलम्। अनंता यवासः। निंबः प्रसिद्धः। वासा आटरूषकः। आत्मगुप्ता कपिकच्छूः। गुंद्रा पदएरकः। अभीरुः शतावरी। शीतपाकी शिखंडिका काकणंतिकाभेदः। प्रियंगुः श्यामा। एष दूर्वादिगणस्तथा वक्ष्यमाणो न्यग्रोधादिस्तथा पद्मकादिर्गणस्तथा शालिपर्णीपृश्निपर्ण्यौ तथा पद्मं जलजं वन्यं कुटंनटं सारिवादिश्च गणः। एते पित्तं नाशयंति। म्तौ तो गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः ॥ ६ ॥

पित्तनाशक औषध—

वि०—पित्तनाशक गण—दूब, सारिवा; नीम, अडूसा, कौंच; गुन्द्रा, शतावरी; शीतपाकी (बला), प्रियंगु; शालपर्णी, पृश्निपर्णी; कमल; वन्य (केवटी मोथा); ये तथा

न्यग्रोधादि, पद्मकादि और सारिवादिगण पित्त को शान्त करते हैं ॥ ६ ॥

आरग्वधादिरर्कादिर्मुष्ककाद्योऽसनादिकः ।
सुरसादिः समुस्तादिर्वत्सकादिर्बलासजित् ॥ ७ ॥

स०—आरग्वधाद्यादयो गणाः सप्तैते बलासं श्लेष्माणं जयंति ॥ ७ ॥

कफनाशक औषध—

वि०—श्लेष्मनाशक गण—आरग्वधादि, अर्कादि, मुष्कादि; असनादि, सुरसादि, मुस्तादि; वत्सकादि ये गण कफनाशक हैं ॥ ७ ॥

जीवन्ती काकोल्यौ मेदे द्वे मुद्गमाषपर्ण्यौ च ।
ऋषभकजीवकमधुकं चेति गणो जीवनीयाख्यः ॥ ८ ॥

स०—जीवंत्यादिर्गणो जीवनीयसंज्ञः उदाहरणमात्रं चेदम् । धीमता स्वादुशीतस्निग्धादीन् जीवंत्यादिषु साधारणगुणानालोच्य क्षीरेक्षुद्राक्षाऽक्षोडविदार्यादिषु तद्गुणेषु जीवनीयादित्वमवधारयितुं युक्तमिति । जीवंती जीववर्धना। काकोल्यौ द्वे एका काकोली कवडीसंज्ञा । अन्या क्षीरकाकोली पयस्विनी संज्ञा । द्वे मेदे एका मेदा मणिच्छिद्रसंज्ञा । अन्या महामेदा वृत्तसहासंज्ञा । मुद्गपर्ण्यादीनां प्रागुक्तानि नामानि । द्व्यंतरादिगुरुभिः सोदधिलैः सप्तभिर्गणैर्गुरुणा । आर्यार्धे नाऽत्रायुजि जः षष्ठोऽयं नलघुकौ वा ॥ ८ ॥

जीवनीयगण—

वि०—जीवनीय गण—जीवन्ती, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी; ऋषभक, जीवक और मुलहठी यह जीवनीय (जीवन के उपयोगी) गण हैं ॥ ८ ॥

विदारिपञ्चाङ्गुलवृश्चिकाली
वृश्चीवदेवाह्वयशूर्पपर्ण्यः ।
कण्डूकरी जीवनह्रस्वसंज्ञे
द्वे पञ्चके गोपसुता त्रिपादी ॥ ९ ॥
विदार्यादिरयं हृद्यो बृंहणो वातपित्तहा ।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासहरो गणः ॥ १० ॥

स०—विदारी वृष्यकंदा । पंचांगुल एरंडः । वृश्चिकाल्युष्ट्रधूमको मेषशृङ्गी । वृश्चीवः क्षुद्रवर्षाभूः । देवाह्वयः सुरदारुः । देवद्वयेति। पाठे एका सहदेवा द्वितीया विश्वदेवा चेति देवाद्वयम् । शूर्पपर्णी मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी च । कंडूकरी कपिकच्छूः । जीवनेत्यादि । अभीरुवीराजीवंतीजीवकर्षभकैः स्मृतम् । जीवनाख्यमिति जीवनसंज्ञं पंचमूलम् । बृहती कंटकारिका । शालिपर्णी पृश्निपर्णी गोक्षुरकमिति ह्रस्वसंज्ञं पंचमूलम् । गोपसुता सारिवा । त्रिपादी हंसपादी कीटमारिकाख्या । उपजातिर्वृत्तम् एष । विदार्यादिगणो बृंहणो वातपित्तघ्नः शोषादिहरश्च ॥ ९-१० ॥

विदार्यादिगण—

वि०—विदार्यादि गण—विदारी, एरण्ड, वृश्चिकाली (उसरन); पुनर्नवा, देवदारु, मुद्गपर्णी, माषपर्णी; कौंच, जीवन पञ्चमूल तथा लघु पञ्चमूल; सारिवा, त्रिपादी (हंसराज) यह विदार्यादिगण हृदय के लिये उत्तम; बृंहण करने वाला, वात-पित्तनाशक, शोष, गुल्म, अंगों का टूटना, उदावर्त, श्वास, कास का नाशक है ॥ ९-१० ॥

सारिवोशीरकाश्मर्यमधूकशिशिरद्वयम् ।
यष्टी परूषकं हन्ति दाहपित्तास्रतृड्ज्वरान् ॥ ११ ॥

स०—सारिवोष्णवल्ली । उशीरं वीरतरुः । काश्मर्यः सर्वतोभद्रा । मधूको गुडपुष्पकः । शिशिरद्वयमेकं सितं चंदनं मलयजसंज्ञमन्यद्रक्तचंदनसंज्ञम् । यष्टी क्लीतकसंज्ञा । परूषकं मृदुफलम् । सारिवादिरयं दाहादीन् हंति ॥ ११ ॥

सारिवादि गण—

वि०—सारिवादिगण—सारिवा, खस, गम्भारी, महुआ, श्वेत और रक्त चन्दन, मुलहठी और फालसा-यह सारिवादिगण-दाह, पित्त, रक्त, प्यास और ज्वर को नष्ट करता है ॥ ११ ॥

पद्मकपुण्ड्रौ वृद्धितुगर्द्ध्यः
शृङ्ग्यमृता दश जीवनसंज्ञाः ।
स्तन्यकरा घ्नन्तीरणपित्तं
प्रीणनजीवनबृंहणवृष्याः ॥ १२ ॥

स०—पद्मकं हेमपद्मम् । पुंड्रः प्रपौंडरीकम् । वृद्धिः श्रावणी । तुगा तुगाक्षीरी । ऋद्धिर्महाश्रावणी । शृंगी कुलीरशृंगी । अमृता छिन्नरुहा, दश जीवनसंज्ञा जीवंत्यादिगणोक्ताः एते पद्मकादयः स्तन्यहेतवः । तथा वातपित्तं घ्नन्ति । तथा प्रीणनादियुक्ताः । अष्टाभ्यो भाद्रौ योज्या उपचित्रा ॥ १२ ॥

पद्मकादिगुण—

वि०—पद्मकादिगण—पद्माख, तिलक, वृद्धि, वंशलोचन, ऋद्धि, कर्कटशृङ्गी, गिलोय, जीवनीयगण के दस द्रव्य; (श्लोक ८) यह गण दुग्धवर्धक, वायु-पित्तनाशक; प्रीणन, जीवन, बृंहण और वृष्य है ॥ १२ ॥

परूषकं वरा द्राक्षा कट्फलं कतकात् फलम् ।
राजाह्वं दाडिमं शाकं तृण्मूत्रामयवातजित् ॥ १३ ॥

स०—परूषको मृदुफलो धन्वनच्छदः । वरा श्रेष्ठा । द्राक्षा मधुफला । कट्फलं रोहिणी सोमवल्कः । कतकाफलं वारिप्रसादनम् । राजाह्वं कर्णिकारम् । दाडिमं शुकेष्टम् । शाकं खरच्छदं वृक्षविशेषः । परूषकादिरेष तृडामयादिजित् ॥ १३ ॥

परूषकादिगण—

वि०—परूषकादिगण—फालसा, त्रिफला, द्राक्षा, कायफल, कतक का फल (निर्मली), राजाह्व (राजादन-खिरनी) अनार, सागौन का फल यह गण प्यास, मूत्ररोग और वातनाशक है ॥ १३ ॥

अञ्जनं फलिनी मांसी पद्मोत्पलरसाञ्जनम् ।
सैलामधुकनागाह्वं विषान्तर्दाहपित्तनुत् ॥ १४ ॥

स०—अंजनं द्विधा। एकं स्रोतोंजनं यामुनसंज्ञमपरं सौवीरांजनं नेत्रभूषणाख्यम्। फलिनी प्रियंगुः। मांसी कृष्णजटा। पद्मं पुष्करम्। उत्पलं शशिप्रियम्। रसांजनं तार्क्ष्यशैलम्। एला बहुला प्रसिद्धा। मधुकं मधुयष्टी। नागाह्वं नागकेसरम्। एषोऽजनादिर्विषादिजित् ॥ १४ ॥

अञ्जनादिगण—

वि०—अञ्जनादिगण—स्रोतोञ्जन, प्रियंगु, जटामांसी, कमल, उत्पल, रसौत, इलायची, मुलहठी, नागकेशर यह गण विष, अन्तर्दाह और पित्तनाशक है ॥ १४ ॥

पटोलकटुरोहिणीचन्दनं
मधुस्रवगुडूचिपाठान्वितम् ।
निहन्ति कफपित्तकुष्ठज्वरान्
विषं वमिमरोचकं कामलाम् ॥ १५ ॥

स०—पटोलं पांडुफलम्। कटुरोहिणी कटुकी। चंदनं गन्धसारम्। मधुस्रवा मरुद्री सुरंगी। गुडूची छिन्नरुहा। पाठांऽबष्ठा। एतैर्द्रव्यैर्युक्तमेतत् पटोलादिकं कफादीन् हंति। मात्रासमकं नवमोल्गंतम् ॥ १५ ॥

पटोलादिगण—

वि०—पटोलादिगण—पटोल, कुटकी; चन्दन, मूर्वा; गिलोय, पाठा, यह गण कफ, पित्त, कुष्ठ, ज्वर, विष, वमन, अरुचि और कामला को नष्ट करता है ॥ १५ ॥

गुडूचीपद्मकारिष्टधानकारक्तचन्दनम् ।
पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहतृष्णाघ्नमग्निकृत् ॥ १६ ॥

स०—गुडूची छिन्नोद्भवा। पद्मको मरुद्भवः। अरिष्टो निंबः। धानका धान्याकम्। रक्तकाष्ठम्। एष गुडूच्यादिः पित्तादीन् हंति ॥ १६ ॥

गुडूच्यादिगण—

वि०—गुडूच्यादिगण—गिलोय, पद्माख, नीम, धनियाँ, लालचन्दन, यह गण पित्त, कफ, ज्वर, वमन, दाह और तृष्णानाशक एवं अग्निवर्धक है ॥ १६ ॥

आरग्वधेन्द्रयवपाटलिकाकतिक्ता-
निम्बामृतामधुरसास्रुववृक्षपाठाः ।
भूनिम्बसैर्यकपटोलकरञ्जयुग्म-
सप्तच्छदाग्निसुषवीफलबाणघोण्टाः ॥ १७ ॥
आरग्वधादिर्जयतिच्छर्दिकुष्ठविषज्वरान् ।
कफं कण्डूं प्रमेहं च दुष्टव्रणविशोधनः ॥ १८ ॥

स०—आरग्वधः शम्याकः। इंद्रयवाः कलिंगकाः। पाटलिर्वसंतदूती। काकतिक्ता शार्ङ्गेष्टा। निंबः पारिभद्रकः। अमृता गुडूची। मधुरसा मूर्वा। स्रुववृक्षो विकंकतः कंटकीवृक्षः कंटकारिकेति प्रसिद्धः। पाठांऽबष्ठा। भूनिंबः कैरातः। सैर्यकः सहचरः। पटोलं कर्कशच्छदम्। करंजयुग्ममेकः पूतिककरंजश्चिरिबिल्वाख्योऽपरो नक्तमालाख्यः। सप्तच्छदोऽयुग्मच्छदः। अग्निश्चित्रकः। सुषवी कारवी पानीयवल्ली अजशृङ्गी। फलं मदनफलम्। बाणः सहचरः। घोंटा पूगविशेषः। अयमारग्वधादिश्छर्द्यादीन्निहंति। वसंततिलकावृत्तम् ॥ १७-१८ ॥

आरग्वधादिगण—

वि०—आरग्वधादिगण—अमलतास, इन्द्रजौ, पाटलि (पाटला), काकतिक्ता, नीम, गिलोय, मूर्वा, स्रुववृक्ष (विकङ्कत), पाठा, चिरायता, सैर्यक (कांटा सरैया), पटोल, नाटाकरञ्ज, पूतिकरञ्ज, सप्तच्छद (सतवन), चित्रक, सुषवी (करैला), फल (मैनफल), बाण (नीलझिंटी), घोण्टा (बेर), यह आरग्वधादि गण है तथा दूषित व्रणों का शोधक है ॥ १७-१८ ॥

असनतिनिशभूर्जश्वेतवाहप्रकीर्याः
खदिरकदरभण्डीशिंशिपामेषशृङ्ग्यः ।
त्रिहिमतलपलाशा जोङ्गकः शाकशालौ
क्रमुकधवकलिङ्गच्छागकर्णाश्वकर्णाः ॥ १९ ॥
असनादिर्विजयते श्वित्रकुष्ठकफक्रिमीन् ।
पाण्डुरोगं प्रमेहं च मेदोदोषनिबर्हणः ॥ २० ॥

स०—असनः पीतशालाख्यः। तिनिशः स्यंदनसंज्ञः। भूर्जो बहुपुटाख्यः। श्वेतवाहोऽर्जुनः। प्रकीर्यः पूतिकरंजः। खदिरो गायत्री। कदरः खदिराकृतिः श्वेतसारः। भंडी शिरीषः। शिंशपा मंडलपत्रिका। मेषशृङ्ग्यजशृङ्गी। त्रिहिमं चंदनत्रयं मलयजरक्तचंदनदारुहरिद्राभेदेन। तलस्तालः। पलाशः किंशुकः। जोंगकोऽगुरुसंज्ञः। शाकं वरदारु। शालो रसनिर्यासाख्यः। क्रमुकं पूगम्। धवः शकटाख्यः। कलिंगं शक्रयवाः। छागकर्णो बस्तकर्णः। अश्वकर्णः कुशिकः। मालिनीवृत्तम्। अथमसनादिः श्वित्रादीन् विजयते शमयति। विजयत इति विपराभ्यां जेरित्यात्मनेपदम्। तथा मेदोदोषं निबर्हति पराकरोति ॥ १९-२० ॥

असनादिगण—

वि०—असनादिगण—असन (बिजयसार), तिनिश, भोजपत्र, श्वेतवाह (अर्जुन), पूतिकरंज, खैर, कदर (श्वेत खदिर), भण्डी (शिरीष), शीशम, मेढासिंगी, त्रिहिम (तीन चन्दन-कालीयक, लालचन्दन, श्वेतचन्दन); ताल, पलाश, जोंगक (अगरु), सागौन, साल, सुपारी, धव, इन्द्रजौ, अजकर्ण, अश्वकर्ण यह असनादि गण-श्वित्र, कुष्ठ, कफ, क्रिमि, पाण्डुरोग तथा प्रमेह को नष्ट करता है, और मेदोदोष को शान्त करता है ॥ १९-२० ॥

वरुणसैर्यकयुग्मशतावरी-
दहनमोरटबिल्वविषाणिकाः ।
द्विबृहतीद्विकरञ्जजयाद्वयं
बहलपल्लवदर्भरुजाकराः ॥ २१ ॥
वरुणादिः कफं मेदो मन्दाग्नित्वं नियच्छति ।
आढ्यवातं शिरःशूलं गुल्मं चान्तःसविद्रधिम् ॥ २२ ॥

स०—वरणो रुमालः। सैर्यकयुग्मं सहचरद्वयमेको रक्तपुष्पः कुरबकाख्योऽन्यः पीतपुष्पः कुरंटकाख्यः। शतावरी वरा। दहनो वह्निः। मोरटो मूर्वा। बिल्वः पूतिवातः। विषाणिकाऽजश्रृङ्गी। द्विबृहत्यौ कंटकारिकामोटिकाऽख्ये। करंजयुग्मं प्रागुक्तम्। तर्कारी हरीतकी चेति जयाद्वयम्। बहलपल्लवः शोभांजनः। दर्भाः कुशाः रुजाकरो हितालुः। द्रुतविलंबितमाह नभौ भरौ। वरणादिरयं कफादीन् हंति ॥ २१-२२ ॥

वरुणादिगण—

वि०—वरुणादिगण—वरुण (वरना); दोनों प्रकार की झिंटी (श्वेत और नील फूल की), शतावरी, चित्रक, मूर्वा, बिल्व, मेषश्रृङ्गी, कटेरी, बड़ी कटेरी, नाटाकरञ्ज और पूतिकरंज, जयाद्वय (अग्निमंथ और टेकार); सहजना, दाभ, रुजाकर (आर्त्तगल ?)-यह वरुणादि गण कफ, मेद, अग्निमान्द्य, आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ), शिरः-शूल, गुल्म और अन्तर्विद्रधि को नष्ट करता है ॥ २१-२२ ॥

ऊषकस्तुत्थकं हिङ्गु कासीसद्वयसैन्धवम् ।
सशिलाजतु कृच्छ्राश्मगुल्ममेदःकफापहम् ॥ २३ ॥

स०—ऊषको वृष्यकः कल्लर इति प्रसिद्धः। तुत्थकं कार्पूरं किटिहापरसंज्ञम्। हिंगु रामठम्। कासीसद्वयमेकं पांशुधातुसंज्ञमपरं पुष्पकासीसाख्यम्। सैंधवं माणिमन्थम्। शिलाजतु शिलाजम्। ऊषकादिरयं मूत्रकृच्छ्रादीनपहंति ॥२३॥

ऊषकादिगण—

वि०—ऊषकादिगण—ऊषक (इस नाम का एक विशिष्ट गोंद); नीलाथोथा, हींग; हीरा कासीस, पुष्पकासीस, सैन्धव और शिलाजतु-यह गण मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, गुल्म, मेद और कफ का नाशक है ॥ २३ ॥

वेल्लन्तरारणिकवूकवृषाश्मभेद-
गोकण्टकेत्कटसहाचरबाणकाशाः ।
वृक्षादनीनलकुशद्वयगुण्ठगुन्द्रा
भल्लूकमोरटकुरण्टकरम्भपार्थाः ॥ २४ ॥
वर्गो वीरतराद्योऽयं हन्ति वातकृतान् गदान् ।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजाहरः ॥ २५ ॥

स०—वेल्लंतरो वीरतर उशीराख्यः। अरणिकोऽग्निमंथः। बूक ईश्वरमल्लिका। वृष आटरूपकः। अश्मभेदः पाषाणभेदः। गोकंटको गोक्षुरकः। इत्कटा सूक्ष्मपत्रिका दीर्घलोहितयष्टिका काष्ठविशेषः। सहाचरः सहचरः। बाणो नीलपुष्पशैर्यकः। काशः श्वेतचामरकः। वृक्षादनी कामवृक्षकः। नलो मृत्युपुष्पाख्यः। कुशद्वयं स्थूलसूक्ष्मभेदेन दर्भद्वयम्। गुंठो वृंततृणम्। कुंद्रगुंठकामरसंज्ञः। गुंद्रा पदएरकः। भल्लूकः श्योनाकः। मोरटः क्षीरमोरटः। कुरंटः सितिवारकः। करंभ उत्तमारणिः। पार्थो सुवर्चला। वसन्ततिलकावृत्तम्। एष वीरतरादिर्वर्गो गणो वातजान् रोगान् हंति तथाऽश्मर्यादिहरः ॥ २४-२५ ॥

वीरतरादिगण—

वि०—वीरतरादिगण—वेल्लन्तर, अग्निमन्थ, वूक (ईश्वरमल्लिका-या बकपुष्प); अडूसा, पाषाणभेद, गोखरू, इत्कट, झिण्टी, बाण (नील फूल की झिंटी), काश, वृक्षादनी (वन्दाक), नरकुल, कुशा, दाभ; गुण्ठ (वृत्ततृण), गुन्द्रा (एरक·एकड़ा); भल्लूक (श्योनाक), मोरट, कुरण्ट (सितिवारक), करम्भ (उत्तमारणी), पार्था (कपोतवंका), यह वीरतरादिगण वातजन्य रोग, अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात की पीड़ा को नष्ट करती है ॥ २४-२५ ॥

रोध्रशाबरकरोध्रपलाशा
जिङ्गिणीसरलकट्फलयुक्ताः ।
कुत्सिताम्बकदलीगतशोकाः
सैलवालुपरिपेलवमोचाः ॥ २६ ॥
एष रोध्रादिको नाम मेदःकफहरो गणः ।
योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः ॥ २७ ॥

स०— रोध्रस्तिल्वकः। शाबरकरोध्रोऽक्षिभेषज्ञापरसंज्ञः। पलाशः शठी। जिंगिणी जिंजिणी कृष्णशाल्मली। सरलं देवदारुः। कट्फलं कुमुदारोहिणी। युक्ता रास्ना गिरिकर्णिकेत्यन्ये। कुत्सितांबः कदंबः। कदली रंभा। गतशोकोऽशोकः। एलवालु ऐलेयम्। परिपेलवं कुटन्नटं गोपालदमनकाख्यम्। मोचा शल्लकी। स्वागतावृत्तम्। अयं रोध्रादिको गणो मेदःकफापहो योनिदोषघ्नश्च। तथा स्तंभी दोषाणां शकृदादेश्च। तथा वर्णाय हितो विषघ्नश्च ॥ २६-२७ ॥

रोध्रादिगण—

वि०—रोध्रादिगण—लोध्र, शाबरलोध (पठानीलोध), पलाश (ढाक), जिंगण, चीड़, कायफल, युक्ता (फञ्जी), कदम्ब, केला, अशोक, एलवालु, परिपेलव (केवटी मोथा), मोचा (सल्लकी) यह रोध्रादिगण कफ और मेदनाशक, योनिदोषहर, स्तम्भक, वर्णकारक और विषनाशक है ॥२६-२७॥

अर्कालर्कौ नागदन्ती विशल्या
भार्ङ्गी रास्ना वृश्चिकाली प्रकीर्या ।
प्रत्यक्पुष्पी पीततैलोदकीर्या
श्वेतायुग्मं तापसानां च वृक्षः ॥ २८ ॥
अयमर्कादिको वर्गः कफमेदोविषापहः ।
कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधनः ॥ २९ ॥

स०—अर्कः सदापुष्पी। अलर्को मंदारकाख्यः श्वेतकुसुमः। नागदंती पर्वपुष्पिका। विशल्या लांगली। भार्गी फंजी। रास्ना रस्या। वृश्चिकाल्युष्ट्रधूमकः। प्रकीर्या करंजकः। प्रत्यक्पुष्पी अपामार्गः। पीततैला काकादनी। उदकीर्या करंजकः। श्वेतायुग्ममेका किणिहिसंज्ञाऽन्या महाश्वेता पालिंदीसंज्ञा। तापसानां वृक्ष इंगुदी। शालिनीवृत्तम्। एषोऽर्कादिर्वर्गः कफादिघ्नोऽतिशयेन व्रणशोधनः ॥२८-२९॥

अर्कादिगण—

वि०—अर्कादिगण—आक, श्वेत फूल का आक, नागदन्ती, कलिहारी, भार्ङ्गी, रास्ना, उत्तमारणी, पूतिकरंज, अपामार्ग, पीततैला (मालकंगनी), नाटा करंज, किणही और श्वेत अपराजिता, हिंगोट, यह अर्कादि वर्ग कफ, मेद और विषनाशक, कृमि एवं कुष्ठशामक, विशेष करके व्रणशोधक है ॥ २८-२९ ॥

सुरसयुगफणिज्जं कालमाला विडङ्गं
खरबुसवृषकर्णीकट्फलं कासमर्दः ।
क्षवकसरसिभार्ङ्गीकार्मुका काकमाची
कुलहलविषमुष्टीभूस्तृणो भूतकेशी ॥ ३० ॥
सुरसादिर्गणः श्लेष्ममेदःकृमिनिषूदनः ।
प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः ॥ ३१ ॥

स०—सुरसद्वयं तुलसीद्वयं गौरकृष्णभेदेन । फणिज्जो मरीचकः । कालमाला-कृष्णार्जकः कुबेरकभेदः । विडंगं वेल्लम् । खरबुसो मरुबकः । वृषकर्णी । मूषिककर्णी । कट्फलं सोमवल्कम् । कासमर्दः कासघ्नः । क्षवकः क्षुद्बोधनः । सरसी तुंबरपत्रिका । भार्गी अंगारवल्ली । कार्मुका रक्तमंजरी । अतिमुक्तक इत्यन्ये । काकमाची गुडफला । कुलहलो भूकुंबकोऽलंबुसाख्यः । विषमुष्टिः कुचिला । महानिंबक इत्येके । भूस्तृणं गुह्यबीजमतिच्छत्राख्यम् । भूतकेशी मांसीपुत्रचारा । मालिनीवृत्तम् । सुरसादिरयं गणः श्लेष्मादिघ्नः प्रतिश्यायादिहरो व्रणशुद्धिकृत् ॥ ३०-३१ ॥

सुरसादिगण—

वि०—सुरसादिगण—श्वेत और काली दो प्रकार की तुलसी, फणिज्जक, कालमाला (बर्बरी), विडंग, खरबुस (मरवा भेद), मूषिककर्णी, कायफल, कासमर्द, नकछिकनी, सरसी (कपित्थपत्री), भार्ङ्गी, कार्मुका (अतिमुक्ता), मकोय, कुलहल (मुण्डी) विषमुष्टि (महानिम्ब), भूस्तृण और भूतकेशी यह सुरसादिगण कफ, मेद, कृमि, प्रतिश्याय, अरुचि, श्वास, कासनाशक और व्रणशोधक है ॥ ३०-३१ ॥

मुष्ककस्नुग्वराद्वीपिपलाशधवशिंशपाः ।
गुल्ममेहाश्मरीपाण्डुमेदोर्शःकफशुक्रजित् ॥ ३२ ॥

स०—मुष्कको मोक्षकः । स्नुक् गुडा उग्रकांडः । वरादीनां प्रोक्तानि नामानि । मुष्ककादिरेष गुल्मादिजित् ॥३२॥

मुष्ककादिगण—

वि०—मुष्ककादिगण—मुष्कक (मोक्षक), थूहर, त्रिफला, चित्रक, ढाक, शीशम यह मुष्ककादिगण गुल्म, प्रमेह, अश्मरी, पाण्डु, मेद, अर्श, कफ और शुक्रनाशक है ॥ ३२ ॥

वत्सकमूर्वाभार्ङ्गी कटुका मरिचं घुणप्रिया च गण्डीरम् ।
एला पाठाऽजाजी कट्वङ्गफलाजमोदसिद्धार्थवचाः॥३३॥
जीरकहिङ्गुविडङ्गं पशुगन्धा पञ्चकोलकं हन्ति ।
चलकफमेदःपीनसगुल्मज्वरशूलदुर्नाम्नः ॥ ३४ ॥

स०—वत्सको वनतिक्तकः । मूर्वा मधुरसा । मरिचभूषणम् । घुणप्रियाऽतिविषा । गंडीरं स्नुही । एला वेला । पाठा प्राचीना । अजाजी जीरकः । कट्वंगफलमरलुकफलम् । केचित्तु कट्वंगं टुंटुकं फलं राठमित्याहुः । अजमोदो दीप्यकः । सिद्धार्थो गौरसर्षपः । वचादीनामुक्तानि नामानि । गुर्वंताष्टपदनभागार्यापूर्वसदृशकलद्वितया । आर्यैरार्यागीतिर्गीता संगीतगीतविधौ । पशुगंधा अजगंधा मकरंतराख्या । पंचकोलकं प्रागुक्तम् । वत्सकादयश्चलादीन् घ्नंति । आर्या ॥ ३३-३४ ॥

वत्सकादिगण—

वि०—वत्सकादिगण—वत्सक (कुटज), मूर्वा, भार्ङ्गी, कुटकी, मरिच, अतीस, गण्डीर (शिरीष), इलायची, पाठा, जीरा, श्योनाक का फल, अजमोदा, सरसों, वच, जीरा, हींग, वायविडङ्ग, अजगन्धा और पञ्चकोल (पीपर, पीपरामूल, चव्य, चीता और सोंठ) यह वत्सकादि गण वायु, कफ, मेद, पीनस, गुल्म, ज्वर, शूल और अर्शनाशक है ॥ ३३-३४ ॥

वचाजलददेवाह्वनागरातिविषाभयाः ।
हरिद्राद्वययष्ट्याह्वकलशीकुटजोद्भवाः ॥ ३५ ॥
वचाहरिद्रादिगणावामातीसारनाशनौ ।
मेदःकफाढ्यपवनस्तन्यदोषनिबर्हणौ ॥ ३६ ॥

स०—वचा गोलोमी । जलदोऽम्बुधरः । देवाह्वं किलिमम् । नागरं विश्वम् । अतिविषा भंगुरा । अभया हरीतकी । हरिद्राद्वयं पिंडा एका पचंपचा दार्वीसंज्ञान्या । यष्टयाह्वं क्लीतिका । कलशी पृश्निपर्णी । कुटजोद्भवा इंद्रयवाः । एतौ वचादिहरिद्रादिगणावामातीतीसारघ्नौ मेदःकफादिहरौ च ॥ ३५-३६ ॥

वचादि और हरिद्रादिगण—

वि०—वचादिगण—वच, मोथा, देवदारु, सोंठ, अतीस, हरड । हरिद्रादिगण-हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी, पृश्निपर्णी, इन्द्रजौ । वचादि और हरिद्रादि ये दोनों गण-आमातीसारनाशक, मेद, कफ, आढ्यवात तथा स्तन्यदोषनाशक हैं ॥ ३५-३६ ॥

प्रियङ्गुपुष्पाञ्जनयुग्मपद्माः
पद्माद्रजो योजनवल्ल्यनन्ता ।
मानद्रुमो मोचरसः समङ्गा
पुन्नागशीतं मदनीयहेतुः ॥ ३७ ॥
अम्बष्ठा मधुकं नमस्करी
नन्दीवृक्षपलाशकच्छुराः ।
रोध्रं धातकिबिल्वपेशिके
कट्वङ्गः कमलोद्भवं रजः ॥ ३८ ॥
गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ ।
सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानामपि रोपणौ ॥ ३९ ॥

स०—प्रियंगुः श्यामा। पुष्पांजनं रीतिपुष्पम्। युग्मेऽत्यत्राऽनुवृत्तिकृतेन संबंधेनांऽजनमिति संबध्यते। तेनांऽजनयुग्मं स्रोतोंऽजनमेकमन्यत्सौवीरमित्यर्थोऽवतिष्ठते। पद्मा पद्मचारिणी। पद्मात् कमलाद्भजः केसरम्। योजनवल्ली मंजिष्ठा। अनंता यवासकः। मानद्रुमः शाल्मली। मोचरसः शाल्मलीनिर्यासः। समंगा नमस्कारी रक्तमूलाख्या। पुन्नागस्तुंगो रक्तकेसराख्यः। शीतं चंदनम्। मदनीयहेतुर्धातुकी। उपजातिर्वृत्तम्। अंबष्ठा मयूरशिखाख्या। मधुकं मधुयष्टिका। नमस्करी समंगा। नंदीवृक्षः प्ररोही। पलाशः प्रसिद्धः। कच्छुरा फणिहारी धन्वयवासकाख्यः। बिल्वपेशिका बिल्वमज्जा। कट्वंगः स्योनाकः। कमलोद्भवं रजः पद्मरेणुः। एतौ प्रियंग्वंबष्ठादिगणौ पक्वातीसारनाशनौ संधानीयौ हितौ पित्ते व्रणरोपणौ च। अष्टाभ्योऽथो गुरावुपचित्रा ॥ ३७-३९ ॥

प्रियङ्ग्वादि तथा अम्बष्ठादिगण—

वि०—प्रियंग्वादि गण–प्रियंगु, रसांजन, स्रोतोऽञ्जन, भार्ङ्गी, कमल का केशर, मंजीठ, धमासा, सेमल, मोचरस (सेमल का गोंद), छुईमुई, पुन्नाग, चन्दन, धातकी। अम्बष्ठादि गण—पाठा, मुलहठी, लज्जावती (छुईमुई), नन्दीवृक्ष; ढाक, धमासा, लोध, धातकी, बेलफल की मज्जा, श्योनाक और कमल का केशर। ये प्रियंग्वादि एवं अम्बष्ठादि गण पक्वातीसारनाशक, सन्धान करने वाले, पित्त में उपयोगी तथा व्रणों का रोपण करते हैं ॥ ३७-३९ ॥

मुस्तावचाग्निद्विनिशाद्वितिक्ता-
भल्लातपाठात्रिफलाविषाढ्याः ।
कुष्ठं त्रुटी हैमवती च योनि-
स्तन्यामयघ्ना मलपाचनाश्च ॥ ४० ॥

स०—मुस्ता गांगेयी। तिक्ताद्वयमेका कटुकाऽन्या काकतिक्ता। विषाख्या शुक्लकंदा। हैमवती श्वेतवचा। एते योन्यामयघ्ना मलपाचनाश्च। तौ जगौ गुरुश्चेद्भवतींद्रवज्रा ॥ ४० ॥

मुस्तादिगण—

वि०—मुस्तादिगण–मुस्ता, वच, चित्रक, हल्दी, दारुहल्दी, कुटकी, काकतिक्ता, भिलावा, पाठा, त्रिफला, अतीस, कूठ, इलायची और सफेद वच ये योनिदोष एवं स्तन्यरोगनाशक और मल को पचाने वाले हैं ॥ ४० ॥

न्यग्रोधपिप्पलसदाफलरोध्रयुग्मं
जम्बूद्वयार्जुनकपीतनसोमवल्काः ।
प्लक्षाम्रवञ्जुलपियालपलाशनन्दी-
कोलीकदम्बविरलामधुकं मधूकम् ॥ ४१ ॥
न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः सङ्ग्राही भग्नसाधनः ।
मेदःपित्तास्रतृड्दाहयोनिरोगनिबर्हणः ॥ ४२ ॥

स०—न्यग्रोधो वटवृक्षः। पिप्पलोऽश्वत्थः। सदाफल उदुंबरः। जंबूद्वयमेका राजजंबूर्बृहत्फलाऽन्या ह्रस्वफला काकजंबूः। अर्जुनः पार्थः। कपीतनः कपिचूडो वानीराख्यः। सोमवल्कः सितसारः खदिरः। प्लक्षः शृंगीप्लक्षकाख्यः। आम्रश्चूतः। वंजुलो वेतसः। प्रियालो द्राक्षारसप्रियः खरस्कंधाख्यः। नंदी जयवृक्षः। कोली बदरी। विरला तिंदुकी। मधुकं यष्टिः। मधूकं मधूकपुष्पम्। न्यग्रोधादिरयं संग्रहणादिगुणयुक्तः। वसंततिलकम् ॥ ४१-४२ ॥

न्यग्रोधादिगण—

वि०—न्यग्रोधादिगण—बरगद, पीपल, गूलर, लोध, पठानीलोध, छोटी व बड़ी जामुन, अर्जुन, कपीतन (पारीश), सोमवल्क (श्वेत खैर), पिलखन, आम, बेतस, पियाल (चिरौंजी), ढाक, नन्दी, बेरी, कदम्ब, विरला (तेंदू), मुलहठी, महुआ, यह न्यग्रोधादिगण–व्रण के लिये उत्तम, संग्राही, भग्न को जोड़ने वाला, मेद, पित्त, रक्तस्राव, प्यास, दाह और योनिरोगनाशक है ॥ ४१-४२ ॥

एलायुग्मतुरुष्ककुष्ठफलिनीमांसीजलध्यामकं
स्पृक्काचोरकचोचपत्रतगरस्थौणेयजातीरसाः ।
शुक्तिर्व्याघ्रनखोऽमराह्वमगुरुः श्रीवासकः कुङ्कुमं
चण्डागुग्गुलुदेवधूपखपुराःपुन्नागनागाह्वयम् ॥ ४३ ॥
एलादिको वातकफौ विषं च विनियच्छति ।
वर्णप्रसादनः कण्डूपिटिकाकोठनाशनः ॥ ४४ ॥

स०—एलायुग्मं सूक्ष्मैला स्थूलैला च। तुरुष्कः कृत्रिमो निर्यासविशेषः। कुष्ठं गदः। फलिनी गंधप्रियंगुः। मांसी नलदम्। जलं ह्रीबेरम्। ध्यामकं दवदग्धकम्। स्पृक्का देवी। चोरको ग्रंथिपर्णी। चोचं त्वक्। पत्रं गंधपत्रम्। तगरं चक्रम्। स्थौणेयं तैलपीतकम्। जातीरसो बोलः। शुक्तिर्नखः। व्याघ्रनखः समुद्रजः। अमराह्वं देवदारुः। अगुरुः प्रसिद्धः। श्रीवासः श्रीवेष्टकाख्यः। कुंकुमं बाह्लकम्। चंडा कोपना। गुग्गुलुः पुरः। देवधूपः सर्जरसः। खपुरः कुंदुरुकः। पुन्नागो रक्तकेसरः। नागाह्वयं नागकेसरम्। एलादिरयं वातादीन् हंति। तथा वर्णप्रसन्नत्वकृत् कंड्वादिहृच्च। म्सौ ज्सौ तौ गुरुकं च सूर्यतुरगैः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४३-४४ ॥

एलादिगण—

वि०—एलादिगण—छोटी और बड़ी दोनों इलायची, तुरुष्क (सिह्लक), कूठ, प्रियंगु, जटामांसी, ह्रीबेर, गन्धतृण, स्पृक्का (असबर्ग), चोरक, दालचीनी, तेजपत्र, तगर, स्थौणेयक, बोल, नखी, व्याघ्रनखी, देवदारु, अगरु, श्रीवेष्टक (गन्धबिरोजा), केशर, चण्डा, गुग्गुलु, राल, कुन्दरु, पुन्नाग और नागकेसर, यह एलादि गण वात, कफ और विष को नष्ट करता है, वर्ण को निर्मल करता है; कण्डु, पिटिका और कोठ (चकत्तों) को नष्ट करता है ॥ ४३-४४ ॥

श्यामादन्तीद्रवन्तीक्रमुककुटरणाशङ्खिनीचर्मसाह्वा-
स्वर्णक्षीरीगवाक्षीशिखरिरजनकच्छिन्नरोहाकरञ्जाः ।
वस्तान्त्री व्याधिघातो बहलबहुरसस्तीक्ष्णवृक्षात्फलानि
श्यामाद्यो हन्ति गुल्मं विषमरुचिकफौ हृद्रुजं मूत्रकृच्छ्रम् ॥ ४५

स०—श्यामा मालविका त्रिवृत् मसूरविदनाख्या। दंती मुकूलकश्चित्राख्यः। द्रवंती उंदुरकर्णिका। क्रमुकः पट्टिकारोध्रः। कुटरणी शुक्ला त्रिवृत्। शंखिनी यवतिक्ता। चर्मसाह्वा सातला। ब्राह्मीत्यन्ये। स्वर्णक्षीरी पीतधतूरः। गवाक्षी गवादनी स्थाणुकर्णी संज्ञा। इंद्रवारुणीत्यन्ये। शिखरी अपामार्गः। रजनकः कंपिल्लकः। छिन्नरोहाऽमृतवल्ली। करंजः कैडर्यः। बस्तांत्री वृषगंधा। व्याधिघातः कृतमालः। बहलबहुरस इक्षुः। तीक्ष्णवृक्षात् पीलोः फलानि। श्यामादिरेष गुल्मादीन् हंति। म्रौ भ्रौ याश्च त्रयः स्यु स्वरमुनितुरगैः स्रग्धरा स्याद्विरामैः॥ ४५॥

श्यामादिगण—

वि०—श्यामादिगण—काली निशोथ, दन्ती, द्रवन्ती, सुपारी, श्वेतनिशोथ, शंखिनी (यवतिक्ता), चर्मसाह्वा (सातला), स्वर्णक्षीरी, इन्द्रायण, अपामार्ग, कमीला, गिलोय, करंज, बस्तांत्री (विधारा भेद), अमलतास, सहजना, ईख, पीलु के फल, यह श्यामादि गण-गुल्म, विष, अरुचि, कफ, हृदय की पीड़ा और मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है॥ ४५॥

त्रयस्त्रिंशदिति प्रोक्ता वर्गास्तेषु त्वलाभतः।
युञ्ज्यात्तद्विधमन्यच्च द्रव्यं जह्यादयौगिकम्॥ ४६॥

स०—इति प्रकारे। त्रयस्त्रिंशदिति वर्गाः कथिताः। अत्र संख्योपादानमेषां प्राधान्यख्यापनार्थम्। अन्येऽप्येवं प्रकाराः संत्येते तु प्रधाना इत्यर्थः। सुखग्रहणार्थं वा संख्यावचनं कृतम्। एतेषु त्रयस्त्रिंशत्सु वर्गेष्वलाभतोऽलाभे सति तद्विधं रसवीर्यपाकैस्तुल्यं द्रव्यमन्यदनुक्तमपि युंज्यात्। नचैतावदत्र विधेयमित्याह। जह्यादयौगिकम्। न केवलमेषु वर्गेषु तद्द्रव्यालाभे यथालाभमन्यत्तद्विधं द्रव्यं युंज्याद्यावदयौगिकं यत्तु द्रव्यं तत्र त्यजेत्। दोषरोगातुराद्यपेक्षया पुरुषस्याऽस्मिन् काले वयसि वा यो गणः समस्तस्साध्यामयशमनाय च वारयितुं युक्तः। एकस्य द्रव्यस्याऽलाभे द्वयोर्बहूनां वा तत्प्रकारमेकमपरं द्रव्यं द्वे वा बहूनि वा द्रव्याणि संयोज्य प्रयोज्यः। एवं न समस्तद्रव्यापेक्षा कार्येति। यथा च सुश्रुतः। 'समीक्ष्य दोषभेदांश्च गणान् भिन्नान् प्रयोजयेत्। पृथङ्मिश्रान् समस्तांश्च गणान् वा व्यस्तसंहतानिति।' त्रयस्त्रिंशदिति त्रेस्त्रयश्चेति त्रयसादेशः। यौगिकमिति योगाय प्रभवतीत्यर्थे योगाद्यच्चेति ठञ्॥ ४६॥

उक्त तैंतीस गणों के अभाव में प्रतिनिधिद्रव्य—

वि०—ये तैंतीस वर्ग कहे हैं-इनमें से जो द्रव्य न मिले उसके स्थान पर उसी प्रकार का दूसरा द्रव्य मिला लेना चाहिये, और कहा हुआ भी जो द्रव्य देश-काल आदि की दृष्टि से यौगिक न हो; उसको छोड़ देना चाहिये॥ ४६॥

एते वर्गा दोषदूष्याद्यपेक्ष्य
कल्ककाथस्नेहलेहादियुक्ताः।
पाने नस्येऽन्वासनेऽन्तर्बहिर्वा
लेपाभ्यङ्गैर्घ्नन्ति रोगान् सुकृच्छ्रान्॥ ४७॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने शोधनादिगणसङ्ग्रहो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

स०—एते पूर्वोक्ता वर्गा दोषदूष्यवयोबलादीनपेक्ष्य कल्कादियुक्ताः सुकृच्छ्रान् रोगानामयान् घ्नंति। युक्ता इत्यत्रांऽतर्भावितण्यर्थो युजिः। ततः कल्कादिषु वैद्येन योजिता इत्यर्थोऽवतिष्ठते। आदिशब्देन फांटशीतकषायादिपरिग्रहः। कथमेते घ्नंतीति प्रकारं युक्त्याऽऽह। पाने इत्यादि। पानाद्युपयोगे सति। लेपाभ्यंगैरिति बहुवचनेन लेपाभ्यंगस्नानादिभिश्चेति योज्यम्। मालिनीवृत्तम्॥ ४७॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्यायां
पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

इनके कल्क-पानादि विधि से रोगनाशकता—

वि०—दोष एवं दूष्य का विचार करके इन वर्गों को कल्क-क्वाथ, स्नेह, अवलेह आदि के रूप में पिलाने, नस्य, अनुवासन, अन्दर या बाहर लेपन या अभ्यंग द्वारा प्रयोग करने से कष्टसाध्य रोग नष्ट होते हैं॥ ४७॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में शोधनादिगणसंग्रह
नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १५॥

* * *

षोडशोऽध्यायः

शोधनादिगणसंग्रहाऽध्यायादनंतरं स्नेहाध्यायारंभः। यतः शोधनं स्नेहस्वेदावंतरेण न संभवति। वक्ष्यति हि स्नेहस्वेदावनभ्यस्येत्यादि। तस्मात्स्नेहस्वेदाध्याययोरारंभो युक्त इत्याह—

अथातः स्नेहविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—स्नेहस्य सर्पिरादेर्विधिः स्नेहविधिस्तं व्याख्यास्यामः। शेषं पूर्ववद्योज्यम्।

वि०—अब इसके आगे स्नेहविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

गुरुशीतसरस्निग्धमन्दसूक्ष्ममृदुद्रवम्।
औषधं स्नेहनं प्रायो, विपरीतं विरूक्षणम्॥ १॥

स०—गुर्वादिगुणयुक्तं यद्द्रव्यं तत् स्नेहनं भवति। विपरीतमतो यल्लघूष्णस्थिररूक्षतीक्ष्णस्थूलकठिनसांद्रगुणोपेतं तद्विरूक्षणम्। प्रायोग्रहणं विरूक्षणे स्नेहने च योज्यम्। तथा च लघ्वपि सार्षपं तैलं छागं च दुग्धं तथा विष्किरप्रतुद-

मृगाख्यं वर्गत्रयं स्नेहनं भवति। तथोष्णमपि मत्स्यमहिषमांसं स्नेहनं भवति। एवं रूक्षणेऽपि वेद्यम्। तथा च यवो गुरुशीतसरादिगुणयुक्तोऽपि विरूक्षणस्तथा राजमाषोऽपि। स्नेहने प्रकृतेऽपि विरूक्षणोपन्यासोऽन्वयव्यतिरेकेण सुतरां स्नेहस्य तारतम्यप्रतिपादनार्थः॥ १॥

स्नेहन और विरूपण द्रव्य—

वि०—स्नेहन द्रव्य-प्रायः करके गुरु, शीतल, सर, स्निग्ध, मन्द, सूक्ष्म, मृदु और द्रव गुणवाले होते हैं एवं विरूक्षण द्रव्य इन गुणों से विपरीत होते हैं॥ १॥

वक्तव्य—शोधन के पूर्व स्नेहादि कर्म आवश्यक हैं; यथा-'प्राक् पाचनं स्नेहविधिस्ततश्च स्वेदस्ततः स्याद् वमनं विरेकः। निरूहणान्वासनबस्तिकर्म नस्यं क्रमश्चेति भिषग्वराणाम्॥' चिकित्साकलिका। प्रायः शब्द से स्नेहन और रूक्षण द्रव्यों के उपर्युक्त गुणों के अपवाद भी हैं; यथा-सरसों का तेल एवं बकरी का दूध लघु होने पर भी स्नेहन करते हैं; विष्किर, प्रतुद एवं मृगवर्ग का मांस लघु किन्तु स्नेहन है। मछली, भैंस का मांस गरम होने पर भी स्नेहन करता है। जौ गुरु, शीत एवं सर होने पर भी रूक्षता करता है।

सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम्।
तत्रापि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्॥ २॥
माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्माद्येव च शीलनात्।

स०—स्नेहेषु क्षीरानूपाऽमिषादिषु मध्ये सर्पिरादयश्चत्वारः स्नेहाः प्रकर्षेण वराः। आशु स्वकार्यकरणात्। तत्रापि च तेष्वपि चतुर्षु मध्ये सर्पिरुत्तमं संस्कारस्याऽनुवर्तनात्। ननु यदि संस्कारमनुरुध्यते सर्पिस्तदानीं मरिचचित्रकादिद्रव्यादिभिः संस्कृतस्य घृतस्य शैत्यादिगुणविपर्यासः प्राप्तः। न चेदं दृष्टम्। यदस्य शैत्यादयो गुणा विनश्यंत्यौष्ण्यादयश्चोत्पद्यंत इति। अत्रोच्यते। अनुशब्दोऽत्र सहार्थे। अनेकार्थत्वान्निपातानाम्। तेनात्रायमर्थः। सर्पिषो गुणाः संस्कारगुणैः सह वर्तंते नतु तैलादीनाम्। तैलवसामज्जानो हि संस्कारवशात् स्वगुणांस्त्यजंति। अत्र चोदाहरणं चंदनाद्यं तैलम्। अतो द्रव्यगुणांतरैरनभिभूतगुणत्वात्सर्पिष इतरेषां तैलादीनां द्रव्यैरभिभूतगुणत्वादुत्तमत्वम्। अत एवच वातपित्तज्वरादिषु विकारेषु घृतसाध्येषु भेषजं तैलं नेष्टमनिष्टसंपादनात्। तैलसाध्येषु तु विकारेषु तदुपशांत्यर्थं तथाविधद्रव्यसंस्कृतं घृतमपीष्टम्। तद्धि न तथाऽनिष्टहेतुः। तस्मात्सर्वस्नेहेभ्यः सर्पिरेवोतमम् संस्कारस्याऽनुवर्तनादिति न्यायात् व्याख्यमेव। माधुर्यादिहेतोश्च॥ २॥

स्नेहन द्रव्यों में घृत की श्रेष्ठता—

वि०—स्नेहों में-घी, मज्जा, वसा और तैल उत्तम हैं। इन चारों में भी घी सबसे उत्तम है; क्योंकि यह संस्कार का अनुवर्तन करता है-संस्कार के साथ चलता है (संस्कार से इसमें गुणाधान अच्छा होता है) और मधुर होने से, अविदाही होने से तथा जन्म से ही इसका अभ्यास होने के कारण घृत सबसे श्रेष्ठ है॥ २॥

वक्तव्य—चन्दनादि तैल, अगुर्वादि तैल आदि में तैल भी गुणों का कुछ अनुवर्त्तन करता है, परन्तु घी की अपेक्षा कम करता है।

पित्तघ्नास्ते यथापूर्वमितरघ्ना यथोत्तरम्॥ ३॥

स०—यो यः पूर्वो यथापूर्वं यो य उत्तरो यथोत्तरमिति यथासादृश्य इत्यव्ययीभावः। उत्तरमपेक्ष्य पूर्वः पूर्वं चापेक्ष्योत्तरः। तेन चतुर्णां स्नेहानां यथाविहितानां सर्पिरादीनां त्रय एव स्नेहा वसामज्जसर्पिः संज्ञका यथापूर्वत्वेन संबध्यंते नतु तैलाख्यः स्नेहस्तस्य पूर्वत्वाभावात्। न ह्यन्योऽस्मात्कश्चिदुत्तरोऽस्ति यदपेक्षयैष पूर्वत्वमात्मन आसादयेत्तस्मान्नास्ति पूर्वत्वसंबंधस्तैलस्य। तथा चतुर्णां स्नेहानां त्रय एव स्नेहा मज्जावसातैलाख्या यथोत्तरत्वेनाऽभिसंबध्यंते न सर्पिः संज्ञकः स्नेह उत्तरत्वाभावात्। न ह्यन्यः कश्चिदस्य पूर्वो विद्यते यदपेक्षयैवोत्तरत्वमात्मन आसादयतीत्युक्तम्। तदेवं यथापूर्वं पित्तघ्नत्वं वसामज्जसर्पिषां सामान्येनोक्तम्। विशेषेण च वसा पित्तघ्नी मज्जा पित्तघ्नतरः सर्पिः पित्तघ्नतममित्यर्थः। इतरघ्ना इति। इतरौ वातकफौ पित्तापेक्षया तौ घ्नंति पराकुर्वंतीतीतरघ्नाः। यथोत्तरं त्रयः स्नेहा मज्जवसातैलाख्या वातश्लेष्मघ्नाः। तेन मज्जा वातश्लेष्मघ्नो वसा वातश्लेष्मघ्नतरा तैलं वातश्लेष्मघ्नतममिति प्रकृतम्। अन्ये त्वेवं व्याचक्षते। श्लेष्मणि स्नेहनिषेधादितरघ्ना इति सामान्योक्तावपि वातघ्ना इति सामान्योक्तावपि वातघ्ना इति गम्यते। अथवा द्रव्यांतरसंस्कृतसर्पिराद्यपेक्षया कफस्याऽपीतरशब्देन ग्रहणमिति॥ ३॥

घृतादि की पित्तनाशकता—

वि०—इनमें पूर्व क्रम की दृष्टि से ये पित्तनाशक हैं, और उत्तर क्रम की अपेक्षा वातकफनाशक हैं॥ ३॥

वक्तव्य—घी उत्तम पित्तशामक है, मज्जा उससे कम, वसा उससे भी और तैल सबसे कम (प्रायः नहीं के बराबर) पित्तशामक है एवं घी अत्यल्प वातकफशामक, वसा उससे अधिक, मज्जा उससे भी अधिक तथा तैल सबसे अधिक वात और कफ शामक होता है।

घृतात्तैलं गुरु वसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च।

स०—घृताद् गुरुणः सकाशात्तैलं गुरु गुरुतरमित्यर्थः। वसा तु तैलाद् गुरुतरा ततोऽप्यतिशयेन मज्जा गुरुतमः।

घृत से तैलादि की गुरुता—

वि०—घी से तैल गुरु, तैल से वसा गुरु और वसा से मज्जा अधिक गुरु है।

इदानीं यमकस्नेहस्त्रिवृतस्नेहो महास्नेह इति तत्रतत्रोच्यते न च ते ज्ञायंत इत्याह—

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान्॥ ४॥

स०—द्वाभ्यां स्नेहाभ्यां यमको नाम्ना स्नेहः। यथा सर्पिर्वसाभ्यां, सर्पिस्तैलाभ्यां, सर्पिर्मज्जभ्यामित्यादि। एवं त्रिभिः स्नेहैस्त्रिवृतश्चतुर्भिर्महास्नेह उच्यत इति शेषः॥ ४॥

यमकस्नेहादि का कथन—

वि०—दो स्नेहों के मिलने से यमक, तीन स्नेहों के

मिलने से त्रिवृत, चार स्नेहों के मिलने से महान् (महास्नेह) संज्ञा होती है ॥ ४ ॥

संप्रति स्नेह्यान्निरूपयति—

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचिन्तकाः ।
वृद्धबालाबलकृशा रूक्षाः क्षीणास्रेतसः ॥ ५ ॥
वातार्तस्यन्दतिमिरदारुणप्रतिबोधिनः ।
स्नेह्याः—

स०—स्वेद्यादयः स्नेह्याः स्नेहार्हाः। न ह्यस्नेहितः स्वेद्य इत्यर्थः एवं योऽपि शोध्यः सोऽपि पूर्वं स्नेह्यः। स्वेदार्हाः स्वेद्याः। अर्हार्थे कृत्यप्रत्ययोऽत्र ण्यः। एवं संशोध्याः शोधनार्हाः मद्यासक्तस्त्रीसक्तव्यायामसक्ताश्च तथा येऽपि चिंतकास्तथा वृद्धा बाला अबला अल्पबला इत्यर्थः। तथा कृशा रूक्षाः क्षीणरुधिराः क्षीणशुक्राश्च। वातार्ता वातपीडिताः। आर्तशब्दः स्यंदादिषु प्रत्येकस्मिन् योज्यः। स्यंदोऽभिष्यंदस्तिमिरोऽक्षिरोगः। दारुणप्रतिबोधिनः कृच्छ्रोन्मीलिन इत्यर्थ। एते स्नेह्या स्नेहार्हाः ॥ ५ ॥

स्नेहनीय मनुष्य—

वि०—स्नेह के योग्य—जिनका स्वेदन या संशोधन करना हो, मद्य, स्त्री और व्यायाम में आसक्त, चिन्ताशील, (मानसिक परिश्रम करनेवाले), वृद्ध, बालक, निर्बल, कृश, रूक्ष, क्षीण-रुधिर, क्षीणशुक्र, वातपीडित, अभिष्यन्द (आँख आना) और तिमिर रोग से पीड़ित एवं जो कठिनाई से आँख खोल सकते हैं–ये स्नेहन के योग्य हैं ॥५॥

—न त्वतिमन्दाग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः ॥ ६ ॥
ऊरुस्तम्भातिसारामगलरोगगरोदरैः ।
मूर्च्छाच्छर्द्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्च पीडिताः ॥ ७ ॥
अपप्रसूता युक्ते च नस्ये बस्तौ विरेचने।

स०—अतिमंदाग्न्यादयो न स्नेह्याः। अतिशब्दो यावद्दुर्बलेषु प्रत्येकं योज्यः। तेनाऽतिदुर्बला न स्नेह्या इत्यर्थः। अत एवाल्पबलाः स्नेह्या नत्वतिदुर्बला इति न पूर्वापरविरोधः। अतितीक्ष्णाग्नेः स्नेहनादत्यग्निवृद्धिः। अतिस्थूलस्य चाऽग्निमेदसोर्वृद्धिः। अतिदुर्बलस्य च जरणाशक्तेः स्नेहस्य व्यापत् ऊरुस्तंभादिभिर्यावन्मद्येन च पीडिता न स्नेह्याः। अत्र शोधनप्रसंगे तु स्नेहनं विना शोधनं न कार्यमिति यावत्। अपप्रसूता सुतगर्भा न स्नेह्येति लिंगवचनविपरिणामः। प्रयुक्ते च नस्यादिकर्मणि सर्व एव न स्नेह्याः ॥ ६–७ ॥

अस्नेहनीय मनुष्य--

वि०—स्नेहन के अयोग्य--अतिमन्दाग्नि, अतितीक्ष्णाग्नि, अतिस्थूल, अतिदुर्बल, ऊरुस्तम्भरोगी, अतिसाररोगी, आमरोगी, गलरोगी, गररोगी, उदररोगी, मूर्च्छा, वमन, अरुचि, कफ, तृष्णा और मद्य से पीड़ित एवं सुतगर्भा स्त्री को तथा नस्य, वस्ति और विरेचन देने पर, स्नेहन नहीं करना चाहिये ॥ ६–७ ॥

सांप्रतं चतुर्णां स्नेहानां मध्ये यो येभ्यो हितस्तं दर्शयन्नाह—

तत्र धीस्मृतिमेधादिकाङ्क्षिणां शस्यते घृतम् ॥ ८ ॥

स०—तत्र तेषु स्नेहेषु मध्ये धीस्मृत्याद्यभिलाषिणां घृतं शस्यते यावदग्निकांक्षिणाम् अन्ये तु मेधादिकांक्षिणामिति पठंति। आदिशब्देन स्वरायुर्वर्णादिपरिग्रहः ॥ ८ ॥

चतुर्विध स्नेह द्रव्यों की उपयोगिता--

वि०—घी-इन स्नेहों में से-बुद्धि, स्मृति और मेधा की चाह रखने वालों के लिये उत्तम है ॥ ८ ॥

ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु ।
तैलं लाघवदार्ढ्यार्थिक्रूरकोष्ठेषु देहिषु ॥ ९ ॥

स०—तैलं ग्रंथ्यादिरोगिषु शस्यते। लाघवदार्ढ्यार्थिषु क्रूरकोष्ठेषु प्राणिषु च शस्यते ॥ ९ ॥

वि०—तैल-ग्रन्थि, नाड़ीव्रण, कृमिरोग, कफ, मेद और वात रोगियों में तथा लघुता एवं दृढ़ता की चाह रखने वाले तथा क्रूरकोष्ठ इनके लिये उत्तम है ॥ ९ ॥

वातातपाध्वभारस्त्रीव्यायामक्षीणधातुषु ।
रूक्षक्लेशक्षमात्यग्निवातावृतपथेषु च ॥ १० ॥
शेषौ—

स०—वातादीनां क्षीणधातुना प्रत्येकं संबंधः। वातक्षीणधातुषु एवमातपक्षीणधातुष्वित्यादि। शेषौ घृततैलाभ्यामुक्ताभ्यामन्यौ वसामज्जानौ शस्येते। तथा रूक्षेषु क्लेशसहेषु। अत्यग्निषु बलवदग्निष्विति द्रष्टव्यम्। अन्यथाऽत्यग्निषु स्नेहनिषेधात्पूर्वापरविरोधः स्यात्। अथवा। अत्यग्निष्वपि वसामज्जानावनुजज्ञे अपवादवाक्यत्वादस्येति व्याख्येयम्। वातेनाऽऽवृताः पंथानश्छिद्राख्या येषां तेषु च शस्येते शेषौ ॥ १० ॥

वि०—शेष वसा और मज्जा—आयु, धूप, मुसाफिरी, भार उठाना, स्त्री-सेवन और व्यायाम से क्षीण धातु वालों में, रूक्ष, क्लेश को सहने वाले, अतिप्रबल अग्नि वाले व्यक्तियों में तथा वायु से शरीर के स्रोतों में अवरोध होने पर श्रेष्ठ होते हैं ॥ १० ॥

वसायास्त्वन्यदपि विशेषांतरमाह—

—वसा तु सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु च ।
तथा दग्धाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ॥ ११ ॥

स०—तुर्विशेषे। चः समुच्चये रुजाशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। संधिरुजास्वस्थिरुजास्वित्यादिषु। तथा दग्धरुज्याहतरुजि तथा भ्रष्टयोनिरुजीत्येवं संबंधः कार्यः ॥ ११ ॥

वि०—विशेषतः वसा सन्धि, अस्थि, मर्म और कोष्ठ के रोगों में तथा अग्नि से जलने एवं डण्डे आदि से चोट लगने पर एवं स्थानच्युत योनि, कर्णरोग और शिरोरोग में भी हितकारक है ॥ ११ ॥

इदानीं कस्मिन्काले कस्य स्नेहस्योपयोगः शस्त इति दर्शयन्नाह—

तैलं प्रावृषि वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे ।

स०—तैलं प्रावृषि शस्यत इति संबंधः। एवमुत्तरत्राऽपि योजनीयम्। स्वस्थस्य स्नेहनार्थं सर्वत्रैव स्नेहस्य प्रसंगे नियमोऽयं क्रियते। तैलं प्रावृष्येव वर्षांत एव सर्पिर्वहामज्जानौ माधव एवेति।

तैलादि स्नेह द्रव्यों का काल—

वि०—प्रावृट् काल में तैल, वर्षा की समाप्ति—शरद् में घृत और वसन्त में मज्जा एवं वसा को बरतना चाहिये।

ननु वर्षासु तैलं वर्षांते सर्पिर्वसामज्जानौ माधव इति योऽयं नियमः स किंचिदपेक्ष्य वर्तते आहोस्विदनपेक्ष्येत्यस्मिन् पर्यनुयोग इदमाह—

ऋतौ साधारणे स्नेहः शस्तोऽह्नि विमले रवौ ॥१२॥

स०—साधारणे ऋतौ श्रावणादौ संशोधनान् पूर्वं स्नेहनार्थं स्नेहस्तैलादिकः शस्तः। तथाऽह्नि वासरे। न निशि। तथा विमले रवौ जलदनीहारादिनाऽनाच्छादिते खरांशौ। स्नेह इति सामान्यशब्दप्रयोगात्सर्वः स्नेहः सर्पिरादिश्चतुष्प्रकारो गृह्यते ॥ १२ ॥

दिन में स्नेह की श्रेष्ठता—

वि०—साधारण ऋतु में-दिन में-सूर्य के निर्मल होने पर (बादल आदि न होने पर) स्नेह का प्रयोग करना चाहिये ॥ १२ ॥

तैलं त्वरायां शीतेऽपि घर्मेऽपि च घृतं निशि ।

स०—त्वरायां सत्यां व्याधिक्रियां प्रति प्राप्ते काले स्नेहयोग्यतायां सत्यां शीते हेमंतशिशिराख्ये काले तैलं संशोधनात्पूर्वं स्नेहनार्थं शस्तं नान्यस्नेहः। अपिशब्दान्न केवलं वर्षास्ववर्षासु च शस्तमित्यर्थः। न केवलं शरदि घृतं प्रयुंजीत यावद्धर्मेऽपि निश्युपयुंजीत।

विशेषावस्था में रात्रि में भी स्नेहन—

वि०—यदि कोई शीघ्रता—आत्ययिक स्थिति हो तो शीतकाल में तैल (वर्षा से अतिरिक्त काल में भी) और ग्रीष्म काल में घी (शरद्भिन्न ऋतु में भी) रात में भी प्रयुक्त कर सकते हैं।

सर्वस्य स्नेहस्याऽह्न्युपयोगाद्रात्रावप्रयोगः प्राप्त इत्याह—

निश्येव पित्ते पवने संसर्गे पित्तवत्यपि ॥ १३ ॥

स०—नच घर्म एव निश्युपयुंजीत यावत्पित्ते कुपिते पित्तजे वा विकारे तथा पवने कुपिते तज्जे वा विकारे स्नेहसाध्ये घर्मे घृतं निश्युपयुंजीत न दिवा न च तैलं वसामज्जानौ वा। तथा पित्तवति पित्ताधिके संसर्गे वातपित्ताख्ये श्लेष्मपित्ताख्ये कुपिते तज्जे वा विकारे स्नेहसाध्ये घर्मे घृतं निश्युपयुंजीत। पित्ते पवन इत्येतद्दोषविकारोभयोपलक्षणार्थं वेद्यम्। पित्तवतीति भूम्नि मतुप् ॥ १३ ॥

वि०—ग्रीष्मकाल में पित्तप्रकोप, वातप्रकोप तथा पित्तप्रधान संसर्गज (वातपैत्तिक एवं पित्तश्लेष्मज) विकारों में घी का प्रयोग रात में ही करना चाहिये अर्थात् इन विकारों के ग्रीष्म काल में होने पर अन्य स्नेहों का प्रयोग न कर घी का ही प्रयोग करना चाहिये और वह भी रात में ही, दिन में नहीं ॥ १३ ॥

निश्यन्यथा वातकफाद्रोगाः स्युः पित्ततो दिवा ।

स०—अन्यथोक्तप्रकारादपरेण प्रकारेण यथा शीतकाले निशि घृतोपयोगाद्वातकफाद्धेतो रोगा भवेयुः। तथा दिवा घर्मे काले तैलोपयोगात्पित्ततः पित्ताद्रोगाः स्युः। वसामज्ज्ञोस्त्वनिश्चितस्वरूपत्वान्नोष्णकाले नाऽपि शीतकाले त्वरायां सत्यामुपयोगस्तंत्रकारेण दर्शितः। तथा चोक्तम्। यथासत्त्वं तु शैत्योष्णे वसामज्ज्ञोस्तु निर्दिशेदिति।

वि०—उपर्युक्त नियम का पालन न करने से अर्थात्–शीतकाल में रात्रि के समय घी पिलाने से, वातकफजन्य रोग होते हैं। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में दिन के समय तैल पिलाने से पित्तजन्य रोग होते हैं।[1]

कथं स्नेह उपयोज्य इत्याह—

युक्त्याऽवचारयेत्स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन बस्तिभिः ॥१४॥
नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्द्धकर्णाक्षितर्पणैः ।

स०—युक्तिर्योग उपायलक्षणः। युक्त्या मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषस्वभावया स्नेहं सर्पिरादिकमवचारयेदुपयुंजीत। केन सहेत्याह। भक्ष्याद्यन्नेन आदिशब्देन भोज्यलेह्यपेयस्य त्रिविधस्याऽप्यन्नस्य ग्रहणम्। तथा बस्तिभिर्नस्येनाभ्यंजनेन गंडूषेण च स्नेहमवचारयेत्। मूर्धादीनां तर्पणशब्देन प्रत्येकं संबंधः। तेन मूर्धतर्पणेन शिरोवस्त्याख्येन तथा कर्णतर्पणेन कर्णपूरणाख्येन तथाऽक्षितर्पणेन तर्पणपुटपाकबिध्युक्तेन। भक्ष्यं शशांककिरणावि तेन भक्ष्येण सह। आदिग्रहणादोदनादयो मुन्युक्ता गृह्यंते। तथा च मुनिः ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि। यवागूः सूपशाके च यूषः कांबलिकः खलः॥ सक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लाजास्तथैव च। भक्ष्यमभ्यंजनं बस्तिस्तथैवोत्तरबस्तय इत्यादि। बस्तिभिरिति बहुवचननिर्देशो बस्तित्रयग्रहणार्थः। तेन निरूहोऽन्वासनं बस्तिरुत्तर इति ॥ १४ ॥

स्नेहोपयोग की विधि—

वि०—स्नेह को भक्ष्यादि अन्न के साथ, बस्ति से, नस्य, अभ्यंग, अञ्जन, गण्डूष, शिर, कान और आँख का तर्पण के द्वारा युक्तिपूर्वक बरते ॥ १४ ॥

वक्तव्य—भक्ष्यादि से चरकोक्त ओदन आदि लेना चाहिये यथा–'ओदनञ्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि। यवागूः

---

[1] वसा और मज्जा के लिये दिन या रात्रि का काल-नियम नहीं है तथा आत्ययिक अवस्थाओं में इनका प्रयोग भी वर्णित नहीं है। इसीलिये इनका प्रयोग आवश्यकतानुसार कर सकते हैं। 'यथासत्त्वं तु शैत्योष्णे वसामज्ज्ञोस्तु निर्दिशेत्।'

सूपशाके च यूषः काम्बलिकः खलः ॥ सक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लोहास्तथैव च । भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिस्तथैवोत्तरबस्तयः ॥

(चरक सू. अ. १३।२३)

रसभेदैककत्वाभ्यां चतुःषष्टिर्विचारणाः ॥ १५ ॥
स्नेहस्यान्याभिभूतत्वादल्पत्वाच्च क्रमात्स्मृताः ।

स०—रसभेदश्चैककत्वं च ताभ्यां रसभेदैककत्वाभ्यां स्नेहस्याऽवचार्यमाणस्य चतुःषष्टिर्विचारणा भवति । रसभेदैनैकैकहीनानित्यादिग्रंथनिर्दिष्टेन त्रिषष्टिसंख्यावच्छिन्नेन सहोपयुक्तस्य स्नेहस्य तथैककत्वेनाऽसहायेन केवलेन स्नेहेन सहाऽस्य चतुःषष्टिर्विचारणाः स्नेहप्रयोगकल्पना या एता भक्ष्याद्यन्नेन तथा रसभेदेन मूर्धकर्णाक्षितर्पणेन च या एताः क्रमाद्यथाक्रमं निर्दिष्टास्ताः कल्पनाः स्नेहस्याऽन्याभिभूतत्वादन्येन भक्ष्यादिना बहुना तथा रसभेदेन सहोपयुक्तस्याऽभिभूतत्वात्तथाऽल्पत्वादल्पोपयोगित्वान्मूर्धाऽक्षितर्पणादौ पानद्रवप्रभूतस्येवावचारयितुमशक्यत्वाच्च विचारणाः स्मृताः । आयुर्वेदस्य कर्तृभिरिति शेषः ॥ १५ ॥

स्नेह की चौंसठ विचारणा--

वि०—रसभेदों के साथ तथा केवल प्रयोगभेद से स्नेह की चौंसठ विचारणायें बनती हैं। दूसरे भक्ष्य पदार्थों के साथ मिलने पर अल्पवीर्य बनने से तिरसठ और बस्ति, तर्पण आदि द्वारा अल्पमात्रा में प्रयुक्त केवल स्नेह एक भेद- इस प्रकार क्रम से चौंसठ विचारणायें हैं ।

[अर्थात् विविध भक्ष्य के साथ रसभेद से तथा अभ्यङ्गादि द्वारा प्रयुक्त केवल स्नेह एक, इस प्रकार चौंसठ कल्पनायें स्नेह की हैं ।] ॥ १५ ॥

यथोक्तहेत्वभावाच्च नाच्छपेयो विचारणा ॥ १६ ॥

स०—स्नेहस्य विचारणासंज्ञात्वे यथानिर्दिष्टो हेतुस्तस्य यथोक्तस्य हेतोरभावादविद्यमानहेतुत्वाद्योऽच्छपेयः स्नेहः केवल एव न सा विचारणा केवलोपयोगित्वाद्बहूपयोगित्वाच्चेत्यर्थः। नन्विह केवलः स्नेहो न विचारणेत्युच्यते । प्राक्केवलस्यैव स्नेहस्य बस्त्याद्युपयोगो विचारणेत्यभ्यधायि तदेतत्पूर्वापरव्याहतमिव मन्यामहे। नैतदस्ति अच्छपेय इत्यस्य ह्ययमर्थः। अच्छः केवलो यः स्नेहः पीयते सा विचारणा न भवति मूर्धादितर्पणादिना तु केवलस्य स्नेहस्य य उपयोगः सा च विचारणेति ॥ १६ ॥

अच्छपेय स्नेह—

वि०—पूर्वोक्त अभिमतत्व (शक्तिहीनता) एवं अल्पत्व के अभाव होने से केवल शुद्ध रूप में स्नेह का जो पान है, उसको विचारणा नहीं कहते, अर्थात् किसी से न मिलने के कारण यह उद्भूत शक्ति वाला होता है, मात्रा में बहुत होने से भी प्रभूत वीर्यशाली होता है ॥ १६ ॥

स्नेहस्य कल्पः स श्रेष्ठः स्नेहकर्माशुसाधनात् ।

स०—सोऽच्छपेयाख्यः कल्पः प्रयोगः स्नेहस्य श्रेष्ठः प्रशस्यतमः । कुत इत्याह । स्नेहकर्माशुसाधनात् स्नेहकर्मणां तर्पणमार्दवादीनां शीघ्रं संपादनात् ।

वि०—यह अच्छपेय स्नेह की श्रेष्ठ कल्पना है; क्योंकि इससे स्नेह के कर्म (तर्पण-मार्दव आदि) शीघ्र हो जाते हैं ।

अधुना स्नेहस्य त्रिविधमात्रालक्षणमधिकृत्याह—

द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यामैर्जीर्यन्ति याः क्रमात् ॥१७॥
ह्रस्वमध्योत्तमा मात्रास्तास्ताभ्यश्च ह्रसीयसीम् ।
कल्पयेद्वीक्ष्य दोषादीन् प्रागेव तु ह्रसीयसीम् ॥१८॥

स०—द्वाभ्यां यामाभ्यां या स्नेहस्य मात्रा प्रयुक्ता जाठरानलवशाज्जरां यति सा तस्य ह्रस्वा मात्रा। चतुर्भिर्यामैर्या जीर्यति सा तस्य मध्यमा मात्रा। अष्टभिर्यामैर्या जीर्यति सोत्तमा मात्रा। क्रमाद्यथाक्रमं ते ह्रस्वमध्यमोत्तमा मात्रास्ताभ्यश्च तिसृभ्य मात्राभ्यो ह्रसीयसीमतिशयेन ह्रस्वां कल्पयेत्। वैद्य इति शेषः। ह्रस्वमध्योत्तमा इति निर्देशे ङ्यापोरित्यादिना ह्रस्वः। ह्रस्वा मात्रा यामद्वयजरणलक्षणा ततोऽप्यर्वाक्कालेन या जरां याति सा ह्रसीयसीति। दोषदीन् दोषभेषजदेशकालबलशरीराऽऽहारसत्त्वसात्म्यप्रकृतीर्वीक्ष्याकलय्य प्राक् पूर्वमेवाऽज्ञातकोष्ठे पुरुष उत्तममात्राविषये ह्रसीयसी कल्पयेत्। ततो ह्रस्वामनंतरं मध्यमामनंतरमुत्तमाम्। एवं मध्यममात्राविषये ह्रसीयसीं ह्रस्वमात्राविषयेऽपि ह्रसीयसीं प्राक्कल्पयेत्। अतिप्रत्यवायभयात्। एवकारोऽवधारणे। तुशब्दो यथोत्तरमिति क्रमनिर्देशार्थः। संग्रहेऽप्युक्तम्। अज्ञातकोष्ठे हि बहुः कुर्याज्जीवितसंशयमिति इयं ह्रस्वेयं ह्रस्वा इयमनयोरतिशयेन ह्रस्वा ह्रसीयसीतीयसुन् स्थूलदूरेत्यादिना लोपः। अन्यैस्तु पलद्वयपलचतुष्टयपलषट्कसंख्यावच्छिन्ना मात्रा उक्तः। न चैतद्युज्यते। यतो जठरानलशक्तिमनपेक्ष्य स्नेवमात्रा प्रयुज्यमानाऽनर्थायैव। अतोऽस्माभिः पलद्वयादिसंख्याऽवच्छिन्ना नोक्ता। मुनेरपि नैतन्मतम्। तद्ग्रन्थो हि। अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्धाहं च प्रतीक्ष्यते प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रतीति ॥ १७-१८ ॥

स्नेह की त्रिविध मात्रा का लक्षण—

वि०—दो याम, चार याम और आठ याम में जीर्ण होने वाली स्नेह की मात्रा क्रमशः हीन, मध्यम और उत्तम है। इनमें अज्ञात कोष्ठ वाले व्यक्ति में दोष, भेषज, काल, देश, बल, शरीर, आहार, सत्त्व, सात्म्य एवं प्रकृति की विवेचना करके प्रारम्भ में ह्रस्व मात्रा से भी छोटी अर्थात् दो याम से भी जल्दी जीर्ण होने वाली मात्रा को वैद्य देवे ॥ १७-१८ ॥

अधुना शोधनशमनबृंहणभेदात्त्रिविधस्य स्नेहस्य कालमात्रालक्षणमधिकृत्याह—

ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने स्नेहोऽच्छः शुद्धये बहु ।

स०—ह्यस्तनेऽन्न आहारे जीर्ण एव जीर्णमात्र एव न त्वन्नाभिलाषे सति .शुद्धये शोधनार्थं बहुरुत्तमया मात्रया स्नेहोऽच्छः केवलः पेयत्वेन शस्यते। संजातबुभुक्षेण तु पीतो जाठरानलस्य दीप्तत्वाच्छोधनकार्यमकुर्वाणस्तद्योग्यतां चाऽनुत्पादयन्नाश्वेव जैरामुपैति। वमनमपि बुभुक्षितस्य न संपद्यते

कफाऽपचितेः पूर्वोक्ताद्धेतोः। तस्माद्युक्तमुक्तं ह्यस्तने जीर्ण एवान्न इति।

वि०—शोधन के लिये-सायंकाल में खाये हुए अन्न के जीर्ण हो जाने पर बहुत मात्रा में शुद्ध स्नेह पिलाना चाहिये।

शमनः क्षुद्वतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते॥ १९॥

स०—शमनो यो रोगस्य शमनायोपयुज्यते स्नेहः स क्षुद्वतो जातबुभुक्षस्य शस्यते जातायां बुभुक्षायां न जीर्णमात्र एवान्ने शोधन इव शमनः स्नेहो यत्र तत्रस्थं दोषं कुपितं सर्वशरीरव्यापित्वात् शमयति। यदि पुनर्जीर्णमात्र एवान्ने स्नेहोऽयमबुभुक्षितस्यैवोपयुज्यते तदानीं स्रोतसां कफाद्युपलेपानि वर्तनात्तत्संपृक्तोऽसौ स्नेहो न सर्वं शरीरं व्याप्नुते अव्याप्नुवंश्च न दोषं शमयेत्। तस्मात्क्षुद्वत एवायं शस्यते। स च मध्यममात्रयाऽनन्नः केवल एव। भक्ष्यादिविचारणारहितः। अच्छ एव पेय इत्यर्थः। अत्र चोत्तमया मात्रया स्नेहपानादिनानंतरं पथ्यं कार्यम्। पुनः स्नेहप्रयोगः पुनरन्यस्मिन्नहनि पथ्यं कार्यम्। मध्यममात्रया स्नेहपाने तु लघुभोजिनो न याममात्रेऽन्नाकांक्षा भवति। तदा च स्नेहोपयोगे रात्र्यारंभे रात्रियामार्धे गते वा रसकौदनप्रायं भोजनं भोज्यं मात्रयैव। ग्रंथकारो हि शमने स्वल्पभोजनमेवाऽनुजज्ञे। वक्ष्यति हि। उपचारस्तु शमने कार्यः स्नेहे विरिक्तवदिति। सुश्रुते चोक्तम्। परिषिच्याऽद्भिरुष्णाभिर्जीर्णस्नेहं ततः परम्। यवागूं पाययेदुष्णामक्लिन्नामल्पतंडुलाम्। पेयो यूषो रसो वा स्यादकृतः सौरभायुतः। कृतो वाऽप्यल्पसर्पिष्को विलेपी वा विधीयत इति॥ १९॥

बुभुक्षित के लिये स्नेहोपयोग—

वि०—शमन के लिये-भूख लगने पर एवं बिना भोजन किये मध्यम मात्रा में शुद्ध स्नेह पिलाना चाहिये॥ १९॥

बृंहणो रसमद्याद्यैः सभक्तोऽल्पः—

स०—बृंहणः स्नेहो रसमद्याद्यैः सह शस्यते। रस इत्यविशेषोक्तौ ज्ञेयो मांसभवो रस इति तन्त्रांतरोक्त्या रसशब्देन मांसरसोऽत्र बोद्धव्यः। आद्यशब्देन क्षीरखंडादेर्द्रवरूपस्य ग्रहणम्। तथा सह भक्तेनौदनेनाऽसौ वर्तते इति सभक्तः शस्यते। एष च स्नेहो ह्रसीयसीतोऽपि मात्रातोऽल्पः।

रसादि के साथ स्नेहोपयोग—

वि०—बृंहण के लिये स्नेह को मांस, मद्य आदि भक्ष्य पदार्थों के साथ मिलाकर भोजन के साथ थोड़ी मात्रा में लेना चाहिये।

—हितः स च।
बालवृद्धपिपासार्तस्नेहद्विण्मद्यशीलिषु ॥ २०॥
स्त्रीस्नेहनित्यमन्दाग्निसुखितक्लेशभीरुषु ।
मृदुकोष्ठाल्पदोषेषु काले चोष्णे कृशेषु च॥ २१॥

स०—स च स्नेहो बालादिषु हितः। बालदीनामितरेतरद्वंद्वः। विपासार्तास्तृट्पीडिताः। स्नेहद्विषो ये स्वभावेनैव स्नेहं द्विषंति। स्त्रीस्नेहयोर्नित्यशब्देन संबंधः। स्त्रीनित्येषु स्नेहनित्येषु चेत्यर्थः। काले चोष्णे ग्रीष्मादौ कृशेषु नरेषु च हितः॥ २०-२१॥

वि०—यह स्नेह-बालक, वृद्ध, प्यास से पीडित, स्नेह से द्वेष करने वाले, मद्यप, स्त्रीसेवी, स्नेहसेवी, मन्दाग्नि, सुखी जीवन व्यतीत करने वाले, क्लेश से डरने वाले, मृदुकोष्ठ, अल्प दोष वाले तथा कृश व्यक्तियों के लिये एवं ग्रीष्मकाल में श्रेष्ठ होता है॥ २०-२१॥

स चोपयुक्तः किं करोतीत्याह—

प्राङ्मध्योत्तरभक्तोऽसावधोमध्योर्ध्वदेहजान् ।
व्याधीञ्जयेद्बलं कुर्यादङ्गानां च यथाक्रमम्॥ २२॥

स०—प्राक् च मध्यं चोत्तरं च तत् प्राङ्मध्योत्तरं भक्तं यस्मिन्स्नेहे स प्राङ्मध्योत्तरभक्तः। तेनाऽयमर्थः। भक्तस्याऽदावुपयुक्तोऽसौ स्नेहोऽधोदेहजान् व्याधीन् जयेत्। मध्य उपयुक्तो मध्यदेहजान् भक्तस्योपर्युपयुक्त ऊर्ध्वदेहजानिति यथाक्रमम्। तथांऽगानां शरीरावयवानामोमध्यधोर्ध्वसंज्ञकानां बलं कुर्यात्। इदं चोक्तम्। मारुतेऽभ्यधिके सर्पिः सदा सलवणं हितम्। केवलं चाधिके पित्ते कफे सव्यूषणं तथेति॥ २२॥

उक्त स्नेहोपयोग का फल—

वि०—भोजन से पूर्व पिया स्नेह-शरीर के अधोभाग के रोगों को, भोजन के मध्यभाग में पिया स्नेह शरीर के मध्यभाग के रोगों को और भोजन के उपरान्त पिया स्नेह शरीर के ऊर्ध्वभाग के रोगों को नष्ट करता है और उन्हीं अङ्गों को बलवान् बनाता है॥ २२॥

वार्युष्णमच्छेऽनुपिबेत् स्नेहे तत्सुखपक्तये।
आस्योपलेपशुद्ध्यै च, तौवरारुष्करे न तु॥ २३॥
जीर्णाजीर्णविशङ्कायां पुनरुष्णोदकं पिबेत्।
तेनोद्गारविशुद्धिः स्यात्ततश्च लघुता रुचिः॥ २४॥

स०—अच्छे पेये स्नेह उत्तममध्यमह्रस्वमात्रोपयोजितेऽनु पश्चादुष्णं वारि पिबेत्। किमर्थम्। तत्सुखपक्तये तस्य स्नेहस्य सुखपक्तिः सुखेन पाकस्तदर्थम्। तथाऽऽस्योपलेपशुद्ध्यै स्नेहलिप्तस्य मुखस्य शुद्धिनिमित्तम्। तुवरतैले भल्लातकतैले वाऽच्छे पेयेऽप्युष्णोदकं न पिबेत्। तयोरप्युष्णवीर्यत्वादिति भावः। तुवरस्याऽयं विकारः स्नेहस्तौवरस्तस्य विकार इत्यण्। एवमारुष्करे च। चिरपीते च स्नेहे जीर्णाऽजीर्णं प्रति संशये सति भूयोऽप्युष्णं जलं पिबेत्। अनुपानापेक्षं पुनर्ग्रहणं न वीप्सार्थम्। तेतोष्णोदकपानेनोद्गारस्य विशुद्धिर्भवेत्। ततश्च जीर्णाऽजीर्णशंकातोऽधिकमंगलाघवं रुचिश्च स्नेहस्य पातुः स्यात्। संग्रहेऽप्यन्यदप्युक्तम्। यथा। ततो गुरुप्रावरणो निवाते शयने स्थितः। जरणांतं प्रतीक्षेत तृष्यन्नुष्णाऽल्पवारिपः। शिरोरुग्भ्रमनिष्ठीवमूर्छादाहाऽरुचिक्लमैः। जानीयाद्भेषजं जीर्यज्जीर्णं तच्छांतिलाघवात्। अनुलोमानिलस्वास्थ्यक्षुत्तृष्णोद्गारशुद्धिभिरिति॥ २३-२४॥

वि०—शुद्ध स्नेह के पीने के उपरान्त गरम पानी पिये, इससे स्नेह भली प्रकार जीर्ण होता है, तथा स्नेह से लिप्त

मुख का शोधन होता है। तुवरकतैल और भिलावे के तैल में शीतल पानी पिये, गरम नहीं। स्नेह जीर्ण हो गया या नहीं इस सन्देह में फिर गरम पानी पिये। गरम पानी पीने से उद्गार की शुद्धि, फिर शरीर में हल्कापन और भोजन में रुचि होती है ॥ २३-२४ ॥

भोज्येऽन्नं मात्रया पास्यन् श्वः पिबन् पीतवानपि।
द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करम् ॥२५॥

स०—भोज्यो भोजयितव्यो नरः। किं तत्। अन्नम्। कीदृशम्। द्रवोष्णम्। अत्र चोभयथा समासः। द्रवेण मुद्गयूषादिना सहोष्णमन्नं द्रवोष्णम्। तथा केवलं द्रवं च तदुष्णं द्रवोष्णं पेयादिकं केवलमेवेति। तथाऽनभिष्यंदि न कफकृत्। तथा नाऽतिस्निग्धमर्थादीषत्स्निग्धम्। तथाऽसंकरमसंकीर्णमपथ्येनामिश्रितमित्यर्थः। कः पुरुषः किं कुर्वन्नीदृशमन्नं मात्रया भोजयितव्य इत्याह। श्वः स्नेहं पास्यन्पातुमिच्छन्। तथा तस्मिन्नेव दिने स्नेहं पिबन्। तथा पीतवानपि यः स्नेहम्। अपिः समुच्चये। ननु मात्राशी सर्वकालं स्यादिति प्रागुक्तमेव तत्किमिह पुनर्मात्राग्रहणेन। ब्रूमः। मात्राशब्दस्तत्र प्रामाणार्थः इह स्वल्पार्थः। तेनायमर्थः। यावदन्नमस्य सम्यग्यथाकालं परिणमति तावतोऽप्यन्नादनेन स्वल्पं भोज्यमिति ॥ २५ ॥

स्नेह पीनेवाले के लिये भोजनविधि—

वि—भोजन का नियम—जिसको कल-अगले दिन स्नेह पीना हो या उसी दिन पीना हो; या जिसने स्नेहपान किया हो, वह द्रव-एवं उष्ण; जो अभिष्यन्दी—कफवर्धक न हो; थोड़ा स्निग्ध हो तथा पथ्य-अपथ्य से अमिश्रित (बहुत मिलावट न हो) अन्न को खाये।

[जितने दिन स्नेह पिया हो-या पीना हो-उतने दिन तक ऐसा भोजन करे] ॥ २५ ॥

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः।
न वेगरोधी व्यायामक्रोधशोकहिमातपान् ॥ २६ ॥
प्रवातयानयानाध्वभाष्यात्यासनसंस्थितीः ।
नीचात्युच्चोपधानाहःस्वप्नधूमरजांसि च ॥ २७ ॥
यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत्।

स०—तथाऽसौ स्नेहस्य पाता उष्णोदकोपचारी स्यात्। उष्णोदकमुपचरितुं सेवितुं शीलमस्य स एवम्। तथा ब्रह्मचारी ललनासंगरहितः। क्षपाशयः इत्यधिकरणे शेतेरित्यच्। क्षपाशय इत्यनेन दिवास्वप्नस्य रात्रिजागरस्य च निषेधः। स्नेहं पिबति यावंत्यहानि तावंत्यन्यान्यपि स्नेहपानरहितानि व्यायामादींस्त्यजेत् ॥ २६-२७ ॥

स्नेह पीनेवाले के कर्तव्य—

वि०—विहार नियम—स्नान-पान आदि में गरम पानी बरते; ब्रह्मचारी रहे; रात्रि में सोये; उपस्थित वेगों को न रोके, व्यायाम, क्रोध, शोक, ठण्ढक और धूप से अपने को बचाये; तेज वायु, सवारी पर यात्रा, पैदल मुसाफिरी, बहुत बोलना, बहुत देर बैठना, बहुत देर खड़े रहना, सिर को (तकिये को) बहुत नीचे रखना या बहुत ऊँचा रखना, दिन में सोना, धूवाँ और धूल इनको छोड़ देवे—इनसे बचे। जितने दिन स्नेहपान किया है उतने ही दिन और अधिक इन वस्तुओं से परहेज करे ॥ २६-२७ ॥

सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधिक्षीणेषु च क्रमः ॥ २८ ॥

स०—सर्वकर्मसु वमनविरेचनादिष्वयमुष्णोदकोपचारीत्यादिक्रमो विधिरित्यर्थः। व्याधिक्षीणेषु च प्रायोऽयमेव विधिः। अत्राऽप्यतीसारादिष्वहःस्वप्नादिनामनुज्ञानात्प्रायोग्रहणम् ॥ २८ ॥

वि०—प्रायः करके वमन-विरेचनादि सब कर्मों में तथा रोग से क्षीण पुरुषों में यही (उपर्युक्त) नियम है ॥ २८ ॥

उपचारस्तु शमने कार्यः स्नेहे विरिक्तवत्।

स०—तुर्व्यतिरेके। शमने स्नेहे तूपयुक्ते उपचारो भोजनादिविधिर्विरिक्तवत्कार्यः। यथा विरिक्ते पेयादिकः क्रमस्तथाऽस्मिन्नपीत्यर्थः।

वि०—शमन स्नेह में भोजनादि उपचार विरेचन की भाँति करना चाहिये, अर्थात् पेया, विलेपी आदि संसर्जन क्रम का पालन करना चाहिये।

त्र्यहमच्छं मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत् ॥ २९ ॥
सम्यक्स्निग्धोऽथवा यावदतः सात्म्यीभवेत्परम्।

स०—मृदौ कोष्ठे सति पुरुषस्त्रिदिनमच्छं स्नेहं पिबेत्। क्रूरकोष्ठे सप्ताहम्। मध्यकोष्ठस्तु षड्रात्रम्। मध्यकोष्ठस्त्वत एव लक्षणादधिगम्यते। मृदुकोष्ठे च स्नेहगो दोषः संग्रहे कथितः। यथा चात्वार्यहानि पंच वा स्नेहं पिबेदिति। यदि च त्र्यहेण सम्यक्स्निग्धलक्षणं न स्यात्ततश्चतुष्पंचरात्रमपि स्नेहं पिबेत्। मध्यकोष्ठस्तु षड्रात्रं पिबेदित्याह। सम्यक्स्निग्धोऽथवा यावदित्यादि। अथवा नैष नियमः सम्यक्स्निग्धलक्षणोत्पत्तिरेव नियमोऽतः सप्ताहादप्यूर्ध्वमच्छस्नेहः पेयो यावत्स्निग्धलक्षणं स्यात्। अतः परं स्नेहः सात्मीभवेत् सात्मीभूते च स्नेह यो दोषः स संग्रहे कथितः। यथा। सात्मीभूतो हि कुरुते न मलानामुदीरणम्। अतियोगेन वा व्याधीन् यथांऽभो ह्यतियोजनादिति। यदि तु सप्ताहेनाऽपि स्नेहलक्षणं नोत्पद्यते तदा दिनमेकं विश्रमय्य पुनः स्नेहो योज्य इति सद्वैद्याः ॥ २९ ॥

स्नेहपान की अवधि—

वि०—मृदु कोष्ठ वाला व्यक्ति तीन दिन शुद्ध स्नेह पिये, क्रूर कोष्ठ वाला सात दिन पिये, अथवा जब तक भली प्रकार स्निग्ध न हो तब तक स्नेह पिये। इसके आगे स्नेह सात्म्य हो जाता है [सात्म्य होने से अभीष्ट गुण नहीं करता] ॥२९॥

वक्तव्य—वस्तुतः तीन से सात दिन तक स्नेहन करना चाहिये, मध्यकोष्ठ में ४-५ दिन में सम्यक्स्नेहन हो जाता है।

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम् ॥३०॥
स्नेहोद्वेगः क्लमः सम्यक्स्निग्धे, रूक्षे विपर्ययः।

अतिस्निग्धे तु पाण्डुत्वं घ्राणवक्त्रगुदस्रवाः ॥ ३१ ॥

स०—सम्यक्स्निग्धे पुरुषे तु वातानुलोम्यादि क्लमांतं लक्षणं भवति। वर्चः शकृत् स्निग्धं तथाऽसंहतं शिथिलम्। रूक्षेऽस्निग्धे विपर्ययो वैपरीत्यम्। अतिस्निग्धे तु स्नेहस्याऽतियोजनात्पुनः पाण्डुत्वादयो भवंति। स्रवशब्दस्य घ्राणादिभिः प्रत्येकं संबन्धः ॥ ३०-३१ ॥

सम्यक् स्निग्ध आदि के लक्षण--

वि०—सम्यक् स्निग्ध के लक्षण—वायु का अनुलोमन होना, अग्नि की दीप्ति, मल का स्निग्ध एवं ढीला होना, स्नेह से ऊब जाना एवं थकान; ये सम्यक् स्निग्ध के लक्षण होते हैं। रूक्ष (अस्निग्ध) में इससे विपरीत लक्षण होते हैं। अतिशय स्निग्ध होने पर–पाण्डुत्व; नाक, मुख और गुदा से (कफ का) स्राव होता है ॥ ३०-३१ ॥

अमात्रयाऽहितोऽकाले मिथ्याहारविहारतः ।
स्नेहः करोति शोफार्शस्तन्द्रास्तम्भविसंज्ञताः ॥ ३२ ॥
कण्डूकुष्ठज्वरोत्क्लेशशूलानाहभ्रमादिकान् ।

स०—अमात्रः पीतः स्नेहः सर्पिरादिः शोफादीन् करोति। आदिशब्देन तु बलक्षयजाड्यवाग्ग्रहादयः संग्रहोक्ता गृह्यंते। अहितो यो यस्य प्रतिषिद्धः स्नेहः। तथाऽकाले ग्रीष्मादौ पूर्वं प्रतिषिद्धे। तथा मिथ्याऽऽहारतो द्रवोष्णमित्यादिविपर्ययेण। तथा मिथ्याविहारत उष्णोदकोपचारी स्यादित्यादिविपर्ययेण ॥ ३२ ॥

मात्राविरुद्ध स्नेहपान का फल—

वि०—अनुचित मात्रा से; अनुचित स्नेह; अयोग्य काल में तथा आहार-विहार को ठीक प्रकार न पालने से पिया हुआ स्नेह शोफ, अर्श, तन्द्रा, जडता, संज्ञानाश, कण्डू, कुष्ठ, ज्वर, जी मिचलाना, शूल, आनाह और भ्रम आदि रोगों को करता है ॥ ३२ ॥

क्षुत्तृष्णोल्लेखनस्वेदरूक्षपानान्नभेषजम् ॥ ३३ ॥
तक्रारिष्टखलोद्दालयवश्यामाककोद्रवम् ।
पिप्पलीत्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलु ॥ ३४ ॥
यथास्वं प्रतिरोगं च स्नेहव्यापदि साधनम् ।

स०—स्नेहव्यापदि स्नेहविधिविभ्रंशे सति क्षुत्तृष्णादि साधनं चिकित्सा। क्षुत्तृष्णानिग्रहौ क्षुत्तृष्णाशब्देनाऽत्रोक्तौ। उल्लेखनं वमनम्। रूक्षशब्दस्य पानादिभिस्त्रिभिर्योगः। तक्राणि चारिष्टश्चेत्येवं समासः। खलो व्यंजनविशेषः प्रागुक्तः। उद्दालः शालिविशेषः। यथास्वं दोषानुगुण्येन प्रतिरोगं यद्यस्मिन् रोगे स्वेऽध्याय उक्तं तदपि साधनम् ॥ ३३-३४ ॥

स्नेहव्यापद् का उपचार—

वि०—चिकित्सा—स्नेहव्यापद् (स्नेहन से उत्पन्न उपद्रव में भूख-प्यास को रोकना (लंघन), वमन, स्वेदन, रूक्ष अन्नपान और औषध, तक्रारिष्ट, खल (व्यञ्जन विशेष), उद्दालक, जौ, सांवाँ, कोदो, पिप्पली, त्रिफला, मधु, गोमूत्र; हरड़, गुग्गुलु; इनको दोष के अनुसार तथा प्रत्येक रोग की दृष्टि से स्नेहव्यापद् में प्रयुक्त करे अर्थात् विरूक्षण करे ॥ ३३-३४ ॥

स्नेहव्यापत्साधनस्य विरूक्षस्वभावत्वात्प्रसंगेन विरूक्षणस्य सम्यक्कृताऽतिकृतलक्षणमाह—

विरूक्षणे लङ्घनवत्कृतातिकृतलक्षणम् ॥ ३५ ॥

स०—विरूक्षणे सम्यगुत्पन्ने तथाऽत्यर्थोत्पन्ने च लंघनवत् कृतातिकृतलक्षणं ज्ञेयम्। कृतं चाऽतिकृतं च कृतातिकृतं तयोर्लक्षणं कृतातिकृतलक्षणम्। कृतशब्देन सम्यक्कृतमुच्यते। विरूक्षणाऽतियोगलक्षणं तु स्नेहाऽतियोगलक्षणेनैवोक्तम्। तत्र सम्यक्कृतस्य लंघनस्य यल्लक्षणं विमलेंद्रियतादि तदेव विरूक्षणे कृते लक्षणं बोध्यम्। तथाऽतिकृते विरूक्षणेऽतिलंघितस्य लक्षणं कार्श्यादिकं वेद्यम् ॥ ३५ ॥

विरूक्षण के कृतातिकृत लक्षण—

वि०—लंघन के सम्यग्योग के जो लक्षण (विमलेन्द्रियता आदि) तथा लंघन के अतियोग के जो लक्षण (अतिकार्श्य आदि) हैं, वे ही विरूक्षण के सम्यग्योग और अतियोग में जानने चाहिये ॥ ३५ ॥

स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् स्वेदमाचरेत् ।
स्निग्धस्त्र्यहं स्थितः कुर्याद्विरेकं, वमनं पुनः ॥ ३६ ॥
एकाहं दिनमन्यच्च कफमुत्क्लेश्य तत्करैः ।

स०—स्निग्धश्चाऽसौ द्रवोष्णधन्वोत्थरसश्च तं भुंक्ते यः स स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् धन्वोत्थरसो जांगलदेशमांससमुद्भूतो रसः। मांसरसस्य स्वभावत एव स्निग्धद्रवत्वात्स्निग्धद्रवग्रहणमधिकयोगायेति वेद्यम्। उष्णमुभयथा वीर्यतोऽग्निसंयोगाच्च। एवंभूतः पुरुषः पूर्वं स्निग्धोऽनंतरं स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् स्वेदमाचरन् दिनत्रयं स्थितः सन् विरेकं कुर्यात्। वमनं पुनरिति। यदा तु स्नेहादनंतरं वमनमेवोपयुंक्ते तदैकाहमनेनैव प्रकारेण स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् स्वेदमाचरन् स्थितोऽन्यच्च दिनं द्वितीयमहः कफमुत्क्लेश्य स्थानात् प्रच्याव्याऽवस्थितौ वमनं कुर्यात्। केनोत्क्लेश्य तत्करैः कफकरणहेतुभिर्माषक्षीरमत्स्यगुडादिभिः। तत्करैरित्यादि कृञो हेत्वादिना हेतौ टः ॥ ३६ ॥

स्निग्धादि के पश्चात् कर्तव्य—

वि०—स्निग्ध, द्रव और उष्ण जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस खाने वाले को स्वेद देवे। स्नेहन के तीन दिन पीछे विरेचन लेवे तथा स्नेहन के बाद एक दिन विश्राम लेकर दूसरे दिन (माष, दूध आदि) कफकारक द्रव्यों से कफ को उत्क्लेशित (बाहर आने की प्रवृत्ति वाला) करके तीसरे दिन वमन का प्रयोग करे ॥ ३६ ॥

मांसला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नयः ॥ ३७ ॥
स्नेहोचिताश्च ये स्नेह्यास्तान् पूर्वं रूक्षयेत्ततः ।
संस्नेह्य शोधयेदेवं स्नेहव्यापन्न जायते ॥ ३८ ॥

स०—मांसलत्वादियुक्ताः पुरुषा ये शोध्यत्वेन स्नेहयितुमभीष्टास्तान् पूर्वं प्रथमं रूक्षयेत्। ततो रूक्षयित्वानंतरं

संस्नेह्य शोधयेत्। किमेवं स्यादित्याह। एवं स्नेहव्यापन्न जायते। मांसला उपचितमांसाः। मेदुरा मेदस्विनः ॥३७-३८॥

स्थूल स्नेहनीयों के नियम—

वि०—जो व्यक्ति अतिशय मांस वाले, मेदवाले, बहुत कफ वाले, तथा विषम अग्निवाले हैं और जिनको स्नेह सात्म्य हो; इनका यदि शोधन के लिये स्नेहन करना अभीष्ट हो तो प्रथम इनका रूक्षण करे। फिर स्नेहन करके इनका शोधन करे—इस प्रकार करने से स्नेहजन्य रोग नहीं होते ॥ ३७-३८ ॥

अलं मलानीरयितुं स्नेहश्चासात्म्यतां गतः।

स०—न केवलं स्नेहव्यापदेव न स्यात्। यावत् स्नेहोऽसात्म्यतां गतः सन् मलान् वातादीन् पुरीषादींश्चेरयितुं प्रेरयितुमलं प्रर्याप्तः।

वि०—जो स्नेह सात्म्य नहीं हुआ है; वह स्नेह मलों के प्रेरित करने में समर्थ होता है—

बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहारासहिष्णुषु ॥ ३६ ॥
योगानिमाननुद्वेगान् सद्यःस्नेहान् प्रयोजयेत्।

स०—बालादिषु तथा यः स्नेहविषयः परिहारः शीतोदकादिस्तदसहिष्णुष्वक्षमेषु सद्यः स्नेहाख्याननुद्वेगाननुद्वेजकानेतान् योगान् प्रयोजयेत् ॥ ३९ ॥

बालक-वृद्धादि का शीघ्र स्नेहकरण—

वि०—बालक, वृद्ध आदि जो कि स्नेहसम्बन्धी परहेज का पालन नहीं कर सकते, उनके लिये तुरन्त स्नेहन करने वाले तथा उद्वेग पैदा न करने वाले निम्न योगों को बरते ॥ ३९ ॥

कांस्तानित्याह--

प्राज्यमांसरसास्तेषु पेया वा स्नेहभर्जिता ॥ ४० ॥
तिलचूर्णश्च सस्नेहफाणितः, कृशरा तथा।
क्षीरपेया घृताढ्योष्णा दध्नो वा सगुडः सरः ॥ ४१ ॥
पेया च पञ्चप्रसृता स्नेहैस्तण्डुलपञ्चमैः।
सप्तैते स्नेहनाः सद्यः, स्नेहाश्च लवणोल्बणाः ॥ ४२ ॥
तद्ध्यभिष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च।

स०—तेषु बालादिषु प्राज्यमांसरसाः प्रभूतमांसानामेव रसास्तथा स्नेहभर्जिता पेया तथा तिलचूर्णः पललाख्यः स स्नेहफाणितः सर्पिरादिना युक्तः क्षुद्रगुडेन च युक्तस्तथा क्षैरेयी वा पेया सर्पिष्मत्युष्णा च दधिसरो वा सगुडः। पेया च पंचप्रसृता। द्वे पले प्रसृतं विदुः पंच प्रसृतानि यस्यां सा पंचप्रसृता। केषां पंच प्रसृतानीति युक्त्याह। स्नेहैस्तंडुलपंचमैरिति। सर्पिस्तैलं वसा मज्जेति चतुर्णां स्नेहानां चत्वारि प्रसृतानि तंडुलाश्च प्रसृतमित्यर्थः। एते सप्त पूर्वोक्ताः सद्यः शीघ्रं स्नेहना निष्परिहाराश्च। न केवलमेत एव स्नेहना इत्याह। स्नेहाश्च लवणोल्बणाः सर्पिरादयो लवणाढ्याश्च सद्यःस्नेहनाः। कस्मादित्याह—यस्माल्लवणमभिष्यन्दि स्रोतसां स्रावकमरूक्षत्वादिगुणयुक्तं सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोगामि व्यवायि देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते ॥ ४०-४२ ॥

अनुद्वेगकर सात स्नेहन योग—

वि०—सात योग—(१) प्रचुर मांस से बनाये मांसरस (२) मांसरस में बनी और स्नेह में भूनी पेया, (३) घी आदि स्नेह और राब के साथ तिलों का चूर्ण, (४) घी और राब के साथ कृशरा (तिल और तण्डुल की यवागू), (५) प्रचुर घृत डाली हुई और दूध में बनाई उष्ण पेया, (६) दही की मलाई गुड़ के साथ, (७) पञ्च प्रसृति पेया—घी, तैल, वसा और मज्जा—इन चार स्नेहों की एक-एक प्रसृति (दो-दो पल) और चावलों की कणियाँ एक प्रसृति। ये सात योग तुरन्त स्नेहन करने वाले हैं और लवणप्रचुर (अपक्क) स्नेह भी सद्यःस्नेहन करते हैं क्योंकि लवण अभिष्यन्दि, अरूक्ष, सूक्ष्म, उष्ण और व्यवायी होता है ॥ ४०-४२ ॥

गुडानूपामिषक्षीरतिलमाषसुरादधि ॥ ४३ ॥
कुष्ठशोफप्रमेहेषु स्नेहार्थं न प्रकल्पयेत्।

स०—कुष्ठादिषु स्नेहयोग्यत्वे सति गुडादि स्नेहनार्थं न प्रकल्पयेन्न योजयेत् ॥ ४३ ॥

कुष्ठादि में गुडादि त्याज्यता—

वि०—कुष्ठ-शोफ और प्रमेह में स्नेहन के लिये—गुड, आनूप मांस, दूध, तिल, उड़द, सुरा और दही इनको नहीं बरते ॥ ४३ ॥

तर्हि ते कथं स्नेह्या इत्याह—

त्रिफलापिप्पलीपथ्यागुग्गुल्वादिविपाचितान् ॥ ४४ ॥
स्नेहान् यथास्वमेतेषां योजयेदविकारिणः।

स०—एतेषां कुष्ठादीनां यथास्वमध्यायेषु पथ्यत्वेनाऽभिहितैस्त्रिफलादिभिः पाचितान् साधितानविकारिणः स्नेहान् योजयेत्। कुष्ठादीनां सम्बन्धी यो विकारस्तद्धताम्। तेन कुष्ठिनां शोफिनां मेहिनामित्यर्थोऽवतिष्ठते ॥ ४४ ॥

कुष्ठादि में स्नेहनविधि—

वि०—इन कुष्ठादि रोगों में—त्रिफला, पिप्पली, हरड़, गुग्गुलु आदि से सिद्ध किये—विकार न करने वाले—स्नेहों को दोषों के अनुसार बरतना चाहिये ॥ ४४ ॥

क्षीणानां त्वामयैरग्निदेहसन्धुक्षणक्षमान् ॥ ४५ ॥

स०—आमयैर्व्याधिभिः क्षीणानां पुंसामग्निदेहसन्धुक्षणक्षमान् स्नेहान् योजयेत्। अग्निश्च देहश्चाग्निदेहौ। संधुक्षणाश्च क्षमाश्च संधुक्षणक्षमास्तान्। यथासंख्येनाऽत्र संबंधः। अग्नेः संधुक्षणास्तद्दीपकाः देहस्य क्षमाः पुष्ट्यावहाः। अत्र चाऽयं भावः। किल व्याधिभिः क्षीणानां वह्निरपि क्षीणो भवति। अतस्तेषां न केवलं ये पुष्ट्यावहाः कुतः ते वह्निमांद्यमावहंति। अथवा वह्निसंधुक्षणा न पुष्ट्यावहाः स्नेहा उपयोक्तुं युक्ताः। किं तर्ह्युभयकारिण एव योक्तुं युक्ता इति ॥ ४५ ॥

वि०—रोगों से जो क्षीण हो गये हों—उनके लिये अग्नि तथा शरीर को बढ़ाने वाले स्नेह बरते ॥ ४५ ॥

वक्तव्य—'तैलं सुराया मण्डेन वसां मज्जानमेव वा। पिबेत्सफाणितं क्षीरं नरः स्निह्यति वातिकाः ॥ धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं पीत्वा सशर्करं पयः। नरः स्निह्यति पीत्वा वा सरं दध्नः सफाणितम् ॥' (चरक. सू. अ. १३।८७)

दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः
प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः ।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः
स्नेहोपसेवी पुरुषः प्रदिष्टः । ४६ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने स्नेहविधिर्नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

स०—यः पुमानाभीक्ष्ण्येन स्नेहमुपसेवते स दीप्तांतराऽग्नित्वादिगुणयुक्तो भवतीति प्रदिष्टः । सद्वैद्यैरिति शेषः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

स्नेहोपसेवन का सुपरिणाम—

वि०—स्नेहसेवन का फल—स्नेह का सेवन करने वाले पुरुष की अग्नि प्रदीप्त रहती है, कोष्ठ शुद्ध होता है, समस्त इन्द्रियाँ दृढ होती हैं, बुढ़ापा देर में आती है, एक सौ वर्ष की आयु होती है, स्नेह के सेवन के ये गुण कहते हैं ॥ ४६ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का स्नेहविधि नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

शोधनप्रसंगेन स्नेहोपयोगः स्निग्धे च देहे दोषाणां मार्दवीकरणाय स्वेदस्य प्रसंगोऽतस्तत्परिज्ञानार्थोऽयमध्याय आरभ्यते—

अथातः स्वेदविधिमाध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

स०—अथाऽत इति । स्वेदनं स्वेदस्तस्य विधिर्विधानं व्याख्यास्यामः । शेषं पूर्ववत् ।

वि०—अब इसके आगे स्वेदविधि अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

स्वेदस्य चातुर्विध्यमाह—

स्वेदस्तापोपनाहोष्मद्रवभेदाच्चतुर्विधः ।

स०—स्वेदश्चतुर्विधस्तापादिभेदात् ।

स्वेद के चार प्रकार—

वि०—स्वेद चार प्रकार के हैं—तापस्वेद, उपनाहस्वेद, ऊष्मस्वेद और द्रवस्वेद ।

तत्र तापादीनेव लक्षयितुमाचष्टे—

तापोऽग्नितप्तवसनफालहस्ततलादिभिः ॥ १ ॥

स०—तापः स्वेदोऽग्नितप्तेन वसनेन तथा फालेनाऽयोमयेनाऽग्निना तप्तेन तथा हस्ततलेनाऽपि आदिग्रहणाद्दारुवालुकाकांस्यपात्रादयो गृह्यंते ॥ १ ॥

तापस्वेद का लक्षण—

वि०—तापस्वेद—अग्नि से गरम किये वस्त्र, फाल (लोहा) हाथ की हथेली आदि (रेती पात्र), से किया जाता है ॥ १ ॥

उपनाहो वचाकिण्वशताह्वादेवदारुभिः ।
धान्यैः समस्तैर्गन्धैश्च रास्नैरण्डजटामिषैः ॥ २ ॥
उद्रिक्तलवणैः स्नेहचुक्रतक्रपयःप्लुतैः ।
केवले पवने, श्लेष्मसंसृष्टे सुरसादिभिः ॥ ३ ॥
पित्तेन पद्मकाद्यैस्तु साल्वणाख्यैः पुनः पुनः ।

स०—किण्वं सुराप्रकृतिः । धान्यैरिति सामान्योक्तावपि तिलाऽतसीमाषादीनि योग्यत्वाद्यान्युष्णवीर्याणि स्निग्धानि वा तानि प्रायेण प्रयोज्यानीति । समस्तग्रहणं गंधैरेव युज्यते । अत एव संग्रहेऽवदत् । सर्वगंधानीति । गंधैर्गंधद्रव्यैः कुष्ठागुरुतगरसुरसादिभिस्तथा रास्नादिभिः । किंभूतैः पूर्वोक्तैः उद्रिक्तलवणैर्लवणाढ्यैः । तथा स्नेहश्च चुक्रं च तक्रं च पयश्चतैः प्लुतैरालोडितैः । चुक्रमम्लम् । तक्रस्य चुक्रत्वादेव ग्रहणे सिद्धे तक्रग्रहणमतिशयाय । अतिशयेन साल्वणाख्ये स्वेदे तक्रं प्रयोज्यमिति । केवले पवने वचादिभिरुपनाहः स्वेदः कार्यः। श्लेष्मसंसृष्टे पवने सुरसादिभिः सुरसयुगादिना गणेन। पित्तेन संसृष्टे पवने पद्मकाद्यैः पद्मकपुंड्राविस्यादिभिः । पित्तेन संसृष्टे पवन इत्यत्र किंचिदेव पित्तेन संसृष्टे पवने पद्मकादिभिरुपनाहः कार्यं इत्यादि योज्यं नाऽधिकेन पित्तेन युक्ते पवने नाऽपि तुल्येन पित्तेन युक्ते पवन इति । एवं ह्युक्तम् । ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते विधिः कार्य इति । ग्रैष्मश्च विधिः प्रायेण सर्वः शीतस्तत्र स्वेदो दूरोत्सारित एव । तस्मात् किंचित्पित्तेन संसृष्टे पवने पद्मकाद्यैरुपनाहः कार्य इति वेद्यम् । एते च त्रय उपनाहाः केवले वायौ तथा कफयुक्ते पित्तयुक्ते च क्रमेण योज्याः । एते च साल्वणाभिधाना स्वेदा इत्याह । साल्वणाख्यैरिति । पुनः पुनरिति । असकृत्तैः स्वेदयोजना कार्येत्यर्थः । निरपायो हि यथाऽयं साल्वणापरसंज्ञ उपनाहाख्यः स्वेदो न तथाऽपरे स्वेदा इति । उपनह्यते बध्यते चर्मपट्टादिनेत्यन्वर्थं नामाऽस्योपनाह इति । साल्वण इत्यस्य च तंत्रांतरे प्रसिद्धं नाम । तथा च धन्वंतरिः—काकोल्यादिः स वातघ्नः सर्वाम्लद्रव्यसंयुतः । सानूपोदकमांसस्तु सर्वस्नेहसमन्वितः । सुखोष्णः स्पष्टलवणः साल्वणः परिकीर्तित इति । उद्रिक्तलवणैः स्नेहचुक्रतक्रपयःप्लुतैरिति त्रिष्वपि स्वेदेषु योज्यम् ॥ २-३ ॥

उपनाहस्वेद का लक्षण—

वि०—उपनाहस्वेद—वच, किण्व (मद्यसन्धान में बचा तलछट), सौंफ, देवदारु, जौ, मूंग, कुलथी आदि धान्य,

समस्त गन्धद्रव्य, रास्ना, एरण्डमूल, जटामांसी और गुग्गुल–इनमें प्रचुर सैन्धव आदि लवण मिलाकर, तैलादि स्नेह; चुक्र (अम्ल), तक्र, दूध आदि मिलाकर इन द्रव्यों से शुद्ध वायुजन्य रोगों में उपनाह करे। कफ से मिश्रित वायु में सुरसादि गण मिलाकर इन द्रव्यों से स्वेद करे। पित्त के साथ वायु का मेल होने पर पद्मकादिगण के द्रव्यों को मिलाकर स्वेद देवे। इनका नाम साल्वण स्वेद है–इनको बार-बार करना चाहिये। [सुगन्धित द्रव्य–कुष्ठ आदि] ॥ २–३ ॥

वक्तव्य—'साल्वण' संज्ञा सुश्रुत में दी गई है यथा–'काकोल्यादिः सवातघ्नः सर्वाम्लद्रव्यसंयुतः। सानूपौदकमांसस्तु सर्वस्नेहसमन्वितः। सुखोष्णः स्पष्टलवणः साल्वणः परिकीर्त्तितः ॥' (सु. चि. अ. ४।१४) चरक में तेरह प्रकार के स्वेद हैं—यथा–'संकरः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्। जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षूः कुटी भूः कुम्भिकैव च। कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश ॥' इन सबका इनमें ही समावेश सुश्रुत ने किया है। उपनाह का अर्थ बन्धन है। चर्म या पट्टी से बाँध जाने को उपनाह कहते हैं।

बंधात्मकश्चाऽयं स्वेद इति बंधात्मकस्वेदोपायभूतांश्चर्मपट्टादीनाह—

स्निग्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिश्चर्मपट्टैरपूतिभिः ॥ ४ ॥
अलाभे वातजित्पत्रकौशेयाविकशाटकैः।
बद्धं रात्रौ दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम् ॥ ५ ॥

स०—चर्मपट्टैर्बद्धमुपनद्धमंगं रात्रौ दिवा मुंचेत्। किंभूतैः। स्निग्धोष्णवीर्यैस्तथाऽपूतिभिरदुर्गन्धैः। सुपरिकर्मितत्वात्। अलाभे चर्मपट्टादीनामभावे वातजित्पत्रैरेरंडजादिभिस्तथा कौशेयादिभिः। कौशेयं रांकवादिवस्त्रविशेषः। आविकं कंबलम्। तैर्बद्धं रात्रौ दिवा मुंचेत्। दिवा बद्धं रात्रौ मुंचेद्रात्रौ मोक्तव्यम् ॥ ४–५ ॥

बन्धनार्थ चर्मपट्टादि—

वि०—स्निग्ध, उष्णवीर्य एवं मृदु तथा दुर्गन्धिरहित चमड़े की पट्टियों से उपनाह के द्रव्यों को (स्वेद्य अंग पर) बाँधे। चर्मपट्टियाँ न मिलें तब एरण्ड आदि वातनाशक पत्तों से, रेशम से, या कम्बल से अथवा सूती कपड़े से बाँध देवे। रात्रि में किये उपनाह को दिन में खोल देना चाहिये, दिन में बाँधे हुए को रात्रि में खोल देना चाहिये ॥ ४–५ ॥

ऊष्मा तूत्कारिकालोष्टकपालोपलपांशुभिः।
पत्रभङ्गेन धान्येन करीषसिकतातुषैः ॥ ६ ॥
अनेकोपायसन्तप्तैः प्रयोज्यो देशकालतः।

स०—ऊष्मोष्णबाष्पः। ऊष्माख्यः स्वेद उत्कारिकादिभिः प्रयोज्यः। तत्र यवमाषैरंडबीजातसीकुसुंभबीजादिभिःपिष्टखिन्नैर्लेपसिकाकृतिर्यः स्वेदनोपायः सा उत्कारिका। लोष्टं मृत्पिण्डः। कपालं कर्परम्। उपलः पाषाणः। पांसुर्धूलिः तथा पत्रभंगेन छदसमूहेन। तथा धान्येन। करीषो गवादिशकृच्चूर्णम्। सिकता वालुका तुषो धान्यत्वक्। एतैरुत्कारिकादिभिस्तुषांतैः स्वेदो विधातव्यः। किंभूतैः। अनेके च त उपायास्तैः संतप्तोष्णीकृता ये उत्कारिकादयस्तैरनेकोपायसंतप्तैः। कथं प्रयोज्य इत्याह। देशकालतः। ल्यब्लोपे पंचमी चेयम्। तेन देशकालावपेक्ष्य उपलक्षणं चेदम्। तेन दोषदूष्यादीनपेक्ष्य स्वेदोऽयं प्रयोज्यः। लोष्टकपालपाषाणानग्निवर्णान्संदेशेन गृहीत्वा स्वेद्यदोषाद्यपेक्षयाऽम्भस्यम्ले धान्याम्ले शुक्तादौ वा निमज्जयेत्। तदुद्भूतबाष्पैः स्वेदः शयनस्थस्य कार्यः। अथवा गवादिशकृता पिंडीकृतेनोष्णेन स्वेदः स च पिंडस्वेदसंज्ञः। अथवैरंडादिद्रव्ययुक्तानि यवादीनि धान्यानि साम्लकादीनि गृहीत्वा पिहितमुखायां मूषायां सम्यगुपस्वेद्य निवाते गृहे शयनस्थे किलिंजे प्रस्तीर्याऽविककौशेयवातहरपत्रान्यतमोत्तरप्रच्छदे रौरवाजिनप्रावारादिष्ववच्छन्नं स्वेदयेत्। अथवा पूर्ववत्स्वेद्यद्रव्याणि कुंभ्यामुत्क्वाथ्यं तन्निकटोपविष्टो घनवस्त्रप्रावृत ऊष्माणं गृह्णीयात्। एष संस्तरस्वेदः। एवमनेकोपायसंतप्तत्वं दोषदूष्याद्यपेक्षया निरूप्य स्वेदो योज्यः ॥ ६ ॥

ऊष्मस्वेद—

वि०—ऊष्मस्वेद—उत्कारिका (लप्सी), मिट्टी का ढेला, कपाल (मिट्टी का ठीकरा), उपल (पत्थर), धूली, पत्रभङ्ग, (वातनाशक-एरण्ड आदि पत्तों के समूह), गेहूँ आदि धान्य, करीष (सूखा गोबर), सिकता (बालू), तुष (भूसी) इनको अनेक विधियों से गरम करके देश एवं काल के अनुसार स्वेद देना चाहिये ॥ ६ ॥

वक्तव्य—अष्टांङ्गसंग्रह में ऊष्मा स्वेद आठ प्रकार का वर्णित है—पिण्ड, संस्तर, नाडी, घनाश्म, कुम्भी, कुटी, कूप, जेन्ताक। इनका विस्तृत वर्णन वहीं देखें (अ. सं. सू. अ. २६)

अथ द्रवस्वेदमाह—

शिग्रुवारणकैरण्डकरञ्जसुरसार्जकात् ॥ ७ ॥
शिरीषवासावंशार्कमालतीदीर्घवृन्ततः।
पत्रभङ्गैर्वचाद्यैश्च मांसैश्चानूपवारिजैः ॥ ८ ॥
दशमूलेन च पृथक् सहितैर्वा यथामलम्।
स्नेहवद्भिः सुराशुक्तवारिक्षीरादिसाधितैः ॥ ९ ॥
कुम्भीर्गलन्तीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजार्दितम्।
वाससाच्छादितं गात्रं स्निग्धं सिञ्चेद्यथासुखम् ॥१०॥

स०—शिग्र्वादिजैः पत्रसमूहैस्तथा वचाद्यैर्वचादिगणोक्तैस्तथा मांसैरनूपजैर्जलजैश्च दशमूलेन च पृथग्व्यस्तैर्द्वित्रादिभिः सहितैः समस्तैर्वा यथामलं स्नेहवद्भिर्दोषहरघृताद्यन्यतमस्नेहयुक्तैर्यथादोषं सुराशुक्तवारिक्षीरादिसाधितैः कुंभीः स्थालीः पूरयित्वा तथा गलंतीर्गर्गरीश्च वंशादिमयीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजार्दितं पीडार्तं गात्रमंगं वाससाच्छादितं तथा स्निग्धं सद्यथासुखं सुखस्पर्शं कदाचिदत्युष्णं कदाचिदीषदुष्णं दोषपीडावशात् सिंचेदिति ॥ ७–१० ॥

द्रवस्वेद—

वि०—द्रवस्वेद—सहजना, वरुण, एरण्ड, करंज, तुलसी, अर्जक, शिरस, अडूसा, बाँस, आक, चमेली, श्योनाक; इनके पत्रसमूहों, वचादिगण के द्रव्य, आनूप मांस तथा वारिज मांस और दशमूल को अलग अलग या मिलाकर दोष के अनुसार घृत आदि स्नेहों से स्निग्ध बना कर सुरा, शुक्त, पानी, दूध आदि से पकाकर इनसे घड़िया अथवा जिससे बाष्प निकल सके ऐसी नलिका वाले पात्र में भरकर रुग्ण अङ्ग को स्निग्ध कर कपड़ों से ढाँप कर, सुख के अनुसार सेचन द्वारा सेक करे ॥ ७–१० ॥

वक्तव्य—सहजना आदि को घृत आदि से स्निग्ध करके सुरा आदि द्रव्यों से पकाकर एक घड़िया में भर देना चाहिये। इस घड़िया के ऊपर छिद्रदार ढक्कन लगा देना चाहिये। अथवा इसमें नाली लगा दे-जिससे द्रव फव्वारे के रूप में निकले। जिस अङ्ग पर सेक करना हो उस पर स्नेह लगाकर वस्त्र से ढांप कर तेज या हल्का गरम सेक करना चाहिये।

परिषेकस्वेदमाख्यायाऽवगाहस्वेदं द्रवभेदमाह—

तैरेव वा द्रवैः पूर्णं कुण्डं सर्वाङ्गगेऽनिले।
अवगाह्यातुरस्तिष्ठेदर्शःकृच्छ्रादिरुक्षु च ॥११॥

स०—तैरेव पूर्वोक्तैः स्वेदद्रवैः पूर्णं कुंडं भृशमवगाह्य प्रविश्याऽऽतुरो रोगी तिष्ठेत्। कीदृशे दोषे इत्याह। सर्वांगेऽनिले सर्वशरीरव्यापिनि वायौ तथाऽर्शःप्रभृतिरोगकष्टपीडासु। आदिग्रहणेन हस्तपादपीडासु वा। कुंडग्रहणमुपलक्षणार्थम्। तेन कूपकुटी स्वेदौ च वेद्यौ। संग्रहे उक्तम्। शयनस्याऽधोविस्तारद्विगुणखाते कूपे वातहरदारुकरीषाद्यन्यतरपूर्णदग्धे विगतधूमे स्वास्तीर्णशयनस्थं स्वेदयेदिति कूपस्वेदः। कुटीं नाऽत्युच्चविस्तारां वृत्तामच्छिद्रामुपनाहद्रव्यकल्कघनप्रदिग्धकुडयां सर्वतो विधूमप्रदीप्तखदिरांगारपूर्णहसंतिकासमूहपरिवृतां विधाय तन्मध्यस्थितशय्यास्थं स्वेदयेदिति कुटीस्वेदः। पद्मोत्पलादिभिः सक्तुपिंडया वाऽऽच्छाद्य चक्षुषी। शीतैर्मुक्तावलीपद्ममुकुलोत्पलभाजनैः। मुहुः करैश्च सजलैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेदिति ॥ ११ ॥

अवगाह स्वेद—

वि०—सम्पूर्ण अंगों में वायु का प्रकोप होने पर अथवा अर्श आदि कष्टसाध्य रोगों में इन्हीं सहजना आदि से बने स्वेदन द्रव्यों से कुण्ड को भरकर उसमें रोगी बैठे ॥ ११ ॥

वक्तव्य—संग्रह में चरकोक्त कुटी और कूपस्वेद का समावेश इसी अवगाहस्वेद में किया है। यह द्रवस्वेद का ही भेद है अर्थात् द्रवस्वेद परिषेक और अवगाहन भेद से दो प्रकार का होता है ॥ ११ ॥

निवातेऽन्तर्बहिः स्निग्धो जीर्णान्नः स्वेदमाचरेत्

स०—अपगतवाते देशे स्वेदमाचरेत्। किंभूतः। अंतः स्नेहपानेन बहिश्चाऽभ्यंगादिना स्निग्धः। तथा जीर्णान्नश्च येन ह्यस्तनमन्नं जीर्णम्। आमाजीर्णाद्याक्रातं नरं वर्जयित्वा तेन स्वेदार्हेण नरेण स्वेद आचरणीयः। आमाजीर्णाद्याक्रांतेन तु पुरुषेणाऽजीर्णेऽन्ने च नैव स्वेद आचरणीयः।

स्वेदविधि—

वि०—स्वेदविधि—वायुरहित स्थान में (खान-पान से) अन्तः और (अभ्यंग आदि से) बाह्य स्नेहन कर पहली रात के किये भोजन के जीर्ण हो जाने पर मनुष्य स्वेद का प्रयोग करे।

कीदृशं स्वेदमाचरेदित्याह—

व्याधिव्याधितदेशर्तुवशान्मध्यवरावरम् ॥१२॥
कफार्तो रूक्षणं रूक्षो, रूक्षः स्निग्धं कफानिले।

स०—व्याध्यपेक्षया व्याधितापेक्षया देशापेक्षया ऋत्वपेक्षया धात्वपेक्षया च यथाविध एव मध्यममुत्कृष्टं हीनं वा स्वेदमाचरेत्। कफार्तः कफग्रस्तो रूक्षः सन्नंतर्बहिरस्निग्धो रूक्षणं न च स्निग्धं स्वेदमाचरेत्। अथ श्लेष्मवाते रूक्षस्निग्धं केनचिदंगेन रूक्षं केनचिदंगेन स्निग्धमेवंविध स्वेदमाचरेत् ॥ १२ ॥

वि०—रोग, रोगी, देश और ऋतु की अपेक्षा से मध्यम, उत्कृष्ट या हीन स्वेद करना चाहिये। कफ से पीड़ित व्यक्ति अन्तः और बाह्य स्नेहन न करके रूक्ष स्वेद (रूक्ष द्रव्यों से) करे। कफ मिश्रित वायु में रूक्ष रह कर अर्थात् स्नेहन न करके स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करे। तात्पर्य है कि कफव्याधि में बिना स्नेहन किए ही रूक्ष द्रव्यों से तथा कफयुक्त वायु में बिना स्नेहन किए ही किन्तु स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करना चाहिए ॥ १२ ॥

आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयाश्रिते ॥१३॥
रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः।

स०—आमाशयगते वात आदौ रूक्षः स्वेदः कार्यः पश्चात्स्निग्धः। तथा पक्वाशयगते कफ आदौ स्निग्धः स्वेदः पश्चाद्रूक्ष इत्यर्थः। कुत एवं नियम इत्याह। स्थानानुरोधतः स्थानवशात्। वायुर्यतः आमाशय आगंतुः स्थानं च तत् श्लेष्मणस्तद्वशात्तत्रादौ रूक्ष एव स्वेदो योज्यः पश्चात् स्निग्ध इति। कफश्च पक्वाशय आगंतुः। स्थानं च तद्वायोरतः पूर्वं स्वेदः पश्चाद्रूक्ष इति पूर्वोक्त एव न्यायो न्याय्यः। तथा चोक्तम्। तत्राऽन्यस्थानसंस्थेषु तदीयामिति। तथा। आगंतुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वेति तस्मात्पूर्वं रूक्षेण स्थानिनं कफं प्रतिकृत्य पश्चादागंतुकस्य वायोः शमनं स्निग्धस्वेदाख्यं प्रयोज्यमिति। ननु वायोरामाशये कोपोऽनुपपन्नः। यतो मरुल्लघ्वादिगुणयुक्तः। आमाशयस्तु गुरुमृदुत्वादियुक्तः। अतः शम एवोपपन्न इति चेत्। एतच्चायुक्तम्। बलिनो ह्यन्याश्रयस्थयाऽपि कोपो युक्तः। मार्गरोधाच्च वायोरामाशयेऽपि प्रकोपः संभवतीति। तथा च वचपति। प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः कुप्यत्यामाशये गत इति।

तथा चोक्तम्। ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यंत्यन्याश्रयेष्वपीति ॥ १३ ॥

स्थानभेद से स्वेदविधि—

वि०—वायु आमाशय में पहुँची हो तो प्रथम रूक्ष स्वेद करे और पीछे स्निग्ध स्वेद देवे। कफ पक्वाशय में हो तब पहले स्निग्ध सेक करना चाहिये और पीछे रूक्ष स्वेद करना चाहिये। यह नियम स्थान के विचार से है। आमाशय कफ का स्थान है इसलिये पहले वहाँ रूक्ष स्वेद तथा पक्वाशय वायु का स्थान है इसलिये पहले वहाँ स्निग्ध स्वेद करना चाहिये ॥ १३ ॥

अल्पं वङ्क्षणयोः स्वल्पं दृङ्मुष्कहृदये न वा ॥१४॥

स०—वंक्षणयोरल्पमेवेति योज्यम्। दृशोर्मुष्कयोर्हृदि चाऽत्यल्पम्। न वेति। अथवा दृगादिषु स्वेदं नाचरेदेव ॥१४॥

अवयवभेद से स्वेदविधि—

वि०—वंक्षण भाग पर थोड़ा स्वेद करना चाहिये। आँख, वृषण और हृदय पर बहुत ही थोड़ा स्वेद अथवा बिल्कुल नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽङ्गानां च मार्दवे।
स्याच्छनैर्मृदितः स्नातस्ततः स्नेहविधिं भजेत् ॥१५॥

स०—शीतशूलयोः क्षये संजाते सत्यंगानां पाणिपादादीनां च मृदुत्वे जाते स्विन्नो नरः स्यात्। स च स्विन्नः शनैर्मृदितो मंदमर्दितांगः स्नात उष्णोदकेनानंतरं स्नेहोक्तविधिमुष्णोदकोपचारी स्यादित्यादिकं भजेदिति ॥ १५ ॥

सम्यक् स्वेदित पुरुष का लक्षण और कर्तव्य—

वि०—सम्यक् स्विन्न का लक्षण—शीत और शूल का नाश हो जाने पर, पसीना आने पर तथा अङ्गों में कोमलता उत्पन्न हो जाने पर, शनैः शनैः अङ्गों का मर्दन करके, स्नान करके [गरम पानी से–'उष्णोदकोपचारी स्यात्']–स्नेह विधि में कहे नियमों का पालन करे ॥ १५ ॥

स्वेदस्य सम्यग्लक्षणमुक्त्वाऽतियोगलक्षणमाह—

पित्तास्रकोपतृण्मूर्च्छास्वराङ्गसदनभ्रमाः।
सन्धिपीडा ज्वरः श्यावरक्तमण्डलदर्शनम् ॥१६॥
स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च तत्र स्तम्भनमौषधम्।
विषक्षाराग्न्यतीसारच्छर्दिमोहातुरेषु च ॥१७॥

स०—स्वेदस्याऽतियोगाद्रक्तपित्तकोपादयो भवंति छर्दिश्च। मूर्च्छा मोहः। स्वरांगयोः सदनेन संबंधः। भ्रमोऽज्ञानम्। श्यावानि च रक्तानि च श्यावरक्तानि। तत्र तेषु स्तंभनमौषधं कार्यम्। तथा विषाद्यातुरेष्वपि स्तंभनमेवौषधं न्याय्यमित्यर्थः ॥ १६-१७ ॥

अतिस्वेद से उपद्रव तथा उसमें कर्तव्य—

वि०—अतिस्विन्न के लक्षण—अतिस्वेदन से पित्त एवं रक्त का कुपित होना, श्वास, मूर्च्छा, स्वर का बैठना, अंगों की शिथिलता, चक्कर आना, सन्धिपीडा, ज्वर, काले और लाल चकत्तों का दिखाई देना और वमन होता है। इसमें स्तम्भन औषध देनी चाहिये। विष, क्षार, अग्नि, कफ, अतिसार, वमन और मोह के रोगियों में भी स्तम्भन हितकारक होता है ॥ १६-१७ ॥

स्वेदनं गुरु तीक्ष्णोष्णं प्रायः, स्तम्भनमन्यथा।
द्रवस्थिरसरस्निग्धरुक्षसूक्ष्मं च भेषजम् ॥१८॥
स्वेदनं, स्तम्भनं श्लक्ष्णं रुक्षसूक्ष्मसरद्रवम्।
प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासतः ॥१९॥

स०—गुरु यद्द्रव्यं तीक्ष्णमुष्णं च तद्बाहुल्येन स्वेदनं भवति। प्रायोग्रहणात् भयशोकादिकमगुर्वपि गृह्यते। अन्यथाऽतो वैपरीत्येन स्तंभनं भवति। द्रवादिगुणयुक्तं यत्तद् द्रव्यं स्वेदनं भवति। तथा श्लक्ष्णादियुक्तं तत् स्तंभनं भवति। अधुना रसतः स्तंभनं निर्दिशन्नाह—प्रायः समासतः संक्षेपेण तिक्तं कषायं च मधुरं च स्तंभनं भवति ॥१८-१९॥

स्वेदन तथा स्तम्भन औषधियाँ—

वि०—प्रायः करके गुरु, तीक्ष्ण और उष्ण औषध स्वेदन होती है। इससे विपरीत लघु, मन्द और शीत औषध स्तम्भन होती है। द्रव, स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष और सूक्ष्म औषध स्वेदन होती है। श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, सर, द्रव, तिक्त, कषाय और मधुर औषध सामान्यतः स्तम्भन होती है ॥ १८-१९ ॥

स्तंभितस्य लक्षणमाह—

स्तम्भितः स्याद् बले लब्धे यथोक्तामयसङ्क्षयात्।

स०—बले लब्धे जाते सति यथोक्तानां रोगाणां च संक्षयात्स्तंभितो नरः स्यात्।

स्तम्भित के लक्षण—

वि०—स्तम्भित का लक्षण—बल (शक्ति) उत्पन्न हो जाने पर तथा कहे हुए स्तम्भनसाध्य रोगों के नाश होने से स्तम्भन हुआ जानना चाहिये।

अतिस्तंभितं लक्षयति—

स्तम्भत्वक्स्नायुसङ्कोचकम्पहृद्वाग्घनुग्रहैः ॥२०॥
पादौष्ठत्वक्करैः श्यावैरतिस्तम्भितमादिशेत्।

स०—त्वक् च स्नायुश्च तयोः संकोचः। हृदयादीनां ग्रहेण संबंधः। ततः स्तंभादीनां द्वंद्वः। स्तंभादिभिस्तथा श्यावैः पादादिभिरतिस्तंभितं कथयेत् ॥ २० ॥

अतिस्तम्भित के लक्षण—

वि०—अतिस्तम्भित के लक्षण—शरीर में जड़ता, त्वचा और स्नायु का संकोच, कम्पन; हृदय, वाणी और हनु का जकड़ जाना, पैर, ओठ, त्वचा और हाथ का काला पड़ जाना ये अतिस्तम्भित के लक्षण हैं ॥ २० ॥

न स्वेदयेदतिस्थूलरूक्षदुर्बलमूर्च्छितान् ॥२१॥
स्तम्भनीयक्षतक्षीणक्षाममद्यविकारिणः।
तिमिरोदरवीसर्पकुष्ठशोषाढ्यरोगिणः ॥२२॥

पीतदुग्धदधिस्नेहमधून् कृतविरेचनान् ।
भ्रष्टदग्धगुदग्लानिक्रोधशोकभयार्दितान् ॥२३॥
क्षुत्तृष्णाकामलापाण्डुमेहिनः पित्तपीडितान् ।
गर्भिणीं पुष्पितां सूतां मृदु चात्ययिके गदे ॥२४॥

स०—अतिस्थूलादीन्न स्वेदयेत्। अतिस्थूलस्य स्वेदेन मेदोविलयनादत्यंतं शरीरक्षोभः स्यात्। रूक्षादीनां च कार्श्यमिति। आढ्यरोगो वातरक्तम्। भ्रष्टदग्धगुदोऽतिसारक्षाराग्न्यादिभिः। ग्लान्यादीनामन्वितेन संबंधः। क्षुदादीनां मेहांतानां द्वंद्वः। क्षुद्वतः स्वेदादत्यंतं देहग्लानिः। कामलापाण्डुमतोः स्वेदेन पित्तवृद्ध्या रोगवृद्धिः। पित्तप्रधानस्य स्वेदाद्रोगवृद्धिः। गर्भिण्याः स्वेदेन गर्भव्यापत्। पुष्पिताया रक्तातिप्रवृत्तिः। सूतायाः कार्श्यम्। मृदु चेति। यदैषामतिस्थूलादीनामात्यंतिको व्याधिर्विसूचिकादिः स्यात्तदैते मृदु स्वेदयितव्याः ॥ २१-२४ ॥

अस्वेद्य रोगी—

वि०—स्वेदन के अयोग्य—अतिस्थूल, अतिरूक्ष, अतिदुर्बल, मूर्छित, स्तम्भन के योग्य, क्षतक्षीण, कृश, मद्य के विकार वाले, तिमिर, उदर, वीसर्प, कुष्ठ, शोष एवं आढ्यवात रोगियों को, जिन्होंने दूध, दही, स्नेह या मधु पिया हो, जिन्होंने विरेचन लिया हो, गुदा स्थानच्युत हो गई या जल गई हो, ग्लानि, शोक, क्रोध, भय से पीड़ित, भूख, प्यास, कामला, पाण्डु, प्रमेह तथा पित्त से पीड़ित, गर्भवती, ऋतुमती और प्रसूता को स्वेद अनिवार्य हो तो मृदुकोमल स्वेद देवे ॥ २१-२४ ॥

श्वासकासप्रतिश्यायहिध्माध्मानविबन्धिषु ।
स्वरभेदानिलव्याधिश्लेष्मामस्तम्भगौरवे ॥२५॥
अङ्गमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकुक्षिहनुग्रहे ।
महत्त्वे मुष्कयोः खल्ल्यामायामे वातकण्टके ॥२६॥
मूत्रकृच्छ्रार्बुदग्रन्थिशुक्राघाताढ्यमारुते ।
स्वेदं यथायथं कुर्यात्तदौषधविभागतः ॥२७॥

स०—श्वासादिमत्सु यथास्वं स्वेदं कुर्यात्। क्वचित्तापं क्वचिदुपनाहं क्वचिदूष्माणं क्वचिद्द्रवमिति। कथम्। तेष्वौषधानि तदौषधानि तेषां विभागो यथास्वमुपयोगस्तेन तदौषधविभागेन स्वेदं कुर्यात्। खल्ली तीव्ररुजान्वितेति वातव्याधौ वक्ष्यते। आयामवातकंटकौ च। आढ्यमारुत ऊरुस्तंभः ॥ २५-२७ ॥

स्वेद से साध्य रोग—

वि०—स्वेदसाध्य रोग—श्वास, कास, प्रतिश्याय, हिक्का, आध्मान, विबन्ध, स्वरभेद, वातव्याधि, कफ रोग, आम रोग, स्तम्भ (जड़ता), भारीपन, अङ्गमर्द, कटिग्रह, पृष्ठग्रह, पार्श्वग्रह, कुक्षिग्रह और हनुग्रह में तथा अण्डवृद्धि; खल्ली, आयाम, वातकण्टक, मूत्रकृच्छ्र, अर्बुद, ग्रन्थि, शुक्राघात और आढ्यवात रोगों में—इन रोगों की औषध की दृष्टि से जैसा योग्य हो वैसा तापस्वेद, उपनाहस्वेद, ऊष्मास्वेद या द्रवस्वेद जो उचित हो वह करना चाहिए। ॥ २५-२७ ॥

स्वेदो हितस्त्वनाग्नेयो वाते मेदःकफावृते ।
निवातं गृहमायासो गुरुप्रावरणं भयम् ॥२८॥
उपनाहाहवक्रोधा भूरिपानं क्षुधाऽऽतपः ।

स०—मेदःकफाभ्यां पवन आवृते सत्यनाग्नेयः स्वेदो हितः। कोऽसावनाग्नेय इत्याह—निवातगृहादयोऽनाग्नेयाः स्वेदाः : आयासो व्यायामः। गुरुप्रावरणं रल्लकादि। भयं खड्गहस्तराजपुरुषदर्शनादिना। उपनाहोऽप्यनाग्नेयः स्वेदः। उपनाहस्य द्वैविध्यात्। तत्रोपनाहो वचाकिण्वेत्यादिराग्नेयः। तत्र तापोऽग्नितप्तवसनेत्यनुवृत्तेः। अनाग्नेयस्तु स्निग्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिश्चर्मपट्टैरित्यादिकः। आहवः समरः। भूरिपानं बहुमद्यपानम् ॥ २८ ॥

अग्निरहित स्वेद—

वि०—वायु के मेद और कफ से आवृत होने पर अनाग्नेय (अग्निरहित) स्वेद उत्तम है। इसके लिये वायुरहित घर में रहना, परिश्रम करना, भारी ओढ़ना, भय उत्पन्न करना, उपनाह (गरम चमड़े आदि की पट्टी से बाँधना मात्र), कुश्ती आदि युद्ध, क्रोध, अतिमद्यपान तथा भूख (उपवास) और धूप अग्निरहित स्वेद है ॥ २८ ॥

स्नेहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा वा
स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसंस्थाः ।
दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं
नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्ह्रियन्ते ॥ २९ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने स्वेद-
विधिर्नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

स०—ते दोषाः सम्यक् सुष्ठु शुद्धिभिर्वमनविरेचनलक्षणाभिर्निर्ह्रियंते निष्कास्यंते। के दोषा इत्याह। स्नेहक्लिन्ना ये तथा कोष्ठगा धातुस्थाश्च स्रोतोलीनास्तथा शाखास्वस्थिषु च स्थिताः। किंभूताः। स्वेदैर्द्रवीकृत्य कोष्ठं नीता उदरं प्रापिता इति ॥ २९ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचिताया-
मष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्यायां स्वेद-
प्रकरणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

स्वेदन का प्रधान कार्य—

वि०—स्नेह से क्लिन्न हुए, कोष्ठ में या धातु में पहुँचे; अथवा स्रोतों में छिपे या शाखा एवं अस्थि में आश्रित दोष स्वेदन क्रिया से द्रवीभूत होकर कोष्ठ में आ जाते हैं और कोष्ठ में से शोधन क्रिया द्वारा (जिसका वर्णन अगले अध्याय में होगा) भली प्रकार बाहर निकाले जा सकते हैं ॥ २९ ॥

वक्तव्य—स्वेदन का फल—'अग्नेर्दीप्तिर्मार्दवं त्वक्प्रसादं

भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम्। कुर्यात्स्वेदो जाड्यतन्द्रापहारं स्तब्धान् सन्धींश्चेष्टयत्याशु चास्य ॥' संग्रह ।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में स्वेदविधिनामक
सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

शुद्धिभिर्निर्हियंत इत्युक्तं कास्ताः शुद्धय इति शुद्ध्यर्थं वमनविरेचनाधिकारः—

अथातो वमनविरेचनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

स०—अथाऽत इत्यादि। वमनं च विरेचनं च तयोर्विधिः। शेषं पूर्ववत्।

वि०—अब इसके आगे-विरेचनविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

तत्र वमनविधिमाह—

कफे विदध्याद्वमनं संयोगे वा कफोल्बणे ।
तद्वद्विरेचनं पित्ते विशेषेण तु वामयेत् ॥ १ ॥
नवज्वरातिसाराधःपित्तासृग्राजयक्ष्मिणः ।
कुष्ठमेहापचीग्रन्थिश्लीपदोन्मादकासिनः ॥ २ ॥
श्वासहृल्लासवीसर्पस्तन्यदोषोर्ध्वरोगिणः ।

स०—श्लेष्मणि वमनं कुर्यात्। अत्र पूर्वं वमनकथनं विरेच्यते मंदकफस्तु सम्यगिति प्रतिपादनार्थम्। संयोगे च कफादिके वमनं कुर्यात्। पित्ते विरेचनं तद्वत् यथा कफे कफाधिऽके वा संयोगे च वमनं तथैव पित्ते पित्ताऽधिके वा संयोगे विरेचनं कुर्यादिति तद्वच्छब्दस्यार्थः। विशेषेण पुनर्नवज्वराऽतिसारादीनूर्ध्वरोगपर्यन्तान्वामयेत् ॥ १-२ ॥

वमन-विरेचनकाल तथा वमनीय रोगी--

वि०—कफ में या कफप्रधान संयोग में वमन करे, उसी प्रकार पित्त में या पित्तप्रधान संयोग में विरेचन करे। वमन के विषय-विशेष करके नवज्वर, अतिसार, अधोगामी रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, कुष्ठ, प्रमेह, अपची, ग्रन्थि, श्लीपद, उन्माद, कास, श्वास, हृल्लास, वीसर्प, स्तन्यदोष तथा जत्रु से ऊपर के रोगों में वमन करावे। क्योंकि ये रोग वमन से ही नष्ट होते हैं, यथा—'विषपीत…पाण्डुरोगाः दोषभेदीयोक्ताश्च श्लेष्मव्याधयः, एते परं वमनेन नाशमुपयान्ति सलिलापगमादनिष्पन्नशाल्यादिवत् ॥' संग्रह (सू. अ. २७) ॥ १-२ ॥

अवाम्या गर्भिणी रूक्षः क्षुधितो नित्यदुःखितः ॥ ३ ॥
बालवृद्धकृशस्थूलहृद्रोगिक्षतदुर्बलाः ।
प्रसक्तवमथुप्लीहतिमिरक्रिमिकोष्ठिनः ॥ ४ ॥
ऊर्ध्वप्रवृत्तवाय्वस्रदत्तबस्तिहतस्वराः ।
मूत्राघात्युदरी गुल्मी दुर्वमोऽत्यग्निरर्शसः ॥ ५ ॥
उदावर्तभ्रमाष्ठीलापार्श्वरुग्वातरोगिणः ।
ऋते विषगराजीर्णविरुद्धाभ्यवहारतः ॥ ६ ॥

स०—गर्भिण्यादयो वातरोगान्ता अवम्याः। अर्शांसि विद्यंते यस्य सोऽर्शसः। अर्शआदिभ्यश्चेत्यच्। तत्र गर्भिण्या वमनाद्गर्भव्यापद्गर्भभ्रंशश्च। क्षुधितस्य च वायुना क्षपितशरीरत्वाद्बलक्षयः स्यात्। बालादीनामौषधबलाक्षमत्वाद्बलोपरोधः स्यात्। हृद्रोगादीनां हृदयोपरोधः। प्रसक्तच्छर्दं नानामुदानो वायुरुत्क्षिप्य प्राणानपि हिंस्यात्। एवमन्यत्राऽपि रोगोद्गमश्चिंत्यः। किं सर्वदैव गर्भिण्यादयोऽवम्या उत कस्यांचिदवस्थायां वम्या इत्याह—विषाद्यभ्यवहारमंतरेण विषाद्यभ्यवहारे तु वम्याते एवै ॥ ३-६ ॥

वमन के अयोग्य रोगी—

वि०—वमन के अयोग्य—गर्भवती, रूक्ष, भूखा, सदा दुःखी, बालक, वृद्ध, कृश, स्थूल, हृद्रोगी, उरःक्षत से दुर्बल, जिसे वमन निरन्तर हो रहा हो, प्लीहा एवं तिमिररोगी, जिसके कोष्ठ में क्रिमि बहुत हों, जिसे ऊर्ध्ववात हो या मुख, नासिका आदि से रक्त जाता हो, जिसको वस्ति दी गयी हो, स्वर बैठ गया हो, मूत्राघात रोगी, उदररोगी, गुल्मरोगी, ठीक प्रकार से जिसको वमन न होता हो, अत्यग्नि, अर्शरोगी, उदावर्त्त, भ्रम, अष्ठीला, पार्श्वशूल तथा वातरोगी इनको वमन नहीं देना चाहिये, किन्तु विषपान, गर विष, अजीर्ण और विरुद्ध भोजन की अवस्था में इनको भी वमन करना चाहिये ॥ ३-६ ॥

प्रसक्तवमथोः पूर्वं प्रायेणामज्वरोऽपि च ।
धूमान्तैः कर्मभिर्वर्ज्याः, सर्वैरेव त्वजीर्णिनः ॥ ७ ॥

स०—प्रसक्तवमथोः पूर्वस्थिता एकादशातुरा दुर्बलांतास्तथाऽऽमज्वरिणश्च ते सर्वे धूमांतैः कर्मभिर्वर्ज्या न केवलं वमनेनैव। धूमग्रहणं गंडूषादिकर्मणोऽपि परिहारार्थम्। प्रायोग्रहणमष्टमासाया गर्भिण्या निरूहा न वर्ज्या इति सूचनार्थं तथा सद्योभुक्तस्य ज्वरितस्य सतो वमनानुज्ञानार्थम्। तु पुनरजीर्णिनः पुरुषा वमनादिभिर्गंडूषादिभिश्च वर्ज्याः। सद्योऽजीर्णिनां हि वमनमनुज्ञातमेव ॥ ७ ॥

वमनादि के अयोग्य रोगी—

वि०—गर्भवती से लेकर दुर्बल पर्यन्त प्रसक्त वमथु से पूर्व गिने हुए ग्यारह व्यक्तियों में तथा आमज्वरी में भी विरेचन, वस्ति, नस्य और धूम ये कर्म (शोधन) प्रायः नहीं करने चाहिये। अजीर्ण रोगी में-सभी कार्यों का—विरेचन, बस्ति, नस्य, धूम, गण्डूष, अञ्जन का—निषेध है ॥७॥

वक्तव्य—प्रायः शब्द से अष्ट-मास वाली गर्भवती को निरूह दे सकते हैं, यथा—'नवमे तु खल्वेनां मासे मधुरौषधसिद्धेन तैलेनानुवासयेत् ॥' चरक शा. अ. ८।३२। इसी प्रकार सद्योभुक्त ज्वर में वमन विधेय है। अजीर्ण रोगी को भी वमन नहीं करवाना चाहिये यह अरुणदत्त का मत है, यथा 'अजीर्णिनः पुरुषाः सर्वैरेव वमनादिभिर्गण्डूषादिभिश्च वर्ज्याः ॥'

किन्तु सद्यः अजीर्ण में वमन कराना उन्होंने भी ठीक माना है, यथा—'अत्रापि प्रायोग्रहणमनुवर्तते । सद्योऽजीर्णिनां हि वमनमनुज्ञातमेव ।' परन्तु हेमाद्रि के मत से अजीर्णी को विरेचन से लेकर गण्डूष तक के कार्य निषिद्ध हैं—वमन विधेय है—इसके लिये संग्रह का प्रमाण है—'अजीर्णे तु सर्वैरेव वमनवर्ज्यैरामदोषभयात्, नवज्वरैश्च दोषस्तम्भयात् ।' यह पाठ दिया है ।

विरेकसाध्या गुल्मार्शोविस्फोटव्यङ्गकामलाः ।
जीर्णज्वरोदरगरच्छर्दिप्लीहहलीमकाः ॥ ८ ॥
विद्रधिस्तिमिरं काचः स्यन्दः पक्वाशयव्यथा ।
योनिशुक्राश्रया रोगाः कोष्ठगा कृमयो व्रणाः ॥ ९ ॥
वातास्रमूर्ध्वगं रक्तं मूत्रघातः शकृद्ग्रहः ।
वाम्याश्च कुष्ठमेहाद्याः—

स०—विरेकेण साध्या उपक्रम्या गुल्मादयः शकृद्ग्रहपर्यंताः । पक्वाशये व्यथा पक्वाशयव्यथा । वम्याश्चेति चः समुच्चये । ये च कुष्ठाद्या ऊर्ध्वरोगपर्यंता वमनार्हा उक्तास्ते च विरेच्याः ॥ ८-९ ॥

विरेचन से साध्य रोग—

वि०—विरेचन के विषय—गुल्म, अर्श, विस्फोट, व्यङ्ग, कामला, जीर्णज्वर, उदर, गर, वमन, प्लीहा, हलीमक, विद्रधि, तिमिर, काच (नेत्ररोग), अभिष्यन्द, पक्वाशय रोग, योनि रोग, शुक्र रोग, कोष्ठगत रोग, कृमि रोग, व्रण, वात-रक्त, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त, मूत्राघात, शकृद्ग्रह (मलावरोध) तथा कुष्ठमेह, से लेकर 'ऊर्ध्वरोगिणः' शब्द तक जितने वमन के योग्य गिने हैं, वे सब रोग विरेचनसाध्य हैं—(क्योंकि—'एते हि परं विरेचनेन नाशमुपयान्ति, अग्न्यपनयनेनाग्निगृहतापवत् ॥' संग्रह सू. अ. २७) ॥ ८-९ ॥

—न तु रेच्या नवज्वरी ॥ १० ॥
अल्पाग्न्यधोगपित्तास्रक्षतपाय्वतिसारिणः ।
सशल्यास्थापितक्रूरकोष्ठातिस्निग्धशोषिणः ॥ ११ ॥

स०—न तु रेच्य इति । तुरवधारणे । नवज्वरी नैव रेच्यः तस्य हि विरेचनमपक्वान् दोषान् निर्हरद्वातकोपायैव स्यात् । यक्ष्मादीनां त्ववस्थावशान्मृदुविरेच्यत्वमनुज्ञातमेव तथाऽपि चाऽऽध्मानगुरुताशूलस्तैमित्यकारिणीत्यादिनाऽतीसारस्याऽपि मृदुविरेचनमनुज्ञातं नैवं नवज्वरस्य स्वल्पविरेच्यत्वं कदाऽपि । अल्पाऽग्न्यादयः शोष्यंता न विरेच्याः । तत्राऽल्पाग्निरबलत्वाद्भेषजवेगं न सहते । अधोगरक्तपित्ताऽतिसारिणावतिप्रवृत्त्या हन्यात् । क्षतपायोः प्राणापहारकारिणी रुक् स्यात् । सशल्यस्य क्षते वायुराश्रितो जीवितं हन्यात् । आस्थापितस्य भेषजवेगासहनाद्बलोपरोधः स्यात् । क्रूरकोष्ठस्यौषधाद्धेतोर्दोषा ह्यप्रवर्तमाना हृदयशूलपर्वभेदाऽऽनाहच्छर्दिमूर्च्छाक्लमान् जनयित्वा प्राणान् हन्युः अतिस्निग्धस्याऽतियोगाय स्यात् । शोषिणः क्षीणधातुतया मलबलत्वं तदभावाद्देहविनाशनं स्यादिति ॥ १०-११ ॥

विरेचन के अयोग्य रोगी—

वि०—विरेचन के अयोग्य—नवज्वर रोगी, अल्पाग्नि, अधोगामिरक्त-पित्त-रोगी, क्षतगुद, अतीसार एवं शल्य युक्त रोगी जिसे निरूह दिया हो, क्रूरकोष्ठ, अतिस्निग्ध एवं राजयक्ष्मा रोगी—इनको विरेचन नहीं देवे ॥ १०-११ ॥

वक्तव्य—राजयक्ष्मा एवं अतिसार में मृदु विरेचन अवस्था भेद से विधेय है—यथा—अतिसार में 'कृच्छ्रे वा वहतां दद्यादभयां संप्रवर्त्तनीम्—' चरक चि. अ. १९।१७ तथा—'बलिनो बहुदोषस्य स्निग्धस्विन्नस्य शोधनम् । ऊर्ध्वाधोयक्ष्मिणः कुर्यात् सस्नेहं यन्न कर्षणम् ॥' अ. हृ. चि. अ. ५.।

अथ साधारणे काले स्निग्धस्विन्नं यथाविधि ।
श्वोवम्यमुत्क्लिष्टकफं मत्स्यमाषतिलादिभिः ॥ १२ ॥
निशां सुप्तं सुजीर्णान्नं पूर्वाह्ने कृतमङ्गलम् ।
निरन्नमीषत्स्निग्धं वा पेयया पीतसर्पिषम् ॥ १३ ॥
वृद्धबालाबलक्लीबभीरून् रोगानुरोधतः ।
आकण्ठं पायितान्मद्यं क्षीरमिक्षुरसं रसम् ॥ १४ ॥
यथाविकारपिहितां मधुसैन्धवसंयुताम ।
कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्रां मन्त्राभिमन्त्रिताम् ॥ १५ ॥
'ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः ।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु वः ॥ १६ ॥
रसायनमिवर्षीणाममराणामिवामृतम् ।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥ १७ ॥
ओं नमो भगवते भैषज्यगुरवे वैडूर्यप्रभराजाय ।
तथागतायार्हते सम्यक्सम्बुद्धाय तद्यथा ।
ॐ भैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये समुद्गते स्वाहा ॥'
प्राङ्मुखं पाययेत्—

स०—एतत् पूर्वोक्तं वम्यावम्यत्वमवगम्याऽनंतरं साधारणे श्रावणादौ काले यथाविधि स्नेहस्वेदाध्यायोदितेन क्रमेण स्निग्धस्विन्नमातुरं भैषज्यमात्रां प्राङ्मुखं पाययेदिति वक्ष्यमाणेन संबंधः । श्वोवम्यं प्रातर्वमनार्हम् । वम्यमित्यर्हे कृत्यतृचश्चेत्यर्हार्थे पोरदुपधादिति यत् । उत्क्लिष्टः स्थानाच्चलितः कफो यस्य तमुत्क्लिष्टकफम् । कैः । मत्स्यादिभिः । अंतर्भावितण्यर्थोऽत्र । उत्क्लेशितकफमित्यर्थः । तथा रात्रिं सुप्तम् । कालाध्वनोरिति द्वितीया । अत एव सकलनिशास्वापोऽत्र लक्ष्यते । सुष्ठु जीर्णमन्नमाहारो यस्य तम् । कदा पाययेत् । प्रातः काले । किंभूतम् । कृतं मंगलं स्वस्त्ययनादि यस्य तम् । कृतमंगलमित्युपलक्षणार्थम् । कृतदेवद्विजाग्निगुरुवृद्धार्चनमपीति द्रष्टव्यम् । तथा निरन्नमकृताहारमातुरवशात् किंचित्स्निग्धम् । कथमित्याह । पेयया पीतसर्पिषम् । वृद्धेत्यादि । अथ असौ वृद्धो वा बालो वा दुर्बलो वा क्लीबः खेदासहिष्णुर्वा भवति भीरुर्वा कातरो भवति । तदा रोगानुरोधादाकंठमतिमात्रं मद्यक्षीरादिकं पाययेत्तदनंतरं

भैषज्यमात्रां पाययत्। संग्रहेऽप्युक्तम्। भीरुकृशबालसुकुमारत्वाद्दोषानुरोधेनाऽऽकंठं पीतयूषेक्षुरसक्षीरमांसरसमद्यतुषोदकयवागूमंडान्यतममिति किंभूतां मात्राम्। यथाविकारविहितां रोगानुसारेण साधितां तथा मधुसैंधवाभ्यां युताम्। किं कृत्वा। कोष्ठं मृदुमध्यक्रूरलक्षणं विभज्य विचार्य। श्लेष्माधिक्येन मृदुत्वं श्लेष्ममध्यत्वेन मध्यत्वं श्लेष्महीनत्वेन क्रूरत्वमिति मानं कोष्ठस्य बोध्यम्। तथा चोक्तम्। श्लेष्मोत्तरं छर्दयते ह्यदुःखमिति। भैषज्यमात्रां किंभूताम्। मंत्राभिमंत्रिताम्। तानेव मंत्रानाह। ब्रह्मेत्यादिग्रंथेन ॥ १२-१७ ॥

वमन की विधि—

वि०—वमन विधि—प्रावृट् आदि साधारण ऋतु में विधिपूर्वक स्नेहन और स्वेदन करके जिसे कल वमन कराना है उसे एक दिन पूर्व ही मछली, उड़द, तिल आदि कफ को उत्क्लिष्ट करने वाले पदार्थ खिलाये। फिर सारी रात आराम से सोने पर तथा अन्न को भली प्रकार जीर्ण हुआ जानकर प्रातःकाल में स्वस्ति-पाठ कराये। भोजन दिये बिना, अथवा पेया के साथ भी पिलाकर कुछ स्नेहन कर तथा यदि वृद्ध, बालक, निर्बल, नपुंसक और डरपोक हो तो रोग के अनुसार मद्य, दूध, गन्ने का रस अथवा मांसरस को गले तक पिला कर रोग के अनुसार बनाई औषध मात्रा में मधु एवं सेंधा नमक मिलाकर, नीचे लिखे मन्त्र से अभिमन्त्रित करके—मृदु, मध्य एवं कठिन कोष्ठ को समझकर पिलाये।

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनी, रुद्र, इन्द्र, पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, अग्नि, ऋषि, सम्पूर्ण ओषधि-समूह और भूत-समूह तुम्हारी रक्षा करें। ऋषियों के लिये जैसे रसायन, देवताओंके लिये जैसे अमृत और उतम नागों के लिये जैसे सुधा है, वैसे तुम्हारे लिये यह औषध हो। भैषज्य के गुरु, वैडूर्य के समान कान्ति वाले, भगवान् तथागत अर्हत जो भली प्रकार ज्ञान वाले हैं उनको नमस्कार है।

ओं भैषज्ये भैषज्ये—प्रत्येक औषधि में समुद्गते-विशेषरूप में प्राप्त, महाभैषज्ये! विशिष्ट शक्ति! तुम्हें स्वाहाकार है।

इस मंत्र से अभिमंत्रित करके औषध को पिलाये, पिलाते समय रोगी का मुख पूर्व दिशा में रक्खे ॥ १२-१७ ॥

—पीतो मुहूर्तमनुपालयेत्।
तन्मना जातहृल्लासप्रसेकश्छर्दयेत्ततः ॥१८॥
अङ्गुलिभ्यामनायस्तो नलेन मृदुनाऽथवा।
गलताल्वरुजन् वेगानप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् ॥१९॥
प्रवर्तयन् प्रवृत्तांश्च जानुतुल्यासने स्थितः।
उभे पार्श्वे ललाटं च वमतश्चास्य धारयेत् ॥२०॥
प्रपीडयेत्तथा नाभिं पृष्ठं च प्रतिलोमतः।

स०—भैषज्यमात्रां पीतं संतमातुरं मुहूर्तं तन्मना वमिगतचित्तोऽनुपालयेत् प्रतीक्षेत। ततोऽनंतरं संजातहृल्लासप्रसेकः सन् छर्दयेत्। हृल्लासो हृदुपरोधः। प्रसेको निष्ठीवनम्। कथं वमेत्। अंगुलिभ्यां द्वाभ्याम्। यद्वा कोमलेन सुवर्चलैरंडादिजेन नालेन मृदुना वमेत्। कीदृशः अनायस्तोऽनायासेनेत्यर्थः। अपरं गलतालुअपीडयन् तथाऽप्रवृत्तान् वेगान् प्रेरयन् प्रवृत्तांश्च प्रवर्तयन्। जानुप्रमाणे पीठे स्थितः। अपरमस्य नरस्य वमनं कुर्वंतो द्वे पार्श्वे ललाटं च धारयेत्। परिचारक इति शेषः। प्रतिलोमतोऽसन्मार्गेण ॥ १८-२० ॥

वि०—औषध की मात्रा पीकर रोगी वमन में मन को लगाकर कुछ देर प्रतीक्षा करे।

जी मिचलाना और मुख से लाला-स्राव आरम्भ होने पर वमन करे। बिना किसी मेहनत के दो अंगुलियों से, एरण्ड या कमल आदि कोमल नाल से गले और तालु में किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचाये हुए अप्रवृत्त वेगों को प्रवृत्त करे। और जो प्रवृत्त हो रहे हैं उनको भी प्रवृत्त करता हुआ घुटनों के बराबर ऊँचे आसन पर स्थित होकर बैठ जाये। दूसरा सहायक इसके वमन करते समय दोनों पार्श्व और माथे को पकड़े रहे और नाभि तथा पीठ को प्रतिलोम रूप में (नीचे से ऊपर) दबाये ॥ १८-२० ॥

कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैः पित्ते स्वादुहिमैरिति ॥२१॥
वमेत् स्निग्धाम्ललवणैः संसृष्टे मरुता कफे।
पित्तस्य दर्शनं यावच्छेदो वा श्लेष्मणो भवेत् ॥२२॥

स०—कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैर्द्रव्यैर्वमेत्। पित्ते स्वादुशीतैर्द्रव्यैर्वमेत्। स्निग्धाम्ललवणैर्वायुयुक्ते कफे वमेत्। कियंतं कालं वमेदित्याह। यावत् पित्तस्य दर्शनं कफांतो वा तावद्वमेत् ॥ २१-२२ ॥

दोषानुसार वमन के द्रव्य—

वि०—दोष भेद से वमन द्रव्य—तीक्ष्ण, उष्ण और कटु द्रव्यों से कफ में; मधुर व शीतल द्रव्यों से पित्त में, स्निग्ध, अम्ल और लवण द्रव्यों से वायु मिश्रित कफ में वमन कराये।

पित्त का आना आरम्भ होने अथवा कफ की समाप्ति दीखने तक वमन कराये ॥ २१-२२ ॥

हीनवेगः कणाधात्रीसिद्धार्थलवणोदकैः।
वमेत्पुनः पुनः—

स०—हीनवेगो नरः कणाधात्रीसिद्धार्थलवणोदकैरसकृद्वमेत्।

हीनवेग गमन में कर्तव्य—

वि०—जिस रोगी को वमन पूरी तरह न हुआ हो, वह पिप्पली, आँवला, सरसों और नमक के पानी से बार-बार वमन करे।

—तत्र वेगानामप्रवर्तनम् ॥२३॥
प्रवृत्तिः सविबन्धा वा केवलस्यौषधस्य वा।
अयोगस्तेन निष्ठीवकण्डूकोठज्वरादयः ॥२४॥

स०—तत्र तेषु सम्यग्योगाऽतियोगायोगेषु मध्याद्वेगानामप्रवर्तनमसावयोगः। सविबंधा च या प्रवृत्तिः सोऽप्य-

योगः। केवलस्य दोषादिरहितस्यौषधस्य या प्रवृत्तिः सोऽप्ययोगः। तेनाऽयोगेन निष्ठीवनादयः स्युः ॥ २३-२४ ॥

अयोग का लक्षण—

वि०—वमन वेगों की प्रवृत्ति न होना, या रुकावट के साथ वेगों का प्रवृत्त होना, या अकेली औषध का ही बाहर आना अयोग है। इससे थूक का आना (जी मचलाना), कण्डू, कोठ, ज्वर आदि होते हैं ॥ २३-२४ ॥

निर्विबन्धं प्रवर्तन्ते कफपित्तानिलाः क्रमात् ।
(मनःप्रसादः स्वास्थ्यं चावस्थानं च स्वयं भवेत् ।
वैपरीत्यमयोगानां न चातिमहती व्यथा ॥ १ ॥)

सम्यग्योगे—

स०—सम्यग्योगे कफपित्ताऽनिलाः क्रमेण निर्विबंधं निःसंगं प्रवर्तंते।

सम्यग्योग का लक्षण—

वि०—वमन— के सम्यक् योग होने से क्रमशः कफ, पित्त और वायु बिना रुकावट के प्रवृत्त होते हैं। [मन की प्रसन्नता, स्वस्थता और वेगों का स्वयं बन्द हो जाना; यह सम्यग् योग का लक्षण है। अयोग में इससे विपरीत लक्षण होते हैं; तथा बहुत पीड़ा नहीं होती ॥ ११ ॥]

—अतियोगे तु फेनचन्द्रकरक्तवत् ॥२५॥
वमितं क्षामता दाहः कण्ठशोषस्तमो भ्रमः ।
घोरा वाय्वामया मृत्युर्जीवशोणितनिर्गमात् ॥२६॥

स०—अतियोगे पुनः फेनचंकरक्तवद्वमितं भवति। चंद्रकश्च रक्तं च तानि विद्यंते यस्य वमितस्य तदेवम्। तथा क्षामतादयो भवंति। तमस्तिमिरदर्शनं दारुणाश्च वातरोगास्तथा मृत्युर्भवति। जीवाख्यस्य शोणितस्य निर्गमान्निष्कासात् ॥ २५-२६ ॥

अतियोग का लक्षण—

वि०—वमन के अतियोग में— वमन द्रव्य में झाग, चन्द्रिकायें (मोर की पांख का रंग) और रक्त आता है तथा 'कृशता, दाह, गले में शोष, अन्धकार, चक्कर आना; भयानक वातरोग तथा जीव-रक्त (शुद्ध रक्त) के निकलने से मृत्यु भी हो जाती है ॥ २५-२६ ॥

सम्यग्योगेन वमितं क्षणमाश्वास्य पाययेत् ।
धूमत्रयस्यान्यतमं स्नेहाचारमथादिशेत् ॥ २७ ॥

स०—सम्यग्योगेन वमिते सति मुहूर्तमाश्वस्य शीतवातादिना धूमत्रयस्य स्निग्धमध्यतीक्ष्णाख्यस्याऽन्यतममेकं पाययेद्वैद्यः। अथाऽनंतरं स्नेहाचारमुष्णोदकोपचारी स्यादित्यादिकमादिशेत् ॥ २७ ॥

सम्यग्वमन के बाद कर्तव्य—

वि०—भली प्रकार वमन होने पर थोड़ी देर आश्वासन-आराम देकर स्निग्ध मध्य-तीक्ष्ण इनमें से कोई एक धूम पिलाये तथा स्नेह विधि में बताया आहार-विहार (उष्णोदकोपचारी स्यात्-आदि) का पालन करे ॥ २७ ॥

ततः सायं प्रभाते वा क्षुद्वान् स्नातः सुखाम्बुना ।
भुञ्जानो रक्तशाल्यन्नं भजेत्पेयादिकं क्रमम् ॥ २८ ॥

स०—तदूर्ध्वं सायमपराह्णे प्रभाते पूर्वाह्णे वा बुभुक्षित उष्णोदकेन स्नातो रक्तशाल्यन्नं भुंजानः पेयादिकं क्रमं भजेत् ॥ २८ ॥

वमन किये व्यक्ति के पथ्य—

वि०—उसके बाद सायंकाल या प्रातःकाल में भूख लगने पर गरम पानी से स्नान करके-पेयादि क्रम के अनुसार लाल चावलों का भात खाये ॥ २८ ॥

तमेव पेयादिकं क्रममाह—

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च
यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम् ।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान्
प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ॥ २९ ॥

स०—प्रधाना च मध्या चाऽवरा च प्रधानमध्यावराः। प्रधानमध्यावराश्च ताः शुद्धयश्च ताभिः शुद्धो नरः क्रमेण यथासंख्यं पेयां त्रीनन्नकालान् द्वावन्नकालावेकमन्नकालं भजेदिति। विलेप्यादिष्वप्येवं योज्यम्। एतदेव स्पष्टीकृत्योच्यते। यथा। प्रधानशुद्ध्या शुद्धो नरो द्वावन्नकालावेकस्मिन् दिने द्वितीयेऽह्न्येककालं च पेयां भजेदिति। द्वितीयेऽह्न्येकमन्नकालं विलेपीं तृतीये वासरे द्वावन्नकालौ विलेपीमेव। चतुर्थे दिवसे अकृतं शुंठीलवणाद्यसंस्कृतमन्नं कृतं शुंठीलवणादिसंस्कृतं यूषं च द्वावन्नकालौ भजेत्। एवं पंचमेऽह्नि प्रथमेऽन्नकाले च। चः समुच्चये। ततः विभज्य तावद्दृश्यते। एवं कालत्रयं कृतं रसं विभज्य भोजयेत्। सप्तमे दिने प्रकृतिभोजनं क्रमेण सेवेत। एवं यथास्वं मध्यशुद्धिशुद्धस्याऽवरशुद्धिशुद्धस्य च योजना कार्या। मुनिस्त्वाह। अथैनं सायाह्नेऽपरे वाऽह्नि सुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालितंडुलानां स्वविक्लिन्नां मंडपूर्वां सुखोष्णां यवागूं पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य। एवं द्वितीये तृतीये चान्नऽकाले। चतुर्थे तु तथाविधानामेव शालितंडुलानां सुस्विन्नां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेहलवणामल्पस्नेहलवणां वा भोजयेत्। एवं पंचमे षष्ठे चाऽन्नकाले। सप्तमे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालीनां द्विःप्रसृतं सुस्विन्नमोदनमुष्णोदकानुपानं तनुना तनुस्नेहलवणोपपन्नेन मुद्गयूषेण भोजयेत्। एवमष्टमे नवमे चाऽन्नकाले। दशमे त्वन्नकाले लावकपिंजलादीनामन्यतमस्य मांसस्य रसेन दकलावणिकेन नाऽतिसारवता नाऽतिसारवता भोजयेदुष्णोदकानुपानम्। एवमेकादशे द्वादशे चाऽन्नकाले। अत ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपयुंजानः सप्ताहात्प्रभृति भोजनमागच्छेदिति। त्रीनिति कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे द्वितीया ॥२९॥

पेयादि का क्रम—

वि०—पेयादि क्रम—प्रधान, मध्य और अवर (हीन) शुद्धियों से शुद्ध हुआ मनुष्य पेया, विलेपी, अकृतयूष एवं कृतयूष, अकृतमांसरस; कृतमांसरस, इनको तीन भोजन-

समयों में; दो भोजन-समयों में और एक भोजन-समय में क्रमशः बरते।

[अर्थात्–जिस मनुष्य की शुद्धि प्रधान रूप में हुई है, वह प्रथम दिन प्रातः सायं दोनों समय, तथा दूसरे दिन प्रातःकाल (कुल तीन समय) पेया को लेवे। चौथे दिन अकृत-यूष दोनों समय; पाँचवें दिन प्रातः भी यही ले। पाँचवें दिन सायंकाल कृतयूष और छठे दिन दोनों समय कृतयूष ले। इसी प्रकार मांसरस खाने वाला यूष के स्थान पर मांसरस लेवे। अर्थात् सातवें दिन भोजन पर आ जावे। इसी प्रकार मध्यशोधन के बाद दो-दो भोजन कालों में एवं अवरशुद्धि में केवल एक भोजन-काल में पेया आदि ले और मध्य शुद्धि में पाँचवें तथा अवर शुद्धि में तीसरे दिन प्राकृत भोजन ले] ॥ २९ ॥

वक्तव्य—अकृतयूष-शुण्ठी-लवण आदि कटु द्रव्यों से नहीं बनाया। कृतयूष-सोंठ आदि कटु द्रव्यों से बनाया। चरक सूत्रस्थान अ० १५ में-भोजनविधि में-'पुराणानां लोहितशालितण्डुलानां स्वक्लिन्नां मण्डपूर्वां सुखोष्णां पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य। एवं द्वितीये तृतीये चान्नकाले। चतुर्थे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालीनां सुस्विन्नां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेहलवणामल्पस्नेहलवणां वा भोजयेत्। एवं पञ्चमे षष्ठे चान्नकाले। सप्तमे त्वन्नकाले······इत्यादि।' इस प्रकार सातवें दिन प्रकृति आहार का विधान दिया है—'सप्ताहात् प्रकृतिभोजनमागच्छेत्।'

अधुना पेयादिक्रमस्य फलं वक्ति—

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः
सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव
शुद्धस्य पेयादिभिरन्तराग्निः ॥ ३० ॥

स०—यथा बाह्योऽग्निरणुरल्पस्तृणगोमयकाष्ठदलादिभिः संधुक्ष्यमाण उद्दीप्यमानो महान् स्थिरः सर्वपचो भवति। सर्वपच इति पचेरजंतस्य सर्वशब्देन सह षष्ठीसमासः। तेनैव प्रकारेण पेयादिभिः शुद्धस्योदर्योऽग्निर्महान् स्थिरः सर्वपचश्च भवति। स्वरनादेऽप्युक्तम्। विरेके वमने श्रेष्ठे पेयादीनां त्रिकक्रमः। त्रिशो द्विशो मध्यमे स्यादेकशस्तु कनीयसीति ॥ ३० ॥

पेयादि-क्रम का फल—

वि०—पेयादि क्रम का फल—जिस प्रकार थोड़ी सी अग्नि तिनके गोबर आदि से उद्दीप्त बनकर धीरे-धीरे महान्, स्थिर तथा सबको भस्म करने वाली हो जाती है; उसी प्रकार वमनादि से शुद्ध मनुष्य की अन्तराग्नि पेया, विलेपी आदि क्रम से महान, स्थिर और सब कुछ पचानेवाली हो जाती है ॥ ३० ॥

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगा-
श्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ।
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके
प्रस्थस्तथा स्याद् द्विचतुर्गुणश्च ॥ ३१ ॥

स०—जघन्यं च मध्यं च प्रवरं च तस्मिन्वमने क्रमेण वेगाश्चत्वारः षडष्टेष्टास्तंत्रकृतामिति शेषः। ते वेगा दशैव द्वित्रिगुणा जघन्यमध्यप्रवरे द्विरेके क्रमेण भवंति। तथेति समुच्चये। न केवलं वेगानां मानं प्रस्थश्च द्विचतुर्गुणो मानं स्यादिति तथाशब्दस्याऽर्थः। त्रीण्येतान्युपजातिवृत्तानि ॥ ३१ ॥

वमनादि के वेग का नियम—

वि०—जघन्य वमन में चार; मध्य वमन में छः और प्रवर वमन में आठ वेग होते हैं। जघन्य विरेचन में दस; मध्य में बीस और प्रवर विरेचन में तीस वेग होते हैं। परिमाण में—विरेचन के जघन्य वेग में एक प्रस्थ, मध्य वेग में दो प्रस्थ और प्रवर वेग में चार प्रस्थ होते हैं। [प्रस्थ का मान यहाँ पर साढ़े तेरह पल है—यथा-'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥'] ॥ ३१ ॥

पित्तावसानं वमनं विरेका-
दर्द्धं कफान्तं च विरेकमाहुः।

स०—पित्तांतं वमनं वदंति। विरेकादर्धं वमनं कथयंति विरेचनं कफांतमाहुः।

वमनादि का अन्त—

वि०—वमन पित्त के आने तक तथा विरेचन से आधे परिमाण में अर्थात् हीन वेग में आधा प्रस्थ, मध्य वेग में एक प्रस्थ और उत्तम वेग में दो प्रस्थ होना चाहिए। विरेचन कफ के आने तक होना ठीक समझना चाहिए।

द्वित्रान् सविट्कानपनीय वेगान्
मेयं विरेके, वमने तु पीतम् ॥ ३२ ॥

स०—द्वे वा त्रयो वा द्वित्राः। संख्ययाऽव्ययेति बहुव्रीहिः। बहुव्रीहौ संख्येये डजिति वा समासांतः। सह विशा पुरीषेण वर्तत इति सविट्को विड्वान् वेगान् सविट्कानपनीय गणनयाऽनया रुद्धविरेके मेयं मातव्यम्। वमने पुनः पीतं यदौषधं तदपनीय मेयम्। इंद्रवज्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

वमनादि का परिमाण—

वि०—विरेचन में-मल मिश्रित दो-तीन वेगों को छोड़कर गिनना चाहिए; वमन में-पी हुई औषध को छोड़कर शेष वेगों को गिनना चाहिये ॥ ३२ ॥

अथैनं वामितं भूयः स्नेहस्वेदोपपादितम्।
श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यग्विरेचयेत् ॥ ३३ ॥

स०—एनं नरं वामितं भूयः पुनरपि स्नेहस्वेदाभ्यामुपपादितमनंतरं सम्यग्विरेचयेत्। कदा। श्लेष्मणः कालः संविभागप्रहरस्तस्मिन् गते सति। किं कृत्वा। कोष्ठं मृदुमध्यक्रूरलक्षणं ज्ञात्वाऽवगम्य ॥ ३३ ॥

वामित को विरेचन—

वि०—विरेचन विधि—वमन किये हुए व्यक्ति को फिर से स्नेहन और स्वेदन देकर-कफ का समय बीत जाने पर मृदु, मध्य, क्रूर कोष्ठ का विचार करके विरेचन देवे ॥ ३३ ॥

बहुपित्तो मृदुकोष्ठः क्षीरेणापि विरिच्यते ।

स०—यो बहुपित्तः कोष्ठः स मृदुर्भवति । स च क्षीरेणाऽपि विरिच्यते । अपिशब्दादारग्वधादिभिरपि ।

मृदुकोष्ठ को विरेचन—

वि०—बहुत पित्त वाला तथा जिसका कोष्ठ मृदु है; उसको दूध से भी विरेचन हो जाता है ।

प्रभूतमारुतः क्रूरः कृच्छ्राच्छ्यामादिकैरपि ॥३४॥

स०—प्रभूतमारुतः क्रूरः कोष्ठो भवति । स कृच्छ्रेण कथंचिदपि श्यामादिकैर्विरेच्यते । आदिशब्देन द्रवंतिसुधादीनां ग्रहणम् । अपिशब्दादारग्वधादिना विरेच्यते ॥३४॥

क्रूरकोष्ठ का विरेचन—

वि०—प्रचुर वायु वाला कोष्ठ क्रूर होता है; इसे निशोथ आदि से भी कठिनाई से विरेचन होता है ॥ ३४ ॥

कषायमधुरैः पित्ते विरेकः, कटुकैः कफे ।
स्निग्धोष्णलवणैर्वायौ—

स०—कषायमधुरैरारग्वधादिभिः पित्ते विरेकः । कटुकैः कफे विरेकः । स्निग्धाम्ललवणैरेरंडतैलादिभिर्वायौ विरेकः कार्यः ।

पित्तादि दोषों में विरेचक द्रव्य—

वि०—पित्त में कषाय और मधुर द्रव्यों से, कफ में कटु द्रव्यों से और वायु में स्निग्ध-उष्ण-लवण द्रव्यों से (एरण्डतैल आदि से) विरेचन देना चाहिए। (आरग्वधादि से पित्त में, कुटकी आदि से कफ में विरेचन दें।)

—अप्रवृत्तौ तु पाययेत् ॥ ३५ ॥
उष्णाम्बु, स्वेदयेदस्य पाणितापेन चोदरम् ।

स०—विरेकाप्रवृत्तावुष्णांबु पाययेद्वैद्यः । अस्य चाऽऽतुरस्य पाणितापेन जठरं स्वेदयेत् ॥ ३५ ॥

विरेचन की अप्रवृत्ति में कर्तव्य—

वि०—विरेचन प्रवृत्त न हो तो गरम पानी पिलाये । हाथ को अग्नि पर गरम करके इस रोगी के उदर पर सेक करे ॥ ३५ ॥

उत्थानेऽल्पे दिने तस्मिन्भुक्त्वाऽन्येद्युः पुनः पिबेत् ॥
अदृढस्नेहकोष्ठस्तु पिबेदूर्ध्वं दशाहतः ।
भूयोऽप्युपस्कृततनुः स्नेहस्वेदैर्विरेचनम् ॥ ३७ ॥
यौगिकं सम्यगालोच्य स्मरन्पूर्वमतिक्रमम् ।

स०—तस्मिन् विरेकस्य दिनेऽल्प उत्थाने स्तोकायां प्रवृत्तौ सत्यां भुक्त्वाऽन्नमन्येद्युरन्यस्मिन् दिने पुनर्विरेचनौषधं पिबेदातुरः । दृढस्नेहकोष्ठो यस्य स दृढस्नेहकोष्ठः । न दृढस्नेहकोष्ठोऽदृढस्नेहकोष्ठः स भूयोऽपि स्नेहस्वेदैः संस्कृतशरीरो दशाहादूर्ध्वं यौगिकं विरेचनं पिबेत् । यथावन्निरूप्य पूर्वमनुक्रमं भैषज्यमात्रां मंत्राभिमंत्रितामित्यादिकं तथाऽप्रवृत्तौ तु पाययेत् । उष्णांबु स्वेदयेदस्य पाणितापेनेत्यादिकं च तथापि अतिक्रमं स्मरन् पिबेदिति ॥ ३६-३७ ॥

वि०—विरेचन थोड़ा प्रवृत्त हो तो—उस दिन भोजन करके दूसरे दिन फिर विरेचक औषध पिये । किन्तु निर्बल तथा स्निग्ध कोष्ठ व्यक्ति दस दिन के उपरान्त-शरीर का स्नेहन और स्वेदन द्वारा संस्कार करके-प्रथम अतिक्रम (भूल) को ध्यान में रखते हुए—यौगिक (उचित) योग्य विरेचन को भली प्रकार विचार करके पिये ॥ ३७-३७ ॥

हृत्कुक्षयशुद्धिररुचिरुत्क्लेशः श्लेष्मपित्तयोः ॥ ३८ ॥
कण्डूर्विदाहः पिटकाः पीनसो वातविड्ग्रहः ।
अयोगलक्षणम्—

स०—अयोगलक्षणं हृत्कुक्षयशुद्धिरित्यादिकम् ॥ ३८ ॥

अयोगादि के लक्षण—

वि०—अयोग के लक्षण—हृदय की अशुद्धि, उदर की अशुद्धता, अरुचि, कफ और पित्त का उत्क्लेश, कण्डू, जलन, पिटिका, पीनस; वात एवं मल का अवरोध-ये विरेचन के अयोग के लक्षण हैं ॥ ३८ ॥

—योगो वैपरीत्ये यथोदितात् ॥ ३६ ॥

स०—यथोक्ताद्वैपरीत्ये हृत्कुक्षिशुद्धिरित्यादिको योगो योगलक्षणम् ॥ ३९ ॥

वि०—विरेचन के सम्यग् योग में—हृदय की अशुद्धि आदि उपर्युक्त लक्षणों से विपरीत लक्षण होते हैं ॥ ३९ ॥

विट्पित्तकफवातेषु निःसृतेषु क्रमात्स्रवेत् ।
निःश्लेष्मपित्तमुदकं श्वेतं कृष्णं सलोहितम् ॥ ४० ॥
मांसधावनतुल्यं वा मेदःखण्डाभमेव वा ।
गुदनिःसरणं तृष्णा भ्रमो नेत्रप्रवेशनम् ॥ ४१ ॥
भवन्त्यतिविरिक्तस्य तथाऽतिवमनामयाः ।

स०—अतिविरिक्तस्य विट्पित्तकफवातेषु क्रमान्निःसृतेषु जलं स्रवेत् । किंभूतम् । निःश्लेष्मपित्तं तथा श्वेतं कृष्णं सलोहितं पीतरक्तमथवा मांसधावनसदृशमथवा मेदःशकलाभं स्रवेत् । तथा गुदनिःसरणादयोऽतिवमनामयाश्च क्षामतादयो भवंति ॥ ४०-४१ ॥

वि०—अतियोग के लक्षण—मल, पित्त, कफ और वायु के क्रमशः निकल चुकने पर कफ और पित्त से रहित, श्वेत, काला या रक्त-मिश्रित पानी बाहर आता है । इस पानी का रङ्ग मांस के धोवन के समान अथवा मेद के टुकड़े के समान झांईवाला होता है । रोगी की गुदा बाहर आती है, प्यास, भ्रम, आँखों का अन्दर गड़ना, तथा अतिवमन में कहे लक्षण-विरेचन के अतियोग में होते हैं ॥ ४०-४१ ॥

सम्यग्विरिक्तमेनं च वमनोक्तेन योजयेत् ॥ ४२ ॥
धूमवर्ज्येन विधिना—

स०—एनं च नरं सम्यग्विरिक्तं वमनविहितेन विधिना विधूमेनोपपादयेत् ॥ ४२ ॥

विरेचन के बाद कर्तव्य—

वि०—भली प्रकार विरेचन होने पर रोगी को वमन में कहे उपचार देवे, परन्तु इसमें धूम पान न करावे ॥ ४२ ॥

—ततो वमितवानिव ।
क्रमेणान्नानि भुञ्जानो भजेत्प्रकृतिभोजनम् ॥ ४३ ॥

स०—ततोऽनंतरं क्रमेण पूर्वोक्तेन रक्तशाल्यन्नसहितपेयादीन्यन्नान्यश्नन् प्रकृतिभोजनं भजेत् ॥ ४३ ॥

वि०—इसके उपरान्त वमन किये हुए की भाँति क्रमशः (श्लोक २९ में वर्णित क्रम के अनुसार) पेया आदि अन्न को खाता हुआ स्वाभाविक भोजन पर आ जाये (सातवें दिन स्वाभाविक भोजन करे) ॥ ४३ ॥

मन्दवह्निमसंशुद्धमक्षामं दोषदुर्बलम् ।
अदृष्टजीर्णलिङ्गं च लङ्घयेत्पीतभेषजम् ॥ ४४ ॥

स०—पीतभेषजं मंदवह्न्यादीन् पंच लंघयेत्। अदृष्टं जीर्णलिंगं पीतभेषजस्य यस्येति योज्यम् ॥ ४४ ॥

औषधसेवन के बाद उपवास—

वि०—औषध पीने से—अग्निमांद्य हो, जिसका भली प्रकार शोधन न हुआ हो; औषध-सेवन से जितनी कृशता होनी चाहिए वह न हुई हो एवं दोष-वृद्धि से निर्बल हो, तथा जिसमें औषध के जीर्ण होने के लक्षण न दीखते हों, इन पाँच अवस्थाओं में लंघन कराये ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—जीर्ण औषध के लक्षण–'अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णा सुमनस्कता । लघुत्वमिन्द्रियोद्गारशुद्धिर्जीर्णौषधाकृतिः ॥' अजीर्णौषध के लक्षण–'क्लमो दाहोऽङ्गसदनं भ्रमो मूर्च्छा शिरोरुजा। अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः ॥' (च. सि. अ. ६।२२)

एवं लंघिते यो गुणो भवति तमाह—
स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेशसङ्गैरिति न बाध्यते ।

स०—उत्क्लेशाश्च संगाश्चोत्क्लेशसंगाः। स्नेहश्च स्वेदश्चौषधं च तानि तेषामुत्क्लेशसंगाः स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेशसंगास्तैः इत्येवं लंघिते सति मंदाग्न्यादिर्न बाध्यते ।

उक्तोपवास से लाभ—

वि०—स्नेहन, स्वेदन और औषध इनसे उत्पन्न हुए उत्क्लेष (बाहर निकलने की प्रवृत्ति) अथवा उनके रुक जाने से जो मन्दाग्नि आदि विकार होते हैं, वे लंघन करने से नहीं होते ।

संशोधनास्रविस्रावस्नेहयोजनलङ्घनैः ॥ ४५ ॥
यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिमाचरेत् ।

स०—संशोधनादिभिर्यतोऽग्निर्मन्दतां यात्यतो हेतोः पेयादिं क्रममाचरेत्। संशोधनं सम्यक्शुद्धिः। अस्रविस्रावो रक्तस्रुतिः। स्नेहयोजनं स्नेहयोगः। ननु शुद्ध्याग्निमांद्यमिहोच्यते। वक्ष्यति च। बुद्धिप्रसादमित्यादिना ज्वलनस्य दीप्तिं संशोधनं करोतीति । तदिमे वचसी परस्परं व्याहतः। अत्रोच्यते । कालभेदाद् दोषसंशोधने क्रियमाणेऽग्निमांद्यं भवति। कृते च संशोधने पेयादिक्रममासेवमानस्याग्निदीप्तिरिति न कश्चिदत्र व्याघातः ॥ ४५ ॥

संशोधनादि के बाद पेयादि—

वि०—संशोधन, रक्तमोक्षण, स्नेहपान और लंघन इन कार्यों से अग्नि मन्द हो जाती है, इसलिए पेया-विलेपी आदि के क्रम का पालन करना चाहिए ॥ ४५ ॥

स्रुताल्पपित्तश्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकम् ॥ ४६ ॥
पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः ।

स०—स्रुताल्पपित्तश्लेष्माणमिति । स्रुतौ पतितावल्पौ पित्तश्लेष्माणौ यस्य तं तथा मद्यपो यो नरस्तं मद्यपं तथा वातपैत्तिकमेतांस्त्रीन्पेयां न पाययेत्। तर्ह्येषां किं कार्यमित्याह। प्रथमेऽन्नकाले लाजसक्तवो द्वितीयेऽन्नकाले जीर्णशाल्योदनं तृतीये मांसरसौदनमित्येष तर्पणादिक्रमस्तेषां हितः ॥ ४६ ॥

पेयादि के अयोग्य रोगी—

वि०—जिस रोगी के पित्त और कफ कम बाहर आये हों, या जो मद्यपी हो, अथवा वात-पित्त विकार या प्रकृति वाला हो, इन तीनों में पेयाविधान न बरत कर तर्पण आदि विधान (लाजसत्तू) का मन्थ, फलों के रस, मांसरस आदि देवे ॥ ४६ ॥

ननु विरेचनस्येव वमनस्य कस्मात्पाको न प्रतीक्ष्यत इत्याह—
अपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं विरेचनम् ॥ ४७ ॥
निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत् ।

स०—वमनमपक्वं सदोषान्निर्हरेत्। विरेचनं तु पच्यमानं दोषान्निर्हरेत्। अतो वमनस्य पाको न प्रतिपाल्यते ॥ ४७ ॥

वामक औषध का पाक अनावश्यक—

वि०—वमन बिना पचे ही दोषों को बाहर करता है, विरेचन पच्यमानावस्था में बाहर निकालता है। इसीलिये वमन के पचने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये (विरेचन के पचने की प्रतीक्षा करनी चाहिये) ॥ ४७ ॥

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यः स्वयम् ॥ ४८ ॥
विरिच्यते भेदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत् ।

स०—दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन हेतुना स्वयमौषधमंतरेण यो विरिच्यते भिद्यते तं नरं भेदनीयैर्भोज्यैर्भक्ष्यैर्योजयेत् ॥ ४८ ॥

स्वतः विरेचनीय का उपचार—

वि०—जिस दुर्बल एवं बहुत दोष वाले व्यक्ति को दोषों के पचने से स्वयं ही विरेचन होता है, उसे भेदनीय भक्ष्य पदार्थों से विरेचन देवे। [ऐसे व्यक्ति को विरेचक औषध न देवे।] ॥ ४८ ॥

दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशो नरः ॥ ४९ ॥
अपरिज्ञातकोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधम् ।

वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम् ॥ ५० ॥
हरेद्बहूँश्चलान् दोषानल्पानल्पान् पुनः पुनः।
दुर्बलस्य मृदुद्रव्यैरल्पान् संशमयेत्तु तान् ॥ ५१ ॥
क्लेशयन्ति चिरं ते हि हन्युर्वैनमनिर्हृताः।

स०—दुर्बलादय। पिबेयुः। किमित्याह मृद्वल्पमिति। यस्माद्विरेचनौषधं पुनः पुनः पीतं वरम्। अन्यथा बहु तीक्ष्णं चौषधं पीतं संशयावहं प्राणसंदेहाकारि। तथा पुनः पुनः प्रयुक्तमौषधं बहूंश्चलान् दोषानल्पानल्पान् हरेत् एवं बलहानिं विना दोषनिर्हारः कृतः स्यात्। तुरवधारणे। दुर्बलस्य नरस्य मृदुद्रव्यैर्निर्हरेदल्पानेव तान् दोषान् सम्यक् शमयेत्। ते तु दोषा अनिर्हृताश्चिरमेतमातुरं क्लेशयंति हन्युर्वा मारयेयुः ॥ ४९-५१ ॥

दुर्बल का उपचार तथा उसके बिना हानि

वि०—दुर्बल, पहले जिसका शोधन हो गया है, थोड़ा दोष वाला, कृश मनुष्य तथा किसके कोष्ठ का ज्ञान नहीं—इन पाँच व्यक्तियों को मृदु और अल्प औषध पिलाना चाहिये। कोमल और अल्प औषध को बार-बार पिलाना उत्तम है, क्योंकि एक साथ तीक्ष्ण औषध पिलाने से प्राणों का भय होता है। बार-बार दी हुई औषध बहुत एवं चलायमान दोषों में भी, उनका थोड़ा-थोड़ा करके बार-बार निकालती और दुर्बलता भी नहीं बढ़ाती है। दुर्बल व्यक्ति में वे दोष थोड़े हों तो उनको मृदु द्रव्यों से शमन कर देवे (शोधन न देवे किन्तु बहुत दोष हो तो पूर्वोक्त विधि से थोड़ा-थोड़ा शोधन देवे)। क्योंकि वे बहुत अधिक दोष शरीर से बाहर न करने पर रोगी को देर तक पीड़ित करते हैं या मार देते हैं ॥ ४९-५१ ॥

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः ॥ ५२ ॥
सन्धुक्षिताग्निं विजितकफवातं च शोधयेत्।

स०—मंदाग्निं क्रूरकोष्ठं च नरं सह क्षारलवणाभ्यां वर्तंते यानि घृतानि तैर्यथासंख्यमुद्दीपितानलं विजितकफवातं च शोधयेत् ॥ ५२ ॥

मन्दाग्नि तथा क्रूर कोष्ठ का शोधन—

वि०—मन्द अग्नि वाले और क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्ति की अग्नि को यवक्षार आदि क्षार एवं लवणमिश्रित घृतों से प्रदीप्त करके कफ और वायु की शान्ति हो जाने पर शोधन करे ॥ ५२ ॥

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशीलिनाम् ॥ ५३ ॥
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति।
तेभ्यो वस्तिं पुरा दद्यात्ततः स्निग्धं विरेचनम् ॥ ५४ ॥
शकृन्निर्हृत्य वा किञ्चित्तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिः।
प्रवृत्तं हि मलं स्निग्धो विरेको निर्हरेत्सुखम् ॥ ५५ ॥

स०—रूक्षादीनां भैषज्यमविरेच्यैव विरेचनमकृत्वैव परिणतिमेति। तेभ्यो रूक्षादिभ्यः पूर्वं वस्तिं दद्यादनंतरमेरंडतैलबिंदुघृतादिकं विरेचनं योजयेत्। अथवा फलवर्तिभिस्तीक्ष्णाभिः पुरीषं किंचिदल्पं निर्हृत्य निःसार्य स्निग्धं विरेचनं दद्यात्। किमिति वस्तिनाऽथवा तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिश्च किंचिच्छकृन्निर्हारः क्रियत इत्याह—यस्मान्मलं प्रवृत्तं संतं किंचित्पतितं स्निग्धो विरेकः सुखं मलप्रेरणेन निर्हरेत् ॥५३-५५॥

रूक्षादि का विरेचन—

वि०—रूक्ष, बहुत वायु वाले, क्रूरकोष्ठ, व्यायाम करने वाले और प्रदीप्त अग्नि वाले—इन पाँच प्रकार के व्यक्तियों में विरेचन औषध बिना विरेचन किये ही जीर्ण हो जाती है। इनको प्रथम निरूहवस्ति देवे, फिर (एरण्डतैल या बिन्दुघृत आदि स्निग्ध विरेचन देवे अथवा तीक्ष्ण फलवर्त्तियों से मल को थोड़ा बाहर निकाल कर विरेचन देवे क्योंकि प्रवृत्त हुए मल को स्निग्ध विरेचन सुखपूर्वक निकाल देता है ॥५३-५५॥

विषाभिघातपिटिकाकुष्ठशोफविसर्पिणः।
कामलापाण्डुमेहार्तान्नातिस्निग्धान् विशोधयेत् ॥५६॥

स०—नातिशब्दोऽत्रेषदर्थे। नातिशीतगुप्तमित्यत्र यथा। विषाद्यार्तानीषत्स्निग्धान् विरेचयेत् ॥ ५६ ॥

विषादि से पीडित का विरेचन—

वि०—विषपीड़ित, अभिघातपीड़ित, पिटिका, कुष्ठ, शोफ, विसर्प, कामला, पाण्डु और प्रमेह इन रोगों से पीड़ित व्यक्ति को थोड़ा सा स्निग्ध करके शोधन देवे ॥ ५६ ॥

सर्वान् स्नेहविरेकैश्च, रूक्षैस्तु स्नेहभावितान्।

स०—सर्वानीषत्स्निग्धान् विषाद्यार्तादीन् स्नेहविरेकैः शोधयेत्। स्नेहभावितांश्च पुरुषान् रूक्षैर्विरेकैः शोधयेत्।

वि०—सबको स्निग्ध विरेचन देना चाहिये, स्निग्ध पुरुषों को रूक्ष विरेचन देना चाहिये।

कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यन्तरेऽन्तरे ॥ ५७ ॥
स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत, स्नेहमन्ते, बलाय च।

स०—वमनादीनां कर्मणामंतरेऽतरे मध्ये मध्ये पुनरपि भूयः स्नेहस्वेदौ प्रयुंजीत। अंते च कर्मणां बलाय शरीरस्य बलाधानार्थं स्नेहं प्रयुञ्जीत। तदेषोऽर्थो बोद्धव्यः। आदौ स्नेहस्वेदौ ततो वमनं पुनः स्नेहस्वेदौ ततो विरेचनं पुनः स्नेहस्वेदौ ततोऽनुवासनं पुनः स्नेहस्वेदौ ततो निरूहवस्तिरिति ॥ ५७ ॥

स्नेहन और स्वेदन का बार-बार प्रयोग—

वि०—वमन आदि कर्मों के बीच-बीच में बार-बार स्नेह स्वेदन बरतना चाहिये और अन्त में शरीर में बल लाने के लिये स्नेहन करना चाहिये ॥ ५७ ॥

किमित्येवं विधीयत इत्याह—

मलो हि देहादुत्क्लेश्य ह्रियते वाससो यथा ॥ ५८ ॥
स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लिष्टः शोध्यते शोधनैर्मलः।

स०—मलो हि देहादुत्क्लेश्य पतनोन्मुखीकृत्य शोधनैर्विरेचनादिभिर्ह्रियते। कथमिव वाससो वस्त्राद्यथा स्नेहस्वेदैः ॥ ५८ ॥

उक्त विधि से मल निकालने में दृष्टान्त—

वि०—जिस प्रकार कपड़े के मल को पानी से धोना या भिगोना और उबालना इत्यादि क्रियाओं से उत्क्लिष्ट कर दूर किया जाता है उसी प्रकार शरीर के मलों को स्नेहन-स्वेदन से प्रवृत्त्युन्मुख बनाकर शोधनों द्वारा निकाला जाता है ॥ ५८ ॥

स्नेहस्वेदानभ्यासं दोषमाह—

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात् संशोधनं तु यः ॥ ५९ ॥
दारु शुष्कमिवानामे शरीरं तस्य दीर्यते ॥

स०—यो नरः स्नेहस्वेदावनभ्यस्याऽशीलयित्वा शोधनं कुर्यात्तस्य शरीरं दीर्यते। कथमिव। आनामे आनमने काष्ठं शुष्कं यथा दीर्यते ॥ ५९ ॥

स्नेहनस्वेदन के बिना मलशोधन से हानि—

वि०—जो मनुष्य स्नेहन एवं स्वेदन न करके संशोधन करता है, वह नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार कि सूखी लकड़ी झुकाने में टूट जाती है [स्नेहन और स्वेदन करके मोड़ने पर नहीं टूटती] ॥ ५९ ॥

सांप्रतं संशुद्धेः फलमाह—

बुद्धिप्रसादं बलमिन्द्रियाणां
धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य दीप्तिम्।
चिराच्च पाकं वयसः करोति
संशोधनं सम्यगुपास्यमानम् ॥ ६० ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने वमनविरेचनविधिर्नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

स०—यौवनादेः पाकः परिणाम इति। उपजातिवृत्तम् ॥ ६० ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुंदराख्यायां वांतिरेकप्रकरणं नामाऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

सम्यक् शोधन का फल—

वि०—शोधन का फल—भली प्रकार किया हुआ शोधन बुद्धि की निर्मलता; इन्द्रियों में बल; धातुओं की स्थिरता, अग्नि की दीप्ति और बुढ़ापे का देर में आना—इन पाँच कार्यों को करता है ॥ ६० ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में वमनविरेचन नामक अट्ठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

* * *

एकोनविंशोऽध्यायः

मलहरणार्थं पूर्वाध्याय उक्तः। बस्तिनाऽपि मला निर्ह्रियंत इति वमनविरेचनविधेरनंतरं बस्तिविधेरुपदेशो युक्त इत्याह—

अथातो वस्तिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—अथाऽत इति। बस्तिना दीयत इति बस्तिस्तस्य विधिः शेषं पूर्ववद्व्याख्येयम्।

वि०—अब इसके आगे वस्तिविधि का व्याख्यान करेंगे· जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वातोल्बणेषु दोषेषु वाते वा बस्तिरिष्यते।
उपक्रमाणां सर्वेषां सोऽग्रणीस्त्रिविधस्तु सः ॥ १ ॥
निरूहोऽन्वासनं बस्तिरुत्तरः—

स०—वात उल्बणोऽधिको येषां दोषाणां तेषु बस्तिरिष्यते। आचार्यैरिति शेषः। तत्र वातपित्ते वातश्लेष्मण्यथवा केवले वायौ बस्तिरिष्यते। उपक्रमाणां चिकित्सानां सर्वेषां स बस्तिरग्रणीः प्रधानतमः। स च त्रिप्रकारः। तदेव त्रैविध्यमाह। निरूहोऽन्वासनो बस्तिरुत्तर इति यदा तूत्तरेण मार्गेण मेढ्रादिना दीयत इत्युत्तरबस्तिः ॥ १ ॥

बस्ति के भेद—

वि०—वातप्रधान दोषों में अथवा केवल वायु में बस्ति दी जाती है। वमनादि सब साधनों में बस्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। यह बस्ति तीन प्रकार की है- निरुहवस्ति, अनुवासनवस्ति और उत्तरबस्ति (बस्तिना दीयते इति बस्तिः) ॥१॥

—तेन साधयेत्।
गुल्मानाहखुडप्लीहशुद्धातीसारशूलिनः ॥ २ ॥
जीर्णज्वरप्रतिश्यायशुक्रानिलमलग्रहान् ।
वर्ध्माश्मरीरजोनाशान् दारुणांश्चानिलामयान् ॥ ३ ॥

स०—तेनेत्यनेन निरूहः परामृश्यते। कथमितिचेत्। ब्रूमः। अनास्थाप्याश्चेत्यधीयते। तत्र के निरूह्या इत्यपि। ते संत्यत्राऽनिरूह्याः पुनरिमे प्रतिवक्तुं युज्यंते। अपि च। आस्थाप्या एव चान्वास्या इति पठंति के आस्थाप्या इति न गम्येत यदीह निरूहो न परामृश्येत। तस्मात्तेनेत्यनेन निरूहस्य ग्रहणं न्याय्यम्। तेन निरूहेण गुल्मादींस्तथा जीर्णज्वरादीन् कृच्छ्रान् वातरोगांश्चोपक्रमेत्। गुल्मादीनां शूलांतानां द्वंद्व इनिः कार्यः। शुक्रादीनां ग्रहेण संबंधः। शुक्रग्रहो रेतोविबंधः। अनिलग्रहो वायोरसंचारः। रजोनाशः स्त्रियाः पुष्पनाशः ॥ २–३ ॥

बस्ति के योग्य रोगी—

वि०—निरुहबस्ति से—गुल्म, आनाह, खुड (वातरक्त), प्लीहा निरामातीसार, शूल, जीर्णज्वर, प्रतिश्याय, शुक्रग्रह, वात ग्रह, मलग्रह, वर्ध्म, अश्मरी, रजोनाश तथा दारुण वातरोगियों की चिकित्सा करे ॥ २–३ ॥

अनास्थाप्यास्त्वतिस्निग्धः क्षतोरस्को भृशं कृशः ।
आमातिसारी वमिमान् संशुद्धो दत्तनावनः ॥ ४ ॥
श्वासकासप्रसेकार्शोहिध्माध्मानाल्पवह्नयः ।
शूनपायुः कृताहारो बद्धच्छिद्रोदकोदरी ॥ ५ ॥
कुष्ठी च मधुमेही च मासान् सप्त च गर्भिणी ।

स०—अतिस्निग्धादयः सप्तममासगर्भिण्यंता अनास्थाप्या अनिरूह्याः । वमिमान् प्रसक्तच्छर्दिः । बद्धादेरुदरेण संबंधः । तत इनिर्मत्वर्थीयः । यद्वाऽतिसारिण आस्थाप्या इत्यनेनाऽऽमातिसारिणोऽनास्थाप्यत्वे लब्धे पुनर्वचनमतिप्रमाथित्वेनाऽऽमातिसारिणः कथंचिदप्यनास्थाप्या इति । तत्राऽतिस्निग्धस्य दोषानुत्क्लेश्य निरूहः श्वयथुमुदरं च जनयेत् । क्षतोरस्ककृशयोः क्षोभव्यापन्नं शरीरमाशु पीडयेत् । आमातिसारिणो दोषस्य सम्यगनिर्हरणाद्देहस्य शामत्वादतिपीडां कुर्यात् । प्रसक्तच्छर्दिषो दोषोत्क्लेशो निरूहमूर्ध्वं नयेत् । कृतवमनविरेकयोः सुरिक्तं देहं क्षतं क्षार इव दहेत् । कृतनस्यस्य विवृतोर्ध्वस्रोतस्तया विभ्रंशं कुर्यात् । कासश्वासादीनामुत्क्लिष्टदोषत्वान्निरूह ऊर्ध्वं व्रजेत् । अर्शःप्रभृतीनां भृशतरमाध्मानान्मृत्युर्वा स्यात् । अल्पवर्चस्कादीनां स्तंभजाड्यादीनावहेत् । गर्भिण्याः पूर्वोक्ता एव दोषाः ॥ ४-५ ॥

निरूह वस्ति के अयोग्य व्यक्ति—

वि०—निरूह (आस्थापन) के अयोग्य—अतिस्निग्ध, उरःक्षत, अतिकृश, आमातिसारी, निरन्तर वमन रोगी, वमन विरेचनादि से शुद्ध, नस्य दिया, श्वास, कास, मुख से लालास्राव, अर्श, हिक्का, आध्मान, मन्दाग्नि के रोगी, जिसकी गुदा सूजी हो, भोजन किया हुआ, बद्धोदरी, छिद्रोदरी, दकोदरी, कुष्ठी, मधुमेह रोगी तथा सात मास तक की गर्भवती इनको निरूह नहीं देना चाहिये ॥ ४-५ ॥

आस्थाप्या एव चान्वास्या विशेषादतिवह्नयः ॥ ६ ॥
रूक्षा केवलवातार्ताः—

स०—य एवाऽऽस्थाप्यास्त एवानुवास्याः । आङ्पूर्वात्तिष्ठतेर्णिजंतादनुपूर्वाच्च वसतेरर्हार्थे ण्यत् । विशेषेणातिवह्न्यादयोऽनुवास्याः ॥ ६ ॥

अनुवासन के योग्य रोगी—

वि०—अनुवासन बस्ति के योग्य—गुल्मी आदि जो रोगी निरूह के योग्य हैं; वे ही अनुवासन के योग्य हैं; विशेष करके अति अग्नि वाले; रूक्ष तथा शुद्ध वायु से पीड़ित अनुवासन के योग्य हैं ॥ ६ ॥

—नानुवास्यास्त एव च ।
येऽनास्थाप्यास्तथा पाण्डुकामलामेहपीनसः ॥ ७ ॥
निरन्नप्लीहविड्भेदिगुरुकोष्ठकफोदराः ।
अभिष्यन्दिभृशस्थूलकृमिकोष्ठाढ्यमारुताः ॥ ८ ॥
पीते विषे गरेऽपच्यां श्लीपदी गलगण्डवान् ।

स०—त एवेति । य एवाऽनास्थाप्या अनिरूह्यास्ते चाऽपि नानुवास्याः । तथा पांड्वादयो नानुवासनार्हाः । एतेषां हि दोषानुत्क्लेश्य स्नेहबस्तिरुदरं जनयेत् । निरन्नस्याऽनुवासनात् स्नेहविपत्तिः । तथा चोक्तं खरनादेन । अभुक्तदत्तश्च तथा स्नेहबस्तिर्विपद्यत इति । प्लीहादीनां स्तंभजाड्यादीनावहेत् । कृमिकोष्ठस्याऽनुवासनात्पूर्वमनिर्हृतैः कृमिभिरिति बहुत्वादशेषनिःसरणेन हृदयमतिकर्षद्भिश्छर्दयेयुः । आढ्यमारुतस्य सम्यग्दोषनिर्हरणादामवृद्धिः । पीते विषे गरे च नाऽनुवास्या इति योज्यम् । अपच्यां च क्रमेण । श्लीपदीतीनिर्गलगंडवानिति मतुप् । अपच्यादयो नाऽनुवास्या इति । संग्रहे चोक्तम् । अभुक्ते रिक्तकोष्ठस्य प्रयुक्तमनुवासनम् । सरदूरगसूक्ष्मत्वैः क्षिप्रमूर्ध्वं प्रपद्यते । तेन वायोर्जयो न स्याद्धातधामन्यतिष्ठता । कायाग्नेराशु नाशश्च विशेषादनिवर्तिना । स्नेहः सद्योऽशिताहाररुद्धे स्वामाशयेऽनिलम् । पक्वस्थं हंति पक्वस्थश्च्यवते चान्नपाकतः । निरूहश्च समीरश्च तीक्ष्णवेगावुभावपि । तावन्नमूर्च्छितौ तीक्ष्णावधोऽन्नेन सहागतौ । ऊर्ध्वं वा शकृता सार्धं संस्थितौ कोष्ठ एव वा । समलाहारविष्टब्धौ हरेतामाशु जीवितम् । भुक्त एवानुवास्योऽस्मान्न निरूह्योऽत्र भुक्तवानिति ॥७-८॥

अनुवासन के अयोग्य रोगी—

वि०—और जो निरूह के अयोग्य हैं वे ही अनुवासन के अयोग्य हैं; उनके सिवाय पाण्डु; कामला, प्रमेह एवं, पीनस रोगी, बिना भोजन किया; प्लीहा-रोगी, अतिसार-रोगी, भारी उदर वाला; कफोदर-रोगी, अभिष्यन्दी (नेत्र-रोगी), अतिस्थूल, कृमिकोष्ठ, आढ्यवातरोगी, विष पीने पर, गर विष में, अपची में, श्लीपद में और गलगण्ड रोग में अनुवासन नहीं देना चाहिये ॥ ७-८ ॥

निरूहान्वासनयोर्यंत्रस्य लक्षणमाह—

तयोस्तु नेत्रं हेमादिधातुदार्वस्थिवेणुजम् ॥ ९ ॥
गोपुच्छाकारमच्छिद्रं श्लक्ष्णर्जुगुलिकामुखम् ।

स०—तयोर्निरूहान्वासनयोर्नेत्रं भवति । नीयते प्राप्यते स्नेहकल्ककाद्यपानमिति नेत्रम् । नेत्रेति नेः ष्ट्रन् प्रत्ययः । किंभूतं नेत्रम् । हेमादीति । आदिशब्दः प्रकारे । तेन रूप्यरीतिकायस्कांस्यत्रपुसीसादयो गृह्यंते । दारु शिंशपादिकाष्ठम् । अस्थि गजादेः । वेणुर्वंशः । एतेषां द्वंद्वः । एभ्यो जातं तयोर्निरूहान्वासनयोर्नेत्रं भवति । किंभूतम् । गोपुच्छाकारम् । गोपुच्छ इवाऽकारो यस्य तत् । तथाऽच्छिद्रं निर्विवरम् । तथा श्लक्ष्णं कोमलं तथाऽप्यृज्ववक्रम् । गुलिकासदृशमतीक्ष्णं मुखं यस्य तदेवम् ॥ ९ ॥

निरूह तथा अनुवासन यन्त्र के लक्षण—

वि०—निरूह और अनुवासन यंत्र का नेत्र—स्वर्णादि धातु का, लकड़ी का, अस्थि या बांस का बना होना चाहिये। इसका आकार गाय की पूँछ की भाँति क्रमशः आगे को पतला होता हुआ होना चाहिये । इसकी दिवार में कोई छेद

नहीं होना चाहिये, चिकना, सीधा तथा मुख पर गोल (धार रहित) होना चाहिये ॥ ९ ॥

अथास्य प्रमाणमाह—

ऊनेऽब्दे पञ्च, पूर्णेऽस्मिन्नासप्तभ्योऽङ्गुलानि षट् ॥१०॥
सप्तमे सप्त, तान्यष्टौ द्वादशे, षोडशे नव ।
द्वादशैव परं विंशाद्वीक्ष्य वर्षान्तरेषु च ॥ ११ ॥
वयोबलशरीराणि प्रमाणमभिवर्द्धयेत् ।

स०—अपूर्णे वर्षे नेत्रस्य पंचांगुलानि । आतुरांगुलप्रमाणमिति गम्यते । दैर्घ्येण चेत्येतदप्यनुक्तं गम्यते । वक्ष्यति हि । स्वांगुष्ठेन समं मूले स्थौल्येनेति । आसप्तभ्यः सप्तवर्षाणि मर्यादीकृत्य षडंगुलानि प्रमाणम् । आङत्र मर्यादायां नाभिविधौ । तेन षड्वर्षे बाले षडंगुलानि नेत्रम् । अन्यथा सप्तवर्षस्याऽपि षडेवेति प्राप्नोति । वक्ष्यति तु सप्तमे सप्तेति । एवं च पूर्वापरं व्याहतं स्यात् । तस्मान्मर्यादायामाङित्यवेहि । सप्तमे वर्षे सप्तांगुलानि द्वादशे वत्सरे तान्यंगुलान्यष्टौ नेत्रम् । द्वादशानां पूरण इति तस्य पूरणे डडिति डट् । एवं षोडश इत्यत्र । षोडशसंवत्सरे नवांगुलानि नेत्रम् । विंशाद्वत्सरात् तस्मादूर्ध्वमेकविंशप्रभृतिवर्षेषु द्वादशांगुलानि नेत्रम् । नातोऽप्यधिकानीत्येवशब्दार्थः । विंशतिशब्दात्पूरणे डडितिविंशतेर्डितीति तिलोपाद्विंशशब्दः । वर्षांतरेष्वंतरालावच्छिन्नेषु वर्षेषु नवमदशमादिषु वीक्ष्य पर्यालोच्य नेत्रस्य प्रमाणमभिवर्धयेत् । चशब्दो भिन्नक्रमः । न केवलं वर्षांतरेषु प्रमाणमभिवर्धयेत् । यावद्वयोबलादीनि निरूप्य प्रमाणं चाऽभिवर्धयेत् ॥ १०-११ ॥

उक्त यन्त्र की लम्बाई आदि—

वि०—नेत्र प्रमाण—एक वर्ष से कम बच्चे के लिये पाँच अङ्गुल, दो वर्ष से लेकर ६ वर्ष तक ६ अङ्गुल, सातवें वर्ष में सात अङ्गुल, बारह वर्ष के लिए आठ अङ्गुल, सोलह वर्ष के लिए नौ अङ्गुल, बीस के आगे बारह अङ्गुल नेत्र होना चाहिये । बीच के वर्षों के लिये तथा वय, बल और शरीर को देखकर भी बस्तिनेत्र का प्रमाण बढ़ाना चाहिये ॥१०-११॥

स्वाङ्गुष्ठेन समं मूले स्थौल्येनाग्रे कनिष्ठया ॥ १२ ॥

स०—स्थौल्येन परिणाहेन स्वांगुष्ठेन तुल्यं मूले नेत्रं तथाऽग्नं प्रांतस्तस्मिन् कनिष्ठयांऽगुल्या समं नेत्रं स्यात् । खरनादेऽप्युक्तम् । बस्तिनेत्रमृजु श्लक्ष्णं सद्वृत्तं गुलिकामुखम् । भवेद्गोपुच्छसंस्थानं सुप्रवाहं त्रिकर्णिकम् । या त्रिभागप्रणयने मर्यादा कर्णिका भवेत् । द्वे कर्णिके चोपरिष्टाद्बस्त्याधारेऽथवान्तरे । स्वांगुष्ठकपरीणाहं मूलं नेत्रस्य शस्यते । मध्यं त्वनामिकातुल्यमग्रं तुल्यकनिष्ठिकम् । स्वेनांगुलिप्रमाणेन दैर्घ्यं स्याद्द्वादशांगुलम् । कर्कंधु प्रवहच्छिद्रं श्रेष्टमन्यद्यथावयः । विंशद्द्वादशषड्वर्षे द्वादशाष्टषडंगुलम् । कर्कंधुकसतीनाग्रमुखं छिद्रवहमित्यादि । सुनिरप्यबोधत् । षड्द्वादशाष्टांगुलसंमितानि षड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम् । स्युर्महत्कर्कंधुसतीनवाहिच्छिद्राण्यपिहितानि चैव । यथा वयोंऽगुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां मूलाग्रयोः स्यात् परिणाह इति ॥ १२ ॥

वि०—अपने अंगूठे के समान मूल में और आगे कनिष्ठिका अङ्गुलि के समान मोटा होना चाहिये ॥ १२ ॥

अधुना बिंदुद्वारेण नेत्रस्थौल्यप्रमाणमधिकं दर्शयन्नाह—

पूर्णेऽब्देऽङ्गुलमादाय तदर्द्धार्द्धप्रवर्द्धितम् ।
त्र्यङ्गुलं परमं छिद्रं मूलेऽग्रे वहते तु यत् ॥ १३ ॥
मुद्गं माषं कलायं च क्लिन्नं कर्कन्धुकं क्रमात् ।

स०—वर्षे पूर्णे सत्यंगुलमादाय स्वांगुलात्प्रभृति क्रमेण त्र्यंगुलं छिद्रं मूले नेत्रस्य भवति । किंभूतं छिद्रम् । अर्धस्यार्धमर्धार्धम् । तस्यांगुलस्यार्धार्धं तेन प्रवर्धितम् । तत्र प्रथमे वर्षेंऽगुलमात्रं छिद्रं यावद्वर्षाणि षट् । सप्तमे वर्षे सपादमंगुलं यावदेकादश वर्षाणि । द्वादशे वर्षे सार्धमंगुलं यावत्षोडशवर्षाणि । षोडशे वर्षे पादोनमंगुलद्वयम् । सप्तदशे वर्षेऽगुलद्वयम् । अष्टादशे वर्षे सपादमंगुलद्वयम् । एकोनविंशतिवर्षे सार्धमंगुलद्वयम् । विंशतिवर्षस्य पादोनमंगुलत्रयम् । एकविंशतिवर्षस्य त्र्यंगुलं छिद्रमिति क्रमो वेद्यः । परममित्यनेनैतद्गमयति । परममुत्कर्षमाश्रित्येदं मूलच्छिद्रम् । मध्यमं तु यत्तच्छिद्रं स्वांगुष्ठेनेत्यनेनोक्तम् । ऊनवर्षस्य त्वर्धांगुलं छिद्रमेतदपेक्षया कल्प्यम् । अग्रे तु छिद्रं तद्भवति यन्मुद्गादि वहति । तत्र वार्षिकस्य मुद्गवाहि यावत्षड्वर्षम् । सप्तवर्षस्य माषवाहि यावदेकादशोऽब्दः । द्वादशवर्षस्य कलायवाहि षोडशवर्षस्य क्लिन्नकलायवाहि एकविंशतिवर्षस्य कर्कंधुवाहीति क्रमाद्वयःप्रमाणम् । ऊनवर्षस्य च न मुद्गादिवाहि कल्प्यम् । अग्रच्छिद्रप्रमाणं चैतदग्रे कनिष्ठयेत्यत्राऽपि संगच्छत एव । दैर्घ्यप्रमाणं चाऽत्र पक्षे पूर्वमेव योज्यम् । स्वांगुष्ठेन समं मूले स्थौल्येनेत्यनेन छिद्रप्रमाणं स्वमत्या भिषजा प्रकल्प्यम् । तथा त्र्यंगुलं परमं छिद्रमित्यत्र स्थौल्यप्रमाणं स्वधियैव निरूप्यम् । तंत्रकृता तु ग्रंथगौरवभयादुक्तप्रायत्वाच्चेह नोक्तम् ॥ १३ ॥

वि०—यन्त्र छिद्र—एक साल के बच्चे के लिए ६ अङ्गुल लम्बे यन्त्र का छिद्र मूल में एक अङ्गुष्ठ होना चाहिये, इस प्रकार इसको आधा का आधा अर्थात् एक चौथाई अङ्गुल बढ़ाते हुए तीन अङ्गुल परिमाण तक ही छेद को बढ़ाये । अगला छेद मूँग, उड़द, सूखी कलाय, क्लिन्न कलाय और बेर की गुठली निकालने योग्य क्रमशः होना चाहिये ॥ १३ ॥

वक्तव्य—प्रथम वर्ष में मूल में छेद अङ्गुलमात्र-जब तक आयु ६ साल, तथा नोक का छिद्र मूंग जाने योग्य । सात से लेकर ग्यारह वर्ष तक मूल में छेद $1\frac{1}{4}$ अङ्गुल नोक में उड़द जाने योग्य । बारह से सोलह वर्ष तक $1\frac{1}{2}$ अङ्गुल नोक में मटर जाने योग्य । सोलहवें में $1\frac{3}{4}$ अङ्गुल, सत्रहवें में दो अङ्गुल, अठ्ठारहवें में $2\frac{1}{4}$ अङ्गुल, उन्नीसवें में $2\frac{1}{2}$ अङ्गुल, बीसवें में $2\frac{3}{4}$ अङ्गुल और नोक में गीले मटर के जाने योग्य ।

इक्कीसवें वर्ष में तीन अङ्गुल मूलछिद्र और नोक का छेद बेर के बराबर होना चाहिये।

मूलच्छिद्रप्रमाणेन प्रान्ते घटितकर्णिकम् ॥ १४ ॥
वर्त्याऽग्रे पिहितं मूले यथास्वं द्व्यङ्गुलान्तरम् ।
कर्णिकाद्वितयं नेत्रे कुर्यात्

स०—मूले यच्छिद्रमुक्तं तत्प्रमाणेन प्रांते घटिता संपादिता कर्णिका छत्राकारा गुदाधिकांतःप्रवेशरोधिनी यस्मिंस्तदेवम्। तथा वर्त्या दशादिकृतया प्रांते पिहितं स्थगितम्। मूले यथास्वमूनवर्षादिकस्य तदंगुलप्रमाणेन तद्व्यंगुलांतरं कर्णिकायुगलं मूलप्रदेशे नेत्रे बिदधीत बस्तिपुटयोजनार्थम्॥१४॥

उक्त यन्त्र में कर्णिकादि का जोड़ना—

वि०—मूलछिद्र के प्रमाण से अगले किनारे पर एक कर्णिका (आड़) बनाये (जिससे नलिका आगे गुदा में अधिक न जाये)। इस नेत्र का अगला भाग रुई की बत्ती से बन्द रखे। मूल में अपनी दो अङ्गुलियों के अन्तर से दूसरी कर्णिका (बस्ति को बाँधने के लिये) नेत्र में करे ॥ १४ ॥

अत एवाह—

--तत्र च योजयेत् ॥ १५ ॥
अजाविमहिषादीनां बस्तिं सुमृदितं दृढम् ।
कषायरक्तं निश्छिद्रग्रन्थिगन्धसिरं तनुम् ॥ १६ ।
ग्रथितं साधु सूत्रेण सुखसंस्थाप्यभेषजम् ।

स०—तत्रेत्यादि। तस्मिंश्च कर्णिकाद्वितयेऽजादीनां बस्तिं योजयेत्। आदिशब्देन गोहरिणवराहमहिषाणां ग्रहणम्। अजादीनामित्येवं निर्देशेऽप्यविमहिषग्रहणे लब्धे साक्षादेतयोर्ग्रहणमन्यजेभ्यो बस्तिभ्य एतद्बस्त्योर्योग्यतरत्वप्रतिपादनार्थम्। किंभूतं बस्तिम्। सुमृदितं सस्नेहं मुहुः सुष्ठु मर्दितं तथा दृढं तथा कषायेण हरीतक्यादिना रक्तं तथा छिद्रं च ग्रंथिश्च गंधश्च शिराश्च ताः निर्गता न संति यस्य तन्निश्छिद्रग्रंथिगंधशिरम्। तथा तनुं न स्थूलं तथा साधु सम्यक् सूत्रेण ग्रंथितं बद्धं तथा सुखेनाऽकृच्छ्रेण संस्थापनीयमौषधं यत्र तदेवम् ॥ १५–१६ ॥

वि०—इस दूसरी कर्णिका में बकरी, भेड़, भैंस आदि की मजबूत अच्छी प्रकार मली हुई बस्ति को बाँध देना चाहिये। बस्ति-हरड़ या कीकर से रँगने के कारण लाल, छिद्ररहित, गाँठरहित; गन्ध एवं शिराओं से रहित, पतली; उत्तम धागे से भली प्रकार बँधी भली प्रकार सुगमता से जिसमें औषध रखी जा सके, ऐसी होनी चाहिये ॥ १५–१६ ॥

बस्त्यभावेऽङ्कपादं वा न्यसेद्वासोऽथवा घनम् ॥ १७ ॥

स०—बस्तेरभावे सत्यंकपादं छागैणाद्यवयवविशेषं वा न्यसेन्नेत्रे योजयेत्। अथवा वस्त्रं घनं न्यसेत् ॥ १७ ॥

बस्ति के अभाव में कर्तव्य—

वि०—बस्ति के अभाव में चिमगादड़ का चर्म; या मजबूत वस्त्र को काम में ले आना चाहिये ॥ १७ ॥

वक्तव्य—हेमाद्रि ने अङ्कपाद का अर्थ ऊरुचर्म या पादचर्म किया है। अरुणदत्त ने चरणादि अवयवविशेष किया है।

निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुञ्चो वत्सरे परम् ।
प्रकुञ्चवृद्धिः प्रत्यब्दं यावत्षट्प्रसृतास्ततः ॥ १८ ॥
प्रसृतं वर्द्धयेदूर्ध्वं द्वादशाष्टादशस्य तु ।
आसप्ततेरिदं मानं, दशैव प्रसृताः परम् ॥ १९ ॥

स०—निरूहस्य मात्रा प्रथमे वर्षे कषायस्नेहसहितस्य प्रकुंचः पलप्रमाणम्। षण्मासादौ त्वेतदनुसारेणार्धपलादि कल्प्यम्। वर्षात्परं प्रकुञ्चवृद्धिः प्रतिसंवत्सरं कार्या यावत्षट् प्रसृता द्वादश पलानि। तत ऊर्ध्वं प्रसृतं वर्धयेत्। प्रत्यब्दमित्यनुवर्तते। ततो द्वादशवर्षस्यैव द्वादश पलानि। अनंतरं त्रयोदशवर्षादिषु प्रतिवर्षं पलद्वयं निरूहमात्रायां वर्धयितव्यं क्रमेणैव यावत्सप्तदशवर्षाणि। अष्टादशवर्षस्य तु द्वादश प्रसृताश्चतुर्विंशतिपलानि। इदं मानं प्रमाणं सप्ततिवर्षाणि। यावत्। परं सप्ततेरूर्ध्वं दशैव प्रसृता मानं नाऽधिकम् ॥१८–१९॥

निरूह बस्ति की मात्रा—

वि०—प्रथम वर्ष में निरूह की मात्रा एक प्रकुञ्च (पल प्रमाण) है; इसके आगे प्रत्येक वर्ष के लिये एक प्रकुञ्च मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये, जब तक कि यह मात्रा ६ प्रसृत न हो जाये, इसके आगे प्रतिवर्ष एक प्रसृत मान को बढ़ाये। अट्ठारह वर्ष की आयु के लिये बारह प्रसृत (२४ पल) देवे। सत्तर वर्ष की आयु तक यह प्रमाण है। सत्तर वर्ष के आगे दस प्रसृत ही प्रमाण है—इससे अधिक नहीं ॥ १८–१९ ॥

एवं सांवत्सरिकादारभ्य यावद्वर्षशतिकस्तावन्निरूहमात्रामभिधायाऽनुवासनमात्रामधिकृत्याह—

यथायथं निरूहस्य पादो मात्राऽनुवासने ।

स०—यथायथं यथास्वं वार्षिकस्यैकविंशतिवत्सरादेर्वा निरूहस्य पादश्चतुर्भागो मात्राऽनुवासनेऽनुवासनविषये मात्रा यस्य पलं निरूहस्यस्य कर्षप्रमाणमनुवासनमित्यर्थः। एवं सर्वत्र कल्प्यम्।

अनुवासन बस्ति की मात्रा—

वि०—अनुवासन की मात्रा—निरूह के अनुसार प्रतिवर्ष निरूह की मात्रा का $\frac{१}{४}$ चौथाई अर्थात् कर्ष परिमाण है। अर्थात् एक पल के स्थान में एक कर्ष, दो पल के स्थान में दो कर्ष आदि।

आस्थाप्यं स्नेहितं स्विन्नं शुद्धं लब्धबलं पुनः ॥ २० ॥
अन्वासनार्हं विज्ञाय पूर्वमेवानुवासयेत् ।
शीते वसन्ते च दिवा रात्रौ केचित्ततोऽन्यदा ॥ २१ ॥
अभ्यक्तस्नातमुचितात्पादहीनं हितं लघु ।
अस्निग्धरूक्षमशितं सानुपानं द्रवादि च ॥ २२ ॥
कृतचङ्क्रमणं मुक्तविण्मूत्रं शयने सुखे ।
नात्युच्छ्रिते न चोच्छीर्षे संविष्टं वामपार्श्वतः ॥ २३ ॥
सङ्कोच्य दक्षिणं सक्थि प्रसार्य च ततोऽपरम् ।

स०—आस्थाप्यं निरूहणार्हं स्निग्धं तथा स्विन्नं तथा शुद्धमूर्ध्वाधस्तथा भूयोऽपि लब्धबलं तथाऽनुवासनयोग्यं विदित्वा पूर्वमेव निरूहादनुवासयेत्। शीते हेमंतशिशिरयोर्ऋत्वोस्तथा वसंते दिवाऽनुवासयेत्। केचिदाचार्या अन्यदा शीताद्वसंताच्चाऽन्यस्मिन् ग्रीष्मप्रावृट्शरदाख्ये ऋतौ रात्रावनुवासयेत् । केचिदिति भिन्नक्रमस्ततोऽन्यदेत्यतोऽनंतरं द्रष्टव्यः। इति केचिदाहुरिति वाक्यशेषः। धान्वंतरास्तु सर्वथैव रात्रावनुवासनं नेच्छंति । धन्वंतरिमतमधिकृत्य संग्रहेऽधिजगे। न रात्रौ प्रणयेद्वस्तिं दोषोत्क्लेशो हि रात्रिजः। स्नेहो वीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरमिति। तदेवं तद्देशांतरादिवशात् प्रमाणयितव्यम् । किंभूतं नरम् । अभ्यक्तस्नातं पूर्वमभ्यक्तः पश्चात्स्नातः पूर्वकालेति समासः। उचिताद्यदन्नेन भोजनमभ्यस्तं तस्माच्चतुर्थभागहीनमशितं तथा हितं लघुगुणयुक्तं तथा किंचिदस्निग्धरूक्षं तथा सानुपानं द्रव्यादि च। आदिशब्देन द्रवोष्णमनभिष्यंदीत्यादि विशिष्टं भुक्तवंतमिति गमयति। उक्तं च संग्रहे। अतिस्निग्धाशिनो ह्युभयमार्गात् स्नेहो मदमूर्च्छाऽग्निसादहृल्लासादीन् जनयति। रूक्षाशिनो विष्टंभं बलवर्णहानिं च। अल्पमात्रद्रवाशिनोऽविसृष्टविण्मूत्रस्य चान्नावृतेन तदावरणाद्व्यापदमिति। किंभूतम्। कृतचंक्रमणं तथा त्यक्तमूत्रपुरीषं तथा शयने सुखावहे सविष्टं स्थितम्। किंभूते। नाऽत्युच्छ्रिते नाऽत्युन्नते न चोच्छीर्षे त्यक्तोच्छीर्षे। कथं संविष्टम् । वामपार्श्वतो वामपार्श्वेन। संकोच्य दक्षिणं सक्थि वामसक्थ्न उपरीति वृद्धवैद्याः। ततो दक्षिणसक्थ्नोऽपरं वामं सक्थि प्रसार्य। संग्रहे चोक्तम्। शयने नात्युच्छ्रिते स्वास्तृत ईषदुन्नतपाददेशे वामपार्श्वेन प्राक्शिरसं संवेशयेदिति ॥ २०-२३ ॥

अनुवासन की विधि—

वि०—आस्थापन बस्ति देने के योग्य मनुष्य का स्नेहन-स्वेदन करके वमन-विरेचन से शुद्ध होने पर फिर से शरीर में बल आ जाने पर अनुवासन के योग्य जान कर निरूह देने से पूर्व अनुवासन बस्ति दे। शीत ऋतु में और वसन्त में दिन के समय में ही और शेष ग्रीष्म, शरद् और वर्षा में रात्रि में बस्ति देनी चाहिये ऐसा कुछ लोगों का मत है। (वस्तुतः रात्रि में बस्ति सर्वथा त्याज्य है, 'न बस्तिं प्रणयेद्रात्रौ।' अ. सं. सू. अ. २८)। अभ्यङ्ग और स्नान करके प्रतिदिन जो भोजन की मात्रा हो उसमें से चौथाई मात्रा कम करके हितकारी एवं लघु तथा ईषत् स्निग्ध-रूक्ष भोजन को द्रव आदि अनुपान के साथ खाकर, थोड़ा टहलकर मल-मूत्र को त्याग करके सुखद शय्या, जो बहुत ऊँची न हो तथा शिरहाना ऊँचा न हो, पर वामपार्श्व से लेट कर दक्षिण टाँग को मोड़कर (जिससे पेट पर दबाव पड़े) और वाम टाँग को पसार कर रखे ॥ २०-२३ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने रात्रि में बस्ति देना निषिद्ध कहा है किन्तु अष्टाङ्गसंग्रह में रात्रि में सामान्यतः निषेध करते हुए भी दोष-कालादि के विचार से रात्रि में भी अनुवासन देने को कहा है—यथा-'न रात्रौ प्रणयेद् बस्तिं दोषोत्क्लेशो हि रात्रिजः। स्नेहवीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवज्वरम् ॥' 'अल्पपित्तकफं रूक्षं भृशं वातरुजार्दितम्। भुक्तं जीर्णाशनं कामं रात्रावप्यनुवासयेत्॥ केवलानिलातिपीडितं स्वशुद्धमप्य निरूपितवेलमप्यनुवासयेदात्ययिकत्वात्।' सं. सू. अ. २८।

अथास्य नेत्रं प्रणयेत्स्निग्धे स्निग्धमुखं गुदे ॥ २४ ॥
उच्छ्वास्य बस्तेर्वदने बद्धे हस्तमकम्पयन् ।
पृष्ठवंशं प्रति ततो नातिद्रुतविलम्बितम् ॥ २५ ॥
नातिवेगं न वा मन्दं सकृदेव प्रपीडयेत् ।
सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति ॥ २६ ॥

स०—अस्यैवंभूतावस्थस्यातुरस्य गुदे स्निग्धे कृते बस्तेर्वदन उच्छ्वासवातं निःसार्य बद्धे सति नाऽतिशीघ्रं नाऽविलंबितं नाऽतिवेगं वा न मंदं तथा पृष्ठवंशाभिमुखमेकवारमेव नेत्रं स्निग्धप्रांतं प्रपीडयेत्। कथं प्रपीडयेत् हस्तमकंपयन्। अतिद्रुतादिपीडनदोषा बस्तिव्यापदि वक्ष्यमाणाः। सावशेषं च स्नेहं कुर्वीत। कुतो हेतोरित्याह। यस्मात् शेषे स्नेहे वायुस्तिष्ठति ॥ २४-२६ ॥

बस्ति-प्रयोग-विधि—

वि०—इसके उपरान्त स्निग्ध गुदा में स्निग्धमुख किया नेत्र प्रविष्ट करे। बस्ति के शरीर को दबाकर वायु निकाल देवे। फिर नेत्र से बस्ति को बाँधकर पृष्ठवंश की दिशा में नेत्र को प्रविष्ट करे। हाथ को न हिलाते हुए, न बहुत जल्दी और न बहुत धीरे; न बहुत जोर से और न बहुत मन्द रूप में अपितु एक समानवेग से एक बार ही बस्ति को दबाना चाहिये। बस्ति में बस्ति-द्रव्य थोड़ा बचा ले; क्योंकि सम्पूर्ण खाली हो जाने पर बस्ति में वायु रह जाती है ॥ २४-२६ ॥

दत्ते तूत्तानदेहस्य पाणिना ताडयेत्स्फिजौ ।
तत्पार्ष्णिभ्यां तथा शय्यां पादतश्च त्रिरुत्क्षिपेत् ॥ २७ ॥
ततः प्रसारिताङ्गस्य सोपधानस्य पार्ष्णिके ।
आहन्यान्मुष्टिनाऽङ्गं च स्नेहेनाभ्यज्य मर्दयेत् ॥ २८ ॥
वेदनार्तमिति स्नेहो न हि शीघ्रं निवर्तते ।
योऽयः शीघ्रं निवृत्तेऽन्यःस्नेहोऽतिष्ठन्न कार्यकृत् ॥२९॥

स०—दत्ते च स्नेहे सत्युत्तानगात्रस्य तु तस्य स्फिजौ हस्तेनाहन्यात्। तथा तेनैव प्रकारेण तत्पार्ष्णिभ्यां स्फिजौ ताडयेत्। शय्यां खट्वां पादतश्चरणदेशात्त्रीन्वारानुत्क्षिपेन्न तु मूर्धतः। ततः शय्योत्क्षेपादनंतरं प्रसारितशरीरस्य दत्तगेंदुकस्य पार्ष्णिके पार्ष्ण्यौ मुष्ट्या हन्यात्। अंगं शरीरं च स्नेहेन तैलादिनाऽभ्यज्य मर्दयेत्। किमेवं क्रियत इत्याह। अंगं वेदनार्तं पीडातुरमिति हेतोर्यस्मादाशु स्नेहो न निवर्तते। शीघ्रमपयाते च स्नेहे सत्यपरः स्नेहो देयः। कस्मादेवं विधीयत इत्याह। स्नेहश्च शरीराभ्यंतरेऽतिष्ठन्नैव कार्यकृत् स्नेहने समर्थ इत्यर्थः ॥ २७-२९ ॥

बस्ति देने के बाद कर्तव्य और स्नेहनिवृत्ति—

वि०—बस्ति देने के उपरान्त रोगी को चित्त लिटाकर उसके नितम्बों पर हाथों से थपथपाये। फिर रोगी की एड़ियों से उसके नितम्बों को थपथपाये। पैर से रोगी की शय्या को तीन बार ऊपर उठा-उठा कर नीचे छोड़े (जिससे औषध द्रव्य ठीक तरह आंत्र में पहुँच जाये)। फिर शरीर को फैला कर एड़ियों में तकिया लगा देवे। पीड़ा होने पर मुट्ठियों से अङ्गों पर हल्की चोट करे; शरीर पर स्नेह का अभ्यङ्ग करके मर्दन करे। इस प्रकार करने से स्नेह शीघ्र वापिस नहीं आता। यदि स्नेह शीघ्र वापिस आ जाये तो दूसरी बार फिर स्नेह देना चाहिये क्योंकि शरीर में न रुका स्नेह कार्य करने में असमर्थ होता है ॥ २७-२९ ॥

दीप्ताग्निं त्वागतस्नेहं सायाह्ने भोजयेल्लघु।

स०—दीप्ताग्निं तु पुरुषं निवृत्तस्नेहं संतं लघुमात्रया स्वभावतश्चाशयेत्।

स्नेहनिवृत्ति के बाद कर्तव्य—

वि०—स्नेह बाहर आ जाने पर अग्नि प्रदीप्त हो, भूख लग गई हो तो सायंकाल में लघु भोजन देवे।

निवृत्तिकालः परमस्त्रयो यामास्ततः परम् ॥ ३० ॥
अहोरात्रमुपेक्षेत परतः फलवर्तिभिः।
तीक्ष्णैर्वा वर्तिभिः कुर्याद्यत्नं स्नेहनिवृत्तये ॥ ३१ ॥

स०—स्नेहस्य त्रयः प्रहराः परो निवृत्तिकालः। ततः प्रहरत्रयात् परतो रात्रिंदिवमुपेक्षेत। न तदाकृष्ट्यै यत्नं कुर्यात्। परतोऽहोरात्रात्फलवर्तिभिरर्शश्चिकित्सितोक्ताभिरथवा तीक्ष्णैर्बस्तिकल्पोक्तैर्बस्तिभिः स्नेहागमनार्थं यतेत ॥३०-३१॥

स्नेहनिवृत्ति का समय—

वि०—स्नेह के लौटने का उत्तम समय तीन प्रहर है। इतने समय में वापिस न आये तो दिन-रात अर्थात् चौबीस घण्टेतक प्रतीक्षा करे। इतने समय में भी वापिस न आये तो तीक्ष्ण फलवर्तियों से या तीक्ष्ण बस्तियों द्वारा उसको वापिस लाने का यत्न करना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥

अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेज्जाड्यादिदोषकृत्।
उपेक्षेतैव हि ततोऽध्युषितश्च निशां पिबेत् ॥ ३२ ॥
प्रातर्नागरधान्याम्भः कोष्णं केवलमेव वा।

स०—अतिरौक्ष्यादनागच्छन् स्नेहो यदि जाड्याग्निसादादिदोषान्न विधत्ते तदोपेक्षेतैव न निष्कासने यतेतेत्यर्थः। ततो निशां रात्रिमध्युषितः पुमान् प्रातः प्रभाते शुंठीधान्यांबु कदुष्णं पिबेत्। केवलमेव वा नागरधान्याकरहितं कोष्णं जलं पिबेत् ॥ ३२ ॥

स्नेहनिवृत्ति के अभाव में कर्तव्य—

वि०—अतिरूक्षता के कारण यदि स्नेह वापिस न आकर भी जडता आदि दोष उत्पन्न न करे तो इसकी उपेक्षा ही कर देवे—इसको बाहर निकालने का प्रयास न करे। रात्रि बीत जाये तब प्रातः सोंठ-धनिये का गुनगुना पानी अथवा केवल गरम पानी पिये ॥ ३२ ॥

अन्वासयेत्तृतीयेऽह्नि पञ्चमे वा पुनश्च तम् ॥ ३३ ॥
यथा वा स्नेहपक्तिः स्यादतोऽत्युल्बणमारुतान्।
व्यायामनित्यान् दीप्ताग्नीन् रूक्षांश्च प्रतिवासरम् ॥ ३४ ॥

स०—तमातुरं भूयस्तृतीये दिवसे पंचमे वाऽनुवासयेत्। अथवा यथा स्नेहपाको भवेदित्यन्यपेक्षया सप्तरात्रेऽधिके न्यूने वा त्रिरात्रे वा यथायोग्यमनुवासयेत्। अतोऽस्मादेव हेतोरधिकपवनान्व्यायामशीलानत्यग्निदीप्तान् रूक्षांश्च पुरुषान् प्रत्यहमनुवासयेत् ॥ ३३-३४ ॥

अनुवासन का समय—

वि०—इस रोगी को तीसरे दिन अथवा पाँचवें दिन फिर अनुवासन देना चाहिए। अथवा जितने समय में स्नेह का पाचन हो; उतने समय बाद अग्नि के अनुवासन देवे। (अधिक से अधिक सात दिन, कम से कम तीन दिन) जिनमें वायु की प्रधानता हो, जो नित्य व्यायाम करते हों, जिनकी अग्नि दीप्त हो और जो रूक्ष हों—उन्हें प्रतिदिन अनुवासन देना चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

इति स्नेहैस्त्रिचतुरैः स्निग्धे स्रोतोविशुद्धये।
निरूहं शोधनं युञ्ज्यादस्निग्धे स्नेहनं तनोः ॥ ३५ ॥

स०—इति पूर्वोक्तेन प्रकारेण स्नेहैस्त्रिचतुरैर्वा स्निग्धे सति स्रोतोविशोधनार्थं निरूहं शोधनं प्रयोजयेत्। अस्निग्धे सति तनोः शरीरस्य स्नेहनं प्रयोजयेत्। त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः। संख्ययाव्ययेति समासः। चतुरोऽच्प्रकरणे ऽयुपाभ्यामुपसंख्यानमित्यच् समासांतः ॥ ३५ ॥

निरूह का समय—

वि०—इस प्रकार तीन या चार स्नेहों से स्निग्ध हो जाने पर स्रोतों के शोधन के लिये शोधन निरूह देना चाहिये। शरीर के अस्निग्ध होने पर स्नेहन देना चाहिये; निरूह नहीं ॥ ३५ ॥

पञ्चमेऽथ तृतीये वा दिवसे साधके शुभे।
मध्याह्ने किञ्चिदावृत्ते प्रयुक्ते बलिमङ्गले ॥ ३६ ॥
अभ्यक्तस्वेदितोत्सृष्टमलं नातिबुभुक्षितम्।
अवेक्ष्य पुरुषं दोषभेषजादीनि चादरात् ॥ ३७ ॥
बस्तिं प्रकल्पयेद्वैद्यस्तद्विद्यैर्बहुभिः सह।

स०—अथानुवासनादनंतरं, 'तृतीये पंचमे वा वासरे मध्याह्ने किंचिदावृत्तेऽतिक्रांते तथा बलिमंगले विहिते सति पुरुषं कृताभ्यक्तस्वेदितं त्यक्तमलं किंचिद् बुभुक्षितं तथा प्रकृत्यादिभिर्ज्ञात्वा दोषादीन् विदित्वा। आदिशब्देन सात्म्यबलादिपरिग्रहः। इत्येवं सर्वमधिगत्य वैद्यो बस्तिं प्रकल्पयेत्। ननु दूष्यं देशमित्यादिना सर्वमुक्तमेवैतत्तत्किमनेनेति। ब्रूमः। निरूहमपि सापायं पश्यताचार्येणैतदुक्तम्। दूष्यदेशादि महता यत्नेनाऽऽलोचनीयमिति प्रतिपादनार्थं निरूह-

मात्रा प्रथममित्यादि सर्वमालोच्यम्। कथं प्रकल्पयेदित्याह। मद्विद्यैर्वैद्यकशास्त्रज्ञैर्बहुभिः सह सार्धम् ॥ ३६-३७ ॥

निरूहण वस्ति की विधि—

वि०—निरूह विधि—पाँचवें या तीसरे दिन शुभ दिन निश्चित करके मध्याह्न के कुछ बीत जाने पर बलि एवं मंगलाचार करके, शरीर पर तैल का अभ्यंग और स्वेदन कर, मल का त्याग करके, थोड़ी भूख का अनुभव होने पर रोगी की आयु आदि तथा दोष, औषध आदि का विचार कर-वस्ति को जानने वाले अनेक वैद्यों के साथ वस्ति की कल्पना पर विचार करे। ('तद्विद्यैः बस्तिकुशलैः-वैद्यकशास्त्रज्ञैः') ॥ ३६-३७ ॥

अथ निरूहकल्पनामाह—

क्वाथयेद्विंशतिपलं द्रव्यस्याष्टौ फलानि च ॥ ३८ ॥
ततः क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहं वाते प्रकल्पयेत्।
पित्ते स्वस्थे च षष्ठांशमष्टमांशं कफेऽधिके ॥ ३९ ॥
सर्वत्र चाष्टमं भागं कल्काद्भवति वा यथा।
नात्यच्छसान्द्रता बस्तेः पलमात्रं गुडस्य च ॥ ४० ॥
मधुपट्वादिशेषं च युक्त्या—

स०—द्रव्यस्य बस्तिकल्पोक्तस्य निरूहकल्पनार्थं विंशतिपलानि तथाऽष्टौ फलानि मदनफलानि सामान्यपरिभाषया षोडशगुणं जलं दत्त्वा क्वाथयेत्। चतुर्भागावशेषश्च ग्राह्यः। तस्मादेवंकृतात् क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहं वाते प्रकल्पयेत्। द्वादशप्रसृतो हि निरूहः। तत्र स्नेहं षट्पलिकं कल्पयेदित्यर्थः। पित्तेऽधिके स्वस्थे च पुरुषे षष्ठांशं स्नेहं चतुष्पलिकं प्रकल्पयेदिति प्रकृतम्। कफेऽधिके स्नेहमष्टमांशं त्रिपलिकं प्रकल्पयेत्। सर्वत्र च वातपित्तकफेष्वधिकेषु स्वस्थवृत्तेश्चाष्टमं भागं त्रीणि पलानि कल्कस्य प्रयोजयेदिति प्रकृतम्। ननु स्वस्थस्य प्रयोजयेदिति प्रकृतम्। ननु स्वस्थस्य दोषचालनं प्रतिषिद्धं तंत्रांतरीयैः। तद्ग्रंथो हि। यो हि संचालयेत्सुप्तं वने सिंहं करादिभिः। स दोषांश्चालयेत् स्वस्थान् प्रच्छर्दनविरेचनैरिति। तस्मात् स्वस्थे निरूहस्य कल्पना न युक्तेति। तदेतदसत्। यस्मात् प्रागभिहितम्। शीतोद्भवं दोषचयं वसंते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले। घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जात्विति। तस्मादाचार्यवचनाज्ज्ञायते स्वस्थवृत्तेरपि शुद्धिविधानं संमतमिति तंत्रकृतस्तंत्रांतरीयं मतं त्वसदेव शिष्टव्यवहारविरुद्धत्वात्। सर्वत्र वाते पित्ते कफे च कल्कात् पेष्यद्रव्यादष्टमं भागं त्रीणि पलानि कल्पयेत्। भवति वेत्यादि। यथा नाऽत्यच्छसांद्रता बस्तेः। यथा वा बस्तिरत्यच्छोऽतिसांद्रो वा घनो न भवति तथा कल्कः कल्पयितव्यः। पलमात्रं गुडस्य चेति पित्ते तदधिकं नेति ज्ञापनार्थं मात्रग्रहणम्। मधुपट्वादिशेषं च युक्त्या प्रकल्पयेत्। तत्रेयं युक्तिः। माक्षिकस्य पलचतुष्टयं सैंधवस्य च कर्षः। तथा क्वचिद्यवक्षारस्य कर्षः। आदिग्रहणान्मांसरससुरासवमूत्रक्षीरकांजिकानां ग्रहणम् ॥ ३८-४० ॥

निरूह कल्पना, दोषानुसार स्नेहप्रमाण--

वि०—निरूहकल्प—द्रव्य (वस्तिकल्पोक्त दशमूल आदि) के बीस पल; मैनफल के आठ फल; (इन आठ फलों की मात्रा एक पल होती है) इनमें सोलहगुना जल मिला कर चौथाई क्वाथ करना चाहिये। इस क्वाथ से चौथाई स्नेह वातदोष में मिलाये: पित्तदोष में और स्वस्थ अवस्था में क्वाथ का षष्ठांश; कफ की अधिकता में अष्टमांश स्नेह मिलाये अथवा सब स्थानों पर कल्क का अष्टमांश स्नेह मिलाना चाहिये। अथवा वस्ति-द्रव न तो बहुत पतला हो और न बहुत गाढ़ी हो ऐसा करे। इसमें गुड़ एक पल मिलाये; मधु और नमक आदि शेष द्रव्य युक्ति से मिलाने चाहिये ॥ ३८-४० ॥

वक्तव्य—वृन्द में—'मधुस्नेहनकल्काख्यकषायावापतः क्रमात्। त्रीणि षड् द्वे दश त्रीणि पलान्यनिलरोगिणाम् ॥' आदि शब्द से मूत्र, फल, दूध, मांसरस आदि लेने चाहिये।

—सर्वं तदेकतः।
उष्णाम्बुकुम्भीबाष्पेण तप्तं खजसमाहतम् ॥ ४१ ॥
प्रक्षिप्य बस्तौ प्रणयेत्पायौ नात्युष्णशीतलम्।
नातिस्निग्धं न वा रूक्षं नातितीक्ष्णं न वा मृदु ॥ ४२ ॥
नात्यच्छसान्द्रं नो नातिमात्रं नापटु नाति च।
लवणं तद्वदम्लं च—

स०—तदेतत्सर्वमौषधमेकत एकस्मिन् कृत्वा भेषजपाकातिक्रांतिपरिहारार्थमुष्णांबु कुंभीबाष्पेण तप्तं खजेन दर्व्या हननकाष्ठेन समाहतमालोडितं तथा ब्रह्मदत्तेत्यादिना चाऽभिमंत्रितं बस्तौ प्रक्षिप्य पायौ गुदे प्रणयेत्। नाऽत्युष्णं नाऽतिशीतलं नाऽतिस्निग्धं न वा रूक्षं नाऽतितीक्ष्णं न वा मृदु नाऽत्यच्छं नाऽतिसांद्रं नाऽतिघनं नोनमात्रं न चाऽतिमात्रं नाऽपटु नातिलवणं तद्वदम्लं चेत्यादिना नाऽत्यम्लम्। अतिशब्दप्रयोगादत्र मध्यमावस्थानुगमः ॥ ४१-४२ ॥

वि०—सब वस्तुओं को मिलाकर गरम पानी से भरे पात्र के बाष्प से गरम कर मथानी से खूब मथे। इस द्रव्य को बस्ति यन्त्र में डालकर न बहुत गरम, न बहुत ठण्डा गुदा में देवे। यह द्रव्य न बहुत स्निग्ध, न बहुत रूक्ष; न बहुत तीक्ष्ण, न बहुत मृदु, न बहुत पतला और न बहुत गाढ़ा, न मात्रा में कम और न मात्रा में अधिक; न नमकरहित और न बहुत नमक वाला; न बहुत अम्ल और न बहुत थोड़े अम्ल का होना चाहिये ॥ ४१-४२ ॥

वक्तव्य—दत्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम्। विनिर्मथ्य ततो दद्यात् स्नेहस्य प्रसृतत्रयम् ॥ एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतं क्षिपेत्। संमूर्च्छिते कषायं तु चतुष्प्रसृतसम्मितम् ॥ वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम्। एवं प्रकल्पितो वस्तिर्द्वादशप्रसृतो भवेत् ॥ सु. चि. अ. ३८।

सांप्रतमन्यमतमभिधत्ते—

—पठन्त्यन्ये तु तद्विदः ॥ ४३ ॥
मात्रां त्रिपलिकां कुर्यात्स्नेहमाक्षिकयोः पृथक् ।
कर्षार्द्धं माणिमन्थस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम् ॥ ४४ ॥
सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत् ।

स०—पठंतीत्यादि । तद्विदो बस्तिविद् एवं पठंति । यथा । मात्रां त्रिपलिकां कुर्यादित्यादि ॥ ४३-४४ ॥

अन्य मत—

वि०—बस्ति को जानने वाले कुछ आचार्य दूसरे प्रकार से पढ़ते हैं यथा—स्वस्थ अवस्था में—स्नेह और मधु की पृथक्-पृथक् मात्रा तीन पल, सेन्धानमक आधा कर्ष, कल्क दो पल, शेष सब द्रव्य दस पल लेकर बस्ति बनाये ॥ ४३-४४ ॥

माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात् ॥ ४५ ॥
आवपेत निरूहाणामेष संयोजने विधिः ।

स०—संप्रति निरूहावयवानां माक्षिकादीनां संयोजनविधिमाह । माक्षिकमित्यादि । माक्षिकादि क्रमादावपेत् । कुंडके माक्षिकं प्रथमं प्रक्षिप्य मर्दयेत् । ततस्तत्रैव लवणं क्षिप्त्वा मेलयेत् । ततो लवणं मर्दयित्वा मिश्रयेत् । एवं स्नेहं ततोऽनु कल्कं ततः क्वाथमित्यनेन क्रमेण मिश्रयेदित्यर्थः । एवं योजितानि द्रव्याणि समरसतां यांति । समरसभावेन निरूहस्य सम्यग्योगो भवति । निरूहाणां संयोजने मिश्रण एष विधिरेतद्विधानम् ॥ ४५ ॥

वि०—मधु, नमक, स्नेह, कल्क और क्वाथ इनको क्रमशः मिलाये । यह निरूहों में द्रव्यों के मिश्रण का नियम है ॥ ४५ ॥

उत्तानो दत्तमात्रे तु निरूहे तन्मना भवेत् ॥ ४६ ॥
कृतोपधानः सञ्जातवेगश्चोत्कटुकः सृजेत् ।

स०—निरूहे दत्तमात्रे तूत्तानः संस्तन्मना निरूहवेगे दत्तावधानस्तथा कृतोपधानः संतिष्ठेत् । समुद्गतवेगश्चोत्कटुकः संस्त्यजेद्वेगमिति शेषः ॥ ४६ ॥

निरूहण के पश्चात् कर्तव्य—

वि०—निरूह ले लेने पर रोगी पीठ के बल उत्तान लेटकर निरूह में मन को लगाये । शिर के नीचे तकिया रखकर लेटे, मल-प्रवृत्ति होने पर उकड़ू बैठकर मलत्याग करे ॥ ४६ ॥

आगतौ परमः कालो मुहूर्तो मृत्यवे परम् ॥ ४७ ॥
तत्रानुलोमिकं स्नेहक्षारमूत्राम्लकल्पितम् ।
त्वरितं स्निग्धतीक्ष्णोष्णं वस्तिमन्यं प्रपीडयेत् ॥ ४८ ॥
विदध्यात्फलवर्तिं वा स्वेदनोत्त्रासनादि च ।

स०—आगतौ प्रत्यागमने कालः परमो मुहूर्तः । अपरस्तस्मान्मुहूर्तादन्यो विट्श्रद्धागमनकालो मृत्यवे मरणाय । तत्र तस्मान्मुहूर्तात्परमनागतनिरूहस्य त्वरितमपरं बस्तिं निरूहं प्रपीडयेदिति संबंधः । किंभूतं निरूहम् । आनुलोमिकमनुलोमकरम् । स्नेहस्तथा क्षारो यवक्षारादिस्तथा मूत्रं गोमूत्रमम्लं तक्रकांजिकादि तैः कल्पितं निरूहितम् । तथा स्निग्धं च तीक्ष्णमुष्णं च । स्नेहयोगादेव स्निग्धत्वे सिद्धे स्निग्धग्रहणं निरूहाणामस्निग्धतरत्वप्रतिपादनार्थम् । आनुलोमिकमित्यध्यात्मादित्वाट्ठञ् । अथवा फलवर्तिं विदध्यात् । फलेन मदनफलेन युक्ता वर्तिः सा चार्शश्चिकित्सिते वक्ष्यमाणा । स्वेदनोत्त्रासनादि च । स्वेदनं स्वेदः । उत्त्रासनं खड्गहस्तयोधदर्शनादिना । कुपितनृपखड्गव्यग्रोग्रबाहुदर्शनादिनाऽऽकुलं कुर्यात् ॥ ४७-४८ ॥

निरूहण की अवधि—

वि०—निरूह बस्ति के लौटने का अधिक से अधिक समय एक मुहूर्त्त (दो घटिका) है । इससे अधिक समय लगाना मृत्यु के लिये (घातक) है । इस अवस्था में अनुलोमकारक-स्नेह-एरण्डतैलादि, क्षार-यवक्षार आदि, मूत्र-गोमूत्रादि, अम्ल-कांजी आदि से बनाई, स्निग्ध, तीक्ष्ण और उष्ण दूसरी वस्ति रोगी को जल्दी से देवे । अथवा फलवर्ति बरते और स्वेदन करे तथा त्रासन (भय देना) आदि का प्रयोग करे ॥ ४७-४८ ॥

स्वयमेव निवृत्ते तु द्वितीयो बस्तिरिष्यते ॥ ४९ ॥
तृतीयोऽपि चतुर्थोऽपि यावद्वा सुनिरूढता ।

स०—फलवर्त्याद्यायासं विनापि निवृत्ते निरूहे सति द्वितीयो निरूह इष्यते । यत्नविशेषेण तु निरूहे निवृत्ते सति नाऽन्यं बस्तिं प्रपीडयेदित्युक्तं भवति । तृतीयोऽपीत्यपिः समुच्चये । एवं चतुर्थोऽपीति । यावद्वेति । पंचमादयोऽपि बस्तयो देया यावत्सम्यङ्निरूढत्वं स्यात् ॥ ४९ ॥

स्वयं निरूहण होने पर कर्तव्य—

वि०—यदि बस्ति अपने आप (अतिशीघ्र) वापिस निकल आये तब दूसरी बस्ति देनी चाहिये । तीसरी और चौथी भी बस्ति देवे, जबतक भली प्रकार निरूह के लक्षण न दिखाई दें—तब तक बस्ति देनी चाहिये ॥ ४९ ॥

कानि पुनः सम्यङ्निरूढलिंगानीत्याह—

विरिक्तवच्च योगादीन्विद्यात्—

स०—निरूहे विरिक्त इव योगादीन् विद्यात् । तत्र चोक्तम् । हृत्कुक्षिशुद्धिरित्यारभ्य यावद्भवंत्यतिविरिक्तस्य तथाऽतिवमनामया इति ।

सम्यक् निरूह के लक्षण तथा पथ्यादि—

वि०—निरूह में सम्यक् योग, अयोग और अतियोग के लक्षण विरेचन की भाँति जानने चाहिये ।

—योगे तु भोजयेत् ॥ ५० ॥
कोष्णेन वारिणा स्नातं तनुधन्वरसौदनम् ।

स०—योगे तु निरूहस्य सम्यग्योगे सति सुखोष्णजलस्नातं संतं भोजयेत् । किम् । धन्वरसो जांगलरसश्चोदनश्च तद्धन्वरसौदनम् । किंभूतं धन्वरसौदनम् । तनु अघनम् ।

ननु यूषक्षीररसैः क्रमादिति वक्ष्यति तत्कथमिहेदमभ्युपपद्यते। ब्रूमः। वातविकारशमनार्थो हि निरूहः प्रायेणेष्यते। तस्मिंश्च रसकौदनमेव पथ्यं श्रेयः। अग्रे च दोषाऽपेक्षया पथ्यं विशेषेणैवोपदेक्ष्यतेऽतो नाऽत्र किंचिदनुपपन्नम्। ननु दोषनिर्हरणं वमनविरेकाभ्यां द्वयादेव क्रियते। तत्र पेयादिक्रमो युक्तस्तथेहाऽपि युक्तः स्यात्। नैवम्। विरेकवमनाभ्यां हि वह्निस्थानमाच्छाद्यते तेनाऽग्निमाद्यं भवति। निरूहस्तु नाभेरूर्ध्वमगच्छन्नेव दोषनिर्हरणं करोति। तेन नाऽत्राग्निमांद्यापत्तिः। तस्मान्नाऽत्र पेयादिक्रमः। अपि च वातविकारविषयत्वाच्च रसौदनप्रायमेव पथ्यं युक्तम् ॥ ५० ॥

वि०—सम्यक् प्रकार निरूह होने पर गुनगुने पानी से स्नान कराके पतले जांगल, मांसरस के साथ चावल देवे। (वातविकार के लिये निरूह है, वात की शान्ति के लिये जांगल मौंसरस श्रेष्ठ है। वमन-विरेचन में अग्निमान्द्य होता है, परन्तु निरूह के नाभि के ऊपर न जाने से अग्निमान्द्य नहीं होता, इसलिये पेयादि क्रम यहाँ पर नहीं कहा है) ॥ ५० ॥

विकारा ये निरूढस्य भवन्ति प्रचलैर्मलैः ॥ ५१ ॥
ते सुखोष्णाम्बुसिक्तस्य यान्ति भुक्तवतः शमम्।

स०—प्रकर्षेण चलैर्दोषैर्ये विकारा भवंति ते कोष्णसलिलस्नातस्य कृतभोजनस्य सतः शमं गच्छंति। अत एव तत्कार्यमिति भावः ॥ ५१ ॥

पथ्य देने से लाभ—

वि०—निरूह दिये हुए व्यक्ति में-अतिशय चलायमान हुए दोषों के कारण जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे गरम पानी से स्नान करके भोजन करने से शान्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

अथ वातार्दितं भूयः सद्य एवानुवासयेत् ॥ ५२ ॥

स०—अथ निरूहादनंतरं वातपीडितं पुरुषं सद्य एव तस्मिन्नेव दिनेऽनुवासयेत् ॥ ५२ ॥

अनुवासन देने का समय—

वि०—निरूह के बाद वातपीडित मनुष्य को तुरन्त अनुवासन देवे ॥ ५२ ॥

सम्यग्घीनातियोगाश्च तस्य स्युः स्नेहपीतवत्।

स०—तस्याऽनुवासनस्य स्नेहपानस्येव सम्यग्योगादयः स्युः। स्नेहपीतस्येव स्नेहपीतवत्। षष्ठ्यंताद्वतिः।

अनुवासित का लक्षण—

वि०—इस अनुवासन के सम्यग् योग, अयोग और अतियोग के लक्षणों को स्नेहपान के लक्षणों की भाँति समझना चाहिये।

तत्र वातानुलोम्यमित्यादि घ्राणवक्त्रगुदस्रवा इत्युक्तं स्नेहपानसम्यग्योगातियोगलक्षणम्। अन्यदनुवासनस्य सम्यग्योगलक्षणमाह—

किञ्चित्कालं स्थितो यश्च सपुरीषो निवर्तते ॥ ५३ ॥
सानुलोमानिलः स्नेहस्तत्सिद्धमनुवासनम्।

स०—चशब्दः पूर्वोक्तं सम्यग्योगलक्षणं समुच्चिनोति। किंचिदल्पमात्रं कालं कोष्ठाभ्यंतरे स्थितः सन् सविट्कः सानुगुणपवनो निवर्तते निःसरति यः स एवंभूतः स्नेहस्तत्सिद्धमभिमतकार्यमनुवासनम्। उक्तं च व्यस्तं समस्तं चेदं सिद्धानुवासनलक्षणम् ॥ ५३ ॥

अनुवासन के सम्यक् योग का लक्षण—

वि०—जिसमें स्नेह शरीर में कुछ समय रहकर मल के साथ बाहर निकल जाता है तथा जिससे वायु का अनुलोमन है, उसे सफल स्नेह अनुवासन वस्ति समझना चाहिये ॥५३॥

एकं त्रीन् वा बलासे तु स्नेहवस्तीन् प्रकल्पयेत् ॥ ५४ ॥
पञ्च वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वाऽनिले।
पुनस्ततोऽप्ययुग्मांस्तु पुनरास्थापनं ततः ॥ ५५ ॥

स०—स्नेहबस्तीननुवासनानि एकं त्रीन्वा श्लेष्मविकारे प्रकल्पयेत्। कार्ये कारणोपचारादेवमुक्तम्। एवमग्रेऽपि चिंत्यम्। पित्ते पंच स्नेहबस्तीनथवा सप्त दद्यात्। नव एकादश वा वायौ दद्यात्। ततः पुनरयुग्मान् स्नेहबस्तीन् दद्यात्। ततः पुनरप्यास्थापनं दद्यात्। अयुग्मवचनं स्नेहबाहुल्येनाऽयं व्यवहारो युक्त इति प्रतिपादयितुम्। वातार्तस्य तु युग्मा अपि देया एव। तथाचाऽमुनैवाऽभ्यधायि व्यायामनित्यान् दीप्ताग्नीन् रूक्षांश्च प्रतिवासरमिति ॥ ५४-५५ ॥

अनुवासन की दोषानुसार संख्या—

वि०—कफ दोष में—एक या तीन अनुवासन वस्ति देवे, पित्त में पाँच या सात और वायु में नौ या ग्यारह स्नेहवस्ति देवे। इसके आगे भी यदि जरूरत हो तो अयुग्मविषम अनुवासन देवे। पीछे से फिर आस्थापन वस्ति देवे ॥ ५४-५५ ॥

कफपित्तानिलेष्वन्नं यूषक्षीररसैः क्रमात्।

स०—कृतास्थापनस्य च पथ्यं श्लेष्मपित्तपवनेषु यथासंख्यं यूषादिभिः सहान्नमुपभोक्तव्यम्।

अनुवासित का भोजन—

वि०—आस्थापन देने के पीछे कफ में यूष, पित्त में दूध और वायु में मौंसरस का भोजन देवे।

वातघ्नौषधनिष्क्वाथत्रिवृतासैन्धवैर्युतः ॥ ५६ ॥
वस्तिरेकोऽनिले स्निग्धः स्वाद्वम्लोष्णो रसान्वितः।

स०—बस्तिर्निरूहोऽनिले वातविषये वातघ्नौषधानि दशमूलादीनि तेषां निःक्वाथो यावक्वादिसिद्ध त्रिवृतासैंधवैर्युतस्तथा स्निग्धो मधुराम्लोष्णरसयुक्त पवने हितः ॥ ५६ ॥

वात रोग में वस्ति—

वि०—वायु में निरूह—वातविकार में दशमूलादि वातघ्न औषधियों के क्वाथ में निशोथ, सैंधव मिलाकर स्निग्ध-मधुर-अम्ल एवं उष्ण मौंसरसों से युक्त एक वस्ति देनी चाहिये ॥ ५६ ॥

न्यग्रोधादिगणक्वाथपद्मकादिसितायुतौ ॥ ५७ ॥
पित्ते स्वादुहिमौ साज्यक्षीरेक्षुरसमाक्षिकौ।

स०—पित्ते मधुरशिशिरौ सघृतदुग्धेक्षुरसमधू द्वौ बस्ती हितौ ॥ ५७ ॥

पित्त रोग में वस्ति—

वि०—पित्त में—न्यग्रोधादि एवं पद्मकादि दोनों गणों के क्वाथ में शर्करा मिलाकर तथा घी·दूध·इक्षुरस एवं मधु के साथ-मधुर एवं शीत दो वस्तियाँ उत्तम हैं ॥ ५० ॥

आरग्वधादिनिष्क्वाथवत्सकादियुतास्त्रयः ॥ ५८ ॥
रूक्षाः सक्षौद्रगोमूत्रास्तीक्ष्णोष्णकटुकाः कफे ।

स०—तथाऽऽरग्वधेंद्रयवेत्यादिकषायवत्सकमूर्वेत्यादिकषायाभ्यां युक्ता रूक्षा माक्षिकगोमूत्राभ्यां सहितास्तीक्ष्णादिगुणयुक्तास्त्रयो बस्तयः कफे हिताः ॥ ५८ ॥

कफ रोग में बस्ति—

वि०—कफ में—आरग्वधादि, वत्सकादि ये दोनों गण मिलाकर इनके क्वाथ से मधु और गोमूत्र के साथ रूक्ष, तीक्ष्ण, कटु और उष्ण गुण वाली तीन बस्तियाँ देनी चाहिये ॥ ५८ ॥

त्रयस्ते सन्निपातेऽपि दोषान् घ्नन्ति यतः क्रमात् ॥५९॥

स०—सन्निपाते त्रय एव बस्तयो हिताः। यस्मादेते त्रीन् दोषान् क्रमेण पराकुर्वंति ॥ ५९ ॥

सन्निपात में वस्ति—

वि०—सन्निपात में भी—तीन ही बस्तियाँ देवे-क्योंकि ये क्रमशः तीनों दोषों को नष्ट करती हैं (संसर्ग में दो ही वस्ति देवे)॥ ५९ ॥

त्रिभ्यः परं वस्तिमतो नेच्छन्त्यन्ये चिकित्सकाः ।
न हि दोषश्चतुर्थोऽस्ति पुनर्दीयेत यं प्रति ॥ ६० ॥

स०—अत एव हेतोस्त्रिभ्यो बस्तिभ्यः परमपरे भिषजो निरूहं नेच्छंति । यतस्त्रयो दोषास्त्रिभिर्बस्तिभिर्निवर्तिता इति चतुर्थो दोषो न विद्यते यं लक्षीकृत्य भूयश्चतुर्थः पुटको दीयते ॥ ६० ॥

चौथी वस्ति का निषेध—

वि०—दूसरे चिकित्सक तीन से अधिक वस्ति देना उत्तम नहीं मानते, क्योंकि चौथा कोई दोष नहीं जिसके लिये चौथी बस्ति दी जाये ॥ ६० ॥

उत्क्लेशनं शुद्धिकरं दोषाणां शमनं क्रमात् ।
त्रिधैव कल्पयेद्बस्तिमित्यन्येऽपि प्रचक्षते ॥ ६१ ॥

स०—अन्ये वैद्यास्तृतीयो बस्तिर्दोषाणाम् उत्क्लेशनं सिद्धिकरं शमनं क्रमादित्यनया युक्त्या बस्तित्रयं कल्पयेदिति जगदुः ॥ ६१ ॥

अन्य हेतु—

वि०—दूसरे चिकित्सक भी तीन ही तरह की वस्ति मानते हैं-पहली वस्ति-दोषों का उत्क्लेश करती है, दूसरी वस्ति इनका शोधन करती है और तीसरी दोषों का शमन करती है, इस क्रम से भी तीन ही बस्तियाँ उचित हैं ॥ ६१ ॥

तत्र किं क्रियतामित्याह—

दोषौषधादिबलतः सर्वमेतत प्रमाणयेत् ।

स०—तदत्र दोषभेषजसात्म्यादिवशात्सर्वमप्येतत्प्रमाणीकार्यम् ।

दोनों पक्षों की प्रामाणिकता—

वि०—दोष एवं औषध के बल का विचार करके सबको स्वीकार करना चाहिये (अर्थात् दोषाधिक्य होने पर तथा बल की अधिकता में औषध मृदु हो तो अधिक बस्तियाँ भी देनी चाहिये)।

अथ पूर्वमतानुग्राहि स्वमतमाह—

सम्यङ्निरूढलिङ्गं तु नासम्भाव्य निवर्तयेत् ॥ ६२ ॥

स०—सम्यङ्निरूढलिंगं त्वसंभाव्याऽसंपाद्य न निवर्तयेत्। वस्तिदानं कारयेदेवेति ॥ ६२ ॥

उक्त विषय में स्वमत—

वि०—जब तक सम्यक् निरूह के लक्षण न हों तब तक बस्ति देनी चाहिये (यह सिद्धान्त है) ॥ ६२ ॥

इदानीं कर्मकालयोगाख्यान् बस्तिविशेषानाह—

प्राक्स्नेह एकः पञ्चान्ते द्वादशास्थापनानि च ।
सान्वासनानि कर्मैवं वस्तयस्त्रिंशदीरिताः ॥ ६३ ॥

स०—प्राक् पूर्वमेकः स्नेहबस्तिः। अंतेऽवसाने पंच स्नेहाः तथा निरूहा द्वादश सहानुवासनाः। एवं त्रिंशद्बस्तयः कर्मेति गदिताः ॥ ६३ ॥

कर्मादि बस्तियों की संख्या—

वि०—कर्मबस्तियाँ तीस हैं, यथा—प्रथम स्नेह बस्ति-एक, सबसे अन्त में स्नेह बस्ति-पाँच तथा बारह निरूह वस्तियाँ. बारह अनुवासनों के साथ (एक निरूह, एक अनुवासन-इस प्रकार) मिलाकर देवे ॥ ६३ ॥

कालः पञ्चदशैकोऽत्र प्राक् स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा ।
षट् पञ्चवस्त्यन्तरिताः—

स०—पंचदश बस्तयः काल उच्यते । कथमुच्यते एकः पूर्वस्नेहस्तथांऽते त्रयः स्नेहास्तथा षट् स्नेहाः पंचभिर्बस्तिभिरंतरिता इति ।

वि०—कालबस्तियाँ पन्द्रह हैं—यथा-प्रथम में एक स्नेह वस्ति, और अन्त में तीन स्नेह वस्ति और छै अनुवासन वस्तियों को पांच निरूह वस्तियों को बीच में करके (एक स्नेह वस्ति, दूसरी निरूह वस्ति) देवे ।

—योगोऽष्टौ वस्तयोऽत्र तु ॥ ६४ ॥
त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ ।

स०—योगोऽत्राष्टौ बस्तयः। कथमित्याह । त्रयो निरूहास्त्रीणि चानुवासनानि तथाऽद्यंतयोर्द्वौ स्नेहबस्ती इति ॥ ६४ ॥

वि०—योगवस्तियाँ आठ हैं—यथा-प्रथम एक स्नेह वस्ति और अन्त में एक स्नेह वस्ति ये दो और तीन निरूह

वस्ति और तीन अनुवासन वस्ति, इनको बीच में करके (एक निरूह वस्ति, एक स्नेह वस्ति) देवे ॥ ६४ ॥

स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् ॥ ६५ ॥
उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूहान्मरुतो भयम् ।

स०—स्नेहबस्तिमथवा निरूहमेकमेव केवलमतिशयेन न शीलयेत् । यतः स्नेहादतिसेवितादुत्क्लेशोऽग्निमांद्ये जायेते । निरूहादतिसेवितात्पवनाद्भयं जायते ॥ ६५ ॥

एक बस्ति के अतिशीलन का निषेध—

वि०—अकेली स्नेहबस्ति या अकेली निरूहबस्ति का ही अधिक व्यवहार न करे । अधिक स्नेहबस्तियों से उत्क्लेश एवं अग्निमान्द्य होता है और अधिक निरूह बस्तियों से वायु के प्रकोप का भय रहता है ॥ ६५ ॥

तस्मान्निरूढः स्नेह्यः स्यान्निरूह्यश्चानुवासितः ॥ ६६ ॥

स०—तस्मात्कारणान्निरूढो नरः स्नेहनार्हः स्यात् । अनुवासितश्च पुरुषो निरूहणार्हो भवेत् ॥ ६६ ॥

उपसंहार—

वि०—इसलिए जिसे निरूह दिया गया है उसको स्नेहबस्ति देवे और जिसको स्नेहबस्ति दी हो उसे निरूह वस्ति देवे ॥ ६६ ॥

स्नेहशोधनयुक्त्यैवं वस्तिकर्म त्रिदोषजित् ।

स०—एवं पूर्वोक्तया स्नेहशोधनयुक्त्या बस्तिकर्म सेवितं त्रीन् दोषान् जयति ।

वि०—स्नेहन और शोधन के इस प्रकार युक्ति पूर्वक प्रयोग से ही बस्तिकर्म त्रिदोषनाशक होता है; अर्थात् स्निग्ध का शोधन, शुद्ध का स्नेहन, स्निग्ध का पुनः शोधन यह नियम ही त्रिदोषनाशक है ।

अधुना मात्राबस्तिं लक्षयति—

ह्रस्वया स्नेहपानस्य मात्रया योजितः समः ॥ ६७ ॥
मात्रावस्तिः स्मृतः स्नेह—:

स०—ह्रस्वया यामद्वयजरणलक्षणया स्नेहमात्रया समस्तुल्यो योजितः स्नेहो मात्राबस्तिसंज्ञः स्मृतः सद्वैद्यैरिति शेषः । अन्यैश्चान्यथा स्नेहमात्रोक्ता । यथा । षट्पला तु भवेज्ज्येष्ठा त्रिपला मध्यमा भवेत् । कनीयस्यध्यर्धपला त्रिधा मात्रानुवासना इति ॥ ६७ ॥

मात्रावस्ति के लक्षणादि—

वि०—मात्रावस्ति—स्नेह पान की ह्रस्वमात्रा (दो याम में जीर्ण होने वाली) के बराबर स्नेह की मात्रा जिस बस्ति में दी जाती है उसको मात्रावस्ति कहते हैं ॥ ६७ ॥

वक्तव्य—कई आचार्य 'षट्पला तु भवेज्ज्येष्ठा, त्रिपला मध्यमा भवेत् । कनीयस्यध्यर्द्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने ॥' ऐसा मानते हैं ।

—शीलनीयः सदा च सः ।
बालवृद्धाध्वभारस्त्रीव्यायामासक्तचिन्तकैः ॥ ६८ ॥
वातभग्नाबलाल्पाग्निनृपेश्वरसुखात्मभिः ।
दोषघ्नो निष्परीहारो बल्यः सृष्टमलःसुखः ॥ ६९ ॥

स०—स च मात्राबस्तिर्बालादिभिः सततमेव शीलयितव्यः । स च शीलितो दोषापहस्तथा निष्परीहारोऽनियंत्रणो बलाय हितो निर्गतपुरीषादिकः सुखकारी स्यात् ॥ ६८-६९ ॥

वि०—और यह मात्रावस्ति बालक, वृद्ध, मुसाफिरी, भार उठाना, स्त्रीसेवन और व्यायाम में आसक्त, चिन्ता करने वाले, वातप्रकृति, अस्थिभग्न, निर्बल, मन्दाग्नि, राजा, ऐश्वर्यवान् एवं सुखी व्यक्तियों को सदा सेवन करना चाहिये । क्योंकि यह मात्रा वस्तिदोषनाशक है, इसमें किसी प्रकार का परहेज नहीं, यह बलकारक, मल को निकालने वाली और सुखकारक है ॥ ६८-६९ ॥

वस्तौ रोगेषु नारीणां योनिगर्भाशयेषु च ।
द्वित्रास्थापनशुद्धेभ्यो विदध्याद्वस्तिमुत्तरम् ॥ ७० ॥

स०—बस्तिस्थाने रोगेषु नराणामित्यर्थाल्लभ्यते । नारीणां योनिगर्भाशयेषु च द्वाभ्यां त्रिभिर्वाऽऽस्थापनैः शुद्धेभ्यस्तेभ्यो नरेभ्यः स्त्रीभ्यश्चोत्तरबस्तिं दद्यात् । द्वे वा त्रीणि वा द्वित्राणि च तान्यास्थापनानि च द्वित्रास्थापनानि तैः शुद्धा द्वित्रास्थापनशुद्धाः । पुमान्स्त्रियेत्येकशेषः । गुदादुत्तरेण मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्तिः ॥ ७० ॥

उत्तरवस्ति का विधान—

वि०—उत्तरबस्ति—मूत्राशय के रोगों में तथा (स्त्रियों को) योनि एवं गर्भाशय के रोगों में दो या तीन अस्थापन बस्तियों से शोधन करके उत्तरवस्ति देनी चाहिये ॥ ७० ॥

अथ नेत्रस्य परिमाणमाह—

आतुराङ्गुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशाङ्गुलम् ।
वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम् ॥ ७१ ॥
सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं श्लक्ष्णं हेमादिसम्भवम् ।
कुन्दाश्वमारसुमनःपुष्पवृन्तोपमं दृढम् ॥ ७२ ॥

स०—तन्नेत्रमुत्तरबस्तियंत्रकमातुरांगुलप्रमाणेन द्वादशांगुलं दैर्घ्येणेत्यर्थादेव प्रतीयते । पुरुषाणामेवैतदिति वेद्यम् । स्त्रीणां हि वक्ष्यति । नेत्रं दशांगुलं मुद्गप्रवेशमिति । तच्च वृत्तं वर्तुलं गोपुच्छाकृति तथा मूले मध्ये चोत्पादितकर्णिकं तथा सिद्धार्थकः प्रविशत्यस्मिन्निति सिद्धार्थकप्रवेशं तादृशमग्रं प्रांतो यस्य नेत्रस्य तत् सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं तथा श्लक्ष्णमतिकोमलं तथा हेमादिजम् । आदिशब्देन धात्वादयः प्रागुक्ता गृह्यंते । कुंदकरवीरजातीपुष्पवृंतसदृशं दृढं च । अश्वमारः करवीरः ॥ ७१-७२ ॥

उत्तरबस्ति के यंत्र का प्रमाण—

वि०—नेत्र का परिमाण—रोगी की अपनी अङ्गुलियों के माप से इस वस्ति का नेत्र बारह अङ्गुल लम्बा, गोल; गाय की पूंछ के समान-जड़ में मोटा और आगे से क्रमशः पतला

होना चाहिये। इसके मूल में तथा मध्य में दो गुलिकायें (कर्णिकायें) बनानी चाहिये। अगला छेद सरसों के जाने योग्य होना चाहिये। नेत्र चिकना तथा स्वर्ण आदि धातु का बनाना चाहिये। इसकी आकृति कुन्द, कनेर या चमेली के पुष्प की डंडी के समान और मजबूत होनी चाहिये ॥ ७१-७२ ॥

तस्य वस्तिर्मृदुलघुर्मात्रा शुक्तिर्विकल्प्य वा ।

स०—तथा तस्य नेत्रस्य बस्तिर्मृदुर्लघुर्योज्य इति शेषः। मात्रा शुक्तिः कर्षद्वयम्। शुक्तिः स्नेहस्येति शेषः। बिकल्प्य वा बलवयः सत्वदेहसात्म्यादि निरूप्य वा मात्रा कार्येत्यर्थः।

उत्तरवस्ति की मात्रा—

वि०—उत्तरवस्ति के लिये वस्तिपुट कोमल और छोटा होना चाहिये, इसमें द्रव की मात्रा दो कर्ष अथवा दोष की दृष्टि से कम या अधिक करनी चाहिये।

अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहवस्तिविधानतः ॥ ७३ ॥
ऋजोः सुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदौ ।
हृष्टे मेढ़े स्थिते चर्जौ शनैः स्रोतोविशुद्धये ॥ ७४ ॥
सूक्ष्मां शलाकां प्रणयेत्तया शुद्धेऽनुसेवनि ।
आमेहनान्तं नेत्रं च निष्कम्पं गुदवत्ततः ॥ ७५ ॥
पीडितेऽन्तर्गते स्नेहे स्नेहवस्तिक्रमो हितः।

स०—अथेति मंगले। अस्य रोगिणो निरूहवत्कृतमङ्गलस्य तथा पूर्वं स्नातस्य पश्चादशितस्य। कथमशितस्य। स्नेहवस्तिविधानतः। तृतीयार्थे तसिः। स्नेहबस्तौ यादृश आहारो विहितस्तेन कृतभोजनस्येत्यर्थः। तथर्जोः स्पष्टं स्थितस्य तथा सुखेनाऽऽसीनस्य। क। पीठ आसने। किंभूते। जानतुल्ये। तथा मृद्वावकठिने च। प्रहृष्टे स्तब्धे तथा ऋजौ स्पष्टं कृत्वा स्थिते सति शनैर्न त्वरया सूक्ष्मां शलाकां प्रणयेत्। स्थूलायां तत्र क्षतकरणात्। तया शलाकया शुद्धे मेढ़े सत्यनुसेवनीं सेवनीमनुलक्षीकृत्य आमेढ्रांतं नेत्रं प्रणयेत्। षडंगुलं प्रायेण प्रवेशयेदित्यर्थः। कथम्। गुद इव निष्कंपम्। ततो निष्कंपं स्थापनादनंतरं पीडिते पुटके स्नेहे चांऽतःप्रविष्टे सत्यनुवासनक्रमो हितः। पाणिना ताडयेत् रिफजौ तस्य पार्ष्णिभ्यामित्यादिकः ॥ ७३-७५ ॥

उत्तरवस्ति की प्रयोगविधि—

वि०—विधि—रोगी को स्नान कराके तथा स्नेहवस्ति के अनुसार भोजनविधि पूरी कराके घुटनों के बराबर ऊंचे कोमल आसन पर सीधा एवं सुखपूर्वक आराम से बिठा दे। फिर मेहन को स्तब्ध एवं सीधा करके स्रोतों की शुद्धि के लिये सूक्ष्म पतली शलाका को धीरे से शिश्न में प्रविष्ट करे। इस शलाका से मार्ग का शोधन हो जाने पर सेवनी के साथ-साथ मेहन के अन्त तक, गुदा में दी जाने वाली वस्ति की भाँति हाथ को न हिलाते हुए नेत्र को पहुँचाये। फिर वस्तिपुट को दबाने से स्नेह के अन्दर पहुँच जाने पर स्नेहवस्तिक्रम को बरतना हितकारी है ॥ ७३-७५ ॥

वस्तीननेन विधिना दद्यात्त्रींश्चतुरोऽपि वा ॥ ७६ ॥
अनुवासनवच्छेषं सर्वमेवास्य चिन्तयेत् ।

स०—त्रींश्चतुरो वा बस्तीननेन विधानेन दद्यात्। शेषं विधिपरिहारादि सम्यग्दत्तव्यापदादिकमस्योत्तरबस्तेरनुवासनस्येव दापयेत्। यदुक्तं खरनादेन। यथाशेषं प्रवेश्याऽथ स्नेहस्यार्धपलं नयेत्। प्रत्यागते द्वितीयं वा तृतीयं वा प्रदापयेत्। स चेदनुवसेत्तत्र स्यात्क्रियेयं विशेषतः। पिप्पल्यागारधूमवत्सकसैंधवैः। मूत्राऽम्लपिष्टैर्गुलिकाः सर्षपा माषसन्निभाः। छायासु शुष्कास्ताः शिश्ने दद्यात्सर्षपसन्निभाः। पूर्वं माषोपमाः पश्चात्ताभिः स्नेहं समानयेत्। स्नेहे प्रत्यागते च स्यादानुवासनिको विधिरिति ॥ ७६ ॥

उत्तरवस्ति की संख्या—

वि०—इस विधि से तीन या चार उत्तरवस्ति देवे। शेष विधान अनुवासनवस्ति की भाँति बरतना चाहिये ॥ ७६ ॥

वक्तव्य—यदि वस्ति वापिस न आये तो इसके लिये भी वर्ति रखने की प्रथा है। यथा–(१) 'पिप्पल्यागारधूमवत्सकसैन्धवैः। मूत्राम्लपिष्टैर्गुलिकाः सर्षपा माषसन्निभाः। छायासु शुष्कास्ताः शिश्ने दद्यात् सर्षपसन्निभाः ॥ पूर्वं माषोपमाः पश्चात्ताभिः स्नेहं समानयेत् ॥' (२) 'मूत्रे विबद्धे कर्पूरचूर्णं लिङ्गे प्रवेशयेत् ॥'

एवं पुरुषाणामुत्तरबस्तिविधानमुक्त्वा स्त्रीणां वक्ति—

स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृतेः ॥ ७७ ॥
विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये ।
योनिविभ्रंशशूलेषु योनिव्यापद्यसृग्दरे ॥ ७८ ॥

स०—ललनानामृतुकाल एवाऽर्तवकाल ऋतुस्तु द्वादशनिशा इत्यादिनोक्तस्तत्र ऋतौ योनिः कर्ता उत्तरवस्तिस्वभावं स्नेहं गृह्णाति। कुतः अपावृतेरपावरणात् कारणात्। अन्यदा तु संवृतत्वान्न स्नेहमादत्ते गर्भवत्। तस्माद्धेतोस्तदा ऋतुकाले विदधीत। प्रकृतत्वादुत्तरवस्तिम्। आत्ययिके व्याधावनृतावपि विदधीत। तमेवात्ययं दर्शयति। योनीत्यादि। योनिविभ्रंश उत्तरे वक्ष्यमाणः। योनिशूलो योनिरुजा तेषु तथा योनिव्यापत्तौ तथाऽसृग्दरं रक्तपित्तं योनिमुखेनागच्छत् स्त्रीणामसृग्दरमुच्यते। एतेषु रोगेषूत्तरवस्तिमात्ययिकत्वादनृतावपि दद्यात् ॥ ७७-७८ ॥

स्त्रियों को उत्तरवस्ति—

वि०—स्त्रियों के लिये उत्तरवस्ति—स्त्रियों के ऋतुकाल में योनि खुली होने से वस्ति को लेती है; इसलिए ऋतुकाल में वस्ति देनी चाहिए। अत्ययिक अवस्था में तथा योनिभ्रंश, योनिशूल और योनिरोगों में या रक्तप्रदर में बिना ऋतुकाल के भी उत्तरवस्ति देनी चाहिए। (ऋतु—गर्भधारण का समय; बारह दिन या आर्त्तव काल को गिनकर सोलह दिन) ॥ ७७-७८ ॥

अथाऽत्र नेत्रस्य प्रमाणमाह—

नेत्रं दशाङ्गुलं मुद्गप्रवेशं चतुरङ्गुलम् ।
अपत्यमार्गे योज्यं स्याद् द्व्यङ्गुलं मूत्रवर्त्मनि ॥ ७९ ॥
मूत्रकृच्छ्रविकारेषु, बालानां त्वेकमङ्गुलम् ।

स०—दशांगुलप्रमाणं दैर्घ्येण तत्तथा मुद्गः प्रविशत्यस्मिन्निति मुद्गप्रवेशं तदिवाग्रं प्रवेशाप्रमिति वेद्यमंतलोपाख्यया तंत्रयुक्त्या। वृत्तगोपुच्छाकारादि शेषं पूर्वोक्तमत्र वेद्यम्। पुष्पवृंतोपमत्वं त्वत्र न युज्यते । यतो मूत्रस्रोतःपरिणाहं यत्तद्विधातव्यं पुरुषे स्त्रियां चैवंप्रकारम्। यदुक्तं मुनिना। पुष्पनेत्रप्रमाणं तु प्रमदानां दशांगुलम् । मूत्रस्रोतःपरीणाहमिति । तत्र चतुरंगुलं यावत् प्रवेश्यम् । चतुरंगुला चोर्ध्वंकर्णिका कार्या । अधिकप्रवेशनिवारणार्थं नतु मेहननेत्र इव मध्यमकर्णिकेति । अयमर्थोऽत्र साक्षान्नोपात्तो गम्यमानत्वात्। अत एतत्प्रवेशप्रमाणमाह । चतुरंगुलमपत्यमार्गे योज्यं स्यादिति । अपत्यमार्ग इत्यनेन स्त्री गर्भग्रहणप्रसवादिसमर्था सूच्यते। एवंविधायाः स्त्रियाश्चतुरंगुलं प्रवेशयितव्यमिति । मूत्रवर्त्मनि द्व्यंगुलं योज्यम् । या स्त्री सुरतव्यवहारगर्भग्रहणायोग्या अथवा बाला या अप्रौढा तस्या योनिर्मूत्रस्यैव केवलं मार्गस्तस्या नेत्रं द्व्यगुलं प्रवेश्यम्। अत ऊर्ध्वं तु प्रवेशात्तासां मांसक्षतिः स्यात्। केषु रोगेषु । मूत्रकृच्छ्रविकारेषु। बालानां तु स्त्रीणामेकमंगुलं प्रवेश्यम् ॥ ७९ ॥

स्त्रियों के उत्तरबस्ति यन्त्र का प्रमाण—

वि०—स्त्रियों में उत्तरबस्ति का नेत्र दस अङ्गुल लम्बा तथा मूंग के जाने योग्य छेद का होना चाहिये। योनिमार्ग में इसको चार अङ्गुल तक प्रविष्ट करना चाहिये। मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में मूत्रमार्ग के अन्दर दो अङ्गुल प्रविष्ट करना चाहिये। बाला जो गर्भधारण के अयोग्य हों; उनके मूत्रमार्ग में एक अङ्गुल प्रविष्ट करना चाहिये ॥ ७९ ॥

प्रकुञ्चो मध्यमा मात्रा, बालानां शुक्तिरेव तु ॥ ८० ॥

स०—स्त्रीणामुत्तरबस्तौ स्नेहस्य प्रकुंचो मध्यमा मात्रा नोत्तमा कनिष्ठा वा। बालानां तु शुक्तिरेव मध्यमा मात्रा स्नेहस्य ॥ ८० ॥

स्त्रियों के उत्तरबस्ति का प्रमाण—

वि०—स्त्रियों की उत्तरबस्ति में स्नेह की मध्यम मात्रा एक प्रकुञ्च (एक पल) और बालाओं में एक शुक्ति (दो कर्ष-आधा पल) मध्यम मात्रा होती है ॥ ८० ॥

अधुनोत्तरबस्त्यवस्थानं त्रिविधाया अपि स्त्रिया वदति—

उत्तानायाः शयानाया सम्यक् सङ्कोच्य सक्थिनी ।
ऊर्ध्वजान्वास्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत् ॥ ८१ ॥
बस्तींस्त्रिरात्रमेवं च स्नेहमात्रां विवर्द्धयन् ।
त्र्यहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात्पुनस्त्र्यहम् ॥ ८२ ॥

स०-उत्तानाया न त्ववाङ्मुखायाःपार्श्वस्थिताया वा। शयानाया न त्वासीनायास्तथोर्ध्वजान्वा बस्तींस्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत्। किं कृत्वा। सक्थिनी संकोच्य। अनुवासने त्वेक एवाहोरात्रेण योज्य इत्यस्य भेदः। बस्तिदानं कार्यं न त्वत्राऽनुवासनवत्त्र्यहे पंचमे वाऽहनीति । किं कुर्वन्। स्नेहमात्रां यथास्वमर्धकर्षकर्षादिक्रमेण वर्धयेत्। त्र्यहमेव च विश्रम्य त्रीणि दिनानि विलंघ्य च पुनः पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण प्रणिदध्यात् प्रकुर्यात्। एष एव च न्यायो मेढ्रेऽपि योज्यः। तज्जातीयत्वादस्यार्थस्य। अत एवांतेऽयमुपदिष्ट उभयसंबंधार्थम् ॥ ८१–८२ ॥

स्त्रियों के उत्तरबस्ति की विधि—

वि०—स्त्री को पीठ के बल उत्तान लिटाकर, टांगों को भली प्रकार संकुचित करके; घुटनों को खड़ा रखते हुए दिन-रात में तीन या चार वस्ति देवे। प्रत्येक वस्ति में स्नेह की मात्रा को बढ़ाते हुए लगातार तीन दिन बस्ति दे फिर तीन दिन आराम लेकर फिर तीन दिन बस्ति देवे। (अनुवासन में चौबीस घण्टे में एक बार स्नेहबस्ति देते हैं, तथा अनुवासन बस्ति तीसरे या पाँचवें दिन दी जाती है; इसमें वस्ति चौबीस घण्टे में तीन चार बार तथा तीन दिन लगातार देकर फिर तीन दिन छोड़ना पड़ता है) ॥८१–८२॥

युक्त्योक्तमेवाऽमुमर्थं संक्षेपेण संग्राह्य पुनराह—

पक्षाद्विरेको वमिते ततः पक्षान्निरूहणम् ।
सद्यो निरूढश्चान्वास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ॥ ८३ ॥

स०—उत्तमशुद्धया शुद्धे वमिते पश्चादनंतरं विरेकः कार्यः। यस्मात्प्रवरया शुद्धया शुद्धे तु वमिते पेयादिक्रमेण सप्ताहात् प्रकृतिभोजनापत्तिः। सप्ताहेनैकांतराऽनुवासनदानेन स्निग्धस्य विरेक इति पक्षेणैव युज्यते। ततोऽनंतरं पश्चात्परतो निरूहो यतः कृतविरेकस्य सप्ताहात् प्रकृतिभोजनापत्तौ स्नेहनार्थमनुवासनेनैकांतरितेन स्निग्धस्य निरूहो युज्यत इति पक्षेणैव युक्तः। निरूढश्च सद्य एवाऽनुवास्यः। तथा च प्रागभ्यधायि। अथ वातार्दितं भूयः सद्य एवानुवासयेदिति । विरेचितः सप्तरात्रादूर्ध्वमनुवास्यो यतः सप्ताहेन प्रकृतिभोजनापत्तिस्ततः स्नेहार्थमनुवासनं युक्तम् ॥ ८३ ॥

बस्ति देने का नियम—

वि०—वमन के पन्द्रह दिन पीछे विरेचन, विरेचन के पन्द्रह दिन पीछे निरूहबस्ति, निरूह के तुरन्त पीछे अनुवासन बस्ति देनी चाहिए ॥ ८३ ॥

ननु दोषाणां धातूनां च स्नेहस्वेदाभ्यामेकलोलीभावात् कथं बस्तिर्दोषानेव निर्हरेन्न धातूनित्येतच्चोद्यं दृष्टांतद्वारेण परिजिहीर्षुरिदमाह—

यथा कुसुम्भादियुतात्तोयाद्रागं हरेत्पटः ।
तथा द्रवीकृताद्देहाद्बस्तिर्निर्हरते मलान् ॥ ८४ ॥

स०—कुसुंभकुंकुमादियुक्ताज्जलाद्यथा पटो वासो रागं हरेद् गृह्णीयान्न कुसुंभादिकं तथैव द्रवीकृतात्कायाद्दोषधातूनामेकलोलीभावेऽपि बस्तिर्दोषान्निर्हरेन्न धातून् ॥ ८४ ॥

वस्ति की दोषहारिता में दृष्टान्त—

वि०—जिस प्रकार कुसुम्भ आदि से मिले जल में से

वस्त्र रङ्ग को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार द्रवीभूत शरीर में से बस्ति मलों को ले लेती है; (दूसरी धातुओं को नहीं लेती अर्थात् दोषमात्र को बाहर निकालती है, धातुओं को नहीं) ॥ ८४ ॥

अधुना वायोः स्वरूपं प्रथयन् बस्तिं श्लाघयन्नाह—

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा
मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च ।
ये सन्ति तेषां न तु कश्चिदन्यो
वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥ ८५ ॥
विट्श्लेष्मपित्तादिमलोच्चयानां
विक्षेपसंहारकरः स यस्मात् ।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्य-
द्बस्तेर्विना भेषजमस्ति किञ्चित् ॥ ८६ ॥
तस्माच्चिकित्सार्द्ध इति प्रदिष्टः
कृत्स्ना चिकित्साऽपि च बस्तिरेकैः

स०—सक्थिनी द्वे द्वौ बाहू इति शाखास्तासु गतास्तत उत्पन्नाः। एवं कोष्ठो महास्रोतस्तत्र गताः कोष्ठगताः। तथा मर्माणि च ऊर्ध्वं च सर्वे चाऽवयवाश्च मर्मोर्ध्वसर्वावयवास्तेषामंगं तत्र जाता मर्मोर्ध्वसर्वावयवांगजाः। तत्र मर्माणि मर्मविभागे वक्ष्यंते। ऊर्ध्वशब्देनोर्ध्वजत्रु गृह्यते। तत्र जाता ऊर्ध्वांगजा मुखरोगादयः। सर्वांगजा ज्वरादयः। अवयवजाः श्वित्रादयश्च ये रोगा विद्यंते तेषां जन्मन्युत्पत्तौ वायोरपरः कश्चिदपि हेतुर्नास्ति। कथम्। परमतिशयेन। किंचिन्मात्रेणाऽनुबलभावेन पित्तश्लेष्माणावपि हेतू भवत एव। यथा पामादद्रूवादीनाम्। अथाऽवयवग्रहणेनैवोर्ध्वग्रहणं लब्ध ऊर्ध्वग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम्। यथा ब्राह्मणा आयाताः वसिष्ठोऽप्यायात इति। तदेवाधिकृत्य वक्ष्यमाणाः पंच विधयः सकलमेवोत्तरे च तंत्रे प्रधानं तस्मात्प्रधाना ऊर्ध्वांगजाः। ननु कुतो हेतोर्मरुत एतेषु कारणत्वमित्याह—विट् च श्लेष्मा च पित्तं च विट्श्लेष्मपित्तानि तान्यादिर्येषाम्। आदिशब्देन मूत्रस्वेदादिपरिग्रहः। त एव शरीरमलिनीकरणान्मलास्तेषामाचयाः संचयास्तेषां च वायुर्यस्माद्विक्षेपसंहारकरः। विक्षेपश्च संहारश्च विक्षेपसंहारौ तौ करोतीति कृञो हेतुताच्छील्येत्यादिना हेतौ टः। विक्षेपसंहारकरणहेतुरित्यर्थः। तस्य क्रियावत्त्वात्। वायुश्च शेषदोषाभ्यां न कदाचिद्विक्षिप्यते संह्रियते वा। तयोर्निष्क्रियत्वात्। तस्य च वायोः प्रवृद्धस्य शमनार्थं बस्तिमंतरेणाऽपरं भेषजं नास्ति। स्नेहस्वेदादिकं तु विद्यमानमपि न तथा समर्थमित्यगण्यत्वात्तदविद्यमानमुच्यते। तस्माद्दोषप्रधानस्य पवनस्य शमनार्थात्कारणाद्बस्तिश्चिकित्सार्धं इति कथितः। एकैश्चाऽऽचार्यैर्निरवशेषाऽपि चिकित्सा बस्तिः प्रदिष्टः। ननु चतुर्णां भिषजादीनामित्यादिलक्षणा चिकित्सा तत्कथं तस्या भागकल्पना कर्तुं युज्यते। नच सर्वा चिकित्सा बस्तिरिति वक्तुं शक्यते। शेषचिकित्साशास्त्रविस्तरस्यानर्थक्यप्रसंगात्। तस्मादेतदयुक्तमिवाऽऽभाति। अत्रोच्यते। तथाऽपि वायुविकारा अशीतिरुक्ताः। पित्तश्लेष्मविकाराश्च षष्टिरुक्ताः। तत्र वातविकाराणां प्रधानोपक्रमो बस्तिस्तस्माच्चिकित्सार्धो बस्तिः कार्यद्वारेणोक्तः। अथवा मारुतं पित्तश्लेष्मविट्सहितं बस्तिः समूलमेवापकर्षतीत्युक्त्वा सर्वा चिकित्सा कार्यद्वारैकैरुपदिष्टः। अन्यत्राऽपि चैवं प्रायो निदर्शित आचार्यैः। तथाच मुनिः। यानीह कर्माण्युक्तानि विसर्पविनिवृत्तये। एकतस्तानी सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकत इति। चिकित्सार्धमित्ययं तु पाठो न युक्त एव। अर्धशब्दस्य हि समविभाग एव नपुंसकत्वम्। नचाऽत्र समप्रविभागो गम्यते तस्मान्नपुंसकत्वमत्राऽन्याय्यम्। तथेत्यादि। न केवलं बस्तिर्यावच्छिराव्यधोऽपि चिकित्सार्धः सर्वा वा चिकित्सेत्युपदिष्टः। कुतः। निजेत्यादिना ॥ ८५-८६ ॥

वायु की प्रधानता तथा वस्ति की वायुशामकता—

वि०—शाखा अर्थात् हाथ-पैर में होने वाले, कोष्ठ में होने वाले, मर्म स्थानों में एवं जत्रु से ऊपर के भाग में, सम्पूर्ण अवयवों में तथा एक अङ्ग में होने वाले-जो भी कोई रोग हैं; उनमें वायु के सिवाय और कोई दूसरा मुख्य उत्पादक कारण नहीं है। क्योंकि यही वायु मल, कफ, पित्त आदि (मूत्र, स्वेद आदि) मल समूहों का विक्षेप (प्रसार) और संहार (नाश) करने वाली है। अतः अतिशय बढ़ी इस वायु की शान्ति के लिये वस्ति के सिवाय और दूसरी ओषध नहीं है। इसलिए चिकित्सा का आधा भाग बस्ति है, और कइयों के बिचार से तो वस्ति ही सम्पूर्ण चिकित्सा है ॥ ८५-८६ ॥

वक्तव्य—वातजन्य रोग अस्सी, पित्तजन्य चालीस और कफजन्य बीस हैं। इस दृष्टि से वातचिकित्सा-वस्ति आधी चिकित्सा है। वायु ही कफ और पित्त को शरीर में ले जाने वाला है, वायु ही कफ के साथ मिलकर शीताधिक्य, पित्त के साथ मिलकर उष्णताधिक्य करता है, इस दृष्टि से वायु को मुनि ने 'तन्त्रयन्त्रधरः' कहा है। उसकी शान्ति ही सम्पूर्ण चिकित्सा है क्योंकि नेता के नाश होने से सेना का नाश हो जाता है।

तथा निजागन्तुविकारकारि-
रक्तौषधत्वेन सिराव्यधोऽपि ॥ ८७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने बस्तिविधि-
र्नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

स०—निजा वातादिसमुत्था आगंतवो विषवह्न्यादिसमुत्थाः। निजाश्चाऽगंतवश्च ते च ते विकाराश्च निजागंतुविकारास्तान्कर्तुं शीलमस्य तन्निजागंतुविकारकारि तच्च तद्रक्तं च निजागंतुविकारकारिरक्तं तस्यौषधत्वेन। तत्र विसर्पविद्रधिप्रभृतिरोगविशेषोशमकरणाच्चिकित्सार्धः शिराव्यध उपदिष्टः। तथाऽपरेऽपि ये रोगाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यै-

हपक्रमैरनुपशांतास्तेऽपि शिराव्यधसाध्याः। अत एव सर्वाऽपि चिकित्सा शिराव्यध उक्त इति ॥ ८७ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचिताया-
मष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्याया-
मेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वि०—वायु की भाँति निज एवं आगन्तुज रोगों को उत्पन्न करने वाले रक्त की औषध होने से सिरावेध भी वस्ति की भाँति सम्पूर्ण चिकित्सा है ॥ ८७ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में रक्त को भी शरीर का मुख्य धारक माना है, यथा-'नर्त्ते देहःकफादस्ति, न पित्तान्न च मारुताव्। शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥'. रक्त दोष के लिये शिरावेध ही उत्तम है-यथा विषरोग में- (१) 'रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्। (२) 'यानीह कर्माण्युक्तानि विसर्पविनिवृत्तये। एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः ॥' —चरक. चि. अ. २१।१४०

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान में दोषादिविज्ञानीय नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

पंचकर्मोक्तिप्रस्तावे वमनविरेकान्वासननिरूहानुक्त्वा नस्यविधिमाह—

अथातो नस्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

वि०—अब इसके आगे नस्यविधि अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते।
नासा हि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हन्ति तान् ॥१॥

स०—जत्रु वक्षोंऽसयोः संधिः। जत्रुण ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रु। मयूरव्यंसकादित्वात्समासः। तत्र विकारा ऊर्ध्वजत्रुविकारास्तेषूर्ध्वजत्रुविकारेषु शिरोरोगादिषु विषये वमनशिराव्यधादयोऽपीष्यंत एव। विशेषेण तु नस्यमिष्यते। नासायां भवं नस्यम्। तत्र भव इति यत्। नासिकायाः पद्दन्न इति नसादेशः। ननु किमिति नस्यमेतेषु रोगेषु विशेषेणेष्टमित्याह—यस्माद् घ्राणं शिरोद्वारं तेन द्वारेण श्रोत्रशृंगाटकप्रासमूर्ध्वं नेत्रकंठादिशिरामुखानुप्रवेशेन तच्छिरो व्याप्य तान्विकारान् हंति ॥ १ ॥

नस्यसाध्य विकार—

वि०—जत्रु से ऊपर के रोगों में विशेष कर नस्य बरता जाता है; क्योंकि शिर का द्वार नासा है; इस नासामार्ग से नस्य शिर में फैलकर उन रोगों को नष्ट करता है ॥ १ ॥

विरेचनं बृंहणं च शमनं च त्रिधाऽपि तत्।

स०—तत्र नस्यं विरेचनबृंहणशमनादिभेदेन त्रिधा स्यात्।

नस्य के भेद—

वि०—वह नस्य विरेचन, बृंहण और शमन भेद से तीन प्रकार का है।

तत्र पूर्वं विरेचनाख्यस्योपयोगमाह—

विरेचनं शिरःशूलजाड्यस्यन्दगलामये ॥ २ ॥
शोफगण्डकृमिग्रन्थिकुष्ठापस्मारपीनसे।

स०—शिरः शूलादिषु विरेचनं नस्यमिष्यते। अपस्मारो यद्यप्यूर्ध्वजत्रुस्थितो न भवति तथाऽपि विरेचननस्येन शाम्यतीति तदुपादानम्। उपलक्षणं चेदम्। कफप्रकोपास्यवैरस्यगंधाज्ञानादिष्वपि विरेचनमेव हितम् ॥ २ ॥

शिरःशूलादि में विरेचन नस्य—

वि०—विरेचन नस्य—शिर के शूल में, शिर की जड़ता में, अभिष्यन्द (नेत्र रोग) में, गल रोग में; शोफ, गण्ड, कृमि, ग्रन्थि, कुष्ठ, अपस्मार और पीनस में बरतना चाहिये ॥ २ ॥

बृंहणं वातजे शूले सूर्यावर्ते स्वरक्षये ॥ ३ ॥
नासास्यशोषे वाक्सङ्गे कृच्छ्रबोधेऽवबाहुके।

स०—वातोद्भवशूलादि बृंहणं नस्यं हितम्। सूर्यावर्तः शिरोरोगविशेषः। कृच्छ्रबोधः कृच्छ्रोन्मीलनम्। अवबाहुको वातव्याधिविशेषः ॥ ३ ॥

वातज शूल में बृंहण नस्य—

वि०—बृंहण नस्य-वातजन्य शिरःशूल में; सूर्यावर्त्त में, स्वरक्षय में, नासा और आस्यशोष में, वाणी के जड़ होने पर, कठिनाई से नेत्र खोलने में तथा अवबाहुक रोग में बरते ॥ ३ ॥

शमनं नीलिकाव्यङ्गकेशदोषाक्षिराजिषु ॥ ४ ॥

स०—नीलिकादिषु शमनं नस्यं हितम्। नीलिकाव्यंगौ क्षुद्ररोगेषु वक्ष्यमाणौ। केशदोषः केशशातः ॥ ४ ॥

नीलिकादि में शमन नस्य—

वि०—शमन नस्य—नीलिका, व्यंग, केश रोग (बालों का गिरना और पकना) तथा अक्षिराजि में (आँखों में रेखा की भाँति सिराएँ होने पर) बरतना चाहिये ॥ ४ ॥

यथास्वं यौगिकैः स्नेहैर्यथास्वं च प्रसाधितैः।
कल्कक्वाथादिभिश्चाद्यं मधुपट्वासवैरपि ॥ ५ ॥

स०—ये ये स्नेहा यथास्वं तैः। किंभूतैः। यौगिकैर्योगार्हैः सर्षपतैलादिभिर्न तु घृतादिभिः। तथा यथास्वं मरीचशुण्ठ्यादिभिः प्रसाधितैः संस्कृतैः। यथाकल्ककाथस्वरसादिभिश्च यथास्वं कफघ्नैर्गिरिकर्णिकादिजैराद्यं विरेचनाख्यं नस्यं भवति। न केलमेतैर्यावन्माक्षिकादिभिश्च। पटुः सैंधवादिः। आसवो मद्यविशेषः ॥ ५ ॥

विरेचन नस्य की औषधें—

वि०—जो-जो स्नेह जिन-जिन दोषों के लिये यौगिक (उचित) हों एवं दोष तथा रोग के अनुसार मरिच, सोंठ आदि से संस्कृत हों तथा कल्क-क्काथ आदि से, मधु, सेंधानमक तथा आसव से भी विरेचन नस्य देना चाहिये ॥ ५ ॥

बृंहणं धन्वमांसोत्थरसासृक्खपुरैरपि ।
शमनं योजयेत्पूर्वैः क्षीरेण सलिलेन वा ॥ ६ ॥

स०—बृंहणं नस्यं धन्वोत्थमांसोद्भवरसैः स्यात्। तथाऽसृजा रक्तेन धन्वोत्थेनैव। तथा खपुरैर्निर्यासविशेषैः। अपि शब्दादन्यैरपि पूर्वोक्तैः स्नेहैरतीक्ष्णैर्बृंहणं भवति। शमनं नस्यं पूर्वोक्तैरतीक्ष्णैः स्नेहैर्घृतादिभिस्तथा मांसरसादिभिर्योजयेत्। तथा क्षीरेण जलेन चेति। सुश्रुतस्तु स्पष्टतरमुवाच। तत्तु नस्यं देयं वाताभिभूते शिरसि दन्तकेशश्मश्रुप्रपातदारुणकर्णशूलकर्णक्ष्वेडतिमिरस्वरोपघातनासारोगास्यशोषापबाहुकाऽकालजवलीपलितप्रादुर्भावदारुणप्रबोधेषु वातपैत्तिकेषु चान्येषु मुखरोगेषु वातपित्तहरद्रव्यसिद्धेन स्नेहेनेति। शिरोविरेचनं श्लेष्मणाऽभिव्याप्ततालुकंठशिरसामरोचकशिरोगौरवशूलपीनसाऽर्धावभेदकक्रिमिप्रतिश्यायाऽपस्मारगंधाज्ञानेष्वन्येषु चोर्ध्वजत्रुगतेषु कफजेषु विकारेषु शिरोविरेचनद्रव्यैस्तत्सिद्धेन वा स्नेहेनेति। तथा सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्यं विरेचयेत्। अवपीडस्तु शिरोविरेचनवदभिष्यंदसर्पदष्टविसंज्ञेभ्यो दद्याच्छिरोविचनद्रव्याणामन्यतममवपीड्याऽवपिष्य चेतोविरेकारक्रिमिविषाभिपन्नानां चूर्णं प्रधमेत्। शर्करेक्षुरसक्षीरघृतमांसरसानामन्यतमं क्षीणानां शोणितपित्ते च विदध्यात्। कृशदुर्बलभीरूणां सुकुमारस्य योषिताम्। शृताः स्नेहाः शिरःशुद्धे कल्कस्तेभ्यो यथा हित इति ॥ ६ ॥

बृंहण और शमन नस्य की औषधें—

वि०—बृंहण नस्य—जांगल मांस से बनाये रस से, तथा गोंद से तथा अन्य अतीक्ष्ण स्नेह (घी आदि) से भी देवे। शमन नस्य-जांगल मांसरस आदि से या पूर्वोक्त घी-तैल आदि से, एवं दूध या पानी से देना चाहिये ॥ ६ ॥

अधुनाऽन्यानपि नस्यविशेषानाह—

मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधा स्नेहोऽत्र मात्रया ।
कल्काद्यैरवपीडस्तु स तीक्ष्णैर्मूर्द्धरेचनैः ॥ ७ ॥
ध्मानं विरेचनश्चूर्णो—

स०—एषु नस्यभेदेषु मध्ये मर्शाख्यः प्रतिमर्शाख्यश्चेति स्नेहो द्विधा भेदद्वयेन भवति। कथम्। मात्रया मात्राभेदेन नतु वस्तुभेदेन। तुरवधारणे भिन्नक्रमः। कल्काद्यैरेवाऽवपीडो न स्नेहेन। स चाऽवपीडस्तीक्ष्णैः शुण्ठ्यादिभिः कल्कक्काथरसाद्यैर्न मृदुभिः। मूर्धविरेचनाख्यं नामांतरमस्य। अतीक्ष्णैस्तु शमनसंज्ञमेव। विरेचनस्य प्रकारांतरमाह—चूर्णो मरीचादिभिः कृतो विरेचनो बहिर्दोषनिरसनो ध्मानं प्रध्मानाख्यं नस्यं स्यात्। कथं नासया प्रणीयमानः॥ ७॥

नस्य प्रकार—

वि०—मात्रा के विचार से स्नेहनस्य मर्श और प्रतिमर्श भेद से दो प्रकार का है। पत्र, फल आदि के कल्क, स्वरस आदि का नस्य अवपीड कहलाता है। यह मरिच आदि तीक्ष्ण द्रव्यों से युक्त होने पर शिरोविरेचन होता है। मरिचादि के चूर्ण को विरेचन के लिये फूत्कार से नासिका में देना ध्मान या प्रधमन नस्य है ॥ ७ ॥

कथं पुनरसौ नासायां ध्मापयितव्य इत्याह—

—युञ्ज्यात्तं मुखवायुना ।
षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या भेषजगर्भया ॥ ८ ॥
स हि भूरितरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति ।

स०—युंज्यात्तं चूर्णं मुखवायुना फूत्काराख्येन प्रवेशयेत्। कथम्। नाड्या कारणभूतया। किंभूतया। षडंगुलानि यस्याः सा षडङ्गुला। मुखे यस्याः सा द्विमुखा। षडङ्गुला चाऽसौ द्विमुखा च षडङ्गुलद्विमुखा तया। तथा भेषजगर्भया त्रिकट्वादिचूर्णभरितया। स हि चूर्णो भूरितरं बहुतरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति निर्हरति। यथा कल्कक्काथादयः। ततस्तस्माद्विरेचनाख्योऽयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

नस्य की प्रयोग-विधि और फल—

वि०—प्रधमन नस्य में चूर्ण को मुख की वायु से नासा में प्रविष्ट करे। इसके लिये ६ अङ्गुल लम्बी-दोनों ओर मुख वाली नाडी बनाकर उसमें औषध भरकर फूंक से नासा में देवे। यह औषध चूर्ण होने से दोष को अधिक मात्रा में खींचती है ॥ ८ ॥

अधुना मर्शस्नेहस्य परिमाणमधिकृत्याह—

प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात् ॥ ९ ॥
यावत्पतत्यसौ बिन्दुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते ।
मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात् ॥ १० ॥
बिन्दुद्वयोनाः कल्कादेः—

स०—प्रदेशिन्यंगुष्ठसमीपजांगुली तस्याः पर्वद्वयं तस्मात्। किंभूतात् पूर्वं मग्नं पश्चात्समुद्धृतम् तस्मान्मग्नसमुद्धृतात् तर्जनीपर्वद्वयाद्यावत्परिमाणं पतत्यसौ बिंदुरुच्यत इति शेषः। ते बिंदवो यथासंख्यं मर्शस्य दशोत्कृष्टा मात्रा। अष्टौ मध्यमा मात्रा। षट् कनिष्ठा मात्रा। ता एव क्रमान्मात्रा बिंदुद्वयेनोनाः कल्कस्वरसादेः। तेनाष्टौ बिंदव उत्तमा मात्रा षण्मध्यमा चत्वारः कनिष्ठेत्यवतिष्ठते। यावदिति यत्परिमाणमस्येति यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्। आ सर्वनाम्न इत्याकारादेशः ॥ ९—१० ॥

मर्शस्नेह का परिमाण—

वि०—तर्जनी अङ्गुली के दो पर्वों को द्रव में डुबोकर निकाल लेने से जितना स्नेह या स्वरस गिरता है, उसका नाम बिन्दु है (इस प्रकार अङ्गुली से नासा में औषध टपकाना मर्श कहलाता है)। मर्श नस्य में दस बिन्दु

उत्कृष्ट मात्रा; आठ बिन्दु मध्यम मात्रा और ६ बिन्दु ह्रस्व मात्रा है। अवपीडक नस्य से कल्कादि की आठ बिन्दु उत्तम मात्रा, ६ बिन्दु मध्यम मात्रा और चार बिन्दु ह्रस्व मात्रा है ॥ ९-१० ॥

अधुना येषां नस्यमयुक्तं तानाह—

—योजयेन्न तु नावनम् ।
तोयमद्यगरस्नेहपीतानां पातुमिच्छताम् ॥ ११ ॥
भुक्तभक्तशिरःस्नातस्नातुकामस्रुतासृजाम् ।
नवपीनसवेगार्तसूतिकाश्वासकासिनाम् ॥ १२ ॥
शुद्धानां दत्तवस्तीनां तथाऽनार्तवदुर्दिने ।
अन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेः—

स०—तोयादि पीतं यैस्तेषाम् । आहिताग्न्यादित्वात्परनिपातः। तथा पातुमिच्छतां नावनं नस्यं नैव योजयेत्। तोयादिपीतानां पातुमिच्छतां च प्रयोजितं नस्यं नासास्यदोषदेहतिमिरशिरोरोगान् कुर्यात्। भुक्तभक्तस्य च दोषा ऊर्ध्वस्रोतांस्यावृत्य छर्दिश्वासकासप्रतिश्यायान् जनयेयुः। शिरःस्नातस्य शिरोऽक्षिकर्णशूलकंठरोगपीनसहनुमन्यास्तंभार्दितशिरःकंपान्। स्नातुकामस्य च मूर्ध्नि स्तिमितो दोषो जाड्यारुचिपीनसान्। स्रुतरक्तस्य च क्षामतामरुचिमग्निसदनं च। नवप्रतिश्यायस्य स्रोतोरोधाद् दुष्टप्रतिश्यायकृमिकंडूविचर्चिकारोगान् । सूत्रितोच्चारिताद्विवेगार्तानां भृशतरं वेगविधारणजान् विकारान् । सूतिकायाः स्रुतरक्तदोषान्। श्वासकासिनोव्याधिविवृद्धिम्। शुद्धानां कृतवमनविरेचनानां श्वासकासस्वरेंद्रियहानिशिरोगौरवकृमिकंडूदोषान् । दत्तबस्तीनां विवृतस्रोतस्तयाऽतिव्याप्त्या श्वासकासादीन्। तथाऽनार्तवदुर्दिनेऽपि सहसैव शैत्याच्छिरोरुग्वेपथुस्तैमित्यतालुनेत्रकंडूपाकमन्यास्तंभकंठरोगप्रतिश्यायारूंषिकाः। एषु च नस्यदोषेषु जातेषु यथास्वमायतनं दोषोद्रेकं चाऽवेक्ष्य स्नेहस्वेदशिरोविरेकवक्त्रलेपसेकतीक्ष्णावपीडधूमगंडूषादीनि यथास्वं कुर्यात्। संग्रहे चोक्तम्। गर्भिण्या भक्तद्वेषज्वरमूर्च्छाऽधोविभेदकाः स्युः। अपत्यं च व्यंगं विकलेंद्रियमुन्मादापस्मारयुक्तं वा स्यात्। विशेषेण तु गर्भिणी रूक्षे नस्यकर्मणि वर्षाभूकाकोलीकपिकच्छुभिः शृतं पयः पिबेत् । बलाविदार्यंशुमतीमेदाभिर्वैभिरेव च श्रृतं हविर्वातहरसिद्धश्च स्नेहः शिरोबस्तौ कर्णपूरणे च योज्यः। सर्वं च बृंहणमन्नपानमिति। तोयपीतादिषु सदैव किं न योज्यमित्याह। अन्यत्रेत्यादि। आत्ययिके व्याधौ नस्यं योज्यमेव ॥ ११-१२ ॥

नस्य के अयोग्य व्यक्ति—

वि०—नस्य का निषेध—जिन्होंने पानी; मद्य, गरविष या स्नेह पिया हो अथवा जिनको पीने की इच्छा हो; जिन्होंने भोजन किया हो; शिर से स्नान किया हो, या स्नान की जिनको इच्छा हो; जिनका रक्तस्राव किया गया हो; नूतन पीनस रोग से पीडित, मल, मूत्र आदि का वेग होने पर; सूतिका, श्वास, कास से पीडित, वमन-विरेचन से शुद्ध, जिनको बस्ति दी गई हो; ऋतु के बिना जिस दिन बादल आये हों, इनको बिना आत्ययिक रोग के नस्य नहीं देना चाहिये। (इन अवस्थाओं में नस्य देने से हानि होती है। विस्तृत वर्णन अ. सं. सू. अ. २९ में देखिए।) ॥ ११-१२ ॥

साम्प्रतं यत्र काले यत्र च दोषे नस्यं प्रयोज्यं तद्दर्शनार्थमाह—

अथ नस्यं प्रयोजयेत् ॥ १३ ॥
प्रातः श्लेष्मणि, मध्याह्ने पित्ते सायंनिशोश्चले ।
स्वस्थवृत्ते तु पूर्वाह्णे शरत्कालवसन्तयोः ॥ १४ ॥
शीते मध्यन्दिने ग्रीष्मे सायं वर्षासु सातपे ।
वाताभिभूते शिरसि हिध्मायामपतानके ॥ १५ ॥
मन्यास्तम्भे स्वरभ्रंशे सायंप्रातर्दिने दिने ।
एकाहान्तरमन्यत्र—

स०—श्लेष्मरोगे प्रातर्नस्यं प्रयोजयेत् । पित्तरोगेषु मध्याह्ने। वातेऽपराह्णे रात्रौ च। कारणे कार्योपचारात्कफरोगः श्लेष्मशब्देनोक्तः। तेन श्लेष्मरोगादिषु प्रातर्नस्यं योज्यम्। संग्रहे विशेषः । लालास्रावसुप्तिप्रलापदंतकटकटायनक्रथनकृच्छ्रोन्मीलनपूतिमुखकर्णनादतृष्णार्दितशिरोरोगश्वासकासोन्निद्रेषु रात्रावपि। तुरवधारणे। स्वस्थवृत्ते शरदि वसंते च पूर्वाह्णे एव नस्यं योज्यम् । शीते हेमंतशिशिरलक्षणे मध्याह्ने। ग्रीष्मे सायमपराह्णे। वर्षासु सातपे दृश्यमाने रवौ वासरे प्रयोजयेत्। अधुना दोषापेक्षया नस्यकालनियमाम—वाताभिभूतमूर्धादिषु स्वरभ्रंशांतेषु सायंप्रातः पूर्वाह्णाऽपराह्णयोः प्रतिदिनं च नैकाहांतरितम् । अन्यत्र वाताभिभूतमूर्धादिभ्योऽन्यस्मिन् रोगे एकाहांतरम् ॥ १३-१५ ॥

नस्य के योग्य काल तथा दोष—

वि०—कफ में प्रातः, पित्त में मध्याह्न तथा वायु में सायं और रात्रि में नस्य देवे। स्वस्थ अवस्था में, शरत् और वसन्त के पूर्वाह्ण में नस्य देना चाहिये। शीतकाल में मध्याह्न समय में; ग्रीष्मकाल में सायंकाल में और वर्षाकाल में जब सूर्य दीखता हो तब नस्य देना चाहिये। वात से आक्रान्त शिरोरोग में, हिक्का में, अपतानक में; मन्यास्तम्भ में तथा स्वरभ्रंश में, प्रतिदिन सायं और प्रातः नस्य देवे। अन्य अवस्थाओं में एक दिन छोड़कर नस्य देना चाहिये ॥१३-१५॥

—सप्ताहं च तदाचरेत् ॥ १६ ॥

स०—सप्ताहं च नस्यमनाचरेत्। सप्ताहादूर्ध्वं नस्यं न विदध्यादित्यर्थः ॥ १६ ॥

वि०—नस्य को सात दिन तक करना चाहिये ॥ १६ ॥

इदानीं यादृशस्य पुरुषस्य यथास्थितस्य नस्यं देयं तदाह—

स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य प्राक्कृतावश्यकस्य च ।
निवातशयनस्थस्य जत्रूर्ध्वं स्वेदयेत् पुनः ॥१७॥
अथोत्तानर्जुदेहस्य पाणिपादे प्रसारिते ।
किञ्चिदुन्नतपादस्य किञ्चिन्मूर्द्धनि नामिते ॥१८॥

नासापुटं पिधायैकं पर्यायेण निषेचयेत् ।
उष्णाम्बुतप्तं भैषज्यं प्रणाड्या पिचुनाऽथवा ॥१९॥
दत्ते पादतलस्कन्धहस्तकर्णादि मर्दयेत् ।
शनैरुच्छिद्य निष्ठीवेत्पार्श्वयोरुभयोस्ततः ॥२०॥
आभेषजक्षयादेवं द्विस्त्रिर्वा नस्यमाचरेत् ।

स०—पूर्वं स्निग्धं पश्चात्स्विन्नमुत्तमांगं शिरो यस्य तस्य तथा प्राक् पूर्वं कृतमावश्यकमवश्यकरणीयमुच्चारमूत्रोत्सर्गदंतधावनादिकं येन स प्राक्कृतावश्यकस्तस्य तथा निवातस्थाने शयनं यत्तत्र स्थितस्य सतो भूयो जत्रूर्ध्वं स्वेदयेत्। अथाऽनंतरमुत्तानस्पष्टस्थितशरीरस्य सतो हस्तचरणे प्रसारिते तथा किंचिदुन्नतचरणस्य किंचिच्छिरसि नामिते सति नासापुटमेकं पिधाय स्थगयित्वा पर्यायेण नतु युगपद्भैषज्यं निषेचयेत् । कीदृशमुष्णांबुतप्तमुष्णोदकोष्णीकृतम्। केन परिषेचयेत्। प्रनाड्याऽथवा पिचुना कार्पासादिमयेन। दत्ते नस्ये सति पादतलस्कंधहस्तकर्णादि मर्दयेत्। आदिशब्देन ग्रीवाललाटादिपरिग्रहः। सुश्रुते चाऽभ्यधायि। वस्त्रावच्छादितनेत्राय वामहस्तप्रदेशिन्योन्नामितनासिकाग्राय विशुद्धस्रोतसि दक्षिणहस्तेन स्नेहमुष्णांबुप्रतप्तं रजतादिशुक्तीनामन्यतमस्थमनवच्छिन्नधारमासिंचेदिति । ततो मर्दनानन्तरं शनैरुच्छिद्य पार्श्वयोरुभयोर्निष्ठीवेत् अनभ्यवहरन्। कफसहितमभ्यवहृतमग्निमवसादयेद्दोषं च संवर्धयेत्। एकपार्श्वनिष्ठीवने न सर्वाः शिरा भेषजेन सम्यग्व्याप्यंते। एवमनेन क्रमेणाऽऽभेषजक्षयाद् द्विस्त्रिर्वा नस्यं कुर्याद्। नतु नस्यमात्रा सकृदेव प्रक्षेप्तव्या हीनमात्रं चौषधं न देयम्। तद्धि दोषानुत्क्लेश्यानिर्हरद्गौरवारुचिकासप्रसेकपीनसच्छर्दिकंठरोगान् कुर्यात्। अधिकमतियोगाद्दोषान् कुर्यात्। सकृदेव सर्वं दत्तमुच्छिद्यमानं शिरोरोगप्रतिश्यायघ्राणक्लेदानुच्छ्वासोपरोधं च कुर्यात्। अत्युष्णं दाहपाकज्वररक्तांगमूर्च्छाभ्रमान्। अतिशीतं हीनदोषानेव। अत्युन्नतशिरसोऽसम्यक्प्रतिपद्यमानं तानेव हीनदोषान्। अत्यवनतशिरसो दूरगमनान्मूर्च्छाजाड्यज्वरान् संकुचितगात्रस्य सम्यग्धमनीरप्राप्नुवद्दोषोत्क्लेशं कुर्यात् ॥ १७–२० ॥

नस्य की विधि—

वि०—विधि—शिर का स्नेह और स्वेदन करके; मलत्याग, दन्तधावन आदि आवश्यक कार्य पहले निपटाकर; वायुरहित स्थान में रोगी को चारपाई पर बिठाकर जत्रु से ऊपर पुनः स्वेद देवे। उत्तान-चित्त-पीठ के भार-सीधा शरीर को रख कर हाथ और पाँव को फैलाकर; पायते को कुछ ऊंचा रखकर और शिर को कुछ थोड़ा सा नीचा करे। फिर गरम पानी में रखने से या उसके बाष्प से औषध को गरम करके; औषध को नलिका या पिचु से-एक नासापुट को बन्द करके अदल-बदल कर नासाछिद्र में निचोड़े या डाले। नस्य देकर पैर के तलुवे, स्कन्ध, हाथ, कान आदि का मर्दन करे। फिर धीमे से नासा द्वारा श्वास को ऊपर खींचकर दोनों पार्श्वों में (लेटता हुआ श्वास खींचे और आए हुए कफ या स्राव को) थूक देवे। इस प्रकार सम्पूर्ण औषध निकलने तक करे तथा दो या तीन बार नस्य लेवे ॥ १७–२० ॥

यदि च नस्ये दीयमाने भेषजवेनादसात्म्येन संजातमूर्च्छायां प्रतीकारमाह—

मूर्च्छायां शीततोयेन सिञ्चेत्परिहरञ् शिरः ॥ २१ ॥

स०—मूर्च्छायां सत्यां शीतजलेन मूर्धवर्जं सिंचेत्। संग्रहेऽप्युक्तम्। न च नस्ये निषिच्यमाने कोपहासव्याहारस्यंदनोच्छिदनान्याचरेत् । तथाहि शिरोरुक्प्रतिश्यायकासतिमिरखलितपलितव्यंगतिलकालकमुखदूषकानां संभव इति ॥ २१ ॥

नस्य से मूर्च्छा आने पर कर्तव्य—

वि०—मूर्च्छा होने पर शिर को छोड़कर शीत जल से परिषेक करे ॥ २१ ॥

स्नेहं विरेचनस्यान्ते दद्याद्दोषाद्यपेक्षया ।

स०—विरेचनस्यावसाने देशदोषसात्म्याद्यपेक्षया स्नेहमनुसंन्यसेत्। तंत्रांतरे चोक्तम्। अथ नस्यार्हं नरमव्याहतवेगं धौतांतर्बहिर्मुखमवस्थितशिरसं प्रायोगिकधूमपानविशुद्धस्रोतसं स्वास्तीर्णनिवातशयनस्थमुत्तानशीर्षमीषदुन्नतपादं प्रसारितचरणं च जत्रूर्ध्वं पाणितापेन पुनः पुनः स्वेदयेदिति ।

विरेचन नस्य के पश्चात् कर्तव्य—

वि०—विरेचन नस्य के पीछे दोष आदि की अपेक्षा से स्नेह देना चाहिये (स्नेह नस्य से विरेचन नस्य की तीक्ष्णता कम हो जाती है)।

नस्यान्ते वाक्शतं तिष्ठेदुत्तानः—

स०—नस्यावसाने वाक्शतं मात्राशतमुत्तानो निद्रामासेवमानस्तिष्ठेत्।

वि०—नस्य लेने के उपरान्त उत्तान स्थिति में एक से सौ तक गिनने के समय तक लेटे रहे (सोये नहीं)।

—धारयेत्ततः ॥ २२ ॥
धूमं पीत्वा कवोष्णाम्बुकवलान् कण्ठशुद्धये ।

स०—ततो वाक्शतावस्थानादनंतरमीषदुष्णजलकवलान् धारयेत्। किमर्थम्। कंठशुद्धये उत्क्लिष्टदोषशांतये। किं कृत्वा। धूमं विरेचनाद्यन्यतमं यथायोगं पीत्वा ततोऽस्य स्नेहोक्तविधिमाचारमादिशेत् ॥ २२ ॥

वि०—फिर धूमपान करके गुनगुने पानी के कवलों को कण्ठशुद्धि के लिये धारण करना चाहिये ॥ २२ ॥

सम्यक् स्निग्धे सुखोच्छ्वासस्वप्नबोधाक्षपाटवम् ॥ २३ ॥

स०—सम्यक्स्निग्धे शिरसि सुखोच्छ्वासादयः स्युः। संग्रहे चोक्तम्। सम्यक्स्निग्धे मूर्ध्नि विरिक्ते वा सुखोच्छ्वासनिःश्वाससुखसुप्तबोधाक्षिपाटवानि स्युः ॥ २३ ॥

नस्य के सम्यक् योग आदि का लक्षण—

वि०—सम्यक् स्नेहन होने पर सुखपूर्वक उच्छ्वास, सुखपूर्वक नींद आना और जागना; इन्द्रियों में निर्मलता·सक्रियता आती है ॥ २३ ॥

रूक्षेऽक्षिस्तब्धता शोषो नासास्ये मूर्द्धशून्यता ।

स०—रूक्षे तु शिरस्यक्षिस्तब्धता तथा नासायामास्ये च शोषो मूर्धशून्यता च स्यात् ।

वि०—स्नेहन नस्य के हीन योग में—आँखों में जड़ता; नासा और मुख में शुष्कता और शिर में शून्यता होती है ।

स्निग्धेऽतिकण्डूगुरुताप्रसेकारुचिपीनसाः ॥ २४ ॥

स०—अतिस्निग्धे कंड्वादयः स्युः ॥ २४ ॥

वि०—स्नेहन नस्य से अतिस्निग्ध होने पर कण्डू, भारीपन; मुख एवं नासा से लालास्राव, अरुचि और पीनस होते हैं २४ ॥

सुविरिक्तेऽक्षिलघुतावक्त्रस्वरविशुद्धयः ।

स०—सुविरिक्ते सम्यग्विरिक्तेऽक्षिलघुतादयः स्युः ।

सुविरिक्त और दुर्विरिक्त का लक्षण—

वि०—भली प्रकार विरेचन नस्य होने पर—आंखो में लघुता एवं मुख और स्वर की शुद्धि होती है ।

दुर्विरिक्ते गदोद्रेकः क्षामताऽतिविरेचिते ॥ २५ ॥

स०—दुर्विरिक्ते गदोद्रेको रोगस्याऽधिक्यमतिविरेचिते क्षामता कृशता स्यात् ॥ २५ ॥

वि०—भली प्रकार विरेचन न होने पर—रोग बढ़ता है और अतिविरेचन से कृशता हो जाती है ॥ २५ ॥

अधुना प्रतिमर्शस्य विषयं सूचयितुमाह—

प्रतिमर्शः क्षतक्षामबालवृद्धसुखात्मसु ।
प्रयोज्योऽकालवर्षेऽपि—

स०—प्रतिमर्शः क्षतादिषु प्रयोज्यः । अकालवर्षणेऽपि कार्यः ।

प्रतिमर्श का विषय—

वि०—प्रतिमर्श नस्य[1]—उरःक्षत, क्षीण, बालक, वृद्ध तथा सुखी जीवन व्यतीत करने वालों में तथा अनार्त्तव—दुर्दिन में भी देना चाहिये ।

—न त्विष्टो दुष्टपीनसे ॥ २६ ॥
मद्यपीतेऽबलश्रोत्रे क्रिमिदूषितमूर्द्धनि ।
उत्कृष्टोत्क्लिष्टदोषे च हीनमात्रतया हि सः ॥ २७ ॥

स०—दुष्टपीनसे तु न प्रयोज्यः । दुष्टपीनसो नासारोगेषु वक्ष्यमाणः । तथा मद्यपीते तथाऽबलश्रोत्रे रुद्धश्रवणमार्गे तथा क्रिमिभिर्दूषितो मूर्धा यस्य तस्मिन् क्रिमिपीडितशिरसि तथोत्कृष्टो वृद्धिं गतस्तथोत्क्लिष्टः प्रचलो दोषो यस्य तस्मिंश्च प्रतिमर्शो न योज्यः । केन प्रकारेण न योज्य इत्याह—हि यस्मात् हीनमात्रतया हीना मात्रा यस्य स हीनामात्रस्तस्य भावो हीनमात्रता तया यस्मादसौ प्रयुज्यते । एषां चोदीर्णदोषत्वात् तावता दोषोत्क्लेश एव भवति न शमः ॥ २६–२७ ॥

दुष्ट पीनस में उसका निषेध—

वि०—दुष्ट पीनस में (प्रतिमर्श) नहीं देना चाहिये । मद्यपान के बाद, बहरेपन में, शिर में क्रिमि होने पर, बढ़े हुये तथा चलायमान हुये दोष की अवस्था में प्रतिमर्श नस्य हीन मात्रा होने से नहीं देना चाहिये । (हीन मात्रा के कारण रोग बढ़ने की सम्भावना रहती है) ॥ २६–२७ ॥

निशाहर्भुक्तवान्ताहःस्वप्नाध्वश्रमरेतसाम् ।
शिरोभ्यञ्जनगण्डूषप्रस्रावाञ्जनवर्चसाम् ॥ २८ ॥
दन्तकाष्ठस्य हासस्य योज्योऽऽन्तेऽसौ द्विबिन्दुकः ।

स०—असौ प्रतिमर्शो द्विबिंदुको निशादीनां पंचदशानां कालानामंते प्रयोज्यः ॥ २८ ॥

प्रतिमर्श का काल तथा मात्रा—

वि०—प्रतिमर्श—रात्रि या दिन में, भोजन के बाद, वमन करके, दिन में सोकर, मुसाफिरी, थकान एवं स्त्रीसंग करने पर; शिरोभ्यंग, गण्डूष, मूत्रत्याग, अञ्जन, मलत्याग व दातुन करके तथा हास्य के उपरान्त इन पन्द्रह अवस्थाओं में प्रतिमर्श नस्य दो बिन्दु मात्रा में बरतना चाहिये ॥ २८ ॥

पञ्चसु स्रोतसां शुद्धिः क्लमनाशस्त्रिषु क्रमात् ॥ २९ ॥
दृग्बलं पञ्चसु ततो दन्तदार्ढ्यं मरुच्छमः ।

स०—तत्र निशाहर्भुक्तवांताहःस्वप्नाख्येषु पंचसु कालेषु प्रतिमर्शे प्रयुक्ते स्रोतसां शुद्धिर्भवति । क्रमात्क्रमेणैव पठितेष्वध्वश्रममैथुनानां त्रयाणामंते प्रतिमर्शे दत्ते सति श्रमनाशः स्यात् । उपलक्षणं चेदम् । मनःप्रसादशिरोलाघवे अपि भवतः । एवं शिरोऽभ्यंजनादिषु पंचस्वंते प्रतिमर्शे योजिते सति दृष्टेर्बलं स्यात् । ततोऽनंतरं दंतकाष्ठहासयोरंते यथासंख्येन द्विजदृढत्वं पवनशमश्च स्यात् ॥ २९ ॥

प्रतिमर्श का फल—

वि०—प्रथम (भोजन से दिवास्वप्न पर्यन्त) पांच कालों में प्रतिमर्श नस्य देने से स्रोतों का शोधन होता है, अगले तीन (अध्व, श्रम और स्त्रीसंग) कालों में नस्य देने से थकान मिटती है । अगले पांच (शिरोऽभ्यङ्ग से मलत्याग·पर्यन्त) कालों में बरतने से आँखों की दीप्ति बढ़ती है, आगे (दातुन के बाद) दाँतो में दृढ़ता होती है, और (हास्य के बाद वायु की शान्ति होती है ॥ २९ ॥

अधुनाऽञ्जनस्य धूमादीनां च पुरुषविशेषे नियमं करोति—

न नस्यमूनसप्ताब्दे नातीताशीतिवत्सरे ॥ ३० ॥

---

[1] केवल दो विन्दु स्नेह को नाक में डालने अथवा स्नेह द्रव्य में अङ्गुलि डुबाकर उसे नासा में डाल कर घुमा देने को प्रतिमर्श कहते हैं । सुश्रुत ने एक बार खींचने से जितना स्नेह नासा से गले तक पहुँच जाय उसे प्रतिमर्श कहा है ।

न चोनाष्टादशे धूमः कवलो नोनपञ्चमे ।
न शुद्धिरूनदशमे न चातिक्रान्तसप्ततौ ॥ ३१ ॥

स०—ऊनसप्तवर्षे नस्यं न योज्यम् । तथाऽतिक्रांताशीतिवर्षे च नस्यं न प्रयोज्यम् । अपूर्णाऽष्टादशे वर्षे धूमो न प्रयोज्यः । कवलोऽपूर्णपंचवत्सरे न प्रयोज्यः । ऊनदशमवर्षे शुद्धिर्वमनविरेकादिका न प्रयोज्या । तथा अतीतसप्ततिवर्षे शुद्धिर्न योज्या ॥ ३०-३१ ॥

अवस्थानुसार नस्यादि का विधान—

वि०—सात वर्ष से कम तथा अस्सी वर्ष के उपरान्त आयु में नस्य नहीं देना चाहिये। अट्ठारह साल से कम आयु वाले को धूम नहीं देना चाहिये। पाँच साल से कम आयु में कवल नहीं देना चाहिये। दस साल से कम और सत्तर साल के उपरान्त आयु में वमन-विरेचन द्वारा शोधन नहीं करना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥

आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु वस्तिवत् ।
मर्शवच्च गुणान् कुर्यात्स हि नित्योपसेवनात् ॥ ३२ ॥
न चात्र यन्त्रणा नापि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भयम् ।

स०—प्रतिमर्शः पुनर्वस्तिरिव शस्तो हितः । कथम् । आजन्ममरणं जन्ममरणे चावधिं कृत्वा प्रतिमर्शो हित इत्यर्थः । स च प्रतिमर्शो नित्योपसेवनात् संततमभ्यस्यमानो मर्श इव गुणान् सुखोच्छ्वासादीन् कुर्यात् । अत्र च प्रतिमर्शे यंत्रणोष्णोदकोपचारी स्यादित्यादिका नास्ति । न च व्यापद्भयोऽक्षिस्तब्धता शोष इत्यादिभ्यो भयं मर्श इव अस्तीति । मर्शे इव मर्शवत् । सप्तम्यंताद्वतिः ॥ ३२ ॥

प्रतिमर्श का सर्वदा प्रयोग—

वि०—प्रतिमर्श नस्य बस्ति की भांति जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त उत्तम है। नित्य सेवन करने से मर्श नस्य की भांति गुणकारी है। इसमें न तो किसी प्रकार का कोई परहेज है, और न मर्श के समान अक्षिस्तब्धता आदि किसी रोग का भय है ॥ ३२ ॥

तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते ॥ ३३ ॥
शिरसः श्लेष्मधामत्वात्स्नेहाः स्वस्थस्य नेतरे ।

स०—तैलमेव नित्याभ्यासेन प्रतिमर्शन्यायेन नस्यार्थे श्रेष्ठं भवति । कुतो हेतोर्मूर्ध्नः कफस्थानत्वात् न चापरे स्नेहास्तेषां श्लेष्मलत्वादिति भावः ॥ ३३ ॥

नस्य में तैल की श्रेष्ठता—

वि०—स्वस्थ पुरुष को नित्य प्रति बरतने के लिये नस्य में तैल ही उत्तम है। क्योंकि शिर कफ का स्थान होता है अतः दूसरे स्नेह इतने गुणकारी नहीं, (तैल से कफ-वृद्धि नहीं होती है; अन्य स्नेहों से कफ-वृद्धि होकर विकार उत्पन्न हो सकते हैं।) ॥ ३३ ॥

आशुकृच्चिरकारित्वं गुणोत्कर्षापकृष्टता ॥ ३४ ॥
मर्शे च प्रतिमर्शे च विशेषो न भवेद्यदि ।
को मर्शं सपरीहारं सापदं च भजेत्ततः ॥ ३५ ॥
अच्छपानविचाराख्यौ कुटीवातातपस्थिती ।
अन्वासमात्राबस्ती च तद्वदेव विनिर्दिशेत् ॥ ३६ ॥

स०—आशुकारी मर्शश्चिरकारी तु प्रतिमर्शः । गुणोत्कर्षत्वयुक्तो मर्शो गुणापकृष्टतान्वितश्च प्रतिमर्श इत्यनयोर्भेदः । यदि च मर्शे प्रतिमर्शे च विशेषो न स्यात्तदा मर्शं सपरीहारं सव्यापदं च को भजेत् । न कश्चिद्भजेदित्यर्थः । प्रतिमर्शविशेषवदच्छपानविकाराख्यौ स्नेहौ शीघ्रकारित्वादिना विशेषेण निर्दिशेत् । तथा कुटीप्रवेशस्थित्या यद्रसायनमुपयुज्यते यच्च वातातपाद्यपरिहारस्थित्या रसायनं क्रियते ते च द्वे अपि यथैव विशेषेण निर्दिशेत् । तथान्वासनं मात्राबस्तिश्च तावप्येवं चिरकारिशीघ्रकारित्वादिगुणैर्विनिर्दिशेत् ॥ ३३-३६ ॥

मर्श तथा प्रतिमर्श के भेद—

वि०—मर्श नस्य शीघ्रकारी एवं गुणों में उत्कृष्ट है, प्रतिमर्श देर में काम करने वाला और गुणों में हीन है अन्यथा यदि मर्श और प्रतिमर्श में कोई भेद न हो तो कौन मनुष्य परहेज वाले एवं आपत्तियुक्त मर्श नस्य का सेवन करेगा ? इसी प्रकार अच्छा प्रावेशिक स्नेह और विचारणा स्नेहपान, कुटी और वातातक तथा अनुवासन बस्ति और मात्रा बस्ति में शीघ्रकारित्व और चिरकारित्व तथा गुणों की श्रेष्ठता और हीनता रहती है ॥ ३४-३६ ॥

इदानीमणुतैलं निर्दिदिक्षुराह—

जीवन्तीजलदेवदारुजलदत्वक्सेव्यगोपीहिमं
दार्वीत्वङ्मधुकप्लवागुरुवरीपुण्ड्राह्वबिल्वोत्पलम् ।
धावन्यौ सुरभिं स्थिरे कृमिहरं पत्रं त्रुटिं रेणुकां
किञ्जल्कं कमलाद्बलां शतगुणे दिव्येऽम्भसि क्वाथयेत् ।
तैलाद्रसं दशगुणं परिशेष्य तेन
तैलं पचेत सलिलेन दशैव वारान् ।
पाके क्षिपेच्च दशमे समसाजदुग्धं
नस्यं महागुणमुशन्त्यणुतैलमेतत् ॥ ३८ ॥

स०—जीवंतीत्यादि । जीवंत्यादीनि द्रव्याणि दिव्ये जले क्वाथयेत् । गोपी सारिवा । प्लवं गोपालदमनाख्यम् । पुंड्राह्वं पौण्डरीकम् । धावन्यौ कंटकारिकामहोटिकाख्ये । सुरभिः सल्लकी । स्थिरे शालिपर्णीपृश्निपर्ण्यौ । कृमिहरं विडंगम् । अत्र तैलसमानि द्रव्याणि ग्राह्याणीति वैद्यव्यवहारः । आकाशादेः पटादिभिर्गृहीतं जलं दिव्यमुच्यते । तत्तैलाच्छतगुणं गृहीत्वा तावत्क्वाथयेत् । यावद्दशगुणो रसस्तैलात्स्यात् । तेन क्वाथेन च तैलं दशवारान्पचेत् । दशमे च पाके तैलसममजाक्षीरं क्षिपेत् । ततः पुनः पचेत् । इति तत्तैलं महागुणमणुतैलसंज्ञं कथयंति । अणुषु तैलमणुतैलम् । अणूनींद्रियस्रोतांसि प्रविशतीत्यर्थः ॥ ३७-३८ ॥

अणुतैल—

वि०—अणुतैल—जीवन्त, जल (ह्रीवेर), देवदारु, मुस्ता, दालचीनी. खस, सारिवा, चंदन, दारुहल्दी की छाल, मुलहठी, केवटीमोथा, अगरु, शतावरी, तिलक, छोटी इलायची, उत्पल, कटेरी, बड़ी कटेरी, रास्ना, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, वायविडङ्ग, तेजपत्र, हरेणु, कमल का केशर और बला इनको परस्पर समान भाग लेकर एक सौ गुणे वर्षा जल में क्वाथ करे। जब तैल से दसगुना क्वाथ शेष रह जाय तब उतार कर छान लेवे। इस क्वाथ के दस भाग करे। एक एक भाग के साथ तेल को पकाये। इस प्रकार नौ बार तैल पका कर दसवीं बार तैल के बराबर बकरी का दूध मिलाये। फिर पाक करे। इस अणु तैल का नस्य अतिशय गुणकारी कहा जाता है ॥ ३७-३८ ॥

घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षसः ।
दृढेन्द्रियास्त्वपलिता भवेयुर्नस्यशीलिनः ॥ ३९ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने नस्यविधि-
र्नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

स०—नस्यशीलिनो निबिडोच्चतररमणीयत्वगादयः स्युः। त्वक् च स्कंधश्च ग्रीवा चाऽऽस्यं च वक्षश्च एतेषां समाहारः त्वक्स्कंधग्रीवास्यवक्षः। घनोन्नतप्रसन्नं त्वक्स्कंध ग्रीवास्यवक्षो येषां ते घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कंधग्रीवास्य-वक्षसः। तथा पुष्टेंद्रियाः पलितवर्जिताश्च भवेयुः ॥ ३९ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायाम-
ष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्यायां
विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

नस्य के गुण—

वि०—नस्य सेवन का फल—नस्य सेवन करने वाले की त्वचा मोटी और निर्मल होती है, कन्धे, ग्रीवा, मुख और छाती दृढ़, भरे हुए और निर्मल रहते हैं, इन्द्रियाँ मजबूत तथा बाल काले रहते हैं ॥ ३९ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में स्नेहविधि नामक
बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥

* * *

एकविंशतितमोऽध्यायः

ऊर्ध्वांगचिकित्साप्रसङ्गाद्धूमपानविधिं जिगदिषुराह—

अथातो धूमपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

वि०—अब इसके आगे धूम्रपान विधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

जत्रूर्ध्वकफवातोत्थविकाराणामजन्मने ।
उच्छेदाय च जातानां पिबेद् धूमं सदात्मवान् ॥ १ ॥

स०—आत्मवान् सुमतिर्हिताहारविहारो जत्रुण ऊर्ध्वं श्लेष्मवातोद्भवानां विकाराणां रोगाणामजन्मनेऽनुत्पत्त्यै तथोत्पन्नानामुच्छेदाय विनाशाय सदा धूमं पिबेत् ॥ १ ॥

धूमपान की आवश्यकता—

वि०—जितेन्द्रिय मनुष्य को चाहिये कि जत्रु से ऊपर कफ-वातजन्य रोग उत्पन्न न हो इसलिए तथा उत्पन्न रोगों की शान्ति के लिए धूम पिये ॥ १ ॥

स्निग्धो मध्यः स तीक्ष्णश्च वाते वातकफे कफे ।
योज्यः—

स०—स च धूमः स्निग्धमध्यतीक्ष्णभेदेन त्रिधा। यथाक्रमं वाते स्निग्धो वातकफे मध्यः कफे तीक्ष्णो योज्यः।

धूमपान के भेद तथा दोषानुसार प्रयोग—

वि०—यह धूम तीन प्रकार का है इसको क्रमशः वात में स्निग्ध, वात-कफ में मध्यम और कफ में तीक्ष्ण धूम बरते।

—न रक्तपित्तार्तिविरिक्तोदरमेहिषु ॥ २ ॥
तिमिरोर्ध्वानिलाध्मानरोहिणीदत्तबस्तिषु ।
मत्स्यमद्यदधिक्षीरक्षौद्रस्नेहविषाशिषु ॥ ३ ॥
शिरस्यभिहते पाण्डुरोगे जागरिते निशि ।

स०—रक्तपित्तार्त्यादिषु धूमो नावचारणीयः। ननु वाते वातकफे कफे च धूमस्योक्तत्वात्पित्तार्तौ प्राप्तिरेव नास्ति तत्किं प्रतिषेधेन। ब्रूमः। वातप्रकृतेर्वातपित्तार्तौ सत्यां कश्चिद्भिषक्पाशो भ्रांत्या प्रकृत्यनुरूपोपक्रमचिकीर्षया धूमं योजयेत्तन्निषेधार्थ-मिदमुक्तम्। अथवा पित्तार्तप्रकृतेर्वातश्लेष्मव्याध्युत्पत्तौ धूमो न योज्य इति प्रतिपादनार्थमिदं गदितम्। अशिशब्दो मत्स्या-दिषु विषांतेषु प्रत्येकं योज्यः। अत्र च यथासंभवं पानं मद्यादे-रशनं च मत्स्यादेरशनशब्देनेहोच्यते। चतुर्विधेष्वहारेष्व-शनशब्देनास्त्येव व्यवहारः। यथा मात्राशी सर्वकालं स्यादिति। केचित्तु यावगूपायिन्यपि धूमपानं नेच्छंति ॥ २-३ ॥

धूमपान के अयोग्य रोगी—

वि०—धूम का निषेध—रक्तपित्त रोगी को, विरेचन लिये तथा उदर और प्रमेह रोगी को, तिमिर, ऊर्ध्ववात, आध्मान, रोहिणी रोगों में एवं वस्ति देने पर तथा मछली, मद्य, दही, दूध, मधु, स्नेह या विष खाने पर, शिर पर चोट लगने पर, पाण्डुरोग में और रात में जागने पर धूम नहीं देना चाहिये ॥ २-३ ॥

रक्तपित्तान्ध्यबाधिर्यतृण्मूर्च्छामदमोहकृत् ॥ ४ ॥
धूमोऽकालेऽतिपीतो वा तत्र शीतो विधिर्हितः ।

स०—मूर्च्छा संज्ञानाशः। मोहश्चित्तनाशः। मुहुर्वैचित्य इति पाठात्। आंध्यबाधिर्यग्रहणमुत्तमांगरोगोपलक्षणार्थम्। तेन संग्रहोक्तमर्दितमपि गृह्यते। धूमोऽकाले पूर्वोक्ते

रक्तपित्तार्त्यादौ पीतो रक्तं पित्तादीन् कुर्यात्। अप्रतिषिद्धेऽपि काले क्षुतादावतिशयेन पीतो रक्तादिकृत्। तत्र रक्तपित्ताद्यार्तौ विधिरुपक्रमो यथास्वं सर्पिः पाननस्यालेपपरिषेकादिः शीतो विधिर्हितः ॥ ४ ॥

धूमपान के उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा—

वि०—अकाल में अथवा अधिक मात्रा में धूमपान करने से रक्त-पित्त, अन्धता, बहरापन, प्यास, मूर्च्छा, मद और मोह होता है। इस अवस्था में शीतल उपचार करना चाहिये ॥ ४ ॥

इदानीं त्रयाणां धूमानां पृथक्कालं दर्शयन्नाह—

क्षुतजृम्भितविण्मूत्रस्त्रीसेवाशस्त्रकर्मणाम ॥ ५ ॥
हासस्य दन्तकाष्ठस्य धूममन्ते पिबेन्मृदुम्।
कालेष्वेषु निशाहारनावनान्ते च मध्यमम् ॥ ६ ॥
निद्रानस्याञ्जनस्नानच्छर्दितान्ते विरेचनम्।

स०—क्षुतादीनामष्टानामंते मृदुं स्नेहनाख्यं धूमं पिबेत्। एषु क्षुतादिषु कालेषु निशाहारानावनांतेषु च मध्यमं धूमं पिबेत्। मध्यममिति मध्यान्म इति मः। विरेचनाख्यं धूमं निद्रादीनामन्ते पिबेत्। नावननस्ययोरेकार्थयोरिहोपादानान्नस्यक्रमेण धूमं पिबेदिति ग्रन्थकृता प्रतिपादितम्। तेन स्निग्धनस्यांते स्निग्धं मृद्वपरपर्यायं धूमं पिबेत्। आचार्योपदेशाच्च क्षुताद्यंतेषु च स्निग्धं धूमं पिबेत्। मध्याह्नस्यांते मध्यमं धूमं पिबेत्। कालेष्विति बहुवचनाच्च क्षुदादीनामष्टानामन्तादिषु च मध्यमं धूमं पिबेत्। एवं निद्रानस्यांते विरेचनं धूमं पिबेत्। कालेष्विति वचनान्निशाशब्दोऽत्र विरेचनपर्यायः ॥५॥

त्रिविध धूमपान के पृथक्-पृथक् काल—

वि०—धूमपान के समय—छींक, जम्भाई, मलत्याग, मूत्रत्याग, स्त्रीसंग, शस्त्रकर्म, हास्य और दातुन इन आठ कार्यों के अन्त में मृदु धूम (स्निग्ध) पिये। उपर्युक्त कालों में तथा रात्रि में भोजन के उपरान्त और नस्य के पीछे मध्यम धूम पिये। निद्रा, नस्य, अञ्जन, स्नान और वमन करने के पीछे तीक्ष्ण विरेचन धूम पिये[1] ॥ ५-६ ॥

सांप्रतमत्र नेत्रस्वरूपमाह—

बस्तिनेत्रसमद्रव्यं त्रिकोशं कारयेदृजु ॥ ७ ॥
मूलाग्रेऽङ्गुष्ठकोलास्थिप्रवेशं धूमनेत्रकम्।

स०—बस्तौ नेत्रं बस्तिनेत्रं बस्तिनेत्रेण समं बस्तिनेत्रतुल्यं द्रव्य धातुदार्वस्थिवेणुजं यस्य धूमनेत्रस्य तद्बस्तिनेत्रसमद्रव्यं धूमनेत्रं शिल्पिना कारयेद्भिषक्। किंभूतं नेत्रम्। त्रयः कोशाः पर्वाणि यस्य तत्त्रिकोशम्। ऋजु न वक्रम्। तथा मूलं चाऽग्रं च तस्मिन्यथा सङ्ख्यमंगुष्ठबदरास्थिप्रवेशम्। अङ्गुष्ठश्च कोलास्थि चेति समाहारद्वंद्वः। तत्प्रविशत्यस्मिन्निति पदरुजविशेति घञ् ॥ ७ ॥

धूमपान-नलिका का स्वरूप—

वि०—धूमनेत्र को बस्तिनेत्र बनाने वाले द्रव्यों से बनाये, इस को सीधा तथा तीन कोषवाला, तथा मूल में अंगूठा जाने योग्य और सिरे पर बेर की गुठली जाने योग्य बनाये ॥ ७ ॥

दैर्घ्येण प्रमाणमिदानीं तीक्ष्णादिकत्रिविधधूमनेत्रस्याऽऽह—

तीक्ष्णस्नेहनमध्येषु त्रीणि चत्वारि पञ्च च ॥ ८ ॥
अङ्गुलीनां क्रमात्पातुः प्रमाणेनाष्टकानि तत्।

स०—यथासङ्ख्यं दैर्घ्येण तीक्ष्णस्य त्रीण्यष्टकानि चतुर्विंशतिरङ्गुलानि स्युः। स्नेहने च धूमे चत्वार्यष्टकानि द्वात्रिंशदङ्गुलानि स्युः। मध्यमे च धूमे पञ्चाष्टकानि चत्वारिंशदङ्गुलानि स्युः। पर्वानेकत्वं सूक्ष्मत्वं दैर्घ्यं च नेत्रस्येह कृतम्। एवं हि नयनकर्णादीनां न बाधको धूमः स्यात्। तथा च मुनिः। दूराद्विनिर्गतः पर्वच्छिन्नो नाडीतनूकृतः। नेंद्रियं बाधते धूम इति ॥ ८ ॥

धूमपान-नलिका की लम्बाई—

वि०—धूमपान करने वाले मनुष्य की अङ्गलियों के प्रमाण की तीक्ष्ण धूम के लिये तीन अष्टक अर्थात् चौबीस, स्नेहन धूम के लिये (४×८) बत्तीस और मध्यम धूम के लिए (५×८) चालीस अंगुल लम्बाई का धूमनेत्र होना चाहिए।

(इसका फल—'दूराद्विनिर्गतः पर्वच्छिन्नो नाडीतनूकृतः। नेन्द्रियं बाधते धूमः ॥' चरक सू. अ. ५।५८) ॥ ८ ॥

कीदृशः सन् धूमं पिबेदित्याह—

ऋजूपविष्टस्तच्चेता विवृतास्यस्त्रिपर्ययम् ॥ ९ ॥
पिधायच्छिद्रमेकैकं धूमं नासिकया पिबेत्।

स०—ऋजु स्पष्टमुपविष्ट आसीनः। तथा तच्चेता धूमपानगतचित्तः तथा प्रसारितमुखः तथा नेत्रगतदृष्टिरित्यादि द्रष्टव्यम्। कथं पिबेत्। त्रिपर्ययमाक्षेपविसर्गावपनैस्त्रिपर्ययैः। तथा छिद्रमेकैकं पिधाय प्रकृतत्वान्नासिकाया एव। तदेवंविधः सन्नासिकया पिबेत्। एकैकमित्येकं बहुव्रीहिवदिति द्वित्वसुब्लोपौ। तेनाऽयमर्थः। एकं नासापुटं पिधायाऽपरेण नासापुटेनाऽऽकृष्य धूमं पिबेत्। अपरं नासापुटं पिधाय तदपरेणाऽऽकृष्य तथैव पिबेदित्यर्थः ॥ ९ ॥

धूमपान विधि तथा क्रम—

वि०—धूम पीते समय सीधा बैठकर, धूमपान में मन को लगा कर, मुख को खोलकर तीन घूट (कश) भरे। नासा से एक-एक छिद्र को बन्द करके धूम पिये ॥ ९ ॥

प्राक् पिबेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राणशिरोगते। १०॥
उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण विपरीतं तु कण्ठगे।

स०—नासागते शिरोगते वा दोष उत्क्लिष्टे स्वस्थानाच्चलिते सति प्राक् पूर्वं नासया पिबेत्। अनुत्क्लिष्टे दोष उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण प्राक् पिबेत् पश्चान्नासिकया।

---

[1] १. चरक ने कुछ भिन्न आठ धूमपान कालों का उल्लेख किया है—
'स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्त्वा दन्तान्निघृष्य च।
नावनाञ्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत् ॥' (च.सू.५)

कण्ठरोधदोषोत्क्लेशनार्थं प्राङ्नासिकया पिबेत् पश्चाद्वक्त्रेणेति विपरीतम् ॥ १० ॥

वि०—नासिका और शिर में स्वयं उत्क्लिष्ट हुए दोष में पहले नासिका से; फिर मुख से धूम पिये और उत्क्लेशित करने के लिये पहले मुख से और फिर नासा से पिये। कण्ठगत दोष के स्वयं उत्क्लेशित होने पर पहले मुख से, फिर नाक से धूमपान करे। कण्ठगत दोष के उत्क्लेशनार्थ पहले नासिका से और फिर मुख से पिये ॥ १० ॥

मुखेनैवोद्वमेद् धूमं नासया दृग्विघातकृत् ॥११॥

स०—नासयाऽऽस्येन वा पीतं धूमं वक्त्रेणैवोत्सृजेत्। ननु घ्राणेनैव कस्मान्न मुच्यतेत्याह। नासयेत्यादि। घ्राणेनोत्सृज्यमानो धूमो दृष्टिविघाततिमिरादीन् करोति। तस्मान्मुखेनैवोत्सृजेत् ॥ ११ ॥

वि०—नासा या मुख से पिये धूम को मुख से ही निकालना चाहिये। नासा से निकालने पर आंखों को नुकसान होता है ॥ ११ ॥

आक्षेपमोक्षैः पातव्यो धूमस्तु त्रिस्त्रिभिस्त्रिभिः।

स०—आक्षेपमोक्षैरादानविसर्गैस्त्रिभिस्त्रिभिस्त्रिन्वारान् धूमः पातव्यः। त्रिरिति द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्।

वि०—धूम को पीने और छोड़ने में तीन तीन घूंट करना चाहिये।

अह्नः पिबेत् सकृत् स्निग्धं द्विर्मध्यं शोधनं परम् ॥१२॥
त्रिश्चतुर्वा—

स०—अह्नः सकृदेकवारं स्निग्धं धूमः पिबेत्। मध्यमं धूमं द्वौ वारौ पिबेत्। अह्न इत्यत्राऽप्यनुवर्तते। तीक्ष्णं धूमं त्रीन् वारांश्चतुरो वा दिवसस्य पिबेत्। अह्न इति कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरण इति षष्ठी ॥ १२ ॥

दिन में धूमपान की संख्या—

वि०—दिन में एक बार स्निग्ध धूमपान करे, मध्यम धूम को दो बार और शोधन (तीक्ष्ण) धूम को दिन में तीन या चार बार पिये ॥ १२ ॥

—मृदौ तत्र द्रव्याण्यगुरुगुग्गुलु।
मुस्तस्थौणेयशैलेयनलदोशीरबालकम् ॥१३॥
वराङ्गकौन्तीमधुकबिल्वमज्जैलवालुकम्।
श्रीवेष्टकं सर्जरसो ध्यामकं मदनं प्लवम् ॥१४॥
शल्लकी कुङ्कुमं माषा यवाः कुन्दुरुकस्तिलाः।
स्नेहः फलानां साराणां मेदो मज्जा वसा घृतम् ॥१५॥

स०—तत्र तेषु त्रिषु धूमेषु मध्यान्मृदौ प्रायोगिकाख्ये धूमे-द्रव्याण्यगुरुप्रभृतीनि। प्लवो गोपालमदनकः। स्नेह इति। फलानामक्षोडनालिकेरादीनां स्नेहः तथा साराणां खदिरासनादीनां च स्नेहः। मधुकमदनयोरेकयोनित्वादुक्तस्योपयोगो मदनस्याऽत्र विरुद्ध इति केचित्। तच्चाऽयुक्तम्। द्रव्यांतरत्वान्मदनस्य पिण्याकादिवत्तिलादेः। घृतं चाऽत्र गव्यमेव ग्राह्यं मुख्यत्वात्। उक्तं हि। गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठ इति ॥ १३-१५ ॥

मृदु धूम के द्रव्य—

वि०—मृदु धूम के द्रव्य—अगर, गुग्गुलु, मुस्ता, स्थौणेय, शिलारस, जटामांसी, खस, शीबेर, दालचीनी, रेणुका, मुलहठी, बिल्व की मज्जा, ऐलवालुका, राल, गन्धाबिरोजा, गन्धतृण, मदन (मैनफल), (प्लव केवटी मोथा), शल्लकी, केशर, उड़द, जौ, कुन्दरु, तिल, फलों के स्नेह—(बादाम का तेल आदि), सारों के तेल—(देवदारु आदि का तेल), मेद, मज्जा वसा और घृत—ये मृदु (स्नेहन) धूम के द्रव्य हैं ॥ १३-१५ ॥

शमने शल्लकी लाक्षा पृथ्वीका कमलोत्पलम्।
न्योग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षरोध्रत्वचः सिता ॥१६॥
यष्टीमधु सुवर्णत्वक् पद्मकं रक्तयष्टिका।
गन्धाश्चाकुष्ठतगराः—

स०—शमने धूमे शल्लक्यादीनि गंधद्रव्याणि कुष्ठतगरवर्ज्यानि ॥ १६ ॥

शमन धूम के द्रव्य—

वि०—शमन धूम के द्रव्य—शल्लकी, लाख, बड़ी इलायची, कमल, उत्पल, बड़गद, गूलर, पीपल; पिलखन और लोध की छाल, शर्करा, मुलहठी, अमलतास, पद्माख, मञ्जीठ एवं कूठ और तगर को छोड़कर दूसरे सब गन्ध द्रव्य शमन धूम में उपयोगी हैं ॥ १६ ॥

—तीक्ष्णे ज्योतिष्मती निशा ॥१७॥
दशमूलमनोह्वालं लाक्षा श्वेता फलत्रयम्।
गन्धद्रव्याणि तीक्ष्णानि गणो मूर्द्धविरेचने ॥१८॥

स०—तीक्ष्णे विरेचनाख्ये धूमे ज्योतिष्मत्यादीनि गंधद्रव्याणि च तीक्ष्णानि कुष्ठतगरादीनि गणश्च शोधनादिसंग्रहोक्तो वेल्लापामार्गेत्यादिको मूर्धविरेचनः ॥ १७-१८ ॥

तीक्ष्ण धूम के द्रव्य—

वि०—तीक्ष्ण धूम के द्रव्य—मालकंगनी, हल्दी, दशमूल; मैनसिल, हरताल, लाक्षा, कोयल, त्रिफला, तीक्ष्ण गंध द्रव्य और शिरोविरेचनगण (वेल्लापामार्ग इत्यादि)—ये तीक्ष्ण धूम के द्रव्य हैं ॥ १७-१८ ॥

संप्रति धूमवर्तिविधानमाह—

जले स्थितामहोरात्रमिषीकां द्वादशाङ्गुलाम्।
पिष्टैर्धूमौषधैरेवं पञ्चकृत्वः प्रलेपयेत् ॥१९॥
वर्तिरङ्गुष्ठकस्थूला यवमध्या यथा भवेत्।
छायाशुष्कां विगर्भां तां स्नेहाभ्यक्तां यथायथम् ॥२०॥
धूमनेत्रार्पितां पातुमग्निप्लुष्टां प्रयोजयेत्।

स०—रात्रिंदिवं सलिले उषितां दैर्घ्येण द्वादशांगुलामिषीकां दर्भमूलतृणं पंचकृत्वः पंचवारान् धूमोक्तैरौषधैः पिष्टैः प्रकर्षेण लेपयेत्। यथांगुष्ठवत्स्थूला यव-

मध्या वर्तिः स्यात्। एतदाकृतिविधानं च त्रिविधेऽपि नेत्रके वर्तेः सुखप्रवेशार्थम्। तामिषीकां छायाविशुष्कां विगतगर्भामपनीतेषीकां तथा स्नेहेन घृतादिना यथास्वमभ्यक्तां तथा धूमनेत्रस्य यदंगुष्ठप्रमाणं छिद्रं तत्रार्पितां तथाग्निप्लुष्टामंगारप्रदीप्तां पातुं पानार्थे प्रयोजयेत् ॥ १९-२० ॥

धूमवर्ति का विधान—

वि०—धूमवर्ति—बारह अङ्गुल लम्बा सरकण्डा लेकर चौबीस घण्टे पानी में भीगा रहने दे (जिससे फूल जाये)। फिर धूम औषधि के द्रव्यों को पीस कर इस पर पाँच बार (पाँच तह) लेप करे। लेपने में वर्ति की मोटाई अंगूठे के बराबर तथा आकार में जौ के समान अर्थात् बीच में से मोटी और किनारों पर पतली बनाये। इसको छाया में सुखाकर बीच में से सरकण्डा निकालने से खोखली करके, घी आदि से स्निग्ध करके, योग्य धूमनेत्र में रखकर अग्नि से जलाकर पीने के लिये प्रयोग में लावे ॥ १९-२० ॥

अधुनाऽपरमपि धूमप्रकारमाह—

शरावसम्पुटच्छिद्रे नाडीं न्यस्य दशाङ्गुलाम् ॥ २१ ॥
अष्टाङ्गुलां वा वक्त्रेण कासवान् धूममापिबेत् ।

स०—शरावयोः संपुटं युग्मं तस्य छिद्रे नाडीं दशांगुलामष्टांगुलप्रमाणां वा निक्षिप्य कासी धूममापिबेत्। तदयमत्राऽर्थः। अपगतधूमखदिरबदिरादिदारुस्थिरांगारप्रखरपूर्णशरावे कासहरचूर्णं सस्नेहं गुलिकां वा न्यस्य मध्यकृतच्छिद्रशरावेण पिधाय नाडीमष्टांगुलां दशांगुलं वा निवेश्य कासवान् कासी वक्त्रेण मुखेन धूमं पिबेदिति ॥ २१ ॥

धूमपान का दूसरा प्रकार—

वि०—दो शरावों के सम्पुट में दस अथवा आठ अङ्गुल लम्बी नलिका लगाकर कासरोगी धूम को मुख से पिये ॥२१॥

कासः श्वासः पीनसो विस्वरत्वं
पूतिर्गन्धः पाण्डुता केशदोषः ।
कर्णास्याक्षिस्रावकण्ड्वर्तिजाड्यं
तन्द्रा हिध्मा धूमपं न स्पृशन्ति ॥ २२ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने धूमपानविधिर्नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

स०—कासादयो धूमपं न स्पृशंति। धूमं पातुरेते न संभवंतीति भावः। तत्र पूतिगंध आस्यनासयोः। पांडुता मुखस्य। केशस्य दोषाः सितपिंजरत्वादयः। कर्णौ चाऽस्यं चाऽक्षिणी च कर्णाऽऽस्याक्षि। स्रावश्च कंडूश्चाऽर्तिश्च जाड्यं च स्रावकंडवर्तिजाड्यम्। कर्णादिषु प्रत्येकं स्रावादिचतुष्टयं योज्यमिति। शालिनीवृत्तम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुंदराख्यायामेकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

धूमपान का फल—

वि०—धूम-पान का फल—कास, श्वास, पीनस, स्वरभेद, मुख आदि की पूतिगन्धता, पाण्डुरोग, बालों के रोग, कान, मुख, आँख का स्राव, कण्डू, जडता, तन्द्रा, हिक्का ये रोग धूम पीने वाले को छूते नहीं—ये रोग उनको नहीं होते ॥२२॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका के सूत्रस्थान में धूमपानविधिनामक इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

इदानी द्वाविंशाध्यायारम्भणप्रस्तावो गंडूषादिविधानप्रदर्शनार्थमित्याह—

अथातो गण्डूषादिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

स०—गंडूषादयो विधीयन्ते यस्मिन्निति गंडूषादिविधिः। आदिशब्देन कवलादिपरिग्रहः।

वि०—अब इसके आगे गण्डूषादि विधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

चतुष्प्रकारो गण्डूषः स्निग्धः शमनशोधनौ ।
रोपणश्च त्रयस्तत्र त्रिषु योज्याश्चलादिषु ॥ १ ॥
अन्त्यो व्रणघ्नः—

स०—चत्वारः प्रकारा भेदा यस्य स चतुष्प्रकारो गंडूषः स्निग्धादिभेदेन। तत्र तेषु गंडूषेषु मध्याद्यथासंख्यं पवनपित्तश्लेष्मसु त्रयः स्निग्धादयो गंडूषा योज्याः। तत्र वाते स्निग्धो गंडूषः। पित्ते शमनः। कफे शोधन इत्यर्थः। अन्त्यो रोपणाख्यो व्रणघ्नो व्रणसाधन उपयुज्यते ॥ १ ॥

गण्डूष के भेद एवं विधि—

वि०—गण्डूष चार प्रकार का है, यथा—स्निग्ध, शमन, शोधन, और रोपण। इनमें प्रथम तीन क्रमशः वातादि दोषों में यथा स्निग्ध गण्डूष वायु में, शमन गण्डूष पित्त में और शोधन गण्डूष कफ में बरते और चौथा रोपण गण्डूष व्रणनाशक है ॥ १ ॥

इदानीमेषां लक्षणं निर्वक्ति—

—स्निग्धोऽत्र स्वाद्वम्लपटुसाधितैः ।
स्नेहैः संशमनस्तिक्तकषायमधुरौषधैः ॥ २ ॥
शोधनस्तिक्तकट्वम्लपटूष्णै रोपणः पुनः ।
कषायतिक्तकैः—

स०—अत्रैषु गंडूषेषु मध्ये स्निग्धो मधुरादिसाधितैः स्नेहैर्भवति। शमनस्तिक्तादिभिरौषधैः। पटोलाऽरिष्टजंबवाम्रमधुकक्वाथशर्करोदकक्षौद्रादिभिः स्यात्। शोधनो गंडूषस्तिक्तकट्वम्लादिभिरौषधैर्भवति। रोपणस्तु गण्डूषः कषायतिक्तकैः स्यात् ॥ २ ॥

वि॰—इसमें स्निग्ध गण्डूष मधुर, अम्ल और लवण से सिद्ध किये हुए स्नेहों से, शमन गण्डूष तिक्त, कषाय तथा मधुर औषधि से तथा शोधन गण्डूष तिक्त, कटु, अम्ल, लवण और उष्ण द्रव्यों से किया जाता है। रोपण गण्डूष कषाय एवं तिक्त द्रव्यों से किया जाता है ॥ २ ॥

ननु द्रव्याणां शुष्कत्वाद्गण्डूषानुपपत्तिरिति चेत्तत्राह—

—तत्र स्नेहः क्षीरं मधूदकम् ॥ ३ ॥
शुक्तं मद्यं रसो मूत्रं धान्याम्लं च यथायथम्।
कल्कैर्युक्तं विपक्वं वा यथास्पर्शं प्रयोजयेत् ॥ ४ ॥

स॰—तत्र तेषु पूर्वोक्तेषु गण्डूषेषु मध्ये स्नेहादिकं कल्कैर्यथायथं युक्तं विपक्वं वा यथास्पर्शं शीतमुष्णं वा प्रयोजयेत् ॥ ३-४ ॥

वि॰—इनमें स्नेह, दूध, मधु का पानी, शुक्त, मद्य, मांसरस, मूत्र, धान्याम्ल इनको दोषादि के अनुसार कल्कों से मिला कर सिद्ध करके अथवा बिना सिद्ध किये ही शीतल या उष्ण जैसा योग्य हो, वैसा बरते ॥ ३-४ ॥

दन्तहर्षे दन्तचाले मुखरोगे च वातिके।
सुखोष्णमथवा शीतं तिलकल्कोदकं हितम् ॥ ५ ॥
गण्डूषधारणे—

स॰—दंतहर्षादौ कवोष्णमथवा शीतं दोषवशात् तिलकल्कोदकं हितम् गंडूषधारणे ॥ ५ ॥

दन्तहर्षादि में गण्डूष—

वि॰—दन्तहर्ष-दन्त के हिलने और वातजन्य मुखरोग में थोड़ा गरम अथवा शीतल तिलकल्क का पानी गण्डूष धारण में उत्तम है ॥ ५ ॥

—नित्यं तैलं मांसरसोऽथवा।

स॰—नित्यं तैलं मांसरसो वा हितः।

सामान्य गण्डूष—

वि॰—नित्य गण्डूष धारण में तिल का तैल या मांसरस उत्तम है।

ऊषादाहान्विते पाके क्षते चागन्तुसम्भवे ॥ ६ ॥
विषे क्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा।

स॰—ऊषादियुक्ते पाके क्षते वाऽऽगंतुजे तथा विषे क्षाराग्निभ्यां दग्धे च सर्पिर्गंडूषे हितं क्षीरं वा ॥ ६ ॥

सामान्य गण्डूष—

वि॰—क्षारादि से होने वाली ऊषा (जलन) और दाह युक्त पाक में, आगन्तुज व्रण में, विषपान में, एवं क्षार या अग्नि से जलने पर घी या दूध मुख में धारण करना चाहिये ॥ ६ ॥

वैशद्यं जनयत्याशु सन्दधाति मुखे व्रणान् ॥ ७ ॥
दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगण्डूषधारणम्।

स॰—माक्षिकगण्डूषधारणं मुखे वैशद्यं जनयति न पैच्छिल्यम्। मुखव्रणांश्च संदधाति तथा दाहं तृष्णां च शमयति ॥ ७ ॥

मधु-गण्डूष से लाभ—

वि॰—मधु का गण्डूष धारण करने से मुख में विशदता (निर्मलता) शीघ्र उत्पन्न होती है, मुख में व्रण भरते हैं तथा प्यास और दाह होती है ॥ ७ ॥

धान्याम्लमास्यवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥ ८ ॥
तदेवालवणं शीतं मुखशोषहरं वरम्।
आशु क्षाराम्बुगण्डूषो भिनत्तिश्लेष्मणश्चयम् ॥ ९ ॥
सुखोष्णोदकगण्डूषैर्जायते वक्त्रलाघवम्।

स॰—धान्याम्लं गण्डूषं उपयुक्तं वदनवैरस्यं तथा मलं दौर्गंध्यं चाऽपनयति। तदेव कांजिकमलवणं शीतं परमतिशयेनास्यशोषहरम्। क्षारेण स्वर्जिकादिना युक्तं जलं कफस्य चयमाशु भिनत्ति। कोष्णपानीयगण्डूषैर्वदनलाघवं संपद्यते ॥ ८-९ ॥

धान्याम्लादि के गण्डूष का फल—

वि॰—कांजी का गण्डूष मुख की विरसता और मल को नष्ट करता है। कांजी का गण्डूष नमक के बिना और शीतल धारण करने पर अतिशय मुखशोषनाशक है। क्षार (सर्जक्षार) आदि के पानी का गण्डूष तुरन्त कफ के संचय को तोड़ देता है। गुनगुने गरम पानी से गण्डूष करने पर मुख में लघुता उत्पन्न होती है ॥ ८-९ ॥

कियंतं कालमित्याह—

निवाते सातपे स्वङ्गमृदितस्कन्धकन्धरः ॥ १० ॥
गण्डूषमपिबन् किञ्चिदुन्नतास्यो विधारयेत्।
कफपूर्णास्यता यावत् स्रवद्घ्राणाक्षताऽथवा ॥ ११ ॥

स॰—वातरहिते रव्यालोके स्थाने। स्कंधौ च कंधरा च स्कंधकंधरम्। पूर्वं स्विन्नं पश्चान्मृदितं स्कन्धकन्धरं यस्य स एवम्। तथा गण्डूषमपिबंस्तथा किंचिदुन्नतं मुखं यस्य स एवंविधः सन् गण्डूषं धारयेत्। कफेन कफपूर्णमास्यं यस्य स कफपूर्णास्यस्तस्य भावः कफपूर्णास्यता यावद्भवेत्। अथवा स्रवत् घ्राणाक्षियस्य स स्रवद्घ्राणाक्षः। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो-रिति षच्। तस्य भावः स्रवद्घ्राणाक्षता यावत्स्यात्तावद्गंडूषान् धारयेत् ॥ १०-११ ॥

गण्डूषधारणविधि तथा समय—

वि॰—वातरहित स्थान में धूप में रोगी को बैठा कर उसके कन्धे और ग्रीवा पर पहले स्वेदन करके मर्दन करे। फिर गण्डूष को बिना पिये ही मुख को कुछ ऊँचा करके मुख में रखे रहे। ऐसा तब तक करे जब तक कि मुख कफ से न भर जाये अथवा नासिका और आँखों से कफ न बहने लगे ॥

असञ्चार्यो मुखे पूर्णे गण्डूषः कवलोऽन्यथा।

स॰—एवं गण्डूषाः पञ्च सप्त धारयितव्या यावत्स्वास्थ्यं स्यात्। मुखे पूर्णे सति यः सञ्चारयितुमशक्यः स्यात् स

गण्डूष उच्यते । अन्यथा च सञ्चारयितुं शक्यते मुखेऽपूर्णे यः स कवल उच्यते ।

गण्डूष और कवल के भेद—

वि०—मुख के भरने पर जो हिलाया-डुलाया नहीं जा सकता, वह गण्डूष कहलाता है। मुख के भरने पर जो हिलाया-डुलाया जा सके, वह कवल है ।

मन्याशिरःकर्णमुखाक्षिरोगाः
प्रसेककण्ठामयवक्त्रशोषाः ।
हृल्लासतन्द्रारुचिपीनसाश्च
साध्या विशेषात् कवलग्रहेण ॥ १२ ॥

स०—मन्यादीनां रोगेण सम्बन्धः । प्रसेकादीनां द्वंद्वः । आमयशब्दस्य कण्ठेण सम्बन्धो विविधकण्ठरोगसूचनार्थः । मन्यारोगादयो विशेषेण कवलधारणेन साध्याश्चिकित्स्याः ॥१२॥

मान्यादि रोग में कवल-धारण—

वि०—मन्या, शिर, कान, मुख और आंख के रोग, लाला-प्रसेक, कण्ठरोग, मुखशोष, हृल्लास, तन्द्रा, अरुचि और पीनस ये रोग विशेषतः कवलग्रह से अच्छे होते हैं ॥ १२ ॥

कल्को रसक्रिया चूर्णस्त्रिविधं प्रतिसारणम् ॥ १३ ॥
युञ्ज्यात्तत् कफरोगेषु गण्डूषविहितौषधैः ।

स०—कल्कादिभेदेन प्रतिसारणं त्रिधा स्यात् । कल्को जलादिपिष्टः । माक्षिकादिनां यद्द्रवीक्रियते द्रव्यं सा रसक्रिया । चूर्णं प्रथितमेव । तत्प्रतिसारणं श्लेष्मरोगेषु गण्डूषोक्तैरौषधैर्योज्यम् सामान्योक्तावपि कफरोगविषयत्वात शोधनगण्डूषोक्तैरिति वेद्यम् ॥ १३ ॥

प्रतिसारण का भेद तथा प्रयोग—

वि०—प्रतिसारण-कल्क, रसक्रिया, और चूर्ण भेद से तीन प्रकार का होता है । इसी प्रतिसारण को कफजन्य रोगों में गण्डूष के लिये कही हुई (शोधन गण्डूष की) ओषधियों से करना चाहिये ॥ १३ ॥

मुखालेपस्त्रिधा दोषविषहा वर्णकृच्च सः ॥ १४ ॥
उष्णो वातकफे शस्तः शेषेष्वत्यर्थशीतलः ।

स०—मुखालेपस्त्रिप्रकारो दोषघ्नो विषघ्नो वर्णकरश्च । स च मुखालेपो वातश्लेष्मण्युष्णो हितः । शेषेषु पित्ते विषे च शिशिरो हितः । स च त्रिप्रमाणः ॥ १४ ॥

मुखलेप के भेद तथा प्रयोग—

वि०—मुख का आलेप तीन प्रकार का है—दोषनाशक, विषनाशक और वर्णकारक । यह वात और कफ में गरम लगाना चाहिये, शेष पित्त और विष में या वर्ण के लिये अतिशय शीतल लगाना चाहिये ॥ १४ ॥

कथमित्याह—

त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्द्धाङ्गुलोन्नतिः ॥ १५ ॥

स०—चतुर्भागत्रिभागार्धाङ्गुलोन्नतिः । उन्नतिरुत्सेधः॥१५॥

मुखालेप के प्रमाण आदि—

वि०—लेप की मोटाई तीन प्रकार की है, अङ्गुलि का $\frac{1}{4}$ भाग जितना मोटा, अङ्गुलि के $\frac{1}{3}$ भाग जितना मोटा और अङ्गुलि के $\frac{1}{2}$ भाग जितना मोटा लेप करना चाहिये ॥ १५ ॥

अशुष्कस्य स्थितिस्तस्य शुष्को दूषयतिच्छविम् ।
तमार्द्रयित्वाऽपनयेत्तदन्तेऽभ्यङ्गमाचरेत् ॥१६॥

स०—तस्य मुखालेपस्याऽशुष्कस्य स्थितिः । शुष्कस्तु मुखालेपश्छविं त्वचं दूषयति । मुखालेपमार्द्रयित्वाऽपसारयेत् । तस्यांते तस्मिन्नपनीतेऽभ्यंगं कुर्यात् ॥ १६ ॥

वि०—मुख का आलेप गीला ही स्थित रहता है, सूखा हो जाने पर कान्ति को दूषित करता है । सूखे लेप को गीला करके हटाये । लेप को हटाने के पीछे अभ्यङ्ग करे । (मुख पर लेप तभी तक लगे रहने देना चाहिये, जब तक यह गीला रहे) ।

विवर्जयेद्दिवास्वप्नभाष्याग्न्यातपशुक्क्रुधः ।
न योज्यः पीनसेऽजीर्णे दत्तनस्ये हनुग्रहे ॥ १७ ॥
अरोचके जागरिते—

स०—मुखालेपी दिवास्वप्नादीन् वर्जयेत् । अहःस्वप्नादिसेवनात् कंडूत्वक्शोफपीनसदृष्ट्युपघातादिभयं स्यात् । पीनसादौ मुखालेपो न योज्यः ॥ १७ ॥

मुखालेप में निषिद्ध कार्य तथा व्यक्ति—

वि०—मुख पर लेप करके दिन में सोना, बोलना, अग्नि, धूप, चिन्ता और क्रोध का परित्याग करना चाहिये । पीनस में, अजीर्ण में, नस्य देने पर, हनुग्रह में, अरोचक में तथा रात्रिजागरण में मुख पर लेप न करे ॥ १७ ॥

—स तु हन्ति सुयोजितः ।
अकालपलितव्यङ्गवलीतिमिरनीलिकाः ॥ १८ ॥

स०—स च मुखालेपः सुयोजितो विधिना सेवितोऽकालपलितादीन् पराकरोति ॥ १८ ॥

मुखालेप से लाभ—

वि०—विधिपूर्वक लगाने से मुख का आलेप-असमय में वृद्धावस्था, व्यङ्ग, वली, तिमिर और नीलिका को नष्ट करता है ॥ १८ ॥

कोलमज्जा वृषान्मूलं शाबरं गौरसर्षपाः ।
सिंहीमूलं तिलाः कृष्णा दार्वीत्वङ्निस्तुषा यवाः॥१९॥
दर्भमूलहिमोशीरशिरीषमिशितण्डुलाः ।
कुमुदोत्पलकह्लारदूर्वामधुकचन्दनम् ॥२०॥
कालीयकतिलोशीरमांसीतगरपद्मकम् ।
तालीसगुन्द्रापुण्ड्राह्वयष्टीकाशनतागुरु ॥२१॥
इत्यर्द्धार्द्धोदिता लेपा हेमन्तादिषु षट् स्मृताः ।

स०—कोलमज्जादयोऽर्धश्लोकोक्ताः षण्मुखालेपा इत्येवं षट्सु हेमंतादिषु ऋतुषु स्मृताः । मुनीन्द्रैरिति शेषः । तत्र

बदरमज्जादयो हेमंते। व्याघ्रयादयः शिशिरे। दर्भमूलादयो वसंते। कुमुदादयो ग्रीष्मे। कालीयकादयः प्रावृषि। तालीसादयः शरदि ॥ १९-२१ ॥

ऋतु के अनुसार मुखालेप—

वि०—छः लेप—(१) बेर की गुठली, अडूसे का मूल, शाबरलोध, श्वेत (पीली) सरसों, (२) कटेरी की जड़, काले तिल, दारुहल्दी की छाल; तुष रहित जौ, (३) दाभ की जड़, चन्दन, खस, शिरिस, सौंफ, (४) कुमुद, उत्पल, कह्लार, दूब, मुलहठी, चन्दन, (५) कालीयक, तिल, खस, जटामांसी, तगर और पद्माख, (६) तालीस, गोंदर, पुण्डरीक, मुलहठी, काश, तगर और अगरु, ये आधे-आधे श्लोक में कहे ६ लेप क्रमशः हेमन्तः आदि ६ ऋतुओं में लगाने चाहिये ॥ १९-२१ ॥

मुखालेपनशीलानां दृढं भवति दर्शनम् ॥ २२ ॥
वदनं चापरिम्लानं श्लक्ष्णं तामरसोपमम ।

स०—मुखालेपाभ्यासवतां नराणां दर्शनं दृष्टिर्दृढं स्यात् । मुखं च विकसितमिव तथा कोमलं पद्मतुल्यं च जायते ॥ २२ ॥

नित्य मुखालेप से सौन्दर्यादि—

वि०—जो लोग मुख पर नित्य आलेप करते हैं, उनकी दृष्टि बलवती होती है, मुख खिला हुआ तथा कोमल एवं कमल के समान होता है ॥ २२ ॥

अभ्यङ्गसेकपिचवो वस्तिश्चेति चतुर्विधम् ॥ २३ ॥
मूर्द्धतैलं बहुगुणं तद्विद्यादुत्तरोत्तरम ।

स०—अभ्यंगादिभेदात् चतुर्धा शिरसि तैलं स्यात् । तच्चोत्तरोत्तरं बहुगुणं विद्यात्। अभ्यंगात् सेको बहुगुणस्ततोऽपि पिचुस्तस्मादपि बस्तिरिति क्रमेण ॥ २३ ॥

मस्तक में तेल मालिश के भेद—

वि०—शिर पर तेल लगाना-अभ्यङ्ग, परिषेक, पिचु और बस्ति के भेद से चार प्रकार का है। इनमें उत्तरोत्तर अधिक गुण समझना चाहिये ॥ २३ ॥

तत्राभ्यङ्गः प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकण्डूमलादिषु ॥ २४ ॥

स०—तत्र तेषु मध्ये रौक्ष्यादिष्वभ्यंगः कार्यः ॥ २४ ॥

दोषानुसार अभ्यङ्गादि का प्रयोग—

वि०—इनमें से अभ्यङ्ग—शिरोऽभ्यङ्ग रूक्षता, कण्डू और मल आदि में बरतना चाहिये ॥ २४ ॥

अरुंषिकाशिरस्तोददाहपाकव्रणेषु तु ।
परिषेकः—

स०—अरूंषिकादिषु परिषेकः ।

वि०—परिषेक—अरूंषिका, शिर में दर्द, दाह, पाक तथा व्रण में परिषेक बरतना चाहिये ।

—पिचुः केशशातस्फुटनधूपने ॥ २५ ॥
नेत्रस्तम्भे च—

स०—केशशातादिषु पिचुः प्रयोक्तव्यः ॥ २५ ॥

वि०—पिचु—बालों के गिरने में, शिर की त्वचा के फटने में, धूपन में और नेत्रस्तम्भ में पिचु बरतना चाहिये ॥ २५ ॥

—बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दितजागरे ।
नासाऽऽस्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे ॥ २६ ॥

स०—बस्तिः पुनः प्रसुप्त्यादौ योज्यः ॥ २६ ॥

वि०—बस्ति—स्पर्शाज्ञान में, अर्दित में, रात्रि-जागरण में, नाशाशोष में, मुखशोष में, तिमिर में और तीव्र शिरोरोग में बस्ति बरतनी चाहिये ॥ २६ ॥

विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदौ ।
शुद्धाक्तस्विन्नदेहस्य दिनान्ते गव्यमाहिषम् ॥ २७ ॥
द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरःसमम् ।
आकर्णबन्धनस्थानं ललाटे वस्त्रवेष्टिते ॥ २८ ॥
चैलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन लेपयेत ।
ततो यथाव्याधि शृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत ॥ २९ ॥
ऊर्ध्वं केशभुवो यावदङ्गुलम—

स०—तस्य शिरोबस्तेर्विधानमुच्यते । निषण्णस्योपविष्टस्य नरस्य । क्व । पीठे जानुतुल्ये तथा मृदौ न कठिने । किंभूतस्य । शुद्धो वमनादिनाऽक्तस्तैलादिना स्विन्नः स्वेदेन देहो यस्य तस्य शुद्धाक्तस्विन्नदेहस्य। कदा। दिनांतेऽपराह्णे विभावर्यां वा। चर्मपट्टं गव्यं माहिषं वा तथा द्वादशांगुलविस्तीर्णं तथा शिरस्तुल्यं तथाऽकर्णं कर्णं यावद्बंधनस्थानं यस्य तदेवंविधं चर्मपट्टं चैलवेणिकया संयम्य माषकल्केन लेपयेत्। कथम्। ललाटे वस्त्रवेष्टिते । संग्रहे तूक्तम् । अथ शुद्धतनोः सायं रात्रौ वा निवातस्थस्य स्वभ्यक्तस्विन्नस्य सोपाश्रयासनोपविष्टस्य केशांते श्लक्ष्णं द्व्यंगुलं माषपिष्टेन सूक्ष्मेण सद्यः सुखांबुना मृदितेनोभयतः प्रदिग्धं वस्त्रपट्टं बध्नीयात्। ततस्तस्योपरि संधाय बस्तिं बस्तिमूलं च दृढमवलीकं समं चैलवेणिकया बद्ध्वा पुनर्माषपिष्टेनापरिस्राविं कृत्वा यथाव्याधिदोषदूष्यहितं सिद्धमन्यतमं स्नेहं सुखोष्णमासेचयेदिति। तत एवं कृते सति व्याधिवशेन पक्वं स्नेहं कोष्णमपरिच्छिद्रेणाऽवसेचयेत्। केशभूमेरुपरिष्टाद् द्व्यंगुलं यावत् ॥ २७-२९ ॥

शिरोबस्ति की विधि—

वि०—शिरोबस्ति की विधि—घुटनों के बराबर ऊँचे, कोमल आसन पर रोगी को बिठाये। वमनादि से शुद्ध करके तैल का अभ्यंग किये हुए स्वेदन कराके सायंकाल में बस्ति देवे। बस्ति के लिये शिर के बराबर बारह अङ्गुल चौड़ा गाय या भैंस का चमड़ा लेकर इसको वस्त्र से ढाँपे हुए माथे पर कानों तक फैलाकर कपड़े की बनी रस्सी से बांध देवे। इस पर माष का कल्क लगा देवे। फिर रोग के अनुकूल सिद्ध किये हुए गुनगुने स्नेह को शिर पर इतना डाले कि वह स्नेह बालों की भूमि से एक अङ्गुल ऊपर आ जाये ॥ २७-२९ ॥

स च स्नेहः कियत्कालं धार्यं इत्याह—

धारयेच्च तम् ।
आवक्त्रनासिकोत्क्लेदाद्दशाष्टौ षट् चलादिषु ॥ ३१ ॥
मात्रासहस्राण्यरुजे त्वेकं—

स०—तं च स्नेहं यावद्वक्त्रनासिकास्रुतिः स्यात्तावद्धारयेत् । चल आदिर्येषां ते चलादयस्तेषु यथासंख्यं दशाष्टौ षट् मात्रासहस्राणि यावत्स्नेहं धारयेत् । वाते दशमात्रासहस्राणि पित्तेऽष्टौ मात्रासहस्राणि कफे षण्मात्रासहस्राणीत्यर्थः। अरुजे तु स्वस्थवृत्त एकं मात्रासहस्रं धारयेत् ॥ ३० ॥

वि०—इस स्नेह को तब तक धारण करे, जब तक मुख और नासिका से स्राव न हो । वायु रोग में दस हजार मात्रा तक, पित्त में आठ हजार मात्रा तक और कफ में छै हजार मात्रा तक स्नेह को धारण करना चाहिये । स्वस्थ अवस्था में एक हजार मात्रा तक स्नेह को धारण करना चाहिये ॥३०॥

स्कन्धादि मर्दयेत् ।
मुक्तस्नेहस्य परमं सप्ताहं तस्य सेवनम ॥ ३१ ॥

स०—मुक्तस्नेहस्याऽपनीतशिरोवस्तेः स्कंधशिरोग्रीवादि मर्दयेत् । स्नेहबस्तिर्हि स्नेहशब्देनाऽत्र गृह्यते । तत् उष्णोदकोपचारी स्यादित्यादिकमाचरेत् तत्र ह्यवोचत् । सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधिक्षीणेषु च क्रम इति । तस्य च स्नेहबस्तेः परमं सेवनं सप्त दिनानि । तस्मात्त्रिपंचसप्त वाऽहानि कार्यः शिरोबस्तिरित्यवतिष्ठते ॥ ३१ ॥

वि०—शिरोबस्ति के हटा लेने पर स्कन्ध, ग्रीवा आदि का मर्दन करे । इस स्नेहबस्ति को अधिक से अधिक सात दिन तक ही सेवन करना चाहिये । (इस प्रकार तीन दिन, पांच दिन या सात दिन ही बस्ति देनी चाहिये) ॥ ३१ ॥

धारयेत्पूरणं कर्णे कर्णमूलं विमर्दयन् ।
रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदने ॥ ३१ ॥

स०—कर्णपूरणं धारयेत् । किं कुर्वन् । कर्णमूलं विमर्दयन् । कियत्कालं यावत्पीडाया मार्दवं भवेत् । स्वस्थचित्ते तु मात्राशतं यावद्बिभृयात् ॥ ३२ ॥

कान में तैलधारणविधि तथा उसकी मात्रा—

वि०—कान को तैल भरने में कान की जड़ को मलते हुए कान में भरे तैल को तब तक धारण करना चाहिये, जब तक कि दर्द कम न हो । स्वस्थ अवस्था में एक सौ मात्रा तक कान में तैल धारण करना चाहिये ॥ ३२ ॥

अथ मात्रायाः किं प्रमाणमित्याह—

यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम् ।
निमेषोन्मेषकालेन समं मात्रा तु सा स्मृता ॥ ३३ ॥

स०—दक्षिणं हस्ताग्रं कर्तृ जानुमंडलं दक्षिणं पर्येति परिवर्तते । दक्षिणशब्दोऽत्र काकाक्षिगोलकन्यायेन द्वयेनाऽपि युज्यते । कियत्कालेनेत्याह । निमेषोन्मेषकालेन समं न तु विश्रम्य सा मात्रा स्मृता मुनिभिरिति शेषः ॥ ३३ ॥

वि०—मात्रा का लक्षण—दक्षिण हाथ का अग्रभाग दक्षिण घुटने पर जितने समय में चारों ओर घूमता है या आँख के बन्द करने और खुलने में जितना समय लगता है उतने समय को 'मात्रा' कहते हैं ॥ ३३ ॥

कचसदनसितत्वपिञ्जरत्वं
परिफुटनं शिरसः समीररोगान् ।
जयति जनयतीन्द्रियप्रसादं
स्वरहनुमूर्द्धबलं च मूर्द्धतैलम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने गण्डूषा-
दिविधिर्नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

स०—कचानां सदनादिभिः सम्बन्धः । परिफुटनं कचानामेव प्रकृतत्वात् । शिरसो मरुदामयांश्च हन्ति । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां प्रसादं जनयति । तथा स्वरादिबलं च मूर्धतैलं जनयति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचिताया-
मष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुंदराख्यायां
द्वाविंशतितमोध्यायः ॥ २२ ॥

मस्तकतैल का गुण—

वि०—शिर पर तैल लगाने का फल—शिर पर तैल लगाने से बालों का गिरना, बालों का सफेद या भूरा होना, शिर की त्वचा का फटना और वातजन्य रोग नष्ट होते हैं । इन्द्रियों की निर्मलता एवं स्वर, हनु और शिर में बल आता है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का गण्डूषादि-
विधिनामक बाइसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

* * *

त्रयोविंशोऽध्यायः

त्रयोविंशाध्यायारम्भो जत्रूर्ध्वरोगप्रस्तावाल्लोचने आश्चोतनविधानप्रदर्शनार्थमित्याह—

अथातो आश्चोतनाञ्जनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

स०—आश्चोतनं चांऽजनं च तयोर्विधिर्यस्मिन्नध्याये स एवम् । शेषं पूर्ववत् ।

वि०—अब इसके आगे आश्चोतन अंजन विधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

सर्वेषामक्षिरोगाणामादावाश्चोतनं हितम् ।
रुक्तोदकण्डूघर्षाश्रुदाहरागनिबर्हणम् ॥ १ ॥

स०—सकलानामपि नयनामयानां प्रथममाश्चोतनं

परिषेको हितम्। यतस्तदाश्चोतनमुपयुक्तं रुजादिघ्नं स्यात्। संग्रहे चोक्तम्। अव्यक्तेष्वेवंगुणमेव पक्ष्मपरिहारेणाऽक्षिकोशालेपनं तच्च विडालकसंज्ञकमिति ॥ १ ॥

नेत्ररोगों में आश्चोतन—

वि०—आँख के सब रोगों में सबसे प्रथम 'आश्चोतन' करना हितकारी है। इससे पीड़ा, चुभना, कण्डु, रगड़, आँसू आना, दाह और लालिमा नष्ट होती है ॥ १ ॥

वक्तव्य—आश्चोतन-परिषेक।

उष्णं वाते, कफे कोष्णं तच्छीतं रक्तपित्तयोः।

स०—तदाश्चोतनं मरुत्युष्णम्। कफे किंचिदुष्णम्। रक्ते पित्ते च शीतं हितम्।

वि०—यह आश्चोतन वायु में उष्ण, कफ में थोड़ा गरम, पित्त और रक्त में शीतल करना चाहिये।

संप्रत्याश्चोतनस्य विधिमाह—

निवातस्थस्य वामेन पाणिनोन्मील्य लोचनम् ॥ २ ॥
शुक्तौ प्रलम्बयाऽन्येन पिचुवर्त्त्या कनीनिके।
दश द्वादश वा बिन्दून् द्व्यङ्गुलादवसेचयेत् ॥ ३ ॥
ततः प्रमृज्य मृदुना चैलेन कफवातयोः।
अन्येन कोष्णपानीयप्लुनेन स्वेदयेन्मृदु ॥ ४ ॥

स०—निवातस्थानस्थितस्याऽऽतुरस्य वैद्यो वामेन पाणिनोन्मील्य लोचनमपांगदेशे भाजनं निधायाऽन्येन दक्षिणकरेण पिचुवर्त्त्या शुक्त्या प्रलम्बया दश द्वादश वा बिंदून् द्व्यंगुलान्नातिनिकटान्नातिदूरात् कनीनिकेऽवसेचयेत्। तत इति अनन्तरं कोमलेन वस्त्रखण्डेनाऽप्रमृज्य शोधयित्वाऽन्येन शोधनाच्चैलेन कोष्णजलप्लुतेनाऽक्षि मृदु स्वेदयेन्नातिशयेन। कयोर्दोषयोः। वातकफयोः। न तु पित्तरक्तयोरित्यर्थः ॥ २-४ ॥

आश्चोतन की विधि—

वि०—रोगी को वायुरहित स्थान में बैठाकर वैद्य अपने बायें हाथ से रोगी की आँख को खोले। फिर दूसरे दक्षिण हाथ से सिप्पी में रखी हुई तथा लटकती हुई रूई की बत्ती से कनीनिका पर दस या बारह बिन्दुओं को दो अंगुलि की दूरीसे परिषेक करे। फिर कोमल वस्त्र के टुकड़े से (या रूईसे) पोंछ देवे। कफ और वायु में सुहाते हुए गरम पानी के दूसरे फोये से मृदु स्वेदन देवे ॥ २-४ ॥

अत्युष्णतीक्ष्णं रुग्रागदृङ्नाशायाक्षिसेचनम्।
अतिशीतं तु कुरुते निस्तोदस्तम्भवेदनाः ॥ ५ ॥
कषायवर्त्मतां घर्षं कृच्छ्रादुन्मेषणं बहु।
विकारवृद्धिमत्यल्पं संरम्भमपरिस्रुतम् ॥ ६ ॥

स०—अत्यर्थमुष्णमतितीक्ष्णं चाऽऽश्चोतनं रुजे रागाय दृग्विनाशाय च स्यात्। अतिशीतं त्वक्षिसेचनं निस्तोदादीन् विधत्ते। निस्तोदः सूच्येव व्यधः। स्तम्भोऽक्षणः स्तंभनमिव। वेदना शूलम्। कषायवर्त्मत्वं कुरुते। घर्षो वर्त्मनः परस्परं सश्लेषः। बह्वतिमात्रमाश्चोतनं कृच्छ्रेणोन्मेषणं विधत्ते। अत्यल्पमक्षिसेचनं विकारवृद्धिं कुरुते अपरिस्रुतमक्षिसेचनं संरम्भं नेत्रक्षोभं विधत्ते ॥ ५-६ ॥

अत्युष्ण तीक्ष्ण आश्चोतन से रोगोत्पत्ति—

वि०—आश्चोतन अति उष्ण या तीक्ष्ण हो तो वह आँख में पीड़ा, लालिमा और दृष्टिनाश करता है। अति शीतल आश्चोतन चुभने का सा दर्द, स्तम्भ और वेदना करता है। मात्रा में बहुत आश्चोतन से आँखों में रूक्षता, रगड़ तथा कठिनाई से खोलना होता है। मात्रा में थोड़ा आश्चोतन रोग में वृद्धि करता है तथा अपरिस्रुत अर्थात् अश्रु के साथ नेत्र के बाहर न आकर नेत्र में ही रुका हुआ आश्चोतन नेत्र में क्षोभ उत्पन्न करता है ॥ ५-६ ॥

कया रीत्या नेत्रे प्रयुक्तमौषधं दोषानपनयतीत्याह—

गत्वा सन्धिशिरोघ्राणमुखस्रोतांसि भेषजम्।
ऊर्ध्वगान्नयने न्यस्तमपवर्तयते मलान् ॥ ७ ॥

स०—सन्ध्यादीनां द्वंद्वः। ततः स्रोतःशब्देन षष्ठीसमासः। सन्धिशब्देनेहाक्षिकोशसम्बन्धिनः सन्धयो गृह्यन्ते। तेनाक्षिकोशसम्बन्धिस्रोतांसि शिरोघ्राणमुखस्रोतांसि गत्वा नयने क्षिप्तमौषधमूर्ध्वगान्मलानपवर्तयते ॥ ७ ॥

नेत्र में प्रयुक्त औषध से लाभ—

वि०—आँखों में डाली हुई औषध—अक्षिकोशसम्बन्धी संधियों के स्रोत; शिरास्रोत, नासिकास्रोत एवं मुखस्रोतों में जाकर ऊपर की ओर प्रवृत्त मलों को नेत्र में ला कर बाहर निकालती है।

अथाञ्जनं शुद्धतनोर्नेत्रमात्राश्रये मले।
पक्वलिङ्गेऽल्पशोफातिकण्डूपैच्छिल्यलक्षिते ॥ ८ ॥
मन्दघर्षाश्रुरागेऽक्षिण प्रयोज्यं घनदूषिके।
आर्ते पित्तकफासृग्भिर्मारुतेन विशेषतः ॥ ९ ॥

स०—अथश्चोतनादन्यदंजनं प्रयोक्तव्यम्। कीदृशस्याऽऽतुरस्य। शुद्धा तनुर्यस्य स तस्य। मले नेत्रमात्राश्रये न त्वखिलशरीरव्यापिनि। तथा पक्वलिङ्गे। पक्वलिङ्गता कथं वेद्येति विशेषणद्वारेणाऽऽह। अल्पशोफेनातिकण्ड्वा पैच्छिल्येन च लक्षितेऽवगते पक्वलिङ्गे सति। कीदृशेऽक्षिण। मन्दा अल्पा घर्षा अश्रुरोगा यस्य तस्मन्। तथा घना दूषिका नेत्रमलो यस्मिन्नयने तस्मिन्। एदपि पक्वलिङ्गमेव। पित्तेन कफेन रक्तेन चाऽऽतुरे। मारुतेन चाऽऽतुरे विशेषेणांजनं प्रयोज्यम् ॥ ८-९ ॥

अञ्जनप्रयोग—

वि०—अंजन—(वमनादि संशोधनों द्वारा) शुद्ध शरीर वाले पुरुष में आश्चोतन के बाद अञ्जन बरतना चाहिये। अञ्जन केवल नेत्र में ही मल होने पर; दोषों के पक्व होने पर जिनके लक्षणः थोड़ा शोफ, अति कण्डू तथा पिच्छिलता है। रगड़, आँसू और लाली कम होने पर तथा नेत्रमल गाढ़ा

होने पर पित्त, कफ और रक्त से पीड़ित रोगी में विशेष करके वायु में अंजन बरतना चाहिये ॥ ८-९ ॥

लेखनं रोपणं दृष्टिप्रसादनमिति त्रिधा।
अञ्जनम्—

स०—अञ्जनं च लेखनादिभेदेन त्रिभेदम्। लिख्यते शस्त्रेणेव शुक्रर्मादीति लेखनम्। रोप्यते संरोह्यतेऽनेनाऽभिष्यंदादीति रोपणम्। प्रसाद्यते निर्मलीक्रियतेऽनेनेति प्रसादनम्। दृष्टेः प्रसादनं दृष्टिप्रसादनम्। संग्रहोक्तस्य स्नेहस्य अञ्जनस्य रोपणदृष्टिप्रसादनयोरेवांतर्भूतत्वात् तदिह पृथङ् नोक्तम्।

अञ्जन के भेद—

वि०—यह अञ्जन लेखन, रोपण और दृष्टिप्रसादन भेद से तीन प्रकार का है।

—लेखनं यत्र कषायाम्लपटूषणैः ॥ १० ॥
रोपणं तिक्तकैर्द्रव्यैः स्वादुशीतैः प्रसादनम्।
तीक्ष्णाञ्जनाभिसन्तप्ते नयने तत्प्रसादनम् ॥ ११ ॥
प्रयुज्यमानं लभते प्रत्यञ्जनसमाह्वयम्।

स०—तत्र तेषु त्रिष्वंजनेषु मध्याल्लेखनमञ्जनं कषायादिभिर्द्रव्यैः शुक्रार्मादिषु प्रयोज्यम्। रोपणमञ्जनं तिक्तकैर्द्रव्यैः स्यात्। तिक्तग्रहणमुपलक्षणार्थं संग्रहोक्तस्य। तेन कषायद्रव्यैः संस्नेहै रोपणमञ्जनं वेद्यम्। स्वादुशीतैर्द्रव्यैः प्रसादनमेव प्रसादनमञ्जनम्। स्वादुशीतद्रव्यैश्चूर्णं श्लक्ष्णांजनं सन्तप्ते चक्षुषि प्रयुज्यमानं प्रत्यञ्जनसंज्ञां लभते ॥ १०-११ ॥

लेखनादि अञ्जन के द्रव्य—

वि०—इनमें लेखन अञ्जन-कषाय, अम्ल, लवण और उष्ण द्रव्यों से तथा रोपण अञ्जन-तिक्त द्रव्यों से करना चाहिये। प्रसादन अञ्जन-स्वादु (मधुर) एवं शीतल द्रव्यों से करना चाहिये। तीक्ष्ण अञ्जन से अभिसन्तप्त आँख में (तीक्ष्ण अञ्जन के बाद) प्रयोग करने पर प्रसादन की संज्ञा प्रत्यञ्जन हो जाती है[1] ॥ १०-११ ॥

दशाङ्गुला तनुर्मध्ये शलाका मुकुलानना ॥ १२ ॥
प्रशस्ता, लेखने, ताम्री रोपणे काललोहजा।
अङ्गुली च, सुवर्णोत्था रूप्यजा च प्रसादने ॥ १३ ॥

स०—दशांगुला राजमाषस्थूला शलाका प्रशस्यते। मध्ये तनुस्तथा मुकुलाकारे आनने मुखे द्वे अपि यस्याः सा मुकुलानना। लेखनेंऽजने ताम्री शलाका प्रशस्यते। रोपणे काललोहोत्था कृष्णशस्त्रोद्भवा। अंगुली च हस्तावयवविशेषो एव शस्तः। एवं प्रसादनेंऽजने सुवर्णोत्था कनकोद्भवा च शलाका प्रशस्ता ॥ १२-१३ ॥

अञ्जन की शलाका—

वि०—अञ्जनशलाका—दस अङ्गुल लम्बी; बीच में पतली; सिरों पर गोल (डोढी के आकार की) शलाका उत्तम है। लेखन कार्य में ताम्र की बनी; रोपण में काललोह (तीक्ष्ण लोह) की बनी हो या केवल अङ्गुलि से अञ्जन करे। प्रसादन में स्वर्ण या चाँदी की बनी शलाका उत्तम है ॥ १२-१३ ॥

अंजनकल्पना त्रिप्रकारा स्यात् कथमित्याह—

पिण्डो रसक्रिया चूर्णस्त्रिधैवाञ्जनकल्पना।
गुरौ मध्ये लघौ दोषे ताः क्रमेण प्रयोजयेत् ॥ १४ ॥

स०—पिंडादिभेदेन त्रिप्रकाराऽजनकल्पना स्यात्। पिंडादयो बहुदोषादिषु क्रमेण प्रयोज्याः। गुरौ दोषे पिंडः प्रयोज्यो मध्ये दोषे रसक्रिया लघुदोषे चूर्ण इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अञ्जन की त्रिविध कल्पना—

वि०—अञ्जन की कल्पना—पिण्ड, रसक्रिया और चूर्ण भेद से तीन प्रकार की है। इनमें गुरु दोष में पिण्ड; मध्यम दोष में रसक्रिया और लघु दोष में चूर्ण बरतना चाहिये ॥ १४ ॥

हरेणुमात्रा पिण्डस्य वेल्लमात्रा रसक्रिया।
तीक्ष्णस्य, द्विगुणं तस्य मृदुनः—

स०—तीक्ष्णद्रव्यकृतस्य पिंडस्य हरेणुमात्रं प्रमाणं कथयंति। मृदुद्रव्यकृतस्य पिंडस्य तद् द्विगुणं द्विहरेणुमात्रं वदंति। रसक्रियाया विडंगं प्रमाणमाहुः।

तीक्ष्णादि चूर्ण का प्रमाण—

वि०—तीक्ष्ण पिण्ड द्रव्य की मात्रा हरेणु (मेवड़ी के बीज) के समान तथा तीक्ष्ण रसक्रिया की मात्रा वेल्लज (विडंग) के बराबर होती है। मृदु द्रव्यों से बने पिण्ड अथवा रसक्रिया की मात्रा दुगुनी होती है।

—चूर्णितस्य च ॥ १५ ॥
द्वे शलाके तु तीक्ष्णस्य, तिस्रस्तदितरस्य च।

स०—चूर्णे तीक्ष्णे द्विगुणां शलाकां मृदौ त्रिगुणां शलाकामभिदधुः। तंत्रांतरे चोक्तम्। लेखनमंजनं ताम्ररजतकांस्याद्यन्यतमेषु धार्यम्। रोपणं सुवर्णवटशंखान्यतमेषु। प्रसादनं स्फटिकप्लक्षचंदनान्यतमेषु धार्यम्। एवं ह्यंजनमव्यापन्नगुणं भवति। वर्तेर्घर्षणार्थं शिला निम्नमध्याऽनुन्नारिणी पंचांगुलायता त्र्यंगुलविस्तारेति ॥ १५ ॥

वि०—चूर्ण में—तीक्ष्ण चूर्ण की मात्रा दो शलाका है, और मृदु चूर्ण की मात्रा तीन शलाका है ॥ १५ ॥

निशि स्वप्ने न मध्याह्ने म्लाने नोष्णगभस्तिभिः ॥ १६ ॥
अक्षिरोगाय दोषाः स्युर्वर्धितोत्पीडितद्रुताः।
प्रातः सायं च तच्छान्त्यै व्यभ्रेऽर्केऽतोऽञ्जयेत्सदा ॥

स०—निशि रात्रावंजनं न प्रयोज्यम्। तथा स्वप्ने स्वप्नकालेंऽजनं न प्रयोज्यम्। तथा मध्यंदिनेंऽजनं न प्रयोज्यम्। न च म्लाने लोचनेंऽजनं प्रयोज्यम्। केन

---

[1] दृष्टिप्रसादन अञ्जन का प्रयोग स्वस्थावस्था में नेत्रों की निर्मलता के लिए करना उचित है :—

'सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोः प्रयोजयेत्।' (च. सू. ५)

ग्लाने। उष्णाभिर्दीधितिभिः। तस्मादेषु कालेष्वंजनेन प्रयुक्तेन दोषा वृद्धिं नीतास्तथाऽन्यस्थानगतत्वादुत्पीडितास्तथा द्रुताः कालस्योष्णत्वाद्विलयं गता अक्षिरोगाय स्युस्तस्मादेषु कालेष्वंजनं न प्रयोज्यम्। यतः पूर्वोक्तेषु कालेषु पूर्वोक्ता दोषास्तस्मात्पूर्वाह्णे अपराह्णे च तच्छांत्यै तस्याक्षिरोगस्योपशमाय गताभ्रे रवौ सदैव नेत्रमंजयेत् ॥ १६-१७ ॥

रात्रि आदि में अञ्जन करने का निषेध—

वि०—रात्रि में, सोने के समय, मध्याह्न में तथा धूप से मुरझायी आँखों में अञ्जन नहीं लगाना चाहिये क्योंकि इन अवस्थाओं में अञ्जन करने से दोष बढ़कर (अन्यस्थानगत होने से) उत्पीडित होकर तथा द्रव होकर आँख के रोग उत्पन्न करते हैं। इनकी शान्ति के लिये या इनसे बचने के लिये प्रातःकाल और सायंकाल में साफ आकाश में (बादलों से रहित सूर्य) होने पर सदा अञ्जन करना चाहिए ॥ १६-१७ ॥

वदन्त्यन्ये तु न दिवा प्रयोज्यं तीक्ष्णमञ्जनम्।
विरेकदुर्बलं चक्षुरादित्यं प्राप्य सीदति ॥ १८ ॥

स०—अन्ये त्वाचार्या एवं मन्यंते। तीक्ष्णमंजनं दिवा न प्रयोज्यम्। कस्मादित्याह। यस्माच्चक्षुरादित्यं प्राप्य सीदति। किंभूतम्। विरेकदुर्बलम्। तीक्ष्णांजनेन विरेचितत्वात्। तस्माद्दिवसे तीक्ष्णमंजनं न प्रयोज्यम् ॥ १८ ॥

अन्याचार्यों के मत—

वि०—दूसरे (चरक आदि)-दिन में तीक्ष्ण अञ्जन करने का निषेध करते हैं क्योंकि तीक्ष्ण अञ्जन से आँख का विरेचन होने के कारण दुर्बल हुई दृष्टि सूर्य के प्रकाश से पीडित हो जाती है ॥ १८ ॥

अत एवाऽऽह—

स्वप्नेन रात्रौ कालस्य सौम्यत्वेन च तर्पिता।
शीतसात्म्या दृगाग्नेयी स्थिरतां लभते पुनः ॥ १९ ॥

स०—यस्मात्स्वप्नेन रात्रौ तर्पिताः तथा कालस्य राज्याख्यस्य सौम्यत्वेन तर्पिता दृष्टिः पुनः स्थैर्यं प्राप्नोति तीक्ष्णांजनक्षोभितापि। कीदृग्दृष्टिः। आग्नेय्यग्न्युत्कटभूतसम्भवा। तथा शीतसात्म्या। तस्माद्रात्रावञ्जनं प्रयोज्यम्। आग्नेयीति सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढग्वक्तव्य इति ढक्। शीतं सात्म्यं यस्याः। पैत्तिकज्वरस्येव ॥ १९ ॥

वि०—रात्रि में सोने से और समय के सौम्य होने के कारण तर्पित हुई-आग्नेयी होते हुए भी शीतसाम्य वाली दृष्टि रात्रि में प्रयुक्त किये अञ्जन से पुनः स्थिरता प्राप्त करती है ॥ १९ ॥

वक्तव्य—चरक में 'दिवा तन्न प्रयोक्तव्यं नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम्। विरेकदुर्बला दृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति। तस्मात् स्राव्यं निशायां तु ध्रुवमञ्जनमिष्यते ॥' चरक, सू. अ. ५।१७ ॥

तदेतदन्यमतमव्यापकमिति दूषयन्नाह—

अत्युद्रिक्ते बलासे तु लेखनीयेऽथवा गदे।
काममह्न्यपि नात्युष्णे तीक्ष्णमक्ष्णि प्रयोजयेत् ॥ २० ॥

स०—अत्युत्कृष्टे कफेऽथवा लेखनार्हे शुक्रार्मादौ रोगे दिनेऽपि नात्युष्णे तीक्ष्णमञ्जनं प्रयोजयेत्। काममनुगतमेतत्। कालस्यात्यौष्ण्यादंजनस्य तैक्ष्ण्याच्चाऽतियोगेन दृष्ट्युपघातः स्यात् ॥ २० ॥

अन्य मत का अपवाद—

वि०—कफ के अत्यधिक बढ़े होने पर; अथवा शुक्र अर्म आदि लेखनीय रोगों में, अधिक उष्ण काल न होने पर आँखों में तीक्ष्ण अञ्जन का इच्छानुसार दिन में भी प्रयोग कर सकते हैं।

अत एवाह—

अश्मनो जन्म लोहस्य तत एव च तीक्ष्णता।
उपघातोऽपि तेनैव तथा नेत्रस्य तेजसः ॥ २१ ॥

स०—पाषाणाच्छस्त्रस्योत्पत्तिस्तस्मादेव चाऽश्मनः श्लक्ष्णतादियोगात्तीक्ष्णता। उपघातोऽतिकुण्ठत्वादिकस्तेनैव पाषाणेन न केवलं तैक्ष्ण्यम्। तथा तेनैवाश्मशस्त्रन्यायेन नेत्रस्य तेजसोऽग्नेरश्मस्थानीयाज्जन्म रविसंज्ञात्तेजसः सकाशात्तीक्ष्णता दर्शनपटुत्वमत्युष्णेन तु तेन तस्योपघातः। तस्माद्यदन्ये वन्दंति सामान्येनैव दिवांऽजनं न प्रयोज्यमिति तदसदेव ॥ २१ ॥

उक्त विषय में दृष्टान्त—

वि०—लोह की उत्पत्ति पत्थर से होती है, उस शस्त्र की तीक्ष्णता भी उसी पत्थर से है, और शस्त्र का कुण्ठित होना भी पत्थर से ही होता है; इसी प्रकार दृष्टि भी तेज से उत्पन्न होती है; तैजस तीक्ष्ण अञ्जन से ही तीव्र बनती है और तेज से ही दूषित होती है ॥ २१ ॥

न रात्रावपि शीतेऽपि नेत्रे तीक्ष्णाञ्जनं हितम्।
दोषमस्रावयत्स्तब्धं कण्डूजाड्यादिकारि तत् ॥ २२ ॥

स०—अपि च रात्रावपि नेत्रे कफाधिक्येनातिशीते कण्डूपैच्छिल्याद्यनुमिते तीक्ष्णमञ्जनं न प्रयोज्यम्। यतो निशि तीक्ष्णमञ्जनमुपयुक्तं कालस्य सौम्यात्वाद्दोषस्रवणेऽयोग्यमस्रावयदञ्जनं कण्डूजाड्यादिकृत् स्यान्न तु शमकारि। तस्माच्छीतसात्म्या दृगाग्नेयी स्थिरतां लभते पुनरित्येतदप्यसत्। तस्मात्पूर्वोक्तमेवाऽनवद्यम् ॥ २२ ॥

रात को भी अतिशीत में तीक्ष्णाञ्जननिषेध—

वि०—रात्रि में भी अतिशीत होने पर तीक्ष्ण अञ्जन आँख में नहीं लगाना चाहिये क्योंकि शीत काल होने से अञ्जन दोष का स्राव न करा के स्तब्धता, कण्डू, जड़ता आदि उत्पन्न करता है ॥ २२ ॥

नाञ्जयेद्भीतवमितविरिक्ताशितवेगिते।
क्रुद्धज्वरिततान्ताक्षिशिरोरुक्शोकजागरे ॥ २३ ॥

अदृष्टेऽर्के शिरःस्नाते पीतयोर्धूममद्ययोः ।
अजीर्णेऽग्न्यर्कसन्तप्ते दिवासुप्ते पिपासिते ॥ २४ ॥

स०—भीतादीनामक्षिणी वैद्यो नांजयेत् । अशितोऽत्र सद्योभुक्तो वेद्यः । सद्योभुक्तस्य नरस्य नयने नांजयेदित्यर्थः । तांते सूक्ष्मभासुरादिदर्शनादभिघातत्वाच्च ग्लानेऽक्षिणी यस्य स एवं तस्मिन् । अदृष्टेऽर्के जलदच्छन्नत्वात् तथा शिरःस्नातादिषु ॥ २३-२४ ॥

अञ्जन के अयोग्य व्यक्ति—

वि०—अंजननिषेध—डरे हुए, वमन किये; विरेचन लिये; भोजन करने पर, मलमूत्र के उपस्थित वेग पर; क्रुद्ध एवं ज्वर-युक्त होने पर, नितान्त-सूक्ष्म-चमकते आदि रूपों के दर्शन से थकी या चकित दृष्टि में, शिरोरुक्, शोक तथा रात्रि-जागरण में, सूर्य के छिपे होने पर, शिर से स्नान करने पर, मद्य या धूम के पीने पर; अजीर्ण में, अग्नि या सूर्य से सन्तप्त होने पर; दिन में सोने पर, प्यास लगी होने पर अञ्जन नहीं करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

सांप्रतं यादृशमञ्जनं न योज्यं तद्दर्शयति—

अतितीक्ष्णमृदुस्तोकबह्वच्छघनकर्कशम् ।
अत्यर्थशीतलं तप्तमञ्जनं नावचारयेत् ॥ २५ ॥

स०—अतिशब्दस्य तीक्ष्णादिभिर्घनांतैः सम्बन्धः । अत्यर्थशीतलमित्येतस्मादत्यर्थशब्दस्तप्तमित्यत्राऽनुवृत्तिकृतेन सम्बन्धेन योज्यः । अतितीक्ष्णादिगुणमञ्जनं न प्रयोजयेत् । तन्त्रातरे चांऽजनविधिरुक्तः । सुखोपविष्टस्याऽऽतुरस्य सूपविष्टो वैद्यो वामांगुष्ठेनोत्तरं वर्त्मोत्क्षिप्य कृष्णभागस्याधः कनीनिकादपांगं यावदञ्जनं नयेदिति ॥ २५ ॥

प्रयोग के अयोग्य अञ्जन—

वि०—अतितीक्ष्ण; अतिमृदु, अत्यल्प, अतिमात्रा में, अतिपतला, अतिगाढ़ा, कर्कश, अतिशीतल, अत्युष्ण अञ्जन आँखों में नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

वक्तव्य—अञ्जनविधि—'सुखोपविष्टस्य सुखो पविष्टो वैद्यो वामाङ्गुष्ठेनोत्तरं वर्त्मोत्क्षिप्य कृष्णभागस्याधः कनीनिकादपाङ्गं यावदञ्जनं नयेत् ॥'

अथानुन्मीलयन् दृष्टिमन्तः सञ्चारयेच्छनैः ।
अञ्जिते वर्त्मनी किञ्चिच्चालयेच्चैवमञ्जनम् ॥ २६ ॥
तीक्ष्णं व्याप्नोति सहसा न चोन्मेषनिमेषणम् ।
निष्पीडनं च वर्त्मभ्यां क्षालनं वा समाचरेत् ॥ २७ ॥

स०—अद्ययवमञ्जनस्वरूपमवेक्ष्य नेत्रेंऽजिते सति दृष्टिगोलकमनुन्मीलयन्मध्ये शनैःशनैः सञ्चारयेत् । कथम् । वर्त्मनी चालयेत् । एवमञ्जनं नेत्रं व्याप्नोत्यनुप्रविशति । न च सहसा विध्यतिक्रमेणोन्मेषनिमेषणं कुर्यात् । चशब्दोऽवधारणे । नैव समाचरेदित्यर्थः । वर्त्मभ्यां च निष्पीडनं न समाचरेत । वा शब्दोऽवधारणे क्षालनं च नैव कुर्यात् ॥ २६-२७ ॥

अञ्जन के पश्चात् कर्तव्य—

वि०—अञ्जन लगाने के उपरान्त आँखों को बन्द रख कर ही धीरे से दृष्टिगोलक को अन्दर ही चलाये । पलकों को भी थोड़ा चलाये; इस प्रकार करने से तीक्ष्ण अंजन फैल जाता है । सहसा आँखों को खोलना, बन्द करना; पलकों को दबाना, अथवा आँखों को धोना नहीं चाहिये ॥२६-२७॥

अपेतौषधसंरम्भं निर्वृतं नयनं यदा ।
व्याधिदोषर्तुयोग्याभिरद्भिः प्रक्षालयेत्तदा ॥ २८ ॥

स०—अपेतोऽपगत औषधसंरम्भो भेषजक्षोभो यस्मान्नेत्रात्तदेवमपेतौषधसंरम्भम् । अत एव निर्वृतमपेतदुःखानुबन्धि यदा लोचनं स्यात्तदा व्याध्यादियोग्यैर्जलैः प्रक्षालयेत् । तत्र व्याधिरभिष्यन्दादिः । दोषो वातादिः । ऋतुर्वसन्तादिः ॥ २८ ॥

नेत्र धोने की विधि—

वि०—जब औषध की कड़ुआहट मिट जाय और नेत्र पीडारहित हो जाँय तब रोग, दोष तथा ऋतु के अनुसार जल से इसको धोये ॥ २८ ॥

दक्षिणाङ्गुष्ठकेनाक्षि ततो वामं सवाससा ।
ऊर्ध्ववर्त्मनि सङ्गृह्य शोध्यं वामेन चेतरत् ॥ २९ ॥

स०—ततो नयनप्रक्षालनादनन्तरं दक्षिणांगुष्ठेन सवस्त्रेण वामं नयनमूर्ध्ववर्त्मनि सम्यगादाय शोधनीयम् । वामेनांऽगुष्ठेन सवाससेतरत् दक्षिणमूर्ध्ववर्त्मनि संगृह्य शोध्यम् ॥२९॥

नेत्र धोने की विधि—

वि०—दक्षिण हाथ के अंगूठे को वस्त्र में लपेट कर-वाम आँख को ऊपर के पलक से पकड़ कर साफ करना चाहिये । दक्षिण आँख को ऊपर के पलक से पकड़ कर वाम हाथ के अंगूठे पर वस्त्र लपेट कर उससे साफ करना चाहिये ॥ २९ ॥

किमिति शोध्यमित्याह—

वर्त्मप्राप्ताऽञ्जनाद्दोषो रोगान् कुर्यादतोऽन्यथा ।

स०—अतोऽन्यथाऽशोध्यमाने वर्त्मनि प्राप्तं च तदञ्जनं वर्त्मप्राप्तांजनं तस्माद्दोषो रोगान् कुर्यात् । तस्मात्तच्छोध्यं नयनम् ॥ २९ ॥

नेत्रशोधन नहीं करने से हानि—

वि०—अन्यथा (आँखों का शोधन न करने से) अञ्जन द्वारा पलकों में आया हुआ दोष रोगों को उत्पन्न करता है ।

कण्डूजाड्येऽञ्जनं तीक्ष्णं धूमं वा योजयेत् पुनः ॥३०॥

स०—कण्डूश्च जाड्यं चेति समाहारद्वन्द्वः । तस्मिन् सति तीक्ष्णमञ्जनं योजयेत् । अथवा तीक्ष्णं धूमं योजयेत् ॥ ३० ॥

वि०—आँख में कण्डू या जडता होने पर तीक्ष्ण अञ्जन फिर बरतना चाहिये या धूमपान करना चाहिए ॥ ३० ॥

तीक्ष्णाञ्जनाभितप्ते तु चूर्णं प्रत्यञ्जनं हिमम् ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थान आश्च्योतनाञ्जन-
विधिर्नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

स०—पुनस्तीक्ष्णेनांजनेनाऽभितप्ते लोचने पूर्णं प्रत्यञ्जनं चोक्तं हितमिति ।

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचिताया-
मष्टांगहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां
त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

वि०—तीक्ष्ण अंजन से अभितप्त आँख में शीतल चूर्ण से प्रत्यञ्जन करे।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का आश्च्योतनाञ्जन
विधि नामक तेइसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

* * *

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

अस्मादनन्तरं चतुर्विंशाऽध्यायारम्भ आश्च्योतनांजनाभ्यां हि नयनस्य प्रायो दौर्बल्यमतस्तर्पणादेरूपयोगो युक्त इत्याह—

अथातस्तर्पणपुटपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

स०—तर्पणं च पुटपाकश्च तर्पणपुटपाकौ तयोर्विधिस्तम् । शेषं पूर्ववत ।

वि०—अब इसके आगे तर्पणपुटपाकविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

नयने ताम्यति स्तब्धे शुष्के रूक्षेऽभिघातिते ।
वातपित्तातुरे जिह्मे शीर्णपक्ष्माविलेक्षणे ॥ १ ॥
कृच्छ्रोन्मीलसिराहर्षसिरोत्पाततमोऽर्जुनैः ।
स्यन्दमन्थान्यतोवातवातपर्यायशुक्रकैः ॥ २ ॥
आतुरे शान्तरागाश्रुशूलसंरम्भदूषिके ।
निवाते तर्पणं योज्यं शुद्धयोर्मूर्द्धकाययोः ॥ ३ ॥
काले साधारणे प्रातः सायं वोत्तानशायिनः ।

स०—चक्षुषि ग्लायति सति तथा स्तब्धादिगुणे तर्पणं कार्यम् । तथा शीर्णे पक्ष्मणी यस्य तदेवम् । आविलमस्पष्टमीक्षणं दर्शनं यस्य तदेवम् । शीर्णपक्ष्म च तदाविलेक्षणं च तस्मिन् । तथा कृच्छ्रोन्मीलादयोऽक्षिरोगेषु वक्ष्यन्ते । कृच्छ्रोन्मीलश्च शिराहर्षश्च शिरोत्पातश्च तमश्चातैरातुरे । तथा स्यन्दश्च मन्थश्चान्यतो वातश्च वातपर्यायश्च शुक्रकं च तैरातुरे । यथा नस्याऽनर्हे । यतो वक्ष्यति । तर्पणं पुटपाकं च नस्यानर्हे न योजयेत् । तथा शांताः शमंगता रागाश्रुशूलसंरम्भदूषिका यस्मिन्नयये तस्मिन् । कीदृशि स्थाने । निवाते विगताऽनिले । उपलक्षणं चेदम् । विगतातपरजोधूमादिका इत्यपि द्रष्टव्यम् कीदृशयोर्मस्तकदेहयोः । शुद्धयोर्यथायोगं वमनविरेचननस्यैः कृतशुद्धयोरित्यर्थः । कीदृशे काले । साधारणे वसन्तादिके । कदा । सायं प्रातर्वा दोषदूष्याद्यपेक्षया । कीदृशस्याऽऽतुरस्य । उत्तानशायिन इति । शयनस्थस्योत्तानस्येत्यर्थः ॥ १-३ ॥

वि०—तर्पण का विषय—आँख के म्लान होने पर (देखने में अशक्त होने पर), स्तब्ध, शुष्क, रूक्ष या चोट लगने पर, वायु-पित्त से पीड़ित होने पर, बरौनियों के गिरने पर, दृष्टि मलिन होने पर (देखने से जब आँखों से पानी आ जाये), कठिनाई से आँख खुलने पर, शिराहर्ष में, शिरोत्पात में, आँखों के सामने अंधेरा होने पर, अर्जुन रोग में, अभिष्यन्द में, अधिमन्थ में, अन्यतोवात में, वातविपर्यय में तथा शुक्ररोग में तर्पण बरतना चाहिये। तर्पण का समय-जब आँख में लालिमा, अश्रु, शूल, शोथ (या रगड़) तथा आँख की मैल शान्त हो जाये तब वमन, विरेचन और नस्य से शरीर एवं शिर का आवश्यक शोधन करके वायुरहित स्थान में रोगी को बिठाकर, साधारण ऋतु में प्रातः या सायंकाल रोगी को चित्त (उत्तान) लिटाकर तर्पण देना चाहिये ॥१-३॥

यवमाषमयीं पालीं नेत्रकोशाद् बहिः समाम् ॥ ४ ॥
द्व्यङ्गुलोच्चां दृढां कृत्वा यथास्वं सिद्धमावपेत् ।
सर्पिर्निमीलिते नेत्रे तप्ताम्बुप्रविलायितम् ॥ ५ ॥
नक्तान्ध्यवाततिमिरकृच्छ्रबोधादिके वसाम् ।
आपक्ष्माग्रात्—

स०—यवैर्मिश्रा माषा यवमाषास्ते प्रकृता यस्यां सा यवमाषमयी ताम् । तादृशीं पालीं नेत्रकोशाद्बाह्यत उभयपार्श्वयोः समामनिम्नोन्नतां कृत्वा यथायोगं दोषदूष्याद्यनुरोधात्पक्वं घृतं निमीलितेऽनुन्मीलिते लोचने क्षिपेत् । अथ पाल्या उच्छ्रायमाह । द्व्यंगुलोच्चां द्व्यंगुलोच्छ्रायवतीम् । तथा दृढां निबिडाम् । यथा स्नेहो न प्रस्रवेदित्यर्थः । कीदृशं सर्पिः । तप्तेन जलेन प्रकर्षेण विलापितं द्रवीकृतम् । राज्यांध्यादिषु वसां यथास्वौषधसिद्धां तथैव विलापितामावपेत् । कथम् । आपक्ष्माग्रात् पक्ष्माग्राणि यावन्निमग्नानि तावत्सर्पिरादिरावपेदिति ॥ ४-५ ॥

तर्पण की विधि—

वि०—(उत्तान लेटे हुए रोगी के) नेत्रकोशों के बाहर जौ और उड़द के आटे से समान जो ऊँची-नीची न हो पाली (थाल्हा) बनाये। यह पाली दो अङ्गुल ऊँची और मजबूत बनानी चाहिये। दोष-दूष्य के अनुसार सिद्ध किये घृत को गरम पानी में रखकर पिघला कर इसको नेत्र के चारों ओर बनी पाली में डाल देवे। रतौंधी, वातजन्य तिमिर और कठिनाई से आँख खुलने आदि में वसा को घी के

स्थान पर बरते। पाली में घी या वसा को बरौनियों के अगले भाग डूबने तक भरे ॥ ४-५ ॥

—अथोन्मेषं शनकैस्तस्य कुर्वतः ॥ ६ ॥
मात्रा विगणयेत्तत्र वर्त्मसन्धिसितासिते ।
दृष्टौ च क्रमशो व्याधौ शतं त्रीणि च पञ्च च ॥ ७ ॥
शतानि सप्त चाष्टौ च दश मन्थे दशानिले ।
पित्ते षट् स्वस्थवृत्ते च बलासे पञ्च धारयेत ॥ ८ ॥

स०—अथ घृताद्यावपनादनन्तरं शनैःशनैरुन्मीलनं विदधतस्तस्याऽऽतुरस्य मात्राः पूर्वोक्ता विगणयेत्। तत्र तेषु वर्त्मादिके व्याधौ सर्पिषि क्षिप्ते शतसंख्यादीर्मात्रा विगणयेत् क्रमेण। तत्र वर्त्मरोगे मात्राशतम्। सन्धिरोगे त्रीणि शतानि। सितरोगे पञ्च शतानि। असितरोगे सप्त शतानि। दृष्टिरोगेऽष्टौ शतानि धारयेदिति। क्रमशो यथासंख्येन। मन्थाख्यं रोगे दश शतानि। वातरोगे दशैव शतानि। पित्तरोगे षट् शतानि। स्वस्थवृत्ते च षट् शतानि। कफे पंच शतानि धारयेत् ॥ ६-८ ॥

रोगानुसार औषधधारण का समय—

वि०—घृत का आवाप करने के उपरान्त रोगी धीमे धीमे आँखों को खोलता रहे। रोगी के इस प्रकार करने में वैद्य मात्रा को गिने। यथा-वर्त्म रोगों में एक सौ मात्रा, सन्धिरोग में तीन सौ, सित रोग में पाँच सौ, असित रोग में सात सौ, दृष्टि रोग में आठ सौ, अधिमन्थ और वात रोग में एक हजार मात्रा तक, पित्त में छः सौ, स्वस्थवृत्त में भी छः सौ और कफ में पाँच सौ मात्रा तक धारण करे ॥ ६-८ ॥

कृत्वाऽपाङ्गे ततो द्वारं स्नेहं पात्रे निगालयेत् ।
पिबेच्च धूमं, नेक्षेत व्योम रूपं च भास्वरम् ॥ ९ ॥

स०—यथोक्तममात्राधारणादनन्तरमपांगदेशे पाल्या द्वारं कृत्वा स्नेहं भाजने निक्षिपेत्। ततः सक्तुपिंड्याक्षिकोशं प्रमृज्य स्नेहेरितकफोपशांतये। धूमं च पिबेन्न केवलं तर्पणं कुर्यात्। प्रक्षालितनेत्रं स्वेनं मात्रया भोजयेत्। न दिवसे तथा व्योम न पश्येद्भास्वरं रूपं च। उपलक्षणं चेदम्। एवमातपमपि न पश्येत् ॥ ९ ॥

अपाङ्गदेश में द्वारविधानादि—

वि०—इसके बाद अपांगप्रदेश (कान की तरफ के नेत्रकोण) में (पाली में) छेद करके स्नेह को दूसरे पात्र में निकाल लेवे और धूम पिये तथा आकाश एवं चमकीले रूपों को न देखे।

इत्थं प्रतिदिनं वायौ पित्ते त्वेकान्तरं कफे।
स्वस्थे च द्व्यन्तरं दद्यादातृप्तेरिति योजयेत् ॥ १० ॥

स०—इत्थमनेन क्रमेण पवने प्रत्यहं तर्पणं दद्यात्। पित्ते पुनरेकांतरं तर्पणं दद्यात्। कफे स्वस्थे च द्विदिनांतरं योजयेत्। इत्येवं यावन्नयनस्य तृप्तिः स्यात्तावत्तर्पणं योज्यम् ॥ १० ॥

वायु आदि में तर्पणप्रयोगकाल—

वि०—इस प्रकार वायु रोग में प्रतिदिन, पित्त रोग में एक दिन छोड़ कर, स्वस्थवृत्त तथा कफ रोग में दो दिन छोड़ कर तर्पण तब तक करे जब तक आँख की तृप्ति न हो ॥ १० ॥

तृप्तस्य किं लक्षणमित्याह—

प्रकाशक्षमता स्वास्थ्यं विशदं लघु लोचनम् ।
तृप्ते विपर्ययोऽतृप्तेऽतितृप्ते श्लेष्मजा रुजः ॥ ११ ॥

स०—प्रकाशक्षमत्वादिकं तृप्तस्य सम्यक्तर्पितस्य लक्षणम्। प्रकाशक्षमता प्रभाभास्वरादिरूपसहत्वम्। अतृप्ते वैपरीत्यं पूर्वनिर्दिष्टम्। अतितृप्ते सति कफोद्भवाः कण्डूपैच्छिल्यादिका रुजः स्युः ॥ ११ ॥

तृप्ति और अतृप्ति का लक्षण—

वि०—तृप्ति का लक्षण—नेत्र के तृप्त होने पर प्रकाश की सहिष्णुता, स्वस्थता, निर्मलता और आँख में हल्कापन आ जाता है। अतृप्ति में इससे विपरीत लक्षण होते हैं तथा अतितृप्ति में कफजन्य रोग होते हैं ॥ ११ ॥

स्नेहपीता तनुरिव क्लान्ता दृष्टिर्हि सीदति ।
तर्पणानन्तरं तस्माद्दृग्बलाधानकारिणम् ॥ १२ ॥
पुटपाकं प्रयुञ्जीत पूर्वोक्तेष्वेव यक्ष्मसु ।

स०—स्नेहपीता दृष्टिः क्लांता तनुरिव यतोऽवसीदति तस्मात्कारणात्तर्पणानन्तरं पुटपाकं प्रयुञ्जीत। कीदृशम्। दृशोर्बलं तस्याऽऽधानं प्रबन्धेन वृत्तिस्तत्करोति तं दृग्बलाधानकारिणम्। हेतोर्द्वितीया। दृग्बलाधानकारित्वात् प्रयुञ्जीतेत्यर्थः। पूर्वोक्तेष्वेव तर्पणोक्तेष्वामयेषु ॥ १२ ॥

पुटपाकविधान—

वि०—स्नेह पी हुई दृष्टि थक कर शिथिल बन जाती है, जिस प्रकार कि स्नेहपान से शरीर शिथिल बन जाता है। इसलिये तर्पण के बाद दृष्टि के बल को बढ़ाने वाला पुटपाक पूर्वोक्त तर्पण रोगों में ही बरतना चाहिये ॥ १२ ॥

सवाते स्नेहनः श्लेष्मसहिते लेखनो हितः ॥ १३ ॥
दृग्दौर्बल्येऽनिले पित्ते रक्ते स्वस्थे प्रसादनः ।

स०—स च पुटपाको वाते स्नेहनो हितः। कफसहिते मारुते लेखनो हितः। दृष्टिदौर्बल्यादिषु प्रसादनो हितः ॥ १३ ॥

वि०—(यह पुटपाक तीन प्रकार का है, स्नेहन, लेखन और प्रसादन।) इसमें स्नेहन पुटपाक वात रोगों में, लेखन पुटपाक कफ मिश्रित वायु में और प्रसादन पुटपाक दृष्टिदुर्बलता, वात, पित्त, रक्त और स्वस्थ अवस्था में बरतना चाहिये ॥ १३ ॥

इदानीमेषां पुटपाकानां कल्पनामाह—

भूशयप्रसहानूपमेदोमज्जवसामिषैः ॥ १४ ॥
स्नेहनं पयसा पिष्टैर्जीवनीयैश्च कल्पयेत् ।

स०—भूशया बिलेशया भेकगोधाद्याः प्रसहा गोखरादयः । अनूपा महाम्गवारिचरवारिशयाः तेषां मेदोमज्जावसामिषाणि तैस्तथा जीवनीयैर्जीवन्तीकाकोल्यादिभिश्च क्षीरपिष्टैः स्नेहनं पुठपाकं कल्पयेद्वैद्यः ॥ ४ ॥

स्नेहनपुटपाक की कल्पना—

वि०—बिलेशय (मेढक, गोह आदि), प्रसह (गाय, गधा आदि), आनूप (भैंस, शूकर आदि) इनके मेद मज्जा, वसा और मांस से तथा जीवनीय गण की औषधियों को दुग्ध के साथ पीस कर स्नेहन पुटपाक बनाये ॥ १४ ॥

मृगपक्षियकृन्मांसमुक्तायस्ताम्रसैन्धवैः ॥ १५ ॥
स्रोतोजशङ्खफेनालैर्लेखनं मस्तुकल्कितैः ।

स० मृगा हरिणाद्याः पक्षिणो विष्किरप्रतुदास्तेषां यकृन्मांसानि तैः । तथा मुक्तादिभिर्मस्तुकल्पितैर्लेखनं पुटपाकं कल्पयेद्वैद्यः । प्रसहानां मृगपक्षिणां स्नेहने पुटपाक उपयुक्तत्वाज्जांगला एव मृगपक्षिणोऽत्रग्राह्याः ॥ १५ ॥

लेखन पुटपाक की कल्पना—

वि०—जांगल मृग-पक्षियों के यकृत् और मांस से तथा मुक्ता, लोह, ताम्र, सैन्धव, स्रोतांजन, शंख, समुद्रफेन, हरताल इनको मस्तु के साथ पीसकर कल्क बनाकर लेखन पुटपाक बनाये ।

मृगपक्षियकृन्मज्जवसान्त्रहृदयामिषैः ॥ १६ ॥
मधुरैः सघृतैः स्तन्यक्षीरपिष्टैः प्रसादनम् ।

स०—मृगपक्ष्यादीनां यकृन्मज्जावसांत्रहृदयामिषाणि तैः । तथा मधुरैर्मधुरवर्गोक्तैर्घृतान्वितैः स्तन्यक्षीरपिष्टैः प्रसादनं पुटपाकं कल्पयेद्वैद्यः । अत्र स्तन्यं स्त्रिया एव ॥ १६ ॥

प्रसादन पुटपाक की कल्पना—

वि०—मृग-पक्षियों के यकृत्, मज्जा, वसा, आन्त्र, हृदय और मांस से तथा मधुर (काकोल्यादिगण) की ओषधियों के घी के साथ, स्त्री तथा गाय आदि के दूध के साथ पीस कर प्रसादन पुटपाक बनाये ॥ १६ ॥

अधुना पुटपाकस्य कल्पनामाह—

बिल्वमात्रं पृथक् पिण्डं मांसभेषजकल्कयोः ॥ १७ ॥
उरुबूकवटाम्भोजपत्रैः स्नेहादिषु क्रमात् ।
वेष्टयित्वा मृदा लिप्तं धवधन्वनगोमयैः ॥ १८ ॥
पचेत्प्रदीप्तैरग्न्याभं पक्वं निष्पीड्य तद्रसम् ।
नेत्रे तर्पणवद्युञ्ज्यात्—

स०—मांसं च भेषजकल्कश्च तयोः पृथक् । बिल्वफलमात्रं पिंडमेरंडादिपत्रैर्वेष्टयित्वा कृष्णमृत्तिकालिप्तं वृद्धवैद्यव्यवहारात् द्व्यंगुलोत्सेधं मृत्तिकालेपं कृत्वा क्रमेण धवादीधनैः प्रदीप्तैः पचेत् । तत्र स्नेहने पुटपाक एरंडपत्रैर्वेष्टनं धवकाष्ठैः प्रदीपनम् । लेखने वटपत्रैर्वेष्टनं धन्वनकाष्ठैः प्रदीपनम् । प्रसादने जलजपत्रैर्वेष्टनं गोमयेंधनेन प्रदीपनमिति क्रमार्थः । अग्न्याभमिति । अग्निवर्णं सत् पक्वं ज्ञात्वाऽपनीतपत्रं विधाय वाससा निष्पीड्य तद्रसं नयने तर्पणमिव युंज्यात् ॥१७-१८॥

वि०—पुटपाक विधि—मांस और औषध के कल्प की अलग-अलग एक-एक पल मात्रा पिण्डरूप में लेकर इसको स्नेहन पुटपाक के लिए एरण्ड के पत्तों से, लेखन पुटमें बरगद के पत्तों से, प्रसादन पुटपाक में कमल के पत्तों से लपेटे । इसके ऊपर काली मिट्टी का लेप (दो अंगुल मोटा) चढ़ाये । फिर इसे प्रदीप्त धव और धन्वन की लकड़ी तथा जांगल गोमयों से पकाये । जब पिण्ड लाल अंगारे जैसा हो जाये तब निकाल लेवे । निचोड़ कर इसका रस आँखों में तर्पण की भाँति प्रयोग करे ॥ १७-१८ ॥

वक्तव्य—अरुणदत्त का मत है कि स्नेहन पुटपाक में धव से; लेखन में धन्वन और प्रसादन में गोमय से पकाये, परन्तु हेमाद्रि को तथा संग्रह को यह नियम मान्य नहीं है ।

—शतं द्वे त्रीणि धारयेत् ॥ १९ ॥
लेखनस्नेहनान्त्येषु—

स०—लेखनादिषु शतादीनि धारयेत् । तत्र लेखने शतं मात्राणां धारयेत् । स्नेहने द्वे शते । अंन्त्ये प्रसादने त्रीणि शतानि धारयेत् ॥ १९ ॥

वि०—लेखन पुटपाक में एकसौ मात्रा, स्नेहन पुटपाक में दो सौ मात्रा एवं प्रसादन पुटपाक में तीन सौ मात्रा तक धारण करना चाहिये ॥ १९ ॥

—कोष्णौ पुर्वौ हिमोऽपरः ।

स०—पूर्वौ स्नेहनलेखनौ कोष्णौ योज्यौ । हिमोऽपरः प्रसादनाख्यः ।

वि०—स्नेहन और लेखन पुटपाक को सुहाता हुआ गरम तथा प्रसादन को ठण्डा बरतना चाहिये ।

धूमपोऽन्ते तयोरेव योगास्तत्र च तृप्तिवत् ॥ २० ॥
तर्पणं पुटपाकं च नस्यानर्हे न योजयेत् ।
यावन्त्यहानि युञ्जीत द्विस्ततो हितभाग्भवेत् ॥ २१ ॥
मालतीमल्लिकापुष्पैर्बद्धाक्षो निवसेन्निशाम् ।

स०—तयोराद्ययोः पुटपाकयोरंते धूमपः स्यात् । स्नेहेरितकफोपशांत्यै न तु प्रसादनांत इत्येवशब्दार्थः । तत्र तेषु च पुटपाकेषु योगास्तर्पण इव स्युः । तृप्तिवदिति सप्तम्यंताद्वतिः । योगा इति बहुवचननिर्देशात् सम्यग्योगायोगातियोगा गृह्यंते । तर्पणपुटपाकौ नस्यायोग्ये न योजयेत् । नस्यानर्हाः योजयेन्नतु नावनमित्याद्युक्ताः । यावन्मात्राणि दिनानि तर्पणपुटपाकौ कुर्वीत तावंत्यहानि ततो द्विगुणानि च दिनानि

हितसेवी स्यात्। कृततर्पणपुटकाको मालत्यादिपुष्पैर्बद्धाक्षः सन् विभावरीं वसेत्। मालती सुमनाः। मल्लिका गंधवार्षिका ॥ २०-२१ ॥

स्नेहन-लेखन पुटपाक के बाद कर्तव्यादि—

वि०—स्नेहन और लेखन पुटपाक के ही पीछे धूमपान करना चाहिये (प्रसादन के बाद नहीं)। पुटपाक में सम्यग् योग, अतियोग और योग के लक्षण तर्पण की भाँति ही समझना चाहिये। नस्य के लिये जो अयोग्य है—उनमें तर्पण और पुटपाक नहीं बरतना चाहिये। जितने दिनों तक तर्पण और पुटपाक को बरते उनसे दुगुने दिनों तक हितसेवी रहे। तर्पण और पुटपाक करके आँखों पर चमेली या मल्लिका के फूल बाँध कर रात्रि में रहे ॥ २०-२१ ॥

सर्वात्मना नेत्रबलाय यत्नं
कुर्वीत नस्याञ्जनतर्पणाद्यैः ॥
दृष्टिश्च नष्टा विविधं जगच्च
तमोमयं जायत एकरूपम् ॥ २२ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने तर्पणपुटपाकविधिर्नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

स०—सर्वेण प्रकारेण नेत्रबलाय चक्षुःसामर्थ्याय नस्यादिभिर्यत्नं कुर्यात्। दृष्टिश्चेति चो हेतौ। यतो दृष्टिर्यदि न स्यात्ततो जगद्विविधमपि तमोमयमंधकाररूपमेकलक्षणं संपद्यत इति। उपजातिर्वृत्तम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुंदराख्यायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

नेत्रबल के लिये नस्यादि की आवश्यकता—

वि०—सम्पूर्ण प्रयत्न से—नस्य, अञ्जन, तर्पण आदि के द्वारा नेत्रों के बल के लिये यत्न करना चाहिये क्योंकि दृष्टि के नष्ट होने से यह नाना प्रकार का जगत् अन्धकारमय एक जैसा हो जाता है ॥ २२ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का तर्पणपुटपाकविधि नामक चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

अथेदानीं पंचविंशाऽध्यायारंभो यंत्रप्रविधानप्रदर्शनार्थः। यतो बस्तिनस्यांजनक्षारादीनि यंत्राश्रयाण्येवेत्याह—

अथातो यन्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

स०—यंत्रस्य विधिर्यंत्रविधिः। शेषं पूर्ववत्। अर्शोभगंदरादिषु निरुजेंऽगे यम्यते नियम्यते शस्त्रक्षाराग्निकर्मेति यंत्रम्।

वि०—अब इसके आगे यन्त्रविधि अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

नानाविधानां शल्यानां नानादेशप्रबाधिनाम्।
आहर्तुमभ्युपायो यस्तद्यन्त्रं यच्च दर्शने ॥ १ ॥
अर्शोभगन्दरादीनां शस्त्रक्षाराग्नियोजने।
शेषाङ्गपरिरक्षायां तथा बस्त्यादिकर्मणि ॥ २ ॥
घटिकालाबुशृङ्गं च जाम्बवौष्ठादिकानि च।

स०—अनेकप्रकाराणि यानि शल्यानि शल्यवेणुपाषाणादिरूपाणि विविधेषु शरीरप्रदेशेषु निविशंते तेषामाहरण आक्रष्टुं योऽभ्युपायस्तद्यंत्रमुच्यत इति शेषः। तथाऽर्शोभगंदरनाडीव्रणादीनां शस्त्रादियोजने सति शेषस्य विरुजांगस्य परिरक्षायां रक्षानिमित्तम्। स्वस्थस्यांऽगस्य शल्यबाधानिवृत्त्यर्थमित्यर्थः। तथा बस्तिनस्यादिकर्मणि य उपायस्तच्च यंत्रम्। तथा घटिकादि च यंत्रं पिचुना रक्ताद्याकर्षणाय च। जांबवोष्ठसंदंशादीनि च यंत्राणि ॥ १-२ ॥

यन्त्रों का स्पष्टीकरण—

वि०—नाना प्रकार के एवं नाना स्थानों को पीड़ित करने वाले शल्यों को बाहर निकालने का जो उपाय (साधन) है उसको यंत्र कहते हैं और जो साधन अर्श, भगन्दर आदि के दर्शन कार्य में उपयुक्त होते हैं तथा शस्त्र, क्षार एवं अग्नि-कर्म में बरते जाते हैं अथवा शस्त्रादिच्छेदन में शेष अंग की रक्षा में तथा बस्ति आदि कर्मों में बरते जाते हैं तथा घटिका, अलाबु, सींग, जाम्बवौष्ठ आदि भी यंत्र कहलाते हैं ॥ १-२ ॥

वक्तव्य—उपायविशेष का नाम यंत्र है। जिससे रोग या रोगी यंत्रित-नियंत्रित किया जाता है।

यंत्राणां किं रूपं किं कार्यमित्याह—

अनेकरूपकार्याणि यन्त्राणि विविधान्यतः ॥ ३ ॥
विकल्प्य कल्पयेद् बुद्ध्या यथास्थूलं तु वक्ष्यते।

स०—रूपाणि च कार्याणि च रूपकार्याणि। अनेकानि विचित्राणि रूपकार्याणि येषां तानि नानाप्रकाराणि। तत्र रूपं कंकमुखस्वस्तिकाद्याकारत्वम्। कार्यमस्थ्यादिलग्नशल्यहरणादिकम्। यतश्चैवं नानाविधत्वं यंत्राणामतस्तानि बुद्ध्या विकल्प्य कार्यानुरोधात्कल्पयेत्। ननु यंत्राणां दिङ्मात्रेऽप्यनभिज्ञः कथमिव कल्पनां कर्तुं पारयेदित्याह—यानि यानि स्थूलानि यथास्थूलम्। यथाऽसादृश्ये इत्यव्ययीभावः। यथास्थूलयंत्रकरणेन व्युत्पन्नमतिः शेषाणामपि यंत्राणामुत्पादने विकल्पं कर्तुं समर्थो भवत्येवेति भावः ॥ ३ ॥

रूप एवं कार्य के अनुसार यन्त्रों की अनेकता—

वि०—यन्त्रों की आकृति और कार्य अनेक होने से यंत्र भी अनेक होते हैं, अतः आवश्यकतानुसार अपनी बुद्धि से यन्त्रों की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु कुछ मोटे-मोटे (सामान्यतः प्रयोग में आने वाले) यन्त्रों का आगे वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥

अथ यंत्राण्याह—

तुल्यानि कङ्कसिंहर्क्षकाकादिमृगपक्षिणाम् ॥ ४ ॥
मुखैर्मुखानि यन्त्राणां कुर्यात्तत्संज्ञकानि च ।
अष्टादशाङ्गुलायामान्यायसानि च भूरिशः ॥ ५ ॥
मसूराकारपर्यन्तैः कण्ठे बद्धानि कीलकैः ।
विद्यात्स्वस्तिकयन्त्राणि मूलेऽङ्कुशनतानि च ॥ ६ ॥
तैर्दृढैरस्थिसंलग्नशल्याहरणमिष्यते ।

स०—येन पार्श्वेन शल्यमुद्ध्रियते तद्यंत्र मुखं वेद्यम्। कंकादीनां पक्षिमृगादीनां मुखैस्तुल्यानि यंत्राणां मुखानि कुर्यात्। आदिशब्देन गृध्रहरिणादिपरिग्रहः। त। तत्संज्ञकानि। च एवार्थे। तानि यंत्राणि तन्नामान्येव। यथा कंकमुखं सिंहमुखमित्यादि। स्वस्तिकाख्यानि यंत्राणि विद्यात्। कीदृशानि। अष्टादशांगुलदैर्घ्याणि भूरिशो बाहुल्येनायसानि शस्त्रमयानि। दंतादिमयानामपि क्वचिद्दर्शनाद् भूरिश इत्युक्तम्। तथा कंठप्रदेशे कीलकैर्बद्धानि। कीदृशैः कीलकैः मसूराकाराः पर्यंता येषां तैः। यत्र प्रदेशे यंत्राणां हस्तग्रहस्तत्र तन्मूलम्। तत्रांऽकुशवन्नतानि परिणतानि। तैः कंकमुखादिभिरस्थिसंलग्नशल्यस्य काण्डफलादेराहरणमाकर्षणमिष्यते ॥ ४–६ ॥

स्वस्तिक यन्त्रों के स्वरूप तथा कार्य—

वि०—स्वस्तिक यन्त्र—कंक, सिंह, ऋक्ष (रीछ), काक आदि मृग एवं पक्षियों के मुखों के समान मुख वाले यन्त्रों को उन्हीं (पशु-पक्षी) के नाम से बनाये। इनकी लम्बाई अट्ठारह अङ्गुल और ये प्रायः लोहे के बने होते हैं। कण्ठ प्रदेश पर मसूर के आकार वाली कीलों से जुड़े हुए होते हैं और ये स्वस्तिक यन्त्र, मूल में (पकड़ने के स्थान पर) अंकुश के समान मुड़े होते हैं। इन मजबूत यन्त्रों से अस्थि में लगे हुए शल्य को निकालना चाहिये ॥ ४–६ ॥

कीलबद्धविमुक्ताग्रौ सन्दंशौ षोडशाङ्गुलौ ॥ ७ ॥
त्वक्सिरास्नायुपिशितलग्नशल्यापकर्षणौ ।

स०—कीलेन मसूराकारांतेन बद्धं विमुक्तमग्रं मुखं ययोस्तौ कीलबद्धविमुक्ताग्रौ संदंशौ भवतः। कीदृशौ। षोडशांगुलप्रमाणौ। क उपयोग एतयोः स्यादित्याह। त्वगित्यादि। त्वगादीनां द्वंद्वः। त्वक्शिरास्नायुपिशितलग्नं च तच्छल्यं च तस्याऽपकर्षण आहरणे तावुपयुज्येते ॥ ७ ॥

सन्दंश यन्त्रों के स्वरूप तथा कार्य—

वि०—दो सन्दंश-मसूर के समान कील से जुड़े हुए और आगे खुले हुए और सोलह अङ्गुल लम्बे होते हैं। इसका उपयोग त्वचा, शिरा, स्नायु और मांस में फंसे शल्य को खींचने में होता है ॥ ७ ॥

षडङ्गुलोऽन्यो हरणे सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मणाम् ॥ ८ ॥

स०—षोडशांगुलसंदंशादन्यः संदंशः सूक्ष्मशल्यानां नासारोमादीनां हरण आकर्षणे तथोपपक्ष्मणां वर्त्मादिभवानामाहरणे युज्यते ॥ ८ ॥

वि०—दूसरा छः अङ्गुल वाला सन्दंश सूक्ष्म शल्यों को निकालने में तथा पलकों के दूसरे बालों को (जो आंख में पैदा हो जाते हैं) निकालने के काम में आता है[1] ॥ ८ ॥

मुचुण्डी सूक्ष्मदन्तर्जुर्मूले रुचकभूषणा ।
गम्भीरव्रणमांसानामर्मणः शेषितस्य च ॥ ९ ॥

स०—स च मुचुंडीसंज्ञः। किंभूता मुचुंडी। सूक्ष्मा दंता यस्याः सा सूक्ष्मदंता तथर्जुरवक्रा न च संदंशवद्वक्रा बद्धा द्विबाहुरित्यर्थः। तथा मूले हस्तग्रहणस्थाने रुचकमंगुलीयकरूपं भूषणं यस्याः सा रुचकभूषणा। रुचकपीडनेन सा कर्म करोतीत्यर्थः। गंभीरश्चासौ व्रणश्च गंभीरव्रणस्तस्मिन् मांसानि तस्याधिमांसमेतद्विषय आहरणे। अर्मणश्च शेषितस्य च्छिन्नशेषस्याऽऽहरणे मुचुंडी ॥ ९ ॥

मुचुण्डी यन्त्र का स्वरूप तथा कार्य—

वि०—मुचुण्डी (मोचना)-सूक्ष्म दांतों वाला और सीधा होता है। जड़ में पकड़ने के स्थान में एक गोल छल्ले वाला होता है। इसका उपयोग गहरे व्रणों के मांस को निकालने में, अर्म रोग में तथा छिन्न शेष वस्तु को निकालने में है। (हेमाद्रि ने 'शेषितस्य' का अर्थ काटने पर शेष बचा अर्म माना है।) ॥ ९ ॥

द्वे द्वादशाङ्गुले मत्स्यतालवद् द्व्येकतालके ।
तालयन्त्रे स्मृते कर्णनाडीशल्यापहारिणी ॥ १० ॥

स०—द्वे तालयंत्रे भवतः। किंप्रमाणे द्वादशांगुले। संस्थानमाह। मत्स्यतालवन्मीनगलतालवत् द्वितालके द्वयोः पार्श्वयोर्मत्स्यमुखसदृशमपरमेकतालकमेकपार्श्वे मत्स्यमुखाकारमेवं द्वितीये। ते द्वे तालयंत्रे स्याताम्। कर्णेत्यादि। कर्णनाडीशल्यमपहरतः कर्णनाडीशल्यापहारिणी ॥ १० ॥

तालयन्त्रों के स्वरूप तथा कार्य—

वि०—ताल यन्त्र दो हैं-(१) एक ताल, (२) द्वितालइनकी लम्बाई बारह अङ्गुल होती है। इनमें एक ताल यन्त्र में एक ताल-मछली के गले के समान, छोटे चम्मच के समान दोनों सिरों में होता है। दूसरे में केवल एक सिरे में ताल होता है। इनका उपयोग कर्ण एवं नाड़ी के शल्य को निकालने में होता है ॥ १० ॥

नाडीयन्त्राणि सुषिराण्येकानेकमुखानि च ।
स्रोतोगतानां शल्यानामामयानां च दर्शने ॥ ११ ॥

---

[1] संदंश यन्त्र चार होते हैं (१) सोलह अङ्गुल लम्बा और सिरे पर पकड़ वाला, (२) सोलह अङ्गुल बिना पकड़ का, (३) छः अंङ्गुल पकड़ के साथ और (४) बिना पकड़ के छः अंङ्गुल लम्बा।

क्रियाणां सुकरत्वाय कुर्यादाचूषणाय च।
तद्विस्तारपरीणाहदैर्घ्यं स्रोतोनुरोधतः ॥ १२ ॥

स०—नाडीयंत्राणि बस्तिनेत्रादिवत् सुषिराणि स्युः। एकं चाऽनेकं चैकानेकं मुखं येषां तानि च कानिचिदेकमुखान्येकद्वाराणि कानिचिदनेकमुखान्यनेकद्वाराणि। एतत्कर्माचष्टे। स्रोत इत्यादि। तानि च कर्णादिस्रोतोगतानां शल्यानां दर्शननिमित्तं विदधीत। तथा कंठादिस्रोतोगतानां रोगाणां दर्शने दर्शननिमित्तं विदधीत। तथा क्रियाणां शस्त्रक्षाराग्निप्रक्षालनौषधप्रणिधानादीनां सुकरत्वार्थम्। तथा विषदिग्धांगादीनामाचूषणाय विदधीत। तद्विस्तारेत्यादि। तेषां नाडीयंत्राणां विस्तारश्च परीणाहश्च दैर्घ्यं च तानि स्रोतोवशाद्भवंति। यथाऽनुवासनोत्तरबस्तिनस्यनाडिकादिषु निर्दिष्टम् ॥ ११-१२ ॥

नाडीयन्त्रों के स्वरूप तथा कार्य—

वि०—नाडी यन्त्र बीच से खोखले, एक अथवा अनेक मुख वाले होते हैं। इनका उपयोग स्रोतों में स्थिर शल्य और रोगों को देखने में, क्रियाओं (शस्त्र-क्षार आदि प्रयोग) की सरलता के लिये और आचरण के लिये होता है। इनका विस्तार (चौड़ाई), परिणाह (मोटाई) और लम्बाई स्रोतों के अनुसार होती है ॥ ११-१२ ॥

दशाङ्गुलाऽर्धनाहाऽन्तःकण्ठशल्यावलोकनी।
नाडी—

स०—कंठे शल्यं कंठशल्यम्। कंठाभ्यंतरशल्यावलोकनार्थं दशांगुला नाड्यर्धनाहा पंचांगुलपरिणाहा।

कुछ नाडीयन्त्रों के स्वरूप तथा कार्य—

वि०—कण्ठ के अन्दर के शल्य को देखने के लिये नाडी दस अङ्गुल लम्बी और मोटाई में पाँच अङ्गुल होती है।

पञ्चमुखच्छिद्रा चतुष्कर्णस्य सङ्ग्रहे ॥ १३ ॥
वारङ्गस्य द्विकर्णस्य त्रिच्छिद्रा तत्प्रमाणतः।
वारङ्गकर्णसंस्थानानाहदैर्घ्यानुरोधतः ॥ १४ ॥

स०—पंचमुखानि छिद्राणि यस्याः सा चतुष्कर्णस्य वारंगस्य संग्रहे संग्रहणनिमित्तमिदं यंत्रम्। चत्वारः कर्णा यस्य वारंगस्येति समासः। तत्र शरादिदंडप्रवेशः शिखाकारः कीलको वारंग उच्यते। द्विकर्णवारंगस्य संग्रहार्थे त्रिच्छिद्रा नाडी स्यात्। त्रीणि छिद्राणि यस्याः सा त्रिच्छिद्रा। छिद्रशब्दस्योपलक्षणार्थत्वात्त्रिमुखेत्येतदपि द्रष्टव्यम्। तस्य वारंगस्य प्रमाणं तत्प्रमाणं तस्माद्वारंगप्रमाणस्तदनुसारेण नाडीप्रमाणं ज्ञेयम्। वारंगकर्णस्य संस्थानं चाऽऽनाहश्च दैर्घ्यं च तान्येव वारंगकर्णसंस्थानानाहदैर्घ्याणि तेषामनुरोधस्तस्मात् ॥ १३-१४ ॥

वि०—चतुष्कर्ण वारङ्ग (चार फलकों वाली कील) को पकड़ने के लिए मुख में पांच छिद्रों वाली नाड़ी तथा द्विकर्णवारङ्ग को पकड़ने के लिये तीन मुखच्छिद्र वाली नाड़ी, वारङ्ग के कर्ण की आकृति लम्बाई और चौड़ाई के अनुसार लम्बी और चौड़ी होती है ॥ १३-१४ ॥

वक्तव्य—वारङ्ग—'शरादिदण्डप्रवेशः शिखाकारः किलको वारङ्ग उच्यते।

नाडीरेवंविधाश्चान्या द्रष्टुं शल्यानि कारयेत्।

स०—एवं प्रकारा अन्या अपि नाडीः शल्यानि शरीरांतर्गतानि द्रष्टुं कारयेत्।

शल्य देखने के लिये अन्य नाडी—

वि०—इसी प्रकार दूसरे भी नाडीयन्त्र शल्यों को देखने के लिये बनाये।

पद्मकर्णिकया मूर्ध्नि सदृशी द्वादशाङ्गुला ॥ १५ ॥
चतुर्थसुषिरा नाडी शल्यनिर्घातनी मता।

स०—मूर्ध्नि मूर्धभागे पद्मकर्णिकया जलजकर्णिकया सदृशी। कियत्प्रमाणा। द्वादशांगुला। तथा चतुर्थश्चतुर्भागः सुषिरो यस्याः। अंगुलसुषिरेति यावत्। सा नाडी शल्यनिर्घातिनी मता। मुनीनामिति शेषः ॥ १५ ॥

शल्यनिर्घातनी नाडी का स्वरूप—

वि०—शल्यनिर्घातनी—शिर पर कमलकर्णिका के समान बारह अङ्गुल लम्बी तथा चौड़ाई भाग से खोखली नाड़ी को शल्यनिर्घातनी कहा जाता है ॥ १५ ॥

अर्शोयंत्रं दर्शयितुमाह—

अर्शसां गोस्तनाकारं यन्त्रकं चतुरङ्गुलम् ॥ १६ ॥
नाहे पञ्चाङ्गुलं पुंसां प्रमदानां षडङ्गुलम्।
द्विच्छिद्रं दर्शने व्याधेरेकच्छिद्रं तु कर्मणि ॥ १७ ॥
मध्येऽस्य त्र्यङ्गुलं छिद्रमङ्गुष्ठोदरविस्तृतम्।
अर्धाङ्गुलोच्छ्रितोद्वृत्तकर्णिकं च तदूर्ध्वतः ॥ १८ ॥

स०—अर्शसां संबंधि यंत्रकं गोस्तनाकृति चतुरंगुलं मानतो दैर्घ्येण स्यात्। यंत्रकमित्याकारकं स्यात्। नाहे परिणाहे पंचांगुलम्। यत्पंचांगुलदीर्घेण सूत्रेण वेष्ट्यते तत्प्रमाणं स्थौल्यमित्यर्थः। पुंसामेव पंचागुलं नाहे स्यात्। स्त्रीणां परिणाहे तु षडंगुलं यंत्रकं स्यात्। स्वभावत एव तासां गुदस्य महत्त्वात्। व्याधेर्दर्शने द्विच्छिद्रमुभयपार्श्वे द्विच्छिद्रं यंत्रम्। कर्मणि शस्त्रक्षाराद्यवचारण एकच्छिद्रं यंत्रकम्। अस्य यंत्रस्य मध्ये त्र्यंगुलं छिद्रमंगुष्ठमध्यतुल्यविस्तारं तथा तदूर्ध्वंतोऽर्धांगुलोच्छ्रिता उद्धृता कर्णिका यस्य तदेवम् ॥ १६-१८ ॥

अर्शोयन्त्र—

वि०—अर्श यन्त्र—गौ के स्तन के आकार के, चार अङ्गुल लम्बे, मोटाई में पाँच अङ्गुल पुरुषों के लिये और स्त्रियों के लिये छः अङ्गुल होता है। रोग को देखने के लिए दो छिद्रवाला तथा चिकित्साकर्म के लिए एक छिद्रवाला यन्त्र होता है। इस यन्त्र के मध्य में तीन अङ्गुल का एक छेद होता है—यह छेद अङ्गुठे के मध्य भाग के समान विस्तृत होता

है। इसके ऊपर में आधा अङ्गुल ऊँची उठी हुई कर्णिका होती है ॥ १६-१८ ॥

शम्याख्यं तादृगच्छिद्रं यन्त्रमर्शः प्रपीडनम् ।

स०—शमाख्यं शमीसंज्ञं तृतीयं यंत्रकं तादृग् गोस्तनाकारमित्यादिलक्षणलक्षितयंत्रसदृशं स्यात्। अत्र विशेषमाह। अच्छिद्रमित्यादि। अत्र यंत्रे छिद्रं न विधेयमित्यर्थः। इदं च यंत्रमर्शःप्रपीडनं स्यात्।

शमीयन्त्र—

वि०—शमीयन्त्र—यह यन्त्र अर्शोयन्त्र के समान होता है, परन्तु इसमें छेद नहीं होता। इसका उपयोग अर्श को दबाने में होता है।

सर्वथाऽपनयेदोष्ठं छिद्रादूर्ध्वं भगन्दरे ॥ १६ ॥

स०—सर्वथा भगंदरे भगंदरयंत्रे ओष्ठमपनयेत्। कुतः प्रभृति। छिद्रादूर्ध्वम् । उपरिष्टादर्धांगुलमपकर्षेदित्यर्थः। कर्णिका तु कार्यैव ॥ १९ ॥

भगन्दरयन्त्र—

वि०—भगन्दर यन्त्र में—(अर्शोयन्त्र में ही) छिद्र से ऊपर के भाग में से ओष्ठ को (पार्श्वभाग को) सम्पूर्ण रूप में हटा देना चाहिये ॥ १९ ॥

घ्राणार्बुदार्शसामेकच्छिद्रा नाड्यङ्गुलद्वया ।
प्रदेशिनीपरीणाहा स्याद्भगन्दरयन्त्रवत् ॥ २० ॥

स०—घ्राणार्बुदे घ्राणार्शसि चैकच्छिद्रा नाडी दैर्घ्येणांगुलद्वयप्रमाणा तथा प्रदेशिनीतुल्यः परीणाहो यस्याः सैवम्। सा च भगंदरयंत्रतुल्या स्यात्। अपनीतौष्ठेत्यर्थः ॥ २० ॥

नासायन्त्र—

वि०—घ्राणार्बुद और घ्राणार्श में एक छेद वाली, दो अङ्गुल लम्बी नाड़ी होनी चाहिये। इसकी मोटाई प्रदेशिनी अङ्गुलि के बराबर होनी चाहिये। यह यन्त्र भगन्दर यन्त्र के समान होता है ॥ २० ॥

अङ्गुलित्राणकं दान्तं वार्क्षं वा चतुरङ्गुलम् ।
द्विच्छिद्रं गोस्तनाकारं तद्वक्त्रविवृतौ सुखम् ॥ २१ ॥

स०—अंगुलित्राणकाख्यं यंत्रं दंतमयं काष्ठमयं वा चतुरंगुलप्रमाणमर्शसां यंत्रसदृशं द्विच्छिद्रं गोस्तनाकृति स्यात्। तच्च वक्त्रस्य विवृतौ प्रसारणे। अंगुलैर्दंतेभ्यो रक्षणार्थत्वादंगुलित्राणमिति नाम ॥ २१ ॥

अङ्गुलित्राणयन्त्र—

वि०—अङ्गुलित्राणक यन्त्र—दाँत का या लकड़ी का बना होना चाहिये। इसकी लम्बाई चार अङ्गुल होती है। इसमें दो छेद होते हैं, इसका आकार गाय के स्तन जैसा होता है। इसका उपयोग मुख के खोलने में है। दाँतो से अंगुलि न कटे, उसकी रक्षा हो इसलिये इसका नाम अंगुलित्राण हुआ ॥ २१ ॥

योनिव्रणेक्षणं मध्ये सुषिरं षोडशाङ्गुलम् ।
मुद्राबद्धं चतुर्भित्तमम्भोजमुकुलाननम् ॥ २२ ॥
चतुःशलाकमाक्रान्तं मूले तद्विकसेन्मुखे ।

स०—योनिव्रणमीक्षतेऽनेन तद्योनिव्रणेक्षणं यंत्रकम्। मध्ये मध्यभागे सुषिरम्। तथा दैर्घ्येण षोडशांगुलम्। तथा मुद्रिकयोर्मिकया संचारिण्या बद्धं युक्तम्। तथा चत्वारो भित्ताः पत्राणि यस्य तच्चतुर्भित्तम्। मूले शलाकाक्रमणान्मुखे विकसेत् प्रसरेत ॥ २२ ॥

योनिव्रणेक्षणयन्त्र—

वि०—योनिव्रणेक्षण यन्त्र बीच में खोखला, सोलह अङ्गुल लम्बा; मुद्रिका से बँधा, चार दीवाल वाला, कमल की कली के मुख के समान आकार का, मूल में चार शलाकायें इस प्रकार से जुड़ी हों, कि दबाने से मुख पर यह खुल जाये ॥ २२ ॥

वक्तव्य—इस यन्त्र की कल्पना में चार टुकड़े ऐसे बनाये जिनका आकार कमल की पंखुड़ी के आकार का हो और छल्ले से चारों को बाँधने पर चारों मिलकर बीच में खोखला और मोटाई में छः अङ्गुल हो। इसमें प्रत्येक खण्ड में चार शलाकाएँ ऐसी बँधी होनी चाहिये कि शलाका मूल के दबाने से यन्त्र का मुख खुल जाये अर्थात् चारों टुकड़े फैल जायें।

यन्त्रे नाडीव्रणाभ्यङ्गक्षालनाय षडङ्गुले ॥ २३ ॥
वस्तियन्त्राकृती मूले मुखेऽङ्गुष्ठकलायखे ।
अग्रतोऽकर्णिके मूले निबद्धमृदुचर्मणी ॥ २४ ॥

स०—यंत्रे द्वे षडंगुले भवतः। किमर्थम्। अभ्यंगश्च क्षालनं चाऽभ्यंगक्षालने तदर्थमुपयुज्येते। आकरणमाकृत्। संपदादित्वात् क्विप्। बस्तियंत्रस्य आकृती आकारौ ययोस्ते बस्तियंत्राकृती वृत्तगोपुच्छाकारे। तथा यथासंख्यं मूले मुखेऽगुष्ठकलायखे मूलेंऽगुष्ठतुल्यच्छिद्रे मुखे कलायसमच्छिद्रे। अग्रतोऽकर्णिके कर्णिकारहित इति बस्तियंत्राद्विशेषः। मूले तु कर्णिके द्वेऽपि पुटकयोजनार्हे कार्ये एवेत्यग्रग्रहणम्। मूले मूलदेशे निबद्धं योजितं मृदु चर्म बस्तिपुटकाकारं ययोस्ते निबद्धमृदुचर्मणी ॥ २३-२४ ॥

षडङ्गुल दो यन्त्र—

वि०—दो यन्त्र नाडीव्रण के अभ्यङ्ग के लिये और नाडीव्रण को धोने के लिये होते हैं। इनकी लम्बाई छः अङ्गुल होती है इनका आकार वस्ति यन्त्र के समान, मूल में अङ्गुठे के समान और मुख में मटर के 'समान छिद्र होता है। आगे से कर्णिका रहित और मूल में कोमल, चर्म (बस्तिपुटक) बँधा होता है ॥ २३-२४ ॥

द्विद्वारा नलिका पिच्छनलिका वोदकोदरे ।

स०—उदकोदरे जलस्रावणार्थं नलिका द्विद्वारोभयमुखी स्यात्। अथवा पिच्छनलिका मयूरपिच्छजेत्यर्थः।

नलिका और पिच्छनलिका यन्त्र—

वि०—उदकोदर में जल निकालने के लिये दो मुख वाली नाड़ी बनाये या पंख की नलिका-मोर की पिच्छ की नली बरते।

धूमवस्त्यादियन्त्राणि निर्दिष्टानि यथायथम् ॥ २५ ॥

स०—धूमादियंत्राणि यथायथं यथास्वं धूमपानाद्यध्यायेषूक्तानि ॥ २५ ॥

धूमादियन्त्र--

वि०—धूमयन्त्र, बस्ति आदि यन्त्र, धूमपान आदि अध्यायों में कह दिये हैं ॥ २५ ॥

त्र्यङ्गुलास्यं भवेच्छृङ्गं चूषणेऽष्टादशाङ्गुलम् ।
अग्रे सिद्धार्थकच्छिद्रं सुनद्धं चूचुकाकृति ॥ २६ ॥

स०—शृंगं त्र्यंगुलमुखं दुष्टवातविषरक्तांबुदुष्टस्तन्यादेश्चूषणे चूषणनिमित्तमष्टादशांगुलं स्यात्। अष्टादशेति द्व्यष्टन इत्यादिनाऽऽकारादेशः। तथाऽग्रे प्रांते सर्षपप्रमाणच्छिद्रम्। यः प्रदेशश्चूषणाय शरीरे योज्यते तदग्रम्। तथा सुष्ठु नद्धं सम्यग्बद्धम्। चूचुकस्य स्त्रीकुचाग्रस्याऽऽकृतिराकारो यस्य तदेवम् ॥ २६ ॥

शृङ्गयन्त्र--

वि०—रक्त आदि के आचूषण के लिये तीन अङ्गुल मुख वाला सींग होना चाहिये, इसकी लम्बाई अट्ठारह अङ्गुल और सिरे पर सरसों के समान छेद हो, भली प्रकार बँधा हुआ तथा आकार में स्त्री·चूचुक के आकार का होना चाहिये। (वाग्भट) ने संग्रह में बारह अङ्गुल का भी सींग कहा है) ॥ २६ ॥

स्याद् द्वादशाङ्गुलोऽलाबुर्नाहे त्वष्टादशाङ्गुलः ।
चतुस्त्र्यङ्गुलवृत्तास्यो दीप्तोऽन्तः श्लेष्मरक्तहृत् ॥२७॥

स०—अलाबुस्तुंबं द्वादशांगुलो दैर्घ्येण स्यात्। परिणाहेऽष्टादशांगुलः। चत्वारि वा त्रीणि वांगुलानि यस्य तच्चतुस्त्र्यंगुलं तत्तादृशं वृत्तं वर्तुलं मुखं यस्य स एवम्। तथांऽतर्मध्ये दीप्तो ज्वलितः पिचुर्भूर्जादिगर्भ इत्यर्थः। स इदृंशो दुष्टकफरक्तहरः स्यात् ॥ २७ ॥

अलाबु (तुम्बी) यन्त्र--

वि०—अलाबु (तुम्बी) लम्बाई में बारह अङ्गुल और मोटाई·गोलाई में अट्ठारह अङ्गुल इसके मुख की गोलाई तीन या चार अङ्गुल होनी चाहिये। इसके अन्दर में पिचु-भोजपत्र आदि जलाकर गरम करके लगाये (वायु निकाल कर)। यह कफदूषित रक्त को निकालने में बरता जाता है ॥ २७ ॥

तद्वद्घटी हिता गुल्मविलयोन्नमने च सा ।

स०—तद्वत्तेनाऽलाबुना तुल्यदैर्ध्यानाहादिस्तुल्यकार्याकारा च घटी स्यात्। सा च गुल्मस्य विलय उन्नमने च हिता न केवलं कफरक्तहृदिति चार्थः।

घटीयन्त्र--

वि०—घटीयन्त्र भी अलाबु के समान होता है, यह गुल्म को विलयन करने में तथा ऊपर उठाने में प्रयुक्त होता है।

शलाकाख्यानि यन्त्राणि नानाकर्माकृतीनि च ॥२८॥
यथायोगप्रमाणानि तेषामेषणकर्मणि ।
उभे गण्डूपदमुखे स्रोतोभ्यः शल्यहारिणी ॥२९॥
मसूरदलवक्त्रे द्वे स्यातामष्टनवाङ्गुले ।

स०—शलाकासंज्ञानि यंत्राणि विविधकर्माणि विविधाकाराणि यथायोगप्रमाणानि स्युः। तेषां मध्य उभे गंडूपदतुल्यास्य एषणकर्मणी। तथा स्रोतोभ्यः शल्यहारिणी शलाकायंत्रे भवतः। किंभूते। मसूरेत्यादि। मसूरदलमिव वक्त्रं ययोस्ते मसूरदलमुखे द्वे शलाकेऽष्टांगुले नवांगुले वा स्याताम् ॥ २८-२९ ॥

अनेकविध शलाकायन्त्र--

वि०—शलाकायन्त्र नाना प्रकार के कर्म करने के लिये भिन्न-भिन्न आकार के होते हैं। इनका प्रमाण आवश्यकतानुसार होता है।

इनमें एषण—(ढूँढ़ने के) कार्य के लिये दो शलाकायें केंचुए के मुख के आकार की होती हैं।

स्रोतों से शल्य को निकालने के लिये मसूर की दाल के समान मुख वाली दो, ये आठ या नौ अङ्गुल लम्बी होती हैं ॥ २८-२९ ॥

शङ्कवः षट् उभौ तेषां षोडशद्वादशाङ्गुलौ ॥३०॥
व्यूहनेऽहिफणावक्त्रौ द्वौ दशद्वादशांगुलौ ।
चालने शरपुङ्खास्यौ आहार्ये बडिशाकृती ॥३१॥

स०—शंकवः षट् स्युः। तेषां मध्ये द्वौ षोडशांगुलौ द्वादशांगुलौ वा भवतः। व्यूहने व्यूहनकर्मणि सर्पफणामुखौ। द्वौ शंकू दशांगुलौ द्वादशांगुलौ वा भवतः। चालने कांडवाज इव मुखं ययोस्तौ शरपुंखास्यौ भवतः। आहार्ये आकर्षणे बडिशाकारौ ॥ ३०-३१ ॥

षड्विध शङ्कुयन्त्र—

वि०—शंकु छः हैं। इनमें से दो सोलह अङ्गुल और बारह अङ्गुल के व्यूहन कार्य के लिये साँप के फण-मुख के समान होते हैं। (व्यूहन--ऊर्ध्वीकरण। चूर्णित अश्मरी आदि को इकट्ठा करना·हाराणचन्द्रः। व्यूहनम्-प्रसूतमांसादीनां यथास्थानं विन्यासः। व्रणौष्ठयोः संहतीकरणम्--गणनाथः)। दस अङ्गुल और बारह अङ्गुल के दो शंकु चालन के लिए होते हैं; इनका मुख शरपुंख के समान होता है। (शरपुंख—शरगुणसन्धानस्थान)।

निकालने के लिए बडिश (मछली पकड़ने का काँटा) के आकार के दो शङ्कु होते हैं ॥ ३०-३१ ॥

षट्शंकूनाख्याय गर्भशंकुमाह—

नतोऽग्रे शङ्कुना तुल्यो गर्भशङ्कुरिति स्मृतः ।
अष्टाङ्गुलायतस्तेन मूढगर्भं हरेत् स्त्रियाः ॥ ३२ ॥

स०—नतोऽग्रेऽग्रतोभागे तथा शंकुना समः कीलकाकारोऽष्टांगुलदीर्घः स गर्भशंकुरिति स्मृतः। मुनिभिरिति शेषः। तेन शंकुना मूढगर्भमनिःसरंतं हरेत् ॥ ३२ ॥

गर्भशङ्कु यन्त्र—

वि०—गर्भशङ्कु—आगे से झुका, शंकु के आकार का, आठ अङ्गुल लम्बा गर्भशंकु होता है। इससे स्त्री के मूढ गर्भ को निकाले ॥ ३२ ॥

अश्मर्याहरणं सर्पफणावद्वक्रमग्रतः।

स०—अश्मर्याकर्षणे सर्पफणावदग्रे वक्त्रं स्यात्। सर्पफणाख्यमेवैतद्यंत्रम्।

सर्पफणा यन्त्र—

वि०—पथरी को निकालने के लिये साँप के फण के समान आगे से टेढ़ा एक यन्त्र होता है।[1]

शरपुङ्खमुखं दन्तपातनं चतुरङ्गुलम् ॥ ३३ ॥

स०—शरपुंखमुखाख्यं चतुरंगुलं दंतपातनं स्यात्। अनेन हि दंताश्चलंतः पात्यंते कृम्यादिभक्षिता वा ॥ ३३ ॥

शरपुङ्खमुख यन्त्र—

वि०—शरपुंख के समान एक (शङ्कु) यन्त्र दाँतों को गिराने निकालने के लिये होता है; इसकी लम्बाई चार अङ्गुल होती है ॥ ३३ ॥

कार्पासविहितोष्णीषाः शलाकाः षट् प्रमार्जने।
पायावासन्नदूरार्थे द्वे दशद्वादशाङ्गुले ॥ ३४ ॥
द्वे षटसप्ताङ्गुले घ्राणे, द्वे कर्णेऽष्टनवाङ्गुले।

स०—प्रमार्जने क्षालने क्षारक्लेदादेः षट् शलाकाः स्युः। किंभूताः। कार्पासेन विहितमुष्णीषं शिरोवेष्टनमिव यासां तास्तथोक्ताः। पायावासन्नदूरार्थे दशद्वादशांगुले द्वे भवतः। द्वादशांगुला दूरार्थे आसन्नार्थे दशांगुला इत्यर्थः। घ्राणे षट्सप्तांगुले द्वे भवतः। आसन्नदूरार्थेऽत्राप्यनुवर्तते। तथैव कर्णेऽष्टनवांगुले भवतः ॥ ३४ ॥

षड्विध शलाकाएँ—

वि०—सिर पर रूई लिपटी हुई छः शलाकायें प्रमार्जन शोधन के काम में आती हैं, पायु (गुदा) के प्रमार्जन के लिये दो शलाकायें, इनमें एक शलाका समीप के लिये दस अङ्गुल लम्बी और दूर के लिये—बारह अङ्गुल लम्बी होनी चाहिये। लम्बी और दूर के लिये—बारह अङ्गुल लम्बी होनी चाहिये। नासिका को साफ करने के लिये छः और सात अङ्गुल की दो, कान को साफ करने के लिये आठ एवं नौ अङ्गुल लम्बी दो होती हैं ॥ ३४ ॥

कर्णशोधनमश्वत्थपत्रप्रान्तं स्रुवाननम् ॥ ३५ ॥

स०—कर्णशोधनाख्यं यंत्रमश्वत्थपत्रस्येव प्रांतो यस्य तत्तथा। तथा स्रुवस्येवाननं यस्य तदेवम् ॥ ३५ ॥

वि०—कान का मैल का शोधन करने के लिए पीपल के पत्र के समान प्रान्त-किनारा एवं स्रुवे के आकार के मुख वाला (कर्णशोधन) यन्त्र होता है ॥ ३५ ॥

शलाकाजाम्बवौष्ठानां क्षारेऽग्नौ च पृथक् त्रयम्।
युञ्ज्यात् स्थूलाणुदीर्घाणाम्—

स०—शलाकाश्च जांबवोष्ठानि च तेषां पृथक् त्रयं क्षारे क्षारपातनेऽग्निदाहकरणे च युंज्यात्। किंभूतानां शलाकाजांबवोष्ठानाम्। स्थूलाश्चाऽणवश्च दीर्घाश्च तेषाम्। तत्र शलाकास्तिस्रो जांबवोष्ठानि च त्रीणि क्षारे तथा दाहने एवं द्वादशैतानि शलाकाख्यानि यंत्राणीति।

क्षाराग्निकर्मयोग्य शलाकायें—

वि०—क्षारपातन और अग्निकर्म के लिये स्थूल, अणु और दीर्घ (बड़ी या मोटी, छोटी या पतली और मझोली) तीन शलाकायें और तीन जाम्बवौष्ठ होते हैं।

वक्तव्य—जाम्बवौष्ठ—यह भी शलाका ही है किन्तु इसका सिरा जामुन की गुठली की भाँति होता है। संग्रह में 'क्षाराग्निकर्मार्थं जाम्बवौष्ठानि द्वादशदशाष्टाङ्गुलानि क्रमाद् द्व्यङ्गुलाङ्गुलार्द्धाङ्गुलफलानि। शलाकाश्च स्थूलसूक्ष्महस्वदीर्घमध्याः ॥' संग्रह सू. अ. ३४

—शलाकामन्त्रवर्ध्मनि ॥ ३६ ॥
मध्योर्ध्ववृत्तदण्डां च मूले चार्धेन्दुसन्निभाम्।

स०—अंत्रवर्ध्मन्यंत्रवृद्धौ शलाकां युंज्यात्। कीदृशीम्। मध्यादूर्ध्वं वृत्तो दंडो यस्यास्ताम्। तथा मूले मूलभागेऽर्धेंदुसन्निभामर्धचंद्राकाराम् ॥ ३६ ॥

अन्त्रवर्ध्मोपयोगी शलाका—

वि०—अन्त्रवर्ध्म—अन्त्रवृद्धि में उपयोग के लिये एक शलाका होती है जिसका दण्ड बीच में ऊपर की ओर मुड़ा रहता है एवं मूल (पकड़ने की जगह) में अर्धचन्द्राकृति मुड़ा होता है ॥ ३६ ॥

कोलास्थिदलतुल्यास्या नासार्शोर्बुददाहकृत् ॥ ३७ ॥

स०—बदरास्थिखंडसमं मुखं यस्याः सा कोलास्थिदलतुल्यास्या। सा नासार्शःसु नासार्बुदेषु च दाहं करोति ॥३७॥

नासार्श आदि के उपयोगी शलाका—

वि०—नासार्श और नासार्बुद में दाह करने के लिये—बेर की गुठली के टुकड़े के समान मुखवाली एक शलाका होती है ॥ ३७ ॥

अष्टाङ्गुला निम्नमुखास्तिस्रः क्षारौषधक्रमे।
कनीनीमध्यमानामीनखमानसमैर्मुखैः ॥ ३८ ॥

स०—क्षारौषधक्रमे तिस्रः शलाका निम्नमुखा अष्टांगुलाः स्युः। कीदृश्यः। कनीनी च मध्यमा चाऽनामी च तासां नखास्तेषां प्रमाणं तेन मानेन समैस्तुल्यैर्मुखैरुपलक्षिताः स्युः ॥ ३८ ॥

क्षारौषधोपयोगी शलाका—

वि०—क्षारौषध कार्य के लिये दबे हुए चिपटे मुख वाली, आठ अंगुल लम्बी तीन शलाकायें चाहिये। इनका मुखप्रमाण कनीनिका, मध्यमा और अनामिका अङ्गुलि के नखों

---

[1] गर्भशङ्कु आदि तीनों भी शङ्कु ही हैं।

के समान होना चाहिये। अर्थात् इनका मुख इनके नखों के बराबर होना चाहिये ॥ ३८ ॥

स्वं स्वमुक्तानि यन्त्राणि मेढ्रशुद्ध्यञ्जनादिषु ।

स०—मेढ्रादिषु विषय उत्तरबस्त्यादिषु स्वंस्वं यथास्वं यंत्राणि गदितानि । आदिशब्देन नावनादिपरिग्रहः ।

मेढ्रशोधनाञ्जनोपयोगी शलाका—

वि०—मेहन की शुद्धि (उत्तरबस्ति), अञ्जन आदि के लिए अपने-अपने यन्त्र पहले कह दिये गये हैं ।

अनुयन्त्राण्ययस्कान्तरज्जुवस्त्राश्ममुद्गराः ॥ ३९ ॥
वध्रान्त्रजिह्वाबालाश्च शाखानखमुखद्विजाः ।
कालः पाकः करः पादो भयं हर्षश्च तत्क्रियाः ॥ ४० ॥
उपायवित्प्रविभजेदालोच्य निपुणं धिया

स०—अयस्कांतादीन्येकोनविंशत्यनुयंत्राणि कल्पयेत् । स्वल्पयंत्रकार्यकरणात् । तेषां क्रियास्तत्क्रिया निर्घातनादिका बुद्ध्या निपुणमालोच्य प्रतिभजेत् । निर्घातनादिकर्माणि प्रविभज्य युंज्यादित्यर्थः ॥ ३९-४० ॥

उन्नीस प्रकार के अनुयन्त्र—

वि०—अनुयन्त्र—अयस्कान्त (चुम्बक), रज्जु, वस्त्र, पत्थर (लोढ़ा), मुद्गर, वध्र (फीता), आँत, जिह्वा, बाल, शाखा, नख, मुख, दाँत, काल, पाक, पैर, भय, हर्ष ये उन्नीस हैं। बुद्धि से भली प्रकार विचारकर उपाय को जानने वाला वैद्य आवश्यकतानुसार इन यन्त्रों की क्रियाओं का निश्चय करें ॥ ३९-४० ॥

तान्येव यंत्राणां कर्माण्याह—

निर्घातनोन्मथनपूरणमार्गशुद्धि-
संव्यूहनाहरणबन्धनपीडनानि ।
आचूषणोन्नमननामनचालभङ्ग-
व्यावर्तनर्जुकरणानि च यन्त्रकर्म ॥ ४१ ॥

स०—निर्घातनादि यंत्रस्य कर्म । निर्घातनं ताडनं परिपातनम् । उन्मथनमुन्मूलनम् एवमन्यदपि चिंत्यम् । चः समुच्चये । तेन प्रक्षालनादीनि समुच्चीयंते ॥ ४१ ॥

वि०—यन्त्र कर्म—निर्घातन (ताड़न करके गिराना), उन्मथन, पूरण, मार्ग का शोधन, संव्यूहन (हिलाना-झुलाना), आहरण, बन्धन, पीड़न, आचूषण, उन्नमन, नमन, चालन, भङ्ग, व्यावर्त्तन (घुमाना) और ऋजुकरण (सीधा करना)—ये यन्त्रकर्म हैं ॥ ४१ ॥

निवर्तते साध्ववगाहते च
ग्राह्यं गृहीत्वोद्धरते च यस्मात् ।
यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं-
स्थानेषु सर्वेष्वधिकारि यच्च ॥ ४२ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने यन्त्रविधि-
र्नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥

स०—निवर्तनादिभिश्चतुर्भिः कारणैर्यंत्रेषु मध्ये कंकमुखं श्रेष्ठमिति यस्माच्च सर्वेषु प्रदेशेष्वधिकार्यधिक्रियते इति । वसंततिलकोपजाती वृत्ते ॥ ४२ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचिताया-
मष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्यायां यन्त्र-
विध्यध्यायः नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

कङ्कमुखयन्त्र की श्रेष्ठता—

वि०—सब यन्त्रों में कङ्कमुख यन्त्र प्रधान है—क्योंकि-कङ्कमुख विवर्त्तन करता है (घूम सकता है), अच्छी प्रकार गहराई तक पहुँचता है, पकड़ने वाली वस्तु को पकड़ कर बाहर कर देता है और सब स्थानों पर यह बरता जा सकता है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का यंत्रविधि
नामक पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

अथेदानीं षड्विंशोऽध्यायारंभः शस्त्रस्वरूपविज्ञानार्थः ।

अथातः शस्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

वि०—अब इसके आगे शस्त्रविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

षड्विंशतिः सुकुमारैर्घटितानि यथाविधि ।
शस्त्राणि रोमवाहीनि बाहुल्येनाङ्गुलानि षट् ॥ १ ॥
सुरूपाणि सुधाराणि सुग्रहाणि च कारयेत् ।
अकरालानि सुध्मातसुतीक्ष्णवर्तितेऽयसि ॥ २ ॥
समाहितमुखाग्राणि नीलाम्भोजच्छवीनि च ।
नामानुगतरूपाणि सदा सन्निहितानि च ॥ ३ ॥
स्वोन्मानार्धचतुर्थांशफलान्येकैकशोऽपि च ।
प्रायो द्वित्राणि युञ्जीत तानि स्थानविशेषतः ॥ ४ ॥

स०—बाहुल्येन शस्त्राणि षडंगुलानि भवंति । तथा षड्विंशतिसंख्यानि । तथा सुकुमारैः कर्मकुशलैर्नरैर्यथाविधि सम्यङ्निष्पादितानि तथा रोमवाहीनि लोमशातनसमर्थानि तथा सुरूपाणि शोभनाकाराणि । तथा सुधाराणि शोभनधाराणि । तथा सुखेन गृह्यंते सुखग्रहाणि च कारयेत् । क अयसि । कीदृशे । सुष्ठु ध्मातं सुतीक्ष्णं तथाऽऽवर्तितं च यदयः तीक्ष्णं तस्मिन् । कीदृशानि च शस्त्राणि । अकरालानि सुदर्शनानि । समाहितं सुष्ठु कृतं मुखाग्रं फलं येषां तानि समाहितमुखाग्राणि । तथा नीलोत्पलद्युतीनि । तथा नामानुगतं रूपं येषां तान्यन्वर्थनामानीत्यर्थः । तथा सर्वकालं

संनिहितानि समीपस्थानि । स्वं च तदुन्मानं च स्वोन्मानमात्मीयं प्रमाणं तस्मात्सकाशादर्धं तस्य चतुर्थांशोऽष्टभागोऽगुलषट्कस्य सप्तमांशद्वयसहितं यवदशकं तत्परिमाणं फलं येषां तान्येवम् । अपि चेति समुच्चये । एवंविधानि शस्त्राण्येकैकशः स्थानविशेषाद्द्वित्राणि प्रयुंजीत । एकैकश इत्येकं बहुव्रीहिवदिति द्वित्वसुब्लोपौ । ततः शस्प्रत्ययः ॥ १-४ ॥

छब्बीस प्रकार के शस्त्र—

वि०—शस्त्र छब्बीस प्रकार के होते हैं। यह कुशल कारीगरों द्वारा विधिपूर्वक बनाये हुए, रोम को काटने वाले, प्रायः करके ६ अङ्गुल, देखने में उत्तम रूप वाले, अच्छी धार के, पकड़ने में सुन्दर, देखने में भयानक न हो तथा अच्छी प्रकार फूके गये (आध्मात), सुतीक्ष्ण तथा आवर्त्तित लोहे से बनाये हुए, अच्छी प्रकार आगे से मुख मिलाने वाले, नीले कमल की-आभा वाले, नाम के अनुकूल रूप वाले और सदा पास में रखे हुए होने चाहिये। अपने परिमाण से अष्टमांश फलक वाले होने चाहिये। इनको अकेले-अकेले पृथक्-पृथक् या दो अथवा तीन को मिलाकर स्थान की भिन्नता (आवश्यकता) के अनुसार बरते ॥ १-४ ॥

(मण्डलाग्रं वृद्धिपत्रमुत्पलाध्यर्द्धधारके ।
सर्षैषण्यौ वेतसाख्यं शरार्यास्यत्रिकूर्चके ॥ १ ॥
कुशास्यं साटवदनमन्तर्वक्त्रार्धचन्द्रके (कम्) ।
व्रीहिमुखं कुठारी च शलाकाङ्गुलिशस्त्रके ॥ २ ॥
बडिशं करत्राख्यं कर्तरी नखशस्त्रकम् ।
दण्डलेखनकं सूच्यः कूर्चो नाम खजाह्वयम् ॥ ३ ॥
आरा चतुर्विधाकारा तथा स्यात्कर्णवेधनी (नम्) ।
मण्डलाग्रं फले तेषां तर्जन्यन्तर्नखाकृति ।
लेखने छेदने योज्यं पोथकीशुण्डिकादिषु ॥ ५ ॥

स०—तेषां शस्त्राणां मध्ये मंडलाग्रं नाम शस्त्रम् । कीदृशम् । फलोद्देशे तर्जन्या अंतर्नखस्तर्जन्यंतर्नखस्तस्येवाकृतिर्यस्य तदेवम् । क्वैतद्योज्यमित्याह । लेखने छेदने पोथक्यादिषु योज्यम् । आदिशब्देन वर्त्मरोगादयो गृह्यन्ते ॥५॥

मण्डलाग्र शस्त्र—

वि०—(मण्डलाग्र, वृद्धिपत्र, उत्पल, अध्यर्द्धधारक, सर्पमुख, एषणी, वेतस, शरारिमुख, त्रिकूर्चक, कुशामुख, आरीमुख) अन्तर्वक्त्रार्धचन्द्र, (कुछ लोग अन्तर्वक्त्र और अर्धचन्द्र पृथक्-पृथक् मानते हैं किन्तु दोनों को अलग-अलग मानने से संख्या २७ हो जाती है।) व्रीहिमुख, कुठारी, शलाका, अङ्गुलिशस्त्रक, बडिश, करपत्र, कर्त्तरी, नखशस्त्र, दन्तलेखन, सूची, कूर्च, खज, चार प्रकार की आरा और कर्णवेधन-ये छब्बीस शस्त्र हैं।)

इनमें मण्डलाग्र शस्त्र, तर्जनी के अन्तर्नख के समान आकार के फल वाला होता है और पोथकी, शुण्डिका आदि के लेखन और छेदन में यह बरता जाता है ॥ ५ ॥

वृद्धिपत्रं क्षुराकारं छेदभेदनपाटने ।
ऋज्वग्रमुन्नते शोफे गम्भीरे च तदन्यथा ॥ ६ ॥
नताग्रं पृष्ठतो दीर्घह्रस्ववक्त्रं यथाशयम् ।

स०—वृद्धिपत्रं नाम शस्त्रं क्षुराकारं स्यात् । तच्च छेदनादिषु योज्यमिति प्रकृतम् । फलपरिमाणं तूक्तमेव । कीदृक् । ऋजु स्पष्टमग्रं यस्य तदृज्वग्रं तदुन्नते शोफे स्यात् । गंभीरे तु शोफे तद्वृद्धिपत्रमन्यथा कथमन्यथेत्याह । नतेत्यादि । पृष्ठदेशे नतमग्रं यस्य तन्नताग्रं भवतीति । उत्पलं चाऽध्यर्धधारं च ते आख्ये ययोस्त उत्पलाध्यर्धधाराख्ये शस्त्रे यथाक्रमं दीर्घह्रस्ववक्त्रे भवतः ॥ ६ ॥

वृद्धिपत्र शस्त्र—

वि०—वृद्धिपत्र—छुरे (उस्तरे) के आकार का होता है और छेदन, भेदन और पाटन कार्य में इसका व्यवहार होता है। उन्नत और गम्भीर शोफ में आगे से सीधा वृद्धिपत्र एवं नीचे तथा कम गहरे शोफ में पीछे से आगे को झुका होना चाहिये तथा स्थान के अनुसार लम्बा या छोटा होना चाहिये ॥ ६ ॥

उत्पलाध्यर्धधाराख्ये भेदने छेदने तथा ॥ ७ ।

स०—उत्पलपत्रं दीर्घमुखमध्यर्धधारं तु ह्रस्ववक्त्रमित्यर्थः । तच्छेदने तथा भेदने च योज्यम् ॥ ७ ॥

उत्पल और अध्यर्द्धधार शस्त्र—

वि०—उत्पल और अध्यर्धधार नामक शस्त्र भेदन एवं छेदन कार्य में प्रयुक्त होते हैं (अरुणदत्त ने उत्पलपत्र को दीर्घमुख एवं अर्धधार को ह्रस्तमुख कहते हैं) ॥ ७ ॥

सर्पास्यं घ्राणकर्णार्शश्छेदनेऽर्धाङ्गुलं फले ।

स०—सर्पवक्त्रं नाम शस्त्रं नामानुगताकारं घ्राणार्शश्छेदने च योज्यम् । तथेति समुच्चये । भेदनेऽपि योज्यम् । तच्च फलेऽर्धांगुलं भवति । एषणी नाम शस्त्रं गतेर्व्रणानामन्वेषणे योज्यम् । कीदृशी । श्लक्ष्णा कोमलस्पर्शा । तथा गंडूपदमुखमिव मुखं यस्याः सा गण्डूपदमुखा ।

सर्पास्य शस्त्र—

वि०—सर्पवक्त्र—का उपयोग नाक एवं कान के अर्श को काटने में होता है। इसका फलक आधा अङ्गुल होता है।

द्वितीयामेषणीमाह—

गतेरन्वेषणे श्लक्ष्णा गण्डूपदमुखैषणी ॥ ८ ॥

स०—अपरैषणी भेदनार्थे सूचीमुखा स्यात् । मूले निविष्ट कृतं खं छिद्रं यस्याः सा मूलनिविष्टखा ।

एषणी शस्त्र—

वि०—एषणी नामक शस्त्र व्रण की गति (मार्ग) को ढूँढने में बरती जाती हैं; यह चिकनी तथा गण्डूपद (केंचुए) के मुख के आकार की होती है ॥ ८ ॥

भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखा मूलनिविष्टखा ।

स०—वेतसं वेतसपत्राकारं शस्त्रं षडंगुलं पूर्वोक्तफलं तच्च व्यधने योज्यम् ।

द्वितीय एषणी शस्त्र—

वि०—दूसरी एषणी—सूई के मुख के समान नोकीली और जड़ में छेद वाली होती है । (इसका उपयोग क्षारसूत्र के प्रवेश के लिए है)

वेतसं व्यधने—

वेतसशस्त्र—

वि०—वेतस (पत्राकार) शस्त्र वेधन में बरता जाता है ।

—स्राव्ये शरार्यास्यत्रिकूर्चके ॥ ९ ॥
कुशाटवदने स्राव्ये द्व्यङ्गुलं स्यात्तयोः फलम् ।

स०—शरारिराटिः पक्षिविशेषः । शरार्यास्यं नाम शस्त्रं त्रिकूर्चके च स्राव्ये योज्यम् । कुशाटा नाम शस्त्रं वदने स्राव्ये योज्यम् । तयोः शरारिकुशाटयोः फलं द्व्यंगुलप्रमाणं स्यात् ॥ ९ ॥

शरार्यास्य, कुशपत्र तथा आटीमुख शस्त्र—

वि०—शरारिमुख और त्रिकूर्चक शस्त्र रक्तादि-स्रावण में (पाछने में) बरते जाते हैं । कुशपत्र और आटीमुख ये दो शस्त्र भी स्रावण-रक्तस्राव में बरते जाते हैं, इनका फल दो अङ्गुल होता है । (शरारि और आटी पक्षियों की जातियाँ हैं ।) ॥ ९ ॥

वक्तव्य—अरुणदत्त ने 'कुशाटा' और 'वदने' का पृथक् पाठ कर शस्त्र का नाम 'कुशाटा' किया है यह उनका प्रमाद है ।

तद्वदन्तर्मुखं तस्य फलमध्यर्धमङ्गुलम् ॥ १० ॥
अर्धचन्द्राननं चैतत्—

स०—अंतर्मुखं नाम शस्त्रं तद्वत्कुशाटातुल्यम् । तस्यांऽतर्मुखस्य फलमध्यर्धमंगुलं स्यात् । तथा कुशाटातुल्यं तदप्यर्धचंद्रास्यसंज्ञंशस्त्रम् ॥ १० ॥

अन्तर्मुखशस्त्र—

वि०—अन्तर्मुख शस्त्र कुशपत्र या आटीमुख के समान होता है । इसका फलक डेढ़ अङ्गुल सीधा और अर्ध चन्द्राकार होता है ॥ १० ॥

—तथाऽध्यर्धाङ्गुलं फले ।
व्रीहिवक्त्रं प्रयोज्यं च तच्छिरोदरयोर्व्यधे ॥ ११ ॥

स०—चः समुच्चये भिन्नक्रमे । व्रीहिवक्त्रमप्यध्यर्धांगुलफलं स्यात । तच्च शिराव्यध उदरव्यधे च योज्यम् ॥ ११ ॥

व्रीहिवक्त्र शस्त्र—

वि०—व्रीहिमुख भी फलक में डेढ़ अङ्गुल होता है । इसका उपयोग शिर एवं उदर के वेधन में होता है ॥ ११ ॥

पृथुः कुठारी गोदन्तसदृशार्धाङ्गुलानना ।
तयोर्ध्वदण्डया विध्येदुपर्यस्थ्नां स्थितां सिराम् ॥ १२ ॥

स०—कुठारी नाम शस्त्रं पृथुर्विस्तीर्णसंस्थानदंडा तथा गोदंतसदृशमर्धांगुलमाननं यस्याः सैवम् । तया कुठारिकयोर्ध्वदंडया सत्या शिरामस्थ्नामुपरि स्थितां विध्येत् ॥१२॥

कुठारी शस्त्र—

वि०—कुठारी—चिपुटी, गाय के दाँत के समान, मुख पर आध अङ्गुल चौड़ी होती है । इसके ऊपरी भाग में दण्ड होना चाहिये उससे पकड़ कर अस्थियों के ऊपर स्थित (अस्थि से आच्छादित ?) सिरा का वेधन करे ॥ १२ ॥

ताम्री शलाका द्विमुखी मुखे कुरुबकाकृतिः ।
लिङ्गनाशं तया विध्येत्—

ताम्रमयी द्विमुखी शलाका—

वि०—ताम्र की बनी शलाखा दो मुख वाली, मुख पर कुरुबक (फूल की कली) के आकार की होती है; इससे लिंगनाश का वेधन करे ।

—कुर्यादंगुलिशस्त्रकम् ॥ १३ ॥
मुद्रिकानिर्गतमुखं फले त्वर्धांगुलायतम् ।
योगतो वृद्धिपत्रेण मण्डलाग्रेण वा समम् ॥ १४ ॥
तत्प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रमाणार्पणमुद्रिकम् ।
सूत्रबद्धं गलस्रोतोरोगच्छेदनभेदने ॥ १५ ॥

स०—ताम्रमयी शलाका द्विमुखा स्यात् । स च मुखे कुरुबकाकृतिः रक्तसहचरपुष्पमुकुलाकारा । तया शलाकया लिंगनाशं कफोत्थपटलसंज्ञं विध्येत् । अंगुलिशस्त्रकं कुर्यात् । कीदृशम् । मुद्रिकाया ऊर्मिकाया निर्गतं निष्क्रांतं मुखं यस्य तन्मुद्रिकानिर्गतमुखम् । फले तु तस्मिन्मुखेऽर्धांगुलदीर्घं योगतः संस्थानेन वृद्धिपत्रेण मंडलाग्रेण वा तुल्यम् । कियत्प्रमाणाऽस्य मुद्रिका कार्येत्याह । तत्प्रदेशिन्यग्रेत्यादि । तस्य वैद्यस्य या प्रदेशिनी तस्या यदग्रं पर्वं तस्य यत्प्रमाणं तेनार्प्यत इति तत्प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रमाणार्पणी मुद्रिका यस्मिंस्तद्भिषक्तर्जन्यग्रपर्वप्रमाणार्पणमुद्रिकम् । तया सूत्रेण बद्धं सूत्रबद्धम् । सूत्रेण बद्ध्वा मणिबंधे योज्यमित्यर्थः । गलस्रोतो रोगाणां छेदने च तद्योज्यम् ॥ १३-१५ ॥

अंगुलिशस्त्र—

वि०—अंगुलिशस्त्र—मुद्रिका (छल्ले) में से मुख निकला तथा फलक आध अङ्गुल बड़ा एवं रूप में मण्डलाग्र अथवा वृद्धिपत्र के समान होना चाहिये । वैद्य की तर्जनी अंगुली के अग्रिम पर्व में पहनने योग्य इसकी मुद्रिका होनी चाहिये । इसको सूत्र (धागे) से बाँध (कर-मणिबन्ध में बाँध) रखे । इसका उपयोग गले के स्रोतों के रोगों के छेदन एवं भेदन में होता है ॥ १५ ॥

ग्रहणे शुण्डिकामार्देर्बडिशं सुनताननम् ।

स०—बडिशं नाम शस्त्रं शुण्डिकामार्देर्ग्रहणे योज्यम् । आदिशब्देन प्रतिजिह्वादेर्ग्रहणम् । कीदृशं तत् । सुनतमङ्कुशवदानतमाननं मुखं यस्य तदेवम् ।

बडिश शस्त्र—

वि०—बडिश शस्त्र—आगे से भली प्रकार झुका (अंकुश के आकार का होता है; इसका उपयोग शुण्डिका; अर्म आदि को पकड़ने में हैं।

छेदेऽस्थ्नां करपत्रं तु खरधारं दशांगुलम् ॥ १६ ॥
विस्तारे द्व्यङ्गुलं सूक्ष्मदन्तं सुत्सरुबन्धनम् ।

स०—करपत्रं नाम शस्त्रं खरधारं तथा दशांगुलं दैर्घ्येण द्व्यङ्गुलं विस्तारेण । सूक्ष्मा दंता यस्य तत्सूक्ष्मदंतम् । तथा । त्सरुर्मुष्टिर्बंधनं ग्रहणम् । शोभने त्सरुबंधने यस्य तत्सरुबंधनम् । अभिधानकोशे यद्यपि त्सरुरसिमुष्टिरित्यभ्यधायि तथाऽपि मुष्टिमात्रस्येहोपलक्षणार्थत्वान्मुष्टावप्युपपन्नमेव ॥ १६ ॥

करपत्र शस्त्र—

वि०—करपत्र—अस्थियों के छेदन में बरता जाता है। इसकी धारा खर (कर्कश) होती है; लम्बाई दस अङ्गुल और चौड़ाई दो अङ्गुल; बारीक दाँतों वाला; उत्तम मुट्ठी से जुड़ा होता है। (इसे लोकभाषा में 'आरी' कहते हैं।) ॥१६॥

स्नायुसूत्रकचच्छेदे कर्तरी कर्तरीनिभा ॥ १७ ॥

स०—कर्तरी नाम शस्त्रं कर्तरीसदृशं स्नाय्वादिच्छेदे योज्यम् ॥ १७ ॥

कर्तरी शस्त्र—

वि०—कर्तरी—स्नायु, सूत्र और बालों को काटने में—कर्त्तरी (कैंची) के समान कर्तरी होती है ॥ १७ ॥

वक्रर्जुधारं द्विमुखं नखशस्त्रं नवाङ्गुलम् ।
सूक्ष्मशल्योद्धृतिच्छेदभेदप्रच्छानलेखने ॥ १८ ॥

स०—नखशस्त्रं नखच्छेदकं प्रसिद्धम्। तच्च वक्रा ऋजुश्च धारा यस्य तदेवम् । तस्यैकं मुखं वक्रमन्यदृजु स्पष्टम् । तथा नवांगुलं नवांगुलप्रमाणं नतु षडंगुलम् । एतच्च सूक्ष्मशल्यस्य कंटकादेरुद्धरणादौ नखच्छेदने भेदने च योज्यम् ॥१८॥

नख शस्त्र—

वि०—नखशस्त्र—जिसकी एक धारा टेढ़ी और एक धारा सीधी हो ऐसा दो मुखवाला; नौ अङ्गुल लम्बा होता है और काँटे आदि सूक्ष्म शल्य को निकालने में, छेदन, भेदन, प्रच्छान (पाछना) और लेखन में बरता जाता है (एक तरफ टेढ़े मुख का, दूसरी ओर सीधे मुख का) ॥ १८ ॥

अधुना दंतलेखनशस्त्रमाह—

एकधारं चतुष्कोणं प्रबद्धाकृति चैकतः ।
दन्तलेखनकं तेन शोधयेद्दन्तशर्कराम् ॥ १९ ॥

स०—एकधारमेकस्मिन् प्रदेशे तथा चतुष्कोणं तथा एकत एकस्मिन्देशे प्रबद्धा आकृतिर्यस्य तद्दंतलेखनकम् । तेन दंतशर्करां शोधयेत् ॥ १९ ॥

दन्तलेखनशस्त्र—

वि०—दन्तलेखन शस्त्र—एक धार का, चार कोने (पार्श्व) वाला, एक पार्श्व में बढ़ा हुआ होता है। इससे दन्तशर्करा का शोधन करे ॥ १९ ॥

अधुना सूचीशस्त्रमाह—

वृत्ता गूढदृढाः पाशे तिस्रः सूच्योऽत्र सीवने ।

स०—अत्र एषु शस्त्रेषु मध्ये सीवने सीवनविषये तिस्रः सूच्यः स्युः । किंभूताः । वृत्ता वर्तुलाः पाशे गूढास्तथा दृढाः सारत्वात् । आसां च प्रत्येकं संस्थानविशेषेण विशेषोपयोगमाह ।

सूची शंख—

वि०—सुइयाँ—सीने के लिये तीन (ह्रस्व, मध्य और दीर्घ) सुइयाँ; ये गोल एवं धागा डालने के स्थान पर गूढ (गहरी) एवं दृढ होनी चाहिये।

मांसलानां प्रदेशानां त्र्यस्रा त्र्यङ्गुलमायता ॥ २० ॥
अल्पमांसास्थिसन्धिस्थव्रणानां द्व्यङ्गुलायता ।
व्रीहिवक्त्रा धनुर्वक्त्रा पक्वामाशयमर्मसु ॥ २१ ॥
सा सार्द्धद्व्यङ्गुला—

स०—मांसलानां बहुमांसानां शरीरदेशानां त्र्यस्रा मुखे सूची स्यात् । संग्रहेऽप्यवोचत् । त्र्यस्राग्रेति । त्र्यस्रेति चिंत्यम् । तथा त्र्यंगुलमायता त्र्यंगुलदीर्घेत्यर्थः । वृत्तत्वं दृढपाशत्वं चोक्तमेव सामान्यलक्षणेन । अल्पमांसानां व्रणानां संध्यस्थिसंश्रितानां च द्व्यंगुलमायता दीर्घा । वृत्तमुखत्वं चाऽस्याः सामान्योक्तम् । तृतीयामाह व्रीहीत्यादि । व्रीहिमुखा चापवत् कुटिला । दैर्घ्येण द्वे अंगुले सार्धे स्यात् । सा च पक्वाशय आमाशये मर्मसु च व्रणानां सीवने योज्या ॥२०-२१॥

स्थानविशेष से इनकी विशेषता—

वि०—मांसल प्रदेशों को सीने के लिये तीन पार्श्व वाली और तीन अङ्गुल लम्बी सूई चाहिये।

थोड़े मांस-अस्थि-सन्धि के व्रणों के लिये दो अङ्गुल लम्बी सूई चाहिये।

तीसरी सूई व्रीहि (धान) के समान मुख (नोक) वाली और धनुष के समान झुकी-पक्वाशय, आमाशय और मर्मों में सीने के काम आती है। यह डेढ़ अङ्गुल लम्बी होती है ॥ २०-२१ ॥

अधुना कूर्चं लिलक्षयिषुराह—

सर्ववृत्तास्ताश्चतुरङ्गुलाः ।
कूर्चो वृत्तैकपीठस्थाः सप्ताष्टौ वा सुबन्धनाः ॥ २२ ॥
स योज्यो नीलिकाव्यङ्गकेशशातेषु कुट्टने ।

स०—ताः सूचयः सर्वतो वर्तुला दैर्घ्येण चतुरंगुलाः कूर्च इत्युच्यते । किंभूताः वृत्त एकस्मिन् पीठे संस्थिताः । तथा सप्तसंख्या अष्टौ वा । तथा शोभनं बंधनं यासां ताः । सुबंधनाः । अत एवेदं शस्त्रं सूचीकूर्चसंज्ञमिति । तथा चाऽर्शश्चिकित्सिते जगाद । अर्शोभ्यो जलजाशस्त्रसूचीकूर्चैरित्यादि । स च बद्धसप्ताष्टसूचिकः कूर्चो नीलिकादिषु लेपे कुट्टनविषये च योज्यः । उपलक्षणत्वाच्चाऽस्य श्वित्रेंद्रलुप्तादिष्वपि योज्यः ॥ २२ ॥

कूर्च शस्त्र—

वि०—एक गोल पीठ में लगी हुई सात या आठ सुइयाँ

जिनमें सभी गोल और चार अंगुल लम्बी हों तथा भली प्रकार बँधी हों, इसे कूर्च कहते हैं। यह निलिका व्यङ्ग और इन्द्रलुप्त में कुट्टन (गोदने) के कार्य में उपयोगी है ॥२२॥

अर्धाङ्गुलमुखैर्वृत्तैरष्टाभिः कण्टकैः खजः ॥ २३ ॥
पाणिभ्यां मथ्यमानेन घ्राणात्तेन हरेदसृक् ।

स०—अष्टाभिः कंटकैः खजः उच्यते । कीदृशैः । अर्धांगुलप्रमाणं मुखं येषां तैरर्धांगुलमुखैः । तथा वर्तुलैः । तेन खजेन हस्ताभ्यां विलोड्यमानेन नासिकातोऽस्रं हरेत् ॥ २३ ॥

खज शस्त्र—

वि०—खज—आधे अंगुल लम्बे और गोल-आठ कण्टकों से खज बनता है। हाथों से मथकर इससे नासिका से रक्त निकाला जाता है ॥ २३ ॥

व्यधनं कर्णपालीनां यूथिकामुकुलाननम् ॥ २४ ॥

स०—कर्णपालीनां व्यधने यूथिका नाम शस्त्रं स्यात् । कीदृशी । मुकुलानना ॥ २४ ॥

कर्णव्यधन या यूथिका शस्त्र—

वि०—कर्णपाली का बेधन करने के लिये यूथिका (जूही) की कली के समान मुख वाला कर्णव्यधन शस्त्र होता है। (अरुणदत्त ने इसे यूभिका शस्त्र कहा है) ॥ २४ ॥

आराऽर्धाङ्गुलवृत्तास्या तत्प्रवेशा तथोर्ध्वतः ।
चतुरस्रा तया विध्येच्छोफं पक्वामसंशये ॥ २५ ॥
कर्णपालीं च बहलां—

स०—अर्धांगुलप्रमाणं वृत्तं मुखं यस्याः साऽर्धांगुलवृत्तास्या । तथा स एवार्धांगुलप्रमाणः प्रवेशो यस्याः सा तत्प्रवेशा । तथोर्ध्वंत इति । वृत्तार्धांगुलादुपरिष्टात्तथैव चार्धांगुलप्रमाणैव चतुरस्रा स्यात् । सा आरा नाम शस्त्रम् । तया आरया शोफं विध्येत् । कदा पक्वामसंशये किमयं पक्वः शोफ उताम इति संदेहे । बहुलां च कर्णपालीं तया विध्येत् ॥२५॥

आरा शास्त्र—

वि०—आरा—आधे अंगुल गोल मुख का; एवं उतना ही अंश प्रवेश करने योग्य होता है और इसके (आधे अङ्गुल के) ऊपर चौकोर होता है। कच्चे एवं पके शोथ के सन्देह में तथा मोटी कर्णपाली में इससे वेधन करे ॥ २५ ॥

—बहलायाश्च शस्यते ।
सूची त्रिभगसुषिरा त्र्यङ्गुला कर्णवेधनी ॥ २६ ॥

स०—बहुलाया अतिमांसलायाः कर्णपाल्याश्च सूची शस्यते न केवलमारा । कीदृशी सूची । त्रिभागः प्रांतभागाः सुषिरौ यस्याः सैवम् । तथा त्र्यंगुलादैर्घ्येण । सा च कर्णवेधनी स्यात् ॥ २६ ॥

कर्णवेधनी सूची शस्त्र—

वि०—बहल (मोटी) कर्णपाली के वेधन में कर्णवेधनी सूई उत्तम है। यह सूई ⅓ भाग खोखली एवं तीन अंगुल लम्बी होनी चाहिये ॥ २६ ॥

जलौकःक्षारदहनकाचोपलनखादयः ।
अलौहान्यनुशस्त्राणि, तान्येवं च विकल्पयेत् ॥ २७ ॥
अपराण्यपि यन्त्रादीन्युपयोगं च यौगिकम् ।

स०—जलौकःप्रभृतीन्यनुशस्त्राणि रक्तस्रावादिकार्यकरणात् । तानि चाऽलौहानि लोहवर्जितानि । आदिशब्देनायस्कांतशाकशेफालिकापत्रादीनां ग्रहणम् । एवंचोक्तेन न्यायेनाऽन्यान्यपि यंत्रादीनि विकल्पयेत् । आदिशब्देन शस्त्राणां ग्रहणम् । उपयोगं च यौगिकं साधुतरं बुद्ध्या निरूपयेत् ॥ २७ ॥

जलौका आदि अनुशस्त्र—

वि०—जोंक, क्षार, अग्नि, काच, पत्थर, नख आदि (शेफालिका आदि के पत्र); और लोहरहित अन्य वस्तुएँ अनुशस्त्र हैं। उनको तथा इसी प्रकार दूसरे यन्त्र शस्त्रों की आवश्यकतानुसार कल्पना कर बुद्धिपूर्वक उत्तम रूप में व्यवहार करे ॥ २७ ॥

उत्पाट्यपाट्यसीव्यैष्यलेख्यप्रच्छानकुट्टनम् ॥ २८ ॥
छेद्यं भेद्यं व्यधो मन्थो ग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः ।

स०—उत्पाट्यादीनि तत्क्रियास्तेषां षड्विंशतिशस्त्राणां क्रियाः कर्माणि तत्क्रियाः । तानि षड्विंशतिशस्त्राणि संग्रहोक्तानि । तद्यथा । दंतलेखनमंडलाग्रवृद्धिपत्रोत्खरशरारिमुखत्रिकूर्चकुठारिकाव्रीहिमुखशलाकावेतसपत्रारा कर्णव्यधनसूचीकूर्चखजैषणीबडिशनखशस्त्राणीति । उत्पाट्यमूर्ध्वनयनं तत्र नखशस्त्रं योज्यम् । पाटने वृद्धिपत्रादि । सेवने सूच्यः । लेखने मंडलाग्रादिः । कुट्टने कूर्चः । छेदने करपत्रादि । भेदने एषणी सूचीमुखा । व्यधने वेतसादि । मंथने खजः । ग्रहे संदंशः । दाहे शलाकादिरिति ॥ २८ ॥

उक्त शस्त्रों के कार्य—

वि०—शस्त्रकार्य—उत्पाटन (उखाड़ना), पाटन (फाड़ना), सीना, एषण, लेखन, पाछना, कुट्टन, छेदन, भेदन, वेधन, मन्थन, पकड़ना तथा जलाना ये सब शस्त्रों के कार्य हैं ॥२८॥

शस्त्रदोषानाह—

कुण्ठखण्डतनुस्थूलह्रस्वदीर्घत्ववक्रताः ॥ २९ ॥
शस्त्राणां खरधारत्वमष्टौ दोषा प्रकीर्तिताः ।

स०—स्पष्टम् ॥ २९ ॥

शस्त्रों के दोष—

वि०—शस्त्रदोष—कुण्ठित होना; टूटा होना, पतला, छोटा या लम्बा होना, टेढ़ा होना और धार का खुरदरा होना—ये आठ दोष शस्त्रों के हैं ॥ २९ ॥

अधुना शस्त्राणां ग्रहणविधिं दर्शयति—

छेदभेदनलेख्यार्थं शस्त्रं वृन्तफलान्तरे ॥ ३० ॥
तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठैर्गृह्णीयात्सुसमाहितः ।
विस्रावणानि बृन्ताग्रे तर्जन्यङ्गुष्ठकेन च ॥ ३१ ॥

तलप्रच्छन्नवृन्ताग्रं ग्राह्यं व्रीहिमुखं मुखे।
मूलेष्वाहरणार्थानि क्रियासौकर्यतोऽपरम् ॥ ३२ ॥

स०—छेदभेदनलेख्यार्थं तर्जनीमध्यमांगुष्ठैर्मीलितैः शस्त्रं वृंतफलांतरे वृंतफलमध्यभागे गृह्णीयात्। कीदृक्। सुसमाहितस्तद्गतमनाः। विस्रावणकार्याणि शरार्यास्यादीनि शस्त्राणि वृंताग्रे तर्जन्यंगुष्ठाभ्यां गृह्णीयात्। गृह्णीयादित्यनुवर्तते। तलशब्देन पाणितलमुच्यते। आदिलोपाख्यया तन्त्रयुक्त्या। तलेन प्रच्छन्नं वृंत्तमग्रं यस्य तद्व्रीहिमुखं मुखे गृह्णीयात्। शेषं शस्त्रं क्रियासौकर्यतो गृह्णीयात्। सुकरस्य भावः सौकर्यम्। यथा सुकरा पाटनादिका क्रिया स्यात्तथा गृह्णीतेत्यर्थः ॥ ३०-३२ ॥

शस्त्रों के पकड़ने की विधि—

वि०—छेदन-भेदन तथा लेखन कार्य में शस्त्र को फलक और बेंट (हत्थे) के बीच में से तर्जनी, मध्यमा और अङ्गुष्ठ द्वारा सावधानीपूर्वक पकड़ना चाहिये। विस्रावण शस्त्रों को तर्जनी और अंगूठे से वृन्त (बेंट) के अग्रभाग से पकड़े। हथेली से वृन्त के अगले भाग को ढाँप कर व्रीहिमुख को मुख पर से पकड़े। आहरण के लिये शस्त्रों को जड़ से पकड़े। दूसरे शस्त्रों को चिकित्सा की सरलता के लिये जहाँ सुभीता हो, वहाँ से पकड़े ॥ ३०-३२ ॥

शस्त्रकोशमाचष्टे—

स्यान्नवाङ्गुलविस्तारः सुघनो द्वादशाङ्गुल।
क्षौमपत्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः ॥ ३३ ॥
विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णास्थशस्त्रकः।
शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोशः सुसञ्चयः ॥ ३४ ॥

स०—नवांगुलविस्तारः शस्त्रकोशः स्यात्। तथा सुष्ठु घनो निबिडः। तथा द्वादशांगुलप्रमाणो दैर्घ्येण। तथा तथा क्षौमादिजः। विन्यस्तः कृतः पाशो यस्य स विन्यस्तपाशः। तथा सुष्ठु स्यूतः। तथा सांतराणि सव्यवधानान्यूर्णास्थानि शस्त्राणि यस्मिन् स सांतरोर्णास्थशस्त्रकः। तथा शलाकया पिहितं स्थगितमास्यं यस्य स एवम्। तथा शोभनः संचयो यस्य शस्त्रकोशस्य स सुसंचयः। नापितभांडिकावत्। तंत्रांतरे चोक्तम्। निशानी तु शस्त्राणां सूक्ष्मा शिलैका माषमुद्गप्रभेत्यादि ॥ ३३-३४ ॥

शस्त्रकोश—

वि—शस्त्रकोष—नौ अंगुल चौड़ा, अच्छा मजबूत; बारह अङ्गुल लम्बा, क्षौम, पत्र, ऊन, कौशेय (रेशम), दुकूल (वस्त्र) एवं कोमल चमड़े से बना, जिसमें बंधन के लिए डोरा डाला हो; भली प्रकार सिया हुआ; पर्याप्त अन्तर में ऊन का स्तर लगाकर शस्त्र रक्खे हुए; शलाका से मुख बन्द किया जा सके ऐसा उत्तम संचय वाला, शस्त्रकोश उत्तम है ॥ ३३-३४ ॥

सुकुमारबालानामस्रविस्रावणार्थं जलौकसो निर्दिदिक्षुराह—

जलौकसस्तु सुखिनां रक्तस्रावाय योजयेत्।

स०—सुखिनां सुखोचितानां रक्तस्रावणार्थं जलौकसो योजयेत्। ताश्च द्विप्रकाराः। सविषा निर्विषाश्च। तत्र सविषाणां सापायत्वात्ता एव तावल्लक्षयति।

जौंक का प्रयोग—

वि०—सुखी—सुकुमार प्रकृतिवाले लोगों में रक्तस्राव के लिये जौंक का प्रयोग करे।

दुष्टाम्बुमत्स्यभेकाहिशवकोथमलोद्भवाः ॥ ३५ ॥
रक्ताः श्वेता भृशं कृष्णाश्चपलाः स्थूलपिच्छिलाः।
इन्द्रायुधविचित्रोर्ध्वराजयो रोमशाश्च ताः ॥ ३६ ॥
सविषा वर्जयेत्—

स०—दुष्टांबूद्भवाश्च जलौकसः सविषा इति वर्जयेत्। तथा मत्स्यभेकसर्पादिशवकोथोद्भवास्तथा तेषामेव मत्स्यादीनां ये मलमूत्रपुरीषादयस्तदुद्भवाश्च सविषा इति वर्जयेत्। सविषाणां लक्षणमाह। रक्ता इत्यादि। यावल्लोमशांतास्ताः सविषा यतस्ता वर्जयेत्ता न योजयेत् ॥ ३५-३६ ॥

सविष जौंकों के लक्षण तथा उनका निषेध—

वि०—सविष जौंक—दूषित जल, मछली, मेंढक और साँप के शवों के सड़ने से एवं उनके मल से उत्पन्न, लाल, श्वेत, अतिकाली, चंचल, स्थूल, पिच्छिल, इन्द्रधनुष के समान विचित्र ऊपर की ओर रेखा वाली और लोम युक्त जलौकायें विषैली होती हैं—इनका उपयोग नहीं करना चाहिये ॥ ३५-३६ ॥

—ताभिः कण्डूपाकज्वरभ्रमाः।
विषपित्तास्रनुत्कार्यं तत्र—

स०—ताभिर्हि योजिताभिः कंड्वादयः स्युः। उपलक्षणं चेदम्। दाहशोषमूर्च्छादयोऽपि स्युः। तासु मोहाद्योजितासु विषादिजित् कार्यम्।

सविष जौंक के प्रयोग से हानि तथा चिकित्सा—

वि०—इनके कारण कण्डू, पाक, ज्वर और भ्रम होता है। इनके लिये विषनाशक, रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करे।

—शुद्धाम्बुजाः पुनः ॥ ३७ ॥
निर्विषाः शैवलश्यावा वृत्ता नीलोर्ध्वराजयः।
कषायपृष्ठास्तन्वङ्ग्यः किञ्चित्पीतोदराश्च याः ॥ ३८ ॥

स०—जलौकस इति वर्तते। शुद्धजलोद्भवाः सौगंधिकोत्पलकमलविपुलसलिलशैवालजा जलौकसो निर्विषाः स्युः। आसां च लक्षणमाह। शैवलेत्यादि। शैवलमिव श्यावास्तथा वृत्तास्तथा नीलोर्ध्वराजयस्तथा कषायं न्यग्रोधादिवल्कलसदृशवर्णं पृष्ठं यासां ता एवम्। तथा तनुशरीराः किंचित्पीतवर्णजठराश्च निर्विषा वेद्याः ॥ ३७-३८ ॥

निर्विष जौंकों के लक्षण—

वि०—शुद्ध जल में उत्पन्न शैवाल के समान श्यामवर्ण, गोल, नीली ऊर्ध्व रेखा वाली, कपिश रङ्ग की पीठवाली, कोमल अङ्गों की तथा कुछ पीले उदरवाली जलौका निर्विष हैं ॥ ३७-३८ ॥

ता अप्यसम्यग्वमनात् प्रततं च निपातनात् ।
सीदन्तीः सलिलं प्राप्य रक्तमत्ता इति त्यजेत् ॥ ३९ ॥

स०—सुनिर्विषा अपि जलौकसो रक्तमत्ता इति त्यजेत्। न केवलं सविषा इति प्रतिपादनार्थोऽपि शब्दः। रक्तमत्तत्वे हेतुद्वयमाह। असम्यग्वमनात्। दुष्टरक्तस्येति शेषः। प्रततं च लागनाद् दुष्टरक्तापायित्वेन रक्तमताश्च ताः स्युः। ताश्च कथं लक्ष्यंत इत्याह। सीदंतीरित्यादि। जलं प्राप्य तोयपूर्णभांडमासाद्य सीदंतीस्तथाऽचेष्टमाना इति ज्ञात्वा त्यजेत् ॥३९॥

निर्विषों में भी त्याज्य जौंक—

वि०—ये निर्विष जौंक भी ठीक प्रकार वमन न करने से, और निरन्तर लगाते रहने से, जल में पड़कर शिथिल हो जायं तो रक्त से मत्त हुई समझकर इनको छोड़ दे ॥ ३९ ॥

अथेतरा निशाकल्कयुक्तेऽम्भसि परिप्लुताः ।
अवन्तिसोमे तक्रे वा पुनश्चाश्वासिता जले ॥ ४० ॥
लागयेद्घृतमृत्स्तन्यरक्तशस्त्रनिपातनैः ।
पिबन्तीरुन्नतस्कन्धाश्छादयेन्मृदुवाससा ॥ ४१ ॥

स०—अथ परीक्षातोऽनंतरमितरा लागयेत्। किंभूताः। हरिद्राकल्कयुक्तजले परिप्लुताः कांजिके तक्रे वा परिप्लुताः पुनश्च जले समाश्वासिताः सात्म्यभूते जले प्लवनार्हाः सोत्साहाः सतीर्योजयेत्। अलगंतीः कथं लागयेदित्याह। घृतेत्यादि घृतादिपातनैस्ता योजयेत्। पातनशब्दः प्रत्येकं योज्यः। शस्त्रेणांऽगे रक्तं मोक्षयित्वा वा ता योजयेत्। ताश्च पिबंतीः सूक्ष्मवाससाऽऽच्छादयेत्। एवं हि तासां मक्षिकाद्यनुपद्रवात् सम्यग्योजना स्यात्। अथ किमेताः पिबंत्युत नेति कथं ज्ञायत इत्यत्र विशेषणद्वारेण हेतुमाह। उन्नतस्कंधा इति। उन्नतः स्कंधो यासां ता एवम्। उन्नतस्कंधत्वेन तासां पानं ज्ञायत इत्यर्थः ॥ ४०-४१ ॥

जौंक लगाने की विधि—

वि०—परीक्षा के उपरान्त दूसरी (निर्दुष्ट) जौंक लगाये। इसके लिये जौंक को हल्दीकल्क घुले पानी में, कांजी में या तक्र में डुबोकर (रखकर) फिर शुद्ध जल में सान्त्वना देकर स्थान पर लगाये। यदि न लगे तब घी, मिट्टी, दूध, रक्त, एवं शस्त्र पाछकर लगा दे। जब वह कन्धों को ऊँचा करके रक्त पी रही हो उस समय उसे कोमल वस्त्र से ढाँप देवे ॥ ४०-४१ ॥

ननु शुद्धरक्तदुष्टरक्तयोरेकलोलीभूतत्वाच्छुद्धरक्तधात्वाकर्षणाज्जलौका दोषाय स्यादित्यत आह—

सम्पृक्ताद् दुष्टशुद्धास्राज्जलौका दुष्टशोणितम् ।
आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरोदकादिव ॥ ४२ ॥
(गुल्मार्शोविद्रधीन् कुष्ठवातरक्तगलामयान् ।
नेत्ररुग्विषवीसर्पान् शमयन्ति जलौकसः ॥ १ ॥)

स०—दुष्टशुद्धास्रान्मिलितादपि दुष्टरक्तं जलौकाः पूर्वमादत्ते न शुद्धं देहधातुस्थमिति दृष्टांतेन दर्शयति। हंस इत्यादि। हंसो यथा क्षीरजलान्मिश्रितात्प्राग्दुग्धमादत्ते न तु जलं तथा जलौकाः प्रागशुद्धं रक्तमादत्ते पश्चादितरदिति न्याय्यमेतत् ॥ ४२ ॥

जौंक द्वारा दूषित रक्त का पहले ग्रहण—

वि०—जिस प्रकार दूध मिले जल में से हंस दूध को अलग कर लेता है; उसी प्रकार दूषित और शुद्ध रक्त के मिश्रण में से जौंक पहले दूषित रक्त को ग्रहण करती है ॥४२॥

[गुल्म, अर्श, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त गलरोग, नेत्ररोग, विष एवं विसर्प रोग जौंक से अच्छे होते हैं ॥ ४२ ॥]

दंशस्य तोदे कण्डवां वा मोक्षयेद् वामयेच्च ताम् ।
पटुतैलाक्तवदनां श्लक्ष्णकण्डनरूषिताम् ॥ ४३ ॥

स०—दंशस्य तोदे सति कंड्वां वा सत्यां मोक्षयेत्। शुद्धरक्तरक्षार्थमतियोगभयाच्च। तामित्येकवचननिर्देशादेकैकां मोक्षयेन्न तु सर्वाः सकृदेवेति गमयति। अथ पानलौल्याद्दंशं न त्यजेत्ततो हरिद्राचूर्णं लवणचूर्णं वा आनने दत्वा मोक्षयेत्। मोक्षितां च जलौकसं वामयेत्। वमनविधानमाह—सैंधवयुतेन तैलेन रूक्षितास्यां तथा सूक्ष्मेण तंडुलकंडनेन रूक्षितामवकीर्णां वामयेत्। तंडुलशब्दस्याऽत्र लोपो ज्ञेयस्तंत्रयुक्त्या ॥ ४३ ॥

जौंक का छुड़ाना और वमन कराना—

वि०—दंश में चुभने की दर्द या कण्डू होने पर इनको अलग कर ले। उतारने पर इसको वमन कराये। इसके लिये नमक और तैल से मुख को मले। तथा चावल की भूसी या कने से इसको रगड़े। [कण्डनम्-तुषः; रूषिताम्-चर्चिताम्] ॥ ४३ ॥

वक्तव्य—यदि जौंक स्वयं न उतरे तो उसके मुख पर नमक पानी छोड़ देवे। खींचकर न उतारे।

रक्षन् रक्तमदाद् भूयः सप्ताहं ता न पातयेत् ।

स०—ताः कृतवमना जलौकसो रक्तमदाद्रक्षन् पुनः सप्ताहं न योजयेत्।

रक्तपान के बाद पुनः रक्तपान का निषेध—

वि०—वमन कराके रक्तमद से रक्षा करने के लिये इसको सात दिन तक न लगाये।

पूर्ववत् पटुता दार्ढ्यं सम्यग्वान्ते जलौकसाम् ॥ ४४ ॥

स०—जलौकसां सम्यग्वांते सति पूर्ववदलगितानामिव पटुतादि भवति ॥ ४४ ॥

जौंक को सम्यग्वमन कराने से लाभ—

वि०—भली प्रकार वमन होने पर जौंक में पहले की भाँति चंचलता और दृढ़ता आ जाती है ॥ ४४ ॥

क्लमोऽतियोगान्मृत्युर्वा दुर्वान्ते स्तब्धता मदः ।

स०—अतियोगाद्वमनस्य क्लमो मृत्युर्वास्यात्। दुर्वांते सति स्तब्धता मदश्च स्यात्।

अतिवमनादि से जोंक को क्षति—

वि०—वमन के अतियोग से थकान या मृत्यु होती है। भली प्रकार वमन न होने से जड़ता या मद होता है।

अन्यत्रान्यत्र ताः स्थाप्या घटेमृत्स्नाम्बुगर्भिणि ॥ ४५ ॥
लालादिकोथनाशार्थं सविषाः स्युस्तदन्वयात् ।

स०—ताश्चाऽन्यस्मिन्नन्यस्मिन्घटे ऽयहात्पंचाहाद्वा स्थाप्याः। किंभूते। मृत्स्नापृक्तेन जलेन गर्भिणि तद्युक्त इत्यर्थः। प्रशस्ता मृन्मृत्स्ना। सस्नौ प्रशंसायामिति स्नप्रत्ययः। अनेकभाजनस्थापने कोऽर्थं इत्याह। लालादिकोथनाशार्थम्। आदिशब्देन मूत्रपुरीषादिपरिग्रहः। लालादीनां जलौकसा संबंधः। कोथः कुथितत्वं क्लिन्नता तन्नाशाय। तदन्वयाल्लालादियोगात्ताः सविषाः स्युः ॥ ४५ ॥

जोकों के अलग २ पालन का विधान—

वि०—पालनविधि—लाला-मूत्र-मल की सड़न से बचाने के लिये इनको (सातवें या पाँचवे दिन) उत्तम मिट्टी युक्त जल वाले घड़ों में बदलते रहना चाहिए। क्योंकि लाला आदि के मिलने से ये विषैली हो जाती हैं ॥ ४५ ॥

अशुद्धौ स्रावयेद्दंशान् हरिद्रागुडमाक्षिकैः ॥ ४६ ॥
शतधौताज्यपिचवस्ततो लेपाश्च शीतलाः ।

स०—अशुद्धावशुद्धलिंगानुमिते रक्ते सति दंशान् हरिद्रादिभिः स्रावयेत्। अनंतरं शतधौतघृतसंपृक्ताः पिचवो योज्या इति शेषः। शतशब्दोऽनेकपर्यायो बहुकृत्वो धौतेत्यर्थः। तथा शिशिरा लेपा यष्टीचंदनोशीरादयो योज्याः। दंशस्थितचलितरक्तप्रसादनायेति भावः ॥ ४६ ॥

अशुद्ध रक्त निकलने पर कर्त्तव्य—

वि०—(जलौका प्रयोग के बाद भी) अशुद्ध रक्त की सम्भावना होने पर हल्दी, गुड़ और मधु के दंश को स्रावित करे। बाद में शतधौत घृत में मिलाये पिचु लगाये। और (मुलहठी, चन्दन, खस आदि) शीतल वस्तुओं का लेप करे ॥ ४६ ॥

दुष्टरक्तापगमनात्सद्यो रागरुजां शमः ॥ ४७ ॥

स०—दुष्टरक्तस्याऽपगमान्निःसरणात्सद्यो रागरुजादिशमः स्यात्। उपलक्षणं चेदम्। श्वयथुशैथिल्यदाहशमोऽपि भवत्येव ॥ ४७ ॥

दुष्टरक्त निकलने से लाभ—

वि०—दूषित रक्त के निकलने से रक्तिमा और वेदना तुरन्त शान्त हो जाती है ॥ ४७ ॥

अशुद्धं चलितं स्थानात्स्थितं रक्तं व्रणाशये ।
व्यम्लीभवेत्पर्युषितं तस्मात्तत्स्रावयेत्पुनः ॥ ४८ ॥

स०—अशुद्धं रक्तं स्वाशयाच्चलितं व्रणस्थाने स्थितं पर्युषितं तद्व्यम्लीभवेद्यतस्तस्मात्तद्रक्तंभूयः स्रावयेत ॥ ४८ ॥

शेष अशुद्ध रक्त को पुनः निकालना आवश्यक—

वि०—अपने स्थान से चलायमान हुआ अशुद्ध रक्त व्रणस्थान में रुकने से पर्युषित होने पर विदग्ध हो जाता है। इसलिये (अगले दिन) पुनः इसको निकाले ॥ ४८ ॥

युञ्ज्यान्नालाबुघटिका रक्ते पित्तेन दूषिते ।
तासामनलसंयोगात्, युञ्ज्यात्तु कफवायुना ॥ ४९ ॥

स०—रक्ते पित्तेन दूषिते सत्यलाबुघटिका न लागयेत्। तासामलाबूनां घटिकानां चाऽग्निसंयोगात्पित्तरक्तकोपोत्पत्तेरिति भावः। तास्तु कफवायुना दुष्टेऽसृजि युंज्यात् ॥४९॥

दूषित रक्त में अलाबु घटी शस्त्र का निषेध तथा प्रयोग—

वि०—पित्त से दूषित रक्त में अलाबु या घटीयन्त्र नहीं बरतना चाहिये क्योंकि इनमें अग्नि का सम्बन्ध होता है किन्तु कफ और वायु से दूषित रक्त में तुम्बी या घटीयन्त्र बरते ॥ ४९ ॥

कफेन दुष्टं रुधिरं न शृङ्गेण विनिर्हरेत् ।
स्कन्नत्वाद्, वातपित्ताभ्यां दुष्टं शृङ्गेण निर्हरेत् ॥ ५० ॥

स०—कफेन दुष्टं रक्तं सत् शृंगैर्नाकर्षेत्। स्कन्नत्वास्त्यानत्वाद्धेतोः। शृंगस्य चाऽग्निसंयोगाभावेन कफविलयने सामर्थ्याभावात्। वातपित्ताभ्यां तु दुष्टं रुधिरं शृंगेणनिर्हरेत् ॥ ५० ॥

दूषित रक्त में शृङ्ग शस्त्र का निषेध तथा प्रयोग—

वि०—कफ से दूषित रक्त को सींग से नहीं निकालना चाहिये; क्योंकि वह जमा हुआ होता है किन्तु वात-पित्त से दूषित रक्त को सींग से निकाले ॥ ५० ॥

गात्रं बद्ध्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम् ।
स्नायुसन्ध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत् ॥ ५१ ॥
अधोदेशप्रविसृतैः पदैरुपरिगामिभिः ।
न गाढघनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरन् ॥ ५२ ॥
प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः ।
हरेच्छृङ्गादिभिः सुप्तमसृग्व्यापि सिराव्यधैः ॥ ५३ ॥

स०—गात्रं रज्ज्वा पट्टेन वा दृढं बद्ध्वोपरि प्रच्छनीयप्रदेशस्य तथा स्नाय्वादि परिहरन् प्रच्छानं कुर्यात्। कथम्। अधोदेशात्प्रवृत्तैः पदैरुपरिगामिभिरूर्ध्वं प्रसारिभिः। किंभूतैः पदैः। न गाढैर्न खरैर्न निरंतरैर्न च तिर्यग्भिस्तिरश्चीनैः तथा पदे पदं नाचरन् पदस्योपरि पदमकुर्वन्नित्यर्थः। एकदेशस्थितं रक्तं प्रच्छानेनाकर्षेत्। ग्रंथितं जलजन्मभिहरेत्। ग्रंथितं ग्रंथ्यर्बुदादिषु रक्तं जलौकाभिर्हरेत्। शृङ्गादिभिः सुप्तं निश्चेतनसंस्थानं प्रसुप्त्यादिविकारि शृङ्गादिभिर्हरेत्। व्यापि शिराव्यधैः। व्यापि सर्वशरीरस्य लोहितं शिराव्यधेनाऽऽकर्षेत् ॥ ५१-५३ ॥

प्रच्छानविधि—

वि०—विधि—पोंछने के स्थान से ऊपर अंग को रस्सी या पट्टी से दृढ़तापूर्वक समान रूप में बाँध कर स्नायु-सन्धि-अस्थि और मर्म को बचाते हुए पोंछ लगाये। ये रेखायें निचले भाग से आरम्भ करके ऊपर की ओर जाती हुई होनी चाहिये। और ये न तो बहुत गहरी, न पास

पास, न तिरछी होनी चाहिये। एक निशान पर दूसरा निशान नहीं करना चाहिये। एक स्थान में स्थित रक्त को पांछने से बाहर करे। जमे हुए रक्त को जोंक से निकाले। सुप्त-निश्चेतन रक्त को सींग आदि से बाहर करे। सम्पूर्ण शरीर में फैले रक्त (दूषित) को शिरावेध से निकाले ॥ ५१–५३ ॥

प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकसः।
त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्गं सिरैव व्यापकेऽसृजि ॥ ५४ ॥
वातादिधाम वा शृङ्गजलौकोऽलाबुभिः क्रमात्।

स०—पिंडिते रक्ते प्रच्छानं वा स्यात्। अवगाढे रक्ते जलौकसः स्युः। त्वक्स्थ उत्ताने रक्तेऽलाबुघटीशृङ्गाणि स्युः। सर्वशरीरव्यापके रक्ते शिरैव। शिरायां मतविकल्पो नास्त्येवेत्येवशब्दार्थः। अथवा वातादिस्थानस्थितं रक्तं यथाक्रमं शृङ्गादिभिर्हरेत ॥ ५४ ॥

अच्छान आदि के अन्य प्रयोग—

वि०—अथवा पिण्डित रक्त में पांछना चाहिये। अवगाढ (गहरे) रक्त को जोंक लगानी चाहिये। त्वचा में स्थित दूषित रक्त में तुम्बी, घटी या सींग बरतना चाहिये। सर्व शरीर में फैले दूषित रक्त में सिरावेध करना चाहिये।

अथवा—वात से दूषित रक्त को सींग से, पित्त से दूषित रक्त को जोंक से; कफ से दूषित रक्त को तुम्बी से निकाले ॥ ५४ ॥

स्रुतासृजः प्रदेहाद्यैः शीतैः स्याद्वायुकोपतः ॥ ५५ ॥
सतोदकण्डूः शोफस्तं सर्पिषोष्णेन सेचयेत्।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने शस्त्रविधि-
र्नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

स०—स्रुतरक्तस्य नरस्य शीतलैः प्रलेपादिभिस्तोदकंडूयुतः शोफो वा स्यात्। तं सर्पिषोष्णेन सेचयेत्। तं तादृशं शोफं घृतेनोष्णेन सेचयेदिति ॥ ५५ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचिताया-
मष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुंदराख्यायां
षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

उष्ण घृत का सेवन—

वि०—जिस व्यक्ति का रक्त निकाला गया है उसे शीतल प्रदेह आदि के कारण वायु का प्रकोप होने से तोद एवं कण्डूयुक्त शोफ हो जाता है; उस पर गरम घी से सिञ्चन करे ॥ ५५ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का शस्त्रविधि नामक छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

* * *

सप्तविंशोऽध्यायः

अनंतराऽतीताध्याये शृङ्गादीन् लोहितावसेचनोपाया-नुक्त्वा प्रच्छानेनैकदेशस्थेत्यादिना वाक्येन तेषां विषयो दर्शितः। सिराव्यधस्य तु बहुवक्तव्यत्वात्पृथगध्यायो युक्त इत्याह—

अथातः सिराव्यधविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—सरत्यासी रक्तमिति सिरास्तासां व्यधस्तस्य विधिस्तमध्यायं व्याख्यास्यामः। शेषं पूर्ववत्।

वि०—अब इसके आगे सिराव्यधविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

मधुरं लवणं किञ्चिदशीतोष्णमसंहतम्।
पद्मेन्द्रगोपहेमाविशशलोहितलोहितम् ॥ १ ॥
लोहितं प्रभवः शुद्धं, तनोस्तेनैव च स्थितिः।

स०—लोहितं मधुरगुणं तथा किंचिल्लवणं तथाऽशीतोष्णम्। नञीषदर्थे। ईषच्छीतमीषदुष्णमसंहतं द्रवं शुद्धं स्यात्। संप्रति वर्णेन शुद्धलोहितलक्षणमाह। पद्मेत्यादि। इंद्रगोपः मृगनक्षत्रोत्पन्नः। कीटकविशेषः। हेम कनकम्। अविर्मेषः शशस्तयोर्लोहितशब्देन रक्तवाचिना संबंधः। पद्मादीनां द्वंद्वः पद्मेंद्रगोपहेमाविशशलोहितमिव लोहितं रक्तवर्णं यद्रक्तं तच्छुद्धं स्यात्। तच्च तनोः शरीरस्य प्रभव उत्पत्तिहेतुः। तेनैव रक्तेन च तनोः स्थितिः प्रबंधाविच्छेदलक्षणा। अनेकदृष्टांतोपादानं च शुद्धरक्तस्याऽनेकवर्णदर्शनात् ॥ १ ॥

शुद्ध रक्त का लक्षण—

वि०—शुद्ध रक्त का लक्षण—शुद्ध रक्त-मधुर, कुछ लवण रस; अशीतोष्ण (थोड़ा शीत-थोड़ा उष्ण) तथा द्रवरूप होता है। इसका रङ्ग कमल (लाल)-वीरबहूटी-स्वर्ण तथा भेड़-खरगोश रक्त के समान लाल होता है। शुद्ध रक्त शरीर का उत्पत्तिकारण है; इसी रक्त से शरीर की स्थिति रहती है ॥ १ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में रक्त को अनुष्णाशीत कहा है; यथा—'अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः। शोणितं गुरु विस्रं स्याद् विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥' (सु. सू. अ. २१।१७)। यहाँ पर कमल-स्वर्ण-वीरबहूटी की जो उपमा दी है, वह भिन्न-भिन्न रक्त की है; सब मनुष्यों के रक्त में एक समान लाली नहीं होती।

तत्पित्तश्लेष्मलैः प्रायो दूष्यते—

स०—तच्च रक्तं बाहुल्येन पित्तश्लेष्मलैर्दूष्यते। पित्तलैः क्षारोष्णतीक्ष्णादिभिः। श्लेष्मलैर्माषतिलादिभिः। तथा पुराकृताद्दैवादपि। शरत्कालस्वभावात्कदाचिद्वातलैर्दूष्यत इति प्रायोग्रहणम्।

पित्तादि से रक्त का दूषित होना—

वि०—यह रक्त पित्तकारक (क्षार-उष्ण-तीक्ष्ण आदि) तथा कफकारक (उड़द-तिल आदि) वस्तुओं से दूषित होता है।

—कुरुते ततः ॥ २ ॥
विसर्पविद्रधिप्लीहगुल्माग्निसदनज्वरान् ।
मुखनेत्रशिरोरोगमदतृड्लवणास्यताः ॥ ३ ॥
कुष्ठवातास्रपित्तास्रकट्वम्लोद्गिरणभ्रमान् ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः ॥ ४ ॥
सम्यक्साध्या न सिध्यन्ति ते च रक्तप्रकोपजाः ।

स०—ततो दूषणात्कारणाद्विसर्पादीन् अमांतान्कुरुते। तथा शीतोष्णादिभिरुपक्रांताश्च ये गदाः सम्यक्चिकित्सिताः साध्याः अपि रोगा ये न सिध्यंति ते च रक्तप्रकोपजाः। न केवलं विसर्पादय इति चार्थः। आदिशब्देन स्तंभवेदनादिपरिग्रहः ॥ २-४ ॥

दूषित रक्त से हानि—

वि०—दूषित होने से—रक्त विसर्प, विद्रधि, प्लीहा, गुल्म, अग्निमान्द्य, ज्वर, मुखरोग, नेत्ररोग, शिरोरोग, मद, प्यास, मुख नमकीनपना, कुष्ठ, वातरक्त, रक्तपित्त, कटु एवं अम्ल उद्गार, भ्रम; तथा शीत-उष्ण-स्निग्ध-आदि (स्तम्भन, स्वेदन आदि) से भली प्रकार चिकित्सा करने पर भी जो रोग अच्छे नहीं होते, वे भी रक्तप्रकोपजन्य हैं ॥ २-४ ॥

तेषु स्रावयितुं रक्तमुद्रिक्तं व्यधयेत्सिराम् ॥ ५ ॥

स०—तेषु विसर्पादिषु रोगेषु रक्तमुल्बणं स्रावयितुं सिरां व्यधयेत्। अदंतत्वादत्र वृद्धेरभावः ॥ ५ ॥

विसर्पादि में सिराव्यध—

वि०—इन रोगों में उल्बण रक्त को निकालने के लिये सिरा का वेधन करना चाहिये ॥ ५ ॥

न तूनषोडशातीतसप्तत्यब्दस्रुतासृजाम् ।
अस्निग्धास्वेदितात्यर्थस्वेदितानिलरोगिणाम् ॥ ६ ॥
गर्भिणीसूतिकाजीर्णपित्तास्रश्वासकासिनाम् ।
अतीसारोदरच्छर्दिपाण्डुसर्वाङ्गशोफिनाम् ॥ ७ ॥
स्नेहपीते प्रयुक्तेषु तथा पञ्चसु कर्मसु ।
नायन्त्रितां सिरां विध्येन्न तिर्यङ्नाप्यनुत्थिताम् । ८॥
नातिशीतोष्णवाताभ्रेष्वन्यत्रात्ययिकाद् गदात् ।

स०—ऊनषोडशवर्षादीनां सिरां न व्यधयेत्। स्नेहपीते पीतस्नेह इत्यर्थः। आहिताग्न्यादित्वात् परनिपातः। तथा पंचसु वमनादिषु कर्मसु विहितेषु सत्सु सिरां न व्यधयेत्। तथाऽयं त्रितामबद्धां सिरां न व्यधयेत्। न तिर्यङ् न चानुत्थितां नातिशीते नात्युष्णे नातिवाते न च मेघोदये सिरां व्यधयेत्। आत्ययिकाद्रोहिणीविषादिकादन्यत्र न व्यधयेत्। आत्ययिके तु रोगे शीतोष्णवृष्टीनां यथायथं प्रतीकारं विधाय सिरां मोक्षयेदेव ॥ ६-८ ॥

सिरावेध के अयोग्य रोगी—

वि०—सिरावेध का निषेध—सोलह वर्ष से कम और सत्तर वर्ष से अधिक आयु में जिनका रक्त निकाला गया हो; जिनका स्नेहन न किया हो, जिनका स्वेदन न हुआ हो, जिनको बहुत स्वेद किया हो; वातरोगियों को, गर्भवती, सूतिका, अजीर्ण, रक्तपित्त, श्वास, कास, अतिसार; उदर, वमन, पाण्डु और सर्वाङ्गशोफ रोगों से पीडित में स्नेहपान करने पर एवं वमन-विरेचनादि पञ्चकर्म किये जाने पर सिरावेध नहीं करना चाहिये। बिना बाँधकर नियन्त्रित किए, तिरछी उठी और जो सिरा उठी (उभरी) न हो उसका वेधन न करे। अतिशीत या अति उष्ण-काल में, अति वायु के चलने में, बादलों के होने पर, विना आत्ययिक रोगी के (रोहिणी आदि आत्ययिक रोगों को छोड़ कर) सिरावेध न करे। [आत्ययिक रोगों में शीत, उष्ण, वृष्टि का योग्य प्रतिकार करके सिरा वेधन करे] ॥ ६-८ ॥

शिरोनेत्रविकारेषु ललाट्यां मोक्षयेत्सिराम् ॥ ९ ॥
अपाङ्ग्यामुपनास्यां वा कर्णरोगेषु कर्णजाम् ।
नासारोगेषु नासाग्रे स्थितां नासाललाटयोः ॥ १० ॥
पीनसे—

स०—शिरोनयनविकारेषु ललाट्यां सिरां मोक्षयेत्। ललाटे भवा ललाट्या। शरीरावयवाद्यत्। एवमग्रेऽप्यपांगे भवां नासिकासमीपे भवां वा। कर्णामयेषु कर्णजां कर्णसमीपभवां सिरां विध्येत्। नासामयेषु नासाग्रे स्थितां विध्येत्। पीनसे प्रतिश्याये नासाललाटयोः स्थितां सिरां विध्येत् ॥ ९-१० ॥

रोगानुसार सिरावेध के स्थान—

वि०—शिरोरोग एवं नेत्ररोगों में ललाट की सिरा का अथवा अपांग प्रदेश की या नासा के समीप की सिरा का वेधन करे। कर्ण रोगों में कर्ण के समीप की सिरा का वेधन करे।

नासा रोगों में नासा के अग्रभाग में स्थित सिरा का वेधन करे। पीनस में नासा और ललाट के मध्य की सिरा का वेधन करना चाहिये ॥ ९-१० ॥

—मुखरोगेषु जिह्वौष्ठहनुतालुगाः ।
जत्रूर्ध्वग्रन्थिषु ग्रीवाकर्णशङ्खशिरःश्रिताः ॥ ११ ॥
उरोऽपाङ्गललटस्था उन्मादे—

स०—मुखरोगेषु जिह्वादिगाः सिरा विध्येत्। जत्रूर्ध्वं वक्षोंऽसयोः संध्यूर्ध्वं ये ग्रंथयस्तेषु ग्रीवाद्याश्रिताः सिरा विध्येत्। उन्माद उरःस्था अपांगस्था ललाटाश्रिताश्च विध्येत् ॥ ११ ॥

वि०—मुख रोग में जिह्वा, ओष्ठ, हनु और तालु में जाने वाली सिरा वेधन करना चाहिये। जत्रु से ऊपर की ग्रन्थियों में ग्रीवा, कान, शंख और शिर में आश्रित सिराओं का वेधन करना चाहिये।

उन्माद रोग में—वक्ष, अपाङ्ग और ललाट में स्थित सिरा का वेधन करना चाहिये ॥ ११ ॥

—ऽपस्मृतौ पुनः ।
हनुसन्धौ समस्ते वा सिरां भ्रूमध्यगामिनीम् ॥ १२ ॥
विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वकक्षास्तनान्तरे ।

स०—अपस्मारे हनुसंधौ स्थितां सिरां विध्येत्। समस्ते सर्वस्मिन् वा हनौ सिरां विध्येत्। सिरां भ्रूमध्यगामिनीं भ्रूमध्यस्थां वाऽपस्मृतौ विध्येदिति वाशब्दोऽत्रानुवर्त्य योज्यः। विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वस्थाः कक्षास्तनांतरस्थाश्च सिरा विध्येत् ॥ १२ ॥

वि०—अपस्मार में—समस्त हनुसन्धि में स्थित; या भ्रुवों के मध्य में जाने वाली सिरा का वेधन करे।

विद्रधि (उरोविद्रधि) और पार्श्वशूल में—पार्श्वस्थ या कक्षा या स्तनान्तरों में स्थित सिरा का वेधन करे ॥ १२ ॥

तृतीयकेंऽसयोर्मध्ये स्कन्धस्याधश्चतुर्थके ॥ १३ ॥
प्रवाहिकायां शूलिन्यां श्रोणितो द्व्यङ्गुले स्थिताम् ।
शुक्रमेढ्रामये मेढ्रे ऊरुगां गलगण्डयोः ॥ १४ ॥

स०—तृतीयके ज्वरेंऽसयोर्मध्ये स्कंधसंधौ स्थितां सिरां विध्येत्। चतुर्थके ज्वरे स्कंधस्याधोगतां सिरां विध्येत्। प्रवाहिकायां शूलयुक्तायां श्रोणितः कट्या द्व्यंगुले स्थितां सिरां विध्येत्। शुक्ररोगे मेढ्ररोगे च मेढ्रस्थितां सिरां विध्येत्। गलगंडयोश्चोभयोरूरुस्थां सिरां विध्येत् ॥ १३-१४ ॥

वि०—तृतीयक ज्वर में स्कन्धों के बीच में स्थित सिरा का तथा चतुर्थक ज्वर में स्कन्धों के नीचे (किसी एक पार्श्व की) सिरा का वेधन करे।

शूलयुक्त प्रवाहिका में कटि से दो अंगुल दूर स्थित सिरा का वेधन करना चाहिये।

शुक्र और मेहन के रोगों में—मेहन की सिरा का वेधन करे। गलगण्डरोग में ऊरु की सिरा का वेधन करे ॥१३-१४॥

गृध्रस्यां जानुनोऽधस्तादूर्ध्वं वा चतुरङ्गुले ।
इन्द्रबस्तेरधोऽपच्यां द्व्यङ्गुले चतुरङ्गुले ॥ १५ ॥
ऊर्ध्वं गुल्फस्य सक्थ्यर्तौ, तथा क्रोष्टुकशीर्षके ।
पाददाहे खुडे हर्षे विपाद्यां वातकण्टके ॥ १६ ॥
चिप्पे च द्व्यङ्गुले विध्येदुपरि क्षिप्रमर्मणः ।
गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम्—

स०—गृध्रस्यां जानुनोऽधस्ताच्चतुरंगुल ऊर्ध्वं वा जानुनश्चतुरंगुले स्थितां सिरां विध्येत्। अपचीसंज्ञे रोग इंद्रबस्तेरधो द्व्यङ्गुले सिरां विध्येत्। इंद्रबस्तिर्जंघांतरे वक्ष्यमाणः। सक्थिपीडायां गुल्फस्योर्ध्वं चतुरंगुले विध्येत्। ऊरुपर्वगवातरोगविशेषे गुल्फस्योर्ध्वं चतुरंगुले विध्येत्। पाददाहादिषु क्षिप्रमर्मण उपरि द्व्यंगुले विध्येत्।

स०—विश्वाच्यां गृध्रस्यामिव सिरां विध्येत्। गृध्रस्यां जानुनोऽधस्तादिति ॥ १५-१६ ॥

वि०—गृध्रसी रोग में घुटने से चार अंगुल नीचे अथवा घुटने से चार अंगुल ऊपर स्थित सिरा वेधन करे।

अपचीरोग में—इन्द्रबस्तिमर्म के दो अंगुल नीचे सिरा का वेधन करे।

सक्थि (टांग) की पीड़ा में तथा क्रोष्टुक शीर्षक रोग में गुल्फ के चार अंगुल ऊपर सिरा का वेधन करे।

पाददाह, खुड (वातरक्त), पादहर्ष, विपादिका, वातकण्टक तथा चिप्परोग में, क्षिप्र मर्म के दो अंगुल ऊपर सिरा का वेधन करे।

विश्वाची रोग में—गृध्रसी की भाँति सिरा वेधन करे। ॥ १५-१६ ॥

वक्तव्य—अरुणदत्त की मान्यता है कि 'गृध्रसी प्रोक्तां सिरां विध्येत्'—अर्थात् गृध्रसी में कही सिरा का वेधन करे। परन्तु यहाँ पर विश्वाची रोग हाथ का है; इसलिए गृध्रसी की भाँति बाहु की सिरा का (कर्पूर के दो चार अङ्गुल नीचे या ऊपर) वेधन करे-यह अर्थ संगत है।

सिरादर्शन के अभाव में मर्महीन सिरा का वेधन—

—यथोक्तानामदर्शने ॥ १७ ॥
मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेत् सिराम् ।

स०—यथोक्तानां सिराणामदर्शने सति मर्मवर्जिते यथासन्ने स्थाने व्याधिवशादपरां विध्येत् ॥ १७ ॥

वि०—कही हुई सिरा (यदि रोग या अन्य कारण से) दिखाई न दे, तब उसके समीपस्थ मर्मरहित स्थान में दूसरी सिरा का वेधन करे ॥ १७ ॥

अथ स्निग्धतनुः सज्जसर्वोपकरणो बली ॥ १८ ॥
कृतस्वस्त्ययनः स्निग्धरसान्नप्रतिभोजितः ।
अग्नितापातपस्विन्नो जानूच्चासनसंस्थितः ॥ १९ ॥
मृदुपट्टात्तकेशान्तो जानुस्थापितकूर्परः ।
मुष्टिभ्यां वस्त्रगर्भाभ्यां मन्ये गाढं निपीडयेत् ॥ २० ॥
दन्तप्रपीडनोत्कासगण्डाध्मानानि चाचरेत् ।
पृष्ठतो यन्त्रयेच्चैनं वस्त्रमावेष्टयेन्नरः ॥ २१ ॥
कन्धरायां परिक्षिप्य न्यस्यान्तर्वामतर्जनीम् ।
एषोऽन्तर्मुखवर्ज्यानां सिराणां यन्त्रणे विधिः ॥ २२ ॥

स०—अथेत्यानंतर्ये। स्निग्धा तनुर्यस्य स स्निग्धतनुः। तथा सज्जानि प्रगुणान्युपकरणानि वस्त्रपीडाऽनपादकस्नेहगैरिकादीनि यस्य स सज्जोपकरणः। तथा बली पुष्टः। तथा कृतं स्वस्त्ययनं बलिमंगलहोमादिकं यस्य स कृतस्वस्त्ययनः। तथा स्निग्धरसयुक्तेनाऽन्नेन प्रतिभोजितः। तथाऽग्नितापश्चातपश्च ताभ्यां स्विन्नः। तथा जानुतुल्यमुच्चमासनं तत्र संस्थितः समुपविष्टः। तथा मृदुना सुसूक्ष्मेण वस्त्रपट्टेनात्तो गृहीतो बद्धः केशांतो यस्य स एवम्। तथा जानुनि स्थापितं कूर्परं

येन स एवम्। तथा मुष्टिभ्यां वस्त्रगर्भाभ्यां मन्येऽतिशयेन पीडयेत्। तथा दंतप्रपीडनाद्याचरेत्। एनं चातुरं पृष्ठदेशे वसनमावेष्टयन्नरो यंत्रयेत्। कथम्। कंधरायां ग्रीवायां वस्त्रं परिक्षिप्य तथांऽतर्मध्ये वामतर्जनीं न्यस्य। सिराणां यंत्रण एष विधिरेतद्विधानम्। किंभूतानाम्। अंतर्मुखवर्जानाम् ॥ १८–२२ ॥

सिरावेध के प्रथम कर्तव्य—

वि०—सिराव्यध विधि—रोगी के शरीर का स्नेहन कराके, वस्त्र खण्ड, पानी, स्नेह आदि आवश्यक सब साधनों को तैयार करके, वैद्य, बलवान् रोगी को स्वस्ति वाचन कराके; स्निग्ध रस-युक्त अन्न के साथ प्रतिभोजन[1] (यवागू–पेया आदि) दे कर अग्नि या धूप से पसीना लाकर घुटनों के बराबर ऊँचे आसन पर बिठा देवे। फिर रोगी के सिर को कोमल वस्त्र से बालों के प्रान्त को वांध कर पकड़ाये। रोगी की कोहनी को घुटने पर रखवा दे। वस्त्रों को मुट्ठी में दबा कर उससे रोगी की मन्याओं को जोर से वैद्य दबाये। रोगी को दांतों का दबाना, खांसना, गाल का फुलाना, आध्मान (पेट फुलाना) आदि कराए। दूसरा मनुष्य वस्त्र को लपेट कर पीठ से रोगी को बाँध ले। इसके लिये ग्रीवा में वस्त्र को डाल कर दोनों कक्षाओं में से निकाल कर पीठ में ले जाकर वाम अङ्गुली को बीच में रखकर पकड़े। यह यन्त्रण विधि मुख के अन्दर की सिराओं को छोड़कर शेष[अन्य सिराओं के लिए है ॥ १८–२२ ॥

सिरा की उत्थापनविधि—

ततो मध्यमयाऽङ्गुल्या वैद्योऽङ्गुष्ठविमुक्तया।
ताडयेदुत्थितां ज्ञात्वा स्पर्शाद्वांऽगुष्ठपीडनैः ॥ २३ ॥
कुठार्या लक्षयेन्मध्ये वामहस्तगृहीतया।
फलोद्देशे सुनिष्कम्पं सिरां, तद्वच्च मोक्षयेत् ॥ २४ ॥
ताडयन् पीडयंश्चैनां विध्येद् व्रीहिमुखेन तु।

स०—ततो यंत्रणादनंतरं वैद्योऽगुष्ठविमुक्तया वामपाणिजया मध्यमयांगुलया, ताडयेत्। स्पर्शेन वांऽगुष्ठपीडनैर्वोत्थितां ज्ञात्वा ऊर्ध्वदंडया सिरायां मध्ये न्यस्य फलोद्देशे सुनिष्कंपं वामहस्तगृहीतया कुठार्या सिरां लक्षयेत्। तद्वच्च मोक्षयेत्। यथैव लक्षयेत्तथैवेत्यर्थः। व्रीहिमुखेन पुनस्ताडयन् विध्यंस्तथांऽगुष्ठादिना पीडयेत्। एनां कुठारिकाविषयजां सिरां विध्येत्। ननु कुठारिकाविषये कथं व्रीहिवक्त्रस्य प्रयोगः। यतोऽपवादविषयं परिहृत्योत्सर्गाः प्रवर्तंते इति न्यायः। व्रीहिवक्त्रस्यैव सामान्येन प्रयोगोऽनुज्ञातः। तथाचाह। व्रीहिवक्त्रं प्रयोज्यं वा तस्सिरोदरयोर्व्यध इति। कुठार्याः पुनर्विशेषोऽभिहितः। तयोर्ध्वदंडया विध्येदुपर्यस्थनां स्थितां सिरामिति। तस्मादयुक्तमेतत्। अत्रोच्यते ज्ञापकम्। कुठारिकाविषये व्रीहिवक्त्रस्य प्रयोगो न्याय्य एव। यदयमाचार्यो वक्ष्यति। मांसले निक्षिपेद्देशे व्रीह्यास्यं व्रीहिमात्रकमिति। अनेन हि वचनेन ग्रंथकार इदं प्रत्यपादयत्। बहुमांसे शरीरावयवे व्रीहिमुखं व्रीहिमात्रं निक्षेप्यम्। अन्यत्र स्वाशयानुरोधेन व्रीहिवक्त्रस्य प्रयोगः कार्य इति। अनेनैवाऽभिप्रायेण शास्त्रकृत प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चाऽपि विषये मात्रच् वक्तव्य इत्यनेन मात्रच् कृतः। अन्यथा तु स्पष्टं कृत्वा व्रीहिप्रमाणं मांसले निक्षिपेद्व्यध इति पाठं कुर्यात्। तस्माद्युक्तो व्रीहिमुखस्य कुठारिकाविषयेऽपि प्रयोग इति ॥ २३–२४ ॥

वि०—फिर वैद्य अंगूठे से पकड़ कर झटके से छोड़ी हुई वाम हाथ की मध्यमांगुलि से सिरा पर चोट करे। स्पर्श द्वारा या अङ्गूठे से दबाकर उठी हुई सिरा को जान कर वाम हाथ से फल (नोक) के पास दृढतापूर्वक पकड़ी हुई कुठारिका से–सिरा के मध्य भाग में (जहाँ पर वेधन करने का निश्चय हो वहाँ पर) सिरा पर निशान करे—और इस प्रकार हाथ को न हिलाते हुए सिरा का मोक्षण करे। इस सिरा पर कुठारिका से या मध्यमांगुलि से चोट करता रहे और अङ्गूठे से सिरा दबाता रहे—जिससे रक्त भली प्रकार बहे। सिरा का वेधन व्रीहिमुख से करना चाहिये[2] ॥२३–२४॥

अंगुष्ठेनोन्नमय्याग्रे नासिकामुपनासिकाम् ॥ २५ ॥

स०—अग्रेऽग्रदेशे नासिकामंगुष्ठेनोन्नमय्योपनासिकासन्नदेशस्थां सिरां विध्येत् ॥ २५ ॥

उपनासिका का सिरावेधन—

वि०—नासिका की सिरा के वेधन में—नासिका को अग्रभाग में अंगूठे से ऊँचा उठाकर नासिका के समीप प्रदेश में सिरा का वेधन करे ॥ २५ ॥

अभ्युन्नतविदष्टाग्रजिह्वस्याधस्तदाश्रयाम्।

स०—आभिमुख्येनोन्नतोपरि तालुदेशे नीता तथा विशेषेण दंतैर्दष्टा अग्रे जिह्वाऽग्रजिह्वा येनासावभ्युन्नतविदष्टाग्रजिह्वस्तस्याधः प्रकृतत्वाज्जिह्वाया एवाधस्तात्तदाश्रयां जिह्वाधःस्थां सिरां विध्येत्। तदित्यनेन जिह्वाधः परामृश्यते। जिह्वाध आश्रयो यस्याः सिरायास्ताम्।

जिह्वास्थ सिरा का वेधन—

वि०—जिह्वा के नीचे सिरावेध करने में जिह्वा को तालुदेश में ऊपर लगवाकर तथा (ऊपर की ओर मुड़कर दोहरी) जीभ को दांतों से कटवा (दबवा) कर जिह्वा के नीचे की सिरा का वेधन करे।

यन्त्रयेत्स्तनयोरूर्ध्वं ग्रीवाश्रितसिराव्यधे ॥ २६ ॥

स०—ग्रीवाश्रितानां सिराणां व्यधो ग्रीवाश्रितसिराव्यधस्तस्मिन्स्तनयोरूर्ध्वं यंत्रयेद्वाससा वेष्टयेत् ॥ २६ ॥

---

[1] रसान्नप्रतिभोजितः—प्रतिभोजन-वमनादि शोधने के पूर्व या पश्चात् जो भोजन दिया जाता है उसे प्रतिभोजन कहते हैं (चन्द्र)। हेमाद्रि के मत से प्रति शब्द का मात्र अर्थ हैं इससे केवल स्वल्प स्निग्ध रसान्न भोजन के लिए दे।

[2] यहाँ सिरावेधविधि में कुठारिका और व्रीहिमुख दो शस्त्रों का उपयोग वर्णित हैं।

ग्रीवास्थ सिरावेधन—

वि०—ग्रीवा में आश्रित सिराओं के वेधन में स्तनों के ऊपर वस्त्र से रोगी को यंत्रित करे॥ २६ ॥

पाषाणगर्भहस्तस्य जानुस्थे प्रसृते भुजे।
कुक्षेरारभ्य मृदिते विध्येद्बद्धोर्ध्वपट्टके॥ २७॥

स०—पाषाणगर्भौ हस्तौ यस्य तस्य नरस्य भुजे जानुस्थे जानुष्वेव स्थिते प्रसृते प्रसारिते। भुज इति वचनमतंत्रम्। द्वावपि हि भुजौ गृह्येते। कुक्षेरारभ्य यावद्ग्रीवा तावन्मृदिते मलिते। कस्मिन्। ग्रीवाश्रितसिराव्यधार्हेऽगे। यथा बद्ध ऊर्ध्वं पट्टको यस्मिंस्तस्मिन् विध्येत्। प्रकृतत्वात्सिराम्॥ २७॥

ग्रीवा की सिरा का वेधन—

वि०—रोगी के हाथ में पत्थर को पकड़वाकर हाथ को घुटने पर रख कर लम्बा कर देवे। फिर कुक्षि से आरम्भ करके ग्रीवा तक मले और (सिरावेधस्थल से) ऊपर वस्त्र की पट्टी से बांध कर सिरावेधन करे॥ २७॥

विध्येद्धस्तशिरां बाहावनाकुञ्चितकूर्परे।
बद्ध्वा सुखोपविष्टस्य मुष्टिमङ्गुष्ठगर्भिणम्॥ २८॥
ऊर्ध्वं वेध्यप्रदेशाच्च पट्टिकां चतुरङ्गुले।

स०—हस्तसिरां विध्येत्। कथम्। बाहावनाकुंचितकूर्परे। अनाकुंचितः प्रसारितः कूर्परो यस्य बाह्वोस्तस्मिन्। तथा सुखोपविष्टस्य सुखासीनस्य। तथा मुष्टिं बद्ध्वा। किंभूताम्। अंगुष्ठेन गर्भिणीमंगुष्ठगर्भिणीम्। गूढांगुष्ठां मुष्टिं बद्ध्वेत्यर्थः। तथा वेध्यस्थानादुपरि चतुरंगुलपरिमाणे स्थाने पट्टिकां बद्ध्वा विध्येत्॥ २८॥

हस्तसिरा का वेधन—

वि०—हाथ की सिरा के वेध में—रोगी को सुखपूर्वक बिठाकर, कोहनी को बिना सिकोड़े अर्थात् फैलाये हुए तथा अंगूठे को अन्दर रखकर मुट्ठी बन्द करवा कर, वेधन स्थान से चार अंगुल ऊपर एक पट्टी बांधकर सिरा का वेधन करे॥

विध्येदालम्बमानस्य बाहुभ्यां पार्श्वयोः सिराम्॥२९॥

स०—बाहुभ्यामालंबमानस्याऽवलंब्यं वस्तु भुजाभ्यामासजतः पार्श्वयोः सिरां विध्येत्॥ २९॥

पार्श्वसिरा का वेधन—

वि०—पार्श्व की सिराओं के वेधन में—दोनों हाथों को लम्बा लटकवा कर पार्श्व में सिराओं का वेधन करे॥ २९॥

प्रहृष्टे मेहने, जङ्घासिरां जानुन्यकुञ्चिते।

स०—प्रहृष्टे स्तब्धे मेढ्रे तदाश्रितां सिरां विध्येत्। जानुन्यकुंचिते स्पष्टे स्थिते सति जंघायां सिरां विध्येत्।

मेढ्रस्थ तथा जङ्घा की सिरा का वेधन—

वि०—मेढ्र के स्तब्ध (कड़ा) होने पर उसके आश्रित सिरा का वेधन करे तथा घुटनों को बिना संकुचित किये जंघा सिरा का वेधन करे।

पादे तु सुस्थितेऽधस्ताज्जानुसन्धेर्निपीडिते॥ ३०॥
गाढं कराभ्यामागुल्फं चरणे तस्य चोपरि।
द्वितीये कुञ्चिते किञ्चिदारूढे हस्तवत्ततः॥ ३१॥
बद्ध्वा विध्येत्सिराम्—

स०—सुखं कृत्वा भूम्यादिदेशे स्थिते पादे सति पादसिरां विध्येत्। तथा जानुसंधेरधस्तादागुल्फं गुल्फं यावत् कराभ्यां गाढं कृत्वा पीडिते सति तस्य चरणस्योपर्युपरिष्टाद् द्वितीये चरण ईषत्संकुचिते। तथा आरूढे तत्काले सति ततो हस्तवद्वेध्यस्थानादुपरि चतुरंगुले पट्टकं बद्ध्वा सिरां विध्येत्॥ ३०-३१॥

पादसिरा का वेधन—

वि०—पैर की सिरा के वेधन में—पैर को सुखपूर्वक भूमि आदि पर रखवा कर जानुसन्धि के नीचे से लेकर गुल्फ तक बीच के भाग को जोरसे दबाकर, रुग्ण पैर के ऊपर दूसरा पैर कुछ संकुचित कर रखवाये जिससे कि पहला रुग्ण पैर कुछ दब जाये। फिर हाथ की भाँति वेधन स्थान से चार अंगुल ऊपर वस्त्र बांध कर सिरा का वेधन करे॥ ३०-३१॥

—इत्थमनुक्तेष्वपि कल्पयेत्।
तेषु तेषु प्रदेशेषु तत्तद्यन्त्रमुपायवित्॥ ३२॥

स०—इत्थमनेन प्रकारेण यंत्रलक्षणोद्देशेनानुक्तमपि यंत्रं तत्तद्देशे माहात्म्यात् क्रियासौकर्यार्थं तेषु-तेषु शरीरावयवेषु स्वबुद्ध्या तत्तद्यंत्रं यथायोगं कल्पयेदुपायज्ञो वैद्यः॥ ३२॥

अनुक्त स्थानों में स्वबुद्धि से कल्पना—

वि०—इस प्रकार जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है उन सिराओं में भी उपायज्ञ वैद्य क्रियासौकर्य के लिए उन-उन शरीरावयवों के अनुसार अपनी बुद्धि से विचार कर आवश्यक यंत्रों को बरते॥ ३२॥

मांसले निक्षिपेद् देशे व्रीह्यास्यं व्रीहिमात्रकम्।
यवार्धमस्थ्नामुपरि सिरां विध्यन् कुठारिकाम्॥ ३३॥

स०—मांसले शरीरावयवे व्रीहिमुखं शस्त्रं व्रीहिप्रमाणं निक्षिपेत्। अस्थ्नामुपरि यवार्धमात्रं कुठारिकां निक्षिपेत्। किं कुर्वन्। सिरां विध्यन्॥ ३३॥

मांसल आदि स्थानों में व्रीहिमुखादि से वेधन—

वि०—मांस वाले स्थानों में व्रीहिमुख को व्रीहि (धान्य) के बराबर गहरा ले जाये। अस्थियों के ऊपर की सिराओं का वेधन करते हुए कुठारिका को आधा जौ गहराई तक ले जाना चाहिये॥ ३३॥

सम्यग्विद्धा स्रवेद्धारां यन्त्रे मुक्ते तु न स्रवेत्।
अल्पकालं वहत्यल्पं दुर्विद्धा तैलचूर्णनैः॥
सशब्दमतिविद्धा तु स्रवेद् दुःखेन धार्यते।

स०—सम्यग्विद्धे सति धारां स्रवेत्। यंत्रे च मुक्ते सति न स्रवेत्। अल्पं विद्धा सती सिरा स्तोकं कालं वहति।

दुर्विद्धाऽसम्यग्विद्धा तु सिरा सशब्दं स्रवेत्। दुःखेन कृच्छ्रेण धार्यते ॥ ३४ ॥

सम्यग्विद्ध अल्पविद्धादि सिरा का लक्षण—

वि०—भली प्रकार वेधन होने पर धारा के रूप में रक्त बहता है और यन्त्र (बन्धन) को छोड़ देने पर रक्त बहना बन्द हो जाता है। अल्प वेधन होने पर थोड़ा ही रक्त बहता है। दुर्विद्ध (अनुचित रूप में इधर-उधर) सिरावेध होने पर तैल की छोटी-छोटी बूँदों के समान रक्त निकलता है। अतिशय वेधन होने पर शब्द के साथ रक्त बहता है और यह रक्त कठिनाई से बन्द होता है ॥ ३४ ॥

भीमूर्च्छायन्त्रशैथिल्यकुण्ठशस्त्रातितृप्तयः ॥ ३५ ।
क्षामत्ववेगितास्वेदा रक्तस्याऽस्रुतिहेतवः ।

स०—भीमूर्छादयो रक्तस्याऽस्रावहेतवः । भीर्भयम्। मूर्छा मोहस्तमसीव प्रवेशः । यंत्रशैथिल्यमगाढं कृत्वा यंत्रपीडनम्। तथा कुंटं भग्नं शस्त्रम्। तथाऽतितृप्तिरतिसौहित्यम्। क्षामत्वं निर्बलता। वेगिता संजातवेगत्वम्। अस्वेदः स्वेदायोगः। यतश्चैते रुधिरस्यास्रुतिहेतवोऽतो रक्तस्रुतावेते परिहार्याः ॥३५॥

रक्तस्राव न होने के कारण—

वि०—रक्त के न बहने के कारण—भय, मूर्च्छा, यन्त्र की शिथिलता (ठीक प्रकार से न दबाना), शस्त्र का कुण्ठित होना, अतिसौहित्य (भर पेट भोजन), निर्बलता, मल-मूत्र का उपस्थित वेग, स्वेदन न होना, ये रक्त न बहने के कारण हैं ॥ ३५ ॥

असम्यगस्रे स्रवति वेल्लव्योषनिशानतैः ॥ ३६ ॥
सागारधूमलवणतैलैर्दिह्यात्सिरामुखम् ।
सम्यक्प्रवृत्ते कोष्णेन तैलेन लवणेन च ॥ ३७ ॥

स०—असम्यगस्रे स्रवति वेल्लादिभिः सिरावदनं दिह्यात्प्रलेपयेत्। सम्यक्प्रवृत्ते रक्ते सति सिरामुखं कोष्णाभ्यां तैललवणाभ्यां दिह्याल्लेपयेत् ॥ ३६-३७ ॥

असम्यक् और सम्यक् स्राव में कर्तव्य—

वि०—रक्त के ठीक प्रकार न बहने पर वेल्ल (वायविडंग) त्रिकटु; हल्दी, तगर, घर का धूवाँ; नमक और तैल इनसे सिरा में मुख पर लेप करे। भली प्रकार रक्त बहने पर सिरामुख पर सुहाते हुए गरम तैल में नमक मिलाकर लेप करे ॥ ३६-३७ ॥

अग्रे स्रवति दुष्टास्रं कुसुम्भादिव पीतिका ।

स०—यथा रागपीतिका मिश्रीभूताद् कुसुंभादग्रे पूर्वं पीतिका स्रवति तथा दुष्टादुष्टरक्तादेकलोलीभूतादग्रे पूर्वं दुष्टास्रं स्रवति।

दूषित रक्त का प्रथम स्राव—

वि०—रक्तस्राव में पहले दूषित रक्त आता है और फिर शुद्ध रक्त आता है, जिस प्रकार कुसुम्भ में से पहले पीला रङ्ग आता है, फिर लाल रङ्ग आता है।

अग्रग्रहणात्पश्चाददुष्टमपि रक्तमवश्यं स्रवतीत्याशंक्येदाह-
सम्यक्स्रुत्वा स्वयं तिष्ठेच्छुद्धं तदिति नाहरेत् ॥ ३८ ॥

स०—यथावत्प्रस्रुत्य स्वयं यत्नेन विना यत्तिष्ठेन्न स्रवेत्। शुद्धं तदिति नाहरेन्न स्रावयेत्। जीवितहेतुत्वात् ॥ ३८ ॥

शुद्ध रक्तस्राव का निषेध—

वि०—(सम्यक् वेधन के बाद) भली प्रकार बहकर जो रक्त स्वयं रुक जाये वह शुद्ध रक्त है और उसे फिर न निकाले ॥ ३८ ॥

यन्त्रं विमुच्य मूर्च्छायां वीजिते व्यजनैः पुनः ।
स्रावयेन्मूर्च्छति पुनस्त्वपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा ॥ ३९ ॥

स०—मूर्छायां सत्यां यंत्रं विमुच्य व्यजनैर्वीजिते समाश्वस्ते नरे सति पुनरस्रं स्रावयेत्। पुनर्मूर्छति त्वातुरेऽशुद्धमपि रक्तं तस्मिन्नहनि न स्रावयेत् । अपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा स्रावयेत् ॥ ३९ ॥

मूर्च्छा में कर्तव्य—

वि०—रक्तस्राव में रोगी को मूर्छा आ जाय तो यन्त्र (बन्धन) को छोड़कर पंखों से हवा करने के बाद पुनः स्रावण करे। फिर भी यदि मूर्च्छा आ जाय तो उस दिन पुनः रक्तस्राव न करे; अपि तु दूसरे दिन या तीसरे दिन करे ॥ ३९ ॥

वाताच्छ्यावारुणं रूक्षं वेगस्राव्यच्छफेनिलम् ।
पित्तात् पीतासितं विस्रमस्कन्द्यौष्ण्यात्सचन्द्रिकम् ॥
कफात् स्निग्धमसृक्पाण्डु तन्तुमत्पिच्छिलं घनम् ।
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिदोषं मलिनाविलम् ॥ ४१ ॥

स०—वातात् श्यावादिलक्षणं रक्तं स्यात्। पित्ताद् पीतादिलक्षणमस्रं स्यात्। अस्कंद्यस्त्यानमुष्णत्वात्सचंद्रकं च। कफात् स्निग्धादिलक्षणमसृक् स्यात्। संसर्गाद्दोषाणां संसृष्टलिंगं रक्तं स्यात्। त्रिदोषं रक्तं मलिनं कलुषं तथाऽऽविलं घनं च। एतच्च दोषत्रयसंसर्गलक्षणाधिकं लक्षणं मंतव्यम्। नचैतावदेव त्रिदोषलक्षणं मंतव्यम् ॥ ४०-४१ ॥

वातादि दूषित रक्तों के लक्षण—

वि०—वायु के कारण रक्त—श्याव-अरुण वर्ण, रूक्ष, वेग से बहने वाला; निर्मल और झागदार होता है। पित्त के कारण रक्त—पीला-काला, आमगन्धि, न जमने वाला, गरम और चन्द्रिका युक्त होता है। कफ के कारण रक्त—स्निग्ध, पाण्डुवर्ण, रेशेदार, पिच्छिल और घट्ट (गाढ़ा) होता है। दो दोषों के मिलने से दो दोषों के लक्षणों वाला और तीन दोषों के मिलने से मैला और घट्ट होता है ॥४०-४१॥

अशुद्धौ बलिनोऽप्यस्रं न प्रस्थात्स्रावयेत्परम् ।
अतिस्रुतौ हि मृत्युः स्याद्दारुणा वा चलामयाः ॥ ४२ ॥

स०—अशुद्धमस्रं बलिनोऽपि किं पुनरबलिनः प्रस्थात्परमधिकं न स्रावयेत्। कस्मादित्याह—अतिस्रावे हि रक्तस्य मृत्युर्भवेत् अथवा वातरोगाश्च कृच्छ्राः स्युः ॥ ४२ ॥

अशुद्ध रक्तस्राव का प्रमाण—

वि०—बलवान् मनुष्य में भी अशुद्ध रक्त एक प्रस्थ (रक्त मोक्षण में-साढ़े तेरह पल) से अधिक नहीं निकालना चाहिये। क्योंकि अधिक रक्तस्राव से मृत्यु होती है; या भयानक वात रोग होते हैं ॥ ४२ ॥

तत्राभ्यङ्गरसक्षीररक्तपानानि भेषजम् ।

स०—तत्र रक्तातिस्रुतावभ्यंगादीनि भेषजम् ।

अधिक रक्तस्राव में कर्तव्य—

वि०—अतिशय रक्तस्राव में—अभ्यङ्ग, माँसरस, दूध और रक्तपान ये औषध हैं।

स्रुते रक्ते शनैर्यन्त्रमपनीय हिमाम्बुना ॥ ४३ ॥
प्रक्षाल्य तैलप्लोताक्तं बन्धनीयं सिरामुखम् ।

स०—स्रुते रक्ते सति यंत्रं शनैर्विमुच्य मंदं मंदमपनीय सिरामुखं शीतोदकेन प्रक्षाल्य तैलप्लोताक्तं सद् बंधनीयम् ॥ ४३ ॥

रक्तस्राव के पश्चात् कर्तव्य—

वि०—पश्चात् कर्म—रक्त के निकल जाने पर धीरे से यन्त्र को हटाकर बर्फ जैसे शीतल जल से धोकर; सिरामुख पर तैल से भीगा वस्त्र रखकर उसे बाँध देना चाहिये ॥ ४३ ॥

अशुद्धं स्रावयेद् भूयः सायमह्न्यपरेऽपि वा ॥ ४४ ॥
स्नेहोपस्कृतदेहस्य पक्षाद्वा भृशदूषितम् ।

स०—अशुद्धं वातादिदुष्टरुधिरलक्षणाद्दुष्टं ज्ञात्वा भूयः पुनः स्रावयेत् । कदा सायमपराह्णे तस्मिन् दिवसे । अथवाऽपरेऽह्नि द्वितीये दिवसे । अथवा स्नेहोपस्कृतो भावितो देहो यस्य तथाविधस्य भृशं दूषितमतिशयेन दुष्टं रक्तं पक्षादूर्ध्वं पुनः स्रावयेत् । एवमशुद्धं रक्तं यथायोगं सायमह्न्यपरे पक्षादूर्ध्वं वा प्रस्थपरिमाणमेव स्रावयेन्न ततोऽधिकमिति रक्तस्रुतौ ब्रूमः । प्रस्थपरिमाणं च तंत्रांतरे गदितम् । वमने व विरेके च रक्तातीसारयोरपि । सार्धंत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिण इति ॥ ४४ ॥

अशुद्ध रक्त का पुनः स्रावण—

वि०—यदि रक्त फिर भी अशुद्ध रहा हो तो सायंकाल में या दूसरे दिन पुनः स्नेह से शरीर को भावित करके पन्द्रह दिन पीछे रक्तमोक्षण करे ॥ ४४ ॥

किंचिच्छेष दुष्टरक्तं स्थापयेदुत सर्वं स्रावयेदिति संशयापनोदार्थमिदमाह—

किञ्चिद्धि शेषे दुष्टास्रे नैव रोगोऽतिवर्तते ॥ ४५ ॥
सशेषमप्यतो धार्यं न चातिस्रुतिमाचरेत्

स०—यस्मात्किंचिच्छेषे दुष्टे रक्ते नैव रोगो दुष्टरक्तोद्भवो व्याधिरतिवर्तते क्रियापथमतिक्रम्य मार्गांतरमसौ नासादयति । अतो दुष्टमपि रक्तं सशेषं धार्यम् । न दुष्टरक्तस्याऽतिस्रुतिमाचरेत् प्राणायतनत्वात् । सुश्रुतोऽप्यध्यगीष्ट—रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः । नचातिप्रस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेदिति ॥ ४५ ॥

अधिक रक्तस्राव का निषेध—

वि०—थोड़ा-अशुद्ध रक्त रह भी जाय तो रोग बढ़ता नहीं—अर्थात् चिकित्सा से साध्य हो जाता है। इसलिये थोड़े दोष वाले रक्त को रोक देना ही उत्तम है, परन्तु रक्त का अतिस्राव उत्तम नहीं ॥ ४५ ॥

अथ किंचिच्छेषं रक्तमुपेक्षणीयमुत प्रतिक्रिया कापि कार्येत्याह—

हरेच्छृङ्गादिभिः शेषं प्रसादमथवा नयेत् ॥ ४६ ॥
शीतोपचारपित्तास्रक्रियाशुद्धिविशोषणैः ।
दुष्टं रक्तमनुद्रिक्तमेवमेव प्रसादयेत् ॥ ४७ ॥

स०—स्रुतशेषं दुष्टरक्तं शृंगतुंबघटिकादिभिर्हरेन्न तु सिरया। अथवा शीतोपचारेण पित्तरिक्तक्रियया शुद्ध्या वमनविरेचनादिरूपया विशोषणेन लंघनरूपेण तद् दुष्टं रक्तमनुद्रिक्तमेव प्रसादयेत्कलुषतां परित्यज्य तस्य प्रसन्नत्वमभ्युपपादयेन्न तु केवलं स्रुतशेषं रुधिरं शीतोपचारेण प्रसादयेत् । यावदनुद्रिक्तमप्रवृद्धं दुष्टं रुधिरमेवममनेनैव शीतोपचारादिना प्रसादं नयेन्न तु तन्निर्हरणे सिराव्यधादिना यतनीयमनुद्रिक्तरक्तनिर्हरणस्य सापायत्वात् ॥ ४६-४७ ॥

शेष दूषित रक्त में कर्तव्य—

वि०—सिरावेध से बचे दूषित रक्त को सींग, तुम्बी, प्रच्छान आदि से निकाले अथवा शीतोपचार, रक्तपित्त चिकित्सा, वमन-विरेचनादि शुद्धि और लंघन आदि शोषण उपाय से दूषित रक्त को निर्मल करे। इसी प्रकार अप्रवृद्ध (मात्रा में न बढ़े) रक्त को भी निर्मल करे ॥ ४६-४७ ॥

रक्ते त्वतिष्ठति क्षिप्रं स्तम्भनीमाचरेत्क्रियाम् ।
रोध्रप्रियङ्गुपत्तङ्गमाषयष्ट्याह्वगैरिकैः ॥ ४८ ॥
मृत्कपालाञ्जनक्षौममषीक्षीरित्वगङ्कुरैः ।
विचूर्णयेद् व्रणमुखं पद्मकादिहिमं पिबेत् ॥ ४९ ॥
तामेव वा सिरां विध्येद्व्यधात्तस्मादनन्तरम् ।
सिरामुखं वा त्वरितं दहेत्तप्तशलाकया ॥ ५० ॥

स०—रक्ते त्वतिष्ठति स्थितिमलभमाने त्वरितमेवं स्तंभनीं क्रियां वक्ष्यमाणां कुर्यात् रक्तस्य प्राणायतनत्वात् । तदेतस्तंभनविशेषमाह—रोध्रादिभिः सिराव्रणमुखं विचूर्णयेत् । पद्मकादिहिमं शीतकषायं पिबेत् । तामेव प्राग्विद्धां सिरां तस्मात् प्राग्व्यधादनंतरमव्यवहितं विध्येत् । अथवा सिराद्वारं क्षिप्रं कृत्वाऽग्निनोपतप्तया शलाकया दहेत् ॥ ४८-५० ॥

रक्तस्राव नहीं रुकने पर स्तम्भनी क्रिया का विधान—

वि०—बहता हुआ रक्त बन्द न हो तो तुरन्त स्तम्भन चिकित्सा आरम्भ करे। इसके लिये—

लोध, पियङ्गु, पत्तंग, उड़द, मुलहठी, गेरू, मिट्टी ठीकरा; सुरमा, अलसी या सन की राख, बरगद आदि की छाल एवं कोपल इनके चूर्णों को 'व्रण के मुखपर छिड़के और पद्मकादि गण का हिम (शीत) पीने को देवे। पहले वेधन के ऊपर

फिर उसी सिरा का वेधन करे; अथवा गरम की हुई शलाका से सिरामुख को तुरन्त जला देवे ॥ ४८-५० ॥

वक्तव्य—रक्त के अतिस्राव से वायु का प्रकोप होता है; उसकी चिकित्सा आवश्यक है यथा—'धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः। पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः॥ तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः। ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत्॥' (सु. सू. अ. १४, ३७-३८)। रक्त-पीने के लिये एण, हरिण, शश, महिष और वराह का देना चाहिये।

रक्तस्य स्रवणादनंतरं यद्विधेयं तदाह—

उन्मार्गगा यन्त्रनिपीडनेन
स्वस्थानमायान्ति पुनर्न यावत्।
दोषाः प्रदुष्टा रुधिरं प्रपन्ना
स्तावद्धिताहारविहारभाक् स्यात् ॥ ५१ ॥

स०—यंत्रनिपीडनेनोन्मार्गगाः स्वमार्गमुल्लंघ्य मार्गांतरसमाश्रयणेनोत्पथं प्रतिपन्ना दोषाः। किंभूताः। प्रदुष्टाः। तथाविधं रक्तं प्राप्ताः पुनर्यावत्स्वाश्रयं न प्रतिपद्यंते तावद्धिताहारविहारभाक् स्याद्धितावाहारविहारौ भजेत्। भजो ण्विरिति ण्विः। इंद्रवज्रा वृत्तम् ॥ ५१ ॥

रक्तस्राव के पश्चात् कर्तव्य—

वि०—यन्त्र के दबाव के कारण अपने स्वाभाविक मार्ग को छोड़ कर दूसरे मार्ग में पहुँचे हुए तथा दूषित एवं रक्त में आये दोष जब तक अपने स्वाभाविक स्थान पर न आ जायें तब तक हितकारी आहार एवं विहार का सेवन करे ॥ ५१ ॥

नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं
रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृ-
गग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः ॥ ५२ ॥

स०—रक्ते स्राविते ऽन्नपानं नात्युष्णशीतं हितम्। अत्युष्णं ह्यन्नपानं रक्तं प्रदूषयेत्। अतिशीतं त्वग्निं सादयेत्। तथा लघु स्वभावतो मात्रादिना च। दीपनीयं संस्कारादिना। कुत एवमन्नपानं हितमित्याह। यस्मात्तस्मिन् काले शरीरमनवस्थितं चलितवृत्ति रक्तं यस्य शरीरस्य तदेवंभूतं भवति। तच्चाऽसृक् शरीरस्याऽऽधारो रक्तस्य च पित्तं पित्तस्य च वह्निः। तथा च वक्ष्यति। पित्तं वह्निरिति। तस्माद्विशेषेण महता यत्नेन वह्निर्नात्युष्णशीतादिनाऽऽहारविहारेण रक्षितव्यः ॥ ५२ ॥

अग्निरक्षा की आवश्यकता—

वि०—पथ्य—रक्त के निकालने के बाद न तो बहुत उष्ण, बहुत शीतल खान-पान उत्तम है। खान-पान लघु और अग्निदीपक होना चाहिये। क्योंकि इस समय शरीर के धातु और दोष अस्थिर (चलायमान) होते हैं, इस समय रक्त तथा अग्नि की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

कृतसिराव्यधस्य पुरुषस्य लक्षणमंतरेणोन्मार्गगामिनां दोषाणां स्वस्थानप्रतिपत्तौ कालो नावगम्यते। न च निर्हृतदुष्टरक्तः पुरुषो लक्षणं विना ज्ञायत इति द्वयस्य परिज्ञानार्थमाह—

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्था-
निच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं
विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥ ५३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने शिराव्यधविधिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

स०—वर्णश्चेंद्रियाणि च वर्णेन्द्रियाणि प्रसन्नानि वर्णेन्द्रियाणि यस्य तं प्रसन्नवर्णेन्द्रियम्। तथेंन्द्रियार्थान् शब्दादीन् स्वभावाभिप्रेतानिच्छंतमभिलषंतम्। तथा पक्तुर्वेगः सामार्थ्यम्। अव्याहतोऽनभिभूतः पक्तृवेगो यस्य तमव्याहतपक्तृवेगमविनष्टपचनवेगम्। तथा सुखान्वितमारोग्ययुक्तं प्रकृतिमापन्नम्। पुष्टिबलाभ्यां युक्तम्। एवंविधं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्तीति शरीरस्य लक्षणमुक्तम्। मधुरं लवणमित्यादिना तु रक्तस्यैव विशुद्धिलक्षणमभिहितमिति। उपजातिवृत्तम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

विशुद्धरक्त वाले पुरुष के लक्षण—

वि०—विशुद्ध रक्त का लक्षण—जिसके वर्ण और इन्द्रियाँ निर्मल हों, इन्द्रियों के विषयों में जिसे कामना हो, जाठराग्नि की शक्ति अव्याहत हो, आरोग्य से युक्त पुष्टि एवं बल से सम्पन्न पुरुष को विशुद्ध रक्त वाला कहते हैं ॥ ५३ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का शिराव्यधविधि नामक सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

◆

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

सिराव्यधविधेरनंतरं शल्याहरणविधिरारभ्यते—

अथातो शल्याहरणविधिमध्यायं व्यख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स०—यतः सिराव्यधाऽध्याये शल्यरूपस्य रक्तस्य सकलकायव्यापिनः सिराव्यधोपायेन निर्हरणमुक्तमिदानीं प्रादेशिकस्य लोहादेः शल्यस्य प्रतिदेशस्थितस्य लक्षणं निर्हरणोपायादिश्चाऽस्मिन्नध्याये शल्याहरणविधौ निर्दिश्यत इत्याह।

वि०--अब इसके आगे शल्य आहरण विधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वक्रर्जुतिर्यगूर्ध्वाधः शल्यानां पञ्चधा गतिः।

स०—वक्रादिभेदभिन्ना शल्यानां पंचप्रकारा गतिर्गमनम्। कदाचिच्छल्यानि वक्रं कृत्वा तिर्यग्वोर्ध्वं वाऽधो वा गच्छंति। कदाचिदृजु कृत्वा। एवमुभयथा तिर्यगूर्ध्वाधोभेदगमनाच्छल्यानां पंचधा गतिः।

शल्यों की पाँच गतियाँ—

वि०—शल्यों की गति पाँच प्रकार से होती है—वक्र (टेढ़ी), ऋजु (सीधी), तिर्यक (तिरछी), ऊर्ध्व (ऊपर) और अधः (नीचे)। [शल्य का लक्षण—'शरीराबाधकरं शल्यम्। सुश्रुत. सू. अ., २६]

सशल्यः कथं वेद्य इत्याह—

श्यामं शोफरुजावन्तं स्रवन्तं शोणितं मुहुः॥ १॥
अभ्युद्गतं बुद्बुदवत्पिटिकोपचितं व्रणम्।
मृदुमांसं च जानीयादन्तःशल्यं समासतः॥ २॥

स०—एवंविधं व्रणमंतःशल्यं विजानीयात्। समासतः संक्षेपेण श्यामं श्यामवर्णम्। तथा शोफं शोफान्वितम्। रुजावंतम्। तथा मुहुः शोणितं स्रवंतम्। तथाऽभ्युद्गतमाभिमुख्येनोच्छ्रितमुन्नतम्। तथा बुद्बुदेन तुल्यं वर्त्तते बुद्बुदवत्। तथा पिटकैरुपचितं व्याप्तं। तथा मृदुमांसं कोमलमांसम्॥ १-२॥

अन्तःशल्यज्ञान विधि—

वि०—अन्तःशल्य के लक्षण—सामान्यतः श्याम वर्ण, शोफ और पीड़ा युक्त; बार-बार रक्त को बहाने वाले; चारों ओर से ऊपर को उठे; बुलबुले के समान छोटी छोटी पिटिकाओं से भरे तथा कोमल माँस वाले व्रण को शल्ययुक्त समझना चाहिये॥ १-२॥

इति सामान्येनांतःस्थितस्य शल्यस्य लक्षणमुक्त्वा त्वगादिगतस्य लक्षणमाह—

विशेषात्त्वग्गते शल्ये विवर्णः कठिनायतः।
शोफो भवति मांसस्थे चोषः शोफो विवर्द्धते॥ ३॥
पीडनाक्षमता पाकः शल्यमार्गो न रोहति।

स०—सामान्यलक्षणं पूर्वोक्तमंतःशल्यस्य सर्वत्र विद्यते। विशेषेण पुनस्त्वग्गते शल्ये शोफो विवर्णस्तथा कठिनो दीर्घश्च स्यात्। मांसगते शल्ये चोषः स्यात्। सर्वांगीणस्तीव्रोऽरतिमान् दाहश्चोष उच्यते। तथा शोफो विवर्धते। तथा पीडनस्याऽक्षमत्वं पाकश्च। शल्यमार्गश्च रोहं न याति॥ ३॥

त्वग्गत तथा माँसगत का लक्षण—

वि०—विशेष करके त्वग्गत शल्य में तथा उसमें विवर्णता होती है। माँस-स्थित शल्य में चोष (जलन) होता है और शोफ बढ़ता है; दबाने पर असहिष्णुता (Tenderness) और पाक होता है और शल्यमार्ग भरता नहीं। [चोष-सब अङ्गों में होने वाला, बेचैनी करने वाला, तीव्र दाह चोष कहलाता है]॥ ३॥

पेश्यन्तरगते मांसप्राप्तवच्छ्वयथुं विना॥ ४॥
आक्षेपः स्नायुजालस्य संरम्भस्तम्भवेदनाः।
स्नायुगे दुर्हरं चैतत् सिराध्मानं सिराश्रिते॥ ५॥

स०—पेशीमध्यगते मांसगतेन तुल्यं लक्षणं श्वयथुं वर्जयित्वा। मांसावयवविशेषो दीर्घत्वाकृतिः पेशीत्युच्यते। स्नायुगे शल्ये स्नायुजालस्याऽऽक्षेपाद्याः स्युः। आक्षेप आकर्षणम्। संरंभः क्षोभः। स्तंभः स्तब्धता। वेदना शूलम्। तच्च स्नायुगं शल्यं दुःखेन निर्हर्तुं शक्यते। सिराश्रिते शल्ये सिराणामानाहः स्यात्॥ ४-५॥

पेशी-स्नायु-सिरागत शल्य का लक्षण—

वि०—शल्य के पेशी में होने पर—माँसस्थ शल्य की भाँति सब लक्षण होते हैं; परन्तु सूजन नहीं होती। स्नायु में शल्य होने पर-आक्षेप, स्नायुजाल में क्षोभ, जड़ता और वेदना होती है और यह शल्य कठिनाई से निकलता है। सिरा में आश्रित शल्य में सिरा में आध्मान (फूलना) होता है॥ ४-५॥

स्वकर्मगुणहानिः स्यात्स्रोतसां स्रोतसि स्थिते।

स०—स्रोतोगते शल्ये स्रोतसां स्वकर्मगुणयोर्हानिः स्यात्। यथा कण्ठस्रोतसि स्थिते शल्ये पानाभ्यवहरणस्य निरोधो जायते। गुणोपि यस्तस्याऽप्रदुष्टत्वादिलक्षणः सोऽप्यस्य हीयत इति। एवमन्येषां स्वकर्मगुणहानिर्व्याख्येया। अबाधत्वं चेति योज्यम्।

स्रोतोगत शल्य का लक्षण--

वि०--स्रोतों में शल्य होने पर उस स्रोत के कर्म एवं गुणों की हानि होती है।

धमनीस्थेऽनिलो रक्तं फेनयुक्तमुदीरयेत्॥ ६॥
निर्याति शब्दवान् स्याच्च हृल्लासः साङ्गवेदनः।

स०—धमनिस्थे शल्ये वायुर्लोहितं सफेनं प्रेरयेत्॥ ६॥

धमनीगत शल्य का लक्षण--

वि०—धमनी में शल्य होने पर वायु झागदार रक्त को बाहर प्रेरित करती है और शब्द के साथ वायु बाहर आती है; रोगी को हृल्लास तथा अङ्गों में वेदना होती है॥ ६॥

सङ्घर्षो बलवानस्थिसन्धिप्राप्तेऽस्थिपूर्णता॥ ७॥
नैकरूपा रुजोऽस्थिस्थे शोफः—

स०—तथा सशब्दो मरुन्निर्याति। हृल्लासश्चांगपीडायुक्तः स्यात्। अस्थिसंधिप्राप्ते शल्ये बलवान् संघर्षः क्षोभः स्यात्। तथाऽस्थिपूर्णता च जायते। अस्थिस्थे शल्येऽनेकाकारा नानाविधा रुजो भग्नरुग्णमृदितपीडितावनुन्नप्रायाः स्युः शोफश्च॥ ७॥

वि०—अस्थि-सन्धि में शल्य होने पर बलवान क्षोभ होता है और अस्थि भरी अनुभव होती है, अस्थि में शल्य होने पर नाना प्रकार की (भग्न, रुग्ण, मृदित, पिच्चित, पीडित आदि) वेदनायें होती हैं और सूजन होती है ॥ ७ ॥

—तद्वच्च सन्धिगे।
चेष्टानिवृत्तिश्च भवेत्—

स०—संधिगते शल्ये तद्वदेवाऽस्थिस्थशल्येन तुल्यं लक्षणं संधिस्थशल्याक्रांतावयवस्य । तथा चेष्टाया व्यापारस्य निवृत्तिरुपरमश्च स्यात् । पूर्वमस्थिसंधिगतस्य शल्यस्य लक्षणमुक्तम्। अधुनाऽनस्थिशरीरसंधिगतशल्यस्य लक्षणम्। अन्यो हि शरीरसंधिः। तथा च राजयक्ष्मनिदाने वक्ष्यति। शरीरसंधीनाविश्येति।

सन्धिगत शल्य का लक्षण—

वि०—सन्धिगत शल्य में (अस्थिसन्धि से अन्य संधियों में) अस्थिगत शल्य के लक्षण तथा चेष्टा का न होना लक्षण होता है।

आटोपः कोष्ठसंश्रिते ॥ ८ ॥
आनाहोऽन्नशकृन्मूत्रदर्शनं च व्रणानने।

स०—कोष्ठमुदरमाश्रिते शल्य आटोपः क्षोभस्तथाऽऽनाहो जठराध्मानम् । तथा व्रणमुखेऽन्नशकृन्मूत्रदर्शनं स्यात् ॥ ८ ॥

कोष्ठगत शल्य का लक्षण—

वि०—कोष्ठ में आश्रित शल्य में—आटोप, आनाह तथा व्रण के मुख से (भिन्न अवयव के अनुसार) अन्न, मल और मूत्र का दर्शन (निकलना) होता है ॥ ८ ॥

विद्यान्मर्मगतं शल्यं मर्मविद्धोपलक्षणैः ॥ ९ ॥

स०—मर्मस्थं शल्यं मर्मविद्धोपलक्षणैर्विद्यात् । मर्मविद्धस्य च लक्षणं संग्रहे कथितम्। यथा। देहप्रसुप्तिर्गुरुता संमोहः शीतकामता। स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासो मर्मविद्धस्य लक्षणमिति ॥ ९ ॥

मर्मगत शल्य का लक्षण—

वि०—मर्मगत शल्य को मर्म के विद्ध होने के लक्षणों से पहचानना चाहिये। [मर्म के विद्ध होने के लक्षण-देहप्रसुप्तिर्गुरुता सम्मोहः शीतकामिता। स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासो मर्मविद्धस्य लक्षणम्] ॥ ९ ॥

यथास्वं च परिस्रावैस्त्वगादिषु विभावयेत्।

स०—न केवलं सामान्यलक्षणेन जठराध्मानादिना तथा त्वगादिस्थशल्यविशेषलक्षणेन त्वगादिस्थं शल्यं लक्षयेत् यावद्यथास्वं परिस्रावैस्तथारूपैर्विभावयेत्।

त्वगादिस्थ शल्यज्ञान के अन्य उपाय—

वि०—त्वचा आदि में स्थित शल्य को उनके अपने-अपने स्रावों से भी पहचाने [यथा=त्वग्गत में लसीका; सिरादिगत में रक्त, अस्थिगत में मज्जा का स्राव होता है]।

रुह्यते शुद्धदेहानामनुलोमस्थितं तु तत् ॥ १० ॥

स०—तत्प्राङ्निर्दिष्टं शल्यं रुह्यते रोहं याति। किंभूतानां पुंसाम् । वमनविरेचनादिभिः शुद्धदेहानाम्। रुह्यत इति कर्मकर्तरीति केचित्। तच्च न युक्तम्। यतः कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां च कर्ता कर्मवद्भवति। न कर्मस्थभावकानां न च कर्तृस्थक्रियाणामित्युक्तम्। रुहिश्च कर्तृस्थक्रियः। तस्माद्रोहतीतिरुट्। रुडिवाचरतीति कृदंतोऽयम्। रूढाभासो ह्ययं न तु सम्यग्रूढः । तथाच वक्ष्यति। दोषकोपेत्यादि। तस्मादस्य रूढाभासत्वादेषा व्युत्पत्तिर्युक्ता ॥ १० ॥

शल्य का रोहणादि—

वि०—वमन, विरेचनादि से (या स्वभावतः) शुद्ध शरीर वाले पुरुषों में अनुलोम रूप में स्थित शल्य स्वयमेव भरा हुआ प्रतीत होता है (वास्तव में भरता नहीं[१]) ॥१०॥

दोषकोपाभिघातादिक्षोभाद् भूयोऽपि बाधते।

स०—यतस्तच्छल्यमसम्यग्रूढत्वाद् भूयोऽपि बाधते। प्राक्कृतबाधमपि पीडां जनयति। कुतो हेतोरित्याह। दोषकोपश्चाऽभिघातश्च तावादी येषां कर्मणां धावनलंघनादिशीलानां त एव तैः क्षोभः संरंभस्तस्माद्दोषकोपक्षोभादभिघातादिक्षोभाद्बाधते।

रूढ अन्तःशल्य से भी पुनः पीडा—

वि०—दोष के प्रकोप से या चोट आदि के लगने से उत्पन्न विक्षोभ के कारण वह (रूढ) शल्य पुनः पीडा करने लगता है।

त्वगादिनष्टे शल्ये मिथ्यारूढत्वाददृश्यतां प्राप्ते सति परिज्ञानार्थमिदमाह—

त्वङ्नष्टे यत्र तत्र स्युरभ्यङ्गस्वेदमर्दनैः ॥ ११ ॥
रागरुग्दाहसंरम्भा यत्र चाज्यं विलीयते।
आशु शुष्यति लेपो वा तत्स्थानं शल्यवद्वदेत् ॥ १२ ॥

स०—तत्र तेषु त्वङ्नष्टादिषु शल्येषु मध्येषु त्वङ्नष्टं यत्र प्रदेशे स्यात्तत्स्थानेऽभ्यंगादिभिर्लौहित्यशूलदाहक्षोभाः स्युः। यत्र वा स्थाने घृतं स्त्यानं यौजितं विलीयते तत्स्थानं शल्यवत् सत्यं वदेत् । अथवा लेपश्चंदनादिना दत्तो यत्राश्वेव शुष्यति तत्स्थानं त्वग्देशं शल्यवज्जानीयात् ॥ ११-१२ ॥

त्वङ्नष्ट शल्य का ज्ञान—

वि०—त्वचा आदि में शल्य नष्ट हो (छिपा हो) तो अभ्यंग, स्वेदन या मर्दन करने से जहाँ पर लालिमा, वेदना दाह या सूजन का अनुभव हो; और जहाँ पर लगाया हुआ

---

[१] जब कभी शल्य में संक्रमण का सम्बन्ध नहीं होता जिसे अंग्रेजी में असेप्टिक फारेन बाडीज (Aseptic Foriegn bodies) कहते हैं—तथा रोगी का शरीर भी शुद्ध अर्थात् स्वस्थ और रोगक्षम रहता है तो शल्य के चारों ओर रोहण धातु बन जाती है और वह शल्य बिना किसी कष्ट के धातु में लीन पड़ा रहता है। किन्तु उत्तेजक कारण या अनुकूल परिस्थिति में पुनः शोथ, पाक आदि द्वारा कष्ट देता है। ऐसे ही छिपे हुए शल्यों को 'व्रणशल्य' कहते हैं।

घी पिघल जाये; अथवा जहाँ का लेप जल्दी सूख जाये; उस स्थान को शल्य से युक्त समझना चाहिये ॥ ११-१२ ॥

मांसप्रणष्टं संशुद्धया कर्शनाच्छ्लथतां गतम् ।
क्षोभाद्रागादिभिः शल्यं लक्षयेत्—

स०—मांसप्रनष्टमदृश्यतां प्राप्तं संशुद्धया वमनविरेचनादिकया यत्कर्शनं कृशत्वं तस्मात् श्लथतां शिथिलत्वं प्राप्तं क्षोभादनेकप्रकाराद्वेदनारूपात्तथा रागादिभिर्लक्षयेत् ।

मांस में नष्ट शल्य का ज्ञान—

वि०—मांस में नष्ट हुए शल्य को वमन आदि शुद्धि के द्वारा रोगी के कृश हो जाने से ढीले हुए शल्य द्वारा होने वाले विक्षोभ, रक्तिमा आदि से जाने।

—तद्वदेव च ॥ १३ ॥
पेश्यस्थिसन्धिकोष्ठेषु नष्टम्—

स०—तेन मांसप्रनष्टेन तुल्यं वर्तते । यथा शुद्धया कर्शनात् श्लथतां गतं क्षोभाद्रागादिभिर्लक्षयेदिति ॥ १३ ॥

पेश्यादि में नष्ट शल्य का ज्ञान—

वि०—पेशी, अस्थि, सन्धि और कोष्ठ में छिपे शल्य को मांस में छिपे शल्य की भाँति पहचाने ॥ १३ ॥

—अस्थिषु लक्षयेत् ।
अस्थ्नामभ्यञ्जनस्वेदबन्धपीडनमर्दनैः ॥ १४ ॥

स०—अस्थिषु नष्टं शल्यमस्थ्नामभ्यंजनस्वेदनबंधनपीडनमर्दनैः ॥ १४ ॥

अस्थियों में नष्ट शल्य का ज्ञान—

वि०—अस्थि में छिपे शल्य को अस्थियों के अभ्यंग, स्वेदन, बन्धन-पीडन और मर्दन से होने वाले क्षोभ, पीड़ा आदि से पहचाने ॥ १४ ॥

प्रसारणाकुञ्चनतः सन्धिनष्टं तथाऽस्थिवत् ।

स०—प्रसारणाऽऽकुंचनतो लक्षयेत् । संधिनष्टं शल्यमस्थिदृष्टवल्लक्षयेत् ।

सन्धियों में नष्ट शल्य का ज्ञान—

वि०—सन्धि में नष्ट शल्य को प्रसारण एवं संकोचन तथा अभ्यंग-स्वेदन आदि से तथा अस्थि में नष्ट शल्य की भाँति पहचाने ।

नष्टे स्नायुसिरास्रोतोधमनीष्वसंमे पथि ॥ १५ ॥
अश्वयुक्तं रथं खण्डचक्रमारोप्य रोगिणम् ।
शीघ्रं नयेत्ततस्तस्य संरम्भाच्छल्यमादिशेत् ॥ १६ ॥

स०—स्नायुशिरास्रोतोधमनीषु नष्टे शल्येऽसमे पथि विषमे मार्गे रथमारोप्य रोगिणं शल्यवंतं शीघ्रं नयेदाश्वेव देशांतरं प्रापयेत् । किंभूतं रथम् । खंडं चक्रं यस्य स खंडचक्रस्तं खंडचक्रम् । ततस्तस्य रथस्य संरंभात् क्षोभाच्छल्यमादिशेल्लक्षयेत् ॥ १५-१६ ॥

स्नायु-सिरादि में नष्ट शल्य का ज्ञान—

वि०—स्नायु, सिरा, स्रोत एवं धमनी में छिपे शल्य को पहचानने के लिये रोगी को टूटे पहिये वाले रथपर बिठाकर विषम मार्ग में घोड़ों द्वारा तेजी से ले जाये। इस प्रकार ले जाने से उसे जहाँ पर शोथ; या विक्षोभ हो, वहाँ शल्य समझे ॥ १५-१६ ॥

मर्मनष्टं पृथङ्नोक्तं तेषां मांसादिसंश्रयात् ।

स०—मर्मनष्टं शल्यं पृथङ्नाभिहितम् । कुतः तेषां मर्मणां मांसादौ एव प्राङ्निर्दिष्टो यतः संश्रयो न तु पृथङ्मर्माणि विद्यन्ते । तथा च संग्रहे । मर्मप्रनष्टेऽप्यनन्यभावान्मांसादिभ्यो मर्मणामुक्तं परीक्षणं भवतीति ।

मर्मों में नष्ट-शल्य की पृथक् अनुक्ति का हेतु—

वि०—मर्मों में नष्ट शल्य के लक्षण अलग नहीं कहे, क्योंकि मर्म, मांस सिरा, स्नायु आदि से पृथक् नहीं हैं (इसलिये इन से ही मर्म के लक्षण भी समझना ।)

एवं विशेषेण नष्टशल्यलक्षणमुक्त्वा सामान्येन नष्टशल्यं लक्षयितुमाह—

सामान्येन सशल्यं तु क्षोभिण्या क्रियया सरुक् ॥१७॥

स०—सामान्येन सशल्यं तु क्षोभिण्या क्रियया संरंभोत्पादकेन कर्मणा श्वसनप्राणायामादिकेन यत्सरुक्स्थानं तत्सशल्यं जानीयात् ॥ १७ ॥

नष्ट शल्य का सामान्य ज्ञान—

वि०—सामान्यतः विक्षोभ वाली क्रिया से जिस स्थान पर वेदना हो उस स्थान को शल्य-युक्त समझना चाहिये ॥१७॥

वृत्तं पृथु चतुष्कोणं त्रिपुटं च समासतः ।
अदृश्यशल्यसंस्थानं व्रणाकृत्या विभावयेत् ॥ १८ ॥

स०—वृत्तं वर्तुलम् । पृथु पार्श्वाभ्यां यत्परिच्छिद्यते । चतुष्कोणं चतुरस्रम् । त्रिपुटं त्र्यस्रम् । समासतः संक्षेपेणाऽदृश्यस्यानुपलब्धस्य शल्यस्य संस्थानमाकृतिं व्रणाकृत्या व्रणसंस्थानेन विभावयेद्विद्यात् ॥ १८ ॥

व्रणाकृति से शल्याकृति का ज्ञान—

वि०—संक्षेप से शल्य-गोल, चिपटा, चौकोर या त्रिकोण होता है। अदृश्य शल्य के आकार को व्रण की आकृति से जाने ॥ १८ ॥

अधुनैषामाकर्षणोपायं निरूपयन्नाह—

तेषामाहरणोपायौ प्रतिलोमानुलोमकौ ।
अर्वाचीनपराचीने निर्हरेत्तद्विपर्ययात् ॥ १९ ॥
सुखाहार्यं यतश्छित्त्वा ततस्तिर्यग्गतं हरेत् ।

स०—तेषामदृश्यानां शल्यानामाकर्षणोपायौ द्वौ प्रतिलोमानुलोमकौ । प्रतिलोमः शरीरांतःप्रवेशविपर्ययः । अनुलोमः शरीरांतःप्रवेशानुगतः । प्रतिलोमानुलोमयोर्विनिर्हरणविषयमाह—तयोः प्रतिलोमानुलोमयोर्विपर्ययस्तद्विपर्ययस्तस्माद्विपर्ययादर्वाचीनपराचीने निर्हरेत् । प्रतिलोमेऽर्वाचीनमानयेदनुलोमे पराचीनमानयेदित्यर्थः । तिर्यग्गतं शल्यं यतो यस्माद्देहदेशाच्छित्त्वा विलुठ्य सुखाहार्यं संपद्यते सुखेनाहर्तुं शक्यते ततस्तस्माद्देहदेशाच्छित्त्वोद्धरेत् । छित्त्वेत्यत्र यद्यपि

कर्म किंचिन्न निर्दिष्टं तथापि त्वङ्मांसादीनां योग्यत्वात्तेषामेव कर्मत्वं बोध्यम् । मांसादि छित्त्वोद्धरेदित्यर्थः ॥ १९ ॥

शल्यकर्षण के उपाय—

वि०—शल्य को निकालने के उपाय—प्रतिलोम लाना और अनुलोम लाना है। [शरीर में जाने के मार्ग से विपरीत मार्ग से लाना प्रतिलोम (पीछे की ओर खींच लेना) और शरीर के अन्दर जाने के मार्ग से भी निकालना (जिस दिशा में शल्य घुसा है उसी दिशा में उसे और बढ़ाकर दूसरी ओर से निकालना) अनुलोम है]।

अर्वाचीन रूप से गया हो उसे प्रतिलोम गति से बाहर निकाले, प्रतिलोम को अर्वाचीन गति से निकाले। (हेमाद्रि-के अनुसार-अर्वाचीन-अधोगत—इससे विपरीत ऊर्ध्वगति से निकाले। पराचीन-ऊर्ध्वगति-इससे विपरीत अधोगति से निकाले। ऊर्ध्व निर्हरण का नाम प्रतिलोम; अधोमार्ग का नाम अनुलोम है।)

तिर्यग्—तिरछा गये शल्य को सुखपूर्वक निकालने के लिये मांस आदि का छेदन जैसा योग्य हो वैसा करके उसे निकाले ॥ १९ ॥

शल्यं न निर्घात्यमुरःकक्षावङ्क्षणपार्श्वगम् ॥ २० ॥
प्रतिलोममनुत्तुण्डं छेद्यं पृथुमुखं च यत् ।

स०—शल्यमुरोगतमुरःस्थं कक्षास्थं वंक्षणस्थं पार्श्वस्थं न निर्घात्यं तन्न निर्घातनीयम् । तथा प्रतिलोममननुलोमगतं तथानुत्तुण्डं बाह्ये बुद्बुदवन्नोन्नतं तथा छेद्यं शल्यं न निर्घात्यमहार्यम् । तथा पृथुमुखं विस्तीर्णाननं च न निर्घातनीयम् ॥ २० ॥

अनिर्घातनीय शल्य—

वि०—छाती, कक्षा, वंक्षण और पार्श्वगत प्रतिलोम और अनुतुण्ड (जो पानी के बुलबुले की भाँति उन्नत न हो अथवा जिनका मुख दिखाई न देवे) छेदन योग्य तथा विस्तीर्ण मुख वाले शल्य पर चोट नहीं करनी चाहिये ॥ २० ॥

न च सर्वमेव शल्यमाहरणीयमित्याह—

नैवाहरेद्विशल्यघ्नं नष्टं वा निरुपद्रवम् ॥ २१ ॥

स०—विशल्यं हंतीति विशल्यघ्नम् । तावज्जीवति यावत्सशल्यः । शल्यापाये तु म्रियते तन्नाहरेदेव । विशल्यस्य प्राणहरत्वात् । एतत्स्वरूपं च मर्मविभागे स्पष्टं कृत्वा वक्ष्यते । नष्टं वेति वाशब्दश्चार्थे । नष्टमदृश्यतां प्राप्तं च यन्निरुपद्रवं तन्निमित्तरोगरहितं नाहरेत् । प्रत्यवायभयात् । करप्राप्यं हस्तप्राप्यं शल्यं करणैवाऽऽहरेन्नापरेण कंकमुखादिना ॥ २१ ॥

निकालने के अयोग्य शल्य—

वि०—विशल्यघ्न मर्म में स्थित, वा जो शल्य अदृश्य और उपद्रव रहित हो उसे भी न निकाले (विशल्यघ्न कर्म-जिन अङ्गों में शल्य रहने पर रोगी जीता है; किन्तु निकालने से मर जाता है। यथा—'उत्क्षेपौ स्थपने त्रीणि विशल्यघ्नानि') ॥ २१ ॥

अथाहरेत्करप्राप्यं करेणैवेतरत्पुनः ।
दृश्यं सिंहाहिमकरवर्मिकर्कटकाननैः ॥ २२ ॥

स०—इतरदकरप्राप्यं तु शल्यं दृश्यं सिंहमुखादिभिर्यंत्रै-राहरेत् ॥ २२ ॥

हस्तप्राप्यादि दृश्य शल्यों का निकालना—

वि०—हाथ से पकड़े जाने योग्य शल्य को हाथ से ही पकड़ कर निकाले। दूसरी प्रकार का शल्य जो हाथ से न पकड़ा जा सके परन्तु आँख से दीखता हो उसे सिंह, अहि, मकर, वर्मि और कर्कटक मुख वाले यन्त्रों से पकड़कर निकाले ॥ २२ ॥

अदृश्यं व्रणसंस्थानाद् ग्रहीतुं शक्यते यतः ।
कङ्क-भृङ्गाह्व-कुरर-शरारी-वायसाननैः ॥ २३ ॥

स०—अदृश्यं पुनः शल्यं व्रणस्य संस्थानादाकलय्य कंकमुखादिभिर्ग्रहीतुं शक्यते यतस्ततस्तच्छस्त्रैर्हरेत् । यत्त-दोर्नित्यसंबंधात्तदो लाभः ॥ २३ ॥

अदृश्य शल्यों का निकालना—

वि०—अदृश्य शल्य को कंक, भृङ्ग, कुरर, शरारि एवं वायसमुख यन्त्रों से व्रणमुख में से पकड़ सकते हैं—अतः इनसे पकड़कर निकाले ॥ २३ ॥

सन्दंशाभ्यां त्वगादिस्थं तालाभ्यां सुषिरं हरेत् ।
सुषिरस्थं तु नलकैः शेषं शेषैर्यथायथम् ॥ २४ ॥

स०—त्वगादिस्थं शल्यं संदंशाभ्यां निर्हरेत् । आदि-ग्रहणात्त्वक्सिरास्नायुमांसादीनां ग्रहणम् । सुषिरं यच्छल्यं त्वगादिस्थं तत्तालाभ्यां हरेन्न संदंशाभ्याम् । शुषिरस्थं पुनः शल्यं नलकैर्नाडीयंत्रैराकर्षेत् । शेषं शल्यं शेषैर्यंत्रैर्यथायोग-माहरेत् ॥ २४ ॥

त्वक् आदि में स्थित शल्यों का निकालना—

वि०—त्वचा आदि में स्थित शल्य को सन्दंशों से पकड़कर निकाले। पोले शल्य को तालयन्त्रों से निकाले। खोखले स्थानों में स्थित शल्य को नाड़ीयन्त्रों से निकाले। शेष शल्यों को यथायोग्य शेष यन्त्रों से निकाले ॥ २४ ॥

शस्त्रेण वा विशस्यादौ ततो निर्लोहितं व्रणम् ।
कृत्वा घृतेन संस्वेद्य बद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत् ॥ २५ ॥

स०—शस्त्रेण वा पूर्वं विशस्य मांसादींश्छित्त्वा ततोऽ-नंतरमपनीतरक्तं व्रणं विधाय सर्पिषा स्वेदयित्वा वस्त्रपट्टा-दिना सर्पिर्मधु बद्ध्वा आचारिकं स्नेहविध्युक्तमुष्णोदकोप-चारी स्यादित्याचिकमादिशेत् कथयेत् ॥ २५ ॥

शस्त्रद्वारा छेदन—

वि०—अथवा प्रथम शस्त्र से माँस आदि को काटकर (शल्य को निकाले)। पीछे रक्त को साफ कर व्रण को स्वच्छ बनाकर घी से व्रण पर स्वेद देवे। स्वेद देकर व्रण

पर (घी-मधु लगाकर) पट्टी बाँध दे और आचार-नियम (पथ्यापथ्य-आहार-विहार) को कहे ॥ २५ ॥

सिरास्नायुविलग्नं तु चालयित्वा शलाकया ।

स०—सिरास्नायुविलग्नं पुनः शल्यं शलाकया चालयित्वा शिथिलीकृत्याहरेत् ।

सिरा-स्नायुगत शल्य का निकालना—

वि०—सिरा-स्नायु में फँसे शल्य को शलाका से हिला-डुला कर ढीला करके निकाले ।

हृदये संस्थितं शल्यं त्रासितस्य हिमाम्बुना ॥ २६ ॥
ततः स्थानान्तरं प्राप्तमाहरेत्तद्यथायथम् ।
यथामार्गं दुराकर्षमन्यतोऽप्येवमाहरेत् ॥ २७ ॥

स०—हृदये यदाश्रितं शल्यं तच्छीतजलेन त्रासितस्य स्थानांतरगतं ज्ञात्वा यथायथं यथास्वं विशिष्टयंत्रैर्निर्हरेत् । अन्यतोऽप्यन्यदेशस्थमपि शल्यं दुराकर्षं दुःखेनाक्रष्टुं शक्यते तत्स्वमार्गं नयेत् तदेवमेवाहरेत् । यथा हृदयस्थं शल्यं स्थानांतरं प्राप्तं निर्हार्यं तथा यथामार्गं मार्गानतिक्रमेणान्यदेशस्थमपि शल्यमाकर्षणीयम् ॥ २६-२७ ॥

हृदयगत शल्य का निकालना—

वि०—हृदय में आश्रित कठिनाई से खींचने योग्य शल्य में, रोगी को शीतल जल से भयभीत (उद्विग्न) बनाकर जब शल्य दूसरे स्थान पर पहुँच जाये तब यथायोग्य यन्त्रों से मार्गानुरूप शोधन से निकाले । कठिनाई से खींचने योग्य अन्य शल्यों को भी इसी प्रकार अपने मार्ग में लाकर निकाले ॥ २६-२७ ॥

अस्थिदष्टे नरं पद्भ्यां पीडयित्वा विनिर्हरेत् ।
इत्यशक्ये सुबलिभिः सुगृहीतस्य किङ्करैः ॥ २८ ॥

स०—अस्थिदष्टेऽस्थ्नि दष्टे स्पष्टे सति शल्ये नरं बलवंतं पद्भ्यां पीडयित्वा आक्रम्य तच्छल्यं विनिर्हरेत् । अस्थिनष्ट इति वा पाठः ॥ इत्यशक्येऽनेनाऽपि प्रकारेणाक्रष्टुमशक्ये शल्ये किंकरैर्भृत्यैर्महाबलैः संगृहीतस्य सुष्ठुवष्टब्धस्य नरस्य शल्यं वैद्यः कंकमुखादिना निर्हरेत् ॥ २८ ॥

अस्थ्यादिगत शल्यों का निकालना—

वि०—अस्थि में लगे शल्य में पाँव से मनुष्य को दबाकर शल्य खींचे यदि इस प्रकार से भी शल्य न निकले तो बलवान् नौकरों से रोगी को पकड़वाकर तब खींच कर निकाले ॥२८॥

तथाऽप्यशक्ये वारङ्गं वक्रीकृत्य धनुर्ज्यया ।
सुबद्धं वक्त्रकटके बध्नीयात्सुसमाहितः ॥ २९ ॥
सुसंयतस्य पञ्चाङ्ग्या वाजिनःकशयाऽथ तम् ।
ताडयेदिति मूर्धानं वेगेनोन्नमयन् यथा ॥ ३० ॥
उद्धरेच्छल्यम्—

स०—तथाप्यशक्य एवमपि शल्यं आहर्तुमशक्ये वारंगं शस्त्रादिमयस्य शल्यस्य शिखाकारं तद्वक्रीकृत्य कुटिलतां प्रापय्य ततो धनुर्ज्यया स्नाय्वादिमय्या सुबद्धं कृत्वाऽनंतरं वाजिनोऽश्वस्य वक्त्रकटके बध्नीयाद्वैद्यः । किंभूतः । सुसमाहितस्तद्गतमनाः । किंभूतस्य वाजिनः । सुसंयतस्य सुष्ठु शोभनं कृत्वा बद्धस्य । कथं सुसंयतस्य । पंचांग्या पंचानामंगानां चतुर्णां पादानां मुखसहितानां समाहारः पंचांगी बंधविशेषस्तया पंचांग्या बद्धस्यानंतरं वाजिनं कशया चर्मबध्र्या इत्येवं ताडयेत । यथा स वाजी मूर्धानमुन्नमयन्नुत्क्षिपन् वेगेन बलेनाऽऽक्रांत्या शल्यमुद्धरेत् ॥ २९-३० ॥

धनुष की डोरी आदि बाँधकर शल्य का निकालना—

वि०—इससे भी यदि शल्य न निकले तब लोहे आदि के बने हत्थे (आदि शल्य) को टेढ़ा करके धनुष की ज्या के साथ भली प्रकार बाँध दे । अब इसको घोड़े की लगाम में वैद्य भली प्रकार सावधानी से बाँध देवे । घोड़े के चारो पैर और मुख इन पाँचों को पंचांगी बन्धन से भली प्रकार बाँधकर वैद्य उस घोड़े को इस प्रकार चाबुक मारे जिससे घोड़ा वेग से मुख को ऊँचा उठाये इस प्रकार करने से शल्य बाहर निकल आयेगा ॥ २९-३० ॥

—एवं वा शाखायां कल्पयेत्तरोः ।

स०—अथवैवमनेन प्रकारेण वारंगं वक्रतां नीत्वा धनुर्ज्यया सुबद्धं संपाद्य सुसमाहितो भिषग्वृक्षस्य शाखामानमय्य धनुर्ज्यया सुबद्धं तस्यां बध्नीयाच्छल्याकर्षणार्थम् । अत्र च या शाखा किंकरहस्तादिमुक्तमात्रोर्ध्वमुन्नमय्य मनाक् शल्यमुद्धरति तादृशी कल्पनीया ।

वि०—यही क्रिया वृक्ष की शाखा में करे (अर्थात् शाखा को झुकाकर उसकी रस्सी द्वारा शल्य के हत्थे में बाँध देवे । अच्छी प्रकार बँध जाने पर शाखा को छोड़ दे । शाखा झटके में जब ऊपर जायेगी, तो शल्य भी निकल आयेगा) ।

बद्ध्वा दुर्बलवारङ्गं कुशाभिः शल्यमाहरेत् ॥ ३१ ॥
श्वयथुग्रस्तवारङ्गं शोफमुत्पीड्य युक्तितः ।

स०—दुर्बलं तनु वारंगं यस्य शल्यस्य तच्छल्यं कुशाभिर्वंशादिकंबिकाभिर्बद्ध्वा शल्यमाहरेत् । श्वयथुना ग्रस्तमाच्छादितं वारंगं यस्य शल्यस्य तच्छल्यमाहरेत् । कथम् । युक्तितो यथा युज्यते तथा शोफमुत्पीड्योर्ध्वं पीडयित्वा ॥३१॥

वि०—निर्बल हत्थे वाले शल्य को बाँस की खप्पची आदि से बाँधकर निकाले । सूजन से छिपे हुये—हत्थे वाले शल्य को, युक्तिपूर्वक सूजन को दबाकर निकाले ॥ ३१ ॥

मुद्गराहतया नाड्या निर्घात्योत्तुण्डितं हरेत् ॥ ३२ ॥
तैरेव चानयेन्मार्गममार्गोत्तुण्डितं तु यत् ।

स०—उत्तुंडितं शल्यं बुद्बुदवदभिमुखीभूतं नाड्या निर्घात्य चालयित्वा हरेत् । किंभूतया । मुद्गरेणाहतया मुद्गरग्रहणमुपलक्षणार्थम् । पाषाणादिभिरप्याहतयोत्तुण्डितमाहरेदिति वेद्यम् । तैरेव मुद्गरादिभिराहतैरमार्गेणोत्तुंडितममार्गोत्तुंडितं मार्गमानयेत् प्रापयेत् ॥ ३२ ॥

फूले हुए शल्यों का निकलना—

वि०—ऊपर को मुख निकाले हुए शल्य को मुद्गर-पत्थर आदि द्वारा नाड़ी से हिलाकर निकाले। अनुचित मार्ग में मुख निकाले हुए शल्य को मुद्गर-पत्थर आदि से आघात करके मार्ग में ले आये (फिर निकाले) ॥ ३२ ॥

मृदित्वा कर्णिनां कर्णं नाड्यास्येन निगृह्य वा ॥ ३३ ॥
अयस्कान्तेन निष्कर्णं विवृतास्यमृजुस्थितम् ।

स०—कर्णाः कर्णौ वा विद्यन्ते येषां ते कर्णिनो भल्लादयस्तेषां कर्णं मृदित्वा भक्त्वा शल्यं निर्हरेत्। अथवा नाड्यास्येन नाडीमुखेन निगृह्य निर्हरेत्। नाडी पंचमुखच्छिद्रेत्येवमादिग्रंथनिर्दिष्टैर्नाडीयंत्रैर्निर्हरेदित्यर्थः। अयस्कांतेन लोहाकर्षकमणिविशेषेण निष्कर्णं शल्यं तथा विवृतमुखम् ऋजु स्पष्टं कृत्वाऽवस्थितं निर्हरेत् ॥ ३३ ॥

अन्य प्रकार—

वि०—जिन शल्य में कर्ण[1] हो (जैसे भाला आदि) उनके कर्ण को (आघात से) तोड़कर या नाडीमुख से (तोड़कर) पकड़कर निकाले। जिन शल्यों में कर्ण न हों, व्रणमुख फैला हो और शल्य सीधी दिशा में हो तो उसे अयस्कान्त(चुम्बक) से खींच ले ॥ ३३ ॥

पक्काशयगतं शल्यं विरेकेण विनिर्हरेत् ॥ ३४ ॥
दुष्टवातविषस्तन्यरक्ततोयादि चूषणैः ।

स०—पक्वाशये स्थितं शल्यं विरेचनैर्विशेषेण निर्हरेत्। दुष्टवातादीनि चूषणैर्निर्हरेत्। चूषणैरिति बहुवचननिर्देशाच्छृङ्गादिभिरिति बोध्यम् ॥ ३४ ॥

पक्काशयगत शल्य का निकालना—

वि०—पक्काशय में पहुँचे शल्य को विरेचन से निकाले। दूषित वायु, विष-दूषित स्तन्य, दूषित रक्त, पानी आदि को सींग आदि से चूस कर निकाले ॥ ३४ ॥

कण्ठस्रोतोगते शल्ये सूत्रं कण्ठे प्रवेशयेत् ॥ ३५ ॥
बिसेनात्ते ततः शल्ये बिसं सूत्रं समं हरेत् ।

स०—कंठस्रोतःस्थे शल्ये सूत्रं कार्पासादिजं बिसेन कंठे प्रवेशयेत्। बिससंलग्नं सूत्रं कृत्वा शल्यनिर्हरणाय प्रवेशयेदित्यर्थः। आत्ते गृहीते शल्ये बिससंलग्नेऽनंतरं शल्यं बिससूत्रं समं तुल्यकालमाहरेत् ॥ ३५ ॥

कण्ठादिगत शल्य का निकालना—

वि०—गले में फँसे शल्य में रूई आदि के धागे को बिस के साथ (बिस-मृणाल) बाँधकर गले में डाले। जब शल्य धागे में फँस जाये तब सूत्र को बिस के साथ खींच ले ॥३५॥

नाड्याऽग्नितापितां क्षिप्त्वा शलाकामस्थिरीकृताम् ।
आनयेज्जातुषं कण्ठाज्जतुदिग्धामजातुषम् ॥ ३६ ॥

स०—जातुषे शल्ये कंठस्रोतःप्रविष्टे तज्जातुषं शल्यं कंठादानयेत्। कथमित्याह। शलाकां कंठे क्षिप्त्वा। कथम्। नाड्या नाडीयंत्रेण प्रक्षिप्य कंठदाहपरिहरणार्थम्। कीदृशं शलाकाम्। अद्भिः स्थिरीकृतां निर्वापणद्वारेण। तां तथाविधां शलाकां कृत्वा नाड्यैव जातुषं शल्यं कंठादानयेदाकर्षयेत्। जातुषमित्यत्र त्रपुजतुनोः षुगित्यण् षुगागमश्च। अजातुषं दारुवेण्वादिमयं शल्यं कंठस्रोतःस्थितं जतुदिग्धां लाक्षालिप्तां शलाकामग्नितापितां नाड्या क्षिप्त्वा पूर्ववदपहरेत्। जतुदिग्धामित्युपलक्षणार्थम्। सिक्थादिदिग्धामपि। यथा शलाकया हर्तुं प्रयुज्यते तथा कृत्वेति वेद्यम् ॥ ३६ ॥

लाक्षामयादि शल्य का निकालना—

वि०—लाख के बने या लाख जैसी वस्तु (मोम आदि) का कोई शल्य गले में फँसा हो तो अग्नि से तप्त शलाका को नालिका के अन्दर रखकर पहुँचाये। जब शल्य (पिघलकर) उस नलिका में फँस जाये तब जल से उसे (ठण्डा कर) स्थिर करके खींच ले। इसी प्रकार यदि लाख आदि का शल्य न हो तो गरम शलाका में लाख, मोम आदि लगाकर गले में ले जाये, शल्य जब उसमें चिपक जाये तब शलाका को खींच ले ॥ ३६ ॥

केशोन्दुकेन पीतेन द्रवैः कण्टकमाक्षिपेत् ॥ ३७ ॥
सहसा सूत्रबद्धेन वमतस्तेन चेतरत् ।

स०—कंटकं मत्स्यादिकमांससंगेन भुक्तं कंठस्रोतसि स्थितं द्रवैः पानीयादिभिः सह पीतेन। केशोंदुकेनाऽऽक्षिपेत्। केशानां समूहः केशोंदुकं तेन। किंभूतेन केशोंदुकेन। सूत्रबद्धेन सूत्रग्रथितेन। वमतो वमनमाचरतः। कंटकमेकदेशसक्तसूत्रं सहसैवाऽऽक्षिपेत्। एवं च वमनद्रव्यसंस्कृतैर्द्रवैः केशोंदुकं पातव्यमित्यवतिष्ठते। तेन कंटकेनेतरत् केशोंदुकं प्रमादपीतमाहरेत्। क्षतकंठश्च त्रिफलां मधुघृतसितोपेतामनुकंठं लिह्यात्। सुश्रुते चोक्तम्। अस्थिशल्यमन्यद्वा तिर्यक्कंठासक्तमवेक्ष्य केशोंदुकं दृढैकसूत्रबद्धं द्रवभक्तोपहितं पाययेदाकंठाच्च पूर्णकोष्ठं वामयेद्वमतश्च शल्यैकदेशसक्तं ज्ञात्वा सूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत्। मृदुना वा दंतधावनकूर्चकेनापहरेत् प्रणुदेद्वेति ॥ ३७ ॥

कण्ठगत मत्स्यकण्टकादि शल्य का निकालना—

वि०—मछली आदि का कोई काँटा गले में फँस गया हो तो बालों की गुच्छी को एक लम्बे धागे में बाँधकर वामक द्रव्ययुक्त द्रव के साथ निगला देना चाहिये। फिर वमन होने पर बालों की गुच्छी को अकस्मात् खींचने से शल्य निकल जायेगा।

इसी प्रकार गले में फँसी केशोन्दुक (बालों की गुच्छी आदि) को द्रव के साथ काँटा निगलाकर उसमें फँसाकर निकाले।

(यदि गले में क्षत हो जाये तो त्रिफला को मधु, घी, चीनी के साथ मिलाकर धीरे-धीरे निगलते हुए चाटे) ॥३७॥

---

[1] कुछ शस्त्रों में फलक के पीछे छोटे अंकुश की सी रचना होती है जो शल्य को निकालने में अवरोधक होती है, उसी को 'कर्ण' कहते हैं ।

अशक्यं मुखनासाभ्यामाहर्तुं परतो नुदेत् ॥ ३८ ॥

स०—मुखनासगतं शल्यं मुखनासाभ्यामाक्रष्टुमशक्यमाहर्तुं यन्न शक्यते तत्परतो नुदेत्प्रकृतत्वान्मुखात् परतो नासायाश्च परतः। तस्माद्येन केनचिदुपायेन कोष्ठं नयेदिति गम्यते ॥ ३८ ॥

मुख-नासागत शल्य का निकालना—

वि०—मुख या नासा का शल्य जो मुख या नासा से खींचा न जा सके, उसे आगे ढकेल देना ॥ ३८ ॥

अप्पानस्कन्धघाताभ्यां ग्रासशल्यं प्रवेशयेत् ।

स०—ग्रासः शल्यमिव ग्रासशल्यं कंठासक्तमंतःकोष्ठांतं नयेत्। कथम्। अपां पानमप्पानं तेन। तथा स्कंधघातेन। स्कंधस्य मुष्ट्यादिना हननं स्कंधघातः।

कण्ठगत ग्रासशल्य का निकालना—

वि०—भोजन का शल्य (रोटी आदि) गले में फँसा हो तो उसे पानी पिलाकर या स्कन्ध आदि पर मुक्के से मार कर अन्दर प्रविष्ट करे।

सूक्ष्माक्षिव्रणशल्यानि क्षौमवालजलैर्हरेत् । ३९ ।

स०—अक्षिणी च व्रणश्च तत्र शल्यान्यक्षिव्रणशल्यानि सूक्ष्माणि च तान्यक्षिव्रणशल्यानि च सूक्ष्माक्षिव्रणशल्यानि तानि क्षौमादिभिर्निर्हरेत्। योग्यतावशात् कदाचित् क्षौमेन कौशेयेन कदाचिद्वालेन कदाचिज्जलेन च निर्हरेत् ॥ ३९ ॥

नेत्र-व्रणादिगतसूक्ष्म शल्य का निकालना—

वि०—आँख में या व्रण में कोई सूक्ष्म शल्य हो तो उसे रेशम से, बाल से अथवा जल से पोंछकर या साफ करके निकाले ॥ ३९ ॥

नदीतडागादिपतितस्याऽकस्मान्नरस्यावश्यं यज्जलमंतरे प्रविशेत्तज्जलं शल्यवदंतः स्थितं निर्हार्यमिति तदुपायं दर्शयितुमाह—

अपां पूर्णं विधुनुयादवाक्शिरसमायतम् ।
वामयेच्चासुखं भस्मराशौ वा निखनेन्नरम् ॥ ४० ॥

स०—अपां पूर्णं नरं विधुनुयात्। किंभूतम्। अवाक्शिरसमवागधः शिरो मूर्धा यस्य तम्। तथा आयतं दीर्घं कृत्वा। तथा तं नरं वामयेद्वैद्यः। अथवा आमुखं मुखं यावद्भस्मराशौ न्यसेत्। तथोक्तम्। उदकपूर्णस्य चक्राद्यारोपणेनोदकनिःसारः कार्य इति ॥ ४० ॥

नद्यादि में डूबने से उदरगत जलशल्य का निकालना—

वि०—पानी पीये हुए (डूबने से या अन्य रूप में) मनुष्य का शिर नीचा करके लम्बा लटकाये, खूब हिलाये, वमन कराये तथा मुख तक राख के ढेर में गाड़ देवे ॥ ४० ॥

कर्णेऽम्बुपूर्णे हस्तेन मथित्वा तैलवारिणी ।
क्षिपेदधोमुखं कर्णं हन्याद्वाऽऽचूषयेत वा ॥ ४१ ॥

स०—कर्णेऽम्बुना पूर्णे सति तैलवारिणी क्षिपेत्। किं कृत्वा। हस्तेन मथित्वा विलोड्य। तथाऽधोमुखं कर्णं हन्याद्वा। अथवा चूषयेच्छृङ्गादिभिः ॥ ४१ ॥

कर्णगत जलरूप शल्य का निकालना—

वि०—कान में पानी भर जाने पर—तैल और पानी को हाथ से मथ कर कान में डाल देवे। मुख को (कान की ओर) नीचा करके दूसरे कान पर हल्की चोट करे (इस प्रकार जल निकल जायगा)। अथवा सींग आदि से पानी को चूस ले ॥ ४१ ॥

कीटे स्रोतोगते कर्णं पूरयेल्लवणाम्बुना ।
शुक्तेन वा सुखोष्णेन मृते क्लेदहरो विधिः ॥ ४२ ॥

स०—कीटे पिपीलिकाशतपद्यादौ स्रोतःस्थिते तोदगौरववेदनादिभिरनुमिते कर्णं लवणांबुना पूरयेत्। अथवा शुक्तेन पूरयेत्। किंभूतेन। सुखोष्णेन। मृते पुनस्तस्मिन् कीटे क्लेदहरो विधिः कार्यः ॥ ४२ ॥

कान से कीड़ा निकालना—

वि०—चींटी आदि कीट यदि कान के स्रोत में पहुँच जायें तो कान को नमक के पानी से या शुक्त से अथवा गरम पानी से भर देवे। कीड़े के मर जाने पर मैल के समान निकालने का उपचार करना चाहिये ॥ ४२ ॥

जातुषं हेमरूप्यादि धातुजं च चिरस्थितम् ।
ऊष्मणा प्रायशः शल्यं देहजेन विलीयते ॥ ४३ ॥

स०—जातुषादिशल्यं देहजेनोष्मणा चिरं स्थितं प्रायशो विलीयते ॥ ४३ ॥

जातुषादि शल्य का शरीर की गर्मी से नाश—

वि०—लाख—स्वर्ण, चाँदी आदि धातु के शल्य देर तक शरीर में रहने पर शरीर की गर्मी से प्रायः घुल जाते हैं ॥४३॥

मृद्वेणुदारुशृङ्गास्थिदन्तवालोपलानि न ।
विषाणवेण्वयस्तालदारुशल्यं चिरादपि ॥ ४४ ॥
प्रायो निर्भुज्यते तद्धि पचत्याशु पलासृजी ।

स०—मृद्वेणुदार्वादिशल्यं देहोष्मणा न विलीयते। उपलशब्दस्य नपुंसकत्वं चिंत्यम्। विषाणादिशल्यं प्रायो देहजेनोष्मणा न विलीयते। अपि निर्भुज्यते पृथग्भवति। चिरादपि न पच्यते। कुत इत्याह। तद्यस्माद्विषाणादिशल्यं शीघ्रमेव पलासृजी पचति। अतो मांसरक्तपाकाद्देहजेन चोष्मणा प्रायो निर्भुज्यते ॥ ४४ ॥

मिट्टी, बाँस आदि शल्य का स्वयं निकालना—

वि०—मिट्टी, बाँस, लकड़ी, सींग, अस्थि, दाँत, बाल, पत्थर इनके शल्य शरीर में विलीन नहीं होते। सींग, बाँस, लोहा, ताल (काँच), लकड़ी इनके शल्य देर तक रहने से प्रायः करके शरीर धातु या अंग से पृथक् हो जाते हैं क्योंकि ये मांस और रक्त को शीघ्र पचा देते हैं। (कभी-कभी मांस और रक्त के पकने से पूय के साथ शल्य बाहर आ जाता है अन्यथा विद्रधि की चिकित्सा में शस्त्र-कर्म के द्वारा शल्य भी आसानी से निकल जाता है) ॥ ४४ ॥

शल्ये मांसावगाढे चेत्स देशो न विदह्यते ॥ ४५ ॥
ततस्तं मर्दनस्वेदशुद्धिकर्षणबृंहणैः ।

तीक्ष्णोपनाहपानान्नघनशस्त्रपदाङ्कनैः ॥ ४६ ॥
पाचयित्वा हरेच्छल्यं पाटनैषणभेदनैः ।

स०—मांसावगाढे मांसांतर्निगूढे शल्ये सति यदि स देशो न विदह्यते पच्यते । यत्र तु तिष्ठति शल्यं ततस्तं मर्दनेन स्वेदेन वा कदाचित् शुद्ध्या वमनादिकया कदाचित्कर्षणेन कदाचिद्बृंहणेन कदाचित्तीक्ष्णोपनाहेन कदाचित्तीक्ष्णान्नपानेन । तीक्ष्णशब्दस्य प्रत्येकं संबंधः । कदाचिद्घनशस्त्रपदांकनैः । शस्त्रस्य पदानि । घनानि संहतानि च तानि शस्त्रपदानि च तेषामंकनं लक्षणं तैः मर्दनादिभिरेकेन द्वाभ्यां सर्वैर्वा यथाक्रमं पूर्वं शल्यं पाचयित्वा ततः पाटनैर्व्रणभेदनैर्हरेत् ॥ ४५-४६ ॥

मांस में छिपे शल्य का निकालना—

वि०—यदि मांस के अन्दर गहरा छिपा होने से शल्य का स्थान स्वयं न पके तो उसके लिये मर्दन, स्वेदन, वमनादि कर्म, कृशता करना, बृंहण करना, तीक्ष्ण उपनाह, तीक्ष्ण खान-पान, पास-पास में गहरा पोछना आदि कर्म करके उसे पकाये । पकाने पर पाटन, एषण और भेदन क्रिया से शल्य को निकाले ॥ ४५-४६ ॥

शल्यप्रदेशयन्त्राणामवेक्ष्य बहुरूपताम् ॥ ४८ ॥
तैस्तैरुपायैर्मतिमान् शल्यं विद्यात्तथाऽऽहरेत् ।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने शल्याहरण-
विधिर्नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

स०—शल्यानि धातुविषाणवेण्वादिजानि । प्रदेशास्त्वङ्मांसादयः । यंत्राणि स्वस्तिकादीनि । तेषां बहुरूपतामवेक्ष्य नानाकारतां ज्ञात्वा तैस्तैरुपायैरुक्तानुक्तैर्विज्ञानसाधनैः कारणैर्मतिमान् भिषक् जानीयात् शल्यं तथाऽऽकर्षेदिति । संग्रहे चोक्तम् । व्रणे प्रसन्ने प्रांतेषु नातिस्पर्शासहिष्णुषु । अल्पे शोफे च तापे च निःशल्यमिति निर्दिशेदिति शल्याहरणविधिः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचिताया-
मष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुन्दराख्याया-
मष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

शल्य निकालने में ज्ञान—

वि०—शल्य की, स्थान की तथा यन्त्रों की अनेकरूपता को देखकर बुद्धिमान वैद्य यथायोग्य साधनों से शल्य को जाने और निकाले ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—निःशल्य का लक्षण—'व्रणे प्रसन्ने प्रान्तेषु नातिस्पर्शासहिष्णुषु । शल्ये शोफे च तापे च निःशल्यमिति निर्दिशेत् ॥' (संग्रह सू. अ. ३७)

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का शल्याहरणविधि नामक अट्ठाइसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अस्मादनंतरं शस्त्रकर्मविध्यध्यायः प्रस्तूयते । यतोऽनंतरातीतेऽध्याये शस्त्रेण वा विशस्यादावित्युक्तमतस्तस्यैव शस्त्रकर्मणो विधानं वक्तुं युक्तमित्याह—

अथातः शस्त्रकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

स०—शस्त्रस्य कर्म शस्त्रकर्म शस्त्रावधारणाय क्रिया तस्य विधिरितिकर्तव्यता शस्त्रकर्मविधिस्तम् । शेषं पूर्ववत् ।

वि०—अब इसके आगे शस्त्रकर्मविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

अथ ग्रन्थारम्भे निर्दिष्टुं युक्तस्यापि शस्त्रविधेः पश्चाद्यद्ययं शस्त्रकर्मविधिस्ततः शस्त्रकर्मग्रन्थ एवाऽऽदौ निर्देष्टुं युक्तः प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदन्नमातुरमित्यादि न तु व्रणः संजायते प्राय इत्यादि तत्रोच्यते । शस्त्रकर्मविधेः पूर्वं विषयो निर्देष्टुं युक्तो यः शस्त्रकर्मविधेरुपाय इत्यस्यैव पूर्वमुपन्यासो युक्त इत्याह—

व्रणः सञ्जायते प्रायः पाकाच्छ्वयथुपूर्वकात् ।
तमेवोपचरेत्तस्माद्रक्षन् पाकं प्रयत्नतः ॥ १ ॥
सुशीतलेपसेकास्रमोक्षसंशोधनादिभिः ।

स०—प्रायो व्रणः पाकात्संजायते । किंभूतात् श्वयथुः पूर्वो यस्य पाकस्य स श्वयथुपूर्वकस्तस्मात् । श्वयथुपाकमंतरेणाऽपि शस्त्राद्यभिघाताद्व्रणो जायत इति प्रायोग्रहणम् । यस्माच्छ्वयथुपूर्वकात्पाकाद्व्रणः संजायतेऽतस्तमेव श्वयथुमुपचरेदुपक्रमेत् । किंकुर्वन् । पाकं प्रयत्नेन रक्षन् । कथम् । सुशीतलेपादिभिः सुशीताभ्यां स्पर्शतो वीर्यतश्च लेपसेकाभ्यां तथाऽस्रमोक्षणेन तथा संशोधनेन वमनेन विरेचनेन वा । आदिग्रहणात्कषायपानघृतपानादीनां ग्रहणम् ॥ १ ॥

सूजन की चिकित्सा—

वि०—प्रायः करके व्रण पाक से उत्पन्न होता है; पाक से भी पहले सूजन होती है; इसलिये पहले शोथ की ही चिकित्सा करे और जहाँ तक सम्भव हो पाक से बचाये । इसके लिये अतिशीतल लेप, शीतल परिषेक; रक्तमोक्षण, वमन-विरेचन आदि वरते ॥ १ ॥

तस्य च शोफस्याऽऽमपच्यमानपाकाख्या अवस्थास्तिस्रो भवंतीत्याह—

शोफोऽल्पोऽल्पोष्मरुक् सामः सवर्णः कठिनः स्थिरः ॥२॥

स०—आमो यः शोफः सः प्रमाणतोऽल्पस्तथाऽल्पोष्णस्तथाऽल्परुगल्पशूलस्तथा सवर्णस्त्वक्समानवर्णस्तथा कठिनो न मृदुः पक्ववत्तथा स्थिरो न पक्ववच्चलः । स आमः साम इति सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणमिति सुलोपः ॥ २ ॥

आम शोफ का लक्षण—

वि०—अपक्व शोथ-प्रमाण में थोड़ा, थोड़ी उष्णता वाला, थोड़ी वेदना युक्त, त्वचा के समान वर्ण वाला; कठिन और स्थिर (पूय न होने से गतिहीन अथवा धीरे से बढ़ने वाला) होता है ॥ २ ॥

पच्यमानो विवर्णस्तु रागी वस्तिरिवाततः ।
स्फुटतीव सनिस्तोदः साङ्गमर्दविजृम्भिकः ॥ ३ ॥
संरम्भारुचिदाहोषातृड्ज्वरानिद्रतान्वितः ।
स्त्यानं विष्यन्दयत्याज्यं व्रणवत्स्पर्शनासहः ॥ ४ ॥

स०—सशोफः पच्यमानो विवर्णो न त्वक्समानवर्णः । तथा रागी लोहितवर्णः । तथा बस्तिरिवाततस्तब्धो वातपूर्णदृतिवत् । छागादीनां मूत्राधारो बस्तिरित्युच्यते । तथा स्फुटतीव सनिस्तोदः सह निस्तोदेन वर्तते सनिस्तोदः । नियतप्रबन्धप्रवृत्ता रुड् निस्तोदो भेदो विच्छिन्ना तु शूलमित्युच्यते । सांगेत्यादि । अंगानां मर्दः क्षोभः सहांगमर्दविजृंभिकाभ्यां वर्तते सांगमर्दविजृंभिकः । तथा संरंभादिभिर्युतः । अन्वितशब्देन प्रत्येकं संरंभादीनां संबंधः । संरभो वाग्विषयातीतानां स्वसंवेद्यानामनेकरूपाणां सांगपीडनविघट्टनच्छेदनदंशनादीनां रुजां प्रादुर्भावः । सर्वांगीणस्तीव्रो दाहः । अरतिमान् दाह उषा उच्यते । तथा स पच्यमानो घृतं स्त्यानमुपयुक्तं विलीनयति । तथा स्पर्शनं न सहते व्रणवत् ॥ ३-४ ॥

पच्यमान शोफ का लक्षण—

वि०—पच्यमान शोथ—(वही अपक्व शोथ जब पकने लगता है), तब विवर्ण; रक्तवर्ण; भरी बस्ति के समान फैला होता है । इसमें फटने के समान या चुभने के समान वेदना रहती है । अंगमर्द; जम्भाई का आना; अनेक प्रकार की (पीडन, विघट्टन, छेदन, भेदन आदि) वेदनाओं का उत्पन्न होना; अरुचि, दाह, आँच, प्यास तथा ज्वर होता है । इस शोथ पर यदि जमा घृत रखें तो वह पिघल जाता है; एवं व्रण की भाँति यह स्पर्श का सहन नहीं करता है । (निस्तोद-वेदना का लगातार बना रहना; शूल रह-रह कर दर्द होना) ॥ ३-४ ॥

पक्वेऽल्पवेगता म्लानिः पाण्डुता वलिसम्भवः ।
नामोऽन्तेषून्नतिर्मध्ये कण्डूशोफादिमार्दवम् ॥ ५ ॥
स्पृष्टे पूयस्य सञ्चारो भवेद्वस्ताविवाम्भसः ।

स०—पक्वे सत्यल्पवेगता भवति नतु संरंभः । तथा ग्लानिर्म्लानत्वम् । तथा पांडुत्वम् । वलीनां चोद्भवः । तथांऽतेषु पर्यंतेषु नामो निम्नत्वं मध्य उन्नतिः । नामोंऽतेष्वित्युक्त्यैव मध्य उन्नतत्वं लब्धमेव पुनरुन्नतित्वग्रहणं त्वतिशयार्थम् । तेनोत्तुंगत्वं गम्यते । तथा कंड्वादिमृदुत्वं स्यात् । तथा स्पृष्टे तस्मिन् सति पूयस्य संचारो भवति । वस्तेरंतःस्थितस्य यथांऽभसः संचारः ॥ ५ ॥

पके हुए शोफ का लक्षण—

वि०—शोथ के पक जाने पर-उपद्रवों की कमी, ग्लानि (ग्लानि मुरझाना—लाली में कमी आना); पाण्डुता; झुर्रियों का उत्पन्न होना; किनारों पर से दबना और मध्य से ऊपर को उठना, कण्डू-सूजन आदि का कम हो जाना; छूने पर बस्ति में भरे पानी की भाँति पूय की गति दीखती है अर्थात् तरंग या लहर सी चलती है ॥ ५ ॥

शूलं नर्तेऽनिलाद्दाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात् ॥ ६ ॥
रागो रक्ताच्च पाकः स्यादतो दोषैः सशोणितैः ।

स०—अनिलं विना शूलं न भवति । पित्तमंतरेण दाहो न स्यात् । कफोदयाद्विना शोफो न स्यात् । शोफः कफादिति वक्तव्य उदयग्रहणं विशेषद्योतनार्थम् । रक्तादृते रक्तं विना रागस्य लौहित्यस्य संभवो न । तेन कफाधिकैः सर्वैर्दोषैः शोणितसहितैः श्वयथुपाकः स्यादिति गम्यते ॥ ६ ॥

शूलादि का कारण—

वि०—वायु के विना शूल नहीं; पित्त के बिना दाह नहीं, कफ के बिना सूजन नहीं, तथा रक्त के विना लालिमा नहीं हो सकती । इसलिये रसयुक्त सब दोषों के योग से पाक होता है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में इसको दो मतों से कहा है—यथा—'कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं, कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य । पचत्यतः शोणितमेव पाको मतोऽपरेषां विदुषां द्वितीयः ॥' सु. सू. अ. १७।८ । अर्थात् समय पाकर बढ़ा हुआ पित्त, वायु और कफ को दबा कर रक्त को पकाता है, किन्तु कुछ लोग यह मानते हैं कि रक्त ही पकाता है ।

पाकेऽतिवृत्ते सुषिरस्तनुत्वग्दोषभक्षितः ॥ ७ ॥
बलीभिराचितः श्यावः शीर्यमाणतनूरुहः ।

स०—पाके चातिवृत्तेऽतिक्रांते सुषिरोंऽतस्थः शोफदेशः संपद्यते । तथा तनुस्त्वगस्मिन् स तनुत्वक् । तथा दोषभक्षितः । दोषशब्देनेह पूय उच्यते । तेन भक्षितत्वात्सुषिरत्वं तनुत्वक्त्वं चाऽस्य । तथा बलीभिराचितो व्याप्तः । तथा श्यामवर्णः । तथा शीर्यमाणतनूरुहः पतद्रोमा ॥ ७ ॥

अत्यन्त पाक में छिद्रादि होना—

वि०—अतिशय पाक होने पर—माँस आदि पूय से खाये जाने अर्थात् पूय रूप में परिणत हो जाने से शोथ खोखला हो जाता है; त्वचा पतली हो जाती है; झुर्रियों से भर जाता है; रङ्ग काला हो जाता है; और रोम गिरने लगते हैं ॥ ७ ॥

कफजेषु तु शोफेषु गम्भीरं पाकमेत्यसृक् ॥ ८ ॥
पक्वलिङ्गं ततोऽस्पष्टं यत्र स्याच्छीतशोफता ।
त्वक्सावर्ण्यं रुजोऽल्पत्वं घनस्पर्शत्वमश्मवत् ॥ ९ ॥
रक्तपाकमिति ब्रूयात्तं प्राज्ञो मुक्तसंशयः ।

स०—यद्यपि त्रिभिरेव दोषैः शोणितान्वितैः पाको जायते तथाऽपि कफजेष्वित्युक्तेरधिकतरकफेष्विति गम्यते ।

कफजेष्विति बहुवचननिर्देशाद्देहदेशबहुत्वाद्येषु देहदेशेषु कफो जायते तेषु कफजेषु शोफेषु गंभीरं दुर्लक्ष्यमतिशयेनांतर्निगूढत्वादसृक् पाकमेति। अत एव पक्वलिंगं पक्वलक्षणमस्पष्टं दुर्लक्ष्यं स्यात्। यत्र शीतगुणयोगाच्छीतश्चासौ शोफश्च तस्य भावः शीतशोफता। तथा त्वक्समानवर्णत्वम्। तथा रुजः स्तोकत्वम्। तथा घनस्पर्शत्वं निविडस्पर्शता स्यादश्मवत्। हस्तादिना स्पृष्टे पाषाणतुल्यः स्पर्श उपलभ्यते। तं तथाभूतं श्वयथुपाकं रक्तपाकमित्येवं प्राज्ञो धीमान् ब्रूयान्न तु शोफं पक्वमिति कथयेत्। कथम्। मुक्तसंशयः शोणितपाको नाऽत्र शोफ इत्येवं वदेदित्यर्थः ॥ ८–९ ॥

रक्तपाक का लक्षण—

वि०—रक्तपाक—कफजन्य शोफों में (त्वचा-मांस आदि का पाक नहीं होता—अपितु) रक्त का गहराई में पाक होता है; इसलिये इस शोफ में पकने के लक्षण अस्पष्ट रहते हैं। इसलिये जिस शोफ में शीतलता, त्वचा के समान वर्ण; वेदना की न्यूनता; तथा पत्थर के समान कठोर स्पर्श का अनुभव हो, उस शोथ को बुद्धिमान् वैद्य बिना सन्देह के रक्तपाक तथा अप्रमाद (सूझबूझ) ये कहे, पक्व शोथ नहीं ॥ ८–९ ॥

अल्पसत्त्वेऽबले बाले पाकाद्वाऽत्यर्थमुद्धते ॥ १० ॥
दारणं मर्मसन्ध्यादिस्थिते चान्यत्र पाटनम्।

स०—अल्पसत्त्वे सति तथा दुर्बले तथा बाल एतेषु जाते श्वयथौ तथा पाकाद्वात्यर्थमुद्धतेऽतिक्रांते च श्वयथौ दारणं कार्यं व्रणप्रतिषेधदृष्टैर्दारणद्रव्यैः यथा गुग्गुल्वतसिगोदंतस्वर्णक्षीरीकपोतविट्। क्षारौषधानि क्षाराश्च पक्वशोफविदारणमिति न केवलमल्पसत्त्व इत्यादिके श्वयथौ दारणं कार्यं यावन्मर्मसंध्यादिस्थितेऽपि। पाटनं शस्त्रेण। अन्यत्रेति दारणविषयानिर्दिष्टे स्थाने शस्त्रेण पाटनं कार्यम् ॥ १० ॥

निर्बलादि के पाक का दारणादि—

वि०—दुर्बल मन (छोटे दिल), दुर्बल, बालक, अथवा अतिशय पाक हो जाने पर या मर्म-सन्धि आदि में शोफ होने पर (जहाँ शस्त्र लगाना युक्तिपूर्वक न हो) क्षार आदि से दारण (मुख बनाना या फोड़ना) करना चाहिये; अन्य अवस्थाओं में शस्त्र से पाटन (चीरा देकर मुख बनाना) करे ॥ १० ॥

आमच्छेदे सिरास्नायुव्यापदोऽसृगतिस्रुतिः ॥ ११ ॥
रुजोऽतिवृद्धिर्दरणं विसर्पो वा क्षतोद्भवः।

स०—आमस्य शोफस्य शस्त्रेण छेदे सति सिरास्नायुव्यापदो भवन्ति। तथाऽसृजोऽतिस्रावः स्यात्। तथा रुजाया अतिवृद्धिस्तथा विदरणं विसर्पो वा क्षतोत्थः स्यात् ॥ ११ ॥

अपक्व शोफ के छेदन से उपद्रव—

वि०—आम—अपक्व शोथ के काटने से सिरा और स्नायु के विकार, रक्त का अधिक बहना, दर्द का बढ़ना, त्वचा-मांस आदि का फटना, तथा क्षतजन्य विसर्प होता है ॥ ११ ॥

तिष्ठन्नतः पुनः पूयः सिरास्नाय्वसृगामिषम् ॥ १२ ॥
विवृद्धो दहति क्षिप्रं तृणोलपमिवानलः।

स०—अंतरंतरे तु पूयस्तिष्ठन् सन् सिरादीन् दहति। कः कमिव। अनलस्तृणोलपमिव ॥ १२ ॥

भीतर बचे हुए पीब से हानि—

वि०—शोफ के अन्दर रही पूय बढ़ कर सिरा, स्नायु रक्त और माँस को जल्दी से जला (नष्ट कर) देती है, जिस प्रकार तिनकों के ढेर के अन्दर की अग्नि तिनकों को जला देती है। अपक्व में छेदन तथा पक्व में उपेक्षा करनेवाले वैद्य की निन्दा— ॥ १२ ॥

यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते ॥ १३ ॥
श्वपचाविव विज्ञेयौ तावनिश्चितकारिणौ।

स०—यः पुरुषोऽज्ञानान्मोहादामं छिनत्ति। योऽपि पक्वमुपेक्षते न पाटयति। तौ नरौ श्वपचतुल्यावातुरव्यापादनात्। तद्व्यापादनं तु कुतो विधत्त इत्याह। अनिश्चितकारिणावसमीक्ष्यविधायिनौ यतः ॥ १३ ॥

वि०—अज्ञान के कारण जो अपक्व को काटता है अथवा पक्व की उपेक्षा करता है; इन दोनों को ही सोचकर काम न करने के कारण अथवा उनके कर्म का परिणाम निश्चित न होने के कारण चाण्डाल की भाँति समझना चाहिये—इनसे दूर ही रहना चाहिये ॥ १३ ॥

प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदन्नमातुरम् ॥ १४ ॥
पानपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनाक्षमः।
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते ॥ १५ ॥

स०—शस्त्रकर्मणः प्राक् पूर्वमातुरमिष्टमन्नं यद् व्रणेऽपथ्यमपि तद्बलाधानार्थं भोजयेत्। तथा यो वेदनाक्षमः शस्त्रव्यथामसहिष्णुस्तमातुरं मद्योचितं तीक्ष्णं तीव्रमदं मद्यं पाययेत्। एवं सति यत्स्यात्तदाह—न मूर्छत्यन्नसंयोगादन्नोपयोगान्न मुह्यति। तीक्ष्णमद्यपानान्मत्तः सन् शस्त्रं न्यस्तमंगे न बुध्यते। न चेतयते। तत्कदर्थनया न कंपत इत्यर्थः ॥ १४–१५ ॥

शस्त्रप्रयोग के पहले कर्त्तव्य—

वि०—शस्त्र-कर्म करने से पूर्व रोगी को प्रिय अन्न खिलाना चाहिये। मद्य पीने वाला जो वेदना का सहन न कर सके उसे तीक्ष्ण मद्य पिलाये। अन्न के उपयोग से रोगी को घातक मूर्च्छा नहीं आती और नशे में होने से शस्त्र का अनुभव नहीं करता ॥ १४–१५ ॥

अन्यत्र मूढगर्भाश्ममुखरोगोदरातुरात्।

स०—अश्मशब्देनाश्मरी गृह्यते। मूढगर्भादिभिर्य आतुरस्तं वर्जयित्वेष्टभोजनं मद्यपानं च कारयितव्यम्।

मूढगर्भादि में उक्त कर्म का निषेध—

वि०—अपवाद—मूढगर्भ, अश्मरी, मुखरोग और उदर

रोग के शस्त्रकर्म में रोगी को मद्य या अन्न नहीं देना चाहिये।

अथाहृतोपकरणं वैद्यः प्राङ्मुखमातुरम् ॥ १६ ॥
सम्मुखो यन्त्रयित्वाऽऽशु न्यस्येन्मर्मादि वर्जयन्।
अनुलोमं सुनिशितं शस्त्रमापूयदर्शनात् ॥ १७ ॥
सकृदेवाहरेत्तच्च—

स०—अथशब्देन मंगलवाचिना संग्रहोक्तमर्थं सूचयति। यथा सुमुहूर्ते च दध्यक्षतान्नपानरुक्मरत्नार्चितविप्रं प्रणतेष्टदेवतमित्यादि आहृतं ढौकितं समीपानीतमुपकरणं तत्कालयोग्यं यन्त्रशस्त्राग्निजांबवौष्ठपिचुप्लोतस्नेहनमधुकल्कादिकं यस्य तमातुरं प्राङ्मुखं पूर्वाभिमुखं वैद्यः संमुखः प्रत्यङ्मुखो यन्त्रयित्वा "शस्त्रमाशु न विलंबितं न्यस्येन्निक्षिपेत्। मर्मादि वर्जयन् मर्मसिरासंध्यादीन् परिहरन्। तथाऽनुलोमं कृत्वा न प्रातिलोम्येन। किंभूतं शस्त्रम्। सुनिशितमतितीक्ष्णम्। तच्च शस्त्रमापूयदर्शनादाहरेन्न त्वधिकं तत्रैव स्थाप्यम्। तच्च सकृदेव न बहून् वारान्न्यस्येत् ॥ १६–१७ ॥

शस्त्र कर्म की विधि—

वि०—शस्त्रकर्म विधि—शस्त्रकर्म के लिये उपयोगी सब साधनों को जुटाकर वैद्य रोगी को पूर्व दिशा की ओर मुख करके बिठाये और अपने आप उसके सामने (पश्चिम की ओर मुख करके) होकर रोगी का भली प्रकार नियन्त्रण करके मर्म आदि को बचाते हुए जल्दी से अनुलोम रूप में तेज धार वाले शस्त्र को एक ही बार में पूय के दीखने की गहराई तक लगाये ॥ १६–१७ ॥

—पाके तु सुमहत्यपि।
पाटयेद् द्व्यङ्गुलं सम्यग्द्व्यङ्गुलत्र्यङ्गुलान्तरम् ॥ १८ ॥
एषित्या सम्यगेषिण्या परितः सुनिरूपितम्।
अङ्गुलीनालवालैर्वा यथादेशं यथाशयम् ॥ १९ ॥
यतो गतां गतिं विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च।
तत्र तत्र व्रणं कुर्यात्सुविभक्तं निराशयम् ॥ २० ॥
आयतं च विशालं च यथा दोषो न तिष्ठति।

स०—पाके तु सुमहत्यपि पाटयेत् द्व्यङ्गुलं द्व्यङ्गुलपरिमाणं व्रणं सम्यक्कुर्यान्नाधिकम्। द्व्यंगुलेत्यादि अंगुलद्वयमथवांऽगुलत्रयमंतरीकृत्य पुनरन्यं व्रणं कुर्यान्न त्वासन्नम्। तथैषिण्या सम्यगेषित्वा परितः समंतात्सुनिरूपितं सुपर्यालोचितम्। न केवलमेषिण्या यावदंगुल्या नालेन पद्मोत्पलादिजेन बालैर्वा वराहादिसंबंधिभिरन्वेष्य यथादेशं यथाशयं व्रणं कुर्यात्। तं च प्रदेशं दर्शयितुमाह—यतो यस्मिन्प्रदेशे गतां दूरयातां गतिं नाडीं जानीयात्तस्मिन् प्रदेशे व्रणं कुर्यात्। यत्र यत्र श्वयथप्रदेश उत्संगमुन्नतिं विद्यात्तत्र तत्र प्रदेशे व्रणं कुर्यात्। किंभूतं व्रणम्। सुष्ठु विभक्तौ पार्श्वापरपार्श्वादिविभागौ यस्य तं तथाविधम्। तथा निराशयम्। न विद्यत आशयः पूयादेर्दोषस्य स्थानं यस्य तथाभूतं निराशयं कुर्यात् तथाऽऽयतं दीर्घम्। तथा विशालं विस्तीर्णं कुर्यात्। एवं कृते सति दोषः पूयाख्यो न तिष्ठति न संस्थानं लभते ॥ १८–२० ॥

वि०—पाटन प्रमाण—बहुत बड़ा पाक होने पर भी दो अङ्गुल से अधिक लम्बा चीरा नहीं देना चाहिये। ऐसी अवस्था में दो या तीन अङ्गुल के अन्तर से दूसरा व्रण (चीरा) कर लेना चाहिये (समीप में व्रण न करे) एषणी के द्वारा भली प्रकार ढूँढकर चारों ओर भली प्रकार देखकर अथवा अङ्गुली या नाल अथवा बाल से जैसा स्थान हो और जैसा आशय हो—उसके अनुसार अङ्गुली आदि से भली प्रकार देखकर—जहाँ-जहाँ भी गति (मार्ग) दिखाई देवे और जहाँ-जहाँ पर उभार या पूय सञ्चय दीखता हो वहाँ वहाँ पर अच्छी प्रकार विभक्त हुआ तथा पूयादि आशय से रहित व्रण को बनाये। व्रण-लम्बा और फैला हुआ करे, जिससे कि व्रण में पूय रूपी दोष न रहे। उत्सङ्ग = मुख्य पूय सञ्चय स्थान के अतिरिक्त पूय-सञ्चय के छोटे स्थान जिसे जिसे अंग्रेजी में 'पस पाकेट्स' (Pus pockets) कहते हैं ॥ १८–२० ॥

शौर्यमाशुक्रिया तीक्ष्णं शस्त्रमस्वेदवेपथू ॥ २१ ॥
असम्मोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते।

स०—वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि पाटनादौ शौर्यं धैर्यं शस्यते। तथा आशुक्रिया चतुरहस्तता। तथा तीक्ष्णं शस्त्रम्। तथा स्वेदश्च वेपथुश्च न विद्यमानौ तौ यस्य स एवम्। स्वेदाभावः कंपाभावश्चेत्यर्थः। असंमोहस्तत्कालोचितकार्यकरणे सम्यक्प्रवृत्तिः। ननु शौर्यं वैद्यस्य शस्यत इत्युक्त्यैव स्वेदकंपाभावः प्रत्यपादि। तथा च स्वेदवेपथू भीरोरेव संभवतो न शूरस्येत्यनर्थकमस्वेदवेपथुरिति। अत्राचक्ष्महे। सत्यमेवैतौ भीरुगुणौ किंतूष्णकालवशात् प्रकृतिवशाद्वा यस्य स्वेदो वेपथुश्च भवतस्तत्परिहारार्थमेतदुक्तम्। सस्वेदस्य हि वैद्यस्य शस्त्रकर्म कर्तुमुद्यतस्य शस्त्रग्रहणमेव न तथा संपद्यते तद्वत्सकंपस्यापि। तस्मात्तत्परिहारो युक्तः ॥ २१ ॥

शस्त्रकर्म में वैद्य के शौर्यादि की प्रशंसा—

वि०—शस्त्रकर्म में वैद्य में शौर्य, शीघ्रकारिता (चतुर हाथ), शस्त्र का तीक्ष्ण होना, पसीना और कम्पन (घबराहट) का न होना तथा अप्रमाद (सूझ-बूझ) ये गुण (शस्त्रकर्म के लिये वैद्य में होने आवश्यक हैं) ॥ २१ ॥

तिर्यक्छिन्द्याल्ललाटभ्रूदन्तवेष्टकजत्रुणि ॥ २२ ॥
कुक्षिकक्षाक्षिकूटौष्ठकपोलगलवङ्क्षणे।

स०—ललाटादिदेशेषु तिर्यक्छेदः कार्यः। दंतवेष्टको दंत पिंडिका दंताधार मुच्यते ॥ २२ ॥

छेदन की दिशा—

वि०—ललाट, भ्रू, मसूड़े, जत्रु, कुक्षि, कक्षा, अक्षिकूट

(जिस गड्ढे में आँख रहती है), ओठ, कपोल, गला और वंक्षण में तिरछा छेदन करना चाहिये ॥ २२ ॥

अन्यत्र छेदनात्तिर्यक् सिरास्नायुविपाटनम् ॥ २३ ॥

स०—अन्यत्र प्रदेशे तिर्यक्छेदनात् सिराणां स्नायूनां च व्यापत्तिः स्याद् ॥ २३ ॥

अन्यत्र तिर्यक् छेदन से हानि—

वि०—इन स्थानों के सिवाय दूसरे स्थानों पर तिरछा छेदन करने से सिरा-स्नायु को नुकसान पहुँचाता है ॥२३॥

शस्त्रेऽवचारिते वाग्भिः शीताम्भोभिश्च रोगिणम् ।
आश्वास्य परितोऽङ्गुल्या परिपीड्य व्रणं ततः ॥ २४ ॥
क्षालयित्वा कषायेण प्लोतेनाम्भोऽपनीय च ।
गुग्गुल्वगुरुसिद्धार्थहिङ्गुसर्जरसान्वितैः ॥ २५ ॥
धूपयेत्पटुषड्ग्रन्थानिम्बपत्रैर्घृतप्लुतैः ।
तिलकल्काज्यमधुभिर्यथास्वं भेषजेन च ॥ २६ ॥
दिग्धां वर्तिं ततो दद्यात्तैरेवाच्छादयेच्च ताम् ।
घृताक्तैः सक्तुभिश्चोर्ध्वं घनां कवलिकां ततः ॥ २७ ॥
निधाय युक्त्या बध्नीयात्पट्टेन सुसमाहितम् ।
पार्श्वे सव्येऽपसव्ये वा नाधस्तान्नैव चोपरि ॥२८॥

स०—शस्त्रेऽवचारिते न्यस्ते सति वाग्भिस्तत्कालोचिताभिर्मधुराभिः स्वस्थो जातोऽसीत्येवंप्रायाभिस्तथा शीतांभोभिः परिषेकाभिरातुरमाश्वास्याऽनंतरं व्रणं परितः समंतादंगुल्या परिपीड्य पूयादिदोषनिर्हारायाऽनंतरं कषायेण मधुयष्ट्यादिसाधितेन क्षालयित्वा ततः प्लोतेन कार्पासादिजवस्त्रखंडेन जलमपनीय पानीयार्द्रतां निहृत्याऽनंतरं व्रणं गुग्गुल्वादिभिर्निम्बपत्रांतैर्धूपयेत्। किंभूतैः। घृतप्लुतैः। प्लुतग्रहणाद्बहुघृतैरिति द्योतयति। संग्रहे चोक्तम्। गुग्गुल्वादिभिरेवं शयनासनादि द्विरह्नो धूपयेदिति। ततोऽनंतरं वर्तिं कार्पासादिमयीं व्रणांतः प्रवेशयेद्वैद्यः। किंभूताम्। दिग्धाम्। कैः तिलकल्काज्यमधुभिः। वातव्रणे तिलपिष्टदिग्धां पित्तव्रणे घृतदिग्धां कफव्रणे मधुदिग्धाम्। केचित्तु सर्वैरेव तैर्युगपद्दिग्धामित्याहुः। न च केवलं तिलादिभिर्यावद्यथास्वं यद्यस्य दोषस्य स्वं भेषजं तेन च दिग्धाम्। तैरेव तिलकल्कादिभिर्व्रणांतःप्रविष्टां तां वर्तिमाच्छादयेत्स्थगयेत्। ऊर्ध्वं तदुपरिष्टाद् घृतयुक्तैःसक्तुभिराच्छादयेत्। संग्रहे चोक्तम्। नातिभृष्टयवसक्तुभिर्घृताक्तैर्भोजनांतेऽभसा दक्षिणांगुलिभिः सुमृदितैरवच्छाद्येति। ततो व्रणांतःप्रविष्टवर्तिच्छादनानंतरं कवलिकां बहुवस्त्रखंडपुटनिर्वर्तितां निधाय संस्थाप्य पट्टेन निबिडवस्त्रखंडेन प्रकृतत्वाद् व्रणं बध्नीयात्। कथम्। युक्त्या दोषकालानुगुणया। अत एव संग्रहे जगाद। वातश्लेष्मोद्भवांस्तत्र द्विस्त्रिर्वा वेष्टयेद्व्रणान्। सकृदेव परिक्षिप्य पित्तरक्ताभिघातजान्। तथोक्तम्। शस्त्रक्षतरुजायां तु प्रततायां यष्टीमधुकसर्पिषोष्णेन व्रणं सिंचेत्। उदकुंभादपो गृहीत्वा पोक्षन् परित इति। कथं बध्नीयात्। सुसमाहितं कृत्वा च न हेलया। वामपार्श्वे दक्षिणपार्श्वे वाऽधस्ताच्च न बध्नीयान्नैव चोपर्यूर्ध्वं बध्नीयात् ॥ २४–२८ ॥

शस्त्रकर्म में रोगी को आश्वासनादि कर्तव्य—

वि०—शस्त्रकर्म करने के उपरान्त शीतल जल से और वचनों से रोगी को आश्वासन देकर व्रण को अङ्गुली द्वारा चारों ओर से दबाये, फिर से कषाय से धोकर रूई के फोये से पानी को सुखा देवे। फिर गुग्गुल, अगुरु, सरसों, हींग, राल, नमक, वच; नीम के पत्ते इनको घी में मिलाकर (आग में जलाकर) व्रणपर धूप देवे। इसके उपरान्त तिलकल्क (वातज व्रण में), घी (पीत्त व्रण में), और मधु से (कफ व्रण में) अथवा दोषों के अनुसार औषध से लिप्त वर्ति को व्रण में रख देवे और उन्हीं औषधियों से वर्त्ति को ढाँप देवे। इसके उपर घृत मिश्रित सत्तू को रखकर ऊपर एक मोटी गद्दी रख कर सावधानी से तथा युक्तिपूर्वक पट्टी से वाम पार्श्व में या दक्षिण पार्श्व में गाँठ देते हुए बाँध दे। व्रण के नीचे या ऊपर गाँठ न बाँधे ॥ २४–२८ ॥

शुचिसूक्ष्मदृढाः पट्टाः कवल्यः सविकेशिकाः ।
धूपिता मृदवः श्लक्ष्णा निर्वलीका व्रणे हिताः ॥ २९ ॥

स०—तथा शुचयः सूक्ष्मसूत्रा दृढाश्च पट्टा हिताः। तथा कवलिकाः सविकेशिकाश्च व्रणे हिताः। किंभूताः। धूपितास्तथा मृदवस्तथा श्लक्ष्णास्तथा वलीरहिताः ॥ २९ ॥

पट्टी आदि का वर्णन—

वि०—व्रण के लिये—पपित्र, पतली और मजबूत पट्टियाँ, कवलिकायें (गद्दियाँ) और विकेशिकायें (वर्त्तियाँ), धूप दी हुई कोमल, चिकनी और वली (सिकुड़न) रहित होनी चाहिये ॥ २९ ॥

कुर्वीतानन्तरं तस्य रक्षां रक्षोनिषिद्धये ।
बलिं चोपहरेत्तेभ्यः—

स०—अनंतरं रोगिणः कृतशस्त्रकर्मणो व्रणे रक्षां कुर्यात्। किमर्थम्। रक्षोनिषिद्धये पिशिताशनराक्षसादिनिषेधाय। तेभ्यश्च रक्षोभ्यो बलिमुपहरेद्दद्यात्।

शस्त्रकर्म के बाद व्रणरक्षार्थ कार्य—

वि०—इसके पीछे-पिशिताशन-मांस खाने वाले राक्षसों से रोगी की रक्षा के लिये राक्षसों को बलि देवे।

सदा मूर्ध्ना च धारयेत् ॥ ३० ॥
लक्ष्मीं गुहामतिगुहां जटिलां ब्रह्मचारिणीम् ।
वचां छत्रामतिच्छत्रां दूर्वां सिद्धार्थकानपि ॥ ३१ ॥
ततः स्नेहादिनेहोक्तं तस्याचारं समादिशेत् ।

स०—सर्वकालं चौषधीर्मूर्ध्ना धारयेत्। ता एवाह लक्ष्मीमित्यादि। लक्ष्मीं पद्मचारिणीम्। गुहां पृश्निपर्णीम्। अतिगुहां शालिपर्णीम्। जटिलां मांसीम्। ब्रह्मचारिणीं ब्रह्मयष्टिकाम्। वचामुग्रगंधाम्। छत्रां शतपुष्पाम्। अतिच्छत्रां विषाणिकाम्। ततोऽनंतरं तस्य व्रणिन आचार-

मादिशेत्। कतमम्। स्नेहदिनेहोक्तम् स्नेहस्य दिनं स्नेहदिनं स्नेहपानोपलक्षितमहस्तत्रेहा चेष्टा तस्यामुक्तं स्नेहपानविध्युपदिष्टमुष्णोदकोपचारी स्यादित्यादिकम् ॥ ३०-३१ ॥

वि०—हमेशा-लक्ष्मी (ब्राह्मी या शमी), पृश्निपर्णी, शालपर्णी, जटामांसी, ब्रह्मयष्टिका, वच, छत्रा, अतिछत्रा (शतपुष्पा कुल के द्रव्य), दूब, सरसों-इन ओषधियों को सिर पर धारण करे।

इसके उपरान्त स्नेह बिधि में कही आचार विधि को (उष्णोदकोपचारी स्यात् इत्यादि) बरतने के लिये कहे।

दिवास्वप्नो व्रणे कण्डूरागरुक्शोषपूयकृत् ॥ ३२ ॥
स्त्रीणां तु स्मृतिसंस्पर्शदर्शनैश्चलितस्रुते।
शुक्रे व्यवायजान् दोषानसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात् ॥ ३३ ॥
(व्रणे श्वयथुरायासात् स च रागश्च जागरात्।
तौ च रुक् च दिवास्वापात्ताश्च मृत्युश्च मैथुनात् ॥)

स०—दिवास्वप्नो व्रणे कंड्वादिकृत्। तस्माद् व्रणिनाऽहःस्वप्नो न सेव्यः। स्त्रीणां तु स्मृतिसंस्पर्शदर्शनैः पूर्वं स्वस्थानाच्चलितं पश्चात्स्रुतं तस्मिंश्चलितस्रुते शुक्रे सत्यसंसर्गेऽपि तासामसंबंधेऽपि मैथुनमंतरेणाऽपि व्यवायजान्मैथुनोत्थान् दोषानवाप्नुयात्। तस्मात्स्त्रीस्मरणसंस्पर्शदर्शनादि वर्जनीयमित्यर्थः ॥ ३२-३३ ॥

शस्त्रकर्म के बाद त्याज्य कर्म—

वि०—दिन में सोने से व्रण में कण्डू, लालिमा, वेदना, शोफ और पूय उत्पन्न होता है। स्त्रियों के स्मरण से, स्पर्श से या देखने से शुक्र के क्षरण हो जाने पर-सम्भोग के विना भी-सम्भोगजन्य दोष होते हैं ॥३२-३३॥

(परिश्रम से व्रण में शोथ होता है; रात्रि में जागरण से लालिमा होती है; दिन में सोने से शोथ, लालिमा और दर्द होता है, और मैथुन से शोथ, लालिमा, दर्द के साथ मृत्यु भी होती है ॥ १ ॥)

भोजनं च यथासात्म्यं यवगोधूमषष्टिकाः।
मसूरमुद्गतुवरीजीवन्तीसुनिषण्णकाः ॥ ३४ ॥
बालमूलकवार्ताकतण्डुलीयकवास्तुकम् ।
कारवेल्लककर्कोटपटोलकटुकाफलम् ॥ ३५ ॥
सैन्धवं दाडिमं धात्री घृतं तप्तहिमं जलम्।
जीर्णशल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णोदकोत्तरम् ॥ ३६ ॥
भुञ्जानो जाङ्गलैर्मांसैः शीघ्रं व्रणमपोहति।

स०—भोजनं तु यथासात्म्यं यद्यस्य सात्म्यं यवादि। तथा जीवंत्यादिशाकं च तथा सैंधवादिकम्। पुराणशालिभक्तं स्निग्धं सस्नेहं तथाऽल्पं जांगलैर्मांसैः सह भुंजान उष्णोदकोत्तरं यथा भवत्येवं व्रणी शीघ्रं व्रणमपोहति ॥ ३४-३६ ॥

भोजन द्रव्य—

वि०—भोजन—रोगी को अभ्यास के अनुसार गेहूँ, साठी, मसूर, मूंग, तुवर (अरहर), जीवन्ती, चौपतिया, कच्ची मूली, बैंगन, तण्डुलीयक (चौलाई), बथुआ, करेला, ककोड़ा, पटोल, तरोई का फल, सैन्धव, अनार, आँवला, घी और गरम करके ठण्डा किया पानी पथ्य हैं। पुरातन शालि के भात को घृत से स्निग्ध करके थोड़ीमात्रा में जांगल मांसरस के साथ खाकर पीछे से गरम पानी पीये। इस प्रकार करने से व्रण शीघ्र भर जाता है ॥ ३४-३६ ॥

अशितं मात्रया काले पथ्यं याति जरां सुखम् ॥ ३७ ॥
अजीर्णात्त्वनिलादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्।
ततः शोफरुजापाकदाहानाहानवाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

स०—मात्रया काले भुक्तं पथ्यं सुखेन जरां याति। तस्मात् पथ्यं मात्रया काले भोक्तव्यम्। अजीर्णं तु कथंचिन्न कार्यम्। यतोऽजीर्णाद्वातादीनां बलवान् विभ्रमः क्षोभः स्यात्। तस्मात्क्षोभाच्छोफादीन् प्राप्नुयात् ॥ ३७-३८ ॥

पथ्य भोजन से लाभ तथा अजीर्ण से हानि—

वि०—समय पर मात्रा में खाया पथ्य भोजन सुख से जीर्ण हो जाता है। अजीर्ण के कारण वात आदि दोषों का क्षोभ बलवान् होता है और इस क्षोभ से शोफ, वेदना, पाक, दाह एवं आनाह उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३७-३८ ॥

नवं धान्यं तिलान् माषान् मद्यं मांसमजाङ्गलम्।
क्षीरेक्षुविकृतीरम्लं लवणं कटुकं त्यजेत् ॥ ३९ ॥
यच्चान्यदपि विष्टम्भि विदाहि गुरु शीतलम्।
वर्गोऽयं नवधान्यादिर्व्रणिनः सर्वदोषकृत् ॥ ४० ॥
मद्यं तीक्ष्णोष्णरूक्षाम्लमाशु व्यापादयेद् व्रणम्।

स०—नवधान्यादि त्यजेत्। यतोऽयं नवधान्यादिवर्गो व्रणिनः सर्वान् दोषान् करोति। संग्रहे चोक्तम्। नवधान्यं विष्टंभि माषकलायकुलत्थनिष्पावशिंबीशीतांबुमद्येक्षुक्षीरपिष्टतिलविकृतिशुष्कशाकपिशितहरितकाम्ललवणकटुकक्षारानूपामिषाणि वर्जयेदिति। शीतलं शीतांब्वादि। मद्यं तीक्ष्णोष्णादिगुणं द्राग्व्रणं व्यापादयेत्। तस्मान्मद्यमीदृशं वर्ज्यं नापरम्। तथा च तंत्रांतरे। सस्नेहं मधुरप्रायं नातितीक्ष्णमकर्कशम्। तनु यत्सुखपेयं च मार्द्वीकेषु तदुत्तममित्युक्तम्। तस्मान्मार्द्वीकादिप्रायं रोध्रासवादिकं वा यन्मद्यं तत्सात्म्यत्वात्किंचित्पेयमेव ॥ ३९-४० ॥

व्रण में नये धान्यादि का त्याग—

वि०—अपथ्य—नूतन धान्य (एक वर्ष से कम के), तिल, उडद, मद्य, जांगल से अतिरिक्त मांस, दूध और गन्ने की विकृति, अम्ल, लवण और कटु रस इनको छोड़ देवे। इसके सिवाय जो भी पदार्थ विष्टम्भ करने वाले, बिदाही, गुरु और शीतल हों-उनको छोड़ दे। यह नव धान्यादि वर्ग व्रण रोगियों के लिये सर्व दोष-कोपक होता है।

जो मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष और अम्ल होता है वह मद्य व्रण को विकृत कर देता हैं ॥ ३९-४० ॥

वक्तव्य—इसलिये 'सस्नेहं मधुरप्रायं नातितीक्ष्णमकर्कशम् । तनु यत्सुखपेयं च मार्द्वीकेषु तदुत्तमम्' ऐसा मद्य पीने में दोष नहीं ।

वालोशीरैश्च वीज्येत न चैनं परिघट्टयेत् ॥ ४१ ॥
न तुदेन्न च कण्डूयेच्चेष्टमानश्च पालयेत् ।
स्निग्धवृद्धद्विजातीनां कथाः शृण्वन्मनःप्रियाः ॥४२॥
आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं व्रणमपोहति ।

स०—वालोशीरश्चैनं व्रणं वीजयेत् । न चैनं परिघट्टयेत् । तथा न व्यथयेत् । नापि कंडूयेत् । व्यापारं च कुर्वन् व्रणिनं पालयेद्रक्षेत् । तथा स्निग्धादीनां कथाश्चित्तप्रिया आकर्षयन् रोगमुक्तये विहिताशोऽह्नाय व्रणमपोहति ॥४१-४२॥

व्रणयुक्त की शुश्रूषा—

वि०—बाल या खस की बनी चौंरी अथवा पंखी से व्रण पर हवा करे; इस व्रण को रगड़े नहीं । न खोदे, न खुजाये; कोई चेष्टा करने पर व्रण की रक्षा करे, स्नेही वृद्ध ब्राह्मणों से मन के अनुकूल कथाओं को सुनते हुए तथा रोग-शान्ति की आशा रखने से व्रण शीघ्र भर जाता है ॥ ४१-४२ ॥

तृतीयेऽह्नि पुनः कुर्याद् व्रणकर्म च पूर्ववत् ॥ ४३ ॥
प्रक्षालनादि दिवसे द्वितीये नाचरेत्तथा ।
तीव्रव्यथो विग्रथितश्चिरात्संरोहति व्रणः ॥ ४४ ॥

स०—तृतीये दिवसे पुनरपि प्रक्षालनादि कर्म पूर्ववत् पूर्वेण व्रणकर्मणा तुल्यं कुर्यात् । द्वितीये तु दिवसे प्रक्षालनादि नाचरेत् किमित्याह—तथा तेन प्रकारेण व्रणस्तीव्रव्यथः संपद्यते । तथा विग्रथितः स प्रदेशो बहुभिर्युक्तः स्यात् । तथा चिराच्चिरेण संरोहं याति रूढः संपद्यते ॥ ४३-४४ ॥

व्रण धोने का विधान—

वि०—तीसरे दीन फिर पूर्ववत् (कषाय में धोना आदि) व्रणकर्म करे (पट्टी बदले) । इस कर्म को दूसरे दिन न करे क्योंकि दूसरे दिन (जल्दी) करने से व्रण में तीव्र व्यथा और ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं; तथा व्रण देर से भरता है ।

स्निग्धां रूक्षां श्लथां गाढां दुर्न्यस्तां च विकेशिकाम् ।
व्रणे न दद्यात् कल्कं वा—

स०—व्रणे व्रणाख्ये आधारे स्निग्धादिगुणयुक्तविकेशिकां व्रणांतःप्रवेशयोग्यां वर्तिं न दद्यात् । श्लथां शिथिलां गाढां निबिडां दुर्न्यस्तां विषमन्यस्ताम् । अत्र चातिशब्दोऽर्थवशाद्गम्यमानो बोध्यत एव । संग्रहे स्पष्टं कृत्वोवाच । अतिस्नेहात्क्लेद इति । कल्कमप्यतिस्निग्धादिगुणयुक्तं व्रणे न योजयेत् । पिष्टमौषधं द्रवाप्लुतं कल्क इत्युच्यते ।

व्रण में अतिस्निग्धादि वर्तियों का निषेध—

वि०—व्रण में अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, ढीली, कठिन और बुरी तरह रक्खी वर्त्ति प्रविष्ट नहीं करनी चाहिये । अथवा इस प्रकार का कल्क (पानी से भीगी पीसी हुई औषध) व्रण पर नहीं रक्खे । क्योंकि—

किमिति स्निग्धादिगुणयुक्तां विकेशिकां कल्कं वा न दद्यादित्याह—

स्नेहात्क्लेदो विवर्द्धते ॥ ४५ ॥
मांसच्छेदोऽतिरुग्रौक्ष्याद्दरणं शोणितागमः ।
श्लथातिगाढदुर्न्यासैर्व्रणवर्त्मावघर्षणम् ॥ ४६ ॥

स०—यतः स्नेहात् क्लेदवृद्धिः । अतिरूक्षत्वाच्च मांसच्छेदोऽतिव्यथा दरणम् । तथा विशेषाद्रक्तस्रावश्च । श्लथादिगुणयुक्तेन च व्रणमार्गस्याऽवघर्षणं स्यात् ॥ ४५-४६ ॥

अतिस्नेह से हानि—

वि०—स्निग्धता से क्लेद बढ़ता है; अति रूक्षता से मांस कटता है और बहुत दर्द होता है एवं विदीर्ण होकर रक्त आता है । अति ढीला या अति कठिन अथवा बुरी तरह रक्खी वर्त्ति से व्रणों के किनारों पर रगड़ पड़ती है (जिससे घाव नहीं भरता) ॥ ४५-४६ ॥

विकेशिका व्रणे कस्माद्दीयत इत्याह—

सपूतिमांसं सोत्सङ्गं सगतिं पूयगर्भिणम् ।
व्रणं विशोधयेच्छीघ्रं स्थिता ह्यन्तर्विकेशिका ॥ ४७ ॥

स०—विकेशिका व्रणांतरे स्थिता पूत्यादियुक्तं व्रणं विशोधयेद्यतस्तस्माद् व्रणेऽसौ योज्या । उत्संग उन्नतिः । पूयादिभक्षितमांसादिप्रदेशः शून्यो देहस्य गतिरुच्यते । पूयश्चासौ गर्भश्च स विद्यते यस्य स पूयगर्भी तम् ॥ ४७ ॥

व्रण में वर्तिप्रवेश का कारण—

वि०—व्रण के अन्दर रक्खी वर्त्ति—पूतियुक्त मांस (सड़े मांस) को; व्रण के अन्दर के खोखलेपन को (पूयसंचय स्थान को), गति (मार्ग) को, तथा पूय से भरे हुए व्रण को शीघ्र ही शुद्ध कर देती है ॥ ४७ ॥

व्यम्लं तु पाटितं शोफं पाचनैः समुपाचरेत् ।
भोजनैरुपनाहैश्च नातिव्रणविरोधिभिः ॥ ४८ ॥

स०—व्यम्लं विदग्धम् अपक्कं व्रणं पक्कमितिज्ञानात्पाटितम् । तथाविधैः श्वयथुपाचनैरन्नपानैस्तथाविधैश्चोपनाहैः साल्वणकिण्वादिकल्पितैरुपाचरेत् । न च सर्वैरेवाविशेषात्तैरुपाचरेदित्याह । नातीत्यादि । न व्रणातिविरोधीन्यतिश्वयथुपाचनान्यम्लकटुकतीक्ष्णोष्णलवणप्रायाणि द्रव्याणि तथैवंप्रायाणि भोजनानि तैरुपचारैरपि तु किंचिदेव व्रणविरोधीनी यानि तैरुचितैरुपक्रमेदिति बोध्यम् । नातिशब्दप्रयोगात् ॥ ४८ ॥

कच्चे व्रण में शस्त्रच्छेदन करने पर कर्तव्य—

वि०—जो विदग्ध (अर्धपक) शोथ—अज्ञान से चीरा गया हो, उस शोथ की पाचन औषधों से चिकित्सा करे । इस प्रकार के भोजन और उपनाह द्रव्य व्रण के लिये अतिशय विरोधी नहीं होने चाहिये; [अर्थात् अम्ल, कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण इस प्रकार के भोजन या द्रव्य नहीं बरतने चाहिये] ॥ ४८ ॥

सद्यः सद्योव्रणान् सीव्येद्विवृतानभिघातजान् ।
मेदोजांल्लिखितान् ग्रन्थीन् ह्रस्वाः पालीश्च कर्णयोः । ४९॥
शिरोक्षिकूटनासौष्ठगण्डकर्णोरुबाहुषु ।
ग्रीवाललाटमुष्कस्फिङ्मेढ्रपायूदरादिषु । ५० ॥
गम्भीरेषु प्रदेशेषु मांसलेष्वचलेषु च ।

स०—सद्योव्रणानभिघातजान विस्तीर्यमुखान् सद्यस्तत्क्षणादेव सीव्येत् । संकुचितवदनास्तु ते न सीव्याः । अभिघाताज्जन्म येषां ते । सद्योव्रणानित्यभिघातजेष्वपि चिरकालस्थितेषु नायं विधिरिति द्योतयति । मेदोजान् ग्रंथीनालिख्य सूच्वा सीव्येत् ॥ ४९-५० ॥

सीने योग्य व्रण—

वि०—सीवन विधि—चोट लगने से मुख खुले हुए तुरन्त के व्रणों को तुरन्त सीना चाहिये । मेदजन्य ग्रन्थियों में तथा कानों की छोटी पालियों को भी लेखन कर सीना चाहिये । शिर, अक्षिकूट, कासिका, ओष्ठ, गण्ड, कर्ण, ऊठ, बाहु, ग्रीवा, मस्तक, मुष्क, नितम्ब, मेहन, पायु और उदर आदि में तथा गहरे भागों में मांसल एवं अचल स्थानों में व्रण को सीना चाहिये ॥ ४९-५० ॥

न तु वङ्क्षणकक्षादावल्पमांसे चले व्रणान् ॥ ५१ ॥
वायुनिर्वाहिणः शल्यगर्भान् क्षारविषाग्निजान् ।

स०—वक्षणादिस्थितानां व्रणानां गंभीरादिप्रवेशत्वात्सीवनं प्राप्तं तन्निषिध्यते । मांसलेषु स्थिरेषु च व्रणान् सीव्येदित्युक्त्वैवाऽल्पमांसे चले स्थाने व्रणान्न सीव्येदित्यर्थे लब्धेऽल्पमांसांश्चलांश्च व्रणान्न सीव्येदिति वचनमतिशयार्थम् । जातुचिदभिघातजान्विवृतानप्येवंविधान् व्रणान्न सीव्येदिति गमयति । तथा वायुं निर्वहंति निःश्वसंति तान् वायुनिर्वाहिणो न सीव्येत् । तथा शल्यं गर्भे येषां तान् शल्यगर्भांस्तथा क्षारविषाग्निभ्यो जातान् व्रणान्न सीव्येत् ॥ ५१ ॥

सीने के अयोग्य व्रण—

वि०—वंक्षण-कक्षा आदि में तथा थोड़े मांस वाले किन्तु गतिशील स्थानों के व्रणों को नहीं सीना चाहिये । जिन व्रणों में से वायु निकलती हो; जिनमें शल्य हो या व्रण क्षार, विष अथवा अग्नि से पैदा हुए हों—उनको भी नहीं सीना चाहिये ॥ ५१ ॥

सीवनात्पूर्वं यत्क्रियते तद्दर्शयति—

सीव्येच्चलास्थिशुष्कास्रतृणरोमापनीय तु ॥ ५२ ॥
प्रलम्बि मांसं विच्छिन्नं निवेश्य स्वनिवेशने ।
सन्ध्यस्थि च स्थिते रक्ते स्नाय्वा सूत्रेण वल्कलैः ॥५३॥
सीव्येन्न दूरे नासन्ने गृह्णन्नाल्पं न वा बहु ।

स०—स्थानाच्चलितमस्थ्यपनीय निरस्य तथा शुष्करक्तं तृणानि रोमाणि चाऽपास्य तथा शस्त्रादिना प्रकर्षेण लंबि व्रणे यद्विद्यते मांसं तत्स्वनिवेशन आत्मीये स्थाने निवेश्य संस्थाप्य संध्यस्थि स्वे स्थाने संस्थाप्य स्थिते रक्तेऽस्रवद्रूपत्वं प्राप्ते सति व्रणं सीव्येत् । केन । स्नाय्वादिना तथा वल्कलैः । वल्कलान्यश्मंतकादित्वगुद्भवानि तैः कथं सीव्येत् । न दूरे न विप्रकृष्टे न चासन्ने नाऽतिनिकटे गृह्णन्नाल्पं व्रणांशं नच बहु गृह्णन् ॥ ५२-५३ ॥

व्रणों को सीने के पूर्व कर्तव्य—

वि०—सीवन विधि—स्थान से खिसकी अस्थि (के टुकड़ों), शुष्क रक्त, तिनके और रोम को हटा या साफ करके; कट जाने से लटकते हुए मांस को उसके स्थान पर रखकर, सन्धि और अस्थि को स्थान पर बिठा कर, रक्त के रुक जाने पर व्रण को स्नायु, सूत्र या वल्कल के रेशे से सीना चाहिये । सीते समय न तो व्रण के बहुत दूर-दूर और न बहुत समीप में सीना चाहिये एवं न तो बहुत अधिक और न बहुत कम मांस या त्वचा पकड़नी चाहिये ।

[सीवन विधि—गोफणिका, तुन्नसेवनी; वेल्लितक और ऋजुग्रन्थि (राजग्रन्थि) भेद से चार प्रकार की है] ॥५२-५३॥

सान्त्वयित्वा ततश्चार्तं व्रणे मधुघृतद्रुतैः ॥ ५४ ॥
अञ्जनक्षौमजमषीफलिनीशल्लकीफलैः ।
सरोध्रमधुकैर्दिग्धे युञ्ज्याद्बन्धादि पूर्ववत् ॥ ५५ ॥

स०—ततः सीवनादनंतरमातुरं सांत्वयित्वा समाश्वास्य शीतांबुस्पर्शव्यजनादिभिरनंतरमुक्तैर्लिप्ते व्रणे सति । कैः । अंजनादिभिः । किंभूतैः । मधुघृताभ्यां द्रुतैरालोडितैः । पूर्ववद्बंधादि युंज्यात् । तृतीयान्ताद्वतिः । पूर्वोद्दिष्टेन कर्मणा तुल्यं कषायक्षालनादि कवलिकादिकं च योजयेदित्यर्थः ॥५४-५५॥

व्रण को सीने के बाद कर्तव्य—

वि०—सीवन के उपरान्त रोगी को सान्त्वना देकर व्रण में अञ्जन, अलसी की राख, प्रियङ्गु, शल्लकी फल, लोध, मुलहठी इनके चूर्ण को मधु और घृत में मिलाकर व्रण पर लगाये, फिर पूर्व की भाँति पट्टी आदि बाँधे ॥ ५४-५५ ॥

व्रणो निःशोणितौष्ठो यः किञ्चिदेवावलिख्य तम् ।
सञ्जातरुधिरं सीव्येत्सन्धानं ह्यस्य शोणितम् ॥५६॥

स०—अविद्यमानशोणितौष्ठो यः स्यात्तमेवंभूतं व्रणं किंचिदेवेषन्मात्रमेव शस्त्रेणावलिख्य ततः संजातरुधिरं संतं सीव्येन्न त्वेवमेव । यस्मादस्य व्रणस्य संधानं शोणितमेव ॥५६॥

रक्तहीन व्रण को सीने की विधि—

वि०—जिस व्रण के ओठों से रक्त न आता हो उस व्रण के किनारों में थोड़ा सा लेखन करके रक्त निकालने पर सीना चाहिये, इस व्रण का सन्धान रक्त ही है अर्थात् रक्त से ही व्रण जुड़ता है ॥ ५६ ॥

तेषां च बंधनानां स्वरूपमाह—

बन्धनानि तु देशादीन् वीक्ष्य युञ्जीत तेषु च ।
आविकाजिनकौशेयमुष्णं क्षौमं तु शीतलम् ॥ ५७ ॥

शीतोष्णं तूलसन्तानकार्पासस्नायुवल्कजम् ।
ताम्रायस्त्रपुसीसानि व्रणे मेदःकफाधिके ॥ ५८ ॥
भङ्गे च युञ्ज्यात्फलकं चर्मवल्ककुशादि च ।

स०—बध्यते व्रण एभिरिति बंधनान्याविकाजिनादीनि तेषु व्रणेषु देशकालसात्म्यादीन् वीक्ष्य निरूप्य यथायोगमाविकाद्यन्यतमं युंज्यात्। अविरेवाविकस्तस्येदमाविकम्। अवेः क इति कस्तस्येदमित्यण्। अजिनं चर्म। कोशात्संभूतं कौशेयम्। कोशाड्ढञिति ढञ्। आविकादिकं बंधनत्रयमुष्णवीर्यम्। क्षौमं तु बंधनं शीतलं शीतवीर्यम्। तूलसंतानादिजं शीतोष्यमुभयस्वभावम्। तूलं शाल्मलादिजं तस्य संतानः संततिः सूत्ररूपता तेन निष्पादितम्। मेदःकफाधिके व्रणे ताम्रादीनि लेखनार्थं युंज्यात्। भंग इत्यादि। न केवलं ताम्रादीनि मेदःकफाधिके व्रणे युंज्याद्यावच्चशब्दात्तानि भंगेऽपि युंज्यात्। न च केवलं भंगे ताम्रादीनि युंज्याद्यावत्फलकादि च युंज्यात्। कुशाशब्देन वंशादिकंविकोच्यते ॥ ५७-५८ ॥

व्रण को बाँधने के पदार्थ—

वि०—बन्धन विधि—देश आदि का विचार करके बन्धन द्रव्यों को बरतना चाहिये। इसमें भेड़, हरिण के रोम से बनी और रेशम की पट्टियाँ उष्ण हैं। क्षौल-अलसी की पट्टी शीतल है। सेमल आदि की रूई के सूत्र से बना या कपास के अन्य स्नायु या वल्कल का वस्त्र शीत-उष्ण दोनों प्रकार के (योगवाही) होते हैं। मेद और कफकी अधिकता वाले व्रणों में तथा भग्न में ताम्र, लोह, रांगा या सीसा इनको बन्धन के लिये बरते। अस्थिभङ्ग में (ताम्र आदि के अतिरिक्त) फलक (पट्टिका), चर्म, वल्कल, कुशादि (बाँस आदिकी खप्पच) को भी बाँधनेके लिये बरते ॥५७-५८॥

अधुना बंधप्रकारान्निर्दिशति—

स्वनामानुगताकारा बन्धास्तु दश पञ्च च ॥ ५९ ॥
कोशस्वस्तिकमुत्तोलीचीनदामानुवेल्लितम् ।
खट्वाविबन्धस्थगिकावितानोत्सङ्गगोष्फणाः ॥ ६० ॥
यमकं मण्डलाख्यं च पञ्चाङ्गी चेति योजयेत् ।
(विदध्यात्तेषु तेष्वेव कोशमङ्गुलिपर्वसु ।
स्वस्तिकं कर्णकक्षादिस्तनेषूक्तं च सन्धिषु ॥ १ ॥
मुत्तोली मेढ्रग्रीवादौ युञ्ज्याच्चीनमपाङ्गयोः ।
सम्बाधेऽङ्गे तथा दाम शाखास्वेवानुवेल्लितम् ॥ २ ॥
खट्वां गण्डे हनौ शङ्खे विबन्धं पृष्ठकोदरे ।
अङ्गुष्ठाङ्गुलिमेढ्राग्रे स्थगिकामन्त्रवृद्धिषु ॥ ३ ॥
वितानं पृथुलाङ्गादौ तथा शिरसि चेरयेत् ।
विलम्बिनि तथोत्सङ्गं नासौष्ठचिबुकादिषु ॥ ४ ॥
गोष्फणं सन्धिषु तथा यमकं यमिके व्रणे ।
वृत्तेऽङ्गे मण्डलाख्यं च पञ्चाङ्गी चोर्ध्वजत्रुषु ॥ ५ ॥)
यो यत्र सुनिविष्टः स्यात्तं तेषां तत्र बुद्धिमान् ॥ ६१ ॥

स०—स्वं च तन्नाम च स्वनाम तेनानुगतोऽनुबद्ध आकारः संस्थानविशेषो येषां ते पंचदश बंधा वक्ष्यमाणाः। तुशब्दोऽवधारणार्थः। पंचदशैवेति न न्यूनाः। कोशादयः पंचांग्यंतास्तेषां बंधानां मध्ये यो बंधविशेषो यत्र यस्मिन्देहदेशे सुनिविष्टो भवेत्तं बंधं कोशादिकं तत्र तस्मिन्देशे योजयेत्। तत्र कोशोंऽगुलीपर्वसु चर्मादिकृतः। स्वस्तिकं संधिकूर्चभ्रूस्तनांतरकक्षाश्चिकपोलकर्णेषु। मुत्तोली ग्रीवामेढ्रयोः। चीनमपांगयोः। दाम संधिवंक्षणादौ। अनुवेल्लितं शाखासु। खट्वा हनुसंधिगंडेषु। विबंधमुदरोरुपृष्ठेषु। स्थगिकांगुष्ठांगुलीमेढ्रांत्रमूत्रवृद्धिषु। वितानं मूर्धादौ पृथुलांगे। उत्संगमंगविशेषे लंबिनि बाह्वादौ। गोफणः नासौष्ठचिबुकसक्थिषु। यमकं यमलव्रणयोः। मंडलं वृत्तेऽगे। पंचांगी जत्रूर्ध्वमिति योजना कार्या ॥ ५९-६१ ॥

व्रण को बाँधने के प्रकार—

वि०—बन्धन के भेद—बन्ध (पट्टियाँ) पन्द्रह प्रकार के हैं; इनका आकार इनके अपने नाम से ही स्पष्ट है। यथा कोश (तलवार आदि के रखने का खोल); स्वस्तिक (स्वस्तिक चिह्न के अनुसार); मुत्तोली (थैली), चीन (पताका के समान त्रिकोण), दाम (मोटी माला या रस्सी के आकार का), अनुवेल्लित (वेल के समान ऊपर को लपेटा हुआ), खट्वा (चारपाई के समान-चार पैर की पट्टी), विबन्ध (अनेक बन्धन युक्त); स्थगिका (आवरण या पगड़ी), वितान (तम्बू के आकार का), उत्संग (गोद या झोली), गोफण (गोफन की भाँति बीच में एक थैली और दोनों ओर रस्सी लगी); यमक (दो पट्टियाँ), मण्डल और पंचांगी (पाँच पुच्छवाली ये पन्द्रह बन्ध हैं, इनको स्थानके अनुसार बरते।

(इनमें से कोशबन्ध अंगुली के पर्वों में), स्वस्तिक को कान, कक्षा आदि स्तनों और सन्धियों में; मुत्तोली को मेहन और ग्रीवा आदि में; चीन को अपांग भागों में; दामको सम्बाध अङ्ग (वंक्षण आदि जहाँ आसानी से पट्टी न बँध सके) में, अनुवेल्लित को शाखाओं में खट्वा को हनु, गण्ड और शङ्ख में, विबन्ध को पीठ और उदर में, स्थगिका को अङ्गुष्ठ, अङ्गुलि और मेहन के अग्रभाग में तथा अन्त्रवृद्धि में, वितान को चौड़े अङ्ग तथा शिरपर, उत्संग को लटकनेवाले बाहु आदि में, गोष्फण को नासिका, ओठ, चिबुक और संधि में, यमकबन्ध को यमक व्रणों में, मण्डलबन्ध को गोल अङ्ग पर और पंचाँगी को जत्रु के ऊपर के भाग में बाँधना चाहिये। इनमें से जो बन्ध जिस स्थान पर ठीक तरह बैठे, बुद्धिमान् वैद्य वहीं पर उसको लगाये ॥ ५९-६१ ॥

संप्रत्येषां बंधानां गाढशिथिलादिबंधत्वं देशाद्यनुरोधान्निरूपयति—

बध्नीयाद्गाढमूरु-स्फिक्कक्षावङ्क्षणमूर्धसु ।
शाखावदनकर्णोरःपृष्ठपार्श्वगलोदरे ॥ ६२ ॥

समं मेहनमुष्के च, नेत्रे सन्धिषु च श्लथम् ।
बध्नीयाच्छिथिलस्थाने वातश्लेष्मोद्भवे समम् ॥ ६३ ॥
गाढमेव समस्थाने भृशं गाढं तदाशये ।
शीते वसन्तेऽपि च तौ मोक्षणीयौ त्र्यहात्त्र्यहात् ॥६४॥
पित्तरक्तोत्थयोर्बन्धो गाढस्थाने समो मतः ।
समस्थाने श्लथो नैव शिथिलस्याशये तथा ॥ ६५ ॥
सायंप्रातस्तयोर्मोक्षो ग्रीष्मे शरदि चेष्यते ।

स०—ऊरुस्फिगादिषु देशेषु गाढं बध्नीयान्न तु श्लथम् । शाखावदनादिषु समं बध्नीयात् । चशब्दान्मेहने मुष्कयोश्च सममेव । नेत्रे नयने तथा संधिषु शिथिलं बध्नीयात् । यत्र शिथिलस्थाने शिथिलो बंध उपदिष्टस्तत्र स्थाने यौ व्रणौ वातश्लेष्मोद्भवौ तौ समं कृत्वा बध्नीयान्न गाढं न शिथिलम् । यत्र स्थाने समो बंध उपदिष्टस्तत्र स्थाने वातश्लेष्मोद्भवौ व्रणौ गाढमेव बध्नीयात् । भृशमित्यादि तदित्यनेन गाढाशयः परामृश्यते । गाढबंधोद्दिष्टे स्थाने वातश्लेष्मोद्भवौ व्रणौ भृशं सुतरां गाढं बध्नीयात् । तौ वातश्लेष्मोद्भवौ व्रणौ शीते हेमंतशिशिराख्ये काले वंसते च त्र्यहात्त्र्यहात्त्रिदिनमंतरीकृत्य मोक्षणीयौ मोक्षितव्यौ इत्यर्थः । पित्तरक्तोत्थयोर्गाढबंधस्थाने समो बंधो मतो न शिथिलः । समस्थाने समो बंधो यत्रोपदिष्टः शाखावचनादौ तत्रस्थयोः पित्तरक्तोत्थयोर्व्रणयोः शिथिलो बंधः कार्यः । शिथिलस्य बंधस्याऽऽशये यत्र शिथिलो बंधः कार्य इत्युक्तं तत्र नैव बंधः कार्य इत्येवकारोऽवधारणार्थः कृतः । तयोः पित्तरक्तोत्थयोः सायं प्रातर्द्वौ कालौ मोक्ष इष्यते । ग्रीष्मे शरदि चाऽन्यदोषोत्थव्रणस्याऽपि सायंप्रातर्मोक्ष इष्यते ॥ ६२-६५ ॥

यथादेश व्रणों को ढीला या कसकर बाँधना—

वि०—गाढ़ (कसा हुआ) बन्धन—ऊरु, स्फिक्, कक्षा, वंक्षण और शिर पर खींचकर पट्टी बाँधनी चाहिये । हाथ, पैर, मुख, कान, छाती, पीठ, पार्श्व; गला, उदर, मेहन और मुष्क पर समान नेत्र तथा सन्धियों में ढीली बाँधनी चाहिये । शिथिल स्थान में यदि वात-कफ का व्रण हो तो सम बन्ध बाँधे किन्तु सम स्थान में वात-कफजन्य व्रण हो तो गाढ़ बन्ध बाँधे, और गाढ़ बन्धन के ऊरु स्थान पर वात-कफज व्रण हो तो अतिशय गाढ़ बन्ध बाँधे । वात-कफजन्य व्रणों को शीतकाल में और वसन्त में तीन-तीन दिन के अन्तर से खोलना (पट्टी बदलना) चाहिये । पित्त-रक्तजन्य व्रणों में गाढ़ बन्ध के स्थानों में सम, समबन्ध के स्थान पर शिथिल और शिथिल बन्ध के स्थान पर बिल्कुल नहीं बाधना चाहिये । पित्तरक्तजन्य व्रणों में सायं, प्रातः दोनों समय तथा ग्रीष्म और शरद् में अन्य व्रणों में भी दोनों समय पट्टी बदलनी चाहिये । तीन-तीन दिन पर तथा सायं-प्रातः पट्टी बदलने का स्पष्ट उल्लेख है अतः दोष, ऋतु, अवस्थाविशेष की दृष्टि से यदि आवश्यक हो तो वैद्य अपनी बुद्धि से विचार कर प्रति दिन भी पट्टी बदल सकता है ॥ ६२-६५ ॥

ननु बंधेन विना व्रणो धार्य इत्याह—

अबद्धो दंशमशकशीतवातादिपीडितः ॥ ६६ ॥
दुष्टीभवेच्चिरं चात्र न तिष्ठेत्स्नेहभेषजम् ।
कृच्छ्रेण शुद्धिं रूढिं वा याति रूढो विवर्णताम् ॥६७॥

स०—अबद्धो व्रणो दंशादिभिः पीडितो व्यथितस्तथा आदिशब्दाद्रजोधूमादिभिर्व्यथितोऽदुष्टोऽपि व्रणो दुष्टीभवति । अत्र च व्रणे बंधमंतरेण व्रणघ्नः स्नेह उपयोजितो भेषजं वा योजितं चिरं न तिष्ठेत् । बंधं च विना सम्यगुपचर्यमाणोऽपि व्रणः कष्टेन शुद्धिं याति रूढिं च कृच्छ्रेण याति । रूढोऽपि सन्विवर्णतां याति न शरीरवर्णतामित्यबंधनाद्दोषाः ॥६६-६७॥

व्रण को नहीं बाँधने से हानि—

वि०—पट्टी न बाँधने से—दंश, मच्छर, शीतल वायु आदि से पीड़ित होने के कारण व्रण दूषित हो जाता है तथा वहाँ स्नेह औषध देर तक नहीं टिकती एवं बन्धन के बिना व्रण कठिनाई से शुद्ध होता है या कठिनाई से भरता है अथवा भरकर विकृत रंग का होता है ॥ ६६-६७ ॥

इदानीं बंधनाद् गुणानाह—

बद्धस्तु चूर्णितो भग्नो विश्लिष्टः पाटितोऽपि वा ।
छिन्नस्नायुसिरोऽप्याशु सुखं संरोहति व्रणः ॥६८॥
उत्थानशयनाद्यासु सर्वेहासु न पीड्यते ।
उद्वृत्तौष्ठः समुत्सन्नो विषमः कठिनोऽतिरुक् ॥ ६९ ॥
समो मृदुररुक् शीघ्रं व्रणः शुध्यति रोहति ।

स०—तुरवधारणे । बद्ध एवं व्रणो बंधनमाहात्म्या- च्चूर्णितोऽस्थिसमाश्रितो व्रणस्तथा भग्नोऽस्थिसमाश्रित एव व्रणस्तथा विश्लिष्टः संधिस्थानादन्यस्थानगतो व्रणो नेत्रादिस्तथा पाटितः सर्वदेशस्थितोऽपि तथा छिन्नस्नायुसिरोऽप्याशु व्रणः सुखं सम्यग्रोहति तथोत्थानशयनाद्यासु सर्वास्वीहासु चेष्टासु न पीडयेन्न व्यथयेत् । ऊर्ध्वं वृत्तौ वर्तुलावोष्ठौ यस्य स उद्वृत्तौष्ठो न समः । तथा समुत्सन्नः समंतादुत्सन्न उन्नतो यो व्रणो न समः । तथा विषम उद्वृत्तौष्ठसमुत्सन्नाभ्यां व्यतिरिक्तो विषमसंस्थानः । तथा कठिनो यो व्रणो न मृदुः । तथाऽतिरुग्यो व्रणः । स सर्वं उद्वृत्तौष्ठादिपंचप्रकारोऽपि बंधमाहात्म्यादशुभरूपतां हित्वा व्रणः शीघ्रं शुद्धिं याति रोहति । ननूद्वृत्तौष्ठसमुत्सन्नावपि विषमशब्देनैव ग्रहीष्येते किमेताभ्यामुपात्ताभ्याम् । अस्त्येवैतत् किंत्वनयोः पृथङ्निर्देशेनाऽतिदुश्चिकित्स्यतरत्वं गमयति ॥ ६८-६९ ॥

व्रण को बाँधने से लाभ—

वि०—बन्धन के गुण—अस्थि के चूर्णित होने से या टूटने से अथवा विश्लेष से हुआ व्रण, विदीर्ण हुआ तथा जिसमें सिरास्नायु छिन्न हो गए हों ऐसा भी व्रण बन्धन से सुख-पूर्वक भरता है । उठने सोने आदि सब चेष्टाओं में पिड़ित नहीं होता । ऊपर को निकले किनारों वाला, सम्पूर्ण रूप में ऊपर को उठा हुआ, विषम (ऊंचा-नीचा), कठिन

तथा अतिशय वेदना वाला (इन पाँचों प्रकार का अशुद्ध व्रण) तथा समान, कोमल एवं वेदना रहित (शुद्ध) व्रण बन्धन से शीघ्र भर जाता है और शीघ्र शुद्ध होता है ॥ ६८-६९ ॥

स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम् ॥ ७० ॥
प्रच्छाद्यमौषधं पत्रैर्यथादोषं यथर्तु च ।
अजीर्णतरुणाच्छिद्रैः समन्तात्सुनिवेशितैः ॥ ७१ ॥
धौतैरकर्कशैः क्षीरिभूर्जार्जुनकदम्बजैः ।

स०—स्थिराणां व्रणादीनां दीर्घकालानुबंधिनां तथाऽल्पमांसानामनुपचितपललानामत एव हेतोस्तथा रौक्ष्यादनुपरोहतां रूढिमगच्छतामौषधं कल्कस्नेहादिकं यदुपयुज्यते तत्पत्रैः क्षीरिभूर्जार्जुनकदंबजैः प्रच्छाद्य स्थगितव्यं यथादोषं दोषानतिक्रमेण ऋत्वनतिक्रमेण च तद्वशाद्यथायोगम् । यथा वातव्रने शीतर्तौ स्निग्धोष्णैः पित्तव्रणे घर्मकाले शीतस्वभावैः कफव्रणे उष्णकाले रूक्षोष्णप्रायैः । एवं साधारणेऽपि काले मिश्रदोषे च कल्पनीयम् । किंभूतैः पत्रैः । अजीर्णान्यजर्जराणि तरुणानि प्रत्यग्राण्यच्छिद्राणि छिद्ररहितानि तैरजीर्णतरुणाच्छिद्रैः । समंतात्सुनिवेशितैः । तथा धौतैर्जलादिना निर्मलीकृतैः । तथाऽकर्कशैरकठिनैः ॥ ७०-७१ ॥

स्थिरादि व्रणौषधों पर पत्राच्छादन—

वि०—पत्रदान—जो व्रण स्थिर (चिर काल तक बने रहने वाले) एवं थोड़े मांस वाले हों तथा रूक्षता के कारण जो नहीं भरते, उनमें औषध को दोष एवं ऋतु के अनुसार पत्रों से ढांप देना चाहिये। ये पत्ते-अजर्जरित, नूतन, छेद-रहित होने चाहिये, इनको चारों ओर से भली प्रकार रखना चाहिये। ये पत्ते जलादि से धोकर निर्मल करने चाहिये यथा इनमें खुदरापन नहीं होना चाहिये। ये पत्ते-बरगद आदि क्षीरिवृक्षों के, भोजपत्र, अर्जुन और कदम्ब के लेने चाहिये ॥ ७०-७१ ॥

(वात व्रण में—शीत ऋतु में स्निग्ध एवं उष्ण पत्र, पित्तव्रण में-ग्रीष्म में शीतस्वभाव के, कफ व्रण में-उष्ण काल में रूक्ष एवं उष्ण पत्र तथा प्रावृट् काल में और मिश्र दोष में साधारण पत्र बरतने चाहिये)।

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिटिकामधुमेहिनाम् ॥ ७२ ॥
कर्णिकाश्चोन्दुरुविषे क्षारदग्धा विषान्विताः ।
बन्धनीया न मांसपाके गुदपाके च दारुणे ॥ ७३ ॥
शीर्यमाणाः सरुग्दाहाः शोफावस्थाविसर्पिणः ।

स०—कुष्ठ्यादीनां ये व्रणास्ते न बंधनीआः। तथोंदुरुविषे याः कर्णिकाः कोठरूपास्ताश्च न बध्नीयात्। तथा क्षारदग्धा ये व्रणास्ते न बंधनीयाः। तथा मांस्पाके व्रणास्तथा दारुणे च गुदपाके व्रणास्ते न बंधनीयाः। मांस्पाक इति मांसस्य पचि युड्घञोरित्यलोपः। तथा शीर्यमाणाः शदनावस्थां भजमानाः। तथा सरुग्दाहास्तथा शोफावस्था अनेकावस्था भजन्तोऽपि ये शोफावस्थावस्थितास्तथा विसर्पिणो विसर्पावस्थास्थिता ये व्रणास्ते च न बन्धनीयाः ॥ ७२-७३ ॥

नहीं बांधने योग्य व्रण—

वि०—बन्धन-निषेध—कुष्ठ रोगियों के और अग्नि से जलने से हुए व्रण, मधुमेह रोगियों की पिटिकायें, चूहे के विष में कर्णिका क्षार से जले, विष से युक्त, मांस के पाकजन्य व्रण, दारुण गुदपाक व्रण जिनसे मांस गिरता हो, वेदन तथा दाहयुक्त एवं शोफ की अवस्था में ही जो व्रण फैलते हों उन पर पट्टी नहीं बांधनी चाहिये ॥ ७२-७३ ॥

इदानीं सक्रमीणां व्रणानां चिकित्सामाह—

अरक्षया व्रणे यस्मिन् मक्षिका निक्षिपेत्क्रमीन् ॥ ७४ ॥
ते भक्षयन्तः कुर्वन्ति रुजाशोफास्रसंस्रवान् ।
सुरसादिं प्रयुञ्जीत तत्र धावनपूरणे ॥ ७५ ॥
सप्तपर्णकरञ्जार्कनिम्बराजादनत्वचः ।
गोमूत्रकल्कितो लेप सेकः क्षाराम्बुना हितः ॥ ७६ ॥
प्रच्छाद्य मांसपेश्या वा व्रणं तानाशु निर्हरेत् ।

स०—अरक्षयाऽपालनेन यस्मिन् व्रणे मक्षिका क्रमीन्निक्षिपेत् । ते तत्रस्थाः क्रमयो व्रणं भक्षयन्तो रुजादीन् कुर्वन्ति । तत्र तस्मिन् व्रणे सुरसादिगणं धावने पूरणे च तन्निमित्तं प्रयुञ्जीत । धावनं च पूरणं च तस्मिन् । तथा तस्मिन्व्रणे सप्तपर्णादीनां त्वचो गोमूत्रकल्कितः पिष्टलेपो हितः । तथा क्षाराम्बुना सेको हितः । अथवा मांसपेश्या व्रणं प्रच्छाद्य पिधाय तान् क्रमीनाशु निर्हरेत् ॥ ७४-७६ ॥

अरक्षा से क्रमियुक्त व्रणों की चिकित्सा—

वि०—जिस व्रण में रक्षा न करने से (उचित संशोधन और बन्धन न करने से) मक्खियां क्रमियों को उत्पन्न कर देती है और वे क्रमि मांस आदि को खाते हुए वेदना, शोफ और रक्तस्राव को उत्पन्न कर देते हैं। उन व्रणों को धोने और व्रण में भरने के लिये सुरसादि गण को बरते। सप्तपर्ण, करञ्ज, आक, नीम और राजादन (खिरनी) इनकी छाल को गोमूत्र के साथ पीसकर कल्क बनाकर लेप और क्षार के जल से परिषेक करना हितकारी है। अथवा व्रण को मांसपेशी से ढांप कर इन क्रमियों को शीघ्र निकाल देवे ॥ ७४-७६ ॥

न चैनं त्वरमाणोऽन्तः सदोषमुपरोहयेत् ॥ ७७ ॥
सोऽल्पेनाप्यपचारेण भूयो विकुरुते यतः ।

स०—नचैनं व्रणमन्तः सदोषं त्वरमाणो वैद्य उपरोहयेत्। कस्मादित्याह । स इत्यादि । यतो यस्मात्सोऽन्तःस्थितदोषो व्रणो रूढोऽपि भूयः पुनस्तोकेनाऽप्यचारेण विकृतिं याति ॥ ७७ ॥

भीतर से दूषित व्रणों में शीघ्रता से रोहणनिषेध—

वि०—जल्दी में अन्दर से दोषयुक्त व्रण का रोहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह व्रण थोड़े से भी अपचार से फिर (भरने पर भी) विकृत हो जाता है ॥ ७७ ॥

रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत् ॥ ७८ ॥
हर्षं क्रोधं भयं चापि यावदास्थैर्यसम्भवात् ।
आदरेणानुवर्त्योऽयं मासान् षट् सप्त वा विधिः ॥ ७९ ॥

स०—रूढेऽपि सत्यजीर्णादीन् विवर्जयेत् । अयमजीर्णव्यायामादिपरिवर्जनलक्षणो विधिः षट् सप्त वा मासानादरेण रक्षणीयः ॥ ७८-७९ ॥

रोपित व्रणों में त्याज्य कर्म—

वि०—व्रण के भर जाने पर भी अजीर्ण, व्यायाम, व्यवाय (मैथुन) आदि छोड़ देवे तथा अत्यधिक प्रसन्नता, क्रोध एवं भय भी छोड़ दे, जब तक व्रण में स्थिरता उत्पन्न न हो। यह नियम आग्रहपूर्वक छः या सात महीने तक बरतना चाहिये ॥ ७८-७९ ॥

उत्पद्यमानासु च तासु तासु
वार्तासु दोषादिबलानुसारी ।
तैस्तैरुपायैः प्रयतश्चिकित्से-
दालोचयन् विस्तरमुत्तरोक्तम् ॥ ८० ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने शस्त्रकर्मविधिर्नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

स०—तासु तासु वार्तास्ववस्थास्वनिर्दिष्टस्वरूपाभिधानासूत्पद्यमानासु जायमानासु तैस्तैरुक्तैरुपायैः साधनैश्चिकित्सेद्वैद्यः । यथा मक्षिकाभिः कृमिनिक्षेपात्कृमिप्राबल्ये जाते चिकित्सा विहिता । किंभूतो वैद्यः । दोषादिबलानुसारी दोषादीनां बलं दोषादिबलम् । आदिग्रहणाद्देशकालादयो गृह्यंते । तदनुसरत्येवंविधो यो वैद्यः । तथा प्रयतो यत्नपरः । तथोत्तर उत्तरतन्त्रे व्रणभङ्गविधान उक्तं निर्दिष्टं विस्तरमालोचयन् निरूपयन्न तु यदृच्छयेति भावः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ८० ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने शस्त्रकर्मविधिर्नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

शेष अवस्थाओं में वैद्य का कर्तव्य—

वि०—उन उन अनुक्त शिकायतों के उत्पन्न होने पर वैद्य दोष आदि के बल के अनुसार प्रयत्नपूर्वक उन उपायों द्वारा जिनका वर्णन उत्तर स्थान में विस्तार से किया गया है विचार कर चिकित्सा करे ॥ ८० ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में सूत्रस्थान का शस्त्रकर्मविधि नामक उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

* * *

त्रिंशोऽध्यायः

अतोऽनन्तरं क्षाराग्निकर्मविधिरारभ्यते यथैव हि शस्त्रेण पाटनादीनि कृत्वा तत्साध्य आमय उपक्रम्यते तथैव क्षाराग्निभ्यामित्याह—

अथातः क्षाराग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

स०—क्षारश्चाऽग्निश्च क्षाराग्नी तयोः कर्म क्षाराग्निकर्म तस्य विधिः शेषं पूर्ववत् । क्षारस्य बाह्याभ्यन्तरोपयोगित्वेन पूर्वमुपन्यासः ।

वि०—अब इसके आगे क्षार-अग्निकर्म-विधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे; जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठो बहूनि यत् ।
छेद्यभेद्यादिकर्माणि कुरुते विषमेष्वपि ॥ १ ॥
दुःखावचार्यशस्त्रेषु तेन सिद्धिमयात्सु च ।
अतिकृच्छ्रेषु रोगेषु यच्च पानेऽपि युज्यते ॥ २ ॥

स०—सर्वाणि च तानि शास्त्राण्यनुशस्त्राणि च तान्येवं तेषां सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां मध्ये क्षारः श्रेष्ठो ज्यायान् कुतोऽस्य श्रेष्ठतेत्याह—यस्माद् बहूनि छेद्यभेद्यादीनि कर्माण्यसौ करोति। आदिशब्देन लेखनपाटनादिपरिग्रहः । विषमेष्वपि देहदेशेषु । दुःखावचार्यशस्त्रेषु नासार्शोऽर्बुदादिषु । दुःखेनावचारयितुं शक्यं शस्त्रं येषु तेषु । अपिशब्दात्समेषु देहेषु युज्यते । तेन च शस्त्रेण सिद्धिमयात्स्वसिध्यत्सु दुष्टव्रणेषु बहुशः प्रकोपिषु । किंभूतेस्वतिकृच्छ्रेष्वतिदुःखसाध्येषु । दुष्टव्रणेषु रोगेष्वसौ क्षारो युज्यते योग्यः संपद्यते ततोऽपि हेतोः क्षारः श्रेष्ठः । यच्चेति । यस्माच्च क्षारः पानविषयेऽपि युज्यते शरीरांतःस्थितरोगशांत्यै । अपिशब्दाद्बाह्येऽपि बाह्यरोगस्यितिशांत्यै लेपे स युज्यते ॥ १-२ ॥

क्षारकर्म की श्रेष्ठता—

वि०—सब शस्त्र एवं अनुशस्त्रों में क्षार श्रेष्ठ है; क्योंकि यह छेदन-भेदन आदि बहुत से कर्म करता है; विषम अंगों में, जहाँ पर कठिनाई से शस्त्र चलाया जा सकता है (यथा नासार्श-अर्बुद आदि में) तथा शस्त्र से जो रोग साध्य नहीं होते उनमें; और अतिदुःखसाध्य रोगों में भी प्रयुक्त होता है। यह क्षार अन्दर पिलाने के लिये भी बरता जाता है (बाहर तो बरता ही जाता है) ॥ १-२ ॥

अधुना क्षारस्य पेयलेपविषयविभागं दर्शयति—

स पेयोऽर्शोऽग्निसादाश्मगुल्मोदरगरादिषु ।

स०—स क्षारः अर्शःसु विषये पेयः । तथाऽग्निसादे तथाऽश्मर्यां गुल्मादिषु च । आदिग्रहणादानाहशूलादिषु च ।

अर्श आदि में क्षारपान—

वि०—यह क्षार अर्श रोग, अग्निमान्द्य, अश्मरी; गुल्म और उदर रोगों में तथा गर आदि में पीना चाहिये ।

योज्यः साक्षान्मषश्वित्रबाह्यार्शःकुष्ठसुप्तिषु ॥ ३ ॥
भगन्दरार्बुद-ग्रन्थि-दुष्टनाडीव्रणादिषु ।

स०—स क्षारो योज्यः साक्षाल्लेपनेन मषादिषु । आदिग्रहणाच्चर्मकीलासवर्त्मतिलकादिपरिग्रहः ॥ ३ ॥

मस्से आदि में क्षार का लेप करना—

वि०—मस्सा, श्वित्र, बाह्यार्श, कुष्ठ, स्पर्शनाश, भगन्दर, अर्बुद, ग्रन्थि, दुष्ट व्रण, नाडी व्रण आदि रोगों में साक्षात्—सीधा बाहर (क्षार) लगाना चाहिये ॥ ३ ॥

न तूभयोऽपि योक्तव्यः पित्ते रक्ते चलेऽबले ॥ ४ ॥
ज्वरेऽतिसारे हृन्मूर्धरोगे पाण्ड्वामयेऽरुचौ ।
तिमिरे कृतसंशुद्धौ श्वयथौ सर्वगात्रगे ॥ ५ ॥
भीरुगर्भिण्यृतुमतीप्रोद्वृत्तफलयोनिषु ।
अजीर्णेऽन्ने शिशौ वृद्धे धमनीसन्धिमर्मसु ॥ ६ ॥
तरुणास्थिसिरास्नायुसेवनीगलनाभिषु ।
देशेऽल्पमांसे वृषणमेढ्रस्रोतोनखान्तरे ॥ ७ ॥
वर्त्मरोगादृतेऽक्ष्णोश्च शीतवर्षोष्णदुर्दिने ।

स०—पानलेपनभेदेन द्विविधोऽपि क्षारः पित्तादौ न योक्तव्यः । बले बलेवति । अबले बलहीने । ज्वरे । अतिसारे । हृद्रोगे । मूर्धरोगे । पांड्वामये पांडुरोगे । अरुचावरोचके । कृतसंशुद्धौ कृतवमनविरेके । श्वयथौ सर्वगात्रगे सर्वांगोच्छूने । तथा भीरौ । गर्भिण्याम् । ऋतुमत्याम् । प्रोद्वृत्तफलयोनिर्वक्ष्यमाण। उत्तरतंत्रे गुह्यरोगज्ञाने प्रकर्षेणोद्वृत्तं फलं रजोरूपं यस्या योनेः सा प्रोद्वृत्तफलयोनिः । रज एव फलं गर्भाख्यफलसाधनोपायत्वात् । प्रोद्वृत्तफलयोनेर्लक्षणमुक्तं यथा—वेगोदावर्तनाद्योनिं प्रपीडयति मारुतः । स फेनिलं रजः कृच्छ्रादुदावृत्तं विमुंचति । इयं व्यापदुदावृत्तेत्यादि । शिशौ बाले । वृद्धे गतवयसि । तथा धमन्यादिसु शरीरदेशेषु । देशेऽल्पमांसे स्वल्पपिशिते । तथा वृषणादिषु शरीरदेशेषु । तथाक्ष्णोर्नेत्रयोर्वर्त्मरोगं वर्जयित्वाऽन्यत्र क्षारो न प्रयोज्यः । वर्त्मरोगे तु क्षारो योज्य एव । शीतवर्षोष्णदुर्दिने न च योज्यः । शीतवर्षोष्णाहानि हेमंतशिशिरप्रावृड्ग्रीष्माः । दुर्दिनं मेघाद्याकुलदिवशम् । एषु क्षारो न योज्यः ॥ ४–७ ॥

द्विविध क्षार प्रयोग का निषेध—

वि०—निषेध—पित्त में, रक्त में, वायु में, निर्बल मनुष्यों में, ज्वर, अतिसार, हृदय रोग, शिरोरोग, पाण्डु रोग, अरुचि और तिमिर में, वमन-विरेचन से शोधन करने पर; सर्वाङ्ग शोथ में, तथा डरपोक, गर्भवती, ऋतुमती, गर्भाशय या योनि बाहर निकली हो; अन्न के अजीर्ण में, बालक में, वृद्ध में, धमनी-सन्धि और मर्म में, तरुणास्थि, सिरा, स्नायु, सेवनी, गला, नाभि में, थोड़े मांस वाले देश में, वृषण एवं मेहन के स्रोत में, नखों के अन्दर, वर्त्म रोग को छोड़ कर आँख के रोगों में, शीत, वर्षा और ग्रीष्म काल में, मेघाच्छन्न दिन, (इन रोगों में, इन अवस्थाओं में, इन स्थानों पर; इन समयों में) क्षारकर्म नहीं करना चाहिये ॥ ४–७ ॥

(उद्वृत्तफलयोनि–इनमें फल-अण्ड, योनि-गर्भाशय, स्थान से ऊपर को उठा अण्ड, अपवृत्तफल-स्थान से नीचे खिसका अण्ड, उद्वृत्त योनि-स्थान से ऊपर को खिसकी योनि; अपवृत्त योनि-स्थान से नीचे खिसकी योनि । फलयोनि शब्द से कोई गर्भाशय लेते हैं; दूसरे-फल शब्द से रज को लेते हैं; यथा—'रज एव फलं गर्भाख्यफलसाधनोपायत्वात् ।' इससे उदावृत्त योनि अर्थ करते हैं । हाराणचन्द्र जी ने फल शब्द से आन्त्र लिया है) ।

अधुना क्षारक्रियामाह—

कालमुष्ककशम्याककदलीपारिभद्रकान् ॥ ८ ॥
अश्वकर्णमहावृक्षपलाशास्फोतवृक्षकान् ।
इन्द्रवृक्षार्कपूतीकनक्तमालाश्वमारकान् ॥ ९ ॥
काकजङ्घामपामार्गमग्निमन्थाग्नितिल्वकान् ।
सार्द्रान् समूलशाखादीन् खण्डशः परिकल्पितान् ॥१०॥
कोशातकीश्चतस्रश्च शूकं नालं यवस्य च ।
निवाते निचयीकृत्य पृथक् तानि शिलातले ॥ ११ ॥
प्रक्षिप्य मुष्ककचये सुधाश्मानि च दीपयेत् ।
ततस्तिलानां कुतलैर्दग्ध्वा—

स०—कालमुष्कको मोक्षः । अश्वकर्णः कुशिकः । महावृक्षः स्नुही । आस्फोतो गिरिकर्णिका । वृक्षको नंदीवृक्षः । इन्द्रवृक्षः कुटजः । पूतीकः पूतीकरंजः । नक्तमालः करंजः । अश्वमारः करवीरः । कालमुष्ककादीन् मूलादिसहितान् खंडखंडं कल्पितान् परश्वादिना छिन्नान् । तथा कोशातकीश्चतस्रो यवस्य च शूको नालो द्रव इव यो भवति तांश्च निवाते देशे शिलातले शिलापृष्ठे पृथङ्मुष्ककादीन्निचयीकृत्य मुष्ककचये च सुधाश्मानि सुधाशर्कराः प्रक्षिप्य दीपयेज्ज्वालयेत् । कैः । तिलानां कुंतालैः पलालैः कांडैः । सुधाश्मानि चेति नपुंसकत्वं चिंत्यम् । पृथग्दीपनं चैषामचिंत्यप्रभावम् । एवं तानि दग्ध्वा ॥ ८–११ ॥

क्षार—कल्पना

वि०—क्षार विधान—कालमुष्कक (काला मोखा), शम्याक (अमल तास), केला, फरहद, अश्वकर्ण, स्नुही, ढाक, आस्फोता, वृक्षक (कुटज), इन्द्रवृक्ष (अर्जुन), आक, पूतीकरञ्ज, नाटा करञ्ज, कनेर, काकजङ्घा, चिरचिटा, अग्निमन्थ, चित्रक और तिल्वक् इनको गीला ही मूल और शाखाओं के साथ लाकर टुकड़े-टुकड़े बना ले तथा चारों कोशातकी (क्ष्वेड, धामार्गव, पटोली और देवदाली), जौ के शूक (बाल) और नाल इनको वायु रहित स्थान पर एकत्रित करके शिलापृष्ठ पर अलग-अलग ढेर लगाकर मुष्कक के ढेर में चूने के पत्थर डालकर तिलों के कुतलों से (मूल एवं नाल समेत शुष्क तिलकाण्डों से) जलाये ॥ ८–११ ॥

—अग्नौ विगते पृथक् ॥ १२ ॥
कृत्वा सुधाश्मनां भस्म द्रोणं त्वितरभस्मनः ।
मुष्ककोत्तरमादाय प्रत्येकं जलमूत्रयोः ॥ १३ ॥
गालयेदर्धभारेण महता वाससा च तत् ।
यावत्पिच्छिलरक्ताच्छस्तीक्ष्णो जातस्तदा च ताम् ॥१४॥
गृहीत्वा क्षारनिष्यन्दं पचेल्लौह्यां विघट्टयन् ।
पच्यमाने ततस्तस्मिंस्ताः सुधाभस्मशर्कराः ॥ १५ ॥
शुक्तीः क्षीरपङ्क-शङ्खनाभीश्चायसभाजने ।
कृत्वाऽग्निवर्णान्बहुशः क्षारोत्थे कुडवोन्मिते ॥ १६ ॥
निर्वाप्य पिष्ट्वा तेनैव प्रतीवापं विनिक्षिपेत् ।
श्लक्ष्णं शकृद्दक्षशिखिगृध्रकङ्ककपोतजम् ॥ १७ ॥
चतुष्पात्पक्षिपित्तालमनोह्वालवणानि च ।
परितः सुतरां चातो दर्व्या तमवघट्टयेत् ॥ १८ ॥
सबाष्पैश्च यदोत्तिष्ठेद् बुद्बुदैर्लेहवद् घनः ।
अवतार्य तदा शीतो यवराशावयोमये ॥ १९ ॥
स्थाप्योऽयं मध्यमः क्षारः—

स०—अनंतरमग्नौ विगते सुधाश्मनां भस्म द्रोण पृथक्कृत्वा व्यस्ते संस्थाप्येतरभस्मनः शम्याकादिद्रव्यभस्मनो द्रोणमादाय गृहीत्वा । किंभूतं द्रोणम् । मुष्कक उत्तरोऽधिको यस्य तमादाय जलमूत्रयोः प्रत्येकमर्धभारेण तद्भस्म गालयेत् । कथं गालयेत् । महता विस्तीर्णेन वाससा । कियंतं कालम् । यावत् क्षारनिष्यंदः क्षारस्रावः पिच्छिलरक्ताच्छस्तथा तीक्ष्णो जातः संपन्नस्तदा तस्मिन्काले तं क्षारनिष्यदं गृहीत्वा लौह्यां स्नेहपाकविधिना पचेत् । किं कुर्वन् । दर्व्या कुंडलसंज्ञया विघट्टयन्नालोडयन् । ततोऽनंतरं तस्मिन्क्षारनिष्यंदे पच्यमाने ताः स्थापिताः सुधाभस्मशर्करा या मुष्ककमध्ये प्रक्षिप्य दत्तास्तथा शुक्तीः प्राणिविशेषास्थीनि तथा क्षारपंकं प्रलेपकं खटिकासंज्ञं तथा शंखनाभीश्चाग्निवर्णान् कृत्वा क्षारोत्थे क्षारनिष्यंदे पलाष्टकपरिमाणे कथितक्षारोत्थ आयसभाजने तीक्ष्णलोहपात्रगते बहून् वारान्निर्वाप्य शीतीकृत्य तेनैव क्षारनिष्यंदेन दृषदि पिष्ट्वा तस्मिन्पच्यमाने क्षारनिष्यंदे प्रतीवापं विनिक्षिपेत् । द्रवद्रव्ये द्रव्यांतरं श्लक्ष्णपिष्टं दीयते स प्रतीवाप उच्यते । नच केवलमेष एव प्रतीवापत्वेन क्षेप्तव्यो यावद्दक्षादीनामपि शकृत् श्लक्ष्णं कृत्वा विनिक्षिपेत् । दक्षः कुक्कुटः । शिखी मयूरः । गृध्रः श्येनः । कंककपोतकौ पक्षिणौ । तथा चतुष्पदां गवादीनां तथा पक्षिणां पित्तं तथा अलमनोह्वालवणानि च । अलं हरितालम् । मनोह्वा मनःशिला । लवणं सैंधवादि । एतानि श्लक्ष्णानि कृत्वा प्रतीवापं विनिक्षिपेत् । अथ प्रतीवापादनंतरं परितः समंताद्दर्व्याऽवघट्टयेत् । सबाष्पैरित्यादि । यदा यस्मिन् काले स क्षारनिष्यंदः सबाष्पैः सोष्मभिर्बुद्बुदैर्घनो लेह इवोत्तिष्ठेदुद्गच्छेत् । यदा सांद्रतया पच्यमानः सन् लेहतुल्यो दर्वीप्रलेपी स्यादित्यर्थः । तदा तस्मिन् कालेऽवतार्याऽयोमये लोहभांडे स्थितो यवराशौ स्थाप्यः । किं कृत्वा । अवतार्य चुल्लीतः । तथा शीतः सन् । अयं मध्यमः क्षारः ॥ १२-१९ ॥

वि०—गालन विधि—अग्नि के शान्त हो जाने पर चूने के पत्थरों की भस्म को अलग कर ले । अब अमलतास आदि की भस्म एक द्रोण और मुष्कक की भस्म कुछ अधिक (शम्याक आदि की मिलित भस्म चार आढक; मुष्कक की अकेले की एक आढक भस्म-हेमाद्रि) लेवे । आधे भार (१००० पल) गोमूत्र एवं आधे भार जल इन दोनों को मिला कर (एक भार = २००० पल) इसमें घोल कर मोटे वस्त्र से छाने । इस प्रकार तब तक छानता रहे जब तक कि इस जल में पिच्छिलता, लालिमा, निर्मलता और तीक्ष्णता आये । फिर इस छने पानी को लोहे के पत्र में डाल कर कलछी से चलाते हुए पकाये । पकाते समय चूने के पत्थरों की भस्म, सीप, क्षीरपंक (खड़िया मिट्टी), शंखनाभि, इनको लोहपात्र में अग्नि पर लाल वर्ण करके इसी क्षारजल के एक कुडव (८ पल) में कई बार बुझाये तथा इसी क्षारजल से इनको पीस कर पकते हुए क्षारजल में इनका प्रतिवाप देवे । इनके सिवाय—मुर्गा, मोर, गीध, कंक और कबूतर की बीट तथा गौ आदि पशुओं तथा पक्षियों के पित्त तथा हरताल, सैनसिल और लवण इनको भी बारीक पीस कर कलछी से चलाते हुए मिला देना चाहिये । जब इसमें से भाप निकलने लगे, बुलबुले उठें और लेह के समान घट्ट बन जाये, तब इसे आग पर से उतार ले । तब ठण्डा होने पर लोह के पात्र में रखकर जौ के ढेर में इस पात्र को रख देवे । यह मध्यम क्षार है ।

(प्रतिवाप-द्रव द्रव्य में बारीक पिसा दूसरा द्रव्य मिलाना प्रतिवाप कहा जाता है) ॥ १२-१९ ॥

—न तु पिष्ट्वा क्षिपेन्मृदौ ।
निर्वाप्यापनयेत्तीक्ष्णे पूर्ववत् प्रतिवापनम् । २० ॥
तथा लाङ्गलिकादन्तिचित्रकातिविषावचाः ।
स्वर्जिकाकनकक्षीरिहिङ्गुपूतीकपल्लवाः । २१ ।
तालपत्री बिडं चेति सप्तरात्रात्परं तु सः ।
योज्यः—

स०—मृदौ क्षारे सुधादीनि निर्वाप्य तस्मिन्निष्यंदे प्रक्षिप्यैवापनयेन्निःसर्जयेन्न तु पिष्ट्वा विनिक्षिपेत् । तीक्ष्णे क्षारे पूर्ववन्मध्यमक्षारतुल्यं प्रतिवापनं निर्वाप्य पिष्ट्वा विनिक्षिपेदिति । नचैतावदेवाऽत्र प्रतिवापनमित्याह । तथेत्यादि लांगलिकादीनि बिडपर्यंतानि च तत्र प्रतिवापं विनिक्षिपेत । सप्तरात्रात्परमनंतरं स क्षारो योज्यः ॥ २०-२१ ॥

मृदु और तीक्ष्ण क्षार—

वि—मृदु क्षार में—पीस कर डालने वाले—चूने के पत्थरों की भस्म, सीप, कौड़ी आदि का प्रतिवाप नहीं दिया जाता । अपितु इन द्रव्यों को क्षार में बुझा कर निकाल लिया जाता

है (केवल जिस द्रव में चूना आदि बुझाये गये थे वही द्रव मिलाया जाता है)। तीक्ष्ण क्षार में—पूर्वोक्त द्रव्यों का प्रतिवापन करने के साथ-साथ कलिहारी, दन्ती, चित्रक, अतीस, वच, सर्जिक्षार, स्वर्णक्षीरी, हींग, पूतीकरञ्ज के पत्ते; तालपत्री (स्याह मुसली) और विड नमक इनका भी निक्षेप करे—इनको भी पीस कर मिलाये। सात दिन के पीछे इस क्षार का उपयोग करे ॥ २०-२१ ॥

इति क्षारत्रैविध्यमुक्त्वा विषयं निर्दिदिक्षुराह—

—तीक्ष्णोऽनलश्लेष्ममेदोजेष्वर्बुदादिषु। २२ ॥
मध्येष्वेव मध्योऽन्यः पित्तास्रगुदजन्मसु।
बलार्थं क्षीणपानीये क्षाराम्बु पुनरावपेत् ॥ २३ ॥

स०—तीक्ष्णः क्षारो वातश्लेष्ममेदःसमुत्थेष्वर्बुदादिषु योज्यः। महत्स्वेव योज्यः। मध्येषु क्षारांतरविधानम्। आदिग्रहणादन्येष्वपि तत्साध्येषु रोगेष्वयं क्षारो योज्यः। एष्वेवाऽनिलकफमेदोजेषु विकारेष्वर्बुदादिषु मध्येषु नोत्कृष्टेषु नाऽपि हीनेषु मध्यः क्षारो योज्यः। अन्यो मृदुः क्षारः पित्तरक्तसमुत्थेष्वर्शःसु योज्यो न तीक्ष्णमध्यौ क्षारौ। तस्मिन् क्षारे क्षीणपानीये घनीभूते क्षारे बलाधानार्थं पुनर्भूयः क्षारांबु क्षारविधिस्रुतं जलमावपेद्दद्यात् ॥ २२-२३ ॥

त्रिविध क्षार का रोगानुसार प्रयोग—

वि०—तीक्ष्ण क्षार—वात, कफ या मेदजन्य अर्बुद आदि में बरते। अर्बुद आदि मध्यम हों तो मध्यम क्षार बरते। पित्त रक्तजन्य अर्बुद आदि तथा सभी अर्शों में मृदु क्षार बरतना चाहिये। जिस क्षार में जलीयांश कम होने से घनता आ गयी हो उसमें बल-शक्ति लाने के लिये क्षार का जल फिर से डालना चाहिये[1] ॥ २२-२३ ॥

अधुना क्षारगुणानाह—

नातितीक्ष्णमृदुः श्लक्ष्णः पिच्छिलः शीघ्रगः सितः।
शिखरी सुखनिर्वाप्यो न विष्यन्दी न चातिरुक् ॥
क्षारो दशगुणः शस्त्रतेजसोरपि कर्मकृत्।
आचूषन्निव संरम्भाद्गात्रमापीडयन्निव ॥ २५ ॥
सर्वतोऽनुसरन् दोषानुन्मूलयति मूलतः।
कर्म कृत्वा गतरुजः स्वयमेवोपशाम्यति ॥ २६ ॥

स०—क्षारे नातितीक्ष्णादयो दश गुणा भवंति। शीघ्रं गच्छति प्रसरत्याशु व्याप्नोतीति शीघ्रगः। शिखरी शिखरमुपरिष्टात्पीटिकोत्थानं तद्वान्। सुखेन कांजिकादिना निर्वाप्यते शीतीक्रियते सुखनिर्वाप्यः। विष्यंदोऽस्यास्तीति विष्यंदी स्रुतिमान् न विष्यंदी न स्रुतिमान्। न चातिरुक् न चातिमान्। नातितीक्ष्णादयो दश गुणा यस्य स दशगुणः क्षारः। संग्रहे चाऽस्य दशैव दोषा गदिताः। तद्यथा। अत्युष्णोऽतिशीतोऽतितीक्ष्णोऽतिमृदुरतितनुरतिघनोऽतिपिच्छिलो विसर्पी हीनौषधो हीनपाकश्चेति। शस्त्रे यत्कर्म छेदनपाटनलेखनादि तथा तेजसो वह्नेरपि यत्कर्म तत्साध्यव्याध्युपशमलक्षणं तत्करोति। अधुना स्वंतरानुभवद्वारेण क्षारस्य गुणान्निर्दिशति—संरंभात्क्षोभाद् गात्रमाचूषन्निव तथाऽऽपीडयन्निव तथा सर्वतः सर्वस्मिन्ननुसरन् गच्छन् दोषान् शस्त्रसाध्यान् मूलत उन्मूलयत्युद्धरति। तथा कर्म स्वीयं दाहादिकं कृत्वा गतरुजः पुरुषस्य स्वयमेव यत्नं विनैवोपशाम्यति ॥ २४-२६ ॥

क्षार के गुण—

वि०—क्षार के दस गुण—क्षार न तो बहुत तीक्ष्ण, न बहुत मृदु, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, शीघ्रगामी, श्वेत, शिखरी (द्रव्य के ऊपर रखने से पिडकाकार बनता है); सुखपूर्वक शान्त किया जाये; क्लेद को उत्पन्न न करे; अतिपीड़ा न करे—क्षार के ये दस गुण हैं। क्षार—शस्त्र और अग्नि के भी कार्य को कर देता है। चूसने की भाँति चारों ओर से, वेग के साथ शरीर के अंग को दबाता हुआ-सा सब ओर फैलता हुआ दोषों को जड़ से उखाड़ देता है। कर्म करके विकार के शान्त होने पर अपने आप ही शान्त हो जाता है ॥२४-२६॥

(क्षार में दस दोष भी है, यथा—अत्युष्णोऽतिशीतोऽतितीक्ष्णोऽतिमृदुरतितनुरतिघनोऽतिपिच्छिलोऽतिविसर्पी हीनौषधो हीनपाकश्चेति ॥ संग्रह. सू. अ. ३९)।

क्षारसाध्ये गदे छिन्ने लिखिते स्राविते ऽथवा।
क्षारं शलाकया दत्त्वा प्लोतप्रावृतदेहया ॥ २७ ॥
मात्राशतमुपेक्षेत तत्रार्शःस्वावृताननम्।
हस्तेन यन्त्रं कुर्वीत—

स०—क्षारसाध्ये व्याधावर्शोऽर्बुदादौ छिन्ने द्विधाकृते लिखिते शस्त्रेण विघृष्टे स्राविते प्रच्छाद्य निर्हृतशोणिते कर्मणि कृते क्षारो योज्यो नाकृते च्छेदादाविति क्षारस्य विषयो दर्शितः क्षारं शलाकया दत्त्वा मात्राशतमुपेक्षेत न कांजिकादिना निर्वापणं कार्यमित्यर्थः। किंभूतया शलाकया। प्लोतेन चैलखंडेन प्रावृतः स्थगितो देहः परिग्रहो यस्याः। तत्र क्षारसाध्येष्वर्शःसु क्षारपातं कृत्वा मात्राशतं यावत्तावद्धस्तेन यंत्रमावृताननं छादितमुखं कुर्यात् ॥ २७ ॥

क्षारप्रयोग विधि—

वि०—क्षारसाध्य रोग में छेदन करके या शस्त्र से लेखन करके अथवा रक्त का स्राव करके शलाका से क्षार प्रयुक्त करे। शलाका को कपड़े से ढाँपकर क्षार बरते। इस क्षार की एक सौ मात्रा तक उपेक्षा करे। (इसके पीछे इस पर काँजी आदि बरते)।

अर्श रोग में क्षारप्रयोग करके एक सौ मात्रा तक यन्त्र के मुख को हाथ से ढाँप कर रखे ॥ २७ ॥

---

[1] १. क्षार द्रव्य जलहीन होने पर निर्मल हो जाता है। जैसे बुझा हुआ चूना जल सूख जाने पर निस्तेज हो जाता है और मरा चूना कहलाता है। अतः क्षार को पूर्णतया सूखने नही देना चाहिए बल्कि बीच-बीच में क्षार द्रव डालते रहना चाहिए।

—वर्त्मरोगेषु वर्त्मनी ॥ २८ ॥
निर्भुज्य पिचुनाऽऽच्छाद्य कृष्णभागं विनिक्षिपेत् ।
पद्मपत्रतनुः क्षारलेपो घ्राणार्बुदेषु च ॥ २९ ॥
प्रत्यादित्यं निषण्णस्य समुन्नम्याग्रनासिकाम् ।
मात्रा विधार्यः पञ्चाशत् तद्वदर्शसि कर्णजे ॥ ३० ॥

स०—क्षारसाध्येषु वर्त्मरोगेषु वर्त्मनी निर्भुज्य कुटिलीकृत्य ततः क्षारस्पर्शपरिहाराय पिचुना कार्पासादिमयेन कृष्णभागं तारकप्रदेशमाच्छाद्य क्षारं विनिक्षिपेत् । तत्र च पद्मपत्रप्रमाणः क्षारलेपो देयो न गुदार्शःस्विव घनः । पद्मपत्रतनुरित्युपमानानानि सामान्यवचनैरिति समासः । घ्राणार्बुदेषु च पद्मपत्रतनुः क्षारलेपः । कथं तत्र लेपो देयस्तत्राह—घ्राणजेष्वर्बुदेषु प्रत्यादित्यं रविसंमुखं निषण्णस्य संस्थितस्य तथाऽग्रे नासिकाऽग्रनासिका तामुन्नम्योत्क्षिप्य । कियंतं कालं लेपो धार्य इत्याह । मात्राः पंचाशद्विधार्यः । वर्त्मसु चाल्पतरा मात्राः । स्थानस्य सुकुमारत्वात् । कर्णजेऽर्शसि तद्वत्तेन घ्राणार्बुदेन तुल्यं स एव पद्मपत्रतनुः क्षारलेपस्ता एव पंचाशन्मात्रा धार्यः ॥ २८-३० ॥

वि०—वर्त्म के रोगों में—पलकों को उलटा करके रूई के फोये से काले भाग को ढाँपकर कमल के पत्र के बराबर पतला लेप क्षार का करे । नासार्बुद में भी कमल के पत्र के समान पतला लेप करना चाहिये । इसके लिये रोगी को सूर्य के सामने बिठा कर नासिका के अग्र भाग को ऊँचा उठाकर क्षार प्रयोग करे और पचास मात्रा तक प्रतीक्षा करे । कान के अर्श में भी पचास मात्रा तक प्रतीक्षा करे । (लेप भी नासार्बुद की भाँति करे) ॥ २८-३० ॥

क्षारं प्रमार्जनेनानु परिमृज्यावगम्य च ।
सुदग्धं घृतमध्वक्तं तत्पयोमस्तुकाञ्जिकैः ॥ ३१ ॥
निर्वापयेत्ततः साज्यैः स्वादुशीतैः प्रदेहयेत् ।
अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानि क्लेदनाय च ॥ ३२ ॥

स०—अनु पश्चात् क्षारलेपदाननियमितात्कालादनंतरं क्षारं प्रमार्जनेन चैलादिना परिमृज्य शोधयित्वा सुदग्धं क्षारस्थानमर्शोऽर्बुदाद्यधिष्ठानमवगम्य सम्यग्दाहलक्षणेन ज्ञात्वा तत्क्षारदग्धस्थानं घृतमधुलेपितं कृत्वा पयःप्रभृतिभिः साज्यैः सघृतैर्लेपयेत् । अभिस्यंदीनि स्रुतिरूपश्लेष्मकारीणि भोज्यान्यन्नपानानि माषदध्यादीनि भोज्यानि भक्षयितव्यानि । किमर्थम् । क्लेदनाय क्षारदग्धस्थानविशरणाय । यतः क्षारदग्धं क्लिन्नं सच्छीर्यते ॥ ३१-३२ ॥

क्षारप्रयोग के बाद कर्तव्य—

वि०—क्षारप्रयोग कर नियमित समय तक प्रतीक्षा के बाद वस्त्र आदि से क्षार को साफ करके धोकर स्थान को भली प्रकार जला हुआ समझकर जले हुए स्थान पर घी और मधु का लेप करे; फिर दूध मस्तु या कांजी से क्षार को शान्त करे । फिर मुलहठी आदि मधुर-शीतल द्रव्यों को घी में मिलाकर लेप कर दे । अभिष्यन्दी (उड़द, दही आदि) तथा क्लेदन खानपान खाने के लिये देवे ॥ ३१-३२ ॥

यदि च स्थिरमूलत्वात्क्षारदग्धं न शीर्यते ।
धान्याम्लबीजयष्ट्याह्वतिलैरालेपयेत्ततः ॥ ३३ ॥
तिलकल्कः समधुको घृताक्तो व्रणरोपणः ।

स०—यदि च क्षारदग्धमभिष्यंदिभिर्भोज्यैरुपयुक्तैः स्थिरमूलत्वाद्दृढमूलत्वाद्रोगाधिष्ठानं न शीर्यते ततो धान्याम्लस्य बीजमवयवविशेषस्तेन तथा मधुकतिलाभ्यामालेपयेत् । तिलकल्को मधुयष्टियुक्तो घृतान्वितो व्रणस्य रोपणः ॥ ३३ ॥

क्षारदग्ध स्थान पर लेप—

वि०—यदि अभिष्यन्दी भोजनों से भी क्षारदग्ध स्थान दृढमूल होने के कारण गलकर गिरे नहीं तब काँजी के तलस्थ बीज (किण्व) को मुलहठी और तिल में मिलाकर लेप करे । तिल का कल्क मुलहठी के साथ घी में मिलाकर लगाने से व्रणरोपक होता है ॥ ३३ ॥

पक्वजम्ब्वसितं सन्नं सम्यग्दग्धम्—

स०—पक्वजंबूफलवदसितं कृष्णं तथा सन्नं निम्नं सम्यग्दग्धं स्थानं विद्यात् ।

सम्यक् दग्ध का लक्षण—

वि०—सुदग्ध का लक्षण—भली प्रकार जलने पर स्थान पके हुए जामुन के समान काला, निम्न हो जाता है ।

—विपर्यये ॥ ३४ ॥
ताम्रतातोदकण्ड्वाद्यैर्दुर्दग्धं तं पुनर्दहेत् ।

स०—विपर्यये पक्वजंब्वसितादिलक्षणविपर्यये तथा ताम्रतातोदकंड्वाद्यैरादिग्रहणात् शोफविस्फोटादिभिर्दुर्दग्धं स्थानं विद्यात् । तं तथाभूतं ज्ञात्वा पुनर्दहेत् भूयस्तत्र क्षारं पादयेद्दाहीयम् ॥ ३४ ॥

दुर्दग्ध का लक्षण तथा उसमें कर्तव्य—

वि०—दुर्दग्ध का लक्षण—भली प्रकार न जलने पर स्थान ताम्रवर्ण का होता है तथा इसमें तोद, कण्डू आदि (शोफ, विस्फोट आदि) होते हैं । इसको पुनः जलावे ॥ ३४ ॥

अतिदग्धे स्रवेद्रक्तं मूर्च्छादाहज्वरादयः ॥ ३५ ॥

स०—अतिदग्धे सति रक्तं स्रवेत् । तथा मूर्छादयो जायेते । आदिग्रहणाद्विसर्पशोफोपविस्फोटादयोऽपि ॥ ३५ ॥

अतिदग्ध का लक्षण—

वि०—अतिदग्ध में—रक्त बहता है; रोगी को मूर्च्छा, दाह, ज्वर आदि हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

गुदे विशेषाद्विण्मूत्रसंरोधोऽतिप्रवर्तनम् ।
पुंस्त्वोपघातो मृत्युर्वा गुदस्य शातनाद्ध्रुवम् ॥ ३६ ॥
नासायां नासिकावंशदरणाकुञ्चनोद्भवः ।
भवेच्च विषयाज्ञानं तद्वच्छ्रोत्रादिकेष्वपि ॥ ३७ ॥

स०—गुदेऽतिदग्धे विशेषेण विण्मूत्रयोः संरोधस्तथा तयोरेवातिप्रवर्तनं कदाचिद्भवति। विशेषग्रहणात्पूर्वोक्ता रक्तस्रावादयोऽपि। तथा पुंस्त्वोपघातः शुक्रक्षयात्कांतागमनासामर्थ्यम्। अथवा गुदस्य शातनाच्छिदारणान्निश्चयेन मृत्युर्भवति। नासायां क्षारातिदग्धायां नासिकावंशस्य दरणाकुंचने उद्भवतस्तथा विषयाज्ञानं गंधस्यावेदनं च भवेत्। तद्वत्तेन क्षारातिदग्धेन नासिकाविषयाज्ञानेन तुल्यं क्षारातिदग्धेषु श्रोत्रादिषु श्रोत्रचक्षुरसनेषु स्थानेषु विषयाज्ञानं स्यात् ॥ ३६-३७ ॥

गुदादि के अतिदग्ध का लक्षण—

वि०—गुदादि में अतिदग्ध होने पर—मुख्यतः मल-मूत्र का अवरोध अथवा मल मूत्र की अतिशय प्रवृत्ति और क्लीबता होती है; अथवा गुदा के विदीर्ण होने से अवश्य मृत्यु हो जाती है।

वि०—नासा में अतिदग्ध होने पर नासा का वंश फट जाता है एवं सिकुड़ जाता है तथा गन्ध का ज्ञान नहीं होता। यही लक्षण श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा आदि के अतिशय जलने में होते हैं ॥ ३६-३७ ॥

विशेषादत्र सेकोऽम्लैर्लेपो मधु घृतं तिलाः।
वातपित्तहरा चेष्टा सर्वैव शिशिरा क्रिया ॥ ३८ ॥
अम्लो हि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः।
यात्याशु स्वादुतां तस्मादम्लैर्निर्वापयेत्तराम् ॥ ३९ ॥

स०—तस्मिन्नतिक्षारदग्धे विशेषेणाम्लैः कांजिकादिभिः सेको हितः। मधुघृततिलाश्च लेप इष्टः। तथा सर्वैव च शिशिरा क्रिया वातपित्तहरेष्टा। संग्रहे चोक्तम्। पाययेतातियोगेऽतस्तं शीघ्रं सघृतं दधि। सगुडं वा दधिसरं तैलं वा ससितोपलमिति। तस्माद्धेतोः क्षारदग्धमम्लैः कांजिकादिभिर्निर्वापयेत्तराम्। यस्मादम्लः शीतः स्पर्शेन। तेन चाम्लेन क्षार उपसंहितो युक्त आश्वेव कटुकलवणभूयिष्ठतां त्यक्त्वा स्वादुतां याति। तरांग्रहणमतिशयेनाम्लैर्निर्वापयेत् देशसात्म्यानुरोधात्कदाचित्क्षीरादिभिरपीति गमयति। इति क्षारविधिः॥३८-३९॥

अतिदग्ध में कर्तव्य—

वि०—अतिदग्ध की चिकित्सा-इस अतिदग्ध की अवस्था में विशेष कर कांजी आदि अम्ल द्रव्यों से परिषेक करना चाहिये। मधु, घी और तिल का लेप करे। वातपित्तनाशक सम्पूर्ण शीतल उपचार करना चाहिये। अम्ल स्पर्श में शीतल होता है; इससे मिलकर क्षार तुरन्त ही मधुर (उदासीन-अक्रिय) बन जाता है; इसलिये विशेषतः अम्ल द्रव्यों से क्षार को शान्त करे[1] ॥ ३८-३९ ॥

वक्तव्य—पानीय क्षार के अतिदाह में—'पाययेताऽतियोगेऽत्र तं शीघ्र सघृतं दधि। सगुडं वा दधिसरं तैलं वा ससितोपलम् ॥' संग्रह० सू० ३९।

अग्निकर्मविधिमाह—

(विषाग्निशस्त्राशनिमृत्युतुल्यः
क्षारो भवेदल्पमतिप्रयुक्तः।
स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो
रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान् ॥ १ ॥)

वि०—(अल्पज्ञ द्वारा प्रयुक्त क्षार विष, अग्नि, शस्त्र और बिजली की मृत्यु के समान (तात्कालिक) मृत्यु का कारण होता है। वही क्षार बुद्धिमान द्वारा भली प्रकार प्रयुक्त किये जाने पर जल्दी ही भयंकर रोगों को नष्ट करता है ॥ १ ॥)

अग्निः क्षारादपि श्रेष्ठस्तद्दग्धानामसम्भवात्।
भेषजक्षारशस्त्रैश्च न सिद्धानां प्रसाधनात् ॥ ४० ॥

स०—क्षाराद्प्यग्नेः प्रशस्यतरत्वम्। कुतः। तेनाग्निना दग्धानां रोगाणामर्शःप्रभृतीनामसंभवात्। भूयोऽग्निदग्धो रोगः प्ररोहं न याति। मूलादुन्मूलनादित्यर्थः। [भेषजक्षारशस्त्रैश्च ये रोगा न शांतास्तेषां प्रसाधनाज्ज्वलनो उपायान् ॥ ४० ॥

क्षार से अग्निकर्म की श्रेष्ठता—

वि०—अग्नि क्षार से भी अधिक श्रेष्ठ है; क्योंकि अग्नि से जलाये रोगों का फिर उत्पन्न होना असम्भव होता है और जो रोग औषध, क्षार एवं शस्त्रों से सिद्ध नहीं होते; वे अग्नि से अच्छे हो जाते हैं ॥ ४० ॥

त्वचि मांसे सिरास्नायुसन्ध्यस्थिषु स युज्यते।

स०—सोऽग्निदाहस्त्वगादिषु युज्यते।

त्वचादि में अग्निदाह—

वि०—अग्निकर्म त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि में बरता जाता है।

मषाङ्गग्लानिमूर्धार्तिमन्थकीलतिलादिषु ॥ ४१ ॥
त्वग्दाहो वर्तिगोदन्तसूर्यकान्तशरादिभिः।

स०—तत्र मषादिषु रोगेषु त्वग्दाहः कार्यो वर्त्यादिभिः। वर्तिः पिचुवर्तिः। आदिग्रहणादन्येष्वपि क्षुद्ररोगाध्यायोक्तेषु त्वग्दाहो योज्यः। शरादिभिरित्यादिग्रहणादन्यैरपि देशांतरप्रसिद्धैस्त्वग्दाहः कार्यः ॥ ४१ ॥

मषादि रोग में वर्ति आदि से त्वग्दाह—

वि०—मषक, अंगग्लानि; शिर-पीडा, अधिमन्थ, चर्मकील, तिलादि अन्य क्षुद्र रोगों में त्वचा में दाह करना चाहिये। वर्त्ति (गुग्गुल आदि की बनाई), गाय का दाँत; सूर्यकान्त मणि अथवा शर आदि से त्वचा में दाह करना चाहिये ॥ ४१ ॥

अर्शोभगन्दरग्रन्थिनाडीदुष्टव्रणादिषु ॥ ४२ ॥
मांसदाहो मधुस्नेहजाम्बवौष्ठगुडादिभिः।

स०—अर्शःप्रभृतिषु रोगेषु मधुस्नेहादिभिर्मांसदाहः कार्यः। आदिग्रहणेनार्बुदगंडमालादयो गृह्यंते। तत्र कदाचि-

---

[1] अम्ल और क्षार के संयोग से रासायनिक क्रिया होकर उदासीन बन जाता है तथा अम्ल और क्षार दोनों की दाहकता शान्त हो जाती है।

न्मधुना कदाचित्पृथक्स्नेहैः कदाचिज्जांबवोष्ठेन। जांबवोष्ठः शलाकाविशेषो यंत्रविधावुक्तो येन क्षारो दीयते कदाचिद्गुडेन कदाचिदेवंप्रायेणान्येनापि देशविशेषप्रसिद्धेन ॥ ४२ ॥

अर्श आदि में मधु आदि से मांसदाह—

वि०—अर्श, भगन्दर, ग्रन्थि, नाड़ीव्रण, दुष्ट व्रण आदि में, मधु, स्नेह, जाम्बवौष्ठ और गुड़ आदि से माँस में दाह करना चाहिये ॥ ४२ ॥

शिलष्टवर्त्मन्यसृक्स्रावनीलयसम्यग्व्यधादिषु ॥ ४३ ॥
सिरादिदाहस्तैरेव—

स० तैरेव शिलष्टवर्त्मादिषु सिरादाहः कार्यः। तैरेव मधुस्नेहादिभिः ॥ ४३ ॥

शिलष्टादि रोगों में मध्वादि से ही सिरादाह—

वि०—शिलष्टवर्त्म, रक्तस्राव और असम्यग् सिराबेधन में स्नेह, जाम्बवौष्ठ और गुड़ आदि से ही सिरा आदि में दाह करना चाहिये। (सिरादि में आदि से धमनी, नाड़ी, स्नायु, सन्धि; अस्थिच्छेद, दन्तनाड़ी, उपपक्ष्म, आदि का ग्रहण करना चाहिये) ॥ ४३ ॥

—न दहेत्क्षारवारितान्।
अन्तःशल्यासृजो भिन्नकोष्ठान् भूरिव्रणातुरान् ॥४४॥

स०—क्षारवारितान्न दहेत्। न केवलं क्षारो वारितस्तान् दहेद्यावदंतःशल्यं तथांतर्लोहितं येषां तान् ॥ ४४ ॥

अग्निदाह के अयोग्य

वि०—निषेध—जो व्यक्ति क्षार के लिये अयोग्य हैं—उनमें अग्निकर्म नहीं करना चाहिये; जिनके व्रणादि के अन्दर शल्य या रक्त हो; जिनका कोष्ठ विदीर्ण हो गया हो और जिनमें बहुत से व्रण हों, उनमें दाह नहीं करना चाहिये ॥४४॥

सुदग्धं घृतमध्वक्तं स्निग्धशीतैः प्रदेहयेत्।

स०—सुदग्धमग्निना रोगाधिष्ठानं ज्ञात्वा घृतमधुभ्यामभ्यक्तं कृत्वा स्निग्धशीतैर्मधुयष्टिशालिमूलादिभिः प्रलेपयेत्।

सम्यग्दग्ध में कर्तव्य—

वि०—भली प्रकार दाह हो जाने पर घी और मधु का लेप करके (मुलहठी, शालीमूल आदि) स्निग्ध एवं शीतल द्रव्यों का लेप कर देना चाहिये।

तस्य लिङ्गं स्थिते रक्ते शब्दवल्लसिकान्वितम् ॥४५॥
पक्वतालकपोताभं सुरोहं नातिवेदनम्।

स०—तस्येत्यनेन सुदग्धं स्थानं परामृश्यते। तस्य सुदग्धस्य स्थानस्य लिंगं लक्षणं स्थिते रक्ते दह्यमानावस्थाप्रवृत्तासृजि निवृत्ते सति शब्दवद्बुद्बुदशब्दवत् स्थानं भवेत्। तथा लसिकान्वितम्। लसिका कुशशस्त्रादिविक्षते प्रथमं या दृश्यते जललवाकृतिः। तथा पक्वतालसदृशम्। सुखेन रोहति सुरोहम्। तथा नातिवेदनं नातितीव्ररुक् ॥ ४५ ॥

सम्यग्दग्ध के लक्षण—

वि०—सुदग्ध का लक्षण—भली प्रकार जलने पर रक्त के बन्द हो जाने पर स्थान बुद्-बुद् शब्द तथा लसीका युक्त हो जाता है या पके हुए लाल तालफल के समान अथवा कबूतर के रंग के समान हो जाता है; सुगमता से भरता है और इसमें अतिशय वेदना, नहीं होती'[1] ॥ ४५ ॥

प्रमाददग्धवत्सर्वं दुर्दग्धात्यर्थदग्धयोः ॥ ४६ ॥
चतुर्धा तत्तु तुच्छेन सह तुच्छस्य लक्षणम्।
त्वग्विवर्णोष्यतेऽत्यर्थं नच स्फोटसमुद्भवः ॥ ४७ ॥
सस्फोटदाहतीव्रोषं दुर्दग्धम्, अतिदाहतः।
मांसलम्बन-सङ्कोच-दाह-धूपन-वेदनाः ॥ ४८ ॥
सिरादिनाशस्तृण्मूर्च्छाव्रणगाम्भीर्यमृत्यवः।

स०—दुर्दग्धात्यर्थदग्धयोः प्रमाददग्धेन तुल्यं सर्वं लक्षणं बोध्यम्। नच लक्षणमंतरेणैतत्सम्यग्ज्ञायत इति तल्लक्षणार्थं भेदांतरदर्शनार्थमाह—तत्प्रमाददग्धं चतुष्प्रकारम्। कथम्। तुत्थेन तुत्थदग्धलक्षणेन सह। अविमृश्यदग्धं हि कदाचित्सम्यग्दग्धलक्षणं कदाचिद्दुर्दग्धलक्षणं कदाचिदतिदग्धलक्षणं कदाचिच्च तुत्थदग्धलक्षणं स्यात्। तुत्थस्य तुत्थदग्धस्य लक्षणमिति कार्ये कारणमुक्तम्। त्वगित्यादि त्वग्विवर्णा सत्यत्यर्थमुष्यते रुज्यते नच स्फोटानां समुद्भूतिरिति तुत्थदग्धस्थानस्य लक्षणम्। यत्किंचिन्मात्रमेवाग्निना स्पृष्टं तत्तुत्थदग्धमित्युच्यते। यत्र प्रदेशे स्फोटानामुद्भवो दाहयुक्ता तीव्रा उषा जायते तद्दुर्दग्धं रोगाधिष्ठानं विद्यात्। अतिदाहाद्रोगाधिष्ठानस्य मांसलंबनादयः स्युः। संकोचः सिरादीनाम्। धूपनं धूमनिर्गमनमिव भवनम्। वेदना रुजा। सिरादीनां नाशो व्यापद्। व्रणगांभीर्यं गंभीरव्रणता। मृत्युर्मरणं च। सम्यग्दग्धलिंगं तूक्तमेव तस्य लिंगं स्थिते रक्त इत्यादिना तस्मात्तत्पुनर्न निर्दिष्टम् ॥ ४६-४८ ॥

दुर्दग्ध तथा अतिदग्ध के लक्षण और भेदादि—

वि०—दुर्दग्ध और अतिदग्ध में प्रमाद से हुए दग्ध के सभी लक्षण होते हैं। प्रमाददग्ध (असावधानी से जल जाना) तुच्छ के साथ मिलाकर चार प्रकार का होता है; यथा—तुच्छ; दुर्दग्ध, अतिदग्ध तथा सम्यग्दग्ध।

तुच्छ का लक्षण—त्वचा में विवर्णता एवं अतिशय जलन होती है और छाले नहीं उत्पन्न होते, यह तुच्छ दग्ध है।

दुर्दग्ध में छालों का उत्पन्न होना, दाह और तीव्र जलन ये लक्षण होते हैं।

अतिदग्ध में मांस का लटकना, सिरा आदि का संकोच, दाह, धूमदर्शन, अत्यन्त वेदना; सिरा आदि का नष्ट होना, प्यास, मूर्च्छा, गम्भीर व्रण और मृत्यु हो जाती है। (सम्यक् दग्ध के लक्षण पहले कह दिये हैं) ॥ ४६-४८ ॥

---

[1] पूर्वोक्त विभिन्न लक्षण तथा कुछ अन्य लक्षण भी भिन्न-भिन्न स्थानों के दग्ध में होते हैं। यथा—'सशब्दं दहनं दुर्गन्धित्वं त्वक्संकोचश्च त्वग्दग्धे, कपोतवर्णत्वमल्पशोफरुजता शुष्कसंकुचितवर्णता च मांसदग्धे. कृष्णोन्नतव्रणत्वं स्थिते च रक्ते लसीकास्रुतिः शिरादग्धे, कृष्णारुणकर्कशस्थिरव्रणता स्नाय्वादिदग्धे च।'

(अ. सं. सू. अ. ४०)

अधुना चतुर्विधस्याऽस्य चिकित्सितमाह—

तुच्छस्याग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं च भेषजम् ॥ ४९ ॥
स्त्यानेऽस्रे वेदनाऽत्यर्थं विलीने मन्दता रुजः ।

स०—तुच्छदग्धस्याऽग्निना प्रतपनं कार्यम्। तथोष्णं भेषजमौषधम्। रक्तस्य विलयनार्थमेतत्। यतो हि तुच्छदग्धे ह्यवश्यं स्त्यानमसृग्भवतीति युक्त्या प्रतिपादयन्नाह— लोहिते स्त्याने सत्यतिशयेन रुग्भवति विलीने रक्ते पीडाया मंदता मंदत्वं भवति। अतो हि तुच्छदग्धेऽग्निप्रतपनं योज्यम् ॥४९॥

तुच्छदग्ध की चिकित्सा—

वि०—चिकित्सा—तुच्छ दाह में अग्नि से सेकना चाहिये और उष्ण औषध लगानी चाहिये क्योंकि रक्त के जम जाने से अतिशय वेदना होती है और रक्त के पिघलने से वेदना कम हो जाती है ॥ ४९ ॥

दुर्दग्धे शीतमुष्णं च युञ्ज्यादादौ ततो हिमम् ॥ ५० ॥

स०—शीतमुष्णं च पर्यायेणौषधं तत्रादौ प्रथमं भेषजं युंज्यात् ॥ ५० ॥

दुर्दग्ध की चिकित्सा—

वि०—दुर्दग्ध में आरम्भ में बारी-बारी से शीत और उष्ण उपचार करे और अन्त में केवल शीतोपचार करे ॥ ५० ॥

सम्यग्दग्धे तवक्षीरिप्लक्षचन्दनगैरिकैः ।
लिम्पेत्साज्यामृतैरूर्ध्वं पित्तविद्रधिवत्क्रिया ॥ ५१ ॥

स०—सम्यग्दग्धे तवक्षीर्यादिभिर्लेपयेत्। किंभूतैः। साज्यामृतैर्घृतगुडूचीयुक्तैः। आदावित्यत्राऽपि योज्यम्। आदौ तैर्लेपयेदूर्ध्वमनंतरं पित्तविद्रधिवत् क्रिया कार्येति शेषः ॥ ५१ ॥

सम्यग्दग्ध की चिकित्सा—

वि०—सम्यग्दग्ध होने पर प्रथम वंशलोचन, पिलखन, चन्दन, गेरू, इनको गिलोय और घी में मिलाकर लेप करे; बाद में पित्त विद्रधि की भाँति चिकित्सा करे ॥ ५१ ॥

अतिदग्धे द्रुतं कुर्यात्सर्वं पित्तविसर्पवत् ।

स०—अतिदग्धे द्रुतं शीघ्रमेव सर्वं बहिरंतश्च भेषजं पित्तविसर्प इव कुर्यात् ।

अतिदग्ध की चिकित्सा—

वि०—अतिदग्ध में-तुरन्त पित्तविसर्प की भाँति सब चिकित्सा करे ।

वक्तव्य—अतिदग्धे विशीर्णानि मांसान्युद्धृत्य शीतलाम् ।
क्रियां कुर्यात्ततः पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनैः ॥
तिन्दुकीत्वक्कषायैर्वा पिष्टैः साज्यैः प्रलेपयेत् ।
गुडूच्याश्छादयेत् पत्रैरथवोपोदकैर्व्रणम् ॥
भेषजं वास्य कुर्वीत सर्वं पित्तविसर्पवत् ।
(अ. सं. सू. अ. ४०)

स्नेहदग्धे भृशतरं रूक्षं तत्र तु योजयेत् ॥ ५२ ॥

स०—स्नेहदग्धेऽनितरां रूक्षं योजयेत्। भृशतरं रूक्षं चाऽत्र भेषजं तत्र तु योजयेत्। तुशब्दान्न केवलं भृशतरग्रहणाच्च बाहुल्येन रूक्षां प्रलेपादि तत्र योजयेत् किंतु देहदेशादिसात्म्यवशात्स्निग्धमपि यथावस्थं यथावद्योजयेत् ॥ ५२ ॥

स्नेहदग्ध की चिकित्सा—

वि०—स्नेह से जलने पर अतिशय रूक्ष उपचार करना चाहिये ॥ ५२ ॥

(शस्त्रक्षाराग्नयो यस्मान्मृत्योः परममायुधम् ।
अप्रमत्तो भिषक् तस्मात्तान् सम्यगवचारयेत् ॥ १ ॥)

वि०—(क्योंकि शस्त्र, क्षार, और अग्नि मृत्यु के परम साधन हैं; इसलिये वैद्य सावधान होकर इनको भली प्रकार प्रयोग में लाये ॥ १ ॥

समाप्यते स्थानमिदं हृदयस्य रहस्यवत् ।
अत्रार्थाः सूत्रिताः सूक्ष्माः प्रतन्यन्ते हि सर्वतः ॥५३॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने क्षाराग्निकर्मविधिर्नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

स०—वक्तव्यं यद्वस्तु तस्य सर्वस्यैवोक्तत्वादिदं स्थानं समाप्यते निष्पाद्यते। किंभूतं स्थानम्। रहस्यवत् रहस्यमत्यर्थं गुह्यरूपं तदास्याऽस्ति तद्रहस्यवत्। कस्य स्थानम्। हृदयस्य। हृदयमिव हृदयम्। हृदयशब्देनाष्टांगहृदयमुपलक्ष्यते यथा सत्यभामा भामेति। कुत एतत्स्थानं रहस्यवदित्याह—यस्मादत्र स्थानेऽर्थाः सूत्रिताः सूचिताः सूचनमात्रेणोक्ताः। किंभूताः। सूक्ष्मास्तीक्ष्णतरमतिसमधिगम्याः यतस्ते एवार्थाः सर्वस्मिंस्तंत्रे प्रतन्यंते विस्तार्यंते। अस्मादिदं स्थानं तंत्रसंबंधिनामन्यस्थानां रहस्यवदित्युक्तमिति ॥ ५३ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टांगहृदयटीकायां सर्वांगसुंदराख्यायां क्षाराग्निकर्मविधिस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

सूत्रस्थान की समाप्ति—

वि०—रहस्य युक्त अष्टाङ्गहृदय का यह (सूत्र) स्थान समाप्त किया जाता है। इसमें जो सूक्ष्म रूप से विषय सूत्रित किये (गूँथे) गये हैं; वे ही विषय सारे तन्त्र में फैले हुए हैं ॥ ५३ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में क्षार-अग्निकर्मविधि नामक तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

इति सूत्रस्थानं समाप्तम् ।

अथ शारीरस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो गर्भावक्रान्ति शारीरं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे गर्भावक्रान्ति शारीर का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वक्तव्य—अवक्रान्ति (अवक्रमण) आना-जिस प्रकार से अगर्भ गर्भत्व को प्राप्त होता है।

गर्भस्थिति का परिचय—

शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वः स्वकर्मक्लेशचोदितः।
गर्भः सम्पद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ॥ १॥

शुक्र और आर्त्तव के शुद्ध (गर्भोत्पादन योग्य) होने पर अपने कर्मों के अनुसार क्लेश से प्रेरित हुआ सत्त्व (मन) युक्ति (सामर्थ्य) के अधीन बनकर गर्भरूप हो जाता है, जिस प्रकार कि अरणी में अग्नि (युक्ति से) बन जाती है॥

वक्तव्य—क्लेश-'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः'-इनमें बंधा हुआ ही मन जन्म के बन्धन में आता है। कर्मक्लेश से रहित-वीतराग पुरुषों का जन्म नहीं होता। इसी से कहा है—'चित्तमेव हि संसारि रागादिक्लेशदूषितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं मुक्तमित्यभिधीयते॥' युक्तिवशात जिस प्रकार मथ्य-मन्थन-मन्थक आदि सम्पूर्ण सामग्री के बिना आग नहीं बनती, उसी प्रकार आवश्यक सामग्री के बिना गर्भ भी नहीं बनता, सम्पूर्ण साधन होने पर ही गर्भ बनता है। इसी से चरक ने कहा है 'एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः यथा-कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायात्; यथा वा-रथो नानारथाङ्गसमुदायात्; तस्मादेतदवोचाम-मातृजश्चायं गर्भः; पितृजश्च, आत्मजश्च, सात्म्यजश्च, रसजश्च, अस्ति च सत्त्वमौपपादुकमिति' (होवाच भगवानात्रेयः)-चरक. शा. अ. ३।१४।

गर्भ की वृद्धि—

बीजात्मकैर्महाभूतैः सूक्ष्मैः सत्त्वानुगैश्च सः।
मातुश्चाहाररसजैः क्रमात्कुक्षौ विवर्द्धते॥ २॥

शुक्र आर्त्तव रूप में परिणत-गर्भजनन स्वभाव वाले (सत्त्व-रज और तमोमय) सूक्ष्म एवं सत्त्व का अनुगमन करने वाले आकाशादि महाभूतों से और माता के आहाररसजन्य भूतों से गर्भ क्रमशः कुक्षि में बढ़ता है॥ २॥

वक्तव्य—सूक्ष्म महाभूत सत्त्व और आत्मा इस गर्भ को बनाते हैं-यथा (१) 'भूतैश्चतुर्भिः सहितः स सूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्॥' चरक, (२) जब तक मुक्ति नहीं हो जाती आत्मा सत्त्व एवं सूक्ष्म महाभूतोंसे वियुक्त नहीं होता। 'अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः। न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः॥' च.शा.अ.२-३७

गर्भस्थ अदृश्य जीव का निदान—

तेजो यथाऽर्करश्मीनां स्फटिकेन तिरस्कृतम्।
नेन्धनं दृश्यते गच्छत्सत्त्वो गर्भाशयं तथा॥ ३॥

जिस प्रकार कि सूर्य की किरणों का तेज स्फटिक (सूर्यकान्तमणि) के बीच से इन्धन में जाता हुआ (आँख से) दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार गर्भाशय में जाता हुआ सत्त्व दिखाई नहीं देता॥ ३॥

वक्तव्य—लैन्स में से गुजरती हुई सूर्य की किरणें नहीं दीखतीं, परन्तु रूई या तिनकों को जलते देखकर किरणों का आना प्रतीत होता है, उसी प्रकार गर्भाशय में सत्त्व का आना (चेतना के लक्षण-गर्भ की वृद्धि आदि) कार्यों से देखा जाता है।

एक ही प्रकार की सामग्री से विभिन्न जाति की उत्पत्ति—

कारणानुविधायित्वात्कार्याणां तत्स्वभावता।
नानायोन्याकृतीः सत्त्वो धत्तेऽतो द्रुतलोहवत्॥ ४॥

सब कार्य कारण के समान ही होते हैं; इसलिये कार्यों में कारणों की समानता रहती है जिस प्रकार कि पिघलाया सीसा या लोह धातु जैसे भी साँचे में ढाला जाता है; वैसे ही आकार का बन जाता है, उसी प्रकार मन भी (गर्भधारक योनि के अनुसार) नाना प्रकार की जाति एवं आकृति को धारण करता है॥ ४॥

वक्तव्य—चरक में—'यथा-कनकरजतताम्रत्रपुसीसकान्यासिच्यमानानि तेषु तेषु मधूच्छिष्टविग्रहेषु, तानि यदा मनुष्यबिम्बमापद्यन्ते, तदा मनुष्यविग्रहेण जायते।' चरक-शा. आ. ३।१६।

गर्भ में स्त्री-पुंसादि का निदान—

अत एव च शुक्रस्य बाहुल्याज्जायते पुमान्।
रक्तस्य स्त्री तयोः साम्ये क्लीबः—

(कारणानुसार कार्य होता है) इसलिये शुक्र की अधिकता से पुरुष उत्पन्न होता है और रक्त (आर्त्तव) की अधिकता से स्त्री और दोनों की समानता से नपुंसक उत्पन्न होता है॥

वक्तव्य—पुरुष और स्त्री की उत्पत्ति के विषय में कई विचार हैं-आयुर्वेद में सौम्य-शुक्र की अधिकता से पुत्र और स्त्रियाँ आग्नेय-रक्त की अधिकता से उत्पन्न होती हैं—यह कल्पना है। स्त्री में स्त्रीबीज अन्दर रहने से आग्नेय हैं; पुरुष में पुंबीज शरीर के बाहर रहने के सौम्य हैं। आग्नेय और सौम्य तत्त्व ही सृष्टि को उत्पन्न करते हैं। इसी के आधार पर दारुवाहि ने कहा है—(१) 'स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे यद्यादौ विसृजेत् पुमान्। शुक्रं, ततः पुमान् वीरो जायते बलवान् दृढः॥ अथ चेद् वनिता पूर्वं विसृजेद् रक्तसंयुतम्। ततो रूपान्विता

कन्या जायते दृढसंहता ॥' (२) स्त्री और पुरुष दोनों में पुंबीज और स्त्रीबीज होते हैं। जिसमें जिस बीज की अधिकता होती है; उसी से वह पुरुष या स्त्री यह संज्ञा होती है। (३) स्त्रियों में भी शुक्र है—परन्तु उनमें पुंशुक्र का अभाव रहने से गर्भ की उत्पत्ति नहीं होती। इसी से 'योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे। न गर्भस्य हि तत्किञ्चित् करोतीति न चिन्त्यते ॥' रसादिसप्तधातुगत शुक्र धातु (पुरुष-बीज का न होने पर भी) स्त्री-शरीर की पुष्टि के लिये आवश्यक है। कई विद्वानों की मान्यता है कि स्त्रियों में होने वाला सोमरोग इसी शुक्र की दुष्टि का परिणाम है और इसकी चिकित्सा से वह ठीक भी होता है।

एक काल में अनेक गर्भ का निदान—

- शुक्रार्तवे पुनः ॥ ५ ॥
वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं बह्वपत्यता।

वायु के कारण शुक्र और आर्त्तव के बहुत-से विभाग होने पर विभाग की संख्या और उन विभागों में शुक्र या रज की बहुलता के अनुसार एक से अधिक बहुत पुरुष या स्त्री संतान उत्पन्न होती हैं (जैसे—कुत्ती में) ॥ ५ ॥

विकृत गर्भ का कारण—

वियोनिविकृताकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः ॥ ६ ॥

विकृत (दूषित या उन्मार्गगामी) वातादि मलों से विकृत योनि और विकृत आकार का गर्भ उत्पन्न होता है ॥६॥

मासिक धर्म का प्रारम्भ और अवसान—

मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम्।
वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ ७ ॥

प्रतिमास स्त्रियों का रसजन्य रज तीन दिन तक बहता है, यह रजःस्राव बारह वर्ष से आरम्भ होता है और पचास वर्ष की आयु में नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

वक्तव्य—वह रज आहार-रस से उत्पन्न होता है; न कि रस धातु से। देश एवं परिस्थिति भेद से यह रजःस्राव बारह साल से आगे-पीछे एवं कभी पचास वर्ष के बाद भी देखा गया है। इसी प्रकार तीन दिन से अधिक भी चार या पाँच दिन अथवा एक-दो दिन भी स्वस्थ रूप में मिलता है।

मेधावी सन्तानोत्पत्ति का कारण—

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥ ८ ॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते—

जिस स्त्री के सोलह वर्ष पूर्ण हो गये हैं; वह बीस वर्ष पूरे हुये पुरुष के साथ—गर्भाशय, अपत्यमार्ग, रक्त, शुक्रवायु और हृदय के शुद्ध वायु आदि से अदूषित या अनावृतहोने पर जब मैथुन करती है, तब वीर्यशाली पुत्र को उत्पन्न करती है ॥८॥

वक्तव्य—पुत्रोत्पत्ति के लिये सबसे उत्तम वय स्त्री के लिये सोलह से इक्कीस और पुरुष के लिये बीस से अट्ठाईस है। पूर्वोक्त सोलह और बीस प्रायिक है। इसीलिए संग्रह में 'षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिवर्षः पुत्रार्थं प्रयतेत।' पाठ है। सुश्रुतमें भी 'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत। ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥ जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥' सु. शा. अ. १०।५३-५४।

अस्थिर अल्पायु गर्भ का कारण—

—ततो न्यूनाब्दयोः पुनः।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥ ९ ॥

इससे छोटी आयु में मैथुन करने से संतान रोगी, अल्पायु, अभाग्यशाली होती है अथवा गर्भ में नहीं ठहरती ॥ ९ ॥

गर्भ न होने का कारण—

वातादिकुणपग्रन्थिपूयक्षीणमलाह्वयम्।
बीजासमर्थं रेतोऽस्रम्—

सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ वीर्य और आर्त्तव बीज (विकृति के अनुसार) वायु आदि दोष, कुणप, ग्रन्थि, पूय, क्षीण तथा मल (मूत्र तथा पुरीष) नामों से कहा जाता है। (इस प्रकार का वीर्य और आर्त्तव बीज के लिये असमर्थ होता है।)

वक्तव्य—दूषितशुक्र, वातशुक्र, पित्तशुक्र, कफशुक्र, कुणपशुक्र, ग्रन्थिशुक्र, पूयशुक्र, क्षीणशुक्र, मूत्रशुक्र, मलशुक्र तथा दूषित आर्त्तव भी इसी प्रकार के नामों का होता है।

वातादिदोषज शुक्र का लक्षण—

—स्वलिङ्गैर्दोषजं वदेत् ॥ १० ॥
रक्तेन कुणपं श्लेष्मवाताभ्यां ग्रन्थिसन्निभम्।
पूयाभं रक्तपित्ताभ्यां क्षीणं मारुतपित्ततः ॥ ११ ॥

वातादि अपने लक्षणों से दूषित शुक्र को वात, पित्त या कफ से दूषित समझो। रक्तदोष से कुणप, कफ और वात से ग्रन्थि के समान; रक्त-पित्त से पूय की भाँति, वात-पित्त से क्षीण शुक्र होता है ॥ १०-११ ॥

वक्तव्य—रूक्ष-श्यावारुण आदि से वायु से दूषित; विस्रगन्धि, उष्णिमा आदि से पित्त से दूषित; स्निग्ध-पाण्डु-पिच्छिल आदि से कफदूषित जानना चाहिये। चरक में—'फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम्। अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाष्टमम् ॥' चरक चि. अ. ३०। क्षीणशुक्र पित्तवायु से एवं मूत्रपुरीषगन्धी सन्निपात से होता है। क्षीणशुक्र का लक्षण—'शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने, चिराद्वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम् ॥' आर्त्तव को भी दोष के वर्ण एवं लक्षणों से पहचानना चाहिये।

शुक्रार्त्तव की साध्यसाध्यता—

कृच्छ्राण्येतान्यसाध्यं तु त्रिदोषं मूत्रविट्प्रभम्।

इनमें कुणप, ग्रन्थि, पूति, पूय और क्षीण शुक्र या आर्त्तव कष्टसाध्य हैं। मूत्र-मलदूषित शुक्र और आर्त्तव सन्निपातज होने से असाध्य हैं।

वक्तव्य—अरुणदत्त ने वातादि शुक्रार्त्तव से लेकर क्षीणशुक्रार्तव तक सब को कष्टसाध्य माना है। परन्तु सुश्रुत ने

वातादि दोष को कष्टसाध्य नहीं कहा । अपितु आर्त्तव के सम्बन्ध में 'तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषप्रकाशमसाध्यम् । साध्यमन्यच्चेति ॥' सु. शा. अ. २।५।

दूषित शुक्रार्त्तव की चिकित्सा—

कुर्याद्वातादिभिर्दुष्टे स्वौषधम्—

वायु आदि दोष से दूषित होने पर इनकी अपनी-अपनी औषध करे ।

वक्तव्य वातदोष में-स्निग्धोष्णाम्ललवणादि; पित्त में-मधुर शीत कषाय; कफ में-कटुक रूक्ष कषाय आदि देवे। सुश्रुत में—'तेष्वाद्यान् शुक्रदोषांस्त्रीन् स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत् । क्रियाविशेषैर्मतिमांस्तथा चोत्तरबस्तिभिः ॥ चरक में—'वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः । अभयामलकीयं च पैत्ते शस्तं रसायनम् ॥ मागध्यमृतलोहानां त्रिफलाया रसायनम् । कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद् भल्लातकस्य च ॥' चरक चि. अ. ३० । १४९-१५० ।

—कुणपे पुनः ॥ १२ ॥

धातकीपुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम् ।
पाययेत्सर्पिरथवा विपक्वमसनादिभिः ॥ १३ ॥
पलाशभस्माश्मभिदा ग्रन्थ्याभे पूयरेतसि ।
परूषकवटादिभ्यां क्षीणे शुक्रकरी क्रिया ॥ १४ ॥
संशुद्धो विट्प्रभे सर्पिर्हिङ्गुसेव्यादि(ग्नि)साधितम् ।
पिबेत्—

कुणप शुक्र में— धाय के फूल, खैर, अनार और अर्जुन से सिद्ध किये घी को पिलाये अथवा असनादि गण से सिद्ध किये घी को पिलाये ।

ग्रन्थि सदृश शुक्र में— डाक की राख और पाषाणभेद से सिद्ध किये घी को पिलाये ।

पूयरेतस में—परूषकादि और वटादि गण से सिद्ध घी पिलाये ।

क्षीण शुक्र में—शुक्रल-शुक्रवर्धक चिकित्सा करे ।

मल-मूत्र के समान शुक्र में— मनुष्य वमन-विरेचन से शुद्ध होकर हींग, उशीर और चित्रक से सिद्ध घृत पीये ॥[1]

वक्तव्य— विट् शब्द मल-मूत्र दोनों का वाचक है; यथा— 'विट्प्रभे मूत्रपुरीषप्रकाशे रेतसि विड्ग्रहणेन पुरीषं मूत्रं च गृह्यते, मलमूत्रमात्रवाचकत्वाद् विट्शब्दस्य ॥' (सुश्रुत शारीर अ. २।१० की डल्हण की टीका)

—ग्रन्थ्यार्तवे पाठाव्योषवृक्षकजं जलम् ॥ १५ ॥
पेयं कुणपपूयास्रे चन्दनं वक्ष्यते तु यत् ।
गुह्यरोगे च तत्सर्वं कार्यं सोत्तरबस्तिकम् ॥ १६ ॥

ग्रन्थि आर्त्तव में— पाठा, त्रिकटु (सोंठ, मरिच और पिप्पली) और कुटज इनका क्वाथ पियें ।

कुणप और पूय आर्त्तव में—चन्दन को (पानी में घिसकर) पींना चाहिए तथा गुह्यरोग में जो चिकित्सा कहेंगे— (वमनादि, योनि में पिचुधारण आदि) उसको तथा उत्तरबस्ति को भी बरते ॥ १५-१६ ॥

शुद्ध शुक्र के लक्षण—

शुक्रं शुक्लं गुरु स्निग्धं मधुरं बहलं बहु ।
घृतमाक्षिकतैलाभं सद्गर्भाय—

शुद्ध शुक्र—श्वेतवर्ण, गुरु, स्निग्ध, मधुर (प्रतिक्रिया में उदासीन), बहल (घट्ट) और मात्रा में बहुत होता है। इसकी झाँई घृत, मधु या तैल के समान होती है, ऐसा उत्तम शुक्र गर्भ के लिए ठीक है ।

वक्तव्य—मधुर शब्द यहाँ मधुर रस के लिए नहीं, परन्तु प्रतिक्रिया का द्योतक है, यथा—'क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः ।' चरक चि. अ. २४।११४ । इसलिए शुक्र न अम्ल और न क्षारीय होता है। घृत की झाँई होने से गौर वर्ण, माक्षिक-मधुकी झाँई से श्याम वर्ण, तैल की आभा से गर्मं कृष्ण वर्ण होता है। (अरुणदत्त)

शुद्ध रज के लक्षण—

—आर्तवं पुनः ॥ १७ ॥
लाक्षारसशशास्राभं धौतं यच्च विरज्यते ।

आर्त्तव—शुद्ध आर्त्तव लाख के रस या शशक के रक्त के समान होता है तथा धोने पर कपड़े से रङ्ग चला जाता है ॥

गर्भधारण के पूर्व कर्तव्य—

शुद्धशुक्रार्तवं स्वस्थं संरक्तं मिथुनं मिथः ॥ १८ ॥
स्नेहैः पुंसवनैः स्निग्धं शुद्धं शीलितबस्तिकम् ।

गर्भाधान से पूर्व कर्तव्य—शुद्ध शुक्र और शुद्ध आर्त्तव वाले निरोगी, एक दूसरे में अनुराग-प्रीति वाले स्त्री, और पुरुष को अभीष्ट सन्तान देने के प्रभाववाले, जीवनीय-महाकल्याण, फलघृत आदि स्नेहों से स्निग्ध शुद्ध-मन के रज-तम दोष दूर करके अथवा वमनादि करने से शुद्ध तथा बस्तियों के अभ्यास वाले स्त्री और पुरुष को (अगले श्लोक में कहे जाने वाले उपचार बरते) ॥ १८ ॥

पुरुष तथा स्त्री उपक्रम—

नरं विशेषात्क्षीराज्यैर्मधुरौषधसंस्कृतैः ॥ १९ ॥
नारीं तैलेन माषैश्च पित्तलैः समुपाचरेत् ।

---

[1] पहिले पुरीष और मूत्र दूषित शुक्र और आर्त्तव को असाध्य कहा है और पुनः चिकित्सा भी लिख रहे हैं । यह ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि असाध्य को चिकित्सा कैसी । इस पर अरुणदत्त का समाधान है कि कभी कभी पुरीष कष्टसाध्य भी हो जाता है किन्तु मूत्रज सर्वथा असाध्य होता है अतः यहाँ केवल 'विट्प्रभे' पाठ है किन्तु डल्हण की टीका में विट् शब्द का अर्थ मल और मूत्र दोनों माना है और दोनों को कभी-कभी साध्य होना सम्भव माना है ।

मेरा विचार है कि कभी-कभी वायु अधिक प्रबल होने पर उससे दूषित शुक्र या आर्त्तव मल या मूत्र की आभायुक्त हो जाता है, वस्तुतः मल या मूत्रसे दूषित नहीं होता । उसी की चिकित्सा यहाँ लिखी गयी है । संग्रह के वचन से भी इसकी पुष्टि होती है । यथा—'मूत्रपुरीषरेतसि वायुनाऽतिविकृते हिंगूशीरचित्रकैः ।'

विशेष करके पुरुष की मधुर औषध (काकोल्यादि या जीवन्त्यादि) से संस्कृत घी और दूधसे तथा स्त्री की तैल से, उड़दों से और पित्तकारक (मछली का मांस, तिल आदि) वस्तुओं से उपचार करे ॥ १९ ॥

ऋतुमती स्त्री का लक्षण—

क्षामप्रसन्नवदनां स्फुरच्छ्रोणिपयोधराम् ॥ २० ॥
स्रस्ताक्षिकुक्षिं पुंस्कामां विद्यादृतुमतीं स्त्रियम् ।

ऋतुमती—कार्श्य-कारण के विना क्षाम (कृश) किन्तु निर्मल मुख वाली, श्रोणी और स्तनों में फड़कन अनुभव करती हुई, आँखें (शर्मीली) और उदर के ढीला होने पर तथा पुरुष की कामना (चाह) करने वाली स्त्री को ऋतुमती जानना चाहिये ॥ २० ॥

ऋतुकाल के अतिक्रमण का लक्षण—

पद्मं सङ्कोचमायाति दिनेऽतीते यथा, तथा ॥ २१ ॥
ऋतावतीते योनिः सा शुक्रं नातः प्रतीच्छति ।

जिस प्रकार दिन के छिपने पर कमल सिकुड़ जाता है, उसी प्रकार ऋतु बीतने पर योनि संकुचित हो जाती है, इस लिये वह (बन्द हुई योनि) शुक्र की कामना नहीं करती—नहीं ग्रहण करती ॥ २१ ॥

रजःस्रावका हेतु—

मासेनोपचितं रक्तं धमनीभ्यामृतौ पुनः ॥ २२ ॥
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखान्नुदेत् ।

एक महीने में आहार-रस से बढ़कर संचित हुआ, ईषत् कृष्ण और सड़ी गन्ध रहित रक्त ऋतुकाल में वायु के द्वारा प्रेरित होकर धमनियों से योनि-मुख द्वारा निकलता है। इस लिए ऋतुकाल में योनि का मुख खुला रहता है ॥ २२ ॥

रजस्वला का कर्तव्य—

ततः पुष्पेक्षणादेव कल्याणध्यायिनी त्र्यहम् ॥२३॥
मृजालङ्काररहिता दर्भसंस्तरशायिनी ।
क्षैरेयं यावकं स्तोकं कोष्ठशोधनकर्षणम् ॥ २४ ॥
पर्णे शरावे हस्ते वा भुञ्जीत ब्रह्मचारिणी ।

ऋतुदर्शन होने पर स्त्री शुभ बातों का चिन्तन (हित-सेवन और अहितत्याग) करती हुई, शरीर की शुद्धि (स्नान आदि), वेश, भूषा तथा सजावट से रहित, कुशा के बिस्तर पर सोने वाली, दूध के एवं जौ के बने भोजन को थोड़ी मात्रा में कोष्ठ की शुद्धि एवं शरीर कृश करने के लिए, पत्ते, मिट्टी के कसोरे या हाथ में लेकर खाये और ब्रह्मचारिणी रहे, यह नियम तीन दिन तक पाले ॥ २३-२४ ॥

वक्तव्य—कोष्ठ के शोधन-महास्रोत के शोधन तथा अङ्गों में कर्षण करने वाले भोजन करे, विरेचन आदि न लेवे।

चतुर्थेऽह्नि ततः स्नाता शुक्लमाल्याम्बरा शुचिः ॥
इच्छन्ती भर्तृसदृशं पुत्रं पश्येत्पुरः पतिम् ॥२५॥

चौथे दिन स्नान करके, श्वेत (स्वच्छ) माला एवं वस्त्र धारण करके, अन्दर और बाहर से पवित्र होकर पति के समान पुत्र की चाह रखती हुई सबसे प्रथम पति को देखे ॥

वक्तव्य—'तदा हि यादृशं पश्यति, चिन्तयति या तादृशमेव प्रसूत इति ॥' संग्रह…

ऋतुकाल का निर्णय—

ऋतुस्तु द्वादश निशाः पूर्वास्तिस्रोऽत्र निन्दिताः ॥
एकादशी च युग्मासु स्यात्पुत्रोऽन्यासु कन्यका ॥२६॥

ऋतु (गर्भ ग्रहण काल) बारह रात्रियाँ हैं, इनमें पहले की तीन निन्दित हैं, एकादशी भी निन्दित है, युग्म रात्रियों में पुत्र होते हैं और विषम रात्रियों में कन्या होती है ॥२६॥

वक्तव्य—ऋतुकाल से अभिप्राय अंकुरित होने के समय से है। जैसे कि अब दब के बोने का समय है या आमों का ऋतुकाल है। मनुष्यों में गर्भाधान के योग्य यह ऋतुकाल बारह या सोलह गिना है; यथा—'ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः। द्वादशरात्रमिति षोडशदिनेषु मध्ये, आद्यं दिनत्रयमन्तिमं च षोडशं योनिसंकोचदिनं न गणनीयम् ॥ षोडशर्तु निशाः स्त्रीणाम् ॥' निशा-रात्रि शब्द से स्पष्ट है कि गर्भाधान रात में ही करना चाहिए, क्योंकि 'प्राणा एव प्रस्कन्दन्ते ये दिवारत्या संयुजन्ते।' जिस प्रकार से चन्द्रमा का समुद्र के पानी पर प्रभाव पड़ता है, इसी प्रकार चन्द्रमा का प्रभाव स्त्री और पुरुष के शुक्र-आर्तव पर भी पड़ता है। इसीलिए कामशास्त्र में चन्द्रमा की कलाओं की भाँति पुरुषमें भी सोलह कलायें सोलह स्थान काम के माने हैं। यह कृष्णपक्ष में सिर से पैर की ओर उतरती है और शुक्लपक्ष में पैर से सिर की ओर चढ़ती है[1]। शुक्र की अधिकता युग्म रात्रियों में और अयुग्म रात्रियों में रक्त की अधिकता स्वभावतः होती है अतः युग्म (चौथी, छठीं, आठवीं, दशवीं और बारहवीं) रात्रियों में गर्भाधान होने पर पुरुष सन्तान और अयुग्म (पाँचवीं, सातवीं आदि) रात्रियों में गर्भाधान होने पर स्त्री सन्तान होती है। ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि में नपुंसक गर्भ की स्थिति होती है। कदाचित् आहार आदि के कारण अयुग्म तिथियों में शुक्र की अधिकता होने से गर्भस्थिति होने पर पुरुष संतान हो सकती है पर उसमें स्त्रीत्व के भी लक्षण होंगे। इसी प्रकार आहार आदि के कारण युग्म रात्रियों में रज (स्त्रीबीज) की प्रबलता होने पर स्त्री सन्तान की उत्पत्ति होने पर भी उसमें पुरुषत्व के भी चिह्न होंगे।

पुत्रेष्टियज्ञ—

उपाध्यायोऽथ पुत्रीयं कुर्वीत विधिवद्विधिम् ॥२७॥
नमस्कारपरायास्तु शूद्राया मन्त्रवर्जितम् ।

---

[1] सीमान्ताक्ष्यधरे कपोलगलके कक्षाकुचोरःस्थले,
नाभिश्रोणिवराङ्गजानुविषये गुल्फे पदाऽङ्गुष्ठके ।
कृष्णाकृष्णविभागतो मनसिजस्तिष्ठेत् क्रमात्तोषितो,
वामाङ्गेष्वथ ऊर्ध्वतोऽभिगमनान्मासस्य पक्षद्वये ॥
अङ्गुष्ठे पदगुल्फजानुजघने नाभौ च वक्षःस्थले,
कक्षे कण्ठकपोलदन्तवसने नेत्रालके मूर्धनि ।
शुक्लाशुक्लविभागतो मृगदृशामङ्गेष्वनङ्गस्थिति-
रूर्ध्वाधो गमनेन वामपदतः पक्षद्वयं लक्ष्यते ॥ (अनंगरंग)

इसके उपरान्त—ऋतु स्नान के उपरान्त, अथर्ववेदवित् पुरोहित विधिपूर्वक पुत्रीय गर्भाधान संस्कार करे। शूद्र स्त्री के लिये मंत्र भाग को छोड़कर शेष विधि को ही बरते, शूद्र स्त्री नमस्कार मात्र करे ॥ २७ ॥

पूर्वोक्त विधि के लाभ—

अवन्ध्य एवं संयोगः स्यादपत्यं च कामतः ॥ २८ ॥
सन्तो ह्याहुरपत्यार्थं दम्पत्योः सङ्गती रहः ।
दुरपत्यं कुलाङ्गारो गोत्रे जातं महत्यपि ॥ २९ ॥

इस प्रकार किया संयोग निष्फल नहीं होता, अपितु सफल होता है। इतना ही नहीं अपितु इच्छानुकूल सन्तान होती है।

साधु पुरुषों का वचन है कि उत्तम सन्तान की इच्छा से (ग्राम्य सुख के लिये नहीं) स्त्री-पुरुष एकान्त में सहवास करें। बड़े कुल में उत्पन्न भी बुरी संतान कुलाङ्गार (समस्त कुल का विनाश करने से) कही जाती है ॥ २८-२९ ॥

इच्छानुरूप पुत्रोत्पत्ति—

इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितांश्च तौ ।
चिन्तयेतां जनपदांस्तदाचारपरिच्छदौ ॥ ३० ॥

स्त्री और पुरुष जैसी सन्तान की चाह रखते हों, उसी रूप और आचार के अनुकूल (वर्ण-संस्थान-आकृति में) चरित-(श्रद्धा-श्रुत-सत्य-आर्जव-आनृशंस्य-दान-दया-दाक्षिण्य-स्वभावादि) वाले जनपदों का चिन्तन करें और वैसे ही आचरण पालें और वैसी ही वेश-भूषा को धारण करें ॥ ३० ॥

वक्तव्य—'या या येषां येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत, सा सा, तेषां तेषां जनपदानामाहारविहारोपचारपरिच्छदाननुविधत्स्वेति वाच्या ॥' यह सब प्रायः स्त्री को ही करना है, यथा—यादृशं च पुत्रमाशासीत, तद्रूपवर्णचरितान् जनपदाननुचिन्तयेति स्त्री वाच्या ॥' संग्रह। हृदय और सुश्रुत में स्त्री और पुरुष दोनों को इस विधि का पालन करना कहा है।

पुत्रेष्टि यज्ञ के उपरान्त कर्म—

कर्मान्ते च पुमान् सर्पिःक्षीरशाल्योदनाशितः ।
प्राग्दक्षिणेन पादेन शय्यां मौहूर्तिकाज्ञया ॥ ३१ ॥
आरोहेत् स्त्री तु वामेन तस्य दक्षिणपार्श्वतः ।
तैलमाषोत्तराहारा तत्र मन्त्रं प्रयोजयेत् ॥ ३२ ॥

पुत्रविधि विधान के पीछे पुरुष घी मिश्रित दूध चावल को खाकर ज्योतिषी की आज्ञानुसार मुहूर्त्त में दक्षिण पैर से (स्त्री से पहले) शय्या पर आरोहण करे और स्त्री वाम पैर से पति के दक्षिण पार्श्व में शय्या पर चढ़े। स्त्री तैल और उड़दप्रधान भोजन को किए हो। इस समय यह मंत्र पढ़े—

मन्त्रपाठ—

ॐ अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठासि धाता त्वां
दधातु विधाता त्वां दधातु ब्रह्मवर्चसा भवेति ।
ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोम सूर्यस्तथाऽश्विनौ ।
भगोऽथ मित्रावरुणौ वीरं ददतु मे सुतम् ॥ ३३ ॥

मंत्र—अहिरसि; आयुरसि; सर्वतः प्रतिष्ठासि; तुमको धाता धारण करे; विधाता तुमको धारण करे; ब्रह्मवर्च से युक्त हो; ब्रह्मा, बृहस्पति, विष्णु, सोम, सूर्य, अश्विनीकुमार, भग, मित्र और वरुण; मुझको वीर पुत्र देवें ॥ ३३ ॥

मन्त्र पाठानन्तर कर्म—

सान्त्वयित्वा ततोऽन्योन्यं संविशेतां मुदान्वितौ ।
उत्ताना तन्मना योषित्तिष्ठेदङ्गैः सुसंस्थितैः ॥ ३४ ॥

मंत्र पाठ के उपरान्त परस्पर प्रियवचनादि से प्रीति उत्पन्न करके हर्ष से युक्त होकर सम्भोग करे। सम्भोग के समय स्त्री उत्तान (चित्त) तथा अंगों को भली प्रकार स्थित रखकर गर्भ विषय में मन लगाकर रहे ॥ ३४ ॥

तथा हि बीजं गृह्णाति दोषैः स्वस्थानमास्थितैः ।

इस प्रकार करने से दोषों के अपने-अपने स्थान में रहने से वह बीज को ग्रहण करती है।

वक्तव्य—संग्रह में-'न चासावधस्तिष्ठेत्। तथाहि स्त्रीचेष्टः पुमान् जायते पुंचेष्टा वा स्त्री। न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा सेवेत। न्युब्जाया वातो बलवान् स योनिं पीडयति'। (सं. शा. अ. १)

तत्काल गर्भधारण का लक्षण—

लिङ्गं तु सद्योगर्भाया योन्या बीजस्य सङ्ग्रहः ॥ ३५ ॥
तृप्तिर्गुरुत्वं स्फुरणं शुक्रास्रानुनुबन्धनम् ।
हृदयस्पन्दनं तन्द्रा तृड्ग्लानिर्लोमहर्षणम् ॥ ३६ ॥

सद्योगर्भगृहीता के लक्षण—योनि में बीज (शुक्र) का भली प्रकार ग्रहण होना; सम्भोग से तृप्ति, कुक्षि (योनि या गर्भाशय) में भारीपन तथा स्फुरण, शुक्र और आर्त्तव (रक्त) की अप्रवृत्ति, हृदय का स्पन्दन, तन्द्रा, प्यास, ग्लानि और रोमांचता होती है ॥ ३५-३६ ॥

पुंसवन संस्कार करने का समय—

अव्यक्त प्रथमे मासि सप्ताहात्कललीभवेत् ।
गर्भः पुंसवना यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत् ॥ ३७ ॥
बली पुरुषकारो हि दैवमप्यतिवर्तते ।

प्रथम मास में—एक सप्ताह में ही कलल सिंघाणक (नाक का मैल) की भाँति होकर एक मास तक अव्यक्त (स्त्रीत्व पुंस्त्व- आदि के लक्षणों से रहित) रहता है। इसमें स्पष्टता आने से पहले ही पुंसवन विधि को करे क्योंकि बलवान् पुरुषकार दैव को भी लाँघ जाता है ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—चरक में-'दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते। दैवेन चेतरत्कर्म प्रकृष्टेनोपहन्यते ॥' बलवान् कर्म दूसरे निर्मल कर्म को व्यर्थ कर देता है। अतः पुंसवन संस्कार से अभीष्ट सन्तान ही होती है।

पुंसवन प्रयोग –

पुष्ये पुरुषकं हैमं राजतं वाऽथवाऽऽयसम् ॥ ३८ ॥
कृत्वाऽग्निवर्णं निर्वाप्य क्षीरे तस्याञ्जलिं पिबेत् ।

पुष्य नक्षत्र में—स्वर्ण, चाँदी अथवा लोहे की पुरुष-प्रतिमा बनाकर इसको अग्नि में लाल वर्ण करके दूध में बुझाकर इस दूध की एक अंजलि (लगभग १ पाव) मात्रा स्त्री पिये ॥ ३८ ॥

गौरदण्डमपामार्गं जीवकर्षभसैर्यकान् ॥ ३९ ॥
पिबेत्पुष्ये जले पिष्टानेकद्वित्रिसमस्तशः ।

श्वेत दण्डे के अपामार्ग, जीवक, ऋषभक, सैर्यक (झिण्टी) इन चार द्रव्यों को पुष्य नक्षत्र में पानी के साथ अलग-अलग या दो-दो अथवा तीन-तीन या चारों को एक साथ पीसकर पीये।

क्षीरेण श्वेतबृहतीमूलं नासापुटे स्वयम् ॥ ४० ॥
पुत्रार्थं दक्षिणे सिञ्चेद्वामे दुहितृवाञ्छया ।

श्वेत कटेरी के मूल को दूध के साथ पीसकर स्त्री स्वयं ही पुत्र की कामना से अपनी दक्षिण नासा में और कन्या की इच्छा से अपनी वाम नासिका में डाले ॥ ४० ॥

पुत्रोत्पादन में विशेष प्रयोग—

पयसा लक्ष्मणामूलं पुत्रोत्पादस्थितिप्रदम् ॥ ४१ ॥
नासयाऽऽस्येन वा पीतं वटशुङ्गाष्टकं तथा ।
ओषधीर्जीवनीयाश्च बाह्यान्तरुपयोजयेत् ॥ ४२ ॥

लक्ष्मणा के मूल को दूध के साथ पीसकर मुख से या नासा से पीने पर पुत्र की उत्पत्ति एवं पुत्र की स्थिति होती है। इसी प्रकार बरगद के आठ अंकुरों को दूध के साथ पीस कर नासा या मुख से पिये। जीवनीय गण की औषधियों का स्नान आदि बाह्योपचार में तथा आहार आदि में अन्तः-प्रयोग करना चाहिये ॥ ४१-४२ ॥

गर्भिणी का उपचार—

उपचारः प्रियहितैर्भर्त्रा भृत्यैश्च गर्भधृक् ।
नवनीतघृतक्षीरैः सदा चैनामुपाचरेत् ॥ ४३ ॥

पति या भृत्यों से किया हुआ प्रिय एवं हितकारी उपचार गर्भ को धारण कराने वाला है। मक्खन, घी और दूध सदा (सात्म्य के अनुसार) खाने को देवे ॥ ४३ ॥

गर्भिणी का वर्ज्य कर्म—

अतिव्यवायमायासं भारं प्रावरणं गुरु ।
अकालजागरस्वप्नं कठिनोत्कटकासनम् ॥ ४४ ॥
शोकक्रोधभयोद्वेगवेगश्रद्धाविधारणम् ।
उपवासाध्वतीक्ष्णोष्णगुरुविष्टम्भिभोजनम् ॥ ४५ ॥
रक्तं निवसनं श्वभ्रकूपेक्षां मद्यमामिषम् ।
उत्तानशयनं यच्च स्त्रियो नेच्छन्ति तत्त्यजेत् ॥ ४६ ॥
तथा रक्तस्रुतिं शुद्धिं वस्तिमामासतोऽष्टमात् ।
एभिर्गर्भः स्रवेदामः कुक्षौ शुष्येन्म्रियेत वा ॥ ४७ ॥

गर्भवती स्त्री—अति मैथुन, अति परिश्रम, भार उठाना, भारी ओढ़ना, असमय में जागना या सोना, कठिन या उत्कट आसन, शोक, क्रोध, भय; उद्वेग और उपस्थित वेग का रोकना, श्रद्धा (गर्भावस्था में उत्पन्न किसी वस्तु की चाह) का रोकना, उपवास, मुसाफिरी, तीक्ष्ण, उष्ण, गुरु, विष्टम्भि भोजन, लाल वस्त्र, गड्ढे या कुएं में झाँकना, मद्य, मांस, चित्त लेटना और जिनको अनुभवी स्त्रियां पसन्द न करती हों, उनको छोड़ देवे। तथा रक्त निकलवाना, वमन-विरेचनादि; आस्थापन-अनुवासन बस्ति को भी आठवें मास तक छोड़ देवे। इन कार्यों के करने से आमगर्भ (तीन मास तक का) बह जाता है अथवा कुक्षि में सूख जाता है अथवा मर जाता है ॥ ४४-४७ ॥

वातलैश्च भवेद् गर्भः कुब्जान्धजडवामनः ।
पित्तलैः खलतिः पिङ्गः श्वित्री पाण्डुः कफात्मभिः ॥४८॥

वातकारक वस्तुओंके अति सेवन से गर्भ कुबड़ा; अन्धा; जड़ या बावना हो जाता है; पित्तकारक वस्तुओं से गंजा या पिंग (पिंगल वर्ण) बालों का हो जाता है तथा कफकारक भोजनों से श्वित्ररोगी और पाण्डु होता है ॥ ४८ ॥

गर्भिणी का औषध-सेवन—

व्याधींश्चास्या मृदुसुखैरतीक्ष्णैरौषधैर्जयेत् ।

गर्भिणी के रोगों की मृदु, सुखदायक एवं अतीक्ष्ण औषधियों द्वारा चिकित्सा करे।

वक्तव्य—संग्रह में-'इत्यनात्ययिके व्याधौ विधिरात्ययि पुनः। तीक्ष्णैरपि क्रियायोगैः स्त्रियं यत्नेन पालयेत् ॥'

दो महीने के गर्भ का लक्षण—

द्वितीये मासि कललाद् घनः पेश्यथवाऽर्बुदम् ॥४९॥
पुंस्त्रीक्लीबाः क्रमात्तेभ्यः—

दूसरे मास में कलल से घन, पेशी अथवा अर्बुद में परिवर्तित होता है। इनसे क्रमशः पुरुष, स्त्री अथवा नपुंसक होता है ॥ ४९ ॥

व्यक्त गर्भ के लक्षण—

—तत्र व्यक्तस्य लक्षणम् ।
क्षामता गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छा च्छर्दिररोचकः ॥५०॥
जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम् ।
अम्लेष्टता स्तनौ पीनौ सस्तन्यौ कृष्णचूचुकौ ॥ ५१॥
पादशोफो विदाहोऽन्ने श्रद्धाश्च विविधात्मिकाः ।

गर्भ के व्यक्त होने पर लक्षण—कृशता, उदर में भारीपन, मूर्च्छा, वमन, अरोचक, जम्भाई, मुख से लालास्राव, शिथिलता, रोमांच का उत्पन्न होना, खटाई की चाह; स्तनों में मोटाई, स्तनों में दूध, चूचुकों में, कृष्णवर्णता, पैरों में शोफ; अन्नका विदाह तथा नाना प्रकार की (पथ्य अपथ्य सम्बन्धी) श्रद्धा होती है ॥ ५०-५१ ॥

वक्तव्य—'तस्याश्च रजोवाहिनां स्रोतसां वर्त्मान्युपरुध्यन्ते गर्भेण। तस्मात्ततः परमार्त्तवं न दृश्यते। ततस्तदधः प्रतिहतमपरमपरं चोपचीयमानमपरेत्याहुः ॥' संग्रह।

गर्भिणी का हिताहित पथ्य—

मातृजं ह्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयेन तत् ॥ ५२ ॥
सम्बद्धं तेन गर्भिण्या नेष्टं श्रद्धाविमाननम् ।
देयमप्यहितं तस्यै हितोपहितमल्पकम् ॥ ५२ ॥
श्रद्धाविघाताद् गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा ।

यस्मात् इस गर्भ का हृदय मातृजन्य होता है और यह हृदय माता के हृदय के साथ जुड़ा हुआ रहता है इसीलिए गर्भवती की इच्छा का पूरा न करना इच्छित नहीं है। इसे

पथ्य वस्तु के साथ मिली अपथ्य वस्तु भी अतिशय थोड़ी मात्रा में देनी चाहिये । श्रद्धा के पूर्ण न होने से गर्भ में विरूपता आ जाती है अथवा गर्भ की च्युति-विनाश हो जाती है (लब्धदौहृदा तु वीर्यवन्तं चिरायुषं च सुतं सूते)।

तृतीय मास में गर्भ का लक्षण—

व्यक्तीभवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम् ॥५४॥
मूर्द्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्माङ्गजन्म च ।
सममेव हि मूर्द्धाद्यैर्ज्ञानं च सुखदुःखयोः ॥५५॥

तीसरे महीने में इस गर्भ के पाँच अंग स्पष्ट हो जाते हैं, (एक शिर, दो टाँगें और दो बाहु) और सब अंगों की सूक्ष्म उत्पत्ति हो जाती है। शिर आदि के साथ ही सुख-दुःख का ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है ॥ ५४–५५ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में सुख-दुःख का ज्ञान चौथे मास में कहा है, यथा—'चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति कस्मात् ? तत्स्थानत्वात्-तस्माद् गर्भश्चतुर्थे मासि अभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमित्याचक्षते॥' चरक में 'तस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते तत्कालमेव चेतसि वेदनानिवन्धं प्राप्नोति, तस्मात् तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते, प्रार्थयते च जन्मान्तरानुभूतं यत् किंचित्-तद् द्वैहृधमाचक्षते वृद्धाः ॥'

गर्भ की पुष्टि का प्रकार—

गर्भस्य नाभौ मातुश्च हृदि नाडी निबध्यते ।
यया स पुष्टिमाप्नोति केदार इव कुल्यया ॥ ५६ ॥

गर्भ की नाभि में और माता के हृदय से एक नाड़ी लगी रहती है; जिससे गर्भ-पोषण प्राप्त करता है; जिस प्रकार कि खेत पानी की नाली से पोषण-पानी प्राप्त करता है ।[३] ॥५६॥

चतुर्थ मास से सप्तम मास तक गर्भ की अवस्था—

चतुर्थे व्यक्तताऽङ्गानां चेतनायाश्च पञ्चमे ।
षष्ठे स्नायुसिरारोमबलवर्णनखत्वचाम् ॥ ५७ ॥
सर्वैः सर्वाङ्गसम्पूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे ।

चौथे महीने मे (तृतीय मास में सूक्ष्म रूप में उत्पन्न सभी) अंग स्पष्ट हो जाते हैं। पाँचवें मास में चेतना (मन) स्पष्ट हो जाती है।

छठे महीने में—स्नायु, सिरा, रोम, बल, वर्ण, नख और त्वचा बन जाती है।

सातवें मास में गर्भ सब अंगों को सम्पूर्ण करने वाली वस्तुओं से सर्वाङ्ग-पूर्ण और पुष्ट हो जाता है ॥ ५७ ॥

गर्भिणी का प्राकृतिक रोग—

गर्भेणोत्पीडिता दोषास्तस्मिन् हृदयमाश्रिताः ।
कण्डूं विदाहं कुर्वन्ति गर्भिण्याः किक्किसानि च ॥५८॥

गर्भ के द्वारा ऊपर की ओर पीड़ित हुए वातादि दोष गर्भकाल में हृदय में आश्रित होकर गर्भवती में कण्डू, विदाह और किक्किस उत्पन्न करते हैं ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—किक्किस—ऊरु,स्तन और उदर पर विशेष प्रकार की रेखायें-झुर्रियां, गले आदि में काँटों के होने का अनुभव करना। विदाह—हाथ, पैर और कन्धे में विविध दाह।

गर्भिणी के प्राकृतिक रोग का उपचार—

नवनीतं हितं तत्र कोलाम्बुमधुरौषधैः ।
सिद्धमल्पपटुस्नेहं लघु स्वादु च भोजनम् ॥ ५९ ॥
चन्दनोशीरकल्केन लिम्पेदूरुस्तनोदरम् ।
श्रेष्ठया वैणहरिणशशशोणितयुक्तया ॥ ६० ॥
अश्वघ्नपत्रसिद्धेन तैलेनाभ्यज्य मर्दयेत् ।
पटोलनिम्बमञ्जिष्ठासुरसैः सेचयेत्पुनः ॥ ६१ ॥
दार्वीमधुकतोयेन मृजां च परिशीलयेत् ।

इस कण्डू आदि में—बेर के पानी और द्राक्षादि मधुर औषध के कल्क के साथ मक्खन को पकाकर लगाये। थोड़े नमक व थोड़े स्नेहवाला, लघु और मधुर भोजन करे। चन्दन और खस के कल्क से ऊरु, स्तन और उदर पर लेप करे। हरिण, एण (कृष्णमृग), खरगोश-इनके रक्त से त्रिफला को पीस कर लेप करे। कनेर के पत्तों से सिद्ध किये तैल का अभ्यंग करके परवल, नीम, मंजीठ और तुलसी इनसे मर्दन करे। दारुहल्दी और मुलहठी इनके क्वाथ से परिषेक करे और शुद्धि—नित्य स्नान करे ॥ ५९–६१ ॥

अष्टम मास में ओज का संचार—

ओजोऽष्टमे सञ्चरति मातापुत्रौ मुहुः क्रमात् ॥ ६२ ॥
तेन तौ म्लानमुदितौ तत्र जातो न जीवति ।
शिशुरोजोनवस्थानान्नारी संशयिता भवेत् ॥ ६३ ॥

आठवें मास में ओज क्रमशः माता से पुत्र और पुत्र से माता में गति करता है। इससे जिसमें ओज होता है वह प्रसन्न और दूसरा उदास रहता है। इस अवस्था में ओज के स्थिर न होने से उत्पन्न हुआ गर्भ नहीं जीता तथा नारी के जीवन को संशय रहता है। (गर्भ में तो ओज़ सम्पूर्ण रूप में अस्थिर रहता है; किन्तु माता में संपूर्ण रूप में अस्थिर नहीं होता अतः वह जी भी सकती है और मर भी सकती है)।

अष्टम मास में गर्भिणी का उपचार—

क्षीरपेया च पेयाऽत्र सघृताऽन्वासनं घृतम् ।
मधुरैः साधितं शुद्ध्यै पुराणशकृतस्तथा ॥६४॥
शुष्कमूलककोलाम्लकषायेण प्रशस्यते ।
शताह्वाकल्कितो वस्तिः सतैलघृतसैन्धवः ॥६५॥

---

[३] गर्भ के हृदय का माता के हृदय से नाड़ी द्वारा सम्बन्ध संग्रह आदि ग्रन्थों में निम्नलिखित रूप से वर्णित है जो पूर्णतया अर्वाचीन विज्ञानसम्मत भी है—'व्यक्तीभवदङ्गप्रत्यङ्गस्य नाभ्यां प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यामपरा, तस्यां मातुर्हृदयम् । ततो मातृहृदयादाहाररससारो धमनीभिः स्यन्दमानोऽपरामुपैति । ततः क्रमान्नाभिम् । ततश्च स पुनर्गर्भस्य पक्वाशये कायाग्निना पच्यमानः प्रसादभागरूपाद्धात्वादिपुष्टिकरः सम्पद्यते । तथा रोमकूपैरुपस्नेह एव प्रविशति । साक्षादन्नपानाननुप्रवेशाद्रसस्य वा समलत्वाभावात्त गर्भस्य स्थूलमूत्रपुरीषाद्यसम्भवः ॥' (सं. शा. २)

आठवें मास में दूध से बनाई पेया घी मिलाकर पिलानी चाहिये। द्राक्षादि मधुर ओषधियों से सिद्ध घृत का अन्वासन (नवीन मल के शोधनार्थ) देना चाहिये। पुराने मल के शोधन के लिये सूखीमूली, खट्टे बेर के क्वाथ से सौंफ के कल्क द्वारा, तैल, घृत को सिद्ध करके थोड़ा सा सैन्धव मिलाकर बस्ति देना चाहिये ॥ ६४-६५ ॥

वक्तव्य—अनुवासन में घृत के स्थान पर तैल का उपयोग कर सकते हैं यथा—‘मधुरकादिमधुरौषधसिद्धेन च तैलेन अनुवासयेत् । पयोमधुरकषायसिद्धेन तैलेनानुवासयेत् ॥” संग्रह० शा० अ० ३। ‘घृतम्’ के स्थान पर ‘हितम्’ पाठ भी मिलता है।

प्रसव का समय—

तस्मिंस्त्वेकाहयातेऽपि कालः सूतेरतः परम् ।
वर्षाद्विकारकारी स्यात्कुक्षौ वातेन धारितः ॥ ६६ ॥

आठवें मास के पश्चात् एक दिन भी अधिक होने पर प्रसव काल समझना चाहिये। (एक वर्ष तक प्रसव काल है)।

एक वर्ष से अधिक गर्भ उदर में वायु से रुका रहने से विकार करने वाला होता है ॥ ६६ ॥

वक्तव्य—कुक्षि में गर्भ की स्थिति—‘गर्भस्तु मातृपृष्ठाभिमुखो ललाटे कृताञ्जलिः संकुचिताङ्गो गर्भकोष्ठे दक्षिणं पार्श्वमाश्रित्यावतिष्ठते पुमान्, वामं स्त्री, मध्यं नपुंसकम् ।’

नवम मास में उपचार—

शस्तश्च नवमे मासि स्निग्धो मांसरसौदनः ।
बहुस्नेहा यवागूर्वा पूर्वोक्तं चानुवासनम् ॥ ६७ ॥
तत एव पिचुं चास्या योनौ नित्यं निधापयेत् ।
वातघ्नपत्रभङ्गाम्भः शीतं स्नानेऽन्वहं हितम् ॥ ६८ ॥
निःस्नेहाङ्गीं न नवमान्मासात्प्रभृति वासयेत् ।

नवें मास में—स्निग्ध मांसरस और भात प्रशस्त है अथवा प्रचुर स्नेह वाली यवागू उत्तम है। पूर्वोक्त अनुवासन भी श्रेष्ठ है।

इसी अनुवासन घृत का पिचु नित्यप्रति गर्भवती की योनि में रखे। एरण्ड आदि वातनाशक पत्तों के भङ्ग (टुकड़े या समूह) के क्वाथ को ठण्डा करके प्रतिदिन स्नान करना उत्तम है। (वात की शान्ति के लिये)।

नवें मास से आरम्भ करके (जब तक प्रसव न हो तब तक) गर्भिणी को स्नेहरहित अङ्गों वाली नहीं रखना चाहिए (अपि तु सदैव स्नेहन करना चाहिए) ॥ ६७-६८ ॥

गर्भ में पुत्र वा कन्या होने का लक्षण—

प्राग्दक्षिणस्तनस्तन्या पूर्वं तत्पार्श्वचेष्टिनी ॥ ६९ ॥
पुन्नामदौहृदप्रश्नरता पुंस्वप्नदर्शिनी ।
उन्नते दक्षिणे कुक्षौ गर्भे च परिमण्डले ॥ ७० ॥
पुत्रं सूतेऽन्यथा कन्यां या चेच्छति नृसङ्गतिम् ।
नृत्यवादित्रगान्धर्वगन्धमाल्यप्रिया च या ॥ ७१ ॥

जिस स्त्री के दक्षिण स्तन में प्रथम दूध आता है; दक्षिण पार्श्व से गमन आदि चेष्टा करती है; पुल्लिंगवाची प्रश्नों में, पुल्लिंग वाले दोहद में रुचि रखती है तथा पुल्लिंग वाले (घोड़ा हाथी, पुरुष आदि के) स्वप्नों को देखती है वह स्त्री दक्षिण उदर के बढ़ने पर और गर्भ के गोल होने पर पुत्र को उत्पन्न करती है। इससे विपरीत लक्षणों वाली स्त्री कन्या को उत्पन्न करती है; तथा पुरुष के साथ सहवास की इच्छा करने वाली स्त्री, तथा नृत्य, बजाना, गान्धर्वरुचि एवं गन्धमाला में प्रीति रखने वाली स्त्री कन्या को उत्पन्न करती है।

नपुंसक तथा यमज सन्तान होने का लक्षण—

क्लीबं तत्सङ्करे तत्र मध्यं कुक्षेः समुन्नतम् ।
यमौ पार्श्वद्वयोन्नामात्कुक्षौ द्रोण्यामिव स्थिते ॥

पुत्र और कन्या के लक्षण मिले होने होने पर नपुंसक को उत्पन्न करती है; इसमें उदर बीच में से उन्नत होता है। दोनों पार्श्वों के उन्नत हो जाने पर—जिससे कि उदर नौका की भाँति हो जाता है—जोड़िया सन्तान होती है ॥ ७२ ॥

सूतिकागृह—

प्राक् चैव नवमान्मासात् सा सूतिगृहमाश्रयेत् ।
देशे प्रशस्ते सम्भारैः सम्पन्नं साधके हनि ॥ ७३ ॥

नवें महीने से पहले ही गर्भवती स्त्री सूतिका घर में आश्रय लेवे। यह घर प्रशस्त देश में सब साधनों से सम्पन्न होना चाहिये। इसमें शुभपुंनक्षत्र में प्रवेश करे ॥ ७३ ॥

वक्तव्य—‘प्राक् चैवास्या नवमान्मासात् सूतिकागारं कारयेदपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा बैल्वानां क ष्ठानां……दसनालेपनाच्छादनापिधानसंपदुपेतं वास्तुविद्याहृदयाग्निसलिलोदूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं च ॥’ विशेष के लिये देखिये (चरक० शा० अ० ८।३३. ३४. ३५.)

तत्रोदीक्षेत सा सूतिं सूतिकापरिधारिता ।

वहाँ पर सूतिकाओं (अनेक प्रसूति के अनुभव वाली स्त्रियों) से घिरी हुई गर्भवती स्त्री प्रसव की प्रतीक्षा करे।

वक्तव्य—सूतिकाभिः—‘अनेकवारं प्रसवानुभूततत्कालोचितव्यवहारकुशलाभिःपरिवारिता ।’ संग्रहमें—‘बहुशः प्रसूताभिरनुरक्ताभिरविषादिनीभिरविसंवादिनीभिः क्लेशसहाभिः परिवृता स्वस्त्ययनपराऽनुलोमनैराहारविहारैः अनुलोमितवातमूत्रपुरीषा प्रसवकालमुदीक्षेत । स्वल्पेऽपि च विण्मूत्रविबन्धे, फलवर्त्तीः प्रयोजयेत् । (संग्रह० शा० अ० ३.)

आसन्नप्रसवा के लक्षण—

अद्य श्वः प्रसवे ग्लानिः कुक्ष्यक्षिश्लथता क्लमः ॥
अधोगुरुत्वमरुचिः प्रसेको बहुमूत्रता ।
वेदनोरूदरकटीपृष्ठहृद्बस्तिवङ्क्षणे ॥ ७५ ॥
योनिभेदरुजातोदस्फुरणस्रवणानि च ।

आसन्नप्रसवा का लक्षण—आज या कल प्रसव होना हो तो ग्लानि (हर्षक्षय); कुक्षि और आँख में ढीलापन; थकान; नीचे के अंगों में भार; अरुचि; मुख से पानी आना; मूत्र का बार-बार आना, उदर, ऊरु, कटि, पीठ, हृदय और वंक्षण में

वेदनायें, योनि का विस्तृत होना, योनि में पीड़ा, तोद, स्फुरण और योनि से स्राव—ये लक्षण होते हैं ॥ ७४-७५ ॥

आवीनामनु जन्मातस्ततो गर्भोदकस्रुतिः ॥ ७६ ॥

इसके पीछे आवी की उत्पत्ति और इसके उपरान्त गर्भोदक का स्राव होता है ॥ ७६ ॥

वक्तव्य—आवि गर्भनिष्क्रमणकालीन विशेष शूल। गर्भोदक—प्रसवकालीन योनि से जलस्राव।

उपस्थित गर्भोत्पत्ति के समय कर्तव्य—

अथोपस्थितगर्भां तां कृतकौतुकमङ्गलाम्।
हस्तस्थपुन्नामफलां स्वभ्यक्तोष्णाम्बुसेचिताम् ॥७७॥
पाययेत्सघृतां पेयां—

गर्भोदक निकलने लगे तब गर्भवती में गर्भ का प्रसव होना जानकर कौतुक (नाच, गाना आदि तमाशे या रक्षा-सूत्र आदि का धारण) और मंगल कराकर; हाथ में अनार आदि पुंलिंग फल लेकर, अच्छी प्रकार से अभ्यंग-तैलाभ्यंग कराके, गरम जल से स्नान करा कर घृत युक्त पेया को पिलाये ॥ ७७ ॥

भूमिपर स्थित गर्भवती का अभ्यङ्गादि—

—तनौ भूशयने स्थिताम्।
आभुग्नसक्थिमुत्तानामभ्यक्ताङ्गीं पुनः पुनः ॥ ७८ ॥
अधो नाभेर्विमृद्नीयात्कारयेज्जृम्भचङ्क्रमम्।

इसके अनन्तर स्त्री को कोमल भूमिशय्या पर (जमीन पर ही मृदु बिस्तर लगाकर) टाँगों को मोड़कर चित्त (उत्तान) लेटाकर बार-बार तैल का अभ्यंग करते हुए नाभि के नीचे मलना चाहिये तथा जम्भाई लेना और जल्दी चलना आदि कराए ॥ ७८ ॥

प्रसवोपचार से लाभ—

गर्भः प्रयात्यवागेवं, तल्लिङ्गं हृद्विमोक्षतः ॥ ७९ ॥
आविश्य जठरं गर्भो बस्तेरुपरि तिष्ठति।

इस प्रकार करने से गर्भ नीचे को आता है; इसके लक्षण—हृदय प्रदेश से खिसक कर गर्भ जठर (उदर) में प्रविष्ट होकर (नीचे आकर) बस्ति के ऊपर ठहरता है ॥७९॥

वक्तव्य—गर्भ को नीचे खिसकाने के लिए 'दद्यात् कुष्ठलांगलिकीवचाचव्यचित्रकचिरबिल्वचूर्णमुपघ्रातुं मुहुर्मुहुः। पार्श्वपृष्ठकटिसक्थिदेशान् कोष्णेन तैलेनाभ्यज्यानुसुखमस्या विमृद्नीयात्। एवमवाक् परिवर्त्तते गर्भः ॥' (सं. शा. अ. ३)

प्रसवकाल का उपचार—

आव्योऽभित्वरयन्त्येनां खट्वामारोपयेत्ततः ॥८०॥
अथ सम्पीडिते गर्भे योनिमस्याः प्रसारयेत्।
मृदु पूर्वं प्रवाहेत बाढमाप्रसवाच्च सा ॥८१॥

जब आवी जल्दी-जल्दी आने लगे तब इस स्त्री को शय्या पर लिटा देवे। यदि वायु के कारण (गर्भाशयमुख और संकुचित होने से) गर्भ चारों ओर से दबा रहा हो-उस समय अभ्यंग आदि से योनि को विस्तृत करे।

आरम्भ में धीरे-धीरे और बाद में प्रसव जब तक न हो जाय जोर-जोर से प्रवाहण करे (गर्भिणी स्वयं गर्भ को निकालने के लिए जोर लगाये।) ८०-८१ ॥

वक्तव्य—'शनैः शनैश्च पूर्वं प्रवाहिष्ठाः; निर्गमे बाढं गर्भस्य योनिमुखप्रतिपत्तौ बाढतरमाप्रसवादिति ॥' (संग्रह०)

हर्षयेत्तां मुहुः पुत्रजन्मशब्दजलानिलैः।

इस स्त्री को बार-बार पुत्रजन्म के शब्द से; पानी के छींटों से और वायु (पंखा झलने आदि) से प्रसन्न (आश्वस्त) करते रहना चाहिये।

वक्तव्य—'एनां ब्रूयाच्च सुभगे शनैः शनैः प्रवाहयस्व-शोभनस्ते सुखवर्णः पुत्रं जनयिष्यसि। तथाऽन्या तु वामकर्णेऽस्या मन्त्रमिमं जपेत् ॥' 'क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः सगर्भां त्वां सदा पातु विशल्यं चादधात्विति ॥ प्रसूष्व त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्टा शुभानने। कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम् ॥' इति। तथा 'इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि। उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ॥ इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्रि। तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम् ॥' इति। अथापरा स्त्री गर्भिणीमनुशिष्यात्-'अनागतायां वेदनायां मा प्रवाहिष्ठाः। अकालं प्रवाहणं हि विण्मूत्रादिवेगानामिवोदीरणमनर्थकरमहितं च। गर्भस्य श्वासकासशोफकुब्जतादिकरत्वात्' ॥ (संग्रह शा. अ. ३)

प्रत्यायान्ति तथा प्राणाः सूतिक्लेशावसादिता ॥८२॥

प्रसव के दुःख के कारण थके हुए प्राण इस प्रकार (आश्वासन) करने से फिर से नये हो जाते हैं ॥ ८२ ॥

गर्भसंग (,अवरुद्ध गर्भ) में उपचार—

धूपयेद्गर्भसङ्गे तु योनिं कृष्णाहिकञ्चुकैः।
हिरण्यपुष्पीमूलं च पाणिपादेन धारयेत् ॥ ८३ ॥
सुवर्चलां विशल्यां वा जराय्वपतनेऽपि च।
कार्यमेतत्तथोत्क्षिप्य बाह्वोरेनां विकम्पयेत् ॥ ८४ ॥
कटीमाकोटयेत्पार्ष्ण्या स्फिजौ गाढं निपीडयेत्।
तालुकण्ठं स्पृशेद्वेण्या मूर्ध्नि दद्यात्स्नुहीपयः ॥८५॥
भूर्जलाङ्गलिकीतुम्बीसर्पत्वक्कुष्ठसर्षपैः ।
पृथग्द्वाभ्यां समस्तैर्वा योनिलेपनधूपनम् ॥ ८६ ॥
कुष्ठतालीसकल्कं वा सुरामण्डेन पाययेत्।
यूषेण वा कुलत्थानां बल्वजेनासवेन वा ॥ ८७ ॥

गर्भ के रुक जाने पर योनि में धूपन करे। इसके लिये—काले सांप के केंचुली से धुंवा देवे। स्वर्णपुष्पी (सत्यानाशी) के मूल को या सुवर्चला अथवा कलिहारी को हाथ-पैरों पर बांधे। यही चिकित्सा अपरा के बाहर न आने पर भी बरते। इस स्त्री के बाहुओं को उठाकर हिलाये-झकोले, एड़ी से कटि पर आघात करे। नितम्बों को जोर से दबाये। बालों की वेणी से तालु कण्ठ को छुए। शिर पर थूहर का दूध लगाये।

भोजपत्र, कलिहारी, कड़ुई तुम्बी, सांप की केंचुली, कूट, सरसों, इनसे अलग-अलग, दो-दो को मिलाकर या सब से

योनि में लेप करे और योनि में धुंवा देवे। अथवा कूठ और तालीस के कल्क को सुरामण्ड से पिलावे, अथवा कुलथ के यूष से, या वाल्वज आसव के साथ पिलावे ॥ ८३-८७ ॥

वक्तव्य—वाल्वज (मरिच ?) को पानी में भिगोकर रातभर रखकर उसका शीतकषाय बाल्वज आसव कहा जाता है।

शताह्वासर्षपाजाजीशिग्रुतीक्ष्णकचित्रकैः ।
सहिङ्गुकुष्ठमदनैर्मूत्रे क्षीरे च सार्षपम् ॥ ८८ ॥
तैलसिद्धं हितं पायौ योन्यां वाऽप्यनुवासनम्।
शतपुष्पावचाकुष्ठकणासर्षपकल्कितः ॥ ८९ ॥
निरूहः पातयत्याशु सस्नेहलवणोऽपराम् ।
तत्सङ्गे ह्यनिलो हेतुः सा निर्यात्याशु तज्जयात् ॥

सौंफ, सरसों, जीरा, सहिजन, पिप्पली चीता, हींग, कूठ, मैनफल इनके कल्क से गोमूत्र और दूध में सिद्ध किये सरसों के तैल की अनुवासन वस्ति गुदा और योनि में देवे। सौंफ, वच, कूठ, पिप्पली और सरसों का कल्क, स्नेह (तैल) और लवण के साथ दिया हुआ निरूह अपरा को शीघ्र बाहर निकाल देता है। अपरा के रोकने में वायु कारण है, वायु को जीत लेने से अपरा शीघ्र निकल आती है ॥ ८८-९० ॥

वक्तव्य—'गर्भिणीं तु न्युब्जामास्थापयेदनुवासयेच्च। तथाऽस्या विवृतमार्गतया सम्यगौषधमनुप्रविशति ॥'

कुशला पाणिनाऽक्तेन हरेत्क्लृप्तनखेन वा।

कुशल स्त्री जिनके नाखून कटे हों ऐसे हाथों को घी आदि से चिकना कर उनसे अपरा को बाहर निकाल दे।

वक्तव्य—'शाल्मलीपिच्छया वा सघृतया योनिं पूरयित्वा विधुनुयात् ॥' (ग्रह)

मुक्तगर्भापरां योनिं तैलेनाङ्गं च मर्दयेत् ॥ ९१ ॥
मक्कलाख्ये शिरोवस्तिकोष्ठशूले तु पाययेत्।
सुचूर्णितं यवक्षारं घृतेनोष्णजलेन वा ॥ ९२ ॥
धान्याम्बु वा गुडव्योषत्रिजातकरजोन्वितम्।

गर्भ और अपरा के निकल जाने पर योनि और शरीर पर तैल का अभ्यंग करे।

शिर, वस्ति और कोष्ठ में शूल लक्षणों वाले मक्कल रोग में-भली प्रकार चूर्ण किये यवक्षार चूर्ण को घृत से या गरम जल से पिलाये। अथवा—गुड़ (पुराना गुड़), त्रिकटु, त्रिजातक इनके चूर्ण को धान्य कांजी के साथ पिलाये ॥

प्रसूति का उपचार—

अथ बालोपचारेण बालं योषिदुपाचरेत् ॥ ९३ ॥

इसके उपरान्त अनुभवी स्त्री (बालोपचरणीय अध्याय में कही विधि से) उत्पन्न बालक की परिचर्या करे ॥ ९३ ॥

सूतिका क्षुद्वती तैलाद् घृताद्वा महतीं पिबेत्।
पञ्चकोलकिनीं मात्रामनु चोष्णं गुडोदकम् ॥ ९४ ॥
वातघ्नौषधतोयं वा, तथा वायुर्न कुप्यति।
विशुध्यति च दुष्टास्रं द्वित्रिरात्रमयं क्रमः ॥ ९५ ॥
स्नेहायोग्या तु निःस्नेहममुमेव विधिं भजेत्।
पीतवत्याश्च जठरं यमकाक्तं विवेष्टयेत् ॥ ९६ ॥

प्रसूता स्त्री भूख लगने पर पंचकोल युक्त घृत या तैल की बड़ी मात्रा को (जो स्नेह मात्रा आठ याम में जीर्ण होती है) पीकर पीछे से गुड़ का गरम शरबत पिये। अथवा वातहर द्रव्यों का (पंचमूल या दशमूल का) क्वाथ पिये। इस प्रकार करने से वायु कुपित नहीं होती तथा दूषित रक्त शुद्ध हो जाता है; यह विधि दो-तीन दिन तक बरते। जिस प्रसूता को स्नेह अनुकूल न हो वह स्नेह रहित इसी विधि को बरते। पूर्वोक्त औषधों को पीने के बाद इसके उदर को तैल और घी से अभ्यङ्ग करे और वस्त्र से लपेट देवे ॥ ९३-९६ ॥

जीर्णे स्नाता पिबेत्पेयां पूर्वोक्तौषधसाधिताम्।
त्र्यहादूर्ध्वं विदार्यादिवर्गक्वाथेन साधिता ॥ ९७ ॥
हिता यवागूः स्नेहाढ्या सात्म्यतः पयसाऽथवा।
सप्तरात्रात्परं चास्यै क्रमशो बृंहणं हितम् ॥ ९८ ॥
द्वादशाहेऽनतिक्रान्ते पिशितं नोपयोजयेत्।

स्नेह की मात्रा के जीर्ण होने पर स्नान करके पूर्वोक्त औषधियों से साधित पेया को पीये। तीन दिन के उपरान्त विदार्यादि गण के क्वाथ से सिद्ध प्रचुर स्नेह युक्त यवागू हितकारी है। अथवा सात्म्य (अभ्यास) के कारण दूध में साधित यवागू उत्तम है। सात दिन के उपरान्त इस स्त्री का क्रमशः बृंहण करना उत्तम है। बारह दिन के बीतने तक इसको मांस नहीं देना चाहिये ॥ ९७-९८ ॥

वक्तव्य—स्कन्दादि बारह ग्रहों का अभिषङ्ग न हो जाये इसलिये मांसभोजन नहीं देना चाहिये। क्योंकि इनको मांस-रक्त अधिक प्रिय है एवं जब तक इसकी अग्नि भी स्थिर नहीं रहती;

प्रसूति की शुश्रूषा—

यत्नेनोपचरेत्सूतां, दुःसाध्यो हि तदामयः ॥ ९९ ॥
गर्भवृद्धिप्रसवरुक्क्लेदास्रस्रुतिपीडनैः ।

प्रसूता की चिकित्सा प्रयत्नपूर्वक करे; क्योंकि उसके रोग गर्भ की वृद्धि, प्रसव की वेदना, क्लेद एवं रक्तस्रुति और दबाव के कारण कष्टसाध्य होते हैं ॥ ९९ ॥

एवं च मासादध्यर्धान्मुक्ताहारादियन्त्रणा ॥ १०० ॥
गतसूताभिधाना स्यात्पुनरार्तवदर्शनात् ।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां द्वितीये शारीरस्थाने
गर्भावक्रान्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

◆

इस प्रकार डेढ़ मास के पीछे आहार-विहार आदि परहेज पालन से रहित होती है। पुनः आर्त्तवदर्शन होने पर प्रसूता इस नाम से रहित होती है। (डेढ़ मास उपरान्त प्रसूता

नाम नहीं रहता; इसके उपरान्त परहेज पालना जरूरी नहीं रहता) ॥ १०० ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में दूसरे शारीरस्थान का गर्भावक्रान्ति नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

* * *

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो गर्भव्यापदं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे गर्भव्यापद शारीर का व्याख्यान करेंगे- जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

गर्भावस्था में रजःस्राव होने पर कर्तव्य—

गर्भिण्याः परिहार्याणां सेवया रोगतोऽथवा ।
पुष्पे दृष्टेऽथवा शूले बाह्यान्तः स्निग्धशीतलम् ॥ १ ॥
सेव्याम्भोजहिमक्षीरिवल्ककल्काज्यलेपितान् ।
धारयेद्योनिबस्तिभ्यामार्द्रार्द्रान् पिचुनक्तकान् ॥ २ ॥

गर्भवती के लिये बताये परहेज (आहार-विहार रूपी) को न पालने से; अथवा रोग के कारण रक्त (योनि से) दिखाई देने पर अथवा शूल अनुभव होने पर बाह्य और अन्तः रूप में स्निग्ध तथा शीतल उपचार करे इसके लिये खस, कमल, चन्दन तथा बरगद आदि क्षीरी वृक्ष; इनके कल्क को घी में मिला कर योनि में वस्ति द्वारा देवे अथवा इन्हीं से लिप्त और तर (अतिशय गीले) पिचु (रूई के फाहे) या कपड़ों को योनि में धारण करे ॥ १-२ ॥

शतधौतघृताक्तां स्त्रीं तदम्भस्यवगाहयेत् ।
ससिताक्षौद्रकुमुदकमलोत्पलकेसरम् ॥ ३ ॥
लिह्यात् क्षीरघृतं खादेच्छृङ्गाटककसेरुकम् ।
पिबेत्कान्ताब्जशालूकबालोदुम्बरवत्पयः ॥ ४ ॥
शृतेन शालिकाकोलीद्विबलामधुकेक्षुभिः ।
पयसा रक्तशाल्यन्नमद्यात्समधुशार्करम् ॥ ५ ॥
रसैर्वा जाङ्गलैः—

शतधौत (बहुत बार धोये) घृत का नाभि से नीचे लेप करके खस, कमल आदि से सिद्ध या युक्त पानी में बैठाए। घी और दूध को चीनी, मधु, कुमुद, कमल एवं उत्पल के केसर के साथ चाटे। सिंघाड़े और कसेरु को खाये। प्रियङ्गु, कमल, कमलमूल तथा कच्चा गूलर इनसे सिद्ध दूध पिये। शालिधान्य, काकोली, बला, अतिबला, मुलहठी और ईख इनसे सिद्ध दूध पिये। लाल चावल के भात को मधु, शर्करा मिलाकर दूध से अथवा जांगल मांसरस से खाये ॥ ३-५ ॥

वक्तव्य—क्षीरसर्पि का अर्थ दूध से निकाला घी (मक्खन) भी है और चाटने को कहा गया है अतः यहाँ यही अर्थ ठीक प्रतीत होता है। आगे चलकर 'पीने के लिए दूध का अलग से वर्णन भी है। दूध को सिद्ध करने की विधि— 'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥' चरक में कुछ और भी उपचार वर्णित हैं। यथाः—'पुष्पदर्शनादेवैनां ब्रूयात् शयनं तावन्मृदु सुखशिशिरास्तरणसंस्तीर्णमीषदवनतशिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति। ततो यष्टीमधुकसर्पिर्भ्यां परमशिशिरवारिणि संस्थिताभ्यां पिचुमाप्लाव्योपस्थसमीपे स्थापयेत् ॥' (च. शा. अ. ८।२४)

—शुद्धिवर्जं चास्रोक्तमाचरेत् ।

शोधन (वमन आदि) को छोड़कर रक्तपित्त की चिकित्सा को बाह्य और अन्तः बरते ।

तृतीय मास के पहले रक्तस्राव होनेपर उपचार—

असम्पूर्णत्रिमासायाः प्रत्याख्याय प्रसाधयेत् ॥ ६ ॥
आमान्वये च—

तीन मास पूरे होने के पूर्व यदि पुष्पदर्शन हो तो असाध्य कह कर चिकित्सा करे 'और तीन मास के बाद भी यदि आमसम्बद्ध रक्त आने लगे तो भी असाध्य कह कर चिकित्सा करे ॥ ६ ॥

वक्तव्य—तीन मास तक गर्भ में सार नहीं होता, इसलिए असाध्य है। आम का सम्बन्ध होने पर चिकित्सा विरोधी है, क्योंकि गर्भवती के लिए रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, कटुप्राय आमघ्न चिकित्सा विरोधी है, शीत-स्निग्धबहुल चिकित्सा आम के लिये विरोधी है।

—तत्रेष्टं शीतं रूक्षोपसंहितम् ।
उपवासो घनोशीरगुडूच्यरलुधान्यकाः ॥ ७ ॥
दुरालभापर्पटकचन्दनातिविषाबलाः ।
क्वथिताः सलिले पानं तृणधान्यानि भोजनम् ॥ ८ ॥
मुद्गादियूषैरामे तु जिते स्निग्धादि पूर्ववत् ।

ऐसी अवस्था (आमानुबन्ध) में शीतल अन्नपानादि, रूक्ष (तिक्त-कषाय) से मिला कर लेना अथवा उपवास उत्तम है। मुस्ता, खस, गिलोय, श्योनाक, धनिया, धमासा, पित्तपापड़ा, चन्दन, अतीस, बला इनका क्वाथ पीने में उत्तम है। भोजन में—तृणधान्य (कोदो, सांवक, थई, फाफरा) को मूंग आदि के यूष से देवे। आम के शान्त हो जाने पर स्निग्धादि भोजन पूर्व की भांति देवे ॥ ७-८ ॥

कुछ गर्भस्थापक योग—(१) मधुना छागदुग्धेन कुलालकरकर्दमः। अवश्यं स्थापयेद्गर्भं चलितं पानयोगतः ॥ (२) सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं देवदारु च। एवमाप्यायते गर्भः तीव्रा रुक् चोपशाम्यति ॥ (३) कुशकाशोरुबूकानां मूलैः गोक्षुरकस्य च। शृतं दुग्धं सितायुक्तं गर्भिण्याः शूलनुत् परम् ॥ (४) मालिश के लिये गर्भविलास तैल—'विदारी दाडिमं पत्रं रजनी च फलत्रयम्। शृंगाटकस्य पत्रं च जातीकुसुममेव च। वरी नीलोत्पलं पद्म तैलमेतैः पचेत् सुधीः ॥

अकस्मात् गर्भपात होने पर उपचार—

गर्भे निपतिते तीक्ष्णं मद्यं सामर्थ्यतः पिबेत् ॥ ९ ॥
गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमर्तिविस्मरणाय च ।
लघुना पञ्चमूलेन रूक्षां पेयां ततः पिबेत् ॥ १० ॥

पेयाममद्यपां कल्के साधितां पाञ्चकौलिके।
बिल्वादिपञ्चकक्वाथे तिलोद्दालकतण्डुलैः ॥ ११ ॥
मासतुल्यदिनान्येवं पेयादिः पतिते क्रमः।
लघुरस्नेहलवणो दीपनीययुतो हितः ॥ १२ ॥

(इतना होने पर भी) यदि गर्भ गिर जाये तब गर्भकोष्ठ की शुद्धि के लिये और वेदना को भुलाने के लिये सामर्थ्यानुसार मद्य को पिये। बाद मे लघुपञ्चमूल से सिद्ध रूक्ष पेया पिये। जो मद्य नहीं पीती हो वह पञ्चकोल के कल्क से सिद्ध पेया को पिये। बिल्वादि पंचमूल के क्वाथ में तिल और उद्दालक (तिन्नी) के चावलों से बनाई पेया को पिये। जितने मास का गर्भ गिरा हो उतने दिनों तक लघु एवं लवण तथा स्नेहरहित मरिच आदि दीपनीय द्रव्यों से युक्त पेया आदि का सेवन हितकारी है ॥ ९-१२ ॥

दोषधातुपरिक्लेदशोषार्थं विधिरित्ययम्।
स्नेहान्नवस्तयश्चोर्ध्वं बल्यदीपनजीवनाः ॥ १३ ॥

यह उपचार दोष (पित्त और कफ क्योंकि वायु में क्लेद संभव नहीं है) तथा धातु के क्लेद को सुखाने के लिये है।

इसके बाद बलकारक, अग्निदीपक, ओजवृद्धिकारक, स्नेह, अन्न और वस्तियां (स्निग्ध अन्न, स्निग्ध वस्ति) उत्तम हैं, रूक्ष उपचार नहीं वरते' ॥ १३ ॥

उपविष्टक गर्भ के लक्षण—

सञ्जातसारे महति गर्भे योनिपरिस्रवात्।
वृद्धिमप्राप्नुवन् गर्भः कोष्ठे तिष्ठति सस्फुरः ॥ १४ ॥
उपविष्टकमाहुस्तं वर्द्धते तेन नोदरम्।

उपविष्टक—सार के उत्पन्न हो जाने पर (तीन मास से अधिक काल का) बड़ा गर्भ योनि से रक्त के जाने से न बढ़ता हुआ भी कोष्ठ-गर्भाशय में ही गति करता हुआ रुक जाता है। इस अवस्था को उपविष्टक कहते हैं और इससे उदर नहीं बढ़ता ॥ १४ ॥

वक्तव्य—कभी-कभी बीच-बीच में रक्तस्राव होता रहता है पर गर्भ नहीं गिरता तो रक्त की कमी से पूर्ण पोषण नहीं मिलने से गर्भ की वृद्धि नहीं होती। इसीसे उदर में भी वृद्धि नहीं होती और चिरकाल तक गर्भ का प्रसव नहीं होता यद्यपि वह जीवित रहता है तथा थोड़ी-थोड़ी गति भी होती है। इस अवस्था को 'उपविष्टक' गर्भ कहते हैं।

नागोदर गर्भ के लक्षण—

शोकोपवासरूक्षाद्यैरथवा योन्यतिस्रवात् ॥ १५ ॥
वाते क्रुद्धे कृशः शुष्येद् गर्भो नागोदरं तु तम्।
उदरं वृद्धमप्यत्र हीयते स्फुरणं चिरात् ॥ १६ ॥

नागोदर—शोक, उपवास या रूक्ष आदि भोजनों से अथवा योनि से अतिस्राव होने के कारण वायु के कुपित होने पर गर्भ सूख कर कृश हो जाता है, इसको नागोदर कहते हैं। इसमें बढ़ा हुआ उदर भी घट जाता है। इसमें गति देर में (कभी-कभी) होती है ॥ १५-१६ ॥

उक्त गर्भों में उपचार—

तयोर्बृंहणवातघ्नमधुरद्रव्यसंस्कृतैः ।
घृतक्षीररसैस्तृप्तामगर्भांश्च खादयेत् १७ ॥
तैरेव च सुभिक्षायाः क्षोभणं यानवाहनैः।

इन दोनों (उपविष्टक और नागोदर) में बृंहण-वातघ्न और मधुर द्रव्यों से संस्कृत घृत, दूध और मांसरसों को पेट भर खिलाये तथा अपूर्ण (अण्डे आदि) को खाये। इनको तृप्तिपूर्वक खाकर रथ आदि सवारी से वेगपूर्वक गमन करे ॥ १७ ॥

वक्तव्य—केवल बृंहण या वातघ्न या मधुर का पृथक्-पृथक् प्रयोग न कर इन सभी का मिश्रित प्रयोग हितकर होता है। यथा संग्रह में—'तयोर्जीवनीयबृंहणीयमधुरौषधसिद्धानां सर्पिषामुपयोगः ॥'

लीन गर्भ की चिकित्सा—

लीनाख्ये निस्फुरे श्येनगोमत्स्योत्क्रोशबर्हिजाः ॥१८॥
रसा बहुघृता देया माषमूलकजा अपि।
बालबिल्वं तिलान्माषान्सक्तूंश्च पयसा पिबेत् ॥१९॥
समेदमांसं मधु वा कट्यभ्यक्तं च शीलयेत्।

गर्भ में जब चलन-गति बिलकुल न हो तब इसे लीन गर्भ कहते हैं, इसमें श्येन (बाज), गाय, मछली, उत्क्रोश और मोर इनके मांसरस को प्रभूत घृत के साथ देवे। उड़द और मूली के रस को भी प्रचुर घी से देवे। कच्चा बिल्व, तिल, उड़द और सत्तू को दूध से पिये। मेदुर मांस के साथ मधु (मार्द्वीक मद्य) पिये और कटिप्रदेश पर अभ्यंग करे ॥१८-१९॥

वक्तव्य—उपविष्टक में कुछ अधिक, नागोदर में बहुत कम और लीनगर्भ में बिलकुल गति नहीं होती किन्तु इन तीनों में ही चेतना रहती है—'यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसो लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः ॥' मधु-यहाँ पर मद्य के लिये है, यथा-चरक के मद्यवर्ग में—'रोचनं दीपनं हृद्यं बल्यं पित्ताविरोधि च। विबन्धघ्नं कफघ्नं च मधु लघ्वल्पमारुतम् ॥' (चरक सू० अ० २७, १८९)

हर्षयेत्सततं चैनामेवं गर्भः प्रवर्द्धते ॥ २० ॥

इस उपविष्टक, नागोदर या लीन गर्भवती को सदा प्रसन्न रक्खे, इस प्रकार करने से गर्भ बढ़ता है ॥ २० ॥

विपरीत आचरण का कुपरिणाम—

पुष्टोऽन्यथा वर्षगणैः कृच्छ्राज्जायेत , नैव वा।

अन्यथा (रूक्षादि आहार के सेवन से) बहुत वर्षों बाद पुष्ट होने पर कठिनाई से उत्पन्न होता है, अथवा नहीं उत्पन्न होता है।

वक्तव्य—पूर्वोक्त उपविष्टक, नागोदर और लीन गर्भ में चेतना रहती है अर्थात् गर्भ जीवित रहता है पर उसकी

---

[१] विस्तार के लिये देखिये चरक शा. अ. ८।३२। सु. शा. अ. १०।५८ से ६५। यदि गर्भस्राव हो जाने के बाद भी पूर्ण कोष्ठ-शुद्धि न हुई हो और गठीला रक्त आता हो तो कबूतर का बीट मधु से चाटे या चावल के धोवन में मिलाकर पिये।

पुष्टि और वृद्धि नहीं होती। उपचार से जब भी पुष्टि और वृद्धि होती है तभी प्रसव होता है। जिस प्रकार कि गान्धारी का गर्भ बहुत समय तक रह गया था उसको भगवान् व्यास ने फिर घड़ों में रखकर निकाला। उसमें युधिष्ठिर के प्रथम उत्पन्न हो जाने से गान्धारी को जो शोक हुआ था उसके कारण वह गर्भ पुष्ट नहीं हुआ। और जब बहुत समय तक बाहर नहीं आया तो उसने पेट पर क्रोध से आघात किया, इससे गर्भपात हो गया। उस गर्भ को भगवान् ने घृत के घड़ों में रख कर नियत समय तक रक्खा था। विस्तार के लिये महाभारत आदिपर्व देखें।

योग—(१)गर्भे शुष्के तु वातेन बालानाञ्चापि शुष्यताम्। सितामधुककाश्मर्यैर्हितमुत्थापने पयः॥ गर्भशोषे त्वामगर्भाः प्रसहाश्च सदा हिताः। (आमगर्भा-हंसकूर्मादीनामण्डानि।)

उदावर्त का उपाय—

उदावर्तं तु गर्भिण्याः स्नेहैराशुतरां जयेत् ॥ २१ ॥
योग्यैश्च वस्तिभिर्हन्यात्सगर्भां स हि गर्भिणीम् ।

गर्भवती के उदावर्त्त को स्नेहों से (योग्य औषधि से सिद्ध किये) शीघ्र शान्त करे अथवा तत्कालोचित वस्तियों से दूर करे क्योंकि यह उदावर्त्त गर्भ के साथ गर्भवती को भी मार देता है ॥ २१ ॥

वक्तव्य—निम्नलिखित फलवर्त्ति और योग भी प्रयुक्त कर सकते हैं—(१) फलवर्त्ति—हिंगुमाक्षिकसिन्धूत्थैः पिष्टैर्वर्त्तिं विनिर्मिताम् । घृताभ्यक्तां गुदे न्यस्येदुदावर्त्तविनाशनीम् ॥ (२) मदनं पिप्पली कुष्ठं वचा गौराश्च सर्षपाः। गुडक्षारसमायुक्ताः फलवर्त्तिरिहोच्यते ॥ (३) हिंग्वादिचूर्ण या लवङ्गादिचूर्ण अथवा गर्भविनोदरस बरते।

मृत गर्भ का लक्षण—

गर्भेऽतिदोषोपचयादपथ्यैर्दैवतोऽपि वा ॥ २२ ॥
मृतेऽन्तरुदरं शीतं स्तब्धं ध्मातं भृशव्यथम् ।
गर्भास्पन्दो भ्रमस्तृष्णा कृच्छ्रादुच्छ्वसनं क्लमः ॥२३॥
अरतिः स्रस्तनेत्रत्वमावीनामसमुद्भवः ।

मृतगर्भ-वातादि दोषों के अतिशय बढ़ने से, अपथ्य सेवन से अथवा प्राक्तन कर्मविपाक के कारण गर्भ के गर्भाशय में मर जाने पर उदर शीतल, स्तब्ध (जड़), वायु से भरी मशक के समान फूला और अतिशय पीड़ा वाला होता है और गर्भ में स्पन्दन नहीं होता; गर्भवती को चक्कर, प्यास, कठिनाई से ऊपर को श्वास लेना, थकान, बेचैनी, आँखों में ढीलापन होते हैं और आवी (प्रसवपीड़ा) उत्पन्न नहीं होती।

मृत गर्भ की चिकित्सा—

तस्याः कोष्णाम्बुसिक्तायाः पिष्ट्वा योनिं प्रलेपयेत् ॥
गुडं किण्वं सलवणं तथान्तः पूरयेन्मुहुः ।
घृतेन कल्कीकृतया शाल्मल्यतसिपिच्छया ॥ २५ ॥
मन्त्रैर्योगैर्जरायुक्तैर्मूढगर्भो न चेत्पतेत् ।
अथापृच्छ्येश्वरं वैद्यो यत्नेनाशु तमाहरेत् ॥ २६ ॥
हस्तमभ्यज्य योनिं च साज्यशाल्मलिपिच्छया ।
हस्तेन शक्यं तेनैव —

इसकी योनि को गुनगुने पानी से धोकर गुड़, किण्व और नमक इनसे योनि में लेप करे। सेमल और अलसी की पिच्छा (गोंद या लुआब) को घी के साथ कल्क करके इससे योनि के अन्दर लेप करे। अथर्ववेदोक्त मन्त्रों से; तथा जरायु को निकालने के लिये कहे उपायों से इसको बाहर निकाले। इतने से भी यदि मृतगर्भ बाहर न आये तब वैद्य राजा की अनुमति लेकर प्रयत्नपूर्वक इस मृत गर्भ को शीघ्र निकाले। इसके लिये हाथ और योनि को घृत मिश्रित सेमल की पिच्छा से चिकना करके हाथ से खींचना सम्भव हो तो हाथ से ही खींचे ॥ २४-२६ ॥

—गात्रं च विषमं स्थितम् ॥ २७ ॥
आञ्छनोत्पीडसम्पीडविक्षेपोत्क्षेपणादिभिः ।
आनुलोम्य समाकर्षेद्योनिं प्रत्यार्जवागतम् ॥ २८ ॥

गर्भ का शरीर विषम रूप में स्थित हो तो इसको आंछन-सीधा खींचकर; उत्पीडन-ऊपर की ओर दबाकर; सम्पीडन-चारों ओर से दबाकर विक्षेप, उत्क्षेप आदि क्रियाओं से सीधा करके-योनि की ओर सीधा आ जाने पर खींच लेवे।

मूढगर्भ का शस्त्रोपचार—

हस्तपादशिरोभिर्यो योनिं भुग्नः प्रपद्यते ।
पादेन योनिमेकेन भुग्नोऽन्येन गुदं च यः ॥ २९ ॥
विष्कम्भौ नाम तौ मूढौ शस्त्रदारणमर्हतः ।

कोई गर्भ जब कभी हाथ से, कभी पैर से अथवा कभी शिर से वक्र बनकर योनि में पहुँच जाता है; वह विष्कम्भ कहलाता है। अथवा एक पैर योनि में और दूसरा मुड़कर जब गुदा के पास रहता है वह भी विष्कम्भ है। ये दोनों मूढगर्भ शस्त्रक्रिया के योग्य हैं ॥ २९ ॥

मण्डलाङ्गुलिशस्त्राभ्यां तत्र कर्म प्रशस्यते ॥ ३० ॥
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं न योनाववचारयेत् ।

मूढगर्भ में मण्डलाग्र और अङ्गुलीशस्त्र से कार्य करना चाहिये; वृद्धिपत्र आगे से तीक्ष्ण होता है अतः उसका योनि में उपयोग न करे ॥ ३० ॥

गर्भच्छेदनविधि—

पूर्वं शिरःकपालानि दारयित्वा विशोधयेत् ॥ ३१ ॥
कक्षोरस्तालुचिबुकप्रदेशेऽन्यतमे ततः ।
समालम्ब्य दृढं कर्षेत्कुशलो गर्भशङ्कुना ॥ ३२ ॥
अभिन्नशिरसं त्वक्षिकूटयोर्गण्डयोरपि ।

शस्त्रकर्म—प्रथम शिर की अस्थियों को विदीर्ण करके मस्तिष्क का शोधन कर देवे-इसे निकाल देवे। फिर कक्षा, छाती, तालु, चिबुक इनमें से किसी प्रदेश में गर्भशंकु से दृढतापूर्वक पकड़ कर वैद्य गर्भ को खींच ले। यदि शिर विदीर्ण नहीं हुआ हो तो अक्षिकूटों में या गण्डप्रदेशों में गर्भशंकु से पकड़ कर गर्भ को खींचे ॥ ३१-३२ ॥

बाहुं छित्त्वांऽससक्तस्य वाताध्मातोदरस्य तु ॥ ३३ ॥

विदार्य कोष्ठमन्त्राणि बहिर्वा सन्निरस्य च ।
कटीसक्तस्य तद्वच्च तत्कपालानि दारयेत् ॥ ३४ ॥

जो गर्भ कन्धे से फँसा हुआ हो, उसमें बाहु को काट कर बाहर निकालना चाहिये । जिस गर्भ का उदर वायु से फूल गया हो, उसमें कोष्ठ को विदीर्ण करके आंतों को बाहर निकाल कर गर्भ को खींच लेना चाहिये ।

जो गर्भ कटि से फंसा हो, उसमें वायु से फूले उदर की भाँति शस्त्रकर्म करके कटि की कपालास्थियों को विदीर्ण करके गर्भ को निकाल लेना चाहिये ॥ ३३–३४ ॥

मूढ गर्भ की सामान्य चिकित्सा—

यद्यद्वायुवशादङ्गं सज्जेद्गर्भस्य खण्डशः ।
तत्तच्छित्त्वाऽऽहरेत्सम्यग्रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥ ३५ ॥
गर्भस्य हि गतिं चित्रां करोति विगुणोऽनिलः ।
तत्रानल्पमतिस्तस्मादवस्थापेक्षमाचरेत् ॥ ३६ ॥
छिन्द्याद्गर्भं न जीवन्तं मातरं स हि मारयेत् ।
सहात्मना, न चोपेक्ष्यः क्षणमप्यस्तजीवितः ॥ ३७ ॥

वायु (विपरीत गति) के कारण गर्भ का जो जो अङ्ग फंसता हो, उसी उसी अङ्ग को टुकड़ों में काटकर गर्भ को खींच लेना चाहिये, यत्नपूर्वक माता के जीवन की रक्षा करनी चाहिये ।

प्रकुपित वायु गर्भ में नाना प्रकार की गति उत्पन्न कर (उसे अवरुद्ध कर) देती है । इसमें महाबुद्धि वैद्य अवस्था के अनुसार (अपनी बुद्धि से विचार कर आवश्यक) उपचार करे ।

जीते हुए गर्भ को कभी भी नहीं काटे; क्योंकि वह गर्भ माता को भी अपने साथ मार देता है किन्तु मृत गर्भ की थोड़े समय के लिये भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ॥३५–३७॥

असाध्य (उपेक्षा के योग्य) मूढगर्भा—

योनिसंवरणभ्रंशमक्कल्लश्वासपीडिताम् ।
पूत्युद्गारां हिमाङ्गीं च मूढगर्भां परित्यजेत् ॥ ३८ ॥

जिसकी योनि (गर्भाशयमुख) बन्द हो, योनिभ्रंश हो; मक्कल्ल शूल हो, जो श्वास से पीड़ित हो तथा दुर्गन्ध उद्गार युक्त एवं शीत अंगों वाली मूढगर्भा स्त्री को असाध्य समझे ॥

अपरा के नहीं निकलने पर उपचार—

अथापतन्तीमपरां पातयेत्पूर्ववद्भिषक् ।
एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा ॥ ३९ ॥
दद्यादभ्यक्तदेहायै योनौ स्नेहपिचुं ततः ।
योनिर्मृदुर्भवेत्तेन शूलं चास्याः प्रशाम्यति ॥ ४० ॥

मूढ गर्भ के पीछे अपरा (खेढी) बाहर न आती हो तो उसे पूर्व की भाँति (पहले अध्याय में श्लोक ८३ से ९९ तक वर्णित विधि से) बाहर निकाले । इस प्रकार (गर्भ और जरायुरूपी) शल्य के निकल जाने पर गरम पानी से परिषेक करे । बाद में शरीर पर तैल का अभ्यंग करके योनि में स्नेह का पिचु रक्खे । इस पिचु से योनि कोमल होती है और शूल शान्त हो जाता है ॥ ३९–४० ॥

स्नानोत्तर चूर्णादि का प्रयोग—

दीप्यकातिविषारास्नाहिङ्ग्वेलापञ्चकोलकात् ।
चूर्णं स्नेहेन कल्कं वा क्वाथं वा (तां) पाययेत्ततः ॥ ४१ ॥
कटुकातिविषापाठाशाकत्वग्घिङ्गुतेजिनीः ।
तद्वच्च दोषस्यन्दार्थं वेदनोपशमाय च ॥ ४२ ॥
त्रिरात्रमेवं, सप्ताहं स्नेहमेव ततः पिबेत् ।
सायं पिबेदरिष्टं च तथा सुकृतमासवम् ॥ ४३ ॥
शिरीषककुभक्वाथपिचून् योनौ विनिक्षिपेत् ।
उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान् यथास्वमुपाचरेत् ॥ ४४ ॥

दीप्यक (अजवायन), अतीस, रास्ना, हींग, इलायची, पंचकोल इनके चूर्ण को, या कल्क को अथवा क्वाथ को घृत आदि स्नेह से स्नान के उपरान्त पिये । कुटकी, अतीस, पाठा, सागौन की छाल, हींग, तेजबल इनके चूर्ण या कल्क को उसी प्रकार (स्नेह के साथ) दोष को बहाने के लिये और वेदना की शान्ति के लिये पिये । इस प्रकार तीन रात पिये । फिर सात दिन तक केवल स्नेह को ही पिये । सायंकाल में अरिष्ट अथवा भली प्रकार बनाये आसवों को पिये । शिरीष और अर्जुन इनके क्वाथ का फोया योनि में रखे । अन्य जो उपद्रव हों उनकी यथायोग्य चिकित्सा करे ॥ ४१–४४ ॥

वक्तव्य—अन्य योग-(१) गृहाम्बुना गेहधूमपानं गर्भापकर्षणम् । (गृहाम्बु-कांजी) । (२) मक्कल्ल शूल के लिये-शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती द्वयगोक्षुरम् । दासी प्रसारणी विश्वा गुडूची मुस्तकं तथा ॥

मूढगर्भ का कर्तव्य—

पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम् ।
रसो दशाहं च परं लघुपथ्याल्पभोजना ॥ ४५ ॥
स्वेदाभ्यङ्गपरा स्नेहान् बलातैलादिकान् भजेत् ।
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यः सा क्रमेण सुखानि च ॥ ४६ ॥

दशमूल—रास्ना आदि वातहर द्रव्यों से सिद्ध दूध दस दिन तक भोजन में उत्तम है । अगले दस दिन तक मांसरस (अभाव में यूष) का भोजन करे । बीस दिन के उपरान्त लघु पथ्य और थोड़ा भोजन करे । स्वेदन और अभ्यंग का सेवन करती हुई बलातैल आदि स्नेहों का सेवन करे । इसके आगे चार मास के उपरान्त क्रमशः धीरे-धीरे यथारुचि अन्न, पान, विहार का सेवन करे ॥ ४५–४६ ॥

बलातैलनिरूपण—

बलामूलकषायस्य भागाः षट् पयसस्तथा ।
यवकोलकुलत्थानां दशमूलस्य चैकतः ॥ ४७ ॥
निष्क्वाथभागो भागश्च तैलस्य तु चतुर्दशः ।
द्विमेदादारुमञ्जिष्ठाकाकोलीद्वयचन्दनैः ॥ ४८ ॥
सारिवाकुष्ठतगरजीवकर्षभसैन्धवैः ।
कालानुसार्याशैलेयवचागुरुपुनर्नवैः ॥ ४९ ॥

अश्वगन्धावरीक्षीरशुक्लायष्टीवरारसैः ।
शताह्वाशूर्पपर्ण्येलात्वक्पत्रैः श्लक्ष्णकल्कितैः ॥ ५० ॥
पक्वं मृद्वग्निना तैलं सर्ववातविकारजित् ।
सूतिकाबालमर्मास्थिहतक्षीणेषु पूजितम् ॥ २१ ॥
ज्वरगुल्मग्रहोन्मादमूत्राघातान्त्रवृद्धिजित् ।
धन्वन्तरेरभिमतं योनिरोगक्षयापहम् ॥ ५२ ॥

बलातैल—बलामूल के क्वाथ के छः भाग, दूध, छः भाग; जौ, बेर, कुलथी और दशमूल इन सबका मिलित क्वाथ एक भाग (तैल के बराबर); ये सब तेरह भाग; चौदहवाँ तेल का एक भाग, मेदा, महामेदा, दारुहल्दी, मंजीठ, काकोली, क्षीरकाकोली, चन्दन, सारिवा, कूठ, तगर, जीवक, ऋषभक, सैन्धव, कालानुसार्या (उत्पलसारिवा या खस); शैलेय, वच, अगरु, पुनर्नवा, अश्वगन्धा, शतावरी, विदारी, मुलहठी, त्रिफला, रस (बोल), सौंफ, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, इलायची, दालचीनी, तेजपत्र, इनका बारीक चूर्ण कल्करूप में डालकर मृदु अग्नि पर तैलपाक करे। यह तैल सब वातरोगों को नष्ट करता है। सूतिका, बालरोग, मर्महत, अस्थिहत और क्षीण पुरुषों में प्रशस्त है। ज्वर, गुल्म, ग्रह, उन्माद, मूत्राघात और आंत्रवृद्धिनाशक है। धन्वन्तरि भगवान् से प्रशंसित है, योनिरोग और क्षयरोग का नाशक है ॥ ४७–५२ ॥

वक्तव्य—तैल १६ पल, बलामूल २४ पल, पानी ३८४ पल, शेष क्वाथ ९६ पल, दूध ९६ पल, जौ आदि ४ पल, पानी ६४ पल, शेष १६ पल। कल्क द्रव्य-मेदा आदि प्रत्येक आधा कर्ष लेना चाहिये।

मृतगर्भिणी के उदर से जीवित संतान का निकालना—

वस्तिद्वारे विपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि ।
जन्मकाले ततः शीघ्रं पाटयित्वोद्धरेच्छिशुम् ॥ ५३ ॥

गर्भप्रसवोन्मुख काल में मृतगर्भिणी की कुक्षि यदि वस्तिद्वार के समीप (गर्भस्थ जीवित शिशु के स्पन्दन के कारण) हिलती हो, तब कुशल वैद्य तुरन्त कुक्षि को चीर कर शिशु को निकाल लेवे[1] ॥ ५३ ॥

प्रथम सात मास में गर्भ-स्राव में सात योग—

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च ।
अश्मन्तकः कृष्णतिलास्ताम्रवल्ली शतावरी ॥ ५४ ॥
वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा ।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा च मधुयष्टिका ॥ ५५ ॥
बृहतीद्वयकाश्मर्यक्षीरिशुङ्गत्वचा घृतम् ।
पृश्निपर्णी बला शिग्रुः श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ॥ ५६ ॥
शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कसेरु मधुकं सिता ।
सप्तैतान् पयसा योगानर्द्धश्लोकसमापनान् ॥ ५७ ॥
क्रमात्सप्तसु मासेषु गर्भे स्रवति योजयेत् ।

गर्भस्राव में सात योग—(१) मुलहठी, सागौन के बीज; विदारी और देवदारु (२) पाषाणभेद, कालेतिल, मंजीठ और शतावरी (३) वन्दाक, विदारी लता (प्रियंगु या श्वेत सारिवा) और कृष्ण सारिवा (४) अनन्तमूल (कृष्ण सारिवा), श्वेत सारिवा, रास्ना; भांर्गी, मुलहठी. (५) कटेरी, बड़ी कटेरी, गम्भारी, बरगद और क्षीरी वृक्षों के कोपल, त्वचा और घी; (६) पृश्निपर्णी, बला, शोभांजन, गोखरू, गिलोय (७) सिंघाड़ा, बिस (कमलनाल), द्राक्षा, कसेरु, मुलहठी, शर्करा। आधे २ श्लोक में समाप्त होने वाले इन सात योगों को क्रमशः सात मासों में गर्भस्राव में दूध के साथ बरते ॥ ५४–५७ ॥

आठवें, नवें या दशवें मास में रक्तस्राव होने पर उपचार—

कपित्थबिल्वबृहतीपटोलेक्षुनिदिग्धकात् ॥ ५८ ॥
मूलैः शृतं प्रयुञ्जीत क्षीरं मासे तथाऽष्टमे ।
नवमे सारिवानन्तापयस्यामधुयष्टिभिः ॥ ५९ ॥
योजयेद्दशमे मासि सिद्धं क्षीरं पयस्यया ।
अथवा यष्टिमधुकनागरामरदारुभिः ॥ ६० ॥

आठवें मास में—कैथ, बिल्व, बड़ी कटेरी, पटोल, ईख, और छोटी कटेरी इनके मूल से सिद्ध किया दूध देवे।

नवम मास में—सारिवा, काली सारिवा, विदारी या काकोली और मुलहठी से सिद्ध दूध देवे। दसवे मास में—पयस्या (विदारी या काकोली) से सिद्ध अथवा मुलहटी, सोंठ और देवदारु से सिद्ध किया दूध देवे ॥ ५८–६० ॥

अवस्थितं लोहितमङ्गनाया वातेन गर्भं ब्रुवतेऽनभिज्ञा ।
गर्भाकृतित्वात्कटुकोष्णतीक्ष्णैः स्रुते पुनःकेवलएव रक्ते ॥
गर्भं जडा भूतहृतं वदन्ति भूतैर्न दृष्टं हरणं यतस्तैः ।
ओजोशनत्वादथवाऽव्यवस्थैर्भूतैरुपेक्ष्येत न गर्भमाता ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां द्वितीये शारीरस्थाने
गर्भव्यापन्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

* * *

स्त्री का केवल रक्त वायु के कारण जब रुक जाता है तब मूढ लोग उसे गर्भ कहते हैं; क्योंकि इसके रुकने से गर्भ के लक्षण (ऋतु न आना आदि) उत्पन्न हो जाते हैं। फिर

---

[1] प्रसवोन्मुख काल में माता मर जाय और गर्भ जीवित रहे यह प्रायः असम्भव है अतः यहाँ 'विपन्ना' का अर्थ 'विकृतियुक्ता' और 'वस्ति' का अर्थ 'श्रोणि' लेना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार इस श्लोक का अर्थ निम्न प्रकार से करना प्रत्यक्षसंगत और उचित होगा। 'श्रोणिद्वार में विकृति होने से प्रसव में बाधा होती हो और कुक्षिस्पन्दन से गर्भ जीवित प्रतीत हो तो शीघ्र ही प्रसवकाल में उदर को चीरकर शिशु को बाहर निकाल ले।' सुश्रुत में यही श्लोक आया है किन्तु वहाँ 'वस्तिद्वार' के स्थान पर 'वस्तमार' शब्द है। वस्तमारः=छागलवत् मरणम् (डल्हण), विशेष विवेचन के लिए सुश्रुतसंहिता, मूढगर्भनिदान में इस श्लोक की डल्हण और डा० घाणेकर की टीका देखें।

कटु, उष्ण और तीक्ष्ण द्रव्यों के सेवन से केवल रक्त के ही बहने पर मूर्ख 'गर्भ को भूतों ने हर लिया' ऐसा कहते हैं। किन्तु शरीर का हरण भूतों से होता हुआ नहीं देखा गया; क्योंकि वे ओज को ही खाने वाले हैं। अथवा अनिश्चित मर्यादा वाले हैं (सदैव ओज का हरण करने वाले होते हुए भी कभी-कभी शरीर को भी खाते हैं) तो वे भूत गर्भ की माता की उपेक्षा करेंगे ? अर्थात् इसे क्यों नहीं खा लेते ॥

वक्तव्य—चरक में भी कहा है—ओजोशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम्। गर्भं हरेयुर्यदि ते न मातुर्लब्धावकाशा न हरेयुरोजः (चरक० शा० अ० २।१०)

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में गर्भव्यापन्नात्मक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

त्रिशोऽध्यायः

अथातोऽङ्गविभागं शारीरं व्याख्यास्यामः !
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे अङ्गविभाग नामक शारीर का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

अंगविभाग—

शिरोऽन्तराधिर्द्वौ बाहू सक्थिनी च समासतः।
षडङ्गमङ्गं प्रत्यङ्गं तस्याक्षिहृदयादिकम् ॥ १ ॥

इस शरीर के छः अवयव हैं, यथा—'शिर, अन्तराधि, दो बाहु और दो टांगें - ये संक्षेप में हैं। इन छः अवयव वाले शरीर के आँख, हृदय आदि प्रत्यङ्ग हैं ॥ १ ॥

वक्तव्य—अन्तराधि—मध्यभाग। अङ्गशब्द 'शरीर' और 'अवयव' दोनों का बोधक होता है यहाँ षडङ्ग में अङ्ग शब्द का अवयव और केवल अङ्ग का अर्थ शरीर है। प्रत्यङ्ग—अवयवमवयवं प्रति योऽवयवः तत्प्रत्यंगमुच्यते। अर्थात् एक-एक अंग (अवयव) के भी अवयव को 'प्रत्यङ्ग' कहते हैं। जैसे—हाथ अंग है और उसके अवयव-अँगुलियाँ कुहनी, मणिबन्ध आदि प्रत्यङ्ग हैं।

पञ्चमहाभूत और उनके गुण—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धः क्रमाद् गुणाः।
खानिलाग्न्यम्बुभुवामेकगुणवृद्ध्यन्वयः परे ॥ २ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के गुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं।

उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरे महाभूत में एक गुण की वृद्धि का सम्बन्ध होता है। (अर्थात् आकाश में शब्द एक गुण, वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण; अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण, पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण हैं। इस प्रकार आकाशादि पंचभूतों में एक, दो, तीन-चार और पांच गुण क्रमशः हैं ॥ २ ॥

पञ्चमहाभूतों से देहोत्पत्ति—

तत्र खात् खानि देहेऽस्मिन् श्रोत्रं शब्दो विविक्तता।
वातात्स्पर्शत्वगुच्छ्वासा वह्नेर्दृग्रूपपक्तयः ॥ ३ ॥
आप्या जिह्वारसक्लेदा घ्राणगन्धास्थि पार्थिवम्।

इनमें से आकाशतत्त्व से मनुष्य के शरीर में, छिद्र, श्रोत्र, शब्द और विविक्तता (शून्यता या परस्पर पार्थक्य) होती है। वायु से स्पर्श, त्वचा और उच्छ्वास होता है। अग्नि से आँख, रूप, पक्ति (पाक, उसके परिणामभूत तेज, पित्त, मेधा, वर्ण, शौर्यादि) होते हैं। जल से जिह्वा का (रसग्राहक भाग मात्र) रस एवं क्लेद होता है। पृथ्वी से नासिका, गन्ध और अस्थि होती है ॥ ३ ॥

शरीर में मातृज पितृज भाग—

मृद्वत्र मातृजं रक्तमांसमज्जगुदादिकम् ॥ ४ ॥
पैतृकं तु स्थिरं शुक्रधमन्यस्थिकचादिकम्।
चैतनं चित्तमक्षाणि नानायोनिषु जन्म च ॥ ५ ॥

इस शरीर में माता से उत्पन्न होने वाला भाग-शरीर का कोमल भाग जैसे रक्त, मांस, मज्जा, गुदा आदि है। पिता से उत्पन्न होने वाला भाग-स्थिर (ठोस) वस्तुएँ तथा शुक्र, धमनी, अस्थि बाल आदि हैं। आत्मा से उत्पन्न होने वाला भाग-चित्त, इन्द्रियां और नाना प्रकार की योनियों में जन्म होना है ॥ ४-५ ॥

सात्म्यज तथा रसज भाग—

सात्म्यजं त्वायुरारोग्यमनालस्यं प्रभा बलम्।
रसजं वपुषो जन्म वृत्तिर्वृद्धिरलोलता ॥ ६ ॥

सात्म्य से उत्पन्न होने वाला भाग—आयु, आरोग्य, आलस्य का न होना (उत्साह), प्रभा और बल है। रस से उत्पन्न होने वाला भाग—सम्पूर्ण शरीर की उत्पत्ति; वृत्ति (जीवित रहना), बढ़ना और अलौल्य है ॥ ६ ॥

सात्त्विकादि वर्णन—

सात्त्विकं शौचमास्तिक्यं शुक्लधर्मरुचिर्मतिः।
राजसं बहुभाषित्वं मानक्रुद्दम्भमत्सरम् ॥ ७ ॥
तामसं भयमज्ञानं निद्राऽऽलस्यं विषादिता।
इति भूतमयो देहः

सत्त्वगुण या सात्त्विक मन से—वाणी, शरीर और मन की शुद्धता, परलोक में मति (आस्तिकता), छल रहित धर्म में भक्ति एवं सद्बुद्धि होती है। रजोगुण या राजस मन से—बहुत बोलना, अभिमान, क्रोध, दम्भ, मत्सरता होती है। तमोगुण या तामस मन से—भय, अज्ञान, निद्रा, आलस्य और विषादिता होती है।

इस प्रकार यह शरीर पञ्चमहाभूतमय (तथा त्रिगुणात्मक) है (क्योंकि शरीर के प्रत्येक अंग, धातु और उपधातु आदि इन महाभूतों से ही बनते हैं।) ॥ ७ ॥

रक्त से त्वचा की उत्पत्ति—

—तत्र सप्त त्वचोऽसृजः ॥ ८ ॥

पच्यमानात्प्रजायन्ते क्षीरात्सन्तानिका इव ।

इस महाभूतमय शरीर में रक्त का धातूष्मा से परिपाक होने पर सात त्वचायें उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार दूध को अग्नि पर गरम करने से ऊपर मलाई आती है ॥ ८ ॥

वक्तव्य - सात त्वचायें ये हैं:—'भासिनी लोहिनी श्वेता ताम्रा त्वग्वेदिनी तथा। स्याद् रोहिणी मांसधरा सप्तमी परिकीर्तिता ॥' सुश्रुत में—अवभासिनी, लोहिता, श्वेता, ताम्रा, वेदिनी, रोहिणी और मांसधरा है। चरक ने केवल छः त्वचायें मानी हैं।

सात कलाओं का वर्णन—

धात्वाशयान्तरक्लेदो विपक्वः स्वं स्वमूष्मणा ॥ ९ ॥
श्लेष्मस्नाय्वपराच्छन्नः कलाख्यः काष्ठसारवत् ।
ताः सप्त—

रसादि धातुओं और उनके आधारभूत आशयों के बीच जो क्लेद है वह अपनी-अपनी उष्णिमा से परिपक्व होकर श्लेष्मा, स्नायु और जरायु से आच्छादित होकर (उन्हीं के रूप में परिणत होकर) लकड़ी के सार की भाँति 'कला' कहा जाता है; ये कलायें सात हैं ॥ ९ ॥

वक्तव्य—सुश्रुतमें-'कलाः धात्वाशयान्तरमर्यादाः। धात्वाशयान्तरेऽन्नस्य यः क्लेदस्त्वधितिष्ठति। देहोष्मणा विपक्वस्तु सा कलेत्यभिधीयते ॥ स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा। श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः ॥' सात कलायें—मांसधरा, रक्तधरा, मेदोधरा, श्लेष्मधरा, पुरीषधरा, पित्तधरा और सातवीं शुक्रधरा ॥ (सु. चि. अ. ४)

सात आधारों का वर्णन—

—सप्त चाधारा रक्तस्याद्यः क्रमात् परे ॥ १० ॥
कफामपित्तपक्वानां वायोर्मूत्रस्य च स्मृताः ।
गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां पित्तपक्वाशयान्तरे ॥ ११ ॥
कोष्ठाङ्गानि स्थितान्येषु हृदयं क्लोम फुप्फुसम् ।
यकृत्प्लीहोण्डुकं वृक्कौ नाभिडिम्भान्त्रबस्तयः ॥१२॥

आधार (आशय) भी सात हैं, प्रथम रक्त का आशय है। अन्य आधार क्रम से कफाशय, आमाशय, पित्ताधार, पक्वाधार, मूत्राधार कहलाते हैं पित्ताशय और पक्वाशय, के मध्य में स्त्रियों में आठवाँ गर्भाशय होता है।

इन आशयों में कोष्ठ के अङ्ग—हृदय, क्लोम, फेफड़े, यकृत्, प्लीहा, उण्डुक, वृक्क (दो), नाभि, डिम्भ, आंत्र और बस्ति स्थित हैं ॥ १०-१२ ॥

वक्तव्य—इन अङ्गों का विस्तृत वर्णन सुश्रुत संहिता शारीरस्थान अध्याय ४ में देखें।

जीवन के दश स्थान—

दश जीवितधामानि शिरोरसनबन्धनम् ।
कण्ठोऽस्रं हृदयं नाभिर्वस्तिः शुक्रौजसी गुदम् ॥१३॥

जीवित (प्राण) के दस स्थान हैं, यथा-शिरोबन्धन, रसना—जीभ के बन्धन; कण्ठ, रक्त, हृदय, नाभि, बस्ति, शुक्र, ओज और गुदा-ये दस जीवन के (विशेष) स्थान हैं।

वक्तव्य—चरक में-'शङ्खौ गर्भत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्। दश प्राणायतनानि; तद्यथा—मूर्धा, कण्ठः, हृदयम्, नाभिः, गुदम्, बस्तिः, ओजः, शुक्रम्, शोणितम्, मांसमिति।' (चरक चि. शा. अ. ७।९)

शरीरस्थ जालादि की संख्या—

जालानि कण्डराश्चाङ्गे पृथक् षोडश निर्दिशेत् ।
षट् कूर्चाः सप्त सीवन्यो मेढ्रजिह्वाशिरोगताः ॥१४॥
शस्त्रेण ताः परिहरेच्चतस्रो मांसरज्जवः ।
चतुर्दशास्थिसङ्घाताः सीमन्ता द्विगुणा नव ॥१५॥
अस्थ्नां शतानि षष्टिश्च त्रीणि दन्तनखैः सह ।

शरीर में जाल की भाँति जाल सोलह हैं; कण्डरायें भी पृथक् सोलह ही हैं। छः कूर्च हैं। सात सेवनियां हैं; जो कि मेहन, जिह्वा और सिर में हैं; इनको शस्त्र से बचाना चाहिये। चार मांसरज्जु हैं; अस्थियों के सङ्घात चौदह हैं; सीमन्त अट्ठारह हैं (सुश्रुत में चौदह ही बताये हैं)। दाँत और नखों को मिलाकर तीन सौ साठ अस्थियाँ हैं ॥ १४-१५ ॥

धन्वन्तरि का मत—

धन्वन्तरिस्तु त्रीण्याह, सन्धीनां च शतद्वयम् ॥१६॥
दशोत्तरं—

धन्वन्तरि-सुश्रुत के विचार से केवल तीन सौ अस्थियाँ हैं। दो सौ दस सन्धियाँ हैं ॥ १६ ॥

वक्तव्य—वेदवादियों की दृष्टि से तीन सौ आठ अस्थियाँ हैं। अर्थात् इनको छूकर प्रायश्चित्त या अन्य काम करना जरूरी है। शल्य तन्त्र में प्रकार भेद से तीन सौ अस्थियों की ही गणना की गयी है और नख को अस्थियों में नहीं गिना है—यह केवल दृष्टि-विचार भेद है। अस्थियाँ—कपाल, तरुण, वलय, रुचक और नलक भेद से पाँच प्रकार की हैं। सन्धियाँ—कोर, ऊदूखल, तुन्नसेवनी, प्रतर, सामुद्ग, शंखावर्त्त, मण्डल, वायसतुण्ड भेद से आठ प्रकार की हैं।

आत्रेय का मत—

—सहस्रे द्वे निजगादात्रिनन्दनः ।
स्नाय्वनां नवशती—

आत्रेय सन्धियों को (स्नायु, मांस-पेशियों और शिराओं की सन्धियों को मिलाकर) दो हजार कहते हैं। स्नायु नौ सौ हैं।

वक्तव्य—स्नायु बन्धन को कहते हैं ओर यह सुषिर, प्रतानवती, पृथु और वृत्त भेद से चार प्रकार के हैं। स्नायुओं के कारण ही मनुष्य की सन्धियां भार को उठाती हैं।

पुरुषों तथा स्त्रियों की पेशियों की संख्या—

—पञ्च पुंसां पेशीशतानि तु ॥ १७ ॥
अधिका विंशतिः स्त्रीणां योनिस्तनसमाश्रिताः ।

पुरुषों में पेशियाँ पाँच सौ हैं, स्त्रियों में-योनि और स्तन के अन्दर ही बीस पेशियाँ अधिक हैं ॥ १७ ॥

वक्तव्य—'तासां बहलपेलवस्थूलाणुपृथुवृत्तह्रस्वदीर्घस्थिरमृदुश्लक्ष्णकर्कशभावा यथाप्रदेशं स्वभावत एव भवन्ति।'

पेशियों का काम-सन्धि, अस्थि, सिरा और स्नायु को ढाँपना एवं अङ्गों का स्थिर करना तथा वल देना है।

सिराओं की संख्या—

दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः ॥१८॥
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम्।

सिराओं की संख्या—हृदय में रहने वाली मूल सिरायें दस हैं। ये सिरायें सम्पूर्ण शरीर में सब ओर रसरूप ओज को ले जाती हैं, इस ओज के कारण ही सब चेष्टायें (व्यापार) होती हैं। [अरुणदत्त के विचार से 'तन्निबद्धं हि चेष्टितम्' का 'इन दस शिराओं में-वाक्, काय, मन का व्यापार निश्चित रूप से स्थित है।' यह अर्थ भी अनुचित नहीं है क्योंकि इनके द्वारा ही ओजोवहन होता है।] ॥ १८ ॥

शिराओं का संस्थान—

स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत् ॥ १९ ॥
भिद्यन्ते तास्ततः सप्तशतान्यासां भवन्ति तु।

ये सिरायें मूल में स्थूल और आगे में अतिसूक्ष्म हैं, और वृक्ष के पत्ते की रेखा के प्रतान की भाँति इनका विभाग होता जाता है। इस प्रकार से ये सिरायें सात सौ हो जाती हैं। [प्रतानाः कुटिलाः सूक्ष्मतन्तवः]।

अवेध्य सिरायें—

तत्रैकैकं च शाखायां शतं, तस्मिन्न वेधयेत् ॥ २० ॥
सिरां जालन्धरां नाम तिस्रश्चाभ्यन्तराश्रिताः।
षोडशद्विगुणाः श्रोण्यां, तासां द्वे द्वे तु वङ्क्षणे ॥ २१ ॥
द्वे द्वे कटीकतरुणे शस्त्रेणाष्टौ स्पृशेन्न ताः।
पार्श्वयोः षोडशैकैकामूर्ध्वगां वर्जयेत्तयोः ॥ २२ ॥
द्वादशद्विगुणाः पृष्ठे पृष्ठवंशस्य पार्श्वयोः।
द्वे द्वे तत्रोर्ध्वगामिन्यौ न शस्त्रेण परामृशेत् ॥ २३ ॥
पृष्ठवज्जठरे तासां मेहनस्योपरि स्थिते।
रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे शस्त्रेण न स्पृशेत् ॥ २४ ॥
चत्वारिंशदुरस्यासां चतुर्दश न वेधयेत्।
स्तनरोहिततन्मूलहृदये तु पृथग्द्वयम् ॥ २५ ॥
अपस्तम्भाख्ययोरेकां तथाऽपलापयोरपि।
ग्रीवायां पृष्ठवत्तासां नीले मन्ये कृकाटिके ॥ २६ ॥
विधुरे मातृकाश्चाष्टौ षोडशेति परित्यजेत्।
हन्वोः षोडश, तासां द्वे सन्धिबन्धनकर्मणी ॥ २७ ॥
जिह्वायां हनुवत्तासामधो द्वे रसबोधने।
द्वे च वाचः प्रवर्तिन्यौ—

प्रत्येक शाखा में एक सौ सिरायें हैं। इसमें जालन्धरा नामक सिरा का तथा अन्दर में आश्रित (गम्भीर) तीन सिराओं का-कुल चार सिराओं का-वेधन नहीं करना चाहिये। (हाथ और पैर में इस प्रकार से सोलह सिरायें अवेध्य हैं)।

श्रोणि में बत्तीस सिरायें हैं। इनमें से प्रत्येक वंक्षण में दो-दो शिरायें, कटिकतरुण में दो-दो सिरायें कुल आठ सिरायें अवेध्य हैं।

पार्श्वों में सोलह सिरायें हैं, इनमें ऊपर की ओर जाने वाली एक-एक (पार्श्वसन्धि नामक) सिरा को दोनों पार्श्वों में छोड़ देवे।

पीठ में पृष्ठवंश के पार्श्वों में चौबीस सिरायें हैं इनमें दो-दो सिरायें ऊपर जाती हैं इनको शस्त्र से न छुए।

पीठ की भाँति उदर में चौबीस सिरायें हैं। इनमें से मेहन के ऊपर रोमराजी के दोनों ओर दो-दो सिरायें हैं, इन सिराओं को शस्त्र से नहीं छूना चाहिये।

छाती में चालीस सिरायें हैं, इनमें से चौदह का वेधन न करे। इनमें स्तनरोहित, स्तनमूल और हृदय में पृथक्-पृथक् अर्थात् दोनों ओर दो-दो सिरायें, इन बारह एवं अपस्तम्भ में तथा अपलाप में एक-एक सिरा है, इन चौदह सिराओं का वेधन नहीं करना चाहिये।

ग्रीवा में पीठ की भांति (रीढ़ की दोनों ओर १२, १२) चौबीस सिरायें हैं; इनमे से दो नीला, दो मन्या, दो कृकाटिका; दो विधुर; और आठ मातृकायें—इस प्रकार से सोलह सिराओं का बेधन नहीं करना चाहिये।

हनु में सोलह सिराये हैं, इनमें से दो हनु का सन्धि बन्ध करती हैं। इनका भी वेधन नहीं करना चाहिये।

जिह्वा में हनु समान सोलह सिरायें हैं। इनमें से जिह्वा के नीचे दो रसज्ञान के लिये और दो वाणी को प्रवृत्त करने वाली हैं। यह चारों भी अवेध्य हैं ॥ २०-२७ ॥

—नासायां चतुरुत्तरा ॥ २८ ॥
विंशतिर्गन्धवेदिन्यौ तासामेकां च तालुगाम्।
षट्पञ्चाशन्नयनयोर्निमेषोन्मेषकर्मणी ॥ २९ ॥
द्वे द्वे, अपाङ्गयोर्द्वे च तासां षडिति वर्जयेत्।
नासानेत्राश्रिताः षष्टिर्ललाटे, स्थपनीश्रिताम् ॥३०॥
तत्रैकां, द्वे तथाऽवर्तौ, चतस्रश्च कचान्तगाः।
सप्तैवं वर्जयेत्तासां कर्णयोः षोडशात्र तु ॥ ३१ ॥
द्वे शब्दबोधने, शङ्खौ सिरास्ता एव चाश्रिताः।
द्वे शङ्खसन्धिगे तासां, मूर्ध्नि द्वादश तत्र तु ३२॥
एकैकां पृथगुत्क्षेपसीमन्ताधिपतिस्थिताम्।
इत्यवेध्यविभागार्थं प्रत्यङ्गं वर्णिताः सिराः ॥ ३३ ॥

नासा में चौबीस सिरायें हैं; इनमें से दो गन्ध का ज्ञान करने वाली और एक तालु में जाने वाली है। (इन तीनों का वेध नहीं करना चाहिए)।

आँखों में छप्पन सिरायें हैं; इनमें से दो-दो सिरायें निमेष और उन्मेष करती हैं; दो अपाङ्गों में हैं; इस प्रकार से आँखों में छः सिराओं को शस्त्रकर्म में बचायें।

नासा और नेत्र में जाने वाली जो सिरायें कही हैं, उनमें से साठ सिरायें ललाट में जाती हैं। इनमें से स्थपनी मर्म में स्थित एक सिरा तथा आवर्तों में दो सिरायें केशों के अन्त में

स्थित चार सिरायें है, इन सात सिराओं का भी वेधन न करे।

कानों में सोलह सिरायें हैं, इनमें से दो शब्द का ज्ञान कराती हैं (और अवेध्य हैं)। शङ्खों में कान में आश्रित सिरायें ही हैं। इनमें से दो शङ्खसन्धि में जाने वाली अवेध्य हैं।

शिर में बारह सिरायें है, इनमें से दोनों उत्क्षेपों में एक एक, पाँच सीमन्तों में एक-एक और अधिपति मर्म में एक इस प्रकार से आठ सिरायें अवेध्य हैं।

इस प्रकार अवेध्यसिराविभाग के ज्ञान के लिये प्रत्येक अङ्ग की सिराओं का व्याख्यान कर दिया गया ॥ २८-३३ ॥

अवेध्य सिराओं का संक्षिप्त वर्णन—

अवेध्यास्तत्र कार्त्स्न्येन देहेऽष्टनवतिस्तथा।
सङ्कीर्णा ग्रथिताः क्षुद्रा वक्राः सन्धिषु चाश्रिताः ॥

इस सम्पूर्ण शरीर में कुल अट्ठानबे शिरायें अवेध्य हैं। इसके सिवाय सङ्कीर्ण (एक दूसरे से मिली); ग्रथित (गूंथी हुई), क्षुद्र (छोटी), वक्र (टेढ़ी), और जो सिरायें संधियों में आश्रित हैं, वे भी अवेध्य हैं ॥ ३४ ॥

सिराओं से रक्तप्रवाह—

तासां शतानां सप्तानां पादोऽस्रं वहते पृथक्।
वातपित्तकफैर्जुष्टं शुद्धं चैव स्थिता मलाः ॥ ३५ ॥
शरीरमनुगृह्णन्ति पीडयन्त्यन्यथा पुनः।

इन सात सौ सिराओं में से चतुर्थांश अर्थात् एक सौ पचहत्तर सिरायें वायु, पित्त और कफ से अलग-अलग युक्त एवं शुद्ध रक्त को ले जाती हैं। (१७५ वातयुक्त रक्त, १७५ पित्तयुक्त रक्त, १७५ कफयुक्त रक्त और १७५ शुद्ध रक्त का वहन करती हैं।) इस प्रकार से मल-वातादि दोष शरीर में स्थित होकर शरीर का उपकार करते हैं और विपरीत रूप में स्थित होकर शरीर को पीड़ित करते हैं ॥ ३५ ॥

वातादि रक्तवाहिनी सिरायें—

तत्र श्यावारुणाः सूक्ष्माः पूर्णरिक्ताः क्षणात्सिराः ॥३६॥
प्रस्पन्दिन्यश्च वातास्रं वहन्ते पित्तशोणितम्।
स्पर्शोष्णाः शीघ्रवाहिन्यो नीलपीताः कफं पुनः ॥३७॥
गौर्यः स्निग्धाः स्थिराः शीताः संसृष्टं लिङ्गसङ्करे।

इनमें वातरक्तवाही सिरायें श्याव-अरुणवर्ण, सूक्ष्म, क्षण भर में भरने वाली-क्षण भर में खाली होने वाली, तथा अतिशय स्पन्दन करने वाली होती हैं।

पित्तरक्तवाही सिरायें-स्पर्श में उष्ण, शीघ्रवाही, नीली और पीली होती हैं।

कफरक्तवाही सिरायें गौरवर्ण, स्निग्ध, स्थिर और शीतल होती हैं।

लक्षणों के मिश्रित होने पर संसृष्ट-कफवातयुक्त, पित्तकफयुक्त, वातपित्तयुक्त तथा त्रिदोषयुक्त रक्त को ले जानेवाली सिरायें समझें ॥ ३६-३७ ॥

शुद्ध रक्तवाहिनी सिराएँ—

गूढाः समस्थिताः स्निग्धा रोहिण्यः शुद्धशोणितम् ॥

रक्त को ले जाने वाली सिरायें—गम्भीर (अन्दर छिपी), समान रूप में स्थित, स्निग्ध एवं लोहित वर्ण वाली होती हैं।

धमनियों का वर्णन—

धमन्यो नाभिसम्बद्धा विंशतिश्चतुरुत्तराः।
ताभिः परिवृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ ३९ ॥
ताभिश्चोर्ध्वमधस्तिर्यग्देहोऽयमनुगृह्यते ।

चौबीस धमनियां नाभि से सम्बन्धित हैं। इन धमनियों से नाभि इस प्रकार घिरी हुई है कि जिस प्रकार पहिये की नाभि अरों (तीलियों) से घिरी रहती है। इन धमनियों से यह शरीर ऊपर में, नीचे में और तिर्यक् रूप में पाला जाता है। (दस धमनी ऊपर जाती हैं, दस नीचे और चार तिरछी जाती हैं)[1] ॥ ३९ ॥

दृश्य तथा अदृश्य स्रोत का वर्णन—

स्रोतांसि नासिके कर्णौ नेत्रे पाय्वास्यमेहनम् ॥ ४० ॥
स्तनौ रक्तपथश्चेति नारीणामधिकं त्रयम्।
जीवितायतनान्यन्तःस्रोतांस्याहुस्त्रयोदश ॥ ४१ ॥
प्राणधातुमलाम्भोऽन्नवाहीनि—

पुरुषों में नौ (वाह्य और दृश्य) स्रोत हैं, यथा दो नासिका, दो कान, दो नेत्र, एक मुख, एक गुदा और एक मेहन। स्त्रियों में तीन स्रोत अधिक हैं, दो स्तन और एक योनि। (स्रोत—स्रवणात् स्रोतांसि)। (ये दृश्य और वाह्य स्रोत हैं।)

शरीर के अदृश्य स्रोत—शरीर के अन्दर के स्रोत जीवत्त के आधार और संख्या में तेरह हैं, यथा-प्राणवह एक, धातुवह सात, मल (पुरीष, मूत्र और स्वेद) वह तीन, अन्नवह एक और उदकवह एक ॥ ४०-४१ ॥

दूषित तथा शुद्ध स्रोतों से दुःखसुखोत्पत्ति—

—अहितसेवनात् ।
तानि दुष्टानि रोगाय, विशुद्धानि सुखाय च ॥ ४२ ॥

---

[1] स्नायु, सिरा, धमनी, स्रोतस् और नाडी इन संज्ञाओं से किसका बोध करना चाहिए इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद हैं। इनकी निश्चित परिभाषा करके भी उससे भिन्न अर्थ में स्थल-स्थल पर इन शब्दों का प्रयोग मिलता है (देखिए स्व० गणनाथसेन कृत 'संज्ञापञ्चकविमर्श')। मेरा मत है कि स्थल भेद से प्रसंगानुसार अर्थ तो लेना ही पड़ेगा किन्तु सामान्यतः स्नायु = लिगामेण्ट (Ligament), वातवाहिनी सिराएँ = नर्वस् (Nerves), पित्तवहा सिरा = वेन (Vein), कफवहा सिरा = लिम्फैटिक्स (Lymphatics), रक्तवहा सिरा = आर्टरी (Artery), धमनी = क्रेनियल नर्वस् (Cranial Nerves) और सूक्ष्मस्रोत = कैपीलरीज़ (Capillaries) अर्थों में प्रयुक्त समझना चाहिए।

(विस्तृत विवेचन परिशिष्ट में देखिए)

अहित आहारविहार के सेवन से ये स्रोत दूषित होकर रोग को उत्पन्न करते हैं। और (हित आहार-विहार से) शुद्ध स्रोत आरोग्य के कारण होते हैं ॥ ४२ ॥

स्रोतों की आकृति—

स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च ।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥ ४३ ॥

इन स्रोतों का वर्ण अपने अन्दर बहनेवाली धातु के समान होता है, कोई स्रोत गोल, कोई मोटा और कोई सूक्ष्म होता हैं। स्रोत आकृति में लम्बे और पत्र की रेखा के समान (शाखा-प्रशाखा से अनेक प्रकार में दूर तक फैले) होते हैं।

स्रोतों के दूषित होने के कारण—

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः ।
धातुभिर्विगुणो यश्च स्रोतसां स प्रदूषकः ॥ ४४ ॥

जो भी कोई आहार या विहार वातादि दोषों के गुणों के समान होता है अथवा जो आहार-विहार रसादि धातुओं के विपरीत होता है वह स्रोतों को दूषित करता है ॥ ४४ ॥

दूषित स्रोतों का लक्षण—

अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा ।
विमार्गतो वा गमनं स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥ ४५ ॥

स्रोतों की दुष्टि के लक्षण—जो स्रोत जिस धातु, दोष या मल का वहन करती हैं, उनकी अतिप्रवृत्ति अथवा सङ्ग (अवरोध) का होना, सिरा (स्रोतों) में गाँठ पड़ना एवं स्वाभाविक मार्ग को छोड़ कर दूसरे मार्ग से जाना, स्रोतों के दूषित होने का लक्षण है ॥ ४५ ॥

स्रोतों के द्वार—

बिसानामिव सूक्ष्माणि दूरं प्रविसृतानि च ।
द्वाराणि स्रोतसां देहे रसो यैरुपचीयते ॥ ४६ ॥

शरीर में स्रोतों के मुख बिसों (कमलनाल) के सूक्ष्म मार्गों (छिद्रों) की भांति दूर तक फैले हुए हैं, जिनके द्वारा रस शरीर में बढ़ता (पहुँचता) है ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—'यावन्तः पुरुषे मूर्त्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः। सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्त्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति । स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्ति—अयनार्थेन ॥' (३) 'वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांसि अयनभूतानि, तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च। तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम् ॥' (७) (च. वि. अ. ५)

स्रोतों के वेध से हानि—

व्यधे तु स्रोतसां मोहकम्पाध्मानवमिज्वराः ।
प्रलापशूलविण्मूत्ररोधो मरणमेव वा ॥ ४७ ॥
स्रोतोविद्धमतो वैद्यः प्रत्याख्याय प्रसाधयेत् ।
उद्धृत्य शल्यं यत्नेन सद्यःक्षतविधानतः ॥ ४८ ॥

स्रोतों का वेधन होने पर—मूर्च्छा, कम्प, आध्मान, वमन, ज्वर, प्रलाप, शूल, मलरोध, मूत्ररोध, अथवा मृत्यु होती है। इसलिए स्रोतोविद्ध पुरुष की (निम्नलिखित) चिकित्सा असाध्य कहकर करे। शल्य को निकाल कर सद्यःक्षत विधि से तुरन्त चिकित्सा करे ॥ ४७-४८ ॥

अन्न की पाचकता में मतद्वय—

अन्नस्य पक्ता पित्तं तु पाचकाख्यं पुरेरितम् ।
दोषधातुमलादीनामूष्मेत्यात्रेयशासनम् ॥ ४९ ॥

अन्न को पकानेवाला पाचक पित्त पहले कह दिया है। (अ. १२ श्लोक १०) [यह सुश्रुत का मत है]। दोष-वातादि; धातु-रसादि तथा मल आदि की ऊष्मा-अन्न का पाचक है; यह आत्रेय का मत है ॥ ४९ ॥

वक्तव्य—पाचक पित्त भोजन को पकाता है एक मत, भूताग्नि और धात्वग्नि भोजन को पकाती है, यह दूसरा मत है। ये दोनों मत पहले भी थे, इसीसे सुश्रुत में कहना पड़ा—'तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः? आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति। अत्रोच्यते-न 'खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात्। पित्ते दहनपाचनादिषु अभिप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तराग्निरिति ॥''[1] (सु. सू. अ. ६४।२१।९)।

ग्रहणी का वर्णन—

तदधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता ।
सैव धन्वन्तरिमते कला पित्तधराह्वया ॥ ५० ॥
आयुरारोग्यवीर्यौजोभूतधात्वग्निपुष्टये ।
स्थिता पक्वाशयद्वारि भुक्तमार्गार्गलेव सा ॥ ५१ ॥

इस अग्नि का आधार ही अन्न का ग्रहण करने से ग्रहणी कहलाती है। यही ग्रहणी धन्वन्तरि के मत से पित्तधरा कला है। यही आयु की, आरोग्य की, वीर्यशक्ति की, ओज की, पञ्चमहाभूताग्नि की तथा सात धात्वग्नि की पुष्टि के लिए होती है—आयु आदि इसी अग्नि से पुष्ट होते हैं। यह ग्रहणी पक्वाशय द्वार पर भोजन के मार्ग की अर्गला की भाँति स्थित है ॥ ५०-५१ ॥

वक्तव्य—आमाशय कफ और पित्त दो का स्थान है। आमाशय का ऊपर का भाग (हृदय के पास का) कफ का स्थान है। आमाशय रस को उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थियाँ यहाँ पर हैं। यहाँ अन्न का क्लेदन होता है। आमाशय का निचला भाग (पायलोरिक) पित्त अर्थात् अग्नि का स्थान है।

---

[1] पित्त ही अग्नि नहीं है किन्तु पित्त आग्नेय है। पित्त में अग्नि के गुणों के होने से उपचारतः पित्त को अग्नि कहा जाता है। यही सुश्रुत को भी मान्य है; अत एव 'अग्निवदुपचारः' कहा है। वस्तुतः जठराग्नि के द्वारा पाचन होने के बाद प्रत्येक धातुओं का धात्वग्नि और भूताग्नि से पाचन होना ही प्रत्यक्ष सङ्गत है जिसे अर्वाचीन विद्वान् टीसू मेटाबोलिज्म (Tissue Metabolism) कहते हैं।

बस, यहाँ से ड्योडिनम का भाग-जहाँ कि यकृत् से आया पित्त तथा पैंक्रियास से आया रस मिलता है—यह सब ग्रहणी है—क्योंकि ये सब रस पाचन कार्य करते हैं। पाचन क्रिया से इन को अग्नि कहा है, यथा—'आग्नेयत्वात् पित्ते· दहनपचनादिष्वभिप्रवर्त्तमाने अग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तराग्निरिति, क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगात्। अतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगात् ॥' (सु. सू. अ. २१।९) ग्रहणी अर्गला रूप में है —अर्थात् अपक्व भोजन को यह आगे जाने से रोकती है।

पचे हुए अन्न के गुण—

भुक्तमामाशये रुद्ध्वा सा विपाच्य नयत्यधः ।
बलवत्यबला त्वन्नमाममेव विमुञ्चति ॥ ५२ ॥

बलवती होने पर यह ग्रहणी खाये हुए भोजन को (सम्यक् क्लेदन होने तक) आमाशय में रोककर (और क्लिन्न होने पर) पकाकर नीचे की ओर ले जाती है। निर्बल होने पर अपक्व भोजन को ही छोड़ देती है। पक्वाशय में अपक्व अन्न को ही जाने देती है ॥ ५२ ॥

ग्रहणी और अग्नि का परस्पर सम्बन्ध—

ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीबलः ।
दूषितेऽग्नावतो दुष्टा ग्रहणी रोगकारिणी ॥ ५३ ॥

ग्रहणी का बल अग्नि ही है और यह अग्नि भी ग्रहणी से ही बल पाती है। इसलिए अग्नि के दूषित होने पर दूषित हुई ग्रहणी रोगों को करने वाली होती है। (तथा ग्रहणी दूषित होने पर अग्नि भी दूषित होकर रोगों का कारण होती है।) ॥ ५३ ॥

अन्नपाक में अग्नि की हेतुता—

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषणम् ।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः ॥ ५४ ॥

जो अन्न-आहार देहधातु (शरीर के धातु); ओज, बल, वर्ण आदि का पोषक है; उसमें भी कारण अग्नि ही है; क्योंकि अपक्व आहार से रस आदि धातु नहीं बनते ॥ ५४ ॥

भुक्तान्न के पाक का प्रकार—

अन्नं कालेऽभ्यवहृतं कोष्ठं प्राणानिलाहृतम् ।
द्रवैर्विभिन्नसङ्घातं नीतं स्नेहेन मार्दवम् ॥ ५५ ॥
सन्धुक्षितः समानेन पचत्यामाशयस्थितम् ।
औदर्योऽग्निर्यथा बाह्यःस्थालीस्थं तोयतण्डुलम् ॥५६॥

समय पर खाये हुए अन्न को प्राण वायु से प्रेरित होकर कोष्ठ (आमाशय) में पहुँचने पर और जलीय गुण वाले (मद्य, दूध, पानी आदि) द्रवों से टुकड़ों में विभक्त हुए तथा घृत, तैल आदि स्नेहों से कोमल बने अन्न को आमाशय में स्थित समान नामक वायु से तीक्ष्ण बनी उदराग्नि पकाती है; जिस प्रकार पात्र में स्थित पानी और चावल को बाह्य अग्नि पकाती है ॥ ५५–५६ ॥

अग्नि के समीपस्थ भुक्तान्न की अवस्था—

आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत् ।
फेनीभूतं कफं, यातं विदाहादम्लतां ततः ॥ ५७ ॥
पित्तमामाशयात्कुर्याच्च्यवमानं, च्युतं पुनः ।
अग्निना शोषितं पक्वं पिण्डितं कटु मारुतम् ॥ ५८ ॥

सर्व प्रथम ६ रसों में से सभी या किसी भी रस वाला अन्न मधुरता को प्राप्त कर फेनरूप कफ को प्रेरित (उत्पन्न) करता है। फिर यही अन्न विदाह (विरुद्ध अथवा विषम दाह) के कारण अम्लता को प्राप्त कर आमाशय से नीचे की ओर खिसकता हुआ पित्त को प्रेरित करता है। फिर और भी नीचे आकर अग्नि से पककर, शोषित तथा पिण्डित होकर एवं कटुता प्राप्त कर वायु को उत्पन्न करता है ॥ ५७–५८ ॥

दूसरी अग्नियों के कार्य—

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।
पञ्चाहारगुणान्स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्त्यनु ॥

जाठराग्नि से पाचन और शोषण के बाद भूमि की, जल की, अग्नि की, वायु की और आकाश की पांच अग्नियां आहार के पार्थिव आदि अपने-अपने पांच गुणों का परिपाक करती हैं ॥ ५९ ॥

पञ्चमहाभूत गुणों का पोषण—

यथास्वं ते च पुष्णन्ति पक्त्वा भूतगुणान् पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च देहगान् ॥ ६० ॥

और पंचमहाभूतों के अपने-अपने गुण अपनी-अपनी अग्नि से पृथक्-पृथक् परिपाक पाकर पृथक्-पृथक् शरीरस्थ अपने-अपने भूतों के गुणों को पुष्ट करते हैं। पार्थिक महाभूत-गुण पृथ्वी सम्बन्धी महाभूत के गुण को शरीर में पुष्ट करते हैं; और शेष गुण शरीर में शेष गुणों को (अपने-अपने गुण को) पुष्ट बनाते हैं[1] ॥ ६० ॥

पक्वान्न के दो भेद—

किट्टं सारश्च तत्पक्वमन्नं सम्भवति द्विधा ।

यह पका हुआ—किट्ट और सार—दो भेदों में विभक्त होता है।

अन्नकिट्ट के दो भेद—

तत्राच्छं किट्टमन्नस्य मूत्रं विद्याद्घनं शकृत् ॥६१॥

इनमें अन्न के निर्मल-स्वच्छ किट्ट को मूत्र और घनीभूत किट्ट को मल कहते हैं ॥ ६१ ॥

अन्नसार का सप्ताग्नियों द्वारा पुनः पाक—

सारस्तु सप्तभिर्भूयो यथास्वं पच्यतेऽग्निभिः ।

अन्न का सार भाग पुनः (रसादिधातुओं की) अपनी-अपनी सात अग्नियों से परिपक्व होता है। पूर्वोक्त जाठराग्नि और भूताग्नि से परिपाक के बाद उत्पन्न आहार रस में रस-रक्त आदि धातुओं के पोषक अंश रहते हैं उनका निज-निज धातुओं की अग्नियों से पुनः पाक होने पर उसके भी

---

[1] १. गुण निराधार नहीं रहते; अर्थात् किसी द्रव्य में ही रहते हैं। अतः यहाँ गुणपाक से गुणाश्रय द्रव्य का पाक और उसी गुण के साथ गुणवान् द्रव्य का भी पोषण करते हैं।

सार और किट्ट की उत्पत्ति होती है। इस रस के भी सूक्ष्म और स्थूल दो अंश होते हैं। स्थूलांश से स्वयं अपनी और सूक्ष्मांश से उत्तर धातु की पुष्टि होती है तथा किट्ट से कफ आदि मलों की उत्पत्ति होती है।

रसादि का उत्पत्तिक्रम—

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ॥ ६२ ॥
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रजायते ।

रस से रक्त बनता है; फिर रक्त से मांस; मांस से मेद; मेद से अस्थि; अस्थि से मज्जा; फिर मज्जा से शुक्र और शुक्र से गर्भ बनता है ॥ ६२ ॥

वक्तव्य— आहार रस जिस धातु में पहुँचता है; उस धातु की अग्नि से उसका पाक होता है। इस पाक के विषय में तीन कल्पनायें आयुर्वेद में हैं; यथा—

(१) क्षीरदधि-न्याय—जैसे दूध में १ बूंद दही डालने पर पूरा दूध दही बन जाता है वैसे ही पूरा आहाररस रक्ताग्नि से पकने पर रक्त बन जाता है। इस रक्त के बनने पर मांसाग्नि से पाक होने पर मांस बन जाता है, जिस प्रकार दूध से दही, दही से घी, और घी से घृत मण्ड आगे-आगे बनते जाते हैं। इसको क्षीरदधि-न्याय कहते हैं। इसमें दोष यह है कि यदि मनुष्य आठ-दस दिन का उपवास करे तो शरीर को नीरस हो जाना चाहिये। एक मास के उपवास से तो शरीर शुक्रमय ही रहना चाहिये।

(२) केदारकुल्या-न्याय—जिस प्रकार कि खेत में कुलसरे (नाली) में बहता हुआ पानी-क्रमशः सब वृक्षों को सींचता जाता है, उसी प्रकार आहाररस भी क्रमशः रक्त, मांस आदि का पोषण करता हुआ शुक्र में पहुँच कर समाप्त हो जाता है। इसलिये ही इसमें क्रमशः श्वेत, कपोत, हरित, हारिद्र, पद्म, किंशुक, आलक्तक परिवर्त्तन होता हुआ रक्त बनता है। इसमें जो पास का है, उसका पोषण जल्दी होता है; और जो दूर का होता है; उसका पोषण देर में होता है। सुश्रुत में इसी पक्ष को मानकर—'स खलु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठते; एवं मासेन रसः शुक्रं, स्त्रीणां चार्त्तवं भवति ॥' यक्ष्मा रोग में यही सिद्धान्त काम करता है। रोगी में मल भाग अधिक और सार भाग कम होने से रक्त के अगले धातु पुष्ट नहीं होते। मांस घटता जाता है इसीलिये शुक्र और भी कम हो जाता है। अतः इस रोगी में विड्-पुरीष ही बल होता है; 'सर्वधातुक्षयार्त्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ॥' चरक।

(३) खले कपोत-न्याय—जिस प्रकार कि कबूतरों के बैठने के स्थान पर दाना गेर देते हैं तो दूर-दूर से कबूतर दाने पर आते हैं, और दाना लेकर फिर अपने-अपने स्थान पर उड़ जाते हैं; इसी प्रकार आहाररस को व्यान वायु स्रोतों के मार्ग से सब धातुओं में पहुंचा देती है; इसीसे कहा है—'विण्मूत्रमाहारमलसारः प्रागीरितो रसः। स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ॥' इसमें जो पास का कबूतर होता है, वह जल्दी पहुँचता है, और दूर का देर में पहुँचता है। इसी प्रकार आहाररस रक्त में शीघ्र आता है, और शुक्र में देर से पहुँचता है। चरक में—'व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥' (चरक. चि. अ.) १५।३३। इसमें वृष्य के प्रभाव से शुक्र जल्दी भी बन सकता है। जिस प्रकार कि द्वितीय पक्ष में शुक्र जल्दी बनता है। यथा—'वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि। षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्त्तनम्। संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ॥' (चरक. चि. अ.) १५।२०-२१।

दूसरा और तीसरा पक्ष अधिक मान्य है; इसमें भी दूसरा पक्ष-केदारकुल्या-न्याय अधिक मान्य है।

तीसरे पक्ष से बहुत कुछ मिलता-जुलता एक पक्ष और भी है कि—अन्नरस से ही सम्पूर्ण धातुओं का पोषण साक्षात् रूप में होता है। यथा-संग्रह में-'अभ्यवहृतमात्रस्याहारस्य कण्ठनाडीप्रलुठितस्य महानिम्नमवतीर्णस्य यो य एवांशः कायाग्निनावलीढः पाकमुपनीयते; तस्य तस्यैव प्रसादाख्यो रसलेशोऽभिनिर्वृत्तिसमनन्तरं सम्यं समस्तधातुषु संवृत्तासंवृत्तैः प्रविसृतो विवृतमुखेष्वासन्नेषु स्रोतःसु भूयान् प्रथमतरं चान्वेति; पर्यायेणेतरेष्वपि। एवमन्नरस एव साक्षात्सर्वधातून् केनचिदेव कालभेदेन पुष्णाति; न पुनर्धातवो धात्वन्तरतां स्वरूपोपमर्देन प्रतिपद्यन्ते।'[1]

रसादि धातुओं के मल—

कफः पित्तं मलाः खेषु प्रस्वेदो नखरोम च ॥ ६३ ॥
स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः।

धातुओं के मल—रस का कफ मल; रक्त का पित्त; मांस का नासिका आदि छिद्रों में होने वाला मल; मेद का पसीना; अस्थि का नख और रोम; मज्जा का मल आंख, त्वचा और मल का स्नेह तथा शुक्र का मल ओज है। यहाँ ओज को शुक्र का मल कहा गया है किन्तु अधिकांश आचार्य इसे मल नहीं सार ही मानते हैं किन्तु इससे किसी अन्य धातु की उत्पत्ति न होने से इसको धातु भी नहीं मानते ॥ ६३ ॥

रसादि धातुओं का द्वैविध्य—

प्रसादकिट्टौ धातूनां पाकादेवं द्विधर्च्छतः ॥ ६४ ॥
परस्परोपसंस्तम्भाद्धातुस्नेहपरम्परा।

---

[1] १. वस्तुतः आहार से धातुओं की उत्पत्ति के लिए वर्णित सभी पक्ष ठीक हैं। भोजन के बाद पाचन होने पर आहार रस का शोषण कुछ साक्षात् रक्तवाहिनियों द्वारा और कुछ रस-वाहिनियों द्वारा होता है। आहार और आहार रस में कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिन्हें अनेक धातुएँ उन्हीं रूपों में ग्रहण कर लेती हैं तथा कुछ अंश ऐसे होते हैं जिनमें शरीर के भीतर अनेक भौतिक, रासायनिक एवं प्राणिज परिवर्तन होने के बाद ही वे विभिन्न धातुओं के लिए ग्राह्य होते हैं। कुछ अंश पूर्वोक्त परिवर्तन प्रक्रिया में एक धातु में परिणत होकर फिर दूसरी धातु में परिवर्तित होते हैं। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। (देखिए श्लोक ६८)

धातुओं के परिपाक से प्रसाद और किट्ट दो भाग बनते हैं।

धातुओं की स्नेह (सार) परम्परा एक दूसरे के संश्लेष से उत्पन्न होती है। [इसलिये रक्त आदि धातुओं का उत्तरोत्तर स्नेहोत्कर्ष रहता है] ॥ ६४ ॥

आहार के परिणाम का काल—

केचिदाहुरहोरात्रात्षडहाद्परे,　परे　॥ ६५ ॥
मासेन याति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिभिः ।

कई आचार्य कहते हैं कि रस से शुक्र तक धातुओं का क्रम दिन-रात अर्थात् चौबीस घण्टे में पूरा होता है। दूसरे आचार्य छः दिन में; तीसरे एक मास में अन्न को शुक्र बनने में-जाठराग्नि से धात्वग्नि से पाक होने में समय मानते हैं।

वक्तव्य—आहार रस का जाठराग्नि से पाक होकर फिर धात्वग्नि से पाक होने पर शुक्र बनने तक जो समय लगता है, उसे कोई आचार्य २४ घण्टे का, कोई छः दिन का और कुछ लोग एक मास का मानते हैं।

भोज्यधातुओं की परिवृत्ति—

सन्तता भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ॥ ६६ ॥

(जिस धातु की जिससे उत्पत्ति होती है; वह उसका आहार है) आहार धातु की परिवर्तन (भ्रमण) गति चक्र की भाँति निरन्तर-विना व्यवधान के (आहार रस के द्वारा) चलती रहती है, [अर्थात् जिस प्रकार पहिया निरन्तर घूमता रहता है, इसी प्रकार आहाररस से प्रारम्भ हुआ यह धातु-परिवर्तन का चक्कर निरन्तर (विना व्यवधान के) चलता रहता है। इसी से चरक में कहा है 'धातवो हि धात्वाहाराः।' (च. सू. अ. २८।३)] ॥ ६६ ॥

वृष्यादि से तत्काल शुक्रोत्पत्ति—

वृष्यादीनि प्रभावेण सद्यः शुक्रादि कुर्वते ।

वृष्य आदि द्रव्य प्रभाव से तुरन्त शुक्र आदि को उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—वृष्य द्रव्य-दूध, हंसादि के अण्डे आदि शीघ्र शुक्र बढ़ाते हैं, विष शरीर पर विना जीर्ण हुए भी तुरन्त कार्य करता है, इसी प्रकार जरायु या गर्भनिष्क्रमण के औषध भी अपने प्रभाव से शीघ्र कार्य करते हैं।

दिन-रात में अन्य भेषजों की कार्यकारिता—

प्रायः करोत्यहोरात्रात्कर्माण्यदपि भेषजम् ॥ ६७ ॥

वृष्य आदि के अतिरिक्त अन्य औषधि भी चौबीस घण्टे में प्रायः अपना काम करती है ॥ ६७ ॥

जठराग्नि द्वारा आहाररस की प्रेरणा—

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ ६८ ॥
क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः ।
तस्मिन्विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥ ६९ ॥

फेकने या फैलाने के स्वभाव वाले व्यान वायु द्वारा रस धातु (आहारस के जाठराग्नि-पाक से बना)—सदा सम्पूर्ण शरीर में निरन्तर एक साथ फेंका जाता है। यहाँ आहार रस का एक साथ सारे शरीर में पहुँचना वर्णित है। इससे यह भी इंगित होता है कि प्रत्येक धातुओं का पोषण एक साथ भी होता है। फेंका हुआ यह रस स्रोतों की विकृति के कारण जहाँ पर रुक जाता है, वहाँ पर रोग को उत्पन्न करता है, जिस प्रकार कि बादल आकाश में जहाँ रुक जाता है वहीं बरसता है; सब स्थानों में नहीं बरसता ॥ ६८-६९ ॥

एक देश में दोषादि का भी प्रकोपण—

दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् ।

इसी न्याय से वातादि दोषों का भी एक स्थान में प्रकोप होता है। [इसलिये सिध्म, श्वित्र, दद्रु आदि रोग एक भाग में ही होते हैं।]

अन्नभौतिकधात्वग्निकर्मेति परिभाषितम् ॥ ७० ॥

अन्न, भौतिक और धातु की अग्नियों के कर्म को इस प्रकार से वर्णित किया गया (अन्न अग्नि = जाठराग्नि)।

जठराग्नि-श्रेष्ठता तथा पालनादि—

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिको मतः ।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ॥ ७१ ॥
तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः ।
पालयेत्प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥ ७२ ॥

सब अग्नियों में जो अन्न का पाचक जाठराग्नि है, वह सबसे अधिक बलवान् है क्योंकि यह जाठराग्नि ही भौतिक आदि अग्नियों का मूल है। जाठराग्नि के ही बढ़ने या घटने से ये दूसरी भौतिक आदि अग्नियाँ बढ़ती या घटती हैं। इसलिये इस जाठराग्नि की विधिपूर्वक योग्य इन्धन-रूपी हितकारी खानपान से प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे क्योंकि इसी अग्नि के स्थित रहने से आयु और बल की भी स्थिति होती है।

वक्तव्य—चरक में—'शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः। रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥' तथा-'अग्निमूलं बलं पुंसां बलमूलं हि जीवितम्' (सं. चि. अ. १२)

जाठराग्नि के चार भेद—

समः समाने स्थानस्थे विषमोऽग्निर्विमार्गगे ।
पित्ताभिमूर्च्छिते तीक्ष्णो मन्दोऽस्मिन्कफपीडिते ॥
समोऽग्निर्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चैवं चतुर्विधः ।

समान वायु के स्थान में रहने से अग्नि भी समान रहती है और समान वायु के विमार्गगामी होने से अग्नि भी विषम होती है। समान वायु के पित्त के साथ मिलने से अग्नि तीक्ष्ण हो जाती है तथा समान वायु के कफ से पीड़ित होने पर अग्नि मन्द होती है।

इस प्रकार से अग्नि चार प्रकार की है—सम, विषम, तीक्ष्ण और मन्द ॥ ७३ ॥

चतुर्विध पूर्वोक्त जाठराग्नि के लक्षण—

यः पचेत्सम्यगेवान्नं भुक्तं सम्यक् समस्त्वसौ॥७४।
विषमोऽसम्यगप्याशु सम्यग्वाऽपि चिरात्पचेत् ।

तीक्ष्णो वह्निः पचेच्छीघ्रमसम्यगपि भोजनम्।। ७५ ॥
मन्दस्तु सम्यगप्यन्नमुपयुक्तं चिरात्पचेत् ।
कृत्वाऽऽस्यशोषाटोपान्त्रकूजनाध्मानगौरवम् ।।७६।।

जो अग्नि यथाविधि खाये हुए अन्न को भली प्रकार पकाती है; वह सम अग्नि है। जो अग्नि देश, काल, मात्रा और विधि के बिना भी खाये अन्न को कभी शीघ्र पकाती है; और कभी विधिपूर्वक खाये हुए अन्न को भी देर में पकाती है; वह विषमाग्नि है। सविधि खाये हुए भोजन को जो शीघ्र पचा देती है; वह तीक्ष्णाग्नि है। जो अग्नि विधिपूर्वक खाये हुए अन्न को देर में पकाती है; वह मन्द अग्नि है और यह मुखशोष, आध्मान, आँतों में गड़गड़ाहट, आटोप तथा भारीपन करके अन्न को पकाती है ॥ ७४-७६ ॥

वक्तव्य—संग्रह—'यामैश्चतुर्भिर्द्वाभ्यां च भोज्यभैषज्ययोः समे। पाकोऽग्नौ युक्तयोर्द्राक् च तीक्ष्णे, मन्दे पुनश्चिरात्।' (संग्रह सू. अ. ११)

देहबल के तीन भेद और लक्षण—

सहजं कालजं युक्तिकृतं देहबलं त्रिधा ।
तत्र सत्त्वशरीरोत्थं प्राकृतं सहजं बलम् ॥ ७७ ॥
वयस्कृतमृतूत्थं च कालजं, युक्तिजं पुनः ।
विहाराहारजनितं तथोर्जस्करयोगजम् ॥ ७८ ॥

मनुष्यों में बल तीन प्रकार का होता है-सहज, कालजन्य और युक्तिजन्य।

इनमें जो बल सत्व (मन) और शरीर के अनुसार स्वभावतः होता है वह प्राकृत या सहज बल है। वय, बाल्य-यौवनादिजन्य या ऋतुजन्य जो बल होता है, वह कालजन्य है। जो बल विहार या आहार से अथवा ऊर्ज (बल) को करने वाले योगों (औषधियों) से उत्पन्न होता है, वह युक्तिजन्य बल है। [युक्ति-योजना] ॥ ७७-७८ ॥

देश के तीन भेद—

देशोऽल्पवारिद्रुनगो जाङ्गलः स्वल्परोगदः ।
आनूपो विपरीतोऽस्मात्समः साधारणः स्मृतः ।।७९।।

जांगल देश-जिस देश में पानी, वृक्ष और पहाड़ कम होते हैं, वह जांगल देश है; यह देश थोड़ा रोगोत्पादक है। इस जांगल देश से विपरीत-अर्थात् प्रचुर पानी-वृक्ष और पहाड़ वाला देश आनूप है और बहुत रोगों वाला होता है। जो देश समान—न बहुत अधिक और न बहुत कम वृक्ष, पर्वत या जल वाला होता है, उसे साधारण कहते हैं ॥ ७९ ॥

देह में मज्जादि का परिमाण—

मज्जमेदोवसामूत्रपित्तश्लेष्मशकृन्त्यसृक् ।
रसो जलं च देहेऽस्मिन्नेकैकाञ्जलिवर्द्धितम् ॥ ८० ॥
पृथक् स्वप्रसृतं प्रोक्तमोजोमस्तिष्करेतसाम् ।
द्वावञ्जली तु स्तन्यस्य चत्वारो रजसः स्त्रियाः।।८१।।
समधातोरिदं मानं विद्याद् वृद्धिक्षयावतः ।।८२।।

मनुष्य के शरीर में मज्जा, मेदा, वसा, मूत्र, पित्त, कफ, मल, रक्त, रस और जल ये प्रत्येक एक-एक अंजलि बढ़ कर हैं। अर्थात् मज्जा की एक अञ्जलि, मेद की दो, वसा की तीन आदि।

ओज, मस्तिष्क और शुक्र की, मनुष्य की अपनी अञ्जलि के समान पृथक्-पृथक् मात्रा रहती है। स्त्री में दूध की मात्रा दो अञ्जलि और रज की मात्रा चार अंजलि है।

यह परिमाण समधातु वाले शरीर में होता है; इसमें वृद्धि और क्षय के परिमाण को समझ लेना चाहिये॥८०-८२॥

प्रकृति के सात प्रकार—

शुक्रासृग्गर्भिणीभोज्यचेष्टागर्भाशयर्तुषु ।
यः स्याद्दोषोऽधिकस्तेन प्रकृतिः सप्तधोदिता ॥ ८३ ॥

शुक्र-आर्त्तव, गर्भवती माता के आहार, विहार, गर्भाशय और ऋतु में जो दोष अधिक होता है; उस दोष के कारण सात प्रकार की प्रकृति होती है; जिसे पहले सूत्रस्थान (अ. १७ श्लोक १०) में कह दिया है ॥ ८३ ॥

दोषों में वात का प्राधान्य—

विभुत्वादाशुकारित्वाद्बलित्वादन्यकोपनात् ।
स्वातन्त्र्याद्बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः ॥ ८४ ॥

व्यापक होने से, शीघ्रकारी होने से, बलवान होने से, दूसरों (पित्त और कफ) को कुपित करने से, स्वतन्त्र होने से और बहुत रोगों वाला होने से (वात रोग अस्सी हैं) वायु दोषों में प्रबल है ॥ ८४ ॥

वातप्रकृति के लक्षण—

प्रायोऽत एव पवनाध्युषिता मनुष्या
दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः ।
शीतद्विषश्चलधृतिस्मृतिबुद्धिचेष्टा-
सौहार्ददृष्टिगतयोऽतिबहुप्रलापाः ॥८५॥
अल्पवित्तबलजीवितनिद्राः
सन्नसक्तचलजर्जरवाचः ।
नास्तिका बहुभुजः सविलासा
गीतहासमृगयाकलिलोलाः ॥ ८६ ॥
मधुराम्लपटूष्णसात्म्यकाङ्क्षाः
कृशदीर्घाकृतयः सशब्दयाताः ।
न दृढा न जितेन्द्रिया न चार्या
न च कान्तादयिता बहुप्रजा वा ॥ ८७ ॥
नेत्राणि चैषां खरधूसराणि
वृत्तान्यचारूणि मृतोपमानि ।
उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्ते
शैलद्रुमांस्ते गगनं च यान्ति ॥ ८८ ॥
अधन्या मत्सराध्माताः स्तेनाः प्रोद्बद्धपिण्डिकाः ।
श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखुकाकानूकाश्च वातिकाः ॥ ८९ ॥

वात प्रकृति—इसलिए (सब दोषों में वायु के प्रबल होने से) प्रायः करके वायु की अधिकता वाले मनुष्य वात

दोष वाले, फटे हुए एवं धूसर बाल एवं शरीर वाले, शीत से द्वेष रखने वाले, अस्थिर-धृति, स्मृति, बुद्धि, चेष्टा वाले, अस्थिर-मित्रता, दृष्टि, गति वाले, बहुत बोलने वाले, थोड़े धन, बल, जीवन एवं निद्रा वाले, रुकी हुई, अटकने वाली, चंचल तथा फटी हुई वाणी वाले, नास्तिक, बहुत खाने वाले, विलासी, गीत, हास्य, मृगया और झगड़े में रुचि वाले, मधुर, अम्ल, लवण, उष्ण के अभ्यास तथा चाह वाले, लम्बे पतले शरीर वाले, चलते हुए शब्द करने वाले, न तो दृढ, न जितेन्द्रिय और न सन्त, न स्त्रियों के प्रिय और न बहुत सन्तति वाले होते हैं। इनके नेत्र कठोर, धूल से भरे हुए के समान और गोल, देखने में सुन्दर नहीं होते तथा मृत के समान सोते हुए खुले रहते हैं, स्वप्न में ये पहाड़, वृक्ष और आकाश में घूमते हैं। वातप्रकृति मनुष्य अधन्य (अभाग्यशाली), द्वेष से भरे, चोर, अधिक उभड़ी हुई पिण्डलियों वाले, कुत्ता, गीदड़, ऊँट, गीध, चूहा और कौवा इनके स्वभाव के होते हैं ॥ ८५-८९ ॥

पित्तप्रकृति के लक्षण—

पित्तं वह्निर्वह्निजं वा यदस्मात्
पित्तोद्रिक्तस्तीक्ष्णतृष्णाबुभुक्षः।
गौरोष्णाङ्गस्ताम्रहस्ताङ्घ्रिवक्त्रः
शूरो मानी पिङ्गकेशोऽल्परोमा ॥ ९० ॥
दयितमाल्यविलेपनमण्डनः
सुचरितः शुचिराश्रितवत्सलः।
विभवसाहसबुद्धिबलान्वितो
भवति भीषु गतिर्द्विषतामपि ॥ ९१ ॥
मेधावी प्रशिथिलसन्धिबन्धमांसो
नारीणामनभिमतोऽल्पशुक्रकामः।
आवासः पलिततरङ्गनीलिकानां
भुंक्तेऽन्नं मधुरकषायतिक्तशीतम् ॥ ९२ ॥
घर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगन्धि-
र्भूर्युच्चारक्रोधपानाशनेर्ष्यः।
सुप्तः पश्येत्कर्णिकाराम्पलाशान्
दिग्दाहोल्काविद्युदर्कानलांश्च ॥ ९३ ॥
तनूनि पिङ्गानि चलानि चैषां
तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि।
क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा
रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि ॥ ९४ ॥
मध्यायुषो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः।
व्याघ्रर्क्षकपिमार्जारयक्षानूकाश्च पैत्तिकाः ॥९५॥

पित्तप्रकृति मनुष्य—पित्त ही अग्नि है, अथवा पित्त अग्नि से उत्पन्न हुआ है, इसलिये पित्त की अधिकता वाले व्यक्ति तीक्ष्ण प्यास एवं भूख वाले, गौर वर्ण एवं उष्ण अङ्गों वाले, ताम्रवर्ण हाथ, पैर और मुखवाले, शूर, अभिमानी, पिङ्गल, केश वाले, थोड़े रोम वाले, माल्य, विलेप और आभूषणों की चाह वाले, सच्चरित्र, पवित्र, अपने आश्रितों का प्रिय करने वाले, धन, साहस, बुद्धि और बल से युक्त तथा संकट काल में दुश्मनों के भी रक्षक होते हैं। बुद्धिशाली, ढीले सन्धिबन्ध और मांस वाले, स्त्रियों के प्रिय, थोड़े शुक्र एवं थोड़ी कामेच्छा वाले, पलित (बालों का अकाल में श्वेत होना), तरङ्ग (व्यंग या झुर्रियाँ), नीलिका आदि के स्थान अर्थात् इनसे युक्त होते हैं और मधुर, कषाय, तिक्त एवं शीतल अन्न को खाते हैं। धूप से द्वेष करने वाले, अधिक पसीने वाले, दुर्गन्ध वाले, बहुत मल (पुरीष), क्रोध, पान, ईर्ष्या वाले होते हैं तथा सोते हुए स्वप्न में अमलतास के फूल, ढाक, दिशाओं में लगी आग, उल्का, विद्युत्, सूर्य, अग्नि आदि को देखते हैं। इनकी आँखें पतली या छोटी, पिङ्गल वर्ण और चञ्चल, पतले एवं थोड़े पलकों वाली तथा शीतप्रिय होती हैं। वे क्रोध, भय और सूर्य की किरणों से तुरन्त लाल हो जाती है। पित्तप्रकृति वाले मनुष्य मध्यम आयु वाले, मध्यम बल, पण्डित, क्लेश से डरने वाले एवं व्याघ्र, भालू, बन्दर, बिल्ली और यक्ष के स्वभाव वाले होते हैं।

कफप्रकृति के लक्षण—

श्लेष्मा सोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो
गूढस्निग्धश्लिष्टसन्ध्यस्थिमांसः।
क्षुत्तृड्दुःखक्लेशघर्मैरतप्तो
बुद्ध्या युक्तः सात्त्विकः सत्यसन्धः ॥९६॥
प्रियङ्गुदूर्वाशरकाण्डशस्त्र-गोरोचनापद्मसुवर्णवर्णः।
प्रलम्बबाहुः पृथुपीनवक्षा महाललाटो घननीलकेशः ॥
मृद्वङ्गः समसुविभक्तचारुदेहो
बह्वोजोरतिरसशुक्रपुत्रभृत्यः।
धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु
प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम् ॥९८॥
समदद्विरदेन्द्रतुल्ययातो
जलदाम्भोधिमृदङ्गसिंहघोषः।
स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो।
न च बाल्येऽप्यतिरोदनो न लोलः ॥९९॥
तिक्तं कषायं कटुकोष्णरूक्ष-
मल्पं स भुङ्क्ते बलवांस्तथाऽपि।
रक्तान्तसुस्निग्धविशालदीर्घः
सुव्यक्तशुक्लासितपक्ष्मलाक्षः ॥१००॥
अल्पव्याहारक्रोधपानाशनेहः
प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः।
श्राद्धो गम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावा-
नार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः ॥१०१॥
ऋजुर्विपश्चित्सुभगः सुलज्जो
भक्तो गुरूणां स्थिरसौहृदश्च।

स्वप्ने सपद्मान्सविहङ्गमालां-
स्तोयाशयान् पश्यति तोयदांश्च ॥ १०२ ॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणताक्ष्यर्हंसगजाधिपैः ।
श्लेष्मप्रकृतयस्तुल्यास्तथा सिंहाश्वगोवृषैः ॥१०३॥

कफप्रकृति मनुष्य—कफ सोम (सोमजनित) है, इसलिये कफ प्रकृति के मनुष्य भी सौम्य होते हैं। इनकी सन्धि, अस्थि और मांस गूढ़, स्निग्ध और खूब श्लिष्ट होती हैं। भूख, प्यास, दुःख, मानसिक क्लेश, घर्म (धूप) से पीड़ित न होने वाले, बुद्धि से युक्त, प्रशस्त सत्त्व और सत्य प्रतिज्ञा वाले होते हैं, इनका रङ्ग प्रियङ्गु, दूर्वा, शरकाण्ड, शस्त्र (तलवार आदि), गोरोचन, कमल एवं सुवर्ण के समान होता है, यह लम्बी बाहु, विस्तृत और भरी हुई छाती, विशाल ललाट तथा घने एवं नील वर्ण के बालों वाले, कोमल अङ्गों तथा समान एवं भली प्रकार विभक्त (सुडौल) सुन्दर शरीर, ओज, रति, रस, शुक्र, पुत्र, एवं भृत्य की अधिकता वाले, धर्मात्मा, कभी भी कठोर न बोलने वाले होते हैं, तथा छिपे हुये और दृढ़ वैर को देर तक रखते हैं। मदवाले गजपति के समान गति वाले, बादल, समुद्र, मृदङ्ग या सिंह के समान शब्द वाले, प्रशस्त स्मृति, शोभन अभियोगी (सुन्दर तर्क वाले), विनयी, बाल्यावस्था में भी न बहुत रोने वाले और न लालची होते हैं तथा तिक्त, कषाय, कटु, उष्ण, रूक्ष और थोड़ा खाने पर भी बलवान् रहते हैं। आँखें किनारों से लाल, चिकनी, विशाल और अतिस्पष्ट, श्वेत एवं कृष्ण भाग तथा पलकों के बाल वाली होती हैं। बोलना, भोजन, क्रोध, पान आदि की इच्छा थोड़ी होती है, यह प्रभूत आयु एवं वित्त वाले, दूरदर्शी, मीठा बोलने वाले, दान में श्रद्धाशील, गम्भीर, भूरिदाता अथवा बड़े विचारों वाले, क्षमाशील, आर्य (सज्जन), निद्रा की अधिकता वाले, देर में काम करने वाले, कृतज्ञ, अकुटिल चित्त, पण्डित, भाग्यवान्, लज्जाशील, गुरुजनों के भक्त एवं दृढ़ मित्रता वाले, स्वप्न में कमल एवं पक्षियों के झुण्ड से भरे जलाशयों और बादलों को देखते हैं। कफप्रकृति वाला मनुष्य ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, ताक्ष्यं, हंस, गजेन्द्र, सिंह, घोड़ा, गाय और बैल इनके समान स्वभाव का होता है ॥ ९६-१०३ ॥

द्वन्द्वप्रकृति के लक्षण—

प्रकृतीर्द्वयसर्वोत्था द्वन्द्वसर्वगुणोदये ।

दो या सभी (तीनों) दोषों के गुणों (लक्षणों) के मिलने पर द्वन्द्वज (तीन) और त्रिदोषज (एक) प्रकृति समझना चाहिये।

वक्तव्य—समदोषज प्रकृति ही उत्तम है, शेष एक-एक दोषों की अधिकता या दो-दो दोषों की अधिकता वाली प्रकृतियाँ अच्छी नहीं होतीं, क्योंकि उनमें प्रबल दोषजनित विकार स्वभावतः रहते ही हैं। चरक ने तो केवल समदोष को ही प्रकृति तथा अन्यों को विकृति माना है। (१) समदोषः समस्तासु श्रेष्ठा निन्द्या द्विदोषजाः। तथा—वातलाद्याः सदातुराः। (चरक) (२) 'तत्राद्यास्त्रयो नित्यातुरा दोषानुशयितशरीरत्वात् विशेषतश्च द्वन्द्वप्रकृतयः। तेषु हि गुणमिश्रविकारकारिषु क्षुत्पिपासादिष्विवारोग्यव्यपदेशः। (संग्रह) (३) त्रयस्तु पुरुषा भवन्त्यातुराः, ते त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाम्। तद्यथा—वातलः, पित्तलः, श्लेष्मलश्चेति। (चरक)

सत्त्वादि प्रकृति का निरूपण—

शौचास्तिक्यादिभिश्चैवं गुणैर्गुणमयीर्वदेत् ॥ १०४ ॥

इन प्रकृतियों को शौच, आस्तिकता आदि गुणों के कारण सत्त्वादि गुणवाली प्रकृति को कहे ॥ १०४ ॥

वक्तव्य—सत्त्व प्रकृति-सत्त्व (मन) के गुणों के कारण मनुष्य की प्रकृति सात प्रकार की हो जाती है। तथा-सत्त्वप्रकृति, रजःप्रकृति, तमःप्रकृति, सत्त्वरजःप्रकृति, सत्त्वतमःप्रकृति, रजस्तमःप्रकृति और समसत्त्वरजस्तमःप्रकृति। इनके अतिरिक्त देश-काल आदि के प्रभाव से अभ्यासवश भी सात प्रकृतियां होती हैं। यथा—जातिप्रसक्ता, कुलप्रसक्ता, देशप्रसक्ता, कालप्रसक्ता, वयःप्रसक्ता, बलप्रसक्ता, प्रत्यात्मसंश्रिता। एक जाति में एक प्रकार के गुण रहते हैं; दूसरी जाति में वे गुण नहीं रहते। इसी प्रकार एक कुल में जो गुण रहते हैं वह दूसरे में नहीं रहते। इसी से चरक में कहा है- 'जातिकुलदेशकालवयःप्रत्यात्मनियता हि तेषां तेषां पुरुषाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति ॥' (च. शा. अ. १)

वय के अनुसार धातुओं की वृद्धि और क्षय—

वयस्त्वाषोडशाद् बालं तत्र धात्विन्द्रियौजसाम् ।
वृद्धिरासप्ततेर्मध्यं तत्रावृद्धिः परं क्षयः ॥ १०५ ॥

वय—सोलह साल की आयु तक बाल्यावस्था है; इसमें धातुओं, इन्द्रियों और ओज की वृद्धि होती है। सोलह से सत्तर वर्ष तक मध्यम वय है; इसमें वृद्धि नहीं होती; इसके आगे इनका क्षय आरम्भ होता है; (वह वृद्धावस्था-जीर्णावस्था है) ॥ १०५ ॥

वक्तव्य—चरक में—वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले, सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशतजीविनोऽपि मनुष्याः, तेषां विकृतिवर्ज्यैः प्रकृत्यादिबलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत् ॥' बाल्य वय तीन प्रकार का है—क्षीराद, क्षीरान्नाद, अन्नवृत्ति। इसमें कफ की अधिकता रहती है। मध्यम वय भी तीन प्रकार का है—यौवन, सम्पूर्णत्व, अपरिहानि; इसमें पित्त की अधिकता रहती है। जीर्ण वय में धातुओं में ह्रास आरम्भ होता है; वायु बलवान् रहती है।

शरीर का प्रमाण तथा सुखादिपात्रता—

स्वं स्वं हस्तत्रयं सार्द्धं वपुः पात्रं सुखायुषोः ।
न च यद्युक्तमुद्रिक्तैरष्टाभिर्निन्दितैर्निजैः ॥ १०६ ॥
अरोमशासितस्थूलदीर्घत्वैः सविपर्ययैः ।

प्रत्येक मनुष्य का अपने-अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ प्रमाण का शरीर सुख एवं आयुका पात्र होता है, किन्तु यदि वह शरीर अधिक निमित्तजन्य, अप्रशस्त एवं सहज निम्नलिखित आठ दोषों से युक्त न हो, यथा—रोम का न होना,

अथवा बहुत होना, अतिकृष्ण अथवा अतिगौर, अतिस्थूल अथवा अतिकृश, अतिदीर्घ अथवा अतिह्रस्व। (ये आठ शरीर सहज रूप में निन्दित हैं।)॥ १०६॥

शुभ केशादि के लक्षण—

सुस्निग्धा मृदवः सूक्ष्मा नैकमूलाः स्थिराः कचाः ॥
ललाटमुन्नतं श्लिष्टशङ्खमर्धेन्दुसन्निभम् ।
कर्णौ नीचोन्नतौ पश्चान्महान्तौ श्लिष्टमांसलौ ॥१०८॥
नेत्रे व्यक्तासितसिते सुबद्धे घनपक्ष्मणी ।
उन्नताग्रा महोच्छ्वासा पीनर्जुर्नासिका समा ॥१०९॥
ओष्ठौ रक्तावनुद्वृत्तौ महत्यौ नोल्बणे हनू ।
महदास्यं, घना दन्ताः स्निग्धाः श्लक्ष्णाः सिताः समाः ॥
जिह्वा रक्ताऽऽयता तन्वी, मांसलं चिबुकं महत् ।
ग्रीवा ह्रस्वा घना वृत्ता, स्कन्धावुन्नतपीवरौ ॥१११॥
उदरं दक्षिणावर्तगूढनाभि समुन्नतम् ।
तनुरक्तोन्नतनखं स्निग्धमाताम्रमांसलम् ॥११२॥
दीर्घाच्छिद्राङ्गुलि महत्पाणिपादं प्रतिष्ठितम् ।
गूढवंशं बृहत्पृष्ठं निगूढाः सन्धयो दृढाः ॥११३॥
धीरः स्वरोऽनुनादी च, वर्णः स्निग्धः स्थिरप्रभः ।

बाल—अतिस्निग्ध, मृदु, सूक्ष्म, पृथक्-पृथक् मूल वाले, और दृढ होने चाहिये। ललाट—उन्नत (चौड़ा, बाहर को उभरा हुआ नहीं) और अर्धचन्द्राकार प्रशस्त है। कान—नीचे छोटे और ऊपर बड़े, पीछे से विस्तृत, शिर से सटे और भरे मांस वाले प्रशस्त हैं। नेत्र—जिनमें श्वेत और काला भाग स्पष्ट हो, उत्तम रूप से बँधे हुए (दृढमूल), घन पलकों वाले प्रशस्त हैं। नासिका—आगे से उन्नत, बड़े उच्छ्वास की (चौड़े छिद्रों वाली), भरी हुई, सीधी और समान उत्तम है। ओठ लाल, बाहर को न निकले हुए उत्तम हैं। हनु विस्तृत और बहुत उठी न हो। मुख—बड़ा उत्तम है। दाँत—अविरल, स्निग्ध, चिकने, श्वेत और समान उत्तम हैं। जीभ—लाल, बड़ी और पतली प्रशस्त है। ठोढ़ी—बड़ी और मांस से भरी उत्तम है। ग्रीवा—छोटी, भरी हुई और गोल उत्तम है। स्कन्द—उठे हुए और भरे प्रशस्त हैं। उदर—दक्षिण आवर्त्त एवं गूढ नाभि वाला तथा भली प्रकार उन्नत हुआ उत्तम है। हाथ-पैर—पतले, लाल और उठे हुए नख वाले, स्निग्ध, लाल वर्ण और मांस से भरे, लम्बी परस्पर मिली अंगुलियों वाले और बड़े प्रशस्त हैं। पीठ—अदृश्य, (मांस से ढके) पृष्ठवंश वाली और चौड़ी उत्तम है। सन्धियाँ—छिपी हुई और दृढ उत्तम हैं। स्वर—धीर (घोषवान्) एवं घण्टे की भाँति झंकार वाला प्रशस्त है। वर्ण—स्निग्ध एवं स्थिर कान्ति वाला उत्तम है॥ १०७-११३॥

स्वभावजं स्थिरं सत्त्वमविकारि विपत्स्वपि ॥११४॥

मन—स्वभावजन्य, स्थिर एवं विपत्ति में भी विचलित न होने वाला उत्तम है॥ ११४॥

उत्तरोत्तरसुक्षेत्रं वपुर्गर्भादिनीरुजम् ।
आयामज्ञानविज्ञानैर्वर्द्धमानं शनैः शुभम् ॥११५॥

गर्भ से ही आरम्भ करके रोगरहित; उत्तरोत्तर उत्तम क्षेत्र वाला (पूर्वोक्त प्रमाण, अंग-प्रत्यङ्ग प्रमाण और स्थिरचित्तता आदि अधिकाधिक प्रशस्त गुणों से युक्त) शरीर, आयाम (लम्बाई और चौड़ाई), ज्ञान-लौकिक व्यवहार ज्ञान, विज्ञान-विशिष्ट ज्ञान, शास्त्राभ्यासादि से उत्पन्न; इनसे धीरे-धीरे (क्रमशः न कि अकस्मात्) बढ़ता हुआ शुभ है॥ ११५॥

वक्तव्य—उत्तरोत्तर शुभ—यथोक्त प्रमाण के अनुसार जो शरीर होता है, वह शुभ; यथोक्त ललाटादि लक्षणों से युक्त शरीर शुभतर; यथोक्त सत्त्व लक्षणों से युक्त शरीर शुभतम है।

सर्वगुणयुक्त शरीर के गुण—

इति सर्वगुणोपेते शरीरे शरदां शतम् ।
आयुरैश्वर्यमिष्टाश्च सर्वे भावाः प्रतिष्ठिताः ॥११६॥

इस प्रकार से सब गुणों से युक्त शरीर में एक सौ शरद् ऋतु (वर्ष) तक की आयु; ऐश्वर्य तथा जो भी शुभ भाव हैं, वे स्थित रहते हैं॥ ११६॥

बल के प्रमाण का ज्ञान—

त्वग्रक्तादीनि सत्त्वान्तान्यग्र्याण्यष्टौ यथोत्तरम् ।
बलप्रमाणज्ञानार्थं साराण्युक्तानि देहिनाम् ॥११७॥
सारैरुपेतः सर्वैः स्यात्परं गौरवसंयुतः ।
सर्वारम्भेषु चाशावान्सहिष्णुः सन्मतिः स्थिरः ॥११८॥

प्राणियों के केवल प्रमाण ज्ञान के लिये त्वचा तथा रक्त से आरम्भ करके सत्त्व पर्यन्त आठ सार वर्णित हैं; ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। सम्पूर्ण सारों से युक्त मनुष्य अतिशय गौरव युक्त, सम्पूर्ण इच्छितकार्यों में आशाशील (समर्थ), सहनशील, उत्तम बुद्धि वाला तथा कार्यों में स्थिरबुद्धि होता है।

वक्तव्य—आठ सार—त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रसत्त्वानि कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषङ्मुह्येदयमुपचितत्वात् बलवान्, अयमल्पबलः कृशत्वात्, महाबलोऽयं महाशरीरत्वात्, अयमल्पशरीरत्वादल्पबल इति; दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराः कृशाश्चैके बलवन्तः, तत्र पिपीलिकाभारहरणवत् सिद्धिः। अतश्च सारतः परीक्षेतेत्युक्तम्॥ (च. वि. अ. ८।११५) हाथी और शेर में शरीर का भेद होने पर शक्तिभेद है। चींटी कितनी छोटी होते हुए भी इतनी बलशाली होती है, उसका कारण सार ही है। (इन सारों का विस्तृत वर्णन तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग का प्रमाण चरकसंहिता विमानस्थान अध्याय ८ में तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रमाण अष्टाङ्गसंग्रह शारीरस्थान अ. ८ में देखें।)

सत्त्वादिप्रकृति वालों को सुखादि का अनुभव—

अनुत्सेकमदैन्यं च सुखं दुःखं च सेवते ।
सत्त्ववांस्तप्यमानस्तु राजसो नैव तामसः ॥११९॥

सत्त्ववान् पुरुष सुख और दुःख का अनुभव उत्सुकता और दीनतारहित होकर करता है। अर्थात् न वह सुख में संसक्त रहता है और न दुःख में घबड़ाता है। राजस प्रकृति का मनुष्य अहङ्कार भाव से सुख या दुःख का सेवन करता है अर्थात् सुख से सुखी और दुःख से पीड़ित होता है। तामस मनुष्य न तो सुख अनुभव करता है और न दुःख (अत्यन्त मूढ़ होने से वस्तुतः वह सदैव दुःखी रहता है) ॥ ११९ ॥

वक्तव्य—'मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ (गीता)

शरीर का मुख्य फलदायक उपाय—

दानशीलदयासत्यब्रह्मचर्यकृतज्ञताः ।
रसायनानि मैत्री च पुण्यायुर्वृद्धिकृद्गणः ॥१२०॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां द्वितीये शारीरस्थानेऽङ्गविभागो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

* * *

दानशीलता, दया, सत्य, ब्रह्मचर्य, कृतज्ञता, रसायन, सेवन, सबसे मैत्री ये पुण्य (सुकृत) और आयु (जो जीवन के अन्तिम लक्ष्य हैं) के बढ़ाने वाले हैं ॥ १२० ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में शारीरस्थान का अङ्गविभाग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

* * *

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो मर्मविभागं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे मर्मविभाग नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

मर्मों की संख्या तथा विभागशः वर्णन—

सप्तोत्तरं मर्मशतन्तेषामेकादशादिशेत् ।
पृथक्सक्थ्नोस्तथा बाह्वोस्त्रीणि कोष्ठे नवोरसि ॥१॥
पृष्ठे चतुर्दशोर्ध्वं तु जत्रोस्त्रिंशच्च सप्त च ।

इस शरीर में एक सौ सात मर्म हैं। इनमें से प्रत्येक टांग में और प्रत्येक बाहु में ग्यारह-ग्यारह मर्म हैं। (इस प्रकार से दोनों टांगों और बाहुओं में मिलाकर चौवालीस मर्म हैं।) कोष्ठ में तीन; छाती में नौ; पीठ में चौदह और जत्रु से ऊपर सैंतीस मर्म हैं ॥ १ ॥

मध्ये पादतलस्याहुरभितो मध्यमाङ्गुलिम् ॥ २ ॥
तलहृन्नाम रुजया तत्र विद्धस्य पञ्चता ।
अङ्गुष्ठाङ्गुलिमध्यस्थं क्षिप्रमाक्षेपमारणम् ॥ ३ ॥
तस्योर्ध्वं द्व्यङ्गुले कूर्चः पादभ्रमणकम्पकृत् ।
गुल्फसन्धेरधः-कूर्चशिरः-शोफरुजाकरम् ॥ ४ ॥
जङ्घाचरणयोः सन्धौ गुल्फो रुक्स्तम्भमान्द्यकृत् ।
जङ्घान्तरे त्विन्द्रवस्तिर्मारयत्यसृजः क्षयात् ॥ ५ ॥
जङ्घोर्वोः सङ्गमे जानु खञ्जता तत्र जीवतः ।
जानुनस्त्र्यङ्गुलादूर्ध्वमाण्यूरुस्तम्भशोफकृत् ॥ ६ ॥
उर्व्यूरुमध्ये तद्वेधात्सक्थिशोषोऽस्रसङ्क्षयात् ।
ऊरुमूले लोहिताक्षं हन्ति पक्षमसृक्क्षयात् ॥ ७ ॥
मुष्कवङ्क्षणयोर्मध्ये विटपं षण्ढताकरम् ।

पैर के तलुए के बीच में मध्यमांगुलि के सामने तलहृदय नाम का मर्म है; इसके विद्ध होने पर तीव्र पीड़ा से मृत्यु होती है।

अंगुष्ठ और अङ्गुलि के बीच में 'क्षिप्र' नाम का मर्म है; इसके विद्ध होने से आक्षेप और मृत्यु होती है।

क्षिप्र मर्म से दो अङ्गुल ऊपर में कूर्च नाम का मर्म है; इसके विद्ध होने से पैर का घूमना और कम्पन होता है।

गुल्फसन्धि के नीचे कूर्चशिर नाम का मर्म है; इसके विद्ध होने से शोफ और पीड़ा होती है।

जङ्घा और पैर की सन्धि में 'गुल्फ' नामक का मर्म है; इसके विद्ध होने पर पीड़ा, स्तब्धता और (गति) मान्द्य होता है।

जङ्घा के बीच में इन्द्रवस्ति नाम का मर्म है; इसके विद्ध होने पर रक्त के क्षय से रोगी मर जाता है।

जङ्घा और ऊरु की सन्धि में जानु मर्म है; इसके विद्ध होने पर पुरुष मर जाता है; जीता रहे तो लंगड़ा होता है।

जानु से तीन अङ्गुल ऊपर 'आणी' मर्म है; इसके वेधन से ऊरुस्तम्भ और शोफ होता है।

ऊरु के मध्य में ऊर्वी नाम का मर्म है; इसके विद्ध होने पर रक्त के क्षय के कारण टांग की शुष्कता होती है।

ऊरु के मूल में लोहिताक्ष मर्म है; इसके विद्ध होने पर रक्त के क्षय से पक्षाघात होता है।

मुष्क और वंक्षण के बीच में विटप नाम का मर्म है; इसके वेधन से षण्ढता (निरपत्यता) होती है ॥ २-७ ॥

बाहुस्थ मर्म—

इति सक्थ्नोस्तथा बाह्वोर्मणिबन्धोऽत्र गुल्फवत् ॥८॥
कूर्परं जानुवत्कौण्यं तयोर्विटपवत्पुनः ।
कक्षाक्षमध्ये कक्षाधृक् कुणित्वं तत्र जायते ॥९॥

ये टांगों के मर्म हैं; बाहुओं में भी इसी प्रकार हैं। केवल इतना अन्तर है कि गुल्फ के स्थान पर मणिबन्ध; जानु की भांति कूर्पर है; इनके वेधन से हाथ और अङ्गुलियों में वक्रता होती है। कक्षा और अक्ष के मध्य में विटप की भांति कक्षाधृक् नाम का मर्म है; इसके वेधन से बाहु, हाथ और अङ्गुलि में टेढ़ापन आता है ॥ ८-९ ॥

कोष्ठ मर्मों में गुद मर्म—

स्थूलान्त्रबद्धः सद्योघ्नो विड्वातवमनो गुदः ।

स्थूल अंत्र से सम्बद्ध गुदा नाम का मर्म है, यह मलऔर

वायु को बाहर करता है; वेध होने से यह मर्म सद्यः (तुरन्त) मारक है।

वस्ति मर्म—

मूत्राशयो धनुर्वक्रो वस्तिरल्पास्रमांसगः ॥ १० ॥
एकाधोवदनो मध्ये कट्याः सद्यो निहन्त्यसून् ।
ऋतेऽश्मरीव्रणाद्विद्धस्तत्राप्युभयतश्च सः ॥ ११ ॥
मूत्रस्राव्येकतो भिन्ने व्रणो रोहेच्च यत्नतः ।

वस्ति—मूत्र का आधार मूत्राशय धनुष के समान टेढ़ा है इसी को 'वस्ति' कहते हैं। यह थोड़े रक्त एवं मांस वाली है। एक मुख नीचे में इसके हैं; कटि (श्रोणि) के मध्य में रहती है, अश्मरी व्रण को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में विद्ध होने पर तुरन्त मार देती है। इस अश्मरी व्रण में भी यदि दोनों ओर से विद्ध हो जाये तो मृत्यु होती है। और एक तरफ से विद्ध होने पर मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है, और वह व्रण प्रयत्न करने पर भरता है ॥ १०-११ ॥

नाभि मर्म—

देहामपक्वस्थानानां मध्ये सर्वसिराश्रयः ॥ १२ ॥
नाभिः, सोऽपि हि सद्योघ्नः—

नाभि-शरीर के मध्य में आमाशय और पक्वाशय के बीच में सब सिराओं का आश्रय नाभि ही नाभि नाम का मर्म है; यह मर्म भी विद्ध होने पर तुरन्त मारक है ॥ १२ ॥

उरोगत मर्मों में हृदय मर्म—

— द्वारमामाशयस्य च ।
सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम् ॥ १३ ॥

हृदय—हृदय नाम का मर्म आमाशय का द्वार, सत्त्व आदि गुणों का स्थान, स्तनों और उरः कोष्ठ के मध्य में रहता है। यह मर्म भी तुरन्त मारने वाला होता है ॥ १३ ॥

स्तनरोहित मर्म—

स्तनरोहितमूलाख्ये द्व्यङ्गुले स्तनयोर्वदेत् ।
ऊर्ध्वाधोऽस्रकफापूर्णकोष्ठो नश्येत्तयोः क्रमात् ॥ १४ ॥

स्तनों में दो अङ्गुल ऊपर 'स्तनरोहित' नाम के दो मर्म हैं। इनके विद्ध होने से कोष्ठ रक्त से भर जाता है। स्तनों से दो अङ्गुल नीचे 'स्तनमूल' नाम के दो मर्म हैं; इनके विद्ध होने पर कोष्ठ कफ से भर जाता है; ये दोनों (२+२=४) मर्म विद्ध होने पर मृत्युकारक हैं ॥ १४ ॥

अपस्तम्भ मर्म—

अपस्तम्भावुरःपार्श्वे नाड्यावनिलवाहिनी ।
रक्तेन पूर्णकोष्ठोऽत्र श्वासात्कासाच्च नश्यति ॥ १५ ॥

छाती (उरः=उरोऽस्थि) के पार्श्व में वात को ले जाने वाली दो नाड़ियां हैं; ये 'अपस्तम्भ' नामक मर्म हैं। इनका वेधन होने पर कोष्ठ रक्त से भर जाता है; रोगी की श्वास और कास होकर मृत्यु होती है ॥ १५ ॥

अपालाप मर्म—

पृष्ठवंशोरसोर्मध्ये तयोरेव च पार्श्वयोः ।
अधोंऽसकूटयोर्विद्यादपालापाख्यमर्मणी ॥ १६ ॥
तयोः कोष्ठेऽसृजा पूर्णे नश्येद्यातेन पूयताम् ।

पृष्ठवंश और छाती के बीच में, और पृष्ठवंश एवं छाती के पार्श्व में, अंसकूट के नीचे 'अपालाप' नाम का मर्म है; इनका वेधन होने से कोष्ठ में रक्त भर जाने पर पूय बन जाने से मनुष्य मर जाता है ॥ १६ ॥

पृष्ठगत चार मर्म—

पार्श्वयोः पृष्ठवंशस्य श्रोणीकर्णौ प्रति स्थिते ॥ १७ ॥
वंशाश्रिते स्फिजोरूर्ध्वं कटीकतरुणे स्मृते ।
तत्र रक्तक्षयात्पाण्डुर्हीनरूपो विनश्यति ॥ १८ ॥

पृष्ठवंश के पार्श्वों में—प्रत्येक श्रोणि कर्ण की ओर पृष्ठ वंश से सम्बद्ध नितम्ब के ऊपर 'कटीकतरुण' नाम के दो मर्म हैं। इनका वेधन होने पर रक्तक्षय के कारण, कान्ति के नष्ट होने से रोगी मर जाता है ॥ १७-१८ ॥

कुकुन्दर मर्म—

पृष्ठवंशं ह्युभयतो यौ सन्धी कटिपार्श्वयोः ।
जघनस्य बहिर्भागे मर्मणी तौ कुकुन्दुरौ ॥ १९ ॥
चेष्टाहानिरधःकाये स्पर्शाज्ञानं च तद्व्यधात् ।

पृष्ठवंश के दोनों ओर कटि-पार्श्वों में जो दो सन्धियां जघन के बहिर्भाग में रहती हैं; वे 'कुकुन्दर' नाम के दो मर्म हैं। इनका वेधन होने पर शरीर के निचले भाग में चेष्टाओं की हानि, और स्पर्श का अज्ञान होता है ॥ १९ ॥

नितम्ब मर्म—

पार्श्वान्तरनिबद्धौ यावुपरि श्रोणिकर्णयोः ॥ २० ॥
आशयच्छादनौ तौ तु नितम्बौ तरुणास्थिगौ ।
अधःशरीरे शोफोऽत्र दौर्बल्यं मरणं ततः ॥ २१ ॥

पार्श्व के मध्य में लगे हुए तथा श्रोणि कर्ण के ऊपर मूत्राशय आदि अंगों को ढांपने वाले, 'नितम्ब' नाम के दो मर्म तरुण अस्थि में स्थित हैं। इनके वेधन से निचले भाग में सूजन, दुर्बलता और बाद में मृत्यु होती है ॥ २०-२१ ॥

पार्श्व-सन्धि मर्म—

पार्श्वान्तरनिबद्धौ च मध्ये जघनपार्श्वयोः ।
तिर्यगूर्ध्वं च निर्दिष्टौ पार्श्वसन्धी तयोर्व्यधात् ॥
रक्तपूरितकोष्ठस्य शरीरान्तरसम्भवः ।

पार्श्वों के मध्य में, और जघनपार्श्वों के बीच में तिरछे और ऊपर की ओर 'पार्श्वसन्धि' नामक दो मर्म हैं। इनका वेध होने से कोष्ठ रक्त से भर जाता है और मृत्यु होती है। (शरीरान्तरसम्भव=दूसरे शरीर का होना = मृत्यु।) ॥

बृहती मर्म—

स्तनमूलार्जवे भागे पृष्ठवंशाश्रये सिरे ॥ २२ ॥
बृहत्यौ, तत्र विद्धस्य मरणं रक्तसङ्क्षयात् ।

स्तनमूल की सीध में पृष्ठवंश में आश्रित (पृष्ठवंश के दोनों ओर) दो सिरायें हैं; ये 'बृहती' नामक मर्म हैं। इनका वेधन होने पर रक्तक्षय से मृत्यु हो जाती है ॥ २२ ॥

असंफलक मर्म—

बाहुमूलाभिसम्बद्धे पृष्ठवंशस्य पार्श्वयोः ॥ २४ ॥
अंसयोः फलके बाहुस्वापशोषौ तयोर्व्यधात् ।

पृष्ठवंश के पार्श्व में बाहुमूल से सम्बद्ध 'अंसफलक' नाम के दो मर्म हैं। इनके वेधन से बाहु में निश्चेतनता और शोष होता है ॥ २४ ॥

अंस मर्म—

ग्रीवामुभयतः स्नाव्नी ग्रीवाबाहुशिरोऽन्तरे ॥ २५ ॥
स्कन्धांसपीठसम्बन्धावंसौ बाहुक्रियाहरौ ।

ग्रीवा के दोनों ओर; ग्रीवा, बाहु और शिर इनके बीच में स्कन्ध एवं अंसपीठ के आधारभूत 'अंस' नाम के दो मर्म हैं। इनका वेधन होने से बाहु की क्रिया का नाश हो जाता है।

नीला और मन्या मर्म—

कण्ठनाडीमुभयतः सिरा हनुसमाश्रिताः ॥ २६ ॥
चतस्रस्तासु नीले द्वे मन्ये द्वे मर्मणी स्मृते ।
स्वरप्रणाशवैकृत्यं रसज्ञानं च तद्व्यधे ॥ २७ ॥

कण्ठनाडी के दोनों ओर जो चार सिरायें हनु में आश्रित हैं, इनमें से दो सिरा नीला नाम के मर्म की, दो सिरा 'मन्या' नाम के मर्म की हैं। इनका वेधन होने पर स्वरहानि, स्वरविकृति और रस का अज्ञान होता है ॥ २६-२७ ॥

मातृका मर्म—

कण्ठनाडीमुभयतो जिह्वानासागतः सिराः ।
पृथक् चतस्रस्ताः सद्यो घ्नन्त्यसून्मातृकाह्वयाः ॥

कण्ठनाडी के दोनों ओर जिह्वा एवं नासा में जाने वाली जो पृथक् चार सिरायें हैं इनका नाम 'मातृका' है। इनका वेधन होने पर मनुष्य शीघ्र मर जाता है ॥ २८ ॥

कृकाटिका मर्म—

कृकाटिके शिरोग्रीवासन्धौ, तत्र चलं शिरः ।

शिर और ग्रीवा की सन्धि में कृकाटिका नामक दो मर्म हैं; इनके वेधन से शिर में कम्पन होता है।

विधुर मर्म—

अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी ॥ २९ ॥

कानों के नीचे के दबे हुए स्थान में विधुर नाम के दो मर्म हैं; इनके वेधन से सुनने की शक्ति नष्ट हो जाती है ॥

फण मर्म—

फणावुभयतो घ्राणमार्गं श्रोत्रपथानुगौ ।
अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्गन्धविज्ञानहारिणौ ॥ ३० ॥

नासिकामार्ग के दोनों पार्श्वों में श्रोत्रमार्ग की ओर जाने वाले 'फण' नाम के मर्म गले के भीतर स्थित हैं; इनके वधन से गन्धज्ञान की प्रतीति का नाश हो जाता है। (फण-फण के आकार के ये मर्म हैं।) ॥ ३० ॥

अपाङ्ग मर्म—

नेत्रयोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ भ्रुवोः पुच्छान्तयोरधः ।
तयोपरि भ्रुवोर्निम्नावावर्तावान्ध्यमेषु तु ॥ ३१ ॥

नेत्रों के बाहर की ओर तथा भ्रुवों के सिरे के नीचे 'अपांग' नाम के मर्म हैं। तथा भ्रुवों के ऊपर ही दबे हुए स्थान में 'आवर्त्त' नाम के मर्म हैं। आवर्त्त और अपांग के वेधन से अन्धता होती है ॥ ३१ ॥

शङ्ख मर्म—

अनुकर्णं ललाटान्ते शङ्खौ सद्योविनाशनौ ।

माथे के सिरे पर—कानों के समीप में 'शंख' नाम के दो मर्म हैं। इनके वेधन से तुरन्त मृत्यु होती है।

उत्क्षेप तथा स्थपनी मर्म—

केशान्ते शङ्खयोरूर्ध्वमुत्क्षेपौ, स्थपनी पुनः ॥ ३२ ॥
भ्रुवोर्मध्ये त्रयेऽप्यत्र शल्ये जीवेदनुद्धृते ।
स्वयं वा पतिते पाकात्सद्यो नश्यति तूद्धृते ॥ ३३ ॥

बालों के किनारे के पास, शंखों के ऊपर 'उत्क्षेप' नाम के दो मर्म हैं; भ्रुवों के मध्य में स्थपनी मर्म है; इन तीनों में वेधन होने से शल्य को न निकालने से रोगी जीता है; अथवा पकने पर स्वयं गिर आने से रोगी जीता है, परन्तु निकालने से रोगी मर जाता है। [शल्य लगे रहने से रक्त आदि रुके रहते हैं और शल्य निकालने से उनके निकलने से मर जाता है।] ॥ ३२-३३ ॥

शृङ्गाटक मर्म—

जिह्वाक्षिनासिकाश्रोत्रखचतुष्टयसङ्गमे
तालुन्यास्यानि चत्वारि स्रोतसां तेषु मर्मसु ॥ ३४ ॥
विद्धः शृङ्गाटकाख्येषु सद्यस्त्यजति जीवितम् ।

जिह्वा, आंख, नासिका और श्रोत्र इन चारों के छेद जहां पर मिलते हैं; वहां तालु में जिह्वा आदि को तृप्त करने वाले स्रोतों के जो मुख हैं, उनका नाम 'शृङ्गाटक' है। इनके वेधन से मनुष्य तुरन्त मर जाता है ॥ ३४ ॥

सीमन्त मर्म—

कपाले सन्धयः पञ्च सीमन्तास्तिर्यगूर्ध्वगाः ॥ ३५ ॥
भ्रमोन्मादमनोनाशैस्तेषु विद्धेषु नश्यति ।

शिरःकपालों में जो पाँच सन्धियाँ तिरछी और ऊपर को जाती हैं; ये पाँच 'सीमन्त' मर्म हैं। इनका वेधन होने पर भ्रम, उन्माद और मन का नाश होने से रोगी मर जाता है ॥ ३५ ॥

अधिप मर्म—

आन्तरो मस्तकस्योर्ध्वं सिरासन्धिसमागमः ॥ ३६ ॥
रोमावर्तोऽधिपो नाम मर्म सद्यो हरत्यसून् ।

मस्तिष्क के अन्दर-मस्तिष्क के ऊपर जहाँ सिरा एवं सन्धियों का सम्मिलन होता है; वहाँ पर रोमावर्त(बालों का चक्कर) रूप 'अधिप' नाम का मर्म है। इसके वेधन से तुरन्त मृत्यु होती है। [मर्माणामधिपः=मर्मों का स्वामी यह मर्म है अथवा सब मर्मों से ऊपर रहता] ॥ ३६ ॥

मर्म का सामान्य लक्षण—

विषमं स्पन्दनं यत्र पीडिते रुक् च मर्म तत् ॥ ३७ ॥

मर्म का लक्षण—शरीर के जिस भाग में विषम (असाधारण) स्पन्दन एवं दबाने से असाधारण पीड़ा होती है; वह मर्म है ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—मरणकारी होने से मर्म। मरणसदृश दुःखदायी होने से मर्म। मर्मविद्ध के सामान्य लक्षण—'देहप्रसुप्तिर्गुरुता सम्मोहः शीतकामिता। स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासो मर्मविद्धस्य लक्षणम् ॥'

मांसास्थिस्नायुधमनीसिरासन्धिसमागमः ।
स्यान्मर्मेति च तेनात्र सुतरां जीवितं स्थितम् ॥३८॥

मर्म का दूसरा लक्षण—मांस, अस्थि, स्नायु, धमनी, सिरा और सन्धि-इन सबका जहाँ मेल होता है; वह मर्म है। इसलिये वहां पर विशेषतः प्राण स्थित रहते हैं। मांस आदि में से सभी या कुछ के विशिष्ट संयोग स्थल को ही मर्म कहते हैं और जिस मर्म में जिस रचना विशेष की प्रधानता होती है उसी के आधार पर उसे मांसमर्म, अस्थिमर्म आदि कहते हैं ॥ ३८ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में पाँच के सन्निपात को मर्म कहा है, यथा-'न खलुमांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिव्यतिरेकाणि मर्माणि भवन्ति; यस्मान्नोपलभ्यन्ते ॥' (सु. शा. अ. ६।३) वहाँ पर धमनी का अन्तर्भाव सिरा में कर लिया है।

मर्मों के षडविधत्व तथा एकविधत्व—

बाहुल्येन तु निर्देशः षोढैवं मर्मकल्पना ।
प्राणायतनसामान्यादैक्यं वा मर्मणां मतम् ॥ ३९ ॥

मर्मों के ये (मांसमर्म, अस्थिमर्म, स्नायुमर्म, धमनीमर्म, सिरामर्म और सन्धिमर्म) भेद (मर्म की रचना में) प्रधानतया भाग लेने वाली मांसादि रचना के आधार पर हैं। अन्यथा सभी प्राणायतन होने से एक ही हैं ॥ ३९ ॥

मांसगत मर्मों की संख्या—

मांसजानि दशेन्द्राख्यतलहृत्स्तनरोहिताः ।

मांसजन्य मर्म दस हैं; इन्द्रवस्ति नामक चार; तलहृदय नामक चार; और स्तनरोहित नामक दो।

अस्थिगत मर्म—

शङ्खौ कटीकतरुणे नितम्बावंसयोः फले ॥ ४० ॥
अस्थ्न्यष्टौ—

अस्थिमर्म आठ हैं, यथा—शङ्ख दो; कटीकतरुण दो; नितम्ब दो; अंसफलक दो ॥ ४० ॥

स्नायुगत मर्म—

—स्नावमर्माणि त्रयोविंशतिराणयः ।
कूर्चकूर्चशिरोऽपाङ्गक्षिप्रोत्क्षेपांसवस्तयः ॥ ४१ ॥

स्नायु मर्म—तेईस हैं; यथा-आणि चार, कूर्च चार, कूर्चशिर चार, अपांग दो, क्षिप्र चार, उत्क्षेप दो, अंस दो, वस्ति एक ॥ ४१ ॥

धमनीगत मर्म—

गुदापस्तम्भविधुरशृङ्गाटानि नवादिशेत् ।
मर्म्माणि धमनीस्थानि—

धमनी मर्म—नौ हैं; यथा-गुदा एक, अपस्तम्भ-दो, विधुर-दो, शृङ्गाटक-चार।

सिरागत मर्म—

—सप्तत्रिंशत्सिराश्रयाः ॥ ४२ ॥
बृहत्यो मातृका नीले मन्ये कक्षाधरौ फणौ ।
विटपे हृदयं नाभिः पार्श्वसन्धौ स्तनाधरे ॥ ४३ ॥
अपालापौ स्थपन्युर्व्यश्चतस्रो लोहितानि च ।

सिरा मर्म—सैंतीस हैं; यथा-बृहती-दो मातृका आठ, नीला-दो, मन्या-दो, कक्षाधर-दो, फण-दो, विटप-दो, हृदय एक, नाभि-एक, पार्श्वसन्धि-दो, स्तनमूल-दो, अपालाप-दो, स्थपनी-एक, ऊर्वी-चार, लोहिताक्ष-चार ॥ ४२-४३ ॥

सन्धिगत मर्म—

सन्धौ विंशतिरावर्तौ मणिबन्धौ कुकुन्दरौ ॥४४॥
सीमन्ताः कूर्परौ गुल्फौ कृकाटयौ जानुनी पतिः ।

सन्धि मर्म—बीस हैं, यथा-आवर्त्त-दो, मणिबन्ध-दो, कुकुन्दर-दो, सीमन्त-पाँच, कूर्पर-दो, गुल्फ-दो, कृकाटिका-दो, जानु-दो, अधिपति-एक ॥ ४४ ॥

दूसरे आचार्यों का मत—

मांसमर्म गुदोऽन्येषां, स्नाव्नि कक्षाधरौ तथा ॥४५॥
विटपौ विदुराख्ये च, शृङ्गाटानि सिरासु तु ।
अपस्तम्भावपाङ्गौ च, धमनीस्थं नतैः स्मृतम् ॥४६॥

अन्य आचार्यों के मत से गुदा मांसमर्म है, (धमनीमर्म नहीं) कक्षाधर-मर्म उनके मत से स्नायु में आश्रित हैं, (सिरा में नहीं) विटप और विधुर भी उनके मत से स्नायु में आश्रित हैं, (विटप सिराश्रित और विधुर धमन्याश्रित नहीं हैं) उनके मत से शृङ्गाटक मर्म सिराओं में आश्रित हैं, (धमनी में स्थित नहीं हैं) अपस्तम्भ और अपांग को भी सिराश्रित माना है। अन्य सुश्रुतादि आचार्यों ने धमनी में स्थित कोई भी मर्म नहीं माना है ॥ ४५-४६ ॥

मांसादि मर्मों का व्यध लक्षण—

विद्धेऽजस्रमसृक्स्रावो मांसधावनवत्तनुः ।
पाण्डुत्वमिन्द्रियाज्ञानं मरणं चाशु मांसजे ॥ ४७ ॥

मांसज मर्म के विद्ध होने पर—निरन्तर रक्त का स्राव, मांसोदक के समान तथा निर्मल पतला स्राव, शरीर में पीलापन, चक्षु आदि इन्द्रिय से अपने विषय का ज्ञान न होना, और शीघ्र मृत्यु होती है ॥ ४७ ॥

शङ्खादि अस्थिमर्म के विद्ध होने का लक्षण—

मज्जान्वितोऽच्छो विच्छिन्नः स्रावो रुक् चास्थिमर्मणि ।

अस्थिमर्म का वेधन होने पर—मज्जा से मिला स्वच्छ स्राव रुक-रुक कर होता है और वेदना होती है।

आण्यादि स्नायुमर्म के विद्ध होने का लक्षण—

आयामाक्षेपकस्तम्भाः स्रावजेऽभ्यधिकं रुजा ॥४८॥
यानस्थानासनाशक्तिर्वैकल्यमथवाऽन्तकः ।

स्नायुमर्म का वेधन होने पर—आयाम (खिंचाव),

आक्षेपक, जड़ता, अधिक वेदना, सवारी करने में, बैठने में, खड़े होने में अशक्ति, अङ्गों में विकलता (टेढ़ापन-डिफौर्मिटी) अथवा मृत्यु होती है ॥ ४८ ॥

धमनीमर्म के विद्ध होने का लक्षण—

रक्तं सशब्दफेनोष्णं धमनीस्थे विचेतसः ॥ ४९ ॥

धमनीमर्म का वेधन होने पर—शब्द के साथ, झाग युक्त और उष्ण रक्त निकलता है, रोगी संज्ञारहित हो जाता है।

सिरामर्म के विद्ध होने का लक्षण—

सिरामर्मव्यधे सान्द्रमजस्रं बह्वसृक्स्रवेत् ।
तत्क्षयात्तृड्भ्रमश्वासमोहहिध्माभिरन्तकः ॥ ५० ॥

सिरामर्म का वेधन होने पर—गाढ़ा एवं मात्रा में बहुत रक्त निरन्तर बहता है। रक्त के क्षय से प्यास, भ्रम, श्वास, मोह एवं हिक्का होने से मृत्यु हो जाती है ॥ ५० ॥

सन्धिमर्म के विद्ध होने का लक्षण—

वस्तु शूकैरिवाकीर्णं रूढे च कुणिखञ्जता ।
बलचेष्टाक्षयः शोषः पर्वशोफश्च सन्धिजे ॥ ५१ ॥

सन्धिमर्म का वेधन होने पर—वस्तु (विद्ध स्थान) शूकों से भरा प्रतीत होता है; व्रण भर जाने पर कुणिता (लूलापन) या खञ्जता (लंगड़ापन) होता है; बल और चेष्टा का नाश, शोष और पर्वों में सूजन होती है ॥ ५१ ॥

सद्यः प्राणहर मर्म -

नाभिशङ्खाधिपापानहृच्छृङ्गाटकवस्तयः ।
अष्टौ च मातृकाः सद्यो निघ्नन्त्येकान्नविंशतिः ॥५२॥
सप्ताह परमस्तेषां काल कालस्य कर्षणे ।

सद्यः प्राणहर मर्म उन्नीस हैं। यथा-नाभि-एक, शंख—दो, अधिपति-एक, अपान-एक, हृदय-एक, शृङ्गाटक-चार, वस्ति-एक, मातृका-आठ. इन उन्नीस मर्मों का वेधन होने पर तत्काल मृत्यु होती है अथवा अधिक से अधिक एक सप्ताह में मृत्यु होती है ॥ ५२ ॥

कालान्तर प्राणहर मर्म—

त्रयस्त्रिंशदपस्तम्भतलहृत्पार्श्वसन्धय. ॥ ५३ ॥
कटीतरुणसीमन्तस्तनमूलेन्द्रवस्तयः ।
क्षिप्रापालापबृहतीनितम्बस्तनरोहिताः ॥ ५४ ॥
कालान्तरप्राणहरा मासमासार्द्धजीविताः ।

कालान्तर प्राणहर मर्म-तैतीस हैं। यथा-अपस्तम्भ-दो, तलहृदय-चार, पार्श्वसन्धि-दो, कटीतरुण-दो, सीमन्त-पांच, स्तनशूल-दो, इन्द्रवस्ति चार, क्षिप्र-चार, अपालाप, बृहती, नितम्ब, स्तनरोहित-दो दो; मर्म कालान्तर में प्राणनाशक हैं; ये एक मास में अथवा आधे मास में प्राणों का नाश करते हैं। [संग्रह में-सौम्याग्नेयत्वात्तेषां पक्षाभ्यन्तरं कालः ।] ॥

विशल्यघ्न मर्म—

उत्क्षेपौ स्थपनी त्रीणि विशल्यघ्नानि, तत्र हि ॥५५॥
वायुर्मांसवसामज्जमस्तुलुङ्गानि शोषयन् ।
शल्यापाये विनिर्गच्छन् श्वासात्कासाच्च हन्त्यसून् ॥

विशल्यघ्न मर्म—तीन हैं। उत्क्षेप-दो और स्थपनी एक। उनमें वेधन होने पर शल्य के निकालने पर मांस, वसा, मज्जा और मस्तुलुङ्ग को सुखाती हुई (निकलती हुई) वायु, श्वास, कास उत्पन्न करके मार देती है ॥ ५५-५६ ॥

अङ्गविकलतादिकर मर्म—

फणावपाङ्गौ विधुरे नीले मन्ये कृकाटिके ।
अंसांसफलकावर्तविटपोर्वीकुकुन्दराः ॥ ५७ ॥
सजानुलोहिताक्षाणिकक्षाधृक्कूर्चकूर्पराः ।
वैकल्यमिति चत्वारि चत्वारिंशच्च कुर्वते ॥ ५८ ॥
हरन्ति तान्यपि प्राणान् कदाचिदभिघातत. ।

वैकल्यकारक मर्म—चौवालिस हैं। फण-दो, अपांग-दो, विधुर-दो, नीला-दो, मन्या-दो, कृकाटिका-दो, अंस-दो, अंसफलक-दो, आवर्त्त-दो, विटप-दो, उर्वी दो, कुकुन्दर-दो, जानु-दो, लोहिताक्ष-चार, आणि-चार, कक्षाधर-दो, कूर्च-चार, कूर्पर-दो इस प्रकार से ये चौवालीस मर्म विकलता (अङ्गविकृति) करते हैं तथा चोट लगने पर कभी-कभी मारक भी हो जाते हैं ॥ ५७-५८ ॥

रुजाकर मर्म—

अष्टौ कूर्चशिरोगुल्फमणिबन्धा रुजाकराः ॥ ५९ ॥

रुजाकर मर्म आठ हैं—कूर्चशिर-चार, गुल्फ दो, मणिबन्ध-दो [अग्निवायुसोमगुणबाहुल्यात् । अग्निवायू हि विशेषेण शूलकरौ । सोमस्तु प्राणावलम्बकः, संग्रह शा. अ. ७।]

मर्मों के प्रमाण—

तेषां विटपकक्षाधृगूर्व्यः कूर्चशिरांसि च ।
द्वादशाङ्गुलमानानि —

इन मर्मों में-विटप, कक्षाधर, ऊर्वी और कूर्चशिर-बारह अङ्गुल परिमाण के होते हैं।

— द्व्यङ्गुले मणिबन्धने ॥ ६० ॥
गुल्फौ च स्तनमूले च त्र्यङ्गुलं जानुकूर्परम् ।

मणिबन्ध में—मणिबन्ध, गुल्फ और स्तनमूल प्रत्येक दो अङ्गुल परिमाण के होते हैं। जानु और कूर्पर प्रत्येक तीन अङ्गुल के होते हैं ॥ ६० ॥

अपानवस्तिहृन्नाभिनीला-सीमन्तमातृकाः ॥ ६१ ॥
कूर्चशृङ्गाटमन्याश्च त्रिंशदेकेन वर्जिताः ।
आत्मपाणितलोन्मानाः—

अपान, वस्ति; हृदय, नाभि, नीला, सीमन्त, मातृका, कूर्च, शृङ्गाटक और मन्या, ये उन्तीस मर्म अपनी हथेली के परिमाण के होते हैं ॥ ६१ ॥

—शेषाण्यर्द्धाङ्गुलं वदेत् ॥ ६२ ॥
पञ्चाशत्षट् च मर्माणि, तिलव्रीहिसमान्यपि ।
इष्टानि मर्माण्यन्येषाम्—

शेष छप्पन मर्म आधी अंगुलि के बराबर होते हैं। अन्य आचार्यों के मत से इनमें से कुछ तिल परिमाण या व्रीहि के बराबर होते हैं ॥ ६२ ॥

मर्मों के विद्ध होने पर मरण का प्रकार—

—चतुर्द्धोक्ताः सिरास्तु याः ॥ ६३ ॥
तर्पयन्ति वपुः कृत्स्नं ता मर्माण्याश्रितास्ततः ।
तत्क्षतात्क्षतजात्यर्थप्रवृत्तेर्धातुसङ्क्षये ॥ ६४ ॥
वृद्धश्चलो रुजस्तीव्राः प्रतनोति समीरयन् ।
तेजस्तदुद्धूतं धत्ते तृष्णाशोषमदभ्रमान् ॥ ६५ ॥
स्विन्नस्रस्तश्लथतनुं हरत्येनं ततोऽन्तकः ।

वात, पित्त, कफ और रक्त को बहाने वाली जो चार प्रकार की सिरायें कही हैं, वे मर्मों में स्थित रह कर सम्पूर्ण शरीर का पोषण करती हैं। अतः इन सिराओं में क्षत होने से रक्त अधिक मात्रा में बहता है और उससे धातु का नाश होने से कुपित (बढ़ी हुई) वायु पित्त को बढ़ाती हुई तीव्र वेदना करती है। बढ़े हुए पित्त से प्यास, शोष, मद, भ्रम, पसीना, शरीर में ढीलापन एवं निर्बलता आ जाती है; फिर मृत्यु हो जाती है ॥ ६३-६५ ॥

मर्मों के विद्ध होने पर चिकित्सा—

वर्धयेत्सन्धितो गात्रं मर्मण्यभिहते द्रुतम् ॥ ६६ ॥
छेदनात्सन्धिदेशस्य सङ्कुचन्ति सिरा ह्यतः ।
जीवितं प्राणिनां तत्र रक्ते तिष्ठति तिष्ठति ॥ ६७ ॥

मर्म पर चोट लगने पर उस अंग को तुरन्त सन्धि पर से काट देना चाहिये। सन्धिदेश से काटने पर सिरायें संकुचित हो जाती हैं, इसलिये रक्त के रुक जाने से प्राणियों का जीवन भी रुक जाता है। [रक्तं जीव इति स्थितिः, रक्त ही जीवन है]।

मर्मभिन्न स्थान के विद्ध होने पर जीवन—

सुविक्षतोऽप्यतो जीवेदमर्मणि न मर्मणि ।
प्राणघातिनि जीवेत्तु कश्चिद्वैद्यगुणेन चेत् ॥ ६८ ॥
असमग्राभिघाताच्च सोऽपि वैकल्यमश्नुते ।
तस्मात्क्षारविषाग्न्यादीन् यत्नान्मर्मसु वर्जयेत् ॥६९॥

मर्म भिन्न स्थान में बहुत चोट लगने पर भी मनुष्य जीता है परन्तु मर्म पर चोट लगने पर नहीं जीता। विशेषतः प्राणघाती मर्म पर चोट लगने पर वैद्य की कुशलता से या सम्पूर्ण रूप में चोट न लगने से यदि कभी रोगी बच भी जाता है, तो उसमें विकलता आ ही जाती है। इसलिये मर्मों को क्षार, विष और अग्नि आदि से प्रयत्नपूर्वक बचाना चाहिये।

मर्माहत होने पर सावधानी—

मर्माभिघातः स्वल्पोऽपि प्रायशो बाधतेतराम् ।
रोगा मर्माश्रयास्तद्वत्प्रक्रान्ता यत्नतोऽपि च ॥७०॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां द्वितीये शारीरस्थाने
मर्मविभागो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

* * *

मर्म पर लगा थोड़ा सा भी अभिघात बहुत अधिक कष्ट देता है। इसी प्रकार मर्म में आश्रित रोग भी यत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर भी अत्यन्त कष्ट देते हैं[1] ॥ ७० ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में शारीरस्थान का मर्मविभाग
नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

* * *

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो विकृतिविज्ञानीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे विकृतिविज्ञानीय शारीर का व्याख्यान करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था—

रिष्ट के लक्षण और उसके ज्ञान का प्रयोजन—

पुष्पं फलस्य धूमोऽग्नेर्वर्षस्य जलदोदयः ।
तथा भविष्यतो लिङ्गं रिष्टं मृत्योस्तथा ध्रुवम् ॥ १ ।

आने वाले फल का जैसे फूल, अग्नि का जैसे धुआँ और होने वाली वर्षा का जैसे बादलों का घिरना लक्षण होता है; उसी प्रकार होने वाली मृत्यु का रिष्ट लक्षण निश्चित है ॥ १ ॥

वक्तव्य—रिष्ट-अवश्यम्भावी मृत्यु का चिह्न उसका रिष्ट मृत्यु से पृथक् छायारूप है, उसका स्वरूप नहीं। अर्थात् रिष्ट से मृत्यु के होने का आभास होता है। इसी से कहा है—'न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते। मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम् ॥' ये रिष्ट नियत और अनियत भेद से दो प्रकार के हैं। चक्रपाणि ने अनियत भेद का खण्डन किया है।

(आयुष्मति क्रिया सर्वाः सफलाः सम्प्रयोजिताः ।
भवन्ति भिषजां भूत्यै कृतज्ञ इव भूभुजि ॥ १ ॥
क्षीणायुषि कृतं कर्म व्यर्थं कृतमिवाधमे ।
अयशो देहसन्देहं स्वार्थहानिं च यच्छति ॥ २ ॥
तर्हीदानीं गतासूनां लक्षणं सम्प्रचक्षते ।
विकृतिः प्रकृतेः प्राज्ञैः प्रदिष्टा रिष्टसंज्ञया । ३ ॥)

(आयुष्मान् रोगी में भली प्रकार से प्रयुक्त की हुई सब क्रियायें सफल होती हैं और वैद्य के कल्याण के लिए होती हैं, जैसे कि कृतज्ञ राजा के लिए किए कार्य सफल होते हैं। क्षीण आयु वाले व्यक्ति में किये सब कर्म व्यर्थ होते हैं, जैसे अधम पुरुष के प्रति किए गए कर्म व्यर्थ होते हैं और अपवाद, निन्दा, मृत्यु का भय और स्वार्थ की हानि करते हैं। इसलिये अब मरने वालों के लक्षण कहे जाते हैं। बुद्धिमानों ने प्रकृति की विकृति को 'रिष्ट' कहा है। अर्थात् सहज प्रकृति में विकार आना 'रिष्ट' है ॥ १-३ ॥)

---

[1] मर्मों की विस्तृत रचना, उनके प्रभावों की उपपत्ति एवं अर्वाचीन शरीररचना और शल्यशास्त्र से तुलनात्मक विवेचन के लिए 'सचित्र मर्मविज्ञान' पढ़िए।

रिष्ट तथा अरिष्ट का ज्ञान—

अरिष्टं नास्ति मरणं दृष्टरिष्टं च जीवितम् ।
अरिष्टे रिष्टविज्ञानं न च रिष्टेऽप्यनैपुणात् ॥ २ ॥

जिस मृत्यु से पूर्व रिष्टलक्षण उत्पन्न नहीं हुए, ऐसी मृत्यु नहीं देखी जाती तथा जिसमें रिष्टलक्षण दिखाई देते हैं; उसको जीता भी नहीं देखा जाता। (अर्थात् सब मृत्युओं में रिष्टलक्षण होते हैं और रिष्टलक्षण दीखने से रोगी फिर जीता नहीं रहता।)

अकुशलता के कारण अरिष्ट में (जो रिष्ट नहीं है, उसमें) रिष्ट का ज्ञान और रिष्ट में अरिष्ट का ज्ञान होता है ॥ २ ॥

वक्तव्य—अधूम बाष्प में धूम का ज्ञान अज्ञान से होता है। सुश्रुत ने रिष्ट होने पर भी मृत्यु रोकने के उपाय लिखे हैं, यह प्रायिक है—'ध्रुवं हि रिष्टे मरणं ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः। रसायनतपोदानतत्परैर्वा निवार्यते ॥' सु० अ० २८।५।

अन्य के मत से रिष्ट का द्वैविध्य—

केचित्तु तद् द्विधेत्याहुः स्थाय्यस्थायिविभेदतः ।

कई आचार्य रिष्टलक्षणों को स्थायी और अस्थायी भेद से दो प्रकार का मानते हैं।

अस्थायी रिष्ट से मरणाभाव—

दोषाणामपि बाहुल्याद्रिष्टाभासः समुद्भवेत् ॥ ३ ॥
स दोषाणां शमे शाम्येत्स्थाय्यवश्यं तु मृत्यवे।

दोषों की अधिकता से रिष्ट का आभास उत्पन्न हो जाता है। यह आभास दोषों के शान्त होने पर शान्त हो जाता है। स्थायी रिष्टलक्षण निश्चित मृत्यु के लिये होते हैं ॥ ३ ॥

रिष्ट का लक्षण—

रूपेन्द्रियस्वरच्छायाप्रतिच्छायाक्रियादिषु ॥ ४ ॥
अन्येष्वपि च भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्ततः ।
विकृतिर्या समासेन रिष्टं तदिति लक्षयेत् ॥ ५ ॥

स्वाभाविक रूप, इन्द्रिय, छाया, प्रतिच्छाया और क्रिया आदि में तथा अन्य भी स्वाभाविक भावों में बिना कारण के जो विकृति उत्पन्न हो जाती है, उसे संक्षेप में रिष्ट जानना चाहिए ॥ ५ ॥

केशों तथा रोमों में रिष्ट के चिह्न—

केशरोम निरभ्यङ्गं यस्याभ्यक्तमिवेक्ष्यते ।

जिस व्यक्ति के शिर के बाल और रोम तैल के अभ्यंग के बिना भी तैलाभ्यंग किये से दीखते हैं, यह रूपविकृति रिष्ट है।

नेत्रों में रिष्ट के चिह्न—

यस्यात्यर्थं चले नेत्रे स्तब्धान्तर्गतनिर्गते ॥ ६ ॥
जिह्मे विस्तृतसङ्क्षिप्ते सङ्क्षिप्तविनतभ्रूणी ।
उद्भ्रान्तदर्शने हीनदर्शने नकुलोपमे ॥ ७ ॥
कपोताभे अलाताभे स्रुते लुलितपक्ष्मणी ।

जिस रोगी के नेत्र अतिशय इधर-उधर घूमते हों, या स्तब्ध हों, या अन्दर को घुसे हों, या बाहर को निकल आये हों, कुटिल हों, फैले हुए हों, या संकुचित हों, जिसके भ्रू अतिशय चढ़े या झुके हुए हों, जिसकी दृष्टि विभ्रान्त हो, अल्पदृष्टि या हीनदृष्टि हो, नेवले के समान आँखें हों' कबूतर के समान आँखें हों; लाल-सुर्ख आँखें हों, जिनसे आँसू बहते हों; जिसकी आँखों की पलकें काँपती रहती हों-यह नेत्र की विकृति रिष्ट है ॥ ६-७ ॥

वक्तव्य—नकुलान्धदृष्टि, कपोतदृष्टि, रात्र्यन्ध तथा दिवान्धरूपी रोग भी हैं।

नासिका में रिष्ट के चिह्न—

नासिकाऽत्यर्थविवृता संवृता पिटिकाचिता ॥ ८ ॥
उच्छूना स्फुटिता म्लाना—

जिसकी नाक बिना कारण के ही अतिशय विस्तृत, अतिशय संवृत (बन्द), पिटिकाओं से भरी, ऊपर शोथयुक्त, स्फुटित और म्लान हो, यह नासिका की विकृति रिष्ट है ॥८॥

ओष्ठ में रिष्ट के चिह्न—

— यस्यौष्ठौ यात्यधोऽधरः ।
ऊर्ध्वं द्वितीयः, स्यातां वा पक्वजम्बूनिभावुभौ ॥ ९ ॥

जिसका निचला ओठ नीचे लटक जाता है, ऊपर का ओठ ऊपर चला जाता है अथवा जिसके दोनों ओठ पके हुए जामुन की भांति हो जाते हैं, यह ओष्ठ की विकृति रिष्ट है ॥ ९ ॥

दाँतों में रिष्ट के चिह्न—

दन्ताः सशर्कराः श्यावास्ताम्राः पुष्पितपङ्किताः ।
सहसैव पतेयुर्वा—

जिसके दाँत शर्करायुक्त, श्याववर्ण, ताम्रवर्ण, पुष्प (श्वेत दाग) युक्त या कीचड़ (मैल) से भरे हों अथवा अचानक ही गिर पड़ते हों; यह दाँत की विकृति रिष्ट है।

जीभ में रिष्ट के चिह्न—

—जिह्मा जिह्वा विसर्पिणी ॥ १० ॥
शूना शुष्का गुरुः श्यावा लिप्ता सुप्ता सकण्टका ।

जिसकी जिह्वा कुटिल, कारण के बिना ही लपलपाती हो, शोथयुक्त हो, शुष्क हो, भारी हो, श्याव वर्ण हो, मैल से लिप्त, संज्ञा शून्य या काँटों से व्याप्त हो; यह जिह्वाविकृति रिष्ट है।

ग्रीवा में रिष्ट के चिह्न—

शिरः शिरोधरा वोढुं पृष्ठं वा भारमात्मनः ॥ ११ ॥
हनू वा पिण्डमास्यस्थं शक्नुवन्ति न यस्य च ।

जिसकी ग्रीवा शिर का और पीठ अपने शरीर का भार न उठा सके; अथवा जिसका हनु मुख में रखे ग्रास को सम्हाल न सके; ये तीनों ग्रीवादि की विकृति 'रिष्ट' हैं ॥ ११ ॥

अङ्गों का अकारण भारीपन आदि रिष्ट के चिह्न—

यस्यानिमित्तमङ्गानि गुरूण्यति लघूनि वा ॥ १२ ॥

जिसके अङ्ग बिना कारण के ही अतिभारी या अतिशय हल्के हो जाते हैं; यह अङ्ग की विकृति रिष्ट है ॥ १२ ॥

छिद्रों से रक्त-निर्गमन रिष्ट के चिह्न—

विषदोषाद्विना यस्य खेभ्यो रक्तं प्रवर्तते ।

बिना विषदोष के जिसके रोमकूपों से या छिद्रों से रक्त बहता हो, यह भी रिष्ट है।

शिश्न तथा अण्डकोशों में रिष्ट के चिह्न—

उत्सिक्तं मेहनं यस्य वृषणावतिनिःसृतौ ॥ १३ ॥
अतोऽन्यथा वा यस्य स्यात् सर्वे ते कालचोदिताः ।

जिसका मेहन अतिशय ऊपर चढ़ गया हो, या जिसके वृषण अतिशय बाहर आ गये हों, अथवा इससे विपरीत हों अर्थात् वृषण ऊपर चढ़ गये हों और मेहन बाहर आ गया हो, ये सब (केशरोम आदि श्लोक ६ से १३ तक वर्णित विकृतियों से युक्त व्यक्ति) मृत्यु से प्रेरित हैं—मरने वाले हैं। [समय की मर्यादा-एक साल, वर्ष के पीछे जातरिष्ट भी बचता है ।]

ललाटादि में रिष्ट के चिह्न—

यस्यापूर्वाः सिरालेखा बालेन्द्वाकृतयोऽपि वा ॥१४॥
ललाटे वस्तिशीर्षे वा षण्मासान्न स जीवति ।

जिस पुरुष के माथे में या बस्तिशिर (उदर के निचले भाग) में बिना कारण के नई सिराराजी अथवा दूज के चाँदसा कुटिल आकार दीखता है, वह पुरुष छः मास भी नहीं जीता।

शरीर में रिष्ट का चिह्न –

पद्मिनीपत्रवत्तोयं शरीरे यस्य देहिनः ॥ १५ ॥
प्लवते प्लवमानस्य षण्मासास्तस्य जीवितम् ।

जिस पुरुष के स्नान करते समय जल कमलपत्र के समान शरीर पर नहीं ठहरता वह छः मास ही जीता है ॥ १५ ॥

सिराओं तथा रोमकूपों में रिष्ट के चिह्न—

हरिताभाः सिरा यस्य रोमकूपाश्च संवृताः ॥ १६ ॥
सोऽम्लाभिलाषी पुरुषः पित्तान्मरणमश्नुते ।

जिस रोगी की सिरायें हरी कान्ति की हो गई हों, रोमकूप बन्द हों और अम्ल को चाहने वाला हो वह व्यक्ति पित्त (जनित विकार) से मृत्यु पाता है ॥ १६ ॥

शिर तथा मुख में रिष्ट का चिह्न—

यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्ध्नि मुखेऽपि वा ॥ १७ ॥
सस्नेहं मूर्ध्नि धूमो वा, मासान्तं तस्य जीवितम् ।

जिस रोगी के सिर पर या मुख पर स्नेह लगाने पर गोबर के चूर्ण की भाँति चूर्ण (रूक्ष) हो जाता है, अथवा सिर पर धूम होता है, वह एक मास ही जीता है ॥ १७ ॥

सिर तथा भ्रूद्वय में रिष्ट का चिह्न—

मूर्ध्नि भ्रुवोर्वा कुर्वन्ति सीमन्तावर्तका नवाः ॥ १८ ॥
मृत्युं स्वस्थस्य षड्रात्रात्त्रिरात्रादातुरस्य तु ।

जिस स्वस्थ पुरुष के शिर में या भ्रुवों पर नये सीमन्त के आवर्त्त उत्पन्न हो जाते हैं । वह छः रात तक जीता है और रोगी हो तो तीन रात ही जीता है ॥ १८ ॥

जिह्वादि में रिष्ट का चिह्न—

जिह्वा श्यावा मुखं पूति सव्यमक्षि निमज्जति ॥ १९ ॥
खगा वा मूर्ध्नि लीयन्ते यस्य तं परिवर्जयेत् ।

जिसकी जीभ काली पड़ गई हो, मुख से दुर्गन्ध आती हो, वाम आँख अन्दर को बैठ गई हो, अथवा शिर पर पक्षी बैठते हों (वह नहीं बचता), उसकी चिकित्सा न करें ॥१९॥

वक्षःस्थल में रिष्ट का चिह्न—

यस्य स्नातानुलिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरो भृशम् ॥ २० ॥
आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्धमासं न जीवति ।

जिस पुरुष के स्नान करके चन्दन आदि लेपन करने पर सब अङ्गों के गीला रहते हुए भी सबसे प्रथम छाती अधिकतः सूखती है, वह पन्द्रह दिन नहीं जीता ॥ २० ॥

रिष्ट का आकस्मिक चिह्न—

अकस्माद्युगपद्गात्रे वर्णौ प्राकृतवैकृतौ ॥ २१ ॥
तथैवोपचयग्लानिरौक्ष्यस्नेहादि मृत्यवे ।

बिना कारण जिसके शरीर पर एक साथ (एक समय में) प्राकृत और वैकृतवर्ण, उपचय और अनुपचय, ग्लानि और हर्ष, रूक्षता और स्नेह आदि (शीतता और उष्णता), हों, वह मृत्यु के लिए है ॥ २१ ॥

अङ्गुलि आदि में रिष्ट का चिह्न—

यस्य स्फुटेयुरङ्गुल्यो नाकृष्टा न स जीवति ॥ २२ ॥
क्षवकासादिषु तथा यस्यापूर्वो ध्वनिर्भवेत् ।
ह्रस्वो दीर्घोऽति वोच्छ्वासः पूतिः सुरभिरेव वा ॥२३॥

खींचने पर या चटकाने पर जिसकी अंगुलियां न चटकें वह नहीं बचता । छींक, कास आदि में जिसकी अपूर्व ध्वनि (पहले नहीं सुनी गई) होती है, वह नहीं बचता । या जिसका उच्छ्वास बहुत छोटा अथवा बहुत लम्बा या दुर्गन्धित या सुगन्धित होता है, वह भी नहीं जीता ॥ २२-२३ ॥

गन्धविकृति-रिष्ट—

आप्लुतानाप्लुते काये यस्य गन्धोऽतिमानुषः ।
मलवस्त्रव्रणादौ वा वर्षान्तं तस्य जीवितम् ॥ २४ ॥

स्नान करने पर या स्नान न करने पर जिस मनुष्य में कोई दैवी सुगन्ध या दुर्गन्ध रहती है, अथवा मल, वस्त्र और व्रण आदि में कोई अमानुष गन्ध रहे, वह एक वर्ष तक ही जीता है ॥ २४ ॥

मक्खी आदि से रिष्ट ज्ञान—

भजन्तेऽत्यङ्गसौरस्याद्यं यूकामक्षिकादयः ।
त्यजन्ति वाऽतिवैरस्यात्सोऽपि वर्षं न जीवति ॥ २५ ॥

उत्तम रस के कारण जिसके अङ्गों पर जूँ, मक्खी आदि पहुँचती हैं, अथवा अतिविरसता के कारण जिसके अङ्गों को छोड़ देती हैं, वह भी एक वर्ष नहीं जीता ॥ २५ ॥

शारीरिक शैत्य आदि से रिष्ट ज्ञान—

सततोष्मसु गात्रेषु शैत्यं यस्योपलक्ष्यते ।
शीतेषु भृशमौष्ण्यं वा स्वेदः स्तम्भोऽप्यहेतुकः ॥२६॥

निरन्तर उष्ण रहने वाले अङ्गों में जिसको शीतलता का अनुभव होता हो, और जो अंग सदा शीत रहते हों उनमें बिना कारण के अतिशय उष्णिमा रहे, इसी प्रकार बिना कारण के स्वेद होना, या न होना, इन लक्षणों में भी एक साल से अधिक नहीं जीता ॥ २६ ॥

पिटिकादि के रिष्ट चिह्न—

यो जातशीतपिटिकः शीताङ्गो वा विदह्यते ।
उष्णद्वेषी च शीतार्तः स प्रेताधिपगोचरः ॥ २७ ॥

जो व्यक्ति (कफ के कारण) शीतपिटिका से आक्रान्त होने अथवा शीतल अङ्ग होने पर भी जलन का अनुभव करता है, तथा जो शीत से पीड़ित व्यक्ति उष्ण से द्वेष करता है, वह प्रेत के स्वामी (यम) के पास जाता है ॥ २७ ॥

हृदयादि में दाहादि रिष्ट के चिह्न—

उरस्यूष्मा भवेद्यस्य जठरे चातिशीतता ।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ २८ ॥
मूत्रं पुरीषं निष्ठ्यूतं शुक्रं वाऽप्सु निमज्जति ।
निष्ठ्यूतं बहुवर्णं वा यस्य मासात्स नश्यति ॥ २९ ॥

जिस मनुष्य की छाती में उष्णता और उदर में अतिशीतलता हो एवं मल पतला हो तथा प्यास रहती हो, वह प्रेत अर्थात् मृतक के समान है।

जिसका मूत्र, मल, थूक और शुक्र पानी में डूब जाता है, अथवा थूक बहुत रंगों वाला होता है, वह एक मास में नष्ट हो जाता है ॥ २८-२९ ॥

प्रतिकूल ज्ञान रिष्ट का चिह्न—

घनीभूतमिवाकाशमाकाशमिव यो घनम् ।
अमूर्तमिव मूर्तं च मूर्तं चामूर्तवत्स्थितम् ॥ ३० ॥
तेजस्यतेजस्तद्वच्च शुक्लं कृष्णमसच्च सत् ।
अनेत्ररोगश्चन्द्रं च बहुरूपमलाञ्छनम् ॥ ३१ ॥
जाग्रद्रक्षांसि गन्धर्वान् प्रेतानन्यांश्च तद्विधान् ।
रूपं व्याकृति तत्तच्च यः पश्यति स नश्यति ॥३२॥

जो मनुष्य आकाश को घन रूपवाला और घनवस्तु को आकाश की भाँति; अमूर्त को मूर्त की तरह और मूर्त को अमूर्त्त की भाँति, तेज को तेज से रहित, इसी प्रकार अतेजस को तेज से युक्त, श्वेत को काला, काले को श्वेत, असत् को सत् और सत् को असत्, बिना नेत्ररोग के भी चन्द्रमा को बहुत रूप वाला और दागरहित देखता है, जागता हुआ भी राक्षस, गन्धर्व, प्रेत या अन्य इस प्रकार के प्राणियों को देखता है, तथा जो दूषित आकृति वाले रूप को देखता है, या अनेक रूप देखता है, वह नष्ट हो जाता है ॥ ३०-३२ ॥

अरुन्धती आदि को न देखना रूप रिष्ट—

सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्यत्यरुन्धतीम् ।
ध्रुवमाकाशगङ्गां वा स न पश्यति तां समाम् ॥३३॥

सप्तर्षियों के पास में स्थित अरुन्धती को जो नहीं देखता, अथवा आकाशगंगा को और ध्रुव को नहीं देखता, वह एक साल में मर जाता है ॥ ३३ ॥

कर्ण आदि विकृति से रिष्टज्ञान—

मेघतोयौघनिर्घोषवीणापणववेणुजान् ।
शृणोत्यन्यांश्च यः शब्दानसतो न सतोऽपि वा ॥३४॥
निष्पीड्य कर्णौ शृणुयान्न यो धुकधुकास्वनम् ।
तद्वद्गन्धरसस्पर्शान् मन्यते यो विपर्ययात् ॥ ३५ ॥
सर्वशो वा न यो, यश्च दीपगन्धं न जिघ्रति ।
विधिना यस्य दोषाय स्वास्थ्यायाविधिना रसाः ॥
यः पांसुनेव कीर्णाङ्गो योऽङ्गे घातं न वेत्ति वा ।
अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा विधिपूर्वकम् ॥ ३७ ॥
जानात्यतीन्द्रियं यश्च तेषां मरणमादिशेत् ।

जो मनुष्य बादल, पानी के प्रवाह का शब्द तथा वीणा, पणव, या वेणुजन्य शब्दों को तथा दूसरे शब्दों को न होने पर भी सुनता है, अथवा होने पर भी नहीं सुनता, तथा कानों को बन्द करके जो (स्वभावतः सुनाई देने वाले) धुक् धुक शब्द को नहीं सुनता, इसी प्रकार जो गन्ध, रस और स्पर्श का विपरीत रूप में अनुभव करता है, अथवा बिलकुल अनुभव नहीं करता, और जो दीपक (के बुझने) की गन्ध को नहीं सूँघता; तथा विधिपूर्वक दिये रस जिसमें रोग उत्पन्न करते हैं और अविधिपूर्वक दिये रस स्वास्थ्य देते हैं, जो मनुष्य अंगों को धूल से भरा मानता है, अथवा अंग पर लगी चोट को नहीं जानता, जो मनुष्य बिना तीव्र तप किये या बिना विधिपूर्वक योग (के द्वारा शक्ति प्राप्त) किये अतीन्द्रिय विषय को जानता है, उसकी मृत्यु जाननी चाहिये ॥३४-३७॥

स्वर-विकारादि से रिष्टज्ञान—

हीनो दीनः स्वरोऽव्यक्तो यस्य स्याद्गद्गदोऽपि वा ॥
सहसा यो विमुह्येद्वा विवक्षुर्न स जीवति ।
स्वरस्य दुर्बलीभावं हानिं च बलवर्णयोः ॥ ३९ ॥
रोगवृद्धिमयुक्त्या च दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ।
अपस्वरं भाषमाणं प्राप्तं मरणमात्मनः ॥ ४० ॥
श्रोतारं चास्य शब्दस्य दूरतः परिवर्जयेत् ।

स्वरविकृति—जिसका स्वर बिना कारण के हीन, दीन, अव्यक्त अथवा भर्राया हुआ होता है, अथवा जो बोलने की इच्छा होने पर सहसा बोल नहीं सकता, वह नहीं जीता।

बिना कारण के स्वर की निर्बलता, बल एवं वर्ण की हानि और अकारण रोग की वृद्धि देखकर मृत्यु कहनी चाहिये।

स्वाभाविक स्वर से भिन्न अर्थात् हीन स्वर में जो मनुष्य अपनी मृत्यु (मैं मरूँगा, मरूँगा) को कहता है, उसको तथा इस शब्द को सुनने वाले रोगी को भी वैद्य दूर से छोड़ देवे।

छायाविपर्यय रिष्ट—

संस्थानेन प्रमाणेन वर्णेन प्रभयाऽपि वा ॥ ४१ ॥
छाया विवर्तते यस्य स्वप्नेऽपि प्रेत एव सः ।

आकृति में, परिमाण में, वर्ण में अथवा कान्ति में जिसकी छाया बदल जाती है, वह स्वप्न में भी प्रेत ही है (जागने पर तो है ही) ॥ ४१ ॥

छाया और प्रतिच्छाया—

आतपादर्शतोयादौ या संस्थानप्रमाणतः ॥ ४२ ॥

छायाऽङ्गात्सम्भवत्युक्ता प्रतिच्छायेति सा पुनः ।
वर्णप्रभाश्रया या तु सा छायैव शरीरगा ॥४३॥

छाया दो प्रकार की है—धूप, शीशा और जल आदि में आकार एवं परिमाण के अनुकूल अङ्गों की जो छाया होती है; उसे 'प्रतिच्छाया' कहते हैं और जो शरीर में ही प्रभा और वर्ण के आश्रित रहती है; वह 'छाया' है ॥ ४२-४३ ॥

प्रतिच्छायाविकार—

अवेद्यस्य प्रतिच्छाया छिन्ना भिन्नाऽधिकाऽऽकुला ।
विशिरा द्विशिरा जिह्मा विकृता यदि वाऽन्यथा ।५४॥
तं समाप्तायुषं विद्यान्न चेल्लक्ष्यनिमित्तजा ।
प्रतिच्छायामयी यस्य न चाक्ष्णीक्ष्येत कन्यका · ४५॥

जिस पुरुष की प्रतिच्छाया (प्रतिबिम्ब) छिन्न-भिन्न, अधिक, अनिश्चित—अस्थिर, शिर से रहित, दो शिर वाली, कुटिल, विकृत अथवा अन्य रूप में दिखाई दे, उसकी आयु समाप्त हुई जानना चाहिये; बशर्त्ते यह प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष कारण से उत्पन्न न हुआ हो। जिस रोगी की आँखों में प्रतिबिम्ब कुमारिका (पुतली में दीखने वाला प्रतिबिम्ब) नहीं दिखाई दे, उसकी भी आयु समाप्त हुई जाने ॥ ४४-४५ ॥

महाभूतों की छाया का पृथक्-पृथक् स्वरूप—

खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः ।
नाभसी निर्मलाऽऽनीला सस्नेहा सप्रभेव च ॥४६॥
वाताद्रजोऽरुणा श्यावा भस्मरूक्षा हतप्रभा ।
विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया ॥४७॥
शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा तोयजा सुखा ।
स्थिरा स्निग्धा घना शुद्धा श्यामा श्वेता च पार्थिवी॥

आकाश आदि पञ्च महाभूतों की पाँच छाया भिन्न-भिन्न लक्षणों की होती है। यथा—आकाश की छाया—निर्मल, थोड़ी नील वर्ण, ईषत्स्निग्ध, और प्रभा से युक्त होती है। वायु की छाया—धूलि से लिप्त की भाँति, अरुण, श्याव वर्ण, भस्म के समान रूक्ष एवं नष्टकान्ति होती है। अग्नि की छाया—विशुद्ध रक्त के समान लाल, दीप्त प्रभा तथा देखने में सुख देनेवाली होती है। जल की छाया—निर्मल वैडूर्य के समान विमल, अतिस्निग्ध और आरोग्य देने वाली होती है। पृथ्वी की छाया—स्थिर (अचल), स्निग्ध, वर्ण घन, निर्मल, श्याम और श्वेत होती है ॥ ४६-४८ ॥

महाभूतों की छाया के पृथक्-पृथक् गुण—

वायवी रोगमरणक्लेशायान्याः सुखोदयाः ।

वायु की छाया—रोग, मृत्यु और क्लेश देने वाली और शेष चार छाया सुख देने वाली हैं।

प्रभा के सात प्रकार तथा शुभाशुभत्व—

प्रभोक्ता तैजसी सर्वा, सा तु सप्तविधा स्मृता ॥४९॥
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता ।
तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विमलाश्च याः॥
ताः शुभा, मलिना रूक्षाः संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः ।

सभी प्रभायें तैजस होती हैं और ये सात प्रकार की कही गई हैं। यथा—लाल, पीली, श्वेत, श्याव, हरित, पाण्डुर और काली।

इनमें से जो प्रभा फैलने वाली (सतेज) स्निग्ध और विमल होती हैं वे शुभ हैं और जो मलिन, रूक्ष और सिमटने वाली (निस्तेज) होती हैं वे अशुभ हैं ॥ ४९-५० ॥

छाया तथा प्रभा के भेद और लक्षण —

वर्णमाक्रामति च्छाया प्रभा वर्णप्रकाशिनी । ५१ ॥
आसन्ने लक्ष्यते छाया विकृष्टे भा प्रकाशते ।

छाया रक्त आदि (स्वाभाविक) वर्णों को दबा देती है और प्रभा लाल आदि वर्णों को प्रकाशित करती है। छाया पास से दिखाई देती है और प्रभा दूर से ही चमकती है।

छाया और प्रभा की व्यापकता और प्रभाव—

नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद्विशेषाश्चिह्नयन्ति तु ।
नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायासमाश्रयाः । ५२ ॥

कोई भी मनुष्य बिना छाया के या बिना प्रभा के नहीं होता किन्तु छाया के आश्रित समय-समय पर होने वाले विशेष (परिवर्तन) मनुष्यों के शुभ या अशुभ को सूचित करते हैं ॥ ५२ ॥

रिष्ट के अन्य चिह्न—

निकषन्निव यः पादौ च्युतांसः परिसर्पति ॥५३॥
हीयते बलतः शश्वद्योऽन्नमश्नन् हितं बहु ।
योऽल्पाशी बहुविण्मूत्रो बह्वाशी चाल्पमूत्रविट् ॥५४॥
यो वाऽल्पाशी कफेनार्तो दीर्घं श्वसिति चेष्टते ।
दीर्घमुच्छ्वस्य यो ह्रस्वं निःश्वस्य परिताम्यति ॥५५॥
ह्रस्वं च यः प्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते भृशम् ।
शिरो विक्षिपते कृच्छ्राद्योऽञ्चयित्वा प्रपाणिकौ ॥५६।
यो ललाटात्स्रुतस्वेदः श्लथसन्धानबन्धनः ।
उत्थाप्यमानः सम्मुह्येद्यो बली दुर्बलोऽपि वा ॥५७॥
उत्तान एव स्वपिति यः पादौ विकरोति च ।
शयनासनकुड्यादेर्योऽसदेव जिघृक्षति ॥५८॥
अहास्यहासी सम्मुह्यन् यो लेढि दशनच्छदौ ।
उत्तरोष्ठं परिलिहन् फूत्कारांश्च करोति यः ॥५९॥
यमभिद्रवति च्छाया कृष्णा पीताऽरुणाऽपि वा ।
भिषग्भेषजपानान्नगुरुमित्रद्विषश्च ये ॥ ६० ॥
वशगाः सर्व एवैते विज्ञेयाः समवर्तिनः ।

जो मनुष्य पैरों को भूमि पर रगड़ता हुआ सा तथा कन्धों को गिरा कर चलता है; हितकारी अन्न और मात्रा में बहुत खाते हुये भी बल में निरन्तर घटता जाता है; जिसे थोड़ा खाने पर भी मलमूत्र बहुत आते हों या बहुत खाने पर मलमूत्र थोड़े आते हों; अथवा जो थोड़ा खाने पर भी कफ से पीड़ित होकर लम्बा श्वास लेता है और हाथ पैर (श्वास के

लिये) मारता है; जो लम्बा उच्छ्वास निकाल कर पीछे से छोटा निःश्वास अन्दर लेकर दुःख अनुभव करता है और जो थोड़ी वायु बाहर नाक से निकालता है; विषम रूप में अतिशय से जिसकी नाड़ियों में स्पन्दन होता हो; जो अग्र-बाहु को सिकोड़ कर कठिनाई से शिर को कंपाता हो; जिसके ललाट से पसीना बहता हो एवं सन्धि-बन्ध शिथिल हों, जो बलवान् या दुर्बल व्यक्ति खड़ा करने पर भी मूर्च्छित हो जाता है, जो चित्त (पीठ के बल) ही सोता है और पाँवों को विरूप रखता है, बिस्तर आसन या दीवार पर जो न होने वाली वस्तु को पकड़ना चाहता है, जो बिना अवसर के हंसते हुए मूर्च्छित होकर ओठों को चाटता है, जो ऊपर के ओठ को चाटता हुआ फूत्कार करता है, जिसकी ओर काली, पीली या लाल वर्ण की छाया दौड़ती हो (ऐसा देखता है) और जो वैद्य, औषध, पेय, भोजन, गुरु और मित्र से द्वेष करता हो, इन सब को यम का वशीभूत हुआ जानना ॥ ५३-६० ॥

(ग्रीवाललाटहृदयं यस्य स्विद्यति शीतलम् ॥ ६१ ॥
उष्णोऽपरः प्रदेशश्च शरणं तस्य देवताः ।)
[पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरादिष्वतिमात्रया ।
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥ १ ॥]

(जिसके ग्रीवा, ललाट और हृदय शीतल और पसीने से युक्त हों और दूसरे अङ्ग गरम हों, उसकी रक्षा देवता ही कर सकते हैं, दूसरे नहीं ।)

[जिस में ज्वर आदि रोगों के सब पूर्वरूप अतिमात्रा में प्रविष्ट (उत्पन्न) होते हैं, उसमें ज्वर आदि रोगों को आगे करके मृत्यु घुसती है ।] ॥ ६१-१ ॥

योऽणुज्योतिरनेकाग्रो दुश्छायो दुर्मनाः सदा ॥६२॥
बलिं बलिभृतो यस्य प्रणीतं नोपभुञ्जते ।
निर्निमित्तं च यो मेधां शोभामुपचयं श्रियम् ॥६३॥
प्राप्नोत्यतो वा विभ्रंशं स प्राप्नोति यमक्षयम् ।

जिसकी ज्योति (दृष्टि या अग्नि) स्वल्प हो, व्याकुल मन दूषित छाया युक्त और निरन्तर शोकाक्रान्त मन हो, जिसकी दी हुई बलि को कौए आदि नहीं खावें, बिना कारण के ही जिसमें मेधा, शोभा, पुष्टि और लक्ष्मी आ जाती, अथवा मेधा, शोभा आदि बिना कारण के नष्ट हो जाती हो, वह मर जाता है ॥ ६२-६३ ॥

प्रकृतिविपर्यय—

गुणदोषमयी यस्य स्वस्थस्य व्याधितस्य वा ॥ ६४ ॥
यात्यन्यथात्वं प्रकृतिः षण्मासान्न स जीवति ।

जिस स्वस्थ या रोगी पुरुष की सत्वादि गुणमयी तथा वातादि दोषमयी प्रकृति (सहज स्वभाव) बदल जाती है, वह छः मास से अधिक नहीं जीता ॥ ६४ ॥

भक्तिः शीलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्बलमहेतुकम् ॥६५।
षडेतानि निवर्तन्ते षड्भिर्मासैर्मरिष्यतः ।

छः मास में मरने वाले मनुष्य की भक्ति, शील, स्मृति, त्याग, बुद्धि और बल ये छः बिना कारण नष्ट हो जाते हैं। [इन छः में से कुछ के ही नष्ट होने से रिष्ट नहीं होता ।]

मत्तवद्गतिवाक्कम्पमोहा मासान्मरिष्यतः ॥ ६६ ॥

जिसकी गति, वाणी, कम्प और मोह मत्त (पागल) की भाँति हो जाते हैं वह एक मास के भीतर मरता है ॥ ६६ ॥

नश्यत्यजानन् षडहात्केशलुञ्चनवेदनाम् ।
न याति यस्य चाहारः कण्ठं कण्ठामयादृते ॥ ६७ ॥
प्रेष्याः प्रतीपतां यान्ति प्रेताकृतिरुदीर्यते ।
यस्य निद्रा भवेन्नित्या नैव वा न स जीवति ॥ ६८ ॥

जो केशों के उखाड़ने की वेदना का अनुभव नहीं करता और गले के रोग के बिना भोजन जिसके गले के नीचे नहीं जाता, वे दोनों छः दिनों में मर जाते हैं।

जिसके भृत्य (अकस्मात् और अकारण) विपरीत हो जाते हैं, उसे प्रेत की आकृति वाला (मरा) कहते हैं। जिसको निरन्तर निद्रा आती हो, अथवा बिल्कुल न आती हो, वह नहीं जीता ॥ ६७-६८ ॥

बाष्पद्वार का बन्द होना आदि रिष्ट का लक्षण—

वक्त्रमापूर्यतेऽश्रूणां स्विद्यतश्चरणौ भृशम् ।
चक्षुश्चाकुलतां याति यमराज्यं गमिष्यतः ॥ ६९ ॥

जिस मनुष्य के आँसुओं के स्रोतों का मुख बन्द हो जाता है अथवा पैरों पर बहुत पसीना आता है या आँखों में आकुलता रहती है वह शीघ्र ही मरता है ॥ ६९ ॥

यैः पुरा रमते भावैररतिस्तैर्न जीवति ।

जो पदार्थ पहले सुखकारक अनुभव होते थे, उनसे ही अरुचि हो जावे, तो वह नहीं बचता ।

सहसा जायते यस्य विकारः सर्वलक्षणः ॥ ७० ॥
निवर्तते वा सहसा, सहसा स विनश्यति ।

जिस रोगी में रोग एकदम से सम्पूर्ण लक्षणों का हो जाता है अथवा रोग सहसा हट जाता है, वह अकस्मात् मर जाता है ॥ ७० ॥

ज्वरादि रोगों के विशिष्ट रिष्ट—

ज्वरो निहन्ति बलवान् गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥ ७१ ॥
सप्रलापभ्रमश्वासः क्षीणं शूनं हतानलम् ।
अक्षामं सक्तवचनं रक्ताक्षं हृदि शूलिनम् ॥ ७२ ॥
संशुष्ककासः पूर्वाह्णे योऽपराह्णेऽपि वा भवेत् ।
बलमांसविहीनस्य श्लेष्मकाससमन्वितः ॥ ७३ ॥

जिस पुरुष में हेतु आदिसे बलवान् , गम्भीर (सब धातुओं के अन्दर प्रविष्ट), देर से चला आनेवाला, प्रलाप, भ्रम, श्वास, धातुक्षय और शोथयुक्त ज्वर हो, जिसकी अग्नि नष्ट हो गई है, जो बलवान् है फिर भी आवाज न निकलती हो, जो लाल आँखों वाला और हृदयशूल वाला है, ऐसे रोगी का ज्वर उसे मार देता है। जो ज्वर शुष्क कास के साथ पूर्वाह्ण में या अपराह्ण में होता हो; तथा जिस रोगी का बल और मांस नष्ट हो गया हो, उसे श्लेष्म-कास युक्त ज्वर मार देता है। ये तीन

रिष्ट हैं। इनके अतिरिक्त अन्य रिष्टों का वर्णन भी विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है; इनका संग्रह माधवनिदान की मधुकोश व्याख्या में देखें ॥ ७१-७३ ॥

रक्त-पित्त के रिष्ट—

रक्तपित्तं भृशं रक्तं कृष्णमिन्द्रधनुष्प्रभम् ।
ताम्रहारिद्रहरितं रूपं रक्तं प्रदर्शयेत् ॥ ७४ ॥
रोमकूपप्रविसृतं कण्ठास्यहृदये सजत् ।
वाससोऽरञ्जनं पूति वेगवद्याति भूरि च ॥ ७५ ॥
वृद्धं पाण्डुज्वरच्छर्दिकासशोफातिसारिणम् ।

जिस रक्तपित्त में बहुत लाल, काला, इन्द्रधनुष की कान्ति का (नानावर्ण का); ताम्र, हारिद्र या हरित या लाल रूप दिखाई देवे; जो रोम कूपों से बहता है, तथा जिसमें रक्त कण्ठ, मुख और हृदय में रुक जाता है; जिसमें रक्त से वस्त्र रंग नहीं जाता, जिसमें दुर्गन्ध युक्त; वेग के साथ बहुत मात्रा में रक्त बहता है; वह तथा बहुत बढ़ा हुआ रक्तपित्त पाण्डु, ज्वर, वमन, कास, शोफ और अतिसार वाले रोगी को नष्ट कर देता है अर्थात् पाण्डु आदि रोगों में प्रबल रक्तपित्त रिष्ट होता है ॥ ७४-७५ ॥

कास-श्वास के रिष्ट—

कासश्वासौ ज्वरच्छर्दितृष्णातीसारशोफिनम् । ७६॥

ज्वर, वमन, तृष्णा, अतीसार और शोफ से युक्त रोगी को कास तथा श्वास मार देते हैं ॥ ७६ ॥

राजयक्ष्मा के रिष्ट—

यक्ष्मा पार्श्वरुजानाहरक्तच्छर्द्यंसतापिनम् ।

पार्श्वरुक्, आनाह, रक्तवमन और अंसताप वाले रोगी को यक्ष्मा नष्ट कर देता है।

वमन के रिष्ट—

छर्दिर्वेगवती मूत्रशकृद्गन्धिः सचन्द्रिका ॥ ७७ ॥
सास्रविट्पूयरुक्कासश्वासवत्यनुषङ्गिणी ।

वेगशीला, मूत्र एवं मल की गन्ध वाली; चन्द्रिका युक्त; रक्त, मल, पूय, पीड़ा, कास और श्वास के साथ होने वाली तथा चिरकाल से चलती हुई छर्दि रोगी को मार देती है ॥

रिष्टभूत तृष्णा तथा मदात्यय—

तृष्णाऽन्यरोगक्षपितं बहिर्जिह्वं विचेतनम् ॥ ७८ ॥
मदात्ययोऽतिशीतार्तं क्षीणं तैलप्रभाननम् ।

किसी अन्य रोग से कृश, जीभ बाहर निकाले हुए मूर्च्छा युक्त रोगी को तृष्णा नष्ट कर देती है। अतिशीत से पीड़ित, क्षीण और तैलप्रभा के तुल्य मुख वाले रोगी को मदात्यय मार देता है ॥ ७८ ॥

अर्श के रिष्ट—

अर्शांसि पाणिपन्नाभिगुदमुष्कास्यशोफिनम् ॥ ७९ ॥
हृत्पार्श्वाङ्गरुजाच्छर्दिपायुपाकज्वरातुरम् ।

हाथ, पैर, नाभि, गुदा, मुष्क तथा मुख में शोफवाले एवं हृदयपीड़ा, पार्श्वपीड़ा या अङ्गवेदना से पीड़ित तथा वमन, गुदापाक और ज्वर वाले रोगी को अर्श रोग मार देता है ॥

अतीसार के रिष्ट—

अतीसारो यकृत्पिण्डमांसधावनमेचकैः ॥८०॥
तुल्यस्तैलघृतक्षीरदधिमज्जवसासवैः ।
मस्तुलुङ्गमषीपूयवेसवाराम्बुमाक्षिकैः ॥८१॥
अतिरक्तासितस्निग्धपूत्यच्छघनवेदनः ।
कर्बुरः प्रस्रवन् धातून् निष्पुरीषोऽथवाऽतिविट् ॥८२।
तन्तुमान् मक्षिकाक्रान्तो राजीमांश्चन्द्रकैर्युतः ।
शीर्णपायुवलिं मुक्तनालं पर्वास्थिशूलिनम् ॥८३॥
स्रस्तपायुं बलक्षीणमन्नमेवोपवेशयन् ।
सतृट्श्वासज्वरच्छर्दिदाहानाहप्रवाहिकः ॥८४॥

यकृत्पिण्ड के या मांस के धोने के जल के समान या कृष्ण वर्ण; तैल, घी, दूध, दही, मज्जा, वसा या आसव के समान; मस्तुलुंग, स्याही (काली), पूय, वेसवार, पानी या मधु के समान; अतिशय लाल या काला; अतिस्निग्ध, अतिदुर्गन्धयुक्त; अतिपतला, अतिघट्ट या अतिवेदनायुक्त; नानावर्ण का; अतिसार या रक्तादि धातु जिसमें बहते हों मल रहित अथवा अतिशय मल वाला; तन्तु (रेशे) वाला, मक्खियाँ जिस पर बहुत आती हों, रेखावाला तथा चन्द्रिका युक्त मलवाला, अतीसार से जिस पुरुष की गुदवलियाँ शीर्ण (चिथड़ी) हो गयी हों, नला खुल गया हो (निरन्तर मल का प्रवाह हो रहा हो), पर्वशूल एवं अस्थिशूल से पीड़ित हो, गुदभ्रंश हो गया हो तथा बल क्षीण हो, अपक्व आहार का मल में त्याग करता हो, प्यास, श्वास, ज्वर, वमन, दाह, आनाह तथा प्रवाहिका से युक्त रोगी को मार देता है ॥ ८०-८४ ॥

अश्मरी रिष्ट—

अश्मरी शूनवृषणं बद्धमूत्रं रुजार्दितम् ।

जिसके वृषण सूज गये हों, मूत्र रुक गया हो तथा पीड़ा से दुःखी हो उस मनुष्य को अश्मरी मार देती है।

प्रमेह रिष्ट—

मेहस्तृड्दाहपिटिकामांसकोथातिसारिणम् ॥८५॥
पिटिका मर्महृत्पृष्ठस्तनांसगुदमूर्धगाः ।
पर्वपादकरस्था वा मन्दोत्साहं प्रमेहिणम् ।८६॥
सर्वं च मांससङ्कोथदाहतृष्णामदज्वरैः ।
विसर्पमर्मसंरोधहिध्माश्वासभ्रमक्लमैः ॥८७॥

प्यास, दाह, पिटिका, मांस का सड़ना और अतीसार से पीड़ित मनुष्य को प्रमेह मार देता है।

मर्मों में हृदय, पीठ, स्तन, अंस, गुदा और शिर में उत्पन्न पिटिका तथा पर्व या पैर अथवा हाथ में उत्पन्न पिटिका मन्द उत्साह वाले प्रमेही को मार देती है और मांस की सड़न, दाह, प्यास, मद, ज्वर, विसर्प, मर्मों का अवरोध, हिक्का, श्वास, भ्रम और क्लम से युक्त पिटिका सब मनुष्यों के लिये मारक होती हैं ॥ ८५-८७ ॥

गुल्म रिष्ट—

गुल्मः पृथुपरीणाहो घनः कूर्म इवोन्नतः ।
सिरानद्धो ज्वरच्छर्दिहिध्माध्मानरुजान्वितः ॥ ८८ ॥
कासपीनसहृल्लासश्वासातीसारशोफवान् ।

विस्तृत मोटाई वाला, घट्ट, कछुए के समान ऊपर को उठा, सिराओं से व्याप्त; ज्वर, वमन, हिक्का, आध्मान और पीड़ायुक्त; कास, पीनस, जी मचलाना; श्वास, अतीसार तथा शोफ से युक्त गुल्म रोगी को मार देता है ॥ ८८ ॥

उदररोग रिष्ट—

विण्मूत्रसंग्रहश्वासशोफहिध्माज्वरभ्रमैः ॥ ८९ ॥
मूर्च्छाच्छर्द्यतिसारैश्च जठरं हन्ति दुर्बलम् ।
शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम् । ९० ॥
विरेचनहृतानाहमानह्यन्तं पुनः पुनः ।

उदररोग मल मूत्र के अवरोध, श्वास, शोफ, हिक्का, ज्वर, भ्रम, मूर्च्छा, वमन और अतिसार से युक्त होने पर निर्बल मनुष्य को मार देता है। जिसकी आँखों पर सूजन आ गई हो; मेहन, बस्ति, वृषण आदि कुटिल हो गये हों; शरीर और त्वचा क्लेदयुक्त हों, तथा विरेचन से आनाह हटा देने पर भी बार-बार जिसको आनाह होता हो; उसे उदररोग मार देता है ॥ ८९-९० ॥

पाण्डुरोग में रिष्ट—

पाण्डुरोगः श्वयथुमान् पीताक्षिनखदर्शनम् ॥ ९१ ॥

शोथयुक्त पाण्डुरोग आँख, नख और दृष्टि पीली होने पर मार देता है ॥ ९१ ॥

शोफ में रिष्ट—

तन्द्रादाहारुचिच्छर्दिमूर्च्छाध्मानातिसारवान् ।
अनेकोपद्रवयुतः पादाभ्यां प्रसृतो नरम् ॥ ९२ ॥
नारीं शोफो मुखाद्धन्ति कुक्षिगुह्यादुभावपि ।
राजीचितः स्रवंश्छर्दिज्वरश्वासातिसारिणम् ॥ ९३ ॥

तन्द्रा, दाह, अरुचि, वमन, मूर्च्छा, आध्मान एवं अतिसार से युक्त तथा अनेक उपद्रवों से युक्त शोथ जो कि पुरुष के पैरों से आरम्भ होकर फैला हो और स्त्री के मुख से आरम्भ होकर फैला हो या स्त्री-पुरुष दोनों में कुक्षि (उदर) और गुह्य भाग से उत्पन्न हुआ, रेखाओं से व्याप्त हो तथा-दोषानुसार बहाव वाला शोफ वमन, ज्वर, श्वास और अतिसार से युक्त होने पर मार देता है ॥ ९२-९३ ॥

ज्वरातिसारौ शोफान्ते श्वयथुर्वा तयोः क्षये ।
दुर्बलस्य विशेषेण जायन्तेऽन्ताय देहिनः ॥ ९४ ॥

शोफ के पीछे ज्वर और अतिसार होना; अथवा ज्वर और अतिसार के बाद सूजन होना; ये दोनों अवस्थायें विशेष कर दुर्बल मनुष्य के अन्त के लिये हैं ॥ ९४ ॥

श्वयथुर्यस्य पादस्थः परिस्रस्ते च पिण्डिके ।
सीदतः सक्थिनी चैव तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ९५ ॥
आननं हस्तपादं च विशेषाद्यस्य शुष्यतः ।
शूयेते वा विना देहात्स मासाद्याति पञ्चताम् ॥ ९६ ॥

जिस रोगी के पैरों पर सूजन हो; पिण्डलियाँ स्थान से खिसकी (ढीली) हों; टाँगें शिथिल हों; वैद्य उसकी चिकित्सा न करे।

मुख, हाथ और पैर जिसके विशेष कर सूखते जाते हों; अथवा शरीर के सूजे बिना हाथ, पैर, मुख सूजते जाते हों; वह रोगी एक मास में मर जाता है ॥ ९५-९६ ॥

विसर्प के रिष्ट—

विसर्पः कासवैवर्ण्यज्वरमूर्च्छाङ्गभङ्गवान् ।
भ्रमास्यशोफहृल्लासदेहसादातिसारवान् ॥ ९७ ॥

कास, विवर्णता, ज्वर, मूर्च्छा, अंगों का टूटना, भ्रम, मुख-शोफ, जी मिचलाना, शरीर की शिथिलता और अतिसार युक्त वीसर्प रोग रोगी को मार देता है ॥ ९७ ॥

कुष्ठ में रिष्ट—

कुष्ठं विशीर्यमाणाङ्गं रक्तनेत्रं हतस्वरम् ।
मन्दाग्निं जन्तुभिर्जुष्टं हन्ति तृष्णातिसारिणम् ॥ ९८ ॥

जिसके अंग गिरते हों, आँखें लाल हों, स्वर बैठ गया हो, मन्दाग्नि हो, कीड़े पड़ गये हों और तृष्णा तथा अतिसार हों तो कुष्ठ रोग मार देता है ॥ ९८ ॥

वातरोग और वातरक्त के रिष्ट—

वायुः सुप्तत्वचं भुग्नं कम्पशोफरुजातुरम् ।
वातास्रं मोहमूर्च्छायमदास्वप्नज्वरान्वितम् ॥ ९९ ॥
शिरोग्रहारुचिश्वाससङ्कोचस्फोटकोथवत् ।

जिसकी त्वचा में संज्ञा नष्ट हो गई हो, जो टेढ़ा हो गया हो, कम्पन, शोफ और पीड़ा से युक्त हो ऐसे रोगी को वायु मारती है।

मोह, मूर्च्छा, मद, नींद न आना, ज्वर, शिरोग्रह, अरुचि, श्वास, संकोच, स्फोट और सड़न से युक्त रोगी को वातरक्त मारता है ॥ ९९ ॥

सब रोगों में स्वरक्षयादि रिष्ट—

शिरोरोगारुचिश्वासमोहविड्भेदतृड्भ्रमैः ॥ १०० ॥
घ्नन्ति सर्वामयाः क्षीणस्वरधातुबलानलम् ।

शिरोरोग, अरुचि, श्वास, मोह, अतीसार, प्यास तथा भ्रम होने पर स्वर, धातु, बल और अग्नि जिनके क्षीण हो गये हैं, ऐसे पुरुषों के सभी रोग घातक होते हैं ॥ १०० ॥

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी रक्त्युदरी क्षयी ॥ १०१ ॥
गुल्मी मेही च तान् क्षीणान् विकारेऽल्पेऽपि वर्जयेत् ।

वातव्याधिरोगी, अपस्माररोगी, कुष्ठरोगी, रक्तपित्तरोगी, उदररोगी, क्षयरोगी, गुल्मरोगी और प्रमेहरोगी; इनमें क्षीणता होने पर थोड़े से भी विकार में चिकित्सा न करे ॥ १०१ ॥

बलमांसक्षयस्तीव्रो रोगवृद्धिररोचकः ॥ १०२ ॥
यस्यातुरस्य लक्ष्यन्ते त्रीन् पक्षान्न स जीवति ।

जिस रोगी में बल और मांस का क्षय अत्यधिक हो;

रोग बढ़ता हो, अरोचक हो, वह तीन पक्ष (पैंतालीस दिन) नहीं जीता ॥ १०२ ॥

वाताष्ठीला के रिष्ट—

वाताष्ठीलाऽतिसंवृद्धा तिष्ठन्ती दारुणा हृदि ॥१०३॥
तृष्णया नु परीतस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ।

वाताष्ठीला अतिशय बढ़कर हृदय में स्थित होकर अतिशय पीड़ा करती हो और रोगी प्यास से पीड़ित हो, तो वह वाताष्ठीला तुरन्त मारक होती है ॥ १०३ ॥

शैथिल्यं पिण्डिके वायुर्नीत्वा नासां च जिह्मताम् ॥
क्षीणस्यायम्य मन्ये वा सद्यो मुष्णाति जीवितम् ।

क्षीण रोगी की पिण्डलियों को शिथिल करके, नासा को टेढ़ा बनाकर, मन्याओं को तानकर वायु रोगी को तुरन्त मार देती है ॥ १०४ ॥

नाभ्यादिगत वायु के रिष्ट

नाभीगुदान्तरं गत्वा वङ्क्षणौ वा समाश्रयन् ॥ १०५॥
गृहीत्वा पायुहृदये क्षीणदेहस्य वा बली ।
मलान् वस्तिशिरोनाभि विबद्ध्य जनयन् रुजम् ॥
कुर्वन् वङ्क्षणयोः शूलं तृष्णां भिन्नपुरीषताम् ।
श्वासं वा जनयन् वायुर्गृहीत्वा गुदवङ्क्षणम् ॥ १०७॥

वायु नाभि और गुदा के बीच में जाकर अथवा वंक्षणों में आश्रय लेकर मारक होती है। बलयुक्त वायु गुदा और हृदय में अवरोध उत्पन्न कर क्षीण व्यक्ति को शीघ्र मार देती है। मल, वस्तिशिर और नाभि को रोककर पीड़ा करती हुई वायु शीघ्र मारक होती है। वंक्षणों में शूल, प्यास तथा अतिसार करती हुई वायु रोगी को शीघ्र मार देती है। गुदा और वंक्षण का आश्रय लेकर श्वास उत्पन्न करती हुई वायु रोगी को तरन्त मार देती है ॥ १०५-१०७ ॥

वितत्य पर्शुकाग्राणि गृहीत्वोरश्च मारुतः ।
स्तिमितस्याततात्क्षस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥

वायु पसलियों के अग्रभाग को फैलाकर, छाती को जकड़कर पसीने से युक्त या जड़ तथा फैली हुई आँखों वाले रोगी को तुरन्त मार देती है ॥ १०८ ॥

सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः ।
विश्लेषणं च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते ॥ १०९॥

मरने वाले पुरुष में सहसा ज्वर का सन्ताप, तृष्णा, मूर्च्छा, बल की हानि और सन्धियों का विश्लेष हो जाता है।

गोसर्गे वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् ।
लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ११० ॥

उषाकाल में जिस कफज्वर या प्रलेपक से पीड़ित रोगी के शरीर से बहुत पसीना आता हो, उसका जीना दुर्लभ है।

मसूरिका के रिष्ट—

प्रवालगुलिकाभासा यस्य गात्रे मसूरिकाः ।
उत्पद्याशु विनश्यन्ति नचिरात्स विनश्यति ॥ १११ ॥

जिस रोगी के शरीर में प्रवाल की गुटिका के समान मसूरिका (चेचक) उत्पन्न होकर शीघ्र नष्ट हो जाती है, वह रोगी जल्दी मर जाता है ॥ १११ ॥

मसूरविदलप्रख्यास्तथा विद्रुमसन्निभाः ।
अन्तर्वक्त्राः किणाभाश्च विस्फोटा देहनाशनाः ॥११२॥

मसूरविदल (मसूर की दाल) अथवा प्रवाल के समान, अन्दर में मुखवाले, किण (व्रणवस्तु = Scar या मस्से) के समान विस्फोट मारक होते हैं ॥ ११२ ॥

कामलाऽक्ष्णोर्मुखं पूर्णं शङ्खयोर्मुक्तमांसता ।
सन्त्रासश्चोष्णताऽङ्गे च यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ ११३॥

जिस रोगी की आँखों में कामला (पीलापन), मुख में पूर्णता, शंखों में मांस की न्यूनता और अङ्गों में त्रास एवं उष्णिमा हो, उसकी वैद्य चिकित्सा न करें ॥ ११३ ॥

व्रणों के रिष्ट—

अकस्मादनुधावच्च निघृष्टं त्वक्समाश्रयम् ।
[चन्दनोशीरमदिराकुणपध्वाङ्क्षगन्धयः ।
शैवालकुक्कुटशिखाकुङ्कुमालमषीप्रभाः ॥ १ ॥
अन्तर्दाहा निरूष्माणः प्राणनाशकरा व्रणाः ।]

जिसकी त्वचा बिना कारण के ही छिल जाए और घृष्टक्षत फैलता जाये, उसकी वैद्य चिकित्सा न करे।

[चन्दन, खश, मदिरा, शव तथा कौए की गन्ध वाले, शैवाल, मुर्गे की शिखा, केशर, हरताल या स्याही के समान कान्तिवाले, अन्दर से जलने वाले और बाहर उष्णिमा-रहित व्रण प्राणनाशक होते हैं ॥ १ ॥]

यो वातजो न शूलाय स्यान्न दाहाय पित्तजः ॥
कफजो न च पूयाय मर्मजश्च रुजे न यः ।
अचूर्णश्चूर्णकीर्णाभो यत्राकस्माच्च दृश्यते ॥ ११५ ॥
रूपं शक्तिध्वजादीनां सर्वांस्तान्वर्जयेद् व्रणान् ।

जिस वातजन्य व्रण में शूल न हो, पित्तजन्य में दाह न हो, कफजन्य में पूय न हो, मर्मजन्य में पीड़ा न हो, बिना चूर्ण छिड़के भी चूर्ण बिखेरा प्रतीत हो, बिना कारण के शक्ति, ध्वजा आदि का रूप जिन व्रणों में दिखाई देवे, उन सब व्रणों को असाध्य समझे ॥ ११४-११५ ॥

विण्मूत्रमारुतवहं कृमिणं च भगन्दरम् ॥ ११६ ॥

जिस भगन्दर से मल, मूत्र और वायु निकले तथा जो कृमियुक्त हो, वह असाध्य है ॥ ११६ ॥

अन्य प्रकीर्ण रिष्ट—

घट्टयञ् जानुना जानु पादावुद्यम्य पातयन् ।
योऽपास्यति मुहुर्वक्त्रमातुरो न स जीवति ॥

जो रोगी घुटने को घुटने से रगड़ता है, पैर को ऊपर उठाकर फेंकता है, जो बिना कारण के मुख को हटाता रहता है, वह नहीं बचता ॥ ११७ ॥

दन्तैश्छिन्दन्नखाग्राणि तैश्च केशांस्तृणानि च ।
भूमिं काष्ठेन विलिखन् लोष्टं लोष्टेन ताडयन् ॥११८॥

हृष्टरोमा सान्द्रमूत्रः शुष्ककासी ज्वरी च यः ।
मुहुर्हसन् मुहुः क्ष्वेडन् शय्यां पादेन हन्ति यः ॥
मुहुश्छिद्राणि विमृशन्नातुरो न स जीवति ।

दाँतों से नखों के अग्रभागों को, नखाग्रों से केशों या तिनकों को काटनेवाला, भूमि को लकड़ी से कुरेदनेवाला, ढेले को ढेले से मारने वाला, रोमांचवाला, घट्ट (गाढ़े) मूत्रवाला, शुष्ककास युक्त, ज्वररोगी, बार-बार हंसने वाला, बार-बार शब्द करने वाला, पैर से शय्या को मारने वाला तथा बार-बार छिद्रों की (दोषों की) विवेचना करनेवाला (छिद्रान्वेषी) या नासिका आदि छिद्रों को बार-बार स्पर्श करने वाला रोगी नहीं जीता ॥ ११८-११९ ॥

मृत्यवे सहसाऽर्तस्य तिलकव्यङ्गविप्लवः ॥ १२० ॥
मुखे, दन्तनखे पुष्पं, जठरे विविधाः सिराः ।

रोगी के मुख पर अचानक तिलक, व्यङ्ग तथा विप्लव का होना नखों या दाँतों पर पुष्प (श्वेत चिह्न) बनना, उदर पर नाना प्रकार की सिराओं का उभड़ना मृत्यु के लिये होता है।

ऊर्ध्वश्वासं गतोष्माणं शूलोपहतवङ्क्षणम् ॥ १२१ ॥
शर्म चानधिगच्छन्तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ।

ऊर्ध्व श्वास वाले, ऊष्मारहित, वंक्षण-शूलयुक्त एवं (किसी भी प्रकार) शान्ति न अनुभव करने वाले (बेचैन) रोगी को वैद्य छोड़ देवे ॥ १२१ ॥

विकारा यस्य वर्धन्ते प्रकृतिः परिहीयते ॥ १२२ ॥
सहसा, सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ।

जिस रोगी के विकार (रोग) सहसा बढ़ते हों और प्रकृति सहसा कम होती (बदलती) जाती हो, (शूर डरपोक होवे, दाता लालची हो जावे आदि), उसकी मृत्यु सहसा हो जाती है ॥ १२२ ॥

औषधिसम्बन्धी 'रिष्ट'—

यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः सम्पादयितुमौषधम् ॥ १२३ ॥
यतमानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ।

जिसके उद्देश्य से वैद्य यत्न करते हुए भी औषध तैयार नहीं कर सकता है, उसका जीवन दुर्लभ है ॥ १२३ ॥

विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावचारितम् ॥ १२४ ॥
न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ।

पूर्णतया जानी हुई, बार-बार सफल सिद्ध हुई तथा विधिपूर्वक दी हुई भी औषध जिस रोगी में सफल नहीं होती उसके लिये औषध नहीं है (वह मरेगा) ॥ १२४ ॥

भवेद्यस्यौषधेऽन्ने वा कल्प्यमाने विपर्ययः ॥ १२५ ॥
अकस्माद्वर्णगन्धादेः स्वस्थोऽपि न स जीवति ।

जिसके उद्देश्य से औषध या अन्न बनाने में बिना कारण के रस, गन्ध, वर्ण आदि की विपरीतता हो जाती है, वह स्वस्थ होने पर भी नहीं जीता ॥ १२५ ॥

अदृष्टजन्य रिष्ट—

निवाते सेन्धनं यस्य ज्योतिश्चाप्युपशाम्यति ॥ १२६ ॥
आतुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा ।
अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ १२७ ॥

जिस रोगी के घर में हवा का झोंका न होने तथा तेल और बत्ती ठीक होने पर भी दीपक बुझ जाता है अथवा बर्तन आदि जिसके घर में बहुत अधिक मात्रा में टूटते या गिरते हैं, उस रोगी का जीवन दुर्लभ है ॥ १२६-१२७ ॥

यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति ।
संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥ १२८ ॥

जिस दुर्बल मनुष्य को रोग सहसा छोड़ देता है, आत्रेय ऋषि उसके जीवन को संशयग्रस्त मानते हैं ॥ १२८ ॥

रोगी के बान्धवादि रिष्ट का कथननिषेध—

कथयेन्न च पृष्टोऽपि दुःश्रवं मरणं भिषक् ।
गतासोर्बन्धुमित्राणां न चेच्छेत्तं चिकित्सितुम् ॥

वैद्य को चाहिये कि मरने वाले के सम्बन्धी या मित्रों को पूछने पर भी सुनने में बुरी (मृत्यु की) सूचना न दे और (किसी बहाने से टालकर) उसकी चिकित्सा न करे। ('गतासु' का सामान्य अर्थ 'मृत' होता है पर यहां 'आसन्नमृत्यु' समझना चाहिये।) ॥ १२९ ॥

रिष्टयुक्त रोगी की चिकित्सानिषेध का कारण—

यमदूतपिशाचाद्यैर्यत्परासुरुपास्यते ।
घ्नद्भिरौषधवीर्याणि तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥ १३० ॥

क्योंकि यमदूत, पिशाच आदि घेरे रहते हैं और वे औषध की शक्ति को नष्ट कर देते हैं; इसलिये मुमूर्षु की चिकित्सा न करे ॥ ११० ॥

रिष्ट ज्ञान की महत्ता—

आयुर्वेदफलं कृत्स्नं यदायुर्ज्ञे प्रतिष्ठितम् ।
रिष्टज्ञानादृतस्तस्मात्सर्वदैव भवेद्भिषक् ॥ १३१ ॥

क्योंकि आयुर्वेद को जानने वाले वैद्य में आयुर्वेद का फल (आयु का ज्ञान और उसकी रक्षा) सम्पूर्ण रूप में स्थित है। इसलिये वैद्यको सदा रिष्टज्ञान को समझने वाला होना चाहिये। (आयु होने पर ही उसकी रक्षा भी हो सकती है। रिष्टज्ञान से आयुसमाप्ति की सूचना मिलती है और आयुसमाप्ति में उसकी रक्षा का प्रयास व्यर्थ होता है।') ॥१३१॥

पुण्यादिक्षय से मृत्यु कारण—

मरणं प्राणिनां दृष्टमायुःपुण्योभयक्षयात् ।
तयोरप्यक्षयाद् दृष्टं विषमापरिहारिणाम् ॥ १३२ ॥

इति वैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां द्वितीये शारीरस्थाने
विकृतिविज्ञानीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

---

१. इस ग्रन्थ में मृत्युसूचक लक्षणों को 'रिष्ट' और उससे भिन्न 'अरिष्ट' कहा है। सुश्रुत में भी यही क्रम है। पर चरक ने तथा उन्हीं की भाँति अन्य अनेक आचार्यों ने 'रिष्ट' के अर्थ में ही 'अरिष्ट' और उससे भिन्न के लिये 'अनरिष्ट' शब्द का प्रयोग किया है।

आयु और पुण्य में से किसी एक या दोनों के क्षय होने से प्राणियों का मरण देखा जाता है। आयु और पुण्य इन दोनों का क्षय न होने पर भी विषम आहार-विहार आदि का (चण्ड हाथी, गाय, भैंस, शेर, गिरना, साँप आदि-जिनसे बचना चाहिए, उनका) परिहरण न करने के स्वभाव वालों की भी मृत्यु देखी जाती है[1] ॥ १३२ ॥

वक्तव्य—मृत्यु नियत काल और अनियत काल दोनों प्रकार की है। जैसे एक गाड़ी सीधे रास्ते पर चलते-चलते अपने समय पर टूटती है, वह नियत काल मृत्यु है, और वही गाड़ी पहाड़ आदि पर चलाने से या वाहक या घोड़े आदि के दोष से असमय में टूट जाती है, यह अकाल मृत्यु है। इसी प्रकार आयु और पुण्य के क्षय से जो मृत्यु होती है, वह काल मृत्यु है और शेर, चीता आदि से या अपथ्य सेवन से जो मृत्यु होती है, वह अकाल मृत्यु है।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में शारीरस्थान का विकृतिविज्ञानीय नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातो दूतादिविज्ञानीयं शारीरं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयोमहर्षयः ॥

अब इसके आगे दूतादिविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

पाखण्डादि दूतों का शुभाशुभ लक्षण—

पाखण्डाश्रमवर्णानां सवर्णाः कर्मसिद्धये।
त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्मविपत्तये ॥ १ ॥

पाखण्ड, आश्रम, वर्ण-इनमें जो समान वर्ण के-तुल्य जाति के-दूत होते हैं. वे कर्मसिद्धि के लिये हैं। और वे यदि विपरीत हों तो कर्म का नाश करने वाले होते हैं ॥ १ ॥

वक्तव्य—पाखण्ड-२६ प्रकार के व्रात्य विशेष, आश्रम-ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी; वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र। इनमें जो रोगी के समान होते हैं, वे दूत चिकित्सा में सफलता देते हैं, विपरीत असफलता देते हैं।

अशुभ दूतों का लक्षण—

दीनं भीतं द्रुतं त्रस्तं रूक्षामङ्गलवादिनम्।
शास्त्रिणं दण्डिनं षण्ढं मुण्डश्मश्रुजटाधरम् ॥ २ ॥
अमङ्गलाह्वयं क्रूरकर्माणं मलिनं स्त्रियम्।
अनेकं व्याधितं व्यङ्गं रक्तमाल्यानुलेपनम् ॥ ३ ॥
तैलपङ्काङ्कितं जीर्णविवर्णार्द्रैकवाससम्।
खरोष्ट्रमहिषारूढं काष्ठलोष्टादिमर्दिनम् ॥ ४ ॥
नानुगच्छेद्भिषग्दूतमाह्वयन्तं च दूरतः।

दीन, भीत (डरा हुआ), भागता हुआ, घबराया हुआ, रूक्ष, अशुभ कहने वाला, शस्त्र या दण्डा हाथ में लिये, नपुंसक, मुँडा हुआ या दाढी-जटा धारण किये, अकल्याण नाम वाला, क्रूर कर्म करने वाला, मैला, स्त्री, एक से अधिक, रोगी, हीन अङ्गवाला, लाल माला या लाल लेप वाला, तैल या कीचड़ चुपड़े, फटे, विवर्ण या गीले अथवा एक ही वस्त्र को धारण किया हुआ, गधे, ऊँट या भैंस पर सवार, लकड़ी या ढेले को मलता हुआ और दूर से पुकारने वाला, ऐसे दूत के साथ वैद्य न जाये ॥ २-४ ॥

वैद्य के लक्षणों से अशुभ सूचना—

अशस्तचिन्तावचने नग्ने छिन्दति भिन्दति ॥ ५ ॥
जुह्वाने पावकं पिण्डान् पितृभ्यो निर्वपत्यपि।
सुप्ते मुक्तकचेऽभ्यक्ते रुदत्यप्रयते तथा ॥ ६ ॥
वैद्ये दूता मनुष्याणामागच्छन्ति मुमूर्षताम्।

वैद्य यदि अप्रशस्त वस्तु की चिन्ता या बोलने में लगा हो, नंगा हो, काट रहा हो, तोड़ रहा हो, अग्नि में हवन करता हो, पितरों को पिण्ड दे रहा हो, सोया हो, बाल खोले हो, अभ्यंग किया हो, रो रहा हो, अपवित्र स्थिति में हो, तब जो दूत आते हैं, वे मरने वाले मनुष्यों के होते हैं ॥ ५-६ ॥

देश-कालानुसार दूतविचार—

विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवा भिषक् ॥ ७ ॥
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत्।

रोग के तुल्य गुण वाले देश या काल में आये हुए दूत को देखकर वैद्य उस रोगी की चिकित्सा न करे ॥ ७ ॥

वक्तव्य—कफजन्य ज्वर में घृत, पानी आदि द्रव के समीप में हो, आनूप देश हो, प्रातःकाल हो तो वैद्य चिकित्सा न करे।

दूत की अशुभ चेष्टा—

स्पृशन्तो नाभिनासास्यकेशरोमनखद्विजान् ॥ ८ ॥
गुह्यपृष्ठस्तनग्रीवाजठरानामिकाङ्गुलीः ।
कार्पासबुससीसास्थिकपालमुशलोपलम् ॥ ९ ॥
मार्जनीशूर्पचैलान्तभस्माङ्गारदशातुषान् ।
रज्जूपानत्तुलापाशमन्यद्वा भग्नविच्युतम् ॥ १० ॥
तत्पूर्वदर्शने दूता व्याहरन्ति मरिष्यताम्।

जो दूत प्रथम दर्शन में ही नाभि, नासा, मुख, केश, रोम, नख या दाँतों को छूते हुए, गुह्यभाग, पीठ, स्तन, ग्रीवा, उदर, अनामिका अंगुलि, रुई, भूसा, सीसा, अस्थि, मिट्टी का ठीकरा, मुसल, पत्थर, झाड़ू, सूप, वस्त्र के किनारे, भस्म, अङ्गारे, कपड़े की वर्त्ती, बुस (भूसा), रस्सी, जूता, तराजू,

---

[1] १. यहाँ मृत्यु के चार कारण बताये गए हैं। (१) आयुःक्षय (२) पुण्यक्षय (३) उभयक्षय (४) विषमापरिहार।

शरीर की रचना के अनुसार (अ० १ श्लो० १०६ से ११८) यथायोग्य समय पर आयुःक्षय से मृत्यु होती है। अधिक जीने योग्य शरीर होने पर भी उचित भोजनादि साधनों के अभाव से होने वाली मृत्यु पुण्यक्षयजन्य होती है। जहाँ दोनों ही कारण होते हैं वहां उभयक्षयजन्य मृत्यु होती है। और जब असंयम, साहस और असावधानी आदि के कारण (ऊपर वक्तव्य में वर्णित) जो अकाल मृत्यु होती है वह विषमापरिहारजन्य मृत्यु कहलाती है।

पाश अथवा अन्य किसी टूटी या गिरी हुए वस्तु को छूते हैं—वे मरने वाले रोगी की सूचना देते हैं ॥ ८-१० ॥

दूतागमन के अशुभ समय—

तथाऽर्धरात्रे मध्याह्ने सन्ध्ययोः पर्ववासरे ॥ ११ ॥
षष्ठीचतुर्थीनवमीराहुकेतूदयादिषु ।
भरणीकृत्तिकाऽऽश्लेषापूर्वार्द्रापैत्र्यनैर्ऋते ॥ १२ ॥

इसी प्रकार आधी रात में, मध्याह्न में, सन्ध्याकाल में, पर्व के दिन, षष्ठी, चतुर्थी, नवमी, या राहु अथवा केतु के उदय आदि के दिन (ग्रहण), भरणी, कृत्तिका, आश्लेषा, पूर्वाषाढ़ा, आर्द्रा, मघा और मूल नक्षत्र में जो दूत आते हैं, वे भी रोगी की मृत्यु के सूचक हैं ॥ ११-१२ ॥

दूत के आने पर अशुभ लक्षण—

यस्मिंश्च दूते ब्रुवति वाक्यमातुरसंश्रयम् ।
पश्येन्निमित्तमशुभं तं च नानुव्रजेद्भिषक् ॥ १३ ॥
तद्यथा विकलः प्रेतः प्रेतालङ्कार एव वा ।
छिन्नं दग्धं विनष्टं वा तद्वादीनि वचांसि वा ॥ १४ ॥
रसो वा कटुकस्तीव्रो गन्धो वा कौणपो महान् ।
स्पर्शो वा विपुलः क्रूरो यद्वाऽन्यदपि तादृशम् ॥ १५ ॥
तत्सर्वमभितो वाक्यं वाक्यकालेऽथवा पुनः ।
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत् ॥ १६ ॥

जिस दूत के रोगि सम्बन्धी वचन बोलने पर वैद्य निम्न अशुभ निमित्त को देखे, उस दूत के साथ वैद्य न जाये ।

अशुभनिमित्त—अङ्गहीन, प्रेत, मृत पुरुष के लिए प्रयुक्त अलंकारों से शोभित, कटी हुई रस्सी आदि, जला हुआ वस्त्र आदि, नष्ट हुआ घड़ा आदि दिखाई दे अथवा छिन्न, दग्ध, नष्ट, आदि शब्द सुनाई दें अथवा कटु रस, तीव्र गन्ध या मुर्दे की तीव्र गन्ध, आदि क्रूर स्पर्श अथवा अन्य इसी प्रकार का कोई अशुभ, रोगी के सम्बन्ध में दूत के बोलते रहने पर हो अथवा दूत के आने के समय ऐसा ही कोई अशुभ निमित्त हो तो उस रोगी की चिकित्सा न करे ॥ १३-१६ ॥

अन्यान्य अशुभ लक्षण—

हाहाक्रन्दितमुत्क्रुष्टमाक्रुष्टं स्खलनं क्षुतम् ।
वस्त्रातपत्रपादत्रव्यसनं व्यसनीक्षणम् ॥ १७ ॥
चैत्यध्वजानां पात्राणां पूर्णानां च निमज्जनम् ।
हतानिष्टप्रवादाश्च दूषणं भस्मपांसुभिः ॥ १८ ॥
पथश्छेदोऽहिमार्जारगोधासरटवानरैः ।
दीप्तां प्रतिदिशं वाचः क्रूराणां मृगपक्षिणाम् ॥ १९ ॥
कृष्णधान्यगुडोदश्विल्लवणासवचर्मणाम् ।
सर्षपाणां वसातैलतृणपङ्केन्धनस्य च ॥ २० ॥
क्लीबक्रूरश्वपाकानां जालवागुरयोरपि ।
छर्दितस्य पुरीषस्य पूतिदुर्दर्शनस्य च ॥ २१ ॥
निःसारस्य व्यवायस्य कार्पासादेररेरपि ।
शयनासनयानानामुत्तानानां तु दर्शनम् ॥ २२ ॥
न्युब्जानामितरेषां च पात्रादीनामशोभनम् ।

हा हा करके रोना, जोर से रोना, या डाट कर बुलाना, गिरना, छींक का आना, वैद्य के वस्त्र, छाते या जूते का नष्ट होना, दुखी आदमियों का दिखाई देना, चैत्य, ध्वजा, और भरे पात्रों का गिरना, मरा, नष्ट हुआ आदि प्रवादों का सुनना, राख या धूल से (वैद्य के) वस्त्रों का खराब होना, साँप, बिल्ली, गोह, गिरगिट या बन्दर का रास्ता काट कर जाना, सूर्य जिस दिशा में हो उस दिशा की ओर मुख करके क्रूर मृग, पक्षी का बोलना ये अशुभ हैं । (वैद्य के जाते समय रास्ते में या रोगी के घर में घुसते समय) काले धान्य, गुड़, तक्र, लवण, आसव, चर्म, सरसों, वसा, तैल, तिनका, कीचड़, इन्धन, नपुंसक, क्रूर व्यक्ति, चाण्डाल, जाल, वागुरा (मृगबन्धनी), वमन, मल, दुर्गन्ध, देखने में बुरे, सार रहित वस्तु, मैथुन, रुई आदि (श्लोक ९ में कही), शत्रु, उत्तान रूपमें पड़ी शय्या, आसन या यान का दर्शन हो या घट, शराव आदि अन्य वस्तुयें उल्टे मुख नीचे पड़ी हों तो ये अशुभ चिह्न हैं ।

नर और मादा पक्षियों से शुभाशुभज्ञान—

पुंसंज्ञाः पक्षिणो वामाः स्त्रीसंज्ञा दक्षिणाः शुभाः ॥२३॥
प्रदक्षिणं खगमृगा यान्तो, नैवं श्वजम्बुकाः ।
अयुग्माश्च मृगाः शस्ताः शस्ता नित्यं च दर्शने ॥२४॥
चाषभासभरद्वाजनकुलच्छागबर्हिणः ।

पुंल्लिंग-पक्षी वाम पार्श्व में स्त्रीलिंग-पक्षी दक्षिण पार्श्व में, वाम से दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए पशु-पक्षी प्रशस्त हैं। किन्तु कुत्ता और गीदड़ दक्षिण से वाम जाते हुए शुभ हैं [या इनका मिलना ही शुभ नहीं]। अयुग्म—पाँच या सात आदि मृगों का मिलना शुभ है। चाष, भास, भरद्वाज, नेवला, बकरा और मोर का दिखाई देना सदा (दाहिने बायें कहीं भी) शुभ है।

अशुभ पक्षी आदि—

अशुभं सर्वथोलूकबिडालसरटेक्षणम् ॥ २५ ॥

उल्लू, बिल्ली, सरट (गिरगिट), इनका किसी भी रूप में दिखाई देना अशुभ है ॥ २५ ॥

सूअर आदि का बोलना शुभ—

प्रशस्ताः कीर्तने कोलगोधाहिशशजाहकाः ।
न दर्शने न विरुते, वानरर्क्षावतोऽन्यथा ॥ २६ ॥

कोल (सूअर), गीध, साँप, खरगोश, जाहक, इनकी बोली प्रशस्त है, परन्तु देखने में या रोने में ये प्रशस्त नहीं। बन्दर और भालू (रीछ) देखने में रोने में प्रशस्त हैं, बोलने में प्रशस्त नहीं हैं ॥ २६ ॥

इन्द्रधनुष आदि से शुभाशुभज्ञान—

धनुरैन्द्रं च लालाटमशुभं, शुभमन्यतः ।
अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च ॥ २७ ॥

सामने की ओर इन्द्रधनुष होना अशुभ है, पीठ या पार्श्व में होना शुभ है । अग्नि से भरे, टूटे हुए या अन्दर से खाली पात्रों का रास्ते में मिलना शुभ नहीं है ॥ २७ ॥

वैद्य को रोगी के घर पहुंचने पर शुभाशुभ निमित्त—

दध्यक्षतादि निर्गच्छद्वक्ष्यमाणं च मङ्गलम् ।
वैद्यो मरिष्यतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यति ॥ २८ ॥

रोगी के घर में घुसता हुआ वैद्य यदि रोगी के घर से निकलते हुए दही, अक्षत आदि तथा आगे (श्लोक ३० में) कही जाने वाली मांगलिक वस्तुओं को रोगी के घर से निकलते देखता हो, तो रोगी को मरने वाला समझे ॥ २८ ॥

वैद्य को उपदेश—

दूताद्यसाधु दृष्ट्वैवं त्यजेदार्तमतोऽन्यथा ।
करुणाशुद्धसन्तानो यत्नतस्तमुपाचरेत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार के दूतादि से रोगी का अशुभ देख कर वैद्य रोगी की चिकित्सा न करे। इससे विपरीत रूप में शुभ देख कर दया से निर्मल चित्तवाला वैद्य यत्नपूर्वक रोगी की चिकित्सा करे ॥ २९ ॥

रोगी के नीरोग होने के लक्षण—

दध्यक्षतेक्षुनिष्पावप्रियङ्गुमधुसर्पिषाम् ।
यावकाञ्जनभृङ्गारघण्टादीपसरोरुहाम् ॥ ३० ॥
दूर्वार्द्रमत्स्यमांसानां लाजानां फलभक्षयोः ।
रत्नेभपूर्णकुम्भानां कन्यायाः स्यन्दनस्य च ॥ ३१ ॥
नरस्य वर्धमानस्य देवतानां नृपस्य च ।
शुक्लानां सुमनोबालचामराम्बरवाजिनाम् ॥ ३२ ॥
शङ्खसाधुद्विजोष्णीषतोरणस्वस्तिकस्य च ।
भूमेः समुद्धतायाश्च वह्नेः प्रज्वलितस्य च ॥ ३३ ॥
मनोज्ञस्यान्नपानस्य पूर्णस्य शकटस्य च ।
नृभिर्धेन्वाः सवत्साया वडवायाः स्त्रिया अपि ॥३४।
जीवञ्जीवकसारङ्गसारसप्रियवादिनाम् ।
हंसानां शतपत्राणां बद्धस्यैकपशोस्तथा ॥ ३५ ॥
रुचकादर्शसिद्धार्थरोचनानां च दर्शनम् ।
गन्धः सुसुरभिर्वर्णः सुशुक्लो मधुरो रसः ॥ ३६ ॥
गोपतेरनुकूलस्य स्वनस्तद्वद् गवामपि ।
मृगपक्षिनराणां च शोभिनां शोभना गिरः ॥ ३७ ॥
छत्रध्वजपताकानामुत्क्षेपणमभिष्टुतिः ।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां शब्दाः पुण्याहनि स्वनाः ॥ ३८ ॥
वेदाध्ययनशब्दाश्च सुखो वायु प्रदक्षिणः ।
पथि वेश्मप्रवेशे च विद्यादारोग्यलक्षणम् ॥ ३९ ॥
इत्युक्तं दूतशकुनम्—

दही, अक्षत आदि शुभ शकुन—दही, अक्षत, निष्पाव (सेम), प्रियंगु, मधु, घी, यावक (आलता), अञ्जन, भृंगार (झारी या सुराही), घण्टा, दीपक, कमल, दूर्वा, गीली (ताजी) मछली, गीला (ताजा) मांस, लाजा, फल, खाद्य वस्तु, रत्न, हाथी, घड़े, कन्या, रथ, वर्धमान मनुष्य (मान, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति और आयु आदि से बढते हुए मनुष्य), देवता, राजा, श्वेत फूल, बाल, श्वेत वस्त्र, चामर, श्वेत घोड़ा, शंख, साधु, ब्राह्मण, पगड़ी, तोरण, स्वस्तिक, जोत कर सम की हुई भूमि, जलती हुई आग, मन के अनुकूल खान-पान, मनुष्यों से भरा हुआ रथ, बच्चे के साथ गाय, घोड़ी तथा स्त्री, जीवञ्जीवक, सारङ्ग, सारस, प्रिय बोलने वाले हंस, शतपत्र आदि पक्षियों का दर्शन, बंधा हुआ एक पशु, रुचक (कड़ा-वलय), शीशी (दर्पण), सरसों, गोरोचन या सुन्दर वस्तुओं का दर्शन, उत्तम सुगन्धित गन्ध, अतिश्वेत वर्ण, मधुर रस, अकुपित साँड़ का शब्द, इसी प्रकार गायों का भी अकुपित शब्द, शुभकारी पुरुष, मृग एवं पक्षियों की सुन्दर वाणी, छाता, ध्वजा, पताका का ऊपर को चढ़ाना-उठाना यात्राकाल में जय-जय का आशीर्वाद शब्द, भेरी, मृदङ्ग और शंख के पुण्य प्रशस्त शब्दों का सुनना, वेदपाठ के शब्दों का सुनना, अनुकूल सुख देने वाली वायु, इनका रास्ते में या रोगी के घर में प्रवेश करते समय होना रोगी के आरोग्य का लक्षण है।

इस प्रकार से दूतशकुन कह दिये गये ॥ ३०-३९ ॥

वक्तव्य—'वर्धमान' का अर्थ सन्दिग्ध है। इन्दु—अलङ्कार विशेष मानते हैं। दूसरे—गोद उठाए हुए बच्चे को-वर्धमान कहते हैं। कुछ वर्धमान का शराव अर्थ करते हैं। अन्य—विशेष दर्प या चषक को जो कि मङ्गल कार्य के लिए बनाया जाता है, 'वर्धमान' कहते हैं। अरुणदत्त ने 'शौर्य, त्याग, प्रज्ञा और राजसम्मान आदि से बढ़ते हुये मनुष्य' अर्थ किया है, यही ठीक लगता है।

— स्वप्नानूर्ध्वं प्रचक्षते ।

इसके आगे स्वप्नों को कहते हैं।

ज्वर से मृत्यु होने के स्वप्न—

स्वप्ने मद्यं सह प्रेतैर्यः पिबन् कृष्यते शुना ॥ ४० ॥
स मर्त्यो मृत्युना शीघ्रं ज्वररूपेण नीयते ।

जो व्यक्ति स्वप्न में प्रेतों के साथ मद्य पीता हुआ कुत्तों से खींचा जाता है, वह ज्वर रूप मृत्यु से शीघ्र ही कुछ दिनों में लोकान्तर में ले जाया जाता है ॥ ४० ॥

रक्तपित्त से मृत्यु होने के स्वप्न—

रक्तमाल्यवपुर्वस्त्रो यो हसन् ह्रियते स्त्रिया ॥ ४१ ॥
सोऽस्रपित्तेन—

लाल माला, लाल शरीर या लाल वस्त्र वाला हँसता हुआ जो मनुष्य स्वप्न में स्त्री से खींचा जाता है; वह रक्तपित्त से मरता है ॥ ४१ ॥

यक्ष्मा से मृत्यु होने के स्वप्न—

—महिषश्ववराहोष्ट्रगर्दभैः ।
यः प्रयाति दिशं याम्यां मरणं तस्य यक्ष्मणा ॥४२॥

जो मनुष्य स्वप्न में भैंसा, कुत्ता, सूअर, ऊंट और गधे की सवारी से दक्षिण दिशा में जाता है; वह यक्ष्मा-रोग से मरता है ॥ ४२ ॥

गुल्म से मृत्यु होने के स्वप्न—

लता कण्टकिनी वंशस्तालो वा हृदि जायते ।

यस्य तस्याशु गुल्मेन—

जिस रोगी के हृदय में काँटों वाली लता बाँस या ताल स्वप्न में उत्पन्न होते हैं वह जल्दी गुल्म से मरता है।

कुष्ठ से मृत्यु होने के स्वप्न—

—यस्य वह्निमनर्चिषम् ॥ ४३ ॥
जुह्वतो घृतसिक्तस्य नग्नस्योरसि जायते।
पद्मं स नश्येत्कुष्ठेन—

स्वप्न में नङ्गे होकर तथा घी का अभ्यङ्ग कर ज्वालारहित अग्नि में हवन करते रहने पर जिस मनुष्य की छाती में कमल उत्पन्न होता है वह कुष्ठ से मरता है ॥ ४३ ॥

प्रमेह से मृत्यु होने के स्वप्न—

- चण्डालैः सह यः पिबेत् ॥ ४४ ॥
स्नेहं बहुविधं स्वप्ने स प्रमेहेण नश्यति।

जो मनुष्य स्वप्न में चण्डालों के साथ बहुत प्रकार का स्नेह पीता है वह प्रमेह से मरता है ॥ ४४ ॥

उन्माद से मृत्यु होने के स्वप्न—

उन्मादेन जले मज्जेद्यो नृत्यन् राक्षसैः सह ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य स्वप्न में राक्षसों के साथ नाचता हुआ जल में डूबता है, वह उन्माद से मरता है ॥ ४५ ॥

अपस्मार से मृत्यु होने के स्वप्न—

अपस्मारेण यो मर्त्यो नृत्यन् प्रेतेन नीयते।

जो मनुष्य स्वप्न में नाचता हुआ प्रेतों द्वारा खींचा जाता है वह अपस्मार से मरता है।

मृत्युसूचक अन्य स्वप्न—

यानं खरोष्ट्रमार्जारकपिशार्दूलसूकरैः ॥ ४६ ॥
यस्य प्रेतैः शृगालैर्वा स मृत्योर्वर्तते मुखे।
अपूपशष्कुलीर्जग्ध्वा विबुद्धस्तद्विधं वमन् ॥ ४७ ॥
न जीवति —

स्वप्न में जिसकी सवारी गधा, ऊँट, बिल्ली, बन्दर, सिंह, सूअर, प्रेत या शृगाल होते हैं वह शीघ्र मरता है।

स्वप्न में अपूप या कचौड़ी खाता हुआ अपने को देखकर जो प्रातः वैसा ही वमन करता है वह नहीं जीता ॥४६-४७॥

नेत्ररोग तथा अन्धतासूचक स्वप्न—

—अक्षिरोगाय सूर्येन्दुग्रहणेक्षणम्।
सूर्याचन्द्रमसोः पातदर्शनं दृग्विनाशनम् ॥ ४८ ॥

स्वप्न में सूर्य या चन्द्र का ग्रहण देखना नेत्र-रोग तथा सूर्य या चन्द्र का गिरते देखना दृष्टिनाश के लिये होता है।

अन्यान्य अशुभ स्वप्न—

मूर्ध्नि वंशलतादीनां सम्भवो वयसां तथा।
निलयो मुण्डता काकगृध्राद्यैः परिवारणम् ॥ ४९ ॥
तथा प्रेतपिशाचस्त्रीद्रविडान्ध्रगवाशनैः।
सङ्गो वेत्रलतावंशतृणकण्टकसङ्कटे ॥ ५० ॥
श्वभ्रश्मशानशयनं पतनं पांसुभस्मनोः।
मज्जनं जलपङ्कादौ शीघ्रेण स्रोतसा हृतिः ॥ ५१ ॥
नृत्यवादित्रगीतानि रक्तस्रग्वस्त्रधारणम्।
वयोऽङ्गवृद्धिरभ्यङ्गो विवाहः श्मश्रुकर्म च ॥ ५२ ॥
पक्वान्नस्नेहमद्याशः प्रच्छर्दनविरेचने।
हिरण्यलोहयोर्लाभः कलिर्बन्धपराजयौ ॥ ५३ ॥
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पादचर्मणोः।
हर्षो भृशं प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम् ॥ ५४ ॥
प्रदीपग्रहनक्षत्रदन्तदैवतचक्षुषाम् ।
पतनं वा विनाशो वा, भेदनं पर्वतस्य च ॥ ५५ ॥
कानने रक्तकुसुमे पापकर्मनिवेशने।
चितान्धकारसम्बाधे जनन्यां च प्रवेशनम् ॥ ५६ ॥
पातः प्रासादशैलादेर्मत्स्येन ग्रसनं तथा।
काषायिणामसौम्यानां नग्नानां दण्डधारिणाम् ॥५७॥
रक्ताक्षाणां च कृष्णानां दर्शनं जातु नेष्यते।

शिर पर बाँस या लता आदि का उत्पन्न होना, पक्षियों के घोसलों का शिर में बनना, शिर का मुड़ना, कौआ, गीध आदि से घिर जाना, प्रेत, पिशाच, स्त्री, द्रविड, आन्ध्र, गोमांस भक्षक इनका सङ्ग होना, बेंत, लता, बाँस, तिनके या काँटों में से रास्ता न मिलना, गड्ढे या श्मशान में सोना, धूल या राख में गिरना, जल या कीचड़ में डूबना, तेज धारा वाले स्रोत में बह जाना, नाचना, गाना, बजाना, लाल माला या वस्त्र का पहनना, वय या अङ्ग का बढ़ना, अभ्यङ्ग करना, विवाह, हजामत करवाना, पक्वान्न (मण्डक, पूरी, हलवा आदि), स्नेह या मद्य का खाना, वमन या विरेचन करना, स्वर्ण या लौह की प्राप्ति, झगड़ा, बन्धन या पराजय का देखना, दोनों जूतों का नाश, पैर तथा चमड़े का गिरना, अतिशय हर्ष, कुपित पितरों से तिरस्कृत होना, दीपक, नक्षत्रग्रह, दाँत, दैवत (देवता) और चक्षु का नाश या गिरना, पर्वत का टूटना, लाल फूल वाले जङ्गल में प्रवेश, पापियों के घर में जाना, चिता में, अन्धकार में या माता (के उदर) में प्रविष्ट होना, महल या पर्वतादि से गिरना, मछली से निगला जाना, गेरुए वस्त्रधारी, अप्रशस्त, नग्न या दण्डधारी, लाल आँखों वाले और काले वर्ण के पुरुषों का स्वप्न में देखना कभी भी अच्छा नहीं।

स्वप्न में कालरात्रिरूप स्त्री—

कृष्णा पापाननाचारा दीर्घकेशनखस्तनी ॥ ५८ ॥
विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता।

स्वप्न में काली, पापी मुख एवं आचार वाली, लम्बे बाल, नख एवं स्तन वाली, रागरहित (सूखे फूलों की) माला और वस्त्रों से युक्त स्त्री को स्वप्न में देखना मृत्यु की रात्रि के समान है ॥ ५८ ॥

स्वप्नदर्शन में कारण तथा उससे मृत्यु—

मनोवहानां पूर्णत्वात्स्रोतसां प्रबलैर्मलैः ॥ ५९ ॥
दृश्यन्ते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पञ्चताम्।
अरोगः संशयं प्राप्य कश्चिदेव विमुच्यते ॥ ६० ॥

मन को वहन करने वाले स्रोतों के अतिबलवान् मलों

(दोषों) द्वारा भर जाने से रोगी को भयानक स्वप्न दीखते हैं, जिसे देखकर रोगी मरता है और नीरोगी मनुष्य जीवन के सन्देह को प्राप्त करके कोई विरला ही मृत्यु से बचता है।

स्वप्न के सात प्रकार—

दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कल्पितस्तथा ।
भाविको दोषजश्चेति स्वप्नः सप्तविधो मतः ॥ ६१ ॥

स्वप्न के भेद—स्वप्न सात प्रकार का होता है—देखा हुआ, सुना हुआ, अनुभव किया हुआ, माँगा हुआ, कल्पना किया भाविक और दोषजन्य ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—भाविक स्वप्न—देखे-सुने आदि स्वप्न से विलक्षण स्वप्न का दिखलाई देना या ऐसा ही विलक्षण स्वप्न किसी मनुष्य ने देखा, फिर उसके मुख से सुनकर दूसरे को वैसा स्वप्न दिखाई देना भाविक स्वप्न है।

उन स्वप्नों का फलाफलदायकत्व—

तेष्वाद्या निष्फलाः पञ्च यथास्वप्रकृतिर्दिवा ।
विस्मृतो दीर्घह्रस्वोऽति—

इनमें प्रारम्भ के पाँच स्वप्न निष्फल होते हैं। मनुष्य की प्रकृति के अनुसार दृष्ट स्वप्न, दिवा-स्वप्न, भूला हुआ स्वप्न, बहुत बड़ा या छोटा स्वप्न भी निरर्थक होता है।

पूर्वरात्रि के स्वप्न का देर से फल—

—पूर्वरात्रे चिरात्फलम् ॥ ६२ ॥
दृष्टः करोति तुच्छं च —

रात्रि के पहले भाग में दीखा स्वप्न देर में और थोड़ा फल करता है ॥ ६२ ॥

प्रातःकाल के स्वप्न का निद्रा नहीं आने पर फल—

—गोसर्गे तदहर्महत् ।
निद्रया वाऽनुपहतः प्रतीपैर्वचनैस्तथा ॥ ६३ ॥

गायों को खोलने के समय (उषाकाल) में देखा गया स्वप्न अथवा जिस स्वप्न को देखकर फिर नींद न आये अथवा विरोधी वचनों से जो नष्ट नहीं हुआ है, वह स्वप्न उसी दिन बहुत बड़ा फल देता है ॥ ६३ ॥

अशुभ स्वप्न में दानादि—

याति पापोऽल्पफलतां दानहोमजपादिभिः ।

अशुभ स्वप्न, दान, होम, जप आदि से थोड़ा फल देता है।

दुःस्वप्न के बाद सुस्वप्न—

अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः ॥ ६४ ॥
पश्येत्सौम्यं शुभं तस्य शुभमेव फलं भवेत् ।

अशुभ स्वप्न को देखकर जो उसी समय फिर शुभ स्वप्न को देखता है, उस स्वप्न का अच्छा ही फल होता है ॥ ६४ ॥

शुभसूचक स्वप्न—

देवान् द्विजान् गोवृषभान् जीवतः सुहृदो नृपान् ॥
साधून् यशस्विनो वह्निमिद्धं स्वच्छाम्जलाशयान् ।
कन्याः कुमारकान् गौरान् शुक्लवस्त्रान् सुतेजसः ॥
नराशनं दीप्ततनुं समन्ताद्रुधिरोक्षितम् ।
यः पश्येल्लभते यो वा छत्रादर्शविषामिषम् ॥ ६७ ॥
शुक्लाः सुमनसो वस्त्रममेध्यालेपनं फलम् ।
शैलप्रासादसफलवृक्षसिंहनरद्विपान् ॥ ६८ ॥
आरोहेद् गोश्वयानं च, तरेन्नदह्रदोदधीन् ।
पूर्वोत्तरेण गमनमगम्यागमनं मृतम् ॥ ६९ ॥
सम्बाधान्निःसृतिर्देवैः पितृभिश्चाभिनन्दनम् ।
रोदनं पतितोत्थानं द्विषतां चावमर्दनम् ॥ ७० ॥
यस्य स्यादायुरारोग्यं वित्तं बहु च सोऽश्नुते ।

सौम्य स्वप्न—देवताओं, ब्राह्मणों, गायों, बैलों, जीते हुए मित्र तथा राजाओं, साधुओं, यशस्वी पुरुषों, जलती आग, स्वच्छ जलाशयों, कन्याओं, गौरवर्ण, श्वेत वस्त्र पहने, तेजस्वी कुमारों तथा चारों ओर रक्त से सिक्त दीप्त देह वाले राक्षसों को जो देखता है, अथवा जिसको स्वप्न में छत्र, दर्पण, विष, मांस, श्वेत पुष्प, श्वेत वस्त्र, पवित्र आलेपन, फल, पर्वत, महल, फल से युक्त वृक्ष, शेर, हाथी मिलें तथा गाय या घोड़े की सवारी करे, नदी, तालाब या समुद्र को तैरे, पूर्व या उत्तर की यात्रा करे, अगम्य वस्तुओं का आना या अगम्या स्त्री के साथ सम्पर्क, मृत्यु, देवों द्वारा संकट से निकालना, पितरों से अभिनन्दन करना, रोना, गिरे हुओं का उठाना, शत्रुओं को पराजित करना, इन शुभ स्वप्नोंको जो देखे, उसको आयु, आरोग्य तथा बहुत वित्त प्राप्त होता है ॥ ६५-७० ॥

नीरोग होने के लक्षण—

मङ्गलाचारसम्पन्नः परिवारस्तथाऽऽतुरः ॥ ७१ ॥
श्रद्दधानोऽनुकूलश्च प्रभूतद्रव्यसङ्ग्रहः ।
सत्त्वलक्षणसंयोगो भक्तिर्वैद्यद्विजातिषु ॥ ७२ ॥
चिकित्सायामनिर्वेदस्तदारोग्यस्य लक्षणम् ।

मङ्गल करने वाले आचरण से युक्त परिवार एवं रोगी श्रद्धा रखता हुआ और अनुकूल रोगी, प्रचुर द्रव्य-धन का संग्रह, सत्त्व तथा लक्षणों का संयोग, वैद्य, ब्राह्मण आदि में भक्ति तथा चिकित्सा में उत्साह, ये आतुर (रोगी) के आरोग्य होने के लक्षण हैं ॥ ७१-७२ ॥

शारीरस्थान की निरुक्ति—

इत्यत्र जन्ममरणं यतः सम्यगुदाहृतम् ॥ ७३ ॥
शरीरस्य ततः स्थानं शारीरमिदमुच्यते ।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां द्वितीये शारीरस्थाने
दूतादिविज्ञानीयो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस स्थान में शरीर का जन्म और मरण भली प्रकार कहा गया है, अतः इसे शारीरस्थान कहते हैं ॥ ७३ ॥

इस प्रकार दूतादिविज्ञानीय नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

इति शारीरस्थानं समाप्तम् ।

अथ निदानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातः सर्वरोगनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे सर्वरोगनिदान का व्याख्यान करेंगे— जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वक्तव्य – इस अध्याय में जो निदान (रोगों के निश्चय करने का साधन) कहे जायेंगे, वे सब रोगों में सामान्य हैं, इसलिये इस अध्याय का नाम सर्वरोगनिदान रक्खा है। 'निदान' शब्द के दो अर्थ होते हैं :—(१) निश्चय करने का साधन। 'निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेन' इति निदानम्। (२) उत्पत्ति का कारण। 'निदानं त्वादिकारणम्। (विशेष विवेचन के लिए 'माधवनिदान' की मधुकोश तथा विद्योतिनी टीका देखिए।)

रोग के पर्याय—

रोगः पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो दुःखमामयः ।
यक्ष्मातङ्कगदाबाधाः शब्दाः पर्यायवाचिनः ॥ १ ॥

रोग के पर्याय-रोग, पाप्मा, ज्वर, व्याधि, विकार, दुःख, आमय, यक्ष्मा, आतङ्क, गद, आबाध, ये सब शब्द पर्यायवाची हैं अर्थात् एक ही अर्थ को कहते हैं ॥ १ ॥

रोगविज्ञान के पाँच प्रकार—

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा ।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥ २ ॥

रोग का विज्ञान (विशेष रूप में ज्ञान) पाँच प्रकार से होता है, यथा-निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति।

निदान के पर्याय—

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः ।
निदानमाहुः पर्यायैः

निदान के पर्य्याय—निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान और कारण- इन छः पर्य्यायों से निदानं शब्द कहा जाता है। [निदान का सामान्य अर्थ कारण है]।

प्राग्रूप का लक्षण—

—प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥ ३ ॥
उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ।

प्राग्रूप—जिससे किसी विशेष दोष से अनाश्रित भविष्य में होने वाले (ज्वरादि) रोग का पता लगता है, उस लक्षण को प्राग्रूप-पूर्वरूप कहते हैं ॥ ३ ॥

वक्तव्य—रोग एक राजा है। राजा की भाँति उसका भी बहुत बड़ा परिवार है। उसमें कुछ राजा के आगे चलते हैं, और कुछ राजा के पीछे चलते हैं। जो आगे चलते हैं वे प्राग्रूप और जो पीछे चलते हैं, वे उपद्रव हैं।

लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथायथम् ॥ ४ ॥

यह प्राग्रूप रोगों के अल्प होने से अव्यक्त लक्षण वाला होता है, प्रत्येक रोग के अपने-अपने अनुसार होता है ॥ ४ ॥

वक्तव्य—ज्वर रोग में अपने अनुसार (ज्वर रोग के लक्षणों के अनुसार) होता है, गुल्म में अपने अनुसार। प्रत्येक रोग में उस रोग के अनुसार होता है। यह प्राग्रूप शारीरिक, मानसिक और उभयज भेद से तीन प्रकार का है; और समान्य एवं विशेष भेद से दो प्रकार का है। जिस प्राग्रूप में दोष की भिन्नता स्पष्ट न हो वह सामान्य प्राग्रूप और जिसमें दोष की विशिष्टता स्पष्ट हो वह विशेष प्राग्रूप है, यथा- 'जृम्भाऽत्यर्थंसमीरणात्'।

रूप के लक्षण और पर्याय—

तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते ।
संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः ॥ ५ ॥

रूप—यही प्राग्रूप जब स्पष्ट हो जाता है, तब इसको रूप कहते हैं। इसी रूप के संस्थान, व्यञ्जन, लिङ्ग, लक्षण, चिह्न और आकृति; ये पर्याय हैं ॥ ५ ॥

उपशय का लक्षण—

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम् ॥ ६ ॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ।

उपशय[1]—हेतु के तथा रोग के और हेतु एवं व्याधि दोनों के विपरीत, हेतुविपरीत अर्थकारी, रोगविपरीत अर्थकारी, और हेतु एवं रोग दोनों के विपरीत अर्थकारी औषधि-अन्न और विहार का जो सुखोत्पादक उपयोग होता है; उसे

---

[1] उपशय—शरीर में जो सुख का उत्पादन करे, उसको उपशय कहते हैं। शरीर में सुख को उत्पन्न करने वाले औषध, अन्न और विहार हैं। यथा—

	औषध—	अन्न—	विहार—
१-हेतुविपरीत	शीत कफ ज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण औषध	श्रमादिजन्य ज्वर में मांसरसौदन	दिवास्वप्न से उत्पन्न कफ में रात्रिजागरण
२-रोगविपरीत	अतीसार में स्तम्भन-पाठा	अतीसार में स्तम्भ-मसूर आदि,	उदावर्त्त में प्रवाहण

रोग का उपशय जाने क्योंकि उसे ही सात्म्य कहा है ॥ ६ ॥

अनुपशय का लक्षण—

विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्याभिसंज्ञितः ॥ ७

अनुपशय—उपशय से विपरीत का नाम अनुपशय है (जो शरीर के अनुकूल नहीं, सुख नहीं देता)। इसी को 'व्याधि-असात्म्य' कहते हैं ॥ ७ ॥

संप्राप्ति का लक्षण—

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता ।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार दूषित और जिस प्रकार शरीर में गति करता हुआ दोष रोग को उत्पन्न करता है, उसको सम्प्राप्ति कहते हैं, इसी को जाति और आगति भी कहा है ॥ ८ ॥

संप्राप्ति के भेद—

सङ्ख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः ।
सा भिद्यते, यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति ॥ ९ ॥
दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽशांशकल्पना ।
स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥
हेत्वादिकात्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम् ।
नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥ ११ ॥

यह संप्राप्त संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल की भिन्नता से भिन्न हो जाती है। यथा-इसी निदानस्थान में कहेंगे कि ज्वर आठ हैं; श्वास पाँच हैं, इत्यादि। यह संख्या-सम्प्राप्ति है। विकल्पसम्प्राप्ति—एक ही रोग में सम्मिलित दोषों का प्रत्येक दोष के भाग-भाग से कार्य के अनुमान द्वारा निरूपण करना विकल्पसम्प्राप्ति है, [यथा-इस वात-पित्तज्वर में वात की इतनी मात्रा, पित्त की इतनी मात्रा तथा वात या पित्त सम्पूर्ण गुणों से प्रकुपित हैं या कुछ अंश में ही, इसका निश्चय करना।] प्राधान्यसम्प्राप्ति—जो रोग या दोष स्वतंत्र रूप में होता है वह प्रधान है और जो परतन्त्र रूप में होता है वह अप्रधान (अमुख्य) है। बलाबलसम्प्राप्ति—हेतु, प्राग्रूप आदि की सम्पूर्णता से रोग का बलवान् होना और इनकी असम्पूर्णता से निर्बल होना। कालसम्प्राप्ति-दोषों के अनुसार रात-दिन, ऋतु और भोजन इनके अंश (अवयवों) से रोगकाल का बलवान् या निर्बल होना। यथा—श्लेष्मज्वर पूर्वाह्ण या प्रदोषकाल में, बसन्तऋतु तथा भुक्तमात्र काल में बलवान् होता है ॥ ९-११ ॥

वक्तव्य—चरक में—'सा संख्या प्राधान्यविधिविकल्पबल-कालविशेषैः भिद्यते ॥' इसमें प्राधान्य शब्द से तर और तम का ग्रहण करने को कहा है। विधिभेद से—निजागन्तुजभेद, त्रिदोषभेद, साध्यासाध्य, मृदु-दारुण आदि चार भेद लेने को कहा है। चरक में—बलाबलसम्प्राप्ति के लिये निम्नलिखित उत्पत्ति दी गई है-'इह खलु निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो विकारविघातभावाभावप्रतिविशेषा भवन्ति। यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुबध्नन्ति अथवा कालप्रकर्षाद् अबलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः, चिराद्वाऽप्यभिनिर्वर्तन्ते, तनवो वा भवन्ति, अयथोक्तसर्वलिङ्गा वा, विपर्यये विपरीताः। इति सर्वविकारविघातभावाभावप्रतिविशेषाभिनिर्वृत्तिहेतुर्भवत्युक्तः ॥' चरक० नि० अ० ४।४।

इति प्रोक्तो निदानार्थस्तं व्यासेनोपदेक्ष्यति ।

इस प्रकार निदान (रोगविनिश्चय के साधनों—निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति) का अर्थ संक्षेप में कह दिया है। इसी को विस्तार से ग्रन्थकर्त्ता कहेंगे।

सर्व-रोगोत्पत्ति का सामान्य कारण—

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ॥ १२ ॥
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ।

सब रोगों के कारण कुपित वात, पित्त और कफ हैं। इनके कोप का कारण नाना प्रकार के अहित का सेवन करना है।

त्रिविध अहित-सेवन—

अहितं त्रिविधो योगस्त्रयाणां प्रागुदाहृतः ॥ १३ ॥

काल, अर्थ और कर्म इन तीनों का हीन, मिथ्या और अतियोग भेद से योग अहित है, यह सूत्रस्थान में कह दिया है [हृ० सू० अ० १२।३५] ॥ १३ ॥

	औषध—	अन्न-	विहार-
३-हेतु-रोग दोनों के विपरीत	वातज शोथ में वातहर एवं शोथहर दशमूल;	शीतोत्थ ज्वर में-उष्ण एवं ज्वर-नाशक यवागू	स्निग्ध-दिवास्वप्नजन्य तन्द्रा में, रूक्ष एवं तन्द्रा-विपरीत-रात्रिजागरण
४-हेतुविपरीतार्थकारी	पित्तप्रधान पच्यमान शोथ में पित्त-कारक उष्ण उपनाह	पच्यमान पित्तप्रधानशोथ में विदाही अन्न	वातोन्माद में डरना
५-व्याधिविपरीतार्थकारी	वमनरोग में वमनकारक-मैनफलादि	अतीसार में विरेककारक दूध	वमनरोग में-वमन के लिये प्रवाहण
६-हेतु-रोग दोनों के विपरीतार्थकारी	अग्नि से जलने पर (प्लुष्ट में) अगरु का लेप	मद्यपानजन्य मदात्यय में मदकारक मद्य का पान;	व्यायामजनित संमूढ वात में जल में तैरना

उपशय का उपयोग—गूढ लक्षणों वाले रोग की परीक्षा उपशय एवं अनुपशय से होती है। यथा-टाईफाइड और मलेरिया ज्वर में या मलेरिया और कालाजार ये क्युनोन की मात्रा रोग का भेद कर देती है। इसी प्रकार क्षयरोग की परीक्षा में दिया गया कौक्सटयुबरकुलीन टैस्ट उपशय का उपशय का उदाहरण है। उपशय कहते हैं-यथा 'देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः। सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च ॥' यह उपशय रोग के लिए सात्म्य होता है।

वातप्रकोपकारण—

तिक्तोषणकषायाल्परूक्षप्रमितभोजनैः ।
धारणोदीरणनिशाजागरात्युच्चभाषणैः ॥ १४ ॥
क्रियातियोगभीशोकचिन्ताव्यायाममैथुनैः ।
ग्रीष्माहोरात्रिभुक्तान्ते प्रकुप्यति समीरणः ॥ १५ ॥

वायु के प्रकोपक कारण—तिक्त (नीम, बावची आदि), ऊषण = कटु (कालशाक, तिलशाक आदि), कषाय (राजमाष, जामुन आदि), अल्प (हीन मात्रा में), रूक्ष भोजन, प्रमित भोजन (अतीतकाल भोजन या स्तोक भोजन), वायु आदि के उपस्थित वेगों को रोकना या अनुपस्थित वेगों को प्रवृत्त करना, रात्रि में जागना, बहुत ऊँचे बोलना, वमन-विरेचनादि तथा अन्य चेष्टाओं का अतियोग, भय, शोक, चिन्ता, व्यायाम, मैथुन इनके सेवन से एवं ग्रीष्म के अन्त अर्थात् वर्षा में, दिन के अन्त, रात्रि के अन्त और भोजन के अन्त में वायु प्रकुपित होती है ॥ १४-१५ ॥

वक्तव्य—प्रमिताशन—'धान्यं पुलाकनिष्पन्नं ज्ञेयं तत्प्रमिताशनम् । अतीतकालं यद् भुक्तम् ॥'

पित्तप्रकोप के कारण—

पित्तं कट्वम्लतीक्ष्णोष्णपटुक्रोधविदाहिभिः ।
शरन्मध्याह्नरात्र्यर्धविदाहसमयेषु च ॥ १६ ॥

पित्तप्रकोप के कारण—कटु (सोंठ, पीपल और मरिच आदि), अम्ल (जम्बीर, करौंदा आदि), तीक्ष्ण, उष्ण, नमक, क्रोध एवं विदाही (मछली, कुलत्थी आदि) से तथा शरत् काल, मध्याह्न, रात्रि के मध्यभाग और भोजन की विदग्धावस्था में पित्त प्रकुपित होता है ॥ १६ ॥

कफप्रकोप के कारण—

स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुर्वभिष्यन्दिशीतलैः ।
आस्यास्वप्नसुखाजीर्णदिवास्वप्नातिबृंहणैः ॥ १७ ॥
प्रच्छर्दनाद्ययोगेन भुक्तमात्रवसन्तयोः ।
पूर्वाह्णे पूर्वरात्रे च श्लेष्मा द्वन्द्वं तु सङ्करात् ॥ १८ ॥

कफप्रकोप के कारण—मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु, अभिष्यन्दी, शीतल पदार्थों से, बैठे रहने से, शय्या पर पड़े रहने से, अजीर्ण से, दिन में सोने से, अतिबृंहण उपचार से, वमनादि के अयोग से एवं भोजन के तुरन्त पीछे, वसन्त में दिन के पूर्व भाग में और रात्रि के पूर्व भाग में कफ प्रकुपित होता है।

दो दोषों के प्रकोपक कारणों का संकर (मिश्रण) होने से द्वन्द्व (दो दोषों का प्रकोप) होता है। (तिक्तादि से वायु और कटु आदि से पित्त एक साथ कुपित होने से वातपित्त कुपित होते हैं। इसी प्रकार वातकफ और पित्तकफ होते हैं।)

सन्निपात के कारण—

मिश्रीभावात्समस्तानां सन्निपातस्तथा पुनः ।
सङ्कीर्णाजीर्णविषमविरुद्धाध्यशनादिभिः ॥ १९ ॥
व्यापन्नमद्यपानीयशुष्कशाकाममूलकैः ।
पिण्याकमृद्यवसुरापूतिशुष्ककृशामिषैः ॥ २० ॥
दोषत्रयकरैस्तैस्तैस्तथाऽन्नपरिवर्तनात् ।
ऋतोर्दुष्टात्पुरोवाताद् ग्रहावेशाद्विषाद्गरात् ॥ २१ ॥
दुष्टान्नात् पर्वताश्लेषाद् ग्रहैर्जन्मर्क्षपीडनात् ।
मिथ्यायोगाच्च विविधात्पापानां च निषेवणात् ॥२२॥
स्त्रीणां प्रसववैषम्यात्तथा मिथ्योपचारतः ।

सन्निपात— तीनों दोषों के प्रकोपक कारणों के मिलने से सन्निपात होता है। यह सन्निपात—संकीर्णभोजन (पथ्य-अपथ्य, दुष्ट और मलिन भोजन का एक साथ सेवन) से, अजीर्ण में भोजन करने से, विषमाशन से (अप्राप्तातीत काल-हीन मात्रातिमात्रा में), विरुद्ध भोजन से, अध्यशन (भोजन के ऊपर दूसरा भोजन) से, दूषित मद्य (नष्ट वर्ण, गन्ध, दुर्गन्धयुक्त), दूषित पानी, शुष्क शाक, कच्ची मूली, पिण्याक (तिल की खली), मिट्टी, जौ की सुरा, दुर्गन्धित मांस, शुष्क मांस, कृश पशु का मांस, तीनों दोषों को करने वाले (मन्दक दधि, राब, पाटल, सरसों का शाक आदि) पदार्थों से तथा अन्न के परिवर्तन से (सात्म्य अन्न के अकस्मात् त्याग से), वसन्त आदि ऋतु के दूषित होने से, पूर्व दिशा की वायु से, ग्रहों के आवेश से, विष से, संयोगज विष से, दूषित अन्न से, पहाड़ के पास रहने से, सूर्यादि ग्रहों के प्रभाव से, जन्म-नक्षत्रादि के पीड़न से, रसायन, वमन, विरेचन आदि अनेक क्रियाओं के मिथ्या योग से, पापों के करने से एवं स्त्रियों में प्रसव की विषमता से तथा प्रसूताके मिथ्या उपचार से तीनों दोष एक साथ कुपित होते हैं ॥ १९-२२ ॥

दोषों की विकारकारिता—

प्रतिरोगमिति क्रुद्धो रोगाधिष्ठानगामिनीः ॥ २३ ॥
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ।

**इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने
सर्वरोगनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥**

* * *

इस प्रकार प्रकुपित दोष प्रतिरोग में उन रोगों के अधिष्ठानभूत अंग को जाने वाली रसायनियों में पहुँच कर (उनके द्वारा रोगाधिष्ठान में पहुँच कर) शरीर में रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ २३ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का सर्वरोग-
निदान नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

* * *

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो ज्वरनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे ज्वरनिदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

ज्वर का विवरण—

ज्वरो रोगपतिः पाप्मा मृत्युरोजोऽशनोऽन्तकः ।
क्रोधो दक्षाध्वरध्वंसी रुद्रोर्ध्वनयनोद्भवः ॥ १ ॥
जन्मान्तयोर्मोहमयः सन्तापात्माऽपचारजः ।
विविधैर्नामभिः क्रूरो नानायोनिषु वर्तते ॥ २ ॥

ज्वर के नाम—रोगपति, पाप्मा, मृत्यु, ओजोशन (ओज जिसका भोजन है), अन्तक, क्रोध, दक्षाध्वरध्वंसी, महादेव के ऊर्ध्व नयनोद्भव (तीसरे नेत्र से उत्पन्न), जन्म और मृत्युकाल में मोहमय यह क्रूर ज्वर रोग अपचारों (अपथ्य के सेवन) से सन्ताप रूप में उत्पन्न होता है और नाना योनियों में विभिन्न नामों से (विभिन्न रूपों) मिलता है ॥ १-२ ॥

वक्तव्य - ज्वर के नामों से उसकी उत्पत्ति, उसके लक्षण और उसके कार्य बता दिये हैं। यह ज्वर हाथी में पाकल; घोड़ों में अभितापक, गायों में गोकर्णक, पक्षियों में मकर, कुत्तों में अलर्क, मछलियों में इन्द्रमद, ओषधियों में ज्योति, धान्यों में चूर्णक, जलों में नीलिका, भूमि में ऊषर, मनुष्यों में ज्वर, गदहों में खोरक, ऊंटों में अलसक, बिल्लियों में आक्षिक, बकरियों में प्रलापक, सांपों में कण्णीष, भैंसों में हारिद्रक, मृगों में मृगरोग, पतंगों में पक्षपात, कोद्रव में लल, शाकों में मधुक· इत्यादि नाम से भिन्न-भिन्न रूपों में होता है। परन्तु देवता और मनुष्य के बिना कोई भी ज्वर को सहन नहीं करता; यथा—'ऋते देवमनुष्येभ्यो नान्यो विषहते तु तम् । शेषाः सर्वे विपद्यन्ते तिर्यग्योन्यो ज्वरार्दिताः ॥ कर्मणा लभते जन्तुर्देवत्वं मानुषादपि । पुनश्चैव च्युताः स्वर्गाद् मानुष्यमभिपद्यते । तस्मात् स देवभावाच्च सहते मानवो ज्वरम् ॥'

ज्वर के भेद—

स जायतेऽष्टधा दोषैः पृथङ्मिश्रैः समागतैः ।
आगन्तुश्च—

यह ज्वर आठ प्रकार का होता है; यथा-पृथक् दोषों से, मिश्र (दो-दो) दोषों से, सन्निपात से और आगन्तुज कारण से उत्पन्न । (इनमें पृथक् दोषों से तीन, मिश्र दोषों से तीन; सन्निपात और आगन्तुज कारण से एक-एक ।)

ज्वर की सम्प्राप्ति—

—मलास्तत्र स्वैः स्वैर्दुष्टाः प्रदूषणैः ॥ ३ ॥
आमाशयं प्रविश्याममनुगम्य पिधाय च ।
स्रोतांसि पक्तिस्थानाच्च निरस्य ज्वलनं बहिः ॥ ४ ॥
सह तेनाभिसर्पन्तस्तपन्तः सकलं वपुः ।
कुर्वन्तो गात्रमत्युष्णं ज्वरं निर्वर्तयन्ति ते ॥ ५ ॥

निजज्वर अपने-अपने प्रकोपक कारणों से दूषित होकर, वातादि दोष आमाशय में प्रविष्ट होकर, आम के साथ मिलकर (उसको साथ में लेकर), विभिन्न स्रोतों को बन्द करके और पक्तिस्थान से अग्नि को बाहर निकालकर उस अग्नि के साथ फैलते हुए सम्पूर्ण शरीर को तपाते और अति उष्ण बनाते हुए ज्वर को उत्पन्न करते हैं ॥ ३-५ ॥

स्वेद के अभाव का कारण—

स्रोतोविबन्धात्प्रायेण ततः स्वेदो न जायते ।

फिर स्रोतों के बन्द हो जाने से प्रायः पसीना नहीं होता।

वक्तव्य—सन्ताप से पसीना होना आवश्यक है परन्तु स्वेदवाही स्रोतों के आम से बन्द होने के कारण पसीना नहीं होता। परन्तु पित्तज्वर में पसीना आता है इसलिये 'प्रायः' शब्द कहा है।

ज्वर में पूर्वरूप तथा रूप—

तस्य प्राग्रूपमालस्यमरतिर्गात्रगौरवम् ॥ ६ ॥
आस्यवैरस्यमरुचिर्जृम्भा सास्राकुलाक्षिता ।
अङ्गमर्दोऽविपाकोऽल्पप्राणता बहुनिद्रता ॥ ७ ॥
रोमहर्षो विनमनं पिण्डिकोद्वेष्टनं क्लमः ।
हितोपदेशेष्वक्षान्तिः प्रीतिरम्लपटूषणे ॥ ८ ॥
द्वेषः स्वादुषु भक्ष्येषु तथा बालेषु तृड् भृशम् ।
शब्दाग्निशीतवाताम्बुच्छायोष्णेष्वनिमित्ततः ॥ ९ ॥
इच्छा द्वेषश्च —

पूर्वरूप—आलस्य, बेचैनी, शरीर में भारीपन, मुख की विरसता, अरुचि, जम्भाई, आखों में आँसू (पानी) तथा आकुलता, अङ्गों का टूटना, भोजन का अविपाक, बल का थोड़ा होना, नींद का आधिक्य, रोमाञ्च, झुकना, पिण्डलियों में ऐंठन, क्लम, हितकारी वचनों में असहनशीलता, अम्ल, नमकीन और कटु रसों में प्रीति; मधुर भक्ष्यों में द्वेष, बालकों मे भी अप्रीति, अतिशय प्यास, शब्द, अग्नि शीत, वायु, पानी, छाया और उष्णिमा-इनमें बिना कारण के ही इच्छा और द्वेष होना-ये ज्वर के पूर्वरूप हैं ॥ ६-९ ॥

—तदनु ज्वरस्य व्यक्तता भवेत् ।

रूप—इसके पीछे (पूर्वरूपावस्था की चिकित्सा नहीं करने पर) ज्वर (वातादिदोषजन्य विशिष्ट लक्षणों) की स्पष्टता होती है।

वातज्वर का लक्षण—

आगमापगमक्षोभमृदुतावेदनोष्मणाम् ॥ १० ॥
वैषम्यं तत्र तत्राङ्गे तास्ताः स्युर्वेदनाश्चलाः ।
पादयोः सुप्तता स्तम्भः पिण्डिकोद्वेष्टनं श्रमः ॥ ११ ॥
विश्लेष इव सन्धीनां साद ऊर्वोः कटीग्रहः ।
पृष्ठं क्षोदमिवाप्नोति निष्पीड्यत इवोदरम् ॥ १२ ॥
छिद्यन्त इव चास्थीनि पार्श्वगानि विशेषतः ।

हृदयस्य ग्रहस्तोदः प्राजनेनेव वक्षसः ॥ १३ ॥
स्कन्धयोर्मथनं बाह्वोर्भेदः पीडनमंसयोः ।
अशक्तिर्भक्षणे हन्वोर्जृम्भणं कर्णयोः स्वनः ॥ १४ ॥
निस्तोदः शङ्खयोर्मूर्ध्नि वेदना विरसास्यता ।
कषायास्यत्वमथवा मलानामप्रवर्तनम् ॥ १५ ॥
रूक्षारुणत्वगास्याक्षिनखमूत्रपुरीषता ।
प्रसेकारोचकाश्रद्धाविपाकास्वेदजागराः ॥ १६ ॥
कण्ठौष्ठशोषस्तृट्शुष्कौ छर्दिकासौ विषादिता ।
हर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः ॥ १७ ॥
भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विनामश्चानिलज्वरे ।

वातिक ज्वर के लक्षण—ज्वर का आना, ज्वर का हटना, क्षोभ (बेचैनी), मृदुता, वेदना और उष्णिमा में विषमता (अनिश्चितता) रहती है। हाथ, पैर, शिर आदि भिन्न-भिन्न अङ्गों में आगे कही जाने वाली वेदनायें अस्थिर रूप में होती हैं। यथा-पैरों में सुप्तता और स्तब्धता-पिण्डलियों में ऐठन थकान और सन्धियों का अलग हुआ प्रतीत होना, ऊरुओं में शिथिलता, कटि का जकड़ जाना, पीठ में कूटने जैसी पीड़ा होती है और पेट भीचा हुआ प्रतीत होता है; अस्थियां, विशेष कर पार्श्व की, टुकड़े होती प्रतीत होती हैं, हृदय जकड़ा होता है, छाती में शंकु के घुसने के समान शूल होता है, कन्धे मथे हुए, बाहुओं में विदीर्णता, अंस दबे हुए, हनुओं में खाने में अशक्ति, एवं जम्भाई, कानों में गुंजन; शंखों में चुभने का दर्द, शिर में वेदना, मुख में विरसता अथवा कसैलापन; मल-स्वेद आदि की अप्रवृत्ति, त्वचा, आँख, मुख, नख, मूत्र और मल का रूक्ष एवं अरुण होना; मुख से लालास्राव, अरोचक, भोजन आदि में अश्रद्धा, भोजन का न पचना, पसीना न आना, नींद न आना, गले और ओठ का सूखना, प्यास, शुष्क वमन और कास का होना (कुछ न निकलना), विषण्णता (उदासी), रोमांच, अंगहर्ष, दन्तहर्ष, कम्पन, छींक का न आना, चक्कर आना, प्रलाप, धूप की चाह, शरीर का मुड़ा रहना-ये वातज्वर में लक्षण होते हैं ॥ १०-१७ ॥

पित्तज्वर के लक्षण—

युगपद्व्याप्तिरङ्गानां प्रलापः कटुवक्त्रता ॥ १८ ॥
नासास्यपाकः शीतेच्छा भ्रमो मूर्च्छा मदोऽरतिः ।
विट्स्रंसः पित्तवमनं रक्तष्ठीवनमम्लकः ॥ १९ ॥
रक्तकोठोद्गमः पीतहरितत्वं त्वगादिषु ।
स्वेदो निःश्वासवैगन्ध्यमतितृष्णा च पित्तजे ॥ २० ॥

पित्तज्वर के लक्षण—सन्ताप एक ही साथ शिर से लेकर पैर तक सब अङ्गों में फैल जाता है; प्रलाप, मुख में कड़ुआपन, नासा और मुख का पाक, शीत की चाह, चक्कर आना, मूर्च्छा, मद, बेचैनी, मल का पतलापन, वमन में पित्त का आना, थूक में रक्त का आना, खट्टापन, लाल चकत्तों की उत्पत्ति, त्वचा, मुख, आँख, नख, मल, मूत्र का पीला या हरा होना एवं पसीना आना, निश्वास में दुर्गन्धि, अतिशय प्यास-ये पित्त ज्वर के लक्षण हैं ॥ १८-२० ॥

कफज्वर के लक्षण—

विशेषादरुचिर्जाड्यं स्रोतोरोधोऽल्पवेगता ।
प्रसेको मुखमाधुर्यं हृल्लेपश्वासपीनसाः ॥ २१ ॥
हृल्लासश्छर्दनं कासः स्तम्भः श्वैत्यं त्वगादिषु ।
अङ्गेषु शीतपिटिकास्तन्द्रोदर्दः कफोद्भवे ॥ २२ ॥

कफज्वर के लक्षण—विशेष करके अरुचि, जड़ता और स्रोतों का अवरोध, ज्वर का वेग कम होना, मुख से लाला-स्राव, मु में मधुरता, हृदय का कफ से भरा-सा होना, श्वास, पीनस, जी मिचलाना; वमन, कास, स्तम्भ, त्वचा, नख, मूत्र एवं मल में श्वेतता, अङ्गों में शीतल पिटिकायें, तन्द्रा और उदर्द कफज्वर में होता है ॥ २१-२२ ॥

उक्त ज्वरों की कालसम्प्राप्ति—

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा ।

पूर्वाह्न या वर्षादि जो जिस दोष का काल है, उसके अनुसार अपने-अपने काल में ज्वर उत्पन्न होता है अथवा बढ़ता है। अर्थात् वात के समय में यदि ज्वर वातिक है तो वह उत्पन्न होगा या बढ़ेगा।

उपशय और अनुपशय—

निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशायिता ।

निदान में कहे उन ज्वर के दोषप्रकोपक द्रव्य अनुकूल नहीं होते, परन्तु विपरीत (दोषशामक) वस्तुयें सुखकर होती हैं।

संसर्गज ज्वर का लक्षण—

यथास्वं लिङ्गसंसर्गे ज्वरः संसर्गजोऽपि च ॥ २३ ॥

दो दोषों से उत्पन्न ज्वर के लक्षणों का संसर्ग (मिश्रण) होने पर संसर्गज ज्वर समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त और भी (नीचे लिखे लक्षण होते हैं)[1] ॥ २३ ॥

वात-पित्तज्वर का लक्षण—

शिरोर्तिमूर्च्छावमिदाहमोह-
कण्ठास्यशोषारतिपर्वभेदाः ।
उन्निद्रतातृड्भ्रमरोमहर्षा
जृम्भातिवाक्त्वं च चलात्सपित्तात् ॥२४॥

वात-पित्तजन्य ज्वर में शिरोवेदना, मूर्च्छा, वमन, दाह, मोह, मुख और गले में शोष, बेचैनी, पर्वों में दर्द, नींद न आना, प्यास, भ्रम, रोमांच, जम्भाई और अतिप्रलाप होता है।

कफवातज-ज्वर का लक्षण—

तापहान्यरुचिपर्वशिरोरुक्-
पीनसश्वसनकासविबन्धाः ।

---

[1] संसर्गज ज्वरों में विकृति-विषमसमवायजन्य कुछ ऐसे भी लक्षण होते हैं जो संसर्गज ज्वर मिले हुए दो-दो दोषों के पृथक्-पृथक् (एकदोषज) ज्वरों में नहीं मिलते।

शीतजाड्यतिमिरभ्रमतन्द्राः
श्लेष्मवातजनितज्वरलिङ्गम् ॥ २५ ॥

कफ-वातज ज्वर में संताप की न्यूनता, अरुचि, पर्वों में दर्द, शिरोवेदना, पीनस, श्वासाधिक्य, कास, मलादि का विबन्ध, शीतलता, जाड्य, तिमिर (आँखों के सामने अन्धेरा), चक्कर आना और तन्द्रा, ये कफ-वातजनित ज्वर के लक्षण हैं।

कफपित्तज ज्वर का लक्षण

शीतस्तम्भस्वेददाहाव्यवस्था
तृष्णाकासश्लेष्मपित्तप्रवृत्तिः ।
मोहस्तन्द्रा लिप्ततिक्तास्यता च
ज्ञेयं रूपं श्लेष्मपित्तज्वरस्य ॥ २६ ॥

कफ-पित्तज्वर में शीत, स्तम्भ, स्वेद, दाह इनमें कोई व्यवस्था (नियम) नहीं रहती, रोगी को प्यास, कास, कफ-पित्त की प्रवृत्ति, मोह, तन्द्रा, मुख का लिसलिसापन तथा कड़ुवापन, ये कफ-पित्तज्वर के लक्षण हैं ॥ २६ ॥

सन्निपातज ज्वर का लक्षण—

सर्वजो लक्षणैः सर्वैर्दाहोऽत्र च मुहुर्मुहुः ।
तद्वच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि ॥ २७ ॥
सदा वा नैव वा निद्रा महास्वेदोऽति नैव वा ।
गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम् ॥ २८ ॥
साश्रुणी कलुषे रक्ते भुग्ने लुलितपक्ष्मणी ।
अक्षिणी पिण्डिकापार्श्वमूर्द्धपर्वास्थिरुग्भ्रमः ॥ २९ ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवाचितः ।
परिदग्धा खरा जिह्वा गुरुः स्रस्ताङ्गसन्धिता ॥ ३० ॥
रक्तपित्तकफष्ठीवो लोलनं शिरसोऽतिरुक् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥ ३१ ॥
हृद्व्यथा मलसंसङ्गः प्रवृत्तिर्वाऽल्पशोऽति वा ।
स्निग्धास्यता बलभ्रंशः स्वरसादः प्रलापिता ॥ ३२ ॥
दोषपाकश्चिरात्तन्द्रा प्रततं कण्ठकूजनम् ।

सन्निपातजन्य ज्वर (वात-पित्त-कफ तीनों के मिश्रण जन्य ज्वर) में सब दोषों के लक्षण रहते हैं तथा इसमें बार-बार दाह होता है, इसी प्रकार रोगी को बार-बार शीत लगता है, दिन में घोर निद्रा, रात में जागना (दिन में नींद नहीं परन्तु सुध बुध खोया रहता है) या तो रोगी को रात-दिन नींद आती है; अथवा बिलकुल नींद नहीं आती, रोगी को अतिशय स्वेद होता है, या नहीं होता, गीत, नाचना, हँसना आदि विकृत चेष्टाएँ प्रवृत्त होती हैं। आँखें आँसू (पानी) से भरी, मलिन और लाल तथा कुटिल (टेढ़ी) होती हैं, आँखों के पलकों के बाल चञ्चल (अस्थिर), पिण्डलियों, पार्श्वों, शिर, पर्वों तथा अस्थियों में दर्द, भ्रम = चक्कर, कानों में गुञ्जन तथा वेदना, गले में काँटे भरे हुए प्रतीत होते हैं, जिह्वा जली हुई सी काली तथा खुरदरी एवं गुरु होती है, अङ्गोंकी सन्धियाँ शिथिल हो जाती हैं, थूक में रक्त-पित्त और कफ का आना, शिर का इधर-उधर हिलाना, शिर में अतिशय दर्द, शरीर पर कोठ तथा श्याव एवं लाल चकत्ते दिखाई देते हैं, हृदय में पीड़ा, मल का अवरोध य थोड़ी प्रवृत्ति अथवा अतिशय प्रवृत्ति, देर से दोषों का परिपाक, तन्द्रा तथा निरन्तर गले से कराहता रहता है ॥ २७-३२ ॥

सन्निपातज ज्वर के दो और नाम—

सन्निपातमभिन्यासं तं ब्रूयाच्च हतौजसम् ॥ ३३ ॥

इस सन्निपात को अभिन्यास और हतौजस् भी कहते हैं।

वक्तव्य—सन्निपात के पर्य्याय-अभिन्यास, और हतौजस् (हतमोजो येन सः) है । अथवा-वाताधिकः सन्निपातः, पित्ताधिकोऽभिन्यासः, कफाधिको हतौजाः[1] ॥ ३३ ॥

असाध्य तथा साध्य ज्वर का लक्षण—

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः ।
असाध्यः सोऽन्यथा कृच्छ्रो भवेद्वैकल्यदोऽपि वा ॥

असाध्य सन्निपात ज्वर—वात-पित्त-कफ मल, मूत्र आदि के अप्रवृत्त होने पर (पच्यमानावस्था आदि न होने स), जाठराग्नि के नष्ट हो जाने पर तथा सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त सन्निपात ज्वर असाध्य होता है। इससे विपरीत यदि असम्पूर्ण लक्षणों का है, तथा अग्नि भी नष्ट नहीं हुई हो तथा दोष भी कुछ प्रवृत्त होते हों तो सन्निपात ज्वर कष्टसाध्य होता है। अथवा विकलता (हाथ-पैर में टेढ़ापन या पतलापन, शुष्कता, हकलाना, बाधिर्य आदि) उत्पन्न करता है। वैकल्यदः का अर्थ—काय, मन और वाणी के जपने कर्मों की हानि भी दिया है। लोक-प्रसिद्ध है कि सन्निपात ज्वर अपना कुछ न कुछ चिह्न सदा के लिए छोड़ जाता है ॥ ३४ ॥

सन्निपात ज्वर के अन्य भेद—

अन्यश्च सन्निपातोत्थो यत्र पित्तं पृथक् स्थितम् ।
त्वचि कोष्ठेऽथवा दाहं विदधाति पुरोऽनु वा ॥ ३५ ॥

सन्निपातजन्य दाहादि और शीतादि ज्वरसे अन्य भी ज्वर हैं, जिसमें पित्त, कफ एवं वायु से अलग रहता है। यह पित्त कभी तो त्वचामें रहता है, और कभी कोष्ठ में, आरम्भ में या अन्त में दाह उत्पन्न करता है। [जब त्वचा में रहता है, तब त्वचा में बाह्य दाह अधिक-अन्तर्दाह कम और जब कोष्ठ में रहता है तो अन्तर्दाह अधिक-त्वचा में कम]। इसी

---

[1] १. सन्निपात ज्वर के सामान्य लक्षणों का यहाँ निर्देश मात्रकर दिया है। दोषों के तरतम भेद से मिश्रण भेद के कारण तथा विकृति-विषम-समवायजन्य अनेक लक्षण होने से सन्निपात ज्वर के रूपों में विविधता मिलती है। तदनुसार भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं। इन सब का यथासम्भव सङ्कलन और अर्वाचीन ज्वरों से तुलनात्मक विवेचन के लिए 'माधवनिदान' की मधुकोश (संस्कृत) और 'विद्योतिनी' (हिन्दी) टीका तथा उसका परिशिष्ट भाग देखिए।

प्रकार पित्त से पृथक् वात और कफ त्वचा और कोष्ठ में स्थित होकर शीत उत्पन्न करते हैं। (इस प्रकार से सन्निपात दो प्रकार का है; दाहपूर्वक और शीतपूर्वक)। इनमें दाहपूर्वक सन्निपात कष्टसाध्य है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य— इसी प्रकार दोषों के पृथक् आश्रय ग्रहण करने से हारिद्रक आदि सन्निपात ज्वर होते हैं यथा—'वायुना कफरुद्धेन पित्तमन्तःप्रपीडितम् । व्यवायित्वाच्च सूक्ष्मत्वाद् बहिर्मार्गं प्रवर्त्तते ॥ तेन हारिद्रनेत्रत्वं सन्निपातोद्भवे ज्वरे ॥

शीतादि ज्वर—

शीतादौ तत्र पित्तेन कफे स्यन्दितशोषिते ॥ ३६ ॥
शीते शान्ते ऽम्लको मूर्च्छा मदस्तृष्णा च जायते ।

शीतपूर्वक सन्निपात में पित्त के कारण कफ का पिघलकर स्राव एवं शोषण होने से शीत के शान्त होने पर पित्त से (दाह के साथ) अम्लक (खट्टी उद्गार), मूर्च्छा, मद और प्यास होती है ॥ ३६ ॥

वक्तव्य— मलेरिया ज्वर में शीत लगने के उपरान्त जो गरमी लगती है, उसमें यही कारण है।

दाहादि ज्वर—

दाहादौ पुनरन्ते स्युस्तन्द्राष्ठीववमिक्लमाः ॥ ३७ ॥

दाहपूर्वक सन्निपात में दाह के अन्त में तन्द्रा, थूक आना, वमन और क्लम होता है। (इसमें दाहकारक पित्त के कफ द्वारा शमन होने से (कफ के बहने से) कफकी अधिकता के कारण तन्द्रा आदि होते हैं।) ॥ ३७ ॥

आगन्तुक ज्वर के चार भेद

आगन्तुरभिघाताभिषङ्गशापाभिचारतः ।
चतुर्धा—

आगन्तुकज्वर चार प्रकार का है—अभिघातजन्य, अभिषङ्गजन्य (काम-क्रोध आदि जन्य या भूतजन्य), अभिशापजन्य और अभिचारजन्य (सर्षपादि होम से, या यन्त्र-मन्त्रादि पीडन से उत्पन्न)।

अभिघातज ज्वर का लक्षण—

—अत्र क्षतच्छेददाहाद्यैरभिघातजः ॥ ३८ ॥
श्रमाच्च, तस्मिन्पवनः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् ।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं, सरुजं कुरुते ज्वरम् ॥ ३९ ॥

इसमें अभिघातजन्य ज्वर, क्षत, छेदन, दाह आदि से तथा थकान से उत्पन्न होता है। इस (अभिघातजन्य ज्वर) में प्रायः करके वायु रक्त को दूषित करके, पीड़ा, शोफ एवं विवर्णता तथा वेदना के साथ ज्वर को उत्पन्न करता है।

अभिषङ्गज आदि ज्वर का लक्षण—

ग्रहावेशौषधिविषक्रोधभीशोककामजः ।
अभिषङ्गात् —

अभिषंगजन्य ज्वर—ग्रहों के आवेश से, औषधियों से होने वाले तथा विष, क्रोध, भय, शोक एवं कामजन्य ज्वर-अभिषंगज ज्वर है।

—ग्रहेणास्मिन्नकस्माद्धासरोदने ॥ ४० ॥

ग्रहजन्य अभिषंगज ज्वर में बिना कारण के रोगी हँसता या रोता है ॥ ४० ॥

ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः ।

औषधि की गन्धजन्य ज्वर में (विषौषधि के पुष्पों की गन्ध वाली वायु के सूंघने से जो ज्वर होता है उसमें) मूर्च्छा, शिर में दर्द, वमन और छींक आना ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—वैक्सीन या दूसरे इञ्जेक्शन के कारण जो ज्वर रोगी को कुछ समय के लिये होता है; उसका भी अन्तर्भाव इसी में या अभिघातज में है। 'हे फीवर' का भी यहीं समावेश हो सकता है।

विषान्मूर्च्छाऽतिसारास्यश्यावतादाहहृद्ग्रहाः ॥४१॥
क्रोधात्कम्पः शिरोरुक् च — प्रलापो भयशोकजे ।
कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः ॥ ४२ ॥

विषजन्य ज्वर में मूर्च्छा, अतिसार, मुख का कालापन, दाह और हृदय में पीड़ा होती है।

क्रोधजन्य ज्वर में कम्पन और शिर में दर्द होता है। भय और शोकजन्य में प्रलाप होता है।

कामजन्य ज्वर में भ्रम, अरुचि और दाह होते हैं तथा लज्जा, निद्रा, बुद्धि और धर्य इनका नाश होता है॥४१-४२॥

उक्त ग्रहादि ज्वर में सन्निपातादि का कोप—

ग्रहादौ सन्निपातस्य भयादौ मरुतस्त्रये ।
कोपः कोपेऽपि पित्तस्य —

ग्रहावेश, औषधि और विषजन्य ज्वर में सन्निपात का प्रकोप होता है। भय, शोक और कामजन्य ज्वर में वायु का प्रकोप होता है। कोपजन्य ज्वर में पित्त का कोप होता है।

शापज तथा अभिचारज ज्वरों की असह्यता—

—यौ तु शापाभिचारजौ ॥ ४३ ॥
सन्निपातज्वरौ घोरौ तावसह्यतमौ मतौ ।

शापजन्य तथा अभिचारजन्य जो दो ज्वर हैं, वे सन्निपातजन्य होते हैं, दोनों भयानक और दोनों असह्य होते हैं।

अभिचारमन्त्रज ज्वर का लक्षण—

तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते ॥ ४४ ॥
पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः ।
सदाहमूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्द्धते ज्वरः ॥ ४५ ॥

आभिचारिक ज्वर में आभिचारिक मन्त्रों से जिनका नाम लेकर होम किया जाता है; उसी रोगी का प्रथम मन (चित्त) दुःखी होता है; पीछे से शरीर तपता है तपने के उपरान्त विस्फोट, प्यास, भ्रम, दाह और मूर्च्छा से पीड़ित व्यक्ति में प्रतिदिन ज्वर बढ़ता है ॥ ४४-४५ ॥

संक्षेप से ज्वर के भेद—

इति ज्वरोऽष्टधा दृष्टः—समासाद् द्विविधस्तु सः ।

शारीरो मानसः सौम्यस्तीक्ष्णोऽन्तर्वहिराश्रयः॥४६॥
प्राकृतो वैकृत साध्योऽसाध्यः सामो निरामकः।

इस प्रकार से आठ प्रकार का ज्वर मुनियों ने देखा है। संक्षेप में यह ज्वर दो प्रकार का है। यथा-शारीरिक और मानसिक अथवा सौम्य और तीक्ष्ण अथवा अन्तराश्रय और बहिराश्रय तथा प्राकृत और वैकृत, साध्य और असाध्य, साम और निराम। इस प्रकार (विधि भेद) से यह ज्वर दो-दो प्रकार का है॥ ४६॥

शारीरिक तथा मानसिक ज्वरों का लक्षण—

पूर्वं शरीरे शारीरे तापो, मनसि मानसे॥ ४७॥

शारीरिक ज्वर में प्रथम शरीर तपता है, फिर मन तपता है। मानसिक ज्वर में पहले मन तपता है पीछे से शरीर तपता है। वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम्। (च० चि० अ० ३)

सौम्य तथा तीक्ष्ण—

पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मयुते भवेत्।
दाहः पित्तयुते, मिश्रं मिश्रे—

वायु के योगवाही होने के कारण वायु के कफ से मिलने पर शीत होता है, वायु के पित्त से मिलने पर दाह होता है, मिश्र-पित्तकफ युक्त होने पर कभी तो दाह होता है, कभी शीत होता है। (बार-बार दाह और बार-बार शीत होता है)।

वक्तव्य—योगवाही-येन येन युक्तो भवति तस्य तस्य स्वभावं भजते। इस प्रकार से वायु न तो उष्ण है और न शीत है। इसी से कहा है—'योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्॥' इस प्रकार संयोग-भेद से वातज्वर सौम्य या आग्नेय होता है किन्तु कफज्वर स्वभावतः सौम्य और पित्तज्वर स्वभावतः आग्नेय होता है।

अन्तराश्रित तथा बहिराश्रित ज्वर—

—अन्तः संश्रये पुनः॥ ४८॥
ज्वरेऽधिकं विकाराः स्युरन्त क्षोभो मलग्रह.।
वहिरेव वहिर्वेगे तापोऽपि च सुसाध्यता॥ ४९॥

अन्तराश्रय ज्वर में ताप, क्षोभ, मलग्रह आदि विकार भीतर ही अधिक होते हैं; बाहर कम होते हैं।

बहिर्वेग ज्वर में शरीर के बाह्यभाग में ताप अधिक होता है, अन्दर नहीं होता, यह ज्वर सुखसाध्य है। (अन्तर्वेगज्वर कष्टसाध्य या असाध्य होता है।)॥ ४८-४९॥

प्राकृत तथा वैकृत ज्वरों का लक्षण—

वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्रायश्च प्राकृतोऽनिलात्॥

प्राकृत ज्वर—वर्षाऋतु में वातिक ज्वर, शरद् में पैत्तिक और वसन्त में कफज्वर होना प्राकृत ज्वर है। इससे विपरीत ज्वर होना वैकृत है, (अर्थात् वर्षा में पैत्तिक या श्लैष्मिक ज्वर वैकृत है) यह वैकृत ज्वर कष्टसाध्य होता है। प्रायः वातजन्य प्राकृत ज्वर भी कष्टसाध्य होता है॥ ५०॥

वक्तव्य—संग्रह में प्राकृत वातज्वर की कष्टसाध्यता के निम्नलिखित कारण बताए हैं—'एकमार्गक्रियारम्भव्यतिवृत्तेर्महात्ययात्।'—एकमार्गम्-एकक्रियाकारम्भश्च रोगः सुखसाध्यः। वातजे त्वेषां व्यतिवृत्तिः। वातजन्य ज्वर बहिर्मार्ग, लंघनासाध्य और सौम्य समझ कर चिकित्सा करने पर भी, अन्तर्मार्गगामी, बृंहणसाध्य और तीक्ष्ण हो जाता है क्योंकि वायु अस्थिर है। दूसरे वायु महान् आत्ययिक है-औषधकाल की प्रतीक्षा नहीं करती-आशुकारी होने से।

वर्षादि ऋतुओं में प्राकृत ज्वर का स्वरूप—

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम्।
कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुबलं कफः॥५१॥
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम्।
कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु॥ ५२॥

वर्षाऋतु में कुपित वायु, पित्त और कफयुक्त होकर ज्वर को उत्पन्न करती है। शरद् ऋतु में पित्त कुपित होकर ज्वर करता है, इसमें भी कफ के साथ अनुबन्ध रहता है। इन दोनों (प्राकृत वातज और प्राकृत पित्तज) ज्वरों में स्वभावतः (कफ संसर्ग होने से) तथा वर्षा और शरत्काल के विसर्ग काल होने के कारण न खाने से कोई भय नहीं है। वसन्त काल में कुपित कफ ज्वर उत्पन्न करता है, इसमें वात और पित्त का कफ के साथ अनुबन्ध रहता है॥ ५१-५२॥

वक्तव्य—पित्त और कफ-ये दोनों द्रव होने से लंघन को सहन कर लेते हैं: यथा-कफपित्ते द्रवत्वाच्च सहेते लङ्घनं महत्। आमक्षयादूर्ध्वमपि वायुर्न सहते क्षणम्॥ अतः कफ ज्वर में लंघन हितकारक होते हुये भी वसन्त ऋतु में वायु और पित्त का अनुबन्ध होने से तथा आदान काल होने से अधिक लंघन नहीं कराना चाहिए। उसी प्रकार वात ज्वर में सामान्यतः लंघन निषिद्ध होते हुए भी वर्षाकालीन वात ज्वर में पित्त और कफ का संसर्ग तथा विसर्ग काल होने से अनशन से भय नहीं रहता। शरत्कालीन पित्तज्वर में भी कफ का संसर्ग और विसर्ग काल होने से अधिक लंघन से हानि नहीं हो सकती।

साध्य ज्वर का लक्षण—

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः।

साध्य—(यौवनादि सम्पत्ति से) बलवान् पुरुष में थोड़े दोषों वाला तथा उपद्रव रहित ज्वर साध्य है।

वक्तव्य—ज्वर के उपद्रव—'श्वासो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिस्तृष्णातीसारविड्ग्रहाः। हिक्का कासोऽङ्गभेदश्च ज्वरस्योपद्रवा दश॥' सुखसाध्यता-'ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्॥'

असाध्य ज्वर का लक्षण—

सर्वथा विकृतिज्ञाने प्रागसाध्य उदाहृतः॥ ५३॥

असाध्य—जिस प्रकार के रोगी में जिस प्रकार का ज्वर

असाध्य होता है, विकृतिविज्ञानीय अध्याय में (ज्वरो निहन्ति बलवान् इत्यादि से) प्रथम कह दिया है ॥ ५३ ॥

वक्तव्य—विभिन्न नक्षत्रों में उत्पत्ति के अनुसार ज्वर की साध्यता और असाध्यता आदि का विचार अष्टाङ्ग संग्रह-निदान अध्याय १ में देखिए।

वृन्द ने कहा है—'स्वेदो ललाटे हिमवान्नरस्य शीतार्दितस्यैति सुपिच्छिलश्च। कण्ठस्थितो यस्य न याति वक्षो नूनं यमस्यैति गृहं स मर्त्यः ॥ मृत्युश्च तस्मिन्बहुपिच्छिलत्वात् शीतस्य जन्तोः परितः सरत्वात् ॥'

साम ज्वर का लक्षण—

ज्वरोपद्रवतीक्ष्णत्वमग्लानिर्बहुमूत्रता ।
न प्रवृत्तिर्न विड् जीर्णा न क्षुत्सामज्वराकृतिः ॥५४॥

साम ज्वर—प्रलाप आदि ज्वर के उपद्रवों की तीव्रता, शरीर में ग्लानि (कृशता) का अभाव, मूत्र की अधिकता, मल का न आना, आया हुआ मल अपक्वरूप में होना और भूख न लगना ये सामज्वर के लक्षण हैं ॥ ५४ ॥

पच्यमान ज्वर का लक्षण—

ज्वरवेगोऽधिकं तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ ५५ ॥

पच्यमान के लक्षण—ज्वर का वेग अधिक होना, प्यास प्रलाप और श्वास का होना और चक्कर आना, मल की प्रवृत्ति और उत्क्लेश—ये पच्यमान ज्वर के लक्षण हैं ॥ ५५ ॥

निराम ज्वर का लक्षण—

जीर्णताऽऽमविपर्यासात्सप्तरात्रं च लङ्घनात् ।

निराम ज्वर के लक्षण—आमज्वर के लक्षणों से विपरीत (उपद्रवों की मृदुता, कृशता, अल्पमूत्रता, पक्वमल की प्रवृत्ति और क्षुधा की उत्पत्ति) लक्षणों के होने से तथा सात रात तक लङ्घन करने से ज्वर निराम होता है।

वक्तव्य—चरक—'क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम्। दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम्'—सात दिन के पहले भी कई बार दोषों की कमी से निराम ज्वर होता है, यथा—'अर्वागपि च देयं स्याद् भेषजं दोषपाकतः'। कई बार ज्वर (सन्निपात ज्वर) सात दिन में भी निराम नहीं होता। इसी से खरनाद ने कहा है—'न च निःसप्ततैवेह निरामज्वरकारणम्। चिरादपि हि पच्यन्ते सन्निपातज्वरे मलाः। सप्तरात्रातिवृत्तिश्च क्षामतादि च लक्षणम्। तस्मात्तदुभयं दृष्ट्वा निरामं ज्वरमादिशेत् ॥' सामान्यतः सात धातुओं के कारण ज्वर का सात दिन में परिपाक होता है और आठवें दिन निराम कहलाता है। यथा—सप्ताहेन तु पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः। निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि ॥ (च०चि०अ०३)

ज्वर के पांच भेद—

ज्वरः पञ्चविधः प्रोक्तो मलकालबलाबलात् ॥ ५६ ॥
प्रायशः सन्निपातेन भूयसा तूपदिश्यते ।
सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥ ५७ ॥

यही ज्वर वातादि मल तथा काल के बल और अबल के कारण पाँच प्रकार का कहा है। ये ज्वर प्रायः सन्निपातजन्य होते हुए भी दोष की अधिकता से वातिक, पैत्तिक आदि निर्देश किया जाता है। सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक इस प्रकार से पाँच प्रकार के हैं ॥ ५६-५७ ॥

सन्तत ज्वर की सम्प्राप्ति का लक्षण—

धातुमूत्रशकृद्वाहिस्रोतसां व्यापिनो मलाः ।
तापयन्तस्तनुं सर्वां तुल्यदूष्यादिवर्द्धिताः ॥ ५८ ॥
बलिनो गुरवः स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिताः ।
सन्ततं निष्प्रतिद्वन्द्वा ज्वरं कुर्युः सुदुःसहम् ॥ ५९ ॥

सन्तत ज्वर—रसादि धातु, मूत्र और मल का वहन करने वाले स्रोतों में फैल हुए, समान दूष्य आदि (देश, ऋतु, प्रकृति आदि) से बढ़े हुए सम्पूर्ण शरीर को संतापित करते हुए, बलवान्, गुरु तथा स्तब्ध (जड़-निश्चल) वातादि दोष विशेषतः रस धातु में आश्रित होकर और प्रतिपक्षी से रहित होने के कारण कठिनाई से सहने योग्य सन्ततज्वर को उत्पन्न करते हैं ॥ ५८-५९ ॥

वक्तव्य—तुल्य-समान; दूष्यादिवर्द्धिताः-देश, प्रकृति, रक्त आदि से बढ़े हुए; यथाः पित्तज्वर रक्त से बढ़ा हुआ, अथवा वातज्वर जांगल देश से बढ़ा हुआ। निष्प्रतिद्वन्द्वाः—निष्प्रत्यनीक, विरोधी प्रतिद्वन्द्वी के न होने से रास्ते में कोई बाधा न होने से अतिशय कष्ट सहने योग्य ज्वर को करते हैं। इसीसे चरक में कहा है—'कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्। निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ॥ यथा धातूंस्तथा मूत्रपुरीषं चानिलादयः। युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे ॥' चरक चि. अ. ३।५६।

संतत ज्वर की स्थिति तथा अवधि—

मलं ज्वरोष्मा धातून् वा स शीघ्रं क्षपयेत्ततः ।
सर्वाकारं रसादीनां शुद्ध्याऽशुद्ध्यापि वा क्रमात् ॥
वातपित्तकफैः सप्त दश द्वादश वासरान् ।
प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय च वधाय च ॥ ६१ ॥
इत्यग्निवेशस्य मतं, हारीतस्य पुनः स्मृतिः ।
द्विगुणा सप्तमी यावन्नवम्येकादशी तथा ॥ ६२ ॥
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ।
शुद्ध्यशुद्धौ ज्वरः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते ॥ ६३ ॥

ज्वर की उष्णिमा (अग्नि) मलों को अथवा धातुओं को शीघ्र नष्ट कर देती है। यदि मलों के नष्ट होने से रस आदि सम्पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाते हैं, तो वातजन्य ज्वर का सात दिन, पित्तजन्य ज्वर का दस दिन और कफजन्य ज्वर का बारह दिन मोक्ष होने के लिये मर्यादा काल होता है। यदि ज्वर की उष्णिमा से धातुओं का पाक होता है (किन्तु मलों का पाक नहीं होता) और रस आदि धातुओं का पूर्णतः शोधन नहीं होता तो वातजन्य ज्वर सात दिन में, पित्तजन्य ज्वर दस दिन में और कफजन्य ज्वर बारह दिन में मृत्यु की

मर्यादा को पूरा करता है, यह अग्निवेश ऋषि का मत है। हारीत ऋषि का कथन है कि वातादि प्रधान सन्तत ज्वर क्रमशः सातवें, नवें और ग्यारहवें इनके दूने दिन अर्थात् वातज्वर चौदह दिन में, पित्तज्वर अट्ठारह दिन में और कफज्वर बाइस दिन में—यह त्रिदोषमर्यादा ज्वर के मोक्ष के लिए अथवा ज्वर के मृत्युरूप होने की है। शुद्धि से मिश्रित अशुद्धि में सन्ततज्वर चिरकाल तक भी बना रहता है ॥६०-६३॥

वक्तव्य—सन्तत ज्वर में कोई भी प्रतिपक्षी (किसी प्रकार की बाधा) न होने से यह वेगशील होता है और देर तक बना रहता है। इस ज्वर में ज्वर की अग्नि धातुओं का तथा मल का नाश करती है; चूँकि अग्नि का स्वभाव ही नष्ट करना है। इसमें यदि रस आदि धातुओं का शोधन और मलों का नाश होता है, तब तो ज्वर उतर जाता है और यदि मलों का नाश तथा रस आदि धातुओं का शोधन न हो तो धातुओं के नाश होने से यह ज्वर मृत्यु का कारण होता है। यदि रस आदि धातुओं का शोधन पूरी तरह न हो, थोड़ा शोधन हो और थोड़ा अशोधन रहे तब यह ज्वर देर तक चालू रहता है। इसीसे कहा है—'पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्। हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु ज्वरोष्मणा धातुमलपाकात् ॥' सन्ततज्वर के बारह आश्रय हैं—रसादि सात धातु, वातादि तीन दोष, मल और मूत्र ये दो, इस प्रकार बारह हैं।

विषम ज्वर का सामान्य लक्षण—

कृशानां व्याधिमुक्तानां मिथ्याहारादिसेविनाम् ।
अल्पोऽपि दोषो दूष्यादेर्लब्ध्वाऽन्यतमतो बलम् ॥६४॥
सविपक्षो ज्वरं कुर्याद्विषमं क्षयवृद्धिभाक् ।

विषमज्वर—कृश, रोग से मुक्त, एवं मिथ्या आहार आदि का सेवन करने वाले पुरुषों में थोड़ा सा भी दोष (अधिक दोष की बात ही क्या है) रस, रक्तादि दूष्य अथवा देश, ऋतु आदि में से किसी एक का बल पाकर प्रतिद्वन्द्वी से युक्त विषम ज्वर को करता है, (प्रतिद्वन्द्वी के होने से) यह ज्वर घटता और बढ़ता रहता है ॥ ६४ ॥

वक्तव्य—सन्ततज्वर में कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता, सतत आदि विषमज्वरों में प्रतिद्वन्द्वी रहता है, यह दोनों में भेद है। सुश्रुत में भी कहा है—'दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः। धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥' (सु. उ. अ. ३९।६६)

दोष की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति—

दोषः प्रवर्तते तेषां स्वे काले ज्वरयन् बली ॥ ६५ ॥
निवर्तते पुनश्चैव प्रत्यनीकबलाबलः ।

इन कृश आदि व्यक्तियों में दोष अपने प्रकोप काल में बलवान् होकर ज्वर उत्पन्न करता हुआ प्रवृत्त होता है (ज्वर उत्पन्न करता है) और फिर यही दोष प्रतिपक्षी के बल से निर्बल बनकर वापिस हो जाता (ज्वर उतर जाता) है ॥६५॥

वक्तव्य—जिस प्रकार बरगद का बीज जल आदि का बल पाकर अंकुरित होता है, और जल आदि के अनुकूल न मिलने से निर्बल बनकर भूमि में पड़ा रहता है, उसी प्रकार ये दोष शरीर में पड़े रहते हैं और समय मिलने पर बढ़ते हैं, इसी से कहा है—'अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति। अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति ॥' च. चि. अ. ३।६८

ज्वर का रसादि में लीन होना—

क्षीणे दोषे ज्वरः सूक्ष्मो रसादिष्वेव लीयते ॥ ६६ ॥
लीनत्वात्कार्श्यवैवर्ण्यजाड्यादीनादधाति सः ।

ज्वर को उत्पन्न करने वाले दोष के क्षीण हो जाने पर ज्वर सूक्ष्म होकर रस आदि धातुओं में छिप जाता है। यह लीन (छिपा) हुआ ज्वर कृशता, विवर्णता, जडता आदि को उत्पन्न करता है (इनसे इसके छिपने का पता लगता है।)

वक्तव्य—सुश्रुत में—'धात्वन्तरस्थो लीनत्वान्न सौक्ष्म्यादुपलभ्यते। अल्पदोषेन्धनः क्षीणः क्षीणेन्धन इवानलः ॥ ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते। वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते ॥' (सु. उ.)। चतुर्थक ज्वर के आगे ज्वर नहीं है, क्योंकि—'अतिलीनोऽतिमन्दत्वाद् भवत्यद्धि न पञ्चमे ॥' दोष के अतिशय लीन होने से तथा अतिमन्द होने से पाँचवे दिन ज्वर नहीं होते हैं। (संग्रह नि. अ. २)

ज्वर के रसादि में लीन होने की युक्ति—

आसन्नविवृतास्यत्वात्स्रोतसां रसवाहिनाम् ॥ ६७ ॥
आशु सर्वस्य वपुषो व्याप्तिर्दोषेण जायते ।
सन्ततः सततस्तेन विपरीतो विपर्ययात् ॥ ६८ ॥
विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान् ।

रसवाही स्रोतों के मुख समीप में तथा खुले होते हैं, अतः उनके द्वारा दोष जल्दी से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है, इससे सन्तत ज्वर सतत-निरन्तर बना रहता है। इसके विपरीत होने से अर्थात् रक्तादिवह स्रोतों के मुख दूर एवं बन्द होने से दोष देर से शरीर में फैलता है। इससे विच्छिन्न (सदैव न रहने वाला) ज्वर उत्पन्न होता है। इस ज्वर के आरम्भ (उत्पत्ति), क्रियाक्रम तथा काल के विषम होने से इस ज्वर को विषमज्वर कहते हैं, तथा यह ज्वर चिरकाल तक बना रहता है ॥ ६७-६८ ॥

वक्तव्य—संग्रह में—'सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च। दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्पश्चिरेण यत् ॥ याति देहं च नाशेषं भूयिष्ठं भेषजेऽपि च। क्रमोऽयं तेन विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते ज्वरः ॥' सुश्रुत में इसका कारण कफस्थान कहा है। यथा—'सततान्येद्युष्कत्र्याख्यचातुर्थान् सप्रलेपकान्। कफस्थानविभागेन यथासंख्यं करोति हि ॥' अर्थात् आमाशयस्थ दोष सतत ज्वर को, छाती में स्थित अन्येद्युष्क को, कण्ठ में रहने वाला तृतीयक को; शिर में रहने वाला चतुर्थक को, सन्धियों में रहने वाला प्रलेपक ज्वर को उत्पन्न करता है।

सतत ज्वर का लक्षण—

दोषो रक्ताश्रयः प्रायः करोति सततं ज्वरम् ॥ ६९ ॥
अहोरात्रस्य स द्विः स्यात्—

सततज्वर—प्रायः करके रक्तधातु में आश्रित दोष सतत ज्वर को उत्पन्न करता है। यह सततज्वर दिन-रात में (२४ घण्टे में) दो बार आक्रमण करता है। (कभी दिन में एक बार, और रात में एक बार, कभी दिन या रात में दो बार) ॥ ६९ ॥

अन्येद्युष्क ज्वर का लक्षण—

—सकृदन्येद्युराश्रितः।
तस्मिन्मांसवहा नाडीः—

अन्येद्युष्कज्वर—दिनरात में एकबार अन्येद्युष्क ज्वर आता है। इस ज्वर में दोष मुख्यतः मांसवहा नाडी में रहते हैं।

तृतीयक ज्वर का लक्षण—

—मेदोनाडीस्तृतीयके ॥ ७० ॥
ग्राही पित्तानिलान्मूर्ध्नस्त्रिकस्य कफपित्ततः।
सपृष्ठस्यानिलकफात्स चैकाहान्तरः स्मृतः ॥ ७१ ॥

तृतीयक ज्वर—इस ज्वर में दोष मुख्यतः मेदोवहा नाडी में रहते हैं। यह ज्वर तीन प्रकार का है—यथा १-पित्त-वात की अधिकता से, इसमें शिर पकड़ा जाता है; २-कफ-पित्त की अधिकता से, इसमें त्रिक (कटि) पकड़ी जाती है; ३-वात-कफ की अधिकता से इसमें पीठ पकड़ी जाती है। यह तृतीयक ज्वर एक दिन छोड़ कर आता है ॥ ७०-७१ ॥

चतुर्थक ज्वर का लक्षण—

चतुर्थको मले मेदोमज्जास्थ्यन्यतमस्थिते।
मज्जस्थ एवेत्यपरे प्रभावं स तु दर्शयेत् ॥ ७२ ॥
द्विधा कफेन जंघाभ्यां स पूर्वं शिरसोऽनिलात्।

चतुर्थक ज्वर—इसमें दोष कभी तो मज्जा में, कभी मेद में और कभी अस्थियों में स्थित होता है। कई आचार्य चतुर्थक ज्वर का दोष मज्जा में ही स्थित मानते हैं। (इसमें ज्वर एक दिन आता है, फिर दो दिन नहीं आता और फिर चौथे दिन आता है।) चतुर्थक ज्वर दो प्रकार से प्रभाव दिखाता है-इनमें जो ज्वर कफ की अधिकता से उत्पन्न होता है, वह प्रथम जंघाओं से आरम्भ होता है, और जो ज्वर वायु की अधिकता से आरम्भ होता है, वह प्रथम शिर से आरम्भ होता है, (और फिर दूसरे अङ्गों में फैलता है) ॥ ७२ ॥

चतुर्थक विपर्यय के तीन प्रकार—

अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः ॥ ७३ ॥
त्रिधा, द्व्यहं ज्वरयति दिनमेकं तु मुञ्चति।

चतुर्थक विपर्यय—वातादि दोष यदि अस्थि और मज्जा दोनों में पहुँचे हों तो चतुर्थकविपर्यय नाम का ज्वर होता है, यह तीन प्रकार का है—सन्निपातजन्य होने पर भी कभी वाताधिक्य का, कभी पित्ताधिक्य का और कभी कफाधिक्य का। इस ज्वर में दो दिन ज्वर आता है, फिर एक दिन नहीं आता और फिर दो दिन आता है ॥ ७३ ॥

अनुक्त ज्वरों के भेद का संग्रह—

बलाबलेन दोषाणामन्नचेष्टादिजन्मना ॥ ७४ ॥
ज्वरः स्यान्मनसस्तद्वत्कर्मणश्च यदा तदा।
दोषदूष्यर्त्वहोरात्रप्रभृतीनां बलाज्ज्वरः ॥ ७५ ॥
मनसो विषयाणां च कालं तं तं प्रपद्यते।

वातादि दोषों के, अन्न (चावल-मांसरस आदि); चेष्टा (कायिक, मानसिक और वाचिक) आदि के कारण बलवान् या निर्बल होने से सततक आदि विविध ज्वर होते हैं। इसी प्रकार मन के कारण दोषों के बलवान् या निर्बल होने से विभिन्न ज्वर होते हैं, तथा पूर्वकृत कर्मों के बलवान् या निर्बल होने से ज्वर जब तब आता रहता है। इसी प्रकार वातादि दोषों के, रक्तादि दूष्यों के तथा दिन-रात आदि (देश-प्रकृति आदि) के कारण ज्वर बलवान् होकर उस उस काल में (जल्दी या देर से) उत्पन्न होता है। इसी प्रकार मन के कारण और विषयों के कारण ज्वर उस काल में बलवान् होकर आता है ॥ ७४-७५ ॥

वक्तव्य—विषय-शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि इनसे होने वाला ज्वर जैसे रक्त को देखकर कइयों में मूर्च्छा आती है, इसी प्रकार विषौषधि की गन्ध से भी ज्वर उत्पन्न होता है। मन के बल से भी ज्वर उत्पन्न (कम या अधिक) होता है-उसके लिये कहा है-'ज्वरस्तु वेगं कालं च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः। तस्येष्टैस्तु विचित्रैस्तु विषयैर्नाशयेत् स्मृतिम् ॥'[1]

ज्वरमोक्षकाल का लक्षण—

धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले विलीयते ॥ ७६ ॥
ततो नरः श्वसन् स्विद्यन् कूजन् वमति चेष्टते।
वेपते प्रलपत्युष्णः शीतैश्चाङ्गैर्हतप्रभः ॥ ७७ ॥
विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्षते।
सदोषशब्दं च शकृद्द्रवं सृजति वेगवत् ॥ ७८ ॥

ज्वरमोक्षलक्षण—वातादि दोष ज्वर के मोक्षकाल में रसादि धातुओं को क्षुब्ध करता हुआ विलीन होता है इससे ज्वर उतरने के समय रोगी मनुष्य वेग से श्वास लेता है, उसे पसीना आता है, गले से शब्द करता है, वमन करता है, हाथ-पैर पटकता है (बेचैनी अनुभव करता है), काँपता है, बकवाद करता है, शरीर गरम या ठण्डा होने से नष्टप्रभ हो जाता है, संज्ञा रहित हो जाता है, ज्वर के वेग के कारण रोगी क्रोधी की भांति देखता है, मल को दोष एवं शब्द के साथ जोर से त्याग करता है, मल द्रव-पतला होता है ॥

वक्तव्य—ज्वर का मोक्ष दो प्रकार का है-सहसा (दारुण) मोक्ष, और क्रमशः (अदारुण) मोक्ष, यथा-'बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वरः। सत्क्रियादोषपक्त्या चेद् विमुञ्चति सुदारुणम् ॥ कृत्वा दोषवशाद्वेगं क्रमादुपरमन्ति ये। तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणां चिरकारिणाम् ॥' (चरक चि. अ. ३।३२७-३२८।

---

[1] प्रत्येक ज्वरों में रसादि धातुगत दोषों के अनुसार विशिष्ट लक्षणों का तथा अनेक अन्य ज्वर भेदों का निरूपण अष्टाङ्गसंग्रह-निदान अध्याय २ या माधवनिदान में देखिए।

विगत ज्वर के लक्षण—

देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः
पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम् ।
स्वेदः क्षवः प्रकृतियोगि मनोऽन्नलिप्सा
कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि ॥ ७९ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाम-
ष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने
ज्वरनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

◆

विगत ज्वर के लक्षण—शरीर में लघुता, क्लम, मोह और ताप का हट जाना, मुख में पाक, इन्द्रियों में निर्मलता, किसी प्रकार की पीड़ा का न होना, पसीना आना, छींक आना, मन का स्वाभाविक रूप में योग होना, अन्न की चाह, शिर में कण्डू होना, ये विगतज्वर रोगी के लक्षण हैं ॥ ७९ ॥

वक्तव्य—प्रलेपक एवं वातबलासक दो अन्य प्रकार के ज्वर कहे हैं, यथा–'प्रलेपकं वातबलासकं च कफाधिकत्वेन वदन्ति तज्ज्ञाः । मूर्च्छानुबन्धा विषमज्वरा ये प्रायेण ते द्वन्द्वसमुत्थितास्तु ॥ प्रलेपक के लक्षण-तथा प्रलेपको ज्ञेयः शोषिणां प्राणनाशनः । दुश्चिकित्स्यतमो मन्दः सुकष्टो धातुशोषकृत् ॥ प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च । मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात् प्रलेपकः ॥ (मा. नि.) । वातबलासकः नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनः कृच्छ्रेण सिध्यति । स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी । (निदान) । वातबलासक रोग कफप्रधान रोग है । अश्ववैद्यक में घोड़ों की छाती के रोग को वातबलासक कहा है, यथा–'कफमारुतसम्भूतः स्थूलसन्धिसमाश्रितः । शोथो वातबलासाख्यो मृदुश्चैव सवेदनः ॥ तेनातिखञ्जतोऽश्वस्य स्तब्धं पार्श्वं च जायते । उरःस्थां वेधयेत् सम्यग् वसातैलञ्च सर्पिषा' वैद्यकशब्दसिन्धुः ।

इसके सिवाय पर्वत के समीप में होने वाले ज्वर को भी सुश्रुत में पित्तज्वर कहा है । सन्निपातज्वर में–'निद्रोपेतमभिन्यासं, क्षीणमेनं हतौजसम् । संन्यस्तगात्रं संन्यासं विद्यात्सर्वात्मके ज्वरे ॥' ये तीन भेद दिये हैं । डल्हण ने तृणपुष्पकज्वर का लक्षण—'पुष्पेभ्यो गन्धरजसी तेजस्विभ्यो यदाऽनिलः । उपादाय मनुष्यस्य प्राणापानौ नियच्छति ॥ सौक्ष्म्यादनुसृतौ धातून् मर्माण्यपि च तेजसा । कर्म चित्तं बलं ज्ञानं तदाऽस्याभ्येति मारुतः ॥ कर्मादिषु निरुद्धेषु स्वपितीति सुहृज्जनः । मन्यते हतचित्तत्वादोजस्युपरते सति ॥ तस्यादितः शिरोरोगः ससंज्ञस्येव जायते । विगन्धं च सुगन्धं च दृष्ट्वाऽकस्मात् स मूर्च्छति ॥ तृणपुष्पकमित्येवं ज्वरं विद्याद् विचक्षणः ॥' (सु. उ. अ. ३९।४२) इसकी टीका ।

विषमज्वर—परो हेतुः स्वभावो वा विषमे कैश्चिदीरितः । आगन्तुश्चानुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ॥ काश्यपसंहिता में-समज्वर–'अल्पहेतुर्बहिर्मार्गो वैकृतो निरुपद्रवः । एकाश्रयः सुखोपायो लघुपाकः समो ज्वरः ॥' विषमज्वर–'विषमस्तद्विपर्यस्तस्तीक्ष्णत्वात् संततो मतः । तद्वत् प्रेतग्रहोत्था ये चत्वारो विषमागमात् ॥ दुर्जयत्वाद् (दुर्ग्रहत्वा) दुग्रग्रहपरिग्रहात् । वैषम्यं संततादीनां दारुणत्वादुदाहृतम् ॥' इसकी टीका ।

विषम ज्वर में पुनः पुनः ज्वर–'पुनः पुनर्यथा चैष जायते तन्निबोध मे । निरुद्धमार्गो दोषेण विषमज्वरहेतुना ॥ वायुस्तद्दोषकोपान्ते लब्धमार्गो यथाक्रमम् । दोषशेषं तमादाय यथास्थानं प्रपद्यते ॥ स दोषशेषः स्वे स्थाने लीनः कालबलाश्रयात् । रसस्थानमुपागम्य भूयो जनयति ज्वरम् ॥ उपक्रमविशेषेण स्वबलस्य व्ययेन च । क्षयं प्राप्नोति वृद्धिं च समानगुणसंश्रयात् ॥ सोऽयं निवृत्तिं संप्राप्य यथा दीपः स्वभावतः । पुनः पुनः प्रज्वलति क्षीणतैलेन्धनोऽपि सन् ॥ स्वमधिष्ठानमाश्रित्य शान्तः शान्तस्तथा ज्वरः । काले बलं दर्शयति क्षीणदोषेन्धनोऽपि सन् ॥'

चतुर्थक के आगे क्यों नहीं होता—एकाहाच्च द्व्यहाच्चैव त्र्यहाच्चतुरहात्तथा । पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा कस्मादेष न जायते ॥ तस्य त्वामाशयः स्थानमुरः कण्ठः शिरस्तथा । स्थानमन्यत्ततो नास्ति स्थानाभावान्न जायते ॥

ज्वरातीसार—माधवनिदान में ज्वरातीसार एक पृथग् रोग माना है । क्योंकि–'अतीसार में जो शीतस्तम्भनचिकित्सा है, वह ज्वर में विरोधी है और ज्वर के लिये जो विरेचन चिकित्सा है, वह इसमें विरुद्ध है। इसी से कहा है—'प्रायो ज्वरहरं भेदि स्तम्भनं त्वतिसारनुत् । अतोऽत्यन्तविरुद्धत्वाद् वर्द्धनं तत्परस्परम्' ॥ इसलिये इसको पृथक् रोग माना है । 'पित्तज्वरे पित्तभवोऽतिसारस्तथातिसारे यदि वा ज्वरः स्यात् । दोषस्य दूष्यस्य समानभावाज्ज्वरातिसारः कथितो भिषग्भिः' ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का ज्वरनिदान
नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

◆

तृतीयोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्तकासनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे रक्तपित्त-कासनिदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

रक्तपित्त के निदान और सम्प्राप्ति—

भृशोष्णतीक्ष्णकट्वम्ललवणादिविदाहिभिः ।
कोद्रवोद्दालकैश्चान्नैस्तद्युक्तैरतिसेवितैः ॥ १ ॥
कुपितं पित्तलैः पित्तं द्रवं रक्तं च मूर्च्छिते ।
ते मिथस्तुल्यरूपत्वमागम्य व्याप्नुतस्तनुम् ॥ २ ॥

निदान—उष्ण, तीक्ष्ण, कटु, अम्ल, लवण और विदाही पदार्थों के अतिसेवन से तथा उन्हीं के साथ कोदो, उद्दालक इन अन्नों के अतिसेवन से पित्तकारक वस्तुओं से कुपित द्रवपित्त एवं रक्त परस्पर मिलकर समान रूप होकर शरीर में फैल जाते हैं ॥ १-२ ॥

वक्तव्य—पित्त और रक्त समान गुणधर्म के हैं, यथा-'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च। उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ॥ अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः। शोणितं गुरु विस्रं स्याद् विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥' (सु० सू० अ० २१) रक्त विदग्ध होकर पित्त की भांति हो जाता है, इसलिये दोनों का मिश्रण भली प्रकार हो जाता है, रक्त का अनुष्ण शीत धर्म हटकर उष्ण बन जाता है, मधुरता कटुता में बदल जाती है। पित्त स्वयं द्रव होने पर भी यहां पर उसका अतिशय द्रव होना अभिप्रेत है अथवा द्रव शब्द पाचक पित्त की निवृत्ति के लिये है। परन्तु पित्त विदग्ध होकर जहां अम्ल बनता है वहां द्रव भी अधिक हो जाता है इसी से चरक ने अम्ल रस का गुण वर्णन करते हुये कहा है—'पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषयति' (चरक सू. अ. २६।४०।२) इसीलिये 'तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते। तस्मिन् प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्यदेव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां च स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात्, तदेव लोहितं दूषयति ॥' (चरक नि. अ. २।४)

रक्त द्रव की मात्रा के अधिक बढ़ने से रक्त का जहां परिमाण बढ़ता है, वहां रक्त पतला बन जाता है; पतला बनने के कारण रक्त देर में जमता है। साधारणतः रक्त तीन से पांच मिनट में जम जाता है, परन्तु रक्तपित्त रोगी का रक्त देर में जमता है-इसमें द्रवता और उष्णता ही कारण होती है।

रक्त की विकृति—

पित्तं रक्तस्य विकृतेः संसर्गाद् दूषणादपि।
गन्धवर्णानुवृत्तेश्च रक्तेन व्यपदिश्यते ॥ ३ ॥

पित्त रक्त की विकृति (रक्त का मल) है, दोनों एक दूसरे से मिल जाते हैं, (समानता होने से) रक्त पित्त से शीघ्र दूषित हो जाता है तथा रक्त की गन्ध एवं वर्ण पित्त में आ जाता है, इसलिये पित्त को रक्त से कहा जाता है' ॥३॥

उत्पत्तिस्थान—

प्रभवत्यसृजः स्थानात्प्लीहतो यकृतश्च तत्।

रक्त की उत्पत्ति के स्थान-यकृत् और प्लीहा से पित्त से मिश्रित वह रक्त अतिशय रूप में उत्पन्न होता है-बढ़ता है।

रक्तपित्त के पूर्वरूप—

शिरोगुरुत्वमरुचिः शीतेच्छा धूमकोऽम्लकः ॥ ४ ॥
छर्दिश्छर्दितबैभत्स्यं कासः श्वासो भ्रमः क्लमः।
लोहलोहितमत्स्यामगन्धास्यत्वं स्वरक्षयः ॥ ५ ॥
रक्तहारिद्रहरितवर्णता नयनादिषु।
नीललोहितपीतानां वर्णानामविवेचनम् ॥ ६ ॥
स्वप्ने तद्वर्णदर्शित्वं भवत्यस्मिन् भविष्यति।

रक्तपित्त के पूर्वरूप—शिर में भारीपन, अरुचि, शीत की चाह, धुवांसा, अम्ल उद्गार, वमन, वमन के द्रव्य में बीभत्सता, कास, श्वास, भ्रम, क्लम, लोहे की, रक्त की, मछली की गन्ध या विस्रगन्ध का मुख से आना, स्वरक्षय, आँख, मूत्र, त्वचा एवं मल में लाल, पीला या हरा रङ्ग, नीले, लाल या पीले रङ्गों में अभिव्यक्ति, स्वप्न में नीला, लाल या पीला रङ्ग दिखाई देना, ये होने वाले रक्तपित्त के लक्षण होते हैं ॥४-६॥

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त—

ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्योनिगुदैरधः ॥ ७ ॥
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त नासा, आँख, कान और मुख से, अधोगामी रक्तपित्त मेहन (लिङ्ग), योनि और गुदा से और कोई रक्तपित्त कुपित होकर सम्पूर्ण रोमकूपों से तथा कोई सभी मार्गों से प्रवृत्त होता है ॥ ७ ॥

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त का कार्य—

ऊर्ध्वं साध्यं कफाद्यस्मात्तद्विरेचनसाधनम् ॥ ८ ॥
बह्वौषधं च, पित्तस्य विरेको हि वरौषधम्।
अनुबन्धी कफो यश्च तत्र तस्यापि शुद्धिकृत् ॥ ९ ॥
कषायाः स्वादवोऽप्यस्य विशुद्धश्लेष्मणो हिताः।
किमु तिक्ताः कषाया वा ये निसर्गात्कफापहाः ॥१०॥

इनमें ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य है, क्योंकि यह कफ की अधिकता से होता है और विरेचन से साध्य है तथा इस ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त की औषध बहुत है क्योंकि पित्त के लिये सबसे उत्तम औषध विरेचन है। इस ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में अनुबन्धी जो कफ है; विरेचन उसका भी शोधन करता है। स्वरस-कल्क-शृत-शीत-फाण्टरूपी-कषाय मधुर होने पर भी (रोग के प्रतिपक्षी होने के कारण) शुद्ध श्लेष्मा के लिये उपयोगी होते हैं। फिर तिक्तकषायों की क्या बात, ये तिक्तकषाय तो स्वभाव से ही कफनाशक हैं; (ये व्याधि एवं दोष दोनों का नाश करते हैं) ॥ ८-१० ॥

अधोगामी रक्तपित्त का याप्यत्व—

अधो याप्यं चलाद्यस्मात्तत्प्रच्छर्दनसाधनम्।
अल्पौषधं च पित्तस्य वमनं न वरौषधम् ॥ ११ ॥
अनुबन्धी चलो यश्च शान्तयेऽपि न तस्य तत्।
कषायाश्च हितास्तस्य मधुरा एव केवलम् ॥ १२ ॥

अधोगामी रक्तपित्त याप्य है, क्योंकि यह वायु के कारण होता है। यह अधोगामी रक्तपित्त वमनसाध्य है। तथा थोड़ी औषध वाला है। पित्त की शान्ति के लिये वमन श्रेष्ठ औषध नहीं है। इस अधोगामी रक्तपित्त में वायु का जो अनुबन्ध है, उसकी शान्ति के लिये वमन श्रेष्ठ चिकित्सा नहीं है। इस अधोगामी रक्तपित्त में (वायु का अनुबन्ध होने से) केवल मधुर रस वाले स्वरस-कल्क-शृत-शीत-फाण्ट आदि

---

१. इस रोग में (रक्त और पित्त दोनों की विकृति) होते हुये भी प्रधानतः पित्त की विकृति होती है किन्तु पूर्वोक्त कारणों से 'रक्त' शब्द से 'पित्त' या 'रक्तपित्त' का निर्देश होता है। यथा 'अधोगं यापयेद्रक्तम्' इत्यादि। वास्तव में पित्त ही रक्त से मिल कर और उसी रक्त का हो जाता है, इसी से स्पष्ट कहा है 'रक्तं' (रागप्राप्तं) च तत् पित्तं च 'रक्तपित्तम्'।

कषाय कल्पना ही अकेली हितकारी है। (तिक्त-अम्ल-लवण-कटु, ये वायु या पित्त को बढ़ाते हैं; इसलिये केवल मधुर रस ही वायु एवं पित्त दोनों के लिए उत्तम है) ॥ ११-१२ ॥

उभयगामी रक्तपित्त की असाध्यता—

कफमारुतसंसृष्टमसाध्यमुभयायनम् ।
अशक्यप्रातिलोम्यत्वादभावादौषधस्य च ॥ १३ ॥
न हि संशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिलोमगम् ।
शोधनं प्रतिलोमं च रक्तपित्ते भिषग्जितम् ॥ १४ ॥
एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते ।
संसृष्टेषु हि दोषेषु सर्वजिच्छमनं हितम् ॥ १५ ॥

उभयगामी रक्तपित्त की असाध्यता—

उभयगामी रक्तपित्त कफ और वायु दोनों से मिश्रित होने के कारण असाध्य है। क्योंकि इस रक्तपित्त में कोई भी प्रतिलोम चिकित्सा नहीं की जा सकती, तथा ओषधियों का अभाव होता है। इस उभयगामी रक्तपित्त के लिए कोई भी प्रतिलोमगामी संशोधन सम्भव नहीं है और रक्तपित्त रोग में प्रतिलोमगामी शोधन उत्तम चिकित्सा है। इसी प्रकार इसके लिए कोई शमन औषध भी पूर्ण रूप में नहीं है क्योंकि मिश्रित दोषों में सबको शान्त करने वाली शमन औषध हितकारी होती है। (जो बहुत कम होती है) ॥ १३-१५ ॥

वक्तव्य—शमन औषध सन्तर्पण और अपतर्पण रूपसे दो प्रकार की है। इनमें सन्तर्पणरूपी शमन औषधसे कफ बढ़ता है और अपतर्पणरूपी शमन औषध से वायु बढ़ती है; इस प्रकार नृसिंह-रूपात्मक कोई भी शमन औषध नहीं, जो कि उभयगामी रक्तपित्त में उपयोगी हो।

दोषानुबन्धिज्ञानोपाय तथा कास की शीघ्रकारिता—

तत्र दोषानुगमनं सिरास्र इव लक्षयेत् ।
उपद्रवांश्च विकृतिज्ञानतस्तेषु चाधिकम् ॥ १६ ॥
आशुकारी यतः कासस्तमेवातः प्रवक्ष्यति ।

इस रक्तपित्त में दोषों का अनुबन्ध सिरारक्त की भाँति समझना चाहिए (सिराव्यधविधि अध्याय में हृ० सू० अ० २७।४० में कहा है)।

इस रक्तपित्त के उपद्रवों को विकृतिविज्ञानीय अध्याय में देख लेना चाहिए। इन उपद्रवों में अधिक शीघ्रकारी (मारक) चूँकि कास है, अतः इसी कास को कहेंगे ॥ १६ ॥

वक्तव्य—उपद्रव—'उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातीसारशोफशोषपाण्डुरोगाः स्वरभेदश्च'। (चरक० नि० अ० २।७) साध्यासाध्य-'मांसप्रक्षालनाभं क्वथितमिव च यत् कर्दमाम्भोनिभं वा, मेदःपूयास्रकल्पं यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम्। यत्कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ॥' (माधवनिदान)

कास के पाँच भेद—

पञ्च कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः ॥ १७ ॥

कास पाँच प्रकार के हैं-वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, क्षतजन्य और क्षयजन्य ॥ १७ ॥

उपेक्षित कासों से हानि तथा उनकी असाध्यता—

क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ।

ये सब कास उपेक्षा करने पर-चिकित्सा न करने से क्षय रोग के लिए होते हैं। (जैसा कि-'पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः।' चरक० चि० अ० १८।४) ये कास उत्तरोत्तर बलवान् हैं अर्थात् वातकास से पित्तजन्य, पित्तजन्य से कफजन्य, कफजन्य से क्षतजन्य और क्षतजन्य से क्षयजन्य कास बलवान् है।

कास के पूर्वरूप—

तेषां भविष्यतां रूपं कण्ठे कण्डूररोचकः ॥ १८ ॥
शूकपूर्णाभकण्ठत्वम्—

पूर्वरूप—गले में कण्डू, अरुचि तथा गला शूकों से (कांटों से) भरा प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

सर्वविध कास की सम्प्राप्ति—

— तत्राधो विहतोऽनिलः ।
ऊर्ध्वं प्रवृत्तः प्राप्योरस्तस्मिन् कण्ठे च संसजन् ॥
शिरः स्रोतांसि सम्पूर्य ततोऽङ्गान्युत्क्षिपन्निव ।
क्षिपन्निवाक्षिणी पृष्ठमुरः पार्श्वे च पीडयन् ॥ २० ॥
प्रवर्तते स वक्त्रेण भिन्नकांस्योपमध्वनिः ।

वायु नीचे की ओर प्रतिहत (टकराकर लौटी) होने से ऊपर की ओर प्रवृत्त होकर छाती में पहुंचती है। फिर छाती और गले में रुकती है। फिर शिर के स्रोतों में भरकर अङ्गों को ऊपर प्रेरित करती हुई सी, आँखों को शरीर से बाहर निकालती सी, पीठ, छाती और पार्श्वों को दबाती हुई मुख से प्रवृत्त होती है। इसके निकलने से टूटे हुए कांसे के पात्रों के बजने की भाँति शब्द होता है ॥ १९-२० ॥

कास में शब्दभेद—

हेतुभेदात्प्रतीघातभेदो वायोः सरंहसः ॥ २१ ॥
यद्रुजाशब्दवैषम्यं कासानां जायते ततः ।

कारण की भिन्नता से वेगवती वायु में आघातकी भिन्नता रहती है, इस भिन्नता के कारण कासों में भी पीड़ा एवं शब्द की भिन्नता आ जाती है ॥ २१ ॥

वक्तव्य—चरक में-'शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात्कास उच्यते।'-इस कास में शब्द की भिन्नता रहती है-यथा-'प्रतिघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः। वेदना शब्दवैषम्यं कासानामुपजायते ॥' जिस प्रकार वीणा पर किये गये भिन्न-भिन्न आघात से शब्द की विषमता होती है, उसी प्रकार कासरोग में भी शब्द की विषमता रहती है, यथा—'पारावत इवाकूजन्' (चरक. चि. अ. १८।२३)—

वातकास का लक्षण—

कुपितो वातलैर्वातः शुष्कोरःकण्ठवक्त्रताम् ॥ २२ ॥
हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलं मोहक्षोभस्वरक्षयान् ।
करोति शुष्कं कासं च महावेगरुजास्वनम् ॥ २३ ॥
सोऽङ्गहर्षी कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत् ।

वातजकास—वातकारक कारणों से कुपित वायु, छाती, कण्ठ और मुख को शुष्क बना देती है, हृदय, पार्श्व, छाती और शिर में शूल उत्पन्न करती है, रोगी में मोह, क्षोभ (बेचैनी) और स्वरक्षय तथा शुष्क, अतिशय वेगयुक्त, पीड़ा एवं स्वरयुक्त कास को उत्पन्न करती है। जो अङ्गहर्ष उत्पन्न करती है तथा सूखे हुए कफ को कठिनाई से निकाल कर कम हो जाती है ॥ २२-२३ ॥

वक्तव्य—वायुप्रकोपक कारण-'रूक्षशीतकषायाल्पप्रमिताशनं स्त्रियः। वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्त्तकः ॥'(चरक) उपशय-अनुपशय से-'स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च भुक्तपीतैः प्रशाम्यति। ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान्मारुतो भवेत् ॥'

पित्तकास का लक्षण—

पित्तात्पीताक्षिकफता तिक्तास्यत्वं ज्वरो भ्रमः ॥२४॥
पित्तासृग्वमनं तृष्णा वैस्वर्यं धूमकोऽम्लकः।
प्रततं कासवेगेन ज्योतिषामिव दर्शनम् ॥ २५ ॥

पित्तकास से आँख और कफ पीले पड़ जाते हैं, मुख में तिक्तता आ जाती है, ज्वर एवं भ्रम होता है, रक्त और पित्त का वमन, तृष्णा, स्वरभंग, धूमक, खट्टे उद्गार तथा कास के वेग के निरन्तर होने से रोगी के आँखों के सामने तारे दिखाई देते हुए प्रतीत होते हैं ॥ २४-२५ ॥

कफकास का लक्षण—

कफादुरोऽल्परुङ्मूर्धहृदयं स्तिमितं गुरु।
कण्ठोपलेपः सदनं पीनसच्छर्द्यरोचकाः ॥ २६ ॥
रोमहर्षो घनस्निग्धश्वेतश्लेष्मप्रवर्तनम्।

कफ के कारण छाती में थोड़ा दर्द, शिर एवं हृदय जकड़े हुए तथा भारी रहते हैं, गला कफ से भरा, शिथिलता, पीनस, वमन और अरुचि होती है, रोगी को रोमांच होता है और गाढ़ा, स्निग्ध, श्वेत वर्ण का कफ आता है ॥ २६ ॥

क्षतकास के निदानादि—

युद्धाद्यैः साहसैस्तैस्तैः सेवितैरयथाबलम् ॥ २७ ॥
उरस्यन्तःक्षते वायुः पित्तेनानुगतो बली।
कुपितः कुरुते कासं कफं तेन सशोणितम् ॥ २८ ॥
पीतं श्यावं च शुष्कं च ग्रथितं कुथितं बहु।
ष्ठीवेत्कण्ठेन रुजता विभिन्नेनेव चोरसा ॥ २९ ॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना।
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यकम्पवान् ॥ ३० ॥
पारावत इवाकूजन् पार्श्वशूली ततोऽस्य च।
क्रमाद्वीर्यं रुचिः पक्ता बलं वर्णश्च हीयते ॥ ३१ ॥
क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्वं स्याच्च पृष्ठकटीग्रहः।

बाहुयुद्ध आदि (अति व्यवाय-भार-अध्व-गजाश्वादि-निग्रह एवं कठिन धनुष का आकर्षण आदि) साहसिक कार्यों के शक्ति से अधिक मात्रा में सेवन करने से छाती के अन्दर क्षत हो जाता है। इस क्षत के कारण बलवान वायु पित्त के साथ मिलकर-कुपित होकर कास को उत्पन्न करती है। इस कास के कारण रक्त से मिश्रित-पीला, श्यामवर्ण, शुष्क, ग्रथित (गाँठदार), सड़ी गन्ध का, मात्रा में बहुत कफ थूकता है। इस कफ को थूकने में रोगी के गले में पीड़ा होती है और छाती फटती हुई अनुभव होती है। रोगी को तीक्ष्ण सूइयों के चुभने की सी शूल छाती में होती है। पर्वों में टूटने की सी दर्द, ज्वर, श्वास, प्यास, स्वरभंग एवं कम्पन होता है। रोगी कबूतर की तरह शब्द करता है, पार्श्व में दर्द रहती है। फिर इस रोगी का क्रम से वीर्य, भोजन में रुचि, अग्नि, बल और वर्ण कम हो जाता है। क्षीण होने से मूत्र के साथ रक्त आने लगता है, पृष्ठग्रह और कटिग्रह भी हो जाता है ॥ २७-३१ ॥

वक्तव्य—उपेक्षा करने पर क्षतज कास राजयक्ष्मा में परिणत हो जाता है। यथा 'अन्यद्वा किंचिदेवंविधं विषममतिमात्रं वा व्यायामजातमारभते, तस्यातिमात्रेण कर्मणोरः क्षण्यते। तस्योरःक्षतमुपप्लवते वायुः। स तत्रावस्थितः श्लेष्माणमुरःस्थमुपसंसृज्य शोषयन् पित्तं च दूषयन् विहरत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च। तस्य योंऽशः शरीरसन्धीनाविशति तेनाऽस्य जृम्भाऽङ्गमर्दो ज्वरश्चोपजायते, यस्त्वामाशयमुपैति तेनास्य वर्चो भिद्यते, यस्तु हृदयमाविशति तेन रोगा भवन्ति उरस्यः यो रसनां तेनास्यारोचकः। यः कण्ठमभिप्रपद्यते कण्ठस्तेनोद्ध्वंसते स्वरश्चावसीदति। यः प्राणवहानि स्रोतांस्यन्वेति तेन श्वासः प्रतिश्यायश्चोपजायते। यः शिरस्यवतिष्ठते शिरस्तेनोपहन्यते। ततः क्षणनाच्चैवोरसो विषमगतित्वाच्च वायोः कण्ठस्य चोद्ध्वंसनात् कासः सततमस्य सञ्जायते। स कासप्रसङ्गाद् उरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते ॥' (चरक नि. अ. ६।४)

उरःक्षतजन्य क्षय में पहले क्षत होता है, पीछे से कमजोरी होती है, यह आनुलोमिक क्षय है। इसी प्रकार क्षतजन्य कास में रक्त पहले आता है और क्षयजन्य कास में पीछे आता है। दोनों में कफ का ध्यान रखना जरूरी है।

क्षयकास का लक्षण—

वायुप्रधानाः कुपिता धातवो राजयक्ष्मिणः ॥ ३२ ॥
कुर्वन्तिः यक्ष्मायतनैः कासं ष्ठीवेत्कफं ततः।
पूतिपूयोपमं पीतं विस्रं हरितलोहितम् ॥ ३३ ॥
लुच्येत इव पार्श्वे च हृदयं पततीव च।
अकस्मादुष्णशीतेच्छा बह्वाशित्वं बलक्षयः ॥ ३४ ॥
स्निग्धप्रसन्नवक्त्रत्वं श्रीमद्दर्शननेत्रता।
ततोऽस्य क्षयरूपाणि सर्वाण्याविर्भवन्ति च ॥ ३५ ॥

राजयक्ष्मा के रोगी में बलवान् वायु वाले धातु यक्ष्मा के कारणों से कुपित होकर कास को उत्पन्न करते हैं, तब रोगी कफ को थूकता है। यह कफ सड़ी हुई पूय के समान, पीला, दुर्गन्धयुक्त, लाल तथा हरा होता है। इस कास में रोगी पार्श्वों को छिलते हुए अनुभव करता है, हृदय को गिराता हुआ मानता है। बिना कारण के ही शीत या गरमी की चाह, बहुत खाने पर भी बल का ह्रास, मुख चिकना और निर्मल

एवं आँखों तथा दांतों में कान्ति होती है, फिर इसमें क्षय के सब लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३२-३५ ॥

वक्तव्य—यक्ष्मा के सब कारणों से प्रथम वायु ही कुपित होती है। यथा—संधारण से —'तस्य संधारणाद् वायुः प्रकोपमापद्यते'। क्षय से-'तथाऽस्य वायुर्व्यायच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य।' विषमाशन से-'तदा तस्य तेभ्यो वातपित्तश्लेष्माणो वैषम्यमापद्यन्ते।' साहस से-'तस्योरःक्षतमुपप्लवते वायुः।' किन्तु बाद में पित्त और कफ का भी प्रकोप होने से यह रोग त्रिदोषज हो जाता है और कफ की प्रधानता होती है। 'कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु' तथा 'त्रिदोषो जायते यक्ष्मा' (माधवनिदान)। इस कास में कफ की विशेषता मुख्य है, यथा—'पिच्छिलं बहलं विस्रं हरितं श्यावपीतकम्। कासमानो रसं यक्ष्मी निष्ठीवति कफानुगम् ॥ (चरक चि. अ. ८।५१) क्षय में रोगी की आँखों में निर्मलता रहती है, इसलिये चरक में—'स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः। पाणिपादतलैः श्लक्ष्णैः सततासूयको घृणी ॥ ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक्पीनसोऽरुचिः। भिन्नसंहतवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः ॥' (चरक चि. अ. १८)

क्षयज कास का देहनाशकत्वादि—

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः।
याप्यो वा बलिनां तद्वत् क्षतजोऽभिनवौ तु तौ ॥३६॥
सिध्येतामपि सानाथ्यात्—

साध्यासाध्य—यह क्षयजन्य कास क्षीण पुरुषों में असाध्य है। बलवान पुरुषों में याप्य है। इसी प्रकार क्षतज कास भी बलवानों में याप्य है, और क्षीण पुरुषों में असाध्य है। क्षतज और क्षयज कास यदि नूतन (एक साल से अधिक के न) हों तो चतुष्पाद (वैद्य, रोगी, परिचारक और औषध) से युक्त होनेपर ही साध्य हो सकते हैं। (अर्थात कष्टसाध्य हैं)।

शेष कासों की साध्यता आदि—

—साध्या दोषैः पृथक् त्रयः।
मिश्रा याप्या द्वयात्सर्वे जरसा स्थविरस्य च ॥ ३७ ॥

वातादि दोषों से पृथक् रूप में उत्पन्न तीनों कास साध्य हैं। दो दोषों के संसर्ग से उत्पन्न सब कास याप्य हैं। वृद्धावस्थाके कारण वृद्ध पुरुष में सब प्रकारके कास याप्य हैं।

वक्तव्य—चरक में 'वृद्धो याप्यानाम्'-वृद्ध पुरुष याप्य रोगों में मुख्य है। सुश्रुत में-'वृद्धत्वमासाद्य भवेत्तु यो वै याप्यं तमाहुः भिषजस्तु कासम्' (सु. चि. अ. ५२।१३)

कास में शीघ्र चिकित्सा—

कासाच्छ्वासक्षयच्छर्दिस्वरसादादयो गदाः।
भवन्त्युपेक्षया यस्मात्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥ ३८ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने रक्तपित्त-कासनिदानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

काम रोग की उपेक्षा से श्वास, क्षय, वमन, स्वरभेद आदि रोग हो जाते हैं, इसलिये कास की शीघ्र चिकित्सा करे।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में रक्तपित्त-कासनिदान नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः श्वास-हिध्मानिदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे श्वास-हिध्मा-निदान का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

श्वास के निदान—

कासवृद्ध्या भवेच्छ्वासः पूर्वैर्वा दोषकोपनैः।
आमातिसारवमथुविषपाण्डुज्वरैरपि ॥ १ ॥
रजोधूमानिलैर्मर्मघातादतिहिमाम्बुना।

कारण—कास के बढ़ने से श्वास रोग होता है। सर्वरोग निदान में पहले कहे हुए वातादि दोषों के प्रकोपक कारणों से तथा आम, अतिसार, वमन, विष, पाण्डु और ज्वर रोगों से श्वास रोग होता है, एवं धूलि, धूम, वायु से तथा गुदा, हृदय, नाभि आदि मर्म पर आघात लगने से और अतिशीतल जल से श्वास रोग होता है। अरुणदत्त ने आमातिसार एक शब्द माना है, परंतु तोडर ने पृथक् माना है, वह ठीक भी है)।

श्वास के पांच भेद—

क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो महानूर्ध्वश्च पञ्चमः ॥ २ ॥

श्वास के भेद—क्षुद्रक, तमक, छिन्न, महान् और ऊर्ध्व भेद से श्वास रोग पांच प्रकार का होता है ॥ २ ॥

पञ्चविध श्वास की सम्प्राप्ति—

कफोपरुद्धगमनः पवनो विष्वगास्थितः।
प्राणोदकान्नवाहीनि दुष्टः स्रोतांसि दूषयन् ॥ ३ ॥
उरःस्थः कुरुते श्वासमामाशयसमुद्भवम्।

सम्प्राप्ति—जब वायु की गति कफ के कारण रुक जाती है, तब वायु तिर्यक् रूप से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त और छाती में स्थित होकर प्राण, उदक और अन्नवह स्रोतों को दूषित करती हुई आमाशय से उत्पन्न होने वाले पूर्वोक्त पांचों श्वासों को उत्पन्न करती है ॥ ३ ॥

वक्तव्य—चूंकि वायु श्वास रोग उत्पन्न करती है, इसलिये वातशामक तथा श्वास आमाशय से उत्पन्न होते हैं इसलिये कफघ्न, दीपन, पाचन औषध इसमें प्रशस्त है। छाती में वायु विशेष रूप से रहती है।

पञ्चविध श्वास के पूर्वरूप—

प्राग्रूपं तस्य हृत्पार्श्वशूलं प्राणविलोमता ॥ ४ ॥
आनाहः शङ्खभेदश्च—

पूर्वरूपावस्था में हृदय तथा पार्श्वों में शूल, प्राणवायु की विपरीतता, आनाह तथा शंखप्रदेश में वेदना होती है ॥ ४ ॥

क्षुद्र श्वास का लक्षण—

—तत्रायासातिभोजनैः ।
प्रेरितः प्रेरयेत् क्षुद्रं स्वयं संशमनं मरुत् ॥ ५ ॥

क्षुद्रश्वास—इन पांचों श्वासों में व्यायाम आदि परिश्रम से तथा अतिभोजन से अतिशय रूप में वायु प्रेरित होकर क्षुद्रश्वास को उत्पन्न करती है और यह श्वास स्वयं (बिना चिकित्सा के शान्त हो जाता है ॥ ५ ॥

तमक श्वास का लक्षण—

प्रतिलोमं सिरा गच्छन्नुदीर्य पवनः कफम् ।
परिगृह्य शिरोग्रीवमुरः पार्श्वे च पीडयन् ॥ ६ ॥
कासं घुर्घुरकं मोहमरुचिं पीनसं तृषम् ।
करोति तीव्रवेगं च श्वासं प्राणोपतापिनम् ॥ ७ ॥
प्रताम्येत्तस्य वेगेन निष्ठ्यूतान्ते क्षणं सुखी ।
कृच्छ्राच्छयानः श्वसिति निषण्णः स्वास्थ्यमृच्छति ॥
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान् ।
विशुष्कास्यो मुहुःश्वासी काङ्क्षत्युष्णं सवेपथुः ॥९॥
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्द्धते ।
स याप्यस्तमकः,साध्यो नवो वा बलिनो भवेत् ॥१०॥

तमक—विपरीत गति से स्रोतों में जाती हुई वायु कफ को ऊपर की ओर प्ररित करके तथा साथ में लेकर सिर, ग्रीवा एवं छाती तथा पार्श्वों को दबाती हुई कास, गले में घरघराहट, मोह, अरुचि, पीनस, प्यास तथा प्राण को दुःखी करने वाले तीव्रवेग श्वास को उत्पन्न करती है। इस श्वास के वेग से रोगी दुःखी हो जाता है और कफ के निकलने पर कुछ देर के लिये सुख अनुभव करता है। लेटने पर कठिनाई से श्वास लेता है, बैठने पर स्वस्थता का अनुभव करता है। (श्वासवेग के समय) रोगी ऊपर को देखता है, माथे पर पसीना आ जाता है, अतिशय पीड़ा होती है, मुख सूख जाता है, बार बार श्वास लेता है, गरम वस्तु की माँग करता है, और कपकपी होती है। बादल, जल, शीत, पूर्व दिशा की वायु तथा कफवर्धक वस्तुओं से यह श्वास बढ़ता है यह तमक श्वास कहलाता है और याप्य है अथवा बलवान् पुरुष में नूतन तमकश्वास साध्य होता है ॥ ६–१० ॥

प्रतमक श्वास का लक्षण—

ज्वरमूर्च्छायुतः शीतैः शाम्येत्प्रतमकस्तु सः ।

प्रतमक—जो तमकश्वास ज्वर एवं मूर्च्छा से युक्त हो तथा शीत वस्तुओं से शान्त हो वह प्रतमक है। (तमक श्वास शीत वस्तुओं से बढ़ता है और प्रतमक घटता है, यह भेद है)।

वक्तव्य—चरक में—'ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमकं तु तम् । उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥ तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति । मज्जतस्तमसीवाऽस्य विद्यात् संतमकं तु तम् ॥' (चरक चि. अ. १७।६३-६४) ये दो भेद प्रतमक और संतमक तमक के हैं।

छिन्नश्वास का लक्षण—

छिन्नाच्छ्वसिति विच्छिन्नं मर्मच्छेदरुजार्दितः ॥ ११ ॥
सस्वेदमूर्च्छः सानाहो वस्तिदाहनिरोधवान् ।
अधोदृग्विप्लुताक्षश्च मुह्यन् रक्तैकलोचनः ॥ १२ ॥
शुष्कास्यः प्रलपन् दीनो नष्टच्छायो विचेतनः ।

छिन्न श्वास—छिन्न श्वास के कारण रोगी मर्मच्छेद के समान पीड़ा से दुःखी होकर रुक-रुककर श्वास लेता है। रोगी को पसीना, मूर्च्छा, आनाह, वस्ति में दाह तथा अवरोध रहता है। रोगी नीचे को देखता है, आँखें अस्थिर और जल से भरी होती हैं तथा मूर्च्छा आती है और एक आँख लाल हो जाती है। रोगी का मुख शुष्क हो जाता है, वह बड़-बड़ाता है, दीन, नष्टकान्ति और उद्विग्नमन होता है ॥११-१२॥

महाश्वास का लक्षण—

महता महता दीनो नादेन श्वसिति क्रथन् ॥ १३ ॥
उद्धूयमानः संरब्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानो विभ्रान्तनयनाननः ॥ १४ ॥
वक्षः समाक्षिपन् बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ।
शुष्ककण्ठो मुहुर्मुह्यन् कर्णशङ्खशिरोऽतिरुक् ॥ १५ ॥

महाश्वास—महाश्वास से पीड़ित मनुष्य दीन होकर बहुत चेऊँ शब्द के साथ नासा से विचित्र शब्द करता हुआ श्वास लेता है। श्वास लेते समय हिलता रहता है। इसका श्वास क्रुद्ध हुए मस्त बैल के (हाँफने या फुफकारने के) समान निरन्तर होता रहता है। इस रोगी के ज्ञान और विज्ञान नष्ट हो जाते हैं, मुख और आँखें अस्थिर रहती हैं। श्वास के साथ छाती ऊपर-नीचे जोर से हिलती है, मल–मूत्र रुके रहते हैं। वाणी टूटी (लड़खड़ाती) होती है। गला सूख जाता है। बार बार मूर्च्छा होती है। कान, शंख और शिर में अतिवेदना होती है। (क्रथन—क्रणन्-अरुणदत्तः। क्रथन मुख से श्वास लेने वाला, रात को सोते समय जैसा कई लोग लेते हैं)।

वक्तव्य—चरक—'दीनः प्रश्वसितं चास्य, दूराद् विज्ञायते भृशम् । महाश्वासोपसृष्टः स क्षिप्रमेव विपद्यते ॥'

ऊर्ध्वश्वास का लक्षण—

दीर्घमूर्ध्वं श्वसित्यूर्ध्वान्न च प्रत्याहरत्यधः ।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वदृग्वीक्षते भ्रान्तमक्षिणी परितः क्षिपन् ।
मर्मसु च्छिद्यमानेषु परिदेवी निरुद्धवाक् ॥ १७ ॥

ऊर्ध्व श्वास—ऊर्ध्व श्वास का रोगी लम्बा-ऊपर को श्वास फेकता है। बाहर श्वास निकालकर फिर अन्तःश्वास वापिस नहीं ले सकता क्योंकि रोगी के स्रोतों के मुख कफ से भरे रहते हैं और कुपित वायु से पीड़ित होता है। रोगी आँखों को ऊपर करके तथा आँखों को चारो ओर घुमाकर (नचाते हुये) देखता है। मर्मों में होने वाली पीड़ा के कारण दुःखी होता है, कुछ बोल नहीं पाता ॥ १६–१७ ॥

श्वास की साध्यासाध्यता

एते सिध्येयुरव्यक्ता व्यक्ताः प्राणहरा ध्रुवम् ।

ये छिन्न, महा और ऊर्ध्व श्वास अस्पष्ट अवस्था में (प्राग्रूप अवस्था में) साध्य हैं किन्तु व्यक्त होने पर निश्चय ही प्राणनाशक हैं ।

हिध्मा का निदान—

श्वासैकहेतुप्राग्रूपसङ्ख्याप्रकृतिसंश्रयाः ॥ १८ ॥
हिध्माः—

हिक्कानिदान—हिक्का के कारण, 'पूर्वरूप, संख्या, प्रकृति और संश्रय (अधिष्ठान-स्थान) ये श्वास के समान ही हैं। (प्रकृति का अर्थ हेमाद्रि ने सम्प्राप्ति, अरुणदत्त ने आसन्न कारण किया है) ॥ १८ ॥

हिध्मा के पाँच भेद—

—भक्तोद्भवा क्षुद्रा यमला महतीति च ।
गम्भीरा च—

पाँच हिक्कायें-भक्तोद्भवा, क्षुद्रा, यमला, महती और गम्भीरा । (भक्तोद्भवा का पर्याय अन्नजा है) ।

भक्तोद्भवा हिध्मा का लक्षण—

—मरुत्तश्च त्वरयाऽयुक्तिसेवितैः ॥ १९ ॥
रूक्षतीक्ष्णखरासात्म्यैरन्नपानैः प्रपीडितः ।
करोति हिध्मामरुजां मन्दशब्दां क्षवानुगाम् ॥ २० ॥
शमं सात्म्यान्नपानेन या प्रयाति च साऽन्नजा ।

भक्तोद्भवा—भोजन के जल्दी खाने से, अथवा अयुक्तिपूर्वक खाने से, एवं रूक्ष, तीक्ष्ण, खर (कठिन) अथवा असात्म्य खान-पान के सेवन से पीड़ित वायु विना विशेष कष्ट के, मन्द शब्द की एवं छींक से युक्त हिक्का को उत्पन्न करती है तथा जो हिक्का सात्म्य अन्न-पान से शान्त हो जाती है, वह अन्नजा हिक्का है ॥ १९-२० ॥

क्षुद्रा हिध्मा का लक्षण—

आयासात्पवनः क्षुद्रः क्षुद्रां हिध्मां प्रवर्तयेत् ॥ २१ ॥
जत्रुमूलप्रविसृतामल्पवेगां मृदुं च सा ।
वृद्धिमायास्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम् ॥ २२ ॥

क्षुद्रा—परिश्रम से थोड़ी सी वायु कुपित होकर क्षुद्रा हिक्का को प्रवृत्त करती है । यह हिक्का जत्रुमूल (हँसली की जड़) से उत्पन्न होती है, इसका वेग थोड़ा एवं मृदु होता है । यह परिश्रम करने से बढ़ती है और खाते ही कोमल पड़ जाती है । (सुश्रुत ने 'भुक्तमात्रे' के स्थान पर 'निषण्णस्य' (बैठना या विश्राम करना) लिखा है ॥ २१-२२ ॥

यमला हिध्मा का लक्षण—

चिरेण यमलैर्वेगैराहारे या प्रवर्तते ।
परिणामोन्मुखे वृद्धिं परिणामे च गच्छति ॥ २३ ॥
कम्पयन्ती शिरोग्रीवमाध्मातस्यातितृष्यतः ।
प्रलापच्छर्द्यतीसारनेत्रविप्लुतिजृम्भिणः ॥ २४ ॥
यमला वेगिनी हिध्मा परिणामवती च सा ।

यमला—जो हिक्का देर में दो जुड़वे वेगों के साथ भोजन के बाद उत्पन्न होती है और आहार के प्रत्यासन्न परिणाम के समय या परिणाम हो जाने पर बढ़ती है उसे यमला कहते हैं । इसमें रोगी का शिर और ग्रीवा हिलती है । रोगी को आध्मान और प्यास अधिक रहती है, प्रलाप, वमन. अतीसार, नेत्रों से पानी गिरना और जम्भाई होते हैं । इसी को यमला, वेगिनी और परिणामवती इन तीन नामों से कहते हैं ॥

वक्तव्य—चरक में इसी को 'व्यपेता' नाम दिया है, 'व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे । आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम् ॥ प्रलापवम्यतीसारतृष्णार्त्तस्य विचेतसः । जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः ॥ पर्याध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादसन्तता । सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी' ॥ (च. चि. अ. १७।३१-३३) किन्तु इसमें यमल वेग का कहीं निर्देश नहीं है ।

महती हिध्मा का लक्षण—

स्तब्धभ्रूशङ्खयुग्मस्य सास्रविप्लुतचक्षुषः ॥ २५ ॥
स्तम्भयन्ती तनुं वाचं स्मृतिं संज्ञां च मुष्णती ।
रुन्धती मार्गमन्नस्य कुर्वती मर्मघट्टनम् ॥ २६ ॥
पृष्ठतो नमनं शोषं महाहिध्मा प्रवर्तते ।
महामूला महाशब्दा महावेगा महाबला ॥ २७ ॥

महाहिक्का—दोनों भ्रू और दोनों शंखों की स्तब्धतासे युक्त तथा आँसू एवं चलित (अस्थिर) आँखों वाले पुरुष में शरीर एवं वाणी को जड़ बनाती हुई, स्मृति और संज्ञा को नष्ट करती हुई, पीठ की तरफ रोगी को झुकाती हुई और (शरीर में) शोष पैदा करती हुई महाहिक्का प्रवृत्त होती है । इसका मूल (उत्पत्तिकारण) बड़ा होता है, इसमें जोर का शब्द होता है, इसका वेग बहुत बड़ा रहता है और इसका बल भी अधिक होता है ॥ २५-२७ ॥

गम्भीरा हिध्मा का लक्षण—

पक्वाशयाद्वा नाभेर्वा पूर्ववद्या प्रवर्तते ।
तद्रूपा सा मुहुः कुर्याज्जृम्भामङ्गप्रसारणम् ॥ २८ ॥
गम्भीरेणानुनादेन गम्भीरा—

गम्भीरा—जो हिक्का महाहिक्का की भाँति पक्वाशय से या नाभि से प्रवृत्त होती है, तथा महाहिक्का के समान लक्षणों वाली है, जिसमें रोगी बार-बार जम्भाई लेता है और अङ्गों को फैलाता है, जिसमें गम्भीर (घण्टे आदि जैसी झन-न-न-न) शब्द होता है, वह गम्भीर हिक्का है ॥ २८ ॥

वक्तव्य—'रुणद्ध्युच्छ्वासमार्गं तु प्रनष्टबलचेतसः । गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता ॥'. (चरक चि.अ.१७)

उक्त हिध्माओं की साध्यासाध्यता—

—तासु साधयेत् ।
आद्ये द्वे, वर्जयेदन्त्ये सर्वलिङ्गां च वेगिनीम् ॥ २९ ॥
सर्वाश्च सञ्चितामस्य स्थविरस्य व्यवायिनः ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य भक्तच्छेदक्षतस्य वा ॥ ३० ॥

साध्यासाध्य—इनमें अन्नजा और क्षुद्रा-इन दो की चिकित्सा करे । अन्तिम दो-गम्भीरा और महाहिक्का इनको छोड़ देवे । तथा सम्पूर्ण लक्षणों वाली यमला को भी छोड़ दे । इसके सिवाय जिस पुरुष में आम का सञ्चय हो, वृद्ध एवं स्त्रीसेवी, रोगों से कृश शरीर हो तथा जो भोजन नहीं करने (उपवास) से कृश हो इनमें सभी हिक्कायें असाध्य हैं ।

हिध्मा और श्वास में शीघ्र चिकित्सा—

सर्वेऽपि रोगा नाशाय न त्वेवं शीघ्रकारिणः ।
हिध्माश्वासौ यथा तौ हि मृत्युकाले कृतालयौ ॥३१॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने श्वासहिध्मानिदानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

* * *

सभी रोग मृत्युकारक होते हैं, परन्तु वे हिक्का और श्वास की भाँति शीघ्र मारक नहीं होते । हिक्का और श्वास मृत्यु समय में अवश्यम्भावी हैं ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—यथा चरक में-'कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा । यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणानाशु निकृन्ततः ॥ अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः । अन्ते सञ्जायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः ॥' (चरक चि. अ. १७।६-७)

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में श्वास-हिध्मानिदान नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

* * *

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो राजयक्ष्मादिनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे राजयक्ष्मादि निदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

राजयक्ष्मा के चार पर्याय—

अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः ।
राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः ॥ १ ॥

राजयक्ष्मा निदान—अनेक रोगों से अनुगत (पीछे चलने वाले बहुत से रोगों से युक्त), तथा बहुत से रोग जिसके आगे चलते हैं-ऐसा यह राजयक्ष्मा है । क्षय, शोष और रोगराट् इसके पर्याय हैं ॥ १ ॥

वक्तव्य- जिस प्रकार राजा के आगे और पीछे बहुत से लोग चलते हैं, उसी प्रकार यक्ष्मा रोग के पहले और पीछे बहुत से रोग चलते हैं । अथवा यह बहुत से रोगों से घिरा रहता है, तथा रोगों में मुख्य है ।

उक्त चार पर्यायों की व्युत्पत्ति—

नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा ।
यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः ॥ २ ॥
देहौषधक्षयकृतेः क्षयस्तत्सम्भवाच्च सः ।
रसादिशोषणाच्छोषो रोगराट् तेषु राजनात् ॥ ३ ॥

यह रोग सबसे प्रथम नक्षत्रों एवं द्विजों के राजा चन्द्रको हुआ था, बहुत से रोगों के बीच में यह राजा रूप है तथा स्वयं भी रोग है इससे राजयक्ष्मा माना है । (राज्ञां यक्ष्मा अथवा यक्ष्मणां राजा = राजयक्ष्मा) शरीर और औषधियों का क्षय कर देता है तथा शुक्र आदि के क्षय से उत्पन्न होता है, अतः क्षय कहलाता है । रस आदि धातुओं का शोषण करने से शोष तथा रोगों में राजा की भाँति दीप्त होने से रोगराट् कहलाता है ॥ २-३ ॥

राजयक्ष्मा के चार हेतु—

साहसं वेगसंरोधः शुक्रौजःस्नेहसङ्क्षयः ।
अन्नपानविधित्यागश्चत्वारस्तस्य हेतवः ॥ ४ ॥

इस रोग के चार कारण हैं-साहस (अयथाबलमारम्भः), वेगों (वात-मूत्र-मल आदि) का रोकना, शुक्र, ओज एवं स्नेह का क्षय और अन्नपानविधि का त्याग (विषमाशन), ये चार इस रोग के कारण हैं ॥ ४ ॥

वक्तव्य – स्नेह का अर्थ देह का स्नेह है, यथा—'देहस्नेहपरिक्षयात्' चरक । इस रोग के अनेक कारण होते हैं किन्तु उन सभी का समावेश पूर्वोक्त साहस आदि चार कारणों में ही हो जाता है ।

पूर्वोक्त हेतुओं में वायु की मुख्यता—

तैरुदीर्णोऽनिलः पित्तं कफं चोदीर्य सर्वतः ।
शरीरसन्धीनाविश्य तान् सिराश्च प्रपीडयन् ॥ ५ ॥
मुखानि स्रोतसां रुद्ध्वा तथैवातिविवृत्य वा ।
सर्पन्नूर्ध्वमधस्तिर्यग्यथास्वं जनयेद् गदान् ॥ ६ ॥

सम्प्राप्ति – साहसादि कारणों से प्रकुपित वायु, पित्त और कफ को प्रेरित करके सम्पूर्ण रूप से शरीर की सन्धियों में प्रविष्ट होकर उनको तथा सिराओं को पीड़ित करके स्रोतों के मुखों को रोक कर अथवा अतिशय विस्तृत करके ऊपर-नीचे या तिरछे रूप में विचरती हुई यथास्व (दोष, दूष्य और आश्रय के अनुसार) रोगों को उत्पन्न करती है ॥ ५-६ ॥

वक्तव्य—ऊपर जाने से होनेवाले रोग-पीनस आदि सात, नीचे जाने से होने वाले-विड्रोध या अतीसार, तिरछे जाने से होने वाले रोग-छर्दि, पार्श्वशूल और ज्वर ये तीन रोग होते हैं । इसी से चरक में-स्रोतसां, संनिरोधाच्च रक्तादीनां

च संक्षयात्। धातूष्मणां चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्त्तते ॥' (चरक. चि. अ. ८ श्लो. ४०)

राजयक्ष्मा के पूर्वरूप—

रूपं भविष्यतस्तस्य प्रतिश्यायो भृशं क्षवः ।
प्रसेको मुखमाधुर्यं सदनं वह्निदेहयोः ॥ ७ ॥
स्थाल्यमत्रान्नपानादौ शुच्यावष्यशुचीक्षणम् ।
मक्षिकातृणकेशादिपातः प्रायोऽन्नपानयोः ॥ ८ ॥
हृल्लासश्छर्दिररुचिरश्नतोऽपि बलक्षयः ।
पाण्योरवेक्षा पादास्यशोफोऽक्ष्णोरतिशुक्लता ॥ ९ ॥
बाह्वोः प्रमाणजिज्ञासा काये बैभत्स्यदर्शनम् ।
स्त्रीमद्यमांसप्रियता घृणित्वं मूर्द्धगुण्ठनम् । १० ॥
नखकेशातिवृद्धिश्च, स्वप्ने चाभिभवो भवेत् ।
पतङ्गकृकलासाहिकपिश्वापदपक्षिभिः ॥ ११ ॥
केशास्थितुषभस्मादिराशौ समधिरोहणम् ।
शून्यानां ग्रामदेशानां दर्शनं शुष्यतोऽम्भसः ॥ १२ ॥
ज्योतिर्गिरीणां पततां ज्वलतां च महीरुहाम् ।

राजयक्ष्मा के पूर्वरूप—प्रतिश्याय, छींकों का बहुत आना, मुख और नाक से कफस्राव, मुख में मधुरता, शुद्ध पकाने या खाने के बर्तन तथा खान-पान में भी मलिनता का दीखना, खान-पान में प्रायः करके मक्खी, तिनके, बाल आदि का गिरना, जी मिचलाना, वमन, अरुचि, खाते हुए भी बल का नाश, हाथों (हँथेलियों) को बार-बार देखना, पैर और मुख में सूजन, आँखों में अतिशय सफेदी, भुजाओं की मोटाई देखने की चाह, शरीर के सुन्दर होने पर भी उसमें बीभत्सता को देखना, स्त्री, मद्य और मांस की प्रियता, घृणित्व (घृणा-का भाव), वस्त्र आदि से शिर को ढापने की प्रवृत्ति, नख और बालों का बहुत बढ़ना, स्वप्न में पतंग, छिपकली, साँप, बन्दर, कुत्ते, पक्षी आदि से तिरस्कृत होना, बाल, अस्थि, तुष, राख आदि के ढेर पर चढ़ना, शून्य (खाली पड़े) ग्राम एवं देशों का, सूखते हुए जलाशयों का, पर्वतों में आग का, जलते हुए एवं गिरते हुए वृक्षों का स्वप्न में दर्शन ये लक्षण राजयक्ष्मा होने के पूर्व होते हैं ॥ ७-१२ ॥

राजयक्ष्मा के ग्यारह रूप—

पीनसश्वासकासांसमूर्द्धस्वररुजोऽरुचिः ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वं, विड्भ्रंशसंशोषावधः, छर्दिश्च कोष्ठगे ।
तिर्यक्स्थे पार्श्वरुग्दोषे, सन्धिगे भवति ज्वरः ॥ १४ ॥
रूपाण्येकादशैतानि जायन्ते राजयक्ष्मिणः ।

यक्ष्मा के ग्यारह लक्षण—पीनस, श्वास, कास, अंसरुजा, शिरोरुजा, स्वररुजा, अरुचि, ये दोष के ऊर्ध्व भाग में स्थित होने से होते हैं। दोष के अधः स्थित होने पर विड्भ्रंश (अतिसार) और विट्संशोष ये दो लक्षण; दोष के कोष्ठ में स्थित होने पर वमन. तिर्यक्रूप में स्थित होने से पार्श्वशूल तथा दोष के सन्धिगत होने से ज्वर, ये ग्यारह लक्षण राजयक्ष्मा रोगी में होते हैं ॥ १३-१४ ॥

वक्तव्य—विड्भ्रंश और विट्शोष में एक लेना अर्थात् कभी अतिसार और कभी मलबन्ध रहता है। स्रोतों के खुला रहने से अतिसार और बन्द होने से मलावरोध होता है। चरक में-'प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम्। श्वासं विड्भेदमरुचिं पार्श्वशूलं स्वरक्षयम्। कुरुते चांससन्तापमेकादश गदानिमान् ॥' (च. चि. ८।२५) तथा 'यक्ष्मा यैरुच्यते महान्' इस रोग में पार्श्वशूल विशेष रूप का होता है, इसी से चरक में 'पार्श्वशूलं त्वनियतं संकोचायामलक्षणम्। शिरःशूलं ससन्तापं यक्ष्मिणः स्यात्सगौरवम् ॥' (च. चि. ८।२२-२३)

सुश्रुत के अनुसार वङ्गसेन में-छः लक्षण कहे हैं—'भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम्। स्वरभेदश्च जायन्ते षड्रूपं राजयक्ष्मणि ॥' माधवनिदान में असाध्य त्रिरूप राजयक्ष्मा का भी वर्णन है। यथा-'त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैः कासश्वासासृगागमैः ।' शोणित-आगमन-चरक में निदान स्थान में स्पष्ट किया है-यथा-(१) 'स कासप्रसङ्गादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति ।' (२) धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति ।' (चरक. नि. अ. ६)

उक्त पीनसादि रूपों के सात उपद्रव—

तेषामुपद्रवान् विद्यात्कण्ठोद्ध्वंसमुरोरुजम् ॥ १५ ॥
जृम्भाङ्गमर्दनिष्ठीववह्निसादास्यपूतिताः ।

उपद्रव (पीनस आदि लक्षणों के पीछे होने वाले रोग)—गले-का बैठ जाना, छाती में दर्द, जम्भाई, अङ्गों का टूटना, थूकना, अग्निमान्द्य, मुख से दुर्गन्ध आना ये उपद्रव हैं ॥

वक्तव्य—उपद्रव का लक्षण-'व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः। उपक्रमविघाती च स ह्युपद्रव उच्यते ॥'

वातज राजयक्ष्मा का स्वरूप—

तत्र वाताच्छिरःपार्श्वशूलमंसाङ्गमर्दनम् ॥ १६ ॥
कण्ठोद्ध्वंसः स्वरभ्रंशः—

इस रोग में वायु के कारण शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसमर्द और अङ्गों का टूटना, गला बैठना तथा स्वरभ्रंश होता है ॥

पित्तज राजयक्ष्मा का स्वरूप—

—पित्तात्पादांसपाणिषु ।
दाहोऽतिसारोऽसृक्छर्दिर्मुखगन्धो ज्वरो मदः ॥ १७ ॥

पित्त के कारण पैर, कन्धे और हाथों में दाह, अतिसार, रक्त का वमन, मुख में गन्ध, ज्वर और मद होता है ॥ १७ ॥

कफज राजयक्ष्मा का स्वरूप—

कफादरोचकश्छर्दिः कासो मूर्द्धाङ्गगौरवम् ।
प्रसेकः पीनसः श्वासः स्वरसादोऽल्पवह्निता ॥ १८ ॥

कफ के कारण, अरोचक, वमन, कास, शिर और अङ्गों में भारीपन, लालाप्रसेक, पीनस, श्वास, स्वर का बैठना आदि मन्दाग्नि होती है ॥ १८ ॥

धातुक्षीणता में युक्ति—

दोषैर्मन्दानलत्वेन सोपलेपैः कफोल्बणैः।
स्रोतोमुखेषु रुद्धेषु धातूष्मस्वल्पकेषु च ॥ १९ ॥
विदह्यमानः स्वस्थाने रसस्तांस्तानुपद्रवान्।
कुर्यादगच्छन्मांसादीनसृक् चोर्ध्वं प्रधावति ॥ २० ॥
पच्यते कोष्ठ एवान्नमन्नपक्त्रैव चास्य यत्।
प्रायोऽस्मान्मलतां यातं नैवालं धातुपुष्टये ॥ २१ ॥
रसोऽप्यस्य न रक्ताय मांसाय कुत एव तु।
उपस्तब्धः स शकृता केवलं वर्तते क्षयी ॥ २२ ॥

कफप्रधान एवं कफ (मल) से लिप्त वात, पित्त, कफ दोषों के कारण अग्नि के मन्द होने से, स्रोतों के मुख बन्द हो जाने पर, तथा रक्तादि धातुओं की धात्वग्नि के भी थोड़ा हो जाने से आहार रस अपने ही स्थान में विदाहयुक्त (अपक्वावस्था में) रहकर-कण्ठोद्ध्वंस आदि उपद्रवों को करता है। (इस विदग्ध रस से उत्पन्न) रक्त-मांस आदि धातुओं में परिवर्तित न होकर ऊपर की ओर जाता है। इस रोगी के कोष्ठ में (आमाशय-पक्वाशय में) ही जाठराग्नि मात्र से अन्न का परिपाक होता है (धात्वग्नि से पाक नहीं होता); इसलिये वह आहाररस अधिकांश में मल ही बन जाता है और धातुओं की पुष्टि के लिये समर्थ (पर्याप्त) नहीं होता। आहाररस रक्त के लिय भी पूरा नहीं होता, फिर मांस के लिये कहाँ से हो। इसलिये केवल पुरीष के आधार से टिका हुआ क्षयरोगी जीता है ॥ १९-२२ ॥

वक्तव्य—क्षयरोगी के आँखों-एवं चेहरे के लिये—'स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः' यह लक्षण रक्त की अधिकता से-तथा रक्त के ऊपर की ओर जाने से ही होता है। शरीर में जाठराग्निपाक और धात्वग्निपाक-ये दो पाक हैं। क्षयरोगी में अरुचि से जठराग्नि कमजोर होती है; इसलिये आहाररस का पाचन, सार एवं किट्ट भाग में पूर्ण रूप से नहीं होता। इस अपूर्ण पाक का धात्वग्नि नहीं पका सकती। इसलिये रक्त भी पूरा नहीं बनता, फिर मांस धातु कहाँ से बने। इसी को चरक में—'तस्मिन्काले पचत्यग्निः यदन्नं कोष्ठसंश्रितम्। मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे ॥ तस्मात् पुरीषं सरक्ष्यं विशेषाद् राजयक्ष्मणि। सर्वधातुक्षयार्त्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ॥ रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते। स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्त्तते ॥ चरक।

राजयक्ष्मा की साध्यासाध्यता—

लिङ्गेष्वल्पेष्वपि क्षीणं व्याध्यौषधबलाक्षमम्।
वर्जयेत्—

साध्यासाध्य—बल, मांस आदि से क्षीण यक्ष्मारोगी में पीनस आदि लक्षण थोड़े होने पर भी उसको असाध्य समझे, क्योंकि वह रोग और औषध की शक्ति को सहन नहीं कर सकता।

वक्तव्य—चरक में-'दुर्बलं तु अतिक्षीणबलमांसशोणितमल्पलिङ्गमप्यजातारिष्टमपि बहुलिङ्गं जातारिष्टं च विद्यात्, असह्यत्वाद् व्याध्यौषधबलस्य; तं परिवर्जयेत्। क्षणेनैव हि प्रादुर्भवन्ति अरिष्टानि, अनिमित्तश्चारिष्टप्रादुर्भाव इति ॥' इसके विपरीत 'तत्रापरिक्षीणबलमांसशोणितो बलवानजातारिष्टः सर्वैरपि शोषलिङ्गैरुपद्रुतः साध्यो ज्ञेयः। बलवर्णोपचितो हि सहत्वाद् व्याध्यौषधबलस्य कामं बहुलिङ्गोऽप्यल्पलिङ्ग एव मन्तव्यः ॥' (चरक. नि. अ. ६।१६।)

—साधयेदेव सर्वेष्वपि ततोऽन्यथा ॥ २३ ॥

इससे विपरीत राजयक्ष्मा रोगी के पुष्ट और बलवान् होने पर सब लक्षणोंसे युक्त होने पर भी उसकी चिकित्सा करे।

स्वरभेद के छः भेद—

दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च क्षयात् षष्ठश्च मेदसा।
स्वरभेदो भवेत् —

स्वरभेद छः प्रकार का है—वात, पित्त, कफ-तीनों पृथक् दोषों से, सन्निपात, क्षय और मेद से होने वाला छः प्रकार का स्वरभेद होता है। क्षय रोग में स्वरभेद भी एक लक्षण होता है किन्तु वह अन्य कारणों से भी होता है। प्रसंगात् अन्य स्वरभेदों का भी वर्णन करते हैं।

वातज स्वरभेद का लक्षण—

तत्र क्षामो रूक्षश्चलः स्वरः ॥ २४ ॥
शूकपूर्णाभकण्ठत्वं स्निग्धोष्णोपशयोऽनिलात्।

इनमें वातज स्वरभेद में स्वर निर्बल (धीमा), रूक्ष (कानों के लिये कर्कश), चल (बोलते समय अक्षर छोड़ने वाला होना) और गले का शूकों (गेहूँ या जौ की बाल में लगे काँटों) से भरा होना-ये लक्षण होते हैं। यह स्वरभेद स्निग्ध और उष्ण वस्तुओं से शान्त होता है ॥ २४ ॥

पित्तज स्वरभेद का लक्षण—

पित्तात्तालुगले दाहः शोष उक्तावसूयनम् ॥ २५ ॥

पित्त के कारण तालु और गले में जलन, शोष और पूरा वचन नहीं बोल सकना ये दोष होते हैं ॥ २५ ॥

कफज स्वरभेद का लक्षण—

लिम्पन्निव कफात्कण्ठं मन्दः खुरखुरायते।
स्वरो विबद्धः—

कफ के कारण स्वरभेद में गला कफ से भरा हुआ सा प्रतीत होती है, स्वर धीमा तथा खुरखुर की भाँति होता है। (रोगी खकारता रहता है)। स्वर रुका हुआ रहता है-साफ नहीं होता।

त्रिदोषज स्वरभेद का लक्षण—

—सर्वैस्तु सर्वलिङ्गः—

सन्निपातजन्य स्वरभेद में सब दोषों के लक्षण होते हैं।

क्षयज स्वरभेद का लक्षण—

—क्षयात्कषेत् ॥ २६ ॥
धूमायतीव चात्यर्थम्—

क्षयजन्य स्वरभेद में रोगी का स्वर गला आदि में जलता है।

अथवा पकड़ा रहता है। गले में अतिशय धूम की प्रतीति होती है ॥ २६ ॥

मेदोज स्वरभेद का लक्षण—

— मेदसा श्लेष्मलक्षणः ।

कृच्छ्रलक्ष्याक्षरश्च —

मेद के कारण—श्लेष्मजन्य स्वरभेद के लक्षण होते हैं। और अक्षरों के आवाज की पहिचान कठिनाई से होती है।

स्वरभेद की असाध्यता—

—अत्र सर्वैरन्त्यं च वर्जयेत् ॥ २७ ॥

इसमें सन्निपातजन्य और मेदोजन्य स्वरभेद को छोड़ दें, (ये असाध्य हैं) ॥ २७ ॥

वक्तव्य—चरक में 'वातात्पित्तात् कफाद् रक्तात् कासवेगात् सपीनसात् । स्वरभेदो भवेद् ॥' (चरक. चि. अ. ९।५३)।

अरोचक के पाँच भेद—

अरोचको भवेद्दोषैर्जिह्वाहृदयसंश्रयैः ।
सन्निपातेन मनसः सन्तापेन च पञ्चमः ॥ २८ ॥

अरोचक पाँच प्रकार का होता है—यथा-जिह्वा और हृदय में आश्रित, वात, पित्त और कफजन्य दोषों के कारण (तीन प्रकार का) अरोचक होता है, सन्निपात से चौथा और मन के सन्ताप से पाँचवाँ होता है ॥ २८ ॥

वातजादि अरोचक के लक्षण—

कषायतिक्तमधुरं वातादिषु मुखं क्रमात् ।
सर्वोत्थे विरसं शोकक्रोधादिषु यथामलम् ॥ २९ ॥

लक्षण—वात में मुख का रस कषाय, पित्त में तिक्त और कफ में मधुर होता है। सन्निपात में विरस-फीका मुख रहता है (मुख में रस का निश्चित ज्ञान नहीं होता है)। शोक-क्रोधादि मानस विकारों में मल (दोष) के अनुसार मुख का स्वाद होता है। यथा-शोक, भय, काम, लोभ ईर्ष्यादि में वात-प्रकोप से कषाय रस, क्रोध में पित्त के प्रकोप से तिक्त, ग्रहोपतप्त मन में सन्निपात से विरसास्यता रहती है ॥ २९ ॥

वक्तव्य—चरक में 'वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनगन्धरूपैः । अरोचकाः स्युः, परिहृष्टदन्तः कषाययुक्तश्च मतोऽनिलेन ॥ कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम् । माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसंबद्धयुतं कफेन ॥ अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशनगन्धजे स्यात् । स्वाभाविकं वक्त्रमथारुचिश्च त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु । (चरक. चि. अ. २६।१२४-१२७ ।)

वमन के पाँच भेद—

छर्दिर्दोषैः पृथक्सर्वैर्द्विष्टैरर्थैश्च पञ्चमी ।

छर्दि (वमन) पाँच कारणों से होती है—वातादि पृथक्-पृथक् दोषों से तीन प्रकार की सन्निपातजन्य तथा मन से द्विष्ट कारणों से उत्पन्न एक-एक।

वक्तव्य—सुश्रुत में—'अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति । अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः' । 'श्रमात् भयात्तथोद्वेगादजीर्णात् कृमिदोषतः । नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥ अत्यन्तामपरीतस्य च्छर्देर्वै सम्भवो ध्रुवम् ॥ छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः । निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्राद् विनिश्चरन् ॥' (सु. उ. अ. ४९।३-६ ।)

वमन का निदान और पूर्वरूप—

उदानो विकृतो दोषान् सर्वास्वप्यूर्ध्वमस्यति ॥ ३० ॥
तासूत्क्लेशास्यलावण्यप्रसेकारुचयोऽग्रगाः ।

सम्प्राप्ति—विकृत हुई उदान वायु सब प्रकार की छर्दियों में वातादि दोषों को ऊपर की ओर प्रेरित करती है। पूर्वरूप—इन सभी छर्दियों में जी मचलाना, मुख का स्वाद नमकीन होना, मुँह से पानी छूटना और अरुचि ये पूर्वरूप होते हैं ॥

वातज वमन का लक्षण —

नाभिपृष्ठं रुजन् वायुः पार्श्वे चाहारमुत्क्षिपेत् ॥ ३१ ॥
ततो विच्छिन्नमल्पाल्पं कषायं फेनिलं वमेत् ।
शब्दोद्गारयुतं कृष्णमच्छं कृच्छ्रेण वेगवत् ॥ ३२ ॥
कासास्यशोषहृन्मूर्द्धस्वरपीडाक्लमान्वितः ।

वातज छर्दि—वायु नाभि, पीठ और पार्श्वों में पीड़ा करती हुई आहार को ऊपर की ओर प्रेरित करती है। इससे रुक-रुक कर थोड़ा-थोड़ा कषाय रस वाला एवं झागदार वमन होता है। उस वमन में शब्द तथा उद्गार मिला रहता है : वमन कृष्ण वर्ण और पतला, कठिनाई से तथा जोर के साथ होता है। इसमें रोगी को कास, मुखशोष, हृदय और शिर में दर्द, स्वरपीड़ा तथा थकान होते हैं ॥ ३१-३२ ॥

पित्तज वमन का लक्षण—

पित्तात्क्षारोदकनिभं धूम्रं हरितपीतकम् ॥ ३३ ॥
सासृगम्लं कटूष्णं च तृण्मूर्च्छातापदाहवत् ।

पित्तज—छर्दि—पित्त के कारण वमन क्षार जल के समान होता है, धूम्र (काला लालरंग), हरा, पीला रंग वमन में होता है तथा वमन में रक्त भी मिला होता है। वमन का रस अम्ल, कटु या उष्ण रहता है। रोगी को प्यास, मूर्च्छा, ताप और दाह होता है ॥ ३३ ॥

कफज वमन का लक्षण—

कफात् स्निग्धं घनं शीतं श्लेष्मतन्तुगवाक्षितम् ३४॥
मधुरं लवणं भूरि प्रसक्तं लोमहर्षणम् ।
मुखश्वयथुमाधुर्यतन्द्राहृल्लासकासवान् ॥ ३५ ॥

कफज छर्दि—कफ के कारण वमन, स्निग्ध, गाढ़ा, शीतल, कफ के तन्तु (रेशों) के जाल से व्याप्त, मधुर, लवण रस, मात्रा में बहुत, निरन्तर एवं रोमांच वाला होता है। मुख में शोथ, मधुरता, जी मिचलाना और कास होते हैं ॥ ३४-३५ ॥

सन्निपातज वमन का लक्षण तथा असाध्यता—

सर्वलिङ्गा मलैः सर्वैरिष्टोक्ता या च तां त्यजेत् ।

वात, पित्त और कफ सभी के चिह्नों से युक्त छर्दि और रिष्टाध्यायोक्त छर्दि की चिकित्सा वैद्य न करे।

द्विष्टार्थज वमन—

पूत्यमेध्याशुचिद्विष्टदर्शनश्रवणादिभिः ॥ ३६ ॥
तप्ते चित्ते हृदि क्लिष्टे छर्दिर्द्विष्टार्थयोगजा ।

आगन्तुज छर्दि—पूति (सड़े गले), अपवित्र, मलिन और द्विष्ट वस्तु के देखने या सुनने आदि के कारण मन में उत्ताप होने से तथा दुःखी होने के कारण अनभिप्रेत-विषय-संयोग-जन्य छर्दि उत्पन्न होती है ॥ ३६ ॥

कृम्यादिजन्य वमन—

वातादीनेव विमृशेत् कृमितृष्णामदौहृदे ॥ ३७ ॥
शूलवेपथुहृल्लासैर्विशेषात् कृमिजां वदेत् ।
कृमिहृद्रोगलिङ्गैश्च —

कृमि, तृष्णा, आम और दौहृदजन्य वमन को उनमें होने वाले वातादि दोषों के लक्षणों से पहचाने। विशेषकर शूल, कम्पन, जी मिचलाना तथा कृमिजन्य हृदय-रोग के लक्षणों से कृमिजन्य छर्दि को पहचाने ॥ ३७ ॥

हृद्रोग के पाँच भेद—

— स्मृताः पञ्च तु हृद्गदाः ॥ ३८ ॥
तेषां गुल्मनिदानोक्तैः समुत्थानैश्च सम्भवः ।

हृदय रोग पाँच प्रकार के हैं और इनकी उत्पत्ति गुल्म रोग में कहे हुए कारणों से होती है। (पाँच प्रकार के वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और कृमिज) ॥ ३८ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में—'वेगाघातोष्णरूक्षान्नैरतिमात्रोपसेवितैः। विरुद्धाध्यशनाजीर्णैरसात्म्यैश्चातिभोजनैः ॥ दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः। कुर्वन्ति हृदये बाधां हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥' (सु उ. अ. ४३।३-४)।

वातज हृद्रोग का लक्षण—

वातेन शूल्यतेऽत्यर्थं तुद्यते स्फुटतीव च ॥ ३९ ॥
भिद्यते शुष्यति स्तब्धं हृदयं शून्यता द्रवः ।
अकस्माद्दीनता शोको भयं शब्दासहिष्णुता ॥ ४० ॥

वातज हृद्रोग—वातज हृद्रोग में हृदय में अतिशय शूल होता है, हृदय व्यथित होता है, फटता है, विदीर्ण होता है, सूखता है (संकुचित होता है), जड़ हो जाता है, हृदय खाली-ज्ञानरहित (मूढ) बन जाता है, जोर से गति करता है। बिना कारण के सहसा दीनता, शोक, भय, शब्द की असहिष्णुता, कम्पन, ऐंठन, मोह, श्वास रुकना और नींद का कम होना ये लक्षण हो जाते हैं ॥ ३९-४० ॥

पित्तज हृद्रोग का लक्षण—

पित्तात्तृष्णा श्रमो मूर्च्छा दाहः स्वेदोऽम्लकः क्लमः ॥
छर्दनं चाम्लपित्तस्य धूमकः पीतता ज्वरः ।

पित्तजन्य हृद्रोग में प्यास, चक्कर आना, मूर्च्छा, दाह, स्वेद, खट्टी डकारें आना, थकान, खट्टे पित्त का वमन, धूमायन, पीलापन और ज्वर होता है ॥ ४१ ॥

कफज हृद्रोग का लक्षण—

श्लेष्मणा हृदयं स्तब्धं भारिकं साश्मगर्भवत् ॥ ४२ ॥
कासाग्निसादनिष्ठीवनिद्रालस्यारुचिज्वराः ।

कफजन्य हृद्रोग में हृदय जड़ बन जाता है, हृदय पर भार का अनुभव होता है, हृदय पर पत्थर रक्खा प्रतीत होता है। रोगी को कास, अग्निमान्द्य, थूक आना, निद्रा, आलस्य, अरुचि और ज्वर होता है ॥ ४२ ॥

त्रिदोषज हृद्रोग का लक्षण—

सर्वलिङ्गस्त्रिभिर्दोषैः—

सन्निपातजन्य हृद्रोग में सब दोषों के लक्षण होते हैं।

कृमिज हृद्रोग का लक्षण—

—कृमिभिः श्यावनेत्रता ॥ ४३ ॥
तमःप्रवेशो हृल्लासः शोफः कण्डूः कफस्रुतिः ।
हृदयं प्रततं चात्र क्रकचेनेव दार्यते ॥ ४४ ॥
चिकित्सेदामयं घोरं तं शीघ्रं शीघ्रकारिणम् ।

कृमिजन्य हृद्रोग में आँखों के चारों ओर कालापन, अन्धकार में घुसना (आँखों के सामने अन्धेरा), जी का मिचलाना, शोथ, कण्डू, कफ का बहना और हृदय निरन्तर आरी से कटता सा प्रतीत होता है। इस अतिदुःसह, शीघ्र विघातकारी रोग की शीघ्र चिकित्सा करे ॥ ४३-४४ ॥

वक्तव्य—हृदय ओज रस और चेतना या मन का स्थान है। हृदय में रोग होने से शरीर के ओजादि में भी विकृति आ जाती है। इसीलिए चरक में कहा है—'तन्महत् ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता। परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः ॥ हृद्यं यत्स्याद्यदोजस्यं स्रोतसां यत्प्रसादनम्। तत्तत्सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च ॥' रसक्षय में भी हृद्रोग के ही लक्षण मिलते हैं, यथा—'घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति शूल्यते। हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये ॥' (च. सू अ. १७-६४)। कृमि हृद्रोग की सम्प्राप्ति—'त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते। तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति। संक्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥' (चरक);

तृष्णा के छः भेद—

वातात्पित्तात्कफात्तृष्णा सन्निपाताद्रसक्षयात् ॥४५॥
षष्ठी स्यादुपसर्गाच्च—

तृष्णा—वात से, पित्त से, कफ से, सन्निपात से, रस के क्षय से और छठीं अन्य रोगों के उपद्रव में होती है ॥ ४५ ॥

वात-पित्त सभी तृष्णा के कारण—

—वातपित्ते तु कारणम् ।
सर्वासु—

सब प्रकारकी तृष्णाओं में कारण वात-पित्त ही हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत में—'सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति। पुनः काङ्क्षति तोयञ्च तं तृष्णार्दितमादिशेत् ॥' तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी, क्षतात्तथाऽन्यामसमुद्भवा च ।

स्यात् सप्तमी भक्तनिमित्तजा तु, निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥' (सु. उ. अ. ४८।३-६)

संप्राप्ति—

—तत्प्रकोपो हि सौम्यधातुप्रशोषणात् ॥ ४६ ॥
सर्वदेहभ्रमोत्कम्पतापतृड्दाहमोहकृत् ।

सम्प्राप्ति—क्योंकि शरीरगत सौम्य धातु (कफ तथा रसादि धातुओं) के शुद्ध होने से वायु और पित्त का प्रकोप होता है, इसलिए सम्पूर्ण देह में चक्कर आना, कम्पन, ताप, प्यास, दाह और मोह होता है ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—'संक्षोभशोकश्रममद्यपानाद् रूक्षाम्लशुष्कोष्ण-कटूपयोगात्। धातुक्षयाल्लङ्घनसूर्यतापात् पित्तं च वायुश्च भृशं प्रवृद्धौ ॥ स्रोतांसि संदूषयतः समेतौ यान्यम्बुवाहीनि शरीरिणां हि। स्रोतःस्वपां वाहिषु दूषितेषु जायेत तृष्णाऽतिबला ततस्तु ॥' (सु. उ. अ. ४८।४-५) चरक में-'अब्धातुं देहस्थं कुपितः पवनो यदा विशोषयति। तस्मिञ्छुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन् ॥' (च. चि. अ. २१।११)

तृष्णा का अधिष्ठान—

जिह्वामूलगतक्लोमतालुतोयवहाः सिराः ॥ ४७ ॥
संशोष्य तृष्णा जायन्ते—

जिह्वामूलगत क्लोम और तालु की जलवहा सिराओं को सुखाकर तृष्णायें उत्पन्न होती हैं ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—पूर्वरूप-'प्राग्रूपं मुखशोषः स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम्। तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः ॥' (च. चि. अ. २२।८)

तृष्णा का सामान्य लक्षण—

—तासां सामान्यलक्षणम्।
मुखशोषो जलातृप्तिरन्नद्वेषः स्वरक्षयः ॥ ४८ ॥
कण्ठौष्ठजिह्वाकार्कश्यं जिह्वानिष्क्रमणं क्लमः।
प्रलापश्चित्तविभ्रंशस्तृड्ग्रहोक्तास्तथाऽमयाः ॥ ४९ ॥

सामान्य लक्षण—मुख की शुष्कता, जल से अतृप्ति, अन्न-द्वेष, स्वर का नाश, कण्ठ, ओठ एवं जिह्वा में कर्कशता, जीभ का बाहर निकलना, क्लम, प्रलाप, चित्त-विभ्रम एवं प्यास के रोकने से उत्पन्न रोग (शोष-अङ्गसाद-बाधिर्य आदि) उत्पन्न होते हैं ॥ ४८-४९ ॥

वातज तृष्णा का लक्षण—

मारुतात् क्षामता दैन्यं शङ्खतोदः शिरोभ्रमः।
गन्धाज्ञानास्यवैरस्यश्रुतिनिद्राबलक्षयाः ॥ ५० ॥
शीताम्बुपानाद् वृद्धिश्च—

वातज तृष्णा में क्षामता (कृशता), दीनता, शंखों में पीड़ा, शिर में चक्कर आना, गन्ध की अप्रतीति, मुख की विरसता, सुनने की कमी, निद्रानाश और बलनाश होता है।

पित्तज तृष्णा का लक्षण—

—पित्तान्मूर्च्छाऽस्यतिक्तता।
रक्तेक्षणत्वं प्रततं शोषो दाहोऽतिधूमकः ॥ ५१ ॥

पित्तज तृष्णा में मूर्च्छा, मुख में तिक्तता, आँखों में रक्तिमा, निरन्तर शुष्कता, दाह और अतिशय धूमक (धूमोद्गमन) होता है ॥ ५१ ॥

कफज तृष्णा का लक्षण—

कफो रुणद्धि कुपितस्तोयवाहिषु मारुतम्।
स्रोतःसु स कफस्तेन पङ्कवच्छोष्यते ततः ॥ ५२ ॥
शूकैरिवाचितः कण्ठो निद्रा मधुरवक्त्रता।
आध्मानं शिरसो जाड्यं स्तैमित्यच्छर्द्यरोचकाः ॥
आलस्यमविपाकश्च—

कुपित हुआ कफ जलवाही स्रोतों में जब वायु को रोक देता है तब वह कफ इस वायु से कीचड़ की भांति सुखाया जाता है। फिर कफ के शुष्क होने से गला शूकों (काँटों) से भरा प्रतीत होता है। रोगी को नींद, मुख में मधुरता, आध्मान, शिर में जड़ता, स्तिमितता, वमन, अरुचि, आलस्य और अविपाक होता है। (तथा अवरुद्ध वायु और पित्त तृष्णा को उत्पन्न करते हैं।) ॥ ५२-५३ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत से-'कफावृताभ्यामनिलानलाभ्यां कफोऽपि शुष्कः प्रकरोति तृष्णाम् ॥' (सु. उ. अ. ४८।१०)

त्रिदोषज तृष्णा का लक्षण—

सर्वैः स्यात्सर्वलक्षणा।

सन्निपातजन्य तृष्णा में सब दोषों के लक्षण होते हैं।

अन्य तृष्णाओं का पूर्वोक्तों में समावेश—

आमोद्भवा च, भक्तस्य संरोधाद्वातपित्तजा ॥ ५४ ॥
ऊष्माक्रान्तस्य सहसा शीताम्भो भजतस्तृषम्।
ऊष्मा रुद्धो गतः कोष्ठं यां कुर्यात्पित्तजैव सा ॥५५॥
या च पानातिपानोत्था, तीक्ष्णाग्नेः स्नेहजा च या।
स्निग्धगुर्वम्ललवणभोजनेन कफोद्भवा ॥ ५६ ॥

आमोद्भवा-आमाजीर्णजा तृष्णा सान्निपातिक के समान सर्व-लक्षणों तथा आहार के संरोध (उपवास) से वात-पित्त के लक्षणों वाली तृष्णा होती है। उष्णिमा से थके हुए पुरुष के सहसा शीतल जल पीने से उष्णिमा रुककर कोष्ठ में पहुँच कर जो तृष्णा उत्पन्न करती है, वह पित्तजन्य ही है (अन्य नहीं), और जो तृष्णा मद्य के अतिपान से उत्पन्न होती है, तथा तीक्ष्णाग्नि पुरुष में स्नेह के कारण जो उत्पन्न होती है वह भी पित्तजा ही होती है। एवं स्निग्ध गुरु, अम्ल, भोजन से जो तृष्णा उत्पन्न होती है वह कफजन्य है ॥ ५४-५६ ॥

क्षयज तृष्णा का लक्षण—

तृष्णा रसक्षयोक्तेन लक्षणेन क्षयात्मिका।

रसक्षय के लक्षणों से (हृ. सू. अ. ११ में-'रसे रौक्ष्यं श्रमः शोष' इत्यादि) क्षयजन्य तृष्णा समझनी चाहिये।

वक्तव्य—चरक में 'देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्यक्षयाच्च तृष्येद्धि। दीनस्वरः प्रताम्यन् दीनः संशुष्कगलतालुः ॥'

(चरक चि. अ. २२।१६) चरक में आमजन्य तृष्णा को (जिसे यहाँ त्रिदोषज बताया है-'तृष्णा याऽमप्रभवा साऽप्याग्नेयाऽमपित्तजनितत्वात् ॥' (चरक)

उपसर्गज तृष्णा का लक्षण—

शोषमेहज्वराद्यन्यदीर्घरोगोपसर्गतः ॥ ५७ ॥
या तृष्णा जायते तीव्रा सोपसर्गात्मिका स्मृता ।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने राजयक्ष्मादिनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

शोष, मेह, ज्वर आदि अन्य चिरकालीन रोगों के उपद्रव रूप जो असह्य तृष्णा उत्पन्न होती है वह उपसर्गजा कहलाती है।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का राजयक्ष्मादि निदान नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातो मदात्ययादिनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इससे आगे मदात्ययादिनिदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

मद तथा ओज का निरूपण—

तीक्ष्णोष्णरूक्षसूक्ष्माम्लं व्यवाय्याशुकरं लघु ।
विकासि विशदं मद्यमोजसोऽस्माद्विपर्ययः ॥ १ ॥

मद्य के दस गुण—तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायी, आशुकारी, लघु, विकासी, विशद-ये दस गुण मद्य के हैं, ओज इनसे विपरीत गुणों वाला होता है ॥ १ ॥

वक्तव्य—ओज के दस गुण-'गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम् । प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥' (चरक. चि. अ. २४।३१)

मद्य के गुण तथा विष से भिन्नता—

तीक्ष्णादयो विषेऽप्युक्ताश्चित्तोपप्लाविनो गुणाः ।
जीवितान्ताय जायन्ते विषे तूत्कर्षवृत्तितः ॥ २ ॥

चित्त का विभ्रम करने वाले ये तीक्ष्ण आदि दस गुण विष में भी हैं किन्तु विष में जो वे तीक्ष्ण आदि गुण हैं, ये उत्कर्ष वृत्ति से (अधिकता से रहने के कारण) मारक बनते हैं (मद्य मारक नहीं होता) ॥ २ ॥

मद्य से चित्तविकार—

तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्मद्यं मन्दादीनोजसो गुणान् ।
दशभिर्दश सङ्क्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥ ३ ॥
आद्ये मदे —

मद्य अपने तीक्ष्ण आदि दश गुणों के द्वारा ओज के मन्द आदि दस गुणों को विक्षोभित करके प्रथम मद में चित्त के अन्दर विकार उत्पन्न करता है। (मदेन-मदात् वा अत्ययो मदात्ययः) ॥ ३ ॥

— द्वितीये तु प्रमादायतने स्थितः ।
दुर्विकल्पहतो मूढः सुखमित्याद्यमुच्यते ॥ ४ ॥

दूसरे मद में प्रमाद के स्थान में स्थित हुआ, (इहलोक और परलोक में अशुभ फल देने वाले कार्यों में स्थित) दूषित विकल्पनाओं से नष्ट हुआ मूढ मनुष्य दुःख का सुख रूप में अनुभव करता है ॥ ४ ॥

मद्य की निन्दनीयता—

मध्यमोत्तमयोः सन्धिं प्राप्य राजस-तामसः ।
निरङ्कुश इव व्यालो न किञ्चिन्नाचरेज्जडः ॥ ५ ॥

मध्यम और उत्तम (दूसरे और तीसरे) मद की सन्धि में पहुँचा राजस या तामस प्रकृति का मनुष्य जड़ बनकर अङ्कुश रहित-हिंसक हाथी की भाँति स्वतन्त्र हो जाता है, और कोई ऐसा बुरा काम नहीं रहता जिसे वह न करे अर्थात् वह सब कुछ करने लगता है ॥ ५ ॥

मदावस्था में दुर्गति—

इयं भूमिरवद्यानां दौःशील्यस्येदमास्पदम् ।
एकोऽयं बहुमार्गाया दुर्गतेर्देशिकः परम् ॥ ५६ ॥

यह अवस्था निन्दा की भूमि है, दुःशीलता (दुराचार) का यह स्थान है। नाना प्रकार की दुर्गति का यह अकेला ही श्रेष्ठ आचार्य अथवा मार्गदर्शक है ॥ ६ ॥

तृतीय मदावस्था में मुर्दे के समान स्थित—

निश्चेष्टः शववच्छेते तृतीये तु मदे स्थितः ।
मरणादपि पापात्मा गतः पापतरां दशाम् ॥ ७ ॥

तृतीय मद में स्थित मनुष्य चेष्टारहित बनकर मरे हुए के समान निरन्तर सोता है। इस प्रकार यह पापात्मा मृत्यु से भी बुरी अधिक पापी अवस्था में पहुँचा होता है ॥ ७ ॥

मदावस्था में धर्माधर्मादि का अज्ञान—

धर्माधर्मं सुखं दुःखमर्थानर्थं हिताहितम् ।
यदासक्तो न जानाति कथं तच्छीलयेद् बुधः ॥ ८ ॥

जिस मद में फँसा हुआ मनुष्य धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, अर्थ-अनर्थ, हित और अहित को भी नहीं जानता, उस मद का बुद्धिमान् कैसे अभ्यास (सदा सेवन) करे ? ॥ ८ ॥

अधिक मद्यपान में मोहादि—

मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रिताः ।
सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः ॥ ९ ॥
यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधु यत् ।

मद्य में मोह, भय, शोक, क्रोध, मृत्यु, उन्माद, मद, मूर्च्छा, अपस्मार और अपतानक ये स्थित हैं। जिस वस्तु में अकेला स्मृति-विभ्रंश रहता है, उसी में सब कुछ बुरा ही है। (चूँकि स्मृति के नष्ट होने से सब नष्ट हो जाता है।

यथा गीतामें-स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ और जहाँ इतनी बुराइयाँ हों उसकी कथा ही क्या है ?)

वक्तव्य—चरक में-'ओजस्यविहते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते । मध्यमो विहतेऽल्पे तु विहते तूत्तमो मदः ॥'

युक्तिहीन सेवित मद्य से त्रिवर्ग का नाश—

अयुक्तियुक्तमन्नं हि व्याधये मरणाय वा ॥ १० ॥
मद्यं त्रिवर्गधीधैर्यलज्जादेरपि नाशनम् ।

प्राणकारी अन्न भी अयुक्ति-पूर्वक बरतने से मृत्यु या रोग का कारण बनता है। उसी प्रकार मद्य भी अयुक्ति से पीने पर त्रिवर्ग, बुद्धि, धैर्य, लज्जा आदि का नाश करने वाला है (युक्ति से पीने पर त्रिवर्ग को देता है) ॥ १० ॥

बली आदि पुरुषों को मद का अभाव—

नातिमाद्यन्ति बलिनः कृताहारा महाशनाः ॥ ११ ॥
स्निग्धाः सत्त्ववयोयुक्ता मद्यनित्यास्तदन्वयाः ।
मेदः कफाधिका मन्दवातपित्ता दृढाग्नयः ॥ १२ ॥

युक्ति—बलवान, भोजन किये हुए, बहुत खाने वाले, स्निग्ध, सत्त्वयुक्त, वयोयुक्त, नित्य मद्य पीने वाले, मद्य पीने वालों के कुल में उत्पन्न, मेद की अधिकता वाले, कफ की अधिकता वाले, स्वल्प वात-पित्त वाले एवं तीक्ष्णाग्नि पुरुषों पर मद्य अधिक प्रभाव नहीं करता ॥ ११-१२ ॥

पूर्वोक्त से भिन्नावस्था में फल—

विपर्ययेऽतिमाद्यन्ति विश्रब्धाः कुपिताश्च ये ।
मद्येन चाम्लरूक्षेण साजीर्णे बहुनाऽपि च ॥ १३ ॥

इन उपर्युक्त अवस्थाओं से विपरीत अवस्थाओं में, पूरे विश्वास के साथ पीने वालों में तथा क्रोधी पुरुषों में भी मद्य अधिक प्रभाव करता है। अम्ल-रूक्ष मद्य के पीने से सभी में बहुत असर होता है, अजीर्ण में तथा अतिमात्रा में पीने से भी मद्य बहुत चढ़ता है ॥ १३ ॥

मदात्यय के चार प्रकार—

वातात्पित्तात्कफात्सर्वैश्चत्वारः स्युर्मदात्ययाः ।
सर्वेऽपि सर्वैर्जायन्ते व्यपदेशस्तु भूयसा ॥ १४ ॥

मदात्यय वायु से, पित्त से, कफ से और सन्निपात से चार प्रकार का होता है। ये चारों मदात्यय सब दोषों से होते हैं, परन्तु अधिकता की दृष्टि से कहा जाता है ॥ १४ ॥

मदात्यय के सामान्य लक्षण—

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रमोहो हृदयव्यथा ।
विड्भेदः प्रततं तृष्णा सौम्याग्नेयो ज्वरोऽरुचिः ॥१५॥
शिरःपार्श्वास्थिरुक्कम्पो मर्मभेदस्त्रिकग्रहः ।
उरोविबन्धस्तिमिरं कासः श्वासः प्रजागरः ॥ १६ ॥
स्वेदोऽतिमात्रं विष्टम्भः श्वयथुश्चित्तविभ्रमः ।
प्रलापश्छर्दिरुत्क्लेशो भ्रमो दुःस्वप्नदर्शनम् ॥ १७ ॥

सामान्य लक्षण-इनमें प्रमोह, हृदय में पीड़ा, अतीसार, निरन्तर प्यास, प्रथम सौम्य ज्वर फिर आग्नेय ज्वर, अरुचि, शिर, पार्श्व और अस्थियों में दर्द, कम्पन, मर्म में पीड़ा, त्रिकग्रह, छातीमें रुकावट, तिमिर, कास, श्वास, नींद न आना, स्वेद की अधिकता, विष्टम्भ, शोथ, चित्तविभ्रम, प्रलाप, वमन, जी मिचलाना, चक्कर आना और बुरे स्वप्नों का दिखाई देना-ये सामान्य लक्षण हैं ॥ १५-१७ ॥

वातिक मदात्यय का लक्षण—

विशेषाज्जागरश्वासकम्पमूर्धरुजोऽनिलात् ।
स्वप्ने भ्रमत्युत्पतति प्रेतैश्च सह भाषते ॥ १८ ॥

वात के कारण—विशेषकर नींद का न आना, श्वास, कम्पन, शिर में दर्द, स्वप्न में घूमना, गिरना तथा प्रेतों के साथ बात करना वायु से होता है। (उत्पतति-नभो याति इति चन्द्रतोडरौ) ॥ १८ ॥

पैत्तिक मदात्यय का लक्षण—

पित्ताद्दाहज्वरस्वेदमोहातीसारतृड्भ्रमाः ।
देहो हरितहारिद्रो रक्तनेत्रकपोलता ॥ १९ ॥

पित्त के कारण-दाह, ज्वर, पसीना आना, मोह, अतीसार, प्यास, भ्रम, शरीर का हरा या पीला होना, नेत्र एवं कपोलों का सुर्ख होना होता है ॥ १९ ॥

श्लैष्मिक और त्रिदोषज मदात्यय का लक्षण—

श्लेष्मणा छर्दिहृल्लासनिद्रोदर्दाङ्गगौरवम् ।
सर्वजे सर्वलिङ्गत्वम्—

कफ के कारण—वमन, जी मिचलाना, नींद की अधिकता, उदर्द एवं अंगों में भारीपन होता है। सन्निपातजन्य मदात्यय में सब दोषों के लक्षण होते हैं ॥

ध्वंसक तथा विक्षय रोगों की उत्पत्ति—

—मुक्त्वा मद्यं पिबेत्तु यः ॥ २० ॥
सहसाऽनुचितं वाऽन्यत्तस्य ध्वंसकविक्षयौ ।
भवेतां मारुतात् कष्टौ दुर्बलस्य विशेषतः ॥ २१ ॥

मद्य को पीते हुए फिर देर तक मद्यपान छोड़ देने के उपरान्त जो मनुष्य सहसा मद्यपान करता है, उसे, अथवा जो व्यक्ति अनुचित (असात्म्य) दूसरा मद्य अधिक मात्रा में पीता है, उसको ध्वंसक और विक्षय नामक दो रोग वायु से होते हैं। ये अति कष्टसाध्य हैं, दुर्बल पुरुष को प्रायः करके ये रोग होते हैं ॥ २०-२१ ॥

ध्वंसक का लक्षण—

ध्वंसके श्लेष्मनिष्ठीवः कण्ठशोषोऽतिनिद्रता ।
शब्दासहत्वं तन्द्रा च—

ध्वंसक रोग में कफ का थूक में आना, गले में शोष, नींद की अधिकता, शब्द की असहिष्णुता और तन्द्रा होती है।

विक्षय का लक्षण—

—विक्षयेऽङ्गशिरोऽतिरुक् । २२ ॥
हृत्कण्ठरोगः सम्मोहः कासस्तृष्णा वमिर्ज्वरः ।

विक्षय में अंगों में तथा शिर में अतिवेदना, हृदयरोग,

कण्ठरोग, इन्द्रिय और मन का मोह, कास, प्यास, वमन और ज्वर होता है ॥ २२ ॥

मद्यपान-त्याग का फल—

निवृत्तो यस्तु मद्येभ्यो जितात्मा बुद्धिपूर्वकृत् ॥२३॥
विकारैः स्पृश्यते जातु न स शारीरमानसैः ।

(मद्य शारीरिक और मानसिक रोगों का कारण है; ऐसा समझ कर) जो जितेन्द्रिय मनुष्य मद्य से बुद्धिपूर्वक निवृत्त हो जाता है, उसको शारीरिक और मानसिक रोग नहीं होते।

मद आदि रोग—

रजोमोहाहिताहारपरस्य स्युस्त्रयो गदाः ॥ २४ ॥
रसासृक्चेतनावाहिस्रोतोरोधसमुद्भवाः ।
मदमूर्च्छायसम्न्यासा यथोत्तरबलोत्तराः ॥ २५ ॥

रजोगुणप्रधान तथा तमोगुणप्रधान एवं अपथ्य आहार-सेवी पुरुष में रसवह, रक्तवह और चेतनावह स्रोतों में अवरोध के कारण मद, मूर्च्छा और संन्यास ये तीन रोग उत्पन्न होते हैं। ये उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं ॥ २४-२५ ॥

मद रोग के सात भेद—

मदोऽत्र दोषैः सर्वैश्च रक्तमद्यविषैरपि ।

मदनिदान—इन में मद सात कारणों से होता है, यथा-वातादि तीन दोषों से पृथक्-पृथक्, सन्निपात से, रक्त से, मद्य से और विष से ।

उक्त सप्तविध मदों का क्रमशः लक्षण—

सक्तानल्पद्रुताभाषश्चलः स्खलितचेष्टितः ॥ २६ ॥
रूक्षश्यावारुणतनुर्मदे वातोद्भवे भवेत् ।
पित्तेन क्रोधनो रक्तपीताभः कलहप्रियः ॥ २७ ॥
स्वल्पसम्बद्धवाक्पाण्डुः कफाद्ध्यानपरोऽलसः ।
सर्वात्मा सन्निपातेन, रक्तात् स्तब्धाङ्गदृष्टिता ॥२८॥
पित्तलिङ्गं च मद्येन विकृतेहास्वराङ्गता ।
विषे कम्पोऽतिनिद्रा च सर्वेभ्योऽभ्यधिकस्तु सः ॥
लक्षयेल्लक्षणोत्कर्षाद्वातादीञ्छोणितादिषु ।

वातजन्य मद में रोगी सक्त (मिले हुए और अस्पष्ट) अक्षरों को बहुत और जल्दी में बोलता है, चंचल तथा लड़खड़ाता चलता है। इसका शरीर रूक्ष, श्याव एवं अरुणवर्ण हो जाता है। (चल—कँपकँपाता, स्खलितम्—रुकावट के साथ)।

पित्त के कारण क्रोधी, लाल-पीली कान्ति वाला और झगड़ालू होता है।

कफके कारण थोड़ा और सम्बद्ध बोलने वाला, पाण्डुवर्ण, चिन्ता में डूबा और अनुत्साह वाला होता है।

सन्निपातजन्य मदात्यय में सब दोषों के लक्षण होते हैं।

रक्तजन्य मद में अंग एवं दृष्टि स्तब्ध (जड़) बन जाती है और पित्तजन्य मद के लक्षण रहते हैं।

मद्यजन्य मद में चेष्टायें, स्वर और अंग विकृत हो जाते हैं।

विषजन्य मद में कम्पन, नींद का अधिक आना होता है। यह मद सब मदों से अधिक होता है। रक्त आदि अन्य मदों में दोषों के अपने-अपने लक्षणों की श्रेष्ठता से वात आदि दोषों को पहिचाने ॥ २६-२९ ॥

वातज मूर्च्छा का लक्षण—

अरुणं कृष्णनीलं वा खं पश्यन्प्रविशेत्तमः ॥ ३० ॥
शीघ्रं च प्रतिबुध्येत हृत्पीडा वेपथुर्भ्रमः ।
कार्श्यं श्यावारुणाच्छाया मूर्च्छाये मारुतात्मके ॥३१॥

वातजन्य मूर्च्छा में रोगी आकाश को गुलाबी, काला या नीला देखता हुआ अन्धकार में घुसता (मूर्च्छावस्था में पहुँच जाता है) और जल्दी ही जाग जाता है (संज्ञा में आ जाता है)। हृदय में पीड़ा, कम्पन, चक्कर आना, कृशता तथा श्याव अथवा अरुणवर्ण की छाया होती है ॥ ३०-३१ ॥

पित्तज मूर्च्छा का लक्षण—

पित्तेन रक्तं पीतं वा नभः पश्यन् विशेत्तमः ।
विबुध्येत च सस्वेदो दाहतृट्तापपीडितः ॥ ३२ ॥
भिन्नविण्नीलपीताभो रक्तपीताकुलेक्षणः ।

पित्तज मूर्च्छा में रोगी आकाश को लाल या पीला देखता हुआ मूर्च्छावस्था में उतरता है। जब जागृत होता (होश में आता) है, तब पसीना आया हुआ होता है। रोगी को दाह, प्यास, संताप, अतीसार होता है। रोगी की कान्ति नीली या पीली हो जाती है, दृष्टि लाल, पीली और व्याकुल रहती है ॥ ३२ ॥

कफज मूर्च्छा का लक्षण—

कफेन मेघसंकाशं पश्यन्नाकाशमाविशेत् ॥ ३३ ॥
तमश्चिराच्च बुध्येत सहृल्लासः प्रसेकवान् ।
गुरुभिः स्तिमितैरङ्गैरार्द्रचर्मावनद्धवत् ॥ ३४ ॥

कफज मूर्च्छा में आकाश को बादलों की भाँति देखता हुआ रोगी मूर्च्छित होता है और देर में संज्ञालाभ करता है। संज्ञा में आते समय जी मिचलाना एवं मुख से कफ का बहना होता है। अंग भारी, जड़ तथा गीले चमड़े से बांधे हुए प्रतीत होते हैं ॥ ३३-३४ ॥

त्रिदोषज मूर्च्छा का लक्षण

सर्वाकृतिस्त्रिभिर्दोषैरपस्मार इवापरः ।
पातयत्याशु निश्चेष्टं विना बीभत्सचेष्टितैः ॥ ३५ ॥

सन्निपातजन्य मूर्च्छा में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं और यह दूसरे अपस्मार की भाँति रोगी को चेतनारहित करके शीघ्र गिरा देती है। इसमें अपस्मारजन्य निन्दित चेष्टायें (मुख से झाग आना आदि) नहीं होतीं ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—मूर्च्छा आने से पूर्व आंखों के सामने जो चक्कर सा दीखता है, उसमें उसका रंग दोषों की भिन्नता से होता है। प्रत्येक मूर्च्छा में पित्त और तम का सम्बन्ध अवश्य रहता है। यथा—'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद्

श्रमः । तमो वातकफात्तन्द्रा निद्राश्लेष्मतमोभवा ॥' पूर्वरूप-'हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च । मूर्च्छानां पूर्वरूपाणि यथास्वं च विभावयेत् ॥' रक्त,से मूर्च्छा की उत्पत्ति के कारण—'पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः । तस्माद् रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ॥'

संन्यास का लक्षण—

दोषेषु मदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम् ।
स्वयमेवोपशाम्यन्ति, संन्यासो नौषधैर्विना ॥ ३६ ॥

मद और मूर्च्छा के आक्रमणों में दोष मनुष्यों के बिना चिकित्सा के स्वयं ही शान्त हो जाते हैं। परन्तु संन्यास ओषधि के बिना शान्त नहीं होता ॥ ३६ ॥

संन्यास की सम्प्राप्ति—

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः ।
संन्यासं सन्निपतिताः प्राणायतनसंश्रयाः ॥ ३७ ॥
कुर्वन्ति, तेन पुरुषः काष्ठीभूतो मृतोपमः ।
म्रियेत शीघ्रं शीघ्रं चेच्चिकित्सा न प्रयुज्यते ॥ ३८ ॥

अतिशय बलवान् वात, पित्त, कफ ये तीनों मिलकर प्राणों के स्थानों का आश्रय लेकर वाणी, शरीर और मन की चेष्टाओं को नष्ट करके संन्यास उत्पन्न करते हैं। इस संन्यास के कारण मनुष्य लकड़ी की भाँति (कठोर) बनकर तथा मृत की तरह संज्ञारहित होकर शीघ्र ही मर जाता है, यदि तुरन्त चिकित्सा नही बरती जाती ॥ ३७-३८ ॥

वक्तव्य - प्राणायतन दश होते हैं। (शा. अ. ३ श्लो. १३) उनमें भी हृदय मुख्य है। यथाः-(१) 'हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! 'देहिनाम् ।' (२) तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः। हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥' (चरक. सू. अ. ३०।७।)

संन्यास रोग-चिकित्सा में शीघ्रता—

अगाधे ग्राहबहुले सलिलौघ इवातटे ।
संन्यासे विनिमज्जन्तं नरमाशु निवर्तयेत् ॥ ३९ ॥

अतिशय गहरे, मकर आदि प्राणियों से भरे तथा किनारे रहित पानी के पूररूपी संन्यास में डूबते हुए मनुष्य को शीघ्र ही लौटा लेना चाहिये ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—चरक में-दुर्गेऽम्भसि यथा मज्जद्भाजनं त्वरया बुधः। गृह्णीयात्तलमप्राप्तं तथा संन्यासपीडितम्' ॥ चरक।

अध्याय का उपसंहार—

मदमानरोषतोषप्रभृतिभिररिभिर्निजैः परिष्वङ्गः ।
युक्तायुक्तं च समं युक्तिवियुक्तेन मद्येन ॥ ४० ॥

युक्तिरहित पिये हुये मद्य से मद (विकलता), अभिमान, क्रोध, तुष्टि आदि सहज शत्रुओं के साथ (जो जाने और अनजाने में भी सदा विनाशकारी होते हैं) अतिशय संश्लेष हो जाता है, कार्य और अकार्य वे दोनों समान हो जाते हैं (उचित-अनुचित का विवेक नहीं रह जाता है) ॥ ४० ॥

मद्य सेवन में युक्ति—

बलकालदेशसात्म्यप्रकृतिसहायामयवयांसि ।
प्रविभज्य तदनुरूपं यदि पिबति ततः पिबत्यमृतम् ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने मदात्ययादिनिदानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

* * *

युक्ति, बल, काल, देश, सात्म्य, प्रकृति, सहायक, रोग और वय, इनको बुद्धिपूर्वक विचार कर इनके योग्य मद्य पीता है, तो वह अमृत पीता है (मद्यके रूप में अमृत पीता है)।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का मदात्ययादिनिदान नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

* * *

सप्तमोऽध्यायः

अथातोऽर्शसां निदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे अर्शों के निदान का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

अर्श (बवासीर) का लक्षण—

अरिवत्प्राणिनो मांसकीलका विशसन्ति यत् ।
अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधतः ॥ १ ॥
दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन् ।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः ॥ २ ॥

क्योंकि मांसाङ्कुर गुदामार्ग का अवरोध कर शत्रु की भाँति हिंसा करते हैं (पीड़ा देते हैं)। इस कारण इनको अर्श कहते हैं। वातादि दोष त्वक्, मांस और मेद को दूषित करके भिन्न-भिन्न आकार के मांसाङ्कुरों को अपान (गुदा) आदि में उत्पन्न करते हैं, उनको अर्श कहते हैं ॥ १-२ ॥

वक्तव्य—चरक ने केवल गुदा में होने वाले अंकुरों को अर्श माना है, अन्य देश में होने वालों को अधिमांस कहा है—'केचित्तु-भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नपमत्यपथं गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् चेति । तदस्त्यधिमांसदेशतया, गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन् । सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च ॥'(च.चि अ.१४।६)

अर्श के दो भेद—

सहजन्मोत्तरोत्थानभेदाद् द्वेधा समासतः ।
शुष्कस्राविविभेदाच्च—

संक्षेप में ये अर्श जन्म के साथ और जन्म के पीछे होने के कारण से दो प्रकार के हैं। एवं शुष्क और स्रावी भेद से भी अर्श दो प्रकार के हैं। (शुष्काणि-स्रावरहितानि। स्राविणि—रक्तवाहीनि)।

गुदा-वलियों का वर्णन--

—गुदः स्थूलान्त्रसंश्रयः ॥ ३ ॥
अर्धपञ्चाङ्गुलस्तस्मिंस्तिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलाः स्थिताः ।
वलयः, प्रवाहिणी तासामन्तर्मध्ये विसर्जनी ॥ ४ ॥
बाह्या संवरणी तस्या गुदौष्ठो बहिरङ्गुले ।
यवाध्यर्धप्रमाणेन रोमाण्यत्र ततः परम् ॥ ५ ॥

स्थूल आन्त्र से सम्बद्ध साढ़े चार अंगुल परिमाण गुदा होती है। इसमें तीन वलियाँ हैं, जो कि डेढ़ अंगुल के परिमाण की प्रत्येक होती हैं। इसमें सबसे भीतर की वलि का नाम प्रवाहिणी, मध्य का नाम विसर्जनी और बाहर का नाम संवरणी है। इस संवरणी वलि के बाहरी एक अंगुल भाग में गुदौष्ठ है। गुदौष्ठ का परिमाण डेढ़ यव है। इस गुदौष्ठ के बाहर गुदा पर बाल (रोम) होते हैं ॥ ३-५ ॥

उक्त विषय में युक्तिप्रदर्शन—

तत्र हेतुः सहोत्थानां वलीबीजोपतप्तता ।
अर्शसां, बीजतप्तिस्तु मातापित्रपचारतः ॥ ६ ॥
दैवाच्च, ताभ्यां कोपो हि सन्निपातस्य तान्यतः ।
असाध्यान्येवमाख्याताः सर्वे रोगाः कुलोद्भवाः ॥७॥

सहज अर्शों का कारण—वलि को उत्पन्न करने वाले बीज भाग का दोषों से दूषित होना सहज अर्शों का कारण है। बीज का दूषित होना माता-पिता के (आहर-विहार के) अपचार का परिणाम, अथवा दैव (प्राक्तन कर्म) का फल है। क्योंकि माता-पिता के अपचार से और दैव के कारण सन्निपात का प्रकोप होता है इसलिये उनसे उत्पन्न सहज अर्श असाध्य है। इसी प्रकार से कुलोत्पन्न सब रोग असाध्य होते हैं ॥

सहज अर्श के लक्षण—

सहजानि विशेषेण रूक्षदुर्दर्शनानि च ।
अन्तर्मुखानि पाण्डूनि दारुणोपद्रवाणि च ॥ ८ ॥

सहज अर्श विशेषरूपसे रूक्ष, देखने में भयोत्पादक, भीतर मुख वाले, पाण्डुवर्ण और दारुण उपद्रवों से युक्त होते हैं ॥

जन्म के बाद में उत्पन्न अर्श के ६ भेद—

षोढाऽन्यानि पृथग्दोषसंसर्गनिचयास्रतः ।

जन्मोत्तर कालजन्य अर्श छः प्रकार के हैं—यथा-पृथक् दोषों से तीन, संसर्गजन्य-एक, सन्निपातजन्य-एक और रक्तजन्य-एक, इस प्रकार छः प्रकार के अर्श हैं।

शुष्क (बादी) तथा आर्द्र (खूनी) अर्श—

शुष्काणि वातश्लेष्मभ्यामार्द्राणि त्वस्रपित्ततः ॥९॥

इनमें शुष्क अर्श-वायु और कफ से (पृथक् या मिलने से) उत्पन्न होते हैं, और आर्द्र अर्श रक्त एवं पित्त से (व्यस्त एवं समस्त रूप से) होते हैं ॥ ९ ॥

अर्शों की उत्पत्ति—

दोषप्रकोपहेतुस्तु प्रागुक्तस्तेन सादिते ।
अग्नौ, मलेऽतिनिचिते, पुनश्चातिव्यवायतः ॥ १० ॥
यानसंक्षोभविषमकठिनोत्कटकासनात् ।
वस्तिनेत्राश्मलोष्टोर्वीतलचैलादिघट्टनात् ॥ ११ ॥
भृशं शीताम्बुसंस्पर्शात् प्रततातिप्रवाहणात् ।
वातमूत्रशकृद्वेगधारणात् तदुदीरणात् ॥ १२ ॥
ज्वरगुल्मातिसारामग्रहणीशोफपाण्डुभिः ।
कर्शनाद्विषमाभ्यश्च चेष्टाभ्यो, योषितां पुनः ॥ १३ ॥
आमगर्भप्रपतनाद् गर्भवृद्धिप्रपीडनात् ।
ईदृशैश्चापरैर्वायुरपानः कुपितो मलम् ॥ १४ ॥
पायोर्वलीषु तं धत्ते तास्वभिष्यण्णमूर्तिषु ।
जायन्तेऽर्शांसि--

पहले कहे हुए (सर्वनिदान अध्याय में) दोष-प्रकोप कारणों से प्रकुपित दोषों से अग्नि के मन्द हो जाने पर, मल के अतिसञ्चित हो जाने से, तथा अतिमैथुन, सवारी के विक्षोभ, विषम, कठिन और उत्कट आसन, वस्तिनेत्र, पत्थर, मिट्टी के ढेले, भूमि की पृष्ठ तथा वस्त्र आदि की रगड़ से, अतिशय शीतल जल के स्पर्श, निरन्तर अतिप्रवाहण, वायु, मूत्र, मल के वेग को रोकने अथवा इनको प्रेरित करने से, ज्वर, गुल्म, अतिसार, आम, ग्रहणी, शोफ और पाण्डु से, कृश होने से, विषम चेष्टाओं से तथा स्त्रियों में आमगर्भ के प्रपतन से, गर्भवृद्धि के दबाव से, तथा इसी प्रकार के दूसरे कारणों से कुपित अपानवायु मल को गुदा की वलियों में रोक देती है। इससे (उस देश में मल के अतिसम्पर्क से) वलियाँ प्रक्लिन्न हो जाती हैं और उनमें अर्शों की उत्पत्ति होती है।

अर्श का पूर्वरूप—

— तत्पूर्वलक्षणं मन्दवह्निता ॥ १५ ॥
विष्टम्भः सक्थिसदनं पिण्डिकोद्वेष्टनं भ्रमः ।
सादोऽङ्गे नेत्रयोः शोफः शकृद्भेदोऽथवा ग्रहः ॥१६॥
मारुतः प्रचुरो मूढः प्रायो नाभेरधश्चरन् ।
सरुक् सपरिकर्तश्च कृच्छ्रान्निर्गच्छति स्वनन् ॥ १७ ॥
अन्त्रकूजनमाटोपः क्षामतोद्गारभूरिता ।
प्रभूतं मूत्रमल्पा विडश्रद्धा धूमकोऽम्लकः ॥ १८ ॥
शिरःपृष्ठोरसां शूलमालस्यं भिन्नवर्णता ।
तन्द्रेन्द्रियाणां दौर्बल्यं क्रोधो दुःखोपचारता ॥ १९ ॥
आशङ्का ग्रहणीदोषपाण्डुगुल्मोदरेषु च ।

पूर्वरूप—अग्निमान्द्य, विष्टम्भ (आहार का अवरोध), टाँगों में शिथिलता, पिण्डलियों में ऐंठन, चक्कर आना, शरीर में शिथिलता, आँखों के नीचे शोफ, अतिसार अथवा मलावरोध, वायु की अधिकता, परन्तु क्रियारहित बनकर प्रायः करके नाभि के नीचे विचरती है (मार्ग के अवरोध से विमार्ग गति)-दर्द के साथ, कर्त्तन-काटने की भाँति पीड़ा करती हुई, कठिनाई से, शब्द के साथ अपान वायु बाहर आती है। आँतों में गड़गड़ाहट, आध्मान, कृशता और उद्गार की अधिकता रहती है। मूत्र की अधिकता, मल

कम, भोजन में अनिच्छा, धूमप्रतीति, अम्लता, शिर, पीठ, एवं छाती में शूल, आलस्य, रङ्ग में परिवर्तन, तन्द्रा, इन्द्रियों में दुर्बलता और क्रोध होते हैं तथा उसके इन कष्टों का उपचार कठिन होता है एवं उसे ग्रहणी रोग, पाण्डु, गुल्म और उदर रोग की आशंका-भय बनी रहती है ॥ १५-१९ ॥

वक्तव्य—'दुःखोपचारता-स्वजनसेवकादिभिर्दुःखेन सेव्यते। अथवा रोगी दुःखेन उपचर्यते।' इति तोडरः।

एतान्येव विवर्द्धन्ते जातेषु हतनामसु ॥ २० ॥

अर्श उत्पन्न होने पर यही (पूर्वरूपोक्त) लक्षण तथा ग्रहणी आदि रोग अधिक बढ़ जाते हैं ॥ २० ॥

अर्श के सामान्य लक्षण—

निवर्तमानोऽपानो हि तैरधोमार्गरोधतः ।
क्षोभयन्ननिलानन्यान् सर्वेन्द्रियशरीरगान् ॥२१॥
तथा मूत्रशकृत्पित्तकफान् धातूंश्च साशयान् ।
मृद्नात्यग्निं ततः सर्वो भवति प्रायशोऽर्शसः ॥२२॥
कृशो भृशं हतोत्साहो दीन क्षामोऽतिनिष्प्रभः ।
असारो विगतच्छायो जन्तुजुष्ट इव द्रुम ॥२३॥
कृत्स्नैरुपद्रवैर्ग्रस्तो यथोक्तैर्मर्मपीडनैः ।
तथा कासपिपासास्यवैरस्यश्वासपीनसैः ॥२४॥
क्लमाङ्गभङ्गवमथुक्षवथुश्वयथुज्वरैः ।
क्लैब्यबाधिर्यतैमिर्यशर्कराश्मरिपीडितः ॥२५॥
क्षामभिन्नस्वरो ध्यायन्मुहुः ष्ठीवन्नरोचकी ।
सर्वपर्वास्थिहृन्नाभिपायुवङ्क्षणशूलवान् ॥२६॥
गुदेन स्रवता पिच्छां पुलाकोदकसन्निभाम् ।
विबद्धमुक्तं शुष्कार्द्रं पक्वामं चान्तराऽन्तरा ॥२७॥
पाण्डु पीतं हरिद्रक्तं पिच्छिलं चोपवेश्यते ।

इन अर्शों के कारण अधोमार्ग के बन्द होने से अपान वायु रुककर (वापिस होकर) ऊपर को प्रवृत्त होती हुई सम्पूर्ण इन्द्रिय एवं शरीर में व्याप्त समान, व्यान, उदान और प्राणरूपी दूसरी वायुओं को तथा मूत्र, मल, पित्त और कफ को, सब धातुओं को एवं आशयों को विक्षोभित करके अग्नि को मन्द करती है। इसलिए प्रायः करके सब अर्शरोगी–अतिशय कृश, हतोत्साह, दीन, निर्बल, अतिनष्टकान्ति, साररहित, छायाहीन एवं कीड़ों से खाये वृक्ष की भाँति होते हैं। मर्म (गुदा) की पीड़ा से उत्पन्न हुए सब उपद्रवों से रोगी पीड़ित होता है तथा कास, प्यास, मुख की विरसता, श्वास, पीनस, थकान, अंगों का टूटना, वमन, छींक, शोथ, ज्वर, क्लीबता, बधिरता, तिमिर, शर्करा एवं अश्मरी से पीड़ित होता है। स्वर-कमजोर तथा फटा हुआ, बार-बार चिन्ता करने और थूकने वाला, अरोचक से पीड़ित, सब पार्श्वों और अस्थियों में तथा हृदय, नाभि, पायु और वंक्षण में दर्द रहती है। गुदा में पुआल के पानी के समान पिच्छा बहती है। बँधा हुआ या ढीला, शुष्क या गीला, पका या कच्चा, मल बीच-बीच में (थोड़ी-थोड़ी देर में) त्याग करता है। मल का रङ्ग पीला, पाण्डु, हरा या लाल और पिच्छा युक्त होता है ॥ २१-२७ ॥

वक्तव्य—पक्व तथा अपक्व मल के लक्षण—'मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विट् पक्वा तूत्प्लवते जले। विनाऽतिद्रवसंघातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ॥ परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं चामदोषिणाम्। विधिनोपचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा ॥'(च. चि. अ. १५।५)

वातज अर्श का लक्षण—

गुदाङ्कुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमिचिमान्विताः ॥२८॥
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विषमाः परुषाः खराः ।
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः ॥२९॥
बिम्बीकर्कन्धुखर्जूरकार्पासीफलसन्निभाः ।
केचित्कदम्बपुष्पाभाः केचित्सिद्धार्थकोपमाः ॥३०॥
शिरःपार्श्वांसकट्यूरुवङ्क्षणाभ्यधिकव्यथाः ।
क्षवथूद्गारविष्टम्भहृद्ग्रहारोचकप्रदाः ॥३१॥
कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः ।
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम् ॥३२॥
रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ।
कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते ॥३३॥
गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासम्भवस्तत एव च ।

वातजन्य अर्श—वायु की अधिकता वाले, गुदांकुर, शुष्क, चिमचिमाहट वाले, म्लान, (मुरझाए), नील, श्वेत, लाल, स्तब्ध, विषम (छोटे-बड़े और ऊपर-नीचे, तिरछे स्थित), कर्कश (खुरदरे), कठिन, परस्पर में असमान, टेढ़े, तीक्ष्ण (नुकीले), मुख पर खिले हुए, कन्दूरी, बेर, खजूर तथा बिनौले के फल के समान, कोई कदम्ब के फूल के समान और कोई सरसों के समान होते हैं। इनसे शिर, पार्श्व, अंस, कटि, ऊरु एवं वंक्षण में बहुत अधिक व्यथा होती है। रोगी को छींक, उद्गार, विष्टम्भ, हृद्रोग तथा अरुचि, उत्पन्न होती है। कास, श्वास, अग्नि की विषमता, कानों में आवाज और चक्कर आते हैं। इनसे पीड़ित मनुष्य बँधा हुआ, थोड़ा, शब्द के साथ, बहुत कुंथन के साथ, दर्द, झाग एवं पिच्छा से युक्त और रुक-रुक कर मलत्याग करता है। रोगी की त्वचा, नख, मल, मूत्र, नेत्र और मुख काले हो जाते हैं। फिर इन्हीं के कारण रोगी को गुल्म, प्लीहोदर, और अष्ठीला की उत्पत्ति होती है ॥ २८-३३ ॥

पित्तज अर्श का लक्षण—

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः ॥३४॥
तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः ।
शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभाः ॥ ३५॥
दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छाऽरुचिमोहदाः ।
सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः ॥३६॥
यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः ।

पित्तप्रधान अर्श में—अंकुर नीले मुख के, लाल, पीले या

काली प्रभा के होते हैं। इनसे स्वच्छ, पतला रक्त बहता है, विस्र (आमगन्ध या सड़ी गन्ध) आती है। ये अंकुर पतले, कोमल और ढीले, तोते की जीभ, यकृत के टुकड़े तथा जोंक के मुख के समान होते हैं। रोगी को जलन, पाक, ज्वर, पसीना, प्यास, मूर्च्छा, अरुचि एवं मोह होता है तथा गरमी प्रतीत होती है। पतला, नीला, उष्ण, पीला या रक्त तथा आम से युक्त मल का त्याग होता है। अंकुर मध्य में जौ के समान (बीच में मोटे और किनारों से पतले), त्वचा, नख, आदि हरे, पीले या हारिद्र वर्ण होते हैं ॥ ३४–३६ ॥

कफज अर्श का लक्षण—

श्लेष्मोल्बणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः ॥३७॥
उच्छूनोपचिताः स्निग्धाः
स्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः ।
पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः
कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः ॥ ३८ ॥
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ।
वङ्क्षणानाहिनः पायुबस्तिनाभिविकर्तिनः ॥ ३९ ॥
सकासश्वासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः ।
मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः ॥ ४० ॥
क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः ।
वसाभसकफप्राज्यपुरीषाः सप्रवाहिकाः ॥ ४१ ॥
न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः ।

कफप्रधान अर्श—मूल में मोटे, स्थूल, मन्द वेदना वाले और श्वेत वर्ण होते हैं। लम्बाई में और शोथ में बढ़े हुए, स्निग्ध, स्तब्ध, गोल, गुरु एवं स्थिर, पिच्छिल, स्तिमित, चिकने, कण्डूबहुल तथा स्पर्श में सुख अनुभव कराने वाले अंकुर होते हैं। इनका आकार करीर या कटहल के बीज के समान अथवा गाय के स्तन के समान होता है। वंक्षण प्रदेश में आनाह रहता है, पायु, वस्ति और नाभि में कर्त्तन की पीड़ा रहती है। रोगी को कास, श्वास, जीमचलाना, मुख से लालास्राव, अरुचि, पीनस, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, शिर में जड़ता, ठण्डी लग कर ज्वर आना, क्लीबता, अग्निमार्दव, वमन, तथा अन्य आमबहुल विकार (ग्रहणी-अतिसार आदि) होते हैं। वसा की भाँति कफयुक्त और अतिशय मात्रा में मल आता है, साथ में प्रवाहिका के लक्षण (थोड़ा मरोड़ के साथ थोड़ा मल आना) भी होते हैं। ये गुदांकुर न तो बहते हैं न फूटते हैं। त्वचा आदि पाण्डु एवं स्निग्ध वर्ण हो जाते हैं।

संसर्गज तथा त्रिदोषज अर्श का लक्षण—

संसृष्टलिङ्गाः संसर्गान्, निचयात्सर्वलक्षणाः ॥४२॥

दोषों के संसर्ग से अंकुर भी संसृष्ट (मिलित) लक्षणों वाले और सन्निपात से सब दोषों के लक्षणों वाले अंकुर होते हैं ॥

रक्तज अर्श का लक्षण—

रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः ।
वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ॥ ४३ ॥
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्प्रतिपीडिताः ।
स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ॥ ४४ ॥
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसम्भवैः ।
हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः ॥ ४५ ॥

रक्त की अधिकता वाले अंकुर पित्तजन्य अंकुर के समान लक्षणों वाले होते हैं। बरगद के अंकुर के समान, गुञ्जा या प्रवाल की भाँति ये अंकुर होते हैं। गाढ मल से दबने के कारण इन अंकुरों से अतिशय दूषित एवं उष्ण रक्त सहसा बहने लगता है। इस रक्त के अधिक बहने से रोगी मेढक के समान (पाण्डु) हो जाता है और रक्तक्षय से उत्पन्न कष्टों से पीड़ित रहता है, रोगी का वर्ण, बल और उत्साह घट जाता है। ओज (शक्ति) कम हो जाता है, इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं ॥ ४३–४५ ॥

अर्श के उपद्रव-उदावर्त-

मुद्गकोद्रवजूर्णाह्वकरीरचणकादिभिः ।
रूक्षैः संग्राहिभिर्वायुः स्वे स्थाने कुपितो बली ॥४६॥
अधोवहानि स्रोतांसि संरुध्याधः प्रशोषयन् ।
पुरीषं वातविण्मूत्रसङ्गं कुर्वीत दारुणम् ॥ ४७ ॥
तेन तीव्रा रुजा कोष्ठपृष्ठहृत्पार्श्वगा भवेत् ।
आध्मानमुदरावेष्टो हृल्लासः परिकर्तनम् ॥ ४८ ॥
बस्तौ च सुतरां शूलं गण्डश्वयथुसम्भवः ।
पवनस्योर्ध्वगामित्वं ततश्छर्द्यरुचिज्वराः ॥ ४९ ॥
हृद्रोगग्रहणीदोषमूत्रसङ्गप्रवाहिका ।
बाधिर्यतिमिरश्वासशिरोरुक्कासपीनसाः ॥ ५० ॥
मनोविकारस्तृष्णाऽस्रपित्तगुल्मोदरादयः ।
ते ते च वातजा रोगा जायन्ते भृशदारुणाः ॥ ५१ ॥
दुर्नाम्नामित्युदावर्तः परमोऽयमुपद्रवः ।
वाताभिभूतकोष्ठानां तैर्विनाऽपि स जायते ॥ ५२ ॥

मूँग, कोदो, ज्वार, करीर, चने और रूक्ष एवं संग्राहक वस्तुओं के सेवन से अपने स्थान में कुपित हुई बलवान् वायु अधोवह स्रोतों को बन्द करके मल को नीचे शुष्क बना कर अपान वायु, मल और मूत्र के दारुण अवरोध को उत्पन्न करती है। इससे कोष्ठ, पीठ, हृदय और पार्श्वों में तीव्र वेदना होती है। रोगी को आध्मान, उदर में ऐंठन, जी मचलाना, कर्त्तन की सी पीड़ा, वस्ति में निरन्तर शूल एवं गण्डप्रदेश में सूजन हो जाती है। वायु ऊपर को जाती है (उदावर्त हो जाता है)। इससे छर्दि, अरुचि, ज्वर, हृद्रोग, ग्रहणी रोग, मूत्र का अवरोध, प्रवाहिका, बहरापन, तिमिर, श्वास, शिर में दर्द, कास, पीनस, मन के विकार, तृषा, रक्त-पित्त, गुल्म, उदर आदि वातजन्य अतिशय भयानक रोग होते हैं। यह उदावर्त्त अर्शों का उत्कृष्ट (प्रधान) उपद्रव है। वायु की प्रधानता वाले कोष्ठों में अर्श के बिना भी वह उदावर्त्त उपद्रव हो जाता है ॥ ४६–५२ ॥

अर्श की साध्यासाध्यता—

सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरे वलौ ।
स्थितानि तान्यसाध्यानि, याप्यन्तेऽग्निबलादिभिः ॥

साध्यासाध्य—सहज, त्रिदोषजन्य तथा आभ्यन्तर वलि में स्थित अर्श असाध्य हैं। अग्नि बलवान होने पर आयु तथा पादसम्पद् आदि होने से याप्य होते हैं ॥ ५३ ॥

कष्टसाध्य अर्श—

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥ ५४ ॥

द्वन्द्वज तथा दूसरी वलि में स्थित और जो अर्श एक साल पुराने हो गये हैं, वे कष्टसाध्य हैं ॥ ५४ ॥

सुखसाध्य अर्श—

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥ ५५ ॥

बाह्य वलि में उत्पन्न, एक-दोष की प्रधानता वाले तथा नूतन उत्पन्न, अर्श सुखसाध्य हैं ॥ ५५ ॥

मेढ्रादिजन्य अर्श का लक्षण—

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं—

मेहन, नासा, कान आदि के अर्शों का वर्णन अपने-अपने प्रकरण में किया जायेगा।

नाभिज अर्श का लक्षण—

—नाभिजानि तु ।
गण्डूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥ ५६ ॥

नाभि में उत्पन्न अर्श केंचुए के मुख के समान एवं चिकने और कोमल होते हैं ॥ ५६ ॥

चर्मकील का लक्षण—

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः ।
कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तं विदुः ॥ ५७ ॥

चर्मकील—व्यान वायु कफ को लेकर त्वचा में बाहर की ओर अर्श को उत्पन्न करती है। ये अर्श कील के समान, स्थिर एवं कर्कश होते हैं और इनको चर्मकील कहते हैं ॥ ५७ ॥

वातादिजन्य चर्मकील का लक्षण—

वातेन तोदः पारुष्यं, पित्तादसितरक्तता ।
श्लेष्मणा स्निग्धता तस्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥ ५८ ॥

इन चर्मकीलों में वायु से चुभने की सी दर्द और कर्कशता रहती है, पित्त से कालापन और रक्तिमा तथा कफ के कारण स्निग्धता, ग्रन्थि-सदृशता और त्वचा के समान वर्ण रहता है।

अर्श की चिकित्सा में शीघ्रता—

अर्शसां प्रशमे यत्नमाशु कुर्वीत बुद्धिमान् ।
तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ॥ ५९ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थानेऽर्शसां निदानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

* * *

बुद्धिमान को चाहिये कि अर्शों की शान्ति के लिये शीघ्र यत्न करे। क्योंकि ये शीघ्र ही गुदा में अवरोध उत्पन्न कर बद्धगुदोदर रोग को उत्पन्न कर देते हैं ॥ ५९ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का अर्शोनिदान नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातोऽतीसारग्रहणीदोषनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे अतीसार-ग्रहणीदोषनिदान का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

अतीसार के छः भेद—

दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च भयाच्छोकाच्च षड्विधः ।
अतीसारः—

अतीसार छः प्रकार का है—पृथक्-पृथक् दोषों से तीन, समस्त दोषों से एक, भय से एक और शोक से एक।

अतीसार का हेतु—

—स सुतरां जायतेऽत्यम्बुपानतः ॥ १ ॥
कृशशुष्कामिषासात्म्यतिलपिष्टविरूढकैः ।
मद्यरूक्षातिमात्रान्नैरर्शोभिः स्नेहविभ्रमात् ॥ २ ॥
कृमिभ्यो वेगरोधाच्च तद्विधैः कुपितोऽनिलः ।
विस्रंसयत्यधोऽब्धातुं हत्वा तेनैव चानलम् ॥ ३ ॥
व्यापद्यानुशकृत्कोष्ठं पुरीषं द्रवतां नयन् ।
प्रकल्पतेऽतिसाराय —

कारण—अतिसार निरन्तर बहुत पानी के पीने से, कृश पशु के या शुष्क मांस के सेवन से, असात्म्य भोजन से, तिल, पिट्ठी और अंकुरित भोजनों से, मद्य से, रूक्ष अन्न से, अन्न की अधिक मात्रा से, अर्श रोग से, स्नेह के विभ्रम से, कृमियों से, उपस्थित वेगों को रोकने से तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से कुपित वायु जलीय धातु को नीचे की ओर प्रेरित करती है। इस जल से ही अग्नि को मन्द कर मल के समीप के कोष्ठ भाग (आन्त्र) को क्षुब्ध कर मल को द्रव रूप में परिणत करते हुए अतिसार रोग को उत्पन्न करती है ॥ १-३ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में 'संशम्यापां धातुरन्तः कृशानुं वर्चोमिश्रो मारुतेन प्रणुन्नः । वृद्धोऽतीवाधः सरत्येष यस्माद् व्याधिं घोरं ते त्वतीसारमाहुः ॥' (सु. उ. अ. ४०।६)

अतीसार के पूर्वरूप—

—लक्षणं तस्य भाविनः ॥ ४ ॥
तोदो हृद्गुदकोष्ठेषु गात्रसादो मलग्रहः ।
आध्मानमविपाकश्च—

होने वाले अतिसार के लक्षण—हृदय, गुदा और कोष्ठ में तोद, शरीर में शिथिलता, मल का अवरोध, आध्मान और अविपाक होते हैं ॥ ४ ॥

वातज अतीसार के लक्षण—

—तत्र वातेन विड्जलम् ॥ ५ ॥
अल्पाल्पं शब्दशूलाढ्यं विबद्धमुपवेश्यते ।
रूक्षं सफेनमच्छं च ग्रथितं वा मुहुर्मुहुः ॥ ६ ॥
तथा दग्धगुडाभासं सपिच्छापरिकर्तिकम् ।
शुष्कास्यो भ्रष्टपायुश्च हृष्टरोमा विनिष्टनन् ॥ ७ ॥

वातज अतिसार—वायु के कारण रोगी का मल पानी जैसा थोड़ा-थोड़ा शब्द एवं शूल की अधिकता के साथ रुक-रुक कर तथा रूक्ष, झागदार, निर्मल, ग्रथित और बार-बार आता है। कभी इसका रङ्ग जले हुए गुड़ के समान होता है, रोगी को पिच्छा (आँव) और परिकर्त्तिका (कर्त्तन की पीड़ा) रहती है। रोगी का मुख सूखा रहता है, गुदा बाहर आ जाती है, रोमांच होता है। रोगी मल-त्याग के लिये बार-बार कुन्थन करता है ॥ ५-७ ॥

पित्तज अतीसार के लक्षण—

पित्तेन पीतमसितं हारिद्रं शाद्वलप्रभम् ।
सरक्तमतिदुर्गन्धं तृण्मूर्च्छास्वेददाहवान् ॥ ८ ॥
सशूलं पायुसन्तापपाकवान्—

पित्त के कारण मल पीला, काला, हारिद्र वर्ण या शाद्वल (घास) के रङ्ग का हरा होता है। इसमें थोड़ा रक्त तथा अतिशय दुर्गन्ध रहती है। रोगी को प्यास, मूर्च्छा, स्वेद और दाह होती है। पायु में शूल, सन्ताप और पाक हो जाता है।

कफज अतीसार का लक्षण—

— श्लेष्मणा घनम् ।
पिच्छिलं तन्तुमच्छ्वेतं स्निग्धमामं कफान्वितम् ॥ ९ ॥
अभीक्ष्णं गुरु दुर्गन्धं विबद्धमनुबद्धरुक् ।
निद्रालुरलसोऽन्नद्विडल्पाल्पं सप्रवाहिकम् ॥ १० ॥
सरोमहर्षः सोत्क्लेशो गुरुबस्तिगुदोदरः ।
कृतेऽप्यकृतसंज्ञश्च—

कफ के कारण मल घना, पिच्छिल, तन्तुयुक्त, श्वेतवर्ण, चिकना, आम तथा कफ से युक्त होता है। रोगी बार-बार गुरु, दुर्गन्ध-युक्त, रुक-रुक कर और दर्द के साथ मलत्याग करता है। रोगी को नींद आती है, आलस्य एवं अन्न से द्वेष होता है। मल थोड़ा-थोड़ा प्रवाहिका के साथ आता है। रोगी को रोमांच, उत्क्लेश, वस्ति, गुदा एवं उदर में भारीपन, तथा मलत्याग करने पर भी मलत्याग नहीं करने की प्रतीति रहती है ॥ ९-१० ॥

त्रिदोषज अतीसार का लक्षण—

— सर्वात्मा सर्वलक्षणः ॥ ११ ॥

सन्निपातज अतिसार में सब दोषों के लक्षण रहते हैं ॥

भयज तथा शोकज अतीसार का लक्षण—

भयेन क्षोभिते चित्ते सपित्तो द्रावयेच्छकृत् ।
वायुस्ततोऽतिसार्येत क्षिप्रमुष्णं द्रवं प्लवम् ॥ १२ ॥
वातपित्तसमं लिङ्गैराहुस्तद्वच्च शोकतः ।

भयजन्य अतिसार में भय से चित्त के विक्षोभित हो जाने पर पित्तमिश्रित वायु, मल को पतला करके बाहर निकालती है, इससे जल्दी-जल्दी, गरम, द्रव तथा पानी में तैरने वाला अतिशय मल बाहर आता है। इसमें वात, पित्त के समान लक्षण रहते हैं।

शोकजन्य अतिसार में भी यही (भयजन्य अतिसार के ही) लक्षण होते हैं ॥ १२ ॥

संक्षेप में अतिसार के दो भेद—

अतीसारः समासेन द्विधा-सामो निरामकः ॥ १३ ॥
सासृङ्निरसृक्—

संक्षेप से अतिसार दो प्रकार का होता है आम के साथ-साम और आमरहित-निराम, और रक्तयुक्त एवं रक्त से रहित इस प्रकार भी दो प्रकार का अतीसार है ॥ १३ ॥

साम तथा निराम अतीसारों के लक्षण—

— तत्राद्ये गौरवादप्सु मज्जति ।
शकृद्दुर्गन्धमाटोपविष्टम्भार्तिप्रसेकिनः ॥ १४ ॥
विपरीतो निरामस्तु कफात्पक्वोऽपि मज्जति ।

इनमें आमातिसार में मल पानी में डूब जाता है, मल में दुर्गन्ध, आटोप, विष्टम्भ, पीड़ा और मुख से लालास्राव होता है। इसमें विपरीत निराम होता है। परन्तु कफ के कारण पका हुआ मल भी (निराम होने पर भी भारी होने से) पानी में डूब जाता है ॥ १४ ॥

ग्रहणी रोग का लक्षण—

अतीसारेषु यो नातियत्नवान् ग्रहणीगदः ॥ १५ ॥
तस्य स्यादग्निविध्वंसकरैरन्यस्य सेवितैः ।

अतीसार रोग में जो मनुष्य अतियत्नशील नहीं रहता, उसको ग्रहणी रोग होता है, दूसरे अतिसार-रहित पुरुषों को भी अग्नि को नष्ट करने वाले कारणों के सेवन करने से ग्रहणी रोग होता है ॥ १५ ॥

अतीसार तथा ग्रहणी में भेद—

सामं शकृन्निरामं वा जीर्णे येनातिसार्यते ॥ १६ ॥
सोऽतिसारोऽतिसरणादाशुकारी स्वभावतः ।

आहार के जीर्ण होने पर आमयुक्त या आमरहित मल को जो मनुष्य अतिशय रूप में बाहर करता है, वह अतिसरण होने से अतीसार होता है; यह अतिसार स्वभाव से ही आशु (शीघ्र) कारी है। (ग्रहणी में अतिसरण कभी-कभी ही होता है और मल कभी आम और कभी पक्व होता है तथा यह रोग आशुकारी नहीं होता) ॥ १६ ॥

ग्रहणी का स्वरूप—

सामं सान्नमजीर्णेऽन्ने जीर्णे पक्वं तु नैव वा ॥ १७ ॥
अकस्माद्वा मुहुर्बद्धमकस्माच्छिथिलं मुहुः ।
चिरकृद्ग्रहणीदोषः सञ्ज्ञयाच्चोपवेशयेत् ॥ १८ ॥

ग्रहणी रोग—अन्न के न जीर्ण होने पर आम के साथ अथवा अन्न के साथ, अथवा भोजन के जीर्ण होने पर पक्व अथवा अपक्व, अथवा बिना कारण के ही बार-बार बंधा हुआ

अथवा बिना कारण के ही बार बार शिथिल (ढीला) मल एकत्रित होने पर बाहर आता है। यह देर में क्रिया करने वाला ग्रहणी रोग है ॥ १७-१८॥

ग्रहणी के चार भेद—

स चतुर्धा पृथग्दोषैः सन्निपाताच्च जायते ।

ग्रहणी रोग चार प्रकार का है—वातादि पृथक् दोषों से तीन प्रकार का और सन्निपात से चौथा ।

ग्रहणी के पूर्वरूप—

प्राग्रूपं तस्य सदनं चिरात्पचनमम्लकः ॥ १९ ॥
प्रसेको वक्त्रवैरस्यमरुचिस्तृट् क्लमो भ्रमः ।
आनद्धोदरता छर्दिः कर्णक्ष्वेडोऽन्त्रकूजनम् ॥ २० ॥

पूर्वरूप—अङ्गों में शिथिलता, देर में भोजन का पचना, खट्टापन, मुख में लालास्राव, मुख में विरसता, अरुचि, प्यास, क्लम, चक्कर आना, पेट का फूला होना, वमन, कानों में शब्द और आँतों में गड़गड़ाहट होना ये ग्रहणी रोग के पूर्वरूप हैं।

ग्रहणी का सामान्य लक्षण—

सामान्यं लक्षणं कार्श्यं धूमकस्तमको ज्वरः ।
मूर्च्छा शिरोरुग्विष्टम्भः श्वयथुः करपादयोः ॥ २१ ॥

सामान्य लक्षण—कृशता, धूमप्रतीति, तमकश्वासभेद या आँखों के सामने अन्धेरा, ज्वर, मूर्च्छा, शिर में दर्द, विष्टम्भ, हाथ-पैर पर शोथ होना ये ग्रहणी रोग के सामान्य लक्षण हैं।

वातज ग्रहणी का लक्षण—

तत्रानिलात्तालुशोषस्तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।
पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुजाऽभीक्ष्णं विसूचिका ॥ २२ ॥
रसेषु गृद्धिः सर्वेषु क्षुत्तृष्णा परिकर्तिका ।
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यं समश्नुते ॥
वातहृद्रोगगुल्मार्शःप्लीहपाण्डुत्वशङ्कित. ।
चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् ॥ २४ ॥
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः पायुरुक्श्वासकासवान् ।

वातजन्य ग्रहणी—वायु के कारण तालुशोष, तिमिर, कानों में शब्द, पार्श्व, ऊरु, वंक्षण और ग्रीवा में बार-बार दर्द, विसूचिका, सब रसों की चाह, भूख प्यास, काटने की भाँति पीड़ा होती है तथा अन्न के जीर्ण होने पर आध्मान बढ़ता है। और भोजन कर लेने पर स्वस्थता का अनुभव होता है। रोगी को वात रोग, हृद्रोग, गुल्म, अर्श, प्लीहा, पाण्डु इन रोगों की शङ्का बनी रहती है। देर से कठिनतापूर्वक कभी द्रव और कभी शुष्क, पतला, आमयुक्त शब्द तथा झागयुक्त मल को बार-बार त्याग करता है। रोगी की गुदा में दर्द, श्वास और कास होते हैं ॥ २२- ४ ॥

पित्तज ग्रहणी का लक्षण—

पित्तेन नीलपीताभं पीताभः सृजति द्रवम् ॥ २५ ॥
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः ।

पित्तजन्य ग्रहणी में—पित्त के कारण नीला-पीला-सा, या पीला, एवं द्रव मल आता है। रोगी को सड़े, खट्टे डकार आते हैं, हृदय और गले में दाह, अरुचि और प्यास रहती है।

कफज तथा त्रिदोषज ग्रहणी का लक्षण—

श्लेष्मणा पच्यते दुःखमन्नं छर्दिररोचकः ॥ २६ ॥
आस्योपदेहनिष्ठीवकासहृल्लासपीनसाः ।
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु ॥ २७ ॥
उद्गारो दुष्टमधुरः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ।
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् ॥ २८ ॥
अकृशस्यापि दौर्बल्यं, सर्वजे सर्वसङ्करः ।

कफज ग्रहणी में—कफ के कारण अन्न कठिनाई से पचता है, रोगी को वमन, अरोचक, मुख का कफ से भरा रहना, थूक का बहुत आना, कास, जी मिचलाना तथा पीनस होता है, हृदय को जकड़ा हुआ और उदर को निश्चल और भारी अनुभव करता है। रोगी का उद्गार दूषित और मधुर होता है, अङ्गों में शिथिलता, स्त्रियों में अनुत्साह (कामेच्छा अत्यल्प), मल फटा हुआ, आम कफ से मिला एवं गुरु होता है। शरीर में कृशता न होने पर भी दुर्बलता रहती है। सन्निपातज ग्रहणी में सब दोषों के लक्षणों का मिश्रण होता है।

ग्रहणी में अग्नि की कारणता—

विभागेऽङ्गस्य ये चोक्ता विषमाद्यास्त्रयोऽग्नयः ॥ २९ ॥
तेऽपि स्युर्ग्रहणीदोषाः, समस्तु स्वास्थ्यकारणम् ।

अङ्ग के विभागों में (शा. ध. ३ श्लोक ७३) विषम, तीक्ष्ण और मन्द, ये जो तीन अग्नियाँ कही हैं ये भी ग्रहणी रोग ही हैं केवल सम अग्नि स्वास्थ्य का कारण है ॥ २९ ॥

ग्रहणी आदि महारोग—

वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दराः ।
अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः सुदुस्तराः ॥ ३० ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थानेऽतीसार-ग्रहणीदोषनिदानं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

* * *

वातव्याधि, अश्मरी, कुष्ठ, प्रमेह, उदर, भगन्दर, अर्श और ग्रहणी ये आठ—दुर्जय, कष्टसाध्य महारोग हैं। (इनमें अतिशय यत्न करना चाहिये।) ॥ ३० ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का अतीसार-ग्रहणीदोषनिदान नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

* * *

नवमोऽध्यायः

अथातो मूत्राघातनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे मूत्राघातनिदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वस्ति आदि की एकाश्रयता—

वस्तिर्वस्तिशिरोमेढ्रकटीवृषणपायवः ।
एकसम्बन्धनाः प्रोक्ता गुदास्थिविवराश्रयाः ॥ १ ॥

वस्ति, वस्तिशिर, मेहन, कटि, वृषण और गुदा-ये सब परस्पर सम्बन्धित और गुदास्थिविवर (श्रोणिगुहा) में आश्रित हैं ॥ १ ॥

मूत्राघातादि की उत्पत्ति—

अधोमुखोऽपि वस्तिर्हि मूत्रवाहिसिरामुखैः ।
पार्श्वेभ्यः पूर्यते सूक्ष्मैः स्यन्दमानैरनारतम् ॥ २ ॥
यैस्तैरेव प्रविश्यैनं दोषाः कुर्वन्ति विंशतिम् ।
मूत्राघातान् प्रमेहांश्च कृच्छ्रान्मर्मसमाश्रयान् ॥ ३ ॥

वस्ति अधोमुख होने पर भी मूत्रवाही सिरामुखों के द्वारा पार्श्वों से भर जाती है । मूत्र को ले आने वाले सूक्ष्म स्रोतों द्वारा निरन्तर वस्ति भरी जाती है (जिस प्रकार की मिट्टी का नूतन घड़ा पानी में अधोमुख रखने पर भी पार्श्व के सूक्ष्म स्रोतों से भर जाता है ।) इन्हीं मूत्रस्रोतों के मार्ग से दोष वस्ति में पहुँच कर वस्तिमर्म में आश्रित एवं कष्टसाध्य बीस मूत्राघातों को और बीस ही प्रमेहों को उत्पन्न करते हैं ॥

वक्तव्य—चरक में मूत्रकृच्छ्र आठ तथा मूत्राघात तेरह हैं-यथा-'स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ ।' (च. चि. २६) तथा 'त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषास्ते लिङ्गतः शृणु ॥' (च. सि. अ. ९।२६) । सुश्रुत में बारह मूत्राघात और आठ मूत्रकृच्छ्र कहे हैं—इस प्रकार से ये बीस हैं । इनको ही गिन कर यह संख्या कही है । वस्तिमर्म के रोग कष्टसाध्य हैं, यथा—'हृदये मूर्ध्नि वस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः । तस्मात्तेषां सदा यत्नं कुर्वीत परिपालने ॥' (चि. सि. अ. ९।९)

वातज आदि मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—

वस्तिवङ्क्षणमेढ्रार्तियुक्तोऽल्पाल्पं मुहुर्मुहुः ।
मूत्रयेद्वातजे कृच्छ्रे, पैत्ते पीतं सदाहरुक् ॥ ४ ॥
रक्तं वा, कफजे वस्तिमेढ्रगौरवशोफवान् ।
सपिच्छं सविबन्धं च, सर्वैः सर्वात्मकं मलैः ॥ ५ ॥

वातजन्य मूत्रकृच्छ्र में वस्ति, वंक्षण और मेहन में वेदना के साथ, थोड़ा-थोड़ा और बार-बार मूत्र प्रवाहण होता है ।

पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में पीला, दाह एवं वेदना के साथ या लाल मूत्र आता है ।

कफजन्य मूत्रकृच्छ्र में वस्ति तथा मेहन में भारीपन और शोथ होता है, मूत्र पिच्छा और विबन्ध के साथ आता है ।

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त मूत्र प्रवाहण करता है ॥ ४-५ ॥

अश्मरी का लक्षण—

यदा वायुर्मुखं वस्तेरावृत्य परिशोषयेत् ।
मूत्रं सपित्तं सकफं सशुक्रं वा तदा क्रमात् ॥ ६ ॥
सञ्जायतेऽश्मरी घोरा पित्ताद् गोरिव रोचना ।
श्लेष्माश्रया च सर्वा स्यात्—

अश्मरी—जब कुपित वायु वस्ति के मुख को घेर कर अकेले मूत्र को या पित्त या कफ या शुक्र के साथ मूत्र को सुखा देती है, तब तीव्र भयानक अश्मरी क्रमशः उत्पन्न होती है. जिस प्रकार वायु से शुष्क किया गो-पित्त रोचना में बदलता है । सब अश्मरियों का आधार कफ ही है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—क्रमात् घोरा-मूत्राश्मरी घोर, पित्ताश्मरी घोरतर, कफाश्मरी घोरतम और शुक्राश्मरी सबसे भयानक है । कफ सबका आधार है—अश्मरी में कफतत्त्व ही केन्द्र बनता है, उसके चारों ओर दोष सञ्चित होते जाते हैं ।[1] सुश्रुत में—'संहन्त्यापो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः । तद्वद् बलासं वस्तिस्थमूष्मा संहन्ति सानिलः ॥' (सु. नि. अ. ३।२६)

अश्मरी का पूर्वरूप—

—अथास्याः पूर्वलक्षणम् ॥ ७ ॥
वस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक् ।
मूत्रे च वस्तगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः ॥ ८ ॥

अश्मरी के पूर्वरूप—वस्ति में आध्मान, वस्ति के आस-पास के प्रदेश के चारों ओर तीव्र दर्द, मूत्र में बकरे की सी गन्ध आना, मूत्रप्रवाह में कठिनाई, ज्वर और अरुचि होती है ।

अश्मरी का सामान्य लक्षण—

सामान्यलिङ्गं रुङ्नाभिसेवनीवस्तिमूर्धसु ।
विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गनिरोधने ॥ ९ ॥
तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् ।
तत्सङ्क्षोभात्क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत् ॥ १० ॥

सामान्य लक्षण—नाभि, सेवनी, वस्ति और वस्तिशिर में वेदना, अश्मरी से मूत्रमार्ग के रुकने के कारण मूत्र की धारा विच्छिन्न होती है तथा अश्मरी के हट जाने से सुखपूर्वक, निर्मल, गोमेद के समान मूत्र प्रवाहण करता है । अश्मरी के कारण क्षोभ होने से व्रण हो जाने पर रक्तयुक्त मूत्र आता है । परिश्रम करने से अतिवेदना होती है ॥ ९-१० ॥

वातज अश्मरी के लक्षण—

तत्र वाताद् भृशार्त्यार्तो दन्तान् खादति वेपते ।
मृद्नाति मेहनं नाभिं पीडयत्यनिशं क्वणन् ॥ ११ ॥
सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति बिन्दुशः ।
श्यावा रूक्षाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कण्टकैरिव ॥

वातजन्य अश्मरी में वायु के कारण अतिशय पीड़ा से व्यथित होकर रोगी दाँतों को कटकटाता है, कांपता है, रात-दिन दुःख से क्वणन करता (कराहता) हुआ मेहन को

---

[1] अरुणदत्त ने भी यही अर्थ किया है किन्तु 'क्रमात्' का अर्थ 'क्रमशः या धीरे धीरे' करना ठीक है । अर्थात् अश्मरी की उत्पत्ति धीरे धीरे होती है । आरम्भ में वह बहुत छोटी होती है और बाद में उसी पर तह पर तह जमा होने से या कई छोटी अश्मरियों के ग्रथित होने से बड़ी अश्मरी बनती है । वस्तुतः वाताश्मरी सबसे भयानक तथा शुक्राश्मरी सबसे मृदु होती है । अतएव आगे कहेंगे-'शुक्रमेति विलीयते । पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन्' ।

मलता है और नाभि को दबाता है, वायु के साथ मल का त्याग करता है, बार-बार बूंद-बूंद करके मूत्रत्याग करता है। इसमें अश्मरी श्याववर्ण, रूक्ष और कण्टकों से भरी (कदम्ब पुष्प के समान) होती है ॥ ११-१२ ॥

पित्तज अश्मरी के लक्षण—

पित्तेन दह्यते वस्तिः पच्यमान इवोष्मवान्।
भल्लातकास्थिसंस्थाना रक्ता पीताऽसिताऽश्मरी॥१३॥

पित्तजन्य अश्मरी में वस्ति जलती है, पकती हुई के समान सन्ताप देती है। अश्मरी भिलावे की गुठली के समान आकार की, लाल, पीली या काली होती है ॥ १३ ॥

कफज अश्मरी के लक्षण—

वस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः।
अश्मरी महती श्लक्ष्णा मधुवर्णाऽथवा सिता ॥१४

कफजन्य अश्मरी में वस्ति में चुभने की सी दर्द, वस्ति शीतल और गुरु होती है। अश्मरी बड़ी, चिकनी (मुर्गे के अण्डे के समान), शहद के रंग की अथवा सफेद होती है ॥

अश्मरियों की बालकों में अधिकता—

एता भवन्ति बालानां तेषामेव च भूयसा।
आश्रयोपचयाल्पत्वाद् ग्रहणाहरणे सुखाः ॥ १५ ॥

ये अश्मरियां प्रायः करके बच्चों में होती हैं, क्योंकि बच्चों में आधार (वस्ति), एवं उपचय (वृद्धि) अल्प होने से ये अश्मरियाँ सुखपूर्वक पकड़ी और निकाली जा सकती हैं ॥

शुक्राश्मरी की उत्पत्ति—

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात्।
स्थानाच्च्युतममुक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिलः ॥१६॥
शोषयत्युपसंगृह्य शुक्रं तच्छुक्रमश्मरी।
वस्तिरुक्कृच्छ्रमूत्रत्वमुष्कश्वयथुकारिणी ॥१७॥
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते।
पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन् —

शुक्राश्मरी-हर्ष आदि के कारण प्रवृत्त्युन्मुख शुक्र को रोकने से बड़े पुरुषों में (क्योंकि उन्हीं में शुक्र निकलना सम्भव होता है) शुक्राश्मरी उत्पन्न होती है। क्योंकि स्थान से परिभ्रष्ट परन्तु बाहर न आये हुए शुक्र को लेकर वायु मुष्कों (वृषण और शिश्न) के बीच में सुखा देती है, यह सूखा शुक्र अश्मरी बन जाता है। इस अश्मरी से वस्ति में वेदना, मूत्रत्याग में कठिनाई और मुष्कों में शोथ हो जाता है। इस अश्मरी के उत्पन्न होते ही शुक्राश्मरी के स्थान पर हाथ आदि से मसलने पर शुक्र आता है और अश्मरी विलीन हो जाती है ॥ १६-१७ ॥

वक्तव्य—उत्पन्नमात्रायाम्-न चिरकालोत्पन्नायाम्। विलीयते-विशेषेण लीयते-तत्रैव सुष्ठु श्लिष्यते। इति अरुणदत्तः। वस्तुतस्तु विलयं गच्छति। अर्थात् अश्मरी विलीन हो जाती है, मलने पर नहीं रहती।

अश्मरी से शर्करा होना—

— अश्मर्येव च शर्करा ॥१८॥
अणुशो वायुना भिन्ना सा त्वस्मिन्ननुलोमगे।
निरेति सह मूत्रेण प्रतिलोमे विबध्यते ॥१९॥

अश्मरी ही वायु से अणुओं में विभक्त होने से शर्करा हो जाती है। यह शर्करा वायु के अनुलोम गति होने पर मूत्र के साथ बाहर निकल आती है और वायु के प्रतिलोम होने पर अन्दर रुक जाती है[1] ॥ १८-१९ ॥

वातवस्ति का लक्षण—

मूत्रसन्धारिणः कुर्याद्रुद्ध्वा वस्तेर्मुखं मरुत्।
मूत्रसङ्गं रुजं कण्डूं कदाचिच्च स्वधामतः ॥२०॥
प्रच्याव्य वस्तिमुद्वृत्तं गर्भाभं स्थूलविप्लुतम्।
करोति तत्र रुग्दाहस्पन्दनोद्वेष्टनानि च। २१॥
बिन्दुशश्च प्रवर्तेत मूत्रं वस्तौ तु पीडिते।
धारया द्विविधोऽप्येष वातवस्तिरिति स्मृतः ॥२२॥
दुस्तरो दुस्तरतरो द्वितीयः प्रबलानिलः।

(१) वातवस्ति-मूत्र को रोकने की आदत वाले पुरुष में वायु वस्ति के मुख को बन्द करके मूत्रसंग उत्पन्न करती है। इसमें वेदना और कण्डू होती है। (२) वातवस्ति—कभी वायु वस्ति को उसके स्थान से खिसका कर ऊपर की ओर मुख करके, गर्भ के समान, अपने आकार से बड़ी तथा चंचल (अस्थिर) रूप में कर देती है, इसमें वेदना, दाह, स्पन्दन और एंठन होता है। मूत्र बूंद-बूंद करके आता है। वस्ति के दबाने पर मूत्र धारा के रूप में निरन्तर बहता है। इस प्रकार वातवस्ति दो प्रकार की कही है। प्रथम प्रकार की वातवस्ति कष्टसाध्य है और दूसरी वातवस्ति इससे अधिक कष्टसाध्य है, क्योंकि इसमें वायु प्रबल रहती है[2] ॥ २०-२२ ॥

वक्तव्य—मूत्रकृच्छ्र में मूत्र प्रवाहण में कृच्छ्रता रहती है परन्तु विबन्ध कम होता है, मूत्राघात में विबन्ध बलवान् और कृच्छ्रता कम रहती है।

हृदय में जो वातवस्ति कही है उसमें चरकोक्तवस्तिकुण्डलि का समावेश हो जाता है-यथा-'द्रुताध्वलंघनायासाद्भिघातात् प्रपीडनात्। स्वस्थानाद् वस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥ शूलस्पन्दनदाहार्त्तो बिन्दुं बिन्दु स्रवत्यपि। पीडितस्तु सृजेद् धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ॥' वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम्। पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ॥ तस्मिन् पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता।

---

[1] वस्तुतः शर्करा ही अश्मरी में परिणत होती है जैसा कि श्लोक ७ की टिप्पणी में बताया है।

[2] चरक ने प्रथम को वातवस्ति और द्वितीय को वस्तिकुण्डल कहा है और दोनों को अलग माना है। वस्तुतः यही ठीक भी है क्योंकि दोनों के सम्प्राप्ति, लक्षण और चिकित्सा में अन्तर होता है। इन मूत्राघातों के विशद विवेचन के लिए माधवनिदान की 'विद्योतिनी' टीका देखिए।

श्लेष्मणा गौरवं शोफः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् । श्लेष्मरुद्धबिलो वस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति । अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ॥ स्याद् वस्तौ कुण्डलीभूते हृन्मोहः श्वास एव च ॥ (च. सि. अ. ९।४४-४८)

वाताष्ठीला के लक्षण—

शकृन्मार्गस्य बस्तेश्च वायुरन्तरमाश्रितः ।।२३॥
अष्ठीलाभं घनं ग्रन्थिं करोत्यचलमुन्नतम् ।
वाताष्ठीलेति साऽऽध्मानविण्मूत्रानिलसङ्गकृत् ।।२४॥

वाताष्ठीला—मलमार्ग (गुदा) और वस्ति के बीच में आश्रित वायु अष्ठीला के समान घन (मजबूत) ग्रन्थि को करती है, यह ग्रन्थि स्थिर और उठी हुई होती है। इसको वाताष्ठीला कहते हैं; यह आध्मान तथा वात, मूत्र और मल का अवरोध करती है ॥ २३-२४ ॥

वातकुण्डलिका के लक्षण—

विगुणः कुण्डलीभूतो वस्तौ तीव्रव्यथोऽनिलः ।
आविध्य मूत्रं भ्रमति संस्तम्भोद्वेष्टगौरवैः ॥२५॥
मूत्रमल्पाल्पमथवा विमुञ्चति शकृत्सृजन् ।
वातकुण्डलिकेत्येषा—

वातकुण्डलिका—कुपित हुई वायु तीव्र व्यथा करती हुई वस्ति में कुण्डलाकार बन कर मूत्र में प्रविष्ट हो कर जड़ता, ऐंठन और भारीपन के साथ घूमती है। इससे मूत्र थोड़ा-थोड़ा अथवा मलत्याग करने के समय प्रवृत्त होता है, यह वातकुण्डलिका है ॥ २५ ॥

मूत्रातीत के लक्षण—

— मूत्रं तु विधृतं चिरम् ॥२६॥
न निरेति विबद्धं वा मूत्रातीतं तदल्परुक् ।

मूत्रातीत—कदाचित् देर तक मूत्र के वेग को रोकने से मूत्र बाहर नहीं आता, अथवा रुक रुक कर आता है। इसमें थोड़ी दर्द होती है, यह मूत्रातीत है ॥ २६ ॥

मूत्रजठरके लक्षण—

विधारणात्प्रतिहतं वातोदावर्तितं यदा ।।२७॥
नाभेरधस्तादुदरं मूत्रमापूरयेत्तदा ।
कुर्यात्तीव्ररुगाध्मानमपक्तिं मलसङ्ग्रहम् ॥२८॥
तन्मूत्रजठरम् —

मूत्रवेग के रोकने से रुका हुआ मूत्र वायु द्वारा ऊपर की ओर ले जाया जाकर जब नाभि के नीचे कोष्ठ में भर जाता है, तब तीव्र वेदना, आध्मान, अपचन और मलावरोध को करता है, इसको मूत्रजठर कहते हैं ॥ २७-२८ ॥

मूत्रोत्सङ्ग के लक्षण—

—छिद्रवैगुण्येनानिलेन वा ।
आक्षिप्तमल्पं मूत्रं तद्वस्तौ नालेऽथवा मणौ ॥२९॥
स्थित्वा स्रवेच्छनैः पश्चात्सरुजं वाऽथ नीरुजम् ।
मूत्रोत्सङ्गः स विच्छिन्नतच्छेषगुरुशेफसः ॥३०॥

छिद्र की विगुणता (मूत्रद्वार के बन्द होने) से अथवा वायु की विगुणता से वस्ति में, नाल में (मूत्रमार्ग में) अथवा मेहन के अग्रभाग में रुका हुआ कुछ थोड़ा-सा मूत्र कुछ देर रुक कर पीछे से दर्द के साथ अथवा बिना दर्द के जब बहता है, तब वह मूत्रोत्संग होता है, इसमें रुके हुए मूत्र के कारण मेहन में भारीपन रहता है ॥ २९-३० ॥

मूत्रग्रन्थि के लक्षण—

अन्तर्वस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत् ।
अश्मरीतुल्यरुग् ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते ॥ ३१ ॥

वस्तिमुख के भीतर में गोल, स्थिर, छोटी, ग्रन्थि सहसा हो जाती है, जिसमें अश्मरी के समान वेदना होती है, वह मूत्रग्रन्थि कही जाती है ॥ ३१ ॥

मूत्रशुक्र के लक्षण—

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम् ।
स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते ३२॥
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते ।

मूत्रवेग के उपस्थित होने पर स्त्रीसंग करने से वायु के कारण प्रेरित स्थान से च्युत हुआ शुक्र मूत्र करते हुए पहले या पीछे प्रवृत्त होता है; इस मूत्र का रंग राख मिश्रित जल के समान होता है, इसको-मूत्रशुक्र कहते हैं ॥ ३२ ॥

विड्विघात के लक्षण—

रूक्षदुर्बलयोर्वातादुदावर्तं शकृद्यदा ॥ ३३ ॥
मूत्रस्रोतोऽनुपर्येति संसृष्टं शकृता तदा ।
मूत्रं विट्तुल्यगन्धं स्याद्विड्विघातं तमादिशेत् ३४॥

रूक्ष और दुर्बल व्यक्ति में जब मल वायु के कारण ऊपर की ओर ले जाया जाकर मूत्रस्रोतों में पहुँच जाता है, तब मल से मिला मूत्र और मल के समान गन्ध वाला होता है, इसको विड्विघात कहते हैं ॥ ३३-३४ ॥

उष्णवात के लक्षण—

पित्तं व्यायामतीक्ष्णोष्णभोजनाध्वातपादिभिः ।
प्रवृद्धं वायुना क्षिप्तं वस्त्युपस्थातिदाहवत् ॥३५॥
मूत्रं प्रवर्तयेत्पीतं सरक्तं रक्तमेव वा ।
उष्णं पुनः पुनः कृच्छ्रादुष्णवातं वदन्ति तम् ॥३६॥

व्यायाम, तीक्ष्ण, उष्ण, भोजन, मुसाफिरी, संताप आदि से बढ़ा हुआ पित्त वायु के कारण प्रेरित होकर वस्ति में आ जाता है, तब वस्ति और मेहन में जलन होती है, मूत्र पीला, रक्तमिश्रित या रक्त ही और उष्ण होता है तथा बार-बार और कठिनाई से आता है, इसको उष्णवात-कहते हैं ॥ ३५-३६ ॥

मूत्रक्षय के लक्षण—

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ ।
मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम् ॥३७॥

रूक्ष एवं क्लान्त शरीर के पुरुष में वस्ति में स्थित पित्त और वायु मूत्र का क्षय कर देते हैं, इससे रोगी को पीड़ा और दाह होती है, इस रोग को-मूत्रक्षय-कहते हैं ॥ ३७ ॥

मूत्रसाद के लक्षण—

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत् ।
कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं रक्तं श्वेतं घनं सृजेत्॥ ३८ ॥
सदाहं रोचनाशङ्खचूर्णवर्णं भवेच्च तत् ।
शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम् ॥ ३९ ॥

पित्त और कफ दोनों अलग-अलग अथवा दोनों मिश्रित रूप में जब वायु के द्वारा संघटित होते हैं तब मूत्र कठिनाई से आता है, तथा पीला, लाल, श्वेत और घना होता है। इसमें दाह होती है और मूत्र सूखकर गोरोचन की भाँति का पिंगल वर्ण (पित्त से) और शंख के चूर्ण के समान (कफ से) होता है। अथवा कभी पीले, सफेद आदि सब वर्णों का (कफ और पित्त से मिश्रित होने पर) होता है, इसको मूत्रसाद कहते हैं[1] ॥ ३८-३९ ॥

अध्याय का उपसंहार—

इति विस्तरतः प्रोक्ता रोगा मूत्राप्रवृत्तिजाः ।
निदानलक्षणैरूर्ध्वं वक्ष्यन्तेऽतिप्रवृत्तिजाः ॥ ४० ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने मूत्राघातनिदानं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार मूत्र के अप्रवर्त्तन से होने वाले रोगों को निदान और लक्षणों से कह दिये हैं, इसके आगे के अध्याय में अतिप्रवृत्तिजन्य मूत्र के रोग कहेंगे ॥ ४० ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का मूत्राघात-निदान नामक नवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे प्रमेहनिदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

प्रमेह के बीस भेद—

प्रमेहा विंशतिस्तत्र श्लेष्मतो दश, पित्ततः ।
षट्, चत्वारोऽनिलात् —

प्रमेह बीस हैं—इनमें कफजन्य दस, पित्तजन्य छः और वातजन्य चार हैं।

प्रमेह की उत्पत्ति में हेतु—

—तेषां मेदोमूत्रकफावहम् ॥ १ ॥
अन्नपानक्रियाजातं यत्प्रायस्तत्प्रवर्तकम् ।
स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुरुपिच्छिलशीतलम् ॥ २ ॥
नवधान्यसुरानूपमांसेक्षुगुडगोरसम् ।
एकस्थानासनरतिः शयनं विधिवर्जितम् ॥ ३ ॥

कारण—मेद, मूत्र और कफ को बढ़ाने वाला जो भी खान-पान या चेष्टा-विहार आदि हैं, ये सब प्रायः करके प्रमेह को उत्पन्न करने वाले हैं। यथा मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल, शीतल द्रव्य, नूतन धान्य, सुरा, आनूपमांस गन्ना, गुड़, दूध आदि से बने भक्ष्य, एक ही स्थान पर प्रीति (बैठे रहना), विधिरहित सोना ये प्रमेह की उत्पत्ति में कारण हैं ॥ १-३ ॥

कफ में प्रमेह की सम्प्राप्ति—

वस्तिमाश्रित्य कुरुते प्रमेहान् दूषितः कफः ।
दूषयित्वा वपुःक्लेदस्वेदमेदोरसामिषम् ॥ ४ ॥

सम्प्राप्ति—दूषित हुआ कफ शरीर क्लेद, स्वेद, मेद, रस और मांस को दूषित करके वस्ति में आश्रय करके प्रमेह को उत्पन्न करता है ॥ ४ ॥

पित्त और वात प्रमेह की सम्प्राप्ति—

पित्तं रक्तमपि क्षीणे कफादौ मूत्रसंश्रयम् ।
धातून् वस्तिमुपानीय तत्क्षयेऽपि च मारुतः ॥ ५ ॥

मूत्र में अवस्थित पित्त भी रक्त को दूषित करके कफ आदि सौम्य धातु के क्षीण होने पर प्रमेहों को उत्पन्न करता है। वायु भी पित्त और कफ के क्षीण होने पर वसा, मज्जा, ओज आदि धातुओं को वस्ति में लाकर प्रमेहों को उत्पन्न करती है।। ५ ॥

वक्तव्य—चरक में-'बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः। बहु-अबद्धं मेदो मांसं शरीरजक्लेदः शुक्रं शोणितं वसा मज्जा लसीका रसश्चौजःसंख्यात इति दूष्यविशेषाः ॥ त्रयाणामेषां निदानादिविशेषाणां सन्निपाते क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, प्रागतिभूयस्त्वात्। स प्रकुपितः क्षिप्रमेव शरीरे विसृप्तिं लभते, शरीरशैथिल्यात् । स विसर्पञ्शरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति, मेदसश्चैव बहु अबद्धत्वात् मेदसश्च गुणैः समानगुणभूयिष्ठत्वात्, स मेदसा मिश्रीभावं गच्छन् दूषयति, एनद्, विकृतत्वात् , स विकृतो दुष्टेन मेदसोपहितः शरीर-क्लेदमांसाभ्यां संसर्गं गच्छति, क्लेदमांसयोरतिप्रमाणमभि-वृद्धत्वात्। स मांसे मांसप्रदोषात्पूतिमांसपिडकाः शराविका-कच्छपिकाद्याः संजनयति, अप्रकृतिभूतत्वात्। शरीरक्लेदं पुनर्दूषयन् मूत्रत्वेन परिणमयति, मूत्रवहानां च स्रोतसां वंक्षणवस्तिप्रभवाणां मेदःक्लेदोपहितानि गुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुध्यते, ततश्च प्रमेहस्तेषां स्थैर्यमसाध्यतां वा जनयति। प्रकृतिविकृतिभूतत्वात् ॥'

[प्रकृतिभूतः श्लेष्मा समाने दूष्ये मेदोवसादौ, विकृतिभूतश्चासमाने शोणितादौ, तेन समानासमानत्वादित्यर्थः । तथा च समानदूष्यप्राप्त्या बलित्वम् असमानदूष्यप्राप्त्या च विरुद्धोपक्रमत्वं कफस्य भवति, ततश्च स्थैर्यमसाध्यता वा युक्तेति मन्तव्यम्-चक्रपाणिः।] (च. नि. अ. ४।६-८)

---

[1] इन सभी मूत्राघातों के सोपपत्तिक और अर्वाचीन तन्त्रों से तुलनात्मक विवेचन के लिए माधवनिदान की विद्योतिनी टीका देखिए ।

प्रमेहों की साध्यासाध्यता—

साध्ययाप्यपरित्याज्या मेहास्तेनैव तद्भवाः ।
समासमक्रियतया महात्ययतयाऽपि च ॥ ६ ॥

कफ, पित्त, वायु से उत्पन्न होने वाले प्रमेह क्रम से साध्य, याप्य और असाध्य हैं । कफजन्य प्रमेह समान क्रिया के कारण साध्य हैं, पित्तजन्य प्रमेह असमान क्रिया के कारण याप्य हैं । और वातजन्य प्रमेह महान् विनाशकारक होने के कारण असाध्य हैं ॥ ६ ॥

वक्तव्य—कफजन्य प्रमेहों में-दोष कफ है, और दूष्य मेद, वसा, मांस हैं दोनों की अपतर्पण चिकित्सा समान रूप से है । पित्तजन्य प्रमेहों में-दोष पित्त है, और दूष्य मेद, वसा, मांस है, इनमें चिकित्सा परस्पर विरोधी है क्योंकि शीत से पित्त तो शान्त होता है पर मेद आदि की वृद्धि होती है और उष्णद्रव्यों से मेद आदि दूष्यों की कमी होने पर भी पित्त दोष की वृद्धि होती है। वातजन्य प्रमेहों में-ओज, मज्जा आदि महान धातुओं का नाश हो जाता है; इसलिये आशुविनाशकारी और विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य हैं ।

प्रमेहों का सामान्य लक्षण—

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता ।

प्रमेहों का सामान्यलक्षण मूत्र का मात्रा में अधिक होना और गदला होना है ।

प्रमेह-भेद-कल्पना—

दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः ॥ ७ ॥
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते ।

सब प्रमेह में—कफादि दोष एवं शरीरज क्लेद आदि दूष्यों के समान होने पर भी इनके संयोग की भिन्नता से मूत्र के वर्ण, गन्ध, स्पर्श आदि में भिन्नता प्रमेहों में देखी जाती है ।

(इसी संयोग-विशेष की भिन्नता से कफज प्रमेह दस प्रकार का, पित्तज प्रमेह छः प्रकार का, वातज प्रमेह चार प्रकार का होता है) ॥ ७ ॥

कफज-जलमेह के लक्षण—

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ॥ ८ ॥
मेहत्युदकमेहेन किञ्चिच्चाविलपिच्छिलम् ।

उदकमेह से रोगी स्वच्छ, मात्रा में बहुत, श्वेत, शीतल, गन्धरहित, पानी के समान, कुछ गदला और पिच्छिल मूत्र प्रवाहित करता है ॥ ८ ॥

इक्षुमेह के लक्षण—

इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः ॥ ९ ॥

इक्षुमेह में रोगी गन्ने के रस के समान अतिमधुर मूत्र त्याग करता है ॥ ९ ॥

सान्द्रमेह के लक्षण—

सान्द्रीभवेत्पर्युषितं सान्द्रमेहेन मेहति ।

सान्द्रमेह में रोगी का मूत्र रात्रि भर रखने से गाढ़ा हो जाता है ।

सुरामेह के लक्षण—

सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधो घनम् ॥ १० ॥

सुरामेह में रोगी का मूत्र सुरा के समान ऊपर निर्मल और नीचे गाढ़ा होता है ॥ १० ॥

पिष्टमेह के लक्षण—

संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्बहलं सितम् ।

पिष्टमेह में रोगी रोमांच होने के साथ पिट्ठी के समान गाढ़ा और श्वेत मूत्र प्रवाहण करता है ।

शुक्रमेह के लक्षण—

शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति ॥ ११ ॥

शुक्रमेह रोगी शुक्र के समान अथवा शुक्र से मिला मूत्र प्रवाहण करता है ॥ ११ ॥

सिकतामेह के लक्षण—

मूर्ताणून् सिकतामेही सिकतारूपिणो मलान् ।

सिकतामेह रोगी मूर्त्त और अणु (संहत और सूक्ष्म) रेत के समान मलों को मूत्र में प्रवाहित करता है ।

शीतमेह के लक्षण—

शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् ॥ १२ ॥

शीतमेह रोगी बहुत बार, मधुर एवं शीतल मूत्र त्याग करता है ॥ १२ ॥

शनैर्मेह के लक्षण—

शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दं मन्दं प्रमेहति ।

शनैः मेही रुक-रुक कर धीमे-धीमे (थोड़ा-थोड़ा) मूत्र त्याग करता है ।

लालामेह के लक्षण-

लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ॥ १३ ॥

लालामेही लाला (लार) के तन्तुयुक्त एवं पिच्छिल मूत्र को प्रवाहित करता है ॥ १३ ॥

पित्तज-क्षारमेह के लक्षण—

गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत् ।

क्षारमेही क्षारजल के समान गन्ध, वर्ण, रस एवं स्पर्श वाला मूत्र प्रवाहित करता है ।

नीलमेह तथा कालमेह के लक्षण—

नीलमेहेन नीलाभं कालमेही मषीनिभम् ॥ १४ ॥

नीलमेही नील की चमक की भाँति मूत्र त्याग करता है। कालमेही काली स्याही की भाँति मूत्र त्याग करता है ॥१४॥

हरिद्रामेह के लक्षण—

हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासन्निभं दहत् ।

हारिद्रमेही हल्दी के समान (पीला), कटुरस तथा जलता हुआ मूत्र त्याग करता है ।

माञ्जिष्ठमेह के लक्षण—

विस्रं माञ्जिष्ठमेहेन मञ्जिष्ठासलिलोपमम् ॥ १५ ॥

मञ्जिष्ठामेही मंजीठ के जल के समान और आमगन्धि मूत्र प्रवाहित करता है ॥ १५ ॥

रक्तमेह के लक्षण—

विस्रमुष्णं सलवणं रक्ताभं रक्तमेहतः ।

रक्तमेही रक्त के समान, आमगन्धि, उष्ण, थोड़ा नमकीन मूत्र प्रवाहित करता है।

वातज-वसामेह के लक्षण—

वसामेही वसामिश्रं वसां वा मूत्रयेन्मुहुः ॥ १६ ॥

वसामेही वसा से मिला हुआ मूत्र या केवल वसा ही प्रवाहित करता है। (पा० वसाभं = वसा के समान) ॥१६॥

मज्जमेह के लक्षण—

मज्जानं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः ।

मज्जमेही मज्जा (शुद्ध) अथवा मज्जा से मिला मूत्र प्रवाहित करता है। (पा० मज्जाभम्-मज्जा के समान)

गजमेह के लक्षण—

हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं वेगविवर्जितम् ॥ १७ ॥
सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति ।

हस्तिमेही मस्त हाथी की भाँति निरन्तर, वेगरहित, लसीका से गीला रुकाहुआ मूत्र प्रवाहित करता है ॥ १७ ॥

मधुमेह के लक्षण—

मधुमेहो मधुसमं, जायते स किल द्विधा ॥ १८ ॥
क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषावृतपथेऽथवा ।

मधुमेह रोगी—मधु के समान मूत्र प्रवाहित करता है।

यह मधुमेह दो प्रकार से उत्पन्न होता है-यथा-धातुक्षय के कारण वायु के कुपित होने से एक प्रकार का, और दोषों से मार्ग से रुकने के कारण वायु के प्रकोप से उत्पन्न दूसरे प्रकार का मधुमेह उत्पन्न होता है ॥ १८ ॥

वक्तव्य—वायु का प्रकोप दो प्रकार से होता है—'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च ।'

मधुमेह का कष्टसाध्यत्व—

आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयेत् ॥ १९ ॥
क्षीणः क्षणात्क्षणात् पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम् ।

यह आवृत वायु आवरक दोष के लक्षणों को बिना कारण के दिखाता है। क्षण भर में क्षीण (रिक्त) और क्षण भर में भरा हुआ होने से कष्टसाध्य बन जाता है (धातुक्षय जन्य वात प्रकोप की भांति असाध्य नहीं होता) ॥ १९ ॥

प्रमेह और मधुमेह—

कालेनोपेक्षिताः सर्वे यद्यान्ति मधुमेहताम् ॥ २० ॥
मधुरं यच्च सर्वेषु प्रायो मध्विव मेहति ।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥ २१ ॥

क्योंकि सभी प्रमेह उपेक्षा करने पर कुछ समय पीछे मधुमेह में बदल जाते हैं। क्योंकि शरीर के स्वभाव से ही मधुर हो जाने से सब मेहों में मधु के समान मूत्र आता है, इसलिए सभी मेह मधुमेह शब्द से कहे जाते हैं ॥ २०-२१ ॥

कफज मेह के उपद्रव—

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः ।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥ २२ ॥

अविपाक, अरुचि, वमन, निद्रा, कास, पीनस, ये कफजन्य प्रमेहों के उपद्रव होते हैं ॥ २२ ॥

पित्तज मेह के उपद्रव—

वस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः ।
दाहस्तृष्णाऽम्लको मूर्च्छाविड्भेदः पित्तजन्मनाम् ॥

वस्ति और मेहन में दर्द, वृषण के फटने के समान वेदना (या वृषण का फटना), ज्वर, दाह, प्यास, खट्टास, मूर्च्छा और अतिसार यह पित्तजन्य प्रमेहों के उपद्रव होते हैं ॥२३॥

वातज मेह के उपद्रव—

वातिकानामुदावर्तकम्पहृद्ग्रहलोलताः ।
शूलमुन्निद्रता शोष कासः श्वासश्च जायते ॥ २४ ॥

उदावर्त्त, कम्प, हृदय का जकड़ जाना रसों में लोलुपता, शूल, निद्रानाश, शोष, कास और श्वास ये वातजन्य प्रमेहों के उपद्रव होते हैं ॥ २४ ॥

प्रमेहपिटिकायें—

शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी ।
मसूरिका सर्षपिका पुत्रिणी सविदारिका ॥ २५ ॥
विद्रधिश्चेति पिटिकाः प्रमेहोपेक्षया दश ।
सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु ॥ २६ ॥

पिटिकायें—शराविका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, अलजी, मसूरिका, सर्षपिका, पुत्रिणी, विदारिका और विद्रधि ये दस पिटिकायें प्रमेहों की उपेक्षा करने से सन्धि-मर्मों में और मांसवहुल स्थानों में होती हैं ॥ २५-२६ ॥

शराविका के लक्षण—

अन्तोन्नता मध्यनिम्ना श्यावा क्लेदरुजाऽन्विता ।
शरावमानसंस्थाना पिटिका स्याच्छराविका ॥ २७ ॥

शराविका—किनारों से ऊँची, बीच से दबी, कृष्ण, क्लेद एवं पीड़ा युक्त, शराव के प्रमाण और आकार वाली पिटिका शराविका होती है ॥ २७ ॥

कच्छपिका के लक्षण—

अवगाढार्तिनिस्तोदा महावास्तुपरिग्रहा ।
श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिटिका कच्छपी मता ॥२८॥

कच्छपी—जिसमें रह रह कर तीव्र वेदना होती हो, शरीर के महान् वास्तु (मेद, मज्जा या अवयव विशेष) को लेकर जो बहुत बड़ी, चिकनी, कछुआ की पीठ के समान हो ऐसी पिटिका कच्छपी कही गई है ॥ २८ ॥

जालिनी के लक्षण—

स्तब्धा शिराजालवती स्निग्धस्रावा महाशया ।
रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी ॥ २९ ॥

जालिनी—स्तब्ध (जड़), सिरा-जाल वाली, स्निग्ध स्रावयुक्त, महान् अधिष्ठान वाली, पीड़ा और चुभने की दर्द की अधिकता तथा सूक्ष्म छिद्रों वाली पिडिका जालिनी है।

विनता के लक्षण—

अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वा जठरेऽपि वा ।
महती पिटिका नीला विनता विनता स्मृता । ३०॥

विनना—गहरी पीड़ा एवं गहरे क्लेद से युक्त, बड़ी, नीली, बीच से दबी, पीठ या उदर में उत्पन्न पिटिका विनता कही गयी है ॥ ३० ॥

अलजी के लक्षण—

दहती त्वचमुत्थाने भृशं कष्टा विसर्पिणी ।
रक्तकृष्णाऽतितृट्स्फोटदाहमोहज्वराऽलजी ॥ ३१ ॥

अलजी—उत्पन्न होते समय त्वचामें अतिशय दाह करने वाली, अत्यन्त कष्ट देने वाला, विसर्पणशील, लाल एवं कृष्ण वर्ण की, अतिप्यास, स्फोट, दाह, मोह और ज्वर से युक्त पिटिका अलजी है ॥ ३१ ॥

मसूरिका के लक्षण—

मानसंस्थानयोस्तुल्या मसूरेण मसूरिका ।

मसूरिका पिडका प्रमाण- और आकार में मसूर के समान होती है ।

सर्षपिका के लक्षण—

सर्षपामानसंस्थाना क्षिप्रपाका महारुजा ॥ ३२ ॥
सर्षपी सर्षपतुल्यपिटिकापरिवारिता ।

सर्षपिका—परिमाण और आकार में सरसों के समान, जल्दी पकने वाली, अतिशय दर्द करने वाली, तथा सरसों के समान दूसरी पिटिकाओं से घिरी पिटिका सर्षपी है ॥ ३२ ॥

पुत्रिणी के लक्षण—

पुत्रिणी महती भूरिसुसूक्ष्मपिटिकाचिता ॥ ३३ ॥

पुत्रिणी—बहुत सी छोटी पिडकाओं से व्याप्त बड़ी पिटिका को पुत्रिणी कहते हैं ॥ ३३ ॥

विदारिका के लक्षण—

विदारीकन्दवद् वृत्ता कठिना च विदारिका ।

विदारिका—विदारीकन्द के समान गोल और कठिन पिटिका विदारिका है ।

विद्रधि—

विद्रधिर्वक्ष्यतेऽन्यत्र —

विद्रधि को अन्यत्र (अगले अध्याय में) कहेंगे ।

पिटिकाओं की साध्यासाध्यता—

-- तत्राद्यं पिटिकात्रयम् ॥ ३४ ॥
पुत्रिणी च विदारी च दुःसहा बहुमेदसः ।
सह्याः पित्तोल्बणास्त्वन्याः सम्भवन्त्यल्पमेदसः ॥३५॥

इन पिटिकाओं में से शराविका, कच्छपिका और जालिनी, पुत्रिणी और विदारिका—ये पाँच पिडकायें बहुत मेद वालों में होने में कठिनाई से सह्य होती हैं ।

अन्य पाँच पिडकायें (विनता-अलजी-मसूरिका-सर्षपिका और विद्रधि) पित्त प्रधान होने से थोड़ी मेद वालों में होने के कारण सहने योग्य होती हैं (सुख साध्य हैं—क्योंकि मेद कम होता है) ॥ ३४-३५ ॥

पिटिकाओं में दोष—

तासु मेहवशाच्च स्याद्दोषोद्रेको यथायथम् ।

इन पिडकाओं में प्रमेह के अनुसार अपने-अपने दोष की अधिकता रहती है । वात प्रधान प्रमेह जनित पिटिका में वायु के लक्षणों की अधिकता आदि) ।

बिना प्रमेह के पिटिकाओं की उत्पत्ति—

प्रमेहेण विनाऽप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः ।
तावच्च नोपलक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहः ॥ ३६ ॥

बिना प्रमह के भी—मेद के दूषित होने से ये पिटिकायें उत्पन्न हो जाती हैं, परन्तु जब तक वास्तु (सन्धि मर्म और मांसल स्थान आदि आधार) का आश्रय नहीं करतीं, तब तक ये दिखाई नहीं देतीं ॥ ३६ ॥

रक्तपित्त और प्रमेह की परीक्षा—

हारिद्रवर्णं रक्तं वा मेहप्राग्रूपवर्जितम् ।
यो मूत्रयेन्न तं मेहं रक्तपित्तं तु तद्विदुः ॥ ३७ ॥

प्रमेह रोग के पूर्वरूप के बिना जो रोगी हल्दी के रंग का अथवा रक्त वर्ण का मूत्र प्रवाहण करे, उसको प्रमेह नहीं रक्तपित्त समझना चाहिए ॥ ३७ ॥

प्रमेह का पूर्वरूप—

स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलत्वमङ्गे
शय्यासनस्वप्नसुखाभिषङ्गः ।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो
घनाङ्गता केशनखातिवृद्धिः ॥ ३८ ॥
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो
माधुर्यमास्ये करपाददाहः ।
भविष्यतो मेहगणस्य रूपं
मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ॥ ३९ ॥

प्रमेह के पूर्वरूप—पसीना आना, शरीर के अङ्गों में दुर्गन्ध, अङ्गों में शिथिलता, शय्या, आसन, नींद और सुखी जीवन में आसक्ति, हृदय, नेत्र, जिह्वा और कान में मल की अधिकता, शरीर में स्थूलता, केश और नख का बहुत बढ़ना, शीत की चाह, गले और तालु में शुष्कता, मुख में मधुरता, हाथ-पैर में दाह और मूत्र पर चीटियों का आना, ये सब प्रमेहों के पूर्वरूप हैं ॥ ३८-३९ ॥

प्रमेह में द्वैविध्य—

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं
मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः ।
सम्पूरणाद्वा कफसम्भवः स्यात्
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मको वा । ४० ॥

मधु के समान और पिच्छायुक्त-मधुर प्रमेह को देखने से दो प्रकार का विचार आवश्यक होता है कि क्या यह सन्तर्पण के कारण कफजन्य प्रमेह है (अर्थात् अपतर्पण साध्य है) अथवा कफादि दोषों के क्षीण होने से (अपतर्पण से) क्या

यह वातजन्य है (अर्थात् सन्तर्पण साध्य है) इसका निर्णय अन्य लक्षणों के आधार पर करना पड़ता है) ॥ ४० ॥

प्रमेहों का साध्यत्व—

सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः
　　क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः ।
साध्या न ते, पित्तकृतास्तु याप्याः
　　साध्यास्तु मेदो यदि नातिदुष्टम् ॥ ४१ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने
प्रमेहनिदानं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

* * *

कफजन्य एवं पित्तजन्य जो प्रमेह पूर्वरूप के सभी या कुछ लक्षणों से सम्बन्धित रहते हैं और जो वातजन्य मेह क्रमशः-कफानुपूर्वी क्रम से (अर्थात् पहले कफजन्य फिर पित्तजन्य और फिर वातजन्य हुए) होते हैं वे असाध्य हैं[1] पित्तजन्य प्रमेह (असम्बन्धित पूर्वरूप होने से भी) याप्य हैं। यदि इनमें मेद बहुत अधिक दूषित न हुई हो तो ये प्रमेह भी साध्य हैं ॥ ४१ ॥

वक्तव्य—प्रमेही और राजयक्ष्मा रोगी में केश और नख की वृद्धि रोग के स्वभाव से तथा किट्ट की अधिकता से होती है। वातप्रमेह स्वतंत्र रूप में अथवा कुलज होने से त्याज्य होता है। चरक में-'जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्। ये चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति, तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥' (चरक-चि० अ० ६।५७।) 'द्वौ प्रमेहौ भवतः-सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च। तत्र सहजो मातृपितृबीजदोषकृतः, अहिताहारजोऽपथ्यनिमित्तः। तयोः पूर्वेणोपद्रुतः कृशो रूक्षोऽल्पाशी पिपासुर्भृशं परिसरणशीलश्च भवति, उत्तरेण स्थूलो बह्वाशी स्निग्धः शय्यासनस्वप्नशीलः प्रायेणेति ॥' (सु० चि० अ० ११।३)

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का प्रमेह-निदान नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

* * *

एकादशोऽध्यायः

अथातो विद्रधि-वृद्धि गुल्मनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे विद्रधि-वृद्धि-गुल्मनिदान का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

विद्रधि के छः प्रभेद—

भुक्तैः पर्युषितात्युष्णरूक्षशुष्कविदाहिभिः ।
जिह्मशय्याविचेष्टाभिस्तैस्तैश्चासृक्प्रदूषणैः ॥ १ ॥
दुष्टत्वङ्मांसमेदोऽस्थिस्नाय्वसृक्कण्डराश्रयः ।
यः शोफो बहिरन्तर्वा महामूलो महारुजः ॥ २ ॥
वृत्तः स्यादायतो यो वा स्मृतः षोढा स विद्रधिः ।

पर्युषित (बासी), अतिउष्ण, रूक्ष, शुष्क, विदाही भोजनों के अतिसेवन से, टेढ़ी-टूटी शय्या या कुटिल चेष्टाओं से, एवं भिन्न भिन्न रक्तदुष्टिकारक कारणों से, दूषित त्वचा, मांस, मेद, अस्थि, स्नायु, रक्त और कण्डरा में आश्रित बाहर या अन्दर बड़े मूल वाला, अतिशय दर्द करने वाला, गोल या लम्बा जो शोफ होता है, वह विद्रधि है और वह छः प्रकार की है ॥ १-२ ॥

दोषैः पृथक्समुदितैः शोणितेन क्षतेन च ॥ ३ ॥

छः प्रकार—वातादि दोषों से पृथक् रूप में तीन प्रकार का, सन्निपात से, रक्त से (दोष से अधिष्ठित) और क्षतसे ॥

उक्त विद्रधि के दो भेद—

बाह्योऽत्र तत्र तत्राङ्गे दारुणो ग्रथितोन्नतः ।
आन्तरो दारुणतरो गम्भीरो गुल्मवर्द्धनः ॥ ४ ॥
वल्मीकवत्समुच्छ्रायी शीघ्रघात्यग्निशस्त्रवत् ।

इनमें बाह्य विद्रधि-शरीर के भिन्न भिन्न अङ्गों में बाहर, दारुण (कठिन) ग्रन्थि के समान ऊपर को उठी होती है। अन्तर्विद्रधि—अधिक कठिन, अन्दर छिपी, गुल्म के समान, घन (संहत), वल्मीक के समान चारों ओर से ऊपर को उठी और अग्नि एवं शस्त्र के समान शीघ्र घातक होती है ॥

विद्रधि के स्थान—

नाभिवस्तियकृत्प्लीहक्लोमहृत्कुक्षिवङ्क्षणे ॥ ५ ॥
स्याद् वृक्कयोरपाने च—

अन्तर्विद्रधि—नाभि, वस्ति, यकृत्, प्लीहा, क्लोम, हृदय, कुक्षि, वंक्षण, वृक्क और गुदा में होती है ॥ ५ ॥

वक्तव्य—चरक में-'अन्तःशरीरे मांसासृगाविशन्ति यदा मलाः। तदा सञ्जायते ग्रन्थिर्गम्भीरस्थः सुदारुणः ॥ हृदये क्लोम्नि यकृति प्लीह्नि कुक्षौ च वृक्कयोः। नाभ्यां वंक्षणयोर्वाऽपि वस्तौ वा तीव्रवेदनः। दुष्टरक्तातिमात्रत्वात् स वै शीघ्रं विदह्यते। ततः शीघ्रविदाहित्वाद् विद्रधीत्यभिधीयते ॥' (चरक सू. अ. १७।९३-९६।) स्त्रियों के गर्भाशय में जो विद्रधि होती है, उसका भी अन्तर्भाव बस्ति शब्द में हो जाता है।

---

[1] यह अर्थ अरुणदत्त के अनुसार है किन्तु 'क्रमेण ये वातकृतास्तु मेहाः' इसका अरुणदत्त सम्मत अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि यह श्लोक चरक का है और चरक के सभी टीकाकारों ने 'क्रमेण' का अर्थ 'वातवर्धक निदान के सेवन से उत्पन्न स्वतन्त्र' माना है और यह अर्थ ठीक है। क्योंकि अन्य दोषों की चिकित्सा करते हुए अपतर्पणजनित वायु की वृद्धि से उत्पन्न वातमेह तो साध्य ही होते हैं और इनकी चिकित्सा वर्णित है और स्वतन्त्र वातमेह असाध्य होते हैं। यथा—
या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा ।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्शितानां कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता ॥
(च. चि. अ. ६)

वातज विद्रधि—

—वातात्तत्रातितीव्ररुक् ।
श्यावारुणश्चिरोत्थानपाको विषमसंस्थितिः ॥ ६ ॥
वधच्छेदभ्रमानाहस्पन्दसर्पणशब्दवान् ।

वातजन्य विद्रधि में विद्रधि के स्थान पर अतितीव्र वेदना, विद्रधि का वर्ण श्याव एवं अरुण, देर में उत्पन्न होना और देर में पकना, विषमरूप में स्थिति, काटने, वीधने की पीड़ा, चक्कर आना, आनाह, स्पन्दन, फैलना और शब्द का होना ये लक्षण हैं। (सर्पण-शीघ्रगति) ॥ ६ ॥

पित्तज विद्रधि—

रक्तताम्रासितः पित्तात्तृण्मोहज्वरदाहवान् ॥ ७ ॥
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च—

पित्तजन्य विद्रधि में वर्ण लाल, ताम्रवर्ण वा काला होता है, रोगी को प्यास, मोह, ज्वर एवं दाह रहता है, विद्रधि जल्दी उत्पन्न होती है और जल्दी पकती है ॥ ७ ॥

कफज विद्रधि—

—पाण्डुः कण्डूयुतः कफात् ।
सोत्क्लेशशीतकस्तम्भजृम्भाऽरोचकगौरवः ॥ ८ ॥
चिरोत्थानविपाकश्च—

कफजन्य विद्रधि में वर्ण-पाण्डु, विद्रधि-कण्डू युक्त, रोगी को उत्क्लेश, शीतज्वर, जड़ता, जम्भाई, अरोचक और भारीपन होता है तथा विद्रधि देर में उत्पन्न होती और पकती है।

त्रिदोषज विद्रधि—

—सङ्कीर्णः सन्निपाततः ।
सामर्थ्याच्चात्र विभजेद्बाह्याभ्यन्तरलक्षणम् ॥ ९ ॥

सन्निपातजन्य विद्रधि से-वातादि तीनों दोषों के लक्षण मिले रहते हैं।

ये लक्षण बाह्य और आभ्यन्तर दोनों विद्रधियों के हैं—इन लक्षणों को अपनी बुद्धि के अनुसार बाह्य और अन्तर्विद्रधि में विभक्त कर ले ॥ ९ ॥

वक्तव्य—वातजन्य विद्रधि में बाह्य लक्षण हों तब वह बाह्य वातविद्रधि है और जब वातविद्रधि में अन्तर्लक्षण हों-तब वह अन्तर्विद्रधि है, ऐसा समझना।

रक्तज विद्रधि—

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाज्वरः ।
पित्तलिङ्गोऽसृजा बाह्यः स्त्रीणामेष तथाऽऽन्तरः ॥

रक्तज विद्रधि-काले छालों से आवृत, श्याववर्ण, तीव्र दाह, पीड़ा, ज्वर और पित्तजन्य विद्रधि के लक्षणों से युक्त होती है। रक्तज विद्रधि केवल बाह्य होती है परन्तु स्त्रियों में अन्तर्विद्रधि भी होती है ॥ १० ॥

वक्तव्य—यहाँ पर रक्त का अर्थ आर्त्तव भी किया है। स्त्रियों के पक्ष में आर्त्तव रक्त के कारण होने वाली विद्रधि का भी इसी में समावेश है। सुश्रुत ने इसे मक्कल्ल विद्रधि कही है, यथा—'स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः। दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः ॥ अपि सम्यक प्रजातानामसृक् कायादनिःसृतम् । रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कल्लसंज्ञितम् ॥ सप्ताहान्नोपशान्तश्चेत्ततोऽसौ संप्रपच्यते ॥' (सु, नि. अ. ९।२६-२७ ॥)

क्षतज विद्रधि—

शस्त्राद्यैरभिघातेन क्षते वाऽपथ्यकारिणः ।
क्षतोष्मा वायुविक्षिप्तः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥ ११ ॥
पित्तासृग्लक्षणं कुर्याद्विद्रधिं भूर्युपद्रवम् ।

क्षतज विद्रधि-शस्त्र आदि के चोट लगने से अथवा अन्य क्षत में अपथ्य सेवन करने से, वायु प्रेरित क्षत की ऊष्मा रक्त के साथ पित्त को कुपित करती हुई, पित्त और रक्तजन्य विद्रधि के लक्षणों वाली विद्रधि उत्पन्न करती है, इसमें बहुत उपद्रव होते हैं ॥ ११ ॥

विद्रधियों में उपद्रव—

तेषूपद्रवभेदश्च स्मृतोऽधिष्ठानभेदतः ॥ १२ ॥
नाभ्यां हिध्मा भयेद्बस्तौ मूत्रं कृच्छ्रेण पूति च ।
श्वासो यकृति, रोधस्तु प्लीह्न्युच्छ्वासस्य तृट् पुनः॥
गलग्रहश्च क्लोम्नि, स्यात्सर्वाङ्गप्रग्रहो हृदि ।
प्रमोहस्तमकः कासो हृदये घट्टनं व्यथा ॥ १४ ॥
कुक्षिपार्श्वान्तरांसर्तिः कुक्षावाटोपजन्म च ।
सक्थ्नोर्ग्रहो वङ्क्षणयोर्वृक्कयोः कटिपृष्ठयोः ॥ १५ ॥
पार्श्वयोश्च व्यथा पायौ पवनस्य निरोधनम् ।

इन विद्रधियों में उपद्रव भेद इनके अधिष्ठान की भिन्नता से होता है।

नाभिजन्य विद्रधि में-हिक्का होती है। वस्तिजन्य विद्रधि में-मूत्र कठिनाई से आता है और दुर्गन्धि युक्त होता है। यकृत् विद्रधि में—श्वास, प्लीहा विद्रधि में—श्वास खींचने में अवरोध, क्लोमविद्रधि में-प्यास और कण्ठावरोध, हृदयविद्रधि में-सब अङ्गों का जकड़ जाना (प्रत्येक अङ्ग में वेदना), प्रमोह, तमकश्वास, कास, हृदय की तीव्र गति और हृदय में दर्द, कुक्षि में होने से-पार्श्वों के अन्दर और अंस में वेदना तथा कुक्षि में गड़गड़ाहट, वंक्षण में होने से-टाँगों का जकड़ जाना, वृक्कों में होने से-कटि तथा पीठ का जकड़ जाना और पार्श्वों में वेदना, गुदा में विद्रधि होने पर-वायु का अवरोध ये उपद्रव होते हैं ॥ १२-१५ ॥

विद्रधि और शोफ में तुल्यता—

आमपक्वविदग्धत्वं तेषां शोफवदादिशेत् ॥ १६ ॥

विद्रधि की आम और पक्वावस्था को शोफ की भाँति समझना चाहिये। (देखिये हृ. सू. अ. २९।२) ॥ १६ ॥

उत्पत्तिस्थान भेद से विद्रधि—

नाभेरूर्ध्वं मुखात्पक्वाः प्रस्रवन्त्यधरे गुदात् ।
गुदास्यान्नाभिजो—

नाभि से ऊपर के भाग की विद्रधि पकने और फूटने पर मुख से बहती है और नाभि से नीचे की विद्रधि गुदा से

तथा नाभि की विद्रधि गुदा और मुख दोनों भागों से बहती है।

क्लेदभेद से विद्रधि के वातादि दोष निरूपण—

—विद्याद्दोषं क्लेदाच्च विद्रधौ ॥ १७ ॥
यथास्वं व्रणवत् –

विद्रधि में व्रण की भाँति क्लेद (स्राव) के अपने-अपने लक्षणों से (उत्तर तन्त्र अ. २५।६) वातादि दोष को जानना चाहिये ॥ १७ ॥

वक्तव्य—'तनु रूक्षारुणं श्यावं फेनिलं वातविद्रधौ। तिलमाषकुलत्थोदसन्निभं पित्तविद्रधौ॥ श्लैष्मिकं स्रवति श्वेतं पिच्छिलं बहलं बहु। लक्षणं सर्वमेवैतद्भजते सान्निपातिकी॥' (च. सू. अ. १७-९९)

विद्रधि की साध्यासाध्यता—

पक्वो हृन्नाभिबस्तिस्थो भिन्नोऽन्तर्बहिरेव वा ॥ १८ ॥
पक्वश्चान्तः स्रवन् वक्त्रात् क्षीणस्योपद्रवान्वितः ।

साध्यासाध्य—सन्निपातजन्य विद्रधि असाध्य है। हृदय, नाभि और वस्ति में उत्पन्न होकर पकी हुई, तथा पक कर- बाहर या अन्दर विदीर्ण हुई विद्रधि असाध्य है। पक कर अन्दर बहती हुई अथवा क्षीण पुरुष में एवं उपद्रव युक्त, मुख से या बाहर बहने वाली भी विद्रधि असाध्य होती है ॥१८॥

वक्तव्य—'आमो वा यदि वा पक्वो महान् वा यदि वेतरः। सर्वो मर्मोत्थितश्चापि विद्रधिः कष्ट उच्यते ॥ नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः। जीवत्यधो निःस्रुतेषु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति ॥ हृन्नाभिबस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः। जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥' (सु. नि. अ. ९।२३-२५)

स्त्रियों की स्तनविद्रधि –

एवमेव स्तनसिरा विवृताः प्राप्य योषिताम् ॥ १९ ॥
सूतानां गर्भिणीनां वा सम्भवेच्छ्वयथुर्घनः ।
स्तने सदुग्धेऽदुग्धे वा बाह्यविद्रधिलक्षणः ॥ २० ॥
नाडीनां सूक्ष्मवक्त्रत्वात्कन्यानां न स जायते ।

स्तनविद्रधि—इसी प्रकार से प्रसूता अथवा गर्भवती स्त्रियों के दुग्ध युक्त या दुग्ध रहित स्तन की विवृत सिराओं में दोष पहुँच कर बाह्य विद्रधि के लक्षणों से युक्त निविड शोथ को उत्पन्न कर देते हैं। इसको स्तनविद्रधि कहते हैं। कन्याओं की स्तनसिराओं का मुख सूक्ष्म होने से उनमें स्तनविद्रधि नहीं होती ॥ १९-२० ॥

वृद्धिरोगनिदान—

क्रुद्धो रुद्धगतिर्वायुः शोफशूलकरश्चरन् ॥ २१ ॥
मुष्कौ वङ्क्षणतः प्राप्य फलकोशाभिवाहिनीः ।
प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोशयोः ॥ २२ ॥

मार्ग के रुकने से कुपित वायु शोथ और शूल को करता हुआ एक देश से दूसरे देश में विचरता हुआ जब वंक्षण से वृषणों में पहुँचता है, तब फलकोश को जाने वाली सिराओं को दबा कर फलकोशों में वृद्धि को उत्पन्न करता है ॥२१-२२॥

वृद्धि संख्या—

दोषास्रमेदोमूत्रान्त्रैः स वृद्धिः सप्तधा गदः ।
मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलम् ॥ २३ ॥

यह वृद्धि रोग वातादि दोषों से तीन प्रकार का, रक्तजन्य, मेदजन्य, मूत्रजन्य और अन्त्रजन्य भेद से सात प्रकार का है। मूत्रज और अन्त्रज वृद्धि भी वातजन्य ही है, केवल कारण (अधिष्ठान) की भिन्नता से इनका अलग निर्देश किया है। (जैसा कि सुश्रुत में—'दोषदूष्यसंसर्गादायतनानां च विशेषान्निमित्ततश्चैषां व्याधीनां भेदः ॥)' इसी प्रकार मेदज, कफज और रक्तज पित्तज होती है, केवल अधिष्ठान या दूष्य भेद से इन्हें पृथक् पृथक् कहा गया है। यही नियम अन्य रोगों में भी लागू होता है ॥ २३ ॥

वातजवृद्धि

वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वाताद्हेतुरुक् ।

वातजन्य वृद्धि वायु से भरी मसक की भाँति स्पर्शवाली और रूक्ष होती है, इसमें विना हेतु के दर्द होता है।

पित्तजवृद्धि—

पक्वोदुम्बरसङ्काशः पित्ताद्दाहोष्मपाकवान् ॥ २४ ॥

पित्तज वृद्धि पके हुए गूलर के समान रङ्ग की दाह, उष्णिमा और पाक से युक्त होती है ॥ २४ ॥

कफजवृद्धि—

कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ।

कफज वृद्धि शीतल, गुरु, स्निग्ध, कण्डूयुक्त, कठिन और थोड़ी वेदना वाली होती है।

रक्तजवृद्धि—

कृष्णस्फोटावृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्ततः ॥ २५ ॥

रक्तज वृद्धि काले छालों से युक्त और पित्तजन्य वृद्धि के लक्षणों वाली होती है ॥ २५ ॥

मेदोजवृद्धि—

कफवन्मेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः ।

मेदज वृद्धि कफज वृद्धि के समान, कोमल तथा तालफल के समान रहती है।

मूत्रजवृद्धि—

मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः ॥ २६ ॥
अम्भोभिः पूर्णदृतिवत्क्षोभं याति सरुङ्मृदुः ।
मूत्रकृच्छ्रमधस्ताच्च वलयः फलकोशयोः ॥ २७ ॥

मूत्रज वृद्धि—मूत्र के उपस्थित वेग को रोकने वाले पुरुष में मूत्रज वृद्धि होती है और यह चलते समय पानी से भरी मसक की भाँति हिलती (थल-थल करती) है, इसमें वेदना रहती है और यह वृद्धि कोमल होती है। रोगी को

मूत्र, त्याग में काठिन्य रहता है तथा फलकोशों के नीचे झुर्रियां पड़ती हैं ॥ २६-२७ ॥

अन्त्रजवृद्धि—

बातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः ।
धारणेरणभाराध्वविषमाङ्गप्रवर्तनैः ॥ २८ ॥
क्षोभणः क्षुभितोऽन्यैश्च क्षुद्रान्त्रावयवं यदा ।
पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत् ॥ २९ ॥
कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा ।
उपेक्ष्यमाणस्य च मुष्कवृद्धि-
माध्मानरुक्स्तम्भवतीं स वायुः ।
प्रपीडितोऽन्तः स्वनवान् प्रयाति ।
प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः ॥ ३० ॥

आन्त्र वृद्धि-वातप्रकोपक आहारों से, शीतल जल में स्नान करने से, मल और वायु को रोकने से या बलपूर्वक इनको प्रवृत्त करने से, भार उठाने से, पैदल चलने से, विषम रूप में अङ्गों के चलाने से तथा अन्य कोपक कारणोंसे कुपित वायु जब क्षुद्रान्त्र के भाग को मोड़कर अपने स्थान से नीचे की ओर ले जाती है, तब वंक्षण सन्धि में स्थित ग्रन्थि के आकार के शोथ (उभाड़) को उत्पन्न करती है। उपेक्षा करने से यह वायु-आध्मान, वेदना और स्तम्भन वाली मुष्कवृद्धि को कर देती है। दबाने पर यह शब्द के साथ अन्दर चली जाती है और छोड़ने पर फिर फूलती हुई मुष्कों में आ जाती है ॥ २८-३० ॥

अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः ॥ ३१ ॥

यह अन्त्र-वृद्धि असाध्य है, इसमें वात वृद्धि के समान लक्षण रहते हैं ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अन्त्र-वृद्धि औषध से असाध्य है किन्तु शस्त्र से साध्य है।

गुल्म के लक्षण और भेद—

रूक्षकृष्णारुणसिरातन्तुजालगवाक्षितः ।
गुल्मोऽष्टधा पृथग्दोषैः संसृष्टैर्निचयं गतैः ॥ ३२ ॥
आर्तवस्य च दोषेण नारीणां जायतेऽष्टमः ।

रूक्ष, कृष्णवर्ण, लाल सिराओं के तन्तुसमूहों से व्याप्त गुल्म आठ प्रकार का होता है। यथा-वातादि दोषों से पृथक् रूप में तीन, दो दोषों के संसर्ग से तीन, सन्निपात से एक और आर्त्तव के दोष से स्त्रियों में आठवां गुल्म होता है ॥३२॥

वक्तव्य—गुल्म-'कुपितानिलमूलत्वाद् गूढमूलोच्छ्रयादपि। गुल्मबद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ॥ हृद्बस्त्योरन्तरे ग्रन्थिः सञ्चारी यदि वाऽचलः। चयापचयवान् वृत्तः स गुल्म इति कीर्त्तितः ॥'

गुल्मवत्—समूह विशेष, यथा-मनुष्यगुल्मः, सैन्यगुल्मः, वृक्षगुल्मः, एक स्थान पर गुल्मरूप में संहत होना। गुल्म पिण्डाकार होता है, यथा-'सपिण्डत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते।' (चरक)।

गुल्म के निदान—

ज्वरच्छर्द्यतिसाराद्यैर्वमनाद्यैश्च कर्मभिः ॥ ३३ ॥
कर्शितो वातलान्यत्ति शीतं वाऽम्बु बुभुक्षितः ।
यः पिबत्यनु चान्नानि लङ्घनप्लवनादिकम् ॥ ३४ ॥
सेवते देहसङ्क्षोभि छर्दिं वा समुदीरयेत् ।
अनुदीर्णामुदीर्णान् वा वातादीन्न विमुञ्चति ॥ ३५ ॥
स्नेहस्वेदावनभ्यस्य शोधनं वा निषेवते ।
शुद्धो वाऽऽशु विदाहीनि भजते स्यन्दनानि वा ॥३६।
वातोल्बणास्तस्य मलाः पृथक् क्रुद्धा द्विशोऽथवा ।
सर्वे वा रक्तयुक्ता वा महास्रोतोऽनुशायिनः ॥ ३७ ॥
ऊर्ध्वाधोमार्गमावृत्य कुर्वते शूलपूर्वकम् ।
स्पर्शोपलभ्यं गुल्माख्यमुत्प्लुतं ग्रन्थिरूपिणम् ॥३८॥

निदान—ज्वर, वमन, अतीसार आदि से अथवा वमन आदि कर्मों से कृश हुआ व्यक्ति जब वातकारक वस्तुओं का सेवन करता है, अथवा भूख लगने पर शीतल जल पीता है, भोजन के उपरान्त लङ्घन (कूदना), प्लवन (तैरना) आदि शरीर में विक्षोभ करने वाले कारणों का सेवन करता है, अनुत्पन्न वमन को प्रेरित करता है, अथवा उत्पन्न वायु आदि के वेग का त्याग नहीं करता, स्नेहन-स्वेदन न करके शोधन लेता है, अथवा वमनादि से शुद्ध होकर जल्दी ही विदाही एवं अभिष्यन्दी खान-पान का सेवन करने लगता है, इस प्रकार के व्यक्ति में वातप्रधान दोष पृथक्-पृथक् रूप में या संसर्ग रूप में अथवा सन्निपात रूप में होकर अथवा रक्त से मिलकर कुपित हुए (दोष) महास्रोत (उदर-आमपक्वाशयस्थान) में पहुँचकर ऊपर और नीचे के मार्ग को रोककर प्रथम शूल उत्पन्न करके गुल्म रोग को उत्पन्न करते हैं। यह स्पर्श द्वारा विज्ञेय, उन्नत एवं ग्रन्थिरूप दोष कहलाता है ॥ ३३-३८ ॥

वक्तव्य—गुल्म के स्थान-'वस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयोर्वा स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च ॥' (चरक)। इसमें-वातोद्भवं वस्तिगतं वदन्ति पित्तोद्भवं चापि वदन्ति नाभौ। हृत्पार्श्वकुक्षोदरसन्निविष्टं कफोद्भवं सर्वभवं तु सर्वैः ॥'

वातगुल्म—

कर्शनात्कफविट्पित्तैर्मार्गस्यावरणेन वा ।
वायुः कृताश्रयः कोष्ठे रौक्ष्यात्काठिन्यमागतः ॥३९॥
स्वतन्त्रः स्वाश्रये दुष्टः परतन्त्रः पराश्रये ।
पिण्डितत्वादमूर्तोऽपि मूर्तत्वमिव संश्रयः ॥ ४० ॥
गुल्म इत्युच्यते वस्तिनाभिहृत्पार्श्वसंश्रयः ।

वातगुल्म-कर्शन से (धातुक्षय से) अथवा कफ, पित्त और मल से मार्ग के रुकने से कोष्ठ में आश्रय लेकर वायु, रूक्षता के कारण पिण्डाकार बनकर अपने स्थान पक्वाशय में दूषित होने पर स्वतंत्र होकर तथा पराश्रय-आमाशय आदि

में दूषित होने पर परतंत्र (पित्त और कफ के अधीन) रह कर स्पर्श द्वारा जानने योग्य होने से मूर्त की भांति होने से 'गुल्म' कहा जाता है। यह गुल्म वस्ति, नाभि, हृदय और दोनों पार्श्वों में होता है ॥ ३९-४० ॥

वातगुल्म के उपद्रव—

वातान्मन्याशिरःशूलं ज्वरप्लीहान्त्रकूजनम् ॥४१॥
व्यधः सूच्येव विट्सङ्गः कृच्छ्रादुच्छ्वसनं मुहुः ।
स्तम्भो गात्रे मुखे शोषः कार्श्यं विषमवह्निता ॥४२॥
रूक्षकृष्णत्वगादित्वं चलत्वादनिलस्य च ।
अनिरूपितसंस्थानस्थानवृद्धिक्षयव्यथः ।४३॥
पिपीलिकाव्याप्त इव गुल्मः स्फुरति तुद्यते ।

वातगुल्म से मन्याशूल, शिरःशूल, ज्वर, प्लीहा, अंत्रों में गड़गड़ाहट, सूई चुभने की वेदना, मलबन्ध, कठिनाई से बार-बार श्वास लेना, शरीर में जड़ता, मुख में शोष, कृशता, विषमाग्निता, त्वचा आदि में रूक्षता और कृष्णवर्ण होते हैं तथा वायु के गतिशील होने से इस गुल्म में आकार, स्थान, वृद्धि, क्षय और व्यथा ये अनिश्चित रहते हैं। गुल्म चींटियों से व्याप्त प्रतीत होता है तथा इसमें स्फुरण और वेदना होती है ॥ ४१-४३ ॥

पित्तज गुल्म—

पित्ताद्दाहोऽम्लको मूर्च्छाविड्भेदस्वेदतृड्ज्वराः ॥
हारिद्रत्वं त्वगाद्येषु गुल्मश्च स्पर्शनासहः ।
दूयते दीप्यते सोष्मा स्वस्थानं दहतीव च ॥४५॥

पित्तगुल्म में दाह, खटाश, मूर्च्छा, अतिसार, पसीना, प्यास, ज्वर, त्वचा आदि में हारिद्रवर्ण और गुल्म में स्पर्श का सहन नहीं होता है। गुल्म तपता है, जलता है, गरम होता है और गुल्म स्थान को जलाता हुआ प्रतीत होता है।

कफज गुल्म—

कफात्स्तैमित्यमरुचिः- सदनं शिशिरज्वरः ।
पीनसालस्यहृल्लासकासशुक्लत्वगादिताः ॥ ४६ ॥
गुल्मोऽवगाढः कठिनो गुरुः सुप्तः स्थिरोऽल्परुक् ।

कफ गुल्म में कफ के कारण स्तैमित्य (गीले वस्त्र से ढँपा सा), अरुचि, शिथिलता, ठण्डी लगकर ज्वर होना, पीनस, आलस्य, जी मिचलाना, कास, त्वचा आदि श्वेत होते हैं तथा गुल्म गहरा-गम्भीर, कठिन, गुरु, स्पर्शज्ञानशून्य, स्थिर और थोड़ी वेदना वाला होता है ॥ ४६ ॥

स्वदोषस्थानधामानः स्वे स्वे काले च रुक्कराः ॥४७॥
प्रायः—

ये गुल्म अपने दोष के स्थान में रहते हैं और अपने दोष के कुपित होने के काल में प्रायः करके वेदना करते हैं ॥४७॥

वक्तव्य—यथा-वातगुल्म में दोष (वायु) का स्थान पक्वाशय तथा प्रकोपणकाल भोजन की जीर्णावस्था है, इसलिए वातगुल्म प्रायः पक्वाशय में होता है, और भोजन के जीर्ण होने पर वेदना करता है। इसी प्रकार दूसरे गुल्म में भी समझना।

द्वन्द्वज गुल्म—

—त्रयस्तु द्वन्द्वोत्था गुल्माः संसृष्टलक्षणाः ।

तीन गुल्म द्वन्द्वज हैं, इनमें दो दोषों के लक्षण मिले रहते हैं।

वक्तव्य—यथा—'निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च। व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥' (चरक चि. अ. ५।१६।)

त्रिदोषज गुल्म—

सर्वजस्तीव्ररुग्दाहः शीघ्रपाको घनोन्नतः ॥ ४८ ॥
सोऽसाध्यो—

सन्निपातजगुल्म त्रिदोषजन्य, तीव्र वेदना और दाह से युक्त, शीघ्र पकने वाला, कठिन और उष्ण होता है, और यह असाध्य है ॥ ४८ ॥

रक्तज गुल्म—

—रक्तगुल्मस्तु स्त्रिया एव प्रजायते ।
ऋतौ वा नवसूता वा यदि वा योनिरोगिणी ॥४९॥
सेवते वातलानि स्त्री क्रुद्धस्तस्याः समीरणः ।
निरुणद्ध्यार्तवं योन्यां प्रतिमासमवस्थितम् ॥५०॥
कुक्षिं करोति तद्गर्भलिङ्गमाविष्करोति च ।
हृल्लासदौर्हृदस्तन्यदर्शनक्षामतादिकम् ॥५१॥

रक्त गुल्म स्त्री को ही होता है। कारण—ऋतुकाल में या नूतन प्रसूता अथवा योनि रोग वाली स्त्री यदि वातकारक आहार या विहार का सेवन करती है तो इसमें कुपित वायु प्रतिमास आने वाले आर्त्तव को योनि में रोक देती है, और रुका हुआ वह आर्त्तव रक्त उदर में गर्भ का लक्षण कर देता है, तथा जी मिचलाना, दौहृदभाव, दूध का आना, कृशता आदि गर्भलक्षणों को करता है ॥ ४९-५१ ॥

वक्तव्य—चरक में-'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात् सशूलः समगर्भलिङ्गः। स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥' (चरक चि. अ. १९।) वृद्धा स्त्री में स्वभावतः आर्तव-प्रवृत्ति न होने से यह गुल्म नहीं होता।

रक्तज गुल्म के उपद्रव—

क्रमेण वायुसंसर्गात्पित्तयोनितया च तत् ।
शोणितं कुरुते तस्या वातपित्तोत्थगुल्मजान् ॥५२॥
रुक्स्तम्भदाहातीसारतृड्ज्वरादीनुपद्रवान् ।
गर्भाशये च सुतरां शूलं दुष्टासृगाश्रये ॥ ५३ ॥
योन्याश्च स्रावदौर्गन्ध्यतोदस्पन्दनवेदनाः ।

रक्त क्रमशः वायु-पित्त से मिलकर पित्तयोनि (पित्त से उत्पन्न) होने के कारण स्त्री में वातपित्तजन्य गुल्म में वेदना, जडता, दाह, अतिसार, प्यास, ज्वर आदि उपद्रव होते हैं।

दूषित रक्त के आश्रय गर्भाशय में निरन्तर शूल रहता है, और योनि में स्राव की दुर्गन्धि, चुभने की दर्द, स्पन्दन और वेदना रहती है ॥ ५२-५३ ॥

गर्भ से रक्तगुल्म की विशेषता—

न चाङ्गैर्गर्भवद् गुल्मः स्फुरत्यपि तु शूलवान् ॥५४॥
पिण्डीभूतः स एवास्याः कदाचित्स्पन्दते चिरात् ।
न चास्या वर्द्धते कुक्षिर्गुल्म एव तु वर्धते ॥ ५५ ॥

गुल्म और गर्भ में भेद—गुल्म की फड़कन में (गर्भ की भांति) हाथ, पैर आदि अङ्गों का अनुभव नहीं होता, अपितु वेदना रहती है, यह गुल्म पिण्डाकार (पोटली के समान) रहता है, और कभी-कभी बहुत देर में स्पन्दन करता है (गर्भ की भांति जल्दी-जल्दी नहीं)। इस (गुल्म) में उदर ऊपर को बढ़ता नहीं, अपि तु गुल्म ही बढ़ता है ॥५४-५५॥

वक्तव्य—गुल्म में जो स्पन्दन (धड़कन) का अनुभव होता है, वह रक्तवाहिनी सिरा का होता है, जो कि प्रायः बड़ी ग्रन्थियों में मिलता है।

गुल्म और विद्रधि का भेद—

स्वदोषसंश्रयो गुल्मः सर्वो भवति तेन सः ।
पाकं चिरेण भजते नैव वा, विद्रधिः पुनः ॥ ५६ ॥
पच्यते शीघ्रमत्यर्थं दुष्टरक्ताश्रयत्वतः ।
अतः शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधिः सोऽभिधीयते ॥५७॥

गुल्म और विद्रधि का भेद—सब गुल्म अपने-अपने दोष तक ही सीमित रहते हैं, इसलिये या तो पकते ही नहीं और यदि कभी (आश्रय के मांस या रक्त को आक्रान्त कर) पकते हैं तो देर में पकते हैं। विद्रधि दूषित रक्त वा आश्रय वाली होने से जल्दी और अधिक पकती है। इसलिए शीघ्र विदाह (पाक) होने के कारण इसको विद्रधि कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत में—'न निबन्धोऽस्ति गुल्मानां विद्रधिः सनिबन्धनः। गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधिर्मांसशोणिते ॥ विवरानुचरो ग्रन्थिरप्सु बुद्बुदको यथा। एवंप्रकारो गुल्मस्तु तस्मात्पाकं न गच्छति ॥ मांसशोणितबाहुल्यात्पाकं गच्छति विद्रधिः। मांसशोणितहीनत्वाद् गुल्मः पाकं न गच्छति ॥ गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते। विद्रधिः पच्यते तस्माद् गुल्मश्चापि न पच्यते ॥' चरक में—'रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च। यदि गुल्मो विदह्येत तत्र शस्त्रं भिषग्जितम् ॥' इससे कभी-कभी आश्रयभूत अंगों के मांस और रक्त के भी विकृत होने से विशेषतः पित्त गुल्म का पाक देखा जाता है।

वास्तव में गुल्म वायु आदि दोषों का गोला ही है, इसलिए इसका पाक नहीं होता। यथा—'स यस्मादात्मनि चयं गच्छत्यप्स्विव बुद्बुदः। अन्तः सरसि यस्माच्च न पाकमुपयात्यतः ॥' (सु. चि. अ. ४२।६) चरक में सभी गुल्मों में वायु की प्रधानता बताई है, यथा-'मारुते ह्युपशान्ते स्वल्पेनापि प्रयत्नेन शक्योऽन्योऽपि दोषो नियन्तुं गुल्मेष्विति ॥' (चरक नि. अ. ३।१६)

गुल्म का बाह्याभ्यन्तर लक्षण—

गुल्मेऽन्तराश्रये वस्तिकुक्षिहृत्प्लीहवेदनाः ।
अग्निवर्णबलभ्रंशो वेगानां चाप्रवर्तनम् ॥ ५८ ॥
अतो विपर्ययो बाह्ये कोष्ठाङ्गेषु तु नातिरुक् ।
वैवर्ण्यमवकाशस्य बहिरुन्नतताऽधिकम् ॥ ५९ ॥

आभ्यन्तर गुल्म में वस्ति, उदर, हृदय और पार्श्व में वेदना, अग्निमान्द्य, गात्रविवर्णता, बलभ्रंश और मल-मूत्र के वेगों की अप्रवृत्ति होती है। बाह्य गुल्म में इससे विपरीत लक्षण होते हैं, कोष्ठ के अंगों में बहुत वेदना नहीं होती तथा गुल्म प्रदेश में विवर्णता और बाहर की ओर अधिक उन्नति होती है ॥ ५८-५९ ॥

आनाह के लक्षण—

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मानमुदरं भृशम् ।
ऊर्ध्वाधोवातरोधेन तमानाहं प्रचक्षते ॥ ६० ॥

आनाह—ऊपर और नीचे की ओर वायु का अवरोध होने से आटोप, अतिशय तीव्र वेदना और उदर में तीव्र आध्मान होता है। इसको आनाह कहते हैं ॥ ६० ॥

वक्तव्य—अत्याध्मान—'विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्। प्रत्याध्मानं विजानीयाव कफव्याकुलितानिलम् ॥'

अष्ठीला तथा प्रत्यष्ठीला—

घनोऽष्ठीलोपमो ग्रन्थिरष्ठीलोर्ध्वं समुन्नताः ।
आनाहलिङ्गस्तिर्यक्तु प्रत्यष्ठीला तदाकृतिः ॥ ६१ ॥

प्रत्यष्ठीला—जो ग्रन्थि निबिड एवं अष्ठीला (गोल पत्थर) के समान ऊपर को उठी होती है तथा आनाह के लक्षणों से युक्त हो, वह अष्ठीला-है। जो ग्रन्थि अष्ठीला के समान परन्तु तिरछी होती हो (ऊपर न हो) उसे-प्रत्यष्ठीला कहते हैं ॥

तूनी तथा प्रतूनी के लक्षण—

पक्काशयाद् गुदोपस्थं वायुस्तीव्ररुजः प्रयान् ।
तूनी, प्रतूनी तु भवेत्स एवातो विपर्यये ॥ ६२ ॥

तूनी-प्रतूनी—पक्काशय से प्रारम्भ होकर तीव्र वेदना वाली वायु गुदा और उपस्थ को जाती है, इसको-तूनी-कहते हैं। यदि गुदा-उपस्थ से आरम्भ होकर वायु पक्काशय को तीव्र वेदना के साथ जाये तो इसको-प्रतूनी-कहते हैं ॥ ६२ ॥

---

१. आचार्यों ने इसे-आध्मान-तथा इसका दूसरा प्रकार प्रत्याध्मान-माना है। आनाह में वायु को अवरोधक तथा आम और पुरीष का अवरोध बताया है। यथा—'आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन। प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥' इस प्रकार आनाह दो प्रकार का होता है (१) आमज या आमाशयज (२) पुरीषज या पक्काशयज।

गुल्म के प्राग्रूप—

उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्ध-
　　तृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि ।
आटोपमाध्मानमपक्तिशक्ति-
　　मासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥ ६३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने विद्रधि वृद्धि-गुल्मनिदानं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

* * *

गुल्म के पूर्वरूप—उद्गार की अधिकता, मलबन्ध, तृप्ति (बिना भोजन किए हुए भी भोजन किए होने का अनुभव), असहनशीलता या असामर्थ्य, आंत्रों में गड़गड़ाहट, आटोप, आध्मान और पाचनशक्ति का अभाव ये गुल्म के पूर्वरूप हैं।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदान स्थान का
ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

अथात उदरनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे उदर निदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उदररोग की उत्पत्ति—

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि तु ।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसञ्चयात् ॥ १ ॥

सब (ज्वर, अतीसार आदि) रोग अग्नि के मन्द होने से उत्पन्न होते हैं, इनमें उदर रोग तो विशेष कर अग्निमान्द्य से होते हैं। इनके सिवाय अजीर्ण (आम, विष्टब्ध, विदग्ध, रसशेष), मलिन अन्नों (पूति, पर्युषित, सङ्कीर्ण आदि) से, तथा चिरकालीन एकत्रित दोषों के सञ्चय से अथवा पुरीष, मूत्र आदि के अधिक सञ्चय से उदर रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

उदररोग की सम्प्राप्ति—

ऊर्ध्वाधो धातवो रुद्ध्वा वाहिनीरम्बुवाहिनीः ।
प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य कुर्युस्त्वङ्मांससन्धिगाः ॥२॥
आध्माप्य कुक्षिमुदरम्—

सम्प्राप्ति—जलवाही स्रोतों को ऊपर एवं नीचे रोककर प्राण, अग्नि और जलपान को दूषित कर त्वचा, मांस और सन्धि में स्थित धातु (वातादि;दोष) कुक्षि को फुला कर उदर रोग को उत्पन्न करते हैं ॥ २ ॥

उदर-रोग के आठ भेद—

—अष्टधा तच्च भिद्यते ।
पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः ॥ ३ ॥

यह उदररोग आठ प्रकार का है-वातादि पृथक् दोषों से, सन्निपात से, प्लीहा से, बद्धता से, क्षत से और उदक से ॥

उदररोगार्त्त के लक्षण—

तेनार्ताः शुष्कताल्वोष्ठाः शूनपादकरोदराः ।
नष्टचेष्टाबलाहाराः कृशाः प्राध्मातकुक्षयः ॥ ४ ॥
स्युः प्रेतरूपाः पुरुषाः—

सामान्य लक्षण—इस उदर रोग से पीड़ित व्यक्ति के तालु और ओष्ठ शुष्क होते हैं, पैर, हाथ और उदर सूज जाते हैं, चेष्टा, बल और आहार (पाचन शक्ति) नष्ट हो जाता है और वह कृश तथा प्रेतरूप (देखने में प्रेत की भाँति पेट बढ़ा, मुख पतला, छाती दबी, हाथ-पैर सूजे, काला रङ्ग आदि बीभत्सरूप होने से) हो जाता है ॥ ४ ॥

उदररोग के प्राग्रूप—

—भाविनस्तस्य लक्षणम् ।
क्षुन्नाशोऽन्नं चिरात्सर्वं सविदाहं च पच्यते ॥ ५ ॥
जीर्णाजीर्णं न जानाति सौहित्यं सहते न च ।
क्षीयते बलतः शश्वच्छ्वसित्यल्पेऽपि चेष्टिते ॥ ६ ॥
वृद्धिर्विशोऽप्रवृत्तिश्च किञ्चिच्छोफश्च पादयोः ।
रुग्वस्तिसन्धौ ततता लघ्वल्पाभोजनैरपि ॥ ७ ॥
राजीजन्म वलीनाशो जठरे—

पूर्वरूप—भूख का नाश, सभी प्रकार का भोजन देर में विदाह के साथ पचता है, रोगी जीर्ण और अजीर्ण की पहचान नहीं कर पाता, पेट भर कर भोजन करने का सहन नहीं होता, निरन्तर बल में कम होता जाता है, थोड़ा सा भी काम करने पर श्वास बढ़ जाता है, मल की वृद्धि और अप्रवृत्ति होती है, पैर पर थोड़ी सी सूजन हो जाती है, वस्तिसन्धि (पेड़ू) पर दर्द, लघु एवं थोड़े भोजन से या विना भोजन से भी उदर में विस्तीर्णता तथा उदर पर रेखायें होती हैं और झुर्रियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥ ५-७ ॥

—जठरेषु तु ।
सर्वेषु तन्द्रा सदनं मलसङ्गोऽल्पवह्निता ॥ ८ ॥
दाहः श्वयथुराध्मानमन्ते सलिलसम्भवः ।

सब उदर रोगों में तन्द्रा, शिथिलता, मल का अवरोध, अग्निमान्द्य, दाह, शोथ और आध्मान होता है और अन्त में जल की उत्पत्ति हो जाती है ॥ ८ ॥

जलोदर भिन्न उदररोग के सामान्य लक्षण—

सर्वं त्वतोयमरुणमशोफं नातिभारिकम् ॥ ९ ॥
गवाक्षितं सिराजालैः सदा गुडगुडायते ।
नाभियन्त्रं च विष्टभ्य वेगं कृत्वा प्रणश्यति ॥१०॥
मारुतो हृत्कटीनाभिपायुवङ्क्षणवेदनाः ।
सशब्दो निश्चरेद्वायुर्विड्बद्धो मूत्रमल्पकम् ॥११॥
नातिमन्दोऽनलो लौल्यं न च स्याद्विरसं मुखम् ।

विना जल वाले सब उदर अरुण वर्ण, थोड़े शोथ युक्त, अतिशय भारी नहीं (थोड़े भार के), सिरा समूह के जालों से आक्रान्त, सब समय गुड-गुड शब्दवाला तथा वायु नाभि, अन्त्र में रुक कर हृदय, कटि, नाभि, पायु और वंक्षण में वेदना कर अपना जोर दिखाकर शान्त हो जाती है, वायु शब्द के साथ बाहर आती है, मलावरोध होता है, मूत्र थोड़ा होता है, अग्नि बहुत मन्द नहीं होती, सब कुछ खाने की लालसा रहती है और मुख में विरसता भी नहीं होती ॥ ९-११ ॥

वक्तव्य – अजातोदक-जल न होने या ईषद् उदक-थोड़ा पानी होने पर ये लक्षण होते हैं।

वातोदर—

तत्र वातोदरे शोफः पाणिपान्मुष्ककुक्षिषु ॥ १२ ॥
कुक्षिपार्श्वोदरकटीपृष्ठरुक् पर्वभेदनम् ।
शुष्ककासोऽङ्गमर्दोऽधो गुरुता मलसंग्रहः ॥ १३ ॥
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्वृद्धिह्रासवत् ।
सतोदभेदमुदरं तनुकृष्णसिराततम् ॥ १४ ॥
आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ।
वायुश्चात्र सरुक्शब्दो विचरेत्सर्वतोगतिः ॥ १५ ॥

वातजन्य उदर में पैर, हाथ, मुष्क और उदर में शोथ, कुक्षि, पार्श्व, उदर, कटि और पीठ में दर्द, पर्वों का टूटना, शुष्ककास, अङ्गों का टूटना, नीचे (नाभि से नीचे) भारीपन, मल का अवरोध, त्वचा आदि में श्याव या अरुण वर्ण, एकाएक बढ़ना और घटना, उदर में चुभने या फटने की दर्द और उदर पतली काली सिराओं से व्याप्त होता है तथा वायु से फूली मशक की भाँति ताड़ने पर शब्द होता है, वायु शब्द एवं वेदना के साथ चारों तरफ घूमती है ॥ १२-१५ ॥

पित्तोदर—

पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता ।
भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित् ॥ १६ ॥
पीतताम्रसिरानद्धं सस्वेदं सोष्म दह्यते ।
धूमायति मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते ॥ १७ ॥

पित्तोदर में ज्वर, मूर्च्छा, जलन, प्यास, मुख में कटुता, भ्रम, अतीसार, त्वचा आदि में पीला वर्ण और उदर में हरित वर्ण होता है, उदर पीली और ताम्रवर्ण सिराओं से व्याप्त, स्वेद एवं उष्णिमा के साथ जलता है, धूम की भाँति प्रतीति होती है, स्पर्श में कोमल होता है, जल्दी पक जाता है और तपता है ॥ १६-१७ ॥

श्लेष्मोदर—

श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं स्वापः श्वयथुगौरवम् ।
निद्रोत्क्लेशारुचिश्वासकासशुक्लत्वगादिता ॥ १८ ॥
उदरं स्तिमितं श्लक्ष्णं शुक्लराजीततं महत् ।
चिराभिवृद्धि कठिनं शीतस्पर्शं गुरु स्थिरम् ॥ १९ ॥

कफोदर में अङ्गों में शिथिलता, सुप्ति, शोथ, भारीपन, निद्रा, उत्क्लेश, अरुचि, श्वास, कास तथा त्वचा आदि में सफेदी होती है, उदर निश्चल, चिकना, श्वेत रेखाओं से व्याप्त, बड़ा और देर में बढ़ने वाला, कठिन, स्पर्श में शीतल, गुरु और स्थिर होता है ॥ १८-१९ ॥

त्रिदोषज उदर—

त्रिदोषकोपनैस्तैस्तैः स्त्रीदत्तैश्च रजोमलैः ।
गरदूषीविषाद्यैश्च सरक्ताः सञ्चिता मलाः ॥ २० ॥
कोष्ठं प्राप्य विकुर्वाणाः शोषमूर्च्छाभ्रमान्वितम् ।
कुर्युस्त्रिलिङ्गमुदरं शीघ्रपाकं सुदारुणम् ॥ २१ ॥
बाधते तच्च सुतरां शीतवाताभ्रदर्शने ।

सन्निपातोदर—सङ्कीर्ण आदि भोजनों से तथा सर्वनिदान में कहे त्रिदोषप्रकोपक कारणों से (वाजीकरण के लिये) स्त्री द्वारा (भोजनादि में) प्रयुक्त आर्त्तव तथा (हाथ-पैर आदि अङ्गों के) मलों से, गर (संयोगज विष), दूषीविष आदि (दूषित जल, सविष माला, तृण आदि) से बढ़े हुए वातादि दोष रक्त के साथ कोष्ठ में पहुँच कर विकृत दन कर शोष, मूर्च्छा एवं भ्रम के साथ तीनों दोषों के लक्षण वाले उदर रोग को उत्पन्न करते हैं। यह उदर जल्दी पकने वाला और अति कष्टदायक होता है, शीतल पदार्थों एवं वायु से और बादल आने पर अतिशय पीड़ा करता है ॥ २०-२१ ॥

वक्तव्य—'स्त्री' शब्द विवेकरहित मनुष्यों के लिये है। चूंकि स्त्रियां प्रायः अविवेक युक्त होती हैं।

प्लीहोदर—

अत्याशितस्य सङ्क्षोभाद्यानयानादिचेष्टितैः ॥ २२ ॥
अतिव्यवायकर्माध्ववमनव्याधिकर्शनैः ।
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानाद्विवर्द्धते ॥२३॥
शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्द्धयेत् ।
सोऽष्ठीलेवातिकठिनः प्राक्ततः कूर्मपृष्ठवत् ॥ २४ ॥
क्रमेण वर्द्धमानश्च कुक्षावुदरमावहेत् ।
श्वासकासपिपासाऽऽस्यवैरस्याध्मानरुग्ज्वरैः ॥ २५ ॥
पाण्डुत्वमूर्च्छाच्छर्दिभिर्दाहमोहैश्च संयुतम् ।
अरुणाभं विवर्णं वा नीलहारिद्रराजिमत् ॥ २६ ॥

प्लीहोदर—बहुत अधिक भोजन करके सवारी आदि की चेष्टा के कारण विक्षोभ होने से, मैथुन, चेष्टा, मुसाफिरी, वमन आदि के अधिक सेवन से तथा रोग से कृश होने पर वाम पार्श्व में आश्रित प्लीहा स्थान से च्युत होकर बढ़ जाती है अथवा रसादि धातुओं से बढ़ा हुआ रक्त प्लीहा को बढ़ाता है। इससे प्रथम वह प्लीहा अष्ठीला की भाँति अति अतिकठिन होती है, पीछे कछुए की पीठ की भाँति हो जाती है और क्रमशः बढ़ती हुई उदररोग करती है। इससे रोगी को श्वास, कास, प्यास, मुख की विरसता, आध्मान, ज्वर, पाण्डुपन, मूर्च्छा, वमन, दाह और मोह होता है, उदर अरुणवर्ण,

अनिश्चितवर्ण तथा नीली और हल्दी के समान रेखाओं से व्याप्त होता है ॥ २२-२६ ॥

वातादिज प्लीहोदर का लक्षण—

उदावर्तरुजानाहैर्मोहतृड्दहनज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥ २७ ॥

इस प्लीहोदर में उदावर्त्त, पीड़ा और आनाह से वायु को, मोह, प्यास, चलने और ज्वर से पित्त को तथा भारीपन, अरुचि और काठिन्य से कफ को जाने ॥ २७ ॥

यकृत् का लक्षण—

प्लीहवद्दक्षिणात्पार्श्वात् कुर्याद्यकृदपि च्युतम् ।

प्लीहा की भाँति दक्षिण पार्श्व से च्युत-यकृत् उदर को उत्पन्न करता है, अथवा अपने कारण से बढ़ा रक्त यकृत् को बढ़ा देता है और यह भी उदर रोग उत्पन्न करता है ।

बद्धोदर का लक्षण—

पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे ॥ २८ ॥
दुर्नामभिरुदावर्तैरन्यैर्वाऽन्त्रोपलेपिभिः ।
वर्चःपित्तकफान् रुद्ध्वा करोति कुपितोऽनिलः ॥२९॥
अपानो जठरं तेन स्युर्दाहज्वरतृट्क्षवाः ।
कासश्वासोरुसदनं शिरोहृन्नाभिपायुरुक् ॥ ३० ॥
मलसङ्गोऽरुचिश्छर्दिरुदरं मूढमारुतम् ।
स्थिरं नीलारुणसिराराजिनद्धमराजि वा ॥ ३१ ॥
नाभेरुपरि च प्रायो गोपुच्छाकृति जायते ।

बद्धोदर—पक्ष्म और बालों को अन्न के साथ खाने से गुदा के मार्ग बन्द हो जाने पर अथवा अर्शों से; उदावर्त्त से अथवा अन्य माष, तिल आदि से अंत्र के उपलिप्त हो जाने से गुदा का मार्ग बन्द होने से कुपित आपान वायु मल, पित्त और कफ को रोककर उदर रोग को करती है, इससे दाह, ज्वर, प्यास, छींक आना, कास, श्वास टांगों में शिथिलता, शिर, हृदय, नाभि और पायु में दर्द, मल का अवरोध, अरुचि और वमन होते हैं तथा उदर में से वायु बाहर आकर भीतर ही इधर-उधर घूमती है, उदर स्थिर एवं नील-अरुण सिराओं की रेखा से भरा अथवा बिना रेखा के होता है और नाभि से ऊपर प्रायः करके गाय के पूंछ के आकार का (ऊपर की ओर क्रमशः पतला) हो जाता है ॥ २८-३१ ॥

छिद्रोदर के लक्षण—

अस्थ्यादिशल्यैः सान्नैश्चेद् भुक्तैरत्यशनेन वा ॥३२॥
भिद्यते पच्यते वाऽन्त्रं तच्छिद्रैश्च स्रवन्बहिः ।
आम एव गुदादेति ततोऽल्पाल्पं सविड्रसः ॥ ३३ ॥
तुल्यः कुणपगन्धेन पिच्छिलः पीतलोहितः ।
शेषश्चापूर्य जठरं जठरं घोरमावहेत् ॥ ३४ ॥
वर्द्धयेत्तदधो नाभेराशु चैति जलात्मताम् ।
उद्रिक्तदोषरूपं च व्याप्तं च श्वासतृड्भ्रमैः ॥ ३५ ॥
छिद्रोदरमिदं प्राहुः परिस्रावीति चापरे ।

छिद्रोदर—भोजन के साथ खाए हुए अस्थि आदि शल्यों से अथवा अत्यधिक भोजन से आंत फट जाती है या पक जाती है। उसके छेदों से अपक्व आहार रस मल के साथ गुदा से थोड़ा-थोड़ा बाहर आता है। यह स्राव शव के समान गन्धवाला, पिच्छिल, पीला और लाल होता है। और जो स्राव बाहर आने से बच जाता है वह उदर में भरकर भयावक उदर रोग को उत्पन्न करता है। इनसे उदर नाभि से नीचे बढ़ता है तथा शीघ्र ही जलोदर में बदल जाता है। पढ़े हुए दोष के अनुरूप लक्षण तथा श्वास, प्यास और भ्रम इनसे व्याप्त इस उदर रोग को छिद्रोदर कहा है। दूसरे आचार्य इसे परिस्रावी उदर कहते हैं ॥ ३२-३५ ॥

जलोदर का लक्षण—

प्रवृत्तस्नेहपानादेः सहसाऽऽमाम्बुपायिनः ॥ ३६ ॥
अत्यम्बुपानान्मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा ।
रुद्ध्वाऽम्बुमार्गाननिलः कफश्च जलमूर्च्छितः ॥३७॥
वर्धयेतां तदेवाम्बु तत्स्थानादुदराश्रितौ ।
ततः स्यादुदरं तृष्णागुदस्रुतिरुजान्वितम् ॥ ३८ ॥
कासश्वासारुचियुतं नानावर्णसिराततम् ।
तोयपूर्णदृतिस्पर्शशब्दप्रक्षोभवेपथु ॥ ३९ ॥
दकोदरं महत्स्निग्धं स्थिरमावृत्तनाभि तत् ।

जलोदर—स्नेहपान आदि (वमन-विरेचनादि) कर्म जिसने आरम्भ किये हैं उसको सहसा अपक्व जलपान करने से, या मन्दाग्नि, क्षीण अथवा अतिकृश व्यक्ति के अधिक जल पीने से पुरुष के जलवहस्रोतों को वायु बन्द करके और जल से मिश्रित कफ उदर में आश्रित होकर ये दोनों ही जल के स्थान से उसी जल को बढ़ाते हैं। इससे उदर रोग होता है। इस उदर रोग में प्यास, गुदा से स्राव तथा पीड़ा होती है। रोगी को कास, श्वास, अरुचि रहती है, उदर नानावर्ण की सिराओं से व्याप्त होता है। जल से भरी मशक के समान स्पर्श, शब्द, क्षोभ और कम्पन होता है। यह दकोदर (जलोदर) कहलाता है तथा औरों की अपेक्षा बड़ा, स्निग्ध, स्थिर और (उलटी हुई) चारों ओर से गोल नाभि वाला होता है ॥ ३६-३९ ॥

वक्तव्य—जलवहस्रोत—'उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च। प्रदुष्टानां तु खलु एषामिदं विशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा—जिह्वाताल्वोष्ठक्लोमशोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥' (चरक वि. अ. ५।८।)

सभी उदररोगों में जलोत्पत्ति—

उपेक्षया च सर्वेषु दोषाः स्वस्थानतश्च्युताः ॥ ४० ॥

पाकाद् द्रवा द्रवीकुर्युः सन्धिस्रोतोमुखान्यपि ।
स्वेदश्च बाह्यस्रोतःसु विहतस्तिर्यगास्थितः ॥ ४१ ॥
तदेवोदकमाप्याय्य पिच्छां कुर्यात्तदा भवेत् ।
गुरूदरं स्थिरं वृत्तमाहतं च न शब्दवत् ॥ ४२ ॥
मृदु व्यपेतराजीकं नाभ्यां स्पृष्टं च सर्पति ।
तदनूदकजन्मास्मिन्कुक्षिवृद्धिस्ततोऽधिकम् ॥ ४३ ॥
सिरान्तर्धानमुदकजठरोक्तं च लक्षणम् ।

चिकित्सा न करने पर भी उदररोगों में अपने स्थान से च्युत हुए वातादि दोष, पाक होने पर द्रव बनकर सन्धि तथा स्रोतों के मुखों को भी द्रवीभूत कर देते हैं। तथा बाह्य स्रोतों में रुका हुआ स्वेद तिर्यक् गति से आकर उसी जल को बढ़ाकर पिच्छा उत्पन्न करता है। तब उदर भारी, निश्चल, गोल हो जाता है तथा ठकोरने पर शब्द नहीं करता। उदर कोमल, राजिरहित, नाभि पर दबाने से फैलता है। इसके पीछे इसमें जल की उत्पत्ति होती है, फिर उदर अधिक बढ़ता है, सिरायें छिप जाती हैं और जलोदर के लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं ॥ ४०-४३ ॥

उदररोग का साध्यासाध्यत्व—

वातपित्तकफप्लीहसन्निपातोदकोदरम् ॥ ४४ ॥
कृच्छ्रं यथोत्तरं पक्षात्परं प्रायोऽपरे हतः ।

साध्यासाध्यता—वातज, पित्तज, कफज, प्लीहाजन्य, सन्निपातज और दकोदर-ये उत्तरोत्तर कष्टसाध्य हैं। शेष दो बद्धोदर और क्षतोदर प्रायः पन्द्रह दिन के उपरान्त मारते हैं।

सब जातसलिल मारक—

सर्वं च जातसलिलं रिष्टोक्तोपद्रवान्वितम् ॥ ४५ ॥

जिनमें जल उत्पन्न हो जाय और रिष्टाध्याय में कहे हुए उपद्रव से युक्त ये सब उदर रोग असाध्य होते हैं ॥ ४५ ॥

उदररोग की जन्म से ही कष्टसाध्यता—

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम् ।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥ ४६ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने
उदरनिदानं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

* * *

सब उदर रोग जन्म (स्वभाव) से ही प्रायः करके कष्टसाध्य होते हैं। बलवान् पुरुष में जल उत्पन्न न होने तक नूतन उदर रोग यत्न से साध्य होते हैं ॥ ४६ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदान स्थान का उदररोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातः पाण्डुरोगशोफविसर्पनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे पाण्डुरोग शोफ-विसर्पनिदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

पाण्डुरोग के लक्षण—

पित्तप्रधानाः कुपिता यथोक्तैः कोपनैर्मलाः ।
तत्रानिलेन बलिना क्षिप्तं पित्तं हृदि स्थितम् ॥ १ ॥
धमनीर्दश सम्प्राप्य व्याप्नुवत्सकलां तनुम् ।
श्लेष्मत्वग्रक्तमांसानि प्रदूष्यान्तरमाश्रितम् ॥ २ ॥
त्वङ्मांसयोस्तत्कुरुते त्वचि वर्णान् पृथग्विधान् ।
पाण्डुहारिद्रहरितान् पाण्डुत्वं तेषु चाधिकम् ॥ ३ ॥
यतोऽतः पाण्डुरित्युक्तः स रोगः—

सर्व रोग निदान में कहे कारणों से कुपित हुए पित्तप्रधान वातादि दोष पाण्डुरोग के कारण होते हैं। इस रोग में हृदय में स्थित पित्त बलवान् वायु के द्वारा प्रेरित होकर दस धमनियों में पहुँच कर सम्पूर्ण शरीर में फैलता हुआ त्वचा और मांस के बीच में स्थित पित्त कफ, त्वचा, रक्त और मांस को दूषित करके त्वचा में नाना प्रकार के पाण्डु, हारिद्र और हरित वर्णों को उत्पन्न करता है; चूंकि इनमें पाण्डुवर्ण अधिक होता है, इसलिए इस रोग को पाण्डुरोग कहते हैं ॥ १-३ ॥

पाण्डुरोगजन्य विकार—

—तेन गौरवम् ।
धातूनां स्याच्च शैथिल्यमोजसश्च गुणक्षयः ॥ ४ ॥
ततोऽल्परक्तमेदस्को निःसारः स्याच्छ्लथेन्द्रियः ।
मृद्यमानैरिवाङ्गैर्ना द्रवता हृदयेन च ॥ ५ ॥
शूनाक्षिकूटः सदनः कोपनः ष्ठीवनोऽल्पवाक् ।
अन्नद्विट् शिशिरद्वेषी शीर्णरोमा हतानलः ॥ ६ ॥
सन्नसक्थो ज्वरी श्वासी कर्णक्ष्वेडी भ्रमी श्रमी ।

इस पाण्डु रोग से रसादि धातुओं में गौरव एवं शिथिलता तथा ओज के (मन्द आदि दस) गुणों का क्षय हो जाता है तथा मनुष्य में रक्त और मेद की न्यूनता दुर्बलता, इन्द्रियों में शिथिलता होती है तथा अवयव मसले हुए से प्रतीत होते हैं, हृदय जोर से चलता है, आंखों के नीचे शोथ होता है, रोगी अङ्गसाद तथा क्रोध से युक्त होता है, अधिक थूकता है, कम बोलता है, अन्न तथा ठण्डक से द्वेष करता है, रोम गिरने लगते हैं, भूख नष्ट हो जाती है, टांगें शिथिल रहती हैं, तथा ज्वर, श्वास, कानों में आवाज, भ्रम और थकान रहता है ॥ ४-६ ॥

वक्तव्य—मेद—'मेदो नाम मान्द्रसर्पिस्तुल्यः स्नेहधातुः शरीरस्य । तस्य स्थानमुदरान्तः, त्वचामधश्च । वसा तु मांसान्तरानुप्रविष्टः स्नेहस्तस्या मेदस्यनुप्रवेशस्तुल्योपादान

त्वात् । मज्जा नाम अस्थिमध्यगतः स्नेहः । स द्विविधः-पीतो रक्तश्च । तत्र पीतो नलकास्थनामन्तः । रक्तस्त्वितरास्थिषु प्रान्तभागेषु च नलकास्थनाम् । सोऽयं स्थूलस्वरूपेण मेदसोऽभिन्नोऽपि कर्मवैशेष्यात् पृथगेव धातुः ॥ (संग्रह शा. अ. ५.) अस्थियों में रक्त कण बनते हैं, वह विचार इसमें समाविष्ट है।

पाण्डु रोग के पांच भेद—

स पञ्चधा पृथग्दोषैः समस्तैर्मृत्तिकाऽदनात् ॥ ७ ॥

यह पाण्डुरोग पांच प्रकार का है—वातादि पृथक् दोषों से तीन, सन्निपात से एक और मिट्टी के खाने से एक ॥ ७ ॥

पाण्डु रोग का पूर्वरूप—

प्राग्रूपमस्य हृदयस्पन्दनं रूक्षता त्वचि ।
अरुचिः पीतमूत्रत्वं स्वेदाभावोऽल्पवह्निता ॥ ८ ॥
सादः श्रमः—

पूर्वरूप—पाण्डुरोग के पूर्वरूप में हृदय में धड़कन, त्वचा में रूक्षता, अरुचि, मूत्र में पीलापन, पसीने का अभाव; मन्दाग्नि, शिथिलता और श्रम होता है ॥ ८ ॥

वातज पाण्डुरोग—

—अनिलात्तत्र गात्ररुक्तोदकम्पनम् ।
कृष्णरूक्षारुणसिरानखविण्मूत्रनेत्रता ॥ ९ ॥
शोफानाहास्यवैरस्यविट्शोषाः पार्श्वमूर्धरुक् ।

वातिक पाण्डुरोग में शरीर में दर्द, तोद, कम्पन, सिरा, नख, मल, मूत्र, और आंख का काला, रूक्ष और अरुण वर्ण होना, शोफ, आनाह, मुख की विरसता, मल की शुष्कता, तथा पार्श्व और शिर में दर्द होता है ॥ ९ ॥

पित्तज पाण्डुरोग—

पित्ताद्धरितपीताभसिरादित्वं ज्वरस्तमः ॥ १० ॥
तृट्स्वेदमूर्च्छाशीतेच्छा दौर्गन्ध्यं कटुवक्त्रता ।
वर्चोभेदोऽम्लको दाहः—

पित्त के कारण सिरा आदि हरी पीली, ज्वर, अन्धकार, प्यास, पसीना, मूर्च्छा, शीत की चाह, दुर्गन्धता, मुख की कटुता, मल का भेद (अतिसार), अम्लता और दाह होता है।

कफज तथा सन्निपातज पाण्डुरोग—

कफाच्छुक्लसिरादिता ॥ ११ ॥
तन्द्रा लवणवक्त्रत्वं रोमहर्षः स्वरक्षयः ।
कासश्छर्दिश्च, निचयान्मिश्रलिङ्गोऽतिदुःसहः ॥१२॥

कफ के कारण सिरा आदि की शुक्लता, तन्द्रा, मुख में नमकीनपन, रोमहर्ष, स्वर का क्षय, कास और वमन होता है।

सन्निपातज में तीनों दोषों के लक्षण मिले रहते हैं, रोग अतिघोर होता है ॥ ११-१२ ॥

मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग—

मृत्कषायाऽनिलं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ।
दूषयित्वा रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तं विरूक्ष्य च ॥१३॥
स्रोतांस्यपक्वैवापूर्य कुर्याद्रुद्ध्वा च पूर्ववत् ।
पाण्डुरोगं ततः शूननाभिपादास्यमेहनः ॥ १४ ॥
पुरीषं कृमिमन्मुञ्चेद्भिन्नं सासृक्कफं नरः ।

कषाय मिट्टी वायु को, ऊषर मिट्टी पित्त को, मधुर मिट्टी कफ को दूषित करती हुई रसादि धातुओं को दूषित करके रूक्षता के कारण खाये हुए अन्नादि को भी रूक्ष करके अपक्वावस्था में ही स्रोतों को भरकर और उन्हें रोककर पूर्व (दोषज पाण्ड रोग) की भांति पाण्डु रोग उत्पन्न करती है। इससे नाभि, पैर, मुख और मेहन में सूजन आ जाती है, रोगी कृमि, रक्त और कफ से युक्त तथा पतले मल का त्याग करता है ॥ १३-१४ ॥

कामलारोग की उत्पत्ति—

यः पाण्डुरोगी सेवेत पित्तलं तस्य कामलाम् ॥१५॥
कोष्ठशाखाश्रयां पित्तं दग्ध्वाऽसृङ्मांसमावहेत् ।
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वङ्नखवक्त्रशकृत्तया ॥ १६ ॥
दाहाविपाकतृष्णावान् भेकाभो दुर्बलेन्द्रियः ।

कामला—जो पाण्डु रोगी (मरिच, कौंजी आदि) पित्तकारक वस्तुओं का सेवन करता है, उसका पित्त (प्रकुपित होकर) रक्त और मांस को जलाकर (या रंगकर) कोष्ठ (महास्रोत) एवं शाखा (त्वचा और रक्तादि धातु) में आश्रित कामला को उत्पन्न करता है। इसमें नेत्र, मूत्र, त्वचा नख, मुख और मल हारिद्र वर्ण होते हैं, रोगी को दाह अविपाक और तृष्णा रहती है, शरीर का वर्ण मेंढक की भांति हो जाता है और इन्द्रियाँ दुर्बल होती हैं ॥ १५-१६ ॥

पाण्डु के बिना भी कामला की उत्पत्ति—

भवेत्पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च ॥१७॥

पाण्डु रोग के बिना भी पित्तप्रधान मनुष्य में पित्तकारक वस्तुओं के सेवन से कामला रोग हो जाता है ॥ १७ ॥

उपेक्षा से कुम्भकामला होना—

उपेक्षया च शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला ।

उपेक्षा करने पर (चिकित्सा न करने पर) वही कामला शोथ-बहुल होने पर कुम्भकामला कहा जाता है, यह कष्टसाध्य है।

वक्तव्य—कामला के दो प्रकार हैं, एक कोष्ठाश्रय, दूसरा शाखाश्रय। उपेक्षा करने से कोष्ठाश्रय कामला कुम्भकामला में बदल जाता है—कुम्भ (घड़ा) का आकार अन्दर से खोखला होने के कारण कोष्ठ से मिलता है, इसलिए इससे कोष्ठकामला ही उपेक्षा करने में कुम्भकामला होता है (कुम्भकामला-कोष्ठाश्रया तोडरः)।[1]

---

[1] इनके अतिरिक्त पित्तावरोधजन्य भी एक कामला होता है, जिसका उल्लेख चरक ने किया है—'तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली ! श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तं कफपित्तहरैर्जयेत ॥'
(च० चि० अ० १६)

हलीमक के लक्षण—

हरितश्यावपीतत्वं पाण्डुरोगे यदा भवेत् ॥ १८ ॥
वातपित्ताद् भ्रमस्तृष्णा स्त्रीष्वहर्षो मृदुर्ज्वरः ।
तन्द्राबलानलभ्रंशो लोढरं तं हलीमकम् ॥ १९ ॥
अलसं चेति शंसन्ति—

हलीमक—पाण्डुरोग में जब वायु और पित्त के कारण हरा, श्याव या पीतवर्ण हो जावे तथा भ्रम, प्यास, स्त्रियों में अनुत्साह, मृदुज्वर, तन्द्रा, बलनाश, अग्निनाश हो तो इसको लोढर, हलीमक और अलस कहते हैं ॥ १८-१९ ॥

शोफ—

--तेषां पूर्वमुपद्रवाः ।
शोफप्रधानाः कथिताः स एवातो निगद्यते ॥ २० ॥

क्योंकि पाण्डुरोगों के उपद्रवों में शोफ प्रधान होता है अतः अब उस (शोफरोग) का वर्णन कर रहे हैं ॥ २० ॥

शोफरोग का निदान—

पित्तरक्तकफान्वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिःसिराः ।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम् ॥ २१ ॥
उत्सेधं संहतं शोफं तमाहुर्निचयादतः ।
सर्वं—

दूषित वायु कुपित हुए पित्त, रक्त और कफ को शरीर की बाह्य सिराओं में ले जाकर इन्हीं पित्तादि से रुककर त्वचा और मांस में आश्रित, ठोस उभाड़ को उत्पन्न करते हैं उसको शोफ कहते हैं। इसलिए सब शोफ त्रिदोषजन्य कहे जाते हैं ॥ २१ ॥

शोफ के नव प्रकार—

हेतुविशेषैस्तु रूपभेदान्नवात्मकम् ॥ २२ ॥
दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि ।

(त्रिदोषज और एक होते हुए भी) कारण और लक्षणों की भिन्नता से शोफ नव प्रकार का होता है, यथा—वातादि दोषों से पृथक् तीन, दो दोषों के संसर्ग से तीन और सन्निपात, अभिघात तथा विष से एक एक ॥ २२ ॥

शोफ का द्वैविध्यादि—

द्विधा वा निजमागन्तुं सर्वाङ्गैकाङ्गजं च तम् ॥ २३ ॥
पृथून्नतग्रथितताविशेषैश्च त्रिधा विदुः ।

अथवा शोफ दो प्रकार का है-निज और आगन्तुक भेद से तथा सर्वांग शोफ और एकाङ्ग शोफ भेद से। अथवा पृथु (विस्तीर्ण), उन्नत और ग्रथित भेद से शोफ तीन प्रकार का होता है ॥ २३ ॥

शोफ के सामान्य हेतु—

सामान्यहेतुः शोफानां दोषजानां विशेषतः ॥ २४ ॥
व्याधिकर्मोपवासादिक्षीणस्य भजतो द्रुतम् ।
अतिमात्रमथान्यस्य गुर्वम्लस्निग्धशीतलम् ॥ २५ ॥
लवणक्षारतीक्ष्णोष्णशाकाम्बु स्वप्नजागरम् ।
मृद्ग्राम्यमांसमल्लूरमजीर्णश्रममैथुनम् ॥ २६ ॥
पदातेर्मार्गगमनं यानेन क्षोभिणाऽपि वा ।
श्वासकासातिसारार्शोजठरप्रदरज्वराः ॥ २७ ॥
विसूच्यलसकच्छर्दिगर्भवीसर्पपाण्डवः ।
अन्ये च मिथ्योपक्रान्तास्तैर्दोषा वक्षसि स्थिताः ॥
ऊर्ध्वं शोफमधो बस्तौ मध्ये कुर्वन्ति मध्यगाः ।
सर्वाङ्गगाः सर्वगतं प्रत्यङ्गेषु तदाश्रयाः ॥ २९ ॥

दोषजन्य शोफों का सामान्य कारण—विशेष करके रोग, उपवास, पञ्चकर्म आदि से क्षीण शरीर वाले पुरुष के सहसा अथवा अतिमात्रा में गुरु, अम्ल, स्निग्ध एवं शीतल भोजन करने से, दिन में सोने और रात में जागने से, मिट्टी, ग्राम्य मांस तथा शुष्कमांस के भोजन से, अजीर्ण अवस्था में श्रम या मैथुन करने से, पैदल मुसाफिरी अथवा विक्षोभ करने वाली सवारी द्वारा यात्रा करने से, श्वास, कास, अतिसार, अर्श, उदर, प्रदर, ज्वर, विसूची, अलसक, वमन, गर्भ, वीसर्प, पाण्डु, ये तथा अन्य जिन रोगों की ठीक विधि से चिकित्सा नहीं की गयी हो, उनसे प्रकुपित दोष छाती में स्थित होकर ऊपर में शोफ करते हैं, वस्ति में स्थित होकर नीचे के भाग में और मध्य भाग में स्थित होकर मध्य भाग में शोफ करते हैं। सब अङ्गों में स्थित दोष सर्वगत शोफ करते हैं। प्रत्यंग में स्थित दोष प्रत्यंग में शोफ करते हैं ॥२९॥

शोफ का पूर्वरूप—

तत्पूर्वरूपं दवथुः सिराऽऽयामोऽङ्गगौरवम् ।

शोफ के **पूर्वरूप**—दवथु (नेत्रादि में तीव्र ऊष्मा) और सिराओं में खिंचाव तथा तथा अंगों में भारीपन होते हैं।

वक्तव्य—दवथु-'दवथुश्चक्षुरादिभ्यस्तीव्रमूष्मप्रवर्त्तनम् ।'

वातज शोफ—

वाताच्छोफश्चलो रूक्षः खररोमाऽरुणासितः ॥ ३० ॥
सङ्कोचस्पन्दहर्षार्तितोदभेदप्रसुप्तिमान् ।
क्षिप्रोत्थानशमः शीघ्रमुन्नमेत्पीडितस्तनुः ॥ ३१ ॥
स्निग्धोष्णमर्दनैः शाम्येद्रात्रावल्पो दिवा महान् ।
त्वक् च सर्षपलिप्तेव तस्मिंश्चिमिचिमायते ॥ ३२ ॥

वातजन्य शोफ चल (अस्थिर), रूक्ष, कर्कशरोम युक्त, अरुण, असित (कृष्ण), संकोच, स्पन्दन, प्रहर्ष, पीड़ा, तोद, भेद या सुप्ति से युक्त, शीघ्र उठने वाला, दबाने पर शीघ्र पुनः उभड़ने वाला, पतली त्वचा वाला, स्निग्ध, उष्ण होता है और मर्दन क्रिया से शान्त होता है, रात्रि में थोड़ा और दिन में अधिक होता है और त्वचा में सरसों से लेप किये हुए की भांति चिमचिमाहट होती है ॥ ३०-३२ ॥

पित्तज शोफ—

पीतरक्तासिताभासः पित्तादाताम्ररोमकृत् ।
शीघ्रानुसारप्रशमो मध्ये प्राग्जायते तनुः ॥ ३३ ॥

सतृड्दाहज्वरस्वेददवक्लेदमदभ्रमः ।
शीताभिलाषी विड्भेदी गन्धी स्पर्शासहो मृदुः ॥३४॥

पित्त के कारण शोफ पीला, लाल, काली झाँई का, रोम को ताम्रवर्ण करने वाला, जल्दी ही फैलने और शान्त होने वाला, पहले मध्य शरीर में होता है फिर सारे शरीर में फैलता है, और पतला होता है, रोगी को प्यास, दाह, ज्वर, स्वेद, दव, क्लेद, मद और भ्रम रहता है, रोगी शीत की चाह करने वाला, अतीसार तथा गन्ध युक्त होता है तथा शोथ स्पर्श को न सहन करने वाला और मृदु होता है ॥३४॥

कफज शोफ—

कण्डूमान् पाण्डुरोमत्वक्कठिनः शीतलो गुरुः ।
स्निग्धः श्लक्ष्णः स्थिरः स्त्यानो निद्राच्छर्द्यग्निसादकृत्॥
आक्रान्तो नोन्नमेत्कृच्छ्रशमजन्मा निशाबलः ।
स्रवेन्नासृक् चिरात्पिच्छां कुशशस्त्रादिविक्षतः ॥३६॥
स्पर्शोष्णकाङ्क्षी च कफात्—

कफ के कारण शोफ पाण्डु वर्ण के रोम तथा त्वचा वाला, कठिन, शीतल, गुरु, स्निग्ध, चिकना, स्थिर, स्त्यान (घन), निद्रा, वमन और अग्निमान्द्य को करने वाला, दबाने पर (वायु के शोफ की भाँति) फिर उठता नहीं, कठिनाई से शान्त होता है और कठिनाई से जम्मता है तथा रात्रि में बलवान रहता है । कुशा, शस्त्र आदि से क्षत होने पर इसमें से रक्त नहीं निकलता; अपि तु कुछ देर में पिच्छा बहती है । रोगी को उष्ण स्पर्श की चाह रहती है ॥ ३५–३६ ॥

द्वन्द्वज तथा सन्निपातज शोफ—

—यथास्वं द्वन्द्वजास्त्रयः ।
सङ्कराद्धेतुलिङ्गानां निचयान्निचयात्मकः ॥ ३७ ॥

हेतु और लक्षण के संसर्ग से द्वन्द्वज शोथ तीन होते हैं, इनमें उन दोषों के अपने-अपने लक्षण रहते हैं। दोषों के सन्निपात से तीनों दोषों के लक्षणों वाला शोफ होता है ॥३७॥

अभिघातज शोफ—

अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः ।
हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः ॥ ३८ ॥
रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।
भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः ॥ ३९ ॥

अभिघातजन्य शोफ शस्त्र आदि के अभिघात से, छेदन, भेदन, क्षत आदि हो जाने से, ठण्डी हवा से (अथवा बर्फ से, वायु से), समुद्र की वायु से, भिलावे के रस से और कौंच के रुंआटे के लगाने से होता है और यह फैलने वाला होता है, इसमें बहुत उष्णता तथा लाल वर्ण की चमक रहती है और प्रायः करके पित्त के लक्षण रहते हैं ॥ ३८–३९ ॥

विषज शोफ—

विषजः सविषप्राणि परिसर्पणमूत्रणात् ।
दंष्ट्रादन्तनखाघातादविषप्राणिनामपि ॥ ४० ॥
विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसङ्करात् ।
विषवृक्षानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात् ॥ ४१ ॥
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाहरुजाकरः ।

विषजन्य शोफ—विषैले प्राणी के शरीर पर चलने या मूत्र करने से, विषरहित प्राणियों के भी दंष्ट्रा (दाढ़), दाँत या नख लगने से, मल, मूत्र, शुक्र से युक्त मलिन वस्त्र के स्पर्श से, विषैले वृक्ष या विषैली वायु के स्पर्श से, संयोगज विष के छिड़कने से, मृदु, अस्थिर, अवलम्बी (अधोगमनशील), जल्दी ही दाह एवं पीडाकारक शोफ होता है ॥ ४०–४१ ॥

शोफ की साध्यासाध्यता—

नवोऽनुपद्रवः शोफः साध्योऽसाध्यः पुरेरितः ॥४२॥

अचिरोत्पन्न और उपद्रवरहित, शोफ साध्य है असाध्य शोफ को पहिले ही विकृतिविज्ञानीय अध्याय में ('अनेकोपद्रवयुतः पादाभ्यामि' त्यादि से) कह दिया है ॥ ४२ ॥

विसर्प का निदान—

स्याद्विसर्पोऽभिघातान्तैर्दोषैर्दूष्यैश्च शोफवत् ।

विसर्प भी शोफ की भाँति वातादि पृथक् दोषों से, उनके संसर्ग से, सन्निपात से और अभिघात से तथा पित्त, रक्त और कफ इन दूष्यों से होता है ।

विसर्प के अधिष्ठान—

त्र्यधिष्ठानं च तं प्राहुर्बाह्यान्तरुभयाश्रयात् ॥ ४३ ॥
यथोत्तरं च दुःसाध्याः—

विसर्प के तीन अधिष्ठान हैं—बाह्य, आभ्यन्तर और दोनों में आश्रित और ये उत्तरोत्तर कष्टसाध्य हैं ॥ ४३ ॥

वक्तव्य—'रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ॥'

विसर्प में दोषों का फैलना—

—तत्र दोषा यथायथम् ।
प्रकोपणैः प्रकुपिता विशेषेण विदाहिभिः ॥ ४४ ॥
देहे शीघ्रं विसर्पन्ति तेऽन्तरन्तःस्थिता बहिः ।
बहिःस्था द्वितये द्विस्थाः—

विसर्प में वातादि दोष अपने-अपने प्रकोपक कारणों से विशेषकर विदाही अन्न से कुपित होकर शरीर में जल्दी फैलते हैं । ये दोष अन्दर में स्थित होकर अन्तर्विसर्प को बाहर में स्थित होकर बाह्य विसर्प को और दोनों में स्थित होकर दोनों स्थान के विसर्प को उत्पन्न करते हैं ॥ ४४ ॥

अन्तराश्रित विसर्प—

—विद्यात्तत्रान्तराश्रयम् ॥ ४५ ॥
मर्मोपतापात्सम्मोहादयनानां विघट्टनात् ।
तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् ॥ ४६ ॥
आशु चाग्निबलभ्रंशादतो बाह्यं विपर्ययात् ।

इनमें अन्तर्विसर्प को हृदय आदि मर्मों के दुःख से,

मूर्च्छा, से, कान-नाक आदि अयनों (इन्द्रियों) के विघट्टन (चालन या रगड़) से, प्यास के अधिक लगने से, मल-मूत्र आदि वेगों के असम्यक् प्रवर्त्तन से, तुरन्त ही अग्नि और बल के नाश होने से पहिचाने। बाह्य विसर्प को इन लक्षणों के विपरीत होने से पहिचाने ॥ ४५-४६ ॥

वातज विसर्प—

तत्र वातात्परीसर्पो वातज्वरसमव्यथः ॥ ४७ ॥
शोफस्फुरणनिस्तोदभेदायामार्तिहर्षवान् ।

वातज विसर्प में वातज्वर के समान पीड़ायें रहती हैं तथा शोफ, स्फुरण, तोद, भेद, आयाम, पीड़ा और हर्ष (रोमांच) रहता है ॥ ४७ ॥

पित्तज विसर्प—

पित्ताद् द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥ ४८ ॥

पित्त के कारण विसर्प जल्दी से बढ़ता है, इसमें पित्तज ज्वर के लक्षण रहते हैं और यह बहुत लाल होता है ॥ ४८ ॥

कफज विसर्प—

कफात्कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक् ।

कफ के कारण विसर्प कण्डूयुक्त, स्निग्ध एवं कफज ज्वर के समान वेदना वाला होता है।

उपेक्षित विसर्प से व्रणोत्पत्ति—

स्वदोषलिङ्गैश्चीयन्ते सर्वे स्फोटैरुपेक्षिताः ॥ ४९ ॥
ते पक्वभिन्नाः स्वं स्वं च बिभ्रति व्रणलक्षणम् ।

उपेक्षा करने से सब विसर्प अपने-अपने दोष के लक्षणों वाली पिटिकाओं (छालों) से भर जाते हैं और ये पककर फूटने से अपने-अपने दोष के अनुसार व्रण के लक्षणों को धारण करते हैं ॥ ४९ ॥

वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छातीसारतृड्भ्रमैः ॥ ५० ॥
अस्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः ।
करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ॥ ५१ ॥
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत्स सः ।
शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाऽऽशु च चीयते ॥५२॥
अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद् द्रुतं च सः ।
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ॥ ५३ ॥
व्यथेताङ्गं हरेत्संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ।
हिध्मां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना ॥ ५४ ॥
क्वचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमिशय्यासनादिषु ।
चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनोदेहश्रमोद्भवाम् ॥ ५५ ॥
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते ।

द्वन्द्वज विसर्प—वात-पित्तके कारण ज्वर, वमन, मूर्च्छा, अतीसार, प्यास, चक्कर आना, अस्थियों का भेदना, अग्निमान्द्य, तमक और अरोचक होते हैं तथा सारा अङ्ग जलते हुए अङ्गारों से भरा प्रतीत होता है। शरीर के जिस-जिस भाग पर विसर्प फैलता जाता है, वह अङ्ग बुझे हुए अङ्गारों की भाँति काला, नील तथा लाल हो जाता है और जल्दी ही अग्नि से जलने से उत्पन्न छालों की भाँति फफोला से भर जाता है। शीघ्रगामी होने से वह विसर्प जल्दी ही मर्मों में फैल जाता है। इससे वायु अतिबलवान् बनकर अङ्गों को पीड़ित करती है, संज्ञा और निद्रा को नष्ट कर देती है, श्वास को बढ़ाती है तथा हिक्का को करती है ऐसी अवस्था में पहुँचा मनुष्य बेचैनी से पीड़ित होकर भूमि या शय्या आदि पर लेटने, बैठने आदि किसी प्रकार से शांति का अनुभव नहीं करता। इस प्रकार चेष्टा करने से थक कर दुःखी हुआ रोगी मन और शरीर के थकान के कारण ऐसी निद्रा को प्राप्त करता है जिससे जगाना कठिन है (मर जाता है)। यह अग्निवीसर्प कहा जाता है ॥ ५०-५५ ॥

ग्रन्थिविसर्प—

कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम् ॥ ५६ ॥
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्सिरास्नायुमांसगम् ।
दूषयित्वा च दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम् ॥ ५७ ॥
ग्रन्थीनां कुरुते मालां रक्तानां तीव्ररुग्ज्वराम् ।
श्वासकासातिसारास्यशोषहिध्मावमिभ्रमैः ॥ ५८ ॥
मोहवैवर्ण्यमूर्च्छाङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युताम् ।
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफमारुतकोपजः ॥ ५९ ॥

कफ से रुकी हुई वायु इस कफ को बहुत भागों में तोड़ कर तथा बढे हुए रक्त वाले पुरुष में त्वचा, शिरा, स्नायु और मांसगामी रक्त को दूषित करके लम्बी, अणु, गोल, स्थूल और कर्कशरूपी ग्रन्थियों की माला को करती है। यह माला लालवर्ण की, अतिशय वेदना और ज्वर, श्वास, कास, अतीसार, मुखशोष, हिक्का, वमन, भ्रम, मोह, विवर्णता, मूर्च्छा, अङ्गों का टूटना और अग्निमान्द्य से युक्त होती है; इसको ग्रन्थिविसर्प कहते हैं और यह रोग कफ तथा वायु के प्रकोप से होता है ॥ ५६-५९ ॥

कर्दमविसर्प—

कफपित्ताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रातन्द्राशिरोरुजः ।
अङ्गावसादविक्षेपप्रलापारोचकभ्रमाः ॥ ६० ॥
मूर्च्छाऽग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम् ।
आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति ॥ ६१ ॥
प्रायेणामाशये गृह्णन्नेकदेशं न चातिरुक् ।
पिटकैरवकीर्णोऽतिपीतलोहितपाण्डुरैः ॥ ६२ ॥
मेचकाभोऽसितः स्निग्धो मलिनः शोफवान् गुरुः ।
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते ॥६३॥
पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुसिरागणः ।
शवगन्धिश्च वीसर्पं कर्दमाख्यमुशन्ति तम् ॥ ६४ ॥

कफ-पित्त से ज्वर, जकड़ना, निद्रा, तन्द्रा, शिर में वेदना, अङ्गों में शिथिलता, विक्षेप, प्रलाप, अरोचक, भ्रम, मूर्च्छा,

अग्निमान्द्य, अस्थियों में पीड़ा, प्यास, इन्द्रियों में भारीपन, मल में आम का आना तथा स्रोतों का कफ से भरना ये लक्षण होते हैं। यह विसर्प अवयव के एक भाग विशेषतः—कफ-पित्त के आमाशय में रहने से प्रायः करके आमाशय को पकड़कर फैलता है, इसमें बहुत पीड़ा नहीं होती, यह अतिशय पीली या लाल अथवा पाण्डुवर्ण पिटिकाओं से भरा होता है तथा नील, कृष्णवर्ण-काला, अत्यधिक चिकना, मैला, शोफयुक्त, भारी, अन्तः निगूढपाकी, उष्णिमा वाला होता है और छूने पर फटकर क्लेदयुक्त होता है; पङ्क (कीचड़) की भांति गल जाता है, सिरा-स्नायु-समूह स्पष्ट दीखने लगते हैं; इसमें मुर्दे की सी गन्ध आती है। इसको कर्दमविसर्प कहते हैं।

सन्निपातज विसर्प—

सर्वजो लक्षणैः सर्वैः सर्वधात्वतिसर्पणः ।

सन्निपातजन्य विसर्प में सब दोषों के लक्षण रहते हैं, और सब धातुओं में अधिकतर फैलता है।

आगन्तु विसर्प के हेतु—

बाह्यहेतोः क्षतात्क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥ ६५ ॥
विसर्पं मारुतः कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्चितम् ।
स्फोटैः शोफज्वररुजादाहाढ्यं श्यावलोहितम् ॥६६॥

आगन्तु विसर्प—बाह्य कारण से (क्षत के कारण) कुपित वायु पित्त के साथ रक्त को प्रेरित करके कुलथी के सदृश पिटकाओं से भरे विसर्प को उत्पन्न करती है। इसमें शोफ, ज्वर, पीड़ा और दाह की अधिकता रहती है और स्थान कृष्ण तथा लाल वर्ण होता है ॥ ६६ ॥

विसर्प की साध्यासाध्यता—

पृथग्दोषैस्त्रयः साध्या द्वन्द्वजाश्चानुपद्रवाः ।
असाध्यौ क्षतसर्वोत्थौ सर्वे चाक्रान्तमर्मकाः ॥ ६७ ॥
शीर्णस्नायुसिरामांसाः प्रक्लिन्नाः शवगन्धयः ।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने पाण्डुरोगशोफविसर्पनिदानं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

* * *

वातादि पृथग् दोषों से उत्पन्न तीन विसर्प साध्य हैं। द्वन्द्वज विसर्प कास और वैवर्ण्य आदि उपद्रवों से रहित होने पर साध्य हैं। क्षतजन्य और सन्निपातजन्य असाध्य हैं। और जो विसर्प मर्म को आक्रान्त करते हैं, वे सब असाध्य हैं। स्नायु, सिरा और मांस के शीर्ण होने से, अतिशय क्लेदयुक्त (दुर्गन्धित और गाढ़े स्रावयुक्त) तथा मुर्दे की गन्धवाले विसर्प भी असाध्य होते हैं ॥ ६७ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का पाण्डुरोगशोफविसर्पनिदान नामक तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

* * *

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातः कुष्ठश्वित्रकृमिनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे कुष्ठ-श्वित्र-कृमिनिदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

कुष्ठोत्पत्ति के हेतु—

मिथ्याहारविहारेण विशेषेण विरोधिना ।
साधुनिन्दावधान्यस्वहरणाद्यैश्च सेवितैः ॥ १ ॥
पाप्मभिः कर्मभिः सद्यः प्राक्तनैर्वेरिता मलाः ।
सिराः प्रपद्य तिर्यग्गास्त्वग्लसीकाऽसृगामिषम् ॥२॥
दूषयन्ति श्लथीकृत्य निश्चरन्तस्ततो बहिः ।
त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तत् ॥ ३ ॥

मिथ्या आहार और विहार से, विशेष कर विरोधी आहार से, सज्जनों की निन्दा से, सज्जनों के वध से, दूसरे के धन-सम्पत्ति के हरने आदि पाप कार्यों के इह लोक में करने से, अथवा पूर्वजन्म-कृत कर्मों से प्रेरित हुए वातादि दोष तिर्यग्गामी होकर सिराओं में पहुँच कर त्वक्, लसीका, रक्त और मांस को दूषित करते हैं और इनको शिथिल बनाकर बाहर निकलते हुए ये दूषित दोष त्वचा में विवर्णता करते हैं, इसको कुष्ठ कहते हैं। (कुष्ठम्-शरीरं कुष्णाति कुत्सितं करोति)।

'कुष्ठ' नाम में हेतु—

कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः ।
प्रपद्य धातून्व्याप्यान्तः सर्वान् संक्लेद्य चावहेत् ॥
सस्वेदक्लेदसङ्कोथान् कृमीन् सूक्ष्मान् सुदारुणान् ।
लोमत्वक्स्नायुधमनीतरुणास्थीनि यैः क्रमात् ॥ ५ ॥
भक्षयेच्छ्वित्रमस्माच्च कुष्ठबाह्यमुदाहृतम् ।

क्योंकि उपेक्षा करने पर कुछ समय पीछे यह सारे शरीर को कुत्सित बना देता है, रसादि सब धातुओं में पहुँच कर और अन्दर फैल कर सब धातुओं को क्लिन्न करके स्वेद, क्लेद और सड़ने से गन्ध वाले सूक्ष्म और दारुण कृमियों को उत्पन्न करता है, जो कृमि क्रमशः बाल, त्वचा, स्नायु, धमनी और तरुणास्थियों को खाते हैं, इसलिये इसे कुष्ठ कहते हैं और श्वित्रकुष्ठ को बाह्यकुष्ठ कुष्ठ से पृथक् कहा है-अर्थात् श्वित्र बाह्य त्वचा में ही होता है, कुष्ठ अन्तःधातु में रहता है ॥ ५ ॥

कुष्ठ के सात भेद और दोषानुसार व्यपदेश—

कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथग्द्वन्द्वैः समागतैः ॥ ६ ॥
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः ।

कुष्ठ सात प्रकार के हैं—वातादि पृथग्दोषों से तीन, संसर्ग दोषों से तीन और सन्निपात से एक। सब कुष्ठों के त्रिदोषजन्य होने पर भी दोष की अधिकतासे व्यपदेश किया जाता है।

वक्तव्य—इसके अतिरिक्त ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ भी होते हैं। सात महाकुष्ठों और विचर्चीं आदि ग्यारह क्षुद्रकुष्ठों के नाम

और उनमें जिन दोषों की अधिकता रहती है उसका उल्लेख अगले श्लोक में करेंगे।

वातादि से कापालादि कुष्ठों की उत्पत्ति—

वातादि कुष्ठं कापालं,पित्तादौदुम्बरं, कफात् ॥ ७ ॥
मण्डलाख्यं विचर्चीं च, ऋक्षाख्यं वातपित्तजम् ।
चर्मैककुष्ठकिटिभसिध्मालसविपादिकाः ॥ ८ ॥
वातश्लेष्मोद्भवाः, श्लेष्मपित्ताद्दद्रुशतारुषी ।
पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा ॥ ९ ॥
सर्वैः स्यात्काकणम्—

वातजन्य कापाल कुष्ठ, पित्तजन्य औदुम्बर, कफजन्य मण्डल और विचर्ची, वात-पित्तजन्य ऋक्षाख्य (ऋष्यजिह्व), वात कफजन्य चर्म, एककुष्ठ, किटिभ, सिध्म, अलस, विपादिका, कफ-पित्तजन्य, दद्रु, शतारुष्, पुण्डरीक, विस्फोट, पामा और चर्मदल तथा सन्निपातजन्य काकणक कुष्ठ हैं ॥

महाकुष्ठ के सात भेद—

—पूर्वं त्रिकं दद्रु सकाकणम् ।
पुण्डरीकर्क्षजिह्वे च महाकुष्ठानि सप्त तु ॥ १० ॥

महाकुष्ठ—कापाल, उदुम्बर, मण्डल ये पहले वाले तीन और दद्रु, काकण, पुण्डरीक, ऋक्षजिह्व ये सात महाकुष्ठ हैं[1] ॥

कुष्ठ के स्वरूप—

अतिश्लक्ष्णखरस्पर्शस्वेदास्वेदविवर्णताः ।
दाहःकण्डूस्त्वचिस्वापस्तोदःकोठोन्नतिःश्रमः ॥११॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः ।
रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽपि कोपनम् ॥१२॥
रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम् ।

पूर्वरूप—अधिक चिकनापन या अतिकर्कश स्पर्श, स्वेद का बहुत आना या स्वेद का न आना, विवर्णता, दाह, कण्डू, त्वचा में संज्ञानाश या तोद, कोठों का उन्नत होना, थकान, व्रणों का जल्दी उत्पन्न होना और देर तक बने रहना, इनमें अधिक वेदना होना, भर जाने पर भी रूक्षता, थोड़े कारणसे भी कुपित होना (फिर हो जाना), रोमाञ्च और रक्त का काला होना, ये कुष्ठ के पूर्वरूप हैं ॥ ११-१२ ॥

कापाल कुष्ठ—

कृष्णारुणकपालाभं रूक्षं सुप्तं खरं तनु ॥ १३ ॥
विस्तृतासमपर्यन्तं हृषितैर्लोमभिश्चितम् ।
तोदाढ्यमल्पकण्डूकं कापालं शीघ्रसर्पि च ॥ १४ ॥

कापाल कुष्ठ—काले और अरुण रङ्ग के मिट्टी के ठीकरे के समान, रूक्ष, विचेतन, खर और पतली त्वचा का, फैला हुआ, किनारों से विषम, हर्षित रोमों से भरा, अतिशय तोदयुक्त, थोड़ी कण्डू वाला और जल्दी फैलने वाला कापाल कुष्ठ होता है ॥ १३-१४ ॥

उदुम्बर कुष्ठ—

पक्वोदुम्बरताम्रत्वग्रोमगौरसिराचितम् ।
बहलं बहलक्लेदरक्तं दाहरुजाधिकम् ॥ १५ ॥
आशूत्थानावदरणक्रिमिविद्यादुदुम्बरम् ।

उदुम्बर कुष्ठ—पके हुए गूलर के समान ताम्र वर्ण की त्वचा एवं रोम का, श्वेतवर्ण की सिराओं से भरा, घना, प्रभूत क्लेद और रक्त से युक्त, अतिशय दाह एवं वेदना वाला, जल्दी ही उत्पन्न होने वाला, फटने वाला और कृमियुक्त उदुम्बर कुष्ठ होता है ॥ १५ ॥

मण्डल कुष्ठ—

स्थिरं स्त्यानं गुरु स्निग्धं श्वेतरक्तमनाशुगम् ॥१६॥
अन्योन्यसक्तमुत्सन्नं बहुकण्डूस्रुतिक्रिमि ।
श्लक्ष्णपीताभपर्यन्तं मण्डलं परिमण्डलम् ॥ १७ ॥

मण्डल कुष्ठ—स्थिर, स्त्यान (मोटा-दल वाला), गुरु, स्निग्ध, श्वेत, लाल, मन्दगति, एक दूसरे से मिला, ऊपर को उठा, बहुत कण्डू, स्राव और कृमि से युक्त, किनारों पर चिकना और पीली झांई का तथा गोल होता है ॥ १६-१७ ॥

विचर्चिका कुष्ठ-

सकण्डूपिटिका श्यावा लसीकाढ्या विचर्चिका ।

विचर्चिका—कण्डू वाली पिटिका से युक्त और श्याव वर्ण तथा बहुत लसीका वाली होती है।

ऋक्षाख्य कुष्ठ—

परुषं तनु रक्तान्तमन्तःश्यावं समुन्नतम् ॥ १८ ॥
सतोददाहरुक्क्लेदं कर्कशैः पिटिकैश्चितम् ।
ऋक्षजिह्वाकृति प्रोक्तमृक्षजिह्वं बहुक्रिमि ॥ १९ ॥

ऋक्षजिह्व—कठोर, पतले और लाल किनारे का, बीच में श्याव वर्ण, ऊंचा उठा, तोद, दाह, पीड़ा और क्लेद से युक्त, कर्कश पिडिकाओं से भरा, ऋष्य की जिह्वा के समान आकार का, बहुत कृमि वाला ऋक्षजिह्व कुष्ठ होता है ॥ १८-१९ ॥

वक्तव्य—ऋष्यः-नीलाण्डो हरिणः-चक्रपाणिः। 'ऋष्यजिह्वाः रोहितजिह्वाः' इन्दुः। 'ऋक्षो रोमशः' तोडरः।

चर्मकुष्ठ तथा एककुष्ठ—

हस्तिचर्मखरस्पर्शं चर्मैकाख्यं महाश्रयम् ।
अस्वेदं मत्स्यशकलसन्निभम्—

चर्मकुष्ठ—हाथी की चमड़ी के समान खर स्पर्श वाला कुष्ठ चर्मकुष्ठ होता है !

एककुष्ठ—विस्तीर्ण आशय वाला, स्वेदरहित, मछली के छिलकों के समान एक कुष्ठ होता है।

किटिभ कुष्ठ—

—किटिभं पुनः ॥ २० ॥
रूक्षं किणखरस्पर्शं कण्डूमत्परुषासितम् ।

---

[1] सुश्रुत के अनुसार यहाँ दद्रु को महाकुष्ठों में गिना है किन्तु चरक ने सिध्म को महाकुष्ठ और दद्रु को क्षुद्रकुष्ठ माना है। विशेष विवेचन के लिए माधवनिदान की मधुकोश और विद्योतिनी टीका देखें।

किटिभ रूक्ष, किण की भांति कर्कश स्पर्श वाला, कण्डू युक्त, कठोर और काला होता है ॥ २० ॥

सिध्म कुष्ठ

सिध्मं रूक्षं बहिः स्निग्धमन्तर्घृष्टं रजः किरेत् ॥२१॥
श्लक्ष्णस्पर्शं तनु श्वेतताम्रं दौग्धिकपुष्पवत् ।
प्रायेण चोर्ध्वकाये स्यात् —

सिध्म कुष्ठ बाहर में रूक्ष, अन्दर में स्निग्ध और रगड़ने पर रज झरने वाला होता है। स्पर्श में चिकना, पतला, श्वेत, ताम्र वर्ण, दूधिया के फूल के समान होता है, प्रायः करके यह कुष्ठ शरीर के ऊपर के भाग में (मुख, पीठ, छाती पर) होता है ॥ २१ ॥

अलसक तथा विपादिका कुष्ठ—

—गण्डैः कण्डूयुतैश्चितम् ॥ २२ ॥
रक्तैरलसकं पाणिपाददार्यो विपादिकाः ।
तीव्रार्त्यो मन्दकण्ड्वश्च सरागपिटिकाचिताः ॥ २३ ॥

अलसक कुष्ठ-सुर्ख और कण्डूयुक्त गण्डों से भरा होता है

विपादिका—हाथ-पांव को फाड़ देती है तथा अतिशय पीड़ा, मन्द कण्डू एवं सुर्ख पिटिकाओं से भरी होती है ॥२२-२३॥

दद्रुकुष्ठ—

दीर्घप्रताना दूर्वावदतसीकुसुमच्छविः ।
उत्सन्नमण्डला दद्रूः कण्डूमत्यनुषङ्गिणी ॥ २४ ॥

दद्रु—दूब के सामान लम्बे प्रतान वाले, अलसी के फूल की कान्ति वाले, उन्नत मण्डल कण्डूयुक्त तथा चिरकाल तक रहने वाले अथवा निरन्तर मिले हुए फैलने वाले दद्रु कहलाते हैं ॥ २४ ॥

शतारुकुष्ठ—

स्थूलमूलं सदाहार्ति रक्तश्यावं बहुव्रणम् ।
शतारु. क्लेदजन्त्वाढ्यं प्रायशः पर्वजन्म च ॥ २५ ॥

शतारु—मूल में मोटा, दाह और वेदना से युक्त, लाल या श्याववर्ण, बहुत व्रणों से युक्त, क्लेद एवं जन्तु से व्याप्त और प्रायः करके पर्वों में उत्पन्न होने वाला शतारु कुष्ठ होता है।

पुण्डरीक कुष्ठ—

रक्तान्तमन्तरा पाण्डु कण्डूदाहरुजान्वितम् ।
सोत्सेधमाचितं रक्तैः पद्मपत्रमिवांशुभिः ॥ २६ ॥
घनभूरिलसीकासृक्प्रायमाशु विभेदि च ।
पुण्डरीकम् —

पुण्डरीक-किनारों पर कुछ लाल, बीच में पाण्डु, कण्डू और दाह से युक्त, ऊपर को उठा, कमलपत्र की भांति लाल धारियों से व्याप्त, घट्ट एवं प्रचुर लसीका और रक्त वाला तथा शीघ्र विदीर्ण होने वाला होता है [अंशवः-रजांसि—इति इन्दुः]।

विस्फोट या पामा कुष्ठ—

—तनुत्वग्भिश्चितं स्फोटैः सितारुणैः ॥ २७ ॥
विस्फोटम् , पिटिकाः पामा कण्डूक्लेदरुजाधिकाः ।
सूक्ष्माः श्यावारुणा बह्वय प्रायः स्फिक्पाणिकूर्परे ॥

विस्फोट—पतली त्वचा वाले, श्वेत और अरुण छालों से भरा होता है।

पामा—कण्डू, क्लेद और पीड़ा से व्याप्त पिटिकाओं को पामा कहते हैं। ये सूक्ष्म, श्याव, अरुण वर्ण और बहुत सी होती हैं, प्रायः करके नितम्ब, हाथ और कोहनी में होती हैं।

चर्मदल कुष्ठ—

सस्फोटमस्पर्शसहं कण्डूषातोददाहवत् ।
रक्तं दलच्चर्मदलम्—

चर्मदल—यह कुष्ठ स्फोट की भांति स्पर्श को न सहने वाला, कण्डू, ऊषा (गर्मी), तोद और दाह से युक्त, लाल तथा फटा हुआ चर्मदल है।[दलत्-विसरणयुक्तम् इतितोडरः]।

काकण कुष्ठ—

काकणं तीव्रदाहरुक् ॥ २९ ॥
पूर्वं रक्तं च कृष्णं च काकणन्तीफलोपमम् ।
कुष्ठलिङ्गैर्युतं सर्वैर्नैकवर्णं ततो भवेत् ॥ ३० ॥

काकण—तीव्र दाह और पीड़ा से युक्त, पहिले, लाल और काला, गुञ्जाफल के समान पीछे कुष्ठ के सब लक्षणों से युक्त तथा एक वर्ण का नहीं, (अपितु श्वेत, पीले आदि अनेक वर्णों वाला) काकण कुष्ठ होता है ॥ २९-३० ॥

कुष्ठों में दोषों का बाहुल्य—

दोषभेदीयविहितैरादिशेल्लिङ्गकर्मभिः ।
कुष्ठेषु दोषोल्बणताम्—

दोषभेदीय अध्याय (सूत्र. अ. १२) में वर्णित दोषों के अपने अपने लक्षण और कर्मों से कुष्ठों में दोष की उल्बणता समझनी चाहिए।

चिकित्सा के अयोग्य कुष्ठ—

—सर्वदोषोल्बणं त्यजेत् ॥ ३१ ॥
रिष्टोक्तं यच्च यच्चास्थिमज्जशुक्रसमाश्रयम् ।

जिस कुष्ठ में सब दोषों की प्रधानता हो, उसकी चिकित्सा न करे। विकृतिविज्ञानीय अध्याय में कहे रिष्ट लक्षणों वाले (कुष्ठं विशीर्यमाणाङ्गमित्यादि) कुष्ठ को और जो कुष्ठ अस्थि, मज्जा और शुक्र में आश्रित हो उसको भी छोड़ देवे ॥ ३१ ॥

कुष्ठ की कृच्छ्राकृच्छ्रता याप्यता आदि—

याप्यं मेदोगतं कृच्छ्रं पित्तद्वन्द्वास्रमांसगम् ॥ ३२ ॥
अकृच्छ्रं कफवाताढ्यं त्वक्स्थमेकमलं च यत् ।

मेदोगत कुष्ठ याप्य होता है। पित्तद्वन्द्वज (वातपैत्तिक और श्लेष्मपैत्तिक), रक्तग और मांसग कुष्ठ कष्टसाध्य हैं।

कफ-वात की अधिकता वाला, त्वचा में स्थित तथा एक दोष की अधिकता वाला कुष्ठ सुखसाध्य होता ॥ ३२ ॥

त्वचा आदि में स्थित कुष्ठ—

तत्र त्वचि स्थिते कुष्ठे तोदवैवर्ण्यरूक्षता ॥ ३३ ॥
स्वेदस्वापश्वयथवः शोणिते पिशिते पुनः ।
पाणिपादाश्रिताः स्फोटाः क्लेदः सन्धिषु चाधिकम् ॥

कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां दलनं स्याच्च मेदसि ।
नासाभङ्गोऽस्थिमज्जस्थे नेत्ररागः स्वरक्षयः ॥ ३५ ॥
क्षते च कृमयः, शुक्रे स्वदारापत्यबाधनम् ।

त्वचा में कुष्ठ होने पर तोद, विवर्णता और रूक्षता होती है, रक्त में कुष्ठ होने पर स्वेद, सुप्ति और शोथ होता है। मांस में कुष्ठ होने पर हाथ-पैर में छाले एवं सन्धियों में अतिशय क्लेद होता है। मेद में कुष्ठ होने पर कुणता (हाथ-पैर में टेढ़ापन), गतिनाश और अङ्गों का कटना होता है। अस्थि तथा मज्जा में कुष्ठ होने पर नासा बैठना, नेत्रों में सुर्खी, स्वरक्षय होते हैं और क्षतमें कृमि हो जाते हैं। शुक्र में कुष्ठ होने पर अपनी स्त्री और सन्तान में कुष्ठोत्पत्ति होती है ॥ ३३-३५ ॥

वक्तव्य— चरक में—'शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्' ॥ (चरक. सू. अ. २९।१९)

यथापूर्वं च सर्वाणि स्युर्लिङ्गान्यसृगादिषु ॥ ३६ ॥

रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र में पूर्व के क्रम से सब लक्षण होते हैं ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—अर्थात् जिस धातु में कुष्ठ है, उस धातु से पूर्व जो धातु होगा, उसके भी लिंग उस धातु में कुष्ठ होने पर होंगे। इस प्रकार रक्ताश्रित कुष्ठ में त्वचा और रक्त में आश्रित कुष्ठ के लक्षण होंगे। मांसगत कुष्ठ में त्वचा, रक्त और मांस के आश्रित कुष्ठ के लक्षण होंगे। इसी प्रकार से शुक्र में सभी धातुओं के लक्षण होते हैं।

श्वित्र का निदान—

कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासं दारुणं च तत् ।
निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥ ३७ ॥

श्वित्र की उत्पत्ति कुष्ठ के समान होती है (दोनों का कारण समान है)। यह किलास और दारुण कहा जाता है। श्वित्र अपरिस्रावी होता है (कुष्ठ की भांति बहता नहीं है)। तथा तीनों दोषों से उत्पन्न होता है और तीनों धातुओं (रक्त मांस और मेद) में रहता है। (धातु शब्द से दोष और धातु दोनों का ग्रहण है ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—ग्रन्थान्तरों में वारुण या चारण तथा अपरिस्रावी ये नाम श्वित्र के मिलते हैं।

वातादि से उत्पन्न श्वित्र—

वाताद् रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत् ।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥ ३८ ॥
सकण्डु च क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत् ।

वायु के कारण श्वित्र रूक्ष और अरुण, पित्त के कारण कमलपत्र की भाँति ताम्रवर्ण, दाहयुक्त और रोमनाशक स्वभाव का होता है। कफ के कारण श्वेत, घट्ट, गुरु और कण्डूयुक्त होता है। वातजन्य श्वित्र रक्त में, पित्तजन्य मांस में और कफजन्य मेद में होता है। अथवा क्रमशः रक्त, मांस और मेद में आश्रित होने पर श्वित्र के भी पूर्वोक्त वातादिकृत लक्षण होते हैं[1] ॥ ३८ ॥

वर्ण के अनुसार श्वित्र के कष्टसाध्यतादि—

वर्णैनैवेदमुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥ ३९ ॥

अरुण, ताम्र, श्वेत वर्णों के इस क्रम से दोषोद्भव और रक्तादि धातु आश्रित श्वित्र उत्तरोत्तर कष्टसाध्य है। (रक्ताश्रित वातजन्य श्वित्र से मांसाश्रित पित्तजन्य श्वित्र कष्टसाध्य है। मेदःश्रित कफजन्य श्वित्र अतिशय कष्टसाध्य है।) ॥३९॥

श्वित्र की साध्यासाध्यता—

अशुक्लरोमाबहलमसंसृष्टं मिथो नवम् ।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥ ४० ॥
गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम् ।

साध्यासाध्यता- जिस श्वित्र में बाल श्वेत न हुए हों, जो बहुत मोटा न हो (पतला हो), एक दूसरे से न मिला हो, नूतन हो (जो एक साल का न हुआ हो) और जो आग से जलने से न उत्पन्न हुआ हो वह श्वित्र साध्य है। इससे विपरीत तथा गुह्यभाग, हथेली और ओष्ठ में उत्पन्न एक साल से कम का भी श्वित्र असाध्य है ॥ ४० ॥

रोगों की संचरणशीलता--

स्पर्शैकाहारशय्यादिसेवनात् प्रायशो गदाः ॥ ४१ ॥
सर्वे सञ्चारिणो नेत्रत्वग्विकारा विशेषतः ।

प्रायः सब संचरणशील (संक्रामक) रोग स्पर्श से; एक साथ आहार, शय्या, आसन आदि के सेवन करने से एक से दूसरे में फैलते हैं। विशेष कर नेत्ररोग और त्वग्रोग तो बहुत फैलते हैं ॥ ४१ ॥

कृमि रोग—कृमियों के दो भेद—

कृमयस्तु द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ ४२ ॥

मुनियों ने बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के कृमि कहे हैं ॥ ४२ ॥

जन्म तथा नाम से कृमियों के भेद—

बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः ।
नामतो विंशतिविधाः—

ये ही कृमि बहिर्मल (शरीर के बाह्य मल), कफ, रक्त और मल उत्पन्न होने के कारण चार प्रकार के हैं। और नाम से बीस प्रकार के हैं।

बाह्य तथा आभ्यन्तर कृमि—

बाह्यास्तत्रामृजोद्भवाः ॥ ४३ ॥
तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः ।
बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः ॥ ४४ ॥

---

[1] सुश्रुत ने केवल त्वचा में ही श्वित्र का आश्रय माना है। 'त्वग्गतमेव किलासम्' इसका तात्पर्य यही है कि दोष कोई हो, आश्रय भी कोई हो किन्तु व्याधि के स्वभाव से विकृति त्वचा में ही होती है।

द्विधा ते कोठपिटिकाकण्डूगण्डान् प्रकुर्वते ।
कुष्ठैकहेतवोऽन्तर्जाः—

इन कृमियों में—बाह्य कृमि स्नानादि सफाई न करने से उत्पन्न होते हैं, ये बाह्य कृमि तिल के बराबर आकार और वर्ण वाले होते हैं, बालों और कपड़ों में रहते हैं, इनके बहुत से पैर होते हैं, सूक्ष्म होते हैं तथा नाम से जूँ और लीख कहलाते हैं। ये कोठ, पिडिका, कण्डू और गण्ड रोगों को करते हैं।

अन्तः—शरीर के अन्दर के कृमि कुष्ठ के समान कारणों (मिथ्या आहार आदि) से उत्पन्न होते हैं ॥ ४३-४४ ॥

कफज कृमि—

—श्लेष्मजास्तेषु चाधिकम् ॥ ४५ ॥
मधुरान्नगुडक्षीरदधिसक्तुनवौदनैः ।

उसमें कफजन्य कृमि मधुर भोजन, गुड़, दूध, दही, सत्तू और नूतन अन्नों के सेवन से विशेष करके होते हैं ॥ ४५ ॥

पुरीषज कृमि—

शकृज्जा बहुविड्धान्यपर्णशाकोलकादिभिः ॥ ४६ ॥

मलजन्य कृमि मल को बढ़ाने वाले—धान्यों (जौ, उड़द आदि) से, पत्तों के शाक (पालक आदि) से और ऊलक (होले आदि-हरी अवस्था में भूने हुए चने, गेहूँ, ज्वार आदि) से विशेष करके होते हैं ॥ ४६ ॥

कफज कृमियों का वर्णन—

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः ।
पृथुब्रध्ननिभाः केचित् केचिद्गण्डूपदोपमाः ॥ ४७ ॥
रूढधान्याङ्कुराकारास्तनुदीर्घास्तथाऽणवः ।
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते ॥ ४८ ॥
अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महाकुहाः ।
कुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते ॥ ४९ ॥
हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम् ।
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यक्षवथुपीनसान् ॥ ५० ॥

कफ के कारण उत्पन्न कृमि आमाशय में उत्पन्न होकर बढ़ते हुए सब ओर विचरते हैं। इनमें से कुछ कृमि चिपटे, ब्रध्न (लम्बे-फीते के समान), कोई केंचुए के समान, कोई अंकुरित धान्यांकुर के समान पतले, लम्बे या सूक्ष्म तथा देखने में श्वेत या ताम्रवर्ण होते हैं। ये नाम से सात प्रकार के हैं, यथा—अंत्राद, उदरावेष्ट, हृदयाद, महाकुह (महागुद), कुरु (चुरु), दर्भकुसुम और सुगन्ध। ये कृमि जी मिचलाना, मुख से लालास्राव, अविपाक, अरोचक, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, आनाह, कृशता, छींक और पीनस रोग को करते हैं ॥

रक्तज कृमि—

रक्तवाहिसिरोत्थाना रक्तजा जन्तवोऽणवः ।
अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः ॥ ५१ ॥
केशादा लोमविध्वंसा लोमद्वीपा उदुम्बराः ।
षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः ॥ ५२ ॥

रक्तजन्य कृमि रक्तवाही सिराओं में उत्पन्न होते हैं, ये आकार में अणु (सूक्ष्म), पादरहित, गोल, ताम्रवर्ण के होते हैं और सूक्ष्म होने से कोई २ दिखाई नहीं देते। इनके नाम केशाद, लोमविध्वंस, लोमद्वीप, उदुम्बर, सौरस और माता—ये छः हैं। इन छहों का काम कुष्ठ के समान (केश और लोम का नाश करना आदि) है ॥ ५१-५२ ॥

वक्तव्य— कोई आचार्य 'सहजा रसमातरः' ऐसा पाठ मानकर 'सह शरीरेण जायन्त इति सहजाः, रसो माता-जननी येषां तत्प्रभवत्वात्ते रसमातरः' यह अर्थ भी करते हैं।

पुरीषज कृमियों के भेद तथा कार्य—

पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः ।
वृद्धाः सन्तो भवेयुश्च ते यदाऽमाशयोन्मुखाः ॥ ५३ ॥
तदाऽस्योद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः ।
पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः ॥ ५४ ॥
ते पञ्च नाम्ना कृमयः ककेरुकमकेरुकाः ।
सौसुरादाः सुलूनाख्या लेलिहा जनयन्ति च ॥ ५५ ॥
विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः ।
रोमहर्षाग्निसदनगुदकण्डूर्विनिर्गमात् ॥ ५६ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने कुष्ठश्वित्रकृमिनिदानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

मलजन्य कृमि पक्वाशय में उत्पन्न होते हैं और नीचे (गुदा) की ओर सञ्चरण करते हैं। बड़े होकर जब ये कृमि आमाशय की ओर जाते हैं, तब रोगी को उद्गार एवं निःश्वास में मल की गन्ध आती है। ये कृमि चिपटे, गोल, पतले और स्थूल होते हैं। इनका रङ्ग श्याव, पीला, श्वेत या काला होता है। ये कृमि नाम से पाँच होते हैं, यथा-ककेरुक, मकेरुक, सौसुराद, सुलून और लेलिह। ये कृमि बाहर आने से अतीसार, शूल, विष्टम्भ, कृशता, परुषता, पाण्डुता, रोमांच, अग्निमान्द्य और गुदा में कण्डू करते हैं ॥ ५३-५६ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदान का कुष्ठश्वित्रकृमिनिदाननामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे वातव्याधिनिदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

सब शुभाशुभ में वायु हेतु—

सर्वार्थानर्थकरणे विश्वस्यास्यैककारणम् ।
अदुष्टदुष्टः पवनः, शरीरस्य विशेषतः ॥ १ ॥

इस संसार में सब प्रकार के शुभ-अशुभ को करने में प्रधान कारण अदुष्ट और दुष्ट वायु है, विशेष कर शरीर के शुभ और अशुभ करने में भी अदुष्ट और दुष्ट वायु ही मुख्य कारण है ॥ १ ॥

वक्तव्य—शुभ करने में अदुष्ट वायु कारण है, और अशुभ करने में दुष्ट वायु कारण है। जगत के विनाश-लक्षण में दुष्ट वायु कारण है और जगत् के स्थिति-लक्षण में अदुष्ट वायु कारण है।

वायु के सर्वकारण में हेतु—

स विश्वकर्मा विश्वात्मा विश्वरूपः प्रजापतिः ।
स्रष्टा धाता विभुर्विष्णुः संहर्ता मृत्युरन्तकः ॥ २ ॥
तददुष्टौ प्रयत्नेन यतितव्यमतः सदा ।

यह वायु विश्वकर्मा (सम्पूर्ण कार्य—शरीर का जनन, वर्धन, धारण आदि करने वाला), सबकी आत्मा (हेतु), विश्वरूप (बाह्य-आध्यात्मिकस्वरूप), प्रजापति, सम्पूर्ण विश्व को बनाने वाला, धारण करने वाला, विभु, विष्णु (व्यापी), संहर्ता और मृत्यु और यमरूप अन्तक है। इसलिए सदा इसके दुष्ट न होने देने में प्रयत्न करना चाहिए ॥ २ ॥

वायु के कार्य—

तस्योक्तं दोषविज्ञाने कर्म प्राकृतवैकृतम् ॥ ३ ॥
समासाद्व्यासतो दोषभेदीये नाम धाम च ।
प्रत्येकं पञ्चधा चारो व्यापारश्च—

दोषविज्ञानीय अध्याय में वायु के प्राकृत और वैकृत कर्म संक्षेप से कह दिये हैं, तथा विस्तार से इनके कर्मों का नाम, स्थान, पाँच प्रकार तथा प्रत्येक की गति और व्यापार को दोषभेदीय अध्याय में कह दिया है ॥ ३ ॥

—इह वैकृतम् ॥ ४ ॥
तस्योच्यते विभागेन सनिदानं सलक्षणम् ।
[असङ्ख्यमपि सङ्ख्याय यद्दर्शात्या पुरेरितम् ।]

इस अध्याय में वायु के वैकृत कर्मों को पृथक् रूप से निदान और लक्षणों के साथ कहेंगे।

[जो कि असंख्य होते हुए भी प्रथम जो गिनकर अस्सी प्रकार का कहा गया है] ॥ ४ ॥

वायु का प्रकोप—

धातुक्षयकरैर्वायुः कुप्यत्यतिनिषेवितैः ॥ ५ ॥
चरन् स्रोतःसु रिक्तेषु भृशं तान्येव पूरयन् ।
तेभ्योऽन्यदोषपूर्णेभ्यः प्राप्य वाऽऽवरणं बली ॥ ६ ॥

अतिमात्रा में या देर तक धातु को क्षय करनेवाले आहार-विहार के सेवन करने से वायु कुपित होती है। यह वायु धातुक्षय के कारण रिक्त हुए स्रोतों में विचरती हुई इन्हीं स्रोतों को अतिशय भर कर अथवा इन स्रोतों के अन्य दोषों से भरे होने के कारण से आवरण—अवरोध पाकर बलवान् हो कुपित होती है। [वायु का प्रकोप दो प्रकार से है—धातुक्षय से और मार्ग के आवरण से] ॥ ५-६ ॥

पक्वाशय में कुपित वायु—

तत्र पक्वाशये क्रुद्धः शूलानाहान्त्रकूजनम् ।
मलरोधाश्मवर्ध्मार्शस्त्रिकपृष्ठकटीग्रहम् ॥ ७ ॥
करोत्यधरकाये च तांस्तान् कृच्छ्रानुपद्रवान् ।

पक्वाशय में कुपित वायु-शूल, आनाह, आँतों में गड़गड़ाहट, मल का अवरोध, अश्मरी, वर्ध्म, अर्श, त्रिकग्रह, पृष्ठग्रह, कटिग्रह तथा शरीर के अधोभाग में नाना प्रकार के कष्टसाध्य रोगों को उत्पन्न करती है ॥ ७ ॥

आमाशय में कुपित वायु—

आमाशये तृड्वमथुश्वासकासविसूचिकाः ॥ ८ ॥
कण्ठोपरोधमुद्गारान् व्याधीनूर्ध्वं च नाभितः ।

आमाशय में कुपित वायु-वमन, श्वास, कास, विसूचिका, गले का उपरोध, उद्गार, (डकारें) और नाभि से ऊपर रोगों को उत्पन्न करती है ॥ ८ ॥

श्रोत्रादि में कुपित वायु—

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं, त्वचि स्फुटनरूक्षते ॥ ९ ॥

कान आदि इन्द्रियों में कुपित वायु—इन्द्रियों का विनाश करती है। त्वचा में कुपित वायु त्वचा का फटना और रूक्षता उत्पन्न करती है ॥ ९ ॥

रक्त में कुपित वायु—

रक्ते तीव्रा रुजः स्वापं तापं रागं विवर्णताम् ।
अरूंष्यन्नस्य विष्टम्भमरुचिं कृशतां भ्रमम् ॥१०॥

रक्त में कुपित वायु—तीव्र वेदना, स्पर्शनाश, सन्ताप, सुर्खी, विवर्णता, अरुंषिकायें, अन्न का विष्टम्भ, अरुचि, अतिशय कृशता और भ्रम को उत्पन्न करती है ॥ १० ॥

मांस-मेदोगत कुपितवायु—

मांसमेदोगतो ग्रन्थींस्तोदाढ्यान् कर्कशाञ् श्रमम् ।
गुर्वङ्गं चातिरुक्स्तब्धं मुष्टिदण्डहतोपमम् ॥११॥

मांस तथा मेद में प्रकुपित वायु-तोद की अधिकता वाली कर्कश ग्रन्थियों को एवं श्रम, अंगों में भारीपन, अतिवेदना, जड़ता, अङ्ग का मुक्के या दण्डे से कूटा हुआ प्रतीत होना करती है ॥ ११ ॥

वक्तव्य सुश्रुत में—'कर्कशांस्तोदबहुलान् ग्रन्थीन् मांससमाश्रितः। वायुर्मेदोयुतः कुर्याद् ग्रन्थीन् मन्दरुजोऽव्रणान् ॥' (सु. नि. अ. १।२६।)

अस्थिगत कुपित वायु—

अस्थिस्थः सक्थिसन्ध्यस्थिशूलं तीव्रं बलक्षयम् ।

अस्थियों में स्थित वायु—टांग सन्धि और अस्थि में शूल तथा अत्यन्त बलक्षय करती है।

मज्जगत कुपित वायु—

मज्जस्थोऽस्थिषु सौषिर्यमस्वप्नं सन्ततां रुजम् ॥१२॥

मज्जा में स्थित वायु—अस्थियों में खोखलापन, नींद न आना तथा निरन्तर वेदना करती है ॥ १२ ॥

शुक्रगत कुपित वायु—

शुक्रस्य शीघ्रमुत्सर्गं सङ्गं विकृतिमेव वा ।
तद्वद्गर्भस्य शुक्रस्थः—

शुक्र में कुपित वायु—शुक्र का शीघ्र क्षरण होना, शुक्र का अवरोध और शुक्र का विकार करती है। इसी प्रकार शुक्र में स्थित वायु गर्भ का जल्दी बाहर लाना, गर्भ का रोकना और गर्भ में विकार करती है।

सिरागत कुपित वायु—

—सिरास्वाध्मानरिक्तते ॥ १३ ॥
तत्स्थः—

सिराओं में कुपित वायु—सिराओं में आध्मान और खालीपन करती है ॥ १३ ॥

स्नायुगत कुपित वायु—

— स्नावस्थितः कुर्याद्‌ गृध्रस्यायामकुब्जताः ।

स्नाव (स्नायु) में स्थित वायु—गृध्रसी, आयाम (खिंचाव) और कुब्जता उत्पन्न करती है।

संधिगत कुपित वायु—

वातपूर्णदृतिस्पर्शं शोफं सन्धिगतोऽनिलः ॥ १४ ॥
प्रसारणाकुञ्चनयोः प्रवृत्तिं च सवेदनाम् ।

सन्धिगत वायु-वायु से भरी मशक की भाँति स्पर्श वाले शोफ को उत्पन्न करती है, तथा अङ्ग को फैलाने या सिकोड़ने की प्रवृत्ति में वेदना को उत्पन्न करती है ॥ १४ ॥

सर्वांगगत कुपित वायु—

सर्वाङ्गसंश्रयस्तोदभेदस्फुरणभञ्जनम् ॥ १५ ॥
स्तम्भनाक्षेपणस्वापसन्ध्याकुञ्चनकम्पनम् ।

सम्पूर्ण अङ्गों में आश्रित वायु—तोद,भेद, स्फुरण, टूटना, जडता, अङ्गविक्षेप, स्पर्शाज्ञत्व, सन्धिसंकोच और कम्पन उत्पन्न करती है ॥ १५ ॥

आक्षेपक—

यदा तु धमनीः सर्वाः क्रुद्धोऽभ्येति मुहुर्मुहुः ॥१६।
तदाऽङ्गमाक्षिपत्येष व्याधिराक्षेपकः स्मृतः ।

जब वायु कुपित होकर सब धमनियों में बार-बार आती है तब यह वायु अङ्गों को आक्षेपयुक्त करती है, इस रोग को आक्षेपक कहते हैं। ('आक्षिपति उत्क्षिपति देहं हस्त्यादिनारूढस्येव गात्रं चालयति' इति तोडरः) ॥ १६ ॥

अपतंत्रक और अपतानक—

अधः प्रतिहतो वायुर्व्रजन्नूर्ध्वं हृदाश्रिताः ॥ १७ ॥
नाडीः प्रविश्य हृदयं शिरः शङ्खौ च पीडयन् ।
आक्षिपेत्परितो गात्रं धनुर्वच्चास्य नामयेत् ॥ १८ ॥
कृच्छ्रादुच्छ्वसिति स्तब्धस्रस्तमीलितदृक्ततः ।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥ १९ ॥
स एव चापतानाख्यो मुक्ते तु मरुता हृदि ।
अश्नुवीत मुहुः स्वास्थ्यं मुहुरस्वास्थ्यमावृते ॥२०॥

अपतंत्रक—नीचे की ओर जाने में रुकी हुई वायु ऊपर की ओर जाती हुई हृदय में आश्रित नाड़ियों में प्रविष्ट हो कर हृदय, शिर और शंखों को दबाती हुई चारों ओर से गात्र (शरीर) को आक्षेपयुक्त करती है और शरीर को धनुष के समान झुका देती है, रोगी कठिनाई से श्वास लेता है, आँखें जड़, ढीली और बन्द हो जाती हैं, रोगी कबूतर के समान गले से शब्द करता है और बेहोश होता है, इसको अपतंत्रक और अपतानक भी कहते हैं। वायु का दबाव हृदय पर से जब हट जाता है तब रोगी को स्वस्थता का अनुभव होता है और वायु से हृदय के आवृत होने पर फिर अस्वस्थता हो जाती है ॥ १७-२० ॥

वक्तव्य—यह रोग वात-कफजन्य है, यथा-'वातकफाभ्यां हृच्छिरःशंखपीडननामनाङ्गविक्षेपप्रमोहाक्षिस्तम्भनिमीलनकृच्छ्रोच्छ्वासकूजनान्यपतन्त्रके ॥' (चक्रपाणि)

अपतानक की कष्टसाध्यता—

गर्भपातसमुत्पन्नः शोणितातिस्रवोत्थितः ।
अभिघातसमुत्थश्च दुश्चिकित्स्यतमो हि सः ॥ २१ ॥

गर्भपात के कारण उत्पन्न अधिक रक्तस्राव के कारण उत्पन्न, और अभिघात से उत्पन्न अपतंत्रक अतिशय कष्टसाध्य है ॥ २१ ॥

(कोई टीकाकार उत्तरोत्तर कारण से उत्पन्न अपतन्त्रक को क्रमशः अधिक कष्टसाध्य मानते हैं)।

अन्तरायाम के लक्षण—

मन्ये संस्तभ्य वातोऽन्तरायच्छन् धमनीर्यदा ।
व्याप्नोति सकलं देहं जत्रुरायम्यते तदा ॥ २२ ॥
अन्तर्धनुरिवाङ्गं च वेगैः स्तम्भं च नेत्रयोः ।
करोति जृम्भां दशनं दशनानां कफोद्वमिम् ॥ २३ ॥
पार्श्वयोर्वेदनां वाक्यहनुपृष्ठशिरोग्रहम् ।
अन्तरायाम इत्येष —

ग्रीवा में आश्रित दो मन्याओं को वायु जब स्तब्ध कर धमनियों को भीतर की ओर (पेट की ओर) खींचती हुई सारे शरीर में फैल जाती है, तब जत्रु (ग्रीवामूल) खिंच जाता है और शरीर धनुष की भाँति अन्दर की ओर मुड़ जाता है, आँखों में जड़ता आती है, जम्भाई, दाँतों का दाँतो से काटना (जबड़ा बन्द होना), कफ का वमन, पार्श्वों में वेदना, वाणी, हनु, पीठ, शिर का पकड़ा जाना, ये लक्षण होते हैं, इस रोग को अन्तरायाम कहते हैं ॥ २२-२३ ॥

बहिरायाम—

—बाह्यायामश्च तद्विधः ॥ २४ ॥
देहस्य बहिरायामात् पृष्ठतो नीयते शिरः ।

उरश्चोत्क्षिप्यते तत्र कन्धरा चावमृद्यते ॥२५॥
दन्तेष्वास्ये च वैवर्ण्यं प्रस्वेदः स्रस्तगात्रता ।
बाह्यायामं धनुष्कम्भं ब्रुवते वेगिनं च तम् ॥ २६ ॥

इस प्रकार शरीर बाहर की ओर झुकने से बाह्यायाम होता है,जिसमें शिर पीछे की ओर खिंच जाता है और छाती ऊपर की ओर उठ जाती है, गर्दन कुटती सी दुखती है, दाँतों में और मुख में विवर्णता आ जाती है. पसीना बहुत आता है तथा शरीर ढीला हो जाता है, इसको बाह्यायाम, धनुष्कम्भ (धनुस्तम्भ) कहते हैं, इसी को कई लोग वेगी कहते हैं।

व्रणायाम—

व्रणं मर्माश्रितं प्राप्य समीरणसमीरणात् ।
व्यायच्छन्ति तनुं दोषाः सर्वामापादमस्तकम् ॥२७॥
तृष्यतः पाण्डुगात्रस्य व्रणायामः स वर्जितः ।

व्रणायाम में दोष मर्माश्रित व्रण में पहुँच कर वायु की प्रेरणा से पैर से लेकर शिर तक सम्पूर्ण शरीर में विशेष रूप से आक्रमण करते हैं। यह व्रणायाम, प्यास एवं पाण्डु शरीर वाले (रक्तन्यूनता वाले) रोगी में असाध्य होता है ॥ २७ ॥

गतवेग होने पर स्वस्थता—

गते वेगे भवेत्स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकेषु च ॥ २८ ॥

आक्षेपक आदि (व्रणायाम पर्यन्त आक्षेपयुक्त) सब रोगों में वेग के उतर जाने पर रोगी स्वस्थ हो जाता है। (अर्थात वेग के न रहने पर कुछ आराम होता है और वेग के पुनः होने पर फिर उसी प्रकार कष्ट पाता है।) ॥ २८ ॥

हनुस्रंस के लक्षण—

जिह्वातिलेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः ।
कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनू ॥ २९ ॥
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ।
हनुस्रंस स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम् ॥ ३० ॥

हनुस्रंस– जिह्वा के अतिलेखन, शुष्क भोजन और अभिघात से हनुमूल में स्थित वायु कुपित होकर हनु को स्वस्थान से नीचे लाती है। इससे या तो मुख खुला रहता है, अथवा बन्द ही रह जाता है। इस रोग को हनुस्रंस कहते हैं, इसमें रोगी कठिनाई से चबा सकता है, या बोल सकता है।

जिह्वास्तम्भ के लक्षण—

वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः ।
जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता ॥ ३१ ॥

वाणी को ले जाने वाली सिराओं में स्थित वायु जिह्वा को रोक देती है, इसको जिह्वास्तम्भ कहते हैं, इससे खान-पान और बोलने में असामर्थ्य हो जाता है ॥ ३१ ॥

अर्दित (लकवा) के लक्षण—

शिरसा भारहरणादतिहास्यप्रभाषणात् ।
उत्त्रासवक्त्रक्षवथोः खरकार्मुककर्षणात् ॥ ३२ ॥
विषमादुपधानाच्च कठिनानां च चर्वणात् ।
वायुर्विवृद्धस्तैस्तैश्च वातलैरूर्ध्वमास्थितः ॥ ३३ ॥
वक्रीकरोति वक्त्रार्धमुक्तं हसितमीक्षितम् ।
ततोऽस्य कम्पते मूर्द्धा वाक्सङ्गः स्तब्धनेत्रता॥३४॥
दन्तचालः स्वरभ्रंशः श्रुतिहानिः क्षवग्रहः ।
गन्धाज्ञानं स्मृतेर्मोहस्त्रासः सुप्तस्य जायते ॥ ३५ ॥
निष्ठीवः पार्श्वतो यायादेकस्याक्ष्णो निमीलनम् ।
जत्रोरूर्ध्वं रुजा तीव्रा शरीरार्धेऽधरेऽपि वा ॥ ३६ ॥
तमाहुरर्दितं केचिदेकायाममथापरे ।

अर्दित—शिर पर भार उठाने से, बहुत हँसने या बोलने से,मुख को टेढ़ा करके छींक लेने से, अतिकठिन धनुष को खैंचने से, सिरहाने के विषम होने से, कठिन वस्तुओं के खाने से तथा नाना प्रकार के वातकारक वस्तुओं से बढ़ी हुई वायु ऊपर की ओर स्थित होकर मुख के आधे भाग, वाणी, हास्य एवं भक्षणक्रिया को टेढ़ा कर देती है। फिर इसका शिर हिलता है, वाणी रुक जाती है, नेत्र जड़ हो जाते हैं, दाँत हिलते हैं, स्वर बिगड़ जाता है, सुनाई कम देता है, छींक रुक जाती है, गन्ध का ज्ञान नहीं होता, स्मृति का मोह (याद-दास्त न रहना), एवं नींद में त्रास (भय) होता है। थूक मुख के एक पार्श्व से गिरता है, रोगी एक आंख बन्द कर सकता है, गले के ऊपर में शरीर के आधे भाग में या निचले भाग में भी पीड़ा होती है, इस रोग को अर्दित और दूसरे लोग एकायाम कहते हैं ॥ ३२-३६ ॥

असाध्य सिराग्रह के लक्षण—

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्द्धधराः सिराः ॥ ३७ ॥
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः ।

रक्त में आश्रित वायु ग्रीवा की सिराओं में रूक्षता, वेदना और कृष्णत्व उत्पन्न करती है, इसको सिराग्रह कहते हैं, यह असाध्य है ॥ ३७ ॥

एकांग (पक्षाघात) लक्षण—

गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च ॥ ३८ ॥
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान् विमोक्षयन् ।
कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः ॥ ३९ ॥
एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ।

वायु शरीर के आधे भाग को आक्रान्त करके, सिरा और स्नायु को शुष्क करके और सन्धिबन्धों को ढीला करके किसी एक पार्श्व को निष्कर्म कर देता है। इससे रोगी का सम्पूर्ण आधा शरीर कर्महीन और संज्ञारहित हो जाता है। इस रोग को कोई एकांग रोग कहते हैं और दूसरे पक्षवध कहते हैं।

सर्वांग रोग के लक्षण—

सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले ॥ ४० ॥

यदि वायु सम्पूर्ण शरीर में आश्रित हो तो इसको सर्वाङ्ग रोग जानना चाहिये ॥ ४० ॥

असाध्य पक्षाघात के लक्षण—

शुद्धवातहतः पक्षः कृच्छ्रसाध्यतमो मतः ।
कृच्छ्रस्त्वन्येन संसृष्टो विवर्ज्यः क्षयहेतुकः ॥ ४१ ॥

यदि शरीर का एक भाग केवल वायु से आक्रान्त हो तो वह अधिक कष्टसाध्य है, किसी दूसरे दोष से मिलित वायु से आक्रान्त होने पर कष्टसाध्य है और क्षयजन्य पक्षवध असाध्य है ॥ ४१ ॥

दण्डक के लक्षण—

आमबद्धायनः कुर्यात्संस्तभ्याङ्गं कफान्वितः ।
असाध्यं हतसर्वेहं दण्डवद्दण्डकं मरुत् ॥ ४२ ॥

आम के कारण स्रोतों के रुक जाने पर कफ से मिलित वायु शरीर को दण्डे की भाँति जड़ बना कर दण्डक रोग उत्पन्न करती है। इसमें सब चेष्टायें नष्ट हो जाती हैं और यह असाध्य होता है ॥ ४२ ॥

अवबाहुक के लक्षण—

अंसमूलस्थितो वायुः सिरा सङ्कोच्य तत्रगाः ।
बाहुप्रस्पन्दितहरं जनयत्यवबाहुकम् ॥ ४३ ॥

अंसमूल में स्थित वायु वहाँ जाने वाली सिराओं को सङ्कुचित करके अवबाहुक रोग को करती है, इसमें बाहु की चेष्टा नष्ट हो जाती है ॥ ४३ ॥

विश्वाची के लक्षण—

तलं प्रत्यङ्गुलीनां या कण्डरा बाहुपृष्ठतः ।
बाहुचेष्टापहरणी विश्वाची नाम सा स्मृता ॥ ४४ ॥

विश्वाची—बाहु के पृष्ठ भाग से लेकर हाथ के ऊपर के भाग में अङ्गुलियों के तल की ओर जाने वाली कण्डराओं को वायु जब पीड़ित करती है, तब बाहु की चेष्टा को नष्ट करने वाला विश्वाची नाम का रोग होता है ॥ ४४ ॥

खञ्ज और पङ्गु के लक्षण—

वायुः कट्यां स्थितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ।
तदा खञ्जो भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोरपि ॥ ४५ ॥

कटि में स्थित वायु जब टाँग की कण्डराओं में खिंचाव पैदा करती है, तब मनुष्य खञ्ज (लँगड़ा) हो जाता है और दोनों टाँगों के खिंचाव से पङ्गु हो जाता है ॥ ४५ ॥

कलायखञ्ज के लक्षण—

कम्पते गमनारम्भे खञ्जन्निव च याति यः ।
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ॥ ४६ ॥

चलना आरम्भ करने में जो पहले काँपता है और लँगड़ाते हुए चलता है, इसको कलायखञ्ज जानना चाहिये। इसमें सन्धि-बन्ध ढीले होते हैं ॥ ४६ ॥

ऊरुस्तम्भ के लक्षण—

शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयाससङ्क्षोभस्वप्नजागरैः ॥ ४७ ॥
सश्लेष्ममेदःपवनमाममत्यर्थसञ्चितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥ ४८ ॥
सक्थ्यस्थीनि प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन तत् ।
तदा स्कम्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥ ४९ ॥
परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः ॥ ५० ॥
संयुतौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥ ५१ ॥

ऊरुस्तम्भ—शीत, उष्ण, द्रव, शुष्क, गुरु और स्निग्ध भोजन के सेवन से, भोजन के कुछ भाग के पकने और कुछ के न पकने पर अनायास, संक्षोभ, नींद या जागरण करने से अतिशय सञ्चित आम जब कफ, मेद और वायु के साथ दूसरे दोष (पित्त) को दबा कर टाँगों की अस्थियों को घट्ट बने कफ से भरते हुए ऊरु में पहुँच जाते हैं, तब वह आम ऊरु को जड़ बना देता है, इससे ऊरु स्तब्ध, शीतल और संज्ञारहित हो जाते हैं। रोगी को दूसरे की टाँगों का अनुभव होता है (वह अपनी टाँगों को दूसरे की टाँगें समझता है) इनमें अतिशय पीड़ा होती है, रोगी की चिन्ता, अङ्गमर्द, स्तिमितता, तन्द्रा, वमन, अरुचि और ज्वर होता है। पैर कमजोर होते हैं। कठिनाई से पैर का रखना, उठाना होता है और पैर का संज्ञानाश होता है, इस रोग को ऊरुस्तम्भ कहते हैं, दूसरे आढयवात कहते हैं ॥ ४७–५१ ॥

क्रोष्टुकशीर्ष रोग—

वातशोणितजः शोफो जानुमध्ये महारुजः ।
ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षश्च स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत् ॥ ५२ ॥

वातरक्तजन्य जो शोथ जानु के मध्य में अतिशय वेदना करने वाला होता है तथा गीदड़ के शिर के समान स्थूल रहता है उसे क्रोष्टुकशीर्ष कहते हैं ॥ ५२ ॥

वातकण्टक रोग—

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ।
वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् ॥ ५३ ॥

पैर के टेढ़ा रखने से अथवा अधिक श्रम से जब वायु के कारण गुल्फ में वेदना होती है तब उसे वातकण्टक कहते हैं।

गृध्रसी रोग—

पार्ष्णिं प्रत्यङ्गुलीनां या कण्डरा मरुतार्दिता ।
सक्थ्युत्क्षेपं निगृह्णाति गृध्रसीं तां प्रचक्षते ॥ ५४ ॥

पार्ष्णि (एड़ी) की ओर जाने वाली अङ्गुलियों की जो कण्डरायें हैं, वे जब वायु से पीड़ित होकर टाँग उठाना रोक देती हैं, उसको गृध्रसी कहते हैं। (गृध्रसी दो प्रकार की है वातजन्य और वात-कफजन्य) ॥ ५४ ॥

वक्तव्य—यह रोग नितम्ब से प्रारम्भ होकर क्रमशः पैर की ओर जाता है। 'स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजंघापदं क्रमात्। गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः॥ वाताद्, वातकफात्तन्द्रागौरवाऽरोचकान्विता।'

खल्लीवात रोग—

विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विते ।

विश्वाची और गृध्रसी में अतिशय वेदना हो तो इनको खल्ली कहते हैं।

वक्तव्य—चरक में-'खल्ली तु पादजंघोरुकरमूलावमोटनी ॥' कहा है।

पादहर्ष रोग—

हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां च प्रसुप्तवत् ॥ ५५ ॥
पादहर्षः स विज्ञेयः कफमारुतकोपजः ।

जिस पुरुष के दोनों पैर हर्षयुक्त (रोमांच या झिन्झिन करनेवाले) होते हैं; तथा सोये हुए से (संज्ञाहीन) लगते हैं; वह रोग पादहर्ष है; यह कफ-वायुजन्य है ॥ ५५ ॥

पाददाह रोग—

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः ॥ ५६ ॥
विशेषतश्चङ्क्रमिते पाददाहं तमादिशेत् ।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने वातव्याधिनिदानं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

* * *

पित्त-रक्त के साथ मिली वायु-पैरों में, विशेष कर चलते समय दाह करती है; इसको पाददाह कहना चाहिये ॥ ५६ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का वातव्याधिनिदाननामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

* * *

षोडशोऽध्यायः

अथातो वातशोणितनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे वातशोणितनिदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वातरक्त रोग का निदान—

विदाह्यन्नं विरुद्धं च तत्तच्चासृक्प्रदूषणम् ।
भजतां विधिहीनं च स्वप्नजागरमैथुनम् ॥ १ ॥
प्रायेण सुकुमाराणामचङ्क्रमणशीलिनाम् ।
अभिघातादशुद्धेश्च नृणामसृजि दूषिते ॥ २ ॥
वातलैः शीतलैर्वायुर्वृद्धः क्रुद्धो विमार्गगः ।
तादृशैवासृजा रुद्धः प्राक्तदेव प्रदूषयेत् ॥ ३ ॥
आढ्यरोगं खुडं वातबलासं वातशोणितम् ।
तदाहुर्नामभिः, तच्च पूर्वं पादौ प्रधावति ॥ ४ ॥
विशेषाद्यानयानाद्यैः प्रलम्बौ—

मद्य, अम्ल, तक्र, दधि, निष्पाव आदि विदाही अन्न; संयोग-मात्रादि के कारण विरोधी अन्न तथा दूसरे रक्तप्रदूषक आहार-विहार को सेवन करने वालों में; तथा नींद, जागरण और मैथुन को, विधिपूर्वक न सेवन करने वालों में; प्रायः करके नाजुक प्रकृति वालों में, एवं जो चलते-फिरते नहीं, उनमें; चोट लगने से या वमन-विरेचनादि से शोधन न करने से मनुष्यों में रक्त के दूषित हो जाने पर; वायुकारक एवं शीतल कारणों से बढ़ी हुई वायु कुपित होकर विमार्ग में जाती हुई बढ़े और दूषित रक्त से रुक कर प्रथम इसी रक्त को ही दूषित करती है, इस अवस्था को आढ्यरोग, खुड, वातबलास और वातरक्त नाम से कहा है।

यह रोग प्रथम पैरों में दौड़ता(उत्पन्न होता) है। विशेष करके घोड़े आदिकी सवारी करने पर पैरों को लटकाने से यह रोग प्रथम पैरों में होता है ॥ १-४ ॥

वातरक्त रोग के पूर्वरूप—

तस्य लक्षणम् ।
भविष्यतः कुष्ठसमं तथा सादः श्लथाङ्गता ॥ ५ ॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु ।
कण्डूस्फुरणनिस्तोदभेदगौरवसुप्तताः ॥ ६ ॥
भूत्वा भूत्वा प्रणश्यन्ति मुहुराविर्भवन्ति च ।

पूर्वरूप—इस रोग के पूर्वरूप कुष्ठ के पूर्वरूप के समान हैं, तथा अङ्गों का अपने कार्यों में असामर्थ्य, अङ्गों में शिथिलता, जानु, जङ्घा, ऊरु, कटि, अंस, हाथ, पैर और अङ्गसन्धियों में कण्डू, स्फुरण, तोद, भेद, आदीपन, संज्ञानाश ये बार-बार प्रगट होकर नष्ट हो जाते हैं और फिर आ जाते हैं।

वातरक्त का सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होना—

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि ॥ ७ ॥
आखोरिव विषं क्रुद्धं कृत्स्नं देहं विधावति ।

यह रोग पैरों में जड़ जमाकर और कभी-कभी हाथों में स्थान करके कुपित होने पर चूहे के विष के समान सारे शरीर में फैल जाता है। (आखुविष के उदाहरण से मन्दविसर्पता बताई है ऐसी तोडर की मान्यता है) ॥ ७ ॥

वातरक्त के दो भेद—

त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं तत्पूर्वं जायते ततः ॥ ८ ॥
कालान्तरेण गम्भीरं सर्वान् धातूनभिद्रवत् ।

त्वचा और मांस में आश्रित वातरक्त उत्तान है, पहले यही होता है। फिर कुछ समय के उपरान्त सब धातुओं में दौड़ता हुआ गम्भीर बन जाता है ॥ ८ ॥

उत्तान वातरक्त—

कण्ड्वादिसंयुतोत्ताने त्वक्ताम्रा श्यावलोहिता ॥ ९ ॥
सायामा भृशदाहोषा—

उत्तान वातरक्त में त्वचा में कण्डू, स्फुरण आदि होते हैं, त्वचा ताम्र, श्याव या लोहित वर्ण की तथा आयाम-खिंचाव,

अतिशय दाह एवं ऊषा (जलन) युक्त होती है। (ऊषा-सरसों के लेप की भांति चिमचिमाहट) ॥ ९ ॥

गम्भीर वातरक्त—

गम्भीरेऽधिकपूर्वरुक् ।
श्वयथुर्ग्रथितः पाकी वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु ॥ १० ॥
छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान् ।
करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन् ॥ ११ ॥

गम्भीर वातरक्त में प्रथम अधिक वेदना होकर ग्रथित (उत्तुण्डित) तथा पकने वाला शोथ होता है, सन्धि, अस्थि और मज्जा में वायु काटती हुई एवं बलवान् होने से टेढ़ा करती हुई बिचरती है। और सम्पूर्ण शरीर में विचरती हुई शरीर में खञ्जता या पङ्गुता उत्पन्न करती है ॥ १०-११ ॥

वाताधिक वातरक्त—

वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूलस्फुरणतोदनम् ।
शोफस्य रौक्ष्यकृष्णत्वश्यावतावृद्धिहानयः ॥ १२ ॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् ।
शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भवेपथुसुप्तयः ॥ १३ ॥

वातरक्त में वायु की अधिकता होने पर शूल, स्फुरण और तोद अधिक होती है, शोफ रूक्ष, कृष्ण या श्याव वर्ण होता है, इसमें वढ़ती और घटती होती रहती है, अङ्गुलिसन्धियों की धमनियां संकुचित हो जाती हैं, अंग जकड़ जाते हैं, अति वेदना, शीत से द्वेष, शीत का अनुकूल न आना, स्तम्भ, कम्पन और स्पर्शसंज्ञानाश होता है॥

रक्ताधिक वातरक्त—

रक्ते शोफोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते ।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदसमन्वितः ॥ १४ ॥

रक्त की अधिकता होने पर शोफ अतिवेदना और तोद युक्त, ताम्रवर्ण तथा चिमचिमाहटवाला होता है स्निग्ध या रूक्ष उपायों से वह शान्त नहीं होता, कण्डू एवं क्लेद से युक्त होता है ॥ १४ ॥

पित्तानुबद्ध वातरक्त—

पित्ते विदाहः सम्मोहः स्वेदो मूर्च्छा मदः सतृट् ।
स्पर्शाक्षमत्वं रुग्रागः शोफः पाको भृशोष्मता ॥ १५ ॥

वातरक्त में पित्त का अनुबन्ध होने पर विदाह, सम्मोह, स्वेद, मूर्च्छा, मद, प्यास, स्पर्श का सहन न होना, पीड़ा, सुर्खी, शोफ, पाक और अतिशय उष्णिमा रहती है ॥ १५ ॥

कफानुबद्ध वातरक्त—

कफे स्तैमित्यगुरुतासुप्तिस्निग्धत्वशीतताः ।
कण्डूर्मन्दा च रुक्—

वातरक्त में कफ का अनुबन्ध होने पर, स्तिमितता, भारीपन, स्पर्शसंज्ञानाश, स्निग्धता, शीतलता, कण्डू और मन्दवेदना होती है।

द्वन्द्वज वातरक्त—

—द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च सङ्करे ॥ १६ ॥

वातरक्त में वात-पित्त तथा कफ-रक्त के द्वन्द्व संकर में द्वन्द्वों के लक्षण रहते हैं, और सबके संकर में सबके लक्षण रहते हैं ॥ १६ ॥

वातरक्त की साध्यासाध्यता—

एकदोषानुगं साध्यं नवं, याप्यं द्विदोषजम् ।
त्रिदोषजं त्यजेत्स्रावि स्तब्धमर्वुदकारि च ॥ १७ ॥

नूतन और एकदोषजन्य वातरक्त साध्य है, द्विदोषजन्य याप्य है, त्रिदोषजन्य स्रावयुक्त, निश्चल और अर्बुद के समान ऊपर उठा वातरक्त असाध्य है ॥ १७ ॥

घातक वातरक्त—

रक्तमार्गं निहत्याशु शाखासन्धिषु मारुतः ।
निविश्यान्योन्यमावार्य वेदनाभिर्हरत्यसून् ॥ १८ ॥

वायु शाखा-सन्धियों में प्रवेश करके रक्त के मार्ग को शीघ्र विनष्ट करके परस्पर एक दूसरे को रोक कर वेदनाओं से प्राणों को हर लेती है ॥ १८ ॥

विकृत प्राणवायु के कार्य—

वायौ पञ्चात्मके प्राणो रौक्ष्यव्यायामलङ्घनैः ।
अत्याहाराभिघाताध्ववेगोदीरणधारणैः ॥ १९ ॥
कुपितश्चक्षुरादीनामुपघातं प्रवर्तयेत् ।
पीनसार्दिततृट्कासश्वासादींश्चामयान्बहून् ॥ २० ॥

पांच प्रकार की वायु में से प्राणवायु—रूक्षता, व्यायाम, लंघन, अतिभोजन, चोट, मुसाफिरी तथा उपस्थित वेगों के रोकने से कुपित होकर चक्षु आदि इन्द्रियों का नाश करती है तथा पीनस, अर्दित, प्यास, कास, श्वास आदि बहुत से रोगों को करती है ॥ १९-२० ॥

उदान वायु के कार्य—

उदानः क्षवथूद्गारच्छर्दिनिद्राविधारणैः ।
गुरुभारातिरुदितहास्याद्यैर्विकृतो गदान् ॥ २१ ॥
कण्ठरोधमनोभ्रंशच्छर्द्यरोचकपीनसान् ।
कुर्याच्च गलगण्डादींस्तांस्तान् जत्रूर्ध्वसंश्रयान् ॥

उदान वायु—छींक, उद्गार, वमन एवं नींद के वेगों को रोकने से तथा भारी बोझ, अतिशय रोना, अतिहास्य आदि से विकृत होकर कण्ठरोध, मन का भ्रंश, छर्दि, अरोचक, पीनस, गलगण्ड आदि नाना प्रकार के जत्रु से ऊपर होने वाले रोगों को करती है ॥ २१-२२ ॥

व्यान वायु के कार्य—

व्यानोऽतिगमनध्यानक्रीडाविषमचेष्टितैः ।
विरोधिरूक्षभीहर्षविषादाद्यैश्च दूषितः ॥ २३ ॥
पुंस्त्वोत्साहबलभ्रंशशोफचित्तोत्प्लवज्वरान् ।
सर्वाङ्गरोगनिस्तोदरोमहर्षाङ्गसुप्तताः ॥ २४ ॥
कुष्ठं विसर्पमन्यांश्च कुर्यात्सर्वाङ्गगान् गदान् ।

व्यान वायु-बहुत चलने, चिन्ता करने, खेलने और विषम चेष्टाओं से तथा विरोधी, रूक्ष, भय, हर्ष एवं शोक आदि से

दूषित कुपित होकर पुरुषत्वहानि, उत्साहहानि, बलहानि, शोफ, चित्त की बेचैनी, ज्वर, सर्वांग रोग, तोद, रोमहर्ष, अंगों में जड़ता, कुष्ठ, वीसर्प और अन्य सब अंगों में होनेवाले रोगों को करती है ॥ २३-२४ ॥

समान वायु के कार्य

समानो विषमाजीर्णशीतसङ्कीर्णभोजनैः ॥ २५ ॥
करोत्यकालशयनजागराद्यैश्च दूषितः ।
शूलगुल्मग्रहण्यादीन् पक्वामाशयजान् गदान् ॥२६॥

समान वायु—विषम भोजन, अजीर्ण में भोजन, शीत भोजन और संकीर्ण भोजन से तथा असमय में सोने या जागने आदि से कुपित होकर शूल, गुल्म, ग्रहणी आदि पक्वाशयगत रोगों को उत्पन्न करती है ॥ २५-२६ ॥

अपान वायु के कार्य—

अपानो रूक्षगुर्वन्नवेगाघातातिवाहनैः ।
यानयानासनस्थानचङ्क्रमैश्चातिसेवितैः ॥ २७ ॥
कुपितः कुरुते रोगान् कृच्छ्रान् पक्वाशयाश्रयान् ।
मूत्रशुक्रप्रदोषार्शोगुदभ्रंशादिकान् बहून् ॥ २८ ॥

अपान वायु रूक्ष तथा गुरु अन्न के सेवन से, उपस्थित वेगों को रोकने से, वेगों को अतिप्रवृत्त करने से, घोड़े आदि पर सवारी करना, बैठना, खड़े रहना, चलना-इनका अतिमात्रा में सेवन करने से कुपित होकर पक्वाशय में आश्रित कष्टसाध्य रोगों को तथा मूत्र एवं शुक्र के दोष, अर्श, गुदभ्रंश आदि बहुत से रोगों को करती है ॥ २७-२८ ॥

साम और निराम वायु के लक्षण—

सर्वं च मारुतं सामं तन्द्रास्तैमित्यगौरवैः ।
स्निग्धत्वारोचकालस्यशैत्यशोफाग्निहानिभिः ॥२९॥
कटुरूक्षाभिलाषेण तद्विधोपशयेन च ।
युक्तं विद्यान्निरामं तु तन्द्रादीनां विपर्ययात् ॥ ३० ॥

तन्द्रा, स्तिमितता, भारीपन, चिकनापन, अरोचक, आलस्य, शीतलता, शोफ, अग्निहानि, कटु, रूक्ष की चाह और इसी प्रकार की चिकित्सा से शान्त होने पर वायु को आम युक्त जानना चाहिए। तन्द्रा आदि लक्षणों की विपरीतता से निराम वायु को जाने ॥ २९-३० ॥

वायु के आवरण और भेद—

वायोरावरणं चातो बहुभेदं प्रवक्ष्यते ।

इसके आगे वायु के अनेक प्रकार के आवरणों को कहा जायेगा।

पित्तावरण के लक्षण—

लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः ॥ ३१ ॥
कटुकोष्णाम्ललवणैर्विदाहः शीतकामिता ।

वायु के पित्त से आवृत होने पर दाह, प्यास, शूल, भ्रम, एवं अन्धकार होते हैं तथा कटु, अम्ल और उष्ण एवं लवण से विदाह होता है और शीत की चाह रहती है ॥ ३१ ॥

कफावृत वायु के लक्षण—

शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम् ॥ ३२ ॥
लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते ।

वायु के कफ से आवृत होने पर शीतलता, भारीपन, शूल होना, कटु आदि रसों का अधिक अनुकूल आना, एवं लङ्घन, आयास, रूक्षता तथा उष्णिमा की चाह होती है।

रक्तावृत वायु—

रक्तावृते सदाहाऽर्तिस्त्वङ्मांसान्तरजा भृशम् । ३३।
भवेच्च रागी श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च ।

वायु के रक्त से आवृत होने पर त्वचा तथा मांस के बीच में दाहयुक्त बहुत पीड़ा होती है और सुर्खी वाला शोथ तथा मण्डल उत्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

मांसावृत वायु—

मांसेन कठिनः शोफो विवर्णः पिटिकास्तथा ॥ ३४ ॥
हर्षः पिपीलिकानां च सञ्चार इव जायते ।

वायु के मांस से आवृत होने पर कठिन और विवर्ण शोफ, पिटिका तथा रोमांच होते हैं और चीटियों का चलना सा प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

मेदसावृत वायु—

चलः स्निग्धो मृदुःशीतः शोफो गात्रेष्वरोचकः॥३५॥
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृते ।

मेद से वायु के आवृत होने पर चल, स्निग्ध, कोमल और शीत शोफ अङ्गों में होता है; रोगी को अरोचक रहता है, इस अवस्था को आढ्यवात जानना, यह कष्टसाध्य है।

वक्तव्य—ऊरुस्तम्भ और वातरक्त को भी आढ्यवात बताया गया है। आढ्य = धनिकों का वात-आढ्यवात।

अस्थ्यावृत वायु—

स्पर्शमस्थ्यावृतेऽत्युष्णं पीडनं चाभिनन्दति ॥ ३६ ॥
सूच्येव तुद्यतेऽत्यर्थमङ्गं सीदति शूल्यते ।

अस्थि से वायु के आवृत होने पर अति उष्ण स्पर्श तथा दबाना अधिक पसन्द आता है, अङ्ग सूई चुभने की वेदना से युक्त एवं शिथिल होता है और शूल होता है ॥ ३६ ॥

मज्जावृत वायु—

मज्जावृते विनमनं जृम्भणं परिवेष्टनम् ॥ ३७ ॥
शूलं च पीड्यमानेन पाणिभ्यां लभते सुखम् ।

मज्जा से वायु के आवृत होने पर अङ्गों का मुड़ना, जम्भाई, ऐंठन या रस्सी आदि से लपेटे होने का अनुभव, शूल और हाथों से दबाने पर सुख का अनुभव होना इसका लक्षण है। [विनमनं-गात्रशैथिल्यम्-तोडरः] ॥ ३७ ॥

शुक्रावृत वायु—

शुक्रावृतेऽतिवेगो वा न हि निष्फलताऽपि वा ॥३८।

वायु के शुक्र से आवृत होने पर शुक्र का अतिशय वेग होता है अथवा नहीं होता तथा गर्भोत्पत्ति नहीं होती ॥३८॥

अन्नावृत वायु—

भुक्ते-कुक्षौ रुजा जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले ।

वायु के अन्न से आवृत होने पर उदर में वेदना होती है जो भोजन के जीर्ण होने पर शान्त होती है।

मूत्रावृत वायु—

मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं वस्तेर्मूत्रावृते भवेत् ॥ ३९ ॥

वायु के मूत्र से आवृत होने पर मूत्र की अप्रवृत्ति और बस्ति का आध्मान होता है ॥ ३९ ॥

विडावृत वायु—

विडावृते विबन्धोऽथ स्वस्थाने परिकृन्तति ।
व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्तं चानह्यते नरः ॥ ४० ॥
शकृत्पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं चिरात्सृजेत् ।

वायु के मल से आवृत होने पर वायु के अपने स्थान में अपान वायु का पक्वाशय और गुदा में अवरोध होता है और वह काटने के समान पीडा करती है, स्नेह का तुरन्त पाचन हो जाता है, खाने पर आध्मान होता है तथा अन्न से दबाया हुआ मल शुष्क और कठिनाई से एवं देर में बाहर आता है ॥ ४० ॥

अर्वधात्वावृत वायु—

सर्वधात्वावृते वायौ श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठरुक् ॥ ४१ ॥
विलोमो मारुतोऽस्वस्थं हृदयं पीड्यतेऽति च ।

वायु के सब धातुओं से आवृत होने पर श्रोणि, वंक्षण और पीठ में दर्द, वायु की विमार्गगति, असुख और हृदय अतिशय पीडित होता है ॥ ४१ ॥

पित्तावृत प्राणवायु—

भ्रमो मूर्च्छा रुजा दाहः पित्तेन प्राण आवृते ॥ ४२ ॥
विदग्धेऽन्ने च वमनम्—

प्राण वायु के पित्त से आवृत होने पर भ्रम, मूर्च्छा, पीडा, दाह और अन्न के विदाह अवस्था में पहुँचने पर वमन होता है ॥ ४२ ॥

पित्तावृत उदानवायु—

—उदानेऽपि भ्रमादयः ।
दाहोऽन्तरूर्जाभ्रंशश्च—

उदान के पित्त से आवृत होने पर भ्रम आदि पूर्वोक्त रोग, अन्दर में दाह और बल का नाश होता है।

पित्तावृत व्यानवायु—

--दाहो व्याने च सर्वगः ॥ ४३ ॥
क्लमोऽङ्गचेष्टासङ्गश्च ससन्तापः सवेदनः ।

व्यान के पित्त से आवृत होने पर सब अङ्गों में दाह, क्लम, शरीर के व्यापार का अवरोध, सन्ताप और पीड़ा होती है।

पित्तावृत समानवायु—

समान ऊष्मोपहतिरतिस्वेदोऽरतिः सतृट् ॥ ४४ ॥
दाहश्च स्यात्—

समान वायु के पित्त से आवृत होने पर अग्नि का नाश, अतिस्वेद, बेचैनी, प्यास और दाह ये सब होते हैं ॥ ४४ ॥

पित्तावृत अपानवायु—

~ अपाने तु मले हारिद्रवर्णता ।
रजोऽतिवृत्तिस्तापश्च योनिमेहनपायुषु ॥ ४५ ॥

अपान वायु के पित्त से आवृत होने पर मल में हारिद्र वर्ण; रज की अधिकता तथा योनि, मेहन और पायु में सन्ताप होता है ॥ ४५ ॥

वक्तव्य—रजोऽतिवृत्तिः-अज्ञानप्रवृत्तिः इति तोडरः। संग्रह में 'रुजोऽतिवृत्तिः' पाठ है, अरुणदत्त ने भी यही माना है, परन्तु चरक में 'रजसः सम्प्रवर्त्तनम्'। सुश्रुत में-'स्यादसृग्दरः' पाठ है, इसलिए 'रजोऽतिवृत्तिः' यह पाठ और आर्त्तव की अधिकता यह अर्थ बहुसम्मत है।

कफावृत प्राणवायु—

श्लेष्मणा त्वावृते प्राणे सादस्तन्द्राऽरुचिर्वमिः ।
ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ॥ ४६ ॥

प्राण वायु के कफ से आवृत होने पर शिथिलता, तन्द्रा, अरुचि, वमन, थूक का आना तथा छींक, उद्गार, निःश्वास और उच्छ्वास का अवरोध होता है ॥ ४६ ॥

कफावृत उदानवायु-

उदाने गुरुगात्रत्वमरुचिर्वाक्स्वरग्रहः ।
बलवर्णप्रणाशश्च—

उदान वायु के कफ से आवृत होने पर शरीर में भारीपन अरुचि, वाणी और स्वर का पकड़ा जाना, बल और वर्ण का नाश होता है।

कफावृत व्यानवायु—

~ व्याने पर्वास्थिवाग्ग्रहः ॥ ४७ ॥
गुरुताऽङ्गेषु सर्वेषु स्खलितं च गतौ भृशम् ।

व्यान वायु के कफ से आवृत होने पर पर्व, अस्थि और वाणी का अवरोध, तथा सब अंगों में भारीपन होता है तथा चलने में अतिशय लड़खड़ाता है ॥ ४७ ॥

कफावृत समान तथा अपान वायु—

समानेऽतिहिमाङ्गत्वमस्वेदो मन्दवह्निता ॥ ४८ ॥
अपाने सकफं मूत्रशकृतः स्यात्प्रवर्तनम् ।
इति द्वाविंशतिविधं वायोरावरणं विदुः ॥ ४९ ॥

समान वायु के कफ से आवृत होने पर अंगों का बर्फ की भांति ठण्डा पड़ जाना, पसीना न आना तथा अग्नि का मन्द होना होता है।

अपान वायु के कफ से आवृत होने पर मूत्र और मल कफ के साथ प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार बाइस प्रकार के वायु के आवरण होते हैं[1] ॥ ४८-४९ ॥

---

[1] बाइस आवरण—पित्तावृत, कफावृत, रक्तावृत, मांसावृत, मेदसावृत, अस्थ्यावृत, मज्जावृत, शुक्रावृत, अन्नावृत, मूत्रावृत, विडावृत, सर्वधात्वावृत, पित्तावृत प्राण, पित्तावृत उदान, पित्तावृत व्यान, पित्तावृत समान, पित्तावृत अपान, कफावृत पाण, कफावृत उदान, कफावृत व्यान, कफावृत समान और कफावृत अपान।

प्राणादि का परस्पर आवरण से वीस भेद--

प्राणादयस्तथाऽन्योन्यमावृण्वन्ति यथाक्रमम् ।
सर्वेऽपि विंशतिविधं विद्यादावरणं च तत् ॥ ५० ॥

प्राण आदि पांचो वायु क्रमशः परस्पर सें एक-एक दूसरे का आवरण करते हैं इस प्रकार का आवरण वीस प्रकार का होता है[1] ॥ ५० ॥

आवरण के लक्षण—

निःश्वासोच्छ्वाससंरोधः प्रतिश्यायः शिरोग्रहः ।
हृद्रोगो मुखशोषश्च प्राणेनोदान आवृते ॥ ५१ ॥
उदानेनावृते प्राणे वर्णौजोबलसङ्क्षयः ।

प्राणवायु से उदान वायु का आवरण होने से निःश्वास-उच्छ्वास का अवरोध, प्रतिश्याय, शिरोग्रह, हृद्रोग और मुखशोप होता है । उदान से प्राणवायु का आवरण होने पर वर्ण, ओज और वल का नाश होता है ॥ ५१ ॥

आवरण का ज्ञान—

दिशाऽनया च विभजेत्सर्वमावरणं भिषक् ॥ ५२ ॥
स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम् ।

इस उदाहरण से वैद्य सब आवरणों का वायु के स्थान और कर्मों की वृद्धि और हानि को देखकर विभाग करे ॥५२॥

आवरणों का असंख्येयत्व—

प्राणादीनां च पञ्चानां मिश्रमावरणं मिथः ॥ ५३ ॥
पित्तादिभिर्द्वादशभिर्मिश्राणां मिश्रितैश्च तैः ।

प्राणादि पाँचों वायुओं का परस्पर मिश्रित आवरण तथा पित्त आदि बारह (पित्त, कफ, रक्त, मांस, मेद अस्थि, मज्जा, शुक्र, अन्न, मूत्र, मल और सब धातु) से मिलित आवरण प्राण आदि वायु नें दो-दो या तीन-तीन या अधिक के मिलने पर अलग-अलग तथा पाँचों वायु का मिश्रित रूप में आवरण मिश्रित लक्षणों से जानना चाहिए ॥ ५३ ॥

वक्तव्य--प्राण आदि का दो-दो या तीन-तीन रूप में मिलकर पित्तादि बारह से आवृत होना । प्राण आदि का अलग-अलग पित्तादि से आवृत होना । पांचों वायु का एक साथ मिलकर पित्तादि से आवृत होना ।

मिश्रैः पित्ताभिस्तद्वन्मिश्रणाभिरनेकधा ॥ ५४ ॥
तारतम्यविकल्पाच्च यात्यावृतिरसङ्ख्यताम् ।
तां लक्षयेदवहितो यथास्वं लक्षणोदयात् ॥ ५५ ॥
शनैः शनैश्चोपशयाद् गूढामपि मुहुर्मुहुः ।

इसी प्रकार मिले हुए पित्तादि बारह से आवृत प्राणादि, मिले हुए वायुओं से मिश्रित आवरण, परस्पर मिश्रित वायुओं के अनेक प्रकार से तर-तम के भेद के कारण असंख्य बन जाता है। इस आवरण को उनके अपने-अपने लक्षणों के उत्पन्न होने से सावधानीपूर्वक देखे। और गूढ आवृति को भी बार-बार धीरे-धीरे उपशय से जाने। (एक साथ जल्दी में न जाने ।) ॥ ५४-५५ ॥

प्राण और उदान वायु की विशेषता—

विशेषाज्जीवितं प्राण उदानो बलमुच्यते ॥ ५६ ॥
स्यात्तयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च ।

(प्राण आदि सब वायु जीवन हैं, फिर भी), प्राण वायु विशेष कर जीवन है और उदान वायु बल कही जाती है। इन दोनों के विक्षोभ से बल और आयु दोनों की हानि होती है।

आवरणों का साध्यत्व—

आवृता वायवोऽज्ञाता ज्ञाता वा वत्सरं स्थिताः ॥५७॥
प्रयत्नेनापि दुःसाध्या भवेयुर्वाऽनुपक्रमाः ।

आवृत वायु यदि जानी न जाये, अथवा ज्ञात होने पर भी एक साल तक चिकित्सा न की जाये तो प्रयत्न से भी कष्टसाध्य या असाध्य होती है ॥ ५७ ॥

आवरणों से विद्रध्यादि की उत्पत्ति—

विद्रधिप्लीहहृद्रोगगुल्माग्निसदनादयः ॥ ५८ ॥
भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात् ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीये निदानस्थाने वात-
शोणितनिदानं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

आवृत वायु की उपेक्षा करने से विद्रधि, प्लीहा, हृद्रोग, गुल्म और अग्निमान्द्य आदि रोग होते हैं ॥ ५८ ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में निदानस्थान का वातशोणित निदान नामक
सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

इति निदानस्थानं समाप्तम् ॥

---

[1] बीस आवरण—प्राण से उदान का, उदान से प्राण का, प्राण से व्यान का, व्यान से प्राण का, प्राण से समान का, समान से प्राण का, प्राण से अपान का, अपान से प्राण का, उदान से व्यान का, व्यान से उदान का, उदान से समान का, समान से उदान का, उदान से अपान का, अपान से उदान का, व्यान से समान का, समान से व्यान का, व्यान से अपान का, अपान से व्यान का, समान से अपान का और अपान से समान का ।

अथ चिकित्सितस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे ज्वरचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वक्तव्य—'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽन्तरमौषधम्' (च. सू. अ. २०) अतः निदानस्थान में रोग-परीक्षा का वर्णन करने के बाद अब चिकित्सा का वर्णन आरम्भ करते हैं।

ज्वर में लंघन की आवश्यकता—

आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान् पिधाय यत्।
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्मात्कुर्वीत लङ्घनम् ॥ १ ॥
विदधाति ज्वरादौ वा बलं यत्नेन पालयन्।
बलाधिष्ठानमारोग्यमारोग्यार्थः क्रियामकः ॥ २ ॥

आमाशय में स्थित दोष आम के साथ मिलकर जाठराग्नि को नष्ट (मन्द) करके, स्रोतों को रोककर ज्वर उत्पन्न करता है, इसलिए ज्वर के पूर्वरूपों में या ज्वर के प्रारम्भ में रोग के बल का ध्यान सावधानी से रखते हुए लंघन कराये क्योंकि जिस आरोग्य के लिए चिकित्सा की जाती है उसका आधार बल ही होगा ॥ १-२ ॥

वक्तव्य—लंघन तो अनेक होते हैं पर यहां लंघन का अर्थ उपवास है, यथा—'तस्मादादोषपाचनाज्ज्वरितानुपवासयेत्।' यह उपवास बल के अनुसार कराये। पूर्वरूप या आरम्भ में ही चिकित्सा करने से रोग आगे नहीं बढ़ते, इसलिए पूर्वरूप में लंघन कराये। यह लंघन क्षय, वायु, भय, क्रोध, काम, शोक और श्रमजन्य ज्वर में नहीं करवाना चाहिए, क्योंकि लंघन से वायु का प्रकोप होता है और इनमें स्वभावतः वायु प्रकुपित रहती है। वायुजन्य ज्वर में या जिन ज्वरों में वात प्रकोप रहता हो, उनमें लंघन न कराके घृतपान देवे, यथा—'ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्त्तमानेषु बुद्धिमान्। पाययेत्सर्पिरच्छं तु ततः स लभते सुखम् ॥ विधिर्मारुतजेष्वेष पैत्तिकेषु विरेचनम्। मृदुप्रच्छर्दनं तद्वत् कफजेषु विधीयते ॥ सर्वं त्रिदोषजेषूक्तं यथादोषं विकल्पयेत् ॥' (सु. उ. तं. अ. ३९)

लंघन के गुण—

लङ्घनैः क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति।
स्वास्थ्यं क्षुत्तृड् रुचिः पक्तिर्बलमोजश्च जायते ॥ ३ ॥

लंघन से दोष के क्षीण हो जाने और अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर शरीर में हल्कापन आ जाने से स्वास्थ्य (आरोग्य), भूख, प्यास, अन्न में रुचि एवं अग्नि, बल और ओज उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

सामज्वर में वमन—

तत्रोत्कृष्टे समुत्क्लिष्टे कफप्राये चले मले।
सहृल्लासप्रसेकान्नद्वेषकासविसूचिके ॥ ४ ॥
सद्योभुक्तस्य सञ्जाते ज्वरे सामे विशेषतः।
वमनं वमनार्हस्य शस्तम्—

इनमें दोष उत्कृष्ट (अपने प्रमाण से बहुत अधिक), समुत्क्लिष्ट (अपने स्थान से चलायमान होकर बाहर निकालने की प्रवृत्तिवाला), कफप्राय (कफ की अधिकता वाला) और चल (चलायमान) हो तथा रोगी को जी मिचलाना, लालास्राव, अन्नविद्वेष, कास या विसूचिका हो तथा भोजन करने के पीछे तुरन्त ज्वर हुआ हो और विशेष करके ज्वर के आमयुक्त होने पर वमन के योग्य व्यक्ति (वमन-विरेचन विधि में कहे) को वमन देना उत्तम है ॥ ४ ॥

विधि-विपरीत वमन से हानि—

कुर्यात्तदन्यथा ॥ ५ ॥
श्वासातीसारसम्मोहहृद्रोगविषमज्वरान्।

यदि उपर्युक्त विधि के अनुसार वमन नहीं दिया जायेगा तो रोगी को श्वास, अतिसार, सम्मोह, हृद् (ग्रह) रोग और विषमज्वर होंगे ॥ ५ ॥

वक्तव्य—अनुत्कृष्ट दोष को वमन से उत्क्लेशित करने से वायु के कारण मार्ग के रुकने पर श्वास होता है। थोड़ा उत्क्लेशित होने से अग्निमान्द्य होने के कारण अतिसार, दोष शुष्क होने पर औषध की तीक्ष्णता से सम्मोह, दोष के ऊपर चले जाने से हृद्ग्रह होता है। दोष के थोड़ा होने से, बाहर न निकलने से तथा दूर तक स्रोतों में पहुँचकर लीन हो जाने से विषमज्वर होता है।

वमनकारक द्रव्य—

पिप्पलीभिर्युतान् गालान् कलिङ्गैर्मधुकेन वा ॥ ६ ॥
उष्णाम्भसा समधुना पिबेत्सलवणेन वा।
पटोलनिम्बकर्कोटवेत्रपत्रोदकेन वा ॥ ७ ॥
तर्पणेन रसेनैक्षोर्मद्यैः कल्पोदितानि वा।
वमनानि प्रयुञ्जीत बलकालविभागवित् ॥ ८ ॥

वमन द्रव्य—पिप्पली या इन्द्रजौ अथवा मुलहठी के साथ मैनफल को गरम पानी में घोलकर मधु या सैन्धव नमक मिलाकर पिये। अथवा परवल, नीम, ककोड़ा, बेंत का पत्ता इनके क्वाथ से वमन करे। या तर्पण (पानी में घुले सत्तू) से, ईख के रस से, मद्य से या कल्प स्थान में कहे वमनों से रोगी को वमन कराये। वमन में बल (रोगी की शक्ति) एवं समय का ध्यान अवश्य रक्खे ॥ ६-८ ॥

वमन में लंघन की आवश्यकता—

कृतेऽकृते वा वमने ज्वरी कुर्याद्विशोषणम् ।
दोषाणां समुदीर्णानां पाचनाय शमाय च ॥ ९ ॥

ज्वररोगी (जो वमन के योग्य है वह) वमन करके या (जो वमन के योग्य नहीं वह) वमन न करके शोषण (उपवास द्वारा) करे। इससे भली प्रकार से कुपित दोषों (अपक्व दोषों) का पाचन तथा (पक्व दोषों का) शमन होता है ॥ ९ ॥

लंघन की अवधि—

दोषेण भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्नं न विपच्यते ।
तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानुपवासयेत् ॥ १० ॥

जिस प्रकार से राख से ढंपी अग्नि अन्न का पाक नहीं कर सकती, उसी प्रकार दोषों से ढंपी अग्नि (जाठराग्नि) अन्न का पाक नहीं कर सकती। इसलिये दोष के परिपाक होने तक ज्वररोगियों को उपवास कराना चाहिये ॥ १० ॥

वात-कफ ज्वर में गर्म जल का विधान—

तृष्ण-गल्पाल्पमुष्णाम्बु पिबेद्वातकफज्वरे ।
तत्कफं विलयं नीत्वा तृष्णामाशु निवर्तयेत् ॥ ११ ॥
उदीर्य चाग्निं स्रोतांसि मृदूकृत्य विशोधयेत् ।
लीनपित्तानिलस्वेदशकृन्मूत्रानुलोमनम् ॥ १२ ॥
निद्राजाड्यारुचिहरं प्राणानामवलम्बनम् ।
विपरीतमतः शीतं दोषसङ्घातवर्द्धनम् ॥ १३ ॥

प्यास लगने पर थोड़ा-थोड़ा गरम पानी वात-कफ ज्वर में पिये। यह गरम पानी कफ का विलयन करके प्यास को शीघ्र नष्ट करता है तथा अग्नि को प्रबल और स्रोतों को नरम बना करके इनका शोधन करता है, लीन हुए स्वेद, वायु, मल और मूत्र का अनुलोमन करता है, निद्रा, जड़ता और अरुचि को नष्ट करता है एवं प्राणों का सहारा होता है। इससे विपरीत शीतल जल दोषसमूह को बढ़ाता है ॥

वक्तव्य—'ज्वरितस्य कायसमुत्थानदेशकालानभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः, ज्वरो हि आमाशयसमुत्थः, प्रायो भेषजानि चामाशयसमुत्थानां विकाराणां पाचनवमनापतर्पणसमर्थानि भवन्ति। पाचनार्थं च पानीयमुष्णं, तस्मादेतज्ज्वरितेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठं, तद्धि एषां पीतं वातमनुलोमयति, अग्निमुदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं च जरां गच्छति, श्लेष्माणं च परिशोषयति' स्वल्पमपि च पीतं तृष्णाप्रशमनायोपपद्यते ॥' (चरक वि. अ. ३)

पित्तज्वर में गर्म जल का निषेध—

उष्णमेवंगुणत्वेऽपि युञ्ज्यान्नैकान्तपित्तले ।
उद्रिक्तपित्ते दवथुदाहमोहातिसारिणि ॥ १४ ॥
विषमद्योत्थिते ग्रीष्मे क्षतक्षीणेऽस्रपित्तिनि ।

उष्ण पानी में इतने गुण होने पर भी उष्ण पानी को शुद्ध पित्तज्वर में, जिस संसर्गज या सन्निपात ज्वर में पित्त की अधिकता हो, आँखों में जलन, दाह, मोह, अतिसार हो तथा विष या मद्य से जन्य ज्वर में, ग्रीष्म में, क्षतक्षीण में और रक्तपित्त में गरम पानी नहीं देना चाहिये ॥ १४ ॥

वक्तव्य—'तथाप्युक्तमपि चैतन्नात्यर्थोत्सन्नपित्ते ज्वरे सदाहभ्रमप्रलापातिसारे वा प्रदेयम्, उष्णेन हि दाहभ्रमप्रलापातिसारा भूयोऽभिवर्धन्ते, शीतेनोपशाम्यन्तीति ॥ (चरक वि. अ. ६।४५।)

पित्ताधिक ज्वर में ओषधिसिद्ध जल का पान—

घनचन्दनशुण्ठ्यम्बुपर्पटोशीरसाधितम् ॥ १५ ॥
शीतं तेभ्यो हितं तोयं पाचनं तृड्ज्वरापहम् ।

मुस्ता, लाल चन्दन, सोंठ, सुगन्धबाला, पित्तपापड़ा और खस इनसे सिद्ध किया शीतल जल पाचन करने वाला है और प्यास एवं ज्वर को नष्ट करता है ॥ १५ ॥

वक्तव्य—'कर्षं गृहीत्वा द्रव्यस्य तोयस्य प्रस्थमावपेत्। अर्धावशेषं तद् ग्राह्यं तोयपाने त्वयं विधिः ॥'

ज्वर में पित्तविरुद्ध आहारादि का त्याग—

ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना ॥
तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिकेऽधिकम् ।

पित्त के बिना शरीर में उष्णिमा नहीं है, उष्णिमा के बिना ज्वर नहीं होता। इसलिए जो पित्त में विरोधी आहार-विहार हैं अर्थात् जिनका प्रयोग पित्त में नहीं करना चाहिए उनका सम्पूर्ण रूप से ज्वर में त्याग करे और पित्त की अधिकता वाले ज्वरों में अतिशय रूप में छोड़े ॥ १६ ॥

ज्वर में स्नान का निषेध—

स्नानाभ्यङ्गप्रदेहांश्च परिशेषं च लङ्घनम् ॥ १७ ॥

ज्वर में स्नान, अभ्यंग, प्रदेह, पूर्व कथित (उपवास) से भिन्न लंघन को भी (पित्त में हितकारक होने पर भी) छोड़ देवे ॥ १७ ॥

सामज्वर में शूलघ्न औषध—

अजीर्ण इव शूलघ्नं सामे तीव्ररुजि ज्वरे ।
न पिबेदौषधं तद्धि भूय एवाममावहेत् ॥ १८ ॥
आमाभिभूतकोष्ठस्य क्षीरं विषमहेरिव ।

आमयुक्त अजीर्ण में तीव्र शूल होने पर भी जैसे शूलनाशक औषध नहीं पी जाती, उसी प्रकार आमयुक्त तीव्र ज्वर में तीव्र पीड़ा होने पर भी (क्वाथकल्पना की) औषध नहीं पीनी चाहिये। क्योंकि ज्वर रोगी के कोष्ठ के आम से अभिभूत होने के कारण दी हुई औषध ज्वर को और भी बढ़ा देती है, जिस प्रकार कि विषनाशक दूध सांप में विष को बढ़ा देता है ॥ १८ ॥

वक्तव्य—चरक में-'आमप्रदोषदुर्बलोऽग्निर्युगपद्दोषमौषधमाहारजातं चाशक्तः पक्तुम् ।' (च. वि. अ. २)। 'जीर्णाशने तु-भैषज्यं युञ्ज्यात्स्तब्धगुरूदरे। दोषशेषस्य पाकार्थमग्नेः सन्धुक्षणाय च ॥' (अ. हृ. सू. अ. ८) इसमें भी कषायकल्पना की कषाय रस औषध विशेष कर निषिद्ध है। क्योंकि कषाय से दोष रुक जाते हैं पाचक कषाय आम की अधिकता न होने पर दिये जाते हैं। रसौषध के लिये

ये नियम साधारणतः लागू नहीं होते। क्योंकि उनकी मात्रा बहुत अल्प है। इसके सिवाय ये रसौषधें योगवाही होती हैं। रसौषध में देश, काल, साम और निराम का विवेचन काष्ठौषध की अपेक्षा कम रहता है।

उदर्दादि ज्वर में स्वेद कर्म—

सोदर्दपीनसश्वासे जङ्घापर्वास्थिशूलिनि ॥ १९ ॥
वातश्लेष्मात्मके स्वेदः प्रशस्तः, स प्रवर्तयेत् ।
स्वेदमूत्रशकृद्वातान् कुर्यादग्नेश्च पाटवम् ॥ २० ॥

उदर्द, पीनस, श्वासयुक्त ज्वर में, जङ्घा, पार्श्व तथा अस्थिशूल युक्त और वातकफजन्य ज्वर में, स्वेद देना चाहिये। यह स्वेद, पसीना, मूत्र, मल तथा वायु को प्रवृत्त करता है और अग्नि को तीक्ष्ण करता है ॥ १९-२० ॥

स्वेदन के बाद की विधि—

स्नेहोक्तमाचारविधिं सर्वशश्चानुपालयेत् ।

स्नेहविधि अध्याय में कही आचार विधि (कर्त्तव्य विधि) का सम्पूर्ण रूप में पालन करे।

अपक्व दोषों के पाचक—

लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रस ॥ २१ ॥
मलानां पाचनानि स्युर्यथावस्थं क्रमेण वा ।

अवस्था के अनुसार या क्रमशः लङ्घन, स्वेदन, काल (समय), यवागू (पेया) और तिक्त रस ये वातादि मलों का (आम का भी) पाचन करने वाले हैं ॥ २१ ॥

ज्वरविशेष में लङ्घन का निषेध—

शुद्धवातक्षयागन्तुजीर्णज्वरिषु लङ्घनम् ॥ २२ ॥
नेष्यते—

शुद्धवात (निराम या अन्य दोष से न मिली वायु) जन्य, धातुक्षयजन्य, आगन्तुज तथा जीर्ण ज्वर में लङ्घन कराना निषिद्ध है ॥ २२ ॥

वक्तव्य—हेमाद्रि ने क्षय से राजयक्ष्मा लिया है। बालक और वृद्ध में भी लङ्घन नहीं करवाना चाहिये।

उक्त ज्वरों में अकर्शन शमनक्रिया—

—तेषु हि हितं शमनं यन्न कर्शनम् ।

इन ज्वरों में शमन चिकित्सा करनी चाहिये, जो कर्शन न होनी चाहिये।

वक्तव्य—यहाँ 'कर्शन शमन' का निषेध करने से अच्छा 'बृंहण' का निर्देश था, किन्तु उसका भी निर्देश न करने का यह तात्पर्य है कि कुछ बृंहण प्रयुक्त हो सकता है, अति बृंहण भी नहीं होना चाहिये।

अलङ्घित और लङ्घित रोगी की पहिचान—

तत्र सामज्वराकृत्या जानीयादविशोषितम् ॥ २३ ॥
द्विविधोपक्रमज्ञानमवेक्षेत च लङ्घने ।

ज्वर में सामज्वर के लक्षण रहने से भली प्रकार लङ्घन नहीं हुआ जानना चाहिये। भली प्रकार लंघन होने पर द्विविधोपक्रमणीय अध्याय में कहे 'विमलेन्द्रियता सर्गः' (हृ. सू. अ. १४।१७) आदि लक्षणों से जाने। अतिलंघन के लक्षण 'अतिकार्श्यम' (हृ. सू. अ. १४।२९) आदि से जाने।

ज्वरी का मण्ड-पेया उपचार—

युक्तं लङ्घितलिङ्गैस्तु तं पेयाभिरुपाचरेत् ॥ २४ ॥
यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः ।
षडहं वा मृदुत्वं वा ज्वरो यावदवाप्नुयात् ॥ २५ ॥
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः ।

भली प्रकार लंघन करने के लक्षण उत्पन्न हो जाने पर रोगी की चिकित्सा पेया आदि से करे। इसमें पेया आदि को दोषों की अपनी-अपनी औषधियों से सिद्ध कर देवे, प्रथम मण्ड (माड़) देकर फिर पेया आदि देवे। यह पेया आदि विधान छः दिन तक या जब तक ज्वर मृदु (हल्का) हो जाये तब तक बरते। इस प्रकार करने से रोगी की अग्नि प्रदीप्त होती है, जिस प्रकार कि समिधाओं से अग्नि बढ़ती है ॥ २४-२५ ॥

वक्तव्य—'ताश्च भेषजसंयोगाद् लघुत्वाच्चाग्निदीपनाः। वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां चानुलोमनाः ॥ स्वेदनाय द्रवोष्णत्वाद् द्रवत्वात् तृट्प्रशान्तये। आहारभावात्प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च ॥ ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात् तस्मात्पेयाभिरादितः। ज्वरानुपचरेद् धीमान्…॥' (चरक)

प्रथम दिन मण्ड, दूसरे दिन पेया, तीसरे दिन यवागू, चौथे दिन विलेपी, पाँचवें दिन यूषौदन और छठे दिन रसौदन देवे। ऐसा हेमाद्रि का मत है किन्तु यहाँ 'मण्डपूर्वाभिः पेयाभिः' पाठ है न कि 'पेयादिभिः'। अतः पेया के बाद ज्वर के लक्षणों को देखते हुए आवश्यकतानुसार सावधानी से परिवर्तन ही उचित है।

ज्वरी के लिये हितकर पेया—

प्राग्लाजपेयां सुजरां सशुण्ठीधान्यपिप्पलीम् ॥२६॥
ससैन्धवां, तथाऽम्लार्थी तां पिबेत्सहदाडिमाम् ।

सब पेयाओं में से सबसे प्रथम लाज (खीलों) की बनी पेया देवे। इस पेया को सोंठ, धनियाँ, पिप्पली और सैन्धव से मिलाकर बनाये। यह लाजपेया भली प्रकार जल्दी पच जाती है। जिस रोगी को अम्ल की इच्छा हो वह इसमें अनारदाना मिला ले ॥ २६ ॥

वक्तव्य—पाचनो दीपनो लाजमण्डस्तेनोष्ण इष्यते। अतोऽयं दशमूलादिसाधितो भिषजां मतः ॥ तच्चेज्जीर्यत्यविघ्नेन ज्वरी जीवेत्ततो ध्रुवम्। वाते वातकफे पित्ते सामवातरुजाज्वरे। वाट्यमण्डं प्रशंसन्ति पटोलमगधान्वितम् ॥ (सिद्धयोगे)

विविध रोगों में पेया—

सृष्टविड् बहुपित्तो वा सशुण्ठीमाक्षिकां हिमाम् ॥२७॥

भिन्नवर्चवाला (अतिसारी) या बहुत पित्तवाला रोगी शीतल लाजपेया में सोंठ और मधु मिलाकर पिये ॥ २७ ॥

वक्तव्य—इसमें धनिया, पिप्पली निकाल कर केवल सोंठ मिलाये। मधुर पाक होने से पित्त में सोंठ ठीक है।

वस्ति आदि के शूल में पेया—

वस्तिपार्श्वशिरःशूली व्याघ्रीगोक्षुरसाधिताम् ।

बस्ति, पार्श्व और शिरःशूल युक्त ज्वर में कटेरी और गोखरू से सिद्ध की हुई पेया पिये।

ज्वरातिसार में पेया—

पृश्निपर्णीबलाबिल्वनागरोत्पलधान्यकैः ।
सिद्धां ज्वरातिसार्यम्लां पेयां दीपनपाचनीम् ॥ २८

ज्वरातिसार रोगी—पृश्निपर्णी, बला, बिल्व, सोंठ, कमल और धनियाँ से सिद्ध की हुई तथा अनार से खट्टी बनाई पेया को पिये। यह पेया दीपन एवं पाचन गुण वाली है ॥

हिचकी, श्वास आदि में पेया—

ह्रस्वेन पञ्चमूलेन हिक्कारुक्श्वासकासवान् ॥ २९ ॥
पञ्चमूलेन महता कफार्तो यवसाधिताम् ।
विबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः कृताम् ॥ ३० ॥
यवागूं सर्पिषा भृष्टां मलदोषानुलोमनीम् ।

हिक्का, श्वास, कास होने पर लघु पञ्चमूल से सिद्ध की हुई पेया को पिये। कफ से पीड़ित रोगी बृहत्पंचमूल से पिप्पली, आँवला से सिद्ध जौ की यवागू को घी में भून कर पिये। यह यवागू मल और दोषों को प्रवृत्त करती है।

विबद्ध कोष्ठ में पेया—

चविकापिप्पलीमूलद्राक्षाऽऽमलकनागरैः ॥ ३१ ॥
कोष्ठे विबद्धे सरुजि —

कोष्ठ में अवरोध एवं पीड़ा होने पर चविका, पिप्पलीमूल द्राक्षा, आँवला और सोंठ से सिद्ध यवागू पिये ॥ ३१ ॥

परिकर्ती कोष्ठ में पेया—

— पिबेत्तु परिकर्तिनि ।
कोलवृक्षाम्लकलशीधावनीश्रीफलैः कृताम् ॥ ३२ ॥
अस्वेदनिद्रस्तृष्णार्त्तः सितामलकनागरैः ।
सिताबदरमृद्वीकासारिवामुस्तचन्दनैः ॥ ३३ ॥
तृष्णाच्छर्दिपरीदाहज्वरघ्नीं क्षौद्रसंयुताम् ।

(उदर में) परिकर्त्तन (छेदन) की सी पीड़ा होने पर बेर, वृक्षाम्ल, पृश्नपर्णी, शालपर्णी और बिल्व से सिद्ध पेया पिये। स्वेद एवं नींद न आने पर और तृष्णा से पीड़ित मनुष्य शर्करा, आँवला और सोंठ से सिद्ध यवागू पिये। शर्करा, बेर, द्राक्षा, सारिवा, मुस्ता और चन्दन से सिद्ध यवागू मधु के साथ तृष्णा, वमन, परिदाह और ज्वर का नाशक है ॥ ३२-३३ ॥

पेया और रसादिकरण विधि—

कुर्यात्पेयौषधैरेव रसयूषादिकानपि ॥ ३४ ॥

पेया की ओषधियों से मांसरस, यूष आदि सिद्ध करके देवे।

रोगविशेष में पेया का निषेध—

मद्योद्भवे मद्यनित्ये पित्तस्थानगते कफे ।
ग्रीष्मे तयोर्वाऽधिकयोस्तृट्छर्दिदाहपीडिते ॥ ३५ ॥
ऊर्ध्वं प्रवृत्ते रक्ते च पेयां नेच्छन्ति—

मद्य के कारण उत्पन्न ज्वर में, नित्य मद्य पीने वाले मनुष्य को, कफ के पित्तस्थान में पहुँचने पर, ग्रीष्मकाल में, पित्त या कफ की अधिकता होने पर रोगी को प्यास, वमन और दाह होने पर तथा रक्त के ऊर्ध्वगामी होने पर पेया नहीं देनी चाहिये ॥ ३५ ॥

मद्योद्भवादि ज्वर में कर्त्तव्य—

— तेषु तु ।
ज्वरापहैः फलरसैरद्भिर्वा लाजतर्पणान् ॥ ३६ ॥
पिबेत्सशर्कराक्षौद्रान्—

इसमें द्राक्षा-फालसा आदि ज्वरनाशक फलों के स्वरस के साथ या जल में लाजा के सत्तुओं को शर्करा और मधु के साथ पिये। [संग्रह में—द्राक्षादाडिमकाश्मर्यपथ्यापीलुपरूषकैः । ज्वरघ्नैः—] ॥ ३६ ॥

तर्पण के जीर्ण होने पर कर्त्तव्य—

— ततो जीर्णे तु तर्पणे ।
यवाग्वां चौदनं क्षुद्वानश्नीयाद् भृष्टतण्डुलम् ॥ ३७ ॥
दकलावणिकैर्यूषै रसैर्वा मुद्गलावजैः ।

तर्पण (लाजासत्तु) के जीर्ण होने पर (पच जाने पर) या (यवागू पीने योग्य व्यक्ति में) यवागू के जीर्ण हो जाने पर भूख लगने पर चावलों को भूनकर बनाया भात, मूंग, कुलथी आदि के बने यूष या बटेर आदि के मांसरस को बिना संस्कार करके (बघार दिये बिना) थोड़ा नमक मिला कर खाये। (दकलावणिकाः-असंस्कृत यूष या मांसरस)।

वक्तव्य—'नातिमांसास्तनुरसा दकलावणिकाः स्मृताः ॥
अल्पमांसपटुस्नेहा दकलावणिकाः स्मृताः ॥'

ज्वरी के छः दिन की विधि—

इत्ययं षडहो नेयो बलं दोषं च रक्षता ॥ ३८ ॥

इस प्रकार से रोगी के बल और दोष का ध्यान रखते हुए छः दिन व्यतीत कर देने चाहिये ॥ ३८ ॥

छः दिन के पश्चात् कषाय का प्रयोग—

ततः पक्वेषु दोषेषु लङ्घनाद्यैः प्रशस्यते ।
कषायो दोषशेषस्य पाचनः शमनोऽथवा ॥ ३९ ॥

— लंघन आदि से दोषों का परिपाक हो जाने पर शेष दोष को पचाने के लिये पीछे से पाचन कषाय या शमन कषाय देना चाहिये। (अपक्व दोष की शंका में पाचन कषाय, दोष के पच जाने पर शमन कषाय देवे ॥ ३९ ॥

पित्त ज्वर में तिक्त क्वाथ—

तिक्तः पित्ते विशेषेण प्रयोज्यः, कटुकः कफे ।

पित्त में तिक्त कषाय और कफ में कटु कषाय विशेष रूप में देना चाहिये।

तरुण ज्वर में क्वाथ का निषेध—

पित्तश्लेष्महरत्वेऽपि कषायः स न शस्यते ॥ ४० ॥
नवज्वरे, मलस्तम्भात्कषायो विषमं ज्वरम् ।
कुरुतेऽरुचिहृल्लासहिध्माध्मानादिकानपि ॥ ४१ ॥

कषायरस से बना कषाय पित्तकफनाशक होने पर भी तरुण ज्वर में उत्तम नहीं है। तरुण ज्वर में दिया कषायरस वाला कषाय मल को रोकने से विषम ज्वर, अरुचि, जी मिचलाना, हिक्का और आध्मान आदि को करता है ॥४०-४१॥

वक्तव्य—चरक में-'यः कषायः कषायस्तु स वर्ज्यस्तरुणे ज्वरे। न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते ॥'

औषध के प्रयोग में दिन का मतभेद—

सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः ।
केचिल्लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोल्बणे न तु ॥ ४२ ॥

कोई आचार्य सात दिन के पीछे औषध देने को कहते हैं, दूसरे दस दिन के पीछे औषध देने को कहते हैं। कोई आचार्य मण्ड आदि लघु अन्न (भात) खा लेने पर (उससे किसी प्रकार की हानि न होने पर) औषध देने को कहते हैं। आम की अधिकता रहने तक औषध नहीं देनी चाहिए। (यह बात सर्वमान्य है, अवस्था भेदसे तीनों पक्ष मान्य हैं)।

आमाधिक ज्वर में औषध का विधान—

तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदये यतः ।
दोषेऽथवाऽतिनिचिते तन्द्रास्तैमित्यकारिणि ॥ ४३ ॥
अपच्यमानं भैषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम् ।

तीव्र ज्वर से पीड़ित मनुष्य में दोषवेग (आम या वातादि दोष) के प्रादुर्भाव होने पर अथवा आम या वातादि दोष के अतिसंचित होने पर और रोगी को तन्द्रा तथा स्तिमितता (अंगों में भारीपन) अनुभव होने पर दी हुई औषध पक्व न होकर ज्वर को और भी बढ़ा देती है ॥ ४३ ॥

ज्वर में औषधप्रयोग का काल—

मृदुर्ज्वरो लघुर्देहश्चलिताश्च मला यदा ॥ ४४ ॥
अचिरज्वरितस्यापि भेषजं योजयेत्तदा ।

जब ज्वर मृदु (नरम) पड़ जाये, शरीर में हल्कापन आ जाये; मल (दोष) चलायमान (प्रवृत्त) हो जाये, थोड़े दिनों के ज्वर में छः दिन व्यतीत होने से पहले ही औषध देनी चाहिये ॥ ४४ ॥

ज्वर में क्काथ—

मुस्तया पर्पटं युक्तं शुण्ठ्या दुःस्पर्शयाऽपि वा ॥४५॥
पाक्यं शीतकषायं वा पाठोशीरं सबालकम् ।
पिबेत्तद्वच्च भूनिम्बगुडूचीमुस्तनागरम् ॥ ४६ ॥

मुस्ता, पित्तपापड़ा या सोंठ और धमासा अथवा पाठा, खस और नेत्रवाला या चिरायता, गिलोय, मोथा और सोंठ इनका क्काथ या शीतकषाय बनाकर पिये ॥ ४५-४६ ॥

क्काथ का प्रयोग—

यथायोगमिमे योज्याः कषाया दोषपाचनाः ।
ज्वरारोचकतृष्णाऽऽस्यवैरस्यापक्तिनाशनाः ॥ ४७ ॥

ये उपर्युक्त कषाय योग (उपयोगिता) के अनुसार देने पर दोषों को पचाने वाले तथा ज्वर, अरोचक, तृष्णा, मुख की विरसता और अग्निमान्द्य को नष्ट करनेवाले हैं ॥ ४७ ॥

सन्ततादि ज्वर में क्काथ—

कलिङ्गकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी ॥ ४८ ॥
पटोलं सारिवा मुस्ता पाठा कटुकरोहिणी ।
पटोलनिम्बत्रिफलामृद्वीकामुस्तवत्सकाः ॥ ४९ ॥
किराततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम् ।
धात्रीमुस्तामृताक्षौद्रमर्धश्लोकसमापनाः ॥ ५० ॥
पञ्चैते सन्ततादीनां पञ्चानां शमना मताः ।

पाँच कषाय-(१) इन्द्रजौ, परवल के पत्ते, कुटकी, (२) परवल, सारिवा, मोथा, पाठा, कुटकी, (३) परवल, नीम, त्रिफला, द्राक्षा, मोथा, इन्द्रजौ, (४) चिरायता, गिलोय, लालचन्दन, सोंठ, (५) आँवला, मोथा, गिलोय, मधु ये आधे-आधे श्लोक से कहे पाँच कषाय क्रमशः सन्तत आदि पाँचों ज्वरों को शान्त करते हैं ॥ ४८-५० ॥

वातज ज्वर में क्काथ—

दुरालभामृतामुस्तानागरं वातजे ज्वरे ॥ ५१ ॥
अथवा पिप्पलीमूलगुडूचीविश्वभेषजम् ।
कषायं पञ्चमूलं च—

वातजन्य ज्वर में धमासा, गिलोय, मोथा और सोंठ का क्काथ या पिप्पलीमूल, गिलोय और सोंठ का क्वाथ अथवा बृहत्यादि लघु पंचमूल का क्वाथ देवे ॥ ५१ ॥

पित्तज ज्वर में क्वाथ—

—पित्ते शक्रयवा घनम् ॥ ५२ ॥
कटुका चेति सक्षौद्रं मुस्ता पर्पटकं तथा ।
सधन्वयासभूनिम्बम्—

पित्तजन्य ज्वर में इन्द्रजौ, मोथा और कुटकी का क्वाथ मधु के साथ देवे। मुस्ता, पित्तपापड़ा, धमासा और चिरायता का क्वाथ देवे ॥ ५२ ॥

कफज्वर में क्वाथ—

—वत्सकाद्यो गणः कफे ॥ ५३ ॥
अथवा वृषगाङ्गेयीशृङ्गवेरदुरालभाः ।

कफ ज्वर में वत्सकादि गण का क्वाथ या अड़ूसा, मोथा, सोंठ और धमासा का क्वाथ देवे ॥ ५३ ॥

वातकफज्वर में क्वाथ—

रुग्विबन्धानिलश्लेष्मयुक्ते दीपनपाचनम् ॥ ५४ ॥
अभयापिप्पलीमूलशम्याककटुकाघनम् ।

ज्वर में पीड़ा, विबन्ध और वायु तथा कफयुक्त होने पर (वातकफज्वरों में) हरड़, पिप्पलीमूल, अमलतास, कुटकी और मोथा का क्वाथ देवे, यह दीपन-पाचन है ॥ ५४ ॥

वातपित्तज्वर में फाण्ट या हिम—

द्राक्षामधूकमधुकरोध्रकाश्मर्यसारिवाः ॥ ५५ ॥
मुस्तामलकह्रीबेरपद्मकेसरपद्मकम् ।
मृणालचन्दनोशीरनीलोत्पलपरूषकम् ॥ ५६ ॥
फाण्टो हिमो वा द्राक्षादिर्जातीकुसुमवासितः ।

युक्तो मधुसितालाजैर्जयत्यनिलपित्तजम् ॥ ५७ ॥
ज्वरं मदात्ययं छर्दिं मूर्च्छां दाहं श्रमं भ्रमम् ।
ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं च पिपासां कामलामपि ॥ ५८ ॥

वातपित्त ज्वर में द्राक्षा, महुआ, मुलहठी, लोध, गम्भारी, सारिवा, मोथा, आँवला, हीवेर (नेत्रबाला), कमलकेसर, पद्माख, बिस, लालचन्दन, खस, नीलोफर, फालसा, इस द्राक्षादि गण का फाण्ट या शीत कषाय, चमेली के फूलों से सुवासित करके मधु, शर्करा, लाजा मिलाकर पीने से वातपित्तज्वर, मदात्यय, वमन, मूर्च्छा, दाह, श्रम, भ्रम, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त, पिपासा और कामला को नष्ट करता है।

ज्वरदाह में स्वरस—

पाचयेत्कटुकां पिष्ट्वा कर्परेऽभिनवे शुचौ ।
निष्पीडितो घृतयुतस्तद्रसो ज्वरदाहजित् ॥ ५९ ॥

कटुकी को पीसकर (पुटपाक विधि से) पकाकर इसको नूतन वस्त्र में से निचोड़कर निकाले रस में घी मिलाकर पिये, यह ज्वर और दाह को नष्ट करता है ॥ ५९ ॥

कफवातज्वर में क्वाथ—

कफवाते वचातिक्तापाठारग्वधवत्सकाः ।
पिप्पलीचूर्णयुक्तो वा क्वाथश्छिन्नोद्भवोद्भवः ॥ ६० ॥

कफवातज्वर में वच, कुटकी, पाठा, अमलतास, इन्द्रजौ इनका क्वाथ पिये। या गिलोय का क्वाथ पिप्पलीचूर्ण के साथ पिये ॥ ६० ॥

व्याघ्रीशुण्ठ्यमृताक्वाथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः ।
वातश्लेष्मज्वरश्वासकासपीनसशूलजित् ॥ ६१ ॥

कटेरी, सोंठ और गिलोय का क्वाथ पिप्पलीचूर्ण के साथ पीने से वातकफ ज्वर, श्वास, कास, पीनस तथा शूल को नष्ट करता है ॥ ६१ ॥

पथ्याकुस्तुम्बरीमुस्ताशुण्ठीकत्तृणपर्पटम् ।
सकट्फलवचाभार्ङ्गीदेवाह्वं मधुहिङ्गुमत् ॥ ६२ ॥
कफवातज्वरष्ठीवकुक्षिहृत्पार्श्ववेदनाः ।
कण्ठामयास्यश्वयथुकासश्वासान्नियच्छति ॥ ६३ ॥

हरड़, धनिया, मोथा, सोंठ, कत्तृण (कत्तृण-घास वाजरिया), पित्तपापड़ा, कट्फल, वच, भार्गी और देवदारु के क्वाथ में मधु और हींग मिलाकर पीने से कफवात ज्वर, थूक आना, कुक्षिशूल, हृदयशूल, पार्श्वशूल, कण्ठ रोग, मुखशोथ, कास-श्वास को नष्ट करता है ॥ ६२-६३ ॥

कफपित्तज्वर में औषध—

आरग्वधादिः सक्षौद्रः कफपित्तज्वरं जयेत् ।
तथा तिक्तावृषोशीरत्रायन्तीत्रिफलामृताः ॥ ६४ ॥
पटोलातिविषानिम्बमूर्वाधन्वयवासकाः ।

आरग्वधादि गण का क्वाथ मधु के साथ कफपित्त ज्वर को नष्ट करता है। कुटकी, अडूसा, खस, त्रायमाण, त्रिफला, गिलोय, परवल, अतीस, नीम, मूर्वा, धमासा, अडूसा इनका क्वाथ भी कफपित्तज्वरनाशक है ॥ ६४ ॥

सन्निपातज्वर में औषध—

सन्निपातज्वरे व्याघ्रीदेवदारुनिशाघनम् ॥ ६५ ॥
पटोलपत्रनिम्बत्वक्त्रिफलाकटुकायुतम् ।

सन्निपात ज्वर में, कटेरी देवदारु, हल्दी, मोथा, परवल के पत्ते, नीम की छाल, त्रिफला और कुटकी का क्वाथ देवे ॥६५॥

वातकफबहुल ज्वर में औषध—

नागरं पौष्करं मूलं गुडूची कण्टकारिका ॥ ६६ ॥
सकासश्वासपार्श्वार्तौ वातश्लेष्मोत्तरे ज्वरे ।

सोंठ, पुष्करमूल, गिलोय और कटेरी का क्वाथ कास, श्वास तथा पार्श्वशूल युक्त वातकफप्रधान ज्वर में उत्तम है ॥ ६६ ॥

सब ज्वरों में कषाय—

मधूकपुष्पमृद्वीकात्रायमाणापरूषकम् ॥ ६७ ॥
सोशीरतिक्तात्रिफलाकाश्मर्यं कल्पयेद्धिमम् ।
कषायं तं पिबन् काले ज्वरान् सर्वानपोहति ॥ ६८ ॥
जात्यामलकमुस्तानि तद्वद्धन्वयवासकम् ।

महुए का फूल, द्राक्षा, त्रायमाण, फालसा, खस, कुटकी, त्रिफला, गम्भारी इनका शीत कषाय बनाकर समय पर पीने से सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है। इसी प्रकार चमेली, आँवला, मोथा एवं धमासा का शीतकषाय सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है ॥ ६७-६८ ॥

अन्य कषाय—

बद्धविट् कटुकाद्राक्षात्रायन्तीत्रिफलागुडम् ॥ ६९ ॥

मल का अवरोध होने पर कुटकी, द्राक्षा, त्रायमाण, त्रिफला, गुड़ इनका क्वाथ देवे। [या शीत कषाय में गुड़ मिलावे]। वस्तुतः यह रेचन है अतः क्वाथरूप में ही प्रयोज्य है। कुछ लोग 'गुड़ के स्थान पर 'गुडा' (सुधा या स्नुही) पाठ मानते हैं ॥ ६९ ॥

औषध के जीर्ण होने पर पेया—

जीर्णौषधेऽन्नं पेयाद्यमाचरेत्—

औषध के जीर्ण होने पर पेया आदि अन्न (भोजन) लेवे।

कफ रोगी के लिए उक्त पेया का निषेध—

—श्लेष्मवान्न तु ।
पेया कफं वर्धयति पङ्कं पांसुषु वृष्टिवत् ॥ ७० ॥

श्लेष्मज्वर में पेया न देवे। पेया कफ को बढ़ाती है, जिस प्रकार धूलि में हुई वृष्टि कीचड़ को बढ़ाती है ॥ ७० ॥

कफज्वर में प्रयोज्य अन्न—

श्लेष्माभिष्यण्णदेहानामतः प्रागपि योजयेत् ।
यूषान् कुलत्थचणककलायादिकृतांल्लघून् ॥ ७१ ॥
रूक्षांस्तिक्तरसोपेतान् हृद्यान् रुचिकरान् पटून् ।

इसलिए कफ से क्लिन्न शरीर वाले रोगियों में प्रथम अवसर में भी कुलथी, चने, मटर आदि से बनाये, लघु, रूक्ष (घी आदि से न भुने हुए), तिक्तरसयुक्त, मन के प्रिय गन्ध एवं रस वाले रुचिकर तथा नमक युक्त बनाकर यूष देवे।

ज्वरादि में लाल चावल आदि पथ्य—

रक्ताद्याः शालयो जीर्णाः षष्टिकाश्च ज्वरे हिताः ॥७२॥
श्लेष्मोत्तरे वीततुषास्तथा वाट्टीकृता यवाः ।

पुरातन (एक साल पुराने) लाल चावल या साठी के चावल ज्वर में हितकारी है। प्रचुर कफ वाले ज्वर में छिलका उतरे भून कर दाल रूप में टुकड़े बनाये जौ उत्तम हैं।

उक्त पथ्य की पाचन विधि—

ओदनस्तैः स्रुतो द्विस्त्रिः प्रयोक्तव्यो यथायथम् ॥ ७३॥
दोषदूष्यादिबलतो ज्वरघ्नक्वाथसाधितः ।

चावलों को दो-तीन बार पानी से भली प्रकार धोकर या पकने पर दो-तीन बार पानी डालकर पसाकर, ज्वरघ्न क्वाथ से सिद्ध करके दोष-दूष्यादि के अनुसार जो जिस प्रकार के चावल के योग्य हो, उसे वह भात देना चाहिये।

ज्वरघ्न यूषद्रव्य—

मुद्गाद्यैर्लघुभिर्यूषाः कुलत्थैश्च ज्वरापहाः ॥ ७४ ॥

मूंग आदि लघु द्रव्यों से तथा कुलत्थ से बनाया यूष ज्वरनाशक है। (आदि से चना, कुलत्थ, मोठ, मसूर लेवे)।

ज्वर में हितकर रस—

कारवेल्लककर्कोटबालमूलकपर्पटैः ।
वार्ताकनिम्बकुसुमपटोलफलपल्लवैः ॥ ७५ ॥
अत्यन्तलघुभिर्मांसैर्जाङ्गलैश्च हिता रसाः ।
व्याघ्रीपरूषकतर्कारीद्राक्षामलकदाडिमैः ॥ ७६ ॥
संस्कृताः पिप्पलीशुण्ठीधान्यजीरकसैन्धवैः ।
सितामधुभ्यां प्रायेण संयुता वा कृताकृताः ॥ ७७ ॥

करेला, ककोड़ा, कच्ची मूली, पित्तपापड़ा, बैंगन, नीम के फूल, परवर के फल और पत्तों का यूष तथा अतिशय लघु जांगल मांस से बनाये मांसरस हितकारी हैं। इन यूष और रसों को कटेरी, फालसा, तर्कारी, द्राक्षा, आँवला, अनारदाना इनसे संस्कृत करके पिप्पली, सोंठ, धनिया, जीरा, सैन्धव, शर्करा और मधु मिला कर देवे। इनको कृत (घी-हींग आदि से भून कर) अथवा अकृत रूप में (बिना भूने) देवे। (चरक में करेला आदि का शाक देना कहा है) ॥ ७५-७७॥

रुचिकारक व्यञ्जन—

अनम्लतक्रसिद्धानि रुच्यानि व्यञ्जनानि च ।
अच्छान्यनलसम्पन्नानि—

खटाशरहित तक्र में सिद्ध किये हुए, रुचिकारक, पतले (रसदार बने), स्वच्छशाक, अग्निपर भली प्रकार पके हुए देवे।

ज्वर में अनुपान—

—अनुपानेऽपि योजयेत ॥ ७८ ॥
तानि क्वथितशीतं च वारि मद्यं च सात्म्यतः ।

अनुपान में इन शाकों को पीने के योग्य पतला बनाकर देवे और उबाल कर ठण्डा किया पानी तथा मद्य को सात्म्य के अनुसार देवे ॥ ७८ ॥

ज्वररोगी का भोजन काल—

सज्वरं ज्वरमुक्तं वा दिनान्ते भोजयेल्लघु ॥ ७९ ॥
श्लेष्मक्षयविवृद्धोष्मा बलवाननलस्तदा ।
यथोचितेऽथवा काले देशसात्म्यानुरोधतः ॥ ८० ॥
प्रागल्पवह्निर्भुञ्जानो न ह्यजीर्णेन पीड्यते ।

ज्वर वाले या ज्वर से मुक्त रोगी को दिन के अन्त (अपराह्ण) में लघु भोजन देवे। इस समय कफ के क्षय से बढ़ी हुई गरमी के कारण अग्नि बलवान् होती है।[1]

अथवा उचित समय पर ज्वर वाले या ज्वररहित रोगी को देश (भूमि और रोगी) के सात्म्य (अनुकूलता) के अनुसार भोजन देवे।

मन्द वह्नि वाला मनुष्य पहले कहे काल (दिनान्त) में भोजन करने से अजीर्ण से पीड़ित नहीं होता। (अन्यथा पीड़ित होता है) ॥ ७९-८० ॥

घृत पीने का काल—

कषायपानपथ्यान्नैर्दशाह इति लङ्घिते ॥ ८१ ॥
सर्पिर्दद्यात्कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे ।
पक्वेषु दोषेष्वमृतं तद्विषोपममन्यथा ॥ ८२ ॥
दशाहे स्यादतीतेऽपि ज्वरोपद्रववृद्धिकृत् ।
लङ्घनादिक्रमं तत्र कुर्यादाकफसङ्क्षयात् ॥ ८३ ॥

कषायपान और पथ्य-भोजन आदि से दस दिन व्यतीत कर देने पर, कफ के मन्द हो जाने पर, वात-पित्त की अधिकता वाले ज्वर में वैद्य घी देवे। दोषों के पक जाने पर दिया घी अमृत के समान है, अपक्व तथा कफप्रधान दोषों में घी विष के समान है। दस दिन के बीत जाने पर भी यदि ज्वर के उपद्रव बढ़ रहे हों, तब लङ्घन आदि विधि को आगे भी चालू रक्खें जब तक कि कफ क्षीण न हो जाय ॥ ८१-८३ ॥

जीर्णज्वर की चिकित्सा—

देहधात्वबलत्वाच्च ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते ।

शरीर और धातु या देह धातु (रक्तादि धातु) के निर्बल (या दोषों के स्वल्प) होने से ज्वर पुराना बनकर चालू रहता है। (देहधातु-शरीर और धातु अथवा शरीर के धातु (रसादि तथा दोष)

जीर्णज्वर में घृतपान—

रूक्षं हि तेजो ज्वरकृत्तेजसा रूक्षितस्य च ॥ ८४ ॥
वमनस्वेदकालाम्बुकषायलघुभोजनैः ।
यः स्यादतिबलो धातुः सहचारी सदागतिः ॥ ८५ ॥
तस्य संशमनं सर्पिर्दीप्तस्येवाम्बु वेश्मनः ।

तेज रूक्ष है, यही (रूक्ष तेज) ज्वर करता है। तेज के कारण शरीर के रूक्ष होने से तथा वमन, स्वेद, समय, जल,

---

[1] अग्नि दीप्त रहने के अतिरिक्त भोजन के तत्काल बाद कफ की वृद्धि होती है और अपराह्ण में वायु की वृद्धि होती है। वे दोनों एक दूसरे का शमन कर देते हैं और आहार का पाचन भी भलीभाँति हो जाता है।

कषाय और लघु भोजन के कारण जो अति बलवान्, अग्नि के साथ गति करने वाली, सदागति (वायु) धातु है, उस वायु को शमन करने वाला घी ही है, जिस प्रकार जलते घर को पानी बुझाने वाला होता है ॥ ८४-८५ ॥

वातपित्तबहुल जीर्णज्वर में घृतपान—

वातपित्तजितामग्र्यं संस्कारं चानुरुध्यते ॥ ८६ ॥
सुतरां तद्धयतो दद्याद्यथास्वौषधसाधितम् ।

घृत वात तथा पित्त को शान्त करने में श्रेष्ठ है और संस्कार का अनुवर्त्तन करता है। इसलिए दोषों के अनुसार औषधियों से सिद्ध घृत नितान्त रूप में हितकारी है ॥ ८६ ॥

वक्तव्य—'नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्त्तते । यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम् ॥' (चरक)

ज्वरोष्मा में घृत—

विपरीतं ज्वरोष्माणं जयेत्पित्तं च शैत्यतः ॥ ८७ ॥
स्नेहाद्वातं घृतं तुल्यं योगसंस्कारतः कफम् ।

घृत शीत होने से अपने से विपरीत ज्वर की उष्णिमा को और पित्त को तथा स्निग्ध होने से वायु को शान्त करता है तथा योग (युक्ति-योजना) और संस्कार (गुणाधान) से कफ के समान होते हुए भी कफ को शान्त करता है। (कफ स्निग्ध एवं शीतल होने से घी के समान है, परन्तु संस्कार से घी कफ को भी शान्त करता है) ॥ ८७ ॥

मलानुसार सघृत कषाय प्रयोग—

पूर्वे कषायाः सघृताः सर्वे योज्या यथामलम् ॥ ८८ ॥

प्रथम कहे हुए सब कषायों को दोषों के अनुसार घी के साथ मिलाकर बरतना चाहिए। (अथवा उन्हीं द्रव्यों से सिद्ध घी प्रयुक्त करना चाहिए) ॥ ८८ ॥

अन्य घृतयुक्त क्वाथ—

त्रिफलापिचुमन्दत्वङ्मधुकं बृहतीद्वयम् ।
समसूरदलं क्वाथः सघृतो ज्वरकासहा ॥ ८९ ॥

त्रिफला, नीम की छाल मुलहठी, कटेरी, बड़ी कटेरी, मसूरदल (निशोथ) इनका क्वाथ घी के साथ ज्वर-कास का नाशक है (मसूरदल-से मसूर के पत्त भी कोई-कोई लेते हैं)।

पिप्पल्यादि घृत—

पिप्पलीन्द्रयवधावनितिक्ता-
सारिवामलकतामलकीभिः ।
बिल्वमुस्तहिमपालनिसेव्यै-
र्द्राक्षयाऽतिविषया स्थिरया च ॥ ९० ॥
घृतमाशु निहन्ति साधितं
ज्वरमग्निं विषमं हलीमकम् ।
अरुचिं भृशतापमंसयो-
र्वमथुं पार्श्वशिरोरुजं क्षयम् ॥ ९१ ॥

पिप्पल्यादि घृत—पिप्पली, इन्द्रजौ, शालपर्णी, कुटकी सारिवा, आँवला, भुइ आँवला, बिल्व, मुस्ता, लालचन्दन, त्रायमाण, खस, द्राक्षा, अतीस और पृश्निपर्णी के (घृत से चतुर्थांश) कल्क से (चतुर्गुण पानी में) घृत सिद्ध करे। यह घृत ज्वर, विषम अग्नि, हलीमक, अरुचि, अंस के अतिशय ताप, वमन, पार्श्वशूल, शिरःशूल और क्षय को नष्ट करता है।

वातपित्तज ज्वर में घृत—

तैल्वकं पवनजन्मनि ज्वरे
योजयेत्त्रिवृतया वियोजितम् ।
तिक्तकं वृषघृतं च पैत्तिके
यच्च पालनिकया शृतं हविः ॥ ९२ ॥

वातज्वर में वातव्याधि में कहा तैल्वक घृत, निशोथ के बिना देवे। पित्तज्वर में तिक्तक घृत (कुष्ठचिकित्सा का), वृष घृत (रक्तपित्तचिकित्सा का) और त्रायमाण से सिद्ध घृत देवे।

कफज्वर में घृत—

विडङ्गसौवर्चलचव्यपाठा-
व्योषाग्निसिन्धूद्भवयावशूकैः ।
पलांशकैः क्षीरसमं घृतस्य
प्रस्थं पचेज्जीर्णकफज्वरघ्नम् ॥ ९३ ॥

विडङ्ग, सौवर्चल, चव्य, पाठा, त्रिकटु, चित्रक, सैन्धव, यवक्षार प्रत्येक एक पल, घृत एक प्रस्थ, दूध एक प्रस्थ, पानी चार प्रस्थ लेकर घृत सिद्ध करे। यह घृत जीर्ण कफज्वर को नष्ट करता है ॥ ९३ ॥

जीर्णज्वरनाशक पाँच घृत—

गुडूच्या रसकल्काभ्यां त्रिफलाया वृषस्य च ।
मृद्वीकाया बलायाश्च स्नेहाः सिद्धा ज्वरच्छिदः ॥९४॥

गिलोय के स्वरस और कल्क से, त्रिफला के स्वरस और कल्क से, अडूसे के स्वरस और कल्क से, द्राक्षा के स्वरस और कल्क से तथा बला के स्वरस और कल्क से सिद्ध किये घृत ज्वरनाशक हैं ॥ ९४ ॥

घृत के जीर्ण होने पर रस का भोजन—

जीर्णे घृते च भुञ्जीत मृदुमांसरसौदनम् ।
बलं ह्यलं दोषहरं परं तच्च बलप्रदम् ॥ ९५ ॥

घृत के जीर्ण होने पर अतीक्ष्ण मांसरस के साथ भात खावे। क्योंकि बल स्वयं दोषनाशन में समर्थ होता है और मांसरस उत्तम बलदायक होता है ॥ ९५ ॥

जीर्णज्वर में मुद्ग आदि निषिद्ध—

कफपित्तहरा मुद्गकारवेल्लादिजा रसाः ।
प्रायेण तस्मान्न हिता जीर्णे वातोत्तरे ज्वरे ॥ ९६ ॥
शूलोदावर्तविष्टम्भजनना ज्वरवर्धनाः ।

मूँग और करेले आदि के स्वरस कफपित्तहर हैं, इसलिये प्रायः करके जीर्ण वातप्रधान ज्वर में ये उत्तम नहीं हैं। इनके देने से शूल, उदावर्त्त और विष्टम्भ उत्पन्न होते हैं और ये ज्वर बढ़ाते हैं ॥ ९६ ॥

ज्वर के शमनाभाव में वमन—

न शाम्यत्येवमपि चेज्ज्वरः कुर्वीत शोधनम् ॥ ९७ ॥

शोधनार्हस्य, वमनं प्रागुक्तं तस्य योजयेत् ।
आमाशयगते दोषे बलिनः पालयन्बलम् ॥ ९८ ॥

यदि इसी प्रकार से (लङ्घनादि और घृत-प्रयोग से भी) ज्वर शान्त न हो तो शोधन के योग्य पुरुष को शोधन देवे। इसके लिये दोष के आमाशय में स्थित होने पर बलवान् रोगी को बल की रक्षा करते हुए पहले कहा गया वमन देवे।

त्रिफलादि से विरेचन—

पक्वे तु शिथिले दोषे ज्वरे वा विषमद्यजे ।
मोदकं त्रिफलाश्यामात्रिवृत्पिप्पलिकेसरैः ॥ ९९ ॥
ससितामधुभिर्दद्याद्व्योषाद्यं वा विरेचनम् ।
(लिह्याद्वा त्रैवृतं चूर्णं संयुक्तं मधुसर्पिषा ।)
द्राक्षाधात्रीरसं तद्वत्सद्राक्षां वा हरीतकीम् ॥१००॥
आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा ।
त्रिफलां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितः पिबेत् ॥

दोष के पक जाने पर तथा शिथिल (अविष्टब्ध) होने पर या विषजन्य अथवा मद्यजन्य ज्वर में, त्रिफला, काली निशोथ, निशोथ, पिप्पली, नागकेशर, शर्करा और मधु के साथ मोदक बनाकर विरेचन देवे। अथवा व्योषादि (कल्पस्थानोक्त 'व्योषत्रिजातकाऽक्षोद' आदि) से विरेचन देवे। (अथवा निशोथ के चूर्ण को मधु और घी के साथ चाटे)। द्राक्षा और आँवले के रस को या द्राक्षा और हरड़ को, या अमलतास को दूध से या मुनक्के के रस से पिये। ज्वर रोगी त्रिफला और त्रायमाण को दूध से पिये ॥ ९९-१०१ ॥

शोधन के बाद संसर्जनक्रम—

विरिक्तानां च संसर्गी मण्डपूर्वा यथाक्रमम् ।

ज्वर रोगी को विरेचन के बाद पहले मण्ड देकर क्रम के अनुसार पेया, यवागू और विलेपी आदि संसर्जन क्रम कराये।

ज्वर से उत्क्लिष्ट मल की उपेक्षा—

च्यवमानं ज्वरोत्क्लिष्टमुपेक्षेत मलं सदा ॥१०२॥
पक्वोऽपि हि विकुर्वीत दोषः कोष्ठे कृतास्पदः ।

ज्वर से उत्क्लेशित होकर प्रवृत्त होते हुए मल की उपेक्षा करे (उनको रोके नहीं) क्योंकि पका हुआ दोष भी कोष्ठ में स्थिति पाकर विकार को उत्पन्न करता है ॥ १०२ ॥

अतिप्रवृत्त मल का पाचन तथा अवरोध—

अतिप्रवर्तमानं वा पाचयन् संग्रहं नयेत् ॥ १०३ ॥
आमसंग्रहणे दोषा दोषोपक्रम ईरिताः ।

अतिशय प्रवृत्त होते हुए अपक्व मल का पाचन करते हुए संग्रहण करे। क्योंकि आम मल के संग्रहण करने से दोषोपक्रमणीय अध्याय में कहे दोष होते हैं ॥ १०३ ॥

आम ज्वर में आमहरण का निषेध—

पाययेद्दोषहरणं मोहादामज्वरे तु यः ॥ १०४ ॥
प्रसुप्तं कृष्णसर्पं स कराग्रेण परामृशेत् ।

आमज्वर में जो वैद्य अज्ञान के कारण दोषहरण (शोधन) औषध देता है, वह वैद्य सोते हुए काले साँप को अंगुली से छूता है ॥ १०४ ॥

ज्वरक्षीण को वमनादि का निषेध—

ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम् ॥ १०५ ॥

ज्वर से क्षीण हुए रोगी को वमन और विरेचन देना हितकारी नहीं है ॥ १०५ ॥

ज्वरक्षीण का दुग्धादि से दोषशमन—

कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ।

क्षीण रोगी के मलों को दूध से या निरूह बस्तियों से इच्छानुसार बाहर करे।

दुग्धयोग्य रोगी को दूध—

क्षीरोचितस्य प्रक्षीणश्लेष्मणो दाहतृड्वतः ॥१०६॥
क्षीरं पित्तानिलार्तस्य पथ्यमप्यतिसारिणः ।

दूध जिसे सात्म्य है, तथा जिसका कफ अत्यन्त क्षीण हो गया है। दाह एवं प्यास से पीड़ित और पित्त-वायु से पीड़ित रोगी के लिये अतिसार हो तो भी दूध पथ्य है ॥

दुग्ध की श्रेष्ठता—

तद्वपुर्लङ्घनोत्तप्तं प्लुष्टं वनमिवाग्निना ॥ १०७ ॥
दिव्याम्बु जीवयेत्तस्य ज्वरं चाशु नियच्छति ।

अग्नि से जले हुए वन को जैसे बरसात का पानी जीवन दे देता है, उसी प्रकार लंघन से उत्तप्त ज्वर रोगी के शरीर में दूध जीवन देता है और ज्वर को नष्ट कर देता है ॥ १०७ ॥

संस्कृतादि दुग्ध का पान—

संस्कृतं शीतमुष्णं वा तस्माद्धारोष्णमेव वा ॥१०८॥
विभज्य काले युञ्जीत ज्वरिणं हन्त्यतोऽन्यथा ।

योग्य द्रव्यों से संस्कृत, शीतल या उष्ण अथवा धारोष्ण दूध समय के अनुसार रोगी को देवे। विपरीत रूप में दिया गया दूध रोगी को मार देता है ॥ १०८ ॥

दुग्ध-संस्कार के विभिन्न प्रकार—

पयः सशुण्ठीखर्जूरमृद्वीकाशर्कराघृतम् ॥ १०९ ॥
शृतशीतं मधुयुतं तृड्दाहज्वरनाशनम् ।
तद्वद् द्राक्षाबलायष्टीसारिवाकणचन्दनैः ॥ ११० ॥
चतुर्गुणेनाम्भसा वा पिप्पल्या वा शृतं पिबेत् ।
कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात् ॥
मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलीशृतं पयः ।
शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा ज्वरात् ॥ ११२ ॥
धारोष्णं वा पयः पीत्वा विबद्धानिलवर्चसः ।
सरक्तपिच्छातिसृतेः सतृट्शूलप्रवाहिकात् ॥११३॥
सिद्धं शुण्ठीबलाव्याघ्रीगोकण्टकगुडैः पयः ।
शोफमूत्रशकृद्वातविबन्धज्वरकासजित् ॥ ११४ ॥
वृश्चीवबिल्ववर्षाभूसाधितं ज्वरशोफनुत् ।
शिरिषासारसिद्धं च क्षीरमाशु ज्वरापहम् ॥११५॥

सोंठ, खजूर, द्राक्षा से सिद्ध किया दूध, शर्करा, घृत मिलाकर ठण्डा हो जाने पर मधु मिलाकर देवे, इससे प्यास दाह और ज्वर नष्ट होते हैं।

इसी प्रकार द्राक्षा, वला, मुलहठी, सारिवा, पिप्पली, और चन्दन से सिद्ध किया दूध ठण्डा कर मधु के साथ पिये। दूध को चारगुने पानी में पकाकर पिये। पिप्पली से सिद्ध किया दूध पिये।

बृहत्पञ्चमुल से सिद्ध किया दूध पीने से ज्वररोगी कास, श्वास, शिरःशूल, पार्श्वशूल और पुरातन ज्वर से मुक्त होता है।

एरण्डतैल से या कच्चे बिल्व से सिद्ध किया अथवा धारोष्ण दूध को पीकर वायु और मल की रुकावट वाला ज्वर रोगी ज्वर से मुक्त हो जाता है। रक्तातिसार, पिच्छातिसार, तृषा तथा शूलयुक्त प्रवाहिका से मुक्त हो जाता है।

सोंठ, बला, कटेरी, गोखरू और गुड़ से सिद्ध किया दूध शोफ, मूत्र, मल, वात, विबन्ध, ज्वर और कास को नष्ट करता है।

पुनर्नवा श्वेत, लाल पुनर्नवा से सिद्ध किया दूध ज्वरशोफ को नष्ट करता है।

शीशम के मध्यस्थ काष्ठ से सिद्ध किया दूध शीघ्र ही ज्वर को नष्ट करता है ॥ १०९-११५ ॥

पक्वाशयगत दोष में निरूह आदि—

निरूहस्तु बलं वह्निं विज्वरत्वं मुदं रुचिम् ।
दोषे युक्तः करोत्याशु पक्वे पक्वाशयं गते ॥ ११६ ॥
पित्तं वा कफपित्तं वा पक्वाशयगतं हरेत् ।
स्रंसनं त्रीनपि मलान् वस्तिः पक्वाशयाश्रयान् ॥ ११७ ॥

पक्वाशय में स्थित पक्व दोष में दिया हुआ निरूह बल, अग्निप्रदीप्ति, ज्वरनाश, प्रसन्नता और रुचि उत्पन्न करता है। पक्वाशय में पहुँचे पित्त एवं कफपित्त को विरेचन नष्ट करता है। वस्ति पक्वाशय में आश्रित तीनों दोषों को नष्ट करती है।

क्षीणकफादि में अनुवासन—

प्रक्षीणकफपित्तस्य त्रिकपृष्ठकटिग्रहे ।
दीप्ताग्नेर्बद्धशकृतः प्रयुञ्जीतानुवासनम् ॥ ११८ ॥

कफ-पित्त के क्षीण होने पर तथा त्रिकग्रह और कटिग्रह में अग्नि प्रदीप्त होने एवं मल का अवरोध होने पर अनुवासन देवें।

ज्वरनाशक वस्ति—

पटोलनिम्बच्छदनकटुकाचतुरङ्गुलैः ।
स्थिराबलागोक्षुरकमदनोशीरवालकैः ॥ ११९ ॥
पयस्यर्धोदके क्वाथं क्षीरशेषं विमिश्रितम् ।
कल्कितैर्मुस्तमदनकृष्णामधुकवत्सकैः ॥ १२० ॥
वस्तिं मधुघृताभ्यां च पीडयेज्ज्वरनाशनम् ।

परवल और नीम के पत्ते, कुटकी, अमलतास, शालपर्णी, बला, गोखरू, मैनफल, खस और नेत्रवाला को आधा जल मिले हुए दूध में पकावे। दूधमात्र शेष रह जाने पर इसमें मुस्ता, मैनफल, पिप्पली, मुलहठी, इन्द्रजौ इनका कल्क, मधु और घृत मिलाकर वस्ति देवे, यह ज्वरनाशक है ॥

ज्वर में अन्य वस्ति—

चतस्रः पर्णिनीर्यष्टीफलोशीरनृपद्रुमान् ॥ १२१ ॥
क्वाथयेत्कल्कयेद्यष्टीशताह्वाफलिनीफलम् ।
मुस्तं च वस्तिः सगुडक्षौद्रसर्पिर्ज्वरापहः ॥ १२२ ॥

चारों पर्णिनी (मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी और पृश्निपर्णी), मुलहठी, मैनफल, खस, अमलतास, इनका क्वाथ करे। इस क्वाथ में मुलहठी, सौंफ, प्रियंगु, मैनफल और मोथा का कल्क मिलाकर गुड़, मधु और घी डालकर वस्ति देवे। यह ज्वरनाशक है ॥ १२१-१२२ ॥

ज्वरनाशक अनुवासन—

जीवन्तीं मदनं मेदां पिप्पलीं मधुकं वचाम् ।
ऋद्धिं रास्नां बलां बिल्वं शतपुष्पां शतावरीम् ॥
पिष्ट्वा क्षीरं जलं सर्पिस्तैलं चैकत्र साधितम् ।
ज्वरेऽनुवासनं दद्याद्यथास्नेहं यथामलम् ॥ १२४ ॥

जीवन्ती, मैनफल, मेदा, पिप्पली, मुलहठी, वच, ऋद्धि, रास्ना, वला, बिल्व, सौंफ, शतावरी, इनको पीसकर दूध, जल, तैल और घी एक साथ सिद्ध करे। इनसे ज्वर में दोष के अनुसार योग्य स्नेह का अनुवासन देवे ॥ १२३-१२४ ॥

वक्तव्य – दूध के चार भाग, जल के चार भाग, घी और तैल एक-एक भाग तथा कल्क आधा भाग लेकर सिद्ध करे।

ज्वरनाशक अन्य वस्तियाँ—

ये च सिद्धिषु वक्ष्यन्ते वस्तयो ज्वरनाशनाः ।

वस्तिकल्प अध्याय में ज्वरनाशक जो वस्तियाँ कही हैं, उनको देवे।

जीर्णज्वर में नस्य—

शिरोरुग्गौरवश्लेष्महरमिन्द्रियबोधनम् ॥ १२५ ॥
जीर्णज्वरे रुचिकरं दद्यान्नस्यं विरेचनम् ।
स्नैहिकं शून्यशिरसो दाहार्ते पित्तनाशनम् ॥ १२६ ॥

जीर्ण ज्वर में विरेचन (शोधन) नस्य देवे। इससे शिर की दर्द, भारीपन और कष्ट नष्ट होता है, इन्द्रियों में चेतना आती है, रुचि होती है। शून्य शिर (खाली शिर) में स्नैहिक नस्य देवे और दाह से पीड़ित शिर में पित्तहर नस्य देवे।

दोषानुसार धूमादिप्रयोग—

धूमगण्डूषकवलान् यथादोषं च कल्पयेत् ।
प्रतिश्यायास्यवैरस्यशिरःकण्ठामयापहान् ॥ १२७ ॥

दोष के अनुसार धूम, गण्डूष और कवलों को प्रयुक्त करे, इनसे प्रतिश्याय, मुख की विरसता और सिर तथा गला के रोग नष्ट होते हैं ॥ १२७ ॥

अरुचिनाशक औषध—

अरुचौ मातुलुङ्गस्य केसरं साज्यसैन्धवम् ।
धात्रीद्राक्षासितानां वा कल्कमास्येन धारयेत् ॥ १२८ ॥

अरुचि में बिजौरे की केशर को घी और सैन्धव के साथ मुख में धारण करे। अथवा आँवला, द्राक्षा और शर्करा का कल्क मुख में धारण करे ॥ १२८ ॥

वक्तव्य—'शर्करादाडिमाभ्यां च द्राक्षादाडिमयोस्तथा ।
वैरस्ये धारयेत्कल्कं गण्डूषे च तथा घृतम् ॥'

त्वग्गत जीर्णज्वरादिनाशक अभ्यङ्गादि—

यथोपशयसंस्पर्शान् शीतोष्णद्रव्यकल्पितान् ।
अभ्यङ्गालेपसेकादींज्वरे जीर्णे त्वगाश्रिते ॥१२९॥
कुर्यादञ्जनधूमांश्च तथैवागन्तुजेऽपि तान् ।

त्वचा में आश्रित जीर्णज्वर में सुखदायक स्पर्शवाले, (दोषानुसार) शीत या उष्ण द्रव्यों से बनाये अभ्यङ्ग, प्रलेप तथा परिषेक आदि करे। अञ्जन और धूम करे। आगन्तुज ज्वर में भी अञ्जन, धूम बरते ॥ १२९ ॥

वक्तव्य—'लाक्षामधुकमञ्जिष्ठा-मूर्वाचन्दनसारिवाः । तैलं षट्कट्वरं नाम अभ्यङ्गाज्ज्वरनाशनम् ॥' दाहज्वरे-चन्दनादि तैलं तथा शीतज्वरे अगुर्वादि तैलम् । (चरके)

दाहज्वरनाशक घृताभ्यङ्ग—

दाहे सहस्रधौतेन सर्पिषाऽभ्यङ्गमाचरेत् ॥ १३० ॥

दाह होने पर सहस्रधौत घृत से अभ्यङ्ग करे ॥ १३० ॥

वक्तव्य—यत्तापितं तापितं शीतोदकेन शतशः स्यानीक्रियते-इन्दुः। घी को गरम करके शीतल पानी में डालकर हाथ से मले फिर पानी को निकाल दे इस प्रकार सौ बार एक हजार बार करे। इसे क्रमशः शतधौत या सहस्रधौत घृत कहते हैं।

दाहज्वरनाशक पक्वतैलाभ्यङ्गादि—

सूत्रोक्तैश्च गणैस्तैस्तैर्मधुराम्लकषायकैः ।
दूर्वादिभिर्वा पित्तघ्नैः शोधनादिगणोदितैः ॥ १३१ ॥
शीतवीर्यैर्हिमस्पर्शैः क्वाथकल्कीकृतैः पचेत् ।
तैलं सक्षीरमभ्यङ्गात्सद्यो दाहज्वरापहम् ॥ १३२ ॥
शिरो गात्रं च तैरेव नातिपिष्टैः प्रलेपयेत् ।
तत्क्वाथेन परीषेकमवगाहं च योजयेत् ॥ १३३ ॥
तथाऽऽरनालसलिलक्षीरयुक्तघृतादिभिः ।

अभ्यंगार्थ तैल—सूत्रस्थान में कहे मधुर गण (घृतहेम-ह. सू. अ. १०।१२), अम्लगण (धात्रीफलाम्लीका १०।१५), कषायगण (पथ्याऽक्षं १०।३१), दूर्वादिगण (१५।६), न्यग्रोधादिगण (१५।४१), पद्मकपुण्ड्रौ (१५॥१२) आदि पित्तनाशक तथा शोधनादिगण संग्रह से कही शीतवीर्य, शीतस्पर्श औषधियों के क्वाथ एवं कल्क से, दुग्ध के साथ सिद्ध किया तैल अभ्यंग करने पर तुरन्त दाहज्वर को नष्ट करता है। तथा इन्हीं द्रव्यों को कुछ दरदरा पीसकर शिर और अङ्गों पर लेप करे। इन द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक एवं अवगाहन करे। कांजी, जल, दूध, शुक्त और घृत आदि से भी परिषेक या अवगाहन करे ॥ १३१–१३३ ॥

वक्तव्य—'श्लक्ष्णशुष्कघनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् । त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृत् त्वन्यथाऽगुरोः ॥'

अम्ल अन्तःप्रयोग में उष्ण है और बाह्यलेप में शीत है। इसीसे शिरका, कोलोन वाटर और मद्य को बरतते हैं।

दाहनाशक कपित्थादि लेप—

कपित्थमातुलुङ्गाम्लविदारीरोध्रदाडिमैः ॥ १३४ ॥
बदरीपल्लवोत्थेन फेनेनारिष्टकस्य वा ।
लिप्तेऽङ्गे दाहरुङ्मोहाश्छर्दिस्तृष्णा च शाम्यति ॥१३५॥

कैथ, विजौरा, अम्लवेतस, विदारी, लोध, अनार, बेर के पत्ते या नीम के पत्ते अथवा रीठे का फल इनकी झाग से अङ्ग पर लेप करे। इससे दाह, वदना मोह, वमन और प्यास नष्ट होता है।

वक्तव्य—अम्ल-अम्लवेत, अरिष्ट-नीम, इन्दुः। बेर के पत्तों आदि को कांजी से पीस कर कांजी से भरे पात्र में डाल कर हाथोंसे मथने पर जो झाग उत्पन्न होती है, उससे लेप करे।

दाहज्वरनाशक अन्य औषध—

यो वर्णितः पित्तहरो दोषोपक्रमणे क्रमः ।
तं च शीलयतः शीघ्रं सदाहो नश्यति ज्वरः ॥१३६॥

दोषोपक्रमण अध्याय (सू. १३) में पित्तनाशक जो उपाय कहे हैं उनका भी सेवन करनेसे दाहयुक्त ज्वर शीघ्र नष्टहोता है।

शीतज्वरनाशक औषध—

वीर्योष्णैरुष्णसंस्पर्शैस्तगरागुरुकुङ्कुमैः ।
कुष्ठस्थौणेयशैलेयसरलामरदारुभिः ॥ १३७ ॥
नखरास्नापुरवचाचण्डैलाद्वयचोरकैः ।
पृथ्वीकाशिग्रुसुरसाहिंस्राध्यामकसर्षपैः ॥ १३८ ॥
दशमूलामृतैरण्डद्वयपत्तूररोहिषैः ।
तमालपत्रभूतीकशल्लकीधान्यदीप्यकैः ॥ १३९ ॥
मिशिमाषकुलत्थाग्निप्रकीर्यानाकुलीद्वयैः ।
अन्यैश्च तद्विधैर्द्रव्यैः शीते तैलं ज्वरे पचेत् ॥ १४० ॥
क्वथितैः कल्कितैर्युक्तैः सुरासौवीरकादिभिः ।
तेनाभ्यञ्ज्यात्सुखोष्णेन, तैः सुपिष्टैश्च लेपयेत् ॥१४१॥
कवोष्णैस्तैः परीषेकमवगाहं च कल्पयेत् ।
केवलैरपि तद्वच्च शुक्तगोमूत्रमस्तुभिः ॥ १४२ ॥
आरग्वधादिवर्गं च पानाभ्यञ्जनलेपने ।
धूपानगुरुजान् यांश्च वक्ष्यन्ते विषमज्वरे ॥ १४३ ॥
अग्न्यनग्निकृतान् स्वेदान् स्वेदि भेषजभोजनम् ।
गर्भभूवेश्मशयनं कुथकम्बलरल्लकान् ॥ १४४ ॥
निर्धूमदीप्तैरङ्गारैर्हसन्तीश्च हसन्तिकाः ।
मद्यं सत्र्यूषणं तक्रं कुलत्थव्रीहिकोद्रवान् ॥ १४५ ॥
संशीलयेद्वेपथुमान् यच्चान्यदपि पित्तलम् ।
दयिताः स्तनशालिन्यः पीना विभ्रमभूषणाः ॥१४६॥
यौवनासवमत्ताश्च तमालिङ्गेयुरङ्गनाः ।
वीतशीतं च विज्ञाय तास्ततोऽपनयेत्पुनः ॥ १४७ ॥

उष्णवीर्य एवं उष्ण स्पर्श वाले द्रव्यों से, तगर, अगरु, केसर, कुष्ठ, स्थौणेय, शैलेय, सरल, देवदारु, नख, रास्ना, गुग्गुल, वच, चण्डा, इलायची, बड़ी इलायची, चोरक, पृथ्वीका, शोभाञ्जन, तुलसी, हिंस्रा (झिंटी), कत्तृण, सरसों,

दशमूल, गिलोय, एरण्ड, लाल एरण्ड, पत्तूर (मछेछी), रोहिष घास, तमालपत्र, भूस्तीक (अजवायन), शल्लकी, धनिया, दीप्यक, सौंफ, माष, कुलथी, चित्रक, करञ्ज, नाकुली (रास्ना), सर्पगन्धा तथा इसी प्रकार दूसरे उष्ण द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ से एवं सुरा, काञ्जी आदि अम्ल द्रव्यों से युक्त शीतज्वर के लिये तैल सिद्ध करे। इस सुहाते गरम तैल से अभ्यङ्ग करे, इन द्रव्यों को बारीक पीसकर लेप करे। इनके गुनगुनाते पानी (क्वाथ) से परिषेक एवं अवगाहन करे। इसी प्रकार केवल शुक्त, गोमूत्र और मस्तु से भी परिषेक एवं अवगाहन करे। पीने में, अभ्यङ्ग में और लेप में आरग्वधादि गण को बरते। विषम ज्वर में जो धूप कहे जायँगे, उनको तथा अगरुजन्य धूपों को देवे। अग्निजन्य तथा अनग्निजन्य (सूर्यताप, क्रोध, मद्य, आदि सूत्र स्थान अ. १७ में वर्णित) स्वेदों को एवं जिस औषध या भोजन से भली प्रकार स्वेद आये उसे बरते। गर्भगृह के अन्दर या भूमिगृह में सोये। कुथ, कम्बल या रल्लक इन ऊन के वस्त्रों को ओढ़े। धूमरहित जलते हुए अङ्गारों से भरी हुई अङ्गीठियों का सेक लेवे। मद्य, त्रिकटु मिला तक्र, कुलथी, धान या कोदो से बनी कांजी का सेवन करे। अन्य भी जो पित्तकारक वस्तु हों, उनका सेवन करे। कँपकपी होने पर—पुष्ट स्तनों से सुन्दर, आभूषण पहनी हुई, उठती जवानी से मस्त स्त्रियां इस रोगी का आलिंगन करें, शीत नष्ट हुआ जानकर स्त्रियों को इससे अलग कर देवे (सम्भोग का निषेध बताया है) ॥१३७-१४७॥

वक्तव्य—पृथ्वीका-बाह्लीका, भूतीकं-भूस्तृणम्। केवलै-रपि-जलपिष्टैः, हेमाद्रिः।

सन्निपातचिकित्सा—

वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा।
कफस्थानानुपूर्व्या वा तुल्यकक्षाञ्जयेन्मलान् ॥१४८॥

सन्निपात चिकित्सा—एक दोष को बढ़ाकर अथवा बढ़े हुए एक दोष को घटा कर हीनाधिक भाव में विषम दोषजन्य सन्निपात में चिकित्सा करे। जहाँ सन्निपात में तीनों दोष समान हों, वहाँ पर कफ के आनुपूर्वी क्रम (कफ, पित्त, वायु) से तथा स्थान के आनुपूर्वी क्रम (उरः, कोष्ठ, बस्ति) से चिकित्सा करे ॥ १४८ ॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में इस विषय को विस्तार से दिया है। यथा—'स्थानतः केचिदिच्छन्ति प्राक् तावत् श्लेष्मणो वधम्। शिरस्युरसि कण्ठे च प्रलिप्तेऽन्नरुचिः कुतः॥ तदभावे कथं भोज्यपानद्रव्यावचारणम्। असत्यभ्यवहारे च कुतो दोषस्य निग्रहः॥ तस्मादादौ कफो वार्यः कायद्वारार्गलो हि सः। मध्यस्थायि यतः पित्तमाशुकारि च चिन्त्यते॥ अतो वातसखस्यास्य कुर्यात्तदनु निग्रहम्। अधःस्थायी च तदनु निग्राह्यः स्यात् समीरणः॥' सुश्रुत ने पित्त, कफ और वायु यह क्रम माना है—'जयेज्ज्वरेऽतिसारे च क्रमात् पित्तकफानिलान्। प्रायेण तापात्मतया ज्वरे तेजो विशिष्यते॥' इत्यादिः। किन्तु आवश्यकतानुसार क्रम परिवर्तन किया जा सकता है 'विज्ञाय कर्मभिः स्वैः स्वैर्दोषोद्रेकं यथामलम्। भेषजं योजयेत्तत्तु स्वीकुर्यान्न क्रमं भिषक्॥' (संग्रह सू. अ. २१)

सन्निपात ज्वर के बाद कर्णमूल—

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
शोफः सञ्जायते येन कश्चिदेव विमुच्यते ॥ १४९ ॥

सन्निपात ज्वर के पीछे कर्णमूल में भयानक शोथ उत्पन्न होता है। इस शोथ से कोई विरला ही बचता है ॥ १४९ ॥

कर्णमूलनाशक औषध—

रक्तावसेचनैः शीघ्रं सर्पिष्पानैश्च तं जयेत्।
प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः ॥ १५० ॥

इस शोथ को शीघ्र ही रक्तमोक्षण, घृतपान, कफपित्तनाशक प्रदेहों से, नस्यों से और कवलग्रह से शान्त करे ॥

वक्तव्य—'गैरिकं पांशुजं शुण्ठी वचाकट्फलकाञ्जिकम्।
कर्णशोथहरो लेपः सन्निपातज्वरे भृशम् ॥'

ज्वर में सिरामोक्षण—

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति।
शाखानुसारी तस्याशु मुञ्चेद्बाह्वोः क्रमात्सिराम् ॥१५१॥

शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं रूक्ष आदि चिकित्सा से भी जिस रोगी का ज्वर शाखा में फैला होने के कारण शान्त नहीं होता; उसमें क्रमशः भुजा में सिरामोक्षण करे ॥ १५१ ॥

वक्तव्य—शाखा-'रक्तादयस्त्वचो बाह्यरोगायनम्।' किन्तु यहाँ पर केवल रक्त ही अभिप्रेत है। क्रमशः—पहले एक भुजा में सिरामोक्षण करे, और फिर दूसरी भुजा में करे।

अयमेव विधिः कार्यो विषमेऽपि यथायथम्।
ज्वरे विभज्य वातादीन् यश्चानन्तरमुच्यते ॥ १५२ ॥

यही (लंघनादि) विधि विषमज्वर (सततकादि) में भी दोषों के अनुसार वातादि का विभाग करके बरतनी चाहिये तथा आगे पटोल, कटुकादि से जो चिकित्सा कही जा रही है; वह भी विषमज्वर में करे ॥ १५२ ॥

विषमज्वरनाशक क्वाथ—

पटोलकटुकामुस्ताप्राणदामधुकैः कृताः।
त्रिचतुःपञ्चशः क्वाथा विषमज्वरनाशनाः ॥ १५३ ॥

परवल, कुटकी, मुस्ता, हरड़, मुलहठी इनमें से तीन से, या चार से या पाँच से बनाया क्वाथ विषमज्वरनाशक है।

अन्य औषध—

योजयेत्त्रिफलां पथ्यां गुडूचीं पिप्पलीं पृथक्।
तैस्तैर्विधानैः सगुडं भल्लातकमथापि वा ॥ १५४ ॥
लङ्घनं बृंहणं वाऽऽदौ ज्वरागमनवासरे।

त्रिफला को, या हरड़ को, या गिलोय और पिप्पली को पृथक्-पृथक् सततकादिज्वर में बरते। अथवा रसायन आदि विधि से गुड़सहित भिलावे को खाये।

ज्वर आने के दिन ज्वर आने से पूर्व (दोषानुसार) लंघन या बृंहण (गुरु, स्निग्ध, मधुर भोजन) करना चाहिये।

विषमज्वर में अन्य औषध—

प्रातः सतैलं लशुनं प्राग्भक्तं वा तथा घृतम् ॥१५५॥
जीर्णं तद्वद्दधि पयस्तक्रं सर्पिश्च षट्पलम् ।
कल्याणकं पञ्चगव्यं तिक्ताख्यं वृषसाधितम् ॥१५६॥

विषमज्वर में प्रातःकाल (सरसों के) तैल के साथ लहसुन को खाये । भोजन से पहिले या प्रातः पुरातन घृत पिये । दही, दूध तक्र या षट्पल घृत (चि ५।२८); कल्याणक घृत (उत्तर. अ. ६।२६); पंचगव्य घृत (उ. ७।१९), तिक्त घृत (चि. १९।२) या वृष घृत (चि. अ. २।४०) इनको प्रातः या भोजन से पूर्व पिये ॥ १५५-१५६ ॥

विषमज्वरनाशक त्रिफलादि घृत—

त्रिफलाकोलतर्कारीक्वाथे दध्ना शृतं घृतम् ।
तिल्वकत्वक्कृतावापं विषमज्वरजित्परम् ॥ १५७ ॥

त्रिफला, बेर, अरणी इनके क्वाथ में दही के साथ तिल्वक की छाल के कल्क से सिद्ध किया घृत श्रेष्ठ विषमज्वरनाशक है।

विषमज्वर में सुरापानादि—

सुरां तीक्ष्णं च यन्मद्यं शिखितित्तिरिदक्षजम् ।
मांसं मेद्योष्णवीर्यं च सहान्नेन प्रकामतः ॥१५८॥
सेवित्वा तदहः स्वप्यादथवा पुनरुल्लिखेत् ।
सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा वा छर्दयेत्पुनः ॥१५९॥

तीक्ष्ण सुरा या तीक्ष्ण मद्य अथवा मोर, तीतर या मुर्गे का मांस या मेदुर-उष्णवीर्य मांस को अन्न के साथ भरपेट (तृप्ति पर्यन्त) खाकर उस दिन (ज्वर आने के दिन) सो जावे अथवा इनको खाकर वमन कर देवे।

अथवा घी की उत्तम मात्रा को (जो चौबीस घण्टे में जीर्ण होती है) पीकर फिर वमन कर देवे ॥ १५८-१५९ ॥

ज्वर के दिन नीलिन्यादि क्वाथपान—

नीलिनीमजगन्धां च त्रिवृतां कटुरोहिणीम् ।
पिबेज्ज्वरस्यागमने स्नेहस्वेदोपपादितः ॥१६०॥

ज्वर आने के दिन स्नेहन और स्वेदन करके नील, अजगन्धा, निशोथ और कुटकी का क्वाथ पिये ॥ १६० ॥

विषमज्वर में नेत्राञ्जन—

मनोह्वा सैन्धवं कृष्णा तैलेन नयनाञ्जनम् ।
योज्यं—

मैनसिल, सैन्धव और पिप्पली का तैल से अञ्जन करे।

विषम ज्वर में नस्य—

— हिङ्गुसमा व्याघ्रीवसा नस्यं ससैन्धवम् ॥१६१॥
पुराणसर्पिः सिंहस्य वसा तद्वत्ससैन्धवा ।

(१) हींग के बराबर व्याघ्री की वसा, तथा सैन्धव; अथवा (२) पुरातन घृत, अथवा (३) सिंह की वसा और सैन्धव नमक इनका नस्य देवे । यहाँ व्याघ्री = मांदा बाघ की चर्बी लेना लिखा है सम्भवतः प्रभावकृत विशेषता होती है। यही अरुणदत्त और हेमाद्रि का मत है ॥ १६१ ॥

विषमज्वरों में धूप—

पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी ॥१६२॥
सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपो विड् वा विडालजा ।

गुग्गुलु, नीम के पत्ते, वच, कूठ, हरड़, सरसों, जौ और घी का धुंवा देवे। अथवा बिल्ली की विष्ठा का धुंवा देवे ॥

पुरध्यामवचासर्जनिम्बार्कागुरुदारुभिः ॥१६३॥
धूपो ज्वरेषु सर्वेषु कार्योऽयमपराजितः ।
धूपनस्याञ्जनोत्त्रासा ये चोक्ताश्चित्तवैकृते ॥१६४॥

अपराजितधूम—गुग्गुलु, कत्तृण, वच, राल, नीम और आक के पत्ते, अगरु और देवदारु से सब प्रकार के ज्वरों में धूम देवे; यह अपराजित धूम है।

उन्माद एवं अपस्मार में जो धूम, नस्य और अञ्जन कहे हैं; उन्हें तथा उत्त्रास (अकस्माद्भयोत्पादन) को भी विषमज्वर में वरते ॥ १६३-१६४ ॥

सब ज्वरों में जप, हवनादि—

दैवाश्रयं च भैषज्यं ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति ।
विशेषाद्विषमान् प्रायस्ते ह्यागन्त्वनुबन्धजाः ॥१६५॥

जप, होम आदि दैवव्यपाश्रय चिकित्सा सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट कर देती है। विशेष कर यह चिकित्सा विषमज्वरों को नष्ट करती है; क्योंकि प्रायः इन विषमज्वरों में आगन्तुज कारण होता है। (कहा भी है—'आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ।' तथा-'केचिद्भूताभिषङ्गोत्थम् ब्रुवते विषमज्वरम् ।' ॥ १६५ ॥

विषम ज्वर में सिरावेधन—

यथास्वं च सिरां विध्येदशान्तौ विषमज्वरे ।

विषमज्वर के शान्त न होने पर दोष आदि की अपेक्षा से सिरावेध करे (तृतीयक में अंसों के मध्य में और चतुर्थक में स्कन्ध के नीचे सिरावेध करे ।) ॥

वातादि ज्वर में घृतपान—

केवलानिलवीसर्पविस्फोटाभिहतज्वरे ॥१६६॥
सर्पिःपानहिमालेपसेकमांसरसाशनम् ।
कुर्याद्यथास्वमुक्तं च रक्तमोक्षादि साधनम् ॥१६७॥

शुद्धवातजन्य ज्वर, वीसर्प, विस्फोट तथा अभिघातजन्य ज्वर में घृतपान, शीतल लेप, शीतल परिषेक, मांसरस का भोजन तथा इन रोगों में वर्णित रक्तमोक्षण आदि चिकित्सा करे

ग्रहजन्य ज्वर में बलिमन्त्रादि—

ग्रहोत्थे भूतविद्योक्तं बलिमन्त्रादि साधनम् ।

ग्रहावेशजन्य ज्वर में भूतविद्या (ग्रहप्रकरण) में क ह हुई बलि, मन्त्रादि चिकित्सा करे ।

पत्तज तथा विषम ज्वर का औषध—

ओषधीगन्धजे पित्तशमनं विषजिद्विषे ॥ १६८ ॥

औषध की गन्ध से उत्पन्न ज्वर में पित्तशामक चिकित्सा करे। विषजन्य ज्वर में विषनाशक चिकित्सा करे ॥ १६८ ॥

क्रोधादिजन्य ज्वरों के उपाय—

इष्टैरर्थैर्मनोज्ञैश्च यथादोषशमेन च ।
हिताहितविवेकैश्च ज्वरं क्रोधादिजं जयेत् ॥ १६९ ॥
क्रोधजो याति कामेन शान्तिं क्रोधेन कामजः ।
भयशोकोद्भवौ ताभ्यां भीशोकाभ्यां तथेतरौ ॥१७०॥

क्रोध आदि कारणों से उत्पन्न ज्वर को अभिमत विषयों से तथा सुन्दर प्रसङ्गों से; एवं दोष के अनुसार शमन चिकित्सा करने से और हित-अहित ज्ञान के विचारों से शान्त करे। क्रोधजन्य ज्वर काम से शान्त होता है। कामजन्य ज्वर क्रोध से शान्त होता है। भय-शोकजन्य ज्वर काम और क्रोध से शान्त होते हैं। काम-क्रोधजन्य ज्वर भय और शोक से शान्त होते हैं।

शापादिजन्य ज्वरों के उपाय—

शापाथर्वणमन्त्रोत्थे विधिर्दैवव्यपाश्रयः ।
ते ज्वराः केवलाः पूर्वं व्याप्यन्तेऽनन्तरं मलैः ॥१७१॥
तस्माद्दोषानुसारेण तेष्वाहारादि कल्पयेत् ।
न हि ज्वरोऽनुबध्नाति मारुताद्यैर्विना कृतः ॥१७२॥

शाप एवं आथर्वण मन्त्रों (अभिचार) से उत्पन्न ज्वर में दैवव्यपाश्रय (मणि, मन्त्र, औषध, जप, प्रायश्चित्त, होम आदि) चिकित्सा करे। ये ज्वर (औषध आदि जन्य) पहिले अकेले होते हैं, परन्तु पीछे से दोषों से व्याप्त हो जाते हैं। इसलिए इन आगन्तुक ज्वरों में भी दोषों के अनुसार आहार-औषध आदि की कल्पना करनी चाहिए। क्योंकि वातादि दोषों के विना ज्वर चिरकाल तक बना नहीं रह सकता ॥ १७१-१७२ ॥

ज्वरसमय को भुलाना—

ज्वरकालस्मृतिं चास्य हारिभिर्विषयैर्हरेत् ।

ज्वर वेग के समय का स्मरण करने से जिसको ज्वर होता हो; उसे ज्वरकाल को भुलाने वाले (मनोहर शब्द, खेल आदि) विषयों से भुला देवे।

शुद्ध मन की सर्वज्वरनाशकता—

करुणार्द्रं मनः शुद्धं सर्वज्वरविनाशनम् ॥ १७३ ॥

कृपा से भरा शुद्ध (राग-द्वेष आदि से रहित) मन सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है ॥ १७३ ॥

ज्वरमुक्ति के बाद वर्जनीय—

त्यजेदाबललाभाच्च व्यायामस्नानमैथुनम् ।
गुर्वसात्म्यविदाह्यन्नं यच्चान्यज्ज्वरकारणम् ॥१७४॥

(ज्वर से मुक्त होने पर) जब तक शरीर में बल न आये तब तक व्यायाम, स्नान, मैथुन, गुरु, असात्म्य और विदाही भोजन तथा जो भी कोई ज्वर का कारण हो, उन सबका त्याग करे ॥ १७४ ॥

वक्तव्य—'पिष्टान्नं हरितं शाकं मांसं शुष्कं तिलान् दधि। ग्राम्यानूपौदकाजाविगव्यसूकरमाहिषम् । मांसं शुष्काणि शाकानि सर्वमेव त्यजेज्ज्वरी ॥'

सहसा सर्वान्नसेवन का निषेध—

न विज्वरोऽपि सहसा सर्वान्नीनो भवेत्तथा ।
निवृत्तोऽपि ज्वरः शीघ्रं व्यापादयति दुर्बलम् ॥१७५॥

ज्वर से मुक्त होने पर भी एक दम से सब कुछ खाने न लग जाय। क्योंकि निवृत्त हुआ भी ज्वर (पुनरावृत्त होकर) दुर्बल रोगी को शीघ्र मार देता है। (कहा भी है—दुर्हृतेषु च दोषेषु वर्ज्यानाञ्च निषेवणात् । स्वल्पेनाप्यपचारेण पुनरावर्तते ज्वरः।) (च. चि. अ. ३) ॥ १७५ ॥

ज्वर की समयोचित औषध—

सद्यः प्राणहरो यस्मात्तस्मात्तस्य विशेषतः ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तत्कुर्याद्भिषग्जितम् ॥१७६॥

क्योंकि ज्वर सद्यःप्राणनाशक है, इसलिये विशेष रूप से ज्वर की उस उस अवस्था में वह वह (अपच्यमान, पच्यमान, पक्व, अजीर्ण, विषम और चिरप्रवृत्त आदि में लङ्घन, स्वेदन, यवागू, पाचन, क्षीरपान और सर्पिःपान आदि) औषध करनी चाहिये ॥ १७६ ॥

औषध आदि की ज्वरनाशकक्षमता—

ओषधयो मणयश्च सुमन्त्राः साधुगुरुद्विजदैवतपूजाः ।
प्रीतिकरा मनसो विषयाश्च घ्नन्त्यपि विष्णुकृतं ज्वरमुग्रम्

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने ज्वरचिकित्सितं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

* * *

ओषधियाँ, मणि, मन्त्र तथा साधु, गुरु, ब्राह्मण और देवता की पूजा एवं मन के प्रिय विषय, ये विष्णुकृत उग्र ज्वर को भी नष्ट कर देते हैं ॥ १७७ ॥

वक्तव्य—शास्त्रीय रसादि औषध—वातज्वर में-हिङ्गुलेश्वर, पञ्चवक्त्र, पित्तज्वर में-चन्द्रकलारस, नवज्वरांकुश, जयावटी, कफज्वर में-अग्निकुमार, अजीर्णज्वर में—रामबाण, वातकफज्वर में-मृत्युञ्जय, कस्तूरीभैरव, कस्तूरीभूषण, पित्तकफज्वर में—चण्डेश्वर, वातपित्तज्वर में—तरुणज्वरारि, सन्निपात में—सौभाग्यवटी, चतुर्भुजरस, कस्तूरीभैरव, कृष्णचतुर्मुख, त्रैलोक्यचिन्तामणि, मकरध्वज, विषम ज्वर में—ज्वरांकुश, महाज्वरांकुश, चन्दनादिलौह, सर्वतोभद्रलौह, सर्वज्वरहर लौह, यकृदरिलौह, पिप्पल्यादिलौह, अर्कलवण, जीर्णज्वर में-पुटपक्व विषमज्वरान्तकलौह, जयमङ्गलरस, बृहत् सर्वज्वरहर लौह, सुदर्शनचूर्ण, सर्वतोभद्र, चिन्तामणि, विषमज्वरान्तक लौह योग्य अनुपान से देवें।

ज्वरातिसार—ज्वर के साथ बार बार पतला मल निकलने से ज्वरातिसार होता है। इसमें प्रारम्भ में स्तम्भक औषध न देवे। इसमें ज्वरनाशक और दीपन औषध एवं अनुपान देवे। प्रथमावस्था में—मोथा, इन्द्रजौ, सूखे बेल का चूर्ण देवे।

दूसरी अवस्था में जीरे का भुना चूर्ण, अतीस, पिप्पली और अजवायन देवे ।

औषध—ह्रीबेरादि, उशीरादि या कलिङ्गादि पाचन देवे ।[1] रस औषधियों में-सिद्धप्राणेश्वर, आनन्दभैरव, महागन्धक, कनकप्रभावटी, सञ्जीवनीवटी देवे ।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सित स्थान का ज्वर-चिकित्सित नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

* * *

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्तचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे रक्तपित्तचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त का उपचार

ऊर्ध्वगं बलिनोऽवेगमेकदोषानुगं नवम् ।
रक्तपित्तं सुखे काले साधयेन्निरुपद्रवम् ॥ १ ॥

बलवान् पुरुष में ऊर्ध्वगामी (नाक, मुख आदि ऊर्ध्वमार्गों से जाने वाला), वेगरहित, एक दोष अर्थात् कफदोष से सम्बन्धित, नूतन-अचिरोत्पन्न, सुखमय समय अर्थात् हेमन्त एवं शिशिर में उत्पन्न, उपद्रवरहित रक्तपित्त साध्य है ॥ १ ॥

वक्तव्य—बलिनः-शब्द से अरुणदत्त ने 'बलवतः पुंसो न स्त्रियाः' अर्थ किया है, अर्थात् बलवान् पुरुष में साध्य है किन्तु यह अप्रामाणिक है। एकदोषानुगम्-निदान में कहा है 'ऊर्ध्वं साध्यं कफाद्यस्मात्।' सुखे काले-व्याधिप्रतिपक्षभूते-रोग के विपरीत काल हेमन्त, शिशिर में।

ऊर्ध्वगामी, अधोगामी रक्तपित्तचिकित्सा विचार—

अधोगं यापयेद्रक्तं यच्च दोषद्वयानुगम् ।
शान्तं शान्तं पुनः कुप्यन्मार्गान्मार्गान्तरं च यत् ॥२॥
अतिप्रवृत्तं मन्दाग्नेस्त्रिदोषं द्विपथं त्यजेत् ।

अधोमार्ग (गुदा, मूत्रमार्ग, योनिमार्ग) से जाने वाला, दो दोष वाला (वायु और कफ से सम्बन्धित) तथा जो रक्तपित्त, शान्त होकर फिर-फिर उठ जाता है, अथवा जो रक्तपित्त एक मार्ग से दूसरे मार्ग में परिवर्तित होता रहता है, वह रक्तपित्त याप्य है।

जो रक्तपित्त अतिशय प्रवृत्त होता हो, मन्द अग्नि वाले का रक्तपित्त वात, पित्त, कफ तीनों दोषों से युक्त हो तथा ऊर्ध्व और अधः दोनों मार्गों से प्रवृत्त होता हो, वह असाध्य है ॥

वक्तव्य—मन्दाग्नि पुरुष में रक्तपित्त विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य है, क्योंकि-मन्दाग्नि में कटुक, अम्ल, उष्ण, रूक्ष, तीक्ष्ण आदि उष्ण औषध अग्नि को बढ़ाने के लिये दी जाती है, परन्तु यही औषध रक्तपित्त में विरोधी है; रक्तपित्त की औषध मधुर, शीत गुण की मन्दाग्नि में विरोधी है। उभय-मार्ग-असाध्यमुभयायनम्। अशक्यप्रातिलोम्यत्वात्।

ज्ञात्वा निदानमयनं मलावनुबलौ बलम् ॥ ३ ॥
देशकालाद्यवस्थां च रक्तपित्ते प्रयोजयेत् ।
लङ्घनं बृंहणं वाऽऽदौ शोधनं शमनं तथा ॥ ४ ॥

रक्तपित्त में निदान (कारण), अयन (मार्ग), अनुबल मल (अनुबन्धित दोष कफ और वायु), बल (रोग और रोगी दोनों की शक्ति), देश (शरीर और भूमि देश), काल (नित्यग और आवस्थिक), आदि शब्द से अग्नि, आहार, सत्त्व, सात्म्य आदि तथा अवस्था को जानकर लंघन या बृंहण, शोधन या शमन प्रारम्भ में बरतना चाहिये।

वक्तव्य—निदान-बृंहणोत्थजन्य रक्तपित्त में लङ्घन, लङ्घन जन्य में बृंहण, निदान का परित्याग करना-यथा 'यत्किञ्चिद् रक्तपित्तस्य निदानं तच्च वर्जयेत्।' अयन-ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में लङ्घन, अधोगामी रक्तपित्त में बृंहण, अथवा-ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में तर्पण पहले देना। गले में जमा हुआ ग्रथित कफ-युक्त पिच्छिल रक्तस्राव हो तो कमलनाल के क्षार को मधु-घृत के साथ चाटे। अनुबल-मल-कफ में लंघन, वात में बृंहण; अथवा—'रक्तपित्तं न चेच्छाम्येत्तत्र वातोल्बणे पयः। युञ्ज्याच्छागम्।' बल-सम्पूर्ण बल में लंघन, अल्पबल में बृंहण, अथवा 'यथास्वं मन्थपेयादिः प्रयोज्यो रक्षता बलम्।' देश-आनूपदेश में लंघन, जांगल में बृंहण (रोगी की दृष्टि और मुख से रक्तस्राव होने पर एक औषध, नासा से रक्तस्राव होने पर दूसरी औषध यथा—'नासाप्रवृत्ते जलमाशु देयं सशर्करम्', इसी प्रकार गुद-मार्ग के रक्तस्राव में एक चिकित्सा, मेढ्गत रक्तपित्त में दूसरी चिकित्सा-शमन)। काल-विसर्गकाल में लंघन, आदानकाल में बृंहण; आदि शब्द से-यौवन में लंघन, वृद्धावस्था में बृंहण। अवस्था ज्ञान—में-अपक्वावस्था में लंघन, पक्वावस्था में बृंहण चिकित्सा। आदि शब्द से लंघन के पीछे बृंहण, बृंहण के पीछे लंघन, पहले शोधन फिर शमन चिकित्सा करे ॥ ५ ॥

रक्तपित्तज विरेचनादि—

सन्तर्पणोत्थं बलिनो बहुदोषस्य साधयेत् ।
ऊर्ध्वभागं विरेकेण वमनेन त्वधोगतम् ॥ ५ ॥
शमनैर्बृंहणैश्चान्यैर्लङ्घ्यबृंह्यानवेक्ष्य च ।

बलवान् एवं बहुत दोष वाले पुरुष में यदि रक्तपित्त सन्तर्पणजन्य हो, तो ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में विरेचन से चिकित्सा और अधोगामी रक्तपित्त में वमन से चिकित्सा करे। दुर्बल एवं अल्पदोष वाले पुरुष में अपतर्पणजन्य रक्तपित्त यदि ऊर्ध्वगामी हो तो शमन चिकित्सा करे अधोगामी हो तो बृंहण चिकित्सा करे। लंघनीय और बृंहणीय पुरुष का भी विचार करे अर्थात् लंघन से उत्पन्न अधोगामी रक्तपित्त में शमन चिकित्सा करे। बृंहण से उत्पन्न ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में भी लंघन चिकित्सा करे ॥ ५ ॥

---

[1] पाचनों के लिये लेखक का पाचनसंग्रह देखना चाहिये।

वक्तव्य—शमन और बृंहण चिकित्सा लंघन योग्य एवं बृंहण योग्य पुरुषों को देखकर बरती जाती है।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त की चिकित्सा—

ऊर्ध्वं प्रवृत्ते शमनौ रसौ तिक्तकषायकौ ॥ ६ ॥
उपवासश्च निःशुण्ठिषडङ्गोदकपायिनः ।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में तिक्त एवं कषाय ये दो शामक रस देने चाहिये। उपवास कराना चाहिये। सोठ को निकाल कर शेष षडंगोदक (मुस्ता, चन्दन, खस, नेत्रबाला और पित्तपापड़ा का पानी) देना चाहिये ॥ ६ ॥

अधोगामी रक्तपित्त की चिकित्सा—

अधोगे रक्तपित्ते तु बृंहणो मधुरो रसः ॥ ७ ॥

अधोगामी रक्तपित्त में बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये और मधुर रस देना चाहिये ॥ ७ ॥

उभय रक्तपित्त में पथ्य—

ऊर्ध्वगे तर्पणं योज्यं प्राक् च पेया त्वधोगते ।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में प्रथम तर्पण तथा अधोगामी रक्तपित्त में प्रथम पेया बरतनी चाहिये।

वक्तव्य—पेया—'शस्तं सुलङ्घितस्यादौ विधाय कवलग्रहम्। लाजसक्तुकं पथ्यं स्यात् सैन्धवेनावचूर्णितम् ॥ रक्तपित्तहितत्वेन दाहज्वरहृतेस्तथा ॥ सक्तवः शीतवीर्याः स्युर्लाजपूर्वा हितानले। पाचनो दीपनो लाजमण्डस्तेनोष्ण इष्यते

अशुद्ध रक्तधारण में निषेध—

अशनतो बलिनोऽशुद्धं न धार्यं तद्धि रोगकृत् ॥ ८ ॥
धारयेदन्यथा शीघ्रमग्निवच्छीघ्रकारि तत् ।

भोजन करने वाले बलवान् पुरुष के दुष्ट रक्त को रोकना नहीं चाहिये। इस दूषित रक्त के रोकने से रोग होते हैं। भोजन न करने वाले दुर्बल पुरुष के दूषित रक्त को शीघ्र रोकना चाहिये क्योंकि न रोका गया यह रक्त अग्नि की भांति शीघ्र मारक होता है ॥ ८ ॥

वक्तव्य—रोग-गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम् । गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं मूत्रकृच्छ्रताम् । कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं वर्णनाशं भगन्दरम् । बुद्धीन्द्रियोपरोधं च कुर्यात् स्तम्भितमादितः ॥ (चरक)

रक्तपित्त में विरेचक अवलेह—

त्रिवृच्छ्यामाकषायेण कल्केन च सशर्करम् ॥ ९ ॥
साधयेद्विधिवल्लेहं लिह्यात्पाणितलं ततः ।

विरेचन—निशोथ और श्यामा (काली निशोथ या अनन्तमूल) के कषाय के द्वारा इन्हीं के कल्क से शर्करा के साथ विधिपूर्वक अवलेह तैयार करे। इस अवलेह में से कर्ष प्रमाण चाटे ॥ ९ ॥

रक्तपित्त में अन्य औषध—

त्रिवृता त्रिफला श्यामा पिप्पली शर्करा मधु ॥१०।
मोदकः सन्निपातोर्ध्वरक्तशोफज्वरापहः ।
त्रिवृत्समसिता तद्वत् पिप्पलीपादसंयुता ॥ ११ ॥

विरेचनान्तर-निशोथ, त्रिफला, काली निशोथ या अनन्तमूल, पिप्पली, शर्करा और मधु को मिलाकर मोदक (लड्डू) बनाये। ये सन्निपातजन्य ऊर्ध्व रक्तपित्त, सन्निपातजन्य शोफ और सन्निपातज्वर में उत्तम हैं। इसी प्रकार निशोथ के समान शर्करा और निशोथ से चतुर्थांश पिप्पली मिलाकर मोदक बनाये। ये भी ऊर्ध्व रक्तपित्त, शोफ और ज्वर में उत्तम हैं ॥ १०-११ ॥

अधोगामी रक्तपित्त की चिकित्सा—

वमनं फलसंयुक्तं तर्पणं ससितामधु ।
ससितं वा जलं क्षौद्रयुक्तं वा मधुकोदकम् ॥ १२ ॥
क्षीरं वा रसमिक्षोर्वा—

अधोगामी रक्तपित्त की चिकित्सा—मैनफल से मिश्रित तर्पण (सत्तुओं का मन्थ), शर्करा एवं मधु के साथ वमन के लिये देवे। अथवा शर्करामिश्रित जल को मैनफल से, मधु के जल को मैनफल के साथ, मुलहठी के जल को मैनफल के साथ, दूध को मैनफल के साथ या गन्ने के रस को मैनफल के साथ देवे ॥ १२ ॥

शुद्ध होने के बाद कर्तव्य—

—शुद्धस्यानन्तरो विधिः ।
यथास्वं मन्थपेयादिः प्रयोज्यो रक्षता बलम् ॥ १३ ॥

वमन और विरेचन से शुद्ध हुए व्यक्ति में पीछे से बल की रक्षा करते हुए दोषों के अनुसार मन्थ या पेया आदि बरतना चाहिये। (बल-अग्निबल और देहबल हेमाद्रिः)।

मन्थनिर्माण विधि—

मन्थो ज्वरोक्तो द्राक्षादिः, पित्तघ्नैर्वा फलैः कृतः ।
मधुखर्जूरमृद्वीकापरूषकसिताम्भसा ॥ १४ ॥
मन्थो वा पञ्चसारेण सघृतैर्लाजसक्तुभिः ।
दाडिमामलकाम्लो वा मन्दाग्न्यम्लाभिलाषिणाम् ॥

मन्थ-'द्राक्षामधूकमधुकम्' आदि (हृ. चि. अ. १।५५) ज्वर में कहा मन्थ देवे। अथवा पित्तनाशक फलों (यथा-द्राक्षा, आँवला, गम्भारी, मुलहठी) से बनाया मन्थ देवे।

मधु, खजूर, द्राक्षा, फालसा, शर्करा से जल में लाजा के सत्तु के साथ बना पञ्चसार नामक मन्थ घी मिलाकर पिये। मन्दाग्नि वाले एवं अम्लरस की चाह रखने वालों को अनारदाना और आँवले से बनाया अम्ल मन्थ देना चाहिये ॥

रक्तपित्तहरी पेया—

कमलोत्पलकिञ्जल्कपृश्निपर्णीप्रियङ्गुकाः ।
उशीरं शाबरं रोध्रं शृङ्गबेरं कुचन्दनम् ॥ १६ ॥
ह्रीवेरं धातकीपुष्पं बिल्वमध्यं दुरालभा ।
अर्धार्धैर्विहिताः पेया वक्ष्यन्ते पादयौगिकाः ॥ १७ ॥
भूनिम्बसेव्यजलदा मसूराः पृश्निपर्ण्यपि ।
विदारिगन्धा मुद्गाश्च बला सर्पिर्हरेणुकाः ॥ १८ ॥

पेया—(१) कमल, कमलकेशर, पृश्निपर्णी, प्रियङ्गु,

(२) खस, शाबरलोध, सोंठ, लाल चन्दन, (३) सुगन्धबाला, धाय के फूल, बेल की मज्जा और धमासा, इन आधे-आधे श्लोकों में तीन पेया कही हैं। अगले श्लोक के एक-एक पाद में चार पेया कहेंगे—(१) चिरायता, खस, मुस्ता, (२) मसूर, पृश्निपर्णी, (३) शालपर्णी, मूँग, (४) बला, घी, हरेणु, ये चार पेया हैं ॥ १६-१८ ॥

मांसरस—

जाङ्गलानि च मांसानि शीतवीर्याणि साधयेत् ।
पृथक्पृथग्जले तेषां यवागूः कल्पयेद्रसे ॥ १९ ॥
शीताः सशर्कराक्षौद्रास्तद्वन्मांसरसानपि ।
ईषदम्लाननम्लान् वा घृतभृष्टान् सशर्करान् ॥ २० ॥

पेया की औषधियों के पृथक् पृथक् क्वाथ में शीतवीर्य जांगल (खरगोश आदि के) मांस को पकाये। इस मांसरस से फिर यवागू बनाये। इसके शीतल होने पर मधु और शर्करा मिलाये। इसी प्रकार मांसरसों को भी अनारदाने आदि से थोड़ा खट्टा बना कर या बिना खट्टा किये घी में भून कर शर्करा के साथ खाये ॥ १९-२० ॥

वक्तव्य—तद्वत—पेया की भाँति, परन्तु इसमें तण्डुल का प्रक्षेप न देवे। संग्रह में भी कहा है—'तत्कषाये हिताः पेया मांसपेयास्तथा रसाः। अनम्लाः किञ्चिदम्ला वा सघृतक्षौद्रशर्कराः ॥'

शूकशिम्बी धान्यादि—

शूकशिम्बीभवं धान्यं रक्तशाकं च शस्यते ।
अन्नस्वरूपविज्ञाने यदुक्तं लघु शीतलम् ॥ २१ ॥

रक्तपित्त रोग में शूक धान्य, शिम्बी धान्य और शाक वह उत्तम है, जो कि अन्नस्वरूपविज्ञान अध्याय में लघु और शीतल कहे गये हैं ॥ २१ ॥

जल के अनेक प्रकार—

पूर्वोक्तमम्बु पानीयं पञ्चमूलेन वा शृतम् ।
लघुना शृतशीतं वा मध्वम्भो वा फलाम्बु वा ॥२२॥

सोंठरहित पूर्वोक्त षडङ्गपानीय अथवा लघु पञ्चमूल से सिद्ध किया जल या पकाकर ठण्डा किया जल या मधुमिश्रित जल अथवा पित्तनाशक द्राक्षा, अनार आदि फलों का पानी रक्तपित्त में उत्तम है ॥ २२ ॥

वक्तव्य—जलपाक का नियम-'कर्षं गृहीत्वा द्रव्यस्य क्वाथयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि। अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं जलपाके त्वयं विधिः ॥'

रक्तपित्त आदि में देने योग्य मांस—

शशः सवास्तुकः शस्तो विबन्धे; तित्तिरिः पुनः ।
उदुम्बरस्य निर्यूहे साधितो मारुतेऽधिके ॥ २३ ॥
प्लक्षस्य बर्हिणस्तद्वन्न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः ।

रक्तपित्त रोगी को मल का अवरोध होने पर खरगोश का मांस बथुए के साथ देना चाहिये।

वायु की अधिकता होने पर गूलर क्वाथ में तीतर का मांस सिद्ध कर देवे। इसी प्रकार पिलखन के क्वाथ में मोर को सिद्ध करके या बरगद के क्वाथ में मुर्गे को सिद्ध करके वायु की प्रधानता में देवे ॥ २३ ॥

रक्तपित्त में त्याज्य पदार्थ—

यत्किञ्चिद्रक्तपित्तस्य निदानं तच्च वर्जयेत् ॥ २४ ॥

रक्तपित्त रोग के जो भी कारण हों, उनको छोड़ देना चाहिये।

रक्तपित्त के अन्य औषध—

वासारसेन फलिनीमृल्लोध्राञ्जनमाक्षिकम् ।
पित्तासृक् शमयेत्पीतं, निर्यासो वाऽऽटरूषकात् ॥२५॥
शर्करामधुसंयुक्तः केवलो वा शृतोऽपि वा ।
वृषः सद्यो जयत्यस्रं, स ह्यस्य परमौषधम् ॥२६॥

अडूसे के स्वरसके साथ प्रियङ्गु, मृत् (तालाब की मिट्टी), लोध अञ्जन (रसांजन) और मधु को पीने से रक्तपित्त शान्त होता है। अथवा अडूसे के रस को शर्करा एवं मधु के साथ पिये। अथवा केवल अडूसे का स्वरस अथवा अडूसे का क्वाथ पिये। अडूसा तत्काल रक्त को शान्त करता है क्योंकि यह रक्तपित्त की श्रेष्ठ औषध है ॥ २५–२६ ॥

वक्तव्य—मृत् का अर्थ टीकाकार ने सौराष्ट्री किया है, परन्तु इसके लिये 'गिरे अरमानी' यूनानी दवा लेना श्रेयस्कर है। इसी प्रकार अञ्जन का अर्थ रसाञ्जन किया है, परन्तु शुद्ध किया अञ्जन (सुरमा) भी लेना चाहिये। सुश्रुत ने अंजन को उत्तम रक्तस्तम्भक कहा है। यथा—'अञ्जनादिगणो ह्येष रक्तपित्तनिबर्हणः ॥' (सु. सू. अ. ४८)

रक्तपित्त में तीन क्वाथ—

पटोलमालतीनिम्बचन्दनद्वयपद्मकम्
रोध्रा वृषस्तन्दुलीयः कृष्णा मृन्मदयन्तिका ॥ २७ ॥
शतावरी गोपकन्या काकोल्यौ मधुयष्टिका ।
रक्तपित्तहराः क्काथास्त्रयः समधुशर्कराः ॥ २८ ॥

तीन क्वाथ—(१) परवल, चमेली, नीम, श्वेत चन्दन, लालचन्दन, पद्माख; (२) लोध, अडूसा, चौलाई, काली मिट्टी, मेंहदी; (३) शतावरी, सारिवा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलहठी-इनको मधु और शर्करा के साथ देना चाहियें; ये तीनों क्वाथ रक्तपित्तनाशक हैं ॥ २७–२८ ॥

वक्तव्य—मेंहदी को पीसकर पानी में घोलकर देने से यह बहुत ठण्डी है। जो भैंस बार-बार उलट जाती है-जिसे गर्भ नहीं रहता; उसे भैंसे के साथ मिलने के पीछे तुरन्त मेंहदी का पानी या शक्कर का शर्बत पिलाते हैं। इसस उसे गर्भ रह जाता है।

अन्य क्वाथादि—

पलाशवल्कक्काथो वा सुशीतः शर्करान्वितः ।
लिह्याद्वा मधुसर्पिर्भ्यां गवाश्वशकृतो रसम् ॥ २९ ॥
सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात्पारावतच्छकृत् ।

ढाक की छाल के क्वाथ को भली प्रकार शीतल करके

शर्करा के साथ पिये। अथवा गाय के गोबर एवं घोड़े की लीद के रस को मधु और घी के साथ चाटे।

रक्त के ग्रथित (गंठीला-तन्तुयुक्त) होने पर कबूतर की बीट को मधु के साथ चाटे ॥ २९ ॥

रक्त के अधिक स्राव में औषध—

अतिनिःस्रुतरक्तश्च क्षौद्रेण रुधिरं पिबेत् ॥ ३० ॥
जाङ्गलं भक्षयेद्वाऽऽजमामं पित्तयुतं यकृत् ।

रक्त के बहुत निकल जाने पर जांगल पशु-पक्षियों के रक्त को मधु के साथ पिये। अथवा बकरे के यकृत को पित्त के साथ कच्चा (बिना पकाये) ही खाये ॥ ३० ॥

रक्तपित्त में कषाय—

चन्दनोशीरजलदलाजमुद्गकणायवैः ॥ ३१ ॥
बलाजले पर्युषितैः कषायो रक्तपित्तहा ।

बला के क्वाथ में चन्दन, खस, मुस्ता, लाजा, मूंग, पिप्पली और जौ का चूर्ण डालकर रात को रख देवे। प्रातः इस कषाय को पिये; यह रक्तपित्तनाशक है ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—बला का क्वाथ छ पल; चन्दनादि का चूर्ण एक पल, प्रातः पिये।

अतिप्रवृत्त रक्त की औषध—

प्रसादश्चन्दनाम्भोजसेव्यमृद्भृष्टलोष्टजः ॥ ३२ ॥
सुशीतःससिताक्षौद्रः शोणितातिप्रवृत्तिजित् ।

चन्दन; कमल; खस; अग्नि में लालवर्ण किया मिट्टी का ढेला, इनको चूर्ण करके जल में घोल दे। इसको रख देने पर जो नितरा हुआ जल हो, उसमें मधु और शर्करा मिलाकर ठण्डा ही (अगले दिन प्रातः) पिये। यह रक्त की अतिप्रवृत्ति को नष्ट करता है ॥ ३२ ॥

रक्तपित्त में गन्ने का रस—

आपोथ्य वा नवे कुम्भे प्लावयेदिक्षुगण्डिकाः ॥३३॥
स्थितं तद्गुप्तमाकाशे रात्रिं प्रातः स्रुतं जलम् ।
मधुमद्विकचाम्भोजकृतोत्तंसं च तद्गुणम् ॥३४॥

नया घड़ा ले; उसमें गन्ने की गण्डेरियों को कूटकर पानी भरकर रात्रि में खुले आकाश के नीचे सुरक्षित (जिससे कीड़े आदि न पड़ें) लटका देवे। प्रातः इस जल को निचोड़ कर खिले हुये कमलों से ढककर सुगन्धित करके मधु मिलाकर पिये। यह भी पूर्व के समान गुणकारी है। [कमलों को घड़े में इस प्रकार रात में बांधे जिससे कमल घड़े के पानी से स्पर्श करते रहें] ॥ ३३-३४ ॥

अन्य उपाय—

ये च पित्तज्वरे चोक्ताः कषायास्तांश्च योजयेत् ।

पित्तज्वर में जो कषाय (शक्रयवा घनम्, कटुका चेति, सक्षौद्रा आदि) कहे हैं; उन्हें भी बरते।

रक्तपित्त में बकरी आदि का दूध—

कषायैर्विविधैरेभिर्दीप्तेऽग्नौ विजिते कफे ॥३५॥
रक्तपित्तं न चेच्छाम्येत्तत्र वातोल्बणे पयः ।
युञ्ज्याच्छागं शृतं, तद्वद्गव्यं पञ्चगुणेऽम्भसि ॥३६॥
पञ्चमूलेन लघुना शृतं वा ससितामधु ।
जीवकर्षभकद्राक्षाबलागोक्षुरनागरैः ॥३७॥
पृथक्पृथक्शृतं क्षीरं सघृतं सितयाऽथवा ।

पुरातन रक्तपित्त की चिकित्सा-इस प्रकार के नाना कषायों से अग्नि के दीप्त हो जाने पर और कफ के शान्त हो जाने पर भी रक्तपित्त यदि शान्त न हो, तो इसमें वायु की प्रधानता समझकर बकरी का दूध पकाकर देवे। इसी प्रकार गाय के दूध को पांचगुने जल में सिद्ध करके देवे। अथवा लघु पञ्चमूल से सिद्ध दूध को शर्करा और मधु के साथ दे। या जीवक, ऋषभक, द्राक्षा, खिरेटी, गोखरू एवं सोंठ इनसे पृथक् पृथक् सिद्ध दूध, घी या चीनी के साथ देवे ॥३५-३७॥

वक्तव्य—अरुणदत्त ने बकरी के दूध को भी पांचगुने जल में सिद्ध करने को कहा है। परन्तु हेमाद्रि ने गव्यक्षीर को ही जल में सिद्ध करने को लिखा है; उसमें 'अल्पाम्बुपानव्यायामकटुतिक्ताशनैः' यह कारण कहा है।

मूत्रमार्गगामी रक्त का उपाय—

गोकण्टकाभीरुशृतं पर्णिनीभिस्तथा पयः ॥ ३८ ॥
हन्त्याशु रक्तं सरुजं विशेषान्मूत्रमार्गगम् ।

मूत्र मार्ग से वेदना के साथ आने वाले रक्त को गोखरू, शतावरी और शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, इनसे सिद्ध दूध शीघ्र शान्त कर देता है ॥ ३८ ॥

विडमार्गगामी रक्त का उपाय—

विण्मार्गगे विशेषेण हितं मोचरसेन तु ॥ ३९ ॥
वटप्ररोहैः शुङ्गैर्वा शुण्ठ्युदीच्योत्पलैरपि ।
रक्तातिसारदुर्नामचिकित्सां चात्र कल्पयेत् ॥ ४० ॥

मलमार्ग से रक्तस्राव होने पर मोचरस (सेमल के गोंद से) सिद्ध दूध उत्तम है। या बरगद के कोंपलों से अथवा बरगद की जटा से या सोंठ, खस और कमल से सिद्ध दूध उत्तम है।

रक्तपित्त में रक्तातिसार और रक्तार्श की चिकित्सा भी बरतनी चाहिये ॥ ३९-४० ॥

कषाय पीने के बाद भोजनादि—

पीत्वा कषायान् पयसा भुञ्जीत पयसैव च ।
कषाययोगैरेभिर्वा विपक्वं पाययेद् घृतम् ॥ ४१ ॥

पूर्वोक्त कषायों को दूध के साथ पी कर दूध से ही भोजन करे अथवा इन्हीं कषायों से सिद्ध घृत को पिलाये ॥ ४१ ॥

रक्तपित्तादिनाशक वासाघृत—

समूलमस्तकं क्षुण्णं वृषमष्टगुणेऽम्भसि ।
पक्त्वाष्टांशावशेषेण घृतं तेन विपाचयेत् ॥ ४२ ॥
तत्पुष्पगर्भं तच्छीतं सक्षौद्रं पित्तशोणितम् ।
पित्तगुल्मज्वरश्वासकासहृद्रोगकामलाः ॥ ४३ ॥
तिमिरभ्रमवीसर्पस्वरसादांश्च नाशयेत् ।

वासा—अडूसे को मूल, पत्र और शाखा समेत सम्पूर्ण रूप में लेकर आठ गुने जल में पकावे। जब अष्टमांश शेष रह जाये तो छान कर इसमें अडूसे के फूलों का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। इस घृत के सिद्ध होकर ठण्डा होने पर इसमें मधु मिलाये। यह घृत रक्तपित्त, पित्तगुल्म, ज्वर, श्वास, कास, हृदय रोग, कामला, तिमिर, भ्रम, वीसर्प और स्वर की शिथिलता को नष्ट करता है॥ ४२-४३॥

वक्तव्य—कफ के क्षीण होने पर इसको अकेला या दूसरी रसौषध के साथ देते हैं। क्षय में रक्त आने की अवस्था में उत्तम है, बशर्त्ते कफ का जोर हो। कफ का जोर होने पर तालीशादि का उपयोग उत्तम है। वंगसेन में कूष्माण्ड का स्वरस भी मिलाया है; वह अधिक उत्तम है।

पालाशवृन्तस्वरसे तद्गर्भं च घृतं पचेत्॥ ४४॥
सक्षौद्रं तच्च रक्तघ्नं, यथैव त्रायमाणया।

ढाक के कोपलों के स्वरस में ढाक के कोपलों का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। इस घृत को मधु के साथ बरते; यह रक्तपित्तनाशक है। इसी प्रकार त्रायमाणा के क्वाथ एवं कल्क से घृत सिद्ध करे॥ ४४॥

सपिच्छ रक्त का उपाय—

रक्ते सपिच्छे सकफे ग्रथिते कण्ठमार्गगे॥ ४५॥
लिह्यान्माक्षिकसर्पिर्भ्यां क्षारमुत्पलनालजम्।
पृथक्पृथक् तथाऽम्भोजरेणुश्यामामधूकजम्॥ ४६॥

गले के मार्ग में पिच्छायुक्त कफमिश्रित रक्त ग्रथित रूप में रुका हो तब, कमलनाल के क्षार को मधु और घी से चाटे तथा कमलकेशर, प्रियंगु और महुआ के क्षार को पृथक् पृथक् मधु के साथ बरते॥ ४५-४६॥

वक्तव्य—टौंसिल तथा घंटी बढ़ने पर यह योग अच्छा है। टौंसिल की वृद्धि प्रायः कफ से है। कफ के लिये क्षार उत्तम है। गला कोमल स्थान है; इसलिये कमल का क्षार—मन्दवीर्य क्षार बरता है। क्षार का स्वभाव विष्यन्दन करना है; घी और मधु के साथ यह विष्यन्दन करके शोधन करता है। आजकल वृद्धा स्त्रियाँ चुल्हे की नरम राख (उपलों की राख) को गले में टौंसिल और घंटी (गलशुण्डी) पर रगड़ती हैं।

गुदास्रावी रक्त में वस्ति—

गुदागमे विशेषेण शोणिते वस्तिरिष्यते।

गुदा से रक्त आने पर वस्ति का विशेष रूप में उपयोग करना चाहिये।

नासास्रावी रक्त में नस्य—

घ्राणगे रुधिरे शुद्धे नावनं चानुषेचयेत्॥ ४७॥
कषाययोगान् पूर्वोक्तान् क्षीरेक्ष्वादिरसाप्लुतान्।
क्षीरादीन्ससितांस्तोयं केवलं वा जलं हितम्॥ ४८॥
रसो दाडिमपुष्पाणामाम्रास्थ्नः शाड्वलस्य वा।

नासा से रक्त आने पर शोधन करने के उपरान्त नस्य देना चाहिये। नस्य के लिये पूर्वोक्त कषायों को दूध में या गन्ने के रस में मिलाकर देवे या दूध का नस्य देवे या शर्करामिश्रित जल का नस्य देवे या केवल जल का नस्य देवे अथवा अनार के पुष्पों का रस नस्य में देवे या आम की गुठली का नस्य देवे या हरी दूब का नस्य देवे॥ ४७-४८॥

वक्तव्य—आंवले को पीसकर घी में भून कर माथे पर लेप करे। अथवा—'सुसूक्ष्मा माषपिष्टी च घृतभृष्टशिवस्य च। रुणद्धि मूर्द्धलेपेन नासारक्तं न संशयः॥' नावनं चानुषेचयेत्=नावनं दद्यात् अथवा नावनं दत्त्वा अनु = पश्चात् सेचयेत्।

अन्य प्रयोग—

कल्पयेच्छीतवर्गं च प्रदेहाभ्यञ्जनादिषु॥ ४९॥

शीतवीर्य वर्ग को प्रदेह, अभ्यंग आदि में बरतना चाहिये॥ ४९॥

अन्य सामान्य उपाय—

यच्च पित्तज्वरे प्रोक्तं बहिरन्तश्च भेषजम्।
रक्तपित्ते हितं तच्च क्षतक्षीणे हितं च यत्॥ ५०॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने रक्तपित्तचिकित्सितं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

* * *

पित्तज्वर के लिये बाह्य एवं अन्तःप्रयोग में जो औषध कही हैं; वे सब; तथा उरःक्षत और क्षीणचिकित्सा में कही सब औषध रक्तपित्त में हितकारी हैं॥ ५०॥

वक्तव्य—अन्य शास्त्रीय औषध—वसा घृत, दूर्वाद्य घृत, रक्तपित्तान्तक लौह, सुधानिधि रस, एलादि गुटिका, कूष्माण्ड खण्ड, समशर्कर लौह आभ्यन्तर प्रयोग में और ह्रीबेरादि तैल बाह्योपचार में।

'अभया मधुसंयुक्ता पाचनी दीपनी मता।
श्लेष्माणं रक्तपित्तञ्च हन्ति शूलातिसारनुत्॥
वासकस्वरसे पथ्या सप्तधा परिभाविता।
कृष्णा वा मधुना लीढा रक्तपित्तं जयेद् ध्रुवम्॥
लाक्षाचूर्णं सुकृतं क्षौद्राज्यसमन्वितं सकृल्लीढम्।
शमयति सोद्धतवमनं सरक्तपित्तस्य सिद्धमिदम्॥
छागं पयो लोहितचन्दनेन बिल्वारुणा कौटजवल्कलेन।
आभारसेनापि विपक्वमाशु हिनस्ति पित्तास्रमधः प्रवाहि॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का रक्तपित्तचिकित्सित नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ २॥

* * *

तृतीयोऽध्यायः

अथातः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे कासचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

कास में स्नेहादि प्रयोग—

केवलानिलजं कासं स्नेहैरादावुपाचरेत् ।
वातघ्नसिद्धैः स्निग्धैश्च पेयायूषरसादिभिः ॥ १ ॥
लेहैर्धूमैस्तथाऽभ्यङ्गस्वेदसेकावगाहनैः ।
वस्तिभिर्बद्धविड्वातं, सपित्तं तूर्ध्वभक्तिकैः ॥ २ ॥
घृतैः क्षीरैश्च, सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः ।

शुद्ध-अकेली (किसी दोष से असंसृष्ट) वायु से उत्पन्न कास में सबसे प्रथम वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध स्नेहों से तथा स्निग्ध पेया, स्निग्ध यूष या स्निग्ध मांसरस से एवं वातनाशक लेह, धूम, अभ्यंग, स्वेद, सेक और अवगाहनों से चिकित्सा करे अवरुद्ध मल एवं वात में वस्ति देवे। वायु का पित्त के साथ योग हो तो भोजन के तुरन्त पीछे घृत एवं दूध देवे। वायु का कफ के साथ योग हो तो एरण्डतैल आदि स्नेहविरेचनों से चिकित्सा करे ॥ १-२ ॥

स्नेहों के वर्णन—

गुडूचीकण्टकारीभ्यां पृथक्त्रिंशत्पलाद्रसे ॥ ३ ॥
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वह्निदीपनः ।
क्षाररास्नावचाहिङ्गुपाठायष्ट्याह्वधान्यकैः ॥ ४ ॥
द्विशाणैः सर्पिषः प्रस्थं पञ्चकोलयुतैः पचेत् ।
दशमूलस्य निर्यूहे पीतो मण्डानुपायिना ॥ ५ ॥
स कासश्वासहृत्पार्श्वग्रहणीरोगगुल्मनुत् ।

गिलोय, कटेरी, प्रत्येक अलग-अलग तीस पल लेकर इनको स्वरस में घी का एक प्रस्थ सिद्ध करे, यह घृत वातजन्य कासनाशक और अग्निदीपक है ॥

दशमूल घृत—यवक्षार, रास्ना, वच, हींग, पाठा, मुलहठी, धनियां, पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ) प्रत्येक दो शाण, इनका कल्क और घी एक प्रस्थ लेकर दशमूल के क्वाथ में घृत सिद्ध करे। यह घृत मण्ड के अनुपान से लेने पर कास, श्वास, हृद्रोग, पार्श्वरोग, ग्रहणी एवं गुल्म का नाशक है ॥ ३-५ ॥

द्रोणेऽपां साधयेद्रास्नादशमूलशतावरीः ॥ ६ ॥
पलोन्मिता द्विकुडवं कुलत्थं बदरं यवम् ।
तुलार्धं चाजमांसस्य तेन साध्यं घृताढकम् ॥ ७ ॥
समक्षीरं पलांशैश्च जीवनीयैः समीक्ष्य तत् ।
प्रयुक्तं वातरोगेषु पाननावनवस्तिभिः ॥ ८ ॥
पञ्चकासाञ् शिरःकम्पं योनिवङ्क्षणवेदनाम् ।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च सप्लीहोर्ध्वानिलाञ् जयेत् ॥ ९ ॥

एक द्रोण जल में रास्ना, दशमूल, शतावरी प्रत्येक एक पल, कुलथी, बेर और जौ प्रत्येक दो कुडव, बकरी का मांस पचास पल लेकर क्वाथ करे। इस क्वाथ में एक आढक घृत, घृत के समान दूध, जीवनीय गण की औषधियों का कल्क मिला कर घृत सिद्ध करे। यह घृत देश, काल आदि का विचार करके पान, नस्य और वस्ति रूप में प्रयुक्त करने से पांचों कास, शिरःकम्प, योनिशूल, वंक्षणशूल, सर्वांगरोग, एकांगरोग, प्लीहा और ऊर्ध्ववात को नष्ट करता है ॥ ६-९ ॥

कासनाशक विदार्यादि घृत—

विदार्यादिगणक्वाथकल्कसिद्धं च कासजित् ।

विदार्यादि गण के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध किया घृत कासनाशक है।

कासनाशक अवलेह—

अशोकबीजक्षवकजन्तुघ्नाञ्जनपद्मकैः ॥ १० ॥
सविडैश्च घृतं सिद्धं तच्चूर्णं वा घृतप्लुतम् ।
लिह्यात्पयश्चानु पिबेदाजं कासातिपीडितः ॥ ११ ॥

कास से अतिपीडित व्यक्ति अशोक के बीज, नकछिकनी, वायविडङ्ग, रसौत, पद्माख और विडनमक से घृत सिद्ध करे। अथवा इनके चूर्ण को घृत से स्निग्ध (पतला) करके चाटे, पीछे से (दोनों अवस्थाओं) में बकरी का दूध पिये ॥१०-११॥

वक्तव्य—इसमें क्वाथ्य द्रव्य से षोडशगुण जल लेना चाहिये। विडनमक का यहाँ महत्त्व है, क्योंकि-'ऊर्ध्वं चाधश्च वातानामानुलोम्यकरं विडम् ॥' इसी प्रकार 'ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनं दीपनं विडम् ॥'

कफयुक्त वातकासनाशक चूर्ण—

विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिङ्गु सैन्धवम् ।
भार्गी क्षारश्च तच्चूर्णं पिबेद्वा घृतमात्रया ॥ १२ ॥
सकफेऽनिलजे कासे श्वासहिध्माहताग्निषु ।

कफयुक्त वातजन्य कास में तथा श्वास, हिक्का या मन्दाग्नि में वायविडङ्ग, सोंठ, रास्ना, पिप्पली, हींग, सैन्धव, भार्गी, यवक्षार इनके चूर्ण को घृत की ह्रस्व, मध्यम या उत्तम मात्रा के साथ पिये ॥ १२ ॥

वक्तव्य—पित्त की अधिकता में घी को चटाये, वायु की अधिकता में घी को पिलाये। यथा—'लीढं निर्वापयेत् पित्तमल्पत्वाद्धन्ति नानलम् । आक्रमत्यनिलं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च ॥'

वातजन्य कासनाशक लेह—

दुरालभां शृङ्गवेरं शटीं द्राक्षां सितोपलाम् ॥ १३ ॥
लिह्यात्कर्कटशृङ्गीं च कासे तैलेन वातजे ।

वातज कास में धमासा, सोंठ, कचूर, द्राक्षा, मिश्री और कर्कटशृङ्गी के चूर्ण को तैल के साथ चाटे ॥ १३ ॥

वक्तव्य—यह योग कास में तो उत्तम है ही, हिक्का में भी बहुत प्रशस्त है।

कासरोगनाशक चूर्ण—

दुस्पर्शां पिप्पलीं मुस्तां भार्गीं कर्कटकीं शटीम् ॥१४॥
पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णितान्यवलेहयेत्
तद्वत्सकृष्णां शुण्ठीं च सभार्गीं तद्वदेव च ॥ १५ ॥

धमासा, पिप्पली, मुस्ता, भार्गी, काकड़ाशृङ्गी, कचूर इनके चूर्ण को पुराने गुड़ और तैल के साथ चाटे। पिप्पली को सोंठ के साथ या भार्गी के साथ मिलाकर पुराने गुड़ और तैल के साथ चाटे ॥ १४-१५ ॥

कासनाशक—

पिबेच्च कृष्णां कोष्णेन सलिलेन ससैन्धवाम् ।
मस्तुना ससितां शुण्ठीं दध्ना वा कणरेणुकाम् ॥१६॥
पिबेद्बदरमज्जो वा मदिरादधिमस्तुभिः ।
अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम् ॥ १७ ॥

पाँच योग—(१) पिप्पली और सैन्धव को गुनगुनाते जल से पिये। (२) सोंठ और मिश्री को मस्तु से पिये। (३) पिप्पली के सूक्ष्म चूर्ण को दही से पिये। (४) बेर की मज्जा को मदिरा, दही और मस्तु से पिये। (५) पिप्पली के कल्क को (पानी से पीस कर) घी में भून कर सैन्धव के साथ खाये ॥१६-१७॥

कास-पीनसनाशक धूमपान—

कासी सपीनसो धूमं स्नैहिकं विधिना पिबेत् ।
हिध्माश्वासोक्तधूमांश्च क्षीरमांसरसाशनः ॥ १८ ॥

कासरोगी और पीनसरोगी विधिपूर्वक स्नैहिक धूम (हृ. सू. अ. २१।२१) को पिये। हिक्का और श्वास में कहे धूमों को भी पिये और दूध या मांसरस से भोजन करे ॥ १८ ॥

कास में आहार—

ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान् ।
रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान् ॥ १९ ॥

ग्राम्य (बकरा आदि), आनूप (वाराह आदि), औदक (मछली आदि) इनके मांसरसों के साथ अथवा उड़द एवं कौंच के यूषों के साथ शालि, जौ, गेहूँ या साठी-जो पथ्य हो, वह इनको खिलाये ॥ १९ ॥

वातजन्य कास में पेया—

यवानीपिप्पलीबिल्वमध्यनागरचित्रकैः ।
रास्नाऽजाजीपृथक्पर्णीपलाशशटिपौष्करैः ॥ २० ॥
सिद्धां स्निग्धाम्ललवणां पेयामनिलजे पिबेत् ।
कटिहृत्पार्श्वकोष्ठार्तिश्वासहिध्माप्रणाशनीम् ॥२१॥

अजवायन, पिप्पली, बेल का गूदा, सोंठ, चित्रक, रास्ना, कालाजीरा, पृश्निपर्णी, ढाक, कचूर, पुष्करमूल इनसे सिद्ध, घृत से स्निग्ध तथा अनारदाने से खट्टी बनाई हुई लवण-मिश्रित पेया को वातजन्य कास में पिये। यह पेया कटि-पीड़ा, हृदयपीड़ा, पार्श्वपीड़ा, कोष्ठपीड़ा, श्वास और हिक्का को नष्ट करती है २०-२१ ॥

कासनाशक अन्य पेयाद्वय—

दशमूलरसे तद्वत् पञ्चकोलगुडान्विताम् ।
पिबेत्पेयां, समतिलां क्षैरेयीं वा ससैन्धवाम् ॥२२॥

दशमूल के क्वाथ में पञ्चकोल तथा गुड़मिश्रित बनाई पेया को पिये। यह भी पूर्व के समान गुणकारी है।

दूध से संस्कृत पेया में तिल और सैन्धव मिलाकर वातज कास में पिये ॥ २२ ॥

मांसयुक्त पेया—

मात्स्यकौक्कुटवाराहैर्मांसैर्वा साज्यसैन्धवाम् ।

मछली, मूर्गा या सुअर के मांसों से बनाई पेया को घी और सैन्धव के साथ पिये।

वक्तव्य—हारीत में—'रसं कर्कटकानां वा घृतभृष्टं सनागरम्। श्वासकासप्रशमनं शृङ्गीमत्स्यस्य या पुनः ॥' क्षय में कर्कट-केकड़े का जो मांसरस देते हैं, वह कास के रोकने में उत्तम होता है।

वातजन्य कास में वास्तुकादि शाक—

वास्तुको वायसीशाकं कासघ्नः सुनिषण्णकः ॥२३॥
कण्टकार्याः फलं पत्रं बालं शुष्कं च मूलकम् ।

शाक—बथुवा, मकोत, कसौदी, चौलाई, कटेरी का फल, पत्र तथा कोमल-नरम और सूखी मूली-शाक के लिये उत्तम हैं।

स्नेहास्तैलादयो, भक्ष्याः क्षीरेक्षुरसगौडिकाः ॥२४॥
दधिमस्त्वारनालाम्लफलाम्बुमदिराः पिबेत् ।

तैल आदि स्नेह वातिक कास में उत्तम हैं।

दूध से बने, गन्ने के रस से बने या गुड़ से बने भक्ष्य उत्तम हैं।

दही, मस्तु, काञ्जी, खट्टे फलों का जल (रस) और मदिरा पिये ॥ २४ ॥

वक्तव्य—खाँसी में दही हानिकारक नहीं है। चरक में तो प्रतिश्याय में भी प्रशस्त बताया है। इसकी मधुरता रहनी चाहिये तथा कफ की अधिकता में नहीं देना चाहिए।

पित्तकास में वमन—

पित्तकासे तु सकफे वमनं सर्पिषा हितम् ॥ २५ ॥
तथा मदनकाश्मर्यमधुकक्वथितैर्जलैः ।
फलयष्ट्याह्वकल्कैर्वा विदारीक्षुरसाप्लुतैः ॥ २६ ॥

पित्तजन्य कास में कफ का योग हो तो घी से वमन करना हितकारी है। तथा मैनफल, गम्भारी और मुलहठी के क्वाथ से वमन करे। अथवा मैनफल और मुलहठी के कल्क को विदारीरस और गन्ने के रस में घोलकर वमन के लिए पिये।

पित्तकास में निशोथ—

पित्तकासे तनुकफे त्रिवृतां मधुरैर्युताम् ।
युञ्ज्याद्विरेकाय, युतां घनश्लेष्मणि तिक्तकैः ॥२७॥

पित्तकास में कफ पतला हो (अधिक न हो) तो मधुर द्रव्योंसे मिश्रित निशोथ को विरेचन के लिए देवे। पित्तकास में

कफ अधिक हो तो तिक्त द्रव्यों से मिश्रित निशोथ को विरेचन के लिये दे ॥ २७ ॥

दोषहरण के बाद पेयादिक्रम—

हृतदोषो हिमं स्वादु स्निग्धं संसर्जनं भजेत् ।
घने कफे तु शिशिरं रूक्षं तिक्तोपसंहितम् ॥ २८ ॥

दोष (के वमन या विरेचन द्वारा) निकल जाने पर शीतल, मधुर और स्निग्ध संसर्जन क्रम (पेया आदि) का पालन करे। कफ घट्ट-या अधिक हो तो शीतल, रूक्ष एवं तिक्त द्रव्यों से मिश्रित पेया आदि का पालन करे ॥ २८ ॥

पित्तकासनाशक अवलेह—

लेहः पैत्ते सिताधात्रीक्षौद्रद्राक्षाहिमोत्पलैः ।
सकफे साब्दमरिचः, सघृतः सानिले हितः ॥ २९ ॥
मृद्वीकाऽर्धशतं त्रिंशत्पिप्पलीः शर्करापलम् ।

पैत्तिक कास में शर्करा, आँवला, मधु, द्राक्षा, चन्दन और कमल इनसे बना लेह चाटे। वातयुक्त पैत्तिक कास में मुस्ता और मरिच युक्त लेह चाटे। वातयुक्त पैत्तिक कास में घी के साथ लेह चाटे।

द्राक्षा पचास, पिप्पली तीस, शर्करा एक पल इनको मधु के साथ चाटे ॥ २९ ॥

व्यावहारिक—इसको दिन में कई वार चटाया जाता है। यह मात्रा एक बार की नहीं है।

लेहयेन्मधुना गोर्वा क्षीरपस्य शकृद्रसम् ॥ ३० ॥
त्वगेलाव्योषमृद्वीकापिप्पलीमूलपौष्करैः ।
लाजमुस्ताशटीरास्नाधात्रीफलबिभीतकैः ॥ ३१ ॥
शर्कराक्षीरसर्पिर्भिर्लेहो हृद्रोगकासहा ।

दूध पीते हुए बछड़े के गोबर के रस को मधु के साथ चाटे। या दालचीनी, इलायची, त्रिकटु, द्राक्षा, पिप्पलीमूल, पुष्करमूल, लाजा, मुस्ता, कचूर, रास्ना, आँवला और बहेड़ा के चूर्ण को शर्करा, मधु और घी में मिलाकर लेह बनाये। यह हृदयरोग और कास का नाशक है ॥ ३०-३१ ॥

पित्तकास में हितकारक आहार—

मधुरैर्जाङ्गलरसैर्यवश्यामाककोद्रवाः ॥ ३२ ॥
मुद्गादियूषैः शाकैश्च तिक्तकैर्मात्रया हिताः ।
घनश्लेष्मणि लेहाश्च तिक्तका मधुसंयुताः ॥ ३३ ॥
शालयः स्युस्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभिः ।
शर्कराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षुस्वरसाः पयः ॥ ३४ ॥

कफ के घट्ट होने पर पित्तकास में जांगल मांसरसों के साथ, मधुर द्रव्यों से एवं मुद्गादि के यूष के साथ जौ, सांवा, कोदो और तिक्त शाकों को मात्रा में खाना उत्तम है। घट्ट अधिक कफ में तिक्त द्रव्यों से बने मधुमिश्रित लेह उत्तम हैं। कफ के पतले-या कम होने पर पित्तकास में साठी तथा शाली धान्य मांसरस या यूषों के साथ उत्तम है। अनुपान के लिये शर्करा का शर्बत, द्राक्षा, गन्ने का स्वरस और दूध उत्तम है ॥ ३२-३४ ॥

पित्तकासनाशक काकोल्यादि—

काकोलीबृहतीमेदाद्वयैः सवृषनागरैः ।
पित्तकासे रसक्षीरपेयायूषान् प्रकल्पयेत् ॥ ३५ ॥

पित्तकासमें काकोली, बड़ी कटेरी, मेदा, महामेदा, अडूसा और सोंठ इनमें मांसरस, दूध, पेया और यूष बनाये ॥ ३५ ॥

अन्य उपाय—

द्राक्षां कणां पञ्चमूलं तृणाख्यं च पचेज्जले ।
तेन क्षीरं शृतं शीतं पिबेत्समधुशर्करम् ॥ ३६ ॥
साधितां तेन पेयां वा सुशीतां मधुनाऽन्विताम् ।

पित्तफास में द्राक्षा, पिप्पली और पंचतृणमूल इनका क्वाथ करे। इस क्वाथ से दूध सिद्ध कर ठण्डा होने पर मधु और शर्करा मिलाकर पिये। अथवा इस क्वाथ से पेया को सिद्ध कर शीतल होने पर मधु मिलाकर पिये ॥ ३६ ॥

शट्यादि रस—

शटीह्रीबेरबृहतीशर्कराविश्वभेषजम् ॥ ३७ ॥
पिष्टवा रसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम् ।

कचूर, बड़ी कटेरी, शर्करा एवं सुगन्धबाला, सोंठ इनको जल से पीसकर वस्त्र में छानकर घी से संस्कृत करके पिये।

पित्तकास में अवलेह—

मेदां विदारीं काकोलीं स्वयंगुप्ताफलं बलाम् ॥ ३८ ॥
शर्करां जीवकं मुद्गमाषपर्ण्यौ दुरालभाम् ।
कल्कीकृत्य पचेत्सर्पिः क्षीरेणाष्टगुणेन तत् ॥ ३९ ॥
पानभोजनलेहेषु प्रयुक्तं पित्तकासजित् ।
लिह्याद्वा चूर्णमेतेषां कषायमथवा पिबेत् ॥ ४० ॥

मेदा, विदारी, काकोली, कौंच का फल, खरैटी, शर्करा, जीवक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी तथा धमासा, इनको पीसकर इनके कल्क से आठगुने दूध में घृत सिद्ध करे। इस घी को पान, भोजन और लेह में बरतने पर पित्तकास नष्ट होता है। अथवा इनके चुर्ण को मधु से चाटे या इनके कपाय को पिये।

कफ कास की चिकित्सा—

कफकासी पिबेदाग्नौ सुरकाष्ठात् प्रदीपितात् ।
स्नेहं परिस्रुतं व्योषयवक्षारावचूर्णितम् ॥ ४१ ॥

कफकास रोगी पहिले निकाले हुए देवदारु की लकड़ी को जला कर उससे चूते हुए स्नेह को त्रिकटु और यवाक्षार मिला कर पिये। (देवदारु का तेल पाताल-यन्त्र विधि से निकाले)।

बलवान् रोगी को विरेचन—

स्निग्धं विरेचयेदूर्ध्वमधो मूर्ध्नि च युक्तितः ।
तीक्ष्णैर्विरेकैर्बलिनम्—

बलवान रोगी को स्नेहन के बाद तीक्ष्ण विरेचन द्रव्यों से वमन, विरेचन और शिरोविरेचन युक्ति से देवे। (निर्बल को

मृदु विरेचन द्रव्यों से शोधन करे। युक्ति—बलहानि न हो, इस प्रकार शोधन करे)।

संसर्जन की विधि—

—संसर्गीं चास्य योजयेत् ॥ ४२ ॥
यवमुद्गकुलत्थान्नैरुष्णरूक्षैः कटूत्कटैः ।
कासमर्दकवार्ताकव्याघ्रीक्षारकणान्वितैः ॥ ४३ ॥
धान्ववैलरसैः स्नेहैस्तिलसर्षपनिम्बजैः ।

शोधन हो जानेपर पेया, विलेपी संसर्जन क्रम वरते। इसके लिये रूक्ष, उष्ण और अतिकटु, जौ, मूँग, कुलथी आदि अन्नों को कसौंदी, बड़ी कटेरी, कटेरी, यवक्षार और पिप्पली के साथ अथवा तिल, सरसों और नीम के स्नेहों से संस्कृत जांगल एवं विलेशयजीवों के मांसरसों से संसर्जन के लिए देवे ॥४२-४३॥

वक्तव्य-'मुद्गामलाभ्यां यवदाडिमाभ्यां, कर्कन्धुना मूलकशुण्ठकेन। शुण्ठीकणाभ्यां सकुलत्थकेन, यूषो नवाङ्गः कफरोगहन्ता ॥' वंगसेनः।

अन्य उपाय—

दशमूलाम्बु घर्माम्बु मद्यं मध्वम्बु वा पिबेत् ॥४४॥
मूलैः पौष्करशम्याकपटोलैः संस्थितं निशाम् ।
पिबेद्वारि सहक्षौद्रं कालेष्वन्नस्य वा त्रिषु ॥ ४५ ॥

दशमूल से सिद्ध पानी, गरम पानी या मद्य या मधु मिश्रित जल पिये। अथवा पानी में पुष्करमूल, अमलतास और पटोल डालकर सम्पूर्ण रात्रि भर रक्खा रहने देवे। प्रातःकाल नितार कर इस पानी को मधु के साथ भोजन के पूर्व, भोजन के मध्य और भोजन के अन्त में पिये ॥ ४४-४५ ॥

कासनाशक तीन लेह—

पिप्पली पिप्पलीमूलं शृङ्गबेरं बिभीतकम् ।
शिखिकुक्कुटपिच्छानां मषी क्षारो यवोद्भवः ॥४६॥
विशाला पिप्पलीमूलं त्रिवृता च मधुद्रवाः ।
कफकासहरा लेहास्त्रयः श्लोकार्धयोजिताः ॥ ४७ ॥

तीन लेह—(१) पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ, बहेड़ा, (२) मोर, मुर्गा इनकी पिच्छाओं (पङ्खों) की राख, यवक्षार, (३) इन्द्रवारुणी, पिप्पलीमूल, निशोथ इनको मधु से द्रव (पतला) करके चाटे, ये कफकासनाशक ३ लेह ३ श्लोकार्धों में हैं ॥ ४६-४७ ॥

आठ लेह—

मधुना मरिचं लिह्यान्मधुनैव च जोङ्गकम् ।
पृथग्रसांश्च मधुना व्याघ्रीवार्ताकभृङ्गजान् ॥ ४८ ॥
कासघ्नस्याश्वशकृतः सुरसस्यासितस्य च ।

आठ लेह—(१) मरिच का चूर्ण मधु से चाटे। (२) अगरु को मधु से चाटे। (३-४-५) कटेरी, बड़ी कटेरी, भाँगरा इनमें से किसी एक के रस को मधु से चाटे। (६) कसौंदी के रस को, (७) घोड़े की लीद के रस को, (८) काली तुलसी के रस को भी मधु से चाटे ॥ ४८ ॥

देवदार्वादि अवलेहत्रय—

देवदारुशटीरास्नाकर्कटाख्यादुरालभाः ॥ ४९ ॥
पिप्पली नागरं मुस्तं पथ्या धात्री सितोपला ।
लाजाः सितोपला सर्पिः शृङ्गी धात्रीफलोद्भवा ॥५०॥
मधुतैलयुता लेहास्त्रयो वातानुगे कफे ।

वात से मिले कफ में तीन लेह—(१) देवदारु, कचूर, रास्ना, काकड़ाश्रृङ्गी, धमासा, (२) पिप्पली, सोंठ, मुस्ता, हरड़, आँवला, मिश्री, (३) लाजा, मिश्री, घी, काकड़ाश्रृङ्गी, आँवला, इनको मधु और तैल में मिलाकर वात से मिश्रित कफ में देवे ॥ ४९-५० ॥

पीनसादिनाशक दाडिमादिचूर्ण—

द्वे पले दाडिमादष्टौ गुडाद्व्योषात्पलत्रयम् ॥ ५१ ॥
रोचनं दीपनं स्वर्यं पीनसश्वासकासजित् ।

अनारदाना दो पल, गुड़ आठ पल तथा त्रिकटु तीन पल लेकर चूर्ण बनावे। यह दाडिमाद्य चूर्ण रोचक, अग्निदीपक, स्वर्य, पीनस, श्वास और कास का नाशक है ॥ ५१ ॥

गुडादि चूर्ण—

गुडक्षारोषणकणादाडिमं श्वासकासजित् ॥ ५२ ॥
क्रमात्पलद्वयार्धाक्षकर्षार्धाक्षपलोन्मितम् ।

गुड़ दो पल, यवक्षार आधा कर्ष, मरिच एक कर्ष, पिप्पली आधा अक्ष, अनारदाना एक पल लेवे। यह श्वासकासनाशक है ॥ ५२ ॥

पथ्यादि पाचन—

पिबेज्ज्वरोक्तं पथ्यादि सशृङ्गीकं च पाचनम् ॥५३॥

ज्वरचिकित्सा में कहे पथ्यादि पाचन (पथ्या कुस्तुम्बरी श्लोक ६२) को कर्कटश्रृङ्गी के साथ पिये ॥ ५३ ॥

कफकासनाशक क्वाथ—

अथवा दीप्यकत्रिवृद्विशालाघनपौष्करम् ।
सकणं क्वथितं मूत्रे कफकासी जलेऽपि वा ॥ ५४ ॥

कफकास-रोगी दीप्यक (अजवायन), निशोथ, इन्द्रवारुणी, मुस्ता, पुष्करमूल तथा पिप्पली, इनको गोमूत्रमें या जल में क्वाथ करके पिये ॥ ५४ ॥

अन्य प्रयोग—

तैलभृष्टं च वैदेहीकल्काक्षं ससितोपलम् ।
पाययेत्कफकासघ्नं कुलत्थसलिलाप्लुतम् ॥ ५५ ॥
दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत् ।
पुष्कराह्वशटीबिल्वसुरसाव्योषहिङ्गुभिः ॥ ५६ ॥
पेयानुपानं तत्सर्ववातश्लेष्मामयापहम् ।
निर्गुण्डीपत्रनिर्याससाधितं कासजिद् घृतम् ॥ ५७॥

पिप्पली के एक अक्ष कल्क को तैल में भून कर मिश्री मिलाकर कुलथी के क्वाथ में घोलकर पिलाये। यह कफकासनाशक है। (यह शमन औषध है)।

दशमूल का क्वाथ एक आढ़क, घी एक प्रस्थ, पुष्करमूल, कचूर, बेलगिरी, तुलसी, त्रिकटु, हींग प्रत्येक एक कर्ष लेकर घृत सिद्ध करे। इस घी को पेया के अनुपान से देवे, यह सब वात रोग और कफ रोग का नाशक है।

निर्गुण्डी के पत्तों के स्वरस में बनाया घृत कासनाशक है।

विडङ्गादिघृत—

घृतं रसे विडङ्गानां व्योषगर्भं च साधितम् ॥ ५७ ॥

वायविडङ्ग के क्वाथ में त्रिकटु के कल्क से सिद्ध घृत भी कासनाशक है ॥ ५७ ॥

पुनर्नवादि घृत—

पुनर्नवशिवाटिकासरलकासमर्दामृता
पटोलबृहतीफणिज्जकरसैः पयःसंयुतैः।
घृतं त्रिकटुना च सिद्धमुपयुज्य सञ्जायते
न कासविषमज्वरक्षयगुदाङ्कुरेभ्यो भयम् ॥५८॥

पुनर्नवा, रक्त पुनर्नवा, सरल काष्ठ, कसौंदी, गिलोय, परवल, बड़ी कटेरी, तुलसी या मरुआ इनके स्वरस में दूध के साथ, त्रिकटु के कल्क से सिद्ध किया घृत खाने से कास, विषमज्वर, क्षय और अर्श से भय नहीं रहता। [पाकविधि-पुनर्नवादि का स्वरस घी से चौगुना; दूध घी के बराबर; घी त्रिकटु से चारगुना लेना चाहिये] ॥ ५८ ॥

कण्टकारी घृत—

समूलफलपत्रायाः कण्टकार्या रसाढके ॥ ५९ ॥
घृतप्रस्थं बलाव्योषविडङ्गशटिदाडिमैः।
सौवर्चलयवक्षारमूलामलकपौष्करैः ॥ ६० ॥
वृश्चीवबृहतीपथ्यायवानीचित्रकर्धिभिः।
मृद्वीकाचव्यवर्षाभूदुरालम्भाऽम्लवेतसैः ॥ ६१ ॥
शृङ्गीतामलकीभार्गीरास्नागोक्षुरकैः पचेत्।
कल्कैस्तत्सर्वकासेषु श्वासहिध्मासु चेष्यते ॥ ६२ ॥
कण्टकारीघृतं चैतत्कफव्याधिविनाशनम्।

कण्टकारी घृत—मूल, पत्ते और फल समेत कटेरी का क्वाथ एक आढ़क, घी एक प्रस्थ; कल्क द्रव्य-बला, त्रिकटु, वायविडङ्ग, कचूर, अनारदाना, सौवर्चल, यवक्षार, पिप्पलीमूल, आंवला, पुष्करमूल; पुनर्नवा, बड़ी कटेरी, हरड़, अजवायन, चित्रक, ऋद्धि, द्राक्षा, चव्य, श्वेत पुनर्नवा, धमासा, अम्लवेतस, काकड़ाश्रृङ्गी, भुईं आंवला, भार्गी, रास्ना, गोखरू, इनके कल्क से घृत पाक करे। यह घृत सब कासों में तथा श्वास और हिक्का में प्रशस्त है। यह कण्टकारी घृत कफरोगनाशक है ॥ ५९-६२ ॥

दुर्नामादिजित् अवलेह—

पचेद्व्याघ्रीतुलां क्षुण्णां वहेऽपामाढकस्थिते ॥ ६३ ॥
क्षिपेत् पूते तु सञ्चूर्ण्य व्योषरास्नाऽमृताग्निकान्।
शृङ्गीभार्गीघनग्रन्थिधन्वयासान् पलार्धकान् ॥ ६४ ॥
सर्पिषः षोडशपलं चत्वारिंशत्पलानि च।
मत्स्यण्डिकायाः शुद्धायाः पुनश्च तदधिश्रयेत् ॥ ६५ ॥
दर्वीलेपिनि शीते च पृथग् द्विकुडवं क्षिपेत्।
पिप्पलीनां तवक्षीर्या माक्षिकस्यानवस्य च ॥ ६६ ॥
लेहोऽयं गुल्महृद्रोगदुर्नामश्वासकासजित्।

कुटी हुई कटेरी को एक तुला (१०० पल) लेकर एक वह (चार द्रोण) जल में पकाये। जब जल एक आढक रह जाये तब इसको छानकर इसमें—त्रिकटु, रास्ना, गिलोय, चित्रक, काकड़ाश्रृङ्गी, भार्गी, मुस्ता, पिप्पलीमूल, धमासा; प्रत्येक आधा पल; घी सोलह पल, श्वेत निर्मल खण्ड या चीनी चालिस पल मिलाकर पाक के लिए फिर अग्नि पर चढ़ाये। जब यह कलछी में लगने लगे तो उतार ले। शीतल होने पर इसमें पिप्पली, वंशलोचन, पुरातन मधु प्रत्येक दो कुडव मिलाये। यह लेह गुल्म, हृद्रोग, अर्श, श्वास और कास का नाशक है ॥ ६३-६६ ॥

कफकास में धूम्रपान—

शमनं च पिबेद् धूमं शोधनं बहले कफे ॥ ६७ ॥

कफ कास में शमन धूम पिये। घट्ट कफ में शोधन धूम पिये ॥ ६७ ॥

धूमपानविधि—

मनःशिलालमधुकमांसीमुस्तेङ्गुदीत्वचः।
धूमं कासघ्नविधिना पीत्वा क्षीरं पिबेदनु ॥ ६८ ॥
निष्ठ्यूतान्ते गुडयुतं कोष्णं धूमो निहन्ति सः।
वातश्लेष्मोत्तरान् कासानचिरेण चिरन्तनान् ॥ ६९ ॥

मैनसिल, हरताल, मुलहठी, जटामांसी, मोथा, इङ्गुदी वृक्ष की छाल, इनका धूम कासघ्न विधि (सूत्र स्थान में कही) से पिये। कफ निकलने के पीछे गरम दूध को गुड़ के साथ पिये। यह धूम वात-कफप्रधान पुराने कासों को शीघ्र नष्ट करता है ॥ ६८-६९ ॥

पित्तानुबन्धी तमक की चिकित्सा—

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत्पित्तानुबन्धजः।
पित्तकासक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥ ७० ॥

कफकास में यदि पित्त के अनुबन्ध के साथ तमक श्वास (प्रतमक) हो जाये तो पित्तकास की चिकित्सा अवस्था के अनुसार करनी चाहिये। [ज्वरमूर्च्छायुतः शीतैः शाम्येत् प्रतमकस्तु सः] ॥ ७० ॥

कफानुबन्धी वातकास की चिकित्सा—

कफानुबन्धे पवने कुर्यात्कफहरीं क्रियाम्।
पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः पित्तनाशिनीम् ॥ ७१ ॥
वातश्लेष्मात्मके शुष्के स्निग्धमार्द्रे विरूक्षणम्।
कासे कर्म सपित्ते तु कफजे तिक्तसंयुतम् ॥ ७२ ॥

वातजन्य कास में कफ का अनुबन्ध होने पर कफनाशक चिकित्सा करे। किन्तु पित्तकास में वायु और कफ का अनुबन्ध हो तो पित्तनाशक चिकित्सा ही करे। वात-कफजन्य

कास के शुष्क (कफ सूखे) होने पर स्निग्ध चिकित्सा करे । कास आर्द्र (कफ ढीला) हो तो रूक्ष चिकित्सा करे । कफजन्य कास में पित्त का योग हो तो तिक्त द्रव्यों से मिश्रित रूक्ष चिकित्सा करे ॥ ७१-७२ ॥

उरःक्षत की चिकित्सा—

उरस्यन्तःक्षते सद्यो लाक्षां क्षौद्रयुतां पिबेत् ।
क्षीरेण शालीञ् जीर्णेऽद्यात् क्षीरेणैव सशर्करान् ॥

छाती के अन्दर क्षत होने पर तत्काल मधु के साथ लाख (लाही) को दूध के साथ पिये । [कहा भी है—'लाक्षारसः क्षतघ्नानाम्'—संग्रहः] ।

इस औषध के जीर्ण होने पर दूध के साथ शर्करामिश्रित चावलों को खाये ॥ ७३ ॥

पार्श्वादिवेदना में लाक्षाप्रयोग—

पार्श्वबस्तिसरुक्चाल्पपित्ताग्निस्तां सुरायुताम् ।
भिन्नविट्कः समुस्तातिविषापाठां सवत्सकाम् ॥

पार्श्वशूल, बस्तिशूल, अल्पपित्त और मन्दाग्नि होने पर लाक्षा को सुरा के साथ पिये ।

जिस रोगी को अतिसार हो वह लाख को मोथा, अतीस, पाठा और इन्द्रजौ के साथ पिये ॥ ७४ ॥

दीप्ताग्नि उरःक्षत में लाक्षाप्रयोग—

लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टं जीवनीयं गणं सिताम् ।
त्वक्क्षीरीं समितां क्षीरे पक्त्वा दीप्तानलः पिबेत् ॥
इक्ष्वारिकाबिसग्रन्थिपद्मकेसरचन्दनैः ।
श्रृतं पयो मधुयुतं सन्धानार्थं पिबेत्क्षती ॥ ७६ ॥

लाख, घी, मोम, जीवनीयगण की औषध, शर्करा, वंशलोचन गेहूँ का चूर्ण इनको दूध में पकाकर प्रदीप्त जठराग्नि वाला मनुष्य पिये ।

ईख, बिसग्रन्थि (कमलगट्टा), कमल का केसर, चन्दन, इनसे सिद्ध किये दूध को मधु के साथ उरःक्षत रोगी सन्धान (क्षत रोपण) के लिये पिये ॥ ७५-७६ ॥

उरःक्षती के ज्वरदाह में पान—

यवानां चूर्णमामानां क्षीरे सिद्धं घृतान्वितम् ।
ज्वरदाहे सिताक्षौद्रसक्तून् वा पयसा पिबेत् ॥७७॥

दूधिये जौ का चूर्ण दूध में सिद्ध करके घृत के साथ (उरःक्षती) ज्वर और दाह में पिये । अथवा सिता, मधु एवं सत्तुओं को दूध से पिये ॥ ७७ ॥

कासयुक्त उरःक्षतरोग में घृतपान—

कासवांस्तु पिबेत्सर्पिर्मधुरौषधसाधितम् ।
गुडोदकं वा क्वथितं सक्षौद्रमरिचं हितम् ॥ ७८ ॥
चूर्णमामलकानां वा क्षीरे पक्वं घृतान्वितम् ।
रसायनविधानेन पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत् ॥ ७९ ॥

खांसी वाला उरःक्षत का रोगी मधुरगण की औषधियों से सिद्ध घृत पिये । अथवा गुड के शर्बत को पकाकर मधु और मरिच के साथ पिये । अथवा आंवले के चूर्ण को दूध में पकाकर घी के साथ खायें । अथवा रसायन विधि से पिप्पली बरते ॥ ७८-७९ ॥

पर्वास्थिशूल और कास से युक्त में औषध—

कासी पर्वास्थिशूली च लिह्यात्सघृतमाक्षिकाः ।
मधूकमधुकद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीबलाः ॥ ८० ॥

उरःक्षत रोगी को पर्व एवं अस्थि में शूल और कास हो तो घी और मधु के साथ महुआ, मुलहठी, द्राक्षा, वंशलोचन, पिप्पली और बला का चूर्ण चाटे ॥ ८० ॥

बलकारक गुटिका—

त्रिजातमर्धकर्षांशं पिप्पल्यर्धपलं सिता ।
द्राक्षा मधूकं खर्जूरं पलांशं श्लक्ष्णचूर्णितम् ॥ ८१ ॥
मधुना गुटिका घ्नन्ति ता वृष्याः पित्तशोणितम् ।
कासश्वासारुचिच्छर्दिमूर्च्छाहिध्मामदभ्रमान् ॥८२॥
क्षतक्षयस्वरभ्रंशप्लीहशोषाढ्यमारुतान् ।
रक्तनिष्ठीवहृत्पार्श्वरुक्पिपासाज्वरानपि ॥ ८३ ॥

पलादि गुटिका—त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपात) आधा कर्ष; पिप्पली आधा पल; शर्करा, द्राक्षा, महुआ, खर्जूर, इनका सूक्ष्म चूर्ण प्रत्येक एक पल; इनकी मधु के साथ वटिका बनाये । ये वटिकायें वृष्य हैं एवं रक्तपित्त, कास, श्वास, अरुचि, वमन, मूर्च्छा, हिक्का, मद, भ्रम, क्षत, क्षय, स्वरभ्रंश, प्लीहा, शोष, वातरक्त, थूक में रक्त आना, हृदयशूल, पार्श्वशूल, पिपासा और ज्वर का नाश करती है ।

रक्त थूकने पर औषध—

वर्षाभूशर्करारक्तशालितण्डुलजं रजः ।
रक्तष्ठीवी पिबेत्सिद्धं द्राक्षारसपयोघृतैः ॥ ८४ ॥
मधूकमधुकक्षीरसिद्धं वा तण्डुलीयकम् ।

पुनर्नवा, शर्करा, लाल शालि, चावल की कनियां, इनका सूक्ष्म चूर्ण द्राक्षारस, दूध और घी में सिद्ध करके-थूक में रक्त आने वाला रोगी (रक्तष्ठीवी) पिये । अथवा महुआ, मुलहठी, दूध इनके साथ चौलाई को सिद्ध करके पिये ॥ ८४ ॥

मुखादि से स्रुत रक्त—

यथास्वं मार्गविसृते रक्ते कुर्याच्च भेषजम् ॥ ८५ ॥

मुख आदि मार्ग से रक्त आने पर रक्तपित्त-चिकित्सा में कही इनकी अपनी-अपनी चिकित्सा करे ॥ ८५ ॥

मूढवात में कर्तव्य—

मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्टं ससैन्धवम् ।

मूढवात (वायु की गति न होने पर) रोगी बकरी की मेदा को सुरा में भूनकर सैन्धव के साथ खाये ।

क्षामादि में चिकित्सा—

क्षामः क्षीणः क्षतोरस्को मन्दनिद्रोऽग्निदीप्तिमान् ॥
श्रृतक्षीरसरेणाद्यात् सघृतक्षौद्रशर्करम् ।

शर्करायवगोधूमं जीवकर्षभकौ मधु ॥ ८७ ॥
शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात्क्षीणः क्षतः कृशः ।

निर्बल (कृश), क्षीण (शुक्रक्षयी) तथा उरःक्षत वाला, जिसे नींद कम आती हो, अग्नि प्रदीप्त हो तो वह पके हुए दूध की मलाई के साथ बकरी की मेदा को घी, मधु और शर्करा में मिलाकर खाये। अथवा शर्करा, जौ, गेहूँ, जीवक, ऋषभक, मधु इनको गरम किये दूध के अनुपान से पिये।

मांस-रक्तवर्धक औषध—

क्रव्यात्पिशितनिर्यूहं घृतभृष्टं पिबेच्च सः ॥ ८८ ॥
पिप्पलीक्षौद्रसंयुक्तं मांसशोणितवर्धनम् ।

क्षीण, क्षत कृश रोगी मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के मांस का क्वाथ घी में भूनकर पिप्पली और मधु के साथ पिये। यह मांस और रक्त को बढ़ाता है ॥ ८८ ॥

क्षतोरस्कादि में घृत-विशेष—

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षशालप्रियङ्गुभिः ॥ ८९ ॥
तालमस्तकजम्बूत्वक्प्रियालैश्च सपद्मकैः ।
साश्वकर्णैः शृतात्क्षीराद्दध्नाज्जातेन सर्पिषा ॥ ९० ॥
शाल्योदनं क्षतोरस्कः क्षीणशुक्रबलेन्द्रियः ।

बरगद, गूलर, पीपल, पिलखन (पाकड़), शाल, प्रियङ्गु, तालमस्तक, जामुन की छाल, पियाल, पद्माख, अश्वकर्ण इनके पकाये हुये दूध से निकाले घी के साथ शालि चावलों के भात को उरःक्षत रोगी; क्षीणशुक्र-बल एवं क्षीण इन्द्रियों वाला पिये ॥ ८९-९० ॥

अभ्यङ्गादि—

वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैर्मतः ॥ ९१ ॥
तैलैश्चानिलरोगघ्नैः पीडिते मातरिश्वना ।

वात-पित्त से पीड़ित व्यक्ति में या शरीर टूटने की सी पीड़ा होने पर घी से अभ्यंग करना उत्तम है। वायु से पीड़ित होने पर वातरोगनाशक तैलों से अभ्यंग उत्तम है।

जीवनीय घृत—

हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः ॥ ९२ ॥

हृदयशूल और पार्श्वशूल में जीवनीय घृत का पान उत्तम है।

वातरोगनाशक उपाय—

कुर्याद्वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत् ।

अथवा इन रोगों में वातव्याधिनाशक एवं पित्त के लिये अविरोधी चिकित्सा करे।

क्षत में घृतविशेष—

यष्ट्याह्वनागबलयोः क्वाथे क्षीरसमे घृतम् ॥ ९३ ॥
पयस्यापिप्पलीवांशीकल्कैः सिद्धं क्षते हितम् ।

मुलहठी और नागबला के क्वाथ में क्वाथ के बराबर घृत मिलाकर विदारी, पिप्पली और वंशलोचन के कल्क से घृत सिद्ध करे। यह घृत क्षत कास में उत्तम है ॥ ९३ ॥

अमृतप्राश घृत—

जीवनीयो गणः शुण्ठी वरी वीरा पुनर्नवा ॥ ९४ ॥
बलाभार्गीस्वगुप्तर्द्धिशटीतामलकीकणाः ।
शृङ्गाटकं पयस्या च पञ्चमूलं च यल्लघु ॥ ९५ ॥
द्राक्षाऽक्षोडादि च फलं मधुरस्निग्धबृंहणम् ।
तैः पचेत्सर्पिषः प्रस्थं कर्षांशैः श्लक्ष्णकल्कितैः ॥ ९६ ॥
क्षीरधात्रीविदारीक्षुच्छागमांसरसान्वितम् ।
प्रस्थार्धं मधुनः शीते शर्करार्धतुलारजः ॥ ९७ ॥
पलार्धकं च मरिचत्वगेलापत्रकेसरम् ।
विनीय चूर्णितं तस्माल्लिह्यान्मात्रां यथाबलम् ॥ ९८ ॥
अमृतप्राशमित्येतन्नराणाममृतं घृतम् ।
सुधाऽमृतरसं प्राश्यं क्षीरमांसरसाशिना ॥ ९९ ॥
नष्टशुक्रक्षतक्षीणदुर्बलव्याधिकर्शितान् ।
स्त्रीप्रसक्तान् कृशान् वर्णस्वरहीनांश्च बृंहयेत् ॥ १०० ॥
कासहिध्माज्वरश्वासदाहतृष्णाऽस्रपित्तनुत् ।
पुत्रदं छर्दिमूर्च्छाहृद्योनिमूत्रामयापहम् ॥ १०१ ॥

अमृतप्राश घृत—जीवनीय गण, सोंठ, शतावरी, विदारी, पुनर्नवा, बला, भार्गी, कौंच, ऋद्धि, कचूर, भूई आंवला, पिप्पली, सिंघाड़ा, क्षीरविदारी, लघु पञ्चमूल, द्राक्षा-अखरोट आदि जो फल मधुर, स्निग्ध एवं बृंहण करने वाले हैं, इन द्रव्यों का बारीक कल्क एक कर्ष प्रत्येक को लेकर इससे दूध, आंवले का रस, विदारी का रस, गन्ने का रस और बकरी का मांसरस इनमें एक प्रस्थ घृत सिद्ध करे। घृत ठण्डा हो जाने पर मधु आधा प्रस्थ, शर्करा का चूर्ण ५० पल, मरिच, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर, इनका चूर्ण आधा पल प्रक्षेप देवे। इसमें से बल के अनुसार मात्रा को चाटे। यह अमृतप्राश घृत मनुष्यों के लिये अमृत के समान है। नागों के लिये जैसे सुधा, देवताओं के लिये जैसे अमृत है, वैसे मनुष्यों के लिये यह घृत है। दूध तथा मांसरस का भोजन करने वालों को यह खाना चाहिए। यह नष्टशुक्र, क्षतक्षीण, दुर्बल, रोग से कृश, स्त्रियों में संसक्त होने से कृश, तथा वर्ण-स्वर से हीन पुरुषों को पुष्ट करता है। कास, हिक्का ज्वर, श्वास, दाह, तृष्णा तथा रक्तपित्तनाशक, पुत्रदाता एवं वमन, मूर्च्छा, हृद्रोग योनिरोग और मूत्ररोगनाशक है।

श्वदंष्ट्रादि घृत—

श्वदंष्ट्रोशीरमञ्जिष्ठाबलाकाश्मर्यकत्तृणम् ।
दर्भमूलं पृथक्पर्णी पलाशर्षभकौ स्थिराम् ॥ १०२ ॥
पलिकानि पचेत्तेषां रसे क्षीरचतुर्गुणे ।
कल्कैः स्वगुप्ताजीवन्तीमेदर्षभकजीवकैः ॥ १०३ ॥
शतावर्यृद्धिमृद्वीकाशर्कराश्रावणीबिसैः ।
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातपित्तहृद्रोगशूलनुत् ॥ १०४ ॥

मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शःकासशोषक्षयापहः ।
धनुःस्त्रीमद्यभाराध्वखिन्नानां बलमांसदः ॥ १०५ ॥

गोखरू, खस, मजीठ, बला, गम्भारी, कत्तृण (पटोरा), दर्भमूल, पृश्निपर्णी, ढाक, ऋषभक, शालपर्णी, प्रत्येक एक पल लेकर इनके क्वाथ में चौगुना दूध मिलाकर, कौंच, जीवन्ती, मेदा, ऋषभक, जीवक, शतावरी, ऋद्धि, मुनक्का, शर्करा, मुण्डी, बिस इनके कल्क से सिद्ध किया घृत वात एवं पित्त जनित हृदयरोग, शूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, कास, शोष और क्षय का नाशक है। धनुष् कर्म (व्यायामजनित), स्त्रीसेवन, मद्यसेवन, भार या मुसाफिरी से खिन्न लोगों (उरःक्षती) को बल और मांस देने वाला है ॥ १०२-१०५ ॥

रक्तगुल्म पर समसक्तु घृत—

मधुकाष्टपलद्राक्षाप्रस्थक्वाथे पचेद् घृतम् ।
पिप्पल्यष्टपले कल्के प्रस्थं सिद्धे च शीतले ॥ १०६ ॥
पृथगष्टपलं क्षौद्रशर्कराभ्यां विमिश्रयेत् ।
समसक्तु क्षतक्षीणरक्तगुल्मेषु तद्धितम् ॥ १०७ ॥

मुलहठी आठ पल और द्राक्षा सोलह पल के क्वाथ में पिप्पली आठ पल मिलाकर घी एक प्रस्थ पकावे। घी के सिद्ध और ठण्डा हो जाने पर मधु, एवं शर्करा प्रत्येक आठ पल मिलाये ।

इस घी को समान मात्रा में सत्तू के साथ खाये। क्षतक्षीण तथा रक्त गुल्म में यह उत्तम है ॥ १०६-१०७ ॥

यक्ष्मादिनाशक घृत—

धात्रीफलविदारीक्षुजीवनीयरसाद् घृतात् ।
गव्याजयोश्च पयसोः प्रस्थं प्रस्थं विपाचयेत् ॥१०८।
सिद्धशीते सिताक्षौद्रं द्विप्रस्थं विनयेत्ततः ।
यक्ष्मापस्मारपित्तासृक्कासमेहक्षयापहम् ॥ १०९ ॥
वयःस्थापनमायुष्यं मांसशुक्रबलप्रदम् ।

आँवला, विदारी, गन्ना और जीवनीयगण के द्रव्यों के एक एक प्रस्थ रस या क्वाथ से, गाय और बकरी का दूध प्रत्येक एक प्रस्थ लेकर घी का एक प्रस्थ सिद्ध करे। सिद्ध और शीतल होने पर इसमें मिश्री और मधु दो प्रस्थ प्रक्षेप डाले। यह यक्ष्मा, अपस्मार, पित्तरक्त, कास, प्रमेह और क्षय का नाशक, वयःस्थापक, आयुवर्धक, मांस, शुक्र और बल देने वाला है ॥ १०८-१०९ ॥

पित्त और वायु में घृत का लेह और पान—

घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद्वातेऽधिके पिबेत् ॥११०॥
लीढं निर्वापयेत्पित्तमल्पत्वाद्धन्ति नानलम् ।
आक्रामत्यनिलं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च ॥१११॥

पित्त की अधिकता होने पर घृत को चाटे और वायु की अधिकता होने पर घी को पिये। चाटा हुआ घी (शीतल होने से) पित्त को शान्त करता है और मात्रा में थोड़ा होने के कारण अग्नि को मन्द नहीं करता। पिया हुआ घी वायु को बलात् (स्निग्ध होने से) जीत लेता है और गरमी (जाठराग्नि) को जल्दी से शान्त करता है ॥ ११०-१११ ॥

वीर्यादिवर्द्धक चूर्ण—

क्षामक्षीणकृशाङ्गानामेतान्येव घृतानि तु ।
त्वक्क्षीरीशर्करालाजचूर्णैः स्त्यानानि योजयेत् ॥
सर्पिर्गुडान् समध्वंशान् कृत्वा दद्यात्पयोऽनु च ।
रेतो वीर्यं बलं पुष्टिं तैराशुतरमाप्नुयात् ॥ ११३ ॥

क्षाम, क्षीण कृश अङ्गों वाले पुरुषों को ये ही घी बिना पिघलाये वंशलोचन, शर्करा और लाजाचूर्ण के साथ मिलाये, इसमें चतुर्थांश मधु मिलाकर सर्पिर्गुड बनाकर देवे। पीछे से दूध पिलाये। इनसे शुक्र, वीर्य (शक्ति), बल और पुष्टि को शीघ्र प्राप्त करता है ॥ ११२-११३ ॥

वक्तव्य—क्षामः-शुक्रेण हीनः, क्षीणः-बलवीर्याभ्यां हीनः। कृशः-मांसादिभिर्हीनः ॥ रेत-शुक्र, वीर्य-शक्ति। सर्पिर्गुड-पारिभाषिक शब्द है, गुड़ जैसा कठिन होता है, वैसा ही घी को कठिन, दाँतों से खाने योग्य बनाकर देना। स्त्यानानि-अविलीनानि।

कूष्माण्डक रसायन—

वीतत्वगस्थिकूष्माण्डतुलां स्विन्नां पुनः पचेत् ।
घट्टयन् सर्पिषः प्रस्थे क्षौद्रवर्णेऽत्र च क्षिपेत् ॥११४॥
खण्डाच्छतं कणाशुण्ठ्योर्द्विपलं जीरकादपि ।
त्रिजातधान्यमरिचं पृथगर्धपलांशकम् ॥११५॥
अवतारितशीते च दत्त्वा क्षौद्रं घृतार्धकम् ।
खजेनामथ्य च स्थाप्यं तन्निहन्त्युपयोजितम् ॥११६॥
कासहिध्माज्वरश्वासरक्तपित्तक्षतक्षयान् ।
उरःसन्धानजननं मेधास्मृतिबलप्रदम् ॥११७॥
अश्विभ्यां विहितं हृद्यं कूष्माण्डकरसायनम् ।

कूष्माण्डरसायन—कूष्माण्ड (पेठे) की छाल और बीज निकाल कर इसका एक सौ पल लेकर स्विन्न करे (उबाले)। (जब यह गल जावे तब इनको निचोड़कर इसका रस अलग रख ले।) इसी कूष्माण्ड को एक प्रस्थ घी में डाल कर कलछी से चलाते हुए फिर पकाये। जब यह मधु के समान रंग का भूरा हो जाये, तब इसमें खांड सौ पल, (और पहिले निकाल कर रखा हुआ कूष्मांड स्वरस मिलाकर पकाये और प्रक्षेप में) पिप्पली दो पल, सोंठ दो पल, जीरा दो पल, त्रिजातक (त्वगेलापत्रक), धनिया और मरिच प्रत्येक आधा पल मिलाये। उतार कर ठण्डा हो जाने पर इसमें मधु सोलह पल मिला कर मथानी से मथकर पात्र में रख देवे। इसके खाने से कास, हिक्का, ज्वर, श्वास, रक्तपित्त, क्षत, क्षय नष्ट होते हैं। यह छाती का संधान करता है। मेधा, स्मृति और बल देता है। अश्विनीकुमारों ने यह हृद्य कूष्माण्ड रसायन बनाया है ॥ ११४-११७ ॥

वक्तव्य—मूल पाठ में यह स्पष्ट नहीं है पर पहले उबाले हुए

कूष्माण्ड के रस को छान कर लेते हैं, और निकला हुआ कूष्माण्डरस शर्करा के साथ अनुभवी वैद्य लोग मिलाते हैं।

नागबलादिकल्प—

पिबेन्नागबलामूलस्यार्धकर्षाभिवर्धितम् ॥ ११८ ॥
पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ।
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलवर्णकरः परम् ॥ ११९ ॥
मण्डूकपर्ण्याः कल्पोऽयं यष्ट्या विश्वौषधस्य च ।

एक मास तक अन्न को छोड़ कर दूध पर ही रहते हुए मनुष्य नागबला के मूल की एक पल मात्रा से प्रारम्भ करके प्रतिदिन आधा कर्ष बढ़ाकर दूध के साथ लेवे। यह प्रयोग पुष्टि, आयु, बल और वर्ण को करने में श्रेष्ठ है। यही कल्पना मण्डूकपर्णी में, मुलहठी में या सोंठ में भी करनी चाहिये।

वक्तव्य—हेमाद्रि का अर्थ यह है कि प्रथम मात्रा आधा कर्ष करे। फिर प्रतिदिन आधा कर्ष बढ़ाये। जब तक पल मात्रा न आये। यह पल मात्रा आठ दिन में हो जाती है। आगे प्रतिदिन पल मात्रा ले जब तक मास पूरा नहीं होता। अरुणदत्त ने-प्रथम पल मात्रा से आरम्भ करे, फिर आधा कर्ष मात्रा मास तक बढ़ाता जाये, यह अर्थ किया है। दोनों ही पक्ष रोगी की अवस्था से मान्य हैं।

नागबलादि घृत—

पादशेषं जलद्रोणे पचेन्नागबलातुलाम् ॥ १२० ॥
तेन क्वाथेन तुल्यांशं घृतं क्षीरं च साधयेत् ।
पलार्धिकैश्चातिबलाबलायष्टीपुनर्नवैः ॥ १२१ ॥
प्रपौण्डरीककाश्मर्यप्रियालकपिकच्छुभिः ।
अश्वगन्धासिताभीरुमेदायुग्मत्रिकण्टकैः ॥ १२२ ॥
काकोलीक्षीरकाकोलीक्षीरशुक्लाद्विजीरकैः ।
मृणालबिसखर्जूरशृङ्गाटककसेरुकैः ॥ १२३ ॥
एतन्नागबलासर्पिः पित्तरक्तक्षतक्षयान् ।
जयेत्तृड्भ्रमदाहांश्च बलपुष्टिकरं परम् ॥ १२४ ॥
वर्ण्यमायुष्यमोजस्यं वलीपलितनाशनम् ।
उपयुज्य च षण्मासान् वृद्धोऽपि तरुणायते ॥१२५॥

नागबला एक तुला लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ करे। चौथाई शेष रह जाने पर इस क्वाथ से (चतुर्थांश) घी और घी के बराबर दूध लेकर, अतिबला, बला, मुलहठी, पुनर्नवा, प्रपौण्डरीक, गम्भारी, पियाल, कौंच, असगन्ध, दूर्वा, शतावरी, मेदा, महामेदा, गोखरू, काकोली, क्षीरकाकोली, विदारी, जीरा, कालाजीरा, मृणाल, बिस, खर्जूर, सिंघाड़ा, कसेरू, इन्हें प्रत्येक आधा पल लेकर इनमें घृत सिद्ध करे। यह नागबलाघृत पित्तरक्त, क्षत, क्षय, प्यास, दाह और भ्रम को नष्ट करता है, बलपुष्टिकारक है। वर्ण के लिये, आयु के लिये, ओज के लिये उत्तम है, वलीपलितनाशक है, इसको छः मास तक खाकर वृद्ध भी तरुण की भाँति हो जाता है ॥ १२०–१२५ ॥

दीप्तेऽग्नौ विधिरेष स्यान्मन्दे दीपनपाचनः ।
यक्ष्मोरःक्षतिनां शस्तो ग्राही शकृति तु द्रवे ॥१२६॥

अग्नि के प्रदीप्त होने पर यह चिकित्सा करनी चाहिये। अग्नि के मन्द होने पर दीपन, पाचनविधि करे। क्षतरोगियों के लिये राजयक्ष्मा में कथित उपक्रम उत्तम है। मल के द्रव होने पर ग्राही चिकित्सा करे ॥ १२६ ॥

अगस्त्यहरीतकी—

दशमूलं स्वयंगुप्तां शङ्खपुष्पीं शटीं बलाम् ।
हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान् ॥ १२७ ॥
भार्गीं पुष्करमूलं च द्विपलांशं यवाढकम् ।
हरीतकीशतं चैकं जलपञ्चाढके पचेत् ॥ १२८ ॥
यवस्वेदे कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम् ।
पचेद् गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथग्घृतात् ॥१२९॥
तैलात्सपिप्पलीचूर्णात्सिद्धशीते च माक्षिकात् ।
लेहं द्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात् ॥ १३० ॥
तद्वलीपलितं हन्याद्वर्णायुर्बलवर्धनम् ।
पञ्चकासान् क्षयं श्वासं सहिध्मं विषमज्वरम् ॥१३१॥
मेहगुल्मग्रहण्यर्शोहृद्रोगारुचिपीनसान् ।
अगस्त्यविहितं धन्यमिदं श्रेष्ठं रसायनम् ॥ १३२ ॥

अगस्त्यहरीतकी—दशमूल, कौंच, शङ्खपुष्पी, कचूर, बला, गजपिप्पली, चिरचिटा, पिप्पलीमूल, चित्रक, भार्गी, पुष्करमूल, प्रत्येक दो पल; जौ एक आढक और हरड़ एक सौ नग लेकर पाँच आढक जल में पकाये। जब जौ गल जायें तो इसको छानकर इसमें वही एक सौ हरड़; गुड़ एक सौ पल; घी, तैल और पिप्पली प्रत्येक एक कुडव मिलाकर लेह सिद्ध करे। शीतल होने पर मधु एक कुडव मिलाये। इसमें से (१-२ तोला लेह तथा दो हरड़ को नित्य प्रति खाये। इसमें वली, पलित नष्ट होता है; वर्ण, आयु और बल बढ़ता है। यह पांचो कास, क्षय, श्वास, हिक्का, विषमज्वर, प्रमेह, गुल्म, ग्रहणी, अर्श, हृद्रोग, अरुचि और पीनस को नष्ट करता है। अगस्त्य ऋषि से बनाया हुआ यह धन्य और श्रेष्ठ रसायन है ॥ १२७–१३२ ॥

वक्तव्य—लेह की मात्रा कर्ष है; यथा—'रसायनात्कर्षमतो विलिह्याद् द्वे चाभये।' सुश्रुतः। धन्यं-धनार्जनहेतुनैरुज्यसाधकत्वात्।

वसिष्ठहरीतकी—

दशमूलं बलां मूर्वां हरिद्रे पिप्पलीद्वयम् ।
पाठाऽश्वगन्धाऽपामार्गस्वगुप्ताऽतिविषाऽमृताः ॥
बालबिल्वं त्रिवृद्दन्तीमूलं पत्रं च चित्रकात् ।
पयस्यां कुटजं हिंस्रां पुष्पं सारं च बीजकात् ॥१३४॥
बोटस्थरविरभल्लातविकङ्कतशतावरीः ।
पूतीकरञ्जशम्याकचन्द्रलेखासहाचरम् ॥ १३५ ॥
सौभाञ्जनकनिम्बत्वग्गिक्षुरं च पलांशकम् ।

पथ्यासहस्रं सशतं यवानां चाढकद्वयम् ॥ १३६ ॥
पचेदष्टगुणे तोये यवस्वेदेऽवतारयेत् ।
पूते क्षिपेत्सपथ्ये च तत्र जीर्णगुडात्तुलाम् ॥ १३७ ॥
तैलाज्यधात्रीरसतः प्रस्थं प्रस्थं ततः पुनः ।
अधिश्रयेन्मृदावग्नौ दर्वीलेपेऽवतार्य च ॥ १३८ ॥
शीते प्रस्थद्वयं क्षौद्रात्पिप्पलीकुडवं क्षिपेत् ।
चूर्णीकृतत्रिजाताच्च त्रिपलं निखनेत्ततः ॥ १३९ ॥
धान्ये पुराणकुम्भस्थं मासं खादेच्च पूर्ववत् ।
रसायनं वसिष्ठोक्तमेतत्पूर्वगुणाधिकम् ॥ १४० ॥
स्वस्थानां निष्परीहारं सर्वर्तुषु च शस्यते ।

वसिष्ठहरीतकी—दशमूल, बला, मूर्वा, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, गजपिप्पली, पाठा, अश्वगन्धा, अपामार्ग, कौंच, अतीस, गिलोय, कच्चा बिल्व, निशोथ, दन्तीमूल, तेजपात, चित्रक, क्षीरविदारी, कूड़ा, क्षिण्टी, बीजक (असन या विजय, सार) का सार तथा फूल, वोट (बोल वृक्ष), स्थविर (शैलेय), भिलावा, बेकड़ा, शतावरी, पूतिकरंज, अमलतास, बावची, कुरण्टकी, सहजना, नीम की छाल, कोकिलाक्ष (तालमखाना) प्रत्येक एक पल; हरड़ एक हजार एक सौ, जौ दो आढक लेकर आठ गुने जल में क्वाथ करे। जब जौ गल जाये तब उतार ले। छानकर इसमें वही हरड़ फिर डाल देवे; तथा पुरातन गुड़ एक तुला; तैल, घी, आंवले का रस एक एक प्रस्थ मिलाकर मृदु अग्नि पर पुनः पाक करे। जब कलछी पर लगने लगे तब इसको उतार ले। शीतल होने पर मधु दो प्रस्थ, पिप्पली एक कुडव, त्रिजातक (त्वग्, इलायची, तेजपात) चूर्ण करके तीन पल मिलाये। फिर इसको पुराने घी के पात्र में रखकर धान्य की ढेर में रख दे। एक मास के पीछे पूर्व की भांति खाये। यह वसिष्ठोक्त रसायन प्रथम रसायन से अधिक गुणकारी है। स्वस्थ पुरुषों के लिये इसमें किसी प्रकार का परहेज नहीं और यह सब ऋतुओं में उत्तम है ॥ १३३-१४० ॥

वक्तव्य—वोट-अलम्बुषा, स्थविरं-शैलेयम् अरुणदत्तः। वोटस्थविरो-मुण्डी हेमाद्रिः। बोलस्थविरो, बोलवृक्षः-इन्दुः।

सैन्धवादि चूर्ण—

पलिकं सैन्धवं शुण्ठी द्वे च सौवर्चलात्पले । १४१॥
कुडवांशानि वृक्षाम्लं दाडिमं पत्रमर्जकात् ।
एकैकां मरिचाजाज्योर्धान्यकाद् द्वे चतुर्थिके ॥१४२॥
शर्करायाः पलान्यत्र दश द्वे च प्रदापयेत् ।
कृत्वा चूर्णमतो मात्रामन्नपानेषु दापयेत् ॥१४३॥
रुच्यं तद्दीपनं बल्यं पार्श्वार्तिश्वासकासजित् ।

सैन्धव एक पल, सोंठ दो पल, सौवर्चल एक पल, वृक्षाम्ल एक कुडव, अनारदाना, तेजपात, अर्जक (मरुवा) प्रत्येक एक कुडव, मरिच, जीरा एक एक पल, धनिया दो पल, शर्करा बारह पल मिलाकर चूर्ण करे। इस चूर्ण की उचित मात्रा को अन्न-पान में देवे। यह चूर्ण रुचिकारक, दीपक, बलकारक, पार्श्वशूल और कास का नाशक है।

षाडव—

एकां षोडशिकां धान्याद् द्वे द्वे चाजाजिदीप्यकात् ॥
ताभ्यां दाडिमवृक्षाम्ले द्विर्द्विः सौवर्चलात्पलम् ।
शुण्ठ्याः कर्षं दधित्थस्य मध्यात्पञ्च पलानि च ॥१४५॥
तच्चूर्णं षोडशपलैः शर्करायाः विमिश्रयेत् ।
षाडवोऽयं प्रदेयः स्यादन्नपानेषु पूर्ववत् ॥ १४६ ॥

षाडव—धनिया एक कर्ष, जीरा दो कर्ष, अजवायन दो कर्ष, अनारदाना चार कर्ष, वृक्षाम्ल चार कर्ष, सोंचर लवण एक पल, सोंठ एक कर्ष, कैथ का गूदा पांच पल चूर्ण कर इसमें सोलह पल शर्करा मिलाये। यह षाडव भोजन-पान में पूर्व की भांति देना चाहिये ॥ १४४-१४६ ॥

क्षत में अन्य कर्तव्य—

विधिश्च यक्ष्मविहितो यथावस्थं क्षते हितः ।

उरःक्षत में अवस्थाविशेष से राजयक्ष्मा में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये।

धूमपान का विधान—

निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्धे उरः शिरः ॥ १४७ ॥
दाल्यते कासिनो यस्य स ना धूमान् पिबेदिमान् ।

क्षत (उरःक्षत) दोष शान्त हो जाने पर कफ के बढ़ने से जिस कास रोगी के छाती और शिर फटते से हैं वह निम्न धूमों का पान करे ॥ १४७ ॥

धूमवर्ती—

द्विमेदाद्विबलायष्टीकल्कैः क्षौमे सुभाविते ॥ १४८ ॥
वर्तिं कृत्वा पिबेद् धूमं जीवनीयघृतानुपः ।

धूम—मेदा, महामेदा, बला, अतिबला, मुलहठी इनके कल्क से (रेशम या सन के) वस्त्र को भली प्रकार बार बार लिप्त कर वर्ति बनाकर धूम पिये। पीछे से जीवनीय घृत पिये।

धूमपान की अन्य विधियाँ—

मनःशिलापलाशाजगन्धात्वक्क्षीरिनागरैः ॥ १४९ ॥
तद्वदेवानुपानं तु शर्करेक्षुगुडोदकम् ।
पिष्ट्वा शनःशिलां तुल्यामार्द्रया वटशुङ्गया ॥ १५० ॥
ससर्पिष्कं पिबेद् धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम् ।

मैनसिल, ढाक, अजगन्धा, दालचीनी, दूधी, सोंठ इनके कल्क का वस्त्र पर लेप करके पूर्व की भाँति वर्ति बनाकर धूम पिये। पीछे से शर्करा का शर्बत, गन्ने का रस या गुड़ का शर्बत पिये।

मैनसिल के बराबर बरगद की गीली जटा लेकर पीस ले। इसमें घी मिला कर धूम पिये और तीतर के मांस की प्रधानता वाला भोजन करे ॥ १४९-१५० ॥

क्षयजन्य कास में विरेचन—

क्षयजे बृंहणं पूर्वं कुर्यादग्नेश्च वर्धनम् ॥ १५१ ॥

क्षयज कासचिकित्सा—क्षयज कास में प्रथम बृंहण और अग्निवर्धक औषध देवे ॥ १५१ ॥

वृद्धिगत दोष में विरेचन—

बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद्विरेचनम् ।

प्रभूत दोष वाले क्षयकास रोगी को स्नेह के साथ मृदु विरेचन देवे ।

विरेचन की विधि—

शम्याकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया ॥१५२॥
तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च ।
सर्पिःसिद्धं पिबेद्युक्त्या क्षीणदेहो विशोधनम् ॥१५३॥

विरेचन—(१) अमलतास के कल्क से सिद्ध घृत, (२) द्राक्षारस मिश्रित निशोथ के कल्क से सिद्ध घृत, (३) तिल्वक के कषाय और विदारी के स्वरस से सिद्ध घृत को युक्ति से पिये। यह घृत क्षीणशरीर वालों के लिए शोधन करने वाला है ॥ १५२-१५३ ॥

धातुक्षीणता में घृत—

पित्ते कफे धातुषु च क्षीणेषु क्षयकासवान् ।
घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत् ॥१५४॥

पित्त, कफ और धातुओं के क्षीण होने पर क्षयकासवान् रोगी काकडाश्रृङ्गी, बला, अतिबला और दूध से सिद्ध घृत पिये

विदारीभिः कदम्बैर्वा तालसस्यैश्च साधितम् ।
घृतं पयश्च —

अथवा विदारी आदि से, कदम्बों (कदम्ब, भूमिकदम्ब) से या तालफलों से सिद्ध घृत या दूध पिये।

मूत्र की विवर्णता में औषध—

— मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे ॥ १५१ ॥
शूने सवेदने मेढ्रे पायौ सश्रोणिवङ्क्षणे ।
घृतमण्डेन लघुनाऽनुवास्यो मिश्रकेण वा ॥ १५६ ॥

मूत्र की विवर्णता में या मूत्र के कठिनाई से आने पर, मेहन, पायु (गुदा), श्रोणि तथा वंक्षण में वेदना तथा सूजन होने पर लघुपञ्चमूल से सिद्ध धृतमण्ड से अथवा मिश्रक स्नेह मेहन, पायु (गुदा), श्रोणि तथा वंक्षण में वेदना तथा सूजन होने पर लघुपञ्चमूल से सिद्ध घृतमण्ड से अथवा मिश्रक स्नेह (घी और तैल) से अनुवासन दे ॥ १५५-१५६ ॥

वक्तव्य—मिश्रकेण—वृद्धिचिकित्सोक्तेन सुकुमारकाख्येन (हृ. चि. अ. १३।४१)—हेमाद्रिः ।

क्षयजकास में मांसादि सेवन—

जाङ्गलैः प्रतिभुक्तस्य वर्तकाद्या बिलेशयाः ।
क्रमशः प्रसहास्तद्वत्प्रयोज्याः पिशिताशिनः ॥१५७॥
औष्ण्यात्प्रमाथिभावाच्च स्रोतोभ्यश्च्यावयन्ति ते ।
कफं शुद्धैश्च तैः पुष्टिं कुर्यात्सम्यग्वहन् रसः ॥१५८॥

(अनुवासन के उपरान्त पेया आदि क्रम पालने पर अग्निबल के अनुसार) क्रमशः प्रथम जांगल मांस(हरिणादि), फिर वर्तक आदि विष्किर मांस, फिर चूहा आदि बिलेशय मांस, फिर मांस खानेवाले प्रसहों (सिंह, चीता आदि) के मांस अग्निबल की अपेक्षा से देने। ये मांस उष्ण और प्रमाथी होने से कफ को स्रोतों में से निकालते हैं। इनसे स्रोतों का शोधन हो जाने पर शुद्ध स्रोतों से वहता हुआ रस शरीर की पुष्टि करता है ॥ १५७-१५८ ॥

वक्तव्य—प्रमाथि—'स्रोतांसि दोषलिप्तानि प्रमथ्य विवृणोति यत् । प्रविश्य सौक्ष्म्यात्तैक्ष्ण्याच्च तत्प्रमाथीति संज्ञितम् ॥

कासनाशक चविकादिघृत—

चविकात्रिफलाभार्गीदशमूलैः सचित्रकैः ।
कुलत्थपिप्पलीमूलपाठाकोलयवैर्जले ॥ १५९ ॥
श्रृतैर्नागरदुःस्पर्शापिप्पलीशटिपौष्करैः ।
पिष्टैः कर्कटश्रृङ्ग्या च समैः सर्पिर्विपाचयेत् ॥१६०॥
सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च ।
दत्त्वा युक्त्या पिबेन्मात्रां क्षयकासनिपीडितः ॥१६१॥

चविका, त्रिफला, भार्गी, दशमूल, चित्रक, कुलथी, पिप्पलीमूल, पाठा, बेर और जौ का जल में क्वाथ करे। इस क्वाथ में सोंठ, कौंच, पिप्पली, कचूर, पुष्करमूल और काकडाश्रृङ्गी समान भाग लेकर इनके कल्क से घृत सिद्ध करे। घृत के सिद्ध हो जाने पर इसमें यवक्षार, सर्जिक्षार और पांचो नमक युक्ति से (अधिक न हो, कम भी न रहे) मिलाये। क्षयकास रोगी मात्रा में इस घृत को खाये ॥ १५९-१६१ ॥

कासमर्दादि घृत—

कासमर्दाभयामुस्तापाठाकट्फलनागरैः ।
पिप्पल्या कटुरोहिण्या काश्मर्या सुरसेन च ॥१६२॥
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके ।
पचेच्छोषज्वरप्लीहसर्वकासहरं शिवम् ॥ १६३ ॥

कसौंदी, हरड़, मुस्ता, पाठा, कट्फल, सोंठ, पिप्पली, कटुकी, गम्भारी और तुलसी प्रत्येक एक कर्ष लेकर, दूध और द्राक्षारस मिलित एक आढक में घी एक प्रस्थ सिद्ध करे। यह घृत शोष, ज्वर, प्लीहा एवं सर्वकासनाशक और कल्याणकारी है ॥ १६२-१६३ ॥

वासादि घृत—

वृषव्याघ्रीगुडूचीनां पत्रमूलफलाङ्कुरात् ।
रसकल्कैर्घृतं पक्वं हन्ति कासज्वरारुचीः ॥ १६४ ॥

अडूसा, कटेरी और गिलोय इनके पत्ते-मूल, फल तथा अंकुरों के क्वाथ और कल्क से सिद्ध किया घृत कास, ज्वर और अरुचि को नष्ट करता है ॥१६४॥

दाडिमादि घृतपान—

द्विगुणे दाडिमरसे सिद्धं वा व्योषसंयुतम् ।
पिबेदुपरि भुक्तस्य यवक्षारयुतं नरः ॥ १६५ ॥
पिप्पलीगुडसिद्धं वा छागक्षीरयुतं घृतम् ।

दाडिमाद्यघृत-अनाररस घी से दुगुना लेकर इसमें त्रिकटु का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। इस घी में पीने के समय यवक्षार मिला आहार के ऊपर (पीछे) पिये । अथवा पिप्पली और गुड के कल्क से बकरी के दूध में सिद्ध घृत पिये । [घी से चौगुना बकरी का दूध के बराबर पानी, घी से चौथाई कल्क मिलाये] ॥१६५ ॥

एतान्यग्निविवृद्ध्यर्थं सर्पींषि क्षयकासिनाम् ॥१६६।
स्युर्दोषबद्धकण्ठोरःस्रोतसां च विशुद्धये ।

क्षयकास रोगियों के लिए ये सभी घृत अग्निवर्धक हैं। तथा दोषों से रुके कण्ठ, छाती एवं स्रोतों को खोलने वाले हैं।

वक्तव्य—जिस प्रकार बाह्य अग्नि थोड़ी मात्रा में घी के डालने से बढ़ती है, उसी प्रकार अन्तः (जाठर) अग्नि घी की उचित मात्रा से तथा संस्कारक औषधियों के प्रभाव से बढ़ती है; अग्नि के बढ़ने पर कफ के विलयन होने से स्रोत खुल जाते हैं ॥ १६६ ॥

श्वासकासनाशक-हरीतकीलेह—

प्रस्थोन्मिते यवक्वाथे विंशतिं विजयाः पचेत् ॥१६७॥
स्विन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन्पुराणात्षट्पलं गुडात् ।
पिप्पल्या द्विपलं कर्षं मनोह्वाया रसाञ्जनात् ॥१६८॥
दत्त्वाऽर्धाक्षं पचेद्भूयः स लेहः श्वासकासजित् ।

हरीतकी लेह—जौ का क्वाथ एक प्रस्थ तथा हरड़ बीस नग लेकर पाक करे। जब हरड़ स्विन्न हो जायें तब इनको मलकर पुराना गुड़ छः पल, पिप्पली दो पल, मैनसिल एक कर्ष, रसौंत आधा कर्ष मिलाकर फिर पाक करे। यह लेह श्वास-कासनाशक है ॥ १६७–१६८ ॥

अन्य प्रयोग—

श्वाविधां सूचयो दग्धाः सघृतक्षौद्रशर्कराः ॥१६९॥
श्वासकासहरा, बर्हिपादौ वा मधुसर्पिषा ।
एरण्डपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम् ॥ १७० ॥
लेहयेत् क्षारमेवं वा सुरसैरण्डपत्रकम् ।
लिह्यात् त्र्यूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा ॥ १७१ ॥

सेह की सूइयों (कांटों) को जला ले। इसकी राख को मधु, घी और शर्करा के साथ चाटे। ये श्वासकासनाशक हैं। अथवा मोर के पैरों को जलाकर मधु और घी से चाटे। एरण्ड के पत्तों के क्षार को त्रिकटु, तैल और गुड़ से चाटे। तुलसी एवं एरण्ड के पत्तों के क्षार को त्रिकटु, तैल और गुड़ से चाटे। या त्रिकटु के चूर्ण को पुरातन गुड़ और घृत से खाये ॥ १६९–१७१ ॥

पद्मकं त्रिफला व्योषं विडङ्गं देवदारु च ।
बला रास्ना च तच्चूर्णं समस्तं समशर्करम् ॥१७२॥
खादेन्मधुघृताभ्यां वा लिह्यात्कासहरं परम् ।
तद्वन्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥ १७३ ॥

पद्माख, त्रिफला, त्रिकटु, विडङ्ग, देवदारु, बला, रास्ना ये परस्पर बराबर तथा इनके चूर्ण के बराबर शर्करा मिलावे। इस चूर्ण को मधु और घी के साथ चाटे; यह उत्तम कासनाशक है। इसी प्रकार मरिच के चूर्ण को घी, मधु और शर्करा के साथ चाटे ॥ १७२–१७३ ॥

पथ्याशुण्ठीघनगुडैर्गुटिकां धारयेन्मुखे ।
सर्वेषु श्वासकासेषु, केवलं वा बिभीतकम् ॥ १७४ ॥

हरड़, सोंठ, मुस्ता और सोंठ से बनी गुटिका को सब श्वास और कासों में मुख के अन्दर धारण करे। अथवा केवल बहेड़े को मुख में धारण करे ॥ १७४ ॥

पत्रकल्कं घृतभृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम् ।
पेया चोत्कारिका च्छर्दितृट्कासामातिसारजित् ॥

तिल्वक के पत्तों के कल्क को घी में भूनकर शर्करा में मिलाकर पेया या उत्कारिका बनाये। वह वमन प्यास, कास और आमातिसार का नाशक है ॥ १७५ ॥

कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः ।
सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम् ॥१७६॥

कटेरी के क्वाथ में हींग, सैन्धव, सोंठ आदि से संस्कृत तथा गौरामलक एवं अनारदाने से खट्टा बनाया मूंग का यूष, सब कासों का नाशक औषध है ॥ १७६ ॥

वक्तव्य—गौरामलकम्-पीतवर्णमामलकम् (पका हुआ पीला आंवला) ।

वातघ्नौषधनिःक्वाथे क्षीरं यूषान् रसानपि ।
वैष्किरान् प्रातुदान् बैलान् दापयेत्क्षयकासिने ॥

वातघ्न ओषधियों के क्वाथ में सिद्ध दूध, यूष अथवा विष्किर, प्रतुद या बिलेशय प्राणियों के मांसरस को क्षयकास रोगी के लिये देवे ॥ १७७ ॥

क्षतकासे च ये धूमाः सानुपाना निदर्शिताः ।
क्षयकासेऽपि ते योज्या वक्ष्यते यच्च यक्ष्मणि ॥१७८॥
बृंहणं दीपनं चाग्नेः स्रोतसां च विशोधनम् ।
व्यत्यासात्क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं प्रशस्यते ॥१७९॥

क्षतकास में जो धूम अनुपान के साथ कहे हैं, उनको क्षयकास में भी बरते, तथा राजयक्ष्मा में जो धूम कहेंगे उन्हें भी बरते। बृंहण अग्निदीपक तथा स्रोतों का शोधन करने वाली जो चिकित्सा है, वह परिवर्तन के साथ (अदल-बदल कर) तथा बलकारक चिकित्सा क्षयकास रोगियों के लिये प्रशस्त है ॥ १७८–१७९ ॥

सन्निपातोद्भवो घोरः क्षयकासो यतस्ततः ।
यथादोषबलं तस्य सन्निपातहितं हितम् ॥ १८० ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने-
कासचिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

क्योंकि क्षयकास सन्निपातजन्य होने से भयंकर होता है, अतः दोष-बल के अनुसार सन्निपात में जो हितकारी हो, वह यहां पर उत्तम है ॥ १८० ॥

वक्तव्य—(१) 'शटीशृङ्गीकणाभार्गीगुडवारिदयासकैः ।
सतैलैर्वातकासघ्नो लेहोऽयमपराजितः ॥'
(२) 'वासायाः स्वरसं पूतं कणामाक्षिकसंयुतम् ।
अभ्यासान्मुच्यते पीत्वाऽप्यसाध्यात् कासरोगतः ॥'
(पुटपाकेन उत्स्विन्नस्य वासकस्य रसो ग्राह्यः । अत्र क्वाथं व्यवहरन्ति वृद्धाः) ।

प्रसिद्ध कतिपय योग—तालीशाद्यमोदक, पञ्चामृतरस, चन्द्रामृतरस, समशर्करलौह, कासलक्ष्मीविलास, शृङ्गाराभ्र, सर्वाङ्गसुन्दररस (क्षयकास में), वसन्ततिलक (क्षयकास में), छागाद्य घृत (आभ्यन्तर प्रयोग में) और चन्दनादि तैल, वासाचन्दनादि तैल) बाह्योपचार में)।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का कासचिकित्सितनामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

* * *

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः श्वासहिध्माचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे श्वासहिध्माचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

श्वास तथा हिध्मा की समानता—

श्वासहिध्मा यतस्तुल्यहेत्वाद्याः, साधनं ततः ।
तुल्यमेव—

क्योंकि श्वास हिक्का के कारण आदि (निदान अ. ४।१८) समान हैं, इसलिये इनकी चिकित्सा भी समान है।

श्वास और हिध्मा में स्वेदन—

—तदार्तं च पूर्वं स्वेदैरुपाचरेत् ॥ १ ॥
स्निग्धैर्लवणतैलाक्तम्—

श्वास और हिक्का रोगी को प्रथम लवणमिश्रित तैल से अभ्यङ्ग करके स्निग्ध द्रव्यों से स्वेद देवे ॥ १ ॥

वक्तव्य—वायु का कोप न हो, इसलिये तैल से अभ्यङ्ग करके स्निग्ध द्रव्यों से सेक करे।

उक्त स्वेदन से लाभ—

—तैः खेषु ग्रथितः कफः ।
सुलीनोऽपि विलीनोऽस्य कोष्ठं प्राप्तः सुनिर्हरः ॥ २ ॥
स्रोतसां स्यान्मृदुत्वं च मरुतश्चानुलोमता ।

इन स्वेदों से इस श्वास-हिक्का रोगी के स्रोतों में पिण्डित हुआ अतिशय रूप में श्लिष्ट हुआ (चिपका हुआ) भी कफ पिघल कर कोष्ठ (आमाशयादि में आ जाने पर वमन आदि द्वारा) भली प्रकार निकालने योग्य होता है। स्वेद से स्रोतों में कोमलता आ जाती है और वायु का अनुलोमन भी हो जाता है ॥ २ ॥

स्वेदन के बाद भोजनादि—

स्विन्नं च भोजयेदन्नं स्निग्धमानूपजै रसैः ॥ ३ ॥
दध्युत्तरेण वा, दद्यात्ततोऽस्मै वमनं मृदु ।
विशेषात् कासवमथुहृद्ग्रहस्वरसादिने ॥ ४ ॥
पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रयुक्तं वाताविरोधि यत् ।

स्वेदन के उपरान्त रोगी को स्निग्ध अन्न आनूप प्राणियों के मांसरस के साथ या दही की मलाई से देवे। फिर इसको कोमल वमन देवे। यह वमन पिप्पली, सैन्धव और मधु मिलाकर देवे, तथा जो वायु का विरोधी न हो, वह वमन दे। विशेष करके कास, वमन, हृद्ग्रह तथा स्वर की शिथिलता वाले को वमन देवे ॥ ३-४ ॥

निर्हृते सुखमाप्नोति स कफे दुष्टविग्रहे ॥ ५ ॥
स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः ।

शरीर को दूषित (पीड़ित) करने वाले कफ के निकल जाने पर रोगी सुख अनुभव करता है और स्रोतों के विशुद्ध हो जाने पर वायु बिना रुकावट के विचरती है ॥ ५ ॥

आनाह आदि के उपाय—

ध्मानोदावर्ततमके मातुलुङ्गाम्लवेतसैः ॥ ६ ॥
हिङ्गुपीलुविडैर्युक्तमन्नं स्यादनुलोमनम् ।
ससैन्धवं फलाम्लं वा कोष्णं दद्याद्विरेचनम् ॥ ७ ॥

श्वास—हिक्का रोगी को आध्मान, उदावर्त्त और तमकश्वास हो तो बिजौरा, अम्लवेतस, हींग, पीलु और बिड नमक से युक्त अन्न देवे, यह अनुलोमक है। अथवा सैन्धव और फलों के अम्ल रस के साथ गुनगुना विरेचन देवे ॥ ६-७ ॥

उक्त उपायों से लाभ—

एते हि कफसंरुद्धगतिप्राणप्रकोपजाः ।
तस्मात्तन्मार्गशुद्ध्यर्थमूर्ध्वाधः शोधनं हितम् ॥ ८ ॥
उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद्वहज्जलम् ।
यथा तथाऽनिलस्तस्य मार्गमस्माद्विशोधयेत् ॥ ९ ॥

क्योंकि ये (श्वास और हिक्का) कफ के द्वारा वायु की गति के रुक जाने से उत्पन्न प्रकोप के कारण होते हैं; इसलिये वायु के मार्ग की शुद्धि के लिये वमन और विरेचन हितकारी है। दृष्टान्त—बहती हुई नदी का जल मार्ग में रुकावट होने से जैसे बढ़ जाता है; उसी प्रकार मार्ग में रुकावट होने से वायु बढ़ जाती है; इसलिये वायु के मार्ग का शोधन करे।

रोगशमन न होने पर धूमपान—

अशान्तौ कृतसंशुद्धेर्धूमैर्लीनं मलं हरेत् ।

वमन एवं विरेचन से शोधन करने पर भी यदि रोग शान्त न हो तो सूक्ष्म स्रोतों में श्लिष्ट कफरूपी मल को धूमों से बाहर करे।

धूमपानविधि—

हरिद्रापत्रमेरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम् ॥ १० ॥
सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्तिं प्रकल्पयेत् ।
तां घृताक्तां पिबेद् धूमं यवान् वा घृतसंयुतान् ॥ ११ ॥
मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं वा गुरु वाऽगुरु ।
चन्दनं वा तथा शृङ्गं बालान् वा स्नाव वा गवाम् ॥
ऋक्षगोधकुरङ्गैणचर्मशृङ्गखुराणि वा ।
गुग्गुलुं वा मनोह्वां वा शालनिर्यासमेव वा ॥ १२ ॥
शल्लकीं गुग्गुलुं लोहं पद्मकं वा घृताप्लुतम् ।

(१) हल्दी, तेजपात, एरण्डमूल, लाख, मैनसिल, देवदारु, हरताल और जटामांसी को पीस कर वर्त्ति बनाये। इस वर्त्ति को घी से स्निग्ध करके धूम पिये। (२) अथवा जौ को घी से

स्निग्ध बनाकर धूम पिये। (३) मोम, राल और घी का धूम पिये। (४) श्रेष्ठ (भारी) अगरु का धूम पिये। (५) चन्दन का धूम पिये। (६) गाय के सींग का; गाय के गलकम्बल के बालों का या गाय के स्नायु का धूम पिये। (७) रीछ, गोह, हरिण या एण की खाल, सींग या खुर का धुंवा पिये। (८) गुग्गुलु का या मैनसिल का अथवा राल का धूम पिये। (९) शल्लकी (सर्जधूप), गुग्गुलु, अगरु और पद्माख को घी में मिलाकर धूम पिये ॥ १०-१३ ॥

स्वेदन—

अवश्यं स्वेदनीयानामस्वेद्यानामपि क्षणम् ॥ १४ ॥
स्वेदयेत् ससिताक्षीरसुखोष्णस्नेहसेचनैः ।
उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदाध्यायोक्तभेषजैः ॥ १५ ॥
उरः कण्ठं च मृदुभिः सामे त्वामविधिं चरेत् ।

स्वेदन योग्य व्यक्तियों को बिना संकोच के—निर्भय होकर स्वेद देवे। जो स्वेदन के अयोग्य कहे हैं, उनको भी शर्करा, दूध मिश्रित थोड़े गरम स्नेह युक्त परिषेक से अथवा स्वेदाध्याय में कथित द्रव्यों से बनी उत्कारिका एवं उपनाहों से छाती और कण्ठ पर मृदु स्वेद थोड़े समय के लिए देवे। श्वास-हिक्का रोग में आम होने पर आमविधि (लंघन-पाचनादि) बरते ॥ १४-१५ ॥

अतियोग से उद्धतवायु में कर्तव्य—

अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा पवननाशनैः ॥ १६ ॥
स्निग्धै रसाद्यैर्नात्युष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत् ।

वमन-विरेचन की अधिकता से वायु को उद्धत (कुपित) हुआ देख कर वातनाशक, स्निग्ध मांसरस, दूध, घी आदि आहारों से तथा गुनगुनाते अभ्यंगों से शान्त करे ॥ १६ ॥

अनुचित शोधन से हानि और उसका शमन—

अनुत्क्लिष्टकफास्विन्नदुर्बलानां हि शोधनात् ॥१७॥
वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून् ।
कषायलेहस्नेहाद्यैस्तेषां संशमयेदतः ॥१८॥

जिन रोगियों में कफ उत्क्लिष्ट (प्रवर्तनोन्मुख) न हुआ हो, जिनको स्वेद न दिया हो, जो दुर्बल हों, उनमें शोधन करने से वायु बल या अवसर पाकर हृदयरूपी मर्म को सुखाकर (पीड़ित करके) प्राणों को शीघ्र नष्ट कर देता है। इसलिये इन रोगियों में कषाय, लेह और स्नेह आदि से वायु को शान्त करें ॥ १७-१८ ॥

क्षीणक्षतातिसारासृक्पित्तदाहानुबन्धजान् ।
मधुरस्निग्धशीताद्यैर्हिध्माश्वासानुपाचरेत् ॥ १९ ॥

क्षीण, क्षत, अतिसार, रक्तपित्त, दाह इनके चिर काल तक रहने से उत्पन्न श्वास-हिक्का रोगियों की चिकित्सा मधुर, स्निग्ध तथा शीत आदि द्रव्यों से करे ॥ १९ ॥

उक्त रोगों में मांसरस तथा यूप—

कुलत्थदशमूलानां क्वाथे स्युर्जाङ्गला रसाः ।
यूषाश्च—

कुलथी और दशमूल के क्वाथ में जांगल मांसरस और यूष सिद्ध करके देवे।

क्षतादि जनित श्वास-हिक्का में यूप—

—शिग्रुवार्ताककासघ्नवृषशूलकैः ॥ २० ॥
पल्लवैर्निम्बकुलकबृहतीमातुलुङ्गजैः ।
व्याघ्रीदुरालभाशृङ्गीबिल्वमध्यत्रिकण्टकैः ॥ २१ ॥
साम्रताग्निकुलत्थैश्च यूषः स्यात्क्वथितैर्जले ।
तद्वद्रास्नाबृहत्यादिबलामुद्गैः सचित्रकैः २२ ॥

सहजना, कटेरी, कसौंदी, अडूसा, मूली, नीम की पत्ती, बेर के पत्ते, बड़ी कटेरी, बिजौरे के पत्ते, गिलोय और चित्रक के क्वाथ में कुलथी का बनाया यूष देवे। इसी प्रकार रास्ना, बृहत्यादि गण, बला तथा चित्रक के क्वाथ में मूंग से बनाया यूष देवे [बृहत्यादि से लघु पंचमूल लेना चाहिये] ॥

कासादिनाशक पेया—

पेया च चित्रकाजाजीशृङ्गीसौवर्चलैः कृता ।
दशमूलेन वा कासश्वासहिध्मारुजापहा ॥ २३ ॥

चित्रक, जीरा, काकड़ाशृङ्गी तथा संचल नमक से बनाई या दशमूल से बनाई पेया कास, श्वास और हिक्का की पीड़ा को दूर करती है ॥ २३ ॥

कषाय तथा पेया—

दशमूलशटीरास्नाभार्गीबिल्वर्द्धिपौष्करैः ।
कुलीरशृङ्गीचपलातामलक्यमृतौषधैः ॥ २४ ॥
पिबेत्कषायं जीर्णेऽस्मिन् पेयां तैरेव साधिताम् ।

दशमूल, कचूर, रास्ना, भार्गी, बिल्व, पुष्करमूल, कर्कटशृङ्गी, पिप्पली, भूईं आंवला, गिलोय; इन औषधियों से बना कषाय पिये। इसके पचने पर इनसे ही सिद्ध की हुई पेया पिये।

अन्न

शालिषष्टिकगोधूमयवमुद्गकुलत्थभुक् ॥ २५ ॥
कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिहिध्माश्वासप्रशान्तये ।

कास, हृद्ग्रह, पार्श्वशूल, हिक्का, तथा श्वास की शान्ति के लिये शालि, षष्टिक (सांठी), गेहूँ, जौ, मूंग और कुलथी को खाये ॥ २५ ॥

श्वास-हिक्का में सक्तु विशेष—

सक्तून् वाऽर्काङ्कुरक्षीरभावितानां समाक्षिकान्॥२६॥
यवानां दशमूलादिनिष्क्वाथलुलितान् पिबेत् ।

अथवा जौ को अर्क के अंकुरों के दूध से भावित करके इसका सत्तू बनाये। इस सत्तू को मधु के साथ दशमूलादि गण (दशमूल-शटी आदि) के क्वाथ में घोल कर पिये।

मसाले और अनुपान—

अन्ने च योजयेत् क्षारहिङ्ग्वाज्यविडदाडिमान् ॥२७॥
सपौष्करशटीव्योषमातुलुङ्गाम्लवेतसान् ।
दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः ॥२८॥
पिबेद्वा वारुणीमण्डं हिध्माश्वासी पिपासितः ।

भोजन में यवक्षार, हींग, जीरा, विड, अनार, पुष्करमूल, कपूर, त्रिकटु, बिजौरा और अम्लवेतस मिलाये।

हिक्का श्वास रोगी प्यास लगने पर दशमूल का क्काथ या देवदारु का क्काथ अथवा वारुणी के मण्ड को पिये ॥२७-२८॥

श्वास-कास में तक्र विशेष—

पिप्पलीपिप्पलीमूलपथ्याजन्तुघ्नचित्रकैः ॥ २९ ॥
कल्कितैर्लेपिते रूढे निःक्षिपेद् घृतभाजने ।
तक्रं मासस्थितं तद्धि दीपनं श्वासकासजित् ॥३०॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, हरड, विडंग और चित्रक के कल्क से घी की हांडी में (आधा अंगुल मोटा) लेप करे। जब यह लेप सूख जाये तब इसमें तक्र छोड़ देवे। एक मास तक पड़ा वह तक्र अग्निदीपक तथा श्वासकास नाशक है ॥ २९-३० ॥

पीने योग्य अन्य औषध—

पाठां मधुरसां दारु सरलं च निशि स्थितम् ।
सुरामण्डेऽल्पलवणं पिबेत्प्रसृतसम्मितम् ॥ ३१ ॥
भार्गीशुण्ठ्यौ सुखाम्भोभिः क्षारं वा मरिचान्वितम् ।
स्वक्काथपिष्टां लुलितां बाष्पिकां पाययेत वा ॥ ३२ ॥
स्वरसः सप्तपर्णस्य पुष्पाणां वा शिरीषतः ।
हिध्माश्वासे मधुकणायुक्तः पित्तकफानुगे ॥ ३३ ॥
उत्कारिका तुगाकृष्णामधूलीघृतनागरैः ।
पित्तानुबन्धे योक्तव्या, पवने त्वनुबन्धिनि ॥ ३४ ॥
श्वाविच्छशामिषकणाघृतशल्यकशोणितैः ।
सुवर्चलारसव्योषसर्पिर्भिः साधितं पयः ॥ ३५ ॥
अनु शाल्योदनं पेयं वातपित्तानुबन्धिनि ।
चतुर्गुणाम्बुसिद्धं वा छागं सगुडनागरम् ॥ ३६ ॥
पिप्पलीमूलमधुकगुडगोऽश्वशकृद्रसान् ।
हिध्माभिष्यन्दकासघ्नान् लिह्यान्मधुघृतान्वितान् ।

पाठा, मूर्वा, देवदारु और सरल काष्ठ को सुरामण्ड में रात भर रखकर थोड़ा सा नमक मिलाकर दो पल मात्र पिये। भार्गी और सोंठ को गरम पानी से पिये। यवक्षार और मरिच चूर्ण को गरम पानी से पिये। हिंगुपत्री को इसी के क्काथ से कल्क बनाकर इसी के काथ में घोल कर पिये।

पित्त-कफमिश्रित हिक्का-श्वास में सतवन के पत्तों का स्वरस अथवा शिरीष के फूलों का स्वरस, मधु और पिप्पली के साथ देवे। पित्त का अनुबन्ध होने पर वंशलोचन, पिप्पली, मधूली (सौंफ या गेहूँ भेद), घी और सोंठ से बनाई उत्कारिका देवे। वायु का अनुबन्ध होने पर सेह और खरगोश का मांस तथा पिप्पली, घी और सेह के रक्त से बनाई उत्कारिका देवे। वात-पित्त का अनुबन्ध होने पर सुवर्चला (हुलहुल) के रस, त्रिकटु और हींग से सिद्ध दूध को शालिभात खाकर पीछे से पिये अथवा बकरी के दूध को चौगुने पानी में सिद्ध करके गुड़ और सोंठ के साथ पिये।

पिप्पलीमूल, मुलहठी, गुड़, गाय और घोड़े के मल का रस मधु और घृत के साथ चाटे। यह हिक्का, अभिष्यन्द और कास का नाशक है ॥ ३१-३७ ॥

कफाधिक्यादि में औषध—

गोगजाश्ववराहोष्ट्रखरमेषाजविड्रसम् ।
ससेष्वेकैकशो लिह्याद्बहुश्लेष्माऽथवा पिबेत् ॥ ३८ ॥
चतुष्पाच्चर्मरोमास्थिखुरशृङ्गोद्भवां मषीम् ।
तथैव वाजिगन्धाया लिह्याच्छ्वासी कफोल्बणः ॥ ३९ ॥
शटीपौष्करधात्रीर्वा पौष्करं वा कणान्वितम् ।
गैरिकाञ्जनकृष्णा वा स्वरसं वा कपित्थजम् ॥ ४० ॥
रसेन वा कपित्थस्य धात्रीसैन्धवपिप्पलीः ।
घृतक्षौद्रेण वा पथ्याविडङ्गोषणपिप्पलीः ॥ ४१ ॥
कोललाजामलद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा ।
गुडतैलनिशाद्राक्षाकणारास्नोषणानि वा ॥ ४२ ॥
पिबेद्रसाम्बुमद्याम्लैर्लेहौषधरजांसि वा ।

बहुत कफ वाला व्यक्ति-गाय, हाथी, घोड़ा, सूअर, ऊंट, गधा, मेढ़ा, बिल्ली, इनमें से एक एक (किसी एक) के मल के रस को मधु के साथ चाटे या पिये। चौपाये-पशुओं की खाल, रोम, अस्थि, खुर या सींग की राख तथा असगन्ध की राख को मधु के साथ कफप्रधान रोगी पिये। अथवा शटी, पुष्करमूल और आंवले को या पुष्करमूल और पिप्पली को मधु के साथ या कैथ के स्वरस को मधु के साथ चाटे। अथवा कैथ के रस के साथ आँवला, सैन्धव और पिप्पली को खाये। घी और मधु से हरड़, विडंग, मरिच और पिप्पली को खाये। बेर, लाजा, आंवला, द्राक्षा, पिप्पली, सोंठ अथवा गुड़, तैल, हल्दी, द्राक्षा, पिप्पली, रास्ना और मरिच को पूर्व की भाँति चाटे। अगस्त्यादि लेहों की ओषधियों के चूर्ण को मांसरस, जल या मद्य के साथ पिये ॥ ३८-४२ ॥

जीवन्त्यादि चूर्ण—

जीवन्तीमुस्तसुरसत्वगेलाद्वयपौष्करम् ॥ ४३ ॥
चण्डातामलकीलोहभार्गीनागरबालकम् ।
कर्कटाख्याशटीकृष्णानागकेसरचोरकम् ॥ ४४ ॥
उपयुक्तं यथाकामं चूर्णं द्विगुणशर्करम् ।
पार्श्वरुग्ज्वरकासघ्नं हिध्माश्वासहरं परम् ॥ ४५ ॥

जीवन्ती, मुस्ता, तुलसी, दालचीनी, इलायची, बड़ी इलायची, पुष्करमूल, चण्डा, भूईं आंवला, अगर, भार्गी, सोंठ, खस, कर्कटश्रृङ्गी, कचूर, पिप्पली, नागकेसर और चोरक का चूर्ण दुगुनी शर्करा के साथ पार्श्वशूल, ज्वर और कास में इच्छानुसार आहार, पान, लेप आदि में बरतने पर उत्तम हिक्काश्वास-नाशक है ॥ ४३-४५ ॥

शट्यादि चूर्ण—

शटीतामलकीभार्गीचण्डाबालकपौष्करम् ।
शर्कराष्टगुणं चूर्णं हिध्माश्वासहरं परम् ॥ ४६ ॥

कचूर, भुईं आंवला, भार्गी, चण्डा, नेत्रवाला, पुष्करमूल,

इनके चूर्ण में अठगुनी शर्करा मिलाये। यह उत्तम हिक्का-श्वासनाशक है ॥ ४६ ॥

अन्य चूर्ण तथा नस्य—

तुल्यं गुडं नागरं च भक्षयेन्नावयेत वा ।

गुड और सोंठ को समान मात्रा में मिलाकर खाये अथवा नस्य लेवे ।

लशुनादि नस्य—

लशुनस्य पलाण्डोर्वा मूलं गृञ्जनकस्य वा ॥ ४७ ॥
चन्दनाद्वा रसं दद्यान्नारीक्षीरेण नावनम् ।
स्तन्येन माक्षिकाविष्ठामलक्तकरसेन वा ॥ ४८ ॥
ससैन्धवं घृताच्छं वा, सिद्धं स्तन्येन वा घृतम् ।
कल्कितैर्मधुरद्रव्यैस्तत्पिबेन्नावयेत वा ॥ ४९ ॥
सकृदुष्णं सकृच्छीतं व्यत्यासात् ससितामधु ।
तद्वत्पयस्तथा सिद्धमधोभागौषधैर्घृतम् ॥ ५० ॥
कणासौवर्चलक्षारवयस्थाहिङ्गुचोरकैः ।
सकायस्थैर्घृतं मस्तुदशमूलरसे पचेत् ॥ ५१ ॥
तत्पियेज्जीवनीयैर्वा लिह्यात्समधु साधितम् ।

नस्य—लहसुन का या प्याज का, अथवा गृञ्जन (शलजम या गाजर) के मूल का या चन्दन के रस का नस्य स्त्री के दूध के साथ देना चाहिये। मक्खी की विष्ठा को स्त्रीदूध के साथ या महावर (आलता) के रस से नस्य देवे। सैन्धव को घृत-मण्ड के साथ नस्य देवे। स्त्री के दूध के साथ सिद्ध घृत का नस्य देवे। जीवन्त्यादि मधुर द्रव्यों के कल्क से सिद्ध घृत का पान और नस्य में व्यवहार करे। पहले उष्ण, फिर शीत, फिर उष्ण और फिर शीत इस प्रकार अदल-बदल कर चीनी और मधु मिलाकर घी का नस्य देवे। (जब गरम हो तो इसमें शर्करा (चीनी) मिलाये, शीतल हो तब इसमें मधु मिलाये।) इस प्रकार जीवन्त्यादि द्रव्यों से सिद्ध दूध का अदल-बदल कर शीत तथा उष्ण नस्य देवे। श्यामा आदि विरेचक द्रव्यों से सिद्ध घृत का नस्य देवे।

पिप्पली, सौवर्चल, यवक्षार, आंवला, हींग, चोरक और हरड़ के कल्क से मस्तु एवं दशमूल में सिद्ध घृत पिये। इसी प्रकार जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध घृत को मधु के साथ चाटें।

तेजोवत्यादि घृत—

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी ॥ ५२ ॥
भूतीकं पौष्करं मूलं पलाशश्चित्रकः शटी ।
पटुद्वयं तामलकी जीवन्ती बिल्वपेशिका ॥ ५३ ॥
वचा पत्रं च तालीसं कर्षांशैस्तैर्विपाचयेत् ।
हिङ्गुपादैर्घृतप्रस्थं पीतमाशु निहन्ति तत् ॥ ५४ ॥
शाखानिलार्शोग्रहणीहिध्माहृत्पार्श्ववेदनाः ।

तेजबल, हरड़, कूठ, पिप्पली, कुटकी, अजवायन, पुष्करमूल, ढाक, चित्रक, कचूर, सैन्धव, संचल, भूई आंवला, जीवन्ती, बिल्वमज्जा, बच, तेजपात, तालीश, प्रत्येक एक कर्ष तथा हींग चौथाई कर्ष लेकर इनसे घृत सिद्ध करे। यह घृत पीने पर शाखावात (हाथ-पैर की वायु), अर्श, ग्रहणी, हिक्का, हृदयवेदना और पार्श्ववेदना को दूर करता है।

अन्यान्य घृतपान—

अर्धांशेन पिबेत्सर्पिः क्षारेण पटुनाऽथवा ॥ ५५ ॥
धान्वन्तरं वृषघृतं दाधिकं हपुषादि वा ।

घृत से आधा यवक्षार या सैन्धव नमक मिलाकर पिये। प्रमेहोक्त धान्वन्तर घृत, रक्तपित्तोक्त वृष घृत, गुल्मोक्त दाधिक घृत तथा हपुषादि घृत पिये। [संग्रह में—'सैन्धवार्धांशसंयुक्तं पुराणं पाययेद् घृतम् ॥' कहा है ॥ ५५ ॥

शीतल जल से परिषेकादि—

शीताम्बुसेकः सहसा त्रासविक्षेपभीशुचः ॥ ५६ ॥
हर्षेर्ष्योच्छ्वासरोधाश्च हितं कीटैश्च दंशनम् ।

चित्तक्षोभणौषध—ठण्डे पानी से परिषेक, एकदम से डराना, विक्षोभित करना, भय दिखाना, शोक उत्पन्न करना, हर्ष, ईर्ष्या उत्पन्न करना, उच्छ्वास का रोकना (श्वासावरोध), चींटी आदि से कटवाना (वायु के वेग को रोकने के लिये) उत्तम है। [त्रासः—चित्तस्योद्वेगकृत्कर्म; भीः—भयम्] ॥ ५६ ॥

हिध्मा तथा श्वास की सामान्य चिकित्सा—

यत्किञ्चित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम् ॥ ५७ ॥
तत्सेव्यं प्रायशो यच्च सुतरां मारुतापहम् ।

जो भी कोई आहार-विहार, औषध कफ-वातनाशक, उष्ण एवं वायु का अनुलोमन करने वाली हो, उसका प्रायः करके सेवन करना चाहिये। वायुनाशक औषध-आहार-विहार का सब अवस्थाओं में सेवन करना चाहिये ॥ ५७ ॥

वक्तव्य—श्वास, हिक्का में कफ और वायु की चिकित्सा कर्त्तव्य होती है। इसमें वायु की चिकित्सा मुख्य है। इस लिये वायुनाशक चिकित्सा सब अवस्थाओं में विधेय है किन्तु वह कफवर्धक न हो। 'वातकृद्वा कफहरं कफकृद्वाऽनिलापहम्। कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम् ॥' (संग्रह अ. ६ ।)

उक्त रोगों के शमन में कारण—

सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत् ॥ ५८ ॥
नात्यर्थं शमनेऽपायो भृशोऽशक्यश्च कर्षणे ।
शमनैर्बृंहणैश्चातो भूयिष्ठं तानुपाचरेत् ॥ ५९ ॥

सब हिक्का-श्वास रोगियों में बृंहण विधि करने पर यदि कभी कोई अपाय (उपद्रव = रोग का बढ़ना या दूसरे रोग का उत्पन्न होना) हो जाये तो वह प्रायः करके थोड़ा होता है, एवं सुखसाध्य होता है। इनकी यदि शमन चिकित्सा (जो औषध न बृंहण करे और न कर्षण करे) की जाये तो बहुत अधिक अपाय नहीं होता। परन्तु हिक्का-श्वास रोगी का कर्षण करने से यदि अपाय हो जाये, तब वह असाध्य होता है। इस कारण से हिक्का-श्वास रोगियों की चिकित्सा प्रायः शमन एवं बृंहण उपायों से ही करनी चाहिये। [भूयिष्ठ शब्द से कभी कर्षण से भी चिकित्सा करे—हेमाद्रि]।

कासादि पांच रोगों की चिकित्सा—

कासश्वासक्षयच्छर्दिहिध्माश्चान्योऽन्यभेषजैः ॥५९॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने
श्वासहिध्माचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः। ४॥

कास, श्वास, क्षय, छर्दि और हिक्का में परस्पर एक दूसरे की औषधियों से चिकित्सा करे ॥ ५९ ॥

वक्तव्य कुछ प्रसिद्ध योग—'गुडं कटुकतैलेन मिश्रयित्वा समं लिहेत्। त्रिसप्ताहप्रयोगेण श्वासं निर्मूलतो जयेत् ॥'

शृंग्यादि चूर्ण (बच्चों के श्वास हाँफने में), भार्गीगुड, महाश्वासारिलौह, पिप्पल्यादि लौह, श्वासकुठाररस, श्वासभैरवरस, श्वासचिन्तामणि। बृहत्चन्दनादितैल मालिश के लिये।

'मधुकं मधुसंयुक्तं पिप्पली शर्करान्विता।
नागरं गुडसंयुक्तं हिक्काघ्नं नावनत्रयम् ॥'

रोग आक्रमण के समय—

'हरिद्रां मरिचं द्राक्षां गुडं रास्नां कणां शटीम्।
जह्यात् तैलेन विलिहन् श्वासान् प्राणहरानपि ॥'

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सतस्थान का श्वासहिध्माचिकित्सित नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो राजयक्ष्मादिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे राजयक्ष्मादिचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

यक्ष्मारोगी में शोधन कर्म—

बलिनो बहुदोषस्य स्निग्धस्विन्नस्य शोधनम्।
ऊर्ध्वाधो यक्ष्मिणः कुर्यात्सस्नेहं यन्न कर्शनम् ॥ १ ॥

यक्ष्मा का रोगी बलवान् एवं बहुत दोष वाला हो तो उसका स्नेहन और शोधन करके ईषत् स्नेह युक्त एवं कृश न करनेवाला शोधन (वमन, विरेचन औषध) देवे।

वमन की विधि—

पयसा फलयुक्तेन मधुरेण रसेन वा।
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा वमनद्रव्यसिद्धया ॥ २ ॥
वमेत् —

यक्ष्मा रोगी, मैनफल को दूध में मिलाकर या मधुरगण के क्वाथ से अथवा मांसरस के साथ पिये। अथवा मदनफल आदि वामक द्रव्यों से सिद्ध यवागू में घी मिलाकर पीकर वमन करे।

विरेचन की विधि—

—विरेचनं दद्यात्त्रिवृच्छ्यामानृपद्रुमान्।
शर्करामधुसर्पिर्भिः पयसा तर्पणेन वा ॥ ३ ॥
द्राक्षाविदारीकाश्मर्यमांसानां वा रसैर्युतान्।

निशोथ, काली निशोथ, अमलतास, इनमें से किसी एक को शर्करा, मधु और घृत से पिये। या निशोथ आदि को दूध अथवा सत्तू से पिये। अथवा द्राक्षा, विदारी, गम्भारी, इनके रसों से या मांसरस के साथ निशोथ आदि को विरेचन के लिए पिये ॥ ३ ॥

शुद्ध कोष्ठ रोगी को बृंहणादि द्रव्य—

शुद्धकोष्ठस्य युञ्जीत विधिं बृंहणदीपनम् ॥ ४ ॥
हृद्यानि चान्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च।

कोष्ठ का शोधन हो जाने पर बृंहण और दीपन चिकित्सा करे। हृदय या मन के लिए प्रिय, वात का नाश करने वाला एवं लघु खान-पान देवे ॥ ४ ॥

अन्न और दुग्धादि आहार—

शालिषष्टिकगोधूमयवमुद्गं समोषितम् ॥ ५ ॥
[लघु चाच्युतवीर्यं च सुजरं बलकृच्च यत्।]
आजं क्षीरं घृतं मांसं क्रव्यान्मांसं च शोषजित्।

शालिधान्य, साठी चावल, गेहूँ, जौ, मूँग, जो एक साल के पुराने हों, उन्हें देवे। (जो अन्न-पान लघु एवं जिसकी शक्ति नष्ट न हुई हो, जल्दी पचने वाला और बलकारक हो, उसे, देवे।) बकरी का दूध, घी, मांस तथा मांस खाने वालों का मांस, शोषनाशक है ॥ ५ ॥

काकादि का निकृष्ट मांस पथ्य—

काकोलूकवृकद्वीपिगवाश्वनकुलोरगम् ॥ ६ ॥
गृध्रभासखरोष्ट्रं च हितं छद्मोपसंहितम्।
ज्ञातं जुगुप्सितं तद्धि छर्दिषे न बलौजसे ॥ ७ ॥

कौआ, उल्लू, भेड़िया, चीता, गाय, घोड़ा, नेवला, साँप, गीध, भास, गधा और ऊँट, इनके मांस को धोखे से (दूसरे नाम से) देवे। क्योंकि पता लगने पर घृणा हो जाने से वमन हो जायगा और इनसे बल एवं शक्ति नहीं बढ़ेगी ॥ ६-७ ॥

पित्त-कफ आदि में मृगादि का मांस—

मृगाद्याः पित्तकफयोः पवने प्रसहादयः।
वेसवारीकृताः पथ्या रसादिषु च कल्पिताः ॥ ८ ॥
भृष्टाः सर्षपतैलेन सर्पिषा वा यथायथम्।
रसका मृदवः स्निग्धाः पटुद्रव्याभिसंस्कृताः ॥ ९ ॥
हिता मौलककौलत्थास्तद्वद्यूषाश्च साधिताः।

पित्त-कफ में मृग आदि (मृग, विष्किर, प्रतुद, बिलेशय) देवे। वायु की अधिकता में प्रसह, महामृग, जलचर-मछली आदि देवे। इनके मांस को पीसकर (वेशवार) देना उत्तम है, अथवा मांसरस आदि बनाकर देवे। इनको (देश-काल के अनुसार) सरसों के तेल में या घी में भूनकर देवे। कोमल, स्निग्ध, नमक, आर्द्रक आदि संस्कार वाले द्रव्यों से संस्कृत प्रशस्त मांसरस उत्तम है। इसी प्रकार मूली एवं कुलथी के यूष नमक आदि से संस्कृत करके देना उत्तम है।

वक्तव्य—पित्त में घी से, कफ और वात में सरसों के तैल से भूने, (हेमाद्रि)।

पीनसादि में सिद्ध मांसरस पथ्य—

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम् ॥ १० ॥
सदाडिमं सामलकं स्निग्धमाजं रसं पिबेत्।
तेन षड् विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः ॥ ११ ॥

बकरे के मांसरस को पिप्पली, जौ, कुलथी, सोंठ, अनारदाना और आंवले के साथ घी से स्निग्ध करके पिये। इस प्रकार मांसरस पीने से पीनस, श्वास, कास, अंसशूल, शिरःशूल तथा स्वरसाद-ये छः रोग नष्ट हो जाते हैं ॥१०-११॥

वक्तव्य—मांसपाकविधि—'द्रव्यतो द्विगुणं मांसं सर्वतोऽष्टगुणं जलम्। पादस्थं संस्कृतं चाज्ये षड्गो यूष उच्यते॥' सिद्धयोगसंग्रह।

स्रोतःशोधनार्थ जीर्णमद्यपानादि—

पिबेच्च सुतरां मद्यं जीर्णं स्रोतोविशोधनम्।
पित्तादिषु विशेषेण मध्वरिष्टाच्छवारुणीः ॥ १२ ॥
सिद्धं वा पञ्चमूलेन तामलक्याऽथवा जलम्।
पर्णिनीभिश्चतसृभिर्धान्यनागरकेण वा ॥ १३ ॥
कल्पयेच्चानुकूलोऽस्य तेनान्नं शुचि यत्नवान्।

अतिशय पुरातन मद्य स्रोतों के शोधन के लिए विशेष रूप में पिये। विशेष कर पित्त में मधु (मद्य प्रकार) को, कफ में अरिष्ट को और वायु में निर्मल वारुणी को पिये। अथवा लघुपञ्चमूल से सिद्ध या भूई आंवले से सिद्ध जल को पिये। अथवा शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी, मूंगपर्णी, धनिया और सोंठ से सिद्ध जल पिये। इस यक्ष्मा रोगी के अनुकूल अन्न को पञ्चमूल आदि के क्वाथ से शुद्धतापूर्वक प्रयत्न से परिचारक बनाये ॥ १२-१३ ॥

वक्तव्य—मांस और मद्य का आपस में मेल है। मांस को पचाने के लिए उत्तम है। मांस और मद्य साथ में रहते हैं। यक्ष्मा रोगी को जब मांस देना है तो मद्य भी जरूरी है। मधु शब्द से मधु-शहद नहीं; परन्तु मधु एक मद्य विशेष का नाम है, इसमें मधु की प्रधानता रहती है, जिसे मध्वासव कहते हैं, हेमाद्रि ने मधु का अर्थ माद्वीक किया है। शुद्धतापूर्वक बनाने का अभिप्राय यह है कि इस रोग के कारण रोगी सब अवस्थाओं में दोष देखने लगता है; स्वच्छ निर्मल पात्रों में, खान-पानों में भी उसे बाल आदि का भ्रम पड़ता है। वह शुद्धता चाहता है।

राजयक्ष्मा में सिद्ध घृत का पान—

दशमूलेन पयसा सिद्धं मांसरसेन वा ॥ १४ ॥
बलागर्भं घृतं योज्यं क्रव्यान्मांसरसेन वा।
सक्षौद्रं पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा ॥ १५ ॥

दशमूल और दूध से या मांसरस से अथवा मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के मांसरस से बला का कल्क मिलाकर सिद्ध किया घृत मधु के साथ पिये अथवा दसगुणे दूध और बलाकल्क से सिद्ध घृत को मधु के साथ पिये ॥१४-१५॥

राजयक्ष्मा में जीवन्त्यादि घृत—

जीवन्तीं मधुकं द्राक्षां फलानि कुटजस्य च।
पुष्कराह्वं शटीं कृष्णां व्याघ्रीं गोक्षुरकं बलाम् ॥१६॥
नीलोत्पलं तामलकीं त्रायमाणां दुरालभाम्।
कल्कीकृत्य घृतं पक्वं रोगराजहरं परम् ॥ १७ ॥

जीवन्त्यादि घृत—जीवन्ती, मुलहठी, द्राक्षा, इन्द्रजौ-पुष्करमूल, कचूर, पिप्पली, कटेरी, गोखरू, बला, नील कमल, भूई आंवला, त्रायमाण और धमासा के कल्क से चौगुने जल में सिद्ध घृत यक्ष्मा रोगनाशक है ॥ १६-१७ ॥

घृतं खर्जूरमृद्वीकामधुकैः सपरूषकैः।
सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासज्वरापहम् ॥ १८ ॥

खजूर, द्राक्षा, मुलहठी और फालसा के कल्क से चौगुने जल में सिद्ध घृत पिप्पलीचूर्ण के साथ लेने पर स्वरभङ्ग, कास, श्वास और ज्वर का नाशक है ॥ १८ ॥

दशमूलशृतात् क्षीरात् सर्पिर्यदुदियान्नवम्।
सपिप्पलीकं सक्षौद्रं तत्परं स्वरबोधनम् ॥ १९ ॥
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासज्वरापहम्।
पञ्चभिः पञ्चमूलैर्वा शृताद्यदुदियाद् घृतम् ॥ २० ॥

दशमूल से सिद्ध किये दूध से निकाला हुआ ताजा मक्खन पिप्पली और मधु के साथ लेना स्वर को खोलने में उत्तम है, तथा शिर, पार्श्व और अंस के शूल को नष्ट करता है। कास, श्वास, ज्वर का नाशक है। अथवा पांच-पंचमूलों से सिद्ध किये दूध से निकाला मक्खन भी यही गुण करता है। ['नवं प्रत्यहम्' हेमाद्रिः] ॥ १९-२० ॥

पञ्चानां पञ्चमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे।
सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद्यक्ष्मणः सप्तकं बलम् ॥ २१ ॥

पांचों पञ्चमूल के क्वाथ के साथ चारगुना दूध मिलाकर सिद्ध किया घृत यक्ष्मारोग के सात उपद्रवों के बल को शान्त कर देता है ॥ २१ ॥

वक्तव्य—हेमाद्रि के मत से क्वाथ और दूध मिलित चारगुना। सात उपद्रव-पीनस आदि।

स्रोतःशोधक तथा गुल्मादिहर षट्पल घृत—

पञ्चकोलयवक्षारषट्पलेन पचेद् घृतम्।
प्रस्थोन्मितं तुल्यपयःस्रोतसां तद्विशोधनम् ॥ २२ ॥
गुल्मज्वरोदरप्लीहग्रहणीपाण्डुपीनसान्।
श्वासकासाग्निसदनश्वयथूर्ध्वानिलाञ्जयेत् ॥ २३ ॥

षट्पलघृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, यवक्षार प्रत्येक एक पल; घृत एक प्रस्थ; दूध एक प्रस्थ लेकर घृतपाक करे। यह घृत स्रोतों का शोधक है एवं गुल्म, ज्वर, उदर, प्लीहा, ग्रहणी, पाण्डु, पीनस, कास, अग्निमान्द्य, श्वयथु और ऊर्ध्ववात को शान्त करता है ॥ २२-२३ ॥

वक्तव्य—घृत से चौगुना पानी मिलाना चाहिये। जल के बिना पूर्ण रस नहीं आता।

रास्नादि घृत—

रास्नाबलागोक्षुरकस्थिरावर्षाभुवारिणि ।
जीवन्तीपिप्पलीगर्भं सक्षीरं शोषजिद् घृतम् ॥२४॥

रास्ना; बला, गोखरू, शालपर्णी और पुनर्नवा के क्वाथ में जीवन्ती और पिप्पली का कल्क मिलाकर दूध के साथ सिद्ध किया घृत शोषनाशक है ॥ २४ ॥

अश्वगन्धादि घृत—

अश्वगन्धाश्रृतात् क्षीराद् घृतं च ससितापयः ।

अश्वगन्धा से सिद्ध किये दूध से निकाले घी को शर्करा और दूध के साथ पिये, यह शोषनाशक है ।

यक्ष्मादिहर-मांससिद्ध घृत—

साधारणामिषतुलां तोयद्रोणद्वये पचेत् ॥ २५ ॥
तेनाष्टभागशेषेण जीवनीयैः पलोन्मितैः ।
साधयेत्सर्पिषः प्रस्थं वातपित्तामयापहम् ॥ २६ ॥
मांससर्पिरिदं पीतं युक्तं मांसरसेन वा ।
कासश्वासस्वरभ्रंशशोषहृत्पार्श्वशूलजित् ॥ २७ ॥

साधारण (प्रसह-बिलेशय) जीवों के मांस की एक तुला (एक सौ पल) दो द्रोण जल में पकाये । इसका आठवां भाग शेष रहने पर इसको छानकर इसमें जीवनीय-गण की औषधियां एक-एक पल लेकर एक प्रस्थ घृत सिद्ध करे । यह घृत वात-पित्त रोगनाशक है । यह मांसघृत अकेला पीने पर या मांसरस के साथ मिलाकर पीने पर कास, श्वास, स्वरभंग, शोष, हृदयशूल और पार्श्वशूल का नाशक है ॥ २५-२७ ॥

एलादि घृत—

एलाऽजमोदात्रिफलासौराष्ट्रीव्योषचित्रकान् ।
सारानरिष्टगायत्रीशालबीजकसम्भवान् ॥ २८ ॥
भल्लातकं विडङ्गं च पृथगष्टपलोन्मितम् ।
सलिले षोडशगुणे षोडशांशस्थितं पचेत् ॥ २९ ॥
पुनस्तेन घृतप्रस्थं सिद्धे चास्मिन्पलानि षट् ।
तवक्षीर्याः क्षिपेत्त्रिंशत्सिताया द्विगुणं मधु ॥ ३० ॥
घृतात्त्रिजातात्त्रिपलं ततो लीढं खजाहतम् ।
पयोऽनुपानं तत्प्राह्णे रसायनमयन्त्रणम् ॥ ३१ ॥
मेध्यं चक्षुष्यमायुष्यं दीपनं हन्ति चाचिरात् ।
मेहगुल्मक्षयव्याधिपाण्डुरोगभगन्दरान् ॥ ३२ ॥

छोटी इलायची, अजवायन, त्रिफला, सौराष्ट्री, त्रिकटु, चित्रक, नीम, खैर, साल, असन इनका सार भाग (मध्यभाग), भिलावा, विडंग प्रत्येक आठ पल लेकर सोलहगुने जल में क्वाथ करे । सोलहवाँ भाग रहने पर छानकर इससे फिर एक प्रस्थ घृत सिद्ध करे । घृत सिद्ध होने पर इसमें वंशलोचन छः पल; चीनी तीस पल, मधु घी का दूना अर्थात् दो प्रस्थ, दालचीनी, इलायची, तेजपात, ये तीन पल मिलाकर मन्थन दण्ड से मिलावे । पूर्वाह्न में इसको दूध के अनुपान से चाटे । यह रसायन बिना परहेज का है । यह रसायन मेधावर्धक, चक्षुष्य, आयुर्वर्धक, अग्निदीपक है । शीघ्र ही प्रमेह, गुल्म, क्षयरोग, पाण्डुरोग, भगन्दर को नष्ट करता है । [कोई-कोई मधु साठ पल मिलाते हैं] ॥ २८-३२ ॥

अन्य प्रयोग—

ये च सर्पिर्गुडाः प्रोक्ताः क्षते योज्याः क्षयेऽपि ते ।

क्षतकास में जो सर्पिर्गुड कहे हैं, वे भी क्षयरोग में बरतने चाहिये ।

त्वगेलादि चूर्ण—

त्वगेलापिप्पलीक्षीरीशर्करा द्विगुणाः क्रमात् ॥ ३३ ॥
चूर्णिता भक्षिताः क्षौद्रसर्पिषा वाऽवलेहिताः ।
स्वर्याः कासक्षयश्वासपार्श्वरुक्कफनाशनाः ॥ ३४ ॥

दालचीनी एक भाग; इलायची दो भाग; पिप्पली चार भाग, वंशलोचन आठ भाग का चूर्णकर चीनी सोलह भाग मिलावे । यह चूर्ण मधु और घी के साथ खाने से या चाटने से स्वर के लिये हितकारी; कास, क्षय, श्वास, पार्श्वशूल और कफ का नाशक है ॥ ३३-३४ ॥

व्यावहारिक—यही सितोपलादि चूर्ण के नाम से प्रसिद्ध है । इलायची छोटी लेकर छिलके समेत कूटनी, छाननी चाहिये । इलायची हरी ताजी लेनी चाहिये । भूरे रंग की तेल निकली इलायची व्यर्थ है । वंशलोचन बाजार में बनावटी आता है । बनावटी वंशलोचन जीभ पर चिपकता है; शुद्ध वंशलोचन जीभ या ओठ पर नहीं चिपकता है ।

स्वरक्षीणता में नस्यादि—

विशेषात् स्वरसादेऽस्य नस्यधूमादि योजयेत् ।

क्षयरोगी को स्वरसाद होने पर इसमें विशेष करके नस्य, धूम आदि बरतने चाहिये ।

वातज स्वरक्षीणता की चिकित्सा—

तत्रापि वातजे कोष्णं पिबेदौत्तरभक्तिकम् ॥ ३५ ॥
कासमर्दकवार्ताकीमार्कवस्वरसैर्घृतम् ।
साधितं कासजित्स्वर्यं सिद्धमार्तगलेन वा ॥ ३६ ॥

इसमें भी वातजन्य स्वरसाद में गुनगुना कसौंदी, कटेरी, भांगरा, इनके स्वरस से सिद्ध किया घृत भोजन के उपरान्त पिये । यह घृत कासनाशक तथा स्वर के लिये उत्तम है । अथवा नील फूलवाली झिंटी से सिद्ध किया घृत देवे ।

बदरीपत्रकल्क प्रयोग—

बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम् ।

अथवा बेर के पत्तों के कल्क को घी में भूनकर सैन्धव के साथ खावे । [यह वृद्ध वैद्य सम्मत-प्रत्यक्ष फलप्रद है]।

वातिक स्वरभेद में—

तैलं वा मधुकद्राक्षापिप्पलीकृमिनुत्फलैः ॥ ३७ ॥
हंसपाद्याश्च मूलेन पक्वं नस्तो निषेचयेत् ।

मुलहठी. द्राक्षा, पिप्पली, वायविडंग, मैनफल और हंसराज की जड़ से सिद्ध किया तैल नस्य देवे ॥ ३७ ॥

अनुपान—

सुखोदकानुपानं च ससर्पिष्कं गुडौदनम् ॥ ३८ ॥
अश्नीयात्पायसं चैवं स्निग्धंस्वेदं नियोजयेत् ।

गुड के साथ बने भात को घी के साथ गरम पानी के अनुपान से खाये। खीर को घी के साथ गरम पानी के अनुपान से खाये। रोगी को स्निग्ध स्वेद देवे ॥ ३८ ॥

पित्तज स्वरक्षीणता में घृतादि का पान—

पित्तोद्भवे पिबेत्सर्पिः श्रृतशीतपयोऽनुपः ॥ ३९ ॥
क्षीरिवृक्षाङ्कुरक्वाथकल्कसिद्धं समाक्षिकम् ।
अश्नीयाच्च ससर्पिष्कं यष्टीमधुकपायसम् ॥ ४० ॥

पित्तजन्य स्वरसाद में बरगद आदि क्षीरिवृक्षों के अंकुरों के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घृत को मधु के साथ पकाकर शीतल किये दूध के अनुपान से पिये। मुलहठीमिश्रित खीर को घी के साथ खाये ॥ ३९-४० ॥

बलादिसिद्ध घृत—

बलाविदारिगन्धाभ्यां विदार्या मधुकेन च ।
सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्वर्यमनुत्तमम् ॥ ४१ ॥

बला, शालपर्णी, विदारी और मुलहठी से सिद्ध घृत को सैन्धव नमक के साथ देवे। यह उत्तम स्वर्य है ॥ ४१ ॥

प्रपौण्डरीकादिसिद्ध घृत का नस्य—

प्रपौण्डरीकं मधुकं पिप्पली बृहती बला।
साधितं क्षीरसर्पिश्च तत्स्वर्यं नावनं परम् ॥ ४२ ॥

प्रपौण्डरीक, मुलहठी, पिप्पली, बड़ी कटेरी, बला इनसे दूध में से निकाला घृत सिद्ध करे। यह घृत उत्तम नस्य है।

मधुरक चूर्ण—

लिह्यान्मधुरकाणां च चूर्णं मधुघृताप्लुतम् ।

मधुर रस द्रव्यों के चूर्ण को मधु और घृत में भली प्रकार मिलाकर चाटे।

कफज स्वरक्षय में कटुरस-पाकादि—

पिबेत्कटूनि मूत्रेण कफजे रूक्षभोजनः ॥ ४३ ॥
कट्फलामलकव्योषं लिह्यात्तैलमधुप्लुतम् ।
व्योषक्षाराग्निचविकाभार्गीपथ्यामधूनि वा ॥ ४४ ॥

कफजन्य स्वरसाद में कटु द्रव्यों को मूत्र से पिये। रूक्ष भोजन करे। कायफल, आंवला और त्रिकटु के चूर्ण को तैल, और मधु में मिलाकर चाटे। अथवा, त्रिकटु, यवक्षार, चित्रक, चविका, भार्गी और हरड़ के चूर्ण को मधु के साथ चाटे ॥४४॥

यवैर्यवागूं यमके कणाधात्रीकृतां पिबेत् ।
भुक्त्वाऽद्यात्पिप्पलीं शुण्ठीं तीक्ष्णं वा वमनं भजेत् ॥

जौ को घी और तैल में भूनकर पिप्पली और आंवले के क्वाथ से यवागू बनाकर पिये। तथा भोजन करके पीछे से पिप्पली और सोंठ को खाये। अथवा तीक्ष्ण वमन करे ॥४५॥

उच्च भाषणजन्य स्वरभेद की चिकित्सा—

शर्कराक्षौद्रमिश्राणि श्रृतानि मधुरैः सह
पिबेत्पयांसि यस्योच्चैर्वदतोऽभिहतः स्वरः ॥ ४६ ॥

ऊँचे (जोर से) बोलने पर जिसका स्वर बैठ गया हो, वह मधुर (जीवनीयगण की) औषधियों से पकाये दूध को शर्करा और मधु मिला कर पिये ॥ ४६ ॥

अरुचि की सामान्य चिकित्सा—

विचित्रमन्नमरुचौ हितैरुपहितं हितम् ।
बहिरन्तर्मृजा चित्तनिर्वाणं हृद्यमौषधम् ॥ ४७ ॥
द्वौ कालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनैः ।
कषायैः क्षालयेदास्यं धूमं प्रायोगिकं पिबेत् ॥ ४८ ॥
तालीसचूर्णवटकाः सकर्पूरसितोपलाः ।
शशाङ्ककिरणाख्याश्च भक्ष्या रुचिकराः परम् ॥४९॥

अरुचि में नाना प्रकार के अन्न को पथ्य आहारों से मिला कर देना हितकारी है। स्नान आदि से शरीर की बाह्य शुद्धि करे, वमनादि से अन्तःशुद्धि करे, चित्त को शान्तिप्रद और मन के अनुकूल औषध देवे। प्रातः-सायं दो काल दातौन करे। मुख का शोधन करने वाले कषायों से मुख को साफ करे। प्रायोगिक (स्नैहिक) धूम का पान करे। तालीस चूर्ण की वटिकायें, कपूर और मिश्री (मुलतानी या कालपी मिश्री) के साथ खाये। कर्पूर का सेवन करे। ये अतिशय रुचिकर हैं।

वक्तव्य—लवण (सैन्धव) और आर्द्रक को भोजन से पूर्व खाना चाहिए। (शशाङ्ककिरणाः-कर्पूरनलिकाः, इति हेमाद्रिः)।

वातज अरोचक की चिकित्सा—

वातादरोचके तत्र पिबेच्चूर्णं प्रसन्नया।
हरेणुकृष्णाकृमिजिद्द्राक्षासैन्धवनागरात् ॥ ५० ॥
पलाभार्गीयवक्षारहिङ्गुयुक्ताद् घृतेन वा।
छर्दयेद्वा वचाऽम्भोभिः—

वातजन्य अरोचक में, हरेणु, पिप्पली, वायबिडंग, द्राक्षा, सैन्धव, सोंठ इनके चूर्ण को प्रसन्ना मद्यके साथ पिये। अथवा एला, भार्गी, यवक्षार, हींग इनसे युक्त घी के साथ पिये। अथवा वचा के पानी (क्वाथ) से वमन करे ॥ ५० ॥

पित्तज अरोचक की चिकित्सा—

—पित्ताच्च गुडवारिभिः ॥ ५१ ॥
लिह्याद्वा शर्करासर्पिर्लवणोत्तममाक्षिकम् ।

पित्तजन्य अरोचकमें गुड़के पानी (के साथ मदनफलादि) से वमन करे। शर्करा, घी, सैन्धव तथा मधु को चाटे ॥५१॥

कफज अरोचक की चिकित्सा—

कफाद्वमेन्निम्बजलैर्दीप्यकारग्वधोदकम् ॥ ५२ ॥
पानं समध्वरिष्टाश्च तीक्ष्णाः समधुमाधवाः ।
पिबेच्चूर्णं च पूर्वोक्तं हरेण्वाद्युष्णवारिणा ॥ ५३ ॥

कफजन्य अरोचक में नीम के जल (क्वाथ या कल्क मिश्रित जल) से वमन करे। अजवायन तथा अमलतास के क्वाथ को मधु के साथ पिये। तीक्ष्ण अरिष्ट पिये मधु-मद्य तथा माधव-मद्य पिये। हरेणु आदि पूर्वोक्त चूर्ण को गरम पानी से पिये ॥ ५२-५३ ॥

प्रसेकादिनाशक एलादिचूर्ण—

एलात्वङ्नागकुसुमतीक्ष्णकृष्णामहौषधम् ।
भागवृद्धं क्रमाच्चूर्णं निहन्ति समशर्करम् ॥ ५४ ॥
प्रसेकारुचिहृत्पार्श्वकासश्वासगलामयान् ।

इलायची एक भाग, दालचीनी दो भाग, नागकेसर तीन भाग, मरिच चार भाग, पिप्पली पांच भाग और सोंठ छः भाग, इनके चूर्ण के बराबर शर्करा मिलाये। यह चूर्ण लालास्राव, अरुचि, हृदयरोग, पार्श्वरोग, कास, श्वास तथा गलरोगों को शीघ्र शान्त करता है ॥ ५४ ॥

विबन्धादिनाशक यवान्यादि चूर्ण—

यवानीतिन्तिडीकाम्लवेतसौषधदाडिमम् ॥ ५५ ॥
कृत्वा कोलं च कर्षांशं सितायाश्च चतुष्पलम् ।
धान्यसौवर्चलाजाजीवराङ्गं चार्धकार्षिकम् ॥ ५६ ॥
पिप्पलीनां शतं चैकं द्वे शते मरिचस्य च ।
चूर्णमेतत्परं रुच्यं हृद्यं ग्राहि, हिनस्ति च ॥ ५७ ॥
विबन्धकासहृत्पार्श्वप्लीहार्शोग्रहणीगदान् ।

पाडव-अजवायन, इमली, अम्लवेतस, सोंठ, अनारदाना और बेर प्रत्येक एक कर्ष, चीनी चार पल, धनिया, संचल, जीरा, दालचीनी प्रत्येक आधा कर्ष, पिप्पली एक सौ (गिनती में), मरिच दो सौ (गिनती), इनका चूर्ण अतिशय रुचिकारक, हृद्य तथा ग्राही है और यह विबन्ध, कास, हृदय रोग, पार्श्व, प्लीहा, अर्श और ग्रहणी को नष्ट करता है ॥ ५५-५७ ॥

वक्तव्य—'संख्या फलानां शतशोऽपला स्यात् ॥'

कासादिनाशक तालीसपत्रादि चूर्ण—

तालीसपत्रं मरिचं नागरं पिप्पली शुभा ॥ ५८ ॥
यथोत्तरं भागवृद्ध्या त्वगेले चार्धभागिके ।
तद्रुच्यं दीपनं चूर्णं कणाऽष्टगुणशर्करम् ॥ ५९ ॥
कासश्वासारुचिच्छर्दिप्लीहहृत्पार्श्वशूलनुत् ।
पाण्डुज्वरातिसारघ्नं मूढवातानुलोमनम् ॥ ६० ॥

तालीसपत्र, मरिच, सोंठ, पिप्पली, वंशलोचन ये क्रमशः बढ़ती हुई मात्रा में, दालचीनी और इलायची प्रत्येक आधा भाग और पिप्पली से अठगुनी शर्करा मिलाये। यह चूर्ण रुचिकारक एवं अग्निदीपक है। कास, श्वास, अरुचि, प्लीहा, हृदयशूल तथा पार्श्वशूल का नाशक है, पाण्डु, ज्वर, अतीसारनाशक, मूढ वायु का अनुलोम करता है ॥ ५८-६० ॥

वक्तव्य—शुभा को चक्रदत्त, इन्दु आदि टीकाकार पिप्पली का विशेषण मानते हैं और वंशलोचन इस योग में नहीं मिलाते। क्यों कि हारीत आदि में वंशलोचन का पाठ नहीं है। यथा—'तालीसं मरिचं शुण्ठी पिप्पल्योऽद्धांशकोत्तराः।' 'तालीसमरिचनागरकृष्णाः कर्षोत्तरास्त्वगेले च ॥' किन्तु पित्तयुक्त अरोचक में शुभा-वंशरोचना, लेना, पित्तयुक्ते भवेच्छ्रेष्ठं वंशरोचनयाऽन्वितम्।' संग्रह में भी प्रबलपित्त में शुभा से वंशलोचन ही लिया है; यथा—तालीसमरिचनागरमागधिकावंशलोचनाः क्रमशः। वृद्धास्त्वगेलार्द्धं कृष्णायाः सिता भवेदष्टगुणा ॥

मूढवातः—'यः कृच्छ्रप्रमेहयोर्द्वयोरप्यन्तरालं भजते, कदाचिन्मूत्रं विबध्यते कदाचिदतिवर्त्तते स मूढवातः।' यथा—प्रोस्टेट ग्रन्थि की वृद्धि में होता है।

प्रसेक में उपचार—

अर्कामृताक्षारजले शार्वरीमुषितैर्यवैः
प्रसेके कल्पितान् सक्तून् भक्ष्यांश्चाद्याद्बली वमेत् ॥
कटुतिक्तैस्तथा शूल्यं भक्षयेज्जाङ्गलं पलम् ।
शुष्कांश्च भक्ष्यान् सुलघूंश्चणकादिरसानुपः ॥ ६२ ॥

आक, गिलोय और यवक्षार के जल में जौ को रात भर पड़ा रहने देवे। इनसे बने सत्तुओं को और भक्ष्यों को लाला प्रसेक में खाये। रोगी बलवान हो तो कटु-तिक्त द्रव्यों से वमन करे। शूल्य (छड़ में लटकाकर आगपर सिके) जांगल मांस को, शुष्क भक्ष्यों को और अतिशय लघु भक्ष्यों को खाये। पीछे से चने आदि का रस-यूप पिये। [हेमाद्रि के अनुसार आक और गिलोय का क्षारविधि से बनाया जल लेवे] ॥ ६१-६२ ॥

कफप्रसेक का लक्षण तथा चिकित्सा—

श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यति ।
कफप्रसेकं तं विद्वान् स्निग्धोष्णैरेव निर्जयेत् ॥६३॥

कफ के अतिप्रसेक से (क्षीण हो जाने पर कुपित) वायु (क्षीण हुए) कफ को भी बलपूर्वक बाहर करती है। इसको स्निग्ध और उष्ण औषधि से ही विद्वान् शान्त करे, (रूक्ष और शीत से नहीं) ॥ ६३ ॥

वक्तव्य—कोष्ठान्तर्गत अर्थ हेमाद्रि के अनुसार है।

पीनस तथा वमन में भी उक्त चिकित्सा—

पीनसेऽपि क्रममिमं वमथौ च प्रयोजयेत् ।

कफप्रसेक की इस चिकित्सा को वमन और पीनस में भी बरते।

पीनस की विशेष चिकित्सा—

विशेषात् पीनसेऽभ्यङ्गान् स्नेहान् स्वेदांश्च शीलयेत् ॥
स्निग्धानुत्कारिकापिण्डैः शिरःपार्श्वगलादिषु ।
लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान् स्नेहोपसंहितान् ॥ ६५ ॥

विशेष करके पीनस में अभ्यंग, स्नेह और स्निग्ध स्वेद करे। शिर, पार्श्व, गले आदि पर उत्कारिका एवं पिण्डों से स्निग्ध स्वेद करे। लवण, अम्ल और कटु रसों को और स्नेहमिश्रित मांसरसों को खाये ॥ ६४-६५ ॥

शिर आदि के शूल में कर्तव्य—

शिरोऽसपार्श्वशूलेषु यथादोषविधिं चरेत् ।
औदकानूपपिशितैरुपनाहाः सुसंस्कृताः ॥ ६६ ॥
तत्रेष्टाः सचतुः स्नेहाः—

शिरःशूल, अंसशूल और पार्श्वशूल में दोष के अनुसार चिकित्सा करे। इनमें औदक तथा आनूप मांस की वसा, घृत, तैल और मज्जा चारों स्नेहों में मिलाकर तथा भली प्रकार संस्कृत करके इनसे उपनाह करना उत्तम है ॥ ६६ ॥

दोषसंसर्ग में लेपत्रय—

—दोषसंसर्ग इष्यते ।
प्रलेपो नतयष्ट्याह्वशताह्वाकुष्ठचन्दनैः ॥ ६७ ॥
बलारास्नातिलैस्तद्वत्ससर्पिर्मधुकोत्पलैः ।
पुनर्नवाकृष्णगन्धाबलावीराविदारिभिः ॥ ६८ ॥

दो दोषों का संसर्ग होने पर तगर, मुलहठी, सौंफ, कूठ, चन्दन इनसे या बला, रास्ना, घी, मुलहठी, कमल इनसे अथवा पुनर्नवा, सहजना, बला, शतावरी और विदारी इनसे लेप करे ॥ ६७-६८ ॥

नस्य तथा धूमपानादि का प्रयोग—

नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चौत्तरभक्तिकाः ।
तैलान्यभ्यङ्गयोगीनि वस्तिकर्म तथा परम् ॥ ६७ ॥

नावन (नस्य), धूमपान, भोजन के उपरान्त स्नेहपान, तैल जो अभ्यंग के योग्य हों और वस्तिकर्म; ये उत्तम हैं ॥

रक्तमोक्षणादि कार्य—

शृङ्गाद्यैर्वा यथादोषं दुष्टमेषां हरेदसृक् ।
प्रदेहः सघृतैः श्रेष्ठः पद्मकोशीरचन्दनैः ॥ ७० ॥
दूर्वामधुकमञ्जिष्ठाकेसरैर्वा घृताप्लुतैः ।
वटादिसिद्धतैलेन शतधौतेन सर्पिषा ॥ ७१ ॥
अभ्यङ्गः पयसा सेकः शस्तश्च मधुकाम्बुना ।

इन यक्ष्मारोगियों का रक्त वात, पित्त और कफ दोष के अनुसार सींग, जोंक और अलाबू से निकाले। पद्माख, खस और चन्दन को घी में मिलाकर प्रलेप करना श्रेष्ठ है। दूर्वा, मुलहठी, मजीठ और केसर को घी में मिलाकर लेप करे। न्यग्रोधादि गण से सिद्ध तैल से या शतधौत घृत से अभ्यंग करे। दूध से परिषेक करे या मुलहठी के क्वाथ से परिषेक उत्तम है। [केसर—कमलकेसर, हेमाद्रिः] ॥ ७०-७१ ॥

अतिसारादि में औषध—

प्रायेणोपहताग्नित्वात् सपिच्छमतिसार्यते ॥ ७२ ॥
तस्यातिसारग्रहणीविहितं हितमौषधम् ।

प्रायः करके अग्नि मन्द होने के कारण पिच्छामिश्रित (आमयुक्त, लिसलिसा, अपक्व) मल आता है। इस अवस्था में अतीसार और ग्रहणी में कही चिकित्सा करे ॥ ७२ ॥

यक्ष्मारोगी के मल की रक्षा—

पुरीषं यत्नतो रक्षेच्छुष्यतो राजयक्ष्मिणः ॥ ७३ ॥
सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ।

कृश होते हुए राजयक्ष्मा रोगी के मल की रक्षा विशेष यत्न से करनी चाहिये। सब धातुओं के क्षय से पीड़ित इस रोगी में मल का बल ही बल होता है। [मल के बल के सहारे ही रोगी ठहरता है] ॥ ७३ ॥

यक्ष्मा के प्रतिबन्धक उपाय—

मांसमेवाश्नतो युक्त्या मार्द्वीकं पिबतोऽनु च ॥७४॥
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम् ।
सुरां समण्डां मार्द्वीकमरिष्टान् सीधुमाधवान् ॥७५॥
यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन् ।
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलौजःपुष्टये च तत् ॥ ७६ ॥

देश-काल सात्म्य आदि युक्ति से मांस को खाकर पीछे से मार्द्वीक पीने से तथा उपस्थित वेगों को न रोकने से यक्ष्मा रोग को आक्रमण का अवसर ही नहीं मिलता। मांसों को खाता हुआ रोगी, मण्डयुक्त सुरा को, मार्द्वीक को, अरिष्टों को, सीधु को, माधवों (मधु से बने मद्यों) को योग्य अनुपान के लिये पिये। यह मद्यपान स्रोतों के विबन्ध को खोलने के लिए तथा बल-ओज की पुष्टि के लिये होता है।

यक्ष्मा में स्नानादि का नियम—

स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ।
उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैर्भूयोऽभ्यक्तं सुखैः करैः ॥ ७७ ॥
मृद्नीयात्सुखमासीनं सुखं चोद्वर्तयेत्परम् ।

भली प्रकार अभ्यंग कराके रोगी को स्नेह, दूध और जल से भरे पात्रों में बैठाये। इनमें से निकाल कर मिश्रक स्नेहों से सुखदायक हाथों द्वारा (धीरे-धीरे) फिर अभ्यंग करे। सुखपूर्वक बैठे हुए को मले। पीछे से सुखपूर्वक उद्वर्त्तन करे। [मिश्रक स्नेह-गुल्मोक्त द्र चि. अ. १४।८९, हेमाद्रि के मत से यमक-तैल और घी] ॥ ७७ ॥

पुष्टिकारक उबटन—

जीवन्तीं शतवीर्यां च विकसां सपुनर्नवाम् ॥ ७८ ॥
अश्वगन्धामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम् ।
विदारीं सर्षपान् कुष्ठं तण्डुलानतसीफलम् ॥ ७९ ॥
माषांस्तिलांश्च किण्वं च सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ।
यवचूर्णं त्रिगुणितं दध्ना युक्तं समाक्षिकम् ॥ ८० ॥
एतदुद्वर्तनं कार्यं पुष्टिवर्णबलप्रदम् ।

उद्वर्त्तन—जीवन्ती, शतावरी, मजीठ, पुनर्नवा, अश्वगन्धा, चिरचिटा, अग्निमन्थ, मुलहठी, खरैंटी, विदारी, सरसो, कूठ, चावलों की कणियां, अलसी, माष, तिल और किण्व (खमीर) को समान भाग लेकर चूर्ण करे। इसमें तिगुना जौ का चूर्ण मिलाये। फिर दही और मधु मिलाकर उद्वर्त्तन करे। यह उबटन पुष्टि, वर्ण और बल देता है ॥ ७८-८० ॥

स्नानयोग्य ओषधिजल—

गौरसर्षपकल्केन स्नानीयौषधिभिश्च सः ॥ ८१ ॥
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयोपसाधितैः ।

स्नान—श्वेत सरसो के कल्क से तथा स्नानीय औषधियों से ऋतु के अनुकूल सुख देने वाले द्रव्यों से स्नान करे। अथवा जीवनीयगण से सिद्ध किये पानी से स्नान करे ॥८१॥

वक्तव्य—स्नानीयद्रव्य–गन्ध द्रव्य, ओषधिभिः सहदेव्यादिभिः, अरुणदत्तः। ग्रहस्नानोक्तैर्द्रव्यैर्मन्त्रैश्चौषधिभिः संज्ञाभिः। हेमाद्रिः।

गन्धमाल्यादि का धारण हितकर—

गन्धमाल्यादिकां भूषामलक्ष्मीनाशनीं भजेत् ॥ ८२ ॥

चन्दन, केसर आदि सुगन्धि, फूल मालायें, शरीर के अलंकार, इनको अलक्ष्मी-दौर्भाग्य नाश के लिये धारण करे। [मन प्रसन्न रहे-मानसिक ग्लानि उत्पन्न न हो, इसलिये धारण करे] ॥ ८२ ॥

मित्रदर्शन आदि भी हितकर—

सुहृदां दर्शनं गीतवादित्रोत्सवसंश्रुतिः ।
वस्तयः क्षीरसर्पींषि मद्यमांससुशीलता ॥ ८३ ॥
दैवव्यपाश्रयं तत्तदथर्वोक्तं च पूजितम् ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने
यक्ष्मादिचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

* * *

मित्रों का दर्शन, गीत, बाजे तथा पुत्रजन्म-विवाह आदि उत्सवों का सुनना, बस्तियाँ, दूध, घी, मद्य, मांस का भली प्रकार अभ्यास; बलि, मङ्गल, होम, प्रायश्चित्त आदि दैवव्यपाश्रय चिकित्सा, अथर्ववेद-विहित यज्ञादिक कर्म इसमें प्रशस्त हैं ॥ ८३ ॥

वक्तव्य—'इष्ट्या यया च चन्द्रस्य राजयक्ष्मा पुरा जितः। पुरोहितः प्रयुञ्जीत वेदोक्तां तां जितात्मनः ॥ अजां वा पर्युपासीत षण्मासानुटजे वसन्। तत्पयोमूत्रविड्वृत्तिपरिषेकप्रधर्षणैः ॥ ताभिः परिवृतः स्वप्यात्तच्छकृद्रेणुसंस्तरे। एतद्रसायनं श्रेष्ठं रोगराजस्य नाशनम् ॥' (अ. सं. चि. ७)

राजयक्ष्मा में प्रसिद्ध शास्त्रीय प्रयोग—मृतसंजीवनी सुरा, प्रवालभस्म, अजापञ्चक घृत, बृहद्वासावलेह, च्यवनप्राश, सितोपलादि चूर्ण, भृङ्गारक रस, महामृगाङ्क, काञ्चनाभ्ररस, यक्ष्मारिलौह, सर्वाङ्गसुन्दर। 'यक्ष्मामयिनां स्वप्ने रेतसश्च च्युतिर्भवेत्। कस्तूरीप्रमुखं तत्र निशास्वेदोपशान्तये॥'

स्वरभंग में 'अजमोदां निशां धात्रीं क्षारं वह्निं विचूर्णयेत्। मधुसर्पिर्युतं लीढ्वा स्वरभेदमपोहति ॥ बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम्।' व्याघ्रीघृत, किन्नरकण्ठरस और निदिग्धिकालेह ॥

अरुचि में 'भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभोजनम्। रोचनं दीपनं वह्नेर्जिह्वाकण्ठविशोधनम् ॥ तिन्तिडिपानकञ्चापि रसालारसकेशरि।' भास्कर लवण, सैन्धवादि चूर्ण, लवंगाद्यमोदकं, रामबाणरस; अग्नितुण्डीरस, अजीर्णकण्टक रस, अग्निकुमार रस, शंखवटी, महाशंख वटी।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का राजयक्ष्मादिचिकित्सितनामक पाँचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

* * *

षष्ठोऽध्यायः

अथातश्छर्दिहृद्रोगतृष्णाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे छर्दि-हृद्रोग-तृष्णा-चिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वमन में प्रायः लङ्घन—

आमाशयोत्क्लेशभवाः प्रायश्छर्द्यो हितं ततः ।
लङ्घनं प्राग्ऋते वायोर्वमनं तत्र योजयेत् ॥ १ ॥
बलिनो बहुदोषस्य वमतः प्रततं बहु ।

आमाशय के उत्क्लेश (दोषों की उच्छूनावस्था या क्षोभ) के कारण ही प्रायः करके सभी छर्दियाँ (वमन) होती हैं इसलिए वातजनित छर्दि को छोड़ कर शेष में लंघन ही उत्तम है। (लंघन से वमन शान्त न हो तो) बलवान् एवं प्रचुर दोष वाले तथा निरन्तर एवं मात्रा में बहुत वमन करने वाले रोगी को वमन देवे ॥ १ ॥

वमन के बाद विरेचन—

ततो विरेकं क्रमशो हृद्यं मद्यैः फलाम्बुभिः ॥ २ ॥
क्षीरैर्वा सह स ह्यूर्ध्वं गतं दोषं नयत्यधः ।
शमनं चौषधं रूक्षदुर्बलस्य तदेव तु. ॥ ३ ॥

वमन के उपरान्त क्रमशः हृदय के लिए प्रिय, मद्य एवं द्राक्षा आदि फलों से मिलाकर अथवा दूध के साथ विरेचन दे। यह विरेचन ऊपर की ओर गये दोष को नीचे लाता है। साथ में शमन औषध भी देवे रूक्ष एवं निर्बल मनुष्य को तो शमन औषध ही देवे [वमन-विरेचन न देवे] ॥२-३॥

वमन में पथ्य—

परिशुष्कं प्रियं सात्म्यमन्नं लघु च शस्यते ।
उपवासस्तथा यूषा रसाः काम्बलिकाः खलाः ॥ ४ ॥
शाकानि लेहा भोज्यानि रागषाडवपानकाः ।
भक्ष्याः शुष्का विचित्राश्च फलानि स्नानघर्षणम् ॥५॥
गन्धाः सुगन्धयो गन्धफलपुष्पान्नपानजाः ।
भुक्तमात्रस्य सहसा मुखे शीताम्बुसेवनम् ॥ ६ ॥

सूखे प्रिय सात्म्य एवं लघु अन्न देना उत्तम है। उपवास, यूष, रस (मांसरस), काम्बलिक, खल (खड), शाक, लेह, भोज्य, राग, षाडव, पानक, शुष्क एवं विचित्र (नाना प्रकार के) भक्ष्य, फल, स्नान-चूर्णों से अङ्गों को मलना, गन्ध द्रव्य, सुगन्धियां, सुगन्धित फूल, फल और खान-पान उत्तम है। भोजन के उपरान्त तुरन्त ही मुख को शीतल जल से धोना उत्तम है ॥ ४-६ ॥

वातज वमन की चिकित्सा—

हन्ति मारुतजां छर्दिं सर्पिः पीतं ससैन्धवम् ।
किञ्चिदुष्णं विशेषेण सकासहृदयद्रवाम् ॥ ७ ॥
व्योषत्रिलवणाढ्यं वा सिद्धं वा दाडिमाम्बुना ।
सशुण्ठीदधिधान्येन शृतं तुल्याम्बु वा पयः ॥ ८ ॥

व्यक्तसैन्धवसर्पिर्वा फलाम्लो वैष्किरो रसः ।
स्निग्धं च भोजनं शुण्ठीदधिदाडिमसाधितम् ॥ ९ ॥
कोष्णं सलवणं चात्र हितं स्नेहविरेचनम् ।

वातजन्य छर्दि में विशेषतः कास तथा हृदयद्रव (हृदय में धड़कन) अधिक हो तो सैन्धवमिश्रित घृत को थोड़ा गरम करके पिये (चाटे नहीं), इससे वातजन्य छर्दि नष्ट होती है। अथवा सोंठ, मरिच, पीपल, सैन्धव, सौवर्चल और विड नमक को प्रचुर मात्रा में घी के साथ पिये। अनार का रस, सोंठ, दही और धान्याम्ल से सिद्ध घृत पिये। समान पानी या समान दूध में सिद्ध घृत पिये। अनार आदि फलों के रस से खट्टा कर विष्किर पक्षियों के मांसरस को तेज नमक और प्रचुर घृत के साथ पिये। सोंठ, दही और अनारदाने से सिद्ध स्निग्ध भोजन देवे। वातजन्य छर्दि में (एरण्डतैल आदि) स्नेह विरेचन को थोड़ा गरम करके ईषत् नमक मिलाकर लेना उत्तम है ॥ ७-९ ॥

पित्तज वमन की चिकित्सा—

पित्तजायां विरेकार्थं द्राक्षेक्षुस्वरसैस्त्रिवृत् ॥ १० ॥
सर्पिर्वा तैल्वकं योज्यं वृद्धं च श्लेष्मधामगम् ।
ऊर्ध्वमेव हरेत् पित्तं स्वादुतिक्तैर्विशुद्धिमान् ॥ ११ ॥
पिबेन्मन्थं यवागूं वा लाजैः समधुशर्कराम् ।
मुद्गजाङ्गलजैरद्याद्व्यञ्जनैः शालिषष्टिकम् ॥ १२ ॥
मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं सुशीतं सलिलं पिबेत् ।
मुद्गोशीरकणाधान्यैः सह वा संस्थितं निशाम् ॥ १३ ॥
द्राक्षारसं रसं वेक्षोर्गुडूच्यम्बु पयोऽपि वा ।
जम्ब्वाम्रपल्लवोशीरवटशुङ्गावरोहजः ॥ १४ ॥
क्वाथः क्षौद्रयुतः पीतः शीतो वा विनियच्छति ।
छर्दिं ज्वरमतीसारं मूर्च्छां तृष्णां च दुर्जयाम् ॥ १५ ॥
धात्रीरसेन वा शीतं पिबेन्मुद्गदलाम्बु वा ।
कोलमज्जसितालाजामक्षिकाविट्कणाऽञ्जनम् ॥ १६ ॥
लिह्यात्क्षौद्रेण पथ्यां वा द्राक्षां वा बदराणि वा ।

पित्तजन्य छर्दि में विरेचन के लिये त्रिवृत् को द्राक्षा या गन्ने के रस के साथ पिये। अथवा तैल्वक घृत देवे। पित्तजन्य छर्दि में बढ़े हुए पित्त को जो कफ स्थान (आमाशय) में पहुँचा हो, उसे ऊपर अर्थात् वमन से निकाले। वमन मधुर और तिक्त द्रव्यों से देवे। वमन-विरेचन से शुद्ध हुआ रोगी, लाजा से बने मन्थ या यवागू को मधु और शर्करा के साथ पिये। मूंग से या जांगल मांस से बने दाल-शाकों आदि व्यञ्जनों से शालि एवं साठी चावल खाये। मिट्टी के ढेले को गरम करके पानी में बुझाये, जब पानी ठंडा हो जाये तब उसको पिये। मूंग, खस, पिप्पली और धनिया को पानी में मिलाकर रातभर रखकर पानी को पिये। द्राक्षारस, या गन्ने का रस या गिलोय का पानी अथवा दूध पिये। जामुन और आम के कोमल पत्ते, खस और बरगद के कोमल अंकुर और वरोह का क्वाथ अथवा इनका शीत कषाय मधु के साथ पिये। यह वमन; ज्वर, अतीसार, मूर्च्छा और भयानक तृष्णा को भी नष्ट कर देता है। अथवा आँवले के रस के साथ चन्दन पिये। मूंग की दाल का पानी ठण्डा करके पिये। बेर की गुठली, शर्करा, लाजा, मक्खी की विष्ठा, पिप्पली या अंजन इनको मधु के साथ चाटे। हरड़ को या द्राक्षा को अथवा बेर को मधु से चाटे ॥ १०-१६ ॥

कफज वमन की चिकित्सा—

कफजायां वमेन्निम्बकृष्णापिण्डीतसर्षपैः ॥ १७ ॥
युक्तेन कोष्णतोयेन, दुर्बलं चोपवासयेत् ।
आरग्वधादिनिर्यूहं शीतं क्षौद्रयुतं पिबेत् ॥ १८ ॥
मन्थान् यवैर्वा बहुशश्छर्दिघ्नौषधभावितैः ।
कफघ्नमन्नं हृद्यं च रागाः सार्जकभूस्तृणाः ॥ १९ ॥
लीढं मनःशिलाकृष्णामरिचं बीजपूरकात् ।
स्वरसेन कपित्थस्य सक्षौद्रेण वमिं जयेत् ॥ २० ॥
खादेत् कपित्थं सव्योषं, मधुना वा दुरालभाम् ।
लिह्यान्मरिचचोचैलागोशकृद्रसमाक्षिकम् ॥ २१ ॥

कफजन्य छर्दि में नीम, पिप्पली, मैनफल, सरसो इनको गरम पानी के साथ पीकर वमन करे। दुर्बल व्यक्ति को (वमन न दे) उपवास कराये। आरग्वधादि गण के क्वाथ को शीतल करके मधु के साथ (विरेचनार्थ) पिये। वमन नाशक ओषधियों से बहुत बार जौ को भावित करके इनका मन्थ बनाकर पिये। कफनाशक और हृद्य अन्न वमन को शान्त करता है। अर्जक (मरुवा) और भूतृण से युक्त राग (रायता) वमन को रोकता है। मैनसिल, पिप्पली और मरिच को विजौरे के रस या कैथ के रस के साथ मधु मिला कर चाटने से वमन शान्त होता है। त्रिकटु को कैथ के साथ या धमासा को मधु के साथ चाटे। मरिच, दालचीनी, इलायची, गोबर का रस और मधु को चाटे ॥ १७-२१ ॥

वक्तव्य—'आम्रास्थिबिल्वनिर्यूहः पीतः समधुशर्करः । निहन्याच्छर्द्यतीसारं वैश्वानर इवाहुतिम् ॥ अश्वत्थवल्कलं शुष्कं दग्ध्वा निर्वापितं जले । तज्जलं पानमात्रेण छर्दिं जयति दुस्तराम् ॥'

द्विष्टार्थजन्य वमन की चिकित्सा—

अनुकूलोपचारेण याति द्विष्टार्थजा शमम् ।

द्वेषयुक्त वस्तु के कारण उत्पन्न वमन मन के अनुकूल उपचार से शान्त हो जाता है।

उक्त उपायों से कृमिज वमनादि की शान्ति—

कृमिजा कृमिहृद्रोगगदितैश्च भिषग्जितैः ॥ २२ ॥
यथास्वं परिशेषाश्च तत्कृताश्च तथाऽऽमयाः ।

कृमिजन्य छर्दि-कृमि रोग में कही तथा हृद्रोग में कही औषधियों से शान्त हो जाती है। परिशेष वमनों (यथा-दौहृदज) में उनकी चिकित्सा दोषानुसार करे और वमनजन्य रोगों (उपद्रव) को अपनी-अपनी औषध करे ॥ २२ ॥

वमन में स्तम्भन-बृंहण उपाय—

छर्दिप्रसङ्गेन हि मातरिश्वा
धातुक्षयात् कोपमुपैत्यवश्यम् ।
कुर्यादतोऽस्मिन् वमनातियोग-
प्रोक्तं विधिं स्तम्भनबृंहणीयम् ॥ २३ ॥
सर्पिर्गुडा मांसरसा घृतानि
कल्याणकत्र्यूषणजीवनानि ।
पयांसि पथ्योपहितानि लेहा-
श्छर्दिं प्रसक्तां प्रशमं नयन्ति ॥ २४ ॥

वमन के कारण धातुक्षय होने से वायु अवश्य कुपित होता है। इसलिये इसमें वमन के अतियोग की कही हुई चिकित्सा एवं स्तम्भन और बृंहण उपचार करे। सर्पिगुंड, मांसरस, कल्याणक घृत, त्र्यूषण घृत और जीवनीय घृत तथा पथ्य अन्न आदि के साथ दूध और लेह (दोष आदि का विचार कर) प्रयुक्त करने पर निरन्तर होने वाली छर्दि को शान्त करते हैं ॥ २३-२४ ॥

वातज हृद्रोग में तैलपान—

हृद्रोगे वातजे तैलं मस्तुसौवीरतक्रवत् ॥ २५ ॥
पिबेत् सुखोष्णं सबिडं गुल्मानाहार्तिजिच्च तत् ।

वातजन्य हृद्रोग में मस्तु, सौवीर कांजी, तक्र और बिड लवण मिलाकर थोड़ा गरम करके तेल पिये; यह गुल्म और आनाह की पीड़ा को नष्ट करता है ॥ २५ ॥

पञ्चलवणयुक्त तैल—

तैलं च लवणैः सिद्धं समूत्राम्लं तथागुणम् ॥ २६ ॥

पांचों नमक के साथ गोमूत्र एवं सौवीरक कांजी में सिद्ध किया तैल भी पूर्वोक्त गुणों वाला होता है ॥ २६ ॥

नस्यादि के योग्य अन्य तैल—

बिल्वं रास्नां यवान् कोलं देवदारुं पुनर्नवाम् ।
कुलत्थान् पञ्चमूलं च पक्त्वा तस्मिन् पचेज्जले ॥२७॥
तैलं तन्नावने पाने बस्तौ च विनियोजयेत् ।

बिल्व, रास्ना, जौ, बेर, देवदारु, पुनर्नवा, कुलथी और पञ्चमूल को पकाकर क्वाथ करें। इस क्वाथ से सिद्ध किया तैल नस्य में, पीनेमें और वस्ति में बरते ॥ २७ ॥

शुण्ठ्यादिपक्व घृत—

शुण्ठीवयस्थालवणकायस्थाहिङ्गुपौष्करैः ॥ २८ ॥
पथ्यया च शृतं पार्श्वहृद्रुजागुल्मजिद् घृतम् ।

सोंठ, आंवला, सैन्धव, काकोली, हींग, पुष्करमूल और हरड़ से सिद्ध किया घृत पार्श्वपीडा, हृत्पीडा और गुल्म का नाशक है। [वयस्था गिलोय, कायस्था-तुलसी; इति हेमाद्रिः]।

सौवर्चलादि घृत—

सौवर्चलस्य द्विपले पथ्यापञ्चाशदन्विते ॥ २९ ॥
घृतस्य साधितः प्रस्थो हृद्रोगश्वासगुल्मजित् ।

दो पल सौवर्चल और पचास हरड़ से सिद्ध किया एक प्रस्थ घृत हृद्रोग, श्वास और गुल्म का नाशक है। [पाक के समय घृत से चौगुना पानी मिलाना चाहिये] ॥ २९ ॥

दाडिमादि चूर्ण—

दाडिमं कृष्णलवणं शुण्ठी हिङ्ग्वम्लवेतसम् ॥३०॥
अपतन्त्रकहृद्रोगश्वासघ्नं चूर्णमुत्तमम् ।

अनारदाना, काला लवण, सोंठ, हींग और अम्लवेतस का चूर्ण अपतंत्रक, हृद्रोग और श्वास का उत्तम नाशक है।

पुष्करादि घृत—

पुष्कराह्वशटीशुण्ठीबीजपूरजटाभयाः ॥ ३१ ॥
पीताः कल्कीकृताः क्षारघृताम्ललवणैर्युताः ।
विकर्तिकाशूलहराः—

पुष्करमूल, कचूर, सोंठ, बिजौरे का केसर और हरड़ को पीसकर यवक्षार, घी, कांजी और सैन्धव के साथ मिलाकर पिये। यह विकर्त्तिका शूल को नष्ट करता है। [विकर्तिका-कर्त्तनवत् पीडा] ॥ ३१ ॥

वातज हृद्रोग में क्वाथ—

—क्वाथः कोष्णश्च तद्गुणः ॥ ३२ ॥
यवानीलवणक्षारवचाऽजाज्यौषधैः कृतः ।
सपूतिदारुबीजाह्वपलाशशटिपौष्करैः ॥ ३३ ॥
(यवक्षारं यवानीं च पिबेदुष्णेन वारिणा ।
एतेन वातजं शूलं गुल्मं चैव चिरोत्थितम् ॥ १ ॥
भिद्यते सप्तरात्रेण पवनेन यथा घनः ।)

अजवायन, सैन्धव, यवक्षार, वच, जीरा, सोंठ, करंज, देवदारु, बीजपूरक, पलाश, कचूर और पुष्करमूल इनका बना गुनगुना क्वाथ भी विकर्त्तिकाशूलनाशक है।

(यवक्षार और अजवायन के चूर्ण को गरम पानी से पिये। इससे वातजन्य शूल और पुरातन गुल्म सात दिन में नष्ट हो जाते हैं; जिस प्रकार कि वायु से बादल हट जाते हैं)।

पञ्चकोलादि क्वाथ—

पञ्चकोलशटीपथ्यागुडबीजाह्वपौष्करम् ।
वारुणीकल्कितं भृष्टं यमके लवणान्वितम् ॥ ३४ ॥
हृत्पार्श्वयोनिशूलेषु खादेद् गुल्मोदरेषु च ।

— पिप्पल्यादि पञ्चकोल, कचूर, हरड़, गुड़, बिजौरा, पुष्करमूल; इनको वारुणी मद्य से पीसकर तैल और घी में भूनकर सैन्धव मिला कर हृदयशूल, पार्श्वशूल, योनिशूल, गुल्म और उदर रोग में खाये ॥ ३४ ॥

वातज हृद्रोग में स्वेदादि—

स्निग्धाश्चेह हिताः स्वेदाः संस्कृतानि घृतानि च ॥

वातजन्य हृद्रोग में स्निग्धस्वेद और संस्कृत-(हृद्य औषधियों से सिद्ध) घृत हितकारी है ॥ ३५ ॥

हृद्रोगज तृष्णा में पेय—

लघुना पञ्चमूलेन शुण्ठ्या वा साधितं जलम् ।
वारुणीदधिमण्डं वा धान्याम्लं वा पिबेत्तृषि ॥ ३६ ॥

प्यास लगने पर लघु पञ्चमूल या सोंठ से सिद्ध किया

जल पिये। वारुणी-मण्ड, दही का मण्ड या कांजी को पिये। [मण्ड-स्वच्छभाग] ॥ ३६ ॥

सायामस्तम्भशूलामे हृदि मारुतदूषिते।
क्रियैषा, सद्रवायामप्रमोहे तु हिता रसाः ॥ ३७ ॥
स्नेहाढ्यास्तित्तिरिक्रौञ्चशिखिवर्तकदक्षजाः।

वायु से पीडित हृदय में आयाम (खिंचाव), जड़ता, शूल और आम की प्रतीति हो तो यह पूर्वोक्त विधि बरते।

हृदय में धड़कन, खिंचाव, मूर्च्छा का अनुभव हो तो तीतर, क्रौंच, मोर, बटेर और मुर्गे के मांसरस में प्रचुर स्नेह मिला कर देना उत्तम है ॥ ३७ ॥

हृद्रोग में तैल और घृत का विचार—

बलातैलं सहृद्रोगः पिबेद्वा सुकुमारकम् ॥ ३८ ॥
यष्ट्याह्वशतपाकं वा महास्नेहं तथोत्तमम्।

हृदय के रोग वाला मनुष्य बलातैल (शारीरस्थानोक्त) या सुकुमारक घृत (प्रमेहोक्त) या तैल (वृद्धि अध्याय में कहा हृ० चि० अ० २२।४५); यष्टीमधु के कल्क और कषाय से शतपाक किया तैल (वातरक्त हृ० चि० २२) या उत्तम महास्नेह (अगले श्लोक में वर्णित) पिये ॥ ३८ ॥

महास्नेह घृतपाक विधि—

रास्नाजीवकजीवन्तीबलाव्याघ्रीपुनर्नवैः ॥ ३९ ॥
भार्गीस्थिरावचाव्योषैर्महास्नेहं विपाचयेत्।
दधिपादं तथाऽम्लैश्च लाभतः स निषेवितः ॥ ४० ॥
तर्पणो बृंहणो बल्यो वातहृद्रोगनाशनः।

रास्ना, जीवक, जीवन्ती, बला, कटेरी, पुनर्नवा, भार्गी, शालपर्णी, वचा, त्रिकटु इनके कल्क से, चौथाई दही लेकर कांजी आदि अम्ल यथालाभ (जितने मिले) द्रव्यों के साथ घृत-तैल-वसा-मज्जा यह महास्नेह सिद्ध करे। सेवन किया यह स्नेह तर्पण, बृंहण, बलकारक, वातरोग और हृद्रोग का नाशक है ॥ ३९-४० ॥

दीप्तेऽग्नौ सद्रवायामे हृद्रोगे वातिके हितम् ॥ ४१ ॥
क्षीरं दधि गुडः सर्पिरौदकानूपमामिषम्।

अग्नि के प्रदीप्त होने पर वातजन्य हृद्रोग में कम्पन (धड़कन) और खिंचाव हो तो दूध, दही, गुड़, घी, औदक मांस और आनूप मांस हितकारी है ॥ ४१ ॥

हृद्रोग में त्याज्य वस्तु—

एतान्येव च वर्ज्यानि हृद्रोगेषु चतुर्ष्वपि ॥ ४२ ॥
शेषेषु, स्तम्भजाड्यामसंयुक्तेऽपि च वातिके।

वातजन्य हृद्रोग को छोड़कर शेष चारों प्रकार के हृदय रोगों में दूध, दही, गुड़ और घी आदि उपर्युक्त वस्तुओं को छोड़ देना चाहिये। वातजन्य हृद्रोग में भी यदि स्तब्धता, जड़ता और खिंचाव हो तो इनको छोड़ देना चाहिये ॥४२॥

वक्तव्य—चरक में—'त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते। तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चाप्युपगच्छति। संक्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥' (चरक)।

कफानुबन्धी वातहृद्रोगचिकित्सा—

कफानुबन्धे तस्मिंस्तु रूक्षोष्णामाचरेत्क्रियाम् ॥४३॥

वातजन्य हृद्रोग में कफ का अनुबन्ध होने पर रूक्ष और उष्ण चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

पैत्तिक हृद्रोगचिकित्सा—

पैत्ते द्राक्षेक्षुनिर्याससिताक्षौद्रपरूषकैः।
युक्तो विरेको हृद्यः स्यात्क्रमः शुद्धे च पित्तहा ॥ ४४ ॥
क्षतपित्तज्वरोक्तं च बाह्यान्तःपरिमार्जनम्।
कट्वीमधुककल्कं च पिबेत्ससितमम्भसा ॥ ४५ ॥

पित्तजन्य हृद्रोग में द्राक्षा रस, गन्ने का रस, शर्करा, मधु, फालसा, इनसे मिश्रित विरेचन और शुद्ध हो जाने पर पित्तनाशक उपचार (पेया आदि) हृद्य होते हैं। उरःक्षत और पित्तज्वर में जो बाह्य और अन्तः शुद्धि कही है, उसे बरते। कुटकी और मुलहठी के कल्क को शर्करा के शर्बत के साथ पिये ॥ ४४-४५ ॥

श्रेयसीशर्कराद्राक्षाजीवकर्षभकोत्पलैः ।
बलाखर्जूरकाकोलीमेदायुग्मैश्च साधितम् ॥ ४६ ॥
सक्षीरं माहिषं सर्पिः पित्तहृद्रोगनाशनम्।
प्रपौण्डरीकमधुकबिसग्रन्थिकसेरुकाः ॥ ४७ ॥
सशुण्ठीशैवलास्ताभिः सक्षीरं विपचेद् घृतम्।
शीतं समधु तच्चेष्टं स्वादुवर्गकृतं च यत् ॥ ४८ ॥
बस्तिं च दद्यात्सक्षौद्रं तैलं मधुकसाधितम्।

गजपिप्पली, शर्करा, द्राक्षा, जीवक, ऋषभक, कमल, बला, खर्जूर, काकोली, मेदा और महामेदा से दूध के साथ सिद्ध किया भैंस का घी पित्तजनित हृद्रोगनाशक है।

प्रपौण्डरीक, मुलहठी, बिसग्रन्थि, कसेरु, सोंठ और शैवाल से दूध के साथ घृत सिद्ध करे। ठण्डा होने पर इसमें मधु मिलाये, यह इस रोग में उत्तम है। द्राक्षा आदि मधुर रस-वर्ग से सिद्ध घी भी उत्तम है। मुलहठी से सिद्ध तैल में मधु मिलाकर बस्ति देवे ॥ ४६-४८ ॥

वक्तव्य—'अर्जुनस्य त्वचा सिद्धं क्षीरं योज्यं हृदामये। सितया पञ्चमूल्या वा बलया मधुकेन वा ॥'

कफज हृद्रोग-चिकित्सा—

कफोद्भवे वमेत्स्विन्नः पिचुमन्दवचाऽम्भसा ॥ ४९ ॥
कुलत्थधन्वोत्थरसतीक्ष्णमद्ययवाशनः ।
पिबेच्चूर्णं वचाहिङ्गुलवणद्वयनागरात् ॥ ५० ॥
सैलायवानीककणायवक्षारात्सुखाम्बुना ।
फलधान्याम्लकौलत्थयूषमूत्रासवैस्तथा ॥ ५१ ॥
पुष्कराह्वाभयाशुण्ठीशटीरास्नावचाकणात् ।
क्वाथं तथाऽभयाशुण्ठीमाद्रीपीतद्रुकट्फलात् ॥ ५२ ॥
क्वाथे रोहितकाश्वत्थखदिरोदुम्बरार्जुने ।
सपलाशवटे व्योषत्रिवृच्चूर्णान्विते कृतः ॥ ५३ ॥
सुखोदकानुपानश्च लेहः कफविकारहा ।

श्लेष्मगुल्मोदिताज्यानि क्षारांश्च विविधान् पिबेत् ॥
प्रयोजयेच्छिलाह्वं वा ब्राह्मं वाऽत्र रसायनम् ।
तथाऽऽमलकलेहं वा प्राशं वाऽगस्त्यनिर्मितम् ॥५५॥

कफजन्य हृद्रोग में स्वेदन लेकर नीम और वच के क्वाथ से वमन करे। कुलथी, जाङ्गल मांसरस, तीक्ष्ण मद्य और जौ का भोजन करे।

वच, हींग, सैन्धव, सञ्चलनमक; सोंठ, इलायची, अजवायन, पिप्पली और यवक्षार के चूर्ण को गरम पानी से; अथवा फलों का रस, कांजी और कुलथी का यूष, गोमूत्र या आसवों से पिये। पुष्करमूल, हरड़, सोंठ, कचूर, रास्ना, वच, पिप्पली इनका चूर्ण गरम पानी से पिये। हरड़, सोंठ, अतिविषा, दार्वी और कट्फल का क्वाथ पिये। (माद्री–अतिविषा, पीतद्रु–दार्वी, इति हेमाद्रिः)

रोहेड़ा, पीपल, खैर, गूलर, अर्जुन, ढाक एवं बरगद इन सात के क्वाथ में–त्रिकटु और निशोथ के चूर्ण के प्रक्षेप से बनाया अवलेह गरम पानी के अनुपान से लेने पर कफविकार नष्ट होता है।

श्लेष्म गुल्म में जो घृत और क्षार कहे हैं, वे भी कफजन्य हृद्रोग में बरते। शिलाजतु रसायन (हृ. उ. अ. ३९। १३७) तथा ब्राह्मरसायन (हृ. उ. अ. ३९।१५), आमलक लेह (हृ. उ. अ. ३९।१३), तथा अगस्त्यरसायन (चि. अ. ३।१२७), च्यवनप्राश (च. अ. ३९।३३) इसमें बरते ॥ ४९-५५ ॥

शूलयुक्त हृद्रोग-चिकित्सा—

स्याच्छूलं यस्य भुक्तेऽति, जीर्यत्यल्पं, जरां गते ।
शाम्येत्स कुष्ठकृमिजिल्लवणद्वयतिल्वकैः ॥ ५६ ॥
स देवदार्वतिविषैश्चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ।
यस्य जीर्णेऽधिकं स्नेहैः स विरेच्यः, फलैः पुनः ॥५७॥
जीर्यत्यन्ने, तथा मूलैस्तीक्ष्णैः शूले सदाऽधिके ।
प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः कुप्यत्यामाशये गतः ॥ ५८ ॥
तस्यानुलोमनं कार्यं शुद्धिलङ्घनपाचनैः ।

जिस पुरुष को भोजन के उपरान्त तुरन्त अतिशूल हो, भोजन की पच्यमानावस्था में शूल कम हो; तथा भोजन के जीर्ण होने (पच जाने) पर शूल शान्त हो जाये, वह पुरुष कूठ, वायविडङ्ग, सैन्धव, सौवर्चल, तिल्वक, देवदारु और अतीस के चूर्ण को गरम पानी से पिये।

जिस रोगी को भोजन के पच जाने पर अधिक शूल होता हो, उसे स्निग्ध विरेचन द्रव्यों या स्नेहों से (या एरण्ड तैल आदि से) विरेचन देना चाहिये। अन्न की पच्यमानावस्था में जिसे शूल अधिक हो, उसे फलों (द्राक्षा, अमलतास आदि) से विरेचन देवे। जिस पुरुष को सदा (सब अवस्थाओं में) अधिक शूल रहता हो, उसे मूल वाले तीक्ष्ण विरेचनों (दन्तीमूल, श्यामा आदि) से विरेचन देना चाहिये।

प्रायः अवरुद्धगति वाली वायु आमाशय में जाकर कुपित होती है। इस वायु का शोधन, लंघन और पाचन से अनुलोमन करना चाहिये ॥ ५६-५८ ॥

कृमिज हृद्रोग चिकित्सा—

कृमिघ्नमौषधं सर्वं कृमिजे हृदयामये ॥ ५९ ॥

कृमिजन्य हृद्रोग में सम्पूर्ण कृमिनाशक औषध बरतनी चाहिए ॥ ५९ ॥

तृष्णा रोग-चिकित्सा—

तृष्णासु वातपित्तघ्नो विधिः प्रायेण शस्यते ।
सर्वासु शीतो बाह्यान्तस्तथा शमनशोधनः ॥६०॥
दिव्याम्बु शीतं सक्षौद्रं तद्वद्भौमं च तद्गुणम् ।
निर्वापितं तप्तलोष्टकपालसिकतादिभिः ॥६१॥
सशर्करं वा क्वथितं पञ्चमूलेन वा जलम् ।
दर्भपूर्वेण मन्थश्च प्रशस्तो लाजसक्तुभिः ॥६२॥
वाट्यश्चामयवैः शीतः शर्करामाक्षिकान्वितः ।
यवागूः शालिभिस्तद्वत्कोद्रवैश्च चिरन्तनैः ॥६३॥
शीतेन शीतवीर्यैश्च द्रव्यैः सिद्धेन भोजनम् ।
हिमाम्बुपरिषिक्तस्य पयसा ससितामधु ॥६४॥
रसैश्चानम्ललवणैर्जाङ्गलैर्घृतभर्जितैः ।
मुद्गादीनां तथा यूषैर्जीवनीयरसान्वितैः ॥६५॥
नस्यं क्षीरघृतं सिद्धं शीतैरिक्षोस्तथा रसैः ।
निर्वापणाश्च गण्डूषाः सूत्रस्थानोदिता हिताः ॥६६॥
दाहज्वरोक्ता लेपाद्या निरीहत्वं मनोरतिः ।
महासरिद्ध्रदादीनां दर्शनस्मरणानि च ॥६७॥

प्रायः सब प्रकार की तृष्णा में वात–पित्तनाशक विधि से बाहर और अन्दर, शीतविधि, शमन और शोधन चिकित्सा तथा वर्षाजल एवं मधु के साथ शीतल जल प्रशस्त है। वर्षाजल के समान गुण वाला भूमि का जल (कूंए आदि का जल) भी उत्तम है। गरम किये मिट्टी के ढेले, ठीकरे और रेत आदि से बुझाया हुआ पानी प्रशस्त है। इसी बुझे हुए पानी में शर्करा मिलाकर अथवा तृणपञ्चमूल से सिद्ध किया जल या लाजा के सत्तुओं से बना मन्थ उत्तम है। दूधिया जौ से बनाया वाट्य (भक्ष्य) शीतल होने पर शर्करा और मधु से खाये। शालि धान्यों या पुराने कोदो से बनाई यवागू भी शर्करा-मधु से खाये। शीतल किये हुए एवं शीतवीर्य वाले द्रव्यों के साथ या इनसे बनाया भोजन हितकारी है। शीतल जल से स्नान करके दूध, शर्करा एवं मधु के साथ अथवा खटाश और नमक रहित, घी में भूने हुए जांगल मांसरसों के साथ भोजन करे। इसी प्रकार जीवनीय गण की औषधियों के क्वाथ से मिश्रित मूंग, मसूर आदि के यूष के साथ भोजन करे। शीतवीर्य वाले चन्दन आदि के साथ एवं गन्ने के रस में सिद्ध किये क्षीरघृत का नस्य देवे। सूत्रस्थान में कहे रोपण गण्डूष एवं दाहज्वर में कहे लेपादि उत्तम हैं। सब कार्यों से विराम लेना, मन की निवृत्ति या प्रसन्नता, बड़े-बड़े तालाब एवं नदियों का दर्शन और स्मरण लाभदायक है। [आमयव–दूधिया जौ। वाट्य–वाटी, जैसी राजपूताने में साधु बनाते हैं अथवा होला आदि। क्षीरघृत–दूध को मथकर निकाला

हुआ घी। हेमाद्रि मत से गन्ने के रस का पृथक् नस्य देना लिखा है। चरकादि के मतानुसार भी यही ठीक है ॥]

वातज तृष्णा-चिकित्सा—

तृष्णायां पवनोत्थायां सगुडं दधि शस्यते ।
रसाश्च बृंहणाः शीता विदार्यादिगणाम्बु च ॥ ६८ ॥

वातजन्य तृष्णा में गुड़ के साथ दही, बृंहण, शीतल मांसरस तथा विदार्यादि गण से सिद्ध जल पीना उत्तम है। ('वातघ्नमन्नपानं मृदु लघु शीतं रसो गुडूच्याश्च ।' वंगसेन)।

पित्तज तृष्णा-चिकित्सा—

पित्तजायां सितायुक्तः पक्वोदुम्बरजो रसः ।
तत्क्वाथो वा हिमस्तद्वत्सारिवादिगणाम्बु वा । ६९॥
तद्विधैश्च गणैः शीतकषायान् ससितामधून् ।
मधुरैरौषधैस्तद्वत् क्षीरिवृक्षैश्च कल्पितान् ॥७०॥
बीजपूरकमृद्वीकावटवेतसपल्लवान् ।
मूलानि कुशकाशानां यष्ट्याह्वं च जले शृतम् ॥७१॥
ज्वरोदितं वा द्राक्षादि पञ्चसाराम्बु वा पिबेत् ।

पित्तजन्य तृष्णा में पके हुए गूलरों का स्वरस शर्करा के साथ पियें। अथवा पके हुए गूलरों का क्वाथ शीतल करके शर्करा के साथ पियें। उसी प्रकार सारिवादि गण का क्वाथ अथवा शीतवीर्य वाले द्रव्यों से बनाये शीत कषायों को सिता और मधु के साथ पिये। द्राक्षा आदि मधुर द्रव्यों से तथा अश्वत्थ, बरगद आदि क्षीरिवृक्षों से बनाये शीत कषायों को शर्करा और मधु के साथ पिये। बिजौरा, द्राक्षा, बरगद, अम्लवेतस इनके पत्ते, कुश और काश के मूलों को और मुलहठी को जल में पकाकर पिये, अथवा ज्वरचिकित्सा में कहे द्राक्षादि (हृ० चि० अ० १।७५) फाण्ट या शीत कषाय पिये, अथवा पंचसाराम्बु (मधुखर्जूर हृ० चि० अ० २।१४ रक्तपित्त में कहा) पिये ॥ ६९–७१ ॥

कफज तृष्णा-चिकित्सा—

कफोद्भवायां वमनं निम्बप्रसववारिणा ॥ ७२ ॥
बिल्वाढकीपञ्चकोलदर्भपञ्चकसाधितम् ।
जलं पिबेद्रजन्या वा सिद्धं सक्षौद्रशर्करम् ॥ ७३ ॥
मुद्गयूषं च सव्योषपटोलीनिम्बपल्लवम् ।
यवान्नं तीक्ष्णकवलनस्यलेहांश्च शीलयेत् ॥ ७४ ॥

कफजन्य तृष्णा में नीम के पत्तों के पानी से वमन कराये। बिल्व, अरहर, पंचकोल, पंचतृणमूल इससे सिद्ध जल को या हल्दी से सिद्ध जल को मधु और शर्करा के साथ मिलाकर पिये। मूंग के यूष को त्रिकटु, परवल और नीम के पत्तों को मिलाकर पिये। जौ का भोजन, तीक्ष्ण, कवल, तीक्ष्ण नस्य और लेहों का सेवन करे ॥ ७२–७४ ॥

वक्तव्य—'सजीरकाण्यार्द्रकशृङ्गबेरसौवर्चलान्यर्धजलप्लुतानि। मद्यानि हृद्यानि च गन्धवन्ति पीतानि सद्यः शमयन्ति तृष्णाम् ॥ लाजोदकं मधुयुतं शीतं गुडविमर्दितम् ॥' वङ्गसेन।

आमज तथा सन्निपातज तृष्णा-चिकित्सा—

सर्वैरामाच्च तद्धन्त्री क्रियेष्टा वमनं तथा ।
त्र्यूषणारुष्करवचाफलाम्लोष्णाम्बुमस्तुभिः ॥ ७५ ॥

सन्निपातजन्य और आमजन्य तृष्णा में सन्निपातनाशक एवं आमनाशक सम्पूर्ण चिकित्सायें एवं त्रिकटु, भिलावा, वच, बिजौरा आदि अम्ल और गरम पानी या मस्तु से वमन कराना उत्तम है ॥ ७५ ॥

अन्नात्ययज तृष्णा-चिकित्सा—

अन्नात्ययान्मण्डमुष्णं हिमं मन्थं च कालवित् ।

अन्न के अभाव (उपवास) में उत्पन्न तृष्णा में काल को जानने वाला उष्ण मण्ड और शीतल मन्थ देवे।[1]

वक्तव्य—शीतकाल में उष्ण मण्ड, उष्णकाल में शीत मन्थ। वातकफप्रकृति में उष्ण मण्ड, पित्तप्रकृति में शीतल मन्थ दे। मन्थ—'सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतोदकपरिप्लुताः। नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्थ इत्यभिधीयते ॥'

श्रमज तृष्णा चिकित्सा—

तृषि श्रमान्मांसरसं मन्थं वा ससितं पिबेत् ॥ ७६ ॥

श्रमजनित तृष्णा में मांसरस या मन्थ को शर्करा के साथ पिये ॥ ७६ ॥

आतपज तृष्णा-चिकित्सा—

आतपात्ससितं मन्थं यवकोलजसक्तुभिः ।
सर्वाण्यङ्गानि लिम्पेच्च तिलपिण्याककाञ्जिकैः ॥ ७७ ॥

धूप के कारण उत्पन्न तृष्णा में जौ और बेर से बनाये सत्तू के मन्थ को शर्करा मिलाकर पिये तथा सारे शरीर पर तिल की खली को कांजी से पीसकर लेप करे ॥ ७७ ॥

शीतस्नानज तृष्णा-चिकित्सा—

शीतस्नानाच्च मद्याम्बु पिबेत्तृष्मान् गुडाम्बु वा ।

(धूप से पीड़ित व्यक्ति यदि शीतल पानी से स्नान कर लेता है, तब उस) शीत स्नान से उत्पन्न तृष्णा में मद्यमिश्रित जल अथवा गुड़ का शर्बत पिये।

मद्यज तृष्णा-चिकित्सा—

मद्यादर्धजलं मद्यं स्नातोऽम्ललवणैर्युतम् ॥ ७८ ॥

मद्यजनित तृष्णा में स्नान करके अम्ल एवं लवणमिश्रित मद्य और जल को पिये ॥ ७८ ॥

तीक्ष्णाग्नितृष्णा में ठण्डा जल—

स्नेहतीक्ष्णतराग्निस्तु स्वभावशिशिरं जलम् ।

---

[1] सामान्यतः अत्यय का अर्थ उपद्रव या अधिकता होता है। किन्तु निदान स्थान में 'भक्तसंरोध' अर्थात् भोजन की रुकावट से तृष्णा का वर्णन किया है उसके अनुसार यहाँ अत्यय का अर्थ अभाव किया गया है। वैसे भोजन के उपद्रव से भी 'भक्तोद्भवा, तृष्णा' का वर्णन सुश्रुत ने किया है। यथा—'स्निग्धं तथाऽम्लं लवणञ्च भुक्तं गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति ।' तथा—'गुर्वन्नजातां वमनैर्जयेच्च ।' (सु. उ. तं. अ. ४८) इसका यहां कफजा में समावेश है, किन्तु श्लोक ८० में चिकित्सा पृथक् कही है।

स्नेह के कारण जिसकी अन्तराग्नि अतिप्रबल हुई हो, उसको यदि तृषा हो तो वह नैसर्गिक शीतल जल को पिये।

अजीर्णज तृषा में गरम जल—

स्नेहादुष्णाम्ब्वजीर्णात्तु जीर्णाम्मण्डं पिपासितः ॥

स्नेह के कारण अजीर्ण होने से उत्पन्न तृषा में गरम पानी पिये। जीर्ण होने पर उत्पन्न तृषा में मण्ड पिये ॥ ७९ ॥

स्निग्धान्नभोजनजन्य तृष्णा में शर्बत—

पिबेत् स्निग्धान्नतृषितो हिमस्पर्शि गुडोदकम् ।

स्निग्ध भोजन से उत्पन्न तृषा में हिम-बर्फ के समान शीतल गुड़ का शर्बत पिये।

गुरु-अन्नभोजन जन्य तृषा में वमन विधि—

गुर्वाद्यन्नेन तृषितः पीत्वोष्णाम्बु तदुल्लिखेत् ॥ ८० ॥

गरिष्ट अन्न के खाने से उत्पन्न तृषा में गर्म पानी पीकर उस गरिष्ठ अन्न का वमन कर देवे ॥ ८० ॥

क्षयज तृष्णाचिकित्सा—

क्षयजायां क्षयहितं सर्वं बृंहणमौषधम् ।

क्षयजन्य तृषा में क्षय के लिये जो बृंहण औषध कही है वह सब हितकारी है।

कृशादि व्यक्ति की तृष्णा-चिकित्सा—

कृशदुर्बलरूक्षाणां क्षीरं छागो रसोऽथवा ॥८१॥

कृश, दुर्बल एवं रूक्ष व्यक्तियों की तृषा में दूध या बकरे का मांसरस उत्तम है ॥ ८१ ॥

ऊर्ध्ववातयुक्त तृष्णा-चिकित्सा—

क्षीरं च सोर्ध्ववातायां क्षयकासहरैः शृतम् ।

ऊर्ध्ववात युक्त तृषा में क्षय-कासहर द्रव्यों से सिद्ध दूध उत्तम है।

उपसर्गज तृष्णा-चिकित्सा—

रोगोपसर्गाज्जातायां धान्याम्बु ससितामधु ॥८१॥
पाने प्रशस्तं सर्वा च क्रिया रोगाद्यपेक्षया ।

रोगों के उपद्रवजनित तृषा में धनिया का जल शक्कर और मधु के साथ पीना प्रशस्त है तथा मूल रोग आदि की अपेक्षा से सब चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ८२ ॥

प्रत्येक रोग में तृष्णा-चिकित्सा की प्राथमिकता—

तृष्यन् पूर्वामयक्षीणो न लभेत जलं यदि ॥ ८३ ॥
मरणं दीर्घरोगं वा प्राप्नुयात्त्वरितं ततः ।
सात्म्यान्नपानभैषज्यैस्तृष्णां तस्य जयेत्पुरा ॥ ८४ ॥
तस्यां जितायामन्योऽपि व्याधिः शक्यश्चिकित्सितुम् ।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने छर्दिहृद्रोगतृष्णाचिकित्सितं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

* * *

पहले रोग से क्षीण हुए व्यक्ति को प्यास लगने पर यदि पानी नहीं मिलता तब या तो उसकी मृत्यु हो जाती है अथवा वह चिरकालीन रोग को प्राप्त होता है। इसलिये इस रोगी की तृषा को दूसरे रोगों की अपेक्षा पहिले सात्म्य खान-पान से शान्त करे (पीछे रोग को शान्त करे) क्योंकि इस प्यास के शान्त कर देने पर दूसरे रोग की भी सुगमता से चिकित्सा की जा सकती है ॥ ८३-८४ ॥

वक्तव्य—ग्रन्थान्तरोक्त प्रसिद्ध योग—छर्दि में—

(१) 'चन्दनेनाक्षमात्रेण संयोज्यामलकीरसम् ।
पिबेन्माक्षिकसंयुक्तं छर्दिस्तेन प्रशाम्यति ॥'
(चन्दनमत्र रक्तचन्दनम्)।

(२) 'हन्यात् क्षीरोदकं पीतं छर्दिं पवनसम्भवाम् ॥'
(क्षीरोदकम्-नष्टस्य क्षीरस्योदकम्)।

(३) 'हरीतकीनां चूर्णन्तु लिह्यान्माक्षिकसंयुतम् ।'

(४) 'अश्वत्थवल्कलं शुष्कं दग्धं निर्वापितं जले ।
तज्जलं पीतमात्रं हि वान्तिं जयति दुर्जयाम् ॥'

तृष्णा—'प्रातः शर्करयोपेतः क्वाथो धन्याकसम्भवः ।'
कांजिकतैल (बाह्योपचार में)।

हृदयरोग—हृदयार्णवरस, हेमामृतरस, रत्नाकररस, पार्थाद्यघृत, अर्जुनारिष्ट।

अम्लपित्त—क्षुधावती गुटिका, पानीयभक्तवटिका, लीलाविलासरस, सूतशेखर, अविपत्तिकरचूर्ण, सितामण्डूर, पिप्पलीखण्ड, सौभाग्यशुण्ठी, नारिकेललवण, श्रीबिल्वतैल (मलने में)।

शूल—समशर्करचूर्ण, तारामण्डूरगुड, धात्रीलौह, नारिकेलखण्ड, हरीतकीखण्ड, शूलगजकेसरी, शूलान्तक।

अजीर्ण—हिंग्वष्टक,—लवंगादिमोदक, सैन्धवादिचूर्ण, अग्नितुण्डी, हुताशनरस, शंखवटी, त्रिवृतादिमोदक।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का
छर्दिहृद्रोगतृष्णाचिकित्सित नामक छठा
अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातो मदात्ययादिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे मदात्ययादिचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

मदात्यय-चिकित्सा—

यं दोषमधिकं पश्येत्तस्या(मा)दौ प्रतिकारयेत् ।
कफस्थानानुपूर्व्या च तुल्यदोषे मदात्यये ॥ १ ॥
पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः ।

मदात्यय में जिस दोष की अधिकता देखे, पहले उस दोष की चिकित्सा करे। यदि तीनों दोष समान हों तो पहले

कफ की, फिर पित्त की और अन्त में वायु की चिकित्सा करे।[1]

क्योंकि मदात्यय की समाप्ति पित्त और वायु में होती है। प्रथम कफ फिर पित्त और अन्त में वायु होती है ॥ १ ॥

मद्य से मद्यपान की चिकित्सा—

हीनमिथ्यातिपीतेन यो व्याधिरुपजायते ॥ २ ॥
समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति ।
मद्यस्य विषसादृश्यात्—

हीन मद्यपान या मिथ्यापान अथवा अतिमद्यपान से जो रोग उत्पन्न होता है वह उसी मद्य के समपान से शान्त होता है क्योंकि मद्य विष के समान होता है। अर्थात् जिस प्रकार विष तीक्ष्ण आदि दश गुणों से युक्त होता है, वैसे ही मद्य भी इन दश गुणों से युक्त होता है ॥ २ ॥

वक्तव्य—समपान—'यावद् दृष्टेर्न सम्भ्रान्तिर्यावन्न क्षोभते मनः। तावदेव विरन्तव्यं मद्यादात्मवता सदा ॥' मार्द्वीक, माधव या गौडादि के हीन, मिथ्या और अतिपान से उत्पन्न रोग उसी मद्य के समपान से शान्त होता है।

—विषं तूत्कर्षवृत्तिभिः ॥ ३ ॥
तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्योगाद्विषान्तरमपेक्षते ।

किन्तु विष में ये तीक्ष्णादि गुण अधिक शक्ति में रहते हैं, इसलिये विष रोग में विषान्तर (दूसरे विष) की अपेक्षा रहती है (स्थावर में जङ्गम विष और जङ्गम में स्थावर विष की अपेक्षा होती है) ॥ ३ ॥

तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण पीतेनाम्लविदाहिना ॥ ४ ॥
मद्येनान्नरसक्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः ।
यान् कुर्यान्मदतृण्मोहज्वरान्तर्दाहविभ्रमान् ॥ ५ ॥
मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण रुद्धः स्रोतःसु मारुतः ।
सुतीव्रा वेदना याश्च शिरस्यस्थिषु सन्धिषु ॥ ५ ॥
जीर्णमिमद्यदोषस्य प्रकाङ्क्षालाघवे सति ।
यौगिकं विधिवद्युक्तं मद्यमेव निहन्ति तान् ॥ ७ ॥
क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः ।
मद्यमम्लेषु च श्रेष्ठं दोषविष्यन्दनादलम् ॥ ८ ॥
तीक्ष्णोष्णाद्यैः पुरा प्रोक्तैर्दीपनाद्यैस्तथा गुणैः ।
सात्म्यत्वाच्च तदेवास्य धातुसाम्यकरं परम् ॥ ९ ॥

स्वभाव से ही तीक्ष्ण, उष्णवीर्य एवं अतिमात्रा में पिये हुए एवं अम्ल तथा विदाहगुणयुक्त मद्य से अन्नरस का क्लिन्न भाग विदग्ध होकर और क्षार बन कर जिन मद, तृषा, मोह, ज्वर, अन्तर्दाह तथा विभ्रम (चक्कर) आदि विकारों को उत्पन्न करता है तथा मद्य से उत्क्लेशित किये दोष से स्रोतों में रुकी वायु शिर, अस्थि और सन्धियों में जो तीव्र वेदना उत्पन्न करती है, उनको यौगिक (जो योग्य हो) और विधिपूर्वक पिया मद्य ही नष्ट कर सकता है। यह मद्य आम और मद्यदोष के शान्त हो जाने पर मन में आकांक्षा और शरीर में लघुता होने पर पीना चाहिये।

क्योंकि अम्ल से मिला क्षार जल्दी ही मधुर (उदासीन) हो जाता है। अम्लों में मद्य श्रेष्ठ है और दोषों को बहाने के लिये अम्ल पर्याप्त है।

प्रथम (मदात्यय निदान में) कहे तीक्ष्ण, उष्ण आदि गुणों के तथा (मद्यवर्गोक्त) दीपनादि गुणों के कारण एवं सात्म्य (अभ्यास) होने से मद्य ही इस रोगी के लिए उत्तम धातुसाम्यकारक होता है ॥ ४-९ ॥

पानात्यय औषधकाल की अवधि—

सप्ताहमष्टरात्रं वा कुर्यात् पानात्ययौषधम् ।
जीर्यत्येतावता पानं कालेन विपथाश्रितम् ॥ १० ॥
परं ततोऽनुबध्नाति यो रोगस्तस्य भेषजम् ।
यथायथं प्रयुञ्जीत कृतपानात्ययौषधः ॥ ११ ॥

मदात्यय की औषध सात या आठ दिन ही करे (अधिक नहीं)। क्योंकि इतने समय में विमार्ग में स्थित मद्यपान जीर्ण हो जाता है। इसके बाद जो विकार रह जाते हैं उनकी चिकित्सा पहिले (पूर्वोक्त सात या आठ दिन) पानात्यय की चिकित्सा करने के बाद उनके दोषों और लक्षणों के अनुसार करे ॥ १०-११ ॥

वातज मदात्यय की चिकित्सा—

तत्र वातोल्बणे मद्यं दद्यात्पिष्टकृतं युतम् ।
बीजपूरकवृक्षाम्लकोलदाडिमदीप्यकैः ॥ १२ ॥
यवानीहपुषाजाजीव्योषत्रिलवणार्द्रकैः ।
शूल्यैर्मांसैर्हरितकैः स्नेहवद्भिश्च सक्तुभिः ॥ १३ ॥
उष्णस्निग्धाम्ललवणा मेद्यमांसरसा हिताः ।
आम्राम्रातकपेशीभिः संस्कृता रागषाडवाः ॥ १४ ॥
गोधूममाषविकृतिर्मुहुश्चित्रा मुखप्रिया ।
आर्द्रिकार्द्रककुल्माषसुक्तमांसादिगर्भिणी ॥ १५ ॥
सुरभिर्लवणा शीता निर्गदा वाऽच्छवारुणी ।
स्वरसो दाडिमात् क्वाथः पञ्चमूलात्कनीयसः ॥ १६ ॥
शुण्ठीधान्यात्तथा मस्तु सुक्ताम्भोऽच्छाम्लकाञ्जिकम् ।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमुष्णं प्रावरणं घनम् ॥ १७ ॥
घनश्चागुरुजो धूपः पङ्कश्चागुरुकुङ्कुमः ।
कुचोरुश्रोणिशालिन्यो यौवनोष्णाङ्गयष्टयः ॥ १८ ॥
हर्षणालिङ्गने युक्ताः प्रियाः संवाहनेषु च ।

इनमें वाताधिक मदात्यय में पिट्ठी से बनाये मद्य को बिजौरा, वृक्षाम्ल, बेर, अनार, अजवायन, जीरा, हाऊबेर, कालाजीरा, त्रिकटु, लवण, आर्द्रक इसको देश-काल-सात्म्य आदि के अनुसार मिलाकर देवे। तथा शूलाकृत मांसों से हरितवर्ग की (आर्द्रक, मूली आदि) वस्तुओं तथा स्नेहयुक्त

---

[1] कफश्च स्थानञ्च कफस्थाने, तयोरानुपूर्वी। अर्थात् कफ और स्थान को प्राथमिकता देते हुए चिकित्सा करे। विशेष विवेचन सन्निपात ज्वर की चिकित्सा (श्लो० १४८) की व्याख्या में देखें।

सत्तुओं के साथ मद्य देवे। मेदुर मांसरसों को उष्ण-स्निग्ध, अम्ल और लवण बनाकर देना हितकारी है। आम और आमड़ा के गुद्दे से संस्कृत राग और षाडव देवे। गेहूँ और उड़दों से बनाये कोमल, नानाप्रकार के तथा मुख के लिये प्रिय (स्वादिष्ट) भक्ष्य देवे। हरा धनिया, आर्द्रक, कुल्माष (आधे स्विन्न अन्न या कुल्फा शाक), सुक्त, मांस आदि को अन्दर भर कर बनाये भक्ष्य देवे। सुगन्धित, नमकयुक्त, शीतल, पुरातन या निर्मल वारुणी उत्तम है। अनार का रस या लघुपञ्चमूल का क्वाथ या सोंठ और धनिये का क्वाथ उत्तम है। मस्तु, सुक्ताम्बु, निर्मल खट्टी काँजी, अभ्यङ्ग, उबटन, उष्ण स्नान, मोटा आच्छादन (ओढ़ना), अगरु का घना लेप, धूप, अगरु और केशर का गीला लेप उत्तम है। स्तन, जङ्घा और, श्रोणी से, सुन्दर, यौवन की उष्णता से उष्ण हुई शरीरलता वाली प्रिय स्त्रियाँ प्रीति से आलिङ्गन में और संवाहन (शरीर दबाने) में हितकारी हैं ॥ १२-१८ ॥

पित्तज मदात्यय की चिकित्सा—

पित्तोल्बणे बहुजलं शार्करं मधु वा युतम् ॥ १९ ॥
रसैर्दाडिमखर्जूरभव्यद्राक्षापरूषजैः ।
सुशीतं ससितासक्तु योज्यं तादृक् च पानकम् ॥२०॥
स्वादुवर्गकषायैर्वा युक्तं मद्यं समाक्षिकम् ।

पित्तप्रधान मदात्यय में बहुत जल वाला शर्करा या मधु का शर्बत उत्तम है। अनार, खजूर, गम्भारीफल या चालता, द्राक्षा और फालसा इनके रसों को मधु मिलाकर देवे। लाजाओं का सत्तू शर्करा के साथ मिलाकर शीतल करके देवे। अतिशीतल पानक (शर्करा-सत्तू से बनाकर) देवे। मधुर वर्ग के क्वाथ में मद्य और मधु मिलाकर देवे ॥ १९-२० ॥

वक्तव्य—फालसा मीठा लेना—'अम्लं परूषकं द्राक्षा बदराण्यारुकाणि च। पित्तश्लेष्मप्रकोपीणि ॥ (चरक)।

वातज या मदात्यय भोजन—

शालिषष्टिकमश्नीयाच्छशाजैणकपिञ्जलैः ॥ २१ ॥
सतीनमुद्गामलकपटोलीदाडिमै रसैः ।

शालि या साँठी चावलों को (देश, काल के अनुसार) खरगोश, बकरी, हरिण, कपिञ्जल इनके मांसरस से अथवा मटर, मूँग, आँवला, परवल या अनार के रसोंके साथ खावे।

वातज मदात्यय में वमनादि—

कफपित्तं समुत्क्लिष्टमुल्लिखेत्तृड्विदाहवान् ॥ २२ ॥
पीत्वाऽम्बु शीतं मद्यं वा भूरीक्षुरससंयुतम् ।
द्राक्षारसं वा संसर्गी तर्पणादिः परं हितः ॥ २३ ॥
तथाऽग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचनः ।

मदात्यय रोगी को प्यास या विदाह हो तो अपने स्थान से च्युत हुए कफपित्त को शीतल पानी पीकर अथवा गन्ने के प्रचुर रस के साथ मद्य को मिलाकर या द्राक्षारस को पीकर भली प्रकार वमन कर देवे। पीछे से संसर्जन क्रम से तर्पणादि क्रिया भली प्रकार करे। इस प्रकार करने पर मदात्यय रोगी की अग्नि प्रदीप्त होती है और यह अग्नि शेष दोष और अन्न को पचा देती है ॥ २२-२३ ॥

कासयुक्त वातज मदात्यय की चिकित्सा—

कासे सरक्तनिष्ठीवे पार्श्वस्तनरुजासु च ॥ २४ ॥
तृष्णायां सविदाहायां सोत्क्लेशे हृदयोरसि ।
गुडूचीभद्रमुस्तानां पटोलस्याथवा रसम् ॥ २५ ॥
सशृङ्गबेरं युञ्जीत तित्तिरिप्रतिभोजनम् ।

मदात्यय में कास, थूक में रक्त आने एवं पार्श्व और स्तन प्रदेश में पीड़ा होने पर तथा तृष्णा, विदाह, हृदय और छाती में उत्क्लेश अनुभव होने पर गिलोय और नागरमोथा का क्वाथ अथवा परवल और सोंठ का क्वाथ देवे। भोजन में अल्प-तीतर-मांसरस देवे। (अल्पस्तित्तिरिः = तित्तिरिप्रति)

अधिक तृष्णादि की चिकित्सा—

तृष्यते चाति बलवद्वातपित्ते समुद्धते ॥ २६ ॥
दद्याद् द्राक्षारसं पानं शीतं दोषानुलोमनम् ।
जीर्णेऽद्यान्मधुराम्लेन छागमांसरसेन च ॥ २७ ॥

मनुष्य को बहुत अधिक प्यास लगने पर तथा वात-पित्त की प्रबलता होने पर द्राक्षा का रस पीने को देवे। यह रस शीतल एवं दोषों का अनुलोमन करता है। इस रस के पच जाने पर मधु और अम्ल रसके साथ बकरी के मांसरस खाये।

तृष्णा में स्वल्प मद्यपान आदि—

तृष्यल्पशः पिबेन्मद्यं मदं रक्षन् बहूदकम् ।
मुस्तदाडिमलाजाम्बु जलं वा पर्णिनीशृतम् ॥ २८ ॥
पाटल्युत्पलकन्दैर्वा स्वभावादेव वा हिमम् ।

प्यास लगने पर मद की रक्षा करते हुए (नाश होना बचाते हुए) मद्य को बहुत पानी में मिलाकर थोड़ा-थोड़ा करके पिये। अथवा मोथा, अनार और लाजा का पानी पिये। या मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी और पृश्निपर्णी से सिद्ध जल पिये। अथवा पाटला (सुगन्धित पुष्प) और कमलकन्द से सिद्ध जल को पिये; या स्वभाव (प्रकृति) से ही शीतल जल पिये ॥ २८ ॥

जलीय धातु की क्षीणता में कर्तव्य—

मद्यातिपानादब्धातौ क्षीणे तेजसि चोद्धते ॥ २९ ॥
यः शुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य चेष्टते ।
पाययेत्कामतोऽम्भस्तं निशीथपवनाहतम् ॥ ३० ॥

मद्य के अतिपान से जलीय अंश (धातु) के क्षीण हो जाने पर और तेज (अग्नितत्त्व) बढ़ जाने पर गला, तालु और ओठ के सूख जाने से जो मनुष्य जिह्वा को बाहर निकाले रखता है; उसको रात्रि में खुले स्थान पर रक्खे (रात्रि में प्रवात में स्थित) पानी को यथेच्छ मात्रा में पिलाये।

मुख का आलेप—

कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रीकाचुक्रिकारसैः ।
पञ्चाम्लको मुखालेपः सद्यस्तृष्णां नियच्छति ॥ ३१ ॥

बेर, अनार, वृक्षाम्ल, चुक्रीका, चुक्रिका का रस, इन पांच

अम्ल वस्तुओं का मुख पर किया लेप तृष्णा को तुरन्त शान्त करता है। (चुक्रिका-तीनपतिया, खट्टी-मिट्ठी बूटी) ॥ ३१ ॥

अन्य उपाय—

त्वचं प्राप्तश्च पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः ।
दाहं प्रकुरुते घोरं तत्रातिशिशिरो विधिः ॥ ३२ ॥
अशाम्यति रसैस्तृप्ते रोहिणीं व्यधयेच्छिराम् ।

मद्यपान की उष्णिमा त्वचा में पहुँचकर तथा पित्त एवं रक्त से मिलकर दारुण दाह को उत्पन्न करती है, इसमें अति शीतल उपचार करना चाहिये। इससे भी यदि दाह शान्त न हो तो मांसरसों से तृप्त होने पर रोहिणीनामक सिरा का वेधन करे ॥ ३२ ॥

कफाधिक्य में कतव्य—

उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेच्छ्लेष्मोल्बणं पिवेत् ।३३॥
शीतं शुण्ठीस्थिरोदीच्यदुःस्पर्शान्यतमोदकम् ।
निरामं क्षुधितं काले पाययेद्बहुमाक्षिकम् ॥ ३४ ॥
शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं सीधुमेव वा ।
रूक्षतर्पणसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम् ॥ ३५ ॥

कफप्रबल मदात्यय को वमन और उपवास से शान्त करे। सोंठ, शालपर्णी, खस, धमासा इनमें से किसी एक का शीत कषाय पिये।

निराम हो जाने पर जब भूख लगे तब उचित समय पर बहुत सा मधु (शहद), पुराना शार्कर मधु (मद्य) या पुराने अरिष्ट या सीधु पिलाये अथवा स्नेहरहित लाजासत्तुओं को अजवायन और सोंठ के साथ देवे ॥ ३३-३५ ॥

उक्त रोग में भोजनादि—

यूषेण यवगोधूमे तनुनाऽल्पेन भोजयेत् ।
उष्णाम्लकटुतिक्तेन कौलत्थेनाल्पसर्पिषा ॥ ३६ ॥
शुष्कमूलकजैश्छागै रसैर्वा धन्वचारिणाम् ।
साम्लवेतसवृक्षाम्लपटोलीव्योषदाडिमैः ॥ ३७ ॥

पतले, थोड़े गरम, अम्ल, कटु, तिक्त रसवाले, थोड़े घी मिश्रित कुलथी के यूष के साथ जौ और गेहूँ के भक्ष्यों को देवे। अथवा सूखी मूली के यूषों से, बकरी के मांसरस से या जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस से भोजन देवे। इनको अम्लवेतस, वृक्षाम्ल, परवल, त्रिकटु और अनारदाने से संस्कृत करके देवे ॥ ३६-३७ ॥

अग्नि के अनुसार पथ्य—

प्रभूतशुण्ठीमरिचहरितार्द्रकपेशिकम् ।
बीजपूररसाद्यम्लभृष्टनीरसवर्तितम् ॥ ३८ ॥
करीकरमर्दादि रोचिष्णु बहुशालनम् ।
प्रव्यक्ताष्टाङ्गलवणं विकल्पितविमर्दकम् ॥ ३९ ॥
यथाग्नि भक्षयन् मांसं माधवं निगदं पिबेत् ।

प्रचुर सोंठ, मरिच, हरित वर्ण की वस्तुयें और आर्द्रक का कल्क तथा बिजौरे के रस आदि से खट्टे बनाये, घी या तेल में भूनकर रसरहित (शुष्क), करीर, करोंदा आदि रुचिकारक वस्तुओं से बहुत से शालन बनाकर इनसे स्पष्ट अष्टाङ्ग लवण वाले विमर्दक बनाये। अग्नि के अनुसार मांस को खाये तथा पुरातन स्वच्छ मद्य को पिये ॥ ३८-३९ ॥

वक्तव्य—'शालन' शब्द आज भी पञ्जाब में शाक-भाजी के लिए आता है। विमर्दक-'मांसहरितकादिगोधूमविवेष्टितो वटकीकृत्याच्छिन्नो विमर्दकः।' इनको कचौरी या चाप कहते हैं।

अष्टाङ्ग लवण—

सितासौवर्चलाजाजीतिन्तिडीकाम्लवेतसम् ॥ ४० ॥
त्वगेलामरिचार्धांशमष्टाङ्गलवणं हितम् ।
स्रोतोविशुद्ध्यग्निकरं कफप्राये मदात्यये ॥ ४१ ॥

सिता (शर्करा), सौवर्चल नमक, जीरा, इमली, अम्लवेतस प्रत्येक को एक भाग, दालचीनी, इलायची, मरिच प्रत्येक को आधा भाग लेकर चूर्ण करे; यह अष्टांग लवण स्रोतों का शोधन करने वाला, अग्निकारक तथा कफबहुल मदात्यय में हितकारी है ॥ ४०-४१ ॥

जागरणादि—

रूक्षोष्णोद्वर्तनोद्धर्षस्नानभोजनलङ्घनैः
सकामाभिःसह स्त्रीभिर्युक्त्या जागरणेन च ॥ ४२ ॥
मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रं समुपशाम्यति ।

रूक्ष, उष्ण, उद्वर्त्तन, उद्घर्षण, स्नान, भोजन और लंघन से, कामवती स्त्रियों के साथ, देश, काल आदि की अपेक्षा से जागरण करने से कफबहुल मदात्यय भली प्रकार शीघ्र शान्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

सन्निपातज मदात्यय की चिकित्सा—

यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग्दोषजलं प्रति ॥ ४३ ॥
सन्निपाते दशविधे तच्छेषेऽपि विकल्पयेत् ।

पृथक् पृथक् दोष के लिये जो यह चिकित्सा कही है, इसको शेष दस (द्व्युल्बण तीन, हीन, मध्य और अधिक वातादि दोष छः तथा समदोष एक) सन्निपातों में भी दोष के अनुसार बरते ॥ ४३ ॥

सर्वविध मदात्यय में पानक—

त्वङ्नागपुष्पमगधामरिचाजाजिधान्यकैः ॥ ४४ ॥
परूषकमधूकैलासुराह्वैश्च सितान्वितैः ।
सकपित्थरसं हृद्यं पानकं शशिबोधितम् ॥ ४५ ॥
मदात्ययेषु सर्वेषु पेयं रुच्यग्निदीपनम् ।

दालचीनी, नागकेसर, पिप्पली, मरिच, जीरा, धनिया, फालसा, महुआ, इलायची, देवदारु और सिता (मिश्री), इनको कैथ के रस में मिलाकर कर्पूर से सुवासित करके हृदय के लिये प्रिय पानक बनाये। यह पानक सब मदात्ययों में पीना चाहिये। यह रुचिकारक और अग्निदीपक है। (वृद्ध वैद्य पूजित योग है) ॥ ४४-४५ ॥

हर्षणी क्रिया—

नाविक्षोभ्य मनो मद्यं शरीरमविहत्य वा ॥ ४६ ॥
कुर्यान्मदात्ययं तस्मादिष्यते हर्षणी क्रिया ।

क्योंकि मद्य मन को विक्षोभित किये बिना तथा शरीर को हानि पहुँचाये बिना मदात्यय नहीं उत्पन्न करता इसलिये मदात्यय में हर्षोत्पादक क्रिया की जाती है ॥ ४६ ॥

दुग्ध पथ्य—

संशुद्धिशमनाद्येषु मददोषः कृतेष्वपि ॥ ४७ ॥
न चेच्छाम्येत्कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे ।
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च ॥ ४८ ॥
ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः ।

संशोधन, संशमन चिकित्सा करने पर भी यदि मद्यजन्य रोग शान्त न हों, मद्य से विदग्ध पुरुष में कफ के क्षीण होने पर दुर्बलता एवं लघुता आ जाने पर, वात-पित्त की अधिकता होने पर, (ओज के क्षीण होने से) दूध पथ्य है, जैसे कि गर्मी से झुलसे हुये वृक्ष के लिये वर्षा उत्तम है ।

दुग्ध पथ्य में हेतु—

मद्यक्षीणस्य हि क्षीणं क्षीरमाश्वेव पुष्यति ॥ ४९ ॥
ओजस्तुल्यं गुणैः सर्वैर्विपरीतं च मद्यतः ।

क्योंकि मद्य से क्षीण ओज को दूध ही शीघ्र पुष्ट करता है । क्योंकि ओज दूध के समान गुणों वाला है और मद्य के गुणों से सर्वथा विपरीत है ॥ ४९ ॥

वक्तव्य—'स्वादु शान्तं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्ण-पिच्छिलम् । गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः । तदेवंगुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत् ॥' (चरक)

दुग्धपथ्य के बाद स्वल्प मद्यपान—

पयसा विहते रोगे बले जाते निवर्तयेत् ॥ ५० ॥
क्षीरप्रयोगं, मद्यं च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत् ।
न विक्षयध्वंसकोत्थैः स्पृशेतोपद्रवैर्यथा ॥ ५१ ॥

दूध से मदात्यय रोग शान्त हो जाने पर शरीर में बल आ जाने पर मद्यसेवी मनुष्य दूध का सेवन बन्द करके क्रमशः धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा मद्य सेवन प्रारम्भ करे, जिससे विक्षय और विध्वंसकजन्य उपद्रवों से पीड़ित न हो । (विक्षयोद्भव उपद्रव-कायशिरोरोगाद्याः, हृ. नि. अ. ६।२२)।

विक्षय और विध्वंसक की चिकित्सा—

तयोस्तु स्याद् घृतं क्षीरं वस्तयो बृंहणाः शिवाः ।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानान्यन्नपानं च वातजित् ॥ ५२ ॥

इन विक्षय और विध्वंसक रोगों में घी, दूध, बृंहण एवं निरपाय वस्तियाँ, अभ्यंग, उद्वर्त्तन, स्नान और वात-नाशक खान-पान चिकित्सा है ॥ ५२ ॥

मद्यप्रयोग में हेतु—

युक्तमद्यस्य मद्योत्थो न व्याधिरुपजायते ।
अतोऽस्य वक्ष्यते योगो यः सुखायैव केवलम् ॥५३॥

युक्तिपूर्वक मद्य को पीने वाले में मद्यजन्य रोग नहीं होते, इसलिये मद्यपान की विधि कहते हैं, जो केवल सुख के लिये ही है ॥ ५३ ॥

सुरा के गुण—

आश्विनं या महत्तेजो बलं सारस्वतं च या ।
दधात्यैन्द्रं च या वीर्यं प्रभावं वैष्णवं च या ॥ ५४ ॥
अस्त्रं मकरकेतोर्या पुरुषार्थो बलस्य या ।
सौत्रामण्यां द्विजमुखे या हुताशे च हूयते ॥ ५५ ॥
या सर्वौषधिसम्पूर्णान्मथ्यमानात्सुरासुरैः ।
महोदधेः समुद्भूता श्रीशशाङ्कामृतैः सह ॥ ५६ ॥
मधुमाधवमैरेयसीधुगौडासवादिभिः ।
मदशक्तिमनुज्झन्ती या रूपैर्बहुभिः स्थिता ॥ ५७ ॥
यामास्वाद्य विलासिन्यो यथार्थं नाम बिभ्रति ।
कुलाङ्गनाऽपि यां पीत्वा नयत्युद्धतमानसा ॥ ५८ ॥
अनङ्गालिङ्गितैरङ्गैः कापि चेतो मुनेरपि ।
तरङ्गभङ्गभ्रूकुटीतर्जनैर्मानिनीमनः ॥ ५९ ॥
एकं प्रसाद्य कुरुते या द्वयोरपि निर्वृतिम् ।
यथाकामं भटावाप्तिपरिहृष्टाप्सरोगणे ॥ ६० ॥
तृणवत्पुरुषा युद्धे यामास्वाद्य त्यजन्त्यसून् ।
यां शीलयित्वाऽपि चिरं बहुधा बहुविग्रहान् ॥६१॥
नित्यं हर्षातिवेगेन तत्पूर्वमिव सेवते ।
शोकोद्वेगारतिभयैर्यां दृष्ट्वा नाभिभूयते ॥ ६२ ॥
गोष्ठीमहोत्सवोद्यानं न यस्याः शोभते विना ।
स्मृत्वा स्मृत्वा च बहुशो वियुक्तः शोचते यथा ॥६३॥
अप्रसन्नाऽपि या प्रीत्यै प्रसन्ना स्वर्ग एव या ।
अपीन्द्रं मन्यते दुःस्थं हृदयस्थितया यथा ॥६४॥
अनिर्देश्यसुखास्वादा स्वयंवेद्यैव या परम् ।
इति चित्रास्ववस्थासु प्रियामनुकरोति या ॥६५॥
प्रियाऽतिप्रियतां याति यत्प्रियस्य विशेषतः ।
या प्रीतिर्या रतिर्वा वाग् या पुष्टिरिति च स्तुता ॥६६॥
देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसमानुषैः ।
पानप्रवृत्तौ सत्यां तु तां सुरां विधिना पिबेत् ॥६७॥

सुरा—जो सुरा अश्विनीकुमारों के तेज–दीप्ति को धारण करती है, जो सुरा सरस्वती का बल-उत्साह है, जो सुरा इन्द्र की शक्ति को धारण करती है, जो सुरा विष्णु का माहात्म्य है, जो सुरा कामदेव का अस्त्र है, जो सुरा बलप्रद का उत्तम पुरुषार्थ है, जो सुरा सौत्रामणि यज्ञ में देवताओं के मुख में तथा अग्नि में हवन की जाती है, जो सुरा सम्पूर्ण औषधियों से भरे समुद्र के देवता एवं दानवों द्वारा मन्थन करने से लक्ष्मी, चन्द्रमा और अमृत के साथ उत्पन्न हुई, जो सुरा मधु, माधव, मैरेय, सीधु, गौडी, आसव आदि बहुत से रूपों में स्थित होकर भी मद उत्पन्न करने वाली शक्ति को नहीं छोड़ती, जिसको चखकर विलासिनी–वेश्या अपना नाम सार्थक करती है, जिसको पीकर घर की लक्ष्मी भी उद्धत (चंचल) मन द्वारा कामदेव से आलिङ्गित अङ्गों द्वारा मुनि के

चित्त को भी कहीं का कहीं ले उड़ती है, जो सुरा कुटिल भ्रूभङ्गी द्वारा तर्जनों (प्रणय-कलह) से मानिनी अभिमानिनी स्त्री के अकेले मन को प्रसन्न करके स्त्री और पुरुष दोनों में मित्रता उत्पन्न करती है, जिस सुरा को पीकर मनुष्य शूर पुरुषों के योग्य स्थान में, प्रसन्न हुए अप्सराओं के समूह वाले युद्ध में इच्छानुसार तिनके के समान अपने प्राणों को छोड़ देते हैं, जिस सुरा को देर तक नाना प्रकार से नाना रूपों में सेवन करने पर भी नित्यप्रति हर्ष की अधिकता से उसी प्रकार पहले की भांति (नये रूप में) सेवन करता है, जिस सुरा को देखकर शोक, उद्वेग, बेचैनी और भय से तिरस्कृत नहीं होता, जिसके बिना गोष्ठी (महफिल), महोत्सव या उद्यान (पिकनिक) खिलती नहीं, जिससे वियुक्त हुआ पुरुष बार-बार याद करके शोक करता है, जो सुरा मलिन होने पर भी प्रीति के लिए स्वच्छ ही है जो प्रसन्न होने पर स्वर्ण के समान है, जिसके हृदय में स्थित होने पर इन्द्र को भी बुरे स्थान में स्थित समझता है, जिसका स्वाद अनिर्वचनीय है, जो कि केवल अपने से ही भली प्रकार जानी जाती है, इस प्रकार से नाना प्रकार की अवस्थाओं में प्रिया—स्त्री का जो अनुकरण करती है, जिसके प्रेमी को प्रिया स्त्री अतिप्रिय हो जाती है। जिसकी देवता, राक्षस, गन्धर्व, दानव और मनुष्यों ने प्रीति, रति, वाणी और पुष्टि कह कर स्तुति की है, उस सुरा को मद्यपान प्रारम्भ होने पर विधिपूर्वक पिये।

सविधि मद्यपान के गुण—

सम्भवन्ति न ते रोगा मेदोऽनिलकफोद्भवाः ।
विधियुक्ताद्दते मद्याद्ये न सिध्यन्ति दारुणाः ॥ ६८ ॥

(विधिपूर्वक मद्य-सेवन से) वे मेद, वायु और कफजनित भयानक और असाध्य रोग नहीं होते जो बिना विधि के मद्य सेवन से होते हैं ॥ ६८ ॥

'निगद' मद्यपान की विधि—

अस्ति देहस्य साऽवस्था यस्यां पानं निवार्यते ।
अन्यत्र मद्यान्निगदाद्विविधौषधसंस्रुतात् ॥ ६९ ॥

शरीर की वे अवस्थायें भी हैं, जिनमें पान (यूष, मांसरस, जल आदि) निषिद्ध है, (यथा-प्रक्लिन्न देह मेहादि का-हृ. सू. अ ८।५४) किन्तु स्वच्छ, पुरातन एवं विविध ओषधियों से संस्कृत मद्य कहीं भी निषिद्ध नहीं है ॥ ६९ ॥

मांसपाचन-मद्यपान—

आनूपं जाङ्गलं मांसं विधिनाऽप्युपकल्पितम् ।
मद्यं सहायमप्राप्य सम्यक् परिणमेत् कथम् ॥७०॥

विधिपूर्वक बनाया हुआ भी आनूप मांस या जांगल मांस मद्य की सहायता के बिना किस प्रकार पच सकता है ? (मद्य ही मांस को पचाता है) ॥ ७० ॥

मद्यपान के बिना लशुन के गुणों का ह्रास—

सुतीव्रमारुतव्याधिघातिनो लशुनस्य च ।
मद्यमांसवियुक्तस्य प्रयोगे स्यात्कियान् गुणः ॥७१॥

अति भयानक वातव्याधि को नाश करने वाला लहसुन भी मद्य और मांस के बिना कितना गुण कर सकता है ? अर्थात् लहसुन भी मद्य और मांस के साथ ही पूर्ण गुण करता है ॥ ७१ ॥

शल्याहरणादि में मद्यपान—

निगूढशल्याहरणे शस्त्रक्षाराग्निकर्मणि ।
पीतमद्यो विषहते सुखं वैद्यविकत्थनाम् ॥ ७२ ॥

छिपे हुए शल्य को निकालने में, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अग्निकर्म में मद्यपान किया रोगी सुखपूर्वक वैद्य की कदर्थना को सह लेता है। (वैद्य जैसा चाहे करता रहे, रोगी सब सह लेता है) ॥ ७२ ॥

मद्य में अग्निदीपनादि गुण—

अनलोत्तेजनं रुच्यं शोकश्रमविनोदकम् ।
न चातः परमस्त्यन्यदारोग्यबलपुष्टिकृत् ॥ ७३ ॥

अग्नि को प्रदीप्त करने वाली, रुचिकारक, शोक एवं श्रम को मिटाने वाली, आरोग्यता, पुष्टि तथा बल देने वाली मद्य से भिन्न दूसरी वस्तु नहीं है ॥ ७३ ॥

जीवरक्षार्थ मद्यपान—

रक्षता जीवितं तस्मात् पेयमात्मवता सदा ।
आश्रितोपाश्रितहितं परमं धर्मसाधनम् ॥ ७४ ॥

इसलिये जीवन की रक्षा करने वाले मनुष्य को एवं संयमी बुद्धिमान व्यक्ति को सदा मद्य पीना चाहिये। यह आश्रित (भृत्य, बान्धव आदि) एवं उपाश्रितों (पड़ोसी या आश्रितों के आश्रित) के लिये हितकारी तथा धर्म का श्रेष्ठ साधन है ॥ ७४ ॥

मद्यपान की विधि—

स्नातः प्रणम्य सुरविप्रगुरून् यथास्वं
वृत्तिं विधाय च समस्तपरिग्रहस्य ।
आपानभूमिमथ गन्धजलाभिषिक्ता-
माहारमण्डपसमीपगतां श्रयेत ॥ ७५ ॥
स्वास्तृतेऽथ शयने कमनीये
मित्रभृत्यरमणीसमवेतः ।
स्वं यशः कथकचारणसंघै-
रुद्धृतं निशमयन्नतिलोकम् ॥ ७६ ॥
विलासिनीनां च विलासशोभि
गीतं सनृत्यं कलतूर्यघोषैः ।
काञ्चीकलापैश्चलकिङ्किणीभिः
क्रीडाविहङ्गैश्च कृतानुनादम् ॥ ७७ ॥

स्नान करके, देवता, ब्राह्मण, गुरुओं को नमस्कार करके, सम्पूर्ण परिवार की यथायोग्य वृत्ति (जीविका-साधन करके, निश्चिन्त बन कर) करके, कपूर-खस आदि सुगन्धित जल से सींची हुई, भोजन-स्थान के समीपवर्ती मद्यपानभूमि पर पहुंचे। (वहां पहुंच कर) भली प्रकार बिछे हुए सुन्दर विस्तर पर मित्र, नौकर तथा रमणियों से घिरा हुआ, लोकों को अतिक्रमण करने वाले, अद्भुत अपने यश को वर्णन करने

वाले चारणसमूह से सुनता हुआ, तथा विलासिनी वारवनिताओं के विलास[1] को शोभित करने वाले, नृत्य के साथ होने वाले गीतों को तुरही के मधुर शब्दों के साथ, कांची (तगड़ी) के सुन्दर शब्द तथा हिलती हुई छोटी घंटियों (घुघुरुओं) के शब्द के साथ, खेलते हुए पक्षियों से अनुनादित शब्द के साथ सुने ॥ ७५-७७ ॥

मणिकनकसमुत्थैराचनेयैर्विचित्रैः
सजलविविधलेखक्षौमवस्त्रावृताङ्गैः ।
अपि मुनिजनचित्तक्षोभसम्पादिनीभि-
श्चकितहरिणलोलप्रेक्षणीभिः प्रियाभिः ॥७८।
स्तननितम्बकृतादतिगौरवा-
दलसमाकुलमीश्वरसम्भ्रमात् ।
इति गतं दधतीभिरसंस्थितं
तरुणचित्तविलोभनकार्मणम् ॥ ७९ ॥
यौवनासवमत्ताभिर्विलासाधिष्ठितात्मभिः ।
सञ्चार्यमाणं युगपत्तन्वङ्गीभिरितस्ततः ॥ ८० ॥

मणियों और स्वर्ण से बने नाना प्रकार के चित्र-विचित्र पात्रों (चषकों) में जल से भीगे नाना प्रकार के चित्रित रेशम वस्त्रों को धारण किये हुए, मुनिजनों के चित्त को भी चलायमान करने वाली, चकित हरिणी के समान चञ्चल आँखों से देखने वाली, स्त्रियां, स्तन एवं नितम्ब के भार के कारण शरमायी होने से धीमे एवं स्वामी के संकोच के कारण युवकों के चित्त को लुभाने में समर्थ अनवस्थितरूप में गति करती हुई यौवनरूपी आसन से मत्त बनी, विलास से अधिष्ठित चित्त और पतले अंगों वाली इधर-उधर साथ-साथ घूमती हुई स्त्रियों से (पूर्वोक्त चषकों में) ढाला जाता मद्य पिये ॥ ७८-८० ॥

तालवृन्तनलिनीदलानिलैः
शीतलीकृतमतीव शीतलैः ।
दर्शनेऽपि विदधद्वशानुगं
स्वादितं किमुत चित्तजन्मनः ॥ ८१ ॥
चूतरसेन्दुमृगैः कृतवासं
मल्लिकयोज्ज्वलया च सनाथम् ।
स्फाटिकशुक्तिगतं सतरङ्गं
कान्तमनङ्गमिवोद्वहदङ्गम् ॥ ८२ ॥
तालीसाद्यं चूर्णमेलादिकं वा
हृद्यं प्राश्य प्राग्वयःस्थापनं वा ।
तत्प्रार्थिभ्यो भूमिभागे सुमृष्टे
तोयोन्मिश्रं दापयित्वा ततश्च ॥ ८३ ॥
धृतिमान् स्मृतिमान्नित्यमनूनाधिकमाचरन् ।
उचितेनोपचारेण सर्वमेवोपपादयन् ॥ ८४ ॥
जितविकसितासितसरो-
जनयनसङ्क्रान्तिवर्धितश्रीकम् ।
कान्तामुखमिव सौरभ-
हृतमधुपगणं पिबेन्मद्यम् ॥ ८५ ॥

यह मद्य तालपत्र या नलिनी (कमल) पत्र की वायु से तथा अतिशीतल (चन्दन आदि) द्रव्यों से शीतल किया हुआ, देखने पर ही जो मनुष्य को (कामोद्दीपन से) वश में कर लेता हो, पीने पर तो जो मनुष्य को अवश्य काम के वश में बना देता है। आम के रस, कर्पूर, कस्तूरी से सुगन्धित, खिले हुए चमेली के फूलों से युक्त, स्फटिक की बनी सिप्पी- (चषक-प्याली) में रक्खा, हिलता हुआ, कामदेव की भाँति सुन्दर अङ्गों को बनाने वाला (कामोत्पत्ति के कारण) मद्य पिये। मद्य पीने से पूर्व तालीसाद्यचूर्ण या एलादिचूर्ण अथवा हृदय के लिये प्रिय चूर्ण या वयःस्थापक चूर्ण खाकर गोबर से लिपी हुई भूमि पर मद्य की चाह रखने वाले (देव-दानव आदि) को जलमिश्रित मद्य देकर पीछे से मद्य पिये। मद्य पीते समय धैर्ययुक्त, स्मृतिशाली, पूर्वोक्त मात्रा से न अधिक और न कम, नित्य प्रति योग्य उपचार से सब कुछ करते हुए मद्य को पिये। खिले हुए काले कमल को तिरस्कृत करने वाली आँखों के प्रतिबिम्ब से बढ़ी हुई कान्ति-वाले सरक से मद्य को पिये। कान्ता के मुख की भाँति सुगन्धित सरक से मद्य को पिये, जिस प्रकार की भ्रमर सुगन्ध को पीते हैं, वैसे मद्य को पिये ॥ ८१-८५ ॥

मद्यपान के बाद कर्तव्य—

पीत्वैवं चषकद्वयं परिजनं संमान्य सर्वं ततो
गत्वाऽऽहारभुवं पुरः सुभिषजो भुञ्जीत भूयोऽत्र च ।
मांसापूपघृतार्द्रकादिहरितैर्युक्तं ससौवर्चलै-
र्द्वित्रिर्वा निशि चाल्पमेव वनितासंवल्गनार्थं पिबेत् ।

इस प्रकार मद्यपात्र से दो चषक पीकर सब सम्बन्धियों को संमानित करके पीछे से आहारभूमि में जाकर योग्य वैद्य के सामने भोजन करे। और यहाँ फिर मांस, अपूप, घी, आर्द्रक, हरित, शाक, सौवर्चल को खाते हुए दो-तीन चषक पिये या स्त्री के रञ्जन के लिए रात्रि में थोड़ा ही पिये ॥ ८६ ॥

मद्यपान से स्त्री का अनुरञ्जन—

रहसि दयितामङ्के कृत्वा भुजान्तरपीडनात्-
पुलकिततनुं जातस्वेदां सकम्पपयोधराम् ।
यदि सरभसं शीधोर्वारं न पाययते कृती
किमनुभवति क्लेशप्रायं ततो गृहतन्त्रताम् ॥८७॥

प्रवीण कुशल मनुष्य एकान्त में स्त्री को गोद में बिठाकर भुजाओं से दबाने पर रोमांचित (आनन्दित) शरीर हो पसीना आ जाने पर हिलते हुए स्तनों वाली स्त्री को बल-पूर्वक यदि सीधु का एक प्याली नहीं पिला सकता तो किस

---

[1] विलास—'स्थानासनगमनानां हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैवम् ।
उत्पद्यते विशेषो यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात् ॥'

लिये फिर गृहस्थी के सामान को जोड़ने का निष्फल प्रयत्न करता है ॥ ८७ ॥

मद्यपान के बाद शयन—

वरतनुवक्त्रसङ्गतिसुगन्धितरं सरकं
द्रुतमिव पद्मरागमणिमासवरूपधरम् ।
भवति रतिश्रमेण च मदः पिबतोऽल्पमपि
क्षयमत ओजसः परिहरन् स शयीत परम् ॥ ८८ ॥

सुन्दर शरीर तथा मुख की सङ्गति से अतिशय सुगन्धित तथा पद्मराग मणि के समान द्रव (आसव रूप) बना और चूँकि रतिश्रम के कारण थोड़ा सा पिया हुआ मद्य भी मद का कारण होता है, इसलिये ओज के क्षय की रक्षा करता हुआ मनुष्य मद्यपान के पीछे सो जाये । (मद से ओजक्षय होता है) ॥ ८८ ॥

उचित मद्यपान से धर्मादि की अहानि—

इत्थं युक्त्या पिबन्मद्यं न त्रिवर्गाद्विहीयते ।
असारसंसारसुखं परमं चाधिगच्छति ॥ ८९ ॥
ऐश्वर्यस्योपभोगोऽयं स्पृहणीयः सुरैरपि ।

इस प्रकार से युक्ति से मद्य पीता हुआ मनुष्य धर्म, अर्थ और काम से च्युत नहीं होता । असार संसार के उत्तम सुख को प्राप्त करता है । इस मद्यपान के ऐश्वर्य के उपभोग के लिए देवता भी ललचते हैं ॥ ८९ ॥

व्यवस्था के साथ मद्यपान—

अन्यथा हि विपत्सु स्यात् पश्चात्तापेन्धनं धनम् ॥९०॥
उपभोगेन रहितो भोगवानिति निन्द्यते ।
निर्मितोऽतिकदर्योऽयं विधिना निधिपालकः ॥९१॥
तस्माद्व्यवस्थया पानं पानस्य सततं हितम् ।
जित्वा विषयलुब्धानामिन्द्रियाणां स्वतन्त्रताम् ॥९२॥

क्योंकि इस प्रकार के ऐश्वर्य का भोग न करने पर विपत्ति में धन चले जाने पर पीछे से पश्चात्ताप ही मिलता है, (आदमी सोचता है कि हमने इस धन का भोग क्यों नहीं किया) । धन के उपभोग के बिना, भोगवान कहकर निन्दा होती है । यह बहुत कजूंस है, ब्रह्मा ने इसको केवल धन का रक्षक ही बनाया है । इसलिये विषय की लालची इन्द्रियों की स्वतंत्रता को जीत कर विधिपूर्वक मद्य का पान करना सदा हितकारी है ॥ ९०-९२ ॥

धनिकों के लिये मद्यपान—

विधिर्वसुमतामेष भविष्यद्वसवस्तु ये ।
यथोपपत्ति तैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम् ॥ ९३ ॥

यह विधि ऐश्वर्यशालियों के लिये है । दरिद्र पुरुषों के लिये तो जैसे भी साधन मिले उन्हीं के अनुसार उनको मात्रा में मद्य पीना हितकारी है । (भविष्यद्वसुशब्देन दरिद्रा उक्ताः इन्दुः) ॥ ९३ ॥

मद्यपान का परिमाण—

यावद् दृष्टेर्न सम्भ्रान्तिर्यावन्न क्षोभते मनः ।
तावदेव विरन्तव्यं मद्यादात्मवता सदा ॥ ९४ ॥

जब तक दृष्टि बेचैन नहीं होती (ठीक रहती है) और जब तक चित्त में विक्षोभ नहीं होता, तब तक ही जितेन्द्रिय पुरुष को मद्य से सदा अलग हो जाना चाहिये ॥ ९४ ॥

वाताधिक्य में मद्यपानविधि—

अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानवासधूपानुलेपनैः
स्निग्धोष्णैर्भावितश्चान्नैः पानं वातोत्तरः पिबेत् ॥९५॥

वातप्रधान पुरुष, अभ्यंग, उद्वर्त्तन, स्नान, सुगंधित धूप और अनुलेप करके स्निग्ध एवं उष्ण द्रव्यों का आभास कर अन्नों के साथ मद्य पिये ॥ ९५ ॥

पित्ताधिक्य में मद्यपानविधि—

शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः ।
पैत्तिको भावितश्चान्नैः पिबन्मद्यं न सीदति ॥ ९६ ॥

पित्तप्रकृति मनुष्य नाना प्रकार के शीतल उपचारों और मधुर, स्निग्ध, शीतल वस्तुवों से भावित होकर अन्न के साथ मद्य को पीता हुआ दुःखी नहीं होता ॥ ९६ ॥

कफाधिक्य में मद्यपानविधि—

उपचारैरशिशिरैर्यवगोधूमभुक् पिबेत् ।
श्लैष्मिको धन्वजैर्मांसैर्मद्यं मारिचिकैः सह ॥ ९७ ॥

कफप्रकृति मनुष्य उष्ण उपचारों के साथ, जौ एवं गेहूँ को खाते हुए, मरिच से संस्कृत जांगल मांसों के साथ मद्य को पिये ॥ ९७ ॥

दोषानुसार हितकर मद्य—

तत्र वाते हितं मद्यं प्रायः पैष्टिकगौडिकम् ।
पित्ते साम्भो मधु, कफे मार्द्वीकारिष्टमाधवम् ॥ ९८ ॥

वाताधिक प्रकृति वाले मनुष्य के लिये इन मद्यों में प्रायः पैष्टिक या गुड़ से बनाया मद्य हितकारी होता है । पित्त में जल एवं मधुमिश्रित मद्य या जलमिश्रित मधु-मद्य उत्तम है । कफ में मार्द्वीक, अरिष्ट तथा माधव मद्य उत्तम हैं ॥ ९८ ॥

वक्तव्य—शालिपिष्टेन कृतम् पैष्टिकम् । गुडकृतम्-गौडिकम् । मधु-मार्द्वीकम् । माधवं-मधुना कृतम् । चन्द्रः ।

दोषानुसार मद्यपान-काल—

प्राक् पिबेच्छ्लैष्मिको मद्यं, भुक्तस्योपरि पैत्तिकः ।
वातिकस्तु पिबेन्मध्ये, समदोषो यथेच्छया ॥ ९९ ॥

कफप्रकृति मनुष्य भोजन से पूर्व, पित्तप्रकृति भोजन करके ऊपर से और वातप्रकृति भोजन के बीच में मद्य पिये । समदोष मनुष्य इच्छा के अनुसार जब चाहे (भोजन के आगे, पीछे या मध्य में) मद्य पिये ॥ ९९ ॥

मद और मूर्च्छा की चिकित्सा—

मदेषु वातपित्तघ्नं प्रायो मूर्च्छासु चेष्यते ।
सर्वत्रापि विशेषेण पित्तमेवोपलक्षयेत् ॥ १०० ॥

प्रायः करके मद और मूर्च्छा में वात-पित्तनाशक चिकित्सा अच्छी है। मद मूर्च्छा की सब अवस्थाओं में पित्त का ही अधिक ध्यान रखना चाहिये ॥ १०० ॥

शीताः प्रदेहा मणयः सेका व्यजनमारुताः ।
सिता द्राक्षेक्षुखर्जूरकाश्मर्यस्वरसाः, पयः ॥ १०१ ॥
सिद्धं मधुरवर्गेण, रसा यूषाः सदाडिमाः ।
षष्टिकाः शालयो रक्ता यवाः सर्पिश्च जीवनम् ॥१०२॥
कल्याणकं महातिक्तं षट्पलं पयसाऽग्निकः ।
पिप्पल्यो वा शिलाह्वं वा रसायनविधानतः ॥ १०३ ॥
त्रिफला वा प्रयोक्तव्या सघृतक्षौद्रशर्करा ।

शीतल प्रदेह, मणियां, परिषेक, पंखे की वायु, शर्करा, द्राक्षा, ईख, खर्जूर, गम्भारी का स्वरस, मधुर वर्ग से सिद्ध दूध, अनारदाना मिश्रित मांसरस और यूष, साठी चावल, लाल चावल, जौ, जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध घृत, कल्याणक घृत, महातिक्त घृत, षट्पल घृत, दूध के साथ चित्रक या रसायन विधि से पिप्पली या शिलाजतु का प्रयोग तथा घी, मधु और शर्करा के साथ त्रिफला बरतनी चाहिये ॥

निरन्तर मदवेग में कर्तव्य—

प्रसक्तवेगेषु हितं मुखनासावरोधनम् ॥ १०४ ॥
पिबेद्वा मानुषीक्षीरं तेन दद्याच्च नावनम् ।
मृणालबिसकृष्णा वा लिह्यात्क्षौद्रेण साभयाः ॥१०५॥
दुरालभां वा मुस्तं वा शीतेन सलिलेन वा ।
पिबेन्मरिचकोलास्थिमज्जोशीराहिकेसरम् ॥ १०६ ॥
धात्रीफलरसे सिद्धं पथ्याक्वाथेन वा घृतम् ।

निरन्तर वेग वाले मद और मूर्च्छा में मुख और नासा को रोकना (श्वास बन्द करना) उत्तम है। स्त्री का दूध (धावन) पिये और धावन से ही नस्य देवें। कमलनाल, बिस, पिप्पली, हरड़ इनको मधु से चाटे। धमासा या मुस्ता को शीतल जल के साथ पिये। मरिच, बेर की गुठली की मज्जा (चूर्ण), खस और नागकेसर को शीतल जल से पिये, आंवले के रस या हरड़ के रस से सिद्ध किया घी पिये।

वक्तव्य—'महौषधामृताक्षुद्रापौष्करग्रन्थिकोद्भवम् । पिबेत्कणायुतं क्वाथं मूर्च्छासु च मदेषु च ॥' वंगसेन ।)

दोषबलानुसार क्रिया—

कुर्यात्क्रियां यथोक्तां च यथादोषबलोदयम् ॥ १०७ ॥
पञ्चकर्माणि चेष्टानि सेचनं शोणितस्य च ।
सत्त्वस्यालम्बनं ज्ञानमगृद्धिर्विषयेषु च ॥ १०८ ॥

कही हुई क्रिया को दोष तथा बल के अनुसार बरते।

पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, नस्य) और रक्तमोक्षण इनमें उत्तम है।

चित्त में धैर्य का ग्रहण करना (धृति,), ज्ञान (यथार्थ बोध) और विषयों में अलोलुपता उत्तम है ॥ १०७-१०८ ॥

संन्यासोक्त क्रिया—

मदेष्वतिप्रवृद्धेषु मूर्च्छायेषु च योजयेत् ।
तीक्ष्णं संन्यासविहितं विषघ्नं विषजेषु च ॥ १०९ ॥

बहुत बढ़े हुए मद और मूर्च्छा में संन्यास रोग में कहे तीक्ष्ण नस्य आदि बरते ॥ १०९ ॥

विषजन्य मद-मूर्च्छा में विषनाशक उपचार करे।

संन्यास चिकित्सा—

आशु प्रयोज्यं संन्यासे सुतीक्ष्णं नस्यमञ्जनम् ।
धूमः प्रधमनं तोदः सूचिभिश्च नखान्तरे ॥ ११० ॥
केशानां लुञ्चनं दाहो दंशो दशनवृश्चिकैः ।
कट्वम्लगालनं वक्त्रे कपिकच्छ्ववघर्षणम् ॥ १११ ॥
उत्थितो लब्धसंज्ञश्च लशुनस्वरसं पिबेत् ।
खादेत्सव्योषलवणं बीजपूरककेसरम् ॥ ११२ ॥
लघ्वन्नप्रति तीक्ष्णोष्णमद्यात् स्रोतोविशुद्धये ।

संन्यास रोग में तुरन्त तीक्ष्ण नस्य, तीक्ष्ण अंजन, तीक्ष्ण धूम, प्रधमन (नासा में चूर्ण फूकना), नखों के बीच में सुइयों को चुभोना, बालों को खींचना, अग्नि से जलाना, दांतों से काटना, बिच्छू या ततैया से कटवाना, मुख में कटु या अम्ल रस को डालना, कौंच का शरीर पर रगड़ना इत्यादि उपचार (चेतना लाने के लिए) करे। उठ जाने और चेतना आजाने पर लहसुन का स्वरस पिये। बिजौरे की केसर को त्रिकटु और नमक के साथ खाये। स्रोतों के शोधन के लिए तीक्ष्ण और उष्ण एवं थोड़ी मात्रा में लघु अन्न खाये।

मदादि के अन्य उपाय—

विस्मापनैः संस्मरणैः प्रियश्रवणदर्शनैः ॥ ११३ ॥
पटुभिर्गीतवादित्रशब्दैर्व्यायामशीलनैः ।
स्रंसनोल्लेखनैर्धूमैः शोणितस्यावसेचनैः ॥ ११४ ॥
उपाचरेत्तं प्रततमनुबन्धभयात् पुनः ।
तस्य संरक्षितव्यं च मनः प्रलयहेतुतः ॥ ११५ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने मदात्ययादिचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः । ४ ॥

* * *

इस संन्यास रोगी की पुरानी बातों को भुलाने से, बीती हुई अच्छी बातों का स्मरण कराने से, प्रिय वस्तुओं के सुनाने या दिखाने से, ऊँचे गीत या बाजों के शब्दों से, व्यायाम का अभ्यास कराने से, वमन तथा विरेचन से, धूम से और रक्तमोक्षण से, निरन्तर चिकित्सा करे, जिससे यह फिर न हो तथा रोगी का मन मोहहेतु तामसिक विषयों से सदा बचाना चाहिये ॥ ११३-११५ ॥

वक्तव्य— ग्रन्थान्तरोक्त प्रसिद्ध योग ।

मदात्यय—

'मद्यं पीत्वा यदि ना तत्क्षणमवलेढि शर्करां सघृताम् ।
जातु न मदयति मद्यं मनागपि प्रथितवीर्यमपि ॥'
श्रीखण्डादिचूर्णम्, चैतन्योदयरस, हिंग्वाद्यचूर्णम् ।

मदमूर्च्छा-(१) 'पीतं पयश्च धारोष्णं मूर्च्छायान्तकरं परम् ।'
(२) 'रसायनानां कौम्भस्य सर्पिषो वा प्रशस्यते ॥'
(कौम्भसर्पिः = दशाब्दिकम्)।

(३) 'मधुना हन्त्युपयुक्ता त्रिफला रात्रौ गुडार्द्रकं प्रातः ।
सप्ताहात् पथ्यभुजो मदमूर्च्छाकामलोन्मादान् ॥'

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का मदात्ययादि चिकित्सा नामक सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

* * *

अष्टमोऽध्यायः

अथातोऽर्शसां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे अर्शचिकित्सा अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

अर्श का छेदन—

काले साधारणे व्यभ्रे नातिदुर्बलमर्शसम् ।
विशुद्धकोष्ठं लघ्वल्पमनुलोमनमाशितम् ॥ १ ॥
शुचिं कृतस्वस्त्ययनं मुक्तविण्मूत्रमव्यथम् ।
शयने फलके वाऽन्यनरोत्सङ्गे व्यपाश्रितम् ॥ २ ॥
पूर्वेण कायेनोत्तानं प्रत्यादित्यगुदं समम् ।
समुन्नतकटीदेशमथ यन्त्रेण वाससा ॥ ३ ॥
सक्थ्नोः शिरोधरायां च परिक्षिप्तमृजु स्थितम् ।
आलम्बितं परिचरैः सर्पिषाऽभ्यक्तपायवे ॥ ४ ॥
ततोऽस्मै सर्पिषाऽभ्यक्तं निदध्यादृजु यन्त्रकम् ।
शनैरनुसुखं पायौ; ततो दृष्ट्वा प्रवाहणात् ॥ ५ ॥
यन्त्रे प्रविष्टं दुर्नाम प्लोतगुण्ठितयाऽनु च ।
शलाकयोत्पीड्य भिषग् यथोक्तविधिना दहेत् ॥ ६ ॥
क्षारेणैवार्द्रमितरत् क्षारेण ज्वलनेन वा ।
महद्वा बलिनश्छित्वा वीतयन्त्रमथातुरम् ॥ ७ ॥
स्वभ्यक्तपायुजघनमवगाहे निधापयेत् ।
निर्वातमन्दिरस्थस्य, ततोऽस्याचारमादिशेत् ॥ ८ ॥
एकैकमिति सप्ताहात्सप्ताहात्समुपाचरेत् ।

साधारण काल (श्रावण, कार्त्तिक, चैत्र मास या शरद्, वसन्त ऋतु) में तथा बादल रहित दिन में जो बहुत कमजोर न हो ऐसे अर्श रोगी को वमन-विरेचन आदि से कोष्ठ को साफ करके, लघु-थोड़ा अनुलोमक (वायु–मल का प्रवर्त्तक) भोजन खिलाकर मिट्टी और जल से या स्नानादि से पवित्र कर स्वस्तिवाचन करवा के, मल–मूत्र का त्याग करवा के अन्य रोग के कष्ट से रहित रोगी के नाभि से ऊपर के भाग को उत्तान (चित्त) तथा गुदा को सूर्य के सामने रखकर कटिप्रदेश को ऊँचा उठाकर, यन्त्रण वस्त्र से टाँगों को गले के साथ बाँधकर, सीधे सरल रूप में स्थित, सहायकों से पकड़वाकर, गुदा को घी से स्निग्ध करके, घी से स्निग्ध किया सीधा अर्श यन्त्र धीमे से बिना पीड़ा दिये गुदा में प्रविष्ट करे। फिर रोगी के प्रवाहण करने से यन्त्र के अन्दर प्रविष्ट देखकर अर्श को रूई से लपेटी शलाका से दबाकर वैद्य (सूत्रस्थान में) कही विधि से इसको जलाये। गीले (रक्त) अर्श को क्षार से तथा शुष्क अर्श को क्षार या अग्नि से जलाये। अर्श बड़ा हो और रोगी बलवान हो तो इसको (शस्त्र से) काटकर यंत्र को निकाल ले। रोगी की गुदा और जघन (जाँघों) पर भली प्रकार अभ्यङ्ग करके समयानुसार गरम या शीतल जल में बिठायें। जहाँ पर सीधी वायु न आवे, ऐसे घर में रखकर आचार कर्त्तव्य कर्म (उष्णोदकोपचारी स्यात् इत्यादि) बता देवे। इस प्रकार एक-एक अर्श की सात-सात दिन पीछे चिकित्सा करे। (सबको एक साथ न काटे और शस्त्र से काटकर भी अग्नि या क्षार से जलाये)।

बहुत अर्शों में कर्तव्य—

प्राग्दक्षिणं ततो वाममर्शः पृष्ठाग्रजं ततः ॥ ९ ॥
बह्वर्शसः—

जिस रोगी में बहुत अर्श हों, उसमें पहले दाहिनी ओर के फिर वाम के, उसके पीछे पीठ की ओर के और अन्त में आगे के अर्श की चिकित्सा करे ॥ ९ ॥

सुदग्ध अर्श का लक्षण—

—सुदग्धस्य स्याद्वायोरनुलोमता ।
रुचिरन्नेऽग्निपटुता स्वास्थ्यं वर्णबलोदयः ॥ १० ॥

भली प्रकार जलने पर वायु का अनुलोमन; अन्न में रुचि, अग्नि की प्रदीप्ति, स्वास्थ्य, बल और वर्ण की वृद्धि होती है।

वस्तिशूल में कर्तव्य—

वस्तिशूले त्वधो नाभेर्लेपयेच्छ्लक्ष्णकल्कितैः ।
वर्षाभूकुष्ठसुरभिमिशिलोहामराह्वयैः ॥११॥

वस्ति में शूल होने पर नाभि के नीचे पुनर्नवा, कूठ, गन्धसुरा, सौंफ, अगरु और देवदारु को बारीक पीसकर लेप करे।

विण्मूत्रप्रतिघात में चिकित्सा—

शकृन्मूत्रप्रतीघाते परिषेकावगाहयोः ।
वरणालम्बुषैरण्डगोकण्टकपुनर्नवैः ॥१२॥
सुषवीसुरभिभ्यां च क्वाथमुष्णं प्रयोजयेत् ।
सस्नेहमथवा क्षीरं तैलं वा वातनाशनम् ॥१३॥
युञ्जीतान्नं शकृद्भेदि स्नेहान् वातघ्नदीपनान् ।

रोगी को मल–मूत्र की रुकावट हो जाने पर वरना, अलम्बुषा, एरण्ड, गोखरू, पुनर्नवा, कलौंजी और सुरभि

(देवदारु) का उष्ण क्वाथ स्नेह मिलाकर परिषेक और अवगाहन में बरतना चाहिये। अथवा वातनाशक दूध या तैल (बला तैलादि) को परिषेक-अवगाहन में बरते। जौ आदि मल को लाने वाले अन्न एवं वातनाशक तथा अग्निदीपक स्नेह बरते ॥ १२-१३ ॥

दाहायोग्यादि गुदकीलों में कर्तव्य—

अथाप्रयोज्यदाहस्य निर्गतान् कफवातजान् ॥१४॥
सस्तम्भकण्डूरुक्शोफानभ्यज्य गुदकीलकान् ।
बिल्वमूलाग्निकक्षारकुष्ठैः सिद्धेन सेचयेत् ॥१५॥
तैलेनाहिबिडालोष्ट्रवराहवसयाऽथवा ।
(कासीसं सैन्धवं रास्ना शुण्ठी कुष्ठं च लाङ्गली ।
शिलाभ्रकाश्वमारं च जन्तुघ्नदन्तिचित्रकौ ॥ १ ॥
हरितालं तथा स्वर्णक्षीरी तैश्च पचेत् समैः ।
तैलं सुधार्कपयसी गवां मूत्रे चतुर्गुणे ॥ २ ॥
एतदभ्यङ्गतोऽर्शांसि क्षारवत् पातयेद् द्रुतम् ।
क्षारकर्मकरं ह्येतन्न च दूषयते वलिम् ॥ ३ ॥)

जिस रोग में दाह करना योग्य न हो, उसके बाहर आये हुए कफवातजन्य अर्शों को, जिनमें जड़ता, कण्डू, पीडा और शोफ हों, उनको घी या तैल से अभ्यङ्ग करके, बिल्वमूल, चित्रक, यवक्षार और कूठ से सिद्ध किये तैल से सिञ्चित करे। अथवा साँप, बिल्ली, ऊँट या सूअर की वसा से सिञ्चित करे।

(कासीसादि तैल—कासीस, सैन्धव, रास्ना, सोंठ, कूठ, कलिहारी, मैनसिल, अभ्रक, कनेर, विडङ्ग, दन्ती, चित्रक, हरताल, स्वर्णक्षीरी, इनसे तथा थूहर और आक का दूध समान भाग में लेकर चौगुने गोमूत्र में तैल सिद्ध करे। इस तैल के लगाने से अर्श क्षारदग्ध की भाँति जल्दी से गिर जाते हैं। यह तैल क्षार का काम करता है, इससे वलियों को हानि भी नहीं होती) ॥ १४-३ ॥

स्वेदयेदनु पिण्डेन द्रवस्वेदेन वा पुनः ॥ १६ ॥
सक्तूनां पिण्डिकाभिर्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा ।
रास्नाया हपुषाया वा पिण्डैर्वा कार्ष्ण्यगन्धिकैः ॥१७॥

तैल से सिञ्चन के बाद पिण्डस्वेद से या द्रवस्वेद से स्वेद देवे। अथवा तैल और घी से स्निग्ध सत्तू की पिण्डिकाओं से सेक करे। अथवा रास्ना या हपुषा (हाऊबेर) या शोभांजन की पिण्डिकाओं से स्वेद करे ॥ १६-१७ ॥

वक्तव्य—पिण्डस्वेद-तिलमाषकुलत्थान्नघृततैलामिषौदनैः। पायसैः कृशरैः मांसैः पिण्डस्वेदान् प्रयोजयेत् ॥

अर्शों में धूपन—

अर्कमूलं शमीपत्रं नृकेशाः सर्पकञ्चुकम् ।
मार्जारचर्म सर्पिश्च धूपनं हितमर्शसाम् ॥ १८ ॥
तथाऽश्वगन्धा सुरसा बृहती पिप्पली घृतम् ।

आक की जड़, शमी के पत्ते, मनुष्य के बाल, साँप की केंचुली, बिल्ली की खाल और घी से अर्श रोग में धुँवा देना उत्तम है। इसी प्रकार अश्वगन्धा, तुलसी, बड़ी कटेरी, पिप्पली और घी से धुँवा देना उत्तम है ॥ १८ ॥

अर्शों में वर्तिद्वय—

धान्याम्लपिष्टैर्जीमूतबीजैस्तज्जालकं मृदु ॥ १९ ॥
लेपितं छायया शुष्कं वर्तिर्गुदजशातनी ।
सजालमूलजीमूतलेहे वा क्षारसंयुते ॥ २० ॥
गुञ्जासूरणकूष्माण्डबीजैर्वर्तिस्तथागुणा ।

जीमूतक (कड़वी तुम्बी) के बीजों को और इसके जाल वाले भाग को कांजी के साथ महीन-बारीक पीसकर लेप करके वर्ति बनाये। यह वर्ति छाया में सुखाकर गुदा में रखने से अर्शों को गिरा देती है।

कड़वी तुम्बी का जाल और मूल का क्वाथ करके इसका अवलेह बनाये। इस लेह में यवक्षार, रत्ती, सूरण और कुष्ठ के बीज मिलाकर वर्त्ति बनाये। यह वर्ति भी अर्शों के मस्सों को गिरा देती है ॥ १९-२० ॥

अर्श पर लेप—

स्नुक्क्षीरार्द्रनिशालेपस्तथा गोमूत्रकल्कितः ॥ २१ ॥
कृकवाकुशकृत्कृष्णानिशागुञ्जाफलैस्तथा ।
स्नुक्क्षीरपिष्टैः षड्ग्रन्थाहलिनीवारणास्थिभिः ॥२२॥
कुलीरशृङ्गीविजयाकुष्ठारुष्करतुत्थकैः ।
शिग्रुमूलकजैर्बीजैः पत्रैरश्वघ्ननिम्बजैः ॥ २३ ॥
पीलुमूलेन बिल्वेन हिङ्गुना च समन्वितैः ।
कुष्ठं शिरीषबीजानि पिप्पल्यः सैन्धवं गुडः ॥ २४ ॥
अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं त्रिफला च प्रलेपनम् ।
आर्कं पयः सुधाकाण्डं कटुकालाबुपल्लवाः ॥ २५ ॥
करञ्जो बस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम् ।
अनुवासनिकैर्लेपः पिप्पल्याद्यैश्च पूजितः ॥ २६ ॥

थूहर के दूध से हल्दी के चूर्ण को गीला करके बनाया लेप भी मस्सों को नष्ट करता है। इसी प्रकार मुर्गे की बीट, पिप्पली, हल्दी और रत्ती के फल को गोमूत्र में पीसकर बनाया लेप भी मस्सों को गिराता है।

वच, कलिहारी, हाथी की अस्थि, कर्कटशृङ्गी, हरड़, कूठ, भिलावा, तुत्थ, सहजना के बीज, मूली के बीज, कनेर और नीम के पत्ते, इनको थूहर के दूध में पीसकर लेप करे। पीलुमूल, हींग और बिल्व का लेप हितकारी है।

कूठ, शिरीषबीज, पिप्पली, सेंधानमक, गुड़ आक और थूहर के दूध तथा त्रिफला का लेप भी अर्श में हितकर है।

आक का दूध, थूहर का काण्ड, कड़ुई लौकी के पत्ते, करंज और बकरे के मूत्र का लेप अर्श में श्रेष्ठ है।

अनुवासन के लिये उपकारी द्रव्यों से तथा पिप्पली, मदन आदि द्रव्यों से लेप श्रेष्ठ है ॥ २१-२६ ॥

अर्शों में उक्त लेपद्रव्यों से अभ्यञ्जनादि—

एभिरेवौषधैः कुर्यात्तैलान्यभ्यञ्जनाय च ।

इन्हीं लेपों के द्रव्यों से अभ्यङ्ग के लिए तैल बनाये।

धूपन आदि से लाभ—

धूपनालेपनाभ्यङ्गैः प्रस्रवन्ति गुदाङ्कुराः ॥ २७ ॥
सञ्चितं दुष्टरुधिरं, ततः सम्पद्यते सुखी ।

धूपन, लेपन और अभ्यंग द्वारा अर्श संचित दूपित रक्त को बहाते हैं, इससे रोगी को सुख मिलता है ॥ २७ ॥

अर्श से जलौकादि द्वारा रक्त निकालना—

अवर्तमानमुच्छूनकठिनेभ्यो हरेदसृक् ॥ २८ ॥
अर्शोभ्यो जलजाशस्त्रसूचीकूर्चैः पुनः पुनः ।

जिन भस्मों से कठिन और सूजे होने से रक्त न बहता हो, उनमें जोंक, शस्त्र, सूची या कूर्चों से बार-बार रक्त निकाले ॥ २८ ॥

रक्त निकालने का कारण—

शीतोष्णस्निग्धरूक्षैर्हि न व्याधिरुपशाम्यति ॥ २९ ॥
रक्ते दुष्टे भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत् ।

क्योंकि रक्त के दुष्ट होने पर शीत, उष्ण, रूक्ष या स्निग्ध चिकित्सा से अर्शरोग शान्त नहीं होता, इसलिये वैद्य दूपित रक्त को बाहर निकाले ॥ २९ ॥

अर्श में गोरसपानादि—

यो जातो गोरसः क्षीराद्वह्निचूर्णावचूर्णितात् ॥ ३० ॥
पिबंस्तमेव तेनैव भुञ्जानो गुदजाञ्जयेत् ।

दूध में चित्रक का चूर्ण मिलाकर उससे बनाया दही, या दूध अथवा मक्खन को पीने वाले एवं उसी के साथ भोजन करने वाले का अर्श नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

अर्श में तक्रपान—

कोविदारस्य मूलानां मथितेन रजः पिबन् ॥ ३१ ॥
अश्नन् जीर्णे च पथ्यानि मुच्यते हतनामभिः ।

कोविदार (कचनार) के मूल के चूर्ण को तक्र के साथ पीने एवं उसके जीर्ण होने पर पथ्य अन्नादि खाने वाला अर्श रोग से मुक्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

अर्श के उपद्रवों की चिकित्सा—

गुदश्वयथुशूलार्तो मन्दाग्निर्गौल्मिकान् पिबेत् ॥ ३२ ॥
हिङ्ग्वादीननुतक्रं वा खादेद् गुडहरीतकीम् ।
तक्रेण वा पिबेत्पथ्यावेल्लाग्निकुटजत्वचः ॥ ३३ ॥
कलिङ्गमगधाज्योतिःसूरणान् वांऽशवर्धितान् ।
कोष्णाम्बुना वा त्रिकटुव्योषहिङ्ग्वम्लवेतसम् ॥ ३४ ॥

गुदा में सूजन और शूल होने पर एवं अग्नि मन्द होने पर गुल्मोक्त हिंग्वादि चूर्ण को तक्र से खाये। तक्र के अनुपान से गुड़-हरीतकी खाये। अथवा हरड़, वायविडङ्ग, चित्रक और कुड़े की छाल को तक्र के साथ पिये। इन्द्रजौ, पिप्पली, चित्रक और सूरण की (मूल द्रव्य की अपेक्षा से) उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए तक्र के साथ पिये। सैन्धव, संचल, विडनमक, त्रिकटु, हींग और अम्लवेतस को गरम पानी से पिये ॥

अर्श में तक्र—

युक्तं बिल्वकपित्थाभ्यां महौषधविडेन वा ।
अरुष्करैर्यवान्या वा प्रदद्यात्तक्रतर्पणम् ॥ ३५ ॥
दद्याद्वा हपुषाहिङ्गुचित्रकं तक्रसंयुतम् ।
मासं तक्रानुपानानि खादेत् पीलुफलानि वा ॥ ३६ ॥
पिबेदहरहस्तक्रं निरन्नो वा प्रकामतः ।
अत्यर्थं मन्दकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत् ॥ ३७ ॥

बिल्व और कैथ से या सोंठ और विडलवण से, या भिलावे से अथवा अजवायन से युक्त जौ से बनाये सत्तू तक्र में पिये। हाऊबेर, हींग और चित्रक को तक्र के साथ मिला कर देवे। पीलु के फलों को तक्र के अनुपान से एक मास तक खाये बिना अन्न खाये प्रतिदिन इच्छानुसार तक्र को ही पिये। अग्नि के अतिशय मन्द होने पर तक्र ही खाने को दे (अन्न न देवे) ॥ ३५-३७ ॥

तक्रपान की अवधि—

सप्ताहं वा दशाहं वा मासार्धं मासमेव वा ।
बलकालविकारज्ञो भिषक् तक्रं प्रयोजयेत् ॥ ३८ ॥
सायं वा लाजसक्तूनां दद्यात्तक्रावलेहिकाम् ।
जीर्णे तक्रे प्रदद्याद्वा तक्रपेयां ससैन्धवाम् ॥ ३९ ॥
तक्रानुपानं सस्नेहं तक्रौदनमतः परम् ।
यूषै रसैर्वा तक्राढ्यैः शालीन् भुञ्जीत मात्रया ॥ ४० ॥

बल, काल और रोग को समझने वाला वैद्य सात दिन, दस दिन, पन्द्रह दिन या एक मास तक तक्र का ही उपयोग करे। (तक्र से मन उकता जाने पर) सायंकाल लाजा के सत्तुओं से तक्र में बनाया अवलेह (चाटने को) देवे। अथवा तक्र के पच जाने पर तक्र में बनाई पेया को सैन्धव के साथ खाये। इसके उपरान्त तक्र में सिद्ध चावलों को थोड़े स्नेह (घी) के साथ तक्र के अनुपान से देवे। अथवा प्रचुर तक्र वाले यूषों या मांसरसों के साथ शालि चावलों को मात्रा में खाये ॥ ३८-४० ॥

त्रिविध तक्र का प्रयोग—

रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम् ।
तक्रं दोषाग्निबलविद्त्रिविधं तत् प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥

दोष, अग्नि और बल को जानने वाला वैद्य कभी तो बिल्कुल रूक्ष (सम्पूर्ण स्नेह निकाल कर), कभी आधा स्नेह निकाल कर और कभी बिल्कुल मक्खन बिना निकाले, इन तीन रूपों में तक्र को देवे ॥ ४१ ॥

तक्रप्रयोग का गुण—

न विरोहन्ति गुदजाः पुनस्तक्रसमाहताः ।
निषिक्तं तद्धि दहति भूमावपि तृणोलुपम् ॥ ४२ ॥

तक्र से नष्ट किये अर्श फिर दुबारा उत्पन्न नहीं होते। क्योंकि भूमि पर डाला हुआ तक्र तिनकों के ढेर को भी जला देता है। (कठोर तिनकों को जो जला देता है, फिर वह कोमल मांस को तो अवश्य जलायेगा) ॥ ४२ ॥

तक्रप्रयोग के बाद आहारसेवन—

**स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसो धातूनुपैति यः ।
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः परं तुष्टिश्च जायते ॥ ४३ ॥
वातश्लेष्मविकाराणां शतं च विनिवर्तते ।**

वायु और कफ से आवृत स्रोतों के तक्र से शुद्ध होने पर जो आहार रस धातुओं में पहुँचता है, उससे शरीर में पुष्टि बल, वर्ण और प्रसन्नता उत्पन्न होती है। वात और कफ के सैकड़ों रोग शान्त हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

वक्तव्य—वात रोग अस्सी, कफ के रोग बीस, इस प्रकार एक सौ रोग। अथवा शत शब्द बहुवाची है। तीन प्रकार का तक्र मन्दतम, मन्दतर और मन्द अग्नि में देवे।

विशेष विधि—

**मथितं भाजने क्षुद्रबृहतीफललेपिते ॥ ४४ ॥
निशां पर्युषितं पेयमिच्छद्भिर्गुदजक्षयम् ।**

पात्र में कटेरी, बड़ी कटेरी, इनके फलों का लेप करके उनमें तक्र भरकर रात भर रक्खे। प्रातः इसको पिये, इससे अर्श नष्ट होते हैं ॥ ४४ ॥

तक्रारिष्ट—

**धान्योपकुञ्चिकाजाजीहपुषापिप्पलीद्वयैः ॥ ४५ ॥
कारवीग्रन्थिकशटीयवान्यग्नियवानकैः ।
चूर्णितैर्घृतपात्रस्थं नात्यम्लं तक्रमासुतम् ॥ ४६ ॥
तक्रारिष्टं पिबेज्जातं व्यक्ताम्लकटु कामतः ।
दीपनं रोचनं वर्ण्यं कफवातानुलोमनम् ॥ ४७ ॥
गुदश्वयथुकण्ड्वर्तिनाशनं बलवर्धनम् ।**

तक्रारिष्ट—धनियाँ, बड़ा जीरा, काला जीरा, हाऊबेर, पिप्पली, गजपिप्पली, कारवी (सौंफ), ग्रन्थिक (पिप्पली-मूल), कचूर, अजवायन, चित्रक और पारसी अजवायन इनका चूर्ण घृतपात्र में डालकर इसमें बहुत खट्टा नहीं किन्तु साधारण खट्टा तक्र डाल देवे। जब यह तक्र आसुत (आसव रूप) बन जाये, तब तक्रारिष्ट में अम्ल और कटु द्रव्य अच्छी प्रकार मिलाकर इच्छानुसार पिये। यह तक्रारिष्ट, अग्निदीपक रुचिकारक, वर्णकारक, कफ और वायु का अनुलोमक, गुदा का शोथ, कण्डू तथा पीड़ा को नष्ट करने वाला और बल-वर्धक है ॥ ४५–४७ ॥

वक्तव्य—एक सौ पल तक्र में धनिया आदि एक-एक पल मिलाना चाहिये, यह वृद्ध वैद्य-व्यवहार है।

अर्शोनाशक अन्यविध तक्र का पान—

**त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत् ॥ ४८ ॥
तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत् ।
भार्ग्यास्फोतामृतापञ्चकोलेष्वप्येष संविधिः ॥ ४९ ॥**

चित्रकमूल की छाल को जल के साथ पीसकर घड़े में लेप करे। इसमें तक्र या दही बनाकर पिये, यह अर्श, नाशक है। चित्रक की भांति भार्गी, सारिवा, गिलोय और पञ्चकोल इनमें से किसी एक का लेप करे ॥ ४८–४९ ॥

अग्निदीपन स्नेहादि—

**पिष्टैर्गजकणापाठाकारवीपञ्चकोलकैः ।
तुम्बर्वजाजीधनिकाबिल्वमध्यैश्च कल्पयेत् ॥ ५० ॥
फलाम्लान् यमकस्नेहान् पेयायूषरसादिकान् ।
एभिरेवौषधैः साध्यं वारि सर्पिश्च दीपनम् ॥ ५१ ॥
क्रमोऽयं भिन्नशकृतां—**

गजपिप्पली, पाठा, सौंफ, पञ्चकोल, तुम्बरु (जङ्गली धनिया), जीरा, धनिया, बिल्व का गुदा इनको पीसकर इनसे तथा बिजौरा आदि अम्लफलों से, तैल और घृत इन स्नेहों के साथ पेया, यूष, मांसरस आदि बनाये। इन्हीं ओषधियों से पानी सिद्ध करे, इनसे ही घृत सिद्ध करे, यह अग्निदीपक है।

यह पूर्वोक्त चिकित्सा ढीले मल वाले अर्श रोगियों के लिये है ॥ ५०–५१ ॥

गाढ़ा मल वालों के लिये प्रयोग—

**—वक्ष्यते गाढवर्चसाम् ।
स्नेहाढ्यैः सक्तुभिर्युक्तां लवणां वारुणीं पिबेत् ॥५२॥
लवणा एव वा तक्रसीधुधान्याम्लवारुणीः ।**

अब गाढे मल वाले अर्श रोगियों की चिकित्सा कहेंगे। प्रचुर स्नेह युक्त, सक्तुओं और लवण से मिश्रित वारुणी को पिये। अथवा सक्तूरहित तक्र, सीधु, कांजी एवं वारुणी में लवण मिलाकर पिये ॥ ५२ ॥

अर्श में करञ्जपत्र का भक्षण—

**प्राग्भक्तान् यमके भृष्टान् सक्तुभिश्चावचूर्णितान् ॥५३॥
करञ्जपल्लवान् खादेद्वातवर्चोऽनुलोमनान् ।**

करञ्ज के पत्तों को घी और तैल में भूनकर सत्तू के साथ मिलाकर भोजन से पूर्व खाये। ये वायु एवं मल का अनुलोमन करते हैं ॥ ५३ ॥

गुड़सहित शुण्ठ्यादिपान—

**सगुडं नागरं पाठां गुडक्षारघृतानि वा ॥ ५४ ॥
गोमूत्राध्युषितामद्यात्सगुडां वा हरीतकीम् ।**

गुड़ के साथ सोंठ या पाठा को खाये या गुड़, यवक्षार और घी खाये अथवा गोमूत्र में रखी हुई हरड़ को गुड़ के साथ खाये ॥ ५४ ॥

हरीतकी सेवन—

**पथ्याशतद्वयान्मूत्रद्रोणेनामूत्रसङ्क्षयात् ॥ ५५ ॥
पक्वात् खादेत् समधुनी द्वे द्वे हन्ति कफोद्भवान् ।
दुर्नामकुष्ठश्वयथुगुल्ममेहोदरक्रिमीन् ॥ ५६ ॥
ग्रन्थ्यर्बुदापचीस्थौल्यपाण्डुरोगाढ्यमारुतान् ।**

दो सौ हरड़ों को एक द्रोण मूत्र में पकाये। जब सब मूत्र सूख जाये तो इसमें से दो दो हरड़ों को मधु के साथ खाये।

इस प्रकार करने से कफजन्य अर्श, कुष्ठ, शोथ, गुल्म, प्रमेह, उदर रोग, कृमिरोग, ग्रन्थि, अर्बुद, अपची, स्थूलता, पाण्डु, रोग और वातरक्त नष्ट हो जाते हैं। कुछ लोग गोमूत्र में हरीतकी रखकर आग के बजाय धूप में सुखाना उत्तम मानते हैं ॥ ५५-५६ ॥

अन्यान्य प्रयोग—

अजशृङ्गीजटाकल्कमजामूत्रेण यः पिबेत् ॥ ५७ ॥
गुडवार्ताकभुक् तस्य नश्यन्त्याशु गुदाङ्कुराः ।
श्रेष्ठारसेन त्रिवृतां पथ्यां तक्रेण वा सह ॥ ५८ ॥
पथ्यां वा पिप्पलीयुक्तां घृतभृष्टां गुडान्विताम् ।
अथवा सत्रिवृद्दन्तीं भक्षयेदनुलोमनीम् ॥ ५९ ॥
हते गुदाश्रये दोषे गुदजा यान्ति सङ्क्षयम् ।
दाडिमस्वरसाजाजीयवानीगुडनागरैः ॥ ६० ॥
पाठया वा युतं तक्रं वातवर्चोऽनुलोमनम् ।
सीधुं वा गौडमथवा सचित्रकमहौषधम् ॥ ६१ ॥
पिबेत्सुरां वा हपुषापाठासौवर्चलान्विताम् ।

अजशृङ्गी (मेढासिंगी) की जड़ के कल्क को बकरी के मूत्र के साथ गुड़ और बैंगन (या कटेरी) को खाते हुये जो पीता है, उसके मस्से नष्ट हो जाते हैं।

त्रिफला के क्वाथ से निशोथ या तक्र के साथ हरड़ या घी में भूनी हरड़ को पिप्पली और गुड़ के साथ मिला कर अथवा हरड़ को निशोथ और दन्ती के साथ खाये, यह अनुलोमक है। गुदा में स्थित दोष के नष्ट हो जाने पर अर्श भी नष्ट हो जाते हैं।

अनार का स्वरस, जीरा, अजवायन, गुड़ और सोंठ से अथवा केवल पाठा से मिला तक्र वायु और मल का अनुलोमक है। चित्रक तथा सोंठ के साथ सीधु या गुड़ से बने मद्य को खाये। अथवा हाऊबेर, पाठा और सौवर्चल से मिश्रित सुरा को पिये ॥ ५७-६१ ॥

बलवर्द्धक पान—

दशादिदशकैर्वृद्धाः पिप्पलीर्द्विपिचुं तिलान् ॥ ६२ ॥
पीत्वा क्षीरेण लभते बलं देहहुताशयोः ।

दस से आरम्भ कर प्रतिदिन दस-दस बढ़ाते हुए सौ तक पिप्पली और तिल दो कर्ष इनको दूध के साथ पिये। इससे शरीर और अग्नि का बल बढ़ता है[1] ॥ ६२ ॥

पाठा के साथ दुरालभादिसेवन—

दुःस्पर्शकेन बिल्वेन यवान्या नागरेण वा ॥ ६३ ॥
एकैकेनापि संयुक्ता पाठा हन्त्यर्शसां रुजम् ।

धमासा, बिल्व, अजवायन, सोंठ इनमें से किसी एक के साथ भी ली हुई पाठा अर्श के मस्सों की पीड़ा नष्ट करती है।

अभयाद्यरिष्ट—

सलिलस्य वहे पक्त्वा प्रस्थार्धमभयात्वचाम् ॥ ६४ ॥
प्रस्थं धात्र्या दशपलं कपित्थानां ततोऽर्धतः ।
विशालां रोध्रमरिचकृष्णावेल्लैलवालुकम् ॥ ६५ ॥
द्विपलांशं पृथक्पादशेषे पूते गुडात्तुले ।
दत्त्वा प्रस्थं च धातक्याः स्थापयेद् घृतभाजने ॥६६॥
पक्षात्स शीलितोऽरिष्टः करोत्यग्निं निहन्ति च ।
गुदजग्रहणीपाण्डुकुष्ठोदरगरज्वरान् ॥ ६७ ॥
श्वयथुप्लीहहृद्रोगगुल्मयक्ष्मवमिक्रिमीन् ।

अभयारिष्ट—पानी चार द्रोण लेकर इसमें हरड़ की त्वचा आधा प्रस्थ, पिप्पली एक प्रस्थ, कैथ दश पल, इन्द्रायण पांच पल, लोध, मरिच, पिप्पली वायविडङ्ग, इलायची, प्रत्येक दो पल मिलाकर क्वाथ करे। चतुर्थांश रहने पर छान ले। इस क्वाथ में गुड़ एक सौ पल और धाय के फूल एक प्रस्थ मिलाकर घृतपात्र में डाल कर पन्द्रह दिन रहने देवे। पन्द्रह दिन के उपरान्त इस अरिष्ट का व्यवहार करने पर अग्नि बढ़ती है, तथा अर्श, ग्रहणी, पाण्डुरोग, कुष्ठ, उदर, गर, विष, ज्वर, शोथ, प्लीहा, हृदय रोग, गुल्म, यक्ष्मा, वमन, और कृमिरोग नष्ट होते हैं ॥ ६४-६७ ॥

दन्त्याद्यरिष्ट—

जलद्रोणे पचेद् दन्तीदशमूलवराग्निकान् ॥ ६८ ॥
पलिकान् पादशेषे तु क्षिपेद् गुडतुलां परम् ।
पूर्ववत्सर्वमस्य स्यादानुलोमितरस्त्वयम् ॥ ६९ ॥

एक द्रोण जल में दन्ती, दशमूल, त्रिफला, चित्रक प्रत्येक एक पल लेकर क्वाथ करे। चौथाई शेष रहने पर इसमें गुड़ एक तुला मिलाये। शेष (धातकी एक प्रस्थ मिलाकर घृत-पात्र में पन्द्रह दिन रखना) पूर्व की भांति है। यह अभयारिष्ट से अधिक अनुलोमी (वायु के विबन्ध को नष्ट करने वाला) है ॥ ६८-६९ ॥

दुरालभाद्यरिष्ट—

पचेद् दुरालभाप्रस्थं द्रोणेऽपां प्रास्तृतैः सह ।
दन्तीपाठाग्निविजयावासाऽऽमलकनागरैः ॥ ७० ॥
तस्मिन् सिताशतं दद्यात्पादस्थेऽन्यच्च पूर्ववत् ।
लिम्पेत्कुम्भं तु फलिनीकृष्णाचव्याज्यमाक्षिकैः ॥७१॥

जल के एक द्रोण में धमासा एक प्रस्थ, दन्ती, पाठा, चित्रक, हरड़, वासा, आंवला, सोंठ प्रत्येक दो पल लेकर क्वाथ करे। चौथाई शेष रहने पर छान कर इसमें सकरा एक सौ पल

---

[1] कुछ लोग दस पिप्पली के साथ प्रति दिन दो कर्ष तिल भी बढ़ाना ठीक मानते हैं। अर्थात् प्रथम दिन १० पिप्पली दो कर्ष तिल, दूसरे दिन २० पिप्पली चार कर्ष तिल इस क्रम से दसवें दिन १०० पिप्पली और २० कर्ष तिल देने को कहते हैं। पर मूलपाठ से तिलों का बढ़ाना अर्थ नहीं निकलता। वस्तुतः आज कल तो १० से १०० तक पिप्पली भी खाना अव्यावहारिक है। अतः १ से सौ तक बढ़ाना ही अनुभवी वैद्य उचित मानते हैं।

मिलाये। शेष सब अभयारिष्ट के समान है। किन्तु इसमें घृतपात्र को प्रियंगु, पिप्पली, चव्य, घी और मधु से पहले लिप्त कर ले ॥ ७०-७१ ॥

भोजन के पहले सिद्ध घृत का सेवन—

प्राग्भक्तमानुलोम्याय फलाम्लं वा पिबेद् घृतम् ।
चव्यचित्रकसिद्धं वा यवक्षारगुडान्वितम् ॥ ७२ ॥
पिप्पलीमूलसिद्धं वा सगुडक्षारनागरम् ।
पिप्पलीपिप्पलीमूलधनिकादाडिमैर्घृतम् ॥ ७३ ॥
दध्ना च साधितं वातशकृन्मूत्रविबन्धनुत् ।

वायु का अनुलोमन करने के लिये भोजन से पूर्व बिजौरा आदि अम्ल फलों के रस से सिद्ध घृत पिये। या चव्य, चित्रक से सिद्ध घृत को यवक्षार और गुड़ के साथ खावे। अथवा पिप्पलीमूल से सिद्ध घृत को गुड़, यवक्षार और सोंठ के साथ खाये।

पिप्पली, पिप्पलीमूल; धनियां, अनारदाना और दही से सिद्ध किया घृत वायु, मल और मूत्र के अवरोध को नष्ट करता है ॥ ७२-७३ ॥

पलाशादि घृत—

पलाशक्षारतोयेन त्रिगुणेन पचेद् घृतम् ॥ ७४ ॥
वत्सकादिप्रतीवापमर्शोघ्नं दीपनं परम् ।

घी से तीनगुणा ढाक के क्षार का जल लेकर इसमें वत्सकादि गण का प्रक्षेप देकर घृत सिद्ध करे। यह घृत अर्शनाशक और उत्तम अग्निदीपक है ॥ ७४ ॥

पञ्चकोलादि घृत—

पञ्चकोलाभयाक्षारयवानीबिडसैन्धवैः ॥ ७५ ॥
सपाठाधान्यमरिचैः सबिल्वैर्दधिमद् घृतम् ।
साधयेत् तज्जयत्याशु गुदवङ्क्षणवेदनाम् ॥ ७६ ॥
प्रवाहिकां गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं परिस्रवम् ।

पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ), हरड़, यवक्षार, अजवायन, बिडनमक, सैन्धव, पाठा धनियाँ, मरिच, बिल्व और दही के साथ सिद्ध किया घृत गुद तथा वंक्षण की वेदना को शीघ्र शान्त करता है। प्रवाहिका, गुदभ्रंश, मूत्रकृच्छ्र और मूत्रपरिस्राव (बूंद-बूंद करके मूत्र आना) को शान्त करता है (इसमें पाक के समय जल भी देना चाहिये) ॥ ७५-७६ ॥

चाङ्गेर्यादिघृत—

पाठाजमोदधनिकाश्वदंष्ट्रापञ्चकोलकैः ॥ ७७ ॥
सबिल्वैर्दध्नि चाङ्गेरीस्वरसे च चतुर्गुणे ।
हन्त्याज्यं सिद्धमानाहं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ॥ ७८ ॥
गुदभ्रंशार्तिगुदजग्रहणीगदमारुतान् ।

पाठा, अजवायन, धनियां, गोखरू, पञ्चकोल, बिल्व इनसे और दही तथा घी से चौगुने चाङ्गेरी के स्वरस में सिद्ध किया घृत आनाह, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, गुदभ्रंश-पीड़ा, अर्श, ग्रहणीरोग और वायुको नष्ट करता है। (चाङ्गेरी-खट्टी-मीठी तिपतिया बूटी) ॥ ७७-७८ ॥

मांसरस का सेवन—

शिखितित्तिरिलावमांसरसानम्लान् सुसंस्कृतान् ॥
दक्षाणां वर्तकानां वा दद्याद्विड्वातसंग्रहे ।

मोर, तीतर, बटेर, मुर्गा, वर्त्तक इनके मांसरसों को हींग आदि से संस्कृत करके अनारदाना आदि से खट्टा बनाकर मल-वायु के अवरोध की निवृत्ति के लिए देना चाहिये ॥७९॥

वास्तुकादि शाक का सेवन—

वास्तुकाग्नित्रिवृद्दन्तीपाठाम्लीकादिपल्लवान् ॥ ८० ॥
अन्यच्च कफवातघ्नं शाकं च लघु भेदि च ।
सहिङ्गु यमके भृष्टं सिद्धं दधिसरैः सह ॥ ८१ ॥
धनिकापञ्चकोलाभ्यां पिष्टाभ्यां दाडिमाम्बुना ।
आर्द्रिकायाः किसलयैः शकलैरार्द्रकस्य च ॥ ८२ ॥
युक्तमङ्गारधूपेन हृद्येन सुरभीकृतम् ।
सजीरकं समरिचं बिडसौवर्चलोत्कटम् ॥ ८३ ॥
वातोत्तरस्य रूक्षस्य मन्दाग्नेर्बद्धवर्चसः ।
कल्पयेद्रक्तशाल्यन्नव्यञ्जनं शाकवद्रसान् ॥ ८४ ॥
गोगोधाच्छगलोष्ट्राणां विशेषात् क्रव्यभोजिनाम् ।

शाक—बथुआ, चित्रक, निशोथ, दन्ती, पाठा, इमली आदि के पत्ते तथा दूसरे कफवातनाशक, मधु एवं मल को प्रवृत्त करने वाले शाक उत्तम हैं। इन शाकों को हींग के साथ तैल और घी में भूनकर दही की मलाई एवं पिसी हुई धनियां और पञ्चकोल के साथ मिलाकर अनार के रस से सिद्ध करे। इसी प्रकार हरी धनिया के पत्ते और आर्द्रक के टुकड़े मिलाकर एवं मन के प्रिय अङ्गारधूप विधि से सुगन्धित करके जीरा, मरिच मिलाकर विड एवं सञ्चल नमक कुछ अधिक डालकर वात की अधिकता वाले पुरुष, रूक्ष व्यक्ति तथा मन्दाग्नि एवं मलबद्ध वाले रोगी के लिये बनाये। लाल चावलों के भात को भी शाकविधि से बनाये। गाय, गोह, बकरी, ऊंट और विशेष कर मांसभोजियों के मांसरसों को भी शाकविधि से बनाये ॥ ८०-८४ ॥

वक्तव्य—अङ्गारधूप—एक जलते हुए अङ्गारे पर थोड़ा सा घी या तेल डालकर उस पर जीरा, धनिया, अजवायन, हींग पीसकर डाले। इससे धुआं निकलता है। इस धुएं को तुरन्त एक पात्र से ढाँप दे। यह धुआँ जब पात्र में भर जाये तब शाकों को इस पात्र में डाल देवे।

अर्श में पानीय—

मदिरां शार्करं गौडं सीधुं तक्रं तुषोदकम् ॥ ८५ ॥
अरिष्टं मस्तु पानीयं, पानीयं वाऽल्पकं शृतम् ।
धान्येन धान्यशुण्ठीभ्यां कण्टकारिकयाऽथवा ॥८६॥

अन्ते भक्तस्य मध्ये वातवर्चोऽनुलोमनम् ।

मदिरा, शर्करा जनित मद्य, गौड, सीधु, तक्र, कांजी, अरिष्ट और मस्तु पिलाने चाहिये। अथवा बहुत थोड़ा पानी पिलाना चाहिये। यह पानी धनियेसे या धनिया और सोंठ से या कटेरी से सिद्ध करके भोजन के अन्त में या भोजन के मध्य में देना चाहिये। यह पानी वायु और मल का अनुलोमक है।

अर्शों में अनुलोमन—

विड्वातकफपित्तानामानुलोम्ये हि निर्मले ॥ ८७ ॥
गुदे शाम्यन्ति गुदजाः पावकश्चाभिवर्धते ।

क्योंकि मल, वायु, कफ और पित्त की अनुलोमता होने पर गुदा निर्मल हो जाती है। गुदा के निर्मल होने पर अर्श के मस्से शान्त हो जाते हैं और अग्नि बढ़ती है ॥ ८७ ॥

उदावर्तपीड़ित अर्शोरोगी में अनुवासन—

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः ॥ ८८ ॥
विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम् ।

जिन पुरुषों को उदावर्त रहता हो, जो कि अत्यन्त रूक्ष हों, जिनमें वायु विलोम-विपरीतगति हो और जिनको शूल रहता हो, उनमें अनुवासन विधि उत्तम है ॥ ८८ ॥

अनुवासन की विधि—

पिप्पलीं मदनं बिल्वं शताह्वां मधुकं वचाम् ॥ ८९ ॥
कुष्ठं शटीं पुष्कराख्यं चित्रकं देवदारु च ।
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं द्विगुणक्षीरसंयुतम् ॥ ९० ॥
अर्शसां मूढवातानां तच्छ्रेष्ठमनुवासनम् ।
गुदनिःसरणं शूलं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ॥ ९१ ॥
कट्यूरुपृष्ठदौर्बल्यमानाहं वङ्क्षणाश्रयम् ।
पिच्छास्रावं गुदे शोफं वातवर्चोविनिग्रहम् ॥ ९२ ॥
उत्थानं बहुशो यच्च जयेत्तच्चानुवासनात् ।

पिप्पली, मैनफल, बिल्व, सौंफ, मुलहठी, वच, कूठ, कचूर, पुष्पकरमूल, चित्रक, देवदारु, इनके कल्क से तथा तैल से द्विगुण दूध के साथ तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल अर्शों के लिये और मूढवात रोगियों के लिये उत्तम अनुवासन है। गुदा का बाहर आना, शूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, कटि, ऊरु और पीठ की निर्बलता, वंक्षण में होने वाला आनाह, पिच्छास्राव, गुदा में शोफ, वायु एवं मल का अवरोध और बार-बार मल आना इनको अनुवासन शान्त करता है।

वक्तव्य—जल न कहनेपर भी तैल से चौगुना जल मिलाना चाहिये। क्योंकि—स्नेहसक्षीरमांसाद्यैः पाको यत्रेरितः क्वचित्। जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्याधानार्थमावपेत् ॥ न मुञ्चति रसं द्रव्यं क्षीरादिभिरुपस्कृतम्। सम्यक् पाको न जायेत तस्मात्तोयं विनिक्षिपेत् ॥

निरूह का प्रयोग—

निरूहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं पाञ्चमूलिकम् ॥ ९३ ॥
समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः ।

अथवा बृहत् पञ्चमूल के क्वाथ में समान दूध मिलाकर गोमूत्र, स्नेह (एरण्ड तैल), सैन्धव एवं थोड़े से मैनफल आदि द्रव्यों (८९ श्लोक) का कल्क मिलाकर निरूह देवे।

रक्तार्श में वातादि के अनुसार चिकित्सा—

अथ रक्तार्शसां वीक्ष्य मारुतस्य कफस्य वा ॥ ९४ ॥
अनुबन्धं ततः स्निग्धं रूक्षं वा योजयेद्धितम् ।

[शुष्क और आर्द्र भेद से अर्श दो प्रकार के हैं। शुष्कार्श की चिकित्सा कहकर आर्द्र अर्शों की चिकित्सा कहते हैं-] रक्तार्शों में वायु या कफ का अनुबन्ध (सम्बन्ध लक्षणों से) देखकर फिर स्निग्ध या रूक्ष किन्तु शीत उपचार करे, अर्थात् ये दोनों शीत ही होने चाहिये, उष्ण नहीं ॥ ९४ ॥

वक्तव्य—रक्तार्श में पित्त का सदा ही सम्बन्ध रहता है, इसलिये शीत उपचार करे। वात के अनुबन्ध में स्निग्ध और कफ के अनुबन्ध में रूक्ष चिकित्सा करे।

वात-कफानुबन्ध के लक्षण—

शकृच्छ्यावं खरं रूक्षमधो निर्याति नानिलः ॥ ९५ ॥
कट्यूरुगुदशूलं वा हेतुर्यदि च रूक्षणम् ।
तत्रानुबन्धो वातस्य श्लेष्मणो यदि विट् श्लथा ॥ ९६ ॥
श्वेता पीता गुरुः स्निग्धा, सपिच्छः स्तिमितो गुदः ।
हेतुः स्निग्धगुरुर्विद्याद्यथास्वं चास्रलक्षणात् ॥ ९७ ॥

मल श्याववर्ण, खर एवं रूक्ष हो और वायु नीचे गुदा से बाहर न आती हो, कटि, ऊरु, गुदा में शूल हो और यदि अर्श रोग का कारण रूक्ष हो, तो इसमें वायु का अनुबन्ध जानना चाहिये। यदि मल ढीला, श्वेत, पीला, भारी, स्निग्ध हो, गुदा पिच्छायुक्त, स्तिमित (भारी-सी) हो और कारण स्निग्ध एवं गुरु हो तो कफ का अनुबन्ध समझे। तथा रक्त के अपने लक्षणों से वात एवं कफ को समझे। (ये लक्षण हृ० सू० अ० २७।४० में वायु के तथा २७।४१ में कफ के कहे हैं)।

रक्त के दोष में शोधनादि—

दुष्टेऽस्रे शोधनं कार्यं लङ्घनं च यथाबलम् ।
यावच्च दोषैः कालुष्यं स्रुतेस्तावदुपेक्षणम् ॥ ९८ ॥
दोषाणां पाचनार्थं च वह्निसन्धुक्षणाय च ।
सङ्ग्रहाय च रक्तस्य परं तिक्तैरुपाचरेत् ॥ ९९ ॥

रक्त के वातादि से दूषित होने पर बल के अनुसार शोधन और लंघन कराना चाहिये।

जब तक दोषों के कारण रक्त में मलिनता हो, तब तक रक्तस्राव की उपेक्षा करनी चाहिये।

रक्त की कलुषता मिट जाने पर दोषों के पाचन के लिये, और अग्नि को प्रदीप्त करने तथा रक्त को बन्द करने के लिये तिक्त रस वाले द्रव्यों से चिकित्सा करनी चाहिये ॥

अदुष्ट रक्तस्राव की स्नेहादि से चिकित्सा—

यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्बणस्य वा ।

स्नेहैस्तत्साधयेद्युक्तैः पानाभ्यञ्जनवस्तिषु ॥ १०० ॥

प्रक्षीण दोष वाले पुरुष में या वातप्रधान पुरुष में यदि रक्त बह रहा हो तो उसकी चिकित्सा पान, अभ्यंग और वस्ति में युक्तिपूर्वक स्नेह देकर करे ॥ १०० ॥

पित्ताधिक रक्त का स्तम्भन—

यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्तते ।
स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद्वातकफानुगम् ॥ १०१ ॥

पित्तप्रधान जो रक्त ग्रीष्मकाल में प्रवृत्त हो रहा हो; उस रक्त को अवश्य रोकना चाहिये, किन्तु वह वायु और कफ से मिला न हो। [वात-कफ से मिले रक्त की चिकित्सा लंघन आदि से करे, स्तंभन से नहीं।] ॥ १०१ ॥

कफाधिक रक्तस्राव में क्वाथादि—

सकफेऽस्रे पिबेत्पाक्यं शुण्ठीकुटजवल्कलम् ।
किराततिक्तकं शुण्ठीं धन्वयासं कुचन्दनम् ॥ १०२ ॥
दार्वीत्वङ्निम्बसेव्यानि त्वचं वा दाडिमोद्भवाम् ।
कुटजत्वक्फलं तार्क्ष्यं माक्षिकं घुणवल्लभाम् ॥ १०३ ॥
पिबेत्तण्डुलतोयेन कल्कितं वा मयूरकम् ।

कफ से मिश्रित रक्त में सोंठ और कूड़े की छाल का क्वाथ पिये। अथवा चिरायता, सोंठ, धमासा, लाल चन्दन, दारुहल्दी और नीम की छाल और खस का क्वाथ पिये अथवा अनार की छाल का क्वाथ पिये।

कूड़े की छाल, इन्द्रजौ, रसौत, मधु और अतीस को चावल के पानी के साथ पिये। अथवा चिरचिटे को पत्थर पर पीसकर चावल के धोवन से पिये ॥ १०२-१०३ ॥

वक्तव्य—चिरचिटा हरा न मिले तो सूखे का सूक्ष्म चूर्ण करके पिये। चिरचिटे का उपयोग सिद्धभैषज्यमंजूषा में भी दिया है।

कुटजाद्यवलेह—

तुलां दिव्याम्भसि पचेदार्द्रायाः कुटजत्वचः ॥ १०४ ॥
नीरसायां त्वचि क्वाथे दद्यात्सूक्ष्मरजीकृतान् ।
समङ्गाफलिनीमोचरसान् मुष्टयंशकान् समान् ॥ १०५ ॥
तैश्च शक्रयवान् पूते ततो दर्वीप्रलेपनम् ।
पक्त्वाऽवलेहं लीढ्वा च तं यथाग्निबलं पिबेत् ॥
पेयां मण्डं पयश्छागं गव्यं वा छागदुग्धभुक् ।
लेहोऽयं शमयत्याशु रक्तातीसारपायुजान् ॥ १०७ ॥
बलवद्रक्तपित्तं च स्रवदूर्ध्वमधोऽपि वा ।

कूड़े की हरी छाल एक सौ पल लेकर (एक द्रोण) वर्षाजल में क्वाथ करे। जब छाल का सब रस निकल जाये (अष्टमांश जल शेष रहे) तब इसको छान ले। इस क्वाथ में मजीठ, प्रियंगु, मोचरस (सेमल का गोंद) एक एक पल और सबके बराबर (तीन पल) इन्द्रजौ का सूक्ष्म चूर्ण मिला कर पकावे। जब लेह कलछी में लगने लगे तब उतार ले। इस लेह को चाटकर अग्नि-बल के अनुसार पेया, मण्ड, गाय या बकरी का दूध पिये। बकरी के दूध के साथ भोजन करे। यह अवलेह रक्तातीसार, रक्तार्श और बढ़े हुए रक्तपित्त को-जो ऊपर या नीचे से प्रवृत्त होता हो—शीघ्र शान्त कर देता है ॥ १०४-१०७ ॥

कुटजाद्यवलेह (द्वितीय)

कुटजत्वक्तुलां द्रोणे पचेदष्टांशशेषितम् ॥ १०८ ॥
कल्कीकृत्य क्षिपेत्तत्र तार्क्ष्यशैलं कटुत्रयम् ।
रोध्रद्वयं मोचरसं बलां दाडिमजां त्वचम् ॥ १०९ ॥
बिल्वकर्कटिकां मुस्तं समङ्गां धातकीफलम् ।
पलोन्मितं दशपलं कुटजस्यैव च त्वचः ॥ ११० ॥
त्रिंशत्पलानि गुडतो घृतात्पूते च विंशतिः ।
तत्पक्वं लेहतां यातं धान्ये पक्षस्थितं लिहन् ॥ १११ ॥
सर्वार्शोग्रहणीदोषश्वासकासान्नियच्छति ।

कूड़े की छाल एक सौ पल लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ करे। जब आठवां भाग रह जाय तब छान ले। इसमें रसौत, त्रिकटु, पठानी लोध, शाबर लोध, सेमर का गोंद, खरैटी, अनार की छाल, बेल के छोटे छोटे कच्चे फल, मुस्ता, मजीठ, धाय के फूल प्रत्येक एक पल लेकर इनको पीसकर तथा कूड़े की छाल दस पल चूर्ण करके, गुड़ तीस पल, छाने हुए घी के तीस पल मिलाकर लेह की भांति पकाये। सिद्ध हो जाने पर पन्द्रह दिन रखने के उपरान्त चाटने से यह सब अर्श, ग्रहणी रोग, श्वास और कास को नष्ट करता है ॥ १०८-१११ ॥

अन्यान्य प्रयोग—

रोध्रं तिलान्मोचरसं समङ्गां चन्दनोत्पलम् ॥ ११२ ॥
पाययित्वाऽऽजदुग्धेन शालींस्तेनैव भोजयेत् ।
यष्ट्याह्वपद्मकानन्तापयस्याक्षीरमोरटम् ॥ ११३ ॥
ससितामधु पातव्यं शीततोयेन तेन वा ।
रोध्रकट्वङ्गकुटजसमङ्गाशाल्मलीत्वचम् ॥ ११४ ॥
हिमकेसरयष्ट्याह्वसेव्यं वा तण्डुलाम्बुना ।

लोध, तिल, सेमल का गोंद, मजीठ, चन्दन, कमल इनके चूर्ण को बकरी के दूध में मिलाकर, बकरी के ही दूध से शालि चावलों को खिलाये।

मुलहठी, पद्माख, सारिवा, क्षीरविदारी और मधुस्रवा (महुआ) को शर्करा और मधु के साथ शीतल जल से या बकरी के दूध से पिलाना चाहिये।

लोध, श्योनाक, कुटज, मजीठ, सेमल की छाल, चन्दन, नागकेसर, मुलहठी और खस को चावल के धोवन से पिलाना चाहिये ॥ ११२-११४ ॥

यवान्यादि चूर्ण—

यवानीन्द्रयवाः पाठा बिल्वं शुण्ठी रसाञ्जनम् ॥ ११५ ॥
चूर्णश्च लेहितः शूले प्रवृत्ते चातिशोणिते ।

अजवायन, इन्द्रयव, पाठा, बिल्व, सोंठ, रसौत इनका चूर्ण जल से खाने पर वातजन्य शूल तथा रक्त के अतिस्राव में हितकारी है ॥ ११५ ॥

रक्तार्श में सिद्ध घृत—

दुग्धिकाकण्टकारीभ्यां सिद्धं सर्पिः प्रशस्यते ॥११६॥
अथवा धातकीरोध्रकुटजत्वक्फलोत्पलैः ।
सकेसरैर्यवक्षारदाडिमस्वरसेन वा ॥११७॥
शर्कराम्भोजकिञ्जल्कसहितं सह वा तिलैः ।
अभ्यस्तं रक्तगुदजान् नवनीतं नियच्छति ॥११८॥

(रक्तार्श में) दूधी और कटेरी से सिद्ध किया घृत अथवा धाय के फूल, लोध, कूड़े की छाल, इन्द्रजौ और कमल या नागकेसर, यवक्षार और अनार के स्वरस से सिद्ध घृत उत्तम है।

मक्खन को शर्करा तथा नागकेसर के साथ या तिलों के साथ बहुत दिनों तक सेवन करने से रक्तार्श नष्ट होता है।

रक्तार्श में पथ्य—

छागानि नवनीताज्यक्षीरमांसानि, जाङ्गलः ।
अनम्लो वा कदम्लो वा सवास्तुकरसो रसः ॥११९॥
रक्तशालिः सरो दध्नः षष्टिकस्तरुणी सुरा ।
तरुणश्च सुरामण्डः शोणितस्यौषधं परम् ॥१२०॥

बकरी के दूध का मक्खन, घी, दूध और मांस अथवा बथुए के साथ जांगल मांसरस को खटाश के बिना या थोड़े से खटाश से लेना; लाल चावल, दही की मलाई, साठी चावल, तरुणी सुरा (जो सुरा मधुर हो गई हो), तरुण-सुरामण्ड, ये रक्त की उत्तम औषधियाँ हैं ॥ ११९-१२० ॥

पेषायूषरसाद्येषु पलाण्डुः केवलोपि वा ।
स जयत्युल्बणं रक्तं मारुतं च प्रयोजितः ॥१२१॥

पेया, यूष या मांसरसादि में बरता हुआ प्याज अथवा अकेला प्याज भी बरतने पर प्रवृद्ध रक्त को और वायु को शान्त करता है ॥ १२१ ॥

वातप्रबल अर्श में प्रयत्न—

वातोल्बणानि प्रायेण भवन्त्यस्रेऽतिनिःसृते ।
अर्शांसि तस्माद्धिकं तज्जये यत्नमाचरेत् ॥१२२॥

प्रायः करके रक्त के अधिक निकल जाने पर अर्श वातप्रधान हो जाते हैं। इसलिए वात की शान्ति के लिये पूर्ण यत्न करे ॥ १२२ ॥

रक्त पित्त की प्रबलता में शीतोपचार—

दृष्ट्वाऽस्रपित्तं प्रबलमबलौ च कफानिलौ ।
शीतोपचारः कर्तव्यः सर्वथा तत्प्रशान्तये ॥१२३॥
न चेदेवं शमस्तस्य स्निग्धोष्णैस्तर्पयेत्ततः ।
रसैः, कोष्णैश्च सर्पिभिरवपीडकयोजितैः ॥१२४॥
सेचयेत्तं कवोष्णैश्च कामं तैलपयोघृतैः ।

रक्तपित्त को बढ़ा हुआ देख कर और कफ एवं वायु को निर्बल जानकर रक्त की शान्ति के लिये शीतल उपचार सम्पूर्ण रूप में करना चाहिये। यदि इससे रक्तस्राव बन्द न हो तो स्निग्ध-उष्ण मांसरसों से तर्पण करे तथा अवपीडक (रोगानुत्पादनीयोक्त-हृ० सू० अ० ४।६) कोष्ण घृतों से तर्पण करे। अर्श पर कवोष्ण तैल, दूध और घी से आवश्यकतानुसार परिषेक करे ॥ १२३-१२४ ॥

पिच्छावस्ति—

यवासकुशकाशानां मूलं पुष्पं च शाल्मलेः ॥१२५॥
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ।
त्रिप्रस्थे सलिलस्यैतत्क्षीरप्रस्थे च साधयेत् ॥१२६॥
क्षीरशेषे कषाये च तस्मिन् पूते विमिश्रयेत् ।
कल्कीकृतं मोचरसं समङ्गां चन्दनोत्पलम् ॥१२७॥
प्रियङ्गुं कौटजं बीजं कमलस्य च केसरम् ।
पिच्छावस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः ॥१२८॥
प्रवाहिकागुदभ्रंशरक्तस्रावज्वरापहः ।

धमासा, कुश तथा काश की मूल, सेमल के फूल, बरगद, पीपल, गूलर के कोमल अंकुर प्रत्येक दो पल, जल तीन प्रस्थ और दूध एक प्रस्थ लेकर इन सबका पाक करे। जब केवल दूध मात्र शेष रह जाये तब कषाय को छान कर इसमें सेमल की गोंद, मजीठ, चन्दन, केसर, प्रियङ्गु, इन्द्रजौ तथा कमल का केसर पीस कर मिलाये। यह प्रसिद्ध पिच्छावस्ति घी, मधु, शर्करा के साथ देने पर प्रवाहिका, गुदभ्रंश, रक्तस्राव और ज्वर का नाश करती है। [मोचरसादि की मात्रा एक कर्ष लेनी चाहिये] ॥ १२५-१२८ ॥

अनुवासनविधि—

यष्ट्याह्वपुण्डरीकेण तथा मोचरसादिभिः ॥१२९॥
क्षीरद्विगुणितः पक्वो देयः स्नेहोऽनुवासनम् ।

मुलहठी, पुण्डरीक तथा पूर्वोक्त मोचरस आदि के कल्कों से दूध से दुगुना सिद्ध किया तैल अनुवासनमें देना चाहिये।

त्रिदोषघ्न मधुकादि घृत—

मधुकोत्पलरोध्राम्बुसमङ्गाबिल्वचन्दनम् ॥१३०॥
चविकाऽतिबिषा मुस्तं पाठा क्षारो यवाग्रजः ।
दार्वीत्वङ्नागरं मांसी चित्रको देवदारु च ॥१३१॥
चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः साधितं तैस्त्रिदोषजित् ।
अर्शोतिसारग्रहणीपाण्डुरोगज्वरारुचौ ॥१३२॥
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशे वस्त्यानाहे प्रवाहणे ।
पिच्छास्रावेऽर्शसां शूले देयं तत्परमौषधम् ॥१३३॥

मुलहठी, कमल, लोध, मुस्ता, मजीठ, बिल्व, चन्दन, चविका, अतीस, भद्रमोथा, पाठा, यवक्षार, दारुहल्दी की छाल, सोंठ, जटामांसी, चित्रक, देवदारु, इनसे (कल्क से) चाङ्गेरी के स्वरस में सिद्ध किया घृत त्रिदोषनाशक है। इसे अर्श, अतीसार, ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, ज्वर, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, गुदभ्रंश, वस्ति, आनाह, प्रवाहिका, पिच्छास्राव, और अर्शजन्य शूल में देना चाहिये, क्योंकि यह इनकी श्रेष्ठ औषध है ॥ १३०-१३३ ॥

व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत् ।
नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शःकृतान् गदान् ॥ १३४ ॥

अग्निबल की अपेक्षा से अदल-बदल करते हुए शीत एवं उष्ण तथा मधुर एवं अम्ल रसों से बरतने से रोगी अर्शजन्य रोगों से मुक्त होता है ॥ १३४ ॥

उदावर्त में स्वेदादि—

उदावर्तार्तमभ्यज्य तैलैः शीतज्वरापहैः ।
सुस्निग्धैः स्वेदयेत्पिण्डैर्वर्तिमस्मै गुदे ततः ॥१३५॥
अभ्यक्तां तत्कराङ्गुष्ठसन्निभामनुलोमनीम् ।
दद्याच्छ्यामात्रिवृद्दन्तीपिप्पलीनीलिनीफलैः ॥१३६॥
विचूर्णितैर्द्विलवणैर्गुडगोमूत्रसंयुतैः ।
तद्वन्मागधिकाराठगृहधूमैः ससर्षपैः ॥ १३७ ॥

उदावर्त रोगी को शीतज्वरनाशक (तगरागुरुकुंकुमादि) तैलों से अभ्यङ्ग करके अतिस्निग्ध पिण्डियों से स्वेद देवे। स्वेदन के उपरान्त इस रोगी की गुदा में अभ्यङ्ग करके स्निग्ध वर्त्ति देवे। यह वर्त्ति हाथ के अंगूठे के समान और वायु का अनुलोमन करने वाली होनी चाहिये। अनन्तमूल, निशोथ, दन्ती, पिप्पली, नीलिनी और मैनफल का चूर्ण करके सैन्धव, सौवर्चल, गुड़ और गोमूत्र मिलाकर वर्त्ति बनाये। इसी प्रकार पिप्पली, मैनफल, घर के धुआं और सरसों से गुड़ एवं गोमूत्र मिलाकर वर्त्ति बनाये ॥ १३५-१३७ ॥

एतेषामेव वा चूर्णं गुदे नाड्या विनिर्धमेत् ।

इन्हीं (वर्त्तिद्रव्यों) के चूर्ण को नाड़ी द्वारा गुदा में फूंके।

स्निग्ध वस्ति का प्रयोग—

तद्विघाते सुतीक्ष्णं तु वस्तिं स्निग्धं प्रपीडयेत् ॥१३८॥
ऋजूकुर्याद्गुदशिराविण्मूत्रमरुतोऽस्य सः ।
भूयोऽनुबन्धे वातघ्नैर्विरेच्यः स्नेहरेचनैः ॥ १३९ ॥
अनुवास्यश्च रौक्ष्याद्धि सङ्गो मारुतवर्चसोः ।

इन वर्त्ति तथा चूर्णके निष्फल हो जाने पर अतितीक्ष्ण स्नेह वस्ति देवे। यह स्नेहवस्ति रोगी की गुदा की सिरायें, मल, मूत्र और वायु को सरल कर देती हैं। फिर भी रुकावट होने पर वातघ्न स्नेह विरेचनों (एरण्डतैल आदि) से विरेचन और अनुवासन देना चाहिए, क्योंकि वायु और मल का अवरोध रूक्षता के कारण होता है ॥ १३८-१३९ ॥

कल्याणक क्षार—

त्रिपटुत्रिकटुश्रेष्ठादन्त्यरुष्करचित्रकम् ॥ १४० ॥
जर्जरं स्नेहमूत्राक्तमन्तर्धूमं विपाचयेत् ।
शरावसन्धौ मृल्लिप्ते क्षारः कल्याणकाह्वयः ॥ १४१ ॥
स पीतः सर्पिषा युक्तो भक्ते वा स्निग्धभोजिना ।
उदावर्तविबन्धार्शोगुल्मपाण्डूदरक्रिमीन् ॥ १४२ ॥
मूत्रसङ्गाश्मरीशोफहृद्रोगग्रहणीगदान् ।
मेहप्लीहरुजानाहश्वासकासांश्च नाशयेत् ॥ १४३ ॥

कल्याणक क्षार—सैन्धव, संचल, विड नमक, त्रिकटु, त्रिफला, दन्ती, भिलावा और चित्रक को कूटकर स्नेह (तैल या घी) और गोमूत्र में मिलाकर शराव (सकोरे) में रक्खे। शराव-सन्धि को मिट्टी से लिप्त करके अन्तर्धूम विधि से जलाये। कल्याणक क्षार घी के साथ पीने या भोजन के साथ खाने से स्निग्धभोजी मनुष्य के मूत्रसंग, अश्मरी, शोफ, हनुग्रह, ग्रहणीरोग, प्रमेह, प्लीहा, आनाह, श्वास और कास को नष्ट करता है ॥ १४०-१४३ ॥

अन्य उपाय—

सर्वं च कुर्याद्यत्प्रोक्तमर्शसां गाढवर्चसाम् ।

गाढ़ मल वाले अर्श रोगियों के लिये कही गई सम्पूर्ण चिकित्सा यहां भी बरते।

अन्य योग—

द्रोणेऽपां पूतिवल्काद्द्वितुलमथ पचेत्
पादशेषे च तस्मिन्
देयाऽशीतिर्गुडस्य प्रतनुकरजसो
व्योषतोऽष्टौ पलानि ।
एतन्मासेन जातं जनयति परमा-
मूष्मणः पक्तिशक्तिं
शुक्तं कृत्वाऽऽनुलोम्यं प्रजयति गुदज-
प्लीहगुल्मोदराणि ॥ १४४ ॥

जल एक द्रोण लेकर इसमें पूतिकरञ्ज की छाल दो तुला मिलाकर क्वाथ करे। चौथाई शेष रह जाने पर छानकर इसमें गुड़ अस्सी पल, त्रिकटु का सूक्ष्म चूर्ण आठ पल मिलाकर रख देवे। एक मास के उपरान्त शुक्त बन जाने पर लेने से यह अग्नि को प्रबल करता है। वायु आदि का अनुलोमन करके अर्श, प्लीहा, गुल्म और उदर रोगों को नष्ट करता है।

पचेत्तुलां पूतिकरञ्जवल्काद्
द्वे मूलतश्चित्रककण्टकार्योः ।
द्रोणत्रयेऽपां चरणावशेषे
पूते शतं तत्र गुडस्य दद्यात् ॥ १४५ ॥
पलिकं च सुचूर्णितं त्रिजात-
त्रिकटुग्रन्थिकदाडिमाश्मभेदम् ।
पुरपुष्करमूलधान्यचव्यं
हपुषामार्द्रकमम्लवेतसं च ॥ १४६ ॥
शीतीभूतं क्षौद्रविंशत्युपेत-
मार्द्रद्राक्षाबीजपूरार्द्रकैश्च ।
युक्तं कामं गण्डिकाभिस्तथेक्षोः
सर्पिःपात्रे मासमात्रेण जातम् ॥ १४७ ॥
चुक्रं क्रकचमिवेदं दुर्नाम्नां वह्निदीपनं परमम् ।
पाण्डुगरोदरगुल्मप्लीहानाहाश्मकृच्छ्रघ्नम् ॥ १४८ ॥

पूतिकरञ्ज की छाल एक सौ पल, चित्रकमूल और कटेरी

दो तुला (दो सौ पल), जल तीन द्रोण लेकर क्काथ करे। चौथाई शेष रह जाने पर छानकर इसमें गुड़ एक सौ पल, त्रिजातक (त्वगेलापत्रक), त्रिकटु, पिप्पलीमूल, अनारदाना, पाषाणभेद, गुग्गुलु, पुष्करमूल, धनिया, चव्य, हपुषा, आर्द्रक, अम्लवेतस प्रत्येक एक २ पल लेकर इनका सूक्ष्म चूर्ण मिलाले। शीतल हो जाने पर इसमें मधु बीस पल, हरी द्राक्षा (अंगूर), बिजौरा, आर्द्रक और गन्नेकी गण्डेरियोंको इच्छानुसार मिलाकर घी के पात्र में एक-मास तक रख देवे। एक मास के उपरान्त चुक्र बन जाने पर यह आरी के समान अर्शों को काटता है, अतिशय अग्निदीपक है, पाण्डुरोग, उदर, गुल्म, प्लीहा, आनाह, पथरी और मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है ॥ १४५-१४८ ॥

द्रोणं पीलुरसस्य वस्त्रगलितं न्यस्तं हविर्भाजने
युञ्जीत द्विपलैर्मदामधुफलाखर्जूरधात्रीफलैः ।
पाठामाद्रिदुरालभाम्लविदुलव्योषत्वगेलोल्लकैः
स्पृक्काकोलवङ्गचेल्लचपलामूलाग्निकैः पालिकैः ॥
गुडपलशतयोजितं निवाते
निहितमिदं प्रपिबंश्च पक्षमात्रात् ।
निशमयति गुदाङ्कुरान् सगुल्मा-
ननलबलं प्रबलं करोति चाशु ॥ १५० ॥

पीलुफल का रस एक द्रोण, वस्त्र में छानकर घी के पात्र में रखकर इसमें धातकी, द्राक्षा, खजूर, आंवला, प्रत्येक दो दो पल, पाठा, रेणुका, धमासा, अम्लवेतस, त्रिकटु, दालचीनी, इलायची, कुटकी, स्पृक्का (असवर्ग), बेर, लौंग, वाय-विडङ्ग, पिप्पलीमूल, चित्रक, प्रत्येक एक-एक पल और गुड़ एक सौ पल मिलाकर वायुरहित स्थान में रख देवे। पन्द्रह दिन उपरान्त इसके पीने से यह अर्श तथा गुल्म को शीघ्र नष्ट करता है और अग्नि को प्रबल बनाता है ॥१४९-१५०॥

पकैकशो दशपले दशमूलकुम्भ-
पाठाभयार्कघुणवल्लभकट्फलानाम् ।
दग्धे स्रुतेऽनु कलशेन जलेन पक्वे
पादस्थिते गुडतुलां, पलपञ्चकं च ॥ १५१ ॥
दद्यात्प्रत्येकं व्योषचव्याभयानां
वह्नेर्मुष्टी द्वे यवक्षारतश्च ।
दर्वीमालिम्पन् हन्ति लीढो गुडोऽयं
गुल्मप्लीहार्शःकुष्ठमेहाग्निसादान् ॥ १५२ ॥

दशमूल, कुम्भ (दन्ती), पाठा, हरड़, आक, अतीस, कट्फल, प्रत्येक दस-दस पल लेकर इनको जला देवे। इस राख को एक द्रोण जल में घोलकर छान लेवे। छने हुए जल को क्काथ करे। चौथाई रह जाने पर इसमें गुड़ एक सौ पल, त्रिकटु, चव्य और हरड़, प्रत्येक पाँच-पाँच पल, चित्रक और यवक्षार दो-दो पल, मिलाकर पकाये। जब लेह कलछी पर लगने लगे तब उतार ले। चाटा हुआ यह गुड़ गुल्म, प्लीहा, अर्श, कुष्ठ, प्रमेह और अग्निमान्द्य को नष्ट करता है।

तोयद्रोणे चित्रकमूलतुलार्धं
साध्यं यावत्पाददलस्थमथेदम् ।
अष्टौ दत्त्वा जीर्णगुडस्य पलानि
क्वाथ्यं भूयः सान्द्रतया सममेतत् ॥ १५३ ॥
त्रिकटुकमिसिपथ्याकुष्ठमुस्तावराङ्ग-
क्रिमिरिपुदहनैलाचूर्णकीर्णोऽवलेहः ।
जयति गुदजकुष्ठप्लीहगुल्मोदराणि
प्रबलयति हुताशं शश्वदभ्यस्यमानः ॥१५४॥

चित्रकमूल आधी तुला (पचास पल) लेकर एक द्रोण जल में क्काथ करे। जब अष्टमांश शेष रह जाये तब छान कर इसमें पुरातन गुड आठ पल मिलाकर फिर पकाये। जब यह घट्ट बन जाये, तब इसमें त्रिकटु, सौंफ, हरड़, कूठ, मुस्ता, दालचीनी, वायविडङ्ग, चित्रक और इलायची का चूर्ण मिलाये। यह अवलेह अर्श, कुष्ठ, प्लीहा, गुल्म और उदर रोग को नष्ट करता है तथा निरन्तर अभ्यास से अग्नि को बढ़ाता है ॥ १५३-१५४ ॥

त्रिकुटाद्य गुटिका—

गुडव्योषवरावेल्लतिलारुष्करचित्रकैः ।
अर्शांसि हन्ति गुलिका त्वग्विकारं च शीलिता ॥

गुड़, त्रिकटु, त्रिफला, वायविडंग, तिल, भिलावा और चित्रक से बनाई गुटिका अर्श तथा कुष्ठ को नष्ट करती है।

सूरणभक्षण—

मृल्लिप्तं सौरणं कन्दं पक्त्वाऽग्नौ पुटपाकवत् ।
अद्यात्सतैललवणं दुर्नामविनिवृत्तये ॥ १५६ ॥

सूरणकन्द को मिट्टी से लपेट कर अग्नि में पुटपाक की भाँति पका कर तैल और नमक के साथ खाने से अर्श अच्छे होते हैं ॥ १५६ ॥

गुडादि गुटिका—

मरिचपिप्पलिनागरचित्रकान्
क्रमविवर्धितभागसमाहृतान् ।
शिखिचतुर्गुणसूरणयोजितान्
कुरु गुडेन गुडान् गुदजच्छिदः ॥ १५७ ॥

मरिच, पिप्पली, सोंठ, चित्रक इनको क्रमशः एक-एक भाग बढ़ाते हुए लेकर सूरण को चित्रक से चार गुना लेवे। इनकी गुड़ के साथ बटिकायें बनाये, ये अर्शनाशक हैं ॥

प्रकारान्तर से सूरण का प्रयोग—

चूर्णीकृताः षोडश सूरणस्य
भागास्ततोऽर्धेन च चित्रकस्य ।
महौषधाद् द्वौ मरिचस्य चैको
गुडेन दुर्नामजयाय पिण्डी ॥ १५८ ॥

सूरण का चूर्ण सोलह भाग, चित्रक आठ भाग, सोंठ, दो

भाग, मरिच एक भाग इनमें गुड़ (चूर्ण से) दुगुना मिला कर अर्श रोग के नाश के लिये वटिकायें बनाये ॥ १५८ ॥

वडवानल चूर्ण—

पथ्यानागरकृष्णाकरञ्जवेल्लाग्निभिः सितातुल्यैः ।
वडवामुख इव जरयति बहुगुर्वपि भोजनं चूर्णः ॥

हरड़, सोंठ, पिप्पली,करंज, विडंग, चित्रक प्रत्येक समान भाग लेकर सबके बराबर शर्करा मिलाये। यह चूर्ण वडवानल के समान बहुत और भारी भोजन को भी जीर्ण कर देता है।

कलिङ्गादि चूर्ण—

कलिङ्गलाङ्गलीकृष्णावह्न्यपामार्गतण्डुलैः ।
भूनिम्बसैन्धवगुडैर्गुडा गुदजनाशनाः ॥ १६० ॥

इन्द्रजौ, कलिहारी, पिप्पली, चित्रक, चिरचिटे का बीज, चिरायता, सैंधव और गुड़ से बनाये वटक अर्शनाशक हैं।

लवणोत्तमादि चूर्ण—

लवणोत्तमवह्निकलिङ्गयवां-
श्चिरबिल्वमहापिचुमन्दयुतान् ।
पिब सप्तदिनं मथितालुलितान्
यदि मर्दितुमिच्छसि पायुरुहान् ॥ १६१ ॥

यदि अपने अर्शों को नष्ट करना चाहते हैं तो सैन्धव, चित्रक, इन्द्रजौ, करंड और बकायन को तक्र में घोल कर सात दिन पिओ ॥ १६१ ॥

उपसंहार—

शुष्केषु भल्लातकमग्र्यमुक्तं भैषज्यमार्द्रेषु तु वत्सकत्वक् ।
सर्वेषु सर्वर्तुषु कालशेयमर्शःसु बल्यं च मलापहं च ॥

सूखे अर्शों के लिये भिलावा श्रेष्ठ है। गीले अर्शों (खूनी बवासीरों) के लिये कुड़े की छाल उत्तम है। सब प्रकार के अर्शों में और सब ऋतुओंमें तक्र बलकारक और दोषनाशकहै।

भित्त्वा विबन्धाननुलोमनाय यन्मारुतस्याग्निबलाय यच्च
तदन्नपानौषधमर्शसेन सेव्यं विवर्ज्यं विपरीतमस्मात् ॥

वातकफजन्य विबन्ध (अवरोध) का नाश करके वायु के अनुलोमन के लिये तथा अग्नि के बल को बढ़ाने के लिये जो भी खान-पान है, वह सब अर्श रोग में पथ्य है तथा इससे विपरीत अपथ्य है, अतः उसे छोड़ना चाहिये।

अर्शोऽतिसारग्रहणीविकाराः
प्रायेण चान्योन्यनिदानभूताः ।
सन्नेऽनले सन्ति, न सन्ति दीप्ते,
रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम् ॥ १६४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायां-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने-
ऽर्शश्चिकित्सितं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

* * *

अर्श, अतिसार और ग्रहणी रोग प्रायः एक दूसरे रोग के कारण होते हैं। अग्नि के मन्द होने पर ये तीनों रोग होते हैं और अग्नि के प्रदीप्त होने पर नहीं होते। इसलिये इन रोगों में विशेष कर अग्नि की रक्षा करनी चाहिये ॥ १६४ ॥

वक्तव्य—प्रसिद्ध तन्त्रान्तरोक्त औषध —

(१) 'हरीतकी तिलान् धात्रीं मृद्वीकां मधुकं तथा ।
पटूषकेण तोयेन पिबेदर्शोनिवृत्तये ॥'

(२) बाहुशाल गुड, चन्द्रप्रभा, प्राणदा गुटिका, कुटज-लेह(रक्तार्शमें), शूरणमोदक,अग्निमुख लौह, सैन्धवादि चूर्ण।

(३) 'तिलारुष्ककसंयोगं भक्षयेदग्निवर्धनम्।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का अर्शश्चिकित्सित नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

अथातोऽतीसारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे अतिसारचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

अतिसार में लङ्घन—

अतीसारो हि भूयिष्ठं भवत्यामाशयान्वयः ।
हत्वाऽग्निं वातजेऽप्यस्मात्प्राक् तस्मिंल्लङ्घनं हितम् ॥

क्योंकि अतीसार रोग प्रायः अग्नि को मन्द करके आमाशय से उत्पन्न होता है, इसलिये वातजन्य अतीसार में भी लङ्घन करना हितकारी है ॥ १ ॥

शूलादि से युक्त अतिसार में वमन—

शूलानाहप्रसेकार्तं वामयेदतिसारिणम् ।

अतीसार रोगी को शूल, आनाह और लालाप्रसेक हो तो वमन कराना चाहिये।

अधिक दोष में आरम्भ में उपेक्षा—

दोषाः सन्निचिता ये च विदग्धाहारमूर्छिताः ॥ २ ॥
अतिसाराय कल्पन्ते तेषूपेक्षैव भेषजम् ।
भृशोत्क्लेशप्रवृत्तेषु स्वयमेव चलात्मसु ॥ ३ ॥

जो दोष अतिशय बढ़े हुए हों तथा विदग्ध (पक्व-अपक्व) आहार से मिलकर अतीसार रोग उत्पन्न करते हों, अतिशय उत्क्लेशित होकर प्रवृत्त हुए दोषों में एवं यत्न के बिना जो दोष स्वयं गतिमान हों, उनकी उपेक्षा ही औषध है अर्थात् दोषों को भली प्रकार निकलने देना ही इनकी औषध है।

आमातिसार में संग्रहण का निषेध—

न तु संग्रहणं योज्यं पूर्वमामातिसारिणि ।
अपि चाध्मानगुरुताशूलस्तैमित्यकारिणि ॥ ४ ॥
प्राणदा प्राणदा दोषे विबद्धे सम्प्रवर्तिनी ।

आमातिसार रोगी में प्रथम संग्राहक औषध नहीं देनी चाहिये। किन्तु दोष के थोड़ा-थोड़ा प्रवृत्त होने से रोगी को आध्मान, भारीपन, शूल और स्तिमितता होने पर हरड़ देना चाहिये। यह हरड़ प्राणों को देने वाली और विबद्ध दोषों को प्रवृत्त करने वाली है ॥ २-४ ॥

वक्तव्य—हरड़ के चूर्ण को छः मासा सोंठ या पिप्पली चूर्ण मिलाकर, गरम पानी से प्रातः सूर्य निकलने से पूर्व देना चाहिए।

मध्यदोषातिसार में चार क्वाथ—

पिबेत् प्रक्वथितास्तोये मध्यदोषो विशोषयन् ॥ ५ ॥
भूतीकपिप्पलीशुण्ठीवचाधान्यहरीतकीः ।
अथवा बिल्वधनिकामुस्तनागरवालकम् ॥ ६ ॥
बिडपाठावचापथ्याकृमिजिन्नागराणि वा ।
शुण्ठीघनवचाभार्ङ्गीबिल्ववत्सकहिङ्गु वा ॥ ७ ॥

मध्य दोष वाला अतिसाररोगी लंघन करता हुआ १. अजवायन, पिप्पली, सोंठ, वच, धनिया और हरड़ को प्रमथ्या रूप में पानी में क्वाथ करके पिये अथवा २. बिल्व, धनिया, मोथा, सोंठ और नेत्रबाला को अथवा ३. बिडनमक, पाठा, वच, हरड़, वायविडंग और सोंठ को अथवा ४. सोंठ, मुस्ता, वच, पिप्पली, बिल्व, इन्द्रजौ, हींग को प्रमथ्या रूप में पिये ॥ ५-७ ॥

वक्तव्य—प्रक्वथित = प्रमथ्या रूप में क्वाथ, 'प्रमथ्या' संज्ञा दीपन-पाचन द्रव्यों के विशेष कल्पना की है। यथा—'श्रृतः कषायो निर्यूहः क्वाथो यूषोऽकृतश्च सः। कृतयूषः प्रमथ्या च द्रव्यात्कल्कीकृताच्छृतः ॥' पकाकर कषाय को छान लेना निर्यूह या क्वाथ, क्वाथ्य कल्क को मलकर बिना संस्कार के नितार लेना यूष तथा द्रव्य को पीसकर कल्क रूप में जो कृत (संस्कारित) यूष किया जाता है, उसी को प्रमथ्या कहते हैं। 'प्रमथ्यां मध्यदोषेभ्यो दद्याद्दीपनपाचनीम् ॥' (चरक।)

अल्पदोषातिसार की चिकित्सा—

शस्यते त्वल्पदोषाणामुपवासोऽतिसारिणाम् ।

अल्पदोष वाले अतिसाररोगियों के लिये उपवास ही उत्तम है।

प्यास में पेय जल—

वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तापर्पटकेन वा ॥ ८ ॥
ह्रीबेरनागराभ्यां वा विपक्वं पाययेज्जलम् ।

प्यास लगने पर दोष के अनुसार वच और अतीस से अथवा मोथा और पित्तपापड़ा से या ह्रीबेर (नेत्रबाला) और सोंठ से पकाया जल देवे ॥ ८ ॥

अतिसार में पथ्य—

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघ्वन्नं प्रतिभोजयेत् ॥ ९ ॥
तथा स शीघ्रं प्राप्नोति रुचिमग्निबलं बलम् ।

योग्य अन्नकाल में भूख से बेचैन अतीसार रोगी को पेया आदि लघु अन्न थोड़ी मात्रा में खिलाये। इस प्रकार से उसे जल्दी ही रुचि (भोजन में इच्छा), अग्निबल और शारीरिक बल मिलता है ॥ ९ ॥

अतिसार में पान—

तक्रेणावन्तिसोमेन यवाग्वा तर्पणेन वा ॥ १० ॥
सुरया मधुना वाऽथ यथासात्म्यमुपाचरेत् ।

अतिसार रोगी के सात्म्य के अनुसार तक्र, कांजी या यवागू या सत्तुओं के तर्पण या सुरा अथवा मधु (मद्य) से चिकित्सा करे (पान रूप में दे) ॥ १० ॥

अतिसार में भोजन—

भोज्यानि कल्पयेदूर्ध्वं ग्राहिदीपनपाचनैः ॥ ११ ॥
बालबिल्वशटीधान्यहिङ्गुवृक्षाम्लदाडिमैः ।
पलाशहपुषाजाजीयवानीबिडसैन्धवैः ॥ १२ ॥
लघुना पञ्चमूलेन पञ्चकोलेन पाठया ।

(लंघनादि के बाद) अतीसार रोगी के लिये संग्राही, दीपक और पाचन द्रव्यों से भोजनों को पकाये। वे द्रव्यः—कच्ची बेलगिरि, कचूर, धनिया, हींग, वृक्षाम्ल, अनारदाना, ढाक, हाऊबेर, जीरा, अजवायन, बिडनमक, सैन्धव, लघु पंचमूल, पिप्पल्यादि पंचकोल और पाठा ये सब हैं ॥ ११-१२ ॥

अतिसार में पेया—

शालिपर्णीबलाबिल्वैः पृश्निपर्ण्या च साधिता ॥ १३ ॥
दाडिमाम्ला हिता पेया कफपित्ते समुल्बणे ।
अभयापिप्पलीमूलबिल्वैर्वातानुलोमनी ॥ १४ ॥

शालपर्णी, बला, बिल्व और पृश्निपर्णी से बनाई एवं अनारदाने से खट्टी की हुई पेया प्रबल कफ-पित्त में उत्तम है।

हरड़, पिप्पलीमूल और बिल्व से बनाई पेया वायु का अनुलोमन करती है ॥ १३-१४ ॥

बहुदोषातिसार-चिकित्सा—

विबद्धं दोषबहुलो दीप्ताग्निर्योऽतिसार्यते ।
कृष्णाविडङ्गत्रिफलाकषायैस्तं विरेचयेत् ॥ १५ ॥
पेयां युञ्ज्याद्विरिक्तस्य वातघ्नैर्दीपनैः कृताम् ।

बहुत दोष वाला रोगी जिसमें रुक-रुक कर मल बाहर आता हो, उसकी अग्नि यदि प्रदीप्त हो तो पिप्पली, वायविडंग और त्रिफला के कषायों से विरेचन लेवें। विरेचन के पीछे वातनाशक एवं दीपनीय द्रव्यों से बनाई पेया पिये। (वातघ्न-दीपनीय=शालिपर्ण्यादि या पंचकोल प्रभृति द्रव्य)।

पक्वातिसार-चिकित्सा—

आमे परिणते यस्तु दीप्तेऽग्नावुपवेश्यते ॥ १६ ॥
सफेनपिच्छं सरुजं सविबन्धं पुनः पुनः ।
अल्पाल्पमल्पशमलं निर्विड् वा सप्रवाहिकम् ॥ १७ ॥
दधितैलघृतक्षीरैः सशुण्ठीं सगुडां पिबेत् ।
स्विन्नानि गुडतैलेन भक्षयेद्बदराणि वा ॥ १८ ॥

गाढविड्विहितैः शाकैर्बहुस्नेहैस्तथा रसैः ।
क्षुधितं भोजयेदेनं दधिदाडिमसाधितैः ॥ १९ ॥
शाल्योदनं तिलैर्माषैर्मुद्गैर्वा साधु साधितम् ।
शट्या मूलकपोतायाः पाठायाः स्वस्तिकस्य वा ॥२०॥
सूषायवानीकर्कारुक्षीरिणीचिर्भटस्य वा ।
उपोदकाया जीवन्त्या वाकुच्या वास्तुकस्य वा ॥२१॥
सुवर्चलायाश्चुञ्चोर्वा लोणिकाया रसैरपि ।
कूर्मवर्तकलोपाकशिखितित्तिरिकौक्कुटैः ॥ २२ ॥

आमदोष के पच जाने से निरामावस्था आ जाने पर, अग्नि प्रदीप्त होने पर जो रोगी फेन-झाग और पिच्छा से मिश्रित, पीड़ा एवं रुकावट के साथ बार-बार, थोड़ा-थोड़ा, थोड़े मल वाला या मलरहित और प्रवाहिकायुक्त मल का त्याग करता है; वह दधि, तैल, घी और दूध के साथ गुड़ और सोंठ को पिये। अथवा उबाले बेरों को गुड़ और तैल से खाये। भूख लगने पर गाढ़े मल वाले अर्श में कहे वास्तुक आदि (चि. अ. ८।८० श्लोक) शाकों में तथा मांसरसों में प्रचुर स्नेह मिलाकर दही, अनारदाने से सिद्ध करके शालि चावलों का भात खावे। अथवा तिल, माष, मूंग इनके यूषों की भली प्रकार बनाकर इनके साथ भात देवे। इसी प्रकार कचूर, कच्ची मूली, पाठा, स्वस्तिक, सूषा, अजवायन, खीरा, दूध, ककड़ी, पोई, जीवन्ती, बावची, बथुआ, सुवर्चला, चंचु और लोणी शाकों से अथवा कछुआ, बटेर, लोमड़ी, मोर, तीतर और मुर्गे के मांसरसों से भोजन-शालि का भात देवे ॥ १६-२२ ॥

वक्तव्य—प्रवाहिका—(१) 'स्नुते रक्ते पुरीषे च वायुना विड्विवर्जितम् । प्रवाहिकेति विख्यातं यत् फेनाभं प्रवर्तते ॥ (२) निर्वाहयेत्सफेनं च निष्पुरीषं मुहुर्मुहुः । प्रवाहिकेति सा ख्याता कैश्चिन्निश्चारकश्च सः ॥'

पक्वातिसार में यवागू—

बिल्वमुस्ताक्षिभैषज्यधातकीपुष्पनागरैः ।
पक्वातीसारजित्तक्रे यवागूर्दाधिकी तथा ॥ २३ ॥
कपित्थकच्छुराफञ्जीयूथिकावटशेलुजैः ।
दाडिमीशणकार्पासीशाल्मलीनां च पल्लवैः ॥ २४ ॥

बिल्व, मुस्ता, अक्षिभैषज्य (लोध), धाय के फूल और सोंठ से तक्र में बनाई यवागू पक्वातीसारनाशक है। कैथ, कौंच, फञ्जी, चमेली, बरगद और लिसोड़े के पत्तों से अथवा अनार, शण, कपास और सेमल के पत्तों से दही में सिद्ध की हुई यवागू पक्वातीसारनाशक है ॥ २३-२४ ॥

प्रवाहिका-चिकित्सा—

कल्के बिल्वशलाटूनां तिलकल्कश्च तत्समः ।
दध्नः सरोऽम्लः सस्नेहः खलो हन्ति प्रवाहिकाम् ॥

कच्चे-छोटे बिल्वों का कल्क, इनके बराबर तिल का कल्क, दही की खट्टी मलाई, इनसे बनाई और थोड़े घृत आदि से चिकनाया गया खल (खड) प्रवाहिका को नष्ट करता है।

अपराजितखड—

मरिचं धनिकाऽजाजी तिन्तिडीकं शटी विडम् ।
दाडिमं धातकी पाठा त्रिफला पञ्चकोलकम् ॥ २६ ॥
यावशूकं कपित्थाम्रजम्बूमध्यं सदीप्यकम् ।
पिष्टैः षड्गुणबिल्वैस्तैर्दध्नि मुद्गरसे गुडे ॥ २७ ॥
स्नेहे च यमके सिद्धः खडोऽयमपराजितः ।
दीपनः पाचनो ग्राही रुच्यो बिम्बिशिनाशनः ॥ २८ ॥

मरिच, धनियां, जीरा, इमली, कचूर, विड, अनारदाना, धातकीफूल, पाठा, त्रिफला, पञ्चकोल, यवक्षार, कैथ, आम और जामुन का गूदा तथा अजवायन को पीसकर इनमें बिल्व की मज्जा-छगुनी मिलाकर मूँग के रस, गुड़ तथा तैल और घी में सिद्ध करे। यह अपराजित खड अग्निदीपक, पाचक, ग्राही, रुचिकारक और प्रवाहिकानाशक है ॥२६-२८॥

पक्वातिसार में यूष-रस आदि—

कोलानां बालबिल्वानां कल्कैः शालियवस्य च ।
मुद्गमाषतिलानां च धान्ययूषं प्रकल्पयेत् ॥ २९ ॥
एकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसारिकम् ।
वर्चःक्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत् ॥ ३० ॥
दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम् ।
सुरां वा यमके भृष्टां व्यञ्जनार्थं प्रयोजयेत् ॥ ३१ ॥
फलाम्लं यमके भृष्टं यूषं गृञ्जनकस्य वा ।
भृष्टान् वा यमके सक्तून् खादेद्व्योषावचूर्णितान् ॥३२॥
माषान् सुसिद्धांस्तद्वद्वा घृतमण्डोपसेवनान् ।
रसं सुसिद्धपूतं वा छागमेषान्तराधिजम् ॥ ३३ ॥
पचेद्दाडिमसाराम्लं सधान्यस्नेहनागरम् ।
रक्तशाल्योदनं तेन भुञ्जानः प्रपिबंश्च तम् ॥ ३४ ॥
वर्चःक्षयकृतैराशु विकारैः परिमुच्यते ।

बेर, कच्चे बिल्व, शालिधान्य, जौ, मूँग, उड़द और तिल का कल्क, इन सबको मिलाकर घी और तैल में भूनकर दही और अनारदाना मिलाकर धान्ययूष बनाये। मल का क्षय होने पर और मुख सूखने पर इससे शालिधान्य का भात खिलाये। तैल और घी में दही की मलाई को भूनकर, गुड़ और सोंठ मिलाकर अथवा सुरा को घी और तैल में भूनकर व्यंजन के लिये देवे। अम्ल फलों के रस को या गाजर (अथवा शलजम) के यूष को तैल एवं घी में भूनकर खाये। अथवा सत्तुओं को घी और तैल में भूनकर त्रिकटु का चूर्ण मिलाकर खाये। अथवा इसी प्रकार उड़दों को पकाकर घृत-मण्ड के साथ खाये। अथवा बकरी और भेड़ के मध्य भाग (कलेजा) के मांसरस को भली प्रकार सुन्दर बनाकर (पहले पकाये और फिर छान ले) इसमें अनारदाने की खटाई एवं धनिया, सोंठ, घी मिलाकर व्यंजन रूप में पकाये। इस मांसरस के साथ लाल चावलों का भात खाता

हुआ और इस मांसरस को पीता हुआ रोगी मलक्षयजन्य विकारों से (ह. सू. अ. ११।२१) शीघ्र मुक्त हो जाता है ।

बालबिल्वादि लेह—

बालबिल्वं गुडं तैलं पिप्पलीं विश्वभेषजम् ॥ ३५ ॥
लिह्याद्वाते प्रतिहते सशूलः सप्रवाहिकः ।

कच्चा बिल्व, गुड़, तैल, पिप्पली और सोंठ को वायु के अवरोध में और शूलयुक्त प्रवाहिका में चाटे ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—'पथ्यां लिहन् मधुयुतामथवा गुडेन'-हरड़ को मधु या गुड़ से खाये-उत्तम योग है ।

प्रयोगान्तर—

वल्कलं शाबरं पुष्पं धातक्या बदरीदलम् ॥ ३६ ॥
पिबेद्दधिसरक्षौद्रकपित्थस्वरसाप्लुतम् ।

लोध की छाल, धाय का फूल, बेर के पत्र इनको दही की मलाई, मधु और कैथ के रस में घोल कर पिये ॥ ३६ ॥

विबद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः ॥ ३७ ॥
सरक्तपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति ।
यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा प्रयोजयेत् ॥ ३८ ॥
शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा पुनः ।

जिस रोगी को वायु और मल का अवरोध हो, अतिशय शूल, प्रवाहिका, रक्तयुक्त पिच्छा और प्यास हो, वह दूध से ही तृप्त करने योग्य है। अथवा वह तैल और घी पीकर धारोष्ण दूध पिये । अथवा एरण्डतैल से सिद्ध या कच्चे बिल्व से सिद्ध दूध पिये ॥ ३७-३८ ॥

वेदनायुक्त आम की औषधि—

पयस्युत्क्वाथ्य मुस्तानां विंशतिं त्रिगुणेऽम्भसि ॥३९॥
क्षीरावशिष्टं तत्पीतं हन्यादामं सवेदनम् ।

बीस मुस्ता की जड़ को दूध से तिगुने जल में क्वाथ करके केवल दूध शेष रखकर पीने से वेदनायुक्त आम को नष्ट करता है ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—बीस मुस्ता प्रायः एक पल होती है सामान्यतः क्वाथ में मुस्ता एक पल लेकर सोलहगुने जल में क्वाथ करके चौथाई भाग शेष रखना पड़ता है, किन्तु यहाँ चार-पल दूध, बारह पल पानी और एक पल (२०) मुस्ता लेकर क्वाथ करके दूध को बचाये ।

प्रवाहिकाघ्न चूर्ण—

पिप्पल्यः पिबतः सूक्ष्मं रजो मरिचजन्म वा ॥ ४० ॥
चिरकालानुषक्ताऽपि नश्यत्याशु प्रवाहिका ।

पिप्पली का सूक्ष्म चूर्ण या मरिच का सूक्ष्म चूर्ण जल के साथ खाने पर बहुत काल से चलती हुई प्रवाहिका भी शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥ ४० ॥

प्रवाहिकाघ्न घृत—

निरामरूपं शूलार्तं लङ्घनाद्यैश्च कर्षितम् ॥ ४१ ॥
रूक्षकोष्ठमपेक्ष्याग्निं सक्षारं पाययेद् घृतम् ।

निराम हो जाने पर शूल से पीड़ित और लंघन आदि से कृश हुए, रूक्षकोष्ठ रोगी को अग्निबलानुसार यवक्षार युक्त घृत पिलाये ॥ ४१ ॥

प्रवाहिकाघ्न तैल—

सिद्धं दधिसुरामण्डे दशमूलस्य चाम्भसि ॥ ४२ ॥
सिन्धूत्थपञ्चकोलाभ्यां तैलं सद्योऽर्तिनाशनम् ।

दधि एवं सुरामण्ड में तथा दशमूल के क्वाथ में सैन्धव और पंचकोल के कल्क से सिद्ध तैल वेदना को तुरन्त नष्ट करता है ॥ ४२ ॥

षड्भिः शुण्ठ्याः पलैर्द्वाभ्यां द्वाभ्यां ग्रन्थ्यग्निसैन्धवात् ॥
तैलप्रस्थं पचेद् दध्ना निःसारकरुजाऽपहम् ।

सोंठ छः पल, पिप्पलीमूल, चित्रक और सैन्धव प्रत्येक दो-दो पल और तैल एक प्रस्थ इनको दही के साथ सिद्ध करे । यह प्रवाहिकानाशक है ॥ ४३ ॥

एकतो मांसदुग्धाज्यं पुरीषग्रहशूलजित् ॥ ४४ ॥
पानानुवासनाभ्यङ्गप्रयुक्तं तैलमेकतः ।
तद्धि वातजितामग्र्यं शूलं च विगुणोऽनिलः ॥ ४५ ॥

मांस, दूध और घी इन तीनों को मिलाकर देने से यह मल के अवरोध तथा शूल का नाशक है। अकेला तैल ही पान, अनुवासन तथा अभ्यंग में बरतने पर मल के अवरोध और शूल को नष्ट करता है क्योंकि तैल वातनाशकों में श्रेष्ठ है और शूल का कारण प्रतिलोम हुई वायु होती है ॥४४-४५॥

धात्वन्तरोपमर्देद्धश्चलो व्यापी स्वधामगः ।
तैलं मन्दानलस्यापि युक्त्या शर्मकरं परम् ॥ ४६ ॥
वाय्वाशये सतैले हि बिम्बिसी नावतिष्ठते ।

वायु की अपेक्षा भिन्न पित्त, कफ तथा रसादि धातुओं के क्षय होने से उद्धत बनी वायु सम्पूर्ण शरीर में फैली होने पर भी विशेषतः अपने स्थान (पक्वाशय) में स्थित होती है। इस अवस्था में अतिसार रोगी को अग्निमान्द्य होने पर भी युक्तिपूर्वक दिया हुआ तैल अतिशय शान्तिदायक होता है। (अग्निमान्द्य न हो तो बात ही क्या है ?) वायु के स्थान (पक्वाशय) के तैल युक्त होने पर प्रवाहिका नहीं रह सकती ॥ ४६ ॥

क्षीणे मले स्वायतनच्युतेषु
दोषान्तरेष्वीरण एकवीरे ।
को निष्टनन् प्राणिति कोष्ठशूली
नान्तर्बहिस्तैलपरो यदि स्यात् ॥ ४७ ॥

पुरीष (मल) के क्षीण होने पर, पित्त और कफ के अपने स्थानों से च्युत हो जाने पर, अकेली वायु के ही एक नायक होने पर, आक्रन्दनपूर्वक शूल के साथ मल त्याग करता हुआ कोष्ठशूल वाला कौन व्यक्ति जी सकता है ? यदि वह अन्दर और बाहर तैल का अतिशय सेवन न करे । अर्थात् तैल के सेवन से ही ऐसा रोगी बच सकता है ॥ ४७ ॥

गुदभ्रंश की चिकित्सा—

गुदरुग्भ्रंशयोर्युञ्ज्यात्सक्षीरं साधितं हविः ॥ ४८ ॥
रसे कोलाम्लचाङ्गेर्योर्दध्नि पिष्टे च नागरे ।

गुदा की पीड़ा में और गुदभ्रंश में बेर, चाङ्गेरी और दही के रस में सोंठ के कल्क के दूध के साथ सिद्ध किया घी का प्रयोग करे ॥ ४८ ॥

वक्तव्य— घी और दूध समान, बेर आदि का रस चौगुना और सोंठ से चौगुना घी ले ।

तैरेव चाम्लैः संयोज्य सिद्धं सुश्लक्ष्णकल्कितैः ॥४९॥
धान्योषणबिडाजाजीपञ्चकोलकदाडिमैः ।

बेर आदि खट्टे द्रव्यों (पूर्वोक्त) के साथ, धनिया, मरिच, बिडनमक, जीरा, पंचकोल और अनारदाना के बारीक कल्क से सिद्ध घृत पूर्व के समान गुणकारी है ॥ ४९ ॥

योजयेत्स्नेहवस्तिं वा दशमूलेन साधितम् ॥ ५० ॥
शटीशताह्वाकुष्ठैर्वा वचया चित्रकेण वा ।

दशमूल से सिद्ध की हुई स्नेहवस्ति देवे । अथवा कचूर, सौंफ और कूठ से अथवा वच से या चित्रक से सिद्ध की हुई स्नेहवस्ति देवे ॥ ५० ॥

प्रवाहणे गुदभ्रंशे मूत्राघाते कटिग्रहे ॥ ५१ ॥
मधुराम्लैः शृतं तैलं घृतं वाऽप्यनुवासनम् ।

प्रवाहण, गुदभ्रंश, मूत्राघात और कटिग्रह में मधुर और अम्लों से सिद्ध तैल या घृत का अनुवासन देना चाहिये ॥

प्रवेशयेद् गुदं ध्वस्तमभ्यक्तं स्वेदितं मृदु ॥ ५२ ॥
कुर्याच्च गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ।

निकली हुई गुदा पर अभ्यंग और स्वेदन देकर कोमल करके इसे अन्तः प्रविष्ट कर बीच में छेद रखकर चमड़े की पट्टी से गोफणबन्ध बांध देना चाहिये ॥ ५२ ॥

गुदभ्रंश में मूषिकतैल—

पञ्चमूलस्य महतः काथं क्षीरे विपाचयेत् ॥ ५३ ॥
उन्दुरुं चान्त्ररहितं तेन वातघ्नकल्कवत् ।
तैलं पचेद् गुदभ्रंशं पानाभ्यङ्गेन तज्जयेत् ॥ ५४ ॥

बिल्वादि पंचमूल का काथ करे । इस काथ से दूध पकाये । इसी दूध में आंत्ररहित चूहे को भी पकाये । फिर इस दूध में रास्ना और एरण्ड आदि वातशामक द्रव्यों का कल्क मिलाकर तैल सिद्ध करे । इस तैल का पान और अभ्यंग में उपयोग करने से गुदभ्रंश नष्ट होता है ॥

वक्तव्य—'द्रव्याच्चतुर्गुणः स्नेहः स्नेहात्काथश्चतुर्गुणः । क्षीरं स्नेहसमञ्च—' इस परिभाषा से दूध तैल के बराबर ही आता है, किन्तु यहां केवल दूध से पाक करना है अन्य द्रव नहीं मिलाना है, अतः दूध चारगुना ही लेना उत्तम है । बहुत दूध होने से उत्तम वातनाशक होगा ।

पित्तातिसार-चिकित्सा—

पैत्ते तु सामे तीक्ष्णोष्णवर्ज्यं प्रागिव लङ्घनम् ।
तृड्वान् पिबेत् षडङ्गाम्बु सभूनिम्बं ससारिवम् ॥
पेयादि क्षुधितस्यान्नमग्निसन्धुक्षणं हितम् ।
बृहत्यादिगणाभीरुद्विबलाशूर्पपर्णिभिः ॥ ५६ ॥

पित्तजन्य अतीसार में आमावस्था होने पर तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों को छोड़कर पूर्व की भांति लङ्घन करे । (शरीर को लघु करने के लिये जो कर्म या द्रव्य हों, उनको बरते)।

पित्तजन्य अतीसार रोगी को प्यास लगने पर षडंग जल (ज्वर चिकित्सा १।१५) चिरायता और सारिवा के साथ पिये । भूख लगने पर पेयादि अन्न को अग्नि प्रदीप्त करने के लिये पिये । इस पेया को बृहत्यादि (लघु पञ्चमूल), शतावरी, बला, अतिबला, मूंगपर्णी और माषपर्णी के साथ देवे ।

पाययेदनुबन्धे तु सक्षौद्रं तण्डुलाम्भसा ।
कुटजस्य फलं पिष्टं सवल्कं सघुणप्रियम् ॥ ५७ ॥
पाठावत्सकबीजत्वग्दार्वीग्रन्थिकशुण्ठि वा ।
काथं वाऽतिविषाबिल्ववत्सकोदीच्यमुस्तजम् ॥५८॥
अथवाऽतिविषामूर्वानिशेन्द्रयवतार्क्ष्यजम् ।
समध्वतिविषाशुण्ठीमुस्तेन्द्रयवकट्फलम् ॥ ५९ ॥

(लंघन-पेयादि क्रम करने पर) यदि अतीसार बना रहे तो इन्द्रजौ, कुड़े की छाल और अतीस को पीसकर मधु के साथ मिलाकर चावल के धोवन से पिये अथवा पाठा, इन्द्रजौ, कुड़े की छाल, दारुहल्दी, पिप्पलीमूल और सोंठ को पीसकर चावल के धोवन से पिये । अतीस, बिल्व, इन्द्रजौ, खस और मुस्ता का क्वाथ पिये । अतीस, मूर्वा, हल्दी, इन्द्रजौ और रसांजन का क्वाथ देवे । मधु के साथ अतीस, सोंठ, मुस्ता, इन्द्रजौ और कट्फल का चूर्ण खाये ।

पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत् ।
यो रसाशी, जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जठरामयम् ॥ ६० ॥
मुस्ताकषायमेवं वा पिबेन्मधुसमायुतम् ।
सक्षौद्रं शाल्मलीवृन्तकषायं वा हिमाह्वयम् ॥ ६१ ॥

एक पल इन्द्रजौ का जल में क्वाथ करके इसके रस को मांसरस का भोजन करते हुए जो पीता है, उसका पित्तजन्य अतीसार शान्त हो जाता है । इसी प्रकार मोथा एक पल लेकर उसका क्वाथ करके मधु मिलाकर मांसरस का भोजन करते हुए पिये । सेमल के वृन्त (फूल लगने की डंठल) का क्वाथ या शीत कषाय मधु के साथ पिये ॥ ६०-६१ ॥

किराततिक्तकं मुस्तं वत्सकं सरसाञ्जनम् ।
कटङ्कटेरी ह्रीबेरं बिल्वमध्यं दुरालभा ॥ ६२ ॥
तिला मोचरसं रोध्रं समङ्गा कमलोत्पलम् ।
नागरं धातकीपुष्पं दाडिमस्य त्वगुत्पलम् ॥ ६३ ॥
अर्धश्लोकैः स्मृता योगाः सक्षौद्रास्तण्डुलाम्बुना ।

(१) चिरायता, मोथा, इन्द्रजौ, रसौत, (२) दारुहल्दी, खस, बिल्व का गूदा, धमासा, (३) तिल, सेमल का गोंद, लोध, मंजीठ, कमल, नीला कमल, (४) सोंठ, धाय के फूल, अनार की छाल और कमल, आधे-आधे श्लोक से कहे इन चार योगों को मधु के साथ चावलों के पानी से पिये ॥ ६२-६३ ॥

पक्वातिसार-चिकित्सा—

निशेन्द्रयवरोध्रैलाक्वाथः पक्वातिसारजित् ॥ ६४ ॥

हल्दी, इन्द्रजौ, लोध और इलायची का क्वाथ पक्वातिसार का नाशक है ॥ ६४ ॥

वक्तव्य—'नागरातिविषामुस्ताभूनिम्बामृतवत्सकैः । सर्वज्वरहरः क्वाथः सर्वातीसारनाशनः ॥' इत्यधिकम् ।

रोध्राम्बष्ठाप्रियङ्ग्वादिगणांस्तद्वत् पृथक् पिबेत् ।

रोध्रादि, अम्बष्ठादि और प्रियंग्वादिगणों की औषधियों के चूर्ण को मधु के साथ चावलों के धोवन से पिये ।

कट्वङ्गवल्कयष्ट्याह्वफलिनीदाडिमाङ्कुरैः ॥ ६५ ॥
पेयाविलेपीखलकान् कुर्यात्सदधिदाडिमान् ।
तद्वद्दधित्थबिल्वाम्रजम्बूमध्यैः प्रकल्पयेत् ॥ ६६ ॥

श्योनाक की छाल, मुलहठी, प्रियंगु और अनार के कोपल के साथ दधि और अनारदाना मिलाकर पेया, विलेपी या खल बनाये । इसी प्रकार कैथ, बिल्व, आम और जामुन के गूदे से पेया आदि बनाये ॥ ६५–६६ ॥

निरामातिसार-चिकित्सा—

अजापयः प्रयोक्तव्यं निरामे, तेन चेच्छमः ।
दोषाधिक्यान्न जायेत बलिनं तं विरेचयेत् ॥ ६७ ॥

निराम होने पर बकरी का दूध बरतना चाहिये । यदि दोष की अधिकता के कारण अतीसार शान्त न हो तो बलवान् व्यक्ति को विरेचन देवे । [निर्बल को विरेचन न दे] ।

व्यत्यासेन शकृद्रक्तमुपवेश्येत योऽपि वा ।
पलाशफलनिर्यूहं युक्तं वा पयसा पिबेत् ॥ ६८ ॥
ततोऽनु कोष्णं पातव्यं क्षीरमेव यथाबलम् ।
प्रवाहिते तेन मले प्रशाम्यत्युदरामयः ॥ ६९ ॥
पलाशवत्प्रयोज्या वा त्रायमाणा विशोधनी ।

पर्याय क्रम से मल और रक्त आनेपर अर्थात् मल के कारण रक्त या रक्त के कारण मल आये तो ढाक के फल के क्वाथ को अकेला ही या दूध के साथ मिलाकर पिये । कषाय पीने के बाद बल के अनुसार दूध ही पीना चाहिये । इससे मल के निकल जाने पर अतीसार शान्त हो जाता है ।

ढाक की भांति त्रायमाण भी शोधन के लिये बरतना चाहिये ॥ ६८–६९ ॥

शूल में अनुवासनविधि—

संसर्ग्यां क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते ॥ ७० ॥
स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथावह्न्यनुवासयेत् ।

पेयादि कर्म करने पर भी (यदि अपचित मल वाले) अतिसार रोगी का शूल शान्त न हो तो अग्नि के अनुसार इसको अनुवासन देवे ॥ ७० ॥

अनुवासन घृत—

शतपुष्पावरीभ्यां च बिल्वेन मधुकेन च ॥ ७१ ॥
तैलपादं पयोयुक्तं पक्वमन्वासनं घृतम् ।

सौंफ, शतावरी, बिल्व और मुलहठी से घीसे चौथाई तेल मिलाकर दूध के साथ घी सिद्ध करके अनुवासन देवे ॥ ७१ ॥

पिच्छावस्ति का प्रयोग—

अशान्तावित्यतीसारे पिच्छावस्तिः परं हितः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार से भी अतीसार शान्त न हो तो पिच्छावस्ति देवे ॥ ७२ ॥

पिच्छावस्ति—

परिवेष्ट्य कुशैरार्द्रैरार्द्रवृन्तानि शाल्मलेः ।
कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्य स्वेदयेद्गोमयाग्निना ॥ ७३ ॥
मृच्छोषे तानि सङ्क्षुद्य तत्पिण्डं मुष्टिसम्मितम् ।
मर्दयेत्पयसः प्रस्थे पूतेनास्थापयेत्ततः ॥ ७४ ॥
नतयष्ट्याह्वकल्काज्यक्षौद्रतैलवताऽनु च ।
स्नातो भुञ्जीत पयसा जाङ्गलेन रसेन वा ॥ ७५ ॥

पिच्छावस्ति—सेमल के पीले वृन्तों (फूल लगने की डंठलों) को गीली कुशाओं से लपेट कर इन पर काली मिट्टी का लेप कर देवे । फिर गोबर के कंडों की अग्नि से इनको स्वेद देवे । जब मिट्टी सूख जाये तब इस मिट्टी को उतार कर सेमल के वृन्तों का चूर्ण करके इसमें से एक पल भर लेकर एक प्रस्थ दूध में मले । फिर इसको छानकर इसमें तगर और मुलहठी का कल्क, घी, तैल और मधु मिलाकर आस्थापन वस्ति देवे । बाद में स्नान करके दूध या जांगल मांसरस के साथ भोजन करे ॥ ७३–७५ ॥

पित्तातिसारज्वरशोफगुल्म-
समीरणास्रग्रहणीविकारान् ।
जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृत्तिं
विरेचनास्थापनयोश्च वस्तिः ॥ ७६ ॥

यह वस्ति पित्तातिसार, ज्वर, शोफ, गुल्म, वायु, रक्त और ग्रहणी के रोगों को शान्त करती है तथा विरेचन और आस्थापन के अतियोग को मिटाती है ॥ ७६ ॥

सर्वातिसार पर प्रयोग—

फाणितं कुटजोत्थं च सर्वातीसारनाशनम् ।
वत्सकादिसमायुक्तं साम्बष्ठादि समाक्षिकम् ॥ ७७ ॥

कुटज की छाल से बनाये फाणित (राब की तरह बनाई रसक्रिया) में वत्सकादि गण तथा अम्बष्ठादि गण की औषधियां और मधु मिलाये । यह सब प्रकार अतीसार को नष्ट करता है ॥ ७७ ॥

अतिसार में पुटपाक प्रयोग—

नीरुङ्निरामं दीप्ताग्नेरपि सास्रं चिरोत्थितम् ।
नानावर्णमतीसारं पुटपाकैरुपाचरेत् ॥ ७८ ॥

अग्नि के प्रदीप्त होने पर भी वेदना और आम के बिना रक्तयुक्त, पुरातन एवं नाना रंगोंवाले अतीसार की पुटपाकों द्वारा चिकित्सा करे ॥ ७८ ॥

त्वक्पिण्डाद्दीर्घवृन्तस्य श्रीपर्णीपत्रसंवृतात् ।
मृल्लिप्तादग्निना स्विन्नाद्रसं निष्पीडितं हिमम् ॥७९॥
अतीसारी पिबेद्युक्तं मधुना सितयाऽथवा ।
एवं क्षीरिद्रुमत्वग्भिस्तत्प्ररोहैश्च कल्पयेत् ॥८०॥

श्योनाक की छाल को कूटकर इसके पिण्ड को गम्भारी के पत्रों से लपेटकर ऊपर से काली मिट्टी का लेप करे। इसको अग्नि से स्वेदित कर इसका रस निकाल लेवे। जब रस ठण्डा हो जाये तब इसमें मधु या शर्करा मिलाकर युक्तिपूर्वक अतीसार रोगी पिये। इसी प्रकार बरगद आदि क्षीरिवृक्षों की त्वचा से और उनके कोपलों (अङ्कुरों) से पुटपाक बनाये।

श्योनाक की छाल को घी में मिलाकर गरम पानी की उष्णिमा से स्वेदित करके मधु मिलाकर पिलाये। यह प्रबल अतिसार को भी शीघ्र नष्ट कर देती है ॥ ७९-८० ॥

रक्तातिसार--

कट्वङ्गत्वग्घृतयुता स्वेदिता सलिलोष्मणा ।
सक्षौद्रा हन्त्यतीसारं बलवन्तमपि द्रुतम् ॥ ८१ ॥
पित्तातिसारी सेवेत पित्तलान्येव यः पुनः ।
रक्तातिसारं कुरुते तस्य पित्तं सतृड्ज्वरम् ॥ ८२ ॥
दारुणं गुदपाकं च तत्रच्छागं पयो हितम् ।
पद्मोत्पलसमङ्गाभिः शृतं मोचरसेन च ॥ ८३ ॥
सारिवायष्टिरोध्रैर्वा प्रसवैर्वा वटादिजैः ।
सक्षौद्रशर्करं पाने भोजने गुदसेचने ॥ ८४ ॥

जो पित्तातिसार रोगी पित्तकारक वस्तुओं का ही सेवन करता है, उसमें पित्त, तृषा और ज्वरयुक्त रक्तातिसार और भयानक गुदपाक उत्पन्न करता है। इसमें बकरी का दूध उत्तम है। इस दूध को कमल, नीला कमल, मंजीठ और सेमल की गोंद से अथवा सारिवा और मुलहठी से या बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के अंकुरों से सिद्ध करके मधु और शर्करा मिलाकर पीने में, भोजन में और गुदा के सेचन में देवे।

रक्तातिसार में रसादि—

तद्वद्रसादयोऽनम्लाः साज्याः पानान्नयोर्हिताः ।
काश्मर्यफलयूषश्च किञ्चिदम्लः सशर्करः ॥८५॥

इन्हीं (पद्म, उत्पल आदि) से सिद्ध अम्लरहित, मांसरस, यूष आदि घी के साथ मिलाकर पीने में और भोजन में देना हितकारी है। गम्भारी के फल या यूष कुछ थोड़ा सा खट्टा करके (अनारदाने से) शर्करा के साथ देना उत्तम है।

रक्तातिसार में पेया—

पयस्यर्धोदके छागे ह्रीबेरोत्पलनागरैः ।
पेया रक्तातिसारघ्नी पृश्निपर्णीरसान्विता ॥ ८६ ॥
प्राग्भक्तं नवनीतं वा लिह्यान्मधुसितायुतम् ।

बकरी के दूध में आधा पानी मिलाकर नेत्रबाला, कमल और सोंठ से सिद्ध तथा पृश्निपर्णी के क्वाथ से मिश्रित पेया रक्तातिसारनाशक है। अथवा भोजन से पूर्व मक्खन को मधु और शर्करा के साथ चाटे ॥ ८६ ॥

अधिक रक्तस्राव में उपाय—

बलिन्यस्रेऽस्रमेवाजं मार्गं वा घृतभर्जितम् ॥ ८७ ॥
क्षीरानुपानं क्षीराशी त्र्यहं क्षीरोद्भवं घृतम् ।
कपिञ्जलरसाशी वा लिहन्नारोग्यमश्नुते ॥ ८८ ॥
पीत्वा शतावरीकल्कं क्षीरेण क्षीरभोजनः ।
रक्तातिसारं हन्त्याशु तया वा साधितं घृतम् ॥८९॥

रक्तस्राव बहुत प्रबल हो तो बकरी या मृग के रक्त को घी में भूनकर दूध के अनुपान से पिये और दूध का ही भोजन करे। अथवा तीन दिन तक दूध को मथकर निकाले घी (मक्खन) को खाते हुए कपिंजल (गौर तीतर) के मांसरस का ही भोजन करे, इस प्रकार से रोगी आरोग्य लाभ करता है।

शतावरी के कल्क को दूध के साथ पीकर दूध का ही भोजन करने से रक्तातिसार शीघ्र नष्ट हो जाता है। अथवा शतावरी से सिद्ध घृत के पान से रक्तातिसार नष्ट होता है ॥

लाक्षानागरवैदेहीकटुकादार्विवल्कलैः ।
सर्पिः सेन्द्रयवैः सिद्धं पेयामण्डावचारितम् ॥९०॥
अतीसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम् ।

लाख, सोंठ, पिप्पली, कुटकी, दारुहल्दी की छाल और इन्द्रजौ से सिद्ध किया घृत पेया और मण्ड में बरतने पर त्रिदोषजन्य दारुण अतीसार को भी शीघ्र शान्त कर देता है।

कृष्णमृच्छङ्खयष्ट्याह्वक्षौद्रासृक्तण्डुलोदकम् ॥९१॥
जयत्यस्रं प्रियङ्गुश्च तण्डुलाम्बुमधुप्लुता ।

काली मिट्टी, शङ्ख, मुलहठी, मधु और रक्त को चावलों के पानी में घोलकर पिये; अथवा चावलों के धोवन में मधु मिलाकर इनमें प्रियंगु घोलकर पिये। ये रक्त को शान्त करते हैं ॥ ९१ ॥

कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करापाञ्चभागिकः ॥९२॥
आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति ।

काले तिलों का कल्क एक भाग और शर्करा पांच भाग मिलाकर बकरी के दूध से पिये। यह रक्त को तुरन्त बन्द करता है ॥ ९२ ॥

वक्तव्य—चक्रदत्त में—'शर्कराभागसंयुतः' पाठ है। इसमें शर्करा चार भाग ली है अर्थात् तिल एक भाग और शर्करा चार भाग लेवे। यथा—'कृष्णतिलान् शर्करापादिकान् छागीपयसा ।'

पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्बुना ॥ ९३ ॥
दाहतृष्णाप्रमोहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते ।

चन्दन को शर्करा और मधु के साथ मिलाकर चावल के धोवन से पिये। इससे दाह, तृष्णा, मूर्च्छा और रक्तस्राव नष्ट होता है (प्रमोह के स्थान में प्रमेह पाठ भी है) ॥९३॥

गुददाहादि-चिकित्सा—

गुदस्य दाहे पाके वा सेकलेपा हिता हिमाः ॥ ९४ ॥

गुदा में दाह या पाक होने पर शीतल परिषेक या शीतल लेप हितकारी हैं ॥ ९४ ॥

रक्तातिसार में पिच्छावस्ति—

अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते ।
यदा विबद्धो वायुश्च कृच्छ्राच्चरति वा न वा ॥ ९५ ॥
पिच्छावस्तिं तदा तस्य पूर्वोक्तमुपकल्पयेत् ।

जो मनुष्य थोड़ा-थोड़ा रक्त, बहुत बार शूल के साथ मल में त्याग करता है और जब वायु अवरुद्ध हो या वायु कठिनाई से गति करती हो या न करती हो, तब इस अवस्था में प्रथम कही पिच्छावस्ति देवे ॥ ९५ ॥

पल्लवान् जर्जरीकृत्य शिंशिपाकोविदारयोः ॥ ९६ ॥
पचेद्यवांश्च स क्वाथो घृतक्षीरसमन्वितः ।
पिच्छास्रुतौ गुदभ्रंशे प्रवाहणरुजासु च ॥ ९७ ॥
पिच्छावस्तिः प्रयोक्तव्यः क्षतक्षीणबलावहः ।

शीशम और कचनार के पत्तों को कूटकर उनको जौ के साथ उबाले। यह क्वाथ घी, दूध और मांसरस के साथ मिलाकर इससे पिच्छावस्ति दे। यह पिच्छास्रुति, गुदभ्रंश और प्रवाहण की पीडा में बरतना चाहिये। क्षतक्षीण रोगियों के लिए बलप्रद है ॥ ९६-९७ ॥

रक्तातिसार में अनुवासन वस्ति—

प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषा चानुवासनम् ॥ ९८ ॥

प्रपौण्डरीक—सिद्ध घृत से अनुवासन देना चाहिये।

रक्तातिसार में अवलेह—

रक्तं विट्सहितं पूर्वं पश्चाद्वा योऽतिसार्यते ।
शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत् ॥ ९९ ॥
शर्कराऽर्धांशकं लीढं नवनीतं नवोद्धृतम् ।
क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः ॥ १०० ॥

जो रोगी मलत्याग में पहले या पीछे मल के साथ मिश्रित रक्त त्याग करता हो, उसके चाटने के लिये (पीने के लिये नहीं) शतावरी घृत का उपयोग करे। शतावरी घृत—[हृ. उ. अ. २४।३६]।

नूतन (ताजे) निकाले मक्खन में आधा भाग शर्करा और चतुर्थांश मधु मिलाकर चाटे। यह हितकारी भोजन करने वाले के पूर्वोक्त रोगों को शीघ्र शान्त करता है ॥ ९९-१०० ॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गानापोथ्य वासयेत् ।
अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनाम्भसा पचेत् ॥ १०१ ॥
तदर्धशर्करायुक्तं लेहयेत् क्षौद्रपादिकम् ।
अधो वा यदि वाऽप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते ॥ १०२ ॥

बरगद, गूलर और पीपल के शुङ्गों को कूटकर गरम जल में रात-दिन पड़ा रहने देवे। फिर इस जल से घृत सिद्ध करे। इस घी में आधी शर्करा और चतुर्थांश मधु मिलाकर, जिस रोगी को अधोसार्ग या ऊर्ध्व मार्ग से रक्त निकलता हो; वह इसे चाटे।

कफातिसार-चिकित्सा—

श्लेष्मातिसारे वातोक्तं विशेषादामपाचनम् ।
कर्तव्यमनुबन्धेऽन्य पिबेत् पक्त्वाऽग्निदीपनम् ॥ १०३ ॥
बिल्वकर्कटिकामुस्तप्राणदाविश्वभेषजम् ।
वचाविडङ्गभूतीकधनिकामरदारु वा ॥ १०४ ॥
अथवा पिप्पलीमूलपिप्पलीद्वयचित्रकम् ।

कफजन्य अतिसार में वातातिसार में कही चिकित्सा करे; आमपाचन-विधि विशेष रूप से बरते। (इस चिकित्सा के करने पर भी) यदि रोग शान्त न हो तो अग्निदीपक ओषधियां पिये। यथा—कच्चे बिल्व, मोथा, हरड़, सोंठ, अथवा वच, विडंग, अजवायन, धनिया, देवदारु या पिप्पलीमूल, पिप्पली, गजपिप्पली और चित्रक को पिये।

पाठाग्निवत्सकग्रन्थितिक्ताशुण्ठीवचाऽभयाः ॥ १०५ ॥
क्वथिता यदि वा पिष्टाः श्लेष्मातीसारभेषजम् ।
सौवर्चलवचाव्योषहिङ्गुप्रतिविषाऽभयाः ॥ १०६ ॥
पिबेच्छ्लेष्मातिसारार्तश्चूर्णिताः कोष्णवारिणा ।
मध्यं लीढ्वा कपित्थस्य सव्योषक्षौद्रशर्करम् ॥ १०७ ॥
कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात् ।
कणां मधुयुतां लीढ्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम् ॥
भुक्त्वा वा बालबिल्वानि व्यपोहत्युदरामयम् ।
पाठामोचरसाम्भोदधातकीबिल्वनागरम् ॥ १०९ ॥
सुकृच्छ्रमप्यतीसारं गुडतक्रेण नाशयेत् ।

पाठा, चित्रक, इन्द्रजौ, पिप्पलीमूल, कुटकी, सोंठ, वच और हरड़ का क्वाथ या इनका चूर्ण (गरम पानी से) पिये। यह श्लेष्मातीसारनाशक है।

संचल, वच, त्रिकटु, हींग, अतीस और हरड़ का चूर्ण गुनगुने पानी से पिये। यह श्लेष्मातीसारनाशक है।

कैथ के गूदे को त्रिकटु, मधु और शर्करा के साथ अथवा कायफल को मधु के साथ चाटने से रोगी उदररोग से मुक्त हो जाता है।

पिप्पली को मधु के साथ चाटने पर चित्रक को तक्र के साथ पीने पर अथवा कच्चे बेलों को खाने पर मनुष्य अतिसार से मुक्त हो जाता है।

पाठा, सेमल का गोंद, मुस्ता, धाय के फूल, बिल्व और सोंठ को गुड़ और तक्र के साथ पीने पर कठिन अतीसार भी नष्ट हो जाता है ॥ १०५-१०९ ॥

कपित्थाष्टक चूर्ण—

यवानीपिप्पलीमूलचातुर्जातकनागरैः ॥ ११० ॥
मरिचाग्निजलाजाजीधान्यसौवर्चलैः समैः ।
वृक्षाम्लधातकीकृष्णाबिल्वदाडिमदीप्यकैः ॥ १११ ॥
त्रिगुणैः षड्गुणसितैः कपित्थाष्टगुणैः कृतः ।
चूर्णोऽतीसारग्रहणीक्षयगुल्मगलामयान् ॥ ११२ ॥

कासश्वासाग्निसादार्शःपीनसारोचकाञ् जयेत् ।

अजवायन, पिप्पलीमूल, चातुर्जातक (दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर), सोंठ, मरिच, चित्रक, मुस्ता, जीरा, धनिया और संचल नमक ये सब परस्पर समान भाग, वृक्षाम्ल (इमली), धाय के फूल, पिप्पली, बिल्व, अनारदाना और अजमोदा ये तीनगुने (मूल द्रव्य=अजवायन से तीनगुना इमली और शेष द्रव्य इमली के बराबर), शर्करा छः गुनी (अजवायन से), कैथ आठ गुना (अजवायन से), इनसे बनाया चूर्ण अतिसार, ग्रहणी, क्षय, गुल्म, गलरोग, कास, श्वास, अग्निमान्द्य, अर्श, पीनस और अरोचक को नष्ट करता है। इस चूर्ण की कपित्थाष्टक संज्ञा है। [कपित्थाष्टकचूर्ण का पाठ शार्ङ्गधर (शा. म. अ. ६।५४) में है। वहाँ स्पष्ट निर्देश है कि अजवायन से सौवर्चल पर्यन्त प्रत्येक १-१ भाग, वृक्षाम्ल आदि प्रत्येक ३-३ भाग, चीनी ६ भाग और कपित्थ आठ भाग लेना चाहिए। यही अर्थ ठीक है अन्यथा चीनी और कपित्थ की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है] ॥

दाडिमाष्टक चूर्ण—

कर्षोन्मिता तवक्षीरी चातुर्जातं द्विकार्षिकम् ॥११३॥
यवानीधान्यकाजाजीग्रन्थिव्योषं पलांशकम् ।
पलानि दाडिमादष्टौ सितायाश्चैकतः कृतः ॥११४॥
गुणैः कपित्थाष्टकवच्चूर्णोऽयं दाडिमाष्टकः ।
भोज्यो वातातिसारोक्तैर्यथावस्थं खलादिभिः ॥११५॥

वंशलोचन एक कर्ष, चातुर्जात (इलायची, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर) मिलित दो कर्ष, अजवायन, धनिया; जीरा, पिप्पली और त्रिकटु प्रत्येक एक पल, अनारदाना आठ पल और शर्करा आठ पल, इन सबको मिला ले। यह दाडिमाष्टक चूर्ण गुणों में कपित्थाष्टक के समान है। वातातिसार में कहे खलादि के साथ दोषों के अनुसार इसको खाना चाहिये। (यह चूर्ण शार्ङ्गधर मध्यम खण्ड अ. ६।६० में है।) ॥ ११३-११५ ॥

कफातिसारघ्न खल—

सविडङ्गः समरिचः सकपित्थः सनागरः ।
चाङ्गेरीतक्रकोलाम्लः खलः श्लेष्मातिसारजित् ॥११६॥

बिडंग, मरिच, कैथ, सोंठ, चांगेरी, तक्र और खट्टे बेर से बनाया खल (खड) श्लेष्मातीसारनाशक है ॥ ११६ ॥

उपायान्तर—

क्षीणे श्लेष्मणि पूर्वोक्तमम्लं लाक्षादि षट्पलम् ।
पुराणं वा घृतं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम् ॥ ११७ ॥

कफ के क्षीण होने पर पूर्वोक्त अम्ल घृत (श्लोक ४८) लाक्षादि घृत (श्लोक ९०) तथा यक्ष्मोक्त षट्पल घृत (चि. अ. ५।२२) अथवा पुरातन घृत यवागू और मण्ड में मिलाकर देवे ॥ ११७ ॥

वातकफविबन्ध में पिच्छावस्ति—

वातश्लेष्मविबन्धे वा स्रवत्यति कफेऽपि वा ।
शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छावस्तिः प्रशस्यते ॥
वचाबिल्वकणाकुष्ठशताह्वालवणान्वितः ।

वात कफ का विबन्ध होने पर अथवा कफ का अतिस्राव होने पर तथा शूल एवं प्रवाहिका होने पर पिच्छावस्ति प्रशस्त है। पिच्छावस्ति में वच, बिल्व, पिप्पली, कूठ, सौंफ और सैन्धव मिला ले ॥ ११८ ॥

कफवातार्त में अनुवासन —

बिल्वतैलेन तैलेन वचाद्यैः साधितेन वा ॥११९॥
बहुशः कफवातार्तं कोष्णेनान्वासनं हितम् ।

बिल्व तैल (बिल्व की मज्जा से सिद्ध किया तैल) या वचादि उपर्युक्त द्रव्यों से सिद्ध तिल तैल को थोड़ा गरम करके इससे अनुवासन वस्ति, कफ और वात से पीड़ित रोगी को देना उत्तम है ॥ ११९ ॥

क्षीणकफादि में कर्तव्य—

क्षीणे कफे गुदे दीर्घकालातीसारदुर्बले ॥१२०॥
अनिलः प्रबलोऽवश्यं स्वस्थानस्थः प्रजायते ।
स बली सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥१२१॥
वायोरनन्तरं पित्तं पित्तस्यानन्तरं कफम् ।
जयेत्पूर्वं त्रयाणां वा भवेद्यो बलवत्तमः ॥१२२॥

कफ के क्षीण होने पर और अतीसार के देर तक चालू रहने से गुदा के निर्मल हो जाने से अपने स्थान (पक्वाशय गुदा) में स्थित वायु अवश्य प्रबल हो जाती है। यह बलवान् वायु सहसा रोगी को मार देती है। इसलिये इसकी जल्दी चिकित्सा करे। वायु के पीछे पित्त की और पित्त के पीछे कफ की चिकित्सा करे। अथवा इन तीनों दोषों में जो दोष सबसे प्रबल हो, पहले उस की ही चिकित्सा करे ॥ १२०-१२२ ॥

भय-शोकज अतिसार की चिकित्सा—

भीशोकाभ्यामपि चलः शीघ्रं कुप्यत्यतस्तयोः ।
कार्या क्रिया वातहरा हर्षणाश्वासनानि च ॥१२३॥

भय और शोक से भी वायु जल्दी ही कुपित होती है। अतः इन दोनों कारणों से उत्पन्न अतीसार में भी वायुनाशक चिकित्सा करे और रोगी को हर्षित-आनन्दित करे एवं आश्वासन देवे ॥ १२३ ॥

अतिसार-निवृत्ति के लक्षण—

यस्योच्चाराद्विना मूत्रं पवनो वा प्रवर्तते ।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य शान्तस्तस्योदरामयः ॥१२४॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थानेऽतीसारचिकित्सितं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

* * *

जिस अतीसार रोगी में मलप्रवृत्ति के बिना मूत्र या वायु प्रवृत्त हो अर्थात् मूत्र और वायु के त्याग करते समय मल का भी त्याग न हो जाता हो, अग्नि प्रदीप्त हो और कोष्ठ में हल्कापन हो; उस पुरुष का अतीसार रोग शान्त हुआ समझे।

वक्तव्य—कुछ प्रसिद्ध योग—

(१) 'सवत्सकः सातिविषः सबिल्वः, सोदीच्यमुस्तश्च
कृतः कषायः। सामे सशूले सहशोणिते च,
चिरप्रवृत्तेऽपि हितोऽतिसारे॥'

(२) 'जातीफलं त्रिदशपुष्पसमन्वितञ्च, जीरञ्च टंकणयुतं
मुनिभिः प्रणीतम्। एतानि माक्षिकसितासहितानि
लीढ्वा, आमातिसारमखिलं गुरुमाशु हन्ति॥'

(३) 'पीत्वाऽहिफेनं छागेन दुग्धेन रक्तिकोन्मितम्।
अतीसारं नदीवेगं सुघोरं त्वरया जयेत्॥'

(४) 'गुडेन खादितं बिल्वं रक्तातीसारनाशकम्।

(५) बालं बिल्वं गुडं तैलं पिप्पलीं विश्वभेषजम्॥
लिह्याद्वाते प्रतिहते सशूले सप्रवाहिकः॥'

नारायण चूर्ण; बृहद् गंगाधर चूर्ण, कुटज लेह, कुटजाष्टक और छागी-दूध के अनुपान से देवे।

अमृतार्णव रस, जातीफल, अभयनृसिंह, आनन्दभैरव (ज्वरातिसार में), कर्पूररस।

ज्वरातिसार में—पित्तज्वरे 'पित्तभवोऽतिसारस्तथातिसारे यदि वा ज्वरः स्यात्। दोषस्य दूष्यस्य समानभावाज्ज्वरातिसारः कथितो भिषग्भिः॥' किन्तु—'प्रायो ज्वरहरं भेदि स्तम्भनन्त्वतिसारनुत्। अतोऽन्योन्यविरुद्धत्वाद् वर्द्धनं तत्परस्परम्॥ इसलिए लंघन, पाचन, पेया आदि जो ज्वर और अतिसार दोनों में समानरूप से लाभदायक हों तथा ऐसे ही योग भी ज्वरातिसार में देना चाहिए। यथाः—

बिल्वपञ्चक, ह्रीबेरादि क्वाथ, व्योषादि चूर्ण, चार मासा मात्रा में तण्डुलोदक से देवे। धान्यशुण्ठ्यादि क्वाथ, सिद्धप्राणेश्वर रस, गगनसुन्दर, कनकसुन्दर।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का अतीसार चिकित्सित नामक नवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ९॥

* * *

दशमोऽध्यायः

अथातो ग्रहणीदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब इसके आगे ग्रहणीदोषचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा था।

ग्रहणी में अजीर्णोपचार—

ग्रहणीमाश्रितं दोषमजीर्णवदुपाचरेत्।
अतीसारोक्तविधिना तस्यामं च विपाचयेत्॥ १॥

ग्रहणी में आश्रित वातादि दोष की अजीर्ण के समान (लंघन-स्वेदनादि) चिकित्सा करे और अतीसारोक्त विधि से रोगी के आम का पाचन करे॥ १॥

ग्रहणी में पेया आदि का प्रयोग—

अन्नकाले यवाग्वादि पञ्चकोलादिभिर्युतम्।
वितरेत्पटु लघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान्॥ २॥

(भली प्रकार भूख लगने पर) भोजन के समय पञ्चकोल आदि से मिली यवागू आदि देवे। लवण और लघु गुण युक्त अन्न को देवे। फिर षाडव आदि अग्निदीपक योगों को देवे।

आम में पेयादि—

दद्यात्सातिविषां पेयामामे साम्लां सनागराम्।
पानेऽतीसारविहितं वारि तक्रं सुरादि च॥ ३॥

आम होने पर सोंठ और अतीस से बनाई पेया को अनारदाने से थोड़ा खट्टा बना कर देवें। पीने के लिये अतीसार में कहा पानी, तक्र और सुरा आदि देवे॥ ३॥

ग्रहणी में तक्र—

ग्रहणीदोषिणां तक्रं दीपनग्राहिलाघवात्।
पथ्यं, मधुरपाकित्वान्न च पित्तप्रदूषणम्॥ ४॥
कषायोष्णविकासित्वाद्रूक्षत्वाच्च कफे हितम्।
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात्सद्यस्कमविदाहि तत्॥ ५॥

ग्रहणी दोष वालों के लिये तक्र दीपन, ग्राही और लघु होने से पथ्य है। तक्र का मधुर विपाक होने से यह पित्त को अधिक दूषित नहीं करता है। कषायरस, उष्णवीर्य, विकासी एवं रूक्ष होने से कफ में हितकारी है। मधुर, अम्ल; सान्द्र होने से तुरन्त का बनाया तक्र अविदाही तथा वात में हितकारी है॥ ४-५॥

वक्तव्य—रोगी के लिये तक्र तुरन्त बनाकर देना चाहिये। कुछ देर पहले का बनाया तक्र विदाही हो जाता है।

ग्रहणी में चूर्ण—

चतुर्णां प्रस्थमम्लानां त्र्यूषणाच्च पलत्रयम्।
लवणानां च चत्वारि शर्करायाः पलाष्टकम्॥ ६॥
तच्चूर्णं शाकसूपान्नरागादिष्ववचारयेत्।
कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्डुप्लीहगुल्मनुत्॥ ७॥

चार अम्ल (वृक्षाम्ल, बिजौरा, बेर, अम्लवेतस) एक प्रस्थ, त्रिकटु तीन पल, नमक (पांचों) चार पल, और शर्करा आठ पल, इनका चूर्ण शाक, दाल, अन्न-राग आदि में बरतना चाहिये। यह चूर्ण कास, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृदय रोग, पाण्डुरोग, गुल्म और प्लीहा नाशक है॥ ६-७॥

वक्तव्य—चार अम्लः—(१) कोल, दाडिम वृक्षाम्ल, चुक्रिका। (२) वृक्षाम्ल, वेतस, दाडिम, बदर (३) कपित्थ, चुक्रिका, वृक्षाम्ल, दाडिम (४) 'वृक्षाम्लं मातुलुङ्गोऽम्लं बदरं चाम्लवेतसम्। चतुरम्लमिदं प्रोक्तं पञ्चाम्लं तु सदाडिमम्॥'

आमनाशक पानादि—

नागरातिविषामुस्तं पाक्यमामहरं पिबेत्।

उष्णाम्बुना वा तत्कल्कं नागरं वाऽथवाऽभयाम् ॥८॥
ससैन्धवं वचादिं वा तद्वन्मदिरयाऽथवा ।

सोंठ, अतीस और मुस्ता का क्वाथ आम के नाश के लिये पिये। सोंठ आदि का कल्क गरम पानी से पिये अथवा सोंठ या हरड़ को गरम पानी से पिये। वचादि गण को सैन्धव के साथ गरम पानी से या मदिरा से पिये ॥ ८ ॥

प्रवाहिका-चिकित्सा—

वर्चस्यामे सप्रवाहे पिबेद्वा दाडिमाम्बुना ॥ ९ ॥
विडेन लवणं पिष्टं बिल्वचित्रकनागरम् ।
सामे कफानिले कोष्ठरुक्करे कोष्णवारिणा ॥ १० ॥

मल के अपक्व होने पर तथा प्रवाहिका होने पर विडलवण को अनार के रस से पिये। आम होने पर तथा कफ और वायु से कोष्ठ में पीड़ा होने पर बिल्व, चित्रक और सोंठ को थोड़े गरम पानी से पिये ॥ ९-१० ॥

छर्द्यादि-चिकित्सा—

कलिङ्गहिङ्ग्वतिविषावचासौवर्चलाभयम् ।
छर्दिहृद्रोगशूलेषु पेयमुष्णेन वारिणा ॥ ११ ॥
पथ्यासौवर्चलाजाजीचूर्णं मरिचसंयुतम् ।

इन्द्रजौ, हींग, अतीस, वच, सौवर्चल और सोंठ को गरम पानी से छर्दि, हृद्रोग और शूल में पीना चाहिये। इसी प्रकार हरड़, सोंठ, जीरा और मरिच का चूर्ण गरम पानी से पीना चाहिये ॥ ११ ॥

अग्निवर्धक पिप्पल्यादि चूर्ण—

पिप्पलीं नागरं पाठां सारिवां बृहतीद्वयम् ॥ १२ ॥
चित्रकं कौटजं क्षारं तथा लवणपञ्चकम् ।
चूर्णीकृतं दधिसुरातन्मण्डोष्णाम्बुकाञ्जिकैः ॥ १३ ॥
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं कोष्ठवातहरं परम् ।

पिप्पली, सोंठ, पाठा, सारिवा, कटेरी, बड़ी कटेरी, चित्रक, कुटज का क्षार और पाँचों नमक चूर्ण करके दधि, सुरा, सुरामण्ड, गरम पानी या कांजी से अग्नि की वृद्धि के लिये पिये। यह अतिशय कोष्ठ की वायु को नष्ट करता है ॥ १२-१३ ॥

पाचन गुटिका—

पटूनि पञ्च द्वौ क्षारौ मरिचं पञ्चकोलकम् ॥ १४ ॥
दीप्यकं हिङ्गु गुलिका बीजपूररसे कृता ।
कोलदाडिमतोये वा परं पाचनदीपनी ॥ १५ ॥

पाँचों नमक, यवक्षार, सर्जक्षार, मरिच, पंचकोल, अजवायन और हींग, इनकी बिजौरे के रस में या बेर और अनार के रस में बनाई गोलियां अतिशय पाचन-दीपन हैं।

तालीसादि चूर्ण—

तालीसपत्रचविकामरिचानां पलं पलम् ।
कृष्णातन्मूलयोर्द्वे द्वे पले शुण्ठी पलत्रयम् ॥ १६ ॥
चतुर्जातमुशीरं च कर्षांशं श्लक्ष्णचूर्णितम् ।
गुडेन वटकान् कृत्वा त्रिगुणेन सदा भजेत् ॥ १७ ॥
मद्ययूषरसारिष्टमस्तुपेयापयोऽनुपः ।
वातश्लेष्मात्मनां छर्दिग्रहणीपार्श्वहृद्रुजाम् ॥ १८ ॥
ज्वरश्वयथुपाण्डुत्वगुल्मपानात्ययार्शसाम् ।
प्रसेकपीनसश्वासकासानां च निवृत्तये ॥ १९ ॥
अभयां नागरस्थाने दद्यात्तत्रैव विड्ग्रहे ।
छर्द्यादिषु च पैत्तेषु चतुर्गुणसितान्विताः ॥ २० ॥
पक्वेन वटका कार्या गुडेन सितयाऽपि वा ।
परं हि वह्निसम्पर्काल्लघिमानं भजन्ति ते ॥ २१ ॥

तालीसपत्र, चविका, मरिच प्रत्येक एक पल, पिप्पली, पिप्पलीमूल दो-दो पल, सोंठ तीन पल, चतुर्जात (दालचीनी, इलायची, तेजपात; नागकेसर) मिलित और खस एक-एक कर्ष इनका बारीक चूर्ण करके, चूर्ण से तिगुने गुड़ के साथ गोलियां बनाये। इन गोलियों को मद्य, यूप, मांसरस, अरिष्ट, मस्तु और पेया के अनुपान से सदा खाये। इनके सेवन से वात-कफ प्रकृति वालों की छर्दि, ग्रहणी, पार्श्वशूल, हृदयरोग, ज्वर, शोथ, पाण्डुपन, गुल्म, पानात्यय, अर्श, लालास्राव, पीनस, श्वास एवं कास नष्ट होते हैं। यदि मलबन्ध हो तो इन गोलियों में सोंठ के स्थान पर हरड़ मिलाये। छर्दि आदि रोग पित्त प्रकृति वाले पुरुषों में हो तो गुड़ के स्थान पर चौगुना शर्करा मिलाये। अथवा गुड़ या शर्करा को पकाकर उनसे इस चूर्ण की गोलियां बनाये क्योंकि अग्नि का सम्पर्क होने के कारण ये गोलियां अतिशय लघु बन जाती हैं ॥ १६-२१ ॥

वातग्रहणी-चिकित्सा—

अथैनं परिपक्वामं मारुतग्रहणीगदम् ।
दीपनीययुतं सर्पिः पाययेदल्पशो भिषक् ॥ २२ ॥
किञ्चित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम् ।
द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत् ॥२३॥
तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा ।
सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत् ॥ २४ ॥

इसके उपरान्त आम का परिपाक होने पर वातजन्य ग्रहणी रोगी को अग्नि दीप्ति के लिए पंचकोल आदि दीपनीय द्रव्यों से सिद्ध घृत वैद्य बहुत थोड़ी मात्रा में पिलाये। अग्नि के कुछ प्रदीप्त हो जाने पर रोगी का मल, वायु और मूत्र रुका हो तो इसको दो-तीन दिन स्नेहन करके स्वेदन और अभ्यंग के बाद निरूह देवे। (निरूह से वायु का शमन होने पर) एरण्डतैल से या तिल्वक घृत में यवक्षार मिलाकर ढीले हुए दोषवाले रोगी को विरेचन देवे ॥ २२-२४ ॥

अनुवासन विधि--

शुद्धरूक्षाशयं बद्धवर्चस्कं चानुवासयेत् ।
दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन तं ततः ॥ २५ ॥

निरूढं च विरिक्तं च सम्यक्चाप्यनुवासितम् ।
लघ्वन्नप्रतिसंयुक्तं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥ २६ ॥

शुद्ध एवं रूक्ष आशय वाले तथा जिसका मल सख्त हो, उस रोगी को सोंठ आदि दीपनीय, वृक्षाम्ल-दाडिम आदि अम्ल, तथा कुष्ठ, रास्ना, एरण्ड आदि वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध तैल का अनुवासन देवे। रोगी को निरूह, विरेचन तथा सम्यक् रूप में अनुवासन देने के उपरान्त लघु भोजन में उचित मात्रा में थोड़ा (पञ्चकोलादि संस्कृत) घी खाने का अभ्यास कराना चाहिये ॥ २५-२६ ॥

पंचकोलादि घृत—

पञ्चमूलाभयाव्योषपिप्पलीमूलसैन्धवैः ।
रास्नाक्षारद्वयाजाजीविडङ्गशटिभिर्घृतम् ॥ २७ ॥
शुक्तेन मातुलुङ्गस्य स्वरसेनार्द्रकस्य च ।
शुष्कमूलककोलाम्लचुक्रिकादाडिमस्य च ॥ २८ ॥
तक्रमस्तुसुरामण्डसौवीरकतुषोदकैः ।
काञ्जिकेन च तत्पक्वमग्निदीप्तिकरं परम् ॥ २९ ॥
शूलगुल्मोदरश्वासकासानिलकफापहम् ।
सबीजपूरकरसं सिद्धं वा पाययेद् घृतम् ॥ ३० ॥

बृहत्पंचमूल, हरड़, त्रिकटु, पिप्पलीमूल सैन्धव, रास्ना, यवक्षार, सर्जिक्षार, जीरा, वायविडङ्ग, कचूर, इन कल्क द्रव्यों से शुक्त, बिजौरे का स्वरस, आर्द्रक का रस, सूखी मूली, खट्टा बेर, चुक्रिका, अनार, तक्र, मस्तु, सुरामण्ड, सतुष कांजी, निस्तुष कांजी और धान्यकांजी इनके साथ घृत सिद्ध करे। यह घृत अतिशय अग्निदीप्तिकारक, शूल, गुल्म, उदर, श्वास, कास, वायु और कफका नाशक है। (शुक्त आदि द्रव प्रत्येक घृत के समान और सूखी मूली, खट्टाबेर इनका क्वाथ लेना चाहिए) अथवा बिजौरे के रस से सिद्ध किया घृत पिलाये ॥ २७-३० ॥

पंचकोलादि तैल—

तैलमभ्यञ्जनार्थं च सिद्धमेभिश्चलापहम् ।

पंचमूलादि द्रव्यों से सिद्ध किया तैल अभ्यंग के लिए बनाये, यह वातनाशक है।

पंचकोलादि चूर्ण—

एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखाम्बुना ॥ ३१ ॥
वाते श्लेष्मावृते सामे कफे वा वायुनोद्धते ।

(पंचमूल आदि द्रव्यों) का चूर्ण गरम पानी के साथ श्लेष्मा से आवृत वायु में, आमयुक्त कफ में या वायु से प्रेरित आम में पिये ॥ ३१ ॥

पित्तज ग्रहणी चिकित्सा—

अग्नेर्निर्वापकं पित्तं रेकेण वमनेन वा ॥ ३२ ॥
हृत्वा तिक्तलघुग्राहिदीपनैरविदाहिभिः ।
अन्नैः सन्धुक्षयेदग्निं चूर्णैः स्नेहैश्च तिक्तकैः ॥ ३३ ॥

अग्नि को मन्द करने वाले पित्त[1] को विरेचन से या वमन से बाहर करके तिक्त, लघु, ग्राही, दीपन एवं अविदाही अन्नों से अग्नि को प्रबल करे। तथा तिक्त चूर्णों से या तिक्त घृतों से अग्नि को बढ़ाये। (तिक्त द्रव्यों से साधित घृतों से या तिक्त द्रव्य प्रधान चूर्णों से अग्नि बढ़ाये ॥ ३२-३३ ॥

पित्तज ग्रहणीनाशक चूर्ण—

पटोलनिम्बत्रायन्तीतिक्तातिक्तकपर्पटम् ।
कुटजत्वक्फलं मूर्वा मधुशिग्रुफलं वचा ॥ ३४ ॥
दार्वीत्वक्पद्मकोशीरयवानीमुस्तचन्दनम् ।
सौराष्ट्र्यतिविषाव्योषत्वगेलापत्रदारु च ॥ ३५ ॥
चूर्णितं मधुना लेह्यं मद्यैः पेयं जलेन वा ।
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगगुल्मशूलारुचिज्वरान् ॥ ३६ ॥
कामलां सन्निपातं च मुखरोगांश्च नाशयेत् ।

परवल, नीम, त्रायमाणा, कुटकी, चिरायता, पित्तपापड़ा, कुड़े की छाल, इन्द्रजौ, मूर्वा, मीठे सहजन का फल, वच, दारुहल्दी की छाल, पद्माख, खस, अजवायन, मोथा, चन्दन, सौराष्ट्री, अतीस, त्रिकटु, दालचीनी, इलायची, तेजपात और देवदारु के चूर्ण को मधु से चाटे या मद्य अथवा जल से पिये। यह चूर्ण हृदय, पाण्डु रोग, ग्रहणी, गुल्म, शूल, अरुचि, ज्वर, कामला, सन्निपात और मुख रोगों को नष्ट करता है। (सौराष्ट्री का अर्थ साधारणतः फिटकरी करते हैं, परन्तु काष्ठौषधियों के बीच में होने से यहां भी यही अर्थ है या नहीं यह सन्दिग्ध है ॥ ३४-३६ ॥

अन्य चूर्ण—

भूनिम्बकटुकामुस्तात्र्यूषणेन्द्रयवान् समान् ॥ ३७ ॥
द्वौ चित्रकाद्वत्सकत्वग्भागान् षोडश चूर्णयेत् ।
गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत् ॥ ३८ ॥
कामलाज्वरपाण्डुत्वमेहारुच्यतिसारजित् ।

चिरायता, कुटकी, मोथा, त्रिकटु, इन्द्रजौ प्रत्येक समभाग, चित्रक दो भाग, कुड़े की छाल सोलह भाग लेकर इनको चूर्ण करे। इस चूर्ण को गुड़ के शर्बत के साथ-साथ पीने से ग्रहणीरोग, गुल्म, कामला, ज्वर, पाण्डुत्व, प्रमेह, अरुचि और अतीसार नष्ट होते हैं ॥ ३७-३८ ॥

नागरादि चूर्ण—

नागरातिविषामुस्तापाठाबिल्वं रसाञ्जनम् ॥ ३९ ॥
कुटजत्वक्फलं तिक्ता धातकी च कृतं रजः ।
क्षौद्रतण्डुलवारिभ्यां पैत्तिके ग्रहणीगदे ॥ ४० ॥
प्रवाहिकाऽर्शोगुदरुग्रक्तोत्थानेषु चेष्यते ।

सोंठ, अतीस, मुस्ता, पाठा, बेलगिरी, रसौत, कुड़े की

---

[1] १. पित्त आग्नेय होते हुए भी बहुत बढ़ने पर द्रव की बहुलता से अग्नि को मन्द कर देता है। जैसे गरम जल दाहक होते हुए भी अग्नि को बुझाता ही है।

छाल, इन्द्रजौ, कुटकी, धाय के फूल इनका चूर्ण. मधु और चावल के धोवन के साथ पित्तजन्य ग्रहणी रोग प्रवाहिका, अर्श, गुदा में शूल और अतीसार में उत्तम है ॥ ३९-४० ॥

वक्तव्य - तण्डुलोदक कल्पना—(१) 'जलमष्टगुणं दत्त्वा पलं कण्डिततण्डुलात्। भावयित्वा ततो देयं तण्डुलोदककर्मणि ॥' (२) शीतकषायमानेन तण्डुलोदककल्पना । केऽप्यष्टगुणतोयेन प्राहुस्तण्डुलकल्पना ॥

चन्दनादि घृत—

चन्दनं पद्मकोशीरं पाठां मूर्वां कुटन्नटम् ॥ ४१ ॥
षड्ग्रन्थासारिवास्फोतासप्तपर्णाटरूषकान् ।
पटोलोदुम्बराश्वत्थवटप्लक्षकपीतनान् ॥ ४२ ॥
कटुकां रोहिणीं मुस्तां निम्बं च द्विपलांशकान् ।
द्रोणेऽपां साधयेत्तेन पचेत्सर्पिः पिचून्मितैः ॥ ४३
किराततिक्तेन्द्रयववीरामागधिकोत्पलैः ।
पित्तग्रहण्यां तत्पेयं कुष्ठोक्तं तिक्तकं च यत् ॥ ४४ ॥

चन्दन, पद्माख, खस, पाठा, मूर्वा, श्योनाक, वच, सारिवा, अनन्तमूल, सप्तपर्ण, अडूसा, परवल, गूलर, पीपल, वरगद, पिलखन, कदम्ब, कटुरोहिणी, मोथा और नीम प्रत्येक दो पल लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ करे। इस क्वाथ से घृत सिद्ध करे। घृत सिद्ध करने में इन्द्रजौ, चिरायता, वीरा, पिप्पली, कमल इनका कल्क मिलाये। यह घृत पित्तज ग्रहणी में देवे तथा कुष्ठ रोग में कहा तिक्तक घृत (महातिक्तक घृत) भी देवे ॥ ४१-४४ ॥

वक्तव्य—अरुणदत्त की मान्यता है कि घी का प्रमाण क्वाथ की अपेक्षा से बत्तीस पल लेना चाहिये। कल्क की अपेक्षा से पांच पल नहीं।

कफज ग्रहणी-चिकित्सा --

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां तीक्ष्णैः प्रच्छर्दने कृते ।
कट्वम्ललवणक्षारैः क्रमादग्निं विवर्धयेत् ॥ ४५ ॥

श्लेष्मा से दूषित ग्रहणी में तीक्ष्ण द्रव्यों से वमन कर क्रमशः कटु, अम्ल, लवण और क्षार से अग्नि को बढ़ाये ॥

कफज ग्रहणी में पंचकोलादि पेया—

पञ्चकोलाभयाधान्यपाठागन्धपलांशकैः ।
बीजपूरप्रगाढैश्च सिद्धैः पेयादि कल्पयेत् ॥ ४६ ॥

पंचकोल, हरड़, धनिया, पाठा, गन्धपत्र, इनके क्वाथ में बिजौरे का रस प्रचुर परिमाण में मिलाकर इनसे पेया आदि बनाये ॥ ४६ ॥

मधूकासव—

द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडङ्गं च ततोऽर्धतः ।
चित्रकस्य ततोऽर्धं च तथा भल्लातकाढकम् ॥ ४७ ॥
मञ्जिष्ठाऽष्टपलं चैतज्जलद्रोणत्रये पचेत् ।
द्रोणशेषं शृतं शीतं मध्वर्धाढकसंयुतम् ॥ ४८ ॥
एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूषिते ।
कुम्भे मासं स्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत् ॥ ४९ ॥
ग्रहणीं दीपयत्येष बृंहणः पित्तरक्तनुत् ।
शोषकुष्ठकिलासानां प्रमेहाणां च नाशनः ॥ ५० ॥

महुए के फूल एक द्रोण, विडंग आधा द्रोण, चित्रक, विडंग से आधा, भिलावा एक आढक, मंजीठ आठ पल, इनको तीन द्रोण जल में क्वाथ करे। एक द्रोण रहने पर छान कर शीतल करके मधु आधा आढक मिलाये। पात्र को इलायची, कमल, अगर और चन्दन से लेप कर उसमें इस आसव को एक मास तक रख देवे। एक मास के उपरान्त बने इस आसव को बरते। यह आसव ग्रहणी को प्रदीप्त करता है, बृंहण है तथा पित्तरक्त, शोष, कुष्ठ, किलास और प्रमेहों को नष्ट करता है ॥ ४७-५० ॥

मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धक्षयीकृतम् ।
क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत् सन्निधापयेत् ॥ ५१ ॥
तत्पिबन् ग्रहणीदोषाञ् जयेत् सर्वान् हिताशनः ।
तद्वद्द्राक्षेक्षुखर्जूरस्वरसानासुतान् पिबेत् ॥ ५२ ॥

महुए के फूलों का स्वरस लेकर पकाये। जब आधा रह जाये, तब उतार कर इसमें चतुर्थांश मधु मिला कर (शीतल होने पर) इसको पूर्व की भाँति घड़े में रख देवे। इसको पीता तथा हितकारी भोजन करता हुआ रोगी सब ग्रहणी दोषों से मुक्त हो जाता है।

इसी प्रकार द्राक्षा, ईख, खजूर इनके स्वरसों से आसव बना कर पिये ॥ ५१-५२ ॥

ग्रहणी में क्षार का प्रयोग—

हिङ्गुतिक्तावचामाद्रीपाठेन्द्रयवगोक्षुरम् ।
पञ्चकोलं च कर्षांशं पलांशं पटुपञ्चकम् ॥५३॥
घृततैलद्विकुडवे दध्नः प्रस्थद्वये च तत् ।
आपोथ्य क्वाथयेदग्नौ मृदावनुगते रसे ॥५४॥
अन्तर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णीकृत्य घृताप्लुतम् ।
पिबेत् पाणितलं तस्मिञ्जीर्णे स्यान्मधुराशनः ॥५५॥

हींग, कुटकी, वच, पिप्पली, पाठा, इन्द्रजौ, गोखरू और पञ्चकोल प्रत्येक एक कर्ष, पाँचो नमक एक पल, घी और तैल दो कुडव, दही दो प्रस्थ, इन सबको कूट कर मृदु अग्नि पर पकाये। जब रस निकल जाये तब अन्तर्धूम विधि से जलाकर चूर्ण कर ले। इस चूर्ण को घी में मिलाकर एक कर्ष मात्रा में चाटे। इसके पच जाने पर मधुर भोजन करे। यह क्षार वातकफजन्य रोगों को और विष एवं गर रोगों को नष्ट करता है ॥ ५३-५५ ॥

वातश्लेष्मामयान् सर्वान् हन्याद्विषगरांश्च सः ।
भूनिम्बं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निम्बपर्पटम् ॥ ५६ ॥
दग्ध्वा माहिषमूत्रेण पिबेदग्निविवर्धनम् ।
द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकः कटुरोहिणी ॥ ५७ ॥

मुस्ता च च्छागमूत्रेण सिद्धः क्षारोऽग्निवर्धनः ।

चिरायता, कुटकी, परवल, नीम और पित्तपापड़ा इनको जलाकर अग्नि को बढ़ाने के लिये भैंस के मूत्र से पिये ।

हल्दी, दारुहल्दी, वच, कूठ, चित्रक, कुटकी और मोथा इनको बकरे के मूत्र से सिद्ध करे । यह क्षार अग्निवर्धक है ।

ग्रहणी में क्षारवटिका—

चतुष्पलं सुधाकाण्डात् त्रिपलं लवणत्रयात् ॥५८॥
वार्ताकुकुडवं चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात् पले ।
दग्ध्वा रसेन वार्ताकाद् गुटिका भोजनोत्तराः ॥५९॥
भुक्तमन्नं पचन्त्याशु कासश्वासार्शसां हिताः ।
विसूचिकाप्रतिश्यायहृद्रोगशमनाश्च ताः ॥६०॥

थूहर का काण्ड चार पल, तीनों नमक तीन पल, पका-सूखा बैंगन (या बड़ी कटेरी) एक कुडव, आक की मूल आठ पल, चित्रक दो पल, इनको जलाकर बैंगन या कटेरी के रस में गोलियाँ बनाये । इन गोलियों को खाकर भोजन करे या भोजन के बाद खाये । ये गोलियाँ खाये हुए अन्न को पचा देती हैं, कास, श्वास, अर्श में हितकारी हैं तथा विसूचिका, प्रतिश्याय, हृदय रोग को शमन करती हैं ॥५८-६०॥

वक्तव्य—'भोजनोत्तराः इति भोजनमुत्तरं पश्चात्कालीनं यासां, किंवा भोजनादुत्तराः ।' शिवदासः ।

ग्रहणी में मातुलुङ्गादि चूर्ण—

मातुलुङ्गशटीरास्नाकटुत्रयहरीतकी ।
स्वर्जिकायावशूकाख्यौ क्षारौ पञ्चपटूनि च ॥६१॥
सुखाम्बुपीतं तच्चूर्णं बलवर्णाग्निवर्धनम् ।

बड़ा नीबू, कचूर, रास्ना, त्रिकटु, हरड़, सर्जिक्षार, यवक्षार, पाँचों नमक, इनका चूर्ण गरम पानी से पिये । यह चूर्ण बल, वर्ण और अग्निवर्धक है ॥ ६१ ॥

कफज ग्रहणी में घृत—

श्लैष्मिके ग्रहणीदोषे सवाते तैर्घृतं पचेत् ॥६२॥
धान्वन्तरं षट्पलं च भल्लातकघृताभयम् ।

कफजन्य ग्रहणी दोष में वायु का मिश्रण होने पर मातुलुङ्गादि से घृत सिद्ध करे । अथवा धान्वन्तर घृत (चि० अ० १२।१९), या षट्पल घृत (चि० अ० ५।२२) या भल्लातक घृत (चि० अ० १४।८०) या अभया घृत (चि० अ० १५।२८) देवे।

विडकाचोषलवणस्वर्जिकायावशूकजान् ॥६३॥
सप्तलां कण्टकारीं च चित्रकं चैकतो हरेत् ।
सप्तकृत्वः स्रुतस्यास्य क्षारस्यार्धाढके पचेत् ६४॥
आढकं सर्पिषः पेयं तदग्निबलवृद्धये ।

विड लवण, काच लवण, ऊसर लवण, सर्जक्षार, यवक्षार, शिकाकाई, कटेरी, चित्रक, इन सबको एक साथ मिलाकर जलाये । इस क्षार को सात बार पानी में छाने । छाने हुए इस क्षार को आधा आढक लेकर एक आढक घी सिद्ध करे । इस घी को अग्निबल की वृद्धि के लिये पिये ॥ ६३-६४ ॥

सन्निपातज ग्रहणी में प्रयोग –

निचये पञ्चकर्माणि युञ्ज्याच्चैतद्यथाबलम् ॥६५॥

सन्निपातज ग्रहणी में बल के अनुसार, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन इन पञ्चकर्मों को करे । (शिरोविरेचन का उपयोग प्रायः ग्रहणी में देखने में नहीं आता) ॥ ६५ ॥

प्रतिदोषानुसार चिकित्सा—

प्रसेके श्लैष्मिकेऽल्पाग्नेर्दीपनं रूक्षतिक्तकम् ।
योज्यं कृशस्य व्यत्यासात् स्निग्धरूक्षं कफोदये ॥६६॥
क्षीणक्षामशरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम् ।
दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरकैर्युतम् ॥६७॥
स्नेहोऽम्ललवणैर्युक्तो बहुवातस्य शस्यते ।

कफजन्य प्रसेक (लालास्राव-थूक आना) में रोगी को अग्निमान्द्य हो तो दीपक, रूक्ष, तिक्त द्रव्य बरतने चाहिये । कृश पुरुष को मन्दाग्नि हो, कफ की प्रधानता हो तो अदला-बदली से स्निग्ध और रूक्ष चिकित्सा करे । अर्थात् स्निग्ध उपचार के पीछे रूक्ष, रूक्ष के पीछे स्निग्ध चिकित्सा करे । क्षीणक्षाम (कृश) शरीर वाले रोगी में कफ के प्रधान होने पर दीपन (पञ्चकोलादि) द्रव्यों को स्नेह (घृत आदि) से मिलाकर देवे । बहुत पित्त वाले को मन्दाग्नि हो तो तिक्त द्रव्यों को मधुर गण के द्रव्यों से मिलाकर दीपन देना चाहिये । बहुत वात वाले को मन्दाग्नि हो तो स्नेह को अम्ल, लवण मिलाकर देना उत्तम है ॥ ६६-६७ ॥

स्नेह की उत्कृष्टता—

स्नेहमेव परं विद्याद् दुर्बलानलदीपनम् ॥ ६८ ॥
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि ।

निर्बल अग्नि को बढ़ाने के लिये स्नेह ही श्रेष्ठ है । स्नेह (घृत) से बढ़ी अग्नि को अतिगरिष्ठ अन्न भी शमन करने में समर्थ नहीं होता है, इसलिए निर्बल अग्नि को बढ़ाने के लिए स्नेह घृत का क्रमशः प्रयोग ही श्रेष्ठ है ॥ ६८ ॥

ढीले मल में घृत—

योऽल्पाग्नित्वात् कफे क्षीणे वर्चः पक्वमपि श्लथम् ॥
मुञ्चेत् पट्वौषधयुतं स पिबेदल्पशो घृतम् ।
तेन स्वमार्गमानीतः स्वकर्मणि नियोजितः ॥७०॥
समानो दीपयत्यग्निमग्नेः सन्धुक्षको हि सः ।

जो मनुष्य मन्दाग्नि होने के कारण कफ के क्षीण होने पर पके हुए मल को भी ढीले रूप में (पतला) त्याग करता है, वह मनुष्य सैन्धव और सोंठ से मिला घी थोड़ा-थोड़ा करके खाये । इस घी से समान वायु अपने स्वाभाविक मार्ग में आकर अन्नपाचनरूपी अपने कार्य करके अग्नि को बढ़ाती है । क्योंकि अग्नि को बढ़ाना समान वायु का कार्य है ॥६९-७०॥

कठिन मल में घृत—

पुरीषं यश्च कृच्छ्रेण कठिनत्वाद्विमुञ्चति ॥ ७१ ॥

स घृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत् ।

जो रोगी मल के कठिन होने से दुःखपूर्वक मलत्याग करता है, वह मनुष्य पाँचो नमक से मिला घृत पीकर पीछे से तुरन्त अन्न खाये [अथवा थोड़ा सा भोजन खाकर घी पिये और फिर शेष भोजन करे भोजन के बीच में घी पिये]।

रौक्ष्य में स्नेहपान-विधि—

रौक्ष्यान्मन्देऽनले सर्पिस्तैलं वा दीपनैः पिबेत्॥७२॥

रूक्षता के कारण अग्नि के मन्द होने पर तैल या घी को दीपनीय द्रव्यों से मिलाकर पिये ॥ ७२ ॥

स्नेहपान से उत्पन्न मन्दाग्नि में उपाय—

क्षारचूर्णासवारिष्टान् मन्दे स्नेहातिपानतः ।

स्नेह के अतिपान से अग्नि मन्द हुई हो तो यवक्षार [आदि क्षार], चूर्ण, आसव और अरिष्ट पिये ।

उदावर्त में उपाय—

उदावर्तात्तु योक्तव्या निरूहस्नेहवस्तयः ॥ ७३ ॥

उदावर्त्त के कारण अग्नि मन्द हो तो निरूह एवं स्नेह वस्तियाँ बरतनी चाहिये ॥ ७३ ॥

दोषाधिक्यजन्य मन्दाग्नि में उपाय—

दोषातिवृद्ध्या मन्देऽग्नौ संशुद्धोऽन्नविधिं चरेत् ।

दोष के बहुत बढ़ने से अग्नि मन्द हो तो वमन, विरेचनादि से शोधन करके पेयादि अन्नविधि का सेवन करे ।

व्याधिमुक्त मन्दाग्नि में उपचार—

व्याधिमुक्तस्य मन्देऽग्नौ सर्पिरेव तु दीपनम् ॥७४॥

रोग से मुक्त व्यक्ति में मन्दाग्नि होने पर घी ही दीपन होता है ॥ ७४ ॥

मार्गभ्रमणादिजन्य मन्दाग्नि में उपचार—

अध्वोपवासक्षामत्वैर्यवाग्वा पाययेद् घृतम् ।
अन्नावपीडितं बल्यं दीपनं बृंहणं च तत् ॥ ७५ ॥

मुसाफिरी, उपवास, कृशता आदि के कारण मन्दाग्नि होने पर अन्न से अवपीडित घृत (भोजन के बीच में दिया घृत) यवागू के साथ पिलाये । यह घृत बलकारक, दीपन और बृंहण होता है ॥ ७५ ॥

दीर्घकालीन मन्दाग्नि में प्रयोग—

दीर्घकालप्रसङ्गात्तु क्षामक्षीणकृशान्नरान् ।
प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत् पिशिताशिनाम् ॥७६॥
लघूष्णकटुशोधित्वाद् दीपयन्त्याशु तेऽनलम् ।
मांसोपचितमांसत्वात् परं च बलवर्धनाः ॥ ७७ ॥

रोग के चिर काल तक रहने से अग्नि के मन्द होने पर क्षाम (व्यवसाय शून्य), क्षीण (दुर्बल), कृश (हीनमांस) मनुष्योंको मांस खाने वाले प्रसहों के मांसरसों को अनारदाने से खट्टा करके उनके साथ भोजन देवे । ये मांसरस लघु, उष्ण, कटु तथा शोधक होने से अग्नि को शीघ्र प्रदीप्त करते हैं । मांसाहारी प्रसहों के मांस मांस से ही पुष्ट होने के कारण श्रेष्ठ बलवर्धक होते हैं ॥ ७६–७७ ॥

स्नेहासवसुरारिष्टचूर्णक्वाथहिताशनैः ।
सम्यक् प्रयुक्तैर्देहस्य बलमग्नेश्च वर्धते ॥ ७८ ॥

स्नेह, आसव, सुरा, अरिष्ट, चूर्ण, क्वाथ इनको हितकारी भोजनों के साथ भली प्रकार प्रयोग करने से शरीर और अग्नि दोनों का बल बढ़ता है ॥ ७८ ॥

दीप्तो यथैव स्थाणुश्च बाह्योऽग्निः सारदारुभिः ।
सस्नेहैर्जायते तद्वदाहारैः कोष्ठगोऽनलः ॥ ७९ ॥

जिस प्रकार शमी, खैर आदि स्नेह वाली लकड़ियों से जलाने पर बाह्याग्नि स्थिर होती है, उसी प्रकार कोष्ठ की अग्नि स्नेहों के साथ, पथ्यरूप आहारों से अतितीव्र और स्थिर होती है ॥ ७९ ॥

अभोजनातिभोजन का अग्नि पर प्रभाव—

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात् ।
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वाऽतीन्धनावृतः ॥ ८० ॥

भोजन के न करने से कायाग्नि प्रदीप्त नहीं होती। भोजन के अधिक करने से भी अग्नि प्रदीप्त नहीं होती। जिस प्रकार बाहर की थोड़ी सी अग्नि इन्धन के बिना नहीं जलती है और बहुत इन्धन से आवृत होने पर भी नहीं जलती ॥ ८० ॥

अत्यग्नि (भस्मक) रोग—

यदा क्षीणे कफे पित्तं स्वस्थाने पवनानुगम् ।
प्रवृद्धं वर्धयत्यग्निं तदाऽसौ सानिलोऽनलः ॥ ८१ ॥
पक्त्वाऽन्नमाशु धातूंश्च सर्वानोजश्च सङ्क्षिपन् ।
मारयेत् स्यात् स ना स्वस्थो भुक्ते जीर्णे तु ताम्यति ॥
तृट्कासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः ।

जब कफ के क्षीण होने पर वायु के अनुबन्ध के साथ पित्त अपने स्थान में बहुत बढ़कर अग्नि को बढ़ाता है तब वायु से मिली यह अग्नि अन्न को शीघ्र पचाकर सब धातुओं को और सब ओज को नष्ट करती हुई मार देती है। अत्यग्निपीडित यह मनुष्य भोजन करने पर स्वस्थता अनुभव करता है और भोजन के जीर्ण होने पर पीडित होता है। तथा अत्यग्नि के कारण प्यास, कास, दाह, मूर्च्छा आदि रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ८१–८२ ॥

भस्मकाख्य अग्नि का शमनोपाय—

तमत्यग्निं गुरुस्निग्धमन्दसान्द्रहिमस्थिरैः ॥ ८३ ॥
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः ।

इस अत्यग्नि (भस्मक) को गुरु, स्निग्ध, मन्द, सान्द्र, (ठोस), शीतल, एवं स्थिर खान-पान से शान्त करे; जिस प्रकार कि जलती अग्नि को पानी शान्त करता है ॥ ८३ ॥

मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ॥ ८४ ॥
निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत् ।

पहिले का खाया पचा न होनेपर भी बार-बार इसे कुछ खाने को देता रहे जिससे कि इन्धनरहित अग्नि (धातुओं के पकाने की) अवसर प्राप्त करके इसको मार न देवे। [अन्तरम्-हृदयम् ; इन्दुः] ॥ ८४ ॥

अत्यग्नि में भोज्य द्रव्य—

कृशरां पायसं स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम् ॥ ८५ ॥
अश्नीयादौदकानूपपिशितानि भृतानि च ।
मत्स्यान् विशेषतः श्लक्ष्णान् स्थिरतोयचराश्च ये ॥

कृशरा, क्षीर, स्निग्ध, पिट्ठी से बने तथा गुड़ से बने भोजन, औदक, आनूप मांस, घर में पुष्ट किये पशु-पक्षी के मांस तथा मछलियां विशेष कर जो चिकनी एवं स्थिर पानी में विचरती हैं, उनको देवे ॥ ८५-८६ ॥

अत्यग्नि में भेड़े का मांस—

आविकं सुभृतं मांसमद्यादत्यग्निवारणम् ।

अतिशय पुष्ट (अतिमेदुर) भेड़ का मांस खावे, यह अत्यग्नि को शान्त करता है।

अत्यग्नि में दूध का विधान—

पयः सहमधूच्छिष्टं घृतं वा तृषितः पिबेत् ॥ ८७ ॥
गोधूमचूर्णं पयसा बहुसर्पिःपरिप्लुतम् ।
आनूपरसयुक्तान् वा स्नेहांस्तैलविवर्जितान् ॥ ८८ ॥
श्यामात्रिवृद्विपक्वं वा पयो दद्याद्विरेचनम् ।
असकृत्पित्तहरणं पायसप्रतिभोजनम् ॥ ८९ ॥

प्यास लगने पर दूध के साथ मोम या घी पिये। गेहूँ के चूर्ण को बहुत घी मिला कर दुग्ध में घोल कर पिये। आनूप मांसरस के साथ तैल को छोड़कर अन्य स्नेहों को पिये (पित्त-कारक होने से तैल को न पिये)। अनन्तमूल और निशोथ से सिद्ध किया दूध विरेचन देवे। बार बार पित्त को निकाले (विरेचन देवे)। साथ में खीर का भोजन देवे ॥ ८७-८९ ॥

अत्यग्नि में हित—

यत् किञ्चिद् गुरु मेद्यं च श्लेष्मकारि च भोजनम्।
सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा च स्वपनं दिवा ॥९०॥

जो भी कोई भोजन गुरु, मेद बढ़ानेवाला और कफकारक हो, वह सब खाकर तथा दिन में सोना अत्यग्नि रोगियों के लिये हितकारी है ॥ ९० ॥

अत्यग्नि से हानि—

आहारमग्निं पचति दोषानाहारवर्जितः ।
धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसङ्क्षये ॥ ९१ ॥

अग्नि पहले आहार को पकाती है, आहार के अभाव में दोषों को पकाती है, दोषों के क्षीण होने पर धातुओं का पाक करती है और धातुओं के क्षीण हो जाने पर जीवन का पाक करती है—मार देती है ॥ ९१ ॥

विरुद्ध अन्न-पानादि—

एतत्प्रकृत्यैव विरुद्धमन्नं संयोगसंस्कारवशेन चेदम् ।
इत्याद्यविज्ञाय यथेष्टचेष्टा-
श्चरन्ति यत्सा‌ऽग्निबलस्य शक्तिः ॥९२॥
तस्मादग्निं पालयेत् सर्वयत्नै-
स्तस्मिन्नष्टे याति ना नाशमेव ।
दोषैर्ग्रस्ते ग्रस्यते रोगसङ्घै-
र्युक्ते तु स्यान्नीरुजो दीर्घजीवी ॥ ९३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने
ग्रहणीदोषचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

* * *

यह अन्न स्वभाव के कारण अथवा संयोग (दूध-खटाई के) और संस्कार के कारण विरुद्ध-अपथ्य है, इसी तरह मात्रा आदि विरोधी अन्न का विचार न करते हुए यथेच्छित आहार का सेवन करते हुए भी जो निःशंक विचरते हैं (स्वस्थ रहते हैं) वह अग्नि-बल की शक्ति है। इसलिये सम्पूर्ण यत्न से अग्नि की रक्षा करे। अग्नि के नष्ट होने पर मनुष्य अवश्य नष्ट हो जाता है। अग्नि के दोषों से ग्रस्त होने पर मनुष्य रोगसमूहों से पीडित होता है तथा अग्नि के ठीक रहने पर मनुष्य निरोगी होकर चिरायु होता है।

वक्तव्य—स्वभावविरुद्ध—कूर्मर्दक, दधि, सरसों, राब, लकुच आदि। संयोगविरुद्ध-दूध खटाई के साथ, आनूपमांस उड़द के साथ। संस्कारविरुद्ध-हारीतमांस हल्दी की लकड़ी से पकाने पर। मात्राविरुद्ध-मधु और घृत समान भाग में। कालजन्य-रात्रि की बासी मकोय। पात्र के कारण-कांसी में दस दिन रखा घी आदि।

वक्तव्य - ग्रहणी में प्रसिद्ध तन्त्रान्तरोक्तयोग-चित्रकादि चूर्ण, पाठाद्य चूर्ण, कल्याणक गुड़, कामेश्वर मोदक, अग्निकुमार रस, नृपतिवल्लभरस, रसपर्पटी, विजयपर्पटी, पंचामृतपर्पटी, ग्रहणीकपाटरस। मलने में—ग्रहणीमिहिरतैल।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का ग्रहणी दोषचिकित्सित दसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अथातो मूत्रघातचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे मूत्रघात चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वात मूत्रकृच्छ्र में स्नेह-स्वेद—

कृच्छ्रे वातघ्नतैलाक्तमधोनाभेः समीरजे ।
सुस्निग्धैः स्वेदयेदङ्गं पिण्डसेकावगाहनैः ॥ १ ॥

वातजन्य मूत्रकृच्छ्र में शरीर पर वातनाशक तैलों का अभ्यङ्ग करके नाभि के नीचे अतिशय स्निग्ध पिण्ड, परिषेक और अवगाहनों से स्वेद देवे ॥ १ ॥

वक्तव्य—'लिङ्गाग्रसुषिरे सम्यग् योन्यां वा सम्प्रवेशयेत्।

मूत्रदुःखहरं मुख्यं कर्पूरं परिसंक्षिपेत् ॥' कपूर को कुशा के द्वारा योनि या मूत्रमार्ग के अन्दर रख देते हैं, इष्टफलयोग है।

शूलनाशक तैल—

दशमूलबलैरण्डयवाभीरुपुनर्नवैः ।
कुलत्थकोलपत्तूरवृश्चीवोपलभेदकैः ॥ २ ॥
तैलसर्पिर्वराहर्क्षवसा क्वथितकल्कितैः ।
सपञ्चलवणाः सिद्धाः पीताः शूलहराः परम् ॥ ३ ॥

दशमूल, बला, एरण्ड, जौ, शतावरी, पुनर्नवा, कुलत्थ, बेर, मछेछी, लाल पुनर्नवा, पाषाणभेद, इनके क्वाथ और कल्कों से तैल, घी या सूअर और रीछ की चर्बी को सिद्ध करे। यह पाँचों नमक मिलाकर पीने पर अतिशय शूलनाशक है।

अन्य प्रयोग—

द्रव्याण्येतानि पानान्ने तथा पिण्डोपनाहने ।
सह तैलफलैर्युञ्ज्यात् साम्लानि स्नेहवन्ति च ॥४॥

दशमूल आदि उपर्युक्त द्रव्यों को, तिलों के साथ एवं तक्र, आरनाल आदि अम्ल द्रव्यों से मिलाकर घृत आदि से स्निग्ध बनाकर पीने में, अन्न में, पिण्डस्वेद में और उपनाह में बरतना चाहिये ॥ ४ ॥

मूत्रकृच्छ्र में मद्यपान—

सौवर्चलाढ्यां मदिरां पिबेन्मूत्ररुजापहाम् ।

मदिरा में प्रचुर संचल नमक मिलाकर मूत्र की पीड़ा को शान्त करने के लिये पिये।

पित्तज मूत्रकृच्छ्र में सेकादि—

पैत्ते युञ्जीत शिशिरं सेकलेपावगाहनम् ॥ ५ ॥

पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में शीतल परिषेक, लेप और अवगाहन कराये ॥ ५ ॥

अन्यान्य प्रयोग—

पिबेद्वरीं गोक्षुरकं विदारीं सकसेरुकाम् ।
तृणाख्यं पञ्चमूलं च पाक्यं समधुशर्करम् ॥ ६ ॥
वृषकं त्रपुसैर्वारुलटवाबीजानि कुङ्कुमम् ।
द्राक्षाऽम्भोभिः पिबन् सर्वान् मूत्राघातानपोहति ॥७॥
एर्वारुबीजयष्ट्याह्वदार्वीर्वा तण्डुलाम्बुना ।
तोयेन कल्कं द्राक्षायाः पिबेत् पर्युषितेन वा ॥ ८ ॥

शतावरी, गोखरू, विदारी, कसेरू, पंचतृणमूल; इनका क्वाथ करके मधु और शर्करा के साथ पिये।

अडूसा, खीरे के बीज, ककड़ी के बीज, कुसुम्भा के बीज, केसर; इनको द्राक्षारस के साथ पीने पर सब मूत्रघात नष्ट हो जाते हैं।

ककड़ी के बीज, मुलहठी, दारुहल्दी; इनको चावल के धोवन से पिये। द्राक्षाकल्क को रात के बासी जल के साथ पिये ॥ ६-८ ॥

कफज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—

कफजे वमनं स्वेदं तीक्ष्णोष्णकटुभोजनम् ।
यवानां विकृतीः क्षारं कालशेयं च शीलयेत् ॥ ९ ॥
पिबेन्मद्येन सूक्ष्मैलां धात्रीफलरसेन वा ।
सारसास्थिश्वदंष्ट्रैलाव्योषं वा मधुमूत्रवत् ॥ १० ॥
स्वरसं कण्टकार्या वा पाययेन्माक्षिकान्वितम् ।
शितिवारकबीजं वा तक्रेण श्लक्ष्णचूर्णितम् ॥ ११ ॥
धवसप्ताह्वकुटजगुडूचीचतुरङ्गुलम् ।
केम्बुकैलाकरञ्जं च पाक्यं समधु साधितम् ॥ १२ ॥
तैर्वा पेयां प्रवालं वा चूर्णितं तण्डुलाम्बुना ।
सतैलं पाटलाक्षारं सप्तकृत्वोऽथवा स्रुतम् ॥ १३ ॥

कफजन्य मूत्रकृच्छ्र में वमन, स्वेद, तीक्ष्ण-उष्ण एवं कटु भोजन, जौ से बने पदार्थ, यवक्षार और तक्र का उपयोग करे।

छोटी इलायची का चूर्ण (छिलके समेत कूटकर) मद्य से या आँवले के रस से पिये। सारस की अस्थि (या तालाब में रहने वाले प्राणियों की अस्थि), गोखरू, इलायची, त्रिकटु, इनको मधु और गोमूत्र के साथ पिये। कटेरी के स्वरस को मधु मिलाकर पिये। करंज के बीज को बारीक पीसकर तक्र के साथ पिये। धावन, सप्तपर्ण, कूड़ा, गिलोय, अमलतास, केम्बुक, इलायची और करंज का क्वाथ मधु मिलाकर पिये। धावन आदि से सिद्ध की हुई पेया पिये। प्रवाल के सूक्ष्म चूर्ण (पिष्टि) को चावलों के पानी से पिये। पाटला के क्षार को सात बार नितार कर तैल के साथ पिये ॥ ९-१३ ॥

पाटलीयावशूकाभ्यां पारिभद्रात्तिलादपि ।
क्षारोदकेन मदिरां त्वगेलोषकसंयुताम् ॥ १४ ॥
पिबेद् गुडोपदंशान् वा लिह्यादेतान् पृथक् पृथक् ।

पाटली, यवक्षार, तिलनाल इनके क्षारोदक में मदिरा को मिलाकर इसमें दालचीनी, इलायची और मरिच का प्रक्षेप देकर पिये अथवा पाटली आदि के क्षार को गुड़ मिलाकर अलग अलग चाटे। (ऊषक पाठ में ऊसर भूमि का खार, रेह जिससे धोबी कपड़ा धोते हैं।) ॥ १४ ॥

वक्तव्य—'क्षारोदकेन मतिमाँस्त्वगेलोषणचूर्णकम्। पिबेद् गुडेन मिश्रं वा लिह्याल्लेहान् पृथक् पृथक् ॥' सुश्रुत।

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

सन्निपातात्मके सर्वं यथावस्थमिदं हितम् ॥ १५ ॥
अश्मन्यप्यचिरोत्थाने वातबस्त्यादिकेषु च ।

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में अवस्था के अनुसार यह सब चिकित्सा उपयोगी है। नूतन उत्पन्न अश्मरी में तथा वातबस्ति आदि मूत्रघातों में भी यह चिकित्सा बरतनी चाहिये।

अश्मरी में कर्तव्य—

अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तकप्रतिमो मतः ॥ १६ ॥
तरुणो भेषजैः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति ।

अश्मरी भयानक रोग है। यह शीघ्र प्राणहर होने से अन्तक-यम के तुल्य है। नूतन अश्मरी औषधियों से साध्य है। बढ़ने पर शस्त्र क्रिया के योग्य होती है ॥ १६ ॥

अश्मरी के पूर्वरूप में कर्तव्य—

तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते ॥ १७ ॥

अश्मरी के पूर्वरूपों में स्नेहन, स्वेदन आदि क्रिया करनी चाहिये ॥ १७ ॥

अश्मरी में स्नेहविधि—

पाषाणभेदो वसुको वशिरोऽश्मन्तको वरी ।
कपोतवङ्काऽतिबलाभल्लूकोशीरकच्छकम् ॥ १८ ॥
वृक्षादनी शाकफलं व्याघ्र्यौ गुण्टस्त्रिकण्टकः ।
यवाः कुलत्थाः कोलानि वरुणः कतकात्फलम् ॥१९॥
ऊषकादिप्रतीवापमेषां क्वाथे श्रृतं घृतम् ।
भिनत्ति वातसम्भूतां तत्पीतं शीघ्रमश्मरीम् ॥ २० ॥

पाषाणभेद, वसुक (ईश्वरमल्लिका), वशिर (अपामार्ग या समुद्र लवण, सूर्यावर्त्त इत्यन्ये), अश्मन्तक (पाषाणभेद या अष्टा-मराठी में), शतावरी, सुवर्चला, श्योनाक, खस, कौंच, वृक्षादनी (वन्दाक), सागौन, कटेरी, बड़ीकटेरी, गुण्ठ, गोखरू, जौ, कुलथी, बेर, वरणा निर्मलीफल इनके क्वाथ में ऊषकादि गण का प्रक्षेप मिलाकर घृत सिद्ध करे। इसके पीने से वातजन्य अश्मरी शीघ्र नष्ट हो जाती है। [कच्छकस्थाने कच्छुरम् इस पाठ में तुनिक रंग द्रव्य लेना]।

वाताश्मरीभेदक पान—

गन्धर्वहस्तबृहतीव्याघ्रीगोक्षुरकेक्षुरात् ।
मूलकल्कं पिबेद् दध्ना मधुरेणाश्मभेदनम् ॥ २१ ॥

एरण्डमूल, कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, इक्षुरक [तालमखाना], इनके मूल का कल्क करके मीठे दही के साथ वातज अश्मरी के भेदन के लिये पिये ॥ २१ ॥

पित्ताश्मरीभेदक घृत—

कुशः काशः शरो गुण्ठ इत्कटो मोरटोऽश्मभित् ।
दर्भो विदारी वाराही शालिमूलं त्रिकण्टकः ॥ २२ ॥
भल्लूकः पाटली पाठा पत्तूरः सकुरण्टकः ।
पुनर्नवा शिरीषश्च तेषां क्वाथे पचेद् घृतम् ॥ २३ ॥
पिष्टेन त्रपुसादीनां बीजेनेन्दीवरेण च ।
मधुकेन शिलाजेन तत्पित्ताश्मरिभेदनम् ॥ २४ ॥

कुश, काश, सरकण्डा, गुण्ठ, इत्कट, (एकड़ा), मोरट (इक्षुमूल), पाषाणभेद, दाभ, विदारीकन्द, वाराहकन्द, शालिमूल, गोखरू, श्योनाक, पाटली, पाठा, मछेछी, कुरण्टक, पुनर्नवा, शिरीष, इनके क्वाथ में त्रपुस, एर्वारु, लट्वा के बीज अथवा नीलकमल के बीज, मुलहठी, शिलाजतु, इनका कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह पित्ताश्मरीभेदक है ॥२२-२४॥

कफज अश्मरीभेदक घृत—

वरुणादिः समीरघ्नौ गणावेलाहरेणुका ।
गुग्गुलुर्मरिचं कुष्ठं चित्रकः ससुराह्वयः ॥ २५ ॥
तैः कल्कितैः कृतावापमूषकादिगणेन च ।
भिनत्ति कफजामाशु साधितं घृतमश्मरीम् ॥ २६ ॥

वरुणादि गण, वीरतरादि गण और विदार्यादि गण, इलायची, हरेणु, गुग्गुलु, मरिच कूठ, चित्रक, देवदारु, इनके क्वाथ में ऊषकादि गण का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत कफजन्य अश्मरी को शीघ्र नष्ट करता है ॥ २५-२६ ॥

यथायोग्य क्षारादि विधि—

क्षारक्षीरयवाग्वादि द्रव्यैः स्वैः स्वैश्च कल्पयेत् ।

वातादि दोषों के योग्य द्रव्यों से क्षार, क्षीर, यवागू आदि बनाये।

शर्कराभेदक गुडपान—

पिचुकाङ्कोल्लकतकशाकेन्दीवरजैः फलैः ॥ २७ ॥
पीतमुष्णाम्बु सगुडं शर्करापातनं परम् ।

पिचुक (शितिवारक या निम्ब), अंकोल, निर्मली, सागौन, कमल, इनके फलों से बनाया क्वाथ गुड़ के साथ शर्करा के गिराने के लिये श्रेष्ठ है। (सगुडं के स्थान पर सघृतम् भी पाठ है) ॥ २७ ॥

अन्य पान—

क्रौञ्चोष्ट्रासभास्थीनि श्वदंष्ट्रा तालपत्रिका ॥ २८ ॥
अजमोदा कदम्बस्य मूलं विश्वस्य चौषधम् ।
पीतानि शर्करां भिन्द्युः सुरयोष्णोदकेन वा ॥ २९ ॥

क्रौंच की अस्थि, ऊँट की अस्थि, गधे की अस्थि, गोखरू, तालपत्रिका, अजमोदा, कदम्ब का मूल, सोंठ, ये सुरा या गरम पानी से पीने पर शर्करा को तोड़ देते हैं ॥२८-२९॥

अश्मरीनाशक चूर्ण—

नृत्यकुण्डकबीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम् ।
अविक्षीरेण सप्ताहं पीतमश्मरिपातनम् ॥ ३० ॥

नृत्यकुण्डक [तुम्बरी या निर्मली या गोक्षुर] बीजों का चूर्ण मधु के साथ मिलाकर भेड़ के दूध के साथ सात दिन पीने पर अश्मरी को गिरा देता है ॥ ३० ॥

अश्मरीनाशक क्वाथ—

क्वाथश्च शिग्रुमूलोत्थः कदुष्णोऽश्मरिपातनः ।

सहजन के मूल का क्वाथ थोड़ा गरम पीने पर अश्मरी को गिरा देता है।

अश्मरीनाशक क्षार—

तिलापामार्गकदलीपलाशयवसम्भवः ॥ ३१ ॥
क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करास्वश्मरीषु च ।

शर्करा और अश्मरी में तिल, चिरचिटा, केला, ढाक और जौ का क्षार भेड़ के दूध से पिये ॥ ३१ ॥

अश्मरीनाशक ब्राह्मीमूलादि पान—

कपोतवङ्कामूलं वा पिबेदेकं सुरादिभिः ॥ ३२ ॥
तत्सिद्धं वा पिबेत्क्षीरं वेदनाभिरुपद्रुतः ।
हरीतक्यस्थिसिद्धं वा साधितं वा पुनर्नवैः ॥ ३३ ॥
क्षीरान्नभुग्बर्हिशिखामूलं वा तण्डुलाम्बुना ।

सुवर्चला की अकेली मूल को सुरा, गरम जल आदि से

पिये। अथवा सुवर्चला से सिद्ध दूध को वेदना से पीड़ित रोगी पिये। हरड़ की गुठली से सिद्ध दूध या पुनर्नवा से सिद्ध दूध पिये। दूध का ही भोजन करता हुआ मयूरशिखा के मूल को चावल के धोवन से पिये ॥ ३२-३३ ॥

मूत्राघात की चिकित्सा—

मूत्राघातेषु विभजेदतः शेषेष्वपि क्रियाम् ॥ ३४ ॥

शेष मूत्राघातों में भी दोषादि के अनुसार यही (मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी की) चिकित्सा बरते ॥ ३४ ॥

सर्वमूत्रविकारनाशक प्रयोग—

बृहत्यादिगणे सिद्धं द्विगुणीकृतगोक्षुरे ।
तोयं पयो वा सर्पिर्वा सर्वमूत्रविकारजित् ॥ ३५ ॥

बृहत्यादि गण में दुगुना गोखरू मिलाकर इससे जल, दूध या घी सिद्ध करे। यह सब मूत्रविकार को नष्ट करता है।

मूत्राघात में देवदार्वादि पान—

देवदारुं घनं मूर्वां यष्टीमधु हरीतकीम् ।
मूत्राघातेषु सर्वेषु सुराक्षीरजलैः पिबेत् ॥ ३६ ॥

देवदारु, मुस्ता, मूर्वा, मुलहठी हरड़ इनको सुरा, दूध और जल से सब प्रकार के मूत्राघातों में पिये ॥ ३६ ॥

मूत्राघातनाशक उपायान्तर—

रसं वा धन्वयासस्य कषायं ककुभस्य वा ।
सुखाम्भसा वा त्रिफलां पिष्टां सैन्धवसंयुताम् ॥३७॥
व्याघ्रीगोक्षुरकक्वाथे यवागूं वा सफाणिताम् ।
क्वाथे वीरतरादेर्वा ताम्रचूडरसेऽपि वा ॥ ३८ ॥
अद्याद्वीरतराद्येन भावितं वा शिलाजतु ।

धमासे का क्वाथ या अर्जुन का क्वाथ या त्रिफलाचूर्ण में सैन्धव मिलाकर गरम पानी से पिये। कटेरी और गोक्षुर के क्वाथ में सिद्ध यवागू में राब मिलाकर पिये। वीरतरादि गण के क्वाथमें राब मिलाकर या मुर्गे के मांसरस में राब मिलाकर पिये। अथवा वीरतरादि गण से भावित शिलाजतु को खाये।

मद्यं वा निगदं पीत्वा रथेनाश्वेन वा व्रजेत् ॥ ३९ ॥
शीघ्रवेगेन सङ्क्षोभात्तथाऽस्य च्यवतेऽश्मरी ।

अथवा पुरातन मद्य को पीकर रथ या घोड़े पर सवारी करे। शीघ्रवेग के कारण विक्षोभ होने से अश्मरी नीचे सरक आती है (यह प्रयोग वृक्क या मूत्रप्रणाली में फँसी अश्मरी को मूत्राशय में लाने के लिये है) ॥ ३९ ॥

सर्वथा चोपयोक्तव्यो वर्गो वीरतरादिकः ॥ ४० ॥
रेकार्थं तैल्वकं सर्पिर्वस्तिकर्म च शीलयेत् ।
विशेषादुत्तरान् वस्तीन्—

क्वाथ, पेया, जलादि में वीरतरादि गण का प्रयोग करना चाहिये। विरेचन के लिये तिल्वकघृत (हृ. चि. अ. ३।१५२) देवे, वस्तिकर्म करे, विशेषकर उत्तरवस्तियों का सेवन करे।

शुक्राश्मरी चिकित्सा—

—शुक्राश्मर्यां तु शोधिते ॥ ४१ ॥
तैर्मूत्रमार्गे बलवान् शुक्राशयविशुद्धये ।
पुमान् सुतृप्तो वृष्याणां मांसानां कुक्कुटस्य च ॥४२॥
कामं सकामाः सेवेत प्रमदा मददायिनीः ।

शुक्राश्मरी में उत्तरवस्ति से मूत्रमार्ग का शोधन कर चुकने पर रोगी वृष्यों (माष, कौंच आदि) तथा मुर्गे के मांस से भली प्रकार तृप्त होकर बलवान् कामेच्छा वाली पुरुष एवं मदोत्पादन स्त्रियों को शुक्राशय की शुद्धि के लिये इच्छापूर्वक सेवन करे ॥ ४१-४२ ॥

शस्त्रकर्म में राजाज्ञा—

सिद्धैरुपक्रमैरेभिर्न चेच्छान्तिस्तदा भिषक् ॥ ४३ ॥
इति राजानमापृच्छ्य शस्त्रं साध्ववचारयेत् ।
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ॥४४॥
निश्चितस्यापि वैद्यस्य बहुशः सिद्धकर्मणः ।

इन अश्मरीनाशक सिद्ध उपायों से यदि रोग शान्त न हो तो वैद्य राजा से आज्ञा लेकर भली प्रकार शस्त्रकर्म करे। (हे राजन् !) चिकित्सा न करने पर रोगी की मृत्यु निश्चित है। चिकित्सा के करने पर शास्त्रार्थ को जानने वाले एवं बहुत बार निष्पन्न चिकित्सा विधि वाले भी वैद्य के कार्य में संशय है; कि रोगी जीवे या मरे (इसलिये आप कहें तो मैं चिकित्सा करूँ) ॥ ४३-४४ ॥

शस्त्रकर्म में कर्तव्य—

अथातुरमुपस्निग्धशुद्धमीषच्च कर्शितम् ॥ ४५ ॥
अभ्यक्तस्विन्नवपुषमभुक्तं कृतमङ्गलम् ।
आजानुफलकस्थस्य नरस्याङ्के व्यपाश्रितम् ॥ ४६ ॥
पूर्वेण कायेनोत्तानं निषण्णं वस्त्रचुम्भले ।
ततोऽस्याकुञ्चिते जानुकूर्परे वाससा दृढम् ॥ ४७ ॥
सहाश्रयमनुष्येण बद्धस्याश्वासितस्य च ।
नाभेः समन्तादभ्यज्याद्धस्तस्याश्च वामतः ॥ ४८ ॥
मृदित्वा मुष्टिनाऽऽक्रामेद्यावदश्मर्यधोगता ।
तैलाक्ते वर्धितनखे तर्जनीमध्यमे ततः ॥ ४९ ॥
अदक्षिणे गुदेऽङ्गुल्यौ प्रणिधायानुसेवनि ।
आसाद्य बलयत्नाभ्यामश्मरी गुदमेढ्रयोः ॥ ५० ॥
कृत्वाऽन्तरे तथा वस्तिं निर्वलीकमनायतम् ।
उत्पीडयेदङ्गुलिभ्यां यावद्ग्रन्थिरिवोन्नतम् ॥ ५१ ॥
शल्यं स्यात्सेवनीं मुक्त्वा यवमात्रेण पाटयेत् ।
अश्ममानेन न यथा भिद्यते सा तथाऽऽहरेत् ॥ ५२ ॥
समग्रं सर्पवक्त्रेण, स्त्रीणां वस्तिस्तु पार्श्वगः ।
गर्भाशयाश्रयस्तासां शस्त्रमुत्सङ्गवत्ततः ॥ ५३ ॥
न्यसेदतोऽन्यथा ह्यासां मूत्रस्रावी व्रणो भवेत् ।
मूत्रप्रसेकक्षणनान्नरस्याप्यपि । चैकधा ॥ ५४ ॥
वस्तिभेदोऽश्मरीहेतुः सिद्धिं याति न तु द्विधा ।

शस्त्रकर्म—इसके पीछे रोगी का स्नेहन करके पीछे से

शोधन के द्वारा थोड़ा कृश बनाकर, शरीर पर अभ्यंग और स्वेद देवे। रोगी को बिना भोजन दिए, मंगल स्वस्तिवाचन कराके, घुटने के बराबर ऊंचे फलक (शस्त्रकर्म की टेबिल) पर मनुष्य की गोद में सहारा देकर रोगी की छाती को उत्तान (चित्त) रखते हुए वस्त्र से बनी गेंडुली (कपड़ा लपेट कर बनायी गोलाकार वस्तु-जो घड़े आदि लाने के लिए सिर पर रखते हैं) पर बिठाये। रोगी के घुटने सिकोड़ कर कोहनियों में फंसा कर दृढ़ वस्त्र से सहायक मनुष्य द्वारा बाँध देवे। फिर रोगी को सान्त्वना (ढाढ़स) देकर नाभिके नीचे चारों ओर अभ्यंग करके फिर नाभि के नीचे वाम पार्श्व में मलकर मुट्ठी से दबाये, जिससे पथरी नीचे आ जाये। फिर वाम हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुली के नख कटवाकर तैल से इनको स्निग्ध करके सेवनी के साथ-साथ गुदा में प्रविष्ट करे। बल एवं प्रयत्नपूर्वक अश्मरी को गुदा और मेहन के बीच में लाकर तथा मूत्राशय को झुर्रियों में साफ एव छोटा बनाकर पथरी को दबाये. जिससे यह ग्रन्थि की भांति ऊंचा उठ जाये। फिर सेवनी को जौमात्र बचाकर पथरी के प्रमाण में शस्त्र से छेदन करे। पथरी टूटने न पाये, इस प्रकार सम्पूर्ण अश्मरी को सर्पवक्त्र यन्त्र से निकाले। स्त्रियों में वस्ति के पार्श्व में ही गर्भाशय रहता है। इसलिये इनमें उत्संग (उत्तान) शस्त्र लगाये। अन्यथा इनमें मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है। मूत्रमार्ग का छेदन होने से पुरुषों में भी मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है। अश्मरी के लिये एक स्थान पर किया वस्ति का भेदन सफल हो जाता है-भर जाता है। दो स्थान पर किया भेदन सफल नहीं होता ॥ ४५-५४ ॥

विशल्यमुष्णपानीयद्रोण्यां तमवगाहयेत् ॥ ५५ ॥
तथा न पूर्यतेऽस्रेण वस्तिः, पूर्णे तु पीडयेत् ।
मेढ्रान्तः क्षीरिवृक्षाम्बु —

अश्मरी निकल जाने पर गरम पानी की द्रोणी (टब) में रोगी को बिठाये। इस प्रकार करने पर वस्ति रक्त से नहीं भरती। (इस प्रकार करने पर भी) यदि वस्ति रक्त से भर जाये तो न्यग्रोधादि क्षीरिवृक्षों के क्वाथ को मेहन (शिश्न) के भीतर (उत्तर वस्ति द्वारा) पहुँचाये ॥ ५५ ॥

शस्त्रकर्मोत्तर मूत्रसंशोधन विधि—

—मूत्रसंशुद्धये ततः ॥ ५६ ॥
कुर्याद् गुडस्य सौहित्यं मध्वाज्याक्तव्रणः पिबेत् ।
द्वौ कालौ सघृतां कोष्णां यवागूं मूत्रशोधनैः ॥ ५७ ॥
त्र्यहं, दशाहं पयसा गुडाढ्येनाल्पमोदनम् ।
भुञ्जीतोर्ध्वं फलाम्लैश्च रसैर्जाङ्गलचारिणाम् ॥ ५८ ॥

फिर मूत्र के शोधन के लिए गुड़ को पेट भर के खाये फिर व्रण को घी और मधु से अभ्यक्त करके (खीरा, ककड़ी, कूष्माण्ड, गोखरू आदि) मूत्रशोधक द्रव्यों से बनाई यवागू को घी के साथ सुहाती हुई गरम तीन दिन खाये। फिर दश दिन तक प्रचुर गुड़ वाले दूध के साथ थोड़े से चावल खाये। इसके पीछे बेर, अनारदाना आदि खट्टे फलों से या जांगल प्राणियों के मांसरस से चावलों को खाये ॥ ५६-५८ ॥

व्रणप्रक्षालन विधि—

क्षीरिवृक्षकषायेण व्रणं प्रक्षाल्य लेपयेत् ।
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठायष्ट्याह्वनयनौषधैः ॥ ५९ ॥
व्रणाभ्यङ्गे पचेत्तैलमेभिरेव निशान्वितैः ।

क्षीरि वृक्षों के कषाय से व्रण को धोकर पौण्डरीक, मंजीठ, मुलहठी, पट्टिका (पठानी) लोध, इनसे लेप करे। प्रपौण्डरीक आदि औषधियों और हलदी से तैल सिद्ध करके व्रण में अभ्यंग करे ॥ ५९ ॥

व्रणस्वेदन विधि—

दशाहं स्वेदयेच्चैनं, स्वमार्गं सप्तरात्रतः ॥ ६० ॥
मूत्रे त्वगच्छति दहेदश्मरीव्रणमग्निना ।
स्वमार्गप्रतिपत्तौ तु स्वादुप्रायैरुपाचरेत् ॥ ६१ ॥
तं वस्तिभिः —

इस व्रण पर दस दिन तक स्वेदन करे। सात दिन के पीछे भी मूत्र अपने स्वाभाविक मार्ग से न आये तो अश्मरी-व्रण को अग्नि से जलाये। मूत्र के अपने स्वाभाविक मार्ग से पहुँच जाने पर मधुरभूयिष्ठ द्रव्यों से सिद्ध उत्तरबस्तियों से चिकित्सा करे ॥ ६०-६१ ॥

उपायान्तर—

—न चारोहेद्वर्षं रूढव्रणोऽपि सः ।
नगनागाश्ववृक्षस्त्रीरथान्नाप्सु प्लवेत च ॥ ६२ ॥

व्रण के भर जाने पर भी एक वर्ष तक हाथी, पर्वत, घोड़ा, वृक्ष, स्त्री और रथ की सवारी न करे और न जल में तैरे।

अश्मरी शस्त्रकर्म में वर्जित अङ्ग—

मूत्रशुक्रवहौ वस्तिवृषणौ सेवनीं गुदम् ।
मूत्रप्रसेकं योनिं च शस्त्रेणाष्टौ विवर्जयेत् ॥ ६३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने
मूत्राघातचिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

* * *

अश्मरी के शस्त्रकर्म में मूत्रवह स्रोत, शुक्रवह स्रोत, वस्ति, वृषण, सेवनी, गुदा, मूत्रप्रसेक और योनि इन आठ अङ्गों को बचाये ॥ ६३ ॥

वक्तव्य—कुछ प्रसिद्ध योग—त्रियोग—त्रिकण्टकाद्य घृत, मूत्रकृच्छ्रान्तक रस।

(१) 'कतकमिर्वारुबीजानामक्षमात्रं ससैन्धवम् ।
धान्याम्लयुक्तं पीत्वैव मूत्राघाताद् विमुच्यते ॥'

(२) 'यवक्षारं गुडोन्मिश्रं पिबेत् पुष्पफलोद्भवम् ।
रसं मूत्रविबन्धघ्नं शर्कराश्मरिनाशनम् ॥'

मलने के लिये—उशीरादि तैल ॥

(३) 'यो नारिकेलकुसुमं सक्षारं वारिणा पिष्ट्वा ।
पिबति च तस्य दिनैकान्निपतति घोराश्मरी नूनम् ॥'

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का मूत्राघातचिकित्सित नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे प्रमेहचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

प्रमेह चिकित्सा—

मेहिनो बलिनः कुर्यादादौ वमनरेचने ।
स्निग्धस्य सर्षपारिष्टनिकुम्भाक्षकरञ्जजैः ॥ १ ॥
तैलैस्त्रिकण्टकाद्येन यथास्वं साधितेन वा ।
स्नेहेन, मुस्तदेवाह्वनागरप्रतिवापवत् ॥ २ ॥
सुरसादिकषायेण दद्यादास्थापनं ततः ।
न्यग्रोधादेस्तु पित्तार्तं रसैः शुद्धं च तर्पयेत् ॥ ३ ॥
मूत्रग्रहरुजागुल्मक्षयाद्यास्त्वपतर्पणात् ।
ततोऽनुबन्धरक्षार्थं शमनानि प्रयोजयेत् ॥ ४ ॥

बलवान् प्रमेह रोगी को स्नेहन करके सबसे प्रथम वमन और विरेचन देवे । स्नेहन करने के लिए—सरसों, नीम, बड़ी दन्ती, बहेड़ा, करञ्ज, इनके तैल से अथवा त्रिकण्टकादि (श्लोक १७ में कहेंगे) तैल से अथवा दोषानुसार द्रव्यों द्वारा सिद्ध तैल से स्नेहन करे । शोधन के उपरान्त सुरसादि गण के कषाय में मोथा, देवदारु, सोंठ इनके प्रक्षेप देकर उससे आस्थापन देवे । पित्त से पीड़ित व्यक्ति को न्यग्रोधादि गण के कषाय से आस्थापन देवे । शुद्ध होने पर मांसरसों (या सक्तु आदि) से तर्पण करे क्योंकि अपतर्पण से मूत्र का अवरोध, पीड़ा, गुल्म, क्षय आदि हो जाते हैं । इसके बाद अनुबन्ध की रक्षा के लिये शमन बरते । (थोड़े से निदान से भी रोग फिर उठ जाता है, उसके लिए शमन बरते) ।

असंशोध्यस्य तान्येव सर्वमेहेषु पाचयेत् ।

वमन और विरेचन के लिये अयोग्य रोगियों को सब प्रमेहों में शमन औषध ही देवे ।

शमन योग—

धात्रीरसप्लुतां प्राह्णे हरिद्रां माक्षिकान्विताम् ॥ ५ ॥
दार्वीसुराह्वत्रिफलामुस्ता वा क्वथिता जले ।
चित्रकत्रिफलादार्वीकलिङ्गान् वा समाक्षिकान् ॥ ६ ॥
मधुयुक्तं गुडूच्या वा रसमामलकस्य वा ।

योग—आँवले के रस में हल्दी को घोल कर मधु मिला कर प्रातः पिलाये । अथवा देवदारु, दारुहल्दी, त्रिफला और मोथा को जल में क्वाथ करके पिलाये । चित्रक, त्रिफला, दारुहल्दी और इन्द्रजौ का क्वाथ करके मधु के साथ पिलाये । गिलोय का रस या आंवले का रस मधु के साथ देवे ॥५-६॥

कफज तथा पित्तज प्रमेहचिकित्सा—

रोध्राभयातोयदकट्फलानां
पाठाविडङ्गार्जुनधन्वनानाम् ।
गायत्रिदार्वीकृमिहृद्धवानां
कफे त्रयः क्षौद्रयुताः कषायाः ॥ ७ ॥
उशीररोध्रार्जुनचन्दनानां
पटोलनिम्बामलकामृतानाम् ।
रोध्राम्बुकालीयकधातकीनां
पित्ते त्रयः क्षौद्रयुताः कषायाः ॥ ८ ॥
यथास्वमेभिः पानान्नं यवगोधूमभावनाः ॥ ९ ॥

(१) लोध, हरड़, मुस्ता, कट्फल, (२) पाठा, विडङ्ग, अर्जुन, धन्वन (धावन), (३) खैर, दारुहल्दी, वायविडङ्ग और धावन, ये तीन कषाय मधु के साथ कफज प्रमेह में हितकारी हैं । (१) खस, लोध, अर्जुन, चन्दन, (२) पटोल नीम, आँवला, गिलोय, (३) लोध, मुस्ता, कालीयक और धावड़ी, ये तीन कषाय मधु के साथ पित्तज प्रमेह में उत्तम हैं ।

लोध्र आदि द्रव्यों से दोषानुसार खान-पान बनाये । इनसे ही जौ और गेहूं को भावित करके भोजन बनाये ।

वातप्रमेह चिकित्सा—

वातोल्बणेषु स्नेहांश्च प्रमेहेषु प्रकल्पयेत् ।

वातप्रधान प्रमेहों में लोध्र आदि से स्नेहों को भी सिद्ध करके देवे । (अन्न की भावना तो होनी ही चाहिये) ।

प्रमेह में पथ्य—

अपूपसक्तुवाट्यादिर्यवानां विकृतिर्हिता ॥१०॥
गजाश्वगुदमुक्तानामथवा वेणुजन्मनाम् ।
तृणधान्यानि मुद्गाद्याः शालिर्जीर्णः सषष्टिकः ॥११॥
श्रीकुक्कुटोऽम्लः खलकस्तिलसर्षपकिट्टजः ।
कपित्थं तिन्दुकं जम्बूस्तत्कृता रागषाडवाः ॥१२॥
तिक्तं शाकं मधु श्रेष्ठा भक्ष्याः शुष्काः ससक्तवः ।
धन्वमांसानि शूल्यानि परिशुष्काण्ययस्कृतिः ॥१३॥
मध्वरिष्टासवा जीर्णाः सीधु पक्वरसोद्भवम् ।
तथाऽसनादिसाराम्बुदर्भाम्भो माक्षिकोदकम् ॥१४॥
वासितेषु वराक्वाथे शर्वरीं शोषितेष्वहः ।
यवेषु सुकृतान् सक्तून् सक्षौद्रान् सीधुना पिबेत् ॥

जौ से अपूप (पूए), सत्तू, बाटी आदि भोजन बना कर देना उत्तम है । अथवा हाथी, घोड़े के मल में निकले

जौ से अथवा बांस के बीजों से भोजन बना कर देवे। कोदो, सांवा आदि तृणधान्य, मूंग, मसूर आदि, पुरातन शालि और साठी चावल, तिल-सरसों की खली से बनाया और खट्टा किया हुआ (मालव देश से प्रसिद्ध) श्री कुक्कुट संज्ञावाला खड उत्तम है। कैथ, तेंदू और जामुन से बनाये राग एवं षाडव देवें। तिक्त शाक, मधु, त्रिफला और सक्तुयुक्त, शुष्क भक्ष्य श्रेष्ठ हैं। जांगल प्राणियों का मांस सींखचों पर भली प्रकार पका कर (शुष्क बना कर) देना उत्तम है। आगे (श्लोक २९ में) कही जाने वाली अयस्कृति उत्तम है। पुरातन मधु, अरिष्ट, आसव, ईख के पकाये हुए रस से बना सीधु, असनादि सारवर्ग का जल, दाभ का जल और मधु का शर्बत उत्तम हैं।

जौ को रात भर त्रिफला के क्वाथ में रख कर दिन में सुखा लेवे। इनसे भली प्रकार सत्तू बना कर मधु में मिला कर सीधु के साथ पियें ॥ १०-१५ ॥

कफपित्त-प्रमेह चिकित्सा—

शाकसप्ताह्वकम्पिल्लवृक्षकाक्षकपित्थजम् ।
रोहीतकं च कुसुमं मधुनाऽद्यात्सुचूर्णितम् ॥ १६ ॥
कफपित्तप्रमेहेषु पिबेद्धात्रीरसेन वा ।

शाल, सप्तपर्ण, कमीला; इन्द्रजौ, बहेड़ा, कैथ और रोहेड़ा के फूल के चूर्ण को मधु के साथ चाटे। अथवा कफ-पित्त प्रमेहों में आंवले के रस के साथ पिये ॥ १६ ॥

प्रमेहनाशक तैलादि—

त्रिकण्टकनिशारोध्रसोमवल्कवचार्जुनैः ॥ १७ ॥
पद्मकाश्मन्तकारिष्टचन्दनागुरुदीप्यकैः ।
पटोलमुस्तमञ्जिष्ठामाद्रीभल्लातकैः पचेत् ॥ १८ ॥
तैलं वातकफे पित्ते घृतं मिश्रेषु मिश्रकम् ।

गोखरू, हल्दी, लोध, श्वेतखैर, बच, अर्जुन, पद्माख, अश्मन्तक, अरिष्ट (रीठा या निम्ब), चन्दन, अगरु, अजवायन, परवल, मोथा, मजीठ, पिप्पली, भिलावा इनके साथ वात-कफजन्य प्रमेहों के लिए तैल सिद्ध करे। पित्तजन्य प्रमेहों के लिए घी तथा मिश्रित प्रमेहों के लिए घी और तैल दोनों सिद्ध करे ॥ १७-१८ ॥

प्रमेहनाशक घृत—

दशमूलशटीदन्तीसुराह्वं द्विपुनर्नवम् ॥ १९ ॥
मूलं स्नुगर्कयोः पथ्यां भूकदम्बमरुष्करम् ।
करञ्जौ वरुणान्मूलं पिप्पल्याः पौष्करं च यत् ॥ २० ॥
पृथग् दशपलं प्रस्थान् यवकोलकुलत्थतः ।
श्रींश्चाष्टगुणिते तोये विपचेत्पादवर्तिना ॥ २१ ॥
तेन द्विपिप्पलीचव्यवचानिचुलरोहिषैः ।
त्रिवृद्विडङ्गकम्पिल्लभार्गीविश्वैश्च साधयेत् ॥ २२ ॥
प्रस्थं घृताज्जयेत्सर्वांस्तन्मेहान् पिटिका विषम् ।
पाण्डुविद्रधिगुल्मार्शःशोषशोफगरोदरम् ॥ २३ ॥
श्वासं कासं वमिं वृद्धिं प्लीहानं वातशोणितम् ।
कुष्ठोन्मादावपस्मारं धान्वन्तरमिदं घृतम् ॥ २४ ॥

दशमूल, कचूर, दन्ती, देवदार, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, थूहर का मूल, आक का मूल, हरड़, भूकदम्ब, भिलावा, करंज, नाटाकरंज, वरुण की जड़, पिप्पलीमूल, पुष्करमूल, प्रत्येक दश पल, जौ, बेर, कुलथी तीन प्रस्थ, इनको अठगुने जल में क्वाथ करे। चौथाई पानी शेष रहने पर उतार कर इसमें पिप्पली, गजपिप्पली, चव्य, वच, जलवेतस, रोहिष घास, निशोथ, विडङ्ग, कमीला, भांर्गी और सोंठ का कल्क (घृत से चतुर्थांश) मिलाकर एक प्रस्थ घृत सिद्ध करे। यह घृत सब प्रमेहों, पिटिकाओं, विष, पाण्डु, विद्रधि, गुल्म, अर्श, शोष, शोफ, गरदोष, उदर, श्वास, कास, वमन, वृद्धि, प्लीहा, वातरक्त, कुष्ठ, उन्माद और अपस्मार को नष्ट करता है। यह धान्वन्तर घृत है [धन्वन्तरि ने बनाया है।]

प्रमेहादिनाशक रोध्रासव—

रोध्रमूर्वाशटीवेल्लभार्गीनतनखप्लवान् ।
कलिङ्गकुष्ठक्रमुकप्रियङ्ग्वतिविषाग्निकान् ॥ २५ ॥
द्वे विशाले चतुर्जातं भूनिम्बं कटुरोहिणीम् ।
यवानीं पौष्करं पाठां ग्रन्थिं चव्यं फलत्रयम् ॥ २६ ॥
कर्षांशमम्बुकलशे पादशेषे स्रुते हिमे ।
द्वौ प्रस्थौ माक्षिकात्क्षिप्त्वा रक्षेत्पक्षमुपेक्षया ॥ २७ ॥
रोध्रासवोऽयं मेहार्शःश्वित्रकुष्ठारुचिक्रिमीन् ।
पाण्डुत्वं ग्रहणीदोषं स्थूलतां च नियच्छति ॥ २८ ॥

लोध, मूर्वा, कचूर, वायविडंग, भार्गी, तगर, नख, केवटीमोथा, इन्द्रजौ, कूठ, सुपारी, प्रियंगु, अतीस, चित्रक, छोटी और बड़ी इन्द्रायण, चातुर्जातक (त्वक्, एला, पत्र, नागकेसर), चिरायता, कुटकी, अजवायन, पुष्करमूल, पाठा, पिप्पलीमूल, चव्य, त्रिफला, प्रत्येक एक कर्ष लेकर एक कलश प्रमाण (चार द्रोण) जल में क्वाथ करे। चौथाई रहने पर छान कर ठण्डा होने पर इसमें मधु दो प्रस्थ मिला कर पन्द्रह दिन स्थिर रख देवे। यह रोध्रासव प्रमेह, अर्श, श्वित्र, कुष्ठ, अरुचि, कृमि, पाण्डु, ग्रहणी रोग और स्थूलता को नष्ट करता है।

वक्तव्य—चरक और संग्रह में 'मरिच' यह एक द्रव्य अधिक है।

प्रमेहादिनाशक अयस्कृति—

साधयेदसनादीनां पलानां विंशतिं पृथक् ।
द्विवहेऽपां क्षिपेत्तत्र पादस्थे द्वे शते गुडात् ॥ २९ ॥
क्षौद्राढकार्धं पलिकं वत्सकादि च कल्कितम् ।
तत्क्षौद्रपिप्पलीचूर्णप्रदिग्धे घृतभाजने ॥ ३० ॥
स्थितं दृढे जतुस्रुते यवराशौ निधापयेत् ।
खदिराङ्गारतप्तानि बहुशोऽत्र निमज्जयेत् ॥ ३१ ॥
तनूनि तीक्ष्णलोहस्य पत्राण्यालोहसङ्क्षयात् ।
अयस्कृतिः स्थिता पीता पूर्वस्मादधिका गुणैः ॥३२॥

असनादि गण का प्रत्येक द्रव्य बीस पल लेकर आठ द्रोण जल में क्वाथ करें। जब चौथाई जल रह जाये तब उतार कर छानकर ठण्डा होने पर गुड़ दो सौ पल मिलाये। मधु आधा आढ़क मिलायें। वत्सकादि गण के द्रव्यों में से प्रत्येक एक-एक पल मिलाये। इन सबको लाख से चिकने बनाये, दृढ़, मधु और पिप्पली से लिप्त घृत-पात्र में रखकर जौ की ढेरी में रख देदे। इसमें खैर के अंगारों पर गरम किये हुए तीक्ष्ण लोह के पत्रों को बार बार डाले (बुझाये) जब तक कि सारा लोह घुल न जाये। यह अयस्कृति बन गई। पीने पर लोध्रासव से अधिक गुण करती है ॥ २९-३२ ॥

प्रमेह में उद्वर्त्तनादि—

रूक्षमुद्वर्तनं गाढं व्यायामो निशि जागरः ।
यच्चान्यच्छ्लेष्ममेदोघ्नं बहिरन्तश्च तद्धितम् ॥ ३३ ॥

रूक्ष उद्वर्त्तन, जोर का व्यायाम, रात में जागना और जो भी कफ एवं मेद को नाश करने वाली वस्तुएँ हैं, वे सब बाह्य और अन्तः रूप में प्रयोग से हितकारी हैं ॥ ३३ ॥

शिलाजतु रसायन—

सुभावितां सारजलैस्तुलां पीत्वा शिलोद्भवात् ।
साराम्बुनैव भुञ्जानः शालीञ् जाङ्गलजै रसैः ॥ ३४ ॥
सर्वानभिभवेन्मेहान् सुबहूपद्रवानपि ।
गण्डमालाऽर्बुदग्रन्थिस्थौल्यकुष्ठभगन्दरान् ॥ ३५ ॥
कृमिश्लीपदशोफांश्च परं चैतद्रसायनम् ।

शिलाजतु की एक तुला को असनादि गण के क्वाथ से अच्छी प्रकार भावित करके असनादि गण के क्वाथ से ही पीकर एवं जांगल प्राणियों के मांसरस से भोजन करते हुये, रोगी बहुत उपद्रव वाले भी सब प्रमेहों को नष्ट कर लेता है। गण्डमाला, अर्बुद, ग्रन्थि, स्थूलता, कुष्ठ, भगन्दर, कृमि, श्लीपद और शोफ को नष्ट करता है। यह उत्तम रसायन है।

निर्धन प्रमेही की ओषधि—

अधनश्छत्रपादत्ररहितो मुनिवर्तनः ॥ ३६ ॥
योजनानां शतं यायात्खनेद्वा सलिलाशयान् ।
गोशकृन्मूत्रवृत्तिर्वा गोभिरेव सह भ्रमेत् ॥ ३७ ॥

धन रहित प्रमेह रोगी छाते और जूतेरहित, नंगे सिर और नंगे पैर हो मुनियों का व्रत धारण करके (सांवा, कोदो आदि तृण धान्य खाते हुए) एक सौ योजन चले अथवा तालाब, कुए आदि जलाशय खोदे (परिश्रम का कार्य करे) अथवा गाय के मूत्र और गोबर पर जीवन निर्वाह कर गायों के साथ ही घूमे ॥ ३६-३७ ॥

दुर्बल प्रमेही की ओषधि—

बृंहयेदौषधाहारैरमेदोमूत्रलैः कृशम् ।

कृश व्यक्ति को मेद एवं मूत्र को न बढ़ाने वाले आहार एवं औषधियों से पुष्ट करे।

प्रमेह-पिटिका चिकित्सा—

शराविकाद्याः पिटिकाः शोफवत् समुपाचरेत् ॥३८॥
अपक्वा व्रणवत् पक्वाः—

अपक्व शराविका आदि पिडकाओं की चिकित्सा शोफ की भांति करनी चाहिए। पकने पर व्रणकी भांति चिकित्सा करे।

प्रमेह-पिटिका के पूर्वरूप में कर्तव्य—

—तासां प्राग्रूप एव च ।
क्षीरिवृक्षाम्बुपानाय बस्तमूत्रं च शस्यते ॥ ३९ ॥
तीक्ष्णं च शोधनं, प्रायो दुर्विरेच्या हि मेहिनः ।

इन पिटिकाओं के पूर्वरूप में ही पीने के लिए बरगद आदि क्षीरी वृक्षों का क्वाथ या बकरे का मूत्र तथा तीक्ष्ण विरेचन उत्तम है। प्रमेह-रोगी को कठिनाई से विरेचन होता है ॥ ३९ ॥

उपायान्तर—

तैलमेलादिना कुर्याद्गणेन व्रणरोपणम् ॥ ४० ॥
उद्वर्तने कषायं तु वर्गेणारग्वधादिना ।
परिषेकोऽसनाद्येन पानान्ने वत्सकादिना ॥ ४१ ॥

एलादि गण से व्रणरोपण तैल सिद्ध करे। आरग्वधादि गण का कषाय उद्वर्त्तन में बरते। असनादि गण के क्वाथ से परिषेक स्नान कराये। वत्सकादि गण का क्वाथ खान-पान में बरते ॥ ४०-४१ ॥

पाठाचित्रकशार्ङ्गेष्टासारिवाकण्टकारिकाः ।
सप्ताह्वं कौटजं मूलं सोमवल्कं नृपद्रुमम् ॥ ४२ ॥
सञ्चूर्ण्य मधुना लिह्यात्तद्वच्चूर्णं नवायसम् ।

पाठा, चित्रक, मंजीठ, सारिवा, कटेरी, सप्तपर्ण, कुटजमूल, श्वेत खैर, अमलतास इनका चूर्ण करके मधु से चाटे। इसी प्रकार नवायस-चूर्ण को मधु से चाटे ॥ ४२ ॥

मधुमेह पर शिलाजीत का प्रयोग—

मधुमेहित्वमापन्नो भिषग्भिः परिवर्जितः ॥ ४३ ॥
शिलाजतुतुलामद्यात्प्रमेहार्तः पुनर्नवः ॥ ४४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने
प्रमेहचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

* * *

मधुमेह की अवस्था तक पहुंचा हुआ और वैद्यों से असाध्य कह कर छोड़ा गया भी प्रमेहरोगी शिलाजतु की एक तुला (एक सौ पल) खाकर फिर से नया हो जाता है।

वक्तव्य—तन्त्रान्तरोक्त प्रसिद्ध योग—वंगेश्वर रस, तारकेश्वर रस, मेहकुलान्तक, चन्द्रप्रभा, वसन्तकुसुमाकर, शुक्रमातृका वटी, दाडिमाद्य घृत, कदल्यादि घृत; मलने के लिए प्रमेहमिहिरतैल, पीने में देवदार्वरिष्ट।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सास्थान का प्रमेहचिकित्सित नामक बारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

* * *

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो विद्रधिवृद्धिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे विद्रधि-वृद्धिचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

विद्रधि चिकित्सा—

विद्रधिं सर्वमेवामं शोफवत् समुपाचरेत् ।
प्रततं च हरेद्रक्तं पक्के तु व्रणवत्क्रिया ॥ १ ॥

आमावस्था में सब विद्रधियों की शोफ के समान चिकित्सा करनी चाहिये । निरन्तर इसमें से रक्त निकाले और पकने पर व्रण की भाँति चिकित्सा करे ॥ १ ॥

वातज विद्रधिचिकित्सा—

पञ्चमूलजलैर्धौतं वातिकं लवणोत्तरैः ।
भद्रादिवर्गयष्ट्याह्वतिलैरालेपयेद् व्रणम् ॥ २ ॥
वैरेचनिकयुक्तेन त्रैवृतेन विशोध्य च ।
विदारीवर्गसिद्धेन त्रैवृतेनैव रोपयेत् ॥ ३ ॥

वातिक विद्रधि को पञ्चमूल के क्वाथ से धोकर 'भद्रदारु नतं' (हृ. सू. अ. १५।५) आदि द्रव्यों के साथ, मुलहठी, तिल तथा प्रचुर नमक मिलाकर लेप करें । यह व्रण को भरता है । 'निकुम्भ-कुम्भ' (हृ. सू. अ. १५।२) आदि विरेचन द्रव्यों के साथ त्रैवृत स्नेह से शोधन करके 'विदारि पंचांगुल' (हृ. सू. अ. १५।९) इत्यादि से सिद्ध त्रैवृत स्नेह से ही व्रण का रोपण करे ॥ २-३ ॥

पैत्तिक विद्रधिचिकित्सा—

क्षालितं क्षीरितोयेन लिम्पेद्यष्ट्यमृतातिलैः ।
पैत्तं घृतेन सिद्धेन मञ्जिष्ठोशीरपद्मकैः ॥ ४ ॥
पयस्याद्विनिशाश्रेष्ठायष्टीदुग्धैश्च रोपयेत् ।
न्यग्रोधादिप्रवालत्वक्फलैर्वा—

पैत्तिक विद्रधि का न्यग्रोधादि क्षीरिवृक्षों के क्वाथ से प्रक्षालन करके मुलहठी, गिलोय और तिल से (शोधनार्थ) लेप करे । मंजीठ, खस, पद्माख, विदारी, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला, मुलहठी और दूध से घी को सिद्ध करके रोपण करे । अथवा बरगद आदि वृक्षों के कोमल पत्ते, छाल और फलों से सिद्ध घृत से रोपण करे । (द्रव्य से चौगुना घृत, घृत से चौगुना जल और जल के बराबर दूध इस सामान्य परिभाषा के अनुसार पाक करे) ॥ ४ ॥

कफज विद्रधिचिकित्सा—

—कफजं पुनः ॥ ५ ॥
आरग्वधादिना धौतं सक्तुकुम्भनिशातिलैः ।
लिम्पेत कुलत्थिकादन्तीत्रिवृच्छ्यामाग्नितिल्वकैः ॥
ससैन्धवैः सगोमूत्रैस्तैलं कुर्वीत रोपणम् ।

कफजन्य विद्रधि को आरग्वधादि गण से धोकर, सत्तू, दन्ती, हल्दी, तिल; इनसे लेप करे । कुलथी, दन्ती, त्रिवृत, काली निशोथ, चित्रक, तिल्वक, सैन्धव; इनसे गोमूत्र में रोपण करने वाला तैल सिद्ध करे ॥ ५-६ ॥

रक्तज तथा आगन्तुज विद्रधि चिकित्सा—

रक्तागन्तूद्भवे कार्या पित्तविद्रधिवत् क्रिया ॥ ७ ॥

रक्तज एवं आगन्तुज विद्रधि में पित्तविद्रधि के समान चिकित्सा करे ॥ ७ ॥

अन्तर्विद्रधिचिकित्सा—

वरुणादिगणक्वाथमपक्वेऽभ्यन्तरोत्थिते ।
ऊषकादिप्रतीवापं पूर्वाह्णे विद्रधौ पिबेत् ॥ ८ ॥

अन्तर्विद्रधि के अपक्व होने पर वरुणादि गण क्वाथ में ऊषकादि गण के द्रव्यों का प्रक्षेप देकर पूर्वाह्ण में पिलाये ।

घृतं विरेचनद्रव्यैः सिद्धं ताभ्यां च पाययेत् ।
निरूहं स्नेहबस्ति च ताभ्यामेव प्रकल्पयेत् ॥ ९ ॥
पानभोजनलेपेषु मधुशिग्रुः प्रयोजितः ।
दत्तावापो यथादोषमपक्वं हन्ति विद्रधिम् ॥ १० ॥

विरेचन द्रव्यों से दोषानुसार सिद्ध किये घृत को वरुणादि गण के क्वाथ में ऊषकादि गण का प्रक्षेप मिलाकर पिलाये । वरुणादि एवं ऊषकादि गण की वस्तुओं से ही निरूह और अनुवासन देवे ।

मीठे सहजन का क्वाथ वातादि दोष के अनुसार प्रक्षेप मिलाकर पान, भोजन और लेप बरतने पर अपक्व विद्रधि को नष्ट करता है ॥ ९-१० ॥

विद्रध्यादिनाशक क्वाथ—

त्रायन्तीत्रिफलानिम्बकटुकामधुकं समम् ।
त्रिवृत्पटोलमूलाभ्यां चत्वारोंऽशाः पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥
मसूरान्निस्तुषादष्टौ तत्क्वाथः सघृतो जयेत् ।
विद्रधिगुल्मवीसर्पदाहमोहमदज्वरान् ॥ १२ ॥
तृण्मूर्च्छाच्छर्दिहृद्रोगपित्तासृक्कुष्ठकामलाः ।

त्रायन्ती, त्रिफला, नीम, कुटकी, मुलहठी प्रत्येक समान, निशोथ और पटोलमूल प्रत्येक चौगुना, तुषरहित मसूर आठगुनी, इनका क्वाथ घी के साथ पीने पर विद्रधि, गुल्म, वीसर्प, दाह, मोह, मद, ज्वर, प्यास, मूर्च्छा, वमन, हृदयरोग, रक्तपित्त, कुष्ठ और कामला को नष्ट करता है ॥ ११-१२ ॥

विद्रध्यादिनाशक घृत—

कुडवं त्रायमाणायाः साध्यमष्टगुणेऽम्भसि ॥ १३ ॥
कुडवं तद्रसाद्धात्रीस्वरसात् क्षीरतो घृतात् ।
कर्षांशं कल्कितं तिक्तात्रायन्तीधन्वयासकम् ॥ १४ ॥
मुस्तातामलकीवीराजीवन्तीचन्दनोत्पलम् ।
पचेदेकत्र संयोज्य तद् घृतं पूर्ववद् गुणैः ॥ १५ ॥

त्रायमाणा के एक कुडव को अठगुने जल में क्वाथ करे । इस क्वाथ का एक कुडव, आंवले का स्वरस, दूध और घी

प्रत्येक एक कुडव, कुटकी, त्रायन्ती, धमासा, मुस्ता, भूई आंवला, विदारी, जीवन्ती, चन्दन और कमल प्रत्येक एक कर्ष, इनका कल्क मिलाकर सब के साथ साथ घृत सिद्ध करें। यह घृत पूर्व की भांति गुणकारी (विद्रधि, गुल्म आदि का नाशक) है ॥ १३-१५ ॥

द्राक्षा मधूकं खर्जूरं विदारीं सशतावरीम् ।
परूषकाणि त्रिफला तत्क्वाथे पाचयेद् घृतम् ॥ १६ ॥
क्षीरेक्षुधात्रीनिर्यासप्राणदाकल्कसंयुतम् ।
तच्छीतं शर्कराक्षौद्रपादिकं पूर्ववद् गुणैः ॥ १७ ॥

द्राक्षा, मुलहठी, खर्जूर, विदारी, शतावर, फालसा और त्रिफला के क्वाथ में तथा दूध, ईख और आंवला इनके स्वरस में हरड़ का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। शीतल होने पर इसमें चौथाई शर्करा और मधु मिलायें। यह भी पूर्व की भांति गुणकारी है ॥ १६-१७ ॥

विद्रधि में रक्तमोक्षण विधि—

हरेच्छृङ्गादिभिरसृक् सिरया वा यथान्तिकम् ।

सींग आदि से अथवा समीपस्थ सिरा से रक्त निकाले।

विद्रधि में उपनाह विधि—

विद्रधिं पच्यमानं च कोष्ठस्थं बहिरुन्नतम् ॥ १८ ॥
ज्ञात्वोपनाहयेत्—

कोष्ठ में स्थित विद्रधि के बाहर उन्नत होने पर पच्यमान जानकर उपनाह करे ॥ १८ ॥

विद्रधिभेदन विधि—

—शूले स्थिते तत्रैव पिण्डिते ।
तत्पार्श्वपीडनात् सुप्तौ दाहादिष्वल्पकेषु च ॥ १९ ॥
पक्वः स्याद्विद्रधिं भित्त्वा व्रणवत्तमुपाचरेत् ।

शूल वहीं एक स्थान पर स्थिर हो जाने पर (दोष एक स्थान पर स्थिर हो जाने से); इसको पार्श्व में दबाने से स्पर्शज्ञान न होने पर तथा दाह, ओष (जलन) आदि कम हो जाने पर विद्रधि को पका हुआ जाने और शस्त्र से चीर कर व्रण की भांति इसकी चिकित्सा करे ॥ १९ ॥

अन्तर्विद्रधि के लक्षण—

अन्तर्भागस्य चाप्येतच्चिह्नं पक्वस्य विद्रधेः ॥ २० ॥

अन्तर्विद्रधि पक जाने पर भी ये लक्षण होते हैं ॥ २० ॥

दुष्ट विद्रधि का शमनोपाय—

पक्वः स्रोतांसि सम्पूर्य स यात्यूर्ध्वमधोऽथवा ।
स्वयं प्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशिनः ॥ २१ ॥
दशाहं द्वादशाहं वा रक्षन् भिषगुपद्रवान् ।
असम्यग्वहति क्लेदे वरुणादिसुखाम्भसा ॥ २२ ॥
पाययेन्मधुशिग्रुं वा यवागूं तेन वा कृताम् ।

पकी हुई अन्तर्विद्रधि स्रोतों को भरकर (क्लेदयुक्त बना और फूटकर) ऊपर की ओर (मुख की तरफ) या नीचे (गुदा) की ओर जाती है। इस प्रकार स्वयं प्रवृत्त हुए (बाहर निकलते) दोष की उपेक्षा करें (कोई चिकित्सा न करे) केवल हितकारी भोजन देता रहे। इस प्रकार वैद्य उपद्रवों से रोगी को बचाते हुए दस दिन या बारह दिन तक प्रतीक्षा करे। यदि क्लेद स्वयं भली प्रकार बाहर न आये, तब वरुणादि द्रव्यों को पानी से पिलाये। अथवा मीठे सहजन को पिलाये। मीठे सहजन से यवागू बनाकर देवे ॥

विद्रधि में यूष—

यवकोलकुलत्थोत्थयूषैरन्नं च शस्यते ॥ २३ ॥

जौ, बेर और कुलथी के यूषों के साथ अन्न देना उत्तम है।

दस दिन पश्चात् शोधनादि—

ऊर्ध्वं दशाहात् त्रायन्तीसर्पिषा तैल्वकेन वा ।
शोधयेद्बलतः, शुद्धः सक्षौद्रं तिक्तकं पिबेत् ॥ २४ ॥

दस दिन के पीछे बलके अनुसार त्रायन्तीघृत या तिल्वक घृत से शोधन करें। शुद्ध होने पर मधु के साथ कुष्ठचिकित्सा में कहा तिक्तक घृत पिये। (तैल्वक घृत वातव्याधि में कहा हुआ लेना चाहिये) ॥ २४ ॥

विद्रधि में गुल्मवत् चिकित्सा—

सर्वशो गुल्मवच्चैनं यथादोषमुपाचरेत् ।

विद्रधि की चिकित्सा दोष के अनुसार सम्पूर्ण रूप में गुल्म की भांति करे।

सर्वविध विद्रधि में गुग्गुल योग—

सर्वावस्थासु सर्वासु गुग्गुलुं विद्रधीषु च ॥ २५ ॥
कषायैर्यौगिकैर्युञ्ज्यात्स्वैः स्वैस्तद्वच्छिलाजतु ।

सब प्रकार की विद्रधियों में तथा सब अवस्थाओं में गुग्गुलु को दोषों के अनुसार कषायों के साथ देना चाहिये। इसी प्रकार दोषानुसार कषायों से शिलाजतु को देना चाहिये।

विद्रधि-पाक-निवारण विधि—

पाकं च वारयेद्यत्नात् सिद्धिः पक्वे हि दैविकी ॥ २६ ॥
अपि चाशु विदाहित्वाद्विद्रधिः सोऽभिधीयते ।
सति चालोचयेन्मेहे प्रमेहाणां चिकित्सितम् ॥ २७ ॥

विद्रधि को यत्नपूर्वक पकने से बचाये क्योंकि पकने पर सफलता भाग्याधीन है। शीघ्र विदाह होने से ही यह रोग विद्रधि कहा जाता है, इसलिए पकने से बचाना चाहिये।

प्रमेह होने पर प्रमेह रोग की चिकित्सा के साथ विद्रधि की भी चिकित्सा करे ॥ २६-२७ ॥

स्तनविद्रधिचिकित्सा—

स्तनजे व्रणवत् सर्वं न त्वेनमुपनाहयेत् ।
पाटयेत् पालयन् स्तन्यवाहिनीः कृष्णचूचुकौ ॥२८॥
सर्वास्वामाद्यवस्थासु निर्दुहीत च तत्स्तनम् ।

स्तनजन्य विद्रधि में व्रण की भांति सम्पूर्ण चिकित्सा करे, परन्तु इसमें उपनाह न बांधे। स्तनवाहिनी और कृष्ण चूचकों को बचाते हुए चीरा देवे। आम आदि सब अवस्थाओं में दूषितस्तन को बार-बार दुहकर दूध निकाल देना चाहिये।

वातज-वृद्धिचिकित्सा—

शोधयेत्त्रिवृता स्निग्धं वृद्धौ स्नेहैश्चलात्मके ॥ २९ ॥
कोशाम्रतिल्वकैरण्डसुकुमारकमिश्रकैः ।
ततोऽनिलघ्ननिर्यूहकल्कस्नेहैर्निरूहयेत् ॥ ३० ॥
रसेन भोजितं यष्टितैलेनान्वासयेदनु ।
स्वेदप्रलेपा वातघ्नाः पक्के भित्त्वा व्रणक्रियाम् ॥ ३१ ॥

वातजन्य वृद्धि में रोगी को त्रिवृत् नामक स्नेह से स्निग्ध करके कोशाम्र (बड़े और मीठे आम) तिल्वक और एरण्ड से सिद्ध या सुकुमारक तैल (श्लो० ४१ अथवा मिश्रक स्नेह, गुल्म चिकित्सा में ८९-९०) से विरेचन देवे। शोधन (विरेचन) के उपरान्त वातनाशक कल्क, कषाय और स्नेहों से निरूह देवे। निरूह के पीछे मांसरस भोजन देकर मधुयष्टि के तैल से अनुवासन देवे। वातनाशक स्वेद और प्रलेप करे। वृद्धि रोग के पकने पर चीर कर व्रणचिकित्सा करे ॥२९-३१॥

पित्तज-घृद्धिचिकित्सा—

पित्तरक्तोद्भवे वृद्धावामपक्के यथायथम् ।
शोफव्रणक्रियां कुर्यात् प्रततं च हरेदसृक् ॥ ३२ ॥

पित्त और रक्तजन्य वृद्धि के आम और पक्कावस्था में यथायोग्य, आम में शोफ चिकित्सा तथा पकने पर व्रण-चिकित्सा करे और बार-बार रक्त को निकाले ॥ ३२ ॥

कफज-वृद्धिचिकित्सा—

गोमूत्रेण पिबेत्कल्कं श्लैष्मिके पीतदारुजम् ।
विम्लापनादृते चास्य श्लेष्मग्रन्थिक्रमो हितः ॥३३॥
पक्वे च पाटिते तैलमिष्यते व्रणशोधनम् ।
सुमनोऽरुष्कराङ्कोलसप्तपर्णेषु साधितम् ॥ ३४ ॥
पटोलनिम्बरजनीविडङ्गकुटजेषु च ।

कफजन्य विद्रधि में दारुहल्दी के कल्क को गोमूत्र से पिये। विम्लापन को छोड़कर शेष सब कफजन्य ग्रन्थि की चिकित्सा हितकारी है। पकने पर चीरकर व्रणशोधन तैल लगाये। यह तैल चमेली, भिलावा, अङ्कोठ, सप्तपर्ण, पटोल, नीम, हल्दी, विडङ्ग और कूड़ा इनसे सिद्ध करना चाहिये।

मेदोज-वृद्धिचिकित्सा—

मेदोजं मूत्रपिष्टेन सुस्विन्नं सुरसादिना ॥ ३५ ॥
शिरोविरेकद्रव्यैर्वा वर्जयन् फलसेवनीम् ।
दारयेद् वृद्धिपत्रेण सम्यङ्मेदसि सूद्धृते ॥ ३६ ॥
व्रणं माक्षिककासीससैन्धवप्रतिसारितम् ।
सीव्येदभ्यञ्जनं चास्य योज्यं मेदोविशुद्धये ॥ ३७ ॥
मनःशिलैलासुमनोग्रन्थिभल्लातकैः कृतम् ।
तैलमाव्रणसन्धानात्स्नेहस्वेदौ च शीलयेत् ॥ ३८ ॥

मेदोजन्य वृद्धि रोग में गोमूत्र के साथ सुरसादि गण के द्रव्यों को पीसकर इनसे भली प्रकार स्वेद देवे। अथवा शिरोविरेचन द्रव्यों से स्वेद देकर, फल (अण्ड) और सेवनी को बचाते हुए वृद्धिपत्र शस्त्र से चीरा देवे। फिर भली प्रकार मेद को निकालकर, व्रण में मधु, कासीस, सैन्धव इनका प्रतिसारण करके (रगड़कर) सी देना चाहिये। मेद के शोधन के लिए इस पर तैल का अभ्यङ्ग करे। यह तैल-मैनसिल; इलायची, चमेली, पिप्पलीमूल, भिलावे से सिद्ध करे। जब तक व्रण भर न जाये तब तक स्नेह और स्वेदन निरन्तर करे (स्वेदन मृदु करना चाहिये) ॥ ३५-३८ ॥

मूत्रज-वृद्धिचिकित्सा—

मूत्रजं स्वेदितं स्निग्धैर्वस्त्रपट्टेन वेष्टितम् ।
विध्येदधस्तात्सेवन्याः स्रावयेच्च यथोदरम् ॥ ३९ ॥
व्रणं च स्थगिकाबद्धं रोपयेत्—

मूत्रजन्य वृद्धि को स्निग्ध वस्तुओं से स्वेदन देकर वस्त्र के टुकड़े से लपेट कर सेवनी के नीचे वेधन करे। जलोदर की भाँति स्राव (जल) निकाले और व्रण पर स्थगिका नामक पट्ट बाँध कर रोपण उपाय करे ॥ ३९ ॥

अन्त्रज-वृद्धिचिकित्सा

—अन्त्रहेतुके ।
फलकोशमसम्प्राप्ते चिकित्सा वातवृद्धिवत् ॥ ४० ॥

आन्त्रजन्य घृद्धि के फलकोश में न पहुँचने तक वात-वृद्धि की भाँति चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४० ॥

वर्ध्म-वृद्ध्यादि नाशक सुकुमार तैल—

पचेत्पुनर्नवतुलां तथा दशपलाः पृथक् ।
दशमूलपयस्याऽश्वगन्धैरण्डशतावरीः ॥ ४१ ॥
द्विदर्भशरकाशेक्षुमूलपोटगलान्विताः ।
वहेऽपामष्टभागस्थे तत्र त्रिंशत्पलं गुडात् ॥ ४२ ॥
प्रस्थमेरण्डतैलस्य द्वे घृतात्पयसस्तथा ।
आवपेद् द्विपलांशं च कृष्णातन्मूलसैन्धवम् ॥ ४३ ॥
यष्टीमधु (चित्र) कमृद्वीका—
यवानीनागराणि च (क्षारनागरम्) ।
तत्सिद्धं सुकुमाराख्यं सुकुमारं रसायनम् ॥ ४४ ॥
वातातपाध्वयानादिपरिहार्येष्वयन्त्रणम् ।
प्रयोज्यं सुकुमाराणामीश्वराणां सुखात्मनाम् ॥ ४५ ॥
नृणां स्त्रीवृन्दभर्तॄणामलक्ष्मीकलिनाशनम् ।
सर्वकालोपयोगेन कान्तिलावण्यपुष्टिदम् ॥ ४६ ॥
वर्ध्मविद्रधिगुल्मार्शोयोनिमेढ्रानिलार्तिषु ।
शोफोदरखुडप्लीहविड्विबन्धेषु चोत्तमम् ॥ ४७ ॥

सुकुमार तैल—पुनर्नवा (मूल) एक सौ पल लेकर, दशमूल, विदारी, अश्वगन्धा, एरण्ड, शतावरी, दाभ, बड़ी दाभ (कुश), सरकण्डा, काश, ईख का मूल, पोटगल (नरकुल) ये प्रत्येक दस पल लेकर चार द्रोण जल में क्वाथ करे। आठवाँ भाग शेष रहने पर छान कर इसमें गुड़ तीस पल, एरण्ड तैल एक प्रस्थ, घी और दूध दो-दो प्रस्थ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, सैन्धव, मुलहठी (चित्रक), द्राक्षा, अजवायन (यवक्षार) और सोंठ प्रत्येक दो पल मिलाकर

इनसे तैल सिद्ध करे। सुकुमाराख्य तैल अतिशय सुकुमार-रसायन है। वायु, धूप, मुसाफिरी, सवारी आदि में भी इसको बरतते हुए कोई परहेज नहीं है। सुकुमार नाजुक प्रकृति, ऐश्वर्यशाली, सुखी जीवन बिताने वाले पुरुषों के लिये और बहुत सी स्त्रियों के स्वामियों के लिये उपयोगी तथा दौर्भाग्य और पापनाशक है। सब समय उपयोग करने से कान्ति, लावण्य और पुष्टि को देता है। वर्ध्म, विद्रधि, गुल्म, अर्श, योनिरोग, मेहन रोग, वातरोग, शोफ, उदर, वातरक्त, प्लीहा और मलावरोध में उत्तम है ॥ ४१-४७ ॥

वर्ध्म रोग में वस्ति विधि—

यायाद्वर्ध्म न चेच्छान्ति स्नेहरेकानुवासनैः ।
वस्तिकर्म पुरः कृत्वा वङ्क्षणस्थं ततो दहेत् ॥ ४८ ॥
अग्निना मार्गरोधार्थं मरुतः—

वर्ध्म[1] रोग स्नेह, विरेचन और अनुवासन से भी शान्त न हो तो, पहले वस्ति कर्म करके, फिर वंक्षण में स्थित वर्ध्म को अग्नि से जलाये, जिससे वायु का मार्ग रुक जाये ॥४८॥

वृद्धि रोग में अग्नि कर्म—

अङ्गुष्ठस्योपरि स्नाव पीतं तन्तुसमं च यत् ॥ ४९ ॥
उत्क्षिप्य सूच्या तत्तिर्यग् दहेच्छित्त्वा यतो गदः ।
ततोऽन्यपार्श्वेऽन्ये त्वाहुर्दहेद्वाऽनामिकाङ्गुलेः ॥ ५० ॥
गुल्मेऽप्यैर्वातकफजे प्लीह्नि चायं विधिः स्मृतः ।
कनिष्ठिकानामिकयोर्विश्वाच्यां च यतो गदः ॥ ५१ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने विद्र-
धिवृद्धिचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

* * *

जिस पार्श्व में रोग हो, उस पार्श्व में स्थित अँगूठे के ऊपर (पीछे की ओर) जो पीली स्नायु तन्तु के समान है, उस स्नायु की अर्धेन्दु (आधे चन्द्रमा) समान वक्र सुई से थोड़ा ऊँचा करके, फिर तिरछा चीरकर अग्नि से जलाये। ऐसा एक पक्ष के आचार्य कहते हैं। दूसरे आचार्य-जिस पार्श्व में रोग हो, उससे दूसरे पार्श्व में अँगूठे के ऊपर जो पीला स्नायु है उसको पूर्व विधि से जलाना कहते हैं। तीसरे आचार्य अनामिका अँगुली के ऊपर जो स्नायु है, उसको जलाना बताते हैं। अन्य आचार्यों ने वात-कफजन्य गुल्मों में प्लीहा में तथा विश्वाची रोग में जिस पार्श्व की ओर रोग हो, उसी पार्श्व में कनिष्ठिका और अनमिका के ऊपर जो पीले रङ्ग का स्नायु तन्तु के समान है, उसको ऊँचा करके तिरछा काटकर जलाना बताया है ॥ ४९-५१ ॥

वक्तव्य—कुछ प्रसिद्ध योग—(१) रास्ना, मुलेठी, गिलोय, बला और गोखरू इनके क्वाथ में एरण्ड-तैल मिला कर पीने से अन्त्रवृद्धि नष्ट होती है। (२) व्रध्न पर, गेहूँ का आटा, कुन्दरू गोंद (अभाव में रूमी मस्तकी) को भेड़ी के दूध में पीस कर कपड़े पर लगाकर चिपका देवे।

'शोभाञ्जनकनिर्यूहो हिङ्गुसैन्धवसंयुतः ।
अचिराद् विद्रधिं हन्ति प्रातः प्रातर्निषेवितः ॥'

वृद्धिहररस, वातारिरस, लेप में—शतपत्राद्य तेल।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सतस्थान का विद्रधिवृद्धिचिकित्सित नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥

* * *

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे गुल्म-चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वातज-गुल्म-चिकित्सा—

गुल्मं बद्धशकृद्वातं वातिकं तीव्रवेदनम् ।
रूक्षशीतोद्भवं तैलैः साधयेद्वातरोगिकैः ॥ १ ॥
पानान्नान्वासनाभ्यङ्गैः स्निग्धस्य स्वेदमाचरेत् ।
आनाहवेदनास्तम्भविबन्धेषु विशेषतः ॥ २ ॥
स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम् ।
भित्त्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति ॥ ३ ॥

तीव्र वेदना एवं मल-मूत्र के अवरोध वाले, रूक्ष एवं शीतकारण से उत्पन्न वातिक गुल्म को वातचिकित्सा में कहे तैलों से अच्छा करे। वातिक गुल्मरोगी को पान, अन्न, अन्वासन और अभ्यङ्ग से स्निग्ध करके स्वेद देवे। आनाह, वेदना, स्तम्भ और विबन्ध में विशेषकर स्वेद करे। क्योंकि स्वेद स्निग्ध पुरुष के स्रोतसों को मृदु बनाकर कुपित वायु को शान्त और विबन्ध को तोड़कर गुल्म को दूर करता है।

स्नेहपान-विधि—

स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे ।
पक्वाशयगते वस्तिरुभयं जठराश्रये ॥ ४ ॥

विशेषकर नाभि से ऊपर के भाग में उत्पन्न गुल्म में स्नेहपान उत्तम है। पक्वाशय में गुल्म के आश्रित होने पर वस्ति देनी चाहिये। जठर (सम्पूर्ण उदर) में आश्रित गुल्म में स्नेहपान और वस्ति दोनों उत्तम हैं ॥ ४ ॥

---

[1] १. वर्ध्म शब्द का प्रयोग मुख्यतः वङ्क्षणीय शोथ के लिये होता है जैसे वङ्क्षण-ग्रन्थिशोथ (बद या बाघी) किन्तु यहाँ वङ्क्षणगत आन्त्रवृद्धि के लिये प्रयुक्त है। जैसा कि आगे श्लोक ४८ से अस्पष्ट है। कभी-कभी अन्य वृद्धियों के लिए भी प्रयुक्त होता है।

फलकोश तक पहुँची हुई आन्त्रवृद्धि को सुश्रुत ने असाध्य लिखा है 'कोशप्राप्तान्तु वर्जयेत' (सु० चि० १९) किन्तु यहाँ उनके सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। आजकल तो यह भी शस्त्र-चिकित्सा साध्य है।

वातिक गुल्म में बृंहण तथा निरूहण—

दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्चसोः ।
बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रदापयेत् ॥ ५ ॥
पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः ।
प्रयोज्या वातजे गुल्मे कफपित्तानुरक्षिणः ॥ ६ ॥

वातिक गुल्म में अग्नि के प्रदीप्त होने पर वायु और मल का विबन्ध होने पर बृंहणकारक स्निग्ध एवं उष्ण खान-पान देवे। बार-बार स्नेहपान, निरूह और अनुवासन, वातजन्य गुल्म में कफ-पित्त की रक्षा करते हुए बरतने चाहिये।

गुल्म में वस्तिकर्म—

वस्तिकर्म परं विद्याद्गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम् ।
स्वस्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति ॥ ७ ॥
तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मा निरूहैः सानुवासनैः ।
प्रयुज्यमानैः शाम्यन्ति वातपित्तकफात्मकाः ॥ ८ ॥

वस्ति कर्म गुल्म का नाश करने में बहुत श्रेष्ठ है क्योंकि वस्ति कर्म वायु को उसके अपने स्थान पक्वाशय में शान्त करके, तुरन्त गुल्म को नष्ट कर देता है। इसलिए बार-बार अनुवासन के साथ दिये निरूह, वात-पित्त कफजन्य गुल्मों को शान्त कर देते हैं। (क्योंकि वायु के बिना गुल्म नहीं होता—

(१) 'सर्वेष्वपि च खलु एतेषु न कश्चिद् वातादृते भवति गुल्मः।
(२) गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या।
मारुते ह्यविजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात् ॥')

वातगुल्म नाशक नाना घृत—

हिङ्गुसौवर्चलव्योषविडदाडिमदीप्यकैः ।
पुष्कराजाजिधान्याम्लवेतसक्षारचित्रकैः ॥ ९ ॥
शटीवचाऽजगन्धैलासुरसैर्दधिसंयुतैः ।
शूलानाहहरं सर्पिः साधयेद्वातगुल्मिनाम् ॥ १० ॥

हिंग्वादिघृत—हींग, संचल, त्रिकटु, बिड, अजवायन, अनारदाना, पुष्करमूल, जीरा, धनिया, अम्लवेतस, यवक्षार, चित्रक, कचूर, वच, अजगन्धा, इलायची, तुलसी, इनमें दधि मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत वातगुल्म रोगियों के शूल और आनाह को नष्ट करता है। (द्रव्यों से चौगुना घी, घी के बराबर दही, घी से चौगुना जल, यह पाक क्रम है)।

दाधिक घृत—

हपुषोषणपृथ्वीकापञ्चकोलकदीप्यकैः ।
साजाजीसैन्धवैर्दध्ना दुग्धेन च रसेन च ॥ ११ ॥
दाडिमान्मूलकात्कोलात्पचेत्सर्पिर्निहन्ति तत् ।
वातगुल्मोदरानाहपार्श्वहृत्कोष्ठवेदनाः ॥ १२ ॥
योन्यर्शोग्रहणीदोषकासश्वासारुचिज्वरान् ।

हपुषा, मरिच, बड़ी इलायची, पंचकोल, अजवायन, जीरा, सैन्धव एवं दही, दूध, अनार, मूली तथा बेर का स्वरस, इन सबसे घृत सिद्ध करे। यह घृत वातगुल्म, उदर-आनाह, पार्श्वशूल, हृच्छूल, कोष्ठशूल, योनि रोग, अर्श, ग्रहणी, कास, श्वास, अरुचि और ज्वर को नष्ट करता है। [हपुषादि द्रव्य घृत से चतुर्थांश, दही, दूध, अनार, मूली और बेर प्रत्येक का रस घी के समान लेवे] ॥ ११-१२ ॥

दाधिक घृत—

दशमूलं बलां कालां सुषवीं द्वौ पुनर्नवौ ॥ १३ ॥
पौष्करैरण्डरास्नाऽश्वगन्धाभार्ग्यमृताशटीः ।
पचेद्गन्धपलाशं च द्रोणेऽपां द्विपलोन्मितम् ॥ १४ ॥
यवैः कोलैः कुलत्थैश्च माषैश्च प्रास्थिकैः सह ।
क्वाथेऽस्मिन्दधिपात्रे च घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ १५ ॥
स्वरसैर्दाडिमाम्रातमातुलुङ्गोद्भवैर्युतम् ।
तथा तुषाम्बुधान्याम्लशुक्तैः श्लक्ष्णैश्च कल्कितैः ॥१६॥
भार्गीतुम्बुरुषड्ग्रन्थाग्रन्थिरास्नाऽग्निधान्यकैः ।
यवानकयवान्यम्लवेतसासितजीरकैः ॥ १७ ॥
अजाजीहिङ्गुहपुषाकारवीवृषकोषकैः ।
निकुम्भकुम्भमूर्वेभपिप्पलीवेल्लदाडिमैः ॥ १८ ॥
श्वदंष्ट्रात्रपुसैर्वारुबीजहिंस्राऽश्मभेदकैः ।
मिसिद्विक्षारसुरससारिवानीलिनीफलैः ॥ १९ ॥
त्रिकटुत्रिपटूपेतैर्दाधिकं तद्व्यपोहति ।
रोगानाशुतरान् पूर्वान् कष्टानपि च शीलितम् ॥२०॥
अपस्मारगदोन्मादमूत्राघातानिलामयान् ।

दशमूल, बला, सारिवा, काला जीरा, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, पुष्करमूल, एरण्ड, रास्ना, अश्वगन्धा, भार्गी, गिलोय, कचूर, गन्धपलाश प्रत्येक दो पल लेकर जौ, बेर, कुलथी, उड़द प्रत्येक एक प्रस्थ मिलाकर एक द्रोण जल में क्वाथ करे। चौथाई रहने पर छान कर इस क्वाथ में, दही एक आढक और घी एक प्रस्थ, अनार, अम्बाड़ा, गलगल (बड़ा नीबू) इनका स्वरस, सतुष कांजी, धान्यकांजी, शुक्त (ये प्रत्येक घी के बराबर) इनको मिलाकर, भांर्गी, तुम्बरु, वच, पिप्पली, रास्ना, चित्रक, धनिया, अजवायन, छोटी अजवायन, अम्लवेतस, कालाजीरा, जीरा, हींग, हपुषा, अजमोद, अडूसा, ऊषक (रेह), दन्ती, बड़ी दन्ती (मोगलई एरण्ड), मूर्वा, गजपिप्पली, वायविडङ्ग, अनारदाना, गोखरू, खीरा, और ककड़ी के बीज, हिंस्रा (झिण्टी या हैंस की जड़), पाषाणभेद, सौंफ, यवक्षार, सर्जक्षार, तुलसी, सारिवा, नील के फल, त्रिकटु, सैन्धव, सौवर्चल, बिड इनका बारीक चूर्ण कल्क रूप में मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह दाधिक घृत पूर्व कहे सब रोगों को शीघ्र नष्ट करता है। अपस्मार, गर, उन्माद, मूत्राघात, वातरोग जो कष्टदायक हैं, उनको भी सेवन करने पर नष्ट करता है ॥ १३-२० ॥

वक्तव्य—जहाँ स्वरस न मिले वहाँ चूर्ण से स्वरस-कल्पना बनाये। यथा—प्रस्थं गृहीत्वा चूर्णस्य तोयस्य प्रस्थमावपेत्।
अहोरात्रस्थितं पूतं तत्स्यात् स्वरसवद् गुणैः ॥

त्र्यूषणादि घृत—

त्र्यूषणत्रिफलाधान्यचविकावेल्लचित्रकैः ॥ २१ ॥

कल्कीकृतैर्घृतं पक्वं सक्षीरं वातगुल्मनुत् ।

सोंठ, मरिच, पिप्पली, त्रिफला, धनिया, चविका, वायविडंग, चित्रक इनके कल्क से, घी के बराबर दूध लेकर (चौगुना जल मिलाकर) घृत पाक करे। यह घृत वातगुल्म नाशक है ॥ २१ ॥

लशुनादि घृत—

तुलां लशुनकन्दानां पृथक्पञ्चपलांशकम् ॥ २२ ॥
पञ्चमूलं महच्चाम्बुभारार्धे तद्विपाचयेत् ।
पादशेषं तदर्धेन दाडिमस्वरसं सुराम् ॥ २३ ॥
धान्याम्लं दधि चादाय पिष्टांश्चार्धपलांशकान् ।
त्र्यूषणत्रिफलाहिङ्गुयवानीचव्यदीप्यकान् ॥ २४ ॥
साम्लवेतससिन्धूत्थदेवदारून् पचेद् घृतात् ।
तैः प्रस्थं तत्परं सर्ववातगुल्मविकारजित् ॥ २५ ॥
षट्पलं वा पिबेत् सर्पिर्यदुक्तं राजयक्ष्मणि ।
प्रसन्नया वा क्षीरार्थः सुरया दाडिमेन वा ॥ २६ ॥
घृते मारुतगुल्मघ्नः कार्यो दध्नः सरेण वा ।

लहसुन एक सौ पल, बृहत्पञ्चमूल प्रत्येक पाँच पल लेकर एक हजार पल पानी में पकाये। पानी चौथाई शेष रहने पर छान लेवे। इस क्वाथ में आधा १२५ पल अनार का स्वरस, सुरा, काँजी और दही मिलाये। इसमें त्रिकटु, त्रिफला, हींग, अजवायन, चव्य, अजवायन, अम्लवेतस, सैन्धव, देवदारु प्रत्येक आधा पल मिला कर इससे एक प्रस्थ घी सिद्ध करे यह घृत सब प्रकार के वातगुल्म के विकारों को नाश करने में श्रेष्ठ है।

अथवा राजयक्ष्मा में कहा हुआ षट्पल घृत पिये। या षट्पल घृत में दूध के स्थान पर प्रसन्ना, सुरा या अनार का रस अथवा दही की मलाई मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह वायुगुल्म को नष्ट करता है ॥ २२-२६ ॥

वातगुल्म में वमन—

वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाग्निमरुचिं यदि ॥ २७ ॥
हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम् ।

वातगुल्म में बढ़ा हुआ कफ यदि अग्नि को नष्ट करके अरुचि, जी मिचलाना, भारीपन, तन्द्रा उत्पन्न करे तो उस कफ को वमन से बाहर कर देवे ॥ १७ ॥

गुल्म शूलनाशक क्वाथ तथा चूर्ण—

शूलानाहविबन्धेषु ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम् ॥ २८ ॥
निर्यूहचूर्णवटकाः प्रयोज्या घृतभेषजैः ।
कोलदाडिमघर्माम्बुतक्रमद्याम्लकाञ्जिकैः ॥ २९ ॥
मण्डेन वा पिबेत्प्रातश्चूर्णान्यन्नस्य वा पुरः ।
चूर्णानि मातुलुङ्गस्य भावितान्यसकृद्रसे ॥ ३० ॥
कुर्वीत कार्मुकतरान् वटकान् कफवातयोः ।

शूल, आनाह और विबन्ध होने पर आमाशय में ईषत् स्नेह जानकर पूर्वोक्त घृतों की औषधियों से क्वाथ, चूर्ण या गोलियाँ बनाकर बेर या अनार का रस, गरम पानी तक्र, मद्य, खट्टी कांजी अथवा मण्ड इनके साथ चूर्णों को प्रातः पिये अथवा भोजन के पहले पिये।

चूर्णों को बहुत बार बिजौरे के रस में भावित करके कफ गुल्म में अधिक काम करने वाले वटक बनाये ॥ २८-३० ॥

हिंग्वादि चूर्ण—

हिङ्गुवचाविजयापशुगन्धा-
दाडिमदीप्यकधान्यकपाठाः ।
पुष्करमूलशटीहपुषाग्नि-
क्षारयुगत्रिपटुत्रिकटूनि ॥ ३१ ॥
साजाजिचव्यं सहतिन्तिडीकं
सवेतसाम्लं विनिहन्ति चूर्णम् ।
हृत्पार्श्वबस्तित्रिकयोनिपायु-
शूलानि वाय्वामकफोद्भवानि ॥ ३२ ॥
कृच्छ्रान् गुल्मान् वातविण्मूत्रसङ्गं
कण्ठे बन्धं हृद्ग्रहं पाण्डुरोगम् ।
अन्नाश्रद्धाप्लीहदुर्नामहिध्मा
वर्ध्माध्मानश्वासकासाग्निसादान् ॥ ३३ ॥

हींग, वच, हरड़, अश्वगन्धा, अनारदाना, बड़ी अजवायन, धनिया, पाठा, पुष्करमूल, कचूर, हपुषा, चित्रक, यवाखार, सज्जीखार, सैन्धव, सौवर्चल, विडनमक, त्रिकटु, जीरा, चव्य, इमली, अम्लवेतस, इनका चूर्ण हृदय, पार्श्व, वस्ति, योनि और गुदा का शूल—जो कि वायु और कफ से उत्पन्न होता है—को नष्ट करता है। कष्टसाध्य गुल्मों को एवं वायु, मल तथा मूत्र के अवरोध को तथा गले की रुकावट, हृद्ग्रह, पाण्डु रोग, भोजन में अश्रद्धा, प्लीहा, अर्श, हिक्का, वर्ध्म, आध्मान, श्वास, कास और अग्निमान्द्य को नष्ट करता है ॥ ३१-३३ ॥

लवणादि चूर्ण—

लवणयवानीदीप्यककणनागरमुत्तरोत्तरं वृद्धम् ।
सर्वसमांशहरीतकिचूर्णं वैश्वानरः साक्षात् ॥ ३४ ॥

सैन्धवलवण, अजवायन, अजमोद, पिप्पली, सोंठ इनको उत्तरोत्तर बढ़ा कर लेवे। और सबके बराबार हरड़ का चूर्ण मिलाये। यह चूर्ण साक्षात् वैश्वानर—अग्निवर्धक है ॥ ३४ ॥

हिंग्वष्टक चूर्ण—

त्रिकटुकमजमोदासैन्धवं जीरके द्वे
समधरणधृतानामष्टमो हिङ्गुभागः ।
प्रथमकवलभोज्यः सर्पिषा संप्रयुक्तो
जनयति जठराग्निं वातगुल्मं निहन्ति ॥ ३५ ॥

त्रिकटु, अजवायन, सैन्धव, जीरा, कालाजीरा ये परस्पर समान भाग, हींग इन सबका आठवाँ भाग इसमें मिलाये। इस चूर्ण को प्रथम ग्रास में घी के साथ। खाने पर यह जाठराग्नि को बढ़ाता है और वातगुल्म को नष्ट करता है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—धरणशब्देन पलस्य दशमो भाग उच्यते। धरणे धृता धरणधृताः, समाश्च ते धरणधृताश्च, तेषां समधरणधृतानां त्रिकटुकादीनामष्टमो हिङ्गुभागो देयः। अरुणदत्तः।

शार्दूल चूर्ण—

हिङ्गूग्राविडशुण्ठ्यजाजिविजयावाढ्याभिधानामयै·
श्चूर्णः कुम्भनिकुम्भमूलसहितैर्भागोत्तरं वर्धितैः ।
पीतः कोष्णजलेन कोष्ठजरुजो गुल्मोदरादीनयं
शार्दूलः प्रसभं प्रमथ्य हरति व्याधीन् मृगौघानिव ॥

हींग, वच, बिडनमक, सोंठ, जीरा, हरड़, बलामूल, कूठ, दन्ती और मोगलई एरण्ड की जड़ ये क्रमशः उत्तरोत्तर मात्रा में बढ़ा कर लेवे। इनका चूर्ण गरम जल से पिये। यह चूर्ण कोष्ठ की वेदना, गुल्म, उदर-रोगसमूहों को ऐसे नष्ट कर देता है, जैसे कि शेर मृगसमूहों को नष्ट करता है ॥३६॥

सैंधवादि चूर्ण—

सिन्धूत्थपथ्याकणदीप्यकानां
चूर्णानि तोयैः पिबतां कवोष्णैः ।
प्रयाति नाशं कफवातजन्मा
नाराचनिर्भिन्न इवामयौघः । ३७ ॥

सैन्धव, हरड़, पिप्पली, अजवायन इनके चूर्णों को सुहाते गरम पानी से पीने पर कफ-वातजन्य रोगसमूह बाण से विद्ध हुए के समान नष्ट होते हैं ॥ ३७ ॥

गुल्मनाशक अन्यान्य चूर्ण—

पूतीकपत्रगजचिर्भटचव्यवह्नि·
व्योषं च संस्तरचितं लवणोपधानम् ।
दग्ध्वा विचूर्ण्य दधिमस्तुयुतं प्रयोज्यं
गुल्मोदरश्वयथुपाण्डुगुदोद्भवेषु ॥ ३८ ॥

नाटा करंज के पत्ते, बड़ी ककड़ी, चव्य, चित्रक, सोंठ, मरिच, पीपल इनको क्रमशः एक दूसरे के ऊपर बिछाते हुए सबसे ऊपर नमक का चूर्ण बिछा कर जला ले। (हण्डी में अन्तर्धूम भस्म करे।) इसको फिर चूर्ण करके दही और मस्तु के साथ मिलाकर गुल्म, उदर, शोथ, पाण्डुरोग तथा अर्श में बरते ॥ ३८ ॥

हिङ्गुत्रिगुणं सैन्धवमस्मात्त्रिगुणं च तैलमैरण्डम् ।
तत्त्रिगुणरसोनरसं गुल्मोदरवर्ध्मशूलघ्नम् ॥ ३९ ॥

हींग और हींग से तीन गुणा सैन्धव, सैन्धव से तीन गुणा एरण्डतैल, एरण्डतैल से तीन गुणा लहसुन का रस, मिलाये। यह गुल्म, उदर, वर्ध्म और शूलनाशक है। [दृष्टफल योग है] ॥ ३९ ॥

गुल्मनाशक अन्य प्रयोग—

मातुलुङ्गरसो हिङ्गु दाडिमं बिडसैन्धवम् ॥ ४० ॥
सुरामण्डेन पातव्यं वातगुल्मरुजापहम् ।

गलगल का रस, हींग, अनारदाना, बिड नमक, सैन्धव; इनको वातगुल्म की पीड़ा की शान्ति के लिए सुरामण्ड से पीना चाहिये ॥ ४० ॥

शुण्ठ्यादि चूर्ण—

शुण्ठ्याः कर्षं गुडस्य द्वौ धौतात्कृष्णतिलात्पलम् ॥४१॥
खादन्नेकत्र सञ्चूर्ण्य कोष्णक्षीरानुपो जयेत् ।
वातहृद्रोगगुल्मार्शोयोनिशूलशकृद्ग्रहान् ॥ ४२ ॥

सोंठ एक कर्ष, गुड़ दो कर्ष, धोकर साफ किये काले तिल एक पल, इनको चूर्ण करके मिलाकर खाये। पीछे से गरम दूध पिये। यह वातरोग, हृदयरोग, अर्श, योनिरोग, शूल, और मलबन्ध को नष्ट करता है ॥ ४१-४२ ॥

वातगुल्मनाशक अन्य प्रयोग—

पिबेदेरण्डतैलं तु वातगुल्मी प्रसन्नया ।
श्लेष्मण्यनुबले वायौ, पित्ते तु पयसा सह ॥ ४३ ॥

वातगुल्म रोगी कफ का अनुबन्ध होने पर एरण्डतैल को प्रसन्नता के साथ और पित्त का अनुबन्ध होने पर दूध के साथ पिये ॥ ४३ ॥

वातगुल्म में विरेचनादि—

विवृद्धं यदि वा पित्तं सन्तापं वातगुल्मिनः ।
कुर्याद्विरेचनीयोऽसौ सस्नेहैरानुलोमिकैः । ४४ ॥
तापानुवृत्तावेवं च रक्तं तस्यावसेचयेत् ।

वातगुल्म रोगी का पित्त बढ़कर यदि सन्ताप करे तब इसको विरेचन देना चाहिये। यह विरेचन आनुलोमिक द्रव्यों को स्नेह के साथ मिलाकर देना चाहिये। इस प्रकार विरेचन देने पर भी यदि सन्ताप बना रहे तो इस रोगी का रक्त निकाले ॥ ४४ ॥

वातगुल्म में क्षीर—

साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुष्पलम् ॥ ४५ ॥
क्षीरोदकेऽष्टगुणिते क्षीरशेषं च पाचयेत् ।
वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसीं विषमज्वरम् ॥ ४६ ॥
हृद्रोगं विद्रधिं शोषं साधयत्याशु तत्पयः ।

चार पल शुद्ध एवं शुष्क लहसुन को आठ गुने (सममात्रा में मिश्रित) दूध और पानी में तब तक पकाये जब तक केवल दूध शेष रह जाये। यह दूध वातगुल्म, उदावर्त्त, गृध्रसी, विषमज्वर, हृदय रोग, विद्रधि और शोष को शीघ्र नष्ट कर देता है ॥ ४५-४६ ॥

वक्तव्य—लहसुन को सुखाकर छिलका उतारे, पूरा पका लहसुन लेना चाहिये। क्षीर और नीर समान लेवे। दूध और लहसुन परस्पर विरोधी होने पर भी रोग की महिमा से विरुद्ध नहीं हैं। दूध और पानी मिलाकर बत्तीस पल होंगे। यहां पर द्रव द्वैगुण्य का नियम नहीं रहेगा।

तैलं प्रसन्ना गोमूत्रमारनालं यवाग्रजः ॥ ४७ ॥
गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत् ।

एरण्डतैल, प्रसन्ना गोमूत्र, कांजी, यवक्षार, इनको एक साथ मिलाकर पीने से गुल्म, उदर और आनाह नष्ट होते हैं।

चित्रकग्रन्थिकैरण्डशुण्ठीक्वाथः परं हितः ॥ ४८ ॥
शूलानाहविबन्धेषु सहिङ्गुबिडसैन्धवः ।
पुष्करैरण्डयोर्मूलं यवधन्वयवासकम् ॥ ४९ ॥
जलेन क्वथितं पीतं कोष्ठदाहरुजाऽपहम् ।

वाट्याह्वैरण्डदर्भाणां मूलं दारु महौषधम् ॥ ५० ॥
पीतं निःक्वाथ्य तोयेन कोष्ठपृष्ठांसशूलजित् ।

चित्रक, पिप्पलीमूल, एरण्ड, सोंठ इनका क्वाथ, हींग, बिडनमक और सैन्धव मिलाकर लेने पर शूल, आनाह, और विबन्ध में उत्तम है ।

पुष्करमूल, एरण्डमूल, जौ, धमासा, अडूसा, इनका जल से क्वाथ करके पिये । यह कोष्ठ के दाह और पीड़ा को नष्ट करता है ।

वाट्या (बला) मूल, एरण्डमूल, दाभमूल, देवदारु, सोंठ, इनको जल में क्वाथ करके पिये । यह कोष्ठ, पीठ और अंस के शूल को शान्त करता है ॥ ४८-५० ॥

शिलाजं पयसाऽनल्पपञ्चमूलशृतेन वा ॥ ५१ ॥
वातगुल्मी पिबेद्—

बृहत् पञ्चमूल के साथ दूध को सिद्ध कर उससे शिलाजतु को वातगुल्म रोगी पिये ॥ ५१ ॥

उदावर्त तथा मल-मूत्रविबन्ध में—

—वाट्यमुदावर्ते तु भोजयेत् ।
स्निग्धं पैप्पलिकैर्यूषैर्मूलकानां रसेन वा ॥ ५२ ॥
बद्धविण्मारुतोऽश्नीयात्क्षीरेणोष्णेन यावकम् ।
कुल्माषान् वा बहुस्नेहान् भक्षयेल्लवणोत्तरान् ॥५३॥

उदावर्त में जौ का बना भोजन (यवागू आदि) स्नेह के साथ तथा पिप्पली से संस्कृत यूषों के साथ या मूली के रस के साथ खाये ।

मल और वायु रुके होने पर जौ का बना भोजन गरम दूध से खाये । अथवा बहुत स्नेहयुक्त तथा प्रचुर नमक वाले कुल्माष (आधे स्विन्न किये जौ) को खाये ॥ ५२-५३ ॥

गुल्मनाशक घृत—

नीलिनीत्रिवृतादन्तीपथ्याकम्पिल्लकैः सह ।
समलाय घृतं देयं सबिडक्षारनागरम् ॥ ५४ ॥

नीलिनी, निशोथ, दन्ती, हरड़, कमीला, बिडनमक, यवखार, सोंठ, इनके साथ दोषयुक्त मनुष्य को घी देवे ॥५४॥

नीलिनी घृत—

नीलिनीं त्रिफलां रास्नां बलां कटुकरोहिणीम् ।
पचेद्विडङ्गं व्याघ्रीं च पालिकानि जलाढके ॥ ५५ ॥
रसेऽष्टभागशेषे तु घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
दध्नः प्रस्थेन संयोज्य सुधाक्षीरपलेन च ॥ ५६ ॥
ततो घृतपलं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम् ।
जीर्णे सम्यग्विरिक्तं च भोजयेद्रसभोजनम् ॥ ५७ ॥
गुल्मकुष्ठोदरव्यङ्गशोफपाण्ड्वामयज्वरान् ।
श्वित्रं प्लीहानमुन्मादं हन्त्येतन्नीलिनीघृतम् ॥ ५८ ॥

नीलिनी, त्रिफला, रास्ना, बला, कुटकी, वायविडङ्ग, कटेरी प्रत्येक एक पल लेकर एक आढक जल में क्वाथ करे । जब आठवां भाग शेष रह जाये, तब इसमें घी एक प्रस्थ, दही एक प्रस्थ, थूहर का दूध एक पल मिलाकर घी सिद्ध करे । इसमें से एक पल घी को यवागू-मण्ड में मिलाकर देवे । इसके पच जाने और भली प्रकार विरेचन हो जाने पर मांसरस के साथ भोजन करे । यह नीलिनी घृत गुल्म, कुष्ठ, उदर, व्यङ्ग, शोफ, पाण्डु, ज्वर, श्वित्र, प्लीहा और उन्माद को नष्ट करता है ॥ ५५-५८ ॥

वातगुल्म में पथ्य—

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकाः ।
शालयो मदिरा सर्पिर्वातगुल्मचिकित्सितम् । ५९ ॥

कुक्कुट, मयूर, तीतर, क्रौंच, बटेर, शालिधान्य, मदिरा, घी, ये वातगुल्म में औषध हैं ॥ ५९ ॥

मितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम् ।
समण्डा वारुणी पानं तप्तं वा धान्यकैर्जलम् ॥ ६० ॥

वातगुल्म रोगियों के लिये मात्रा में थोड़ा, उष्ण, द्रव और स्निग्ध भोजन तथा पीने के लिए मण्डयुक्त वारुणी या धनिया से पकाया जल उत्तम है ॥ ६० ॥

पैत्तिक गुल्म में विरेचन—

स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम् ।
द्राक्षाऽभयागुडरसं कम्पिल्लं वा मधुद्रुतम् ॥ ६१ ॥
कल्पोक्तं रक्तपित्तोक्तम्—

स्निग्ध एवं उष्ण उपचार से उत्पन्न पित्तज गुल्म में विरेचन उत्तम है । इसके लिये द्राक्षा और हरड़ को गुड़ के शर्बत से देवे या कमीले को मधु से पतला करके या कल्पस्थान में अथवा रक्तपित्त में कहा (त्रिवृता-त्रिफला-हृ. अ. २।१०) विरेचन देवे ॥ ६१ ॥

पैत्तिक गुल्म में संशमन—

—गुल्मे रूक्षोष्णजे पुनः ।
परं संशमनं सर्पिस्तिक्तं वासाघृतं शृतम् ॥ ६२ ॥
तृणाख्यपञ्चकक्वाथे जीवनीयगणेन वा ।
शृतं तेनैव वा क्षीरं न्यग्रोधादिगणेन वा ॥ ६३ ॥

रूक्ष एवं उष्ण कारणजन्य पैत्तिक गुल्म में तिक्तक घृत (चि. अ. १९।२), वासाघृत (चि. अ. २।४२।) या पञ्चतृण (हृ. चि. अ. ६।१७१) क्वाथ से जीवनीय गण के द्रव्यों से सिद्ध किया घृत देवे । अथवा न्यग्रोधादि गण के क्वाथ में जीवनीय गण से सिद्ध किया घृत देवे ॥ ६२-६३ ॥

आत्ययिक गुल्म में विरेचन—

तत्रापि स्रंसनं युञ्ज्याच्छीघ्रमात्ययिके भिषक् ।
वैरेचनिकसिद्धेन सर्पिषा पयसाऽपि वा ॥ ६४ ॥

रूक्ष, उष्ण कारणजन्य संशमनीय पैत्तिक गुल्म में भी यदि नितान्त आवश्यकता आ पड़े, तो वैद्य शीघ्र विरेचनविहित द्रव्यों से सिद्ध घी से या दूध से विरेचन देवे ॥६४॥

पित्तज गुल्मनाशक घृत—

रसेनामलकेक्षूणां घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
पथ्यापादं पिबेत्सर्पिस्तत्सिद्धं पित्तगुल्मनुत् ॥६५॥
पिबेद्वा तैल्वकं सर्पिर्यच्चोक्तं पित्तविद्रधौ ।

Kangri Col. Deoband. In Public Domain.

आँवले का रस, गन्नेका रस (घी से चौगुना), इनसे एक प्रस्थ घी, हरड़ (घृत से चतुर्थांश) मिलाकर घी सिद्ध करे। यह घृत पित्तज गुल्मनाशक है। अथवा तैक्तक घृत (हृ. चि. अ. २१।३२) या पित्त विद्रधि में कहा घृत (हृ. चि. अ. २३।४) पिये ॥ ६५ ॥

पित्तज गुल्मनाशक द्राक्षादिपान—

द्राक्षां पयस्यां मधुकं चन्दनं पद्मकं मधु ॥ ६६ ॥
पिबेत्तण्डुलतोयेन पित्तगुल्मोपशान्तये ।

पित्त गुल्म की शान्ति के लिये द्राक्षा, विदारी, मुलहठी, चन्दन, पद्माख, मधु इनको चावल के धोवन से पिये ॥ ६६ ॥

पैत्तिक गुल्मनाशक अन्य प्रयोग—

द्विपलं त्रायमाणाया जलद्विप्रस्थसाधितम् ॥ ६७ ॥
अष्टभागस्थितं पूतं कोष्णं क्षीरसमं पिबेत् ।
पिबेदुपरि तस्योष्णं क्षीरमेव यथाबलम् ॥ ६८ ॥
तेन निर्हृतदोषस्य गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः ।

त्रायमाणा दो पल लेकर दो प्रस्थ जल में क्वाथ करे। आठवाँ भाग शेष रह जाने पर कपड़े में छान कर इसके बराबर गरम दूध मिलाकर पिये। इसके पीछे गरम दूध ही बल के अनुसार पिये। इस प्रकार दोष के निकल जाने पर पैत्तिक गुल्म शान्त हो जाता है ॥ ६७-६८ ॥

पैत्तिक गुल्म में अभ्यङ्गादि—

दाहोऽभ्यङ्गो घृतैः शीतैः साज्यैर्लेपो हिमौषधैः ॥ ६९ ॥
स्पर्शः सरोरुहां पत्रैः पात्रैश्च प्रचलज्जलैः ।

पैत्तिक गुल्म में दाह होने पर शीतवीर्य एवं शीत स्पर्श वाले द्रव्यों से सिद्ध किये घृतों से अभ्यङ्ग एवं शीतवीर्य वाली औषधियों को घी में मिलाकर लेप करे। कमल के पत्तों से या हिलते जल वाले कांसे आदि के पात्रों से स्पर्श करे।

विदाहादि में रक्तमोक्षणविधि—

विदाहपूर्वरूपेषु शूले वह्नेश्च मार्दवे ॥ ७० ॥
बहुशोऽपहरेद्रक्तं पित्तगुल्मे विशेषतः ।

जिन गुल्मों में विदाह के पूर्वरूप उत्पन्न हों तथा शूल और अग्निमान्द्य हो, उनमें बार-बार रक्त निकाले। पित्तजन्य गुल्मों में विशेषतः रक्त निकाले ॥ ७० ॥

रक्तमोक्षण में हेतु—

छिन्नमूला विदह्यन्ते न गुल्मा यान्ति च क्षयम् ॥७१॥
रक्तं हि व्यम्लतां याति, तच्च नास्ति न चास्ति रुक् ।

जिन गुल्मों की जड़ कट जाती है, वे गुल्म पकने नहीं पाते, अपि तु क्षय (नष्ट) हो जाते हैं। क्योंकि अन्दर स्थित रक्त विशेष रूप से व्यम्ल होता है—विदग्ध होता है। व्यम्ल रक्त नहीं रहता, इसलिये दर्द भी नहीं रहती ॥ ७१ ॥

हतदोषं परिम्लानं जाङ्गलैस्तर्पितं रसैः ॥ ७२ ॥
समाश्वस्तं सशेषार्तिं सर्पिरभ्यासयेत्पुनः ।

गुल्म नष्ट होने पर रोग से खिन्न रोगी को जांगलमांस दे, आश्वासन दे तथा घृत का अभ्यास कराकर शेष रोग को भी शान्त करे ॥ ७२ ॥

पाकोन्मुख गुल्म की चिकित्सा—

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात्क्रियामनुपलभ्य वा ॥ ७३ ॥
गुल्मे पाकोन्मुखे सर्वा पित्तविद्रधिवत्क्रिया ।

रक्त-पित्त के अतिशय बढ़े होने के कारण चिकित्सा-क्रिया के न करने से गुल्म यदि पकने लगे तो पित्तविद्रधि की सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ७३ ॥

पित्तज गुल्म में पथ्य—

शालिर्गव्याजपयसी पटोली जाङ्गलं घृतम् ॥ ७४ ॥
धात्री परूषकं द्राक्षा खर्जूरं दाडिमं सिता ।
भोज्यं पानेऽम्बु बलया बृहत्याद्यैश्च साधितम् ॥७५॥

शालिधान्य, गाय-बकरी के दूध, पटोल, जांगल मांस, घृत, आंवला, फालसा, द्राक्षा, खजूर, अनार, शर्करा, इनका भोजन देवे। पीने के लिये खरैंटी का पानी या बृहत्यादि लघु पंचमूल से सिद्ध क्वाथ देवे ॥ ७४-७५ ॥

कफज गुल्म में उपचार—

श्लेष्मजे वामयेत्पूर्वमवम्यमुपवासयेत् ।
तिक्तोष्णकटुसंसर्ग्या वह्निं सन्धुक्षयेत्ततः ॥ ७६ ॥
हिङ्ग्वादिभिश्च द्विगुणक्षारहिङ्ग्वम्लवेतसैः ।

कफजन्य गुल्म में प्रथम वमन कराये। जो वमन देने योग्य न हो; उसको उपवास कराये। इसके पीछे तिक्त, कटु, और उष्ण द्रव्यों से संसर्जन क्रम से अग्नि को बढ़ाये। हिंग्वादि घृत और चूर्णों में यवक्षार, सर्जक्षार, हींग, अम्लवेतस ये दुगुनी मात्रा में मिला कर देवे (जिससे अग्नि बढ़े) ॥ ७६ ॥

कफज गुल्म में घृतपान—

निगूढं यदि वोन्नद्धं स्तिमितं कठिनं स्थिरम् ॥ ७७ ॥
आनाहादियुतं गुल्मं संस्वेद्य विनयेदनु ।
घृतं सक्षारकटुकं पातव्यं कफगुल्मिनाम् ॥ ७८ ॥
सव्योषक्षारलवणं सहिङ्गुबिडदाडिमम् ।
कफगुल्मं जयत्याशु दशमूलशृतं घृतम् ॥ ७९ ॥

यदि गुल्म छिपा या ऊपर उठा हो, स्तिमित (जड़ बना) हो, कठिन और स्थिर हो; इसके साथ आनाह आदि के लक्षण हों तो इस पर स्वेदन देकर पीछे से यवक्षार एवं कटु द्रव्यों से युक्त घृत कफगुल्म रोगियों को पिलाना चाहिये।

त्रिकटु, यवक्षार, सैन्धव, हींग, बिडनमक, अनारदाना, इनके कल्क से दशमूल में सिद्ध किया घृत कफगुल्म को जल्दी ही शान्त करता है ॥ ७७-७९ ॥

भल्लातक घृत—

भल्लातकानां द्विपलं पञ्चमूलं पलोन्मितम् ।
अल्पं तोयाढके साध्यं पादशेषेण तेन च ॥ ८० ॥
तुल्यं घृतं तुल्यपयो विपचेदक्षसम्मितैः ।
विडङ्गहिङ्गुसिन्धूत्थयावशूकशटीविडैः ॥ ८१ ॥
सक्षीरिकायष्ट्याह्वषड्ग्रन्थाकणनागरैः ।

एतद्भल्लातकघृतं कफगुल्महरं परम् ॥८२॥
प्लीहपाण्ड्वामयश्वासग्रहणीरोगकासजित् ।

भिलावा दो पल, लघु पंचमूल एक पल लेकर एक आढक जल में क्वाथ करे। चौथाई रहने पर इसको छानकर इसमें क्वाथ के बराबर घी एवं दूध समान मात्रा में मिलाकर विडंग, हींग, सैन्धव, यवक्षार, कचूर, बिडनमक, चित्रक, रास्ना, मुलहठी, वच, पिप्पली, सोंठ ये प्रत्येक एक कर्ष लेकर घृत सिद्ध करे। यह भल्लातक घृत कफगुल्म को नाश करने में श्रेष्ठ है, प्लीहा, पाण्डुरोग, श्वास, ग्रहणी रोग तथा कास का नाशक है।

स्वेदन विधि—

ततोऽस्य गुल्मे देहे च समस्ते स्वेदमाचरेत् ॥८३॥

घृतपान के पीछे गुल्म पर और रोगी के समस्त शरीर पर स्वेद देना चाहिये ॥ ८३ ॥

सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते ।
या क्रिया क्रियते याति सा सिद्धिं न विरूक्षिते ॥८४।

सब प्रकार (आठों प्रकार) के गुल्मों में प्रथम स्नेहन और स्वेदन देकर जो भी चिकित्सा की जाती है, वह सफल होती है। रूक्षावस्था में जो क्रिया की जाती है, वह सफल नहीं होती ॥ ८४ ॥

गुल्म के शिथिल होने पर चिकित्सा—

स्निग्धस्विन्नशरीरस्य गुल्मे शैथिल्यमागते ।
यथोक्तां घटिकां न्यस्येद् गृहीतेऽपनयेच्च ताम् ॥८५॥
वस्त्रान्तरं ततः कृत्वा छिन्द्याद् गुल्मं प्रमाणवित् ।
विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं प्रपीडयेत् ॥८६॥
प्रमृज्याद् गुल्ममेवैकं न त्वन्त्रहृदयं स्पृशेत् ।

स्निग्ध एवं स्वेद दिये हुए शरीर में गुल्म के शिथिल (ढीला) हो जाने पर यंत्रविधि में कही हुई घटिका को गुल्म पर लगाये। जब गुल्म घटिका में आ जाये तब घटिका को हटा ले और गुल्म को चारों ओर से वस्त्र से घेर कर बांध देवे। फिर प्रमाण को जानने वाला वैद्य गुल्म को विमार्ग, अजपद, आदर्श इनमें से जो भी मिले उससे काटे। फिर चारों ओर से दबाये, अकेले गुल्म को ही मले। अंत्र और हृदय (मर्मस्थान) को हाथ न लगाये ॥ ८५-८६ ॥

वक्तव्य—विमार्ग-चमार लोग जिससे चमड़े पर रेखा करते हैं, राफी। अजपद-बकरी का खुर। आदर्श-दर्पण की धार, अब भी आजमगढ़ की ओर देहात में पाछने वाले या रक्त निकालने वाले शीशे का उपयोग करते हैं। अब तो ब्लेड इस काम के लिये उत्तम है।

कफगुल्म में अन्य उपाय

तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च ॥८७॥
श्लेष्मगुल्ममयस्पात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेत्ततः ।
एवं च विसृतं स्थानात् कफगुल्मं विरेचनैः ॥८८॥
सस्नेहैर्वस्तिभिश्चैनं शोधयेद्दाशमूलिकैः ।

कफगुल्म पर तिल, एरण्ड, अलसी के बीज या सरसों का लेप करके लोह के पात्रों से सुहाता हुआ गरम स्वेद देना चाहिये।

इस प्रकार करने पर स्थान से चलायमान होकर फैले हुए कफगुल्म की चिकित्सा स्नेहयुक्त विरेचनों तथा दशमूल से बनाई वस्तियों से शोधन द्वारा करना चाहिये ॥८७-८८॥

मिश्रित स्नेह—

पिप्पल्यामलकद्राक्षाश्यामाद्यैः पालिकैः पचेत् ॥८९॥
एरण्डतैलहविषोः प्रस्थौ पयसि षड्गुणे ।
सिद्धोऽयं मिश्रकः स्नेहो गुल्मिनां स्रंसनं हितम् ॥
वृद्धिविद्रधिशूलेषु वातव्याधिषु चामृतम् ।

पिप्पली, आँवला, द्राक्षा, श्यामा आदि द्रव्य एक-एक पल लेकर एरण्ड तेल और घी दो प्रस्थ (प्रत्येक १-१ प्रस्थ) इनको छः गुने दूध में सिद्ध करे। सिद्ध हुआ यह मिश्रक स्नेह गुल्मरोगियों के लिये उत्तम विरेचक है और वृद्धि, विद्रधि; शूल और वातरोगों में अमृततुल्य है ॥ ८९-९० ॥

नीलिका घृत—

पिबेद्वा नीलिनीसर्पिर्मात्रया द्विपलीनया ॥ ९१ ॥
तथैव सुकुमाराख्यं घृतान्यौदरिकाणि वा ।

नीलिनी घृत (श्लोक ५१) दो पल की मात्रा में पिये। दो पल की मात्रा से ही सुकुमारक घृत और उदर चिकित्सा में कहे घृत पिये (ये सब विरेचन के लिये हैं) ॥ ९१ ॥

दन्त्यादि हरीतकी—

द्रोणेऽम्भसः पचेद्दन्त्याः पलानां पञ्चविंशतिम् ॥
चित्रकस्य तथा पथ्यास्तावतीस्तद्रसे स्रुते ।
द्विप्रस्थे साधयेत्पूते क्षिपेद्दन्तीसमं गुडम् ॥९३॥
तैलात्पलानि चत्वारि त्रिवृतायाश्च चूर्णतः ।
कणाकर्षौ तथा शुण्ठ्याः सिद्धे लेहे तु शीतले ॥९४॥
मधु तैलसमं दद्याच्चतुर्जाताच्चतुर्थिकाम् ।
अतो हरीतकीमेकां सावलेहपलामदन् ॥९५॥
सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयः ।
गुल्महृद्रोगदुर्नामशोफानाहगरोदरान् ॥९६॥
कुष्ठोत्क्लेशारुचिप्लीहग्रहणीविषमज्वरान् ।
घ्नन्ति दन्तीहरीतक्यः पाण्डुतां च सकामलाम् ॥९७॥

दन्ती पचीस पल, चित्रक पचीस पल और हरड़ भी पचीस पल लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ करे। [हरड़ को पोटली में बाँधकर क्वाथ में छोड़े] इस क्वाथ को छानकर इसमें से दो प्रस्थ लेकर उसमें दन्ती के बराबर (पचीस पल) गुड़ मिलाये। तैल चार-पल, निशोथ चार पल, पिप्पली दो कर्ष, सोंठ दो कर्ष मिलाये। लेह के सिद्ध और शीतल होने पर इसमें मधु चार पल, चतुर्जातक द्रव्य (मिलित) एक पल मिलाये इसमें से एक हरड़ खाकर एक पल मात्रा अवलेह को चाटे। स्निग्ध पुरुष इससे सुखपूर्वक दोष की एक प्रस्थ मात्रा (१३½ पल) बाहर निकालता है। गुल्म, हृद्रोग, अर्श, शोफ, आनाह, गरविष, उदर रोग, कुष्ठ, जी मिचलाना,

अरुचि, प्लीहा, ग्रहणी, विषमज्वर, पाण्डु रोग और कामला को वह दन्ती हरीतकी नष्ट करती है ॥ ९२-९७ ॥

वक्तव्य—तैल का उपयोग हरड़ों को भूनने के लिये है। यहाँ प्रस्थ का मान साढ़े तेरह पल है। यथा—'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥'

विरेचन चूर्ण—

सुधाक्षीरद्रवं चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम् ।
सुधाक्षीरद्रवं चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम् ॥ ९८ ॥
कुष्ठश्याश्यामात्रिवृद्दन्तीविजयाक्षारगुग्गुलून् ।
गोमूत्रेण पिबेदेकं तेन गुग्गुलुमेव वा ॥ ९९ ॥

निशोथ के चूर्ण को थूहर के दूध से गीला कर उसी से भली प्रकार भावना देकर एक कर्ष की मात्रा में मधु और घी के साथ चाटने पर सुखपूर्वक विरेचन होता है।

कूठ, श्यामा, निशोथ, जमालगोटा, हरड़, यवक्षार और गुग्गुलु को गोमूत्र से पिये अथवा केवल गुग्गुलु को ही गोमूत्र से पिये ॥ ९८-९९ ॥

गुल्मनाशक निरूहवस्ति—

निरूहान् कल्पसिद्ध्युक्तान् योजयेद् गुल्मनाशनान् ।

अथवा कल्पसिद्धि में कहे हुए गुल्मनाशक निरूहों का प्रयोग करे।

गुल्मनाशक क्षार—

कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमित गुरुम् ॥ १०० ॥
गूढमांसं जयेद् गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्मभिः ।
एकान्तरं द्व्यन्तरं वा विश्रमय्याथ वा त्र्यहम् ॥१०१॥
शरीरदोषबलयोर्वर्धनक्षपणोद्यतः ।
अर्शोऽश्मरीग्रहण्युक्ताः क्षारा योज्याः कफोल्बणे ॥

जिस गुल्म ने जड़ पकड़ ली हो; जो बहुत अधिक स्थान में फैला, कठिन, स्तिमित (स्थिर), भारी तथा मांस में छिपा हो; उस गुल्म की चिकित्सा क्षार, अरिष्ट या अग्निकर्मसे करे। एक दिन, दो दिन या तीन दिन का अन्तर बीच में रखकर शरीर एवं दोष के बल के अनुरोध से बढ़ाते और घटाते हुऐ चिकित्सा करे।

कफप्रधान गुल्म में अर्श और अश्मरी एवं ग्रहणी में कहे क्षार बरते ॥ १००-१०२ ॥

क्षार-अगद—

देवदारुत्रिवृद्दन्तीकटुकापञ्चकोलकम् ।
स्वर्जिकायावशूकाख्यौ श्रेष्ठापाठोपकुञ्चिकाः ॥१०३॥
कुष्ठं सर्पसुगन्धां च द्व्यक्षांशं पटुपञ्चकम् ।
पालिकं चूर्णितं तैलवसादधिघृताप्लुतम् ॥१०४॥
घटस्यान्तः पचेत्पक्वमग्निवर्णे घटे च तम् ।
क्षारं गृहीत्वा क्षीराज्यतक्रमद्यादिभिः पिबेत् ॥१०५॥
गुल्मोदावर्तवर्ध्मार्शोजठरग्रहणीकृमीन् ।
अपस्मारगरोन्मादयोनिशुक्रामयाश्मरीः ॥१०६॥
क्षारागदोऽयं शमयेद्विषं चाखुभुजङ्गजम् ।
श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं रसक्षीरघृताशिनः ॥१०७॥
छित्त्वा भित्त्वाऽऽशयात् क्षारः क्षारत्वात्क्षारयत्यधः ।

देवदारु, निशोथ, जमालगोटा, कुटकी, पञ्चकोल के द्रव्य, सर्जक्षार, यवक्षार, त्रिफला, पाठा, अजवायन, कूठ, सर्पसुगन्धा (नाकुली अथवा सर्पगन्धा), प्रत्येक दो कर्ष, पाँचों नमक एक पल लेकर चूर्ण कर ले। इस चूर्ण को तैल, वसा, दही और घी में खूब अच्छी तरह मिलाकर घड़े के अन्दर रखकर अन्तर्धूम विधि से पकाये। जब घड़ा लालवर्ण हो जाये तब इस घड़े में से क्षार को निकाल कर दोषानुसार दूध, घी, तक्र, मद्यादि के साथ पिये। गुल्म, उदावर्त्त, वर्ध्म, अर्श, उदर, ग्रहणी, कृमि, अपस्मार, गर, उन्माद, योनिरोग, शुक्ररोग, अश्मरी, आखुविष और सर्पविष को यह क्षार-अगद शीघ्र नष्ट करता है एवं मांसरस, क्षार, दूध और घी खाने वाले पुरुष के मधुर एवं स्निग्ध कफ को छेदन और भेदन करके आशय से नीचे गिराता है क्योंकि क्षार क्षरण करता है।

गुल्मनाशक आसवादि—

मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्यैर्मद्यैः सस्नेहमश्नताम् ॥१०८॥
योजयेदासवारिष्टान्निगदान् मार्गशुद्धये ।

अग्नि मन्द होने पर, अरुचि होने से, सात्म्य मद्यों के साथ स्नेह को खाने वाले पुरुष को मार्गशोधन के लिये पुरातन आसव या अरिष्ट देवे ॥ १०८ ॥

कफ गुल्म में पथ्य—

शालयः षष्टिका जीर्णाः कुलत्था जाङ्गलं पलम् ॥१०९॥
चिरबिल्वाग्नितर्कारीयवानीवरुणाङ्कुराः ।
शिग्रुस्तरुणबिल्वानि बालं शुष्कं च मूलकम् ॥११०॥
बीजपूरकहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारदाडिमम् ।
व्योषं तक्रं घृतं तैलं भक्तं, पानं तु वारुणी ॥१११॥
धान्याम्लं मस्तु तक्रं च यवानीबिडचूर्णितम् ।
पञ्चमूलशृतं वारि जीर्णं मार्द्वीकमेव वा ॥११२॥

अन्नपान—पुराने शालि, सांठी चावल, कुलथी, जांगल मांस, करंज, चित्रक, श्योनाक, अजवायन, वरणा के अङ्कुर (कोमल कोपल या अङ्कुर), सहजन, कच्चे बिल्व, कच्ची और सूखी मूली, बिजौरा, हींग, अम्लवेतस, यवक्षार, अनारदाना, त्रिकटु, तक्र, तैल, घी, ये तो खाने को देवे। पीने के लिये-वारुणी, कांजी, मस्तु और अजवायन तथा बिड चूर्ण से मिला तक्र, बृहत्पञ्चमूल से सिद्ध किया जल अथवा पुरातन मार्द्वीक मद्य ही देवे ॥ १०९-११२ ॥

गुल्मनाशक अन्य प्रयोग—

पिप्पलीपिप्पलीमूलचित्रकाजाजिसैन्धवैः ।
सुरा गुल्मं जयत्याशु जगलश्च विमिश्रितः ॥ ११३ ॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, जीरा और सैन्धव को सुरा में जगल में मिलाकर देवे। यह शीघ्र गुल्म को नष्ट करता है। (जगल मद्य का एक भाग है) ॥ ११३ ॥

कफज गुल्म में दाहविधि—

वमनैर्लङ्घनैः स्वेदैः सर्पिष्पानैर्विरेचनैः ।
वस्तिक्षारासवारिष्टगुलिकापथ्यभोजनैः ॥११४॥
श्लैष्मिको बद्धमूलत्वाद्यदि गुल्मो न शाम्यति ।
तस्य दाहं हृते रक्ते कुर्यादन्ते शरादिभिः ॥११५॥
अथ गुल्मं सपर्यन्तं वाससाऽन्तरितं भिषक् ।
नाभिबस्त्यन्त्रहृदयं रोमराजीं च वर्जयन् ॥११६॥
नातिगाधं परिमृशेच्छरेण ज्वलताऽथवा ।
लोहेनारणिकोत्थेन दारुणा तैन्दुकेन वा ॥११७॥
ततोऽग्निवेगे शमिते शीतैर्व्रण इव क्रिया ।

वमन, लङ्घन, स्वेदन, घृतपान, विरेचन, वस्ति, क्षार, आसव, अरिष्ट, गुटिका, पथ्य-भोजन, इन सब उपायों के करने पर भी यदि स्थिरमूल होने से कफगुल्म शान्त नहीं हो तो रक्त निकालकर पीछे से इसमें शर आदि से दाह करे।

दाहकर्म के लिये गुल्म को चारों ओर से कपड़े द्वारा घेर कर वैद्य नाभि, वस्ति, अन्त्र, हृदय और रोमराजी (उदर-मध्य रेखा) को बचाते हुए, जलते हुए शर (सरपत) या बाण या लोहे की शलाका से बहुत गहरा नहीं (उथले रूप में) स्पर्श करे। अथवा अरणि या तिन्दुक की लकड़ी से दाहकर्म करे। फिर अग्निवेग के शान्त हो जाने पर शीतल प्रदेहादि से व्रण की भाँति चिकित्सा करे ॥ ११४-११७ ॥

गुल्म के साथ आम का सम्बन्ध होने पर—

आमान्वये तु पेयाद्यैः सन्धुक्ष्याग्निं विलङ्घिते ॥११८॥
स्वं स्वं कुर्यात्क्रमं मिश्रं मिश्रदोषे च कालवित् ।

आम का सम्बन्ध होने पर लंघन कराके पेया आदि से अग्नि को प्रदीप्त करके, दोषानुसार चिकित्सा करे। समय आदि को जानने वाला वैद्य मिश्र दोष में मिश्रित चिकित्सा करे।

रक्तज गुल्म में चिकित्सा—

गतप्रसवकालायै नार्यै गुल्मेऽस्रसम्भवे ॥ ११९ ॥
स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात्स्नेहविरेचनम् ।

रक्तयुक्त होने पर प्रसवकाल (दस मास) बीत जाने पर स्नेहन और स्वेदन कराकर स्नेह विरेचन देवे॥ ११९ ॥

तिल का काढ़ा—

तिलक्वाथो घृतगुडव्योषभार्गीरजोऽन्वितः ॥१२० ॥
पानं रक्तभवे गुल्मे नष्टे पुष्पे च योषितः ।
भार्गीकृष्णाकरञ्जत्वग्ग्रन्थिकामरदारुजम् ॥१२१॥
चूर्णं तिलानां क्वाथेन पीतं गुल्मरुजाऽपहम् ।

घी, गुड़, त्रिकटु, भार्गी इनके चूर्ण के साथ पिया तिल (डण्ठलों का) क्वाथ रक्तजन्य गुल्म में तथा रज के न आने में उत्तम है। (दृष्टफलप्रद योग है)।

भार्गी, पिप्पली, करञ्ज की छाल, पिप्पलीमूल, देवदारु, इनका चूर्ण तिलों के क्वाथ से पीने पर गुल्म (रक्तगुल्म) की पीड़ा नष्ट हो जाती है ॥ १२०-१२१ ॥

अन्य प्रयोग—

पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः ॥१२२॥
गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत् ।

पलाशक्षार दो आढक, तैल और घी दो आढक इसमें स्नेह से चौगुना पानी मिलाकर स्नेह सिद्ध करे। इसकी योग्य मात्रा गुल्म को ढीला करने के लिए पिये॥ १२२ ॥

योनिविरेचन-विधि—

न प्रभिद्येत यद्येवं दद्याद्योनिविरेचनम् ॥१२३॥
क्षारेण युक्तं पललं सुधाक्षीरेण वा ततः ।
ताभ्यां वा भावितान् दद्याद्योनौ कटुकमत्स्यकान् ॥
वराहमत्स्यपित्ताभ्यां नक्तकान् वा सुभावितान् ।
किण्वं वा सगुडक्षारं दद्याद्योनौ विशुद्धये ॥१२५॥
रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा ।
लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्यै प्रयोजयेत् ॥१२६॥
बस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम् ।

यदि इस प्रकार (विरेचन और क्वाथ) से भी रक्तगुल्म विदीर्ण न हो तो योनिविरेचन औषधियाँ वरते। यथा तिल के चूर्णों को भून कर अथवा मांस के टुकड़ों को क्षार में मिला कर अथवा सुधा (थूहर) के दूध के साथ मिला कर मांस अथवा क्षार और थूहर के दूध से भावित कटुक मछलियों को योनि में रक्खे (पीस कर रखते हैं)। अथवा कपड़ों को सूअर और मछली के पित्त से अच्छी प्रकार भावित करके या किण्व को गुड़ और क्षार के साथ योनि में शुद्धि के लिये रक्खे। रक्तपित्तनाशक क्षार को मधु और घी से चाटे। लहसुन, तीक्ष्ण मद्य और मछलियाँ इसे खाने को देवे। यवक्षार, दूध, गोमूत्र इनके साथ दाशमूलिक (दशमूल से बनी) वस्ति देवे ॥ १२३-१२६ ॥

रक्तस्राव न होने पर कर्तव्य—

अवर्तमाने रुधिरे हितं गुल्मप्रभेदनम् ॥ १२७ ॥

रक्त के प्रवृत्त न होने पर गुल्म को (शस्त्र से) विदीर्ण करना चाहिए ॥ १२७ ॥

प्रवृत्त रक्त में कर्तव्य—

यमकाभ्यक्तदेहायाः प्रवृत्ते समुपेक्षणम् ।
रसौदनस्तथाऽऽहारः पानं च तरुणी सुरा ॥ १८२ ॥

रक्त के प्रवृत्त होने पर तैल और घृत से अभ्यङ्ग देकर (रक्तस्राव की) उपेक्षा करना चाहिए। भोजन में मांसरस और चावल देवे। पीने के लिए नूतन सुरा देवे ॥ १२८ ॥

अतिप्रवृत्त रक्त में कर्तव्य—

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहराः क्रियाः ।

---

१. प्रसवकाल बीत जाने पर गुल्म की चिकित्सा के दो कारण हैं—(१) गुल्म में भी गर्भ के समान ही लक्षण होने से प्रसवकाल बीत जाने पर तथा तब तक गर्भ के भिन्न अङ्ग स्पन्दनादि लक्षणों को स्पष्ट हो जाना चाहिये, उनके न होने से गर्भ की आशङ्का नहीं रहती। (२) व्याधिस्वभावात् रक्तगुल्म पुराना होने पर ही सुखसाध्य होता है। 'रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्।'

कार्या वातरुगार्तायाः स्त्र्यां वातहराः पुनः ॥ १२९ ॥
आनाहादावुदावर्तबलासघ्न्यो यथायथम् ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने गुल्मचिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

* * *

रक्त के अतिप्रवृत्त होने पर रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करे। वातपीड़ा से पीड़ित स्त्री वातनाशक सम्पूर्ण चिकित्सा करे। आनाह आदि होने पर उदावर्त्त और कफनाशक चिकित्सा अपने दोषों के अनुसार करे ॥ १२०-१२१ ॥

वक्तव्य--तन्त्रान्तरोक्त प्रसिद्ध योग--कांकायन गुटिका, नाराचघृत, पञ्चपलघृत, क्षीरषट्पलघृत, गुल्मकालानल रस, पञ्चानन रस, दन्ती हरीतकी।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सित स्थान का गुल्मचिकित्सित नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

* * *

पञ्चदशोऽध्यायः

अथात उदरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे उदरचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उदररोग के विरेचन—

दोषातिमात्रोपचयात्स्रोतोमार्गनिरोधनात् ।
सम्भवत्युदरं तस्मान्नित्यमेनं विरेचयेत् ॥ १ ॥

दोष की अतिमात्रा में वृद्धि होने से स्रोतों के मार्ग (मुखरूपी छिद्रों) के रुकने से उदर रोग होता है। इसलिये उदर रोगी को बार बार विरेचन देना चाहिये ॥ १ ॥

स्निग्ध विरेचन—

पाययेत्तैलमैरण्डं समूत्रं सपयोऽपि वा ।
मासं द्वौ वाऽथवा गव्यं मूत्रं माहिषमेव वा ॥ २ ॥
पिबेद्गोक्षीरभुक् स्याद्वा करभीक्षीरवर्तन ।
दाहानाहातितृण्मूर्च्छापरीतस्तु विशेषतः ॥ ३ ॥
रूक्षाणां बहुवातानां दोषसंशुद्धिकाङ्क्षिणाम् ।
स्नेहनीयानि सर्पींषि जठरघ्नानि योजयेत् ॥ ४ ॥

एरण्डतैल को गोमूत्र या दूध के साथ एक मास तक अथवा दो मास तक पिलाये। अथवा (दोष आदि के अनुसार) गाय का मूत्र या भैंस का मूत्र ही पिलाये। केवल गाय का ही दूध पिये या एकमात्र ऊंटनी का दूध पिये। खास कर दाह, आनाह, अतिप्यास और मूर्च्छा होने पर दूध ही पिये ॥ २-४ ॥

रूक्ष एवं बहुत वात वाले तथा दोष के शोधन की चाह वालों में उदरनाशक एवं स्नेहन करने वाले घृत देवे।

उदररोगनाशक नाना घृत--

षट्पलं दशमूलाम्बुमस्तुद्व्याढकसाधितम् ।
नागरत्रिपलं प्रस्थं घृततैलात्तथाऽऽढकम् ॥ ५ ॥
मस्तुनः साधयित्वैतत्पिबेत्सर्वोदरापहम् ।
कफमारुतसम्भूते गुल्मे च परमं हितम् ॥ ६ ॥
चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात्पले ।
कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत् ॥ ७ ॥
यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलस्य चाम्भसा ।
सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वा पाययेद् घृतम् ॥८॥

दशमूल क्वाथ और मस्तु दो आढक से सिद्ध षट्पल घृत (चि० अ० ५।२२) का प्रयोग करे। सोंठ तीन पल, घी और तैल एक प्रस्थ, मस्तु एक आढक लेकर इनसे स्नेह सिद्ध कर पिये। यह सब उदरों को नष्ट करता है। कफ और वायु से उत्पन्न गुल्म में अतिशय हितकारी है।

घी एक प्रस्थ, जल चार प्रस्थ, गोमूत्र दो प्रस्थ लेकर इसमें चित्रक का कल्क दो पल मिला कर घृत सिद्ध करे। इस घृत में यवक्षार मिलाकर उदररोगी पिये।

जौ, बेर, कुलथी और बृहत्पंचमूल के क्वाथ में सुरा और काँजी मिला कर घृत सिद्ध करके पिलाये ॥ ५-८ ॥

घृतपान के पश्चात् विरेचन—

एभिः स्निग्धाय सञ्जाते बले शान्ते च मारुते ।
स्रस्ते दोषाशये दद्यात्कल्पदृष्टं विरेचनम् ॥ ९ ॥

इन स्नेहों से स्निग्ध पुरुष को बल आ जाने और वायु के शान्त हो जाने पर, दोष के स्थान के शिथिल हो जाने पर कल्पस्थान में कहा विरेचन देवे ॥ ९ ॥

उदररोगनाशक चूर्ण—

पटोलमूलं त्रिफलां निशां वेल्लं च कार्षिकम् ।
कम्पिल्लनीलिनीकुम्भभागान् द्वित्रिचतुर्गुणान् ॥१०॥
पिबेत्सञ्चूर्ण्य मूत्रेण पेयापूर्वं ततो रसैः ।
विरिक्तो जाङ्गलैरद्यात्ततः षड्दिवसं पयः ॥११॥
शृतं पिबेद्व्योषयुतं पीतमेवं पुनः पुनः ।
हन्ति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं जातोदकान्यपि ॥१२॥

पटोलमूल, त्रिफला, हल्दी वायविडंग प्रत्येक एक कर्ष, कमीला, नीलिनी, दन्तीमूल क्रमशः दो, तीन और चार भाग (कर्ष) लेकर इनका चूर्ण करे। इस चूर्ण को गोमूत्र से पिये। विरेचन होने के उपरान्त पहले पेया पिये फिर जांगल मांसरस के साथ चावल खाये। फिर पकाये हुए दूध को त्रिकटु के साथ छः दिन तक पिये। इस प्रकार बार-बार यह विधि दुहराने और दूध पीने से यह चूर्ण सब उदरों को जल आ जाने पर भी नष्ट कर देता है ॥ १०-१२ ॥

गवाक्ष्यादि चूर्ण—

गवाक्षीं शङ्खिनीं दन्तीं तिल्वकस्य त्वचं वचाम् ।

पिबेत्कर्कन्धुमृद्वीकाकोलाम्भोमूत्रसीधुभिः ॥ १३ ॥

इन्द्रायण, शंखिनी, दन्ती, तिल्वक की छाल, वच इनके चूर्ण को झाड़ी के बेर, द्राक्षा और बेर इनके क्वाथ से या मूत्र अथवा सोधु से पिये ॥ १३ ॥

नारायण चूर्ण—

यवानी हपुषा धान्यं शतपुष्पोपकुञ्चिका ।
कारवी पिप्पलीमूलमजगन्धा शटी वचा ॥ १४ ॥
चित्रकोऽजाजिकं व्योषं स्वर्णक्षीरी फलत्रयम् ।
द्वौ क्षारौ पौष्करं मूलं कुष्ठं लवणपञ्चकम् ॥ १५ ॥
विडङ्गं च समांशानि दन्त्या भागत्रयं तथा ।
त्रिवृद्विशाले द्विगुणे सातला च चतुर्गुणा ॥ १६ ॥
एष नारायणो नाम चूर्णो रोगगणापहः ।
नैनं प्राप्याभिवर्धन्ते रोगा विष्णुमिवासुराः ॥ १७ ॥
तक्रेणोदरिभिः पेयो गुल्मिभिर्बदराम्बुना ।
आनाहवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया ॥ १८ ॥
दधिमण्डेन विट्सङ्गे दाडिमाम्भोभिरर्शसैः ।
परिकर्ते सवृक्षाम्लैरुष्णाम्बुभिरजीर्णके ॥ १९ ॥
भगन्दरे पाण्डुरोगे कासे श्वासे गलग्रहे ।
हृद्रोगे ग्रहणीदोषे कुष्ठे मन्देऽनले ज्वरे ॥ २० ॥
दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे ।
यथार्हं स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद्विरेचनम् ॥ २१ ॥

अजवायन, हपुषा, धनिया, सौंफ, काला जीरा, कारवी (काली जीरी), पिप्पलीमूल, अजगन्धा, कचूर, वच, चित्रक, जीरा, त्रिकटु, स्वर्णक्षीरी, त्रिफला, यवक्षार, सर्जक्षार, पुष्करमूल, कूठ, पाँचों नमक और विडंग ये प्रत्येक समान भाग, दन्ती तीन भाग, निशोथ और इन्द्रायण दो-दो भाग, सातला (शिकाकाई) चार भाग लेकर चूर्ण करे। यह नारायण नाम का चूर्ण रोग-समूह को नष्ट करता है। जिस प्रकार विष्णु के सामने असुर नहीं बढ़ सकते, वैसे ही इसके सामने रोग नहीं बढ़ने पाते। उदर रोगी इस चूर्ण को तक्र से, गुल्म रोगी बेर के क्वाथ से तथा आनाह वायु में सुरा से, वातरोग में प्रसन्ना से, मलावरोध में दधिमण्ड से, अर्श में अनार के रस (या छाल के क्वाथ) से, परिकर्त्तिका में वृक्षाम्ल से तथा अजीर्ण में गरम पानी से पीना चाहिये। कोष्ठ को स्निग्ध करके यथायोग्य अनुपान से भगन्दर, पाण्डु रोग, कास, श्वास, गलग्रह, हृदय रोग, ग्रहणी रोग, कुष्ठ, मन्दाग्नि, ज्वर, दंष्ट्राविष, मूल विष (स्थावर विष), गरविष और कृत्रिम विष में इस चूर्ण से विरेचन देना चाहिये ॥ १४-२१ ॥

हपुषादि चूर्ण—

हपुषां काञ्चनक्षीरीं त्रिफलां नीलिनीफलम् ।
त्रायन्तीं रोहिणीं तिक्तां सातलां त्रिवृतां वचाम् ॥
सैन्धवं काललवणं पिप्पलीं चेति चूर्णयेत् ।
दाडिमत्रिफलामांसरसमूत्रसुखोदकैः ॥ २३ ॥
पेयोऽयं सर्वगुल्मेषु प्लीह्नि सर्वोदरेषु च ।
श्वित्रे कुष्ठेऽवजरके सदने विषमेऽनले ॥ २४ ॥
शोफार्शःपाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ।
वातपित्तकफांश्चाशु विरेकेण प्रसाधयेत् ॥ ५ ॥

हपुषा (हाऊबेर), स्वर्णक्षीरी, त्रिफला, नीलिनीफल, त्रायमाणा, कुटकी, सातला, निशोथ, वच, सैन्धव, काल लवण (बिड नमक) और पिप्पली का चूर्ण करे। इस चूर्ण को अनार का रस, त्रिफला क्वाथ, मांसरस, गोमूत्र तथा गरम पानी से पीना चाहिये। सब प्रकार के गुल्म, प्लीहा, सब उदर रोग, श्वित्र, कुष्ठ, विषम अग्नि, शोफ, अर्श, पाण्डु रोग, कामला, हलीमक इन सब रोगों में विरेचन द्वारा यह चूर्ण वात-पित्त कफ को शीघ्र निर्गत कर देता है ॥ २२-२५ ॥

नीलिन्यादि चूर्ण—

नीलिनीं निचुलं व्योषं क्षारौ लवणपञ्चकम् ।
चित्रकं च पिबेच्चूर्णं सर्पिषोदरगुल्मनुत् ॥ २६ ॥

नीलिनी, जलवेतस, त्रिकटु, यवक्षार, सर्जक्षार, पाँचों नमक और चित्रक के चूर्ण घी के साथ पिये। यह उदर और गुल्म का नाशक है ॥ २६ ॥

उदररोगनाशक दुग्ध—

पूर्ववच्च पिबेद् दुग्धं क्षामः शुद्धोऽन्तराऽन्तरा ।
कारभं गव्यमाजं वा, दद्यादात्ययिके गदे ॥ २७ ॥
स्नेहानेव विरेकार्थे दुर्बलेभ्यो विशेषतः ।

पूर्व की भाँति (पटोलमूल आदि श्लोक १० में जैसे कहा है, वैसे) शुद्ध होकर, क्षुधा होने पर बीच-बीच में ऊंटनी, गाय या बकरी का दूध पिये।

आत्ययिक रोग में विरेचन के लिये स्नेहों को ही देवे, दुर्बल को तो विशेष कर स्नेह ही देवे [चूर्ण न देवे] ॥२७॥

उदररोगनाशक घृत—

हरीतकीसूक्ष्मरजः प्रस्थयुक्तं घृताढकम् ॥ २८ ॥
अग्नौ विलाप्य मथितं खजेन यवपल्लके ।
निधापयेत्ततो मासादुद्धृतं गालितं पचेत् ॥ २९ ॥
हरीतकीनां क्वाथेन दध्ना चाम्लेन संयुतम् ।
उदरं गरमष्ठीलामानाहं गुल्मविद्रधी ॥ ३० ॥
हन्त्येतत्कुष्ठमुन्मादमपस्मारं च पानतः ।

हरड़ का सूक्ष्म चूर्ण एक प्रस्थ लेकर एक आढक घी में अग्नि पर भली प्रकार मन्थन-दण्ड से मथ (भून) कर जौ के ढेर में रख देवे। इसको एक मास के पीछे निकालकर छानकर हरड़ के क्वाथ में और खट्टे दही के साथ पकाये। यह घृत उदर, गर, अष्ठीला, आनाह, गुल्म, विद्रधि, कुष्ठ, उन्माद और अपस्मार को पीने से नष्ट करता है ॥ २८-३० ॥

स्नुही घृत—

स्नुक्क्षीरयुक्ताद्गोक्षीराच्छृतशीतात् खजाहतात् ॥३१॥
यज्जातमाज्यं स्नुक्क्षीरसिद्धं तच्च तथागुणम् ।

गाय के दूध में थूहर का दूध मिलाकर गरम करे। जब शीतल हो जाये तब मथानी से मथे, इससे जो घी निकले वह थूहर से सिद्ध दूध का निकला घी है (अथवा इसे थूहर के दूध से पुनः सिद्ध करे)। यह भी पूर्व के समान गुणकारी है

अन्य घृत—

क्षीरद्रोणं सुधाक्षीरप्रस्थार्धसद्धितं दधि ॥ ३२ ॥
जातं मथित्वा तत्सर्पिस्त्रिवृत्सिद्धं च तद्‌गुणम् ।
तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत् ॥ ३३ ॥
स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृता षट्पलेन च ।

दूध एक द्रोण, थूहर का दूध आधा प्रस्थ मिलाकर दही जमाये। इस दही को मथकर निकाला घी भी पूर्व के समान गुणकारी है। त्रिवृत् के साथ सिद्ध किया घी भी पूर्व की भांति गुणशाली है। (चरक में 'माहिष दधि' लिखा है।)

घी एक प्रस्थ, दूध आठ प्रस्थ, थूहर का दूध एक पल, निशोथ छः पल, इनसे सिद्ध किया घृत पिये। यह भी पूर्व की भांति गुणकारी है ॥ ३२-३३ ॥

घृतपान के पश्चात् पेया—

एषां चानु पिबेत्पेयां रसं स्वादु पयोऽथवा । ३४।

इन घृतों के पीछे पेया, मांसरस या मधुर दूध पिये।

घृत के परिपक्क होने पर कर्तव्य—

घृते जीर्णे विरिक्तश्च कोष्णं नागरसाधितम् ।
पिबेदम्बु ततः पेयां ततो यूषं कुलत्थजम् ॥३५॥

घी के पचने पर और विरेचन हो जाने पर सोंठ से सिद्ध गरम जल पिये। इसके पीछे पेया पिये। फिर कुलथी का यूष पिये ॥ ३५ ॥

पेया तथा घृत का पुनः प्रयोग—

पबेद्रूक्षस्त्र्यहं त्वेवं भूयो वा प्रतिभोजितः ।
पुनः पुनः पिबेत्सर्पिरानुपूर्व्याऽनयैव च ॥ ३६ ॥

इस प्रकार से तीन दिन रूक्ष रहकर (उपवास कर) या अल्प भोजन कर फिर उसी क्रम से घी पिये, इस तरह बार-बार करे ॥ ३६ ॥

घृतप्रयोग विधान—

घृतान्येतानि सिद्धानि विदध्यात्कुशलो भिषक् ।
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये ॥३७॥

इन सिद्ध घृतों को चतुर वैद्य गुल्म, उदर तथा गरदोष की शान्ति के लिये प्रयुक्त करे ॥ ३७ ॥

आनाह पर घृत—

पीलुकल्कोपसिद्धं वा घृतमानाहभेदनम् ।
तैल्वकं नीलिनीसर्पिः स्नेहं वा मिश्रकं पिबेत् ॥३८॥

पीलु के कल्क से सिद्ध घृत आनाह को दूर करता है अथवा तैल्वक घृत (अ चि. २१।३२), नीलिनी घृत (अ. चि. १४।५५) मिश्रक घृत (अ. चि. ४५।८९) स्नेह को पिये।

पथ्य—

हृतदोषः क्रमादश्नन् लघुशाल्योदनप्रति ।

दोष निकल जाने पर क्रमशः लघुगुण युक्त शालि भात को थोड़ा खाये।

उदर रोग में हरीतकी—

उपयुञ्जीत जठरी दोषशेषनिवृत्तये ॥ ३९ ॥
हरीतकीसहस्रं वा गोमूत्रेण पयोऽनुपः ।
सहस्रं पिप्पलीनां वा स्नुक्क्षीरेण सुभावितम् ॥४०॥
पिप्पलीवर्धमानं वा क्षीराशी वा शिलाजतु ।
तद्वद्वा गुग्गुलुं क्षीरं तुल्यार्द्रकरसं तथा ॥ ४१ ॥

उदर रोगी शेष दोष की निवृत्ति के लिये एक हजार हरड़ों को बार-बार (कई बार) गोमूत्र से भावित करके, दूध के अनुपान से खाये। अथवा हजार पिप्पलियों को थूहर के दूध से भावित करके खाये। अथवा रसायन विधि से वर्धमान पिप्पली को खाये। दूध का ही भोजन करते हुए शिलाजतु को खाये। इसी तरह दुग्धभोजी होकर गुग्गुलु को खाये। आर्द्रक के रस में बराबर मात्रा में दूध मिलाकर पिये।

अन्य प्रयोग—

चित्रकामरदारुभ्यां कल्कं क्षीरेण वा पिबेत् ।
मासं युक्तस्तथा हस्तिपिप्पलीविश्वभेषजम् ४२ ॥

चित्रक और देवदारु के कल्क को दूध के साथ एक मास तक पिये। इसी प्रकार गजपिप्पली और सोंठ के कल्क को दूध के साथ एक मास तक पिये ॥ ४२ ॥

प्रवृद्ध उदरचिकित्सा—

विडङ्गं चित्रको दन्ती चव्यं व्योषं च तैः पयः ।
कल्कैः कोलसमैः पीत्वा प्रवृद्धमुदरं जयेत् ॥४३॥

विडङ्ग, चित्रक, दन्ती (जमालगोटा), चव्य, त्रिकटु, इनके कल्क को कोल प्रमाण (कर्ष प्रमाण) मात्रा में दूध में घोलकर पीने से बढ़ा हुआ उदर भी नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

उदररोगी का भोजन—

भोज्यं भुञ्जीत वा मासं स्नुहीक्षीरघृतान्वितम् ।
उत्कारिकां वा स्नुक्क्षीरपीतपथ्याकणाकृताम् ॥४४॥

स्नुहीक्षीर-घृत से युक्त भोजन को एक मास तक खाये। अथवा स्नुही के दूध से भावित हरड़ और पिप्पली से उत्कारिका बनाकर खाये। (उत्कारिका-रोटी ॥ ४४ ॥

वक्तव्य-थूहर के दूध से सिद्ध घृत=स्नुक्क्षीर घृत। स्नुक्क्षीरयुतं वा घृतं-स्नुक्क्षीरयुतं घृतम्।

पार्श्वशूलादिचिकित्सा—

पार्श्वशूलमुपस्तम्भं हृद्ग्रहं च समीरणः ।
यदि कुर्यात् ततस्तैलं बिल्वक्षारान्वितं पिबेत् ॥४५॥
पक्वं वा टिण्टुकबलापलाशतिलनालजैः ।
क्षारैः कदल्यपामार्गतर्कारीजैः पृथक्कृतैः ॥४६॥

वायु यदि पार्श्वशूल, उपस्तम्भ (अवरोध) और हृदयग्रह उत्पन्न करे, तब बिल्व वृक्ष के क्षार से मिश्रित तैल पिये। अथवा श्योनाक, बला, ढाक, तिलनाल और

केला, चिरचिटा और जयन्ती इनके अलग-अलग क्षारों के साथ तैल पियें। (बिल्वक्षाराम्भसा तैलं पाययेत्–संग्रहः)।

एरण्डतैल का प्रयोग—

कफे वातेन पित्ते वा ताभ्यां वाऽप्यावृतेऽनिले।
बलिनः स्वौषधयुतं तैलमेरण्डजं हितम् ॥ ४७ ॥

वायु से कफ के आवृत होने पर, वायु से पित्त के आवृत होने पर कफ-पित्त से वायु के आवृत होने पर बलवान् पुरुष को दोषों की अपनी-अपनी औषधों से युक्त एरण्डतैल पिलाये ॥ ४७ ॥

उदर पर प्रलेप

देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिग्रुकैः ।
साश्वकर्णैः सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं बहिः ॥ ४८ ॥

देवदारु, ढाक, आक, गजपिप्पली, सहजन, अश्वकर्ण (गर्जन) इनको गोमूत्र के साथ पीसकर उदर पर बाहर लेप करे ॥ ४८ ॥

परिषेक—

वृश्चिकालीवचाशुण्ठीपञ्चमूलपुनर्नवात् ।
वर्षाभूधान्यकुष्ठाच्च क्वाथैर्मूत्रैश्च सेचयेत् ॥ ४९ ॥

बिच्छूबूटी, वच, सोंठ, पंचमूल, श्वेतपुनर्नवा, लालपुनर्नवा, धनिया, कूठ इनके क्वाथों से और मूत्रों से उदर पर परिषेक करे (वृश्चिकाली बिच्छूबूटी या काकनासा) ॥ ४९ ॥

उदरवेष्टन—

विरिक्तम्लानमुदरं स्वेदितं साल्वणादिभिः ।
वाससा वेष्टयेदेनं वायुर्नाध्मापयेत्पुनः ॥ ५० ॥

विरेचन होने से घटे हुए उदर पर साल्वणादि स्वेदन द्रव्यों से स्वेद देकर उदर को कपड़े से लपेट देवे। जिससे वायु इनको फिर न फुला देवे ॥ ५० ॥

आध्मान में निरूहण—

सुविरिक्तस्य यस्य स्यादाध्मानं पुनरेव तम् ।
सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैः समुपाचरेत् ॥ ५१ ॥

भली प्रकार विरेचन होने पर भी जिस रोगी को पुनः आध्मान हो जाये, उसकी अतिस्निग्ध, अम्ल एवं लवण निरूहों से चिकित्सा करे ॥ ५१ ॥

आध्मान में वस्तिप्रयोग—

सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम् ।
तीक्ष्णाः सक्षारगोमूत्राः शस्यन्ते तस्य वस्तयः ॥५२॥

कफ आदि आधार कारणों के साथ वायु जिस पुरुष में आध्मान उत्पन्न करती हो, उसे तीक्ष्ण एवं यवक्षार और गोमूत्र मिश्रित वस्तियाँ देना उत्तम है। [सोपस्तम्भः–साव-रणः इति चक्रः, उपस्तम्भेन कफाद्याधारकेण सह इत्यरुणः]।

इति सामान्यतः प्रोक्ताः सिद्धा जठरिणां क्रियाः ।

इस प्रकार से उदर रोगियों के लिये सफल चिकित्साएं सामान्य रूप में कह दी हैं। (विशेष चिकित्सा आगे कहेंगे)

वातोदर-चिकित्सा—

वातोदरेऽथ बलिनं विदार्यादिशृतं घृतम् ॥ ५३ ॥
पाययेत ततः स्निग्धं स्वेदिताङ्गं विरेचयेत् ।
बहुशस्तैल्वकेनैनं सर्पिषा मिश्रकेण वा ॥ ५४ ॥

वातोदर में बलवान् पुरुष को विदार्यादिगण से सिद्ध दूध पिलाये इससे स्नेहन होने पर शरीर पर स्वेदन देकर रोगी को तैल्वक घृत या मिश्रक स्नेह से बार-बार विरेचन देवे ॥ ५३–५४ ॥

कृते संसर्जने क्षीरं बलार्थमवचारयेत् ।
प्रागुत्क्लेशान्निवर्त्यं च बले लब्धे क्रमात्पयः ॥ ५५ ॥

(विरेचन के उपरान्त) पेया आदि क्रम पूरा कर चुकने पर बल देने के लिए दूध देवे। दूध से उत्क्लेश होने (जी मिचलाने या ऊबने) से पहले ही, बल आ जाने पर दूध को क्रमशः बन्द कर देवे ॥ ५५ ॥

वातोदररोग में वस्तिप्रयोग—

यूषै रसैर्वा मन्दाम्ललवणैरेधितानलम् ।
सोदावर्तं पुनः स्निग्धस्विन्नमास्थापयेत्ततः ॥ ५६ ॥

इसके उपरान्त थोड़े अम्ल एवं लवण वाले यूषों से या मांसरसों से अग्नि को प्रदीप्त करने पर भी उदावर्त्त हो तो इस रोगी का पुनः स्नेहन और स्वेदन करके, तीक्ष्ण विरेचन द्रव्यों से मिली हुई दाशमूलिक वस्ति (कल्प. अ. ४।४) से निरूह देवे ॥ ५६ ॥

वातोदर में अनुवासन—

तिलोरुबूकतैलेन वातघ्नाम्लशृतेन च ॥ ५७ ॥
स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु ।
रूक्षं बद्धशकृद्वातं दीप्ताग्निमनुवासयेत् ॥ ५८ ॥
अविरेच्यस्य शमना वस्तिक्षीरघृतादयः ।

स्फुरण, आक्षेप, सन्धि-अस्थि-पार्श्व-पीठ तथा त्रिक की पीड़ा में तथा रूक्ष एवं वायु और मल का अवरोध होने पर, रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो तो तिल और एरण्ड तैलको वातघ्न द्रव्यों (देवदारु आदि) तथा अम्ल द्रव्यों से मिलाकर अनुवासन देवे। जो विरेचन के योग्य न हो (हृ. सू. अ. १८।१०) उनको दूध, घी आदि से शमन वस्तियां देवे ॥ ५७–५८ ॥

पित्तज उदररोगचिकित्सा—

बलिनं स्वादुसिद्धेन पैत्ते संस्नेह्य सर्पिषा ॥ ५९ ॥
श्यामात्रिभण्डीत्रिफलाविपक्वेन विरेचयेत् ।
सितामधुघृताढ्येन निरूहोऽस्य ततो हितः ॥ ६० ॥
न्यग्रोधादिकषायेण स्नेहवस्तिश्च तद्धृतः ।

पित्तोदर में बलवान् पुरुष को मधुर गण से सिद्ध घृत से स्नेहन करके निशोथ, काली निशोथ, त्रिफला इनसे सिद्ध किये तैल से विरेचन देवे। इसके पीछे इस रोगी को प्रचुर सिता, मधु एवं घी मिला निरूह देना हितकारी है। न्यग्रोधादि कषाय से बनाई स्नेहवस्ति इस रोगी को दे ॥५९–६०॥

दुर्बल रोगी को अनुवासनवस्ति—

दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत्क्षीरवस्तिभिः ॥ ६१ ॥
जाते चाग्निबले स्निग्धं भूयो भूयो विरेचयेत् ।
क्षीरेण सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकशृतेन वा ॥ ६२ ॥
सातलात्रायमाणाभ्यां शृतेनारग्वधेन वा ।
सकफे वा समूत्रेण सतिक्ताज्येन सानिले ॥ ६३ ॥
पयसाऽन्यतमेनैषां विदार्यादिशृतेन वा ।
भुञ्जीत जठरं चास्य पायसेनोपनाहयेत् ॥ ६४ ॥

दुर्बल मनुष्य को प्रथम अनुवासन देकर पीछे से क्षीर वस्तियों से शोधन करे ।

अग्निबल बढ़ जाने पर स्निग्ध रोगी को बार-बार विरेचन देवे। इसके लिए निशोथ के चूर्ण को दूध के साथ देवे। या एरण्डतैल से सिद्ध दूध देवे। सातला और त्रायमाणा से अथवा अमलतास से सिद्ध दूध देवे। पित्त के कफयुक्त होने पर गोमूत्र के साथ सिद्ध दूध से विरेचन देवे। वायु के साथ पित्तमिश्रित होने पर तिक्तक घृत के साथ दूध देवे। इनमें से किसी एक से या विदारी आदि गण से सिद्ध किये दूध से (शालि भात) खावे। इस रोगी के उदर पर दूध में पकाये चावल (खीर) बाँधे। (तिक्तद्रव्ययुतम् आज्यं तिक्ताज्यम्, कुष्ठोक्तं तिक्तघृतं वा) ॥ ६१-६४ ॥

दुग्ध तथा वस्ति का पुनः पुनः प्रयोग—

पुनः क्षीरं पुनर्वस्तिं पुनरेव विरेचनम् ।
क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन् यत्तः पित्तोदरं जयेत् ॥ ६५ ॥

फिर दूध, फिर वस्ति और फिर विरचन, इस क्रम से चिकित्सा करते हुए यत्नशील (उद्योगी) पुरुष पित्तोदर को शान्त कर लेता है ॥ ६५ ॥

कफोदरचिकित्सा—

वत्सकादिविपक्वेन कफे संस्नेह्य सर्पिषा ।
स्विन्नं स्नुक्क्षीरसिद्धेन बलवन्तं विरेचितम् ॥ ६६ ॥
संसर्जयेत्कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः ।

कफोदर में वत्सकादि गण से सिद्ध घृत से रोगी का स्नेहन और स्वेदन कर बलवान् रोगी को थूहर के दूध से विरेचन देने के बाद कटु, क्षार मिश्रित, कफनाशक अन्न से पेया आदि संसर्जन विधि करे ॥ ६६ ॥

मूत्रत्र्यूषणतैलाढ्यो निरूहोऽस्य ततो हितः ॥ ६७ ॥
मुष्ककादिकषायेण स्नेहवस्तिश्च तच्छृतः ।
भोजनं व्योषदुग्धेन कौलत्थेन रसेन वा ॥ ६८ ॥

प्रचुर मूत्र, तैल और त्रिकटु युक्त निरूह इसको देना चाहिये। मुष्ककादि गण के क्वाथ से सिद्ध की हुई स्नेह वस्ति इसके लिये उत्तम है। त्रिकटु डालकर पकाये हुये दूध से या कुलथी के यूष से भोजन देवे ॥ ६७-६८ ॥

कफोदर में अरिष्टसेवन—

स्तैमित्यारुचिहृल्लासे मन्देऽग्नौ मद्यपाय च ।
दद्यादरिष्टान् क्षारांश्च कफस्त्यानस्थिरोदरे ॥ ६९ ॥

रोगी को स्तिमितता, अरुचि, जी मिचलाना और अग्निमान्द्य होने पर और रोगी-मद्यपान करता हो तो इसको अरिष्ट एवं क्षार देवे। कफ के कारण उदर स्थिर एवं स्त्यान (जकड़ा) हो तब यह चिकित्सा करे ॥ ६९ ॥

उदररोग पर क्षार—

हिङ्गूपकुल्ये त्रिफलां देवदारुं निशाद्वयम् ।
भल्लातकं शिग्रुफलं कटुकां तिक्तकं वचाम् ॥ ७० ॥
शुण्ठीं माद्रीं घनं कुष्ठं सरलं पटुपञ्चकम् ।
दाहयेज्जर्जरीकृत्य दधिस्नेहचतुष्कवत् ॥ ७१ ॥
अन्तर्धूमं ततः क्षाराद्बिडालपदकं पिबेत् ।
मदिरादधिमण्डोष्णजलारिष्टसुरासवैः ॥ ७२ ॥
उदरं गुल्ममष्ठीलां तून्यौ शोफं विसूचिकाम् ।
प्लीहहृद्रोगगुदजानुदावर्तं च नाशयेत् ॥ ७३ ॥

हींग, काला जीरा, त्रिफला, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, भिलावा, सहजन फल, कुटकी, चिरायता, वच, सोंठ, पीपल, मुस्ता, कूठ, सरल, पाँचों नमक, इनको कूटकर दही, घी, तैल, वसा, मज्जा में मिलाकर अन्तर्धूम विधि से जलाये। इस से बने क्षार की एक कर्ष मात्रा को मदिरा, दधिमण्ड, उष्ण जल, अरिष्ट, सुरा, आसव से पिये। यह उदर, गुल्म, अष्ठीला, तूनी, प्रतितूनी, शोफ, विसूचिका, प्लीहा, हृदय रोग, अर्श और उदावर्त्त को नष्ट करता है ॥ ७०-७३ ॥

दुर्बल रोगी में अरिष्टपान आदि—

जयेदरिष्टगोमूत्रचूर्णायस्कृतिपानतः ।
सक्षारतैलपानैश्च दुर्बलस्य कफोदरम् ॥ ७४ ॥

निर्बल पुरुष के कफोदर को (शोधन न दे) अरिष्ट, गोमूत्र, चूर्ण, अयस्कृति, इनको पिलाकर क्षारयुक्त तैलपान से शान्त करे ॥ ७४ ॥

उपनाह—

उपनाह्यं ससिद्धार्थकिण्वैर्बीजैश्च मूलकात् ।
कल्कितैरुदरं स्वेदमभीक्ष्णं चात्र योजयेत् ॥ ७५ ॥

उदर पर सरसों, किण्वबीज और मूली के बीज के कल्क से उपनाह करे और बार बार स्वेद देवे ॥ ७५ ॥

सन्निपातोदरचिकित्सा—

सन्निपातोदरे कुर्यान्नातिक्षीणबलानले ।
दोषोद्रेकानुरोधेन प्रत्याख्याय क्रियामिमाम् ॥ ७६ ॥
दन्तीद्रवन्तीफलजं तैलं पाने च शस्यते ।

सन्निपातजन्य उदर में बल और अग्नि के अतिशय क्षीण न होने पर दोष की अधिकता के अनुसार असाध्य बताकर निम्न चिकित्सा करे।

दन्ती, द्रवन्ती के फल से निकले तैल को पीने के लिये देना उत्तम है ॥ ७६ ॥

क्रियातीत होने पर विषप्रयोग—

क्रियानिवृत्ते जठरे त्रिदोषे तु विशेषतः ॥ ७७ ॥

दद्यादापृच्छ्य तज्ज्ञातीन् पातुं मद्येन कल्कितम् ।
मूलं काकादनीगुञ्जाकरवीरकसम्भवम् ॥ ७८ ॥

क्रिया-चिकित्साक्रम का अतिक्रम हो जाने पर, विशेष कर त्रिदोषजन्य उदर में, रोगी के जाति-भाइयों को पूछ कर (उनकी आज्ञा लेकर) काकादनी (रक्तगुञ्जा), गुंजा, कनेर इनके मूलों को पीसकर मद्य के साथ पिलाये ॥७७-७८॥

पानभोजनसंयुक्तं दद्याद्वा स्थावरं विषम् ।
यस्मिन् वा कुपितः सर्पो विमुञ्चति फले विषम् ॥७९॥
तेनास्य दोषसङ्घातः स्थिरो लीनो विमार्गगः ।
बहिः प्रवर्तते भिन्नो विषेणाशु प्रमाथिनी ॥८०॥
तथा व्रजत्यगदतां शरीरान्तरमेव वा ।

अथवा पान और भोजन में स्थावर विष मिलाकर देवे । अथवा कुपित हुआ सर्प जिस फल में विष को छोड़ देवे, वह फल खाने को देवे । इस विष के कारण इसका स्थिर, छिपा और विमार्ग में पहुंचा हुआ दोषसमूह प्रमाथी गुणवाले विष से शीघ्र टुकड़े २ होकर बाहर प्रवृत्त हो जाता है । इससे या तो रोगी अच्छा हो जाता है या मर जाता है ॥ ७९-८० ॥

हृतदोष में कर्तव्य—

हृतदोषं तु शीताम्बुस्नातं तं पाययेत्पयः ॥८१॥
पेयां वा त्रिवृतः शाकं मण्डूकया वास्तुकस्य वा ।
कालशाकं यवाख्यं वा खादेत्स्वरससाधितम् ॥८२॥
निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक् ।
मासमेकं ततश्चैव तृषितः स्वरसं पिबेत् ॥८३॥

दोष निकल जाने पर रोगी को शीतल पानी से स्नान कराके दूध पिलाये । अथवा पेया देवे । निशोथ, मण्डूकपर्णी या बथुए का शाक, कालशाक, जौ का शाक, इनको अपने ही स्वरस से सिद्ध करके खाये । इन शाकों में खटाई और नमक न मिलायें । कुछ उबाल कर या बिना उबाले ही (कच्चे रूप में) खाये । इनको खाते समय कोई दूसरा अन्न न खाये । इस प्रकार एक मास तक करे । प्यास लगने पर इन शाकों का ही स्वरस पिये ॥ ८१-८३ ॥

ऊंटिनी के दुग्ध का पान—

एवं विनिर्हृते शाकैर्दोषे मासात् परं ततः ।
दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत्कारभं पयः ॥ ८४ ।

इस प्रकार शाकों से दोषों के निकल जाने पर एक मास के पीछे निर्बल व्यक्ति के लिये ऊंटिनी का दूध प्राणदायक होता है । (प्राणदायक = शक्तिदायक) ॥ ८४ ॥

प्लीहोदरचिकित्सा—

प्लीहोदरे यथादोषं स्निग्धस्य स्वेदितस्य च ।
सिरां भुक्तवतो दध्ना वामबाहौ विमोक्षयेत् ॥८५॥

प्लीहोदर में दोष के अनुसार रोगी को स्निग्ध करके और स्वेदन देकर दही के साथ भोजन देकर वाम भुजा में सिरा का मोक्षण करे ॥ ८५ ॥

क्षार—

लब्धे बले च भूयोऽपि स्नेहपीतं विशोधितम् ।
समुद्रशुक्तिजं क्षारं पयसा पाययेत्तथा ॥८६॥
अम्लसुतं बिडकणा-चूर्णाढ्यं नक्तमालजम् ।
सौभाञ्जनस्य वा क्वाथं सैन्धवाग्निकणान्वितम् ॥८७॥
हिङ्ग्वादिचूर्णं क्षाराज्यं युञ्जीत च यथाबलम् ।

बल आ जाने पर फिर से स्नेह पिलाकर शोधन देकर समुद्र की शुक्ति का क्षार (भस्म) दूध से पिलाये । तथा करञ्ज के क्षार में बिडनमक और पिप्पली का चूर्ण प्रचुर मात्रा में मिलाकर कांजी में घोलकर पिये । अथवा सहजन के क्वाथ में सैन्धव, चित्रक, पिप्पली मिलाकर पिये । हिंग्वादि चूर्ण, क्षार तथा घृत बल के अनुसार बरते ॥ ८६-८७ ॥

चूर्ण—

पिप्पलीनागरं दन्तीसमांशं द्विगुणाभयम् ॥ ८८ ॥
बिडार्धांशयुतं चूर्णमिदमुष्णाम्बुना पिबेत् ।

पिप्पली और सोंठ दो भाग, दन्ती दो भाग, हरड़ दो भाग, बिडलवण आधा भाग, इस चूर्ण को गरम पानीसे पिये ।

विडङ्गादि सेवन—

विडङ्गं चित्रकं सक्तून् सघृतान् सैन्धवं वचाम् ॥८९॥
दग्ध्वा कपाले पयसा गुल्मप्लीहापहं पिबेत् ।

विडङ्ग, चित्रक, सत्तू, घी, सैन्धव, वच इनको मिट्टी के ठीकरे में जलाकर दूध से पिये । यह गुल्म और प्लीहा-नाशक है ॥ ८९ ॥

तैलोन्मिश्रैर्बदरकपत्रैः सम्मर्दितैः समुपनद्धः ॥९०॥
मुसलेन पीडितोऽनु च याति प्लीहा पयोभुजो नाशम् ।

केवल दूध का भोजन करते हुए प्लीहोदरी की प्लीहा पर बेर के पत्तों को पीसकर तथा तेल मिलाकर उपनाह करने और बाद में मूशल से दबाने से प्लीहा नष्ट हो जाती है ॥ ९० ॥

वक्तव्य—एक बार करने से नष्ट नहीं होता । इसको धीरे-धीरे कई बार करना चाहिये, यह दबाव देने की एक विधि है ।

रोहीतकलताः कल्प्ताः खण्डशः साभया जले ॥९१॥
मूत्रे वाऽऽसुनुयात्तच्च सप्तरात्रस्थितं पिबेत् ।
कामलाप्लीहगुल्मार्शःकृमिमेहोदरापहम् ॥९२॥
रोहीतकत्वचः कृत्वा पलानां पञ्चविंशतिम् ।
कोलद्विप्रस्थसंयुक्तं कषायमुपकल्पयेत् ॥९३॥
पालिकैः पञ्चकोलैस्तु तैः समस्तैश्च तुल्यया ।
रोहीतकत्वचा पिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥९४॥
प्लीहाभिवृद्धिं शमयत्येतदाशु प्रयोजितम् ।

रोहड़े की टहनियों को काटकर टुकड़े-टुकड़े करके हरड़ के जल (क्वाथ) में या गोमूत्र में सन्धान क्रिया के लिये रख देवें । सात दिन के पीछे इस आसव को पिये । यह कामला, प्लीहा, गुल्म, अर्श, कृमि, प्रमेह और उदर रोग का नाशक है ।

रोहेड़े की छाल पच्चीस पल, बेर दो प्रस्थ मिलाकर कषाय तैयार करे। इसमें पंचकोल द्रव्य एक-एक पल और सम्पूर्ण पंचकोल के बराबर (पाँच पल) रोहेड़े की छाल का कल्क मिलाकर एक प्रस्थ घृत सिद्ध करे। इसके प्रयोग से प्लीहा की वृद्धि शीघ्र शान्त होती है ॥ ९१-९४ ॥

प्लीहानाशक तैल—

कदल्यास्तिलनालानां क्षारेण क्षुरकस्य च ॥ ९५ ॥
तैलं पक्वं जयेत्पानात्प्लीहानं कफवातजम् ।

केला, तिलनाल और तालमखाना का क्षार, इनसे सिद्ध किया तैल, कफ-वातजन्य प्लीहा को शान्त करता है ॥९५॥

अग्निकर्म—

अशान्तौ गुल्मविधिना योजयेदग्निकर्म च ॥ ९६ ॥
अप्राप्तपिच्छासलिले प्लीह्नि वातकफोल्बणे ।

इस चिकित्सा से प्लीहा शान्त न हो तो गुल्मविधि से अग्निकर्म करे। जब तक कि (उदर में) पिच्छा और पानी उत्पन्न न हुआ हो और वात-कफ की प्रधानता होने पर ही यह दाहकर्म करे ॥ ९६ ॥

पैत्तिक-प्लीहाचिकित्सा—

पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरबस्तयः ॥ ९७ ॥
रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते ।

पित्तप्रधान प्लीहा में जीवनीय गण से सिद्ध घृत, क्षीर-बस्तियाँ, रक्तमोक्षण, विरेचन और दुग्धपान उत्तम है ॥९७॥

यकृत् चिकित्सा—

यकृति प्लीहवत्कर्म दक्षिणे तु भुजे सिराम् ॥ ९८ ॥

यकृत् की वृद्धि में प्लीहा के समान चिकित्सा करे। इसमें दक्षिण भुजा में सिरामोक्षण करे ॥ ९८ ॥

बद्धोदरचिकित्सा—

स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रतीक्ष्णौषधान्वितम् ।
सतैललवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम् ॥ ९९ ॥
परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चास्मै विरेचनम् ।
उदावर्तहरं कर्म कार्यं यच्चानिलापहम् ॥ १०० ॥

बद्धोदर रोगी को स्वेदन देकर गोमूत्र एवं तीक्ष्ण औषधियों से बने, तैललवण से मिश्रित निरूह को देकर पीछे से अनुवासन देवे। अनुलोमकारक अन्न, तीक्ष्ण विरेचन तथा उदावर्तनाशक और वातनाशक जो भी चिकित्सा हो, वह इस रोगी के लिये करे ॥ ९९-१०० ॥

छिद्ररोगचिकित्सा—

छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत् ।
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं तद्यापयेद्भिषक् ॥ १०१ ॥

छिद्रोदर में स्वेदन को छोड़कर शेष चिकित्सा कफोदर की भांति करनी चाहिये। बार-बार उत्पन्न हुए जल को बार-बार निकालता रहे; इस प्रकार से वैद्य इस छिद्रोदर रोगी का जीवन चलाता जाये ॥ १०१ ॥

जलोदरचिकित्सा—

अपां दोषहराण्यादौ योजयेदुदकोदरे
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवन्ति च ॥१०२॥
दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत् ।

जलोदर में प्रथम गोमूत्र मिश्रित तीक्ष्ण नाना प्रकार के क्षारों से युक्त और जल के दोषों को दूर करने वाली औषध देवे। दीपन करने वाले तथा कफनाशक आहारों से इस रोगी की चिकित्सा करे ॥ १०२ ॥

अन्य चिकित्सा—

क्षारं छागकरीषाणां स्रुतं मूत्रेऽग्निना पचेत् ॥१०३॥
घनीभवति तस्मिंश्च कर्षांशं चूर्णितं क्षिपेत् ।
पिप्पली पिप्पलीमूलं शुण्ठी लवणपञ्चकम् ॥१०४॥
निकुम्भकुम्भत्रिफलास्वर्णक्षीरीविषाणिकाः ।
स्वर्जिकाक्षारषड्ग्रन्थासातलायवशूकजम् ॥१०५॥
कोलाभा गुटिकाः कृत्वा ततः सौवीरकाप्लुताः ।
पिबेज्जरके शोफे प्रवृद्धे चोदकोदरे ॥१०६॥

बकरी की मींगनियों के क्षार को गोमूत्र में घोलकर छान कर अग्नि से पकाये। जब यह गाढ़ा होने लगे तब इसमें पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ, पांचों नमक, दन्ती, द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड), त्रिफला, स्वर्णक्षीरी, मेढ़ासिंगी, सज्जिक्षार, वच, सातला, यवक्षार, इनमें प्रत्येक का एक २ कर्ष मिलाकर बेर के समान गोलियां बना ले। इन गोलियों को कांजी में घोल कर शोफ में और बढ़े हुए जलोदर में पिये ॥१०३-१०६॥

जलोदर में शस्त्र का प्रयोग—

इत्यौषधैरप्रशमे त्रिषु बद्धोदरादिषु ।
प्रयुञ्जीत भिषक् शस्त्रमार्तबन्धुनृपार्थितः ॥१०७॥

बद्धोदर, छिद्रोदर और उदकोदर—तीन उदरों के इन औषधियों से शान्त न होने पर वैद्य रोगी के सम्बन्धी और राजा की प्रार्थना पर या उनकी आज्ञा लेकर शस्त्रकर्म करे।

क्षत और बद्धोदर में शस्त्र-प्रयोग विधि—

स्निग्धस्विन्नतनोर्नाभेरधो बद्धक्षतान्त्रयोः ।
पाटयेदुदरं मुक्त्वा वामतश्चतुरङ्गुलात् ॥१०८॥
चतुरङ्गुलमानं तु निष्काश्यान्त्राणि तेन च ।
निरीक्ष्यापनयेद्बालमललेपोपलादिकम् ॥१०९॥
छिद्रे तु शल्यमुद्धृत्य विशोध्यान्त्रपरिस्रवम् ।
मर्कोटैर्दंशयेच्छिद्रं तेषु लग्नेषु चाहरेत् ॥११०॥
कायं मूर्ध्नोऽनु चान्त्राणि यथास्थानं निवेशयेत् ।
अक्तानि मधुसर्पिर्भ्यामथ सीव्येद्बहिर्व्रणम् ॥१११॥
ततः कृष्णमृदाऽऽलिप्य बध्नीयाद्यष्टिमिश्रया ।
निवातस्थः पयोवृत्तिः स्नेहद्रोण्यां वसेत्ततः ॥११२॥

बद्धोदर और छिद्रोदर में रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर नाभि के नीचे वाम पार्श्व में चार अंगुल बचाकर उदर को

चीरे। इस व्रण से चार अंगुल परिमित आँतें निकाल कर देखे। इनमें जो बाल, मल, लेप या पत्थर (कड़ी वस्तु) हो उसे दूर कर देवे। छिद्रोदर में तो शल्य को दूर करके परिस्रुत (फटी हुई) आंत्र का शोधन करके, चींटों से छेद को कटाये। जब चींटे छेद पर चिपटे हुए हों तब उनके शिर से पिछले भाग को काट दे। फिर आंत्रों को मधु और घी से चुपड़ कर यथास्थान बिठा देवे और बाहर के व्रण को सी देवे। फिर मुलहठी मिली काली मिट्टी का लेप करके बाँध देवे। रोगी को वायुरहित स्थान में रक्खे, दूध का ही भोजन देवे और स्नेह-द्रोणी में रक्खे ॥ १०८-११२ ॥

जलोदर में शस्त्रकर्म

सजले जठरे तैलैरभ्यक्तस्यानिलापहैः ।
स्विन्नस्योष्णाम्बुनाऽऽकक्षमुदरे पट्टवेष्टिते ॥११३॥
बद्धच्छिद्रोदितस्थाने विध्येदङ्गुलमात्रकम् ।
निधाय तस्मिन्नाडीं च स्रावयेदर्धमम्भसः ॥११४॥
अथास्य नाडीमाकृष्य तैलेन लवणेन च ।
व्रणमभ्यज्य बद्ध्वा च वेष्टयेद्वाससोदरम् ॥११५॥
तृतीयेऽह्नि चतुर्थे वा यावदाषोडशं दिनम् ।
तस्य विश्रम्य विश्रम्य स्रावयेदल्पशो जलम् ॥११६॥
विवेष्टयेद् गाढतरं जठरं वाससा श्लथम् ।
निःसृते लङ्घितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत् ॥११७॥

जलोदर वाले रोगी में वातनाशक तिलतैल या सरसों के तैल से अभ्यंग करके गरम पानी से स्वेद देकर कक्षा (बगल) प्रदेश तक उदर को पट्टी से लपेट देवे। फिर बद्धोदर एवं छिद्रोदर में बताये स्थान पर अंगुल परिमित (व्रीहिमुख से) वेधन करे। इसमें दो मुख वाली नाली लगा कर आधा पानी बाहर निकाले। फिर नाड़ी को खींच कर तैल और नमक से व्रण को मल कर बांध देवे और उदर को कपड़े से लपेट देवे। १६ दिन तक तीसरे दिन या चौथे दिन, रुक-रुक कर थोड़ा-थोड़ा जल बाहर निकाले। ढीले हुए उदर को वस्त्र से कसकर लपेटता जाये। पानी निकाल कर रोगी को लंघन कराके स्नेह एवं लवण से रहित पेया पिलावे ॥ ११३-११७ ॥

वक्तव्य—एक साथ सारा जल निकालने से उपद्रव हो सकते हैं। 'सहसा हि प्रचुरजलास्रावणादपायः स्यात्।' अरुणदत्त ने थोड़ा स्नेह और लवण मिलाना लिखा है यथा—'नञ्शब्दो हि ईषदर्थः। ईषत्स्नेहलवणं क्लेदरक्षार्थं वातकोपरक्षार्थं च।'

स्यात्क्षीरवृत्तिः षण्मासांस्त्रीन् पेयां पयसा पिबेत् ।
त्रींश्चान्यान् पयसैवाद्यात् फलाम्लेन रसेन वा ॥
अल्पशोऽस्नेहलवणं जीर्णं श्यामाककोद्रवम् ।
प्रयतो वत्सरेणैवं विजयेत जलोदरम् ॥११९॥

पानी निकलने के पीछे रोगी छः मास तक केवल दूध पर ही रहे। तीन मास तक दूध में बनी पेया पिये। शेष तीन मास केवल दूध से ही पुरातन सावाँ या कोदो धान्य को स्नेह और नमक न मिलाकर अथवा अत्यल्प मिलाकर खाये। अथवा अनार के रस या मांसरस के साथ पुराने सावाँ आदि को खाये। इस प्रकार करने पर प्रायः एक साल में रोगी जलोदर से मुक्त हो जाता है (कभी अधिक समय भी लगता है, स्नेह और नमक सर्वथा न दें तो उत्तम है)।

जलोदर में पथ्यापथ्य आहार—

वर्ज्येषु यन्त्रितो दिष्टे नात्यदिष्टे जितेन्द्रियः ।

आहार-विहारादि वर्जित अतिशय अम्ल, उष्ण, लवणादि में उदररोगी नियमित रहे। बताये हुए खान-पान में बहुत नियमित न हो। कुछ न कहे हुए अन्नपान में जितेन्द्रिय, लालच रहित रहे॥

सर्वोदर-चिकित्सा—

सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसङ्घातजं यतः ॥ १२० ॥
अतो वातादिशमनी क्रिया सर्वत्र शस्यते ।

प्रायः करके सब उदर रोग दोषसमूह के कारण उत्पन्न होते हैं। इसलिये सब उदररोगों में वात आदि को शमन करने वाली क्रिया उत्तम है ॥ १२० ॥

पथ्य—

वह्निर्मन्दत्वमायाति दोषैः कुक्षौ प्रपूरिते ॥१२१॥
तस्माद्भोज्यानि भोज्यानि दीपनानि लघूनि च ॥
सपञ्चमूलान्यल्पाम्लपटुस्नेहकटूनि च ॥१२२॥

दोषों से उदर के भर जाने के कारण अग्नि मन्द हो जाती है अतः दीपन गुण वाले और लघु आहार खाने चाहिये। ये आहार (बृहत्) पञ्चमूल के साथ बनाये, तथा थोड़े अम्ल, लवण और स्नेह तथा कटु रस वाले होने चाहिये।

उदर रोग में यवाग्वादि—

भावितानां गवां मूत्रे षष्टिकानां च तण्डुलैः ।
यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम् ॥१२३॥
पिबेदिक्षुरसं चानु जठराणां निवृत्तये ।
स्वं स्वं स्थानं व्रजन्त्येवं वातपित्तकफास्तथा ॥

साठी के चावलों को गोमूत्र से भावित करके इनसे दूध में बनाई यवागू को इच्छानुसार रोगी को खिलावे। पीछे से ईख का रस उदररोग की शान्ति के लिये पिये। इस प्रकार करने से वात, पित्त और कफ अपने-अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं ॥ १२३-१ ४ ॥

उदर रोग में वर्ज्य—

अत्यर्थोष्णाम्ललवणं रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु ।
गुडं तैलकृतं शाकं वारि पानावगाहयोः ॥१२५॥
आयासाध्वदिवास्वप्नयानानि च परित्यजेत् ।

अतिशय उष्ण, अम्ल, लवण, रूक्ष, ग्राही, शीतल, गुरु, गुड़ या तैल में बनाई वस्तुयें, शाक, पीने और स्नान में

जल, परिश्रम, यात्रा, दिन में सोना और सवारी को उदर-रोगी छोड़ देवे ॥ १२५ ॥

उदर रोग में तक्र—

नात्यच्छसान्द्रमधुरं तक्रं पाने प्रशस्यते ॥ १२६ ॥
सकणालवणं वाते पित्ते सोषणशर्करम्।
यवानीसैन्धवाजाजीमधुव्योषैः कफोदरे ॥ १२७ ॥
त्र्यूषणक्षारलवणैः संयुतं निचयोदरे।
मधुतैलवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ॥ १२८ ॥
प्लीह्नि, बद्धे तु हपुषायवानीपट्वजाजिभिः।
सकृष्णामाक्षिकं छिद्रे, व्योषवत्सलिलोदरे ॥ १२९ ॥

थोड़ा पतला (निर्मल), सान्द्र और मधुर तक्र पीने के लिये उत्तम है। वायु में पिप्पली और नमक के साथ, पित्त में मरिच और शर्करा के साथ, कफ में अजवायन, सैन्धव, जीरा, मधु और त्रिकटु के साथ, सन्निपातोदर में त्रिकटु, यवक्षार और नमक के साथ, प्लीहोदर में मधु, तैल, बचा, सोंठ, सौंफ, कूठ और सैन्धव के साथ, बद्धोदर में हपुषा, अजवायन, नमक और जीरे के साथ, छिद्रोदर में पिप्पली और मधु के साथ तथा जलोदर में त्रिकटु के साथ तक्र को देवे ॥ १२६–१२९ ॥

वातकफादि में तक्र—

गौरवारोचकानाहमन्दवह्न्यतिसारिणाम्।
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते ॥ १३० ॥

वात-कफ रोगियों को भारीपन, अरोचक, आनाह, अग्निमान्द्य या अतिसार होने पर भी तक्र देना चाहिये। यह तक्र वात-कफ रोगियों के लिये अमृत के समान है ॥ १३० ॥

उदर रोग में दूध—

प्रयोगाणां च सर्वेषामनु क्षीरं प्रयोजयेत्।
स्थैर्यकृत्सर्वधातूनां बल्यं दोषानुबन्धहृत् ॥ १३१ ॥
भेषजाऽपचिताङ्गानां क्षीरमेवामृतायते।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाम-
ष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थं चिकित्सितस्थान उदर-
चिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

* * *

सब प्रयोगों के पीछे दूध का प्रयोग करना चाहिये। दूध सब धातुओं को स्थिर करता है, बलकारक है तथा दोष के अनुबन्ध को दूर करता है।

औषध से कृश शरीर वालों के लिये दूध ही अमृत का काम करता है [जीवन देता है] ॥ १३१ ॥

वक्तव्य—योग—उदररोग में—तन्त्रान्तरोक्त प्रसिद्ध नारायणचूर्ण, बिन्दुघृत, नाराचरस, इच्छाभेदी, जलोदरारि रस, शोथोदरारि।

यकृत् रोग में—यकृदरिलौह, रसराजरस, विद्याधररस, रोहितकलौह, अग्निप्रभावटी, जीर्णज्वरोक्त औषध भी देवे।

प्लीहा रोग में—अभया लवण, गुडपिप्पली, लोकनाथ रस (गुड जीरक के अनुपान से), रोहितकाद्य चूर्ण (शीतल जल से) महामृत्युञ्जय लौह, यकृत्प्लीहारि लौह, चित्रकादि लौह, प्लीहान्तक रस, प्लीहारि रस।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का उदर-चिकित्सित नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

* * *

षोडशोऽध्यायः

अथातः पाण्डुरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे पाण्डुरोग-चिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

पाण्डुरोग में कल्याणघृत—

पाण्डुरामयी पिबेत्सर्पिरादौ कल्याणकाह्वयम्।
पञ्चगव्यं महातिक्तं घृतं वाऽऽरग्वधादिना ॥ १ ॥

पाण्डुरोगी सबसे प्रथम कल्याणक घृत (उ० अ० ६।२७), पञ्चगव्यघृत (उ० अ० ७।२०) या महातिक्तक घृत (चि० अ० १९।८०) पिये। अथवा आरग्वधादिगण से सिद्ध किया घृत पिये ॥ १ ॥

वक्तव्य—इस रोग में प्रधानतः पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये, इसके पीछे वात और कफ की चिकित्सा करे।

अन्य घृत—

दाडिमात्कुडवो धान्यात्कुडवार्धं पलं पलम्।
चित्रकाच्छृङ्गबेराच्च पिप्पल्यर्धपलं च तैः ॥ २ ॥
कल्कितैर्विंशतिपलं घृतस्य सलिलाढके।
सिद्धं हृत्पाण्डुगुल्मार्शःप्लीहवातकफार्तिनुत् ॥ ३ ॥
दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवातानुलोमनम्।
दुःखप्रसविनीनां च वन्ध्यानां च प्रशस्यते ॥ ४ ॥

अनारदाना एक कुडव, धनिया आधा कुडव, चित्रक और सोंठ प्रत्येक एक पल, पिप्पली आधा पल, इन सब के कल्क से बीस पल घी को एक आढक जल में सिद्ध करे। सिद्ध किया घृत हृदय, पाण्डु, गुल्म, अर्श, प्लीहा तथा वात-कफ-जनित पीड़ा को नष्ट करता है, अग्नि का दीपक और श्वास-कासनाशक है, मूढ वायु का अनुलोमन करता है।

पाण्डु रोग में वमनादि—

स्नेहितं वामयेत्तीक्ष्णैः पुनः स्निग्धं च शोधयेत्।
पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा ॥ ५ ॥

स्नेह दिये पाण्डु रोगी को तीक्ष्ण द्रव्यों से वमन देवे। और फिर भी स्निग्ध करके दूध से मिश्रित गोमूत्र से अथवा केवल दूध से ही कई बार शोधन करे ॥ ५ ॥

अन्य प्रयोग—

दन्तीफलरसे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिमासुतम् ।
द्राक्षाञ्जलिं वा मृदितं तत् पिबेत् पाण्डुरोगजित् ॥ ६
मूत्रेण पिष्टां पथ्यां वा तत्सिद्धं वा फलत्रयम् ।

जमालगोटे के फलों के उष्ण क्वाथ में गम्भारी की एक अंजलि आसुत करके पिये अथवा द्राक्षा की अञ्जलि (दो प्रसृत मात्रा) को मल कर उसका रस पिये । यह पाण्डु-रोगनाशक है । हरड़ को गोमूत्र मे पीस कर पिये । अथवा गोमूत्र से त्रिफला को सिद्ध करके पिये ॥ ६ ॥

वक्तव्य—'दन्तीफलरसे' के स्थान पर 'दन्तीपलरसे' पाठ ठीक लगता है । अंजलि का परिमाण चार पल है । इसमें से आवश्यक मात्रा में पिये क्योंकि आज-कल के लिये यह मात्रा बहुत बड़ी है ।

स्वर्णक्षीरीत्रिवृच्छ्यामाभद्रदारुमहौषधम् ॥ ७ ॥
गोमूत्राञ्जलिना पिष्टं शृतं तेनैव वा पिबेत् ।
साधितं क्षीरमेभिर्वा पिबेद्दोषानुलोमनम् ॥ ८ ॥
मूत्रे स्थितं वा सप्ताहं पयसाऽयोरजः पिबेत् ।
जीर्णे क्षीरेण भुञ्जीत रसेन मधुरेण वा ॥ ९ ॥
शुद्धश्चोभयतो लिह्यात्पथ्यां मधुघृतद्रुताम् ।
विशालाकटुकामुस्ताकुष्ठदारुकलिङ्गकाः ॥ १० ॥
कर्षांशा द्विपिचुर्मूर्वा कर्षार्धांशा घुणप्रिया ।
पीत्वा तच्चूर्णमम्भोभिः सुखैर्लिह्यात्ततो मधु ॥ ११ ॥
पाण्डुरोगं ज्वरं दाहं कासं श्वासमरोचकम् ।
गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तं च तज्जयेत् ॥ १२ ॥
वासागुडूचीत्रिफलाकट्वीभूनिम्बनिम्बजः ।
क्वाथः क्षौद्रयुतो हन्ति पाण्डुपित्तास्रकामलाः ॥ १३ ॥

स्वर्णक्षीरी निशोथ, काली निशोथ, देवदारु, सोंठ, इनको दो प्रसृत (चार पल) गोमूत्र के साथ पीस कर अथवा गोमूत्र के साथ पका कर पिये । अथवा स्वर्णक्षीरी आदि औषधियों से दूध को सिद्ध करके पिये । यह दोषों का अनुलोमन करता है ।

गोमूत्र में सात दिन रक्खे लोहचूर्ण को दूध के साथ पिये । इसके जीर्ण होने पर दूध के साथ अन्न खाये । अथवा मधुर मांसरस से भोजन करे ।

वमन-विरेचन द्वारा शोधन हो जाने पर मधु-घृत में मिला कर हरड़ के चूर्ण को चाटे ।

इन्द्रवारुणी, कुटकी, मुस्ता, कूठ, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, प्रत्येक एक कर्ष, मूर्वा दो कर्ष, अतीस आधा कर्ष, इनका चूर्ण गुनगुनाते पानी से पीकर मधु चाटे । यह चूर्ण पाण्डु रोग, ज्वर, दाह, कास, श्वास, अरोचक, गुल्म, आनाह, आमवात और रक्त-पित्त को नष्ट करता है ।

अडूसा, गिलोय, त्रिफला, कुटकी, चिरायता, नीम, इनका क्वाथ मधु के साथ पीने से पाण्डु, पित्त, रक्त और कामला को नष्ट करता है ॥ ७-१३ ॥

वक्तव्य—यह क्वाथ दृष्टफलप्रद है, अम्लपित्त तथा पुरातन अजीर्ण में भी बरता जाता है ।

नवायस लौह—

व्योषाग्निवेल्लत्रिफलामुस्तैस्तुल्यमयोरजः ।
चूर्णितं तक्रमध्वाज्यकोष्णाम्भोभिः प्रयोजितम् ॥ १४ ॥
कामलापाण्डुहृद्रोगकुष्ठार्शोमेहनाशनम् ।

त्रिकटु, चित्रक, वायविडंग, त्रिफला, मुस्ता (यह नवों द्रव्य एक-एक भाग) और इनके बराबर लोहभस्म मिलाये । इस चूर्ण को तक्र, मधु, घी और गरम पानी से देना चाहिये । यह कामला, पाण्डुरोग, हृदय रोग, कुष्ठ, अर्श और प्रमेह को नष्ट करता है । [इसका नाम नवायस लौह है । घी और मधु उत्तम अनुपान है] ॥ १४ ॥

पाण्डु रोग में वटिका—

गुडनागरमण्डूरतिलांशान् मानतः समान् ॥ १५ ॥
पिप्पलीद्विगुणान् दद्याद् गुटिकां पाण्डुरोगिणे ।

गुड़, सोंठ मण्डूर, तिल, ये परस्पर समान भाग, पिप्पली इनसे दुगनी मिला कर गोलियां बना कर पाण्डु रोगी के लिये देवे ॥ १५ ॥

मण्डूर वटक

तार्प्यं दार्व्यास्त्वचं चव्यं ग्रन्थिकं देवदारु च ॥ १६ ॥
व्योषादिनवकं चैतच्चूर्णयेद् द्विगुणं ततः ।
मण्डूरं चाञ्जननिभं सर्वतोऽष्टगुणेऽथ तत् ॥ १७ ॥
पृथग्विपक्वे गोमूत्रे वटकीकरणक्षमे ।
प्रक्षिप्य वटकान् कुर्यात्तान् खादेत्तक्रभोजनः ॥ १८ ॥
एते मण्डूरवटकाः प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ।
कुष्ठान्यजरकं शोफमूरुस्तम्भमरोचकम् ॥ १९ ॥
अर्शांसि कामलां मेहान् प्लीहानं शमयन्ति च ।

स्वर्णमाक्षिक, दारुहल्दी की छाल, चव्य, पिप्पलीमूल, देवदारु और व्योषादि नौ द्रव्य (श्लोक १४), इनका चूर्ण कर ले । इस चूर्ण से दुगुना काजल के समान काला मण्डूर (भस्म) इसमें मिलाये । इन सबसे आठगुना गोमूत्र लेकर इस मूत्र को अलग पकाये । जब गोमूत्र घन (लेह के समान) हो जाये तब उपर्युक्त सब चूर्ण इसमें मिलाकर वटक बनाये । तक्र का मुख्य भोजन करते हुए इन वटकों को खाये । ये मण्डूरवटक रोगियों के लिये प्राण देने वाले हैं । कुष्ठ, नूतन शोफ, ऊरुस्तम्भ, अरोचक, अर्श, कामला, प्रमेह और प्लीहा को शान्त करते हैं ॥ १६-१९ ॥

ताप्यादि —

ताप्याद्रिजतुरौप्यायोमलाः पञ्चपलाः पृथक् ॥ २० ॥
चित्रकत्रिफलाव्योषविडङ्गैः पालिकैः सह ।
शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुना द्रुताः ॥ २१ ॥

पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमं ज्वरम् ।
कुष्ठान्यजरकं मेहं शोफं श्वासमरोचकम् ॥२२॥
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च ।

स्वर्णमाक्षिक, शिलाजतु, रजतमाक्षिक (या रजतभस्म), मण्डूर; प्रत्येक पांच पल, चित्रक, त्रिफला, त्रिकटु, वायविडंग, प्रत्येक एक पल, शर्करा आठ पल मिलाये । मधु से पतला किया गया यह चूर्ण पाण्डुरोग, विष, कास, यक्ष्मा, विषम ज्वर, कुष्ठ, नूतन प्रमेह, शोफ, श्वास, अरोचक तथा विशेष करके अपस्मार, कामला और अर्श को नष्ट करता है ॥२० २२॥

कौटजादि गुटिका—

कौटजत्रिफलानिम्बपटोलघननागरैः ॥२३॥
भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि वा ।
शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा ॥२४॥
त्वक्क्षीरीपिप्पलीधात्रीकर्कटाख्याः पलान्मिताः ।
निदिग्ध्याः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या त्रिजातकम् ॥
मधुस्त्रिपलसंयुक्तान् कुर्यादक्षसमान् गुडान् ।
दाडिमाम्बुपयःपक्षिरसतोयसुरासवान् ॥२६
तान् भक्षयित्वाऽनु पिबन्निरन्नो भुक्त एव वा ।
पाण्डुकुष्ठज्वरप्लीहतमकार्शोभगन्दरम् ॥२७॥
हृन्मूत्रपूतिशुक्राग्निदोषशोषगरादरम् ।
कासासृग्दरपित्तासृक्शोफगुल्मगलामयान् ॥२८॥
मेहवर्ध्मभ्रमान् हन्युः सर्वदोषहराः शिवाः ।

कुटज की छाल, त्रिफला, नीम, पटोल, मुस्ता और सोंठ के क्वाथ से आठ पल शिलाजतु को दस, बीस या तीस दिन भावना देवे । इसमें आठ पल श्वेत शर्करा, वंशलोचन, पिप्पली, आँवला, काकड़ाश्रृङ्गी प्रत्येक एक पल, कटेरी के फल और मूल एक पल, त्रिजातक (त्वक् , एला, पत्र) योग्य मात्रा में और मधु तीन पल मिला कर एक कर्ष परिमाण के गुड (लड्डू) बना ले । इन गुडों को खाकर अनार का स्वरस, दूध, पक्षियों का मांसरस, जल, सुरा या आसव पिये । बिना भोजन किये या भोजन करके इनको खायें । ये पाण्डु, कुष्ठ, ज्वर, प्लीहा, तमक श्वास, अर्श, भगन्दर, हृदयरोग, मूत्ररोग, दूषित शुक्र, अग्निदोष, शोष, गरविष, उदररोग, कास, असृग्दर, रक्तपित्त, शोफ, गुल्म, गलरोग, मेह, वर्ध्म और भ्रम को नष्ट करते हैं । ये गुड सर्व-दोषनाशक और शिव (कल्याणकारक) हैं ॥ २३-२८ ॥

वक्तव्य—शिलाजतु आठ पल लेकर केवल पानी में धोकर इसके बराबर कुडे की छाल आदि लेकर अठगुने जल में क्वाथ करे । आठवां भाग शेष रहने पर इसको छान कर इस क्वाथ से दस बार, बीस बार या तीस बार भावना देवें । (अहःशब्दो वारोपलक्षणार्थः—अरुणदत्तः) । युक्ति से त्रिजातक की जितनी मात्रा से सुगन्धि ठीक रहे, न अधिक हो और न कम । गुड का अर्थ गुड के टुकड़ों के आकार से है । इनको डलियाँ कहते हैं । इस प्रकार एक कर्ष तौल के वटक बनाये ।

द्राक्षादि अवलेह—

द्राक्षाप्रस्थं कणाप्रस्थं शर्करार्धतुलां तथा ॥२९॥
द्विपलं मधुकं शुण्ठीं त्वक्क्षीरीं च विचूर्णितम् ।
धात्रीफलरसद्रोणे तत्क्षिप्त्वा लेहवत्पचेत् ॥३०॥
शीतान्मधुप्रस्थयुताद् लिह्यात्पाणितलं ततः ।
हलीमकं पाण्डुरोगं कामलां च नियच्छति ॥३१॥

द्राक्षा सोलह पल, पिप्पली सोलह पल, शर्करा पचास पल, मुलहठी, सोंठ, वंशलोचन प्रत्येक दो पल लेकर इनका चूर्ण कर ले । इनको आँवले के एक द्रोण रस में मिलाकर लेह को भाँति सिद्ध करे । शीतल होने पर इसमें मधु एक प्रस्थ मिलाये । इसमें से एक कर्ष मात्रा को चाटे । यह लेह हलीमक, पाण्डुरोग और कामला को नष्ट कर देता है ।

कनीयःपञ्चमूलाम्बु शस्यते पानभोजने ।
पाण्डूनां कामलार्तानां मृद्वीकाऽऽमलकादस ॥३२॥

खान पान में लघुपञ्चमूल का क्वाथ पाण्डुरोगियों के लिये उत्तम है । कामलारोगियों के लिय मृद्वीका (द्राक्षा) और आँवले का रस उत्तम है ॥ ३१ ॥

पाण्डुरोग की सामान्य चिकित्सा—

इति सामान्यतः प्रोक्तं पाण्डुरोगे भिषग्जितम् ।
विकल्प्य योज्यं विदुषा पृथग्दोषबलं प्रति ॥३३॥

इस प्रकार पाण्डुरोग की सामान्य चिकित्सा कह दी है । प्रत्येक दोष के बल को लक्षित करके विद्वान् वैद्य को यह चिकित्सा बरतनी चाहिये ॥ ३३ ॥

पाण्डुरोग की दोषानुसार चिकित्सा—

स्नेहप्रायं पवनजे तिक्तशीतं तु पैत्तिके ।
श्लैष्मिके कटुरूक्षोष्णं विमिश्रं सान्निपातिके ३४॥

वातजन्य पाण्डु रोग में प्रचुर-स्नेहयुक्त औषध देवें । पित्तजन्य पाण्डु में प्रायः करके तिक्त, शीतबहुल, कफजन्य पाण्डु में कटु, रूक्ष और उष्णबहुल औषधादि देवे और सन्निपातज पाण्ड में मिश्रित चिकित्सा करे ॥ ३४ ॥

मृत्तिका-भक्षणजन्य पाण्डु में—

मृदं निर्यापयेत्कायात्तीक्ष्णैः संशोधनैः पुरः ।
बलाधानानि सर्पींषि शुद्धे कोष्ठे तु योजयेत् ॥ ३५ ॥

खाई हुई मिट्टी को प्रथम तीक्ष्ण विरेचनों द्वारा शरीर से निकाले । कोष्ठ का शोधन हो जाने पर बल देने वाले घृतों का उपयोग करे । (ये घृत आगे कहे हुए हैं) ॥ ३५ ॥

व्योषबिल्वद्विरजनीत्रिफलाद्विपुनर्नवम् ।
मुस्तान्ययोरजः पाठा विडङ्गं देवदारु च ॥३६॥
वृश्चिकाली च भार्गी च सक्षीरैस्तैः शृतं घृतम् ।

सर्वान् प्रशमयत्याशु विकारान् मृत्तिकाकृतान् ॥३७

त्रिकटु, बिल्व, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला, श्वेत और लाल पुनर्नवा, मोथा, लोहभस्म, पाठा, बायविडङ्ग, देवदारु, बिच्छूबूटी और भार्गी के कल्क से (घी से चौथाई) दूध के साथ (दूध घी के बराबर) घृत सिद्ध करे। (जल घी से चौगुना मिलाये)। यह घृत मृत्तिकाजन्य सब विकारों को शीघ्र नष्ट कर देता है ॥ ३६-३७ ॥

तद्वत्केसरयष्ट्याह्वपिप्पलीक्षीरशाड्वलैः ।

इसी प्रकार नागकेसर, मुलहठी, पिप्पली, दूध और हरी दूब (के रस) से सिद्ध किया हुआ घृत भी मिट्टी से उत्पन्न रोगों को शीघ्र नष्ट करता है।

मृद्द्वेषणाय तल्लौल्ये वितरेद्भावितां मृदम् ॥३८॥
वेल्लाग्निनिम्बप्रसवैः पाठया मूर्वयाऽथवा ।

मिट्टी की लोलुपता होने पर मिट्टी से द्वेष कराने के लिये मिट्टी को वायविडंग, चित्रक, नीम के फूलों या रसों से अथवा पाठा या मूर्वा की भावना देकर खाने को देवे ॥ ३८ ॥

मृद्भेदभिन्नदोषानुगमाद्योज्यं च भेषजम् ॥ ३९ ॥

मिट्टी के भेद की विशेषता के कारण प्रकुपित दोष के अनुसार औषध देनी चाहिये ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—'मृत्कषायाऽनिलं पित्तमूषरा मधुरा कफम्' (हृ० नि० अ० १३।१३) कृष्ण-पाण्डुर आदि मिट्टी के कारण जो दोष कुपित हो; उस दोष के अनुसार चिकित्सा करे।

कामला की चिकित्सा—

कामलायां तु पित्तघ्नं पाण्डुरोगाविरोधि यत् ।

कामला रोग में पित्तनाशक वह चिकित्सा करे जो पाण्डुरोग में विरोधी न हो।

कामला में घृत—

पथ्याशतरसे पथ्यावृन्तार्धशतकल्कितः ॥ ४० ॥
प्रस्थः सिद्धो घृताद् गुल्मकामलापाण्डुरोगनुत् ।

एक सौ हरड़ के क्वाथ में हरड़ के पचास वृन्त कल्क करके इनसे एक प्रस्थ घी सिद्ध करे। यह घृत गुल्म, कामला और पाण्डुरोग को नष्ट करता है ॥ ४० ॥

अन्य ओषधि—

आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य वा ॥ ४१ ॥
सत्र्यूषणं बिल्वमात्रं पाययेत्कामलापहम् ।

ईख के रस, विदारी के रस या आंवले के रस से त्रिकटु और अमलतास की एक पल मात्रा कामला को नष्ट करने के लिये पिलावे ॥ ४१ ॥

पिबेन्निकुम्भकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा ॥ ४२ ॥
कुम्भस्य चूर्णं सक्षौद्रं त्रैफलेन रसेन वा ।

दन्ती के कल्क में दुगुना गुड़ मिलाकर शीतल जल से पिये। कुम्भ (द्रवन्ती-मोगलाई एरण्ड) के चूर्ण को मधु के साथ या त्रिफला के क्वाथ से पिये ॥ ४२ ॥

त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम् ॥
प्रातः प्रातर्मधुयुतं कामलार्ताय योजयेत् ।
निशागैरिकधात्रीभिः कामलापहमञ्जनम् ॥ ४४ ॥

कामलारोगी के लिये प्रतिदिन प्रातः काल त्रिफला का, गिलोय का दारुहल्दी का या नीम का रस मधु के साथ देवे।

हल्दी, गेरू और आंवला; इनसे अंजन करे; यह कामला नाशक है ॥ ४३-४४ ॥

वक्तव्य—कामला के कारण आँखों में रहा पीलापन इस अंजन से दूर होता है; न कि कामला रोग।

तिलपिष्टनिभं यस्तु कामलावान् सृजेन्मलम् ।
कफरुद्धपथं तस्य पित्तं कफहरैर्जयेत् ॥ ४५ ॥

कामला का जो रोगी तिल की पिट्ठी के समान मल-त्याग करता है, उस कफ के कारण अवरुद्ध मार्गवाले रोगी के पित्त को कफनाशक द्रव्यों से शान्त करे ॥ ४५ ॥

वक्तव्य—इसमें पित्त के मार्ग को कफ रोके रहता है, पित्त में कोई दोष नहीं होता। इसलिये कफघ्न द्रव्यों से कफ को निकाल देने पर पित्त अपने मार्ग से आकर मल में आने लगता है। (निदान में टिप्पणी देखिए।)

आवृत पित्तजनित कामला के लक्षण और चिकित्सा—

रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामबलनिग्रहैः ।
कफसम्मूर्च्छितो वायुर्यदा पित्तं बहिः क्षिपेत् ॥४६॥
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः ।
भवेत्साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च ॥ ४७ ॥
दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिध्माश्वासारुचिज्वरैः ।
क्रमेणाल्पेऽनुषज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते ॥ ४८ ॥
रसैस्तं रूक्षकट्वम्लैः शिखितित्तिरिदक्षजैः ।
शुष्कमूलकजैर्यूषैः कुलत्थोत्थैश्च भोजयेत् ॥ ४९ ॥
भृशाम्लतीक्ष्णकटुकलवणोष्णं च शस्यते ।
सबीजपूरकरसं लिह्याद्व्योषं तथाऽऽशयम् ॥ ५० ॥
स्वं पित्तमेति तेनास्य शकृदप्यनुरज्यते ।
वायुश्च याति प्रशमं सहाटोपाद्युपद्रवैः ॥ ५१ ॥
निवृत्तोपद्रवस्यास्य कार्यः कामलिको विधिः ।

रूक्ष, शीत, गुरु, मधुर, व्यायाम, बलप्रयोग तथा उपस्थित वेगों के रोकने से कुपित वायु कफ से मिलकर जब पित्त को बाहर कर देती है; तब रोगी के नेत्र, मूत्र, त्वचा हारिद्र (हरी-पीली) हो जाती है; मल श्वेत रंग का होता है रोगी को आध्मान विष्टम्भ (मल-वायु का अवरोध) और हृदय प्रदेश पर भार होता है। दुर्बलता, अग्निमान्द्य, पार्श्वशूल, हिक्का, श्वास. अरुचि और ज्वर के कारण क्रमशः धीरे धीरे कुपित वायु शाखा में (रस आदि धातु एवं त्वचा में)

आश्रित थोड़े से पित्त के साथ मिल जाती है। ४८ वें श्लोक का यह अर्थ अरुणदत्त के अनुसार है किन्तु, चरक में गंगाधर, चक्रपाणि आदि के अनुसार 'थोड़े थोड़े दौर्बल्य आदि भी क्रमशः, पित्त के शाखा में आश्रित होने पर, आजाते हैं।' यह अर्थ किया है। अथवा 'हारिद्रनेत्रता आदि के साथ दौर्बल्य आदि लक्षण भी होते हैं और शाखाश्रित अल्प (भ्राजक) पित्त में (कफानुबन्धी वायु से प्रेरित) कोष्ठीय पित्त क्रमशः मिलता जाता है अर्थात् शाखा में पित्त बराबर बढ़ता जाता है।' यह अर्थ भी ठीक होगा। इस पुरुष को मोर, तीतर, मुर्गे के रूक्ष, कटु और अम्ल मांसरसों के साथ अथवा शुष्कमूली वा कुलथी के यूष से भोजन देवे। इस अवस्था में अति अम्ल, तीक्ष्ण, कटु, लवण और उष्ण भोजन उत्तम है। बिजौरे के रस को त्रिकटु के साथ चाटे। इससे पित्त अपने स्थान में आ जाता है और मल में भी रंग (पीलापन) आ जाता है। आटोप आदि उपद्रवों के साथ वायु भी शान्त हो जाती है। उपद्रवों के शान्त हो जाने पर इस रोगी की चिकित्सा (सामान्य) कामलारोगी की भांति करे॥ ४६-५१॥

कुम्भकामला-चिकित्सा—

गोमूत्रेण पिबेत्कुम्भकामलायां शिलाजतु॥ ५२॥
मासं माक्षिकधातुं वा किट्टं वाऽथ हिरण्यजम्।

कुम्भकामला में गोमूत्र के साथ शिलाजतु पिये। अथवा एक मास तक रौप्यमाक्षिक या स्वर्णमाक्षिक को गोमूत्र के साथ पिये। (माक्षिक की भस्म लेनी चाहिये॥ ५२॥

हलीमकचिकित्सा—

गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितेन हलीमकी॥ ५३॥
महिषीहविषा स्निग्धः पिबेद्धात्रीरसेन तु।
त्रिवृतां तद्विरिक्तोऽद्यात्स्वादु पित्तानिलापहम्॥५४॥
द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पींषि मधुराणि च।
यापनान् क्षीरबस्तींश्च शीलयेत्सानुवासनान्॥५५॥
मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च पिबेद्युक्त्याऽग्निवृद्धये।
कासिकं चाभयालेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम्॥ ५६॥
पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम्।

हलीमक-रोगी गिलोय के स्वरस से सिद्ध किये दूध के साथ भैंस का घी पीकर स्निग्ध होकर आंवले के रस के साथ निशोथ को पिये। इससे विरेचन होने पर मधुर एवं वात-पित्त-नाशक भोजन करे। पूर्वोक्त द्राक्षालेह (श्लोक २९) को खाये। मधुर गण से सिद्ध घृत खाये। यापन क्षीरवस्तियों को अनुवासन-वस्तियों के साथ सदा ले। अग्नि की वृद्धि के लिये मार्द्वीक अरिष्टों को युक्ति से पिये। कास रोग में कहा अभयालेह (चि. अ. ३।१६७) को खाये। दोष एवं बल के अनुसार पिप्पली, मुलहठी और बला को दूध के साथ लेवे। (पाकक्रम-गिलोय का स्वरस घी से चार गुना और दूध घी के बराबर लेवे)॥ ५३-५६॥

पांडु रोग में शोथोक्त चिकित्सा—

पाण्डुरोगेषु कुशलः शोफोक्तं च क्रियाक्रमम्॥५७॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाम्-
अष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने पाण्डु-
रोगचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

कुशल वैद्य पाण्डु रोगों में शोफ में कही चिकित्सा को भी बरते॥ ५७॥

वक्तव्य—प्रसिद्ध योग—लोहभस्म, तिल, त्रिकटु; प्रत्येक एक कर्ष; सबके बराबर स्वर्णमाक्षिक भस्म लेकर इसको मधु के साथ चाटकर पीछे से तक्र पिये। नवायसलौह; पुनर्नवामण्डूर, त्रिकत्रयादि लौह, पञ्चामृत लौह, प्राणवल्लभ। फलत्रिकादि क्वाथ (कामला में)।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सित स्थान का पाण्डु-
रोगचिकित्सित नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥

सप्तदशोऽध्यायः

अथातः श्वयथुचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे श्वयथुचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वातादि दोष से उत्पन्न सूजन की चिकित्सा—

सर्वत्र सर्वाङ्गसरे दोषजे श्वयथौ पुरा।
सामे विशोषितो भुक्त्वा लघु कोष्णाम्भसा पिबेत्॥
नागरातिविषादारुविडङ्गेन्द्रयवोषणम्।
अथवा विजयाशुण्ठीदेवदारुपुनर्नवम्॥ २॥
नवायसं वा दोषाढ्यः शुद्ध्यै मूत्रहरीतकीः
वराक्वाथेन कटुकाकुम्भायस्त्र्यूषणानि वा॥ ३॥
अथवा गुग्गुलुं तद्वज्जतु वा शैलसम्भवम्।

दोषजन्य सब शोथों में तथा सर्वांग में फैले सब श्वयथु में तथा आम होने पर सबसे प्रथम विशोषण (केवल लंघन अथवा लंघन, पाचन और शोधन) करके लघु भोजन करे। फिर गरम पानी से सोंठ, अतीस, देवदारु, विडंग, इन्द्रजौ और मरिच को या हरड़, सोंठ, देवदारु, पुनर्नवा को पिये अथवा दोषबहुल पुरुष (पाण्डुरोगोक्त) नवायस को खाये। शोधन के लिए गोमूत्र से हरड़ खाये। त्रिफला-क्वाथ से कुटकी, निशोथ, लोहभस्म, त्रिकटु खाये। अथवा त्रिफला-क्वाथ से गुग्गुलु वा शिलाजतु को खाये॥ १-३॥

मन्दाग्नियुक्त शोथ की चिकित्सा—

मन्दाग्निः शीलयेदामगुरुभिन्नविबद्धविट्॥ ४॥

तक्रं सौवर्चलव्योषक्षौद्रयुक्तं गुडाभयाम् ।
तक्रानुपानमथवा तद्वद्वा गुडनागरम् ॥ ५ ॥
आर्द्रकं वा समगुडं प्रकुञ्चार्धविवर्धितम् ।
परं पञ्चपलं मासं यूषक्षीररसाशनः ॥ ६ ॥
गुल्मोदरार्शःश्वयथुप्रमेहान्
श्वासप्रतिश्यालसकाविपाकान् ।
सकामलाशोषमनोविकारान्
कासं कफं चैव जयेत्प्रयोगः । ७ ॥

मन्दाग्नि और आम, भारीपन, अतिसार या मलबन्ध हो तो संचल, त्रिकटु, मधु, इनको तक्र में मिला कर पिये । गुड से हरड को खाकर तक्र का अनुपान करे । तक्र के अनुपान से गुड और सोंठ को खाये ।

आर्द्रक (सोंठ) की समान मात्रा गुड के साथ मिलाकर खाये । इन दोनों को आधा पल मात्रा में प्रतिदिन बढ़ाता जाये । जब पांच पल हो जाये तब बढ़ाना बन्द करे । इस प्रकार एक मास तक करे । इसके खाते समय यूष, दूध और मांसरस का भोजन करे । यह प्रयोग गुल्म. उदर, अर्श, शोथ, प्रमेह, श्वास, प्रतिश्याय, अलसक, अविपाक, कामला, शोष, मनोविकार (मनोवह स्रोतों की दुष्टि से उत्पन्न रोग) कास और कफ को शान्त करता है ॥ ४-७ ॥

वक्तव्य—सोंठ और गुड दोनों की आधा पल मात्रा बढ़ानी चाहिये । अकेले गुड की मात्रा बढ़ाने पर अग्निमान्द्य का भय रहता है । पाँच पल की मात्रा दस दिन में हो जाती है, यह उत्कृष्ट मात्रा है, इससे आगे नहीं जाये । इसी मात्रा को एक मास तक खावे । आधुनिक काल में तो यह भी बहुत अधिक है ।

शोफ पर घृत—

घृतमार्द्रकनागरस्य कल्क-
स्वरसाभ्यां पयसा च साधयित्वा ।
श्वयथुक्षवथूदराग्निसादै-
रभिभूतोऽपि पिबन् भवत्यरोगः ॥ ८ ॥

आर्द्रक और सोंठ के कल्क एवं स्वरस से दूध के साथ सिद्ध किये घृत को श्वयथु, छींक और अग्निमान्द्य इन रोगों से पीड़ित व्यक्ति पीकर नीरोग होता है ॥ ८ ॥

अन्य प्रयोग—

निरामो बद्धशमलः पिबेच्छ्वयथुपीडितः ।
त्रिकटुत्रिवृतादन्तीचित्रकैः साधितं पयः ॥ ९ ॥
मूत्रं गोर्वा महिष्या वा सक्षीरं क्षीरभोजन ।
सप्ताहं मासमथवा स्यादुष्ट्रीक्षीरवर्तनः ॥ १० ॥

निराम होने पर मल रुका (मलबन्ध) हो तो श्वयथुरोगी त्रिकट शोथ, दन्ती, चित्रक इनसे सिद्ध दूध पिये । दूध को ही अकेला पोते हुए गोमूत्र या भैंस के मूत्र को (समान मात्रा में) दूध के साथ पिये । केवल ऊंटनी के दूध पर ही (खान-पान सब छोड़कर) सात दिन या एक मास रहे ।

यवानकं यवक्षारं यवानीं पञ्चकोलकम् ।
मरिचं दाडिमं पाठां धनिकामम्लवेतसम् ॥ ११ ॥
बालबिल्वं च कर्षांशं साधयेत्सलिलाढके
तेन पक्वो घृतप्रस्थः शोफार्शोगुल्ममेहहा ॥ १२ ॥

जौ, यवक्षार, अजवायन, पञ्चकोल के द्रव्य मरिच, अनार, पाठा, धनियाँ, अम्लवेतस और कच्चा बिल्व, प्रत्येक कर्ष प्रमाण लेकर एक आढक जल में क्वाथ करे । इस क्वाथ से घी का एक प्रस्थ सिद्ध करे । यह घृत शोफ, अर्श, गुल्म और प्रमेह को नष्ट करता है ॥ ११-१२ ॥

दध्नश्चित्रकगर्भाद्वा घृतं तत्तक्रसंयुतम् ।
पक्वं सचित्रकं तद्वद् गुणैः—

चित्रक का चूर्ण मिलाये दूध से बनाये दही को मथने से निकाला घी, चित्रक वाली उस छाछ के साथ लेने पर प्रथम की भाँति गुणकारी है । चित्रकके साथ पकाया घी भी पूर्वोक्त घृत की भाँति है ।

—युञ्ज्याच्च कालवित् ॥ १३ ॥
धान्वन्तरं महातिक्तं कल्याणमभयाघृतम् ।

समयज्ञ वैद्य धान्वन्तर घृत, महातिक्त घृत, कल्याण घृत और अभया घृत समयानुसार शोथ में देवे ॥ १३ ॥

दशमूलकषायस्य कंसे पथ्याशतं पचेत् ॥ १४ ॥
दत्त्वा गुडतुलां तस्मिल्लेहे दद्याद्विचूर्णितम् ।
त्रिजातकं त्रिकटुकं किञ्चिच्च यवशूकजम् ॥ १५ ॥
प्रस्थार्धं च हिमे क्षौद्रात्तन्निहन्त्युपयोजितम् ।
प्रवृद्धशोफज्वरमेहगुल्म-
कार्श्यामवाताम्लकरक्तपित्तम् ।
वैवर्ण्यमूत्रानिलशुक्रदोष-
श्वासारुचिप्लीहगरोदरं च ॥ १६ ॥

दशमूल का क्वाथ एक आढक लेकर इसमें एक सौ हरड, तथा एक सौ पल गुड़ मिलाकर पकाये । जब यह अवलेह की भांति हो जाये तब इसमें त्रिजातक के द्रव्य त्रिकटु और थोड़ा सा यवक्षार चूर्ण करके मिलाये । शीतल होने पर मधु आधा प्रस्थ मिलाये । इसका उपयोग बढ़े हुए शोफ, ज्वर, प्रमेह, गुल्म, कृशता, आमवात, अम्लपित्त, रक्तपित्त, विवर्णता, मूत्रदोष, वायुदोष, शुक्रदोष, श्वास, अरुचि, प्लीहा, गर और उदर रोग को नष्ट करता है ॥ १४-१६ ॥

वक्तव्य—त्रिजातक की मात्रा वसिष्ठहरीतकी (ह० चि० अ० ३।१६३) की भांति है । यवक्षार कर्षमात्र, यथा—'व्योषाच्चतुष्पलं दद्यात् त्रिपलं त्रिसुगन्धतः । कर्षमात्रं यवक्षारात—' । खरनाद का पाठ इससे भिन्न है, यथा—'दशमूलाढकमभयाशतसहितं पाचयेदपां द्रोणे । अवशेषितचतुरंशे तस्मिन् पुनः प्रक्षिपेत् पथ्याः ॥'

सूजन में पथ्य—

पुराणयवशाल्यन्नं दशमूलाम्बुसाधितम् ॥ १७ ॥
अल्पमल्पपटुस्नेहं भोजनं श्वयथोर्हितम् ।
क्षारव्योषान्वितैर्मौद्गैः कौलत्थैः सकणै रसैः ॥१८॥
तथा जाङ्गलजैः कूर्मगोधाशल्यकजैरपि ।
अनम्लं मथितं पाने मद्यान्यौषधवन्ति च ॥ १९ ॥

श्वयथु रोग में दशमूल के क्वाथ में पुरातन (एक-दो साल पुराने) जौ या शालि अन्न को पकाकर अल्पमात्रा में, थोड़ा-सा नमक और स्नेह मिलाकर त्रिकटु एवं यवक्षार-मिश्रित मूंग के यूष से या पिप्पलीमिश्रित कुलथी के रस से खाये । इसी तरह जांगल मांसरस से या कछुआ, गोह, या सेह के मांसरस से खाये । पीने के लिये खट्टांशरहित तक्र एवं शोथघ्न औषध वाले मद्य उत्तम हैं ॥ १७–१९ ॥

सूजन पर पेया—

अजाजीशटिजीवन्तीकारवीपौष्कराग्निकैः ।
बिल्वमध्ययवक्षारवृक्षाम्लैर्बदरोन्मितैः ॥२०॥
कृता पेयाऽऽज्यतैलाभ्यां युक्तिभृष्टा परं हिता ।
शोफातिसारहृद्रोगगुल्मार्शोऽल्पाग्निमेहिनाम् ॥२१॥
गुणैस्तद्वच्च पाठायाः पञ्चकोलेन साधिता ।

जीरा, कचूर, जीवन्ती, अजवायन, पुष्करमूल, चित्रक, बेल का गूदा, यवक्षार, वृक्षाम्ल और बेर प्रत्येक एक कर्ष लेकर इन से सिद्ध की गई पेया को घी और तैल में युक्तिपूर्वक भूनकर पिये । यह पेया शोफ, अतिसार, हृद्रोग, गुल्म, अर्श, मन्दाग्नि और प्रमेह में उत्तम है ॥ २०–२१ ॥

अभ्यञ्जनादि—

शैलेयकुष्ठस्थौणेयरेणुकाऽगुरुपद्मकैः ॥ २२ ॥
श्रीवेष्टकनखस्पृक्कादेवदारुप्रियङ्गुभिः ।
मांसीमागधिकावन्यधान्यध्यामकबालकैः ॥ २३ ॥
चतुर्जातकतालीसमुस्तागन्धपलाशकैः ।
कुर्यादभ्यञ्जनं तैलं लेपं स्नानाय तूदकम् ॥ २४ ॥
स्नानं वा निम्बवर्षाभूनक्तमालार्कवारिणा ।

शिलारस, कूठ, स्थौणेय (थूहर), मेंहदी के बीज, अगरु, पद्माख, श्रीवेष्टक (धूप), नख, स्पृक्का (असवर्ग), देवदारु, प्रियङ्गु, जटामांसी, पिप्पली, केवटीमोथा, धनियाँ, कत्तृण, नेत्रवाला, चतुर्जातक द्रव्य, तालीस, मोथा, गन्धपलाश, इनसे अभ्यङ्ग के लिये तैल, लेपन और स्नान के लिये जल तैयार करे ।

अथवा नीम, पुनर्नवा, करञ्ज और आक के पानी से स्नान कराये ॥ २२–२४ ॥

एकाङ्ग शोफ पर लेप—

एकाङ्गशोफे वर्षाभूकरवीरककिंशुकैः ॥ २५ ॥
विशालात्रिफलारोध्रनलिकादेवदारुभिः ।
हिंस्राकोशातकीमाद्रीतालपर्णीजयन्तिभिः ॥ २६ ॥
स्थूलकाकादनीशालनाकुलीवृषपर्णिभिः ।
वृद्ध्यृद्धिहस्तिकर्णैश्च सुखोष्णैर्लेपनं हितम् ॥ २७ ॥

एकाङ्ग शोफ में पुनर्नवा, कनेर, ढाक, इन्द्रायण, त्रिफला, लोध्र, नलिका, देवदारु, झिण्टी, कड़ुई तुम्बी, पिप्पली, तालपर्णी, जयन्ती, मोटी चिनोठी, शाल, रास्ना, वासा, वृद्धि, ऋद्धि, हस्तिकर्ण, ढाक, इनका सुहाता हुआ गरम लेप उत्तम है ।

वातज सूजन की चिकित्सा—

अथानिलोत्थे श्वयथौ मासार्धं त्रिवृतं पिबेत् ।
तैलमेरण्डजं वातविड्विबन्धे तदेव तु ॥ २८ ॥
प्राग्भक्तं पयसा युक्तं रसैर्वा कारयेत्तथा ।
स्वेदाभ्यङ्गान् समीरघ्नांल्लेपमेकाङ्गगे पुनः ॥ २९ ॥
मातुलुङ्गाग्निमन्थेन शुण्ठीहिंस्राऽमराह्वयैः ।

वातजन्य शोथ में पन्द्रह दिन तक निशोथ तथा एरण्ड का तेल पिये । वायु और मल का विबन्ध होने पर केवल एरण्डतैल को भोजन से पूर्व दूध के साथ या मांसरसों के साथ पिये । वातज द्रव्यों से स्वेद, अभ्यंग और लेप करे । एकाङ्ग शोफ में विजौरा, अग्निमन्थ, सोंठ, झिंटी और देवदारु का लेप करे ॥ २८–२९ ॥

पित्तज सूजन की चिकित्सा—

पैत्ते तिक्तं पिबेत्सर्पिर्न्यग्रोधाद्येन वा शृतम् ॥३०॥
क्षीरं तृड्दाहमोहेषु लेपाभ्यङ्गाश्च शीतलाः ।

पित्तजन्य शोफ में तिक्तक घृत अथवा न्यग्रोधादि गण से सिद्ध घृत पिये । प्यास, दाह और मूर्च्छा होने पर दूध पिये । शीतल लेप एवं अभ्यङ्ग करे ॥ ३० ॥

वक्तव्य—शोफ में अकेला दूध निषिद्ध है । यथा—'स्त्रियो घृतं तैलपयोगुरूणि शोफं जिघांसुः परिवर्जयेत्तु ॥' सुश्रुत ।

पटोलमूलत्रायन्तीयष्ट्याह्वकटुकाभयाः ॥ ३१ ॥
दारु दार्वी हिमं दन्ती विशाला निचुलं कणा ।
तैः क्वाथः सघृतः पीतो हन्त्यन्तस्तापतृड्भ्रमान् ॥
ससन्निपातवीसर्पशोफदाहविषज्वरान् .

पटोलमूल, त्रायन्ती, मुलहठी, कुटकी, हरड, देवदारु, दारुहल्दी, लालचन्दन, दन्ती, इन्द्रायण, जलवेतस, पिप्पली, इनका क्वाथ घी के साथ पीने पर अन्तस्ताप, प्यास, भ्रम, सन्निपातज वीसर्प, शोफ, दाह, विष और ज्वर को नष्ट करता है ॥ ३१–३२ ॥

कफज शोथ की चिकित्सा—

आरग्वधादिना सिद्धं तैलं श्लेष्मोद्भवे पिबेत् ॥३३॥

कफजन्य शोफ में आरग्वधादि गण से सिद्ध तैल पिये ।

स्रोतोविबन्धे मन्देऽग्नावरुचौ स्तिमिताशयः ।
क्षारचूर्णासवारिष्टमूत्रतक्राणि शीलयेत् ॥ ३४ ॥
कृष्णापुराणपिण्याकशिग्रुत्वक्सिकताऽतसीः ।

प्रलेपोन्मर्दने युञ्ज्यात्सुखोष्णा मूत्रकल्किताः ॥३५॥

स्रोतों के अवरोध में, अग्निमान्द्य एवं अरुचि होने पर, तथा आशय के स्तिमित (जकड़ा) होने पर; क्षार, चूर्ण, आसव, अरिष्ट, मूत्र, तक्र; इनका निरन्तर सेवन करे।

पिप्पली, पुरातन खली, सहजन की छाल, रेत और अलसी, इनको गोमूत्र के साथ पीसकर इनका सुहाता गरम प्रलेप और मर्दन करे ॥ ३४-३५ ॥

सूजन पर स्नान—

स्नानं मूत्राम्भसी सिद्धे कुष्ठतर्कारिचित्रकैः।
कुलत्थनागराभ्यां वा चण्डाऽगुरु विलेपने ॥३६॥

गोमूत्र और जल को कूठ, श्योनाक और चित्रक से सिद्ध करके उससे स्नान करे। अथवा कुलथी और सोंठ से सिद्ध पानी से स्नान करे। चोरक और अगरु का लेप करे ॥ ३६ ॥

एकांग शोफ में लेप—

कालाजशृङ्गीसरलबस्तगन्धाह्वयाह्वयाः ।
एकैषिका च लेपः स्याच्छ्वयथावेकगात्रगे ॥ ३७ ॥

मजीठ, अजश्रृंगी (मेढासिंगी), सरलकाष्ठ, अजगन्धा, अश्वगन्धा, गन्धतृण (पठोरा); इनका लेप एकांग शोफ में उत्तम है। [बस्तगन्धा-कारवी; एकैषिका-त्रिवृत्; इति अरुणदत्तः, एकैषिका-पाठी इतीन्दुः।] ॥ ३७ ॥

दोषानुसार शुद्धि—

यथादोषं यथासन्नं शुद्धिं रक्तावसेचनम्।
कुर्वीत, मिश्रदोषे तु दोषोद्रेकबलात्क्रियाम् ॥ ३८ ॥

दोषानुसार तथा समीपस्थ मार्ग से शोधन एवं रक्तमोक्षण करना चाहिये। संसर्गज दोष में दोष की अधिकता के विचार से चिकित्सा करे ॥ ३८ ॥

वक्तव्य—यथासन्न = समीपस्थ। मार्ग—ऊर्ध्वनाभिजन्य शोफ में वमन, अधोनाभिजन्य में विरेचन और वस्ति तथा शिरोगत में नस्य देना चाहिये (इन्दुः)।

त्रिदोषज शोफचिकित्सा—

अजाजिपाठाघनपञ्चकोल-
व्याघ्रीरजन्यः सुखतोयपीताः।
शोफं त्रिदोषं चिरजं प्रवृद्धं
निघ्नन्ति भूनिम्बमहौषधे च ॥ ३९ ॥

जीरा, पाठा, मुस्ता, बेर, कटेरी, हल्दी, दारुहल्दी, ये गरम पानी से पीने पर त्रिदोषजन्य; पुरातन एवं बढ़े हुए शोफ को नष्ट करती हैं। चिरायता और सोंठ भी शोफ को नष्ट करती है ॥ ३९ ॥

अमृताद्वितयं सिवाटिका
सुरकाष्ठं सपुरं सगोजलम्।
श्वयथूदरकुष्ठपाण्डुता-
कृमिमेहोर्ध्वकफानिलापहम् ॥ ४० ॥

दोनों गिलोय, सिवाटिका (बला या काकमाची ?) देवदारु, गुग्गुलु, इनको गोमूत्र के साथ पीने पर शोफ, उदर, कुष्ठ, पाण्डुरोग, कृमि, प्रमेह, ऊर्ध्ववात और कफ नष्ट होते हैं। ॥ ४० ॥

क्षतोत्थ शोफचिकित्सा—

इति निजमधिकृत्य पथ्यमुक्तं
क्षतजनिते क्षतजं विशोधनीयम्।
स्रुतिहिमघृतलेपसेककार्यैः
विषजनिते विषजिच्च शोफ इष्टम् ॥ ४१ ॥

इस प्रकार से दोषजन्य शोफ की चिकित्सा कह दी है, रक्तजन्य शोफ में रक्त का शोधन करना चाहिये। इसके लिये रक्तस्राव, चन्दन या शीतल घृत का लेप और परिषेक करना चाहिये। विषजनित शोफ में विषहर चिकित्सा उत्तम है।

वक्तव्य—यष्टीदुग्धतिलैर्लेपो नवनीतेन संयुतः। शोफमारुष्करं हन्ति वृन्तैः शालदलस्य वा ॥

शोफ में वर्जित मांसादि—

ग्राम्याब्जानूपं पिशितमबलं शुष्कशाकं तिलान्नं
गौडं पिष्टान्नं दधि सलवणं निर्जलं मद्यमम्लम्।
धाना वल्लूरं समशनमथो गुर्वसात्म्यं विदाहि
स्वप्नं चारात्रौ श्वयथुगदवान् वर्जयेन्मैथुनं च ॥४२॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने श्वयथुचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

* * *

ग्राम्यमांस, अब्ज (जलज) मांस, आनूपमांस, निर्बल प्राणी का मांस, शुष्क शाक, तिल के भक्ष्य, गुड़ से बनी सुरा, पिट्ठी से बने अन्न, दही, लवणयुक्त, जलरहित अम्ल मद्य, अंकुरित धान्य, शुष्क शाक, हित और अहित पदार्थों को एक साथ मिलाकर खाना; गुरु, असात्म्य और विदाही छोड़ देवे ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—तन्त्रान्तरोक्त प्रसिद्ध योग-पुनर्नवादि चूर्ण, पुनर्नवादि गुग्गुलु, शोथारि लोह, दुग्धवटी, रसपर्पटी, पञ्चामृतपर्पटी; अभ्यङ्ग के लिये-पुनर्नवातैल; शुष्कमूलक तैल।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का श्वयथुचिकित्सितनामक सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

* * *

अष्टादशोऽध्यायः

अथातो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे विसर्पचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे,- जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

विसर्प रोग में लंघनादि—

आदावेव विसर्पेषु हितं लङ्घनरूक्षणम्।
रक्तावसेको वमनं विरेकः, स्नेहनं न तु॥ १॥

विसर्प रोग में सबसे प्रथम लङ्घन, रूक्षण, रक्तसेचन, वमन और विरेचन उत्तम है, स्नेहन करना उत्तम नहीं है।

वमन—

प्रच्छर्दनं विसर्पघ्नं सयष्टीन्द्रयवं फलम्।
पटोलपिप्पलीनिम्बपल्लवैर्वा समन्वितम्॥ २॥

मैनफल, मुलहठी और इन्द्रजौ का वमन देना विसर्पनाशक है। अथवा पटोल, पिप्पली, नीम के पत्ते; इनके साथ मैनफल से वमन कराये॥ २॥

विरेचन—

रसेन युक्तं त्रायन्त्या द्राक्षायास्त्रैफलेन वा।
विरेचनं त्रिवृच्चूर्णं पयसा सर्पिषाऽथवा॥ ३॥
योज्यं कोष्ठगते दोषे विशेषेण विशोधनम्।

त्रायन्ती के रस से, द्राक्षा के रस से या त्रिफला के रस से; दूध से अथवा घी के साथ निशोथ का चूर्ण विरेचन के लिए ले। कोष्ठ में पहुँचे दोष के लिए विरेचन विशेष रूप से कराना चाहिये॥ ३॥

अल्प दोष में शमन विधि—

अविशोध्यस्य दोषेऽल्पे शमनं चन्दनोत्पलम्॥ ४॥
मुस्तनिम्बपटोलं वा पटोलादिकमेव वा।
सारिवाऽमलकोशीरमुस्तं वा क्वथितं जले॥ ५॥

जो पुरुष शोधन के योग्य न हो, अथवा दोष के अल्प मात्रा में होने पर चन्दन और कमल को, या मोथा, नीम, परवल को; अथवा पटोलादि गण (इ. सू. अ. १५।१५) को अथवा सारिवा, आंवला, खस, मुस्ता; इनको जल में क्वाथ करके शमन चिकित्सा के लिए बरते॥ ४-५॥

विसर्प में दुरालभादि—

दुरालभां पर्पटकं गुडूचीं विश्वभेषजम्।
पाक्यं शीतकषायं वा तृष्णावीसर्पवान् पिबेत्॥
दार्वीपटोलकटुकामसूरत्रिफलास्तथा।
सनिम्बयष्टीत्रायन्तीः क्वथिता घृतमूर्च्छिताः॥ ७॥

विसर्प रोगी को प्यास हो तो धमासा, शाहतरा (पित्तपापड़ा), गिलोय, सोंठ, इनका क्वाथ या शीतकषाय पिये। दारुहल्दी, पटोल, कुटकी, मसूर, त्रिफला, नीम, मुलहठी, त्रायन्ती; इनके क्वाथ में घी मिलाकर पिये॥ ६-७॥

विसर्प में रक्तमोक्षण विधि—

शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत्।
त्वङ्मांसस्नायुसंक्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते॥ ८॥

शाखा में रक्त के दूषित होने पर सबसे प्रथम रक्तमोक्षण करे। क्योंकि रक्त के क्लेद से त्वचा, मांस और स्नायु का क्लेद होता है॥ ८॥

विसर्प में घृत—

निरामे श्लेष्मणि क्षीणे वातपित्तोत्तरे हितम्।
घृतं तिक्तं महातिक्तं शृतं वा त्रायमाणया॥ ९॥

निरामावस्था आने पर, कफ के क्षीण हो जाने पर, वायु और पित्त के अधिक होने पर; तिक्तक घृत, महातिक्तक घृत अथवा त्रायमाण से सिद्ध घृत देवे। (निरामावस्था में स्नेहन है; आमावस्था में निषेध है।)॥ ९॥

विसर्प पर लेपादि—

निर्हृतेऽस्रे विशुद्धेऽन्तर्दोषे त्वङ्मांससन्धिगे।
बहिःक्रियाः प्रदेहाद्याः सद्यो वीसर्पशान्तये॥ १०॥

रक्त के निकल जाने पर, अन्तर्दोष के शुद्ध हो जाने पर, त्वचा-मांस और सन्धि के विसर्प में प्रलेप, सेक आदि बहिःपरिमार्जन क्रिया विसर्पशान्ति के लिए शीघ्र करनी चाहिए।

वातविसर्पचिकित्सा—

शताह्वामुस्तवाराहीवशार्तगलधान्यकम्।
सुराह्वा कृष्णगन्धा च कुष्ठं चालेपनं चले॥ ११॥

वातवीसर्प में सोया, मुस्ता, वाराहीकन्द, नीलझिण्टी, धनिया, देवदारु और सहजन तथा कूठ का लेप उत्तम है।

पैत्तिक विसर्पचिकित्सा—

न्यग्रोधादिगणः पित्ते तथा पद्मोत्पलादिकम्।

पित्तवीसर्प में न्यग्रोधादि गण से या पद्मोत्पलादि गण से लेप आदि करना चाहिये।

पित्तज विसर्प पर लेप—

न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः॥ १२॥
बिसग्रन्थिश्च लेपः स्याच्छतधौतघृतप्लुतः।
पद्मिनीकर्दमः शीतः पिष्टं मौक्तिकमेव वा॥ १३॥
शङ्खः प्रवालं शुक्तिर्वा गैरिकं वा घृतान्वितम्।

बरगद की नूतन जटायें, केला का मध्य भाग और बिसग्रन्थि को शतधौत घृत में मिलाकर लेप करे। कमलिनी का शीतल कीचड़, जल में पीसा मोती या शंख, प्रवाल अथवा सीप का लेप करे। गेरु को घी में मिलाकर लेप करे। (घी इन सब योगों में मिलाना चाहिये। कमलिनी के कीचड़ के अभाव में कुम्हार के चाक की मिट्टी लेते हैं)॥ १२-१३॥

कफज विसर्प पर लेप—

त्रिफलापद्मकोशीरसमङ्गाकरवीरकम्॥ १४॥
नलमूलान्यनन्ता च लेपः श्लेष्मविसर्पहा।

धवसप्ताह्वखदिरदेवदारुकुरण्टकम् ॥१५॥
समुस्तारग्वधं लेपो वर्गो वा वरुणादिकः ।
आरग्वधस्य पत्राणि त्वचः श्लेष्मातकोद्भवाः ॥१६॥
इन्द्राणिशाकं काकाह्वा शिरीषकुसुमानि च ।

त्रिफला, पद्माख, खस, मजीठ, कनेर, नबसर के मूल, सारिवा; इनका लेप कफजन्य वीसर्प को नष्ट करता है।

धव, सप्तपर्ण, खैर, देवदारु, कुरण्टक, मुस्ता, अमलतास; इनका अथवा वरुणादिगण का लेप कफवीसर्प में उत्तम है।

अमलतास के पत्ते, लिसोड़े की छाल, इन्द्राणी का शाक, मकोय और शिरीष के फूल का लेप उत्तम है। [इन्द्राणीशाकं मत्स्याक्षकमाहुः, निर्गुण्डीमेवापरे, चक्रदत्तः]।

कफज तथा पित्तज विसर्प पर सेकादि—

सेकव्रणाभ्यङ्गहविर्लेपचूर्णान् यथायथम् ॥ १७ ॥
एतैरेवौषधैः कुर्याद्वायौ लेपा घृताधिकाः ।

श्लेष्मविसर्प के लिये जो ओषधियां कही हैं; उनसे परिषेक, व्रण पर अभ्यङ्ग, घी, लेप, चूर्ण का प्रयोग दोषों के अनुसार करना चाहिये। वातज विसर्प में घी अधिक मिलाये [पित्त-कफ में थोड़ा घी मिलावे] ॥ १७ ॥

साम वायु में लेप—

कफस्थानगते सामे पित्तस्थानगतेऽथवा ॥१८॥
अशीतोष्णा हिता रूक्षा रक्तपित्ते घृतान्विताः ।
अत्यर्थशीतास्तनवस्तनुवस्त्रान्तरास्थिताः ॥१९॥
याज्याः क्षणे क्षणेऽन्येऽन्ये मन्दवीर्यास्त एव च ।

आमयुक्त वायु के कफस्थान या पित्तस्थान में पहुँचने पर थोड़े शीतल, थोड़े उष्ण और रूक्ष लेप करने चाहियें। रक्त एवं पित्त में घी मिला कर अतिशय शीतल करके पतले लेप करने चाहियें। इन लेपों को महीन वस्त्र से ढांप देना चाहिये। इनको थोड़ी-थोड़ी देर में बदलते जाना चाहिये। क्योंकि वे ही लेप हीनवीर्य हो जाते हैं ॥ १८-१९ ॥

संसृष्ट दोष में कर्तव्य—

संसृष्टदोषे संसृष्टमेतत्कर्म प्रशस्यते २० ॥

दो दोषों के मिले हुए या सन्निपातज वीसर्प में, इसी पूर्वोक्त चिकित्सा को दोषानुसार मिलाकर करे ॥ २० ॥

अग्निविसर्पचिकित्सा—

शतधौतघृतेनाग्निं प्रदिह्यात्केवलेन वा ।
सेचयेद् घृतमण्डेन शीतेन मधुकाम्बुना ॥ २१ ॥
सिताम्भसाऽम्भोदजलैः क्षीरेणेक्षुरसेन वा ।
पानलेपनसेकेषु महातिक्तं परं हितम् ॥ २२ ॥

अग्निवीसर्प पर शतधौत घृत का लेप करे। अथवा अकेले घृतमण्ड से परिषेक करे। मुलहठी के शीतल जल (क्वाथ) से परिषेक करे। शर्करा के पानी से, मुस्ता के पानी से, दूध से या गन्ने के रस से परिषेक करे। पान, लेप और परिषेक में महातिक्त घृत अतिशय उत्तम है ॥ २१-२२ ॥

ग्रन्थिविसर्पचिकित्सा—

ग्रन्थ्याख्ये रक्तपित्तघ्नं कृत्वा सम्यग्यथोदितम् ।
कफानिलघ्नं कर्मेष्टं पिण्डस्वेदोपनाहनम् ॥२३॥

ग्रन्थिवीसर्प में रक्तपित्तनाशकचिकित्सा करके कही हुई कफ-पित्तनाशक चिकित्सा तथा पिण्डस्वेद और उपनाह करना उत्तम है ॥ २३ ॥

ग्रंथिविसर्प में परिषेक—

ग्रन्थिवीसर्पशूले तु तैलेनोष्णेन सेचयेत् ।
दशमूलविपक्वेन तद्वन्मूत्रैर्जलेन वा ॥ २४ ॥

ग्रन्थिवीसर्प में शूल होने पर दशमूल से सिद्ध गरम तैल से परिषेक करे। अथवा दशमूल से सिद्ध गोमूत्र से या दशमूल के क्वाथ से परिषेक करे ॥ २४ ॥

ग्रन्थिविसर्प में लेप—

सुखोष्णया प्रदिह्याद्वा पिष्टया कृष्णगन्धया ।
नक्तमालत्वचा शुष्कमूलकैः कलिनाऽथवा ॥ २५ ॥

सइजन को पीस कर सुहाता हुआ गरम करके लेप करे। अथवा करञ्ज की छाल, सूखी मूली या बहेड़े की छाल का सुहाता गरम लेप करे ॥ २५ ॥

ग्रन्थि-भेदन—

दन्ती चित्रकमूलत्वक् सौधार्कपयसी गुडः ।
भल्लातकास्थि कासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि ॥
बहिर्मार्गाश्रितं ग्रन्थिं किं पुनः कफसम्भवम् ।

दन्ती, चित्रकमूल की छाल, स्नुही का दूध, आक का दूध, गुड़, भिलावा, कासीस; इनका लेप तो शिला को भी तोड़ देता है। फिर कफजन्य बहिर्मार्ग में आश्रित ग्रन्थि को तो अवश्य तोड़ देगा ॥ २६ ॥

दीर्घकालस्थितं ग्रन्थिमेभिर्भिन्द्याच्च भेषजैः ॥ २७ ॥
मूलकानां कुलत्थानां यूषैः सक्षारदाडिमैः ।
गोधूमान्नैर्यवान्नैर्वा ससीधुमधुशार्करैः ॥ २८ ॥
सक्षौद्रैर्वारुणीमण्डैर्मातुलुङ्गरसान्वितैः ।
त्रिफलायाः प्रयोगैश्च पिप्पल्याः क्षौद्रसंयुतैः ॥ २९ ॥
देवदारुगुडूच्योश्च प्रयोगैर्गिरिजस्य च ।
मुस्तभल्लातसक्तूनां प्रयोगैर्माक्षिकस्य च ॥ ३० ॥
धूमैर्विरेकैः शिरसः पूर्वोक्तैर्गुल्मभेदनैः ।
तप्तायोहेमलवणपाषाणादिप्रपीडनैः ॥ ३१ ॥

चिरकालस्थित ग्रन्थि का इन औषधियों से भेदन करे। मूली और कुलथी के यूषों में यवक्षार, अनारदाना मिला कर इनके साथ गेहूं या जौ का भोजन करे। सीधु, मधु, शर्करा से युक्त पेया तथा मधु, वारुणीमण्ड, इनमें गलगल नीबू का रस मिला कर पिये। त्रिफला के प्रयोगों से (रसायनाध्याय-अ० ३९ में), पिप्पली के प्रयोगों से, मधु के साथ देवदारु और गिलोय को खाने से, शिलाजतु के प्रयोग से,

मुस्ता सत्तू (इसका प्रयोग अ० १९।५० में) भिलावा के प्रयोग से, स्वर्णसात्त्विक के उपयोग से धूमपान, शिरोविरेचन, गुल्म में पहले कहे भेदक प्रयोगों से; गरम लोह, लवण, पत्थर आदि के दबाव से दीर्घकाल स्थित ग्रन्थि का भेदन करे। (गुल्म में पूर्वोक्त-विमार्गाजपदादर्शैः इ० चि० अ० १४।८६–इनसे भेदन करे) ॥ २७-३१ ॥

ग्रन्थि शान्त न होने पर दाह—

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्विविधाभिर्बले स्थितः ।
ग्रन्थिः पाषाणकठिनो यदि नैवोपशाम्यति ॥३२॥
अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्हेम्नाऽपि वा हितः ।
पाकिभिः पाचयित्वा वा पाटयित्वा समुद्धरेत् ॥३३

इन पूर्वोक्त दृष्टफल नाना प्रकार की क्रियाओं के करने पर भी ग्रन्थि दीर्घ काल के कारण बलवान् तथा पत्थर के समान कठोर होने से शान्त न हो तो इसका अग्नि से या क्षार से अथवा शर (लोहे की शलाका) से या स्वर्णादि से दाह करना उत्तम है। अथवा पकाने वाली औषधियों से पकाकर चीर कर इस ग्रन्थि को (सम्पूर्ण रूप में) बाहर निकाले ॥ ३२-३३ ॥

ग्रन्थि में रक्तमोक्षण विधि—

मोक्षयेद्बहुशश्चास्य रक्तमुत्क्लेशमागतम् ।
पुनश्चापहृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम् ॥ ३४ ॥

ग्रन्थिविसर्प वाले इस रोगी के उत्क्लेशित हुए (विकार करने के लिये तत्पर) रक्त में बार बार रक्तमोक्षण करे। रक्त निकालने के उपरान्त वात-कफनाशक औषध बरते ॥ ३४ ॥

व्रण की सामान्य चिकित्सा—

प्रक्लिन्ने दाहपाकाभ्यां बाह्यान्तर्व्रणवत्क्रिया ।
दार्वीविडङ्गकम्पिल्लैः सिद्धं तैलं व्रणे हितम् ॥३५॥
दूर्वास्वरससिद्धं तु कफपित्तोत्तरे घृतम् ।

सब वीसर्पों में दाह और पाक होने से क्लेद युक्त होनेपर बाहर और अन्दर व्रण की भांति चिकित्सा करनी चाहिये। दारुहल्दी, वायविडंग, कमीला; इनसे सिद्ध तैल व्रण (वातप्रधान वीसर्प) में उत्तम है। कफ-पित्तप्रधान वीसर्प में दूर्वास्वरस से सिद्ध घृत उत्तम है ॥ ३५ ॥

रक्तहरण में कारण—

एकतः सर्वकर्माणि रक्तमोक्षणमेकतः ॥ ३६ ॥
विसर्पो न ह्यसंसृष्टः सोऽस्रपित्तेन जायते ।
रक्तमेवाश्रयश्चास्य बहुशोऽस्रं हरेदतः ॥ ३७ ॥

वीसर्प में एक तरफ सम्पूर्ण चिकित्सा है। और दूसरी तरफ रक्तमोक्षण अकेली एक चिकित्सा है। क्योंकि वीसर्प रोग रक्त-पित्त के विना नहीं होता और इस वीसर्प का आश्रय रक्त ही है, इसलिये रक्त को बार बार निकाले ॥

विसर्प में घृत का निषेध—

न घृतं बहुदोषाय देयं यन्न विरेचनम् ।
तेन दोषो ह्युपस्तब्धस्त्वग्रक्तपिशितं पचेत् ॥ ३८ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाम्
अष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने
विसर्पचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

* * *

बहुत दोष वाले वीसर्प रोगी को ऐसा घृत नहीं देना चाहिये, जो कि विरेचक न हो। क्योंकि ऐसे घृत के देने से (जो घृत विरेचन नहीं करता, उससे) रुके हुए दोष त्वचा, मांस और रक्त को पका देते हैं (इसलिये विसर्प में विरेचक घृत ही देना चाहिये। (बहुदोषाय-बहुपित्ताय) ॥ ३८ ॥

वक्तव्य—तन्त्रान्तरोक्त प्रसिद्धयोग-दशाङ्गलेप, अमृतादि क्वाथ, कालाग्निरुद्ररस, वातरक्तान्तकरस, आरोग्यवर्धनी वटी, अष्टांगावलेहिका, पंचतिक्त घृत, पिप्पली और हरड़ के चूर्ण को मधु से चाटे।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का विसर्प चिकित्सित नामक अट्ठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥

* * *

एकोनविंशोऽध्यायः

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे कुष्ठ चिकित्सित का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

कुष्ठ में स्नेहपान—

कुष्ठिनं स्नेहपानेन पूर्वं सर्वमुपाचरेत् ।

सभी कुष्ठरोगी की प्रथम स्नेहपान से चिकित्सा करे। [शरीर की पुष्टि के लिये स्नेह का उपयोग है]।

वातप्रधान कुष्ठ में तैलादि—

तत्र वातोत्तरे तैलं घृतं वा साधितं हितम् ॥ १ ॥
दशमूलामृतैरण्डशार्ङ्गेष्टामेषशृङ्गिभिः ।

वातप्रधान कुष्ठों में दशमूल, गिलोय, एरण्ड, मजीठ और मेषशृंगी से साधित घी या तैल देना उत्तम है ॥ १ ॥

पित्तज-कुष्ठचिकित्सा—

पटोलनिम्बकटुकादार्वीपाठादुरालभाः ॥ २ ॥
पर्पटं त्रायमाणां च पलांशं पाचयेदपाम् ।
द्रव्याढकेऽष्टांशशेषेण तेन कर्षोन्मितैस्तथा ॥ ३ ॥
त्रायन्तीमुस्तभूनिम्बकलिङ्गकणचन्दनैः ।
सर्पिषो द्वादशपलं पचेत्तत्तिक्तकं जयेत् ॥ ४ ॥
पित्तकुष्ठपरीसर्पपिडकादाहतृड्भ्रमान् ।

कण्डूपाण्ड्वामयान् गण्डान् दुष्टनाडीव्रणापचीः ॥५॥
विस्फोटविद्रधीगुल्मशोफोन्मादमदानपि ।
हृद्रोगतिमिरव्यङ्गग्रहणीश्वित्रकामलाः ॥६॥
भगन्दरमपस्मारमुदरं प्रदरं गरम् ।
अर्शोऽस्रपित्तमन्यांश्च सुकृच्छ्रान् पित्तजान् गदान् ॥

तिक्तक घृत—परवल, नीम, कुटकी, दारुहल्दी, पाठा, धमासा, शाहतरा, त्रायमाणा प्रत्येक एक पल लेकर दो आढक जल में क्वाथ करे। अष्टमांश शेष रहने पर इसमें त्रायन्ती, मुस्ता, चिरायता, इन्द्रजौ, पिप्पली, चन्दन; प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनका कल्क मिलाकर बारह पल घी को सिद्ध करे। यह तिक्तक घृत पित्तकुष्ठ, विसर्प, पिटिका, दाह, प्यास भ्रम, कण्डू, पाण्डुरोग, गण्ड, दुष्टनाडीव्रण, अपची, विस्फोट, विद्रधि, गुल्म, शोफ, उन्माद, मद, हृदय रोग, तिमिर, व्यंग, ग्रहणी, श्वित्र, कामला, भगन्दर, अपस्मार, उदर, प्रदर, गरविष, अर्श, रक्तपित्त और दूसरे कष्टसाध्य पित्तजन्य रोगों को नष्ट करता है। (चरक, सुश्रुत में—पाठा के स्थान पर त्रिफला है। कई बार में पूरा बारह पल घृत सेवन करने से अधिक गुणकारी होता है) ॥ २-७ ॥

पित्तज कुष्ठ में महातिक्तक घृत—

सप्तच्छदः पर्पटकः शम्पाकः कटुका वचा ।
त्रिफला पद्मकं पाठा रजन्यौ सारिवे कणे ॥८॥
निम्बचन्दनयष्ट्याह्वविशालेन्द्रयवामृताः ।
किराततिक्तकं सेव्यं वृषो मूर्वा शतावरी ॥९॥
पटोलातिविषामुस्तात्रायन्तीधन्वयासकम् ।
तैर्जलेऽष्टगुणे सर्पिर्द्विगुणामलकीरसे ॥१०॥
सिद्धं तिक्तान्महातिक्तं गुणैरभ्यधिकं मतम् ।

सप्तपर्ण, शाहतरा, अमलतास, कुटकी, वच, त्रिफला, पद्माख, पाठा, हल्दी, दारुहल्दी, सारिवा, पिप्पली, नीम, चन्दन, मुलहठी, इन्द्रायण, इन्द्रजौ, गिलोय, चिरायता, खश, अडूसा, मूर्वा, शतावरी, पटोल, अतीस, मुस्ता, त्रायन्ती, धमासा; इनके कल्क से, घी से आठगुने जल में एवं घी से दुगुने आंवले के रस में सिद्ध किया महातिक्त घृत पूर्व तिक्तक घृत से अधिक गुणकारी है ॥ ८-१० ॥

कफप्रधान-कुष्ठचिकित्सा—

कफोत्तरे घृतं सिद्धं निम्बसप्ताह्वचित्रकैः ॥११॥
कुष्ठोषणवचाशालप्रियालचतुरङ्गुलैः ।

कफप्रधान कुष्ठ में नीम, सप्तपर्ण, चित्रक, कूठ, मरिच, वच, शाल, पियाल और अमलतास के कल्क से सिद्ध घृत पिये।

सर्व-कुष्ठचिकित्सा—

सर्वेषु चारुष्करजं तौवरं सार्षपं पिबेत् ॥१२॥
स्नेहं घृतं वा कृमिजित्पथ्याभल्लातकैः शृतम् ।

सब कुष्ठों में भिलावे का तेल, तुवरक का तेल या सरसों का तेल पिये। अथवा वायविडंग, हरड़ और भिलावे से सिद्ध स्नेह या घृत पिये ॥ १२ ॥

आरग्वधस्य मूलेन शतकृत्वः शृतं घृतम् ॥१३॥
पिबन् कुष्ठं जयत्याशु भजन् सखदिरं जलम् ।

अमलतास की मूल से एक सौ बार घृत को पकावे। इस घृत को पीते हुए खैर से बनाया पानी पिये। यह कुष्ठ नाश करता है ॥ १३ ॥

कुष्ठ में अभ्यंजन

एभिरेव यथास्वं च स्नेहैरभ्यञ्जनं हितम् ॥१४॥

इन पूर्वोक्त स्नेहों से दोषानुसार अभ्यंग करना उत्तम है।

कुष्ठ में संशोधनादि—

स्निग्धस्य शोधनं योऽयं विसर्पे यदुदाहृतम् ।

स्निग्ध हुए कुष्ठ रोगी को विसर्प में कहा शोधन (च० उ० १८।३) देवे।

कुष्ठ में शिरावेधन—

ललाटहस्तपादेषु शिराश्चास्य विमोक्षयेत् ॥१५॥
प्रच्छानमल्पके कुष्ठे शृङ्गाद्यांश्च यथायथम् ।

इस कुष्ठ रोगी के ललाट, हाथ या पैरों में बल की अपेक्षा से शिरामोक्षण करे। थोड़े कुष्ठ में पाछना करे। अथवा वातादि दोषों के अनुसार सींग आदि से रक्तस्राव करे ॥१५॥

कुष्ठ में आप्यायन—

स्नेहैराप्याययेच्चैनं कुष्ठघ्नैरन्तराऽन्तरा ॥ १६ ॥
मुक्तरक्तविरिक्तस्य रिक्तकोष्ठस्य कुष्ठिनः ।
प्रभञ्जनस्तथा ह्यस्य न स्याद्देहप्रभञ्जनः ॥ १७ ॥

बीच-बीच में कुष्ठनाशक स्नेहों से इसको पुष्ट करता जाये। जिससे कि रक्तमोक्षण से, विरेचन से, कुष्ठरोगी का कोष्ठ खाली हो जाने पर कुपित वायु इस रोगी के शरीर को न तोड़ देवे (नष्ट कर देवे) ॥ १६-१७ ॥

कुष्ठादि रोग में वज्रक घृत—

वासाऽमृतानिम्बवरापटोल-
व्याघ्रीकरञ्जोदककल्कपक्वम् ।
सर्पिर्विसर्पज्वरकामलाऽस्र-
कुष्ठापहं वज्रकमामनन्ति ॥ १८ ॥

अडूसा, गिलोय, नीम, त्रिफला, पटोल, कटेरी, करंज, खस, इनके कल्क से पकाया घृत विसर्प, ज्वर, कामला, रक्तपित्त और कुष्ठ को नष्ट कर देता है। इस घृत का नाम वज्रक है ॥ १८ ॥

महावज्रक घृत—

त्रिफलात्रिकटुद्विकण्टकारी-
कटुकाकुम्भनिकुम्भराजवृक्षैः ।
सवचाऽतिविषाऽग्निकैः सपाठैः ।
पिचुभागैर्नववज्रकुष्ठमुष्टया ॥ १९ ॥

पिष्टैः सिद्धं सर्पिषः प्रस्थमेभिः
क्रूरे कोष्ठे स्नेहनं रेचनं च ।
कुष्ठश्वित्रप्लीहवर्ध्माश्मगुल्मान्
हन्यात्कृच्छ्रांस्तन्महावज्रकाख्यम् ॥२०॥

त्रिफला, त्रिकटु, कटेरी, बड़ी कटेरी, कुटकी, दन्ती, मोगलाई एरण्ड, अमलतास, वच, अतीस, चित्रक, पाठा, प्रत्येक एक कर्ष, नूतन स्नुही का दूध एक पल लेकर इन औषधियों को पीसकर इनसे एक प्रस्थ घृत को (चौगुने जल में) सिद्ध करे। क्रूर कोष्ठ के लिये यह उत्तम स्नेहन और विरेचन है। कुष्ठ, श्वित्र, प्लीहा, वर्ध्म, पथरी और गुल्म, जो कष्टसाध्य रोग हैं; उनको भी यह महावज्रक घृत नष्ट कर देता है ॥ १९-२० ॥

वैरेचनिक घृत—

दन्त्याढकमपां द्रोणे पक्त्वा तेन घृतं पचेत् ।
धामार्गवपले पीतं तदूर्ध्वाधो विशुद्धिकृत् ॥ २१ ॥

दन्ती चौंसठ पल लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ करे। इस क्वाथ में राजकोशातकी का कल्क एक पल मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत पीने पर वमन विरेचन द्वारा शोधन करता है।

अन्य औषध—

आवर्तकीतुलां द्रोणे पचेद्दशांशशेषितम् ।
तन्मूलैस्तत्र निर्यूहे घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ २२ ॥
पीत्वा तदेकदिवसान्तरितं सुजीर्णे
भुञ्जीत कोद्रवमसंस्कृतकाञ्जिकेन ।
कुष्ठं किलासमपचीं च विजेतुमिच्छ-
न्निच्छन् प्रजां च विपुलां ग्रहणं स्मृतिं च ॥

मेढासिंगी एक तुला लेकर एक द्रोण जल में पकाये। आठवां भाग शेष रहने पर इस क्वाथ में मेढासिंगीमूल के कल्क से एक प्रस्थ घृत सिद्ध करे। इस घी को एक दिन के अन्तर से पीकर इसके भली प्रकार जीर्ण हो जाने पर असंस्कृत (हींग आदि से न बघारी) कांजी के साथ कोदो का चावल खाये; जो मनुष्य कुष्ठ, किलास, अपची को नष्ट करना चाहे, तथा बहुत-सी सन्तान एवं अतिशय ग्रहण करने की शक्ति (मेधा) और स्मृति चाहे, वह इसको पिये।

यतेर्लेलीतकवसा क्षौद्रजातीरसान्विता ।
कुष्ठघ्नी समसर्पिर्वा सगायत्र्यसनोदका ॥ २४ ॥

ब्रह्मचारी रहकर लेलीतकवसा (गंधक) को मधु और चमेली के रस के साथ या समान घी एवं खैर और असन के क्वाथ के साथ खाये। यह कुष्ठनाशक है ॥ २४ ॥

वक्तव्य—लेलीतकवसा-सौवर्चललवणतैलम् (अरुणदत्त); गन्धक इत्यन्ये ।

कुष्ठ रोग में पथ्य और अपथ्य—

शालयो यवगोधूमाः कोरदूषाः प्रियङ्गवः ।
मुद्गा मसूरास्तुवरी तिक्तशाकानि जाङ्गलम् ॥ २५ ॥
वरापटोलखदिरनिम्बारुष्करयोजितम् ।
मद्यान्यौषधगर्भाणि मथितं चेन्दुराजिमत् ॥ २६ ॥
अन्नपानं हितं कुष्ठे, न त्वम्ललवणोषणम् ।
दधिदुग्धगुडानूपतिलमाषांस्त्यजेत्तराम् ॥ २७ ॥

शालिधान्य, जौ, गेहूं, कोदो, प्रियंगु (कांगुनी), मूँग, मसूर, अरहर, तिक्तशाक, जांगलमांस, त्रिफला, पटोल, खैर, नीम, भिलावा, इनसे मिला खान-पान कुष्ठ में उत्तम है। औषध से मिले मद्य और बावचीसहित तक्र कुष्ठ में उत्तम हैं।

अम्ल, लवण, मरिच वाला खान-पान अच्छा नहीं। दही, दूध, घृत, आनूप मांस, तिल और उरद, इनका विशेष रूप में त्याग कर देवे ॥ २५-२७ ॥

अन्य उपाय—

पटोलमूलत्रिफलाविशालाः
पृथक् त्रिभागापचितत्रिशाणाः ।
स्युस्त्रायमाणा कटुरोहिणी च
भागाधिके नागरपादयुक्ते ॥ २८ ॥
एतत्पलं जर्जरितं विपक्वं
जले पिबेद्दोषविशोधनाय ।
जीर्णे रसैर्धन्वमृगद्विजानां
पुराणशाल्योदनमाददीत ॥ २९ ॥
कुष्ठं किलासं ग्रहणीप्रदोष-
मर्शांसि कृच्छ्राणि हलीमकं च ।
षड्रात्रयोगेन निहन्ति चैतद्
हृद्बस्तिशूलं विषमज्वरं च ॥ ३० ॥

परवलमूल, त्रिफला, इन्द्रायण ये प्रत्येक तीसरे शाण में एक तिहाई कम तीन शाण (२$\frac{२}{३}$ शाण या १६ धान। ६ धान=१ शाण=४ आनाभर), त्रायमाणा, कुटकी, चौथाई भाग सोंठ मिलाने पर परवल आदि का आधा (४+६+६ =१६ धान) इस प्रकार ये सब मिलित एक पल (१६×६=९६ धान=१ पल) लेकर क्वाथविधि से क्वाथ करे। दोष को नष्ट करने के लिये इस क्वाथ को पिये। इनके जीर्ण हो जाने पर जांगल मृग-पक्षियों के मांसरस से पुरातन चावलों को खाये। छः दिन के प्रयोग से कुष्ठ, किलास, ग्रहणी रोग, कष्टसाध्य अर्श, हलीमक, हृदयशूल, वस्तिशूल और विषमज्वर नष्ट होता है ॥ २८-३० ॥

वक्तव्य—चरक में भी यही योग है किन्तु द्रव्यों का परिमाण भिन्न है। तथापि दोनों का परिणाम एक ही होता है क्योंकि चरक में सब एक २ पल परिमाणमें मिलाकर चूर्ण कर उसमें से एक पल लेकर क्वाथ करना लिखा है। यथा—'मूलं पटोलस्य तथा गवाक्ष्याः, पृथक् पलांशं त्रिफला त्वचश्च । स्यात् त्रायमाणा कटुरोहिणी च, भागाधिका नागरपादयुक्ता । पलं तथैषां सह चूर्णितानां जले श्रुतं दोषहरं पिबेन्ना॥' चक्रपाणि द्वारा की गई व्याख्या के लिये चरक देखिये।

विडङ्गसारामलकाभयानां
पलत्रयं, त्रीणि पलानि कुम्भात् ।
गुडस्य च द्वादश, मासमेष
जितात्मनां हन्त्युपयुज्यमानः ॥ ३१ ॥
कुष्ठश्वित्रश्वासकासोदरार्शो-
मेहप्लीहग्रन्थिरुग्जन्तुगुल्मान् ।
सिद्धं योगं प्राह यक्षो मुमुक्षो-
र्भिक्षोः प्राणान् माणिभद्रः किलेमम् ॥३२॥

विडंग की मज्जा, आंवला, हरड़ (मिलाकर) तीन पल, निशोथ तीन पल, गुड़ बारह पल; इनको एक मास तक जितेन्द्रिय रह कर खाने से कुष्ठ, श्वित्र, श्वास, कास, उदर, अर्श, प्रमेह, प्लीहा, ग्रन्थिवेदना, कृमि और गुल्म नष्ट होते हैं। इस सिद्ध योग को मणिभद्र नामक यक्ष ने भिक्षु के प्राणों को बचाने के लिये कहा था ॥ ३१-३२ ॥

वक्तव्य—यहाँ पर गुड़ की अधिक मात्रा अग्निमान्द्य नहीं करेगी, क्योंकि 'गुडः कर्ताऽग्निसादस्य सह न त्वभयादिभिः॥'

भूनिम्बनिम्बत्रिफलापद्मकातिविषाकणाः ।
मूर्वापटोलद्विनिशापाठातिक्तेन्द्रवारुणीः ॥ ३३ ॥
सकलिङ्गवचास्तुल्या द्विगुणाश्च यथोत्तरम् ।
लिह्याद्दन्तीत्रिवृद्ब्राह्मीश्चूर्णिता मधुसर्पिषा ॥ ३४ ॥
कुष्ठमेहप्रसुप्तीनां परमं स्यात्तदौषधम् ।

चिरायता, नीम, त्रिफला, पद्माख, अतीस, पिप्पली, मूर्वा, पटोल, हल्दी, दारुहल्दी, पाठा, कुटकी, इन्द्रायण, इन्द्रजौ और वचा ये प्रत्येक परस्पर समान भाग, दन्ती दो भाग, त्रिवृत चार भाग और ब्राह्मी आठ भाग, इनका चूर्ण करके मधु और घृत से चाटे। यह प्रमेह, कुष्ठ और सुप्तवात की श्रेष्ठ औषध है ॥ ३३-३४ ॥

वराविडङ्गकृष्णा वा लिह्यात्तैलाज्यमाक्षिकैः ॥ ३५ ॥

अथवा त्रिफला, बायबिडंग और पिप्पली को तैल, घी और मधु के साथ चाटे ॥ ३५ ॥

त्वचा रोग पर काढा—

काकोदुम्बरिकावेल्लनिम्बाब्दव्योषकल्कवान् ।
हन्ति वृक्षकनिर्यूहः पानात्सर्वांस्त्वगामयान् ॥३६॥

कठगूलर, बायविडङ्ग, नीम, मोथा और त्रिकटु का कल्क इन्द्रजौ के क्वाथ में मिला कर पीने से त्वचा के सब रोग नष्ट होते हैं ॥ ३६ ॥

कुटजाग्निनिम्बनृपतरुखदिरासनसप्तपर्णनिर्यूहे ।
सिद्धा मधुघृतयुक्ताः कुष्ठघ्नीर्भक्षयेदभयाः ॥ ३७ ॥
दार्वीखदिरनिम्बानां त्वक्क्वाथः कुष्ठसूदनः ॥

कुड़ा, चित्रक, नीम, अमलतास, खैर, असन, सप्तपर्ण, इनके क्वाथ में सिद्ध की हुई हरड़, मधु और घृत के साथ खाने से कुष्ठनाशक है। दारुहल्दी, खैर, नीम की छालों का क्वाथ, कुष्ठनाशक है ॥ ३७ ॥

निशोत्तमानिम्बपटोलमूल,
तिक्तावचालोहितयष्टिकाभिः
कृतः कषायः कफपित्तकुष्ठं
सुसेवितो धर्म इवोच्छिनत्ति ॥ ३८ ॥
एभिरेव च शृतं घृतमुख्यं
भेषजैर्जयति मारुतकुष्ठम् ।
कल्पयेत्खदिरनिम्बगुडूची-
देवदारुरजनीः पृथगेवम् ॥ ३९ ॥

हल्दी, त्रिफला, नीम, पटोलमूल, कुटकी, वच, अगरु, मुलहठी; इनका कषाय कफपित्तजन्य कुष्ठ को नष्ट करता है, जैसे कि भली प्रकार सेवन किया धर्म कुष्ठ को नष्ट करता है। इन्हीं औषधियों से सिद्ध किया श्रेष्ठ घृत वातकुष्ठ को नष्ट करता है। इसी कल्पना से खैर, नीम, गिलोय, देवदारु और हल्दी से पृथक् घृत सिद्ध करे ॥ ३८-३९ ॥

पाठादार्वीवह्निघुणेष्टाकटुकाभि-
र्मूत्रं युक्तं शक्रयवैश्चोष्णजलं वा ।
कुष्ठी पीत्वा मासमरुक् स्याद् गुदकीली
मेही शोफी पाण्डुरजीर्णी कृमिमांश्च ॥ ४० ॥

पाठा, दारुहल्दी, चित्रक, अतीस, कुटकी, इन्द्रजौ; इनको गोमूत्र के साथ या गरम जल के साथ एक मास तक पीने पर कुष्ठरोगी रोगरहित होता है। अर्श रोगी, प्रमेही, शोफरोगी, पाण्डुरोगी, अजीर्णरोगी एवं कृमिरोगी भी निरोग होते हैं।

लाक्षादन्तीमधुरसवराद्वीपिपाठाविडङ्ग-
प्रत्यक्पुष्पीत्रिकटुरजनीसप्तपर्णाटरूषम् ।
रक्तानिम्बं सुरतरु कृतं पञ्चमूल्यौ च चूर्णं
पीत्वा मासं जयति हितभुग्गव्यमूत्रेण कुष्ठम् ॥४१॥

लाख, दन्ती, मूर्वा, त्रिफला, चित्रक, पाठा, विडङ्ग, चिरचिटा, त्रिकटु, हल्दी सप्तपर्ण, अडूसा, मंजीठ, नीम, देवदारु और दशमूल का चूर्ण गोमूत्र के साथ एक मास तक पीने से हित भोजन करने वाले के कुष्ठ को नष्ट करता है ॥ ४१ ॥

निशाकणानागरवेल्लतौवरं
सवह्नितार्प्यं क्रमशो विवर्धितम् ।
गवाम्बुपीतं वटकीकृतं तथा
निहन्ति कुष्ठानि सुदारुणान्यपि ॥ ४२ ॥

हल्दी, पिप्पली, सोंठ, वायविडङ्ग, तुबरक (चालमोगरे), चित्रक, स्वर्णमाक्षिक; इनको गोमूत्र के साथ पीने से या इनकी गोमूत्र के साथ गोलियां बनाकर खाने से अतिदारुण कुष्ठ भी नष्ट होते हैं ॥ ४२ ॥

कुष्ठ रोग में रसायन—

त्रिकटूत्तमातिलारुष्कराज्यमाक्षिकसितोपलाविहिता।
गुलिका रसायनं कुष्ठजिच्च वृष्या च सप्तसमा ॥४३॥

त्रिकटु, त्रिफला, तिल, भिलावा, घी, मधु और मिश्री; ये सातों वस्तुएं समान लेकर गुटिकायें बनाये। ये गुटिकायें रसायन, कुष्ठनाशक और वृष्य हैं।

चन्द्रशकलाग्निरजनीविडङ्गतुवरास्थ्यरुष्करत्रिफलाभिः
वटका गुडांशक्लृप्ताः समस्तकुष्ठानि नाशयन्त्यभ्यस्ताः

बावची, चित्रक, हल्दी, विडंग, तुवर का फल, भिलावा, त्रिफला; इनकी गुड के साथ बनाई गोलियां निरन्तर खाने पर समस्त कुष्ठों को नष्ट करती हैं। ['तुवर का फल' का अभिप्राय तुवरक से है]।

विडङ्गभल्लातकवाकुचीनां
सद्वीपिवाराहिहरीतकीनाम् ।
सलाङ्गलीकृष्णतिलोपकुल्या
गुडेन पिण्डी विनिहन्ति कुष्ठम् ॥ ४५ ॥

विडंग, भिलावा, बावची, चित्रक, वाराहीकन्द, हरड़, कलिहारी, काले तिल, जीरा; इनकी गुड के साथ बनाई गोलियां कुष्ठ को नष्ट करती हैं।

शशाङ्कलेखा सविडङ्गसारा
सपिप्पलीका सहुताशमूला ।
सायोमला सामलका सतैला
कुष्ठानि कृच्छ्राणि निहन्ति लीढा ॥ ४६ ॥

बावची, विडङ्ग की मज्जा, पिप्पली, चित्रकमूल, मण्डूर-भस्म, आंवला; इनके चूर्ण को तैल के साथ चाटने से कष्ट-साध्य कुष्ठ भी अच्छे हो जाते हैं।

पथ्यादि गुटिका—

पथ्यातिलगुडैः पिण्डी कुष्ठं सारुष्करैर्जयेत् ।
गुडारुष्करजन्तुघ्नसोमराजीकृताऽथवा ॥ ४७ ॥

हरड़, तिल, भिलावा; इनकी गुड से बनाई पिण्डी (गोलियां-वटक) कुष्ठ को नष्ट करती हैं। अथवा गुड़, भिलावा, वायविडङ्ग और बावची से बनाई पिण्डी कुष्ठ को नष्ट करती है।

विडंगादि का प्रयोग—

विडङ्गाद्रिजतुक्षौद्रसर्पिष्मत्खादिरं रजः ।
किटिभश्वित्रदद्रुघ्नं खादेन्मितहिताशनः ॥ ४८ ॥

खैर के चूर्ण को विडङ्ग, शिलाजतु, मधु और घी के साथ मिला कर पथ्यभोजी रह कर खाने से किटिभ, श्वित्र, दद्रु नष्ट होते हैं।

सितादि अवलेह—

सितातैलकृमिघ्नानि धात्र्ययोमलपिप्पलीः ।
लिहानः सर्वकुष्ठानि जयत्यतिगुरूण्यपि ॥ ४९ ॥

मिश्री, तैल, वायविडङ्ग, आंवला, लोहभस्म, पिप्पली; इनको चाटते हुए बहुत बड़े भी सब कुष्ठों से मुक्त हो जाता है।

कुष्ठनाशक चूर्ण

मुस्तं व्योषं त्रिफला मञ्जिष्ठा दारु पञ्चमूले द्वे ।
सप्तच्छदनिम्बत्वक् सविशाला चित्रको मूर्वा ॥ ५० ॥
चूर्णं तर्पणभागैर्नवभिः संयोजितं समध्वंशम् ।
नित्यं कुष्ठनिबर्हणमेतत्प्रायोगिकं खादन् ॥ ५१ ॥
श्वयथुं सपाण्डुरोगं श्वित्रं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि ।
वर्ध्मभगन्दरपिडकाकण्डूकोठापचीर्हन्ति ॥ ५२ ॥

मोथा, त्रिकटु, त्रिफला, मञ्जीठ, देवदारु, दशमूल, सप्तपर्ण की छाल, नीम की छाल, इन्द्रायण, चित्रक, मूर्वा; ये प्रत्येक परस्पर समान भाग, उसमें नौ भाग सत्तू मिला कर मधु के साथ नित्य प्रति खाने से कुष्ठ को नष्ट करता है; यह प्रायोगिक (सदा बरतने योग्य) है। इसके सेवन से श्वयथु, पाण्डुरोग, श्वित्र, ग्रहणी, अर्श, वर्ध्म, भगन्दर, पिडका, कण्डू, कोठ और अपची नष्ट होते हैं।

कुष्ठनाशक अन्य रसायन—

रसायनप्रयोगेण तुवरास्थीनि शीलयेत् ।
भल्लातकं बाकुचिकां वह्निमूलं शिलाह्वयम् ॥ ५३ ॥

रसायन-विधि से तुवरक-फल का उपयोग (उ० अ० (३९।८४) करे। अथवा भिलावे का (अ० ३९।७५) या बावची का (उ० अ० ३९।१०७) या चित्रकमूल का (उ० अ० ३९।६३) अथवा शिलाजतु का (उ० अ० ३९।१२७) प्रयोग रसायन विधि से करे।

कुष्ठनाशक लेप—

इति दोषे विजितेऽन्त-
स्त्वक्स्थे शमनं बहिः प्रलेपादि हितम् ।
तीक्ष्णालेपोत्क्लिष्टं
कुष्ठं हि विवृद्धिमेति मलिने देहे ॥ ५४ ॥

इस प्रकार से अन्तर्दोष के शान्त कर लेने पर ही त्वचा में स्थित कुष्ठ पर बाहर प्रलेप, परिषेक आदि करे, क्योंकि तीक्ष्ण लेप से उत्क्लेशित हुए कुष्ठ मलिन शरीर में बढ़ जाते हैं। इसलिये अन्तः शुद्ध होने पर ही प्रलेप आदि करे।

कुष्ठनाशक स्वेदन—

स्थिरकठिनमण्डलानां कुष्ठानां पोटलैर्हितः स्वेदः ।
स्विन्नोत्सन्नं कुष्ठं शस्त्रैर्लिखितं प्रलेपनैर्लिम्पेत् ॥५५॥

कुष्ठ के जो मण्डल (चकत्ते) स्थिर और कठिन हों उनपर रूक्ष ओषधियों की पोटलियों से स्वेद देना उत्तम है। और स्वेदन से उभड़े हुये कुष्ठ पर शस्त्रों से लेखन किया करके प्रलेपों को लगाना चाहिये।

कुष्ठनाशक क्षार—

येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनेषु कुष्ठेषु ।
तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य ॥ ५६ ॥

स्पर्शेन्द्रिय (स्पर्शज्ञान) को नष्ट करने वाले जिन कुष्ठों में

शस्त्र कार्य नहीं करता (लेखन क्रिया फलवती नहीं होती), उनमें रक्त और दोष का विस्रावण करके क्षार लगाना चाहिये।

कुष्ट में विषलेप—

लेपोऽतिकठिनपरुषे सुप्ते कुष्टे स्थिरे पुराणे च ।
पीतागदस्य कार्यो विषैः समन्त्रोऽगदैश्चानु ॥ ५७ ॥

जो कुष्ठ अतिकठिन, कर्कश, स्पर्शज्ञानरहित, स्थिर और पुराने हों; उनमें रोगी को (विषनाशक औषध) पिला कर अगद मन्त्रों के साथ विषों का लेप करे। इसके पीछे अगदों का लेप करे।

प्रयोगान्तर—

स्तब्धानि सुप्तसुप्तान्यस्वेदनकण्डुलानि कुष्ठानि ।
घृष्टानि शुष्कगोमयफेनकशस्त्रैः प्रदेह्यानि ॥ ५८ ॥

जो कुष्ठ स्तब्ध, अतिशय सुप्त (स्पर्शज्ञान रहित), स्वेद रहित और कण्डू युक्त हों, उनको सूखे अरण्य गोबर से, समुद्रफेन से या शस्त्रों से घिसकर लेप करे। [सुप्तसुप्तानि-सर्वथा स्पर्शाज्ञानानि]।

कुष्ठनाशक मुस्तादि क्वाथ—

मुस्ता त्रिफला मदनं करञ्ज आरग्वधः कलिङ्गयवाः ।
सप्ताह्वकुष्ठफलिनीदार्व्यः सिद्धार्थकं स्नानम् ॥ ५९ ॥
एष कषायो वमनं विरेचनं वर्णकस्तथोद्धर्षः ।
त्वग्दोषकुष्ठशोफप्रबाधनः पाण्डुरोगघ्नः ॥ ६० ॥

मोथा, त्रिफला, मैनफल, करञ्ज, अमलतास, इन्द्रजौ, सप्तपर्ण, कूठ, प्रियङ्गु, दारुहल्दी और सरसों के कषाय से स्नान करे। यह कषाय (पीने पर) वमन, विरेचन कराने वाला, (लगाने पर) वर्ण को निखारने वाला, उबटन लगाने से त्वचा के दोष तथा कुष्ठ को नष्ट करता है एवं शोफनाशक और पाण्डुरोगनाशक है।

लेप—

करवीरनिम्बकुटजाच्छम्पाकाच्चित्रकाच्च मूलानाम् ।
मूत्रे दर्वीलेपी क्वाथो लेपेन कुष्ठघ्नः ॥ ६१ ॥

कनेर, नीम, कुड़ा, अमलतास, चित्रक; इनका मूल लेकर (चौगुने) गोमूत्रमें क्वाथ करे। इस क्वाथ को कलछी पर लगने तक घट्ट बना (रसक्रिया) कर लेप करे। यह कुष्ठनाशक है।

श्वेतकरवीरमूलं कुटजकरञ्जफलं त्वचो दार्व्याः ।
सुमनःप्रवालयुक्तो लेपः कुष्ठापहः सिद्धः ॥ ६२ ॥
शैरीषी त्वक् पुष्पं कार्पास्या राजवृक्षपत्राणि ।
पिष्टा च काकमाची चतुर्विधः कुष्ठहा लेपः ॥ ६३ ॥

श्वेत कनेर का मूल, इन्द्रजौ, करञ्ज का फल, दारुहल्दी की छाल, चमेली की पत्ती इनका लेप कुष्ठनाशक है। यह सिद्ध योग है।

शिरीष की छाल, कपास के फूल, अमलतास के पत्ते और मकोय, ये चार योग लेप करने पर कुष्ठनाशक हैं।

व्योषसर्षपनिशागृहधूमै-र्यावशूकपटुचित्रककुष्ठैः ।
कोलमात्रगुटिकाऽर्धविषांशा श्वित्रकुष्ठहरणो वरलेपः॥

त्रिकटु, सरसों, हल्दी, घर का धुआं, यवक्षार, सैन्धव नमक, चित्रक, कूठ प्रत्येक एक भाग लेकर इनमें आधा भाग विष (सींगिया विष, मीठातेलिया) मिलाकर बेर के समान गोलियां बना ले। इनका लेप श्वित्र और कुष्ठ को नष्ट करने में उत्तम है। [श्वित्र के लिये दृष्टफल है]।

कुष्ठनाशक उद्वर्तन—

निम्बं हरिद्रे सुरसं पटोलं
कुष्ठाश्वगन्धे सुरदारु शिग्रुः ।
ससर्षपं तुम्बुरुधान्यवन्यं
चण्डा च चूर्णानि समानि कुर्यात् ॥ ६५ ॥
तैस्तक्रपिष्टैः प्रथमं शरीरं
तैलाक्तमुद्वर्तयितुं यतेत ।
तथाऽस्य कण्डूः पिटिकाः सकोठाः
कुष्ठानि शोफाश्च शमं व्रजन्ति ॥ ६६ ॥

नीम, हल्दी, दारुहल्दी, तुलसी, परवल, कूठ, अश्वगन्धा, देवदारु, सहजन, सरसों, धनिया, तुम्बरु (जंगली धनिया), केवटी मोथा और चोरक को परस्पर समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को तक्र से पीस ले। प्रथम शरीर पर सरसों का तैल मल कर फिर इस लेप को लगावे। इस प्रकार करने से कण्डू, पिटका, कोठ, कुष्ठ तथा शोफ शान्त हो जाते हैं।

दद्रुनाशक चूर्ण—

मुस्ताऽमृतासङ्गकटङ्कटेरी-
कासीसकम्पिल्लककुष्ठलोध्राः ।
गन्धोपलः सर्जरसो विडङ्गं
मनःशिलाले करवीरकत्वक् ॥ ६७ ॥
तैलाक्तगात्रस्य कृतानि चूर्णा-
न्येतानि दद्यादवचूर्णनार्थम् ।
दद्रूः सकण्डूः किटिभानि पामा
विचर्चिका चेति तथा न सन्ति ॥ ६८ ॥

मोथा, अमृतासंग (मुरदासंग या गिलोय और तुत्थ), दारुहल्दी, कांसीस, कमीला, कूठ, लोध्र, गन्धक, राल, वायविडंग, मैनसिल, हरताल, कनेर की छाल इनका चूर्ण कर शरीर पर सरसों के तैल का अभ्यङ्ग करके इस चूर्ण को शरीर पर छिड़क देवे। इससे दद्रु, कण्डू, किटिभ, पामा और विचर्चिका नष्ट होती है और फिर नहीं होती। (आसङ्ग-रसाञ्जन, इतीन्दुः)।

स्नुग्गण्डे सर्षपात्कल्कः कुकूलानलपाचितः ।
लेपाद्विचर्चिकां हन्ति रागवेग इव त्रपाम् ॥ ६९ ॥

थूहर के डण्डे को अन्दर से खोखला करके उसमें सरसों का कल्क भर देवे। इस डण्डे को भूसे की आग पर गरम

करे। फिर इस सरसों के कल्क का लेप करे। इससे विचर्चिका नष्ट होती है, जैसे राग (काम) का वेग लज्जा को नष्ट कर देता है

मनःशिलाले मरिचानि तैल-
मार्कं पयः कुष्ठहरः प्रदेहः ।
तथा करञ्जप्रपुनाटबीजं
कुष्ठान्वितं गोसलिलेन पिष्टम् ॥७०॥

मैनसिल, हरताल, मरिच, सरसों, का तेल, आक का दूध, इनका लेप कुष्ठनाशक है। तथा करंज, चक्रमर्दबीज, कुष्ठ (कूठ) इनको गोमूत्र में मिलाकर लेप करे।

गुग्गुलुमरिचविडङ्गैः सर्षपकासीससर्जरसमुस्तैः ।
श्रीवेष्टकालगन्धैर्मनःशिलाकुष्ठकम्पिल्लैः ॥ ७१ ॥
उभयहरिद्रासहितैश्चाक्रिकतैलेन मिश्रितैरेभिः ।
दिनकरकराभितप्तैः कुष्ठं घृष्टं च नष्टं च ॥ ७२ ॥

गुग्गुल, मरिच, वायविडंग, सरसों, कासीस, राल, मुस्ता, श्रीवेष्टक (धूप), हरताल, गन्धक, मैनसिल, कूठ, कमीला, हल्दी, दारुहल्दी इनको कोल्हू के तुरन्त निकले हुए तेल में मिलाकर, सूर्य की किरणों से गरम करके कुष्ठ पर रगड़ने से कुष्ठ तुरन्त नष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—चक्रतैल-कोई आचार्य पुराने कोल्हू को टुकड़े करके चीरकर, जो तेल देवदारु की लकड़ी की भाँति निकाला जाता है, उसे चक्रतैल कहते हैं।

सिध्म और श्वित्र पर लेप—

मरिचं तमालपत्रं कुष्ठं समनःशिलं सकासीसम् ।
तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे ॥ ७३ ॥
तेनालिप्तं सिध्मं सप्ताहाद् घर्मसेविनोऽपैति ।
मासान्नवं किलासं स्नानेन विना विशुद्धस्य ॥ ७४ ॥

मरिच, तमालपत्र, कूठ, मैनसिल, कासीस इनको तैल में मिलाकर सात दिन तक ताम्रपात्र में रखकर इससे सिध्म पर लेप करे। लेप के पीछे रोगी को धूप में बिठाये। इस प्रकार एक सप्ताह करने से सिध्म (सेहुँआ) तथा एक मास करने पर नया श्वित्र नष्ट हो जाता है। इस चिकित्सा में रोगी को स्नान न कराये।

अन्य प्रयोग—

मयूरकक्षारजले सप्तकृत्वः परिस्रुते ।
सिद्धं ज्योतिष्मतीतैलमभ्यङ्गात्सिध्मनाशनम् ॥७५॥
पायसजङ्घामूलं समनीपत्राणि मूलकाद्बीजम् ।
तक्रेण भौमवारे लेपः सिध्मापहः सिद्धः ॥ ७६ ॥

चिरचिटे के क्षारोदक को सात बार नितारकर इसमें मालकांगनी का तैल सिद्ध करे। इसके मलने से सिध्म नष्ट होता है।

काकजंघा (मसी) का मूल, शणपुष्पी (झनझनिया) के पत्ते, मूली के बीज, इनको तक्र के साथ मंगल के दिन लेप करे। यह सिध्मनाशक सिद्ध योग है।

विपादिका आदि पर लेप—

जीवन्ती मञ्जिष्ठा दार्वी कम्पिल्लकं पयस्तुत्थम् ।
एष घृततैलपाकः सिद्धः सिद्धे च सर्जरसः ॥ ७७ ॥
देयः समधूच्छिष्टो विपादिका तेन नश्यति ह्यक्ता ।
चर्मैककुष्ठकिटिभं कुष्ठं शाम्यत्यलसकं च ॥ ७८ ॥

जीवन्ती, मजीठ, दारुहल्दी, कमीला, दूध, तुत्थ इनसे घी और तैल समान मात्रा में पकाये। पकने पर इसमें राल और मोम मिलाये। इसके चुपड़ने से विपादिका, चर्मकुष्ठ, किटिभ कुष्ठ और अलसक शान्त होते हैं। (क्षीरमत्राकं ग्राह्यम्-वृद्धवैद्यव्यवहारात्)।

वज्रकतैल—

मूलं सप्ताह्वा त्वक् शिरीषाश्वमारा-
र्काग्निमालत्याश्चित्रकास्फोतनिम्बात् ।
बीजं कारञ्जं सार्षपं प्रापुनाटं
श्रेष्ठा जन्तुघ्नं त्र्यूषणं द्वे हरिद्रे ॥ ७९ ॥
तैलं तैलं साधितं तैः समूत्रै-
स्त्वग्दोषाणां दुष्टनाडीव्रणानाम् ।
अभ्यङ्गेन श्लेष्मवातोद्भवानां
नाशायालं वज्रकं वज्रतुल्यम् ॥ ८० ॥

सप्तपर्ण का मूल, शिरीष, कनेर, आक, चमेली, चित्रक, सारिवा और नीम की छाल, करंज का बीज, सरसों, चक्रमर्द के बीज, त्रिफला, वायविडंग, त्रिकटु, हल्दी, दारुहल्दी, तिल का तेल, इनको गोमूत्र में पकाये। यह तैल कफ—वातजन्य, त्वचा के विकार और दूषित नाडीव्रण को अभ्यंग करने से नष्ट करता है। यह वज्रक तैल वज्र की भाँति (अप्रतिहत गति वाला) है।

महावज्रक तैल—

एरण्डतार्क्ष्यघननीपकदम्बभार्गी-
कम्पिल्लवेल्लफलिनीसुरवारुणीभिः ।
निर्गुण्ड्यरुष्करसुराह्वसुपर्णदुग्धा-
श्रीवेष्टगुग्गुलुशिलापटुतालविश्वैः ॥ ८१ ॥
तुल्यस्नुगर्कदुग्धं सिद्धं तैलं स्मृतं महावज्रम् ।
अतिशयितवज्रकगुणश्वित्रार्शोग्रन्थिमालाघ्नम् ॥८२॥

एरण्ड, रसांजन, मुस्ता, कदम्ब, भूमिकदम्ब, भार्गी, कमीला, वायविडंग, प्रियंगु, इन्द्रवारुणी (इन्द्रायण), निर्गुण्डी, भिलावा, देवदारु, स्वर्णक्षीरी, श्रीवेष्टक (बिरोजा) गुग्गुलु, मैनसिल, सैन्धव, हरताल, सोंठ और इनके बराबर स्नुही (थूहर) और आक का दूध (दोनों समान मिलाकर) इनसे तैल सिद्ध करे। यह महावज्र तैल वज्रक तैल से अधिक गुण वाला है। श्वित्र, अर्श और ग्रन्थि (गण्ड) माला को नष्ट करता है।

कुष्ठाश्वमारभृङ्गार्कमूत्रस्नुक्क्षीरसैन्धवैः ।
तैलं सिद्धं विषावापमभ्यङ्गात् कुष्ठजित्परम् ॥ ८३ ॥

कूठ, कनेर, भांगरा, आक, गोमूत्र, थूहर का दूध, सैन्धव, इनसे सिद्ध किये तैल में विष का (मीठे तेलिया का) प्रक्षेप देकर मलने से कुष्ठनाश करता है, यह श्रेष्ठ योग है।

कच्छू तथा विचर्चिकानाशक तैल—

सिद्धं सिक्थकसिन्दूरपुरतुत्थकताक्ष्यर्जैः ।
कच्छूं विचर्चिकां चाशु कटुतैलं निबर्हति ॥ ८४ ॥

मोम, सिन्दूर, गुग्गुल, तुत्थ और रसौंत से सिद्ध किया सरसों का तेल, कच्छू और विचर्चिका को शीघ्र नष्ट करता है।

दद्रु पर लाक्षादि लेप—

लाक्षा व्योषं प्रापुनाटं च बीजं
सश्रीवेष्टं कुष्ठसिद्धार्थकाश्च ।
तक्रोन्मिश्रः स्याद्धरिद्रा च लेपो
दद्रूघ्नो मूलकोत्थं च बीजम् ॥ ८५ ॥

लाख, त्रिकटु, पवाड़ के बीज, श्रीवेष्टक, कूठ, सरसों और हल्दी, इनको तक्र में मिलाकर लेप करे अथवा मूली के बीजों को तक्र में मिलाकर लेप करे। ये दद्रुनाशक हैं।

चित्रकादि छः लेप—

चित्रकशोभाञ्जनकौ, गुडूच्यपामार्गदेवदारूणि ।
खदिरो धवश्च लेपः, श्यामा दन्ती द्रवन्ती च ॥८६॥
लाक्षारसाञ्जनैलाः, पुनर्नवा चेति कुष्ठिनां लेपाः ।
दधिमण्डयुताः पादैः षट् प्रोक्ता मारुतकफघ्नाः ॥८७॥

(१) चित्रक और सहजन, (२) गिलोय, चिरचिटा, देवदारु, (३) खैर और धव, (४) निशोथ, दन्ती, मोगलई एरण्ड, (५) लाख, रसौंत, इलायची, (६) पुनर्नवा, इन प्रत्येक श्लोकपादों में कहे छः योगों को दही के मण्ड (पानी) में मिलाकर वात-कफजन्य कुष्ठों में लेप करे।

पित्तज कुष्ठ पर लेप—

जलवाप्यलोहकेसरपत्रप्लवचन्दनमृणालानि ।
भागोत्तराणि सिद्धं प्रलेपनं पित्तकफकुष्ठे ॥८८॥

सुगन्धबाला, कूठ, अगरु, केसर, तेजपात, केवटीमोथा, चन्दन, कमलनाल, इनको उत्तरोत्तर एक-एक भाग बढ़ाकर पित्त-कफजन्य कुष्ठ में प्रलेप करे। (पानी में पीस लेना चाहिये)।

तिक्तघृतैर्धौतघृतैरभ्यङ्गो दह्यमानकुष्ठेषु ।
तैलैश्चन्दनमधुकप्रपौण्डरीकोत्पलयुतैश्च ॥ ८९ ॥
क्लेदे प्रपतति चाङ्गे दाहे विस्फोटके च चर्मदले ।
शीताः प्रदेहसेका व्यधनविरेकौ घृतं तिक्तम् ॥९०॥

दाहयुक्त कुष्ठों में तिक्त द्रव्यों में साधित घृतों से या जल में धोये हुए घी से अभ्यंग करना चाहिये। जिन कुष्ठों में क्लेद (गलना) तथा अंगों का गिरना हो उनमें चन्दन, मुलहठी, प्रपौण्डरीक, कमल इनसे सिद्ध तैलों का अभ्यंग करे। अंगदाह, विस्फोटक और चर्मदल कुष्ठ में शीतल प्रदेह, शीतल परिषेक, सिरावेध, विरेचन और तिक्त घृत उत्तम है।

खदिरवृषनिम्बकुटजाः श्रेष्ठाकृमिजित्पटोलमधुपर्ण्यः ।
अन्तर्बहिःप्रयुक्ताः कृमिकुष्ठनुदः सगोमूत्राः ॥ ९१ ॥

खैर, अडूसा, नीम, कुड़ा, त्रिफला, वायविडंग, पटोल, गिलोय इनको गोमूत्र के साथ अन्तः और बाहर में प्रयोग करना कृमि एवं कुष्ठ का नाशक है।

कुष्ठों में दोषानुसार विशेष चिकित्सा—

वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु ।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे ॥ ९२ ॥

वातप्रधान कुष्ठों में घृतपान, कफप्रधान कुष्ठों में वमन, पित्तप्रधान कुष्ठों में रक्तमोक्षण और विरेचन आरम्भ में ही करना प्रशस्त है।

ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हृतास्रदोषाणाम् ।
संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवति तेषाम् ॥९३॥

रक्तदोष निकालने के पीछे तथा आशयों का शोधन करने के उपरान्त कुष्ठरोगियों में जो लेप बरते जाते हैं, उनका शीघ्र फल (रोगनिवृत्तिरूप) होता है।

कुष्ठ की साध्यता—

दोषे हृतेऽपनीते रक्ते बाह्यान्तरे कृते शमने ।
स्नेहे च कालयुक्ते न कुष्ठमतिवर्तते साध्यम् ॥९४॥

वातादि दोष के शोधन करने और रक्त को निकाल देने पर बाहर एवं अन्दर शमन चिकित्सा करने से तथा उचित समय पर स्नेहन करने से, कुष्ठ साध्यता को नहीं छोड़ता अर्थात् अवश्य अच्छा हो जाता है।

कुष्ठ में संशोधन—

बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान् ।
दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु ॥ ९५ ॥

बहुत दोष वाले कुष्ठरोगी के प्राणों की रक्षा करते हुए वैद्य को इसका संशोधन बार-बार करना चाहिये। क्योंकि एकदम से बहुत अधिक मात्रा में दोष को निकाल देने से निर्बल हुए रोगी को वायु (कुपित होकर) शीघ्र मार देती है।

कुष्ठरोगी का वमनादि काल—

पक्षात्पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेया-
न्मासान्मासाच्छोधनान्यप्यधस्तात् ।
शुद्धिर्मूर्ध्नि स्यात्त्रिरात्रात्त्रिरात्रात्
षष्ठे षष्ठे मास्यसृङ्मोक्षणं च ॥ ९६ ॥

कुष्ठरोगी पन्द्रह पन्द्रह दिन पीछे वमन ले। एक-एक महीने पीछे विरेचन ले। तीन-तीन दिन पीछे शिरोविरेचन ले। छः-छः महीने में रक्तमोक्षण कराये।

कुष्ठदोष-हरण—

यो दुर्वान्तो दुर्विरिक्तोऽथवा स्यात्
कुष्ठी दोषैरुद्धतैर्व्याप्यतेऽसौ ।
निःसन्देहं यात्यसाध्यत्वमेवं
तस्मात् कृत्स्नान्निर्हरेदस्य दोषान् ॥९७॥

जिस कुष्ठरोगी ने भली प्रकार वमन नहीं किया, भली प्रकार विरेचन नहीं किया वह (अवसर पाकर पुनः) उद्धत (अतिशय कुपित) दोषों से व्याप्त होकर अवश्य ही असाध्य हो जाता है। इसलिये कुष्ठरोगी के शरीर से दोषों को सम्पूर्ण रूप में बाहर निकाले।

कुष्ठ में व्रतादि—

व्रतदमयमसेवात्यागशीलाभियोगो
द्विजसुरगुरुपूजा सर्वसत्त्वेषु मैत्री ।
शिवशिवसुतताराभास्कराराधनानि
प्रकटितमलपापं कुष्ठमुन्मूलयन्ति ॥९८॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने कुष्ठचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

* * *

व्रत (चान्द्रायण आदि), दम (अक्रोधादि), यम (इन्द्रियजय), गुरुसेवा, त्याग, शील का सेवन; ब्राह्मण, देवता और गुरुजनों की पूजा, सब प्राणियों में मैत्री, शिव (महादेव), कार्त्तिकेय, तारा (बौद्ध देवता) और सूर्य की आराधना; दोष और पाप को प्रकट करने वाले कुष्ठ को नष्ट कर देते हैं।

वक्तव्य—'प्रकटितमलपापम्'—प्रकाशितदोषपापम् अर्थात् कुष्ठ दोषों के अतिरिक्त पूर्वकृत अशुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप ही होता है अतः कुष्ठ उत्पन्न होकर उनको प्रकट करता है। तारा बौद्धों की देवता है। सूर्य की आराधना—यथा—'आरोग्यं भास्करादिच्छेत् ॥' 'शिवशिवसुत' के स्थान पर 'जिनजिनसुत' भी पाठ है।

कुछ प्रसिद्ध योग—

१—महिषीनवनीतेन सिन्दूरं मरिचं तथा ।
पिष्ट्वा प्रलेपयेत् सम्यक् पामाकच्छूप्रशान्तये ॥
२—अमृतैरण्डवासश्च सोमराजी हरीतकी ।
क्वाथ एषां हरेत् कुष्ठं वातरक्तञ्च दारुणम् ।

कुष्ठघ्नीवटिका, चालमुगरा का तैल, अमृताङ्कुर लौह, महाभल्लातक गुड, रसमाणिक्य, पञ्चतिक्त घृत। मलने के लिये-मरिचाद्यानि तलानि, पंचगव्य।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का कुष्ठचिकित्सित नामक उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

* * *

विंशोऽध्यायः

अथातः श्वित्रक्रिमिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे श्वित्र-कृमिचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

श्वित्र रोग का भयानकत्व—

कुष्ठादपि बीभत्सं यच्छीघ्रतरं च यात्यसाध्यत्वम् ।
श्वित्रमतस्तच्छान्त्यै यतेत दीप्ते यथा भवने ॥ १ ॥

श्वित्र कुष्ठ से भी अधिक बीभत्स है क्योंकि जल्दी ही असाध्य बन जाता है, अतः उसकी शान्ति के लिए तुरन्त यत्न करे, जैसे कि जलते हुए घर को बुझाने के लिये तुरन्त दौड़ते हैं।

श्वित्र में शोधनादि—

संशोधनं विशेषात्प्रयोजयेत्पूर्वमेव देहस्य ।
श्वित्रे स्रंसनमग्र्यं मलयूरस इष्यते सगुडः ॥ २ ॥
तं पीत्वाऽभ्यक्ततनुर्यथाबलं सूर्यपादसन्तापम् ।
सेवेत विरिक्ततनुस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत्पेयाम् ॥ ३ ॥

सबसे प्रथम शरीर का संशोधन विशेष रूप से करना चाहिये। इसके लिये कठगूलर के रस के साथ गुड़ श्वित्र में विरेचन के लिये देना चाहिये। इसको पीकर शरीर पर तैल का अभ्यङ्ग करके बल के अनुसार सूर्य की किरणों का सेवन करे। विरेचन होने पर, तीन दिन तक प्यास (और भूख) लगने पर पेया को ही पिये। (मलयूरसो = बाकुचक्वाथः, सह गुडया = स्नुह्या इत्यरुणदत्तः, मलपूः (यूः) = काष्ठोदुम्बरिका इति चक्रो डल्हणश्च)

श्वित्र-व्रण का भेदन—

श्वित्रेऽङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान् भिन्द्यात् ।
स्फोटेषु निस्रुतेषु प्रातः प्रातः पिबेत् त्रिदिनम् ॥४॥
मलयूमसनं प्रियङ्गुं शतपुष्पां चाम्भसा समुत्क्वाथ्य ।
पालाशं वा क्षारं यथाबलं फाणितोपेतम् ॥ ५ ॥

श्वित्र वाले अंग पर जो छाले उत्पन्न हो जाते हैं, उनको कांटे से फोड़ देवे। छालोंके बह जाने पर प्रतिदिन प्रातःकाल तीन दिन तक कठगूलर, असन, प्रियंगु, सौंफ इनको पानी में क्वाथ करके पिये। अथवा पलाशक्षार में राब मिला कर बल के अनुसार खाये।

श्वित्रनाशक कल्क—

फल्गवक्षवृक्षवल्कलनिर्यूहेणेन्दुराजिकाकल्कम् ।
पीत्वोष्णस्थितस्य जाते स्फोटे तक्रेण भोजनं निर्लवणम् ॥

कठगूलर, बहेड़ा, कुड़े की छाल इनके क्वाथ में बावची का कल्क मिला कर पिये। फिर धूप में बैठने से जो छाले उत्पन्न हों उनको फोड़ कर तक्र के साथ बिना नमक का भोजन करे।

श्वित्र में गोमूत्र-पान—

गव्यं मूत्रं चित्रकव्योषयुक्तं
सर्पिःकुम्भे स्थापितं क्षौद्रमिश्रम् ।
पक्षादूर्ध्वं श्वित्रिणा पेयमेतत्
कार्यं चास्मै कुष्ठदृष्टं विधानम् ॥ ७ ॥

गोमूत्र में चित्रक, त्रिकटु इनको मधु में मिला कर घी के घड़े में रख देना चाहिये । पन्द्रह दिन के बाद श्वित्ररोगी इसको पिये । कुष्ठ में कही चिकित्सा श्वित्र में भी करे ।

श्वित्रनाशक अन्य प्रयोग—

मार्कवमथवा खादेद् भृष्टं तैलेन लोहपात्रस्थम् ।
बीजकशृतं च दुग्धं तदनु पिबेच्छ्वित्रनाशाय ॥८॥

भाँगरे को तैल से भून कर लोह के पात्र में रख कर खाये । इसके पीछे बीजक (विजयसार) से सिद्ध किया दूध पिये, इससे श्वित्र नष्ट होता है ।

श्वित्रनाशक लेप—

पूतीकार्कव्याधिघातस्नुहीनां
मूत्रे पिष्टाः पल्लवाजातिजाश्च ।
घ्नन्त्यालेपाच्छ्वित्रदुर्नामदद्रु-
पामाकोठान् दुष्टनाडीव्रणांश्च ॥ ९ ॥
द्वैपं दग्धं चर्म मातङ्गजं वा
श्वित्रे लेपस्तैलयुक्तो वरिष्ठः ।
पूतिः कीटो राजवृक्षोद्भवेन
क्षारेणाक्तः श्वित्रमेकोऽपि हन्ति ॥ १० ॥
रात्रौ गोमूत्रे वासिताञ् जर्जराङ्गा-
नह्निच्छायायां शोषयेत्स्फोटहेतून् ।
एवं वारांस्त्रींस्तैस्ततः श्लक्ष्णपिष्टैः
स्नुह्याः क्षीरेण श्वित्रनाशाय लेपः ॥११॥

करञ्ज, आक, अमलतास, थूहर और चमेली इन सब के पत्तों को गोमूत्र में पीस कर लेप करने से श्वित्र, दद्रु, पामा, कोठ और दूषित नाडीव्रण अच्छे होते हैं ।

चीते की या हाथी की खाल को जला कर तैल में मिला कर श्वित्र में लेप करना उत्तम है।

पूतिकीट (गिजाई) को अमलतास के क्षार में मिला कर लगाने पर अकेला ही श्वित्र को नष्ट कर देता है। [पूतिकीटो-वर्षाकालोद्भवः पिलिन्दिका]।

भिलावों को रात भर गोमूत्र में रक्खे, दिन में छाया में सुखाये । इस प्रकार तीन बार करे । फिर इनको बारीक पीस कर थूहर के दूध के साथ मिला कर श्वित्र के नाश के लिये लेप करे ।

अक्षतैलद्रुता लेपः कृष्णसर्पोद्भवा मषी ।
शिखिपित्तं तथा, दग्धं ह्रीबेरं वा तदाप्लुतम् ॥१२॥

काले सांप की राख को बहेड़े के तैल में मिला कर पतली करके लेप करे। उसी प्रकार मोर के पित्त अथवा ह्रीबेर (सुगन्धबाला) को जला कर बहेड़े के तेल में मिला कर लेप करे ।

वक्तव्य—काले सांप को जलाने पर जब वह बहुत काला हो जाता है, तब इसको मसी (स्याही) कहते हैं और फिर अधिक जलाने से जब श्वेत हो जाता है, तब इसको क्षार कहते हैं । (डल्हण)

कुडवोऽवल्गुजबीजाद्धरितालचतुर्थभागसम्मिश्रः ।
मूत्रेण गवां पिष्टः सवर्णकरणं परं श्वित्रे ॥ १३ ॥

बावची बीज चार पल, हरताल एक पल, इनको गोमूत्र से पीस कर लगाने से श्वित्र पर त्वचा का वर्ण आ जाता है । [यह इष्टफलप्रद है]।

क्षारे सुदग्धे गजलेण्डजे च
गजस्य मूत्रेण परिस्रुते च ।
द्रोणप्रमाणे दशभागयुक्तं
दत्त्वा पचेद्बीजमवल्गुजानाम् ॥ १४ ॥
श्वित्रं जयेच्चिक्कणतां गतेन
तेन प्रलिम्पन् बहुशः प्रघृष्टम् ।
कुष्ठं मषं वा तिलकालकं वा
यद्वा व्रणे स्यादधिमांसजातम् ॥ १५ ॥

हाथी की पुरीष को भली प्रकार जलाकर बनाये क्षार को हाथी के एक द्रोण मूत्र में घोल कर बहुत (इक्कीस) बार निथार लेवे । इसमें दसवां भाग बावची का चूर्ण मिला कर पकाये। पकाते-पकाते जब यह चिकना हो जावे तब श्वित्र को घिस कर इसका लेप करे । ऐसा कई बार करे । यह लेप कुष्ठ, मस्सा, तिलकालक अथवा व्रण में उत्पन्न अधिमांस को भी नष्ट करता है ।

वक्तव्य—हाथी का मल और मूत्र बहुत गरम है । इसी लिये जिन औरतों में सन्तानोत्पत्ति बन्द करनी होती है, उनमें इनका व्यवहार करते हैं। [गजलेण्डम्—नदीपिप्पलिका इत्यन्ये]।

श्वित्रनाशक भल्लातकादि तैल—

भल्लातकं द्वीपिसुधार्कमूलं
गुञ्जाफलं त्र्यूषणशङ्खचूर्णम् ।
तुत्थं सकुष्ठं लवणानि पञ्च
क्षारद्वयं लाङ्गलिकां च पक्त्वा ॥ १६ ॥
स्नुगर्कदुग्धो घनमायसस्थं
शलाकया तद्विदधीत लेपम् ।
कुष्ठे किलासे तिलकालकेषु
मषेषु दुर्नामसु चर्मकीले ॥ १७ ॥

भिलावा, चित्रक, थूहर और आक की जड़, चिनौठी (घुंघची), त्रिकटु, शंख का चूर्ण, तुत्थ, कुष्ठ, पाँचों नमक, यवक्षार, सज्जीक्षार, कलिहारी इनको थूहर और आक के दूध में पका कर गाढ़ा होने पर लोह के पात्र में रख देवे।

इसको शलाका से कुष्ठ, किलास, तिलकालक, मस्से, अर्श और चर्मकीलों में लेप करे ।

शुद्ध्या शोणितमोक्षैर्विरूक्षणैर्भक्षणैश्च सक्तूनाम् ।
श्वित्रं कस्यचिदेव प्रशाम्यति क्षीणपापस्य ॥ १८ ॥

वमन- विरेचन से, रक्तमोचण से, रूक्ष उपचार से, सत्तुओं को खाने से किसी भाग्यवान् का, जिसके पाप नष्ट हो गये होते हैं, उसका श्वित्र अच्छा होता है । [वैसे यह कष्टसाध्य है] ।

कृमिरोगचिकित्सा—

स्निग्धस्विन्ने गुडक्षीरमत्स्याद्यैः कृमिणोदरे ।
उत्क्लेशितकृमिकफे शर्वरीं तां सुखोषिते ॥ १९ ॥
सुरसादिगणं मूत्रे क्वाथयित्वाऽर्धवारिणि ।
तं कषायं कणागोलकृमिजित्कल्कयोजितम् ॥ २० ॥
सतैलस्वर्जिकाक्षारं युञ्ज्याद्बस्तिं ततोऽहनि ।
तस्मिन्नेव निरूढं तं पाययेत विरेचनम् ॥ २१ ॥
त्रिवृत्कल्कं फलकणाकषायालोडितं ततः ।
ऊर्ध्वाधः शोधिते कुर्यात् पञ्चकोलयुतं क्रमम् ॥२२॥
कटुतिक्तकषायाणां कषायैः परिषेचनम् ।
काले विडङ्गतैलेन ततस्तमनुवासयेत् ॥ २३ ॥

जिस रोगी के पेट में कृमि हो, उसका स्नेहन और स्वेदन करके गुड़, दूध, मछली आदि वस्तुओं से कृमि और कफ को उत्क्लेशित (बाहर आने के लिये प्रवृत्त) करके रात को उसे भली प्रकार उपवास करवाये । फिर सुरसादि गण की औषधियों का आधा जल मिले गोमूत्र में क्वाथ करे । इस क्वाथ में पिप्पली, मैनफल, वायविडङ्ग, इनका कल्क, तैल, सर्जिक्षार मिलाकर बस्ति देवे । फिर इससे निरूह होने पर उसी दिन इसको वमन-विरेचन (मिश्रित) देवे । इसके लिये निशोथ के चूर्ण को मैनफल और पिप्पली के कषाय में घोल कर पिलाये । इस प्रकार वमन-विरेचन से शोधन हो जाने पर पंचकोल द्रव्यों से मिश्रित पेया आदि संसर्जन विधि करे । कटु-तिक्त और कषाय रस वाले कषायों से परिषेचन-स्नान कराये । फिर समय पर अग्नि दीप्त होने पर विडङ्ग तैल से इस रोगी को अनुवासन देवे ।

मूर्धगत कृमिचिकित्सा—

शिरोरोगनिषेधोक्तमाचरेन्मूर्धगेष्वनु ।
उद्रिक्ततिक्तकटुकमल्पस्नेहं च भोजनम् ॥ २४ ॥

शिरोरोग-प्रतिषेध अध्याय में जो चिकित्सा कही है, वह शिरोजन्य कृमियों में भी बरते और अतिशय तिक्त, कटु एवं अल्पस्नेह वाला भोजन देवे ।

कृमिनाशक पेया—

विडङ्गकृष्णामरिचपिप्पलीमूलशिग्रुभिः ।
पिबेत्सस्वर्जिकाक्षारैर्यवागूं तक्रसाधिताम् ॥ २५ ॥

विडङ्ग, पिप्पली, मरिच, पिप्पलीमूल, सहजन और सर्जिक्षार से तक्र से बनाई यवागू पिये ।

कृमिनाशक शिरीषादि रस—

रसं शिरीषकिणिहीपारिभद्रककेम्बुकात् ।
पलाशबीजरक्तूरपूतिकाद्वा पृथक् पिबेत् ॥ २६ ॥
सक्षौद्रं सुरसादीन् वा लिह्यात्क्षौद्रयुतान् पृथक् ।

शिरीष, चिरचिटा, बकायन (या फरहद), केम्बूक, इनका रस (मधु के साथ) पिये या ढाक के बीज, मछेछी, करंज, इनका रस (या क्वाथ) मधु के साथ पिये । सुरसादि गण के द्रव्यों को पृथक् पृथक् मधु के साथ चाटे ।

कृमिनाशक अवलेह—

शतकृत्वोऽश्वविट्चूर्णं विडङ्गक्वाथभावितम् ॥ २७ ॥
कृमिमान् मधुना लिह्याद्भावितं वा वरारसैः ।

घोड़े की लीद के चूर्ण को विडङ्ग के कषाय से एक सौ बार (बहुत बार) भावित करके मधु से कृमिरोगी चाटे अथवा घोड़े की लीद के चूर्ण को त्रिफलाक्वाथ से बहुत बार भावित करके मधु से चाटे ।

कृमिरोग में नस्यार्थ चूर्ण—

शिरोगतेषु कृमिषु चूर्णं प्रधमनं च तत् ॥ २८ ॥

शिरोगत कृमियों में शिरोरोगप्रतिषेध में कहा चूर्ण प्रधमन (नाडी द्वारा फूंक कर) नस्य देवे ।

अन्य प्रयोग—

आखुकर्णीकिसलयैः सुपिष्टैः पिष्टमिश्रितैः ।
पक्त्वा पूपलिकां खादेद्धान्याम्लं च पिबेदनु ॥२९॥
सपञ्चकोललवणमसान्द्रं तक्रमेव वा ।

मूषिककर्णी के नूतन पत्तों को चूर्ण करके जौ या चावलों के आटे में मिलाकर पूपलिका (पकौड़ी) बना कर खाये और पीछे से पंचकोल द्रव्य लवण मिश्रित कांजी पिये । अथवा पतले निर्मल तक्र में पंचकोल और नमक मिलाकर पिये ।

(मूषाकर्णी का चूर्ण तीन भाग, जौ का आटा एक भाग लेवे । कांजी का यद्यपि कृमिरोग में निषेध है, तथापि पंचकोल के मिलने से एवं कृमिहर होने से इसका अनुपान दिया है) ।

नीपमार्कवनिर्गुण्डीपल्लवेष्वप्ययं विधिः ॥ ३० ॥
विडङ्गचूर्णमिश्रैर्वा पिष्टैर्भक्ष्यान् प्रकल्पयेत् ।

कदम्ब, भांगरा, निर्गुण्डी, इनके पत्तों से भी उपर्युक्त कल्पना करे । अथवा विडंग चूर्ण से मिश्रित पिट्ठी से भक्ष्य अथवा वस्तुयें बनाये ।

कृमिनाशक तैल—

विडङ्गतण्डुलैर्युक्तमर्धांशैरातपे स्थितम् ॥ ३१ ॥

दिनमारुष्करं तैलं पाने वस्तौ च योजयेत् ।
सुराह्वसरलस्नेहं पृथगेवं च कल्पयेत् ॥ ३२ ॥

भिलावे के तैल में आधाभाग विडङ्ग का चूर्ण मिलाकर धूप में रख देवे। इस तैल को पीने में और वस्ति में उपयोग करे। इसी प्रकार देवदारु और चीड़ के तेल में भी विडंग का चूर्ण मिलाकर धूप में रखकर बरते।

पुरीषज कृमिरोगचिकित्सा—

पुरीषजेषु सुतरां दद्याद्बस्तिविरेचने ।

पुरीषजन्य कृमियों में निरन्तर वस्ति और विरेचन देवे।

कफज कृमिरोगचिकित्सा—

शिरोविरेकं वमनं शमनं कफजन्मसु ॥ ३३ ॥

कफजन्य कृमियों में शिरोविरेचन, वमन और शमन चिकित्सा करे।

रक्तज कृमिरोगचिकित्सा—

रक्तजानां प्रतीकारं कुर्यात्कुष्ठचिकित्सितात् ।
इन्द्रलुप्तविधिश्चात्र विधेयो रोमभोजिषु ॥ ३४ ॥

रक्तजन्य कृमियों की चिकित्सा कुष्ठचिकित्सा से करे।
बालों को खाने वाले कृमियों की चिकित्सा इन्द्रलुप्त विधि (उ० अ० २४।२८) से करे।

कृमि में वर्जनीय—

क्षीराणि मांसानि घृतं गुडं च
दधीनि शाकानि च पर्णवन्ति ।
समासतोऽम्लान्मधुरान् रसांश्च
कृमीञ् जिहासुः परिवर्जयेत ॥ ३५ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने श्वित्रकृमिचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

* * *

अपथ्य—दूध, मांस, घी, गुड़, दही, पत्तों के शाक, अम्ल और मधुर; संक्षेप में इन वस्तुओं को कृमियों के नाश की इच्छा रखने वाला व्यक्ति छोड़ देवे।

कुछ सिद्ध योग—

१-नारिकेलजलं पीतं सक्षौद्रं कृमिनाशनम् ॥
२-कम्पिल्लचूर्णं कर्षार्द्धं गुडेन सह भक्षितम् ॥
३-पारसीका यवानी पीता पर्युषितवारिणा प्रातः ।
गुडपूर्वा कृमिजालं कोष्ठगतं पातयत्याशु ॥

कृमिमुद्गर रस, कीटारि रस और विडंगघृत और तैल।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का श्वित्रकृमिचिकित्सित नामक बीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥२०॥

* * *

एकविंशोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे वातव्याधिचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियोंने कहा था

वातव्याधिचिकित्सा—

केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ।
वायुं सर्पिर्वसामज्जतैलपानैर्नरं ततः ॥ १ ॥
स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत्पुनः ।
यूषैर्ग्राम्यौदकानूपरसैर्वा स्नेहसंयुतैः ॥ २ ॥
पायसैः कृसरैः साम्ललवणैः सानुवासनैः ।
नावनैस्तर्पणैश्चान्नैः सुस्निग्धैः स्वेदयेत्ततः ॥ ३ ॥
स्वभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तैः सङ्कराद्यैः पुनः पुनः ।

शुद्ध वायु को किसी अन्य आधानक (आश्रय) या समीपवर्ती दोष से सम्बन्धित न होने पर सबसे प्रथम स्नेहों द्वारा उपचार करे। घी, तैल, वसा तथा मज्जा को पिलाकर उसका स्नेहन करके स्नेह से क्लान्त होने पर ('स्नेहोद्वेगः क्लमः' इत्यादि सू. अ. १६।३०) दूध से आश्वासित करके फिर स्नेहन करे। स्नेहन के लिये मूंग आदि के यूष, ग्राम्य और आनूप आदि के मांसरस को स्नेह मिलाकर देवे, खीर या खिचड़ी देवे, अम्ल एवं लवण, अनुवासन, नस्य, तर्पण (मन्थ आदि) एवं सुस्निग्ध अन्नों से स्नेहन करे। इसके पीछे स्वेदन करे। स्वेदन के लिये भली प्रकार अभ्यंग करके स्नेह मिश्रित संकर आदि स्वेदनों से बार बार स्वेद देवे।

स्नेहन-स्वेदन से लाभ—

स्नेहाक्तं स्विन्नमङ्गं तु वक्रं स्तब्धं सवेदनम् ॥ ४ ॥
यथेष्टमानामयितुं सुखमेव हि शक्यते ।
शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः ॥ ५ ॥
शक्यं कर्मण्यतां नेतुं किमु गात्राणि जीवताम् ।
हर्षतोदरुगायामशोफस्तम्भग्रहादयः ॥ ६ ॥
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवं चोपजायते ।
स्नेहश्च धातून् संशुष्कान् पुष्णात्याशूपयोजितः ॥
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणांश्चास्याभिवर्धयेत् ।
असकृत्तं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्च प्रतिपादयेत् ॥ ८ ॥
तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे न तिष्ठन्त्यनिलामयाः ।

स्नेह से स्निग्ध तथा स्वेदन दिये गये, टेढ़े, जकड़े और वेदनायुक्त अंग को इच्छानुसार सुखपूर्वक मोड़ना (झुकाना) बहुत सरल होता है। क्योंकि सूखी हुई भी लकड़ियाँ स्नेहन और स्वेदन देने पर काम के योग्य बनाई (झुकाई) जा सकती हैं, फिर जीवित मनुष्यों के अंगों को कर्मशील करना कुछ भी कठिन नहीं।

स्वेद दिये पुरुष के हर्ष (रोमांचता), तोद, पीड़ा, खिंचाव, शोफ, स्तम्भ, ग्रह आदि शीघ्र शान्त हो जाते हैं और शरीर में कोमलता उत्पन्न हो जाती है। और स्नेह सूखे हुए धातुओं को शीघ्र पुष्ट करता है। तथा सेवन करने वाले के बल, अग्निबल, पुष्टि और प्राण (जीवन) को भी बढ़ाता है।

इस रोगी को फिर बार-बार स्नेहन और स्वेदन देवे इस प्रकार करने पर स्नेह से कोष्ठ के कोमल बन जाने पर वातजन्य रोग नहीं रहते।

विरेचन—

यद्येतेन सदोषत्वात्कर्मणा न प्रशाम्यति ॥ ९ ॥
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्भेषजैस्तं विशोधयेत् ।

पित्त तथा कफ दोष के साथ मिली होने से वायु यदि इस चिकित्सा से शान्त नहीं होती, तब कोमल (अमलतास आदि) एवं स्नेहमिश्रित औषधियों से विरेचन देवे ॥ ९ ॥

घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातलासिद्धमेव वा ॥ १० ॥
पयसैरण्डतैलं वा पिबेद् दोषहरं शिवम् ।

तिल्वक से सिद्ध या सातला (शिकाकाई) से सिद्ध घृत को पिलाये। दूध के साथ एरण्डतैल को पिये। ये सब दोष को निकालने वाले और कल्याणकारी हैं ॥ १० ॥

वातानुलोमन—

स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः ॥११॥
स्रोतो बद्ध्वाऽनिलं रुन्ध्यात्तस्मात्तमनुलोमयेत् ।

क्योंकि स्निग्ध, अम्ल, लवण और उष्ण आदि आहारों के कारण संचित हुआ मल स्रोतों को बन्द करके वायु को रोक देता है, इसलिये वायु का अनुलोमन करे ॥ ११ ॥

दीपन-पाचन निरूहण—

दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात्तं निरूहैरुपाचरेत् ॥१२॥
दीपनैः पाचनीयैर्वा भोज्यैर्वा तद्युतैर्नरम् ।
संशुद्धस्योत्थिते चाग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितम् ॥१३॥

जो रोगी दुर्बल और विरेचन के योग्य न हो, उसकी चिकित्सा निरूहों से करे। ये निरूह दीपन-पाचन गुण वाले होने चाहिये। अथवा दीपन-पाचन द्रव्यों से युक्त भोजन उस रोगी को देवे। शोधन होने से अग्नि के प्रदीप्त होने पर फिर स्नेहन और स्वेदन देना उत्तम है ॥ १२-१३ ॥

आमाशयगत वायु—

आमाशयगते वायौ वमितप्रतिभोजिते ।
सुखाम्बुना षड्धरणं वचादिं वा प्रयोजयेत् ॥ १४ ॥
सन्धुक्षितेऽग्नौ परतो विधिः केवलवातिकः ।

वायु के आमाशय में पहुँचा होने पर वमन कराके थोड़ा भोजन देकर, षड्धरण योग या वचादि गण को गरम पानी से पिलाये। अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर इसके आगे केवल शुद्ध वायु की चिकित्सा करे ॥ १४ ॥

वक्तव्य—षड्धरण योग—'चित्रकेन्द्रयवाः पाठा कटुकाऽतिविषाऽभया ।' सुश्रुत। दूसरे 'दार्वीकलिङ्गकटुकाऽतिविषाऽग्निपाठा मूत्रेण सूक्ष्मरजसो धरणप्रमाणाः ।' (चि. अ. २१) ऐसा कहते हैं। धरण से पल का दसवां भाग लेना, यथा—'पलस्य दशमांशो हि धरणं समुदाहृतम् ।' डल्हण ने 'धरणप्रमाणं मध्यमैरेकविंशतिभिर्निष्पावैर्भवति ॥' ऐसा कहा है। वृन्द ने—'कर्षोऽष्टादशनिष्पावैर्धरणं त्वधिकैस्तु तैः ॥' कहा है।

मत्स्यान्नाभिप्रदेशस्थे सिद्धान्बिल्वशलाटुभिः ॥१५॥

वायु के नाभि प्रदेश में स्थित होने पर कच्चे बिल्व के साथ सिद्ध की हुई मछलियां देवे ॥ १५ ॥

अधोनाभिगत वायु—

बस्तिकर्म त्वधो नाभेः शस्यते चावपीडकः ।

नाभि से नीचे वायु रुकने पर अवपीडक बस्ति कर्म और भोजन में मछलियां देवे। (चशब्दान्मत्स्यांश्च, अरुणदत्तः)।

व्यावहारिक पहलू—बस्ति को ऊँचा करके या पांयते को जरा अधिक ऊँचा करके जिससे पानी दबाव से जल्दी और वेग से जाय, इस तरह बस्ति कर्म करे। [अवपीडक-जोर से दबा कर]।

कोष्ठगत वायु—

कोष्ठगे क्षारचूर्णाद्या हिताः पाचनदीपनाः ॥ १६ ॥

कोष्ठ में वायु के होने पर पाचन, दीपन, क्षार और चूर्ण आदि उत्तम हैं ॥ १६ ॥

हृदयादिगत वायु—

हृत्स्थे पयः स्थिरासिद्धं शिरोबस्तिः शिरोगते ।
स्नैहिकं नावनं धूमः श्रोत्रादीनां च तर्पणम् ॥ १७ ॥

हृदयाश्रित वायु में शालिपर्णी से सिद्ध दूध दे। वायु के शिर में आश्रित होने पर शिरोबस्ति, स्नैहिक नस्य, धूमपान और कान आदि में तेल डालना उत्तम है ॥ १७ ॥

त्वग्गत वायु—

स्वेदाभ्यङ्गनिवातानि हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते ।

त्वचा में स्थित वायु में स्वेदन, अभ्यङ्ग, वायुरहित स्थान में निवास तथा मन के प्रिय भोजन करे।

रक्तगत वायु—

शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम् ॥ १८ ॥

रक्त में स्थित वायु में शीतल प्रदेह और रक्तमोक्षण करे।

मांस-मेदोगत वायु—

विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च ।

वायु के मांस और मेद में स्थित होने पर विरेचन निरूह और शमन उत्तम है।

अस्थि-मज्जगत वायु—

बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थिमज्जगतं जयेत् ॥ १९ ॥

अस्थि, मज्जा में स्थित वायु को बाह्य और अन्तः स्नेहों से शान्त करे ॥ १९ ॥

शुक्रगत वायु—

प्रहर्षोऽन्नं च शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम् ।
विबद्धमार्गं दृष्ट्वा तु शुक्रं दद्याद्विरेचनम् ॥ २० ॥
विरिक्तं प्रतिभुक्तं च पूर्वोक्तां कारयेत्क्रियाम् ।

वायु के शुक्र में स्थित होने पर प्रहर्षण करना तथा बल-शुक्रवारक अन्न देना उत्तम है । [यथा—कौंच, उड़द और मुर्गे का मांस आदि] ।

शुक्र का मार्ग रुका हुआ हो तो विरेचन देवे । विरेचन के पीछे थोड़ा भोजन देकर पूर्वोक्त (प्रहर्षणादि) चिकित्सा करे ॥ २० ॥

गर्भगत वायु—

गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां च विशुष्यताम् ॥२१॥
सिताकाश्मर्यमधुकैः सिद्धमुत्थापने पयः ।

वायु से गर्भ के शुष्क होने पर तथा बालकों के सूखते जाने पर सिता, गम्भारी और मुलहठी से सिद्ध दूध उत्थापन बढ़ाने के लिए देना चाहिए ॥ २१ ॥

स्नायुगत वायु—

स्नावसन्धिशिराप्राप्ते स्नेहदाहोपनाहनम् ॥ २२ ॥

वायु के स्नायुसन्धि और शिरा में होने पर स्नेह, दाह और उपनाह करना चाहिये ॥ २२ ॥

वायु से सकुचित शरीर—

तैलं सङ्कुचितेऽभ्यङ्गो माषसैन्धवसाधितम् ।

अङ्ग के संकुचित हो जाने पर उड़द और सैन्धव से सिद्ध तैल से शरीर पर अभ्यंग करे ।

रक्तस्राव से प्रकुपित वायु—

अगारधूमलवणतैलैर्लेपः स्रुतेऽसृजि ॥ २३ ॥
सुप्तेऽङ्गे वेष्टयुक्ते तु कर्तव्यमुपनाहनम् ।

रक्त के निकल जाने पर वायु का प्रकोप होने पर घर का धुआं लवण और तैल से लेप करे । अङ्ग के सो जाने पर (अचेतन-बन जाने पर) एवं ऐंठन होने पर उपनाह करना चाहिये ॥ २३ ॥

अपतानकचिकित्सा—

अथापतानकेनार्तमस्रस्ताक्षमवेपनम् ॥ २४ ॥
अस्तब्धमेढ्रमस्वेदं बहिरायामवर्जितम् ।
अखट्वाघातिनं चैनं त्वरितं समुपाचरेत् ॥ २५ ॥

अपतानक रोग से पीड़ित जिस व्यक्ति की आँखें टेढ़ी या खिसकी न हों (जो टेढ़ा न देखता हो), जिसमें कम्पन न हो, जिसका मेहन ढीला हो, पसीना न हो, बहिरायाम से रहित, एवं अखट्वाघाती हो, अर्थात् रोग के आरम्भ में ही उसकी चिकित्सा करे ॥ २४-२५ ॥

वक्तव्य—खट्वाघाती—खाट पर ही पड़े रहने वाला, जो व्यक्ति खाट पर से खड़ा हो सके, उसकी चिकित्सा करे ।

अपतानक रोग में नस्यादि—

तत्र प्रागेव सुस्निग्धस्विन्नाङ्गे तीक्ष्णनावनम् ।
स्रोतोविशुद्धये युञ्ज्यादच्छपानं ततो घृतम् ॥ २६ ॥
विदार्यादिगणक्वाथदधिक्षीररसैः शृतम् ।
नातिमात्रं तथा वायुर्व्याप्नोति सहसैव वा ॥ २७ ॥

इस अपतानक से पीड़ित व्यक्ति में सबसे प्रथम भली प्रकार शरीर का स्नेहन और स्वेदन करके त्रिकटु आदि से तीक्ष्ण नस्य स्रोतों की शुद्धि के लिए देना चाहिये । पीछे से शुद्ध (किसी से न मिलाकर) घृतपान कराना चाहिये । इस घृत को विदार्यादि गण के क्वाथ में (घी से चार गुणा), दूध, दही, मांसरस (घी के बराबर) से सिद्ध करे । इस घी के पीने से वायु बहुत अधिक रूप से शरीर में नहीं फैलती, और न जल्दी आक्रमण ही करती है ॥ २६-२७ ॥

वातनाशक स्नेह-स्वेदन—

कुलत्थयवकोलानि भद्रदार्वादिकं गणम् ।
निःक्वाथ्यानूपमांसं च तेनाम्लैः पयसाऽपि च ॥२८॥
स्वादुस्कन्धप्रतीवापं महास्नेहं विपाचयेत् ।
सेकाभ्यङ्गावगाहान्नपाननस्यानुवासनैः ॥ २९ ॥
स हन्ति वातं, ते ते च स्नेहस्वेदाः सुयोजिताः ।

कुलथी, जौ, बेर, भद्रदार्वादि गण की औषधियां और आनूप मांस का क्वाथ करे । इस क्वाथ में कांजी और दूध मिलाकर, मधुर, स्कन्ध के द्रव्यों का प्रक्षेप मिलाकर घृत-तैल-वसा और मज्जा यह महास्नेह सिद्ध करे । इस स्नेह का परिषेक, अभ्यङ्ग, अवगाहन, खान-पान, नस्य या अनुवासन में प्रयोग करने पर यह वायु को नष्ट करता है । पहिले कहे हुए स्नेहस्वेद भी भली प्रकार बरतने पर वायु को नष्ट करते हैं ॥ २८-२९ ॥

शिरोविरेचन विधि—

वेगान्तरेषु मूर्धानमसकृच्चास्य रेचयेत् ॥ ३० ॥
अवपीडैः प्रधमनैस्तीक्ष्णैः श्लेष्मनिबर्हणैः ।
श्वसनासु विमुक्तासु तथा संज्ञां स विन्दति ॥ ३१ ॥

वेगों के बीच-बीच में इस रोगी को बार-बार शिरोविरेचन देवे । इसके लिए अवपीडन नस्य, प्रधमन नस्य, तीक्ष्ण नस्य तथा कफनिःसारक नस्य देवे । श्वासमार्गों के कफ से रहित हो जाने पर रोगी को चेतना आ जाती है । (प्राणनाड्यो हृदयाश्रिताः श्वसना इत्युच्यन्ते ।) ॥ ३०-३१ ॥

वाताधिक्य में घृत—

सौवर्चलाभयाव्योषसिद्धं सर्पिश्चलेऽधिके ।

वायु की अधिकता होने पर सौवर्चल, हरड़ और त्रिकटु से सिद्ध किया घृत देवे । (इनके कल्क में घी से चार गुणा पानी मिलाकर घृत सिद्ध करे) ।

वातनाशक घृत—

पलाष्टकं तिल्वकतो वरायाः
प्रस्थं पलांशं गुरुपञ्चमूलम् ।

सैरण्डसिंहीत्रिवृतं घटेऽपा
पक्त्वा रसे पादशृतेन तेन ॥ ३२ ॥
दध्नः पात्रे यावशूकात्त्रिपलैः
सर्पिःप्रस्थं हन्ति तत्सेव्यमानम् ।
दुष्टाद् वातानेकसर्वाङ्गसंस्थान्
योनिव्यापद्गुल्मवर्ध्मोदरं च ॥ ३३ ॥

तिल्वक (लोध) आठ पल, त्रिफला एक प्रस्थ, महत्पञ्चमूल एक पल, एरण्ड, कटेरी, निशोथ प्रत्येक एक पल लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ करे। चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर इसमें दही एक आढक, यवक्षार तीन पल, घी एक प्रस्थ मिलाकर घी सिद्ध करे। इस घी के सेवन से दूषित एकांग वायु या सर्वांग वायु, योनि रोग, गुल्म, वर्ध्म और उदररोग नष्ट होते हैं ॥ ३२-३३ ॥

अन्य विधि—

विधिस्तिल्वकवज्ज्ञेयो रम्यकाशोकयोरपि ॥ ३४ ॥

तिल्वक की भाँति अमलतास और अशोक से भी यह कल्प करना चाहिये। (रम्यक के स्थान पर शम्याक पाठ ठीक है, अरुणदत्त ने रम्यक का महानिम्ब अर्थ दिया है)।

शुद्ध अपतानकचिकित्सा—

चिकित्सितमिदं कुर्याच्छुद्धवातापतानके ।
संसृष्टदोषे संसृष्टम्—

शुद्ध वातापतानक में यह चिकित्सा विधि बरते। संसृष्ट दोष में दोषों के लिये कही चिकित्सा करे।

कफयुक्त अपतानकचिकित्सा—

— चूर्णयित्वा कफान्विते ॥ ३५ ॥
तुम्बुरूण्यभया हिङ्गु पौष्करं लवणत्रयम् ।
यवक्वाथाम्बुना पेयं हृत्पार्श्वार्त्यपतन्त्रके ॥ ३६ ॥
हिङ्गु सौवर्चलं शुण्ठीं दाडिमं साम्लवेतसम् ।
पिबेद्वा श्लेष्मपवनहृद्रोगोक्तं च शस्यते ॥ ३७ ॥

वायु के कफ से मिले होने पर अपतंत्रक में हृदयशूल या पार्श्वशूल हो तो तुम्बुरु (नेपाली धनिया), धनिया, हरड़ हींग, पुष्कर, तीनों नमक (सैन्धव, संचल, विड), इनके चूर्ण को जौ के क्वाथ से पिये। अथवा हींग, संचल, सोंठ, अनारदाना, अम्लवेतस; इनका चूर्ण जौ के क्वाथ से पिये। कफ-वातजनित हृदय रोग में कही चिकित्सा यहाँ भी बरते ॥ ३५-३७ ॥

आयामचिकित्सा —

आयामयोरर्दितवद्बाह्याभ्यन्तरयोः क्रिया ।
तैलद्रोण्यां च शयनमान्तरोऽत्र सुदुस्तरः ॥ ३८ ॥

बाह्यायाम और अन्तरायाम की चिकित्सा अर्दित के समान है। रोगी को तैल की द्रोणी (कोठी) में लेटाये। इन दोनों आयामों में अन्तरायाम अतिकष्टसाध्य है ॥ ३८ ॥

असाध्य लक्षण—

विवर्णदन्तवदनः स्रस्ताङ्गो नष्टचेतनः ।
प्रस्विद्यंश्च धनुःस्तम्भी दशरात्रं न जीवति ॥ ३९ ॥

जिस धनुःस्तम्भ वाले रोगी के दांत और मुख का रंग बदल गया हो, अंग ढीले पड़ गये हों, जिसकी चेतना नष्ट हो गई हो और पसीना आता हो; वह धनुःस्तम्भ-रोगी दस दिन से अधिक नहीं जीता ॥ ३९ ॥

मन्दवेगचिकित्सा—

वेगेष्वतोऽन्यथा जीवेन्मन्देषु विनतो जडः ।
खञ्जः कुणिः पक्षहतः पङ्गुलो विकलोऽथवा ॥ ४० ॥

इन उपर्युक्त लक्षणों के विपरीत लक्षण होने पर या इन लक्षणों के मन्द होने पर यदि रोगी जीता है; तो वह कुबड़ा, जड़ (बुद्धिशून्य), खंज (कुण्ठपाद-लंगड़ा); कुणि (कुण्ठबाहु-टूंठ), पक्षहत (एक तरफ से अंग का निष्काम होना), पंगुल (दोनों टाँगों से लाचार) और विकल (गुनगुना कर अस्पष्ट बोलने वाला हीनवाक्) होकर जीता है ॥ ४० ॥

हनुस्रंस-चिकित्सा—

हनुस्रंसे हनू स्निग्धस्विन्नौ स्वस्थानमानयेत् ।
उन्नामयेच्च कुशलश्चिबुकं विवृते मुखे ॥ ४१ ॥
नामयेत्संवृते शेषमेकायामवदाचरेत् ।

हनुस्रंस रोग में हनु पर स्नेहन और स्वेदन देकर हनु को उसके असली स्थान पर बिठाये। यदि मुख खुला हो तो कुशल वैद्य चिबुक को ऊपर उठाये। यदि मुख बन्द हो तो एकायाम वैद्य चिबुक को नीचे लाये। शेष चिकित्सा (अर्दित) के समान करे ॥ ४१ ॥

जिह्वास्तम्भचिकित्सा—

जिह्वास्तम्भे यथावस्थं कार्यं वातचिकित्सितम् ॥ ४२ ॥

जिह्वास्तम्भ में अवस्थानुसार वातचिकित्सा (स्नेहन—स्वेदन आदि) करना चाहिये ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—'वाग्ग्रहे कोष्णतोयेन वेतसाऽम्लं पिबेन्नरः । मातुलुङ्गरसं तद्वद्धिङ्गुसौवर्चलान्वितम् ॥' यह पाठ किसी २ ग्रन्थ में अधिक है।

अर्दितरोगचिकित्सा—

अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं श्रोत्राक्षितर्पणम् ।
सशोफे वमनं, दाहरागयुक्ते सिराव्यधः ॥ ४३ ॥

अर्दित रोग में नस्य, शिर पर तैल, तथा श्रोत्र और आंख का तर्पण करे। शोफ होने पर वमन देवें। दाह एवं सुर्खी होने पर सिरावेधन करे[1] ॥ ४३ ॥

पक्षाघात और अवबाहुक चिकित्सा—

स्नेहनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम् ।

---

[1] यह चिकित्सा भेद क्रमशः शुद्ध वायु, कफानुबन्धी तथा पित्त और रक्तानुबन्धी वायु की दृष्टि से करना चाहिये ।

अवबाहौ हितं नस्यं स्नेहश्चोत्तरभक्तिकः ॥ ४४ ॥

पक्षाघात में स्नेहन तथा स्नेहयुक्त विरेचन देवे ।

अवबाहु रोग में नस्य और स्नेह पिला कर पीछे से तुरन्त भोजन देना उत्तम है ॥ ४४ ॥

ऊरुस्तम्भ में स्नेहादि का निषेध—

ऊरुस्तम्भे तु न स्नेहो न च संशोधनं हितम् ।
श्लेष्मामेदोबाहुल्याद्युक्त्या तत्क्षपणान्यतः ॥ ४५ ॥
कुर्याद्रूक्षोपचारश्च यवश्यामाककोद्रवाः ।
शाकैरलवणैः शस्ताः किञ्चित्तैलैर्जलैः शृतैः ॥ ४६ ॥
जाङ्गलैरघृतैर्मांसैर्मध्वम्भोरिष्टपायिनः ।
वत्सकादिर्हरिद्रादिर्वचादिर्वा ससैन्धवः ॥ ४७
आढ्यवाते सुखाम्भोभिः पेयः षड्धरणोऽथवा ।

ऊरुस्तम्भ में श्लेष्मा, आम और मेद की अधिकता होने के कारण न तो स्नेहन करना चाहिये और न संशोधन देना उत्तम है इसलिये आम और कफ को कम करने वाले उपाय करने चाहिये। इसके लिये रूक्ष चिकित्सा करे। यथा—जौ, सांवां और कोदो धान्यों को नमकरहित, थोड़े से तेल और जल में पकाये, शाकों के साथ या घीरहित जांगल मांसों के साथ खाये। पीने में मधु का शर्बत या अरिष्ट पिये। वत्सकादि गण, हरिद्रादि गण अथवा वचादि गण को सैन्धव के साथ मिला कर गरम पानक से आढ्यवात में पिये। अथवा पड्धरण योग को सुहाते गरम पानी से पिये ॥ ४५-४७ ॥

ऊरुस्तम्भ में लेहादि—

लिह्यात्क्षौद्रेण वा श्रेष्ठाचव्यतिक्ताकणाघनान् ॥ ४८ ॥
कल्कं समधु वा चव्यपथ्याग्निसुरदारुजम् ।
मूत्रैर्वा शीलयेत्पथ्यां गुग्गुलुं गिरिसम्भवम् ॥ ४९ ॥

अथवा मधु के साथ त्रिफला, चव्य, कुटकी, पिप्पली, मुस्ता (के चूर्ण) को खाये। अथवा चव्य, हरड़, चित्रक, देवदारु; इनका कल्क मधु से चाटे। हरड़ को गोमूत्र से खाये। गुग्गुलु या शिलाजतु को (गोमूत्र से) खावे।

अन्य प्रयोग—

व्योषाग्निमुस्तत्रिफलाविडङ्गैर्गुग्गुलुं समम् ।
खादन् सर्वाञ्जयेद्व्याधीन् मेदःश्लेष्मामवातजान् ॥

त्रिकटु, चित्रक, मुस्ता, त्रिफला और विडंग सब बराबर और सबके बराबर गुग्गुलु मिला कर खाने से मेद, कफ, आम और वायु से जन्य सब रोग नष्ट होते हैं ॥ ५० ॥

वायुशमन-प्रयोग—

शाम्यत्येवं कफाक्रान्तः समेदस्कः प्रभञ्जनः ।
क्षारमूत्रान्वितान् स्वेदान् सेकानुद्वर्तनानि च ॥ ५१ ॥
कुर्याद्दिह्याच्च मूत्राढ्यैः करञ्जफलसर्षपैः ।
मूलैर्वाऽप्यर्कतर्कारीनिम्बजैः ससुराह्वयैः ॥ ५२ ॥
सक्षौद्रसर्षपापक्वलोष्टवल्मीकमृत्तिकैः ।
कफक्षयार्थं व्यायामे सह्ये चैनं प्रवर्तयेत् ॥ ५३ ॥
स्थलान्युल्लङ्घयेन्नारीः शक्तितः परिशीलयेत् ।
स्थिरतोयं सरः क्षेमं प्रतिस्रोतो नदीं तरेत् ॥ ५४ ॥
श्लेष्ममेदःक्षये चात्र स्नेहादीनवचारयेत् ।
स्थानदूष्यादि चालोच्य कार्या शेषेष्वपि क्रिया ॥ ५५ ॥

इस प्रकार करने से कफावृत मेदयुक्त वायु शान्त हो जाती है। क्षार और मूत्रयुक्त स्वेद, परिषेक और उबटन करे। करंज फल, सरसों; इनको प्रचुर मूत्र में घोल कर लेप करे। अथवा आक; श्योनाक, नीम और देवदारु के मूलों को गोमूत्र में घोल कर लेप करे। सरसों, कच्ची मिट्टी का ढेला, बामी की मिट्टी, इनका मधु के साथ लेप करे। तथा कफ के क्षय के लिये इस ऊरुस्तम्भ रोगी को सहन हो सके ऐसा व्यायाम करावे। स्थानों गड्ढों को लांघे (या पहाड़ या टीलों पर चढ़े)। शक्ति के अनुसार स्त्री का सेवन करे। गम्भीर पानी वाले ग्राह आदि से रहित सुरक्षित तालाब में तैरे। अथवा नदी के वेग के विरुद्ध तैरे।

कफ और मेद के क्षीण हो जाने पर इस रोगी में स्नेह आदि उपचार करे।

शेष वातरोगों में स्थान, दूष्य आदि का विचार करके यथायोग्य चिकित्सा कर्म करे ॥ ५१-५५ ॥

अन्य प्रयोग—

सहचरं सुरदारु सनागरं
क्वथितमम्भसि तैलविमिश्रितम् ।
पवनपीडितदेहगतिः पिबन्
द्रुतविलम्बितगो भवतीच्छया ॥ ५६ ॥

झिण्टी, देवदारु, सोंठ इनके क्वाथ में तैल मिला कर पीने से वायु से पीड़ित शरीर की गति वाला व्यक्ति भी इच्छानुसार द्रुत (शीघ्र) या विलम्बित गति से चलता है। (छन्द भी द्रुतविलम्बित है) ॥ ५६ ॥

रास्नादि घृत—

रास्नामहौषधद्वीपिपिप्पलीशटिपौष्करम् ।
पिष्ट्वा विपाचयेत्सर्पिर्वातरोगहरं परम् ॥ ५७ ॥

रास्ना, सोंठ, चित्रक, पिप्पली, कचूर और पुष्करमूल को पीस कर इनसे घृत सिद्ध करे। यह घृत उत्तम वातरोगनाशक है ॥ ५७ ॥

निम्बामृतावृषपटोलनिदिग्धिकानां
भागान् पृथग्दश पलान् विपचेद्घटेऽपाम् ।
अष्टांशशेषितरसेन पुनश्च तेन
प्रस्थं घृतस्य विपचेत्पिचुभागकल्कैः ॥ ५८ ॥
पाठाविडङ्गसुरदारुगजोपकुल्या-
द्विक्षारनागरनिशामिशिचव्यकुष्ठैः ।

तेजोवतीमरिचवत्सकदीप्यकाग्नि-
रोहिण्यरुष्करवचाकणमूलयुक्तैः ॥ ५९ ॥
मञ्जिष्ठयाऽतिविषया विषया यवान्या
संशुद्धगुग्गुलुपलैरपि पञ्चसङ्ख्यैः ।
तत्सेवितं विधमति प्रबलं समीरं
सन्ध्यस्थिमज्जगतमप्यथ कुष्ठमीदृक् ॥६०॥
नाडीव्रणार्बुदभगन्दरगण्डमाला-
जत्रूर्ध्वसर्वगदगुल्मगुदोत्थमेहान् ।
यक्ष्मारुचिश्वसनपीनसकासशोफ-
हृत्पाण्डुरोगमदविद्रधिवातरक्तम् ॥ ६१ ॥

नीम, गिलोय, अडूसा, पटोल, कटेरी, प्रत्येक दश पल लेकर एक द्रोण जल में पकाये। अष्टमांश रहने पर छान कर इस क्वाथ से एक प्रस्थ घृत, पाठा, विडंग, देवदारु, हस्तिपिप्पली, यवक्षार, सर्जिक्षार, सोंठ, हल्दी, सौंफ, चव्य, कूट, तेजबल, मरिच, इन्द्रजौ, अजवायन, चित्रक, कुटकी, भिलावा, वच, पिप्पलीमूल, मजीठ, अतीस, काकोली, खुरासानी अजवायन प्रत्येक एक कर्ष, श्रेष्ठ शुद्ध गुग्गुलु पाँच पल मिला कर घृत सिद्ध करे। इसके सेवन से सन्धि, अस्थि तथा मज्जा में भी गई प्रबल वायु और इसी प्रकार का कुष्ठ नष्ट होता है। तथा नाडीव्रण, अर्बुद, भगन्दर, गण्डमाला, जत्रु से ऊपर के सब रोग, गुल्म, अर्श, प्रमेह, यक्ष्मा, अरुचि, श्वास, पीनस, कास, शोफ, हृदयरोग, पाण्डुरोग, विद्रधि, वातरक्त भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ ५८-६१ ॥

शिरोगत वायु में नस्य—

बलाबिल्वशृते क्षीरे घृतमण्डं विपाचयेत् ।
तस्य शुक्तिः प्रकुञ्चो वा नस्यं वाते शिरोगते ॥६२॥

बला और बिल्व से सिद्ध किये दूध में घी का मण्ड पकाये। शिरोगत वायु में इस घृतमण्ड की दो कर्ष मात्रा या एक पल मात्रा नस्य देवे ॥ ६२ ॥

अन्य प्रयोग—

तद्वत्सिद्धा वसा नक्रमत्स्यकूर्मचुलूकजा ।
विशेषेण प्रयोक्तव्या केवले मातरिश्वनि ॥ ६३ ॥

घृतमण्ड की भाँति नक्र, मछली, कछुआ और चुलुक की वसा को सिद्ध करके केवल शुद्ध वायु में विशेष कर बरते।

कफसंयुक्त वातनाशक तैल—

जीर्णं पिण्याकं पञ्चमूलं पृथक् च
क्वाथ्यं क्वाथाभ्यामेकतस्तैलमाभ्याम् ।
क्षीरादष्टांशं पाचयेत्तेन पानाद्-
वाता नश्येयुः श्लेष्मयुक्ता विशेषात् ॥६४॥

पुरानी खल और बृहत्पंचमूल, इन दोनों का क्वाथ अलग अलग करे। इन दोनों क्वाथों को एक करके इनमें तैल से आठगुना दूध मिलाये। इसमें तैल मिलाकर (क्वाथ से चौथाई) सिद्ध करे। इस तैल के पीने से कफयुक्त वायु विशेष करके नष्ट होती है। [जीर्ण-बहुवर्षस्थितम्] ॥ ६४ ॥

प्रसारिणी तैल—

प्रसारिणीतुलाक्वाथे तैलप्रस्थं पयःसमम् ।
द्विमेदामिशिमञ्जिष्ठाकुष्ठरास्नाकुचन्दनैः ॥ ६५ ॥
जीवकर्षभकाकोलीयुगलामरदारुभिः ।
कल्कितैर्विपचेत्सर्वमारुतामयनाशनम् ॥ ६६ ॥

प्रसारणी का क्वाथ एक सौ पल, तैल एक प्रस्थ; मेदा, महामेदा, सौंफ, मजीठ, कूठ, रास्ना, लालचन्दन, जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, देवदारु; इनका कल्क (तैल से चतुर्थांश) मिलाकर तैल सिद्ध करे। यह सब वातरोगों को नष्ट करता है ॥ ६५-६६ ॥

सहचरादि तैल—

समूलशाखस्य सहाचरस्य
तुलां समेतां दशमूलतश्च ।
पलानि पञ्चाशदभीरुतश्च
पादावशेषं विपचेद्वहेऽपाम् ॥ ६७ ॥
तत्र सेव्यनखकुष्ठहिमैला-
स्पृक्प्रियङ्गुनलिकाम्बुशिलाजैः ।
लोहितानलदलोहसुराह्वैः
कोपनामिशितुरुष्कनतैश्च ॥ ६८ ॥
तुल्यक्षीरं पालिकैस्तैलपात्रं
सिद्धं कृच्छ्रान् शीलितं हन्ति वातान् ।
कम्पाक्षेपस्तम्भशोषादियुक्तान्
गुल्मोन्मादौ पीनसं योनिरोगान् ॥ ६९ ॥

झिण्टी मूल और शाखा समेत एक सौ पल, दशमूल एक सौ पल, शतावरी पचास पल लेकर चार द्रोण जल में क्वाथ करे। चौथाई शेष रहने पर इसमें खस, नख, कूट, चन्दन, इलायची, स्पृक्का, प्रियंगु, नलिका, मुस्ता, शिलारस, मंजीठ, नेत्रबाला, अगरु, देवदारु, कोपना (हल्दी), सौंफ, तुरुष्क, तगर प्रत्येक एक पल, तैल एक आढक, दूध एक आढक मिला कर तैल सिद्ध करे। इस तैल के सेवन से कष्टसाध्य कम्प, आक्षेप, स्तम्भ और शोषयुक्त वायु, गुल्म, उन्माद, पीनस और योनिरोग नष्ट होते हैं ॥ ६७-६९ ॥

द्वितीय सहचरादि तैल—

सहाचरतुलायास्तु रसे तैलाढकं पचेत् ।
मूलकल्काद् दशपलं पयो दत्त्वा चतुर्गुणम् ॥७०॥
अथवा नतषड्ग्रन्थास्थिराकुष्ठसुराह्वयान् ।
सैलानलदशैलेयशताह्वारक्तचन्दनान् ॥ ७१ ॥
सिद्धेऽस्मिञ् शर्कराचूर्णादष्टादशपलं क्षिपेत् ।
भेडस्य सम्मतं तैलं तत्कृच्छ्राननिलामयान् ॥७२॥
वातकुण्डलिकोन्मादगुल्मवर्ध्मादिकान् जयेत् ।

झिण्टी का क्वाथ एक सौ पल, तैल एक आढक, मूली का कल्क दस पल, तैल से चौगुना दूध मिलाकर तैल सिद्ध करे। अथवा झिण्टी के क्वाथ (एक तुला) में तगर, बच, शालपर्णी, कूठ, देवदारु, इलायची, ह्रीबेर, शिलारस, सौंफ, लालचन्दन मिलाकर तैल सिद्ध करे। सिद्ध हुए तैल में अट्ठारह पल शर्करा का चूर्ण मिलाये। यह तैल भेड ऋषि से सम्मत है। कष्टसाध्य वातरोगों, वातकुण्डलिका, उन्माद, गुल्म, वर्ध्म आदि को नष्ट करता है ॥ ७०-७२ ॥

सर्ववातनाशक बलातैल—

बलाशतं छिन्नरुहापादं रास्नाऽष्टभागिकम् ॥ ७३ ॥
जलाढकशते पक्त्वा शतभागस्थिते रसे ।
दधिमस्त्विक्षुनिर्यासशुक्तैस्तैलाढकं समैः ॥ ७४ ॥
पचेत् साजपयोऽर्धांशं कल्कैरेभिः पलोन्मितैः ।
शटीसरलदार्वेलामञ्जिष्ठाऽगुरुचन्दनैः ॥ ७५ ॥
पद्मकातिबलामुस्ताशूर्पपर्णीहरेणुभिः ।
यष्ट्याह्वसुरसव्याघ्रनखर्षभकजीवकैः ॥ ७६ ॥
पलाशरसकस्तूरीनलिकाजातिकोशकैः ।
स्पृक्काकुङ्कुमशैलेयजातीकटुफलाम्बुभिः ॥ ७७ ॥
त्वक्कुन्दरुककर्पूरतुरुष्कश्रीनिवासकैः ।
लवङ्गनखकक्कोलकुष्ठमांसीप्रियङ्गुभिः ॥ ७८ ॥
स्थौणेयतगरध्यामवचामदनकप्लवैः ।
सनागकेसरैः सिद्धे दद्याच्चात्रावतारिते ॥ ७९ ॥
पत्रकल्कं ततः पूतं विधिना तत्प्रयोजितम् ।
कासं श्वासं ज्वरं छर्दिं मूर्च्छां गुल्मक्षतक्षयान् ॥८०॥
प्लीहशोषावपस्मारमलक्ष्मीं च प्रणाशयेत् ।
बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिविनाशनम् ॥ ८१ ॥

बला एक सौ पल, गिलोय पच्चीस पल, रास्ना साढ़े बारह पल लेकर एक सौ आढक जल में क्वाथ करे। एक आढक क्वाथ शेष रहने पर इसमें दही, मस्तु, ईख का रस, शुक्त और तैल प्रत्येक एक आढक, बकरी का दूध आधा आढक, कचूर, सरल काष्ठ, दारुहल्दी, इलायची, मजीठ, अगरु, चन्दन, पद्माख, अतिबला, मुस्ता, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, हरणु, मुलहठी, तुलसी, व्याघ्रनख, ऋषभक, जीवक, पलाश (तमालपत्र), रस (बोल), कस्तूरी, नलिका, (विद्रुमलता), जावित्री, स्पृक्का, केशर, शैलेय, जायफल, कटुफला (लता कस्तूरी), वालक, दालचीनी, कुन्दरु, कर्पूर, तुरुष्क, श्रीनिवास (बिरुव), लौंग, नख, शीतलचीनी, कूठ, जटामांसी, प्रियङ्गु, स्थौणेय, तगर, कत्तृण, बच, मदनक (मेंहदी), केवटी मोथा, नागकेसर प्रत्येक एक पल मिलाकर तैल सिद्ध करें। सिद्ध हुए तैल को उतार कर इसको छानकर सुगन्धि के लिये पत्रकल्क मिलाये। इस तैल को विधिपूर्वक बरतने से कास, श्वास, ज्वर, वमन, मूर्च्छा, गुल्म, क्षत, क्षय, प्लीहा, शोष, अपस्मार और दौर्भाग्य नष्ट होते हैं। यह बलातैल (प्रथम गर्भव्यापद् में कहे बलातैल से) वातरोगों को नष्ट करने में उत्तम है। [पत्रकल्क का लक्षण—चूर्णस्वरसपुष्पाणां सिद्धशीतेऽवतारिते। नीयते गन्धवृद्ध्यर्थं पत्रकल्को मनीषिभिः ॥] ॥ ७३-८१ ॥

पाने नस्येऽन्वासनेऽभ्यञ्जने च
स्नेहाः काले सम्यगेते प्रयुक्ताः
दुष्टान् वातानाशु शान्तिं नयेयु
र्वन्ध्या नारीः पुत्रभाजश्च कुर्युः ॥ ८२ ॥

ये स्नेह उचित समय पर पान, नस्य अनुवासन और अभ्यंग में बरतने पर दूषित वायुओं को शीघ्र ही शान्त करते हैं और वन्ध्या स्त्री को पुत्रवती बनाते हैं ॥ ८२ ॥

बस्तिप्रयोग—

स्नेहस्वेदैर्द्रुतः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थितः ।
पित्तं वा दर्शयेद्रूपं बस्तिभिस्तं विनिर्जयेत् ॥ ८२ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया- मष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने वात- व्याधिचिकित्सितं नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

* * *

स्नेहन और स्वेदन से द्रवीभूत कफ जब पक्वाशय में स्थित (श्वेत-मूत्र-पुरीषादि) हो जावे अथवा पित्त अपने लक्षण दिखाये; तब कफ या पित्त को बस्तियों से शान्त करे।

वक्तव्य—तन्त्रान्तरोक्त प्रसिद्ध योग-कल्याणलेह, रसोनपिण्ड; योगराज गुग्गुलु, त्रयोदशांग गुग्गुलु, चतुर्मुखरस, चिन्तामणि चतुर्मुख, योगेन्द्ररस, वातचिन्तामणि, रसराज, छागलाद्यघृत, नकुलाद्यघृत।

बाह्योपचार में—श्रीविष्णुतैल, नारायणतैल, माषतैल और प्रसारणीतैल।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सितस्थान का वातव्याधिचिकित्सित नामक इक्कीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥२१॥

* * *

द्वाविंशोऽध्यायः

अथातो वातशोणितचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे वातशोणितचिकित्सित का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वातरक्तचिकित्सा—

वातशोणितिनो रक्तं स्निग्धस्य बहुशो हरेत् ।
अल्पाल्पं पालयन् वायुं यथादोषं यथाबलम् ॥ १॥

वातरक्त वाले रोगी को स्नेहन देकर उसके रक्त को थोड़ा-थोड़ा बार-बार वायु की वृद्धि को बचाते हुए और दोष एवं बल की दृष्टि से निकालना चाहिये ॥ १ ॥

वातरक्त में रुधिर निकालने की विधि—

रुग्रागतोददाहेषु जलौकोभिर्विनिर्हरेत्।
शृङ्गतुम्बैश्चिमिचिमाकण्डूरुग्दूयनान्वितम् ॥ २ ॥
प्रच्छानेन सिराभिर्वा देशाद् देशान्तरं व्रजत्।

वेदना, सुर्खी, तोद और दाह होने पर जोंक से रक्त निकाले। चिमचिमाहट, कण्डू, पीड़ा, जलन होने पर सींग या तुम्बी से रक्त निकाले। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने वाले वातरक्त में पाछना करके या सिरावेध से रक्त निकाले ॥ २ ॥

रक्त निकालने का निषेध—

अङ्गग्लानौ तु न स्राव्यं रूक्षे वातोत्तरे च यत् ॥ ३ ॥

अङ्गशोष होने पर (अथवा शरीर में कृशता होने पर) रक्त नहीं निकालना चाहिये। रूक्ष व्यक्ति में वात की प्रधानता होने पर भी रक्तमोक्षण नहीं करना चाहिए। [अपि तु वातचिकित्सा करनी चाहिये] ॥ ३ ॥

गम्भीरं श्वयथुं स्तम्भं कम्पं स्नायुसिरामयान्।
ग्लानिमन्यांश्च वातोत्थान् कुर्याद्वायुरसृक्क्षयात् ॥ ४ ॥

क्योंकि रक्त के क्षय से प्रकुपित वायु गंभीर शोथ, जड़ता, कम्प, स्नायु एवं सिरा के रोग, ग्लानि तथा दूसरे वातजन्य रोगों को उत्पन्न कर देती है ॥ ४ ॥

वातरक्त में विरेचन—

विरेच्य स्नेहयित्वा तु स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः।

(विरेचन योग्य पुरुष का) स्नेहन करके स्नेहयुक्त विरेचनों से विरेचन देना चाहिए।

अन्यान्य प्रयोग—

वातोत्तरे वातरक्ते पुराणं पाययेद् घृतम् ॥ ५ ॥
श्रावणीक्षीरकाकोलीक्षीरिणीजीवकैः समैः।
सिद्धं सर्षभकैः सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत् ॥ ६ ॥
द्राक्षामधूकवारिभ्यां सिद्धं वा ससितोपलम्।
घृतं पिबेत्तथा क्षीरं गुडूचीस्वरसे शृतम् ॥ ७ ॥
तैलं पयः शर्करां च पाययेद्वा सुमूर्च्छितम्।
बलाशतावरीरास्नादशमूलैः सपीलुभिः ॥ ८ ॥
श्यामैरण्डस्थिराभिश्च वातार्तिघ्नं शृतं पयः।
धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम् ॥ ९ ॥

वाताधिक वातरक्त में पुरातन (दस साल पुराना) घृत पिलाये।

श्रावणी (मण्डूकपर्णी या मुण्डी), क्षीरकाकोली, दूधी, जीवक और ऋषभक समान लेकर इनके कल्क से दूध के साथ सिद्ध किया घृत वातरक्तनाशक है।

द्राक्षा और मुलहठी के क्वाथ में सिद्ध किया घृत मिश्री के साथ पिये। तथा गिलोय के क्वाथ में सिद्ध किया दूध पिये। अथवा तैल, दूध और शर्करा को मिलाकर पिलाये।

बला, शतावरी, रास्ना, दशमूल, पीलु, निशोथ, एरण्ड, शालपर्णी; इनसे सिद्ध किया दूध वातजन्य वेदना को नष्ट करता है।

धारोष्ण दूध को या दूध में गोमूत्र मिलाकर पीने से दोषों का अनुलोमन होता है ॥ ५-९ ॥

पित्तज-वातरक्तचिकित्सा—

पैत्ते पक्त्वा वरीतिक्तापटोलत्रिफलाऽमृताः।
पिबेद् घृतं वा क्षीरं वा स्वादुतिक्तकसाधितम् ॥ १० ॥

पित्ताधिक वातरक्त में शतावरी, कुटकी, परवल, त्रिफला और गिलोय का क्वाथ पिये अथवा मधुर एवं तिक्त द्रव्यों से दूध या घी सिद्ध करके पिये ॥ १० ॥

विरेचन—

क्षीरेणैरण्डतैलं च प्रयोगेण पिबेन्नरः।
बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरौदनाशनः ॥ ११ ॥

बहुत दोष वाला रोगी विरेचन के लिये दूध के साथ एरण्डतैल को प्रतिदिन (प्रायोगिक रूप से) पिये। जीर्ण हो जाने पर दूध और चावल खाये ॥ ११ ॥

कषायमभयानां वा पाययेद् घृतभर्जितम्।
क्षीरानुपानं त्रिवृताचूर्णं द्राक्षारसेन वा ॥ १२ ॥

अथवा हरड़ के कषाय (चूर्ण या क्वाथ) को घी में भून कर पिये। निशोथ के चूर्ण को दूध के अनुपान से या द्राक्षारस के साथ पिये ॥ १२ ॥

(अभयानाम् इत्यत्र 'अमृतानाम्' इति पाठान्तरम्।)

वातरक्त में क्षीरवस्ति—

निर्हरेद्वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरवस्तिभिः।
न हि वस्तिसमं किञ्चिद्वातरक्तचिकित्सितम् ॥ १३ ॥
विशेषात्पायुपार्श्वोरुपर्वास्थिजठरार्तिषु।

अथवा वातरक्त रोगी के दोषों को घृतमिश्रित क्षीरवस्तियों से निकाले। वस्ति के समान वातरक्त की दूसरी चिकित्सा नहीं है। विशेषकर गुदा, पार्श्व, ऊरु, पर्व, अस्थि और उदर की पीड़ा में वस्ति उत्तम है। (क्षीरप्रधानो वस्तिः क्षीरवस्तिः) ॥ १३ ॥

कफोल्बण वातरक्तचिकित्सा—

मुस्ताधात्रीहरिद्राणां पिबेत्क्वाथं कफोल्बणे ॥ १४ ॥
सक्षौद्रं त्रिफलाया वा गुडूचीं वा यथातथा।

कफप्रधान वातरक्त में मुस्ता, आँवला और हल्दी का क्वाथ मधु के साथ पिये या त्रिफला का क्वाथ पिये या गिलोय का उपयोग जैसे हो वैसे करे (स्वरस, कल्क, चूर्ण या क्वाथ में प्रयोग करे) ॥ १४ ॥

यथार्हस्नेहपीतं च वामितं मृदु रूक्षयेत् ॥ १५ ॥

जो जिसके योग्य हो, वह स्नेह पीकर वमन करे और मृदु रूप में रूक्षण करे ॥ १५ ॥

शूलयुक्त वातरक्त-चिकित्सा—

त्रिफलाव्योषपत्रैलात्वक्क्षीरीचित्रकं वचाम्।

विडङ्गं पिप्पलीमूलं लोमशां वृषकं त्वचम् ॥ १६ ॥
ऋद्धिं लाङ्गलिकीं चव्यं समभागानि पेषयेत् ।
कल्यं लिप्त्वाऽऽयसीं पात्रीं मध्याह्ने भक्षयेदिदम् ॥ १७ ॥
वातास्रे सर्वदोषेऽपि परं शूलान्विते हितम् ।

त्रिफला, त्रिकटु, तेजपत्र, इलायची, वंशलोचन, चित्रक, बच, वायविडंग, पिप्पलीमूल, लोमशा (जटामांसी), अडूसे की छाल, ऋद्धि, कलिहारी, चव्य ये समान भाग लेकर इनको जल से पीसकर प्रातःकाल लोहे के पात्र में लेप कर देवे। मध्याह्न में इसको खाये। सब दोष वाले तथा शूलयुक्त वातरक्त में भी यह अतिश्रेष्ठ है ॥ १६–१७ ॥

कोकिलाक्ष-क्वाथ—

कोकिलाक्षकनिर्यूहः पीतस्तच्छाकभोजिना ॥ १८ ॥
कृपाभ्यास इव क्रोधं वातरक्तं नियच्छति ।

तालमखाने का शाक खाते हुए तालमखाने का क्वाथ पीने से वातरक्त शान्त होता है। जैसे लगातार क्षमा करने से क्रोध शान्त होता है (अक्रोधेन जयेत्क्रोधम्) ॥ १८ ॥

खुडवातचिकित्सा—

पञ्चमूलस्य धात्र्या वा रसैर्लीतकीवसाम् ॥ १९ ॥
खुडं सुरूढमप्यङ्गे ब्रह्मचारी पिबञ् जयेत् ।

पंचमूल या आँवले के क्वाथ से गन्धक को ब्रह्मचारी रहकर पीने पर शरीर में जड़ पकड़ा हुआ भी वातरक्त नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

बाह्य-चिकित्साकथन—

इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्टं कर्म बाह्यमतः परम् ॥ २० ॥

इस प्रकार से अन्तश्चिकित्सा कह दी है, इसके आगे बाह्य चिकित्सा कहेंगे ॥ २० ॥

ज्वरदाह में प्रयोग—

आरनालाढके तैलं पादसर्जरसं शृतम् ।
प्रभूते खजितं तोये ज्वरदाहार्तिनुत्परम् ॥ २१ ॥

कांजी एक आढक लेकर इसमें सोलह पल तैल और चार पल राल मिला कर तैल सिद्ध करे। इस तैल को बहुत से पानी में मथानी से मथकर लगाने पर ज्वर, दाह और पीड़ा को नष्ट करता है ॥ २१ ॥

पिण्ड तैल—

समधूच्छिष्टमञ्जिष्ठं ससर्जरससारिवम् ।
पिण्डतैलं तदभ्यङ्गाद्वातरक्तरुजापहम् ॥ २२ ॥

पूर्वोक्त सिद्ध तैल में मोम, मजीठ, राल, सारिवा को मिला देने पर पिण्डतैल बनता है। इसके मलने से वातरक्त की पीडा नष्ट होती है ॥ २२ ॥

दशमूलक्षीर और घृत—

दशमूलशृतं क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम् ।
परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत्कोष्णेन सर्पिषा ॥ २३ ॥

दशमूल से सिद्ध दूध का परिषेक करने से वातप्रधान वातरक्त में शूल तुरन्त नष्ट होता है। पित्तप्रधान वातरक्त में दशमूल से सिद्ध घृत का सुहाता हुआ गरम परिषेक उत्तम है।

महास्नेह—

स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत् ।
स्तम्भाक्षेपकशूलार्तं कोष्णैर्दाहे तु शीतलैः ॥ २४ ॥

जीवनीय गण से सिद्ध किये चारों स्नेहों (घी, तैल, वसा, मज्जा) से स्तम्भ, आक्षेप एवं शूल होने पर सुहाता हुआ गरम परिषेक करे। दाह होने पर इनसे शीतल परिषेक करे।

तद्वद्गव्याविकच्छागैः क्षीरैस्तैलविमिश्रितैः ।
निःक्वाथैर्जीवनीयानां पञ्चमूलस्य वा लघोः ॥ २५ ॥

गाय, भेड़ या बकरी के दूध में तैल मिलाकर स्तम्भ आदि में सुहाता हुआ उष्ण परिषेक करे और दाह होने पर शीतल परिषेक करे।

जीवनीय गण की औषधियों के क्वाथों से या लघु पञ्चमूल के क्वाथ से स्तम्भादि में उष्ण तथा दाह में शीत परिषेक करे।

द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकम् ।
सेकार्थं तण्डुलक्षौद्रशर्कराम्भश्च शस्यते ॥ २६ ॥

द्राक्षा रस, ईख का रस, मद्य, दधि का पानी, खट्टी कांजी, चावलों का पानी, शहद का पानी और शर्करा का शरबत परिषेक के लिये उत्तम है (इनमें से कोई ले)।

दाहनाशक उपाय—

प्रियाः प्रियंवदा नार्यश्चन्दनार्द्रकरस्तनाः ।
स्पर्शशीताः सुखस्पर्शा घ्नन्ति दाहं रुजं क्लमम् ॥ २७ ॥

हाथ और स्तनों पर चन्दन का गीला लेप किये, प्रिय एवं मधुर भाषण करनेवाली, स्पर्श में शीतल, सुखप्रद स्पर्शवाली स्त्रियाँ दाह, पीडा और क्लम को नष्ट करती हैं।

रक्तमोक्षण और लेप—

सरागे सरुजे दाहे रक्तं हृत्वा प्रलेपयेत् ।
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठादार्वीमधुकचन्दनैः ॥ २८ ॥
सितोपलैरकासक्तुमसूरोशीरपद्मकैः ।
लेपो रुग्दाहवीसर्परागशोफनिवर्हणः ॥ २९ ॥

सुर्खी, पीडा और दाह होने पर रक्त को निकाल कर प्रपौण्डरीक, मजीठ, दारुहल्दी, मुलहठी, चन्दन, इनका लेप करे। मिश्री, एरका (पटेरा), सत्तू, मसूर, खस, पद्माख; इनका लेप पीडा, दाह, वीसर्प, सुर्खी तथा शोफ को नष्ट करता है ॥ २८–२९ ॥

वातरक्तनाशक उपनाहन—

वातघ्नैः साधितः स्निग्धः कृशरो मुद्गपायसः ।
तिलसर्षपपिण्डैश्च शूलघ्नमुपनाहनम् ॥ ३० ॥
औदकप्रसहानूपवेसवाराः सुसंस्कृताः ।
जीवनीयौषधैः स्नेहयुक्ताः स्युरुपनाहने ॥ ३१ ॥

स्तम्भतोदरुगायामशोफाङ्गग्रहनाशनाः ।
जीवनीयौषधैः सिद्धा सपयस्का वसाऽपि वा ॥३२॥

तिल तथा मूंग से बनाई, स्नेह से स्निग्ध और वातघ्न द्रव्यों से बनाई खिचड़ी या दूध में बनाई मूंग की खीर का उपनाह या तिल और सरसों के बने पिण्डों से सिद्ध उपनाह शूलनाशक है।

जलचर, प्रसह और आनूप प्राणियों के मांस से बनाये वेशवारों को जीवनीय गण की औषधियों के साथ तथा स्नेह मिलाकर भली प्रकार संस्कृत करके उपनाह में बरते। ये स्तम्भ, तोद, पीड़ा, खिंचाव, शोफ और अङ्ग का जकड़ जाना इनको नष्ट करते हैं। अथवा जीवनीयगण के द्रव्यों से दूध के साथ वसा को सिद्ध करके बरते।

अन्यान्य लेप—

घृतं सहचरान्मूलं जीवन्ती छागलं पयः ।
लेपः पिष्टास्तिलास्तद्वद् भ्रष्टाः पयसि निर्वृताः ॥३३॥
क्षीरपिष्टमुमालेपमेरण्डस्य फलानि वा ।
कुर्याच्छूलनिवृत्त्यर्थं शताह्वां वाऽनिलेऽधिके ॥ ३४ ॥

झिण्टी और जीवन्ती के मूल का कल्क बकरी का दूध और घी मिला कर लेप करे। अथवा तिलों को भूनकर दूध में भिगो कर लेप करे यह भी स्तम्भ आदि को नष्ट करता है।

अलसी को या एरण्ड के बीजों को दूध के साथ पीसकर अतिशय शूल की शान्ति के लिये लेप करे। अथवा सौंफ को दूध में पीसकर वायु की अधिकता में शूल की शान्ति के लिये लेप करे। [ये सब वात की अधिकता वाले वातरक्त में होने वाले शूल के लिये हैं]।

कफोत्तरवातरक्तचिकित्सा—

मूत्रक्षारसुरापक्वं घृतमभ्यञ्जने हितम् ।
सिद्धं समधुं शुक्तं वा सेकाभ्यङ्गे कफोत्तरे ॥ ३५ ॥
गृहधूमा वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम् ।
प्रलेपः शूलनुद्वातरक्ते—

कफप्रधान वातरक्त में गोमूत्र, यवक्षार, सुरा से सिद्ध घृत अभ्यङ्ग में हितकारी है।

पूर्ण बना शुक्त, मधु के साथ परिषेक और अभ्यङ्ग में उत्तम है। घर का धुंवासा, वच, कूठ, सौंफ, हल्दी, दारुहल्दी इनका लेप शूलनाशक है।

वातकफोत्तरवातरक्तचिकित्सा—

— वातकफोत्तरे ॥ ३६ ॥
मधुशिग्रोर्हितं तद्वद् बीजं धान्याम्लसंयुतम् ।
मुहूर्तलिप्तमम्लैश्च सिञ्चेद्वातकफोत्तरे ॥ ३७ ॥

वात-कफप्रधान वातरक्त में मीठे सहजन के बीज काञ्जी के साथ पीस कर लेप में उत्तम है तथा इसीसे थोड़ी देर तक लेप करके शुक्त आदि अम्लों का परिषेक करना भी वातकफप्रधान वातरक्त में हितकर होता है।

उत्तान-वातरक्तचिकित्सा—

उत्तानं लेपनाभ्यङ्गपरिषेकावगाहनैः ।

उत्तान (जो केवल त्वचा और मांसगत हो) वातरक्त की चिकित्सा लेप, अभ्यङ्ग, परिषेक और अवगाहन से करे।

गंभीर-वातरक्तचिकित्सा—

विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत् ॥ ३८ ॥

गम्भीर वातरक्त की चिकित्सा विरेचन, आस्थापन और स्नेहपान से करे।

दोषानुसार उष्ण या शीत लेप—

वातश्लेष्मोत्तरे कोष्णा लेपाद्यास्तत्र शीतलैः ।
विदाहशोफरुक्कण्डूविवृद्धिः स्तम्भनाद्भवेत् ॥ ३९ ॥

वातकफप्रधान उत्तान वातरक्त में लेप आदि सुहाते हुए गरम उत्तम हैं। शीतल लेपों से स्तम्भ होने से विदाह, शोफ पीड़ा और कण्डू की वृद्धि होती है।

पित्तरक्तोत्तरे वातरक्ते लेपादयो हिमाः ।
उष्णैः प्लोषोषरुग्रागस्वेदावदरणोद्भवः ॥ ४० ॥

पित्तरक्तप्रधान वातरक्त में शीतल लेपादि उत्तम हैं। उष्ण लेपों से इनमें जलन, दाह, पीड़ा, सुर्खी, पसीना और फटना-त्वचा का फटना होता है।

मधुयष्ट्यादि तैल—

मधुयष्ट्याः पलशतं कषाये पादशेषिते ।
तैलाढकं समक्षीरं पचेत्कल्कैः पलोन्मितैः ॥ ४१ ॥
स्थिरातामलतीदूर्वावयस्याभीरुचन्दनैः ।
लोहहंसपदीमांसीद्विमेदामधुपर्णिभिः ॥ ४२ ॥
काकोलीक्षीरकाकोलीशतपुष्पर्द्धिपद्मकैः ।
जीवकर्षभजीवन्तीत्वक्पत्रनलवालकैः ॥ ४३ ॥
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठासारिवेन्द्रीवितुन्नकैः ।
चतुष्प्रयोगं वातासृक्पित्तदाहज्वरार्तिनुत् ॥ ४४ ॥

मुलहठी का एक सौ पल लेकर (विधिपूर्वक) क्वाथ करे जब चौथाई शेष रह जाये तब इसमें तैल एक आढक और दूध एक आढक मिलाकर, शालपर्णी, भूई आंवला, दूर्वा, विदारी, शतावरी, चन्दन, अगरु, हंसराज, जटामांसी, मेदा, महामेदा, गिलोय, काकोली, क्षीरकाकोली, सौंफ, ऋद्धि, पद्माख, जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, दालचीनी, तेजपात, नख, बालक, प्रपौण्डरीक, मजीठ, सारिवा, इन्द्रायण, धनियाँ, प्रत्येक एक पल मिलाकर तैल सिद्ध करे। यह तैल पान अभ्यंग, बस्ति और नस्य (इन्दु के मत से बस्ति के स्थान पर परिषेक); इन चार प्रकारों से प्रयोग करने पर वातरक्त पित्त दाह और ज्वर की पीड़ा को नष्ट करता है।

शतपाक-सहस्रपाक बला तैल—

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरसमं पचेत् ।
सहस्रशतपाकं तद्वातासृग्वातरोगनुत् ॥ ४५ ॥
रसायनं मुख्यतममिन्द्रियाणां प्रसादनम् ।
जीवनं बृंहणं स्वर्यं शुक्रासृग्दोषनाशनम् ॥ ४६ ॥

बला के कषाय और कल्क से दूध के बराबर तैल सिद्ध करे। इस प्रकार से एक हजार या सौ पाक करे। यह तैल, वातरक्त और वातरोग का नाशक, श्रेष्ठ रसायन, इन्द्रियों को अतिशय निर्मल करने वाला, जीवनदायी, बृंहण तथा स्वर के लिये उपयोगी है शुक्र और रक्त के दोष को नष्ट करता है।

वक्तव्य—बलाकषाय वाले सहस्रपाकी तेल में अतिशय पाक होने से स्नेह का क्षय होता है। इसलिये कोई आचार्य इस प्रकार के तैलों में एक बार ही शतगुण या सहस्रगुण क्वाथ-कल्क से तैल सिद्ध करते हैं। परन्तु तेल की इतनी मात्रा एक बार में पकानी चाहिये, जो कि अन्त तक रह सके। दूध की राशि स्नेह को बढ़ा देगी। अथवा प्रत्यासन्न पाक में स्नेह कल्क निकाल लेना चाहिये। परन्तु दश बार, शत बार, सहस्र बार, पकाने पर वीर्योत्कर्ष होता है। तैल या घृत जितनी देर क्वाथ के साथ रहता है, उतना ही गुणकारी होता है। इसलिये अलग अलग पाक उत्तम है। कम हुआ स्नेह दूध के स्नेह से पूरा हो जाता है।

वातरक्त में स्नेहादि—

कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा ।
अतिवृद्ध्याऽनिले शस्तं नादौ स्नेहनबृंहणम् ॥४७॥
कृत्वा तत्राढ्यवातोक्तं वातशोणितिकं ततः ।
भेषजं स्नेहनं कुर्याद्यच्च रक्तप्रसादनम् ॥ ४८ ॥

मेद की अतिवृद्धि से या कफ की अतिवृद्धि से मार्गों के रुकने के कारण वायु कुपित हुई हो तो प्रथम स्नेहन या बृंहण औषध न करे। इसमें मेदसावृत या कफावृत वायु में आढ्यवातोक्त (ऊरुस्तम्भोक्त) चिकित्सा करनी चाहिये। पीछे से वातरक्तोक्त स्नेहन औषध करनी चाहिये। और जो भी औषध रक्त को निर्मल करे, वह औषध भी प्रयुक्त करे।

प्राणादिचिकित्सा—

प्राणादिकोपे युगपद्यथोद्दिष्टं यथामयम् ।
यथासन्नं च भैषज्यं विकल्प्यं स्थाद्यथाबलम् ॥४९॥

प्राण-अपान आदि पाँचों वायुओं के एक साथ कुपित होने पर यथोक्त वातव्याधिचिकित्सा के अनुसार प्राणादि-कोप-जनित रोग आदि की दृष्टि से-प्राणादि में जो कोई समीप हो उसके विचार से (जिस रोग में प्राण आदि जो समीपस्थ हो) उसकी ही तथा प्राण आदि में जो अधिक बलवान हो, उसकी प्रथम चिकित्सा करे।

सामवातचिकित्सा—

नीते निरामतां सामे स्वेदलङ्घनपाचनैः ।
रूक्षैश्चालेपसेकाद्यैः कुर्यात्केवलवातनुत् ॥ ५० ॥

आमयुक्त वायु में पहले स्वेदन, लंघन, पाचन, रूक्ष आलेप, रूक्ष सेक आदि से वायु को निराम करके पीछे से केवल शुद्ध वायु का नाशक उपचार करे।

अंगशोषादिचिकित्सा—

शोषाक्षेपणसङ्कोचस्तम्भस्वपनकम्पनम् ।
हनुस्रंसोऽर्दितं खाञ्ज्यं पाङ्गुल्यं खुडवातता ॥ ५१ ॥
सन्धिच्युतिः पक्षवधो मेदोमज्जास्थिगा गदाः ।
एते स्थानस्य गाम्भीर्यात्सिध्येयुर्यत्नतो नवाः ॥५२॥
तस्माज्जयेन्नवानेतान् बलिनो निरुपद्रवान् ।

अंगशोष, आक्षेपण (आयाम) अंग या अवयव का संकोच, स्तम्भ (दण्ड की भांति स्तब्धता), स्वपन (अचेतनता), कम्पन, हनुभ्रंश, अर्दित, खंजता (लंगड़ापन), पंगुता, खुडवात (या छोटी अस्थिसन्धिगत वात), सन्धिभ्रंश, पक्षवध और जो रोग मेद, मज्जा और अस्थि गत हैं, वे सब रोग स्थान की गम्भीरता के कारण यत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर नूतन (एक साल के अन्दर के) होने पर ही साध्य होते हैं। इसलिये इन रोगों को नूतनावस्था में ही बलवान् पुरुष में तथा उपद्रवरहित होने तक चिकित्सा करे।

पित्तावृत-वायुचिकित्सा—

वायौ पित्तावृते शीतामुष्णां च बहुशः क्रियाम् ॥५३॥
व्यत्यासाद्योजयेत्सर्पिर्जीवनीयं च पाययेत् ।
धन्वमांसं यवाः शालिर्विरेकः क्षीरवान् मृदुः ॥५४॥

वायु के पित्त से आवृत होने पर अदल-बदल के साथ शीतल और उष्ण चिकित्सा को बार-बार (सैकड़ों बार) करना चाहिये। तथा जीवनीय घृत रोगी को पिलाये। जांगल मांस, जौ, शालि खिलाये तथा दूधयुक्त मृदु विरेचन देवे।

सक्षीरा बस्तयः क्षीरं पञ्चमूलबलाशृतम् ।
कालेऽनुवासनं तैलैर्मधुरौषधसाधितैः ॥ ५५ ॥

पित्तावृत वायु में दूधयुक्त वस्तियां देवे। बृहत्पंचमूल और बला से सिद्ध दूध देवे। अनुवासन के योग्य समय में मधुर ओषधियों से सिद्ध तैल से अनुवासन देवे।

यष्टीमधुबलातैलघृतक्षीरैश्च सेचनम् ।
पञ्चमूलकषायेण वारिणा शीतलेन वा ॥ ५६ ॥

यष्टीमधु तैल (श्लोक ४१) से, बला तैल (श्लोक ४५) से, घी से तथा दूध से परिषेक उत्तम है। बृहत्पंचमूल के क्वाथ से या शीतल पानी से पित्तावृत वायु में परिषेक उत्तम है।

कफावृत वायुचिकित्सा—

कफावृते यवान्नानि जाङ्गला मृगपक्षिणः ।
स्वेदास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं सविरेचनम् ॥ ५७ ॥
पुराणसर्पिस्तैलं च तिलसर्षपजं हितम् ।

कफावृत वायु में जौ के भक्ष्य, जांगल पशु-पक्षिमांस, स्वेद, तीक्ष्ण निरूहण, वमन और विरेचन, पुरातन घृत, तिल और सरसों का तेल उत्तम हैं ।

वक्तव्य इसीलिये वैद्यजीवन में कडुए तेल को खाना श्वास में उत्तम बताया है ।

संसृष्ट वायु चिकित्सा—

संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत् ॥ ५८ ॥

वायु के कफ और पित्त दोनों से मिला होने पर प्रथम पित्त को ही शान्त करे (पीछे से वातयुक्त कफ को दबावे ।)

रक्तसंसृष्ट वायुचिकित्सा—

कारयेद्रक्तसंसृष्टे वातशोणितिकीं क्रियाम् ।

रक्त से मिली वायु में वातरक्त की चिकित्सा करे ।

मांसावृत वायुचिकित्सा—

स्वेदाभ्यङ्गरसाः क्षीरं स्नेहो मांसावृते हितम् ॥ ५९ ॥

मांसावृत वायु में स्वेदन, अभ्यंग, मांसरस, दूध और स्नेह उत्तम है ।

आढयवातचिकित्सा—

प्रमेहमेदोवातघ्नमाढ्यवाते भिषग्जितम् ।

आढयवात (मेद से आवृत आयु) में प्रमेहनाशक, मेदोनाशक और वातनाशक औषध उत्तम है ।

अस्थि, मज्जा और शुक्रावृत वायुचिकित्सा—

महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्वोक्तं रेतसाऽऽवृते ॥ ६० ॥

अस्थि-मज्जा स्थित वायु में घी, तैल, वसा, मज्जा, ये महास्नेह (अथवा नारायणादि तैल) उत्तम हैं । शुक्र से आवृत वायु में वातव्याधि में शुक्रस्थ वातोक्त (अ० २१ श्लोक २०) चिकित्सा करे ।

अन्नावृत वायुचिकित्सा—

अन्नावृते पाचनीयं वमनं दीपनं लघु ।

अन्नावृत वायु में पाचनीय औषध, वमन, दीपन (आग्नेय गुणयुक्त), लघु औषध उत्तम है ।

मूत्रावृत वायुचिकित्सा—

मूत्रावृते मूत्रलानि स्वेदाश्चोत्तरवस्तयः ॥ ६१ ॥

मूत्रावृत वायु में (खीरा, ककड़ी आदि) मूत्रल औषधियाँ स्वेद और उत्तरवस्तियाँ उत्तम हैं ।

वर्चसावृत वायुचिकित्सा—

एरण्डतैलं वर्चस्थे वस्तिस्नेहाश्च भेदिनः ।

मल से आवृत वायु में एरण्डतैल, वस्तियाँ, भेदन करने वाले स्नेह उत्तम हैं ।

सर्वधातुगत-वायुचिकित्सा—

कफपित्ताविरुद्धं यद्यच्च वातानुलोमनम् ॥ ६२ ॥
सर्वस्थानावृतेऽप्याशु तत्कार्यं मातरिश्वनि ।

सब स्थानों में आवृत वायु में शीघ्र ही जो औषध कफ और पित्त का विरोधी न हो और वायु का अनुलोमन करने वाली हो, उस का प्रयोग करे ।

अनभिष्यन्दि च स्निग्धं स्रोतसां शुद्धिकारणम् ॥ ६३ ॥
यापना वस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः ।
प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु कार्यं विरेचनम् ॥ ६४ ॥
रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते ।
शिलाह्वस्य विशेषेण पयसा शुद्धगुग्गुलोः ॥ ६५ ॥
लेहो वा भार्गवस्तद्वदेकादशसिताशितः ।

(सब स्थानों में तथा सभी धातुओं से आवृत वायु में जो अनभिष्यन्दी (क्लेद न करने वाला), स्निग्ध एवं स्रोतों का शोधन करने वाला खान-पान या औषध हो, वह सब बरतनी चाहिये । यापना वस्तियों को तथा प्रायः करके मधुर और स्नेह-वस्तियों को देवे । बल (दोषबल) की अधिकता को देखकर मृदु विरेचन देना चाहिये । सब रसायनों का उपयोग विशेष कर शिलाजतु का और गुग्गुलु का दूध से उपयोग करना श्रेष्ठ है । अथवा च्यवनप्राशावलेह बरते । इसी प्रकार अभयामलकी रसायन बरते ।

अपानावृत वायुचिकित्सा—

अपाने त्वावृते सर्वं दीपनं ग्राहि भेषजम् ॥ ६६ ॥
वातानुलोमनं कार्यं मूत्राशयविशोधनम् ।

अपानवायु के किसी से भी आवृत होने पर सब अग्निदीपक और ग्राही औषध करे । वायु का अनुलोमन करने वाली और मूत्र का शोधन करने वाली सब ओषधियां उत्तम हैं ।

सामान्य कर्तव्य—

इति सङ्क्षेपतः प्रोक्तमावृतानां चिकित्सितम् ॥ ६७ ॥
प्राणादीनां भिषक्कुर्याद्वितर्क्य स्वयमेव तत् ।

इस प्रकार में संक्षेप में आवृत वायुओं की चिकित्सा कह दी है । आवृत प्राण आदि पाँचों की चिकित्सा जो पहले (श्लोक ४९) कही है, उसे वैद्य विचार कर स्वयमेव करे ।

विमार्गगामी वायु का स्वमार्गानयन—

उदानं योजयेदूर्ध्वमपानं चानुलोमयेत् ॥ ६८ ॥
समानं शमयेद्विद्वांस्त्रिधा व्यानं तु योजयेत् ।
प्राणो रक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि तत्स्थितौ देवसंस्थितिः ॥ ६९ ॥
स्वं स्वं स्थानं नयेदेवं वृतान् वातान् विमार्गगान् ।

उदानवायु को ऊपर की ओर ले जाये (क्योंकि यह

सदा ऊर्ध्वगामी है), अपानवायु का अनुलोमन (नीचे लाना) करे (क्योंकि यह सदा अधोगामी है), समानवायु को विद्वान् वैद्य वातघ्न ओषधियों से शमन करे (इसे ऊपर या नीचे न ले जाकर अपने स्थान में ही शान्त करे)। व्यानवायु को ऊपर, मध्य या नीचे (जहाँ पर ठीक लगे वहाँ) ले जावे। प्राणवायु की शेष चारों वायुओं की अपेक्षा सब प्रयत्नों से रक्षा करनी चाहिये। (उदान आदि से इसमें बाधा न आये, ऐसा यत्न करना चाहिये)। क्योंकि प्राणवायु के रहने पर देह की स्थिति रहती है। प्राण के बिना जीवन नहीं है। इस प्रकार से विमार्ग में गई या (परस्पर) आवृत वायु को अपने अपने स्थान पर लाये।

लशुनप्रयोग—

सर्वं चावरणं पित्तरक्तसंसर्गवर्जितम् ॥ ७० ॥
रसायनविधानेन लशुनो हन्ति शीलितः ।

पित्त और रक्त के संसर्ग को छोड़कर शेष वायु के सब आवरणों को रसायनविधि से सेवन किया गया अकेला लहसुन ही नष्ट कर देता है।

पित्तावृत-वायुचिकित्सा—

पित्तावृते पित्तहरं मरुतश्चानुलोमनम् ॥ ७१ ॥

पित्तावृत उदान आदि में पित्तनाशक और वायु का अनुलोमन कार्य उत्तम है।

रक्तावृत-वायुचिकित्सा—

रक्तावृतेऽपि तद्वच्च खुडोक्तं यच्च भेषजम् ।
रक्तपित्तानिलहरं विविधं च रसायनम् ॥ ७२ ॥

रक्तावृत उदान आदि में पूर्वोक्त (पित्तहर, वायु के अनुलोमक) और वातरक्त की चिकित्सा तथा रक्त-पित्त-वायुनाशक औषध, नानाप्रकार के रसायन (दोष-दूष्यादि के विचार से) उत्तम हैं।

चिकित्सा का वर्णन—

यथानिदानं निर्दिष्टमिति सम्यक् चिकित्सितम् ।
आयुर्वेदफलं स्थानमेतत्सद्योऽर्तिनाशनात् ॥ ७३॥

इस प्रकार निदान-स्थान के क्रम के अनुसार सम्यक् रूप से चिकित्सा स्थान कह दिया है। यह चिकित्सास्थान आयुर्वेद का फलभूत है, क्योंकि यह तुरन्त वेदना को नष्ट करता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद का फल—'व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः' सुश्रुत। रोगी को रोग से छुड़ाना ही आयुर्वेद का उद्देश्य है।

औषध-पर्याय—

चिकित्सितं हितं पथ्यं प्रायश्चित्तं भिषग्जितम् ।
भेषजं शमनं शस्तं पर्यायैः स्मृतमौषधम् ॥ ७४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने वातशोणितचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

* * *

चिकित्सित, हित, पथ्य, प्रायश्चित्त, भिषग्जित, भेषज, शमन और शस्त, ये शब्द औषध के पर्याय हैं।

वक्तव्य—वातरक्त में प्रयुक्त कुछ प्रसिद्ध योग—पटोलादिक्वाथ, गुडूचीघृत, गुडूचीतैल, विषतिन्दुकतैल, महारुद्रतैल, निम्बादिचूर्ण, गुडूचीलौह, कैशोरगुग्गुलु।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में चिकित्सित स्थान का वातरक्त नामक बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

* * *

चिकित्सितस्थान समाप्त।

* * *

अथ कल्पसिद्धिस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो वमनकल्पं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे वमनकल्प का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

वमन-विरेचन की प्रधान ओषधि—

वमने मदनं श्रेष्ठं, त्रिवृन्मूलं विरेचने ।
नित्यमन्यस्य तु व्याधिविशेषेण विशिष्टता ॥ १ ॥

वमन में मैनफल और विरेचन में त्रिवृत्-मूल उत्तम है । ये दोनों नित्य (सर्वत्र) बरते जा सकते हैं । दूसरे द्रव्यों का उपयोग रोग की विशिष्टता (भिन्नता) के अनुसार होता है ।

वक्तव्य—त्रिवृत् दो प्रकार का है—श्वेत और काला (अरुणाभ) इनमें से काला त्रिवृत् विरेचन के लिये उत्तम है, यथा—'अरुणाभं त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठं मूलविरेचने !' चरक में कहा है—'त्रिवृत् सुखविरेचनानाम् , मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम् श्रेष्ठतमः ॥ (चरक सू. अ. २५।४०) रोग विशेष से उपयोग आगे कहेंगे, यथा—'जीमूतं तु विशेषतः । प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासकासहिध्मादिरोगिणाम् ॥' मैनफल और त्रिवृत् निरपायी होने से सर्वत्र बरते जा सकते हैं ।

वमन में मैनफल का प्रयोग—

फलानि नातिपाण्डूनि न चातिहरितान्यपि ।
आदायाह्नि प्रशस्तर्क्षे मध्ये ग्रीष्मवसन्तयोः ॥ २ ॥
प्रमृज्य कुशमुत्तोल्यां क्षिप्त्वा बद्ध्वा प्रलेपयेत् ।
गोमयेनानु मुत्तोलीं धान्यमध्ये निधापयेत् ॥ ३ ॥
मृदुभूतानि मधुरिष्टगन्धानि कुशवेष्टनात् ।
निष्कृष्टानि गतेऽष्टाहे शोषयेत्तान्यथातपे ॥ ४ ॥
तेषां ततः सुशुष्काणामुद्धृत्य फलपिप्पलीः ।
दधिमध्वाज्यपललैर्मृदित्वा शोषयेत्पुनः ॥ ५ ॥
ततः सुगुप्तं संस्थाप्य कार्यकाले प्रयोजयेत् ।

प्रशस्त नक्षत्र में ग्रीष्म और वसन्त की सन्धि में उत्तम दिन में मैनफल के जो फल बहुत पाण्डु (पके हुए) न हों और जो बहुत हरे (कच्चे) न हों; उनको लाकर धूल आदि से साफ करके कुशा से बनाई डलियों में रखकर बाँध देवे । फिर इस डलिये पर गोबर का लेप करके धान्य की ढेरी में रख देवे । आठ दिन पीछे जब ये फल कोमल हो जायें, इनमें मधुर एवं प्रियगन्ध आ जाये तब कुशा के बन्धन खोलकर इनको निकाल कर धूप में सुखाये । जब भली प्रकार सूख जाये तब इनमें से पिप्पली (मैनफल की कणिकायें) निकाल कर दधि, मधु, घी, तिलकल्क के साथ मसल कर फिर सुखाये । फिर इनको सुरक्षित रखकर प्रयोग काल में बरते ।

वक्तव्य—मुत्तोली मूटिका (डलिया या थैली) 'कुशानां समूहो रचनाविशेषनिष्पादितः कुशमुत्तोलीत्युच्यते ॥' फल-पिप्पली -'मदनफलमध्यगतानि पिप्पलीसंस्थानानि बीजानि ।'

मैनफलसेवनविधि—

अथादाय ततो मात्रां जर्जरीकृत्य वासयेत् ॥ ६ ॥
शर्वरीं मधुयष्ट्या वा कोविदारस्य वा जले ।
कर्बुदारस्य बिम्ब्या वा नीपस्य विदुलस्य वा ॥ ७ ॥
शणपुष्प्याः सदापुष्प्याः प्रत्यक्पुष्प्युदकेऽथवा ।
ततः पिबेत्कषायं तं प्रातर्मृदितगालितम् ॥ ८ ॥
सूत्रोदितेन विधिना साधु तेन तथा वमेत् ।
श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायगुल्मान्तर्विद्रधीषु च ॥ ९ ॥
प्रच्छर्दयेद्विशेषेण यावत्पित्तस्य दर्शनम् ।

फिर देश-काल के अनुसार जितनी मात्रा उचित समझे, इसमें से लेकर उसको कूट कर सारी रात मुलहठी, कोविदार (कचनार), कर्बुदार (जीमूतक), बिम्बी (कुन्दरू), कदम्ब, विदुल, शणपुष्पी, सदापुष्पी, (मदार या बिरव), तथा अपामार्ग इनमें से किसी एक के क्वाथ में भिगो रक्खे । फिर प्रातःकाल में इसको मसल कर वस्त्र से छानकर सूत्र-स्थान (अ. १८) में कही विधि से पिये । इस प्रकार करने पर भली प्रकार वमन होता है ।

कफज्वर, प्रतिश्याय, गुल्म और अन्तर्विद्रधि में विशेष करके वमन कराये, जब तक कि पित्त न आने लगे ।

अन्य प्रयोग—

फलपिप्पलिचूर्णं वा क्वाथेन स्वेन भावितम् ॥ १० ॥
त्रिभागत्रिफलाचूर्णं कोविदारादिवारिणा ।
पिबेज्ज्वरारुचिष्ठीवग्रन्थ्यपच्यर्बुदोदरी ॥ ११ ॥
पित्ते कफस्थानगते जीमूतादिजलेन तत् ।

मैनफल की पिप्पली के चूर्ण को इसी के क्वाथ से भावना देकर इस चूर्ण में तिहाई भाग त्रिफला का चूर्ण मिला कर कोविदार आदि (श्लोक ७-८) किसी एक के कषाय से इस चूर्ण को ज्वर, अरुचि, कफप्रसेक, ग्रन्थि, अपची, अर्बुद और उदर रोगों में पिये।

यदि पित्त कफस्थान में पहुँचा हो तो फलपिप्पली के चूर्ण को जीमूत, इक्ष्वाकु, कोशातकी तथा कुटजफल के क्वाथ से पियें।

हृद्दाहेऽधोऽस्रपित्ते च क्षीरं तत्पिप्पलीश्रृतम् ॥१२॥
क्षैरेयीं वा—

हृदय के दाह और अधोगामी रक्तपित्त में इस फलपिप्पली से पकाया दूध अथवा इनके साथ दूध में बनाई पेया पिये।

—कफच्छर्दिप्रसेकतमकेषु तु ।
दध्युत्तरं वा दधि वा तच्छृतक्षीरसम्भवम् ॥ १३ ॥

कफप्रसेक, वमन और तमक में फलपिप्पली से सिद्ध किए दूध से बनी दही या दही की मलाई को खाये।

फलादिक्वाथकल्काभ्यां सिद्धं तत्सिद्धदुग्धजम् ।
सर्पिःकफाभिभूतेऽग्नौ शुष्यद्देहे च वामनम् ॥१४॥

मैनफल, जीमूत आदि द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध किये दूध से बनाया घी कफ से मन्द हुई अग्नि में तथा सूखते हुए शरीर वाले पुरुषों में वमन के लिये उत्तम है।

वमन में लेह विशेष—

स्वरसं फलमज्ज्ञो वा भल्लातविधिना श्रृतम् ।
आदर्वीलेपनात्सिद्धं लीढ्वा प्रच्छर्दयेत्सुखम् ॥१५॥
तं लेहं भक्ष्यभोज्येषु तत्कषायांश्च योजयेत् ।

मैनफल की मज्जा या स्वरस को भिलावे की पाकविधि से कड़छी में लगने तक पकाकर सिद्ध करे। इसको चाटने से सुखपूर्वक वमन होता है। इस लेह को तथा मैनफल के कषाय को भक्ष्य आदि में बरते।

वक्तव्य—भल्लातक-पाकविधि रसायन अधिकार में (हृ. उ. अ. ३९।७२) में है।

अन्य कषाय—

वत्सकादिप्रतीवापः कषायः फलमज्जजः ॥ १६ ॥
निम्बार्कान्यतरक्वाथसमायुक्तो नियच्छति ।
बद्धमूलानपि व्याधीन् सर्वान् सन्तर्पणोद्भवान् ॥१७॥

मैनफल की मज्जा के कषाय में वत्सकादि गण के द्रव्यों का प्रक्षेप देकर नीम अथवा आक; इनमें से किसी एक के क्वाथ के साथ लेने से जड़ पकड़े हुए सन्तर्पणजन्य सब रोगों को नष्ट कर देता है।

मैनफल के फूल सूँघने से वमन

राठपुष्पफलश्लक्ष्णचूर्णैर्माल्यं सुरूक्षितम् ।
वमेन्मण्डरसादीनां तृप्तो जिघ्रन् सुखं सुखी ॥ १८ ॥
एवमेव फलाभावे कल्प्यं पुष्पं शलाटु वा ।

मैनफल के पुष्प और फल के बारीक चूर्ण को माला के ऊपर भली प्रकार छिड़क कर (जिससे माला धूसर हो जाये), मण्ड, मांसरस आदि से तृप्त हुआ सुकुमार मनुष्य इस माला को सूँघने पर सुख से वमन करता है। फल के अभाव में मैनफल के फूल या कच्चे फल से भी यही कल्पना करनी चाहिए।

जीमूत का प्रयोग—

जीमूताद्याश्च फलवत् , जीमूतं तु विशेषतः ॥१९॥
प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासकासहिध्मादिरोगिणाम् ।

जीमूत, इक्ष्वाकु, तुम्बी, कोशातकी आदि की भी कल्पना मैनफल की विधि से ही करनी चाहिए।

जीमूत (देवदाली) को विशेष करके ज्वर, कास, श्वास और हिक्का आदि के रोगियों में बरतना चाहिए।

अन्य प्रयोग—

पयः पुष्पेऽस्य निर्वृत्ते, फले पेया पयस्कृता ॥ २० ॥
लोमशे क्षीरसन्तानं, दध्युत्तरमलोमशे ।
श्रृते पयसि दध्यम्लं जातं हरितपाण्डुके ॥ २१ ॥
आसुत्य वारुणीमण्डं पिबेन्मृदितगालितम् ।
कफादरोचके कासे पाण्डुत्वे राजयक्ष्मणि ॥ २२ ॥

इस जीमूत के फूल से दूध को संस्कृत करना चाहिए, इसके पके हुए फल से सिद्ध दूध में बनाई पेया बरतनी चाहिए। जीमूत का जो फल रोमों वाला (मृदु) हो, उससे सिद्ध किये दूध से बनाये दही की मलाई वमन के लिए खाये। लोमरहित फल (कठिन) से सिद्ध दूध के दही की मलाई खाये (अथवा कठिन—लोमरहित फल के चूर्ण को दही की मलाई में मिला कर खाये, अरुणदत्त,)। हरे और पीले फलों से पकाये दूध से बनाया दही खट्टा हो जाने पर पिये। जीमूत फल से आसव बनाकर वारुणीमंड को मसल कर कपड़े में छान कर कफजन्य अरोचक, कास, पाण्डुरोग तथा राजयक्ष्मा में पिये।

तुंबी आदि में कल्पना—

इयं च कल्पना कार्या तुम्बीकोशातकीष्वपि ।

तुम्बी और कोशातकी में भी यह सब कल्पनायें करनी चाहिए।

पर्यागतानां शुष्काणां फलानां वेणिजन्मनाम् ॥ २३ ॥

चूर्णस्य पयसा शुक्तिं वातपित्तार्दितः पिबेत् ।
द्वे वा त्रीण्यपि वाऽऽपोथ्य क्वाथे तिक्तोत्तमस्य वा
आरग्वधादिनवकात्तासुत्यान्यतमस्य वा ।
विमृद्य पूतं तं क्वाथं पित्तश्लेष्मज्वरी पिबेत् ॥ २५ ॥

देवदाली (जीमूतक) के भली प्रकार पके और सूखे फलों का चूर्ण करके इस चूर्ण की शुक्ति-आधा पल मात्रा को दूध के साथ वात-पित्त का रोगी पिये। नीम के क्वाथ में देवदाली के दो या तीन फलों को कूटकर डाल देवे, अथवा आरग्वधादि नौ द्रव्यों में से किसी एक के क्वाथ में देवदाली के दो या तीन फलों को डालकर सन्धान करके फिर मल और छान कर उस क्वाथ को कफ-ज्वररोगी पिये।

वक्तव्य—तिक्तोत्तम-पटोल (हेमाद्रि), नीम (अरुणदत्त)। आरग्वधादि नौ—आरग्वधादि गण के प्रथम नौ द्रव्यों (सू. अ. १५) में से किसी एक के क्वाथ में अथवा आरग्वध, वृषक, स्वादुकण्टक, पाठा, पटोल, शार्ङ्गेष्टा, मूर्वा, सप्तपर्ण और नक्तमाल; इन नौ द्रव्यों में से किसी एक के क्वाथ में रात भर रख कर देवे।

जीमूतकल्कं चूर्णं वा पिबेच्छीतेन वारिणा ।
ज्वरे पैत्ते, कवोष्णेन कफवातात् कफादपि ॥ २६ ॥

पित्तजन्य ज्वर में जीमूत के कल्क या चूर्ण को शीतल जल से पिये तथा कफ-वातजन्य या कफजन्य ज्वर में गुनगुनाते गरम पानी से चूर्ण या कल्क को पिये।

इक्ष्वाकु (कड़वी तरोई) का प्रयोग—

कासश्वासविषच्छर्दिज्वरार्ते कफकर्शिते ।
इक्ष्वाकुर्वमने शस्तः प्रताम्यति च मानवे ॥ २७ ॥

कास, श्वास, विष, वमन और ज्वर से पीडित तथा कफ से कृश और मूर्च्छायुक्त मनुष्य में वमन के लिये इक्ष्वाकु-कड़ुई तरोई प्रशस्त है।

फलपुष्पविहीनस्य प्रवालैस्तस्य साधितम् ।
पित्तश्लेष्मज्वरे क्षीरं पित्तोद्रिक्ते प्रयोजयेत् ॥ २८ ॥

जिसमें फल और फूल नहीं आये-ऐसी कड़ुई तरोई को पत्तों से सिद्ध किया दूध पित्त-कफज्वर में पित्त की अधिकता होने पर बरते। [प्रबाल से कोमल पत्ते अभिप्रेत हैं]।

हृतमध्ये फले जीर्णे स्थितं क्षीरं यदा दधि ।
स्यात्तदा कफजे कासे श्वासे वम्यां च पाययेत् ॥२९॥

पके हुए इक्ष्वाकु-फल का गूदा बीच से निकाल कर उसमें दूध भर देवे जब वह दूध दही बन जाये तब उसको कफजन्य कास, श्वास और वमन में पिलाये।

अन्यान्य प्रयोग—

मस्तुना वा फलान्मध्यं पाण्डुकुष्ठविषार्दितः ।
तेन तक्रं विपक्वं वा पिबेत्समधुसैन्धवम् ॥ ३० ॥
भावयित्वाऽऽजदुग्धेन बीजं तेनैव वा पिबेत् ।
विषगुल्मोदरग्रन्थिगण्डेषु श्लीपदेषु च ॥ ३१ ॥
सक्तुभिर्वा पिबेन्मन्थं तुम्बीस्वरसभावितैः ।
कफोद्भवे ज्वरे कासे गलरोगेष्वरोचके ॥ ३२ ॥
गुल्मे ज्वरे प्रसक्ते च कल्कं मांसरसैः पिबेत् ।
नरः साधु वमत्येवं न च दौर्बल्यमश्नुते ॥ ३३ ॥
तुम्ब्याः फलरसैः शुष्कैः सपुष्पैरवचूर्णितम् ।
छर्दयेन्माल्यमाघ्राय गन्धसम्पत्सुखोचितः ॥ ३४ ॥

पाण्डु-कुष्ठ-विष से पीडित रोगी कड़ुई तरोई-के गूदे को मस्तु से पिये, अथवा गूदे से सिद्ध किये तक्र को मधु-और सैन्धव के साथ (वमन के लिये) देवे।

इसके बीजों को बकरी के दूध से भावित करके-अथवा इन बीजों के चूर्ण को बकरी के दूध के साथ विष, गुल्म, उदर, ग्रन्थि, गण्ड और श्लीपद रोगों में पिये।

जौ के सत्तू को तुम्बी के स्वरस से भावना देकर इस सत्तू को पानी में घोल कर मन्थ करके कफजन्य ज्वर में, कास में, गल रोग में और अरोचक में पिये।

तुम्बी के कल्क को मांसरस के साथ गुल्म और चिरकालानुबन्धी ज्वर में पिये। इससे रोगी को भलीप्रकार वमन होता है और निर्बलता नहीं आती।

सुगन्धि को सूंघने के अभ्यास वाले सम्पन्न और सुकुमार मनुष्य कटुतुम्बी के फलों के रस तथा सूखे हुए पुष्पों के चूर्ण से अवचूर्णित माला को सुंघ कर वमन करते हैं।

कासगुल्मोदरगरे वाते श्लेष्माशयस्थिते ।
कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसञ्चयजेषु च ॥ ३५ ॥
धामार्गवो गदेष्विष्टः स्थिरेषु च महत्सु च ।

कास, गुल्म, उदररोग, गर, कफस्थान में स्थित वायु, गले और मुख में स्थित कफ, कफसंचयजन्य अरोचक आदि रोगों तथा दीर्घकालजन्य और बढ़े हुए रोगों में धामार्गव-(घिया तोरई-नेनुआ) उत्तम है।

खांसी तथा हृद्दाह में अवलेह—

जीवकर्षभकौ वीरा कपिकच्छूः शतावरी ॥ ३६ ॥
काकोली श्रावणी मेदा महामेदा मधूलिका ।
तद्रजोभिः पृथग्लेहा धामार्गवरजोऽन्विताः ॥ ३७ ॥
कासे हृदयदाहे च शस्ता मधुसिताद्रुताः ।

जीवक, ऋषभक, वीरा (विदारी), कौंच, शतावरी, काकोली, मुण्डी, मेदा, महामेदा, मधूलिका (जलज मुलहठी); इनमें से किसी एक के चूर्ण को धामार्गव-के चूर्ण के साथ मधु और चीनी से पतला लेह बना कर कास और हृदयदाह में बरतना उत्तम है।

ते सुखाम्भोऽनुपानाः स्युः पित्तोष्मसहिते कफे ॥३८॥

कफ के पित्त की उष्णिमा के साथ युक्त होने पर इन लेहों को गरम पानी के अनुपान से देना चाहिये।

धान्यतुम्बुरुयूषेण कल्कस्तस्य विषापहः।

धामार्गव का कल्क धनिया और तुम्बरु के क्वाथ से देने पर विषनाशक है।

उन्मादादिनाशक प्रयोग—

बिम्ब्याः पुनर्नवाया वा कासमर्दस्य वा रसे ॥ ३९ ॥
एकं धामार्गवं द्वे वा मानसे मृदितं पिबेत्।
तच्छृतक्षीरजं सर्पिः साधितं वा फलादिभिः ॥ ४० ॥

कन्दूरी या पुनर्नवा या कसौदी के रस में धामार्गव के एक या दो फल को मसल कर मनोविकार में पिये। अथवा धामार्गव के क्वाथ से सिद्ध किये दूध से निकाले घृत को अथवा मैनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कोशातकी और कुटज से सिद्ध घी को वमन के लिये मनोरोगों में पिये।

क्ष्वेड का प्रयोग—

क्ष्वेडोऽतिकटुतीक्ष्णोष्णः प्रगाढेषु प्रशस्यते।
कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोफगुल्मगरादिषु ॥ ४१ ॥

क्ष्वेड (कोशातकी) अतिकटु, अतितीक्ष्ण और अत्युष्ण है। इसलिये चिरकालीन प्ररूढ कुष्ठ, पाण्डुरोग, प्लीहा, शोफ, गुल्म और गर आदि में उत्तम है।

आनूपमांस का प्रयोग—

पृथक् फलादिषट्कस्य क्वाथे मांसमनूपजम्।
कोशातक्या समं सिद्धं तद्रसं लवणं पिबेत् ॥ ४२ ॥
फलादि पिप्पलीतुल्यं सिद्धं क्ष्वेडरसेऽथवा।
क्ष्वेडक्वाथं पिबेत्सिद्धं मिश्रमिक्षुरसेन वा ॥ ४३ ॥

मैनफल, इक्ष्वाकु आदि छः द्रव्यों में से किसी एक के क्वाथ में अनूपदेशीय मांस को कोशातकी के बराबर लेकर सिद्ध करे। इस मांस के रस में नमक मिलाकर पिये।

मैनफल, जीमूत, इक्ष्वाकु के गूदे और बीज के बराबर आनूप मांस को अथवा कोशातकी के रस में सिद्ध मांसरस को खाये-पिये। अथवा गन्ने से रस से मिश्रित कोशातकी के रस को पिये।[1]

कुटज का प्रयोग—

कौटजं सुकुमारेषु पित्तरक्तकफोदये।
ज्वरे विसर्पे हृद्रोगे खुडे कुष्ठे च पूजितम् ॥ ४४ ॥

कुटज अतिशय कोमल प्रकृति वालों में; पित्त-रक्त और कफ की अधिकता में, ज्वर में, विसर्प में, हृदय रोग में, वातरक्त में तथा कुष्ठ में प्रशस्त है।

सर्षपाणां मधूकानां तोयेन लवणस्य वा।
पाययेत्कौटजं बीजं युक्तं कृशरयाऽथवा ॥ ४५ ॥
सप्ताहं वाऽर्कदुग्धाक्तं तच्चूर्णं पाययेत्पृथक्।
फलजीमूतकेक्ष्वाकुजीवन्तीजीवकोदकैः ॥ ४६ ॥

कुटज के बीज (इन्द्रजौ) को सरसों या महुए के क्वाथ से या नमक के पानी से पिलाये। अथवा बीजों को खिचड़ी के साथ देवे। अथवा कुटजबीज के चूर्ण को सात दिन आक के दूध से भावना देकर मैनफल, जीमूत, इक्ष्वाकु, जीवन्ती और जीवक; इनके पानी (क्वाथ) के साथ अलग-अलग पिलाये।

वमन में अन्यान्य ओषधि—

वमनौषधमुख्यानामिति कल्पदिगीरिता।
बीजेनानेन मतिमानन्यान्यपि च कल्पयेत् ॥ ४७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां पञ्चमे कल्पसिद्धिस्थाने
वमनकल्पो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

* * *

वमन में उपयोगी मुख्य ओषधियों की कल्पना का यह रास्ता बता दिया है। इस रीति से बुद्धिमान अन्य वमन-ओषधियों की भी कल्पना कर ले।

वक्तव्य - वमनकल्पना में मधु और नमक वमन के लिये प्रयुक्त करना चाहिए, यथा—'सर्वेषु तु मधु सैन्धवं कफविलयनच्छेदार्थं वमनेषु विदध्यात्। न चोष्णविरोधो मधुनश्छर्दनयोगयुक्तस्य, अविपाकप्रत्यागमनाद्दोषनिर्हरणाच्च ॥' (चरक क. अ. १।१५)।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में कल्पस्थान का वमनकल्पनामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

* * *

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो विरेचनकल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे विरेचनकल्प का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

निशोथ का स्वरूप—

कषायमधुरा रूक्षा विपाके कटुका त्रिवृत्।
कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपनी ॥ १ ॥

निशोथ कषाय, मधुर, रूक्ष, विपाक में कटु, कफ-पित्त-प्रशामक तथा रूक्ष होने से वातप्रकोपक है।

वक्तव्य—'विरेचनद्रव्याणां मूलेषु त्रिवृत्, त्वक्षु तिल्वकः, क्षीरेषु स्नुही, फलेषु हरीतकी प्रधानानि ॥'

---

[1] अरुणदत्त ने गन्ने के रस से मिश्रित कोशातकी रस के साथ सिद्ध मांसरस पीना लिखा है। परन्तु चरकादि विरुद्ध होने से यह ठीक नहीं, यथा—'क्ष्वेडं क्वाथं पिबेत्सिद्धं मिश्रमिक्षुरसेन च ॥' चरक क. अ. ६।१२

निशोथ का सर्वव्याधिनाशकत्व—

सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः ।
कल्पवैशेष्यमासाद्य जायते सर्वरोगजित् ॥ २ ॥

यही त्रिवृत् वात-पित्त-कफनाशक औषधियों से मिलने पर कल्पना की विशेषता के कारण (विरेचनसाध्य) सब रोगों का नाशक होती है ।

निशोथ की जड़ के दो भेद—

द्विधा ख्यातं च तन्मूलं श्यामं श्यामाऽरुणं त्रिवृत् ।
त्रिवृदाख्यं वरतरं निरपायं सुखं तयोः ॥ ३ ॥
सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तद्धितम् ।

निशोथ का मूल दो प्रकार का है-एक श्याम, जिसको 'श्यामा' कहते हैं; दूसरा अरुण जिसको 'त्रिवृत्' कहते हैं। इन दोनों में त्रिवृत्—अरुणमूल अतिश्रेष्ठ है, उपद्रव-रहित और सुखकारी है तथा कोमल-प्रकृति, शिशु, वृद्ध और मृदु कोष्टवाले व्यक्तियों के लिये हितकारी है।

श्यामा त्रिवृत् के लक्षण—

मूर्च्छासम्मोहहृत्कण्ठकषणक्षणनप्रदम् ॥ ४ ॥
श्यामं तीक्ष्णाशुकारित्वादतस्तदपि शस्यते ।
क्रूरे कोष्ठे बहौ दोषे क्लेशक्षमिणि चातुरे ॥ ५ ॥

श्यामा त्रिवृत तीक्ष्ण और आशुकारी होने से मूर्च्छा, सम्मोह, हृदय का खींचना, गले का रुकना और गुदा में पीड़ा करती है। तीक्ष्ण और आशुकारी होने पर भी वह क्रूरकोष्ठ में, बहुत दोषवालों में और क्लेश को सहन करने वाले रोगियों के लिये उत्तम है।

असली निशोथ की पहचान—

गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विसृतं च यत् ।
गृहीत्वा विसृजेत्काष्ठं त्वचं शुष्कां निधापयेत् ॥६॥

त्रिवृत का जो मूल जमीन में गहरा गया हो, चिकना हो सीधा गया हो, उसको निकाल कर उसकी छाल को लेकर सुखा कर रख लेना चाहिये और काष्ठ को छोड़ देना चाहिये।

वातज रोग में निशोथ का प्रयोग—

अथ काले ततश्चूर्णं किञ्चिन्नागरसैन्धवम् ।
वातामये पिबेदम्लैः —

फिर विरेचन के समय पर इस (त्रिवृत् मूल की छाल के) चूर्ण को थोड़ा सा सोंठ और सैन्धव मिलाकर कांजी आदि अम्ल वस्तुओं के साथ वातविकार में पिये।

पित्तज रोग में निशोथ का प्रयोग—

—पैत्ते साज्यसितामधु ॥ ७ ॥
क्षीरद्राक्षेक्षुकाश्मर्यस्वादुस्कन्धवरारसैः ।

पित्त में त्रिवृत के चूर्ण को घी, मधु और शर्करा मिला कर दूध, द्राक्षारस, गन्ने का रस, गम्भारी का रस या मधुर-स्कन्ध के द्रव्यों के रस से या त्रिफला के क्वाथ से पिये।

कफज रोग में निशोथ का प्रयोग—

कफामये पीलुरसमूत्रमद्याम्लकाञ्जिकैः ॥ ८ ॥
पञ्चकोलादिचूर्णैश्च युक्त्या युक्तं कफापहैः ।

कफरोगों में त्रिवृत के चूर्ण को कफनाशक पंचकोल आदि के चूर्ण को उचित मात्रा में मिलाकर पीलु के रस, गोमूत्र, मद्य, खट्टे रस (विजौरे का रस आदि) तथा कांजी आदि द्रवों के साथ पिये।

त्रिवृत्कल्ककषायाभ्यां साधितः ससितो हिमः ॥ ९ ॥
मधुत्रिजातसंयुक्तो लेहो हृद्यं विरेचनम् ।

निशोथ के कल्क और क्वाथ से बनाया हुआ सिता-चीनी युक्त, शीतल तथा मधु और त्रिजातक (दालचीनी, इलायची और तेजपात) युक्त अवलेह हृदय के लिये प्रिय विरेचन है।

अजगन्धा तवक्षीरी विदारी शर्करा त्रिवृत् ॥ १० ॥
चूर्णितं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ।
सन्निपातज्वरस्तम्भपिपासादाहपीडितः ॥ ११ ॥

सन्निपातज्वर, स्तम्भ, प्यास और दाह से पीड़ित मनुष्य अजगन्धा, वंशलोचन, विदारी, शर्करा और निशोथ का चूर्ण मधु और घृत से चाटे, इससे सुखपूर्वक विरेचन होता है।

लिम्पेदन्तस्त्रिवृतया द्विधा कृत्वेक्षुगण्डिकाम् ।
एकीकृत्य च तत्स्विन्नं पुटपाकेन भक्षयेत् ॥ १२ ॥

गन्ने का टुकड़ा लेकर उसको बीच में से चीरकर दो भाग बनाये। इनके अन्दर के भाग में निशोथ के चूर्ण का लेप करके दोनों टुकड़ों को मिलाकर पुटपाकविधि से स्विन्न करके खाये, इससे भी विरेचन होता है।

सुखविरेचनार्थ निशोथादि चूर्ण—

भृङ्गैलाभ्यां समा नीली तैस्त्रिवृत्तैश्च शर्करा ।
चूर्णं फलरसक्षौद्रसक्तुभिस्तर्पणं पिबेत् ॥ १३ ॥
वातपित्तकफोत्थेषु रोगेष्वल्पानलेषु च ।
नरेषु सुकुमारेषु निरपायं विरेचनम् ॥ १४ ॥

दालचीनी और इलायची एक-भाग, इनके बराबर (दो भाग) नीली (नील) इनके बराबर (चार भाग) निशोथ और सबके बराबर शर्करा, इनका चूर्ण द्राक्षाफल के रस, मधु और जौ का सत्तू, इन सबसे मन्थ बनाकर पिये। यह मन्थ वात-पित्त-कफजन्य रोगों में, मन्दाग्निवालों में, तथा कोमल-नाजुक मनुष्यों में निर्विघ्न विरेचन है।

गुल्मादिनाशक निशोथादि अवलेह—

विडङ्गतण्डुलवरायावशूककणास्त्रिवृत् ।
सर्वतोऽर्धेन तल्लीढं मध्वाज्येन गुडेन वा ॥ १५ ॥
गुल्मं प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम् ।
कफवातकृतांश्चान्यान् परिमार्ष्टि गदान् बहून् ॥१६॥

विडंग तण्डुल, त्रिफला, यवक्षार, पिप्पली; ये एक एक भाग, और सबसे आधी निशोथ, इनको घी और मधु में

मिलाकर या गुड के साथ चाटने से गुल्म, प्लीहोदर, कास, हलीमक, अरोचक तथा कफ-वातकृत अन्य बहुत-से रोग दूर होते हैं।

कल्याणक गुड—

विडङ्गपिप्पलीमूलत्रिफलाधान्यचित्रकान् ।
मरिचेन्द्रयवाजाजीपिप्पलीहस्तिपिप्पलीः ॥ १७ ॥
दीप्यकं पञ्चलवणं चूर्णितं कार्षिकं पृथक् ।
तिलतैलत्रिवृच्चूर्णभागौ चाष्टपलोन्मितौ ॥ १८ ॥
धात्रीफलरसप्रस्थांस्त्रीन् गुडार्धतुलान्वितान् ।
पक्त्वा मृद्वग्निना खादेत्ततो मात्रामयन्त्रणः ॥ १९ ॥
कुष्ठार्शःकामलागुल्ममेहोदरभगन्दरान् ।
ग्रहणीपाण्डुरोगांश्च हन्ति पुंसवनश्च सः ॥ २० ॥
गुडः कल्याणको नाम सर्वेष्वृतुषु यौगिकः ।

कल्याणक गुड—विडंग, पिप्पलीमूल, त्रिफला, धनिया, चित्रक, मरिच, इन्द्रजौ, जीरा, पिप्पली, गजपिप्पली, दीप्यक (अजवायन) और पांचों नमक, इनका चूर्ण पृथक् पृथक् एक कर्ष, तिलतैल और निशोथ का चूर्ण प्रत्येक आठ पल, आंवले का स्वरस तीन प्रस्थ; गुड पचास पल, इन सबको लेकर मंद अग्नि से पाक करे। इसको उचित मात्रा में खाये और किसी प्रकार का परहेज आवश्यकता नहीं। यह लेह कुष्ठ, अर्श, कामला, गुल्म, प्रमेह, उदर, भगन्दर, ग्रहणी तथा पाण्डुरोग को नष्ट करता है और पुंसवन करने वाला है। इसका नाम 'कल्याणक गुड' है, यह सब ऋतुओं में बरता जाता है।

अविपत्तिकर योग—

व्योषत्रिजातकाम्भोदकृमिघ्नामलकैस्त्रिवृत् ॥ २१ ॥
सर्वैः समा समसिता क्षौद्रेण गुटिकाः कृताः ।
मूत्रकृच्छ्रज्वरच्छर्दिकासशोषभ्रमक्षये ॥ २२ ॥
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ शस्ताः सर्वविषेषु च ।
अविपत्तिरयं योगः प्रशस्तः पित्तरोगिणाम् ॥ २३ ॥

त्रिकटु, त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपात), मुस्ता, वायविडंग, आंवला, सब एक-एक भाग और सबके बराबर निशोथ, निशोथ के बराबर शर्करा मिलाकर मधु के साथ गोलियाँ बनाये। मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, वमन, कास, शोष, भ्रम, क्षय, ताप, पाण्डुरोग, मन्दाग्नि और सब विषों में एवं पित्तरोगियों के लिये यह अविपत्तिकर योग प्रशस्त है।

वक्तव्य—(१) कल्याणगुड- यह ग्रहणी अधिकार में विशेष रूप से आजकल पढ़ा जाता है। यथा—'अनेन सर्वे ग्रहणीविकाराः सश्वासकासस्वरभेदशोथाः । शाम्यन्ति चायं…'। इसमें त्रिवृत् के चूर्ण को थोड़ा-सा भूनकर मिलाते हैं।

(२) अविपत्तिकर योग-यह अम्लपित्त में बरता जाता है, इसका अनुपान शीतल जल या नारियल का पानी है।

वर्षा काल में त्रिवृत् प्रयोग—

त्रिवृता कौटजं बीजं पिप्पली विश्वभेषजम् ।
क्षौद्रद्राक्षारसोपेतं वर्षाकाले विरेचनम् ॥ २४ ॥

निशोथ, इन्द्रजौ, पिप्पली, सोंठ; इनके चूर्ण को मधु और द्राक्षारस में मिलाकर वर्षाकाल में विरेचन लेवे।

शरदृतु में विरेचन—

त्रिवृद्दुरालभामुस्तशर्करोदीच्यचन्दनम् ।
द्राक्षाम्बुना सयष्ट्याह्वसातलं जलदात्यये ॥ २५ ॥

निशोथ, दुरालभा, मुस्ता, शर्करा, खस, चन्दन, मुलहठी, शिकाकाई, इनको द्राक्षारस के साथ शरद्ऋतु में विरेचन के लिये बरते।

हेमन्त में विरेचन—

त्रिवृतां चित्रकं पाठामजाजीं सरलं वचाम् ।
स्वर्णक्षीरीं च हेमन्ते चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥ २६ ॥

निशोथ, चित्रक, पाठा, जीरा, सरलकाष्ठ, वच, स्वर्णक्षीरी; इनके चूर्ण को गरम पानी से हेमन्त में पियें। [हेमन्त में यद्यपि विरेचन निषिद्ध है, तथापि रोगविशेष की दृष्टि से देय है]।

ग्रीष्म में विरेचन—

त्रिवृता शर्करातुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम् ।

निशोथ को समान परिमाण में शर्करा के साथ मिलाकर ग्रीष्म काल में विरेचन लेना चाहिये।

सर्व ऋतुओं के लिये विरेचन—

त्रिवृत्त्रायन्तिहपुषासातलाकटुरोहिणीः ॥ २७ ॥
स्वर्णक्षीरीं च सञ्चूर्ण्य गोमूत्रे भावयेत्त्र्यहम् ।
एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धानां मलदोषहृत् ॥ २८ ॥

निशोथ, त्रायन्तिका, हपुषा (हाऊबेर), शिकाकाई, कुटकी और स्वर्णक्षीरी को चूर्ण करके तीन दिन गोमूत्र में भिगोये। यह विरेचन सब ऋतुओं के लिये उत्तम है, स्निग्ध पुरुषों के दुष्ट वातादि विकारों को नष्ट करता है। [चक्रपाणि का कथन है कि सब ऋतुओं से अभिप्राय-वसन्त आदि न कही हुई ऋतुओं से है]।

रूक्ष के लिये विरेचन—

श्यामात्रिवृद्दुरालभाहस्तिपिप्पलिवत्सकम् ।
नीलिनीकटुकामुस्ताश्रेष्ठायुक्तं सुचूर्णितम् ॥ २९ ॥
रसाज्योष्णाम्बुभिः शस्तं रूक्षाणामपि सर्वदा ।

श्यामा, त्रिवृत्, धमासा, गजपिप्पली, इन्द्रजौ, नील, कुटकी, मुस्ता, त्रिफला, इनका मिश्रित बारीक चूर्ण, फलों के रस या मांसरस, घी और गरम पानी में मिलाकर लेना रूक्ष पुरुषों के लिए भी सदा उत्तम है। [रस का अर्थ द्राक्षा आदि फलों का रस और मांसरस भी है।]

राजवृक्ष कल्प—

ज्वरहृद्रोगवातासृग्गुदावर्तादिरोगिषु ॥ ३० ॥
राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः ।

ज्वर, हृद्रोग, वातरक्त, उदावर्त्त आदि रोगों में अन्य विरेचन द्रव्यों से राजवृक्ष (अमलतास) अधिक पथ्य है। यह मृदु, मधु और शीतल है। (चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां श्रेष्ठतमः—चरक सू० अ० २५।४०)।

बाले वृद्धे क्षते क्षीणे सुकुमारे च मानवे ॥ ३१ ॥
योज्यो मृदुरनपायित्वाद्विशेषाच्चतुरङ्गुलः ।

बालक में, वृद्ध में, क्षत (उरःक्षत) रोग में, क्षीण में, और नाजुक प्रकृति के मनुष्य में विशेष करके अमलतास को बरतना चाहिये, क्योंकि यह किसी प्रकार का विकार (कष्ट) नहीं करता।

अमलतास की शोधनविधि—

फलकाले परिणतं फलं तस्य समाहरेत् ॥ ३२ ॥
तेषां गुणवतां भारं सिकतासु विनिक्षिपेत् ।
सप्तरात्रात्समुद्धृत्य शोषयेदातपे ततः ॥ ३३ ॥
ततो मज्जानमुद्धृत्य शुचौ पात्रे निधापयेत् ।

अमलतास के पूरे पके हुए फल को फल-संग्रहकाल में ले आकर इनमें जो गुणशाली हों, उनमें से दो हजार पल फलों को रेत में गाड़ देवे। सात दिन के पीछे इनको निकाल कर धूप में सुखावे। फिर इनमें से मज्जा (गूदे) को निकालकर स्वच्छ पात्र में रख देवे। (भार-बीस तुला-दो हजार पल, किन्तु यहाँ बहुत का निर्देशक है-चक्रपाणि)।

अमलतास की प्रयोगविधि—

द्राक्षारसेन तं दद्याद्दाहोदावर्तपीडिते ॥ ३४ ॥
चतुर्वर्षे सुखं बाले यावद् द्वादशवार्षिके ।

दाह और उदावर्त्त से पीड़ित रोगी में इसको द्राक्षारस के साथ देना चाहिये। चार वर्ष के बालक से लेकर बारह वर्ष तक के बालक में सुखदायी विरेचक है।

चतुरङ्गुलमज्ज्ञो वा कषायं पाययेद्धिमम् ॥ ३५ ॥
दधिमण्डसुरामण्डधात्रीफलरसैः पृथक् ।
सौवीरकेण वा युक्तं कल्केन त्रैवृतेन वा ॥ ३६ ॥

अथवा अमलतास की मज्जा के शीत कषाय को दधिमण्ड, सुरामण्ड, आँवले का रस इनमें से किसी एक के साथ या कांजी के साथ अथवा त्रिवृत् के कल्क के साथ मिलाकर पिलाये।

अन्य प्रयोग—

दन्तीकषाये तन्मज्ज्ञो गुडं जीर्णं च निक्षिपेत् ।
तमरिष्टं स्थितं मासं पाययेत् पक्षमेव वा ॥ ३७ ॥

दन्तीमूल के कषाय में अमलतास की मज्जा और पुराना गुड़ मिलाकर एक मास या पन्द्रह दिन रखकर अरिष्ट बनने पर पिलाये।

त्वचं तिल्वकमूलस्य त्यक्त्वाऽभ्यन्तरवल्कलम् ।
विशोष्य चूर्णयित्वा च द्वौ भागौ गालयेत्ततः ॥३८॥
रोध्रस्यैव कषायेण तृतीयं तेन भावयेत् ।
कषाये दशमूलस्य तं भागं भावितं पुनः ॥ ३९ ॥
शुष्कं चूर्णं पुनः कृत्वा ततः पाणितलं पिबेत् ।
मस्तुमूत्रसुरामण्डकोलधात्रीफलाम्बुभिः ॥ ४० ॥

तिल्वक (रोध्र) वृक्ष के मूल की बाह्य छाल को उतारकर अन्दर के छिलके को सुखाकर चूर्ण करके इसके तीन भाग बनाये। इसमें से दो भागों को इसी तिल्वक का कषाय (क्वाथ) कर मसल कर कपड़े में छान ले। इस क्वाथ से अब तीसरे भाग को भावना देकर फिर दशमूल के कषाय से भावना देकर सुखा कर फिर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण की एक कर्ष मात्रा को मस्तु, सुरामण्ड, बेर, आँवला इनके स्वरस से पिये।

वक्तव्य—भावनाविधि-जिस द्रव्य में भावना देनी हो उसी के समान मात्रा में भावना द्रव्य को लेकर आठ गुने जल में पकायें, अष्टमांश शेष रहने पर छान कर भावना के लिये प्रयुक्त करें।

लोध का अवलेह—

तिल्वकस्य कषायेण कल्केन च सशर्करः ।
सघृतः साधितो लेहः स च श्रेष्ठं विरेचनम् ॥ ४१ ॥

तिल्वक के कषाय और कल्क से शर्करा एवं घी के साथ सिद्ध किया लेह उत्तम विरेचन है।

थूहर के दूध का निषेध और प्रयोग—

सुधा भिनत्ति दोषाणां महान्तमपि सञ्चयम् ।
आश्वेव कष्टविभ्रंशान्नैव तां कल्पयेदतः ॥ ४२ ॥
मृदौ कोष्ठेऽबले बाले स्थविरे दीर्घरोगिणि ।
कल्प्या गुल्मोदरगरत्वग्रोगमधुमेहिषु ॥ ४३ ॥
पाण्डौ दूषीविषे शोफे दोषविभ्रान्तचेतसि ।
सा श्रेष्ठा कण्टकैस्तीक्ष्णैर्बहुभिश्च समाचिता ॥ ४४ ॥
द्विवर्षा वा त्रिवर्षा वा शिशिरान्ते विशेषतः ।
तां पाटयित्वा शस्त्रेण क्षीरमुद्धारयेत्ततः ॥ ४५ ॥
बिल्वादीनां बृहत्योर्वा क्वाथेन सममेकशः ।
मिश्रयित्वा सुधाक्षीरं ततोऽङ्गारेषु शोषयेत् ॥ ४६ ॥
पिबेत्कृत्वा तु गुटिकां मस्तुमूत्रसुरादिभिः ।

स्नुही दोषों के बहुत अधिक संचय को भी शीघ्र ही तोड़ देती है। इसमें अतिशय कष्टप्रद व्यापद होने के कारण इसे मृदुकोष्ठ में, निर्बल में, बालक में, वृद्ध में, चिरकालीन रोगी में नहीं बरतना चाहिये। अपितु गुल्म, उदर, त्वग्रोग, मधुमेह, पाण्डु, दूषीविष और शोफ में, दोष से विभ्रान्त चित्त वालों में, तीक्ष्ण तथा बहुत से काँटों से युक्त स्नुही उत्तम है। शिशिर के अन्त में दो या तीन वर्ष वाली स्नुही को

लाकर शस्त्रद्वारा बीच में से चीर कर इसमें से दूध निकाले। फिर बिल्वादि पंचमूल या छोटी और बड़ी कटेरी के (अलग-अलग या मिलाकर बनाये हुए) क्वाथ में समान मात्रा में स्नुही का दूध मिलाकर अंगारों पर (मन्द आँच पर पकाते हुए) शुष्क बनाये। शुष्क हो जाने पर इसकी गोलियाँ बनाकर मस्तु, सुरा, मूत्र आदि से पियें।

घी के साथ निशोथादि का पान—

त्रिवृतादीन्नव वरां स्वर्णक्षीरीं ससातलाम् ॥ ४७ ॥
सप्ताहं स्नुक्पयःपीतान् रसेनाज्येन वा पिबेत् ।
तद्वद्व्योषोत्तमाकुम्भनिकुम्भाग्नीन् गुडाम्बुना ॥ ४८॥

त्रिवृत् आदि नौ—(त्रिवृत्, श्यामा, अमलतास, तिल्वक, स्नुही, शंखिनी, सप्तला, दन्ती और द्रवन्ती), त्रिफला, स्वर्णक्षीरी, सातला इनको सात दिन तक थूहर के दूध से भावना देकर मांसरस या घी के साथ पिये। इसी प्रकार त्रिकटु, त्रिफला, त्रिवृत्, दन्ती और बृहद्दन्ती इनको गुड़ के शरबत से पिये।

कफरोगचिकित्सा—

नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शङ्खिन्या निस्तुषीकृतम् ।
सप्तलायास्तथा मूलं ते तु तीक्ष्णविकाषिणी ॥४९॥
श्लेष्मामयोदरगरश्वयथ्वादिषु कल्पयेत् ।
अक्षमात्रं तयोः पिण्डं मदिरालवणान्वितम् ॥ ५० ॥
हृद्रोगे वातकफजे तद्वद् गुल्मेऽपि योजयेत् ।

शंखिनी का बहुत सूखा नहीं अपितु कुछ हरा फल लेकर इसको तुषरहित बना ले। इसी तरह सप्तला का भी कुछ हरा मूल ले। इन दोनों को तीक्ष्ण और विकाषी होने से कफ रोग, उदर रोग, गर, शोफ आदि में देवें। इनकी एक कर्ष मात्रा को मदिरा और लवण के साथ देवें। वात-कफजन्य हृद्रोग में एवं वात-कफजन्य गुल्म में भी बरते।

दन्ती तथा द्रवन्ती के गुण और प्रयोग—

दन्तिदन्तस्थिरं स्थूलं मूलं दन्तीद्रवन्तिजम् ॥ ५१ ॥
आताम्रश्यावतीक्ष्णोष्णमाशुकारि विकाशि च ।
गुरु प्रकोपि वातस्य पित्तश्लेष्मविलायनम् ॥ ५२ ॥
तत्क्षौद्रपिप्पलीलिप्तं स्वेद्यं मृद्दर्भवेष्टितम् ।
शोष्यं मन्दातपेऽग्न्यर्कौ हतो ह्यस्य विकाशिताम् ॥
तत्पिबेन्मस्तुमदिरातक्रपीलुरसासवैः ।
अभिष्यण्णतनुर्गुल्मी प्रमेही जठरी गरी ॥ ५४ ॥
गोमृगाजरसैः पाण्डुः कृमिकोष्ठी भगन्दरी ।
सिद्धं तत्क्वाथकल्काभ्यां दशमूलरसेन च ॥ ५५ ॥
विसर्पविद्रध्यलजीकक्षादाहाञ् जयेद् घृतम् ।
तैलं तु गुल्ममेहार्शोविबन्धकफमारुतान् ॥ ५६ ॥
महास्नेहः शकृच्छुक्रवातसङ्गानिलव्यथाः ।

दन्ती और द्रवन्ती के हाथी के दाँत के समान स्थिर एवं स्थूल मूल जो मूल ताम्र श्याव रंग का हो वह तीक्ष्ण, उष्ण, आशुकारी, विकाशी, गुरु, वातप्रकोपक, पित्त कफ का विलयन करने वाला होता है, उसको मधु और पिप्पली से लिप्त करके मिट्टी और दाभ से लपेट कर स्वेदन देकर मन्द धूप में सुखाना चाहिये। क्योंकि इसके विकाशी गुण को अग्नि और सूर्य नष्ट कर देते हैं। इसको मस्तु, मदिरा, तक्र, पीलु-स्वरस या आसव के साथ अन्तःक्लिन्नतनु (जिसके शरीर के भीतर बहुत क्लेद हो), गुल्मरोगी, प्रमेहरोगी और उदररोगी पिये। पाण्डु, कृमिकोष्ठी और भगन्दररोगी गाय, मृग या बकरी के मांसरस के साथ पिये। दन्ती-द्रवन्ती के क्वाथ और कल्क से तथा दशमूल के क्वाथ से सिद्ध घृत विसर्प, विद्रधि अलजी एवं कक्षा के दाह को नष्ट करता है। घृत की भांति क्वाथों में सिद्ध किया तैल-गुल्म, प्रमेह, अर्श, विबन्ध, कफ एवं वायु रोगों में बरते। घृत की भांति सिद्ध महास्नेह (घृत, तैल; वसा, और मज्जा), शकृत्संग, शुक्रावरोध, वातावरोध तथा वातरोग में बरते।

त्रिवृतादि की श्रेष्ठता—

विरेचने मुख्यतमा नवैते त्रिवृतादयः ॥ ५७ ॥

निशोथ आदि ये नौ द्रव्य विरेचन में श्रेष्ठतम हैं।

हरीतकी—

हरीतकीमपि त्रिवृद्विधानेनोपकल्पयेत ।

हरीतकी को भी त्रिवृत् की विधि (सोंठ तथा सैन्धव के साथ श्लोक ७) से उपयोग करे।

वक्तव्य—'नवा स्निग्धा घना वृत्ता गुर्वी क्षिप्ता च याऽम्भसि। निमज्जेत् सा प्रशस्ता च कथिताऽतिगुणप्रदा ॥' और 'सिन्धूत्थशर्कराशुण्ठीकणामधुगुडैः क्रमात्। वर्षादिष्वभया प्राश्या रसायनगुणैषिणा ॥' भावप्रकाश।

हरीतकीमोदक—

गुडस्याष्टपले पथ्याविंशतिः स्यात्पलं पलम् ॥५८॥
दन्तीचित्रकयोः कर्षौ पिप्पलीत्रिवृतोर्दश ।
प्रकल्प्य मोदकानेतं दशमे दशमेऽहनि ॥ ५९ ॥
उष्णाम्भोऽनुपिबेत्खादेत्तान् सर्वान्विधिनाऽमुना ।
एते निष्परिहाराः स्युः सर्वव्याधिनिबर्हणाः ॥ ६० ॥
विशेषाद् ग्रहणीपाण्डुकण्डूकोठार्शसां हिताः ।

गुड़ के आठ पल, हरड़ संख्या में बीस नग, दन्ती और चित्रक एक एक पल, पिप्पली और त्रिवृत् प्रत्येक एक-एक कर्ष लेकर इनसे दस मोदक (लड्डू) बनाये। एक एक लड्डू को दसवें-दसवें दिन खाये पीछे से गरम पानी पिये। इस प्रकार दस-दस दिन पीछे एक एक लड्डू को खाते हुए सब खा जाये। ये मोदक सब रोगों को नाश करने वाले हैं, इनमें किसी प्रकार का परहेज नहीं। ये विशेष कर ग्रहणी, पाण्डु, कण्डू, कोठ और अर्शरोगियों के लिये हितकारी हैं।

विरेचक औषधि का प्रयोग—

अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मताम् ॥ ६१ ॥
कुर्यात्संश्लेषविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः ॥
त्वक्केसराम्रातकदाडिमैला-
सितोपलामाक्षिकमातुलुङ्गैः ।
मद्येन तैस्तैश्च मनोऽनुकूलै-
र्युक्तानि देयानि विरेचनानि ॥ ६२ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां पञ्चमे कल्पसिद्धिस्थाने
विरेचनकल्पो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

* * *

काल, संस्कार, युक्ति के संश्लेष और विश्लेष के द्वारा मात्रा या वीर्य में अल्प भी औषध को महान् कार्य करने वाली अथवा मात्रा एवं वीर्य में प्रचुर भी औषध को थोड़ा कार्य करने वाली बना लेवे। दालचीनी, नागकेशर, आम्रातक, अनारदाना, इलायची, मिश्री, मधु, मातुलुङ्ग, मद्य और अन्य जो मन के अनुकूल हों, उनके साथ मिलाकर विरेचन देने चाहिए।

वक्तव्य—एक विरेचक औषध मात्रा और वीर्य में अल्प हो तो उसे मध्याह्न-काल में, संस्कार (गुणान्तर उत्पादन) से अन्य विरेचक औषध से भावना आदि देकर, युक्ति योजना प्रकार से बड़ी मात्रा में या अनुपात भिन्नता से दे। यह संश्लेष (मिलाकर देना) है। अतितीक्ष्ण विरेचक औषध बहुत वीर्यशाली हो तो उसे प्रातःकाल में भोजन के उपरान्त, मन्दवीर्य वाली औषध से भावित करके थोड़ी मात्रा में दे। यह विश्लेष है। इस प्रकार करने से विरेचन का सम्यग् योग होता है।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में कल्पसिद्धिस्थान विरेचन
कल्प नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे वमन-विरेचनव्यापत्सिद्धि का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

अधोगत वमन में उपचार—

वमनं मृदुकोष्ठेन क्षुद्वताऽल्पकफेन वा ।
अतितीक्ष्णहिमस्तोकमजीर्णे दुर्बलेन वा ॥ १ ॥
पीतं प्रयात्यधस्तस्मिन्निष्टहानिर्मलोदयः ।
वामयेत्तं पुनः स्निग्धं स्मरन् पूर्वमतिक्रमम् ॥ २ ॥

मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति को या भूख लगे हुए को, थोड़े कफवाले को, अतितीक्ष्ण, अतिशीतल या बहुत थोड़ी मात्रा में, अजीर्ण में या दुर्बल व्यक्ति को दिया हुआ वमन नीचे (गुदा) की ओर चला जाता है, इससे अभिप्रेत लाभ नहीं होता, मल, वातादि दोष का उत्क्लेश होता है। इस अवस्था में रोगी का स्नेहन करके प्रथम की हुई भूल को बचाते हुए फिर से वमन करायें।

ऊर्ध्व विरेचन में उपचार—

अजीर्णिनः श्लेष्मवतो व्रजत्यूर्ध्वं विरेचनम् ।
अतितीक्ष्णोष्णलवणमहृद्यमतिभूरि वा ॥ ३ ॥
यत्र पूर्वोदिता व्यापत्सिद्धिश्च, न तथाऽपि चेत् ।
आशये तिष्ठति ततस्तृतीयं नावचारयेत् ॥ ४ ॥
अन्यत्र सात्म्याद्धृद्याद्वा भेषजान्निरपायतः ।

अजीर्ण और कफ वाले को दिया हुआ विरेचन ऊपर को (मुख की ओर) चला जाता है (वमन हो जाता है), इसी प्रकार अतितीक्ष्ण, अति उष्ण या अतिलवण या मन के प्रतिकूल या बड़ी मात्रा में दिया गया विरेचन पूर्ववत् मल का उत्क्लेश या वांछित लाभ की हानि करता है। इसमें भी पूर्ववत् पुनः स्नेहन करके प्रथम की हुई भूल से बचते हुए रोगी को फिर से वमन देवे। यदि फिर भी औषध कोष्ठ में नहीं टिकती तो तीसरी बार विरेचन औषध नहीं देवे। परन्तु यदि औषध सात्म्य हो, मन के लिये प्रिय हो, किसी प्रकार की हानि नहीं करने वाली हो तो तीसरी बार भी देवे।

अयोग-व्यापत्—

अस्निग्धस्विन्नदेहस्य पुराणं रूक्षमौषधम् ॥ ५ ॥
दोषानुत्क्लेश्य निर्हर्तुमशक्तं जनयेद्गदान् ।
विभ्रंशं श्वयथुं हिध्मां तमसो दर्शनं तृषम् ॥ ६ ॥
पिण्डिकोद्वेष्टनं कण्डूमूर्वोः सादं विवर्णताम् ।
स्निग्धस्विन्नस्य वाऽत्यल्पं दीप्ताग्नेर्जीर्णमौषधम् ॥ ७ ॥
शीतैर्वा स्तब्धमामे वा समुत्क्लेश्याहरन्मलान् ।
तानेव जनयेद्रोगानयोगः सर्व एव सः ॥ ८ ॥

शरीर का स्नेहन तथा स्वेदन किये बिना पुरानी रूक्ष औषध देने पर औषध दोषों को उत्क्लेशित करके भी निकालने में असमर्थ होती है, साथ ही रोगों को उत्पन्न कर देती है; यथा—विभ्रंश (विपरीत प्रवृत्ति), शोफ, हिक्का, अन्धकार का दिखाई देना, प्यास, पिण्डलियों में ऐंठन, कण्डू, टाँगों में शिथिलता तथा विवर्णता होती है। अथवा स्नेहन और स्वेदन करने पर भी मात्रा में थोड़ी दी हुई औषध प्रदीप्त अग्निवाले पुरुष में जीर्ण होकर अथवा शीत से या आम से स्तब्ध होकर (रुककर) मलों को बाहर नहीं निकाल कर पूर्वोक्त रोगों को उत्पन्न कर देती है, ये सब 'अयोग' कहे जाते हैं। [आमे—अपक्वदोषे, हेमाद्रिः]

अयोग में उपचार—

तं तैललवणाभ्यक्तं स्विन्नं प्रस्तरसङ्करैः ।
निरूढं जाङ्गलरसैर्भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥ ९ ॥
फलमागधिकादारुसिद्धतैलेन मात्रया ।
स्निग्धं वातहरैः स्नेहैः पुनस्तीक्ष्णेन शोधयेत्॥ १० ॥

इस रोगी को तैल और लवण से अभ्यङ्ग कराके प्रस्तर और संकर स्वेद (ऊष्मा स्वेद के भेद) से स्वेदन देकर निरूह (तीक्ष्ण-गोमूत्र आदि से) देवे। पीछे जांगल मांसरस से भोजन कराके मैनफल, पिप्पली तथा दारुहल्दी से सिद्ध तैल से मात्रा में अनुवासन देवे। फिर वातहर द्रव्यों से सिद्धतैल से स्नेहन करके तीक्ष्ण विरेचन से शोधन करे।

आध्मानचिकित्सा—

बहुदोषस्य रूक्षस्य मन्दाग्नेरल्पमौषधम् ।
सोदावर्तस्य चोत्क्लेश्य दोषान् मार्गान् निरुध्य तैः॥
भृशमाध्मापयेन्नाभि पृष्ठपार्श्वशिरोरुजम् ।
श्वासं विण्मूत्रवातानां सङ्गं कुर्याच्च दारुणम्॥ १२ ॥
अभ्यङ्गस्वेदवर्त्यादि सनिरूहानुवासनम् ।
उदावर्तहरं सर्वं कर्माध्मातस्य शस्यते ॥ १३ ॥
पञ्चमूलयवक्षारवचाभूतीकसैन्धवैः ।
यवागूः सुकृता शूलविबन्धानाहनाशनी ॥ १४ ॥

बहुत दोष वाले, रूक्ष, मन्दाग्नि पुरुष तथा उदावर्त्त वाले व्यक्ति में थोड़ी मात्रा में प्रयुक्त औषध दोषों को उत्क्लेशित करके उन दोषों से मार्गों को रोक कर नाभि पर अतिशय आध्मान कर देती है। पीठ, पार्श्व एवं शिर में वेदना; श्वास, मल, मूत्र और वायु का अवरोध होता है। इस (आध्मान) में अभ्यंग, स्वेद, वर्त्ती आदि, निरूह के साथ अनुवासन एवं उदावर्तनाशक सब कर्म उत्तम हैं। बृहत्पञ्चमूल, यवक्षार, वच, अजवायन और सैन्धव से बनाई यवागू, शूल, विबन्ध और आनाह को नष्ट करती है।

वक्तव्य—योग—(१) मदनं पिप्पली कुष्ठं वचा गौराश्च सर्षपाः। गुडक्षारसमायुक्ता फलवर्तिरिहोच्यते ॥ (२)वचाऽभयाचित्रकयावशूकान् सपिप्पलीकातिविषान् सकुष्ठान्। उष्णाम्बुनानाऽऽहविमूढवातान् पीत्वा जयेदाशु हितौदनाशी ॥

(३) नाराच रस, (४) नाराच चूर्ण,(५)इच्छाभेदी; आदि इनको दे।

प्रवाहिकादिचिकित्सा—

पिप्पलीदाडिमक्षारहिङ्गुशुण्ठ्यम्लवेतसान् ।
ससैन्धवान् पिबेन्मद्यैः सर्पिषोष्णोदकेन वा ॥ १५ ॥
प्रवाहिकापरिस्राववेदनापरिकर्तने ।

प्रवाहिका, परिस्राव, वेदना और परिकर्त्तिका; इनमें पिप्पली, अनारदाना, यवक्षार, हींग, सोंठ, अम्लवेतस और सेंधा नमक को मद्य के साथ; घी से अथवा गरम पानी से पिये।

हृद्ग्रह और उसकी चिकित्सा—

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहान्मारुतादयः ॥ १६ ॥
कुपिता हृदयं गत्वा घोरं कुर्वन्ति हृद्ग्रहम् ।
हिध्मापार्श्वरुजाकासदैन्यलालाक्षिविभ्रमैः ॥ १७ ॥
जिह्वां खादति निःसंज्ञो दन्तान् कटकटाययन् ।
न गच्छेद्विभ्रमं तत्र वामयेदाशु तु भिषक् ॥ १८ ॥
मधुरैः पित्तमूर्च्छार्त्तं कटुभिः कफमूर्च्छितम् ।
पाचनीयैस्ततश्चास्य दोषशेषं विपाचयेत् ॥ १९ ॥
कायाग्निं च बलं चास्य क्रमेणाभिप्रवर्धयेत् ।

पी हुई औषध के वेगों को रोकने से कुपित हुए वातादि दोष हृदय में जाकर भयानक हृद्ग्रह उत्पन्न करते हैं। इसमें हिक्का, पार्श्वरुक् , कास, दीनता, लालास्राव, आंखों का पलटना, अचेत होकर जिह्वा को काटना और दांतों का बजाना ये लक्षण हैं। इस अवस्था में बिना घबड़ाये वैद्य तुरन्त वमन देवे। पित्तजन्य मूर्च्छा में मधुर द्रव्यों से तथा कफजन्य मूर्च्छा में कटु द्रव्यों से वमन देवे। शेष दोषों को पाचक औषधियों से पचाये, रोगी की जाठराग्नि और बल को क्रमशः बढ़ाये।

अतिवमित में हृद्ग्रह का उपाय—

पवनेनातिवमतो हृदयं यस्य पीड्यते ॥ २० ॥
तस्मै स्निग्धाम्ललवणान् दद्यात्पित्तकफेऽन्यथा ।

अतिवमन होने से वायु के कारण जिसका हृदय पीड़ित होता हो; उसको स्निग्ध, अम्ल और लवण औषध देवे। पित्त कफ में रूक्ष, मधुर, कटु, कषाय, और तिक्त औषध देवे।

सर्वाङ्गग्रह और उसकी चिकित्सा—

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहेण कफेन वा ॥ २१ ॥
रुद्धोऽति वा विशुद्धस्य गृह्णात्यङ्गानि मारुतः ।
स्तम्भवेपथुनिस्तोदसादोद्वेष्टार्तिभेदनैः ॥ २२ ॥
तत्र वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि शस्यते ।

पी हुई औषध के वेगों को रोकने से या कफ के कारण रुकी वायु अथवा अतिशय शोधन होने से कुपित वायु स्तम्भन, कम्पन, तोद, शिथिलता, एंठन, पीड़ा तथा भेदन करके अङ्गोंको जकड़ देती है। इस अवस्थामें सब वातनाशक स्नेह-स्वेदादि उत्तम हैं।

विरेचनातियोग—

बहुतीक्ष्णं क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम् ॥ २३ ॥
हृत्वाऽऽशु विट्पित्तकफान् धातूनास्रावयेद् द्रवान् ।
तत्रातियोगे मधुरैः शेषमौषधमुल्लिखेत् ॥ २४ ॥
योज्योऽति वमने रेको विरेके वमनं मृदु ।
परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तम्भयेच्च तम् ॥ २५ ॥
अञ्जनं चन्दनोशीरमज्जाऽसृक्शर्करोदकम् ।
लाजचूर्णैः पिबेन्मन्थमतियोगहरं परम् ॥ २६ ॥

भूख से पीड़ित या मृदुकोष्ठ व्यक्ति में दी हुई तीक्ष्ण

औषध मल, पित्त तथा कफ को जल्दी से निकालकर द्रवधातुओं का स्रावण करती है। इस अतियोग में मधुर द्रव्यों से शेष औषध का वमन करा देना चाहिये। अतिवमन में मृदु विरेचन और अतिविरेचन में मृदु वमन करतना चाहिये। परिषेक, अवगाहन आदि अतिशीतल उपचारों से उसका स्तम्भन करे। अञ्जन (सुरमा), चन्दन, खस, बकरी का रक्त, शर्करा, पानी इनके साथ लाजाओं के चूर्ण का मन्थ बना कर पिये। यह मन्थ उत्तम अतियोगनाशक है।

वक्तव्य—मन्थ—'सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः। नातिसान्द्रा न चात्यच्छा मन्थ इत्यभिधीयते ॥'

वमनातियोग-चिकित्सा—

वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितः ।
पिबेत्फलरसैर्मन्थं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥२७॥
सोद्गारायां भृशं छर्द्यां मूर्वाया धान्यमुस्तयोः ।
समधूकाञ्जनं चूर्णं लेहयेन्मधुसंयुतम् ॥२८॥
वमतोऽन्तःप्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः ।
स्निग्धाम्ललवणा हृद्या यूषमांसरसा हिताः ॥२९॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः ।
निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत् ॥३०॥

वमन के अतियोग में-शीतल जल से परिषेक करके अनार आदि के रस के साथ बनाये मन्थ को घी, मधु और शर्करा मिलाकर पिये। उद्गार के साथ बहुत वमन हो तो मूर्वा, धनिया, मुस्ता, महुआ और सुरमा के चूर्ण को मधु के सथ चाटे।

वमन करने में जिह्वा अन्दर प्रविष्ट हो गई हो तो कवलग्रह (गण्डूष) तथा स्निग्ध, अम्ल, लवण एवं मन के प्रिय यूष तथा मांसरस उत्तम हैं तथा दूसरे मनुष्य इसके सामने खट्टे फलों को खायें और जिह्वा आगे निकल आई हो तो इस पर तिल और द्राक्षा का कल्कलेप करके अन्दर प्रविष्ट करे।

वाग्ग्रह एवं वातरोग-चिकित्सा—

वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम् ।
यवागूं तनुकां दद्यात्स्नेहस्वेदौ च कालवित् ॥ ३१ ॥

वाणी का अवरोध आदि वातजन्य रोगों में घी एवं मांस से बनाई पतली यवागू को देवे तथा समय को जानने वाला वैद्य स्नेहन और स्वेदन करे।

जीवादान की परीक्षा—

अतियोगाच्च भैषज्यं जीवं हरति शोणितम् ।
तज्जीवादानमित्युक्तमादत्ते जीवितं यतः ॥३२॥
शुने काकाय वा दद्यात्तेनान्नमसृजा सह ।
भुक्तेऽभुक्ते वदेज्जीवं पित्तं वा भेषजेरितम् ॥३३॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा ।
प्रक्षालितं विवर्णं स्यात्पित्ते शुद्धं तु शोणिते ॥३४॥

अतियोग से औषध जीवन के हेतुरूप रक्त धातु को निकालती है। इसको 'जीवादान' कहते हैं, क्योंकि जीवन को यह ले लेता है। इस रक्त के साथ अन्न को मिलाकर कुत्ते या कौए को देवे। यदि कुत्ता या कौआ खा ले तो इसको जीवरक्त और न खाये तो औषध से प्रेरित हुआ पित्त समझे अथवा श्वेत वस्त्र को इस रक्त से भावित करके सुखाकर गरम पानी से धोना चाहिये। यदि वस्त्र साफ न हो तो पित्त जाने और यदि धोने पर साफ हो जाये तो रक्त जाने। [जीवशोणितम्-ओजः, इति हेमाद्रिः]।

तृष्णादि में प्राणरक्षणी क्रिया—

तृष्णामूर्च्छामदार्तस्य कुर्यादामरणात्क्रियाम् ।
रक्तपित्तातिसारघ्नीं तस्याशु प्राणरक्षणीम् ॥३५॥
मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक् ।
पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति ॥३६॥
तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तौ निषेचयेत् ।
श्यामाकाश्मर्यमधुकदूर्वोशीरैः शृतं पयः ॥३७॥
घृतमण्डाञ्जनयुतं वस्तिं वा योजयेद्धिमम् ।
पिच्छावस्तिं सुशीतं वा घृतमण्डानुवासनम् ॥३८॥

तृष्णा, मूर्च्छा तथा मद से पीड़ित रोगी मरने के समीप भी हो तो उसकी रक्तपित्तनाशक, अतीसारनाशक, प्राणों का रक्षण करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये। जीते हुए मृग, गाय, भैंस, बकरी इनके तुरन्त निकाले रक्त को पिलाये। क्योंकि यह जीव (रक्त) जीव (रक्त) का जल्दी ही अभिसन्धान (मेल या पुष्टि) करता है। इसी रक्त को नूतन दर्भांकुरों के साथ मसल कर बस्ति में डाल कर निरूह देवे अथवा श्यामा, गम्भारी, मुलहठी, दूर्वा, खस इनसे सिद्ध किये दूध में घी का मण्ड और सुरमा मिलाकर शीतल बस्ति देवे अथवा पिच्छाबस्ति देवे या अतिशीतल घृतमण्ड से अनुवासन बस्ति दे। [पिच्छाबस्ति अतीसार में कही है]।

गुदभ्रंश-चिकित्सा—

गुदं भ्रष्टं कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत् ।

भ्रष्ट (बाहर निकली) गुदा को कषाय रस वाले क्वाथों से स्तब्ध बनाकर अन्दर प्रविष्ट करना चाहिये।

संज्ञानाशचिकित्सा—

विसंज्ञं श्रावयेत्सामवेणुगीतादिनिस्वनम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां पञ्चमे कल्पसिद्धिस्थाने वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

* * *

चेतनारहित पुरुष को सान्त्वना देने वाले या वंशी एवं गीत आदि के शब्द सुनाये।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में कल्पसिद्धिस्थान का वमन-विरेचनव्यापत्सिद्धि नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

* * *

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो वस्तिकल्पं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे वस्तिकल्प का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

सर्वरोगनाशक वस्ति—

बलां गुडूचीं त्रिफलां सरास्नां
द्विपञ्चमूलं च पलोन्मितानि ।
अष्टौ फलान्यर्धतुलां च मांसा-
च्छागात्पचेदप्सु चतुर्थशेषम् ॥ १ ॥
पूतो यवानीफलबिल्वकुष्ठ-
वचाशताह्वाघनपिप्पलीनाम् ।
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः सतैलै-
र्युक्तः सुखोष्णो लवणान्वितश्च ॥ २ ॥
वस्तिः परं सर्वगदप्रमाथी
स्वस्थे हितो जीवनबृंहणश्च ।
वस्तौ च यस्मिन् पठितो न कल्कः
सर्वत्र दद्यादमुमेव तत्र ॥ ३ ॥

बला, गिलोय, त्रिफला, रास्ना, दशमूल, प्रत्येक द्रव्य एक पल, मैनफल संख्या में आठ, बकरी का मांस पचास पल इनको चौगुने पानी में पकाकर चौथाई क्वाथ रखकर छान लेना चाहिये । इस क्वाथ में अजवायन, मैनफल, बिल्व, कुष्ठ, बच, सौंफ, मुस्ता, पिप्पली इनका कल्क (दो पल), गुड़ मधु, घी,[1] तैल और लवण मिलाकर गुनगुनाती हुई गरम वस्ति देवे । यह वस्ति सब रोगों को नष्ट करने वाली, स्वस्थ में हितकारी, जीवन और बृंहण वाली है, जिस वस्तिमें कल्क का पाठ नहीं है उस वस्ति में इन्हीं कल्कद्रव्यों को मिलाना चाहिये ।

निरूहणवस्ति—

द्विपञ्चमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः
सच्छागमांसस्य सपूर्वपेष्यः ।
त्रिस्नेहयुक्तः प्रवरो निरूहः
सर्वानिलव्याधिहरः प्रदिष्टः ॥ ४ ॥

दशमूल और बकरी के मांस का क्वाथ, कांजी आदि अम्ल के साथ पूर्वोक्त अजवायन आदि द्रव्यों का कल्क मिलाकर घी, तैल और वसा, इन तीन स्नेहों के साथ तैय्यार किया निरूह सब वातरोगों को नाश करने के लिये श्रेष्ठ कहा है । (अरुणदत्त ने-'त्रिभिः स्नेहैः' से घी, मज्जा तथा वसा लिया है तथा हेमाद्रि ने घी, तैल, वसा । यह ठीक भी है)।

बलादिनिरूहण—

बलापटोलीलघुपञ्चमूल-
त्रायन्तिकैरण्डयवात्सुसिद्धात् ।
प्रस्थो रसाच्छागरसार्धयुक्तः
साध्यः पुनः प्रस्थसमः स यावत् ॥ ५ ॥
प्रियङ्गुकृष्णाघनकल्कयुक्तः सतैलसर्पिर्मधुसैन्धवश्च ।
स्याद्दीपनो मांसबलप्रदश्च चक्षुर्बलं चोपदधाति सद्यः॥

बला, परवल, लघुपञ्चमूल, त्रायन्तिका, एरण्ड, जौ इनके भली प्रकार बनाये गये क्वाथ का एक प्रस्थ, बकरी के मांस-रस का आधा प्रस्थ लेकर दोनों को साथ में पकाकर एक प्रस्थ बचाये । इसमें प्रियंगु, पिप्पली, मुस्ता इनका कल्क, घी, तैल, मधु और सैन्धव को मिलाकर दिया हुआ निरूह अग्निदीपक, मांस और बल को देने वाला और तुरन्त आंखों के बल को बढ़ाने वाला है ।

वात-कफघ्न वस्तिप्रयोग—

एरण्डमूलात्त्रिपलं पलाशा-
त्तथा पलांशं लघुपञ्चमूलम् ।
रास्नाबलाच्छिन्नरुहाऽश्वगन्धा-
पुनर्नवाऽऽरग्वधदेवदारु ॥ ७ ॥
फलानि चाष्टौ सलिलाढकाभ्यां
विपाचयेदष्टमशेषितेऽस्मिन् ।
वचाशताह्वाहपुषाप्रियङ्गु-
यष्टीकणावत्सकबीजमुस्तम् ॥ ८ ॥
दद्यात्सुपिष्टं सहताक्ष्यशैल-
मक्षप्रमाणं लवणांशयुक्तम् ।
समाक्षिकस्तैलयुतः समूत्रो
वस्तिर्जयेल्लेखनदीपनोऽसौ ॥ ९ ॥
जङ्घोरुपादत्रिकपृष्ठकोष्ठ-
हृद्गुह्यशूलं गुरुतां विबन्धम् ।
गुल्माश्मवर्ध्मग्रहणीगुदोत्थां-
स्तांस्तांश्च रोगान् कफवातजातान् ॥१०॥

एरण्डमूल और ढाक तीन-तीन पल, लघु पंचमूल एक पल, रास्ना, बला, गिलोय, अश्वगन्धा, पुनर्नवा अमलतास, देवदारु, प्रत्येक एक पल, मैनफल संख्या में आठ लेकर दो आढक जल में पकाये । अष्टमांश शेष रह जाने पर इसमें-बच, सौंफ, हाऊबेर, प्रियंगु, मुलहठी, पिप्पली, इन्द्रजौ, मोथा, रसांजन (रसौंत); इनके प्रत्येक एक कर्ष लेकर बारीक पीसकर मिलाये । इसमें नमक चौथाई कर्ष और मधु, तैल तथा गोमूत्र मिलाकर वस्ति देवे । यह वस्ति लेखन और दीपन है, जंघा, ऊरु, पैर, त्रिक, पीठ, कोष्ठ, हृदय और गुह्यभाग के शूल को, भारीपन, विबन्ध, गुल्म, पथरी, वर्ध्म, ग्रहणी और गुदा में उत्पन्न नाना प्रकार के वात-कफ-जन्य रोगों को नष्ट करती है ।

---

१. निरूहवस्ति में वायु, पित्त और कफ दोषों के अनुसार क्रमशः चतुर्थांश, षष्ठांश और अष्टमांश स्नेह मिलाना चाहिये । मधु, लवण यथावश्यक मात्रा में (न अधिक न कम) होना चाहिये । (सूत्र अ. १९।४४)

पित्तरोगनाशक-वस्ति—

यष्ट्याह्वरोध्राभयचन्दनैश्च
शृतं पयोऽग्र्यं कमलोत्पलैश्च ।
सशर्कराक्षौद्रघृतं सुशीतं
पित्तामयान् हन्ति सजीवनीयम् ॥ १२ ॥

मुलहठी, लोध, खस, चन्दन, कमल और उत्पल से सिद्ध किये गाय के दूध में शर्करा, मधु, घी और जीवनीय गण की औषध मिलाकर अतिशीतल करके निरूह देने पर पित्तरोगनाशक है ।

रास्नां वृषं लोहितिकामनन्तां
बलां कनीयस्तृणपञ्चमूल्यौ ।
गोपाङ्गनाचन्दनपद्मकर्द्धि-
यष्ट्याह्वरोध्राणि पलार्धकानि ॥ १३ ॥
निःक्वाथ्य तोयेन रसेन तेन
शृतं पयोऽर्धाढकमम्बुहीनम् ।
जीवन्तिमेदर्द्धिवरीविदारी-
वीराद्विकाकोलिकसेरुकाभिः ॥ १४ ॥
सितोपलाजीवकपद्मरेणुप्रपौण्डरीकोत्पलपुण्डरीकैः ।
रोध्रात्मगुप्तामधुयष्टिकानागाह्वसुञ्जातकचन्दनैश्च ॥
पिष्टैर्घृतक्षौद्रयुतैर्निरूहं ससैन्धवं शीतलमेव दद्यात् ।
प्रत्यागते धन्वरसेन शालीन्
क्षीरेण वाऽद्यात्परिषिक्तगात्रः ॥ १५ ॥
दाहातिसारप्रदरास्रपित्त-
हृत्पाण्डुरोगान् विषमज्वरं च ।
सगुल्ममूत्रग्रहकामलादीन्
सर्वामयान् पित्तकृतान्निहन्ति ॥ १६ ॥

रास्ना, अडूसा, मजीठ, सारिवा, बला, लघु पंचमूल, तृणपंचमूल, गोपांगना (कृष्ण सारिवा), चन्दन, पद्माख, ऋद्धि, मुलहठी और लोध प्रत्येक आधा पल लेकर (सबको सोलहगुने जल में) क्वाथ करके (चौथाई शेष रक्खे)। इस क्वाथ से आधा आढक (६४ पल) दूध पकाये। जब दूध में पानी न रहे, तब इसमें जीवन्ती, मेदा, ऋद्धि, शतावरी, विदारी, क्षीरविदारी, काकोली, क्षीरकाकोली, कसेरू, मिश्री, जीवक, कमल का केसर, प्रपौण्डरीक, कमल, पुण्डरीक, लोध, कौंच, मुलहठी, नागकेसर, सुंजातक और चन्दन के कल्क तथा मधु और सैन्धव मिलाकर शीतल ही निरूह देवे। निरूह के वापिस आजाने पर स्नान करके चावलों को जांगल-मांसरस या दूध के साथ खावे । इससे दाह, अतीसार, प्रदर, रक्तपित्त, हृदयरोग, पाण्डु रोग, विषमज्वर, गुल्म, मूत्रग्रह, कामला आदि सब पित्तजन्य रोग नष्ट होते हैं।

कफज रोग में निरूहण--

कोशातकारग्वधदेवदारु-
मूर्वाश्वदंष्ट्राकुटजार्कपाठाः ।
पक्त्वा कुलत्थान् बृहतीं च तोये
रसस्य तस्य प्रसृता दश स्युः ॥ १७ ॥
तान् सर्षपैलामदनैः सकुष्ठै-
रक्षप्रमाणैः प्रसृतैश्च युक्तान् ।
क्षौद्रस्य तैलस्य फलाह्वयस्य
क्षारस्य तैलस्य च सार्षपस्य ॥ १८ ॥
दद्यान्निरूहं कफरोगिताय
मन्दाग्नये चाशनविद्विषे च ।

कोशातकी, अमलतास, देवदारु, मूर्वा, गोखरू, कुटज, आक, पाठा, कुलथी, बड़ी कटेरी इनका (क्वाथ विधि से) पानी में क्वाथ करके इसके दस प्रसृत लेवे। इसमें सरसों, इलायची, मैनफल, कुष्ठ, प्रत्येक एक कर्ष, मधु, फल तैल, यवक्षार, सरसों का तेल, मन्दाग्नि वाले के लिये, भोजन से द्वेष करने वाले के लिये देना चाहिये।

(फलाह्वय तैल का अर्थ फलतैल हेमाद्रि ने तथा अरुणदत्त ने मैनफल के क्वाथ और कल्क से सिद्ध किया तैल अर्थ किया है। कुछ लोग बादाम आदि फलों का तैल मिलाना उचित मानते हैं किन्तु वह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि मदनफल आस्थापन और अनुवासन द्रव्यों में पठित है।)

सुकुमारों को निरूहण—

वक्ष्ये मृदून् स्नेहकृतो निरूहान्
सुखोचितानां प्रसृतैः पृथक् तु ॥ १९ ॥
अथेमान् सुकुमाराणां निरूहान् स्नेहनान् मृदून् ।
कर्मणा विप्लुतानां च वक्ष्यामि प्रसृतैः पृथक् ॥२०॥

कोमल प्रकृति वालों के लिये कोमल स्नेहयुक्त निरूहों को प्रसृत मात्रा से पृथक् कहूँगा।

अब स्नेहन करने वाले, अतीक्ष्ण निरूहों को नाजुक प्रकृति वाले तथा वमनादि कार्यों से भ्रष्ट हुए व्यक्तियों के लिये पृथक् रूप में प्रसृत मात्रा से कहूंगा।

वातघ्न मृदु निरूह

क्षीराद् द्वौ प्रसृतौ कार्यौ मधुतैलघृतात्त्रयः ।
खजेन मथितो वस्तिर्वातघ्नो वलवर्णकृत् ॥ २१ ॥
एकैकः प्रसृतस्तैलप्रसन्नाक्षौद्रसर्पिषाम् ।
बिल्वादिमूलक्वाथाद् द्वौ कौलत्थाद् द्वौ स वातजित् ॥

दूध दो प्रसृत (४ पल), मधु, घी और तैल मिलाकर तीन प्रसृत (छः पल), इनको मन्थन दण्ड से मथकर वस्ति देवे । यह वस्ति वातनाशक, बल-वर्णकारक है। [इसमें कल्क नहीं है, इस लिये बलादिवस्ति में कहा कल्क श्लोक २ का ही वरतना चाहिये[1]]।

तैल, प्रसन्ना, मधु और घी प्रत्येक एक प्रसृत, बिल्वादि पञ्चमूल का क्वाथ दो प्रसृत, कुलथी का क्वाथ दो प्रसृत; इनकी वस्ति वातनाशक है।

---

[1] यह अरुणदत्त का मत है। किन्तु पाक भी नहीं कहा है अतः कल्क न मिलाना ही उचित है।

पित्तघ्न मृदु निरूह—

पटोलनिम्बभूतीकरास्नासप्तच्छदाम्भसः ।
प्रसृतः पृथगाज्याच्च वस्तिः सर्षपकल्कवान् ॥ २३ ॥
स पञ्चतिक्तोऽभिष्यन्दक्रिमिकुष्ठप्रमेहहा ।

परवल, नीम, अजवायन, रास्ना और सतवन इनके क्राथ का एक प्रसृत, घी का एक प्रसृत; इनमें सरसों का कल्क मिलाकर दी गई पंचतिक्त बस्ति-अभिष्यन्द, कृमि, कुष्ठ और प्रमेह का नाशक है।

वक्तव्य—इन्दु ने-'सर्षपकल्केन पञ्चभिश्च तिक्तैर्निम्बगुडूचीवृषपटोलनिदिग्धिकाख्यैर्युक्तः ॥' यह पाठ दिया है।

कफघ्न मृदु निरूह—

चत्वारस्तैलगोमूत्रदधिमण्डाम्लकाञ्जिकात् ॥ २४ ॥
प्रसृताः सर्षपैः पिष्टैर्विट्सङ्गानाहभेदनः ।

तैल, गोमूत्र, दधिमण्ड और खट्टी कांजी; इनके चार प्रसृत (आठ पल) और सरसों का कल्क मिलाकर दी गई वस्ति मलसंग और आनाह को नष्ट करती है।

शुक्रकारक वस्ति—

पयस्येक्षुस्थिरारास्नाविदारीक्षौद्रसर्पिषाम् ॥ २५ ॥
एकैकः प्रसृतो वस्तिः कृष्णाकल्को वृषत्वकृत् ।

क्षीरविदारी, ईख, शालपर्णी, विदारी और रास्ना (मिलाकर) के क्वाथ के पाँच प्रसृत, मधु और घी के दो प्रसृत, इनमें पिप्पली का कल्क मिलाकर दी गई बस्ति शुक्रकारक है

सिद्धवस्ति वर्णन—

सिद्धवस्तीनतो वक्ष्ये सर्वदा यान् प्रयोजयेत् ॥ २६ ॥
निर्व्यापदो बहुफलान् बलपुष्टिकरान् सुखान् ।

अब इसके आगे सिद्धवस्तियों को कहूँगा, जिनको कि सदा बरतना चाहिये। ये वस्तियाँ व्यापदरहित, बहुत फल देने वाली, बल एवं पुष्टि करने वाली और सुखदायी हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत में—'बलोपचयवर्णानां यस्माद् व्याधिशतस्य च। भवत्येतेन सिद्धिस्तु सिद्धवस्तिरतो मतः॥' अरुण दत्त ने—'यस्मिन् वस्तौ यथायुक्ते ध्रुवा सिद्धिः प्रकीर्त्तिता। सिद्धिवस्तिरतो ख्यातो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥' यह श्लोक (सु. चि. अ. ३८।११६) का दिया है, परन्तु उपलब्ध संहिता में यह नहीं मिलता।

माधुतैलिक वस्ति—

मधुतैले समे कर्षः सैन्धवान् द्विपिचुर्मिसिः ॥ २७ ॥
एरण्डमूलक्वाथेन निरूहो माधुतैलिकः ।
रसायनं प्रमेहार्शःक्रिमिगुल्मान्त्रवृद्धिनुत् ॥ २८ ॥

मधु और तैल समान, सैन्धव एक कर्ष, सौंफ दो कर्ष, इनको एरण्डमूल क्राथ से मिलाकर दिया निरूहवस्ति रसायन, प्रमेह, अर्श, कृमि, गुल्म, आन्त्रवृद्धि का नाशक है इनका नाम 'माधुतैलिक वस्ति' है।

वक्तव्य—कहा भी है-'यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येनात्र वर्त्तते। माधुतैलिक इत्येष विज्ञेयो वस्तिचिन्तकैः ॥' (सु. चि. ३८)

नेत्रहितकर वस्ति—

सयष्टिमधुकश्चैष चक्षुष्यो रक्तपित्तजित् ।

यही वस्ति मुलहठी के मिलाने से चक्षुष्य और रक्तपित्तनाशक होती है।

यापनवस्ति—

यापनो घनकल्केन मधुतैलरसाढ्यवान् ॥ २९ ॥
पायुजानूरुवृषणवस्तिमेहनशूलजित् ।

मुस्ताक्काथ से मधु, तैल, मांसरस और घी के साथ वस्ति देने से गुदा, जानु, वृषण, वस्ति और मेहन का शूल नष्ट होता है (यापन-प्राण धारण करने से) यह यापन वस्ति है।[1]

द्वितीय यापनवस्ति—

प्रसृतांशघृतक्षौद्रवसातैलैः प्रकल्पयेत् ॥ ३० ॥
यापनं सैन्धवार्धाक्षहपुषार्धपलान्वितम् ।

घी, मधु, वसा और तैल एक-एक प्रसृत, सैन्धव ½ कर्ष, हाऊबेर ½ पल, इनसे यापना वस्ति बनाये।

युक्तरथ नामक वस्ति—

एरण्डमूलनिःक्काथो मधुतैलं ससैन्धवम् ॥ ३१ ॥
एष युक्तरथो वस्तिः सवचापिप्पलीफलः ।

एरण्डमूल के क्वाथ में, मधु-तैल, सैन्धव, वच, पिप्पली और मैनफल को मिलाकर दी गई वस्ति 'युक्तरथ' कहलाती है।

वक्तव्य—'रथेष्वपि हि युक्तेषु हस्त्यश्वेष्वपि योजयेत्। यस्मान्न प्रतिषिद्धोऽयमतो युक्तरथः स्मृतः ॥ (सु. चि. ३८)

दोषनाशक वस्ति—

स क्काथो मधुषड्ग्रन्थाशताह्वाहिङ्गुसैन्धवम् ॥ ३२ ॥
सुरदारु च रास्ना च वस्तिर्दोषहरः शिवः ।

एरण्डमूल के क्वाथ में मधु, वच, सौंफ, हींग, सेंधा नमक, देवदारु और रास्ना की वस्ति दोषनाशक और कल्याणकारी है।

सिद्ध वस्ति—

पञ्चमूलस्य निःक्काथस्तैलं मागधिका मधु ॥ ३३ ॥
ससैन्धवः समधुकः सिद्धवस्तिरिति स्मृतः ।

पञ्चमूल का क्वाथ, तिल तैल, पिप्पली, मधु, सैन्धव, मुलहठी इनसे बनाई गई वस्ति 'सिद्धवस्ति' कही जाती है।

कफादि-नाशक वस्ति—

द्विपञ्चमूलत्रिफलाफलबिल्वानि पाचयेत् ॥ ३४ ॥
गोमूत्रे, तेन पिष्टैश्च पाठावत्सकतोयदैः ।
सफलैः क्षौद्रतैलाभ्यां क्षारेण लवणेन च ॥ ३५ ॥
युक्तो वस्तिः कफव्याधिपाण्डुरोगविसूचिषु ।
शुक्रानलविबन्धेषु वस्त्याटोपे च पूजितः ॥ ३६ ॥

---

[1] १. आजकल भी पोषक द्रव्यों को वस्ति द्वारा देते हैं और इन्हें 'न्यूट्रिएण्ट एनिमा' कहते हैं।

दशमूल, त्रिफला मैनफल, बिल्व इनका गोमूत्र में क्वाथ करे। इसमें पाठा, इन्द्रजौ, मुस्ता, मैनफल इनका कल्क, मधु, तैल, यवक्षार, सैन्धव मिलाकर दी गई वस्ति कफरोग, पाण्डुरोग, विसूचिका, शुक्र-वायु के अवरोध और मूत्राशय के आध्मान में प्रशस्त है।

वातरक्तादि-नाशक यापनावस्ति—

मुस्तापाठाऽमृतैरण्डबलारास्नापुनर्नवाः ।
मञ्जिष्ठारग्वधोशीरत्रायमाणाक्षरोहिणीः ॥ ३७ ॥
कनीयः पञ्चमूलं च पालिकं, मदनाष्टकम् ।
जलाढके पचेत्तच्च पादशेषं परिस्रुतम् ॥ ३८ ॥
क्षीरद्विप्रस्थसंयुक्तं क्षीरशेषं पुनः पचेत् ।
सपादजाङ्गलरसः ससर्पिर्मधुसैन्धवः ॥ ३९ ॥
पिष्टैर्यष्टिमिसिश्यामाकालिङ्गकरसाञ्जनः ।
वस्तिः सुखोष्णो मांसाग्निबलशुक्रविवर्द्धनः ॥ ४० ॥
वातासृङ्मोहमेहार्शोगुल्मविण्मूत्रसङ्ग्रहान् ।
विषमज्वरवीसर्पवर्ध्माध्मानप्रवाहिकाः ॥ ४१ ॥
वङ्क्षणोरुकटीकुक्षिमन्याश्रोत्रशिरोरुजः ।
हन्यादसृग्दरोन्मादशोफकासाश्मकुण्डलान् ॥ ४२ ॥
चक्षुष्यः पुत्रदो राजा यापनानां रसायनम् ।

मुस्ता, पाठा, गिलोय, एरण्ड, बला, रास्ना, पुनर्नवा, मञ्जीठ, अमलतास, खस, त्रायमाणा, बहेड़ा, कुटकी और लघु पञ्चमूल, एक-एक पल, मैनफल संख्या में आठ, इनको एक आढक जल में पकाये, जब चौथाई रह जाये तब छान ले, इसमें दो प्रस्थ दूध मिलाकर पाक करे। जब केवल दूध रह जाय इसमें चतुर्थांश जांगल मांसरस, घी, मधु, सैन्धव तथा मुलहठी, सौंफ, श्यामा, इन्द्रजौ, रसौंत इनका कल्क मिलाकर गुनगुनाती वस्ति देवें। यह वस्ति मांस, अग्नि, बल तथा शुक्र को बढ़ाने वाली, वातरक्त, मोह, मेह, अर्श, गुल्म, मल-मूत्र का अवरोध, विषमज्वर, वीसर्प, वर्ध्म, आध्मान, प्रवाहिका, वंक्षणशूल, कटि-कुक्षि-मन्या-श्रोत्र-शिरःशूल, असृग्दर, उन्माद, शोफ, कास, पथरी और वस्तिकुण्डलिका को नष्ट करती है। चक्षुष्य, पुत्रदाता, रसायन और यापन वस्तियों का राजा (श्रेष्ठ) है।

शुक्रवर्धक वस्ति—

मृगाणां लघुवद्राङ्गाणां दशमूलस्य चाम्भसा ॥ ४३ ॥
हपुषामिसिगाङ्गेयीकल्कैर्वातहरः परम् ।
निरूहोऽत्यर्थवृष्यश्च महास्नेहसमन्वितः ॥ ४४ ॥

लघु (छोटे) हरिण आदि, वद्र (बड़े)-सूअर आदि पशुओं (या छोटे मृगों की छाती का) का मांस तथा दशमूल के क्वाथ में हाऊबेर, सौंफ, मुस्ता इनका कल्क मिलाकर दी गई वस्ति अतिशय वातनाशक और और महास्नेह (घी, तैल, वसा, मज्जा) के साथ अतिवृष्य है।

बलवीर्यवर्धक वस्ति—

मयूरं पक्षपित्तान्त्रपादविट्तुण्डवर्जितम् ।
लघुना पञ्चमूलेन पालिकेन समन्वितम् ४५ ॥
पक्त्वा क्षीरजले क्षीरशेषं सघृतमाक्षिकम् ।
तद्विदारीकणायष्टिशताह्वाफलकल्कवत् ॥ ४६ ॥
वस्तिरीषत्पटुयुतः परमं बलशुक्रकृत् ।

पंख, पित्त, आंत, पैर, मल और चोंच को निकाल कर मोर को दशपल तथा लघु पंचमूल को एक पल लेकर दूध मिश्रित जल में (दूध आधा आढक जल आधा आढक) पकावे जब दूध मात्रा शेष रह जाये तब उतार ले। इसमें घी, मधु, विदारी, पिप्पली, मुलहठी, सौंफ, मैनफल, इनका कल्क तथा थोड़ा सा नमक मिलाकर दी गई यह वस्ति अतिशय बलकारक और शुक्रकारक है।

तीतर आदि के मांस की वस्ति

कल्पनेयं पृथक् कार्या तित्तिरिप्रभृतिष्वपि ॥ ४७ ॥
विष्किरेषु समस्तेषु प्रतुदप्रसहेषु च ।
जलचारिषु तद्वच्च मत्स्येषु क्षीरवर्जिता ॥ ४८ ॥

यही कल्पना तीतर आदि में, सम्पूर्ण विष्किरों में, प्रतुदों में और प्रसहों में पृथक्-पृथक् करनी चाहिये। तथा जलचारी प्राणियों में भी यही कल्पना करनी चाहिये। मछलियों में दूध के बिना इस कल्पना को करना चाहिये। (मछलियों का दूध के साथ विरोध है)।

गोधादि के मांस की वस्ति—

गोधानकुलमार्जारशल्यकोन्दुरजं पलम् ।
पृथग् दशपलं क्षीरे पञ्चमूलं च साधयेत् ॥ ४९ ॥
तत्पयः फलवैदेहीकल्कद्विलवणान्वितम् ।
ससितातैलमध्वाज्यो वस्तिर्योज्यो रसायनम् ॥ ५० ॥
व्यायाममथितोरस्कक्षीणेन्द्रियबलौजसाम् ।
विबद्धशुक्रविण्मूत्रखुडवातविकारिणाम् ॥ ५१ ॥
गजवाजिरथक्षोभभग्नजर्जरितात्मनाम् ।
पुनर्नवत्वं कुरुते वाजीकरणमुत्तमम् ॥ ५२ ॥

गोह, नेवला, बिल्ली, सेह और चूहे का मांस अलग एक-एक पल, दूध दस पल और पंचमूल के क्वाथमें पकाये। जब दूध शेष रह जाये तब मैनफल, पिप्पली का कल्क, सैन्धव और संचल नमक, शर्करा, तिलतैल, मधु और घी मिलाकर दी गई यह वस्ति रसायन गुण वाली, व्यायाम से पीड़ित (थके), क्षतोरस्क, क्षीण-दुर्बल इन्द्रिय एवं निर्बल तथा निर्बल ओज वाले, शुक्र, मल नथा मूत्र के विबन्ध वाले, वातरक्त और वात रोग वाले, हाथी घोड़े तथा रथ के विक्षोभ से भग्न एवं जर्जरित शरीर वालों को फिर से नई करती है। उत्तम वाजीकरण है।

स्नेह वस्ति—

सिद्धेन पयसा भोज्यमात्मगुप्तोच्चटेक्षुरैः ।
स्नेहांश्चायन्त्रणान् सिद्धान् सिद्धद्रव्यैः प्रकल्पयेत् ॥

कौंच, गुञ्जा और तालमखाने से सिद्ध दूध के साथ भोजन करना चाहिये।

बिना परहेज वाली, बहुत बार दृष्ट विश्वास वाली, निरपाय द्रव्यों से स्नेह बनाये। (इन्हें भोजन और वस्ति में प्रयुक्त करे।

दोषघ्नाः सपरीहारा वक्ष्यन्ते स्नेहबस्तयः ।
दशमूलं बलां रास्नामश्वगन्धां पुनर्नवाम् ॥ ५४ ॥
गुडूच्येरण्डभूतीकभार्गीवृषकरोहिषम् ।
शतावरीं सहचरं काकनासां पलांशकम् ॥ ५५ ॥
यवमाषातसीकोलकुलत्थान् प्रसृतोन्मितान् ।
वहे विपाच्य तोयस्य द्रोणशेषेण तेन च ॥ ५६ ॥
पचेत्तैलाढकं पेष्यैर्जीवनीयैः पलोन्मितैः ।
अनुवासनमित्येतत्सर्ववातविकारनुत् ॥ ५७ ॥

अब दोषनाशक तथा परहेज वाली स्नेहवस्तियां कही जायेंगी।

दशमूल, बला, रास्ना, अश्वगन्ध, पुनर्नवा, गिलोय, एरण्ड, भूतीक, भार्गी, वृषक (अडूसा) रोहिष घास, शतावरी, झिण्टी, काकतुण्डी प्रत्येक एक पल, जौ, उड़द, अलसी, बेर, कुलथी एक प्रसूत, इनको एक वह प्रमाण (चार द्रोण) पानी में पकाकर एक द्रोण शेष बचाये। इससे एक आढक तैल का जीवनीय-गण की ओषधियों का कल्क एक एक पल मिलाकर पाक करे। इसका अनुवासन सब वातरोगों को नाश करने वाला है।

वक्तव्य—भूतीक-भूस्तृण, कत्तृण-यवानिका। वृषक-अडूसा या पाषाणभेद।

आनूप जीवों की चर्बी की वस्ति—

आनूपानां वसा तद्वज्जीवनीयोपसाधिता ।

जीवनीय गण के कल्क से पानी में सिद्ध की आनूप पशु-पक्षियों की वसा भी यही गुण करती है।

तैल की वस्ति—

शताह्वाचिरबिल्वाम्लैस्तैलं सिद्धं समीरणे ॥ ५८ ॥

शताह्वा (सौंफ) तथा करञ्ज के कल्क में काञ्जी से सिद्ध किया तेल वायु में बरतना चाहिये।

घृत की वस्ति—

सैन्धवेनाग्निवर्णेन तप्तं चानिलजिद् घृतम् ।

अग्निवर्ण-लाल अंगारा बनाये सैन्धव से (सैन्धव को गरम करके घी में डालने से) गरम किया घी वातनाशक है।

अनुवासन वस्ति—

जीवन्तीं मदनं मेदां श्रावणीं मधुकं बलाम् ॥ ५९ ॥
शताह्वर्षभकौ कृष्णां काकनासां शतावरीम् ।
स्वगुप्तां क्षीरकाकोलीं कर्कटाख्यां शटीं वचाम् ॥ ६० ॥
पिष्ट्वा तैलघृतं क्षीरे साधयेत्तच्चतुर्गुणे ।
बृंहणं वातपित्तघ्नं बलशुक्राग्निवर्धनम् ॥ ६१ ॥
रजःशुक्रामयहरं पुत्रीयं चानुवासनम् ।

जीवन्ती, मैनफल, मेदा, गोरखमुण्डी, मुलहठी, बला, सौंफ, ऋषभक, पिप्पली, काकनासा, शतावरी, कौंच, क्षीरकाकोली, काकड़ाश्रृङ्गी, कचूर, वच इनको पीसकर इनके कल्क से चौगुने दूध में तैल और घृत (यमक) को सिद्ध करे। इनका अनुवासन बृंहण, वात-पित्तनाशक, बल, शुक्र तथा अग्नि को बढ़ाने वाला, रजोदोष एवं शुक्रदोष का नाशक और पुत्रोत्पादक है।

सैन्धवं मदनं कुष्ठं शताह्वा निचुलो वचा ॥ ६२ ॥
ह्रीबेरं मधुकं भार्गी देवदारु सकट्फलम् ।
नागरं पुष्करं मेदा चविका चित्रकः शटी ॥ ६३ ॥
विडङ्गातिविषे श्यामा हरेणुर्नीलिनी स्थिरा ।
बिल्वाजमोदचपला दन्ती रास्ना च तैः समैः ॥ ६४ ॥
साध्यमेरण्डतैलं वा तैलं वा कफरोगनुत् ।
वर्ध्मोदावर्तगुल्मार्शःप्लीहमेहाढ्यमारुतान् ॥ ६५ ॥
आनाहमश्मरीं चाशु हन्यात्तदनुवासनम् ।

सैन्धव, मैनफल, कूठ, सौंफ, वेतस, वच, हाऊबेर, मुलहठी, भार्गी, देवदारु, कायफल, सोंठ, पुष्करमूल, मेदा, चविका, चित्रक, कपूर, विडंग, अतीस, निशोथ, हरेणु, नील, शालपर्णी, बिल्व, अजवायन, पिप्पली, दन्ती और रास्ना को परस्पर समान भाग लेकर इनसे तिलतैल या एरण्डतैल सिद्ध करना चाहिये। यह अनुवासन कफरोगनाशक है तथा वर्ध्म, उदावर्त, गुल्म, अर्श, प्लीहा, मेह, वातरक्त, आनाह, अश्मरी को शीघ्र नष्ट करता है।

कफघ्न तैल—

साधितं पञ्चमूलेन तैलं बिल्वादिनाऽथवा ॥ ६६ ॥
कफघ्नं कल्पयेत्तैलं द्रव्यैर्वा कफघातिभिः ।
फलैरष्टगुणैश्चाम्लैः सिद्धमन्वासनं कफे ॥ ६७ ॥

अथवा बिल्वादि पंचमूल (और मदनफल) से सिद्ध किया तेल कफनाशक होता है।

अथवा कफनाशक द्रव्यों (पंचकोल आदि) और मैनफल के कल्क से, तल से आठगुने कांजी आदि अम्ल द्रव्यों में सिद्ध किये तेल का अनुवासन कफ में उत्तम है।

वक्तव्य—'मदनैर्वाऽम्लसंयुक्तैर्बिल्वाद्येन गणेन वा । तैलं कफहरैर्वाऽपि कफघ्नं कल्पयेद् भिषक् ॥' (सि. अ. ४।१७)

तीक्ष्णादि वस्ति—

मृदुबस्तिजडीभूते तीक्ष्णोऽन्यो बस्तिरिष्यते ।
तीक्ष्णैर्विकर्षिते स्निग्धो मधुरः शिशिरो मृदुः ॥ ६८ ॥

मृदुवस्ति (मधुर, स्निग्ध, शीतल होने से) के जड़ हो जाने से (बाहर न आने पर) दूसरी तीक्ष्ण वस्ति देनी चाहिये। तीक्ष्णवस्ति (गोमूत्रादि से बनी) से शरीर में कृशता आ जाने पर स्निग्ध, मधुर, शिशिर मृदु वस्ति देनी चाहिये।

तीक्ष्णत्वं मूत्रपील्वग्निलवणक्षारसर्षपैः ।
प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराज्याद्यैस्तु मार्दवम् ॥ ६९ ॥

वस्ति में गोमूत्र, पीलु, चित्रक, सैन्धव लवण, यवक्षार, सरसों आदि से समय के अनुसार तीक्ष्णत्व करना चाहिये। क्षीर तथा घी आदि से वस्ति में समय के अनुसार मृदुता करनी चाहिये।

सिद्धवस्ति का फल—

बलकालरोगदोषप्रकृतीः प्रविभज्य योजितो वस्तिः ।
स्वैः स्वैरौषधवर्गैः स्वान् स्वान् रोगान्निवर्तयति ॥७०॥

बल, काल, रोग, दोष और प्रकृति का विचार करके अपने-अपने औषध समूहों से सिद्ध की हुई वस्ति अपने-अपने रोगों को शान्त करती है।

वस्तियोजना का प्रकार—

उष्णार्तानां शीताञ्छीतार्तानां तथा सुखोष्णांश्च ।
तद्योग्यौषधयुक्तान् वस्तीन् संतर्क्य युञ्जीत ॥ ७१ ॥

उष्णिमा से पीड़ित मनुष्य को शीतल तथा शीत से पीड़ित मनुष्यों को सुहाती गरम वस्तियों को उनके योग्य औषधियों से मिला कर विचार करके प्रयोग करे।

बृंहण तथा शोधन के योग्यायोग्य—

वस्तीन्न बृंहणीयान् दद्याद्व्याधिषु विशोधनीयेषु ।
मेदस्विनो विशोध्या ये च नराः कुष्ठमेहार्ताः ॥ ७२ ॥
न क्षीणक्षतदुर्बलमूर्च्छितकृशशुष्कशुद्धदेहानाम् ।
दद्याद्विशोधनीयान् दोषनिबद्धायुषो ये च ॥ ७३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां पञ्चमे कल्पसिद्धिस्थाने
वस्तिकल्पो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

विशोधनीय रोगों में बृंहण वस्तियों को नहीं देना चाहिये। मेदस्वी, कुष्ठ तथा प्रमेह से पीड़ित का शोधन करना चाहिये।

क्षीण, क्षत, दुर्बल, मूर्च्छित, कृश, शुष्क, वमनादि से शुद्ध शरीर और जिनकी आयु मल के अधीन है, इनका शोधन नहीं करना चाहिये—इनको शोधन वस्ति नहीं देवे।

वक्तव्य—शुद्ध देह-जिनको वमन-विरेचन कराये बहुत समय न हुआ हो। दोषनिबद्धायुष्-मलाधीन जीवन, यथा-क्षयी। 'उपष्टब्धः स शकृता केवलं वर्त्तते क्षयी ॥' (ह. नि. अ. ५।२२)।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में कल्पस्थान का वस्तिकल्प नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो वस्तिव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे वस्तिव्यापत्सिद्धि का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था। वस्ति के असम्यक् प्रयोग से विबन्ध आदि बारह विकार होते हैं उन्हीं के रूप और उपचार का वर्णन इस अध्याय में कहेंगे। यथा—'विबन्धगौरवाध्मानशिरोऽर्त्त्वाहनोर्ध्वगाः । कुक्षिशूलाङ्गरुग्हिध्माहृत्पीडाकर्तनस्रवाः । अयोगादतियोगाच्च वस्तेः स्युः व्यापदः ॥ (संग्रह क० अ० ६),

विबन्ध और गौरव व्यापत्—

अस्निग्धस्विन्नदेहस्य गुरुकोष्ठस्य योजितः ।
शीतोऽल्पस्नेहलवणद्रव्यमात्रो घनोऽपि वा ॥ १ ॥
वस्तिः सङ्क्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन् ।
करोत्ययोगं तेन स्याद्वातमूत्रशकृद्ग्रहः ॥ २ ॥
नाभिवस्तिरुजा दाहो हृल्लेपः श्वयथुर्गुदे ।
कण्डूर्गण्डानि वैवर्ण्यमरतिर्वह्निमार्दवम् ॥ ३ ॥

जिसके शरीर का स्नेह और स्वेदन नहीं किया हो तथा गुरु कोष्ठ वाले में प्रयुक्त की हुई, शीतल, अल्पस्नेह, अल्पलवण, थोड़े द्रव्य के कल्क वाली, अथवा घट्ट वस्ति उस दोष को चलायमान करके, निर्बल होने के कारण बाहर न निकाल कर अयोग करती है, उससे वायु, मूत्र और मल का अवरोध होता है, नाभि और वस्ति में वेदना, दाह, हृदय का लेप, गुदा में शोथ, कण्डू, गण्ड, विवर्णता, बेचैनी तथा अग्निमान्द्य होता है।

क्वाथद्वयं प्राग्विहितं मध्यदोषेऽतिसारिणि ।
उष्णस्य तस्मादेकस्य तत्र पानं प्रशस्यते ॥ ४ ॥
फलवर्त्यस्तथा स्वेदाः कालं ज्ञात्वा विरेचनम् ।
बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान् ॥ ५ ॥
सुरादिमूत्रवान् वस्तिः सप्राक्पेष्यस्तमानयेत् ।

मध्य दोष वाले अतिसार के लिये पहले जो दो क्वाथ पाचन युगल क्वाथ कहे हैं। (भूतीकपिप्पल्यादि एक, बिल्व धनिकादि दूसरा), उनमें एक क्वाथ को गरम करके पीना उत्तम है। समय को देखकर फलवर्त्तियाँ, स्वेद तथा विरेचन देवे। बिल्वमूल, निशोथ, दारुहल्दी, जौ, बेर, कुलथी, इनके क्वाथ में सुरा, कांजी आदि अम्ल और गोमूत्र मिलाकर तथा बला, गुडूची आदि (अ० ४ श्लो० १) कल्क के साथ बनाई वस्ति को देकर उत्क्लिष्ट दोष को निकाले।

वस्ति में आध्मान-व्यापद्—

युक्तोऽल्पवीर्यो दोषाढ्ये रूक्षे क्रूराशयेऽथवा ॥ ६ ॥
वस्तिर्दोषावृतो रुद्धमार्गो रुन्ध्यात्समीरणम् ।
स विमार्गोऽनिलः कुर्यादाध्मानं मर्मपीडनम् ॥ ७ ॥
विदाहं गुदकोष्ठस्य मुष्कवङ्क्षणवेदनाम् ।
रुणद्धि हृदयं शूलैरितश्चेतश्च धावति ॥ ८ ॥

दोष की अधिकता में अथवा रूक्ष और क्रूरकोष्ठ व्यक्ति में दी हुई अल्पवीर्य वस्ति दोषों से आवृत होकर मार्ग के बन्द होने से वायु को रोक देती है। यह अवरुद्ध वायु विमार्ग में जाकर आध्मान, मर्म (हृदय, नाभि और वस्ति) में पीड़ा, गुदा और कोष्ठ में विदाह, मुष्क और वंक्षण में पीड़ा एवं शूलों से हृदय को रोक (घेर) कर इधर-उधर दौड़ती है।

वक्तव्य—अयोगज शिरोरुजा और वाहन तथा अतियोगज

अङ्गरुग् आदि चार व्यापदों का वर्णन संग्रह कल्पस्थान (अ० ६) में देखें।

स्वभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तत्र वर्ति प्रयोजयेत् ।
बिल्वादिश्च निरूहः स्यात्पीलुसर्षपमूत्रवान् ॥ ९ ॥
सरलामरदारुभ्यां साधितं चानुवासनम् ।

भली प्रकार अभ्यंग करके स्वेदन देकर इसमें फलवर्त्ति वरते। पीलु, सरसों और गोमूत्र युक्त बिल्वादि पंचमूल का निरूह देवे तथा सरलकाष्ठ और देवदारु से सिद्ध तैल का अनुवासन देना चाहिये।

ऊर्ध्ववात व्यापत्—

कुर्वतो वेगसंरोधं पीडितो वाऽतिमात्रया ॥ १० ॥
अस्निग्धलवणोष्णो वा वस्तिरल्पोऽल्पभेषजः ।
मृदुर्वा मारुतेनोर्ध्वं विक्षिप्तो मुखनासिकात् ॥ ११ ॥
निरेति मूर्च्छाहृल्लासतृड्दाहादीन् प्रवर्तयन् ।
मूर्च्छाविकारं दृष्ट्वाऽस्य सिञ्चेच्छीताम्बुना मुखम् ॥
व्यजेदाक्लमनाशाच्च प्राणायामं च कारयेत् ।
पृष्ठपार्श्वोदरं मृज्यात् करैरुष्णैरधोमुखम् ॥ १३ ॥
केशेषूत्क्षिप्य धुन्वीत भीषयेद्व्यालदंष्ट्रिभिः ।
शस्त्रोल्काराजपुरुषैर्वस्तिरेति तथा ह्यधः ॥ १४ ॥
पाणिवस्त्रैर्गलापीडं कुर्यान्न म्रियते यथा ।
प्राणोदाननिरोधाद्धि सुप्रसिद्धतरायनः ॥ १५ ॥
अपानः पवनो वस्ति तमाश्वेवापकर्षति ।
कुष्ठक्रमुककल्कं च पाययेताम्लसंयुतम् । १६ ॥
औष्ण्यात्तैक्ष्ण्यात्सरत्वाच्च वस्ति सोऽस्यानुलोमयेत् ।
गोमूत्रेण त्रिवृत्पथ्याकल्कं वाऽधोऽनुलोमनम् ॥१७॥
पक्वाशयस्थिते स्विन्ने निरूहो दाशमूलिकः ।
यवकोलकुलत्थैश्च विधेयो मूत्रसाधितैः ॥ १८ ॥
वस्तिर्गोमूत्रसिद्धैर्वा सामृतावंशपल्लवैः ।
पूतीकरञ्जत्वक्पत्रशटीदेवाह्वरोहिषैः ॥ १९ ॥
सतैलगुडसिन्धूत्थो विरेकौषधकल्कवान् ।
बिल्वादिपञ्चमूलेन सिद्धो वस्तिरुरःस्थिते ॥ २० ॥
शिरःस्थे नावनं धूमः प्रच्छाद्यं सर्षपः शिरः ।

वेग—उपस्थित मल-मूत्र के वेग को रोकने वाले पुरुष में या जो वस्ति बहुत जोर से दबाकर या अतिमात्रा में दी गई हो अथवा बिना स्नेह लवण के या ठंडी वस्ति अथवा मात्रा में अल्प या अल्प औषध वाली मृदु वस्ति दी गयी हो तो वह वस्ति वायु द्वारा ऊपर की ओर फेंकी जाकर मुख और नाक से निकलती है, इसके साथ रोगी को मूर्च्छा, जी मिचलाना, प्यास, दाह आदि होते हैं। चिकित्सा-रोगी में मूर्च्छा देखकर उसके मुख को ठण्डे जल से सींचे। थकान दूर होने तक पंखा करे, प्राणायाम करवाये (नाक और मुह दबाकर श्वास रोके)। रोगी को उदर के बल लिटाकर उष्ण हाथों से इसके पीठ, पार्श्व और उदर को मले। बालों को पकड़ कर हिलाये, हिंसक पशु-साँप आदि और दंष्ट्रा वाले पशु-व्याघ्रादि से तथा शस्त्र, उल्का या राजपुरुषों से डराये। इस प्रकार करने से वस्ति नीचे आ जाती है। हाथ या वस्त्रों से गले को इस प्रकार दबाये जिससे मरने न पाये। प्राण और उदान वायु का इस प्रकार से अवरोध होने से अति प्रसिद्ध स्थान वाली (गुदा और मेढ्रगत) अपान वायु उस वस्ति को शीघ्र ही खींच लेती है—ऊपर से नीचे ले आती है। कूठ और सुपारी, के कल्क को कांजी में मिला कर पिलाये, उष्ण, तीक्ष्ण और सर (मृदु विरेचक) होने से यह वस्ति का अनुलोमन करता है। अथवा निशोथ और हरड़ के कल्क को गोमूत्र के साथ देने पर नीचे को अनुलोमन होता है। दोष के पक्वाशय में स्थित होने पर स्वेदन देकर दशमूल से बना निरूह देना चाहिये। जौ, बेर और कुलथी से मूत्र में बनाई वस्ति देवे। अथवा बाँस के पत्ते और गिलोय, पूतिकरंज के पत्ते और छाल, कचूर, देवदारु, रोहिषघास, इनसे गोमूत्र में सिद्ध की हुई वस्ति में तैल, गुड़, सेन्धा नमक मिलाकर विरेचन औषधियों के कल्क के साथ वस्ति को देवे। दोष के छाती में स्थित होने पर बिल्वादि पंचमूल से सिद्ध वस्ति देवे। शिर में स्थित दोषमें नस्य और धूम देवे; शिर को सरसों के कल्क से ढांप देवे।

वस्ति का अतियोग—

वस्तिरत्युष्णतीक्ष्णाम्लघनोऽतिस्वेदितस्य वा ॥२१॥
अल्पे दोषे मृदौ कोष्ठे प्रयुक्तो वा पुनः पुनः ।
अतियोगत्वमापन्नो भवेत्कुक्षिरुजाकरः ॥ २२ ॥
विरेचनातियोगेन स तुल्याकृतिसाधन ।

अतिउष्ण, अतितीक्ष्ण, अम्ल, घट्ट वस्ति अथवा अतिशय स्वेद किये पुरुष में दी गई वस्ति, थोड़े दोष में मृदु कोष्ठ में अथवा बार बार प्रयुक्त वस्ति, वस्ति के अतियोग को उत्पन्न करके उदर में वेदना करती है। इसकी विरेचन के अतियोग के समान ही चिकित्सा करनी चाहिये। लक्षण भी उसी की भांति है।

परिस्रव व्यापत्—

वस्तिः क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णलवणैः पैत्तिकस्य वा ॥२३॥
गुदं दहँल्लिखन् क्षिण्वन् करोत्यस्य परिस्रवम् ।
स विदग्धं स्रवत्यस्रं वर्णैः पित्तं च भूरिभिः ॥ २४ ॥
बहुशश्चातिवेगेन मोहं गच्छति सोऽसकृत् ।
रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया तत्र प्रशस्यते ॥ २५ ॥
दाहादिषु त्रिवृत्कल्कं मृद्वीकावारिणा पिबेत् ।
तद्धि पित्तशकृद्वातान् हृत्वा दाहादिकाञ्जयेत् ॥२६॥
विशुद्धश्च पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम् ।
युञ्ज्याद्वाऽतिविरिक्तस्य क्षीणविट्कस्य भोजनम् ॥
माषयूषेण कुल्माषान् पानं दध्यथवा सुराम् ।
सिद्धिर्वस्त्यापदामेवम् —

क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण और लवण गुण वाली वस्ति और पित्तप्रकृति में दी हुई वस्ति गुदा को जलाती हुई लेखन करती है, गुदा में क्षरण करती हुई रोगी में परिस्रव करती है। इस पुरुष की गुदा से विदग्ध रक्त बहता है, बहुत बार अतिवेग के साथ बहुत वर्णों वाला पित्त बहता है। रोगी को बार-बार मोह हो जाता है। (इसे परिस्रव कहते हैं) और इस अवस्था में रक्तपित्त तथा अतिसार की नाशक क्रिया उत्तम है। दाह आदि में त्रिवृत् के कल्क को द्राक्षा आदि के पानी से पीये। क्योंकि यह पित्त, मल और वायु को निकाल कर दाह आदि को शान्त करता है। शोधन हो जाने पर शर्करा मिश्रित शीतल यवागू पिये। अथवा अति विरेचन हुए और क्षीण मल वाले पुरुष को कुल्माषों को माषयूष के साथ भोजन में देवे। दही या सुरा पीने के लिये देवे।

इस प्रकार निरूहवस्तियों की व्यापत्ति की चिकित्सा होती है।

—स्नेहवस्तेस्तु वक्ष्यते ॥ २८ ॥

स्नेहवस्ति-अनुवासन की व्यापद् को अब कहेंगे। स्नेहवस्ति-व्यापद् आठ होती हैं। यथा-'स्नेहवस्तौ मरुत्पित्तकफाभ्याशविडावृते। अभुक्तशूनपायवामदत्तेऽष्टौ व्यापदः स्मृताः ॥' (अ. सं-कल्प अ. ७)

वाताद्यावृत के कारण—

शीतोऽल्पो वाऽधिके वाते पित्तेऽत्युष्णः कफे मृदुः ।
अतिभुक्ते गुरुर्वर्चःसञ्चयेऽल्पबलस्तथा ॥ २९ ॥
दत्तस्तैरावृतः स्नेहो नायात्यभिभवादपि ।

अधिक वात में शीतल वस्ति, या अल्प वस्ति, पित्त में अति उष्ण वस्ति, कफ में मृदु वस्ति, अतिभोजन करने पर गुरु वस्ति, मल के सञ्चय में अल्प बलवाली वस्ति देने पर क्रमशः वायु, पित्त, कफ, भोजन और मल से आवृत मार्ग होने तथा इन्हीं से पराजित होने के कारण स्नेह वापिस नहीं आता।

वातावृत स्नेहवस्ति—

स्तम्भोरुसदनाध्मानज्वरशूलाङ्गमर्दनैः ॥ ३० ॥
पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्याद्वायुना स्नेहमावृतम् ।
स्निग्धाम्ललवणोष्णैस्तं रास्नापीतद्रुतैलिकैः ॥ ३१ ॥
सौवीरकसुराकोलकुलत्थयवसाधितैः ।
निरूहैर्निर्हरेत्सम्यक् समूत्रैः पाञ्चमूलिकैः । ३२ ॥
ताभ्यामेव च तैलाभ्यां सायं भुक्तेऽनुवासयेत् ।

स्तम्भ, ऊरु की शिथिलता, आध्मान, ज्वर, शूल, अंगों की टूटना, पार्श्वशूल और ऐंठन होते देखकर स्नेह को वायु से आवृत हुआ जाने। इसमें-स्निग्ध, अम्ल, लवण और उष्ण वस्तियोंमें-रास्ना तैल और पीतद्रु (दार्वी) से सिद्ध तैल को मिलाकर, सौवीरकांजी, सुरा, बेर, कुलथी, जौ से बनाई गोमूत्रमिश्रित तथा पञ्चकोलयुक्त निरूहवस्ति देकर दोषों को निकाले। इन्हीं रास्ना और पीतद्रु के तैलों से सायंकाल भोजन पीछे अनुवासन देवे।

पित्तावृत स्नेहवस्ति—

तृडदाहरागसम्मोहवैवर्ण्यतमकज्वरैः ॥ ३३ ॥
विद्यात्पित्तावृतं स्वादुतिक्तैस्तं वस्तिभिर्हरेत् ।

प्यास, दाह, सुर्खी, सम्मोह, विवर्णता, तमक (श्वास या आंखों के सामने अन्धेरा) और ज्वर देखकर वस्ति को पित्त से आवृत समझे। इसमें मधुर और तिक्त वस्तियों से दोष को निकाले।

कफावृत स्नेहवस्ति—

तन्द्राशीतज्वरालस्यप्रसेकारुचिगौरवैः ॥ ३४ ॥
सम्मूर्च्छाग्लानिभिर्विद्याच्छ्लेष्मणा स्नेहमावृतम् ।
कषायतिक्तकटुकैः सुरामूत्रोपसाधितैः ॥ ३५ ॥
फलतैलयुतैः साम्लैर्वस्तिभिस्तं विनिर्हरेत् ।

तन्द्रा, शीतज्वर, आलस्य, लालाप्रसेक, अरुचि, भारीपन, मूर्च्छा और ग्लानि होती देखकर वस्ति को कफ से आवृत जाने। इसमें कषाय, कटु, तिक्त द्रव्य, सुरा और मूत्र से बनाई; मैनफल और तैल से मिश्रित एवं अम्ल से युक्त वस्तियों से दोष को निकाले।

अत्यशनावृत स्नेहवस्ति—

छर्दिमूर्च्छाऽरुचिग्लानिशूलनिद्राऽङ्गमर्दनैः ॥ ३६ ॥
आमलिङ्गैः सदाहैस्तं विद्यादत्यशनावृतम् ।
कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम् ॥ ३७ ॥
मृदुर्विरेकः सर्वं च तत्रामविहितं हितम् ।

वमन, मूर्च्छा, अरुचि, ग्लानि, शूल, निद्रा, अंगों का टूटना, आम के लक्षण (आलस्य आदि) और दाह होने से वस्ति को अति भोजन से आवृत जाने। इसको कटु और लवण द्रव्यों के क्वाथों से तथा चूर्णों से पाचन करना उत्तम है। मृदु विरेचन तथा आम की सम्पूर्ण चिकित्सा हितकारी है।

पुरीषावृत स्नेहवस्ति—

विण्मूत्रानिलसङ्गार्तिगुरुत्वाध्मानहृद्ग्रहैः ॥ ३८ ॥
स्नेहं विडावृतं ज्ञात्वा स्नेहस्वेदैः सवर्तिभिः ।
श्यामाबिल्वादिसिद्धैश्च निरूहैः सानुवासनैः ॥ ३९ ॥
निर्हरेद्विधिना सम्यगुदावर्तहरेण च ।

मल, मूत्र और वायु का अवरोध, पीड़ा, भारीपन, आध्मान और हृद्ग्रह देखकर स्नेह को मल से आवृत जाने। इस मल को स्नेहन, स्वेदन, फलवर्त्तियों, निशोथ-बिल्वादि से सिद्ध निरूह और अनुवासनों से तथा उदावर्त्तनाशक विधि से भली प्रकार निकाले।

अभुक्त एवं गुदशोथ में स्नेहवस्ति—

अभुक्ते शूनपायौ वा पेयामात्राशितस्य वा ॥ ४० ॥
गुदे प्रणिहितः स्नेहो वेगाद्धावत्यनावृतः ।
ऊर्ध्वं कायं ततः कण्ठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य एत्यपि ॥४१॥
मूत्रश्यामात्रिवृत्सिद्धो यवकोलकुलत्थवान् ।
तत्सिद्धतैलो देयः स्यान्निरूहः सानुवासनः ॥ ४२ ॥

कण्ठादागच्छतः स्तम्भकण्ठग्रहविरेचनैः ।
छर्दिघ्नीभिः क्रियाभिश्च तस्य कुर्यान्निबर्हणम् ॥ ४३ ॥

बिना भोजन किये या गुदा में शोथ होने पर अथवा केवल पेया का ही भोजन करने पर गुदा में दिया हुआ स्नेह रुकावट न होने से वेग के साथ ऊपर की ओर शरीर में दौड़ता है। इससे गले के ऊपर के छिद्रों (मुख-नाक आदि) से स्नेह बाहर आता है। इसमें गोमूत्र, श्यामा, निशोथ, जौ, बेर और कुलथी के क्वाथ से सिद्ध तैल, निरुह और अनुवासन देना चाहिये।

गले से आते हुए स्नेह को गला पकड़कर और विरेचन तथा वमननाशक उपायों से रोकना चाहिये।

आमदत्त स्नेह—

नापक्वं प्रणयेत्स्नेहं गुदं स ह्युपलिम्पति ।
ततः कुर्यात्सरुङ्मोहकण्डूशोफान् क्रियाऽत्र च ॥
तीक्ष्णो वस्तिस्तथा तैलमर्कपत्त्ररसे शृतम् ।

अनुवासन में अपक्व तैल नहीं देना चाहिये, यह तैल गुदा को लिप्त कर देता है। इससे वेदना, मोह, कण्डू, शोफ आदि होते हैं। इसमें तीक्ष्ण वस्तियां तथा आक के पत्तों से पकाया तैल वस्ति में देवे।

प्रणयनदोष-वायुयुक्तवस्ति—

अनुच्छ्वास्य तु बद्धे वा दत्ते निःशेष एव वा ॥ ४५ ॥
प्रविश्य क्षुभितो वायुः शूलतोदकरो भवेत् ।
तत्राभ्यङ्गो गुदे स्वेदो वातघ्नान्यशनानि च ॥ ४६ ॥

वायु निकाले बिना वस्ति को बांधने पर अथवा सम्पूर्ण वस्ति देने से वायु कोष्ठ में पहुँच कर क्षुभित होकर शूल और तोद उत्पन्न करती है। इसमें अभ्यङ्ग, गुदा में स्वेद और वातनाशक भोजन देवे।

अतिशीघ्र और उत्क्षिप्त वस्ति—

द्रुतं प्रणीते निष्कृष्टे सहसोत्क्षिप्त एव वा ।
स्यात् कटीगुदजङ्घोरुवस्तिस्तम्भार्तिभेदनम् ॥ ४७ ॥
भोजनं तत्र वातघ्नं स्वेदाभ्यङ्गाः सवस्तयः ।

वस्ति को जल्दी से देने पर, जल्दी से निकालने पर तथा एक दम से ऊपर की ओर प्रविष्ट करने पर कटि, गुदा, जंघा, ऊरु और वस्ति में स्तम्भ, पीड़ा और भेदन होता है। इसमें वातनाशक भोजन, स्वेद, अभ्यङ्ग और (वातहर) वस्तियाँ उत्तम हैं।

पीड्यमान वस्ति का खुलना—

पीड्यमानेऽन्तरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिलः ॥ ४८ ॥
उरः शिरोरुजं सादमूर्वोश्च जनयेद्बली ।
वस्तिः स्यात्तत्र बिल्वादिफलश्यामादिमूत्रवान् ॥४९॥

वस्ति देते हुये बीच में ही वस्ति के (नेत्रबंधन) खुल जाने पर गुदा में प्रविष्ट वायु उर और शिर में वेदना, टाँग, में शिथिलता उत्पन्न करती है। इसमें बिल्वादि पंचमूलों, मैनफल, श्यामादि से युक्त मूत्रमिश्रित वस्तियाँ उत्तम हैं।

अतिप्रपीडित वस्ति—

अतिप्रपीडितः कोष्ठे तिष्ठत्यायाति वा गलम् ।
तत्र वस्तिर्विरेकश्च गलपीडादि कर्म च ॥५०॥

वस्तिपुटक को जोर से दबाने पर वस्ति कोष्ठ में रह जाती है, या गले में आ जाती है। इसमें वस्ति, विरेचन, गले को दबाना आदि कार्य करने चाहिये।

वक्तव्य— वस्ति-प्रणयन में कम्पन, नेत्रातिप्रवेश, मृदु और बाह्य प्रणयन यह चार दोष और उनकी चिकित्सा भी संग्रह (कल्प अ. ७) में देखें।

वमनादि से शोधन के बाद सावधानी--

वमनाद्यैर्विशुद्धं च क्षामदेहबलानलम् ।
यथाऽण्डं तरुणं पूर्णं तैलपात्रं यथा तथा ॥ ५१ ॥
भिषक्प्रयत्नतो रक्षेत्सर्वस्मादपचारतः ।

वमन-विरेचन से शुद्ध, क्षीण शरीर, क्षीण बल और क्षीण अग्नि वाले पुरुष की वैद्य सब प्रकार के अपचारों से नूतन उत्पन्न अण्डे की भांति या तैल से भरे पात्र की भांति प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे।

दद्यान्मधुरहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ ॥ ५२ ॥
स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः ।
अन्योन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः ॥ ५३ ॥
व्यत्यासादुपयोगेन क्रमात्तं प्रकृतिं नयेत् ।
सर्वसहः स्थिरबलो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः ॥ ५४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां पञ्चमे कल्पसिद्धिस्थाने
वस्तिव्यापत्सिद्धिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥२१॥

प्रथम मधुर और हृद्य वस्तु देवे, पीछे अम्ल तथा लवण रस देवे और फिर मधुर, तिक्त, अन्त में कटु और कषाय रस देवे। परस्पर प्रतिपक्षी रसों के विपर्य्यय रूप में प्रयोग करने से तथा स्निग्ध एवं रूक्ष का एक के बाद दूसरे का प्रयोग करने से वमनादि से शुद्ध पुरुष को उसकी अभ्यस्त प्रकृति पर ले आना चाहिये। जब रोगी सब कुछ सहने लगे, स्थिर बल वाला हो जाय, तब उसे अपने स्वाभाविक रूप में आया हुआ जाने।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में कल्पस्थान का बस्तिव्यापत्
सिद्धि नामक पाँचवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातो द्रव्यकल्पं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे द्रव्य कल्प का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उत्तम भेषज के लक्षण—

धन्वे साधारणे देशे समे सन्मृत्तिके शुचौ।
श्मशानचैत्यायतनश्वभ्रवल्मीकवर्जिते ॥ १ ॥
मृदौ प्रदक्षिणजले कुशरोहिषसंस्तृते ।
अफालकृष्टेऽनाक्रान्ते पादपैर्बलवत्तरैः ॥ २ ॥
शस्यते भेषजं जातं, युक्तं वर्णरसादिभिः ।
जन्त्ववजग्धं दवादग्धमविदग्धं च वैकृतैः ॥ ३ ॥
भूतैश्छायातपाम्ब्वाद्यैर्यथाकालं च सेवितम् ।
अवगाढमहामूलमुदीचीं दिशमाश्रितम् ॥ ४ ॥

जांगल या साधारण देश में, समान (ऊँच-नीचरहित), उत्तम मिट्टी वाले, पवित्र स्थान में, श्मशान, चैत्य, वधभूमि, गड्ढे, वल्मीक (बांबी) से रहित स्थान की, कोमल मिट्टी की, अनुकूल जलवर्ती, कुशा और रोहिष घास से भरी, जिसमें हल न चला हो ऐसी बलवान वृक्षों से अनुपहत भूमि में उत्पन्न तथा वर्ण एवं रस आदि से युक्त औषध प्रशस्त है। जो औषध कीड़ों से खाई और जंगली आग से जली न हो तथा विकृत भूतों से (पृथ्वी, जल,तेज, वायु,आकाश भूतों की विकृति से) अविदग्ध, समयानुकूल छाया, धूप, जल आदि से सेवित, परिपुष्ट, गहरी गई हुई, विस्तृत मूल वाली तथा उत्तर दिशा में स्थित हो, उस औषध को ग्रहण करे।

औषध लाने की प्रक्रिया—

(महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि ।
तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै ॥ १ ॥
मन्त्रेणानेन मतिमान् सर्वमप्यौषधं नयेत्)
अथ कल्याणचरितः श्राद्धः शुचिरुपोषितः ।
गृह्णीयादौषधं सुस्थं स्थितं काले च कल्पयेत् ॥ ५ ॥
सक्षीरं तदसम्पत्तावनतिक्रान्तवत्सरम् ।
ऋते गुडघृतक्षौद्रधान्यकृष्णाविडङ्गतः ॥ ६ ॥
पयो बाष्कयणं ग्राह्यं विण्मूत्रं तच्च नीरुजाम् ।
वयोबलवतां धातुपिच्छशृङ्गखुरादिकम् ॥ ७ ॥

(महेन्द्र, राम, कृष्ण ब्राह्मण और गायों के तप अथवा तेज से कल्याण के लिए तुम शान्त हो। इस अर्थवाले मन्त्र से बुद्धिमान् पुरुष सभी औषधियों को लाए)।

इसके उपरान्त स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ करके श्रद्धा के साथ स्नानादि से शुद्ध होकर; उपवास करके सुस्थ (स्वस्थ) हो सक्षीर (आर्द्र-गीली) औषध को समय पर लाए। दूध या आर्द्रता न होने पर एक साल के अन्दर की औषध लावे। अपवाद—गुड, घी, मधु, धान्य (गेहूँ-चावल आदि), पिप्पली और विडंग; इन्हें छोड़कर ले (ये पुराने उत्तम हैं)। दूध कुछ दिन की ब्याई गाय का (बकेना) लेना चाहिए। मल तथा मूत्र नीरोगी गाय के, वय (युवा) और बलवाले के रक्तादि धातु, पिच्छ (पत्र-समूह, यथा-मोर के), सींग तथा खुर आदि लेने चाहिए।

कषाययोनि पंचरस—

कषाययोनयः पञ्च रसा लवणवर्जिताः ।
रसः कल्कः शृतः शीतः फाण्टश्चेति प्रकल्पना ॥ ८ ॥
पञ्चधैवं कषायाणां पूर्वं पूर्वं बलाधिका ।

कषाय के उत्पत्ति स्थान (उत्पादन द्रव्य) लवण को छोड़ कर शेष मधुरादि पांच रस हैं। इनसे स्वरस, कल्क, शृत, शीत और फाण्ट; ये पांच कल्पनायें होती हैं। इन कल्पनाओं में पूर्व-पूर्व में शक्ति की अधिकता रहती है। (फाण्ट से बलवान शीत, शीत से बलवान शृत, शृत से कल्क और कल्क से स्वरस बल में अधिक होती है)।

वक्तव्य—'कल्पनावशातः पञ्चानां रसानां कषायसंज्ञाव्यवहारः। लवणस्य कल्पनायोगाभावात् ॥' (च० सू० अ० ४।६।) सदा ही शुष्क रहने से लवण में स्वरस-कल्पना नहीं हो सकती, इस में कल्क की कल्पना भी नहीं होती, क्योंकि यह घुल जाता है। पानी में घुल जाने से शृत कल्पना भी नहीं होती।

तन्त्रान्तर में—'रसः काथो हिमः फाण्टः कल्कश्चूर्णं विवर्तिका। लेहः स्नेहोऽथ संधानं दशैता द्रव्यकल्पनाः ॥' कहा है।

स्वरस आदि के लक्षण—

सद्यः समुद्धृतात्क्षुण्णाद्यः स्रवेत्पटपीडितात् ॥ ९ ॥
स्वरसः स समुद्दिष्टः, कल्कः पिष्टो द्रवाप्लुतः ।
चूर्णोऽप्लुतः, शृतः काथः, शीतो रात्रिं द्रवे स्थितः ॥
सद्योऽभिषुतपूतस्तु फाण्टः—

भूमि में से तुरन्त उखाड़े हुए औषध को कूट-पीस कर वस्त्र में डालकर दबाने से जो रस निकलता है, उसको 'स्वरस कल्पना' कहते हैं।

द्रव से गीली करके पीसी हुई औषध को 'कल्क' कहते हैं। जिस (शुष्क) द्रव्य को पानी से बिना गीला किये पीसा जाता है, वह 'चूर्ण' है, यह भी कल्क का ही भेद है।

जो द्रव्य द्रव में भिगोकर पकाया जाये, वह कषाय कल्पना में 'क्वाथ' कहा जाता है।

जो द्रव्य द्रव में सारी रात भीगा रहे, वह कषाय कल्पना में 'शीत' कहा जाता है।

जो द्रव्य द्रव में थोड़ी देर डालकर मृदु होने पर तुरन्त छान लिया जाता है, वह 'फाण्ट है।

वक्तव्य—प्रायः गरम पानी में फांट बनाते हैं, यथा—'उष्णाम्भसि क्षुण्णाभिषुतपूतं फाण्टः' संग्रह क. अ. ८।

उक्त स्वरसादि की योजना—

—तन्मानकल्पने ।
गुर्व्व्याध्यादिबलतस्तथा च वचनं मुनेः ॥ ११ ॥
मात्राया न व्यवस्थाऽस्ति व्याधिं कोष्ठं बलं वयः ।
आलोच्य देशकालौ च योज्या तद्वच्च कल्पना ॥ १२ ॥

इन स्वरस आदि का परिमाण और कल्पना रोग आदि के

बल के अनुसार करनी चाहिये, यथा-आत्रेय का वचन है-'मात्रा के लिये कोई नियम नहीं है, रोग, कोष्ठ, बल, वय, देश और काल की विवेचना करके मात्रा तथा कल्पना का निश्चय करना चाहिये।'

स्वरस और कल्कादि का मध्यम मान—

मध्यं तु मानं निर्दिष्टं स्वरसस्य चतुष्पलम् ।
पेष्यस्य कर्षमालोड्यं तद् द्रवस्य पलत्रये ॥ १३ ॥

स्वरस की मध्यम मात्रा चार पल की है, चूर्ण या कल्क की एक कर्ष मात्रा को तीन पल द्रव में घोलना चाहिये, यह कल्क की मध्यम मात्रा है।

क्वाथ, शीतकषाय, फांट तथा स्नेहपाक का प्रमाण—

क्वाथं द्रव्यपले कुर्यात्प्रस्थार्धं पादशेषितम् ।
शीतं पले पलैः षड्भिश्चतुर्भिस्तु ततोऽपरम् ॥१४॥

क्वाथ के लिये द्रव्य को एक पल लेकर आधे प्रस्थ पानी में क्वाथ करके चतुर्थांश पचाना चाहिये। शीतकल्पना में एक पल द्रव्य को छः पल द्रव में भिगोकर शीतकल्पना करे। फाण्टकल्पना में एक पल द्रव्य को चार पल द्रव में मथकर फाण्ट बनाये। यह सबकी मध्यम मात्रा है।

स्नेहपाके त्वमानोक्तौ चतुर्गुणविवर्धितम् ।
कल्कस्नेहद्रवं योज्यम्—

स्नेहपाक करने में कल्क, स्नेह और द्रव का मान जहाँ पर न कहा गया हो, वहां चौगुना करते हुए कल्क, स्नेह और द्रव लेना चाहिये। कल्क से स्नेह चार गुणा, स्नेह से द्रव चार गुणा। (जहाँ पाँच या अधिक द्रव हों, वहाँ प्रत्येक द्रव स्नेह के बराबर होना चाहिये।)

उपर्युक्त में शौनक का मत—

—अभीते शौनकः पुनः ॥ १५ ॥
स्नेहे सिद्ध्यति शुद्धाम्बुनिःक्वाथस्वरसैः क्रमात् ।
कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥ १६ ॥
पृथक् स्नेहसमं दद्यात्पञ्चप्रभृति तु द्रवम् ।

शौनक अन्य रूप में कहते हैं—शुद्ध पानी में, क्वाथ में और स्वरस में स्नेह का पाक होता है। तो इनमें कल्क का परिमाण क्रमशः—चतुर्थांश, षष्ठांश और अष्टमांश होना चाहिये।

जहां पर चार से अधिक द्रव हों, वहां प्रत्येक द्रव स्नेह के बराबर लेना चाहिये। और जहां पर चार या चार से कम हों, वहां सब मिलकर स्नेह से चौगुने, परन्तु परस्पर बराबर लेने चाहिये)।

स्नेह तथा लेहपाक के लक्षण—

नाङ्गुलिग्राहिका कल्के न स्नेहेऽग्नौ सशब्दता ॥१७॥
वर्णादिसम्पच्च यदा तदैनं शीघ्रमाहरेत् ।
घृतस्य फेनोपशमस्तैलस्य तु तदुद्भवः ॥ १८ ॥
लेहस्य तन्तुमत्ताऽप्सु मज्जनं सरणं न च ।

पक्व लक्षण—जब कल्क अंगुली पर न चिपटे अग्नि में स्नेह के डालने पर चट-चट शब्द न हो, स्नेह में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श उत्पन्न हो जाये, तब इस तैल पात्र को तुरन्त अग्नि पर से उतार लेवे। घृत में झाग का बन्द होना और तैल में झाग का उत्पन्न होना स्नेहपाक का लक्षण है।

अवलेह पाक—लेह में तन्तु (तार) की उत्पत्ति (अंगूठे-अंगुली से मलने पर तार होना), लेह का पानी में डूब जाना और पानी में एक स्थान पर पड़े रहना-हिलना या फैलना नहीं, यह लेहपाक की परीक्षा है।

स्नेहपाक के तीन भेद—

पाकस्तु त्रिविधो मन्दश्चिक्कणः खरचिक्कणः ॥ १९ ॥
मन्दः कल्कसमे किट्टे चिक्कणो मदनोपमे ।
किञ्चित्सीदति कृष्णे च वर्त्यमाने च पश्चिमः ॥२०॥
दग्धोऽत ऊर्ध्वं निष्कार्यः स्यादामस्त्वग्निसादकृत् ।
मृदुर्नस्ये, खरोऽभ्यङ्गे, पाने बस्तौ च चिक्कणः ॥२१॥

पाक तीन प्रकार का है-मन्द, चिक्कण और खर चिक्कण। जिस स्नेहपाक में किट्ट कल्क के समान अङ्गुलि पर न चिपटे वह मन्दपाक है। और जो किट्ट अंगुलि पर चिपट जाये, वह चिक्कणपाक है, जो मदन-मोम के समान होता है, बत्ती बनाते समय जो किट्ट कुछ टूटता है और रंग में काला हो जाता है, वह खरचिक्कण है। इससे आगे दग्ध हुआ कल्क होता है, यह निष्फल है। मन्द से हीन आम है, यह अग्निमान्द्य करता है।

मन्दपाक स्नेह नस्य में, खरस्नेह अभ्यंग में तथा चिक्कण, स्नेह पान और बस्ति में बरतना चाहिये।

मान-संज्ञा—

शाणं पाणितलं मुष्टिं कुडवं प्रस्थमाढकम् ।
द्रोणं वहं च क्रमशो विजानीयाच्चतुर्गुणम् ॥ २२ ॥

शाण, पाणितल, मुष्टि, कुडव, प्रस्थ, आढक, द्रोण और वह; ये क्रमशः चौगुने होते हैं।

कच्चे सूखे द्रव्यों का मान—

द्विगुणं योजयेदार्द्रं कुडवादि तथा द्रवम् ।

आर्द्र द्रव्य को शुष्क द्रव्य से दुगुना मिलाना चाहिये। एक ही प्रयोग में शुष्क एवं द्रव द्रव्य समान परिमाण में हों। तो शुष्क द्रव्य से द्रव द्रव्य कुडवादि कथित परिमाण से दुगुना करके मिलाना चाहिये।

वक्तव्य—अपवाद-वासाकुटजकुष्माण्डशतपुष्पासहाचराः। नित्यमार्द्राः प्रयोक्तव्या मानतो द्विगुणा न ते ॥' इस विषय में रसयोगसागर भाग २ तथा द्रव्यगुणविज्ञान भाग २ अथवा शार्ङ्गधरसंहिता या परिभाषाप्रदीप को देखना अधिक उत्तम है।

अनुक्त द्रव में जल—

पेषणालोडने वारि स्नेहपाके च निर्द्रवे ॥ २३ ॥

पेषण और आलोडन के लिये तथा जहाँ स्नेहपाक में कोई द्रव न कहा हो, वहाँ पानी को ही बरते।

अनुक्त परिमाण में समभागत्व—

कल्पयेत्सदृशान् भागान् प्रमाणं यत्र नोदितम् ।
कल्कीकुर्याच्च भैषज्यमनिरूपितकल्पनम् ॥२४॥
अत्रानुक्तौ तु मूलं स्यादप्रसिद्धौ तदेव तु ।

प्रयोग में जहाँ द्रव्यों का परिमाण न कहा हो, वहां पर द्रव्यों का तुल्य परिमाण समझना चाहिये। किसी कल्पना का उल्लेख न हो तो कल्क ही लेना चाहिये। अंग के न कहने पर मूल लेना चाहिये। (त्वचादि में जो न कहा हो तो मूल ही बरतना चाहिये)। जो वस्तु अप्रसिद्ध हो उसका मूल लेना चाहिये।

वक्तव्य—संग्रह में-'अनिर्दिष्टाप्रसिद्धेषु मूलं ग्राह्यं त्वगादिषु।'

(षड्वंश्यस्तु मरीची स्यात्, षण्मरीच्यस्तु सर्षपः।
तण्डुलः सर्षपास्त्वष्टौ, धान्यमाषस्तु तौ, यवः ॥१॥
तावण्डिका चतुर्भिस्तैर्माषकः शाणकस्तथा।)

(छः वंशी की एक मरीची होती है, छः मरीची की एक सरसों, आठ सरसों का एक तण्डुल, दो तण्डुल का एक धान्यमाष (उड़द), दो धान्यमाष का एक यव और दो यव की एक अण्डिका, चार अण्डिका का एक माषा और चार माषक का एक शाण होता है)।

वटकादि की संज्ञा—

द्वौ शाणौ वटकः कोलं बदरं द्रंक्षणश्च, तौ ॥ २५ ॥
अक्षं पिचुः पाणितलं सुवर्णं कवलग्रहः।
कर्षो विडालपदकं तिन्दुकः पाणिमानिका ॥ २६ ॥
शब्दान्यत्वमभिन्नेऽर्थे शुक्तिरष्टमिका पिचुः।
पलं प्रकुञ्चो बिल्वं च मुष्टिराम्रं चतुर्थिका ॥ २७ ॥
द्वे पले प्रसृतस्तौ द्वावञ्जलिस्तौ तु मानिका।
आढकं भाजनं कंसो, द्रोणः कुम्भो घटोऽर्मणम् ॥२८॥
तुला पलशतं तानि विंशतिर्भार उच्यते।

दो शाण का एक वटक, इसीको कोल, बदर या द्रंक्षण कहते हैं। दो द्रंक्षण का एक अक्ष, इसी को पिचु, पाणितल, सुवर्ण, कवलग्रह, कर्ष, विडालपदक, तिन्दुक और पाणिमानिका, ये शब्द एक ही अर्थ को कहते हैं। दो पिचु की एक शुक्ति; इसी को अष्टमिका कहते हैं। दो शुक्ति की एक पल, प्रकुंच, बिल्व, मुष्टि, आम्र और चतुर्थिका कहते हैं। दो पल का एक प्रसृत, दो प्रसृत का एक अञ्जलि (कुडव), दो अञ्जलि की एक मानिका होती है, (दो मानिका को प्रस्थ और चार प्रस्थ को) आढक, भाजन या कंस कहते हैं। चार आढक को एक द्रोण, कुम्भ, घट, अर्मण, (चार द्रोण का एक वह) और एक सौ पल की तुला होती है। बीस तुला का एक भार होता है। (चतुर्गुणवृद्ध्याऽण्डिका-माषक-शाण-कर्ष-पल-कुडव-प्रस्थाढक-द्रोण-वहाः।)

वक्तव्य—द्रव्यगुणविज्ञान में पूज्य श्री यादवजी महाराज ने जो मान दिया है, वह यह है—

१ राई	१ सरसो
२ सरसो	१ गौरसर्षप
४ गौरसर्षप	१ तण्डुल
२ तण्डुल	१ धान्यमाष (उड़द) या जौ
२ जौ	१ रत्ती
२ रत्ती	१ अण्डिका-निष्पाव
६ रत्ती	१ सुवर्णमाष-(माशा)
४ सुवर्णमाष	१ शाण (चांदी की चवन्नी)
२ शाण	१ द्रंक्षण (चांदी की अठन्नी)
२ द्रंक्षण	१ कर्ष-(१ रुपये भर १ तोला)
२ कर्ष	१ शुक्ति (२ तोला)
२ शुक्ति	१ पल (४ तोला)
२ पल	१ प्रसृति (८ तोला)
२ प्रसृति	१ कुडव
२ कुडव -	१ मानिका शराव (३२ तोला)
२ मानिका	१ प्रस्थ (६४ तोला)
४ प्रस्थ	१ आढक (२५६ तोला)
२ आढक	१ कंस (५१२ तोला)
४ आढक	१ द्रोण (१०२४ तोला)
२ द्रोण	१ शूर्प (२०४८ तोला)
२ शूर्प-१६ आढक	१ वाह गोणी-(४०९६ तोला)
४ वाह	१ खारी (१६३८४ तोला)
२००० पल	१ भार (८००० तोला)
१०० पल	१ तुला (४०० तोला)

पर्वतभेद से द्रव्य गुण—

हिमवद्विन्ध्यशैलाभ्यां प्रायो व्याप्ता वसुन्धरा ॥२९॥
सौम्यं पथ्यं च तत्राद्यमाग्नेयं वैन्ध्यमौषधम् ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां पञ्चमे कल्पसिद्धिस्थाने
द्रव्यकल्प नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

हिमालय और विन्ध्यपर्वत से पृथ्वी प्रायः व्याप्त है। इनमें हिमालय की औषधियां सौम्य और पथ्य हैं। विन्ध्याचल की औषधियां आग्नेय हैं।

वक्तव्य - उत्तर भाग में हिमालय और दक्षिण भाग में विन्ध्याचल है। सौम्य-शीतल, पथ्य-हितकारी। इसलिए उत्तर दिशा की सब औषधियां सौम्य और पथ्य होती हैं। दक्षिण की औषधियां अग्निगुण की अधिकता वाली होती हैं।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में कल्पसिद्धि स्थान का द्रव्यकल्प नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

⁂

कल्पसिद्धिस्थान समाप्त।

⁂

अथ उत्तरस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो बालोपचरणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे बालोपचरणीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

वक्तव्य--उत्तरस्थान—काय और शल्य अंगों को पहले कहकर जो शेष रह गया, उसे कहने के लिये यह स्थान है। काश्यपसंहिता में 'खिलस्थान' करके अपने विषय से अवशिष्ट, परन्तु उपयोगी विषय का वर्णन किया है। सुश्रुतसंहिता में शल्य तन्त्र के मुख्य भाग से बचे भाग—ज्वर, रक्तपित्त आदि कायचिकित्सा को उत्तर तन्त्र में पीछे से कहा है। इसी के लिये आजकल 'परिशिष्ट' शब्द प्रयुक्त होता है।

सद्यःप्रसूत शिशु का शोधन—

जातमात्रं विशोध्योल्बाद्बालं सैन्धवसर्पिषा ।
प्रसूतिक्लेशितं चानु बलातैलेन सेचयेत् ॥ १ ॥
अश्मनोर्वादनं चास्य कर्णमूले समाचरेत् ।
अथास्य दक्षिणे कर्णे मन्त्रमुच्चारयेदिमम् ॥ २ ॥

उत्पन्न हुए बालक के उल्ब को सैन्धव और घी से साफ करके पीछे से प्रसव-क्लेश से पीड़ित बालक के शरीर पर बलातैल मले। इस बालक के कानों की जड़ में दो पत्थरों को बजाये। पीछे से इसके दक्षिण कानमें नीचे का मंत्र बोले।

वक्तव्य—उल्ब का अर्थ जरायु या अपरा है, यथा-'वेष्टितो जायते येन शिशुरुल्बः स कीर्तितः।' यहां पर शरीर पर घी और नमक नहीं लगाना। अपितु उल्ब का अर्थ कफ करके व्याप्त मुख से कफ निकालने के लिये घी और नमक चटाये। इसीलिये सुश्रुत में-'अथ जातस्योल्बमपनीय मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य' यह पाठान्तर है। वाग्भट ने जिस पर यह लिखा है, उसका आधार 'अथ जातस्योल्बं मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्यम्-'यह पाठ उपलब्ध सुश्रुत का है। चरक में तो शीतल या उष्ण पानी से स्नान करना लिखा है। इस लिए घी और सैन्धव वमन कराने के लिये—कफ को निकालने के लिये ही वरते जाते हैं, न कि शरीर पर मलने के लिये।

शिशु के कान में पढ़ने का मन्त्र—

'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादभिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामाऽसि सञ्जीव शरदां शतम् ॥ ३ ॥
शतायुः शतवर्षोऽसि दीर्घमायुरवाप्नुहि ।
नक्षत्राणि दिशो रात्रिरहश्च त्वाऽभिरक्षतु' ॥ ४ ॥

मन्त्र का अर्थ—'तू एक-एक अंग से उत्पन्न होता है, हृदय से उत्पन्न होता है। आत्मा का ही दूसरा नाम पुत्र है, वह तू एक सौ शरद (साल) जीवो। तू सौ साल की आयु वाला होवो, तू सौ वर्ष का है, लम्बी आयु प्राप्त कर। नक्षत्र, दिशायें, रात्रि और दिन तेरी रक्षा करें।' (मन्त्र ऊपर दिया गया है)।

सद्यःप्रसूत शिशु का नालच्छेदन—

स्वस्थीभूतस्य नाभिं च सूत्रेण चतुरङ्गुलात् ।
बद्ध्वोर्ध्वं वर्धयित्वा च ग्रीवायामवसञ्जयेत् ॥ ५ ॥
नाभिं च कुष्ठतैलेन सेचयेत्स्नापयेदनु ।
क्षीरिवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन वा ॥ ६ ॥
कोष्णेन तप्तरजततपनीयनिमज्जनैः ।

बच्चे को (आश्वासित करके) स्वस्थ होने पर इसकी नाभि (नाल) को चार अङ्गुल ऊपर से बांधकर काट देवे। इस बचे हुए भाग को (धागे से बाँधकर) ग्रीवा में लटका दें। और नाभि पर कुष्ठतैल का परिषेक करे। पीछे से बरगद, गूलर, पिलखन और पीपल आदि क्षीरिवृक्षों के अथवा सर्व गन्धोदक (एलादि गण) के सुहाते हुए गरम क्वाथ से स्नान कराये, अथवा सोना या चांदी को खूब गरम करके पानी में बुझावे। इस पानी से बच्चे को स्नान कराये।

वक्तव्य—'कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन यथाकालं यथादोषं यथाविभवं च ॥' (सु० शा० अ० १०।१३)।

तालून्नमनावगुण्ठनविधि—

ततो दक्षिणतर्जन्या तालून्नम्यावगुण्ठयेत् ॥ ७ ॥
शिरसि स्नेहपिचुना प्राश्यं चास्य प्रयोजयेत् ।
हरेणुमात्रं मेधाऽऽयुर्बलार्थमभिमन्त्रितम् ॥ ८ ॥
ऐन्द्रीब्राह्मीवचाशङ्खपुष्पीकल्कं घृतं मधु ।

इसके पीछे दक्षिण हाथ की तर्जनी से तालु को ऊँचा उठा कर तैल के फोये को सिर पर रख देवे। इस बालक की मेधा, आयु तथा बल के लिये ऐन्द्री, ब्राह्मी, वच, शंखपुष्पी; इनके कल्क को घी और मधु में मिलाकर मटर के बराबर मात्रा में चटाये। इस को मंत्रपूर्वक देवे।

वक्तव्य—'सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा। मत्स्याक्षकः शंखपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥ अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा। हेमचूर्णानि कैडर्यः श्वेता दूर्वा घृतं मधु ॥ चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्धेषु चतुर्ष्वपि। कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः ॥' मात्रा—'विडङ्गफलमात्रं तु जातमात्रस्य भेषजम्। एतेनैव प्रमाणेन मासि-मासि प्रवर्धितम् ॥ कोलास्थिमात्रं क्षीरादे दद्याद् भैषज्यकोविदः। क्षीरान्नादे कोलमात्रमन्नादोदुम्बरोपमम् ॥' (सु० शा०)

सुवर्णादिप्राशन-विधि—

चामीकरवचाब्राह्मीताप्यपथ्या रजीकृताः ॥ ९ ॥
लिह्यान्मधुघृतोपेता हेमधात्रीरजोऽथवा ।

सुवर्ण, वच ब्राह्मी, स्वर्णमाक्षिक और हरड का अथवा स्वर्ण और आंवले का सूक्ष्म चूर्ण करके मधु और घृत के साथ चटाये।

गर्भजलनिःसारण विधि—

गर्भाम्भः सैन्धववता सर्पिषा वामयेत्ततः ॥ १० ॥

इसके पीछे गर्भोदक को सैन्धवमिश्रित घी से वमन कराये। ('सैन्धव वचा' इति पाठान्तरम्।)

जातकर्म—

प्राजापत्येन विधिना जातकर्माणि कारयेत् ।

प्राजापत्य विधि से बच्चे का जातकर्म संस्कार करावे।

स्तन्यप्रवर्तन में हेतु—

सिराणां हृदयस्थानां विवृतत्वात् प्रसूतितः ॥ ११ ॥
तृतीयेऽह्नि चतुर्थे वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते ।

हृदय में स्थित सिराओं के प्रसूति के कारण विवृत होने (खुलजाने) से तीसरे या चौथे दिन स्त्रियों में स्तन्य (शुद्ध दूध आता है। इससे पहले के दिनों में पीयूष—खीस आता है)।

शिशु को प्रथम द्वितीय दिन में मधु-घृत-प्राशन—

प्रथमे दिवसे तस्मात्त्रिकालं मधुसर्पिषी ॥ १२ ॥
अनन्तामिश्रिते मन्त्रपाविते प्राशयेच्छिशुम् ।

इसलिये पहले दिन तीन समय में मधु और घी को अनन्ता से युक्तकर मंत्र से पवित्र करके बच्चे को चटाये।

वक्तव्य—'अनन्ता का इन्दु ने दूर्वा, अरुणदत्त ने यवासक तथा हाराणचन्द्रजी ने सारिवा अर्थ किया है। सुश्रुत में 'अनन्ता' के स्थान में 'अनन्त' पाठ होने से सुवर्ण अर्थ है। परन्तु वृद्धवाग्भट में 'अनन्तामिश्रे मधुसर्पिषी' पाठ है।

द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं तृतीये च घृतं, ततः ॥ १३ ॥
प्राङ्निषिद्धस्तनस्यास्य तत्पाणितलसम्मितम् ।
स्तन्यानुपानं द्वौ कालौ नवनीतं प्रयोजयेत् ॥ १४ ॥

दूसरे और तीसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध घृत तीन समय बच्चे को देवे। इसके पीछे जिसे पहिले दूध नहीं दिया गया है उस बच्चे की हथेली के मध्य भाग के बराबर नवनीत (मक्खन) की मात्रा को माता के दूध के अनुपान से दो समय चटाये।

उत्तम स्तन्य—

मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तद्धयलं देहवृद्धये ।
स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसम्पदि वत्सले ॥ १५ ॥
अव्यङ्गे ब्रह्मचारिण्यौ वर्णप्रकृतितः समे ।
नीरुजे मध्यवयसी जीवद्वत्से न लोलुपे ॥ १६ ॥
हिताहारविहारेण यत्नादुपचरेच्च ते ।

बच्चा माता का ही दूध पिये क्योंकि यह शरीर की वृद्धि के लिये पर्याप्त है माता का दूध न होने पर दो धात्रियों को दूध के लिये रखना चाहिये। ये दोनों प्रेमवाली, व्यंग रहित अर्थात् सम्पूर्ण अंगों वाली, ब्रह्मचारिणी, वर्ण (रंग या जाति) एवं प्रकृति में बच्चे या माता के समान, नीरोगी मध्यवय की, जिनका बच्चा जीता हो, जो लालची न हों अर्थात् लोभरहित होनी चाहिये। हितकारी आहार-विहार से इनकी यत्नपूर्वक रक्षा करे।

वक्तव्य—मध्यम वय—तरुणता से ऊपर-'प्रौढा'। 'तरुणी स्यादवत्सला। क्लेशं न सहते वृद्धा स्तन्यं चास्या न पुष्टिकृत् ॥' चरक में 'अथ ब्रूयाद् धात्रीमानय, समानवर्णां यौवनस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनामविरूपामजुगुप्सितां देशजातीयामक्षुद्रामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातां वत्सलामरोगां जीवद्वत्सां पुंवत्सां दोग्ध्रीमप्रमत्तामशायिनीमनुच्चारशायिनीमनन्त्यावसायिनीं कुशलोपचारां शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तनस्तन्यसंपदुपेतामिति ॥' (चरक. शा. अ. ८।५२।)

स्तन्य के न्यूनाधिक होने में कारण—

शुक्क्रोधलङ्घनायासाः स्तन्यनाशस्य हेतवः ॥ १७ ॥
स्तन्यस्य सीधुवर्ज्यानि मद्यान्यानूपजा रसाः ।
क्षीरं क्षीरिण्य ओषध्यः शोकादेश्चाविपर्ययः ॥ १८ ॥

शोक, क्रोध, उपवास और परिश्रम ये दूध को नष्ट करने के कारण हैं। सीधु को छोड़कर सब मद्य, आनूप पशु-पक्षियों का मांस, दूध, दूध वाली औषधियां (जीवनी आदि), शोक, क्रोध आदि के विपरीत प्रसन्नता आदि दूध को बढ़ाने वाले हैं।

वक्तव्य—'सुरा प्रशस्ता वातघ्नी स्तन्यरक्तक्षयेषु च। (चरक सू. अ. २७।१७९।)

रोगोत्पादक दूध—

विरुद्धाहारभुक्तायाः क्षुधितायाः विचेतसः ।
प्रदुष्टधातोर्गर्भिण्याः स्तन्यं रोगकरं शिशोः ॥ १९ ॥

जिसने विरोधी आहार खाया हो उसका दूध, भूखी, विगत चेतना वाली (जिसके होश ठीक न हों), दूषित वायु एवं गर्भवती का दूध बालक में रोग करने वाला होता है।

स्त्रीस्तन्य के अभाव में बकरी या गौ का दूध—

स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत् ।
ह्रस्वेन पञ्चमूलेन स्थिराभ्यां वा सितायुतम् ॥ २० ॥

माता के दूध के अभाव में बकरी का दूध अथवा बकरी के समान गुण वाला गाय का दूध देना चाहिये। अथवा दूध को लघु पंचमूल या शालपर्णी, पृश्निपर्णी से सिद्ध कर ले तथा शर्करा मिलाकर देवे।[1]

छठी रात का विधान—

षष्ठीं निशां विशेषेण कृतरक्षाबलिक्रियाः ।
जागृयुर्बान्धवास्तस्य दधतः परमां मुदम् ॥ २१ ॥

और दिनों की अपेक्षा छठी रात में विशेषकर रक्षाविधान एवं बलि कर्म करके अतिशय प्रसन्न होते हुए बान्धवगण जागते रहें।

---

[1] 'तद्गुणम्' का अर्थ 'मां के दूध के समान' भी किया जाता है और इसीलिए बकरी या गाय के दूध में और पानी चीनी मिलाकर दिया जाता है।

वक्तव्य—'अथाऽस्य रक्षां विदध्यात् । आदनीलखदिरकर्कन्धू पीलुपरूषकशाखाभिरस्या गृहं समन्ततः परिवारयेत् । सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुलकणकणिकाः प्रकिरेत् । तथा तण्डुलबलिहोमः सततमुभयकालं क्रियेतानामकर्मणः । ब्राह्मणश्चाथर्ववेदवित् सततमुभयकालं शान्तिं जुहुयात् स्वस्त्ययनार्थं कुमारस्य तथा सूतिकायाः ॥'(चरक.शा.अ.८।४७)

दसवें दिन नामकरण—

दशमे दिवसे पूर्णे विधिभिः स्वकुलोचितैः ।
कारयेत्सूतिकोत्थानं नाम बालस्य चार्चितम् ॥२२॥
बिभ्रतोऽङ्गैर्मनोह्वाऽऽलरोचनाऽगुरुचन्दनम् ।
नक्षत्रदेवतायुक्तं बान्धवं वा समाक्षरम् ॥ २३ ॥

दस दिन पूरे होने पर अपने कुल के आचारविधि से सूतिकोत्थान और बालक का नामकरण प्रशस्त है। बालक के अंगों पर मैनसिल, हरताल, गोरोचना, अगरु तथा चन्दन का लेप करके नक्षत्र-देवता वाला, अथवा ज्ञाति (भाई, बन्धु और जाति) के अनुकूल समान अक्षरों का नाम रखना चाहिये।

वक्तव्य—'कुमारस्य पिता द्वे नामनी कारयेन्नाक्षत्रिकं नामाभिप्रायिकं च । तत्राभिप्रायिकं घोषवदाद्यन्तःस्थमूष्मान्तं वाऽवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितं, नाक्षत्रिकं तु नक्षत्रदेवतासमानाख्यं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा ॥' (सु. शा. ८।५१)

आयु की परीक्षा—

ततः प्रकृतिभेदोक्तरूपैरायुः परीक्षणम् ।
प्रागुदक्शिरसः कुर्याद् बालस्य ज्ञानवान् भिषक् ॥
शुचिधौतोपधानानि निर्वलीनि मृदूनि च ।
शय्यास्तरणवासांसि रक्षोघ्नैर्धूपितानि च ॥ २५ ॥

नामकरण के उपरान्त विकृतिविज्ञानीय (शा. अ. ५) में कहे हुए आयु के लक्षणों से ज्ञानवान् वैद्य बच्चे को पूर्व की ओर या उत्तर की ओर रखकर परीक्षा करे।

बच्चे के बिछाने, ओढ़ने और पहरने आदि के वस्त्र साफ धुले हुए, शुष्क, सिकन-संकोच से रहित और कोमल होने चाहिये। इनको रक्षोघ्न धूप (लोबान, सरसों, नीम की पत्ती, सैन्धव, गुग्गुलु आदि) से धूपित करना चाहिये।

काको विशस्तः शस्तश्च धूपने त्रिवृताऽन्वितः ।

वस्त्र आदि को धूप देने के लिए कौए को मारकर त्रिवृत से मिलाकर धूप देना चाहिये।

वक्तव्य—संग्रह में-'काकोऽविशस्तः' यह पाठ है, अर्थात् स्वयं मरे कौए को सर्पि, मज्जा और वसा, इस त्रिवृत् स्नेह के साथ धूप देना चाहिये।

शिशुद्वारा धारणीय द्रव्य—

जीवत्खड्गादिशृङ्गोत्थान् सदा बालः शुभान् मणीन् ॥
धारयेदौषधीः श्रेष्ठा ब्राह्म्यैन्द्रीजीवकादिकाः ।
हस्ताभ्यां ग्रीवया मूर्ध्ना विशेषात्सततं वचाम् ॥२७॥
आयुर्मेधास्मृतिस्वास्थ्यकरीं रक्षोऽभिरक्षिणीम् ।

जीते हुए गैंडे आदि के सींगों में से निकाली हुई शुभ मणियों को शिशु धारण करे। ब्राह्मी, ऐन्द्री, जीवक आदि उत्तम औषधियाँ हाथों में, ग्रीवा में या शिर में धारण करे। आयु, मेधा, स्मृति और स्वास्थ्य देने वाली तथा राक्षसों से रक्षा करने वाली वचा को विशेषकर सदा धारण करे।

भूम्युपवेशन और अन्नप्राशन का समय—

(पञ्चमे मासि पुण्येऽह्नि धरण्यामुपवेशयेत् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमात्तच्च प्रयोजयेत् ॥)[1]

पाचवें महीने में शुभ दिन तथा मुहूर्त में बालक को धरती पर बिठाना चाहिये और छठे महीने में अन्नप्राशन करना चाहिये, तदुपरान्त क्रमशः अन्न का प्रयोग करना चाहिये।

कर्णवेध का समय—

षष्ठसप्ताष्टममासेषु नीरुजस्य शुभेऽहनि ॥ २८ ॥
कर्णौ हिमागमे विध्येद्धात्र्यङ्कस्थस्य सान्त्वयन् ।

छठे; सातवें या आठवें महीने में शुभ दिन में तथा शीत ऋतु में नीरोगी बच्चे के कानों का बच्चे को धात्री की गोदी में बिठाकर उसे प्रिय वचनों से सान्त्वना देते हुए (बहलाते हुए) वेधन करे।

कर्णवेध की रीति तथा पश्चात्कर्तव्य—

प्राग्दक्षिणं कुमारस्य भिषग्वामं तु योषितः ॥ २९ ॥
दक्षिणेन दधत्सूचीं पालिमन्येन पाणिना ।
मध्यतः कर्णपीठस्य किञ्चिद्गण्डाश्रयं प्रति ॥ ३० ॥
जरायुमात्रप्रच्छन्ने रविरश्म्यवभासिते ।
धृतस्य निश्चलं सम्यगलक्तकरसाङ्किते ॥ ३१ ॥
विध्येद्दैवकृते छिद्रे सकृदेवर्जु लाघवात् ।
नोर्ध्वं न पार्श्वतो नाधः शिरास्तत्र हि संश्रिताः ॥
कालिकामर्मरीरक्तास्तद्व्यधाद्रागरुग्ज्वराः ।
सशोफदाहसंरम्भमन्यास्तम्भापतानकाः ॥ ३३ ॥
तेषां यथामयं कुर्याद्भिषज्याशु चिकित्सितम् ।
स्थाने व्यधान्न रुधिरं न रुग्रागादिसम्भवः ॥ ३४ ॥
स्नेहाक्तं सूच्यनुस्यूतं सूत्रं चानु निधापयेत् ।
आमतैलेन सिञ्चेच्च बहलां तद्वदारया ॥ ३५ ॥
विध्येत्पालीं हितभुजः सञ्चार्याऽथ स्थवीयसी ।
वर्तिस्त्र्यहात्ततो रूढं वर्धयेत शनैः शनैः ॥ ३६ ॥

कुमार का पहले दक्षिण कर्ण और कुमारी का पहले वाम कर्ण वैद्य वेधन करे। इसके लिये वैद्य सूई को दक्षिण हाथ से और पाली को वाम हाथ से पकड़ कर कर्ण के निचले भागके मध्य में गण्डभाग की ओर कुछ (पाली को) झुकाते हुए पतली झिल्ली से ढंपे हुए, सूर्य की किरणें जिसमें से दीख रही हों, पकड़ने से स्थिर बने, अलक्तक (महावर) के रंग से

---

[1] कोष्ठान्तर्गतपाठः क्वचिन्नोपलभ्यते ।

विहित, दैवकृत छिद्र में एक बार में ही, सीधा- हल्के हाथ से वेधन करे। इस स्थान से न तो ऊपर, न नीचे और न पार्श्वों में वेधन करना चाहिये। क्योंकि इन स्थानों में—

कालिका, मर्मरी और रक्ता, ये तीन सिरायें रहती हैं। और इन शिराओं में वेधन होने से सुर्खी, ज्वर, पीड़ा, शोफ, दाह, संरम्भ, मन्यास्तम्भ तथा अपतानक रोग होते हैं। इन रोग आदि के हो जाने पर उनकी अपनी-अपनी यथायोग्य चिकित्सा करे। उचित स्थान पर वेधन करने से न तो रक्त निकलता है। और न शूल, राग आदि होते हैं।

कान का वेधन होने पर सूई में पिरोये सूत्र को तैल से भिगोकर कान में डाल देवे। इसको कोल्हू के तेल से परिषेक करे। यदि पाली मोटी हो तो हितभोजी रखते हुए आरा (मोटी सूई सू० अ० २६।२५) से इसका वेधन करे। इस सूई से वेधे कान में तीसरे दिन मोटी बत्ती डाले। जब कान भर जाये (दर्द आदि न रहें), तब इस कान (के छिद्र) को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये।

स्तन्य छुड़ाने का क्रम—

अथैनं जातदशनं क्रमेणापनयेत्स्तनात् ।
पूर्वोक्तं योजयेत्क्षीरमन्नं च लघु बृंहणम् ॥ ३७ ॥

इसके बाद जब दाँत निकलने लगें, तब इसको धीरे-धीरे दूध छुड़वा देना चाहिये। बकरी आदि का दूध जो पहले कहे हैं, उन दूधों को तथा लघु और बृंहण अन्न को देना चाहिये।

शिशु का पथ्य मोदक—

प्रियालमज्जमधुकमधुलाजसितोपलैः ।
अपस्तनस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः ॥ ३८ ॥
दीपनो बालबिल्वैलाशर्करालाजसक्तुभिः ।
सङ्ग्राही धातकीपुष्पशर्करालाजतर्पणैः ॥ ३९ ॥

चिरौंजी, मुलहठी, मधु, लाजा, और मिश्री से बनाये लड्डू दूध छुड़ाये बच्चे को प्रिय होने से या पोषण के लिए देने चाहिये। कच्चा बिल्व, इलायची, शर्करा और लाजा सत्तू के लड्डू अग्निदीपक हैं। धाय के फूल, शर्करा और लाजसत्तू का मन्थ संग्राही है।

शिशुचिकित्सा—

रोगांश्चास्य जयेत्सौम्यैर्भेषजैरविषादकैः ।
अन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेर्विरेकं सुतरां त्यजेत् ॥ ४० ॥

बच्चों के रोगों को सौम्य और कष्ट न देने वाली ओषधियों से शान्त करे। बिना किसी आत्ययिक रोग के बच्चे को विरेचन बिल्कुल नहीं देना चाहिये। (अविषादकैः—अतीक्ष्णैः, इन्दुः।

शिशु को त्रासननिषेध—

त्रासयेन्नाविधेयं तं त्रस्तं गृह्णन्ति हि ग्रहाः ।

असावधान अवस्था में बच्चे को बिल्कुल न डराये क्योंकि डरे हुए बच्चे पर ग्रह आक्रमण करते हैं।

वस्त्रादिद्वारा शिशुरक्षण—

वस्त्रवातात् परस्पर्शात् पालयेल्लङ्घनाच्च तम् ॥ ४१ ॥

वस्त्र की वायु से, दूसरों के स्पर्श से और लांघने आदि से बच्चे को बचाते रहना चाहिये।

वक्तव्य- 'वस्त्रवातात' के स्थान पर 'वस्त्रपातात्' भी पाठ है। इसका अर्थ 'इन्दु' ने 'मुख आदि पर वस्त्र का गिरना' अर्थात् मुख ढांप कर सोने से बचाये-अर्थ किया है। यह संगत भी लगता है। लङ्घन का अर्थ-अतिक्रमण (लाँघना) है।

शिशुकल्याणक घृत—

ब्राह्मीसिद्धार्थकवचासारिवाकुष्ठसैन्धवैः ।
सकणैः साधितं पीतं वाङ्मेधास्मृतिकृद् घृतम् ॥ ४२ ॥
आयुष्यं पाप्मरक्षोघ्नं भूतोन्मादनिबर्हणम् ।

ब्राह्मी, सरसों, वच, सारिवा, कूठ, सैन्धव और पिप्पली के कल्क से बनाया घृत बच्चे को देने से मेधा, वाणी तथा स्मृति बढ़ाता है। आयुष्य है, पाप और राक्षसों का नाश करने वाला एवं भूतोन्मादनाशक है।

अष्टाङ्ग घृत—

वचेन्दुलेखामण्डूकीशङ्खपुष्पीशतावरी ॥ ४३ ॥
ब्रह्मसोमामृताब्राह्मीः कल्कीकृत्य पलांशिकाः ।
अष्टाङ्गं विपचेत्सर्पिः प्रस्थं क्षीरचतुर्गुणम् ॥ ४४ ॥
तत्पीतं धन्यमायुष्यं वाङ्मेधास्मृतिबुद्धिकृत् ।

वच, बाकुची, मण्डूकपर्णी, शंखपुष्पी, शतावरी, ब्रह्म, सोमा (विधारा), गिलोय, ब्राह्मी, ये प्रत्येक एक पल लेकर इनसे चौगुने दूध में एक प्रस्थ घृत पकाये। यह अष्टाङ्ग (आठ अंगों वाला) घृत पीने पर धन्य और आयुष्य है एवं वाणी, मेधा, स्मृति और बुद्धि करता है।

सारस्वत घृत—

अजाक्षीराभयाव्योषपाठोग्राशिग्रुसैन्धवैः ॥ ४५ ॥
सिद्धं सारस्वतं सर्पिर्वाङ्मेधास्मृतिवह्निकृत् ।

हरड़, त्रिकटु, पाठा, वच, शोभांजन और सैन्धव के कल्क से (चौगुने) बकरी के दूध से सिद्ध किया घृत वाणी, मेधा, स्मृति और अग्निको बढ़ाता है इसका नाम सारस्वत घृत है।[1]

वचादि घृत—

वचाऽमृताशटीपथ्याशङ्खिनीवेल्लनागरैः ॥ ४६ ॥
अपामार्गेण च घृतं साधितं पूर्ववद् गुणैः ।

---

[1] सारस्वत घृत का पाठ शिवदाससेन जी ने निम्न दिया है-

'त्रिफला लक्ष्मणाऽनन्ता समङ्गा सारिवा वचा ।
ब्राह्मी पाठा द्विबृहती द्विस्थिरा द्विपुनर्नवम् ॥
सहदेवा रवेर्वल्ली पयस्या गिरिकर्णिका ।
तोयकुम्भे पचेदेतत् पचार्द्धं पादशेषितम् ॥
तेन कौन्तीवचाकुष्ठकृष्णासर्षपसैन्धवैः ।
नीरक्सरूपवरसायाः संयुक्तं पयसा च गोः ॥
पुष्ययोगे घृतप्रस्थं सहेमशकलं शृतम् ।
पानाभ्यञ्जनतो मेधास्मृत्यायुःपुष्टिवृद्धिदम् ॥
रक्षोघ्नञ्च विषघ्नञ्च सारस्वतमिदं घृतम् ॥

(यह पाठ अष्टाङ्गसंग्रह में भी है)।

वच, गिलोय, कचूर, हरड़, शंखिनी, वायविडंग, सोंठ तथा अपामार्ग (चिरचिटे) से सिद्ध किया घृत सारस्वत घृत के समान गुणकारी है ।

सुवर्णयुक्त चार योग—

हेम श्वेतवचा कुष्ठमर्कपुष्पी सकाञ्चना ॥ ४७ ॥
हेम मत्स्याक्षकः शङ्खः कैडर्यः कनकं वचा ।
चत्वार एते पादोक्ताः प्राशा मधुघृतप्लुताः ॥ ४८ ॥
वर्षं लीढा वपुर्मेधाबलवर्णकराः शुभाः ।

चार योग—(१) स्वर्णभस्म, श्वेत वच और कूठ, (२) अर्कपुष्पी (अजगन्धा या श्वेत दूर्वा) और स्वर्ण, (३) स्वर्ण, मत्स्याक्षक (मछेछी) और शंखपुष्पी, (४) पर्वती नीम, स्वर्ण और वच, श्लोक के चरण में कहे इन चार योगों को मधु और घृत से द्रव बना कर एक वर्ष तक चटाये । इससे शरीर, मेधा, बल और वर्ण होता है, ये शुभ हैं ।

वचादि चूर्ण—

वचायष्ट्याह्वसिन्धूत्थपथ्यानागरदीप्यकैः ॥ ४९ ॥
शुद्ध्यते वाग्घविर्लीढैः सकुष्ठकणजीरकैः ।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाम-
ष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठे उत्तरस्थाने बालोपचर-
णीयो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

* * *

वच, मुलहठी, सैन्धव, हरड़, सोंठ, अजवायन, कूठ, पिप्पली और जीरा के साथ सिद्ध किया घृत चाटने से वाणी निर्मल होती है ।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का बालोपचरणीय नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ है ॥ १ ॥

* * *

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो बालामयप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे 'बालामयप्रतिषेध' अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

तीन प्रकार के शिशु—

त्रिविधः कथितो बालः क्षीरान्नोभयवर्तनः ।
स्वास्थ्यं ताभ्यामदुष्टाभ्यां दुष्टाभ्यां रोगसम्भवः ॥ १ ॥

बालक तीन प्रकार के कहे गये हैं,—क्षीराद, अन्नाद और क्षीरान्नाद । दूध और अन्न के अदूषित होने से स्वास्थ्य होता है और इनके दूषित होने से रोग उत्पन्न होते हैं ।

शुद्ध स्तन्य (दुग्ध) की परीक्षा—

यदद्भिरेकतां याति न च दोषैरधिष्ठितम् ।

जो दूध पानी में एक रूप हो जाता है और वातादि दोषों से दूषित नहीं होता, वह माता का दूध शुद्ध है ।

वातादि से दूषित दुग्ध का लक्षण—

—वाताद् दुष्टं तु प्लवतेऽम्भसि ॥ २ ॥
कषायं फेनिलं रूक्षं वर्चोमूत्रविबन्धकृत् ।
पित्तादुष्णाम्लकटुकं पीतराज्यप्सु दाहकृत् ॥ ३ ॥
कफात्सलवणं सान्द्रं जले मज्जति पिच्छिलम् ।

वायु से दूषित माता का दूध में जल तैरता है; कषाय, रस झागदार और रूक्ष होता है, यह मल-मूत्र का अवरोध करता है । पित्त से दूषित दूध उष्ण, अम्ल, कटुरस, जल में डालने पर पीली रेखाओं वाला तथा दाह करने वाला होता है । कफ से दूषित दूध ईषत् लवण, घन (गाढ़ा) होता है, जल में डूबता है और पिच्छिल होता है ।

दो या तीन दोषों से दूषित दुग्ध का लक्षण—

संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ॥ ४ ॥

दो दोषों के मिलने से दूषित दूध में दोषों के मिश्रित लक्षण होते हैं । सन्निपात में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं ।

वातादिदूषित दुग्धपान से रोग—

यथास्वलिङ्गांस्तद्व्याधीञ् जनयत्युपयोजितम् ।

यह दूषित दूध बच्चे को पिलाने पर बच्चे में अपने दोष के लक्षणों वाले रोगों को उत्पन्न करता है ।

शिशुरुदन से पीड़ा का ज्ञान—

शिरोऽस्तीक्ष्णमभीक्ष्णं च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम् ॥ ५ ॥
स यं स्पृशेद् भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः ।
तत्र विद्याद्रुजम्—

बच्चे के जोर से एवं बार-बार रोने से पीड़ा-रोग जानना चाहिये ।

बच्चा शरीर के जिस स्थान को अधिकतः स्पर्श करे और जिस स्थान पर हाथका स्पर्श न सहे, वहाँ पर पीड़ा समझे ।

बालक की चेष्टा से पीड्यमान स्थान का ज्ञान—

—मूर्ध्नि रुजं चाक्षिनिमीलनात् ॥ ६ ॥
हृदि जिह्वौष्ठदशनश्वासमुष्टिनिपीडनैः ।
कोष्ठे विबन्धवमथुस्तनदंशान्त्रकूजनैः ॥ ७ ॥
आध्मानपृष्ठनमनजठरोन्नमनैरपि ।
वस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसङ्गोत्त्रासदिगीक्षणैः ॥ ८ ॥

आंखों को बन्द करने से शिर में पीड़ा समझे । जिह्वा और ओठ को काटने से एवं श्वास तथा मुट्ठियों को बन्द करने से हृदय में पीड़ा समझे । मल-मूत्र का अवरोध, वमन और स्तन को काटने, आंतों की गड़गड़ाहट, आध्मान पीठ, को मोड़ने तथा पेट को ऊँचा करने से कोष्ठ में पीड़ा समझे । मल-मूत्र के अवरोध से तथा डरे हुए की भांति चौंकने या चारों ओर देखने से वस्ति एवं गुह्य भाग में पीड़ा समझे ।

शिशुरोग चिकित्सा—

अत्र धात्र्याः क्रियां कुर्याद्यथादोषं यथामयम् ।
तत्र वातात्मके स्तन्ये दशमूलं त्र्यहं पिबेत् ॥ ९ ॥
अथवाऽग्निवचापाठाकटुकाकुष्ठदीप्यकम् ।
सभार्गीदारुसरलवृश्चिकालीकणोषणम् ॥ १० ॥
ततः पिबेदन्यतमं वातव्याधिहरं घृतम् ।
अनु चाच्छसुरामेवं स्निग्धां मृदु विरेचयेत् ॥ ११ ॥
वस्तिकर्म ततः कुर्यात्स्वेदादींश्चानिलापहान् ।
रास्नाऽजमोदासरलदेवदारुरजोऽन्वितम् ॥ १२ ॥
बालो लिह्याद् घृतं तैर्वा विपक्वं ससितोपलम् ।

दोष और रोग के अनुसार धात्री की (दूध पिलाने वाली धाय की) चिकित्सा करनी चाहिये। इनमें वात से दूषित स्तन्य में दशमूल क्वाथ को तीन दिन पिये। अथवा चित्रक, वच, पाठा, कुटकी, अजवायन, भार्गी, देवदारु, सरलकाष्ठ, बिच्छूबूटी (या काकनासा), पिप्पली, काली मरिच, इनका क्वाथ तीन दिन पिये। (संग्रह में सोंठ अधिक है)।

इसके पीछे वातव्याधि में कहे घृतों में से कोई एक घृत पिये। पीछे से निर्मल सुरा को पिये। इस प्रकार से स्निग्ध होने पर धात्री को कोमल विरेचन (अमलतास या गुलकंद से) देवे। पीछे से बस्तिकर्म एवं वातनाशक स्वेदन आदि को बरते। (शिवदास सेनजी की टीका में 'अनु चाच्छसुरामेवं' यह पंक्ति नहीं है)।

रास्ना, अजमोदा, सरलकाष्ठ, देवदारु, इनके चूर्ण को घी में मिलाकर बालक को चटाये। (रजोऽन्वितम्-के स्थान पर वचाऽन्वितम्, पाठ गदनिग्रह में है)।

पित्तदूषित स्तन्य की चिकित्सा—

पित्तदुष्टेऽमृताभीरुपटोलीनिम्बचन्दनम् ॥ १३ ॥
धात्री कुमारश्च पिबेत् क्वाथयित्वा ससारिवम् ।
अथवा त्रिफलामुस्तभूनिम्बकटुरोहिणीः ॥ १४ ॥
सारिवादिं पटोलादिं पद्मकादिं तथा गणम् ।
घृतान्येभिश्च सिद्धानि पित्तघ्नं च विरेचनम् ॥ १५ ॥
शीतांश्चाभ्यङ्गलेपादीन् युञ्ज्यात्—

पित्त से स्तन्य दूषित होने पर गिलोय, शतावरी, पटोल, नीम, लालचंदन, सारिवा इनका क्वाथ करके धात्री और कुमार दोनों पियें। अथवा त्रिफला, मुस्ता, चिरायता, कुटकी इनको पियें, या सारिवादि, पटोलादि अथवा पद्मकादि गण का क्वाथ या इनमें अलग-अलग सिद्ध किये घृत बरतें। पित्तनाशक विरेचन देवे। शीतल अभ्यंग और लेप आदि करे।

कफदूषित स्तन्य की चिकित्सा—

—श्लेष्मात्मके पुनः ।
यष्ट्याह्वसैन्धवयुतं कुमारं पाययेद् घृतम् ॥ १६ ॥
सिन्धूत्थपिप्पलीमद्वा, पिष्टैः क्षौद्रयुतैरथ ।
राठपुष्पैः स्तनौ लिम्पेच्छिशोश्च दशनच्छदौ । १७ ॥
सुखमेवं वमेद्बालस्तीक्ष्णैर्धात्रीं तु वामयेत् ।
अथाचरितसंसर्गी मुस्तादिं क्वथितं पिबेत् ॥ १८ ॥
तद्वत्तगरपृथ्वीकासुरदारुकलिङ्गकान् ।
अथवाऽतिविषामुस्तषड्ग्रन्थापञ्चकोलकम् । १९ ॥

कफ से दूषित स्तन्य में मुलहठी तथा सैन्धवमिश्रित घी कुमार को पिलाये। अथवा सैन्धव और पिप्पली मिला घी बच्चे को पिलाये। मैनफल के पुष्पों को मधु के साथ पीसकर धात्री के स्तनों पर और बच्चे के ओठों पर लेप करे। इस तरह बच्चे को सुखपूर्वक वमन होता है। तीक्ष्ण वमनों से धात्री को वमन कराये।

इसके उपरान्त पेयादि संसर्जन क्रम का पालन करके मुस्तादि गण का क्वाथ पिये। इसी प्रकार तगर, कालाजीरा, देवदारु और इन्द्रजौ का, अथवा अतीस, मुस्ता, वच और पंचकोल का क्वाथ धात्री पिये।

क्षीरालसक के लक्षण—

स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम् ।
विबद्धमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते ॥ २० ॥
शकृन्नानाव्यथावर्णं मूत्रं पीतं सितं घनम् ।
ज्वरारोचकतृट्छर्दिशुष्कोद्गारविजृम्भिकाः ॥ २१ ॥
अङ्गभङ्गोऽङ्गविक्षेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः ।
घ्राणाक्षिमुखपाकाद्या जायन्तेऽन्येऽपि तं गदम् ॥ २२ ॥
क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम् ।

तीनों दोषों से दूध के दूषित होने पर बच्चे का मल दुर्गन्धयुक्त, आम, जल की भाँति द्रव रुक-रुककर, निर्मल विच्छिन्न-टूटा-टूटा और झागदार, नाना रंग का एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की पीड़ा वाला होता है। मूत्र पीला, श्वेत और गाढ़ा होता है। बच्चे को ज्वर, अरोचक, प्यास, वमन, सूखा वमन (ओकी), जम्भाई, अङ्गों का टूटना, अङ्गों में विक्षेप, आंतों में गड़गड़ाहट, कम्पन, चक्कर आना, नासिका, आँख, मुख का पाक आदि अनेक दूसरे भी रोग हो जाते हैं। इस रोग को क्षीरालसक और अत्यय नाम से आचार्य कहते हैं, यह रोग अतिकठिन एवं दुश्चिकित्स्य है। (अत्यय का अर्थ अतिपीड़ाकर भी है)।

क्षीरालसक की चिकित्सा—

तत्राशु धात्रीं बालं च वमनेनोपपादयेत् ॥ २३ ॥
विहितायां च संसर्ग्यां वचादिं योजयेद्गणम् ।
निशादिं वाऽथवा माद्रीपाठातिक्ताघनामयान् ॥ २४ ॥
पाठाशुण्ठ्यमृतातिक्ततिक्तादेवाह्वसारिवाः ।
समुस्तपूर्वेन्द्रयवाः स्तन्यदोषहराः परम् ॥ २५ ॥
अनुबन्धे यथाव्याधि प्रतिकुर्वीत कालवित् ।

इस अवस्था में धात्री और बालक को शीघ्र वमन कराये। पेयादि क्रम करने के उपरान्त वचादि या निशादि गण को

क्वाथ रूप में पिलाये। अथवा अतीस (या पिप्पली), पाठा, कुटकी, मोथा, कूठ, इनका क्वाथ देवे। पाठा, सोंठ, गिलोय, चिरायता, कुटकी, देवदारु, सारिवा, मोथा, मूर्वा और इन्द्रजौ का क्वाथ प्रशस्त स्तन्यदोषनाशक है।

उपद्रव होने पर रोग के अनुसार समय आदि को जानने वाला वैद्य चिकित्सा करे :

दन्तोद्भेदज रोग—

दन्तोद्भेदश्च रोगाणां सर्वेषामपि कारणम् ॥ २६ ॥
विशेषाज्ज्वरविडभेदकासच्छर्दिशिरोरुजाम् ।
अभिष्यन्दस्य पोथक्या विसर्पस्य च जायते ॥ २७ ॥
पृष्ठभङ्गे बिडालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे ।
दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किञ्चिन्न दूयते ॥ २८ ॥

दाँतों का निकलना भी सब रोगों का कारण होता है। विशेष करके ज्वर, अतीसार, कास, वमन, शिरोवेदना, अभिष्यन्द, पोथकी और विसर्प उत्पन्न होता है। (अभिष्यन्द और पोथकी चक्षु के रोग हैं)।

बिल्लियों के पीठ के टूटने पर, मोर में कलंगी निकलने पर और बालकों में दाँतों के निकलने पर सभी अङ्ग पीडित होते हैं।

बालरोगचिकित्सा—

यथादोषं यथारोगं यथोद्रेकं यथाशयम् ।
विभज्य देशकालादींस्तत्र योज्यं भिषग्जितम् ॥२९॥
त एव दोषा दूष्याश्च ज्वराद्या व्याधयश्च यत् ।
अतस्तदेव भैषज्यं मात्रा त्वस्य कनीयसी ॥ ३० ॥
सौकुमार्याल्पकायत्वात् सर्वान्नानुपसेवनात् ।
स्निग्धा एव सदा बाला घृतक्षीरनिषेवणात् ॥ ३१ ॥
सद्यस्तान् वमनं तस्मात् पाययेन्मतिमान् मृदु ।
स्तन्यस्य तृप्तं वमयेत् क्षीरक्षीरान्नसेविनम् ॥ ३२ ॥
पीतवन्तं तनुं पेयामन्नादं घृतसंयुताम् ।
वस्तिं साध्ये विरेकेण, मर्शेन प्रतिमर्शनम् ॥ ३३ ॥
युञ्ज्याद्विरेचनादींस्तु धात्र्या एव यथोदितान् ।
मूर्वाव्योषवराकोलजम्बूत्वग्दारुसर्षपाः ॥ ३४ ॥
सपाठा मधुना लीढाः स्तन्यदोषहराः परम् ।

दोष के अनुसार, रोग के अनुसार, दोष के परिमाण के अनुसार, आशय के अनुसार, देश, काल, सत्त्व और सात्म्य आदि का विचार करके औषध देनी चाहिये। ('अथाशयम्' के स्थान पर 'यथासयम्' 'यथाबलम्' और 'यथावयः' भी पाठ है)।

क्योंकि वे ही तो वातादि दोष हैं, वे ही रस आदि दूष्य हैं और ज्वर आदि रोग भी वे ही हैं, इसलिये वही पूर्वोक्त (बड़ी आयु के लोगों में प्रयुक्त) औषध बच्चों में भी बरतनी चाहिये, केवल मात्रा उनसे कम (छोटी) होनी चाहिये।

सुकुमारता से, स्वल्पशरीर होने से, सब अन्नों के सेवन नहीं करने से, घी और दूध का सेवन करने के कारण बालक सदा स्निग्ध रहते हैं। इसलिये बुद्धिमान् वैद्य इनको तुरन्त कोमल वमन पिलाये।

क्षीरभोजी और क्षीरान्नभोजी बच्चे को दूध से तृप्त करके वमन कराये।

अन्नभोजी बच्चे को घी वाली पतली पेया पिलाकर वमन कराये।

विरेचन से साध्य रोगों में वस्ति देवे, मर्श से साध्य रोगों में प्रतिमर्श नस्य देवे। रोग के अनुसार विरेचन आदि धात्री को ही देवे।

मूर्वा, त्रिकटु, त्रिफला, बेर, जामुन की छाल, देवदारु, सरसों और पाठा के चूर्ण को मधु के साथ चाटने पर उत्तम स्तन्यदोषनाशक है। ('वराकोल' के स्थान पर 'वचाकोल' भी पाठ है)।

शिशुदन्त-निःसारण विधि—

दन्तपालीं समधुना चूर्णेन प्रतिसारयेत् ॥ ३५ ॥
पिप्पल्या धातकीपुष्पधात्रीफलकृतेन वा ।
लावतित्तिरिवल्लूररजः पुष्परसद्रुतम् ॥ ३६ ॥
द्रुतं करोति बालानां दन्तकेसरवन्मुखम् ।

बच्चों की दन्तपाली को पिप्पली के चूर्ण अथवा धाय के फूल और आँवले के फल से बनाये चूर्ण में मधु मिलाकर रगड़े।

बटेर और तीतर के शुष्क मांस के चूर्ण को मधु मिलाकर पतला करके बरतने से बच्चों का मुख शीघ्र ही कमल-केसर की भांति दन्तकेसर-युक्त हो जाता है।

दन्तोद्भेदक घृत—

वचाद्विबृहतीपाठाकटुकाऽतिविषाघनैः ॥ ३७ ॥
मधुरैश्च घृतं सिद्धं सिद्धं दशनजन्मनि ।

वच, कटेरी, बड़ी कटेरी, पाठा, कुटकी, अतीस, मोथा और जीवनीय गण से सिद्ध घृत दाँतों की उत्पत्ति में सिद्ध (अनुभूत) है।

रजन्यादि चूर्ण—

रजनीदारुसरलश्रेयसीबृहतीद्वयम् ॥ ३८ ॥
पृश्निपर्णी शताह्वा च लीढं माक्षिकसर्पिषा ।
ग्रहणीदीपनं श्रेष्ठं मारुतस्यानुलोमनम् ॥ ३९ ॥
अतीसारज्वरश्वासकामलापाण्डुकासनुत् ।
बालस्य सर्वरोगेषु पूजितं बलवर्णदम् ॥ ४० ॥

हल्दी, देवदारु, सरलकाष्ठ, गजपिप्पली, कटेरी, बड़ी कटेरी, पृश्निपर्णी और सौंफ को मधु और घी से चाटना अतिशय ग्रहणीदीपक, वायु का अनुलोमक, अतीसार, ज्वर, कामला, पाण्डु, कास का नाशक बालकों के सब रोगों में प्रशस्त और बल-वर्ण-प्रद है।

काश्यप घृत—

समङ्गाधातकीरोध्रकुटन्नटबलाद्वयैः ।
महासहाक्षुद्रसहामुद्गबिल्वशलाटुभिः ॥ ४१ ॥

सकार्पासीफलैस्तोये साधितैः साधितं घृतम् ।
क्षीरमस्तुयुतं हन्ति शीघ्रं दन्तोद्भवोद्भवान् ॥ ४२ ॥
विविधानामयानेतद् वृद्धकाश्यपनिर्मितम् ।

मजीठ, धाय के फूल, लोध, केवटीमोथा, बला, अतिबला, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, मूँग, कच्चा बेल, वनकार्पासीफल इनका जल में क्वाथ करे। यह क्वाथ घी से चौगुना लेकर दूध और मस्तु के साथ सिद्ध किया घी दन्तोद्भवजन्य नाना प्रकार के रोगों को नष्ट करता है। इस घी को वृद्ध काश्यप ने कहा है।

वक्तव्य—'चतुष्प्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ । तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम् ।' इसलिये दूध और मस्तु भी घी से चौगुने लेने चाहिये।

दन्तोद्भव रोग में पथ्यादि का अनियम—

दन्तोद्भवेषु रोगेषु न बालमतियन्त्रयेत् ॥ ४३ ॥
स्वयमप्युपशाम्यन्ति जातदन्तस्य यद्गदाः ।

दन्तोद्भव रोगों में बालक को दूसरे ज्वर आदि रोगों की भाँति पथ्य भोजन आदि से बहुत अधिक नियन्त्रित न करे, क्योंकि दन्तोत्पत्ति के कारण हुए रोग दाँत निकलने पर स्वयमेव शान्त हो जाते हैं।

बालशोष—

अत्यह्नःस्वप्नशीताम्बुश्लैष्मिकस्तन्यसेविनः ॥ ४४ ॥
शिशोः कफेन रुद्धेषु स्रोतःसु रसवाहिषु ।
अरोचकः प्रतिश्यायो ज्वरः कासश्च जायते ॥ ४५ ॥
कुमारः शुष्यति ततः स्निग्धशुक्लमुखेक्षणः ।

दिन में बहुत सोने से, शीतल जल से, कफदूषित स्तन्य के सेवन से बच्चे के रसवाही स्रोत कफ से रुद्ध हो जाते हैं, इससे बच्चे को अरोचक, प्रतिश्याय, ज्वर और कास हो जाते हैं, बच्चा सूख जाता है, मुख और आँखें स्निग्ध और सफेद हो जाती हैं।

बालशोष की चिकित्सा—

सैन्धवव्योषशार्ङ्गेष्टापाठागिरिकदम्बकान् ॥ ४६ ॥
शुष्यतो मधुसर्पिर्भ्यामरुच्यादिषु योजयेत् ।
अशोकरोहिणीयुक्तं पञ्चकोलं च चूर्णितम् ॥ ४७ ॥
बदरीधातकीधात्रीचूर्णं वा सर्पिषा द्रुतम् ।

सैन्धव, त्रिकटु, गुंजामूल, पाठा, महाकदम्ब, इनको मधु और घृत के साथ सूखते हुए बच्चे को अरुचि आदि में देवें।

पंचकोल के चूर्ण को कुटकी के चूर्ण के साथ घी से पतला करके चटाये। अथवा बेर, धाय के फूल और आंवले के चूर्ण को घी से पतला बना कर चटाये। (अरुणदत्त ने अशोक और कुटकी दो वस्तुयें मानी हैं, परन्तु शिवदास सेनजी ने एक)।

शिशुशोषनाशक घृत—

स्थिरावचाद्विबृहतीकाकोलीपिप्पलीनतैः ॥ ४८ ॥
निचुलोत्पलवर्षाभूभार्गीमुस्तैश्च कार्षिकैः ।
सिद्धं प्रस्थार्धमाज्यस्य स्रोतसां शोधनं परम् ॥ ४९ ॥
सिंह्यश्वगन्धासुरसाकणागर्भं च तद्गुणम् ।
यष्ट्याह्वपिप्पलीरोध्रपद्मकोत्पलचन्दनैः ॥ ५० ॥
तालीससारिवाभ्यां च साधितं शोषजिद् घृतम् ।
शृङ्गीमधूलिकाभार्गीपिप्पलीदेवदारुभि ॥ ५१ ॥
अश्वगन्धाद्विकाकोलीरास्नर्षभकजीवकैः ।
शूर्पपर्णीविडङ्गैश्च कल्कितैः साधितं घृतम् ५२ ॥
शशोत्तमाङ्गनिर्यूहे शुष्यतः पुष्टिकृत्परम् ।

शालपर्णी, वचा, कटेरी, बड़ी कटेरी, काकोली, पिप्पली, तगर, जलवेतस, कमल, पुनर्नवा, भार्गी और मुस्ता प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनसे आधा प्रस्थ (८ पल) घी सिद्ध करे। यह भी स्रोतों के खोलने में उत्तम है।

कटेरी, अश्वगन्धा, तुलसी और पिप्पली के कल्क से सिद्ध किया घी भी स्रोतों के खोलने में श्रेष्ठ है।

मुलहठी, पिप्पली, लोध, पद्माख, कमल, चन्दन, तालीस और सारिवा से सिद्ध किया घृत शोषनाशक है।

काकड़ाश्रृङ्गी, मधूलिका, भार्गी, पिप्पली, देवदारु, अश्वगन्धा, काकोली, क्षीरकाकोली, रास्ना, ऋषभक, जीवक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी और वायविडंग के कल्क से शशक के सिर से बनाये क्वाथ में सिद्ध किया घृत सूखते हुए बच्चे के लिए अतिशय पुष्टिकारक है।

शोषनाशक तैल—

वचावयःस्थातगरकायस्थाचोरकैः श्रृतम् ॥ ५३ ॥
बस्तमूत्रसुराभ्यां च तैलमभ्यञ्जने हितम् ।

वच, आमलकी, तगर, हरड़ और चोरक तथा बकरे का मूत्र एवं सुरा में सिद्ध किया तैल अभ्यंग के लिए उत्तम है। (वयःस्था-क्षीरकाकोली, कायस्था-निर्गुण्डी, शिवदास सेन)।

लाक्षादि तैल—

लाक्षारससमं तैलप्रस्थं मस्तु चतुर्गुणम् ॥ ५४ ॥
अश्वगन्धानिशादारुकौन्तीकुष्ठाब्दचन्दनैः ।
समूर्वारोहिणीरास्नाशताह्वामधुकैः समैः ॥ ५५ ॥
सिद्धं लाक्षादिकं नाम तैलमभ्यञ्जनादिदम् ।
बल्यं ज्वरक्षयोन्मादश्वासापस्मारवातनुत् ॥ ५६ ॥
यक्षराक्षसभूतघ्नं गर्भिणीनां च शस्यते ।

लाक्षादि तैल—लाक्षा के रस के बराबर एक प्रस्थ तैल, तैल से चौगुना मस्तु, अश्वगन्धा, हल्दी, देवदारु, रेणुका, कूठ, मोथा, चन्दन, मूर्वा, कुटकी, रास्ना, सौंफ और मुलहठी, इन्हें परस्पर समानभाग लेकर इनके कल्क से लाक्षादि तैल सिद्ध करे। यह लाक्षादि तैल अभ्यंग आदि में बरते। इसके अभ्यंग से बल आता है। यह ज्वर, क्षय, उन्माद, श्वास, अपस्मार और वातनाशक, यक्ष, राक्षस, भूत का नाशक और गर्भवतियों के लिये उत्तम है।

वक्तव्य—लाक्षारस बनाने के लिए लाख ३ सेर तथा पानी १८ सेर ले, लाख को कूटकर दोला-यन्त्र से इक्कीस बार

परिस्राव करके इस जल को ग्रहण करना चाहिये। अथवा लाख ८ सेर पानी ६४ सेर लेकर क्वाथ करके १६ सेर बचाये।

खांसी, ज्वरादि का नाशक अतिविषादि चूर्ण—

मधुनाऽतिविषाशृङ्गीपिप्पलीर्लेहयेच्छिशुम् ॥५७॥
एकां वाऽतिविषां कासज्वरच्छर्दिरुपद्रुतम् ।

अतीस, काकड़ाशृङ्गी, पिप्पली, इनके चूर्ण को मधु के साथ बच्चे को चटाये। अथवा अकेली अतीस को मधु के साथ कास, ज्वर और वमन से पीड़ित बच्चे को चटाये।

शिशु के वमन में चिकित्सा—

पीतं पीतं वमति यः स्तन्यं तं मधुसर्पिषा ॥५८॥
द्विवार्ताकीफलरसं पञ्चकोलं च लेहयेत् ।
पिप्पलीपञ्चलवणं कृमिजित्पारिभद्रकम् ॥५९॥
तद्वल्लिह्यात्तथा व्योषं मषीं वा रोमचर्मणाम् ।
लाभतः शल्यकश्वाविद्गोधर्क्षशिखिजन्मनाम् ॥६०॥
खदिरार्जुनतालीसकुष्ठचन्दनजे रसे ।
सक्षीरं साधितं सर्पिर्वमथुं विनियच्छति ॥६१॥

जो बच्चा पिये हुए दूध को बार-बार वमन कर देता हो, उसको कटेरी और बड़ी कटेरी के फलों के स्वरस के साथ पञ्चकोल का चूर्ण, मधु और घृत के साथ देना चाहिये। पिप्पली, पांचों नमक, वायविडंग, फरहद, इनको मधु और घी के साथ चटाये। त्रिकटु को मधु और घृत के साथ चटाये। सेह, श्वाविद्, गोधा, रीछ, मोर इनके रोम और चर्म जिनकी मिल सके, उनकी राख को मधु और घी से चटाये।

खैर, अर्जुन, तालीस, कूठ और चन्दन, इनके क्वाथ में दूध के साथ सिद्ध किया घृत वमन को बन्द करता है।

(हनुमूलगतो वायुर्दन्तदेशास्थिगोचरः ।
यदा शिशोः प्रकुपितो नोत्तिष्ठन्ति तदा द्विजाः ॥१॥
रूक्षाशिनो वातिकस्य चालयत्यनिलः शिराः ।
हन्वाश्रयः प्रसुप्तस्य दन्तैः शब्दं करोत्यतः ॥२॥)

(जब हनुमूल में स्थित वायु प्रकुपित होकर दांत के स्थान की अस्थि में आ जाता है, तथा बच्चे के दांत जल्दी नहीं उत्पन्न होते। रूक्ष भोजन करने वाले, वात प्रकृति बच्चे की शिराओं को हनु में आश्रित वायु चलाती है, इसलिये बच्चा सोते हुए दाँत कटकटाता है, दांतों से शब्द होता है)।

सदन्तजात तथा दुष्टदन्त शिशु की शान्ति—

सदन्तो जायते यस्तु दन्ताः प्राग्यस्य चोत्तराः ।
कुर्वीत तस्मिन्नुत्पाते शान्तिं तं च द्विजाय तु ॥६२॥
दद्यात्सदक्षिणं बालं नैगमेषं च पूजयेत् ।

जो बच्चा दांतों के साथ उत्पन्न होता है और जिसके पहले ऊपर के दांत आते हैं, इस उत्पातसूचक अशकुन में शान्ति-पाठ आदि कराये और उस बच्चे को दक्षिणा के साथ ब्राह्मण को देवे और नैगमेष ग्रह की पूजा करे।

तालुकण्टक के लक्षण और चिकित्सा—

तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम् ॥६३॥
तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ।
तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात्पानं शकृद्द्रवम् ॥६४॥
तृडास्यकण्ड्वक्षिरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः ।
तत्रोत्क्षिप्य यवक्षारक्षौद्राभ्यां प्रतिसारयेत् ॥६५॥
तालु तद्वत्कणाशुण्ठीगोशकृद्रससैन्धवैः ।
शृङ्गबेरनिशाभृङ्गं कल्कितं वटपल्लवैः ॥६६॥
बद्ध्वा गोशकृता लिप्तं कुकूले स्वेदयेत्ततः ।
रसेन लिम्पेत्ताल्वास्यं नेत्रे च परिषेचयेत् ॥६७॥
हरीतकीवचाकुष्ठकल्कं माक्षिकसंयुतम् ।
पीत्वा कुमारः स्तन्येन मुच्यते तालुकण्टकात् ॥६८॥

मधुरादि से बढ़ा हुआ कफ तालुमांस में तालुकण्टक रोग उत्पन्न करता है, इससे शिर में तालुप्रदेश पर नीचापन आ जाता है। तालु का गिरना, स्तन को न पकड़ना, कठिनाई से स्तनपान, मल पतला, प्यास, मुखरोग, कण्डू, अक्षिरोग, ग्रीवा को कठिनाई से सीधा रखना और वमन होते हैं।

इसमें तालुको ऊपर उठाकर यवक्षार और मधु से प्रतिसारण (मलना) करे। इसी प्रकार पिप्पली, सोंठ, गोबर का रस और सैन्धव से प्रतिसारण करे।

आर्द्रक, हल्दी और भृङ्गराज के कल्क को बरगद के कोमल पत्तों से बांध कर ऊपर गोबर का लेप करके तुष या उपलों की आग में स्वेदन करे। इसको निचोड़ कर इस रस का तालु और मुख पर लेप करे, और नेत्रों में डाले ('निशाभृङ्ग' के स्थान पर 'निशाकुष्ठ' भी पाठ है)।

हर्रा, वच, कूठ; इनके कल्क को मधु के साथ, माता के दूध के अनुपान से पीकर बच्चा तालुकण्टक रोग से मुक्त हो जाता है।

अहिपूतन के लक्षण तथा चिकित्सा—

मलोपलेपात्स्वेदाद्वा गुदे रक्तकफोद्भवः ।
ताम्रो व्रणोऽन्तः कण्डूमाञ्जायते भूर्युपद्रवः ॥६९॥
केचित्तं मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽहिपूतनम् ।
पृष्ठारुर्गुदकुट्टं च केचिच्च तमनामिकम् ॥७०॥
तत्र धात्र्याः पयः शोध्यं पित्तश्लेष्महरौषधैः ।
शृतशीतं च शीताम्बुयुक्तमन्तरपानकम् ॥७१॥
सक्षौद्रतार्क्ष्यशैलेन व्रणं तेन च लेपयेत् ।
त्रिफलाबदरीप्लक्षत्वक्क्वाथपरिषेचितम् ॥७२॥
कासीसरोचनातुत्थमनोह्वाऽऽलरसाञ्जनैः ।
लेपयेदम्लपिष्टैर्वा चूर्णितैर्वाऽवचूर्णयेत् ॥७३॥
सुश्लक्ष्णैरथवा यष्टीशङ्खसौवीरकाञ्जनैः
सारिवाशङ्खनाभिभ्यामसनस्य त्वचाऽथवा ॥७४॥
रागकण्डूत्कटे कुर्याद्रक्तस्रावं जलौकसा ।
सर्वं च पित्तव्रणजिच्छस्यते गुदकुट्टके ॥७५॥

मल के लगे रहने से अथवा पसीना आने से, गुदा में रक्त एवं कफजन्य ताम्र वर्ण का व्रण हो जाता है, गुदा के अन्दर कण्डू होती है और इस व्रण में बहुत उपद्रव होते हैं। इसको कई मातृकादोष कहते हैं और कई अहिपूतना कहते हैं। कोई पृष्ठारु, कोई गुदकुट्ट और कोई अनामिक कहते हैं।

इसमें धात्री के दूध का पित्त-श्लेष्महर ओषधियों से शोधन करना चाहिये। पित्त-कफहर ओषधियों से सिद्ध कषाय पान देवे। मधु और रसांजनमिश्रित अतिशीतल जल को बीच-बीच में देना चाहिये। मधु और रसौत का व्रण पर लेप करे। व्रण पर पहले त्रिफला, बेर, पिलखन; इनकी छाल के क्वाथ से परिषेक करे। बाद में कासीस, रोचना, तुत्थ, मैनफल, हरताल, रसौंत; इनको कांजी में पीसकर लेप करे। अथवा कासीस आदि के चूर्ण को व्रण पर छिड़के, अथवा मुलहठी, शंख, सौवीरकाञ्जन; इनके बारीक चूर्ण को छिड़के या सारिवा और शंखनाभि के चूर्ण को छिड़के; अथवा असन की छाल का लेप करे। सुर्खी और कण्डू अतिशय होने पर जोंक से रक्तस्राव करे। गुदकुट्ट रोग में पित्त-व्रणनाशक समस्त उपचार उत्तम है।

वक्तव्य—'श्रुतशीत' के स्थान पर 'सितशीत' पाठ भी है, सितशीत का अर्थ—चन्दन, इन्दु।

मिट्टी खाने से उत्पन्न शिशुरोग की चिकित्सा—

पाठावेल्लद्विरजनीमुस्तभार्गीपुनर्नवैः ।
सबिल्वत्र्यूषणैः सर्पिर्वृश्चिकालीयुतैः श्रृतम् ॥ ७६ ॥
लिहानो मात्रया रोगैर्मुच्यते मृत्तिकोद्भवैः ।

पाठा, वायविडंग, हल्दी, दारुहल्दी, मुस्ता, भार्गी, पुनर्नवा, बिल्व, त्रिकटु, बिच्छू बूटी (या काकनासा) इनके साथ सिद्ध घृत मात्रा में चाटने से बच्चा मृत्तिका के खाने से उत्पन्न रोगों से मुक्त हो जाता है।

अन्य रोगों में औषधप्रयोग विधि—

व्याधेर्यद्यस्य भैषज्यं स्तनस्तेन प्रलेपितः ।
स्थितो मुहूर्तं धौतोऽनु पीतस्तं तं जयेद् गदम् ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने बालामयप्रतिषेधो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

* * *

जिस रोग की जो औषधि है, उस औषधि से स्तनों पर लेप करके एक मुहूर्त भर उसको रहने देना चाहिये। फिर उसे धोने पर स्तन को पीने से बच्चा उस-उस रोग से मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—मुखपाक रोग में—(१) 'मुखपाके तु बालानां साम्रसारमयोरजः। गैरिकं क्षौद्रसंयुक्तं भेषजं सरसाञ्जनम् ॥' (२) 'अश्वत्थत्वग्दलक्षौद्रे मुखपाके प्रलेपनम् ।'

अन्य योग—लवङ्गचतुःसम—अतीसार में। दाडिमचतुःसम-अनुपान बकरी का दूध, अतिसारनाशक। बालकुटजावलेह-आमशूल, रक्तस्राव में। दन्तोद्भेदगदान्तक-इसके उपयोग से दाँत जल्दी आते हैं, ज्वर, अतीसार नष्ट होता है। कुमारकल्याण रस-ज्वर, श्वास, पारिगर्भिक रोग, अतीसार में उत्तम है। अश्वगन्धा घृत-बालक को पुष्ट करने के लिये। कुमारकल्याणघृत-बालक को पुष्ट करने में, अग्नि दीप्ति के लिये तथा दन्तोद्भवजन्य रोगों में उत्तम है। पिप्पल्यादि घृत-दन्तोद्भव रोगों में। अरविन्दासव-ग्रहदोषनिवारक।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का बालामयप्रतिषेध नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

* * *

तृतीयोऽध्यायः

अथातो बालग्रहप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे बालग्रहप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

बालग्रहोत्पत्ति—

पुरा गुहस्य रक्षार्थं निर्मिताः शूलपाणिना ।
मनुष्यविग्रहाः पञ्च सप्त स्त्रीविग्रहा ग्रहाः ॥ १ ॥

पूर्वकाल में कुमार कार्तिकेय की रक्षा के लिये महादेव जी ने पुरुष शरीर वाले पाँच और स्त्री शरीर वाले सात ग्रह बनाये थे। (सुश्रुत में नौ ही ग्रह हैं, शुष्क, रेवती, पितर और श्वग्रह ये तीन ग्रह नहीं पढ़े हैं)।

ग्रहों की संज्ञा—

स्कन्दो विशाखो मेषाख्यः श्वग्रहः पितृसंज्ञितः ।
शकुनिः पूतना शीतपूतनाऽदृष्टिपूतना ॥ २ ॥
मुखमण्डितिका तद्वद्रेवती शुष्करेवती ।

स्कन्द, विशाख, मेष, श्वग्रह, पितृसंज्ञक, ये पाँच पुरुष शरीर वाले हैं। शकुनि, पूतना, शीतपूतना, अदृष्टि (अंध) पूतना, मुखमण्डितिका, रेवती और शुष्करेवती, ये सात स्त्री शरीर वाले ग्रह हैं।

ग्रहजुष्ट के पूर्वरूप तथा सामान्य लक्षण—

तेषां ग्रहीष्यतां रूपं प्रततं रोदनं ज्वरः ॥ ३ ॥
सामान्यं रूपमुत्त्रासजृम्भाभ्रूक्षेपदीनताः ।
फेनास्रावोर्ध्वदृष्ट्योष्ठदन्तदंशप्रजागराः ॥ ४ ॥
रोदनं कूजनं स्तन्यविद्वेषः स्वरवैकृतम् ।
नखैरकस्मात्परितः स्वधात्र्यङ्गविलेखनम् ॥ ५ ॥

इन ग्रहों का पूर्वरूप (तथा पकड़ने की इच्छा करने) के लक्षण बच्चों का निन्तर रोना एवं ज्वर होना है।

सामान्य लक्षण—उत्त्रास, जम्भाई लेना, भ्रवों का चलाना, दीनता, मुख से झाग स्राव, ऊपर को देखना, ओठ और दांतों का काटना, नींद न आना; रोना, कराहना, दूध से

द्वेष, स्वर की विकृति, विना कारण के सब ओर नखों से अपने और धात्री के अंगों को खुरचना, होते हैं।

स्कन्दग्रहजुष्ट के लक्षण—

तत्रैकनयनस्रावी शिरो विक्षिपते मुहुः।
हतैकपक्षः स्तब्धाङ्गः सस्वेदो नतकन्धरः ॥ ६ ॥
दन्तखादी स्तनद्वेषी त्रस्यन् रोदिति विस्वरम्।
वक्रवक्त्रो वमल्लालां भृशमूर्ध्वं निरीक्षते ॥ ७ ॥
वसाऽसृग्गन्धिरुद्विग्नो बद्धमुष्टिशकृच्छिशुः।
चलितैकाक्षिगण्डभ्रूः संरक्तोभयलोचनः ॥ ८ ॥
स्कन्दार्तस्तेन वैकल्यं मरणं वा भवेद् ध्रुवम्।

एक आँख से पानी बहता है, शिर को बार-बार हिलाता है, एक भाग निश्चेष्ट बन जाता है, अंग जड हो जाते हैं, पसीना आता है, कन्धे गिरे हुए, दांतों को काटने वाला, स्तन से द्वेष रखता है, डरता है, स्वर विकृत करके रोता है, मुख टेढ़ा हो जाता है, मुख से लाला गिरती है, ऊपर को बहुत देखता है, वसा तथा रक्त की गन्ध वाला, उद्विग्न, मुष्टि और बंधा हुआ, एक आँख, एक गण्ड (गाल) और एक भ्रू हिलती है, दोनों आँखें सुर्ख हो जाती हैं, यह बच्चा स्कन्दग्रह से पीड़ित होता है। इससे विकलता (अङ्ग में विरूपता) अथवा मृत्यु निश्चित रूप में होती है।

स्कन्दापस्मार (विशाख) के लक्षण—

संज्ञानाशो मुहुः केशलुञ्चनं कन्धरानतिः ॥ ९ ॥
विनम्य जृम्भमाणस्य शकृन्मूत्रप्रवर्तनम्।
फेनाद्वमनमूर्ध्वेक्षा हस्तभ्रूपादनर्तनम् ॥ १० ॥
स्तनस्वजिह्वासन्दंशसंरम्भज्वरजागराः ।
पूयशोणितगन्धश्च स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥ ११ ॥

बार-बार संज्ञानाश होना, बालों को नोचना, ग्रीवा को झुकाये रखना, अङ्गों को मोड़कर जम्भाई लेते हुए मल-मूत्र की प्रवृत्ति, झाग का वमन, ऊपर को देखना, हाथ-भ्रू तथा पैरों को नोचना, स्तन एवं अपनी जीभ को काटना, शोफ-ज्वर, नींद का नाश, पूय और रक्त की गन्ध आना, ये स्कन्दापस्मार (विशाख) के लक्षण हैं।

नैगमेषग्रहजुष्ट के लक्षण—

आध्मानं पाणिपादस्य स्पन्दनं फेननिर्वमः।
तृण्मुष्टिबन्धातीसारस्वरदैन्यविवर्णताः ॥ १२ ॥
कूजनं स्तननं छर्दिः कासहिध्माप्रजागराः।
ओष्ठदंशाङ्गसङ्कोचस्तम्भबस्ताभगन्धताः ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य हसनं, मध्ये विनमनं ज्वरः।
मूर्च्छैकनेत्रशोफश्च नैगमेषग्रहाकृतिः ॥ १४ ॥

आध्मान, हाथ-पैर का चलाना, झाग का वमन, प्यास, मुट्ठी बांधना, अतीसार, स्वर की दीनता, विवर्णता, कराहना, चीत्कार करना, वमन, कास, हिक्का, नींद न आना, ओठ को काटना, अङ्गसंकोच, जड़ता, बकरे के समान गन्ध आना, ऊपर देखकर हंसना, बीच से मुड़ना-झुकना, ज्वर, मूर्च्छा और एक आँख में सूजन, ये नैगमेष (मेष) ग्रह के चिह्न हैं।

श्वग्रहजुष्ट के लक्षण—

कम्पो हृषितरोमत्वं स्वेदश्चक्षुर्निमीलनम्।
बहिरायामनं जिह्वादंशोऽन्तः कण्ठकूजनम् ॥ १५ ॥
धावनं विट्सगन्धत्वं क्रोशनं च श्ववच्छुनि।

कम्पन, रोमांचता, स्वेद, आँखों का बन्द होना, बहिरायाम (पीठ की ओर मुड़ना), जिह्वा को काटना, गले के अन्दर शब्द होना, दौड़ना, मल के समान गन्ध और कुत्ते के समान चिल्लाना-श्वग्रह में होता है।

पितृग्रह के लक्षण—

रोमहर्षो मुहुस्त्रासः सहसा रोदनं ज्वरः ॥ १६ ॥
कासातिसारवमथुजृम्भातृट्शवगन्धता ।
अङ्गेष्वाक्षेपविक्षेपशोषस्तम्भविवर्णताः ॥ १७ ॥
मुष्टिबन्धः स्रुतिश्चाक्ष्णोर्बालस्य स्युः पितृग्रहे।

रोमांच, बार-बार डरना, सहसा रोना, ज्वर, कास, अतीसार, वमन, जृम्भा, प्यास, मुर्दे की गन्ध, अङ्गों का संकोच और विस्तार, शोफ, जड़ता, विवर्णता, मुट्ठी को बांधना और आंखों से पानी बहना पितृग्रह में होते हैं।

शकुनिग्रहजुष्ट के लक्षण—

स्रस्ताङ्गत्वमतीसारो जिह्वातालुगले व्रणाः ॥ १८ ॥
स्फोटाः सदाहरुक्पाकाः सन्धिषु स्युः पुनः पुनः।
निश्यह्नि प्रनिलीयन्ते पाको वक्त्रे गुदेऽपि वा ॥१९॥
भयं शकुनिगन्धत्वं ज्वरश्च शकुनिग्रहे।

अङ्गों का ढीला होना, अतीसार, जिह्वा, तालु और गले में व्रण, स्फोट, दाह, वेदना और पाक होते हैं, रात को सन्धियों में छाले होते हैं जो दिन में छिप जाते हैं। मुख या गुदा में पाक, भय, शकुनि (जलचर और मांस खाने वाले पक्षियों) के समान गन्ध और ज्वर, ये शकुनिग्रह के लक्षण हैं। (शकुनिगन्ध–विस्रगन्ध, शिवदासेन)।

पूतनाग्रहजुष्ट के लक्षण—

पूतनायां वमिः कम्पस्तन्द्रा रात्रौ प्रजागरः ॥ २० ॥
हिध्माऽऽध्मानं शकृद्भेदः पिपासा मूत्रनिग्रहः।
स्रस्तहृष्टाङ्गरोमत्वं काकवत्पूतिगन्धिता ॥ २१ ॥

वमन, कम्प, तन्द्रा, रात्रि में जागरण, हिक्का, आध्मान, अतीसार, प्यास, मूत्र का अवरोध, अङ्गों में शिथिलता, रोमांच और कौए के समान सड़ी गन्ध होना ये पूतनाग्रह के लक्षण हैं।

शीतपूतनाग्रस्त के लक्षण—

शीतपूतनया कम्पो रोदनं तिर्यगीक्षणम्।
तृष्णाऽन्त्रकूजोऽतीसारो वसावद्विस्रगन्धता ॥ २२ ॥
पार्श्वस्यैकस्य शीतत्वमुष्णत्वमपरस्य च।

कम्पन, रोना, तिर्छा देखना, प्यास, आँतों में शब्द, अतीसार, वसा की भाँति विस्रगन्ध, एक पार्श्व का ठण्ड

होना और दूसरे पार्श्व का गरम होना, ये शीतपूतना के लक्षण हैं।

अन्धपूतनाग्रस्त के लक्षण—

अन्धपूतनया छर्दिर्ज्वरः कासोऽल्पनिद्रता ॥ २३ ॥
वर्चसो भेदवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यान्यङ्गशोषणम् ।
दृष्टेः सादातिरुक्कण्डूपोथकीजन्मशूनताः ॥ २४ ॥
हिध्मोद्वेगस्तनद्वेषवैवर्ण्यस्वरतीक्ष्णताः ।
वेपथुर्मत्स्यगन्धत्वमथवा साम्लगन्धता ॥ २५ ॥

वमन, ज्वर, कास, नींद का कम आना, मल का अतीसार, विवर्णता और दुर्गन्धता, अङ्ग का शुष्क होना, दृष्टि का थोड़ा होना, आंखों में अतिवेदना और कण्डू, पोथकी की उत्पत्ति, सूजन, हिक्का, उद्वेग, स्तनद्वेष, विवर्णता, स्वर की तीक्ष्णता, कम्पन तथा मछली की सी या खट्टी गन्ध का आना ये अन्धपूतना के लक्षण हैं।

मुखमण्डितापीडित के लक्षण—

मुखमण्डितया पाणिपादास्यरमणीयता ।
सिराभिरसिताभाभिराचितोदरता ज्वरः ॥ २६ ॥
अरोचकोऽङ्गग्लपनं गोमूत्रसमगन्धता ।

मुखमण्डितिका ग्रह में-हाथ, पैर और मुख में सुन्दरता, उदर का कृष्ण वर्ण वाली सिराओं से भर जाना, ज्वर, अरोचक, अंगों में ग्लानि और गोमूत्र के समान गन्ध होती है।

रेवतीग्रहपीडित के लक्षण—

रेवत्यां श्यावनीलत्वं कर्णनासाक्षिमर्दनम् ॥ २७ ॥
कासहिध्माक्षिविक्षेपवक्त्रवक्रत्वरक्तताः ।
बस्तगन्धो ज्वरः शोषः पुरीषं हरितं द्रवम् ॥ २८ ॥

रेवती ग्रह में बच्चा काला या नील वर्ण होता है, उसके कान, नाक और आंख में मर्दन, कास, हिक्का, आँखों को चलाना, मुख का टेढ़ापन और मुख का लाल होना, बकरे की सी गंध, ज्वर, शोष तथा मल हरा और पतला होता है।

शुष्करेवतीग्रहपीडित के लक्षण—

जायते शुष्करेवत्यां क्रमात्सर्वाङ्गसङ्क्षयः ।

शुष्करेवती ग्रह में क्रमशः सब अङ्गों से क्षय आरंभ हो जाता है।

असाध्य लक्षण—

केशशातोऽन्नविद्वेषः स्वरदैन्यं विवर्णता ॥ २९ ॥
रोदनं गृध्रगन्धत्वं दीर्घकालानुवर्तनम् ।
उदरे ग्रन्थयो वृत्ता यस्य नानाविधं शकृत् ॥ ३० ॥
जिह्वाया निम्नता मध्ये श्यावं तालु च तं त्यजेत् ।

बालों का गिरना, अन्न में द्वेष, स्वर की दीनता, विवर्णता, रोना, गीध की सी गन्ध का होना और रोग का दूर तक बना रहना, उदर में गोल गाठें होना, नाना प्रकार का मल होना, जीभ का बीच से झुक जाना और तालु का काला पड़ना ये असाध्य लक्षण हैं। ऐसे बच्चे की चिकित्सा न करे।

भुञ्जानोऽन्नं बहुविधं यो बालः परिहीयते ॥ ३१ ॥
तृष्णागृहीतः क्षामाक्षो हन्ति तं शुष्करेवती ।

बहुत प्रकार के अन्न खाने पर भी जो बालक कमजोर होता जाता है, प्यास से पीड़ित और निर्बल आँखों वाला होता है उसको शुष्क रेवती ग्रह मार देती है।

ग्रहों के आक्रमण के कारण—

हिंसारत्यर्चनाकाङ्क्षा ग्रहग्रहणकारणम् ॥ ३२ ॥

हिंसा, रति और अर्चना की अभिलाषा से ग्रह बच्चे को पकड़ते हैं।

हिंसात्मक ग्रह के लक्षण—

तत्र हिंसात्मके बालो महान् वा स्रुतनासिकः ।
क्षतजिह्वः क्वणेद्गाढमसुखी साश्रुलोचनः ॥ ३३ ॥
दुर्वर्णो हीनवचनः पूतिगन्धिश्च जायते ।
क्षामो मूत्रपुरीषं स्वं मृद्नाति न जुगुप्सते ॥ ३४ ॥
हस्तौ चोद्यम्य संरब्धो हन्त्यात्मानं तथा परम् ।
तद्वच्च शस्त्रकाष्ठाद्यैरग्निं वा दीप्तमाविशेत् ॥ ३५ ॥
अप्सु मज्जेत्पतेत्कूपे कुर्यादन्यच्च तद्विधम् ।
तृड्दाहमोहान् पूयस्य च्छर्दनं च प्रवर्तयेत् ॥ ३६ ॥
रक्तं च सर्वमार्गेभ्यो रिष्टोत्पत्तिं च तं त्यजेत् ।

इनमें हिंसात्मक ग्रह में बालक या बड़े पुरुष की नासिका बहती है, जिह्वा पर व्रण होते हैं, जोर से शब्द करता है, बेचैन, आँखों में आंसू वाला, नष्टच्छाय, स्वल्पवाक् और सड़ी-बुरी गन्ध का हो जाता है। कृश और अपने मल-मूत्र को मलते हुए घृणा अनुभव नहीं करता, हाथों को ऊंचा उठा कर क्रोध से अपने को या दूसरों को मारता है। इसी प्रकार शस्त्र, काष्ठ आदि से मारता है, अथवा जलती अग्नि में प्रवेश करता है, पानी में डूबता है, कुएं में गिरता है, अथवा अन्य इसी प्रकार के काम करता है। प्यास, दाह, मूर्च्छा, पूय का वमन, सब मार्गों से रक्तस्राव और अरिष्ट लक्षणों की उत्पत्ति होती है। इसकी चिकित्सा न करे।

रतिकाम-ग्रहपीडित के लक्षण—

रहःस्त्रीरतिसंलापगन्धस्रग्भूषणप्रियः ॥ ३७ ॥
हृष्टः शान्तश्च दुःसाध्यो रतिकामेन पीडितः ।

रतिकाम से पीड़ित शिशु या पुरुष एकान्त में स्त्री से सम्भोग और बातचीत करता है, गन्ध, माला, भूषण में प्रेम रखता है, प्रसन्न तथा शान्त होता है, यह कष्टसाध्य है।

पूजाकामी ग्रह के लक्षण तथा चिकित्सा—

दीनः परिमृशन् वक्त्रं शुष्कौष्ठगलतालुकः ॥ ३८ ॥
शङ्कितं वीक्षते रौति ध्यायत्यायाति दीनताम् ।
अन्नमन्नाभिलाषेऽपि दत्तं नाति बुभुक्षते ॥ ३९ ॥
गृहीतं बलिकामेन तं विद्यात्सुखसाधनम् ।
हन्तुकामं जयेद्धोमैः सिद्धमन्त्रप्रवर्तितैः ॥ ४० ॥
इतरौ तु यथाकामं रतिबल्यादिदानतः ।

अर्चना की अभिलाषा में बालक दीन हो कर मुख को छूता है, इसके ओठ, गला और तालु सूख जाते हैं। वह शंका के साथ देखता है, रोता है, चिन्ता करता है, क्षीण बन जाता है, अतिशय भूख और इच्छा होने पर भी दिये हुए अन्न को नहीं खाता, इसको बलि की इच्छा से पकड़ा हुआ जाने, यह सुखसाध्य है।

चिकित्सा—हिंसा की इच्छा वाले ग्रह की सिद्ध मन्त्रों से प्रवर्तित होम द्वारा चिकित्सा करे। रति और अर्चना की इच्छा वालों की उनकी इच्छानुसार रति, बलि आदि के देने से चिकित्सा करे।

परिषेक और धूपन विधि—

अथ साध्यग्रहं बालं विविक्ते शरणे स्थितम् ॥ ४१ ॥
त्रिरह्नः सिक्तसंमृष्टे सदा सन्निहितानले।
विकीर्णभूतिकुसुमपत्रबीजान्नसर्षपे ॥ ४२ ॥
रक्षोघ्नतैलज्वलितप्रदीपहतपाप्मनि।
व्यवायमद्यपिशितनिवृत्तपरिचारके ॥ ४३ ॥
पुराणसर्पिषाऽभ्यक्तं परिषिक्तं सुखाम्बुना।
साधितेन बलानिम्बवैजयन्तीनृपद्रुमैः ॥ ४४ ॥
पारिभद्रककट्वङ्गजम्बूवरुणकट्तृणैः।
कपोतवङ्काऽपामार्गपाटलामधुशिग्रुभिः ॥ ४५ ॥
काकजङ्घामहाश्वेताकपित्थक्षीरिपादपैः।
सकदम्बकरञ्जैश्च, धूपं स्नातस्य चाचरेत् ॥ ४६ ॥
द्वीपिव्याघ्राहिसिंहर्क्षचर्मभिर्घृतमिश्रितैः।

मंगलाचार करके साध्य ग्रह वाले बालक को पवित्र-निर्भय और एकान्त गृह में रखे, दिन में तीन बार जल से और झाड़ू से सफाई करे, सदा अग्नि को पास में रखे। राख, धूल, पत्ते, बीज, अन्न और सरसों को चारों ओर बिखेर रक्खे। सरसों के तेल का दिया जला कर पापों (अन्धकार) को नष्ट करे। परिचारक मैथुन, मद्य, मांस से दूर रहें। बच्चे को पुराने घी से अभ्यंग करके बला, नीम, वैजयन्ती (गणिकारिका, जयन्ती), अमलतास, पारिभद्रक, श्योनाक, जामुन, वरणा, कत्तृण, सुवर्चला, चिरचिटा, पाटला, मीठा सहजन, काकजंघा (मसी या गुंजा-शिवदास सेन), कटभी, कैथ, बरगद, गूलर आदि दूध वाले वृक्षों की छाल, कदम्ब और करंज, इनसे सिद्ध किये गरम जल से बच्चे को स्नान करायें। स्नान के उपरान्त चीता, व्याघ्र, सांप, सिंह और भालू; इनकी त्वचा को घी में मिलाकर धूप देवे।

पूतीदशाङ्गसिद्धार्थवचाभल्लातदीप्यकैः ॥ ४७ ॥
सकुष्ठैः सघृतैर्धूपः सर्वग्रहविमोक्षणः।

करञ्ज, दशाङ्ग, सरसों; वच, भिलावा, अजवायन, कूठ, इनको घी में मिलाकर धूप देवे। यह धूप सब ग्रहों से छुड़ाने वाला है।

वक्तव्य—दशाङ्ग-वचाहिंगुविडङ्गानि सैन्धवं गजपिप्पली।
पाठा प्रतिविषा व्योषं दशांगी परिकीर्तिता॥

दूसरे आचार्य दशांग से-मूल, त्वचा, पत्र, सार, पुष्प, फल, शुंग, स्वरस, कांटे और दूध लेते हैं, वह विचारणीय है। श्री शिवदास सेन तथा अरुणदत्त ने पूर्वोक्त दशांग को ग्रहण किया है। हृदय उ. अ ३७।२७ में यही दशांग धूप कहा है।

सर्षपा निम्बपत्राणि मूलमश्वखुरा वचा ॥ ४८ ॥
भूर्जपत्रं घृतं धूपः सर्वग्रहनिवारणः।

सरसों, नीम के पत्ते, पीपरामूल, अश्वखुरा, वच, भोजपत्र, घृत इनका धूप सब ग्रहों का निवारण करता है।

(अश्वखुरा = गिरिकर्णिका या घोड़े का खुर)

अन्य प्रयोग—

अनन्ताम्रास्थितगरं मरिचं मधुरो गणः ॥ ४९ ॥
शृगालविन्ना मुस्ता च कल्कितैस्तैर्घृतं पचेत्।
दशमूलरसक्षीरयुक्तं तद् ग्रहजित्परम् ॥ ५० ॥

अनन्ता, आम की गुठली, तगर, मरिच; जीवन्त्यादि मधुरगण, पृश्निपर्णी, मुस्ता; इनके कल्क से दशमूल के क्वाथ और दूध के साथ घृत सिद्ध करे। यह घृत ग्रहनाशक श्रेष्ठ है। (दशमूल का क्वाथ दूध से तीन गुण; तथा घी के बराबर दूध लेवे)।

बालहितकारी घृत—

रास्नाद्वयंशुमतीवृद्धपञ्चमूलबलाघनात्।
क्वाथे सर्पिः पचेत्पिष्टैः सारिवाव्योषचित्रकैः ॥ ५१ ॥
पाठाविडङ्गमधुकपयस्याहिङ्गुदारुभिः।
सग्रन्थिकैः सेन्द्रयवैः शिशोस्तत्सततं हितम् ॥ ५२ ॥
सर्वरोगग्रहहरं दीपनं बलवर्णदम्।

रास्ना, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहत्पंचमूल, बला, मोथा; इनके क्वाथ में सारिवा, त्रिकटु, चित्रक, पाठा, विडंग, मुलहठी, विदारी, हींग, देवदारु, पिप्पलीमूल, इन्द्रयव; इनके कल्क से घी सिद्ध करे। यह घृत बच्चे के लिये सदा उपयोगी, सब रोग, तथा सब ग्रहनाशक, अग्निदीपक, बल और वर्ण को देने वाला है।

बालग्रहनाशक घृत—

सारिवासुरभिब्राह्मीशङ्खिनीकुष्ठसर्षपैः ॥ ५३ ॥
वचाऽश्वगन्धासुरसयुक्तैः सर्पिर्विपाचयेत्।
तन्नाशयेद् ग्रहान् सर्वान् पानेनाभ्यञ्जनेन च ॥ ५४ ॥

सारिवा, शल्लकी, ब्राह्मी, शंखिनी, कूठ, सरसों, वच, अश्वगन्धा, तुलसी; इनके साथ घी सिद्ध करे। इस घी के पान और अभ्यंग से सब ग्रह नष्ट होते हैं।

बालग्रह-नाशक धूप—

गोशृङ्गचर्मवालाहिनिर्मोकं वृषदंशविट्।
निम्बपत्राज्यकटुकामदनं बृहतीद्वयम् ॥ ५५ ॥
कार्पासास्थियवच्छागरोमदेवाह्वसर्षपम्।
मयूरपत्रश्रीवासं तुषकेशं सरामठम् ॥ ५६ ॥

मृद्भाण्डे बस्तमूत्रेण भावितं श्लक्ष्णचूर्णितम्।
धूपनं च हितं सर्वभूतेषु विषमज्वरे ॥ ५७ ॥

गाय के सींग, चमड़ा तथा बाल, सांप की केंचुली, बिल्ली की विष्ठा, नीम के पत्ते, घी, कुटकी, मैनफल, कटेरी, बड़ी कटेरी, बिनौला, जौ, बकरे के रोम, देवदारु, सरसों, मोरपिच्छ, श्रीवास (राल), तुष, बाल, हींग, इनको मिट्टी के पात्र में बकरे के मूत्र से भावित करके बारीक चूर्ण बनाकर धूप देना हितकारी है। सब भूतों में और विषमज्वर में इनका धूप उत्तम है।

भूतविद्या के ग्रन्थ—

घृतानि भूतविद्यायां वक्ष्यन्ते यानि तानि च।
युञ्ज्यात्तथा बलिं होमं स्नपनं मन्त्रतन्त्रवित् ॥५८॥

भूतविद्या में जो घृत कहे जायेंगे, उनको तथा मन्त्र और तन्त्र को जानने वाला वैद्य बलि, होम और स्नान को बरते।

स्नानार्थ जल—

पूतीकरञ्ज(नाटा)त्वक्पत्रं क्षीरिभ्यो वर्बरादपि।
तुम्बीविशालारलुकशमीबिल्वकपित्थतः ॥ ५९ ॥
उत्क्वाथ्य तोयं तद्रात्रौ बालानां स्नपनं शिवम्।

नाटा करंज तथा बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के पत्ते और छाल, बर्बर (बावरी) वृक्ष, तुम्बी, इन्द्रायण, श्योनाक, शमी (जड़), बिल्व, कैथ के पत्ते और छाल इनका क्वाथ करके इस जल से बच्चे को रात्रि में स्नान कराना उत्तम मंगलमय है।

अन्य उपचार—

अनुबन्धान् यथाकृच्छ्रं ग्रहापायेऽप्युपद्रवान् ॥६०॥
बालामयनिषेधोक्तभेषजैः समुपाचरेत् ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाम्
अष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने बालग्रह-
प्रतिषेधो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

◆

ग्रहावेश के समय जो ज्वर आदि उपद्रव होते हैं, उन उपद्रवों की ग्रह के हट जाने पर भी बने रहने पर बालरोगप्रतिषेध में कही औषधियों से भली प्रकार चिकित्सा करनी चाहिये।[1]

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में छठे उत्तरस्थान का बालग्रह-
प्रतिषेधनामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो भूतविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे भूतविज्ञानीय-अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

भूतग्रह के लक्षण—

लक्षयेज्ज्ञानविज्ञानवाक्चेष्टाबलपौरुषम्।
पुरुषेऽपौरुषं यत्र तत्र भूतग्रहं वदेत् ॥ १ ॥
भूतस्य रूपप्रकृतिभाषागत्यादिचेष्टितैः।
यस्यानुकारं कुरुते तेनाविष्टं तमादिशेत् ॥ २ ॥

जहां पुरुष में ज्ञान (लौकिक शब्दावबोधमात्र), विज्ञान (अवबोध), वाणी, चेष्टा, बल, पौरुष; ये सामान्य पुरुष से अतिरिक्त दिखाई देवे, वहाँ भूतग्रह-भूतबाधा कहे। (ज्ञान-शास्त्रज्ञान, विज्ञान शिल्पज्ञान, शास्त्रनिश्चय। पौरुष-पराक्रम)।

जिस भूत के रूप, प्रकृति (स्वभाव), भाषण, गति आदि चेष्टाओं का पुरुष अनुकरण करे; उस भूत से आक्रान्त उस पुरुष को जाने।

भूतों के अट्ठारह भेद—

सोऽष्टादशविधो देवदानवादिविभेदतः।

यह भूतावेश देव—राक्षसादि के भेद से अट्ठारह प्रकार का है।

भूतानुषङ्ग में कारण—

हेतुस्तदनुषक्तौ तु सद्यः पूर्वकृतोऽथवा ॥ ३ ॥
प्रज्ञापराधः, सुतरां तेन कामादिजन्मना।
लुप्तधर्मव्रताचारः पूज्यानप्यतिवर्तते ॥ ४ ॥
तं तथा भिन्नमर्यादं पापमात्मोपघातिनम्।
देवादयोऽप्यनुघ्नन्ति ग्रहाश्छिद्रप्रहारिणः ॥ ५ ॥

भूत के आवेश में तत्काल किया प्रज्ञापराध अथवा पूर्वजन्मकृत प्रज्ञापराध कारण है। काम, क्रोध आदि से उत्पन्न इस प्रज्ञापराध से सम्पूर्ण रूप में धर्म, व्रत और आचार के नष्ट हो जाने से पूज्यों का भी तिरस्कार करता है। इस प्रकार मर्यादा को भंग करने वाले इस पापी, आत्मघात करने वाले को छिद्र पर चोट करने वाले देवादि भी पीछे मारते हैं।

ग्रहों से गृहीत होने के अवसर—

छिद्रं पापक्रियारम्भः पाकोऽनिष्टस्य कर्मणः।
एकस्य शून्येऽवस्थानं श्मशानादिषु वा निशि ॥ ६ ॥
दिग्वासस्त्वं गुरोर्निन्दा रतेरविधिसेवनम्।
अशुचेर्दैवतार्चादि परसूतकसङ्करः ॥ ७ ॥
होममन्त्रबलीज्यानां विगुणं परिकर्म च।
समासाद्दिनचर्यादिप्रोक्ताचारव्यतिक्रमः ॥ ८ ॥

छिद्र-आवेश करने का अवसर, पापकार्य का प्रारम्भ, अशुभ कर्म का परिपाककाल, अकेले ही शून्य स्थान में

---

[1] इन तीन अध्यायों में कौमारभृत्य (तीसरे अंग) का वर्णन हुआ है। तन्त्रान्तरोक्त अन्य बालरोगों और ग्रहों के लक्षण तथा चिकित्सा का विशद वर्णन श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी लिखित 'कौमारभृत्यम्' में देखें।

स्थिति अथवा श्मशान आदि में रात्रि में रहना; नंगा रहना, गुरु की निन्दा, अविधिपूर्वक मैथुन; अपवित्र होकर देवता आदि की पूजा करना, अपनी जाति से भिन्न के सूतक का संश्लेष, होम, मंत्र, बलि, यज्ञ का विपरीत अनुष्ठान और प्रतिभंग; संक्षेप में दिनचर्यादि में कहे आचार का व्यतिक्रम करना ग्रहों के छिद्रप्रहार का अवसर होता है।

भूतग्रहण का समय—

गृह्णन्ति शुक्लप्रतिपत्त्रयोदश्योः सुरा नरम् ।
शुक्लत्रयोदशीकृष्णद्वादश्योर्दानवा ग्रहाः ॥ ९ ॥
गन्धर्वास्तु चतुर्दश्यां द्वादश्यां चोरगाः पुनः ।
पञ्चम्यां, शुक्लसप्तम्येकादश्योस्तु धनेश्वराः ॥ १० ॥
शुक्लाष्टपञ्चमीपौर्णमासीषु ब्रह्मराक्षसाः ।
कृष्णे रक्षःपिशाचाद्या नवद्वादशपर्वसु ॥ ११ ॥
दशामावास्ययोरष्टनवम्योः पितरोऽपरे ।
गुरुवृद्धाद्यः प्रायः कालं सन्ध्यासु लक्षयेत् ॥ १२ ॥

देवता लोग शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा और त्रयोदशी में पुरुष को आक्रान्त करते हैं। शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी में और कृष्ण पक्ष की द्वादशी में राक्षस ग्रह आक्रान्त करते हैं; गन्धर्व चतुर्दशी और द्वादशी में, सर्पग्रह पंचमी में; यक्ष शुक्ल पक्ष की सप्तमी और एकादशी में; ब्रह्मराक्षस शुक्ल पक्ष की अष्टमी, पंचमी और पौर्णमासी में; राक्षस-पिशाच आदि कृष्ण पक्ष की नवमी और द्वादशी तथा पर्व के दिनों में; पितर दशमी और अमावस में; दूसरे गुरु, वृद्ध आदि अष्टमी और नवमी में आक्रमण करते हैं। ये ग्रह प्रायः करके सन्ध्या काल में आक्रमण करते हैं।

वक्तव्य—संग्रह में-षष्ठ्यां नवम्यां गुरुवृद्धसिद्धाः। चरक में—षष्ठ्यां नवम्यां चर्षयः, पाठ है।

देवों से गृहीत होने के लक्षण—

फुल्लपद्मोपममुखं सौम्यदृष्टिमकोपनम् ।
अल्पवाक्स्वेदविण्मूत्रं भोजनानभिलाषिणम् ॥ १३ ॥
देवद्विजातिपरमं शुचि संस्कृतवादिनम् ।
मीलयन्तं चिरान्नेत्रे सुरभि वरदायिनम् ॥ १४ ॥
शुक्लमाल्याम्बरसरिच्छैलोच्चभवनप्रियम् ।
अनिद्रमप्रधृष्यं च विद्याद् देववशीकृतम् ॥ १५ ॥

विकसित कमल के समान कान्त मुख वाला, अविकृत-शान्त दृष्टि, कोपरहित, थोड़ा बोलने वाला; स्वेद मल-मूत्र कम, भोजन की अनिच्छा वाला, देवता और ब्राह्मण की आराधना में तत्पर, पवित्र, संस्कृत (अपशब्द न) बोलने वाला, देर से पलक मारने वाला सुरभि-सुगन्धि शरीर; सबको वर देने वाला, श्वेत माला, वस्त्र, नदी, पर्वत, ऊँचे मकान को चाहने वाला, (भयभीत), नींद रहित, किसी से तिरस्कृत न होने वाला मनुष्य देवता से वशीभूत हुआ जानना चाहिये।

दैत्यग्रह से गृहीत होने के लक्षण—

जिह्मदृष्टिं दुरात्मानं गुरुदेवद्विजद्विषम् ।
निर्भयं मानिनं शूरं क्रोधनं व्यवसायिनम् ॥ १६ ॥
रुद्रः स्कन्दो विशाखोऽहमिन्द्रोऽहमिति वादिनम् ।
सुरामांसरुचिं विद्याद् दैत्यग्रहगृहीतकम् ॥ १७ ॥

कुटिलदृष्टि, दुष्टस्वभाव, गुरु, देवता और ब्राह्मण से द्वेष करने वाला, भयरहित, घमण्डी, धैर्यशाली, क्रोधी, व्यवसायी, मैं रुद्र हूँ, स्कन्द हूँ, विशाख हूँ, इन्द्र हूँ, ऐसा कहने वाला, सुरा और मांस में रुचि रखने वाला ऐसे मनुष्य को दैत्य ग्रह से आक्रान्त जानना।

गन्धर्व से गृहीत होने के लक्षण—

स्वाचारं सुरभिं हृष्टं गीतनर्तनकारिणम् ।
स्नानोद्यानरुचिं रक्तवस्त्रमाल्यानुलेपनम् ॥ १८ ॥
शृङ्गारलीलाभिरतं गन्धर्वाध्युषितं वदेत् ।

गन्धर्व से आक्रान्त मनुष्य शोभन आचार का, सुगन्धित, प्रसन्न, गाने-नाचने वाला, स्नान और बगीचों में रुचि वाला, लाल वस्त्र, माला और चन्दन आदि लेप को चाहने वाला; और शृङ्गार की लीला में अभिरत होता है।

सर्प ग्रह से गृहीत के लक्षण—

रक्ताक्षं क्रोधनं स्तब्धदृष्टिं वक्रगतिं चलम् ॥ १९ ॥
श्वसन्तमनिशं जिह्वालोलिनं सृक्किणीलिहम् ।
प्रियदुग्धगुडस्नानमधोवदनशायिनम् ॥ २० ॥
उरगाधिष्ठितं विद्यात्त्रस्यन्तं चातपत्रतः ।

लाल आँखों का, क्रोधी, निश्चल दृष्टि, कुटिलगति, अस्थिर, निरन्तर श्वास छोड़ने वाला, जीभ को चलाने वाला, ओठों को चाटने वाला, दूध, गुड़, स्नान में रुचि वाला; मुख को नीचे करके सोने-वाला तथा छतरी से डरने वाला मनुष्य सर्पग्रह से आक्रान्त होता है।

वक्तव्य—इसीलिये रात्रि में छाता लेकर चलने का विधान किया है कि सांप छाते की छाया से डर कर दूर हो जाते हैं।

यक्षग्रह से गृहीत होने के लक्षण—

विप्लुतत्रस्तरक्ताक्षं शुभगन्धं सुतेजसम् ॥ २१ ॥
प्रियनृत्यकथागीतस्नानमाल्यानुलेपनम् ।
मत्स्यमांसरुचिं हृष्टं तुष्टं बलिनमव्यथम् ॥ २२ ।
चलिताग्रकरं कस्मै किं ददामीति वादिनम् ।
रहस्यभाषिणं वैद्यद्विजातिपरिभाविनम् ॥ २३ ॥
अल्परोषं द्रुतगतिं विद्याद्यक्षगृहीतकम् ।

चंचल, डरी और लाल आँखों का, शोभन गन्ध वाला, कान्तिशाली, नृत्य, कथा, गीत, स्नान, माला, अनुलेपन में प्रेम रखने वाला; मछली और मांस में रुचि, सन्तोषी, बलशाली, स्वस्थ, हाथ के छोर को हिलाने वाला, किस के लिये क्या दूं—ऐसा कहने वाला, गुप्त बातें करने वाला; वैद्य द्विजाति का अपमान करने वाला, थोड़े क्रोध वाला, जल्दी चलने वाला मनुष्य यक्ष से आक्रान्त जानना।

ब्रह्मराक्षस से गृहीत होने के लक्षण—

हास्यनृत्यप्रियं रौद्रचेष्टं छिद्रप्रहारिणम् ॥ २४ ॥
आक्रोशिनं शीघ्रगतिं देवद्विजभिषग्द्विषम् ।
आत्मानं काष्ठशस्त्राद्यैर्घ्नन्तं भोःशब्दवादिनम् ॥२५॥
शास्त्रवेदपठं विद्याद् गृहीतं ब्रह्मराक्षसैः ।

हास्य तथा नाच में प्रेम रखने वाला; भैरव क्रिया करने वाला, गुस्से वाला; शीघ्रगति; देवता, ब्राह्मण, वैद्य से द्वेष करने वाला; अपने को लकड़ी या शस्त्र आदि से मारने वाला, भोः ! शब्द कहने वाला (डाँट कर बुलाने वाला), शास्त्र एवं वेद-पाठ में रत ! मनुष्य को ब्रह्मराक्षस से आक्रान्त जाने ।

राक्षस से गृहीत होने के लक्षण—

सक्रोधदृष्टिं भ्रूकुटिमुद्वहन्तं ससंभ्रमम् ॥ २६ ॥
प्रहरन्तं प्रधावन्तं शब्दन्तं भैरवाननम् ।
अन्नाद्विनाऽपि बलिनं नष्टनिद्रं निशाचरम् ॥ २७ ॥
निर्लज्जमशुचिं शूरं क्रूरं परुषभाषिणम् ।
रोषणं रक्तमाल्यस्त्रीरक्तमद्यामिषप्रियम् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा च रक्तं मांसं वाऽऽलिहानं दशनच्छदौ ।
हसन्तमन्नकाले च राक्षसाधिष्ठितं वदेत् ॥ २९ ॥

क्रोधयुक्त दृष्टि वाला; भौंहों को ऊँचा किये, गुस्से के साथ, मारते हुए, दौड़ते हुए, शब्द करते हुए, भीषण मुख वाला; अन्न के बिना भी बलवान, नींद-रहित, रात में घूमने वाला, लज्जारहित, अपवित्र, शूर, क्रूर, कठोर बोलने वाला, क्रोधी; लाल माला, स्त्री, रक्त, मद्य और मांस में रुचि वाला, रक्त या मांस को देखकर ओठों को चाटने वाला तथा भोजन के समय हँसने वाला मनुष्य राक्षस से अधिष्ठित होता है ।

पिशाच से गृहीत होने के लक्षण—

अस्वस्थचित्तं नैकत्र तिष्ठन्तं परिधाविनम् ।
उच्छिष्टनृत्यगान्धर्वहासमद्यामिषप्रियम् ॥ ३० ॥
निर्भर्त्सनाद्दीनमुखं रुदन्तमनिमित्ततः ।
नखैर्लिखन्तमात्मानं रूक्षध्वस्तवपुःस्वरम् ॥ ३१ ॥
आवेदयन्तं दुःखानि सम्बद्धाबद्धभाषिणम् ।
नष्टस्मृतिं शून्यरतिं लोलं नग्नं मलीमसम् ॥ ३२ ॥
रथ्याचैलपरीधानं तृणमालाविभूषणम् ।
आरोहन्तं च काष्ठाश्वं तथा सङ्कुरकूटकम् ॥ ३३ ॥
बह्वाशिनं पिशाचेन विजानीयादधिष्ठितम् ।

अस्वस्थ मन; एक स्थान पर न ठहरने वाला, दौड़ता रहने वाला; झूठ, नृत्य, गान्धर्व (नाचना गाना), हास्य, मद्य तथा मांस में रुचि वाला; डाटने से दब जाने वाला, बिना कारण के रोने वाला, अपने शरीर को नखों से खुरचने वाला, रूक्षशरीर, स्तब्धस्वर, दुःखों को कहने वाला, युक्तायुक्त (बेमौके) बोलने वाला, नष्टस्मृति, निर्जन स्थान में रति रखने वाला; चपल, नंगा, मलीमस-मलिन, मार्ग में पड़े हुए वस्त्र के टुकड़ों को पहनने वाला, तिनकों की माला से अलंकृत रहने वाला, लकड़ी के घोड़े या कूड़े के ढेर पर चढ़ने वाला और बहुत खाने वाला: ऐसे मनुष्य को पिशाच ग्रह से अधिष्ठित जानना चाहिये ।

प्रेत से गृहीत होने के लक्षण—

प्रेताकृतिक्रियागन्धं भीतमाहारविद्विषम् ॥ ३४ ॥
तृणच्छिदं च प्रेतेन गृहीतं नरमादिशेत् ।

प्रेत के समान आकृति, चेष्टा एवं गन्धवाला; डरपोक, आहार से द्वेष रखने वाला, तिनके को तोड़ने वाला मनुष्य प्रेत ग्रह से पकड़ा हुआ जानना ।

कूष्माण्ड से गृहीत होने के लक्षण—

बहुप्रलापं कृष्णास्यं प्रविलम्बितयायिनम् ॥ ३५ ॥
शूनप्रलम्बवृषणं कूष्माण्डाधिष्ठितं वदेत् ।

बहुत बोलने वाला, काले मुख वाला, रुक-रुक कर (बहुत धीमे) चलने वाला, सूजे एवं लटकते वृषणों वाला मनुष्य कूष्माण्ड से आक्रान्त जानना ।

निषाद से गृहीत होने के लक्षण—

गृहीत्वा काष्ठलोष्टादि भ्रमन्तं चीरवाससम् ॥ ३६ ॥
नग्नं धावन्तमुत्त्रस्तदृष्टिं तृणविभूषणम् ।
श्मशानशून्यायतनरथ्यैकद्रुमसेविनम् ॥ ३७ ॥
तिलान्नमद्यमांसेषु सततं सक्तलोचनम् ।
निषादाधिष्ठितं विद्याद् वदन्तं परुषाणि च ॥ ३८ ॥

काष्ठ, लकड़ी या ढेला को नचाने वाला, फटा वस्त्र पहने या नंगा घूमता या दौड़ता हुआ, चंचल दृष्टि, तिनकों से विभूषित, श्मशान, शून्यस्थान, वधस्थान, गली या एक वृक्ष के पास रहने वाला, निरन्तर तिल भोजन, मद्य और मांस में दृष्टि लगाने और कठोर बोलने वाला, ऐसे मनुष्य को निषाद से अधिष्ठित जानना ।

औकिरण से गृहीत होने के लक्षण—

याचन्तमुदकं चान्नं त्रस्तलोहितलोचनम् ।
उग्रवाक्यं च जानीयान्नरमौकिरणार्दितम् ॥ ३९ ॥

अन्न और पानी मांगने वाले, भय युक्त, लाल आंखों वाले और तीखे वचन बोलने वाले मनुष्य को औकिरण से पीड़ित जानना ।

बेताल से गृहीत होने के लक्षण—

गन्धमाल्यरतिं सत्यवादिनं परिवेपिनम् ।
बहुनिद्रं च जानीयाद्वेतालेन वशीकृतम् ॥ ४० ॥

गन्ध और माला में प्रेम रखने वाले, सत्यवादी, कांपने वाले और बहुत सोने वाले मनुष्व को वेताल से अधिष्ठित जानना ।

पितृग्रह से गृहीत होने के लक्षण—

अप्रसन्नदृशं दीनवदनं शुष्कतालुकम् ।
चलन्नयनपक्ष्माणं निद्रालुं मन्दपावकम् ॥ ४१ ॥

अपसव्यपरीधानं तिलमांसगुडप्रियम् ।
स्खलद्वाचं च जानीयात् पितृग्रहवशीकृतम् ॥ ४२ ॥

मलिन दृष्टि, दैन्ययुक्त मुख, शुष्कतालु, आँख और पलकें हिलाते हुए, निद्राशील, मन्द अग्नि, शरीर के वाम भाग में वस्त्र, जनेऊ आदि पहनने वाले, तिल, मांस, गुड़ में रुचि वाले, और रुक-रुक कर बोलने वाले को पितृग्रह से आविष्ट जाने।

सामान्य लक्षण—

गुरुवृद्धर्षिसिद्धाभिशापचिन्तानुरूपतः ।
व्याहाराहारचेष्टाभिर्यथास्वं तद्ग्रहं वदेत् ॥ ४३ ॥

गुरु, वृद्ध, ऋषि, सिद्ध और आचार्यों के अभिशाप-जनित चिन्ता के अनुकूल व्याहार, आहार और चेष्टाओं से उनके अपने-अपने ग्रह को कहे।

ग्रहगृहीत का असाध्य लक्षण—

कुमारवृन्दानुगतं नग्नमुद्धतमूर्धजम् ।
अस्वस्थमनसं दैर्घ्यकालिकं सग्रहं त्यजेत् ॥ ४४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने भूतविज्ञानीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

कुमार के समूहों से व्याप्त (लड़कों से घिरा), नंगा, हिलते (खड़े) बालों वाले, पीड़ित चित्त, बहुत काल से ग्रह से आक्रान्त मनुष्य को छोड़ दे, उसकी चिकित्सा न करे।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का भूतविज्ञानीय नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो भूतप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे भूतप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

भूतग्रह-चिकित्सा—

भूतं जयेदहिंसेच्छं जपहोमबलिव्रतैः ।
तपःशीलसमाधानदानज्ञानदयादिभिः ॥ १ ॥

अहिंसा की इच्छा वाले (बलि या रति की कामना वाले) भूत को जप, होम, बलि, व्रत, तप, शील, समाधान, दान, ज्ञान और दया आदि से शान्त करे।

ग्रहभूतनाशक हिंग्वादि योग—

हिङ्गुव्योषालनैपालीलशुनार्कजटाजटाः ।
अजलोमी सगोलोमी भूतकेशी वचा लता ॥ २ ॥
कुक्कुटी सर्पगन्धाख्या तिलाः काण(ल)विषाणिके ।
वज्रप्रोक्ता वयःस्था च शृङ्गी मोहनवल्ल्यपि ॥ ३ ॥
स्रोतोजाञ्जनरक्षोघ्नं रक्षोघ्नं चान्यदौषधम् ।
खराश्वश्वाविदुष्ट्रर्क्षगोधानकुलशल्यकात् ॥ ४ ॥
द्वीपिमार्जारगोसिंहव्याघ्रसामुद्रसत्त्वतः ।
चर्मपित्तद्विजनखा वर्गेऽस्मिन् साधयेद् घृतम् ॥ ५ ॥
पुराणमथवा तैलं नवं तत्पाननस्ययोः ।
अभ्यङ्गे च प्रयोक्तव्यमेषां चूर्णं च धूपने ॥ ६ ॥
एभिश्च गुटिकां युञ्ज्यादञ्जने सावपीडने ।
प्रलेपे कल्कमेतेषां क्वाथं च परिषेचने ॥ ७ ॥
प्रयोगोऽयं ग्रहोन्मादान् सापस्माराञ्शमं नयेत् ।

हींग, त्रिकटु, हरताल, मैनसिल, लहसुन, अर्कमूल, जटामांसी, अजलोमी (श्वेत दूर्वा), गोलोमी (दूर्वा), भूतकेशी (निर्गुण्डी), वचा, प्रियंगु, कुक्कुटी (शितिवार या कुक्कुट के समान कन्द विशेष), सर्पगन्धा, तिल, काकोली, क्षीरकाकोली, वज्रकन्द (या स्नुही), आंवला, काकड़ाशृङ्गी, मोहनवल्ली (ब्राह्मी या बन्दाल), स्रोतोंजन (सुरमा), सरसों और अन्य गुग्गुलु, अजवायन आदि रक्षोघ्न औषधियां, गधा, घोड़ा, भेड़िया, ऊँट, रीछ, गोह, नेवला, शल्लकी, चीता, बिल्ली, गाय, सिंह, व्याघ्र तथा समुद्र के प्राणियों के चर्म, पित्त, दांत और नख को इस वर्ग में लेकर इनसे पुराना या नया घृत अथवा तेल सिद्ध करे। इसको पीने में, नस्य में या अभ्यंग में बरते। इनका चूर्ण धूपन में बरते। इनसे गुटिका बनाकर अञ्जन और अवपीडन में, तथा इनका कल्क प्रलेप में बरते। इनका क्वाथ परिषेचन में काम लाये। यह प्रयोग ग्रह, उन्माद और अपस्मार को नष्ट करता है।

भूतग्रहनाशक नस्य—

गजाह्वापिप्पलीमूलव्योषामलकसर्षपान् ॥ ८ ॥
गोधानकुलमार्जारझषपित्तप्रपेषितान् ।
नावनाभ्यङ्गसेकेषु विदधीत ग्रहापहान् ॥ ९ ॥

गजपिप्पली, पिप्पलीमूल, त्रिकटु, आंवला, सरसों इनको गोह, नेवला, बिल्ली और झष (मछली) इनके पित्त से पीसकर नस्य, अभ्यंग और परिषेक में बरते। ये ग्रहों को दूर करने वाले हैं।

सिद्धार्थक घृत—

सिद्धार्थकवचाहिङ्गुप्रियङ्गुरजनीद्वयम् ।
मञ्जिष्ठा श्वेतकटभी वरा श्वेताऽद्रिकर्णिका ॥ १० ॥
निम्बस्य पत्रं बीजं तु नक्तमालशिरीषयोः ।
सुराह्वं त्र्यूषणं सर्पिर्गोमूत्रे तैश्चतुर्गुणे ॥ ११ ॥
सिद्धं सिद्धार्थकं नाम पाने नस्ये च योजितम् ।
ग्रहान् सर्वान्निहन्त्याशु विशेषादासुरान् ग्रहान् ॥१२॥
कृत्याऽलक्ष्मीविषोन्मादज्वरापस्मारपाप्म च ।
एभिरेवौषधैर्वस्तवारिणा कल्पितोऽगदः ॥ १३ ॥

पाननस्याञ्जनालेपस्नानोद्धर्षणयोजितः ।
गुणैः पूर्ववदुद्दिष्टो राजद्वारे च सिद्धिकृत् ॥ १४ ॥

सरसों, वच, हींग, प्रियंगु, हल्दी, दारुहल्दी; मजीठ, श्वेत मालकांगनी, त्रिफला, श्वेत अपराजिता, नीम के पत्ते, करञ्ज और शिरीष के बीज, देवदारु, त्रिकटु इनके कल्क से घी से चौगुने गोमूत्र में सिद्ध घृत सिद्धार्थक नाम का है। इसके पीने और नस्य में बरतने से यह सब ग्रहों को विशेष कर असुर ग्रहों को शीघ्र नष्ट करता है। कृत्या, अलक्ष्मी, विष, उन्माद, ज्वर, अपस्मार और पाप को नष्ट करता है।

सरसों आदि उपर्युक्त औषधियों से बकरे के मूत्र में बनाया अगद पान, नस्य, अञ्जन, लेप, स्नान, उद्धर्षण में बरतने से पूर्व की भांति गुण करता है और राजद्वार में सफलता देता है।

सिद्धार्थकादि अगद—

सिद्धार्थकव्योषवचाऽश्वगन्धा-
निशाद्वयं हिङ्गुपलाण्डुकन्दः ।
बीजं करञ्जात् , कुसुमं शिरीषात्
फलं च वल्कं च कपित्थवृक्षात् ॥ १५ ॥
समाणिमन्थं सनतं सकुष्ठं
स्योनाकमूलं किणिही सिता च ।
बस्तस्य मूत्रेण सुभावितं तत्
पित्तेन गव्येन गुडान् विदध्यात् ॥ १६ ॥
दुष्टव्रणोन्मादतमोनिशान्धा-
नुद्बन्धकान् वारिनिमग्नदेहान् ।
दिग्धाहतान् दर्पितसर्पदष्टा-
स्ते साधयन्त्यञ्जननस्यलेपैः ॥ १७ ॥

सरसों, त्रिकटु, वच, अश्वगन्धा, हल्दी, दारुहल्दी, हींग, पलाण्डु (प्याज), करञ्ज के बीज, शिरीष के फूल, कैथ वृक्ष के फल और छाल, सैन्धव, तगर, कूठ, स्योनाक की जड़, चिरचिटा, दूर्वा, प्रियंगु इनको बकरे के मूत्र से भली प्रकार भावना देकर, गाय के पित्तके साथ गोलियां बना ले। दूषित व्रण, उन्माद, तिमिर (या अन्धकार), रात्र्यन्ध से पीड़ित तथा फांसी से मृतप्राय, पानी में डूबे हुए, विषलिप्त शस्त्र से घायल हुए और अति उल्बण विषैले सर्पों से दष्ट व्यक्ति इन गोलियों के अंजन, नस्य और लेप से स्वस्थ हो जाते हैं।

कार्पासबीजादि धूप—

कार्पासास्थिमयूरपत्रबृहतीनिर्माल्यपिण्डीतक-
त्वङ्मांसीवृषदंशविट्तुषवचाकेशाहिनिर्मोककैः ।
नागेन्द्रद्विजशृङ्गहिङ्गुमरिचैस्तुल्यैः कृतं धूपनं
स्कन्दोन्मादपिशाचराक्षससुरावेशज्वरघ्नं परम् ॥

बिनौला, मोर के पंख, बड़ी कटेरी, निर्माल्य (असवर्ग), दालचीनी, जटामांसी, बिल्ली की विष्ठा, तुष, वच, बाल (केश), सांप की केंचुली; हाथी के दांत, गाय का सींग, हींग और काली मिरच इनको समान लेकर इनसे किया धूप स्कन्द ग्रह, उन्माद, पिशाच, राक्षस, देवता; इनके आवेश तथा ज्वर को नाश करने में श्रेष्ठ है।

वक्तव्य—श्री शिवदास सेनजी ने—'पिण्डीतकत्वग्वांसी' पाठ मानकर-मैनफल की छाल, बांसकी छाल-अर्थ किया है।

भूतराव घृत—

त्रिकटुकदलकुङ्कुमग्रन्थिकक्षारसिंही-
निशादारुसिद्धार्थयुग्माम्बुशक्राह्वयैः,
सितलशुनफलत्रयोशीरतिक्तावचा-
तुत्थयष्टीबलालोहितलाशिलापद्मकैः ।
दधितगरमधूकसारप्रियाह्वाविषाख्या-
विषातार्क्ष्यशैलैः सचव्यामयैः,
कल्कितैर्घृतमनवमशेषमूत्रांशसिद्धं मतं
भूतरावाह्वयं पानतस्तद् ग्रहघ्नं परम् ॥१९॥

भूतराव घृत—त्रिकटु, तेजपत्र, केशर, पिप्पलीमूल, यवक्षार, कटेरी, हल्दी, देवदारु, श्वेत और काली दोनों सरसों, मोथा, इन्द्रजौ, श्वेत चन्दन, लहसुन, त्रिफला, खस, कुटकी, वच, तुत्थ, मुलहठी, बला, मजीठ, इलायची, शिलारस, पद्माख, दही, तगर, महुए के फूल या गुठली, गंधप्रियंगु, अतीस, काकोली, रसांजन, चव्य, कुष्ट, इनके कल्क से पुरातन घृत को गोमूत्र आदि संपूर्ण मूत्रों के समान भाग से सिद्ध करे। इस घृत को—भूतराव-नामक घृत कहते हैं। इसके पान से सब ग्रह नष्ट होते हैं।

महाभूतराव घृत—

नतमधुकरञ्जलाक्षापटोलीसमङ्गावचा-
पाटलीहिङ्गुसिद्धार्थसिंहीनिशायुग्मलतारोहिणी-
बदरकटुफलत्रिकाकाण्डदारुक्रमिघ्नाजगन्धा-
मराङ्कोल्लकोशातकीशिग्रुनिम्बाम्बुदेन्द्राह्वयैः ।
गदशुकतरुपुष्पबीजोग्रयष्ट्यद्रिकर्णीनिकुम्भा-
ग्निबिल्वैः समैः कल्कितैर्मूत्रवर्गेण सिद्धं घृतं
विधिविनिहितमाशु सर्वैः क्रमैर्योजितं हन्ति
सर्वग्रहोन्मादकुष्ठज्वरांस्तन्महाभूतरावं स्मृतम् ॥

महाभूतराव घृत—तगर, मुलहठी, करंज, लाख, पटोली, मंजीठ, वच, पाटली (पाढल), हींग, सरसों, कटेरी, हल्दी, दारुहल्दी, सारिवा, कुटकी, बेर, मरिच, त्रिफला, कौंच, देवदारु, बायविडंग, अजगन्धा, गिलोय (या निर्गुण्डी), अंकोट, कडुवी तुम्बी, सहजन, नीम, मुस्ता, इन्द्रजौ, कूठ, शिरीष के फूल और बीज, घोड़वच (या बीजोग्र बांस) ब्रह्मदंडी, गिरिकर्णिका, दंती, चित्रक, बिल्व इनके कल्क से मूत्रवर्ग में विधिपूर्वक सिद्ध किया गया घृत पान, नस्य और अभ्यंग आदि सब कल्पों द्वारा बरतने से सब ग्रह, उन्माद, कुष्ठ और ज्वर को नष्ट करता है, यह महाभूतराव घृत है।

वक्तव्य—'विधिविनिहतम्' के स्थान पर 'चिरविनिहतम्, अर्थात् पुरातन घृत अर्थ है।

ग्रहबलि कर्म का दिन—

ग्रहा गृह्णन्ति ये येषु तेषां तेषु विशेषतः।
दिनेषु बलिहोमादीन् प्रयुञ्जीत चिकित्सकः ॥२१॥

जिन दिनों में जो ग्रह पकड़ते हैं, उन दिनों में उन ग्रहों के लिए वैद्य बलि और होम आदि बरते।

ग्रहों के वश्यर्थ द्रव्य—

स्नानवस्त्रवसामांसमद्यक्षीरगुडादि च।
रोचते यद्यदा येभ्यस्तत्तेषामाहरेत्तदा ॥२२॥
रत्नानि गन्धमाल्यानि बीजानि मधुसर्पिषी।
भक्ष्याश्च सर्वे सर्वेषां सामान्यो विधिरित्ययम् ॥२३॥

स्नान, वस्त्र, वसा, मांस, मद्य, दूध, गुड़ आदि जो जिस ग्रह के लिए जब तक रुचिकर हो, वह उस दिन उस ग्रह के लिए वैद्य देवे।

रत्न, सुगन्धित माला, जौ आदि बीज, मधु, घृत और सब प्रकार के भक्ष्य देना यह सब ग्रहों के लिए सामान्य विधि है।

ग्रहों को बलि देने के योग्य स्थान—

सुरर्षिगुरुवृद्धेभ्यः सिद्धेभ्यश्च सुरालये।
दिश्युत्तरस्यां तत्रापि देवायोपहरेद् बलिम् ॥२४॥
पश्चिमायां यथाकालं दैत्यभूताय चत्वरे।
गन्धर्वाय गवां मार्गे सवस्त्राभरणं बलिम् ॥२५॥
पितृनागग्रहे नद्यां नागेभ्यः पूर्वदक्षिणे।
यक्षाय यक्षायतने सरितोर्वा समागमे ॥२६॥
चतुष्पथे राक्षसाय भीमेषु गहनेषु च।
रक्षसां दक्षिणस्यां तु पूर्वस्यां ब्रह्मरक्षसाम् ॥२७॥
शून्यालये पिशाचाय पश्चिमां दिशमास्थिते।

देवता, ऋषि, गुरु, वृद्ध और सिद्ध के लिये देवमन्दिर में बलि देवे। इनमें भी विशेष कर देव के लिये उत्तर दिशा में बलि देवे। दैत्य, भूत के लिये पश्चिम दिशा में चत्वर चौरी=चबूतरा पर समय के अनुसार बलि देवे। गन्धर्व के लिये वस्त्र और आभूषण के साथ बलि को गौओं के मार्ग में देवे। पितर तथा नाग ग्रहों के लिये नदी में, नागों के लिये पूर्व-दक्षिण दिशा में बलि देवे। यक्ष के लिये यक्ष-देव-क्षेत्र में या नदियों के संगम में बलि देवे। ब्रह्मराक्षसों के लिये चतुष्पथ (चौराहे) में और गहन-भयानक वनों में बलि देवे। राक्षसों के लिये दक्षिण दिशा में और ब्रह्मराक्षसों के लिये पूर्व दिशा में बलि देवे। पश्चिम दिशा में स्थित शून्य स्थान में पिशाच के लिये बलि देवे।

देवग्रहों के वश्यर्थ द्रव्य—

शुचिशुक्लानि माल्यानि गन्धाः क्षैरेयमोदनम् ॥२८॥
दधि च्छत्रं च धवलं देवानां बलिरिष्यते।

पवित्र एवं श्वेत मालायें, सुगन्धित, दूध से बनाया भात (खीर), दही और श्वेत छत्र देवताओं की बलि है।

देवग्रहनाशक हिंग्वादि घृत—

हिङ्गुसर्षपषड्ग्रन्थाव्योषैरर्धपलोन्मितैः ॥ २९ ॥
चतुर्गुणे गवां मूत्रे घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
तत्पाननावनाभ्यङ्गैर्देवग्रहविमोक्षणम् ॥ ३० ॥

हींग, सरसों, वच, त्रिकटु प्रत्येक आधा पल, घी एक प्रस्थ, गोमूत्र चार प्रस्थ, इससे घृत पकाये। इस घी के पान नस्य और अभ्यंग से देवग्रहों से छुटकारा मिलता है।

देवग्रहनाशक नस्य तथा अञ्जन—

नस्याञ्जनं वचाहिङ्गुलशुनं बस्तवारिणा।

नस्य और अञ्जन के लिये वच, हींग और लहसुन को बकरे के मूत्र से बरते।

दैत्यों को बलि देने के योग्य द्रव्य—

दैत्ये बलिर्बहुफलः सोशीरकमलोत्पलः ॥ ३१ ॥

दैत्य में बहुत से फल, खश, कमल और उत्पल की (बहुत अधिक मात्रा में) बलि देनी चाहिये।

नागग्रहों के वश्यर्थ द्रव्य तथा नस्याञ्जन—

नागानां सुमनोलाजगुडापूपगुडौदनैः।
परमान्नमधुक्षीरकृष्णमृन्नागकेसरैः ॥ ३२ ॥
वचापद्मपुरोशीररक्तोत्पलदलैर्बलिः।
श्वेतपद्मं च रोध्रं च तगरं नागसर्षपाः ॥ ३३ ॥
शीतेन वारिणा पिष्टं नावनाञ्जनयोर्हितम्।

नागों (सर्पों) के लिये चमेली आदि के फूल, लाजा, गुड़ से बनाये अपूप (गुलगुले), गुड़ से बनाये चावल, पायस (खीर), मधु, दूध, काली मिट्टी, नागकेसर, वचा, कमल, गुग्गुलु, खस और लाल कमल के पत्ते की बलि देवे।

श्वेत कमल, लोध, तगर, नागकेसर, सरसों, इनको शीतल जल से पीस कर नस्य और अञ्जन में बरतना हितकर है।

यक्षग्रहों की बलि तथा नस्याञ्जन—

यक्षाणां क्षीरदध्याज्यमिश्रकौदनगुग्गुलु ॥ ३४ ॥
देवदारूत्पलं पद्ममुशीरं वस्त्रकाञ्चनम्।
हिरण्यं च बलिर्योज्यो, मूत्राज्यक्षीरमेकतः ॥ ३५ ॥
सिद्धं समोन्मितं पाननावनाभ्यञ्जने हितम्।
हरीतकी हरिद्रे द्वे लशुनो मरिचं वचा ॥ ३६ ॥
निम्बपत्रं च बस्ताम्बुकल्कितं नावनाञ्जनम्।

यक्षों के लिये दूध, दही और घी से मिला भात, गुग्गुलु, देवदारु, कमल, लाल कमल, खस, वस्त्र और स्वर्ण के बने आभूषण की बलि देनी चाहिये।

गोमूत्र, घी और दूध सम भाग मिला कर एक साथ पकाये। इसको पीने में, नस्य में और अभ्यंग में बरतना उत्तम है।

हरड़, हल्दी, दारुहल्दी, लहसुन, मरिच, नीम के पत्ते इनको बकरी के मूत्र से पीसकर नस्य और अञ्जन करे।

ब्रह्मराक्षसों की बलि—

ब्रह्मरक्षोबलिः सिद्धं यवानां पूर्णमाढकम् ॥ ३७ ॥
तोयस्य कुम्भः पललं छत्रं वस्त्रं विलेपनम् ।

ब्रह्मराक्षस के लिये जौ को पकाकर एक आढक, भरा पानी का घड़ा, मांस, छाता, वस्त्र और चन्दनादि लेप बलि है।

वक्तव्य—आढक शब्द यहां पात्रवाची है, न कि मानवाची, यह अरुणदत्त की मान्यता है।

ब्रह्मराक्षसभयनाशक घृत—

गायत्रीविंशतिपलक्वाथेऽर्धपलिकैः पचेत् ॥ ३८ ॥
त्र्यूषणत्रिफलाहिङ्गुषड्ग्रन्थामिशिसर्षपैः ।
सनिम्बपत्रलशुनैः कुडवान् सप्त सर्पिषः ॥ ३९ ॥
गोमूत्रे त्रिगुणे पाननस्याभ्यङ्गेषु तद्धितम् ।

खैर के बीस पल क्वाथ में त्रिकटु, त्रिफला, हींग, वच, सौंफ, सरसों, नीम के पत्र, लहसुन प्रत्येक आधा पल लेकर सात कुडव घी, तीनगुने गोमूत्र में सिद्ध करे। इस घृत को पानी, नस्य तथा अभ्यंगमें बरते।

राक्षस ग्रहों की बलि—

रक्षसां पललं शुक्लं कुसुमं मिश्रकौदनम् ॥ ४० ॥
बलिः पक्वाममांसानि निष्पावा रुधिरोक्षिताः ।

राक्षसों की बलि के लिये मांस, श्वेत पुष्प, मांस से पकाया भात, पका तथा कच्चा मांस और रक्त से सिंचित मटर देवे।

करंजादि अगद—

नक्तमालशिरीषत्वङ्मूलपुष्पफलानि च ॥ ४१ ॥
तद्वच्च कृष्णपाटल्या बिल्वमूलं कटुत्रिकम् ।
हिङ्ग्विन्द्रयवसिद्धार्थलशुनामलकीफलम् ॥ ४२ ॥
नावनाञ्जनयोर्योज्यो बस्तमूत्रयुतोऽगदः ।
एभिरेव घृतं सिद्धं गवां मूत्रे चतुर्गुणे ॥ ४३ ॥
रक्षोग्रहान् वारयते पानाभ्यञ्जननावनैः ।

करञ्ज और शिरीष की छाल, मूल, पुष्प, फल और इसी प्रकार कृष्ण पाटला के मूल, छाल आदि, बिल्वमूल, त्रिकटु, हींग, इन्द्रजौ, सरसों, लहसुन, आंवला इनको बकरे के मूत्र में मिलाकर बना अगद, नस्य और अंजन में बरते।

करञ्ज आदि से सिद्ध घृत चौगुने गोमूत्र में सिद्ध करे। पान, अभ्यंग तथा नस्य में बरतने से यह राक्षस ग्रहों को नष्ट करता है।

पिशाचग्रहों की बलि—

पिशाचानां बलिः सीधुः पिण्याकः पललं दधि ॥
मूलकं लवणं सर्पिः सभूतौदनयावकम् ।
हरिद्राद्वयमञ्जिष्ठामिशिसैन्धवनागरम् ॥ ४५ ॥
हिङ्गुप्रियङ्गुत्रिकटूरसोनत्रिफला वचा ।
पाटलाश्वेतकटभीशिरीषकुसुमैर्घृतम् ॥ ४६ ॥
गोमूत्रपादिकं सिद्धं पानाभ्यञ्जनयोर्हितम् ।
बस्ताम्बुपिष्टैस्तैरेव योज्यमञ्जननावनम् ॥ ४७ ॥

पिशाचों के लिये बलि—सीधु, पिण्याक (तिल कल्क), मांस, दधि, मूली, नमक, घी, मांसौदन, यावक, इनकी बलि देवे।

हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ, सौंफ, सैन्धव, सोंठ, हींग, प्रियंगु, त्रिकटु, लहसुन, त्रिफला, पाटला, श्वेत कटभी, शिरीष के फूल और चौगुने गोमूत्र से सिद्ध घृत को पान तथा अभ्यंग में बरतना हितकर है।

हल्दी आदि द्रव्यों को बकरे के मूत्र से पीसकर अंजन और नस्य में बरते।

देवर्ष्यादि ग्रहों में तीक्ष्ण नस्यादि वर्ज्य—

देवर्षिपितृगन्धर्वे तीक्ष्णं नस्यादि वर्जयेत् ।
सर्पिष्पानादि मृद्वस्मिन् भैषज्यमवचारयेत् ॥ ४८ ॥

देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व इनमें तीक्ष्ण नस्य आदि छोड़ देवे। इनमें घृतपान आदि मृदु औषध बरते।

ग्रहशमन की सामान्य विधि—

ऋते पिशाचात्सर्वेषु प्रतिकूलं च नाचरेत् ।
सवैद्यमातुरं घ्नन्ति क्रुद्धास्ते हि महौजसः ॥ ४९ ॥
ईश्वरं द्वादशभुजं नाथमार्यावलोकितम् ।
सर्वव्याधिचिकित्सां च जपन् सर्वग्रहाञ् जयेत् ॥
तथोन्मादानपस्मारानन्यं वा चित्तविप्लवम् ।

सब ग्रहों में पिशाच को छोड़कर प्रतिकूल बर्ताव न करे। क्योंकि वे अतिशय तेजस्वी ग्रह क्रुद्ध होकर वैद्य और रोगी दोनों को मार देते हैं।

बारह भुजा वाले ईश्वर को, देवताओंके भी देव, आर्यों से अवलोकित (विपत्ति में सभी की दृष्टि जिसकी ओर होती है) को तथा सब रोगों की चिकित्सा प्रायश्चित्तरूप पञ्चाक्षरादि मंत्रों को जपते हुए सब ग्रहों से तथा उन्माद, अपस्मार एवं अन्य कारण से उत्पन्न चित्तविक्षोभ को जीतता है।

वक्तव्य—आर्यावलोकितम्—पार्वती से अवलोकित महादेव को, अथवा बौद्धों का देवता, उसका ध्यान करके।

महाविद्यां च मायूरीं शुचिं तं श्रावयेत्सदा ॥ ५१ ॥
भूतेशं पूजयेत् स्थाणुं प्रमथाख्यांश्च तद्गणान् ।
जपन् सिद्धांश्च तन्मन्त्रान् ग्रहान् सर्वानपोहति ॥५२॥
यच्चानन्तरयोः किञ्चिद्वक्ष्यतेऽध्याययोर्हितम् ।
यच्चोक्तमिह तत्सर्वं प्रयुञ्जीत परस्परम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने भूत-
प्रतिषेधो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ग्रह से पकड़े गये मनुष्य को पवित्र होकर मायूरी महाविद्या (बौद्धधर्म के उपदेश) को सदा सुनाये ।

भूतनाथ—स्थाणु (भूताधिप-महादेव) की तथा स्थाणु के प्रमथ संज्ञा वाले गणों की पूजा करे। सिद्धों का तथा उनके मंत्रों का जप करता हुआ मनुष्य सब ग्रहों को पीछे हटाता है ।

और जो अगले दो अध्यायों में कहा जायेगा, तथा जो इस अध्याय में कहा है, वह सब परस्पर ग्रहों और उन्माद तथा अपस्मार में प्रयोग करे ।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में छठे उत्तरस्थान का भूतप्रतिषेध नामक पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

अथात उन्मादप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे उन्मादप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

उन्माद के भेद और निरुक्त—

उन्मादाः षट् पृथग्दोषनिचयाधिविषोद्भवाः ।
उन्मादो नाम मनसो दोषैरुन्मार्गगैर्मदः ॥ १ ॥

उन्माद रोग छः प्रकार का है—वातादि पृथग् दोषों से सन्निपात से, आधिजन्य (मानसिक दुःख से) और विषजन्य ।

वात, पित्त और कफ दोषों के उन्मार्ग में जाने से जो मन का मद उत्पन्न होता है उसका नाम उन्माद है।

उन्माद की सम्प्राप्ति—

शारीरमानसैर्दुष्टैरहितादन्नपानतः ।
विकृतासात्म्यसमलाद्विषमादुपयोगतः ॥ २ ॥
विषण्णस्याल्पसत्त्वस्य व्याधिवेगसमुद्गमात् ।
क्षीणस्य चेष्टावैषम्यात् पूज्यपूजाव्यतिक्रमात् ॥ ३ ॥
आधिभिश्चित्तविभ्रंशाद् विषेणोपविषेण च ।
एभिर्हि हीनसत्त्वस्य हृदि दोषाः प्रदूषिताः ॥ ४ ॥
धियो विधाय कालुष्यं हत्वा मार्गान् मनोवहान् ।
उन्मादं कुर्वते, तेन धीविज्ञानस्मृतिभ्रमात् ॥ ५ ॥
देही दुःखसुखभ्रष्टो भ्रष्टसारथिवद्रथः ।
भ्रमत्यचिन्तितारम्भः—

अहित अन्न-पान के सेवन से, विकृत, असात्म्य तथा मलिन खानपान से, भोजन के विषम उपयोग से, शारीरिक (वातादि) एवं मानसिक (रज और तम) दोषों के दूषित होने से, विषण्ण एवं अल्प सत्त्व (थोड़े दिल) वाले एवं क्षीण पुरुष में रोग के वेग के बढ़ जाने से, चेष्टा की विषमता से, पूज्यों की पूजा का व्यतिक्रम करने से, मानसिक चिन्ता आदि से, चित्त के विक्षेप से, विष से और उपविष से कुपित दोष मन के और भी हीन हो जाने पर हृदय में पहुँचकर बुद्धि को मलिन बनाकर और मनोवह स्रोतों को नष्ट करके उन्माद को उत्पन्न करते हैं। इस उन्माद के कारण बुद्धि, विज्ञान और स्मृति के भ्रम-युक्त होने से, सुख-दुःख (ज्ञान से) भ्रष्ट हुआ मनुष्य अनिरूपित (बिना उद्देश्य की) क्रिया एवं उद्यम वाला होकर भ्रष्टसारथि वाले रथ की भांति (अनियन्त्रित) घूमता है।

वक्तव्य—(१) 'उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमं विद्यात् ।' (२) शोकचिन्तोद्वेगादिभिर्भूयोऽभिघाताभ्याहतानां वा मनस्युपहते बुद्धौ च प्रचलितायामभ्युदीर्णा दोषाः प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवाहीनि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादम् ॥ (चरक० नि० अ० ७।५।४।)

वातोन्माद के लक्षण—

—तत्र वातात्कृशाङ्गता ॥ ६ ॥
अस्थाने रोदनाक्रोशहसितस्मितनर्तनम् ।
गीतवादित्रवागङ्गविक्षेपास्फोटनानि च ॥ ७ ॥
असाम्ना वेणुवीणादिशब्दानुकरणं मुहुः ।
आस्यात्फेनागमोऽजस्रमटनं बहुभाषिता ॥ ८ ॥
अलङ्कारोऽनलङ्कारैरयानगमनोद्यमः ।
गृद्धिरभ्यवहार्येषु तल्लाभे चावमानता ॥ ९ ॥
उत्पिण्डितारुणाक्षित्वं जीर्णे चान्ने गदोद्भवः ।

वात के कारण अंगों में कृशता, बिना स्थान के रोना, चिल्लाना, हँसना, मुस्कराना, नाचना, गाना, बजाना, अंगों को चलाना, तोड़ना, उद्धतता से बार-बार बांस, वीणा आदि के शब्द की नकल करना, मुख से झाग का आना, निरन्तर घूमना, बहुत बोलना, बिना भूषण की वस्तुओं से शरीर को अलंकृत करना, सवारी के अयोग्य वस्तुओं से जाने के लिये यत्न करना, खाने की वस्तुओं में लोलुपता, उनके मिलने पर तिरस्कार, आंखों का बाहर निकलना और लाल होना, अन्न के जीर्ण होने पर रोग की वृद्धि होना, ये लक्षण वातज-उन्माद के हैं। (असाम्ना-उच्चैः इति चक्रः, असाम्ना—औद्धत्येन इत्यरुणदत्तः)।

पित्तोन्माद के लक्षण—

पित्तात्सन्तर्जनं क्रोधो मुष्टिलोष्टाद्यभिद्रवः ॥ १० ॥
शीतच्छायोदकाकाङ्क्षा नग्नत्वं पीतवर्णता ।
असत्यज्वलनज्वालातारकादीपदर्शनम् ॥ ११ ॥

डराना, क्रोध, मुट्ठी बांधकर या ढेला हाथ में लेकर दौड़ना, शीतल वस्तु, छाया और पानी की चाह, नंगा रहना, पीला वर्ण, अग्नि ज्वाला, तारे, दीप आदि के न होने पर भी उन्हें देखना (भ्रान्ति होना), ये पित्तोन्माद के लक्षण हैं।

कफोन्माद के लक्षण—

कफादरोचकश्छर्दिरल्पेहाहारवाक्यता ।
स्त्रीकामता रहःप्रीतिर्लालासिङ्घाणकस्रुतिः ॥ १२ ॥

वैभत्स्यं शौचविद्वेषो निद्रा श्वयथुराननेे।
उन्मादो बलवान् रात्रौ भुक्तमात्रे च जायते ॥ १३ ॥

कफ के कारण अरुचि, वमन, थोड़ी चेष्टा, थोड़ा भोजन, थोड़ा बोलना, स्त्रीकामता, एकान्त में प्रीति, लाला और नाक से मैल का बहना, बीभत्सता, पवित्रता से द्वेष, निद्रा, मुख पर शोथ, रात्रि में और भोजन के तुरन्त पीछे उन्माद बढ़ जाना ये लक्षण होते हैं।

त्रिदोषज उन्माद के लक्षण

सर्वायतनसंस्थानसन्निपाते तदात्मकम्।
उन्मादं दारुणं विद्यात् तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥

जिस उन्माद में तीनों दोषों के प्रकोपक कारण-लक्षण मिले हों, उसे वैद्य भयानक सन्निपातजन्य उन्माद जाने और उसकी चिकित्सा न करे।

शोकादिज उन्माद के लक्षण—

धनकान्तादिनाशेन दुःसहेनाभिषङ्गवान्।
पाण्डुर्दीनो मुहुर्मुह्यन् हाहेति परिदेवते ॥ १५ ॥
रोदित्यकस्मान्म्रियते तद्गुणान् बहु मन्यते।
शोकक्लिष्टमना ध्यायन् जागरूको विचेष्टते ॥ १६ ॥

धन या स्त्री के नष्ट होने के दुःख को न सहन करने से खिन्न हुआ मनुष्य पाण्डु वर्ण, दीन होकर बार बार हा हा करके शोक करता है, रोता है, मूर्च्छित होता है, नष्ट हुई वस्तुओं के गुणों को बहुत मानता है। शोक से दुःखी मन होकर चिन्ता करता और जागता हुआ विकृत चेष्टा करता है।

विषोन्माद के लक्षण—

विषेण श्यावबदनो नष्टच्छायाबलेन्द्रियः।
वेगान्तरेऽपि सम्भ्रान्तो रक्ताक्षस्तं विवर्जयेत् ॥१७॥

विष के कारण श्याव शरीर होता है, छाया (कान्ति), बल और इन्द्रियां नष्ट हो जाती हैं, वेगों के बीच में भी अस्थिर चित्त और लाल आंखों वाला होता है, वैद्य उसकी चिकित्सा न करे। (वेगान्तरम्-अतीतानागतयोः विषवेगयोर्मध्यम्)।

वातोन्माद-चिकित्सा—

अथानिलज उन्मादे स्नेहपानं प्रयोजयेत्।
पूर्वमावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम् ॥ १८ ॥

वातजन्य उन्माद में स्नेह पान कराये। वायु मार्ग में रुका होने पर स्नेह-पान से पूर्व स्निग्ध और मृदु संशोधन कराये।

कफपित्तभवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम्।
स्निग्धस्विन्नस्य वस्तिं च शिरसः सविरेचनम् ॥१९॥
तथाऽस्य शुद्धदेहस्य प्रसादं लभते मनः।
इत्थमप्यनुवृत्तौ तु तीक्ष्णं नावनमञ्जनम् ॥ २० ॥
हर्षणाश्वासनोत्त्रासभयताडनतर्जनम्।
अभ्यङ्गोद्वर्तनालेपधूपान् पानं च सर्पिषः ॥ २१ ॥
युञ्ज्यात्तानि हि शुद्धस्य नयन्ति प्रकृतिं मनः।

कफजन्य और पित्तजन्य उन्माद में भी प्रथम स्नेहन और स्वेदन करके वमन, विरेचन, बस्ति और शिरोविरेचन कर स्नेहपान कराये। इस प्रकार शरीर के शुद्ध होने से पुरुष का मन भी निर्मल हो जाता है। (यह चिकित्सा तीनों दोषों के उन्माद में बरते)।

इस चिकित्सा से भी यदि उन्माद शान्त न हो तो तीक्ष्ण नस्य, तीक्ष्ण अञ्जन, हर्षण, आश्वासन, डराना, भय दिखाना, मारना, तर्जन (डाटना), अभ्यंग, उद्वर्त्तन, आलेप, धूपन, घृतपान, इनको युक्ति से बरते। क्योंकि ये शुद्ध (वमन-विरेचन से शुद्ध हुए) मनुष्य के मन को स्वाभाविक रूप में ला देते हैं।

उन्मादादिनाशक हिंग्वादि घृत—

हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम् ॥ २२ ॥
सिद्धं समूत्रमुन्मादभूतापस्मारनुत्परम्।

हींग, सौवर्चल, त्रिकटु ये दो पल, घृत एक आढक; इनको गोमूत्र से सिद्ध करे। यह घृत उन्माद, भूतावेश और अपस्मार का नाशक श्रेष्ठ है। (गोमूत्र घी से चौगुना बरतना)।

ब्राह्मी घृत—

द्वौ प्रस्थौ स्वरसाद् ब्राह्म्या घृतप्रस्थं च साधितम् ॥
व्योषश्यामात्रिवृद्दन्तीशङ्खपुष्पीनृपद्रुमैः।
ससप्तलाकृमिहरैः कल्कितैरक्षसम्मितैः ॥ २४ ॥
पलवृद्ध्या प्रयुञ्जीत परं मात्रा चतुष्पलम्।
उन्मादकुष्ठापस्मारहरं बन्ध्यासुतप्रदम् ॥ २५ ॥
वाक्स्वरस्मृतिमेधाकृद् धन्यं ब्राह्मीघृतं स्मृतम्।

ब्राह्मी का स्वरस दो प्रस्थ, घी एक प्रस्थ, त्रिकटु, श्यामा, निशोथ, दन्तीमूल, शंखपुष्पी, अमलतास, सप्तला, विडंग, इनमें प्रत्येक एक कर्ष ले इनके कल्क से घृत सिद्ध करे। इस घृत की प्रथम एक दिन एक पल मात्रा, दूसरे दिन दो पल, तीसरे दिन तीन पल, चौथे दिन चार पल लेवे। यह चार पल की मात्रा उत्तम मात्रा है। यह उन्माद, कुष्ठ, अपस्मार का नाशक, बन्ध्या को पुत्रप्रद, वाणी, स्वर, स्मृति और मेधा करने वाला और धन्य घृत, ब्राह्मीघृत कहलाता है।

कल्याण घृत—

वराविशालाभद्रैलादेवदार्वेलबालुकैः ॥ २६ ॥
द्विसारिवाद्विरजनीद्विस्थिराफलिनीनतैः।
बृहतीकुष्ठमञ्जिष्ठानागकेसरदाडिमैः ॥ २७ ॥
वेल्लतालीसपत्रैलामालतीमुकुलोत्पलैः।
सदन्तीपद्मकहिमैः कर्षांशैः सर्पिषः पचेत् ॥ २८ ॥
प्रस्थं भूतग्रहोन्मादकासापस्मारपाप्मसु
पाण्डुकण्डूविषे शोषे मोहे मेहे गरे ज्वरे ॥ २९ ॥

अरेतस्यप्रजसि वा दैवोपहतचेतसि ।
अमेधसि स्खलद्वाचि स्मृतिकामेऽल्पपावके ॥ ३०
बल्यं मङ्गल्यमायुष्यं कान्तिसौभाग्यपुष्टिदम् ।
कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च ॥ ३१

त्रिफला, इन्द्रायण, बड़ी इलायची, देवदारु, एलवालुक, सारिवा, कृष्ण सारिवा. हल्दी, दारुहल्दी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, प्रियंगु, नगर, कटेरी, कूठ, मजीठ, नागकेशर, अनारदाना, विडंग, तालीसपत्र, इलायची, चमेली की कली, कमल, दन्तीमूल, पद्माख, लालचन्दन, ये प्रत्येक एक कर्ष, घी एक प्रस्थ (चौगुने जल में) सिद्ध करे। यह घृत भूत, ग्रह, उन्माद, कास और अपस्मार रोगों में तथा पाण्डु, कण्डू, विष, शोष, मोह, प्रमेह, गर, ज्वर, शुक्र की कमी, सन्तानहीन, दैव के कारण नष्टचित्त, बुद्धिरहित, बोलते हुए भूलने वाला, स्मृति की चाह रखने वाला और मन्दाग्नि, इनमें लाभप्रद है। यह बलकारक, मंगल्य, आयुवर्धक, कांति, सौभाग्य और पुष्टि को देने वाला, पुंसवनों में श्रेष्ठ कल्याणक नाम का घृत है।

वक्तव्य—पाठ में पानी का उल्लेख न होने पर चरक के कथन से पानी में सिद्ध करे, यथा—'चतुर्गुणे जले सम्यक्।'

महाकल्याण घृत—

पक्त्यो द्विसारिवादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम् ।
रसे तस्मिन् पचेत्सर्पिर्गृष्टिक्षीरचतुर्गुणम् ॥ ३२ ॥
वीराद्विमेदाकाकोलीकपिकच्छूविषाणिभिः ।
शूर्पपर्णीयुतैरेतन्महाकल्याणकं परम् ॥ ३३ ॥
बृंहणं सन्निपातघ्नं पूर्वस्मादधिकं गुणैः ।

इन उपर्युक्त औषधियों में से त्रिफला आदि सात औषधियों को छोड़कर दोनों सारिवा से आगे कही इक्कीस औषधियों को सोलहगुने जल में क्वाथ करके चौथाई शेष रक्खे। इस क्वाथ में एक बार ब्याई गाय का दूध स्नेह से चौगुना मिलाकर शतावरी, मेदा, महामेदा, काकोली, कौच, मेषशृङ्गी, शालपर्णी, इनके कल्क से घृत सिद्ध करे। यह महाकल्याणक घृत बृंहण करनेवाला, सन्निपातनाशक और प्रथम कहे घृत से अधिक गुणवाला है।

महापैशाचिक घृत—

जटिला पूतना केशी चारटी मर्कटी वचा ॥ ३४ ॥
त्रायमाणा जया वीरा चोरकः कटुरोहिणी ।
वयःस्था शूकरी छत्रा सातिच्छत्रा पलङ्कषा ॥ ३५ ॥
महापुरुषदन्ता च कायस्था नाकुलीद्वयम् ।
कटम्भरा वृश्चिकाली शालिपर्णी च तैर्घृतम् ॥ ३६ ॥
सिद्धं चातुर्थिकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ।
महापैशाचिकं नाम घृतमेतद्यथाऽमृतम् ॥ ३७ ॥
बुद्धिमेधास्मृतिकरं बालानां चाङ्गवर्धनम् ।

जटामांसी, हरड़, भूतकेशी, चारटी (जलकुंभी या ब्रह्मदण्डी), वच, त्रायमाणा, जयन्ती, क्षीरकाकोली, चोरक, कुटकी, वयःस्था (ब्राह्मी या गिलोय), वाराहीकन्द, मधुरिका (सोया), सौफ गुग्गुलु, शतावरी, छोटी इलायची, दोनों रास्ना, कटभी (मालकांगनी), बिच्छू बूटी और शालपर्णी से घृत सिद्ध करे। यह घृत चातुर्थिक ज्वर, उन्माद, ग्रह तथा अपस्मार का नाशक है। यह महापैशाचिक घृत अमृत के समान है, बुद्धि, मेधा, स्मृति को करता और बालकों के अङ्गों को बढ़ाता है।

उन्मादनाशक वर्ति—

ब्राह्मीमैन्द्रीं विडङ्गानि व्योषं हिङ्गु जटां मुराम् ॥३८॥
रास्नां विषघ्नां लशुनं विशल्यां सुरसां वचाम् ।
ज्योतिष्मतीं नागविन्नामनन्तां सहरीतकीम् ॥ ३९ ॥
काक्षीं च हस्ति(बस्त)मूत्रेण पिष्ट्वा छायाविशोषिता ।
वर्तिर्नस्याञ्जनालेपधूपैरुन्मादसूदनी ॥ ४० ॥

ब्राह्मी, इन्द्रवारुणी, विडङ्ग, त्रिकटु, हींग, जटामांसी, मुरा, रास्ना, विषघ्ना (पाठा), लहसुन, कलिहारी, तुलसी, वच, मालकांगनी, नागदन्ती, सारिवा, हरड़, सौराष्ट्रमृत्तिका (फिटकरी), इनको हाथी (या बकरे) के मूत्र से पीसकर वर्ति बनाकर छाया में सुखाकर नस्य, अंजन, आलेप तथा धूपन में बरते, यह उन्मादनाशक है।

अवपीडाश्च विविधाः सर्षपाः स्नेहसंयुताः ।
कटुतैलेन चाभ्यङ्गो ध्मापयेच्चास्य तद्रजः ॥ ४१ ॥
सहिङ्गुस्तीक्ष्णधूमश्च सूत्रस्थानोदितो हितः ।
शृगालशल्यकोलूकजलौकावृषबस्तजैः ॥ ४२ ॥
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखचर्मभिराचरेत् ।
धूपधूमाञ्जनाभ्यङ्गप्रदेहपरिसेचनम् ॥ ४३ ॥

सरसों के तैल में मिलाकर नाना प्रकार के अवपीडन नस्य देवे। सरसों के तैल का अभ्यङ्ग करके सरसों का चूर्ण नासिका में फूंके। सूत्रस्थान में कहा तीक्ष्ण धूप (अ.२१।१७) हींग के साथ देवे।

गीदड़, सेह, उल्लू, जलौका (जोंक), बैल तथा बकरा के यथायोग्य मूत्र, पित्त, मल, लोम नख और त्वचा को धूप में, अंजन में, अभ्यङ्ग में, प्रदेह में और परिसेचन में बरते।

उन्मादनाशक धूपन—

धूपयेत्सततं चैनं श्वगोमत्स्यैः सुपूतिभिः ।
वातश्लेष्मात्मके प्रायः—

कुत्ता, गाय, मछली इनकी क्लिन्नगन्ध से निरन्तर इस उन्माद रोगी को धूपन देवे, यह (पूर्वोक्त) चिकित्सा प्रायः करके वात-कफ उन्माद में बरते।

पैत्तिक उन्माद की चिकित्सा—

—पैत्तिके तु प्रशस्यते ॥ ४४ ॥
तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः ।
शीतानि चान्नपानानि मधुराणि लघूनि च ॥ ४५ ॥

विध्येच्छिरां यथोक्तां वा तृप्तं मेद्यामिषस्य वा ।
निवाते शाययेदेवं मुच्यते मतिविभ्रमात् ॥ ४६ ॥

पैत्तिक उन्माद में तिक्तक घृत (कुष्ठ रोग का), जीवनीय घृत और मिश्रक स्नेह (गुल्म रोगोक्त) तथा शीतल, मधुर और लघु खान-पान प्रशस्त है।

सिरावेध विधि से कही हुई सिरा का वेधन करे। मेदुर मांस से तृप्त करके वायुरहित स्थान में रोगी को सुलाये। इस प्रकार उन्माद से रोगी छूट जाता है।

उन्मादों में त्रासनादि—

प्रक्षिप्यासलिले कूपे शोषयेद्वा बुभुक्षया ।
आश्वासयेत्सुहृत्तं वा वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः ॥ ४७
ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि वा ।
बद्धं सर्षपतैलाक्तं न्यसेद्वोत्तानमातपे ॥ ४८ ॥
कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तैर्लोहतैलजलैः स्पृशेत् ।
कशाभिस्ताडयित्वा वा बद्धं श्वभ्रे विनिःक्षिपेत् ॥४९॥
अथवा वीतशस्त्राश्मजने सन्तमसे गृहे ।
सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम् ॥ ५० ॥
(त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा किरातारातितस्करैः ।)
अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम् ।
भापयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥ ५१ ॥
देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं मतम् ।
तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ॥ ५२ ॥
सिद्धा क्रिया प्रयोज्येयं देशकालाद्यपेक्षया ।

पानी रहित कुंए में गिरावे, या भूख से कृश करे, अथवा मित्र उसको धर्म और अर्थयुक्त वचनों से आश्वासन दें या इष्ट वस्तु का नाश कहें या अद्भुत वस्तु दिखायें। अथवा सरसों के तैल का अभ्यङ्ग कराके बांधकर धूप में चित्त-पीठ के भार लेटा दें। कौंच, गरम लोहा, गरम तेल या गरम जल से उसको स्पर्श करावे। चाबुक से मारकर या बांधकर गड्ढे में गिरा देवें। अथवा शस्त्र, पत्थर और मनुष्य से रहित अन्धेरे घर में रख देवें। दांत उखाड़े सांप से या वशीभूत किये (पालतू) सिंह या हाथी से उसको डरावें। (हाथों में शस्त्र लिये, भील, दुश्मन, चोरों से इसे डरावें)। अथवा राजपुरुष इसको भली प्रकार बांधकर बाहर ले जाकर वध के डर से डरायें, राजा की आज्ञा का भय दिखाकर धमकायें। क्योंकि शरीर के दुःख से प्राणों का भय अधिक होता है। इससे सब ओर से भागा हुआ मन सम्पूर्ण रूप में शान्त हो जाता है।

देश-काल आदि की अपेक्षा से सफलता देने वाली यह क्रिया बरतनी चाहिये।

शोकादिजनित उन्माद की चिकित्सा—

इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते ॥ ५३ ॥
तस्य तत्सदृशप्राप्तिसान्त्वाश्वासैः शमं नयेत् ।
कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसम्भवान् ॥ ५४ ॥
परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत् ।

इच्छित द्रव्य के नाश से जिस मनुष्य का मन विकृत हो जाता है, उसके समान वस्तु के मिलने से, सान्त्वना से एवं आश्वासन से उसका मन शान्त करे।

काम, शोक, भय, क्रोध, हर्ष, ईर्ष्या, लोभ से उत्पन्न उन्माद को परस्पर एक दूसरे के विरोधी द्वन्द्वों से शान्त करे।

भूतोन्माद की चिकित्सा—

भूतानुबन्धमीक्षेत प्रोक्तलिङ्गाधिकाकृतिम् ॥ ५५ ॥
यद्युन्मादे ततः कुर्याद् भूतनिर्दिष्टमौषधम् ।

यदि उन्माद में कहे हुए लक्षणों से अधिक लक्षण दिखाई दे तो इसमें भूत (पूर्वोक्त ग्रहों) का सम्बन्ध समझ कर भूतों के लिए कही औषध करे।

भूतोन्माद में बलि

बलिं च दद्यात्पललं यावकं सक्तुपिण्डिकाम् ॥५६॥
स्निग्धं मधुरमाहारं तण्डुलान् रुधिरोक्षितान् ।
पक्वामकानि मांसानि सुरां मैरेयमासवम् ॥ ५७ ॥
अतिमुक्तस्य पुष्पाणि जात्याः सहचरस्य च ।
चतुष्पथे गवां तीर्थे नदीनां सङ्गमेषु च ॥ ५८ ॥

भूतोन्माद में पलल (मांस-या तिलपिष्टि), जौ की बनी वस्तु, सत्तू के पिण्ड, स्निग्ध तथा मधुर आहार, रक्त से सिञ्चित चावल, पका मांस, कच्चा मांस, सुरा, मैरेय, आसव, माधवी के फूल, चमेली और झिंटी के फूल, इनकी बलि चौराहे पर, गायों के पानी पीने के स्थान पर या नदियों के संगम में देवे।

निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः ।
निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान्न स युज्यते ॥ ५९ ॥
प्रसाद इन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां तथा ।
धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम् ॥ ६० ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने उन्माद-
प्रतिषेधो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

* * *

जो पुरुष मांस या मद्य का सेवन नहीं करता है, हितभोजी है तथा यत्न से पवित्र रहता है, वह सात्त्विक मनुष्य निज या आगन्तुज उन्माद से पीड़ित नहीं होता।

इन्द्रियों के विषयों में प्रसन्नता, बुद्धि, आत्मा और मन की निर्मलता, रसादि धातुओं का अपनी प्रकृति में रहना, ये उन्माद से मुक्त मनुष्य के लक्षण हैं।

वक्तव्य—उन्मादचिकित्सा में आजकल सर्पगन्धा का उपयोग बहुत होता है। सर्पगन्धा का चूर्ण दो या तीन मासा अथवा छः रत्ती परिमाण में मरिचचूर्ण के साथ मिला कर पानी के साथ देना चाहिये। पित्तोन्माद में ही यह उत्तम है, कफोन्माद में हानि करती है। इसके प्रयोगकाल में हृदयबल को

देने वाली औषध देनी चाहिये। वातिक कफोन्माद में (१) प्रातः कृष्णचतुर्मुख की एक वटी, वचाचूर्ण एक मासा और मधु दो मासे के साथ देवे। अपराह्न में महालक्ष्मीविलास एक वटी और मकरध्वज एक रत्ती पीस कर जटामांसी के क्वाथ से देवे। शरीर पर सिद्धार्थक लेप करे। अथवा (२) महाचैतस घृत ४ मासे, गरम दूध ½ पल (दो तोले) मिलाकर प्रातः देवे। अपराह्नमें कृष्णचतुर्मुख एक वटी को त्रिफला चूर्ण १½ मासा, तीन मासा मधु के साथ देवे। शिर पर पुरातन घृत या त्रिशती प्रसारणी तैल मले। महादशमूल तैल का नस्य देवे। (३) अमृतीकृत ताम्रभस्म एक या ½ रत्ती मात्रा को भली प्रकार पके कुष्माण्ड के स्वरस से देवे। (४) अगस्तपत्र के स्वरस का नस्य देवे।

प्रसंग से ब्लड् प्रेसर (रक्त दबाव) की चिकित्सा—प्रातः-चिन्तामणि चतुर्मुख एक गोली त्रिफलाक्वाथ से देवे।

अपराह्न में—रसराज की एक गोली कचा दूध आधी छटाँक और आधी छटाँक शतावरी के रस में मिश्री का शर्बत मिलाकर लेवे। शिर पर शतधौत घृत या काले तिल, हल्दी, बादाम, आँवले को कच्चे दूध से पीस कर लेप करे। या नारियल का जल, राल, तिल तैल एक साथ मिलाकर शिर पर लेप करे।

त्रिफला का शीत कषाय या फाण्ट प्रातः पिये। कांजी और कन्दूरी के पत्तों के स्वरस को मिलाकर इससे भींगा कपड़ा शिर पर रक्खे। कच्चे दूध से आँवले को पीस कर शिर पर लेप करे।

अन्य योग—उन्माद के लिये तथा वातव्याधि में—(१) प्रातः गरम दूध से महाचैतसघृत, तीसरे पहर मकरध्वज १ रत्ती, मुक्ताभस्म १ रत्ती, स्वर्णभस्म ½ रत्ती, शतावरी का रस १ तोला मिश्री का शर्बत मिलाकर देवे। शिर पर राल, तिलतैल और नारियल का पानी लगावे। (२) प्रातः क्षीरकल्याणक घृत गरम दूध से, चिन्तामणि रस १ गोली पुराने कोहड़े के रस १ छटाँक में चीनी के साथ दे, शिर पर बृहद् विष्णु तैल मले। (३) प्रातः बृहद् वातचिन्तामणि की एक गोली, शतावर का रस तीन तोला और चीनी एक तोला, तीसरे पहर रसराज एक गोली कच्चा दूध, मिश्री के शर्बत के साथ। शिर पर हिमसागर तैल मले। (४) प्रातः चिन्तामणि चतुर्मुख की एक गोली ब्राह्मीस्वरस के साथ, तीसरे पहर रसराज वटी कच्चे दूध और शर्बत से। शिर पर मध्यम नारायण तैल या हिमसागर तैल मलना।

अन्ययोग—ब्राह्मीकुष्माण्डकफलषड्ग्रन्थाशङ्खपुष्पिकास्वरसाः। दृष्टा उन्मादहृतः पृथगेते कुष्ठमधुमिश्राः॥

उन्मादगजांकुश, उन्मादगजकेशरी, सारस्वत चूर्ण, चतुर्भुज रस, पानीयकल्याणकघृत, लशुनाद्यघृत।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का उन्मादप्रतिषेध नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

* * *

सप्तमोऽध्यायः

अथातोऽपस्मारप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे अपस्मारप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेयादि महर्षियों ने कहा था।

अपस्मार की निरुक्ति, सम्प्राप्ति और भेद—

स्मृत्यपायो ह्यपस्मारः स धीसत्त्वाभिसंप्लवात्।
जायतेऽभिहते चित्ते चिन्ताशोकभयादिभिः ॥ १ ॥
उन्मादवत्प्रकुपितैश्चित्तदेहगतैर्मलैः।
हते सत्त्वे हृदि व्याप्ते संज्ञावाहिषु खेषु च ॥ २ ॥
तमो विशन् मूढमतिर्बीभत्साः कुरुते क्रियाः।
दन्तान् खादन् वमन् फेनं हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ॥
पश्यन्नसन्ति रूपाणि प्रस्खलन् पतति क्षितौ।
विजिह्माक्षिभ्रुवो दोषवेगेऽतीते विबुध्यते ॥ ४ ॥
कालान्तरेण स पुनश्चैवमेव विचेष्टते।
अपस्मारश्चतुर्भेदो वाताद्यैर्निचयेन च ॥ ५ ॥

स्मृति का नाश होना ही अपस्मार कहा जाता है। स्मृति का यह विनाश बुद्धि और धैर्य के नाश से; चिन्ता, शोक और भय आदि से चित्त में चोट लगने पर होता है। उन्माद की भाँति मानस और शारीर (रज, तम और वातादि) दोष प्रकुपित होकर मन को नष्ट करके, हृदय तथा संज्ञावह स्रोतों में व्याप्त होकर अपस्मार उत्पन्न करते हैं। इसमें रोगी मूढ़मति होकर मोह में उतर कर बीभत्स चेष्टायें करता है, दाँतों को काटता हुआ, झाग का वमन करता हुआ, हाथ-पैर को फेंकता हुआ, न होते हुए रूपों का देखता हुआ तथा लड़खड़ाता हुआ भूमि पर गिर जाता है। आँखें और भ्रू कुटिल हो जाते हैं। दोषवेग के बीत जाने पर जागता है। और कुछ समय पीछे, वह फिर इसी प्रकार की चेष्टायें करता है अपस्मार वातादि दोष से और सन्निपात से चार प्रकार का है

अपस्मार के पूर्वरूप—

रूपमुत्पत्स्यमानेऽस्मिन् हृत्कम्पः शून्यता भ्रमः।
तमसो दर्शनं ध्यानं भ्रूव्युदासोऽक्षिवैकृतम् ॥ ६ ॥
अशब्दश्रवणं स्वेदो लालासिङ्घाणकस्रुतिः।
अविपाकोऽरुचिर्मूर्च्छा कुक्ष्याटोपो बलक्षयः ॥ ७ ॥
निद्रानाशोऽङ्गमर्दस्तृट् स्वप्ने गानं सनर्तनम्।
पानं तैलस्य मद्यस्य तयोरेव च मेहनम् ॥ ८ ॥

पूर्वरूप—इस रोग के उत्पन्न होने के पूर्व के लक्षण हृदय का कम्पन, शून्यता, चक्कर आना, अन्धकार का दर्शन, ध्यान (चिन्तन), भ्रूविक्षेप, आँखों की विकृति, न हुए शब्दों को सुनना, पसीना आना, लाला और नाक की मैल का निकलना, अविपाक, अरुचि, मूर्च्छा, उदर में आटोप, बलनाश, निद्रानाश, अङ्गों का टूटना, प्यास, स्वप्न में नाचने के साथ

गाना, स्वप्न में तैल या मद्य का पीना और इन्हीं का मूत्रत्याग करना है।

वक्तव्य—स्वप्न में गाना या नाचना का अर्थ नींद में उठ कर ये काम करने से है, इस अवस्था को आजकल 'सोमोनोब्लीजम' कहते हैं।

वातज अपस्मार—

तत्र वातात्स्फुरत्सक्थिः प्रपतंश्च मुहुर्मुहुः ।
अपस्मरति संज्ञां च लभते विस्वरं रुदन् ॥ ९ ॥
उत्पिण्डिताक्षः श्वसिति फेनं वमति कम्पते ।
आविध्यति शिरो दन्तान् दशत्याध्मातकन्धरः ॥ १० ॥
परितो विक्षिपत्यङ्गं विषमं विनताङ्गुलिः ।
रूक्षश्यावारुणाक्षित्वङ्नखास्यः कृष्णमीक्षते ॥ ११ ॥
चपलं परुषं रूपं विरूपं विकृताननम् ।

वातापस्मार में—वायु के कारण टांग में स्फुरण के साथ बार-बार गिरकर स्मृतिहीन होता है और विकृत स्वर से रोता हुआ संज्ञा को प्राप्त करता है। आँखें ऊपर को निकली रहती हैं, जोर से श्वास लेता है, झाग का वमन करता है, काँपता है, दिवार आदि से शिर को लटकाता है, दाँतों को काटता है, कंधों को फुलाता है, अङ्गों को चारों ओर फेंकता है, अङ्गुली को विषम मोड़ता है एवं आँख, त्वचा, नख और मुख रूक्ष, श्याव और अरुण हो जाते हैं, काले तथा चपल-चंचल, कठोर, विरूप और विकृत मुख वाले रूपों को देखता है।

पित्तज अपस्मार—

अपस्मरति पित्तेन मुहुः संज्ञां च विन्दति ॥ १२ ॥
पीतफेनाक्षिवक्त्रत्वगास्फालयति मेदिनीम् ।
भैरवादीप्तरुषितरूपदर्शी तृषाऽन्वितः ॥ १३ ॥

पित्त के कारण अपस्मार होने पर बार-बार चेतना को प्राप्त करता है; झाग, आँख, मुख और त्वचा पीली होती है; भूमि पर चोट करता है (हाथ, पैर पटकता या छटपटाता है)। भैरव (भयानक), चमकते, रुषित (क्रुद्ध) रूपों को देखता है तथा उसे प्यास लगती है।

कफज तथा सन्निपातज अपस्मार—

कफाच्चिरेण ग्रहणं चिरेणैव विबोधनम् ।
चेष्टाऽल्पा भूयसी लाला शुक्लनेत्रनखास्यता ॥ १४ ॥
शुक्लाभरूपदर्शित्वं, सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ।

कफजन्य अपस्मार में देर से आक्रमण होता है और देर से ही रोगी होश में आता है। थोड़ी चेष्टा, बहुत सा लालास्राव; आँख, नाक, मुख में श्वेतिमा होती है तथा श्वेत चमक वाले रूपों को देखता है।

पूर्वोक्त सभी दोषों के लक्षणों के होने पर सन्निपातज अपस्मार असाध्य समझे।

अपस्मारचिकित्सा—

अथाऽऽवृतानां धीचित्तहृत्खानां प्राक्प्रबोधनम् ॥ १५ ॥
तीक्ष्णैः कुर्यादपस्मारे कर्मभिर्वमनादिभिः ।

अवरुद्ध बुद्धि, चित्त, हृदय और स्रोतों को अपस्मार में सबसे प्रथम तीक्ष्ण वमन आदि कर्मों से जागृत करना (खोलना) चाहिये।

वातजादि अपस्मारशोधनचिकित्सा—

वातिकं वस्तिभूयिष्ठैः, पैत्तं प्रायो विरेचनैः ॥ १६ ॥
श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत् ।

वातिक अपस्मार को वस्ति की मुख्यता से, पित्तज की प्रायः विरेचनों से, कफज की प्रायः वमन की अधिकता से चिकित्सा करे।

अपस्मारशमनचिकित्सा—

सर्वतः सुविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च ॥ १७ ॥
अपस्मारविमोक्षार्थं योगान् संशमनाञ् शृणु ।

सम्पूर्णतः भली प्रकार शुद्ध हुए भली प्रकार आश्वासन दिये रोगी के अपस्मार के विमोक्ष के लिये संशमन योगों को सुनो।

अपस्मारादिनाशक पंचगव्य घृत—

गोमयस्वरसक्षीरदधिमूत्रैः शृतं हविः ॥ १८ ॥
अपस्मारज्वरोन्मादकामलान्तकरं पिबेत् ।

गोबर का स्वरस, गो के दूध, दही और मूत्र में पकाया घी पिये। यह अपस्मार, ज्वर, उन्माद और कामला को नष्ट करता है

महापंचगव्य घृत—

द्विपञ्चमूलत्रिफलाद्विनिशाकुटजत्वचः ॥ १९ ॥
सप्तपर्णमपामार्गं नीलिनीं कटुरोहिणीम् ।
शम्याकपुष्करजटाफल्गुमूलदुरालभाः ॥ २० ॥
द्विपलाः सलिलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते ।
भार्गीपाठाढकीकुम्भनिकुम्भव्योषरोहिषैः ॥ २१ ॥
मूर्वाभूतीकभूनिम्बश्रेयसीसारिवाद्वयैः ।
मदयन्त्यग्निनिचुलैरक्षांशैः सर्पिषः पचेत् ॥ २२ ॥
प्रस्थं तद्वद् द्रवैः पूर्वैः पञ्चगव्यमिदं महत् ।
ज्वरापस्मारजठरभगन्दरहरं परम् ॥ २३ ॥
शोफार्शःकामलापाण्डुगुल्मकासग्रहापहम् ।

दशमूल, त्रिफला, हल्दी, दारुहल्दी, कूड़े की छाल, सतवन, अपामार्ग, नील, कुटकी, अमलतास का फल, पुष्करमूल, काकोदुम्बरी का मूल, धमासा, प्रत्येक दो पल लेकर एक द्रोण जल में पका कर चौथाई शेष रक्खे। उसमें भार्गी, पाठा, अरहर, त्रिवृत्, दन्ती, त्रिकटु, कत्तृण, मूर्वा, अजवायन, चिरायता, गजपिप्पली, सारिवा, काली सारिवा, मेंहदी, चित्रक, हिज्जफल प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनके कल्क से एक प्रस्थ घृत गोबर का स्वरस आदि पूर्वोक्त द्रवों के साथ पकावे। यह महापंचगव्य घृत है। ज्वर, अपस्मार, उदर, भगन्दर का श्रेष्ठ नाशक है। शोफ, अर्श, कामला, पाण्डु, गुल्म, कास तथा ग्रह का भी नाशक है।

ब्राह्मी घृत—

ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीशृतं घृतम् ॥ २४ ॥
पुराणं मेध्यमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपाप्मजित् ।

ब्राह्मी का स्वरस, वच, कूठ, शंखपुष्पी, इनसे पकाया पुरातन घृत मेधावर्धक, उन्माद, अलक्ष्मी और अपस्मार रोग का नाशक है।

यमक स्नेह—

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥ २५ ॥
क्षीरद्रोणे पचेत्सिद्धमपस्मारविमोक्षणम् ।

जीवनीय गण की औषधियाँ प्रत्येक एक पल लेकर उनसे तैल का एक प्रस्थ, घी का एक प्रस्थ एक द्रोण दूध में पकाये। यह यमकस्नेह अपस्मारनाशक है।

वातपित्तज-अपस्मारनाशक घृत—

कंसे क्षीरेक्षुरसयोः काश्मर्यऽष्टगुणे रसे ॥ २६ ॥
कार्षिकैर्जीवनीयैश्च सर्पि प्रस्थं विपाचयेत् ।
वातपित्तोद्भवं क्षिप्रमपस्मारं निहन्ति तत् ॥ २७ ॥

दूध और गन्ने का रस प्रत्येक एक आढक, गम्भारी का क्वाथ (घी से) आठगुना (आठ प्रस्थ) जीवनीय गण की ओषधियाँ एक-एक कर्ष लेकर एक प्रस्थ घी सिद्ध करे। यह वातपित्तजन्य अपस्मार को जल्दी ही नष्ट करता है।

अपस्मारनाशक सामान्य चिकित्सा —

तद्वत् कासविदारीक्षुकुशक्वाथशृतं पयः ।
कूष्माण्डस्वरसे सर्पिरष्टादशगुणे शृतम् ॥ २८ ॥
यष्टीकल्कमपस्मारहरं धीवाक्स्वरप्रदम् ।
कपिलानां गवां पित्तं नावने परमं हितम् ॥ २९ ॥
श्वशृगालबिडालानां सिंहादीनां च पूजितम् ।
गोधानकुलनागानां पृषतर्क्षगवामपि ३० ॥
पित्तेषु साधितं तैलं नस्येऽभ्यङ्गे च शस्यते ।
त्रिफलाव्योषपीतद्रुयवक्षारफणिज्झकैः ॥ ३१ ॥
श्यामापामार्गकारञ्जबीजैस्तैलं विपाचितम् ।
बस्तमूत्रे हितं नस्यं चूर्णं वा ध्मापयेद्भिषक् ॥ ३२ ॥
नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः ।
तुण्डैः पक्षैः पुरीषैश्च धूपमस्य प्रयोजयेत् ॥ ३३ ॥
शीलयेत्तैललशुनं पयसा वा शतावरीम् ।
ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधुसंयुताम् ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार काश, विदारी, गन्ना, कुश, इनके क्वाथ में पकाया दूध भी अपस्मार को शीघ्र नष्ट करता है।

कोंहड़े के अट्ठारहगुने स्वरस में मुलहठी के कल्क से एक प्रस्थ घी पकाये। यह घृत अपस्मारनाशक, वाणी, बुद्धि और स्वर को देने वाला है।

कपिल वर्ण की गायों का पित्त नस्य के लिये अतिश्रेष्ठ है। कुत्ता, गीदड़, बिल्ली और सिंह का पित्त भी नस्य में श्रेष्ठ है। गोह, नेवला, हाथी, चित्रक, मृग, रीछ और गाय, इनके पित्तों में बनाया तैल नस्य, अभ्यंग में उत्तम है। [नागो हस्ती, इति डल्हणः]।

त्रिफला, त्रिकटु, दारुहल्दी, यवक्षार, फणिज्झक (मरवा), राल, चिरचिटा, करंज के बीज, इनके कल्क से बकरे के मूत्र में पकाया तैल नस्य में उत्तम है। और इनका चूर्ण वैद्य नाक में फूंके।

नेवला, उल्लू, बिल्ली, गीध, कीट, साँप, कौआ के चोंच, पंख और मल से अपस्मार रोगी को धूप देवे।

तैल और लहसुन को खाने का अभ्यास करे। दूध के साथ शतावरी को, ब्राह्मी का स्वरस, कुष्ठ का रस या वचा को मधु के साथ नित्य प्रति खाये।

समं क्रुद्धैरपस्मारो दोषैः शारीरमानसैः ।
यज्जायते यतश्चैष महामर्मसमाश्रयः ॥ ३५ ॥
तस्माद्रसायनैरेनं दुश्चिकित्स्यमुपाचरेत् ।
तदार्तं चाग्नितोयादेर्विषमात्पालयेत्सदा ॥ ३६ ॥
मुक्तं मनोविकारेण त्वमित्थं कृतवानिति ।
न ब्रूयाद्विषयैरिष्टैः क्लिष्टं चेतोऽस्य बृंहयेत् ॥ ३७ ॥
इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थानेऽप-
स्मारप्रतिषेधो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

* * *

क्योंकि अपस्मार एक साथ प्रकुपित हुए शारीरिक और मानसिक दोषों से उत्पन्न होता है और हृदय एवं संज्ञावह आदि महामर्मों में आश्रित होता है, इसलिये इस दुश्चिकित्स्य अपस्मार की रसायनों से चिकित्सा करे। अपस्मार रोगी को अग्नि, जल तथा विषम स्थानों (पर्वत या गड्ढे आदि) से सदा बचाये।

उन्माद या अपस्मार के मनोविकार से मुक्त रोगी को यह न कहे कि तुमने इस प्रकार की बीभत्स चेष्टायें की थी।

तन्त्रान्तरोक्त प्रसिद्ध योग - कल्याणचूर्ण, वातकुलान्तक-रस, भूतभैरव और ब्राह्मी घृत।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का अपस्मार-
प्रतिषेध नामक सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

* * *

---

१. चौथे से सातवें तक चार अध्यायों में भूतविद्या नामक आयुर्वेद के चौथे अङ्ग का वर्णन हुआ है। उन्माद और अपस्मार निज कारणों से भी होते हैं अतः इनको कायचिकित्सा में भी समाविष्ट किया जा सकता है। किन्तु इनकी चिकित्सा से ग्रहावेश में और ग्रहावेश की चिकित्सा से इनमें लाभ होता है, लक्षणों में अतिसाम्य होता है, भूतावेश से भी ये होते हैं अतः इन्हें भी भूत विद्या के अंग में ही समाविष्ट किया है। (अध्याय ५ का अन्तिम श्लोक देखिए।)

अष्टमोऽध्यायः

अथातो वर्त्मरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे वर्त्मरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था। (यहाँ से शालाक्य तन्त्र नामक आयुर्वेद के पांचवें अङ्ग का वर्णन प्रारम्भ होता है।)

नेत्ररोग की सम्प्राप्ति—

सर्वरोगनिदानोक्तैरहितैः कुपिता मलाः ।
अचक्षुष्यैर्विशेषेण प्रायः पित्तानुसारिणः ॥ १ ॥
शिराभिरूर्ध्वं प्रसृता नेत्रावयवमाश्रिताः ।
वर्त्म सन्धिं सितं कृष्णं दृष्टिं वा सर्वमक्षि वा ॥ २ ॥
रोगान् कुर्युः —

सर्वरोगनिदान में कहे तिक्तोषणादि अहित आहार-विहारों से, विशेषकर चक्षु के लिये अहितकर आहार-विहारों से कुपित हुए मल (दोष) पित्त का अनुसरण करके शिराओं द्वारा ऊपर की ओर फैलकर-नेत्रों के अवयवों-वर्त्म, सन्धि, सित भाग, कृष्ण भाग, दृष्टि में आश्रित होकर अथवा सम्पूर्ण आंख में रोगों को उत्पन्न करता है[1]।

कृच्छ्रोन्मीलन रोग के लक्षण—

—चलस्तत्र प्राप्य वर्त्माश्रयाः सिराः ।
सुप्तोत्थितस्य कुरुते वर्त्मस्तम्भं सवेदनम ॥ ३ ॥
पांशुपूर्णाभनेत्रत्वं कृच्छ्रोन्मीलनमश्रु च ।
विमर्दनात् स्याच्च शमः कृच्छ्रोन्मीलं वदन्ति तत् ॥४॥

वर्त्म में आश्रित सिराओं में वायु पहुँच कर सोकर उठे हुए पुरुष में तत्काल वेदनायुक्त वर्त्मस्तम्भन करती है। इससे आंख धूलि से भरी सी, कठिनाई से खुलने वाली और अश्रुयुक्त होती है और मलने से शान्ति होती है, इसको कृच्छ्रोन्मीलन कहते हैं।

निमेष रोग के लक्षण—

चालयन् वर्त्मनी वायुर्निमेषोन्मेषणं मुहुः ।
करोत्यरुङ् निमेषोऽसौ —

वायु पलकों को चलाती हुई पीड़ा रहित, निमेष और उन्मेष (बन्द करना और खोलना) बार-बार करती है, इसको निमेष कहते हैं।

वातहत वर्त्म के लक्षण—

—वर्त्म यत्तु निमील्यते ॥ ५ ॥
विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं हीनं वातहतं हि तत् ।

जो पलक, बन्द हुई, शिथिल सन्धि, निमेष-उन्मेष रहित और संकुचित होती है, उसको वातहत कहते हैं।

कुम्भी पिटिका के लक्षण—

कृष्णाः पित्तेन बह्व्योऽन्तर्वर्त्म कुम्भीकबीजवत् ॥६॥
आध्मायन्ते पुनर्भिन्नाः पिटिकाः कुम्भिसंज्ञिताः ।

पित्त के कारण कृष्णवर्ण की बहुत सी पिडिकायें पलक के अन्दर के भाग में कुम्भीक बीज के समान हो जाती हैं, ये पिडिकायें फूटने पर फिर भरकर फूल जाती हैं। इनको कुम्भीक (कुम्भिका) कहते हैं। (कुम्भीक-कुम्भाडूलता)।

पित्तोत्क्लिष्ट वर्त्म के लक्षण—

सदाहक्लेदनिस्तोदं रक्ताभं स्पर्शनाक्षमम् ॥ ७ ॥
पित्तेन जायते वर्त्म पित्तोत्क्लिष्टमुशन्ति तत् ।

पित्त के कारण पलक दाह, क्लेद एवं तोद युक्त, लाल वर्ण का, स्पर्श को न सहने वाला हो जाता है, इस रोग को 'पित्तोत्क्लिष्ट' कहते हैं।

पक्ष्मशात के लक्षण—

करोति कण्डूं दाहं च पित्तं पक्ष्मान्तमाश्रितम् ॥८॥
पक्ष्मणां शातनं चानु पक्ष्मशातं वदन्ति तम् ।

पलकों के किनारों (बाल की जड़) में स्थित पित्त कण्डू और दाह उत्पन्न करता है, पीछे से पलकों के बालों का नाश करने लगता है, इसको पक्ष्मशात कहते हैं।

पोथकी के लक्षण—

पोथक्यः पिटिकाः श्वेताः सर्षपाभा घनाः कफात् ॥९॥
शोफोपदेहरुक्कण्डूपिच्छिलाश्रुसमन्विताः ।

कफ के कारण से श्वेत सरसों के आकार की, घनी, शोफ, मैल, पीड़ा, कण्डू और पिच्छिल—चिकास अश्रु से युक्त जो पिडिकायें होती हैं, उनको पोथकी कहते हैं।

कफोत्क्लिष्ट रोग के लक्षण—

कफोत्क्लिष्टं भवेद्वर्त्म स्तम्भक्लेदोपदेहवत् ॥१०॥

जो पलक स्तम्भ, क्लेद तथा मैल से युक्त होती है, उसे कफोत्क्लिष्ट कहते हैं।

लगण रोग के लक्षण—

ग्रन्थिः पाण्डुररुक्पाकः कण्डूमान् कठिनः कफात् ।
कोलमात्रः स लगणः किञ्चिदल्पस्ततोऽथ वा ॥११॥

कफ के कारण (पलक में) जो गांठ बेर के बराबर या बेर से कुछ छोटी, पाण्डुवर्ण, पीड़ा और पाक से रहित, कण्डू युक्त और कठिन होती है, उसे लगण कहते हैं।

उत्संग के लक्षण—

रक्ता रक्तेन पिटिका यत्तुल्यपिटिकाचिता ।
उत्सङ्गाख्या —

रक्त के कारण सुर्ख जो पिटिका अपने समान पिटिकाओं से घिरी होती है, उसे उत्संग कहते हैं।

उत्क्लिष्ट के लक्षण—

—तथोत्क्लिष्टं राजिमत्स्पर्शनाक्षमम् ॥१२॥

---

[1] नेत्र रोगों को भलीभांति समझने के लिए नेत्र-शारीर का ज्ञान आवश्यक है। इसके लिये सुश्रुत-संहिता के उत्तर-तन्त्र का पहला अध्याय देखें।

रक्त के कारण ही जो पलक रेखा वाली और स्पर्श को न सहने वाली होती है, उसे उत्क्लिष्टवर्त्म कहते हैं।

वर्त्मार्श के लक्षण—

अर्शोऽधिमांसं वर्त्मान्तः स्तब्धं स्निग्धं सदाहरुक् ।
रक्तं रक्तेन तत्स्रावि छिन्नं छिन्नं च वर्धते ॥ १३ ॥

पलक के अन्दर स्थित मांसाङ्कुररूप अधिक मांस को वर्त्मार्श कहते हैं। यह स्तब्ध, स्निग्ध, दाह एवं वेदना से युक्त, रक्त के कारण सुर्ख, रक्त को बहाने वाला होता है तथा काटने पर बार-बार बढ़ जाता है।

अञ्जननामिका के लक्षण—

मध्ये वा वर्त्मनोऽन्ते वा कण्डूषारुग्वती स्थिरा ।
मुद्गमात्राऽसृजा ताम्रा पिटिकाऽञ्जननामिका ॥१४॥

रक्त के कारण ताम्रवर्ण की जो पिटिका, पलक के बीच में या किनारे पर कण्डू, जलन, पीड़ा करने वाली, स्थिर, मूंग के बराबर होती है, उसे अञ्जननामिका कहते हैं।

बिसवर्त्म के लक्षण—

दोषैर्वर्त्म बहिः शूनं यदन्तः सूक्ष्मखाचितम् ।
सस्रावमन्तरुदकं बिसाभं बिसवर्त्म तत् ॥१५॥

वात आदि दोषों से जो पलक बाहर से सूजी, अन्दर में सूक्ष्म छिद्रों से भरी होती है और बिस की भांति जिनमें से पानी बहता है, उसे बिसवर्त्म कहते हैं।

उत्क्लिष्ट वर्त्म के लक्षण—

यद्वर्त्मोत्क्लिष्टमुत्क्लिष्टमकस्मान्म्लानतामियात् ।
रक्तदोषत्रयात्क्लेशाद्भवत्युत्क्लिष्टवर्त्म तत् ॥१६॥

जो पलक रक्त की अधिकता से या तीनों दोषों की अधिकता से बराबर उत्क्लेशित होकर बिना कारण के ही शुष्क हो जाता है, उसे उत्क्लिष्टवर्त्म कहते हैं। (इसका एक भेद पहिले भी श्लोक १२ में कहा गया है।)

श्याववर्त्म के लक्षण—

श्याववर्त्म मलैः सास्रैः श्यावं रुक्क्लेदशोफवत् ।

रक्तमिश्रित तीनों दोषों से जो पलक श्याव वर्ण, पीड़ा, क्लेद और शोफ से युक्त होती है, उसे श्याववर्त्म कहते हैं।

श्लिष्टवर्त्म के लक्षण—

श्लिष्टाख्यं वर्त्मनी श्लिष्टे कण्डूश्वयथुरागिणी ॥१७॥

जो पलकें आपस में जुड़ी, कण्डू तथा शोथ युक्त और सुर्ख होती हैं, उनको श्लिष्टवर्त्म कहते हैं।

सिकतावर्त्म के लक्षण—

वर्त्मगोऽन्तः खरा रूक्षाः पिटिकाः सिकतोपमाः ।
सिकतावर्त्म—

जिस पलक के अन्दर रेती के समान, खुरदरी, रूक्ष पिटिकायें होती हैं, उसको सिकतावर्त्म कहते हैं।

कर्दम तथा बहल रोग के लक्षण—

—कृष्णं तु कर्दमं कर्दमोपमम् ॥१८॥
बहलं बहलैर्मांसैः सवर्णैश्चीयते समैः ।

कीचड़ के समान काले वर्त्म को कर्दमवर्त्म कहते हैं।

जो पलक घन, समानवर्ण के मांसों से एक समान रूप में भर जाती है। (मोटी हो जाती है) उसे बहलवर्त्म कहते हैं।

कुकूणक के लक्षण—

कुकूणकः शिशोरेव दन्तोत्पत्तिनिमित्तजः ॥१९॥
स्यात्तेन शिशुरुच्छूनताम्राक्षो वीक्षणाक्षमः ।
सवर्त्मशूलपैच्छिल्यः कर्णनासाक्षिमर्दनः ॥२०॥

ककूणक रोग बच्चों में ही दाँतों की उत्पत्ति के कारण होता है। इस रोग के कारण बच्चा सूजी हुई लाल आँखों वाला तथा देखने में असमर्थ होता है। पलक में शूल और पिच्छिलता रहती है एवं बच्चा कान, नाक और आँखों को मलता है।

पक्ष्मोपरोध के लक्षण—

पक्ष्मोपरोधे सङ्कोचो वर्त्मनां जायते तथा ।
खरताऽन्तर्मुखत्वं च रोम्णामन्यानि वा पुनः ॥२१॥
कण्टकैरिव तीक्ष्णाग्रैर्घृष्टं तैरक्षि शूयते ।
उष्यते चानिलादिद्विडल्पाहः शान्तिरुद्धृतैः ॥२२॥

पक्ष्मोपरोध रोग में पलकों में संकोच हो जाता है और बालों में कर्कशता होती है एवं वे अन्दर की ओर मुड़ जाते हैं अथवा दूसरे नये (कर्कश) रोम निकल आते हैं। काँटों की भाँति इनके तीक्ष्ण अग्रभागों से रगड़ लगने पर आँख सूज जाती है। वायु और अग्नि से द्वेष होता है। बालों को उखाड़ने से कुछ दिन के लिये शान्ति हो जाती है।

अलजी नामक ग्रन्थि—

कनीनके बहिर्वर्त्म कठिनो ग्रन्थिरुन्नतः ।
ताम्रः पक्वोऽस्रपूयस्रुदलज्याध्मायते मुहुः ॥२३॥

पलकों के बाह्य भाग में आँखों की नासा-समीपवर्ती संधि पर जो कठिन एवं लाल गांठ होती है, उसे अलजी कहते हैं। इस गांठ के पकने पर इससे रक्त या पूय बहती है और यह बार-बार भरकर फूल जाती है-सूज जाती है।

अर्बुद के लक्षण—

वर्त्मान्तर्मांसपिण्डाभः श्वयथुर्ग्रथितोऽरुजः ।
सास्रैः स्यादर्बुदो दोषैर्विषमो बाह्यतश्चल ॥२४॥
चतुर्विंशतिरित्येते व्याधयो वर्त्मसंश्रयाः ।

पलकों के अन्दर मांसपिण्ड के आकार की जो सूजन रक्तमिश्रित दोषों से होती है, उसे अर्बुद कहते हैं। यह पीड़ा से रहित, बाहर से हिलाने पर हिलने वाला और विषम होता है।

इस प्रकार पलक में होने वाले चौबीस रोग कह दिये हैं। [सुश्रुत में वर्त्मरोग इक्कीस हैं, यहाँ पर चौबीस हैं।]

वर्त्म रोगों का साध्यासाध्यत्व—

आद्योऽत्र भेषजैः साध्यो द्वौ ततोऽर्शश्च वर्जयेत् ॥२५॥
पक्ष्मोपरोधो याप्यः स्याच्छेषाञ्छस्त्रेण साधयेत् ।
कुट्टयेत्पक्ष्मसदनं छिन्द्यात्तेष्वपि चार्बुदम् ॥२६॥

भिन्द्याल्लगणकुम्भीकाबिसोत्सङ्गाञ्जनालजीः ।
पोथकीश्यावसिकताश्लिष्टोत्क्लिष्टचतुष्टयम् ।। २७ ।।
सकर्दमं सबहलं विलिखेत्सकुकूणकम् ।। २७ ।।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाम-
ष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने वर्त्मरोग-
विज्ञानीयो नाम अष्टमोऽध्यायः ।। ८ ।।

* * *

इन रोगों में प्रथम रोग (कृच्छ्रोन्मीलन) औषध से साध्य है। अगले दो (निमेष और वातहत) और अर्श असाध्य हैं। पक्ष्मोपरोध याप्य है। शेष बीस रोगों की शस्त्र से चिकित्सा करे।

इन शस्त्रसाध्य रोगों में—पक्ष्मशात रोग में कूर्चाख्यशस्त्र से प्रतिसारण करे। अर्बुद को वृद्धिपत्र से काटे। लगण, कुम्भीका, विसवर्त्म, उत्संगवर्त्म, अंजननामिका, अलजी; इनका व्रीहिमुख से भेदन करे। पोथकी, श्याववर्त्म, सिकतावर्त्म, श्लिष्टवर्त्म, पित्तोत्क्लिष्ट, कफोत्क्लिष्ट, रक्तोत्क्लिष्ट, उत्क्लिष्ट, कर्दम, बहल और कुकूणक में विलेखन करे।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का वर्त्मरोग-विज्ञानीय नामक आठवां अध्याय समाप्त हुआ ।। ८ ।।

* * *

नवमोऽध्यायः

अथातो वर्त्मरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे वर्त्मरोग-प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

कृच्छ्रोन्मीलनचिकित्सा—

कृच्छ्रोन्मीले पुराणाज्यं द्राक्षाकल्काम्बुसाधितम् ।
ससितं योजयेत्स्निग्धं नस्यधूमाञ्जनादि च ।। १ ।।

कृच्छ्रोन्मील रोग में द्राक्षा कल्क और क्वाथ में पकाये पुरातन घृत को समान शर्करा के साथ लगाये और स्निग्ध नस्य, स्निग्ध धूम तथा स्निग्ध अंजन वरते।

कुम्भीकावर्त्मचिकित्सा—

कुम्भीकावर्त्म लिखितं सैन्धवप्रतिसारितम् ।
यष्टीधात्रीपटोलीनां क्वाथेन परिषेचयेत् ।। २ ।।

कुम्भीकावर्त्म में लेखन करके सैन्धव नमक से प्रतिसारण करे। मुलहठी, आँवला और पटोली के क्वाथ से परिषेक करे।

वर्त्मलेखन रीति—

निवातेऽधिष्ठितस्याप्तैः शुद्धस्योत्तानशायिनः ।
बहिः कोष्णाम्बुतप्तेन स्वेदितं वर्त्म वाससा ।। ३ ।।
निर्भुज्य वस्त्रान्तरितं वामाङ्गुष्ठाङ्गुलीधृतम् ।
न स्रंसते चलति वा वर्त्मैवं सर्वतस्ततः ।। ४ ।।
मण्डलाग्रेण तत्तिर्यक् कृत्वा शस्त्रपदाङ्कितम् ।
लिखेत्तेनैव पत्रैर्वा शाकशेफालिकादिजैः ।। ५ ।।
फेनेन तोयराशेर्वा पिचुना प्रमृजन्नसृक् ।
स्थिरे रक्ते सुलिखितं सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ।। ६ ।।
यथास्वमुक्तैरनु च प्रक्षाल्योष्णेन वारिणा ।
घृतेन सिक्तमभ्यक्तं बध्नीयान्मधुसर्पिषा ।। ७ ।।
ऊर्ध्वाधः कर्णयोर्दत्त्वा पिण्डीं च यवसक्तुभिः ।
द्वितीयेऽहनि मुक्तस्य परिषेकं यथायथम् ।। ८ ।।
कुर्याच्चतुर्थे नस्यादीन् मुञ्चेदेवाह्नि पञ्चमे ।

लेखन विधि—वायुरहित स्थान में वमनादि से शुद्ध तथा चित्त (पीठ के भार) लिटाये हुए रोगी को विश्वस्त पुरुषों से पकड़वा कर इसके पलक को बाहर से गरम पानी में भिगोये वस्त्र से स्वेदन देवे। पलक को वस्त्र के अन्दर लपेट कर बायें हाथ की अंगुली से उलटा करके पकड़े, जिससे यह पलक न तो शिथिल हो और न हिले। इस प्रकार सब ओर से करे। पीछे इस वर्त्म को तिरछे रूप मण्डलाग्र से शस्त्र-पदाङ्कित करके इससे लेखन करे, अथवा सागौन, शेफालिका आदि के (खुरदरे) पत्रों से लेखन करे, अथवा समुद्रफेन से लेखन करे। फिर रूई के फोये से रक्त को साफ करके, रक्त के बन्द होने पर भली प्रकार लेखन होने पर क्षारविधि में कहे प्रतिसारण क्षारों (सैन्धवादि) से मधु के साथ दोषानुसार प्रतिसारण करे। पीछे गरम पानी से धोकर घी से सिञ्चन तथा मधु और घी से अभ्यंग करके कान के ऊपर और नीचे जौ के सत्तू की पिण्डी रख कर बांध देवे। दूसरे दिन पट्टी खोल कर पलक पर दोषों के अनुसार परिषेक करे। चौथे दिन नस्य, धूम आदि करे पांचवें दिन पट्टी खोल दे। (पट्टी चार दिन रक्खे)।

सम्यक् लिखित वर्त्म के लक्षण—

समं नखनिभं शोफकण्डूघर्षाद्यपीडितम् ।। ९ ।।
विद्यात्सुलिखितं वर्त्म लिखेद् भूयो विपर्यये ।

भली प्रकार लेखन होने पर पलक, समतल नख के समान लाल, शोफ, कण्डू तथा घर्ष (रगड़) आदि से रहित होती है। इन लक्षणों से विपरीत लक्षण होने पर पलक का पुनः लेखन करे।

अति लेखन के दोष—

रुक्पक्ष्मवर्त्मसदनस्रंसनान्यतिलेखनात् ।।१०।।
स्नेहस्वेदादिकस्तस्मिन्निष्टो वातहरः क्रमः ।

अतिलेखन से वेदना, पलकों के बालों का गिरना तथा पलकों में शिथिलता होती है। इसमें स्नेहन, स्वेदन और वातनाशक चिकित्सा उत्तम है।

अतिलेखनचिकित्सा—

अभ्यज्य नवनीतेन श्वेतरोध्रं प्रलेपयेत् ।।११।।
एरण्डमूलकल्केन पुटपाके पचेत्ततः ।

स्विन्नं प्रक्षालितं शुष्कं चूर्णितं पोटलीकृतम् ॥१२॥
स्त्रियाः क्षीरे छगल्या वा मृदितं नेत्रसेचनम् ।
शालितण्डुलकल्केन लिप्तं तद्वत् परिष्कृतम् ॥१३॥
कुर्यान्नेत्रेऽतिलिखिते मृदितं दधिमस्तुना ।
केवलेनापि वा सेकं मस्तुना जाङ्गलाशिनः ॥१४॥

सावर लोध को मक्खन से मलकर एरण्डमूल के कल्क से लेप करके पीछे से पुटपाक विधि से पकाये। पुटपाक विधि से स्विन्न हो जाने पर धोकर, सुखाकर, चूर्ण करके, पोटली बनाकर इसको नारी के दूध में या बकरी के दूध में मलकर नेत्र में परिसेचन करे।

सावरलोध को पूर्व की भाँति मक्खन से स्निग्ध करके शालि चावल के कल्क से लिप्त करके पूर्व की भाँति पुटपाक विधि से पकाकर, धोकर, सुखाकर, चूर्ण करके, पोटली बना कर दधि-मस्तु में मसल कर अतिलेखन में परिषेक करे। अथवा जांगल मांस खाने वाले पुरुष की आँखों पर केवल मस्तु से ही परिषेक करे।

कठोर पिटिकाचिकित्सा—

पिटिका व्रीहिवक्त्रेण भित्त्वा तु कठिनोन्नताः ।
निष्पीडयेदनु विधिः परिशेषस्तु पूर्ववत् ॥१५॥
लेखने भेदने चायं क्रमः सर्वत्र वर्त्मनि ।

कठिन और उन्नत पिटिकाओं को व्रीहिमुख से भेदन करके दबाये। शेष विधि—प्रलेप, क्षालन, बन्ध और सेचनादि पूर्व की भाँति करे।

लेखन तथा भेदन में यही क्रम पलकों के सब रोगों में बरतना चाहिये।

पित्त-रक्तोत्क्लिष्टचिकित्सा—

पित्तास्रोत्क्लिष्टयोः स्वादुस्कन्धसिद्धेन सर्पिषा ॥१६॥
सिराविमोक्षः स्निग्धस्य त्रिवृच्छ्रेष्ठं विरेचनम् ।
लिखिते स्रुतरक्ते च वर्त्मनि क्षालनं हितम् ॥१७॥
यष्टीकषायः, सेकस्तु क्षीरं चन्दनसाधितम् ।

पित्तोत्क्लिष्ट में और रक्तोत्क्लिष्ट रोग में मधुर गण से सिद्ध किये घृत से स्निग्ध हुए पुरुष में सिरामोक्ष करना चाहिये। विरेचन में त्रिवृत् उत्तम है। लेखन हो जाने पर और रक्त निकल जाने पर पलक को धोने के लिये मुलहटी का कषाय उत्तम है। चन्दन से सिद्ध किया दूध परिषेक में उत्तम है। ['त्रिवृच्छ्रेष्ठा विरेचने' इस पाठ में अरुणदत्त ने त्रिवृत् और त्रिफला अर्थ किया है, परन्तु शिवदाससेन जी को 'श्रेष्ठं' पाठ मान्य है]।

पक्ष्मशातचिकित्सा—

पक्ष्मणां सदने सूच्या रोमकूपान् विकुट्टयेत् ॥१८॥
ग्राहयेद्वा जलौकोभिः, पयसेक्षुरसेन वा ।
वमनं, नावनं सर्पिः शृतं मधुरशीतलैः ॥१९॥
सञ्चूर्ण्य पुष्पकासीसं भावयेत्सुरसारसैः ।
ताम्रे दशाहं परमं पक्ष्मशाते तदञ्जनम् ॥२०॥

पलकों के बालों (बरौंनी) का नाश होने पर रोम की जड़ों को सूई से छेदे अथवा जोकों से पकड़वाये। दूध और ईख के रस से वमन हितकारी है। मधुर तथा शीतल द्रव्यों (द्राक्षादि) से पकाया घृत नस्य के लिये उत्तम है।

पुष्पकासीस को चूर्ण करके ताम्रपात्र में दस दिन तक तुलसी के रस से भावना देवे। यह अंजन पक्ष्मशात में उत्तम है।

पोथकीचिकित्सा—

पोथकीर्लिखिताः शुण्ठीसैन्धवप्रतिसारिताः ।
उष्णाम्बुक्षालिताः सिञ्चेत् खदिराढकिशिग्रुभिः ॥
अप्सिद्धैर्द्विनिशाश्रेष्ठामधुकैर्वा समाक्षिकैः ।

पोथकी को वृद्धिपत्र आदि से लेखन करके सोंठ तथा सैन्धव से प्रतिसारण करे। गरम पानी से धोकर खैर, अरहर, सहजन, इनके क्वाथ से परिषेक करे। अथवा हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला, मुलहठी, इनका जल में क्वाथ करके मधु के साथ परिषेक करे।

कफोत्क्लिष्टचिकित्सा—

कफोत्क्लिष्टे विलिखितं सक्षौद्रैः प्रतिसारणम् ॥ २२ ॥
सूक्ष्मैः सैन्धवकासीसमनोह्वाकणतार्क्ष्यजैः ।
वमनाञ्जननस्यादि सर्वं च कफजिद्धितम् ॥ २३ ॥

कफ से उत्क्लिष्ट वर्त्म में शस्त्र से लेखन करके, सैन्धव, कासीस, मैनसिल, पिप्पली, रसांजन, इनके सूक्ष्म चूर्ण को मधु मिलाकर प्रतिसारण करे। वमन, अंजन, नस्य आदि तथा कफनाशक सम्पूर्ण चिकित्सा हितकारक है।

लगणचिकित्सा—

कर्तव्यं लगणेऽप्येतदशान्तावग्निना दहेत् ।
(स्विन्नां भित्त्वा विनिष्पीड्य भिषग(ड्योत्सङ्गां चा)-
—ञ्जननामिकाम् ।
शिलैलासैन्धवनतैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ॥ १ ॥)

लगण में भी यही चिकित्सा करनी चाहिये। इससे शान्त न होने पर अग्नि दाह करे।

(उत्संगी और अञ्जननामिका में स्वेदन करके भेदन करे और दबाये फिर मैनसिल, इलायची, सैन्धव और तगर को मधु के साथ मिलाकर प्रतिसारण करे)।

कुकूणकचिकित्सा—

कुकूणे खदिरश्रेष्ठानिम्बपत्रशृतं घृतम् ॥ २४ ॥
पीत्वा धात्री वमेत्कृष्णायष्टीसर्षपसैन्धवैः ।
अभयापिप्पलीद्राक्षाक्वाथेनैनां विरेचयेत् ॥ २५ ॥
मुस्ताद्विरजनीकृष्णाकल्केनालेपयेत्स्तनौ ।
धूपयेत्सर्षपैः साज्यैः, शुद्धां क्वाथं च पाययेत् ॥ २६ ॥
पटोलमुस्तमृद्वीकागुडूचीत्रिफलोद्भवम् ।
शिशोस्तु लिखितं वर्त्म स्रुतासृग्वाऽम्बुजन्मभिः॥२७॥
धात्र्यश्मन्तकजम्बूत्थपत्रक्वाथेन सेचयेत् ।

कुकूणक में खैर, त्रिफला, नीम के पत्ते इन से सिद्ध किया घृत धात्री पीकर पिप्पली, मुलहठी, सरसों और सैन्धव से वमन करे। हरड, पिप्पली और द्राक्षा के क्वाथ से इसको विरेचन देवे। मुस्ता, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, इनके कल्क से स्तनों पर लेप करे तथा सरसों और घी से धूप देवे। वमन-विरेचन से शुद्ध हुई (धात्री) को पटोल, मुस्ता, मृद्वीका, गिलोय और त्रिफला का क्वाथ पिलाये।

बच्चे के पलक का लेखन करके अथवा जोकों से रक्त निकलवाकर आंवला, अश्मन्तक (लिसोड़ा) और जामुन के पत्ते के क्वाथ से परिषेक करे।

प्रायः क्षीरघृताशित्वाद्बालानां श्लेष्मजा गदाः ॥२८॥
तस्माद्वमनमेवाग्रे सर्वव्याधिषु पूजितम्।
सिन्धूत्थकृष्णापामार्गबीजाज्यस्तन्यमाक्षिकम् ॥२९॥
चूर्णो वचायाः सक्षौद्रो मदनं मधुकान्वितम्।
क्षीरं क्षीरान्नमन्नं च भजतः क्रमतः शिशोः ॥३०॥
वमनं सर्वरोगेषु विशेषेण कुकूणके।
सप्तलारससिद्धाज्यं योज्यं चोभयशोधनम् ॥३१॥
द्विनिशारोध्रयष्ट्याह्वरोहिणीनिम्बपल्लवैः।
कुकूणके हिता वर्तिः पिष्टैस्ताम्ररजोऽन्वितैः ॥३२॥
क्षीरक्षौद्रघृतोपेतं दुग्धं वा लोहजं रजः।
एलारसोनकतकशङ्खोषणफणिज्झकैः ॥३३॥
वर्तिः कुकूणपोथक्योः सुरापिष्टैः सकट्फलैः।

प्रायः करके बालक दूध और घृत का भोजन करते हैं, इस लिये इनको प्रायः कफजन्य रोग होते हैं। अतः सब रोगों में सबसे प्रथम वमन देना श्रेष्ठ है।

(१) सैन्धव, पिप्पली, चिरचिटा के बीज, घी, दूध, मधु, (२) वचा का चूर्ण मधु के साथ तथा (३) मैनफल मुलहठी के साथ, ये तीन वमन क्रमशः क्षीरभोजी, क्षीरान्नभोजी और अन्नभोजी बच्चों के लिये सब रोगों में, विशेषकर कुकूणक में उत्तम हैं।

सप्तला (चर्मकषा) के रस से सिद्ध घृत वमन और विरेचन के लिये वरतना चाहिये।

हल्दी, दारुहल्दी, लोध, मुलहठी, कुटकी, नीम के पत्ते, ताम्रभस्म, इनको पानी में पीसकर बनाई वर्ति कुकूणक में उत्तम है। अथवा लोहभस्म को दूध, मधु और घी में मिला कर वर्ति करे। (श्रीशिवदाससेनजी 'दग्धं वा फेनजं रजः' पाठ पढ़कर समुद्रफेन का चूर्ण अर्थ करते हैं)।

इलायची, लहसुन, कतक (निर्मली), शंखनाभि, मरिच, मरवा, कट्फल इनको सुरा के साथ पीसकर बनाई वर्ति कुकूणक और पोथकी में उत्तम है। (शंख-शंखनाभि, श्रीशिवदाससेन)।

पक्ष्मरोधचिकित्सा—

पक्ष्मरोधे प्रवृद्धेषु शुद्धदेहस्य रोमसु ॥३४॥
उत्सृज्य द्वौ भ्रुवोऽधस्ताद्भागौ भागं च पक्ष्मतः।
यवमात्रं यवाकारं तिर्यक् छित्त्वाऽऽर्द्रवाससा ॥३५॥
अपनेयमसृक् तस्मिन्नल्पीभवति शोणिते।
सीव्येत्कुटिलया सूच्या मुद्गमात्रान्तरैः पदैः ॥३६॥
बद्ध्वा ललाटे पट्टं च तत्र सीवनसूत्रकम्।
नातिगाढश्लथं सूच्या निक्षिपेदथ योजयेत् ॥३७॥
मधुसर्पिःकवलिकां न चास्मिन् बन्धमाचरेत्।
न्यग्रोधादिकषायैश्च सक्षीरैः सेचयेद्रुजि ॥३८॥
पञ्चमे दिवसे सूत्रमपनीयावचूर्णयेत्।
गैरिकेण व्रणं युञ्ज्यात्तीक्ष्णं नस्याञ्जनादि च ॥३९॥

पक्ष्मरोध रोग में बालों के बहुत बढ़ने पर वमनादि से शुद्ध शरीर वाले रोगी के भ्रुवों के नीचे दो भाग पलकों के बचाकर जौ के बराबर, जौ के आकार का तिरछा छेदन करके गीले वस्त्र से रक्त को साफ करे। इससे रक्त के कम हो जाने पर टेढ़ी सूई से मूंग के बराबर की दूरी पर सी देवे। फिर माथे पर पट्टी बांधकर उस पट्टी में सिये हुए धागे को न तो बहुत कसकर न बहुत ढीला, सूई से टांक देवे। पीछे से मधु और घृत की गद्दी को लगा देवे, इस पर पट्टी न बांधे। दर्द होने पर न्यग्रोधादि गण के क्वाथ से दूध के साथ परिषेक करे। पांचवें दिन धागे को निकालकर व्रण पर गेरु का चूर्ण छिड़क देवे। तीक्ष्ण नस्य, अञ्जन आदि बरते।

दहेदशान्तौ निर्भुज्य वर्त्मदोषाश्रयां वलीम्।
संदंशेनाधिकं पक्ष्म हृत्वा तस्याश्रयं दहेत् ॥४०॥
सूच्यग्रेणाग्निवर्णेन, दाहो बाह्यालजे पुनः।
भिन्नस्य क्षारवह्निभ्यां सुच्छिन्नस्यार्बुदस्य च ॥४१॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने वर्त्मरोगप्रतिषेधो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

* * *

इससे रोग शान्त न हो तो पलक के दोष के आश्रयभूत वली को मोड़कर जला देवे। अधिक बाल को संदंश से निकाल कर बाल की जड़ को अग्नि में लाल की हुई सूई से जला देवे। बाह्य में भेदन करके क्षार और अग्नि से दाह करे। अर्बुद में अलजी को भी भली प्रकार काट कर क्षार या अग्नि से दाह करना चाहिये। (श्रीशिवदाससेनजी ने 'भिन्नस्य' विशेषण अर्बुद का माना है, अरुणदत्त ने अलजी का विशेषण माना है)।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का वर्त्मरोगप्रतिषेध नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

* * *

दशमोऽध्यायः

अथातः सन्धिसितासितरोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे सन्धिसितासितविज्ञानीय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

सन्धिगतरोग।

जलास्रव के लक्षण—

वायुः क्रुद्धः सिराः प्राप्य जलाभं जलवाहिनीः ।
अश्रु स्रावयते वर्त्मशुक्लसन्धेः कनीनकात् ॥ १ ॥
तेन नेत्रं सरुग्रागशोफं स्यात्स जलास्रवः ।

कुपित वायु जलवाहिनी सिराओं में पहुँच कर पलक और शुक्ल की सन्धि और कनीनकासन्धि से जल के समान अश्रु को बहाती है। इस जलस्राव से नेत्र में वेदना, सुर्खी तथा सूजन होती है, इसको जलास्रव कहते हैं।

कफास्रव के लक्षण—

कफात् कफास्रवे श्वेतं पिच्छिलं बहलं स्रवेत् ॥२॥

कफ के कारण कफस्राव होने पर श्वेत, पिच्छिल और घट्ट स्राव बहता है।

उपनाह के लक्षण—

कफेन शोफस्तीक्ष्णाग्रः क्षारबुद्बुदकोपमः ।
पृथुमूलः स्निग्धः सवर्णो मृदुपिच्छिलः ॥ ३ ॥
महानपाकः कण्डूमानुपनाहः स नीरुजः ।

कफ के कारण तीक्ष्णमुख वाला, क्षार के बुलबुलों के समान (अग्नि में क्षार को पकाने पर जैसे बुलबुले होते हैं) विस्तृत मूलवाला, बलवान, स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण वाला, कोमल, पिच्छिल, बड़ा, ईषत्पाकवाला कण्डूयुक्त और वेदनारहित शोफ होता है, वह उपनाह है।

रक्तास्रव के लक्षण—

रक्ताद् रक्तास्रवे ताम्रं बहूष्णं चाश्रु संस्रवेत् ॥ ४ ॥

रक्त के कारण ताम्रवर्ण, बहुत उष्ण, अश्रु बहते हैं, इसको रक्तास्रव कहते हैं।

पर्वणी के लक्षण—

वर्त्मसन्ध्याश्रया शुक्ले पिटिका दाहशूलिनी ।
ताम्रा मुद्गोपमा भिन्ना रक्तं स्रवति पर्वणी ॥ ५ ॥

वर्त्मसन्धि में आश्रित शुक्ल भाग में दाह और शूल वाली, ताम्रवर्ण की, मूंग के बराबर पिटिका को पर्वणी कहते हैं, फूटने पर इसमें से रक्त बहता है। (यह पिटिका रक्तजन्य ही है)।

पूयास्रव के लक्षण—

पूयास्रवे मलाः सास्रा वर्त्मसन्धेः कनीनकात् ।
स्रावयन्ति मुहुः पूयं सास्रं त्वङ्मांसपाकतः ॥ ६ ॥

पूयास्रव में रक्तसहित दोष वर्त्मसन्धिके कनीनक भाग से त्वचा और मांस के पाक से वार-वार रक्तमिश्रितपूय को बहाते हैं।

पूयालसक का लक्षण—

पूयालसो व्रणः सूक्ष्मः शोफसंरम्भपूर्वकः ।
कनीनसन्धावाध्मायी पूयास्रावी सवेदनः ॥ ७ ॥

शोथ और संरम्भ (सुर्खी और पीड़ा) के साथ कनीनिकासन्धि में सूक्ष्म व्रण उत्पन्न होता है, यह व्रण आनाहवान् (फूलने वाला) और पूय का स्राव करने वाला तथा वेदनायुक्त होता है। इसे पूयालसक कहते हैं।

अलजी का लक्षण—

कनीनस्यान्तरलजी शोफो रुक्तोददाहवान् ।

कनीनक-सन्धि के अन्दर वेदना, तोद और दाहयुक्त जो शोफ होता है, उसे अलजी कहते हैं।

कृमि-ग्रन्थि का लक्षण—

अपाङ्गे वा कनीने वा कण्डूषापक्ष्मपोटवान् ॥८॥
पूयास्रावी कृमिग्रन्थिर्ग्रन्थिः कृमियुतोऽर्तिमान् ।

कृमिग्रन्थि—अपांग (नेत्र के बाहरीकोण) या कनीनक (नासिका समीपवर्ती कोण) संधि में कण्डू, जलन तथा पक्ष्म-पतनयुक्त पूयस्रावी ग्रंथि होती है, इसमें कृमि और पीड़ा होती है, इसको कृमिग्रन्थि कहते हैं। (यह रोग पित्त कफजन्य है)।

संधिगत रोगों की साध्यासाध्यता—

उपनाहकृमिग्रन्थिपूयालसकपर्वणीः ॥ ९ ॥
शस्त्रेण साधयेत्पञ्च सालजीनास्रवांस्त्यजेत् ।

उपनाह, कृमिग्रन्थि, पूयालसक, पर्वणी, इनकी शस्त्र से चिकित्सा करे। जलास्रव, कफास्रव, रक्तास्रव, पूयास्रव और अलजी, इन पाँच की असाध्य होने से चिकित्सा न करें।

श्वेतमण्डल के रोग।

शुक्तिका के लक्षण—

पित्तं कुर्यात्सिते बिन्दूनसितश्यावपीतकान् ॥१०॥
मलाक्तादर्शतुल्यं वा सर्वं शुक्लं सदाहरुक् ।
रोगोऽयं शुक्तिकासंज्ञः सशकृद्भेदतृड्ज्वरः ॥११॥

पित्त के कारण श्वेत भाग में काले, श्याव तथा पीले रंग के बिन्दु हो जाते हैं, अथवा सम्पूर्ण श्वेत भाग मैल से भरे दर्पण की भाँति हो जाता है, इसमें जलन और वेदना होती है, इस रोग को शुक्तिका कहते हैं। इसमें अतिसार, प्यास और ज्वर भी हो जाता है। ('सदाहरुक्' के स्थान पर श्रीशिवदाससेन जी ने 'अदाहरुक्' अर्थात् जलन और पीड़ा रहित पाठ दिया है)।

शुक्लार्म के लक्षण—

कफाच्छुक्ले समं श्वेतं चिरवृद्ध्यधिमांसकम् ।
शुक्लार्म—

कफ के कारण शुक्ल भाग में श्वेत, देर से बढ़नेवाले मांस की वृद्धि हो जाती है, इसको शुक्लार्म कहते हैं।

बलासग्रथित के लक्षण—

—शोफस्त्वरुजः सवर्णो बहलोऽमृदुः ॥१२॥
गुरुः स्निग्धोऽम्बुबिन्द्वाभो बलासग्रथितं स्मृतम् ।

वेदनारहित, मण्डल के समान वर्ण का, घट्ट, कोमल, गुरु, स्निग्ध, जलबिन्दु के समान जो शोथ होता है, उसे बलासग्रथित कहते हैं।

पिष्टक के लक्षण—

बिन्दुभिः पिष्टधवलैरुत्सन्नैः पिष्टकं वदेत् ॥ १३ ॥

पिट्ठी के समान श्वेत उठे हुए बिन्दुओं को पिष्टक कहते हैं।

सिरोत्पात के लक्षण—

रक्ताराजीततं शुक्लमुच्यते यत्सवेदनम् ।
अशोफाश्रूपदेहं च सिरोत्पातः स शोणितात् ॥१४॥

श्वेत भाग लाल रेखाओं से भरा रहता है, जलता है तथा वेदना होती है, शोफ, अश्रु और मैल से रहित होता है यह रोग सिरोत्पात कहलाता है और रक्तजन्य है।

सिराहर्ष के लक्षण—

उपेक्षितः सिरोत्पातो राजीस्ता एव वर्धयन् ।
कुर्यात्साम्रं सिराहर्षं तेनाक्ष्युद्वीक्षणाक्षमम् ॥१५॥

सिरोत्पात रोग की अपेक्षा करने से उन्हीं रेखाओं को बढ़ाकर रक्तयुक्त कर देती है, इसे सिराहर्ष कहते हैं। इससे आँख देख नहीं सकती।

सिराजाल के लक्षण—

सिराजाले सिराजालं बृहद्रक्तं घनोन्नतम् ।

सिराजाल सिराओं का जाल बड़ा, लाल, घट्ट और ऊपर को उठा होता है।

शोणितार्म के लक्षण—

शोणितार्म समं श्लक्ष्णं पद्माभमधिमांसकम् ॥१६॥

समान (सपाट), चिकना, कमल के समान जो अधिक मांस होता है, वह शोणितार्म है।

अर्जुन रोग के लक्षण—

नीरुक् श्लक्ष्णोऽर्जुनं बिन्दुः शशलोहितलोहितः ।

वेदनारहित, चिकना, खरगोश के रक्त के समान रक्त बिन्दु अर्जुन है।

प्रस्तार्यर्म के लक्षण—

मृद्वाशुवृद्ध्यरुङ्मांसं प्रस्तारि श्यावलोहितम् ॥१७॥
प्रस्तार्यर्म मलैः सास्रैः—

जो मांस कोमल, जल्दी बढ़ने वाला, वेदना-रहित, फैलने वाला, काले लाल रंग का तथा रक्तयुक्त वातादि दोषों से होता है, वह प्रस्तार्यर्म है।

—स्नाय्वर्म स्नावसन्निभम् ।

स्नायवर्म—यह स्नायु के समान होता है।

अधिमांसार्म के लक्षण—

शुष्कासृक्पिण्डवच्छ्यावं यन्मांसं बहलं पृथु ॥१८॥
अधिमांसार्म तद्—

जो मांस सूखे रक्त के पिण्ड की भांति श्याव वर्ण, मोटा तथा चौड़ा होता है, वह अधिमांसार्म है।

सिरासंज्ञक रोग के लक्षण—

—दाहघर्षवत्यः सिरावृताः ।
कृष्णासन्नाः सिरासंज्ञाः पिटिकाः सर्षपोपमाः ॥१९॥

नेत्र के कृष्णभाग से लगी हुई सरसों के समान जो पिटिकायें दाह तथा घर्ष से युक्त एवं सिराओं से आवृत हों उनको सिरासंज्ञक (सिरोत्पात) रोग कहते हैं।

श्वेत मण्डल के रोगों की साध्यासाध्यता—

शुक्तिहर्षसिरोत्पातपिष्टकग्रथितार्जुनम् ।
साधयेदौषधैः षट्कं शेषं शस्त्रेण सप्तकम् ॥२०॥
नवोत्थं तदपि द्रव्यैः—

शुक्ति, सिराहर्ष सिरोत्पात, पिष्टक, बलास, ग्रथित और अर्जुन; इन छः की ओषधियों से चिकित्सा करे। शेष सात की शस्त्र से चिकित्सा करे। ये सात भी यदि नूतन हों (एक साल पुराने न हों) तो ओषधियों से चिकित्सा करे।

—अर्मोक्तं यच्च पञ्चधा ।
तच्छेद्यमसितप्राप्तं मांसस्नावसिरावृतम् ॥२१॥
चर्मोद्दालवदुच्छ्रायि दृष्टिप्राप्तं च वर्जयेत् ।

पांच प्रकार के जो अर्म कहे हैं, वे यदि कृष्ण भाग में पहुँचे हों; मांस, स्नायु, शिरा से आवृत हों; चर्म के छिलके की भांति ऊँचे उठे हों तो इनका छेदन करना चाहिये। दृष्टि में पहुँचे अर्म की चिकित्सा न करे।

कृष्ण मण्डल के रोग। शुक्र के लक्षण—

पित्तं कृष्णेऽथवा दृष्टौ शुक्रं तोदाश्रुरागवत् ॥२२॥
छित्त्वा त्वचं जनयति तेन स्यात्कृष्णमण्डलम् ।
पक्वजम्बूनिभं किञ्चिन्निम्नं च क्षतशुक्रकम् ॥२३॥
तत्कृच्छ्रसाध्यं, याप्यं तु द्वितीयपटलव्यधात् ।
तत्र तोदादिबाहुल्यं सूचीविद्धाभकृष्णता ॥२४॥
तृतीयपटलच्छेदादसाध्यं निचितं व्रणैः ।

सव्रण शुक्र; पित्त कृष्ण भाग में या दृष्टि के समीप में त्वचा (कला) का छेदन करके, तोद, अश्रु और सुर्खी वाला शुक्र उत्पन्न करता है, इससे कृष्णमण्डल पके हुए जामुन के समान तथा कुछ दबा हुआ होता है, इसको क्षत (सव्रण) शुक्र कहते हैं। यह कष्टसाध्य है। दूसरे पटल के वेधन से तोद आदि अधिक होते हैं और सूई से वेधन हुई की भांति कालापन दीखता है, यह याप्य है। तीसरे पटल के वेधन से उत्पन्न शुक्र असाध्य है, यह व्रणों से भरा होता है।

विशुद्ध (अव्रण) शुक्र के लक्षण—

शङ्खशुक्लं कफात्साध्यं नातिरुक् शुद्धशुक्रकम् ॥२५॥

अव्रण शुक्र शंख के समान श्वेत, कफजन्य, कम वेदना वाला होता है, यह साध्य है।

अजका के लक्षण—

आताम्रपिच्छिलास्रस्रुदाताम्रपिटिकाऽतिरुक् ।
अजाविट्सदृशोच्छ्रायकाष्ण्या वर्ज्याऽसृजाऽजका ॥

ईषत् ताम्रवर्ण, चिकनी एवं रक्तस्राव वाली, ताम्र वर्ण की जो पिडिका, अतिशय वेदना वाली, बकरी की मींगनी के समान उठी एवं काले रङ्ग की होती है, वह अजका (अजकाजात) रक्तजन्य है और असाध्य है।

सिराशुक्र के लक्षण—

सिराशुक्रं मलैः सास्रैस्तज्जुष्टं कृष्णमण्डलम् ।
सतोददाहताम्राभिः सिराभिरवतन्यते ॥२७॥
अनिमित्तोष्णशीताच्छघनास्रस्रुच्च तत्त्यजेत् ।

रक्तयुक्त वातादि दोषों से कृष्णमण्डल तोद, दाह एवं ताम्र वर्ण की सिराओं से भर जाय, अकस्मात् उसमें से उष्ण शीतल, स्वच्छ, घट्ट रक्त बहने लगे इसको सिराशुक्र रोग कहते हैं, इसे (असाध्य जानकर) छोड़ देवे।

असाध्य शुक्र के लक्षण—

दोषैः सास्रैः सदृक्कृष्णं नीयते शुक्ररूपताम् ॥२८॥
धवलाभ्रोपलिप्ताभं निष्पावर्धदलाकृति ।
अतितीव्ररुजारागदाहश्वयथुपीडितम् ॥२९॥
पाकात्ययेन तच्छुक्रं वर्जयेत्तीव्रवेदनम् ।

रक्तयुक्त दोषों से दृष्टि मण्डल के साथ कृष्ण भाग श्वेत बादलों से भरे आकाश की भाँति, सेम के आधे टुकड़े की भाँति श्वेत हो जाय, रोगी अतिशय पाक होने के कारण अतिशय तीव्र वेदना, सुर्खी, दाह, शोथ से पीड़ित हो तो तीव्र वेदनायुक्त उस शुक्र को छोड़ देवे। (श्री शिवदास-सेनजी 'शुक्रं वर्जयेत् तीव्रवेदनम्' इसको 'यस्य वा लिङ्गनाशः' के साथ मिलाते हैं, जो ठीक भी है)।

अन्य असाध्य लक्षण—

यस्य वा लिङ्गनाशोऽन्तः श्यावं यच्चा सलोहितम् ।
अत्युत्सेधावगाढं सास्रु वा नाडीव्रणावृतम् ।
पुराणं विषमं मध्ये विच्छिन्नं यच्च शुक्रकम् ॥३१॥

जिस शुक्र में अन्तर्दृष्टि का नाश हो जाय, जो अन्दर से काला या कुछ लाल हो, बहुत उन्नत हो, गहरा हो, अश्रुयुक्त नाडीव्रण से युक्त हो, पुराना, ऊँचा-नीचा, मध्य में से कटा हुआ हो, वे सब असाध्य हैं।

पञ्चेत्युक्ता गदाः कृष्णे साध्यासाध्यविभागतः ॥३२॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने सन्धिसितासितरोगविज्ञानीयो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

* * *

कृष्ण मण्डल में साध्य असाध्य विभाग से पाँच रोग कह दिये हैं। (वाग्भट ने सिराशुक्र यह एक रोग सुश्रुत से अधिक पढ़ा है)।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का सन्धिसितासित-रोगविज्ञानीय नामक दसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

* * *

एकादशोऽध्यायः

अथातः सन्धिसितासितरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे सन्धिसितासितरोगप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपनाहचिकित्सा—

उपनाहं भिषक् स्विन्नं भिन्नं व्रीहिमुखेन च ।
लेखयेन्मण्डलाग्रेण ततश्च प्रतिसारयेत् ॥ १ ॥
पिप्पलीक्षौद्रसिन्धूत्थैर्बध्नीयात्पूर्ववत्ततः ।
पटोलपत्रामलकक्काथेनाश्च्योतयेच्च तम् ॥ २ ॥

उपनाह रोग में वैद्य स्वेदन करके व्रीहिमुख से भेदन करके मण्डलाग्र शस्त्र से लेखन करे। फिर पिप्पली, मधु, सैन्धव, इनसे प्रतिसारण करे। इसके पश्चात् वर्त्मचिकित्सा (अ० ९ श्लो० ७) की भांति पट्टी बांध देवे। पटोलपत्र और आंवले के क्काथ से आंख में आश्च्योतन करे।

पर्वणीरोगचिकित्सा—

पर्वणी बडिशेनात्ता बाह्यसन्धित्रिभागतः ।
वृद्धिपत्रेण वर्ध्याऽर्धे स्यादश्रुगतिरन्यथा ॥ ३ ॥
चिकित्सा चार्मवत्क्षौद्रसैन्धवप्रतिसारिता ।

पर्वणी को बाह्यसन्धि के एक तिहाई भाग में बडिश से पकड़ कर वृद्धिपत्र से आधे भाग में काट देवे। अन्यथा अधिक छेदन से अश्रुगति होती है। अर्म की भांति (आगे श्लो० २०) चिकित्सा करे। मधु, सैन्धव का प्रतिसारण करे।

पूयालसचिकित्सा—

पूयालसे सिरां विध्येत्ततस्तमुपनाहयेत् ॥ ४ ॥
कुर्वीत चाक्षिपाकोक्तं सर्वं कर्म यथाविधि ।
सैन्धवार्द्रककासीसलोहताम्रैः सुचूर्णितैः ॥ ५ ॥
चूर्णाञ्जनं प्रयुञ्जीत सक्षौद्रैर्वा रसक्रियाम् ।

पूयालस में सिरा का वेधन करके इसके ऊपर उपनाह बांधे। अक्षिपाक (अ० १६) में कहे सम्पूर्ण कर्म को विधि के अनुसार करे।

सैन्धव, सोंठ, कासीस, लोहभस्म, ताम्रभस्म, इनके सूक्ष्म चूर्ण से चूर्णाञ्जन करे। अथवा इनको मधु में मिलाकर रसक्रिया बरते।

कृमिग्रंथिचिकित्सा—

कृमिग्रन्थि करीषेण स्विन्नं भित्त्वा विलिख्य च ॥ ६ ॥
त्रिफलाक्षौद्रकासीससैन्धवैः प्रतिसारयेत् ।

कृमिग्रन्थि को सूखे उपले (की गरम राख) से स्वेदन देकर, विदीर्ण करके, लेखन करे और त्रिफला, मधु, कासीस और सैन्धव से प्रतिसारण करे ।

शुक्तिका तथा पिष्टिका की चिकित्सा—

पित्ताभिष्यन्दवच्छुक्तिं, बलासाह्वयपिष्टके ॥ ७ ॥
कफाभिष्यन्दवन्मुक्त्वा सिराव्यधमुपाचरेत् ।
बीजपूररसाक्तं च व्योषकट्फलमञ्जनम् ॥ ८ ॥

शुक्ति रोग में पित्ताभिष्यन्द (अ. १६) की भांति चिकित्सा करे ।

बलासग्रथित और पिष्टक में सिराव्यध को छोड़कर कफाभिष्यन्द की भांति उपचार करे । बीजपूर के रस से भावित त्रिकटु तथा कट्फल का अञ्जन करे ।

नेत्र की सूजन तथा खुजली में—

जातीमुकुलसिन्धूत्थदेवदारुमहौषधैः ।
पिष्टः प्रसन्नया वर्तिः शोफकण्डूघ्नमञ्जनम् ॥ ९ ॥

चमेली की कली, सैन्धव, देवदारु और सोंठ को प्रसन्ना से पीसकर बनाई वर्ति अञ्जन शोफ और कण्डू का नाशक है ।

रक्तोत्पातादि रोगों की चिकित्सा—

रक्तस्यन्दवदुत्पातहर्षजालार्जुनक्रिया ।
सिरोत्पाते विशेषेण घृतमाक्षिकमञ्जनम् ॥१०॥
सिराहर्षे तु मधुना श्लक्ष्णघृष्टं रसाञ्जनम् ।
अर्जुने शर्करामस्तुक्षौद्रैराश्च्योतनं हितम् ॥११॥
स्फटिकः कुङ्कुमं शङ्खो मधुकं मधुनाऽञ्जनम् ।
मधुना चाञ्जनं शङ्खः फेनो वा सितया सह ॥१२॥

सिरोत्पात, सिराहर्ष, सिराजाल और अर्जुन की चिकित्सा रक्ताभिष्यन्द की भांति करे । विशेषकर सिरोत्पात में घी और मधु का अञ्जन हितकारी है । सिराहर्ष में रसौत को मधु के साथ बारीक घिस कर अञ्जन करे । अर्जुन में शर्करा, मस्तु, मधु, इनसे आश्च्योतन हितकारी है । स्फटिक, केसर, शंख, मुलहठी, इनका मधु के साथ अञ्जन करना उत्तम है । सौवीराञ्जन या शङ्खचूर्ण का मधु के साथ या मिश्री के साथ समुद्रफेन का अञ्जन करे ।

अर्मरोगचिकित्सा—

अर्मोक्तं पञ्चधा तत्र तनु धूमाविलं च यत् ।
रक्तं दधिनिभं यच्च शुक्रवत्तस्य भेषजम् ॥१३॥

अर्म पांच प्रकार का है, इनमें जो अर्म पतला, धूम के समान मलिन या रक्त वर्ण तथा दधि के समान होता है, उसकी चिकित्सा शुक्र के समान है ।

अर्म रोग में छेदन विधि—

उत्तानस्येतरत् स्विन्नं ससिन्धूत्थेन चाञ्जितम् ।
रसेन बीजपूरस्य निमील्याक्षि विमर्दयेत् ॥१४॥
इत्थं संरोपिताक्षस्य प्रचलेऽर्माधिमांसके ।
धृतस्य निश्चलं मूर्ध्नि वर्त्मनोश्च विशेषतः ॥१५॥
अपाङ्गमीक्षमाणस्य वृद्धेऽर्मणि कनीनकात् ।
वली स्याद्यत्र तत्रार्म बडिशेनावलम्बितम् ॥१६॥
नात्यायतं मुचुण्ड्या वा सूच्या सूत्रेण वा ततः ।
समन्तान्मण्डलाग्रेण मोचयेदथ मोक्षितम् ॥१७॥
कनीनकमुपानीय चतुर्भागावशेषितम् ।
छिन्द्यात्कनीनकं रक्षेद्वाहिनीश्चाश्रुवाहिनीः ॥१८॥
कनीनकव्यधादश्रु नाडी चाक्ष्णि प्रवर्तते ।
वृद्धेऽर्मणि तथाऽपाङ्गात्पश्यतोऽस्य कनीनकम् ॥१९॥

शस्त्रचिकित्सा—रोगी को चित्त (पीठ के भार) लेटाकर वाम या दक्षिण किसी एक आँख पर गरम पानी में भिगोये वस्त्र से स्वेद करके तथा सैन्धव-मिश्रित बिजौरे के रस से अञ्जन करके आँख को बन्द करके रगड़े । इस प्रकार से आँख के लाल हो जाने पर अर्म और अधिमांस के ढीला हो जाने पर शिर को तथा विशेष कर पलकों को निश्चल थाम कर, अपांग की ओर देखते हुए रोगी के कनीनक सन्धि से बढ़े हुए अर्म में जहां पर वलि (संकोच) हो, वहां पर अर्म को बडिश से पकड़ कर बहुत अधिक न खींचते हुए पकड़े, या मुचुण्डी शस्त्र से पकड़े । फिर सूई के धागे से या मण्डलाग्र शस्त्र से चारों ओर से इसको अलग करले । इसके पीछे इसको कनीनक की ओर लाकर चौथाई भाग में बचाकर मण्डलाग्र से काट देवे । काटने में कनीनक, रक्तवाहिनी और अश्रुवाहिनी की रक्षा करे । कनीनक का वेधन होने से अश्रु-नाडी आंखों में प्रवृत्त हो जाती है । अपांग—सन्धि से अर्म बढ़ा हो तो रोगी के कनीनक की ओर देखते हुए पूर्ववत् अर्म को अपांग के समीप पकड़कर लेखन के बाद छेदन कर निकाले ।

छेदन के पश्चात् औषधप्रयोग—

सम्यक् छिन्नं मधुव्योषसैन्धवप्रतिसारितम् ।
उष्णेन सर्पिषा सिक्तमभ्यक्तं मधुसर्पिषा ॥२०॥
बध्नीयात्सेचयेन्मुक्त्वा तृतीयादिदिनेषु च ।
करञ्जबीजसिद्धेन क्षीरेण क्वथितैस्तथा ॥२१॥
सक्षौद्रैर्द्विनिशारोध्रपटोलीयष्टिकिंशुकैः ।
कुरण्टमुकुलोपेतं मुञ्चेदेवाह्नि सप्तमे ॥२२॥

भली प्रकार छेदन हो जाने पर मधु, त्रिकटु, सैन्धव, इनसे प्रतिसारण करे । गरम घी से सेचन और मधु घी का लेप करके बांध देवे । तीसरे या चौथे दिन पट्टी खोलकर करञ्ज के बीज से सिद्ध दूध से सेचन करे । तथा हल्दी,

दारुहल्दी, लोध, पटोल, मुलहठी, ढाक, झिण्टी की कली इनके क्वाथ में मधु मिलाकर सेक करें। सातवें दिन खोल देवे। (मुकुल से चमेली भी ले सकते हैं)।

सम्यक् छिन्ने भवेत्स्वास्थ्यं हीनातिच्छेदजान् गदान् ।
सेकाञ्जनप्रभृतिभिर्जयेल्लेखनबृंहणैः ॥२३॥

भली प्रकार छेदन होने से स्वास्थ्य होता है। हीन छेदन या अतिछेदन से उत्पन्न रोगों को सेक-अञ्जन आदि तथा लेखन बृंहण से शान्त करे।

अञ्जन—

सितामनःशिलैलेयलवणोत्तमनागरम् ।
अर्धकर्षोन्मितं तार्क्ष्यं पलार्धं च मधुद्रुतम् ॥२४॥
अञ्जनं श्लेष्मतिमिरपिल्लशुक्रार्मशेषजित् ।

चीनी, मैनसिल, ऐलवालुक, सैन्धव, सोंठ, प्रत्येक आधा कर्ष, रसांजन दो कर्ष, इनको मधु से पतला बनाकर अंजन करे। यह कफजन्य तिमिर, पिल्ल, शुक्र और अर्मशेष (छेदन से बचे हुए अर्म) का नाश करता है।

लेखन अञ्जन—

त्रिफलैकतमद्रव्यत्वचं पानीयकल्किताम् ॥२५॥
शरावपिहितां दग्ध्वा कपाले चूर्णयेत्ततः ।
पृथक् शेषौषधरसैः पृथगेव च भाविता ॥२६॥
सा मषी शोषिता पेष्या भूयो द्विलवणान्विता ।
त्रीण्येतान्यञ्जनान्याह लेखनानि परं निमिः ॥२७॥

त्रिफला के द्रव्यों में से किसी एक की छाल को पानी से कल्क बनाकर शराव से ढंपे कपाल में जलाकर पीछे से इनका चूर्ण कर लेवे। त्रिफला के बचे दो द्रव्यों के रस से अलग अलग भावना देवे। इस राख को सुखा कर सैन्धव और सौवर्चल के साथ पुनः पीसे। ये तीनों अंजन उत्तम लेखन हैं, ऐसा निमि ने कहा है।

सिराजालचिकित्सा—

सिराजाले सिरा यास्तु कठिना लेखनौषधैः ।
न सिद्ध्यन्त्यर्मवत्तासां पिटिकानां च साधनम् ॥२८॥

सिराजाल में जो सिरायें कठिन होने से लेखन औषधियों से अच्छी न होती हों, उनकी तथा पिटिकाओं की चिकित्सा अर्म की भांति करे।

शुक्रचिकित्सा—

दोषानुरोधाच्छुक्रेषु स्निग्धरूक्षा वरा घृतम् ।
तिक्तमूर्ध्वमसृक्स्रावो रेकसेकादि चेष्यते ॥२९॥

दोष के अनुसार शुक्र रोगों में त्रिफला स्निग्ध या रूक्ष बरतनी चाहिये। तिक्त घृत बरते। ऊपर की ओर जलौका आदि से रक्तस्राव करे तथा विरेचन, आश्च्योतन, तर्पण और पुटपाक आदि बरते।

क्षतशुक्रचिकित्सा—

त्रिस्त्रिवृद्वारिणा पक्वं क्षतशुक्रे घृतं पिबेत् ।
सिरयाऽनु हरेद्रक्तं जलौकाभिश्च लोचनात् ॥३०॥
सिद्धेनोत्पलकाकोलीद्राक्षायष्टिविदारिभिः ।
ससितेनाजपयसा सेचनं सलिलेन वा ॥३१॥
रागाश्रुवेदनाशान्तौ परं लेखनमञ्जनम् ।
वर्तयो जातिमुकुललाक्षागैरिकचन्दनैः ॥३२॥
प्रसादयन्ति पित्तास्रं घ्नन्ति च क्षतशुक्रकम् ।
दन्तैर्दन्तिवराहोष्ट्रगवाश्वाजखरोद्भवैः ॥३३॥
सशङ्खमौक्तिकाम्भोधिफेनैर्मरिचपादिकैः ।
क्षतशुक्रमपि व्यापि दन्तवर्तिर्निवर्तयेत् ॥३४॥
तमालपत्रं गोदन्तशङ्खफेनोऽस्थि गार्दभम् ।
ताम्रं च वर्तिर्मूत्रेण सर्वशुक्रकनाशिनी ॥३५॥
रत्नानि दन्ताः शृङ्गाणि धातवस्त्र्यूषणं त्रुटिः ।
करञ्जबीजं लशुनो व्रणसादि च भेषजम् ॥३६॥
सव्रणाव्रणगम्भीरत्वक्स्थशुक्रघ्नमञ्जनम् ।

त्रिवृत्क्वाथ से तीन बार सिद्ध किया घृत क्षतशुक्र में पिये। पीछे सिरा से अथवा जोंक के द्वारा आंखों से रक्त निकाले। कमल, काकोली, द्राक्षा, मुलहठी, विदारी, इनसे सिद्ध किये बकरी के दूध में शर्करा मिलाकर इससे अथवा कमल आदि से सिद्ध जल (क्वाथ) से आंखों में सेचन करे। सुर्खी, अश्रुवेदना के शान्त हो जाने पर लेखन तथा अंजन हितकारी है।

चमेली की कली, लाख, गेरू, चन्दन, इनसे बनाई वर्त्तियां पित्त-रक्त को निर्मल करती हैं और क्षतशुक्र को नष्ट करती हैं।

हाथी, सूअर, ऊंट, गाय, घोड़ा, बकरी, गधे इनके दांत, शंख, मोती, समुद्रफेन, इन सबसे चौथाई मरिच का चूर्ण मिलाकर बनाई दन्तवर्त्ति फैले हुए क्षतशुक्र को भी नष्ट कर देती है।

तमालपत्र, गाय का दांत, शंख, समुद्रफेन गधे की अस्थि, ताम्र चूर्ण इनकी वर्त्ति को गोमूत्र के साथ लगाने से सब शुक्र नष्ट होते हैं।

मौक्तिक आदि रत्न, हाथी आदि के दांत, गाय आदि के सींग, गैरिक आदि धातु, त्रिकटु, इलायची, करंजबीज, लहसुन, व्रणाधिकार में कही औषध (क्षीरी आदि); इनका अंजन सव्रण, अव्रण, गम्भीर और त्वक्स्थ शुक्र को नष्ट करता है।

निम्न तथा शुद्ध शुक्र की चिकित्सा—

निम्नमुन्नमयेत्स्नेहपाननस्यरसाञ्जनैः ॥३७॥
सरुजं नीरुजं तृप्तिपुटपाकेन शुक्रकम् ।
शुद्धशुक्रे निशायष्टीसारिवाशाबराम्भसा ॥३८॥
सेचनं रोध्रपोटल्या कोष्णाम्भोमग्नयाऽथवा ।

स्नेहपान, नस्य तथा रसांजन से निम्नस्थ (दबे हुए) शुक्र को ऊँचा करे । तर्पण और पुटपाक से वेदना वाले शुक्र को वेदनारहित करे ।

शुद्ध शुक्र में हल्दी, मुलहठी, सारिवा और शाबरलोध इनके क्वाथ से परिषेक करे । अथवा लोध की पोटली को गरम पानी में भिगोकर सेक करे ।

महानीला गुटिका—

बृहतीमूलयष्ट्याह्वताम्रसैन्धवनागरैः ॥३९॥
धात्रीफलाम्बुना पिष्टैर्लेपितं ताम्रभाजनम् ।
यवाज्यामलकीपत्रैर्बहुशो धूपयेत्ततः ॥४०॥
तत्र कुर्वीत गुटिकास्ता जलक्षौद्रपेषिताः ।
महानीला इति ख्याताः शुद्धशुक्रहराः परम् ॥४१॥
स्थिरे शुक्रे घने चास्य बहुशोऽपहरेदसृक् ।
शिरःकायविरेकांश्च पुटपाकांश्च भूरिशः ॥४२॥
कुर्यान्मरिचवैदेहीशिरीषफलसैन्धवैः ।
हर्षणं त्रिफलाक्वाथपीतेन लवणेन वा ॥४३॥
कुर्यादञ्जनयोगं वा श्लोकार्धगदिताविमौ ।
शङ्खकोलास्थिकतकद्राक्षामधुकमाक्षिकैः ॥४४॥
सुरादन्तार्णवमलैः शिरीषकुसुमान्वितैः ।
धात्रीफणिज्झकरसे क्षारो लाङ्गलिकोद्भवः ॥४५॥
उषितः शोषितश्चूर्णः शुक्रहर्षणमञ्जनम् ।
मुद्गा वा निस्तुषाः पिष्टाः शङ्खक्षौद्रसमायुताः ॥४६॥
सारो मधूकान्मधुकान् मज्जा वाऽक्षात्समाक्षिका ।
गोखराश्वोष्ट्रदशनाः शङ्खः फेनः समुद्रजः ॥४७॥
वर्तिरर्जुनतोयेन हृष्टशुक्रकनाशिनी ।

बड़ी कटेरी का मूल, मुलहठी, ताम्र, सैन्धव, सोंठ इनको आँवले के स्वरस से पीसकर ताम्र के पात्र में लेप करके जौ, घी और आँवले के पत्तों से बहुत बार धूप देवे । फिर इसको मधु एवं जल के साथ पीसकर गुटिकायें बनाये, इनका नाम महानीला है । ये शुद्ध शुक्र को नष्ट करने में श्रेष्ठ हैं ।

शुक्र के स्थिर और घट्ट होने पर रोगी में बहुत बार रक्त स्राव करे तथा शिरोविरेचन, कायविरेचन और पुटपाक को बार बार बरते ।

मरिच, पिप्पली, शिरीष के बीज, सैन्धव, इनको अथवा त्रिफलाक्वाथ से भावित सैन्धव से शुक्र में घर्षण (हर्षण = क्षोभ) करे[1] ।

आधे श्लोक में कहे इन दो अञ्जन-योगों से घर्षण (हर्षण) करे । योग-(१) शंख, बेर की गुठली, कतक, द्राक्षा, मुलहठी और मधु, (२) सुरा, गाय का दाँत; समुद्रफेन और शिरीष के फूल ।

आँवले और मरवे के स्वरस में लांगली (कलिहारी) के क्षार को भावित करके सुखाकर चूर्ण बनाये । इसका अंजन शुक्र पर रगड़े ।

तुषरहित मूँग को शंख और मधु के साथ पीसकर अंजन करे । महुए के सार (भीतरी लकड़ी) का मधु के साथ अंजन करे । बहेड़े की मज्जा का मधु के साथ अंजन करे ।

गाय; गाधा, घोड़ा—इनके दाँत, शंख और समुद्रफेन को अर्जुन के क्वाथ से पीसकर बनाई वर्त्ति बढ़े हुए शुक्र को नष्ट करती है ।

शल्ययुत शुक्र की चिकित्सा—

उत्सन्नं वा सशल्यं वा शुक्रं वालादिभिर्लिखेत् ॥४८॥

ऊपर को उठे या शल्ययुक्त शुक्र का वाल आदि से विलेखन करे ।

सिराशुक्र की चिकित्सा—

सिराशुक्रे त्वदृष्टिघ्ने चिकित्सा व्रणशुक्रवत् ।
पुण्ड्र्यष्ट्याह्वकाकोलीसिंहलोहनिशाञ्जनम् ॥४९॥
कल्कितं छागदुग्धेन सघृतैर्धूपितं यवैः ।
धात्रीपत्रैश्च पर्यायाद्वर्तिरत्राञ्जनं परम् ॥५०॥

यदि सिराशुक्र नेत्र में हो और उससे दृष्टि में कोई बाधा नहीं हो तो उसकी चिकित्सा व्रणशुक्र के समान करनी चाहिये । पुण्डरीक, मुलहठी, काकोली, कटेरी, अगर, हल्दी, स्रोतांजन, इनको बकरी के दूध से पीसकर जौ और घी मिलाकर तथा आँवलों के पत्तों से पर्यायक्रम से (एक के बाद दूसरे से) धूप देकर बनाई वर्त्ति (घिसकर) अंजन के लिए श्रेष्ठ है ।

अजका की चिकित्सा—

अशान्तावर्मवच्छस्त्रमजकाख्ये च योजयेत् ।
अजकायामसाध्यायां शुक्रेऽन्यत्र च तद्विधे ॥५१॥
वेदनोपशमं स्नेहपानासृक्स्रावणादिभिः ।
कुर्याद्बीभत्सतां जेतुं शुक्रस्योत्सेधसाधनम् ॥५२॥
नालिकेरास्थिभल्लाततालवंशकरीरजम् ।
भस्माद्भिः स्रावयेत्ताभिर्भावयेत्करभास्थिजम् ॥५३॥
चूर्णं शुक्रेष्वसाध्येषु तद्वैवर्ण्यघ्नमञ्जनम् ।
साध्येषु साधनायालमिदमेव च शीलितम् ॥५४॥

अजका के शान्त न होने पर अर्म की भाँति शस्त्रकर्म करे ।

असाध्य अजका और शुक्र में तथा इसी प्रकार के दूसरे रोगों में वेदना की शान्ति के लिये स्नेहपान, रक्तमोक्षण आदि करे । बीभत्सता (भद्दापन) को शान्त करने के लिये शुक्र या शुक्लता (सफेदी) और उत्सेध (उभाड) को दूर करने का प्रयास करे ।

नारियल का फल (खोपड़ी), भिलावे का बीज, ताल की

---

[1] हर्षण का अर्थ क्षोभ उत्पन्न करना है । इससे रक्तसञ्चार बढ़ जाता है अर दोषों का विलयन होकर रोग नष्ट होता है । यही चिकित्सा आधुनिक पद्धति में बरती जाती है ।

जटा, वंशांकुर, इनकी राख को जल में घोल कर छान लेवे। इससे ऊँट की अस्थि के चूर्ण को भावित करे। इस चूर्ण का अञ्जन असाध्य शुक्रों (फूली) में भी विवर्णता (सफेदी) को नष्ट करता है। यह चूर्णांजन साध्य शुक्रों में बरतने से उनको अच्छा करने के लिए पर्याप्त है।

वक्तव्य—मधुसहित इस चूर्ण को स्निग्ध शलाका से लगाना चाहिये। इसके पीछे त्रिफलाक्वाथ से आँख को धोये (इससे शुक्र की विवर्णता ही मिटती है, शुक्र नष्ट नहीं होता श्री शिवदाससेन)।

अजकां पार्श्वतो विद्ध्वा सूच्या विस्राव्य चोदकम्।
समं प्रपीड्याङ्गुष्ठेन वसाद्रेंणानु पूरयेत् ॥५५॥
व्रणं गोमांसचूर्णेन बद्धं बद्धं विमुच्य च।
सप्तरात्राद् व्रणे रूढे कृष्णभागे समे स्थिरे ॥५६॥
स्नेहाञ्जनं च कर्तव्यं नस्यं च क्षीरसर्पिषा।
तथाऽपि पुनराध्माने भेदच्छेदादिकां क्रियाम् ॥५७॥
युक्त्या कुर्याद्यथा नातिच्छेदेन स्यान्निमज्जनम् ॥

अजका में पार्श्व से सूई के द्वारा वेधन करके जल को निकाल कर पीछे अंगूठे से समान रूप में दबाकर वसा से स्निग्ध किये गोमांस के चूर्ण से व्रण को भर कर बाँध देवे। इस प्रकार प्रतिदिन बांधे और खोले। सात दिन के पीछे व्रण के भर जाने पर-काले भाग के समान और स्थिर हो जाने पर स्नेहांजन करना चाहिये और दूध से निकाले घी से नस्य करे। इस प्रकार करने पर भी यदि पुनः भर जाय तब भेदन-छेदन आदि क्रिया को युक्ति के साथ करे जिससे कि अति छेदन से आँख बैठ न जाय।

(सश्रुत में वसा के स्थान पर घृत का पाठ है)।

नित्यं च शुक्रेषु शृतं यथास्वं
पाने च मर्शे च घृतं विदध्यात्।
न हीयते लब्धबला तथाऽन्त-
स्तीक्ष्णाञ्जनैर्दृक् सततं प्रयुक्तैः ॥५८॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठे उत्तरस्थाने सन्धिसितासितरोगप्रतिषेधो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

* * *

शुक्र रोगों में नित्य दोषों के अनुसार सिद्ध किया घृत पान और नस्य में बरतना चाहिये। घृत के पान और नस्य से अन्तःबल प्राप्त की हुई दृष्टि शुक्र रोग के नाश के लिये निरन्तर बरते हुए तीक्ष्णांजनों से भी नहीं नष्ट होती।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का सन्धिसितासितरोगप्रतिषेध नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

* * *

द्वादशोऽध्यायः

अथातो दृष्टिरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे दृष्टिरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

प्रथम पटलगत दोष—

सिरानुसारिणि मले प्रथमं पटलं श्रिते।
अव्यक्तमीक्षते रूपं व्यक्तमप्यनिमित्ततः ॥ १ ॥

वातादि दोषों के सिराओं द्वारा कोष्ठ से आँखों में पहुंचने पर प्रथम पटल में आश्रित होने से रूप को अस्पष्ट देखता है, और कभी बिना कारण के स्पष्ट भी देखता है।

द्वितीय पटलगत दोष—

प्राप्ते द्वितीयं पटलमभूतमपि पश्यति।
भूतं तु यत्नादासन्नं दूरे सूक्ष्मं च नेक्षते ॥ २ ॥
दूरान्तिकस्थं रूपं च विपर्यासेन मन्यते।
दोषे मण्डलसंस्थाने मण्डलानीव पश्यति ॥ ३ ॥
द्विधैकं दृष्टिमध्यस्थे बहुधा बहुधास्थिते।
दृष्टेरभ्यन्तरगते ह्रस्ववृद्धविपर्ययम् ॥ ४ ॥
नान्तिकस्थमधःसंस्थे दूरगं नोपरि स्थिते।
पार्श्वे पश्येन्न पार्श्वस्थे तिमिराख्योऽयमामयः ॥ ५ ॥

दोष के दूसरे पटल में स्थित होने पर न स्थित हुई वस्तु को भी देखता है, स्थित हुई वस्तु को पास होने पर यत्न से देखता है, दूर की और सूक्ष्म वस्तु को नहीं देखता। दूर के रूप को समीप में और समीप के रूप को दूर में मानता है। दोष के मण्डल रूप में स्थित होने पर रूप को मण्डल-गोल रूप में देखता है। दोष के दृष्टि के मध्य में स्थित होने पर एक वस्तु को दो टुकड़ों में देखता है। दोष के बहुत स्थानों पर स्थित होने पर एक वस्तु को बहुत रूप में देखता है। दोष के दृष्टि के अन्दर आश्रित होने पर छोटे को बड़ा और बड़े को छोटा देखता है। दोष के नीचे स्थित होने पर समीपस्थ रूप को नहीं देखता। दोष के ऊपर भाग में स्थित होने पर दूर की वस्तु नहीं देखता। दोष के पार्श्व में स्थित होने पर पार्श्व के रूप को नहीं देखता। इन सब लक्षणों वाले इस रोग का नाम तिमिर है।

तृतीय पटलगत दोष—

प्राप्नोति काचतां दोषे तृतीयपटलाश्रिते।
तेनोर्ध्वमीक्षते नाधस्तनुचैलावृतोपमम् ॥ ६ ॥
यथा वर्णं च रज्येत दृष्टिर्हीयेत च क्रमात्।

दोष के तीसरे पटल में पहुंचने पर दृष्टि में काचत्व आ जाता है, इस काच से रोगी ऊपर को देखता है, नीचे को नहीं देखता। और वस्तु को पतले कपड़े से ढंपी देखता है। और जैसे जैसे दृष्टि का वर्ण रंगता (गाढ़ा होता) जाता है,

वैसे वैसे दृष्टिशक्ति कम होती जाती है। अथवा (अरुणदत्त के मत से) दृष्टि रंगने पर दोषानुसार वायु से श्याव वर्ण, पित्त से पीत या लाल वर्ण, कफ से श्वेत वर्ण होती है, और क्रमशः दृष्टि कम होती जाती है।

चतुर्थ पटलगत दोष—

तथाऽप्युपेक्षमाणस्य चतुर्थं पटलं गतः ॥ ७ ॥
लिङ्गनाशं मलः कुर्वन् छादयेद् दृष्टिमण्डलम् ।

इतने पर भी चिकित्सा न करने से दोष तीसरे पटल से चौथे पटल में पहुँचकर दृष्टिमण्डल को छेककर दृष्टिनाश (लिङ्गनाश) कर देते हैं।

वाततिमिर और लिङ्गनाश के लक्षण—

तत्र वातेन तिमिरे व्याविद्धमिव पश्यति ॥ ८ ॥
चलाविलारुणाभासं प्रसन्नं चेक्षते मुहुः ।
जालानि केशान् मशकान् रश्मींश्चोपेक्षितेऽत्र च ॥९॥
काचीभूते दृगरुणा पश्यत्यास्यमनासिकम् ।
चन्द्रदीपाद्यनेकत्वं वक्रमृज्वपि मन्यते ॥१०॥
वृद्धः काचो दृशं कुर्याद्रजोधूमावृतामिव ।
स्पष्टारुणाभां विस्तीर्णां सूक्ष्मां वा हतदर्शनाम् ॥११॥
स लिङ्गनाशः—

इनमें वातजन्य तिमिर में रोगी व्याविद्ध-कुटिल रूप में देखता है, यथा बार बार अस्थिर, मलिन, लोहित तथा निर्मल रूप देखता है। जाले, केश, मच्छर, किरणें इनको आँखों के सामने अनुभव करता है। इसकी उपेक्षा करने पर दृष्टि काचरूप तथा लाल हो जाती है और मुख को नासिकारहित देखती है। चाँद, दीपक आदि को एक होने पर भी बहुत मानता है, टेढ़ों को भी सीधा समझता है। बढ़ा हुआ काच दृष्टि को धूल तथा धूम से आवृत की भांति, स्पष्ट अरुण वर्ण की, विस्तीर्ण या सूक्ष्म एवं देखने में असमर्थ कर देता है। इसे (वातज तिमिर से उत्पन्न काच को) लिङ्गनाश कहते हैं।

गम्भीरा दृष्टि के लक्षण—

—वाते तु सङ्कोचयति दृक्सिराः ।
दृङ्मण्डलं विशत्यन्तर्गम्भीरा दृगसौ स्मृता ॥१२॥

जब वायु दृष्टि की सिराओं को संकुचित करती है तब दृष्टिमण्डल अन्दर को प्रविष्ट हो जाता है, इसको ऋषियों ने गम्भीरा दृष्टि कहा है।

पैत्तिक तिमिर, लिङ्गनाश और विदग्ध दृष्टि के लक्षण—

पित्तजे तिमिरे विद्युत्खद्योतद्योतदीपितम् ।
शिखितित्तिरिपत्राभं प्रायो नीलं च पश्यति ॥१३॥
काचे दृक् काचनीलाभा तादृगेव च पश्यति ।
अर्केन्दुपरिवेषाग्निमरीचीन्द्रधनूंषि च ॥१४॥
भृङ्गनीला निरालोका दृक् स्निग्धा लिङ्गनाशतः ।
दृष्टिः पित्तेन ह्रस्वाख्या सा ह्रस्वा ह्रस्वदर्शिनी ॥१५॥
भवेत्पित्तविदग्धाख्या पीता पीताभदर्शना ।

पित्तजन्य तिमिर में बिजली-जुगुनू की दीप्ति से दीप्त, मोर एवं तीतर की पिच्छा के समान तथा प्रायः नीला देखता है। काचरूप में परिणत होने पर वह काच नीला होकर वस्तुओं को भी नील ही देखता है तथा सूर्य, चन्द्रमा के मण्डल, किरणें एवं इन्द्रधनुष को देखता है।

पैत्तिक लिंगनाश से दृष्टि भ्रमर के समान नील वर्ण की, तेज से शून्य और स्निग्ध हो जाती है। इसे ह्रस्व नामक दृष्टि कहते हैं, यह दृष्टि ह्रस्व (छोटी) होकर वस्तुओं को भी छोटी देखती है।

पित्त से विदग्ध दृष्टि पीतवर्ण हो जाती है तथा सब वस्तुओं को पीला देखती है।

कफज तिमिर और लिंगनाश के लक्षण—

कफेन तिमिरे प्रायः स्निग्धं श्वेतं च पश्यति ॥१६॥
शङ्खेन्दुकुन्दकुसुमैः कुमुदैरिव चाचितम् ।
काचे तु निष्प्रभेन्द्वर्कप्रदीपाद्यैरिवाचितम् ॥१७॥
सिताभा सा च दृष्टिः स्याल्लिङ्गनाशे तु लक्ष्यते ।
मूर्तः कफो दृष्टिगतः स्निग्धो दर्शननाशनः ॥१८॥
बिन्दुर्जलस्येव चलः पद्मिनीपुटसंस्थितः ।
उष्णे सङ्कोचमायाति छायायां परिसर्पति ॥१९॥
शङ्खकुन्देन्दुकुमुदस्फटिकोपमशुक्लिमा ।

कफज तिमिर में प्रायः स्निग्ध और श्वेत देखता है। शंख, इन्दु (चन्द्रमा), कुन्द के फूल और कुमुद से व्याप्त (सभी वस्तुओं को) देखता है, काच में तेज से शून्य, चन्द्रमा, सूर्य, दीपक आदि की भांति व्याप्त देखता है। दृष्टि श्वेत सी दिखाई देती है, लिंगनाश में दृष्टिगत कफ कठिन एवं स्निग्ध दिखाई देता है और दीखना बन्द हो जाता है। पद्मिनी के पुट में स्थित जलबिन्दु के समान यह अस्थिर रहता है और यह बिन्दु उष्णिमा से सिकुड़ता है तथा छाया से फैलता है। शंख, कुन्द, इन्दु, कुमुद और स्फटिक के समान इसकी शुक्लिमा होती है।

रक्तज तिमिर और लिंगनाश के लक्षण—

रक्तेन तिमिरे रक्तं तमोभूतं च पश्यति ॥२०॥
काचेन रक्ता कृष्णा वा दृष्टिस्तादृक् च पश्यति ।
लिङ्गनाशेऽपि तादृग् दृङ् निष्प्रभा हतदर्शना ॥२१॥

रक्तजन्य तिमिर में रोगी लाल तथा अन्धकार रूप देखता है। काच से दृष्टि लाल या काली हो जाती है और वह काला या लाल ही देखता है। लिंगनाश में भी दृष्टि काच की भांति काली या लाल होती है तथा तेज से रहित एवं दर्शनशून्य होती है।

संसर्गज तथा सन्निपातज लिंगनाश के लक्षण—

संसर्गसन्निपातेषु विद्यात्सङ्कीर्णलक्षणान् ।
तिमिरादीनकस्माच्च तैः स्याद्व्यक्ताकुलेक्षणः ॥२२॥

तिमिरे, शेषयोर्दृष्टौ चित्रो रागः प्रजायते ।

दोषों का संसर्ग या सन्निपात होने से तिमिर, काच और लिंगनाश में सभी दोषों के मिश्रित लक्षण होते हैं। (संसर्ग या सन्निपात तिमिर में) बिना कारण के ही मनुष्य कभी स्पष्ट एवं कभी धुंधला देखने लगता है। काच और लिङ्गनाश में दृष्टि के अन्दर अनेक वर्ण का रंग उत्पन्न हो जाता है।

नकुलान्ध के लक्षण—

द्योत्यते नकुलस्येव यस्य दृङ् निचिता मलैः ॥२३॥
नकुलान्धः स तत्राह्नि चित्रं पश्यति नो निशि ।

दृष्टि में संचित दोषों के कारण जिस रोगी की दृष्टि नेवले की भांति चमकती है, वह नकुलान्ध है, यह रोगी दिन में विचित्र देखता है, परन्तु रात में बिलकुल नहीं देखता।

दोषान्ध के लक्षण—

अर्केऽस्तमस्तकन्यस्तगभस्तौ स्तम्भमागताः ॥२४॥
स्थगयन्ति दृशं दोषा दोषान्धः स गदोऽपरः ।
दिवाकरकरस्पृष्टा भ्रष्टा दृष्टिपथान्मलाः ॥२५॥
विलीनलीना यच्छन्ति व्यक्तमत्राह्नि दर्शनम् ।

सूर्य की किरणों के अस्ताचल के मस्तक पर पहुँचने (सूर्यास्त) के समय स्तम्भित हुए दोष दृष्टि को ढाँप लेते हैं, यह दोषान्ध (नक्तान्ध्य = रतौंधी) नाम का दूसरा रोग है। इसमें दोष दिन के समय सूर्य की किरणों के स्पर्श में आने से दृष्टिपथ से पिघल कर लीन हो जाते हैं, इस लिए इस (राज्यन्ध) में दिन के समय स्पष्ट दिखाई देता है।

उष्णविदग्धा दृष्टि के लक्षण—

उष्णतप्तस्य सहसा शीतवारिनिमज्जनात् ॥२६॥
त्रिदोषरक्तसंपृक्तो यात्यूष्मोर्ध्वं ततोऽक्षिणि ।
दाहोषे मलिनं शुक्लमनन्याविलदर्शनम् ॥२७॥
रात्रावान्ध्यं च जायेत विदग्धोष्णेन सा स्मृता ।

गरमी से संतप्त मनुष्य के एकदम से शीतल जल में गोता लगाने (स्नान करने) से वातादि तीनों दोष और रक्त से मिश्रित शरीर की ऊष्मा शिर में जाकर आँखों में जलन और उषा (सन्ताप), शुक्लभाग में मलिनता, दिन में धुंधला दीखना और रात्रि में अन्धता उत्पन्न करती है, इस दृष्टि को उष्णविदग्धा दृष्टि कहते हैं।

अम्लविदग्धा दृष्टि के लक्षण—

भृशमम्लाशनाद्दोषैः सास्रैर्या दृष्टिराचिता ॥२८॥
सक्लेदकण्डूकलुषा विदग्धाऽम्लेन सा स्मृता ।

अत्यन्त खट्टा खाने से, रक्तयुक्त वातादि दोषों से व्याप्त होनेके कारण जो दृष्टि क्लेद, कण्डू तथा मलिनता से युक्त होती है, उसको अम्लविदग्धा दृष्टि कहते हैं।

धूमर रोग के लक्षण—

शोकज्वरशिरोरोगसन्तप्तस्यानिलादयः ॥२९॥
धूमाविलां धूमदृशं दृशं कुर्युः स धूमरः ।

शोक, ज्वर तथा शिरोरोग से पीड़ित पुरुष में वातादि दोष दृष्टि को धुएं के समान मलिन तथा धुएं के समान देखने वाली कर देती है, इसको धूमर (धूमदर्शी) कहते हैं।

औपसर्गिक लिंगनाश के लक्षण—

सहसैवाल्पसत्त्वस्य पश्यतो रूपमद्भुतम् ॥३०॥
भास्वरं भास्करादिं वा वाताद्या नयनाश्रिताः ।
कुर्वन्ति तेजः संशोष्य दृष्टिं मुषितदर्शनाम् ॥३१॥
वैडूर्यवर्णां स्तिमितां प्रकृतिस्थामिवाव्यथाम् ।
औपसर्गिक इत्येष लिङ्गनाशः—

थोड़े सत्त्व वाले पुरुष के सहसा अद्भुत चमकते हुए या सूर्य आदि के रूप को देखने से वातादि दोष आँख में आश्रित होकर तेज को सुखाकर दृष्टि की दर्शन शक्ति को नष्ट कर देते हैं; इससे दृष्टि वैडूर्य (बिल्लौर) के समान निर्मल, जड़, अवरुद्ध, पीड़ारहित और स्वाभाविक रूप में होती है (किन्तु दिखाई नहीं देता।) यह औपसर्गिक (आगन्तुक) लिङ्गनाश है।

लिंगनाश रोग की साध्यासाध्यता—

—अत्र वर्जयेत् ॥३२॥
विना कफाल्लिङ्गनाशान् गम्भीरां ह्रस्वजामपि ।
षट् काचा नकुलान्ध्यश्च याप्याः, शेषांस्तु साधयेत् ॥
द्वादशेति गदा दृष्टौ निर्दिष्टाः सप्तविंशतिः ॥ ३३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठे उत्तरस्थाने दृष्टिरोगविज्ञानीयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

* * *

इनमें कफजन्य लिङ्गनाश को छोड़कर शेष, (वात, पित्त, संसर्ग, सन्निपात, रक्तज और औपसर्गिक ये) छः, गम्भीरा दृष्टि तथा ह्रस्वजा दृष्टि, ये असाध्य हैं। छः काच और नकुलान्ध्य याप्य हैं, शेष बारह रोग (छः तिमिर तथा कफज लिंगनाश, राज्यान्ध्य, पित्तविदग्धा, उष्णविदग्धा और अम्लविदग्धा दृष्टि तथा धूमदर्शी ये ६ = १२) साध्य हैं। इस प्रकार दृष्टिमण्डल में सत्ताईस रोग कहे गये हैं।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का दृष्टिरोगविज्ञानीय नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

* * *

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातस्तिमिरप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे तिमिरप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे; जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

तिमिर रोग की चिकित्सा—

तिमिरं काचतां याति काचोऽप्यान्ध्यमुपेक्षया ।

नेत्ररोगेष्वतो घोरं तिमिरं साधयेद् द्रुतम् ॥ १ ॥

तिमिर की उपेक्षा करने से-चिकित्सा न करने पर काच हो जाता है और काच की उपेक्षा करने से अन्धापन (लिङ्गनाश) हो जाता है। इसलिये नेत्ररोग में दारुण तिमिर रोग की शीघ्र चिकित्सा करे ।

जीवन्त्यादि घृत—

तुलां पचेत जीवन्त्या द्रोणेऽपां पादशेषिते ।
तत्क्वाथे द्विगुणक्षीरं घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ २ ॥
प्रपौण्डरीककाकोलीपिप्पलीरोध्रसैन्धवैः ।
शताह्वामधुकद्राक्षासितादारुफलत्रयैः ॥ ३ ॥
कार्षिकैर्निशि तर्पीतं तिमिरापहरं परम् ।

जीवन्ती के एक तुला (सौ पल) को एक द्रोण जल में पकाये, चौथाई शेष रह जाने पर इस क्काथ में घी से दुगुना दूध (दो प्रस्थ); घृत एक प्रस्थ तथा प्रपौण्डरीक, काकोली, पिप्पली, लोध, सैन्धव, सौंफ, मुलहठी, द्राक्षा, सिता, दारुहल्दी, त्रिफला, एक-एक कर्ष लेकर घृत सिद्ध करे । इस घृत को रात में पिये, यह घृत उत्तम तिमिरनाशक है।

द्राक्षादि घृत—

द्राक्षाचन्दनमञ्जिष्ठाकाकोलीद्वयजीवकैः ॥ ४ ॥
सिताशतावरीमेदापुण्ड्राह्वमधुकोत्पलैः ।
पचेज्जीर्णघृतप्रस्थं समक्षीरं पिचून्मितैः ॥ ५ ॥
हन्ति तत्काचतिमिररक्तराजीशिरोरुजः ।

द्राक्षा, चन्दन, मंजीठ, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, सिता, शतावरी, मेदा, पुण्डरीक, मुलहठी, कमल प्रत्येक एक कर्ष, इनसे एक प्रस्थ पुरातन घृत को समान दूध के साथ सिद्ध करे। यह घृत काच, तिमिर, रक्त रेखायें (सिरोत्पात) और सिरदर्द को नष्ट करता है।

पटोलादि घृत—

पटोलनिम्बकटुकादार्वीसेव्यवराभृषम् ॥ ६ ॥
सधन्वयासत्रायन्तीपर्पटं पालिकं पृथक् ।
प्रस्थमामलकानां च क्काथयेन्नल्वणेऽम्भसि ॥ ७ ॥
तदाढकेऽर्धपलिकैः पिष्टैः प्रस्थं घृतात्पचेत् ।
मुस्तभूनिम्बयष्ट्याह्वकुटजोदीच्यचन्दनैः ॥ ८ ॥
सपिप्पलीकैस्तत्सर्पिर्घ्राणकर्णास्यरोगजित् ।
विद्रधिज्वरदुष्टारुर्विसर्पापचिकुष्ठनुत् ॥ ९ ॥
विशेषाच्छुक्रतिमिरनक्तान्ध्योष्णाम्लदाहहृत् ।

परवल, नीम, कुटकी, दारुहरदी, खस, त्रिफला, अडूसा, धमासा, त्रायन्ती, पर्पटक प्रत्येक एक पल, आंवला एक प्रस्थ, इनको एक द्रोण जल में क्काथ करे। इस क्काथ का एक आढक, घृत एक प्रस्थ, मुस्ता, चिरायता, मुलहठी, कूड़ा, खस, चन्दन, पिप्पली प्रत्येक दो कर्ष लेकर घृत सिद्ध करे। यह घृत नासिका, कान, मुख रोग, विद्रधि, ज्वर, दुष्ट-अरुंषिका, विसर्प, अपची तथा कुष्ट का नाशक और विशेषकर शुक्र, तिमिर, नक्तान्ध्य, उष्णविदग्धा दृष्टि, अम्लविदग्धा दृष्टि और दाह का नाशक है।

त्रिफलादि घृत—

त्रिफलाऽष्टपलं क्काथ्यं पादशेषं जलाढके ॥ १० ॥
तेन तुल्यपयस्केन त्रिफलापलकल्कवान् ।
अर्धप्रस्थो घृतात्सिद्धः सितया माक्षिकेण वा ॥११॥
युक्तं पिबेत्तत्तिमिरी तद्युक्तं वा वरारसम् ।

आठ पल त्रिफला का क्काथ एक आढक जल में करके चौथाई शेष रक्खे। इस क्काथ के बराबर दूध तथा त्रिफला का कल्क एक पल और घृत आधा प्रस्थ लेकर घृत सिद्ध करे। इस घृत को शर्करा या मधु के साथ तिमिररोगी पिये। अथवा त्रिफला के क्काथ को इस घृत के साथ (दोष-दूष्यादि की अपेक्षा) से पिये।

महात्रिफलादि घृत—

यष्टीमधुद्विकाकोलीव्याघ्रीकृष्णाऽमृतोत्पलैः ॥ १२ ॥
पालिकैः ससिताद्राक्षैर्घृतप्रस्थं पचेत्समैः ।
अजाक्षीरवरावासामार्कवस्वरसैः पृथक् ॥ २३ ॥
महात्रैफलमित्येतत्परं दृष्टिविकारजित् ।
त्रैफलेनाथ हविषा लिहानस्त्रिफलां निशि ॥ १४ ॥
यष्टीमधुकसंयुक्तां मधुना च परिप्लुताम् ।
मासमेकं हिताहारः पिबन्नामलकोदकम् ॥ १५ ॥
सौपर्णं लभते चक्षुरित्याह भगवान्निमिः ।

मुलहठी, काकोली, क्षीरकाकोली, कटेरी, पिप्पली, गिलोय, कमल, प्रत्येक एक पल; सिता, द्राक्षा, ये भी एक पल, इनके साथ घृत का एक प्रस्थ, बकरी का दूध, त्रिफला क्काथ, वासा क्काथ, भांगरे का स्वरस प्रत्येक प्रस्थ प्रमाण में लेकर घृत सिद्ध करे। इस घृत का नाम महात्रैफल है, यह दृष्टिविकारनाशक श्रेष्ठ है।

त्रैफल घृत के साथ रात्रि में त्रिफला और मुलहठी को मधु से द्रव बनाकर एक महीने तक हितभोजी रहता हुआ चाटे। आंवले का पानी पीये। इस प्रकार करने से गरुड़ की दृष्टि मिलती है, ऐसा भगवान् निमि ने कहा है।

तिमिरनाशक योग—

ताप्यायोहेमयष्ट्याह्वसिताजीर्णाज्यमाक्षिकैः ॥१६॥
संयोजिता यथाकामं तिमिरघ्नी वरा वरा ।
सघृतं वा वराक्काथं शीलयेत्तिमिरामयी ॥१७॥
अपूपसूपसक्तून् वा त्रिफलाचूर्णसंयुतान् ।
पायसं वा वरायुक्तं शीतं समधुशर्करम् ॥१८॥
प्रातर्भक्तस्य वा पूर्वमद्यात्पथ्यां पृथक्-पृथक् ।
मृद्वीकाशर्कराक्षौद्रैः सततं तिमिरातुरः ॥१९॥

ताप्य (स्वर्णमाक्षिक), लोह, स्वर्णभस्म, मुलहठी, मिश्री, पुरातन घृत, मधु, इनके साथ त्रिफला इच्छानुसार (पृथक

दो या तीन अथवा चार या सबमें मिलाकर-चन्द्रः) सेवन करना उत्तम तिमिरनाशक है।

तिमिररोगी त्रिफला के क्वाथ को घृत के साथ पीने का अभ्यास करे। त्रिफला चूर्ण से मिले अपूप, सूप (दाल) या सत्तू को खाये।

त्रिफला-मिश्रित खीर को ठण्ढा होने पर मधु तथा शर्करा के साथ प्रातः अथवा भोजन से पूर्व खाये। अथवा हरड़ को मृद्वीका, शर्करा, मधु, इनसे अलग अलग मिलाकर तिमिर रोगी निरन्तर खाये।

तिमिरनाशक चूर्णाञ्जन—

स्रोतोजांशांश्चतुःषष्टिं ताम्रायोरूप्यकाञ्चनैः।
युक्तान् प्रत्येकमेकांशैरन्धमूषोदरस्थितान् ॥२०॥
ध्मापयित्वा समावृत्तं ततस्तच्च निषेचयेत्।
रसस्कन्धकषायेषु सप्तकृत्वः पृथक् पृथक् ॥२१॥
वैडूर्यमुक्ताशङ्खानां त्रिभिर्भागैर्युतं ततः।
चूर्णाञ्जनं प्रयुञ्जीत तत्सर्वतिमिरापहम् ॥२२॥

स्रोतोंजन चौसठ भाग, ताम्र, लोह, चांदी, सोना प्रत्येक एक-एक भाग, इन सबको मिलाकर अन्धमूषा में रखकर ध्मापन करे-फूँके। फूँकने पर भली प्रकार शिला पर चूर्ण करके इसको पृथक्-पृथक् मधुरादि गण के क्वाथ से सात बार भावना दे। फिर इसमें वैडूर्य, मुक्ता और शंख के तीन भाग (प्रत्येक एक भाग) मिलाये। फिर इस चूर्णाञ्जन को बरते। यह सब तिमिर का नाशक उत्तम अञ्जन है।

तिमिरादिनाशक विविध अञ्जन—

मांसीत्रिजातकायःकुङ्कुमनीलोत्पलाभयातुत्थैः।
सितकाचशङ्खफेनकमरिचाञ्जनपिप्पलीमधुकैः ॥२३॥
चन्द्रेऽश्विनीसनाथे सुचूर्णितैरञ्जयेद्युगलमक्ष्णोः।
तिमिरार्मरक्तराजीकण्डूकाचादिशममिच्छन् ॥२४॥
मरिचवरलवणभागौ भागौ द्वौ कणसमुद्रफेनाभ्याम्।
सौवीरभागनवकं चित्रायां चूर्णितं कफामयजित् ॥

जटामांसी, त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपात), लोह, केशर, नीलकमल, हरड़, तुत्थ, श्वेत काच नमक, शंख, समुद्रफेन, मरिच, अंजन, पिप्पली, मुलहठी, इनको चन्द्रमा के अश्विनी नक्षत्र के साथ युक्त होने पर चूर्ण कर दोनों आंखों में अञ्जन करे। इससे तिमिर, अर्म, लालरेखायें, कण्डू और काच आदि शान्त होते हैं।

मरिच और सैन्धव दो भाग, पिप्पली और समुद्रफेन दो भाग, सौवीरांजन नौ भाग इनको चित्रा नक्षत्र में चूर्ण करके आंख में अञ्जन करने से कफ रोग नष्ट होते हैं।

(मनोह्वातुत्थकस्तूरीमांसीमलयरोचनाः।
दशकर्पूरसंयुक्तमशीतिगुणमञ्जनम् ॥ १ ॥
पिष्टं चित्राश्विनीपुष्ये षड्विधे तिमिरे हितम्।
प्रसादनं च दृष्टेः स्याच्चाक्षुषेणावभाषितम् ॥ २ ॥)

(मैनशिल, तुत्थ, कस्तूरी, जटामांसी, चन्दन, गोरोचन एक एक भाग, कर्पूर दस भाग, अञ्जन अस्सी भाग इनको चित्रा, अश्विनी और पुष्य में पीसकर बरते। यह छः प्रकार के तिमिररोग में हितकारी है, दृष्टि को निर्मल करता है। यह चाक्षुष ऋषि का वचन है।)

द्राक्षामृणालीस्वरसे क्षीरमद्यवसासु च।
पृथग् दिव्याप्सु स्रोतोजं सप्तकृत्वो निषेचयेत् ॥२६॥
तच्चूर्णितं स्थितं शङ्खे दृक्प्रसादनमञ्जनम्।
शस्तं सर्वाक्षिरोगेषु विदेहपतिनिर्मितम् ॥२७॥

द्राक्षाक्वाथ और मृणाल के स्वरस में, दूध में, मद्य में, वसा में और वर्षाजल में पृथक्-पृथक् सात बार स्रोतांजन को बुझाये (भावना दे)। इस चूर्ण को शंख में रखकर आंखों में अञ्जन करे। यह आंखों को निर्मल करता है। आंख के सब रोगों में उत्तम है, इसको विदेहपति-जनक ने बनाया है।

भास्कराञ्जन—

निर्दग्धं बादराङ्गारैस्तुत्थं चेत्थं निषेचितम्।
क्रमादजापयःसर्पिःक्षौद्रे तस्मात् पलद्वयम् ॥२८॥
कार्षिकैस्ताप्यमरिचस्रोतोजकटुकानतैः।
पटुरोध्रशिलापथ्याकणैलाञ्जनफेनकैः ॥२९॥
युक्तं पलेन यष्ट्याश्च मूषान्तर्ध्मातचूर्णितम्।
हन्ति काचार्मनक्तान्ध्यरक्तराजीः सुशीलितः ॥३०॥
चूर्णो विशेषात्तिमिरं भास्करो भास्करो यथा।

तुत्थ को बेर के अङ्गारों में जलाकर पूर्व की भांति क्रमशः बकरी के दूध, घी और मधु में अलग-अलग सात बार बुझावे इस तुत्थ में से दो पल लेकर; ताप्य (स्वर्णमाक्षिक), मरिच, स्रोतोंजन, कुटकी, तगर, नमक, लोध, मैनशिल, हरड़, पिप्पली, इलायची, अञ्जन, समुद्रफेन प्रत्येक एक कर्ष, मुलहठी एक पल, इनको मिलाकर मूषा में अन्तर्धूम विधि से पकाकर चूर्ण करे। यह चूर्ण काच, अर्म, नक्तान्ध्य और लाल रेखा (सिरोत्पात) को नष्ट करता है। नित्य सेवन से यह भास्करचूर्ण विशेष कर तिमिर को नष्ट करता है; जिस प्रकार सूर्य तिमिर :(अन्धकार) को नष्ट करता है।

त्रिंशद्भागा भुजङ्गस्य गन्धपाषाणपञ्चकम् ॥३१॥
शुल्बतालकयोर्द्वौ द्वौ वङ्गस्यैकोऽञ्जनात् त्रयम्।
अन्धमूषीकृतं ध्मातं पक्वं विमलमञ्जनम् ॥३२॥
तिमिरान्तकरं लोके द्वितीय इव भास्करः।

सीसक के तीस भाग, गन्धपाषाण के पाँच भाग, ताम्र और हरताल के दो दो भाग, वंग का एक भाग, अञ्जन के तीन भाग इनको अन्धमूषा में रखकर फूंके। पकने पर यह निर्मल अञ्जन लोक में दूसरे सूर्य की भांति तिमिर (तिमिर रोग, अन्धकार) का अन्त करने वाला है।

वक्तव्य—सीसक आदि केवल शुद्ध करके बरतने चाहिये, इनकी भस्म नहीं बरते।

तुत्थाञ्जन—

गोमूत्रे छगणरसेऽम्लकाञ्जिके च
स्त्रीस्तन्ये हविषि विषे च माक्षिके च।
यत्तुत्थं ज्वलितमनेकशो निषिक्तं
तत्कुर्याद्गरुडसमं नरस्य चक्षुः ॥३३॥

तुथ्य को आग में अनेक बार (सात या इक्कीस बार) गरम करके बराबर गोमूत्र में, गोबर के स्वरस में, खट्टी कांजी में, माता के दूध में, घी में, विष में और मधु में निर्वापित करे-बुझाये। इसका अञ्जन मनुष्य की आंखों को गरुड़ के समान बना देता है।

अञ्जन लगाने की शलाका—

श्रेष्ठाजलं भृङ्गरसं सविषाज्यमजापयः।
यष्टीरसं च यत्सीसं सप्तकृत्वः पृथक् पृथक् ॥३४॥
तप्तं तप्तं पायितं तच्छलाका
नेत्रे युक्ता साञ्जनाऽनञ्जना वा।
तैमिर्यार्मस्रावपैच्छिल्यपैल्लं
कण्डूं जाड्यं रक्तराजीं च हन्ति ॥३५॥

सीसक को अलग-अलग सात बार गरम करके त्रिफला के क्वाथ में, भांगरे के स्वरस में, विष में, घी में, बकरी के दूध में और मुलहठी के रस में बुझाये। इस सीसक से बनी शलाका को अञ्जन के साथ या अञ्जन के बिना नेत्र में प्रयोग करने से तिमिर, अर्म, स्राव, पिच्छिलता, पिल्ल, कण्डू, जडता और लाल रेखायें नष्ट होती हैं।

नयनामृताञ्जन—

रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ तयोस्तुल्यमथाञ्जनम्।
ईषत्कर्पूरसंयुक्तमञ्जनं तिमिरापहम् ॥३६॥

पारद और सीसा समान, इन दोनों के बराबर अञ्जन, इनमें थोड़ा कर्पूर मिलाकर किया अञ्जन तिमिरनाशक है।

गृध्रशिरोञ्जन—

यो गृध्रस्तरुणरविप्रकाशगल्ल-
स्तस्यास्यं समयभृतस्य गोशकृद्भिः।
निर्दग्धं समघृतमञ्जनं च पेष्यं
योगोऽयं नयनबलं करोति गार्ध्रम् ॥३७॥

जो गीध उगते हुए सूर्य के प्रकाश के समान लाल गालों वाला तथा अपने समय पर मरा हो, उसके मुख को लेकर उपलों से जलाकर इसके बराबर अञ्जन मिलाकर पीसना चाहिए। यह अञ्जन का योग आँखों में गीध के समान बल को करता है।

कृष्णसर्पमुखदग्धाञ्जनम्—

कृष्णसर्पवदने सहविष्कं दग्धमञ्जनमनिःसृतधूमम्।
चूर्णितं नलदपत्रविमिश्रं भिन्नतारमपि रक्षति चक्षुः ॥

काले सांप के मुख में अञ्जन को घी के साथ धुएँ को बाहर निकाले बिना जलाये (अन्तर्धूम भस्म करे)। फिर इसको खस और तेजपत्र के साथ मिलाकर चूर्ण करके बरते। यह अतिशक्तिशाली योग है, तारा (ताल) के भिन्न हो जाने पर भी नेत्र की रक्षा करता है। (यह भिन्न-तारक को जोड़ नहीं देता, अपितु अतिशय शक्ति बताने के लिये 'भिन्नतारमपि रक्षति चक्षुः' कहा है)।

कुक्कुटविडञ्जन—

कृष्णसर्पं मृतं न्यस्य चतुरश्चापि वृश्चिकान्।
क्षीरकुम्भे त्रिसप्ताहं क्लेदयित्वा प्रमन्थयेत् ॥३९॥
तत्र यन्नवनीतं स्यात्पुष्णीयात्तेन कुक्कुटम्।
अन्धस्तस्य पुरीषेण प्रेक्षते ध्रुवमञ्जनात् ॥४०॥

दूध के घड़े में मरा हुआ काला सांप और चार बिच्छू छोड़ कर तीन सप्ताह तक सड़ने देवे। फिर इस दूध को बिलोये। इससे जो मक्खन निकले वह मुर्गे को खाने के लिये देवे। इस मुर्गे की बीट के अञ्जन करने से अन्धा भी जरूर देखता है।

सर्पवसाद्यञ्जन—

कृष्णसर्पवसा शङ्खः कतकात् फलमञ्जनम्।
रसक्रियेयमचिरादन्धानां दर्शनप्रदा ॥४१॥

काले सांप की वसा, शंख, कतक का फल, अञ्जन, इसकी रसक्रिया बनाकर अञ्जन करने से अन्धों को शीघ्र ही दृष्टि मिलती है।

अप्रतिसाराञ्जन—

मरिचानि दशार्धपिचु-
स्ताप्यात्तुत्थात्पलं पिचुर्यष्ट्याः।
क्षीरार्द्रदग्धमञ्जन-
मप्रतिसाराख्यमुत्तमं तिमिरे ॥४२॥

मरिच दस, स्वर्णमाक्षिक आधा कर्ष, तुत्थ एक पल, मुलहठी एक कर्ष, इन सबको दूध से गीला बनाकर पीछे जलाकर अञ्जन करे। यह अप्रतिसार नामक अञ्जन तिमिर में श्रेष्ठ है।

बिभीतकाञ्जन—

अक्षबीजमरिचामलकत्वक्-
तुत्थयष्टिमधुकैर्जलपिष्टैः।
छाययैव गुटिकाः परिशुष्का
नाशयन्ति तिमिराण्यचिरेण ॥४३॥

बहेड़े के बीज, मरिच, आंवले की छाल, तुत्थ, मुलहठी, इनको जल से पीसकर छाया में गोलियां बनाकर तथा छाया में ही सुखाकर (अञ्जन में) बरतने से शीघ्र ही तिमिर को नष्ट कर देती हैं।

षण्माक्षिक योग—

मरिचामलकजलोद्भव-
तुत्थाञ्जनताप्यधातुभिः क्रमवृद्धैः।
षण्माक्षिक इति योग-
स्तिमिरार्मक्लेदकाचकण्डूर्हन्ता ॥४४॥

मरिच एक भाग, आंवला दो भाग, समुद्रफेन तीन भाग, तुत्थ चार भाग, स्रोतोंजन पांच भाग, स्वर्णमाक्षिक छः भाग, इनका यह षण्माक्षिक योग तिमिर, अर्म, क्लेद, काच और कण्डू को नष्ट करता है।

रत्नानि रूप्यं स्फटिकं सुवर्णं
स्रोतोञ्जनं ताम्रमयः सशङ्खम् ।
कुचन्दनं लोहितगैरिकं च
चूर्णाञ्जनं सर्वदृगामयघ्नम् ॥ ४५ ॥

वज्र, मरकत आदि रत्न, चांदी, स्फटिक, सुवर्ण, स्रोतोंजन, ताम्र, लोह, शङ्ख, लाल चन्दन, लाल गेरु, इनके चूर्ण का अंजन आँख के सब रोगों को नष्ट करता है।

दृष्टिवर्धक नस्य—

तिलतैलमक्षतैलं भृङ्गस्वरसोऽसनाच्च निर्यूहः ।
आयसपात्रविपक्वं करोति दृष्टेर्बलं नस्यम् ॥४७॥

तिल का तैल, बहेड़े का तैल, भांगरे का स्वरस, असन का क्वाथ, इनको मिलाकर (तैल की अपेक्षा चौगुना) लोहे के पात्र में पकाये, इस तैल का नस्य दृष्टि को बलयुक्त करता है।

तिमिर की सामान्य चिकित्सा—

दोषानुरोधेन च नैकशस्तं
स्नेहास्रविस्रावणरेकनस्यैः ।
उपाचरेदञ्जनमूर्धवस्ति-
वस्तिक्रियातर्पणलेपसेकैः ॥ ४७ ॥

दोष के अनुसार इस तिमिर रोगी में स्नेहपान, रक्तमोक्षण, विरेचन, नस्य, अंजन, शिरोवस्ति, वस्तिक्रिया, तर्पण, लेप और सेक बार बार करे।

सामान्यं साधनमिदं प्रतिदोषमतः शृणु ॥ ४८ ॥

सब तिमिरों की यह साधारण चिकित्सा है, इसके आगे प्रत्येक दोष की चिकित्सा सुनो।

वातजतिमिरनाशक घृत—

वातजे तिमिरे तत्र दशमूलाम्भसा घृतम् ।
क्षीरे चतुर्गुणे श्रेष्ठाकल्कपक्वं पिबेत्ततः ॥४९॥
त्रिफलापञ्चमूलानां कषायं क्षीरसंयुतम् ।
एरण्डतैलसंयुक्तं योजयेच्च विरेचनम् ॥५०॥

वातजन्य तिमिर में दशमूल के क्वाथ में, घी से चौगुने दूध में, त्रिफला कल्क के साथ घृत को पकाकर इसको पिये। पीछे से त्रिफला तथा पंचमूल का कषाय और दूध के साथ एरण्डतैल मिलाकर विरेचन के लिये पिये।

जीवन्त्यादि तैल—

समूलनालजीवन्तीतुलां द्रोणेऽम्भसः पचेत् ।
अष्टभागस्थिते तस्मिंस्तैलप्रस्थं पयःसमे ॥५१॥
बलात्रितयजीवन्तीवरीमूलैः पलोन्मितैः ।
यष्टीपलैश्चतुर्भिश्च लोहपात्रे विपाचयेत् ॥ ५२ ॥
लोह एव स्थितं मासं नावनादूर्ध्वजत्रुजान् ।
वातपित्तामयान् हन्ति तद्विशेषाद् दृगाश्रयान् ॥५३॥
केशास्यकन्धरास्कन्धपुष्टिलावण्यकान्तिदम् ।

मूल और नाल के साथ जीवन्ती एक सौ पल लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ करे। इस जल का आठवां भाग रह जाये तब छानकर इसके बराबर दूध मिलाकर इसमें तैल का एक प्रस्थ, बला, अतिबला, नागबला, जीवन्ती, शतावरी, इनके मूल प्रत्येक एक पल, मुलहठी चार पल, इनके कल्क से लोह पात्र में पकाये। लोहे के ही पात्र में एक मास तक रख कर नस्य में देने पर यह जत्रु से ऊपर के वातपित्तजन्य रोगों को विशेषकर दृष्टि के रोगों को नष्ट करता है; केश, मुख, ग्रीवा और स्कन्ध की पुष्टि, लावण्य तथा कान्ति देता है।

सितैरण्डजटासिंहीफलदारुवचानतैः ॥५४॥
घोषया बिल्वमूलैश्च तैलं पक्वं पयोऽन्वितम् ।
नस्यं सर्वोर्ध्वजत्रूत्थवातश्लेष्मामयार्तिजित् ॥५५॥

श्वेत एरण्ड का मूल, कटेरी का फल, दारुहल्दी, वच, तगर, घोषा (छत्रा-सौंफ), बिल्वमूल, इनसे दूध के साथ तैल सिद्ध करे। इस तैल का नस्य जत्रु से ऊपर उत्पन्न, वातकफजन्य सब रोगों की पीड़ा को नष्ट करता है।

वसाऽञ्जने च वैयाघ्री वाराही वा प्रशस्यते ।
गृध्राहिकुक्कुटोत्था वा मधुकेनान्विता पृथक् ॥५६॥

व्याघ्र या सूअर की वसा अञ्जन के लिये उत्तम है। गीध, सांप तथा कुक्कुट की वसा को पृथक्-पृथक् मुलहठी से मिलाकर अञ्जन में बरतना उत्तम है।

तिमिरनाशक प्रत्यञ्जन—

प्रत्यञ्जने च स्रोतोजं रसक्षीरघृते क्रमात् ।
निषिक्तं पूर्ववद्योज्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम् ॥ ५७ ॥
न चेदेवं शमं याति ततस्तर्पणमाचरेत् ।

प्रत्यंजन (तीक्ष्णाञ्जन के प्रत्यनीक अञ्जन) में स्रोतोंजन को अग्नि पर गरम करके क्रमशः मांसरस, दूध और घी में बुझाकर मुलहठी के साथ लगाना चाहियें, यह उत्तम तिमिरनाशक है। (पूर्ववत् से चन्द्र ने—सात बार बुझाये—यह अर्थ किया है, परन्तु शिवदाससेनजी ने मुलहठी ली है)।

इस प्रकार से तिमिर शान्त न हो तब तर्पण विधि बरते।

नेत्रतर्पण योग—

शताह्वाकुष्ठनलदकाकोलीद्वययष्टिभिः ॥ ५८ ॥
प्रपौण्डरीकसरलपिप्पलीदेवदारुभिः ।
सर्पिरष्टगुणक्षीरं पक्वं तर्पणमुत्तमम् ॥ ५९ ॥
मेदसस्तद्वदैणेयाद् दुग्धसिद्धात् खजाहतात् ।
उद्धृतं साधितं तेजो मधुकोशीरचन्दनैः ॥ ६० ॥
श्वाविच्छल्यकगोधानां दक्षतित्तिरिबर्हिणाम् ।

पृथक्पृथगनेनैव विधिना कल्पयेद्वसाम् ॥ ६१ ॥
प्रसादनं स्नेहनं च पुटपाकं प्रयोजयेत् ।
वातपीनसवच्चात्र निरूहं सानुवासनम् ॥ ६२ ॥

सौंफ, कूठ, मांसी, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलहठी, प्रपौण्डरीक, चीड़, पिप्पली, देवदारु, इनसे घृत को अठगुने दूध में पकाकर तर्पण करे, यह उत्तम तर्पण है।

इसी प्रकार हरिण की मेद को दूध के साथ सिद्ध करके मन्थनदण्ड से बिलोकर इनमें से मक्खन (घी) निकाल कर मुलहठी, खस और चन्दन के साथ तर्पण करे। (तेज शब्द का सार अर्थ होने से मक्खन का अर्थ घी लेना)।

श्वावित् (लोमड़ी); सेह, गोह, मुर्गा, तीतर, मोर, इनकी बसा को अलग-अलग दूध में पकाकर इससे मक्खन (घी) निकाल कर इसी विधि से तर्पण में बरते।

प्रसादन और स्नेहन पुटपाकों को (सू. अ. २४।१४. १६) तर्पण विधि से बरते।

वातजन्य तिमिर में वात-पीनस का भांति निरूह और अनुवासन बरते।

पित्तजतिमिरचिकित्सा—

पित्तजे तिमिरे सर्पिर्जीवनीयफलत्रयैः ।
विपाचितं पाययित्वा स्निग्धस्य व्यधयेत्सिराम् ॥
शर्करैलात्रिवृच्चूर्णैर्मधुयुक्तैर्विरेचयेत् ।
सुशीतान् सेकलेपादीन् युञ्ज्यान्नेत्रास्यमूर्धसु ॥
सारिवापद्मकोशीरमुक्ताशाबरचन्दनैः ।
वर्तिः शस्ताऽञ्जने, चूर्णस्तथा पत्रोत्पलाञ्जनैः ॥
सनागपुष्पकर्पूरयष्ट्याह्वस्वर्णगैरिकैः ॥ ६५ ॥

पित्तजन्य तिमिर में जीवनीयगण तथा त्रिफला से पकाये घृत को पिलाकर स्निग्ध हुए रोगी की सिरा का वेधन करे।

शर्करा, इलायची, निशोथ, इनके चूर्णों को मधु के साथ मिलाकर विरेचन देवे।

नेत्र, मुख और शिर पर अतिशीतल परिषेक का लेप आदि बरतें।

सारिवा, पद्माख, खस, मुक्ता, साबर लोध, चन्दन इनसे बनाई वर्त्ति अञ्जन में प्रशस्त है तथा तेजपत्र, कमल, अञ्जन, नागकेसर, कपूर, मुलहठी और सोनागेरु का चूर्ण अञ्जन में बरते।

पित्तजतिमिरनाशक अञ्जन--

सौवीराञ्जनतुत्थकश्रृङ्गीधात्रीफलस्फटिककर्पूरम् ।
पञ्चांशं पञ्चांशं त्र्यंशमथैकांशमञ्जनं तिमिरघ्नम् ॥
नस्यं चाज्यं शृतं क्षीरजीवनीयसितोत्पलैः ॥ ६७ ॥

सौवीरांजन पाँच भाग, तुत्थ पाँच भाग, काकड़ाशृङ्गी तीन भाग, आँवले का फल तीन भाग, स्फटिक एक भाग, कपूर एक भाग, इनका अञ्जन तिमिरनाशक है। (श्रीशिवदाससेनजी आँवले तक प्रत्येक पाँच भाग, स्फटिक तीन भाग, कपूर एक भाग, यह अर्थ करते हैं)।

चौगुने दूध में जीवनीय गण, शर्करा और श्वेत कमल से सिद्ध किया घृत नस्य के लिए उत्तम है।

कफजतिमिरनाशक विरेचन—

श्लेष्मोद्भवेऽमृताक्वाथवराकणशृतं घृतम् ।
विध्येत्सिरां पीतवतो दद्याच्चानु विरेचनम् ॥ ६८ ॥
क्वाथं पूगाभयाशुण्ठीकृष्णाकुम्भनिकुम्भजम् ।

कफजन्य तिमिर में गिलोय के क्वाथ में त्रिफला और पिप्पली से पकाया घृत पिला कर (स्निग्धकर) सिरा का वेधन करे। इसके उपरान्त सुपारी, हरड़, सोंठ, पिप्पली, निशोथ, दन्तीबीज, इनके क्वाथ से विरेचन देवे।

कफजतिमिरनाशक नस्य—

ह्रीबेरदारुद्विनिशाकृष्णाकल्कैः पयोऽन्वितैः ॥ ६९ ॥
द्विपञ्चमूलनिर्यूहे तैलं पक्वं च नावनम् ।

ह्रीबेर, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, इनके कल्क से दूध के साथ दशमूल के क्वाथ में पकाया तैल नस्य में बरते।

विमलावर्ति और कोकिलावर्ति—

शङ्खप्रियङ्गुनेपालीकटुत्रिकफलत्रिकैः ॥ ७० ॥
दृग्वैमल्याय विमला वर्तिः स्यात् कोकिला पुनः ।
कृष्णलोहरजोव्योषसैन्धवत्रिफलाऽञ्जनैः ॥ ७१ ॥

शंख, प्रियंगु, मैनसिल, त्रिकटु और त्रिफला से बनी वर्त्ति दृष्टि की निर्मलता के लिये विमलावर्त्ति है।

कृष्णलोह भस्म, त्रिकटु, सैन्धव, त्रिफला और अञ्जन से बनाई वर्त्ति कोकिलावर्त्ति है।

दन्तवर्ति—

शशगोखरसिंहोष्ट्रद्विजा ललाटमस्थि च ।
श्वेतगोबालमरिचशंखचन्दनफेनकम् ॥ ७२ ॥
पिष्टं स्तन्याजदुग्धाभ्यां वर्तिस्तिमिरशुक्रजित् ।
रक्तजे पित्तवत्सिद्धिः शीतैश्चास्रं प्रसादयेत् ॥७३॥[1]

खरगोश, गाय, गधा, सिंह, ऊँट, इनके दाँत और माथे की अस्थि, श्वेत गाय के बाल, मरिच, शंख, चंदन, समुद्रफेन इनको माता के और बकरी के दूध में पीस कर बनाई वर्त्ति तिमिर-शुक्रनाशक है।

रक्तजन्य तिमिर में पित्त की भाँति चिकित्सा करे। शीतवीर्य, शीतस्पर्श, अन्न-पान औषध, सेकादि से रक्त को निर्मल बनाये।

द्राक्षादि वर्त्ति—

द्राक्षया नलदरोध्रयष्टिभिः
शङ्खताम्रहिमपद्मपद्मकैः ।

---

[1] १. ‘मधूकसाराञ्जनताम्रत्रिकटुकविडङ्गपौण्डरीकानि। सलवणतुत्थत्रिफलालोध्राणि निम्बाम्बुपिष्टानि ॥ वर्त्तिश्चतुर्दशाङ्गी नयनामयनाशनी शिलास्तम्भे। लिखिता हिताय जगतस्तिमिरापहरी विशेषेण ॥ एकगुणा मागधिका द्विगुणा च हरीतकी सलिलपिष्टा। वर्त्तिरियं नयनसुखा तिमिरार्म्मपटलकाचाश्रुहरी ॥’ मूल श्लोक में इतना पाठ कुछ पुस्तकों में अधिक है।

सोत्पलैश्छगलदुग्धवर्तितै-
रस्रजं तिमिरमाशु नश्यति ॥ ७४ ॥

द्राक्षा, मांसी, लोध, मुलहठी, शंख, ताम्र, स्वर्ण, कमल, पद्माख, श्वेत कमल इनको बकरी के दूध से पीस कर बनाई वर्त्ति रक्तजन्य तिमिर को शीघ्र नष्ट करती है।

संसर्गसन्निपातोत्थे यथादोषोदयं क्रिया।
सिद्धं मधूककृमिजिन्मरिचामरदारुभिः ॥७५॥
सक्षीरं नावनं तैलं पिष्टैर्लेपो मुखस्य च।
नतनीलोत्पलानन्तायष्ट्याह्वसुनिषण्णकैः ॥७६॥
साधितं नावने तैलं शिरोवस्तौ च शस्यते।

संसर्ग और सन्निपात में जिस दोष की अधिकता हो, उसके अनुसार चिकित्सा करे।

महुआ, विडंग, मरिच, देवदारु इनसे दूध के साथ सिद्ध किया तैल नस्य में देवे। महुआ, विडंग आदि को जल से पीस कर मुख पर लेप करे।

तगर, नीलोत्पल, सारिवा, मुलहठी, चौपतिया इनसे सिद्ध किया तैल नस्य में और शिरोवस्ति में प्रशस्त है।

त्रिदोषजतिमिरनाशक योग—

दद्यादुशीरनिर्यूहे चूर्णितं कणसैन्धवम् ॥ ७७ ॥
तत्स्रुतं सघृतं भूयः पचेत्क्षौद्रं घने क्षिपेत्।
शीते चास्मिन हितमिदं सर्वजे तिमिरेऽञ्जनम् ॥७८॥

खस के क्वाथ में पिप्पली और सैन्धव चूर्ण करके डाल देवे। फिर इसको छान कर घी के साथ पकाये। घट्ट और शीतल हो जाने पर इसमें मधु मिलाये। यह अञ्जन सब तिमिर में उत्तम है।

वक्तव्य—खस का क्वाथ आठ पल, पिप्पली और सैन्धव प्रत्येक आठ मासा, घी एक कर्ष, मधु भी एक कर्ष।

अस्थीनि मज्जपूर्णानि सत्त्वानां रात्रिचारिणाम्।
स्रोतोजाञ्जनयुक्तानि वहत्यम्भसि वासयेत् ॥७९॥
मासं विंशतिरात्रं वा ततश्चोद्धृत्य शोषयेत्।
समेषशृङ्गीपुष्पाणि सयष्ट्याह्वानि तान्यनु ॥८०॥
चुर्णितान्यञ्जनं श्रेष्टं तिमिरे सान्निपातिके।

रात्रि में विचरने वाले (उल्लू आदि) प्राणियों की मज्जा से भरी अस्थियों को स्रोतोंजन के साथ मिलाकर बहते हुए जल में एक मास या बीस दिन तक रखकर फिर निकाल कर सुखा लेवे। इनको मेषशृङ्गी-पुष्प और मुलहठी के साथ चूर्ण बनाकर अञ्जन करे। यह अञ्जन सान्निपातिक तिमिर में उत्तम है।

काच रोग में सिरावेधन का निषेध—

काचेऽप्येषा क्रिया मुक्त्वा सिरां, यन्त्रनिपीडिताः ॥
आन्ध्याय स्युर्मला दद्यात्स्राव्ये स्वस्रे जलौकसः।

यह पूर्वोक्त क्रिया काच रोग में भी करनी चाहिये। किन्तु सिरावेध नहीं करना चाहिये। क्योंकि सिरा मोक्षण के लिये किए हुए दबाव से पीडित मल (दोष) अन्धत्व उत्पन्न करते हैं और जहाँ रक्तस्राव करना हो वहाँ जोंक से रक्तस्राव करे।

काचरोग-यापन अञ्जन—

गुडः फेनोऽञ्जनं कृष्णा मरिचं कुङ्कुमाद्रजः ॥८२॥
रसक्रियेयं सक्षौद्रा काचयापनमञ्जनम्।

गुड, समुद्रफेन, अञ्जन, पिप्पली, मरिच, केसर, इनकी मधु के साथ बनाई रसक्रिया काच का यापन करने के लिये अञ्जन है।

नकुलांधचिकित्सा—

नकुलान्धे त्रिदोषोत्थे तैमिर्यविहितो विधिः ॥ ८३ ॥

त्रिदोषजन्य नकुलान्ध में तिमिर में कही विधि बरते।

राव्यन्ध (रतौंधी) की चिकित्सा—

रसक्रिया घृतक्षौद्रगोमयस्वरसद्रुतैः।
तार्क्ष्यगैरिकतालीसैर्निशान्धे हितमञ्जनम् ॥८४॥
दध्ना विघृष्टं मरिचं रात्र्यन्धेऽञ्जनमुत्तमम्।
करञ्जिकोत्पलस्वर्णगैरिकाम्भोजकेसरैः ॥८५॥
पिष्टैर्गोमयतोयेन वर्तिर्दोषान्धनाशिनी।
अजामूत्रेण वा कौन्तीकृष्णास्रोतोजसैन्धवैः ॥८६॥
कालानुसारीत्रिकटुत्रिफलालमनःशिलाः।
सफेनाश्छागदुग्धेन रात्र्यन्धे वर्तयो हिताः ॥८७॥
सन्निवेश्य यकृन्मध्ये पिप्पलीरदहन्पचेत्।
ताः शुष्का मधुना घृष्टा निशान्धे श्रेष्ठमञ्जनम् ॥८८॥
खादेच्च प्लीहयकृती माहिषे तैलसर्पिषा।
घृते सिद्धानि जीवन्त्याः पल्लवानि च भक्षयेत् ॥८९॥
तथाऽतिमुक्तकैरण्डशेफाल्यभिरुजानि च।
भृष्टं घृतं कुम्भयोनेः पत्रैः पाने च पूजितम् ॥९०॥

घी, मधु, गोमय स्वरस से पतली बनाई रसांजन, गेरु, तालीसपत्र की रसक्रिया का अञ्जन नक्तान्ध में उत्तम है।

राव्यन्ध में मरिच को दही में घिसकर अञ्जन उत्तम है।

करंज, कमल, स्वर्णगेरु, कमल का केसर इनको गोबर के रस के साथ पीसकर बनाई वर्त्ति नक्तान्ध्यनाशक है।

रेणुका, पिप्पली, स्रोतोंजन और सैन्धव को बकरी के मूत्र से पीसकर वर्ति बनाये।

तगर, त्रिकटु, त्रिफला, हरताल, मैनसिल, समुद्रफेन, इनको बकरी के दूध से पीसकर बनाई वर्ति रात्र्यन्ध में उत्तम है।

पिप्पली को यकृत के बीच में रखकर इस प्रकार पकाये कि वह जले नहीं। फिर इन पिप्पलियों को सुखाकर मधु के साथ घिसकर रात्र्यन्ध में अञ्जन उत्तम है।

भैंस के प्लीहा और यकृत को तैल तथा घी के साथ खाये।

जीवन्ती के पत्तों को घी में सिद्ध करके खाये। अगस्त के पत्तों से सिद्ध घृत पीने में उत्तम है। अतिमुक्ता (माधवीलता), एरण्ड, निर्गुण्डी, शतावरी, इनके पत्तों से सिद्ध घृत खाये।

धूमरादि रोग चिकित्सा—

धूमराख्याम्लपित्तोष्णविदाहे जीर्णसर्पिषा ।
स्निग्धं विरेचयेच्छीतैः शीतैर्दिह्याच्च सर्वतः ॥९१॥
गोशकृद्रसदुग्धाज्यैर्विपक्कं शस्यतेऽञ्जनम् ।
स्वर्णगैरिकतालीसचूर्णावापा रसक्रिया ॥९२॥
मेदाशाबरकानन्तामञ्जिष्ठादार्वियष्टिभिः ।
क्षीराष्टांशं घृतं पक्कं सतैलं नावनं हितम् ॥९३॥
तर्पणं क्षीरसर्पिः स्यादशाम्यति सिराव्यधः ।

धूमर, अम्लविदग्ध, पित्तविदग्ध और उष्णविदग्ध में पुरातन घृत से स्निग्ध किये रोगी को शीतल औषधियों से विरेचन देवे और सब ओर शीतवस्तुओंका लेप करना चाहिये।

गोबर का रस, दूध तथा घी से पकाया अञ्जन प्रशस्त है। स्वर्णगेरु और तालीसपत्र के चूर्ण के प्रक्षेप से बनी रसक्रिया उत्तम है। (श्रीशिवदाससेनजी की मान्यता है कि धूमरादि में जो भी अञ्जन बरते जायें, वे गोबर के रस आदि के साथ बरते जायं और जो रसक्रिया बरते, उसमें सोनागेरु, तालीश का प्रक्षेप दें)।

मेदा, शाबरलोध, सारिवा, मंजीठ, दारुहल्दी, मुलहठी, दूध आठ भाग, इनसे घी और तैल सिद्ध करके नस्य लेना उत्तम है। दूध से निकाला घी तर्पण के लिए उत्तम है। इससे भी शान्त न हो तो सिरावेध करे।

चिन्ताऽभिघातभीशोकरौक्ष्यात् सोत्कटकासनात् ॥
विरेकनस्यवमनपुटपाकादिविभ्रमात् ।
विदग्धाहारवमनात् क्षुत्तृष्णादिविधारणात् ॥९५॥
अक्षिरोगावसानाच्च पश्येत्तिमिररोगिवत् ।
यथास्वं तत्र युञ्जीत दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ॥९६॥

चिन्ता, चोट, भय, शोक, रूक्षता, उत्कट आसन, विरेचन, नस्य, वमन, पुटपाक आदि के विभ्रम (मिथ्या योग) से, विदग्ध आहार से, वमन से, भूख-प्यास आदि रोकने से और आँख के रोगों के ठीक प्रकार स्वस्थ न होने से मनुष्य तिमिर रोगी भांति देखता है। इस अवस्था में दोष, दूष्य और देश आदि का विचार करके यथायोग्य औषध को बरते।

सूर्योपरागानलविद्युदादि-
विलोकनेनोपहतेक्षणस्य ।
सन्तर्पणं स्निग्धहिमादि कार्यं
तथाऽञ्जनं हेम घृतेन घृष्टम् ॥९७॥
चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यै-
र्यत्नः कर्तव्यो जीविते यावदिच्छा ।
व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिन्दिवानां
पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वित्ते ॥९८॥
त्रिफला रुधिरस्रुतिर्विशुद्धि-
र्मनसो निर्वृतिरञ्जनं सनस्यम् ।
शकुनाशनता सपादपूजा
घृतपानं च सदैव नेत्ररक्षा ॥९९॥

सूर्यग्रहण, अग्नि और बिजली आदि के देखने से दृष्टि के नष्ट हो जाने पर (आगन्तुक लिङ्गनाश में) स्निग्ध, शीतल आदि सन्तर्पण करना चाहिये। सुवर्ण को घी के साथ घिसकर अंजन करना चाहिये।

जब तक जीने की इच्छा हो, तब तक सब मनुष्यों को आंखों की रक्षा में सदैव यत्न करना चाहिये, क्योंकि अन्धे पुरुषों के लिये दिन और रात एक समान होने से धन के होने पर भी यह लोक व्यर्थ होता है।

त्रिफला, रक्तस्रुति, वमनादि से शोधन, मन की उपरति (निश्चिन्तता), अञ्जन, नस्य, पक्षिमांसभोजन, पादपूजा—पैरों पर अभ्यंग, उद्वर्त्तन, प्रक्षालन, जूता आदि पहनना, और सदा घृतपान; ये नेत्ररक्षा के उपाय हैं। (घृतपानं-पुरातनघृतपानम्, यथा-'घृतं पुराणं त्रिफलां शतावरीम्' सु॰ उत्तर॰ अ॰ १७)।

अहिताद्शनात्सदा निवृत्ति-
र्भृशभास्वचलसूक्ष्मवीक्षणाच्च ।
मुनिना निमिनोपदिष्टमेतत्
परमं रक्षणमीक्षणस्य पुंसाम् ॥१००॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने तिमिरप्रतिषेधो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

* * *

अहित भोजन से सदा निवृत्ति और अतिशय चमकीलें, चंचल, सूक्ष्म वस्तुओं को न देखना, मुनि निमि ने मनुष्य की आँखों की रक्षा के श्रेष्ठ उपाय कहे हैं।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का तिमिरप्रतिषेध नामक तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

* * *

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातो लिङ्गनाशप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे लिङ्गनाशप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

कफज लिंगनाश में कर्तव्य—

विध्येत्सुजातं निःप्रेक्ष्यं लिंगनाशं कफोद्भवम् ।
आवर्तक्यादिभिः षड्भिर्विवर्जितमुपद्रवैः ॥१॥

अच्छी प्रकार से घनीभूत (पका हुआ) जिसमें से दिखाई न देवे, ऐसे कफजन्य लिङ्गनाश का तथा आवर्त्तकी आदि छः उपद्रवों से रहित लिङ्गनाश का वेधन करे।

(आवर्त्त की आदि उपद्रव आगे ५ वें श्लोक में कहेंगे)। (निःप्रेच्यम्-हतदर्शनम् । सुजातं-सुष्ठु घनीभूतं श्लेष्मपिण्डवद् दृश्यमानम् । आवर्त्तक्यादिभिः-आवर्त्तकी-शर्करा राजीमती-छिन्नांशुका-चन्द्रकी-छत्रकीभिः)।

अपक्व लिंगनाश—

सोऽसञ्जातो हि विषमो दधिमस्तुनिभस्तनुः ।
शलाकयाऽवकृष्टोऽपि पुनरूर्ध्वं प्रपद्यते ॥ २ ॥
करोति वेदनां तीव्रां दृष्टिं च स्थगयेत्पुनः ।
श्लेष्मलैः पूर्यते चाशु सोऽन्यैः सोपद्रवश्चिरात् ॥ ३ ॥
श्लैष्मिको लिङ्गनाशो हि सितत्वाच्छ्लेष्मणः सितः ।
तस्यान्यदोषाभिभवाद्भवत्यानीलता गदः ॥ ४ ॥

यह लिङ्गनाश यदि ठीक प्रकार से न पका हो तो विषम-नीचा-ऊंचा, दही के मस्तु के समान पतला, शलाका से खींचने पर फिर ऊपर को जाता है, तीव्र वेदना को उत्पन्न करता है, और वेधन करने पर भी फिर से दृष्टि को ढांप लेता है। कफकारक औषध एवं अन्नों से शीघ्र भर जाता है। वात-पित्तकारक दूसरे अन्न से तथा उपद्रवों से युक्त होने पर देर में भरता है।

क्योंकि कफ श्वेत है, इस लिये कफजन्य लिङ्गनाश भी श्वेत होता है। इस लिङ्गनाश के वात आदि अन्य दोष से आक्रान्त होने पर रोग में-लिङ्गनाश में, ईषत् नीलता हो जाती है। (आनीलता रोग होता है)।

आवर्तकी, शर्करा आदि लिङ्गनाश के उपद्रव—

तत्रावर्तचला दृष्टिरावर्तक्यरुणाऽसिता ।
शर्कराऽर्कपयोलेशनिचितेव घनाति च ॥ ५ ॥
राजीमती दृङ्निचिता शालिशूकाभराजिभिः ।
विषमच्छिन्नदग्धाभा सरुक् छिन्नांशुका स्मृता ॥ ६ ॥
दृष्टिः कांस्यसमच्छाया चन्द्रकी चन्द्रकाकृतिः ।
छत्राभा नैकवर्णा च छत्रकी नाम नीलिका ॥ ७ ॥

इसमें आवर्त्तकी दृष्टि आवर्त्त (जल के भंवर) के समान चंचल, ईषत् लाल वर्ण और काली होती है।

(असिता पाठ अरुणदत्त का है, श्रीशिवदाससेनजी ने तथा चन्द्र ने सिता (श्वेत) पाठ पढ़ा है)।

शर्करा दृष्टि आक के दूध के कण से भरी की भांति और घट्ट होती है।

राजीमती-दृष्टि शाली-शूक (धान की बाल के रोम) के समान रेखाओं से भरी होती है।

छिन्नांशुका-दृष्टि विषम, छिन्न, जली हुई सी और दर्द से युक्त होती है।

चन्द्रकी-दृष्टि कांस्य के समान कान्ति और चन्द्र (द्वितीया आदि के खण्ड चन्द्र) के आकार की होती है।

छत्रकी-दृष्टि छत्र के आकार तथा अनेक वर्ण वाली और नील वर्ण की होती है।

लिंगनाश के विद्ध करने की रीति—

न विध्येदसिराह्राणां न तृट्पीनसकासिनाम् ।
नाजीर्णिभीरुवमितशिरःकर्णाक्षिशूलिनाम् ॥ ८ ॥

सिरावेध के अयोग्य पुरुषों में तथा प्यास, कास, पीनस से पीड़ित पुरुषों में; एवं अजीर्णयुक्त; भीरु, वमन किये; शिरःशूल, कर्णशूल या अक्षिशूल से पीड़ित पुरुषों में लिङ्गनाश का वेधन न करे।

अथ साधारणे काले शुद्धसम्भोजितात्मनः ।
देशे प्रकाशे पूर्वाह्णे भिषग्जानूच्चपीठगः ॥ ९ ॥
यन्त्रितस्योपविष्टस्य स्विन्नाक्षस्य मुखानिलैः ।
अङ्गुष्ठमृदिते नेत्रे दृष्टौ दृष्ट्वोत्प्लुतं मलम् ॥१०॥
स्वां नासां प्रेक्षमाणस्य निष्कम्पं मूर्ध्नि धारिते ।
कृष्णादर्धाङ्गुलं मुक्त्वा तथाऽर्धार्धमपाङ्गतः ॥११॥
तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठैः शलाकां निश्चलं धृताम् ।
दैवच्छिद्रं नयेत्पार्श्वादूर्ध्वमामन्थयन्निव ॥१२॥
सव्यं दक्षिणहस्तेन नेत्रं सव्येन चेतरत् ।
विध्येत्—

शस्त्रकर्म—नात्युष्ण-शीत समय में, वमनादि से शुद्ध इच्छानुसार भोजन किये रोगी को प्रकाशवाले स्थान में, पूर्वाह्ण में, सुखपूर्वक बैठे हुए को परिचारकों द्वारा निश्चय रूप में पकड़वा कर वैद्य जानु के समान ऊंचे आसन पर बैठ कर रोगी की आंख को मुख की वायु से स्विन्न करके, नेत्रों को अंगूठे से मलकर, दृष्टि में दोष को उभड़ा देख कर अपनी नाक को देखते हुए रोगी के शिर को बिना हिलाये इस प्रकार पकड़वाकर वेधन करे। वेधन के समय आंख के कृष्ण भाग से आधा अङ्गुल छोड़ कर तथा अपांग से ¼ चौथाई अङ्गुल बचा कर तर्जनी, मध्यमा और अंगूठे से शलाका स्थिर पकड़कर पार्श्व से ऊपर की ओर मथते जैसा देवच्छिद्र (स्वाभाविक छेद) में ले जाये। वाम नेत्र का दक्षिण हाथ से और दक्षिण नेत्र का वाम हाथ से वेधन करे।

वक्तव्य—उपविष्टस्य—प्रत्यादित्यमास्तरणलब्धमार्दवायां भूमौ प्रसारितचरणयुग्मस्य, इति चन्द्रः।

—सुविद्धे शब्दः स्यादरुक् चाम्बुलवस्रुतिः ॥ १३ ॥
सान्त्वयन्नातुरं चानु नेत्रं स्तन्येन सेचयेत् ।
शलाकायास्ततोऽग्रेण निर्लिखेन्नेत्रमण्डलम् ॥ १४ ॥
अबाधमानः शनकैर्नासां प्रति नुदंस्ततः ।
उच्छिङ्घनाच्चापहरेद् दृष्टिमण्डलगं कफम् ॥ १५ ॥
स्थिरे दोषे चले वाऽति स्वेदयेदक्षि बाह्यतः ।
अथ दृष्टेषु रूपेषु शलाकामाहरेच्छनैः ॥ १६ ॥
घृताप्लुतं पिचुं दत्त्वा बद्धाक्षं शाययेत्ततः ।
विद्धादन्येन पार्श्वेन तमुत्तानं द्वयोर्व्यधे ॥ १७ ॥
निवाते शयनेऽभ्यक्तशिरःपादं हिते रतम् ।

भली प्रकार वेधन होने पर शब्द होता है, वेदना नहीं

होती, जल-कण का स्राव होता है। पीछे से रोगी को सांत्वना देते हुए आँख का स्त्री के दूध से परिषेक करे। फिर शलाका के अग्रभाग से दृष्टिमण्डल पर लेखन करे। इससें शलाका को धीरे धीरे नाश की ओर प्रेरित करते हुए-किसी अवयव को हानि न पहुँचाते हुए लेखन करे। फिर नाक छिनक कर दृष्टिमण्डल के कफ को निकाले (नाक छिनकने से आँख पर झटका लगने से वेधन छिद्र द्वारा दृष्टिमण्डल का कफ बाहर आ जाता है)। दोषको चलायमान या स्थिर होनेपर आँख में बाहर से स्वेदन करे। इसके उपरान्त रूप के दीखने पर शलाका को धीरे से निकाल ले। फिर घी का फोया रख कर आंख पर पट्टी बांध कर लेटा देवे। जिस पार्श्व में वेधन किया हो, उसके दूसरे पार्श्व से लेटाये, दोनों आंखों का वेधन करने पर उत्तान-चित लेटाये। रोगी को वायुरहित स्थान में बिस्तर पर रक्खे, शिर और पैर पर अभ्यंग करे। पथ्य आहार-विहार में रत रोगी को लेटाये।

लिंगनाश-वेधन के पश्चात् वर्ज्य कर्म—

क्षवथुं कासमुद्गारं ष्ठीवनं पानमम्भसः ॥१८॥
अधोमुखस्थितिं स्नानं दन्तधावनभक्षणम् ।
सप्ताहं नाचरेत्स्नेहपीतवच्चात्र यन्त्रणा ॥१९॥
शक्तितो लङ्घयेत्सेको रुजि कोष्णेन सर्पिषा ।
सव्योषामलकं वाट्यमश्नीयात्सघृतं द्रवम् ॥२०॥
विलेपीं वा ऽयहाच्चास्य क्वाथैर्मुक्त्वाऽक्षि सेचयेत् ।
वातघ्नैः सप्तमे त्वह्नि सर्वथैवाक्षि मोचयेत् ॥२१॥

छींकना, खाँसना, डकारना, थूकना, पानी का (बैठकर) पीना, मुख नीचा करके बैठना, नहाना, दन्तधावन चबना, ये कर्म सात दिन तक न करे। स्नेहपान की भांति परहेज करे।

रोगी को शक्ति के अनुसार उसे लंघन कराये, वेदना होने पर कवोष्ण (गुनगुन) घी से सेक हितकारी है। तीन दिन तक त्रिकटु और आंवले के साथ यवौदन (दलिया) को घृत से पतला बना कर खाये या विलेपी खाये। तीन दिन के उपरान्त आंख को खोल कर वातघ्न क्वाथों से आंख पर परिषेक करे। सातवें दिन सम्पूर्ण रूप में आंख को खोल देवे।

बाद के नियम—

यन्त्रणामनुरुध्येत दृष्टेरास्थैर्यलाभतः ।
रूपाणि सूक्ष्मदीप्तानि सहसा नावलोकयेत् ॥२२॥

जब तक दृष्टि में स्थिरता न आ जाय, तब तक परहेज करे, सूक्ष्म तथा चमकते हुए रूपों को एकाएक न देखे।

उपद्रवानुसार चिकित्सा—

शोफरागरुजादीनामधिमन्थस्य चोद्भवः ।
अहितैर्वेधदोषाच्च यथास्वं तानुपाचरेत् ॥२३॥
कल्किताः सघृता दूर्वायवगैरिकसारिवाः ।
मुखालेपे प्रयोक्तव्या रुजारागोपशान्तये ॥२४॥
ससर्षपास्तिलास्तद्वन्मातुलुङ्गरसाप्लुताः ।
पयस्यासारिवापत्रमञ्जिष्ठामधुयष्टिभिः ॥२५॥
अजाक्षीरयुतैर्लेपः सुखोष्णः शर्मकृत्परम् ।
रोध्रसैन्धवमृद्वीकामधुकैश्छागलं पयः ॥२६॥
शृतमाश्च्योतनं योज्यं रुजारागविनाशनम् ।
मधुकोत्पलकुष्ठैर्वा द्राक्षालाक्षासितान्वितैः ॥२७॥
वातघ्नसिद्धे पयसि शृतं सर्पिश्चतुर्गुणे ।
पद्मकादिप्रतीवापं सर्वकर्मसु शस्यते ॥ २८ ॥
सिरां तथाऽनुपशमे स्निग्धस्विन्नस्य मोक्षयेत् ।
मन्थोक्तां च क्रिया कुर्याद्वेधे रूढेऽञ्जनं मृदु ॥ २९ ॥
आढकीमूलमरिचहरितालरसाञ्जनैः ।
विद्धेऽक्ष्णि सगुडा वर्तिर्योज्या दिव्याम्बुपेषिता ॥३०॥

अहिताचार से तथा वेधन के दोष से शोफ, सुर्खी, पीड़ा आदि और अधिमन्थ उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी अपनी-अपनी चिकित्सा करे।

पीड़ा और सुर्खी को शान्त करने के लिये दूर्वा, जौ, गेरु और सारिवा को घी के साथ पीस कर मुख पर लेप करना चाहिये।

सरसों तथा तिल को विजौरे के रस से गीला करके मुख पर लगाये, ये भी पूर्वोक्त गुण करते हैं।

विदारी, सारिवा, तेजपत्र, मंजीठ, मुलहठी इनको बकरी के दूध से पीस कर सुहाता हुआ गरम करके मुख पर लेप करे, यह अतिशय सुखकारक है।

लोध, सैन्धव, द्राक्षा, मुलहठी इनसे बकरी के दूध को पकाकर आश्च्योतन करना चाहिये, यह वेदना और सुर्खी को नष्ट करता है। अथवा मुलहठी, कमल, कूठ, द्राक्षा, लाख, सिता इनको बकरी के दूध में पका कर आश्च्योतन करना उत्तम है।

वातनाशक औषधियों से, घी से चौगुने दूध में, पद्मकादि गण का प्रक्षेप देकर घी सिद्ध करे, यह घृत सब कार्यों में बरते।

इससे रोग शान्त न होने पर स्नेहन-स्वेदन करके रोगी की सिरा का वेधन करे तथा अधिमन्थ में कही हुई चिकित्सा करे। वेधन के भर जाने पर मृदु अंजन हितकारी है।

वेधन की हुई आँख में अरहर की मूल, मरिच, हरताल रसौत, इनको गुड़ के साथ वर्षा जल में पीस कर बनायी वर्ति लगाये।

पिण्डाञ्जन—

जातीशिरीषधवमेषविषाणिपुष्प-
वैडूर्यमौक्तिकफलं पयसा सुपिष्टम् ।
आजेन ताम्रममुना प्रतनु प्रदिग्धं
सप्ताहतः पुनरिदं पयसैव पिष्टम् ॥ ३१ ॥
पिण्डाञ्जनं हितमनातपशुष्कमक्ष्णि
विद्धे प्रसादजननं बलकृच्च दृष्टेः ।

स्रोतोजविद्रुमशिलाम्बुधिफेनतीक्ष्णै-
रस्यैव तुल्यमुदितं गुणकल्पनाभिः ॥३२॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठे उत्तरस्थाने लिङ्गनाशप्रतिषेधो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

* * *

पिण्डांजन—मालती, शिरीष, धव और मेषशृङ्गी, इन चारों के फूल, विह्नौर, मुक्ता, इनको बकरी के दूध से बारीक पीस कर ताम्र के पात्र पर पतला लेप करे। सात दिन के उपरान्त फिर बकरी के दूध से इसको पीस कर छाया में सुखा कर वेधन की हुई आंख में दृष्टि को निर्मल और वलवान् बनाने के लिये इस पिण्डांजन को बरते।

स्रोतोंजन, विद्रम (प्रवाल), मैनसिल, समुद्रफेन, मरिच, इनकी कल्पना और गुण उपर्युक्त पिण्डांजन की भाँति हैं। (स्रोतोज-रसांजन, श्रीशिवदाससेन)।.

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का लिङ्गनाशप्रतिषेध नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

* * *

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातः सर्वाक्षिरोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे सर्वाक्षिरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वातज नेत्राभिष्यन्द के लक्षण—

वातेन नेत्रेऽभिष्यण्णे नासानाहोऽल्पशोफता ।
शङ्खाक्षिभ्रूललाटस्य तोदस्फुरणभेदनम् ॥ १ ॥
शुष्काल्पा दूषिका शीतमच्छं चाश्रु चला रुजः ।
निमेषोन्मेषणं कृच्छ्राज्जन्तूनामिव सर्पणम् ॥ २ ॥
अक्ष्याध्मातमिवाभाति सूक्ष्मैः शल्यैरिवाचितम् ।
स्निग्धोष्णैश्चोपशमनं सोऽभिष्यन्दः—

वात के कारण आँख अभिष्यन्द (शोथ और पानी=आँसू निकलना) से युक्त होने पर, नासानाह, थोड़ा शोथ, शंख, आंख, भ्रू और माथे में तोद, स्फुरण और फटने की सी वेदना, नेत्र का मल (कीचड़) शुष्क और थोड़ा शीतल और निर्मल आंसू, अस्थिर पीड़ा, कठिनाई से आंख खोलना एवं बन्द करना, पिपीलिका (चींटी आदि) के रेंगने की प्रतीति, आँख भरी हुई-सी प्रतीत होना, सूक्ष्म शल्यों से व्याप्त प्रतीत होना तथा स्निग्ध और उष्ण उपायों से शान्त होना ये लक्षण होते हैं, और इसे वातज नेत्राभिष्यन्द कहते हैं। (नासानाह-नासा रुकी प्रतीत होती है)।

वाताधिमंथ के लक्षण—

उपेक्षितः ॥३॥
अधिमन्थो भवेत्तत्र कर्णयोर्नदनं भ्रमः ।
अरण्येव च मथ्यन्ते ललाटाक्षिभ्रुवादयः ॥ ४ ॥

उपेक्षा करने पर वाताभिष्यन्द अधिमन्थ में बदल जाता है, इससे कानों में शब्द, चक्कर आना और अरणीमन्थन के समान ललाट तथा आँख आदि में वेदना होती है।

हताधिमन्थ के लक्षण—

हताधिमन्थः सोऽपि स्यात् प्रमादात्तेन वेदनाः ।
अनेकरूपा जायन्ते व्रणो दृष्टौ च दृष्टिहा ॥ ५ ॥

अधिमन्थ की भी आलस्यवश उपेक्षा करने पर हताधिमन्थ हो जाता है, इससे अनेक प्रकार की वेदनायें होती हैं, और दृष्टि में दृष्टि को नष्ट करने वाला व्रण हो जाता है।

अन्यतोवात के लक्षण—

मन्याऽक्षिशंखतो वायुरन्यतो वा प्रवर्तयन् ।
व्यथां तीव्रामपैच्छिल्यरागशोफं विलोचनम् ॥ ६ ॥
सङ्कोचयति पर्यश्रु सोऽन्यतोवातसंज्ञितः ।

वायु, मन्या, आँख और शंख या अन्यत्र (पीठ, शिर आदि में रहकर वहाँ) से नेत्र में तीव्र पीड़ा को उत्पन्न करती है। इसमें पिच्छिलता, सुर्खी और शोफ नहीं होते। यह आँख को संकुचित कर देता है, आँखें आँसू से भरी होती हैं, इसको अन्यतोवान कहते हैं।

वातपर्यय के लक्षण—

तद्वज्जिह्मं भवेन्नेत्रमूनं वा वातपर्यये ॥ ७ ॥

वातपर्यय रोग में आँख अन्यतोवात के समान कारणों तथा लक्षणों से युक्त कुटिल और अपने आकार से कम (छोटी) हो जाती है।

पित्ताभिष्यन्द के लक्षण—

दाहो धूमायनं शोफः श्यावता वर्त्मनो बहिः ।
अन्तःक्लेदोऽश्रु पीतोष्णं रागः पीताभदर्शनम् ॥८॥
क्षारोक्षितक्षताक्षित्वं पित्ताभिष्यन्दलक्षणम् ।

आंखों में दाह, धूंए के निकलने की प्रतीति, शोफ, पलकों के बाहर श्यामवर्ण, आंख के अन्दर क्लेद, अश्रु पीले और गरम, सुर्खी, पीला सा दिखाई देना, क्षार से स्पर्श किये व्रण के समान आंख में वेदना ये पित्ताभिष्यन्द के लक्षण हैं।

पित्ताधिमन्थ के लक्षण—

ज्वलदङ्गारकीर्णाभं यकृत्पिण्डसमप्रभम् ॥ ९ ॥
अधिमन्थे भवेन्नेत्रम्—

पित्ताधिमन्थ में आंख जलते हुए अङ्गारों से भरी तथा यकृत्पिण्ड के समान कान्ति की होती है।

कफज नेत्राभिष्यन्द के लक्षण—

—स्यन्दे तु कफसम्भवे ।
जाड्यं शोफो महान् कण्डूर्निद्राऽन्नानभिनन्दनम् ॥
सान्द्रस्निग्धबहुश्वेतपिच्छावद्दूषिकाश्रुता ।

कफाभिष्यन्द में जड़ता, बहुत शोफ, कण्डू, नींद का आना, अन्न की अनिच्छा तथा घट्ट, स्थिर, बहुत श्वेत और पिच्छा की भांति (लसदार) नेत्रमल और आंसू होते हैं। [पिच्छा—सेमल के गोंद की भांति]।

कफाधिमंथ के लक्षण—

अधिमन्थे नतं कृष्णमुन्नतं शुक्लमण्डलम् ॥११॥
प्रसेको नासिकाध्मानं पांशुपूर्णमिवेक्षणम् ।

कफजन्य अधिमन्थ में कृष्ण भाग दबा और श्वेत भाग ऊपर को उठा हुआ होता है। नेत्र से निरन्तर स्राव, नासिका का फूलना एवं धूल से भरी हुई सी आंख होती है।

रक्तज नेत्राभिष्यन्द के लक्षण—

रक्ताश्रुराजीदूषीकारक्तमण्डलदर्शनम् ॥ १२ ॥
रक्तस्यन्देन नयनं सपित्तस्यन्दलक्षणम् ।

रक्ताभिष्यन्द में लाल अश्रु, लाल रेखा, लाल नेत्रमल तथा लाल वर्ण वाला नेत्रमण्डल होता है। वस्तुएँ भी लाल दीखती हैं। तथा इसमें पित्तस्यन्द के लक्षण होते हैं।

रक्ताधिमंथ के लक्षण—

मन्थेऽक्षि ताम्रपर्यन्तमुत्पाटनसमानरुक् ॥१३॥
रागेण बन्धूकनिभं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम् ।
असृङ्निमग्नारिष्टाभं कृष्णमग्न्याभदर्शनम् ॥१४॥
अधिमन्था यथास्वं च सर्वे स्यन्दाधिकव्यथाः ।
शङ्खदन्तकपोलेषु कपाले चातिरुक्कराः ॥१५॥

रक्तज अधिमन्थ में आँख के किनारे लाल वर्ण, उखाड़ने के समान वेदना, बन्धूकपुष्प (दुपहरिया के फूल) के समान सुर्ख तथा संकुचित होती है स्पर्श को सहन नहीं करती। कृष्ण भाग रक्त में भिगोये रीठे के फल के समान होता है और सभी चीजें अग्नि की तरह चमकती दिखाई देती हैं।

जिस-जिस अभिष्यन्द से जो-जो अधिमन्थ उत्पन्न होता है, उस-उस अभिष्यन्द में जो-जो वेदनायें होती हैं, उनकी अपेक्षा तज्जन्य अधिमन्थ में वे-वे वेदनायें अधिक होती हैं। तथा शंख, दाँत, कपोल तथा शिरःकपालों में अतिशय पीड़ा होती है। (श्रीशिवदाससेनजी तो वातिक अधिमन्थ शंख में, पित्तज दाँत में, श्लैष्मिक कपोल में और रक्तज शिरःकपाल में अधिक पीड़ा करता है, यह अर्थ करते हैं)।

शुष्काक्षिपाक के लक्षण—

वातपित्तातुरं घर्षतोदभेदोपदेहवत् ।
रूक्षदारुणवर्त्माक्षि कृच्छ्रोन्मीलनिमीलनम् ॥१६॥
विकूणनविशुष्कत्वशीतेच्छाशूलपाकवत् ।
उक्तः शुष्काक्षिपाकोऽयम्—

जिस रोग में आंख वात-पित्त के कारण पीड़ित, घर्षण, तोद, भेद तथा मैल से युक्त होती है, जिसमें पलकें (वायु के कारण) रूक्ष, कठोर, कठिनाई से खुलने और बन्द होने वाली हो जाती हैं तथा आंखें अतिशय भींची हुई, सूखी होती हैं, रोगी को शीत की चाह होती है, तथा आंखों में शूल एवं पाक होता है, उस रोग को शुष्काक्षिपाक कहते हैं। (घर्षण-रगड़, उपदेह-मैल)।

सशोफ अक्षिपाक के लक्षण—

—सशोफः स्यात्त्रिभिर्मलैः ॥१७॥
सरक्तैस्तत्र शोफोऽतिरुग्दाहष्ठीवनादिमान् ।
पक्वोदुम्बरसङ्काशं जायते शुक्लमण्डलम् ॥१८॥
अश्रूष्णशीतविशदपिच्छिलाच्छघनं मुहुः ।

सशोफ अक्षिपाक—रक्तमिश्रित वातादि तीनों दोषों से तथा रक्त से होता है। इसमें अत्यन्त शोफ, अतिवेदना, दाह तथा अत्यधिक स्राव होते हैं और आंख का श्वेत भाग पके हुए गूलर के समान हो जाता है। आंसू कभी उष्ण, कभी शीतल, कभी विशद, कभी पिच्छिल, कभी निर्मल और कभी घट्ट आता है। [नेत्रपाक-प्रभूत शोथ और अल्प शोथ भेद से दो प्रकार का है, यह नेत्रपाक प्रभूतशोथ वाला है]।

अल्पशोफेऽल्पशोफस्तु पाकोऽन्यैर्लक्षणैस्तथा ॥१९॥

अल्पशोफ वाले नेत्रपाक में थोड़ा शोफ होता है, तथा अन्य लक्षण पूर्व की भांति होते हैं।

अक्षिपाकात्यय के लक्षण—

अक्षिपाकात्यये शोफः संरम्भः कलुषाश्रुता ।
कफोपदिग्धमसिं सितं प्रक्लेदरागवत् ॥२०॥
दाहो दर्शनसंरोधो वेदनाश्चानवस्थिताः ।

अक्षिपाकात्यय में शोफ, सुर्खी, मलिन आंसू, कृष्ण, मण्डल कफ से लिप्त, शुक्लमण्डल क्लेद युक्त एवं सुर्ख, दाह, दृष्टि में अवरोध तथा अस्थिर (चंचल) वेदनायें होती हैं।

अम्लोषित रोग के लक्षण—

अन्नसारोऽम्लतां नीतः पित्तरक्तोल्बणैर्मलैः ॥२१॥
शिराभिर्नेत्रमारूढः करोति श्यावलोहितम् ।
सशोफदाहपाकाश्रु भृशं चाविलदर्शनम् ॥२२॥
अम्लोषितोऽयम्—

पित्तरक्तप्रधान वातादि दोषों के कारण-अन्नसार-रस भाग अम्ल होकर सिराओं द्वारा नेत्रों में पहुँच कर आंखों को रक्तवर्ण, शोफ, दाह, पाक, आंसू तथा अतिशय मलिनदृष्टि युक्त करता है, इसको अम्लोषित कहते हैं।

इत्युक्ता गदाः षोडश सर्वगाः ।

इस प्रकार सम्पूर्ण आंख में होने वाले सोलह रोग कह दिये हैं।

साध्यासाध्यता—

हताधिमन्थमेतेषु साक्षिपाकात्ययं त्यजेत् ॥ २३ ॥
वातोद्भूतः पञ्चरात्रेण दृष्टिं
सप्ताहेन श्लेष्मजातोऽधिमन्थः ।

रक्तोत्पन्नो हन्ति तद्वत्त्रिरात्राद्
मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥ २४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने सर्वाक्षिरोगविज्ञानीयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

* * *

इनमें हताधिमन्थ और अक्षिपाकात्यय इन दो रोगों को (असाध्य होने से) छोड़ देवे—चिकित्सा न करे।

मिथ्याचार से वातजन्य अधिमन्थ पांच रात में दृष्टि को नष्ट कर देता है, कफजन्य अधिमन्थ सात दिन में, रक्तजन्य अधिमन्थ तीन रात में और पैत्तिक अधिमन्थ मिथ्याचार से तुरन्त दृष्टि को नष्ट कर देता है।

वक्तव्य—सुश्रुत में-'हन्याद् दृष्टिं सप्तरात्रात्कफोत्थोऽधीमन्थोऽसृक्संभवः पंचरात्रात्। षड्रात्राद् वै मारुतोत्थो निहन्याद् मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥' (सु. उ. अ. ६।)

सुश्रुत ने सर्वाक्षिरोग सत्रह कहे हैं, वाग्भट के सोलह कहे हैं। वहाँ पर सिरोत्पात अधिक है जिसे यहां पर अक्षिपाकात्यय में ही पढ़ा है, शेष समान हैं।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का सर्वाक्षिरोगविज्ञानीय नामक पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

* * *

षोडशोऽध्यायः

अथातः सर्वाक्षिरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे सर्वाक्षिरोगप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

नेत्राभिष्यन्द के पूर्वरूप में कर्तव्याकर्तव्य—

प्रागेव एव स्यन्देषु तीक्ष्णं गण्डूषनावनम् ।
कारयेदुपवासं च कोपादन्यत्र वातजात् ॥ १ ॥

अभिष्यन्द के पूर्वरूपों में तीक्ष्ण गण्डूष, तीक्ष्ण नस्य और उपवास करायें, परन्तु वातजन्य अभिष्यन्द में ये न करे।

नेत्राभिष्यन्द की सामान्य चिकित्सा—

दाहोपदेहरागाश्रुशोफशान्त्यै विडालकम् ।
कुर्यात्सर्वत्र पत्रैलामरिचस्वर्णगैरिकैः ॥ २ ॥
सरसाञ्जनयष्ट्याह्वनतचन्दनसैन्धवैः ।

सब प्रकार के अभिष्यन्दों में दाह, नेत्र की मैल, सुर्खी, आंसू आना तथा सूजन की शान्ति के लिये विडालक (आंखों के बाहर) लेप करना चाहिये। यह लेप तेजपात, इलायची, मरिच, स्वर्णगेरू, रसौंत, मुलहठी, तगर, चन्दन और सैन्धव से करना चाहिये।

वातज अभिष्यन्द की चिकित्सा—

सैन्धवं नागरं तार्क्ष्यं घृष्टं मण्डेन सर्पिषः ॥ ३ ॥
वातजे घृतभृष्टं वा योज्यं शाबरदेशजम् ।
मांसीपद्मककालीययष्ट्याह्वैः पित्तरक्तयोः ॥ ४ ॥
मनोह्वाफलिनीक्षौद्रैः कफे, सर्वैस्तु सर्वजे ।

वातज अभिष्यन्द में सैन्धव, सोंठ, रसौंत, इनको घी के मण्ड से घिस कर विडालक लेप करे। अथवा सावर लोध को घी में भून कर आंखों पर लेप करे। पित्तज और रक्तज अभिष्यन्द में जटामांसी पद्माख, कालीयक (रक्तचन्दन), मुलहठी, इनसे लेप करे। कफ में मैनसिल, प्रियंगु और मधु से लेप करे। सन्निपातज अभिष्यन्द में उपर्युक्त सब द्रव्यों से विडालक लेप करे।

नेत्ररोगनाशक पोटली—

सितमरिचभागमेकं चतुर्मनोह्वं द्विरष्टशाबरकम् ।
सञ्चूर्ण्य वस्त्रबद्धं प्रकुपितमात्रेऽवगुण्ठनं नेत्रे ॥५॥

श्वेत मरिच (सहजने के बीज) एक भाग, मैनसिल चार भाग, शाबर लोध सोलह भाग, इन सब को चूर्ण करके कपड़े में पोटली बनाकर आंख के कुपित होने पर (तुरन्त) आच्छादन करना चाहिये।

नेत्राभिष्यन्दनाशक कुलथी का अञ्जन—

आरण्याश्छगणरसे पटावबद्धाः
सुस्विन्ना नखवितुषीकृताः कुलत्थाः ।
तच्चूर्णं सकृदवचूर्णनान्निशीथे
नेत्राणां विधमति सद्य एव कोपम् ॥६॥

जङ्गली कुलथी को कपड़े में बांधकर गोबर के स्वरस में स्वेदित करके नखों से इनके छिलके उतारे। इनके चूर्ण को रात्रि में एक बार लगाने से ही तुरंत नेत्रों का दुखना नष्ट होता है।

नेत्रपीडानाशक विविध औषधि—

घोषाऽभयातुत्थकयष्टिरोध्रै-
र्मूर्ती सुसूक्ष्मैः श्लथवस्त्रबद्धैः ।
ताम्रस्थधान्याम्लनिमग्नमूर्ति-
रर्तिं जयत्यक्षिणि नैकरूपाम् ॥ ७ ॥
षोडशभिः सलिलपलैः
पलं तथैकं कटङ्कटेर्याः सिद्धम् ।
सेकोऽष्टभागशिष्टः
क्षौद्रयुतः सर्वदोषकुपिते नेत्रे ॥ ८ ॥
वातपित्तकफसन्निपातजां
नेत्रयोर्बहुविधामपि व्यथाम् ।
शीघ्रमेव जयति प्रयोजितः
शिग्रुपल्लवरसः समाक्षिकः ॥ ९ ॥
तरुणमुरुबूकपत्रं
मूलं च विभिद्य सिद्धमाजे क्षीरे ।

वाताभिष्यन्दरुजं
सद्यो विनिहन्ति सक्तुपिण्डिका चोष्णा ॥१०॥

सौंफ, हरड़, तुत्थ, मुलहटी, लोध्र; इनके सूक्ष्म चूर्ण को एक ढीली पोटली में वस्त्र से बांध कर ताम्रपात्र में रक्खी कांजी में भिगोकर आंख पर लगाने से अनेक प्रकार की पीड़ा शान्त होती है।

दारुहल्दी एक पल लेकर जल के सोलह भाग में पकाये। आठवां भाग बचे रहने पर मधु मिलाकर सब दोषों से कुपित नेत्र में प्रसेक करे।

वात, पित्त, कफ और सन्निपात से जन्य नाना प्रकार की आंखों की पीड़ा, सहजना के पत्तों के स्वरस में मधु मिला कर प्रयोग करने से शीघ्र नष्ट हो जाती है।

एरण्ड के नूतन पत्ते और मूल कूटकर बकरी के दूध में पकाकर लगाने से वाताभिष्यन्द की पीड़ा को तुरन्त नष्ट करती है। अथवा (दोष के अनुसार) गरम सक्तुपिण्डिका पीडा को शान्त करती है।

अभिष्यन्द पर सेचन—

आश्च्योतनं मारुतजे क्वाथो बिल्वादिभिर्हितः ।
कोष्णः सहैरण्डजटाबृहतीमधुशिग्रुभिः ॥११॥
ह्रीवेरवक्रशार्ङ्गेष्टोदुम्बरत्वक्षु साधितम् ।
साम्भसा पयसाऽऽजेन शूलाश्च्योतनमुत्तमम् ॥१२॥
मञ्जिष्ठारजनीलाक्षाद्राक्षर्द्धिमधुकोत्पलैः ।
क्वाथः सशर्करः शीतः सेचनं रक्तपित्तजित् ॥१३॥

वातजन्य अभिष्यन्द में बिल्वादि गण के क्वाथ को एरण्डमूल, कटेरी और मीठा सहजन के क्वाथ के साथ मिलाकर आश्च्योतन करे। ह्रीबेर, तगर, गुंजामूल, गूलर की छाल; इनका पानी में क्वाथ करके बकरी का दूध मिलाकर शूल में उत्तम आश्च्योतन है।

मजीठ, हल्दी, लाक्षा, ऋद्धि, मुलहठी, कमल, इनके क्वाथ में शर्करा मिलाकर शीतल होने पर परिषेक करना रक्तपित्तनाशक है।

रक्तपित्तज अभिष्यन्द पर पोटली—

कसेरुयष्ट्याह्वरजस्तान्तवे शिथिलं स्थितम् ।
अप्सु दिव्यासु निहितं हितं स्यन्देऽस्रपित्तजे ॥१४॥
पुण्ड्रयष्टीनिशामूर्ती प्लुता स्तन्ये सशर्करे ।
छागदुग्धेऽथवा दाहरुग्रागाश्रुनिवर्तनी ॥१५॥
श्वेतरोध्रं समधुकं घृतभृष्टं सुचूर्णितम् ।
वस्त्रस्थं स्तन्यमृदितं पित्तरक्ताभिघातजित् ॥१६॥

कसेरु और मुलहठी के चूर्ण को वस्त्र में ढीला बाँधकर वर्षाजल में रखकर रक्तपित्तजन्य अभिष्यन्द में बरतना उत्तम है।

पुण्डरीक, मुलहठी, हल्दी; इनकी पोटली को शर्करामिश्रित माता के दूध में अथवा बकरी के दूध में भिगोकर आँख पर रखना दाह, पीड़ा, सुर्खी और अश्रु के आने को नष्ट करती है।

सफेद लोध और मुलहठी के चूर्ण को घी में भूनकर कपड़े में बाँधकर माता के दूध में मलकर लगाने से पित्त, रक्त और अभिघात में लाभदायक है।

कफज-अभिष्यन्दचिकित्सा—

नागरत्रिफलानिम्बवासारोध्ररसः कफे ।
कोष्णमाश्च्योतनं मिश्रैर्भेषजैः सान्निपातिके ॥१७॥

सोंठ, त्रिफला, नीम, अडूसा और लोध, इनके कोष्ण रस (क्वाथ) से कफ में आश्च्योतन उत्तम है।

सन्निपातजन्य अभिष्यन्द में मिश्रित औषधियों से आश्च्योतन करे।

सर्पिः पुराणं पवने, पित्ते शर्करयाऽन्वितम् ।
व्योषसिद्धं कफे पीत्वा यवक्षारावचूर्णितम् ॥१८॥
स्रावयेद्रुधिरं भूयस्ततः स्निग्धं विरेचयेत् ।

वायु में दस वर्ष का पुरातन घृत पिये। पित्त में शर्करा युक्त घी पिये। कफ में यवक्षार मिश्रित, त्रिकटु से सिद्ध घृत पीये। घी पीकर रुधिर को निकलवाये। पुनः स्निग्ध होकर विरेचन लेवे।

नेत्रशूलनाशक प्रयोग—

आनूपवेसवारेण शिरोवदनलेपनम् ॥१९॥
उष्णेन शूले, दाहे तु पयःसर्पिर्युतैर्हिमैः ।
तिमिरप्रतिषेधं च वीक्ष्य युञ्ज्याद्यथायथम् ॥२०॥
अयमेव विधिः सर्वो मन्थादिष्वपि शस्यते ।

शूल में आनूपदेशीय मांस के वेशवार से शिर तथा मुख पर उष्ण लेप करे। दाह होने पर चन्दन आदि शीतल द्रव्यों को दूध और घी में मिलाकर लेप करे।

दोषानुसार तिमिर की चिकित्सा को विचार कर उस दोष से जन्य अभिष्यन्द में भी करे।

सब अधिमन्थों में भी यही चिकित्सा वरतनी चाहिये।

नेत्राधिमन्थ की विशेष चिकित्सा—

अशान्तौ सर्वथा मन्थे भ्रुवोरुपरि दाहयेत् ॥२१॥
रूप्यं रूक्षेण गोदध्ना लिम्पेन्नीलत्वमागते ।
शुष्के तु मस्तुना वर्तिर्वाताक्ष्यामयनाशिनी ॥२२॥
सुमनःकोरकाः शङ्खस्त्रिफला मधुकं बला ।
पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्टा दिव्येन वारिणा ॥२३॥
सैन्धवं त्रिफला व्योषं शङ्खनाभिः समुद्रजः ।
फेन पेलेयकं सर्जो वर्तिः, श्लेष्माक्षिरोगनुत् ॥२४॥

यदि इस (अभिष्यन्दोक्त) चिकित्सा से अधिमन्थ रोग शान्त न हो तो भ्रुवों के ऊपर दाह करे।

साररहित गाय की दही से चाँदी के ऊपर लेप करे। जब यह लेप नीला पड़ जाये और सूख जाये तब मस्तु के साथ वर्त्ति बना लेवे। यह वर्त्ति वातजनेत्ररोग (अधिमन्थ)-नाशक है।

चमेली की कलियाँ, शंखनाभि, त्रिफला, मुलहठी, बला; इनको वर्षाजल से पीस कर वर्ति बनाये। यह वर्ति पित्तरक्तजन्य नेत्ररोग (अधिमन्थ) का नाशक है।

सैंधव, त्रिफला त्रिकटु, शंखनाभि, समुद्रफेन, एलबालुक, राल; इनकी वर्ति कफजन्य अक्षिरोग का नाशक है।

पाशुपत योग—

प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वं दार्वीं चाष्टपलं पचेत्।
जलद्रोणे रसे पूते पुनः पक्के घने क्षिपेत् ॥२५॥
पुष्पाञ्जनाद्दशपलं कर्षं च मरिचात्ततः।
कृतश्चूर्णोऽथवा वर्तिः सर्वाभिष्यन्दसम्भवान् ॥२६॥
हन्ति रागरुजाघर्षान् सद्यो दृष्टिं प्रसादयेत्।
अयं पाशुपतो योगो रहस्यं भिषजां परम् ॥२७॥

प्रपौण्डरीक, मुलहठी, दारुहल्दी प्रत्येक आठ पल लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ करे। फिर इस क्वाथ को छान कर पुनः पकाये। घट्ट बन जाने पर इसमें पुष्पांजन (जस्त का फूल) दश पल और मरिच एक कर्ष मिलाये, फिर इसका चूर्ण या बनाई हुई वर्ति सब प्रकार के अभिष्यन्दजन्य सुर्खी, पीड़ा तथा रगड़ को नष्ट करती है, दृष्टि को तुरन्त निर्मल बनाती है। यह पाशुपत योग वैद्यों का अत्यन्त गोप्य है।

शुष्काक्षिपाकरोगचिकित्सा—

शुष्काक्षिपाके हविषः पानमक्ष्णोश्च तर्पणम्।
घृतेन जीवनीयेन नस्यं तैलेन वाऽणुना ॥२८॥
परिषेको हितश्चात्र पयः कोष्णं ससैन्धवम्।
सर्पिर्युक्तं स्तन्यपिष्टमञ्जनं च महौषधम् ॥२९॥
वसा वाऽऽनूपसत्त्वोत्था किञ्चित्सैन्धवनागरा।
घृताक्तान् दर्पणे घृष्टान् केशान् मल्लकसम्पुटे ॥३०॥
दग्ध्वाऽज्यपिष्टा लोहस्था सा मषी श्रेष्ठमञ्जनम्।

शुष्काक्षिपाक में (पुरातन) घृत का पान, आँखों पर जीवनीय घृत से तर्पण, अणुतैल का नस्य तथा सैन्धवमिश्रित कवोष्ण दूध से आंखों पर परिषेक उत्तम है।

सोंठ को माता के दूध में पीसकर घी के साथ मिलाकर अञ्जन करना उत्तम है। अथवा आनूप देश के प्राणियों की वसा को थोड़े से सैन्धव और सोंठ के साथ अञ्जन करना उत्तम है।

मनुष्य के बालों को घीसे चिकना करके फिर इस राख को दर्पण में घिसकर इनको शरावों में रखकर जलावे। फिर इस राख को घी में मिलाकर लोहपात्र में रखकर अञ्जन करे, यह श्रेष्ठअञ्जन है।

सशोथ और अल्पशोथ नेत्रपाक की चिकित्सा—

सशोफे वाऽल्पशोफे च स्निग्धस्य व्यधयेत्सिराम् ॥
रेकः स्निग्धे पुनर्द्राक्षापथ्याक्वाथत्रिवृद्घृतैः।
श्वेतरोध्रं घृते भृष्टं चूर्णितं तान्तवस्थितम् ॥३२॥
उष्णाम्बुना विमृदितं सेकः शूलहरः परम्।
दर्वीप्रपौण्डरीकस्य क्वाथो वाऽऽश्च्योतने हितः ॥

शोफयुक्त या अल्प शोफयुक्त नेत्रपाक में स्निग्ध पुरुष की सिरा का वेधन करे। फिर स्निग्ध करके द्राक्षा तथा हरड़ के क्वाथ में निशोथ और घी के साथ विरेचन देवे।

श्वेत लोध को घी में भूनकर चूर्ण करके पोटली में बांध कर गरम पानी से मसल कर सेक करे, यह अतिशय शूलहर है।

अथवा दारुहल्दी और प्रपौण्डरीक का क्वाथ आश्च्योतन में हितकारी है।

संधाव नामक औषध के विविध योग—

सन्धावांश्च प्रयुञ्जीत घर्षरागाश्रुरुग्घरान् ॥३३॥

रगड़, सुर्खी, अश्रु और पीड़ा को मिटाने वाले सन्धाव संज्ञक अगले योगों को बरते ॥ ३३ ॥

ताम्रं लोहे-मूत्रघृष्टं प्रयुक्तं
नेत्रे सर्पिर्धूपितं वेदनाघ्नम्।
ताम्रे घृष्टो गव्यदध्नः सरो वा
युक्तः कृष्णासैन्धवाभ्यां वरिष्ठः ॥ ३४ ॥
शङ्खं ताम्रे स्तन्यघृष्टं घृताक्तैः
शम्याः पत्रैर्धूपितं तद्यवैश्च।
नेत्रे युक्तं हन्ति सन्धावसंज्ञं
क्षिप्रं घर्षं वेदनां चातितीव्राम् ॥ ३५ ॥

लोहे के पात्र में गोमूत्र के साथ ताम्र को घिसकर घी से धूपित करके नेत्र में बरतने से पीड़ा मिटती है। गाय के दही की मलाई को ताम्रपात्र में घिसकर पिप्पली और सैन्धव से युक्तकर आंखों पर लगाना श्रेष्ठ लेप है।

शंख को ताम्रपात्र में माता के दूध से घिसकर घी से स्निग्ध करके शमी के पत्तों से तथा जौ से धूपित करे। यह सन्धाव संज्ञक लेप नेत्र में बरतने से रगड़ और अतिशय तीव्र वेदना को शीघ्र शान्त करता है।

उदुम्बरफलं लोहे घृष्टं स्तन्येन धूपितम् ॥३६॥
साज्यैः शमीच्छदैर्दाहशूलरागाश्रुहर्षजित्।
शिग्रुपल्लवनिर्यासः सुघृष्टस्ताम्रसम्पुटे ॥३७॥
घृतेन धूपितो हन्ति शोफघर्षाश्रुवेदनाः।
तिलाम्भसा मृत्कपालं कांस्ये घृष्टं सुधूपितम् ॥३८॥
निम्बपत्रैर्घृताभ्यक्तैर्घर्षशूलाश्रुरागजित्।
सन्धावेनाञ्जिते नेत्रे विगतौषधवेदने ॥३९॥
स्तन्येनाश्च्योतनं कार्यं त्रिः परं नाञ्जयेच्च तैः।

गूलर के फल को लोहपात्र में माता के दूध के साथ घिसकर घी के साथ शमीपत्रों से धूपित करने से, यह दाह, शूल, सुर्खी, अश्रु और हर्ष का नाशक है।

सहजने के पत्तों का रस ताम्रसम्पुट में भली प्रकार घिसकर घी से धूपित करके बरतने पर शोफ, रगड़ और अश्रु-वेदना को नष्ट करता है।

तिल धोने के पानी से मिट्टी के ठीकरे को कांसे के पात्र में

घिसकर घी-मिश्रित नीम के पत्तों से धूपित करके बरते। यह रगड़, शूल, अश्रु तथा सुर्खी को नष्ट करता है।

सन्धाव का अञ्जन नेत्रों में करने पर औषध की वेदना के शान्त हो जाने पर माता के दूध से आंखों में आश्च्योतन करना चाहिये। इन सन्धावों का तीन बार से अधिक अञ्जन नहीं करना चाहिये ।

तालीसपत्रचपलानतलोहरजोऽञ्जनैः ॥४०॥
जातीमुकुलकासीससैन्धवैर्मूत्रपेषितैः ।
ताम्रमालिप्य सप्ताहं धारयेत्पेषयेत्ततः ॥४१॥
मूत्रेणैवानु गुटिकाः कार्याश्छायाविशोषिताः ।
ताः स्तन्यघृष्टा घर्षाश्रुशोफकण्डूविनाशनाः ॥४२॥
व्याघ्रीत्वङ्मधुकं ताम्ररजोऽजाक्षीरकल्कितम् ।
शम्यामलकपत्राज्यधूपितं शोफरुक्प्रणुत् ॥४३॥

तालीसपत्र, पिप्पली, तगर, लोहभस्म (या अगरु), अञ्जन, चमेली की कलियां, कासीस और सैन्धव को गोमूत्र में पीसकर ताम्रपात्र पर लेप करे। सात दिन के पीछे फिर गोमूत्र के साथ पीसकर गोलियां बनाये, इनको छाया में सुखाकर माता के दूध में घिसकर बरते। ये रगड़, अश्रु, शोफ और कण्डू को नष्ट करती हैं।

कटेरी की छाल, मुलहठी, ताम्रभस्म, इनको बकरी के दूध के साथ पीसकर शमी और आंवले के पत्तों से घी के साथ धूप देवे। यह शोफ और वेदना का नाशक है।

अम्लोषितचिकित्सा—

अम्लोषिते प्रयुञ्जीत पित्ताभिष्यन्दसाधनम् ।

अम्लोषित में पित्ताभिष्यन्द चिकित्सा को बरते।

पिल्ल रोग के लक्षण—

उत्क्लिष्टाः कफपित्तास्रनिचयोत्थाः कुकूणकः ॥४४॥
पक्ष्मोपरोधः शुष्काक्षिपाकः पूयालसो बिसः ।
पोथक्यम्लोषितोऽल्पाख्यःस्यन्दमन्थौ विनाऽनिलात् ॥
एतेऽष्टादश पिल्लाख्या दीर्घकालानुबन्धिनः ।

कफ, पित्त, रक्त और सन्निपात से जन्य ये चार उत्क्लिष्ट, ककूणक, पक्ष्मोपरोध, शुष्काक्षिपाक, पूयालस, बिस, पोथकी, अम्लोषित, अल्पनेत्रपाक, वातजन्य को छोड़ कर शेष अभिष्यन्द और अधिमन्थ, ये अट्ठारह नेत्र रोग चिर काल तक बने रहने पर 'पिल्ल' नाम से कहे जाते हैं।

चिकित्सा पृथगेतेषां स्वं स्वमुक्ताऽथ वक्ष्यते ॥४६॥
पिल्लीभूतेषु सामान्यात्—

इन अट्ठारह रोगों की पृथक्-पृथक् चिकित्सा पहले कह दी गयी है, अब चिरकाल तक बने रहने से पिल्लरूप होने पर इनकी सामान्य चिकित्सा कहेंगे—

पिल्लरोगचिकित्सा—

—अथ पिल्लाख्यरोगिणः ।
स्निग्धस्य छर्दितवतः सिराव्यधहृतासृजः ॥४७॥
विरिक्तस्य च वर्त्मानु निर्लिखेदाविशुद्धितः ।
तुत्थकस्य पलं श्वेतमरिचानि च विंशतिः ॥४८॥
त्रिंशता काञ्जिकपलैः पिष्ट्वा ताम्रे निधापयेत् ।
पिल्लानपिल्लान् कुरुते बहुवर्षोत्थितानपि ॥४९॥
तत्सेकेनोपदेहाश्रुकण्डूशोफांश्च नाशयेत् ।
करञ्जबीजं सुरसं सुमनःकोरकाणि च ॥५०॥
संक्षुद्य साधयेत्क्वाथे पूते तत्र रसक्रिया ।
अञ्जनं पिल्लभैषज्यं पक्ष्मणां च प्ररोहणम् ॥५१॥

पिल्लसंज्ञक रोगी को स्निग्ध करके वमन देकर सिरावेध से रक्त निकाले। फिर विरेचन देकर, शोधन होने तक पलक में लेखन करे।

नीलाथोथा एक पल, श्वेत मरिच संख्या में बीस, इनको तीस पल कांजी के साथ पीस कर ताम्रपात्र में रख देवे। इससे परिषेक बहुत वर्षों के पुराने पिल्ल रोगियों को बिना पिल्ल कर देता है तथा उपदेह (नेत्रमल), अश्रु, कण्डू और शोफ नष्ट होते हैं।

करंज का बीज, तुलसी, चमेली की कलियाँ इनको कूट कर जल में क्वाथ करे। इसको छान कर इसकी रसक्रिया करे। इसका अञ्जन पिल्ल रोग की औषध है, बालों (बरौनी) को उत्पन्न करती है।

रसाञ्जनं सर्जरसो रीतिपुष्पं मनाशिला ।
समुद्रफेनो लवणं गैरिकं मरिचानि च ॥५२॥
अञ्जनं मधुना पिष्टं क्लेदकण्डूघ्नमुत्तमम् ।
अभयारसपिष्टं वा तगरं पिल्लनाशनम् ॥५३॥
भावितं बस्तमूत्रेण सस्नेहं देवदारु च ।
सैन्धवत्रिफलाकृष्णाकटुकाशङ्खनाभयः ॥५४॥
सताम्ररजसो वर्तिः पिल्लशुक्रकनाशिनी ।
पुष्पकासीसचूर्णो वा सुरसारसभावितः ॥५५॥
ताम्रे दशाहं तत् पैल्ल्यपक्ष्मशातजिदञ्जनम् ॥

रसौत, राल, जस्ते का पुष्प, मैनसिल, समुद्रफेन, सैन्धव, गेरू और मरिच को मधु के साथ पीस कर किया हुआ अंजन क्लेद और कण्डू को नष्ट करने में श्रेष्ठ है।

तगर को हरड़ के क्वाथ में पीस कर अंजन करना पिल्लनाशक है। अथवा देवदारु को बकरे के मूत्र से भावना देकर घी में मिला कर अंजन करना पिल्लनाशक है।

सैन्धव, त्रिफला, पिप्पली, कुटकी, शंखनाभि और ताम्रभस्म की जल में बनाई वर्त्ति पिल्ल और शुक्र का नाशक है।

कासीस के पुष्प को ताम्रपात्र में तुलसी के स्वरस से दस दिन भावना देवे। इसका अंजन पिल्ल पक्ष्मशात-नाशक है।

अलं च सौवीरकमञ्जनं च
ताभ्यां समं ताम्ररजः सुसूक्ष्मम् ।
पिल्लेषु रोमाणि निषेवितोऽसौ
चूर्णः करोत्येकशलाकयाऽपि ॥५६॥

लाक्षानिर्गुण्डीभृङ्गदार्वीरसेन
श्रेष्ठं कार्पासं भावितं सप्तकृत्वः ।
दीपः प्रज्वाल्यः सर्पिषा तत्समुत्था
श्रेष्ठा पिल्लानां रोपणार्थे मषी सा ॥ ५७ ॥

हरताल और सौवीरांजन के बराबर सूक्ष्म ताम्रभस्म मिला कर शलाका से पिल्लों में एक बार लगाने से ही यह चूर्ण बाल उत्पन्न कर देता है।

लाख, निर्गुण्डी, भृङ्गराज, दारुहल्दी, इनके रस से उत्तम रूई को सात बार भावना देकर वर्त्ति बनाकर घी के दीपक में जलाये। इससे बनी स्याही (काजल) पिल्लों में रोपण के लिये उत्तम है।

वर्त्मावलेखं बहुशस्तद्वच्छोणितमोक्षणम् ॥५८॥
पुनःपुनर्विरेकं च नित्यमाश्च्योतनाञ्जनम् ।
नावनं धूमपानं च पिल्लरोगातुरो भजेत् ॥५९॥

पिल्लरोगी वर्त्म का बार-बार अवलेखन, रक्त का बार-बार निकालना, बार-बार विरेचन, नित्य आश्च्योतन और नित्य अञ्जन, नस्य तथा धूमपान बरते।

पूयालसे त्वशान्तेऽन्ते दाहः सूक्ष्मशलाकया ।

पूयालस रोग के शान्त न होने पर सब चिकित्साओं के अन्त में सूक्ष्म शलाका से दाह करना चाहिये।

चतुर्णवतिरित्यक्ष्णो हेतुलक्षणसाधनैः ॥६०॥
परस्परमसङ्कीर्णाः कार्त्स्न्येन गदिता गदाः ।

हेतु, लक्षण और चिकित्सा से एक दूसरे से भिन्न, आँख के चौरानबे रोग सम्पूर्ण रूप में कह दिये हैं।

(वर्त्माश्रित २४, सन्धि में आश्रित ९, शुक्ल भाग में स्थित १३, कृष्णभाग में आश्रित ५, दृष्टिगत २७, सर्वगत १६, इस प्रकार ९४ हैं)।

स्वस्थ नेत्र मे पथ्य—

सर्वदा च निषेवेत स्वस्थोऽपि नयनप्रियः ॥६१॥
पुराणयवगोधूमशालिषष्टिककोद्रवान् ।
मुद्गादीन् कफपित्तघ्नान् भूरिसर्पिःपरिप्लुतान् ॥६२॥
शाकं चैवंविधं मांसं जाङ्गलं दाडिमं सिताम् ।
सैन्धवं त्रिफलां द्राक्षां वारि पाने च नाभसम् ॥६३॥
आतपत्रं पदत्राणं विधिवद्दोषशोधनम् ।
वर्जयेद्वेगसंरोधमजीर्णाध्यशनानि च ॥६४॥
क्रोधशोकदिवास्वप्नरात्रिजागरणातपान् ।
विदाहि विष्टम्भकरं यच्चेहाहारभेषजम् ॥६५॥

स्वस्थ पुरुष भी जिसको आँखें प्रिय हों, वह सदा पुरातन जौ, गेहूँ, शालि, सांठी, कोदो और मूंग आदि को तथा कफ-पित्तनाशक, घृत से अतिशय स्निग्ध शाकों को एवं कफपित्त-नाशक प्रचुर घी युक्त जांगल मांस को, अनार, शर्करा, सैन्धव, त्रिफला तथा द्राक्षा को खाये, पीने में बरसात का पानी पीये, छाता, जूता धारण करे; विधिपूर्वक दोषों का शोधन करे। वेगों का रोकना, अजीर्ण, अध्यशन, क्रोध, शोक, दिन में सोना, रात्रि में जागना, धूप, विदाह और विष्टम्भकारक चेष्टा, आहार तथा औषध का त्याग करे।

द्वे पादमध्ये पृथुसन्निवेशे
शिरे गते ते बहुधा च नेत्रे ।
ताम्रक्षणोद्वर्तनलेपनादीन्
पादप्रयुक्तान्नयने नयन्ति ॥ ६६ ॥
मलौष्ण्यसङ्घट्टनपीडनाद्यै-
स्ता दूषयन्ते नयनानि दुष्टाः ।
भजेत्सदा दृष्टिहितानि तस्मा-
दुपानदभ्यञ्जनधावनानि ॥ ६७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने सर्वाक्षि-
रोगप्रतिषेधो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

◆

पैरों के मध्य में विस्तीर्ण रूप में जो दो सिरायें हैं, वे बहुत रूपों में नेत्र के अन्दर पहुँची हुई हैं। इन सिराओं द्वारा पैर में किया अभ्यंग, उबटन, आलेप आदि आँख में पहुंच जाता है। (पृथुसन्निवेशे-महामूले)।

और ये सिरायें मल, गरमी, रगड़, दबाव आदि से दूषित होकर आँखों को दूषित करती हैं। इस लिये दृष्टि के लिये हितकारी जूता, अभ्यंग तथा प्रक्षालन को (पैरों में) सदा बरते।

वक्तव्य—कुछ प्रसिद्ध चिकित्सा—

(१) अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः ।
पञ्चैते पञ्चरात्रेण प्रशमं यान्ति लङ्घनात् ॥
(२) वटक्षीरेण संयुक्तं श्लक्ष्णं कर्पूरजं रजः ।
क्षिप्तमञ्जनतो हन्ति शुक्रञ्चापि घनोन्नतम् ॥
(३) पलाशपुष्पस्वरसैर्बहुशः परिभावितम् ।
करञ्जबीजं तद्वर्त्तिर्दृष्टेः पुष्पं विनाशयेत् ॥
(४) जाता रोगा विनश्यन्ति न भवन्ति कदाचन ।
त्रिफलायाः कषायेण प्रातर्नयनधावनात् ॥
(५) भुक्त्वा पाणितलं घृष्ट्वा चक्षुषोर्यदि दीयते ।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥

योग—मुक्तादि महांजन, सुखावतीवर्त्ति, चन्द्रोदयावर्त्ति, नयनसुखावर्त्ति, कृष्णाद्यघृत, त्रिफलाद्यघृत, महात्रिफलाद्य घृत, त्रिफलाघृत, सप्तामृतलोह, नयनामृत अञ्जन, नेत्राशनि रस। त्रिफला उपयोग घृत के साथ रात में ही करना चाहिये। क्योंकि रात्रि में सूर्य का तेज अंश कम होता है। इस लिये औषध रात में अपना गुण ठीक करती है।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का सर्वाक्षिरोग-प्रतिषेध नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

◆

सप्तदशोऽध्यायः

अथातः कर्णरोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे कर्णरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वातज कर्णशूल का लक्षण—

प्रतिश्यायजलक्रीडाकर्णकण्डूयनैर्मरुत् ।
मिथ्यायोगेन शब्दस्य कुपितोऽन्यैश्च कोपनैः ॥ १ ॥
प्राप्य श्रोत्रसिराः कुर्याच्छूलं स्रोतसि वेगवत् ।
अर्धावभेदकं स्तम्भं शिशिरानभिनन्दनम् ॥ २ ॥
चिराच्च पाकं पक्वं तु लसीकामल्पशः स्रवेत् ।
श्रोत्रं शून्यमकस्माच्च स्यात्सञ्चारविचारवत् ॥ ३ ॥

प्रतिश्याय, जलक्रीडा, कान का खुजाना, शब्द के मिथ्या-योग तथा अन्य वायु-प्रकोपक कारणों से कुपित वायु श्रोत्र (शब्द) वाही सिराओं में पहुंच कर स्रोतों (कर्ण) में वेगवान् शूल को करती है। इसके अतिरिक्त अर्धावभेदक, स्तम्भ, शीत की अनिच्छा, देर से पकना, पकने पर लसीका का थोड़ा बहना, विना कारण के ही कान शून्य (खाली) तथा थोड़ी देर के लिये खुला और थोड़ी देर में बन्द के समान हो जाता है।

पित्तज कर्णशूल का लक्षण—

शूलं पित्तात् सदाहोषाशीतेच्छाश्वयथुज्वरम् ।
आशुपाकं प्रपक्वं च सपीतलसिकास्रुति ॥ ४ ॥
सा लसीका स्पृशेद्यद्यत्तत्तत्पाकमुपैति च ।

अपने कारणों से दूषित हुआ पित्त कान में शूल, दाह, संताप, शीत की इच्छा, शोथ और ज्वर को उत्पन्न करता है। जल्दी पकता है, पकने पर थोड़ी-सी पीली लसीका बहती है। यह लसीका जहां-जहां छूती है, वहां वहां पाक उत्पन्न हो जाता है।

कफज कर्णशूल का लक्षण—

कफाच्छिरोहनुग्रीवागौरवं मन्दता रुजः ॥ ५ ॥
कण्डूः श्वयथुरुष्णेच्छा पाकाच्छ्वेतघनस्रुतिः ।

कफ के कारण शिर, हनु तथा ग्रीवा में भारीपन, मन्द-वेदना, कण्डू, शोथ, उष्ण की चाह और पकने पर श्वेत और घट्ट स्राव होता है।

रक्तज कर्णशूल का लक्षण—

करोति श्रवणे शूलमभिघातादिदूषितम् ॥ ६ ॥
रक्तं पित्तसमानार्तिं किञ्चिद्वाऽधिकलक्षणम् ।

चोट आदि के कारण दूषित रक्त कान में शूल उत्पन्न करता है, इसमें पित्तज शूल के समान लक्षण होते हैं। अथवा इससे कुछ अधिक लक्षण होते हैं।

सन्निपातज कर्णशूल के लक्षण—

शूलं समुदितैर्दोषैः सशोफज्वरतीव्ररुक् ॥ ७ ॥
पर्यायादुष्णशीतेच्छं जायते श्रुतिजाड्यवत् ।
पक्वं सितासितारक्तघनपूयप्रवाहि च ॥ ८ ॥

सन्निपातज दोषों से शोफ, ज्वर और तीव्र वेदना युक्त शूल होता है, पर्याय से उष्ण व शीत की चाह, बहरेपन की भांति प्रतीति तथा पकने पर श्वेत, काला रक्त तथा घट्ट पूय बहता है।

कर्णनाद रोग के लक्षण—

शब्दवाहिसिरासंस्थे शृणोति पवने मुहुः ।
नादानकस्माद्विविधान् कर्णनादं वदन्ति तम् ॥ ९ ॥

वायु के शब्दवाहिनी सिराओं में स्थित होने पर मनुष्य विना कारण के बार-बार विविध शब्दों को सुनता है; इसको कर्णनाद कहते हैं।

बधिरत्व की संप्राप्ति—

श्लेष्मणाऽनुगतो वायुर्नादो वा समुपेक्षितः ।
उच्चैः कृच्छ्राच्छ्रुतिं कुर्याद्बधिरत्वं क्रमेण च ॥१०॥

कफ से मिश्रित वायु अथवा उपेक्षा किया कर्णनाद रोग, कठिनाई से ऊंचा सुनना उत्पन्न करता है और फिर धीरे-धीरे यह बहरेपन में बदल जाता है।

प्रतिनाह के लक्षण—

वातेन शोषितः श्लेष्मा स्रोतो लिम्पेत्ततो भवेत् ।
रुग्गौरवं पिधानं च स प्रतीनाहसंज्ञितः ॥११॥

वायु से सुखाया कफ स्रोतों में जब लिप्त हो जाता है, तब वेदना, भारीपन और कान का बन्द होना ये लक्षण होते हैं, इसको प्रतिनाह कहते हैं।

कण्डू तथा शोफ के लक्षण—

कण्डूशोफौ कफाच्छ्रोत्रे स्थिरौ तत्संज्ञया स्मृतौ ।

कफ के कारण कान में कण्डू और शोफ होते हैं, जब ये स्थिर हो जाते हैं, तब कण्डू और शोफनामक रोग कहलाते हैं।

पूतिकर्णक के लक्षण—

कफो विदग्धः पित्तेन सरुजं नीरुजं त्वपि ॥१२॥
घनपूतिबहुक्लेदं कुरुते पूतिकर्णकम् ।

पित्त से विदग्ध हुआ कफ दर्द के साथ या दर्द के बिना भी घट्ट दुर्गन्धयुक्त बहुत क्लेद को करता है, इसको पूतिकर्ण कहते हैं।

कृमिकर्णक के लक्षण—

वातादिदूषितं श्रोत्रं मांसासृक्क्लेदजा रुजम् ॥१३॥
खादन्तो जन्तवः कुर्युस्तीव्रां स कृमिकर्णकः ।

वात आदि से दूषित कान में मांस, रक्त और क्लेद से उत्पन्न कृमि कान को खाते हुए तीव्र वेदना को उत्पन्न करते हैं, यह कृमिकर्णक रोग है।

कर्णविद्रधि के लक्षण—

श्रोत्रकण्डूयनाज्जाते क्षते स्यात्पूर्वलक्षणः ॥१४॥
विद्रधिः, पूर्ववच्चान्यः—

कान को खुजाने से उत्पन्न हुये व्रण से विद्रधिनिदान में

कहे लक्षणों वाली विद्रधि होती है, यह क्षतविद्रधि है। अन्य जो दोषज विद्रधि है, वह भी निदानस्थानोक्त दोषज विद्रधि की भांति कारण और लक्षणों वाली है।

कर्णार्श तथा कर्णार्बुद के लक्षण—

—शोफोऽर्शोऽर्बुदमीरितम् ।
तेषु रुक् पूतिकर्णत्वं बधिरत्वं च बाधते ॥१५॥

शोफ, अर्श और अर्बुद को पहले कह दिया है। (इनके लक्षण हृ. उ. अ. ८।१२ में हृ. उ. अ. ८।२४ में हैं) इनमें वेदना, पूतिकर्णत्व और बहरापन कष्ट देता है। (कान में जो शोफ होता है, वह कर्णार्श नाम से एक रोग है, दूसरा रोग अर्बुद है। इस प्रकार से दो रोग हैं। किन्तु शोथ-सामान्यात् इन दोनों को एक मानने से कर्णस्रोत में पन्द्रह रोग होते हैं। ऐसा इन्दु का मत है।)

कुचिकर्णक के लक्षण—

गर्भेऽनिलात्सङ्कुचिता शष्कुली कुचिकर्णकः ।

वायु के कारण गर्भावस्था में ही शष्कुली के संकुचित होने से कुचिकर्णक रोग होता है।

कर्णपिप्पली के लक्षण—

एको नीरुगनेको वा गर्भे मांसाङ्कुरः स्थिरः ॥१६॥
पिप्पली पिप्पलीमानः—

गर्भावस्था में ही उत्पन्न एक या अनेक वेदनारहित मांसाङ्कुरों को कर्णपिप्पली कहते हैं, ये मांसाङ्कुर पिप्पली के समान होते हैं।

विदारिका के लक्षण—

—सन्निपाताद्विदारिका ।
सवर्णः सरुजः स्तब्धः श्वयथुः, स उपेक्षितः ॥१७॥
कटुतैलनिभं पक्वः स्रवेत् कृच्छ्रेण रोहति ।
सङ्कोचयति रूढा च सा ध्रुवं कर्णशष्कुलीम् ॥१८॥

विदारिका सन्निपात से उत्पन्न होती है। इसमें त्वचा के समान वर्ण का, वेदनायुक्त और निश्चल शोथ होता है। इसकी उपेक्षा करने से पकने पर इसमें से सरसों के तेल के समान स्राव बहता है, यह देर से भरता है और स्वस्थ होने पर कर्णशष्कुली को अवश्य संकुचित कर देता है।

पालीशोष के लक्षण—

सिरास्थः कुरुते वायुः पालीशोषं तदाह्वयम् ।

सिराओं में स्थित वायु पाली को सुखा कर पालीशोष नामक रोग को करती है।

तंत्रिका के लक्षण—

कृशा दृढा च तन्त्रीवत् पाली वातेन तन्त्रिका ॥१९॥

वायु के कारण पाली पतली, दृढ एवं तन्त्री (वीणा) की भांति हो जाती है, इसको तन्त्री कहते हैं।

परिपोट के लक्षण—

सुकुमारे चिरोत्सर्गात्सहसैव प्रवर्धिते ।
कर्णे शोफः सरुक् पाल्यामरुणः परिपोटवान् ॥२०॥
परिपोटः स पवनात्—

परिपोट—कोमलता के कारण देर तक उपेक्षा करके फिर सहसा कानों के (वेधच्छिद्र के) बहुत बढ़ाने से पाली में वेदनायुक्त लाल रंग का फटने वाला शोफ वायु से होता है।

उत्पात के लक्षण—

गुर्वाभरणभाराद्यैः श्यावो रुग्दाहपाकवान् ॥२१॥
श्वयथुः स्फोटपिटिकारागोषाक्लेदसंयुतः ।

उत्पात—यह रोग पित्त-रक्त-जन्य है। भारी आभूषण आदि के पहनने से श्याववर्ण, पीडा, दाह और पाक से युक्त तथा छाले, पिटिका, सुर्खी, दाह एवं क्लेद से युक्त शोफ होता है; वह उत्पात है।

उन्मन्थ या गल्लिर के लक्षण—

पाल्यां शोफोऽनिलकफात्सर्वतो निर्व्यथः स्थिरः ॥२२॥
स्तब्धः सवर्णः कण्डूमानुन्मन्थो गल्लिरश्च सः ।

वायु और कफ के कारण पाली में चारों ओर व्यथारहित, स्थिर-निश्चल, त्वचा के समान वर्ण का, कण्डूयुक्त जो शोथ होता है, उसको उन्मन्थ कहते हैं और इसी को गल्लिर भी कहते हैं।

दुःखवर्धन के लक्षण—

दुर्विद्धे वर्धिते कर्णे सकण्डूदाहपाकरुक् ॥२३॥
श्वयथुः सन्निपातोत्थः स नाम्ना दुःखवर्धनः ।

कान के बुरी तरह वेधन करने पर फिर इसको बढ़ाने के कारण कण्डू, दाह, पाक और वेदना से युक्त जो शोथ उत्पन्न होता है, उसका नाम दुःखवर्धन है, यह रोग सन्निपात-जन्य है।

लेह्या के लक्षण—

कफासृक्कृमिजाः सूक्ष्माः सकण्डूक्लेदवेदनाः ॥२४॥
लेह्याख्याः पिटिकास्ता हि लिह्युः पालीमुपेक्षिताः ।

कफरक्तजन्य सूक्ष्म कृमि, कण्डू, क्लेद और वेदना से युक्त पिटिका को उत्पन्न करते हैं, इस पिटिका का नाम लेह्या है क्योंकि ये कृमि उपेक्षा करने पर पाली को चाट जाते हैं—खा जाते हैं।

साध्यासाध्यता—

पिप्पली सर्वजं शूलं विदारी कुचिकर्णकः ॥२५॥
एषामसाध्या, याप्यैका तन्त्रिकाऽन्यांस्तु साधयेत् ।
पञ्चविंशतिरित्युक्ताः कर्णरोगा विभागतः ॥२६॥

इतिश्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने कर्णरोगविज्ञानीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इन रोगों में कर्णपिप्पली, सन्निपातज शूल, विदारिका, और कुचिकर्ण; ये चार रोग असाध्य हैं। तन्त्रिका एक रोग याप्य है। शेष रोग साध्य हैं। इस प्रकार से (कर्णस्रोत में १५, शष्कुली में ३ और पाली में ७) ये पच्चीस रोग पृथक् पृथक् कह दिये हैं।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का कर्णरोगविज्ञानीय नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

* * *

अष्टदशोऽध्यायः

अथातः कर्णरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे कर्णरोगप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वातजकर्णशूलचिकित्सा—

कर्णशूले पवनजे पिबेद्रात्रौ रसाशितः ।
वातघ्नसाधितं सर्पिः, कर्णं स्विन्नं च पूरयेत् ॥ १ ॥
पत्राणां पृथगश्वत्थबिल्वार्कैरण्डजन्मनाम् ।
तैलसिन्धूत्थदिग्धानां स्विन्नानां पुटपाकतः ॥ २ ॥
रसैः कवोष्णैस्तद्वच्च मूलकस्यारलोरपि ।
गणे वातहरेऽम्लेषु मूत्रेषु च विपाचितः ॥ ३ ॥
महास्नेहो द्रुतं हन्ति सुतीव्रामपि वेदनाम् ।
महतः पञ्चमूलस्य काष्ठात्क्षौमेण वेष्टितात् ॥ ४ ॥
तैलसिक्तात्प्रदीप्ताग्रात् स्नेहः सद्यो रुजापहः ।
योज्यश्चैवं भद्रकाष्ठात्कुष्ठात्काष्ठाच्च सारलात् ॥ ५ ॥
वातव्याधिप्रतिश्यायविहितं हितमत्र च ।
वर्जयेच्छिरसा स्नानं शीताम्भःपानमह्न्यपि ॥ ६ ॥

वातज कर्णशूल में मांसरस का भोजन करके (भद्रदार्व्यादि) वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध घृत रात को पिये और कान पर स्वेदन करके पीपल, बेल, आक तथा एरण्ड के पत्तों को अलग-अलग तैल और सैन्धव से लिप्त करके पुटपाक विधि से स्वेदन करके इनके कवोष्ण रस से कान को भरे। इसी प्रकार मूली और स्योनाक के रस से भी कान को भरे।

वातघ्न गणों में, अम्ल गण में तथा मूत्रों में सिद्ध किया महास्नेह (सर्पि, तैल, वसा, मज्जा) अतिशय तीव्र वेदना को शीघ्र नष्ट करता है।

बृहत्पंचमूल में से किसी एक औषध के काष्ठ को रेशम से लपेट कर तैल से सिञ्चित करके जलाये। इसके अगले भाग से निकला स्नेह लेकर कान में डालने से तुरन्त वेदना नष्ट होती है।

इसी प्रकार देवदारु की लकड़ी से, कूठ की लकड़ी से और चीड़ की लकड़ी से स्नेह निकाल कर बरतना चाहिये।

वातव्याधि और प्रतिश्याय में जो चिकित्सा कही है, वह यहाँ पर उत्तम है।

शिर समेत स्नान और दिन में शीतल पानी पीना भी छोड़ देवे। (रात्रि में तो सर्वथा पानी न पिये)।

पित्तजकर्णशूलचिकित्सा—

पित्तशूले सितायुक्तघृतस्निग्धं विरेचयेत् ।
द्राक्षायष्टिशृतं स्तन्यं शस्यते कर्णपूरणम् ॥ ७ ॥
यष्ट्यनन्ताहिमोशीरकाकोलीरोध्रजीवकैः ।
मृणालबिसमञ्जिष्ठासारिवाभिश्च साधयेत् ॥ ८ ॥
यष्टीमधुरसप्रस्थक्षीरद्विप्रस्थसंयुतम् ।
तैलस्य कुडवं नस्यपूरणाभ्यञ्जनैरिदम् ॥ ९ ॥
निहन्ति शूलदाहोषाः केवलं क्षौद्रमेव वा ।
यष्ट्यादिभिश्च सघृतैः कर्णौ दिह्यात्समन्ततः ॥ १० ॥

पित्तशूल में शर्करा मिश्रित घृत से स्निग्ध कर विरेचन देवे। द्राक्षा तथा मुलहठी से सिद्ध माता का दूध कान में भरना उत्तम है।

मुलहठी, सारिवा, चन्दन, खस, काकोली, लोध, जीवक, मृणाल, बिस, मंजीठ और काली सारिवा के कल्क और मुलहठी का क्वाथ एक प्रस्थ, दूध दो प्रस्थ इनमें तैल का एक कुडव सिद्ध करे। इस तैल का नस्य लेने, कान में भरने, तथा अभ्यंग करने से शूल, दाह और संताप नष्ट होते हैं। अथवा केवल मधु का कान में डालना भी शूल एवं दाह को नष्ट करता है।

मुलहठी आदि पूर्वोक्त द्रव्यों को घी में मिलाकर कान के चारों ओर लेप करना चाहिये।

कफजकर्णशूलचिकित्सा—

वामयेत् पिप्पलीसिद्धसर्पिःस्निग्धं कफोद्भवे ।
धूमनावनगण्डूषस्वेदान् कुर्यात्कफापहान् ॥ ११ ॥
लशुनार्द्रकशिग्रूणां मुरुङ्ग्या मूलकस्य च ।
कदल्याः स्वरसः श्रेष्ठः कदुष्णः कर्णपूरणे ॥ १२ ॥
अर्काङ्कुरानम्लपिष्टांस्तैलाक्तांल्लवणान्वितान् ।
सन्निधाय स्नुहीकाण्डे कोरितं तच्छदावृतान् ॥१३॥
स्वेदयेत्पुटपाकेन स रसः शूलजित्परम् ।
रसेन बीजपूरस्य कपित्थस्य च पूरयेत् ॥ १४ ॥
शुक्तेन पूरयित्वा वा फेनेनान्ववचूर्णयेत् ।
अजाविमूत्रवंशत्वक्सिद्धं तैलं च पूरणम् ॥ १५ ॥
सिद्धं वा सार्षपं तैलं हिङ्गुतुम्बुरुनागरैः ।

कफजन्य कर्णशूल में पिप्पली से सिद्ध घृत से स्निग्ध करके वमन कराये और कफनाशक धूप, नस्य, गण्डूष और स्वेद बरते।

लहसुन, आर्द्रक, सहजना, मुरुंगी (मधुस्रवा या दूसरा सहजना-मुनगा), मूली तथा केले का स्वरस, इनमें से किसी का रस गुनगुनाता हुआ गरम कान में भरना उत्तम है।

अर्क के अंकुरों को कांजी से पीसकर तैल और नमक से मिलाकर पोला किए हुए स्नुहीकाण्ड में भरकर स्नुही के पत्तों से लपेटकर पुटपाक विधि से स्वेदन करे। यह रस अतिशय शूलनाशक है।

बिजौरे और कैथ के रस से कान को भरे, अथवा सुक्त से कान को भरकर ऊपर से समुद्रफेन का चूर्ण छिड़क देवे।

बकरी और भेड़ के मूत्र से तथा बांस की छाल से सरसों के तैल को सिद्ध करके कान में डाले। अथवा हींग, तुम्बरु (नेपाली धनिया) और सोंठ से सरसों का तैल सिद्ध करके कान में डाले।

रक्तजकर्णशूलचिकित्सा—

रक्तजे पित्तवत्कार्यं सिरां चाशु विमोक्षयेत् ॥ १६ ॥

रक्तजन्य शूल में पित्त की भांति चिकित्सा करनी चाहिये, और सिरा का मोक्षण शीघ्र करे।

पक्व कर्ण की चिकित्सा—

पक्के पूयवहे कर्णे धूमगण्डूषनावनम् ।
युञ्ज्यान्नाडीविधानं च दुष्टव्रणहरं च यत् ॥१७॥
स्रोतः प्रमृज्य दिग्धं तु द्वौ कालौ पिचुवर्तिभिः ।
पुरेण धूपयित्वा तु माक्षिकेण प्रपूरयेत् ॥१८॥
सुरसादिगणक्वाथफाणिताक्तां च योजयेत् ।
पिचुवर्तिं सुसूक्ष्मैश्च तच्चूर्णैरवचूर्णयेत् ॥१९॥
शूलक्लेदगुरुत्वानां विधिरेष निवर्तकः ।

कान पक गया हो और उसमें से पूय आती हो तो धूम, गण्डूष और नस्य बरते। नाड़ी और दुष्ट व्रणनाशक जो भी उपचार हैं उन्हें बरते।

पूय से भरे कर्णस्रोत को पिचुवर्तियों द्वारा दोनों समय साफ करके गुग्गुलु से धूपित करके मधु से भर देवे। सुरसादि गण के क्वाथ से भिगोई फाणित (राब) से युक्त पिचुवर्त्ति को कान में लगाये। सुरसादि गण के सूक्ष्म चूर्ण को कान में छिड़के। यह विधि शूल, क्लेद तथा भारीपन को नष्ट करने वाली है।

कर्णस्रावनाशकप्रयोग—

प्रियङ्गुमधुकाम्बष्ठाधातक्युत्पलपर्णिभिः ॥ २० ॥
मञ्जिष्ठालोध्रलाक्षाभिः कपित्थस्य रसेन च ।
पचेत्तैलं तदास्रावं निगृह्णात्याशु पूरणात् ॥ २१ ॥

प्रियंगु, मुलहठी, पाठा, धातकी, नीलोत्पल, पृश्निपर्णी, मंजीठ, लोध, लाक्षा, इनके कल्क और कैथ के रस से तैल सिद्ध करे। इस तैल को कान में भरना स्राव को शीघ्र रोकता है।

कर्णनाद और बाधिर्य रोग की चिकित्सा—

नादबाधिर्ययोः कुर्याद्वातशूलोक्तमौषधम् ।
श्लेष्मानुबन्धे श्लेष्माणं प्राग्जयेद्वमनादिभिः ॥२२॥
एरण्डशिग्रुवरुणमूलकात्पत्रजे रसे ।
चतुर्गुणे पचेत्तैलं क्षीरे चाष्टगुणोन्मिते ॥२३॥
यष्ट्याह्वक्षीरकाकोलीकल्कयुक्तं निहन्ति तत् ।
नादबाधिर्यशूलानि नावनाभ्यङ्गपूरणैः ॥२४॥

कर्णनाद और कर्णबाधिर्य में वातकर्णशूल की औषध करनी चाहिये। यदि इसमें कफ का मिश्रण हो तो प्रथम वमन आदि से कफ को शान्त करके पीछे वातशूल की चिकित्सा करनी चाहिये।

एरण्ड, सहजना, वरना, मूली, इनके पत्तों के रस में (तैल से चौगुने रस में), तैल से आठगुने दूध में, मुलहठी, और क्षीरकाकोली-कल्क के साथ तैल का पाक करे। इस तैल का नावन, अभ्यङ्ग और कर्णपूरण में प्रयोग करने पर कर्णनाद, बाधिर्य तथा कर्णशूल नष्ट होते हैं।

पक्वं प्रतिविषाहिङ्गुमिशित्वक्स्वर्जिकोषणैः ।
सुक्तैः प्रपूरणात्तैलं रुक्स्रावश्रुतिनादनुत् ॥२५॥
कर्णनादे हितं तैलं सार्षपोत्थं च पूरणे ।

अतीस, हींग, सौंफ, दालचीनी, स्वर्जिक्षार, काली मरिच और सुक्त (सिर का) इनके साथ तैल मिलाकर कान में भरे। इसके भरने से कर्ण का दर्द, स्राव, बाधिर्य तथा कर्णनाद नष्ट होते हैं।

कर्णनाद में सरसों का तेल कान के अन्दर भरना हितकारी है।

क्षार तैल—

शुष्कमूलकखण्डानां क्षारो हिङ्गु महौषधम् ॥ २६ ॥
शतपुष्पावचाकुष्ठदारुशिग्रुरसाञ्जनम् ।
सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकौद्भिदसैन्धवम् ॥ २७ ॥
भूर्जग्रन्थिबिडं मुस्ता मधुसुक्तं चतुर्गुणम् ।
मातुलुङ्गरसस्तद्वत् कदलीस्वरसश्च तैः ॥ २८ ॥
पक्वं तैलं जयत्याशु सुकृच्छ्रानपि पूरणात् ।
कण्डूं क्लेदं च बाधिर्यपूतिकर्णत्वरुक्कृमीन् ॥ २९ ॥
क्षारतैलमिदं श्रेष्ठं मुखदन्तामयेषु च ।

सूखी मूली के टुकड़ों का क्षार, हींग, सोंठ, सौंफ, वच, कूठ, देवदारु, सहजना, रसौत, सौवर्चल, यवक्षार, सर्जिक्षार, उद्भिज्ज और सैन्धव लवण, भोजपत्र की गाँठ; बिडनमक, मुस्ता, परस्पर समान भाग, इनसे चौगुना मधु शुक्त, चौगुना बिजौरे का रस, चौगुना केले का स्वरस इनसे तैल को पकाये। इस तैल को कान में भरने से अतिशय कष्टसाध्य कण्डू, क्लेद, बाधिर्य, पूतिकर्ण, वेदना और कृमि नष्ट होते हैं। यह क्षार-तैल मुख रोग और दन्त रोगों में भी श्रेष्ठ है।

वक्तव्य—मधुसुक्त-'मार्द्वीकसुक्तम्' इति चन्द्रः। 'मधुयुतं सुक्तं, मधुसुक्तम्' इति अरुणदत्तः।

अथ सुप्ताविव स्यातां कर्णौ रक्तं हरेत्ततः ॥ ३० ॥
सशोफक्लेदयोर्मन्दश्रुतेर्वमनमाचरेत् ।

यदि दोनों कान सोये हुए से हो जायें, तब इनके पास से रक्त निकाले।

कानों में थोड़ा शोफ तथा क्लेद हो और ऊँचा सुनाई देवे तो वमन कराये ।

असाध्य बाधिर्य—

बाधिर्यं वर्जयेद्बालवृद्धयोश्चिरजं च यत् ॥ ३१ ॥

बालक में, वृद्ध में और एक वर्ष पुराने बाधिर्य को असाध्य समझ कर छोड़ देवे ।

कर्णप्रतिनाहचिकित्सा—

प्रतिनाहे परिक्लेद्य स्नेहस्वेदैर्विशोधयेत् ।
कर्णशोधनकेनानु कर्णं तैलस्य पूरयेत् ॥ ३२ ॥
ससुक्तसैन्धवमधोर्मातुलुङ्गरसस्य वा ।
शोधनाद्रूक्षतोत्पत्तौ घृतमण्डस्य पूरणम् ॥ ३३ ॥

प्रतिनाह में स्नेहन और स्वेदन से मैल को क्लिन्न बनाकर कर्णशोधक से कान का शोधक करे । पीछे कान को तैल से भरे । अथवा सुक्त, सैन्धव, मधु और विजौरे का रस इनसे कान को भरे । शोधन के कारण कान में रूक्षता आ जाये तो घृतमण्ड से कान को भरे ।

वक्तव्य— संग्रह में—'कर्णं तैलस्य पूरयेत् । मातुलुङ्गरसस्य सशुक्तक्षौद्रसैन्धवस्य' । अरुणदत्त ने तैल शुक्त, सैन्धव और विजौरे का रस, इन सबका एक योग माना है ।

कर्णमलादिचिकित्सा—

क्रमोऽयं मलपूर्णेऽपि कर्णे, कण्ड्वां कफापहम् ।
नस्यादि, तद्वच्छोफेऽपि कटूष्णैश्चात्र लेपनम् ॥३४॥

कान के मैल से भरे रहने पर भी यही विधि बरतनी चाहिये ।

कान में कण्डू होने पर कफनाशक नस्य आदि बरते । शोफ में भी कफनाशक नस्य, धूम-खान पान आदि बरते, साथ ही कटु तथा उष्ण द्रव्यों से लेप करना उत्तम है ।

पूतिकर्णादिचिकित्सा—

कर्णस्रावोदितं कुर्यात्पूतिक्रिमिककर्णयोः ।
पूरणं कटुतैलेन विशेषात् क्रिमिकर्णके ॥३५॥

पूतिकर्ण और क्रिमिकर्ण में कर्णस्राव में कहा गया कर्म करना चाहिये । क्रिमिकर्ण रोग में विशेष कर कटु तैल से कान को भरे ।

कर्णविद्रधिचिकित्सा—

वमिपूर्वा हिता कर्णविद्रधौ विद्रधिक्रिया ।
पित्तोत्थकर्णशूलोक्तं कर्तव्यं क्षतविद्रधौ ॥ ३६ ॥
अर्शोऽर्बुदेषु नासावद्—

कर्णविद्रधि में प्रथम वमन देकर पीछे से विद्रधि क्रिया करना उत्तम है ।

क्षतविद्रधि में पित्तजन्य कर्णशूल में कही गई चिकित्सा बरतनी चाहिये ।

कान के अर्श और अर्बुदों में नासा की भांति (नासार्श, नासार्बुद की) चिकित्सा करे ।

कर्णविदारिकाचिकित्सा—

—आमा कर्णविदारिका ।
कर्णविद्रधिवत्साध्या यथादोषोदयेन च ॥ ३७ ॥

कर्णविदारिका अपक्व हो तो उसकी चिकित्सा कर्णविद्रधि की भांति तथा दोष की अधिकता के अनुसार करे ।

पालीशोषादिचिकित्सा—

पालीशोषेऽनिलश्रोत्रशूलवन्नस्यलेपनम् ।
स्वेदं च कुर्यात् स्विन्नां च पालीमुद्वर्तयेत्तिलैः ॥३८॥
प्रियालबीजयष्ट्याह्वहयगन्धायवान्वितैः ।
ततः पुष्टिकरैः स्नेहैरभ्यङ्गं नित्यमाचरेत् ॥३९॥

पालीशोष में वातजन्य कर्णशूल की भांति नस्य, लेपन और स्वेदन करना चाहिये । और स्वेदन हो जाने पर तिल, चिरौंजी, मुलहठी, अश्वगन्धा और जौ को मिलाकर कानों पर उद्वर्त्तन करे । फिर पुष्टिकारक स्नेहों से नित्यप्रति अभ्यंग करता रहे ।

वक्तव्य—पुष्टिकारक स्नेह, बलातैल, अश्वगन्धातैल, माषतैल आदि से अभ्यंग करे । जिन तैलों में मांस का योग हो, वे उत्तम हैं ।

शतावरीवाजिगन्धापयस्यैरण्डजीवकैः ।
तैलं विपक्वं सक्षीरं पालीनां पुष्टिकृत्परम् ॥४०॥
कल्केन जीवनीयेन तैलं पयसि पाचितम् ।
आनूपमांसक्वाथे च पालीपोषणवर्धनम् ॥४१॥
पालीं छित्वाऽतिसङ्क्षीणां शेषां सन्धाय पोषयेत् ।
याप्यैवं तन्त्रिकाख्याऽपि, परिपोटेऽप्ययं विधिः॥४२॥

शतावरी, अश्वगन्धा, विदारी, एरण्ड, जीवक, इनसे दूध के साथ पकाया तैल पालियों को अतिशय पुष्ट करता है ।

जीवनीय (जीवन्त्यादि) गण के कल्क से दूध में और आनूपमांस के क्वाथ में पकाया तैल पाली को पुष्ट करने और बढ़ाने के लिये उत्तम है ।

अतिशय क्षीण हुई पाली को काट कर शेष बची पाली को जोड़कर उसको बढ़ाये ।

तंत्रिका नामक पाली में भी इसी प्रकार चिकित्सा करे, उसे याप्य समझे ।

परिपोटक में भी यही चिकित्सा है ।

उत्पात-चिकित्सा—

उत्पाते शीतलैर्लेपो जलौकोहृतशोणिते ।
जम्ब्वाम्रपल्लवबलायष्टीरोध्रतिलोत्पलैः ॥४३॥
सधान्याम्लैः समञ्जिष्ठैः सकदम्बैः ससारिवैः ।
सिद्धमभ्यञ्जने तैलं विसर्पोक्तघृतानि च ॥४४॥

उत्पात में जोंकों से रक्त को निकलवाकर शीतल वस्तुओं से लेप करे । यथा—जामुन, आम के पत्ते, खरैटी, मुलहठी, लोध, तिल, कमल, मजीठ, कदम्ब और सारिवा, इनके कल्क से कांजी में सिद्ध किया तैल अभ्यंग में हितकारी है और विसर्प में कहे गये घृत उत्तम हैं ।

उन्मन्थचिकित्सा—

उन्मन्थेऽभ्यञ्जनं तैलं गोधाकर्कवसान्वितम्।
तालपत्र्यश्वगन्धार्कवाकुचीफलसैन्धवैः ॥४५॥
सुरसालाङ्गलीभ्यां च सिद्धं, तीक्ष्णं च नावनम्।

उन्मन्थ रोग में—गोह और केकड़ा की वसा के साथ तैल को तालपत्री (मूसली), अश्वगन्धा, आक, बावची, सैन्धव, तुलसी और कलिहारी से सिद्ध करे। इस तैल का अभ्यंग करे और तीक्ष्ण नस्य देवे।

वक्तव्य—अरुणदत्त ने तुलसी और कलिहारी से सिद्ध तैल का नस्य देना लिखा है। परन्तु अष्टांगसंग्रह के अनुसार यह सब एक योग है, यथा—तालपत्र्यश्वगन्धार्कसैन्धवावल्गुजबीजसुरसलांगलिकाभिः गोधा कुलीरवसायुक्तं तैलं विपक्वमभ्यञ्जनम् ॥' तालपत्री-मूषिककर्णी, डह्लण। वाकुचीफल से कोई बावची और मैनफल दो द्रव्य मानते हैं, यथा—शिवदास सेन। दूसरे एक मानते हैं, यथा—संग्रहकार।

दुर्विद्ध चिकित्सा—

दुर्विद्धेऽश्मन्तजम्ब्वाम्रपत्रक्वाथेन सेचिताम् ॥४६॥
तैलेन पालीं स्वभ्यक्तां सुश्लक्ष्णैरवचूर्णयेत्।
चूर्णैर्मधुकमञ्जिष्ठाप्रपुण्ड्राह्वनिशोद्भवैः ॥४७॥
लाक्षाविडङ्गसिद्धं च तैलमभ्यञ्जने हितम्।

दुर्विद्ध कर्णपाली में अश्मन्तक, जामुन और आम के पत्तों के क्वाथ से परिषेक करके तैल से भली प्रकार अभ्यंग करे। फिर मुलहठी, मञ्जीठ, पुण्डरीक और हल्दी के बारीक चूर्ण से कान पर छिड़काव करे। लाख और विडङ्ग से सिद्ध किया तैल अभ्यंग में हितकारी है।

वक्तव्य—'प्रपुण्ड्रद्विनिशोद्भवैः' यह पाठ ठीक है, सुश्रुत में 'प्रपौण्डरीकमधुकमञ्जिष्ठारजनीद्वयैः' पाठ है।

परिलेहिकाचिकित्सा—

स्विन्नां गोमयजैः पिण्डैर्बहुशः परिलेहिकाम् ॥४८॥
विडङ्गसारैरालिम्पेदुरभ्रीमूत्रकल्कितैः।
कौटजेङ्गुदकारञ्जबीजशम्याकवल्कलैः ॥४९॥
अथवाऽभ्यञ्जनं तैर्वा कटुतैलं विपाचयेत्।
सनिम्बपत्रमरिचमदनैर्लेहिकाव्रणे ॥५०॥

परिलेहिका में गोबर के पिण्डों मे बहुत बार स्वेदन कर बिडङ्गतण्डुलों को भेड़ी के मूत्र में पीसकर लेप करे। अथवा कुटज, इङ्गुदी, करञ्जबीज और अमलतास की छालों को भेड़ी के मूत्र में पीसकर लेप करे। अथवा कुटज आदि के साथ नीम-के पत्ते, मरिच तथा मोम मिलाकर सरसों का तेल पकाये। इस तेल का परिलेहिका व्रण में अभ्यंग करना चाहिये।

वक्तव्य—सुश्रुत में—'सुरभिमूत्रसंयुतैः' पाठ है।

छिन्नाकर्णपालीचिकित्सा—

छिन्नं तु कर्णं शुद्धस्य बन्धमालोच्य यौगिकम्।
शुद्धास्रं लागयेल्लग्ने सद्यश्छिन्ने विशोधनम् ॥५१॥

छिन्नकर्ण मनुष्य का वमनादि से शोधन करके जो बन्ध ठीक हो वह बन्ध विचार कर बांधे। वातादि से रक्त के शुद्ध हो जाने पर कान को जोड़े। तुरन्त कटने पर कान को जोड़ कर वमन आदि से शोधन करना चाहिये। अथवा व्रण का शोधन करके जोड़ देना चाहिये।

कर्णसन्धानविधि

अथ ग्रथित्वा केशान्तं कृत्वा छेदनलेखनम्।
निवेश्य सन्धिं सुषमं न निम्नं न समुन्नतम् ॥५२॥
अभ्यज्य मधुसर्पिर्भ्यां पिचुप्लोतावगुण्ठितम्।
सूत्रेणागाढशिथिलं बद्ध्वा चूर्णैरवाकिरेत् ॥५३॥
शोणितस्थापनैर्व्रण्यमाचारं चादिशेत्ततः।
सप्ताहादामतैलाक्तं शनैरपनयेत् पिचुम् ॥५४॥

सन्धानविधि—बालों के अन्तिम छोरों को गूंथ कर, छेदन, लेखन क्रिया करके, सन्धि को सम्यक् रूप में-न नीचे और न उठी हुई, अपितु सुंदर रूप में रख कर (जोड़कर) मधु और घी से अभ्यंग करके, रुई के फोये और प्लोत-वस्त्रखंड से ढांप कर धागे से न तो कसकर और न ढीला बाँध देवे। फिर इस पर मुलहठी; गेरु और रक्तस्थापक द्रव्यों का चूर्ण छिड़क देवे। पीछे से व्रण के लिये हितकारी आचरण परहेज आदि बता देवे। सात दिन के उपरान्त कच्चे तैल से गीला करके फोये को धीरे से हटाये।[१]

वक्तव्य—संग्रह में—'न कर्णे शोफरागादियुक्ते सन्धानमिष्यते। न घस्मरस्य नात्युष्णे नाविशुद्धतनोरपि ॥'

सुरूढं जातरोमाणं श्लिष्टसन्धिं समं स्थिरम्।
सुवर्ष्माणमरोगं च शनैः कर्णं विवर्धयेत् ॥५५॥

भली प्रकार से भरने, बाल उग आने, सन्धि जुड़ जाने तथा समान स्थिर और सुप्रमाणयुक्त होने पर रोगरहित कर्ण को धीरे-धीरे बढ़ाये। (सुवर्ष्मा-सुसारः, इन्दु, शिवदास सेनजी ने 'सुवर्त्मानम्' यह पाठ देकर 'शोभन छिद्र' अर्थ किया है, अरोग का अर्थ शूलवेदनादिरहित है)।

कर्णवर्धकस्नेह—

जलशूकः स्वयङ्गुप्ता रजन्यौ बृहतीफलम्।
अश्वगन्धाबलाहस्तिपिप्पलीगौरसर्षपाः ॥५६॥
मूलं कोशातकाश्वघ्नरूपिकासप्तपर्णजम्।
छुच्छुन्दरी कालमृता गृहं मधुकरीकृतम् ॥५७॥
जलूका जलजन्मा च तथा शाबरकन्दकम्।
एभिः कल्कैः खरं पक्वं सतैलं माहिषं घृतम् ॥५८॥
हस्त्यश्वमूत्रेण परमभ्यङ्गात्कर्णवर्धनम्।

जलशूक, कौंच, हल्दी, दारुहल्दी, कटेरी, असगन्ध, खरैटी, गजपिप्पली, श्वेत सरसों तथा कोशातकीमूल, कनेर, आक, सप्तपर्ण इनकी जड़ एवं छुछुन्दरी जो स्वयं मरी हो, भंवरी का बनाया घर (छत्ता), चिमगादड़, जौंक, शाबरकंद इनके कल्क से तैल के साथ भैंस के घृत का हाथी और

---

[१] बन्धनों के नाम और स्वरूप तथा सन्धानविधि का विशद वर्णन सुश्रुत संहिता (सू० अ० १६) में देखें।

घोड़े के मूत्र से खर पाक करे। इसका अभ्यङ्ग कान को बढ़ाने में श्रेष्ठ है।

वक्तव्य—जलशूक-शैवाल (अरुणदत्त)। कोशातकी-तोरी। शाबरकन्द-लहसुन या वराहीकन्द या लोध।

नासासन्धानविधि—

अथ कुर्याद्वयःस्थस्य च्छिन्नां शुद्धस्य नासिकाम् ॥५९॥
छिन्द्यान्नासासमं पत्रं तत्तुल्यं च कपोलतः।
त्वङ्मांसं नासिकासन्ने रक्षंस्तत्तनुतां नयेत् ॥६०॥
सीव्येद्‌ गण्डं ततः सूच्या सेवन्या पिचुयुक्तया।
नासाच्छेदेऽथ लिखिते परीवर्त्योपरि त्वचम् ॥६१॥
कपोलवध्रं सन्दध्यात्सीव्येन्नासां च यत्नतः।
नाडीभ्यामुत्क्षिपेदन्तः सुखोच्छ्वासप्रवृत्तये ॥६२॥
आमतैलेन सिक्त्वाऽनु पत्तङ्गमधुकाञ्जनैः।
शोणितस्थापनैश्चान्यैः सुश्लक्ष्णैरवचूर्णयेत् ॥६३॥
ततो मधुघृताभ्यक्तं बद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत्।
ज्ञात्वाऽवस्थान्तरं कुर्यात् सद्योव्रणविधिं ततः ॥६४॥
छिन्द्याद्रूढेऽधिकं मांसं नासोपान्ताच्च चर्म तत्।
सीव्येत्ततश्च सुश्लक्ष्णं हीनं संवर्धयेत्पुनः ॥६५॥

नासासन्धान विधि—शुद्ध हुए युवा व्यक्ति की कटी हुई नासिका को जोड़ने के लिये नासा के समान पत्र को काट कर उस पत्ते के समान कपोलप्रदेश से त्वचा और मांस का, नासिका के पास में रक्षा करते हुए (कटने से बचाते हुए) पतला पर्त बनाये। पीछे पिचुयुक्त सेवनी के द्वारा सूई से गण्ड को सीवे। इसके उपरान्त नासाच्छेद में लेखन करके इसकी त्वचा को ऊपर की ओर उलट कर गाय की त्वचा (जिसे पत्राकार बनाया है) के पास जोड़ देवे। फिर नासा को यत्नपूर्वक सीये। सुखपूर्वक उच्छ्वास क्रिया हो सके, इसके लिये नासा के अन्दर दो नाड़ियों को रखकर उनसे इसको ऊपर उठाये। ऊपर कच्चे घानी के तेल से परिषेक करके पीछे से लालचन्दन, मुलहठी, सुरमा तथा दूसरी रक्तस्तम्भक औषधियों का बारीक चूर्ण छिड़क देवे। पीछे मधु और घृत से लेप करके बाँध कर व्रणोक्त आचार-विधि का निर्देश करे। अन्य अवस्था को देखकर सद्योव्रण-प्रतिषेध विधि करे। भर जाने पर जो अधिक मांस हो उसे नासा के समीप में से (जहाँ पहिले जुड़ा हुआ छोड़ दिया था) काट दे। फिर समान चिकना बनाकर इसको सी देवे। यदि छोटा रह गया हो तो इसको पुनः बढ़ाये।

सद्यश्छिन्न नासिका और ओष्ठ का सन्धान—

निवेशिते यथान्यासं सद्यश्छिन्नेऽप्ययं विधिः।
नाडीयोगाद्विनौष्ठस्य नासासन्धानवद्विधिः ॥६६॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने कर्णरोगप्रतिषेधो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

◆

नाक या कान के तुरन्त कटने पर भी उसको ठीक बिठा कर यही विधि बरतनी चाहिये।

छिन्न ओष्ट के जोड़ने की विधि भी नासासन्धान-विधि की भाँति है, केवल इसमें नाड़ियों का प्रयोग नहीं होता।

वक्तव्य—कर्णरोगों में प्रसिद्ध तन्त्रान्तरीय योग—शम्बूक तैल, बिल्व तैल तथा शुष्कमूलादि तैल क्रमशः कर्णस्राव, कर्णनाद और कर्णबाधिर्य में उत्तम हैं।

(१) कर्णप्रक्षालने शस्तं कवोष्णं सुरभीजलम्। दीपिका-तैल, क्षारतैल, अपामार्गक्षार तैल, दशमूली तैल, दार्व्यादि तैल। (२) वातोक्तं माषतैलादि बाधिर्यादौ तु योजयेत्। वर्जयेन्मैथुनं क्रोधं रूक्षं बाधिर्यपीडितः॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का कर्णरोगप्रतिषेध नामक अट्ठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

◆

एकोनविंशोऽध्यायः

अथातो नासारोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे नासारोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

प्रतिश्याय के हेतु—

अवश्यायानिलरजोभाष्यातिस्वप्नजागरैः।
नीचात्युच्चोपधानेन पीतेनान्येन वारिणा ॥ १ ॥
अत्यम्बुपानरमणच्छर्दिबाष्पग्रहादिभिः।
क्रुद्धा वातोल्बणा दोषा नासायां स्त्यानतां गताः ॥२॥
जनयन्ति प्रतिश्यायं वर्धमानं क्षयप्रदम्।

ओस, वायु, धूल और बहुत बोलने से, बहुत सोने से, बहुत जागने से, सिरहाने के बहुत नीचा या बहुत ऊँचा रखने से, विजातीय पानी के पीने से, बहुत पानी के पीने से, पानी में बहुत क्रीड़ा करने से तथा वमन या आंसुओं के वेग को रोकने से वातप्रधान दोष कुपित होकर नासा में घट्ट बनकर प्रतिश्याय को उत्पन्न करते हैं। यह प्रतिश्याय बढ़ता हुआ क्षय को उत्पन्न करता है।

वातज प्रतिश्याय के लक्षण—

तत्र वातात्प्रतिश्याये मुखशोषो भृशं क्षवः ॥ ३ ॥
घ्राणोपरोधनिस्तोददन्तशङ्खशिरोव्यथाः।
कीटिका इव सर्पन्तीर्मन्यते परितो भ्रुवौ ॥ ४ ॥
स्वरसादश्चिरात्पाकः शिशिराच्छकफस्रुतिः।

वातप्रतिश्याय में—मुख में शुष्कता, छींकों की अधिकता, नाक का बन्द रहना, सुई चुभोने सी पीड़ा, दांत, शंखप्रदेश (कनपटी) और सिर में पीड़ा, भ्रुवों के चारों ओर चींटियों के चलने की प्रतीति, आवाज का बैठ जाना, दोषों का देर में पकना और ठण्डे स्वच्छ कफ का बहना ये लक्षण होते हैं।

पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण—

पित्तात्तृष्णाज्वरघ्राणपिटिकासम्भवभ्रमाः ॥ ५ ॥
नासाग्रपाको रूक्षोष्णताम्रपीतकफस्रुतिः ।

पित्तजन्य प्रतिश्याय में प्यास, ज्वर, नाक में छोटी फुन्सियों का होना, चक्कर आना, नासा के अग्रभाग का पकना एवं रूक्ष, उष्ण, ताम्रवर्ण तथा पीले कफ का बहाव होते हैं।

कफज प्रतिश्याय के लक्षण—

कफात्कासोऽरुचिः श्वासो वमथुर्गात्रगौरवम् ॥ ६ ॥
माधुर्यं वदने कण्डूः स्निग्धशुक्लकफस्रुतिः ।

कफजन्य प्रतिश्याय में—कास, अरुचि, श्वास, वमन, शरीर में भारीपन, मुख में मधुरता और कण्डू होते हैं तथा चिकना और श्वेत कफ बहता है।

त्रिदोषज प्रतिश्याय के लक्षण—

सर्वजो लक्षणैः सर्वैरकस्माद् वृद्धिशान्तिमान् ॥७॥

त्रिदोषजन्य प्रतिश्याय में सम्पूर्ण दोषों के लक्षण रहते हैं। यह कारण के बिना ही बढ़ता है और शान्त होता है।

रक्तज प्रतिश्याय के लक्षण—

दुष्टं नासासिराः प्राप्य प्रतिश्यायं करोत्यसृक् ।
उरसः सुप्तता ताम्रनेत्रत्वं श्वासपूतिता ॥ ८ ॥
कण्डूः श्रोत्राक्षिनासासु पित्तोक्तं चात्र लक्षणम् ।

दूषित रक्त नासा की सिराओं में पहुँच कर प्रतिश्याय करता है। इसमें छाती के अन्दर जड़ता, आँखों में लालिमा, श्वास में दुर्गन्धि, कान, आँख और नासा में कण्डू और पित्त प्रतिश्याय में कहे लक्षण होते हैं।

दुष्ट प्रतिश्याय के लक्षण—

सर्व एव प्रतिश्याया दुष्टतां यान्त्युपेक्षिताः ॥ ९ ॥
यथोक्तोपद्रवाधिक्यात्स सर्वेन्द्रियतापनः ।
साग्निसादज्वरश्वासकासोरःपार्श्ववेदनः ॥१०॥
कुप्यत्यकस्माद् बहुशो मुखदौर्गन्ध्यशोफकृत् ।
नासिकाक्लेदसंशोषशुद्धिरोधकरो मुहुः ॥११॥
पूयोपमासितारक्तग्रथितश्लेष्मसंस्रुतिः ।
मूर्च्छन्ति चात्र कृमयो दीर्घस्निग्धसिताणवः ॥१२॥

सभी प्रतिश्याय उपेक्षा करने पर दुष्ट प्रतिश्याय में परिणत हो जाते हैं। यह मुखशोष आदि कहे हुए उपद्रवों की अधिकता के कारण नासा तथा चक्षु आदि सब इन्द्रियों को पीड़ित करता है। इसके अतिरिक्त अग्निमान्द्य, ज्वर, श्वास, कास, छाती और पार्श्व में वेदना करता है। यह बिना कारण के ही बार-बार होता है। मुख की दुर्गन्धि तथा शोफ करता है। नासिका में क्लिन्नता और शुष्कता, नासा का खुलना और बन्द होना ये बार-बार हो जाते हैं। पूय के समान काला, लाल, पिण्डित तथा कफ के समान स्राव होता है। इसमें दीर्घ लम्बे, स्निग्ध, श्वेत और सूक्ष्म कृमि उत्पन्न हो जाते हैं।

पक्व प्रतिश्याय के लक्षण—

पक्वलिङ्गानि तेष्वङ्गलाघवं क्षवथोः शमः ।
श्लेष्मा सचिक्कणः पीतोऽज्ञानं च रसगन्धयोः ॥१३॥

प्रतिश्याय के पक जाने पर अङ्गों में लघुता, छींक की शान्ति-रुक जाना, कफ चिकना तथा पीला होता है किन्तु रस एवं गन्ध की प्रतीति नहीं होती।

भ्रंशथु रोग के लक्षण—

तीक्ष्णाघ्राणोपयोगार्करश्मिसूत्रतृणादिभिः ।
वातकोपिभिरन्यैर्वा नासिकातरुणास्थनि ॥१४॥
विघट्टितेऽनिलः क्रुद्धो रुद्धः शृङ्गाटकं व्रजेत् ।
निवृत्तः कुरुतेऽत्यर्थं क्षवथुं स भृशक्षवः ॥१५॥

भृशक्षव—तीक्ष्ण मरिच आदि के सूँघने से, सूर्य की किरणों से, सूत्र या तिनके आदि, अथवा अन्य वातकोपक कारणों से नासिका की तरुणास्थियों में रगड़ होने के कारण कुपित वायु रुक कर शृङ्गाटक (मर्म) में पहुँचती है। वहाँ से लौटती हुई वायु बहुत छींक लाती है, इसको भृशक्षव कहते हैं।

नासिकाशोष के लक्षण—

शोषयन्नासिकास्रोतः कफं च कुरुतेऽनिलः ।
शूकपूर्णाभनासात्वं कृच्छ्रादुच्छ्वसनं ततः ॥ १६ ॥
स्मृतोऽसौ नासिकाशोषः—

कफ और वायु नासिकास्रोतों को शुष्क करते हुए नासा में शूकों के भरे होने की प्रतीति कराते हैं, इससे कठिनाई से श्वास लिया जाता है, इसको नासिकाशोष कहते हैं।

नासानाह के लक्षण—

—नासानाहे तु जायते ।
नद्धत्वमिव नासायाः श्लेष्मरुद्धेन वायुना ॥१७॥
निःश्वासोच्छ्वाससंरोधात् स्रोतसी संवृते इव ।

नासानाह में नासाभरी (बंधी) हुई सी प्रतीत होती है। कफ से रुकी हुई वायु से निःश्वास और उच्छ्वास के रुक जाने से स्रोत-नासा के दोनों मार्ग रुके हुए से रहते हैं।

नासिकापाक के लक्षण—

पचेन्नासापुटे पित्तं त्वङ्मांसं दाहशूलवत् ॥ १८ ॥
स घ्राणपाकः—

नासापुट में प्रकुपित पित्त त्वचा और मांस को पकाकर दाह और शूल करता है, इसको घ्राणपाक कहते हैं।

नासास्राव के लक्षण—

—स्रावस्तु तत्संज्ञः श्लेष्मसम्भवः ।
अच्छो जलोपमोऽजस्रं विशेषान्निशि जायते ॥१९॥

कफ के कारण (नासिका से) होने वाले स्राव को नासास्राव कहते हैं। इसमें नाक से निर्मल तथा जल के समान पानी निरन्तर बहता रहता है। यह स्राव रात में विशेषकर होता है।

अपीनस के लक्षण—

कफः प्रवृद्धो नासायां रुद्ध्वा स्रोतांस्यपीनसम् ।
कुर्यात्सघुर्घुरश्वासं पीनसाधिकवेदनम् ॥२०॥
अवेरिव स्रवत्यस्य प्रक्लिन्ना तेन नासिका ।
अजस्रं पिच्छिलं पीतं पक्वं सिङ्घाणकं घनम् ॥२१॥

नासा में बढ़ा हुआ कफ स्रोतों को रोककर अपीनस रोग करता है। इसमें घर्घराहट के साथ श्वास चलता है। पीनस से अधिक पीड़ा होती है। इस अपीनस रोग में रोगी की नाक भेड़ के समान सदा गीली रहती है जिससे नाक से निरन्तर पिच्छिल, पीला, पका हुआ और घट्ट नासामैल बहता रहता है !

नासादीप्ति के लक्षण—

रक्तेन नासा दग्धेव बाह्यान्तःस्पर्शनासहा ।
भवेद् धूमोपमोच्छ्वासा सा दीप्तिर्दहतीव च ॥२२॥

रक्त से नाक जली हुई सी रहती है, बाहर और अन्दर स्पर्श का सहन नहीं करती। श्वास धूंवे के समान रहता है और नासिका जलती सी है, इसको दीप्ति कहते हैं।

पूतिनास के लक्षण—

तालुमूले मलैर्दुष्टैर्मारुतो मुखनासिकात् ।
श्लेष्मा च पूतिर्निर्गच्छेत् पूतिनासं वदन्ति तम् ॥

तालुमूल में दूषित दोषों के कारण मुख और नाक से दुर्गन्धित वायु और कफ निकलता है। इसको पूतिनास कहते हैं।

पूयरक्त रोग के लक्षण—

निचयादभिघाताद्वा पूयासृङ्नासिका स्रवेत् ।
तत्पूयरक्तमाख्यातं शिरोदाहरुजाकरम् ॥२४॥

सन्निपात के कारण या चोट से नासिका से पूय और रक्त बहता है इसको पूयरक्त कहते हैं। इसमें शिर के अन्दर दाह और पीड़ा होती है।

पुटक रोग के लक्षण—

पित्तश्लेष्मावरुद्धोऽन्तर्नासायां शोषयेन्मरुत् ।
कफं, स शुष्कः पुटतां प्राप्नोति पुटकं तु तत् ॥२५॥

पित्त और कफ से रुकी हुई वायु नासा के अन्दर कफ को सुखा देती है, यह सूखा कफ पुट (चर्म) के आकार का होता है, इसको पुटक कहते हैं।

नासार्बुदादि के लक्षण—

अर्शोऽर्बुदानि विभजेद्दोषलिङ्गैर्यथायथम् ।
सर्वेषु कृच्छ्रोच्छ्वसनं पीनसः प्रततं क्षुतिः ॥२६॥
सानुनासिकवादित्वं पूतिनासः शिरोव्यथा ।
अष्टादशानामित्येषां यापयेद् दुष्टपीनसम् ॥२७॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने नासारोगविज्ञानीयो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

* * *

नासा अर्श और नासा अर्बुद को दोषों के अपने-अपने लक्षणों के अनुसार जानना चाहिये।

सब अर्श और अर्बुदों में कठिनाई से श्वास का लेना और छोड़ना साधारण लक्षण है। तथा पीनस, निरन्तर छींक आना, नाक से बोलना, पूतिनासा और शिर में पीड़ा होना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—इन्दु का मत है कि ये लक्षण सब नासारोगों के हैं, परन्तु शिवदाससेन, अरुणदत्त तथा चन्द्र आदि अर्श और अर्बुद के लक्षण मानते हैं और यही ठीक है। इन अट्ठारह नासारोगों में दुष्ट पीनस याप्य है।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का नासारोगविज्ञानीय नामक उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१९॥

* * *

विंशोऽध्यायः

अथातो नासारोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे नासारोगप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

नासा रोग की सामान्य चिकित्सा—

सर्वेषु पीनसेष्वादौ निवातागारगो भजेत् ।
स्नेहनस्वेदवमनधूमगण्डूषधारणम् ॥ १ ॥
वासो गुरूष्णं शिरसः सुघनं परिवेष्टनम् ।
लघ्वम्ललवणं स्निग्धमुष्णं भोजनमद्रवम् ॥ २ ॥
धन्वमांसगुडक्षीरचणकत्रिकटूत्कटम् ।
यवगोधूमभूयिष्ठं दधिदाडिमसारिकम् ॥ ३ ॥
बालमूलकजो यूषः कुलत्थोत्थश्च पूजितः ।
कवोष्णं दशमूलाम्बु जीर्णां वा वारुणीं पिबेत् ॥ ४ ॥
जिघ्रेच्चोरकतर्कारीवचाजाज्युपकुञ्चिकाः ।

साधारण चिकित्सा—सब प्रकार के पीनसों में तथा प्रतिश्यायों में सबसे प्रथम वायुरहित घर में जाकर रहे। वहाँ पर स्नेहन, स्वेदन, वमन, धूम तथा गण्डूष का धारण करे। भारी, गरम, मोटे वस्त्र (कौशेय या आविक चर्म आदि) पहने और शिर को भली प्रकार ढाँपे। लघु, अम्ल, लवण, स्निग्ध, उष्ण और कड़ा (द्रवरहित या अल्पद्रव) भोजन करे। जांगल मांस, गुड़, दूध, चना, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल), जौ तथा गेहूँ की प्रचुरता वाला, दही, घी, मलाई और अनार से सिद्ध भोजन करे। कच्ची मूली के रस और कुलथी का यूष उत्तम है। गुनगुनाता दशमूल का पानी अथवा पुरातन वारुणी को पिये। चोरक (चोरपुष्पी), तर्कारी (जयन्तीपत्र), वच, अजाजी (जीरा), उपकुञ्चिका (काला जीरा,) इनकी पोटली बनाकर सूँघे। [जैसा कि आजकल युक्लिपीट्स का तेल या अन्य वस्तुयें सूंघते हैं]।

पीनसादिरोगनाशक व्योषादि वटी—

व्योषतालीसचविकातिन्तिडीकाम्लवेतसम् ॥ ५ ॥
साग्न्यजाजि द्विपलिकं त्वगेलापत्रपादिकम् ।
जीर्णाद् गुडात्तुलार्धेन पक्वेन वटकीकृतम् ॥ ६ ॥
पीनसश्वासकासघ्नं रुचिस्वरकरं परम् ।

त्रिकटु, तालीसपत्र, चविका, इमली, अम्लवेतस, चित्रक, जीरा प्रत्येक दो पल, दालचीनी, तेजपत्र, इलायची प्रत्येक दो कर्ष, पुराना गुड़ पचास पल लेकर गुड़ की चासनी बनाकर उसमें इनका चूर्ण डालकर गोलियाँ बना लें। ये गोलियाँ पीनस, श्वास, कासनाशक, रुचि-स्वरकारक श्रेष्ठ हैं।

प्रतिश्यायनाशक धूम्रपान—

शताह्वात्वग्बलामूलं स्योनाकैरण्डबिल्वजम् ॥ ७ ॥
सारग्वधं पिबेद् धूमं वसाऽऽज्यमदनान्वितम् ।
अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वा मल्लकसम्पुटे ॥ ८ ॥
त्यजेत्स्नानं शुचं क्रोधं भृशं शय्यां हिमं जलम् ।

सौंफ, दालचीनी, खरैंटी, श्योनाक, एरण्ड और बिल्व की जड़, अमलतास का फल, वसा, घी और मोम, (इनसे वर्त्ति बनाकर) धूम (नेत्र में रखकर) पिये। अथवा सत्तुओं को घी के साथ मिलाकर सकोरे के सम्पुट में रखकर धूम पिये। (सकोरे पर छिद्रों वाला दूसरा सकोरा रखकर धूम को पिये।)

स्नान, शोक, क्रोध, बहुत सोना तथा शीतल जल का त्याग करे।

वातज प्रतिश्यायचिकित्सा—

पिबेद्वातप्रतिश्याये सर्पिर्वातघ्नसाधितम् ॥ ९ ॥
पटुपञ्चकसिद्धं वा विदार्यादिगणेन वा ।
स्वेदनस्यादिकां कुर्याच्चिकित्सामर्दितोदिताम् ॥१०॥

वातप्रतिश्याय में (रास्ना आदि या दशमूल आदि) वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध घृत को पिये। अथवा सैन्धव आदि पांच नमक से या विदार्यादिगण से सिद्ध घृत का पान करे। तथा अर्दित रोग में कही स्वेद, नस्य आदि चिकित्सा को करे।

पित्तजप्रतिश्याय चिकित्सा—

पित्तरक्तोत्थयोः पेयं सर्पिर्मधुरकैः श्रृतम् ।
परिषेकान् प्रदेहांश्च शीतैः कुर्वीत शीतलान् ॥११॥
धवत्वक्त्रिफलाश्यामाश्रीपर्णीयष्टितिल्वकैः ।
क्षीरे दशगुणे तैलं नावनं सनिशैः पचेत् ॥ १२ ॥

पित्तजन्य और रक्तजन्य प्रतिश्याय में मधुर वर्ग-जीवनीय गण से सिद्ध घृत को पिये। शीतवीर्य-सारिवादि या न्यग्रोधादि गण से शीतल प्रदेह और परिषेक करे।

धव की छाल, त्रिफला, श्यामा (प्रियङ्गु), गम्भारी, मुलहठी, लोध, तथा हल्दी से दसगुने दूध में (तैल से दसगुने दूध में) तैल सिद्ध करे। यह तैल नस्य में उपयोगी है।

कफजप्रतिश्याय-चिकित्सा—

कफजे लङ्घनं लेपः शिरसो गौरसर्षपैः ।
सक्षारं वा घृतं पीत्वा वमेत् , पिष्टैस्तु नावनम् ॥
बस्ताम्बुना पटुव्योषवेल्लवत्सकजीरकैः ।

कफजन्य प्रतिश्याय में लङ्घन तथा श्वेत सरसों के कल्क का सिर पर लेप करे और यवक्षार के साथ घृत को पीकर वमन करे। सैन्धव, त्रिकटु, वायविडङ्ग, इन्द्रजौ, जीरक इनको बकरी के मूत्र में पीसकर नस्य लेवे।

सन्निपातजप्रतिश्याय-चिकित्सा—

कटुतीक्ष्णैर्घृतैर्नस्यैः कवलैः सर्वजं जयेत् ॥ १४ ॥

सन्निपातजन्य प्रतिश्याय में कटु एवं तीक्ष्ण द्रव्यों से सिद्ध घृतों से और कटु तथा तीक्ष्ण नस्य एवं कवलों से चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—सर्पींषि कटुतिक्तानि हन्युः सर्वप्रकोपजम् ।
रसाञ्जने सातिविषे मुस्तायां भद्रदारुणि ॥
तैलं विपक्वं नस्यार्थे विदध्याच्चात्र बुद्धिमान् ।
मुस्ता तेजोवती पाठा कट्फलं कटुका वचा ।
सर्षपाः पिप्पलीमूलं पिप्पल्यः सैन्धवाग्निकौ ।
तुत्थं करञ्जबीजञ्च लवणं भद्रदारु च ॥
एतैः कृतं कषायन्तु कवले सम्प्रयोजयेत् ।
हितं मूर्धविरेके च तैलमेभिर्विपाचितम् ॥
(सुश्रुत उ. तं अ. २४)

दुष्टप्रतिश्यायचिकित्सा—

यक्ष्मक्रिमिक्रमं कुर्वन् यापयेद् दुष्टपीनसम् ।

दुष्ट पीनस में यक्ष्मानाशक और कृमिनाशक चिकित्सा करते हुए यापन करे।

पीनसरोगनाशक धूम्रपान—

व्योषोरुबूककृमिजिद्दारुमाद्रीगदेङ्गुदम् ॥ १५ ॥
वार्ताकुबीजं त्रिवृता सिद्धार्थः पूतिमत्स्यकः ।
अग्निमन्थस्य पुष्पाणि पीलुशिग्रुफलानि च ॥ १६ ॥
अश्वविड्रसमूत्राभ्यां हस्तिमूत्रेण चैकतः ।
क्षौमगर्भां कृतां वर्तिं धूमं घ्राणास्यतः पिबेत् ॥ १७ ॥

त्रिकटु, एरण्ड, विडङ्ग, देवदारु, माद्री (अतीस या पिप्पली), कुष्ठ, इङ्गुदी, कटेरी के बीज, निशोथ, सरसों, पूतिमत्स्य (सूखी, सड़ी मछली), अग्निमन्थ के फूल, पीलु और सहजन के फल, इनको घोड़े के लीद के रस या मूत्र तथा हाथी के मूत्र के साथ पीसकर क्षौम (सनी) के ऊपर लपेट कर वर्त्ति बनाकर धूम को नासिका और मुख से पिये।

वक्तव्य—पूतिमत्स्य (मछलियों) का उपयोग कृमियों के उत्क्लेश के लिये है। कई आचार्य पूति से करञ्ज और मत्स्यक से करवीर या मछली लेते हैं।

क्षवथु और पुटक की चिकित्सा—

क्षवथौ पुटकाख्ये च तीक्ष्णैः प्रधमनं हितम् ।
शुण्ठीकुष्ठकणावेल्लद्राक्षाकल्ककषायवत् ॥ १८ ॥

साधितं तैलमाज्यं वा नस्यं क्षवपुटप्रणुत् ।

क्षवथु (भृश क्षव) और पुटक रोग में तीक्ष्ण द्रव्यों से नासा में प्रधमन (फूत्कार) करना चाहिए। सोंठ, कूठ, पिप्पली, विडङ्ग, द्राक्षा, इनके कल्क और कषाय से बनाया घृत या तैल नस्य लेने से क्षव और पुटक को नष्ट करता है।

नासाशोष तथा नासानाह की चिकित्सा—

नासाशोषे बलातैलं पानादौ भोजनं रसैः ॥१९॥
स्निग्धो धूमस्तथा स्वेदो नासानाहेऽप्ययं विधिः ।

नासाशोष में वातव्याधि में कहा बलातैल पान, नस्य आदि में बरते। मांसरस के साथ भोजन उत्तम है। स्निग्ध धूम तथा स्वेद हितकारी है। नासानाह में भी यही विधि बरतनी चाहिये।

नासापाकादिचिकित्सा—

पाके दीप्तौ च पित्तघ्नं तीक्ष्णं नस्यादि संस्रुतौ ॥२०॥
कफपीनसवत् पूतिनासापीनसयोः क्रिया ।
लाक्षाकरञ्जमरिचवेल्लहिङ्गुकणागुडैः ॥२१॥
अविमूत्रद्रुतैर्नस्यं कारयेद्वमने कृते ।
शिग्रुसिंहीनिकुम्भानां बीजैः सव्योषसैन्धवैः ॥२२॥
सवेल्लसुरसैस्तैलं नावनं परमं हितम् ।

नासापाक और दीप्ति में पित्तनाशक चिकित्सा करे। नासास्राव में तीक्ष्ण नस्य, धूम तथा गण्डूष आदि बरते।

पूतिनासा और अपीनस में कफ-पीनसवत् चिकित्सा करे। वमन करने के उपरान्त लाक्षा, करञ्ज, मरिच, विडङ्ग, हींग, पिप्पली, गुड़, इनको भेड़ के मूत्र से पतला बनाकर नस्य लेवे।

सहजन, कटेरी, दन्ती, इनके बीज, त्रिकटु, सैन्धव, वायविडंग, तुलसी, इनसे (पानी या गोमूत्र में) सिद्ध किये तैल का नस्य अतिशय उत्तम है।

पूयरक्त की चिकित्सा—

पूयरक्ते नवे कुर्याद् रक्तपीनसवत् क्रमम् ॥२३॥
अतिप्रवृद्धे नाडीवत्—

नूतन पूयरक्त में रक्त-पीनस की भांति चिकित्सा करे। अतिशय बढ़े पूयरक्त में नाडीव्रण की चिकित्सा करनी चाहिये।

—दग्धेष्वर्शोर्बुदेषु च ।
निकुम्भकुम्भसिन्धूत्थमनोह्वाऽऽलकणाऽग्निकैः ॥२४॥
कल्कितैर्घृतमध्वक्तां घ्राणे वर्तिं प्रवेशयेत् ।
शिग्र्वादि नावनं चात्र पूतिनासोदितं भजेत् ॥२५॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने नासारोगप्रतिषेधो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

अर्श और अर्बुद में सूत्रस्थान-विधि से दाह कर्म करके दन्ती, निशोथ, सैन्धव, मैनसिल, हरताल, पिप्पली, चित्रक, इनके कल्क को मधु और घृत में मिलाकर इनकी वर्त्ति को नासा में प्रविष्ट करे। पूतिनासा में कहे शिग्रु, सिंही आदि नस्य को इनमें बरते।

वक्तव्य—कुछ प्रसिद्ध योग—चित्रक हरीतकी, चित्रक-तैल, हिंग्वाद्य तैल, व्याघ्री तैल। पञ्चमूली शृतं क्षीरं स्याच्चित्रकहरीतकी। सर्पिर्गुडः षडङ्गश्च यूषः पीनसशान्तये। कट्फलं पौष्करं शृङ्गी व्योषं यासश्च कारवी। पीनसे स्वरभेदे च नासास्रावे हलीमके। सन्निपाते कफे वाते कासे श्वासे च शस्यते।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का नासारोग-प्रतिषेध नामक बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

अथातो मुखरोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे मुखरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

मुखरोग के कारण—

मात्स्यमाहिषवाराहपिशितामकमूलकम् ।
माषसूपदधिक्षीरसुक्तेक्षुरसफाणितम् ॥ १ ॥
अवाक्शय्यां च भजतो द्विषतो दन्तधावनम् ।
धूमच्छर्दनगण्डूषानुचितं च सिराव्यधम् ॥ २ ॥
क्रुद्धाः श्लेष्मोल्बणा दोषाः कुर्वन्त्यन्तर्मुखं गदान् ।

मछली, भैंस और सूअर का मांस, कच्ची मूली, उड़द की दाल, दही, दूध, शुक्त, गन्ने का रस, राब, मुख नीचे करके सोना—इन कारणों से, दातून, धूमपान, वमन, गण्डूष इन उचित कार्यों से द्वेष रखने वाले तथा सिरावेध से द्वेष करने वाले के मुख के अन्दर कफप्रधान दोष कुपित होकर अनेक रोगों को पैदा करता है।

खंडौष्ठ रोग के लक्षण—

तत्र खण्डौष्ठ इत्युक्तो वातेनौष्ठो द्विधा कृतः ॥ ३ ॥

इन मुख रोगों में वायु के कारण ओष्ठ के दो भाग हो जाने पर इसको खण्डौष्ठ कहते हैं। (यह सहज व्याधि है और इसे आजकल 'हेयरलिप' कहते हैं।

वातज ओष्ठरोग के लक्षण—

ओष्ठकोपे तु पवनात् स्तब्धावोष्ठौ महारुजौ ।
दाल्येते परिपाट्येते परुषासितकर्कशौ ॥ ४ ॥

वायु के कारण ओष्ठ प्रकोप होने पर ओष्ठ स्तब्ध, अतिशय वेदना वाले होते हैं, फटते हैं तथा कठोर, काले और कर्कश हो जाते हैं।

वक्तव्य—जैसे प्रायः शीत ऋतु में ओठ फटते हैं। 'दाल्येते द्विधा भवत इव, परिपाट्येते, पुटपुटायेते'-भूमि पर जैसी तरेड़ पड़ जाती है।

पित्तज ओष्ठरोग के लक्षण—

पित्तात्तीक्ष्णसहौ पीतौ सर्षपाकृतिभिश्चितौ।
पिटिकाभिर्बहुक्लेदावाशुपाकौ—

पित्त के कारण ओष्ठ तीक्ष्ण वस्तु का सहन नहीं करते, और पीले हो जाते हैं, सरसों के समान पिटिकाओं से भरे होते हैं। इनमें अतिशय क्लिन्नता रहती है और जल्दी पकते हैं।

कफज ओष्ठरोग के लक्षण—

—कफात्पुनः ॥ ५ ॥
शीतासहौ गुरू शूनौ सवर्णपिटिकाचितौ।

कफ के कारण ओठ शीत को न सहने वाले, भारी, सूजे हुए, त्वचा के समान वर्ण की पिटिकाओं से भरे होते हैं।

सन्निपातज ओष्ठरोग के लक्षण—

सन्निपातादनेकाभौ दुर्गन्धास्रावपिच्छिलौ ॥ ६ ॥
अकस्मान्म्लानसंशूनरुजौ विषमपाकिनौ।

सन्निपात से ओठ अनेक वर्ण वाले, दुर्गन्धित स्रावयुक्त, पिच्छिल होते हैं। कारण के बिना ही सहसा म्लान, सूजे हुए, पीड़ायुक्त तथा कहीं से पके और कहीं से नहीं पके होते हैं।

रक्तज ओष्ठरोग के लक्षण—

रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥ ७ ॥
खर्जूरसदृशं चात्र क्षीणे रक्तेऽर्बुदं भवेत्।

रक्त से दूषित ओष्ठों से रक्त बहता है, ओष्ठ रक्त वर्ण हो जाते हैं। रक्त के क्षीण होने पर रक्तज ओष्ठ प्रकोप में खर्जूर के समान अर्बुद हो जाता है।

मांसज ओष्ठरोग के लक्षण—

मांसपिण्डोपमौ मांसात्स्यातां मूर्च्छत्कृमी क्रमात् ॥

मांस के कारण ओठ मांसपिण्ड के समान हो जाते हैं। शनैः शनैः इसमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। [रक्तार्बुद और मांसार्बुद में कृमि होते हैं, 'मूर्च्छन्तः-उच्छ्रायं प्राप्नुवन्तः कृमयो ययोस्तौ तथा' इत्यरुणः]।

मेदोज ओष्ठरोग के लक्षण—

तैलाभश्वयथुक्लेदौ सकण्ड्वौ मेदसा मृदू।

मेद के कारण ओठ तैल के समान कान्ति वाले, शोथयुक्त क्लिन्न, कण्डूयुक्त एवं कोमल होते हैं।

क्षतज ओष्ठरोग के लक्षण—

क्षतजाववदीर्येते पाट्येते चासकृत्पुनः ॥ ९ ॥
ग्रथितौ च पुनः स्यातां कण्डूलौ दशनच्छदौ।

क्षत-आघात के कारण कुपित ओठ, बार-बार फटते हैं, विदीर्ण होते हैं और फिर जुड़ जाते हैं, ऐसा अनेक बार होता है, इनमें कण्डू होती है। (इसमें कफ का अनुबन्ध रहता है, यथा-क्षतावभिहतौ वापि रक्ताबोष्ठौ सवेदनौ। भवतः सपरिस्रावौ कफरक्तप्रदूषितौ)॥

जलार्बुद के लक्षण—

जलबुद्बुदवद्वातकफादोष्ठे जलार्बुदम् ॥१०॥

वायु और कफ के कारण ओष्ठ में जल के बुलबुलों की भांति जलार्बुद होता है (ये ग्यारह ओष्ठगत रोग हैं)।

गण्डालजी के लक्षण—

गण्डालजी स्थिरः शोफो गण्डे दाहज्वरान्वितः।

गण्डस्थल में दाह एवं ज्वर से युक्त स्थिर शोफ को गण्डालजी कहते हैं। (गण्ड में केवल एक रोग है)

शीतदन्त या दालन के लक्षण—

वातादुष्णसहा दन्ताः शीतस्पर्शेऽधिकव्यथाः ॥११॥
दाल्यन्त इव शूलेन शीताख्यो दालनश्च सः।

वायु के कारण दाँत उष्णस्पर्श को तो सहन कर लेते हैं, परन्तु शीतस्पर्श से इनमें अधिक वेदना होती है। शूल के कारण दाँत मानो उखड़ते से हैं। इसको शीतदन्त या दालन कहते हैं।

दन्तहर्ष के लक्षण—

दन्तहर्षे प्रवाताम्लशीतभक्षाक्षमा द्विजाः ॥ १२ ॥
भवन्त्यम्लाशनेनेव सरुजाश्चलिता इव।

दन्तहर्ष में दाँत तेज और ठण्डी वायु, खट्टाश, ठण्डी वस्तु एवं चबाने में अक्षम होते हैं। वृक्षाम्ल आदि खट्टे रस को खाये हुए की भाँति (खट्टापन से युक्त-कोट) होते हैं इनमें वेदना होती है तथा वे हिलते प्रतीत होते हैं।

दन्तभेद और दन्तचाल के लक्षण—

दन्तभेदे द्विजास्तोदभेदरुक्स्फुटनान्विताः ॥ १३ ॥
चालश्चलद्भिर्दशनैर्भक्षणादधिकव्यथः ।

दन्तभेद में दाँतों के अन्दर तोद, भेद, वेदना और फटना रहता है।

दन्तचाल—हिलते हुए दाँतों से तथा खाने पर अधिक वेदना से दन्तचाल रोग कहलाता है।

करालदन्त के लक्षण—

करालस्तु करालानां दशनानां समुद्भवः ॥ १४ ॥

कराल—विकट (विषम-ऊपर नीचे) रूप के दाँतों की उत्पत्ति को कराल रोग कहते हैं।

अधिदन्त के लक्षण—

दन्तोऽधिकोऽधिदन्ताख्यः स चोक्तः खलु वर्धनः।
जायमानेऽतिरुग् दन्ते, जाते तत्र तु शाम्यति ॥१५॥

अधिदन्त-अधिक दाँत से अधिदन्त संज्ञक रोग होता है। इसी को वर्धन कहते हैं। दाँत के उत्पन्न होते समय अतिवेदना होती है। दाँत निकल आने पर वेदना शांत हो जाती है।

दन्तशर्करा के लक्षण—

अधावनान्मलो दन्ते कफो वा वातशोषितः।
पूतिगन्धिः स्थिरीभूतः शर्करा—

शर्करा—दाँतों को साफ न करने से या दाँतों में वायु से शुष्क मल या कफ जमकर दुर्गन्धि वाला तथा स्थिर (कठिन) हो कर शर्करा कहलाता है।

कपालिका के लक्षण—

—साऽप्युपेक्षिता ॥ १६ ॥
शातयत्यणुशो दन्तात्कपालानि कपालिका ।

इसी शर्करा की उपेक्षा करने पर यह टुकड़ों में दन्त-कपालों को नष्ट करती है, इसको कपालिका रोग कहते हैं। (शातयति-निःसारयति, शिवदाससेनः) ।

श्यावदन्त के लक्षण—

श्यावः श्यावत्वमायातो रक्तपित्तानिलैर्द्विजः ॥ १७ ॥

रक्त, पित्त और वायु के कारण दांत जब श्याव वर्ण हो जाते हैं, तब इसे श्याव रोग कहते हैं।

कृमिदन्त के लक्षण—

समूलं दन्तमाश्रित्य दोषैरुल्बणमारुतैः ।
शोषिते मज्ज्ञि सुषिरे दन्तेऽन्नमलपूरिते ॥१८॥
पूतित्वात्कृमयः सूक्ष्मा जायन्ते, जायते ततः ।
अहेतुतीव्रार्तिशमः ससंरम्भोऽसितश्चलः ॥१९ ॥
प्रलूनः पूयरक्तस्रुत् स चोक्तः कृमिदन्तकः ।

मूलसहित दांत का आश्रय लिये हुए वातप्रधान दोषों से, अन्न-मल से भरे दांत के खोखले में मज्जा का शोषण हो जाने पर सड़ने से सूक्ष्म कृमि उत्पन्न होते हैं। इसके पीछे विना कारण के ही इसमें तीव्र वेदना होती है और वह बिना कारण के शांत हो जाती है। शोथ होता है, दांत काला पड़ जाता है, हिलता है और कटा हुआ होता है। इसमें से पूय और रक्त बहता है, इसको कृमिदन्त कहते हैं।

वक्तव्य—शिवदाससेनजी ने 'प्रलीनपूयरक्तस्रुत्' पाठ दिया है, यह ठीक है, दांत में से पूय, रक्त छिपे रूप में बहता है। 'प्रलून' पाठ में बीच में से कटा दांत होता है। (इस प्रकार ये दांत के दस रोग हैं) ।

शीतादि के लक्षण—

श्लेष्मरक्तेन पूतीनि वहन्त्यस्रमहेतुकम् ॥ २० ॥
शीर्यन्ते दन्तमांसानि मृदुक्लिन्नासितानि च ।
शीतादोऽसौ—

कफ-रक्त के कारण मसूड़ों से बिना कारण के ही दुर्गन्धित रक्त बहता है, मसूड़े झड़ने लगते हैं, एवं कोमल, क्लेद युक्त और काले हो जाते हैं। यह शीताद रोग है।

उपकुश के लक्षण—

—उपकुशः पाकः पित्तासृगुद्भवः ॥२१॥
दन्तमांसानि दह्यन्ते रक्तान्युत्सेधवन्त्यतः ।
कण्डूमन्ति स्रवन्त्यस्रमाध्मायन्तेऽसृजि स्थिते । २२॥
चला मन्दरुजो दन्ताः पूतिवक्त्रं च जायते ।

पित्त-रक्त के कारण दांतों के मांस (मसूड़ों) का पाक-जिससे मसूड़े जलते हैं—लाल वर्ण एवं फूले होते हैं, इनमें खाज होती है, रक्त बहता है, रक्त के भर जाने से मसूड़े फूले रहते हैं, दांत हिलते हैं, धीमी वेदना होती है और मुख से दुर्गन्धि आती है। यह उपकुश कहलाता है।

दन्तपुप्पुट के लक्षण—

दन्तयोस्त्रिषु वा शोफो बदरास्थिनिभो घनः ॥२३॥
कफास्रात्तीव्ररुक् शीघ्रं पच्यते दन्तपुप्पुटः ।

कफ-रक्त के कारण दो या तीन दांतों में, बेर की गुठली के समान जो घट्ट शोफ होता है, जिसमें तीव्र वेदना होती है और जो शीघ्र पचता है, उसे दन्दपुप्पुट कहते हैं।

दन्तविद्रधि के लक्षण—

दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तःश्वयथुर्गुरुः ॥ २४ ॥
सरुग्दाहः स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ।

मसूड़ों के अन्दर और बाहर रक्तमिश्रित दोषों से जो वेदना और दाह युक्त भारी शोथ होता है, जिसके फूटने से पूय एवं रक्त बहता है, उसको दन्तविद्रधि कहते हैं।

सुषिर तथा महासुषिर के लक्षण—

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् पित्तरक्तजः ॥२५॥
लालास्रावी स सुषिरो दन्तमांसप्रशातनः ।
स सन्निपाताज्ज्वरवान् सपूयरुधिरस्रुतिः ॥२६॥
महासुषिरमित्युक्तो विशीर्णद्विजबन्धनः ।

दांतों की जड़ों में पित्त-रक्त के कारण पीड़ा वाली शोथ हो जाती है, इसमें लाला बहती है और मसूड़े सड़ जाते हैं, इसको सुषिर कहते हैं।

यही शोथ सन्निपात के कारण ज्वरयुक्त, पूय एवं रक्त को बहाने वाला होने पर महासुषिर कहा जाता है। इसमें दांतों के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं।

अधिमांसक के लक्षण—

दन्तान्ते कीलवच्छोफो हनुकर्णरुजाकरः ॥२७॥
प्रतिहन्त्यभ्यवहृतिं श्लेष्मणा सोऽधिमांसकः ।

दांतों के अन्त में कील की भांति जो शोफ कफ से उत्पन्न होता है, जिससे हनु और कान में पीड़ा होती है, जो आहार को रोक देता है, वह अधिमांसक है, यह कफजन्य है।

विदर्भ के लक्षण तथा पाँच भेद—

घृष्टेषु दन्तमांसेषु संरम्भो जायते महान् ॥२८॥
यस्मिंश्चलन्ति दन्ताश्च स विदर्भोऽभिघातजः ।

दातौन आदि की रगड़ से मसूड़ों में जो बड़ी सूजन हो जाती है, जिसके होने पर दाँत हिलने लगते हैं, यह अभिघातजन्य शोथ विदर्भ है।

दन्तनाडी के लक्षण—

दन्तमांसाश्रितान् रोगान् यः साध्यानप्युपेक्षते ॥२९॥
अन्तस्तस्यास्रवन् दोषः सूक्ष्मां सञ्जनयेद्गतिम् ।
पूयं मुहुः सा स्रवति त्वङ्मांसास्थिप्रभेदिनी ॥३०॥
ताः पुनः पञ्च विज्ञेया लक्षणैः स्वैर्यथोदितैः ।

मसूड़ों में आश्रित साध्य रोगों की भी जो उपेक्षा करता है, उसके दोष बाहर न आकर अन्दर में सूक्ष्मगति (नाड़ी) को उत्पन्न करते हैं। इस गति से बार-बार पूय बहती है। यह गति त्वचा, मांस और अस्थि को तोड़ देती है। ये

गतियाँ कहे हुए वातादि दोषों के अपने-अपने लक्षणों से पांच प्रकार की जाननी चाहिये। [वात-पित्त-कफ-सन्निपात-आगन्तुजनिमित्ताः]। (शीतादि आदि दन्तमांस (मसूड़े) के रोग तेरह हैं।

जिह्वारोग के लक्षण—

शाकपत्रखरा सुप्ता स्फुटिता वातदूषिता ॥३१॥
जिह्वा पित्तात् सदाहोषा रक्तैर्मांसाङ्कुरैश्चिता ।
शाल्मलीकण्टकाभैस्तु कफेन बहला गुरुः ॥३२॥

वायु से दूषित जिह्वा सागवान पत्ते के समान कर्कश, चेतनारहित होती है। (चेतनारहित-रस को न पहचानने वाली।) पित्त से दूषित जिह्वा दाह और ऊषा (पीड़ा) से युक्त तथा मांस के लाल अंकुरों से भरी होती है।

कफ के कारण जिह्वा सेमल के काँटों के समान काँटों से भरी, घट्ट एवं भारी होती है।

जिह्वालस रोग के लक्षण—

कफपित्तादधः शोफो जिह्वास्तम्भकृदुन्नतः ।
मत्स्यगन्धिर्भवेत्पक्वः सोऽलसो मांसशातनः ॥३३॥

कफ-पित्त के कारण जिह्वा के नीचे जिह्वा को जकड़ने वाला ऊंचा शोथ होता है, जो पकने पर मछली के समान गन्ध वाला रहता है, इसको अलस कहते हैं। इसमें मांस सड़ने लगता है।

अधिजिह्वा तथा उपजिह्वा के लक्षण—

प्रबन्धनेऽधो जिह्वायाः शोफो जिह्वाग्रसन्निभः ।
साङ्कुरः कफपित्तास्रैर्लालोषास्तम्भवान् खरः ॥३४॥
अधिजिह्वः सरुक्कण्डूर्वाक्याहारविघातकृत् ।
तादृगेवोपजिह्वस्तु जिह्वाया उपरि स्थितः ॥३५॥

जिह्वा के नीचे प्रबन्ध (मूल) में जिह्वा के अग्रभाग के समान शोथ होता है, जिसमें अंकुर रहते हैं; यह शोफ कफ, पित्त रक्त से होता है। इसमें लालास्राव, जलन, स्तम्भ और कर्कशता होती है। इसको अधिजिह्वा कहते हैं। यह वेदना तथा कण्डू से युक्त होता है और वाक्य एवं भोजन को नष्ट कर देता है अर्थात् रोगी बोल नहीं सकता एवं खा भी नहीं सकता। (प्रबन्धने—मूले)।

अधिजिह्व की भांति जो शोफ जिह्वा के ऊपर होता है, उसको उपजिह्व कहते हैं। ['अधि' का अर्थ ऊपर और 'उप' का अर्थ समीप या नीचे होता है। इसीलिए सुश्रुत ने जिह्वा के ऊपर होने वाले शोथ को अधिजिह्विका और नीचे होने वाले को उपजिह्विका लिखा है।] (जिह्वा के छः रोग हैं।)

तालुपिटिका के लक्षण—

तालुमांसेऽनिलाद् दुष्टे पिटिकाः सरुजः खराः ।
बह्व्यो घनाः स्रावयुतास्तास्तालुपिटिकाः स्मृताः ॥

वायु के कारण तालुमांस के दूषित होने पर वेदनायुक्त, खर, घट्ट एवं स्रावयुक्त बहुत-सी पिटिकायें हो जाती हैं। इनको तालुपिटिका कहते हैं।

गलशुण्डिका के लक्षण—

तालुमूले कफास्रास्राद् मत्स्यबस्तिनिभो मृदुः ।
प्रलम्बः पिच्छिलः शोफो नासयाऽऽहारमीरयन् ॥
कण्ठोपरोधतृट्कासवमिकृद् गलशुण्डिका ।

तालुमूल में कफ और रक्त के कारण मछली की वस्ति के समान कोमल, लटकता हुआ तथा पिच्छिल जो शोथ होता है, जिससे भोजन नासा द्वारा प्रेरित हो, कण्ठ को रुकने से प्यास, कास एवं वमन करता हो तो उसे गलशुण्डिका कहते हैं।

तालुसंहति के लक्षण—

तालुमध्ये निरुङ्मांसं संहतं तालुसंहतिः ॥३८॥

तालुमध्य में वेदनारहित एकत्रित हुए मांस को तालुसंहति कहते हैं।

ताल्वर्बुद के लक्षण—

पद्माकृतिस्तालुमध्ये रक्ताच्छ्वयथुरर्बुदम् ।

तालु के मध्य में कमल की कर्णिका के आकार का रक्त के कारण शोथयुक्त अर्बुद हो जाता है।

वक्तव्य—उपर्य्येव भवेन्मध्ये यथा पद्मस्य कर्णिका। पार्श्वतश्चाङ्कुरैर्दीर्घैर्नासा चाप्यवसीदति। श्लेष्मरक्तसमुत्थानं तालुन्यर्बुदसंज्ञितम् ॥

तालुकच्छप और पुप्पुट के लक्षण—

कच्छपः कच्छपाकारश्चिरवृद्धिः कफादरुक् ॥३९॥
कोलाभः श्लेष्ममेदोभ्यां पुप्पुटो नीरुजः स्थिरः ।

दूषित कफ से तालु भाग में कछुए के आकार का देर में बढ़ने वाला, वेदनारहित जो शोथ होता है; उसे कच्छप कहते हैं।

दूषित कफ और मेद से बेर के समान, वेदनारहित और स्थिर जो शोथ होता है; उसको पुप्पुट कहते हैं।

तालुपाक तथा तालुशोष के लक्षण—

पित्तेन पाकः पाकाख्यः पूयास्रावी महारुजः ॥४०॥
वातपित्तज्वरायासैस्तालुशोषस्तदाह्वयः ।

दूषित पित्त से तालु में जो पाक होता है, जिससे पूय बहती है और अतिशय वेदना होती है, उसे तालुपाक कहते हैं।

वायु, पित्त और ज्वर तथा थकान से युक्त जो शोष तालु में होता है, उसे तालुशोष कहते हैं। (तालुपिटिका आदि आठ रोग तालु में होते हैं।)

रोहिणी के लक्षण—

जिह्वाप्रबन्धजाः कण्ठे दारुणा मार्गरोधिनः ॥४१॥
मांसाङ्कुराः शीघ्रचया रोहिणी शीघ्रकारिणी ।

गले में जो मांसांकुर जिह्वा की जड़ में उत्पन्न होकर अतिशय कष्टदायक, गले के मार्ग को रोकने वाले तथा जल्दी उत्पन्न होने वाले होते हैं; उनको रोहिणी कहते हैं, ये शीघ्र मारक होते हैं।

वातज रोहिणी के लक्षण—

कण्ठास्यशोषकृद्वातात् सा हनुश्रोत्ररुक्करी ॥ ४२ ॥

वातजन्य रोहिणी गले और मुख को सुखा देती है तथा हनु और कानों में वेदना करती है।

पित्तज रोहिणी के लक्षण—

पित्ताज्ज्वरोषातृण्मोहकण्ठधूमायनान्विता ।
क्षिप्रजा क्षिप्रपाकाऽतिरागिणी स्पर्शनासहा ॥४३॥

पित्तज रोहिणी ज्वर, जलन, प्यास, मोह, मूर्च्छा और गले में धुंवासा की प्रतीतियुक्त, जल्दी उत्पन्न होने वाली, जल्दी पकने वाली, बहुत सुर्ख और स्पर्श को न सहने वाली होती है।

कफ, रक्त तथा सन्निपात से जन्य रोहिणी के लक्षण—

कफेन पिच्छिला पाण्डुरसृजा स्फोटकाचिता ।
तप्ताङ्गारनिभा कर्णरुक्करी पित्तजाकृतिः ॥४४॥
गम्भीरपाका निचयात् सर्वलिङ्गसमन्विता ।

कफ से दूषित रोहिणी पिच्छिल और पाण्डुर वर्ण की होती है। रक्तजन्य रोहिणी कोंटों से भरी, जलते हुए अङ्गारों के समान वर्ण एवं स्पर्श वाली, कानों में वेदना करने वाली तथा पित्तजन्य रोहिणी के समान लक्षणों वाली होती है।

सन्निपातज रोहिणी गूढ पाक वाली एवं वातादि सम्पूर्ण दोषों के लक्षणों से युक्त होती है।

कण्ठशालूक के लक्षण—

दोषैः कफोल्बणैः शोफः कोलवद् ग्रथितोन्नतः ॥४५॥
शूककण्टकवत्कण्ठे शालूको मार्गरोधनः ।

कफप्रधान वातादि दोषों से गले में बेर के समान ग्रथित (गठीला) एवं उन्नत जो शोफ होता है और जो शूक के कोंटों की भांति होकर रास्ते को रोक लेता है, उसे कण्ठशालूक कहते हैं।

वृन्द के लक्षण—

वृन्दो वृत्तोन्नतो दाहज्वरकृद् गलपार्श्वगः ॥ ४६ ॥

गले के पार्श्व में गोल, ऊँचा उठा जो शोफ होता है, जिसमें दाह तथा ज्वर रहता है, उसको वृन्द कहते हैं।

तुण्डिकेरिका के लक्षण—

हनुसन्ध्याश्रितः कण्ठे कार्पासीफलसन्निभः ।
पिच्छिलो मन्दरुक् शोफः कठिनस्तुण्डिकेरिका ॥४७॥

गले में हनुसन्धि से सम्बन्धित, जङ्गली कपास के फल के समान (आकार में), पिच्छिल, मन्दवेदना वाला तथा कठिन जो शोफ होता है; उसे तुण्डिकेरिका कहते हैं।

गलौघ के लक्षण—

बाह्यान्तः श्वयथुर्घोरो गलमार्गार्गलोपमः ।
गलौघो मूर्द्धगुरुतातन्द्रालालाज्वरप्रदः ॥४८॥

गले में अन्दर और बाहर भयानक, गले के मार्ग में अर्गल के समान जो शोथ होता है, जिसके होने से शिर में भारीपन, तन्द्रा, लालास्राव तथा ज्वर होता है, उसे गलौघ कहते हैं।

वलय के लक्षण—

वलयं नातिरुक् शोफस्तद्वदेवायतोन्नतः ।

गले में जो शोफ बहुत वेदना न करने वाला, आयत एवं उन्नत होता है, उसे वलय कहते हैं, (क्योंकि इसकी आकृति वलय-कड़े की भांति होती है)।

गिलायुक के लक्षण—

मांसकीलो गले दोषैरेकोऽनेकोऽथवाऽल्परुक् ॥४९॥
कृच्छ्रोच्छ्वासाभ्यवहृतिः पृथुमूलो गिलायुकः ।

दूषित वातादि दोषों से गले में मन्द वेदना वाले एक या अनेक मांसकील हो जाते हैं, जिनके कारण श्वास लेने एवं खाने में कठिनाई होती है, उसे गिलायुक कहते हैं, इसकी जड़ मोटी होती है।

शतघ्नी के लक्षण—

भूरिमांसाङ्कुरवृता तीव्रतृड्ज्वरमूर्धरुक् ॥५०॥
शतघ्नी निचिता वर्तिः शतघ्नीवातिरुक्करी ।

बहुत से मांसांकुरों से भरी, तीव्र प्यास, ज्वर एवं शिरोवेदना से युक्त, शतघ्नी (एक शस्त्र) के समान अतिवेदना करने वाली निबिड़ वर्त्ति, शतघ्नी कही जाती है।

वक्तव्य—शतघ्नी-अयस्कण्टकसंच्छन्ना महतीशिला, तद्वच्छिविद्धावयवा मांसवर्तिः मांसप्ररोहः, इति शिवदाससेनः। शतघ्नीं लोहकण्टककीलितयष्टिविशेषाम्। शतघ्नी च चतुस्ताला लोहकण्टकसञ्चिता। इति मल्लिनाथः रघुवंशे, १२।९५।

गलविद्रधि के लक्षण—

व्याप्तसर्वगलः शीघ्रजन्मपाको महारुजः ॥५१॥
पूतिपूयनिभस्रावी श्वयथुर्गलविद्रधिः ।

सम्पूर्ण गले में फैला हुआ, शीघ्र उत्पन्न होने वाला, शीघ्र पकने वाला, महान वेदना से युक्त और सड़ी हुई पूय के समान स्राव वाला शोथ गलविद्रधि कहलाता है।

गलार्बुद के लक्षण—

जिह्वाऽवसाने कण्ठादावपाकं श्वयथुं मलाः ॥५२॥
जनयन्ति स्थिरं रक्तं नीरुजं तद्गलार्बुदम् ।

जिह्वा के अन्त में और गले के प्रारम्भ में, न पकने वाला, स्थिर, लाल और वेदनारहित शोथ को दोष उत्पन्न करते हैं; उसे गलार्बुद कहते हैं।

गलगण्ड के लक्षण—

पवनश्लेष्ममेदोभिर्गलगण्डो भवेद्बहिः ।
वर्धमानः स कालेन मुष्कवल्लम्बते निरुक् ॥५३॥

दूषित वायु, कफ तथा मेद से गले के बाहर में बढ़ता हुआ शोथ होता है, यह शोथ कुछ समय पीछे वृषण के समान लटकने लगता है, इसको गलगण्ड कहते हैं। इसमें वेदना नहीं होती।

वक्तव्य—निर्णयसागर की पुस्तक में अरुणदत्त के अनुसार

'अतिरुक्' पाठ दिया है, वह ठीक नहीं, शिवदाससेनजी ने और इन्दु ने 'निरुक्' पाठ पढ़ा है, जो ठीक भी है ।

वातज गलगण्ड के लक्षण—

कृष्णोऽरुणो वा तोदाढ्यः स वातात्कृष्णराजिमान् ।
वृद्धस्तालुगले शोषं कुर्याच्च विरसास्यताम् ॥ ५४ ॥

यह गलगण्ड वायु के कारण काला, लाल, तोदबहुल, काली रेखाओं वाला होता है। बढ़ने पर तालु और गले में शोष तथा मुख में विरसता करता है ।

कफज गलगण्ड के लक्षण—

स्थिरः सवर्णः कण्डूमाञ् शीतस्पर्शो गुरुः कफात् ।
वृद्धस्तालुगले लेपं कुर्याच्च मधुरास्यताम् ॥ ५५ ॥

प्रकुपित कफ से गले में उत्पन्न गलगण्ड स्थिर, त्वचा के समान वर्ण वाला, कण्डूयुक्त, स्पर्श में शीतल और भारी होता है। बढ़ने पर तालु और गले में लिप्तता (चुपड़ा हुआ सा) एवं मुख में मधुरता करता है।

मेदोज गलगण्ड के लक्षण—

मेदसः श्लेष्मवृद्धातिवृद्ध्योः सोऽनुविधीयते ।
देहं वृद्धश्च कुरुते गले शब्दं स्वरेऽल्पताम् ॥५६॥

मेद के बढ़ने से उत्पन्न गलगण्ड कफजन्य गलगण्ड के समान लक्षणों वाला होता है। यह गलगण्ड शरीर के बढ़ने और घटने का अनुकरण करता है, बढ़ने पर यह गले में शब्द करता है और आवाज को कृश कर देता है।

स्वरघ्न रोग के लक्षण—

श्लेष्मरुद्धानिलगतिः शुष्ककण्ठो हतस्वरः ।
ताम्यन् प्रसक्तं श्वसिति येन स स्वरहाऽनिलात् ॥

दूषित कफ से जब वायु की गति रुक जाती है, तब गला सूख जाता है, स्वर बैठ जाता है, इससे रोगी मूर्च्छित होता हुआ सा, निरन्तर रुक-रुक कर श्वास लेता है, यह रोग वायु के कारण होता है और स्वरघ्न कहलाता है। (रोहिणी आदि अट्ठारह गले के रोग हैं।)

मुखपाक के लक्षण—

करोति वदनस्यान्तर्व्रणान् सर्वसरोऽनिलः ।
सञ्चारिणोऽरुणान् रूक्षानोष्ठौ ताम्रौ चलत्वचौ ॥
जिह्वा शीतासहा गुर्वी स्फुटिता कण्टकाचिता ।
विवृणोति च कृच्छ्रेण मुखं पाको मुखस्य सः ॥५९॥

वायु सब ओर (पूरे मुख में) फैलती हुई सम्पूर्ण मुख के अन्दर फैलने वाले, अरुण और रूक्ष व्रणों को करती है। ओठ ताम्र वर्ण होते हैं और इनकी त्वचा छिल जाती है, जीभ शीत को नहीं सहती; वह भारी, फटी हुई और काँटों से भरी होती है और रोगी कठिनाई से मुख को खोलता है, इसको मुखपाक कहते हैं।

ऊर्ध्वगुद के लक्षण—

अधः प्रतिहतो वायुरर्शोगुल्मकफादिभिः ।
यात्यूर्ध्वं वक्त्रदौर्गन्ध्यं कुर्वन्नूर्ध्वगुदस्तु सः ॥६०॥

अर्श, गुल्म, कफ आदि से अवरुद्ध वायु ऊपर को आती है, इससे मुख में, दुर्गन्ध होती है, उसे ऊर्ध्वगुद कहते हैं ।

पित्तज मुखपाक के लक्षण—

मुखस्य पित्तजे पाके दाहोषे तिक्तवक्त्रता ।
क्षारोक्षितक्षतसमा व्रणाः, तद्वच्च रक्तजे ॥६१॥

पित्तजन्य मुखपाक में दाह, पीडा, मुख में तिक्तता होती है और क्षार से स्पर्श किये व्रण के समान व्रण मुख में होते हैं।

रक्तजन्य मुखपाक में भी पित्तजन्य पाक के समान लक्षण होते हैं।

कफज और त्रिदोषज मुखपाक के लक्षण—

कफजे मधुरास्यत्वं कण्डूमत्पिच्छिला व्रणाः ।
अन्तःकपोलमाश्रित्य श्यावपाण्डुकफोऽर्बुदम् ॥६२॥
कुर्यात्तद् घट्टितं छिन्नं मृदितं च विवर्धते ।
मुखपाको भवेत्सास्रैः सर्वैः सर्वाकृतिर्मलैः ॥६३॥

कफजन्य मुखपाक में मुख में मधुरता, कण्डू और पिच्छिल व्रण होते हैं। बढ़ा हुआ कफ कपोल के अन्दर आश्रय लेकर श्याव एवं पाण्डुर वर्ण अर्बुद करते हैं। यह अर्बुद काटने पर, घिसने पर और मलने पर फिर बढ़ जाता है।

वातादि तीनों दोषों से और रक्त से जो मुखपाक होता है, उसमें सब दोषों के लक्षण होते हैं।

पूतिवक्त्रता के लक्षण—

पूत्यास्यतां च तैरेव दन्तकाष्ठादिविद्विषः ।

दातौन आदि न करने वाले पुरुषों में वातादि दोषों से मुख में दुर्गन्ध हो जाती है।

ओष्ठे गण्डे द्विजे मूले जिह्वायां तालुके गले ॥६४॥
वक्त्रे सर्वत्र चेत्युक्ताः पञ्चसप्ततिरामयाः ।
एकादशैको दश च त्रयोदश तथा च षट् ॥६५॥
अष्टावष्टादशाष्टौ च क्रमात्—

ओष्ठ में ग्यारह, गण्ड में एक, दांत में दस, दन्तमूल में तेरह, जिह्वा में छ, तालु में आठ, गले में अट्ठारह और मुख में आठ, इस प्रकार से कुल ७५ रोग कहे गये हैं।

असाध्य मुख रोग के लक्षण—

—तेष्वनुपक्रमाः ।
करालो मांसरक्तौष्ठावर्बुदानि जलाद्विना ॥६६॥
कच्छपस्तालुपिटिका गलौघः सुषिरो महान् ।
स्वरघ्नोर्ध्वगुदश्यावशातघ्नीवलयालसाः ॥६७॥
नाड्योष्ठकोपौ निचयात्, रक्तात्सर्वैश्च रोहिणी ।
दशने स्फुटिते दन्तभेदः, पक्वोपजिह्विका ॥६८॥
गलगण्डः स्वरभ्रंशी कृच्छ्रोच्छ्वासोऽतिवत्सरः ।
याप्यस्तु हर्षो भेदश्च शेषाञ् शस्त्रौषधैर्जयेत् ॥६९॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने मुखरोगविज्ञानीयो नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इन मुख रोगों में असाध्य रोग, कराल, मांसौष्ठ, रक्तौष्ठ, जलार्बुद, को छोड़कर शेष सभी अर्बुद, (ओष्ठार्बुद, तालवर्बुद, गलार्बुद, सर्वसरार्बुद,) कच्छप, तालुपिटिका, गलौघ, महा-सुषिर, स्वरघ्न, ऊर्ध्वगुद, श्यावदन्त, शतघ्नी, वलय, अलस, सन्निपातजन्य दन्तनाडी, सन्निपातज ओष्ठपाक, रक्तज रोहिणी, सन्निपातज रोहिणी, दाँतों के फटने पर दन्तभेद, पकी हुई उपजिह्विका तथा गलगण्ड, यदि इसमें स्वरभ्रंश हो, कठिनाई से उच्छ्वास हो और एक साल पुराना हो तो यह असाध्य है। (इन्दु ने स्वरभ्रंशी से स्वरहा रोग लिया है)।

दन्तहर्ष और दन्तभेद याप्य हैं। शेष ऊनचास रोगों की शस्त्र और औषध से चिकित्सा करे।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का मुखरोगविज्ञानीय नामक इक्कीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

अथातो मुखरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे मुखरोगप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

खण्डौष्ठचिकित्सा—

खण्डौष्ठस्य विलिख्यान्तौ स्यूत्वा व्रणवदाचरेत् ।
यष्टिज्योतिष्मतीरोध्रश्रावणीसारिवोत्पलैः ॥ १ ॥
पटोल्या काकमाच्या च तैलमभ्यञ्जनं पचेत् ।
नस्यं च तैलं वातघ्नमधुरस्कन्धसाधितम् ॥ २ ॥

खण्डौष्ठ रोगी में स्नेहन और स्वेदन करके ओष्ठ के प्रान्त भागों (किनारों) का विलेखन करके उनको भली प्रकार मिलाकर क्षौम सूत्र से सीकर सद्योव्रण, की चिकित्सा करे—शतधौत घृत से अभ्यक्त कवलिका को व्रण के ऊपर रख देवे।

मुलहठी, मालकंगनी, लोध, मुण्डी, सारिवा, कमल, पटोली और मकोय, इनके कल्क से तैल का परिपाक करे। यह तैल अभ्यंग के लिए उत्तम है।

वातनाशक (भद्रदार्वादि) और मधुर गण से सिद्ध तैल नस्य में बरतना चाहिये।

वातज ओष्ठरोग—

महास्नेहेन वातौष्ठे सिद्धेनाक्तः पिचुर्हितः ।
देवधूपमधूच्छिष्टगुग्गुल्वमरदारुभिः ॥ ३ ॥
यष्ट्याह्वचूर्णयुक्तेन तेनैव प्रतिसारणम् ।
नाड्यौष्ठं स्वेदयेद् दुग्धसिद्धैरेरण्डपल्लवैः ॥ ४ ॥
खण्डौष्ठविहितं नस्यं तस्य मूर्ध्नि च तर्पणम् ।

सर्जरस, मोम, गुग्गुलु, देवदारु, इनसे सिद्ध घी, मज्जा, वसा, तैलरूपी महास्नेह से स्निग्ध पिचु वातज ओष्ठकोप में हितकारी है।

इसी महास्नेह में मधुयष्टी का चूर्ण मिलाकर वातौष्ठ में प्रतिसारण (मलना) करें।

वातौष्ठ को दूध में सिद्ध किये एरण्ड के पानी से नाडी-स्वेद देवे।

खण्डौष्ठ में कहा नस्य बरते, एवं शिर पर शिरोभ्यंग करे।

पित्तज तथा रक्तज ओष्ठरोग की चिकित्सा—

पित्ताभिघातजावोष्ठौ जलौकोभिरुपाचरेत् ॥ ५ ॥
रोध्रसर्जरसक्षौद्रमधुकैः प्रतिसारणम् ।
गुडूचीयष्टिपत्तङ्गसिद्धमभ्यञ्जने घृतम् ॥ ६ ॥
पित्तविद्रधिवच्चात्र क्रिया, शोणितजेऽपि च ।
इदमेव नवे कार्यं कर्म—

पित्तज और अभिघातज ओष्ठ कोप में जोंक से चिकित्सा करे—रक्त निकलवावे, इसमें लोध, राल, मुलहठी, इनको घी में मिलाकर प्रतिसारण करे। गिलोय, मुलहठी, चन्दन, इनसे सिद्ध घृत अभ्यंग में बरते और पित्तविद्रधि की भांति चिकित्सा करे।

रक्तजन्य नूतन ओष्ठप्रकोप में यही पित्तोक्त कार्य करना चाहिये। (चिरोत्पन्न प्रत्याख्येय है)।

कफज ओष्ठरोग की चिकित्सा—

—ओष्ठे तु कफातुरे ॥ ७ ॥
पाठाक्षारमधुव्योषैर्हृतास्रे प्रतिसारणम् ।
धूमनावनगण्डूषाः प्रयोज्याश्च कफच्छिदः ॥ ८ ॥

कफ रोग से युक्त ओष्ठ में रक्त निकालकर पाठा, यवक्षार, मधु और त्रिकटु से प्रतिसारण करना चाहिये। कफनाशक धूम, नस्य और गण्डूष बरतने चाहिये।

मेदोज ओष्ठरोग की चिकित्सा—

स्विन्नं भिन्नं विमेदस्कं दहेन्मेदोजमग्निना ।
प्रियङ्गुरोध्रत्रिफलामाक्षिकैः प्रतिसारयेत् ॥ ९ ॥

मेदोजन्य ओष्ठ में स्वेदन करके, चीरकर, मेद को निकालकर ओष्ठ को अग्नि से जलाये। प्रियंगु, लोध, त्रिफला और मधु से प्रतिसारण करे।

जलार्बुद की चिकित्सा—

सक्षौद्रा घर्षणं तीक्ष्णा भिन्नशुद्धे जलार्बुदे ।
अवगाढेऽतिवृद्धे वा क्षारोऽग्निर्वा प्रतिक्रिया ॥ १० ॥

जलार्बुद में भेदन करके जल निकाल देने पर पिप्पली, मरिच आदि तीक्ष्ण द्रव्यों को मधु में मिलाकर रगड़े। यदि अर्बुद गम्भीर-गहरा तथा बहुत बढ़ा हुआ या उत्पन्न हो तो क्षार या अग्नि से जला दे।

गण्डस्थ अलजी की चिकित्सा—

आमाद्यवस्थास्वलजीं गण्डे शोफवदाचरेत् ।

आम, विदह्यमान, पक्वावस्था में, गण्ड में हुई अलजी की व्रणशोफ की भांति चिकित्सा करे।

शीतदन्त की चिकित्सा—

स्विन्नस्य शीतदन्तस्य पालीं विलिखितां दहेत् ॥११॥

तैलेन, प्रतिसार्या च सक्षौद्रघनसैन्धवैः ।
दाडिमत्वग्घनातार्क्ष्यकान्ताजम्ब्वस्थिनागरैः ॥१२॥
कवलः क्षीरिणां क्वाथैरणुतैलं च नावनम् ।

शीतदन्त में स्वेदन करके दन्तपाली का लेखन कर गरम तैल से जला देवे। मधु, मुस्ता, सैन्धव, अनार की छाल, रसाञ्जन, प्रियङ्गु, जामुन की गुठली और सोंठ से दन्तपाली पर घर्षण करे। बरगद आदि क्षीरिवृक्षों के क्वाथों से कुल्ले करे। अणुतैल का नस्य हितकारी है।

दन्तहर्ष और दन्तभेद की चिकित्सा—

दन्तहर्षे तथा भेदे सर्वा वातहरा क्रिया ॥१३॥
तिलयष्टीमधुश्रृतं क्षीरं गण्डूषधारणम् ।

दन्तहर्ष और दन्तभेद में सम्पूर्ण वातनाशक क्रिया उत्तम है। तिल और मुलहठी से सिद्ध दूध का गण्डूष धारण करना उत्तम है।

दाँतों के हिलने पर उपाय—

सस्नेहं दशमूलाम्बुगण्डूषः प्रचलद्द्विजे ॥१४॥
तुत्थरोध्रकणाश्रेष्ठापत्तङ्गपटुघर्षणम् ।
स्निग्धाः शील्या यथावस्थं नस्यान्नकवलादयः ॥१५॥

दाँतों के हिलने पर दशमूल के क्वाथ का स्नेह (तैल) के साथ गण्डूष करे। तुत्थ, लोध, पिप्पली, त्रिफला, लाल चन्दन, नमक, इनसे रगड़े। अवस्थानुसार स्निग्ध नस्य, अन्न, कवल आदि का प्रयोग करना चाहिये।

अधिदन्तचिकित्सा—

अधिदन्तकमालिप्तं यदा क्षारेण जर्जरम् ।
कृमिदन्तमिवोत्पाट्य तद्वच्चोपचरेत्तदा ॥१६॥
अनवस्थितरक्ते च दग्धे व्रण इव क्रिया ।

अधिदन्त पर क्षार लगाये, जब वह जर्जरित (ढीला) हो जाय, तब कृमिदन्त की भांति इसको उखाड़ कर कृमिदन्त की ही चिकित्सा करे। रक्त के न रुकने पर जलाकर व्रण की भांति चिकित्सा करे।

दन्तशर्कराचिकित्सा—

अहिंसन् दन्तमूलानि दन्तेभ्यः शर्करां हरेत् ॥१७॥
क्षारचूर्णैर्मधुयुतैस्ततश्च प्रतिसारयेत् ।

दांत की जड़ों को बिना नुकसान पहुँचाये (खुरच कर) दांतों से शर्करा को हटाये और पीछे से यवक्षार को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे।

वक्तव्य—'क्षारचूर्णैः' के स्थान पर 'लाक्षाचूर्णैः' पाठ ठीक है, सुश्रुत में भी यही पाठ है।

दन्तकपालिकाचिकित्सा—

कपालिकायामप्येवं हर्षोक्तं च समाचरेत् ॥ १८ ॥

कपालिका में भी यही चिकित्सा बरते और दन्तहर्ष में कहा हुआ उपचार करे।

कृमिदन्तचिकित्सा—

जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम् ।
स्निग्धैश्चालेपगण्डूषनस्याहारैश्चलापहैः ॥१९॥
गुडेन पूर्णं सुषिरं मधूच्छिष्टेन वा दहेत् ।
सप्तच्छदार्कक्षीराभ्यां पूरणं कृमिशूलजित् ॥२०॥

कृमिदन्त में जो दांत हिलता न हो उसमें स्वेदन करके विस्रावण साधनों से रक्त को निकाले। फिर स्निग्ध एवं वात नाशक द्रव्यों से आलेप, गण्डूष, नस्य और आहार बरते। खोखले को गुड़ या मोम से भर कर (तप्त शलाका से) जला देवे। सतवन और आक के दूध से भरने पर कृमि एवं शूल नष्ट होते हैं।

दन्तशूलचिकित्सा—

हिङ्गुकट्फलकासीससर्जिकाकुष्ठवेल्लजम् ।
रजो रुजं जयत्याशु वस्त्रस्थं दशने धृतम् ॥२१॥
गण्डूषं ग्राहयेत्तैलमेभिरेव च साधितम् ।
क्वाथैर्वा युक्तमेरण्डद्विव्याघ्रीभूकदम्बजैः ॥२२॥
क्रियायोगैर्बहुविधैरित्यशान्तरुजं भृशम् ।
दृढमप्युद्धरेद्दन्तं पूर्वं मूलाद्विमोक्षितम् ॥२३॥
सन्दंशकेन लघुना दन्तनिर्घातनेन वा ।
तैलं सयष्ट्याह्वरजो गण्डूषो मधु वा ततः ॥२४॥
ततो विदारियष्ट्याह्वशृङ्गाटककसेरुभिः ।
तैलं दशगुणक्षीरं सिद्धं युञ्जीत नावनम् ॥२५॥

हींग, कट्फल; कासीस, सर्जक्षार, कूठ, वायविडंग, इनके चूर्ण को कपड़े में रखकर (पोटली बांधकर) दांतों में रखने से पीड़ा शान्त होती है।

हींग आदि से सिद्ध किये तैल का गण्डूष करे। अथवा एरण्ड, कटेरी, बड़ी कटेरी, भूकदम्ब (अलम्बुषा—मुण्डी), इनके क्वाथ से सिद्ध तैल का गण्डूष करे।

इस प्रकार की बहुत सी चिकित्सा करने पर भी यदि दांत की पीड़ा शान्त न हो तो अतिदृढ़ दांत को प्रथम मूल से अलग करके, लघु संदंश से या दन्तनिर्घातन यन्त्र से उखाड़ देवे। पीछे से मुलहठी के चूर्ण युक्त तैल का गण्डूष करे अथवा मुलहठी के चूर्ण को मधु में मिलाकर लगाये।

मुलहठी, विदारी, सिंघाड़ा, कसेरु इनसे तैल को दसगुने दूध में सिद्ध करके नस्य ले।

दांत निकालने के अयोग्य मनुष्य—

कृशदुर्बलवृद्धानां वातार्तानां च नोद्धरेत् ।
नोद्धरेच्चोत्तरं दन्तं बहूपद्रवकृद्धि सः ॥२६॥
एषामप्युद्धृतौ स्निग्धस्वादुशीतक्रमो हितः ।

कृश, दुर्बल, वृद्ध और वात से पीड़ित पुरुषों के दांत को नहीं निकालना चाहिये। ऊपर के दांत को भी नहीं निकाले, क्योंकि वह बहुत उपद्रव करने वाला है। इनमें भी दांत उखाड़ने पर स्निग्ध, मधुर तथा शीतल चिकित्सा करनी चाहिये।

शीतादरोगचिकित्सा—

विस्राविताम्रे शीतादे सक्षौद्रैः प्रतिसारणम् ॥२७॥
मुस्ताऽर्जुनत्वक्त्रिफलाफलिनीतार्क्ष्यनागरैः ।
तत्क्वाथः कवलो, नस्यं तैलं मधुरसाधितम् ॥२८॥

शीताद रोग में रक्त निकाल कर मुस्ता, अर्जुन की छाल, त्रिफला, प्रियंगु, रसांजन, सोंठ, इनको मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। मुस्ता आदि के क्वाथ से कवल करे। मधुर गण से सिद्ध तैल का नस्य देवे।

उपकुशरोगचिकित्सा—

दन्तमांसान्युपकुशे स्विन्नान्युष्णाम्बुधारणैः ।
मण्डलाग्रेण शाकादिपत्रैर्वा बहुशो लिखेत् ॥२९॥
ततश्च प्रतिसार्याणि घृतमण्डमधुद्रुतैः ।
लाक्षाप्रियङ्गुपत्तङ्गलवणोत्तमगैरिकैः ॥३०॥
सकुष्ठशुण्ठीमरिचयष्टीमधुरसाञ्जनैः ।
सुखोष्णो घृतमण्डोऽनु तैलं वा कवलग्रहः ॥३१॥
घृतं च मधुरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ।

उपकुश रोग में गरम पानी का गण्डूप मुख में धारण करके मसूड़ों को स्विन्न करे। फिर मण्डलाग्र से या सागौन आदि के पत्तों से बहुत वार लेखन करे। फिर लाख, प्रियंगु, लाल चन्दन, सैन्धव, गेरू, कूठ, सोंठ, मरिच, मुलहठी, रसौत; इनको घृतमण्ड से और मधु से पतला बनाकर दाँतों पर प्रतिसारण करे। पीछे से घृतमण्ड या तैल का कवल (कुल्ली) करे। मधुर औषध जीवन्ती आदि के कल्क एवं क्वाथ से सिद्ध घृत कवल एवं नस्य में उत्तम है।

पुप्पुटरोगचिकित्सा—

दन्तपुप्पुटके स्विन्नच्छिन्नभिन्नविलेखिते ॥३२॥
यष्ट्याह्वस्वर्जिकाशुण्ठीसैन्धवैः प्रतिसारणम् ।

दन्तपुप्पुटक में स्वेदन करके छेदन, भेदन और विलेखन चिकित्सा करे। पीछे मुलहठी, सर्जिक्षार, सोंठ और सैन्धव से प्रतिसारण करे।

दन्तविद्रधिचिकित्सा—

विद्रधौ कटुतीक्ष्णोष्णरूक्षैः कवललेपनम् ॥३३॥
घर्षणं कटुकाकुष्ठवृश्चिकालीयवोद्भवैः ।
रक्षेत्पाकं हिमैः पक्वः पाट्यो दाह्योऽवगाढकः ॥३४॥

दन्तविद्रधि में कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, एवं रूक्ष द्रव्यों से कवल तथा लेप करे। कुटकी, कूठ, वृश्चिकाली (मेषशृङ्गी) और जौ से घर्षण करे। शीतल द्रव्यों के प्रयोग से विद्रधि के पाक को बचाये। यदि पक जाये तो उसे चीर देवे और गहरी गई हो तो दाह करना चाहिये। (अवगाढकः—कठिनः, इन्दुः)।

दन्तसुषिरचिकित्सा—

सुषिरे छिन्नलिखिते सक्षौद्रैः प्रतिसारणम् ।
रोध्रमुस्तमिशिश्रेष्ठातार्क्ष्यपत्तङ्गकिंशुकैः ॥३५॥
सकट्फलैः कषायैश्च तेषां गण्डूष इष्यते ।
यष्टीरोध्रोत्पलानन्तासारिवाऽगुरुचन्दनैः ॥३६॥
सगैरिकसितापुण्ड्रैः सिद्धं तैलं च नावनम् ।

सुषिर रोग में छेदन और लेखन करने पर लोध, मुस्ता, सौंफ, त्रिफला, रसांजन, लालचन्दन, ढाक और कट्फल से प्रतिसारण करे। लोध आदि के कषायों से गण्डूष करना चाहिये। मुलहठी, लोध, कमल, अनन्ता (अनन्तमूल), सारिवा, अगरु, चन्दन, गेरु, सिता (दूर्वा), पुण्डरीक; इनसे सिद्ध तैल का नस्य देना चाहिये। (किंशुक के स्थान पर कई आचार्य सैन्धव पढ़ते हैं।)

अधिमांसचिकित्सा—

छित्वाऽधिमांसकं चूर्णैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ॥३७॥
वचातेजोवतीपाठास्वर्जिकायवशूकजैः ।
पटोलनिम्बत्रिफलाकषायः कवलो हितः ॥३८॥

अधिमांस का छेदन करके वच, तेजबल, पाठा, सर्जक्षार, यवक्षार; इनको मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। परवल, नीम और त्रिफला के कषाय से कवल करना हितकारी है।

विदर्भचिकित्सा—

विदर्भे दन्तमूलानि मण्डलाग्रेण शोधयेत् ।
क्षारं युञ्ज्यात्ततो नस्यं गण्डूषादि च शीतलम् ॥३९॥

विदर्भ रोग में मसूड़ों का मण्डलाग्र से शोधन करे। पीछे से क्षार बरते; फिर नस्य और शीतल गण्डूष आदि बरते।

दन्तनाडीचिकित्सा—

संशोध्योभयतः कायं शिरश्चोपचरेत्ततः ।
नाडीं दन्तानुगां दन्तं समुद्धृत्याग्निना दहेत् ॥४०॥
कुब्जां नैकगतिं पूर्णां गुडेन मदनेन वा ।
धावनं जातिमदनखदिरस्वादुकण्टकैः ॥४१॥
क्षीरिवृक्षाम्बुगण्डूषो, नस्यं तैलं च तत्कृतम् ।

वमन एवं विरेचन से शरीर का तथा नस्य से शिर का संशोधन करके दन्त से सम्बन्धित नाडी की चिकित्सा करे। इसके लिये दाँत को निकाल कर अग्नि से जलाये। जो नाड़ी टेढ़ी तथा अनेक रास्तों वाली हो, उसे गुड़ या मोम से भरकर जलाये। जाती (चमेली), मैनफल, खैर, गोखरू; इनके कषाय से धोये। बरगद आदि क्षीरिवृक्षों के क्वाथ से गण्डूष कराये। बरगद आदि के वृक्षों के कल्क एवं क्वाथ से सिद्ध तैल का नस्य बरते। (स्वादुकण्टकः—विकङ्कतः इति शिवदाससेनः)।

वातजजिह्वाकण्टकचिकित्सा—

कुर्याद्वातौष्ठकोपोक्तं कण्टकेष्वनिलात्मसु ॥४२॥
जिह्वायाम्—

वातजन्य जिह्वाकण्टकों में वातजन्य ओष्ठकोप की चिकित्सा बरतनी चाहिये।

पित्तजजिह्वाकण्टकचिकित्सा—

—पित्तजातेषु घृष्टेषु रुधिरे स्रुते ।
प्रतिसारणगण्डूषनावनं मधुरैर्हितम् ॥४३॥

पित्तजन्य जिह्वाकण्टकों में रगड़ने से रक्त के बह जाने पर मधुर द्रव्यों से प्रतिसारण, गण्डूष और नस्य हितकारी है।

कफजजिह्वाकण्टकचिकित्सा—

तीक्ष्णैः कफोत्थेष्वेवं च सर्षपत्र्यूषणादिभिः।

कफजन्य जिह्वाकण्टकों में सरसों और त्रिकटु आदि तीक्ष्ण द्रव्यों से प्रतिसारण करे।

नूतनजिह्वालसचिकित्सा—

नवे जिह्वालसेऽप्येवं, तं तु शस्त्रेण न स्पृशेत् ॥४४॥

नूतन जिह्वालस में भी यही उपर्युक्त चिकित्सा करे। इस में शस्त्र उपचार न करे।

वक्तव्य—पुरातन अलस रोग असाध्य है, नूतन साध्य है।

अधिजिह्वाचिकित्सा—

उन्नम्य जिह्वामाकृष्टां बडिशेनाधिजिह्विकाम्।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण तीक्ष्णोष्णैर्घर्षणादि च ॥४५॥

जिह्वा को ऊंचा करके अधिजिह्विका को बडिश शस्त्र से खींच कर मण्डलाग्र शस्त्र से काट देवे। तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों (मरिच आदि) से रगड़े।

उपजिह्वाचिकित्सा—

उपजिह्वं परिस्राव्य यवक्षारेण घर्षयेत्।

उपजिह्वा में शस्त्र (अङ्गुलिशस्त्र या सागौन के पत्ते आदि) से रक्त का स्राव करके यवक्षार से रगड़े।

वक्तव्य—उपजिह्विकां शाकपत्रेणांगुलिशस्त्रेण वा परिस्राव्य यवक्षारेण प्रतिसारयेत्।

गलशुण्डिकाचिकित्सा—

कफघ्नैः शुण्डिका साध्या नस्यगण्डूषघर्षणैः ॥४६॥
एर्वारुबीजप्रतिमं वृद्धायामसिराततम्।
अग्रं निविष्टं जिह्वाया बडिशाद्यवलम्बितम् ॥४७॥
छेदयेन्मण्डलाग्रेण नात्यग्रे न च मूलतः।
छेदेऽत्यसृक्क्षयान्मृत्युर्हीने व्याधिर्विवर्द्धते ॥४८॥

शुण्डिका की चिकित्सा कफघ्न द्रव्यों से, नस्य, गण्डूष तथा घर्षण से करनी चाहिये।

बढ़ी हुई शुण्डिका जो ककड़ी के बीज के समान, सिराओं से न व्याप्त तथा जिह्वा के अग्रभाग पर स्थित हो, उसे बडिश या मुचुण्डी से पकड़ कर मण्डलाग्र शस्त्र से न तो बहुत आगे और न मूल में काट दे। बहुत अधिक काटने पर रक्त के क्षय से मृत्यु होती है। थोड़ा काटने पर रोग बढ़ता है।

गलशुण्डिकाछेदन के बाद कर्तव्य—

मरिचातिविषापाठावचाकुष्ठकुटन्नटैः।
छिन्नायां सपटुक्षौद्रैर्घर्षणं, कवलः पुनः ॥४९॥
कटुकातिविषापाठानिम्बरास्नावचाम्बुभिः।

गलशुण्डिका के काट लेने पर मरिच, अतीस, पाठा, वच, कूठ, केवटी मोथा, सैन्धव, मधु; इनसे घर्षण करे। कुटकी, अतीस, पाठा, नीम, रास्ना, वचा; इनके क्वाथ से पीछे से कुल्ला करे।

सङ्घाते पुप्पुटे कूर्मे विलिख्यैवं समाचरेत् ॥ ५० ॥

तालुसंघात, तालुपुप्पुट और कच्छप में भी इसी प्रकार लेखन करके मरिच आदि से रगड़े।

तालुपाकरोगचिकित्सा—

अपक्के तालुपाके तु कासीसक्षौद्रताक्ष्यर्जैः।
घर्षणं, कवलः शीतकषायमधुरौषधैः ॥५१॥

तालुपाक अपक्क हो तो कासीस, मधु और रसांजन से घर्षण करना चाहिये। शीतल कषाय तथा मधुर ओषधियों से कवल करना उत्तम है।

पक्केऽष्टापदवद्भिन्ने तीक्ष्णोष्णैः प्रतिसारणम्।
वृषनिम्बपटोलाद्यैस्तिक्तैः कवलधारणम् ॥५२॥

तालुपाक पक गया हो तो अष्टापद की भांति चीरकर तीक्ष्ण और उष्ण ओषधियों से प्रतिसारण करे। अडूसा, नीम पटोल आदि एवं तिक्त द्रव्यों का कवल धारण करे।

वक्तव्य—अष्टापद, (Double cross Incision)—अष्टापदं-चतुरङ्गपीठम् , तस्कोष्ठाकृतिच्छेदनम्। पटोल आदि-पटोलारिष्टजातीकरवीरगुडूचीवृषकटुकाहरिद्राद्वयवेत्राग्रकण्टकारिकाक्वाथो मधुतैलञ्च (वृ. वा. उ. २६. अ।)

तालुशोषचिकित्सा—

तालुशोषे त्वतृष्णस्य सर्पिरुत्तरभक्तिकम्।
कणाशुण्ठीशृतं पानमम्लैर्गण्डूषधारणम् ॥५३॥
धन्वमांसरसाः स्निग्धाः, क्षीरसर्पिश्च नावनम्।

जिस तालुशोष में रोगी को प्यास न हो, उसमें भोजन के उपरान्त घृतपान कराये। पिप्पली और सोंठ से पकाया जल पीने को देवे। कांजी आदि अम्ल द्रव्यों का गण्डूष धारण करे। स्निग्ध जांगल मांसरस देवे। दूध से बनाये घृत का नस्य दे।

वक्तव्य—चरक में स्नेहपान के निषेध में जो तालुशोष रोग का निषेध किया है, वह प्यास वाले का ही समझना चाहिये, यथा-तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः॥ (चरक. सू. अ. १३।) तृष्णा न होने पर सोंठ और पिप्पली से सिद्ध घृत देवे, यथा—'तालुशोषे पिप्पलीनागरसिद्धमौत्तरभक्तिकं सर्पिरतृष्णः पिबेत् , और तृष्णा होने पर 'तालुशोषे मधुकपिप्पलीनागरसिद्धं सर्पिरुत्तरभक्तिकं सतृष्णः पिबेत् ॥' इति वृद्धवाग्भटे सतृष्णः-तृष्णासहितः, इन्दुः।

कण्ठरोग की सामान्य चिकित्सा—

कण्ठरोगेष्वसृङ्मोक्षस्तीक्ष्णैर्नस्यादि कर्म च ॥५४॥
क्वाथः पानं च शार्वीत्वङ्निम्बताक्ष्यर्कलिङ्गजः।
हरीतकीकषायो वा पेयो माक्षिकसंयुतः ॥५५॥
श्रेष्ठाव्योषयवक्षारदार्वीद्वीपिरसाञ्जनैः।
सपाठातेजिनीनिम्बैः सुक्तगोमूत्रसाधितैः ॥५६॥
कवलो, गुटिका वाऽत्र कल्पिता प्रतिसारणम्।
निचुलं कटभी मुस्तं देवदारु महौषधम् ॥५७॥
वचा दन्ती च मूर्वा च लेपः कोष्णोऽतिशोकहा।

गले के रोगों में रक्तमोक्षण, तीक्ष्ण द्रव्यों से नस्य, गण्डूष आदि बरते। दारुहल्दी की छाल, नीम, रसांजन और इन्द्रजौ का क्वाथ पिये। अथवा मधु के साथ हरड़ का क्वाथ पिये।

त्रिफला, त्रिकटु, यवक्षार, दारुहल्दी, चित्रक, रसौंत, पाठा, तेजबल, नीम, इनसे शुक्त और गोमूत्र में बनाया कवल करे। इनसे ही गोलियां बनाकर उनसे प्रतिसारण करे।

निचुल (हिज्जल या कदम्ब), मालकांगनी, मुस्ता, देवदारु, सोंठ, वच, दन्ती और मूर्वा का कवोष्ण लेप पीड़ा एवं शोफ का नाशक है।

वातरोहिणीचिकित्सा—

अथान्तर्बाह्यतः स्विन्नां वातरोहिणिकां लिखेत् ॥५८॥
अङ्गुलीशस्त्रकेणाशु पटुयुक्तनखेन वा ।
पञ्चमूलाम्बुकवलस्तैलं गण्डूषनावनम् ॥५९॥

मङ्गल कार्य करके वातरोहिणी में अन्दर और बाहर से स्वेदन करके अङ्गुलीशस्त्र से अथवा नमक युक्त नख से जल्दी से लेखन करे। बिल्वादि पञ्चमूल के क्वाथ का कवल करे। तैल का गण्डूष एवं नस्य में प्रयोग करे।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट में—'पुनर्नवासिंहीकपित्थकल्कपयोविपक्वं तैलं गण्डूषो नावनञ्च' ॥

पित्तज तथा रक्तज रोहिणी की चिकित्सा—

विस्राव्य पित्तसम्भूतां सिताक्षौद्रप्रियङ्गुभिः
घर्षेत्सरोध्रपत्तङ्गैः कवलः क्वथितैश्च तैः ॥६०॥
द्राक्षापरूषकक्वाथो हितश्च कवलग्रहे ।
उपाचरेदेवमेव प्रत्याख्यायास्रसम्भवाम् ॥६१॥

पित्तज रोहिणी में रक्त को निकाल कर सिता, मधु और प्रियङ्गु से रगड़े। लोध, लालचन्दन तथा प्रियङ्गु का क्वाथ करके मधु और सिता मिला कर इनसे कवल करे। कवल के लिये द्राक्षा और फालसे का क्वाथ उत्तम है।

रक्तजन्य रोहिणी को असाध्य कह कर पित्तजन्य रोहिणी की भाँति चिकित्सा करे।

कफजरोहिणी चिकित्सा—

सागारधूमैः कटुकैः कफजां प्रतिसारयेत् ।
नस्यगण्डूषयोस्तैलं साधितं च प्रशस्यते ॥६२॥
अपामार्गफलश्वेतादन्तीजन्तुघ्नसैन्धवैः ।

कफजन्य रोहिणी में कटु वर्ग की ओषधियों को घर के धुँवासे के साथ मिलाकर प्रतिसारण करे। अपामार्ग का फल (या अपामार्ग और मदनफल); अपराजिता, दन्ती (जमालगोटा), बायविडङ्ग, सैन्धव इनसे सिद्ध तैल का नस्य और गण्डूष बरते। (सुश्रुत में अपामार्ग के फल के बिना भी यह योग पढ़ा है।)

वृन्दादिरोगचिकित्सा—

तद्वच्च वृन्दशालूकतुण्डिकेरीगिलायुषु ॥ ६३ ॥

वृन्द, शालूक, तुण्डिकेरी और गिलायु रोग में कफजरोहिणी की भांति चिकित्सा बरतनी चाहिये।

विद्रधिचिकित्सा—

विद्रधौ स्राविते श्रेष्ठारोचनातार्क्ष्यगैरिकैः ।
सरोध्रपटुपत्तङ्गकणैर्गण्डूषघर्षणे ॥६४॥

विद्रधि में शस्त्र से रक्त निकाल देने पर त्रिफला, हल्दी, रसांजन, गेरु, लोध, नमक, लालचन्दन और पिप्पली इनके क्वाथ से गण्डूष बरते और इनके चूर्ण से रगड़े।

वातजगलगण्डचिकित्सा—

गलगण्डः पवनजः स्विन्नो निःस्रुतशोणितः ।
तिलैर्बीजैश्च लट्वोमाप्रियालशणसम्भवैः ॥६५॥
उपनाह्यो, व्रणे रूढे प्रलेप्यश्च पुनः पुनः ।
शिग्रुतिल्वकतर्कारीगजकृष्णापुनर्नवैः ॥६६॥
कालामृताऽर्कमूलैश्च पुष्पैश्च करहाटजैः ।
एकैषिकान्वितैः पिष्टैः सुरया काञ्जिकेन वा ॥६७॥
गुडूचीनिम्बकुटजहंसपादीबलाद्वयैः ।
साधितं पाययेत्तैलं सकृष्णादेवदारुभिः ॥६८॥

वातजन्य गलगण्ड में स्वेदन करके रक्त निकालकर तिल, लट्वा (कड़ुई तुम्बी), अलसी, पियाल (चिरौंजी) और सन के बीजों से उपनाह करे। व्रण के भर जाने पर बार-बार लेप करना चाहिये। अथवा सहजना, तिल्वक (लोध), तर्कारी (जयन्ती), गजपिप्पली, पुनर्नवा, हिंस्रा, गिलोय, आक का मूल, मैनफल के फूल और एकैषिका को सुरा या कांजी से पीस कर लेप करे। तथा गिलोय, नीम, कुड़ा, हंसराज, बला, अतिबला, पिप्पली और देवदारु से सिद्ध किया तैल पिलाये।

वक्तव्य—एकैषिका—पाठा, त्रिवृत् इत्येके। काला—नीलिनी।

कफजगलगण्डचिकित्सा—

कर्तव्यं कफजेऽप्येतत्स्वेदविम्लापने त्वति ।
लेपोऽजगन्धातिविषाविशल्याः सविषाणिकाः ॥६९॥
गुञ्जालाबुशुकाह्वाश्च पलाशक्षारकल्किताः ।

कफजन्य गलगण्ड में भी यही चिकित्सा करनी चाहिये। परन्तु स्वेदन और विम्लापन अधिक मात्रा में करना चाहिये।

अजगन्ध, अतीस, लांगली (कलिहारी), मेढासिंगी, घुँघची, तिक्तालाबु, शुकाह्व (चर्मकारवटः, कैवर्त्तमुस्ता, इति शिवदाससेनः) इनको पलाश के क्षारोदक से पीस कर लेप करे।

वक्तव्य—'पलाशभस्मोदकपेपिताभिर्दिह्यात् सगुञ्जाभिरशीतलाभिः ॥'

मूत्रस्रुतं हठक्षारं पक्त्वा कोद्रवभुक् पिबेत् ॥७०॥
साधितं वत्सकाद्यैर्वा तैलं सपटुपञ्चकैः ।
कफघ्नान् धूमवमननावनादींश्च शीलयेत् ॥७१॥

हठ (जलकुम्भी) का क्षार गोमूत्र में मिलाकर छानकर पानीयक्षार विधि से पकाकर पिये और कोद्रव (कोदो)

खाये। पांचों नमक के साथ वत्सकादि गण से सिद्ध तैल पिये। कफनाशक धूम, वमन तथा नस्य आदि को बरते।

वक्तव्य—कोद्रवभोजन रूक्षभोजन का उपलक्षणमात्र है, यथा—'दग्धा हठं मूत्रविगालितञ्च पक्त्वा पिबेत् क्षौद्रविरूक्षभोजी। गलस्य गण्डं चिरकालजातमतिप्रवृद्धं शमयेदशेषम् ॥'

मेदोजगलगण्डचिकित्सा—

मेदोभवे सिरां विध्येत्कफघ्नं च विधिं भजेत्।
असनादिरजश्चैनं प्रातर्मूत्रेण पाययेत् ॥७२॥
अशान्तौ पाचयित्वा च सर्वान् व्रणवदाचरेत्।

मेदोजन्य गलगण्ड में सिरा का वेधन और कफनाशक विधि करे। इस रोगी को प्रातः गोमूत्र के साथ असनादि गण का चूर्ण पिलाये।

इन उपायों से गलगण्ड शान्त न हो तो (लांगलीपिण्ड से) सबको पकाकर व्रण की भांति चिकित्सा करे।

मुखपाकचिकित्सा—

मुखपाकेषु सक्षौद्राः प्रयोज्या मुखधावनाः ॥७३॥
क्वथितास्त्रिफलापाठामृद्वीकाजातिपल्लवाः ।
निष्ठेव्या भक्षयित्वा वा कुठेरादिर्गणोऽथवा ॥७४॥

मुखपाकों में मधु के साथ मुख के प्रक्षालन बरतने चाहिए। ये प्रक्षालन त्रिफला, पाठा, द्राक्षा और चमेली के कोमल पत्तों का क्वाथ करके देने चाहिये। अथवा हरीतकवर्गोक्त कुठेरादि गण (हृ. सू. अ. ६।१०६) को चबाकर थूके।

वातजमुखपाकचिकित्सा—

मुखपाकेऽनिलात् कृष्णापट्वेलाः प्रतिसारणम्।
तैलं वातहरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ॥७५॥

वातजन्य मुखपाक में पिप्पली, नमक और इलायची से प्रतिसारण करे। वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध तैल कवल और नस्य में हितकारी है।

पित्तज और कफज मुखपाक की चिकित्सा—

पित्तास्रे पित्तरक्तघ्नः, कफघ्नश्च कफे विधिः।
लिखेच्छाकादिपत्रैश्च पिटिकाः कठिनाः स्थिराः ॥७६॥

पित्तज मुखपाक और रक्तज मुखपाक में पित्त-रक्तनाशक चिकित्सा करे।

कफजन्य मुखपाक में कफनाशक विधि करे। कठिन एवं स्थिर पिटिकाओं का सागौन आदि के पत्तों से लेखन करे।

सन्निपातजमुखपाक चिकित्सा—

यथादोषोदयं कुर्यात्सन्निपाते चिकित्सितम्।

सन्निपातजन्य मुखपाक में दोष की अधिकता के अनुसार चिकित्सा करे।

अर्बुदचिकित्सा—

नवेऽर्बुदे त्वसंवृद्धे छेदिते प्रतिसारणम् ॥७७॥
स्वर्जिकानागरक्षौद्रैः, क्वाथो गण्डूष इष्यते।
गुडूचीनिम्बकल्कोत्थो मधुतैलसमन्वितः ॥७८॥
यवान्नभुक् तीक्ष्णतैलनस्याभ्यङ्गांस्तथाऽऽचरेत्।

जो अर्बुद नूतन हो और बहुत बड़ा न हो, उसको काट कर सर्जिक्षार, सोंठ और मधु से प्रतिसारण करे। गिलोय और नीम के कल्क में मधु और तैल मिलाकर इस क्वाथ से गण्डूष करे। जौ को खाये तथा तीक्ष्ण तैल का नस्य और अभ्यंग बरते।

पूतिमुखचिकित्सा—

वमिते पूतिवदने धूमस्तीक्ष्णः सनावनः ॥७९॥
समङ्गाधातकीरोध्रफलिनीपद्मकैर्जलम् ।
धावनं वदनस्यान्तश्चूर्णितैरवचूर्णितम् ॥८०॥
शीतादोपकुशोक्तं च नावनादि च शीलयेत्।

मुख से दुर्गन्ध आने पर वमन कराकर तीक्ष्ण धूम और तीक्ष्ण नस्य बरते। लज्जालू (या मंजिष्ठा), धाय के फूल, लोध, प्रियंगु, पद्माख, इनके क्वाथ से मुख का प्रक्षालन करे। इन्हीं के चूर्ण को मुख के अन्दर छिड़के तथा शीतादि और उपकुश में कहे नस्य आदि बरते।

मुखरोग की सामान्य चिकित्सा—

फलत्रयद्वीपिकिराततिक्त-
यष्ट्याह्वसिद्धार्थकटुत्रिकाणि ।
मुस्ताहरिद्राद्वययावशूक-
वृक्षाम्लकाम्लाग्रिमवेतसाश्च ॥८१॥
अश्वत्थजम्ब्वाम्रधनञ्जयत्वक्
त्वक् चाहिमारात्खदिरस्य सारः।
क्वाथेन तेषां घनतां गतेन
तच्चूर्णयुक्ता गुटिका विधेयाः ॥८२॥
ता धारिता घ्नन्ति मुखेन नित्यं
कण्ठौष्ठताल्वादिगदान् सुकृच्छ्रान्।
विशेषतो रोहिणिकास्यशोष-
गन्धान् विदेहाधिपतिप्रणीताः ॥८३॥

त्रिफला, चिरायता, चित्रक, मुलहठी, सरसों, त्रिकटु, मुस्ता, हल्दी, दारुहल्दी, यवक्षार, वृक्षाम्ल, अम्लवेतस, पीपल, जामुन, आम और अर्जुन की छाल, अहिमार (विट्खैर) की छाल, खैर का सार, इनका क्वाथ करके इस को पका कर घट्ट बना कर इसमें इनका चूर्ण मिला कर गोलियाँ बना लेवे। इन गोलियों को नित्यप्रति मुख में धारण करने से कण्ठ, ओष्ठ, तालु आदि के अतिकष्ट साध्य रोग नष्ट होते हैं। विशेष कर यह रोहिणी, मुखशोष और गन्धों को नष्ट करता है। ये विदेहाधिप से प्रणीत हैं।

खदिरतुलाम्बुघटे पक्त्वा तोयेन तेन पिष्टैश्च।
चन्दनजोङ्गककुङ्कुमपरिपेलवबालकोशीरैः ॥८४॥
सुरतरुरोध्रद्राक्षामञ्जिष्ठाचोचपद्मकविडङ्गैः ।
स्पृक्कानतनखकट्फलसूक्ष्मैलाश्यामकैः सपतङ्गैः ॥८५॥
तैलप्रस्थं विपचेत्
कर्षांशैः पाननस्यगण्डूषैस्तत्।

हत्वाऽऽस्ये सर्वगदान्
जनयति गार्ध्रीं दृशं श्रुतिं च वाराहीम् ॥ ८६ ॥

एक तुला खैर को एक द्रोण जल में पकाकर चौथाई शेष रक्खे। इस क्राथ से, चन्दन, अगरु, केशर, मुस्ता, बालक, खस, देवदारु, लोध, द्राक्षा, मञ्जीठ, दालचीनी, पद्माख, वायविडंग, स्पृक्का, तगर, नख, कट्फल, छोटी इलायची, ध्यामक (गन्धतृण) तथा लालचन्दन प्रत्येक के एक कर्ष का कल्क देकर एक प्रस्थ तैल पकाये। यह तैल पान, नस्य और गण्डूष करने से मुख के सब रोगों को नष्ट करके गीध जैसी दृष्टि और सूअर जैसी श्रुति को उत्पन्न करता है।

उद्वर्तितं च प्रपुनाटरोध्र-
दार्वीभिरभ्यक्तमनेन वक्त्रम् ।
निर्व्यङ्गनीलीमुखदूषिकादि
सञ्जायते चन्द्रसमानकान्ति ॥ ८७ ॥

प्रपुन्नाट (चक्रमर्द), लोध और दारुहल्दी से मुख को मलकर (उबटन करके) तथा पूर्वोक्त तैल से अभ्यंग करने पर मुख व्यंग, नीलिका (झाँई) और मुखदूषिकादि से रहित हो जाता है। तथा चन्द्र के समान कान्ति वाला होता है।

पलशतं बाणात्तोयघटे पक्त्वा रसेऽस्मिंश्च पलार्धिकैः।
खदिरजम्बूयष्ट्यनन्ताम्रैरहिमारनीलोत्पलान्वितैः ॥
तैलप्रस्थं पाचयेच्छ्लक्ष्णपिष्टै-
रेभिर्द्रव्यैर्धारितं तन्मुखेन ।
रोगान् सर्वान् हन्ति वक्त्रे विशेषा-
त्स्थैर्यं धत्ते दन्तपङ्क्तेश्चलायाः ॥ ८९ ॥

नीलझिंटी एक सौ पल लेकर इसको एक द्रोण जल में पकाकर (चौथाई शेष रक्खे।) इस क्राथ में, खैर, जामुन, मुलहठी, अनन्तमूल, आम की छाल, विट्खैर और नीलोत्पल प्रत्येक आधा पल लेकर इनसे एक प्रस्थ तैल पकाये। इस तैल को मुख में धारण करने से मुख के सब रोग नष्ट होते हैं। विशेषतः हिलती हुई दाँत की पंक्तियाँ इससे स्थिर बन जाती हैं।

मुखरोगनाशक खदिरादि गुटिका—

खदिरसाराद् द्वे तुले पचेद्वल्कात्तुलां चारिमेदसः ।
घटचतुष्के पादशेषेऽस्मिन् पूते पुनः क्वथनाद्घने ॥
आक्षिकं क्षिपेत्सुसूक्ष्मं रजः
सेव्याम्बुपत्तङ्गगैरिकम् ।
चन्दनद्वय (श्यामा) रोध्रपुण्ड्राह्व-
यष्ट्याह्वलाक्षाञ्जनद्वयम् ॥९१॥
धातकीकट्फलद्विनिशात्रिफलाचतुर्जातजोङ्गकम् ।
मुस्तमञ्जिष्ठान्यग्रोधप्ररोह (वचा) मांसीयवासकम् ॥
पद्मकैलासमङ्गाश्च शीते
तस्मिंस्तथा पालिकां पृथक् ।
जातिपत्रिकां सजातीफलां सह-
(नख) लवङ्गकङ्कोलकाम् ॥९३॥
स्फटिकशुभ्रसुरभिकर्पूरकुडवं च तत्रावपेत्ततः ।
कारयेद् गुटिकाः सदा चैता धार्या मुखे तद्गदापहाः ॥

खदिरादिगुटिका—खैरसार (खैर के बीच की लकड़ी) दो तुला, अरिमेद की छाल एक तुला, इनको चार द्रोण जल में पकाये चौथाई शेष रहने पर इसको छानकर क्राथकर घट्ट बनाये। इसमें खस, मुस्ता, लालचन्दन, गेरु, चन्दन, कालीयक चन्दन, लोध, पुण्डरीक, मुलहठी, लाख, रसाञ्जन, सौवीरांजन, धाय, कट्फल, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर, अगरु, मुस्ता, मंजीठ, बरगद के अङ्कुर, जटामांसी, धमासा, पद्माख, इलायची, लज्जावन्ती प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनका सूक्ष्म चूर्ण इसमें मिलाये। शीतल हो जाने पर इसमें जातीपत्र, जायफल, लवंग, कंकोल (शीतलचीनी) प्रत्येक एक पल और स्फटिक के समान श्वेत सुगन्धित कर्पूर एक कुडव का प्रक्षेप देकर गुटिकायें बनायें। इन गोलियों को मुख में धारण करे। ये मुखरोगनाशक हैं।

मुखरोगनाशक अरिमेदादि तैल—

क्वाथ्यौषधव्यत्यययोजनेन
तैलं पचेत्कल्पनयाऽनयैव ।
सर्वास्यरोगोद्धृतये तदाहु-
र्दन्तस्थिरत्वे त्विदमेव मुख्यम् ॥ ९५ ॥
खदिरेणैता गुटिका-
स्तैलमिदं चारिमेदसा प्रथितम् ।
अनुशीलयन् प्रतिदिनं
स्वस्थोऽपि दृढद्विजो भवति ॥ ९६ ॥

इसी विधि से क्राथ्य द्रव्यों की मात्रा को बदल कर अर्थात् खैरसार एक तुला और अरिमेद दो तुला, इनका क्राथ करके पूर्वोक्त द्रव्यों से तैल सिद्ध करे। मुख के सब रोगों को यह नष्ट करता है और दाँतों को स्थिर करने में मुख्य है।

खैर से बनाई ये गोलियाँ और अरिमेद से बनाया यह तैल, इन दोनों योगों को स्वस्थ पुरुष भी प्रतिदिन बरतता हुआ दृढ़ दाँतों वाला होता है।

क्षुद्रागुडूचीसुमनः प्रवाल-
दार्वीयवासत्रिफलाकषायः ।
क्षौद्रेण युक्तः कवलग्रहोऽयं
सर्वामयान् वक्त्रगतान्निहन्ति ॥ ९७ ॥
पाठादार्वीत्वक्कुष्ठमुस्तासमङ्गा-
तिक्तापीताङ्गीरोध्रतेजोवतीनाम् ।
चूर्णः सक्षौद्रो दन्तमांसार्तिकण्डू-
पाकस्रावाणां नाशनो घर्षणेन ॥ ९८ ॥

कटेरी, गिलोय, चमेली के पत्ते, दारुहल्दी, धमासा और त्रिफला के क्राथ में मधु मिलाकर किया गया कवल मुख के सब रोगों को नष्ट करता है।

पाठा, दारुहल्दी की छाल, कूठ, मुस्ता, लज्जालु, कुटकी, हल्दी, लोध, तेजवती; इनके चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर रगड़े (मञ्जन करे) इससे मसूढ़ों की पीड़ा, कण्डू, पाक तथा स्राव नष्ट होता है।

मुखरोगनाशक कालकचूर्ण—

गृहधूमताक्ष्यंपाठाव्योषक्षाराग्न्ययोवरातेजोह्वैः ।
मुखदन्तगलविकारे सक्षौद्रः कालको विधार्यश्चूर्णः ॥

कालकचूर्ण--घर का धुंवासा, रसांजन, पाठा, त्रिकटु, यवक्षार, चित्रक, लोहभस्म, त्रिफला, तेजबल, इनका चूर्ण मधु के साथ मुखविकार, दांत और गले के विकार में धारण करना चाहिये।

मुखरोगनाशक पीतकचूर्ण—

दार्वीत्वक्सिन्धूद्भवमनःशिलायावशूकहरितालैः ।
धार्यः पीतकचूर्णो दन्तास्यगलामये समध्वाज्यः ॥

पीतक चूर्ण—दारुहल्दी की छाल, सैन्धव, मैनशिल, यवक्षार, हरताल; इनसे सिद्ध इस पीतक चूर्ण को मधु और घी के साथ दांत, मुख तथा गले के रोग में धारण करना चाहिये।

गलरोगनाशकगुटिका—

द्विक्षारधूमकवरापञ्चपटुव्योषवेल्लगिरिताक्ष्यैः ।
गोमूत्रेण विपक्वा गलामयघ्नी रसक्रिया एषा ॥१०१॥

यवक्षार, सर्जिक्षार, घर का धुवांसा, त्रिफला, पाँचों नमक, त्रिकटु, वायविडङ्ग, गेरु, रसांजन; इनसे गोमूत्र में बनाई रसक्रिया गले के सब रोगों को नष्ट करती है

हरीतकीसेवन—

गोमूत्रक्वथनविलीनविग्रहाणां
पथ्यानां जलमिशिकुष्ठभावितानाम् ।
अत्तारं नरमणवोऽपि वक्त्ररोगाः
श्रोतारं नृपमिव न स्पृशन्त्यनर्थाः ॥१०२॥

हरड़ों को गोमूत्र में पकाकर जब ये गल जाँय (इनका शरीर नष्ट हो जाय) तब नेत्रवाला, सौंफ और कूठ से भावित करके खाने वाले पुरुष को छोटे भी मुखरोग नहीं होते; जिस प्रकार की सुननेवाले राजा को अनर्थ स्पर्श नहीं करते।

सप्तच्छदोशीरपटोलमुस्तहरीतकीतिक्तकरोहिणीभिः ।
यष्ट्याह्वराजद्रुमचन्दनैश्च क्वाथं पिबेत्पाकहरं मुखस्य ॥

सतवन, खस, पटोल, मुस्ता, हरड़, तिक्तरोहिणी (कुटकी), मुलहठी, अमलतास, चन्दन; इनका क्वाथ पिये। यह मुखपाकनाशक है।

मुखरोगनाशक कषाय—

पटोलशुण्ठीत्रिफलाविशाला-
त्रायन्तितिक्ताद्विनिशाऽमृतानाम् ।
पीतः कषायो मधुना निहन्ति
मुखे स्थितश्चास्यगदानशेषान् ॥१०४॥

पटोल, सोंठ, त्रिफला, इन्द्रवारुणी, त्रायन्ती, कुटकी, हल्दी, दारुहल्दी, गिलोय; इनका क्वाथ मधु के साथ पीने और मुख में धारण करने से मुख के सब रोग नष्ट होते हैं।

मुखपाकनाशक प्रयोग—

स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतः सगैरिकः ।
आस्यस्थः समधुर्वक्त्रपाकनाडीव्रणापहः ॥१०५॥
पटोलनिम्बयष्ट्याह्ववासाऽजाज्यरिमेदसाम् ।
खदिरस्य वरायाश्च पृथगेवं प्रकल्पना ॥१०६॥

दारुहल्दी को पकाकर बनाया गया क्वाथ गाढ़ा होने पर इसमें गेरु और मधु मिलाकर मुख में रखने से मुखपाक और नाडीव्रण नष्ट होते हैं।

पटोल, नीम, मुलहठी, वासा, चमेली, विट्खैर, खैर और त्रिफला इनसे पृथक् पृथक् ऊपर की भाँति योजना बनाये।

दन्तदृढीकारक गण्डूष—

खदिरायोवरापार्थमदयन्त्यरिमारकैः ।
गण्डूषोऽम्बुशृतैर्धार्यो दुर्बलद्विजशान्तये ॥१०७॥

निर्बल दांतों की शान्ति के लिए खैर, लोहभस्म, त्रिफला, अर्जुन, मेंहदी, विट्खैर इनका जल में क्वाथ करके मुख में गण्डूष धारण करे।

मुखरोग में रक्तस्राव—

मुखदन्तमूलगलजाः प्रायो रोगाः कफास्रभूयिष्ठाः ।
तस्मात्तेषामसकृद् रुधिरं विस्रावयेद् दुष्टम् ॥१०८॥

प्रायः करके मुख, दन्तमूल और गले के रोग कफ-रक्त-जन्य होते हैं। इसलिए इन रोगों में बार-बार दूषित रक्त को निकालना चाहिये।

संशोधन—

कायशिरसोर्विरेको वमनं कवलग्रहाश्च कटुतिक्ताः ।
प्रायः शस्तं तेषां कफरक्तहरं तथा कर्म ॥ १०९ ॥

इन रोगों में कायविरेचन, शिरोविरेचन, वमन, कटुतिक्त कवल तथा कफरक्तनाशक कर्म प्रायः करके उत्तम है।

पथ्य—

यवतृणधान्यं भक्तं विदलैः क्षारोषितैरपस्नेहाः ।
यूषा भक्ष्याश्च हिता यच्चान्यच्छ्लेष्मनाशाय ॥११०॥

जौ, तृणधान्य (सावाँ, नीवार आदि), क्षारोदक से भावित तथा स्नेहरहित दालों के साथ खाना, यूष तथा कफ के नाश के लिये जो योग्य भक्ष्य हैं वे सब हितकारी हैं।

गलरोगों के उपाय में शीघ्रता—

प्राणानिलपथसंस्थाः
श्वसितमपि निरुन्धते प्रमादवतः ।
कण्ठामयाश्चिकित्सित-
मतो द्रुतं तेषु कुर्वीत ॥ १११ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने मुखरोग-
प्रतिषेधो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

* * *

क्योंकि प्राणवायु के मार्ग में स्थित गले के रोग प्रमाद से श्वास को भी रोक देते हैं, इसलिये गले के रोगों की चिकित्सा में शीघ्रता करनी चाहिये।

वक्तव्य—कुछ तन्त्रान्तरोक्त प्रसिद्ध योग—विदार्यादि तैल, दशनसंस्कार चूर्ण, खदिरवटिका, रसेन्द्रवटी, चतुर्मुख-रस, इरिमेदाद्य तैल, वकुलाद्य तैल, लाक्षाद्य तैल, जात्यादि तैल और महासहचर तैल।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का मुखरोग-प्रतिषेध नामक बाइसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

अथातः शिरोरोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे शिरोरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

शिरोरोग के कारण—

धूमातपतुषाराम्बुक्रीडातिस्वप्नजागरैः।
उत्स्वेदाधिपुरोवातबाष्पनिग्रहरोदनैः ॥ १ ॥
अत्यम्बुमद्यपानेन कृमिभिर्वेगधारणैः।
उपधानमृजाऽभ्यङ्गद्वेषाधःप्रततेक्षणैः ॥ २ ॥
असात्म्यगन्धदुष्टामभाष्याद्यैश्च शिरोगताः।
जनयन्त्यामयान् दोषाः—

धूँवा, धूप, ओस, जलक्रीडा, बहुत सोना, बहुत जागना, अतिस्वेद (ऊर्ध्वाङ्ग का स्वेदन), मनोव्यथा, सामने की वायु, आंसुओं को रोकना, रोना, अतिजलपान, अतिमद्यपान, कृमि, उपस्थित वेगों को रोकने से तथा तकिया, स्नान आदि शुद्धि और अभ्यंग से द्वेष करने, नीचे देखने, निरन्तर देखने, असात्म्यगन्ध, दूषित आम दोष और अधिक बोलने आदि से (प्रकुपित होकर) शिर में गये दोष रोगों को उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—उत्स्वेदः—ऊर्ध्वस्वेदः। 'उत्स्वेद' के स्थान पर 'उन्माद' और 'दुष्टाम' के स्थान पर 'दुष्टाम्बु' पाठ भी है।

वातज शिरोरोग के लक्षण—

—तत्र मारुतकोपतः ॥ ३ ॥
निस्तुद्येते भृशं शङ्खौ घाटा सम्भिद्यते तथा।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च पततीवातिवेदनम् ॥ ४ ॥
बाध्येते स्वनतः श्रोत्रे निष्कृष्येते इवाक्षिणी।
घूर्णतीव शिरः सर्वं सन्धिभ्य इव मुच्यते ॥ ५ ॥
स्फुरत्यति सिराजालं कन्धराहनुसङ्ग्रहः।
प्रकाशासहता घ्राणस्रावोऽकस्माद्व्यथाशमौ ॥ ६ ॥
मार्दवं मर्दनस्नेहस्वेदबन्धैश्च जायते।
शिरस्तापोऽयम्—

इनमें वायु के कोप से शंखों में (कनपटी प्रदेश पर) अतिशय चुभने की-सी दर्द होती है, ग्रीवा का पिछला भाग फटता सा प्रतीत होता है, भ्रुवों का मध्यभाग और ललाट अतिशय वेदना के साथ गिरते प्रतीत होते हैं, कान में पीड़ा और शब्द होता है, आंखें निकलती प्रतीत होती हैं, शिर घूमता और सब संधियों से अलग होता प्रतीत होता है, सिराजाल में अतिस्फुरण होता है, ग्रीवा और हनु स्तब्ध हो जाते हैं, प्रकाश की असहिष्णुता रहती है, नाक से स्राव होता है, बिना कारण के ही व्यथा होती है, और बिना कारण के ही रोग शान्त हो जाता है। मलने से, स्नेहन से स्वेदन से और बांधने से दर्द कम होती है। यह शिरःसंताप वायुजन्य है।

अर्धावभेदक शिरोरोग के लक्षण—

—अर्धे तु मूर्ध्नः सोऽर्धावभेदकः ॥ ७ ॥
पक्षात्कुप्यति मासाद्वा स्वयमेव च शाम्यति।
अतिवृद्धस्तु नयनं श्रवणं वा विनाशयेत् ॥ ८ ॥

शिर के आधे भाग में जो (पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त) दर्द होती है, उसे अर्धावभेदक कहते हैं। यह वेदना पन्द्रह दिन में या महीने में उठती है और स्वयमेव शान्त हो जाती है। बहुत बढ़ने पर आंख या कान को नष्ट कर देती है।

वक्तव्य—यह रोग शुद्ध वातजन्य है, आगन्तुज दोषान्तर का सम्बन्ध रहता है, यथा—'केवलं सकफो वार्द्धम्।' सुश्रुत।

पित्तज शिरोभिताप के लक्षण—

शिरोऽभितापे पित्तोत्थे शिरोधूमायनं ज्वरः।
स्वेदोऽक्षिदहनं मूर्च्छा निशि शीतैश्च मार्दवम् ॥९॥

पित्तजन्य शिरोभिताप में शिर में धुंवे की प्रतीति, ज्वर, स्वेद, आंखों में जलन तथा मूर्च्छा होती है, रात में और शीतल उपचार से कम पड़ जाता है।

कफज शिरोभिताप के लक्षण—

अरुचिः कफजे मूर्ध्नो गुरुस्तिमितशीतता।
सिरानिष्पन्दताऽऽलस्यं रुङ्मन्दाऽह्न्यधिका निशि ॥
तन्द्रा शूनाक्षिकूटत्वं कर्णकण्डूयनं वमिः।

कफजन्य शिरोरोग में अरुचि, सिर में भारीपन, स्तिमितता और ठण्डक, शिराओं में निष्पन्दता, आलस्य तथा दिन में दर्द की कमी और रात में दर्द की अधिकता रहती है, तन्द्रा, अक्षिकूट में सूजन, कानों में कण्डू और वमन होता है।

रक्तज और सन्निपातज शिरोभिताप के लक्षण—

रक्तात् पित्ताधिकरुजः सर्वैः स्यात्सर्वलक्षणः ॥११॥

रक्तजन्य शिरस्ताप में पित्तजन्य शिरस्ताप के समान ही किन्तु उससे अधिक पीड़ा होती है।

सन्निपातजन्य शिरस्ताप में सब दोषों के लक्षण होते हैं।

कृमिजन्य शिरोभिताप के लक्षण—

सङ्कीर्णैर्भोजनैर्मूर्ध्नि क्लेदिते रुधिरामिषे।
कोपिते सन्निपाते च जायन्ते मूर्ध्नि जन्तवः ॥१२॥

शिरसस्ते पिबन्तोऽस्रं घोराः कुर्वन्ति वेदनाः ।
चित्तविभ्रंशजननीर्ज्वरः कासो बलक्षयः ॥१३॥
रौक्ष्यशोफव्यधच्छेददाहस्फुरणपूतिताः ।
कपाले तालुशिरसोः कण्डूः शोफः प्रमीलकः ॥१४॥
ताम्राच्छसिङ्घाणकता कर्णनादश्च जन्तुजे ।

कृमिज शिरोरोग—विरुद्ध भोजनों से शिर में रक्त और मांस के क्लिन्न होने पर तथा सन्निपातरूप में दोषों के कुपित होने से शिर में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। ये कृमि शिर के रक्त को पीते हुए चित्तविभ्रंश को करने वाली वेदनाओं को उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त ज्वर, कास, बलक्षय होते हैं, कपाल में रूक्षता, शोफ, वेधन, छेदन, जलन, स्फुरण तथा दुर्गन्ध होती है। तालु तथा शिर में कण्डु, शोष तथा प्रमीलक (स्तिमितता) होते हैं। नाक की मैल ताम्रवर्ण और निर्मल होती है एवं कर्णनाद होता है।

शिरःकम्प के लक्षण—

वातोल्बणाः शिरःकम्पं तत्संज्ञं कुर्वते मलाः ॥ १५ ॥

वातप्रधान दोष शिर में कम्पन को उत्पन्न करते हैं जिसे शिरःकम्प कहते हैं।

वक्तव्य—स्कन्धः शिरः कम्पति घूर्णतीव मूर्च्छां प्रलापञ्च तथैव निद्राम् । संज्ञाप्रणाशं जनयेद्धि तन्द्रां भ्रान्ति ततः पश्यति चापि चित्रम् ॥ गृह्णाति मन्यां हृदयञ्च रूपैः सर्वैरमीभिः समभिद्रुतश्च । तिस्रो हि रात्रीर्न स जातु जीवेत्तं शीर्षकम्पं प्रवदन्ति रोगम् ॥

पित्तप्रधान दोषों के लक्षण—

पित्तप्रधानैर्वाताद्यैः शङ्खे शोफः सशोणितैः ।
तीव्रदाहरुजारागप्रलापज्वरतृड्भ्रमाः ॥१६॥
तिक्तास्यः पीतवदनः क्षिप्रकारी स शङ्खकः ।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति सिध्यत्यप्याशु साधितः ॥१७॥

रक्तमिश्रित पित्तप्रधान वातादि दोषों से शंखप्रदेश में शोफ, तीव्रदाह, तीव्रवेदना, रक्तिमा, प्रलाप, ज्वर, प्यास, भ्रम, मुख में कटुता तथा चेहरे का पीलापन होता है। यह शंखक रोग क्षिप्रकारी (जल्दी मारने वाला) है। तीन रात में मनुष्य को मार देता है, शीघ्र चिकित्सा करने पर अच्छा भी हो जाता है। (प्रायः अच्छा नहीं होता)।

सूर्यावर्त के लक्षण—

पित्तानुबद्धः शङ्खाक्षिभ्रूललाटेषु मारुतः ।
रुजं सस्पन्दनां कुर्यादनुसूर्योदयोदयाम् ॥२८॥
आमध्याह्नं विवर्धिष्णुः क्षुद्वतः सा विशेषतः ।
अव्यवस्थितशीतोष्णसुखा शाम्यत्यतः परम् ॥२९॥
सूर्यावर्तः स—

पित्त से सम्बद्ध वायु शंख, आँख, भ्रू और ललाट में स्पन्दन के साथ वेदना करती है। यह वेदना सूर्य के उदय के साथ उठती है और मध्याह्न तक बढ़ती जाती है, यह वेदना भूख में विशेष कर बढ़ती है। शीत या उष्ण से शांति अनिश्चित रहती है। (कभी शीत से तो कभी उष्ण से शांत होती है) मध्याह्न के पीछे वेदना स्वयं शांत हो जाती है। यह सूर्यावर्त्त रोग है।

—इत्युक्ता दश रोगाः शिरोगताः ।
शिरस्येव च वक्ष्यन्ते कपाले व्याधयो नव ॥२०॥

शिरोगत ये दश रोग कह दिये हैं।

शिर में ही कपाल (खोपड़ी) के नौ रोग कहे जायेंगे।

उपशीर्षक के लक्षण—

कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते ।
सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम् ॥२१॥

गर्भस्थ बालक के कपाल में वायु के दूषित होने पर त्वचा के समान वर्ण का दर्दरहित शोफ हो जाता है, उसको उपशीर्षक कहते हैं।

कपालपिटिकादि के लक्षण—

यथादोषोदयं ब्रूयात् पिटिकाऽर्बुदविद्रधीन् ।

पिटिका, अर्बुद और विद्रधि को दोष की अधिकता के अनुसार जानना चाहिये।

अरुंषिका के लक्षण—

कपाले क्लेदबहुलाः पित्तासृक्श्लेष्मजन्तुभिः ॥२२॥
कङ्गुसिद्धार्थकनिभाः पिटिकाः स्युररुंषिकाः ।

पित्त, रक्त, कफ और कृमियों के कारण कपाल में अतिशय क्लेदयुक्त, कंगुनी एवं सरसों के समान पिटिकायें हो जाती हैं, इनको अरुंषिका कहते हैं।

दारुणक के लक्षण—

कण्डूकेशच्युतिस्वापरौक्ष्यकृत् स्फुटनं त्वचः ॥२३॥
सुसूक्ष्मं कफवाताभ्यां विद्याद्दारुणकं तु तत् ।

कफ और वायु के कारण त्वचा के सूक्ष्म रूप में फटने को, जिससे कि बालों का गिरना, संज्ञानाश और रूक्षता होती है, दारुणक कहते हैं।

इन्द्रलुप्त के लक्षण—

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ॥२४॥
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ।
रोमकूपान् रुणद्ध्यस्य तेनान्येषामसम्भवः ॥२५॥
तदिन्द्रलुप्तं रुज्यां च प्राहुश्चाचेति चापरे ।

रोककूपों में पहुँचे वायु के साथ मिला हुआ पित्त रोमों को गिरा देता है। फिर रक्तमिश्रित कफ रोमकूपों को रोक देता है, इससे दूसरे बाल उत्पन्न नहीं होते। इसको इन्द्रलुप्त या रुज्या कहते हैं, दूसरे इसीको चाच कहते हैं। (तन्त्रान्तर में इसको रुह्या कहा है)।

खलति के लक्षण—

खलतेरपि जन्मैवं शातनं तत्र तु क्रमात् ॥ २६ ॥

खलित (गंज) भी इसी प्रकार से उत्पन्न होती है, परंतु बाल इसमें धीरे-धीरे गिरते जाते हैं।

वातज खलति के लक्षण—

सा वातादग्निदग्धाभा, पित्तात्स्विन्नसिरावृता ।
कफाद्घनत्वग्वर्णांश्च यथास्वं निर्दिशेत् त्वचि ॥२७॥
दोषैः सर्वाकृतिः सर्वैरसाध्या सा नखप्रभा ।
दग्धाग्निनेव निर्लोमा सदाहा या च जायते ॥२८॥

यह खलति वायु से अग्नि द्वारा जले हुए के समान, पित्त से स्वेदयुक्त और सिराओं से भरी और कफ से घन (मोटी) त्वचा होती है। त्वचा में वर्ण दोष के अनुसार समझना चाहिये।

सम्पूर्ण दोषों से उत्पन्न खलति सम्पूर्ण लक्षणों वाली और नख की प्रभा वाली होती है तथा असाध्य है। अग्नि से जले हुए के समान, लोमरहित या दाहयुक्त खलति भी असाध्य है।

पलित का कारण—

शोकश्रमक्रोधकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।
केशान् सदोषः पचति पलितं सम्भवत्यतः ॥२९॥

शोक, क्रोध और श्रम से उत्पन्न शरीर की ऊष्मा शिर में जाकर वातादि दोष के साथ मिलकर बालों को पका देती है, इससे बाल श्वेत हो जाते हैं। इसे पलित कहते हैं।

वक्तव्य—इस लक्षण में कालज और अकालज दोनों अवस्थाओं का संग्रह है। यथा—'तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वा तु कुर्यात् खलतिं नरस्य। किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरिप्रभत्वञ्च शिरोरुहाणाम् ॥'

पलित के दोषानुसार लक्षण—

तद्वातात्स्फुटितं श्यावं खरं रूक्षं जलप्रभम् ।
पित्तात्सदाहं पीताभं, कफात् स्निग्धं विवृद्धिमत् ॥
स्थूलं सुशुक्लं, सर्वैस्तु विद्याद्व्यामिश्रलक्षणम् ।

यह पलित वायु के कारण फटा हुआ, श्याव वर्ण, खर, रूक्ष और जल के समान कान्ति का होता है। पित्त से दाहयुक्त तथा पीली झांई का होता है, कफ से स्निग्ध और बढ़ने वाला, स्थूल और अतिशुक्ल होता है। सब दोषों से यह मिश्रित लक्षणों वाला होता है।

वक्तव्य—'जलप्रभम्' के स्थान पर 'ज्वलत्प्रभम्' पाठ भी है।

शिरोरोगज पलित के लक्षण—

शिरोरुजोद्भवं चान्यद्विवर्णं स्पर्शनासहम् ॥ ३१ ॥

शिरोवेदना से उत्पन्न एक अन्य पलित विवर्ण और स्पर्श को न सहने वाला होता है।

साध्यासाध्य—

असाध्या सन्निपातेन खलतिः पलितानि च ।
शरीरपरिणामोत्थान्यपेक्षन्ते रसायनम् ॥३२॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने शिरोरोग-
विज्ञानीयो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

* * *

सन्निपातजन्य खलति और पलित असाध्य हैं।

शरीर के परिणाम (वयःपरिपाक) से उत्पन्न खलति, और पलित रसायन की अपेक्षा करते हैं।

वक्तव्य—ये भी रसायन के बिना असाध्य हैं, ऐसा श्री शिवदाससेन जी कहते हैं।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का शिरोरोग-
विज्ञानीय नामक तेइसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥२३॥

* * *

चतुर्विंशोऽध्यायः

अथातः शिरोरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे शिरोरोगप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वातजशिरसोभितापचिकित्सा—

शिरोभितापेऽनिलजे वातव्याधिविधिं चरेत् ।
घृतभक्तशिरा रात्रौ पिबेदुष्णपयोऽनुपः ॥१॥
माषान् कुलत्थान् मुद्गान् वा तद्वत्खादेद् घृतान्वितान् ।
तैलं तिलानां कल्कं वा क्षीरेण सह पाययेत् ॥२॥
पिण्डोपनाहस्वेदाश्च मांसधान्यकृता हिताः ।
वातघ्नदशमूलादिसिद्धक्षीरेण सेचनम् ॥३॥
स्निग्धं नस्यं तथा धूमः शिरःश्रवणतर्पणम् ।

वातजन्य शिरोभिताप में वातव्याधि की चिकित्सा करे शिर पर रात्रि में घी से शिरोभ्यंग करके घृत पिये या घृत मिश्रित उड़द, कुलथी या मूंग को खाकर गरम दूध पीछे से पिये। तिलों का तेल या कल्क को दूध के साथ पिये। मांसयुक्त धान्यों से बनाया पिण्ड, स्वेद या उपनाह हितकारी है। वातघ्न (देवदार्वादि) एवं दशमूल आदि से सिद्ध दूध से शिर पर सेचन करे। स्निग्ध नस्य, स्निग्ध धूम, शिर का तर्पण तथा कान का तर्पण करे—तेल डाले।

शिरोरोगनाशक नस्यादि—

वरणादौ गणे क्षुण्णे क्षीरमर्धोदकं पचेत् ॥ ४ ॥
क्षीरावशिष्टं तच्छीतं मथित्वा सारमाहरेत् ।
ततो मधुरकैः सिद्धं नस्यं तत् पूजितं हविः ॥ ५ ॥
वर्गेऽत्र पक्वं क्षीरे च पेयं सर्पिः सशर्करम् ।
कार्पासमज्जा त्वङ्मुस्ता सुमनःकोरकाणि च ॥ ६ ॥
नस्यमुष्णाम्बुपिष्टानि सर्वमूर्धरुजापहम् ।

वरणादि गण के द्रव्यों को कूटकर इनसे आधा जल मिले दूध को पकाये। जब केवल दूध रह जाये तब ठण्डा होने पर इसको मथकर मक्खन-घी निकाल ले। इस घी को मधुर द्रव्यों से सिद्ध करे। यह सिद्ध घृत नस्य में उत्तम है।

इसी वरणादि गण से और क्षीरवर्ग से घी सिद्ध करके शर्करा मिलाकर पीना चाहिये।

बिनौले की मींगी, दालचीनी, मुस्ता, चमेली की कलियां, इनको गरम पानी से पीसकर नस्य लेने से शिर की सब पीड़ायें नष्ट होती हैं।

रक्तपित्तज शिरोरोग—

शर्कराकुङ्कुमशृतं घृतं पित्तासृगन्वये ॥ ७ ॥
प्रलेपः सघृतैः कुष्ठकुटिलोत्पलचन्दनैः ।
वातोद्रेकभयाद्रक्तं न चास्मिन्नवसेचयेत् ॥ ८ ॥
इत्यशान्तौ चले दाहः कफे चेष्टो यथोदितः ।

पित्त एवं रक्त से युक्त शिरोरोग में शर्करा एवं केशर से पकाये घृत का नस्य उत्तम है।

कुष्ठ, तगर, कमल और चन्दन को घी में मिलाकर प्रलेप करना उत्तम है।

इस रक्तानुबन्धी पित्तजन्य वेदना में वायु के कोप के भय से रक्त को नहीं निकालना चाहिये।

इस प्रकार से वायु शान्त न होने पर और कफ में अग्नि-कर्म विधि से दाह करे। (पित्त-रक्त में दाह निषिद्ध है)।

अर्धावभेदक का यत्न—

अर्धावभेदकेऽप्येषां तथा दोषान्वयात्क्रिया ॥ ९ ॥

अर्धावभेदक में भी यही चिकित्सा तथा सम्बन्धित दोषों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

शिरीषबीजापामार्गमूलं नस्यं विडान्वितम् ।
स्थिरारसो वा, लेपे तु प्रपुन्नाटोऽम्लकल्कितः ॥१०॥

विडलवण के साथ शिरीषबीज और अपामार्ग के मूल का नस्य देवे। अथवा विडलवण के साथ शालपर्णी के रस का नस्य देवे। पनवाड़ को कांजी से पीस कर लेप करे।

सूर्यावर्त की चिकित्सा—

सूर्यावर्तेऽपि तस्मिंस्तु सिरयाऽपहरेदसृक् ।

सूर्यावर्त्त में भी यही चिकित्सा बरते, इसमें सिरा से रक्त निकाले।

पित्तज शिरोभिताप की चिकित्सा—

शिरोऽभितापे पित्तोत्थे स्निग्धस्य व्यधयेत्सिराम् ॥
शीताः शिरोमुखालेपसेकशोधनवस्तयः ।
जीवनीयशृते क्षीरसर्पिषी पाननस्ययोः ॥१२॥

पित्तजन्य शिरोऽभिताप में स्नेहन करके सिरा का वेधन करे। शिर और मुख पर शीतल लेप, शीतल सेक और शोधन वस्तियां बरते। जीवनीय गण से सिद्ध दूध एवं घृत को पान और नस्य में बरते।

रक्तज शिरोभिताप की चिकित्सा—

कर्तव्ये रक्तजेऽप्येतत् प्रत्याख्याय च शङ्खके ।

रक्तजन्य शिरोभिताप में भी यही चिकित्सा करनी चाहिये। शंखक में असाध्य कहकर यही चिकित्सा करे।

कफज तथा सन्निपात शिरोभिताप की चिकित्सा—

श्लेष्माभितापे जीर्णाज्यस्नेहितः कटुकैर्वमेत् ॥१३॥
स्वेदप्रलेपनस्याद्या रूक्षतीक्ष्णोष्णभेषजैः ।
शस्यन्ते चोपवासोऽत्र, निचये मिश्रमाचरेत् ॥१४॥

कफजन्य शिरोभिताप में पुरातन घृत से स्निग्ध करके कटु द्रव्यों से वमन कराये। रूक्ष, तीक्ष्ण तथा उष्ण ओषधियों से स्वेद, प्रलेप और नस्य आदि देवे। इसमें उपवास उत्तम है। सन्निपातजन्य शिरस्ताप में मिश्रित चिकित्सा करे।

कृमिजन्य शिरोभिताप की चिकित्सा—

कृमिजे शोणितं नस्यं तेन मूर्च्छन्ति जन्तवः ।
मत्ताः शोणितगन्धेन निर्यान्ति घ्राणवक्त्रयोः ॥१५॥
सुतीक्ष्णनस्यधूमाभ्यां कुर्यान्निर्हरणं ततः ।

कृमिजन्य शिरोरोग में रक्त का नस्य देना चाहिये। इस रक्त के नस्य से कृमि एकत्रित हो जाते हैं। रक्त की गन्ध से मत्त होकर मुख एवं नाक से बाहर निकलते हैं। फिर तीक्ष्ण नस्य और धूम से कृमियों को निकालना चाहिये।

कृमिनाशक नस्य—

विडङ्गस्वर्जिकादन्तीहिङ्गुगोमूत्रसाधितम् ॥ १६ ॥
कटुनिम्बेङ्गुदीपीलुतैलं नस्यं पृथक् पृथक् ।
अजामूत्रद्रुतं नस्यं कृमिजित् कृमिजित्परम् ॥ १७ ॥
पूतिमत्स्ययुतैः कुर्याद् धूमं नावनभेषजैः ।
कृमिभिः पीतरक्तत्वाद्रक्तमत्र न निर्हरेत् ॥ १८ ॥

विडंग, सर्जिक्षार, दन्ती और हींग से गोमूत्र में सिद्ध सरसों के तेल का नस्य देवे। नीम के तेल का, इङ्गुदी के तेल का, या पीलु के तेल का पृथक् पृथक् नस्य देवे।

वायविडंग को बकरी के मूत्र में द्रव बनाकर इसका नस्य उत्तम कृमिनाशक है।

नस्य औषधियों को सड़ी मछलियों के साथ मिलाकर धूम देवे, यह कृमिनाशक है।

कृमियों के द्वारा रक्त पिया गया होने से इनमें रक्तस्राव न करे।

शिरःकम्पचिकित्सा—

वाताभितापविहितः कम्पे दाहाद्विना क्रमः ।

शिरःकम्प में वातजन्य अभिताप की चिकित्सा दाह को छोड़कर बरते।

उपशीर्षकचिकित्सा—

नवे जन्मोत्तरं जाते योजयेदुपशीर्षके ॥ १९ ॥
वातव्याधिक्रियां, पक्वे कर्म विद्रधिचोदितम् ।

नूतन एवं जन्म के पीछे उत्पन्न उपशीर्षक में वातव्याधि की चिकित्सा करे। पक जाने पर विद्रधि में कही चिकित्सा करे।

विद्रध्यादिचिकित्सा—

आमपक्वे यथायोग्यं विद्रधीपिटिकार्बुदे ॥ २० ॥

विद्रधि, पिटिका और अर्बुद में आमावस्था और पक्वा-वस्था को अपनी-अपनी कही चिकित्सा करे।

अरूंषिकाचिकित्सा—

अरूंषिका जलौकोभिर्हृतास्रा निम्बवारिणा ।
सिक्ता प्रभूतलवणैर्लिम्पेदश्वशकृद्रसैः ॥ २१ ॥

पटोलनिम्बपत्रैर्वा सहरिद्रैः सुकल्कितैः ।
गोमूत्रजीर्णपिण्याककुक्कवाकुमलैरपि ॥२२॥
कपालभृष्टं कुष्ठं वा चूर्णितं तैलसंयुतम् ।
रुंषिकालेपनं कण्डूक्लेददाहार्तिनाशनम् ॥२३॥
मालतीचित्रकाश्वघ्ननक्तमालप्रसाधितम् ।
चारुंषिकयोस्तैलमभ्यङ्गः क्षुरघृष्टयोः ॥२४॥
अशान्तौ शिरसः शुद्ध्यै यतेत वमनादिभिः ।

अरुंषिका में जोंक से रक्त निकाल कर नीम के पानी से परिसेचन करके प्रचुर नमक के साथ घोड़े की लीद के रस से लेप करे। अथवा परवल और नीम के पत्तों को हल्दी के साथ बारीक पीस कर लेप करे। गोमूत्र, पुरातन खली, मुर्गे की बीट इनसे लेप करे।

कूठ के चूर्ण को भाड़ में भुनवा कर तैल में मिलाकर अरुंषिका पर लेप करने से कण्डू, क्लेद, दाह और पीड़ा नष्ट होती है।

चमेली, चित्रक, कनेर, करंज; इनसे सिद्ध किये तैल को उस्तरे से रगड़ी हुई (शिर मुड़ा कर) अरुंषिकाओं और इन्द्रलुप्त में लगाना चाहिये।

इससे रोग शान्त न हो तो वमनादि से शिर का शोधन करने का प्रयत्न करे।

दारुणकचिकित्सा—

विध्येच्छिरां दारुणके लालाट्यां, शीलयेन्मृजाम् ॥
नावनं मूर्द्धवस्तिं च, लेपयेच्च समाक्षिकैः ।
प्रियालबीजमधुककुष्ठमाषैः ससर्षपैः ॥२६॥
लाक्षाशम्याकपत्रैडगजधात्रीफलैस्तथा ।
कोरदूषतृणक्षारवारिप्रक्षालनं हितम् ॥२७॥

दारुणक में ललाट की सिरा का वेधन करे। शिरोमल के प्रक्षालन से शुद्धि; नस्य तथा शिरोवस्ति बरते। चिरौंजी, मुलहठी, कूठ, उड़द, सरसों; इनका मधु के साथ लेप करे। लाख, अमलतास के पत्ते, पनवाड़ के बीज और आँवले से लेप करे। कोद्रव और तृणक्षार के जल से धोना उत्तम है।

वक्तव्य—शिरोवस्ति का विधान सूत्र स्थान अध्याय २२ श्लोक २७-३० में देखिए।

इन्द्रलुप्तचिकित्सा—

इन्द्रलुप्ते यथासन्नं सिरां विद्ध्वा प्रलेपयेत् ।
प्रच्छाय गाढं कासीसमनोह्वातुत्थकोषणैः ॥२८॥
वन्यामरतरुभ्यां वा गुञ्जामूलफलैस्तथा ।
तथा लाङ्गलिकामूलैः करवीररसेन वा ॥२९॥
सक्षौद्रक्षुद्रवार्ताकस्वरसेन रसेन वा ।
धत्तूरकस्य पत्राणां भल्लातकरसेन वा ॥३०॥
अथवा माक्षिकहविस्तिलपुष्पत्रिकण्टकैः ।
तैलाक्ता हस्तिदन्तस्य मषी चाचौषधं परम् ॥३१॥
शुक्लरोमोद्गमे तद्वन्मषी मेषविषाणजा ।
वर्जयेद्वारिणा सेकं यावद्रोमसमुद्भवः ॥३२॥

इन्द्रलुप्त में पास के स्थानमें सिरा का वेधन करके अच्छी तरह पाछ करके कासीस, मैनसिल, तुत्थ और मरिच से लेप करे। अथवा केवटीमोथा और देवदारु का या रत्ती (गुञ्जा) के मूल और फलों से या कलिहारी का मूल या करवीर के रस से या छोटी कटेरी के स्वरस में मधु मिलाकर लेप करे। अथवा धत्तूर के पत्तों के रस से या भिलावे के रस से लेप करे। अथवा मधु, घृत, तिल के फूल और गोखरू से लेप करे।

हाथी के दांत की राख को तैल मिलाकर लगाना चाच (इन्द्रलुप्त) की उत्तम औषध है।

इन्द्रलुप्त में यदि श्वेत बाल उत्पन्न हो जाँय तो भेड़ के सींग की राख को तैल में मिलाकर लगाये।

जब तक रोम उत्पन्न न हो, तब तक जल का परिषेक न करे।

खलत्यादिरोगचिकित्सा—

खलतौ पलिते वल्यां हरिल्लोम्नि च शोधितम् ।
नस्यवक्त्रशिरोऽभ्यङ्गप्रदेहैः समुपाचरेत् ॥३३॥
सिद्धं तैलं बृहत्याद्यैर्जीवनीयैश्च नावनम् ।
मासं वा निम्बजं तैलं क्षीरभुङ्नावयेद्यतिः ॥३४॥

खलित, पलित, बली तथा कपिल बालों में रोगी को वमनादि से शुद्ध करके नस्य, मुख-अभ्यंग, शिरोभ्यंग तथा प्रदेहों से चिकित्सा करे।

बृहत्यादि (लघु पञ्चमूल) तथा जीवनीय गण से सिद्ध तैल का नस्य देवें। ब्रह्मचारी रहकर दूध का भोजन करते हुए नीम के तैल का एक मास तक नस्य ले।

पलितरोगनाशक नील्यादि तैल—

नीलीशिरीषकोरण्टभृङ्गस्वरसभावितम् ।
शेलवक्षतिलरामाणां बीजं काकाण्डकीसमम् ॥३५॥
पिष्ट्वाऽऽजपयसा लोहाल्लिप्तादर्कांशुतापितात् ।
तैलं स्रुतं क्षीरभुजो नावनात् पलितान्तकृत् ॥३६॥

नील, शिरीष, कुरण्ट (कटसरैया) तथा भांगरे के स्वरस से, शेलु (लसोड़ा), बहेड़ा और प्रियंगु के बीजों की भावना देकर इनको काकाण्डकी (शूकशिम्बी, बड़ी कौंच) के समान लेकर बकरी के दूध से पीसकर लोहपात्र पर लगा कर धूप में रख देवे। इससे जो तेल चुए उसका नस्य ले और दूध का भोजन करे, यह पलित को नष्ट करता है।

पलितरोगनाशक नस्य—

क्षीरात्साहचराद् भृङ्गरजसः सौरसाद्रसात् ।
प्रस्थैस्तैलस्य कुडवः सिद्धो यष्टीपलान्वितः ॥३७॥
नस्यं शैलासने भाण्डे शृङ्गे मेषस्य वा स्थितः ।

दूध, झिण्टी, भांगरा और काली तुलसी का रस प्रत्येक एक प्रस्थ, तैल एक कुडव लेकर मुलहठी का कल्क एक पल, इनसे तैल सिद्ध करे। इस तैल को पत्थर से बने

पात्र में, असन वृक्ष के पात्र में या भेड़ के सींग में रख कर नस्य ले। (पात्र विशेष की महिमा से शक्ति का उत्कर्ष है)।

अन्यान्य औषध—

क्षीरेण श्लक्ष्णपिष्टौ वा दुग्धिकाकरवीरकौ ।।३८।।
उत्पाट्य पलितं देयावाशये पलितापहौ।
क्षीरं प्रियालं यष्ट्याह्वं जीवनीयो गणस्तिलाः ।।३९।।
कृष्णाः प्रलेपो वक्त्रस्य हरिल्लोमवलीहितः।
तिलाः सामलकाः पद्मकिञ्जल्को मधुकं मधु ।।४०।।
बृंहयेद्रञ्जयेच्चैतत् केशान् मूर्द्धप्रलेपनात्।

दुग्धिका और कनेर को दूध से बारीक पीसकर पलित-श्वेत बालों को उखाड़कर उनके स्थान पर लगाना चाहिए। ये पलितनाशक हैं।

दूध, चिरौंजी, मुलहठी, जीवनीय गण और काले तिल को पीसकर इनका लेप मुख पर लगाने पर कपिल बाल और वली (झुर्रियां) नष्ट होती हैं।

तिल, आंवला, कमलकेशर, मुलहठी, मधु, यह शिर पर लगाने से बालों को बढ़ाता है और रङ्गता-काला करता है।

मांसी कुष्ठं तिलाः कृष्णाः सारिवा नीलमुत्पलम् ॥
क्षौद्रं च क्षीरपिष्टानि केशसंवर्धनं परम्।
अयोरजो भृङ्गरजस्त्रिफला कृष्णमृत्तिका ।।४२।।
स्थितमिक्षुरसे मासं समलं पलितं रजेत्।
माषकोद्रवधान्याम्लैर्यवागूस्त्रिदिनोषिता ।।४३।।
लोहशुक्तोत्कटा पिष्टा बलाकामपि रञ्जयेत्।
प्रपौण्डरीकमधुकपिप्पलीचन्दनोत्पलैः ।।४४।।
सिद्धं धात्रीरसे तैलं नस्येनाभ्यञ्जनेन च।
सर्वान् मूर्धगदान् हन्ति पलितानि च शीलितम् ॥

जटामांसी, कूठ, काले-तिल, सारिवा, नीला कमल, इनको मधु और दूध से पीसकर-लगाना अतिशय केशवर्धक है।

लोहभस्म, भांगरा, त्रिफला, काली मिट्टी; इनको एक मास तक गन्ने के रस में रखकर लगाने से मूल सहित पलित रंगा जाता है-काला हो जाता है। (कृष्णमृत्तिका-पद्मिनी-तलावस्थितकर्दमः)।

उड़द, कोद्रो और कांजी से बनाई यवागू को तीन दिन, तक लोहपात्र में रखकर और शुक्त से प्रबल बनाकर (बहुत सा शुक्त मिलाकर) लगाने से बलाका पक्षी को भी रंग देती है। फिर पलित को तो जरूर काला कर देगी)।

प्रपौण्डरीक, मुलहठी, पिप्पली, चन्दन और कमल से आंवले के रस में सिद्ध किया तैल, नस्य और अभ्यंग से शिरोगत सब रोगों को नष्ट करता है और लगाने से पलित को नष्ट करता है।

वक्तव्य—चरक के अनुसार आंवले का रस तैल से दुगुना (चि. अ. २६) और विदेह के अनुसार चौगुना लेना चाहिए यथा—धात्रीफलरसप्रस्थे तैलस्य कुडवं पचेत् ॥ (विदेहः)

वरीजीवन्तिनिर्यासपयोभिर्यमकं पचेत्।
जीवनीयैश्च तन्नस्यं सर्वजत्रूर्ध्वरोगजित् ।।४६।।

सतावरी तथा जीवन्ती के स्वरस और दूध से घी और तैल को जीवनीय गण के कल्क में सिद्ध करे। इनका नस्य जत्रु से ऊपर के सब रोगों को नष्ट करता है। (जीवन्ती का स्वरस न होने पर क्वाथ लेना चाहिये)।

मायूर घृत—

मयूरं पक्षपित्तान्त्रपादविट्तुण्डवर्जितम्।
दशमूलबलारास्नामधुकैस्त्रिपलैर्युतम् ।।४७।।
जले पक्त्वा घृतप्रस्थं तस्मिन् क्षीरसमं पचेत्।
कल्कितैर्मधुरद्रव्यैः सर्वजत्रूर्ध्वरोगजित् ।।४८।।
तदभ्यासीकृतं पानवस्त्यभ्यञ्जननावनैः।

मोर को पंख, पित्त, आंत, पैर, चोंच तथा मल से रहित करे तथा दशमूल, बला, रास्ना और मुलहठी प्रत्येक तीन पल लेकर (कुल ३९ पल) एक द्रोण जल में पकाये। चौथाई रहने पर इस क्वाथ में घृत एक प्रस्थ, दूध एक प्रस्थ मिलाकर मधुर द्रव्यों (जीवनीय गण) के कल्क से घृत सिद्ध करे। इस घृत का पान, वस्ति, अभ्यंग और नस्य में सेवन करने से जत्रु से ऊपर के सब रोग नष्ट होते हैं।

महामायूर घृत—

एतेनैव कषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।।४९।।
चतुर्गुणेन पयसा कल्कैरेभिश्च कार्षिकैः।
जीवन्तीत्रिफलामेदामृद्वीकर्द्धिपरूषकैः ।।५०।।
समङ्गाचविकाभार्गीकाश्मरीकर्कटाह्वयैः।
आत्मगुप्तामहामेदातालखर्जूरमस्तकैः ।।५१।।
मृणालबिसखर्जूरयष्टीमधुकजीवकैः।
शतावरीविदारीक्षुबृहतीसारिवायुगैः ।।५२।।
मूर्वाश्वदंष्ट्रर्षभकशृङ्गाटककसेरुकैः।
रास्नास्थिरातामलकीसूक्ष्मैलाशटिपौष्करैः ।।५३।।
पुनर्नवातवक्षीरीकाकोलीधन्वयासकैः।
मधूकाक्षोटवातामसुञ्जाताभिषुकैरपि ।।५४।।
महामायूरमित्येतन्मायूरादधिकं गुणैः।
धात्विन्द्रियस्वरभ्रंशश्वासकासार्दितापहम् ।।५५।।
योन्यसृक्शुक्रदोषेषु शस्तं बन्ध्यासुतप्रदम्।

उक्त दशमूलादिक कषाय और मोर के मांस के कषाय में एक प्रस्थ घी को चौगुने दूध के साथ जीवन्ती, त्रिफला, मेदा, मृद्वीका, ऋद्धि, फालसा, मंजीठ, चविका, भार्गी, गम्भारी, काकड़ाश्रृंगी, कौंच, महामेदा, तालमस्तक, खर्जूरमस्तक, मृणाल, बिस, खर्जूर, मुलहठी, जीवक, शतावरी, विदारी, गन्ना, कटेरी, बड़ी कटेरी, सारिवा, काली सारिवा, मूर्वा, गोखरू, ऋषभक, सिंघाड़ा, कसेरू, रास्ना, शालपर्णी, मूसली, छोटी इलायची, शटी, पुष्करमूल, पुनर्नवा, वंशलोचन, काकोली, धमासा, महुआ, अखरोट, बादाम, गुंजातक, (चिलगोजा), अभिषुक (पिस्ता), इनको प्रत्येक एक कर्ष,

लेकर इनके कल्क से घृत सिद्ध करे। यह महामायूर घृत मायूर घृत से अधिक गुणों वाला है। धातुभ्रंश, इन्द्रियभ्रंश, स्वरभ्रंश, श्वास, कास और अर्दित का नाशक है। योनिदोष, रक्तदोष, शुक्रदोषों में प्रशस्त है और बन्ध्या को सुत देता है।

अन्य प्रयोग—

आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चेति प्रकल्पयेत् ॥ ५६ ॥

मोरमांस के स्थान पर चूहा या मुर्गी या हंस अथवा खरगोश का मांस मिलाकर घृत सिद्ध करे। (कुक्कुट के स्थान पर कर्कट पाठ ठीक नहीं है)।

रोगसंख्या—

जत्रूर्ध्वजानां व्याधीनामेकत्रिंशच्छतद्वयम् ।
परस्परमसङ्कीर्णं विस्तरेण प्रकाशितम् ॥५७॥

जत्रु से ऊपर के दो सौ इकतीस रोग परस्पर एक दूसरे से पृथक्-पृथक् विस्तार से कह दिये हैं।

वक्तव्य—नेत्ररोग ९४, कर्णरोग २५, नासारोग १८, मुखरोग ७५ और शिरोरोग १९, इस प्रकार से ये २३१ रोग हैं।

उक्त चिकित्सा में शीघ्रता—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः ।
मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगाञ् शीघ्रतरं जयेत् ॥५८॥[1]

ऋषि लोग पुरुष को ऊर्ध्व मूल और अधः शाखा वाला कहते हैं। इस हेतु मूल (शिर) में प्रहार करने वाले रोगों को अतिशीघ्र जीतना चाहिये।

उपदेश—

सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संश्रिताः ।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥ ५९ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने शिरोरोगप्रतिषेधो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

* * *

क्योंकि इस उत्तमांग में सब इन्द्रियां और सब प्राण आश्रित हैं, इससे इस उत्तमांग (शिर) की रक्षा में यत्नवान् होना चाहिये।

वक्तव्य—कुछ प्रसिद्ध योग—(१) देवदारुनतं कुष्ठं नलदं विश्वभेषजम्। लेपः काञ्जिकसंपिष्टस्तैलयुक्तः शिरोऽर्त्तिनुत्। (२) नागरकल्कविमिश्रं क्षीरं नस्येन योजितं पुंसाम्। नानादोषोद्भूतां शिरोरुजां हन्ति तीव्रतराम् ॥ (३) सूर्यावर्त्ते विधातव्यं नस्यकर्मादि भेषजम्। पाययेत् सुगुडं सर्पिर्घृतपूरांश्च भोजयेत्। रस—शिरःशूलाद्रिवज्ररस, महालक्ष्मी विलास, मयूराद्यघृत, षडबिन्दुतैल, दशमूल तैल, मध्यम दशमूल तैल, बृहद्दशमूल तैल तथा महादशमूल तैल।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का शिरोरोगप्रतिषेध नामक चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २४ ॥[2]

* * *

पञ्चविंशोऽध्यायः

अथातो व्रणविज्ञानप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे व्रणविज्ञानप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

दो प्रकार के व्रण—

व्रणो द्विधा निजागन्तुदुष्टशुद्धविभेदतः ।
निजो दोषैः शरीरोत्थैरागन्तुर्बाह्यहेतुजः ॥ १ ॥
दोषैरधिष्ठितो दुष्टः शुद्धस्तैरनधिष्ठितः ।

व्रण दो प्रकार के हैं—निज और आगन्तुज तथा दुष्ट और शुद्ध भेद से। इनमें शरीरजन्य दोषों से निज व्रण और बाह्य हेतु से उत्पन्न आगन्तुज व्रण हैं। इनमें दोषों से अधिष्ठित व्रण दुष्ट व्रण हैं और दोषों से अनधिष्ठित (अनाश्रित) व्रण शुद्ध व्रण है।

दुष्टव्रण के लक्षण—

संवृतत्वं विवृतता काठिन्यं मृदुताऽति वा ॥ २ ॥
अत्युत्सन्नावसन्नत्वमत्यौष्ण्यमतिशीतता ।
रक्तत्वं पाण्डुता कार्ष्ण्यं पूतिपूयपरिस्रुतिः ॥ ३ ॥
पूतिमांससिरास्नायुच्छन्नतोत्सङ्गिताऽतिरुक् ।
संरम्भदाहश्वयथुकण्ड्वादिभिरुपद्रुतः ॥ ४ ॥
दीर्घकालानुबन्धश्च विद्याद् दुष्टव्रणाकृतिम् ।

संवृत (बन्द), विवृत (खुला हुआ), अतिकठिन, अतिमृदु, अतिउत्सन्न, अतिअवसन्न, (बहुत दबा), अतिउष्ण, अतिशीत, रक्तवर्ण, पाण्डुवर्ण, कृष्ण, सड़ी पूय को बहाने वाला, सड़े मांस-सिरा-स्नायु से ढपा, उत्संगित (खोखला), अतिवेदना, संरम्भ (सुर्खी के साथ शोथ), दाह, शोथ, कण्डू आदि से पीड़ित और चिरकाल से चलता होना; ये दुष्ट व्रण के रूप हैं।

वक्तव्य—उत्संगी-ऊर्ध्वगतिः, बद्धपीवरत्वम्—साशयत्वं, दूर्वावत् पाकस्यान्तर्दूरगतिः, इन्दुः।

स पञ्चदशधा दोषैः सरक्तैः—

यह दुष्ट व्रण दोषों एवं रक्त के साथ पन्द्रह प्रकार का है। (यथा-पृथग् दोषों से तीन, संसर्गज तीन, सन्निपातजन्य एक, रक्त के साथ भी इसी प्रकार से सात, अकेले रक्त से एक।)

वातव्रण के लक्षण—

—तत्र मारुतात् ॥ ५ ॥
श्यावः कृष्णोऽरुणो भस्मकपोतास्थिनिभोऽपि वा ।

---

[1] यह पाठ निर्णयसागर की पुस्तक में नहीं है।

[2] आठवें से चौबीसवें अध्याय तक आयुर्वेद के शालाक्यतन्त्र नामक पाँचवें अंग का वर्णन किया गया है। शल्यतन्त्र नामक दूसरे अंग का प्रथम कायचिकित्सा नामक अंग के साथ ही बहुत कुछ वर्णन हो चुका है। किन्तु उसका बहुत कुछ अंश वर्णन करने से बच गया है उसके साथ शल्यतन्त्र का क्रमबद्ध वर्णन अगले दस अध्यायों (२५-३४) में करेंगे।

मस्तुमांसपुलाकाम्बुतुल्यतन्वल्पसंस्रुतिः ॥ ६ ॥
निर्मांसस्तोदभेदाढ्यो रूक्षश्चटचटायते ।

इनमें वायु-दूषित व्रण श्याव, कृष्ण, अरुण, राख या कबूतर की अस्थि की भांति अथवा मस्तु के पानी या मांस के धोवन के समान या पुलाक (पुआल) के पानी के समान, थोड़े स्राव वाला, मांसरहित, तोद एवं भेद की अधिकता वाला होता है तथा रूक्ष और चटचटाता है—फटता रहता है।

पित्तव्रण के लक्षण—

पित्तेन क्षिप्रजः पीतो नीलः कपिलपिङ्गलः ॥ ७ ॥
मूत्रकिंशुकभस्माम्बुतैलाभोष्णबहुस्रुतिः ।
क्षारोक्षितक्षतसमव्यथो रागोष्मपाकवान् ॥ ८ ॥

पित्त के कारण व्रण जल्दी उत्पन्न होता है, पीला, नीला, कपिलवर्ण तथा धूसर, मूत्र ढाक की भस्म के पानी के समान या तैल की कान्ति वाला गरम और बहुत स्राव वाला, क्षार से स्पर्श किये व्रण के समान पीड़ा देने वाला, सुर्ख, उष्णिमा से युक्त तथा पकने वाला होता है।

कफव्रण के लक्षण—

कफेन पाण्डुः कण्डूमान् बहुश्वेतघनस्रुतिः ।
स्थूलौष्ठः कठिनः स्नायुसिराजालततोऽल्परुक् ॥ ९॥

कफ के कारण व्रण पाण्डु, कण्डूयुक्त, श्वेत और घट्ट एवं बहुत स्राव वाला, किनारों से मोटा, कठिन, स्नायु एवं सिराजाल से व्याप्त तथा थोड़ी वेदना वाला होता है।

रक्तव्रण के लक्षण—

प्रबालरक्तो रक्तेन सरक्तं पूयमुद्गिरेत् ।
वाजिस्थानसमो गन्धे युक्तो लिङ्गैश्च पैत्तिकैः ॥१०॥

रक्त के कारण व्रण मूँगे के समान लाल वर्ण होता है और रक्तमिश्रित पूय को निकालता है, गन्ध में घुड़साल की गन्ध वाला तथा पित्तव्रण के लक्षणों से युक्त होता है।

संसर्गजादि व्रण के लक्षण—

द्वाभ्यां त्रिभिश्च सर्वैश्च विद्याल्लक्षणसङ्करात् ।

दो, तीन और सब दोषों के लक्षणों के मिलने से संसर्गज आदि अन्य व्रणों को जानना चाहिये।

शुद्ध व्रण के लक्षण—

जिह्वाप्रभो मृदुः श्लक्ष्णः श्यावौष्ठपिटिकः समः॥११॥
किञ्चिदुन्नतमध्यो वा व्रणः शुद्धोऽनुपद्रवः ।

जिह्वा के समान (लाल एवं छोटे छोटे दानों से भरा), कोमल, चिकना, काले किनारों का, छोटी पिटकाओं से भरा, समान या बीच से कुछ ऊँचा उठा, उपद्रवरहित व्रण शुद्ध व्रण होता है।[1]

दुःसाध्य व्रण के लक्षण—

त्वगामिषसिरास्नायुसन्ध्यस्थीनि व्रणाशयाः ॥१२॥
कोष्ठो मर्म च तान्यष्टौ दुःसाध्यान्युत्तरोत्तरम् ।

व्रण के आठ आशय (स्थान) हैं—यथा—त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, कोष्ठ और मर्म। ये उत्तरोत्तर कष्टसाध्य हैं।

सुखसाध्य के लक्षण—

सुसाध्यः सत्त्वमांसाग्निवयोबलवति व्रणः ॥१३॥
वृत्तो दीर्घस्त्रिपुटकश्चतुरस्राकृतिश्च यः ।
तथा स्फिक्पायुमेढ्रौष्ठपृष्ठान्तर्वक्त्रगण्डगः ॥१४॥

सत्त्व वाले, मांस वाले, प्रदीप्ताग्नि, वयःस्थ (युवा) और बलवान् व्यक्ति में व्रण सुखसाध्य है। जो व्रण गोल, लम्बा, त्रिपुटक (तिकोना) और चौकोर होता है, वह भी सुखसाध्य है। नितम्ब, पायु (गुदा), मेढ्र , ओठ, पीठ, मुख के अन्दर और गण्डस्थल के व्रण सुखसाध्य हैं।

कष्टसाध्य के लक्षण—

कृच्छ्रसाध्योऽक्षिदशननासिकाऽपाङ्गनाभिषु ।
सेवनीजठरश्रोत्रपार्श्वकक्षास्तनेषु च ॥१५॥
फेनपूयानिलवहः शल्यवानुर्ध्वनिर्गमी ।
भगन्दरोऽन्तर्वदनस्तथा कट्यस्थिसंश्रितः ॥१६॥
कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिद्ध्यन्ति येषां च स्युर्व्रणे व्रणाः ।

कष्टसाध्य—आंख, दांत, नसिका, अपांग, नाभि, सेवनी, उदर, कान, पार्श्व, कक्षा और स्तनों के व्रण कष्टसाध्य हैं।

जिन व्रणों से झाग, पूय और वायु निकलती हो (यथा-अस्थिक्षयज व्रण), शल्ययुक्त व्रण, ऊपर के मुख से स्राव निकालने वाले, भगन्दर, अन्दर में मुख वाले, कटि और अस्थि में आश्रित व्रण दुःखसाध्य हैं। इसी प्रकार कुष्ठरोगियों के, विष से पीड़ित मनुष्यों के, शोषरोगियों के, मधुमेह रोगियों के तथा जिनके व्रण में व्रण होते हैं, उनके ये व्रण कष्टसाध्य हैं। (शिवदाससेनजी ने—अन्तर्मुख का भगन्दर असाध्य माना है)।

असाध्य व्रण के लक्षण—

नैव सिद्ध्यन्ति वीसर्पज्वरातीसारकासिनाम् ।
पिपासूनामनिद्राणां श्वासिनामविपाकिनाम् ॥ १८ ॥
भिन्ने शिरःकपाले वा मस्तुलुङ्गस्य दर्शने ।

वीसर्प, ज्वर, अतीसार, कास, प्यास, नींद न आना, श्वास, अविपाक (मन्दाग्नि), इन रोग वालों के व्रण असाध्य होते हैं। अथवा शिर की अस्थियों के फटने पर मस्तुलुङ्ग के दीखने पर भी व्रण असाध्य होता है।

साध्य व्रण की असाध्यता—

स्नायुक्लेदात्सिराच्छेदाद्गाम्भीर्यात्क्रिमिभक्षणात् ॥
अस्थिभेदात्सशल्यत्वात्सविषत्वादतर्कितात् ।
मिथ्याबन्धादतिस्नेहाद्रौक्ष्याद्रोमादिघट्टनात् ॥२०॥

---

[1] १. व्रण के उपद्रव-'विसर्पः पक्षजातश्च शिरास्तम्भोऽपतानकः । मोहोन्मादव्रणरुजाज्वरतृष्णाहनुग्रहाः ॥ कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः । षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥ (चरक. चि. अ. २५)।

क्षोभादशुद्धकोष्ठत्वात्सौहित्यादतिकर्शनात् ।
मद्यपानाद्दिवास्वप्नाद्व्यवायाद्रात्रिजागरात् ॥२१॥
व्रणो मिथ्योपचाराच्च नैव साध्योऽपि सिध्यति ।

निम्न कारणों से साध्य व्रण भी असाध्य हो जाता है, यथा—स्नायु के क्लेद से, शिरा के काटने से, गम्भीरता से, कृमिभक्षण से, अस्थिभेद से, व्रण में शल्य रहने से, अतिस्नेह से, अतिरूक्षता से, रोम (तिनके, धूलि) आदि की रगड़ से, विक्षोभ से, कोष्ठ की अशुद्धता से, पेट भरकर भोजन करने से, अतिकर्पण (उपवास आदि) से, मद्यपान से, दिन में सोने से, मैथुन से, रात्रि में जागने से और ठीक तरह चिकित्सा न करने से साध्य व्रण भी असाध्य बन जाता है।

व्रण भरने के लक्षण—

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ॥२२॥
स्थिराश्चिपिटिकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ।

जिस व्रण का रंग कबूतर के रंग के समान पाण्डु-धूसर हो, जिसके किनारे क्लेद से रहित और स्थिर मांसांकुर वाला हो वह व्रण भर रहा है, ऐसा समझे। (चिपिटिकावन्तः—चर्मचेलीमांसांकुराः)।

व्रणशोफचिकित्सा—

अथात्र शोफावस्थायां यथासन्नं विशोधनम् ॥२३॥
योऽयं शोफो हि शुद्धानां व्रणश्चाशु प्रशाम्यति ।
कुर्याच्छीतोपचारं च शोफावस्थस्य सन्ततम् ॥२४॥
दोषाग्निरग्निवत्तेन प्रयाति सहसा शमम् ।

व्रण की शोफावस्था में समीपता के विचार से वमन या विरेचन बरतना चाहिये। क्योंकि शुद्ध हुए पुरुषों में व्रण और शोफ जल्दी शान्त हो जाते हैं ।

व्रण की शोफावस्था में निरन्तर शीतोपचार करना चाहिये। इस शीतोपचार से बाह्याग्नि की भांति दोषाग्नि सहसा शान्त हो जाती है।

रक्त निकालने की आवश्यकता—

शोफे व्रणे च कठिने विवर्णे वेदनाऽन्विते ॥२५॥
विषयुक्ते विशेषेण जलजाद्यैर्हरेदसृक् ।
दुष्टेऽस्रेऽपगते सद्यः शोफरागरुजां शमः ॥२६॥

शोफ या व्रण यदि कठिन, विवर्ण और वेदनायुक्त हों, उनमें तथा विशेषकर विषयुक्त व्रण में जोकों से रक्त को निकाले। दूपित रक्त के निकालने से सूजन, सुर्खी और पीड़ा तुरन्त शान्त हो जाती है ।

रक्तस्राव के पश्चात् लेपादि—

हृते हृते च रुधिरे सुशीतैः स्पर्शवीर्ययोः ।
सुश्लक्ष्णैस्तदहः पिष्टैः क्षीरेक्षुस्वरसद्रवैः ॥२७॥
शतधौतघृतोपेतैर्मुहुरन्यैरशोषिभिः ।
प्रतिलोमं हितो लेपः सेकाभ्यङ्गाश्च तत्कृताः ॥२८॥

बार-बार रक्त को निकालने पर स्पर्श और वीर्य में अति शीतल, बारीक पीसी, उसी दिन पीसी, दूध तथा गन्ने का रस मिलाकर पतली बनाई गई, शतधौत घृत से मिश्रित तथा दूसरे, शुष्क न करने वाले द्रव्यों से बार-बार लेप करे। यह लेप प्रतिलोमरूप में करना हितकारी है, तथा पूर्वोक्त शीतल द्रव्यों से परिषेक एवं अभ्यंग करना उत्तम है।

वक्तव्य—अशोषिभिः—एतच्च पीडनं विहाय बोद्धव्यम्। पीड़न में तो सुखाने वाला लेप ही बरतना चाहिये। प्रतिलोम—लोम के अभिमुख, यथा—प्रतिलोममालिम्पेन्नानुलोमम्। प्रतिलोमे हि सम्यगौषधमवतिष्ठते, अनुप्रविशति च लोमकूपैः स्वेदवाहिभिः सिरामुखैर्वीर्यम् ॥ सुश्रुत ।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः ।
प्रदेहो भूरिसर्पिर्भिः शोफनिर्वापणः परम् ॥२९॥

बरगद, गूलर, पीपल, पिलखन, अम्लवेतस, इनकी छालों का बहुत घी में मिलाकर प्रदेह करना चाहिये। यह उत्तम शोफशामक है।

उपनाह स्वेद—

वातोल्बणानां स्तब्धानां कठिनानां महारुजाम् ।
स्रुतासृजां च शोफानां व्रणानामपि चेदृशाम् ॥३०॥
आनूपवेसवाराद्यैः स्वेदः, सोमास्तिलाः पुनः ।
भृष्टा निर्वापिताः क्षीरे तत्पिष्टा दाहरुग्धराः ॥३१॥

जो शोफ वात प्रधान, स्तब्ध, कठिन, अतिशय वेदना वाले हों, जिनसे रक्त बहता हो, या जो व्रण इसी प्रकार के हों, उनमें आनूपदेशीय मांस से वेशवार (कुट्टित घृतादि संस्कृत मांस से) स्वेद देवे । अलसी और तिल को भूनकर दूध में बुझाकर दूध के साथ पीसकर लेप करने पर दाह और पीड़ा नष्ट होती है।

मन्दवेदना से स्वेदादि—

स्थिरान् मन्दरुजः शोफान् स्नेहैर्वातकफापहैः ।
अभ्यज्य स्वेदयित्वा च वेणुनाड्या शनैः शनैः ॥३२॥
विम्लापनार्थं मृद्नीयात् तलेनाङ्गुष्ठकेन वा ।
यवगोधूममुद्गैश्च सिद्धपिष्टैः प्रलेपयेत् ॥३३॥

जो शोफ स्थिर तथा थोड़ी वेदना वाले हों उनमें वात-कफनाशक स्नेहों से अभ्यंग करके स्वेदन देकर विम्लापन (शोथ-विलयन) के लिये बांस की खप्पच से या हथेली से, अथवा अंगूठे से धीरे धीरे मलना चाहिये। जौ, गेहूँ और मूंग को उबाल कर पीसकर लेप करे। ('सिद्धपिष्टैः' के स्थान पर 'दुग्धपिष्टैः' भी पाठ है)।

सूजन पर उपनाहादि—

विलीयते स चेन्नैवं ततस्तमुपनाहयेत् ।
अविदग्धस्तथा शान्तिं विदग्धः पाकमश्नुते ॥३४॥

यह व्रणशोथ इस प्रकार विम्लापन से शान्त न हो तो इस पर उपनाह (पुलटिस) बांधे। इस प्रकार करने से अविदग्ध शोफ शान्त हो जाता है और विदग्ध शोफ पक जाता है।

वक्तव्य—अविदग्धः—पाकमप्राप्तः, इति चन्द्रः। उपनाहः-सोष्णबहलसंबन्धलेपस्य उपनाह इति संज्ञा, इति शिवदाससेनः।

उपनाह में सत्तू का गोला—

सकोलतिलवल्लोमादध्यम्ला सक्तुपिण्डिका।
सकिण्वकुष्ठलवणा कोष्णा शस्तोपनाहने ॥३५॥

कोल (खट्टा बेर), तिल, वल्ल (शिम्बी), उमा (अलसी) और खट्टी दही से सत्तू की पिण्डी (जौ के सत्तू को पानी में घोलकर बनाया पिण्ड), किण्व (सुरावीज), कूठ और लवण के साथ मिलाकर थोड़ा गरम करके उपनाह में लगाना उत्तम है।

उत्पीडन और दारण—

सुपक्वे पिण्डिते शोफे पीडनैरुपपीडिते।
दारणं दारणार्हस्य सुकुमारस्य चेष्यते ॥३६॥

शोफ के भली प्रकार पक जाने पर तथा पिण्डित (केन्द्रित) हो जाने पर, पीडन द्रव्यों से पीड़ित हो-जाने (दबाये जाने) पर, दारण के योग्य शोफ में तथा सुकुमार के लिये दारण उत्तम है।

दारण लेप—

गुग्गुल्वतसिगोदन्तस्वर्णक्षीरीकपोतविट् ।
क्षारौषधानि क्षाराश्च पक्वशोफविदारणम् ॥३७॥
पूयगर्भानणुद्वारान् सोत्सङ्गान्मर्मगानपि ।
निःस्नेहैः पीडनद्रव्यैः समन्तात्प्रतिपीडयेत् ॥३८॥
शुष्यन्तं समुपेक्षेत प्रलेपं पीडनं प्रति।
न मुखे चैनमालिम्पेत् तथा दोषः प्रसिच्यते ॥३९॥
कलाय-यव-गोधूम-माष-मुद्ग-हरेणवः ।
द्रव्याणां पिच्छिलानां च त्वङ्मूलानि प्रपीडनम् ॥

दारण द्रव्य—गुग्गुलु, अलसी, गाय का दांत, स्वर्णक्षीरी, कबूतर की विष्ठा (बीट), क्षार बनाने के द्रव्य (घण्टा-पाटला आदि) और क्षार, ये पके हुए शोफ का विदारण करने वाले हैं। (गोदन्त का अर्थ अरुणदत्त ने हरताल किया है)।

जिन शोफों में पूय अन्दर में भरी हो और सूक्ष्म मुख के कोटर वाले तथा मर्मस्थान में पहुंचे हों, उन व्रणों को स्नेहरहित पीड़न द्रव्यों से चारों ओर में दबाये।

पीडन कार्य के लिये जो लेप लगाया गया हो, उसकी शुष्क होने पर उपेक्षा करे—उसे लगा रहने देवे। इस पीडन लेप को मुख पर न लगाये, इससे दोष बह जाता है।

पीडन द्रव्य—मटर, जौ, गेहूं, उड़द, मूँग, हरेणु और गूगल आदि पिच्छिल द्रव्यों की त्वचा और मूल पीडन द्रव्य हैं।

दुष्ट व्रणों में प्रयोग—

सप्तसु क्षालनाद्येषु सुरसाऽऽरग्वधादिकौ।
भृशं दुष्टे व्रणे योज्यौ मेहकुष्ठव्रणेषु च ॥४१॥

अतिशय दूषित व्रण में तथा प्रमेह एवं कुष्ठ के व्रणों में प्रक्षालन, आलेप, घृत, तैल, रसक्रिया, चूर्ण और वर्ति, इन सात कार्यों में सुरसादिगण और आरग्वधादिगण को बरतना चाहिये।

व्रणशोधनकारक योग—

अथवा क्षालनं क्वाथः पटोलीनिम्बपत्रजः।
अविशुद्धे, विशुद्धे तु न्यग्रोधादित्वगुद्भवः ॥४२॥
पटोलीतिलयष्ट्याह्वात्रिवृद्दन्तीनिशाद्वयम् ।
निम्बपत्राणि चालेपः सपटुर्व्रणशोधनः ।४३॥
व्रणान् विशोधयेद्वर्त्या सूक्ष्मास्यान् सन्धिमर्मगान्।
कृतया त्रिवृतादन्तीलाङ्गलीमधुसैन्धवैः ॥४४॥

अविशुद्ध व्रण में प्रक्षालन के लिये पटोल और नीम के पात्र का कषाय उत्तम है। विशुद्ध व्रण के धोने के लिये बरगद आदि क्षीरिवृक्षों की छाल का क्वाथ उत्तम है।

पठोल, तिल, मुलहठी, त्रिवृत्, दन्ती, हल्दी, दारुहल्दी, नीम के पत्ते, इनको सैन्धव के साथ मिलाकर लेप करना व्रण को शुद्ध करता है।

सूक्ष्म मुख वाले, सन्धि एवं मर्म में स्थित व्रणों का वर्त्ति से शोधन करे। इसके लिए निशोथ, दन्ती, कलिहारी, मधु, और सैन्धव से वर्त्ति बनाये।

वातज व्रणों में धूपन—

वाताभिभूतान् सास्रावान् धूपयेदुग्रवेदनान्।
यवाज्यभूर्जमदनश्रीवेष्टकसुराह्वयैः ॥४५॥

वातपीडित, स्रावयुक्त तथा तीव्र वेदना वाले व्रणों में जौ, घी, भोजपत्र, मोम, गन्धाविरोजा और देवदारु से धुवां देवे। (सास्रावान्—अल्पस्रावयुक्तान्, इति शिवदाससेनः)।

पित्तज व्रणों में लेप—

निर्वापयेद् भृशं शीतैः पित्तरक्तविषोल्बणान्।

पित्त, रक्त और विष प्रधान व्रणों का अतिशीतल द्रव्यों से (निर्वापण शमन) करे।

शुष्क व्रणों पर उत्सादन—

शुष्काल्पमांसे गम्भीरे व्रण उत्सादनं हितम् ॥४६॥
न्यग्रोधपद्मकादिभ्यामश्वगन्धाबलातिलैः ।
अद्यान्मांसादमांसानि विधिनोपहितानि च ॥४७॥
मांसं मांसादमांसेन वर्धते शुद्धचेतसः।

शुष्क, अल्प मांस वाले और गम्भीर व्रण में उत्सादन (निम्न व्रण को ऊपर लाना) हितकारी है। यह उत्सादन न्यग्रोध, पद्माख आदि गणों से तथा अश्वगन्धा, बला और तिल से करे। मांस खाने वाले श्येन, सिंह आदि प्राणियों के विधिपूर्वक बनाये मांस को खाये। क्योंकि शोक, क्रोध आदि से रहित शुद्ध मन वाले मनुष्य का मांस, मांस खाने वाले प्राणियों के मांस से बढ़ता है।

अवसादन—

उत्सन्नमृदुमांसानां व्रणानामवसादनम् ॥ ४८ ॥
जातीमुकुलकासीसमनोह्वाऽऽलपराग्निकैः ।

जिनमें कोमल मांस ऊपर को उठ आया हो, उनमें अवसादन (निम्नीकरण) करना चाहिये। इसके लिये चमेली की कलियाँ, कासीस, मैनसिल, हरताल, गुग्गुलु और चित्रक का लेप करे। (अग्निक-लांगली, इति शिवदाससेनः)।

क्षारकर्म—

उत्सन्नमांसान् कठिनान् कण्डूयुक्तांश्चिरोत्थितान् ॥
व्रणान् सुदुःखशोध्यांश्च शोधयेत् क्षारकर्मणा।

जिन व्रणों में मांस ऊपर को उठा हो, जो कठिन हों, कण्डू से युक्त हों, देर से उत्पन्न हों तथा जिनका कठिनाई से शोधन होता हो; उनका क्षारचिकित्सा से शोधन करे।

अग्निकर्म—

स्रवन्तोऽश्मरिजा मूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः ॥५०॥
छिन्नाश्च सन्धयो येषां यथोक्तैर्ये च शोधनैः।
शोध्यमाना न शुद्ध्यन्ति शोध्याः स्युस्तेऽग्निकर्मणा॥

जिन अश्मरीजन्य व्रणों से मूत्र बहता हो, और अन्य जो व्रण रक्त बहाते हों, जिनमें सन्धियाँ छिन्न हो गयी हों और जो व्रण ऊपर के कहे हुए शोधनों से शुद्ध करने पर भी शुद्ध नहीं होते हों; उनका अग्निकर्म (दाह) से शोधन करना चाहिये।

शुद्धानां रोपणं योज्यमुत्सादाय यदीरितम्।

उत्सादन के लिये जो द्रव्य कहे हैं, उनसे शुद्ध व्रणों का रोपण करना चाहिये।

रोपण योग—

अश्वगन्धा रुहा रोध्रं कट्फलं मधुयष्टिका ॥५२॥
समङ्गा धातकीपुष्पं परमं व्रणरोपणम्।
अपेतपूतिमांसानां मांसस्थानामरोहताम् ॥५३॥
कल्कं संरोहणं कुर्यात् तिलानां मधुकान्वितम्।
स्निग्धोष्णतिक्तमधुरकषायत्वैः स सर्वजित् ॥५४॥

असगन्ध, रुहा (दूर्वा या वृक्षरुहा), लोध, कट्फल, मुलहठी, लज्जावती तथा धाय के फूल, ये उत्तम व्रणरोपण हैं।

जिन व्रणों में से सड़ा मांस दूर हो गया हो तथा जो मांस स्थान में होने पर भी नहीं भरते, उनमें तिल और मुलहठी का कल्क रोहण के लिये वरतना चाहिये।

यह तिल-कल्क स्निग्ध, उष्ण, तिक्त, मधुर और कषाय होने से सर्वदोषनाशक है।

वक्तव्य—इसीलिये सुश्रुत में कहा है—'व्रणालेपन एव पथ्यः'—तिल को व्रणों पर लेप करने में पथ्य कहा है और नवधान्यादिवर्ग में तिलका निषेध किया है। यथा-धान्याम्बु, बाह्यलेप में शीत एवं अन्तःप्रयोग में उष्ण है।

स क्षौद्रनिम्बपत्राभ्यां युक्तः संशोधनं परम्।
पूर्वाभ्यां सर्पिषा चासौ युक्तः स्यादाशु रोपणः॥
तिलवद्यवकल्कं तु केचिदिच्छन्ति तद्विदः।
सास्रपित्तविषागन्तुगम्भीरान् सोष्मणो व्रणान् ॥५६॥
क्षीररोपणभैषज्यभृतेनाज्येन रोपयेत्।
रोपणौषधसिद्धेन तैलेन कफवातजान् ॥५७॥
काङ्क्षीरोध्राभयासर्जसिन्दूराञ्जनतुत्थकम्।
चूर्णितं तैलमदनैर्युक्तं रोपणमुत्तमम् ॥५८॥
समानां स्थिरमांसानां त्वक्स्थानां चूर्ण इष्यते।
ककुभोदुम्बराश्वत्थजम्बूकट्फलरोध्रजैः ॥५९॥
त्वचमाशु निगृह्णन्ति त्वक्चूर्णैश्चूर्णिता व्रणाः।

मधु और नीम के पत्ते से मिला तिलकल्क उत्तम संशोधक है।

मधु, नीम के पत्ते और घी से मिला तिलकल्क शीघ्र संरोहक है।

कुछ व्रण-चिकित्सक यवकल्क को भी तिलकल्क की भांति मानते हैं।

रक्त, पित्त, विष तथा आगन्तुज, गम्भीर एवं उष्णिमा से युक्त व्रणों का क्षीरयुक्त रोपण द्रव्य से पक्व घृत द्वारा रोपण करे। कफवातजन्य व्रणों का रोपणद्रव्य सिद्ध तैल से रोपण करे।

कांक्षी (फिटकिरी), लोध, हरड़, राल, सिन्दूर, सुरमा, तुत्थ, इनके चूर्ण को तैल और मोम में मिलाने से श्रेष्ठ रोपण बनता है।

जो व्रण समान, स्थिर, कठिन मांस वाले और त्वचा में स्थित हों, उनमें चूर्ण बरतना चाहिये।

अर्जुन, गूलर, पीपल, जामुन, कट्फल और लोध की छालों का चूर्ण व्रणों पर छिड़कने से उन पर त्वचा शीघ्र आती है।

त्वचाशुद्धकारक लेप—

लाक्षामनोह्वामञ्जिष्ठाहरितालनिशाद्वयैः ॥६०॥
प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशुद्धिकरः परम्।
कालीयकलताऽऽम्रास्थिहेमकालारसोत्तमैः ॥६१॥
लेपः सगोमयरसः सवर्णकरणः परम्।

लाख, मैनसिल, मजीठ, हरताल, हल्दी, दारुहल्दी, इनको घी और मधु में मिलाकर किया प्रलेप त्वचा का उत्तम शुद्धकारक है।

कालीयक (रक्तचन्दन), लता (दूर्वा), आम की गुठली, नागकेसर, काला (मंजीठ या कालीसारिवा), रसोत्तम (पारद या घी), इनका गोमयरस-गोबर के रस के साथ किया लेप त्वचा के समान वर्ण करने में श्रेष्ठ है।

रोमोद्भव लेप—

दग्धो वारणदन्तोऽन्तर्धूमं तैलं रसाञ्जनम् ॥६२॥
रोमसञ्जननो लेपस्तद्वत्तैलपरिप्लुता।
चतुष्पान्नखरोमास्थित्वक्शृङ्गखुरजा मषी ॥६३॥

हाथी के दाँत को अन्तर्धूम विधि से जलाकर इसको तैल एवं रसौत में मिलाकर लेप करने से रोम उत्पन्न होते हैं।

इसी तरह तैल में तर की हुई पशुओं के नख, रोम, अस्थि, खाल, सींग और खुर की राख को लगाये। यह भी बाल उत्पन्न करती है।

व्रणरोगियों का पथ्यापथ्य—

व्रणिनः शस्त्रकर्मोक्तं पथ्यापथ्यान्नमादिशेत् ।

व्रणरोगी के लिए पथ्यापथ्य अन्न, शस्त्रकर्म विधि के अनुसार (हृ. सू. अ. २१।३४) देवे।

वाताधिक्य में वातनाशक योग—

द्वे पञ्चमूले वर्गश्च वातघ्नो वातिके हितः ॥६४॥
न्यग्रोधपद्मकाद्यौ तु तद्वत्पित्तप्रदूषिते ।
आरग्वधादिः श्लेष्मघ्नः कफे, मिश्रास्तु मिश्रजे॥६५॥
एभिः प्रक्षालनं लेपो घृतं तैलं रसक्रिया ।
चूर्णो वर्तिश्च संयोज्या व्रणे सप्त यथायथम् ॥६६॥

वातिक व्रण में दशमूल, एवं वातघ्न (वीरतरादि) गण उत्तम है। पित्त से दूषित व्रण में न्यग्रोधादि और पद्मकादिगण उत्तम है। कफज व्रण में आरग्वधादिगण और कफघ्न (अर्कादि, मुष्कादि, असनादि) गण उत्तम हैं। मिश्रजन्य—द्विदोषज और त्रिदोषज व्रण में मिश्रवर्ग हितकारी हैं।

इनसे ही प्रक्षालन, लेप, घी, तैल, रसक्रिया, चूर्ण और वर्त्ति, ये सात व्रण में दोष और अवस्थानुसार बरतने चाहिये।

जात्यादि घृत—

जातीनिम्बपटोलपत्रकटुकादार्वीनिशासारिवा-
मञ्जिष्ठाभयसिक्थतुत्थमधुकैर्नक्ताह्वबीजान्वितैः ।
सर्पिः साध्यमनेन सूक्ष्मवदना मर्माश्रिताः क्लेदिनो
गम्भीराः सरुजो व्रणाः सगतयः शुद्ध्यन्ति रोहन्ति च।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने व्रणविज्ञानप्रतिषेधो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

* * *

जात्यादि घृत—चमेली, नीम, पटोल के पत्ते, कुटकी, दारुहल्दी, हल्दी, सारिवा, मञ्जीठ, खस, मोम, तुत्थ, मुलहठी, करञ्जबीज; इनसे घृत सिद्ध करे। इस घृत से सूक्ष्ममुखवाले मर्म में आश्रित, क्लेदयुक्त, गम्भीर, पीड़ायुक्त तथा नाड़ी वाले व्रण शुद्ध होते हैं और भर जाते हैं।

वक्तव्य—प्रसिद्ध शास्त्रीय योग—त्रिफला गुग्गुलु, सप्तांगगुग्गुलु, प्रपौण्डरीकाद्यघृत, दूर्वाद्य तैल और घृत, गौराद्य घृत और तैल तथा व्रणराक्षस तैल।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का व्रणविज्ञानप्रतिषेध नामक पच्चीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

* * *

षड्विंशोऽध्यायः

अथातः सद्योव्रणप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे 'सद्योव्रणप्रतिषेध' अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

सद्योव्रण के आठ भेद और उनके लक्षण—

सद्योव्रणा ये सहसा सम्भवन्त्यभिघाततः ।
अनन्तैरपि तैरङ्गमुच्यते जुष्टमष्टधा ॥ १ ॥
घृष्टावकृत्तविच्छिन्नप्रविलम्बितपातितम् ।
विद्धं भिन्नं विदलितम्—

चोट के लगने से जो सद्योव्रण (तुरन्त व्रण) एकदम से उत्पन्न हो जाते हैं, वे असंख्य होने पर भी आठ प्रकार के कहे जाते हैं। यथा–घृष्ट, अवकृत्त, विच्छिन्न, प्रविलम्बित, पातित, विद्ध, भिन्न और विदलित; ये आठ हैं।

—तत्र घृष्टं लसीकया ॥ २ ॥
रक्तलेशेन वा युक्तं सप्लोषं छेदनात् स्रवेत् ।
अवगाढं ततः कृत्तं, विच्छिन्नं स्यात्ततोऽपि च ॥ ३ ॥
प्रविलम्बि सशेषेऽस्थ्नि, पतितं पातितं तनोः ।
सूक्ष्मास्यशल्यविद्धं तु विद्धं कोष्ठविवर्जितम् ॥ ४ ॥
भिन्नमन्यद्विदलितं मज्जरक्तपरिप्लुतम् ।
प्रहारपीडनोत्पेषात् सहास्थ्ना पृथुतां गतम् ॥ ५ ॥

जिसमें से लसीका या रक्त के साथ मिला स्राव बहता हो या जिसमें छाले हों और उनको काटने से केवल लसीका या कुछ रक्त मिली लसिका का स्राव हो उसे 'घृष्ट' कहते हैं। इससे गहरा कटा हुआ 'अवकृत्त' है। इससे गहरा कटा हुआ 'विच्छिन्न' होता है। अस्थि के पूरा न कटने से 'प्रविलम्बित'। शरीर से गिर जाने पर 'पातित', कोष्ठ को छोड़कर सूक्ष्म शल्य से विद्ध होने पर 'विद्ध', कोष्ठ में विद्ध हो तो उसे 'भिन्न' कहते हैं। चोट लगने, दबने, पीसने से तथा अस्थि के साथ जो अंग चिपटा हो गया हो, मज्जा एवं रक्त से भरा हो; उसे 'विदलित' कहते हैं।

वक्तव्य—शिवदाससेनजी ने 'छेदनात् स्रवेत्' के स्थान पर 'छेदनात् त्वचाम्' पाठ करके त्वचाओं के कटने से 'कृत्त' माना है, इसीलिये यह छिन्न से गहरा होता है।

सद्योव्रणचिकित्सा—

सद्यः सद्योव्रणं सिञ्चेदथ यष्ट्याह्वसर्पिषा ।
तीव्रव्यथं कवोष्णेन बलातैलेन वा पुनः ॥ ६ ॥
क्षतोष्मणो निग्रहार्थं तत्कालं विसृतस्य च ।
कषायशीतमधुरस्निग्धा लेपादयो हिताः ॥ ७ ॥
सद्योव्रणेष्वायतेषु सन्धानार्थं विशेषतः ।
मधुसर्पिश्च युञ्जीत पित्तघ्नीश्च हिमाः क्रियाः ॥ ८ ॥

ससंरम्भेषु कर्तव्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् ।
उपवासो हितं भुक्तं प्रततं रक्तमोक्षणम् ॥ ९ ॥

सद्योव्रण को तुरन्त मुलहठी के कल्क से सिद्ध घृत से सेचन करे। अथवा तीव्र व्यथा वाले व्रण को कवोष्ण बलातैल से बार बार सेचन करे। [सद्यः—सप्ताह के अन्दर शिवदाससेन]।

उस समय क्षत की उष्णिमा को रोकने के लिये तथा फैली हुई उष्णिमा को बचाने के लिये (आगे न फैले इस लिये) कषाय (कसैले), शीत मधुर तथा स्निग्ध लेप आदि हितकारी हैं।

फैले सद्योव्रणों में सन्धान के लिये विशेष रूप में मधु और घृत को बरतना चाहिये, तथा पित्तनाशक शीतल चिकित्सा करनी चाहिये।

लालिमा तथा शोथयुक्त व्रणों में वमन और विरेचन करना चाहिये। उपवास, पथ्यभोजन और निरन्तर रक्तमोक्षण करना चाहिये।

घृष्टे विदलिते चैव सुतरामिष्यते विधिः ।
तयोर्ह्यल्पं स्रवत्यस्रं पाकस्तेनाशु जायते ॥१०॥
अत्यर्थमस्रं स्रवति प्रायशोऽन्यत्र विक्षते ।
ततो रक्तक्षयाद्वायौ कुपितेऽतिरुजाकरे ॥११॥
स्नेह-पान-परीषेक-स्वेद-लेपोपनाहनम् ।
स्नेहवस्तिं च कुर्वीत वातघ्नौषधसाधितम् ॥१२॥
इति साप्ताहिकः प्रोक्तः सद्योव्रणहितो विधिः ।
सप्ताहाद् गतवेगे तु पूर्वोक्तं विधिमाचरेत् ॥१३॥

घृष्ट और विदलित में भी निरन्तर यही विधि करनी चाहिये क्योंकि इनमें थोड़ा रक्त बहता है, अतः शीघ्र पाक होता है।

घृष्ट और विदलित के सिवाय अन्य व्रणों में प्रायः रक्त अधिक बहता है, इस रक्तक्षय के कारण अतिशय वेदना करने वाली वायु के प्रकुपित होने पर स्नेहपान, परिषेक, उपनाह, स्वेद, लेप और वातघ्न ओषधियों से सिद्ध स्नेहवस्ति देनी चाहिये [स्वेद शब्द से धान्यस्वेद लेना; शिवदाससेन]

इस प्रकार से सद्योव्रण के लिये एक सप्ताह की विधि कह दी है। सात दिन बीत जाने और वेग शान्त हो जाने पर व्रणप्रतिषेधोक्त विधि बरतनी चाहिये।

प्रायः सामान्यकर्मेदं, वक्ष्यते तु पृथक्पृथक् ।

प्रायः करके सद्योव्रण के लिये यह सामान्य कर्म है। अब सबके लिये पृथक् पृथक् विधि कहेंगे।

घृष्ट आदि व्रणों की विशेष चिकित्सा—

घृष्टे रुजं निगृह्याशु व्रणे चूर्णानि योजयेत् ॥१३॥
कल्कादीन्यवकृत्ते तु, विच्छिन्नप्रविलम्बिनोः ।
सीवनं विधिनोक्तेन बन्धनं चानु पीडनम् ॥१५॥

घृष्ट व्रण में प्रथम पीडा को शांत करके व्रण में चूर्ण बरते।

अवकृत्त व्रण में कल्क आदि को बरते। आदि शब्द से कषाय आदि बरते।

विच्छिन्न और प्रविलम्बी में पूर्वोक्त विधि से सीकर पीछे से बन्धन और अवपीडन बरते।

नेत्र के सद्योव्रण की चिकित्सा—

असाध्यं स्फुटितं नेत्रमदीर्णं लम्बते तु यत् ।
सन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धसिरं भिषक् ॥१६॥
पीडयेत् पाणिना पद्मपलाशान्तरितेन तत् ।
ततोऽस्य सेचने नस्ये तर्पणे च हितं हविः ॥१७॥
विपक्कमाजं यष्ट्याह्वजीवकर्षभकोत्पलैः ।
सपयस्कैः परं तद्धि सर्वनेत्राभिघातजित् ॥१८॥

(प्रविलम्बी नेत्र स्फुटित और अस्फुटित भेद से दो प्रकार का है) इनमें स्फुटित नेत्र असाध्य हैं और जो नेत्र अस्फुटित और लटकता हो, उसे वैद्य कमलपत्र को बीच में रखकर हाथ से दबा कर सिरा का न वेधन करते हुए (या यदि सिरा न कटी हो तो) यथास्थान बिठाये। इसके बाद परिषेक में, नस्य में और तर्पण में घृत उत्तम है। इसके लिये बकरी के घृत को मुलहठी, जीवक, ऋषभक, कमल इनके कल्क से दूध के साथ सिद्ध करे। यह घृत नेत्र की सब चोटों को शान्त करता है। (घी एक प्रस्थ लेना चाहिये, शिवदाससेन)।

नेत्र के अन्य अभिघात—

गलपीडाऽवसन्नेऽक्ष्णि वमनोत्कासनक्षवाः ।
प्राणायामोऽथवा कार्यः क्रिया च क्षतनेत्रवत् ॥१९॥

गले के दबाने से जब आँख दबकर भीतर धंस गयी हो तब वमन, उत्कासन (खाँसना), छींकना और प्राणायाम करना चाहिये। अथवा क्षतनेत्र की चिकित्सा करनी चाहिये।

कान में सद्योव्रण की चिकित्सा—

कर्णे स्थानाच्च्युते स्यूते स्रोतस्तैलेन पूरयेत् ।

कान के (कटकर) स्थान से भ्रष्ट हो जाने पर कान को सीकर तैल से भर देना चाहिये।

कटी ग्रीवा का यत्न—

कृकाटिकायां छिन्नायां निर्गच्छत्यपि मारुते ॥२०॥
समं निवेश्य बध्नीयात् स्यूत्वा शीघ्रं निरन्तरम् ।
आजेन सर्पिषा चात्र परिषेकः प्रशस्यते ॥२१॥
उत्तानोऽन्नानि भुञ्जीत, शयीत च सुयन्त्रितः ।

कृकाटिका (टेंटुवा) के कट जाने तथा वायु के भी बाहर निकलने पर ग्रीवा को समान रूप में रखकर तुरन्त सीकर बाँध देना चाहिये। इस पर निरन्तर बकरी के घी से परिषेक करना चाहिये। चित्त लेटे हुए ही अन्न को खाये। भली प्रकार नियन्त्रित हुआ लेटा रहे (हिले डुले नहीं)।

हस्तादि के सद्योव्रण की चिकित्सा—

घातं शाखासु तिर्यक्स्थं गात्रे सम्यङ्निवेशिते ॥२२॥

स्यूत्वा वेल्लितबन्धेन बध्नीयाद्घनवाससा ।
चर्मणा गोष्फणाबन्धः कार्यश्चासङ्गते व्रणे ॥२३॥

हाथ-पैरों पर तिरछा व्रण (क्षत) हो जाने पर अंग को शरीर पर भली प्रकार रखकर सी देवे । फिर मजबूत वस्त्र से वेल्लित बन्धन से बांध देवे । यदि व्रण आपस में न जुड़े तो चर्म से गोफणबन्ध बाँध देना चाहिये ।

अण्डकोश के सद्योव्रण की चिकित्सा—

पादौ विलम्बिमुष्कस्य प्रोक्ष्ये नेत्रे च वारिणा ।
प्रवेश्य वृषणौ सीव्येत् सेवन्या तुन्नसंज्ञया ॥२४॥
कार्यश्च गोष्फणाबन्धः कट्यामावेश्य पट्टकम् ।
स्नेहसेकं न कुर्वीत तत्र क्लिद्यति हि व्रणः ॥२५॥
कालानुसार्यगुर्वेलाजातीचन्दनपर्पटैः ।
शिलादार्व्यमृतातुत्थैः सिद्धं तैलं च रोपणम् ॥२६॥

जिस पुरुष के वृषण अपने स्थान से खिसक गये हों, उसके पैर एवं आँखों को शीतल पानी से धोकर अण्डों को वृषणों में प्रविष्ट करके तुन्नसेवनी सीवन डालते हुए सेवनी (सूई) से सी देवे । कटि में पट्टी बांध कर गोफणबन्ध बांधना चाहिये । इसमें स्नेह का सेक न करे, क्योंकि इससे व्रण क्लिन्न हो जाता है ।

कालानुसारी (अगुरु भेद), अगरु, इलायची, चमेली, चन्दन, पर्पटक, शिलारस, दारुहल्दी, गिलोय और तुत्थ से सिद्ध तैल व्रण को भरने वाला है ।

वक्तव्य—'पर्पटक' के स्थान पर 'पद्माख' का भी पाठ है ।

छिन्नांग की चिकित्सा—

छिन्नां निःशेषतः शाखां दग्ध्वा तैलेन युक्तितः ।
बध्नीयात् कोशबन्धेन ततो व्रणवदाचरेत् ॥२७॥

संपूर्ण रूप में कटी हुई शाखा (हाथ या पैर को) युक्तिपूर्वक गरम तैल से जलाकर कोशबन्ध में बांध देना चाहिये और पीछे से व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये ।

विद्ध और विदलित में क्रिया—

कार्या शल्याहृते विद्धे भङ्गाद्विदलिते क्रिया ।
शिरसोऽपहृते शल्ये वालवर्तिं प्रवेशयेत् ॥२८॥
मस्तुलुङ्गस्रुतेः क्रुद्धो हन्यादेनं चलोऽन्यथा ।
व्रणे रोहति चैकैकं शनैरपनयेत्कचम् ॥२९॥
मस्तुलुङ्गस्रुतौ खादेन्मस्तिष्कानन्यजीवजान् ।
शल्ये हृतेऽङ्गादन्यस्मात्स्नेहवर्तिं निधापयेत् ॥३०॥

विद्ध में शल्याहरण के समान चिकित्सा करे । विदलित में भंगप्रतिषेध की चिकित्सा करे ।

शिर में से शल्य को निकाल कर वालों की वत्ती अन्दर डाल देनी चाहिये । अन्यथा मातुलुंग के बहने से कुपित वायु रोगी को मार देती है । व्रण के भरने पर एक एक वाल को इसमें से निकालना जाये, मस्तुलुंग (मस्तिष्क मज्जा) के बहने पर अन्य जीवों (बकरी आदि) के मस्तिष्क को खाये । शरीर के अन्य अंग से शल्य को निकाल कर उसमें स्नेहवर्ति प्रविष्ट करे ।

गहरे घावों की चिकित्सा—

दूरावगाढाः सूक्ष्मास्या ये व्रणाः स्रुतशोणिताः ।
सेचयेच्चक्रतैलेन सूक्ष्मनेत्रार्पितेन तान् ॥३२॥

जो व्रण दूर तक गहरे गये हों, सूक्ष्म मुख वाले हों तथा जिनसे रक्त बहता हो; उनमें सूक्ष्म नलिका के द्वारा कोल्हू का निकला ताजा तेल डालना चाहिए ।

भिन्न कोष्ठ के लक्षण—

भिन्ने कोष्ठेऽसृजा पूर्णे मूर्च्छाहृत्पार्श्ववेदनाः ।
ज्वरो दाहस्तृडाध्मानं भक्तस्यानभिनन्दनम् ॥३२॥
सङ्गो विण्मूत्रमरुतां श्वासः स्वेदोऽक्षिरक्तता ।
लोहगन्धित्वमास्यस्य स्याद्गात्रे च विगन्धता ॥३३॥

कोष्ठ के विदीर्ण होने से रक्त से भर जाने पर रोगी को मूर्च्छा, हृदय में वेदना, पार्श्व में वेदना, ज्वर, दाह, प्यास, आध्मान, भोजन में अरुचि, मल, मूत्र और वायु का अवरोध, श्वास, पसीना, आंख में सुर्खी, मुख में से लोहे की गन्ध (या रक्त की गन्ध का आना) तथा शरीर में से दुर्गन्धि आती है ।

आमाशयगत रक्त के लक्षण—

आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयत्यपि ।
आध्मानेनातिमात्रेण शूलेन च विशस्यते ॥३४॥

रक्त के आमाशय में भर जाने पर रक्त का वमन होने पर भी आध्मान की अतिमात्रा के कारण और शूल से रोगी मर जाता है [या पीड़ित होता है] ।

पक्वाशयगत रक्त के लक्षण—

पक्वाशयस्थे रुधिरे सशूलं गौरवं भवेत् ।
नाभेरधस्ताच्छीतत्वं खेभ्यो रक्तस्य चागमः ॥३५॥

रक्त के पक्वाशय में स्थिर होने पर नाभि के निचले भाग में शूल के साथ भारीपन हो जाता है । तथा नाभि से नीचे शीतलता रहती है और गुदा एवं मेहन से रक्त आता है ।

शिराओं द्वारा आमाशयगत रक्त के लक्षण—

अभिन्नोऽप्याशयः सूक्ष्मैः स्रोतोभिरभिपूर्यते ।
असृजा स्यन्दमानेन पार्श्वे मूत्रेण वस्तिवत् ॥३६॥

आशय के विदीर्ण न होने पर भी सूक्ष्म स्रोतों द्वारा झरते हुए रक्त से कोष्ठ भर जाता है । जिस प्रकार वस्ति-मूत्राशय पार्श्व के सूक्ष्म स्रोतों द्वारा--मूत्र से भर जाता है ।

असाध्य लक्षण—

तत्रान्तर्लोहितं शीतपादोच्छ्वासकराननम् ।
रक्ताक्षं पाण्डुवदनमानद्धं च विवर्जयेत् ॥३७॥

इनमें अन्दर (बाहर नहीं) रक्त से भरे होने पर तथा पैर, उच्छ्वास, हाथ, मुख के ठण्डा होने पर, लाल आंख वाले, पीले शरीर (रक्तन्यूनता से) तथा आध्मान वाले रोगी को छोड़ दे ।

आमाशयस्थ रक्तचिकित्सा—

आमाशयस्थे वमनं हितं, पक्काशयाश्रिते ।
विरेचनं निरूहं च निःस्नेहोष्णैर्विशोधनैः ॥ ३८ ॥
यवकोलकुलत्थानां रसैः स्नेहविवर्जितैः ।
भुञ्जीतान्नं यवागूं वा पिबेत्सैन्धवसंयुताम् ॥ ३९ ॥
अतिनिःस्रुतरक्तस्तु भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक् ।
क्लिष्टच्छिन्नान्त्रभेदेन कोष्ठभेदो द्विधा स्मृतः ॥ ४० ॥
मूर्च्छादयोऽल्पाः प्रथमे, द्वितीये त्वतिबाधकाः ।
क्लिष्टान्त्रः संशयी देही छिन्नान्त्रो नैव जीवति ॥४१॥

आमाशय में रक्त होने पर वमन हितकारी है। पक्काशय में रक्त स्थित होने पर विरेचन और निरूह देवे। ये विरेचन और निरूह स्नेहरहित, उष्ण और शोधन करने वाले होने चाहिये।

जिसका कोष्ठ विदीर्ण हो गया हो तथा रक्त बहुत निकला हो, वह रक्त पिये।

जौ, बेर और कुलथी के स्नेहरहित रसों के साथ अन्न को खाये। अथवा सैन्धवयुक्त यवागू को पिये।

कोष्ठ का फटना क्लिष्टान्त्र (व्याकुलितांत्र-गुंचाई गई आन्त्र) और छिन्नान्त्र (कटी हुई आन्त्र) भेद से दो प्रकार का है। क्लिष्टान्त्र में मूर्च्छा आदि लक्षण थोड़े रूप में होते हैं। छिन्नान्त्र में मूर्च्छा आदि अत्यधिक होते हैं। क्लिष्टान्त्र वाले के जीवन में सन्देह रहता है, (कभी जीता है और कभी नहीं जीता)। छिन्नान्त्र रोगी नहीं जीता।

यथास्वं मार्गमापन्ना यस्य विण्मूत्रमारुताः ।
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवत्यसंशयम् ॥४२॥

जिस रोगी के मल, मूत्र और वायु अपने अपने मार्गों में रहते हैं, और मूर्च्छा आदि उपद्रव नहीं रहते वह भिन्नकोष्ठ रोगी बिना सन्देह के जीता है।

निकली हुई आंतों को बैठाना—

अभिन्नमन्त्रं निष्क्रान्तं प्रवेश्यं न त्वतोऽन्यथा ।
उत्पाङ्गिलशिरोग्रस्तं तदप्येके वदन्ति तु ॥४३॥
प्रक्षाल्य पयसा दिग्धं तृणशोणितपांसुभिः ।
प्रवेशयेत्क्लृप्तनखो घृतेनाक्तं शनैः शनैः ॥४४॥

जो आंत भिन्न न हुई हो और बाहर आ गई हो, उसे अन्दर प्रविष्ट कर देना चाहिये। भिन्न आंत को अन्दर प्रविष्ट न करे। कुछ विद्वान् लाल चींटों के शिरों (के आकार वाले शस्त्र) से जुड़ी भिन्न आंत को भी प्रविष्ट कर देना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

तिनके, रक्त और धूल से लिप्त निकली हुई आंत को दूध से धोकर, घी से चिकना करके, नखों को कटाये हुए वैद्य धीरे धीरे अन्दर प्रविष्ट करे।

क्षीरेणार्द्रीकृतं शुष्कं भूरिसर्पिःपरिप्लुतम् ।
अङ्गुल्या प्रमृशेत्कण्ठं जलेनोद्वर्जयेदपि ॥४५॥
तथाऽन्त्राणि विशन्त्यन्तस्तत्कालं पीडयन्ति च ।

आंत को दूध से गीला करके बहुत घी से चिकना बना कर, अंगुली से गले को (अन्दर से) छुये अथवा जल से भी कंपकपी उत्पन्न करे। इससे आंतें अन्दर प्रविष्ट हो जाती हैं और उसी समय दब जाती हैं। ('पीडयेत च' भी पाठ है अर्थात् प्रविष्ट होने पर तत्काल दबाये।)

व्रणसौक्ष्म्याद् बहुत्वाद्वा कोष्ठमन्त्रमनाविशत् ॥४६॥
तत्प्रमाणेन जठरं पाटयित्वा प्रवेशयेत् ।
यथास्थानं स्थिते सम्यगन्त्रे सीव्येदनु व्रणम् ॥४७॥
स्थानादपेतमादत्ते जीवितं कुपितं च तत् ।
वेष्टयित्वाऽनु पट्टेन घृतेन परिषेचयेत् ॥४८॥
पाययेत ततः कोष्णं चित्रातैलयुतं पयः ।
मृदुक्रियार्थं शकृतो वायोश्चाधःप्रवृत्तये ॥४९॥
अनुवर्तेत वर्षं च यथोक्तां व्रणयन्त्रणाम् ।

व्रण के सूक्ष्म होने से या मात्रा में अधिक होने से निकली हुई आँत कोष्ठ में (अन्दर) न जाये, तब आँत के अनुपात से उदर को चीर कर आँतों को प्रविष्ट करके यथास्थान ठीक प्रकार से बैठाकर व्रण को सी देवे। आँत यदि अपने स्थान से हटी या गुम्फित (उलझी) होती है तो प्राणों को हर लेती है। सीने के पीछे पट्टी से लपेट कर घी का परिषेक करे। पीछे से इस रोगी को एरण्डतैलयुक्त गरम दूध पिलाये जिससे मल नरम रहे और वायु का अनुलोमन होता रहे। [चित्रा-दन्तीबीजोद्भवं तैलम्, श्रीशिवदाससेनः]।

एक वर्ष तक व्रणसम्बन्धी आहार-विहार के नियमों का पालन करता रहे।

मेदोवर्ति के निकलने पर कर्तव्य—

उदरान्मेदसो वर्तिं निर्गतां भस्मना मृदा ॥ ५० ॥
अवकीर्य कषायैर्वा श्लक्ष्णैर्मूलैस्ततः समम् ।
दृढं बद्ध्वा स सूत्रेण वर्द्धयेत्कुशलो भिषक् ॥ ५१ ॥
तीक्ष्णेनाग्निप्रतप्तेन शस्त्रेण सकृदेव तु ।
स्यादन्यथा रुगाटोपो मृत्युर्वाच्छिद्यमानया ॥ ५२ ॥
सक्षौद्रे च व्रणे बद्धे सुजीर्णेऽन्ने घृतं पिबेत् ।
क्षीरं वा शर्कराचित्रालाक्षागोक्षुरकैः शृतम् ॥ ५३ ॥
रुग्दाहजित्सयष्ट्याह्वैः परं पूर्वोदितो विधिः ।
मेदोग्रन्थ्युदितं तत्र तैलमभ्यञ्जने हितम् ॥ ५४ ॥

उदर (के भेदन होने) से मेदोवर्ति के बाहर निकल आने पर इस पर राख, मिट्टी अथवा चिकने कषाय चूर्णों को छिड़क कर पीछे से जड़ से समान एवं दृढ़ता से धागे द्वारा बाँध कर तीक्ष्ण एवं अग्नि में गरम किये शस्त्र से कुशल वैद्य एक बार में ही काट देवे। इससे विपरीतरूप में काटने से दर्द, आध्मान या मृत्यु हो जाती है। फिर मधु लगाकर व्रण को बाँधकर अन्न के भली प्रकार जीर्ण होने पर घृत पिलाये। अथवा शर्करा, एरण्ड, लाख और गोखरू से सिद्ध दूध पिलाये। अथवा मुलहठी आदि से सिद्ध घृत पिलाये। ये दूध और घी वेदना और दाह को नष्ट करते हैं। व्रणप्रतिषेध की

चिकित्सा करे। इसमें मेदोग्रन्थि में कहे तैल अभ्यंग के लिये हितकारी हैं।

तालीसादि तैल—

तालीसं पद्मकं मांसीहरेण्वगुरुचन्दनम्।
हरिद्रे पद्मबीजानि सोशीरं मधुकं च तैः॥ ५५॥
पक्वं सद्योव्रणेषूक्तं तैलं रोपणमुत्तमम्।

तालीस, पद्माख, जटामांसी, हरेणु (सम्भालू के बीज), अगरु, चन्दन, हल्दी, दारुहल्दी, कमलबीज, खस और मुलहठी से सिद्ध किया तैल सद्योव्रणों में उत्तम रोपण है।

गूढाभिघातचिकित्सा—

गूढप्रहाराभिहते पतिते विषमोच्चकैः॥५६॥
कार्यं वातास्रजित् तृप्तिमर्दनाभ्यञ्जनादिकम्।
विश्लिष्टदेहं मथितं क्षीणं मर्माहतं हतम्॥५७॥
वासयेत्तैलपूर्णायां द्रोण्यां मांसरसाशिनम्॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने सद्योव्रण-
प्रतिषेधो नाम षड्विंशोऽध्यायः॥२६॥

* * *

गूढ प्रहार से चोट लगने पर तथा विषम स्थान या ऊँचे से गिर जाने पर (लगी चोट में) वातरक्तनाशक उपचार करना चाहिए। तर्पण, मर्दन एवं अभ्यंग आदि भी करना चाहिए।

देह (अङ्ग) के अलग होने पर, मथित (पिसे हुए), क्षीण, मर्म पर चोट लगे हुए, रोगी को तैल से भरी द्रोणी (बृहत् पात्र) में रक्खे और मांसरस खाने को देवे।

अग्निदग्ध-व्रण-चिकित्सा—(१) तिलश्चैवाग्निना दग्धं यवभस्मसमन्वितम्। (२) तिलतैलैर्यवान् दग्ध्वा समं कृत्वा तु लेपयेत्॥ तेनैव वेदनायाश्च वह्निदग्धं सुखी भवेत्। (३) सद्योदग्धञ्च मधुना लेपं कृत्वा भिषग्वरः। तत्पृष्ठे यवचूर्णेन लेपः स्याद्दाहशान्तये॥ (४) तिलों को भैंस के दूध में पीस कर लेप करे। (५) अलसी का तेल चौगुने चूने के पानी से फेंट कर उचित मात्रा में राल मिलाकर अग्निदग्ध में लेप करना परमोत्तम है।

योग—पोटलीतैल, जीरक घृत, मंजिष्ठाद्य घृत।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का सद्योव्रण-प्रतिषेध नामक छब्बीसवां अध्याय समाप्त हुआ॥२६॥

* * *

सप्तविंशोऽध्यायः

अथातो भङ्गप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे भङ्गप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

अस्थिभंग के दो भेद और लक्षण—

पातघातादिभिर्द्वेधा भङ्गोऽस्थ्नां सन्ध्यसन्धितः।
प्रसारणाकुञ्चनयोरशक्तिः सन्धिमुक्तता॥ १॥
इतरस्मिन् भृशं शोफः सर्वावस्थास्वतिव्यथा।
अशक्तिश्चेष्टितेऽल्पेऽपि पीड्यमाने सशब्दता॥ २॥
समासादिति भङ्गस्य लक्षणं, बहुधा तु तत्।
भिद्यते भङ्गभेदेन—

गिरने या चोट लगने से अस्थियों का भंग सन्धि एवं असन्धियों से दो प्रकार का (सन्धिभङ्ग और काण्डभङ्ग) होता है। सन्धिभंग में फैलाने और सिकोड़ने में असामर्थ्य रहता है, काण्डभंग में अतिशय शोफ, सब अवस्थाओं में बहुत दर्द, थोड़ी-सी भी चेष्टा में असामर्थ्य, दबाने पर आवाज का होना; ये संक्षेप में भंग के लक्षण हैं। यह भंग, भंग के भेद से बहुत प्रकार का है। (सन्धिभंग छः प्रकार का और काण्डभंग बारह प्रकार का, देखिये सुश्रुत नि. अ. १५)।

—तस्य सर्वस्य साधनम्॥३॥
यथा स्यादुपयोगाय तथा तदुपदेक्ष्यते।

सब भंगों की चिकित्सा चिकित्सा-व्यवहार के लिये कही जायेगी।

दुःसाध्य अस्थिभंग—

प्राज्याणुदारि यच्चास्थि स्पर्शे शब्दं करोति तत्॥४॥
यत्रास्थिलेशः प्रविशेन्मध्यमस्थ्नो विदारितः।
भग्नं यच्चाभिघातेन किञ्चिदेवावशेषितम्॥५॥
उन्नम्यमानं क्षतवद्यच्च मज्जनि मज्जनि।
तद् दुःसाध्यं कृशाशक्तवातलाल्पाशिनामपि॥६॥

बहुत से सूक्ष्म टुकड़े जिस अस्थि में होते हैं जो अस्थि स्पर्श में शब्द करती है; जिसमें टूटा हुआ अस्थि का टुकड़ा अस्थि के मध्य में घुस जाये, जो भंग चोट के कारण (अधिकांश नष्ट हो गया हो) कुछ ही बचा हुआ हो, जो भंग ऊंचा करने पर क्षत के समान हो जाये, जो भंग मज्जा के अन्दर घुसा हो, तथा कृश, निर्बल और वातप्रकृति एवं थोड़ा खाने वाले का जो भंग हो, ये सब कष्टसाध्य हैं।

असाध्य अस्थिभंग—

भिन्नं कपालं यत् कट्यां सन्धिमुक्तं च्युतं च यत्।
जघनं प्रति पिष्टं च भग्नं यत्तद्विवर्जयेत्॥७॥
असंश्लिष्टकपालं च ललाटं चूर्णितं तथा।
यच्च भग्नं भवेच्छङ्खशिरःपृष्ठस्तनान्तरे॥८॥
सम्यग्यमितमप्यस्थि दुर्न्यासाद् दुर्निबन्धनात्।
सङ्क्षोभादपि यद् गच्छेद्विक्रियां तद्विवर्जयेत्॥९॥
आदितो यच्च दुर्जातमस्थिसन्धिरथापि वा।
तरुणास्थीनि भुज्यन्ते, भज्यन्ते नलकानि तु॥१०॥
कपालानि विभिद्यन्ते, स्फुटन्त्यन्यानि भूयसा।

कटिप्रदेश में जो कपाल का भङ्ग हुआ हो, जो कटि में सन्धि से छूटकर नीचे खिसक आया हो और जो जघन में पिष्ट भङ्ग हो, वह असाध्य है, उसे छोड़ देवे।

माथे में जब कपाल आपस में न जुड़ें, तथा ललाट टुकड़ा-टुकड़ा हो गया हो, उसकी चिकित्सा न करे। शंख, शिर, पीठ और स्तनों के मध्य में जो भङ्ग हो, उसकी भी चिकित्सा न करे।

भली प्रकार बैठाई हुई भी जो अस्थि, ठीक प्रकार न रखने से, ठीक प्रकार न बांधने से, अथवा संक्षोभ (हिलाने-डुलाने) के कारण विकारवान् हो जाये, उसको भी छोड़ देवे। जो अस्थि या सन्धि शरीर के उत्पत्ति-काल से ही या बचपन से ही ठीक तरह न उत्पन्न हुई हो, उनका भी भङ्ग असाध्य है।

नासा, कान आदि की तरुणास्थियां (कोमलास्थियां) टेढ़ी हो जाती हैं। नलकास्थियां टूट जाती हैं। कपालास्थियां फट जाती हैं—चटक जाती हैं। अन्य अस्थियां प्रायः करके फूट (विचूर्ण) जाती हैं। [अन्य अस्थियां—वलय (कशेरुक आदि) और रुचक (दांत) हैं। स्फुटन्ति, विशीर्यन्ते]।

अस्थिभग्न की चिकित्सा—

अथावनतमुन्नम्यमुन्नतं चावपीडयेत् ॥११॥
आञ्छेदतिक्षिप्तमधोगतं चोपरि वर्तयेत् ।
आञ्छनोत्पीडनोन्नामचर्मसङ्क्षेपबन्धनैः ॥१२॥
सन्धीञ् शरीरगान् सर्वांश्चलानप्यचलानपि ।
इत्येतैः स्थापनोपायैः सम्यक् संस्थाप्य निश्चलम् ॥
पट्टैः प्रभूतसर्पिर्भिर्वेष्टयित्वा सुखैस्ततः ।
कदम्बोदुम्बराश्वत्थसर्जार्जुनपलाशजैः ॥१४॥
वंशोद्भवैर्वा पृथुभिस्तनुभिः सुनिवेशितः ।
सुश्लक्ष्णैः सप्रतिस्तम्भैर्वल्कलैः शकलैरपि ॥१५॥
कुशाह्वयैः समं बन्धं पट्टस्योपरि योजयेत् ।

चिकित्सा—दबे हुए अंग को ऊपर उठाये, उठे हुए को नीचे दबाये, बहुत हटे हुए अंग को खींचे, नीचे को गये अंग को ऊपर की ओर खींचे। खींच कर, दबाकर, ऊपर को उठाकर, शरीर की त्वचा को संकुचित (ढीला) करके बन्धनों द्वारा शरीर की सम्पूर्ण चल एवं स्थिर सन्धियों को इन उपयुक्त स्थापन उपायों से भली प्रकार बैठाकर एवं स्थिर करके (हिले नहीं) प्रचुर घृत वाली पट्टियों से सुखपूर्वक (दबाये नहीं) लपेट देवे। फिर कदम्ब, गूलर, पीपल, सर्ज, अर्जुन या ढाक अथवा बांस के बने चौड़े, पतले, भली प्रकार रक्खे, अतिशय चिकने, सहारे वाले-रज्जु के जाल या गद्दी आदि से युक्त कुशासंज्ञक छिलकों से (या बांस आदि के टुकड़े से) समान बन्ध को पट्टी के ऊपर बांध देवे।

शिथिल तथा गाढ़ सन्धिबन्ध—

शिथिलेन हि बन्धेन सन्धिस्थैर्यं न जायते ॥१६॥
गाढेनातिरुजादाहपाकश्वयथुसम्भवः ।
त्र्यहात्त्र्यहादृतौ घर्मे सप्ताहाम्मोक्षयेद्धिमे ॥१७॥
साधारणे तु पञ्चाहाद् भङ्गदोषवशेन वा ।
न्यग्रोधादिकषायेण ततः शीतेन सेचयेत् ॥१८॥
तं पञ्चमूलपक्वेन पयसा तु सवेदनम् ।
सुखोष्णं वाऽवचार्यं स्याच्चक्रतैलं विजानता ॥१९॥
विभज्य देशं कालं च वातघ्नौषधसंयुतम् ।
प्रततं सेकलेपांश्च विदध्याद् भृशशीतलान् ॥२०॥

क्योंकि शिथिल बन्ध से सन्धि स्थिर नहीं होती। बहुत कसकर बांधने से पीड़ा, दाह, पाक तथा शोफ उत्पन्न हो जाता है (इसलिए न बहुत ढीला न बहुत कड़ा बांधे)।

ग्रीष्मकाल में तीन दिन पीछे, शीतकाल में सात दिन पीछे, साधारण काल में पांच दिन पीछे अथवा भंग की अवस्था के अनुसार या दोष के वश से (वात-कफ में देर से, पित्त-रक्त में जल्दी) पट्टी को खोले।

फिर न्यग्रोधादि गण के शीतल कषाय से परिसेचन करे। यदि वेदना हो तो पंचमूल से सिद्ध दूध से परिषेक करे।

अथवा देश एवं काल का विचार करके वातनाशक-ओषधियों से संस्कृत चक्रतैल (कोल्हू का निकला तैल) से गरम-गरम परिषेक को कुशल वैद्य करे।

अतिशय शीतल परिषेक एवं लेपों को निरन्तर करे।

गृष्टिक्षीरपान—

गृष्टिक्षीरं ससर्पिष्कं मधुरौषधसाधितम् ।
प्रातः प्रातः पिबेद्भग्नः शीतलं लाक्षया युतम् ॥२१॥

भग्नरोगी प्रतिदिन प्रातःकाल मधुर गण से संस्कृत, घी मिला गृष्टि (पहली वार ब्याई हुई) गाय का दूध लाक्षा के साथ ठण्डा करके पिये।

व्रणयुक्त अस्थिभग्नचिकित्सा—

सव्रणस्य तु भग्नस्य व्रणो मधुघृतोत्तरैः ।
कषायैः प्रतिसार्योऽथ शेषो भङ्गोदितः क्रमः ॥२२॥
लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा ।
सन्दधीत व्रणान् वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत् ॥२३॥
तान् समान् सुस्थिताञ्ज्ञात्वा फलिनीरोध्रकट्फलैः ।
समङ्गाधातकीयुक्तैश्चूर्णितैरवचूर्णयेत् ॥२४॥
धातकीरोध्रचूर्णैर्वा, रोहन्त्याशु तथा व्रणाः ।
इति भङ्ग उपक्रान्तः स्थिरधातोर्ऋतौ हिमे ॥२५॥
मांसलस्याल्पदोषस्य सुसाध्यो, दारुणोऽन्यथा ।

व्रणयुक्त भङ्ग में व्रण पर न्यग्रोधादि कषाय द्रव्यों के बनाये कल्क में प्रचुर मधु और घृत मिलाकर प्रलेप करना चाहिए। पीछे से भंग में कही हुई चिकित्सा बरते।

व्रण के जो मांस लटक रहे हों, उन पर मधु और घी का लेप करके वैद्य व्रणों को जोड़ देवे। फिर इनके ऊपर योग्य बन्धन बांध कर चिकित्सा करे।

इन व्रणों को समान एवं भली प्रकार स्थित जानकर इन पर प्रियंगु, लोध, कायफल, मजीठ, धाय के फूल; इनके चूर्ण को

छिड़क देवे। अथवा धाय के फूल और लोध का चूर्ण छिड़के। इस प्रकार करने से व्रण जल्दी भर जाते हैं।

इस प्रकार से चिकित्सा किया भग्न, शीत ऋतु में, स्थिर धातु वाले, मांसल एवं अल्प दोष वाले में सुखसाध्य होता है। इससे विपरीत अवस्था में कष्टसाध्य या असाध्य होता है।

संधि की स्थिरता का काल—

पूर्वमध्यान्तवयसामेकद्वित्रिगुणैः क्रमात् ॥२६॥
मासैः स्थैर्यं भवेत्सन्धेर्यथोक्तं भजतां विधिम् ।

ऊपर कही हुई विधि के पालन करने से बचपन में एक मास में, मध्य वय-युवावस्था में दो मास में और वृद्धावस्था में तीन मास में सन्धि होती है।

कटी आदि के भग्न होने पर उपचार—

कटीजङ्घोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम् ॥२७॥
यन्त्रणार्थं तथा कीलाः पञ्च कार्या द्विबन्धनाः ।
जङ्घोर्वोः पार्श्वयोर्द्वौ द्वौ तल एकश्च कीलकः ॥२८॥
श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षकयोस्तथा ।

कटि, जंघा और ऊरु में भङ्ग वाले पुरुषों को कपाट (तख्ता) पर लेटाना उत्तम है। इस कपाट में जंघा आदि को रोकने के लिये (हिले नहीं इसके लिये) पाँच कील लगानी चाहिये। जंघाओं और पार्श्वों में दो-दो कील और पैर के तलुए पर एक कील लगानी चाहिये। श्रोणि के या पृष्ठवंश (रीढ़) के या छाती के अथवा अक्षक के भंग में भी पाँच ही कीलें लगानी चाहिये। (यथा भग्नं न चलति प्रयतेत तथा भिषक्)।

पट्टी खोलने की विधि—

विमोक्षे भग्नसन्धीनां विधिमेवं समाचरेत् ॥२९॥
सन्धींश्चिरविमुक्तांस्तु स्निग्धस्विन्नान् मृदूकृतान् ।
उक्तैर्विधानैर्बुद्ध्या च यथास्वं स्थानमानयेत् ॥३०॥

भग्न संधियों के खुल जाने पर भी इसी विधि को बरते।

जो संधियाँ देर तक पृथक् हुई हों, उनको स्नेहन और स्वेदन से कोमल बनाकर यथोक्त उपायों से और बुद्धि से उनको अपने-अपने स्थान पर लाये।

असंधिभंग (कांडभग्न) में विशेष कर्तव्य—

असन्धिभग्ने रूढे तु विषमोल्बणसाधिते ।
आपीड्य भङ्गं यमयेत्ततो भग्नवदाचरेत् ॥३१॥
भग्नं नैति यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक् ।
पक्वमांससिरास्नायुः सन्धिः श्लेषं न गच्छति ॥३२॥

संधि के सिवाय अन्यत्र कहे अर्थात् कांडभग्न में, भग्न के रूढ हो जाने पर, असम्यक् रूप में जोड़ने के कारण विषम चिकित्सा में भंग को तोड़कर पीछे से भंग को समान बनाये। फिर भग्न की चिकित्सा करे।

जिस प्रकार भग्न न पके, वैद्य ऐसा यत्न करे, क्योंकि मांस सिरा तथा स्नायु के पकने पर संधि नहीं जुड़ती।

भग्न में स्नेह का प्रयोग—

वातव्याधिविनिर्दिष्टान् स्नेहान् भग्नस्य योजयेत् ।
चतुष्प्रयोगान् बल्यांश्च वस्तिकर्म च शीलयेत् ॥३३॥
शाल्याज्यरसदुग्धाद्यैः पौष्टिकैरविदाहिभिः ।
मात्रयोपचरेद्भग्नं सन्धिसंश्लेषकारिभिः ॥३४॥
ग्लानिर्न शस्यते तस्य, सन्धिविश्लेषकृद्धि सा ।

भग्न में वातव्याधि में कहे स्नेहों को बरते। इन स्नेहों को पान, नस्य, अभ्यंग और अनुवासन, इन चार रूप में बल के लिये तथा वस्तिकर्म में व्यवहार करे।

शालि, घी, मांसरस, दूध आदि पौष्टिक एवं अविदाही तथा संधि को जोड़ने वाले भोजनों की उचित मात्रा से भग्न की चिकित्सा करे।

भग्न रोगी के लिये ग्लानि अच्छी नहीं, इनसे सन्धि अलग हो जाती है।

अस्थिभग्न में निषिद्ध द्रव्य—

लवणं कटुकं क्षारमम्लं मैथुनमातपम् ।
व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षं च भोजनम् ॥३५॥

लवण, कटु, क्षार, अम्ल, मैथुन, धूप, व्यायाम और रूक्ष भोजन का भग्न व्यक्ति सेवन न करे।

वात-पित्तज दोषों पर गन्धतैल—

कृष्णांस्तिलान् विरजसो दृढवस्त्रबद्धान्
सप्त क्षपा वहति वारिणि वासयेत् ।
संशोषयेदनुदिनं प्रविसार्य चैतान्
क्षीरे यथैव मधुककथिते च तोये ॥३६॥
पुनरपि पीतपयस्कां-
स्तान् पूर्ववदेव शोषितान् बाढम् ।
विगततुषानरजस्कान्
सञ्चूर्ण्य सुचूर्णितैर्युञ्ज्यात् ॥३७॥
नलदबालकलोहितयष्टिका-
नखमिशिप्लवकुष्ठबलात्रयैः ।
अगुरुकुङ्कुमचन्दनसारिवा-
सरलसर्जरसामरदारुभिः ॥३८॥
पद्मकादिगणोपेतैस्तिलपिष्टं ततश्च तत् ।
समस्तगन्धभैषज्यसिद्धदुग्धेन पीडयेत् ॥३९॥
शैलेयरास्नांशुमतीकसेरु-
कालानुसारीनतपत्ररांध्रैः ।
सक्षीरशुक्लैः सपयःसदूर्वै-
स्तैलं पचेत्तन्नलदादिभिश्च ॥४०॥

धूलरहित काले तिलों को मजबूत वस्त्र में बांधकर सात दिन तक बहते नदीजल में रख देवे। प्रतिदिन इनको फैलाकर सुखाये। इसी प्रकार सात दिन तक दूध में और मुलहठी के क्वाथ में भिगोये और धूप में सुखाये। फिर भी दूध में रखकर पहले की भांति धूप में अच्छी तरह सुखाकर

भली प्रकार छिलके और धूल से रहित करके कूटकर चूर्ण करले। इस चूर्ण में मांसी, ह्रीबेर, मंजीठ नख, सौंफ, केवटी-मोथा, कूठ, बला, अतिबला, नागबला, अगरु, केशर, चन्दन, सारिवा, सरल, सर्जरस, देवदारु तथा पद्मकादि गण; इनका चूर्ण मिलाये। फिर इस सम्पूर्ण तिलकल्क को, समस्त गन्ध द्रव्य (एलादिगण) की ओषधियों से सिद्ध दूध के साथ कोल्हू में पेरे। इससे निकले तैल को शिलारस, रास्ना, शालपर्णी, कसेरु, कालानुसारी (अगर), तेजपात, लोध, क्षीर-विदारी, दूर्वा, नलद, बालक आदि उपर्युक्त द्रव्यों के साथ दूध मिलाकर सिद्ध करे।

गन्धतैलमिममुत्तममस्थि-
स्थैर्यकृज्जयति चाशु विकारान्।
वातपित्तजनितानतिवीर्यान्
व्यापिनोऽपि विविधैरुपभोगैः ॥४१॥

इतिश्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने भङ्गप्रतिषेधो
नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

यह गन्ध तैल अस्थियों को स्थिर करने में उत्तम है। अतिवीर्यशाली, शरीर में फैले वातपित्तजन्य रोगों को पान, नस्य तथा अभ्यंग आदि विविध रूप में बरतने पर शीघ्र शान्त करता है।

वक्तव्य—कुछ प्रसिद्ध योग—(१) आलेपनार्थं मंजिष्ठा मधूकक्षाम्लपेषितम्। शतधौतघृतोन्मिश्रं शालिपिष्टं च लेपनम् ॥ (२) सघृतेनास्थिसंहारं लाक्षागोधूममर्जुनम्। सन्धिमुक्तेऽस्थिभग्ने च पिबेत् क्षीरेण मानवः ॥ (३) आभा-चूर्णं मधुयुतमस्थिभग्नस्त्र्यहं पिबेत्। (४) लाक्षागुग्गुलु-(५) आभागुग्गुलु।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का भंगप्रतिषेध नामक सत्ताईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

अथातो भगन्दरप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे भगन्दर—प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

भगन्दर के लक्षण—

हस्त्यश्वपृष्ठगमनकठिनोत्कटकासनैः।
अर्शोनिदानाभिहितैरपरैश्च निषेवितैः ॥ १ ॥
अनिष्टादृष्टपाकेन सद्यो वा साधुगर्हणैः।
प्रायेण पिटिकापूर्वो योऽङ्गुले द्व्यङ्गुलेऽपि वा ॥ २ ॥
पायोर्व्रणोऽन्तर्बाह्यो वा दुष्टासृङ्मांसगो भवेत्।
वस्तिमूत्राशयाभ्यासगतत्वात्स्यन्दनात्मकः ॥ ३ ॥
भगन्दरः स सर्वांश्च दारयत्यक्रियावतः।
भगवस्तिगुदांस्तेषु दीर्यमाणेषु भूरिभिः ॥ ४ ॥
वातमूत्रशकृच्छुक्रं खैः सूक्ष्मैर्वमति क्रमात्।

कारण—हाथी-घोड़ा की सवारी करने से, कठिन एवं उत्कट (उकड़ूं) आसनों से, अर्शोक्त निदान में कहे कारणों से, तथा वस्तिनेत्र-संघर्षण आदि दूसरे कारणों के सेवन से, पापरूप अदृष्ट (पूर्वकृत कर्म) के परिपाक से अथवा तुरन्त सज्जनों की निन्दा करने से गुदा के अन्दर या बाहर एक या दो अंगुल की दूरी पर प्रायः करके पिटिका होकर पीछे से व्रण, दूषित रक्त एवं मांस में जाने वाला हो जाता है। वस्ति और मूत्राशय के समीप में होने से स्रावस्वभाव वाला वह भगन्दर चिकित्सा न करने वालों के भग, वस्ति और गुदा सबको विदीर्ण कर देता है। इन भग आदि में विदीर्य-माण बहुत से सूक्ष्म छेदों में से क्रमशः (धीरे-धीरे) अधोवायु-मूत्र, मल और शुक्र निकलने लगता है।

वक्तव्य—भगं परि समताच्च गुदं वस्तिं तथैव च। भग-वद्दारयेद्यस्मात् तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः ॥ भोजः।

भगन्दर के आठ भेद—

दोषैः पृथग्युतैः सर्वैरागन्तुः सोऽष्टमः स्मृतः ॥ ५ ॥
अपक्वं पिटिकामाहुः पाकप्राप्तं भगन्दरम्।

यह भगन्दर रोग आठ प्रकार का है—वातादि दोष से पृथक्-पृथक् तीन प्रकार का, सन्निपात से एक प्रकार का, संसर्गज तीन प्रकार का और आठवां आगन्तुज भगन्दर है। (इस स्थान से) अपक्व शोथ को पिटिका कहते हैं और पके हुए शोथ को भगन्दर कहते हैं।

भगन्दरपिटका के लक्षण—

गूढमूलां ससंरम्भां रुगाढ्यां रूढकोपिनीम् ॥ ६ ॥
भगन्दरकरीं विद्यात् पिटिकां न त्वतोऽन्यथा।

गूढ मूलवाली (गहरी गई), शोथयुक्त, अतिशय वेदना वाली, तथा भर-भर कर (अच्छी होकर पुनः) कुपित होने वाली पिटिका को भगन्दर रोग करने वाली जानना चाहिये। इससे विपरीत को नहीं।

वातज भगन्दर पिटिका—

तत्र श्यावाऽरुणा तोदभेदस्फुरणरुक्करी ॥ ७ ॥
पिटिका मारुतात्—

वायु के कारण पिटिका श्याव या अरुण वर्ण की एवं तोद, भेद, स्फुरण और वेदना करने वाली होती है।

पित्तज भगन्दर पिटिका—

—पित्तादुष्ट्रग्रीवावदुच्छ्रिता।
रागिणी तनुरूष्माढ्या ज्वरधूमायनान्विता ॥ ८ ॥

पित्त के कारण पिटिका ऊंट की ग्रीवा की भांति उठी हुई, सुर्ख, पतली, अतिशय, उष्णिमा, ज्वर एवं धूम वाली होती है।

कफज तथा संसर्गजादि भगन्दर पिटिका—

स्थिरा स्निग्धा महामूला पाण्डुः कण्डुमती कफात् ।
श्यावा ताम्रा सदाहोषा घोररुग् वातपित्तजा ॥९॥
पाण्डुरा किञ्चिदाश्यावा कृच्छ्रपाका कफानिलात् ।
पादाङ्गुष्ठसमा सर्वैर्दोषैर्नानाविधव्यथा ॥ १० ॥
शूलारोचकतृड्दाहज्वरच्छर्दिरुपद्रुता ।

कफ के कारण पिटिका स्थिर, स्निग्ध, बड़े मूलवाली, पाण्डु वर्ण और कण्डू वाली होती है।

वात-पित्तजन्य पिटिका श्याव, ताम्रवर्ण, दाह एवं जलन युक्त तथा अतिशय वेदना वाली होती है।

कफ-वायुजन्य पिटिका पाण्डुवर्ण, कुछ श्याव वर्ण और कठिनाई से पकने वाली होती है।

सन्निपात के कारण पिटिका पैर के अंगूठे के समान, नाना प्रकार की पीड़ा वाली तथा शूल, अरोचक, प्यास, दाह ज्वर, वमन, इन उपद्रवों से युक्त होती है।

भगन्दर की सम्प्राप्ति—

व्रणतां यान्ति ताः पक्वः प्रमादात्—

ये पिटिकायें चिकित्सा न करने पर शीघ्र ही व्रण रूप में बदल जाती हैं।

शतपोनक के लक्षण—

—तत्र वातजा ॥ ११ ॥
चीयतेऽणुमुखैश्छिद्रैः शतपोनकवत् क्रमात् ।
शतपोनकसंज्ञोऽयम्—

इसमें वातजन्य भगन्दर सूक्ष्म मुखवाले बहुत-से छेदों से चलनी की भाँति भरा होता है। इन छेदों में से क्रमशः झागमिश्रित स्वच्छ स्राव निरन्तर बहता रहता है। इसका नाम शतपोनक है।

उष्ट्रग्रीव तथा परिस्रावी भगन्दर के लक्षण—

—उष्ट्रग्रीवस्तु पित्तजः ।
बहुपिच्छापरिस्रावी परिस्रावी कफोद्भवः ॥ १३ ॥

पित्तजन्य भगन्दर को उष्ट्रग्रीव कहते हैं।

कफजन्य भगन्दर में से बहुत पिच्छायुक्त स्राव बहता है, इसको परिस्रावी कहते हैं।

परिक्षेपी भगन्दर के लक्षण—

वातपित्तात्परिक्षेपी परिक्षिप्य गुदं गतिः ।
जायते परितस्तत्र प्राकारं परिखेव च ॥ १४ ॥

वात-पित्त के कारण जो भगन्दर गुदा के चारो ओर मण्डलाकार नाडीरूप से उत्पन्न होता है, उसको परिक्षेपी कहते हैं। यह प्राकार (किले की दीवार) के चारों ओर परिखा (खाई) की भांति होता है

ऋजु भगन्दर के लक्षण—

ऋजुर्वातकफाद्रुग्ण्या गुदो गत्याऽत्र दीर्यते ।

वातकफ के कारण ऋजुसंज्ञक भगन्दर होता है। इसमें गुदा सीधी गति (नाड़ी) से विदीर्ण होती है।

अर्शोभगन्दर के लक्षण—

कफपित्ते तु पूर्वोत्थं दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः ॥१५॥
अर्शोमूले ततः शोफः कण्डूदाहादिमान् भवेत् ।
स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन्मूलमर्शसः ॥१६॥
स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शोभगन्दरः ।

कफ-पित्त पहिले से ही उत्पन्न अर्श को आश्रय करके जब कुपित होते हैं, तब अर्श के जड़ में कण्डू, तोद तथा दाह आदि से युक्त शोफ होता है। यह शोफ जल्दी पक और फट कर अर्श के मूल को छिन्न करके गतियों (नाडीव्रणों-नासूरों) से निरन्तर बहता रहता है। यह अर्शोभगन्दर है।

शम्बुकावर्त (सन्निपातज) भगन्दर के लक्षण—

सर्वजः शम्बुकावर्तः शम्बुकावर्तसन्निभः ॥१७॥
गतयो दारयन्त्यस्मिन् रुग्वेगैर्दारुणैर्गुदम् ।

सन्निपातजन्य भगन्दर का नाम शम्बुकावर्त्त है, यह भगन्दर शम्बुक (घोंघा, छोटा शंख) के आवर्त्त-चक्कर के समान होता है। इसमें अतिशय वेदना के कारण गतियाँ गुदा को काटती रहती हैं।

उन्मार्गी या क्षतज भगन्दर—

अस्थिलेशोऽभ्यवहृतो मांसगृद्ध्या यदा गुदम् ॥
क्षिणोति तिर्यङ्निर्गच्छन्नुन्मार्गं क्षततो गतिः ।
स्याच्चतः पूयदीर्णायां मांसकोथेन तत्र च ॥१९॥
जायन्ते कृमयस्तस्य खादन्तः परितो गुदम् ।
विदारयन्ति न चिरादुन्मार्गी क्षतजश्च सः ॥२०॥

मांस के खाने की लोलुपता से जब अस्थि का टुकड़ा खाया जाता है और वह जब तिरछे रूप में उन्मार्गरूप से बाहर आता हुआ गुदा में व्रण करता है, तब इस क्षत से गति (नाड़ी) उत्पन्न होती है। इसमें पूय उत्पन्न होने से और मांस के सड़ने से कृमि उत्पन्न होते हैं। ये कृमि इस रोगी की गुदा को चारों ओर से खाते हुए चारों ओर विदीर्ण कर देते हैं, इस भगन्दर को उन्मार्गगामी और क्षतज कहते हैं।

भगन्दर में वेदनादि—

तेषु रुग्दाहकण्ड्वादीन् विद्याद् व्रणनिषेधतः ।

इन भगन्दरों में व्रणप्रतिषेध अध्याय में वर्णन के अनुसार पीड़ा, दाह तथा कण्डू आदि को समझना चाहिये।

साध्यासाध्यता—

षट् कृच्छ्रसाधनास्तेषां; निचयक्षतजौ त्यजेत् ॥२१॥
प्रवाहिणीं वलीं प्राप्तं सेवनीं वा समाश्रितम् ।

इन भगन्दरों में छः भगन्दर (एकदोषज और द्विदोषज) कष्टसाध्य हैं। सन्निपातज और क्षतज असाध्य हैं। अथवा प्रवाहिणी वली या सेवनी में पहुँचे सब भगन्दर असाध्य हैं।

पिटिका को न पकने देने का प्रयत्न—

अथास्य पिटिकामेव तथा यत्नादुपाचरेत् ॥२२॥
शुद्ध्यसृक्स्रुतिसेकाद्यैर्यथा पाकं न गच्छति ।

इसलिए इस भगन्दर की पिटिका की ही शोधन (वमन, विरेचन), रक्तमोक्षण और सेक आदि से इस प्रकार यत्नपूर्वक चिकित्सा करे, जिससे यह पकने न पाये।

अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख भगन्दर की चिकित्सा—

पाके पुनरुपस्निग्धं स्वेदितं चावगाहतः ॥२३॥
यन्त्रयित्वाऽर्शसमिव पश्येत्सम्यग्भगन्दरम् ।
अर्वाचीनं पराचीनमन्तर्मुखबहिर्मुखम् ॥२४॥
अथान्तर्मुखमेषित्वा सम्यक् शस्त्रेण पाटयेत् ।
बहिर्मुखं च निःशेषं ततः क्षारेण साधयेत् ॥२५॥
अग्निना वा भिषक् साधु क्षारेणैवोष्ट्रकन्धरम् ।

पक जाने पर स्निग्ध करके तथा अवगाहन से स्वेदन देकर अर्श की भांति इस रोगी को बांध कर भगन्दर को भली प्रकार देखे कि यह नीचे (पीठ) की ओर मुख किया है, या दूसरी ओर मुख किया है, अन्दर मुख किया है, या बाहर की ओर मुख किया है।

इसके पीछे अन्तर्मुख को भली प्रकार देखकर शस्त्र से चीर देवे और बहिर्मुख भगन्दर को भी शस्त्र से सम्पूर्ण रूप में चीर कर क्षार से जला देवे अथवा अग्नि से जलाये। उष्ट्रग्रीव भगन्दर को क्षार से ही जलाये। (अग्नि से न जलाये।)

शतपोनक भगन्दर का यत्न—

नाडीरेकान्तराः कृत्वा पाटयेच्छतपोनकम् ॥२६॥
तासु रूढासु शेषाश्च, मृत्युर्दीर्णे गुदेऽन्यथा ।

शतपोनक भगन्दर के बीच में एक-एक नाडी-बचाकर इसको चीर देवे। इसके भरने पर शेष बची नाड़ियों को चीरे। अन्यथा गुदा के फटने पर मृत्यु होती है।

परिक्षेपी भगन्दर का यत्न—

परिक्षेपिणि चाप्येवं नाड्युक्तैः क्षारसूत्रकैः ॥२७॥

परिक्षेपी भगन्दर में भी इसी प्रकार नाडीव्रण में कहे क्षारसूत्रों से चिकित्सा करे।

अर्शोभगन्दर की चिकित्सा—

अर्शोभगन्दरे पूर्वमर्शांसि प्रतिसाधयेत् ।

अर्शोभगन्दरमें प्रथम अर्शरोग की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—श्रीशिवदाससेनजी 'प्रतिसाधयेत्' के स्थान पर 'प्रतिसारयेत्' पाठ देकर अर्शोहर कोषातकी आदि के चूर्ण से प्रतिसारण करना लिखा है।

त्यक्त्वोपचर्यः क्षतजः शल्यं शल्यवतस्ततः ॥२८॥
आहरेच्च तथा दद्यात् क्रमिघ्नं लेपभोजनम् ।
पिण्डनाड्यादयः स्वेदाः सुस्निग्धा रुजि पूजिताः ॥

क्षतज भगन्दर को असाध्य कहकर चिकित्सा करे। शल्यवाले भगन्दर में से शल्य को बाहर करे फिर कृमिनाशक लेप और भोजन दे। वेदना होने पर स्निग्ध पिण्डस्वेद, स्निग्ध नाडीस्वेद आदि उत्तम हैं।

भगन्दरों में छेदनभेद तथा उनके लक्षण—

सर्वत्र च बहुच्छिद्रे छेदानालोच्य योजयेत् ।
गोतीर्थसर्वतोभद्रदललाङ्गललाङ्गलान् ॥३०॥

सब स्थानों पर बहुत छिद्र वाले भगन्दर में विचार कर (आवश्यकतानुसार) गोतीर्थ, सर्वतोभद्र, दललांगल और लांगल, ये चार प्रकार के छेदन करे। (दललाङ्गलः—अर्द्धलाङ्गलः, दल-शब्द अर्धवाचक है)।

पार्श्वं गतेन शस्त्रेण च्छेदो गोतीर्थको मतः ।
सर्वतः सर्वतोभद्रः पार्श्वच्छेदोऽर्धलाङ्गलः ॥३१॥
पार्श्वद्वये लाङ्गलकः—

पार्श्व में ले जाकर शस्त्र से किया छेदन गोतीर्थक माना गया है। सब ओर से किया छेदन सर्वतोभद्र है। एक पार्श्व में किया छेदन अर्धलांगलक है तथा दोनों पार्श्वों में किया छेदन लाङ्गलक है।

वक्तव्य—गोतीर्थ—जाते हुए बैल के मूत्र करने के चिह्न-समान टेढ़ा किया छेदन, अथवा गाय की योनि के समान अथवा गोतीर्थ का अर्थ निपान-जल पीने का स्थान है, उसके समान। सर्वतोभद्र-आसन विशेष का नाम है अथवा मण्डलाकार। लाङ्गल-हल के समान।

भगन्दर में अग्निदाहविधि—

—समस्तानग्निना दहेत् ।
आस्रावमार्गान्निःशेषं नैवं विकुरुते पुनः ॥३२॥

सब आस्राव-मार्गों को सम्पूर्ण रूप में अग्नि से जलाये, इस प्रकार करने पर व्रण में फिर विकार नहीं होता।

सामान्य चिकित्सा—

यतेत कोष्ठशुद्धौ च भिषक् तस्यान्तराऽन्तरा ।
लेपो व्रणे बिडालास्थि त्रिफलारसकल्कितम् ॥३३॥

भगन्दर-रोगी के कोष्ठ को शुद्ध करने का वैद्य बीच बीच में यत्न करता रहे।

व्रण में त्रिफला के रस के साथ बिल्ली की अस्थि का कल्क बना कर लेप करे।

भगन्दरनाशक तैल—

ज्योतिष्मतीमलयुलाङ्गलिशेलुपाठा-
कुम्भाग्निसर्ज (जिं)करवीरवचासुधाऽर्कैः ।
अभ्यञ्जनाय विपचेत भगन्दराणां
तैलं वदन्ति परमं हितमेतदेषाम् ॥३४॥

मालकाङ्गनी, मलयु (काकोदुम्बरिका), कलिहारी, शेलु (लसोड़ा), पाठा, त्रिवृत् , चित्रक, सर्ज (राल या सज्जीखार), कनेर, बच, स्नुही, आक, इनसे तैल सिद्ध करे। यह तैल भगन्दररोगियों के लिये अतिशय हितकारी कहा है।

भगन्दरनाशक मधुयष्ट्यादि तैल—

मधुकरोध्रकणात्रुटिरेणुका-
द्विरजनीफलिनीपटुसारिवाः ।

कमलकेसरपद्मकधातकी-
मदनसर्जरसामयरोदिकाः ॥३५॥
सबीजपूरच्छदनैरभिस्तैलं विपाचितम् ।
भगन्दरापचीकुष्ठमधुमेहव्रणापहम् ॥३६॥

मुलहठी, लोध, पिप्पली, छोटी इलायची, रेणुका, हल्दी, दारुहल्दी, प्रियंगु, सेंधानमक, सारिवा, पद्मकेसर, पद्माख, धव, मोम, राल, कूठ, रोदिका (मजीठ) और बिजौरे के पत्ते से तैल सिद्ध करे। यह तैल भगन्दर, अपची, कुष्ठ, मधुमेह और व्रणों को नष्ट करता है।

भगन्दरनाशक विडंगादि लेह—

मधुतैलयुता विडङ्गसार-
त्रिफलामागधिकाकणाश्च लीढाः ।
कृमिकुष्ठभगन्दरप्रमेह-
क्षतनाडीव्रणरोपणा भवन्ति ॥ ३७ ॥

त्रिफला, बायविडंग और पिप्पली का चूर्ण, इनको मधु और तैल के साथ चाटने से कृमि, कुष्ठ, भगन्दर, प्रमेह तथा क्षतज नाडीव्रण भर जाते हैं।

गुडूच्यादि लेह—

अमृतात्रुटिवेल्लवत्सकं
कलिपथ्याऽऽमलकानि गुग्गुलुः ।
क्रमवृद्धमिदं मधुद्रुतं
पिटिकास्थौल्यभगन्दराञ् जयेत् ॥ ३८ ॥

गिलोय, छोटी इलायची, मरिच, इन्द्रजौ, बहेड़ा, हरड़, आंवला, गुग्गुलु, इनको क्रमशः बढ़ाकर मधु से पतला बना कर खाये। इससे पिटिका, स्थूलता और भगन्दर शान्त होते हैं।

मागधिकादि लेह—

मागधिकाऽग्निकलिङ्गविडङ्गै-
बिल्वघृतैः सवरापलषट्कैः ।
गुग्गुलुना सदृशेन समेतैः
क्षौद्रयुतः सकलामयनाशः ॥ ३९ ॥

पिप्पली, चित्रक, इन्द्रजौ, वायविडङ्ग प्रत्येक एक पल, त्रिफला छः पल; इन सबके बराबर गुग्गुलु मिलाकर मधु के साथ बरते। यह योग सब रोगों का नाशक है।

गुग्गुल्वादि लेह—

गुग्गुलुपञ्चपलं पलिकांशा
मागधिका त्रिफला च पृथक्स्यात् ।
त्वक्त्रुटिकर्षयुतं मधुलीढं
कुष्ठभगन्दरगुल्मगतिघ्नम् ॥ ४० ॥

गुग्गुलु पाँच पल, पिप्पली और त्रिफला प्रत्येक द्रव्य एक एक पल, दालचीनी, इलायची प्रत्येक एक कर्ष, इनको मधु में मिलाकर चाटने से कुष्ठ, भगन्दर, गुल्म तथा गति (नाडी व्रण) नष्ट होती है।

शुण्ठीयोग—

शृङ्गबेररजोयुक्तं तदेव च सुभावितम् ।
क्वाथेन दशमूलस्य विशेषाद्वातरोगजित् ॥४१॥

गुग्गुलु आदि उपर्युक्त द्रव्य में सोंठ का चूर्ण मिलाकर और दशमूलक्वाथ से भावित करके प्रयोग करने से विशेष रूप में वातरोगनाशक है। (सुभावितम्—बार-बार पेषण एवं शोषण करने से अतिवीर्यवान् बनाकर)।

त्रिफलादि योग—

उत्तमाखदिरसारजं रजः
शीलयन्नसनवारिभावितम् ।
हन्ति तुल्यमहिषाक्षमाक्षिकं
कुष्ठमेहपिटिकाभगन्दरान् ॥ ४२ ॥

उत्तमा (त्रिफला) तथा खैर के सार का चूर्ण; ये बीजकसार (असना या विजयसार) क्वाथ से भावित करके समान मात्रा में गुग्गुलु के साथ लेने से कुष्ठ, मेह, पिटिका और भगन्दर को नष्ट करते हैं।

भगन्दर में उपदेश—

भगन्दरेष्वेष विशेष उक्तः
शेषाणि तु व्यञ्जनसाधनानि ।
व्रणाधिकारात् परिशीलनाच्च
सम्यग्विदित्वौपयिकं विदध्यात् ॥ ४३ ॥
अश्वपृष्ठगमनं चलरोधं
मद्यमैथुनमजीर्णमसात्म्यम् ।
साहसानि विविधानि च रूढे
वत्सरं परिहरेदधिकं वा ॥ ४४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने भगन्दरप्रतिषेधो नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

व्रणों की अपेक्षा भगन्दर में इतना अधिक कहा है। शेष लक्षण और चिकित्सा (शोधन, रोपण, सवर्णकरण आदि) जो यहां नहीं कही है, उसे व्रणोक्त सामान्य चिकित्सा से तथा वैद्यव्यवहार (अनुभव) से भली प्रकार जानकर जो योग्य हो, वह करे।

घोड़े की पीठपर जाना, वायु का रोकना (मूत्र, मल आदि का भी रोकना), मद्य, मैथुन, अजीर्ण में भोजन, असात्म्य भोजन, बल से अधिक नाना प्रकार के कार्य; इनको भगन्दर के भरने के एक साल पीछे तक या इससे अधिक समय तक भी छोड़ देवे।

वक्तव्य—कुछ प्रसिद्ध योग-(१) सुमना वटपत्राणि गुडूची विश्वभेषजम्। ससैन्धवस्तक्रपिष्टो लेपो हन्ति सुदारुणम् ॥ (२) पयःपिष्टस्तिलारिष्टो मधुरैश्च सुशीतलैः। भगन्दरे प्रशस्यन्ते सरक्ते वेदनान्विते ॥ (३) जम्बूकमांसं भुञ्जीत प्रकारैर्व्यञ्जनादिभिः।

योग—खदिरादि क्वाथ, नवकार्षिक गुग्गुलु, सप्तविंशतिक गुग्गुलु, विडंगारिष्ट, भगन्दरहर रस, ताम्रप्रयोग, विष्यन्दन तैल, तिलाष्टक सब उत्तम हैं।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का भगन्दरप्रतिषेध
नामक अट्ठाइसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

◆

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अथातो ग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदापचीनाडीविज्ञानीयं
व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे ग्रन्थि-अर्बुद-श्लीपद-अपची-नाडी-विज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

ग्रन्थि की उत्पत्ति—

कफप्रधानाः कुर्वन्ति मेदोमांसास्रगा मलाः ।
वृत्तोन्नतं यं श्वयथुं स ग्रन्थिर्ग्रथनात्स्मृतः ॥ १ ॥

मेद, मांस और रक्त में पहुँचे कफप्रधान दोष गोल और ऊँचा जो गाँठ के समान शोथ करते हैं उसको ग्रन्थि कहते हैं। (ग्रथित होने से ग्रन्थि)।

ग्रन्थि के नव भेद—

दोषास्रमांसमेदोऽस्थिसिराव्रणभवा नव । ते—

ये ग्रन्थि नौ हैं—यथा—वातादि दोषज तीन, रक्तज, मांसज, मेदोज, अस्थिज, सिराज और व्रणजन्य ये छः।

वातज ग्रन्थि—

—तत्र वातादायामतोदभेदान्वितोऽसितः ॥ २ ॥
स्थानात्स्थानान्तरगतिरकस्माद्धानिवृद्धिमान् ।
मृदुर्वस्तिरिवानद्धो विभिन्नोऽच्छं स्रवत्यसृक् ॥ ३ ॥

इनमें वातजन्य ग्रन्थि खींचने के समान वेदना, तोद और भेद से युक्त असित-काली रंगवाली एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलने वाली, बिना कारण के ही बढ़ने और घटने वाली कोमल और वस्ति (मूत्राशय) के समान फूली होती है। फटने पर इसमें से निर्मल रक्त बहता है।

पित्तज ग्रन्थि—

पित्तात्सदाहः पीताभो रक्तो वा, पच्यते द्रुतम् ।
भिन्नोऽस्रमुष्णं स्रवति—

पित्त के कारण ग्रन्थि दाहयुक्त, पीली या लाल झाँई की होती है, जल्दी पकती है तथा फटने पर गरम रक्त बहता है।

कफज ग्रन्थि—

—श्लेष्मणा नीरुजो घनः ॥ ४ ॥
शीतः सवर्णः कण्डूमान् , पक्वः पूयं स्रवेद्घनम् ।

कफजन्य ग्रन्थि दर्दरहित, घट्ट, शीतल, त्वचा के समान वर्ण तथा कण्डू से युक्त होती है। पकने पर इसमें से घट्ट पूय बहता है।

रक्तज ग्रन्थि—

दोषैर्दुष्टेऽसृजि ग्रन्थिर्भवेन्मूर्च्छत्सु जन्तुषु ॥ ५ ॥
सिरामांसं च संश्रित्य सस्वापः पित्तलक्षणः ।

वातादि दोषों से रक्त के दूषित हो जाने से कृमियों के उत्पन्न हो जाने पर सिरा और मांस का आश्रय लेकर जो ग्रन्थि होती है, उसमें स्पर्श का अभाव और पित्त के समान लक्षण रहते हैं। (इसे रक्तज ग्रन्थि कहते हैं।)

मांसज ग्रन्थि—

मांसलैर्दूषितं मांसमाहारैर्ग्रन्थिमावहेत् ॥ ६ ॥
स्निग्धं महान्तं कठिनं सिरानद्धं कफाकृतिम् ।

मांसवर्धक आहारों से मांस के दूषित हो जाने पर स्निग्ध, बड़ी, कठिन, सिरा से भरी तथा कफजन्य ग्रन्थि के समान ग्रन्थि उत्पन्न होती है। (यह मांसज ग्रन्थि है)।

मेदोज ग्रन्थि—

प्रवृद्धं मेदुरैर्मेदो नीतं मांसेऽथवा त्वचि ॥ ७ ॥
वायुना कुरुते ग्रन्थिं भृशं स्निग्धं मृदुं चलम् ।
श्लेष्मतुल्याकृतिं देहक्षयवृद्धिक्षयोदयम् ॥ ८ ॥
स विभिन्नो घनं मेदस्ताम्रासितसितं स्रवेत् ।

मेदोवर्धक भोजनों से बढ़ा हुआ मेद वायु द्वारा जब मांस में या त्वचा में पहुँच जाता है, तब मेदोग्रन्थि अतिस्निग्ध, मृदु, अस्थिर, कफजन्य समान आकृति वाली, शरीर की वृद्धि के साथ बढ़ने वाली और शरीर के घटने के साथ घटने वाली होती है। फटने पर इसमें से घट्ट, लाल, काला और श्वेत मेद बहता है।

अस्थिग्रन्थि—

अस्थिभङ्गाभिघाताभ्यामुन्नतावनतं तु यत् ॥ ९ ॥
सोऽस्थिग्रन्थिः—

अस्थि के भंग से या चोट लगने से (अस्थि में) ऊँची-नीची जो गांठ होती है, वह अस्थिग्रन्थि है।

सिराग्रन्थि—

—पदातेस्तु सहसाऽम्भोऽवगाहनात् ।
व्यायामाद्वा प्रतान्तस्य सिराजालं सशोणितम् ॥ १० ॥
वायुः सम्पीड्य सङ्कोच्य वक्रीकृत्य विशोष्य च ।
निःस्फुरं नीरुजं ग्रन्थिं कुरुते स सिराह्वयः ॥ ११ ॥

सिराग्रन्थि—पैदल चलने वाले अथवा व्यायाम से थके हुए के सहसा पानी में जाने से कुपित वायु रक्त के साथ सिराजाल को दूषित, संकुचित, टेढ़ा एवं सुखाकर स्फुरण एवं वेदना से रहित ग्रन्थि को करता है, उसे सिराग्रन्थि कहते हैं।

वक्तव्य—ये साध्य ग्रंथि के लक्षण हैं, सुश्रुत में—'स चारुजश्चाप्यचलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥' वेदना वाली सिराजन्यग्रन्थि असाध्य है।

व्रणग्रन्थि—

अरूढे रूढमात्रे वा व्रणे सर्वरसाशिनः ।

सार्द्रे वा बन्धरहिते गात्रेऽश्माभिहतेऽथवा ॥ १२ ॥
वातोऽस्रमस्रुतं दुष्टं संशोष्य ग्रथितं व्रणम् ।
कुर्यात्सदाहः कण्डूमान् व्रणग्रन्थिरयं स्मृतः ॥ १३ ॥

व्रणग्रन्थि—व्रण के न भरने पर या सद्योरूढ व्रण में सब रसों को खाने वाले व्यक्ति के अथवा गीले और पट्टी-रहित व्रण पर पत्थर आदि से चोट लगने पर वायु दूषित एवं बाहर न निकले रक्त को सुखा कर व्रण को गांठ वाला कर देती है। इसमें दाह तथा कण्डू होती है, इसको व्रण-ग्रन्थि कहते हैं। [सर्वरसाशिनः—व्रणविरुद्धाम्लादिरसनिषेविणः]।

साध्यासाध्यता—

साध्या दोषास्रमेदोजाः, न तु स्थूलखराश्चलाः ।
मर्मकण्ठोदरस्थाश्च—

रक्त, मांस एवं मेद से जन्य ग्रन्थि साध्य है। स्थूल, खर, दबाने से सरकने वाली; मर्म स्थान, कण्ठ और उदर में स्थित ग्रन्थियां असाध्य हैं।

अर्बुद के भेद—

महत्तु ग्रन्थितोऽर्बुदम् ॥ १४ ॥
तल्लक्षणं च मेदोऽन्तः षोढा दोषादिभिस्तु तत् ।
प्रायो मेदःकफाढ्यत्वात्स्थिरत्वाच्च न पच्यते ॥१५॥

ग्रन्थि से जो बड़ा है, वह अर्बुद है। यह अर्बुद छः प्रकार का है-वातादि दोषों से तीन, रक्त, मांस और मेद से जन्य तीन। ये अर्बुद मेद तथा कफ की अधिकता के कारण और स्थिर होने से प्रायः नहीं पकते।

शोणितार्बुद—

सिरास्थं शोणितं दोषः सङ्कोच्यान्तः प्रपीड्य च ।
पाचयेत तदानद्धं सास्रावं मांसपिण्डितम् ॥१६॥
मांसाङ्कुरैश्चितं याति वृद्धिं चाशु स्रवेत्ततः ।
अजस्रं दुष्टरुधिरं भूरि तच्छोणितार्बुदम् ॥१७॥

वातादि कोई दोष सिरास्थित रक्त को संकुचित करके और अन्दर से दबाकर पका देता है। तब वह पका, फूला एवं स्रावयुक्त मांसपिण्ड, मांसांकुरों से भरकर बढ़ता है। तब इससे शीघ्र ही निरन्तर दूषित रक्त बड़ी मात्रा में बहता है, इसको शोणितार्बुद कहते हैं। [मांसार्बुद और मेदोऽर्बुद के लक्षण ग्रन्थि के समान हैं]। (आजकल इसीको कैन्सर तथा सारकोमा कहते हैं।)

अर्बुद की साध्यासाध्यता—

तेष्वसृङ्मांसजे वर्ज्ये चत्वार्यन्यानि साधयेत् ।

इन छः अर्बुदों में रक्तज और मांसज अर्बुद का त्याग करे, शेष चार अर्बुदों की चिकित्सा करे।

श्लीपद के लक्षण—

प्रस्थिता वङ्क्षणोर्वादिमधः कायं कफोल्बणाः ॥ १८ ॥
दोषा मांसास्रगाः पादौ कालेनाश्रित्य कुर्वते ।
शनैः शनैर्घनं शोफं श्लीपदं तत्प्रचक्षते ॥ १९ ॥

वंक्षण और ऊरुसे आरम्भ होकर शरीर के निचले भाग की ओर जाने वाले कफप्रधान दोष मांस एवं रक्त में जाकर कुछ समय पीछे पैरों का आश्रय लेकर निविड तथा घट्ट शोथ को धीरे-धीरे उत्पन्न करते हैं। इसको श्लीपद (शिला के समान पैर) कहते हैं।

वातज, पित्तज और कफज श्लीपद—

परिपोटयुतं कृष्णमनिमित्तरुजं खरम् ।
रूक्षं च वातात्, पित्तात्तु पीतं दाहज्वरान्वितम् ॥
कफाद् गुरु स्निग्धमरुक् चितं मांसाङ्कुरैर्बृहत् ।

वातजन्य श्लीपद-त्वचा के फटने से युक्त, काला, बिना कारण के वेदना वाला, खर और रूक्ष होता है। पित्त के कारण पीला एवं दाह तथा ज्वर से युक्त होता है। कफ के कारण भारी, चिकना, वेदना रहित, मांसांकुरों से भरा और बड़ा होता है।

असाध्य श्लीपद—

तत्यजेद्वत्सरातीतं सुमहत् सुपरिस्रुति ॥ २१ ॥

एक साल पुराने श्लीपद को, बहुत बड़े श्लीपद को और जिसमें से बहुत स्राव होता हो, उस श्लीपद को छोड़ देवे।

अन्य स्थान के श्लीपद—

पाणिनासौष्ठकर्णेषु वदन्त्येके तु पादवत् ।
श्लीपदं जायते तच्च देशेऽनूपे भृशं भृशम् ॥२२॥

पैर की भांति, हाथ, नासा, ओठ और कानोंमें श्लीपद होता है, ऐसा कई आचार्य कहते हैं। वह श्लीपद आनूप देश में बहुतायत से होता है।

गण्डमाला तथा अपची—

मेदःस्थाः कण्ठमन्याऽक्षकक्षावङ्क्षणगा मलाः ।
सवर्णान् कठिनान् स्निग्धान् वार्ताकामलकाकृतीन् ॥
अवगाढान् बहून् गण्डांश्चिरपाकांश्च कुर्वते ।
पच्यन्तेऽल्परुजस्तेऽन्ये स्रवन्त्यन्येऽतिकण्डुराः ॥
नश्यन्त्यन्ये भवन्त्यन्ये दीर्घकालानुबन्धिनः ।
गण्डमालाऽपची चेयं दूर्वेव क्षयवृद्धिभाक् ॥ २५ ॥

मेद में स्थित दोष कण्ठ, मन्या, अक्ष, कक्षा और वंक्षण में आश्रय करके, त्वचा के समान वर्ण, कठिन, स्निग्ध, कटेरी एवं आंवले के फलके आकार के, गम्भीर, गहरे, बहुत-से तथा देर में पकने वाले गण्डों (गांठों) को उत्पन्न करते हैं। जिनमें कुछ पकते हैं, कुछ थोड़ी वेदना वाले होते हैं, दूसरे कुछ बहते हैं, कइयों में बहुत खाज होती है, कुछ नष्ट हो जाते हैं और कुछ नये निकल आते हैं, इस प्रकार ये देर तक बने रहते हैं। इसको गण्डमाला और अपची कहते हैं। यह दूर्वा के समान घटने और बढ़ने वाली होती है।

वक्तव्य—एक गांठ को गण्ड और बहुत से गण्डों से गण्ड-माला तथा बढ़ने और घटने से अपची, ये संज्ञायें एक ही रोग की हैं।

असाध्य गण्डमाला—

तां त्यजेत्सज्वरच्छर्दिपार्श्वरुक्कासपीनसाम् ।

ज्वर, वमन, पार्श्वशूल, कास और पीनस से युक्त गण्डमाला का त्याग कर दे-चिकित्सा न करे ।

नाडीव्रण के लक्षण—

अभेदात्पक्वशोफस्य व्रणे चापथ्यसेविनः ॥२६॥
अनुप्रविश्य मांसादीन् दूरं पूयोऽभिधावति ।
गतिः सा दूरगमनान्नाडी नाडीव संस्रुतेः ॥२७॥
नाड्येकाऽनृजुरन्येषां सैवानेकगतिर्गतिः ।

पक्व शोफ के विदीर्ण न करने से तथा व्रण में अपथ्य सेवन करने वाले पुरुष व्रण से पूय मांस आदि धातुओं में प्रविष्ट होकर दूर पहुँच जाती है । दूर जाने से इसको 'गति' कहते हैं । नाडी (पानी से भरी नलिका) की भांति बहने से इसको नाडी कहते हैं । अन्य आचार्यों के मत से—एक एवं टेढ़ी को-नाडी-कहते हैं और यही नाडी जब अनेक मार्ग वाली होती है, तब गति कहते हैं ।

नाडीव्रण के पाँच भेद—

सा दोषैः पृथगेकस्थैः शल्यहेतुश्च पञ्चमी ॥ २८ ॥

यह नाडी पांच प्रकार की है—वातादि दोषों से तीन, चौथी सन्निपात से और पांचवी शल्य के कारण ।

वातज नाडीव्रण—

वातात् सरुक्सूक्ष्ममुखी विवर्णा फेनिलोद्वमा ।
स्रवत्यभ्यधिकं रात्रौ—

वातजन्य नाडी वेदनायुक्त, सूक्ष्म मुख वाली, विवर्ण, झाग के स्राव वाली तथा रात में अधिक स्राव युक्त होती है ।

पित्तज नाडीव्रण—

—पित्तात्तृड्ज्वरदाहकृत् ॥२९॥
पीतोष्णपूतिपूयस्रुद्दिवा चाति निषिञ्चति ।

पित्तजन्य नाडी—प्यास, ज्वर और दाह करने वाली पीला, उष्ण, दुर्गन्धयुक्त पूय को बहाने वाली एवं दिन में अधिक बहने वाली होती है ।

कफज और सन्निपातज नाडीव्रण—

घनपिच्छिलसंस्रावा कण्डूला कठिना कफात् ॥३०॥
निशि चाभ्यधिकक्लेदा, सर्वैः सर्वाकृतिं त्यजेत् ।

कफजन्य नाडी घट्ट, पिच्छिल स्राव वाली, कण्डूयुक्त और कठिन तथा रात में अधिक क्लेद वाली होती है । सन्निपातज नाडी में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं, यह असाध्य है ।

शल्यज नाडीव्रण—

अन्तःस्थितं शल्यमनाहृतं तु
करोति नाडीं वहते च साऽस्य ।
फेनानुविद्धं तनुमल्पमुष्णं
सास्रं च पूयं सरुजं च नित्यम् ॥३१॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने ग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदापचीनाडीविज्ञानीयो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

शल्यज नाडी—अन्दर में स्थित शल्य को बाहर न निकालने से यह नाडी उत्पन्न होती है । इस शल्य वाले पुरुष की नाडी से झागदार, पतला, थोड़ा, उष्ण, रक्तसहित पूय बहता है और नित्य वेदना रहती है ।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का ग्रन्थि-अर्बुद-श्लीपद-अपची-नाडी-विज्ञानीय नामक उन्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

अथातो ग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदापचीनाडीप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे ग्रन्थि-अर्बुद-श्लीपद-अपची-नाडी-प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

अपक्वग्रन्थिचिकित्सा—

ग्रन्थिष्वामेषु कर्तव्या यथास्वं शोफवत् क्रिया ।
बृहतीचित्रकव्याघ्रीकणासिद्धेन सर्पिषा ॥ १ ॥
स्नेहयेच्छुद्धिकामं च, तीक्ष्णैः शुद्धस्य लेपनम् ।
संस्वेद्य बहुशो ग्रन्थिं विमृद्नीयात् पुनः पुनः ॥ २ ॥

अपक्व ग्रन्थियों में उनकी दोषानुसार शोथ की भांति चिकित्सा करनी चाहिये ।

बड़ी कटेरी, चित्रक, छोटी कटेरी और पिप्पली से सिद्ध घृत से शुद्धि करने योग्य पुरुष का स्नेहन करे । शोधन (वमन-विरेचन) के बाद तीक्ष्ण द्रव्यों से लेप करना चाहिये । ग्रन्थि पर बहुत बार स्वेदन करके बार बार अंगूठे या बांस से इसको मले ।

वातजादिग्रन्थिचिकित्सा—

एष वाते विशेषेण क्रमः पित्तास्रजे पुनः ।
जलौकसो हिमं सर्वं, कफजे वातिको विधिः ॥ ३ ॥

वातज ग्रन्थि में यह (पूर्वोक्त) चिकित्सा विशेषतः करे । पित्त एवं रक्तज ग्रन्थि में जोंक लगाये तथा सम्पूर्ण शीत चिकित्सा करे । कफज ग्रन्थि में वातिक की भांति चिकित्सा करे ।

अपक्व ग्रन्थि में छेदनादि—

तथाऽप्यपक्वं छित्त्वैनं स्थिते रक्तेऽग्निना दहेत् ।

साध्वशेषं, सशेषो हि पुनराप्यायते ध्रुवम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार करने पर भी यदि ग्रंथि न पके तो इसको भली प्रकार से सम्पूर्ण रूप में काट कर रक्त के बन्द हो जाने पर अग्नि से जलाये । क्योंकि बची हुई ग्रन्थि निश्चय रूप में फिर बढ़ जाती है ।

मांसव्रणोद्भवौ ग्रन्थी यापयेदेवमेव च ।

मांसजन्य एवं व्रणजन्य ग्रन्थि का भी इसी प्रकार की चिकित्सा से यापन करे ।

वक्तव्य—'यापयेत्' के स्थान पर श्रीशिवदाससेनजी ने 'शाटयेत्' पाठ दिया है ।

कार्यं मेदोभवेऽप्येतत्तप्तैः फालादिभिश्च तम् ॥ ५ ॥
प्रमृद्यात्तिलदिग्धेन च्छन्नं द्विगुणवाससा ।
शस्त्रेण पाटयित्वा वा दहेन्मेदसि सूद्धृते ॥ ६ ॥

मेदोजन्य ग्रन्थि में भी इसी प्रकार करे । इस मेदोजन्य ग्रन्थि को तिलकल्क से लिप्त करके दुगुने वस्त्र से ढाँप कर उसे गरम किये फाल (लोहे के फलक) से मुलायम करे अथवा शस्त्र से चीरकर मेद को सम्पूर्ण रूप से निकाल कर अग्नि से जलाये ।

वक्तव्य—अमर्मकश्चानुपशाम्यमानमपक्वमेवापहरेद् विदार्य । दहेत् स्थिते चासृजि सिद्धकर्मा सद्यः क्षतोक्तञ्च विधिं विदध्यात्॥

सिराग्रन्थिचिकित्सा—

सिराग्रन्थौ नवे पेयं तैलं साहचरं, तथा ।
उपनाहोऽनिलहरैर्वस्तिकर्म सिराव्यधः ॥ ७ ॥

नूतन सिराग्रन्थि में सहचर तैल (वातव्याधि में कहा) पिये । तथा वातघ्न द्रव्यों से उपनाह, वस्तिकर्म और सिरावेध करे ।

अर्बुदचिकित्सा—

अर्बुदे ग्रन्थिवत् कुर्याद् यथास्वं सुतरां हितम् ।
(अजाशकृच्छिग्रुमूललाक्षासुरस(लवणक्षार)काञ्जिकैः ।
वस्त्रबद्धैरुपस्वेद्य मर्दयित्वा प्रलेपयेत् ॥ १ ॥
उपोदकापत्रपिण्ड्या च्छदैराच्छादितं घनम् ।
निवेश्य पट्टं बध्नीयाच्छाम्यत्येवं नवार्बुदम् ॥ २ ॥
जीर्णे चार्कच्छदसुधासामुद्रगुडकाञ्जिकैः ।
प्रच्छाने पिण्डिका बद्धा ग्रन्थ्यर्बुदविलापनी ॥३॥)

अर्बुद में ग्रन्थि की भांति दोषानुसार चिकित्सा करे ।

(बकरी की मींगनी, सहजन की जड़, लाख और तुलसी (अथवा सैन्धव और यवक्षार) इनको कांजी के साथ पीसकर वस्त्र में पोटली बनाकर स्वेद देकर मलकर उन्हीं का लेप करे । पोई के पत्रों की पिण्डी से तथा पत्रों द्वारा अच्छी प्रकार ढांप कर पट्टी बांध देवे, इस प्रकार से नया अर्बुद शान्त हो जाता है । पुराने अर्बुद में पांछ लगाने के बाद आक के पत्ते, थूहर, सामुद्र लवण, गुड़ और कांजी से बनाई पिण्डिका द्वारा ढाँप कर बांधने से ग्रन्थि और अर्बुद घुल (पक) जाते हैं ।)

वातजश्लीपदचिकित्सा—

श्लीपदेऽनिलजे विध्येत् स्निग्धस्विन्नोपनाहिते ॥८॥
सिरामुपरिगुल्फस्य द्व्यङ्गुले, पाययेच्च तम् ।
मासमेरण्डजं तैलं गोमूत्रेण समन्वितम् ॥९॥
जीर्णे जीर्णान्नमश्नीयाच्छुण्ठीशृतपयोऽन्वितम् ।
त्रैवृतं वा पिबेदेवमशान्तावग्निना दहेत् ॥१०॥

वातज श्लीपद में स्नेहन, स्वेदन और उपनाह करके गुल्फ के दो अंगुल ऊपर सिरा का वेधन करे । इसको एक मास तक एरण्डतैल गोमूत्र के साथ पिलाये और एरण्डतैल के जीर्ण होने पर पुरातन अन्न को सोंठ से पकाये दूध के साथ खिलाये । अथवा त्रैवृत स्नेह (घृत, तैल और वसा) पिलाये । इससे शान्त न होने पर अग्नि से जला देवे ।

पित्तजश्लीपदचिकित्सा—

गुल्फस्याधः सिरामोक्षः पैत्ते सर्वं च पित्तजित् ।

पित्तज श्लीपद में गुल्फ से नीचे सिरामोक्ष करे तथा पित्तनाशक सम्पूर्ण चिकित्सा करे । (कफनाशक-चिकित्सा भी, करे क्योंकि कफ का अनुबन्ध रहता है ।)

कफजश्लीपदचिकित्सा—

सिरामङ्गुष्ठके विद्ध्वा कफजे शीलयेद्यवान् ॥ ११ ॥
सक्षौद्राणि कषायाणि वर्द्धमानास्तथाऽभयाः ।
लिम्पेत्सर्षपवार्ताकीमूलाभ्यां धन्वयाऽथवा ॥ १२ ॥

कफज श्लीपद में पैर के अंगूठे के पास में सिरा-वेधन करके जौ को खाये । मधुयुक्त कषाय द्रव्य हितकारी हैं । एक, दो, तीन इस क्रम से बढ़ाकर हरड़ का खाना उत्तम है । सरसों और कटेरी के मूल से लेप करे । अथवा जवासे से लेप करे ।

वक्तव्य—श्री शिवदाससेनजी ने 'धान्यया' पाठ देकर 'धनीयकम्' अर्थ किया है, किन्तु वह ठीक नहीं लगता ।

अपचीचिकित्सा—

ऊर्ध्वाधःशोधनं पेयमपच्यां साधितं घृतम् ।
दन्तीद्रवन्तीत्रिवृताजालिनीदेवदालिभिः ॥ १३ ॥
शीलयेत्कफमेदोघ्नं धूमगण्डूषनावनम् ।
सिरयाऽपहरेद्रक्तं, पिबेन्मूत्रेण तार्क्ष्यजम् ॥ १४ ॥
(फलमर्द्धपलं वाऽपि कर्षं वाऽप्युष्णवारिणा ।
काञ्चनारत्वचं पीत्वा गण्डमालां व्यपोहति ॥ १ ॥)

अपची में वमन, विरेचन के लिये दन्ती, द्रवन्ती, निशोथ, कड़ुवी तुम्बी, देवदाली (तुम्बी); इनसे सिद्ध घृत को पीने के लिये देवे । कफ तथा मेद को नाश करने वाले धूम, गण्डूष तथा नस्य का अभ्यास करे । सिरा से रक्त को निकाले गोमूत्र के साथ रसौत पिये ।

(कचनार की छाल एक पल, आधा पल अथवा एक कर्ष की मात्रा में गरम पानी से पीने पर गण्डमाला को नष्ट करती है ।)

ग्रन्थीनपक्वानालिम्पेन्नाकुलीपटुनागरैः ।
स्विन्नांल्लवणपोटल्या कठिनाननु मर्दयेत् ॥१५॥
शमीमूलकशिग्रूणां बीजैः सयवसर्षपैः ।
लेपः पिष्टोऽम्लतक्रेण ग्रन्थिगण्डविलापनः ॥१६॥
(क्षुण्णानि निम्बपत्राणि खल्लतैर्भल्लातकैः सह ।
शरावसम्पुटे दग्ध्वा सार्धं सिद्धार्थकैः समैः ॥ १ ॥
एतच्छागाम्बुना पिष्टं गण्डमालाप्रलेपनम् ।)

न पकी हुई ग्रन्थियों पर नाकुली (सर्पगन्धा), लवण और सोंठ से लेप करे। जो गाठें कठिन हों, उनको नमक की पोटली से स्वेद देकर पीछे से मले।

शमी, मूली, सहजन इनके वीज, जौ, सरसों इनको खट्टे तक्र से पीसकर किया लेप ग्रन्थि और गण्ड को पिघलाता है।

(टुकड़े किये भिलाओं के साथ नीम के पत्तों को कूटकर, इनके बराबर सरसों को लेकर सबको शरावसम्पुट में जलाये इसको बकरी के मूत्र में पीस कर गण्डमाला पर लेप देवे)।

पाकोन्मुखगण्डचिकित्सा—

पाकोन्मुखान् स्रुतास्रस्य पित्तश्लेष्महरैर्जयेत् ।
अपक्वानेव वोद्धृत्य क्षाराग्निभ्यामुपाचरेत् ॥१७॥

जो ग्रन्थियां पकने वाली हों, उनको रक्त निकाल कर पित्तकफहर द्रव्यों से शान्त करे। अथवा ग्रन्थियों को अपक्व अवस्था में ही निकाल कर क्षार और अग्नि से चिकित्सा करे।

गण्डमालानाशक गुञ्जाद्य तैल—

काकादनीलाङ्गलिकानहिकोत्तुण्डिकीफलैः ।
जीमूतबीजकर्कोटीविशालाकृतवेधनैः ॥१८॥
पाठाऽन्वितैः पलार्धांशैर्विषकर्षयुतैः पचेत् ।
प्रस्थं करञ्जतैलस्य निर्गुण्डीस्वरसाढके ॥१९॥
अनेन माला गण्डानां चिरजा पूयवाहिनी ।
सिध्यत्यसाध्यकल्पाऽपि पानाभ्यञ्जननावनैः ॥२०॥

काकादनी (रत्ती), कलिहारी, नहिका, (शुकनासा), उत्तुण्डिका (काकतिक्ता) इनके फल, जीमूतक (पीतघोषा) के वीज, कर्कोटी (काकोडा या महाजालिनी), इन्द्रवारुणी, कृतवेधन (तुरई) और पाठा प्रत्येक आधा पल, विष एक कर्ष, इनसे करञ्जतैल का एक प्रस्थ, निर्गुण्डी के स्वरस के एक आढक में सिद्ध करे। इस तैल से पुरातन, पूय बहाने वाली, गण्डमाला जो कि असाध्य की भाँति होती है, वह पान, अभ्यंग और नस्य से अच्छी हो जाती है।

वक्तव्य—काकादनी-ज्योतिष्मती, चन्द्रः। 'नहिका' के स्थान में 'सहिका' पाठ करके 'रेणुका' अर्थ, तथा 'तुण्डिका' का अर्थ 'बिम्बीफल' श्रीशिवदाससेनजी ने किया है।

अपचीनाशक लाङ्गली तैल—

तैलं लाङ्गलिकीकन्दकल्कपादं चतुर्गुणे ।
निर्गुण्डीस्वरसे पक्वं नस्याद्यैरपचीप्रणुत् ॥२१॥

कलिहारीकन्द का कल्क एक चतुर्थांश लेकर तैल से चौगुने निर्गुण्डी के स्वरस में सिद्ध किया तैल नस्य, पान तथा अभ्यंग से अपची को नष्ट करता है।

चन्दनादि तैल—

भद्रश्रीदारुमरिचद्विहरिद्रात्रिवृद्घनैः ।
मनःशिलाऽऽलनलदविशालाकरवीरकैः ॥२२॥
गोमूत्रपिष्टैः पलिकैर्विषस्यार्धपलेन च ।
ब्राह्मीरसार्कजक्षीरगोशकृद्रससंयुतम् ॥२३॥
प्रस्थं सर्षपतैलस्य सिद्धमाशु व्यपोहति ।
पानाद्यैः शीलितं कुष्ठदुष्टनाडीव्रणापचीः ॥२४॥

श्वेत चन्दन, देवदारु, मरिच, हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ, मुस्ता, मैनसिल, हरताल, खस, इन्द्रवारुणी, कनेर, एक-एक पल और विष आधा पल, इनको गोमूत्र में पीस ले। ब्राह्मी-स्वरस, आक का दूध, गोबर का रस, तीनों में (तैल से चतुर्गुण) सरसों का तैल एक प्रस्थ उपर्युक्त कल्क से सिद्ध करे। यह तैल पान, नस्य तथा अभ्यंग आदि में लेने से कुष्ठ, दुष्ट व्रण, नाडीव्रण और अपची को शीघ्र नष्ट करता है।

वचादि तैल—

वचाहरीतकीलाक्षाकटुरोहिणिचन्दनैः ।
तैलं प्रसाधितं पीतं समूलामपचीं जयेत् ॥२५॥

वच, हरड, लाख, कुटकी और चन्दन से सिद्ध किया तैल पीने पर अपची को जड से नष्ट कर देता है।

शरपुंखा योग—

शरपुङ्खोद्भवं मूलं पिष्टं तण्डुलवारिणा ।
नस्याल्लेपाच्च दुष्टारुरपचीविषजन्तुजित् ॥२६॥

शरपोंखा के मूल को चावल के धोवन से पीसकर नस्य एवं लेप करने से दूषित व्रण, अपची, विष और कृमि का नाशक है।

मूलैरुत्तमकारण्याः पीलुपर्ण्याः सहाचरात् ।
सरोध्राभययष्ट्याह्वशताह्वादीपिदारुभिः ॥२७॥
तैलं क्षारसमं सिद्धं नस्येऽभ्यङ्गे च पूजितम् ।

उत्तमकारणी (करम्भ), पीलुपर्णी (मूर्वा) और सहचर (झिण्टी) इनकी मूल, लोध, खस, मुलहठी, सौंफ, चित्रक और देवदारु, इनसे तैल के बराबर दूध में सिद्ध किया तैल नस्य और अभ्यंग में उत्तम है। (इसमें उत्तम पाक के लिये तिगुना जल भी देना चाहिये, यह श्रीशिवदाससेन कहते हैं)।

अपचीनाशक लेप—

गोऽव्यजाश्वखुरा दग्धाः कटुतैलेन लेपनम् ॥२८॥
पैङ्गुदेन तु कृष्णाहिर्वायसो वा स्वयं मृतः ।

गाय, भेड, बकरी और घोड़े के खुरों को जलाकर कड़ुवे तैल में मिलाकर लेप करे। स्वयं मरे काले सांप या कौए को जलाकर हिंगोट के तेल में मिलाकर लगाये।

विशेष चिकित्सा—

इत्यशान्तौ गदस्यान्यपार्श्वजङ्घासमाश्रितम् ॥ २९ ॥

बस्तेरूर्ध्वमधस्ताद्वा मेदो हृत्वाऽग्निना दहेत् ।

इस प्रकार से भी रोग के शान्त न होने पर रोग से दूसरे पार्श्व में जंघा में आश्रित मेद को इन्द्रवस्ति मर्म से ऊपर या नीचे में निकालकर अग्नि से जला देवे । [इन्द्रवस्ति मर्म-गुल्फ और जानु के मध्य में है]।

निमि के मत से ग्रन्थिचिकित्सा—

स्थितस्योर्ध्वं पदं मित्वा तन्मानेन च पार्ष्णितः ॥३०॥
तत ऊर्ध्वं हरेद् ग्रन्थीनित्याह भगवान्निमिः ।

भगवान् निमि का कहना है कि—पुरुष को सीधा खड़ा करके पैर को माप कर—पैर के बराबर पार्ष्णि से जंघा में माप लेकर वहां से ग्रन्थियों को निकाले ।

सुश्रुत के मत से चिकित्सा—

पार्ष्णि प्रति द्वादश चाङ्गुलानि
मुक्त्वेन्द्रवस्तिं च गदान्यपार्श्वे ।
विदार्य मत्स्याण्डनिभानि मध्या-
ज्जालानि कर्षेदिति सुश्रुतोक्तिः ॥ ३१ ॥

सुश्रुत का कहना है कि रोग जिस पार्श्व में हो, उससे दूसरे पार्श्व में एड़ी से बारह अंगुल ऊपर जंघा में माप करके, इन्द्रवस्ति मर्म को बचाकर चीरा देवे । वहां से मछली के अण्डों के समान जो जाल हों, उनको निकाल ले ।

उक्त विधि में मतान्तर—

आ गुल्फकर्णात्सुमितस्य जन्तो-
स्तस्याष्टभागं खुडकाद्विभज्य ।
घ्राणार्जवेऽधः सुरराजवस्ते-
र्भित्त्वाऽक्षिमात्रं त्वपरे वदन्ति ॥ ३२ ॥

मतान्तर—गुल्फ से लेकर नाक की सीध में कान तक मनुष्य का माप लेकर गुल्फ से लम्बाई का आठवां भाग अलग करके अर्थात् लम्बाई का आठवां भाग गुल्फ से नाप कर इन्द्रवस्ति मर्म के नीचे आंख के बराबर (दो अङ्गुल) भेदन करे ।

वक्तव्य—अरुणदत्त ने 'अक्षमात्र' पाठ दिया है, जिसका 'कर्षमात्र खींचे' अर्थ है । चन्द्र ने 'अक्षिमात्र' पाठ देकर 'अंगुलद्वय प्रमाण' अर्थ किया है ।

वातनाडीव्रणचिकित्सा—

उपनाह्यानिलान्नाडीं पाटितां साधु लेपयेत् ।
प्रत्यक्पुष्पीफलयुतैस्तिलैः पिष्टैः ससैन्धवैः ॥ ३३ ॥

वातज नाडी में उपनाह करके भली प्रकार चीरकर, चिरचिटा के फल, तिल और सैन्धव को पीसकर लेप करे ।

पित्तजनाडीव्रणचिकित्सा—

पैत्तीं तु तिलमञ्जिष्ठानागदन्तीनिशाद्वयैः ।

पित्तज नाडी में तिल, मंजीठ, नागदन्ती (स्थूल मूल वाली दन्ती), हल्दी और दारुहल्दी से लेप करे ।

कफजनाडीव्रणचिकित्सा—

श्लैष्मिकीं तिलसौराष्ट्रीनिकुम्भारिष्टसैन्धवैः ॥३४॥

कफज नाडी में तिल, सोरठी मिट्टी (या फिटकिरी), दन्ती, नीम के पत्ते और सैन्धव से लेप करे ।

शल्यजनाडीव्रणचिकित्सा—

शल्यजां तिलमध्वाज्यैर्लेपयेच्छिन्नशोधिताम् ।

शल्यज नाडी को पहले चीरकर शल्य निकाल कर शुद्ध करके तिल, मधु और घी से लेप करे ।

क्षार का प्रयोग—

अशस्त्रकृत्यामेषण्या भित्त्वाऽन्ते सम्यगेषिताम् ॥३५॥
क्षारपीतेन सूत्रेण बहुशो दारयेद्गतिम् ।

जिनमें शस्त्रकर्म न हो सके (कृश, दुर्बल या भीरु में या मर्म आश्रित में), वहां एषणी से नाडी को भली प्रकार ढूंढ कर सूई से अन्त में भेदन करके क्षारोदक भावित सूत्र से गति को पुनः पुनः विदीर्ण करे ।

वर्ति का प्रयोग—

व्रणेषु दुष्टसूक्ष्मास्यगम्भीरादिषु साधनम् ॥ ३६ ॥
या वर्त्यो यानि तैलानि तन्नाडीष्वपि शस्यते ।

दूषित, सूक्ष्ममुख वाले और गम्भीर आदि व्रणों के लिये जो चिकित्सा कही है, जो वर्त्तियां कही हैं और जो तैल कहे हैं, वे नाडियों में भी उत्तम हैं ।

लेप का प्रयोग—

पिष्टं चञ्चुफलं लेपान्नाडीव्रणहरं परम् ॥ ३७ ॥

चंचु (चंच) के फल को पीस कर लेप करना उत्तम नाडीव्रणनाशक है ।

वक्तव्य—चञ्चुफलं, हाथीशुण्डी, इति वङ्गीयाः । सिद्धफलोऽयं योगो, ज्योतिश्चन्द्रसरस्वती ।

नाडीव्रणनाशकवर्त्ति—

घोण्टाफलत्वग्लवणं सलाक्षं
बूकस्य पत्रं वनितापयश्च ।
स्नुगर्कदुग्धान्वित एष कल्को
वर्तीकृतो हन्त्यचिरेण नाडीम् ॥ ३८ ॥

घोण्टा (जंगली बेरी) के फल और छाल, सैन्धव, लाख, बूक के पत्ते, औरत का दूध, थूहर और आक के दूध में बनाया इनका कल्क वर्त्ति बनाकर प्रयोग करने से नाडी को नष्ट करते हैं ।

वक्तव्य—'बूकस्य पत्रं' के स्थान पर 'पूगात्फलं' पाठ श्रीशिवदाससेनजी ने दिया है, साथ ही 'अलवणञ्च पत्रम्' पाठ देकर 'अलवणा–ज्योतिष्मती' अर्थ दिया है । 'बूकस्य' के स्थान पर 'बृपस्य' तथा 'चुक्रस्य' पाठ भी मिलते हैं । चुक्र के पत्ते, रस तथा बीजों के तेल का प्रयोग दुष्टव्रण, नाडीव्रण आदि में लोकप्रसिद्ध हैं ।

सामुद्रसौवर्चलसिन्धुजन्म-
सुपक्वघोण्टाफलवेश्मधूमाः ।
आम्रातगायत्रिजपल्लवाश्च
कटङ्कटेर्यावथ चेतकी च ॥ ३९ ॥

कल्केऽभ्यङ्गे चूर्णे वर्त्यां चैतेषु शील्यमानेषु।
अगतिरिव नश्यति गतिश्चपला चपलेषु भूतिरिव॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठे उत्तरस्थाने ग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदापचीनाडीप्रतिषेधो नाम त्रिंशोऽध्यायः॥३०॥

* * *

समुद्री नमक, सौवर्चल, सैन्धव, भली प्रकार पका बेर का फल, घर का धुवाँसा, अम्बाड़ी और खैर के पत्ते, दारुहल्दी, चेतकी (हरड़, कङ्गुनी, इति चन्द्रः) इनको कल्क, अभ्यंग, चूर्ण या वर्त्ति में बरतने से अशरण मनुष्य जैसे नष्ट हो जाता है या जैसे चंचल पुरुषों में समृद्धि नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार यह गति (नाड़ी) नष्ट हो जाती है।

वक्तव्य—तन्त्रान्तरोक्त प्रसिद्ध योग-(१) जलकुम्भीकजं भस्म पक्वं गोमूत्रगालितम्। पिबेत् कोद्रवभक्ताशी गलगण्डप्रशान्तये॥ तुम्बीतैल, अमृताद्यतैल, कांचनारगुग्गुलु, छुछुन्दरीतैल, निर्गुण्डीतैल, गुंजाद्यतैल, तिलाष्टक। (२) दन्तीचित्रमूलत्वक् सुधार्कपयसा गुडः। भल्लातकास्थिकासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि। (३) स्वर्जिकामूलकक्षारः शंखचूर्णविमिश्रितः। प्रलेपो विहितस्तीक्ष्णो हन्ति ग्रन्थ्यर्बुदादिकम्॥ श्लीपद में—धुस्तूरादिलेप, नित्यानन्दरस, सिद्धार्थकादिलेप, श्लीपदगजकेसरी और सौरेश्वर घृत।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का ग्रन्थि-
अर्बुद-श्लीपद-अपची-नाडीप्रतिषेध नामक
तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३०॥

* * *

एकत्रिंशोऽध्यायः

अथातः क्षुद्ररोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे क्षुद्ररोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वक्तव्य—क्षुद्ररोग, यह संज्ञा प्राचीन आचार्यों की है।

अजगल्लिका के लक्षण—

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभा।
पिटिका कफवाताभ्यां बालानामजगल्लिका॥ १॥

स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण, ग्रथित, वेदना-रहित तथा मूंग के समान पिटिका को अजगल्लिका कहते हैं। यह पिटिका कफ और वायु से होती है और प्रायः बालकों में होती है।

यवप्रख्या के लक्षण—

यवप्रख्या यवप्रख्या ताभ्यां मांसाश्रिता घना।

यवप्रख्या—वात, कफ के कारण यवप्रख्यासंज्ञक पिटिका जौ के आकार की (बीच में मोटी किनारों पर पतली), मांस में आश्रित और कठिन होती है।

अलजी और कच्छपिका के लक्षण—

अवक्त्रा चालजी वृत्ता स्तोकपूया घनोन्नता॥ २॥
ग्रन्थयः पञ्च वा षड् वा कच्छपी कच्छपोन्नताः।

मुखरहित, गोल, थोड़ी पूयवाली, घट्ट और उन्नत पिटिका को अलजी कहते हैं। पांच या छः ग्रन्थियां कछुए के समान ऊपर को उठी कच्छपी कही जाती हैं।

वक्तव्य—अरुणदत्त ने अलजी को (अलजी इव वृत्ता) कच्छपी का विशेषण और केवल कच्छपी पिटिका एक मानी है।

पनसिका के लक्षण—

कर्णस्योर्ध्वं समन्ताद्वा पिटिका कठिनोग्ररुक्॥ ३॥
शालूकाभा पनसिका—

कान के ऊपर अथवा चारों ओर, कठिन एवं तीव्र वेदना वाली तथा पद्मकन्द के समान पिटिका को पनसिका कहते हैं।

पाषाणगर्दभ के लक्षण—

—शोफस्त्वल्परुजः स्थिरः।
हनुसन्धिसमुद्भूतस्ताभ्यां पाषाणगर्दभः॥ ४॥

हनुसन्धि में वात-कफ के कारण उत्पन्न थोड़ी वेदना वाले स्थिर शोफ को पाषाणगर्दभ कहते हैं।

मुखदूषिका के लक्षण—

शाल्मलीकण्टकाकाराः पिटिकाः सरुजो घनाः।
मेदोगर्भा मुखे यूनां ताभ्यां च मुखदूषिकाः॥ ५॥

वात एवं कफ के कारण सेमल के कांटों के समान वेदनाशील, घट्ट तथा मेद से भरी पिटिकायें युवकों के मुख पर होती हैं; ये मुख को दूषित कर देती हैं। (इनको मुखदूषिका या युवानपिटिका कहते हैं।

पद्मकंटक के लक्षण—

ते पद्मकण्टका ज्ञेया यैः पद्ममिव कण्टकैः।
चीयते नीरुजैः श्वेतैः शरीरं कफवातजैः॥ ६॥

वेदनारहित, श्वेतवर्ण तथा कफ-वातजन्य जिन कांटों से शरीर कमल के समान भर जाता है; उनको पद्मिनीकंटक कहते हैं।

विवृता के लक्षण—

पित्तेन पिटिका वृत्ता पक्वोदुम्बरसन्निभा।
महादाहज्वरकरी विवृता विवृतामना॥ ७॥

पित्त के कारण, गोल, पके हुए गूलर के समान, अतिशय दाह एवं ज्वर करने वाली, खुले हुए मुख की पिटिका को विवृता कहते हैं।

मसूरिका के लक्षण—

गात्रेष्वन्तश्च वक्त्रस्य दाहज्वररुजान्विता।

---

१. क्षुद्र का अर्थ छोटा, अधम और क्रूर होता है इन गुणों में से किसी से भी युक्त रोग को क्षुद्र-रोग कहते हैं। यथा—मन्दवेगा महावेगा व्याधयोऽस्वरुजोऽरुजः। ये महान्तोऽल्पकाश्चैव क्षुद्ररोगास्तु ते स्मृताः।

मसूरमात्रास्तद्वर्णास्तत्संज्ञाः पिटिका घनाः ॥ ८ ॥

शरीर में तथा मुख के अन्दर, दाह, ज्वर तथा वेदना से युक्त, मसूर के समान और मसूर के वर्ण की घनी पिटिकायें मसूरिका कही जाती हैं।

विस्फोट के लक्षण—

ततः कष्टतराः स्फोटा विस्फोटाख्या महारुजाः।

मसूरिकाओं से अधिक कष्टदायक और अतिशय वेदना वाले छालों को विस्फोट कहते हैं।

वक्तव्य—ये विस्फोट त्वचा में ही होते हैं, कुष्ठ और विसर्प की भाँति सर्व·धातुगत नहीं होते। जैसा कि कहा है—'पित्तं रक्तञ्च कुपितं वातेनानुगतं त्वचि। अग्निदग्धनिभान् स्फोटान् कुरुतः सर्वदेहगान्॥ सज्वरान् सपरीदाहान् विद्याद् विस्फोटकांस्तु तान्॥'

विद्धा के लक्षण—

या पद्मकर्णिकाकारा पिटिका पिटिकाचिता ॥ ९ ॥
सा विद्धा वातपित्ताभ्याम्—

कमल की कर्णिका के आकार की (आगे मोटी मूल में पतली) जो पिटिका दूसरी पिटिकाओं से भरी होती है, उसे विद्धा कहते हैं, वह वायु-पित्त से होती है। (सुश्रुत में इसी को इन्द्रविद्धा नाम से कहा है)।

गर्दभी के लक्षण—

—ताभ्यामेव च गर्दभी।
मण्डला विपुलोत्सन्ना सरागपिटिकाचिता ॥ १० ॥

वात-पित्त से ही गर्दभी पिटिका होती है। यह पिटिका गोल, फैली हुई, उठी हुई तथा सुर्ख पिटिकाओं से भरी होती है।

कक्षा के लक्षण—

कक्षेति कक्षासन्नेषु प्रायो देशेषु साऽनिलात्।
पित्ताद्भवन्ति पिटिकाः सूक्ष्मा लाजोपमा घनाः ॥११॥

कक्षा (बगल-काँख) के नजदीक के भागों (बाहु, पार्श्व, अंस) में वायुयुक्त पित्त से लाज के समान जो सूक्ष्म और घनी पिटिकायें होती हैं; उनको कक्षा कहते हैं।[१]

गंधपिटिका के लक्षण—

तादृशी महती त्वेका गन्धनामेति कीर्तिता।

कक्षा के समान एक ही बड़ी पिटिका को गन्धनामा (गन्धपिटिका) कहते हैं।

राजिका के लक्षण—

घर्मस्वेदपरीतेऽङ्गे पिटिकाः सरुजो घनाः ॥ १२ ॥
राजिकावर्णसंस्थानप्रमाणा राजिकाह्वयाः।

गरमी (घाम) और स्वेद से भरे शरीर में वेदनायुक्त, घन तथा राई के वर्ण और आकार के समान जो पिटिकायें होती हैं, उनको 'राजिका' कहते हैं। (लोक में इसे घाम या अम्हौरी निकलना कहते हैं।)

जालगर्दभ के लक्षण—

दोषैः पित्तोल्बणैर्मन्दैर्विसर्पति विसर्पवत् ॥ १३ ॥
शोफोऽपाकस्तनुस्ताम्रो ज्वरकृज्जालगर्दभः।

पित्तप्रधान मन्द दोषों से उत्पन्न जो शोथ विसर्प की भाँति फैलता है, जो थोड़ा पकता है (या नहीं पकता), पतला, ताम्र वर्ण एवं ज्वर को करने वाला होता है; उसे जालगर्दभ कहते हैं।

अग्निरोहिणी के लक्षण—

मलैः पित्तोल्बणैः स्फोटा ज्वरिणो मांसदारणाः ॥१४॥
कक्षाभागेषु जायन्ते येऽग्न्याभाः साऽग्निरोहिणी।
पञ्चाहात्सप्तरात्राद्वा पक्षाद्वा हन्ति जीवितम् ॥१५॥

पित्तप्रधान (प्रबल) दोषों से ज्वरयुक्त, मांस को फाड़ने वाले, अग्नि के समान जलने वाले जो स्फोट कक्षा भाग में उत्पन्न होते हैं; उनका नाम अग्निरोहिणी है। ये चिकित्सा न करने पर पाँच, सात या पन्द्रह दिन में रोगी को मार देते हैं।

वक्तव्य—दिनों की यह मर्यादा वात, पित्त और कफ की अधिकता से है।

इरिवेल्लिका के लक्षण—

त्रिलिङ्गा पिटिका वृत्ता जत्रूर्ध्वमिरिवेल्लिका।

तीनों दोषों के लक्षणों वाली, गोल, जत्रु (हंसली) से ऊपर के भाग की पिटिका को इरिवेल्लिका कहते हैं। (जत्रु से ऊपर शिर में, यह अर्थ श्रीशिवदाससेनजी ने किया है)।

विदारिका के लक्षण—

विदारीकन्दकठिना विदारी कक्षवङ्क्षणे ॥ १६ ॥

विदारीकन्द के समान कठिन, कक्षा और वंक्षण में विदारिका होती है।

वक्तव्य—यह वात-कफजन्य है, यथा—'ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षजा या वर्तिर्निरर्त्तिः कठिनायता च। विदारिका सा कफमारुताभ्याम्।'

शर्करार्बुद के लक्षण—

मेदोऽनिलकफैर्ग्रन्थिः स्नायुमांससिराश्रयः।
भिन्नो वसाज्यमध्वाभं स्रवेत्तत्रोल्बणोऽनिलः ॥ १७ ॥
मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करामुपपादयेत्।
दुर्गन्धं रुधिरं क्लिन्नं नानावर्णं ततो मलाः ॥ १८ ॥
तां स्रावयन्ति निचितां विद्यात्तच्छर्करार्बुदम्।

स्नायु, मांस, सिरा में आश्रित मेद, वायु और कफ से उत्पन्न ग्रन्थि के फटने पर वसा, घी और मधु के समान स्राव बहता है। इसमें प्रबल वायु मांस को सुखा कर गांठ वाली शर्करा को उत्पन्न करती है। फिर बढ़े दोष शर्करा को दुर्गन्धियुक्त, लालवर्ण, क्लिन्न एवं नाना रंग में बहाते हैं। इसको शर्करार्बुद कहते हैं।

---

[१] प्रायः पार्श्व में ही पर्शुकाओं की दिशा में तिरछी फैलती है। अतएव चरक ने कहा है 'यज्ञोपवीतप्रतिमास्तु कक्षाः।'

वल्मीक के लक्षण—

पाणिपादतले सन्धौ जत्रूर्ध्वं चोपचीयते ॥ १९ ॥
वल्मीकवच्छनैर्ग्रन्थिस्तद्वद्बह्वणुभिर्मुखैः ।
रुग्दाहकण्डूक्लेदाढ्यैर्वल्मीकोऽसौ समस्तजः ॥२०॥

हथेली, पैर के तलुवे, सन्धि या जत्रु से ऊपर ग्रन्थि वल्मीक (बांबी) की भांति धीरे-धीरे बढ़ती है । वल्मीक की भांति बहुत से छोटे मुखों से भरी, वेदना, दाह, कण्डू और क्लेद से युक्त यह ग्रंथि वल्मीक है । यह त्रिदोषजन्य है।

कदर के लक्षण—

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः ।
ग्रन्थिः कीलवदुत्सन्नो जायते कदरं तु तत् ॥ २१ ॥

शर्करा (कंकड़) आदि की रगड़ से या पैर में कांटे आदि से क्षत हो जाने पर कील के समान उत्पन्न गांठ को कदर कहते हैं ।

वक्तव्य—यह पैर के सिवाय हाथ में भी होती है-'हस्तयोः पादयोश्चापि गम्भीरानुगतं खरम् । मांसकीलं जनयतः कुपितौ कफमारुतौ ॥ सशल्यमिव तं देशं मन्यते तेन पीडितः । शर्कराकदरं केचिन्मन्यन्ते वातकण्टकम् ॥'

रुद्धगुद के लक्षण—

वेगसन्धारणाद्वायुरपानोऽपानसंश्रयम् ।
अणूकरोति बाह्यान्तर्मार्गमस्य ततः शकृत् ॥ २२ ॥
कृच्छ्रान्निर्गच्छति व्याधिरयं रुद्धगुदो मतः ।

वायु और मल के वेग को रोकने से कुपित अपान वायु गुदा का आश्रय लेकर बाहर और अन्दर के मार्ग को छोटा (संकुचित) कर देती है। इस रोग में मल कठिनाई से बाहर आता है । इस रोग को रुद्धगुद कहते हैं ।

चिप्प के लक्षण—

कुर्यात्पित्तानिलं पाकं नखमांसे सरुग्ज्वरम् ॥ २३ ॥
चिप्पमक्षतरोगं च विद्यादुपनखं च तम् ।

पित्त और वायु नखों के मांस के अन्दर, वेदना और ज्वर के साथ पाक कर देते हैं। इस रोग को चिप्प, अक्षत या उपनख कहते हैं ।

कृष्णोऽभिघाताद्रूक्षश्च खरश्च कुनखो नखः ॥ २४ ॥

चोट के कारण कृष्ण वर्ण, रूक्ष और खर नख को कुनख कहते हैं ।

अलस के लक्षण—

दुष्टकर्दमसंस्पर्शात् कण्डूक्लेदान्वितान्तराः ।
अङ्गुल्योऽलसमित्याहुः—

दूषित कीचड़ के स्पर्श से कण्डू एवं क्लेद से युक्त अंगुलियों के बीच में अलस होता है ।

तिलकालक के लक्षण—

—तिलाभांस्तिलकालकान् ॥ २५ ॥
कृष्णानवेदनांस्त्वक्स्थान्—

तिल के समान, काले रंग के, बिना वेदना के तथा त्वचा में स्थित तिलकालक (काला तिल) होते हैं ।

मषक तथा चर्मकील के लक्षण—

—मषस्तानेव चोन्नता ।
मषेभ्यस्तून्नततरांश्चर्मकीलान् सितासितान् ॥ २६ ॥

ये तिलकालक जब ऊपर को उठे हों, तब मष-मस्से कहे जाते हैं । मस्सों से भी कुछ अधिक ऊंचे, रंग में काले और सफेद हों तो उनको चर्मकील कहते हैं ।

जतुमणि तथा लांछन के लक्षण—

तथाविधो जतुमणिः सहजो लोहितस्तु सः ।
कृष्णं सितं वा सहजं मण्डलं लाञ्छनं समम् ॥२७॥

तिलकालक या मस्से के समान, जन्म के साथ उत्पन्न लाल रंग का जतुमणि है ।

जन्मजात काले या श्वेत, त्वचा के बराबर (उभार-रहित) मण्डलाकार को लांछन कहते हैं ।

व्यंग और नीलिका के लक्षण—

शोकक्रोधादिकुपिताद्वातपित्तान्मुखे तनु ।
श्यामलं मण्डलं व्यङ्गं, वक्त्रादन्यत्र नीलिका ॥ २८ ॥
परुषं परुषस्पर्शं व्यङ्गं श्यावं च मारुतात् ।
पित्तात्ताम्रान्तमानीलं, श्वेतान्तं कण्डुमत्कफात् ॥२९॥
रक्ताद्रक्तान्तमाताम्रं सौषं चिमिचिमायते ।

शोक, क्रोध आदि से कुपित हुए वात तथा पित्त मुख में पतला एवं श्यामवर्ण का मण्डल करते हैं, इसको व्यंग कहते हैं। यही मुख से अन्यत्र होने पर नीलिका होती है। वायु के कारण व्यंग-कठोर, स्पर्श में कठिन और श्याववर्ण होता है। पित्त के कारण किनारों पर ताम्रवर्ण और कुछ नीला होता है। कफ के कारण किनारों पर श्वेत और कण्डूयुक्त होता है। रक्त के कारण किनारों पर लाल; ताम्रवर्ण, दाह एवं चिमचिमाहट होता है।

प्रसुप्ति के लक्षण—

वायुनोदीरितः श्लेष्मा त्वचं प्राप्य विशुष्यति ॥३०॥
ततस्त्वग्जायते पाण्डुः क्रमेण च विचेतना ।
अल्पकण्डूरविक्लेदा सा प्रसुप्तिः प्रसुप्तितः ॥ ३१ ॥

वायु से प्रेरित कफ त्वचा में पहुँच कर सूख जाता है। इससे त्वचा पीली पड़ जाती है और क्रमशः अचेतन होती जाती है। इसमें थोड़ी सी कण्डू तथा क्लेद का अभाव होता है। चेतनानाश होने से इसको प्रसुप्ति (सुप्तवत्-सोया हुआ) कहते हैं।

उत्कोठ के लक्षण—

असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः ।
मण्डलान्यतिकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ॥ ३२ ॥
उत्कोठः—

भली प्रकार वमन न करने से, प्रचलित पित्त और कफ तथा अन्ननिग्रह (छर्दिवेगनिग्रह) आदि कारणों से, अतिशय

कण्डू वाले और सुर्ख बहुत से मण्डल(चकत्ते)होते हैं, इनको उत्कोठ कहते हैं।

कोठ के लक्षण—

—सोऽनुबद्धस्तु कोठ इत्यभिधीयते।

यही उत्कोठ बार-बार होने से कोठ कहा जाता है।

प्रोक्ताः षट्त्रिंशदित्येते क्षुद्ररोगा विभागशः ॥ ३३ ॥
(यानविज्ञाय मुह्येत चिकित्सायां चिकित्सकः।)

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने क्षुद्ररोग-
विज्ञानीयो नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

ये छत्तीस क्षुद्ररोग पृथक् पृथक् कह दिये हैं। (जिनको न जानकर वैद्य चिकित्सा में मोहित हो जाता है।)

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का क्षुद्ररोगविज्ञानीय नामक एकतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

* * *

द्वात्रिंशोऽध्यायः

अथातः क्षुद्ररोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे क्षुद्ररोगप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

अजगल्लिका की चिकित्सा—

विस्रावयेज्जलौकोभिरपक्वामजगल्लिकाम्।

अपक्व अजगल्लिका में जोंकों से रक्त निकाले।

यवप्रख्या की चिकित्सा—

स्वेदयित्वा यवप्रख्यां विलयाय प्रलेपयेत् ॥ १ ॥
दारुकुष्ठमनोह्वालैः—

यवप्रख्या में स्वेदन करके विलयन के लिये देवदारु, कूठ, मैनशिल और हरताल का लेप करे।

पाषाणगर्दभ की चिकित्सा—

—इत्यापाषाणगर्दभात्।
विधिस्तांश्चाचरेत्पक्व न् व्रणवत्साजगल्लिकान् ॥ २ ॥

पाषाणगर्दभ (यवप्रख्या, अलजी, कच्छपी, पनसिका और पाषाणगर्दभ) तक यही विधि बरते। अजगल्लिका सहित इन रोगों में पकने पर व्रण के समान चिकित्सा करे।

मुखदूषिका की चिकित्सा—

रोध्रकुस्तुम्बुरुवचाः प्रलेपो मुखदूषिके।
वटपल्लवयुक्ता वा नारिकेलोत्थशुक्तयः ॥ ३ ॥
अशान्तौ वमनं नस्यं ललाटे च सिराव्यधः।

मुखदूषिका में लोध, धनियां, वच इनका लेप करे। अथवा नारियल की शुक्ति (नारियल की मंजरी) का बरगद के कोमल पत्तों के साथ लेप करे। इनसे शान्त न होने पर वमन तथा नस्य देवे और ललाट पर सिरामोक्ष करे।

पद्मकंटक की चिकित्सा—

निम्बाम्बुवान्तो निम्बाम्बुसाधितं पद्मकण्टके ॥ ४ ॥
पिबेत्क्षौद्रान्वितं सर्पिर्निम्बारग्वधलेपनम्।

पद्मकण्टक में नीम के पानी (क्वाथ) से वमन करके, नीम के क्वाथ से सिद्ध घृत को मधु के साथ पिये। नीम और अमलतास के पत्तों का लेप करे।

विवृतादि की चिकित्सा—

विवृतादींस्तु जालान्तांश्चिकित्सेत्सेरिवेल्लिकान्।
पित्तवीसर्पवत्तद्वत् प्रत्याख्यायाग्निरोहिणीम् ॥ ५ ॥

विवृता से आरम्भ करके जालगर्दभ तक तथा इरिवेल्लिका में पित्तविसर्प की भांति चिकित्सा करे। अग्निरोहिणी को असाध्य कह कर विसर्प की भांति चिकित्सा करे।

जालगर्दभ की चिकित्सा—

विलङ्घनं रक्तविमोक्षणं च विरूक्षणं कायविशोधनं च।
धात्रीप्रयोगाञ्शिशिरप्रदेहान्कुर्यात्सदा जालकगर्दभस्य

जालकगर्दभ में विशेष रूप से लंघन, रक्तमोक्षण, विरूक्षण, शरीर का शोधन (वमन, विरेचन), आंवला-प्रधान रसायन तथा शिशिर लेप सदा बरते।

विदारिका चिकित्सा—

विदारिकां हृते रक्ते श्लेष्मग्रन्थिवदाचरेत्।

विदारिका में रक्त निकाल कर कफज ग्रन्थि की भांति चिकित्सा करे।

शर्करार्बुद की चिकित्सा—

मेदोऽर्बुदक्रियां कुर्यात्सुतरां शर्करार्बुदे ॥ ७ ॥

शर्करार्बुद में मेदोर्बुदकी चिकित्सा को सम्पूर्णरूप में करे।

वल्मीक की चिकित्सा—

प्रवृद्धं सुबहुच्छिद्रं सशोफं मर्मणि स्थितम्।
वल्मीकं हस्तपादे च वर्जयेदितरत्पुनः ॥ ८ ॥
शुद्धस्यास्रे हृते लिम्पेत् सपटूवारेवतामृतैः।
श्यामाकुलत्थिकामूलदन्तीपल्लवसक्तुभिः ॥ ९ ॥
पक्वे तु दुष्टमांसानि गतीः सर्वाश्च शोधयेत्।
शस्त्रेण सम्यगनु च क्षारेण ज्वलनेन वा ॥ १० ॥

बहुत बढ़े अतिशय छिद्रों वाले, शोफयुक्त, मर्म में स्थित तथा हाथ-पैर में उत्पन्न वल्मीक की चिकित्सा न करे। इससे भिन्न वल्मीक में वमनादि से शुद्ध पुरुष में रक्त निकालकर सैन्धव, अमलतास, गिलोय, त्रिवृत्, कुलत्थिका, दन्तीमूल, तिलकल्क (या मांस) और सत्तू से लेप करे। वल्मीक के पक जाने पर दूषित मांस और सब मार्गों (नाड़ियों) का शस्त्र से भली प्रकार शोधन करके पीछे से क्षार या अग्नि से जला दे।

कदर की चिकित्सा—

शस्त्रेणोत्कृत्य निःशेषं स्नेहेन कदरं दहेत्।

कदर को शस्त्र से सम्पूर्ण काट कर स्नेह (अग्नि से गरम किये) से जला देवे ।

कच्छगुद, चिप्प तथा कुनख की चिकित्सा

निरुद्धमणिवत्कार्यं रुद्धपायोश्चिकित्सितम् ॥ ११ ॥
चिप्पं शुद्धया जितोष्माणं साधयेच्छस्त्रकर्मणा ।
दुष्टं कुनखमप्येवम्—

रुद्धगुद में निरुद्धमणिकी भाँति चिकित्सा करनी चाहिये। (निरुद्धमणि—गुह्यरोग में कहेंगे)।

चिप्प में विरेचन से पित्त की गरमी को कम करके शस्त्रकर्म से चिकित्सा करे । दूषित कुनख में भी यही चिकित्सा करे ।

अलस की चिकित्सा—

—चरणावलसे पुनः ॥ १२ ॥
धान्याम्लसिक्तौ कासीसपटोलीरोचनातिलैः ।
सनिम्बपत्रैरालिम्पेद् —

अलस में पैरों को कांजी में भिगोकर कासीस, पटोली, हल्दी, तिल और नीम के पत्तों से लेप करे ।

तिलकालक तथा मस्सों की चिकित्सा—

— दहेत्तु तिलकालकान् ॥ १३ ॥
मषांश्च सूर्यकान्तेन क्षारेण यदि वाऽग्निना ।

तिलकालक और मस्सों को सूर्यकान्त मणि (ताल= आतशी शीशा = लैन्स) से, क्षार से या अग्नि से जलाये ।

चर्मकील तथा जतुमणि की चिकित्सा—

तद्वदुत्कृत्य शस्त्रेण चर्मकीलजतूमणी ॥ १४ ॥

चर्मकील और जतुमणि को भी शस्त्रसे काटकर सूर्यकान्त, क्षार या अग्नि से जलाये ।

लाञ्छन की चिकित्सा—

लाञ्छनादिषु ये कुर्याद्यथासन्नं सिराव्यधम् ।
लेपयेत्क्षीरपिष्टैश्च क्षीरिवृक्षत्वगङ्कुरैः ॥ १५ ॥

लांछन, व्यंग और नीलिका में समीपस्थ भाग में सिरावेध करे । क्षीरिवृक्षों की छाल और अंकुरों को दूध में पीस कर लेप करे ।

व्यङ्ग की चिकित्सा—

व्यङ्गेषु चार्जुनत्वग्वा मञ्जिष्ठा वा समाक्षिका ।
लेपः सनवनीता वा श्वेताश्वखुरजा मषी ॥ १६ ॥

व्यंगों में अर्जुन की छाल को दूध में पीस कर लेप करे। मजीठ का मधु के साथ लेप करे । श्वेत घोड़े के खुर की राख को मक्खन में मिलाकर लेप करे । [श्वेता-अपराजिता, अश्वखुर-घोड़े का खुर या नखी यह भी अर्थ कई आचार्य करते हैं]।

व्यंगादिनाशक उबटन—

रक्तचन्दनमञ्जिष्ठाकुष्ठरोध्रप्रियङ्गवः ।
वटाङ्कुरा मसूराश्च व्यङ्गघ्ना मुखकान्तिदाः ॥ १७ ॥
द्वे जीरके कृष्णतिलाः सर्षपाः पयसा सह ।
पिष्टाः कुर्वन्ति वक्त्रेन्दुमपास्तव्यङ्गलाञ्छनम् ॥ १८ ॥
क्षीरपिष्टा घृतक्षौद्रयुक्ता वा भृष्टनिस्तुषाः ।
मसूराः क्षीरपिष्टा वा तीक्ष्णाः शाल्मलिकण्टकाः ॥
सगुडः कोलमज्जा वा शशासृक्क्षौद्रकल्कितः ।
सप्ताहं मातुलुङ्गस्थं कुष्ठं वा मधुनाऽन्वितम् ॥ २० ॥
पिष्टा वा छागपयसा सक्षौद्रा मौशली जटा ।
गोरस्थि मुशलीमूलयुक्तं वा साज्यमाक्षिकम् ॥ २१ ॥

लालचन्दन, मजीठ, कूठ, लोध, प्रियंगु, बरगद के अङ्कुर, और मसूर का लेप मुखकान्ति को देने वाला और व्यंगनाशक है ।

दोनों जीरे (काला तथा श्वेत), काले तिल, सरसों; इनको दूध में पीसकर लेप करने से व्यंग और लांछन के दूर होने पर मुख चन्द्रमा के समान कान्ति वाला हो जाता है ।

मसूरों को भूनकर तुषरहित करके दूध में पीस कर घी और मधु के साथ लेप करे । सेमल के तीक्ष्ण कांटों को दूध में पीसकर लेप करे । खट्टे बेर की मज्जा को खरगोश के रक्त और मधु में पीस कर गुड़ में मिलाकर लेप करे । कूठ को सात-दिन तक बिजौरे में रख कर मधु के साथ लेप करे । सेमल की मूल को बकरी के दूध में पीसकर मधु के साथ लेप करे । तालपत्री (मुसली) के मूल को गाय की अस्थि के साथ घृत और मधु के साथ लेप करे ।

जम्ब्वाम्रपल्लवा मस्तु हरिद्रे द्वे नवो गुडः ।
लेपः सवर्णकृत् पिष्टं स्वरसेन च तिन्दुकम् ॥ २२ ॥
उत्पलमुत्पलकुष्ठं प्रियङ्गुकालीयकं बदरमज्जा ।
इदमुद्वर्तनमास्यं करोति शतपत्रसङ्काशम् ॥ २३ ॥
एभिरेवौषधैः पिष्टैर्मुखाभ्यङ्गाय साधयेत् ।
यथादोषर्तुकान् स्नेहान् मधुकक्वाथसंयुतैः ॥ २४ ॥

जामुन और आम के पत्ते, मस्तु, हल्दी, दारुहल्दी, नूतन गुड़; इनका लेप पीस कर लगाने से वर्ण को त्वचा के समान करता है। तिन्दुक को उसी के स्वरस से पीसकर लेप करने से त्वचा के समान वर्ण होता है ।

नीलोफर, श्रेष्ठ नीले रंग का कुष्ठ, प्रियंगु, कालीयक (पीत चन्दन), बेर की मज्जा, इनका उबटन मुख को कमल के समान कर देता है । (यहां पर उत्पलपत्रं = तगरं, यह पाठ श्रीशिवदाससेनजी का है ।)

नीलोफर आदि उपर्युक्त ओषधियों के कल्क से मुलहठी के क्वाथ में मुख पर अभ्यंग के लिये दोष एवं ऋतु के अनुसार स्नेहों को सिद्ध करे ।

यवान् सर्जरसं रोध्रमुशीरं मदनं मधु ।
घृतं गुडं च गोमूत्रे पचेदादर्विलेपनात् ॥ २५ ॥
तदभ्यङ्गान्निहन्त्याशु नीलिकाव्यङ्गदूषिकान् ।
मुखं करोति पद्माभं पादौ पद्मदलोपमौ ॥ २६ ॥

जौ, राल, लोध, खस, मोम, मधु, घी, गुड़, इनको गोमूत्र में दर्वी-कड़छी में लगने तक पकावे । इसके अभ्यंग से

नीलिका, व्यंग तथा दूषिका शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। यह मुख को कमल के समान और पैरों को कमलपत्र के समान करता है।

मुखसौन्दर्यकारक कुंकुमादि तैल—

कुङ्कुमोशीरकालीयलाक्षायष्ट्याह्वचन्दनम् ।
न्यग्रोधपादांस्तरुणान् पद्मकं पद्मकेसरम् ॥ २७ ॥
सनीलोत्पलमञ्जिष्ठं पालिकं सलिलाढके ।
पक्त्वा पादावशेषेण तेन पिष्टैश्च कार्षिकैः ॥ २८ ॥
लाक्षापत्तङ्गमञ्जिष्ठायष्टीमधुककुङ्कुमैः ।
अजाक्षीरं द्विगुणितं तैलस्य कुडवं पचेत् ॥ २९ ॥
नीलिकापलितव्यङ्गवलीतिलकदूषिकान् ।
हन्ति तन्नस्यमभ्यस्तं मुखोपचयवर्णकृत् ॥ ३० ॥

केसर, खस, कालीयक (पीत चन्दन), लाख, मुलहठी, चन्दन, बरगद के अङ्कुर, पल्लव, पद्माख, कमलकेसर, नीलोफर, मजीठ प्रत्येक एक पल लेकर एक आढक जल में क्वाथ करके चौथाई शेष रक्खे। इसमें लाख, पतंग (बकमकाठ), मुलहठी, मंजीठ, केसर प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनके कल्क से एक कुडव तैल को दो कुडव बकरी के दूध के साथ सिद्ध करे। यह तैल नीलिका, पलित, व्यंग, वली, तिल तथा मुखदूषिका को निरन्तर नस्य लेने से नष्ट करता है। मुख में पुष्टि और वर्ण देता है।

मञ्जिष्ठादि तैल—

मञ्जिष्ठा शबरोद्भवस्तुवरिका लाक्षा हरिद्राद्वयं
नेपाली हरितालकुङ्कुमगदा गोरोचना गैरिकम् ।
पत्रं पाण्डु वटस्य चन्दनयुगं कालीयकं पारदं
पत्तङ्गं कनकत्वचं कमलजं बीजं तथा केसरम् ॥ ३१ ॥
सिक्थं तुत्थं पद्मकाद्यो वसाऽऽज्यं
मज्जा क्षीरं क्षीरिवृक्षाम्बु चाग्नौ ।
सिद्धं सिद्धं व्यङ्गनील्यादिनाशे
वक्त्रे छायामैन्दवीं चाशु धत्ते ॥ ३२ ॥

मंजीठ, श्वेत लोध, सौराष्ट्री (फिटिकरी), लाख, हल्दी, दारुहल्दी, मैनसिल, हरताल, केसर, कुष्ठ, गोरोचन, गेरू, बरगद के पीले पत्ते, चन्दन, लालचन्दन, कालीयक, पारा, पतंग, नागकेसर की छाल, कमल के बीज, कमलकेसर, मोम, तुत्थ, पद्मकादिगण;/ इनका कल्क, वसा, घी, मज्जा इनको दूध तथा बरगद आदि क्षीरिवृक्षों के क्वाथ से अग्नि में सिद्ध करे। यह सिद्ध स्नेह व्यंग, नीलिका आदि के नाश करने में सिद्ध है। मुख पर शीघ्र चन्द्रमा की कान्ति लाता है।

वक्तव्य—मजीठ से लेकर पद्मकादि गण तक की औषधियों का कल्क, वसा, घी, मज्जा, ये मिलाकर क्वाथ और दूध से चतुर्थांश, क्षीरीवृक्षों का क्वाथ और दूध मिलाकर स्नेह से चौगुना।

मार्कवस्वरसक्षीरतोयानीष्टानि नावने ।

नस्य में भांगरे का स्वरस, दूध और जल उत्तम हैं।

प्रसुप्तिरोग की चिकित्सा—

प्रसुप्तौ वातकुष्ठोक्तं कुर्याद्दाहं च वह्निना ॥ ३३ ॥

प्रसुप्ति में वात-कुष्ठ में कही चिकित्सा करे अग्नि से दाह करे।

उत्कोठ तथा कोठ की चिकित्सा—

उत्कोठे कफपित्तोक्तं कोठे सर्वं च कौष्ठिकम् ॥

इतिश्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने क्षुद्ररोग-
प्रतिषेधो नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

* * *

उत्कोठ में कफ-पित्त में कही हुई कुष्ठ की चिकित्सा करे। कोठ में कुष्ठ में कही सम्पूर्ण चिकित्सा करते।

शय्यामूत्रचिकित्सा—(१) अहिफेनप्रयोगेण मूत्ररोधो भवेद् ध्रुवम् ॥ (२) कृतमूत्रार्द्रभूभागे मृदमाकृष्य खोलके। संभर्ज्य मधुसर्पिभ्यां लेहयेन्मूत्रितं जनम् ॥ शय्यायां मूत्ररोधः स्यान्मूत्रितस्य न संशयः ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का क्षुद्ररोगप्रतिषेध नामक बत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

अथातो गुह्यरोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे गुह्यरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपदंशादि गुह्यरोग के कारण—

स्त्रीव्यवायनिवृत्तस्य सहसा भजतोऽथवा ।
दोषाध्युषितसङ्कीर्णमलिनाणुरजःपथाम् ॥ १ ॥
अन्ययोनिमनिच्छन्तीमगम्यां नवसूतिकाम् ।
दूषितं स्पृशतस्तोयं रतान्तेष्वपि नैव वा ॥ २ ॥
विवर्धयिषया तीक्ष्णान् श्लेपादीन् प्रयच्छतः ।
मुष्टिदन्तनखोत्पीडाविषवच्छूकपातनैः ॥ ३ ॥
वेगनिग्रहदीर्घातिखरस्पर्शविघट्टनैः ।
दोषा दुष्टा गता गुह्यं त्रयोविंशतिमामयान् ॥ ४ ॥
जनयन्त्युपदंशादीन्—

कारण—मैथुन से विरत हुए पुरुष के सहसा-एकदम से मैथुन करने पर अथवा दोष से आक्रान्त, तंग, मलिन, छोटी योनि के सेवन से, पशु आदि की अन्य योनि में मैथुन करने से, न चाहती हुई स्त्री के साथ मैथुन (बलात्कार) करने से, ब्रह्मचारिणी, रुग्णा आदि अगम्य योनि में सम्भोग करने से, नवप्रसूता के साथ मैथुन करने से, विषादि से दूषित जल का स्पर्श करने या मैथुन के अन्त में जल का बिल्कुल स्पर्श न करने से अथवा बढ़ाने की इच्छा से तीक्ष्ण प्रलेप आदि को

गुह्य भाग पर लगाने से; मुट्ठी, दांत, नख, उत्पीडन (दबाना) और विषैले शूकों (कीड़ों या कांटों) को लगाने से; मलादि वेग के रोकने से; लम्बे एवं कर्कश बालों के स्पर्श (या भगनासा) से रगड़ खाने पर, दूषित हुए दोष गुह्य भाग में उपदंश आदि मेहन रोगों को उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—संकीर्ण-केनचिद्बीभत्सेन मिश्रितम् । विवर्द्धयिषया-शोफं वर्द्धयितुमिच्छया । विषवच्छूकपातनैः-विषयुक्ताः ये शूका जलजन्तुविशेषास्तेषां पातनैः ॥ स्पर्शः-कामातपत्रसंज्ञितत्वग्विशेषः ।

उपदंश के पांच भेद—

—उपदंशोऽत्र पञ्चधा ।
पृथग्दोषैः सरुधिरैः समस्तैश्च —

उपदंश पांच प्रकार का है—वातादि दोषों से पृथक् तीन प्रकार का, रक्त से चौथा और सन्निपात से पांचवां है।

पित्तज उपदंश के लक्षण—

—अत्र मारुतात् ॥ ५ ॥
मेढ्रे शोफो रुजश्चित्राः स्तम्भस्त्वक्परिपोटनम् ।

इनमें वातजन्य उपदंश में मेहन में शोथ, नाना प्रकार की वेदनायें, स्तम्भ तथा त्वचा का फटना होता है।

पित्तज उपदंश के लक्षण—

पक्वोदुम्बरसङ्काशः पित्तेन श्वयथुर्ज्वरः ॥ ६ ॥

पित्त के कारण उपदंश में पके हुए गूलर के समान शोथ और ज्वर होता है।

कफज उपदंश के लक्षण—

श्लेष्मणा कठिनः स्निग्धः कण्डुमाञ् शीतलो गुरुः ।

कफ के कारण उपदंश में शोथ कठिन, स्निग्ध, कण्डुयुक्त शीतल एवं भारी होता है।

रक्तज उपदंश के लक्षण—

शोणितेनासितस्फोट-संभवेऽस्रस्रुतिज्वरः ॥ ७ ॥

रक्त के कारण उपदंश में काले छाले उत्पन्न होते हैं, रक्तस्राव एवं ज्वर होता है।

त्रिदोषज उपदंश के लक्षण—

सर्वजे सर्वलिङ्गत्वं श्वयथुर्मुष्कयोरपि ।
तीव्रा रुगाशुपचनं दरणं क्रिमिसम्भवः ॥ ८ ॥

सन्निपातजन्य उपदंश में सब दोषों के लक्षण रहते हैं। तथा वृषणों में शोथ होता है तथा तीव्रवेदना, शीघ्र पकना, फटना और कृमि उत्पन्न होते हैं।

इन में याप्य तथा साध्य—

याप्यो रक्तोद्भवस्तेषां मृत्यवे सन्निपातजः ।

इनमें रक्तजन्य उपदंश याप्य है और सन्निपातजन्य उपदंश मृत्यु का कारण होता है।

मांसकीलक (अर्श) का वर्णन—

जायन्ते कुपितैर्दोषैर्गुह्यासृक्पिशिताश्रयैः ॥ ९ ॥
अन्तर्बहिर्वा मेढ्रस्य कण्डूला मांसकीलकाः ।
पिच्छिलास्रस्रवा योनौ तद्वच्च च्छत्रसन्निभाः ॥१०॥
तेऽर्शांस्युपेक्षया घ्नन्ति मेढ्रपुंस्त्वं भगार्तवम् ।

कुपित हुए दोष गुह्य भाग में रक्त, मांस का आश्रय करके मेढ् (शिश्न) के अन्दर या बाहर कण्डूयुक्त मांसकील उत्पन्न करते हैं। इनसे चिपचिपे रक्त का स्राव होता है। इसी प्रकार योनि में छाते के आकार में ये उत्पन्न होते हैं। इन मांसकीलों को अर्श कहते हैं। उपेक्षा करने पर ये पुरुषों में मेहन और पुरुषत्व को नष्ट करते हैं। स्त्रियों में भग और आर्त्तव को नष्ट करते हैं।

सर्षपिका के लक्षण—

गुहस्य बहिरन्तर्वा पिटिकाः कफरक्तजाः ॥ ११ ॥
सर्षपोन्मानसंस्थाना घनाः सर्षपिकाः स्मृताः ।

गुह्य प्रदेश के बाहर या अन्दर कफ और रक्तजन्य, सरसों के परिमाण एवं आकार वाली तथा घनी पिटिकायें उत्पन्न होती हैं; इनको सर्षपिका कहते हैं।

अवमन्थ के लक्षण—

पिटिका बहवो दीर्घा दीर्यन्ते मध्यतश्च याः ॥ १२ ॥
सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षवान् ।

जो पिटिकायें, संख्या में बहुत एवं लम्बी होती हैं तथा बीच से फट जाती हैं, उनको अवमन्थ कहते हैं। ये कफ तथा रक्त से उत्पन्न होती हैं, इनमें वेदना और रोमहर्ष होता है।

कुंभिका के लक्षण—

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽऽशुजा ॥

कुंभिका पिटिका रक्तपित्तजन्य, जामुन की गुठली की भाँति तथा शीघ्र उत्पन्न होती है। (आशुजा के स्थान पर अशुभा भी पाठ है, वहाँ काली अर्थ है)।

अलजी और उत्तमा के लक्षण—

अलजीं मेहवद्विद्यादुत्तमां पित्तरक्तजाम् ।
पिटिकां माषमुद्गाभां—

अलजी पिटिका को प्रमेहोक्त अलजी पिटिका की भाँति समझे।

उत्तमा पिडिका पित्तरक्तजन्य है, यह उड़द या मूंग के कर्णिका के समान होती है।

पुष्करिका के लक्षण—

—पिटिका पिटिकाचिता ॥ १४ ॥
कर्णिका पुष्करस्येव ज्ञेया पुष्करिकेति सा ।

पुष्करिका पिटिका पिटिकाओं से घिरी तथा कमल की कर्णिका के समान होती है।

संव्यूढपिटिका के लक्षण—

पाणिभ्यां भृशसंव्यूढे संव्यूढपिटिका भवेत् ॥ १५ ॥

हाथों के अतिशय मलने पर संव्यूढ पिटिका होती है।

मृदित पिटिका के लक्षण—

मृदितं मृदितं वस्त्रसंरब्धं वातकोपतः ।

मृदितपिटिका (हर्षण के लिए मेहन पर किसी वस्तु के) मलने से या वस्त्र से रगड़ने से वायु के कोप से होती हैं।

अष्ठीलिका के लक्षण—

विषमा कठिना भुग्ना वायुनाऽष्ठीलिका स्मृता ॥१६॥

जो पिटिका विषम (ऊँची-नीची), कुटिल तथा वायु के कारण उत्पन्न होती है; उसे अष्ठीलिका कहते हैं।

निवृत्त के लक्षण—

विमर्दनादिदुष्टेन वायुना चर्म मेढ्रजम् ।
निवर्तते सरुग्दाहं क्वचित्पाकं च गच्छति ॥ १७ ॥
पिण्डितं ग्रथितं चर्म तत्प्रलम्बमधो मणेः ।
निवृत्तसंज्ञं सकफं कण्डूकाठिन्यवत्तु तत् ॥ १८ ॥

मलने आदि से दूषित हुई वायु से मेहन का चर्म वेदना और दाह के साथ उलट जाता है और कभी पक भी जाता है। यह चर्ममणि के नीचे पिण्डाकार गांठ के रूप में लटकता है। कफ का योग होने पर यह चर्म कण्डूयुक्त और कठिन होता है, इसको निवृत्त कहते हैं। (इसी को तंत्रान्तर में परिवर्तिका कहते हैं। इसका नाम श्री शिवदाससेन ने निवृत्त दिया है।)

अवपाटिका के लक्षण—

दुरूढं स्फुटितं चर्म निर्दिष्टमवपाटिका ।

जो शिश्नचर्म फट कर कठिनता से भरता है उसको अवपाटिका कहते हैं।

निरुद्धमणि के लक्षण—

वातेन दूषितं चर्म मणौ सक्तं रुणद्धि चेत् ॥ १९ ॥
स्रोतो मूत्रं ततोऽभ्येति मन्दधारमवेदनम् ।
मणेर्विकाशरोधश्च स निरुद्धमणिर्गदः ॥ २० ॥

वायु से दूषित चर्म मणि पर चिपककर जब मूत्रस्रोत को बन्द कर देता है, तब वेदनारहित मन्द धारा में मूत्र आता है। (शिश्नचर्म का छिद्र बहुत छोटा होने से) मणि खुलती नहीं है। इसी को तन्त्रान्तर में निरुद्धमणि रोग कहते हैं।

ग्रथित के लक्षण—

लिङ्गं शूकैरिवापूर्णं ग्रथिताख्यं कफोद्भवम् ।

शूकों (जलशूक या गेहूं आदि की बाल के कांटों) की भांति भरे हुए लिंग को ग्रथित कहते हैं; यह रोग कफजन्य है।

स्पर्शहानि के लक्षण—

शूकदूषितरक्तोत्था स्पर्शहानिस्तदाह्वया ॥ २१ ॥

शूक से दूषित रक्त के कारण उत्पन्न स्पर्श ज्ञान की कमी को स्पर्शहानि कहते हैं।

शतपोनक के लक्षण—

छिद्रैरणुमुखैर्यत्तु मेहनं सर्वतश्चितम् ।
वातशोणितकोपेन तं विद्याच्छतपोनकम् ॥ २२ ॥

जो मेहन सूक्ष्म मुख वाले अनेक छेदों से चारों ओर से व्याप्त हो, उसको शतपोनक कहते हैं। यह रोग वात व रक्त के कोप से उत्पन्न होता है।

त्वक्पाक के लक्षण—

पित्तासृग्भ्यां त्वचः पाकस्त्वक्पाको ज्वरदाहवान् ।

पित्त तथा रक्त के कारण त्वचा का पाक होता है, इसमें ज्वर एवं दाह होता है; इसको त्वक्पाक कहते हैं।

मांसपाक के लक्षण—

मांसपाकः सर्वजः सर्ववेदनो मांसशातनः ॥ २३ ॥

मांसपाक सब दोषों से उत्पन्न, सब दोषों की वेदन वाला और मांस को नष्ट करने वाला होता है।

असृगर्बुद के लक्षण—

सरागैरसितैः स्फोटैः पिटिकाभिश्च पीडितम् ।
मेहनं वेदना चोग्रा तं विद्यादसृगर्बुदम् ॥ २४ ॥

ईषत् लोहित, कृष्णवर्ण, छाले एवं पिटिकाओं से पीडित लिंग को जो तीव्र वेदना युक्त होता है, रक्तार्बुद जानना चाहिये।

मांसार्बुद तथा विद्रधि के लक्षण—

मांसार्बुदं प्रागुदितं, विद्रधिश्च त्रिदोषजः ।

मांसार्बुद को पहले (ग्रन्थ्यादिरोगविज्ञानीय अध्याय) में कह दिया है।

विद्रधि त्रिदोपज है, इसको विद्रध्यादिनिदान में कह दिया है।

तिलकालक के लक्षण—

कृष्णानि भूत्वा मांसानि विशीर्यन्ते समन्ततः ॥२५॥
पक्वानि सन्निपातेन तान् विद्यात्तिलकालकान् ।

सन्निपात के कारण मांस पककर तथा काले होकर चारों ओर से गिरते हैं, इनको तिलकालक जानना चाहिये।

गुह्यरोगों का साध्यासाध्यत्व—

मांसोत्थमर्बुदं पाकं विद्रधिं तिलकालकान् ॥ २६ ॥
चतुरो वर्जयेदेषां शेषाञ्छीघ्रमुपाचरेत् ।

इनमें मांसार्बुद, मांसपाक, मांसविद्रधि, तिलकालक; इन चार की चिकित्सा न करे और शेष रोगों की शीघ्र चिकित्सा करे।

योनिव्यापद् के भेद—

विंशतिर्व्यापदो योनेर्जायन्ते दुष्टभोजनात् ॥ २७ ॥

दूषित भोजन से योनि में बीस रोग उत्पन्न होते हैं।

वातिकी योनिव्यापद् के लक्षण—

विषमस्थाङ्गशयनभृशमैथुनसेवनैः ।
दुष्टार्तवादपद्रव्यैर्बीजदोषेण दैवतः ॥ २८ ॥
योनौ क्रुद्धोऽनिलः कुर्याद् रुक्तोदायामसुप्तताः ।
पिपीलिकासृप्तिमिव स्तम्भं कर्कशतां स्वनम् ॥२९॥
फेनिलारुणकृष्णाल्पतनुरूक्षार्तवस्रुतिम् ।
स्रंसं वङ्क्षणपार्श्वादौ व्यथां गुल्मं क्रमेण च ॥ ३० ॥
तांस्तांश्च स्वान् गदान् व्यापद्वातिकी नाम सा स्मृता।

अंग को विषम रखकर सोने से, अतिशय मैथुन के सेवन से, दूषित आर्तव से, अपद्रव्यों (लोहादि कृत उपलिंगों) से, बीजदोष से तथा प्राक्तन कर्मों से योनि में कुपित वायु वेदना, चुभने की दर्द, आयाम, खिंचाव, सुप्ति, चींटियों के

चलने की प्रतीति, स्तम्भ (जड़ता), कर्कशता, योनि से आवाज का आना (वायु का बाहर आना), झागदार, लाल, काले, थोड़े, पतले तथा रूक्ष आर्त्तव का आना, योनि का भ्रंश, वंक्षण एवं पार्श्व आदि में वेदना, धीरे-धीरे गुल्म रोग और भिन्न-भिन्न वातिक रोगों को उत्पन्न करती है, इनको वातिकी योनि कहा है।

अतिचरणा के लक्षण—

सैवातिचरणा शोफसंयुक्ताऽतिव्यवायतः ॥ ३१ ॥

यही अतिमैथुन से उत्पन्न तथा शोफयुक्त होने पर अतिचरणा कहाती है।

प्राक्चरणा के लक्षण—

मैथुनादतिबालायाः पृष्ठजङ्घोरुवङ्क्षणम् ।
रुजन् सन्दूषयेद्योनिं वायुः प्राक्चरणेति सा ॥ ३२ ॥

अतिबाला (बहुत छोटी आयु की) कन्या में मैथुन करने से पीठ, जंघा और वंक्षण में वेदना करती हुई वायु योनि को दूषित करती है; इसको प्राक्चरणा कहते हैं।

उदावृत्ता के लक्षण—

वेगोदावर्तनाद्योनिं प्रपीडयति मारुतः ।
सा फेनिलं रजः कृच्छ्रादुदावृत्तं विमुञ्चति ॥ ३३ ॥
इयं व्यापदुदावृत्ता—

अधोवातादि वेग के धारण के कारण ऊपर को आई वायु योनि को दबाती है, इससे वह योनि झागदार, बद्ध (रुके हुए) रक्त को कठिनाई से बाहर करती है, यह उदावृत्ता है।

जातघ्नी के लक्षण—

—जातघ्नी तु यदाऽनिलः ।
जातं जातं सुतं हन्ति रौक्ष्याद् दुष्टार्तवोद्भवम् ॥३४॥

जब वायु रूक्ष गुण की प्रबलता से, दुष्टार्त्तव से उत्पन्न सन्तान को बार-बार नष्ट कर देती है, उसे जातघ्नी कहते हैं।

अन्तर्मुखी के लक्षण—

अत्याशितायाः विषमं स्थितायाः सुरते मरुत् ।
अन्नेनोत्पीडितो योनेः स्थितः स्रोतसि वक्रयेत् ॥३५॥
सास्थिमांसं मुखं तीव्ररुजमन्तर्मुखीति सा ।

अतिशय पेट भरकर भोजन करके विषम स्थिति में मैथुन करने पर योनि के स्रोत में स्थित वायु अन्न से पीड़ित होकर योनि के मुख को अस्थि तथा मांस के साथ टेढ़ा कर देती है। इसमें अतिशय वेदना होती है, यह अन्तर्मुखी है।

सूचीमुखी के लक्षण—

वातलाहारसेविन्यां जनन्यां कुपितोऽनिलः ॥ ३६ ॥
स्त्रियो योनिमणुद्वारां कुर्यात्सूचीमुखीति सा ।

वातल आहर को सेवन करने वाली माता में कुपित वायु स्त्री (उसकी पुत्री) की योनि को सूक्ष्म मुख वाली कर देती है, वह सूचीमुखी कहाती है।

शुष्का के लक्षण—

वेगरोधादृतौ वायुर्दुष्टो विण्मूत्रसंग्रहम् ॥ ३७ ॥

ऋतुकाल के उपस्थित वेग को रोकने से कुपित वायु मल-मूत्र का अवरोध करती है और योनि को सुखाती है, इसको शुष्का योनि कहते हैं, इसमें बहुत वेदना होती है।

वामिनी के लक्षण—

करोति योनेः शोषं च शुष्काख्या साऽतिवेदना ।

जिसके गर्भाशय से छः सात दिन पीछे दर्द के साथ या बिना दर्द के वायु शुक्र को बाहर निकाल देती है, उसे वामिनी कहते हैं।

षडहात् सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयान्मरुत् ॥ ३८ ॥
वमेत्सरुङ् नीरुजो वा यस्याः सा वामिनी मता ।

षंढी स्त्री के लक्षण—

योनौ वातोपतप्तायां स्त्रीगर्भे बीजदोषतः ॥ ३९ ॥
नृद्वेषिण्यस्तनी च स्यात् षण्ढसंज्ञाऽनुपक्रमा ।

वायु से उपतप्त (दूषित) योनि में स्त्रीगर्भ में आर्त्तव बीज के दोष से मनुष्य से द्वेष करने वाली और स्तनरहित स्त्री होती है, इसका नाम षण्ढा है, यह असाध्य है।

वक्तव्य—'यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा वन्ध्यां जनयतीति चरकः।

महायोनि के लक्षण—

दुष्टो विष्टभ्य योन्यास्यं गर्भकोष्ठं च मारुतः ॥ ४० ॥
कुरुते विवृतां स्रस्तां वातिकीमिव दुःखिताम् ।
उत्सन्नमांसां तामाहुर्महायोनिं महारुजाम् ॥ ४१ ॥

दूषित वायु योनिमुख और गर्भाशय को स्तब्ध कर योनि को खुली, स्थानच्युत, वातिक योनि की भांति वेदनायुक्त, उद्गत मांस वाली तथा अतिशय वेदनाशील कर देती है, इसको महायोनि कहते हैं।

पैत्तिकयोनिव्यापद् के लक्षण—

यथास्वैर्दूषणैर्दुष्टं पित्तं योनिमुपाश्रितम् ।
करोति दाहपाकोषापूतिगन्धिज्वरान्विताम् ॥ ४२ ॥
भृशोष्णभूरिकुणपनीलपीतासितार्तवाम् ।
सा व्यापत् पैत्तिकी—

अपने कारणों से (सर्व निदानोक्त) दूषित हुआ पित्त योनि में स्थित होकर दाह, पाक, जलन, सड़ी गन्ध एवं ज्वर के साथ योनि को अत्युष्ण, मुर्दे की अधिगन्ध वाला, नीला, पीला और काला आर्त्तव वाली करता है, इसको पैत्तिकी व्यापद् कहते हैं।

रक्तयोनि के लक्षण—

—रक्तयोन्याख्याऽसृगतिस्रुतेः ॥ ४३ ॥

रक्त के अति बहने से रक्तयोनि होती है।

श्लैष्मिक योनि-व्यापद् के लक्षण—

कफोऽभिष्यन्दिभिः क्रुद्धः कुर्याद्योनिमवेदनाम् ।
शीतलां कण्डुलां पाण्डुपिच्छिलां तद्विधस्रुतिम् ॥४४॥
सा व्यापच्छ्लैष्मिकी—

अभिष्यन्दकारक आहारादि के कारण कुपित कफ योनि को वेदनारहित, शीतल, कण्डूयुक्त, पाण्डु और पिच्छिल कर देता है। योनि से पाण्डु और पिच्छिल स्राव होता है। यह श्लैष्मिकी योनि है।

लोहितक्षया के लक्षण—

—वातपित्ताभ्यां क्षीयते रजः।
सदाहकार्श्यं वैवर्ण्यं यस्याः सा लोहितक्षया ॥४५॥

जिस स्त्री का वात-पित्त के कारण रज क्षीण हो जाता है, शरीरमें दाह,कृशता और विवर्णता होती है,वह लोहितक्षया है।

परिप्लुता के लक्षण—

पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात्।
पित्तयुक्तेन मरुता योनिर्भवति दूषिता ॥ ४६ ॥
शूना स्पर्शासहा सार्तिर्नीलपीतास्रवाहिनी।
बस्तिकुक्षिगुरुत्वातिसारारोचककारिणी ॥ ४७ ॥
श्रोणिवङ्क्षणरुक्तोदज्वरकृत् सा परिप्लुता।

पित्तप्रकृति स्त्री की पुरुष के साथ सम्भोग करते समय छींक और उद्गार को रोकने से, पित्तयुक्त वायु के कारण दूषित योनि, शोथयुक्त, स्पर्श को न सहने वाली और पीड़ा के साथ नीला, पीला रक्त बहाने वाली होती है। इससे बस्ति और उदर में भारीपन, अतिसार एवं अरोचक, श्रोणि, वंक्षण में वेदना, तोद तथा ज्वर होता है, यह परिप्लुता योनि है।

उपप्लुता तथा विप्लुता के लक्षण—

वातश्लेष्मामयव्याप्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी ॥४८॥
उपप्लुता स्मृता योनिर्विप्लुताख्या त्वधावनात्।
सञ्जातजन्तुः कण्डूला कण्ड्वा चातिरतिप्रिया ॥४९॥

वात-कफ रोग से व्याप्त, पिच्छिल स्राव को बहाने वाली योनि उपप्लुता कही गई है।

योनि के न धोने से उत्पन्न जन्तु कण्डू उत्पन्न करते हैं। कण्डू से सम्भोग में अतिप्रीति होती है, इसको विप्लुता योनि कहते हैं।

कर्णिनी के लक्षण—

अकालवाहनाद्वायुः श्लेष्मरक्तविमूर्छितः।
कर्णिकां जनयेद्योनौ रजोमार्गनिरोधिनीम् ॥५०॥
सा कर्णिनी—

असमय में प्रवाहण करने से कुपित वायु कफ और रक्त से मिलकर योनि में आर्त्तव के मार्ग को रोकने वाली कर्णिका को उत्पन्न करती है। इसको कर्णिनी कहते हैं।[१]

सान्निपातिकी के लक्षण—

—त्रिभिर्दोषैर्योनिगर्भाशयाश्रितैः।
यथास्वोपद्रवकरैर्व्यापत्सा सान्निपातिकी ॥५१॥

योनि और गर्भाशय में आश्रित तीनों दोषों से सान्निपातिकी योनि होती है, इनमें तीनों दोष अपने-अपने उपद्रव करते हैं।

गर्भ के न ग्रहण करने का कारण—

इति योनिगदा नारी यैः शुक्रं न प्रतीच्छति।
ततो गर्भं न गृह्णाति रोगांश्चाप्नोति दारुणान् ॥५२॥
असृग्दरार्शोगुल्मादीनाबाधांश्चानिलादिभिः ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाम्-
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने गुह्यरोग-
विज्ञानीयो नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

* * *

ये योनिरोग कह दिये हैं, जिनके कारण से स्त्री शुक्र का ग्रहण नहीं करती, इससे गर्भ नहीं रहता; और वातादि दोषों से उत्पन्न, असृग्दर, अर्श, गुल्म आदि भयानक रोगों को प्राप्त करती है।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तर स्थान का गुह्यरोगविज्ञानीय नामक तैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥३३॥

* * *

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

अथातो गुह्यरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे गुह्यरोगप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

मेढ्रमध्ये सिरां विध्येदुपदंशे नवोत्थिते।
शीतां कुर्यात् क्रियां शुद्धिं विरेकेण विशेषतः ॥ १ ॥
तिलकल्कघृतक्षौद्रैर्लेपः पक्वे तु पाटिते।

उपदंश की सामान्य चिकित्सा—

नूतन उत्पन्न उपदंश में मेहन के मध्य में सिरा का वेधन करे। शिशिर लेप, सेक आदि बरते। विशेष कर विरेचन से शोधन करे। पकने पर चीर कर तिलकल्क का मधु तथा घृत में मिलाकर लेप करे। (विरेचन यदि दुर्बल न सहन कर सके तो निरूह देवे)।

जम्ब्वाम्रसुमनोनीपश्वेतकाम्बोजिकाङ्कुरान् ॥ २ ॥
शल्लकीबदरीबिल्वपलाशतिनिशोद्भवाः।
त्वचः क्षीरिद्रुमाणां च त्रिफलां च पचेज्जले ॥ ३ ॥
स क्वाथः क्षालनं, तेन पक्वं तैलं च रोपणम्।

जामुन, आम, चमेली, कदम्ब, अपराजिता, काम्बोजिका (माषपर्णी); इनके अंकुर (कोमल पत्ते), शल्लकी, बेर,

---

[१] अकालवाहनात्—अप्राप्तनिष्क्रमणगर्भकाले गर्भनिष्क्रमणार्थं प्रवाहणादित्यर्थः इति श्रीशिवदाससेनश्चक्रश्च)। अकालवाहनात्-अप्राप्त-अम्बु-ईरणात् (अकालवाहनात्-वेगोदीरणात्। 'काश्चिद् रतान्ते कामान्दुश्छलाद् वञ्चयितुं प्रियान्। मूत्रं सृजन्त्यकाले वा मदनाम्बेव तद् द्वयम् ॥ अकालवाहनस्यार्थं इति व्याचष्ट सारकृत्। द्वेषाऽप्यनिच्छा सुरते द्रुतिभावः प्रतीयते। योनौ- गर्भाशय द्वार-मुखे। कर्णिका-पद्मकर्णिकातुल्यं मांसाङ्कुरमित्यर्थं इतीन्दुः।

बिल्व, ढाक, तिनिश तथा बरगद आदि क्षीरिवृक्षों की त्वचा (छाल) और त्रिफला; इनको जल में क्वाथ करे। यह क्वाथ धोने में बरते। इन्हीं से पका हुआ तैल रोपण करने में उत्तम है। (श्वेतकाम्बोजिका-श्वेतपाकी, शिखण्डिका च, इन्दुः)।

तुत्थगैरिकलोध्रैलामनोह्वालरसाञ्जनैः ॥ ४ ॥
हरेणुपुष्पकासीससौराष्ट्रीलवणोत्तमैः ।
लेपः क्षौद्रयुतैः सूक्ष्मैरुपदंशव्रणापहः ॥ ५ ॥
कपाले त्रिफला दग्धा सघृता रोपणं परम् ।

तुत्थ, गेरू, लोध, इलायची, मैनसिल, हरताल, रसौंत, हरेणु (सम्हालू के बीज) पुष्पकासीस, सौराष्ट्री (फिटकिरी), सैन्धव; इनको चूर्ण करके मधु के साथ किया लेप उपदंश व्रण को नष्ट करता है।

मिट्टी के ठीकरे में त्रिफला को जलाकर घी में मिलाकर लगाना श्रेष्ठ रोपक है।

सामान्यं साधनमिदं प्रतिदोषं तु शोफवत् ॥ ६ ॥
न च याति यथा पाकं प्रयतेत तथा भृशम् ।
पक्वैः स्नायुसिरामांसैः प्रायो नश्यति हि ध्वजः ॥ ७ ॥

यह सामान्य चिकित्सा है। प्रत्येक में दोष के अनुसार शोफ की चिकित्सा करे। जिस प्रकार पकने न पाये, ऐसा प्रयत्न करे। क्योंकि स्नायु, सिरा तथा मांस के पकने से शिश्न नष्ट हो जाता है।

लिंगार्श की चिकित्सा—

अर्शसां छिन्नदग्धानां क्रिया कार्योपदंशवत् ।

काटकर जलाये लिंगार्शों में उपदंश की भांति चिकित्सा करनी चाहिये।

सर्षपिका और अवमन्थ की चिकित्सा—

सर्षपा लिखिताः सूक्ष्मैः कषायैरवचूर्णयेत् ॥ ८ ॥
तैरेवाभ्यञ्जनं तैलं साधयेद् व्रणरोपणम् ।
क्रियेयमवमन्थेऽपि रक्तं स्राव्यं तथोभयोः ॥ ९ ॥

सर्षपिका में शस्त्र से लेखन करके जामुन आदि कषाय द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण इन पर छिड़के। इन कषाय-द्रव्यों से ही तैल सिद्ध करे। इस तैलका अभ्यंग व्रण को भरनेवाला है।

अवमन्थ में भी यही चिकित्सा करे। अवमन्थ और सर्षपिका दोनों में रक्तमोक्षण करे।

कुम्भीका की चिकित्सा—

कुम्भीकायां हरेद्रक्तं पक्वायां शोधिते व्रणे ।
तिन्दुकत्रिफलारोध्रैर्लेपस्तैलं च रोपणम् ॥ १० ॥

कुम्भीका में रक्तमोक्षण करे। पकने पर व्रण का शोधन करके तिन्दुक, त्रिफला और लोध का लेप करे। तिन्दुक आदि से ही सिद्ध तैल उत्तम रोपण है।

अलजी की चिकित्सा—

अलज्यां सुतरक्तायामयमेव क्रियाक्रमः ।

अलजी में रक्तमोक्षण करके यही चिकित्सा बरते।

उत्तमा पिटिका की चिकित्सा—

उत्तमाख्यां तु पिटिकां संछिद्य बडिशोद्धृताम् ॥ ११ ॥
कल्कैश्चूर्णैः कषायाणां क्षौद्रयुक्तैरुपाचरेत् ।

उत्तमा पिटिका को बडिश से उठाकर शस्त्र से भलीप्रकार काटकर कषाय-द्रव्यों के चूर्ण और कल्कों को मधु में मिला लेप करे।

पुष्कर तथा संव्यूढ की चिकित्सा—

क्रमः पित्तविसर्पोक्तः पुष्करव्यूढयोर्हितः ॥ १२ ॥

पुष्करिका और संव्यूढ पिटिका में पित्तवीसर्प की चिकित्सा करे।

त्वक्पाक, स्पर्शहानि और मृदित की चिकित्सा—

त्वक्पाके स्पर्शहान्यां च सेचयेद्, मृदितं पुनः ।
बलातैलेन कोष्णेन मधुरैश्चोपनाहयेत् ॥ १३ ॥

त्वक्पाक और स्पर्शहानि में भी पित्तवीसर्प की चिकित्सा करे।

मृदित में कवोष्ण बलातैल से (वातव्याधि में कहे) परिषेचन करे और मधुर द्रव्यों का उपनाह बाँधे [मधुर द्रव्यों का कल्क करके सुखोष्ण घृत से स्निग्ध करके उपनाह करे]।

अष्ठीला की चिकित्सा—

अष्ठीलिकां हृते रक्ते श्लेष्मग्रन्थिवदाचरेत् ।

अष्ठीलिका में रक्त निकाल कर श्लेष्मग्रन्थि की भांति चिकित्सा करे।

निवृत्त रोग की चिकित्सा—

निवृत्तं सर्पिषाऽभ्यज्य स्वेदयित्वोपनाहयेत् ॥ १४ ॥
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा सुस्निग्धैः शाल्वणादिभिः ।
स्वेदयित्वा ततो भूयः स्निग्धं चर्म समानयेत् ॥ १५ ॥
मणिं प्रपीड्य शनकैः प्रविष्टे चोपनाहनम् ।
मणौ पुनः पुनः स्निग्धं भोजनं चात्र शस्यते ॥ १६ ॥

निवृत्त में घी से अभ्यंग करके स्वेदन देकर तीन या पाँच दिन उपनाह करे। फिर भी शाल्वण आदि अतिस्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करके मणि को धीरे से दबाकर चर्म को चिकना करके आगे ले आये। मणि के प्रविष्ट हो जाने पर बार-बार उस पर उपनाह करे और रोगी को स्निग्ध भोजन देवे।

अवपाटिका की चिकित्सा—

अयमेव प्रयोज्यः स्यादवपाट्यामपि क्रमः ।

अवपाटिका में भी यही चिकित्सा करनी चाहिये।

निरुद्धमणि की चिकित्सा—

नाडीमुभयतोद्वारां निरुद्धे जतुना सृताम् ॥ १७ ॥
स्नेहाक्तां स्रोतसि यस्य सिञ्चेत्स्नेहैश्चलापहैः ।
त्र्यहात्त्र्यहात्स्थूलतरां न्यस्य नाडीं विवर्धयेत् ॥ १८ ॥
स्रोतोद्वारमसिद्धौ तु विद्वान् शस्त्रेण पाटयेत् ।
सेवनीं वर्जयन् युञ्ज्यात् सद्यःक्षतविधिं ततः ॥ १९ ॥

निरुद्धमणि में दो द्वार वाली नाडी को लाख से लिप्त करके

स्नेह से चिकनी करके, लिंग में डाल कर लिंग का बलातैल आदि वातनाशक स्नेहों से परिषेक करे। तीन-तीन दिन के अन्तर से क्रमशः मोटी नाडी को डाल कर मूत्रस्रोत को बढ़ाये। यदि इस प्रकार से मूत्रस्रोत का द्वार न बढ़े तो विद्वान् सेवनी को बचाकर शस्त्र से चीरे। पीछे से सद्यःक्षत की चिकित्सा करे।

ग्रथित की चिकित्सा—

ग्रथितं स्वेदितं नाड्या स्निग्धोष्णैरुपनाहयेत्।

ग्रथित में नाडी से स्वेदन देकर स्निग्ध और उष्ण द्रव्यों से उपनाह बांधे।

शतपोनक की चिकित्सा—

लिम्पेत्कषायैः सक्षौद्रैर्लिखित्वा शतपोनकम् ॥२०॥

शतपोनक में लेखन करके कषाय द्रव्यों को मधु में मिला कर लेप करे।

रक्तार्बुद की चिकित्सा—

रक्तविद्रधिवत्कार्या चिकित्सा शोणितार्बुदे।

शोणितार्बुद में रक्तविद्रधि की भांति चिकित्सा करे।

लिङ्गरोग की सामान्य चिकित्सा—

व्रणोपचारं सर्वेषु यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥ २१ ॥

सब लिंग रोगों में अवस्थानुसार व्रण के उपचार (अन्तःशुद्धि, कषाय, लेप, घृत और तैल आदि) बरते।

सामान्य योनिरोग की चिकित्सा--

योनिव्यापत्सु भूयिष्ठं शस्यते कर्म वातजित्।
स्नेहनस्वेदबस्त्यादि वातजासु विशेषतः ॥ २२ ॥
न हि वातादृते योनिर्वनितानां प्रदुष्यति।
अतो जित्वा तमन्यस्य कुर्याद्दोषस्य भेषजम् ॥ २३ ॥

योनिरोगों में प्रायः करके वातनाशक चिकित्सा उत्तम है। वातजन्य योनिरोगों में स्नेहन, स्वेदन और बस्ति आदि कर्म विशेषकर बरते। क्योंकि वायु के बिना स्त्रियों की योनि दूषित नहीं होती। इसलिये वायु को शान्त करके अन्य दोष की चिकित्सा करे।

पाययेत (त्तां) बलातैलं मिश्रकं सुकुमारकम्।
स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत्समाम् ॥
पाणिना नमयेज्जिह्मां संवृतां व्यधयेत् पुनः।
प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्तयेत् ॥ २५ ॥
स्थानापवृत्ता योनिर्हि शल्यभूता स्त्रियो मता।

रुग्णस्त्री को बलातैल (चि. अ. २१।७३ वातव्याधि का), मिश्रक स्नेह (गुल्मोक्त) और सुकुमार तैल (वृद्धि रोग का) पिलाये। स्नेहन और स्वेदन करके स्थान से भ्रष्ट विषम योनि को यथास्थान बिठाये। कुटिल तथा वक्र योनि को योनि के अन्तःप्रविष्ट हस्त के अग्रभाग से झुकाये। संवरण के कारण अणुभूत योनि को हाथ से (या निवृत्त रोग की भांति नाडी से) फैलाये। बाहर आई योनि को हाथ से धीरे धीरे दबा कर अन्दर प्रविष्ट करे। विवृत (बाहर निकली) योनि को चारों ओर घुमाकर भीतर लौटाये क्योंकि स्थान से हटी योनि स्त्रियों के लिये शल्यरूप होती है।

वक्तव्य—विवृताम्-विवृतमुखम्, इति श्रीशिवदाससेनः। विचित्रकर्मणोऽनिलस्य वैगुण्येन विवरणाद् वेणुनाड्याकारेण स्थितः, इतीन्दुः।

कर्मभिर्वमनाद्यैश्च मृदुभिर्योजयेत्स्त्रियम् ॥ २६ ॥
सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते।
बस्त्यभ्यङ्गपरीषेकप्रलेपपिचुधारणम् ॥ २७ ॥

व्यापन्न योनिवाली स्त्री में वमनादि मृदु कर्म करे। पूर्णतः शुद्ध हो जाने पर शेष कर्म, बस्ति, अभ्यंग, परिषेक, प्रलेप और पिचुधारण करे।

काश्मर्यादि घृत—

काश्मर्यत्रिफलाद्राक्षाकासमर्दनिशाद्वयैः।
गुडूचीसैर्यकाभीरुशुकनासापुनर्नवैः ॥ २८ ॥
परूषकैश्च विपचेत्प्रस्थमक्षसमैर्घृतात्।
योनिवातविकारघ्नं तत्पीतं गर्भदं परम् ॥ २९ ॥

गम्भारी, त्रिफला, द्राक्षा, कसौंदी, हल्दी, दारुहल्दी, गिलोय, झिण्टी, शतावरी, शुकनासा (कुब्जक), पुनर्नवा और फालसा ये प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनसे एक प्रस्थ घी पकाये। इस घी का पान योनिरोगनाशक और उत्तम गर्भप्रद है।

वचोपकुञ्चिकाऽजाजीकृष्णावृषकसैन्धवम्।
अजमोदायवक्षारशर्कराचित्रकान्वितम् ॥ ३० ॥
पिष्ट्वा प्रसन्नयाऽऽलोड्य खादेत्तद्घृतभर्जितम्।
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये ॥ ३१ ॥

योनिशूल, पार्श्वशूल, हृद्रोग, गुल्म और अर्श की शान्ति के लिये बच, कालाजीरा, जीरा, पिप्पली, वासामूल, सैन्धव, अजवायायन, यवक्षार, शर्करा और चित्रक को पीसकर प्रसन्ना (सुरा के ऊपर का भाग) में घोलकर घी में भूनकर खाये।

योनिशूल की चिकित्सा—

वृषकं मातुलुङ्गस्य मूलानि मदयन्तिकाम्।
पिबेन्मद्यैः सलवणैस्तथा कृष्णोपकुञ्चिके ॥ ३२ ॥
रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः शृतं शूलहरं पयः।
गुडूचीत्रिफलादन्तीक्वाथैश्च परिषेचनम् ॥ ३३ ॥
नतवार्ताकिनीकुष्ठसैन्धवामरदारुभिः।
तैलात्प्रसाधिताद्धार्यः पिचुर्योनौ रुजापहः ॥ ३४ ॥

अडूसे की जड, बिजौरे की जड और मेहदी को लवणों के साथ मद्य से पिये। अथवा पिप्पली, काला जीरा इनको नमक से साथ मद्य से पिये।

रास्ना, गोखरू और अडूसे की मूल से सिद्ध किया दूध शूलनाशक है।

योनि में गिलोय, त्रिफला और दन्ती के कवोष्ण क्वाथ से परिषेचन करना उत्तम है।

तगर, कटेरी, कूठ, सैन्धव, देवदारु इनसे सिद्ध किये तैल का पिचु योनि में रखने से शूलनाशक है।

पित्तज योनिरोग की चिकित्सा—

पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः ।
शीताः पित्तजितः कार्याः स्नेहनार्थं घृतानि च ॥३५

पित्तल-योनियों में सेक, अभ्यंग और पिचु आदि शीतल एवं पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। स्नेहन के लिये घृत बरतना चाहिये।

शतावर्यादि घृत लेह—

शतावरीमूलतुलाचतुष्कात् क्षुण्णपीडितात् ।
रसेन क्षीरतुल्येन पाचयेत घृताढकम् ॥३६॥
जीवनीयैः शतावर्या मृद्वीकाभिः परूषकैः ।
पिष्टैः प्रियालैश्चाक्षांशैर्द्विबलामधुकान्वितैः ॥३७॥
सिद्धशीते तु मधुनः पिप्पल्याश्च पलाष्टकम् ।
शर्करायाः दशपलं क्षिपेल्लिह्यात्पिचुं ततः ३८॥
योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनं परम् ।
क्षतं क्षयमसृक्पित्तं कासं श्वासं हलीमकम् ॥३९॥
कामलां वातरुधिरं विसर्पं हृच्छिरोग्रहम् ।
अपस्मारार्दितायाममदोन्मादांश्च नाशयेत् ॥४०॥

हरी शतावरी का मूल चार तुला लेकर कूट-पीस कर निचोड़ ले। इसके स्वरस के बराबर दूध मिला कर एक आढक घृत को जीवनीयगण, शतावरी, द्राक्षा, फालसा, चिरौंजी, बला, अतिबला, मुलहठी प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनके कल्क से सिद्ध करे। पकने पर शीतल हो जाने पर इसमें मधु आठ पल, पिप्पली आठ पल और शर्करा दस पल मिलाये। इसमें से एक पिचु (कर्ष मात्र) चाटे। यह योनि रोग, रक्तदोष, शुक्रदोषनाशक, वृष्य, उत्तम पुंसवनकारक है तथा क्षत, क्षय, रक्तपित्त, कास, श्वास, हलीमक, कामला, वातरक्त, वीसर्प, हृद्ग्रह, शिरोग्रह, अपस्मार, अर्दित, आयाम, मद और उन्माद को नष्ट करता है।

एवमेव पयःसर्पिर्जीवनीयोपसाधितम् ।
गर्भदं पित्तजानां च रोगाणां परमं हितम् ॥४१॥

इसी प्रकार जीवनीय गण से सिद्ध किया घृत या दूध गर्भप्रद पित्तजन्य रोगों के लिये श्रेष्ठ औषध है।

बला स्नेह—

बलाद्रोणद्वयक्वाथे घृततैलाढकं पचेत् ।
क्षीरे चतुर्गुणे कृष्णाकाकनासासितान्वितैः ॥४२॥
जीवन्तीक्षीरकाकोलीस्थिरावीरर्धिजीवकैः ।
पयस्याश्रावणीमुद्गपीलुमाषाख्यपर्णिभिः ॥४३॥
वातपित्तामयान् हत्वा पानाद् गर्भं दधाति तत् ।

बला के दो द्रोण क्वाथ में घी और तेल का मिलित एक आढक चौगुने दूध में, पिप्पली, काकनासा, शर्करा, जीवन्ती, क्षीरकाकोली, शालपर्णी, वीरा, (पृश्निपर्णी), ऋद्धि, जीवक, क्षीरविदारी, श्रावणी, मुद्गपर्णी, पीलुपर्णी और माषपर्णी इनसे सिद्ध करे। इसके पान करने से वात-पित्तरोग नष्ट होकर गर्भ धारण होता है।

रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धमवेक्ष्य च ॥ ४४ ॥
यथादोषोदयं युञ्ज्याद् रक्तस्थापनमौषधम् ।

रक्तयोनि (असृग्दर) में, रक्त के वर्ण से दोष का अनुबन्ध देखकर, उस दोष की अधिकता के अनुसार रक्तस्थापन औषध बरते। (तन्त्रान्तर में इसी को असृग्दर कहा है)।

पुष्यानुग चूर्ण—

पाठां जम्ब्वाम्रयोरस्थि शिलोद्भेदं रसाञ्जनम् ॥४५॥
अम्बष्ठां शाल्मलीपिच्छां समङ्गां वत्सकत्वचम् ।
बाह्लीकबिल्वातिविषालोध्रतोयदगैरिकम् ॥ ४६ ॥
शुण्ठीमधूकमाचीकरक्तचन्दनकट्फलम् ।
कट्वङ्गवत्सकानन्ताधातकीमधुकार्जुनम् ॥ ४७ ॥
पुष्ये गृहीत्वा सञ्चूर्ण्य सक्षौद्रं तण्डुलाम्भसा ।
पिबेदर्शःस्वतीसारे रक्तं यश्चोपवेश्यते ॥ ४८ ॥
दोषा जन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत् ।
योनिदोषं रजोदोषं श्यावश्वेतारुणासितम् ॥ ४९ ॥
चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम् ।

पाठा, जामुन की गुठली, आम की गुठली, शिलोभेद (पाषाणभेद), रसौत, अम्बष्ठा (पाठा, दुगना लेना ?), मोचरस, मंजीठ, कुड़े की छाल, केसर, बिल्व, अतीस, लोध, मुस्ता, गेरू, सोंठ, महुआ, माचीक (देवदारु), रक्तचन्दन, कट्फल, श्योनाक, इन्द्रजौ, अनन्तमूल, धव, मुलहठी, अर्जुन छाल; इनको पुष्य नक्षत्र में एकत्रित करके चूर्ण करे। इस चूर्ण को मधु में मिलाकर चावलों के पानी के साथ अर्श, अतीसार, रक्तातिसार, तथा बालकों में कृमियों के कारण जो रोग होते हैं, उनको यह नष्ट करता है। योनिदोष तथा श्याव, अरुण, श्वेत और काले रजोदोष को यह पुष्यानुग चूर्ण नष्ट करता है। यह चूर्ण आत्रेय ऋषि से प्रशंसित है। ('जन्तुकृताः' के स्थान पर 'दन्तकृताः' भी पाठ है)।

कफदूषित योनि का उपाय—

योन्यां बलासदुष्टायां सर्वं रूक्षोष्णमौषधम् ॥ ५० ॥

कफ से दूषित योनि में सम्पूर्ण रूक्ष औषध उत्तम है।

धातक्यादि तैल—

धातक्यामलकीपत्रस्रोतोजमधुकोत्पलैः ।
जम्ब्वाम्रसारकासीसलोध्रकट्फलतिन्दुकैः ॥ ५१ ॥
सौराष्ट्रिकादाडिमत्वगुदुम्बरशलाटुभिः ।
अक्षमात्रैरजामूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् ॥ ५२ ॥
तैलप्रस्थं तदभ्यङ्गपिचुबस्तिषु योजयेत् ।
तेन शूनोन्नता स्तब्धा पिच्छिला स्राविणी तथा ॥५३॥
विप्लुतोपप्लुता योनिः सिद्ध्येत्सस्फोटशूलिनी ।

धव और आंवले के पत्ते; स्रोतोंजन, मुलहठी, कमल, जामुन की गुठली, आम की गुठली, कासीस, लोध, कट्फल, तिन्दुक, फिटकिरी, अनार की छाल, कच्चे गूलर; ये प्रत्येक एक कर्ष, बकरी का मूत्र और दूध, दो दो प्रस्थ लेकर इनसे

एक प्रस्थ तैल सिद्ध करे। इस तैल को अभ्यंग, पिचु और बस्ति में बरते। इससे सूजी, उन्नत (अन्तर्मुखी), कठोर, पिच्छिल, स्राववाली, विप्लुता, उपप्लुता तथा स्फोट के साथ शूलवाली योनि अच्छी होती है।

यवान्नमभयारिष्टं सीधु तैलं च शीलयेत् ॥ ५४ ॥
पिप्पल्ययोरजःपथ्याप्रयोगांश्च समाक्षिकान् ।
कासीसं त्रिफला काङ्क्षी साम्रजम्ब्वस्थि धातकी ॥
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः ।

जौ का भोजन, अभयारिष्ट (अर्शोक्त) सीधु और तैल का निरन्तर अभ्यास करे। पिप्पली, लोहभस्म और हरड़, इनमें प्रत्येक का मधु के साथ व्यवहार करे।

कासीस, त्रिफला, फिटकिरी आम और जामुन की गुठली धाय के फूल; इनका चूर्णमधु के साथ पिच्छिलता में निर्मलता करता है।

स्तम्भन चूर्ण—

पलाशधातकीजम्बूसमङ्गामोचसर्जजः ॥ ५६ ॥
दुर्गन्धे पिच्छिले क्लेदे स्तम्भनश्चूर्ण इष्यते।
आरग्वधादिवर्गस्य कषायः परिषेचनम् ॥ ५७ ॥

ढाक, धव, जामुन, मंजीठ, सेमल का गोंद, राल इनका चूर्ण दुर्गन्ध में, पिच्छिलता में और क्लेद में स्तम्भन करने वाला है। आरग्वधादि गण का क्वाथ परिषेचन में उत्तम है।

स्तब्ध योनि का उपाय—

स्तब्धानां कर्कशानां च कार्यं मार्दवकारकम् ।
धारणं वेसवारस्य कृसरापायसस्य च ॥ ५८ ॥

स्तब्ध और कर्कश योनियों में मृदुताकारक कार्य करना चाहिये इसके लिये वेशवार (कुट्टित मांस), कृसरा और पायस (दूध में पकाया भात) को योनि में धारण करना चाहिये।

दुर्गन्धित योनि की चिकित्सा—

दुर्गन्धानां कषायः स्यात्तैलं वा कल्क एव वा।
चूर्णो वा सर्वगन्धानां पूतिगन्धा(न्ध्य)पकर्षणः॥५९॥

दुर्गन्धित योनियों में सर्वगन्ध (कुष्ठ, अगरु, चन्दन आदि) द्रव्यों के कषाय से सिद्ध किया तैल, इनका क्वाथ कल्क अथवा चूर्ण बरते, यह दुर्गन्धि को दूर करता है।

दोषभेद से योनिचिकित्सा—

श्लेष्मलानां कटुप्रायाः समूत्रा बस्तयो हिताः।
पित्ते समधुकक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः॥ ६० ॥
सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधारणं हितम्।
एवं योनिषु शुद्धासु गर्भं विन्दन्ति योषितः॥ ६१ ॥
अदुष्टे प्राकृते बीजे जीवोपक्रमणे सति ।
पञ्चकर्मविशुद्धस्य पुरुषस्यापि चेन्द्रियम् ॥ ६२ ॥
परीक्ष्य वर्णैर्दोषाणां दुष्टं तद्घ्नैरुपाचरेत्।

कफ वाली योनि में, कटुबहुल, मूत्रयुक्त उत्तरबस्तियां हितकारी हैं।

पित्त में मुलहठी और दूधमिश्रित उत्तरबस्तियां तथा वायु में तैल और अम्ल से युक्त बस्तियाँ हितकारी हैं।

सन्निपातजन्य योनिरोगों में साधारण (मिश्रित) चिकित्सा करनी चाहिये।

इस प्रकार योनि के शुद्ध होने पर स्त्री गर्भ को धारण करती है। बीज (शुक्र-शोणित रूप या आर्तवरूपी) के वातादि से दूषित न होने पर, प्रकृति में होने से तथा जीव का उपक्रमण (आगमन) होने पर स्त्री गर्भ को धारण करती है।

वमनादि पञ्चकर्मों से शुद्ध पुरुष के शुक्र की दोषों के वर्ण से (शा. अ १) परीक्षा करके दूषित शुक्र की वातादि दोषहर औषधियों से चिकित्सा करे।

योनिदोष पर फलघृत—

मञ्जिष्ठाकुष्ठतगरत्रिफलाशर्करावचा ॥ ६३ ॥
द्वे निशे मधुकं मेदां दीप्यकं कटुरोहिणीम् ।
पयस्याहिङ्गुकाकोलीवाजिगन्धाशतावरीः ॥ ६४ ॥
पिष्ट्वाऽक्षांशा घृतप्रस्थं पचेत्क्षीरचतुर्गुणम्।
योनिशुक्रप्रदोषेषु तत्सर्वेषु प्रशस्यते ॥ ६५ ॥
आयुष्यं पौष्टिकं मेध्यं धन्यं पुंसवनं परम्।
फलसर्पिरिति ख्यातं पुष्पे पीतं फलाय तत् ॥ ६६ ॥
म्रियमाणप्रजानां च गर्भिणीनां च पूजितम्।
एतत्परं च बालानां ग्रहघ्नं देहवर्धनम् ॥ ६७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायाम्
अष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने गुह्यरोग-
प्रतिषेधो नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४ ॥

* * *

मजीठ, कूठ, तगर, त्रिफला, शर्करा, वच, हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी, मेदा, दीप्यक (अजवायन), कटुरोहिणी, क्षीरविदारी, हींग, काकोली; असगन्ध, शतावरी प्रत्येक एक कर्ष लेकर घी से चौगुने दूध में एक प्रस्थ घृत पकाये। यह योनिदोष, शुक्रदोष सब में प्रशस्त है। आयुवर्धक, पौष्टिक, मेध्य, धन्य, उत्तम तथा पुंसवन है। इसका नाम फलघृत है, पुष्प (आर्तवकाल) में पीने से फल (गर्भधारण) के लिए है। जिनके बच्चे मर जाते हैं, उनके लिए तथा गर्भवतियों के लिये प्रशस्त है। यह बालकोंका ग्रहनाशक और शरीरबर्धक है।

वक्तव्य—तन्त्रान्तरोक्त प्रसिद्ध योग—(१) मूषिकामांससंयुक्तं तैलमातपपाचितम्। अभ्यङ्गाद्धन्ति योन्यर्शः स्वेदयेन्मांससैन्धवैः॥ (२) गोपित्ते मत्स्यपिण्डे वा क्षौमं सप्ताहभावितम्। स्रोतसां शोधनं कण्डूक्लेदशोथहरं हि तत्॥ (३) पीतं ज्योतिष्मतीपुष्पं स्वर्जिकोग्रासनं त्र्यहम्। पीतेन पयसा पिष्टं कुसुमं जनयेद् ध्रुवम्॥ नष्टपुष्पान्तकरस, फलकल्याणघृत, बृहच्छतावरी घृत, कुमारकल्याणद्रुमघृत। गर्भनिषेधक औषध—(१) पिप्पलिविडङ्गटङ्कण समचूर्णं या

पिबेत्पयसा । ऋतुसमये नहि तस्या गर्भः सञ्जायते क्वापि ॥
(२) रसाञ्जनं हैमवतीवयस्थाचूर्णीकृतं शीतजलेन पीतम् ।
रजोविनाशं नियतं करोति शङ्काऽत्र का गर्भसमागमस्य ॥

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का गुह्यरोग-प्रतिषेध नामक चौतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥३४॥[1]

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

अथातो विषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे विषप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

विष की उत्पत्ति—

मथ्यमाने जलनिधावमृतार्थं सुरासुरैः ।
जातः प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः ॥ १ ॥
दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो हरिकेशोऽनलेक्षणः ।
जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञितः ॥ २ ॥
हुंकृतो ब्रह्मणा मूर्त्तो ततः स्थावरजङ्गमे ।
सोऽध्यतिष्ठज्जिजं रूपमुज्झित्वा वञ्चनात्मकम् ॥ ३ ॥

अमृत के लिये देवता और राक्षस जब समुद्रमन्थन कर रहे थे, अब अमृत की उत्पत्ति से पहले भयानक रूप वाला पुरुष उत्पन्न हुआ । उसका तेज चमकता था, चार दाँत थे । बाल हरे थे, आंखों से आग निकल रही थी, उसको देखकर जगत् विषादयुक्त हो गया, इससे इसको 'विष' कहा गया । ब्रह्मा के हुँकार से वह अपने छलनेवाले रूप को छोड़कर स्थावर एवं जङ्गम मूर्त्ति रूप में स्थित हो गया ।

स्थावर विष का लक्षण—

स्थिरमत्युल्बणं वीर्यं यत्कन्देषु प्रतिष्ठितम् ।
कालकूटेन्द्रवत्साख्यशृङ्गीहालाहलादिकम् ॥ ४ ॥

कन्दों में जो विष स्थिर है वह स्थावर विष है; यह विष वीर्य (शक्ति) में अति प्रबल है। यह विष कालकूट, इन्द्रवत्स, शृङ्गी और हालाहल आदि है ।

वक्तव्य—'कन्देषु' इस बहुवचन से सुश्रुतोक्त 'मूल, पत्र, पुष्प, त्वक्, क्षीर, सार, निर्यास, धातु और कन्द' इन दसों का ग्रहण करना चाहिये ।

जङ्गम विष का लक्षण—

सर्पलूतादिदंष्ट्रासु दारुणं जङ्गमं विषम् ।

साँप, मकड़ी आदि की दंष्ट्राओं में दारुण जङ्गम विष रहता है ।

प्राकृत विष का लक्षण—

स्थावरं जङ्गमं चेति विषं प्रोक्तमकृत्रिमम् ॥ ५ ॥

स्थावर और जङ्गम; ये दो प्रकार के अकृत्रिम विष हैं ।

गर विष का लक्षण—

कृत्रिमं गरसंज्ञं तु क्रियते विविधौषधैः ।
हन्ति योगवशेनाशु चिराच्चिरतराच्च तत् ॥ ६ ॥
शोफपाण्डूदरोन्माददुर्नामादीन् करोति वा ।

नाना प्रकार की औषधियों से बनावटी विष बनाया जाता है, उसे 'गर' कहते हैं । 'गर' संज्ञक यह कृत्रिम विष योग (प्रयोग विधि) के अनुसार शीघ्र मारता है, देर में मारता है या बहुत देर में मारता है, अथवा शोफ, पाण्डु, उदर, उन्माद और अर्श आदि रोगों को करता है ।

वक्तव्य–'गरसंयोगजं चान्यं गरसंज्ञं गरप्रदम्' इति चरकः ।

विष के गुण—

तीक्ष्णोष्णरूक्षविशदं व्यवाय्याशुकरं लघु ॥ ७ ॥
विकाषि सूक्ष्ममव्यक्तरसं विषमपाकि च ।

विष तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, विशद, व्यवायी, आशुकारी, लघु, विकाषी, सूक्ष्म, अव्यक्तरस तथा अपाकी है ।

वक्तव्य—तीक्ष्ण–राई मरिच की भांति, सूक्ष्म-सूक्ष्म मार्ग में प्रविष्ट होने वाला, आशु–शीघ्र कार्य करने वाला, व्यवायी-सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर पीछे पकनेवाला, विकाषी–धातुहिंसक; विशद–अपिच्छिल, अपाकी–आहार की भांति उदर की अग्नि से समान रूप में नहीं पकने वाला ।

ओजसो विपरीतं तत् तीक्ष्णाद्यैरन्वितं गुणैः ॥ ८ ॥
वातपित्तोत्तरं नृणां सद्यो हरति जीवितम् ।
विषं हि देहं सम्प्राप्य प्राग्दूषयति शोणितम् ॥ ९ ॥
कफपित्तानिलांश्चानु समं दोषान् सहाशयान् ।
ततो हृदयमास्थाय देहोच्छेदाय कल्पते ॥ १० ॥

यह तीक्ष्णादि गुणों से युक्त होने के कारण ओज से विपरीत गुणों वाला तथा वातपित्तप्रधान होने से मनुष्यों के जीवन को शीघ्र नष्ट करता है ।

क्योंकि विष शरीर में पहुँचकर सबसे प्रथम रक्त को दूषित करता है, पीछे से आशयों के सहित कफ, पित्त और वायु को दूषित करता है और पीछे से हृदय में अधिष्ठित होकर मृत्यु का कारण होता है ।

वक्तव्य—'सहाशयान्' इति स्थाने 'सहाश्रयान्'–आश्रया वातादिवहधमन्यः तत्सहितान्, इति श्रीशिवदाससेनः ।

विष के यथाक्रम सात वेगों के लक्षण—

स्थावरस्योपयुक्तस्य वेगे पूर्वे प्रजायते ।
जिह्वायाः श्यावता स्तम्भो मूर्च्छा त्रासः क्लमो वमिः ॥
द्वितीये वेपथुः स्वेदो दाहः कण्ठे च वेदना ।
विषं चामाशयं प्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम् ॥ १२ ॥

---

१. पच्चीसवें अध्याय से इस अध्याय तक शल्यतन्त्र नामक आयुर्वेद के अङ्ग का वर्णन हुआ । इस अङ्ग से सम्बद्ध अनेक विषयों का विवेचन कायचिकित्सा नामक प्रथम अङ्ग के साथ भी हो चुका है, वस्तुतः यह दोनों अङ्ग परस्पर सम्बद्ध होते हुए अन्य अङ्गों में भी व्यापक है ।

तालुशोषस्तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम् ।
दुर्बले हरिते शूने जायेते चास्य लोचने ॥ १३ ॥
पक्वाशयगते तोदहिध्माकासान्त्रकूजनम् ।
चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम् ॥ १४ ॥
कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्वभेदश्च पञ्चमे ।
सर्वदोषप्रकोपश्च पक्वाधाने च वेदना ॥ १५ ॥
षष्ठे संज्ञाप्रणाशश्च सुभृशं चातिसार्यते ।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गो भवेन्मृत्युश्च सप्तमे ॥ १६ ॥

स्थावर विष का उपयोग करने वाले पुरुष में विष के प्रथम वेग में जिह्वा की श्यावता और जड़ता होती है, रोगी को मूर्च्छा, त्रास, क्लम एवं वमन होता है।

विष के दूसरे वेग में कम्पन, स्वेद, दाह, और गले में वेदना होती है। विष आमाशय में पहुंचकर हृदयसे वेदना करता है।

विष के तीसरे वेग में तालुशोष और आमाशय में अतिशय वेदना होती है, रोगी की आंखें निर्बल, हरी तथा सूजी हुई हो जाती हैं। पक्वाशय में पहुंचने पर तोद, हिक्का, कास और आंतों में गड़गड़ाहट होती है।

विष के चौथे वेग में शिर में अधिक भारीपन होता है।

विष के पांचवें वेग में कफस्राव, विवर्णता, पर्वों का टूटना, सब दोषों का प्रकोप और पक्वाशय में विशेष कर दर्द होता है।

विष के छठे वेग में चेतना का नाश और अतिशय अतिसार होता है।

विष के सातवें वेग में स्कन्ध, पीठ, कटि का टूटना और मृत्यु होती है।

क्रम से प्रथम वेगादि की चिकित्सा—

प्रथमे विषवेगे तु वान्तं शीताम्बुसेचितम् ।
सर्पिर्मधुभ्यां संयुक्तमगदं पाययेद् द्रुतम् ॥ १७ ॥
द्वितीये पूर्ववद्वान्तं विरिक्तं चानु पाययेत् ।
तृतीयेऽगदपानं तु हितं नस्यं तथाऽञ्जनम् ॥ १८ ॥
चतुर्थे स्नेहसंयुक्तमगदं प्रतियोजयेत् ।
पञ्चमे मधुकक्वाथमाक्षिकाभ्यां युतं हितम् ॥ १९ ॥
षष्ठेऽतिसारवत्सिद्धिः, अवपीडस्तु सप्तमे ।
मूर्ध्नि काकपदं कृत्वा सासृग्वा पिशितं क्षिपेत् ॥२०॥

विष के प्रथम वेग में तुरन्त वमन कराकर शीतल जल से परिषेक करके घृत और मधु के साथ मिश्रित अगद (विषनाशक औषधि) जल्दी से पिलाये।

विष के दूसरे वेग में शीतल जल से परिषेक कराकर वमन एवं विरेचन कराकर पीछे से अगद पिलाये।

विष के तीसरे वेग में अगदपान, नस्य और अंजन हितकारी है।

विष के चौथे वेग में स्नेह (गाय का घृत) मिश्रित अगद देवे। [स्नेहोऽत्र गव्यघृतम् , इति डल्हणः]।

विष के पांचवें वेग में मुलहठी के क्वाथ और मधु के साथ मिला अगद देवे।

विष के छठे वेग में अतिसार की भांति चिकित्सा करे।

विष के सातवे वेग में अवपीडन नस्य करे। अथवा शिर पर शस्त्र से काकपद (Y) ऐसा निशान कर रक्त या मांस रख देवे।

सर्वविषनाशक यवागू—

कोशातक्यग्निकः पाठा सूर्यवल्ल्यमृताभयाः ।
शेलुः शिरीषः किणिही हरिद्रे क्षौद्रसाह्वया ॥ २१ ॥
पुनर्नवे त्रिकटुकं बृहत्यौ सारिवे बला ।
एषां यवागूं निर्यूहे शीतां सघृतमाक्षिकाम् ॥ २२ ॥
युञ्ज्याद्वेगान्तरे सर्वविषघ्नीं कृतकर्मणः ।

कोशातकी [कड़ुई तरोई] चित्रक, पाठा, हुलहुल, गिलोय, हरड़, बहुवार (लिसोढ़ा), शिरीष, चिरचिटा, हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी, श्वेत और लाल पुनर्नवा, त्रिकटु, कटेरी, बड़ी कटेरी, कृष्ण और श्वेत सारिवा तथा बला इनके क्वाथ में यवागू बनाये। शीतल होने पर इसमें घृत और मधु मिलाकर वेगों के बीच में अन्य कर्मों को करने के बाद सब प्रकार के विषों को नष्ट करने वाली यह यवागू दे।

वक्तव्य—'क्षौद्रसाह्वया' के स्थान पर 'गिरिजाह्वया' पाठ श्रीशिवदाससेनजी ने दिया है, इसका अर्थ 'अपराजिता' दिया है। 'सारिवे बला' के स्थान पर 'सारिवे बले (बला और अतिबला)' पाठ है।

तद्वन्मधूकमधुकपद्मकेसरचन्दनैः ॥ २३ ॥

इसी प्रकार महुआ, मुलहठी, कमलकेसर और चन्दन, इनके क्वाथ में बनाई यवागू घी और मधु के साथ सब विषों का नाश करती है।

चन्द्रोदय अगद निर्माण की समंत्र विधि—

अञ्जनं तगरं कुष्ठं हरितालं मनःशिला ।
फलिनी त्रिकटु स्पृक्का नागपुष्पं सकेसरम् ॥ २४ ॥
हरेणुर्मधुकं मांसी रोचना काकमालिका ।
श्रीवेष्टकं सर्जरसः शताह्वा कुङ्कुमं बला ॥ २५ ॥
तमालपत्रतालीसभूर्जोशीरनिशाद्वयम् ।
कन्योपवासिनी स्नाता शुक्लवासा मधुद्रुतैः ॥ २६ ॥
द्विजानभ्यर्च्य तैः पुष्ये कल्पयेदगदोत्तमम् ।
वैद्यश्चात्र तदा मन्त्रं प्रयतात्मा पठेदिमम् ॥ २७ ॥
'नमः पुरुषसिंहाय नमो नारायणाय च ।
यथाऽसौ नाभिजानाति रणे कृष्णपराजयम् ॥ २८ ॥
एतेन सत्यवाक्येन अगदो मे प्रसिद्ध्यतु ।
नमो वैडूर्यमाते हुलुहुलु रक्ष मां सर्वविषेभ्यः ॥ २९ ॥
गौरि गान्धारि चाण्डालि मातङ्गि स्वाहा ।'
पिष्टे च द्वितीयो मन्त्रः-'हरिमायि स्वाहा' ॥ ३० ॥
अशेषविषवेतालग्रहकार्मणपाप्मसु ।

मरकव्याधिदुर्भिक्षयुद्धाशनिभयेषु च ॥३१॥
पाननस्याञ्जनालेपमणिबन्धादियोजितः ।
एष चन्द्रोदयो नाम शान्तिस्वस्त्ययनं परम् ॥३२॥
(वासवो वृत्रमवधीत्समालिप्तः किलामुना ।)

अंजन, तगर, कूठ, हरताल, मैनसिल, प्रियंगु, त्रिकटु, स्पृक्का, नागकेशर, कमल का केशर, हरेणु, मुलहठी, जटामांसी, गोरोचना, कालीतुलसी, श्रीवेष्टक (गन्धभिरोजा), राल, सौंफ, केशर, बला, तमालपत्र, तालीशपत्र, भोजपत्र, राल, हल्दी, दारुहल्दी; इनको उपवास और स्नान की हुई तथा श्वेत वस्त्र धारण की हुई कन्या द्वारा मधु से पतला कराके पुष्य नक्षत्र में ब्राह्मणों की पूजा करके पिसवा कर उत्तम अगद (विषनाशक योग) बनावे । जिस समय कन्या इनको पीस रही हो, उस समय वैद्य उसके पास मूलोक्त मंत्र संयतात्मा बनकर ध्यानपूर्वक पढ़े । मंत्र का अर्थ—पुरुषसिंह के लिये नमस्कार, नारायण के लिये नमस्कार। जिस प्रकार कि संग्राम में कृष्ण भगवान की पराजय नहीं सुनी जाती (वैसे यह भी कभी व्यर्थ न हो), इस सत्य वाक्य से मेरा अगद प्रसिद्ध हो । हे वैडूर्य माता हुलहुल, सब विषों से मेरी रक्षा कर । गौरी, चाण्डाली, गान्धारी, मातंगी, स्वाहा । पिस जाने पर दूसरे मंत्र को बोले, 'हरिमायि स्वाहा' । अशेष विष, वेताल, ग्रहकर्मों में तथा पापों में मरक (जनपदोद्ध्वंसक) रोग, दुर्भिक्ष, युद्ध एवं विद्युत् के भयों में पान, नस्य, अंजन, लेप, मणिबन्ध आदि में प्रयोजित यह चन्द्रोदय अगद अतिशय शान्ति और स्वस्ति करता है । जिन मंत्रों को पढ़ा जायेगा, वे दोनों मंत्र मूल में दिये गये हैं)।

(इस अगद से लेप करके इन्द्र ने वृत्र को मारा था ।)

दूषीविष के लक्षण तथा विकार—

जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा
दावाग्निवातातपशोषितं वा ।
स्वभावतो वा न गुणैः सुयुक्तं
दूषीविषाख्यं विषमभ्युपैति ॥ ३३ ॥
वीर्याल्पभावादविभाव्यमेतत्
कफावृतं वर्षगणानुबन्धि ।
तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो
दुष्टास्ररोगी तृडरोचकार्तः ॥ ३४ ॥
मूर्च्छन् वमन् गद्गदवाग् विमुह्यन्
भवेच्च दूष्योदरलिङ्गजुष्टः ।

जो विष पुराना हो, विषनाशक औषधियों से हतवीर्य हो, दावाग्नि (दावानल), वायु तथा धूप से सूखा हो, स्वभाव से व्यवायी, विकाषी आदि विष के अपने गुणों से एक या दो किसी गुण में जो कम हो, वह विष दूषीविष कहा जाता है । हीनवीर्य होने से तत्काल नहीं मारता, इसलिये विष है, ऐसा स्पष्ट नहीं होता । कफ से आवृत होने के कारण (पाक न होने से) बहुत साल तक सम्बन्धित (शरीर में पड़ा) रहता है । इस दूषीविष से पीड़ित मनुष्य अतिसारी नाना वर्णों के मलवाला, दूषित रक्तवाला, प्यास, अरोचक से पीड़ित, मूर्च्छा, वमन, भर्राई आवाज और मोहित होता हुआ दूष्योदर के लक्षणों से युक्त होता है ।

आमाशयस्थे कफवातरोगी
पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी ॥ ३५ ॥
भवेन्नरो ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो
विलूनपक्षः स यथा विहङ्गः ।
स्थितं रसादिष्वथवा विचित्रान्
करोति धातुप्रभवान् विकारान् ॥ ३६ ॥

यदि दूषीविष आमाशय में स्थित हो तो कफ-वात के लक्षण होते हैं । पक्वाशय में स्थित होने पर वात-पित्त रोगी होता है । शरीर और शिर के सब बाल झड़ जाते हैं, इससे वह पक्ष कटे हुए पक्षी की भांति हो जाता है । अथवा रसादि में स्थित दूषीविष धातु (रसादि धातु) जन्य विचित्र रोगों को उत्पन्न करता है ।

वक्तव्य—रसादि धातुओं के दोष दोषभेदीय अध्याय (सू० अ० ८) में कह दिये हैं ।

दूषीविष का प्रकोप काल—

प्राग्वाताजीर्णशीताभ्रदिवास्वप्नाहिताशनैः ।
दुष्टं दूषयते धातूनतो दूषीविषं स्मृतम् ॥ ३७ ॥

पूर्व दिशा की वायु, अजीर्ण, शीत काल (शीत देश), बादल, दिन में सोना और अहित भोजन से दूषित (उत्तेजित) हुआ यह धातुओं को दूषित करता है, इसलिये इसे दूषीविष कहा है ।

दूषीविष की चिकित्सा—

दूषीविषार्तं सुस्विन्नमूर्ध्वं चाधश्च शोधितम् ।
दूषीविषारिमगदं लेहयेन्मधुनाऽऽप्लुतम् ॥ ३८ ॥

दूषीविष से पीड़ित रोगी को वमन-विरेचन से शुद्ध करके मधु से द्रव किये दूषीविषारि अगद को चटाये ।

दूषीविषनाशक औषध—

पिप्पल्यो ध्यामकं मांसी रोध्रमेला सुवर्चिका ।
कुटन्नटं नतं कुष्ठं यष्टी चन्दनगैरिकम् ॥३९॥
दूषीविषारिर्नाम्नाऽयं न चान्यत्रापि वार्यते ।

पिप्पली, ध्यामक (गन्धतृण). मांसी, लोध, इलायची, हुलहुल, केवटी मोथा, तगर, कूठ, मुलहठी, चन्दन, गेरु, यह दूषीविषारि नामक अगद दूषीविष के अतिरिक्त अन्य विषों और रोगों में भी बरता जा सकता है ।

विषाक्त शस्त्र से विद्ध के लक्षण—

विषदिग्धेन विद्धस्तु प्रताम्यति मुहुर्मुहुः ॥४०॥
विवर्णभावं भजते विषादं चाशु गच्छति ।
कीटैरिवावृतं चास्य गात्रं चिमिचिमायते ॥४१॥
श्रोणिपृष्ठशिरःस्कन्धसन्धयः स्युः सवेदनाः ।

कृष्णदुष्टास्रविस्रावी तृण्मूर्च्छाज्वरदाहवान् ॥४२॥
दृष्टिकालुष्यवमथुश्वासकासकरः क्षणात् ।
आरक्तपीतपर्यन्तः श्यावमध्योऽतिरुग्व्रणः ॥४३॥
शूयते पच्यते सद्यो गत्वा मांसं च कृष्णताम् ।
प्रक्लिन्नं शीर्यतेऽभीक्ष्णं सपिच्छिलपरिस्रवम् ॥४४॥

विष से लिप्त शस्त्र से विद्ध मनुष्य बार-बार मूर्च्छित होता है। शरीर का रंग बदल जाता है और शीघ्र ही विषण्ण (बेचैन) हो जाता है। शरीर चींटियों से भरा हुआ सा चिमचिमाहट युक्त होता है। श्रोणि, पीठ, शिर, कन्धे और सन्धियों में वेदना होती है। व्रण से काला तथा दूषित रक्त बहता है, रोगी को प्यास, मूर्च्छा, ज्वर और दाह होता है। दृष्टि मलिन, वमन, श्वास और कास होता है। व्रण चारों ओर से लाल, किनारों से पीला और बीच से श्याववर्ण तथा अतिशय वेदना वाला होता है। जल्दी सूज जाता है, पक जाता है, मांस काला पड़ जाता है और क्लिन्न होकर झड़ता है। बार-बार पिच्छिल स्राव होता है।

विषाक्त शस्त्र से विद्ध की चिकित्सा—

कुर्यादमर्मविद्धस्य हृदयावरणं द्रुतम् ।

मर्म में वेध न हुआ हो तो सर्वप्रथम हृदयावरण (हृदयरक्षक औषध) शीघ्र करना चाहिये।

वक्तव्य— हृदयावरण-हृदयरक्षाकरमौषधं हृदयावरणम्। 'मधुसर्पिर्मज्जपयोगैरिकमथ गोमयरसं वा ॥ दद्यं सपक्षमथवा काकं निष्पीड्य तद्रसं वरणम् ।' (चरक. चि. २३।४६-४७।)

शल्यमाकृष्य तप्तेन लोहेनानु दहेद् व्रणम् ॥४५॥
अथवा मुष्ककश्वेतासोमत्वक्काम्रवल्लितः ।
शिरीषाद् गृध्रनख्याश्च क्षारेण प्रतिसारयेत् ॥४६॥
शुकनासाप्रतिविषाव्याघ्रीमूलैश्च लेपयेत् ।
कीटदष्टचिकित्सां न कुर्यात्तस्य यथार्हतः ॥४७॥

व्रण से शल्य को खींचकर पीछे से व्रण को गरम किये लोहे से जलाये। अथवा मोखा, अपराजिता, खैर की छाल, मजीठ, शिरीष और गृध्रनखी के क्षारसे व्रण पर छिड़काव करे तथा शुकनासा, अतीस, कटेरी की जड़; इनसे लेप करे।

विषैले शस्त्र से विद्ध रोगी यह तथा कीटदष्ट चिकित्सा यथायोग्य करे।

वक्तव्य—श्रीशिवदाससेनजी ने 'पीतदष्टचिकित्सा' पाठ दिया है। 'विषपीतचिकित्सा, सर्पदष्टचिकित्सा' करे।

सड़े मांसवाले व्रण में पित्तविसर्प की भांति चिकित्सा करे।

गरविष का स्वरूप—

सौभाग्यार्थं स्त्रियो भर्त्रे राज्ञे वाऽरातिचोदिताः ॥४८॥
गरमाहारसम्पृक्तं यच्छन्त्यासन्नवर्तिनः ।
नानाप्राण्यङ्गशमलविरुद्धौषधिभस्मनाम् ॥४९॥
विषाणां चाल्पवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः ।

स्त्रियाँ सौभाग्य के लिये पति को अथवा शत्रुओं से प्रेरित समीपवर्त्ती लोग राजा को आहार से मिश्रित गर को दे देते हैं।

नाना प्राणियों के अङ्गों से उत्पन्न मल, विरुद्ध औषधियों की भस्म और अल्पवीर्य वाले विषों का योग गर कहा जाता है।

गरविष के विकार—

तेन पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निः कासश्वासज्वरार्दितः ॥५०॥
वायुना प्रतिलोमेन स्वप्नचिन्तापरायणः ।
महोदरयकृत्प्लीही दीनवाग् दुर्बलोऽलसः ॥५१॥
शोफवान् सतताध्मातः शुष्कपादकरः क्षयी ।
स्वप्ने गोमायुमार्जारनकुलव्यालवानरान् ॥५२॥
प्रायः पश्यति शुष्कांश्च वनस्पतिजलाशयान् ।
मन्यते कृष्णमात्मानं गौरो, गौरं च कालकः ॥५३॥
विकर्णनासानयनं पश्येत्तद्विहतेन्द्रियः ।
एतैरन्यैश्च बहुभिः क्लिष्टो घोरैरुपद्रवैः ॥५४॥
गरार्तो नाशमाप्नोति कश्चित्सद्योऽचिकित्सितः ।

गर विष से पीड़ित मनुष्य पाण्डुवर्ण, कृश, मन्दाग्नि, कास, श्वास तथा ज्वर से पीड़ित, प्रतिलोम वायु से युक्त, स्वप्न (नींद) और चिन्ता में डूबा, अतिप्रवृद्ध उदर, यकृत्, प्लीहा तथा दीन वाणी वाला, दुर्बल, आलसी, शोफ और निरन्तर आध्मान युक्त, हाथ-पैर शुष्क, क्षयरोगी, स्वप्न में शृगाल, बिल्ली, नेवला, हिंसक पशु, बन्दर, रूखे वनस्पति और जलाशयों को देखता है। काला अपने को गौर समझता है, गौर काला समझता है; चेहरे को कान, नाक और आंखों से रहित, इन्द्रियों को नष्ट हुआ अनुभव करता है।

इस प्रकार के तथा अन्य घोर उपद्रवों से पीड़ित गर से युक्त मनुष्य मर जाता है, अथवा कोई तो चिकित्सा न करने पर तुरन्त मर जाता है।

गरविष की चिकित्सा—

गरार्तो वान्तवान् भुक्त्वा तत्पथ्यं पानभोजनम् ॥
शुद्धहृल्लिहयेद्धेम सूत्रस्थानविधेः स्मरन् ।
शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं चूर्णं ताप्यसुवर्णयोः ॥५५॥
लेहः प्रशमयत्युग्रं सर्वयोगकृतं विषम् ।

गररोगी वमन करके पूर्वोक्त पथ्य भोजन एवं पान करके सूत्रस्थान में कही विधि का स्मरण करता हुआ (शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्) स्वर्ण का निरन्तर सेवन करे।

स्वर्णमाक्षिक तथा सुवर्ण के चूर्ण को मधु और शर्करा के साथ बनाया लेह सब योगों से बने उग्र विष को शान्त करता है।

गरविष के उपद्रवों की चिकित्सा—

मूर्वामृतानतकणापटोलीचव्यचित्रकान् ॥५७॥
वचामुस्तविडङ्गानि तक्रकोष्णाम्बुमस्तुभिः ।
पिबेद्रसेन वाऽम्लेन गरोपहतपावकः ॥५८॥

पारावतामिषशटीपुष्कराह्वशृतं हिमम् ।
गरतृष्णारुजाकासश्वासहिध्माज्वरापहम् ॥ ५९ ॥

मूर्वा, गिलोय, तगर, पिप्पली पटोली, चव्य, चित्रक, मुस्ता, वायविडङ्ग; इनको तक्र; गरम पानी और मस्तु के साथ या बिजौरे के रस के साथ या कांजी से; गर से पीडित मनुष्य पिये। (रसेन-मांसरसेन इत्याहुः-इति शिवदाससेनः)।

कबूतर का मांस, शटी (कचूर), पुष्करमूल; इनसे पकाया जल शीतल होने पर गर, प्यास, दर्द, कास, श्वास, हिक्का तथा ज्वर का नाशक है।

विषसङ्कट के लक्षण—

विषप्रकृतिकालान्नदोषदूष्यादिसङ्गमे ।
विषसङ्कटमुद्दिष्टं शतस्यैकोऽत्र जीवति ॥ ६० ॥

विषसङ्कट- विषप्रकृतिः(पित्तप्रकृति), विषकाल (वर्षाकाल या ग्रीष्मकाल), अन्न (तिल, कुलथी आदि), दोष (पित्त), दूष्य (रक्त), आदि (देश सात्म्य आदि); इनके एक साथ मिलने पर अर्थात् विष के अनुकूल सभी चीजें होने को विषसङ्कट कहते हैं। इसमें सौ में से कोई एक जीता है।

वक्तव्य—विषस्यैव स्वानुगुणप्रकृत्यादिसंसर्गे सति विषसंकटाख्या अवस्था भवति।

विषवृद्धि में कारण—

क्षुत्तृष्णाघर्मदौर्बल्यक्रोधशोकभयश्रमैः ।
अजीर्णवर्चोद्रवतापित्तमारुतवृद्धिभिः ॥ ६१ ॥
तिलपुष्पफलाघ्राणभूबाष्पघनगर्जितैः ।
हस्तिमूषिकवादित्रनिःस्वनैर्विषसङ्कटैः ॥ ६२ ॥
पुरोवातोत्पलामोदमदनैर्वर्धते विषम् ।

भूख, प्यास, गरमी, दुर्बलता, क्रोध, शोक, भय, श्रम, अजीर्ण और अतिसार से तथा पित्तवृद्धि और वातवृद्धि होने से, तिलपुष्प या फल (तिल या मदनफल) के सूंघने से, पृथ्वी के बाष्पों से, बादलों के गरजने से, हाथी, चूहे, बाजों के शब्दों से; विष-सङ्कट की अवस्था से, पूर्वदिशा की वायु से, कमल सूंघने से, वनिता-स्त्री आदि कामोद्दीपक वस्तुओं, मादकद्रव्यों से विष बढ़ता है।

विषशमन का काल—

वर्षासु चाम्बुयोनित्वात्संक्लेदं गुडवद्गतम् ॥ ६३ ॥
विसर्पति घनापाये, तदगस्त्यो हिनस्ति च ।
प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद्घनात्यये ॥ ६४ ॥

जिस प्रकार गुड़ जल से उत्पन्न होने के कारण वर्षाऋतु में क्लिन्न बन जाता है, उसी प्रकार विष भी वर्षाऋतु में फैलता है। बादल हटने पर शरदृऋतु में अगस्त्य नक्षत्र विष को नष्ट कर देता है। इस लिए शरदऋतु में विष मन्दवीर्य हो जाता है। (इसीलिये दूषीविष से पीड़ित लोग वर्षाऋतु में अतिदुःखी होते हैं)।

विषचिकित्सक को उपदेश—

इति प्रकृतिसात्म्यर्तुस्थानवेगबलाबलम् ।
आलोच्य निपुणं बुद्ध्या कर्मानन्तरमाचरेत् ॥ ६५ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त कथनानुसार रोगी की प्रकृति, सात्म्य, ऋतु, स्थान, वेग, बल और अबलको बुद्धि से भली प्रकार देखकर पीछे चिकित्सा आरम्भ करे।

कफप्रधान विष की चिकित्सा—

श्लैष्मिकं वमनैरुष्णरूक्षतीक्ष्णैः प्रलेपनैः ।
कषायकटुतिक्तैश्च भोजनैः शमयेद्विषम् ॥ ६६ ॥

श्लैष्मिक विष को उष्ण, तीक्ष्ण और रूक्ष वमनों एवं प्रलेपों से और कषाय, तिक्त, कटु भोजनों से शान्त करे। (श्लैष्मिकम्-श्लेष्मोल्बणम्, किं वा कफस्थानगतत्वेन श्लेष्मलिङ्गबहुलम्)।

पित्तप्रधान विष की चिकित्सा—

पैत्तिकं स्रंसनैः सेकप्रदेहैर्भृशशीतलैः ।
कषायतिक्तमधुरैर्घृतयुक्तैश्च भोजनैः ॥ ६७ ॥

पैत्तिक विष को विरेचनों से, अतिशीतल परिषेकोंसे, प्रदेहों से, घृतमिश्रित कषाय, तिक्त और मधुर भोजनों से शांत करे।

वातप्रधान विष की चिकित्सा—

वातात्मकं जयेत् स्वादुस्निग्धाम्ललवणान्वितैः ।
सघृतैर्भोजनैर्लेपैस्तथैव पिशिताशनैः ॥६८॥
नाघृतं स्रंसनं शस्तं प्रलेपो भोज्यमौषधम् ।

वातिक विष को मधुर, स्निग्ध, अम्ल, लवणयुक्त घृत मिश्रित भोजनों और लेपों से तथा मांसभोजनों से शांत करे।

विष में विरेचन, प्रलेप, भोजन और औषध घी के बिना न बरते। (घी अवश्य बरते। घी, विशेष कर गाय का घी ओज के समान गुण होने से विषनाशक है, ओज को बढ़ाता है, इसलिये घी का उपयोग विशेष रूप में करे)।

विष में घृत का प्रयोग—

सर्वेषु सर्वावस्थेषु विषेषु न घृतोपमम् ॥ ६९ ॥
विद्यते भेषजं किञ्चिद्विशेषात् प्रबलेऽनिले ।

सब विषों में, विष की सब अवस्थाओं में घृत के समान कोई दूसरी औषध नहीं है, विशेष कर वायु की प्रबलता में घी ही उत्तम औषध है।

विष की साध्यासाध्यता—

अयत्नाच्छ्लेष्मगं साध्यं, यत्नात् पित्ताशयाश्रयम् ॥
सुदुःसाध्यमसाध्यं वा वाताशयगतं विषम् ।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता-
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने विष-
प्रतिषेधो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

◆

कफ (कफाशय = आमाशय) गत विष थोड़े परिश्रम से साध्य है। पित्ताशय में स्थित विष प्रयत्न से साध्य है और वाताशय में स्थित विष कष्टसाध्य या असाध्य है।

वक्तव्य—योग—मृतसंजीवन तन्त्रान्तरोक्त सिद्ध विषघ्न

अगद, विषवज्रपातरस, तण्डुलीयक घृत, मृत्युपाशच्छेदी घृत, शिरीषारिष्ट।

(१) द्वे हरिद्रे शिला तालं कुङ्कुमं मुस्तकं जलैः । गुटिकालेपमात्रेण विषं हन्ति महद् द्रुतम् । (२) घृतमधुनवनीतं पिप्पली शृङ्गवेरं, मरिचमपि तु दद्यात् सप्तमं सैन्धवेन ॥ यदि भवति सरोषैस्तक्षकैर्वापि दष्टोऽगदमिह तु पीत्वा निर्विषं तत्क्षणेन ॥

विषमुक्त के लक्षण—(१) प्रसन्नदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकामं सममूत्रविट्कम् । प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान के विषप्रतिषेध नामक पैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

अथातः सर्पविषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे सर्पविषप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

सर्प के सामान्य तीन भेद—

दर्वीकरा मण्डलिनो राजीमन्तश्च पन्नगाः ।
त्रिधा समासतो भौमाः, भिद्यन्ते ते त्वनेकधा ॥ १ ॥
व्यासतो योनिभेदेन नोच्यन्तेऽनुपयोगिनः ।

पृथ्वी पर के साँप संक्षेप में दर्वीकर, मण्डली और राजिमान् भेद से तीन प्रकार के हैं। ये तीन साँप अनेक प्रकार के भेद वाले हैं। अनुपयोगी होने से उनके योनिभेद, उत्पत्तिभेद विस्तार-पूर्वक नहीं कहेंगे।

दर्वीकरादि सर्पों के विष का स्वभाव—

विशेषाद्रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादुशीतलम् ॥ २ ॥
विषं दर्वीकरादीनां क्रमाद्वातादिकोपनम् ।

दर्वीकर सांप का विष रूक्ष एवं कटु है, इसलिये वायु का कोप करता है। मण्डली का विष अम्ल और उष्ण होने से पित्तकोपक है। राजिमान् का विष मधुर और शीतल होने से कफ-प्रकोपक है।

विषोल्बणता का काल—

तारुण्यमध्यवृद्धत्वे वृष्टिशीतातपेषु च ॥ ३ ॥
विषोल्बणा भवन्त्येते व्यन्तरा ऋतुसन्धिषु ।

दर्वीकर साँप तरुणावस्था में और वर्षाकाल में तीव्र विष वाले होते हैं। मण्डली सांप मध्यमावस्था में और शीतकाल में तीव्र विष वाले होते हैं। राजीमान् सांप वृद्धावस्था में और ग्रीष्मकाल में प्रबल विष वाले होते हैं और विजातीय (दोगले) सांप ऋतुसन्धि में प्रबल विष वाले होते हैं।

दर्वीकर सर्प के लक्षण—

रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः ॥ ४ ॥
फणिनः शीघ्रगतयः सर्पा दर्वीकराः स्मृताः ।

जिन सांपों की फणा के ऊपर चक्र, हल, छाते, स्वस्तिक या अंकुश का चिह्न होता है और जो सांप शीघ्र चलते हैं। उनको दर्वीकर कहा है। [दर्वी-कलछी; उसके समान कर (हाथ)- फणवाले]।

मंडली सर्प के लक्षण—

ज्ञेया मण्डलिनोऽभोगा मण्डलैर्विविधैश्चिताः ॥ ५ ॥
प्रांशवो मन्दगमनाः—

मण्डली सांप फणरहित, नाना प्रकार के मण्डल-चकत्तों से व्याप्त, लम्बे और मन्दगति वाले होते हैं।

राजिमान् सर्प के लक्षण—

—राजीमन्तस्तु राजिभिः ।
स्निग्धा विचित्रवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वं च चित्रिताः ॥ ६ ॥

राजीमान् सांप स्निग्ध तथा विचित्र वर्णों वाली रेखाओं से तिरछे और ऊपर में चित्रित होते हैं।

गोधासर्प के लक्षण—

गोधासुतस्तु गौधेरो विषे दर्वीकरैः समः ।
चतुष्पाद्—

गोह में दर्वीकर सांपों से उत्पन्न सांप गौधेर है, यह दर्वीकरों के समान और चार पैर वाला है।

व्यन्तर सर्प के लक्षण—

—व्यन्तरान् विद्यादेतेषामेव सङ्करात् ॥ ७ ॥
व्यामिश्रलक्षणास्ते हि सन्निपातप्रकोपणाः ।

इन्हीं सांपों के संकर से व्यन्तर (विजातीय दोगले) साँप उत्पन्न होते हैं। क्योंकि ये सांप मिश्रित लक्षणों वाले होते हैं, इसलिये सन्निपात रूप में दोषों को प्रकुपित करते हैं।

सर्प के काटने का कारण—

आहारार्थं भयात् पादस्पर्शादतिविषात् क्रुधः ॥ ८ ॥
पापवृत्तितया वैराद् देवर्षियमचोदनात् ।
दशन्ति सर्पास्तेषूक्तं विषाधिक्यं यथोत्तरम् ॥ ९ ॥

आहार के लिये, भय से, पैर से छू जाने पर, अतिविषसे, क्रोध से, पाप-वृत्ति से, वैर से, देवता, ऋषि या यम की प्रेरणा से सांप मनुष्यों को काटते हैं। इनमें उत्तरोत्तर विष की अधिकता रहती है।

कारणानुसार चिकित्सा—

आदिष्टात् कारणं ज्ञात्वा प्रतिकुर्याद्यथायथम् ।

पूर्व कथित वचनों से काटने वाले सांप के काटने का कारण जानकर उसकी यथायोग्य चिकित्सा करे।

वक्तव्य—शिवदाससेनजी ने 'आविष्टात्' पाठ देकर 'मान्त्रिका हि सर्पदष्टे पुरुषे देवतायाः आवेशं कारयित्वा दंशकारणं वदन्ति' यह अर्थ किया है। चन्द्र ने 'आद्य मन्त्रेणाहूतात् सर्पाद् दंशेषु दंशकान्यतमं ज्ञात्वा यथायथप्रतीकारमौषधं मन्त्रादिकं कुर्याद्वा न वा ॥' यह कहा है।

व्यन्तर सर्प की दुष्टता—

व्यन्तरः पापशीलत्वान्मार्गमाश्रित्य तिष्ठति ॥ १० ॥

व्यन्तर सांप पापी स्वभाव होने के कारण मार्ग को रोक कर बैठते हैं ।

दष्ट की साध्यता—

यत्र लालापरिक्लेदमात्रं गात्रे प्रदृश्यते ।
न तु दंष्ट्राकृतं दंशं तत्तुण्डाहतमादिशेत् ॥ ११ ॥
एकं दंष्ट्रापदं द्वे वा व्यालीढाख्यमशोणितम् ।
दंष्ट्रापदे सरक्ते द्वे व्यालुप्तं, त्रीणि तानि तु ॥ १२ ॥
मांसच्छेदादविच्छिन्नरक्तवाहीनि दष्टकम् ।
दंष्ट्रापदानि चत्वारि तद्वद्दष्टनिपीडितम् ॥ १३ ॥
निर्विषं द्वयमत्राद्यमसाध्यं पश्चिमं वदेत् ।

जिसमें शरीर पर लाला की क्लिन्नता—गीलापन ही दीखता है, दंष्ट्रा से किया दंश दिखाई नहीं देता, उसे तुण्डाहत कहे । दाढ़ के एक या दो निशान हों परन्तु रक्त न निकले इसको व्यालीढ कहते हैं । दाढ़ के निशान रक्त के साथ हों तो व्यालुप्त कहते हैं । दाढ़ के तीन निशान होने तथा मांस के कटने के कारण निरन्तर रक्त बहने पर दष्टक कहा जाता है । दाढ़ के चार निशान दष्टक की भाँति मांस कटने और निरन्तर रक्तस्राव से युक्त होने से दंष्ट्रानिपीडित कहते हैं । इनमें से पहले दो निर्विष होते हैं, अन्तिम असाध्य हैं तथा व्यालुप्त और दष्टक कष्टसाध्य हैं ।

विष का प्रवेश—

विषं नाहेयमप्राप्य रक्तं दूषयते वपुः ॥ १४ ॥
रक्तमण्वपि तु प्राप्तं वर्धते तैलमम्बुवत् ।

सांप का विष रक्त में पहुँचे बिना शरीर को दूषित नहीं करता (रक्त में पहुँच कर ही शरीर को दूषित करता है)। थोड़े भी रक्त को पाकर विष बढ़ जाता है, जिस प्रकार तैलबिन्दु जल को पाकर फैल जाता है। (रक्त से ही विष फैलता है)।

सर्पाङ्गाभिहत के लक्षण—

भीरोस्तु सर्पसंस्पर्शाद्भयेन कुपितोऽनिलः ॥ १५ ॥
कदाचित्कुरुते शोफं सर्पाङ्गाभिहतं तु तत् ।

डरपोक मनुष्य में साँप के स्पर्श होने से ही भय के कारण कुपित वायु कभी शोफ उत्पन्न कर देती है, इसको 'सर्पाङ्गाभिहत' कहते हैं ।

शंकाविष के लक्षण—

दुर्गान्धकारे विद्धस्य केनचिद्दष्टशङ्कया ॥ १६ ॥
विषोद्वेगो ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत् ।
ग्लानिर्मोहोऽतिसारो वा तच्छङ्काविषमुच्यते ॥१७॥

घोर अन्धकार में किसी निर्विष जीव आदि के काटने पर 'साप ने काटा है' इस शंका के कारण विषजनित मानसिक उद्वेग, ज्वर, मूर्च्छा, दाह, ग्लानि, मोह तथा अतिसार होते हैं, इसको शंकाविष कहते हैं। (विष का प्रभाव ही विष के लक्षणों में कारण है)।

सविष दंश के लक्षण—

तुद्यते सविषो दंशः कण्डूशोफरुजान्वितः ।
दह्यते ग्रथितः किञ्चिद्विपरीतस्तु निर्विषः ॥ १८ ॥

विषयुक्त दंश में चुभने की सी दर्द, कण्डू, शोफ और वेदना होती है । वह जलता और गाँठयुक्त होता है, इससे विपरीत निर्विष होता है ।

दर्वीकर विष के लक्षण—

पूर्वे दर्वीकृतां वेगे दुष्टं श्यावीभवत्यसृक् ।
श्यावता तेन वक्त्रादौ सर्पन्तीव च कीटकाः ॥१९॥
द्वितीये ग्रन्थयो वेगे, तृतीये मूर्ध्नि गौरवम् ।
दृग्रोधो दंशविक्लेदश्चतुर्थे ष्ठीवनं वमिः ॥ २० ॥
सन्धिविश्लेषणं तन्द्रा, पञ्चमे पर्वभेदनम् ।
दाहो हिध्मा च षष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम् ॥२१॥
मूर्च्छा विपाकोऽतीसारः, प्राप्य शुक्रं तु सप्तमे ।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गः, सर्वचेष्टानिवर्तनम् ॥ २२ ॥

दर्वीकर साँप के प्रथम वेग में रक्त दूषित होकर काला पड़ जाता है । इस काले रक्त से मुख, आँख आदि में कालिमा हो जाती है । शरीर पर चीटिया रेंगती हुई प्रतीत होती हैं । विष के दूसरे वेग में (दंशस्थल पर) गाँठें हो जाती हैं । विष के तीसरे वेग में शिर में भारीपन, आखों से दिखाई न देना, दंश का गलना होता है । विष के चौथे वेग में वमन, थूक आना, सन्धियों का अलग होना तथा तन्द्रा होती है । विष के पाचवें वेग में पर्वों का टूटना, जलन और हिक्का होती है । छठे वेग में हृदय में पीड़ा, शरीर में भारीपन, मूर्च्छा, अविपाक (या विपाक-विशेषपाक, दंश में) और अतीसार होते हैं । विष के सातवें वेग में विष शुक्र में पहुँच कर, स्कन्ध, पीठ और दृष्टि को तोड़ देता है और सब चेष्टायें नष्ट हो जाती हैं, रोगी मर जाता है ।

मंडलीक सर्पदष्ट के लक्षण—

अथ मण्डलिदष्टस्य दुष्टं पीतीभवत्यसृक् ।
तेन पीताङ्गता दाहो, द्वितीये श्वयथूद्भवः ॥ २३ ॥
तृतीये दंशविक्लेदः स्वेदस्तृष्णा च जायते ।
चतुर्थे ज्वर्यते, दाहः पञ्चमे सर्वगात्रगः ॥ २४ ॥

मण्डली सांप के काटने पर रक्त दूषित होकर पीला पड़ जाता है, इससे अंगों में पीलापन और दाह होता है। विष के दूसरे वेग में (दंश स्थल में) शोथ उत्पन्न होता है। तीसरे वेग में दंश गलता है, स्वेद और तृष्णा होती है। चौथे वेग में ज्वर होता है। पाचवें वेग में सारे शरीर में दाह होता है ।

राजिमान सर्पदष्ट के लक्षण—

दष्टस्य राजिलैर्दुष्टं पाण्डुतां याति शोणितम् ।
पाण्डुता तेन गात्राणां, द्वितीये गुरुताऽति च ॥२५॥

तृतीये दंशविक्लेदो नासिकाक्षिमुखस्रवाः ।
चतुर्थे गरिमा मूर्ध्नो मन्यास्तम्भश्च, पञ्चमे ॥ २६ ॥
गात्रभङ्गो ज्वरः शीतः—

राजिमान सांपों के काटने पर रक्त पाण्डुर वर्ण हो जाता है। इससे शरीर पाण्डु वर्ण हो जाता है। विष के दूसरे वेग में शरीर के अन्दर बहुत भारीपन, तीसरे वेग में दंश का सड़ना; नासिका, मुख और आँख से स्राव, चौथे वेग में शिर में भारीपन और मन्यास्तम्भ होता है तथा पांचवें वेग में गात्रभंग, ज्वर एवं शीत होता है।

सर्पदष्ट के शेष वेगों के लक्षण तथा असाध्यत्व—

— शेषयोः पूर्ववद्वदेत् ।
कुर्यात्पञ्चसु वेगेषु चिकित्सां, न ततः परम् ॥ २७ ॥

विष के शेष (छठे और सातवें) वेग दर्वीकर की भांति हैं।

विष के पांच वेगों तक चिकित्सा करनी चाहिये, इसके आगे चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

सर्पविष में न्यूनता के कारण—

जलाप्लुता रतिक्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः ।
शीतवातातपव्याधिक्षुत्तृष्णाश्रमपीडिताः ॥ २८ ॥
तूर्णं देशान्तरायाता विमुक्तविषकञ्चुकाः ।
कुशौषधीकण्टकवद्ये चरन्ति च काननम् ॥ २९ ॥
देशं च दिव्याध्युषितं सर्पास्तेऽल्पविषा मताः ।

पानी में डूबे, रति से क्षीण, डरे हुए, नेवले से पराजित, शीत, वायु, धूप, रोग, भूख, प्यास और श्रम से पीड़ित, दूसरे देश से तुरन्त आये हुए; विष और केंचुली जिन्होंने उतारी हो; कुशा, औषधि और कांटों से भरे जंगल में जो विचरते हों, देवता आदि से अधिष्ठित देशों में जो रहते हों; वे सांप अल्पविष वाले होते हैं।

वक्तव्य—चरक और सुश्रुत में वृद्ध सांपों को मन्द विष वाला कहा है। सुश्रुत में 'सुपर्णदेवब्रह्मर्षिसूतसिद्धनिषेविते। विषघ्नौषधजुष्टे च देशे न क्रमते विषम् ॥'

दंश की असाध्यता—

श्मशानचितिचैत्यादौ पञ्चमीपक्षसन्धिषु ॥ ३० ॥
अष्टमीनवमीसन्ध्यामध्यरात्रिदिनेषु च ।
याम्याग्नेयमघाश्लेषाविशाखापूर्वनैर्ऋते ॥ ३१ ॥
नैर्ऋताख्ये मुहूर्ते च दष्टं मर्मसु च त्यजेत् ।
दष्टमात्रः सितास्याक्षः शीर्यमाणशिरोरुहः ॥ ३२ ॥
स्तब्धजिह्वो मुहुर्मूर्च्छन् शीतोच्छ्वासो न जीवति ।
हिध्मा श्वासो वमिः कासो दष्टमात्रस्य देहिनः ॥३३॥
जायन्ते युगपद्यस्य स हृच्छूली न जीवति ।

श्मशान, चिति (चिता या याज्ञिकों का अग्नि-चयन-स्थान), चैत्य (ग्रामतरु, ग्रामदेवता); पञ्चमी, अमावास्या और पूर्णिमा, अष्टमी, नवमी, सन्ध्याकाल, मध्यरात्र, मध्यदिन, याम्य (भरणी), कृत्तिका, मघा, आश्लेषा, विशाखा, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाभाद्रपदा, नैर्ऋत (मूल) नक्षत्र, नैर्ऋत मुहूर्त (सन्ध्योदय, द्वादश मुहूर्त); इनमें और मर्मों में सांप से काटे हुए की चिकित्सा न करे।

सांप के काटते ही जिस मनुष्य का मुख और आंख श्वेत पड़ जावें, शिर के बाल झड़ने लगे, जिह्वा नहीं उठे, बार बार मूर्च्छा आती हो तथा उच्छ्वास ठण्डा हो, वह नहीं जीता।

जिसको हिक्का, श्वास, वमन, कास और हृदयशूल एक साथ में उत्पन्न हो जाते हैं, वह मनुष्य नहीं बचता।

विष से मरणासन्न के लक्षण—

फेनं वमति निःसंज्ञः श्यावपादकराननः ॥ ३४ ॥
नासावसादो भङ्गोऽङ्गे विड्भेदः श्लथसन्धिता ।
विषपीतस्य दष्टस्य दिग्धेनाभिहतस्य च ॥ ३५ ॥
भवन्त्येतानि रूपाणि सम्प्राप्ते जीवितक्षये ।

मुख से झाग का वमन हो, बेहोशी हो जाय, हाथ-पैर तथा मुख काले पड़ जायें, नाक बैठ जाय, अङ्गों में भङ्ग हो; अतीसार और सन्धियों में शिथिलता हो; ये लक्षण मृत्यु की घड़ी आ जाने पर, विष पीये हुए, सर्प से काटे हुए, विषलिप्त शस्त्र से चोट लगने पर होते हैं।

विष से मृत के लक्षण—

न नस्यैश्चेतना तीक्ष्णैर्न क्षतात् क्षतजागमः ॥ ३६ ॥
दण्डाहतस्य नो राजिः प्रयातस्य यमान्तिकम् ।

तीक्ष्ण नस्यों से जिसे चेतना न आये, क्षत से जिसमें रक्त न बहे और दण्डे से मारने पर रेखायें न उठें, वह मरने वाला है।

सर्पदंश-चिकित्सा—

अतोऽन्यथा तु त्वरया प्रदीप्तागारवद्भिषक् ॥ ३७ ॥
रक्षन् कण्ठगतान् प्राणान् विषमाशु शमं नयेत् ।
मात्राशतं विषं स्थित्वा दंशे दष्टस्य देहिनः ॥ ३८ ॥
देहं प्रक्रमते धातून् रुधिरादीन् प्रदूषयत् ।
एतस्मिन्नन्तरे कर्म दंशस्योत्कर्तनादिकम् ॥ ३९ ॥
कुर्याच्छीघ्रं यथा देहे विषवल्ली न रोहति ।
दष्टमात्रो दशेदाशु तमेव पवनाशिनम् ॥ ४० ॥
लोष्टं महीं वा दशनैश्छित्वा चानु ससम्भ्रमम् ।
निष्ठीवेन समालिम्पेद्दंशं कर्णमलेन वा ॥ ४१ ॥
दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टां चतुरङ्गुले ।
क्षौमादिभिर्वेणिकया सिद्धैर्मन्त्रैश्च मन्त्रवित् ॥ ४२ ॥
अम्बुवत् सेतुबन्धेन बन्धेन स्तभ्यते विषम् ।
न वहन्ति सिराश्चास्य विषं बन्धाभिपीडिताः ॥ ४३ ॥

इससे (पूर्वोक्त असाध्य लक्षणों और अवस्थाओं से) विपरीत अवस्थाओं में वैद्य जलते हुए घर की भांति जल्दी से गले में पहुँचे प्राणों की रक्षा के लिये विष को अतिशीघ्र शान्त करे।

काटे हुए पुरुष के दंश में विष एक सौ मात्रा काल तक

रह कर रक्त आदि धातुओं को दूषित करता हुआ शरीर में फैलता है। इसी बीच में दंश में उत्कर्तन आदि कार्य बहुत जल्दी जैसे बने वैसे करे, जिससे विष की वल्ली (वेल) शरीर में उत्पन्न न हो। (उत्कर्तन, आदि से चरकोक्त चौबीस उपक्रम समझना)।[1]

काटते ही उसी सांप को काट लेना चाहिये। अथवा मिट्टी के ढेले या पृथ्वी को दांतों से काटकर तुरन्त विश्वास के साथ ही थूक से दंश, अथवा कान की मैल से दंश पर लेप करे।

दंशस्थान से चार अङ्गुल ऊपर क्षौम आदिसे बनी या वेणी (बालों को गूथने से बनी) अरिष्टा (रस्सी) को सिद्ध मंत्रों से मंत्र को जानने वाला बांधे। पुल बांधने से जिस प्रकार पानी नहीं फैलता, उसी प्रकार इस अरिष्टा के बांधने से विष रुक जाता है। बन्ध से दबी हुई सिरायें इस पुरुष में विष को आगे नहीं ले जातीं। (अरिष्टेति मन्त्रसूत्रवेणिकाया नाम, इतीन्दुः। किन्तु विष का प्रसार रोकने के लिए बन्धन करना अत्यावश्यक है। मन्त्र जाननेवाले बन्धनकर्ता या मन्त्र सिद्ध अरिष्टा की खोज में समय न गवाँकर तत्काल जिस किसी भी मजबूत रस्सी से कोई भी कसकर बांध दे।)

दंशबंधन के बाद कर्तव्य—

निष्पीड्यानूद्धरेद् दंशं मर्मसन्ध्यगतं तथा।
न जायते विषाद्वेगो बीजनाशादिवाङ्कुरः॥ ४४॥

इसके पीछे मर्म और संधि स्थान को छोड़कर अन्य स्थान पर दबा कर दंश को काटकर निकाल देवे। इससे विष का वेग नहीं बढ़ता, जिस प्रकार बीज के नाश से अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता।

दंश-दहन—

दंशं मण्डलिनां मुक्त्वा पित्तलत्वादथापरम्।
प्रतप्तैर्हेमलोहाद्यैर्दहेद्वाशूल्मुकेन वा॥४५॥
करोति भस्मसात्सद्यो वह्निः किं नाम तु क्षतम्।

मण्डली सर्पों का दंश पित्तकारक होने के कारण इसको छोड़कर दूसरे सांपों के दंश को गरम किये लोहे, स्वर्ण आदि से तुरन्त जला दे अथवा उल्मुक (तिनकों की आग लूकी) से जलाये। क्योंकि अग्नि सब वस्तुओं को तुरन्त जला देती है, फिर क्षत का क्या कहना (उसे तो जला ही देगी।)

आचूषण—

आचूषेत् पूर्णवक्त्रो वा मृद्भस्मागदगोमयैः॥४६॥
प्रच्छायान्तररिष्टाया मांसलं तु विशेषतः।
अङ्गं सहैव दंशेन लेपयेदगदैर्मुहुः॥४७॥
चन्दनोशीरयुक्तेन सलिलेन च सेचयेत्।

मुख को मिट्टी, राख, अगद या गोबर से भरकर अरिष्टा के बीच में पाछ कर विष को चूसे। मांसल प्रदेश में विशेष कर पाछ करके चूसे। अगदों से दंश के साथ अङ्ग पर लेप बार २ करे। अथवा चन्दन तथा खस से मिले जल से परिषेक करे।

सिरावेधन—

विषे प्रविसृते विध्येत्सिरां सा परमा क्रिया॥
रक्ते निर्ह्रियमाणे हि कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्।

विष के शरीर में फैल जाने पर सिरा का वेध करे, यही उसकी उत्तम चिकित्सा है। रक्त के निकलने से सम्पूर्ण विष निकल जाता है। (इसके लिए दंश से ही रक्त बहाना चाहिए।)

विषाक्त रक्त का लक्षण—

दुर्गन्धं सविषं रक्तमग्नौ चटचटायते॥ ४९॥
यथादोषं विशुद्धं च पूर्ववल्लक्षयेदसृक्।

विषयुक्त और दुर्गन्धयुक्त रक्त अग्नि में चटचटाता है। रक्त की शुद्धता एवं उसके दोषों को पहले (सिराव्यध विधि में) कहे लक्षणों के अनुसार जाने।

शृङ्गादि से रक्तहरण—

सिरास्वदृश्यमानासु योज्याः शृङ्गजलौकसः॥५०॥

शोफ आदि से शिरा के न मिलने पर सींग या जोंक को बरतना चाहिये।

रक्त निकलने के बाद शेष विष का शमन—

शोणितं स्रुतशेषं च प्रविलीनं विषोष्मणा।
लेपसेकैः सुबहुशः स्तम्भयेद् भृशशीतलैः॥५१॥

निकलने से बचे विष की गरमी से द्रवीभूत रक्त के अतिशय शीतल लेप और सेकों का बार बार प्रयोग करके रोके। (न केवल रोके अपितु जमा दे।)

संशमन विधि—

अस्कन्ने विषवेगाद्धि मूर्च्छायमदहृद्द्रवाः।
भवन्ति ताञ्जयेच्छीतैर्वीजेच्चारोमहर्षतः॥ ५२॥
स्कन्ने तु रुधिरे सद्यो विषवेगः प्रशाम्यति।

क्योंकि रक्त के न जमने पर (यदि कुछ विष रह गया है तो) विषवेग के कारण मूर्च्छा, मद तथा हृदय की शीघ्रगति उत्पन्न होती है। इनके लिए शीतल उपचार करे और पङ्खों से हवा करे, जब तक कि शरीर में रोमाञ्च न हो। रक्त के जम (रुक) जाने पर विष का वेग तुरन्त शान्त हो जाता है।

विषार्त के हृदय की रक्षा—

विषं कर्षति तीक्ष्णत्वाद्धृदयं तस्य गुप्तये॥ ५३॥
पिबेद्घृतं घृतक्षौद्रमगदं वा घृताप्लुतम्।
हृदयावरणे चास्य श्लेष्मा हृद्युपचीयते॥ ५४॥

तीक्ष्ण होने से विष हृदय को खींचता है-हानि करता है। इसलिये हृदय की रक्षा के लिये घी को या घी और मधु को अथवा घी से द्रवीभूत किये अगद को पिये। पुरुष के हृदय का आवरण होने पर श्लेष्मा हृदय में बढ़ता है।

---

[1] मन्त्रारिष्टोत्कर्तननिष्पीडनचूषणाग्निपरिषेकाः। अवगाहनरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि॥ हृदयावरणाञ्जननस्यधूमलेहौषधप्रधूपनानि। प्रतिसारणं प्रतिविषं संज्ञासंस्थापनं लेपः॥ मृतसंजीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरधिकाः॥ (च. चि. अ. २३।३५)

वमनकर विधि—

प्रवृत्तगौरवोत्क्लेशहृल्लासं वामयेत्ततः ।
द्रवैः काञ्जिककौलत्थतैलमद्यादिवर्जितैः ॥ ५५ ॥
वमनैर्विषहृद्भिश्च नैवं व्याप्नोति तद्वपुः ।
भुजङ्गदोषप्रकृतिस्थानवेगविशेषतः ॥ ५६ ॥
सुसूक्ष्मं सम्यगालोच्य विशिष्टां चाचरेत्क्रियाम् ।

भारीपन, जी मिचलाना और हृल्लास होने पर इस रोगी को कांजी, कुलथी, तैल तथा मद्य आदि के अतिरिक्त द्रवों से वमन कराये और विषनाशक वमनों से वमन कराये। इस प्रकार करने से विष से पीड़ित व्यक्ति के शरीर में विष नहीं फैलता।

भुजंग (दर्वीकर आदि), दोष (वातादि), प्रकृति (कायिक और मानसिक); स्थान (भूमि तथा आतुरशरीर-इनमें भूमि-अश्वत्थ-देवायतनादि; आतुरशरीर-मर्मादि), तथा वेग की विशेषताओं को सूक्ष्म रूप से भली प्रकार देखकर विशेष क्रिया (चिकित्सा) करे।

शमन का प्रयोग—

सिन्दुवारितमूलानि श्वेता च गिरिकर्णिका ॥ ५७ ॥
पानं दर्वीकरैर्दष्टे नस्यं मधु सपाकलम् ।

दर्वीकर सांप के दंश में सिन्दुवार के मूल, बचा और अपराजिता को जल के साथ पिलाये और कुष्ठ का मधु के साथ नस्य देवे। (श्वेता-श्वेतवच, इति इन्दुः श्वेता चेति गिरिकर्णिका विशेषणम्, तेन श्वेतापराजिता इति चक्रः)।

कृष्णसर्पदंश चिकित्सा—

कृष्णसर्पेण दष्टस्य लिम्पेद् दंशं हृतेऽसृजि ॥ ५८ ॥
चारटीनाकुलीभ्यां वा तीक्ष्णमूलविषेण वा ।
पानं च क्षौद्रमञ्जिष्ठागृहधूमयुतं घृतम् ॥ ५९ ॥

काले सांप के काटने पर रक्त को निकाल कर दंश पर चारटी (पद्मचारिणी) तथा नाकुली (सर्पगन्धा) से लेप करे। अथवा तीक्ष्णमूल विष (वत्सनाभ आदि) से लेप करे। मधु, मजीठ और घर के धुंवा से मिले घी का पान करे (नाकुली-रास्ना, इति शिवदाससेनः)।

मेघनाद अगद—

तण्डुलीयककाश्मर्यकिणिहीगिरिकर्णिकाः ।
मातुलुङ्गी सिता शेलुः पाननस्याञ्जनैर्हितः ॥ ६० ॥
अगदः फणिनां घोरे विषे राजीमतामपि ।

चौलाई, गम्भारी, चिरचिटा, अपराजिता, बिजौरा, शर्करा, बहुवार (लिसोड़ा या चालता) इसका पान, नस्य और अञ्जन हितकारी है। भयानक फणधर सांपों के विष में और राजिमान सांपों के विष में यह उत्तम अगद है।

नाकुल्यादि अगद—

समाः सुगन्धामृद्वीकाश्वेताख्यागजदन्तिकाः ॥ ६१ ॥
अर्धांशं सौरसं पत्रं कपित्थं बिल्वदाडिमम् ।
सक्षौद्रो मण्डलिविषे विशेषादगदो हितः ॥ ६२ ॥

सुगन्धा (गन्धनाकुली), मृद्वीका, कोयला, गजदन्तिका (गजवृत्तिका, इति शिवदाससेनः; नागवृत्तिका-शल्लकी, इति सुश्रुतः); ये समान भाग; तुलसी के पत्ते, कैथ; बेल और अनार; ये आधे; ये मधु के साथ मण्डली विष में विशेष रूप से हितकारी अगद हैं।

हिमवान अगद—

पञ्चवल्कवरायष्टीनागपुष्पैलबालुकम् ।
जीवकर्षभकौ शीतं सिता पद्मकमुत्पलम् ॥ ६३ ॥
सक्षौद्रो हिमवान्नाम हन्ति मण्डलिनां विषम् ।
लेपाच्छ्वयथुवीसर्पविस्फोटज्वरदाहहा ॥ ६४ ॥

पांचों वल्कल[1] (क्षीरी वृक्षों के), त्रिफला, मुलहठी, नागकेशर, एलवालुक, जीवक, ऋषभक, शीत (चन्दन), शर्करा, पद्माख, कमल; इनको मधु के साथ बरते। हिमवान् नाम का यह अगद लेप से मण्डली सांपों के विष को तथा वीसर्प, श्वयथु, विस्फोट और ज्वर-दाह को नष्ट करता है।

मंडली सर्पदंश की चिकित्सा—

काश्मर्यं वटशुङ्गानि जीवकर्षभकौ सिता ।
मञ्जिष्ठा मधुकं चेति दष्टो मण्डलिना पिबेत् ॥६५॥

मण्डली से काटा मनुष्य गम्भीरी, बरगद के कोपल, जीवक, ऋषभक, शर्करा, मजीठ और मुलहठी को पीये।

गोनस सर्पविषनाशक अगद—

वंशत्वग्बीजकटुकापाटलीबीजनागरम् ।
शिरीषबीजातिविषे मूलं गावेधुकं वचा ॥ ६६ ॥
पिष्टो गोवारिणाऽष्टाङ्गो हन्ति गोनसजं विषम् ।

बांस की छाल; बांस के बीज, कुटकी, पाटलीबीज, सोंठ, शिरीष के बीज, अतीस, गवेधुक का मूल, वच; इनको गोमूत्र से पीसे। (गोनस—फणरहित सांप)।

राजीमान विष में—

कटुकातिविषाकुष्ठगृहधूमहरेणुकाः ॥ ६७ ॥
सक्षौद्रव्योषतगरा घ्नन्ति राजीमतां विषम् ।

कुटकी, अतीस, कूठ, घर का धुंवासा, हरेणु, त्रिकटु, तगर; इनको मधु के साथ पीने से राजीमान् सांपों का विष नष्ट होता है।

काण्डचित्रासर्पिणीदंशचिकित्सा—

निखनेत्काण्डचित्राया दंशं यामद्वयं भुवि ॥ ६८ ॥
उद्धृत्य प्रच्छितं सर्पिर्धान्यमृद्भ्यां प्रलेपयेत् ।
पिबेत्पुराणं च घृतं वराचूर्णावचूर्णितम् ॥ ६९ ॥
जीर्णे विरिक्तो भुञ्जीत यवान्नं सूपसंस्कृतम् ।

काण्डचित्रा (सर्पविशेष) से दष्ट स्थान को दो याम तक भूमि में गाड़कर रखे बाद उखाड़ कर पोछकर घी एवं धान्य और मिट्टीसे लेप करे। त्रिफलाके चूर्ण से मिले पुरातन घृत को

---

१. सल्लकीजिङ्गिणीजम्बूधवशाल्मलिकात्वचः ।
पञ्चवल्कलसंज्ञोऽयं मुनिभिः परिकीर्तितः ॥

पिये। इस घृत के जीर्ण होने पर विरेचन लेकर अच्छी प्रकार बनाये (अथवा सूप से संस्कारित) जौ के भोजन को करे। (सूपः—तक्रादिभिः सिद्धः उपदंशविशेषः)।

व्यन्तरसर्पदंशचिकित्सा—

करवीरार्ककुसुममूललाङ्गलिकाकणाः ॥ ७० ॥
कल्कयेदारनालेन पाठामरिचसंयुताः ।
एष व्यन्तरदष्टानामगदः सार्वकार्मिकः ॥ ७१ ॥

कनेर और आक की जड़ एवं फूल, कलिहारी, पिप्पली, पाठा और मरिच को काञ्जी से पीस ले। यह अगद व्यन्तर सांपों के लिये पान, नस्य, अञ्जन और लेप आदि सब कार्य में बरता जाता है।

शिरीषपुष्पस्वरसे सप्ताहं मरिचं सितम् ।
भावितं सर्पदष्टानां पाननस्याञ्जने हितम् ॥ ७२ ॥

श्वेत मरिचां (सहजने के बीजों) को सात दिन तक शिरीषपुष्प के स्वरस में भावना देकर सर्पों से काटे हुए व्यक्तियों के पान, नस्य और अञ्जन में बरतना उत्तम है।

द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रं चतुष्पलम् ।
अपि तक्षकदष्टानां पानमेतत्सुखप्रदम् ॥ ७३ ॥

तगर और कूठ दो पल, घी और मधु चार पल पीना तक्षक से भी काटे व्यक्तियों को सुख देने वाला है।

दर्वीकरसर्पविषचिकित्सा—

अथ दर्वीकृतां वेगे पूर्वे विस्राव्य शोणितम् ।
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं त्वरितं पिबेत् ॥ ७४ ॥
द्वितीये वमनं कृत्वा तद्वदेवागदं पिबेत् ।
विषापहे प्रयुञ्जीत तृतीयेऽञ्जननावने ॥ ७५ ॥
पिबेच्चतुर्थे पूर्वोक्तां यवागूं वमने कृते ।
षष्ठपञ्चमयोः शीतैर्दिग्धं सिक्तमभीक्ष्णशः ॥ ७६ ॥
पाययेद्वमनं तीक्ष्णं यवागूं च विषापहैः ।
अगदं सप्तमे तीक्ष्णं युञ्ज्यादञ्जननस्ययोः ॥ ७७ ॥
कृत्वाऽवगाढं शस्त्रेण मूर्ध्नि काकपदं ततः ।
मांसं सरुधिरं तस्य चर्म वा तत्र निक्षिपेत् ॥ ७८ ॥

दर्वीकर सांपों के प्रथम वेग में रक्त को निकालकर मधु और घृत से मिश्रित अगद को जल्दी से पिये।

दूसरे वेग में वमन करके प्रथम की भाँति अगद को पिये। तीसरे वेग में बिषनाशक अञ्जन और नस्य बरते।

विष के चौथे वेग में वमन करके पूर्वोक्त यवागू को पिये। पांचवें और छठे वेग में शीतल वस्तुओं से बार बार लेप और परिषेक करके तीक्ष्ण वमन और बिषनाशक द्रव्यों से बनी यवागू पिलाये।

विष के सातवें वेग में अञ्जन और नस्य में तीक्ष्ण अगद बरते। शस्त्र से शिर पर गहरा काकपद चिह्न बनाकर इसमें रक्तमिश्रित मांस को या चर्म को रख देवे।

मण्डलिसर्पविषचिकित्सा—

तृतीये वमितः पेयां वेगे मण्डलिनां पिबेत् ।
अतीक्ष्णमगदं षष्ठे गणं वा पद्मकादिकम् ॥ ७९ ॥

मण्डलियों के तीसरे वेग में वमन करके पेया को पिये। छठे वेग में अतीक्ष्ण अगद या पद्मकादि गण को पिये। (शेष वेगों में पूर्ववत् उपचार करे।)

राजिलसर्पविषचिकित्सा—

आद्येऽवगाढं प्रच्छाय वेगे दष्टस्य राजिलैः ।
अलाबुना हरेद्रक्तं पूर्ववच्चागदं पिबेत् ॥ ८० ॥
षष्ठेऽञ्जनं तीक्ष्णतममवपीडं च योजयेत् ।
अनुक्तेषु च वेगेषु क्रियां दर्वीकरोदिताम् ॥ ८१ ॥

राजिल सांपों के काटने पर प्रथम वेग में गहरा पाछ कर तुम्बी से रक्त निकाल कर पूर्व की भांति अतीक्ष्ण अगद पिये।

विष के छठे वेग में अतिशय तीक्ष्ण अञ्जन और अवपीडन बरते।

जिन वेगों के लिए कोई चिकित्सा नहीं कही है; उनमें दर्वीकर सांपों के वेगों की चिकित्सा करे।

गर्भिणी, बालक तथा वृद्ध मृदु सर्पदंशचिकित्सा—

गर्भिणीबालवृद्धेषु मृदु, विध्येत्सिरां न च ।

गर्भवती, बालक और वृद्ध पुरुषों में मृदु क्रिया करे। सिरा का वेधन न करे।

सामान्य सर्पविष में वज्रागद—

त्वङ्मनोह्वा निशे वक्रं रसः शार्दूलजो नखः ॥ ८२ ॥
तमालः केसरं शीतं पीतं तण्डुलवारिणा ।
हन्ति सर्वविषाण्येतद्वज्रं वज्रमिवासुरान् ॥ ८३ ॥

दालचीनी, मैनसिल, हल्दी, दारुहल्दी, तगर, पारद, शेर का नख, तमालपत्र, केशर, चन्दन; ये चावल के पानी से पीने पर सब विषों को नष्ट करते हैं। यह वज्र नामक अगद, वज्र जैसे राक्षस को मार देता है, वैसे विष को नष्ट करता है।

बिल्वाद्यगद—

बिल्वस्य मूलं सुरसस्य पुष्पं
फलं करञ्जस्य नतं सुराह्वम् ।
फलत्रिकं व्योषनिशाद्वयं च
बस्तस्य मूत्रेण सुसूक्ष्मपिष्टम् ॥ ८४ ॥
भुजङ्गलूताम्दुरवृश्चिकाद्यै-
र्विसूचिकाजीर्णगरज्वरैश्च ।
आर्तान्नरान् भूतविधर्षितांश्च
स्वस्थीकरोत्यञ्जनपाननस्यैः ॥ ८५ ॥

बिल्व का मूल, तुलसी के पुष्प, करंज का फल, तगर, देवदारु, त्रिफला, त्रिकटु, हल्दी, दारुहल्दी, इनको बकरे के मूत्र में बारीक पीस ले। यह अगद पान, अञ्जन और नस्य से सांप, लूता, चूहा और बिच्छू के विषों से तथा विसूचिका, अजीर्ण, गर और ज्वर से पीड़ित मनुष्यों को तथा भूतों से आक्रान्त व्यक्तियों को स्वस्थ करता है।

दंश-स्थान का विषहरण—

प्रलेपाद्यैश्च निःशेषं दंशादप्युद्धरेद्विषम् ।
भूयो वेगाय जायेत शेषं दूषीविषाय वा ॥ ८६ ॥

प्रलेप आदि द्वारा दंश से भी सम्पूर्ण विष को निकाल देना चाहिये। क्योंकि विष के शेष रहने से पुनः आक्रमण होता है; या दूषीविष उत्पन्न हो जाता है।

विषशमनानन्तर प्रयोग—

विषापायेऽनिलं क्रुद्धं स्नेहादिभिरुपाचरेत् ।
तैलमद्यकुलत्थाम्लवर्ज्यैः पवननाशनैः ॥ ८७ ॥
पित्तं पित्तज्वरहरैः कषायस्नेहवस्तिभिः ।
समाक्षिकेण वर्गेण कफमारग्वधादिना ॥ ८८ ॥

विष के हटने पर कुपित वायु को स्नेहन आदि से शान्त करे। तैल, मद्य, कुलथी और अम्ल को छोड़कर वायुनाशक वस्तुओं से वायु को शान्त करे। पित्तज्वरनाशक कषाय तथा स्नेह वस्तियों से पित्त को शान्त करे। मधुमिश्रित आरग्वधादि गण से कफ को शान्त करे।

शंकाविषचिकित्सा—

सिता वैगन्धिको द्राक्षा पयस्या मधुकं मधु ।
पानं समन्त्रपूताम्बु प्रोक्षणं सान्त्वहर्षणम् ॥ ८९ ॥
सर्पाङ्गाभिहते युञ्ज्यात्तथा शङ्काविषार्दिते ।

सर्पाङ्गाभिहत एवं शंकाविष से पीड़ित व्यक्ति में शर्करा, गन्धक (शुद्ध), द्राक्षा, विदारी, मुलहठी, मधु; इनका पान करे। मंत्र से प्रोक्षित जल से प्रोक्षण करे, सान्त्वना दे, (हर्ष कराये।) 'वैगन्धिको' के स्थान पर 'त्रैगन्धिकम्' पाठ है और उसका त्रिसुगन्धि अर्थ है)।

सर्पविषनाशक मणि—

कर्केतनं मरकतं वज्रं वारणमौक्तिकम् ॥ ९० ॥
वैडूर्यं गर्दभमणिं पिचुकां विषमूषिकाम् ।
हिमवद्गिरिसम्भूतां सोमराजीं पुनर्नवाम् ॥ ९१ ॥
तथा द्रोणां महाद्रोणां मानसीं सर्पजं मणिम् ।
विषाणि विषशान्त्यर्थं वीर्यवन्ति च धारयेत् ॥ ९२ ॥

कर्केतन (पद्मराग), मरकत, वज्र (हीरा), वारणमौक्तिक (गजमुक्ता), वैडूर्य, गर्दभमणि, पिचुका, विषमूषिका, हिमालय पर्वत में उत्पन्न सोमराजी, पुनर्नवा, द्रोणी, महाद्रोणी, मानसी, सर्प की मणि; इनको तथा वीर्यशाली विषों को विष की शान्ति के लिये धारण करे।

सर्पभयनाशक उपाय—

छत्री झर्झरपाणिश्च चरेद्रात्रौ विशेषतः ।
तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्ति भुजङ्गमाः ॥९३॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने सर्पविषप्रतिषेधो नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

* * *

छाता एवं झनझन करता हुआ लोह का टुकड़ा लेकर दिन में चले, रात्रि में तो विशेष कर चले। इसकी छाया और शब्द से डरे हुए साँप भाग जाते हैं।

वक्तव्य दिन में छाता लेकर चले और रात में झनझन करने वाली लकड़ी लेकर चले, आजकल टॉर्च भी लेकर चले।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का सर्पविषप्रतिषेध नामक छत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

* * *

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

अथातः कीटलूतादिविषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब इसके आगे कीटलूतादिविषप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

चार प्रकार के विषकीट—

सर्पाणामेव विण्मूत्रशुक्राण्डशवकोथजाः ।
दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च युक्ताः कीटाश्चतुर्विधाः ॥ १ ॥

सांपों के ही विष्ठा, मूत्र, शुक्र, अण्डे और शव के सड़ने से चार प्रकार के कीट-वातोल्बण, पित्तोल्बण, कफोल्बण और सन्निपातोल्बण उत्पन्न होते हैं।

वात, पित्त, कफ तथा सन्निपात से जन्य कीटदंश के लक्षण—

दष्टस्य कीटैर्वायव्यैर्दंशस्तोदरुजोल्बणः ।
आग्नेयैरल्पसंस्रावो दाहरागविसर्पवान् ॥ २ ॥
पक्वपीलुफलप्रख्यः खर्जूरसदृशोऽथवा ।
कफाधिकैर्मन्दरुजः पक्वोदुम्बरसन्निभः ॥ ३ ॥
स्रावाढ्यः सर्वलिङ्गस्तु विवर्ज्यः सान्निपातिकैः ।

वातप्रधान कीटों के दंश से प्रबल तोद एवं पीड़ा होती है।

आग्नेय (पित्तप्रधान) कीटों के दंश से थोड़ा स्राव, दाह, सुर्खी तथा विसर्प होता है। दंश स्थान पके हुए पीलु-फल के समान अथवा खर्जूर के समान होता है।

कफ की अधिकता वाले कीटों के दंश से दर्द कम तथा स्थान पके हुए गूलर के समान होता है।

सान्निपातिक कीटों का दंश स्राव की अधिकता वाला तथा सब लक्षणों वाला होता है, यह असाध्य है।

कीटदष्ट के वेगों का लक्षण—

वेगाश्च सर्पवच्छोफो वर्धिष्णुर्विस्ररक्तता ॥ ४ ॥
शिरोऽक्षिगौरवं मूर्च्छा भ्रमः श्वासोऽतिवेदना ।

इनके विष के वेग सर्पों की भांति होते हैं। शोफ बढ़ने वाला, रक्त आमगन्धयुक्त, शिर और आँख में भारीपन, मूर्च्छा, भ्रम, श्वास और अतिवेदना होती है।

कीटविशेष के सामान्य लक्षण—

सर्वेषां कर्णिका शोफो ज्वरः कण्डूररोचकः ॥ ५ ॥

सब कीटों के दंश में कर्णिका (मांस का अंकुर), शोफ, ज्वर, कण्डू और अरोचक होता है।

वृश्चिक (बिच्छू) विष के लक्षण—

वृश्चिकस्य विषं तीक्ष्णमादौ दहति वह्निवत् ।
ऊर्ध्वमारोहति क्षिप्रं दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥ ६ ॥
दंशः सद्योऽतिरुक् श्यावस्तुद्यते स्फुटतीव च ।

बिच्छू का विष तीक्ष्ण होता है, प्रारम्भ में अग्नि की भांति जलाता है, जल्दी ही ऊपर को चढ़ता है, पीछे से दंशस्थान पर रहता है, दंशस्थान में तुरन्त अतिवेदना होती है, वह श्याव वर्ण होता है, चुभता है और और फटता हुआ प्रतीत होता है।

बिच्छू के भेद—

ते गवादिशकृत्कोथाद्दिग्धदष्टादिकोथतः ॥ ७ ॥
सर्पकोथाच्च सम्भूता मन्दमध्यमहाविषाः ।

ये बिच्छू गौ आदि के गोबर के सड़ने से, विष से दिग्ध या विषैले जानवर के काटे प्राणी के सड़ने से और सांपों के गलने से उत्पन्न होते हैं। ये बिच्छू क्रमशः मन्दविष, मध्यविष और महाविष होते हैं।

मन्दविष बिच्छू के लक्षण—

मन्दाः पीताः सिताः श्यावा रूक्षाः कर्बुरमेचकाः ॥
रोमशा बहुपर्वाणो लोहिताः पाण्डुरोदराः ।

मन्दविष वाले बिच्छू पीले, श्वेत, काले, रूक्ष, नानावर्ण के, कृष्णवर्ण, रोमवाले, पूंछ पर बहुत-सी सन्धियों वाले लोहित वर्ण और पाण्डुर पेट वाले होते हैं।

मध्यविष बिच्छू के लक्षण—

धूम्रोदरास्त्रिपर्वाणो मध्यास्तु कपिलारुणाः ॥ ९ ॥
पिशङ्गाः शबलाश्चित्राः शोणिताभा--

मध्यविष वाले बिच्छू धूम्र वर्ण के पेट वाले, तीन पर्व के, कपिल, अरुण, पिशङ्ग, शबल और श्वित्रवर्ण तथा रक्त की कान्ति के होते हैं।

महाविष बिच्छू के लक्षण—

महाविषाः ।
अग्न्याभा द्व्येकपर्वाणो रक्तासितसितोदराः ॥ १० ॥

महाविष वाले बिच्छू अग्नि के समान वर्ण के, दो या एक पर्व के, लाल, काले या श्वेत उदर के होते हैं।

महाविष बिच्छू से दष्ट के लक्षण—

तैर्दष्टः शूनरसनः स्तब्धगात्रो ज्वरार्दितः ।
खैर्वमन् शोणितं कृष्णमिन्द्रियार्थानसंविदन् ॥ ११ ॥
स्विद्यन् मूर्च्छन् विशुष्कास्यो विह्वलो वेदनातुरः ।
विशीर्यमाणमांसश्च प्रायशो विजहात्यसून् ॥ १२ ॥

इन बिच्छुओं के काटने से जिह्वा सूजी हुई, शरीर जकड़ा हुआ, ज्वर से पीड़ित, नाक, कान, मुख आदि से काला रक्त का बाहर आना, इन्द्रियों के विषय का ज्ञान न होना, पसीना, मूर्च्छा, मुख का सूखना, बेचैनी, वेदना और मांस का झड़ना होता है, प्रायः करके यह रोगी प्राणों को छोड़ देता है।

उच्चिटिंग बिच्छू के लक्षण—

उच्चिटिङ्गस्तु वक्त्रेण दशत्यभ्यधिकव्यथः ।
साध्यतो वृश्चिकात् स्तम्भं शेफसो हृष्टरोमताम् ॥१३॥
करोति सेकमङ्गानां देशः शीताम्बुनेव च ।
उष्ट्रधूमः स एवोक्तो रात्रिचाराच्च रात्रिकः ॥ १४ ॥

उच्चिटिंग बिच्छू मुख से काटता है, इसमें दूसरे साध्य बिच्छू से अधिक पीड़ा होती है। मेहन में स्तम्भन और रोमांच हो जाता है। दंश के कारण अंगों पर शीतल जल का परिषेक किया प्रतीत होता है। इसी को उष्ट्रधूम कहते हैं, और रात्रि में चलने से रात्रिक कहते हैं।

कीटादिकों में दोषभेद—

वातपित्तोत्तराः कीटाः, श्लैष्मिकाः कणभोन्दुराः ।
प्रायो वातोल्बणविषा वृश्चिकाः सोष्ट्रधूमकाः ॥१५॥
यस्य यस्यैव दोषस्य लिङ्गाधिक्यं प्रतर्कयेत् ।
तस्य तस्यौषधैः कुर्याद्विपरीतगुणैः क्रियाम् ॥१६॥

कीट वात तथा पित्त की अधिकता वाले होते हैं। कणभ और चूहे कफ की अधिकता वाले, बिच्छू और उष्ट्रधूम प्रायः करके वातप्रधान विष वाले होते हैं।

जिस-जिस दोष के लक्षणों की अधिकता देखे, उसी-उसी दोष के विपरीत गुणवाली ओषधियों से चिकित्सा करे।

वात-पित्त-कफप्रधान विष के लक्षण—

हृत्पीडोर्ध्वानिलस्तम्भः शिरायामोऽस्थिपर्वरुक् ।
घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रश्यावता वातिके विषे ॥ १७ ॥
संज्ञानाशोष्णनिश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता ।
मांसावदरणं शोफो रक्तपीतश्च पैत्तिके ॥ १८ ॥
छर्द्यरोचकहृल्लासप्रसेकोत्क्लेशपीनसैः ।
सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्याच्छ्लेष्माधिकं विषम् ॥ १९ ॥

वातिक विष में हृदय की पीड़ा, वायु का ऊपर को जाना, जड़ता, सिराओं में खिंचाव, अस्थि एवं पर्वों में दर्द, चक्कर आना, ऐंठन और अंगों में श्याववर्णता होती है।

पैत्तिक विष में संज्ञानाश, उष्णनिश्वास, हृदय में दाह, मुख में कटुता, मांस का फटना तथा लाल और पीला शोफ होता है।

कफ की अधिकता वाले विष में वमन, अरोचक, जी मिचलाना, मुख से लालास्राव, वमन की इच्छा, पीनस, शीतलता और मुख में मधुरता होती है।

वात-पित्त-कफप्रधान कीटविष की चिकित्सा—

पिण्याकेन व्रणालेपस्तैलाभ्यङ्गश्च वातिके ।
स्वेदो नाडीपुलाकाद्यैर्बृंहणश्च विधिर्हितः ॥ २० ॥
पैत्तिकं स्तम्भयेत्सेकैः प्रदेहैश्चातिशीतलैः ।
लेखनच्छेदनस्वेदवमनैः श्लैष्मिकं जयेत् ॥ २१ ॥
कीटानां त्रिप्रकाराणां त्रैविध्येन क्रिया हिता ।

स्वेदालेपनसेकांस्तु कोष्णान् प्रायोऽवचारयेत् ॥२२॥
अन्यत्र मूर्च्छितादू दंशपाकतः कोथतोऽथवा ।

वातिक विष में पिण्याक (खलों) से व्रण पर लेप करना, तैल का अभ्यंग करना, नाड़ी, पुलाक (पुलाव) आदि से बृंहण विधि हितकारी है ।

पैत्तिक विष को अतिशीतल परिषेक और प्रदेहों से शान्त करे ।

श्लैष्मिक विष को लेखन, छेदन, स्वेदन और वमन से शान्त करे ।

तीन प्रकार के कीटों को तीन प्रकार की ही चिकित्सा हितकारी है। स्वेद, आलेपन, सेकों को प्रायः कवोष्ण करे। मूर्च्छित मनुष्य में, दंशपाक में अथवा सड़ने में उष्ण स्वेद आदि न करे।

विषसामान्यचिकित्सा—

नृकेशाः सर्षपाः पीता गुडो जीर्णश्च धूपनम् ॥२३॥
विषदंशस्य सर्वस्य काश्यपः परमब्रवीत् ।
विषघ्नं च विधिं सर्वं कुर्यात्संशोधनानि च ॥ २४ ॥
साधयेत्सर्पवद्दष्टान् विषोग्रैः कीटवृश्चिकैः ।
तण्डुलीयकतुल्यांशां त्रिवृतां सर्पिषा पिबेत् ॥ २५ ॥
याति कीटविषैः कम्पं न कैलास इवानिलैः ।
क्षीरिवृक्षत्वगालेपः शुद्धे कीटविषापहः ॥ २६ ॥

मनुष्य के बाल, पीली सरसों और पुराना गुड़ का धुंवा देना सब प्रकार के विषैले दंशों की श्रेष्ठ औषध है, ऐसा काश्यप ने कहा है ।

विषनाशक विधि सम्पूर्ण रूप में करें और संशोधन देवे।

तीव्र विष वाले कीड़े और बिच्छुओं से काटे हुए की चिकित्सा सांप की भांति करे।

चौलाई के समान भाग निशोथ को घी के साथ पिये। इससे कीटविषों से क्षोभ नहीं होता, जैसे वायु से कैलास नहीं हिलता।

शोधन हो जाने पर बरगद आदि क्षीरिवृक्षों की छाल का लेप उत्तम विषनाशक है।

विषजन्य दाहादिनाशक मुक्तालेप—

मुक्तालेपो वरः शोफतोददाहज्वरप्रणुत् ।

मोती का लेप श्रेष्ठ है, यह लेप शोफ, तोद, दाह एवं ज्वर का नाशक है।

कीटादि-विषनाशक दशांग अगद—

वचा हिङ्गु विडङ्गानि सैन्धवं गजपिप्पली ॥ २७ ॥
पाठा प्रतिविषा व्योषं काश्यपेन विनिर्मितम् ।
दशाङ्गमगदं पीत्वा सर्वकीटविषं जयेत् ॥ २८ ॥

वच, हींग, विडंग, सैन्धव, गजपिप्पली, पाठा, अतीस, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), इस दशांग अगद को काश्यप ने बनाया है। इसको पीने से सब कीटविष नष्ट होते हैं।

बिच्छू के तात्कालिक दंश की चिकित्सा—

सद्यो वृश्चिकजं दंशं चक्रतैलेन सेचयेत् ।
विदारिगन्धासिद्धेन कवोष्णेनेतरेण वा ॥ २९ ॥
लवणोत्तमयुक्तेन सर्पिषा वा पुनः पुनः ।
सिञ्चेत्कोष्णारनालेन सक्षीरलवणेन वा ॥ ३० ॥
उपनाहो घृते भृष्टः कल्कोऽजाज्याः ससैन्धवः ।

बिच्छू के दंश को तुरन्त चक्रतैल (कोल्हू से निकले ताजे तैल) से परिषेक करे। अथवा शालिपर्णी आदि से सिद्ध कवोष्ण तैल या चक्रतैल से परिषेक करे। सैन्धव मिले घी से वार-वार सिञ्चन करे या कोष्ण कांजी से परिषेक करे या दूधमिश्रित लवण से सेक करे। और जीरक के कल्क को सैन्धव के साथ घी में भूनकर उससे उपनाह करे।

आदंशं स्वेदितं चूर्णैः प्रच्छाय प्रतिसारयेत् ॥ ३१ ॥
रजनीसैन्धवव्योषशिरीषफलपुष्पजैः ।
मातुलुङ्गाम्लगोमूत्रपिष्टं च सुरसाग्रजम् ॥ ३२ ॥
लेपः सुखोष्णश्च हितः पिण्याको गोमयोऽपि वा ।

दंश को चारों ओर से स्वेदन करके, पाछकर हल्दी, सैन्धव, त्रिकटु, शिरीष के फूल और फलों से रगड़े।

बिजौरे का रस और गोमूत्र में पीसकर तुलसी के पत्तों का लेप करे। कवोष्ण पिण्याक (खली या तिलकल्क) या गोबर का लेप करे। (सुरसाग्रम्—मंजरी, इति श्रीशिवदाससेनः)।

पाने सर्पिर्मधुयुतं क्षीरं वा भूरिशर्करम् ॥ ३३ ॥
पारावतशकृत् पथ्या तगरं विश्वभेषजम् ।
बीजपूररसोन्मिश्रः परमो वृश्चिकागदः ॥ ३४ ॥
सशैवलोष्ट्रदंष्ट्रा च हन्ति वृश्चिकजं विषम् ।
हिङ्गुना हरितालेन मातुलुङ्गरसेन च ॥ ३५ ॥
लेपाञ्जनाभ्यां गुटिका परमं वृश्चिकापहा ।

पीने में मधु मिला घृत या अतिशय शर्करा वाला दूध पीने को दे। (वायु में घी और पित्त में दूध)

कबूतर की बीट, हरड़, सोंठ और तगर को बिजौरे के रस में मिलाकर लगाना बिच्छू का श्रेष्ठ अगद है।

ऊंट की दाढ़ शैवाल के साथ घिस कर लगाने से बिच्छू के विष को नष्ट करती है।

हींग और हरताल की बिजौरे के रस में बनाई गोली के लेप और अंजन बिच्छू के विष के उत्तम नाशक हैं।

करञ्जार्जुनशेलूनां कटभ्याः कुटजस्य च ॥ ३६ ॥
शिरीषस्य च पुष्पाणि मस्तुना दंशलेपनम् ।
यो मुह्यति प्रश्वसिति प्रलपत्युग्रवेदनः ॥ ३७ ॥
तस्य पथ्यानिशाकृष्णामञ्जिष्ठातिविषोषणम् ।
सालाबुवृन्तं वार्ताकरसपिष्टं प्रलेपनम् ॥ ३८ ॥

करंज, अर्जुन, शेलु (बहुवार), कटभी, कुटज के फूल, शिरीष के फूल इनको मस्तु के साथ पीस दंश पर लेप करें।

जिस रोगी को मूर्च्छा, श्वास की अधिकता, प्रलाप या तीव्र वेदना होती हो, उसमें हरड़, हल्दी, पिप्पली, मंजीठ, अतीस, काली मिर्च और तुम्बी के वृन्त को कटेरी के रस में पीस कर लेप करे।

सामान्य बिच्छूदंश की चिकित्सा—

सर्वत्र चोग्रालिविषे पाययेद्दधिसर्पिषी।
विध्येत्सिरां विदध्याच्च वमनाञ्जननावनम्।
उष्णस्निग्धाम्लमधुरं भोजनं चानिलापहम् ॥ ३९ ॥

सब तीव्र बिच्छू के विषों में दधि और घी पिलाये। सिरा का वेधन करे। वमन, अञ्जन और नस्य का प्रयोग करे। उष्ण, स्निग्ध, अम्ल, मधुर तथा वातनाशक भोजन देवे।

बिच्छूदंश का नाशक अगद—

नागरं गृहकपोतपुरीषं
बीजपूरकरसो हरितालम्।
सैन्धवं च विनिहन्त्यगदोऽयं
लेपतोऽलिकुलजं विषमाशु ॥ ४० ॥

सोंठ, घर के कबूतर की बीट, बिजोरे का रस, हरताल, और सैन्धव, यह अगद लेप से सब बिच्छुओं के विष को शीघ्र नष्ट करता है।

अन्ते वृश्चिकदष्टानां समुदीर्णे भृशं विषे।
विषेणालेपयेद्दंशमुच्चिटिङ्गेऽप्ययं विधिः ॥ ४१ ॥
नागपुरीषच्छत्रं रोहिषमूलं च शेलुतोयेन।
कुर्याद् गुटिकां लेपादियमलिविषनाशनी श्रेष्ठा ॥ ४२ ॥

बिच्छुओं के विष में सब चिकित्सा निष्फल हो जाने पर विष के बहुत प्रबल होने पर दंश पर विष (मीठा तेलिया) का लेप करे। उच्चिटिंग (के विष) में भी यही विधि है।

हाथी की पुरीष पर उत्पन्न छतरी और गन्धतृण को बहुबार के जल से पीसकर गुटिका बनाये। इसके लेप से बिच्छू का विष नष्ट होता है (अलिविषम्-वृश्चिकविषम् इति अरुणदत्तः)।

अर्कस्य दुग्धेन शिरीषबीजं
त्रिर्भावितं पिप्पलिचूर्णमिश्रम्।
एषोऽगदो हन्ति विषाणि कीट-
भुजङ्गलूतोन्दुरवृश्चिकानाम् ॥ ४३ ॥

शिरीष के बीजों को आक के दूध से तीन बार भावित करके पिप्पली के चूर्ण से मिलाकर बनाया अगद कीट, सांप, मकड़ी, चूहे और बिच्छू के विष को नष्ट करता है।

रात्रिक बिच्छू की विषनाशक चिकित्सा—

शिरीषपुष्पं सकरञ्जबीजं
काश्मीरजं कुष्ठमनःशिले च।
एषोऽगदो रात्रिकवृश्चिकानां
संक्रान्तिकारी कथितो जिनेन ॥ ४४ ॥

शिरीष के पुष्प, करंज का बीज, केशर, कूठ, मैनसिल; यह अगद उच्चिटिंग और बिच्छुओं के विष को दूर करने वाला भगवान् जिन ने कहा है।

लूता (मकड़ी) का भेद—

कीटेभ्यो दारुणतरा लूताः षोडश ता जगुः।
अष्टाविंशतिरित्येके ततोऽप्यन्ये तु भूयसीः ॥ ४५ ॥
सहस्ररश्म्यनुचरा वदन्त्यन्ये सहस्रशः।
बहूपद्रवरूपा तु लूतैकैव विषात्मिका ॥ ४६ ॥

मकड़ियां कीड़ों से अधिक भयानक हैं, इनकी संख्या सोलह कही है। कोई अट्ठाइस कहते हैं और दूसरे इनसे भी अधिक कहते हैं। सूर्य का अनुचर होने से कोई इनको हजारों कहते हैं। अनेक प्रकार का उपद्रव करने का स्वभाव होने से एवं विषरूपी होने से लूता एक ही है। (विषरूपी धर्म से लूता एक ही है)।

मकड़ी में दोषभेद—

रूपाणि नामतस्तस्या दुर्ज्ञेयान्यतिसङ्करात्।
नास्ति स्थानव्यवस्था च दोषतोऽतः प्रचक्षते ॥ ४७ ॥
कृच्छ्रसाध्याः पृथग्दोषैरसाध्या निचयेन सा।

परस्पर अतिशय सम्मिश्रण होने के कारण इनका रूप और नाम दुर्विज्ञेय है। इनके स्थान की व्यवस्था (नियम) भी नहीं, अतः इन्हें दोष की दृष्टि से कहेंगे।

वातादि पृथक् दोषों से लूता (मकड़ी) कष्टसाध्य है और सन्निपात से असाध्य है।

पित्त-कफ-वातप्रधान मकड़ीदंश के लक्षण—

तद्दंशः पैत्तिको दाहतृट्स्फोटज्वरमोहवान् ॥ ४८ ॥
भृशोष्मा रक्तपीताभः क्लेदी द्राक्षाफलोपमः।
श्लैष्मिकः कठिनः पाण्डुः परूषकफलाकृतिः ॥ ४९ ॥
निद्रां शीतज्वरं कासं कण्डूं च कुरुते भृशम्।
वातिकः परुषः श्यावः पर्वभेदज्वरप्रदः ॥ ५० ॥
तद्विभागं यथास्वं च दोषलिङ्गैर्विभावयेत्।

लूता का पैत्तिक दंश दाह, प्यास, छाला, ज्वर और मोह करने वाला, अति उष्ण; लाल और पीली झांई का; क्लेदयुक्त और द्राक्षाफल के समान होता है।

श्लैष्मिक दंश कठिन, पाण्डुवर्ण, फालसे के फल के आकार का; निद्रा, शीतज्वर, कास और अतिशय कण्डू को उत्पन्न करता है।

वातिक दंश कठोर, श्याववर्ण; पर्वभेद एवं ज्वर देने वाला है।

इनके विभाग को दोषों के अपने-अपने लक्षणों से जानना चाहिये।

असाध्य मकड़ीविष के लक्षण—

असाध्यायां तु हृन्मोहश्वासहिध्माशिरोग्रहाः ॥ ५१ ॥
श्वेतपीतासितारक्ताः पिटिकाः श्वयथूद्गमाः।
वेपथुर्वमथुर्दाहस्तृडाध्मानं वक्रनासता ॥ ५२ ॥
श्यावौष्ठवक्त्रदन्तत्वं पृष्ठग्रीवावभञ्जनम्।

पक्वजम्बूसवर्णं च दंशास्स्रवति शोणितम् ॥ ५३ ॥
सर्वाऽपि सर्वजा प्रायो व्यपदेशस्तु भूयसा ।

असाध्य लूता में हृदय में मोह, श्वास, हिक्का, शिरोग्रह होता है तथा श्वेत, पीली, काली, लाल पिटिकायें शोथ से उत्पन्न होती हैं। कम्पन, वमन, दाह, प्यास, अन्धता, नाक का टेढ़ा होना, ओठ, मुख और दांतों का काला पड़ना, पीठ और ग्रीवा का टूटना और दंशस्थान से पके हुए जामुन के समान रक्त बहना; ये लक्षण होते हैं।

सब मकड़ियां तीनों दोषों से उत्पन्न होती हैं। इसमें अधिकता से वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक का व्यवहार है।

असाध्य मकड़ीविष के तीन भेद –

तीक्ष्णमध्यावरत्वेन सा त्रिधा हन्त्युपेक्षिता ॥ ५४ ॥
सप्ताहेन दशाहेन पक्षेण च परं क्रमात् ।

तीक्ष्ण, मध्य और हीन विष भेद से लूता तीन प्रकार की हैं। उपेक्षा करने पर ये क्रमशः सात, दस और पन्द्रह दिन में मार देती हैं।

मकड़ीदंश के सामान्य लक्षण—

लूतादंशश्च सर्वोऽपि दद्रुमण्डलसन्निभः ॥ ५५ ॥
सितोऽसितोऽरुणः पीतः श्यावो वा मृदुरुन्नतः ।
मध्ये कृष्णोऽथवा श्यावः पर्यन्ते जालकावृतः ॥५६॥
विसर्पवाञ्छोफयुतस्तप्यते बहुवेदनः ।
ज्वराशुपाकविक्लेदकोथावदरणान्वितः ॥ ५७ ॥
क्लेदेन यत्स्पृशत्यङ्गं तत्रापि कुरुते व्रणम् ।

सब लूताओं का दंश दाद के चकत्ते के समान होता है। श्वेत, काला, लाल, पीला, श्याववर्ण तथा किनारों पर जालक (बहुत छेदों वाले मांसखण्ड या लाल रेखाओं) से आवृत, पकने वाला शोफयुक्त बहुत वेदना वाला, ज्वरयुक्त, शीघ्र पकने वाला, क्लेदयुक्त, सड़ने एवं फटने वाला होता है। क्लेद से जिस अंग का स्पर्श करता है, वहां भी व्रण कर देता है।

श्वासदंष्ट्राशकृन्मूत्रशुक्रलालानखार्तवैः ॥ ५८ ॥
अष्टाभिरुद्वमत्येषा विषं वक्त्राद्विशेषतः ।
लूता नाभेर्दशत्यूर्ध्वमूर्ध्वं चाधश्च कीटकाः ॥ ५९ ॥
तद्दूषितं च वस्त्रादि देहे पृक्तं विकारकृत् ।

लूता (मकड़ी) श्वास, दंष्ट्रा, मल, मूत्र, शुक्र. लाला, नख और आर्त्तव, इन आठ वस्तुओं से विष को छोड़ती है, इनमें भी मुख से विशेष रूप में विष उगलती है।

मकड़ी प्रायः नाभि से ऊपर काटती है और कीड़े नाभि से ऊपर और नीचे-दोनों स्थानों पर काटते हैं। मकड़ी से दूषित वस्त्र आदि जिस अंग पर लगते हैं, उस अङ्ग पर विकार कर देते हैं।

मकड़ीदंश विष का वृद्धिक्रम –

दिनार्धं लक्ष्यते नैव दंशो लूताविषोद्भवः ॥ ६० ॥
सूचीव्यधवदाभाति ततोऽसौ प्रथमेऽहनि ।
अव्यक्तवर्णः प्रचलः किंचित्कण्डूरुजान्वितः ॥ ६१ ॥
द्वितीयेऽभ्युन्नतोऽन्तेषु पिटिकैरिव वाऽऽचितः ।
व्यक्तवर्णो नतो मध्ये कण्डूमान् ग्रन्थिसन्निभः ॥६२॥
तृतीये सज्वरो रोमहर्षकृद्रक्तमण्डलः ।
शरावरूपस्तोदाढ्यो रोमकूपेषु सास्रवः ॥ ६३ ॥
महांश्चतुर्थे श्वयथुस्तापश्वासभ्रमप्रदः ।
विकारान् कुरुते तांस्तान् पञ्चमे विषकोपजान् ॥६४॥
षष्ठे व्याप्नोति मर्माणि सप्तमे हन्ति जीवितम् ।
इति तीक्ष्णं विषं, मध्यं हीनं च विभजेदतः ॥ ६५ ॥
एकविंशतिरात्रेण विषं शाम्यति सर्वथा ।

लूता विष से उत्पन्न दंश आधे दिन तक दिखाई नहीं देता। इसके बाद पहले दिन सूई चुभने की भाँति मालूम देता है। यह अस्पष्ट वर्ण, अतिशय फैलने वाला, कुछ कण्डू और वेदना से युक्त होता है।

दूसरे दिन ऊपर को उठा या किनारों पर पिटिकाओं से भरा होता है। इसका रंग स्पष्ट, बीच से दबा, कण्डूयुक्त और गांठ के समान होता है।

तीसरे दिन ज्वरयुक्त, रोमांच करने वाला, लाल चकत्ते वाला, शराव के समान (बीच में दबा), तोद की अधिकता वाला और रोमकूपों में स्राव से युक्त होता है।

चौथे दिन अतिशय शोथ होता है, रोगी को ताप, श्वास और भ्रम होता है।

पाँचवें दिन पूर्वोक्त विषजन्य विकारों को उत्पन्न करता है।

छठे दिन मर्मों में व्याप्त हो जाता है।

सातवें दिन जीवन को नष्ट कर देता है।

ये तीक्ष्ण विष के लक्षण हैं, इसी से मध्य और हीन लूता के विषों की कल्पना कर लेनी चाहिये। इक्कीस दिन के उपरान्त विष सम्पूर्ण रूप में शान्त हो जाता है।

मकड़ीदंश-विष की चिकित्सा—

अथाशु लूतादष्टस्य शस्त्रेणादंशमुद्धरेत् ॥ ६६ ॥
दहेच्च जाम्बवौष्ठाद्यैर्न तु पित्तोत्तरं दहेत् ।

मकड़ी से काटे पुरुष में चारों ओर से दंश को शस्त्र से निकाल ले। जाम्बवौष्ठ आदि शस्त्रों से उसे जला दे; परन्तु पित्त प्रधान दंश को न जलाये।

छेदन तथा दहन के अयोग्य मकड़ीदंश—

कर्कशं भिन्नरोमाणं मर्मसन्ध्यादिसंश्रितम् ॥ ६७ ॥
प्रसृतं सर्वतो दंशं न छिन्दीत दहेन्न च ।

जो दंश कर्कश हो, जिसमें रोम फट गये हों, जो मर्म-संधि आदि में आश्रित हो, चारों ओर फैला हो; उस दंश को न तो काटे और न जलाये।

दहन के अनन्तर कर्म—

लेपयेद्दग्धमगदैर्मधुसैन्धवसंयुतैः ॥ ६८ ॥
सुशीतैः सेचयेच्चानु कषायैः क्षीरवृक्षजैः ।

दाह के बाद इस पर मधु और सैन्धव से मिश्रित अगदोंका

लेप कर देवे। पीछे से क्षीरिवृक्षों के अतिशीतल कषायों से परिषेक करे।

मकड़ीदंश में रक्तमोक्षण—

सर्वतोऽपहरेद्रक्तं शृङ्गाद्यैः सिरयाऽपि वा ॥ ६९ ॥
सेकलेपास्ततः शीता बोधिश्लेष्मातकाक्षकैः ।

सींग आदि से या सिरावेध से सम्पूर्ण दूषित रक्त को निकाल देवे। पीपल, लसोड़ा और बहेड़ा; इनसे शीतल परिषेक और शीतल लेप करे। (आक्षिकैरिति पाठान्तरे—आक्षिकः—लूताविशेषः तस्याः फलमाक्षिकम्)।

मकड़ीदंश-विषनाशक पद्मक अगद—

फलिनीद्विनिशाक्षौद्रसर्पिर्भिः पद्मकाह्वयः ॥ ७० ॥
अशेषलूताकीटानामगदः सार्वकामिकः ।

प्रियङ्गु, हल्दी, दारुहल्दी, मधु, घी; यह पद्मक नामक अगद सम्पूर्ण कीट एवं लूताओं के लिए है और पान, नस्य आदि सब कार्यों में बरता जाता है।

वक्तव्य—श्रीशिवदाससेनजी ने—'बोधिश्लेष्मातजाक्षकैः' को 'फलिनी' के साथ जोड़ा है।

चम्पक अगद—

हरिद्राद्वय-पत्तङ्ग-मञ्जिष्ठा-नतकेसरैः ॥ ७१ ॥
सक्षौद्रसर्पिः पूर्वस्मादधिकश्चम्पकाह्वयः ।
तद्वद्गोमयनिष्पीड-शर्कराघृतमाक्षिकैः ॥ ७२ ॥

हल्दी, दारुहल्दी, लालचन्दन, मजीठ, तगर, केसर, मधु और घी;यह चम्पक नामक अगद पहले से अधिक कार्यकर है।

इसी प्रकार गोबर को निचोड़कर उसके रस में शर्करा घृत और मधु मिलाकर बरते।

मन्दर तथा गन्धमादन अगद—

अपामार्गमनोह्वाऽऽलदार्वीध्यामकगैरिकैः ।
नतैलाकुष्ठमरिचयष्ट्याह्वघृतमाक्षिकैः ॥ ७३ ॥
अगदो मन्दरो नाम, तथाऽन्यो गन्धमादनः ।
नतरोध्रवचाकट्वीपाठैलापत्रकुङ्कुमैः ॥ ७४ ॥

चिरचिटा, मैनसिल, हरताल, दारुहल्दी, गन्धतृण, गेरु, तगर, इलायची, कूठ, मरिच, मुलहठी, घी, मधु इनका बना अगद मन्दर नामक है। दूसरा गन्धमादन अगद-तगर, लोध, वच, कुटकी, पाठा, इलायची, तेजपात और केशर से बनता है।

मकड़ीविष में वमन-विरेचन—

विषघ्नं बहुदोषेषु प्रयुञ्जीत विशोधनम् ।
यष्ट्याह्वमदनाङ्कोल्लजालिनीसिन्दुवारिकाः ॥ ७५ ॥
कफे ज्येष्ठाम्बुना पीत्वा विषमाशु समुद्वमेत् ।
शिरीषपत्रत्वङ्मूलफलं वाऽङ्कोल्लमूलवत् ॥ ७६ ॥
विरेचयेच्च त्रिफलानीलिनीत्रिवृतादिभिः ।

बहुत दोष वालों में विषनाशक विरेचन बरते।

मुलहठी, मैनफल, अंकोठ, कड़ुई तुम्बी, सम्भालु इनको कफ में चावल के पानी के साथ पीकर विष को शीघ्र वमन कर देवे। अथवा शिरीष के पत्ते, छाल, मूल, फल इनको अंकोलमूल के साथ तण्डुलोदक के साथ पीकर वमन करे।

त्रिफला, नील और निशोथ आदि से विरेचन देवे।

कर्णिकापातन विधि—

निवृत्ते दाहशोफादौ कर्णिकां पातयेद् व्रणात् ॥७७॥
कुसुम्भपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट् ।
त्रिवृता सैन्धवं दन्तीकर्णिकापातनं तथा ॥ ७८ ॥
मूलमुत्तरवारुण्या वंशनिर्लेखसंयुतम् ।
तद्वच्च सैन्धवं कुष्ठं दन्तीकटुकदौग्धिकम् ॥ ७९ ॥
राजकोशातकीमूलं, किण्वो वा मथितोद्भवः ।
कर्णिकापातसमये बृंहयेच्च विषापहैः ॥ ८० ॥

दाह, शोफ आदि के शान्त हो जाने पर व्रण से कर्णिका को गिराये। कुसुम्भ का फूल, गाय का दांत, स्वर्णक्षीरी, कबूतर की बीट, निशोथ, सैन्धव, दन्ती इनका लेप कर्णिका को गिराने वाला है। अथवा उत्तरवारुणी (दुग्धिका) को बांस के छिलके के साथ मिलाकर लेप करे और इसी प्रकार, सैन्धव, कूठ, दन्ती, कुटकी, क्षीरी (दुग्धिका) मूल इनका लेप करे। राजकोशातकी के मूल का लेप कर्णिकापातन करता है।

कर्णिका के गिराने के समय विषनाशक औषधियों से बृंहण करे।

विषरोग में घृत का प्रयोग—

स्नेहकार्यमशेषं च सर्पिषैव समाचरेत् ।
विषस्य वृद्धये तैलमग्नेरिव तृणोलुपम् ॥ ८१ ॥

इसमें सब स्नेहकार्य घी से ही करने चाहिये। तैल विष की वृद्धि के लिये होता है, यथा तिनकों का समूह अग्नि को बढ़ाता है।

पित्तादिप्रधान मकड़ीविषनाशक अगद—

ह्रीबेरवैकङ्कतगोपकन्यामुस्ताशमीचन्दनटिण्टुकानि ।
शैवालनीलोत्पलवक्रयष्टीत्वङ्नाकुलीपद्मकराठमध्यम्
रजनीघनसर्पलोचनाकणशुण्ठीकणमूलचित्रका ।
वरुणागुरुबिल्वपाटलीपिचुमन्दामयशेलुकेसरम् ॥
बिल्वचंदननतोत्पलशुण्ठीपिप्पलीनिचुलवेतसकुष्ठम् ।
शुक्तिशाकवरपाटलिभार्गीसिन्दुवारकरघाटवराङ्गम् ॥
पित्तकफानिललूताः पानाञ्जननस्यलेपसेकेन ।
अगदवरा वृत्तस्था कुगतीरिव वारयन्त्येते ॥ ८५ ॥

पित्त, कफ और वायु के लिये तीन अगद क्रम से कहते हैं, पहला-पित्त के लिये हाऊबेर, विकङ्कत, सारिवा, मुस्ता, शमी, चन्दन, श्योनाक, शैवाल, नीलकमल, तगर, मुलहठी, दालचीनी, रास्ना (या सर्पगन्धा), पद्माख और मैनफल का बीज। दूसरा—कफ के लिये हल्दी, मुस्ता, सर्पाक्षी, पिप्पली, सोंठ, पिप्पलीमूल, चित्रक, वरणा, अगर, बिल्व, पाटला, नीम, कूठ, शेलु और केसर। तथा तीसरा—वात के लिये बिल्व, चन्दन, तगर, कमल, सोंठ, पिप्पली, जलवेतस, अम्लवेतस, कूठ, शुक्ति, जयन्तीशाक, पाटला, भार्गी,

सम्भालु, मैनफल और दालचीनी। ये तीन अगद (क्रमशः) पित्त, कफ और वायु की लूताविष के लिये पान, अंजन, नस्य, लेप और सेक में उत्तम हैं। जैसे सुशील पुरुष बुरी गति को हटाते हैं, उसी प्रकार से ये अगद विषों को नष्ट करते हैं।

रोध्रं सेव्यं पद्मकं पद्मरेणुः
कालीयाख्यं चन्दनं यच्च रक्तम्।
कान्तापुष्पं दुग्धिनीका मृणालं
लूताः सर्वा घ्नन्ति सर्वक्रियाभिः ॥ ८६ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने कीटलूतादिविषप्रतिषेधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

* * *

लोध, खस, कमल के फूल का केसर, पद्माख, कालीयक (पीतचन्दन) और लालचन्दन, प्रियंगु, दूधी तथा कमलनाल, ये पान, अञ्जन और लेप आदि कार्यों में बरतने से सब लूताविषों को नष्ट करते हैं।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में छठे उत्तर स्थान का कीटलूतादिविषप्रतिषेध नामक सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३७॥

* * *

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

अथातो मूषिकालर्कविषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब इसके आगे मूषिकालर्कविषप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

मूषिकाओं (चूहों) के १८ भेद—

लालनश्चपलः पुत्रो हसिरश्चिक्किरोऽजिरः।
कषायदन्तः कुलकः कोकिलः कपिलोऽसितः ॥ १ ॥
अरुण शबलः श्वेतः कपोतः पलितोन्दुरः।
छुच्छुन्दरो रसालाख्यो दशाष्टौ चेति मूषिका ॥ २ ॥

लालन, चपल, पुत्र, हसिर, चिक्किर, अजिर, कषायदन्त, कुलक, कोकिल, कपिल, असित, अरुण, शबल, श्वेत, कपोत, पलित, उन्दुर, छुच्छुन्दर और रसाल; ये अट्ठारह प्रकार के चूहे हैं।

मूषिकविष का लक्षण—

शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रदिग्धैः स्पृशन्ति वा।
यदङ्गमङ्गैस्तत्रास्रे दूषिते पाण्डुतां गते ॥ ३ ॥
ग्रन्थय, श्वयथुः कोठो मण्डलानि भ्रमोऽरुचिः।
शीतज्वरोऽतिरुक्सादो वेपथुः पर्वभेदनम् ॥ ४ ॥
रोमहर्षः स्रुतिर्मूर्च्छा दीर्घकालानुबन्धनम्।
श्लेष्मानुबद्धबह्वाखु-पोतकच्छर्दनं सतृट् ॥ ५ ॥
व्यवाय्याखुविषं कृच्छ्रं भूयो भूयश्च कुप्यति।

इन चूहों का शुक्र जहां गिरता है, अथवा शुक्र से लिप्त जिन अंगों से जिस अंग को ये छूते हैं; वहाँ पर रक्त के दूषित हो जाने से पाण्डु वर्ण हो जाने पर गांठें, शोथ, कोठ, मण्डल, भ्रम, अरुचि, शीतज्वर, अतिवेदना, शिथिलता, कम्पन, पर्वों का टूटना, रोमांच, रक्त आदि का स्राव, मूर्च्छा, चिरकाल तक रोग का बना रहना, कफ से मिश्रित बहुत-से चूहों के बच्चों के आकार वाले मांस के टुकड़ों का वमन होना और प्यास होती है।

चूहे का विष बिना पाक के ही सारे शरीर में फैलने वाला है, कष्टसाध्य है, और बार-बार कुपित होता है।

असाध्य मूषिकविष के लक्षण—

मूर्च्छाङ्गशोफवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः ॥ ६ ॥
शिरोगुरुत्वं लालाऽसृक्छर्दिश्चासाध्यलक्षणम्।
शूनवस्तिं विवर्णौष्ठमाख्वाभैर्ग्रन्थिभिश्चितम् ॥ ७ ॥
छुच्छुन्दरसगन्धं च वर्जयेदाखुदूषितम्।

मूर्च्छा, अंग में शोफ, विवर्णता, क्लेद, शब्द का न सुनना, ज्वर, शिर में भारीपन, लाला और रक्त का वमन; ये असाध्य लक्षण हैं।

मूत्राशय में शोथ, ओष्ठ में विवर्णता, चूहे के समान गांठों से व्याप्त तथा छुछुन्दर के समान गन्ध होने पर चूहे के विष को असाध्य समझे।

पागल कुत्ते के लक्षण—

शुनः श्लेष्मोल्बणा दोषाः संज्ञां संज्ञावहाश्रिताः ॥८॥
मुष्णन्तः कुर्वते क्षोभं धातूनामतिदारुणम्।
लालावानन्धबधिरः सर्वतः सोऽभिधावति ॥ ९ ॥
स्रस्तपुच्छहनुस्कन्धः शिरोदुःखी नताननः।

कुत्ते के कफप्रधान दोष संज्ञावह स्रोतों का आश्रय करके संज्ञा को नष्ट करते हुए धातुओं के अतिभयानक विक्षोभ को करते हैं। इस कुत्ते के मुख से लाला टपकती है, अन्धा और बहरा बनकर प्रयोजन के बिना दौड़ता है। इसके पूँछ, हनु, और कन्धे गिरे रहते हैं, शिर में वेदना होती है, मुख नीचे रहता है।

पागल कुत्ते के काटे हुये मनुष्य के लक्षण—

दंशस्तेन विदष्टस्य सुप्तः कृष्णं क्षरत्यसृक् ॥ १० ॥
हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृष्णामूर्च्छोद्भवोऽनु च।
अनेनान्येऽपि बोद्धव्या व्याला दंष्ट्राप्रहारिणः ॥ ११ ॥
शृगालाश्वतराश्वर्क्षद्वीपिव्याघ्रवृकादयः।

इस कुत्ते का काटा हुआ दंश अचेतन होता है, इससे काला रक्त बहता है। पीछे से हृदय और शिर में दर्द, ज्वर, जड़ता, प्यास और मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है।

इसी कुत्ते की भांति, दूसरे हिंसक दंष्ट्राप्रहारी गीदड़, खच्चर, घोड़ा, रीछ, चीता, व्याघ्र तथा भेड़िया आदि का भी लक्षण जानना चाहिये।

पागल कुत्ते, गीदड़ आदि के काटे हुए के सामान्य लक्षण—

कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदज्वरभ्रमाः ॥ १२ ॥
विदाहरागरुक्पाकशोफग्रन्थिविकुञ्चनम् ।
दंशावदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च ॥ १३ ॥
सर्वत्र सविषे लिङ्गं, विपरीतं तु निर्विषे ।

विष वाले देश में कण्डू, चुभने की दर्द, विवर्णता, संज्ञानाश, क्लेद, ज्वर, भ्रम, विदाह, सुर्खी, दर्द, पकना, शोफ, गांठ, वक्रता, दंश का फटना, छाले, मांसांकुर, मण्डल ये लक्षण विषयुक्त सब दंशों में होते हैं। निर्विष में इससे विपरीत लक्षण होते हैं।

असाध्य लक्षण—

दष्टो येन तु तच्चेष्टारुतं कुर्वन् विनश्यति ॥ १४ ॥
पश्यंस्तमेव चाकस्मादादर्शसलिलादिषु ।

श्रृगाल आदि पशु से काटा हुआ मनुष्य जब उसी काटने वाले प्राणी की भांति चेष्टा तथा शब्द करता है और उसी प्राणी को दर्पण, जल आदि में अचानक देखता है तो नष्ट हो जाता है।

जलसंत्रास के लक्षण—

योऽद्भ्यस्त्रस्येददष्टोऽपि शब्दसंस्पर्शदर्शनैः ॥ १५ ॥
जलसन्त्रासनामानं दष्टं तमपि वर्जयेत् ।

जो पुरुष कुत्ते, श्रृगाल आदि के न काटने पर भी जल के शब्द, संस्पर्श या दर्शन से डर जाता है, उस जल से डरते हुए (जलसन्त्रास-संज्ञक रोग से पीड़ित) मनुष्य को असाध्य समझे। कहा भी है-('अदृष्टस्यापि जन्तोर्हि जलत्रासो भवेद्यदि। तस्यापि रिष्टं भिषजो ब्रुवते विषचिन्तकाः ॥)

मूषिकदंशचिकित्सा—

आखुना दष्टमात्रस्य दंशं काण्डेन दाहयेत् ॥ १६ ॥
दर्पणेनाथवा, तीव्ररुजा स्यात्कर्णिकाऽन्यथा ।
दग्धं विस्रावयेद् दंशं प्रच्छितं च प्रलेपयेत् ॥ १७ ॥
शिरीषरजनीवक्रकुङ्कुमामृतवल्लिभिः ।
अगारधूममञ्जिष्ठारजनीलवणोत्तमैः ॥ १८ ॥
लेपो जयत्याखुविषं कर्णिकायाश्च पातनः ।
ततोऽम्लैः क्षालयित्वाऽनु तोयैरनु च लेपयेत् ॥१९॥
पालिन्दीश्वेतकटभीबिल्वमूलगुडूचिभिः ।
अन्यैश्च विषशोफघ्नैः सिरां वा मोक्षयेद् द्रुतम् ॥२०॥
छर्दनं नीलिनीक्वाथैः शुकाख्याङ्कोल्लयोरपि ।

चूहे से काटे दंश को शर (सरकण्डा) से या दर्पण से जलाये। इस प्रकार न जलाने पर कर्णिका और भयानक पीड़ा देने वाली होती है।

दंश को जलाकर और पांछ लगाकर शिरीष, हल्दी, तगर, केसर और गिलोय से लेप करे।

घर का धुवासा, मजीठ, हल्दी, सैन्धव, इनका लेप चूहे के विष को शीघ्र नष्ट करता है और कर्णिका को गिराता है। इसके बाद कांजी आदि अम्ल से धोकर फिर पानी से धोये; फिर निशोथ, श्वेत कोयल, बिल्वमूल, गिलोय, इनसे तथा दूसरे विषशोफनाशक द्रव्यों से लेप करे अथवा जल्दी से सिरामोक्षण करे।

नीलिनीक्वाथ से या शुकाख्या और अंकोठ के क्वाथ से वमन करे।

वक्तव्य—'नीलिनी' के स्थान पर 'जालिनी' पाठ सुश्रुत में है; वह ठीक है, क्योंकि नीलिनी विरेचन के लिए है और जालिनी वामक द्रव्य है।

मूषिकविष में वामक योग—

कोशातक्याः शुकाख्यायाः फलं जीमूतकस्य च ॥२१॥
मदनस्य च सञ्चूर्ण्य दध्ना पीत्वा विषं वमेत् ।
वचामदनजीमूतकुष्ठं वा मूत्रपेषितम् ॥ २२ ॥
पूर्वकल्पेन पातव्यं सर्वोन्दुरविषापहम् ।
विरेचनं त्रिवृन्नीलीत्रिफलाकल्क इष्यते ॥ २३ ॥
शिरोविरेचने सारः शिरीषस्य फलानि च ।
अञ्जनं गोमयरसो व्योषसूक्ष्मरजोऽन्वितः ॥ २४ ॥
कपित्थगोमयरसो मधुमानवलेहनम् ।

कोशातकी (कड़ुईतुम्बी), शुकाख्या (श्योनाक), जीमूतक (तोरई); इनके फल और मैनफल का चूर्ण दही के साथ पीकर वमन करे।

वच, मैनफल, जीमूतक (बन्दाल) और कूठ को गोमूत्र से पीस कर दही के साथ पिलाना चाहिये। यह सब चूहों के विष को नष्ट करता है।

विरेचन के लिए निशोथ, नीलिनी और त्रिफला का कल्क देना चाहिए। शिरोविरेचन में शिरीषका सार और फल बरते।

त्रिकटु के सूक्ष्म चूर्ण को गोबर के रस में मिलाकर अञ्जन करे।

कैथ और गोबर के रस को मधु के साथ चटाये। (कैथ का चूर्ण लेना चाहिये)।

मूषिकविषनाशक घृत—

तण्डुलीयकमूलेन सिद्धं पाने हितं घृतम् ॥ २५ ॥
द्विनिशाकटभीरक्तायष्ट्याह्वैर्वाऽमृतान्वितैः ।
आस्फोतामूलसिद्धं वा, पञ्चकापित्थमेव वा ॥ २६ ॥

चौलाई के मूल से सिद्ध किया घृत पान में हितकारी है। अथवा हल्दी, दारुहल्दी, कोयल, मजीठ, मुलहठी, गिलोय तथा आस्फोतामूल से सिद्ध घृत पीने को दे। पांच कैथों (कैथ के मूल, पत्र, त्वक्, फल और पुष्प;) से सिद्ध घृत पीने को दे।

मूषिकदंशविषनाशक सामान्य चिकित्सा—

सिन्दुवारं नतं शिग्रुबिल्वमूलं पुनर्नवा ।
वचाश्वदंष्ट्राजीमूतमेषां क्वाथं समाक्षिकम् ॥ २७ ॥

पिबेच्छाल्योदनं दध्ना भुञ्जानो मूषिकार्दितः ।
तक्रेण शरपुङ्खाया बीजं सञ्चूर्ण्य वा पिबेत् ॥२८॥
अङ्कोल्लमूलकल्को वा बस्तमूत्रेण कल्कितः ।
पानालेपनयोर्युक्तः सर्वाखुविषनाशनः ॥२९॥
कपित्थमध्यतिलकतिलाङ्कोल्लजटाः पिबेत् ।
गवां मूत्रेण, पयसा मञ्जरीं तिलकस्य वा ॥३०॥

सम्भालू, तगर, सहजनमूल, बिश्वमूल, पुनर्नवा, बचा, गोखरू, जीमूत; इनका क्राथ मधु के साथ पिये । चूहे के विष से पीड़ित मनुष्य दही के साथ शालि चावलों का भात खाये।

अथवा शरपुंखा के बीजों का चूर्ण तक्र के साथ पिये ।

अङ्कोलमूल के कल्क को बकरे के मूत्र से पीस कर पान तथा आलेप में वरते,यह चूहोंके सब विषों को नष्ट करता है।

कैथ का गूदा, तिलक, तिल,अङ्कोल का मूल; इनको गाय के मूत्र के साथ पिये। दूध के साथ तिलकमञ्जरी को पिये। अथवा झिण्टी के मूल को मधु के साथ चावल के पानी से पिये।

अथवा सैर्यकान्मूलं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ।
कटुकालाबुविन्यस्तं पीतं वाऽम्बु निशोषितम् ॥३१॥
सिन्दुवारस्य मूलानि बिडालास्थि विषं नतम् ।
जलपिष्टोऽगदो हन्ति नस्याद्यैराखुजं विषम् ॥३२॥
सशेषं मूषिकविषं प्रकुप्यत्यभ्रदर्शने ।
यथायथं वा कालेषु दोषाणां वृद्धिहेतुषु ॥३३॥
तत्र सर्वे यथावस्थं प्रयोज्याः स्युरुपक्रमाः ।
यथास्वं ये च निर्दिष्टास्तथा दूषीविषापहाः ॥३४॥

कड़ुई तुम्बी में पानी रात भर रख कर प्रातः पीये, यह विषनाशक है।

सम्भालू के मूल, बिल्ली की अस्थि, विष, तगर; इनको जल में पीस कर बनाया अगद नस्य तथा पान आदि में बरतने से चूहे के विष को नष्ट करता है।

बादल घिरने पर तथा वातादि दोषों के अपने-अपने प्रकोपक कालों में चूहे का शेष रहा विष कुपित होता है।

इनमें अवस्थावश से सब उपक्रम ठीक प्रकार से बरतने चाहिये और जो दूषीविषघ्न औषधियां कहीहैं,उन्हें भी बरते।

कुक्कुरदंशचिकित्सा—

दंशं त्वलर्कदष्टस्य दग्धमुष्णेन सर्पिषा ।
प्रदिह्यादगदैस्तैस्तैः पुराणं च घृतं पिबेत् ॥३५॥
अर्कक्षीरयुतं चास्य योज्यमाशु विरेचनम् ।
अङ्कोलोत्तरमूलाम्बु त्रिपलं सहविःपलम् ॥३६॥
पिबेत्सधत्तूरफलां श्वेतां वाऽपि पुनर्नवाम् ।
ऐकध्यं पललं तैलं रूपिकायाः पयो गुडः ॥३७॥
भिनत्ति विषमालर्कं घनवृन्दमिवानिलः ।
समन्त्रं सौषधीरत्नं स्नपनं च प्रयोजयेत् ॥३८॥

पागल कुत्ते के दंश को गरम घी से जलाकर पूर्वोक्त अगदों से लेप करे और पुरातन घृत पिलाये। आक के दूध से किञ्चित् विरेचन इसको शीघ्र देना चाहिये।

अङ्कोठ वृक्ष की उत्तर दिशा की मूल के तीन पल क्राथ में एक पल घृत मिलाकर पिये। धत्तूर के फल को कोयल के साथ या पुनर्नवा के साथ पिये। (उत्तरमूलम्-प्रधानं मूलम् इत्यन्ये)।

तिलकल्क (या मांस), तैल, आक का दूध, गुड, इनके एक साथ (जल के साथ) पीने से कुत्ते का विष नष्ट होता है, जिस प्रकार वायु बादलों को नष्ट कर देती है।

मंत्र और औषधि के साथ रत्न और स्नान को बरते।

वक्तव्य—सुश्रुत में स्नानविधि और मंत्र कहा है—यथा-बीजरत्नौषधीगर्भैः कुम्भैः शीताम्बुपूरितैः । स्नपयेत्तं नदीतीरे समन्त्रैर्वा चतुष्पथे ॥ १ ॥ बलिर्निवेद्यस्तत्रापि पिण्याकं पललं दधि । माल्यानि च विचित्राणि मांसं पक्वामकं तथा ॥ २ ॥ अलर्काधिपते यक्ष सारमेयगणाधिप । अलर्कदुष्टमेतन्मे निर्विषं कुरु मा चिरात् ॥ ३ ॥ सु. क. अ. ७ ।

अन्य जन्तुओं के विष के लक्षण और चिकित्सा—

चतुष्पाद्भिर्द्विपाद्भिर्वा नखदन्तपरिक्षतम् ।
शूयते पच्यते रागज्वरस्रावरुजान्वितम् ॥३९॥
सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपादिका ।
रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदन्तविषापहः ॥४०॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायां
मष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठे उत्तरस्थाने मूषिकालर्क-
विषप्रतिषेधो नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

* * *

चौपाये पशु या मनुष्य तथा मुर्गे आदि दो पैर वालों का नखक्षत या दन्तक्षत सूज जाता है, पकता है। इसमें सुर्खी, ज्वर, स्राव और पीड़ा होती है।

खैर की छाल, अश्वकर्ण (साल), गाजवां, हंसराज, हल्दी, दारुहल्दी और गेरू; इनका लेप नखविष और दन्तविष का नाशक है। सोमवल्कः-कट्फल इति शिवदाससेनः)।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का मूषिकालर्कविष-प्रतिषेध नामक अड़तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥[1]

* * *

---

[1] पैंतीसवें से अड़तीसवें तक चार अध्यायों में विषतन्त्र (अगदतन्त्र) नामक आयुर्वेद के छठें अङ्ग का वर्णन हुआ है। चरक चिकित्सा स्थान अ. २३, सुश्रुतसंहिता के कल्पस्थान तथा अष्टाङ्गसंग्रह, उत्तरतन्त्र के ४० वें अध्याय में भी देखिए।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

अथातो रसायनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे रसायनविधि अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था ।

रसायन और उसके गुण—

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः ।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम् ॥ १ ॥
वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात् ।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥ २ ॥

रसायन के सेवन से मनुष्य दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तरुणवय (यौवन), प्रभा, वर्ण, स्वर की उदारता (निर्मलता), शरीर-इन्द्रिय में बल, वाक्सिद्धि (जो कहता है, वह अवश्य होता है), वृषता (शुक्रभूयिष्ठता) और कान्ति प्राप्त करता है । जिससे श्रेष्ठ रस-रक्तादि धातुओं की प्राप्ति होती है, वह रसायन है ।

रसायन का प्रयोग—

पूर्वे वयसि मध्ये वा तत्प्रयोज्यं जितात्मनः ।
स्निग्धस्य स्रुतरक्तस्य विशुद्धस्य च सर्वथा ॥ ३ ॥

इस रसायन को जितात्मा पुरुष बाल्यावस्था के बीतते ही (युवावस्था के प्रारम्भ में) अथवा मध्यावस्था (युवावस्था) में स्निग्ध होकर तथा रक्त का स्राव करके वमन-विरेचन आदि से शुद्ध होकर बरते ।

वक्तव्य—बालक और वृद्ध व्यक्ति रसायन के अधिकारी नहीं है—'जरापक्वशरीरस्य व्यर्थमेव रसायनम्' । इसलिये यौवन में रसायन-सेवन के लिये कहा है । बालक और वृद्ध औषध के वीर्य को सहन नहीं कर सकते । च्यवन ऋषि ने वृद्ध होने पर भी जो रसायन—च्यवनप्राश को सहा, उसमें तप कारण था । अकालावस्था में उत्पन्न जरा को रसायन दूर करता है । इसलिये जहाँ पर रसायन का गुण जरानाशक है, उनको अकाल अवस्था की जरा समझना ।

अशुद्ध शरीर में रसायन का निष्फल प्रयोग—

अविशुद्धे शरीरे हि युक्तो रासायनो विधिः ।
वाजीकरो वा मलिने वस्त्रे रङ्ग इवाफलः ॥ ४ ॥

मलिन शरीर में प्रयुक्त रसायन-विधि या वाजीकर-विधि मलिन वस्त्र में दिये हुए रंग के समान निष्फल होती है । [मलिन वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता] ।

रसायनसेवन के दो भेद—

रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः ।
कुटीप्रावेशिकं मुख्यं वातातपिकमन्यथा ॥ ५ ॥

ऋषियों ने रसायन की विधि दो प्रक,र की बताई है—इनमें प्रधान विधि कुटीप्रावेशिक है और दूसरी वातातपिक है, यह अमुख्य है । [कुटीप्रवेशेन क्रियते; तत्कुटीप्रावेशिकम् । वातातपसेवयापि यत् क्रियते तद्वातातपिकम्] ।

रसायनसेवन का स्थान—

पुरे प्राप्योपकरणे हर्म्यनिर्वातनिर्भये ।
दिश्युदीच्यां शुभे देशे त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम् ॥ ६ ॥
धूमातपरजोव्यालस्त्रीमूर्खाद्यविलङ्घिताम् ।
सज्जवैद्योपकरणां सुमृष्टां कारयेत्कुटीम् ॥ ७ ॥

जिस नगर में सब उपकरण प्राप्त हो सकें, जहां पर वायु और भय से रहित निर्मल-श्वेत घर हों, उत्तर दिशा में, शुभस्थान पर (पत्थर, कंकड़, बिच्छू, अस्थि, कपाल आदि से रहित), तीन गर्भवाली (तिखनी), सूक्ष्म रोशनदानों (वातायनों) वाली कुटी को बनवाये । इस कुटी में धुँवा, धूप, धूली, हिंसक पशु, स्त्री, मूर्ख आदि न पहुँच सकें तथा वैद्य के साधन औषध आदि सदा तैयार रहें, कुटी को लीपने-पोतने आदि से शुद्ध बनाए । ['नृपादिचरिते धर्म्ये प्राप्योपकरणे पुरे' यह पाठ श्रीशिवदाससेन जी ने दिया है] ।

वक्तव्य—त्रिगर्भाम्—एक घर बनाये, उसके अन्दर दूसरा और उसके अन्दर तीसरा घर बनाये ।

रसायनसेवन-विधि—

अथ पुण्येऽह्नि सम्पूज्य पूज्यांस्तां प्रविशेच्छुचिः ।
तत्र संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः ॥ ८ ॥
ब्रह्मचारी धृतियुतः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
दानशीलदयासत्यव्रतधर्मपरायणः ॥ ९ ॥
देवताऽनुस्मृतौ युक्तो युक्तस्वप्नप्रजागरः ।
प्रियौषधः पेशलवागारभेत रसायनम् ॥ १० ॥

मंगलाचार करके पुण्य दिन में अपने पूज्य देवता आदि का पूजन करके मन, शरीर और वाणी से पवित्र होकर उस कुटी में प्रवेश करे वहां संशोधनों से शुद्ध और स्वस्थ होकर फिर से बल आ जाने पर ब्रह्मचारी; धैर्ययुक्त, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, दानशील, दया, व्रत, सत्य धर्म में लगा हुआ, देवताभक्त, सोना और जागना जिसके युक्त—उचित हों, औषध में प्रीति रखने वाला, मधुर वाणी वाला मनुष्य रसायन का आरम्भ करे । [सुखी-नीरोगः] ।

रसायनसेवन से पूर्व विरेचनविधि—

हरीतकीमामलकं सैन्धवं नागरं वचाम् ।
हरिद्रां पिप्पलीं वेल्लं गुडं चोष्णाम्बुना पिबेत् ॥ ११ ॥
स्निग्धस्विन्नो नरः पूर्वं, तेन साधु विरिच्यते ।

पहले स्नेहन और स्वेदन करके फिर हरड़, आंवला, सैन्धव, सोंठ, वच, हल्दी, पिप्पली, विडङ्ग और गुड़ इनको गरम पानी से पिये । इससे भली प्रकार विरेचन होता है ।

घृतयुक्त यावक का प्रयोग—

ततः शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च ॥ १२ ॥
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा सप्ताहं वा घृतान्वितम् ।
दद्याद्यावकमाशुद्धेः पुराणशकृतोऽथवा ॥ १३ ॥

पीछे शुद्ध शरीर वाले तथा पेया आदि संसर्जन क्रम किये हुए मनुष्य को तीन रात या पाँच रात अथवा सात दिन तक जौ के अन्न को घी के साथ देवे। अथवा पुरातन मल के शोधन होने तक जौ का अन्न घी के साथ देवे।

(तीन रात, पाँच रात या सात दिन की मर्यादा हीन, मध्यम और उत्तम सम्बन्धी है।)

रसायन का प्रयोग—

इत्थं संस्कृतकोष्ठस्य रसायनमुपाहरेत्।
यस्य यद्यौगिकं पश्येत्सर्वमालोच्य सात्म्यवित्॥

इस प्रकार कोष्ठ का संस्कार किए हुए पुरुष के लिये जो रसायन यौगिक जंचे, सात्म्य को जानने वाला वैद्य सम्पूर्ण विचार कर उसके लिये वह रसायन देवे।

ब्राह्म रसायन—

पथ्यासहस्रं त्रिगुणधात्रीफलसमन्वितम्।
पञ्चानां पञ्चमूलानां सार्धं पलशतद्वयम्॥ १५॥
जले दशगुणे पक्त्वा दशभागस्थिते रसे।
आपोथ्य कृत्वा व्यस्थीनि विजयामलकान्यथ॥१६॥
विनीय तस्मिन्निर्यूहे योजयेत्कुडवांशकम्।
त्वगेलामुस्तरजनी-पिप्पल्यगुरुचन्दनम्॥ १७॥
मण्डूकपर्णीकनकशङ्खपुष्पीवचाप्लवम्।
यष्ट्याह्वयं विडङ्गं च चूर्णितं तुलयाऽधिकम्॥१८॥
सितोपलार्धभारं च पात्राणि त्रीणि सर्पिषः।
द्वे च तैलात् पचेत्सर्वं तदग्नौ लेहतां गतम्॥१९॥
अवतीर्णं हिमं युञ्ज्याद्विशैः क्षौद्रशतैस्त्रिभिः।
ततः खजेन मथितं निदध्याद् घृतभाजने॥ २०॥
या नोपरुन्ध्यादाहारमेकं मात्राऽस्य सा स्मृता।
षष्टिकं पयसा चात्र जीर्णे भोजनमिष्यते॥ २१॥
वैखानसा वालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः।
ब्रह्मणा विहितं धन्यमिदं प्राश्य रसायनम्॥ २२॥
तन्द्राश्रमक्लमवलीपलितामयवर्जिताः।
मेधास्मृतिबलोपेता बभूवुरमितायुषः॥ २३॥

(ब्राह्म रसायन—हरड़ एक हजार, आंवला तीन हजार (गिनती में); पाँचों पञ्चमूल (अन्नपानस्वरूपविज्ञानीय अध्याय में कहे) दो सौ पचास पल, इन सबों को दस गुने जल में क्वाथ करे। जब दसवाँ भाग शेष रह जाये तब छान ले। इसमें से हरड़ और आंवलों को मसल कर गुठलियां निकाल दे। गुठली निकली हरड़ों और आँवलों को क्वाथ में डाल दे। साथ ही इस क्वाथ में दालचीनी, इलायची, मुस्ता, हल्दी, पिप्पली, अगरु, चन्दन, मण्डूकपर्णी, नागकेशर, शंखपुष्पी, वच, केवटीमोथा, मुलहठी और विडङ्ग प्रत्येक का चूर्ण एक कुडव (चार पल), शर्करा ग्यारह तुला, घी तीन आढक, तैल दो आढक; इनको मिलाकर अग्नि पर अवलेह तैयार करे। जब लेह बन जाये तब उतार कर ठण्डा होने पर इसमें मधु तीन सौ बीस पल मिलाकर मन्थदण्डसे मथकर घृत से लिप्त पात्रमें रख देवे। जो मात्रा एक आहार-सायंकालीन आहार को न रोके, वह इस रसायन की मात्रा कही है। इस लेह के जीर्ण होने पर साठी के चावलों को दूध के साथ खावे। ब्रह्मासे बनाए इस धन्य रसायन को खाकर वैखानस, बालखिल्य तथा दूसरे तपोधन ऋषि तन्द्रा, श्रम, क्लम, वली, पलित और रोगों से रहित एवं मेधा, स्मृति तथा बल से युक्त होकर अमित (अपरिमित) आयु वाले हुए।

हरीतक्यादि रसायन—

अभयामलकसहस्रं निरामयं पिप्पलीसहस्रयुतम्।
तरुणपलाशक्षारद्रवीकृतं स्थापयेद् भाण्डे॥ २४॥
उपयुक्ते च क्षारे छायासंशुष्कचूर्णितं योज्यम्।
पादांशेन सितायाश्चतुर्गुणाभ्यां मधुघृताभ्याम्॥२५॥
तद् घृतकुम्भे भूमौ निधाय षण्माससंस्थमुद्धृत्य।
प्राह्णे प्राश्य यथानलमुचिताहारो भवेत्सततम्॥२६॥
इत्युपयुज्याशेषं वर्षशतमनामयो जरारहितः।
जीवति बलपुष्टिवपुःस्मृतिमेधाद्यन्वितो विशेषेण॥

निर्दोष (रोगरहित-जन्तु से न खाया) हरड़ और आँवला मिलित एक हजार और पिप्पली एक हजार को ताजे ढाक के क्षारोदक से भावित कर पात्र में रख देवे। क्षारोदक के सूख जाने पर इसे छाया में सुखा कर चूर्ण कर ले। इस चूर्ण से चतुर्थांश शर्करा और चौगुना मधु और घृत मिला कर पूर्व की भाँति घी के घड़े में रखकर भूमि में गाड़ देवे। छः मास पीछे इसको निकाल कर अग्नि के अनुसार पूर्वाह्ण में खावे। उचित आहार का निरन्तर सेवन करे। इस प्रकार सम्पूर्ण औषध खा लेने पर एक सौ वर्ष नीरोगी एवं जरा रहित होकर जीता है। विशेष कर बल, पुष्टि, वपु, स्मृति और मेधा आदि से युक्त होता है। [तरुणविशेषणं बालवृद्धपलाशवर्जनं बोधयति, इति श्रीशिवदाससेनः अजीर्णः क्षार इत्यरुणः]

आमलकी रसायन—

नीरुजार्द्रपलाशस्य छिन्ने शिरसि तत्क्षतम्।
अन्तर्द्विहस्तं गम्भीरं पूर्यमामलकैर्नवैः॥ २८॥
आमूलं वेष्टितं दर्भैः पद्मिनीपङ्कलेपितम्।
आदीप्य गोमयैर्वन्यैर्निर्वाते स्वेदयेत्ततः॥ २९॥

स्विन्नानि तान्यामलकानि तृप्त्या
खादेन्नरः क्षौद्रघृतान्वितानि।
क्षीरं शृतं चानु पिबेत्प्रकामं
तेनैव वर्तेत च मासमेकम्॥ ३०॥
वर्ज्यानि वर्ज्यानि च तत्र यत्नात्
स्पृश्यं च शीताम्बु न पाणिनाऽपि।
एकादशाहेऽस्य ततो व्यतीते
पतन्ति केशा दशना नखाश्च॥ ३१॥

अथाल्पकैरेव दिनैः सुरूपः
स्त्रीष्वक्षयः कुञ्जरतुल्यवीर्यः ।
विशिष्टमेधाबलबुद्धिसत्त्वो
भवत्यसौ वर्षसहस्रजीवी ॥ ३२ ॥

कोटर आदि से रहित निरोगी ढाक शिर को काट कर उसमें दो हाथ गहरा गड्ढा अन्दर में बनाये । इस गड्ढे को नूतन आंवलों से भर देवे । इस ढाक को जड़ तक दाभ से लपेट कर ऊपर से पद्मिनी के कीचड़ से लिप्त कर दे । जंगली गोहरों से इनको जलाकर वायुरहित स्थान पर स्वेदन देवे । स्विन्न हुए इन आंवलों को मनुष्य घी और मधु के साथ पेट भरकर खाये । फिर इच्छानुसार गरम किया दूध पिये । इस प्रकार एक मास तक रहे । रसायनविधि में स्त्री, मद्य तथा क्षार आदि को यत्नपूर्वक छोड़े । ठण्डे पानी को हाथ से भी न छुए । ग्यारह दिन बीतने पर इसके दांत, नख और केश गिर जाते हैं । फिर थोड़े दिनों में ही स्वरूपवान और स्त्रियों में अक्षय शक्ति वाला तथा हाथी के समान वीर्यशाली हो जाता है । विशेष मेधा, बल, बुद्धि और सत्त्व वाला हो जाता है एवं एक हजार वर्ष तक जीता है ।

च्यवनप्राश—

दशमूलबलामुस्तजीवकर्षभकोत्पलम्
पर्णिन्यौ पिप्पली शृङ्गी मेदा तामलकी त्रुटिः ॥३३॥
जीवन्ती जोङ्गकं द्राक्षा पौष्करं चन्दनं शठी ।
पुनर्नवर्द्धिकाकोलीकाकनासामृताद्वयम् ॥ ३४ ॥
विदारी वृषमूलं च तदैकध्यं पलोन्मितम् ।
जलद्रोणे पचेत्पञ्च धात्रीफलशतानि च ॥ ३५ ॥
पादशेषं रसं तस्माद्व्यस्थीन्यामलकानि च ।
गृहीत्वा भर्जयेत्तैलघृताद् द्वादशभिः पलैः ॥ ३६ ॥
मत्स्यण्डिकातुलार्धेन युक्तं तल्लेहवत् पचेत् ।
स्नेहार्धं मधु सिद्धे तु तवक्षीर्याश्चतुष्पलम् ॥ ३७ ॥
पिप्पल्या द्विपलं दद्याच्चतुर्जातं कणार्धितम् ।
अतोऽवलेहयेन्मात्रां कुटीस्थः पथ्यभोजनः ॥ ३८ ॥
इत्येष च्यवनप्राशो यं प्राश्य च्यवनो मुनिः ।
जराजर्जरितोऽप्यासीन्नारीनयननन्दनः ॥ ३९ ॥
कासं श्वासं ज्वरं शोषं हृद्रोगं वातशोणितम् ।
मूत्रशुक्राश्रयान् दोषान् वैस्वर्यं च व्यपोहति ॥४०॥
बालवृद्धक्षतक्षीणकृशानामङ्गवर्धनः ।
मेधां स्मृतिं कान्तिमनामयत्व-
मायुःप्रकर्षं पवनानुलोम्यम् ।
स्त्रीषु प्रहर्षं बलमिन्द्रियाणा-
मग्नेश्च कुर्याद्विधिनोपयुक्तः ॥ ४१ ॥

च्यवनप्राशावलेह—दशमूल, बला, मुस्ता, जीवक, ऋषभक, कमल, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, पिप्पली, काकड़ाश्रृंगी, मेदा, भुंई आमलकी, छोटी इलायची, जीवन्ती, अगर, द्राक्षा, पुष्करमूल, चन्दन, कचूर, पुनर्नवा, ऋद्धि, काकोली, काकनासा, गिलोय, हरड़, बिदारी, अडूसे की जड़ प्रत्येक एक-एक पल लेकर एक साथ द्रोण जल में पकाये । इसमें (पोटली बांध कर) पांच सौ आंवले भी डाल देवे । चौथाई रहने पर इसको छानकर इसमें से आंवला निकाल कर उनकी गुठलियां अलग कर ले । तैल और घृत बारह-बारह पल लेकर इसमें इनको—आंवलों को भून लेवे क्वाथ में खांड पचास पल मिलाकर भूने आंवलों को डालकर लेह की भाँति पकाये । पक जाने पर मधु बारह पल, वंशलोचन चार पल, पिप्पली दो पल, चतुर्जातक (त्वग्, एला, पत्रक और केसर) एक पल मिलाये । कुटी में स्थित तथा पथ्य भोजन करता हुआ मात्रा में इसको चाटे । यह वह च्यवनप्राश है, जिसको खाकर च्यवन मुनि बुढ़ापे से जर्जरित होने पर भी स्त्रियों के प्रिय बने थे । यह कास, श्वास, ज्वर, शोष, हृद्रोग, वातरक्त, मूत्र एवं शुक्र स्थित दोषों को और विस्वरता को नष्ट करता है । बालक, वृद्ध क्षतक्षीण और कृशों के अंगों को बढ़ाने वाला है । विधिपूर्वक बरतने से यह मेधा, स्मृति, कान्ति, नीरोगता, आयुर्वृद्धि, आयु की अनुलोमता, स्त्रियों में हर्ष, इन्द्रियों में बल और अग्नि की वृद्धि करता है ।

त्रिफलारसायन—

मधुकेन तवक्षीर्या पिप्पल्या सिन्धुजन्मना ।
पृथग्लोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा ॥ ४२ ॥
सितया वा समायुक्ता समायुक्ता रसायनम् ।
त्रिफला सर्वरोगघ्नी मेधायुःस्मृतिबुद्धिदा ॥ ४३ ॥

मुलहठी, वंशलोचन, पिप्पली, सैन्धव, पृथक् (प्रत्येक) लोह (ताम्र, त्रपु, सीस, रौप्य, लोह), सुवर्ण, वच इनमें से किसी एक वस्तु के साथ त्रिफला को मधु एवं घृत मिलाकर अथवा शर्करा के साथ भली प्रकार एक साल तक सेवन करने से यह त्रिफला रसायन सर्वरोगनाशक तथा मेधा, आयु, स्मृति और बुद्धि को देने वाली है । (शिवदाससेनजी ने एक पद्य, मुलहठी से लेकर सैन्धव तक एक योग का भी दिया है)।

मेधावृद्धिकर रसायन—

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसं यथाग्नि
क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम् ।
रसं गुडूच्याः सहमूलपुष्प्याः
कल्कं प्रयुञ्जीत च शङ्खपुष्प्याः ॥ ४४ ॥
आयुष्प्रदान्यामयनाशनानि
बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि ।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि
मेध्या विशेषेण तु शङ्खपुष्पी ॥ ४५ ॥

चार योग—अग्नि के अनुसार मण्डूकपर्णी का स्वरस पिये । मुलहठी के चूर्ण को दूध से पिये । गिलोय का रस पिये । मूल और पुष्प के साथ शङ्खपुष्पी के कल्क को बरते । ये चारों रसायन आयु को देने वाले, रोगनाशक; बल, अग्नि,

वर्ण और स्वर को बढ़ाने वाले तथा मेध्य हैं इनमें भी शंखपुष्पी विशेष करके मेध्य है।

अन्य प्रयोग—

नलदं कटुरोहिणी पयस्या
मधुकं चन्दनसारिवोग्रगन्धाः ।
त्रिफला कटुकत्रयं हरिद्रे
सपटोलं लवणं च तैः सुपिष्टैः ॥ ४६ ॥
त्रिगुणेन रसेन शंखपुष्प्याः
सपयस्कं घृतनल्वणं विपक्कम् ।
उपयुज्य भवेज्जडोऽपि वाग्मी
श्रुतधारी प्रतिभानवानरोगः ॥ ४७ ॥

खस, कुटकी, विदारी, मुलहठी, चन्दन, सारिवा, वच, त्रिफला, त्रिकटु, हल्दी, दारुहल्दी; इनका कल्क, शंखपुष्पी का रस (घी से) तिगुना, दूध (घी) के समान; इनसे घी एक द्रोण पकाये। इस घी को खाकर जड भी बोलने लगता है, मूर्ख भी विद्वान हो जाता है, सुनते ही धारणा करता है, प्रतिभाशाली और निरोगी होता है। (नलद आदि का कल्क घी से चौथाई डाले)।

पद्मारविन्द रसायन—

पेष्यैर्मृणालबिसकेसरपत्रबीजैः
सिद्धं सहेमशकलं पयसा च सर्पिः ।
पद्मारविन्दमिति तत्प्रथितं पृथिव्यां
प्रभ्रष्टपौरुषबलप्रतिभैर्निषेव्यम् ॥ ४८ ॥

बिष, कमलनाल, कमल का केसर, कमल के पत्ते, कमल के बीज; इनके कल्क, स्वर्ण के टुकड़े के साथ दूध और घी को सिद्ध करे। सिद्ध हुआ यह पद्मारविन्द नामक घृत पृथिवी पर विख्यात है। जिनका पौरुष, बल और प्रतिभा नष्ट हो गई है उनको यह सेवन करना चाहिये।

वक्तव्य—जारित-पुटितसुवर्णचूर्णसहितमिति केचित्। सुवर्णखण्डेन सह पाकमित्यन्ये । अयञ्च सुवर्णसहितः पाकः प्रभावादेव गुणजनकः, इति शिवदाससेनः।

अन्य प्रयोग—

यन्नालकन्ददलकेसरवद्विपक्वं
नीलोत्पलस्य तदपि प्रथितं द्वितीयम् ।
सर्पिश्चतुष्कुवलयं सहिरण्यपत्रं
मेध्यं गवामपि भवेत् किमु मानुषाणाम् ॥

कमल के नाल, कन्द, पत्ता और केसर; एवं स्वर्ण के पत्तों के साथ जो घी सिद्ध किया जाता है, उसको चतुष्कुवलय कहते हैं। यह घृत गाय आदि पशुओं के लिए भी मेध्य है, फिर मनुष्यों के लिये क्या कहना ? उनके लिये तो मेध्य है ही।

ब्राह्मी आदि रसायन का योग—

ब्राह्मीवचासैन्धवशङ्खपुष्पी-
मत्स्याक्षकब्रह्मसुवर्चलैन्द्र्यः ।
वैदेहिका च त्रियवाः पृथक्स्यु-
र्यवौ सुवर्णस्य तिलो विषस्य ॥ ५० ॥
सर्पिषश्च पलमेकत एतद्
योजयेत्परिणते च घृताढ्यम् ।
भोजनं समधु वत्सरमेवं
शीलयन्नधिकधीस्मृतिमेधः ॥ ५१ ॥
अतिक्रान्तजराव्याधितन्द्रालस्यश्रमक्लमः ।
जीवत्यब्दशतं पूर्णं श्रीतेजःकान्तिदीप्तिमान् ॥ ५२ ॥
विशेषतः कुष्ठकिलासगुल्म-
विषज्वरोन्मादगरोदराणि ।
अथर्वमन्त्रादिकृताश्च कृत्याः
शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाताः ॥ ५३ ॥

ब्राह्मी, वच, सैन्धव, शंखपुष्पी, मत्स्याक्षकी, ब्रह्मसुवर्चला, ऐन्द्री और पिप्पली, ये पृथक् पृथक् तीन यव, सुवर्ण दो यव, विष एक तिल-प्रमाण, घी एक पल, इन सब को एक साथ मिलाकर खाये। इसके जीर्ण हो जाने पर घृतबहुल भोजन को मधु के साथ खाये। इस प्रकार एक साल तक सेवन करने पर बुद्धि और मेधा अधिक होती है। बुढ़ापा, रोग, तन्द्रा, आलस्य, श्रम, क्लम से रहित बनकर श्री, तेज, कान्ति और दीप्ति से पूर्ण होकर एक सौ वर्ष तक जीता है। विशेषकर कुष्ठ, किलास, गुल्म, विषमज्वर, उन्माद, गर, उदररोग तथा अथर्ववेद मन्त्रों द्वारा प्रयुक्त कृत्यायें तथा अति बलवान वायु इससे शान्त होती है।

नागबला रसायन—

शरन्मुखे नागबलां पुष्ययोगे समुद्धरेत् ।
अक्षमात्रं ततो मूलाच्चूर्णितात्पयसा पिबेत् ॥ ५४ ॥
लिह्यान्मधुघृताभ्यां वा क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ।
एवं वर्षप्रयोगेण जीवेद्वर्षशतं बली ॥ ५५ ॥

शरद् ऋतु के प्रारम्भ में नागबला के मूल को पुष्य नक्षत्र में उखाड़े इस जड़ में से एक कर्ष चूर्ण करके दूध के साथ पिये अथवा मधु और घृत के साथ चाटे। बिना अन्न खाये केवल दूध पर ही रहे। इस प्रकार एक वर्ष तक प्रयोग करने पर सौ वर्ष तक बलवान् होकर जीता है।

फलोन्मुखो गोक्षुरकः समूल-
श्छायाविशुष्कः सुविचूर्णिताङ्गः ।
सुभावितः स्वेन रसेन तस्मा-
न्मात्रां परां प्रासृतिकीं पिबेद्यः ॥ ५६ ॥
क्षीरेण तेनैव च शालिमश्नन्
जीर्णे भवेत्स द्वितुलोपयोगात् ।
शक्तः सुरूपः सुभगः शतायुः
कामी ककुद्मानिव गोकुलस्थः ॥ ५७ ॥

गोखरू में जब फल आने लगे, तब इनको मूलसमेत उखाड़कर छाया में सुखाकर इसका बारीक चूर्ण कर लेवे।

इस चूर्ण को गोखरू के स्वरस से ही अच्छी प्रकार भावना देकर इसकी एक प्रसृति प्रमाण उत्तम मात्रा को दूध के साथ पिये और दूध के साथ ही शालि-चावलों को खाये। इस चूर्ण की दो तुला (२०० पल) सेवन करने पर शक्तियुक्त, सुरूप, उत्तम भाग्यशाली, शतायु और गायों के बीच में रहने वाले महावृषभ (सांड) के समान कामी हो जाता है।

वाराहीकन्द रसायन—

वाराहीकन्दमार्द्रं क्षीरेण क्षीरपः पिबेत्।
मासं निरन्नो मासं च क्षीरान्नादो जरां जयेत् ॥५८॥
तत्कन्दश्लक्ष्णचूर्णं वा स्वरसेन सुभावितम्।
घृतक्षौद्रप्लुतं लिह्यात्तत्पक्वं वा घृतं पिबेत् ॥५९॥

अतिशय दूध वाले वाराहीकन्द के मूल को दूध के साथ पिये और केवल दूध को पीये। इस प्रकार अन्नरहित रहकर एक मास तक करे। एक मास तक दूध एवं अन्न को खाये। इस प्रकार करने से बुढ़ापा नष्ट होता है।

वाराहीकन्द के सूक्ष्म चूर्ण को इसी वाराहीकन्द के स्वरस से भली प्रकार भावित करके-घी और मधु से गीला करके चाटे अथवा वाराहीकन्द के चूर्ण के साथ पकाये घृतको पिये।

विदारीकन्दादि रसायन योग—

तद्वद्विदार्यतिबलाबलामधुकवायसीः ।
श्रेयसीश्रेयसीयुक्तापथ्याधात्रीस्थिरामृताः ॥६०॥
मण्डूकीशङ्खकुसुमावाजिगन्धाशतावरीः ।
उपयुञ्जीत मेधावीवयःस्थैर्यबलप्रदाः ॥६१॥

इसी प्रकार विदारी, अतिबला, बला, मुलहठी, वायसी (काकमाची), रास्नासहित गजपिप्पली, हरड़, आँवला, शालपर्णी, गिलोय, मण्डूकपर्णी, शंखपुष्पी, असगन्ध, शतावरी इनको (पृथक् पृथक्) घी, दूध और मधु के साथ बरते हैं। ये मेधा, बुद्धि, वय की स्थिरता और बल देने वाले हैं।

चित्रक रसायन—

यथास्वं चित्रकः पुष्पैर्ज्ञेयः पीतसितासितः।
यथोत्तरं स गुणवान् विधिना च रसायनम् ॥६२॥
छायाशुष्कं ततो मूलं मासं चूर्णीकृतं लिहन्।
सर्पिषा मधुसर्पिर्भ्यां पिबन् वा पयसा यतिः ॥६३॥
अम्भसा वा हितान्नाशी शतं जीवति नीरुजः।
मेधावी बलवान् कान्तो वपुष्मान् दीप्तपावकः ॥६४॥
तैलेन लीढो मासेन वातान् हन्ति सुदुस्तरान्।
मूत्रेण श्वित्रकुष्ठानि पीतस्तक्रेण पायुजान् ॥६५॥

चीता, पीले, श्वेत और काले फूलों से उत्तरोत्तर गुणशाली होता है। विधि से बरतने पर यह रसायन है।

चीता के मूल को छाया में सुखाकर चूर्ण करके रसको मधु और घृत के साथ अथवा दूध के साथ एक मास तक संयमी बनकर पिये, अथवा जल से पिये; हितकारी अन्न का सेवन करे। इस प्रकार रोगरहित होकर एक सौ वर्ष जीता है। मेधावी, बलवान्, कान्तियुक्त उत्तम शरीर वाला और दीप्ताग्नि होता है।

एक मास तक तैल से चित्रक को चाटे। इससे भयानक वायुरोग नष्ट होते हैं। मूत्र के साथ लेने से श्वित्र एवं कुष्ठ तथा तक्र के साथ लेने से अर्श को नष्ट करता है।

भल्लातक रसायन का प्रयोग—

भल्लातकानि पुष्टानि धान्यराशौ निधापयेत्।
ग्रीष्मे संगृह्य हेमन्ते स्वादुस्निग्धहिमैर्वपुः ॥६६॥
संस्कृत्य तान्यष्टगुणे सलिलेऽष्टौ विपाचयेत्।
अष्टांशशिष्टं तत्क्वाथं सक्षीरं शीतलं पिबेत् ।६७॥
वर्धयेत्प्रत्यहं चानु तत्रैकैकमरुष्करम्।
सप्तरात्रत्रय यावत् त्रीणि त्रीणि ततः परम् ॥६८॥
आचत्वारिंशतस्तानि ह्रासयेद् वृद्धिवत्ततः।
सहस्रमुपयुञ्जीत सप्ताहैरिति सप्तभिः ॥६९॥
यन्त्रितात्मा घृतक्षीरशालिषष्टिकभोजनः।
तद्वत्त्रिगुणितं कालं प्रयोगान्तेऽपि चाचरेत् ॥७०॥
आशिषो लभतेऽपूर्वा वह्नेर्दीप्तिं विशेषतः।
प्रमेहकृमिकुष्ठार्शोमेदोदोषविवर्जितः ॥७१॥

अच्छी प्रकार के पके भिलावों को ग्रीष्मऋतु में एकत्रित करके धान्यराशि में रख देवे। हेमन्त में मधुर, स्निग्ध और शीतल वस्तुओं से शरीर को संस्कृत करके उसमें से आठ भिलावों को आठगुने जल में पकाये। इस क्वाथ का अष्टमांश शेष रहने पर इनमें शीतल होने पर दूध मिलाकर पिये। प्रतिदिन एक-एक भिलावे को बढ़ाता जाय। इस प्रकार इक्कीस दिन तक बढ़ाये। फिर (चार दिन तक) तीन तीन बढ़ाये, जब तक इनकी संख्या चालीस तक न पहुँच जाये। फिर वृद्धि के क्रम से इसको घटाना आरम्भ करे इस प्रकार सात सप्ताहों में एक हजार भिलावों का सेवन करे। इनके सेवन में जितेन्द्रिय रहे, घी, दूध, शाली एवं साठी का भोजन करे। भिलावे के प्रयोग के भी तीनगुने समय तक इस पथ्य को बरतता रहे अर्थात् इक्कीस सप्ताह तक यह विधि करे। इससे वह अपूर्व आशीर्वाद (पूर्वोक्त अभिलषित गुणों) को प्राप्त करता है, विशेष कर उसकी अग्नि प्रदीप्त होती है। वह प्रमेह, कृमि, कुष्ठ, अर्श तथा मेदोदोष से रहित होता है।

भल्लातकस्वरस का प्रयोग—

पिष्टस्वेदनमरुजैः पूर्णं भल्लातकैर्विजर्जरितैः।
भूमिनिखाते कुम्भे प्रतिष्ठितं कृष्णमृल्लिप्तम् ॥७२॥
परिवारितं समन्तात्पचेत्ततो गोमयाग्निना मृदुना।
तत्स्वरसो यश्च्यवते गृह्णीयात्तं दिनेऽन्यस्मिन् ॥७३॥
अमुमुपयुज्य स्वरसं मध्वष्टमभागिकं द्विगुणसर्पिः।
पूर्वविधियन्त्रितात्मा प्राप्नोति गुणान् स तानेव ॥७४॥

दृढ (टूटा-फूटा न हो ऐसा) पिष्टस्वेदन (भापने का पात्र) यन्त्र को लेकर उसमें खण्डित किये भिलावों को

रखकर भूमि में गड़े हुए घड़े पर रखकर काली मिट्टी से लेप देवे। इसको चारों ओर से गोमय-उपलों से ढककर कोमल अग्नि से पकाये। इसका जो स्वरस निचले पात्र में गिरता है, उसको दूसरे दिन ले ले। इस स्वरस में मधु आठवाँ भाग और घी दुगुना मिलाकर पूर्व की भाँति संयतात्मा बनकर इसको खाये। इसके खाने से भी मनुष्य को पूर्वोक्त गुण मिलते हैं।

अमृतभल्लातक पाक—

पुष्टानि पाकेन परिच्युतानि
भल्लातकान्याढकसम्मितानि ।
घृष्ट्वेष्टिकाचूर्णकणैर्जलेन
प्रक्षाल्य संशोष्य च मारुतेन ॥ ७५ ॥
जर्जराणि विपचेज्जलकुम्भे
पादशेषघृतगालितशीतम्
तद्रसं पुनरपि श्रपयेत
क्षीरकुम्भसहितं चरणस्थे ॥ ७६ ॥
सर्पिःपक्वं तत्र तुल्यप्रमाणं
युञ्ज्यात्स्वच्छं शर्कराया रजोभिः ।
एकीभूतं तत्खजक्षोभणेन
स्थाप्यं धान्ये सप्तरात्रं सुगुप्तम् ॥ ७७ ॥
तममृतरसपाकं यः प्रगे प्राशमश्नन्
ननु पिबति यथेष्टं वारि दुग्धं रसं वा ।
स्मृतिमतिबलमेधासत्त्वसारैरुपेतः
कनकनिचयगौरः सोऽश्नुते दीर्घमायुः ॥

भली प्रकार पके हुए भिलावे जो अपने आप गिरे हों उनको एक आढक लेकर ईंट के चूर्ण के साथ रगड़े। इनको पानी से धोकर वायु में सुखा ले। इनको कूटकर एक द्रोण जल में पकाये। जब चौथाई रह जाये तब इसको छान ले। इस शेष क्वाथ में एक द्रोण दूध मिलाकर फिर से अग्नि पर पकाये। जब चौथाई शेष रह जाये तब इसमें इसके बराबर घी मिलाकर पकाये। घृत सिद्ध हो जाने पर शर्करा के चूर्ण के साथ मिलाकर खज—मन्थनदण्डसे भली प्रकार मिलाकर धान्यराशि में सात दिन सुरक्षित रख देवे। फिर इसमें से प्रकृति आदि की अपेक्षा से खाये। इस अमृतरस पाक को जो पूर्वाह्न में खाकर पीछे से पानी या दूध को अथवा मांसरस को यथेष्ट पीता है वह स्मृति, बुद्धि, बल, मेधा, सत्व और सारों से युक्त, स्वर्ण के ढेर के समान गौरवर्ण तथा दीर्घायु होता है।

कुष्ठनाशक भल्लातक तैल—

द्रोणेऽम्भसो व्रणकृतां त्रिशताद्विपक्वात्
क्वाथाढके पलसमैस्तिलतैलपात्रम् ।
तिक्ताविषाद्वयवरागिरिजन्मताक्ष्यैः
सिद्धं परं निखिलकुष्ठनिबर्हणाय ॥ ७९ ॥

भिलावे तीन सौ लेकर इनको द्रोण जल में पकाये। १ आढक, क्वाथ शेष रहने पर उसमें तिलतैल एक आढक, कुटकी, विषा, अतिविषा, त्रिफला, शिलाजतु, रसांजन, एक-एक पल लेकर पाक करे। यह सिद्ध तैल सम्पूर्ण कुष्ठों को नाश करने वाला है।

भल्लातक के अन्य योग—

सहामलकशुक्तिभिर्दधिसरेण तैलेन वा
गुडेन पयसा घृतेन यवसक्तुभिर्वा सह ।
तिलेन सह माक्षिकेण पललेन सूपेन वा
वपुष्करमरुष्करं परममेध्यमायुष्करम् ॥

आँवले का चूर्ण, दधिसर (मलाई), तैल, गुड़, दूध, घी, अथवा जौ का सत्तू, तिल, मधु, तिलकल्क या दाल, इन ग्यारह वस्तुओं में से किसी एक के साथ भिलावे को खाये। यह शरीर तथा मर्मों को पुष्ट करने वाला, अतिशय मेध्य और आयुवर्धक है।

भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च ।
भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि ॥ ८१ ॥
कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन ।
यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रमग्निबलप्रदम् ॥ ८२ ॥

भिलावे अतितीक्ष्ण, पकाने वाले और अग्नि के समान हैं। विधि के अनुसार प्रयोग करने पर ये अमृत के तुल्य होते हैं।

कोई कफजन्य रोग नहीं है और न कोई ऐसा विबन्ध है, जिसको भिलावा शीघ्र नष्ट न कर दे। यह शीघ्र अग्निबल को देने वाला है।

भल्लातकसेवन में त्याज्य द्रव्य—

वातातपविधानेऽपि विशेषेण विवर्जयेत् ।
कुलत्थदधिशुक्तानि तैलाभ्यङ्गाग्निसेवनम् ॥ ८३ ॥

वायु, धूप आदि में (कुटी प्रवेश न करके) सेवित रसायन विधि में भी भिलावों के प्रयोगों में कुलथी, दही, शुक्त, तैलाभ्यंग और अग्नि इनका; सेवन विशेष रूप से छोड़ देवे।

सर्वकुष्ठनाशक तुवरक रसायन—

वृक्षास्तुवरको नाम पश्चिमार्णवतीरजाः ।
वीचीतरङ्गविक्षोभमारुतोद्धूतपल्लवाः ॥ ८४ ॥
तेभ्यः फलान्याददीत सुपक्वान्यम्बुदागमे ।
मज्ज्ञः फलेभ्यश्चादाय शोषयित्वाऽवचूर्ण्य च ॥८५॥
तिलवत् पीडयेद् द्रोण्यां, क्वाथयेद्वा कुसुम्भवत् ।
तत्तैलं सम्भृतं भूयः पचेदासलिलक्षयात् ॥ ८६ ॥
अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत् ।
स्निग्धस्विन्नो हृतमलः पक्षादुद्धृत्य तत्ततः ॥ ८७ ॥
चतुर्थभक्तान्तरितः प्रातः पाणितलं पिबेत् ।
मन्त्रेणानेन पूतस्य तैलस्य, दिवसे शुभे ॥ ८८ ॥

मज्जसार महावीर्य सर्वान् धातून् विशोधय ।
शङ्खचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः ॥८९॥

तुवरक वृक्ष पश्चिम समुद्र के किनारे उत्पन्न होते हैं। समुद्र की लहरों की तरंग के विक्षोभ वाली वायु से कम्पायमान पत्तों वाले तुवरक वृक्ष के भली प्रकार पके हुए फलों को वर्षाऋतु के आने पर एकत्रित कर ले। इन फलों से मज्जा को लेकर सुखाकर चूर्ण करके तिल की भाँति द्रोणी में पीडन कर अथवा कुसुम्भ की भाँति क्वाथ कर तैल निकाले। इस तैल को पुनः एकत्रित करके तब तक पकाये जब तक सम्पूर्ण जल न जल जाय। फिर इस तैल को उतार कर करीष (सूखे गोबर) में पन्द्रह दिन तक रख दे। फिर स्नेहन-स्वेदन करके मलोंको निकाल (शरीर का शोधन) कर चौथे भोजन के व्यवधान से (एक दिन छोड़कर) प्रातःकाल एक कर्ष मात्रा में इस तैल को मूलोक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित करके शुभ दिन में पिये। मन्त्रार्थ—'हे मज्जसार, महावीर्य! सब धातुओं का तुम शोधन करो। शंख, चक्र और गदा हाथ में लिये विष्णु तुमको आज्ञा करते हैं।' (मंत्रमूल में पठित है)।

तेनास्योर्ध्वमधस्ताच्च दोषा यान्त्यसकृत्ततः ।
सायमस्नेहलवणां यवागूं शीतलां पिबेत् ॥ ९० ॥
पञ्चाहानि पिबेत्तैलमित्थं वर्ज्यान् विवर्जयन् ।
पक्षं मुद्गरसान्नाशी सर्वकुष्ठैर्विमुच्यते ॥ ९१ ॥

इससे दोष एक साथ वमन-विरेचन रूप में कई बार बाहर आते हैं। सायंकाल स्नेह एवं लवण से रहित शीतल यवागू को पिये। इस प्रकार पाँच दिन तैल को त्याज्य वस्तुओं को छोड़ते हुए पिये। पन्द्रह दिन तक मूंग के यूष के साथ अन्न खाये। इस प्रकार सब कुष्ठों से छूट जाता है॥

तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधु साधितम् ।
निहितं पूर्ववत्पक्षं पिबेन्मासं सुयन्त्रितः ॥९२॥
तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वन्नाहारमीरितम् ।
(भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं शीर्णाङ्गं कृमिभक्षितम् ।)
अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत्कुष्ठिनं नरम् ॥९३॥

इसी तुवरकतैल को तिगुने खैरक्वाथ में पकाये। भली प्रकार पकाकर पूर्व की भाँति पन्द्रह दिन गोबर में रखकर भली प्रकार नियम पालते हुए इसको एक मास तक पिये। इसी से शरीर पर अभ्यंग करे और ऊपर कहा आहार करे।

(भिन्न स्वर, लाल नेत्र और गले हुए अंगवाले तथा कृमियों से भक्षित) कुष्ठ रोगी को इस विधि से स्वस्थ करे।

सर्पिर्मधुयुतं पीतं तदेव खदिराद्विना ।
पक्षं मांसरसाहारं करोति द्विशतायुषम् ॥ ९४ ॥
तदेव नस्ये पञ्चाशद्दिवसानुपयोजितम् ।
(वलीपलितनिर्मुक्तं स्थिरस्मृतिकचद्विजम् ।)
वपुष्मन्तं श्रुतधरं करोति त्रिशतायुषम् ॥ ९५ ॥

तुवरक तैल को खैर के विना ही घी और मधु के साथ पन्द्रह दिन पीने तथा मांसरस का आहार करने से दो सौ वर्ष की आयु होती है।

यही तुवरक तैल पचास दिन नस्य में लेने से पुरुष को (वली तथा पलित से रहित तथा स्थिर स्मृति, बाल और दाँतों वाला) सुन्दरशरीर, श्रुतधारी और तीन सौ वर्ष की आयु वाला बनाता है।

पिप्पली-रसायन—

पञ्चाष्टौ सप्त दश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा ।
रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत् ॥ ९६ ॥
तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाऽग्रे भोजनस्य च ।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः ॥ ९७ ॥
प्रयोज्या मधुसम्मिश्रा रसायनगुणैषिणा ।

रसायन गुण को चाहने वाला मनुष्य पाँच, आठ, सात या दश पिप्पली को मधु और घृत के साथ एक वर्ष तक सेवन करे।

पिप्पली को ढाक के क्षारोदक से भावित करके घी में भूनकर भोजन से पूर्व पूर्वाह्न में तीन-तीन पिप्पली को मधु में मिलाकर खाये।

वर्धमान-पिप्पलीयोग—

क्रमवृद्ध्या दशाहानि दशपैप्पलिकं दिनम् ॥९८॥
वर्धयेत्पयसा सार्धं तथैवापनयेत्पुनः ।
जीर्णौषधश्च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ॥९९॥
पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम् ।
पिष्टास्ता बलिभिः पेयाः शृताः मध्यबलैर्नरैः ॥१००॥
शीतीकृता हीनबलैर्वीक्ष्य दोषामयान् प्रति ।

दस दिनों तक दस-दस पिप्पली को प्रतिदिन क्रमशः बढ़ाते हुए दूध के साथ खाये। फिर इसी प्रकार दस-दस पिप्पली को प्रतिदिन कम करता जाय। औषध के जीर्ण होने पर दूध और घी के साथ साठी चावल को खाये। हजार पिप्पलियों का यह प्रयोग रसायन गुण वाला है। बलवान् पुरुष इन पिप्पलियों को पीस कर पियें और मध्य बल वाले मनुष्य क्वाथ करके पियें।[1]

हीनबल वाले व्यक्ति दोष और रोगों का विचार कर शीत कषाय करके पियें।

वक्तव्य—शिवदाससेनजी ने 'चूर्णीकृताः' पाठ दिया है। किन्तु पूर्वोक्त सन्दर्भ के अनुसार 'शीतीकृताः' पाठ ही ठीक है। क्योंकि चूर्ण, क्वाथ और शीतकषाय उत्तरोत्तर अल्पबल होते हैं और अल्पबल व्यक्ति को अल्पबल औषधि देना ही उचित है। दस-दस पिप्पली बढ़ाने और घटाने से उन्नीस दिन में यह प्रयोग पूरा होता है। पिप्पली के साथ दूध की मात्रा भी बढ़ानी चाहिये।

---

[1] १. दूध में पकाकर और पकने पर पिप्पली को निकालकर केवल उसी दूध को पिलाना वर्तमान समय में मध्य-बलों के लिये उपयुक्त है।

तद्वच्च छागदुग्धेन द्वे सहस्रे प्रयोजयेत् ।

इसी प्रकार बकरी के दूध से दो हजार पिप्पली का प्रयोग करे ।

एभिः प्रयोगैः पिप्पल्यः कासश्वासगलग्रहान् ॥१०१॥
यक्ष्ममेहग्रहण्यर्शः-पाण्डुत्वविषमज्वरान् ।
घ्नन्ति शोफं वमिं हिध्मां प्लीहानं वातशोणितम् ॥

इन प्रयोगों से पिप्पली कास, श्वास, गलग्रह, यक्ष्मा, प्रमेह, ग्रहणी, अर्श, पाण्डुत्व, विषमज्वर, शोफ, वमन, हिक्का, प्लीहा और वातरक्त को नष्ट करती है।

अन्य पिप्पलीयोग—

बिल्वार्धमात्रेण च पिप्पलीनां
पात्रं प्रलिम्पेदयसो निशायाम् ।
प्रातः पिबेत्तत्सलिलाञ्जलिभ्यां
वर्षं यथेष्टाशनपानचेष्टः ॥ १०३ ॥

दो कर्ष पिप्पली से लोह के पात्र में रात्रि में लेप कर देवे। दो अंजलि उस पात्र के जल को प्रातः पिये । इस प्रकार एक वर्ष तक करे, इसमें यथेच्छ खान-पान और चेष्टा करे ।

शुण्ठ्यादि प्रयोग—

शुण्ठी विडङ्गत्रिफलागुडूची-
यष्टीहरिद्राऽतिबलाबलाश्च ।
मुस्तासुराह्वागुरुचित्रकाश्च
सौगन्धिकं पङ्कजमुत्पलानि ॥ १०४ ॥
धवाश्वकर्णासनबालपत्र-
सारास्तथा पिप्पलिवत् प्रयोज्याः ।
लोहोपलिप्ताः पृथगेव जीवेत्
समाः शतं व्याधिजराविमुक्तः ॥ १०५ ॥

सोंठ, विडंग, त्रिफला, गिलोय, मुलहठी, हल्दी, अतिबला, बला, मुस्ता, देवदारु, अगरु, चित्रक, सौगन्धिक, कमल, उत्पल (नील कमल), धव, अश्वकर्ण और असन के कोमल पत्ते एवं सार; इनको पृथक्-पृथक् पिप्पली की भाँति लोहे में लिप्त करके उस पात्र से दो अंजलि जल प्रयुक्त करे । इससे एक सौ वर्ष तक रोग एवं जरा से रहित होकर जीता है

क्षीराञ्जलिभ्याञ्च रसायनानि युक्तान्यमून्यायसलेपनानि
कुर्वन्ति पूर्वोक्तगुणप्रकर्षमायुःप्रकर्षं द्विगुणं ततश्च ॥

ये पूर्वोक्त रसायन लोहपात्र में लिप्त करके दो अञ्जलि (आठ पल) दूध से लेने पर पूर्वोक्त गुणों की अधिकता और आयु की वृद्धि दुगुनी करते हैं ।

वाकुची-रसायन—

असनखदिरयूषैर्भाविता सोमराजीं
मधुघृतशिखिपथ्यालोहचूर्णैरुपेताम् ।
शरदमवलिहानः पारिणामान् विकारां-
स्त्यजति मितहिताशी तद्वदाहारजातान् ॥१०७॥

बावची को असन तथा खैर के यूषों (क्वाथ) से भावना देकर मधु, घी, चित्रक, हरड़ और लौहचूर्ण के साथ मिलाकर एक साल तक खाने से वार्धक्यजन्य विकारों से मुक्त होता है। उसी प्रकार परिमित और हित भोजन से आहारजन्य रोगों से रहित होता है ।

तीव्रेण कुष्ठेन परीतमूर्ति-
र्यः सोमराजीं नियमेन खादेत् ।
संवत्सरं कृष्णतिलद्वितीयां
स सोमराजीं वपुषाऽतिशेते ॥ १०८ ॥

दारुण कुष्ठ से व्याप्त शरीर वाला जो मनुष्य बावची को नियमपूर्वक काले तिलों के साथ एक साल तक खाता है, वह शरीर से चन्द्रकान्ति को परास्त करता है ।

ये सोमराज्या वितुषीकृताया-
श्चूर्णैरुपेतात् पयसः सुजातात् ।
उद्धृत्य सारं मधुना लिहन्ति
तक्रं तदेवानु पिबन्ति चान्ये ॥ १०९ ॥
कुष्ठिनः शीर्यमाणाङ्गास्ते जाताङ्गुलिनासिकाः ।
भान्ति वृक्षा इव पुनः प्ररूढनवपल्लवाः ॥ ११० ॥

जो मनुष्य तुषरहित बावची से युक्त दूध से बनी दही से निकाले सार मक्खन को मधु के साथ खाते हैं और पीछे से इसी तक्र को पीते हैं, वे गलते अङ्गों वाले कुष्ठरोगी पुनः अङ्गुलि तथा नासिका के उत्पन्न होने से शोभित होते हैं; जिस प्रकार कि अङ्कुरित नूतन पत्तों से वृक्ष शोभित होते हैं।

लहसुन का प्रयोग—

(शीतवातहिमदग्धतनूनां
स्तब्धभग्नकुटिलव्यथितास्थ्नाम् ।
भेषजस्य पवनोपहतानां
वक्ष्यते विधिरतो लशुनस्य ॥ १ ॥)

(शीतल वायु और बर्फ से दग्ध शरीर वाले, स्तब्ध, भग्न, कुटिल, व्यथित अस्थिवाले तथा वायु से पीडित पुरुषों के लिये लहसुन के रसायन की विधि कहते हैं—)

लहसुन की श्रेष्ठता—

राहोरमृतचौर्येण लूनाद्ये पतिता गलात् ।
अमृतस्य कणा भूमौ ते रसोनत्वमागताः ॥ १११ ॥
द्विजा नाश्नन्ति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम् ।
साक्षादमृतसम्भूतेर्ग्रामणीः स रसायनम् ॥ ११२ ॥

अमृत को चुराने के कारण राहु के गले को काटने पर अमृत के जो बिन्दु भूमि पर गिर पड़े, उनसे 'रसोन' उत्पन्न हुआ । राक्षस के शरीर से उत्पन्न होनेके कारण ब्राह्मण इसको नहीं खाते । साक्षात् अमृत से उत्पन्न होने के कारण यह रसायनों में उत्तम है ।

शीलयेल्लशुनं शीते, वसन्तेऽपि कफोल्बणः ।
घनोदयेऽपि वातार्तः, सदा वा ग्रीष्मलीलया ॥११३॥
स्निग्धशुद्धतनुः शीतमधुरोपस्कृताशयः ।
तदुत्तंसावतंसाभ्यां चर्चितानुचराजिरः ॥ ११४ ॥

लहसुन को हेमन्त तथा शिशिर में सेवन करे । कफ-

प्रधान मनुष्य वसन्त में भी सेवन करे। वात से पीडित वर्षा ऋतु में भी खाये। अथवा ग्रीष्म ऋतुचर्या के विचार से वात-पीडित व्यक्ति सदा बरते। शरीर का स्नेहन और शोधन करके शीतल एवं मधुर वस्तुओं से संस्कृत शरीर, लहसुन से शेखर और कर्णपूरों को शोभित किये सेवक जिसके आङ्गन में हों, वह सेवन करे।

तस्य कन्दान् वसन्तान्ते हिमवच्छकदेशजान् ।
अपनीतत्वचो रात्रौ तिमयेन्मदिरादिभिः ॥११५॥
तत्कल्कस्वरसं प्रातः शुचितान्तवपीडितम् ।
मदिरायाः सुरूढायास्त्रिभागेन समन्वितम् ॥११६॥
मद्यस्यान्यस्य तक्रस्य मस्तुनः काञ्जिकस्य वा ।
तत्काल एव वा युक्तं युक्तमालोच्य मात्रया ॥११७॥
तैलसर्पिर्वसामज्जक्षीरमांसरसैः पृथक् ।
क्वाथेन वा यथाव्याधि रसं केवलमेव वा ॥११८॥
पिबेद्गण्डूषमात्रं प्राक् कण्ठनाडीविशुद्धये ।

इस लहसुन के कन्द को वसन्त ऋतु के अन्त में अथवा शीतल देशों में अथवा शक देशों में उत्पन्न लहसुन को लाकर उसके ऊपर की छाल को छीलकर रात्रि में मदिरा आदि से क्लिन्न करे (फुलाये)। इसके कल्क के स्वरस को प्रातः पवित्र वस्त्र से निचोड़ कर किसी दूसरे मद्य के या तक्र के, मस्तु के या काञ्जी के तिगुने भाग में मिलाकर उसी समय या योग्य समय पर विचार कर मात्रा में पिये। तैल, मांसरस, घी, वसा, मज्जा या दूध से अलग-अलग या रोग के अनुसार क्वाथ से, अथवा अकेले रस को गण्डूषमात्र (एक घूंट) पहले कण्ठनाडी के शोधन के लिए पिये।

सततं स्वेदनं चानु वेदनायां प्रशस्यते ॥११९॥
शीताम्बुसेकः सहसा वमिमूर्च्छाययोर्मुखे ।
शेषं पिबेत् क्लमापाये स्थिरतां गत ओजसि ॥१२०॥
विदाहपरिहाराय परं शीतानुलेपनः ।
धारयेत्साम्बुकणिका मुक्ताकर्पूरमालिकाः ॥१२१॥

वेदना होने पर निरन्तर स्वेदन करना उत्तम है। वमन और मूर्च्छा होने पर मुख में शीतल जल से सहसा परिषेक करना चाहिये।

शेष रस को थकावट मिट जाने और ओज के स्थिर होने पर पिये।

विदाह की शान्ति के लिये अतिशय शीतल वस्तुओं को लेप करे। मुक्ताओं की और कर्पूर की माला पानी से गीला करके धारण करे।

कुडवोऽस्य परा मात्रा तदर्धं केवलस्य तु ।
पलं पिष्टस्य तन्मज्ज्ञः सभक्तं प्राक् च शीलयेत् ॥
जीर्णशाल्योदनं जीर्णे शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम् ।
भुञ्जीत यूषैः पयसा रसैर्वा धन्वचारिणाम् ॥१२३॥
मद्यमेकं पिबेत्तत्र तृट्प्रबन्धे जलान्वितम् ।
अमद्यपस्त्वारनालं फलाम्बु परिसिक्थकाम् ॥१२४॥

सुरासहित लहसुन की उत्तम मात्रा एक कुडव है। अकेले रस की मात्रा आधा कुडव है। इस लहसुन की मज्जा की श्रेष्ठ मात्रा एक पल है। भोजन से पहले तथा भोजन के साथ इसको खाये।

इसके जीर्ण होने पर शंख और कुंद के समान श्वेत पुरातन शालि का भात यूषों के साथ या दुग्ध के साथ अथवा जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ खाये।

प्यास लगने पर केवल मद्य को जल मिलाकर पिये। जो मद्य न पीता हो वह काँजी, फलों का रस (बिजौरे का रस) या परिसिक्थिका (सट्टक-विशेष या द्राक्षा या पतली पेया) पिये।

तत्कल्कं वा समघृतं घृतपात्रे खजाहतम् ।
स्थितं दशाहादश्नीयात्तद्वद्वा वसया समम् ॥१२५॥

लहसुन के कल्क को समान घी के साथ खज से मथ कर घी के पात्र में दस दिन तक रखकर खाये। इसी प्रकार घी के स्थान पर वसा के साथ मिलाकर दस दिन रख कर खाये।

विकञ्चुकप्राज्यरसोनगर्भान्
सशूल्यमांसान् विविधोपदंशान् ।
विमर्दकान् वा घृतशुक्तयुक्तान्
प्रकाममद्याल्लघु तुच्छमश्नन् ॥ १२६ ॥

बहुत से लहसुन को छीलकर मांस के बीच में रखकर इस मांस को शूल्य करके (सीखचों पर भून कर) भिन्न-भिन्न उपदंश, चटनी, मसालों के साथ अथवा घी और शुक्तयुक्त विमर्दकों के साथ यथेच्छ खाये। साथ में लघु और थोड़ा भोजन करे।

पित्तरक्तविनिर्मुक्तसमस्तावरणावृते
शुद्धे वा विद्यते वायौ न द्रव्यं लशुनात्परम् ॥१२७॥
प्रियाम्बुगुडदुग्धस्य मांसमद्याम्लविद्विषः ।
अतितिक्षोरजीर्णं च रसोनो व्यापदे ध्रुवम् ॥१२८॥
पित्तकोपभयादन्ते युञ्ज्यान्मृदु विरेचनम् ।
रसायनगुणानेवं परिपूर्णान् समश्नुते ॥१२९॥

पित्त-रक्तरहित सम्पूर्ण आवरणों से आवृत वायु के लिये तथा शुद्ध वायु के लिये लहसुन से उत्तम और कोई द्रव्य नहीं है।

जल, गुड़ और दुग्ध जिनको प्रिय हैं, जो मांस, मद्य और अम्ल से द्वेष करने वाले हैं तथा अजीर्ण को न छोड़ने वाले के लिये लहसुन निश्चय ही रोग के लिये होता है।

लहसुन प्रयोग के अन्त में पित्तप्रकोप के भय से मृदु (अतीक्ष्ण) विरेचन देवे। इस प्रकार से रसोन (लहसुन) को बरतने पर रसायन के सब गुणों को प्राप्त करता है।

शिलाजीत रसायन—

ग्रीष्मेऽर्कतप्ता गिरयो जतुतुल्यं वमन्ति यत् ।

हेमादिषड्धातुरसं प्रोच्यते तच्छिलाजतु ॥ १३० ॥

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य से गरम हुए पहाड़ लाख के समान जिस वस्तु का क्षरण करते हैं, वह स्वर्णादि छः धातुओं का रस शिलाजतु कहा जाता है।

लौह शिलाजीत की श्रेष्ठता—

सर्वं च तिक्तकटुकं नात्युष्णं कटु पाकतः।
छेदनं च विशेषेण लौहं तत्र प्रशस्यते ॥ १३१ ॥

छहों धातुओं से जन्य सब शिलाजतु तिक्त, कटु, न बहुत उष्ण, विपाक में कटु और छेदक हैं। इनमें विशेषकर लौह-शिलाजतु प्रशस्त है।

उत्तम शिलाजीत के लक्षण—

गोमूत्रगन्धि कृष्णं गुग्गुल्वाभं विशर्करं मृत्स्नम्।
स्निग्धमनम्लकषायं मृदु गुरु च शिलाजतु श्रेष्ठम् ॥

जो शिलाजतु गोमूत्र की गन्ध वाला, काला, गुग्गुलु के समान, शर्करा (रेत और कङ्कड़) रहित, चिकना, स्निग्ध ईषत् अम्ल, कषाय, मृदु और गुरु होता है, वह श्रेष्ठ है।

शिलाजीत के प्रयोग की विधि—

व्याधिव्याधितसात्म्यं समनुस्मरन् भावयेदयःपात्रे।
प्राक् केवलजलधौतं शुष्कं क्राथैस्ततो भाव्यम् ॥१३३॥

रोग और रोगी-दोनों के लिये जो सात्म्य अनुकूल हो, उसका भली प्रकार विचार करके लौहपात्र में शिलाजतु को भावित करे। पहिले शिलाजतु को अकेले पानी में धोकर सुखाकर भावनीय द्रव्यों से भावना देवे।

समगिरिजमष्टगुणिते निःक्वाथ्यं भावनौषधं तोये।
यन्निर्यूहेऽष्टांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद् गिरिजम् ॥ १३४ ॥
तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः।
स्वैः स्वैरेवं क्वाथैर्भाव्यं वारान् भवेत्सप्त ॥ १३५ ॥

शिलाजतु के समान भावना द्रव्य को लेकर अठगुने जल में क्वाथ करे। जब क्वाथ अष्टमांश रह जाये तब छानकर उस गरम क्वाथ में शिलाजतु डाल देवे। जब ये दोनों एक रस हो जायें, तब सुखाकर फिर रस में डाले। इस प्रकार (दोष या व्याधि के अनुसार) अपने-अपने क्वाथों से सात-वार भावना देनी चाहिये।

शिलाजीत के सेवन का प्रकार—

अथ स्निग्धस्य शुद्धस्य घृतं तिक्तकसाधितम्।
त्र्यहं युञ्जीत गिरिजमेकैकेन तथा त्र्यहम् ॥ १३६ ॥
फलत्रयस्य यूषेण पटोल्या मधुकस्य च।
योगं योग्यं ततस्तस्य कालापेक्षं प्रयोजयेत् ॥ १३७ ॥
शिलाजमेवं देहस्य भवत्यत्युपकारकम्।
गुणान् समग्रान् कुरुते सहसा व्यापदं न च ॥ १३८ ॥

शिलाजतु को इस प्रकार भावना देकर स्निग्ध और शुद्ध पुरुष तिक्तक घृतों को तीन दिन तक खाये। निम्न वस्तुओं में से एक-एक के साथ तीन-तीन दिन तक शिलाजतु को बरते-त्रिफला के क्वाथ से तीन दिन, पटोल के क्वाथ से तीन दिन, मुलहठी के क्वाथ से तीन दिन। इसके पीछे योग्य योग को काल आदि की अपेक्षा से बरते। इस प्रकार से प्रयुक्त शिलाजीत शरीर के लिये अतिशय उपकारक होता है, सब गुणों को करता है और सहसा कोई रोग नहीं करता।

वक्तव्य—शोधन के साथ स्नेहन भी करके घी के प्रयोग के पीछे शिलाजतु को बरते—'यथा हि कवची शस्त्रं परेभ्यः सहतेऽधिकम्। तथा स्नेहाधिके गात्रे सेव्यमानं शिलाजतु ॥'

एकत्रिसप्तसप्ताहं कर्षमर्धपलं पलम्।
हीनमध्योत्तमो योगः शिलाजस्य क्रमान्मतः ॥१३९॥

एक सप्ताह, तीन सप्ताह और सात सप्ताह कालयोग तथा कर्ष, आधापल और एक पल यह मात्रायोग है। इन दोनों को क्रमशः हीन, मध्यम और उत्तम रूप में बरते।

शिलाजीत सेवन के गुण और पथ्य—

संस्कृतं संस्कृते देहे प्रयुक्तं गिरिजाह्वयम्।
युक्तं व्यस्तैः समस्तैर्वा ताम्रायोरूप्यहेमभिः ॥ १४० ॥
क्षीरेणालोडितं कुर्याच्छीघ्रं रासायनं फलम्।
कुलत्थान् काकमाचीं च कपोतांश्च सदा त्यजेत् ॥

संस्कृत (वायु आदि नाशक द्रव्यों से भावित) शिलाजतु को (स्नेहन-शोधन और घृत पान से) संस्कृत शरीर में ताम्र, लोहा, चांदी तथा स्वर्ण से मिश्रित या अलग शिलाजीत को दूध में घोलकर लेने से जल्दी ही रसायन का फल होता है। शिलाजीत के सेवन में कुलथी, मकोय और कबूतरों को खाना सदा छोड़ देवे।

वक्तव्य—'शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहीनि गुरूणि च। वर्जयेत्सर्वकालेषु कुलत्थांश्च सदा त्यजेत् ॥' खरनाद ने काकमाची और कपोत का निषेध नहीं किया है। कइयों की मान्यता है कि एक साल तक त्याग करे। कई जितने काल सेवन किया जाय, उससे दुगने काल तक छोड़ने को कहते हैं। कुलथी को जीवन भर न खाये।

शिलाजीत की श्रेष्ठता—

न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपो
जत्वश्मजं यं न जयेत् प्रसह्य।
तत् कालयोगैर्विधिवत् प्रयुक्तं
स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां दधाति ॥१४२॥

मर्त्यलोक में साध्य रोग ऐसा कोई नहीं, जिसको शिलाजीत बलपूर्वक शान्त नहीं कर देता। शिलाजीत कालयोग से और विधिपूर्वक प्रयुक्त होने से निरोगी पुरुष के अतिशय पौरुष को बढ़ाता है।

कुटीप्रवेश की योग्यता—

कुटीप्रवेशः क्षणिनां परिच्छदवतां हितः।

---

१. शिलाजतु के विभिन्न रोगों में प्रयोग की विधि तथा शिलाजीत के ही समान गुग्गुलु कल्प का वर्णन अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरतन्त्र अध्याय ४९ में देखें।

अतोऽन्यथा तु ये येषां सौर्यमारुतिको विधिः ॥१४३॥

अन्य प्रयोजन से रहित (या नियमशील) तथा परिवार (या साधन) युक्त के लिए कुटीप्रवेश रूप विधि हितकारी है। इससे जो विपरीत (परतन्त्र या अनियमी तथा परिवार [या साधन] रहित) हैं, उनके लिये सौर्यमारुतिक (सूर्य और वायु-सम्बन्धी) विधि हितकारी है।

वातातप रसायन—

वातातपसहा योगा वक्ष्यन्तेऽतो विशेषतः।
सुखोपचारा भ्रंशेऽपि ये न देहस्य बाधकाः ॥१४४॥

इस कारण से वायु तथा धूप को सहने वाले जो योग हैं, उनको विशेष कर कहेंगे। जो सुख उपचार वाले हैं तथा व्यापत्ति में भी देह को अधिक दुःखी नहीं करते।

शीतोदकसेवन—

शीतोदकं पयः क्षौद्रं घृतमेकैकशो द्विशः।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक् पीतं स्थापयेद्वयः ॥१४५॥

शीतल जल, दूध, मधु और घी, ये अलग-अलग या दो-दो को मिलाकर या तीन-तीन को मिलाकर या चारों को एक साथ भोजन से पूर्व खाने से आयु स्थिर होती है।

वक्तव्य—ये पन्द्रह प्रयोग हैं। इनको परिणाम से असमान मात्रा लेकर बरतना चाहिये विस्तार के लिये सुश्रुतसंहिता की डल्हण की टीका देखें।

हरीतकीसेवन—

गुडेन मधुना शुण्ठ्या कृष्णया लवणेन वा।
द्वे द्वे खादन् सदा पथ्ये जीवेद्वर्षशतं सुखी ॥१४६॥

दो-दो हरड़ को गुड़ से, मधु से, सोंठ से, पिप्पली से या सैन्धव से सदा खाते रहने पर मनुष्य एक सौ वर्ष तक सुख से जीता है।

हरीतकीं सर्पिषि सम्प्रताप्य
समश्नतस्तत् पिबतो घृतं च।
भवेच्चिरस्थायि बलं शरीरे
सकृत् कृतं साधु यथा कृतज्ञे ॥ १४७ ॥

हरड़ को घी में भून कर खाने से और घी को पीने से शरीर में बल चिरस्थायी होता है, यथा कृतज्ञ पुरुष में एक बार किया शोभन कार्य स्थिर होता है।

जरानाशक विविध लेहादि का प्रयोग—

धात्रीरसक्षौद्रसिताघृतानि
हिताशनानां लिहतां नराणाम्।
प्रणाशमायान्ति जराविकारा
ग्रन्था विशाला इव दुर्गृहीताः ॥ १४८ ॥

धात्री कृमिघ्नासनसारचूर्णं
सतैलसर्पिर्मधुलोहरेणु।
निषेवमाणस्य भवेन्नरस्य
तारुण्यलावण्यमविप्रणष्टम् ॥ १४९ ॥

लौहं रजो वेल्लभवं च सर्पिः
क्षौद्रद्रुतं स्थापितमब्दमात्रम्।
समुद्गके बीजकसारक्लृप्ते
लिहन् बली जीवति कृष्णकेशः ॥१५०॥

आंवले का स्वरस, मधु, शर्करा और घृत; इनको मिला कर चाटने से, हित भोजन करते हुए मनुष्य के बुढ़ापे से उत्पन्न सब विकार नष्ट हो जाते हैं; जैसे कि विशाल ग्रन्थ ठीक प्रकार न पढ़ने से नष्ट हो जाते हैं।

आंवला, विडङ्ग, विजयसार का चूर्ण, तैल, घी, मधु और लोहभस्म का सेवन करने वाले पुरुष का तारुण्य-लावण्य नष्ट नहीं होता है।

लोहभस्म तथा विडङ्ग के चूर्ण को घी और मधु से पतला करके असनसार से बनाये सम्पुटों में एक साल तक रखने पर खाने से मनुष्य बलवान् एवं काले बालों वाला होकर जीता है।

विडङ्गभल्लातकनागराणि
येऽश्नन्ति सर्पिर्मधुसंयुतानि।
जरानदीं रोगतरङ्गिणीं ते
लावण्ययुक्ताः पुरुषास्तरन्ति ॥ १५१ ॥

खदिरासनयूषभाविताया-
स्त्रिफलाया घृतमाक्षिकप्लुतायाः।
नियमेन नरा निषेवितारो
यदि जीवन्त्यरुजः किमत्र चित्रम् ॥१५२॥

बीजकस्य रसमङ्गुलिहार्यं
शर्करां मधु घृतं त्रिफलां च।
शीलयत्सु पुरुषेषु जरत्ता
स्वागताऽपि विनिवर्तत एव ॥ १५३ ॥

विडङ्ग, भिलावा और सोंठ को घी और मधु के साथ जो खाते हैं; वे पुरुष रोगरूपी तरङ्गों वाली बुढ़ापे की नदी को लावण्य से युक्त रहकर पार कर जाते हैं।

खैर और बीजसार के यूष (क्वाथ) से भावित त्रिफला को घी और मधु के साथ जो नियमित रूप में खाते हैं, वे नीरोग होकर जीते हैं; इसमें आश्चर्य क्या है ?

अङ्गुली से उठाने योग्य (रसक्रिया से गाढा किये हुए) बीजक (विजयसार) के रस को शर्करा, मधु, घृत और त्रिफला के साथ खाने वाले पुरुषों में भली प्रकार आया हुआ बुढ़ापा भी लौट जाता है। (इस श्लोक का छन्द भी 'स्वागता' है)।

पुनर्नवस्यार्धपलं नवस्य
पिष्टं पिबेद्यः पयसाऽर्धमासम्।
मासद्वयं तत्त्रिगुणं समां वा
जीर्णोऽपि भूयः स पुनर्नवः स्यात् ॥१५४॥

मूर्वामृद्वीकात्यंशुमतीबलाना-
मुशीरपाठासनसारिवाणाम्।

कालानुसार्यागुरुचन्दनानां
वदन्ति पौनर्नवमेव कल्पम् ॥ १५५ ॥
शतावरीकल्ककषायसिद्धं
ये सर्पिरश्नन्ति सिताद्वितीयम् ।
तान् जीविताध्वानमभिप्रपन्ना-
न्न विप्रलुम्पन्ति विकारचौराः ॥ १५६ ॥

नूतन पुनर्नवा का कल्क दो कर्ष पन्द्रह दिन, दो मास, छः मास या एक साल (देश तथा पुरुष की अपेक्षा से) जो दूध के साथ पीता है; वह जीर्णशरीर होने पर भी फिर से नया हो जाता है।

मूर्वा, कटेरी, शालपर्णी, बला, खस, पाठा, विजयसार, सारिवा, कालानुसारी, अगरु, चन्दन; इनके कल्प को भी पुनर्नवाके कल्प के समान कहते हैं।

शतावरी के कल्क और क्वाथ से सिद्ध घृत को शर्करा के साथ जो खाते हैं, उन मनुष्यों को जीवनरूपी रास्ते में चलते समय रोगरूपी चोर नहीं लूट सकते।

पीताऽश्वगन्धा पयसाऽर्धमासं
घृतेन तैलेन सुखाम्बुना वा ।
कृशस्य पुष्टिं वपुषो विधत्ते
बालस्य सस्यस्य यथा सुवृष्टिः ॥ १५७ ॥
दिने दिने कृष्णतिलप्रकुञ्चं
समश्नतां शीतजलानुपानम् ।
पोषः शरीरस्य भवत्यनल्पो
दृढीभवन्त्यामरणाच्च दन्ताः ॥ १५८ ॥
चूर्णं श्वदंष्ट्रामलकामृतानां
लिहन् ससर्पिर्मधुभागमिश्रम् ।
वृषः स्थिरः शान्तविकारदुःखः
समाः शतं जीवति कृष्णकेशः ॥ १५९ ॥

असगन्ध, दूध, घी, तैल या गरम पानी के साथ पन्द्रह दिन पीने पर कृश शरीर को पुष्ट करता है, जिस प्रकार छोटे सस्य (पौधों) को शोभन वृष्टि पुष्ट करती है।

प्रतिदिन काले तिलों की एक पल मात्रा को शिशिर जल के अनुपान से खाने पर शरीर की बहुत पुष्टि होती है। मृत्यु पर्यन्त दांत दृढ रहते हैं।

गोखरू, आँवला और गिलोय के चूर्ण को घी और मधु मिलाकर चाटने से पुरुष वीर्यशाली, स्थिर, विकार एवं दुःख से रहित तथा काले बालों वाला रहकर एक सौ वर्ष जीता है।

साधं तिलैरामलकानि कृष्णै-
रक्षाणि संक्षुद्य हरीतकीं वा ।
येऽद्युर्मयूरा इव ते मनुष्या
रम्यं परीणाममवाप्नुवन्ति ॥ १६० ॥
शिलाजतुक्षौद्रविडङ्गसर्पि-
र्लोहाभयापारदताप्यभक्षः ।
आपूर्यते दुर्बलदेहधातु-
स्त्रिपञ्चरात्रेण यथा शशाङ्कः ॥ १६१ ॥

काले तिलों को कूटकर आँवला, बहेड़ा या हरड़ के साथ जो खाते हैं; वे मोरों के समान सुन्दर वयःपरिणाम को प्राप्त करते हैं—दर्शनीय होते हैं।

शिलाजीत, मधु, विडङ्ग, घृत, लोहभस्म, हरड़, पारद-भस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म; इनको जो दुर्बल शरीर तथा धातु वाले खाते हैं; वे चन्द्रमा की भांति पन्द्रह दिन में फिर भर जाते हैं—पुष्ट हो जाते हैं।

ये मासमेकं स्वरसं पिबन्ति
दिने दिने भृङ्गरजःसमुत्थम् ।
क्षीराशिनस्ते बलवीर्ययुक्ताः
समाः शतं जीवितमाप्नुवन्ति ॥ १६२ ॥
मासं वचामप्युपसेवमानाः
क्षीरेण तैलेन घृतेन वाऽपि ।
भवन्ति रक्षोभिरधृष्यरूपा
मेधाविनो निर्मलमृष्टवाक्याः ॥ १६३ ॥
मण्डूकपर्णीमपि भक्षयन्तो
भृष्टां घृते मासमनन्नभक्षाः ।
जीवन्ति कालं विपुलं प्रगल्भा-
स्तारुण्यलावण्यगुणोदयस्थाः ॥ १६४ ॥

जो लोग भांगरे के स्वरस को प्रतिदिन एक मास तक पीते हैं और दूध का भोजन करते हैं; वे बल-वीर्य युक्त होकर एक सौ वर्ष तक जीवित रहते हैं।

वच को एक मास तक दूध, तैल या घी के साथ सेवन करने से मनुष्य राक्षसों से अतिरस्कृत रूप होकर मेधावी, निर्मल एवं मधुरभाषी होता है।

घी में भूनी मण्डूकपर्णी को एक मास तक बिना अन्न खाये जो खाते हैं; वे प्रगल्भता, तारुण्य और लावण्य आदि गुणों से युक्त होकर बहुत समय तक जीते हैं।

पाँच सौ वर्ष जिलाने वाला प्रयोग—

लाङ्गलीत्रिफलालोहपलपञ्चाशता कृतम् ।
मार्कवस्वरसे घृष्ट्वा गुलिकानां शतत्रयम् ॥१६५॥
छायाविशुष्कं गुलिकार्धमद्यात्
पूर्वं समस्तामपि तां क्रमेण ।
भजेद्विरिक्तः क्रमशश्च मण्डं
पेयां विलेपीं रसकौदनं च ॥ १६६ ॥
सर्पिःस्निग्धं मासमेकं यतात्मा
मासादूर्ध्वं सर्वथा स्वैरवृत्तिः ।

वर्ज्यं यस्मात्सर्वकालं त्वजीर्णं
वर्षेणैवं योगमेवोपयुञ्ज्यात् ॥ १६७ ॥
भवति विगतरोगो योऽप्यसाध्यामयार्तः
प्रबलपुरुषकारः शोभते योऽपि वृद्धः ।
उपचितपृथुगात्रश्रोत्रनेत्रादियुक्त-
स्तरुण इव समानां पञ्च जीवेच्छतानि ॥

कलिहारी, त्रिफला, लोहभस्म पचास पल; इनको भांगरे के स्वरस में तीन सौ साठ गोलियां बनाये और छाया में सुखा ले । इसमें आधी गोली को पहले खाये फिर क्रम से मण्ड, पेया, विलेपी, मांसरस, (यूष) के साथ चावल खाये। एक मास तक संयमी बनकर घी से स्निग्ध अन्न को खाये । मास के पीछे यथेष्ट भोजन करे । अजीर्ण से सब समय में बचा रहे; इस प्रकार एक वर्ष तक इस योग का सेवन करे । इस प्रकार करने से असाध्य रोग से पीडित मनुष्य भी रोग रहित हो जाता है । वृद्ध भी प्रबल पौरुष से युक्त होकर अच्छा लगता है और मरे हुए चौड़े गात्र, श्रोत्र तथा नेत्र आदि से युक्त समान युवा की भांति रहकर पांच सौ साल तक जीता है।

सर्वरोगभयनाशक नरसिंह घृत—

गायत्रीशिखिशिंशिपासनशिवावेल्लाक्षकारुष्करान्
पिष्ट्वाऽष्टादशसंगुणेऽम्भसि धृतान् खण्डैः सहायोमयैः
पात्रे लोहमये त्र्यहं रविकरैरालोडयन् पाचये-
दग्नौ चानु मृदौ सलोहशकलं पादस्थितं तत्पचेत् ॥
पूतस्यास्यांशः क्षीरतोऽशस्तथांऽशौ
भार्ङ्गीनिर्यासाद् द्वौ वरायास्त्रयोंऽशाः ।
अंशांश्चत्वारश्चेह हैयङ्गवीना-
देकीकृत्यैतत्साधयेत्कृष्णलौहे ॥ १७० ॥
विमलखण्डसितामधुभिः पृथग्
युतमयुक्तमिदं यदि वा घृतम् ।
स्वरुचिभोजनपानविचेष्टितो
भवति ना पलशः परिशीलयन् ॥ १७१ ॥
श्रीमान्निर्धूतपाप्मा वनमहिषबलो वाजिवेगःस्थिराङ्गः
केशैर्भृङ्गाङ्गनीलैर्मधुसुरभिमुखो नैकयोषिन्निषेवी ।
वाङ्मेधाधीसमृद्धः सुपटुहुतवहो मासमात्रोपयोगा-
द्धत्तेऽसौ नारसिंहं वपुरनलशिखातप्तचामीकराभम् ॥
अत्तारं नारसिंहस्य व्याधयो न स्पृशन्त्यपि ।
चक्रोज्ज्वलभुजं भीता नारसिंहमिवासुराः ॥ १७३ ॥

गायत्री (खैर), चित्रक, शीशम, विजयसार, हरड़, बिडङ्ग, बहेड़ा, भिलावा; इनको पीस कर अट्ठारहगुने जल में लोहे के टुकड़ों के साथ, लोहे के पात्र में रखकर तीन दिन तक सूर्य की किरणों से बीच-बीच में हिलाता हुआ गरम करे । लोहेके टुकड़ों के साथ इसको फिर अग्नि पर पकावे । जब चौथाई रह जाय तब छान ले । इस छने क्वाथ का एक भाग; दूध का एक भाग, भार्ङ्गी के निर्यास (क्वाथ) के दो अंश, त्रिफला के तीन अंश, घी के चार अंश; इन सब को मिलाकर काले लोहे में पकाये । निर्मल खांड, चीनी या मधु; किसी एक से मिला कर या बिना मिलाये ही इस घृत को खाये । अपनी रुचि के अनुसार भोजन-पान, एवं चेष्टा करते हुए एक पल मात्रा में मनुष्य इसको खाते हुए-श्रीमान्, ऐश्वर्यशाली, पापरहित, जङ्गली भैंसे के समान बलवान, घोड़े के समान वेगशाली, दृढ़ अङ्गों और काले भ्रमरों के समान नीले बालों वाला, मधुर तथा सुगन्धित मुख वाला और अनेक स्त्रियों को सेवन करने वाला होता है । वाणी, मेधा, बुद्धि में समृद्ध, तीव्र अग्निवाला एक मास के उपयोग से ही नरसिंह के समान बलवान, गरम किये स्वर्ण और अग्नि की शिखा के समान कान्तिमान होता है ।

नरसिंह नामक इस घृत को खाने वाले मनुष्य को रोग नहीं छूते जिस प्रकार कि चक्र से उज्ज्वल भुजावाले नरसिंह से डर कर राक्षस पास में नहीं आते ।

अन्य प्रयोग—

भृङ्गप्रवालानमुनैव भृष्टान्
घृतेन यः खादति यन्त्रितात्मा ।
विशुद्धकोष्ठोऽसनसारसिद्ध-
दुग्धानुपस्तत्कृतभोजनार्थः ॥ १७४ ॥
मासोपयोगात् स सुखी जीवत्यब्दशतत्रयम् ।
गृह्णाति सकृदप्युक्तमविलुप्तस्मृतीन्द्रियः ॥ १७५ ॥

भांगरे के पत्तों को इस घी में भूनकर जो संयतात्मा पुरुष कोष्ठ के शुद्ध होने पर खाता है तथा विजयसार से सिद्ध दूध के अनुपान से, असन से ही सिद्ध दूध को पीता है वह इस प्रकार एक मास सेवन करने से नीरोगी होकर तीन सौ वर्ष जीता है । एक बार कहा हुआ वचन तुरन्त ग्रहण कर लेता है, स्मृति और इन्द्रियां अविलुप्त रहती हैं ।

नरसिंह तैल—

अनेनैव च कल्पेन यस्तैलमुपयोजयेत् ।
तानेवाप्नोति स गुणान् कृष्णकेशश्च जायते ॥१७६॥

इसी कल्प से जो तैल का उपयोग करता है, वह इन्हीं गुणों को प्राप्त करता है और उसके बाल काले हो जाते हैं ।

साध्यासाध्य रसायन—

उक्तानि शक्यानि फलान्वितानि
युगानुरूपाणि रसायनानि ।
महानुशंसान्यपि चापराणि
प्राप्त्यादिकष्टानि न कीर्तितानि ॥ १७७ ॥

शक्य, फलयुक्त तथा युग के अनुसार जो रसायन हैं, वे कह दिये गये हैं और दूसरे जो महाफल देने वाले हैं, किन्तु प्राप्त करने आदि में अशक्य हैं, वे नहीं कहे हैं । (चरक-सुश्रुतोक्त दिव्यरसायन आदि नहीं कहे)।

रसायन से अहित होने पर कर्तव्य—

रसायनविधिभ्रंशाज्जायेरन् व्याधयो यदि ।

यथास्वमौषधं तेषां कार्यं मुक्त्वा रसायनम् ॥१७८।

रसायन विधि के भ्रंश से यदि रोग उत्पन्न हो जाये तो रसायन को छोड़कर उनकी यथायोग्य औषध करनी चाहिये।

सत्यादि की रसायनस्वरूपता -

सत्यवादिनमक्रोधमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ।
शान्तं सद्वृत्तनिरतं विद्यान्नित्यरसायनम् ॥ १७९ ॥
गुणैरेभिः समुदितः सेवते यो रसायनम् ।
स निवृत्तात्मा दीर्घायुः परत्रेह च मोदते ॥ १८० ॥
शास्त्रानुसारिणी चर्या चित्तज्ञाः पार्श्ववर्तिनः ।
बुद्धिरस्खलिताऽर्थेषु परिपूर्णं रसायनम् ॥ १८१ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने रसायनविधिर्नाम एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

* * *

सत्यवादी, क्रोधरहित, आत्मा के चिन्तन में जिसकी इन्द्रियां लगी हैं, ऐसा शान्त और सद्वृत्त में लगे हुए पुरुष को नित्य रसायनसेवी जानना चाहिये। इन गुणों से युक्त जो पुरुष रसायन का सेवन करता है, वह निवृत्तचित्त पुरुष दीर्घायु होकर यहां और दूसरे लोक में भी सुखी होता है।

शास्त्र के अनुकूल चेष्टायें, चित्त को जाननेवाले, पार्श्ववर्ती, विषयों में अस्खलित बुद्धि, यह सम्पूर्ण रसायन है।

वक्तव्य—कुछ प्रसिद्ध तन्त्रान्तरोक्त रसायनयोग—भृङ्गराजादिचूर्ण, श्रीसिंहमोदक, वसन्तकुसुमाकररस, त्रैलोक्यचिन्तामणि, बृहत्पूर्णचन्द्ररस, महालक्ष्मीविलास, मकरध्वजरसायन, अमृतसारलौह, गोधूमादिघृत और अमृतप्राशघृत। इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का रसायनविधि नामक उनतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥[1]

* * *

चत्वारिंशोऽध्यायः

अथातो वाजीकरणविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब इसके आगे वाजीकरण-विधि अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वाजीकरण औषध का गुण—

वाजीकरणमन्विच्छेत्सततं विषयी पुमान् ।

वक्तव्य—व्यापक परिणाम वाले रसायन सेवन के पीछे वाजीकरण की चाह करे। वाजीकरणम् = वाजः शुक्रम् सोऽस्यातीति वाजी, अवाजी वाजीक्रियते येन तद् वाजीकरणम्। अथवा वाजी मैथुनम् (मैथुनशक्तिः पुंस्त्वं वा) यथाह हारीतः—'वाजो नाम प्रकाशत्वात् तच्च मैथु संज्ञितम्। वाजीकरणसंज्ञाभिः पुंस्त्वमेव प्रचक्षते ।;

विषयी पुरुष के वाजीकरण न सेवन से हानि—'ग्ला कम्पोऽवसादस्तदनु च कृशता क्षीणता सर्वधातोः, शोषश्च सोपदंशज्वरगुदजगदाः क्षीणता चेन्द्रियाणाम्। जाय दुर्निवाराः पवनपरिभवाः क्लीबता लिङ्गभंगो, वामावश्या योगाद् भजत इह सदा वाजिकर्मच्युतस्य ॥' पुमान्—पुर वाजीकरण के योग्य हैं स्त्री और नपुंसक नहीं। क्योंकि स्त्रि में काम स्वयं आठ गुना होता है। तथा सहज नपुंसक बी दोष के होने से असाध्य होते हैं। पुंग्रहणम्—स्त्रीषण्ढा निवृत्त्यर्थम्। पुरुषग्रहणम्, बालात्यन्तवृद्धनिरसनार्थम्। पुनः स्त्री-षण्ढव्युदासार्थम्, तेषां वाजीकरणाप्राप्तेः। जेज्जटः

सततम्—वाजीकरण का प्रभाव रसायन के सम स्थायी नहीं होता अतः इसका प्रयोग निरन्तर कर चाहिये।

तुष्टिः पुष्टिरपत्यं च गुणवत्तत्र संश्रितम् ॥ १ ।
अपत्यसन्तानकरं यत्सद्यः संप्रहर्षणम् ।

वाजीकरण का फल—तुष्टि (प्रसन्नता), पुष्टि, गुणश सन्तान, निरन्तर अबाधित रूप से सन्तानप्रवाह (परम्परा) को चलाना और तुरन्त तात्कालिक प्रह (वाजीकरण) करना ये फल हैं।

वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतोऽङ्गना ॥ २
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते ।
तद्वाजीकरणं तद्धि देहस्योर्जस्करं परम् ॥ ३

जिससे घोड़े के समान अप्रतिहत सामर्थ्य होकर तरु के पास जाता है, स्त्रियों का अतिप्रिय होता है और शा पुष्ट होता है, उसको वाजीकरण कहते हैं। क्योंकि वह शा को बल एवं कान्ति विशेष रूप में देता है।

ब्रह्मचर्य की महत्ता—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम् ।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्

ब्रह्मचर्य का महत्त्व—धर्म के अनुकूल, यश आयुर्वर्धक, इह लोक और परलोक में रसायन (सदा कार करने वाला) और सर्वथा निर्मल ब्रह्मचर्य का तो सदा अनुमोदन करते हैं।

वक्तव्य—'ब्रह्मचर्यमायुष्यकराणां श्रेष्ठतमम्' चरकः।

वाजीकरण की आवश्यकता—

अल्पसत्त्वस्य तु क्लेशैर्बाध्यमानस्य रागिणः ।
शरीरक्षयरक्षार्थं वाजीकरणमुच्यते ॥ ५
कल्पस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः ।
सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवार्यते ॥ ६

थोड़े सत्त्ववाले, विषजन्य दुःखों से पीड़ित कामी के शरीर के क्षय की रक्षा के लिये वाजीकरण को कहते हैं

नीरोगी एवं युवा तथा वाजीकरण-सेवन करने

---

[1] १. इस अध्याय में रसायन नामक आयुर्वेद के सातवें अङ्ग का विवेचन किया गया।

पुरुष के लिये सब ऋतुओं में प्रतिदिन भी मैथुन निषिद्ध नहीं है। [कल्यः-स्वस्थः, कल्यस्य-समर्थस्य, इत्यरुणदत्तः]।

वाजीकर औषध की प्रयोगविधि—

अथ स्निग्धविशुद्धानां निरूहान् सानुवासनान्।
घृततैलरसक्षीरशर्कराक्षौद्रसंयुतान् ॥ ७ ॥
योगविद्योजयेत्पूर्वं क्षीरमांसरसाशिनाम्।
ततो वाजीकरान् योगाञ् शुक्रापत्यबलप्रदान् ॥ ८ ॥

मङ्गलाचार करके स्निग्ध एवं विशुद्ध तथा दूध एवं मांसरस का भोजन करने वाले पुरुष को योग बनाने वाला वैद्य प्रथम घी, तैल, मांसरस, दूध तथा शर्करा से युक्त निरूह एवं अनुवासन देवे। इसके पीछे शुक्र, अपत्य और बलप्रद वाजीकरण योगों को बरते।

सन्तानहीन की निन्दा—

अच्छायः पूतिकुसुमः फलेन रहितो द्रुमः।
यतैकश्चैकशाखश्च निरपत्यस्तथा नरः ॥ ९ ॥

सन्तानहीन मनुष्य छायारहित, दुर्गन्धित पुष्पों वाले, फल से रहित और एक शाखा वाले (अकेले) वृक्ष की भांति होता है।

सन्तानलाभ का महत्व—

ःखलद्गमनमव्यक्तवचनं धूलिधूसरम्।
पि लालाविलमुखं हृदयाह्लादकारकम् ॥ १० ॥
पत्यं तुल्यतां केन दर्शनस्पर्शनादिषु।
किं पुनर्यद्यशोधर्ममानश्रीकुलवर्धनम् ॥ ११ ॥

गिरते (लड़खड़ाते) चलनेवाला; अस्पष्ट वचनवाला, धूलि से लिप्त अङ्गों वाला, लाला से मलिन मुख वाला भी अपत्य हृदय को आनन्द देनेवाला होता है। केवल इस बच्चे के -स्पर्शन आदि में जो सुख होता है उसकी किससे तुलना हो सकती है? (किसी से भी तुलना नहीं हो सकती है।) और यदि सम्मान, यश, धर्म, मान, श्री और कुल को बढ़ाने वाला हो फिर बात ही क्या है?

वाजीकरण के योग्य शरीर—

शुद्धकाये यथाशक्ति वृष्ययोगान् प्रयोजयेत्।

शुद्ध शरीर वाले पुरुष में शक्ति के अनुसार वृष्य योगों को बरते।

नाना वृष्ययोग का प्रयोग—

शरेक्षुकुशकाशानां विदार्या वीरणस्य च ॥१२॥
मूलानि कण्टकार्याश्च जीवकर्षभकौ बलाम्।
मेदे द्वे द्वे च काकोल्यौ शूर्पपर्ण्यौ शतावरीम् ॥१३॥
अश्वगन्धामतिबलामात्मगुप्तां पुनर्नवाम्।
वीरां पयस्यां जीवन्तीमृद्धिं रास्नां त्रिकण्टकम् ॥१४॥
मधुकं शालपर्णीं च भागांस्त्रिपलिकान् पृथक्।
माषाणामाढकं चैतद् द्विद्रोणे साधयेदपाम् ॥१५॥
रसेनाढकशेषेण पचेत्तेन घृताढकम्।
दत्त्वा विदारीधात्रीक्षुरसानामाढकाढकम् ॥१६॥
घृताच्चतुर्गुणं क्षीरं पेष्याणीमानि चावपेत्।
वीरां स्वगुप्तां काकोल्यौ यष्टिं फल्गूनि पिप्पलीम् ॥
द्राक्षां विदारीं खर्जूरं मधुकानि शतावरीम्।
तत्सिद्धपूतं चूर्णस्य पृथक् प्रस्थेन योजयेत् ॥१८॥
शर्करायास्तुगायाश्च पिप्पल्याः कुडवेन च।
मरिचस्य प्रकुञ्चेन पृथगर्धपलोन्मितैः ॥१९॥
त्वगेलाकेसरैः श्लक्ष्णैः क्षौद्रद्विकुडवेन च।
पलमात्रं ततः खादेत् प्रत्यहं रसदुग्धभुक् ॥२०॥
तेनारोहति वाजीव कुलिङ्ग इव हृष्यति।

सरकण्डा, गन्ना, कुश, काश, विदारी, उशीर और कटेरी के मूल, जीवक, ऋषभक, बला, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, शालपर्णी, पृश्निपर्णी शतावरी, अश्वगन्धा, अतिबला, कौंच, पुनर्नवा, क्षीरविदारी, विदारी, जीवन्ती, ऋद्धि, रास्ना, गोखरू, मुलहठी, शालपर्णी प्रत्येक तीन पल, उड़द एक आढ़क, इन सबको दो द्रोण जल में क्काथ करे। जब क्काथ एक आढक रह जाये तब छान कर इसमें घी एक आढ़क, विदारी, आंवला और गन्ना इनका रस प्रत्येक एक एक आढक और दूध चार आढ़क मिलावें। इसमें शतावरी, कौंच, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलहठी, कठगूलर, पिप्पली, द्राक्षा, विदारी, खजूर, मुलहठी, शतावरी; इनका कल्क (सामान्य परिभाषा में घी से चतुर्थांश) मिलाये। जब सिद्ध हो जाये, तब छानकर इसमें शर्करा एक प्रस्थ, वंशलोचन एक प्रस्थ, पिप्पली एक कुडव, मरिच एक प्रकुञ्च तथा दालचीनी, इलायची, नागकेसर प्रत्येक आधा पल, मधु दो कुडव मिलाये। इसमें से एक पल मात्रा प्रतिदिन खाये। मांसरस और दूध का भोजन करे। इससे घोड़े के समान (वेग से) स्त्री-गमन करता है और गौरैया चिड़िया के समान (जल्दी-जल्दी) उत्तेजित होता है।

विदार्याद्यवलेह—

विदारीपिप्पलीशालिपियालेक्षुरकाद्रजः ॥२१॥
पृथक् स्वगुप्तमूलाच्च कुडवांशं तथा मधु।
तुलार्धं शर्कराच्चूर्णात् प्रस्थार्धं नवसर्पिषः ॥२२॥
सोऽक्षमात्रमतः खादेद् यस्य रामाशतं गृहे।

विदारी, पिप्पली, शालि, चिरौंजी, तालमखाना; इनका चूर्ण और कौंच की जड़ प्रत्येक एक-एक कुडव, मधु एक कुडव, शर्करा ५० पल, नूतन घृत १६ पल मिलाकर इसमें से एक अक्ष (कर्ष) रोज वह खाये, जिसके घर में एक सौ जवान औरतें हों।

वाजीकर अन्यान्ययोग—

सात्मगुप्ताफलान् क्षीरे गोधूमान् साधितान् हिमान्॥
माषान् वा सघृतक्षौद्रान् खादन् गृष्टिपयोऽनुपः।
जागर्ति रात्रिं सकलामखिन्नः खेदयन् स्त्रियः ॥२४॥

गेहूँ को कौंच के फलों के साथ दूध में पकाये। अथवा उड़दों को दूध में पकाये। ठण्डा होने पर इनमें घी और मधु

मिलाकर खाये। पीछे से एक बार ब्याई हुई गाय का दूध पिये। वह पुरुष सम्पूर्ण रात्रि अखिन्न होकर स्त्रियों से आनंद करता हुआ जागता है।

बस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान्।
यः खादेत्ससितान् गच्छेत्स स्त्रीशतमपूर्ववत् ॥२५॥
चूर्णं विदार्या बहुशः स्वरसेनैव भावितम्।
क्षौद्रसर्पिर्युतं लीढ्वा प्रमदाशतमृच्छति ॥ २६ ॥
कृष्णाधात्रीफलरजः स्वरसेन सुभावितम्।
शर्करामधुसर्पिर्भिर्लीढ्वा योऽनु पयः पिबेत् ॥ २७ ॥
स नरोऽशीतिवर्षोऽपि युवेव परिहृष्यति।

बकरे के अण्ड से सिद्ध दूध में तिलों को कई बार भावित करके शर्करा के साथ जो खाता है; वह एक सौ युवती स्त्रियों में नया हुआ ही सम्भोग करता है।

विदारी के चूर्ण को बहुत बार विदारी के स्वरस से भावित करके मधु और घीके साथ चाटने पर एक सौ स्त्रियों के साथ सम्भोग करता है।

पिप्पली और आंवले के चूर्ण को आंवले के रस से भावित करके शर्करा, मधु और घी के साथ चाटकर ऊपर से जो दूध पीता है, वह अस्सी साल का होने पर भी युवा की भांति हर्षित होता है।

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमन्वितम् ॥ २८ ॥
पयोऽनुपानं यो लिह्यान्नित्यवेगः स ना भवेत्।
कुलीरशृङ्ग्या यः कल्कमालोड्य पयसा पिबेत् ॥२९॥
सिताघृतपयोऽन्नाशी स नारीषु वृषायते।
यः पयस्यां पयःसिद्धां खादेन्मधुघृतान्विताम् ॥३०॥
पिबेद्बाष्कयणं चानु क्षीरं न क्षयमेति सः।
स्वयंगुप्तेक्षुरकयोर्बीजचूर्णं सशर्करम् ॥ ३१ ॥
धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा रासभायते।
उच्चटाचूर्णमप्येवं शतावर्याश्च योजयेत् ॥ ३२ ॥
चन्द्रशुभ्रं दधिसरं ससिताषष्टिकौदनम्।
पटे सुमार्जितं भुक्त्वा वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ३३ ॥

मुलहठी के एक कर्ष चूर्ण को घी और मधु के साथ चाट कर ऊपर से जो दूध पीता है, वह सदा अप्रनष्टवेग रहता है।

कर्कटशृङ्गी के कल्क को दूध में घोलकर जो पीता है और शर्करा, घी, दूध तथा अन्न का भोजन करता है; वह स्त्रियों में साँड के समान आचरण करता है।

दूध में सिद्ध क्षीरविदारी को मधु और घृत के साथ जो खाता है, ऊपर से एक वर्ष की ब्याई (बकेना) गाय का दूध पीता है उसका शुक्र नष्ट नहीं होता।

कौंच, तालमखाने के बीज का चूर्ण शर्करा मिलाकर धारोष्ण दूध के साथ जो मनुष्य पीता है, वह गदहे के समान वेग से सम्भोग करता है।

इसी प्रकार उच्चटा (रत्ती) और शतावरी के चूर्ण को भी शर्करा के साथ मिलाकर दूध से पिये।

चन्द्रमा के समान श्वेत दही की मलाई को श
सांठी चावल के साथ वस्त्र पर भली प्रकार रगड व
से वृद्ध भी युवा के समान बन जाता है।

काभवर्धक गोक्षुरादि चूर्ण—

श्वदंष्ट्रेक्षुरमाषात्मगुप्ताबीजशतावरीः ।
पिबन् क्षीरेण जीर्णोऽपि गच्छति प्रमदाशतम्

गोखरू, तालमखाना, कौंच, उड़द, शतावरी; इन
के साथ पीने से वृद्ध भी एक सौ स्त्रियों के साथ
करता है।

वृष्य पदार्थ—

यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं बृंहणं बलवर्धनम्।
मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ॥

जो कुछ भी मधुर, स्निग्ध, बृंहणकारक, बलवर्धक
को प्रसन्न करने वाला है, वह सब वृष्य कहा जाता

द्रव्यैरेवंविधैस्तस्माद्दर्पितः प्रमदां व्रजेत्।
आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ॥

इस प्रकार के द्रव्यों से दर्पित तथा संकल्पजन्य
से एवं लावण्य (कोमलता) आदि स्त्रीगुणों से प्रहर्षित
स्त्रियों के पास जाये।

स्त्री की प्रशंसा—

सेव्याः सर्वेन्द्रियसुखा धर्मकल्पद्रुमाङ्कुराः।
विषयातिशयाः पञ्च शराः कुसुमधन्वनः ॥
इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्था हर्षप्रीतिकराः परम्।
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन प्रतिष्ठिताः ॥

सब इन्द्रियों के सुख के कारण, धर्मरूपी कल्प
अङ्कुररूप, मनोहर शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध;
विषय जो पुष्पधन्वा (काम) के पांच बाणरूप हैं, इन
स्त्री का सेवन करना चाहिए, क्योंकि शब्दादि उक्त
अकेले २ सेवन करने पर भी प्रीति उत्पन्न करते हैं अ
ये सब विषय समुदाय रूप से स्त्री-शरीर में स्थित
उनका क्या कहना ?।

संभोग करने योग्य स्त्री का लक्षण

नामापि यस्या हृदयोत्सवाय
यां पश्यतां तृप्तिरलाभपूर्वा।
सर्वेन्द्रियाकर्षणपाशभूता
कान्तानुवृत्तिव्रतदीक्षिता या ॥
कलाविलासाङ्गवयोविभूषा
शुचिः सलज्जा रहसि प्रगल्भा।
प्रियंवदा तुल्यमनःशया या
सा स्त्री वृषत्वाय परं नरस्य ॥
आचरेच्च सकलां रतिचर्यां
कामसूत्रविहितामनवद्याम् ।
देशकालबलशक्त्यनुरोधा·
द्वैद्यतन्त्रसमयोक्त्यविरुद्धाम् ॥

का नाम भी हृदय में आनन्द देने वाला है, जिसको कभी तृप्ती नहीं होती या जो नित्य नवीन प्रतीत जो सब इन्द्रियों को खींचने के लिए पाशरूप है स्त्री पति के अनुकूल व्रत में दीक्षित, कला, विलास; ा वय से शोभित; पवित्र, लज्जाशील, किन्तु एकान्त , प्रियभाषिणी हो; जिसमें काम समान (पति के हो; वह स्त्री पुरुष के लिये वृष्य होती है।

सूत्र में वर्णित, निर्दोष-पापरहित; देश, काल, बल, क्ति के अनुसार आयुर्वेदशास्त्र-समय (आचार) के ी सम्पूर्ण रतिचर्या को करे।

कामवर्धक वाजीकरण-प्रयोग—

नोद्वर्तनसेकगन्धस्रक्चित्रवस्त्राभरणप्रकाराः ।
न्धर्वकाव्यादिकथाप्रवीणाः
समस्वभावा वशगा वयस्याः ॥ ४२ ॥
ा स्वभवनान्तनिविष्टा पद्मरेणुमधुमत्तविहङ्गा ।
ानुगिरिकूटनितम्बे काननानि पुरकण्ठगतानि ॥
ष्टिसुखा त्रिविधा तरुजातिः
श्रोत्रसुखः कलकोकिलनादः ।
ङ्गसुखर्तुवशेन विभूषा
चित्तसुखः सकलः परिवारः ॥ ४४ ॥
लमच्छमदिरा कान्ता कान्ता निशा शशाङ्काङ्का ।
किञ्चिदिष्टं मनसो वाजीकरं तत्तत् ॥ ४५ ॥

यंग, उबटन, परिषेक, गन्ध, माला, विचित्र वस्त्र, न्न आभूषण, गाने बजाने में, काव्यादि में तथा कथा ग और समान स्वभाव के वश में रहने वाले साथी, र के अन्दर बनाई पुष्करिणी (बावड़ी या तालाब) कमलरज की मिठास से मस्त हुये पक्षी हों, हरे पर्वतों हटी में शहर के पास वाले जंगल, दृष्टि में सुख को देने ना प्रकार के वृक्ष, कानों को सुख देने वाला सुन्दर का कुहकना, ऋतु के अनुकूल अङ्गों को सुख देने विभूषा चित्त को सुख देने वाला सम्पूर्ण परिवार, निर्मल मदिरा, प्रिया कान्ता, चन्द्रमा से शोभित र जो कुछ मन को प्रिय है; वह सब वाजीकर है।

कामोत्पादक प्रयोग—

धु मुखमिव सोत्पलं प्रिया वा
कलरणना परिवादिनी प्रियेव ।
कुसुमचयमनोरमा च शय्या
किसलयिनी लतिकेव पुष्पिताग्रा ॥ ४६ ॥
शो शरीरे च न काचिदर्ति-
रर्थेषु नाल्पोऽपि मनोविघातः ।
ाजीकराः सन्निहिताश्च योगाः
कामस्य कामं परिपूरयन्ति ॥ ४७ ॥

या के मुख के समान कमल-सहित मधु, प्रिया की मधुर शब्दयुक्त वीणा; अग्रभाग में फूलों से लदी, नये ली लता के समान-पुष्पों के ढेर से बनी सुन्दर शय्या, देश में उपद्रव और शरीर में किसी भी प्रकार की पीड़ा नहीं होना; विषयों में थोड़ा सा भी मन का विघात न होना और पास में रक्खे वाजीकर योग से सब कामी पुरुष की इच्छाओं को पूरा करते हैं।[1]

सब रोगों पर मुख्य मुख्य औषध—

मुस्तापर्पटकं ज्वरे, तृषि जलं मृद्भृष्टलोष्टोद्भवं,
लाजाश्छर्दिषु, वस्तिजेषु गिरिजं, मेहेषु धात्रीनिशे ।
पाण्डौ श्रेष्ठमयोऽभयाऽनिलकफे, प्लीहामये पिप्पली
सन्धाने कृमिजा, विषे शुकतरुर्मेदोऽनिले गुग्गुलुः ॥
वृषोऽस्रपित्ते, कुटजोऽतिसारे,
भल्लातकोऽर्शःसु, गरेषु हेम ।
स्थूलेषु तार्क्ष्यं, कृमिषु क्रिमिघ्नं,
शोषे सुरा छागपयोऽथ मांसम् ॥ ४९ ॥
अक्ष्यामयेषु त्रिफला, गुडूची
वातास्ररोगे, मथितं ग्रहण्याम् ।
कुष्ठेषु सेव्यः खदिरस्य सारः,
सर्वेषु रोगेषु शिलाह्वयं च ॥ ५० ॥

ज्वर में मोथा और पित्तपापड़ा; प्यास में मिट्टी के ढेले को गर्मकर बुझाया जल, वमन में लाजा, मूत्र रोगों में शिलाजीत प्रमेहों में आंवला और हल्दी, पाण्डु में लोह, वातकफ में हरड़, प्लीहारोग में पिप्पली, उरःसन्धान में लाख, विष में शिरीष, मेद और वायु में गुग्गुलु, रक्तपित्त में अडूसा, अतिसार में कुटज, अर्श में भिलावा, गर में स्वर्ण, स्थूलता में रसांजन, कृमियों में वायविडंग, शोष में सुरा, बकरी का दूध और मांस, नेत्र रोगों में त्रिफला, वातरक्त में गुडूची, ग्रहणी में तक्र, कुष्ठ में खैर का सार और सब रोगों में शिलाजीत का सेवन करना चाहिये।

उन्मादं घृतमनवं, शोकं मद्यं, व्यपस्मृतिं ब्राह्मी ।
निद्रानाशं क्षीरं जयति, रसाला प्रतिश्यायम् ॥५१॥
मांसं कार्श्यं, लशुनः प्रभञ्जनं, स्तब्धगात्रतां स्वेदः ।
गुडमञ्जर्याः खपुरो न स्यात् स्कन्धांसबाहुरुजम् ॥
नवनीतखण्डमर्दितमोष्ठ्ं मूत्रं पयश्च हन्त्युदरम् ।
नस्यं मूर्धविकारान्, विद्रधिमचिरोत्थमस्रविस्रावः ॥
नस्यं कवलो मुखजान्, नस्याञ्जनतर्पणानि नेत्ररुजः ।
वृद्धत्वं क्षीरघृते, मूर्च्छां शीताम्बुमारुतच्छायाः ॥५४॥
समशुक्ताद्रकमात्रा मन्दे वह्नौ, श्रमे सुरा स्नानम् ।
दुःखसहत्वे स्थैर्ये व्यायामो, गोक्षुरुर्हितः कृच्छ्रे ॥५५॥

---

[1] इस अध्याय के इन ४७ श्लोकों में ही अति संक्षेप में वाजीकरण नामक आयुर्वेद के आठवें अङ्ग का सार दे दिया है। विस्तृत वर्णन के लिए चरकसंहिता चिकित्सास्थान का दूसरा अध्याय सुश्रुत चि. अ. २६, अष्टाङ्गसंग्रह उ. अ. ५०, भैषज्यरत्नावली, वात्स्यायन कामसूत्र आदि देखें।

कासे निदिग्धिका, पार्श्वशूले पुष्करजा जटा ।
वयसः स्थापने धात्री, त्रिफला गुग्गुलुर्व्रणे ॥ ५६ ॥
बस्तिर्वातविकारान्, पैत्तान् रेकः, कफोद्भवान् वमनम् ।
क्षौद्रं जयति बलासं सर्पिः पित्तं, समीरणं तैलम् ॥

उन्माद को पुरातन घृत, शोक को मद्य, अपस्मार को ब्राह्मी, निद्रानाश को दूध और प्रतिश्याय को रसाला नष्ट करती है। कृशता को मांस, वायु को लहसुन, स्तब्धगात्रता को स्वेदन करना, गुडमंजरी (जिंगणी या काला शाल्मली) का निर्यास नस्य से स्कन्ध, अंस, बाहु की पीड़ा को नष्ट करता है। अर्दित को मक्खन और खांड़, उदर को ऊँट का मूत्र एवं दूध, शिरोरोगों को नस्य, नूतन उत्पन्न विद्रधि को रक्तस्राव, मुख के रोगों को नस्य और कवल, नेत्र रोगों को नस्य, अञ्जन और तर्पण, वृद्धावस्था को दूध, घी, मूर्च्छा को शीतल जल, वायु और छाया, मन्दवह्नि को शुक्त और आर्द्रक की समान मात्रा (या सूखा आर्द्रकसोंठ), थकान को सुरा और स्नान, दुःख सहने तथा स्थिरता को व्यायाम, मूत्रकृच्छ्र को गोखरू, कास को कटेरी, पार्श्वशूल को पुष्करमूल, वयःस्थापन को आंवला, व्रण को त्रिफला तथा गुग्गुलु श्रेष्ठ हैं, वातरोगों को वस्ति, पैत्तिक रोगों को विरेचन, कफ रोगों को वमन एवं कफ को मधु, पित्त को घी और वायु को तैल शान्त करता है।

इत्यग्र्यं यत्प्रोक्तं रोगाणामौषधं शमायालम् ।
तद्देशकालबलतो विकल्पनीयं यथायोगम् ॥ ५८ ॥

इस प्रकार से जो श्रेष्ठ औषध कही गई हैं, वे रोगों की शान्ति के लिये पर्याप्त हैं। इनकी देश, काल तथा बल के अनुसार यथायोग्य कल्पना कर लेनी चाहिये।

इत्यात्रेयादागमय्यार्थसूत्रं
तत्सूक्तानां पेशलानामतृप्तः ।
भेडादीनां सम्मतो भक्तिनम्रः
पप्रच्छेदं संशयानोऽग्निवेशः ॥ ५९ ॥

भगवान् आत्रेय से इस प्रकार सूत्ररूपी, सुभाषित सुखोपगमनीय और बह्वर्थ अर्थों को समझ कर भी अतृप्त (असन्तुष्ट), भेड आदि से पूजित, भक्ति से नम्र और संशयशील अग्निवेश ने निम्न विषय को पूछा।

अग्निवेश का प्रश्न—

दृश्यन्ते भगवन् केचिदात्मवन्तोऽपि रोगिणः ।
द्रव्योपस्थातृसम्पन्ना वृद्धवैद्यमतानुगाः ॥ ६० ॥
क्षीयमाणामयप्राणा विपरीतास्तथाऽपरे ।
हिताहितविभागस्य फलं तस्मादनिश्चितम् ॥ ६१ ॥
किं शास्ति शास्त्रमस्मि-
न्निति कल्पयतोऽग्निवेशमुख्यस्य ।
शिष्यगणस्य पुनर्वसु-
राचख्यौ कात्स्न्यर्तस्तत्त्वम् ॥ ६२ ॥

हे भगवन्! कई जितेन्द्रिय भी रोगी देखे जाते हैं। द्रव्य एवं उपस्थाता (परिचारक) से सम्पन्न तथा वृद्ध वैद्य के मत के अनुसार चलने वाले भी कई तो रोगों से मुक्त होते हुए और कई मरते हुए भी देखे जाते हैं। इसके विपरीत (अजितेन्द्रिय, द्रव्य और परिचारक से रहित, वृद्ध वैद्य के अनुसार न चलने वाले) भी इसी प्रकार के (अच्छे होते या मरते हुए) देखे जाते हैं। इसलिये हिताहित-विभाग (हितसेवन और अहितसेवन) का फल अनिश्चित है। इस विषय में आयुर्वेद शास्त्र क्या कहता है ? ऐसा पूछने वाले अग्निवेश आदि शिष्यसमूहों को पुनर्वसु ने सम्पूर्ण तत्त्व कहा—

आत्रेय का उत्तर—

न चिकित्साऽचिकित्सा च तुल्या भवितुमर्हति ।
विनाऽपि क्रियया स्वास्थ्यं गच्छतां षोडशांशया ॥
आतङ्कपङ्कमग्नानां हस्तालम्बो भिषग्जितम् ।
जीवितं म्रियमाणानां सर्वेषामेव नौषधात् ॥ ६४ ॥

चतुष्पाद और षोडश गुणों वाली चिकित्सा तथा चतुष्पाद और षोडश गुणों से रहित अचिकित्सा—ये दोनों बराबर नहीं हो सकती। सोलहवें भाग की चिकित्सा के बिना भी जहां स्वास्थ्य सम्भव है, वहाँ भी चिकित्सा से जल्दी आराम हो सकता है। (चिकित्सासाध्य रोहिणी आदि की बिना चिकित्सा के शान्ति नहीं होती।) इसलिये चिकित्सा के समान अचिकित्सा नहीं हो सकती।

रोगरूपी कीचड़ में फँसे हुए पुरुषों के लिये आयुर्वेद शास्त्र हाथ के सहारे की भांति होता है। किन्तु मरने वाले सब असाध्य रोगियों को औषध से जीवन नहीं दिया जा सकता।

चिकित्सा की उपयोगिता—

न ह्युपायमपेक्षन्ते सर्वे रोगा न चान्यथा ।
उपायसाध्याः सिध्यन्ति, नाहेतुर्हेतुमान् [illegible] ॥६५॥
यदुक्तं सर्वसम्पत्तियुक्तयाऽपि [illegible]था ।
मृत्युर्भवति, तेनैवं नोपायेऽ[illegible]यता ॥ ६६ ॥

सब रोग उपाय की अपेक्षा नहीं करते। किन्तु उपायसाध्य रोहिणी आदि चिकित्सा के बिना, चतुष्पाद के बिना सिद्ध भी नहीं होते। क्योंकि जो अहेतु है, वह हेतुमान् नहीं होता।

और जो यह कहा कि सम्पूर्ण सम्पत्ति से युक्त होने पर भी चिकित्सा से मृत्यु होती है, वह ठीक नहीं, क्योंकि उपाय में उपायता (उसके स्वभाव) का न होना सम्भव नहीं है।

वक्तव्य—घड़ा बनाने में मिट्टी, दण्ड चक्र आदि उपायों की जरूरत है (इनके बिना घड़ा नहीं बनता।) और इन सामग्रियों के होने और उनकी उचित योजना करने पर भी घड़ा न बने ऐसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो रोग चिकित्सा के बिना नहीं मिटने वाला है, वह चिकित्सा के बिना नहीं मिटता। और उचित चिकित्सा की योजना करने पर उसका कोई परिणाम न हो ऐसा नहीं हो सकता।

किन्तु जिन वस्तुओं का कोई साधन है ही नहीं उनकी सिद्धि के लिये प्रयत्न करना भी व्यर्थ है। अर्थात् जो रोग असाध्य हैं जिनको सिद्ध करने का कोई उपाय ही नहीं है। उनमें उन उपायों का प्रयोग करना जो वस्तुतः उसके उपाय नहीं हैं, व्यर्थ ही है।

अपि चोपाययुक्तस्य धीमतो जातुचित् क्रिया ।
न सिध्येद्दैववैगुण्यान्न त्वियं षोडशात्मिका ॥ ६७ ॥
कस्यासिद्धोऽग्नितोयादिः स्वेदस्तम्भादिकर्मणि ।
न प्रीणनं कर्षणं वा कस्य क्षीरं गवेधुकम् ॥ ६८ ॥
कस्य माषात्मगुप्तादौ वृष्यत्वे नास्ति निश्चयः ।
विण्मूत्रकरणाक्षेपौ कस्य संशयितौ यवे ॥ ६९ ॥
विषं कस्य जरां याति मन्त्रतन्त्रविवर्जितम् ।
कः प्राप्तः कल्यतां पथ्यादृते रोहिणिकादिषु ॥ ७० ॥

और भी—उपायों से युक्त बुद्धिमान् की षोडशगुण सम्पन्न चिकित्सा भी कई बार दैव के विपरीत होने से सफल नहीं होती है। इससे षोडशगुणसम्पन्न चिकित्सा को निष्फल नहीं समझना चाहिये।

अग्नि के स्वेदन कार्य में तथा जल के स्तम्भन कार्य में किसको सन्देह है? दूध के पोषण में और गवेधुक के कर्षण में किसको तृप्ति नहीं है? कौंच और उड़द के वृष्य होने में किसको निश्चय नहीं है? जौ के मल-मूत्र पैदा करने और निकालने में किसको संशय है? मन्त्र-तन्त्र से रहित विष किसमें जीर्ण हुआ है? रोहिणी आदि रोगों वाला कौन पथ्य चिकित्सा के बिना नीरोग हुआ है।

अपि चाकालमरणं सर्वसिद्धान्तनिश्चितम् ।
महताऽपि प्रयत्नेन वार्यतां कथमन्यथा ॥ ७१ ॥
चन्दनाद्यपि दाहादौ रूढमागमपूर्वकम् ।
शास्त्रादे[illegible] गतं सिद्धिं ज्वरे लङ्घनबृंहणम् ॥ ७२ ॥
चतुष्पादगु[illegible] सम्यगालोच्य योजिते ।
मा कृथा व्या[illegible] विचिकित्सां चिकित्सिते ॥

और भी—अकालमृत्यु सब सिद्धान्तों से निश्चित है। चिकित्साशास्त्र के बिना और किस उपाय से वह अकालमृत्यु हटाई जा सकती है? (किसी से नहीं, चिकित्साशास्त्र ही दूर करता है)।

दाह आदि में चन्दन आदि का उपयोग भी शास्त्रपूर्वक लोक में प्रसिद्ध है। ज्वर में सफलता भी लङ्घन-बृंहण के कारण जो होती है, वह भी शास्त्र से ही होती है।

आयुष्कामीय में कहे चतुष्पादों से युक्त तथा भली प्रकार देश, काल आदि का विचार करके प्रयुक्त चिकित्सा की रोगनाशकता के विषय में संशय मत करो।

चिकित्सा की महिमा—

एतद्धि मृत्युपाशानामकाण्डे छेदनं दृढम् ।
रोगोत्त्रासितभीतानां रक्षासूत्रमसूत्रकम् ॥ ७४ ॥

क्योंकि अकाल में ज्वर आदि जो मृत्युपाश हैं, उनको नष्ट करने के लिये तथा उत्पन्न ज्वरादि रोगों से डरे हुए पुरुषों की रक्षा के लिये यह चिकित्साशास्त्र बिना सूत का दृढ़ (मजबूत) रक्षासूत्र है।

कुपात्र की चिकित्सा का निषेध—

एतत्तदमृतं साक्षाज्जगदायासवर्जितम् ।
याति हालाहलत्वं तु सद्यो दुर्भाजनस्थितम् ॥ ७५ ॥
अज्ञातशास्त्रसद्भावाञ् शास्त्रमात्रपरायणान् ।
त्यजेद् दूराद्भिषक्पाशान् पाशान् वैवस्वतानिव ॥ ७६ ॥

यह चिकित्साशास्त्र सम्पूर्ण लोक में साक्षात् अमृतरूप में प्रसिद्ध है। लोक में प्रसिद्ध जो अमृत देवता एवं असुरों के परिश्रम से उत्पन्न हुआ प्रसिद्ध है, उससे यह भिन्न है। किंतु बुरे पात्र में रखा हुआ अमृत भी तुरन्त हालाहल विष बन जाता है। (उसी प्रकार कुपात्र के सम्पर्क से यह शास्त्र भी विषवत् होता है।) इसलिए शास्त्र के परमार्थ को जिन्होंने नहीं जाना है और केवल शास्त्रमात्र ही पढ़ा है, यम के पाशों की भांति उन कुपात्र या अयोग्य वैद्यों को दूर से ही छोड़ देवे।

सुचिकित्सक का भद्राशंसन—

भिषजां साधुवृत्तानां भद्रमागमशालिनाम् ।
अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम् ॥ ७७ ॥

सच्चरित्र, भली प्रकार शास्त्रों का अभ्यास किये, अच्छी प्रकार कर्मों का अभ्यास किये और सब लोगों का कल्याण चाहने वाले वैद्यों का कल्याण ही कल्याण है।

अष्टांगहृदय की महिमा का वर्णन—

इति तन्त्रगुणैर्युक्तं तन्त्रदोषैर्विवर्जितम् ।
चिकित्साशास्त्रमखिलं व्याप्य यत् परितः स्थितम् ॥
विपुलामलविज्ञानमहामुनिमतानुगम् ।
महासागरगम्भीरसङ्ग्रहार्थोपलक्षणम् ॥ ७९ ॥
अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन
योऽष्टाङ्गसङ्ग्रहमहामृतराशिराप्तः ।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां
प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम् ॥ ८० ॥

इस प्रकार अवधारण आदि तन्त्रयुक्तियों से युक्त तथा अप्रसिद्ध शब्दादि तन्त्र-दोषों से रहित, सम्पूर्ण चिकित्साशास्त्र को चारों ओर से व्याप्त करके जो बना है, आत्रेय आदि महामुनियों के विस्तृत निर्मल विज्ञान के साथ-साथ चलने वाला और महासागर के समान गहरा जो अष्टाङ्गसङ्ग्रह है, उसको जानने का साधन, आठ अङ्गों वाले वैद्यक समुद्र को मथने से जो अष्टाङ्गसंग्रह रूप अमृत की राशि प्राप्त हुई है, उसी से थोड़े परिश्रम में बहुत फल चाहने वालों की प्रीति के लिये यह अष्टांगहृदय तन्त्र अलग ही बनाया है।

वक्तव्य—तन्त्रयुक्तियां सुश्रुत एवं संग्रह में दी गई हैं। वहीं देखनी चाहिये। ये युक्तियां छत्तीस हैं।

इदमागमसिद्धत्वात्प्रत्यक्षफलदर्शनात् ।
मन्त्रवत्संप्रयोक्तव्यं न मीमांस्यं कथञ्चन ॥८१॥

शास्त्र से सिद्ध होने तथा प्रत्यक्ष फल देखने से इस शास्त्र को मन्त्र की भांति बरतना चाहिए; इसमें मीमांसा अर्थात् विचार या सन्देह नहीं करना चाहिये ।

ग्रन्थाध्ययन का फल—

दीर्घजीवितमारोग्यं धर्ममर्थं सुखं यशः ।
पाठावबोधानुष्ठानैरधिगच्छत्यतो ध्रुवम् ॥ ८२ ॥

दीर्घ जीवन, आरोग्य, धर्म, अर्थ, सुख और यश इस ग्रन्थ के पढ़ने से, समझने से और (उसके अनुसार) अनुष्ठान से निश्चित रूप में प्राप्त होते हैं ।

एतत्पठन् सङ्ग्रहबोधशक्तः
स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः ।
आकम्पयत्यन्यविशालतन्त्र-
कृताभियोगान् यदि तन्न चित्रम् ॥ ८३ ॥

इस अष्टाङ्गहृदय को पढ़ते हुए संग्रह के ज्ञान में समर्थ भली प्रकार कर्मों का अभ्यास करने वाला व्यक्ति वैद्यों से न घबराने वाला बनकर चरक आदि अन्य विशाल शास्त्रों में परिश्रम किये हुए वैद्यों को भी यदि पराजित कर देता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं ।

यदि चरकमधीते तद् ध्रुवं सुश्रुतादि-
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः ।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः
किमिव खलु करोतु व्याधितानां वराकः ॥
अभिनिवेशवशादभियुज्यते
सुभणितेऽपि न यो दृढमूढकः ।
पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं
स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विद ॥ ८५ ॥

क्योंकि जो वैद्य चरक को ही पढ़ता है, वह सुश्रुत में कहे वर्त्म, सन्धिगत आदि रोगों को नाममात्र से भी नहीं जानता और जो केवल सुश्रुत को ही पढ़ता है—चरक से रहित है; वह मन्दबुद्धि दोष, दूष्य, काल, बल, शरीर तथा सत्त्व आदि लक्षणों वाली चिकित्सा (कास, श्वास आदि रोगों से पीड़ित रोगियों की चिकित्सा) में कुछ भी नहीं कर सकता । उसे इस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता ।

वस्तु के पक्षपात से वशी हुआ जो पक्का मूर्ख अच्छे कहे हुए वाक्य में आदर नहीं करता, वह आदि काल के ब्रह्मा से कहे प्रथम आयुर्वेद शास्त्र को बिना चिन्ता किये सारी आयु भर खुशी से पढ़ता रहे, (मुझे कोई आपत्ति नहीं) ।

वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं
तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण ।
एतद् ब्रह्मा भाषतां ब्रह्मजो वा
का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोक्तिश [illegible] ८६

वायु के लिए तैल, पित्त के लिए घी और कफ की श के लिए मधु है । इसको ब्रह्मा स्वयं कहें या ब्रह्मा से उ सनत्कुमारादि कहें, इस मन्त्ररहित वचन में वक्ता [illegible] कोई शक्ति-भेद नहीं होता ।

अभिधातृवशात् किं वा द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते ।
अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थ्यमवलम्ब्यताम् ॥

कहने वाले के कारण क्या द्रव्य के सामर्थ्य में कमी होता है । कभी नहीं । इसलिए विद्वेष को छोड़कर मध्य (तटस्थता या पक्षपातहीनता) का अवलम्बन करना चाहि

सुभाषित ग्रन्थ की प्रशंसा—

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितं

यदि ऋषि से बनाये हुए ग्रंथों में ही प्रेम है तो और सुश्रुत को छोड़कर भेड तथा जतूकर्ण आदि के शास्त्र क्यों नहीं पढ़ते ? (उनको भी पढ़ो) । इसलिए कहे हुए का ग्रहण करो ।

जगत् के मंगल कामना—

हृदयमिव हृदयमेतत्सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः ।
कृत्वा यच्छुभमाप्तं शुभमस्तु परं ततो जगतः ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचि यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां षष्ठ उत्तरस्थाने वाजी करणविधिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

* * *

मनुष्यों के हृदय के समान यह अष्टांगहृदय आ आयुर्वेदशास्त्ररूपी समुद्र का हृदय है । ([illegible] मनुष्य का हृदय एक स्थान पर रहते हुए भी दश मूल द्वारा सारे शरीर से सम्बन्धित रहता है, उसी प्रका हृदय सारे वैद्यक शास्त्र में आठ अंगों द्वारा व्या [illegible] प्रकार के हृदय को बनाकर जो श्रेष्ठ कल्याण ([illegible] है; उस मंगल से सम्पूर्ण जगत् का कल्याण हो ।

वक्तव्य—षडङ्गमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चक [illegible] च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् । प्रति [illegible] मेषां हृदयमिष्यते । गोपानसीनामागारकर्णि [illegible] (चरक सू. अ. ३०) ।

कुछ प्रसिद्ध वाजीकर योग—मदनानन्दमोद [illegible] मकरध्वज, पुष्पधन्वा, कामाग्निसन्दीपन, श्रीगोपाल चन्दनादितैल और कामिनीविद्रावण ।

इस प्रकार विद्योतिनी टीका में उत्तरस्थान का वाजीकरणविधि नामक चालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

परिशिष्ट

रोगों में बरते जाने वाले रसयोग

(ये योग मुख्यतः रसेन्द्रसारसंग्रह और भैषज्यरत्नावली के पाठ के हैं)

ज्वर में —

ज्वरसंहार)
रव
ङ्कुश
रि

ङ्श
पित्तज्वर में केले के रस से
दरारि
व
रव

ण

चूडामणि
द्वि (नवज्वर में)
भैरव (जीर्णज्वर में)
भैरव (मृगमद राशीत्यादि
का)
टी
भ्र

लौह
लौह
रान्तकलौह
ज्वर में)

ज्वर में)

र में —

श्वर
र

क (प्रायः बच्चों के)
दर

ग्रहणी रोग—

दि
ग्रहणीकपाट
ग्रहणीगजेन्द्रवटिका
पीयूषवल्ली
ग्रहणीशार्दूल
शङ्खवटी
रसपर्पटी
स्वर्णपर्पटी
विजयपर्पटी
पञ्चामृतपर्पटी
अग्निकुमार
वडवामुख
पानीयभक्तवटी
हिरण्यगर्भपोटली
बृ० नृपतिवल्लभ
महाराजनृपतिवल्लभ

अर्शरोग में —

वडवानल चूर्ण
अजीर्णकण्टक
रामबाणरस
बृ० महोदधि
बृ० शङ्खवटी
पाशुपत
क्रव्यादरस
बृ० लवङ्गादिवटी

क्रिमिरोग में—

कृमिकालानल
कृमिमुद्गर
कृमिहर
विडङ्गलौह
धात्रीलौह (पाण्डु-कामला में)

रक्तपित्त में—

सुधानिधि
रक्तपित्तान्तक
खण्डकूष्माण्ड

यक्ष्मा में—

रास्नादिलौह
राजमृगाङ्क
रत्नगर्भपोटली
हेमगर्भपोटली
सर्वाङ्गसुन्दर
काञ्चनाभ्र
कुमुदेश्वररस
बृ० चन्द्रामृत (वासा गुडूची भार्गी च मुस्तक इत्यादि क्वाथ से)
महामृगाङ्क
बृ० क्षयकेसरी
नित्योदयरस
बृ० रसेन्द्रगुटिका
शृङ्गाराभ्र
सार्वभौम
श्रीचन्द्रामृत (उपर्युक्त चन्द्रामृत के क्वाथ से भी देते हैं)।

हिक्काश्वास में—

लोहपर्पटी
ताम्रपर्पटी
पिप्पल्यादिलौह
श्वासकुठार
श्वासचिन्तामणि

स्वरभेद में—

चक्रदत्त वदरीपत्रकल्कोत्थ इत्यादि

अरोचक में—

अष्टाङ्गलवण

छर्दि में—

चक्रदत्तोक्त द्राक्षामलकीक्वाथ

तृष्णा में—

कुमुदेश्वर

मूर्च्छा में—

दुरालभाक्वाथ

मदात्यय में —

अष्टाङ्गलवण

दाह में—

शतधौतघृत

उन्माद में —

उन्मादगजाङ्कुश
उन्मादभञ्जी
चतुर्भुज
उन्मादभञ्जन

वातव्याधि में—

बृ० वातगजांकुश

चिन्तामणि (अनिद्रा में इसको बड़ी इलायची और मधुके साथ देना चाहिए)

कृष्णचतुर्मुख

लक्ष्मीविलास (पलं कृष्णाभ्रचूर्णस्य…)

त्रैलोक्यचिन्तामणि (माषबलादि-पाचन से)

कफरोग में—

श्लेष्मकालानल

महालक्ष्मीविलास

कफचिन्तामणि

पित्तरोग में—

गुडूच्यादिलौह

धात्रीलौह

वातरक्त में—

ताम्रभस्म (हरितालं पलं शुद्धमित्यादि)

आमवात में—

शिवागुग्गुलु

शूलरोग में

सप्तामृतलौह

त्रिफलालौह

चतुःसमलौह

धात्रीलौह

विद्याधराभ्र

शङ्खादिचूर्ण

शङ्खभस्म (नीम्बू और जल के साथ)

उदावर्त्त में—

बृ० इच्छाभेदी

गुल्म में—

गुल्मकालानल

काङ्कायनवटी

हृद्रोग में—

हृदयार्णवरस

नागार्जुनाभ्ररस

मूत्रकृच्छ्र में—

वरुणादिलौह
मूत्रकृच्छ्रान्तकरस } (गोखरू के फाण्ट से)

मूत्रघात में—

तारकेश्वर

प्रमेह में—

इन्द्रवटी (विशेष कर मधुमेह में मधु और जामुन की गुठली के साथ)

आनन्दभैरव

विद्यावागीश

मेहमुद्गर

चन्द्रप्रभा

बृ० वङ्गेश्वर

सोमरोग में—

गगनादिलौह

सोमनाथ

बृ० सोमनाथ

स्थौल्य में—

विडङ्गादिलौह

उदररोग में—

वैश्वानरादिवटी

प्लीहा और यकृत् रोग में—

लोकनाथ

बृ० लोकनाथ

यकृदरिलौह

प्लीहारिरस

गुडपिप्पली

वारिशोषणरस

शोथ में—

त्रिनेत्र

श्लीपद में—

नित्यानन्द (शोथवृद्धि में भी)

भगन्दर में—

निर्गुण्डीतैल

सप्तांगगुग्गुलु (चक्रदत्त में)

तिलाष्टक (लेप में)

कुष्ठरोग में—

उदयभास्कर (उपदंश में भी)

कुष्ठकालानल

अमृताङ्कुरलौह (प्रदर में भी)

माणिक्यरस (पलं तालं, पलं गन्धम् इत्यादि)

विजयभैरव

रसमाणिक्य

बाकुची, मूली के बीज इनको गोमूत्र में पीसकर लेप करे

शीतपित्त में—

दूर्वानिशायुतलेपः (चक्रदत्तः)

शुक्तिभस्म (तात्कालिक उपचार)

अम्लपित्त में—

लीलाविलासरस

क्षुधावतीगुटी

अविपत्तिकरचूर्ण

विसर्प में—

दशाङ्गलेप (चक्रदत्तोक्त)

मसूरिका में—

१—पारा १ भाग, गन्धक २ भाग, कज्जली करके ब्राह्मी या करैले के पत्ते के रस से देना चाहिए।

२—अजवायन, कूठ, वनतुलसी, आर्द्रक इनका क्वाथ भी देते हैं।

३—खांसी होने पर मट्ठे का प्रयोग ठीक है।

मुखरोग में—

लक्ष्मीविलास (पूर्वोक्त)

नेत्ररोग में—

नयनामृतलौह

शिरोरोग में—

लक्ष्मीविलास (पूर्वोक्त)

प्रदररोग में—

प्रदरान्तकलौह

प्रदरान्तकरस

श्वेतप्रदर में—

श्वेतप्रदरान्तक (चाक और गेरू; इनको चावल के धोवन के साथ)

रसमाणिक्य (मधु के साथ)

पत्रांगासव

योनिव्यापद् में—

पुष्यानुगचूर्ण—

सूतिकारोग में—

सूतिकाविनोद (जातीफलं टङ्कणं चेत्यादि)

बृ० गर्भचिन्तामणि (सूतगन्धस्तथा स्वर्ण)

बालरोग में—

बालरस

रसायन और वाजीकरण में—

पूर्णचन्द्र

चन्द्रोदय

मकरध्वज

वसन्ततिलक

वसन्तकुसुमाकर

हम जो सोचते हैं, वो बन जाते हैं
भगवान बुद्ध

SAMYAK PRAKASHAN, 32/3, Paschim Puri, New Delhi-63
www.samyakprakashan.in